राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन-ग्रन्थ

संपादक-मंडल

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल (प्रधान सम्पादक)

श्री राय कृष्णदास

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

डा० कामिल बुल्के

डा० मोतीचन्द्र

डा० नगेन्द्र

डा० सत्येन्द्र

प्रबंध-संपादक

श्री ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरुआ'

प्रकाशक

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन समिति

(श्री बड़ाबाजार लाइब्रेरी, कलकत्ता द्वारा गठित)

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन समिति,
कलकत्ता

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
श्री सजनीकांत दास
डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (प्रधान-संपादक)
श्री ललिताप्रसाद सुकुल (स्व०)
श्री भागीरथ कानोड़िया
श्री सीताराम सेकसरिया
श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका
श्री भँवरमल सिंघी
श्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल
श्री मदनगोपाल पोद्दार
श्री चपलाकांत भट्टाचार्य
श्री रामकुमार भुवालका
श्री प्रकाश स्वरूप माथुर
श्री रघुनाथ प्रसाद खेतान (कोषाध्यक्ष)
श्री रामनिवास ढंढारिया
श्री गंगाचरण केड़िया
श्री बदरीप्रसाद पोद्दार
श्री चम्पालाल गुप्ता
श्री महावीर प्रसाद अग्रवाल
श्री गनपतलाल खत्री
श्री राधाकृष्ण नेवटिया
श्री चन्द्रिका प्रसाद शर्मा
श्री गोपीकृष्ण कानोड़िया
श्री ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरुआ' (प्रबन्ध-संपादक)
श्री कल्याणमल लोढ़ा (मंत्री)

प्रकाशकीय

राष्ट्रीय चेतना के उद्‌गायक श्री मैथिलीशरण गुप्त को राष्ट्र ने जिस सहज भाव से राष्ट्रकवि के रूप में स्वीकृत कर सम्मानित किया है, उससे बड़ा उनका और क्या अभिनंदन होगा ? वास्तव में, हिन्दी कविता के इतिहास में श्री गुप्त जी एक युग-स्तम्भ हैं। अपनी कविता के द्वारा उन्होंने जहाँ एक ओर राम-भक्ति की स्रोतस्विनी को प्रवाहित किया, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगति की भावना को नव स्फूर्ति प्रदान की। वाणी के इस वरद पुत्र का अभिनंदन करने के लिए इससे अधिक शुभ एवं सुन्दर और क्या हो सकता था कि इस निमित्त से एक ऐसे ग्रंथ का निर्माण हो, जिसमें उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के संबंध में विवेचन और विश्लेषण हो तथा उनके युग का साहित्यिक दर्शन हो। इसी परिकल्पना को लेकर आज से लगभग ५।। वर्ष पूर्व इस अभिनंदन-ग्रंथ की योजना का निर्माण हुआ था।

कलकत्ता हिंदी-भाषी समाज का एक बहुत बड़ा केन्द्र है, जहाँ से हिन्दी-साहित्य के विकास को बल देनेवाली अनेक प्रवृत्तियों का प्रारम्भ और प्रवर्त्तन हुआ है। इस नगरी से श्री गुप्तजी का संबंध भी बहुत रहा है। बंगला की काव्य-धारा को हिन्दी-भाषी जनता तक पहुँचाने का श्री गुप्तजी ने अपने अनुवादों द्वारा जो महत्वपूर्ण कार्य किया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा। बँगला के महान् युग-प्रवर्त्तक कवि माइकेल मधुसूदन-दत्त के 'मेघनाद वध', 'वीराङ्गना', और 'व्रजाङ्गना' का जो सुन्दर अनुवाद उन्होंने किया है, वह उनके मौलिक काव्य-ग्रंथ से किसी प्रकार कम नहीं। इस बात को देखते हुए कलकत्ता को ही उनके अभिनंदन की योजना का श्रेय प्राप्त हुआ, यह स्वाभाविक ही है। बँगला एवं हिन्दी की यह समन्वय-भूमि, जहाँ दोनों की काव्य-धाराएँ मिली हैं, आज उस महान् कवि का सम्मान करने का गौरव प्राप्त कर अपने को धन्य मानती है।

अभिनंदन-ग्रंथ की योजना को मूर्त्त रूप प्रदान करने की दिशा में प्रारम्भिक कार्य कलकत्ता की सुपरिचित संस्था बड़ाबाजार लाइब्रेरी ने किया। लगभग ३-३।। वर्ष के परिश्रम के बाद योजना को व्यापक रूप देने की दृष्टि से उक्त लाइब्रेरी ने एक स्वतंत्र समिति का गठन किया, जिसने इस कार्य को पूर्णाहूति तक पहुँचाया। राष्ट्रकवि के प्रति सहज स्नेह और श्रद्धा की भावना से हमने जिस महान् कार्य को उठाया था, वह आज पूर्ण हुआ। इसका हमें इतना हर्षोल्लास है कि जिन सब विघ्न-बाधाओं ने हमें अनेक बार दुखित, खिन्न और हतोत्साह कर दिया तथा जिनके कारण ग्रंथ के प्रकाशन में ५ वर्ष से भी अधिक समय लग गया, उन सबको आज हम भूल गए हैं।

इस ग्रंथ में श्री गुप्तजी की प्रशस्ति ही नहीं है, बल्कि उनके काव्य की विभिन्न धाराओं का मार्मिक विवेचन और विश्लेषण है, और इससे भी अधिक विशिष्टता की बात है राम-काव्य का विलोचन। गुप्तजी का काव्य हमारी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा की जिन धाराओं से सम्पुष्ट हुआ है, उनकी गवेषणा संबंधी लेख भी इस ग्रंथ में संकलित किए गए हैं। प्रयत्न किया गया है कि यह ग्रंथ गुप्तजी के जीवन और काव्य का संदर्भ-ग्रंथ हो। यह कल्पना कितनी पूरी हुई है, यह तो गुप्त-काव्य के पारखी ही बताएँगे ! श्रद्धेय दद्दा का व्यक्तित्व हर दृष्टि से महान् है। उनके प्रति श्रद्धा की समस्त भावनाओं को सँजो कर भी हम शायद उनकी ऊँचाई को स्पर्श न कर पाएँ हों, पर हमारे लिए इतना ही काफ़ी है कि हमने अपनी भावनाओं के निवेदन में कोई कमी नहीं रहने दी। हम उन्हीं के शब्दों में कहेंगे—

नमस्कार, तुझको शत बार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !

ग्रंथ का सम्पादन जिनके द्वारा हुआ है, वे हिन्दी साहित्य के जाने-माने विद्वान् हैं, और श्री गुप्तजी के निकट सम्पर्क में भी रहे हैं। इनके सहयोग के बिना ग्रंथ की योजना असंभव ही थी। समिति इन सब

विद्वानों के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापन करती है। इसके अतिरिक्त जिन लोगों ने ग्रंथ की योजना को कार्यान्वित करने में आर्थिक तथा अन्य सहायता प्रदान की है, उनको भी समिति हृदय से धन्यवाद देती है। इतने बड़े कार्य में अनेक लोगों के सहयोग की अपेक्षा होती है। हमें यह कहते हुए अतीव आनन्द है कि समिति को सभी ओर से पूर्ण सहयोग मिला है, और सबके मिले-जुले सहयोग का परिणाम ही यह ग्रंथ है। समिति सभी के सहयोग के लिए कृतज्ञ है।

कलकत्ता,
११ सितम्बर, १९५९.

कल्याणमल लोढ़ा
मंत्री
राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन समिति

भूमिका

श्रद्धेय श्री मैथिलीशरणजी गुप्त, जिनके लिए यह अभिनन्दन-ग्रन्थ सम्पन्न हुआ है, हमारे नवीन राष्ट्र में भागवत आदर्शों के प्रतीक हैं। उनकी काव्य-साधना भागवती प्रज्ञा से ओत-प्रोत है। यह भागवती दृष्टिकोण क्या है और अर्वाचीन मानव के लिए इसका क्या मूल्य है, इस सहज प्रश्न का समाधान आवश्यक है।

इस विश्व में दो ही तत्त्व लक्षित होते हैं। एक ओर पृथक्-पृथक् स्थूल भूतों का अस्तित्व है। नाना वस्तुएँ, पदार्थ और विश्व के अनेक मानव इसी स्थूल तत्त्व के दृश्यरूप हैं। इन सब भूतों के मूल में और उनके अभ्यन्तर में एक दूसरी शक्ति है जिसे देवतत्त्व कहा गया है। देवतत्त्व अमृत है अर्थात् देश और काल की सीमा या बन्धन से ऊपर है। इसीलिए वह भूत, भविष्य और वर्तमान को एकता में पिरोने वाला अविनाशी सूत्र है। इसकी तुलना में मानव देश-काल में सीमित या विजड़ित है। जिसकी ऐसी स्थिति हो, उसे ही मर्त्य कहते हैं। हम स्पष्ट ही देख रहे हैं कि कितने ही मानव यहाँ जन्मे और चले गए, कितने ही आए और कितने ही आते रहेंगे। आने और जाने का यह क्रम एक ऐसी धारा या प्रवाह है जिसका आदि-अन्त या ओर-छोर दृष्टि से परे है। इस प्रकार की क्रमिक या प्रवाहमयी स्थिति को ही चक्र-गति कहते हैं। विश्व-मानव की चक्र-गति अमृत है अर्थात् देश और काल में अन्त या सीमा से ऊपर है। यही अनादि तत्त्व दिव्य भगवत् तत्त्व है, जो खंड़शः विभक्त भूतों को निरन्तर शक्ति देता हुआ संचालित कर रहा है। नश्वर मानव की महिमा और शक्ति का यह अविनाशी स्रोत स्वयं सिद्ध है। वृक्ष के समान यह द्युलोक और पृथिवी के अन्तराल में स्तब्धस्थित है। इसके महावितान की छाया में ही विश्व के समाजों की रचना और विघटन हो रहे हैं। एक-एक व्यक्ति या समाज की इकाई की संज्ञा नर है। नरों के समूह को नार कहते हैं। सब नार या समूहों का जो परम स्थान है, जिसमें व्यक्ति अपना पृथक् अस्तित्व खो कर एक जीवन-तत्त्व में लीन हो जाते हैं, वही नारायण या भगवत् तत्त्व है। भारत की चिरन्तन प्रज्ञा ने इस देवतत्त्व को सदा प्रणाम किया है। अपने उस प्रणाम-भाव या नमन को समर्पित करने के लिए प्रणम्य की अनेक नामों से स्वीकृति भारतीय वाङ्मय में पाई जाती है। ब्रह्म, इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, महादेव रुद्र, परमेष्ठी विष्णु, राम और कृष्ण उसी अनादि अनन्त देव-शक्ति की बहुविध संज्ञाएँ हैं। दीर्घकालीन भारतीय वाङ्मय के ये अनेक सुरभित पुष्प हैं जिनके मूल में एक ही महासौगन्धिक पद्म की अखण्ड सत्ता है। शतपत्र, सहस्रपत्र और लक्षपत्र उसके नानात्व भाव के ही प्रतीक हैं।

इस पृष्ठभूमि में भागवत वह है जो देवतत्त्व को प्रणाम करता है। यह अमृत तत्त्व सर्वोपरि, सर्वाभिभावी और सब में पिरोया हुआ सर्वान्तिर्यामी है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के मूल सूत्र की व्याख्या ही भारतीय संस्कृति या धर्मतत्त्व की आधार-शिला है। इसी पर यहाँ के वाङ्मय-रूपी विशाल प्रासाद का उठान हुआ है। युग-युग के भीतर से संतों की साधना और कवियों की सारस्वती आराधना इसी के लिए समर्पित हुई है। इस भगवत् तत्त्व की स्वतंत्र सत्ता की पल-पल में मानव को आवश्यकता है। जीवन की बहुमुखी समृद्धि इस सत्य से ही संभव हुई है और हो रही है। नए-नए जीवन के साथ मानव को इस महती शक्ति के नवीन स्रोतों की उपलब्धि होती रहती है। यह देवतत्त्व मानव का अनन्त मित्र या सहायक है। इसे ही इस प्रकार कहा गया है—

'नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्'

(महाभारत—उद्योग पर्व)

अर्थात्—नारायण और नर एक ही महान् जीवन-तत्त्व के दो रूप है। एक अमृत, दूसरा मर्त्य है; एक देश-काल में अनन्त और दूसरा सान्त है ; एक विश्वात्मा, दूसरा व्यक्ति-व्यक्ति में पृथक् है। दोनों एक ही शाश्वती मुद्रा के चित्र-पट रूप हैं। दोनों की सहयुक्त स्वीकृति ही जीवन रूपी चित्र की पूर्णता है। उद्धव के शब्दों में—

तस्माद् भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम् ।
निर्विण्णधीरहमु ह वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ॥
(भा० ११।७।१८)

अर्थात्—देवतत्त्व अनन्त और सर्वज्ञ है। उसकी तुलना में नरतत्त्व पदे-पदे कुंठित है। मनुष्य के मन-प्राण और वाक् की सीमा ही उसकी कुंठा है। इस कुंठा को जीतने का यही विधान है कि हम कुंठा-रहित नारायण या अखंड सत्य या विश्वात्मक जीवन की शरण लें। आज जिस विश्व-मानव का जन्म हो रहा है उसकी कुशलमयी आस्था का यही रूप संभव है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग् भवेत् ॥

भारत राष्ट्र का यही विश्वात्मक स्वर रहा है। वेद से लेकर आज तक भारतीय वाङ्मय के द्वारा यही अर्थवती भाषा संमानित हुई है। जो वेद में है, वही लोक में है। गुप्तजी के शब्दों में—

उच्चारित होती चली वेद की वाणी।
गूंजे गिरि-कानन-सिंधु पार कल्याणी ॥

साहित्य और संस्कृति के नाना रूपों के भीतर से जो जीवन-तथ्य विकसित हुआ है, मानव की एकता ही उसका प्राणवंत स्पंदन है। मानव की इस शाश्वती प्रतिष्ठा का नया स्वर गुप्त जी ने अपने काव्य द्वारा हमें सुनाया है। राष्ट्र की प्राचीन आत्मा उनके वाङ्मय में पुनः मूर्त हुई है। एक ओर वे मानव की गरिमा या उसके अनुभाव का समर्थन करते हैं। दूसरी ओर उनकी मान्यता है कि मनुष्य को उसका यह पद भगवत् तत्त्व की शीतल छाया के बिना कभी प्राप्त नहीं हो सकता। भगवत् तत्त्व का संतत प्रवर्षण अनेक सद्गुणों के रूप में मानवों की व्यक्ति और समष्टि को मिलाता रहता है। एक का जीवन हो या समूह का, दोनों का क्षेम सद्गुणों की शीत वायु से ही संभव होता है। जब सदाचारमय महान् धर्म प्रजाओं में व्याप्त होता है, तभी वे सुखी होती हैं। जितने सद्गुण या सदाचार के धर्म हैं, उन सब के मूर्त रूप राम हैं। वाल्मीकि के शब्दों में—

रामो विग्रहवान् धर्मः

राम धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। 'चारित्रेण च को युक्त' इस प्रश्न के मुख को पूर्णतः तृप्त करने वाला उत्तर राम का चरित ही है। राम चरित्र-योग के पूर्ण उदाहरण हैं। उनके सत्य संध, धीर चरित का नये युग के लिए प्रसाद-वितरण ही गुप्त जी का काव्य-सार है। यहाँ अल्प सत्त्ववाले प्राकृत या साधारण नर अनेक हैं। वे अपने-अपने जीवन की नाना कोटियों में उलझे हुए संघर्ष करते रहते हैं। यद्यपि इन समस्याओं के अनेक रूप हैं, पर काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-अहंकार इन छः प्रकार के उपद्रवों की शांति मानव की कभी न मिटनेवाली समस्या है। जिसके जीवन में यह सुलझ जाती है, उसी का जीवन पूर्णता प्राप्त करता है। धन, बल, बुद्धि, प्रभाव, स्वास्थ्य, विद्या, प्रेम आदि जीवन की अनेक कोटियाँ हैं, किन्तु उन सब का अन्तर्भाव इन्हीं छः में हो जाता है। मानवी मन की ये छः प्रवृत्तियाँ हैं जिनमें मन की शक्ति बहती रहती है। इन पर विजय पाने के लिए या इनके साथ समन्वयात्मक स्थिति प्राप्त करने के लिए जिन छः महागुणों की आवश्यकता है, उन्हें ही भागवतों ने 'भग' कहा—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
(विष्णु पु० ६।५।७४)

'भग' शब्द की यह नई परिभाषा थी। इस प्रकार के भग संज्ञक तेज या शक्ति का जो अध्यक्ष है, वह ही भगवान् है। उस भगवत् तत्त्व में आस्था रखने वाला ही भागवत है। मनुष्य के चित्त में अपने ऐश्वर्य के कारण मद उत्पन्न होता है। अपनी श्रेष्ठता के विषय में यह नशा मस्तिष्क में छा जाता है। मद से अपनी रक्षा करने के लिए भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य की तुलना में मानव का थोड़ा-सा ऐश्वर्य कुछ नहीं। मानव को अपने यश के कारण अहंकार होता है। अहं की महिमा का भाव ही अहंकार है। भगवान् के सर्वव्यापी यश की तुलना में मानव का अहंकार नगण्य है। थोड़ी-सी श्री के लिए उत्पन्न लोभ की कोई सत्ता नहीं, जब विश्व में अपरिमित श्री का निवास है। ऐसे ही मनुष्य के मोह के निवारण का साधन ज्ञान या विवेक ही है। सत् और असत्, ज्योति और तम, पाप्मा और पवित्रता, सत्य और अनृत इनको अलग-अलग पहचानने की शक्ति का नाम ही विवेक या ज्ञान है। जिसकी बुद्धि इस भेद को जान लेती है, वह मानव ज्योति और सत्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। ज्योति और सत्य की संज्ञा देव है। तम और अनृत असुर हैं। इसी प्रकार काम और क्रोध भी मानव के बड़े शत्रु हैं। मनुष्य दूसरे पर तब क्रोध करता है जब दूसरा व्यक्ति उसकी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं कर पाता। किन्तु एक व्यक्ति का पराक्रम या पौरुष भगवान् के अपरिमित वीर्य या कर्म की तुलना में सीमित ही हो सकता है। यह जान कर मनुष्य क्रोध या खीझ के वश में नहीं पड़ता। इसी प्रकार काम को वश में करने वाला यदि कोई साधन है तो एक मात्र वैराग्य है। वैराग्य से ही चित्त का राग शांत होता है। भगवान् के ऐश्वर्य का ध्यान करने से मद का, वीर्य से क्रोध का, श्री से लोभ का, यश से अहंकार का, ज्ञान से मोह का और वैराग्य से काम का निराकरण संभव है। इन छः शत्रुओं पर विजय पा लेना ही सच्चा पुरुषार्थ है, जैसा कहा है—

कृत्स्नं हि राज्यम् इन्द्रिय जयः

इन्द्रियों को वश में कर लेना ही अध्यात्म राज्य है। राम की शक्ति से ही मानव राम-राज्य की स्थापना कर सकता है। मार्ग के इन शत्रुओं पर विजय ही परम भागवत गुप्त जी का दार्शनिक निष्कर्ष है—

क्यों कर हो मेरे मन मानिक की रक्षा ओह!
मार्ग के लुटेरे काम क्रोध मद लोभ मोह।
किन्तु मैं बढ़ूँगा राम,
लेकर तुम्हारा नाम,
रक्खो बस तात, तुम थोड़ी क्षमा थोड़ा छोह।

गुप्त जी धर्म के अनुयायी हैं। उनको इष्ट वह भक्ति है जो कर्म से समन्वित हो। कर्म में मानव या नर की विजय है। भक्ति में नारायण या देव का प्रसाद है। एक पृथिवी से ऊपर की ओर उठता है, दूसरा आकाश से पृथिवी की ओर अमृत-वृष्टि है। दोनों के मिलन से ही जीवन की पूर्णता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण ही प्राचीन भागवत धर्म का मान्य सिद्धान्त था। इसके अनुसार जीवन में सत्ता-ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। जो अस्तित्व है, वही जीवन है। जीवन एक निधि है जिसके मूल्य न शून्य हैं, न क्षणिक। यह महाचैतन्य की अभिव्यक्ति है। जब व्यक्ति जीवन को कर्म की ओर मोड़ता है, और उस कर्मण्यता में मानव की हित-चिंता का अमृत मिलाता है, तभी वह संतुलित स्थिति प्राप्त करता है।

इस सम्बन्ध में रन्तिदेव का यश ध्यान देने योग्य है। राजा रन्तिदेव को जो धन प्राप्त होता उसे वे स्वयं भूखे और निर्धन रह कर दूसरों को दे डालते थे। यों अड़तालीस दिन बीत गए और भूख-प्यास का दुःख सहते हुए कहीं से थोड़ा रसाहार उन्हें मिला। उसी समय एक भूखा ब्राह्मण अतिथि आ गया। श्रद्धा से प्रेरित रन्तिदेव ने अपना कुछ भाग उसे दे दिया। उस अतिथि में विष्णु के ही दर्शन उन्होंने किए। ब्राह्मण खा कर चला गया। उसी समय एक शूद्र आया। रन्तिदेव ने उसमें भी भगवान का रूप देखा और एक भाग उसे दे दिया। उसके चले जाने पर कुत्तों से घिरा हुआ एक श्वपाक चांडाल आया और भूख की टेर लगा कर राजा से कुछ खाने को माँगा। राजा ने जो बचा था, वह भी आदर के साथ उसे दे कर श्वपाक और उसके

श्वगण को प्रणाम किया। अब केवल एक व्यक्ति के लिए पर्याप्त भोजन बच रहा था। जैसे ही उन्होंने उसे पीना चाहा कि एक पुल्कस ने आ कर आवाज लगाई—'मुझ अपवित्र को भी कुछ जल दो।' उसकी वह करुण वाणी सुन कर रन्तिदेव का मन संतप्त हो गया और उन्होंने प्यास से मरणप्राय होते हुए भी वह पानी उसे देते हुए निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण किया—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
(भा० ९।११।१२)

मैं भगवान् से अपने लिए सद्गति नहीं चाहता, न आठ सिद्धियों से युक्त संपत्ति चाहता हूँ, न मोक्ष या निर्वाण की मुझे चाह है। मेरी तो यही इच्छा है कि सब देह-धारियों का दुःख सीमिट कर मेरे ही अन्तःकरण में भर जाय, जिससे वे दुःख से छूट सकें। उस युग के लेखक ने इस भावना को अमृत वचन ('अमृतं वचः') कहा है। सचमुच मानव के कंठ से निकलनेवाली इस प्रकार की वाणी मृत्यु-रहित ही है। पूर्व युग में यह परम भागवतों और बोधि सत्त्वों की वाणी थी और आज के युग में अपने-आप को मानव-हित में विगलित करनेवाले महात्माओं की वाणी भी यही है। हरिश्चन्द्र, अंबरीष, ध्रुव, प्रह्लाद, बलि आदि भगवद्भक्तों की इसी भावना का उल्लेख भागवत में पाया जाता है। प्राचीन चरितों की यह गुप्तयुग के अनुकूल नई व्याख्या थी। गुप्त जी के नहुष, युधिष्ठिर और दिवोदास में भी हमें इसी के पुनः दर्शन मिलते हैं। मानव की हितकर्त्री सेवा में प्राणों का विसर्जन या समर्पण यही मानव के मेरुदंड का ऊर्ध्व-भाव है। राम का चरित इस प्रकार के शाश्वत लोक हितकारी धर्म का अमर कीर्ति-स्तम्भ है। गुप्त जी की काव्य-मंदाकिनी का शतधार झरना उसे ही सींचता है।

काव्य और अलंकार, रस और शैली के जो भी गुण गुप्त जी के काव्य में हों—और उनकी मात्रा भी प्रभूत है; उनके काव्य की यह सरस भागवती लोकहितमयी प्रवृत्ति ही सब से अधिक आकर्षण की वस्तु है। इसके द्वारा करुणात्मक कर्म का एक नया धरातल वे प्रस्तुत कर सके हैं। अपने गूंजते हुए शब्दों में अर्वाचीन मानव के कर्तव्यों का एक नया आदर्श उन्होंने प्रस्तुत किया है। उसके सप्तकों का संगीत हमें बरबस अपनी ओर खींच लेता है। आज के नये दृष्टिकोण में जन-जन के प्रति श्रद्धा का भाव है। जहाँ तक दुःख और पीड़ा है वहाँ तक कवि की वाणी का विस्तार है। स्त्री और पुरुष, राजर्षि और देव सब इस आदर्श जन-राज्य की परिधि के अन्तर्गत हैं। उनके काव्य की सीमाएँ सब का स्पर्श करती हैं। कवि की महती विशेषता युग के साथ गतिशील होना है—

विगत हुआ तो विगतों का युग, अपना तो प्रस्तुत है।
कितना नव्य भव्य तुम देखो, यह अपूर्व अद्भुत है॥

स्वयं प्रजापति ब्रह्मा अर्वाचीन मानवों को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—

'मरी कृति में मनुष्यत्व से श्रेष्ठ नहीं कुछ'

'जयद्रथवध' से आरम्भ करके 'विष्णुप्रिया' तक कवि की पथयात्रा की अर्धशती भावों की अबाध अगाधता प्राप्त करती गई है।

राम का आदर्श आकाश के सूर्य की भाँति मानवीय जीवन में नाना रूपों से प्रतिबिम्बित होता है। यह उसी की सामर्थ्य है जो जीवन की नाना आकांक्षाओं में समन्वय स्थापित कर सकी। गुप्त जी के काव्य में भी आदर्शों की कितनी ही प्रेरणाएँ एकत्र संगत हुई हैं। एक ओर मानव का निजी कल्याण उन्हें इष्ट है। दूसरी ओर समाज और उसके बृहत्तम क्षेत्र संसार का हित भी उन्हें ग्राह्य है। एक ओर गृहस्थ धर्म की उदात्त मर्यादाओं में उनका मन रमता है, तो दूसरी ओर अध्यात्म योग और त्याग-वैराग्य के आदर्शों में भी उन्हें रुचि है। वे यह मानते हैं कि राजा और प्रजा दोनों के आवासों में स्वार्थ का त्याग संभव है। अपने-अपने राष्ट्र का कल्याण चाहते हुए भी उनके राष्ट्र-हित का किसी से संघर्ष नहीं है।

ऐसे पुण्यश्लोक महाकवि का अभिनन्दन करना स्वेच्छा से वरण किया हुआ कर्त्तव्य ही है। वैसे तो, उनके काव्य की सार्वजनिक स्वीकृति ही उनका वरेण्य अभिनन्दन है, पर साहित्यिक यज्ञ के रूप में भी जब वह पूरा किया जा सके, तो करनेवालों के लिए शुभावह होता है। इस ग्रन्थ की परिकल्पना का श्रेय श्री बरुआ जी को और उसे कार्यान्वित करने का श्रेय राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन समिति, कलकत्ता को है, और दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं। जिन लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेज कर हमें अनुगृहीत किया, उनको धन्यवाद देने के साथ-साथ ग्रन्थ के प्रकाशन में विलम्ब होने के कारण उन्हें जो प्रतीक्षा करनी पड़ी और असुविधा हुई, उसके लिए हम क्षमा-याचना भी करते हैं। श्री गोपीकृष्ण जी कानोड़िया ने अपने अमूल्य संग्रह में से जो कतिपय रंगीन चित्र ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ दिए हैं, और जिनकी छपाई भी उन्होंने अपनी देख-रेख में करवाई है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। इन चित्रों ने निःसन्देह ग्रन्थ की शोभा बढ़ा दी है।

ईश्वर की कृपा से अब यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है, और इसे अब श्रद्धेय श्री मैथिलीशरण जी के कर-कमलों में समर्पित करते हुए हम सब विशेष प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

काशी विश्वविद्यालय
वाराणसी
वैशाख कृष्ण चतुर्दशी, संवत् २०१६
(६-५-१९५९)

वासुदेवशरण अग्रवाल
प्रधान संपादक

विषयानुक्रमणिका

खंड १

संस्मरण और श्रद्धांजलि

खंड २

जीवनी और पत्र

खंड ३

मैथिलीशरण काव्य-दर्शन

चयन

पर्यालोचन

खंड ४

राम-काव्य

खंड ५

संस्कृति और कला

खंड ६

हिन्दी भाषा और साहित्य

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन-ग्रंथ

अभिनन्दन और शुभकामना

★

राष्ट्रपति भवन,
नयी दिल्ली।
२६ जनवरी, १९५६।

आधुनिक काल में जिन साहित्य-सेवियों ने जन-साधारण में देशभक्ति की भावना उत्प्रेरित की है, उनमें कविवर मैथिलीशरण गुप्त प्रमुख हैं। उनकी ओजस्वी वाणी ने भारत के गौरवपूर्ण अतीत का चित्र खींच कर और भारतवासियों को बीते युग की याद दिला कर उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है।

साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली अथवा जनता की भाषा का काव्य में प्रयोग करके रोचकता लाने का श्रेय अधिकतर मैथिलीशरणजी को ही है। इस प्रकार कविता को जन-जीवन के अधिक निकट लाने का जो प्रयास भारतेन्दुजी की कृतियों से आरम्भ हुआ वह गुप्तजी की कृतियों में परिपक्व रूप में देखने को मिलता है। निस्संदेह 'भारत-भारती' से काव्य-क्षेत्र में एक नवीन युग का सूत्रपात होता है और उसके जन्मदाता और प्रवर्तक गुप्तजी ही हैं। 'भारत-भारती' की रचना करके मैथिलीशरणजी ने देश की जनता में राष्ट्रीयता की भावना भरी और इस राष्ट्रीय-भावना तथा प्रेरणा को पाकर भारत के लोगों ने उन्हें राष्ट्र-कवि कहना आरम्भ किया और तब से वह राष्ट्र-कवि कहलाए जाने लगे। देश के प्रति उनका जो प्रेम और जो भक्ति है, उनके हृदय में देश की प्राचीन संस्कृति के लिए जो गौरव है, वह उनकी रचनाओं में मुखरित हो उठा है। उनके जीवन के अनुरूप ही उनकी कृतियों की भाषा भी बहुत ही सरल, सुन्दर और मधुर है तथा सात्त्विक भावों से परिपूर्ण है।

यह हर्ष का विषय है कि ऐसे महान कवि के सम्मानार्थ हिन्दी-भाषियों तथा प्रेमियों ने अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया है। यद्यपि गुप्तजी की कविता तथा उनके सद्विचार उनका सर्वोत्तम अभिनन्दन-ग्रन्थ और स्मारक हैं, मैं समझता हूँ हम लोगों के लिए, जिन्होंने मैथिलीशरणजी की वाणी से स्फूर्ति और प्रेरणा पायी है, इस रूप में उनका अभिनन्दन करना स्वाभाविक है। मैं भी इस अवसर पर उनका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ और अपनी शुभ-कामनाएँ भेंट करता हूँ।

लोकनागरी लीपी

स्थाअी पता
उत्कल भूदान समिति,
थोरियासाही, कटक--१
[ओडिसा]
११-३-५५

श्री बरुआजी,

राष्ट्र कवी मैथीलीशरण गुप्तजी की स्मृती में अभीनंदन ग्रंथ, और वह बनेगा 'राम-वीषयक वीश्वकोष' अैसा आपने लीक्षा। कीतनी सुंदर, मधुर अुदात्त कल्पना। सारे भक्त जन यही चाहते हैं की अपना नाम मीटे और अेक रामजी का नाम ही चले। राम जी का नाम ही हमारा नाम बन जाय।

श्रीराम:

मेरी मिट्टी, मैं बलि जाऊँ,
तुझे पात्र में परिणत पाऊँ।

खुले खेत से लाकर छानूँ,
जल दूँ, सार मिलाकर सानूँ,
सनूँ स्वेद में, किन्तु न मानूँ-
जब लौं लोचन लाऊँ
मेरी मिट्टी, मैं बलि जाऊँ

तू ही मेरी चाँदी-सोना,
आघातों से खिन्न न होना,
रूप बनेगा सुघर-सलोना,
पहले पिण्ड बनाऊँ!
मेरी मिट्टी, मैं बलि जाऊँ।

चले पिता का चक्र नियम से
बैठ शिला पर तू शमदम से,
उठे एक आकृति क्रमक्रम से
भली भाँति मैं भाऊँ!
मेरी मिट्टी, मैं बलि जाऊँ।

फिर भी तुझको तपना होगा,
क्लेशों से न कलपना होगा,
यों मंगलघट अपना होगा,
भर घर घर धर आऊँ!
मेरी मिट्टी, मैं बलि जाऊँ।

—श्री मैथिलीशरण गुप्त

सरल कबित कीरति बिमल : मैथिलीशरण गुप्त

श्री माखनलाल चतुर्वेदी

★ ★

सबसे प्रथम श्रद्धेय मैथिलीशरणजी गुप्त की कविता मैंने १९०७ में पढ़ी। उस समय मैं नया-नया ही गाँव से खंडवा आया था। मेरे मित्र खंडवा-म्युनिसिपैलटी के कैशियर श्री तोताराम पारगीर 'सरस्वती' मासिक पत्रिका मँगवाते थे। उन दिनों (स्वर्गीय) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित इंडियन-प्रेस की प्रधान पत्रिका 'सरस्वती' में गुप्त जी की कविताएँ प्रकाशित हुआ करती थीं। (स्वर्गीय) बाबू जगन्नाथप्रसादजी 'भानु' कवि के कार्यालय के कुछ मित्र तथा पारगीरजी 'सरस्वती' लेकर बैठते और ब्रजभाषा से हट कर बिलकुल नवीन रूप में आनेवाली हिन्दी-कविता का रसास्वादन करते। उन दिनों गुप्त जी की कविता नवीन तरुणों की वाणी का भूषण थी। केवल किसी एक पुस्तक की कविता ही लोगों के मन को मोहती हो, ऐसी बात नहीं। प्रत्येक पुस्तक हिन्दी में बहुत सम्मान, सद्भाव और जोश के साथ पढ़ी जाती। 'जयद्रथ-वध', 'रंग में भंग', और गुप्त जी की फुटकर कविताएँ लोगों को बहुत भातीं, मानों ब्रजभाषा के बाहुल्य और प्रभुत्व के सामने लोग खड़ीबोली में लिखी हुई हिंदी-कविता की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। उन दिनों (स्वर्गीय) श्री श्रीधर पाठक, (स्वर्गीय) रायदेवी प्रसाद पूर्ण, (स्वर्गीय) श्री कामताप्रसादजी गुरु और प्रतिभा-पुरुष नाथूरामजीशंकर शर्मा की कविताओं की विशेष धूम थी। किंतु ये गुरुजन ब्रजभाषा में भी कविता लिखते थे और खड़ीबोली में भी। खड़ीबोली और केवल खड़ीबोली में कविता लिखकर निर्भीकतापूर्वक, किंतु अत्यंत नम्रता से खड़े रहने वाले, मुझे याद आता है कि एकमात्र गुप्त जी ही थे।

जिस समय 'भारत-भारती' निकली, उस समय तो लगा, जैसे राजनैतिक और सामाजिक विचारधारा में एक तूफान आ गया ; सभा-मंचों पर वक्ता 'भारत-भारती' के छंदों का इतना उपयोग करते, मानो उनके कहने की सामग्री के शीर्षक और प्राण केवल हिन्दी की काव्य-पुस्तक 'भारत-भारती' में ही हैं। हिन्दी का उन दिनों का शायद ही कोई समाचारपत्र हो, जिसने गुप्त जी और उनकी कविताओं तथा 'भारत-भारती' की प्रशंसा न की हो। जब यह पुस्तक निकली, तब गुप्त जी के और हिन्दीजगत के आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने अपने शिष्य गुप्त जी की प्रशस्ति में 'सरस्वती' में कदाचित् वसंततिलका वृत्त में एक छंद लिख डाला, जिसकी अंतिम पंक्तियाँ थीं—

काव्यं, कृतिः कविता स चिरायुरस्तु
श्री मैथिलीशरण गुप्त उदारवृत्तः

यों आचार्य द्विवेदी जी से प्रशंसा पा लेना उस युग में अथवा उनके जीते जी किसी युग में भी अत्यंत कठिन काम था, किंतु गुप्त जी को द्विवेदी जी का परम आशीर्वाद प्राप्त था। द्विवेदी जी ने गुप्त जी को अपने युग के प्रति अत्यंत ईमानदार और आमुख पाया और लगा कि उन्हें वह चीज प्राप्त हो गई, जिसकी वे हिन्दी में आवश्यकता अनुभव करते थे।

मैंने मैथिलीशरण जी की कोई रचना उस युग से आजतक ऐसी नहीं पढ़ी, जिसमें ब्रजभाषा का उपयोग हुआ हो, केवल उनकी 'गोवर्द्धन-धारण' रचना में उन्होंने यह कहलाया है—

दब मति जाय मेरो वारो कान्ह प्यारो हाय, नेक न सहारो धारो भारो भूमिधारी है....
बोले गिरिधारी राधिका को देख ललिता से, तू भी दे सहारो सखि शैल बड़ो भारी है

[सरस्वती, जुलाई, १९१०]

अतः आज जिस क्रांतियुग में हम विचरण कर रहे हैं, उसकी प्रारंभिक झड़ श्री मैथिलीशरणजी गुप्त को संभालनी पड़ी। सच पूछा जाय तो युग उनके कांधों पर बैठकर आज इतनी दूर आया है। युग के प्रारंभ में ही उन्होंने श्रृंगार की कविता को, जिसकी हर सुधारक भर्त्सना किया करता था, डाँटकर कहा था—

प्रिय चन्द्रवदन की चटक नहीं हो जिसमें
नागिन सी लट की लटक नहीं हो जिसमें
भ्रू और दृगों की मटक नहीं हो जिसमें
मन्मथ-महीप का कटक नहीं हो जिसमें
उसको कविता ही नहीं आप बतलाते
कविराज आपके चरित्र न जाने जाते।

यह पूरी कविता जब 'सरस्वती' में छपी तब लोग गली-कूंचों में इसे मस्त होकर गुनगुनाते थे और गुप्त जी को देखने के लिए तरसते थे।

राजनीति की किसी महत्वाकांक्षा के दास न होने के कारण गुप्त जी साहित्य-सर्जन में लगातार लगे रहे और आजतक लगे हैं, किंतु रचना की प्रखरताओं के कारण वे शासन के प्रिय बनकर नहीं रह सकते थे। यहां तक कि 'भारत-भारती' के अंत में वर्णित सोहनी के कारण तो झाँसी की पुलिस और झाँसी के कलेक्टर भड़क गए और गुप्तजी को (१९४१ में) कारावास में भिजवा दिया।

जब स्वर्गीय गणेशशंकरजी विद्यार्थी ने कानपुर से 'प्रताप' प्रकाशित किया, तब उसमें समय-समय पर गुप्त जी की कविता के दर्शन होते। 'प्रताप' के प्रथम विशेषांक के मुखपृष्ठ पर दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह आंदोलन चलाने वाले, कर्मवीर मोहनदास करमचंद गांधी के नाम से उस समय विख्यात महात्मा गांधी की प्रशस्ति में गुप्त जी की जो कविता प्रकाशित हुई, वह मानो हिन्दीजगत की तरुणाई की नस-नस में ऊग उठी।

मेरे लिए तो उस समय गुप्त जी सब कुछ थे। वे प्रेरक थे, मार्गदर्शक थे और क्या नहीं थे?

उस समय मैं तुकबंदियाँ लिखने तो लगा था, किंतु वातावरण की रुचि के अनुकूल ब्रजभाषा में ही लिखता था। गुप्त जी का नया पथ मुझे बहुत भाया और यद्यपि मेरी और उनकी उम्र में दो-तीन वर्षों ही का अंतर होगा, मेरे लिए वे सदैव ही श्रद्धा की वस्तु रहे हैं।

मैंने प्रथम बार मैथिलीशरणजी गुप्त को लखनऊ की कांग्रेस में देखा। यों उससे प्रथम मैं भाई गणेश-शंकरजी से, पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी से तथा अन्य कुछ मित्रों से भी उनके विषय में बहुत कुछ सुन चुका था। गणेशजी को दो-तीन वर्ष पहले मैं लखनऊ के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में देख चुका था। जब मैंने गुप्त जी को लखनऊ-कांग्रेस के समय देखा, तब मुझे याद पड़ता है कि गणेशशंकरजी विद्यार्थी, शिवनारायणजी मिश्र, बद्रीनाथजी भट्ट, शालिगरामजी वर्मा, अध्यापक रामरत्नजी और विश्रुत उपन्यासकार श्रीयुत वृन्दावन-लालजी वर्मा उनके साथ थे। गुप्त जी उस समय लाल पाग बाँधे हुए थे।

लोक-जीवन की सरलता ने मुझे दो ही बार जोर के झटके दिए हैं। एकबार गुप्त जी को अत्यंत सरल पाकर; और एक बार दुपल्ली टोपी, घुटने तक धोती, तथा सिकुड़ी हुई सूती मिरजई पहिने हुए भाई बनारसीदासजी चतुर्वेदी के साथ (स्वर्गीय) कवि सत्यनारायणजी को देखकर।

उस समय राजनीति पर अत्यंत क्रोधित ब्रिटिश युग के दायमी अपराधी के नाते छुपकर जीवन बितान ही, चोरों और बटमारों के सिवाय, क्रांतिकारियों का पेशा हो रहा था। ऐसे समय 'प्रताप' का जन्म माने क्रांति की बलवान अभिलाषा का जन्म था और गुप्त जी का उस परिवार में सम्मिलित रहना नई पारिवारिकत का अत्यंत उज्ज्वल रूप था।

मैं जब भारतेन्दु-युग से आजतक के हिन्दीकाव्य के मोड़ों के जोड़ मिलाने बैठता हूँ, तब भारतेन्दु हरिश्चंद्र के पश्चात् मुझे ऊँचाई पर मैथिलीशरणजी खड़े दिखाई देते हैं।

यों ब्रजभाषा छोड़ने के साथ हिन्दी ने रस और पहुँच का इतना बड़ा खजाना छोड़ दिया है कि हमा मार्ग के सारे प्रयत्नों के बावजूद भी अभी हिन्दीकविता रस, राग, अनुभूति, आनंद और समर्पण में प्राची कविता के पास नहीं पहुँच पाई। हमारी शोभा इसी में है कि हम इस तथ्य को ५० वर्ष के पश्चात् नम्रत पूर्वक स्वीकार करें और गर्वपूर्वक आगे आने वाली पीढ़ियों को अपनी सीमा-रेखा का ज्ञान कराएँ। उपमा अलंकार, मुहावरे, कहावतें, वृत्त, वृत्ति इन सब में जो एक आनंदवर्द्धक चुहल है, उसतक पहुँचने में समस्त

मौलिकता के बावजूद भी हमारा रस और राग मानो पराजित सा हो रहा है, मानो हिन्दी के सीधे-सादे शब्दों का बोझा ढोते-ढोते पीढ़ियों में वह कल्पकता ही नहीं आ रही, जो रस की समस्त मस्तियों के साथ काव्य का अवतरण कर सके। एक पीढ़ी ने शृंगार किया और उठती हुई तरुणाइयों ने यदि रीतिकाल की कविता की भर्त्सना की, तो उसके साथ ही साथ अपनी काव्यकला में शृंगार की ऐसी बाढ़ें आईं कि यह पहिचानना कठिन हो गया कि वृत्त और समय की कमियों के सिवाय रीतिकालीन कविता में और दोष ही क्या था ?

किंतु तिरस्कार में या उपेक्षा में, गर्व में या उद्दंडता में, दौड़ में या अध्ययन में, हिन्दी में जब जो कुछ भी कहा गया, ऐसा लगा मानो गुप्त जी का शील, उनकी सहिष्णुता और उनका उत्साह-दान अपनी पीढ़ियों का पूरक-तंतु बनकर अमर है।

अपनी क्षुद्र तुकबंदियों का जो भी मोह मुझमें विद्यमान था, उसे खड़ीबोली की ओर मोड़ने का संपूर्ण श्रेय श्री मैथिलीशरणजी गुप्त को है। यद्यपि मेरा पक्षपात, उनको परम श्रद्धा से देखकर भी, चोरी-चोरी, युग में, चिरगाँव में सदैव सियारामशरणजी की कविता के साथ रहता आया है।

गुप्त जी ने कविता के काल को सांसारिक रुचि के जगड्व्याल के साथ नहीं बाँधा। वे अपनी आराधना-वृत्ति में इतने सजग रहे कि अपनी रचना में सदैव उन्मेष और पूजा-भावना प्रदान करने वाले व्यक्तियों, वस्तुओं और मर्यादाओं के प्रति ही उनने अपने को व्यक्त किया। 'श्री राम' के प्रति उनका स्नेह इतना व्याप्त हो गया है कि युग के युवक हँसकर भी यह मानते हैं कि जीवन को कथन के प्रति ईमानदार रखने में उनको अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। ब्रिटिश-युग का काव्य-पुरुषार्थ जब सिसकियाँ भर रहा था, रीतिकालीन युग से हिन्दीकाव्य घबड़ा-सा गया था और जब काव्य के नाम पर रति-विलास के कुंभीपाक नर्कों का निर्माण काव्यकला कहा जाता था, तब जिस व्यक्ति ने अपनी लेखनी को जरा भी डाँवाडोल नहीं होने दिया उसे मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं। राजनीतिज्ञों के भाषणों की पहुँच चाहे जैसी होती हो, किंतु वे गाए और दुहराए नहीं जाते; किंतु : 'सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान' के प्रशस्त-पथ को गुप्त जी निबाहते रहे। मैं उस रचनाकार की सदैव प्रशंसा करता रहा हूँ, जो अपनी रचनाओं का पथ नहीं बदलता। पथ न बदलने वाले रचनाकारों की पीढ़ी को गौरवान्वित करने वाले कुछ लोग गुप्त जी के पश्चात हिन्दी में हुए हैं और उनकी वृद्धि उत्तरोत्तर हो, यही वरदान मैं प्रभु से माँगता हूँ।

सच बात तो यह है कि यह मोह निरा बचपन है कि हिन्दीकविता सदैव एक ही ढाँचे पर चलती रहे। इंद्रधनुष के रंगों की तरह, ऋतु-ऋतु के पुष्पों की तरह, आती-जाती ऋतुओं की तरह हिन्दी का मौलिक रंग क्यों न विकसे, क्यों न फूले, क्यों न फले ? परिवर्तन न केवल भारतवर्ष में, किंतु विश्व भर में आया हुआ है और नया युग उसका स्वागत कर रहा है। शुभ है। किंतु हमें यह सावधानी लेनी होगी कि विश्व की जूठन समेटकर हम विश्व को उपहार देने का स्वाँग न भरने लगें।

भारतवर्ष की और एशिया की मौलिक भावना बलिदान और समर्पण है। विश्व का कोई देश अपने काव्य के चिर-जागृत रस को इन दो भुजाओं पर खड़ा नहीं रखता; अतः बुद्ध-जयंती का उत्सव और १८५७ के विद्रोह का उत्सव एक ही वर्ष में साथ-साथ मनाने वाले भारतवर्ष के सूक्ष्मपंथी से यह आशा करनी चाहिए कि माना, कि विविधता वैषम्य नहीं है, विभिन्नता आत्म-विद्रोह नहीं है, एक से छंदों में भी अनेक रसों का आरोप हो सकता है, अनेक आवेग आ सकते हैं, पृथ्वी से लगाकर आकाश तक समस्याओं की जो बेलें आनंद, निष्ठुर सत्य, और करुणा को लेकर लहलहा रही हैं, उसके आगे बढ़ते चरणों में कँपकँपी लाने की सामर्थ्य किसी में नहीं होती ; किन्तु हम यह न भूलें कि किसी कठोर स्थायित्व से भी हम बँधे हुए हैं ; हम मानव ! हम बोलते जिह्वा से ही हैं, देखते आँखों से ही हैं, सुनते कानों से ही हैं। इनके न आकार में हमारी मौलिक इच्छा चल पाती है और न प्रकार में। अतः आगे बढ़ता हुआ युग अपने ही युगों को और उनके मूल्यों को मस्तक झुकाकर आगे बढ़े। यों गुप्त जी का व्यक्तित्व तो इतना नम्र है कि उलट-पलट करती हुई समस्त नवीन पीढ़ी का भोले भाव से संतजनोचित शब्दों में वे यह कह कर स्वागत करते हैं कि—

जो पीछे आ रहे उन्हीं का मैं आगे का जय जयकार।

●●●

मेरा मौन नमस्कार

श्री सियारामशरण गुप्त

★ ★

यह आयोजन मैं अपने लिए त्यौहार मानता हूँ, छुट्टी का। बोलना नहीं चाहता, लिखना नहीं चाहता। अपने को ऐसा महत्व कैसे मैं इस अवसर पर दूं? अभिनन्दन-मंच के नीचे इधर-उधर रहने वाले उदार जन-समूह के ही बीच रहना ऐसे में मुझे रुचता है। वे स्नेह-संपन्न जन, जिन्होंने अभिनंद्य और अभिवंद्य कवि की वाणी का पारायण किया है, जिन्होंने कवि की पंक्तियों में अपने सुख के क्षण और भी सुखमय किए हैं, दुःख के क्षणों के भारी भार अनेक अवसरों पर फूलमालाओं के रूप में बदले हैं, उनमें से बहुतों के अभिवंदन उनके मौन में ही फूटेंगे। उन्हीं बहुतों के बीच मैं अपने को मिलाना चाहता हूँ। इसमें मेरा लोभ है, ऐसा लोभ जो लाभ बन जाता है। कथित से मेरे अकथित का मोल न्यून न होगा।

अनुज हूँ। मेरा परम सौभाग्य। अनुजत्व के कारण अयाचित गौरव विपुल परिमाण में मैंने अनायास ही पाया है। लक्ष्मण की महत्ता भी उनके अनुजरूप में निहित है। राम को वनवास दिया जा रहा था, तब दशरथ को उनका ध्यान तक न था। न दिए जाने पर भी वह उन्हें स्वतः मिल गया। और इस प्रकार उन्हें वह मिला, जिसकी आकांक्षा सब कोई करेंगे। यह सब कुछ हो, फिर भी एक बहुत बड़ा गौरव ऐसा है, जो उन्हें नहीं मिल सका। रामायण लिखने के, राम के चरित का गान कर सकने के अधिकारी वे नहीं हो सके। वे रामायण लिखने बैठते तो वह अग्रजायण बन गई होती। वह अग्रजायण भी अनुपम हो सकती थी, किन्तु राम का व्यापक रूप देखने का काम लक्ष्मण का न था। इसीसे किसीने यह कार्य करने का अनुरोध उनसे किया हो, इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

हनुमान से बढ़कर राम का किंकर कौन होगा? उन्होंने भी वैसा प्रयत्न कभी नहीं किया।

राम के चरित का गान करने के लिए दूर दृष्टि अपेक्षित थी; ऐसी अनासक्ति अनिवार्य थी, जो लक्ष्मण तक का विसर्जन सहजभाव से कर सके। यह तपोबल महर्षि वालमीकि में ही था। लक्ष्मण और हनुमान का महत्व इससे घटता नहीं।

सो, मैं बड़ों का ही अनुसरण श्रद्धा के साथ करना चाहता हूँ। अनुज होने के कारण इस अवसर पर मुझे कुछ लिखना ही चाहिए, यह मुझे नहीं दीखता। यह समारोह ही इस बात का है कि कवि घर और गाँव की सीमा का अतिक्रमण करके जन-जन का अपना बन सका। घर-घर उसके स्नेही, बंधु और अनुज फैले हैं। उनमें न जानें कितने ऐसे हैं, जिन्होंने दूर रहकर घर में निकट रहने वाले मुझसे अधिक पाया है, अधिक ग्रहण किया है। मैंने जो कुछ ग्रहण किया है, उससे अधिक मेरी मुट्ठी में अमा ही न सकता था। उसी के कारण मेरी किंचित् साहित्य-साधना भी मेरे लिए बहुत बन सकी। यह मैं अपने लिखे की अवमानना नहीं करता। वह मेरे जीवन का श्रेष्ठ लाभ है। उसमें जितना गुण आ सका है, वह न आ सकता यदि अग्रज का निदर्शन मुझे निरंतर न मिला होता। इतना होने पर भी अब तक अपनी कोई रचना उनके समक्ष यह कह कर भी उपस्थित नहीं कर सका हूँ कि 'पाई तुम्हीं से वस्तु जो, कैसे तुम्हें अर्पण करूँ।' इसके लिए मुझे और कुछ निखरना होगा। मेरा अच्छा-बुरा सब कुछ उन्हें अपने आप अर्पित हो रहा है। यही मेरा संतोष है।

और, इसीसे इस अवसर पर छुट्टी मनाने का मेरा यह आग्रह है। पर्व के आयोजन-समारोह में व्यस्त रहने का काम बड़ों का है। छोटों को छुट्टी मिलती है। छुट्टी न रहने से पर्व की महत्ता संकुचित होगी। अग्रज बड़ी गोद में, उनकी छाया में; भगवान की कृपा से आज भी मैं अपने को उतना ही छोटा, और इसी कारण सुरक्षित भी, पाता हूँ। उनसे संबंधित अपने बचपन की सर्वप्रथम एक याद यह मेरे मन में है कि वे झाँसी से किसी छुट्टी में लौटे थे, जहाँ उन्हें पढ़ने के लिए भेजा गया था। उनकी थाली में उनके साथ

मैंने कलेवा किया। नमकीन अथवा मीठा क्या कुछ था, यह भूल गया हूँ। संभवत: यह इसलिए कि इसका महत्व उतना नहीं, जितना इस बात का कि मुझे स्नेह का, शारीरिक के साथ-साथ, मानसिक पुष्टिकर आहार मिला।

तभी की, एक दूसरी घटना भी है। एक दिन जल के स्थान पर मैंने तेल से नहा लिया। इसके लिए कम डाँट नहीं मिली थी। दोनों घटनाएँ मेरे लिए सांकेतिक हैं। मेरा सारा जीवन उसी परिपोषण और अनुशासन में ढला हुआ है। मेरी ये स्मृतियाँ नितांत अपनी हैं। व्यक्तिगत व्यक्तिगत ही रहे, क्यों वह सार्वजनिक हो?

और एक बात। पूज्य दद्दा उन दिनों मेरे 'झाँसी वाले भैया' थे। वह संबोधन मैंने अपनी बड़ी बहन लक्ष्मी जिज्जी से लिया होगा। जिजिया ने सोचा न होगा कि वे अपने भैया को घर से और गाँव से ठेलकर नगर का बना रही हैं। आज वे होतीं, तो कितनी प्रसन्न होतीं कि उनके भैया निरंतर प्रव्रजित होते हुए, देश भर के अपने बन गए हैं।

लिखूँ क्या उनके विषय में? 'भैया' होकर वे मेरे 'दद्दा' बन गए हैं। भगवान ने मुझे जीवन के समग्र श्रेष्ठ दान उन्हीं के हाथों दिए। शब्दों में वह आभार भर कैसे सकूँगा?

मेरा मौन नमस्कार ही स्वीकृत हो!

मैथिलीशरण जी के व्यक्तित्व की द्वैतता

श्री राय कृष्णदास

★ ★

मैथिलीशरण की रचनाएँ पढ़कर लोग उनके कवि-रूप की जो कल्पना करते होंगे, प्रत्यक्ष दर्शन में उन्हें उस से बिल्कुल भिन्न पाते हैं। प्रायः ऐसा हुआ है कि जब लोगों ने उनका परिचय पाया है तो आश्चर्य-चकित रह गये हैं कि 'ऐं! यही गुप्तजी हैं?'

सन् १९११ ई० में, जब वह पहले-पहल मेरे अतिथि होकर आये, तब बुंदेलखंडी वैश्यों की पगड़ी, छकलिया अंगा, दुपट्टा और पायजामा—यही उनका परिधान था। माथे पर साम्प्रदायिक तिलक, बड़ी-बड़ी विचक्षण आँखें, मूंछें, साँवला रंग, इकहरा शरीर। स्वभाव की नम्रता उस समय भी प्रभावित किये बिना न रहती थी। बहुत दिनों तक यही उनकी वेशभूषा रही; अंगे के साथ प्रायः धोती भी पहन लिया करते। फिर अंगे का स्थान कुरते ने लिया, किंतु दुपट्टा और पगड़ी ज्यों-की-त्यों रही। सन् '२८ में जब से खादी ग्रहण की, तब से पगड़ी कुछ और भारी होने लगी; तभी कुछ समय के लिए दाढ़ी भी रख ली थी। सन् '४१ में उस गिरफ्तारी के बाद, जिसका कारण आज तक भी स्पष्ट नहीं हो सका है, उन्होंने पगड़ी का परित्याग कर दिया, तब से गाँधी टोपी ही पहनते हैं; बीच-बीच में अद्धा कुरता और जाँघिया पर ही रह जाते हैं। दाढ़ी-मोछ अब साफ है। अपरिचित के लिए सहसा उन्हें देखकर ही यह कल्पना कर लेना असंभव है कि यह व्यक्ति वही मैथिलीशरण गुप्त है, जिसे काशीप्रसाद जायसवाल ने 'द्विवेदी-युग की सबसे बड़ी देन' कहा था और जिसका काव्य-शरीर पिछली तिहाई शताब्दी के साहित्यिक कर्त्तृत्व पर अविच्छिन्न रूप से छाया हुआ है।

किंतु थोड़े-से भी परिचय से प्रकट होने लगता है कि यह अतिशय सीधा-सादा बहिरंग एक गंभीर प्रभावशाली और गुथीले व्यक्तित्व को छिपाये है। जो अपने सहज खुले मन से कुछ क्षणों में ही अजनबी से अपनापा स्थापित कर लेता है—और अनिवार्यतः हर किसी से अपनत्व स्थापित कर लेने की प्रवृत्ति और प्रतिभा रखता है—वही उपयुक्त अवसर पर मार्मिक और चुटीला व्यंग्य भी कर सकता है। जिसकी शालीनता और आत्मविश्वास इतना गहरा है कि किसी के भी आगे झुककर छोटा नहीं होता, किंतु मौलिक या सैद्धांतिक प्रश्नों पर कभी तनिक-सा भी नहीं काँपता; जो एक ओर परंपरावादी कवि प्रसिद्ध है, लेकिन दूसरी ओर चालीस वर्षों से निरंतर अपने उदार दृष्टिकोण के कारण प्रगति-प्रेरक रहा है और विरोधियों को प्रभावित करता रहा है।

गुप्तजी की शालीनता का एक उदाहरण 'अज्ञेयजी' से सुना है। 'अज्ञेयजी' जेल और नजर-बंदी से मुक्त होकर सन् '३५ में गुप्तजी के दर्शन करने चिरगाँव गए और उनके अतिथि होकर रहे। उससे पहले उनका कोई परिचय नहीं था, केवल जेल में थोड़ा-सा पत्र-व्यवहार जैनेंद्रजी की मध्यस्थता से हुआ था। 'अज्ञेय' की रचनाएँ भी तब तक प्रकाश में नहीं आयी थीं; चिरगाँव में ही गुप्तजी ने हस्तलिखित 'शेखर' पढ़ा। दो-तीन दिन में गुप्तजी ने उनसे अपनापा स्थापित कर लिया। 'अज्ञेय' ने अपने क्रांतिकारी जीवन की बहुत-सी बातें भी उन्हें सुनायीं—जिसमें मुसलमान होकर रहने का भी उल्लेख था। 'अज्ञेय' जब लौटने लगे, तब गुप्तजी उन्हें बिदा करने दूर तक आये। 'अज्ञेय' ने जब उन्हें आग्रहपूर्वक लौट जाने के लिए कहा तो वे सहसा बोले, "अच्छा, अज्ञेयजी, जो कुछ भी हो, आखिर तो ब्राह्मण हैं और हमारे प्रणम्य हैं"—और कहते-कहते पैरों की ओर झुक पड़े!

ऐसा सहज विनय दृढ़ आत्म-विश्वास और कर्तव्यनिष्ठा से ही उत्पन्न होता है। अपने साहित्यिक जीवनारंभ से ही उनपर बड़ा पारिवारिक दायित्व आ पड़ा था। उसमें साझा करनेवाले और भी हो सकते थे, पर मैथिलीशरणजी ने उसे अपने ही कंधों पर लिया। बल्कि उनकी साहित्य-साधना भी इस कर्तव्य के एक

अंग के रूप में विकसित हुई। उनके काव्य में निरंतर कर्तव्य का स्वर बोलता है; बल्कि यह कहा जाय कि गुप्तजी कर्तव्य के कवि हैं, तो अत्युक्ति न होगी। गुप्तजी की 'रंग में भंग' इंडियन-प्रेस से छप चुकी थी, 'कविता-कलाप' में भी अधिकांश उन्हीं की कविताएँ छपी थीं। इसके लिए उन्हें रायल्टी आदि कुछ नहीं मिली थी, 'रंग में भंग' की केवल ५० प्रतियाँ उन्हें मिली थीं। जब 'जयद्रथ-वध' के प्रकाशन की बात हुई तो इंडियन प्रेस ने उन्हें ५०) रु० देने को कहा। महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने इसकी सूचना गुप्तजी को देते हुए लिखा कि '८-७ प्रतियाँ भी वह देगा ही।' नागपुर के कोई प्रकाशक १००) रु० देते थे, पर द्विवेदीजी ने राय दी कि 'औरों के १००) रु० से इंडियन-प्रेस के ५०) रु० अच्छे।' गुप्तजी के चचा श्रीभगवानदास ने, जिन्हें काव्य से प्रेम भी था और पुस्तकें छापकर बाँटने का भी शौक रखते थे, विचार किया कि पुस्तक को स्वयं क्यों न छापा जाय? इसमें द्विवेदीजी भी अप्रसन्न न होंगे, स्वयं प्रकाशन का प्रयोग भी करके देख लिया जायगा, और पुस्तकें बाँटने का शौक भी पूरा हो सकेगा—'रंग में भंग' की प्रतियाँ खरीदकर बाँटनी पड़ी थीं। १५०) रु० की लागत से इंडियन-प्रेस से ही पुस्तक की छः सौ प्रतियाँ छपीं। एक सौ प्रतियाँ बाँटी गयीं, और बाकी हाथों-हाथ बिक गयीं। इससे उत्साहित होकर और भी प्रकाशन स्वयं किये गये—कुछ इस आशा से भी कि अब तक जो थोड़ी-थोड़ी जायदाद बेचकर सूद चुकाना पड़ता है, इसकी बजाय प्रकाशन की आमदनी काम आ सकेगी। अब तक 'जयद्रथ-वध' और 'पंचवटी' की दो-दो लाख से अधिक प्रतियाँ बिकी होंगी; 'भारत-भारती' की डेढ़ लाख। किंतु प्रकाशन की आमदनी निरंतर ऋण-शोध में झोंकते रहकर भी मुक्ति पाने में गुप्तजी को तीस वर्ष लग गये।

कर्तव्य-भावना के साथ-साथ साहस का एक उदाहरण देना उचित होगा। चिरगाँव में अपनी जमीन में सिंचाई के लिए गुप्तजी ने बिजली का इंजन लगवाया था। एक दिन जब दो लड़के कुएँ के भीतर काम कर रहे थे, और ऊपर इंजन चल रहा था, तब अचानक इंजन का पट्टा उतर गया। मोटर बहुत जोर से चलने लगी और कुएँ के ऊपर इंजन वाला समूचा चौखटा ऐसे जोरों से हिलने लगा कि अब गया, अब गया। मोटर का स्विच कुएँ के अन्दर ही था। गुप्तजी ने देखा, तो भीतर काम करते हुए लड़कों का ध्यान करके अपनी जोखम भूलकर कुएँ के अन्दर उतर गये और वहाँ से स्विच बन्द करके मोटर रोक दी।

बिजली की मोटर के उल्लेख से सहसा गुप्तजी के यंत्र-प्रेम की ओर ध्यान जाता है। परम वैष्णव कवि में यंत्रों के बारे में बड़ा कौतूहल और उत्साह है। अच्छे कार्यदक्ष यंत्र से गुप्तजी बहुत प्रभावित होते हैं—इसका एक नमूना उनके प्रेस का यंत्र-संग्रह है। चिरगाँव-जैसे छोटे स्थान में प्रेस की अपेक्षा में बहुत बड़ी और दामी मशीनें लगाना व्यापारिक बुद्धि के सर्वथा प्रतिकूल है—मशीन से पूरा काम न लिया जाय तो वह बोझ हो जाती है—फिर भी कलकत्ते में एकाधिक बार अच्छी और बड़ी मशीन देखकर गुप्तजी ने उसे खरीद लिया है और चिरगाँव लाकर डाल दिया है। आने-जाने वालों को वह ये मशीनें बड़े उत्साह से दिखाते हैं और उनकी एक-एक विशेषता समझाते हैं। किसी प्रेस के बारे में इस बात का आनंद उनके लिए कभी कम नहीं होता कि वह एक दिन में साठ हजार छापे दे देती है—वह यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि ऐसी मशीन के लायक काम उनके पास नहीं है, और उनके प्रेस की साल-भर की निकासी वह सात दिन में करके रख देगी और बाकी ३५८ दिन बंद पड़ी रहेगी! अपनी ही आवश्यकता के लिए उन्होंने टाइप-फौंड्री भी लगायी, और अपने टाइप ढालने के उत्साह में इतना सामान जुटा लिया कि उससे मजे में टाइप-फौंड्री का व्यवसाय चल सकता! यंत्र के पास बैठकर उसका एक-एक गुर समझ लेना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है, और फिर उनमें ज्ञानदाता की ऐसी प्रबल इच्छा रहती है कि वह हर किसी को बड़े धैर्य के साथ हर बात समझाते भी रहते हैं। वह भी ऐसे सहज निराडंबर ढंग से कि अनपढ़ देहाती भी कभी यह अनुभव न करे कि वह अज्ञ है और उसे कुछ सिखाया जा रहा है।

तब इधर-उधर की अनेक बातों में रस लेकर भी अपने साहित्य-निर्माण के समय का गुप्तजी कड़ाई से पालन करते हैं। बल्कि कहा जाय कि उन्होंने जो-जो काम उठाये, उनमें से यही एक बिना व्याघात के पूरा होता रहा है, और सब काम अधूरे ही रह गये हैं। सितार बजाने का उन्हें बहुत शौक था और उसका बहुत

अभ्यास भी करते रहे, पर फिर वह छूटा और ऐसा छूटा कि 'अब तो सितार के सुरों की अपेक्षा यंत्र के सुर से ही अपना परिचय अधिक है !' यों संगीत से उन्हें बराबर प्रेम रहा और है, और मुंशी अजमेरी से उनकी गहरी मित्रता का एक कारण यह भी था। संगीत ही नहीं, अच्छे चित्रों से भी उन्हें बहुत प्रेम है, और ब्रजभाषा-साहित्य से तो है ही।

किंतु गुप्तजी की भावुकता बहुत दुराराध्य है। कविता हो या चित्र, गान हो या अभिनय, अनुकरण हो या परिहास, चीज उनको तभी जँचेगी, जब वह सवा सोलह आना खरी हो। इस संबंध में मेरा उनका सदैव मतभेद रहा है और रहेगा। मैं चाहता हूँ कि उससे जितना रस मिले वे ग्रहण करें, किन्तु मैं उन्हें अपने मार्ग पर कभी नहीं ला सका। इत्थम्, जब मैं किसी रचना से परितुष्ट होता हूँ और वे उसकी उपेक्षा करते हैं, तो मुझे दुःख भी होता है; किन्तु उस कष्ट के भीतर यह आनन्द भी रहता है कि कितनी उत्कृष्ट है उनकी आस्वाद-प्रवृत्ति !

गुप्तजी का सामाजिक व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक है। यह तो कहा जा चुका कि सब तरह के, सब श्रेणियों और वर्गों के लोगों से सहज अपनापन स्थापित करने की उनमें असाधारण क्षमता है। आजकल के पढ़े-लिखों की भांति अनपढ़ ग्रामीणों के बीच उन्हें विषमता से घबराहट नहीं होती, न उन पर वैसी अनुकंपा दिखाने की आवश्यकता पड़ती है, जो वास्तव में अवज्ञा का दूसरा रूप है—मेल-जोल सहज मानवीय समानता के स्तर पर होता है। न वे पद या धन के सामने अतिरिक्त रूप से विनीत होते हैं—उनका सहज नैसर्गिक विनय सबको समान रूप से अपनाता है। हाँ, जिनपर उनका स्नेह है, उनके सुख-दुःख में वे पूरा भाग लेते हैं, और समय-समय पर उन्हें सलाह और सहायता भी देते रहते हैं। ठीक समय पर किसी की परिस्थिति को समझ और ध्यान में रखकर उचित परामर्श दे सकना और सहायता पहुँचाना एक बहुत बड़ी बात है, और जिनका गुप्तजी से निकट परिचय रहा है, वह उनके इस गुण के अनेक उदाहरण दे सकेंगे। बच्चों से भी उन्हें बहुत स्नेह है और आसानी से उनसे हिल-मिल जाते हैं, यद्यपि वे शासन-प्रिय भी बहुत हैं और बच्चों को स्वच्छंद छोड़ना उन्हें बिल्कुल पसंद नहीं है।

मैथिलीशरण के विश्लेषण के लिए 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि, लोकोत्तराणि विचेतांसि' वाली पंक्ति संभवतः सर्वोत्कृष्ट कसौटी है और उनके व्यक्तित्वकी यही द्वैतता इतनी रमणीय है कि वह एक स्थायी स्नेहबंधन बनकर संपर्क में आनेवाले को हठात् आबद्ध कर लेती है।

जेठे भाई

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

*　　　　　*

मई सन् १६०८ की बात है—सैंतालीस वर्ष से ऊपर हो गए। झांसी में बाबू खुशीलाल वर्मा एक छोटे से सरकारी पद पर थे। उर्दू में कविता करते थे, कभी-कभी कहानी भी लिखते थे। फिर हिन्दी में भी लिखने लगे। उस महीने के अंक की 'सरस्वती' में मेरा एक छोटा-सा लेख छपा। जहाँ तक स्मरण है, बा० खुशीलाल की भी एक कविता उसी महीने के आसपास छपी थी। मैं बा० खुशीलाल के घर गया। मुझसे आयु में काफी बड़े थे, परंतु मौजी जीव थे। आत्मीयता के साथ मिलते थे। मैं उनके पास बैठा ही था कि दो सज्जन आए। एक तनीदार अचकन पहिने थे और लाल पगड़ी बांधे थे। रेखें घनी हो आई थीं। दूसरे कुर्ता पहिने थे और साफा बांधे थे। आयु में इनसे कुछ बड़े।

बा० खुशीलाल ने परिचय दिया, "यह बाबू मैथिलीशरण गुप्त हैं और यह मुंशी अजमेरी।"

कई वर्ष से गुप्त जी पगड़ी नहीं बांधते, परंतु उनका जो मुक्तहास उस दिन देखा, वही आज भी है। उसी दिन मैं और वह मित्र हो गए। फिर यह मित्रता धीरे-धीरे बंधुत्व में परिवर्तित हो गई। सैकड़ों बार चिरगांव उनके पास गप्प-गोष्ठी के लिए गया। आज वह बड़े भाई, मैं उनका छोटा भाई। परंतु मित्रता की उन्मुक्तता इतनी कि जब हम दोनों बहुत मौज पर आ जाते हैं, तब अट्टहास के साथ तू-तड़ाक और 'तू बदमाश या मैं?' तक की नौबत आ जाती है।

यदि कभी रात के नौ-दस बजे हम दोनों अकेले बैठे या लेटे, तो इतनी बातें होती हैं कि सबेरे के चार तो बज ही जाते हैं। पता नहीं चलता कि किस-किस प्रसंग पर बात की और समय कब आया, कब गया।

एक दिन मेरे और उनके चार-पांच सैकंड के आंसुओं ने जो बातचीत चुपचाप की, उसको न वह कभी भूले और न मैं। सन् १६२० के मार्च या अप्रैल में चिरगांव के तेरह-चौदह युवक गिरफ्तार कर लिये गए। इसके कुछ महीने पहले चिरगांव-झांसी के बीच में रेल का तार काट डाला गया था और पटरी उखाड़ फेंकने का प्रयत्न हुआ था। इन युवकों पर आरोप यह था कि ये ब्रिटिश साम्राज्य को नष्ट कर डालना चाहते थे। इनमें एक गुप्त जी का भतीजा रघुवीरशरण भी था, जिसे मैंने छुटपन में खिलाया था।

सूर्योदय हो चुका था। मैं हाथ-मुंह धोने जा रहा था। देखूं, तो द्वार पर श्री मैथिलीशरण गुप्त। वह चुप, मैं भी गुमसुम। दोनों की आँखों से आंसू झर पड़े। मैं उस गिरफ्तारी का हाल गई संध्या के समय सुन चुका था।

थोड़ी देर में हम दोनों संभले। मैंने पूछा, "सुना है, कुछ लड़कों ने जुर्म से इकबाल किया है?"

"हाँ, किया है। आठ ने किया है। परन्तु रघुबीर उनमें नहीं है। उसने नहीं किया।" उन्होंने उत्तर दिया।

उन युवकों की अदालती पैरवी मेरे सिपुर्द की गई। बहुत कठिनाइयाँ आईं।

उन्हीं दिनों हमलोगों को सूचना दी गई कि इलाहाबाद के लीडर-संपादक श्री सी० वाई० चिन्तामणि झाँसी जिले से काउन्सिल की सदस्यता के लिए खड़े होना चाहते हैं, हमलोग चुनाव में उनकी सहायता करें। ऐसे प्रतिभाशाली योग्य व्यक्ति का झाँसी से खड़ा होना हमें बहुत अच्छा लगा। हमलोगों ने सहायता करने का वचन दिया और कार्यारम्भ कर दिया।

वह मुकदमा सिर पर था। हम दोनों सलाह-सम्मति के लिए इलाहाबाद गए। मैंने कुछ दिन पहले सिगरेट-तमाखू पीनी छोड़ दी थी। मैथिलीशरण जी गुप्त पीते थे। ट्रेन में बैठे जा रहे थे। अभी इलाहाबाद दूर था। गुप्त जी ने सिगरेट जलाई। मुझसे आग्रह किया, "पियो भी, मुकदमे का भूत भागेगा इससे।"

मैंने फिर से पीनी शुरू कर दी। हम दोनों श्री चिन्तामणि के पास पहुँचे। उन्हें मुकदमे का हाल सुना कर मैंने चाहा कि पंडित मोतीलाल नेहरू, डा० सप्रू या किसी बड़े वकील से सलाह-मश्विरे की सहायता दिलवा

दें। श्री चिन्तामणि बड़े ही विनम्र और स्पष्टवादी थे। उन्होंने कहा, "इन लोगों से सलाह लेना व्यर्थ होगा, अपने आप कुछ करिए।"

हम लोगों ने सुन रखा था कि उत्तरप्रदेश के तत्कालीन गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर चिन्तामणि जी के बड़े मित्र हैं। मैंने अनुरोध किया, "आप गवर्नर से सिफारिश करें। आपके तो वह परम मित्र हैं।"

उन्होंने एक क्षण सोचा। नाहीं कर दी, "अदालत में चलते मामले में कोई गवर्नर हस्तक्षेप नहीं कर सकता। फिर भी देखूंगा, परन्तु आशा नहीं दे सकता।"

हम अपने भाग्य और कानून के डगमगाते भरोसे पर झांसी लौट आए।

दो-तीन दिन उपरांत झांसी के कमिश्नर के पास गवर्नर का तार आया—"जिन लड़कों पर तार काटने और पटरी उखाड़ने का मुकदमा चल रहा है, उन्हें छोड़ दो ; क्योंकि, सम्राट् का आदेश है कि इतने और ऐसे जुर्म करने वालों पर मुकदमें नहीं चलाए जायेंगे।" रघुवीरशरण के साथ वे इकबाली लड़के भी छूट आए।

श्री चिन्तामणि के चुनाव में गुप्त जी ने और मैंने दिन-रात एक कर दिया।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से गुप्त जी की और मेरी बहुत घनिष्ठता थी। 'प्रताप-परिवार' एक संस्था-सी हो गई थी। गुप्त जी 'प्रताप' के ट्रस्टियों में थे।

गुप्त जी के द्वारा काशी के राय कृष्णदास जी से मेरा परिचय हुआ और मित्रता घनिष्ठ हुई।

एक दिन हम तीनों देवगढ़ यात्रा के लिए गए। झांसी से जाखलोन स्टेशन लगभग सत्तर मील है। वहां से दस मील बैलगाड़ी से गए। देवगढ़ में प्रकृति की विभूति के साथ ही मूर्तिकला का जो अद्भुत शिल्प देखा, उससे हम सब स्तम्भित हो गए। जब लौटे तो रात हो गई। अंधेरी रात, साथ में कोई हथियार न था। गाड़ी के सामने शेर आ गया। बैल छड़के। हमें लगा कि गाड़ी अब औंधी हुई, अब उलटी। दियासलाइयां जला-जला कर किसी प्रकार त्राण पाया। 'राम राम' करके घर आए!

गुप्त जी ने और मैंने साइकिल का चढ़ना सीखा। वह चाहें कहें या न कहें, दो-एक बार वह जरूर गिरे और मैं तो कांटों में ही जा पड़ा था। उन्होंने अपनी चोटें तो छिपा लीं, पर मेरा मजाक महीनों-बरसों उड़ाते रहे।

एक बार हमलोग साइकिलों पर झांसी से बेतवा के नौहट घाट गए। बरसात के दिन नहीं थे। फिर भी नदी में पानी बहुत था। न जाने क्या हुआ, कि हम दोनों की साइकिलों के ब्रेक धोखा दे गए। जब घाट के ढाल से नीचे की ओर बढ़े, तब सीधे पानी में साइकिलों समेत समा गए होते, परन्तु मोड़ दे दी और करार से जा टकराए। भदभदाकर गिरे, परन्तु प्राण बच गए!

उन्हें सितार बजाने का शौक लगा और मुझे भी। वह तो सीख भी गए। परन्तु मैं ऐसा-वैसा ही रहा। एक रात, मैं यकायक उनके पास चिरगांव पहुँचा। वे लेट चुके थे। बिस्तरों में बैठ गए। मैंने सितार उठा लिया। शायद भोपाली या बिहाग के स्वर छेड़े। उनके आंसू निकल आए। मैंने सोचा, मैं कुछ बजाने लगा हूँ। परन्तु जब झांसी आया, अपने सितार-गुरु के सामने वे ही स्वर छेड़े, तो उन्होंने कहा, "सितार बजाना छोड़ दो, तुम्हारा परिश्रम बेकार जाएगा। इसराज बजाना सीखो, वह आ जाएगा।" गुप्तजी के आंसू उन्हीं की किसी कल्पना के परिणाम थे, मेरे बजाने से बहुत ही थोड़ा सम्बन्ध रहा होगा।

मैंने जब सन् १९२७ में 'गढ़ कुंडार' उपन्यास लिखा, तब उसकी पांडुलिपि पहले-पहल गुप्त जी ने ही पढ़ी थी। उन्हें उपन्यास बहुत रुचा। फिर मैंने पांडुलिपि श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के पास भेजी थी। जब मेरा उपन्यास 'लक्ष्मीबाई' छप गया, उनके पास तुरन्त एक प्रति भेजी। उन्हें बहुत पसन्द आया, छोटे भाई को शाबासी देने झांसी दौड़े आए।

उनकी कृतियां 'सरस्वती' इत्यादि पत्रों में सन् १९०९ से पढ़ता आया हूँ। पांडुलिपियों के पढ़ने और सुनाने का क्रम गुप्त जी की 'भारत-भारती' से आरम्भ हुआ था। इन सैंतालीस-अड़तालीस वर्षों के इतने प्रचुर संस्मरण हैं, उनमें इतना वैचित्र्य है कि एक पोथे में भी न समावें। फिर भी दो-एक तो दे ही दूं।

इन इतने बरसों में कभी-कभी थोड़ा-सा राजनीतिक मतभेद भी हुआ, पर वह ऊपर कभी नहीं आया। हम दोनों भाई-भाई ही बने रहे। सन् १९५१ में मेरे सिर पर चुनाव का भूत सवार हो गया और मैं खड़ा हो गया। गुप्त जी ने मुझे समझाया, पर वह भूत क्या जो किसी की सुनने दे? हुक्का-सिगरेट वह छोड़ चुके थे और मैं भी। कोई भी मध्यस्थ न बन सका। जब मैं चुनाव हार गया—गुप्त जी राज्यसभा के सदस्य मनोनीत हो चुके थे—मेरे घर आए। उन बड़ी आंखों में वैसे ही आंसू छलछला आए थे। पर मैं हंस पड़ा।

वह बोले, "वृन्दावन, तुम्हारे हारने का मुझे बहुत दुख है। समझाया था, तुम न माने।"

"मैथिलीशरण, कैसे मानता मैं?" हँसते हुए मैंने कहा, "मूर्खों के मुहल्ले क्या कहीं अलग बसते हैं?"

वह भी हँस पड़े। उनके छोटे भाई, और मेरे भी, सियारामशरण साथ थे। हम तीनों ने एक दूसरे से लिपट कर उस दिन फोटो खिंचवाए।

फिर सुपारी-तम्बाकू की बारी आई। सुपारी काटने के लिए सरौता न था, पत्थर से फोड़ी। उन्होंने दूसरे ही दिन लोहे का बढ़िया सरौता भिजवाया। वह स्नेहोपहार अकूते मूल्य का है। उन उपहारों से भी बड़ा, जो उनसे इससे पहले अनगिनते पाये हैं।

जिस दिन से वह राज्यसभा के सदस्य हुए, उनसे कहता आया हूँ कि भारत में आने वाले और यहीं बनने वाले अधिकांश फिल्म जिस स्तर के होते हैं, उससे ऊँचे स्तर वालों का आयोजन फिल्ममंत्री से करवाओ, क्योंकि फिल्म जन-मनोरंजन का बहुत बड़ा साधन होने के साथ ही सुन्दर सांस्कृतिक वातावरण के निर्माण का भी प्रबल अस्त्र है। वह भरसक प्रयत्न करते चले आ रहे हैं।

गुप्त जी का स्वभाव बहुत ही नम्र, मृदुल और शिष्ट है, पर यदि कोई किसी के साथ अत्याचार या अन्याय करे, तो फिर देख ले उन स्नेहार्द्र आँखों के ओज की आग को।

जब मैंने गत मई मास में सुना कि उनकी आंतों की किसी गांठ की शल्य-चिकित्सा बम्बई में हुई है, तब मैं अधीर हो गया। वह बम्बई में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता और लेखक डा० मोतीचन्द्र के घर थे और साथ में राय कृष्णदास और सियारामशरण। फिर भी बहुत चिन्ता लगी रही। उधर वह बम्बई में, इधर बड़े भाई श्री रामकिशोर जी गुप्त का बैकुंठवास हो गया। विधि का विधान, कर ही क्या सकते थे।

जून के तीसरे सप्ताह में मैथिलीशरण जी झाँसी आ गए। दो वर्ष हुए, जब उन्होंने यहाँ नगर के बाहर स्वच्छ स्थान में एक बंगला ले लिया था, उसी में ठहरे। तब मैं बाहर था। जब लौटा, उन्हें देखने गया। आँखों में वही मृदुल तेजस्विता, परन्तु दुर्बल बहुत हो गए थे। लेटे थे। जैसे ही उनके पास पहुँचा, लिपट गए। बिना कारण ही हम दोनों रो पड़े। बिना कारण? हाँ, और क्या कहूँ।

मेरे मुंह से निकला, "अभी हिन्दी के लिए बहुत कुछ करना है, परमात्मा तुम्हें शतायु करें।"

वह मुझसे जेठे हैं। उन्होंने मुझे शतायु होने का आशीर्वाद १९५१ ई० की फरवरी में प्रयाग की 'साहित्यकार संसद' के अधिवेशन के अवसर पर दिया था।

वह उस समय जैसा बोले थे, न वह भूले, न सुननेवाले।

मैं अकेले में ही परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ—'भाई मैथिलीशरण जी गुप्त शतायु हों।'

मेरे बड़े चाचा

श्रीमती सावित्रीदेवी वर्मा

★ ★

पूज्य मैथिलीशरण गुप्त दुनिया के लिए राष्ट्रकवि तथा श्रेष्ठ साहित्यकार आदि हैं, पर मेरे तो वह बड़े चाचा हैं। कैसे ? जन्म के नाते नहीं, पर प्रेम के नाते। वे मेरे पिता श्री हरीचन्द जी के बाल्यकाल के मित्र हैं। इस नाते भी और इस नाते भी कि मेरा जन्म झांसी में ही हुआ है। जब मैं कुछ दिनों की बच्ची थी, तभी से उन्होंने मुझे गोदी में खिलाया है। मुझे दुलारा है, सिर पर प्यार से हाथ फेरा है। झांसी में मैंने उनके सामने ही पांव संभाले और तुतला-तुतला कर उनकी गोदी में ही उछलकूद मचा कर बोलना सीखा।

माँ बताती थीं कि अपने चाचा की मैं कितनी दुलारी थी। सुबह दूध-जलेबी उनकी गोदी में बैठ कर खाया करती थी। उस समय घर में मैं अकेली लड़की थी। मुझसे बड़े दो भाई थे। छोटी होने के कारण मेरा बड़ा लाड़ हुआ करता था। चाचा जी की लाल बुन्देलखंडी पगड़ी मुझे बड़ी अच्छी लगती थी। मुझे बहलाने के लिए वह अपनी लाल पगड़ी मेरे सिर पर धर दिया करते थे। उस समय अभिमान से मैं अपने दोनों भाइयों की तरफ देखा करती और वे मुझे चिढ़ाते हुए ताली बजाते, "मुन्नी, चाचा जी बन गई!"

एक दिन पिता जी आ गए। मैं चाचा जी की पगड़ी पहन कर उन्हीं की गोदी में बैठी कहानी सुन रही थी। पिता जी बोले, "मुन्नी ने तो चाचा जी की पगड़ी संभाली हुई है। क्या अपने चाचा की सारी अक्ल तू ही ले लेगी ?"

मैंने अपने छोटे-छोटे हाथों से पगड़ी थाम कर कहा, "हाँ, अब मैं चाचा जी की बेटी बन गई हूँ।"

चाचा ने दुलार से मुझे थपथपाया और पिताजी से बोले, "हरीचन्द, देखो, बेटी की जात कितनी मोहनी होती है। अपने प्यार व मिठास से वह सब को रिझाए रखती है। सब का प्यार सहज ही प्राप्त कर लेती है।"

अब चाचा लाल पगड़ी नहीं पहनते, पर दो बातें उनकी अब भी पहले जैसी ही हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं आया। एक तो उनका ठहका मार कर, दिल खोल कर हंसना। दूसरी बात 'देखो बिटिया' कह कर बात करना। इस 'बिटिया' संबोधन में कितना अपनत्व और मिठास है, कह नहीं सकती। चाचा जी के जीवन के साथ मुझ भतीजी के बचपने की कितनी सुखद घटनाएं गुंथी हुई हैं। मेरे पिता जी को गुप्त जी के संपर्क में लाने का श्रेय श्री राय कृष्णदास जी को है। पिता जी इंजीनियर होते हुए भी साहित्य में विशेष रुचि रखते थे। गुप्त जी के राम-प्रेम से वह बहुत प्रभावित हुए। भारतीय संस्कृति और हिन्दुत्व का उन्हें बड़ा अभिमान है। जिन दिनों गुप्त जी 'भारत-भारती' लिख रहे थे, पिताजी को जब भी मिलते अपनी नई रचनाएं सुनाया करते। भारत के अतीत गौरव को लेकर उन दोनों में काफी चर्चा होती। लिखे हुए पदों को बार-बार पढ़कर छन्द को कसा जाता, भाषा को मांजा जाता और विचारों को अधिक स्पष्ट किया जाता। पिता जी एक अच्छे श्रोता थे, भावुक थे और गुप्त जी के परम स्नेही। अपने रचनाकाल के आरम्भ में ऐसे दाद देने वाले मित्र के साथ चाचा जी की पटरी खूब जमती थी। अतएव पिता जी के संग गुप्त जी का यह मित्रभाव बराबर बढ़ता रहा। जब कभी कोई नई रचना प्रकाशित होती, पिताजी को उसकी एक प्रति अवश्य भेंट की जाती। जब कभी चाचा मिलते, पद पढ़ कर सुनाते। 'कविता-कलाप' और 'साकेत' के कई पद पिता जी को कंठस्थ थे।

गुप्त जी की कविताओं के पिता जी इतने अधिक प्रशंसक थे कि उनसे प्रभावित होकर बाल्यकाल में हम बहन-भाई भी गुप्त जी के अगाध भक्त बन गए। 'भारत-भारती' की अन्तिम कविता 'ईश विनय' मुझे आठ वर्ष की आयु से ही कंठस्थ थी। कितनी ही बार इस कविता को भावमग्न होकर मैंने गुप्त जी को सुनाया। जैसे कोई भक्त भगवान की वस्तु भगवान को ही नैवेद्य लगाकर सन्तुष्ट करता है, कुछ इसी प्रकार

का सन्तोष व खुशी चाचा जी के मुँह पर छा जाती थी, अपनी इस बिटिया को 'ईश विनय' गाते सुनकर। इस कविता का पाठ पहले कुछ स्कूलों में सुबह के समय हुआ करता था। हमारे स्कूल में भी होता था। 'भारत-भारती' और 'हिन्दू' इन दो रचनाओं ने नवयुवकों के हृदय में देशप्रेम और आर्यसंस्कृति के उद्धार की काफी भावनाएं उभार दी थीं।

सन् १९४१ का आन्दोलन जोरों पर था। एक दिन अचानक सुना, गुप्त जी को ब्रिटिश सरकार अपने 'बड़े घर' में मेहमान बनाने ले गई है। गुप्त जी जेल से छूटने के बाद एक बार दिल्ली आए। पिता जी के घर पर भी पधारे। उन दिनों मैं वहीं थी। मैंने पूछा, "चाचा जी, आपको सरकार अपना मेहमान बनाने किस कारण ले गई थी?"

गुप्त जी बोले, "बस, कुछ पूछो मत बिटिया! मुझे अभी तक नहीं पता लगा कि मेरा क्या कसूर था?"

पिताजी ने गंभीर होकर कहा, "भाई, ऐसे भोले तो न बनो। तुमने तो ऐसा भारी कसूर किया था कि ब्रिटिश सरकार का सिंहासन उलटने में अब क्या कोई कसर बाकी रही है?" मेरे नेक चाचा जी ने क्या गजब कर दिया था, इस जिज्ञासा में मैं सांस रोक कर पिताजी की शेष बात सुनने के लिए कान लगाए हुए थी। गुप्त जी पिता जी का स्वभाव जानते तो थे कि ये बड़े मजाकिया हैं। पर वह भी दुविधा की स्थिति में कुछ घबड़ा से गए। एक क्षण सन्नाटा छाया रहा। पिता जी ने अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहा, "गुप्त जी, यह तो ऐसा किस्सा हुआ कि किसी अपराधी को जो कि बार-बार घूस देकर छूट जाता है, हाईकोर्ट तक परेशान किया जाए। तुम्हारे राम बहुत प्रबल हैं। तुमने भारत की मुक्ति की अपील उन तक कर डाली। देश का बच्चा-बच्चा पुकार रहा है—

इस देश को हे दीनबन्धु आप फिर अपनाइए
भगवान भारतवर्ष को फिर पुण्य भूमि बनाइए।

भला सोचो, यह क्या कम अपराध है तुम्हारा? तुम जैसे भक्तों की पुकार पर भला क्या अब भगवान कान मूंदे रहें?"

इस सार्थक उपालंभ पर पिता जी व चाचा जी दोनों ठहाका लगा कर हंसे। १९४७ के बाद जब फिर मैं गुप्त जी से मिली तो मैंने पिता जी की बात याद दिलाते हुए कहा, "चाचा जी! याद है, पिता जी ने क्या कहा था? आपके राम बड़े जबरदस्त हैं। ब्रिटिश सरकार का सिंहासन डोल गया। भारत अब पुण्य भूमि बनने जा रही है।"

गुप्त जी हंसकर बोले, "ठीक है बिटिया, देश स्वाधीन हुआ है जरूर, पर अभी बहुत काम बाकी है। अब हम सब पर जिम्मेवारियाँ आ पड़ी हैं। लोग ऐसे हैं, वैसे हैं—ऐसा कह कर दूसरों पर कसूर थोपने से तो काम नहीं चलेगा। यदि भारत को पुण्यभूमि बनाना है, तो पहले प्रत्येक को आत्मशुद्धि करनी होगी। इतने दिन पराधीन रह कर हम सब बोलना भर सीख गए हैं और करना भूल गए हैं। हम किन ऋषियों महापुरुषों की सन्तान हैं, यह याद रखना होगा। उनकी सुकीर्ति को हम-तुम-सब को मिलकर और आगे बढ़ाना होगा, तभी भारत पुण्यभूमि बनेगी।"

मैं बोली, "मैं तो नाचीज हूँ। बाल-बच्चे और गृहस्थी को संभाल पाऊं, यही बहुत समझती हूँ।"

गुप्त जी ने प्रोत्साहन देते हुए कहा, "अरे तो बिटिया, यह क्या कुछ कम है? अच्छी, स्वस्थ और योग्य संतान—इससे बढ़कर और देश को किस दौलत की जरूरत है? तुम नारियों के हाथ से ही तो देश के भविष्य का नवनिर्माण होनेवाला है। प्रत्येक गृहस्थ सुखी होगा तो समाज व देश खुद भी सुखी रहेगा।"

उस दिन मैं घर लौटी तो मानो नई हिम्मत आ गई, जैसे कि कुछ पा लिया हो। अपने को गृहस्थी के बंधनों में जकड़ी हुई समझती थी, पर गुप्त जी ने आंखें खोल दीं। गृहस्थी के ये कोमल बंधन स्वेच्छा से पहने हुए, सुखद प्रतीत होने लगे।

सन् १६५३ की बात है। चाचा जी पिता जी से मिलने आए। मैं भी वहीं थी। पिता जी ने कहा, अब आपकी यह बिटिया काफी लिखने लगी है। दिखता है, आपकी बुन्देली पगड़ी बचपन में इस पर कुछ असर छोड़ ही गई।"

मेरी प्रकाशित रचनाओं को देखकर चाचा जी को बड़ी प्रसन्नता हुई। मौका देखकर मैंने कहा, "चाचा जी, मैंने उत्तर-भारत की लोककथाओं का संग्रह तैयार किया है। उसके लिए दो शब्द आशीर्वाद के लिखने की कृपा करें।" सुमित्रानन्दन (चाचा जी के भतीजे) वहीं थे। चट से बोले, "दद्दा को लेखक इसी प्रकार परेशान करते रहते हैं। बहन, भूमिका-लिखवाई का क्या होगा, पहले यह बताओ ?"

मैंने कहा, "यह तो देवता का नैवेद्य देवता को ही चढ़ा रही हूँ। इस संग्रह में अधिकांश कहानियां तो वे ही हैं जो कि चाचा जी ने और मुंशी अजमेरी जी ने सुनाई थीं। चाचा को यदि पूजा स्वीकार होगी, तो आशीर्वाद भी देंगे।"

पिता जी बोले, "गुप्त जी, आपकी यह बिटिया बातों में हारनेवाली नहीं है। याद है, मुंशी अजमेरी जी इसे दुलार में बक्की कहा करते थे। यह तो छुटपन से ही बात करने में उस्ताद है।"

चाचा जी ने सरल भाव से कहा, "ऐसा होना तो स्वाभाविक ही था। इसका बाप क्या कम है बातें करने में ?" फिर मुझसे बोले, "बिटिया, सुमित्रानन्दन को याद दिला देना कि भूमिका लिखवा ले मुझसे, मैं काम में भूल जाता हूँ।"

दो-तीन दिन बाद मैं भूमिका के सिलसिले में गुप्त जी के यहां पहुंची। साथ में मेरे पति डा० वर्मा व छोटी लड़की सविता भी थी। सुमित्रानंदन और श्रीनिवास घर पर ही थे। चाचा जी किसी से मिलने गए हुए थे। बातों-बातों में मैंने पूछा, "भैया, चाचा जी नारी के हृदय का दुःख-दर्द इतनी सच्चाई से कैसे चित्रित कर सके हैं, मैं तो यही देख कर हैरान हूँ।"

श्रीनिवास बोले, "इस अनुभूति का भी एक कारण है। गुप्त जी की अनेक सन्तानों में से केवल एक पुत्र ही बचा है। अपनी गोद की दौलत लुटते देख मां कैसा हाहाकार कर उठती है, यह क्या अनुभव करना चाचा के लिए शेष रहा है ?"

कुछ भूली सी बात याद आई मुझे। मैंने द्रवित होकर कहा, "आपका कहना ठीक है। सन् १६२६ में मेरा २२ वर्ष का भाई बिजली के धक्के से मर गया था। उसकी मृत्यु पर पिता जी को सान्त्वना देते हुए उन्होंने जो पत्र लिखा था, उसको पढ़कर 'जयद्रथ-वध' में वर्णित अभिमन्यु की मृत्यु पर श्रीकृष्ण के सान्त्वना के शब्द याद हो आए थे। मनुष्यमात्र के दुःख-दर्द को जो अनुभव करके वर्णन कर सके, वही तो जनता का कवि है। यही कारण है कि 'साकेत' की उर्मिला के जीवन में प्रत्येक वियोगिनी अपनी झलक देखती है।"

इतने में चाचा जी ने कमरे में प्रवेश किया, बोले, "ओ, बिटिया, तुम हो ! मैं तो सीढ़ियों से ही जान गया था कि तुम आई हुई हो। अरे, अपनी काकी और भाभी (सुमित्रानन्दन की बहू) से नहीं मिली ?"

मैंने पूछा, "अच्छा, वे यहीं हैं ? मुझे तो भैया ने नहीं बताया।" चाचा आगे-आगे और मैं पीछे-पीछे रसोई की तरफ चले। काकी रसोईघर में थीं। मैं जूते पहने थी। यह भी डर था कि वह छूत मानती होंगी। इसलिए दरवाजे पर ही रुक गई। भारतीय गृहिणी का साक्षात् रूप मेरी काकी कुछ सकुचाती-सी बाहर आईं। मैं उनके गले से लिपट गई। प्यार से गद्गद् होकर उन्होंने मेरी पीठ और सिर पर हाथ फेरा। चाचा को यह सब बहुत अच्छा लगा। बोले, "यह हमारी बिटिया है। इसे मैंने बचपन में गोद खिलाया था। इसके पति डाक्टर साहब भी आये हुए हैं। कुछ खिलाओ-पिलाओगी नहीं इन्हें ?"

सुमित्रानन्दन की बहू भी आई। बिल्कुल कवि की कल्पना-सी, सुन्दर सजीली लजीली नारी। ग्राम-वधूटी-सी भोली और प्यारी भी। ननद जानकर उन्होंने मेरी आवभगत की। मां, भाभी का प्यार, चाचा का दुलार पाकर बचपन के प्यारे दिन याद हो आए। चाचा ने मेरी लड़की के सिर पर हाथ फेरते हुए मुझसे कहा, "बिटिया, छुटपन में तुम बिल्कुल ऐसी ही प्यारी लगती थीं। पर यह तो बहुत चुपचुप है। तुम तो बस तूफान-मेल थीं बात करने में।"

मौका देखकर डाक्टर साहब बोले, "देखिए न, अब भी कौन कम है ?" इस पर सब जने जोर से हंसे।

चाचा ने सविता से पूछा, "क्यों बेटी, कितने बहन-भाई हो तुम ?" सविता बोली, "तीन बहनें, दो भाई हैं।" जब उन्हें पता चला कि बड़ा लड़का 'एयरफोर्स' में है, तो कुछ क्षण के लिए चौंक कर बोले, "अरे, उसे 'एयरफोर्स' में भेज दिया।"

मैंने कहा, "क्या करती चाचा, वह मानने वाला नहीं था। मैंने बहुतेरा रोकना चाहा, पर एक ही वाक्य से उसने मुझे निरुत्तर कर दिया था। मेरे रोकने पर बोला, 'क्यों मां, स्वतंत्र भारत की तुम नारी हो ? देश के लिए कुछ त्याग नहीं करोगी ? यदि प्रत्येक मां अपने बेटे को आंचल में छिपा कर रखना चाहे, तो देश की सुरक्षा के लिए नौजवान कहां से आयेंगे ?"

यह बात सुनकर चाचा को बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे ढाढ़स देते हुए बोले, "तुम्हारा चिरंजीवी ठीक कहता है। माताओं से देश को बहुत कुछ आशा है। इससे अधिक मूल्यवान दौलत देश के लिए उत्सर्ग करने को और क्या हो सकती है ?"

सान्त्वना के ये शब्द सुनकर मेरी आंखें सजल हो गईं। चाचा ने ममत्व से भर कर कहा, "बिटिया, दुर्बलता मन में नहीं लानी चाहिए। नारी का तो जीवन ही त्याग से परिपूर्ण है। भगवान सब कल्याण करेंगे। चिन्ता मत किया करो।"

डाक्टर साहब ने बात बदलने की दृष्टि से चाचा से कहा, "देखिए, सविता आपके हस्ताक्षर लेने के लिए अपनी ओटोग्राफ बुक लाई है।"

घर आकर भोजन के समय सविता ने अपनी बड़ी बहन को चिढ़ाते हुए कहा, "किरण, मैं आज गुप्त जी से मिल आई हूं। अपने ओटोग्राफ पर हस्ताक्षर भी करा लाई हूँ।"

किरण, "सच ! ऊं, मां, तुम हमें क्यों नहीं ले गई थीं ? हम भी राष्ट्रकवि के दर्शन करते। उनका 'जयद्रथ-वध' हमारे कोर्स में है। बड़ा आनन्द आता है पढ़ कर। आजकल के कवियों की भाषा व भाव दोनों बहुत गूढ़ होते हैं। पर गुप्त जी की भाषा, शैली और कथा-प्रवाह विद्यार्थियों में बहुत ही लोकप्रिय हैं।"

छोटा लड़का टुन्नू बोला, "मां, गुप्त जी की 'पार्थ-प्रतिज्ञा' हमारे कोर्स में है। पढ़कर जोश आ जाता है। हां, मां, सच बताओ कि क्या गुप्त जी बहुत ऊंचे, लंबे, मजबूत, वीर-बहादुर सिपाही की तरह दीखते हैं ?"

बच्चे की इस कल्पना पर हम सब हंस पड़े। उसने उनकी वीर-रस की रचनाएं पढ़ी थीं। अतएव गुप्त जी को सैनिक के रूप में कल्पना करना उसके लिए नितान्त स्वाभाविक ही था। किरण ने आग्रह से कहा, "मां, हमें अपने चाचा जी की और बातें भी बताओ। तुम तो छुटपन से उन्हें जानती हो न ?"

मैंने कहा, "हाँ, छुटपन के संस्मरण बहुत मजेदार हैं। एक बार की बात है, उस समय मेरी आयु ६ वर्ष की होगी। पिताजी उन दिनों बुलन्दशहर में थे। तुम्हारी मौसी शकुन्तला बस यही कोई चार वर्ष की होगी। शकुन्तला खूब तगड़ी और मोटी थी। दिवाली के दिन थे। चाचा जी दो खिलौने लाए। एक तो बिल्ली थी, चाभी देने से वह उछल-उछल कर अपने सामने थिरकती हुई तितली को पकड़ती थी। दूसरा खिलौना था, एक बड़े बच्चे की पीठ पर छोटा बच्चा चढ़ा हुआ था। अब किसको कौन-सा खिलौना दिया जाए, इस बात का निर्णय करने के लिए बड़े भैया प्रकाश ने कहा, 'चाचा जी, इन दोनों बहनों की कुश्ती करा दी जाए। जो जीत जाए, उसे खिलौना पसंद करने का पहला मौका दिया जाए।' मैं दुबली-पतली थी। इसलिए चाचा को यह फिकर पड़ी कि यह बेचारी हार जायगी। खैर, गलीचे पर कुश्ती हुई। शकुन्तला इतनी भोली थी कि उसे यही पता नहीं था, कुश्ती में हार-जीत कैसे मानी जाती है। वह मुझसे भिड़ गई। पकड़-धकड़ में वह खुद गलीचे पर चित्त गिर पड़ी। और मुझे अपने ऊपर गिराकर कस कर पकड़ लिया और लगी चिल्लाने, 'दीदी को गिरा लिया ! गिरा लिया !' वह हार कर भी अपनी जीत समझे हुए थी। चाचाजी उसके भोलेपन पर खूब हंसे।

"एक दूसरे दिन की बात है, नौकर कहीं चला गया था। देर हो रही थी, इस लिए मां ने गर्म दूध का गिलास एक कटोरी में टिका कर मुझे चाचा जी को दे आने को दिया। चाचा जी उस समय ड्राइङ्ग रूम में

बैठ कर पिताजी को 'भारत-भारती' सुना रहे थे। मैं कमरे में घुसने ही लगी थी कि पिताजी ने गुप्त जी को किसी बात पर ठहाका लगा कर हंसाना शुरू किया। मैं चौंक गई। हाथ हिला और गिलास डगमगाने लगा। मैंने चाचाजी को जल्दी से गिलास थमाने के लिए बड़ा-सा कदम भरा। और अपना सन्तुलन खो बैठी। चाचा जी थामने के लिए लपके, पर गिलास लुढ़क चुका था। आधे से अधिक गर्म-गर्म दूध चाचा जी पर जा पड़ा। उनका पांव जरूर जला होगा। पीड़ा महसूस हुई होगी, पर अपना कष्ट भूल कर वे मुझे संभालने लगे। उन्हें यही चिन्ता थी कि कहीं उनकी बिटिया तो नहीं जल गई है। पर मैं सिसक रही थी, पिताजी के डर से। वे दुलार-मिश्रित स्वर में चिल्ला रहे थे, 'ऐ पगली, गिराऊ देवी न हो। टेढ़े-मेढ़े पांव धर कर चलती है। सब दूध चाचा पर गिरा दिया। सारा गलीचा भी खराब कर दिया।'

"चाचा जी ने उन्हें कुछ गुस्से में झिड़कते हुए कहा, 'हरीचन्द, तुम्हें क्या हो गया है? बोलते ही चले जा रहे हो। बेचारी बच्ची सहम गई है।' और वह मुझे गोदी में लेकर कितनी देर तक थपकते रहे थे।

"सहारनपुर में आम खूब होते थे। पिताजी अपने सभी साहित्यिक मित्रों को आम के मौसम में बुलाया करते थे। उन दिनों मुंशी अजमेरीजी और गुप्तजी दोनों ही आए हुए थे। रात को भोजन के बाद पहले तो अजमेरी जी कोई कहानी सुनाते या हास्यरस की काव्यकथा सुनाते। उनका 'हेमला सत्ता' हम सबने आग्रह करके कोई छह बार सुना होगा। एक और हास्यरस की कहानी 'ढाई-घर' (सिघाड़ूमल सेठ के लड़के की सगाई की) भी सुनाई थी। ढाई-घर खत्री होने के कारण सेठ अपनी कुलीनता की कितनी डींग मारता था, जब कि वर के और सब गुणों पर चौका फिरा हुआ था। मुंशी अजमेरी जी के कहानी कहने के ढंग में कुछ ऐसा रस था कि बस पूछिये मत। मुंशीजी वेशभूषा, आदर्श और विश्वास में सभी तरह से पूर्ण हिन्दू लगते थे। पर उनके पूर्वजों को मामूली सी बात पर पंचायत ने हिन्दू बिरादरी से निकाल बाहर कर दिया था। पिताजी ने एक बार गुप्त जी को उलाहना देते हुए कहा, 'गुप्त जी, यह तो बड़े दुःख की बात है कि मुंशी जैसे सच्चे हिन्दू अपने समाज में उचित सम्मान न पा सकें। आपके राम ने तो शबरी के जूठे बेर खाए थे। उनकी तो जात नहीं चली गई थी।'

"गुप्तजी ने खेद प्रगट करते हुए कहा, 'भाई हरीचन्द, हिन्दू जाति का हाजमा बिगड़ा हुआ है। शुद्धि आन्दोलन में कई मुसलमान-घर शुद्ध हो भी गए थे। पर रोटी-बेटी के मामले में हिन्दू बिरादरी ने उन्हें अपने में शामिल नहीं किया। इस प्रकार के अनेक मुसलमान घराने मध्यप्रदेश, मध्यभारत व बुंदेलखंड में हैं जो संस्कारवश न तो मुसलमानों में खप सके हैं और न हिन्दुओं ने ही उन्हें स्वीकार किया। वे अपना अलग ही समाज बनाए हुए हैं। तुम यकीन रखो, समय आयेगा जब हिन्दुओं को अपनी इस भूल पर पछतावा होगा।'

"मेरे विवाह पर पिताजी की बड़ी इच्छा थी कि अपने सभी साहित्यिक मित्रों को निमंत्रित करें। विवाह जालंधर में हुआ था। एक तो दूरी के कारण, दूसरी बात उन दिनों राय कृष्णदास जी की माताजी बीमार थीं और इधर छोटे चाचा सियारामशरण गुप्त को दमे का दौरा उठा हुआ था, अतएव पिताजी की यह इच्छा पूरी न हो सकी। पर गुप्तजी ने अपनी सभी प्रकाशित रचनाओं का एक संग्रह आशीर्वाद सहित मेरे लिए भेजा था। शादी के बाद तीन-चार साल तक तो मुझे चाचा जी की कुछ खबर नहीं मिली। सन् १९३५ में जब मैंने मुरादाबाद गर्ल्स कालिज में काम ले लिया, तो चाचा जी को पत्र लिखा कि इस बिटिया को भूल गए क्या? वापसी डाक से छोटे चाचा का पत्र मिला कि जल्द ही नवीन रचनाओं का एक पैकिट डाक से रवाना किया जा रहा है।

"और अब? अब तो घर में ही गंगा है। चाचा जी जब से राज्य-सभा के सदस्य हुए हैं, दिल्ली में उनका आना-जाना लगा ही रहता है। दर्शन सुलभ हो गए हैं।"

सब सुनकर मेरी बड़ी लड़की बोली, "माँ, गुप्तजी को भला क्या पता कि उनके पाठक उनके दर्शनों के लिए कैसे तरसते रहते हैं। आनेवाला युग उन लोगों को धन्य समझेगा, जिन्हें अपने इस राष्ट्रकवि के दर्शन हुए होंगे।"

मैंने कहा, "भगवान करें, वे युग-युग तक जिएं!" •••

नवयुवक गुप्त जी की झांकी*

श्री नानालाल चमनलाल मेहता

* *

मैं आई० सी० एस० में नया नया ही भरती हुआ था कि दो वर्ष मथुरा रहकर मेरा तबादला झाँसी हो गया। झाँसी में कुछ ही महीने रहने को मिला, पर वहाँ की स्मृति आज भी बिलकुल ताजी है। यहीं मेरा मैथिलीशरण गुप्त से पहला परिचय हुआ। हम दोनों ही नई उमर के थे और प्रथम दर्शन से ही एक दूसरे की ओर प्रेम से खिंच गए। गुप्तजी के साथ झाँसी में लम्बी बैठकें रहीं और चिरगाँव में भी कितने दिन साथ बीते। फिर उनके नित्य के साथी मुंशी अजमेरी जी थे। आज लोग इस अनूठे व्यक्ति को भूल गए हैं। वे राजस्थान में जन्मे थे और जन्मसिद्ध गायक थे। उनका सुरीला झंकारता हुआ कण्ठ, सुन्दर लिपि और संस्कृत का शुद्ध उच्चारण उनकी निजी विशेषताएँ थीं। यद्यपि वे मुसलिम कुल में जन्मे थे, पर भक्तों में भक्त हिन्दू थे। वे सब तरह अद्‌भुत थे। मुझे याद है, जब झाँसी में अजमेरी जी हमारे घर आए उन्होंने 'भावनो भूख्यो सांवरियो' भजन की पहली पंक्ति आलाप के साथ गाई तो मेरी माँ ने समझा कि कोई भारी पंडित आए हैं। इतना कहा जा सकता है कि वे उतने ही भक्त हिन्दू थे जितने मैथिलीशरण गुप्त। दोनों मेरे घर पर बरसों आए हैं, पर मैं यह न जान पाया कि दोनों में अधिक नैष्ठिक कौन था। पर अब तो गुप्तजी जो अपने परिचितों में 'दद्दा' करके परिचित हैं अपने उस दृष्टिकोण से बहुत आगे बढ़ आए हैं, क्योंकि उन्हें बन्दीगृह की यात्रा करनी पड़ी और तबसे उनकी धार्मिक रूढ़ियां बहुत कुछ ढीली पड़ गईं। कहा जा सकता है कि अब गुप्त जी व्यक्तित्व की दृष्टि से प्रकृतिस्थ हो गए हैं। ठीक ही हिन्दी जगत अपने स्थविरतम साहित्यिक के रूप में उन्हें सम्मानित करता है। झाँसी के उन दिनों का ध्यान करते हुए मुझे स्मरण होता है कि गुप्तजी बड़े चाव से 'यशोधरा', 'मेघनाद-वध' और 'किसान' आदि अपने काव्यों का रसास्वादन हमें कराते थे। हमारे कर्म-क्षेत्र भिन्न थे, फिर भी रुचि समान थी। अतएव उन दिनों की याद मुझे नहीं भूलती। हम दोनों में मैत्री का जो बन्धन उस समय हुआ, वह तो शरीर के साथ ही ओझल होगा। गुप्तजी और उनके परिवार की बड़ी विशेषता उनका सौजन्य, शान्ति और आतिथ्य और वह सम्मान है जो उन्हें सर्वथा सुलभ हैं तब सियारामशरण निरे बालक थे। पर अब तो वह भी पचास के लगभग होंगे या सम्भव है उसे भी डाँक गए हों। वह युग था जब हमारे सामने संसार जीतने को पड़ा था। हम भाषा की शक्ति और परिष्कारों पर विचार करते और इस बात का स्वप्न देखते कि किसी दिन हिन्दी संसार की अन्य महती भाषाओं का पद प्राप्त करेगी। माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद-वध' और 'विरहिणी वृजांगना' के मधुसिक्त छन्दों का जैसा अनुवाद गुप्तजी ने किया था, उसे सुन-सुन कर जो आह्लाद मुझे मिलता वह आज भी भूला नहीं। माइकेल मधुसूदन दत्त ने बंगला भाषा का जैसा प्रयोग किया है, सम्भवतः बहुत कम लोग वैसा कर पाये हैं। मधुर ध्वनि और सुन्दर कल्पनाओं का प्रवाह अनन्त है। और हिन्दी अनुवाद में भी मूल की वह छाप स्फुट है। तभी मित्रवर मुंशी अजमेरी भी रविबाबू की 'चित्रांगदा' का अनुवाद कर रहे थे। इन सब वर्षों में गुप्तजी के जीवन की सर्वोपरि प्रेरणा उनकी प्रेमभरी सादगी में, ऋजु-भाव में और न्याय के प्रति उनके अनुराग में व्यक्त होती रही। सौजन्य की वह मूर्ति क्रोध से तमतमा उठती है, यदि साहित्य के क्षेत्र या सामाजिक जीवन में कहीं भी अन्याय या निष्ठुरता उनके सामने आती है।

उनकी छोटी पुस्तक 'किसान' ने मुझे बहुत द्रवित किया। 'यशोधरा' तो हिन्दी साहित्य का महाकाव्य ही है। उनकी लोकप्रिय 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' तो आरम्भ में ही ख्याति पा चुके थे और उन्हें पाठ्यक्रम में स्थान भी मिल गया। गुप्तजी की कविता संतुलित गति एवं शान्त, प्रसन्न, निर्दोष, और अवस्थित

* अनुवादक, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल।

रीति से प्रवाहित होती है। यह ठीक है कि ब्रजभाषा काव्य जैसा अथवा उनकी ही मातृ-भाषा बुन्देलखण्डी जैसा सुकुमार्य-माधुर्य उनमें नहीं है, पर वे तो अभिनव हिन्दी के लिए एक भव्य शैली का निर्माण कर रहे थे, जो राष्ट्रीय भावनाओं की सामूहिक अभिव्यक्ति का साधन बन सके। वे मेरे जीवन के मूल्यवान दिन थे, जब एक नव-प्रविष्ट आई० सी० एस० के रूप में ही मुझे हिन्दी की कुछ महान विभूतियों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जयशंकर प्रसाद के शक्तिशाली और मधुर व्यक्तित्व की मुझे आज भी सजीव स्मृति है। मेरे पुराने सुहृद् राय कृष्णदास अपने जीवन की आदर्शभूत ... ‌‌पादन करने में व्यस्त हैं, जो इस समय काशी विश्वविद्यालय की पुण्यभूमि के एक सुन्दर भवन में सुस्थित है। मैथिलीशरण गुप्त और मुन्शी अजमेरी के साथ जो वार्तालाप करने का मुझे अवसर मिला है, उसका गहरा प्रभाव मेरे मन पर यह पड़ा कि ये दोनों व्यक्ति यद्यपि आजकल की तथाकथित शिक्षा के साँचे में कभी नहीं पड़े, तो भी जितने व्यक्तियों से मेरा परिचय हुआ है उन सब में अधिकतम अधीत व्यक्तियों में इनकी गणना की जा सकती है। पृथिवी और आकाश के बीच के सभी विषयों में उन्हें रुचि थी और मेरे जैसा विश्वविद्यालय की टकसाल में ढला हुआ व्यक्ति भी उनके उदार दृष्टिकोणों और बहुमुखी सांस्कृतिक उपलब्धियों से बहुत कुछ सीख सकता है। अजमेरीजी ने गुप्तजी की बहुत-सी कविताओं को लिपिबद्ध किया। वे उनके काव्यों के मुद्रण के लिए सुलिखित पाण्डुलिपि तैयार किया करते थे। मुझे आशा है, उनमें से कुछ अभी तक बची होंगी और हिन्दी पाण्डुलिपियों के संग्रह में कहीं स्थान पा सकेंगी। अजमेरी अपने अक्षर जैसे उछाह से लिखते, उसे देखकर प्रसन्नता होती थी। उनमें और गुप्तजी में घनिष्ठ भाईचारे का नाता था, जैसा संयुक्त परिवार के सदस्यों में होता है। हिन्दी काव्य जगत में गुप्तजी का जो सर्वोपरि स्थान है, उसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि उनका उद्भव एक व्यापारिक कुल में हुआ। इसके कारण वे व्यवहार में व्यवस्था और समय के पाबन्द हैं।

गुप्तजी का प्रेस झाँसी जिले में एक संस्था है, जिसके द्वारा उनके कुल और सामाजिक जीवन दोनों को प्रतिष्ठा मिली है। चिरगाँव के तो गुप्तजी सर्वप्रमुख नागरिक ही हैं। उनके ज्येष्ठ भ्राता मेरे समय में वहाँ की नगरपालिका के प्रमुख थे। उस समय स्वतन्त्र भारत की झाँकी हमारे दृष्टि-पथ में न आई थी। हिन्दी का संग्राम तो जीतने के लिए पड़ा ही था। पर जीवन में उत्साह का बीज-वपन हो चुका था। आज तो उन सब घटनाओं का पुरस्कार ही जैसे मिल गया है। गुप्तजी की पीढ़ी के समर अब विजय में समाप्त हो चुके हैं। उनका परिणाम भी उतना ही महान है। नई दिल्ली में राज्य-सभा के सदस्य और आगरा विश्वविद्यालय की 'डाक्टरेट' डिगरी से सम्मानित गुप्तजी का दर्शन उन विजयों का उल्लासपूर्ण अनुभव कराता है। गुप्तजी अपनी साहित्यिक सीमा से बाहर जाकर सार्वजनिक धन्धों में रस नहीं लेते। उनके लिए यही पर्याप्त है कि अपनी ज्ञान-ज्योति के अनुसार कर्म-सिद्धि प्राप्त करते रहें। हमारी प्राचीन धर्मपरायण-संस्कृति और चरित्रनिष्ठा की उत्तम अभिव्यक्ति गुप्तजी में हुई है। वे सदा प्रमुदित रहते हैं। उनकी उदारता इतनी है कि कभी-कभी वैयक्तिक हानि तक पहुँच जाती है।

वे सदा से राम के आदर्श चरित्र के भक्त रहे हैं। लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला जैसे पात्रों ने भी उनका मन अपनी ओर खींचा, क्योंकि गुप्तजी को ऐसा लगा जैसे पुराने कवियों से उन पात्रों ने अपना पूरा प्राप्तव्य न पाया हो। काव्य-साहित्य के सभी माध्यमों को उन्होंने अपनाया है। साहित्य में शृङ्गार की पुरानी परम्परा को वे बहुत पीछे छोड़ चुके हैं। और यह ठीक ही हुआ क्योंकि भविष्य में मानव को कला और संस्कृति के जीवन में उसका उचित भागधेय और स्थान प्राप्त कराने के लिए मनोभावों का स्वच्छ नियमन अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा तब तक सम्भव नहीं, जब तक समाज में उदार दृष्टि, जीवन-शुद्धि और आर्थिक न्याय की स्थापना न होगी। अतएव देशवासियों के लिए गुप्तजी का यही संदेश है कि मानव-जीवन को स्वच्छ, नियमित और साहसी बनाओ। उन्होंने स्वयं सादा जीवन व्यतीत किया है, किन्तु उच्च विचार और साहस के साथ। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का वास्तविक जीवन के साथ समन्वय किया है। उन्हें कर्मठ जीवन का यह वरदान बहुत वर्षों तक प्राप्त हो।

●●●

प्रथम परिचय

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

मैं जब बालक था, मुश्किल से मेरी अवस्था ग्यारह-बारह वर्ष की होगी, तभी से कविवर मैथिलीशरण गुप्त नाम सुनता आ रहा हूँ। मेरे पूज्य पितृव्य स्वर्गीय पं० बांके दूबे प्राइमरी स्कूल में अध्यापक थे। बाद में मिडिल स्कूल में पढ़ाने लगे थे। उनके अध्यवसायी व्यक्तित्व और निर्मल चरित्र का मेरे ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा है। उन्हें 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' बहुत प्रिय लगते थे। 'जयद्रथ-वध' के अनेक छन्द उन्होंने हम लोगों को रटवा दिए थे और जोर-जोर से गवाकर सुना करते थे। उन्होंने 'हरिगीतिका छन्द' को पढ़ने और गाने का एक विशेष सुर भी हमलोगों को सिखाया था। 'जयद्रथ-वध' को वे हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य समझते थे। जब मैं और मेरे भाई काशी में पढ़ने के लिए आये थे, तो प्रति सप्ताह उनका एक पत्र अवश्य मिलता था। और सब लिखने के बाद पत्र के अंत में वह यह लिखना नहीं भूलते थे—"होगी सफलता क्यों नहीं, कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहो।"

जब हम लोग मिडिल स्कूल में पढ़ते थे, तब भी मैथिलीशरण गुप्त की रचना हमें पढ़ाई जाती थी। यद्यपि उन दिनों विद्यार्थियों का यह विश्वास था कि इन कविताओं को अंग्रेज सरकार पसन्द नहीं करती इसलिए इनको यथासंभव छिपकर ही पढ़ना चाहिए, तथापि हमारे मिडिल स्कूल के हेडमास्टर पं० महेन्द्र मिश्र खुल्लम-खुल्ला इन कविताओं को जब पढ़ाने लगते थे तो विद्यार्थियों में उनके अपार साहस का आतंक छा जाता था। प्रायः कानाफूसी करके विद्यार्थी कहा करते थे कि हेडमास्टर साहब अंग्रेज सरकार से बिल्कुल नहीं डरते हैं। जब हम लोग दरजा सात में पढ़ रहे थे तो पं० महेन्द्र मिश्र रात को भी विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। उनका शासन बड़ा कठोर था। रात को विद्यार्थियों को वे चार-पाँच घण्टे से अधिक नहीं सोने देते थे। कभी-कभी ऐसा होता था कि रात को ग्यारह-बारह बजे घूमते-घूमते आ जाते और विद्यार्थियों को झीमते हुए देखकर एकदम नाराज हो जाते। उस समय सबसे बड़ा दण्ड यह होता था कि सोनेवाले विद्यार्थियों को सड़क पर खड़ा कर देते और बड़े कठोर स्वर में आज्ञा देते कि दौड़ कर महुआ बाग तक जाओ और वहाँ से लौट आओ। महुआ बाग स्कूल से कोई मील भर या डेढ़ मील दूर था। लेकिन हर विद्यार्थी जानता था कि उस बगीचे के हर पेड़ पर दस-पाँच भूत रहा करते हैं। यह भयंकर सजा थी। लेकिन महेन्द्र मिश्र के शिष्य कम चालाक नहीं थे। थोड़ी दूर भाग कर जाते और चुपके से बैठ जाते। कोई आध घण्टा बैठने के बाद फिर दौड़े-दौड़े स्कूल में आ जाते। मिश्र जी संतुष्ट हो जाते कि विद्यार्थियों को कड़ा दण्ड दिया गया है। और फिर वे विद्यार्थियों को सोने की आज्ञा देकर सोने चले जाते। वे सुबह चार बजे उठ जाते। और उस समय विद्यार्थियों का आवश्यक कर्तव्य समझ कर जो कुछ भी करवाते, हम लोगों की दृष्टि में वह उनका सबसे बड़ा भयंकर दण्ड था। रातभर के जगे हुए विद्यार्थी जाड़ों की रात में जब सुख-निद्रा में निमग्न होते, उसी समय हेडमास्टर साहब कठोर स्वर में आज्ञा देते, "हाथ-मुंह धोकर मन्दिर में चलो।" इस आज्ञा की अवहेलना करने वाले विद्यार्थी को तत्काल पकड़ कर कुएँ के गर्म जल से स्नान करवाया जाता! इसलिए उनकी आवाज सुनते ही विद्यार्थी रजाई फेंक कर खड़े हो जाते। पाँच मिनट में हाथ-मुंह धोने की क्रिया समाप्त करनी पड़ती थी। इस बीच हेडमास्टर साहब स्वयं स्नान कर चुके होते थे। विद्यार्थियों को लेकर वे मन्दिर के द्वार पर पहुँचते। स्कूल के पास शिवजी के कई मन्दिर थे। यद्यपि हेडमास्टर साहब बारी-बारी से सब मन्दिरों में पहुँचते थे, तथापि एक मन्दिर उनको सबसे अधिक प्रिय था। उनका विश्वास था कि उस मन्दिर में प्रार्थना करने से ही स्कूल का रिजल्ट सबसे उत्तम होता है। मन्दिर में खड़े होकर वे स्वयं भक्ति-गद्गद् कम्पमान कंठ से एक विशेष स्वर में पढ़ते—

हे भक्तवत्सल ईश ! तुमको बार बार प्रणाम है

और लड़के उसको उसी स्वर में दुहराते। . जब यह पंक्ति समाप्त हो जाती, तो हेडमास्टर साहब फिर गद्गद् कंठ से बोलते—

सर्वदा मंगल कीजिए, शंकर तुम्हारा नाम है।

विद्यार्थी फिर इस को दुहराते। और यह क्रिया उतनी देर तक चलती रहती, जितनी देर तक हेडमास्टर साहब का आवेश कुछ मद्धिम न पड़ जाता। हेडमास्टर साहब हर बात में शीघ्रता करने की हिदायत किया करते। केवल इसी मामले में उन्हें जल्दी नहीं थी। ११-११ और १३-१३ वर्ष के बालकों के हाथ ठिठुर जाते, पैर अकड़ जाते, लेकिन हेडमास्टर का कम्पमान स्वर थकना नहीं जानता। मैथिलीशरण गुप्त का यह दूसरा परिचय था!

हेडमास्टर साहब के दो परम प्रिय अध्यापक थे। उनका विश्वास था कि इन दो अध्यापकों के हाथ में विद्यार्थियों का भविष्य निश्चित रूप से सुरक्षित था। एक तो मेरे पूज्य पितृव्य पं० बांके दूबे थे और दूसरे वे मौलवी साहब थे, जिन्हें अपने शिक्षकों में मैं सबसे अधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। मौलवी साहब जैसा छात्र-वत्सल अध्यापक मैंने सारे जीवन में बहुत कम देखा है। नाम से शायद भ्रम हो कि मौलवी साहब मुसलमान थे। उनका वास्तविक नाम था पं० रामलच्छन पांडेय। भूमिहार ब्राह्मण थे। लेकिन उर्दू और फारसी का बहुत अच्छा अध्ययन किया था। इस अध्ययन के कारण ही उनका नाम मौलवी साहब पड़ गया था।

विद्यार्थियों में यह प्रसिद्धि थी कि कोई मुसलमान डिप्टी साहब उनकी विद्वत्ता से मात खा गये थे और उन्होंने ही यह गौरवपूर्ण पदवी उन्हें दे दी थी। जो हो, जब हेडमास्टर साहब कभी अस्वस्थ हो जाते या कहीं बाहर चले जाते, तो प्रातःकाल प्रार्थना कराने का काम मौलवी साहब करते थे। मौलवी साहब स्वयं दुबले-पतले आदमी थे, कब्जियत की शिकायत उन्हें बराबर रहती थी, रजाई में लिपटे हुए विद्यार्थियों को पास ही बुलाकर बैठा लेते थे। उन्हें तुलसीदास की रामायण और विनयपत्रिका प्रिय लगती थीं। एक तो वह परशुराम जी के द्वारा किया गया राम का स्तव पढ़वाते थे और दूसरा जोर-जोर से 'श्री रामचन्द्र कृपालू भजुमन' गवाते थे। उन्हें 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' से कोई विशेष प्रेम नहीं था। शिवजी के मन्दिर में भी वे तुलसीदास की चौपाइयों से ही प्रार्थना करवाया करते थे। जितने दिनों तक मौलवी साहब के जिम्मे यह काम रहता, उतने दिनों तक विद्यार्थियों को बड़ा उल्लास रहता था। उनके लिए सबसे सुखकर संवाद यह था कि हेडमास्टर बीमार हो गये हैं और आज मौलवी साहब प्रार्थना करवायेंगे। लेकिन मेरे पूज्य पितृव्य पं० बांके दूबे के हाथ में जब प्रार्थना कराने वाला काम आ जाता था, तो फिर मैथिलीशरण गुप्त प्रार्थना-सभा में मुखर हो उठते थे। मन्दिर में ले जाना उन्हें भी रुचिकर नहीं जान पड़ता था। सच्ची बात तो यह है कि उनपर थोड़ा-थोड़ा आर्यसमाज का प्रभाव था। एक बार तो उन्होंने घर में हवनकुंड भी बनवा लिया था। मगर बाबा के बहुत नाराज होने पर घर पर यह सब काम नहीं करते थे। यद्यपि उन पर आर्यसमाज का प्रभाव था, लेकिन वह आर्यसमाजी नहीं थे। वे राम के भक्त अवश्य थे। इसलिए उनके हाथ में जब प्रार्थना करवाने वाला कार्य आ जाता, तो वे जोर-जोर से गवाते—

धर्म रक्षण के लिए जिसने लिया अवतार था

उनके गले में कम्पन नहीं होता, बल्कि एक प्रकार की दृढ़ता और परुषता का भाव रहा करता। यद्यपि कड़े मास्टर वे भी माने जाते थे, परन्तु हेडमास्टर साहब की तुलना में वे भी मृदु ही थे। वे विद्यार्थियों को छिपकर पर इधर-उधर सोते हुए देखकर हँस लेते थे। और अधिक से अधिक कान उमेठ देते थे। इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्तजी की रचनाओं से मेरा परिचय बहुत पुराना है। मैं ठीक स्मरण नहीं कर सकता कि किस उमर में और किस अवसर पर मैंने पहले-पहल उसका नाम सुना था। परन्तु मिडिल कक्षा तक आते-आते मैं उनकी कविताओं का अच्छा प्रेमी बन गया था। मुझे याद है कि अपनी विद्यार्थी अवस्था में मैंने एक लेख लिखा था जिसमें यह बताया था कि मैथिलीशरण जी गुप्त की रचनाएँ तुलसीदास की रचनाओं से अच्छी हैं।

अपनी इस मान्यता का हेतु मैंने यह बताया था कि इन कविताओं का अन्वय करने के बाद अर्थ करने की जरूरत नहीं रह जाती, जब कि तुलसीदास जी की कविताओं का अन्वय करने के बाद अर्थ करने की आवश्यकता रहती है ! उस समय तक मुझे बताया नहीं गया था कि गुप्तजी खड़ी बोली में रचना करते हैं और गोसाईंजी किसी और भाषा में।

मैथिलीशरण गुप्तजी की रचनाओं से मेरा दूसरा और घनिष्टतर परिचय पराशर ब्रह्मचर्य आश्रम में हुआ। यह आश्रम हमारे गांव के पास ही था और मैं और मेरे भाई पं० विश्वनाथ द्विवेदी (जो आजकल लखनऊ मेडीकल कालेज में आयुर्वेद के रीडर हैं) इस आश्रम में संस्कृत पढ़ने के उद्देश्य से जाया करते थे। आश्रम के संस्थापक पं० रघुनाथ त्रिवेदी बड़े ही सात्विक विद्वान् थे। सौभाग्यवश वे अभी तक जीवित हैं। उन्हें गाने-बजाने का भी बहुत अच्छा अभ्यास था। आश्रम के प्रायः सभी उत्सवों के अवसर पर 'भारत-भारती' की अन्तिम प्रार्थना अवश्य गायी जाती थी। मुझे याद है कि हम दोनों को प्रथम-प्रथम जब मेरे चचा पं० बांके दूबे और उनके घनिष्ठ मित्र श्री लक्ष्मीचन्द्रजी (जो पक्के आर्यसमाजी थे) लेकर आश्रम में गये थे, उस समय सनातन विधि से हमारा विद्यारम्भ हुआ था। पं० रघुनाथ जी उस समय वहीं थे और पं० विक्रमादित्य जी को हमें 'लघुकौमुदी' पढ़ाने का भार दिया गया था। पं० विक्रमादित्य जी भी बड़े ही सात्विक विचार के और राष्ट्रीय भावना के पंडित थे। वे असहयोग आन्दोलन में संभवतः जेल भी जा चुके थे। उन्हें भी गुप्तजी की रचनाएँ बहुत प्रिय थीं। उनसे पहले-पहल मालूम हुआ कि गुप्तजी की कविताएँ 'सरस्वती' नामक पत्रिका में या किसी और पत्रिका में भी निकला करती हैं। धीरे-धीरे हम दोनों भाइयों ने गुप्तजी की बहुत सी रचनाएँ पढ़ डालीं। हमारी सबसे अधिक प्रिय रचनाएँ 'जयद्रथ-वध' और 'रंग में भंग' थीं। इन दोनों पुस्तकों को हम लोग गा गा कर पढ़ा करते थे। यदि मैं कहूँ कि मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में और उनके अनेक प्रेमी सहृदयों का प्रभाव ही हमारे बाल्यकाल के जीवन का सम्बल था, तो कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी। जब मैं काशी विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ रहा था तो एक बार गुप्तजी यहाँ पधारे थे। हमने अपने चाचा पं० बांके दूबे जी को पत्र लिखा कि गुप्त जी आने वाले हैं। गुप्तजी पर उनकी इतनी श्रद्धा थी कि कई कामों को छोड़कर बनारस पहुँचे। परन्तु गुप्तजी को देखकर उन्हें बहुत आनन्द नहीं मिला। ऐसा जान पड़ता था कि मन ही मन उन्होंने गुप्तजी की जिस मूर्त्ति की कल्पना की थी, वह उन्हें नहीं मिली। परन्तु इससे उनका उत्साह फीका नहीं पड़ा। वे बराबर गुप्तजी के काव्यों का अध्ययन करते रहे और उससे निरन्तर प्रेरणा पाते रहे।

गुप्तजी के काव्य सद्गृहस्थ के लिए बहुत ही उपयोगी हैं। वे वस्तुतः सद्गृहस्थों को ही ध्यान में रख कर लिखे गए हैं। उनका प्रधान उद्देश्य युवकों में महान आदर्श और उत्तम चरित्र की प्रतिष्ठा करना है इसलिए मेरे बाल्यकाल में गांव में पढ़े लिखे सात्विक विचार के लोग गुप्तजी की कविताओं को बड़े ही आदर्श और प्रेम की दृष्टि से देखते थे। मेरे गांव में उन दिनों आर्य-समाज और सनातनधर्म का बड़ा झगड़ा चलता था। मेरे बड़े चचेरे भाई और आरम्भिक विद्या-गुरु पं० रघुपति द्विवेदी बड़े कट्टर सनातनधर्मी हैं। स्वर्गीय लक्ष्मीचन्द्रजी से आए दिन उनकी निरन्तर झड़प हुआ करती थी। वे धर्म में रंच मात्र भी सुधार या परिवर्तन करने की बात बरदाश्त नहीं कर सकते थे। आज भी वे वैसे ही हैं। लेकिन एक आश्चर्य की बात यह थी कि 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' जितने लक्ष्मीचन्द्रजी को प्रिय थे, उतने ही रघुपति भैया को भी। अपनी कथाओं के समय वे बड़े ही मधुर कंठ से 'जयद्रथ-वध' के पद गाया करते थे। उन दिनों ये पद्य ग्रामीण जनता के लिए भी बहुत आकर्षक सिद्ध होते थे। वस्तुतः कविता के नाम पर जो हलकी चीजें उन दिनों चला करती थीं, जिनमें छंद और अलंकार की प्रधानता हुआ करती थी, उनका रंग इन रचनाओं ने फीका कर दिया था। देश में नवीन राष्ट्रीयता की उमंग पैदा हो चुकी थी। युवकों में मातृभूमि के उद्धार और उन्नति की बात घर कर गई थी। उस समय गुप्तजी की रचनाओं ने उन्हें मनचाही वस्तु दी थी। उनसे वे प्रेरणा भी पाते थे और आनन्द भी पाते थे। बड़ा होकर मैंने गुप्तजी के अनेक काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन किया है। पढ़ा भी है और पढ़ाया भी है। काव्य-रूप और रस की दृष्टि से उन पर विचार भी किया है। किन्तु 'भारत-भारती', 'जयद्रथ वध' और 'रंग में भंग' की जो छाप मेरे मन पर पड़ी थी, वह ज्यों-की-त्यों है और निश्चित रूप से अन्यान्य प्रभावों

का अपेक्षा अधिक गाढ़ है। मेरा विचार है कि अगर गुप्त जी ने और कुछ न भी लिखा होता, तो मेरी दृष्टि में उनका सम्मान ज्यों-का-त्यों रहता। बाल्यकाल से ही मैं उन्हें प्रेरणादाता गुरु समझता रहा हूँ। सौभाग्यवश मुझे उनके बहुत निकट आने का भी अवसर मिल गया। जितना ही निकट आया, उन्हें उतना ही बड़ा पाया। परन्तु वे अत्यन्त निकट सम्पर्कीय 'दद्दा' हो जाने के बाद भी मेरी दृष्टि में 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' के कवि और प्रेरणादाता गुरु ही हैं। उनकी कविताओं ने मेरे चित्त में बाहरी टीमटाम का खोखलापन स्पष्ट कर दिया था, और चरित्र-बल एवं ईमानदारी का महत्त्व स्थापित कर दिया था। यदि उन दिनों उनकी रचनाओं का परिचय न होता तो कदाचित् मैं बाहरी टीमटाम और दिखावे को इतने स्पष्ट रूप में नगण्य न समझ पाता। गुप्त जी की सबसे बड़ी देन मैं यह मानता हूँ कि उन्होंने लगातार तीन पीढ़ियों को अनावश्यक टीमटाम, और अन्धाधुन्ध अनुकरण के मार्ग से विरत किया है और सादगी, पारिवारिक प्रेम और उच्चतर मानव-मूल्यों का मार्ग दिखाया है।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

★

श्री श्रीप्रकाश

★

बहुत दिनों की बात है--मालूम नहीं कितने वर्ष हो गए, साल भी याद नहीं आ रहा है--जब कविवर श्री मैथिलीशरण जी गुप्त से मेरी प्रथम मुलाकात हुई थी। जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, मैं उन दिनों कालेज में पढ़ता था। यदि मैं भूलता नहीं तो मैथिलीशरण जी की रचना 'भारत-भारती' उस समय प्रकाशित हुई थी और उसकी चर्चा भी काफी थी। मैं नहीं कह सकता कि मैथिलीशरण जी की उस समय क्या उम्र रही होगी। यदि वे आज ७० वर्ष के हैं, तो मुझसे केवल पाँच ही वर्ष बड़े हैं। स्पष्ट है कि उनकी ख्याति बहुत छोटी अवस्था में ही हो गयी। यह प्रशंसा की बात तो है ही, साथ ही यह संतोष की भी बात है कि वे हम मित्रों और प्रशंसकों को अपनी ७० वीं वर्षगांठ मनाने का शुभ अवसर दे रहे हैं। यह दुःखद परन्तु सत्य बात है कि जिन लोगों का वैभव बहुत छोटी अवस्था में प्रकाशित हो जाता है, उनकी आयु भी उसीके अनुसार कम हो जाती है। कविवर मैथिलीशरण जी गुप्त इसके सुन्दर अपवाद हैं, और हम सभी इस स्थिति पर गर्व कर सकते हैं, और अपने को और उनको बधाई दे सकते हैं।

मेरी यह उनसे पहिली मुलाकात अपने मित्र श्री शिवप्रसाद गुप्त की काशी की पुरानी कौटुम्बिक कोठी में हुई थी। श्री शिवप्रसाद जी युवावस्था से ही काशी के ही नहीं, देशव्यापी सार्वजनिक जीवन के केन्द्र रहे। उनकी असामयिक मृत्यु पर उनके सभी मित्र और सहयोगीगण जबतक जीवित रहेंगे, दुःख करेंगे। काशी की सभी सार्वजनिक संस्थाओं का तो वे पोषण करते ही थे, काशी के बाहर की भी कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं को इनसे सहायता मिली है। देशभर के प्रमुख व्यक्ति इनके पास बराबर आते रहे। इनके विशाल हृदय में केवल राजनीतिज्ञों को ही नहीं, सभी क्षेत्रों की विभूतियों को स्थान था। वे सार्वजनिक विषयों पर मतभेद को अपनी व्यक्तिगत मैत्री में बाधा नहीं देने देते थे। वे सामाजिक और नैतिक सुधारों में तो रस रखते ही थे--इसके लिए कष्ट भी उठाते थे। पर उनका प्रधान कार्यक्षेत्र राजनीति और साहित्य ही था। सभी राजनीतिक और साहित्यिक विभूतियाँ इनके यहाँ आती थीं।

मेरी और श्री शिवप्रसाद जी की व्यक्तिगत मैत्री बाल्यावस्था से थी। इसके साथ-साथ सभी सार्वजनिक कार्यों में हमारी निकट सहयोगिता भी थी। इस कारण यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कविवर श्री मैथिलीशरण गुप्त से मेरी पहिली मुलाकात उन्हींके मकान पर हुई। उस समय की कुछ बातचीत भी मुझे याद आती है, पर बातें लड़कपन की थीं और उनका उद्धृत करना इस समय अनुपयुक्त होगा। उन दिनों अंग्रेजी का बड़ा जोर था, और हिन्दी का कुछ महत्त्व ही नहीं समझा जाता था। उन दिनों की बात याद कर आज हँसी आने के साथ-साथ ग्लानि भी होती है। यदि मैंने भी उस समय कुछ अनुचित कहा हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। (पर मैथिलीशरण जी उसी समय से हास्य रस के पोषक थे और साथ ही पर्याप्त रूप से सहिष्णुता रखते थे।) ये इनकी विशेषताएँ हैं जो समुचित रूप में अभी तक इनमें मौजूद हैं। यदि मेरे ऐसे उस समय के नवयुवक कुछ हिन्दी जानते थे तो या तो संस्कृत भाषा के कारण, जो हमें पर्याप्त परिश्रम से पढ़नी पड़ती थी, या तुलसीदास, सूरदास और अन्य भक्तजनों की रचनाओं द्वारा जिनका कि घर घर में प्रचार था। ऐसी स्थिति में नवप्रचलित खड़ी बोली की कविताओं के प्रति आकर्षण मेरे ऐसे लोगों का कम ही हो सकता था, और इसका भी यदि कुछ उस पहली भेंट में मजाक रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

मैं यह तो नहीं कह सकता कि श्री मैथिलीशरण जी का और मेरा इतना निकट का संपर्क रहा है जिससे कि मैं उनके सम्बन्ध में कुछ कहने का साहस करूँ, पर उन्हें जानने का मुझे पर्याप्त अवसर मिला है, और मैं उनके प्रति अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने इसे मुझे प्रदान किया। पत्र लिखने का अभ्यास मुझे छोटी अवस्था से रहा, और मेरा और मैथिलीशरण जी का पत्रव्यवहार काफी रहा, यद्यपि गूढ़ अथवा साहित्यिक विषयों पर न मुझे लिखने

का कोई अधिकार ही रहा और न उसका अवसर ही मिला। साधारण कौटुम्बिक और सामाजिक विषयों पर ही हमने एक दूसरे को लिखा। मैथिलीशरण जी पत्रों का बराबर उत्तर देते हैं। और उन्हें अपने ही हाथ से लिखते हैं। इनके अक्षर स्पष्ट और सुन्दर होते हैं। प्रायः ये पोस्टकार्ड का ही प्रयोग करते हैं। अपने पत्रों में संस्कृत श्लोकों को उद्धृत करने का इन्हें काफी शौक है। इनको कितने ही श्लोक कंठस्थ हैं। इनकी हिन्दी कविता का आधार इस कारण बहुत सुन्दर है, और इनकी कविताओं के विषय भी हमारी परंपरा के वीर पुरुषों और वीरांगनाओं से ही सम्बद्ध हैं, और इस कारण उचित रूप से लोकप्रिय, आकर्षक और शिक्षा-प्रद हैं। साधारणतः जब मैं कविताएँ पढ़ता हूँ—चाहे वे अंग्रेजी की हों या संस्कृत की—तो मुझे कंठस्थ हो जाती हैं। ब्रज भाषा की भी बहुत सी कविताएँ मुझे याद हैं, पर न जाने क्यों खड़ी बोली की कविताएँ मैं याद नहीं ही कर पाता। इसका मुझे दुख है, पर मैं विवश हूँ। कविता की यह विशेषता मानी हुई है कि एक दो बार पढ़ने पर वह याद हो जाती है। मुझे इसका खेद और लज्जा है कि मैं अपनी भाषा की कविताओं को उनके नए रूप में प्रयत्न करने पर भी याद नहीं ही कर पाता।

श्री मैथिलीशरण जी गुप्त का अध्ययन मैं संक्षेप में उनके पाँच रूप में करना चाहता हूँ, और यदि इनका कोई और रूप है तो अवश्य ही अन्य मित्र उस सम्बन्ध में भी हमें कुछ बतलावेंगे। संसार उन्हें कवि के रूप में ही विशेष प्रकार से जानता है। मैंने भी इन्हें पहलेपहल कवि के रूप में ही जाना था। ये कवि ही नहीं हैं, कविता के नये प्रकारों के प्रवर्तक भी हैं। अपनी कविताओं के द्वारा इन्होंने अपनी मातृभाषा को पुष्ट और समृद्ध किया है, और उसका प्रचार करने में बड़े ही सहायक हुए हैं। जिस प्रकार प्रेमचन्दजी ने हिन्दी का गद्य सरस बनाया और अपनी करुण कौटुम्बिक और सामाजिक कहानियों द्वारा हमारा ध्यान अपने वास्तविक जीवन की तरफ आकर्षित करते हुए उसमें सुधार करने के लिए हमें प्रेरित करने का यत्न किया, उसी प्रकार पद्य द्वारा मैथिलीशरण जी ने हिन्दी भाषा की अतुलनीय सेवा की है, और साथ ही साथ हमारी पुरानी गाथाओं को हमें स्मरण कराया है और इन्हें सरस बनाया है। पर वास्तव में मैं इनकी साहित्यिक सेवाओं और रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ लिखने का साहस अपनी अनभिज्ञता के कारण नहीं ही कर सकता।

हाँ, यह अवश्य कहूँगा कि स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की ही तरह ये भी दूसरों को हिन्दी की तरफ आकर्षित करते हैं, और हिन्दी में लिखने के लिए उत्साहित करते हैं। मैं भी बीच-बीच में कुछ लिखता रहा। श्री शिवप्रसाद जी गुप्त द्वारा स्थापित दैनिक 'आज' के संपादक के पद से मुझे हिन्दी में लिखने का अभ्यास हुआ। उस तरफ रुचि भी हुई। मुझे नागरिक कर्तव्यों और अधिकारों की तरफ सदा से आकर्षण रहा। अपने देश में इनकी तरफ उदासीनता पाकर मैं दुखी भी रहा। इस कारण बहुत से छोटे-छोटे लेख मैंने प्रति दिन की घटनाओं के सम्बन्ध में लिखे। इनका संग्रह मैंने पीछे किया। इन्होंने भी इसे देखा और मेरी प्रार्थना स्वीकार कर पद्य में उन्हीं भावों को परिवर्तित किया जो मेरे संग्रह के साथ छपे। आगे चल कर इन्होंने अपने 'हिन्दी साहित्य सदन' द्वारा इसके और भी संस्करण प्रकाशित किए। मैंने इससे यह अनुभव किया कि नागरिक कर्तव्यों का अभाव इन्हें भी खटकता है, और इस कारण इनके समर्थन से मुझे बहुत बल मिला। मेरी और भी छोटी-छोटी पुस्तकें इन्होंने प्रकाशित कर मुझे उत्साहित किया।

मैं इन्हें देशभक्त के रूप में भी जानता हूँ। प्रायः साहित्यिक लोग अपनी साहित्यिक रचनाओं के द्वारा ही देश और समाज की सेवा करते हैं। ये सक्रिय रूप से किन्हीं आन्दोलनों में सम्मिलित नहीं होते। संसार में बहुत कम साहित्यिक लोग ऐसे मिलेंगे जिन्होंने राजनीतिक संघर्षों में योग दिया है। ऐसे-ऐसे लेखक जिन्होंने अपने देशों में क्रान्ति करायी है, वे भी अपनी लेखनी से ही काम लेते हुए अपने घर पर ही सुरक्षित रूप से रहना पसन्द करते रहे। पर श्री मैथिलीशरण गुप्त ने स्वतन्त्रता के संघर्ष में सक्रिय रूप से योग दिया है और बन्दीघर भी गए हैं। पर उसका वे कोई दुख नहीं मानते और उसकी कर्कशता भी मन में नहीं रखी है। आप काफी साहस से काम करते रहे। 'भारत छोड़ो' वाले भीषण आन्दोलन में कितने ही लोग गुप्त रूप से काम कर रहे थे। उस समय इनमें से कितनों को ही इन्होंने आश्रय दिया। उस समय ऐसा करने में काफी धोखा था, पर उसकी चिन्ता इन्होंने कभी नहीं की। यह इनकी विशेषता है जो हम भल

नहीं सकते; और यदि हम इनकी कविताओं की प्रशंसा करते हैं तो इनकी देशभक्ति की भी करना ही चाहते हैं।

ऐसे भी बहुत से लोग होंगे, जिनको साहित्य में कोई रस न हो, और इस कारण देश के साहित्यिकों और उनकी साहित्य-सेवा की तरफ उदासीन हों। ऐसे भी बहुत से लोग होंगे जिन्हें देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता की तरफ कोई आकर्षण न रहा हो, जो स्वराज और परराज में कोई भौतिक अथवा आध्यात्मिक अंतर न देखते हों। ऐसे लोग भी मैथिलीशरण जी को मित्र के रूप में जानते रहे, इनसे प्रेम करते रहे और इनसे प्रेम पाते रहे। मित्र के रूप में भी इनका पर्याप्त आदर और सम्मान होना चाहिए। इनकी मित्रता बड़ी गहरी होती है, और जो इनका एक बार मित्र हो जाता है, उनसे ये बराबर संपर्क भी बनाए रहते हैं उनके व्यक्तिगत और कौटुम्बिक सुख-दुखों का ये समाचार लेते रहते हैं, और सहानुभूतिपूर्ण पत्रों, स्नेहोपहारों द्वारा और स्वयं व्यक्तिगत रूप से भी विभिन्न अवसरों पर सम्मिलित होकर अपनी वास्तविक मित्रता की सूचना देते हैं। इनका आति य-सत्कार भी प्रशंसनीय है। इनके घर पर से कोई वापस नहीं जाता, और चाहे कितने ही दिन इनके यहाँ कोई ठहरे, उसे यह प्रतीत नहीं हो सकता कि वह अपने आतिथेय को भारी हो रहा है। ये सदा प्रसन्न वदन रहते हैं और सब को ही प्रसन्न करते रहते हैं। यह भी कोई छोटी बात नहीं है। निकटतम मित्र भी आति य में कमी कर जाते हैं। हर प्रकार से स्नेह दिखलाते हुए भी इस मामले में सशंक हो जाते हैं और अपनी रक्षा की चिंता में पड़ जाते हैं। पर पुरातन नीति के वचनों में इनके सम्बन्ध में यह सत्यता से कहा जा सकता है—

उत्सवे व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे राष्ट्र विप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बांधवः॥

इनका कितना वास्तविक सत्कार सब मित्रों और सहयोगियों के हृदयों में है, इसका एक छोटा सा उदाहरण मैं यहाँ दे दूं। जिस समय नयी व्यवस्थापिका-सभाओं का निर्माण हो रहा था और कांग्रेस की तरफ से भिन्न-भिन्न निर्वाचन क्षेत्रों के लिए प्रतिनिधियों को खड़ा करने की आयोजना हो रही थी, उस समय राज्य सभा के लिए राष्ट्रपति की तरफ से नियोजित करने के लिए भी नाम खोजे जा रहे थे। इस प्रसंग में एक दिन मैंने राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद जी से कहा कि राज्यसभा के लिए जब वे ऐसे नामों का विचार करें तो श्री मैथिलीशरण जी को उनमें अवश्य स्थान दें। वे एकदम प्रफुल्लित हो गए और कहने लगे—"तुमने बहुत ही अच्छा नाम बतलाया है. बहुत ही अच्छा नाम बतलाया है। इनको मैं अवश्य नियोजित करूँगा।" पीछे उन्होंने मैथिलीशरण जी को 'पद्मभूषण' का भी अलंकार प्रदान किया, जिससे हम सब को ही बड़ी प्रसन्नता हुई।

मेरी यह आदत रही है कि जब मैं किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में विचार करता हूँ अथवा उनकी जीवनी का अध्ययन करता हूँ तो मैं उनके भोजन और गृहस्थी पर भी दृष्टिपात करना चाहता हूँ। जीवनी-लेखक प्रायः इन बातों की उपेक्षा कर देते हैं, जो मेरी समझ में बहुत आवश्यक हैं। अन्य मित्रों की तरह मुझे भी मैथिलीशरण जी का अतिथि होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इनकी गृहस्थी काफी बड़ी है और इनका कुटुम्ब संयुक्त है। कई भाई अपने-अपने लड़कों-बच्चों सहित एक साथ ही रहते हैं। साधारण मध्यवृत्ति के गृहस्थों की ही तरह सब लोग जैसे दिन रात साथ ही उठते-बैठते हैं। कब, कहाँ और कैसे ये अपना साहित्यिक कार्य करते हैं, मुझे नहीं मालूम हुआ। मैंने देखा कि इन्हें बातचीत करते रहने का भी काफी शौक है, हँसने-खेलने में भी रस रखते हैं। घर के सभी लोग एक दूसरे से बड़ा प्रेम का व्यवहार करते हैं। अतिथि को अपने को बाहर का मानने का कभी अवसर ही नहीं देते। जब हिन्दू कुटुम्ब चारो तरफ टूट रहे हैं, जब व्यक्तिवाद ने लोगों का साथ रहना असंभव कर दिया है, तब इनका कुटुम्ब आदर्श रूप से चिरगाँव में बसा हुआ है, यह प्रशंसा की बात है।

यह संतोष की बात है कि मैथिलीशरण जी को भोजन के सम्बन्ध में कोई आग्रह नहीं है। बहुत से लोगों को भोजन के पदार्थों के सम्बन्ध में व्यर्थ ही 'हाँ नहीं' की भावना होती है, जिसके कारण अ तिथियों को परेशानी और ग्लानि उठानी पड़ती है। मैथिलीशरण जी अपने नगर में बड़े ही लोकप्रिय हैं, और मैंने इनके यहाँ एक

समय विवाह में सम्मिलित होकर देखा कि कैसे प्रेम से सैकड़ों प्राणी इनके निमंत्रण पर इनके यहाँ आते हैं और बिना व्यर्थ का टंटा-झगड़ा किए घण्टों बैठे रह कर भोजन की प्रतीक्षा करते हैं और भोजन भी प्रेम से करते हैं। वे पानी के लिए अपना लोटा अपने साथ ही लाते हैं! विवाह के समय भी मैथिलीशरण जी अपनी सादगी बनाए रहते हैं। वे विशेष प्रकार का वस्त्र नहीं पहनते। इनका वस्त्र सदा से ही भव्य रहा है। अब तो साधारण कांग्रेसजन की तरह ये भी कुरता, धोती और गांधी टोपी पहनने लगे हैं। पर राजनीतिक आन्दोलन में सम्मिलित होने के पहले तक इनका वस्त्र एक ही प्रकार का लगातार बना रहा, और आज भी कितने ही मित्रों को इनका लम्बा बन्ददार अंगरखा और लाल विशाल पगड़ी याद होगी। मेरी समझ में इनका व्यक्तिगत और कौटुम्बिक जीवन आदर्श गृहस्थ का रहा है।

जो लोग श्री मैथिलीशरण गुप्त को जानते हैं, उन्होंने यह भी देखा होगा कि ये बड़े कार्यकुशल और व्यवहारकुशल पुरुष हैं। यह भी आश्चर्य की बात है और इनकी विशेषता ही समझी जा सकती है। प्रायः साहित्यिक लोग और उनमें भी कवि लोग व्यवहारकुशल नहीं होते। उनका सब कारबार अस्तव्यस्त रहता है। ऐसी बात मैथिलीशरण जी में नहीं है। इनके घर पर सब वस्तु यथास्थान रहती है। सफाई और सुव्यवस्था का इन्हें बहुत ध्यान रहता है; और 'साहित्य सदन' का जिस सुन्दरता से और सफलतापूर्वक सुसंघटन हुआ है, वह भी प्रशंसा की बात है। पुस्तकों के प्रकाशन में शुद्ध और स्पष्ट व्यवहार का यहाँ बहुत ध्यान रखा जाता है। उस तरफ से किसी प्रकार की लापरवाही नहीं होती; और जिन साहित्यिकों, लेखकों, पुस्तक-विक्रेताओं आदि का 'सदन' से सम्बन्ध रहा है, वे अवश्य मेरी बात का समर्थन करेंगे। मुझे स्वयं भी इसका अनुभव है। मेरी जिन पुस्तकों का प्रकाशन यहाँ से हुआ है, उनकी बिक्री से जो आर्थिक लाभ होता है, उसमें का लेखक का अंश साल भर में एक बार सब हिसाब सहित मेरे पास पहुँच ही जाता है। अवश्य ही मुझे इससे असमंजस होता है, पर जो कुछ मिलता है उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। मैंने उनका यंत्रालय भी देखा है, उनके कार्यालय का भी मैंने निरीक्षण किया है। कार्यालयों और यंत्रालयों से मेरा भी पर्याप्त परिचय रहा है, और मैं उनकी सुव्यवस्था पर मैथिलीशरण जी को बधाई देता हूँ। कार्यकुशलता की हमारे यहाँ बहुत कमी है। हममें से बहुत से लोग इसे व्यर्थ का आडम्बर समझते हैं। पर वास्तव में इसीके अभाव के कारण हम अपने कार्यों में असफल हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं भगवद्गीता में कहा है—योगः कर्मसु कौशलम्। मैथिलीशरण जी इस आदेश और उपदेश का सुन्दर रूप से अनुसरण करते हैं।

कवि के रूप में, देशभक्त के रूप में, मित्र के रूप में, गृहस्थ के रूप में, व्यावहारिक पुरुष के रूप में मैंने इन्हें देखा है। सबमें इनको अनुकरणीय पाया है। मैं अपने को भाग्यशाली समझता हूँ कि मैंने इन्हें इतने दिनों से जाना; और यद्यपि इनके अधिक निकट नहीं आ सका, तो भी इनके जीवन के बहुत से पहलुओं को मैंने देखने और समझने का प्रयत्न किया। मेरे सम्बन्ध में जो इनकी राय है वह एक वाक्य में इन्होंने दी थी—"तुम्हारी जिह्वा बड़ी कड़ुवी है, पर लेखनी तुम्हारी बड़ी मीठी है। बात करने में काटते हो, पत्र बड़ा सुन्दर लिखते हो।" मुझे ऐसा मालूम होता है कि संभवतः इस लेख में मैंने उनके कथन को चरितार्थ किया है। यदि वे मुझे मिलें तो संभवतः अपनी जिह्वा से मैं उनकी हँसी उड़ाऊँगा और उन्हें काटूँगा। पर जब मुझे उनके सम्बन्ध में लिखने का आदेश हुआ है तो मैंने यथासंभव अच्छी-अच्छी बातें ही लिखने का प्रयत्न किया है। इसमें न कोई बात असत्य है, न कहीं अतिशयोक्ति है।

काशी में उनकी ५० वीं और ६० वीं वर्षगांठों के समय आयोजित सभाओं में सम्मिलित होने का सुअवसर मुझे मिला था। आज जब हम उनकी ७० वीं वर्षगांठ मना रहे हैं तो मैं अपना यह सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे उनके प्रति इस लेख द्वारा श्रद्धांजलि अर्पित करने का सुअवसर मिला। मेरी यही शुभ कामना है कि वे अभी बहुत दिनों तक हमारे बीच में विराजमान रह कर अपने व्यक्तिगत और कौटुम्बिक जीवन से हमारे सामने सद् उदाहरण उपस्थित करते रहें, और अपने साहित्यिक और सार्वजनिक कार्य से देश, भाषा और समाज के उत्कर्ष में सहायक बने रहें। •••

हिन्दी काव्य के विकास के मार्ग-निर्देशक

श्री रामकुमार वर्मा

★ ★

अपने साहित्यिक जीवन के उषाकाल से ही श्री मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं के प्रति मेरे हृदय में अपार श्रद्धा रही है। सन् १९२० में जब मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा में प्रविष्ट हुआ, उस समय उनकी काव्य-पुस्तक 'रंग में भंग' पढ़ने का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ। और मैंने उस काव्य-पुस्तक से अपने जीवन की प्रेरणा अनेक रूपों में प्रस्फुटित होते हुए देखी। बचपन से ही कविता के प्रति मेरी अनुरक्ति थी और समय-समय पर मैं कुछ पंक्तियाँ जोड़ भी लिया करता था। ऐसी स्थिति में 'रंग में भंग' जैसे मेरे लिए दीप-स्तम्भ की भाँति था, जिससे मेरे साहित्यिक क्षेत्र का राजमार्ग एक अलौकिक आलोक से प्रकाशित हो गया। कालान्तर में मेरा परिचय उनके 'जयद्रथ-वध' तथा 'भारत-भारती' से हुआ। 'जयद्रथ-वध' को मैं जैसे अपनी गीता मानता था और जब कभी मुझे अवकाश मिलता, स्वर से उसके छन्दों का गान किया करता था।

सन् १९२२ में जब मैंने असहयोग-आन्दोलन में भाग लेकर स्कूल छोड़ दिया, तो मुझे प्रभात-फेरियों के लिए नए-नए गीतों की रचना करनी पड़ती थी। और देश-सेवा की उमंगों में जब मेरा हृदय तरंगित होता था तो मेरे लिए मैथिलीशरण गुप्त की 'रंग में भंग' और 'भारत-भारती' के अनेक स्थल काव्य की प्रेरणा देते हुए ज्ञात होते थे। उसी वर्ष मैंने एक खण्डकाव्य की रचना की, जिसका नाम था 'वीर हम्मीर'। यद्यपि उसकी सामग्री शेखर के 'हम्मीर हठ' से ली गयी थी तथा इतिहास-ग्रन्थों से कथावस्तु का निर्माण हुआ था, तथापि उसकी शैली श्री मैथिलीशरण गुप्त की शैली ही थी। चूंकि मैंने उस काव्य में गीतिका-छन्द का प्रयोग किया था जो मैंने 'जयद्रथ-वध' में पढ़ा था। इस प्रकार यदि यह कहा जाय कि मेरे काव्य-जीवन में आदि-प्रेरणा देने वाले श्री मैथिलीशरण गुप्त ही थे, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

समय बीतता गया। और मैं कविता के क्षेत्र में बढ़ता गया। अपने अध्ययन के लिए मैं मध्यप्रदेश छोड़कर प्रयाग चला आया और यहाँ मैं उन सभी महान विभूतियों के दर्शन कर सका, जिन्होंने मेरे जीवन में स्फूर्ति और प्रेरणा उत्पन्न की। और यहीं पहली बार मैंने श्री मैथिलीशरण गुप्त के दर्शन किए। सन् १९२९ में जब मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्यापक हुआ, तो पाठ्यक्रम में श्री मैथिलीशरण गुप्त के ग्रन्थों के पढ़ाने का अवसर भी मुझे प्राप्त हुआ और तब मैंने शास्त्रीय ढंग से गुप्तजी के काव्य की समीक्षा कर यह अनुभव किया कि वे हमारे साहित्य के ही नहीं, वरन् हमारे देश के एक महान व्यक्ति हैं। सन् १९३१ में उनके 'साकेत' का प्रकाशन हुआ और मैंने रामचरितमानस की तरह ही उनके 'साकेत' का पारायण किया। जहाँ 'साकेत' में ऐसे अनेक प्रसंग मुझे प्राप्त हुए जिनको पढ़कर मैंने मैथिलीशरण जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की, वहाँ कुछ प्रसंग ऐसे भी थे जिन्हें मेरे हृदय ने स्वीकार नहीं किया। उदाहरण के लिए उर्मिला के विरह-चित्रण में रीतिकालीन प्रोषित-पतिका की भावभंगिमा मुझे स्वीकार नहीं हो सकी। इस सम्बन्ध में मैंने साहित्य-सम्मेलन की 'पत्रिका' में एक वक्तव्य भी प्रकाशित किया था। मैं जानता था कि मेरा यह वक्तव्य मेरे काव्य-गुरु को रुचिकर न होगा, किन्तु साहित्य और अपनी व्यक्तिगत मान्यता से जो प्रेरणा बलवती हो उठी थी उसे मैं रोक नहीं सका। मैं इसे जानता हूँ कि मैंने कितने मानसिक द्वंद्व में अपना वक्तव्य लिखा था। मैं निश्चय कर चुका था कि जब कभी मुझे गुप्त जी के दर्शन होंगे तो किसी भी परिस्थिति में मैं उनसे पूछ लूंगा कि उन्होंने ऊर्मिला को इतनी अधिक 'शारीरिकता' क्यों प्रदान की है? वे चाहे जितने अधिक रुष्ट भले ही हो जावें। यों मैं इस बात को समझता था कि मेरी तीखी आलोचना के बाद शायद ही गुप्त जी मुझसे भेंट कर दो बात करेंगे। किन्तु मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब सन् १९३४ में वे भाई सियारामशरण जी के साथ प्रयाग में मेरे कुटीर पर पधारे। जैसे ही मैंने सुना कि श्री गुप्त जी आए हुए हैं, मैंने उनके जलपान की व्यवस्था आरम्भ कर दी और मैं उनसे भेंट करने के लिए बाहर आ गया। मैंने उनके चरणों में प्रणाम किया और उन्हें ड्राइंग-रूम में

लाकर बैठाया। कुशल प्रश्न के उपरान्त मैंने उनसे पूछा कि उन्होंने मुझ अकिंचन पर इतनी बड़ी कृपा कैसे कर दी, कि वे स्वयं मेरे यहाँ चले आए ? इसके उत्तर में उन्होंने अपनी स्वाभाविक खिलखिलाहट के साथ कहा, कि बनारस से लौटते समय वे प्रयाग आए थे और उन्होंने प्रयाग के साहित्यिकों से भेंट करने के विचार से मुझ पर भी कृपा कर दी थी। मैं मर्माहत हो उठा। यह व्यक्ति कितना महान है कि मेरी तीखी आलोचना पढ़ने के बाद भी मेरे पास कितने प्रेम से स्वयं दर्शन देने के लिए चला आया है। उनकी बातों में मुझे बुन्देलखण्डी शब्दों के कुछ रूप मिल गए, तो मैंने अपना विस्तृत परिचय देते हुए उनसे कहा कि महाकवि ! मैं भी बुन्देलखण्ड का निवासी हूँ। उन्होंने उत्सुकता में बुन्देलखण्डी में ही मुझ से पूछा, "तो तुम कहां के आव भैइया ?" मैंने उत्तर दिया, "मेरो जनम सागर को आय।" वे प्रसन्नता से अट्टहास कर उठे और उन्होंने भाई सियारामशरणजी को संबोधित कर के कहा, "अरे सियारामशरण, तब तो जे रामकुमार अपनेई आयें।" और उन्होंने फिर प्रसन्नता से उछल कर अपनी खिलखिलाहट से मेरा कमरा गुंजा दिया। गुप्त जी की इस आत्मीयता से मैं भाव-विभोर हो उठा। और मैंने उनके चरणों में फिर एक बार प्रणाम किया। मैंने अपनी पत्नी को बुलाकर उनके चरण स्पर्श कराए। और कहा, कि यह मैथिलीशरणजी महाकवि ही नहीं हैं, हमारे परिवार के पूज्य भी हैं।

महाकवि को अनेक साहित्यिकों से मिलना था। वे अधिक देर तक हमारे यहाँ नहीं बैठ सके। मैं अपनी जिज्ञासा की बातें और 'साकेत' की शंकाएँ अपने मन में रखे हुए बैठा रहा। उस प्रेम के निर्मल प्रवाह में तर्क और शंका के लिए स्थान ही कहाँ था ? वे कुछ फल ग्रहण कर हमारे घर से गए, किन्तु इस घर में सदैव के लिए अपने प्रेम और वात्सल्य की छाप छोड़ते गए।

उनके 'साकेत' का प्रभाव मेरे मानस-पटल पर ऐसे स्वर्णाक्षरों से उत्कीर्णित हुआ कि मैंने अपने निवास-भवन का नाम भी 'साकेत' ही रखा।

तब से इस भेंट के बाद श्री मैथिलीशरण जी से हमारा पत्र-व्यवहार आरम्भ हुआ। सन् ३५ से लेकर अभी तक महाकवि के अनेकानेक पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं, जिनकी प्रत्येक पंक्ति में वैसी ही आत्मीयता है जिसके दर्शन प्रथम बार मुझे मेरे घर पर हुए थे। उन पत्रों में महाकवि की सहृदयता, विनम्रता एवं आत्मीयता शब्द-शब्द में अंकित हो उठी है। उनके छोटे भाई सियारामशरण गुप्त के भी अनेकानेक पत्र मेरे संग्रह में हैं, जिनमें पारिवारिक स्नेह के अनेक चित्र हैं। जिस प्रकार राम को भरत जैसे भाई प्राप्त हुए, उसी प्रकार श्री मैथिलीशरण गुप्त को सियारामशरण गुप्त जैसे सहोदर और अभिन्न भाई मिले हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि श्री मैथिलीशरण गुप्त भारतीय साहित्य के महान स्रष्टा हैं। उन्होंने ऐसे साहित्य का निर्माण किया, जो युग-सम्मत होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से देश और काल का अतिक्रमण कर अमर वाणी के रूप में स्वीकार किया जायगा। भारतीय परम्परा का उनसे प्रबल समर्थक कौन है, जिसने उन समस्त इतिवृत्तों पर साहित्य को अनुप्राणित किया है जिनसे देश और उसके इतिहास का वैभव स्थिर हो सकता है ? वे हिन्दी के ऐसे एकमात्र कवि हैं जिनसे कविता के विकास की प्रत्येक परिस्थिति में मार्ग-निर्देशन प्राप्त हुआ है। द्विवेदी-युग से लेकर आज तक उनकी लेखनी क्रियाशील रही है और उसने उन अमर विभूतियों का चित्रण किया है, जिनसे कि साहित्य किसी भी काल में गौरवान्वित हो सकता है। वे राष्ट्रकवि हैं, महाकवि हैं।

इतना विशाल व्यक्तित्व प्राप्त कर वे अपने जीवन में तथा अपने दैनिक व्यवहार में कितने सरल, और साधु हैं ! उन पर अनेक विपत्तियाँ आईं, किन्तु उन्होंने अपना संतुलन कभी नहीं खोया। उन्होंने २७-९-३५ के एक पत्र में लिखा था, "मेरे ऐसे अभागी पर आप जैसे सज्जनों की सहानुभूति आपकी सहृदयता के ही कारण है। कुछ भी हो, इसीको मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। सहे बिना गति ही कौन-सी है। सहन करना ही होगा। आपकी कृपा के लिए कैसे कृतज्ञता प्रकट करूँ, नहीं समझ में आता।" आज से बीस वर्ष पूर्व महाकवि ने जिस सहज आत्मीयता का परिचय दिया था, वह आज भी उनमें वर्तमान है; उससे घटी नहीं, बढ़ी ही है।

साहित्य-सम्मेलन में कार्य करते हुए हम लोगों ने अनेक बार उनसे प्रार्थना की कि वे अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व स्वीकार करें, किन्तु उन्होंने अपने को हिन्दी का सेवक मात्र मानते हुए

उसे कभी स्वीकार नहीं किया। प्रयाग विश्वविद्यालय में अनेक अवसरों पर हमलोगों ने उन्हें आमंत्रित किया, उनसे प्रार्थना की कि वे हमारे समारोह का उद्घाटन करें, किन्तु प्रत्येक बार उन्होंने हमारे अनुष्ठान की सफलता की कामना ही की; वे कभी आ नहीं सके। उन्होंने सदैव ही अपना आशीर्वाद हमें भेजा, किन्तु वे आत्मविज्ञापन से दूर ही रहे। अब श्री मैथिलीशरण जी हमारे 'दद्दा' हैं और अधिकतर दिल्ली में निवास करते हैं। जब कभी मुझे दिल्ली जाने का अवसर मिलता है, तब मैं उनके दर्शन कर नई प्रेरणाएँ ग्रहण करता हूँ। वे इतने समीप हो गए हैं कि जीवन के प्रत्येक कार्य में वे मुझे परामर्श देते हैं, और उसका पालन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हमारे देशने राष्ट्रकवि का सम्मान किया है। किन्तु मैं यह विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ कि वे पहले हमारे 'दद्दा' हैं, उसके बाद राज्य सभा के सम्मानीय सदस्य।

स्पष्टदर्शिता का अद्भुत व्यक्तित्व

श्री बालकृष्ण राव

★ ★

बात १६२१ की है या १६२२ की—यह तो ठीक स्मरण नहीं, पर इतना निश्चित है कि इन्हीं दो वर्षों में से एक की है। मेरे पिताजी उन दिनों वर्तमान उत्तर प्रदेश और तत्कालीन युक्तप्रान्त के शिक्षा-मंत्री थे। हमलोग लखनऊ में रहते थे और मैं वहीं के एक स्कूल का विद्यार्थी था। लोग अक्सर हमारे यहाँ आकर ठहरते ही रहते थे, इसलिए कभी किसी अतिथि का आना कोई विशेष 'नोटिस' लेने योग्य घटना नहीं होती थी—फिर मैं तो लड़का ही था, मेहमानों से मुझे क्या लेना-देना था! पर उस दिन सायंकाल के समय जब मैं बाहर खेल समाप्त कर अपना गेंद-बल्ला कमरे में रखने गया, तो पास के ड्राइंग-रूम से किसी के कविता सुनाने की आवाज़ आ रही थी। वह असाधारण और आकर्षक स्वर मुझे इतना अच्छा लगा कि मैं पहले तो कुछ देर तक वहीं खड़ा सुनता रहा, फिर साहस कर ड्राइंग-रूम में ही चला गया। पिताजी के साथ तीन अपरिचित व्यक्ति बैठे थे। मेरे लिए वे अपरिचित थे, यद्यपि यह स्पष्ट दीख रहा था कि वे पिताजी के मित्र हैं। उनमें से एक सज्जन कविता सुना रहे थे। न तो मेरी ओर किसी का ध्यान गया और न मैंने ही किसी का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा की। कुछ ही देर बाद कविता समाप्त हो गयी और मैं लौटकर जाने लगा, कि इतने में ही पिताजी की दृष्टि मुझ पर पड़ी। उन्होंने मुझे बुलाया और अपने मित्रों में से एक को यह बताते हुए कि मैं कौन हूँ, कहा "इसको आपकी कविताएँ याद हैं; मुझे सुनाया करता है।" इसके बाद यह समझने में देर न लगी कि जिनसे मेरा इस प्रकार परिचय कराया जा रहा है, वे कवि मैथिलीशरण गुप्त ही हैं, क्योंकि मैंने पिताजी को केवल तुलसी की चौपाइयाँ और दद्दा की कुछ पंक्तियाँ ही सुनाई थीं। मैं चुपचाप नमस्कार करके खड़ा रहा। चाहता था कि अन्य दो सज्जनों का भी परिचय मिल जाता। विशेष कुतूहल उनका नाम जानने का था, जो इतने आकर्षक ढंग से कविता सुना रहे थे। यह भी चाहता था कि दद्दा भी अपनी कोई कविता सुनाएँ। पर यह सब नहीं हुआ और "शंकर से कह देना कि और सिगरेट दे जाय" कहकर पिताजी ने मुझे चले जाने का संकेत दे दिया।

बाद में पूछने पर ज्ञात हुआ कि जो सज्जन कविता सुना रहे थे, उनका नाम था मुंशी अजमेरी और वे बड़े ही अद्भुत गायक और कवि हैं। तीसरे सज्जन पिताजी के परम मित्र श्री बोधराज साहनी थे, जिनसे मिलने का अवसर मुझे फिर अनेक बार मिला। दद्दा के विषय में पिताजी ने केवल इतना ही कहा कि वे उनके बड़े प्रिय मित्र हैं, बहुत ही 'अच्छे आदमी' हैं—और बहुत अधिक सिगरेट पीते हैं। यह तीसरी बात न भी बताई जाती तो कोई अन्तर न पड़ता, क्योंकि जितनी देर मैं उन्हें देखता रहा, उतनी देर सचमुच ही दद्दा सिगरेट के बिना क्षण भर भी नहीं रहे।

पिताजी युक्तप्रान्त की विधान सभा के लिए झाँसी से निर्वाचित हुए थे और १६१६ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार मंत्री नियुक्त हुए। अपने विभाग में अवैधानिक हस्तक्षेप करने से वे प्रान्त के गवर्नर, सर विलियम मैरिस को रोक तो सकते नहीं थे, पर विरोध-प्रदर्शन के लिए दूसरा मार्ग तो उनके सामने खुला ही था। अपने पद से त्यागपत्र देकर १६२३ में प्रान्त के शासन से वे पृथक् हो गए। इस अवसर पर उनके सम्मान में दद्दा ने जो पंक्तियाँ लिखी थीं, वे मुझे स्मरण हैं,—

फँसा न पाया तुम्हें धन्य,
उस रजत रज्जु की फाँसी ने।
अनी बना पाया न तुम्हें,
उस सौ अनियों की गाँसी ने।

चिन्तामणि चिरजीवी हो तुम,
आन बान यह बनी रहे।
सिर ऊँचा ही किया अन्त में,
तुमको चुनकर झाँसी ने।

इस प्रकार विशिष्ट अवसरों के उपयुक्त पंक्तियों की रचना करने में दद्दा कितने सिद्धहस्त हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। साथ ही यह भी किसी से नहीं छिपा है कि वे कितने विनोदप्रिय हैं और इच्छा करने पर किस आसानी और सफाई से मीठी चुटकी ले सकते हैं। इसका एक सुन्दर प्रमाण उनकी वह छोटी सी पद्य-रचना देती है, जो उन्होंने प्रयाग के किसी पत्र में नरम दल के नेताओं के विरुद्ध लिखे गए एक भद्दे से मज़ाक को देखकर लिखी थी। अपने तथाकथित हास्य-विनोद के स्तम्भ में उस पत्र ने नरक से प्राप्त एक निमंत्रण-पत्र प्रकाशित किया था, जिसका आशय केवल यह था कि नरमदल के नेता नरक जायँगे। दद्दा ने उत्तर में लिखा—

तीर्थराज में भूतजनों का,
दूत नरक से आया है।
वह नरमों के नाम वहाँ से,
पत्र लिखाकर लाया है।
नरमों का जो उत्तर होगा,
उसे भविष्य बतायेगा।
किन्तु प्रश्न है यही कि उसको,
वहाँ कौन पहुँचायेगा।
करके कृपा बतादे हमको,
यही नरक का नूतन दूत।
नरमों में किस वर्तमान को,
किया चाहता है वह भूत।
शास्त्री, चिन्तामणि, सुरेन्द्र सब,
जावेंगे क्यों नहीं वहाँ।
बन्धुजनों के लिये गये थे,
धर्मराज भी कभी जहाँ?

इसके बाद भला भूत भाग न जाता, तो क्या करता?

पिताजी का नाम दद्दा की एक अन्य छोटी सी पद्यकृति में भी आता है, जिसे उन्होंने 'लीडर' की रजत-जयन्ती के शुभावसर पर अपनी शुभकामना के रूप में भेजा था। उसकी पंक्तियाँ यों हैं—

बन्दीगृह से बाहर होगा जब विजयी भारत का वीर,
तब उसका वैदेशिक मंत्री तेरा ही तंत्री मतिधीर।
चिन्तामणि की प्राप्ति तुझे है, 'लीडर' और चाहिये क्या?
तेरा चिन्तन, मनन सफल हो तीर्थराज के पावन तीर!

लखनऊ में पहली बार दर्शन करने के बाद दद्दा से वर्षों कोई सम्पर्क नहीं रहा। जहाँ तक मुझे स्मरण है, वे पिताजी से भी उसके बाद जब कभी प्रयाग में मिले, तब घर पर नहीं, 'लीडर' के आफिस में ही—इस कारण मुझे दर्शन करने का अवसर न मिल सका। पर इस बीच मैंने स्वयं हिन्दी में पद्य-रचना आरम्भ कर दी थी

और साथ ही अधिक व्यवस्थित ढंग से उपलब्ध काव्य-ग्रन्थों का अनुशीलन भी। रत्नाकरजी से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला और इस कारण और सहपाठियों के व्रजभाषा-प्रेमी होने के कारण व्रजभाषा में कविता और सवैया लिखने की प्रेरणा मिली। व्रजभाषा में लिखने की कुछ अधिक और खड़ी बोली में कुछ कम लिखने की बान पड़ गयी और यदा-कदा अपने कवित रत्नाकरजी के पास भेजने आरम्भ कर दिए, जिन्हें वे अत्यन्त स्नेहपूर्वक देखकर सम्हाल दिया करते थे और मेरे पास वापस भिजवा दिया करते थे। १६२६ में दद्दा को पहली बार पत्र लिखकर उनसे एक कवि-सम्मेलनकी अध्यक्षता स्वीकार करने की प्रार्थना की, जिसका संयोजन मैं स्वयं कर रहा था। दद्दा ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए जो उत्तर भेजा, उसके साथ अपनी कई पुस्तकें भी उपहार-स्वरूप भेजने की कृपा की। इसके बाद मैंने साहस कर अपनी कुछ व्रजभाषा की और थोड़ी सी खड़ी बोली की रचनाएँ सम्मति और आशीर्वाद के लिए दद्दा के पास भेजीं। उनका बड़ा ही स्नेहपूर्ण और उत्साहवर्द्धक उत्तर मिला। न केवल उन्होंने मेरी पद्य-रचनाओं को देखने की ही कृपा की, मेरे एक कवित्त की एक पंक्ति में संशोधन करने का सुझाव भी दिया। उनका पत्र मैंने पिताजी को पढ़कर सुनाया। उन्होंने कहा, "गुप्तजी के पास अपनी चीजें भेजने का जब तुमने विचार किया था, उसी समय यदि मुझसे कहते तो तुम्हारी चीजें मैं भेजता, तुम्हें न भेजने देता। कोई भी अपनी कविताएँ गुप्तजी के पास स्वयं भेजता है, तो वे यही कहते हैं कि 'अच्छी हैं', क्योंकि वे बेचारे किसी को निरुत्साहित करना कभी पसन्द न करेंगे। सच्ची राय जाननी हो तो मैं लिखकर पूछूं।" पर मुझे यह सुझाव अच्छा न लगा। मैंने पिताजी के माध्यम से दद्दा के पास कभी कोई रचना सम्मत्यर्थ नहीं भिजवाई, यद्यपि कुछ अन्य गण्य-मान्य विद्वानों और साहित्यकारों के पास उन्होंने अवश्य कुछ चीजें भेजी थीं। रत्नाकरजी से, दद्दा से और आचार्य शुक्ल से मैंने सीधा सम्पर्क स्थापित कर लिया था। यदा-कदा पत्र-व्यवहार कर लिया करता था। 'कौमुदी' और 'आभास' के नाम से मेरे दो संकलन प्रकाशित हो चुके थे और दोनों पर दद्दा के उत्साहवर्द्धक आशीर्वाद पा चुका था। १६३१ में मेरे मित्र क्षितीन्द्र मोहन मित्र मुस्तफी ने 'माया' का प्रकाशन आरम्भ किया। मैं थोड़ी-बहुत सहायता देता रहता था। उन दिनों मुस्तफीजी का उद्देश्य 'माया' को 'कहानी-प्रधान, विविध-विषय-विभूषित, साहित्यिक मासिक पत्रिका' बनाने का था। मैंने दद्दा से 'माया' के लिए एक रचना माँगी। पहले तो उन्होंने विवशता प्रकट की, लिखा, "मैं तो अब बहुत ही कम लिखता-पढ़ता हूँ और धीरे-धीरे अवकाश ग्रहण कर रहा हूँ। शरीर इसके लिए विवश कर रहा है"—पर एक बार फिर प्रार्थना करने पर 'अरी गूंजती मधु की मक्खी' वाला गीत 'माया' में प्रकाशनार्थ भेज दिया।

यह बात १६३१ की है। उसके बाद बहुत दिनों तक दद्दा के न तो दर्शन ही हुए और न कोई उल्लेख-योग्य पत्र-व्यवहार ही। मैं कुछ दिन 'लीडर' में कार्य करने के बाद 'इंडियन सिविल सर्विस' में नियुक्त हो गया और नियुक्ति के थोड़े ही समय के बाद लखनऊ सचिवालय में सूचना-विभाग का एक पदाधिकारी बनाकर वहाँ भेज दिया गया। वहाँ मैं १६४३ तक रहा। दद्दा के दर्शन इस अवधि में काशी में स्वर्गीय रायकृष्णजी के यहाँ, प्रयाग में डाक्टर श्रीरंजन के निवासस्थान पर और लखनऊ में अपने घर और डाक्टर पन्नालाल के यहाँ हुए। मार्च १६४३ में, जब मैं प्रान्तीय प्रेस-एड्वाइज़र का कार्य कर रहा था, मुझे प्रान्त के पत्रकारों के एक दल के साथ झाँसी जाने का अवसर मिला। तभी मैं पहली बार चिरगाँव की यात्रा कर सका और एक दिन दद्दा और भाई सियारामशरण के साथ बिताने का अवसर पा सका। दद्दा स्वयं चिरगाँव स्टेशन आए थे और तीसरे पहर साथ ही पास का एक पुस्तकालय दिखाने ले गए थे। दद्दा ने बताया कि पुस्तकालय का शिलान्यास जवाहरलालजी ने किया था और उस अवसरके लिए लिखी हुई अपनी एक छोटी सी पद्य-रचना भी सुनाई, जिसकी एक पंक्ति—'शिलान्यास कर रहे हमारे जन-मन-देव जवाहरलाल', मुझे अब तक याद है।

दद्दा जिस समय गिरफ्तार हुए थे, मैं प्रान्तीय गवर्नमेण्ट का प्रेस-एड्वाइज़र ही था। समाचार-पत्रों में ही पढ़ा कि दद्दा और उनके अग्रज पकड़ लिए गए और राजबन्दी बनाकर रक्खे गए हैं। मैंने चीफ सेक्रेटरी मिस्टर म्यूडी से पूछा कि दद्दा की गिरफ्तारी किस जुर्म के लिए हुई। यही मिस्टर म्यूडी बाद में बिहार के,

फिर सिंध के और उसके बाद पंजाब के गवर्नर हुए थे। मि० म्यूडी ने बताया कि कोई विशेष कारण उन्हें ज्ञात नहीं, पर झाँसी के कलक्टर ने उन्हें गिरफ्तार करना उचित समझा था। मेरी प्रार्थना मानकर उन्होंने झाँसी के कलक्टर को लिखकर विस्तृत रिपोर्ट मँगाई और उसके बाद मुझे बताया (बिना रिपोर्ट दिखाए ही) कि दद्दा के और उनके अग्रज के विरुद्ध आरोप तो कोई भी नहीं था, पर उनकी गिरफ्तारी का जिले के वातावरण पर "बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा है"! बन्दीगृह में यथासम्भव सारी सुविधाएँ दिलाने की प्रार्थना कर मैंने गवर्नर, सर मारिस हैलेट, से भेंट की और उनसे बहुत ही आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि दद्दा को तुरन्त मुक्त कर दें। उन्होंने पहले तो आनाकानी की, कहा कि "मैं इन बातों में हस्तक्षेप करना अनुचित समझता हूँ", पर फिर इस पर राजी हो गए कि यदि झाँसी के कलक्टर को कोई आपत्ति न हो और प्रान्त के दो-चार मान्य व्यक्ति आश्वासन दें कि दद्दा को मुक्त करना 'अमन' के लिए बुरा नहीं है, तो वे उन्हें मुक्त करने की आज्ञा दे देंगे। मैंने कहा कि कोई भी 'मान्य' नागरिक इस प्रकार का आश्वासन न देगा, क्योंकि जिस 'अमन' के वातावरण की आप बात कर रहे हैं वह 'मान्य' नागरिकों की दृष्टि में 'अमन' का नहीं, 'अपमान' का वातावरण होगा। आज यह बात कहने का अवसर मिला, इसका मुझे बहुत हर्ष है, क्योंकि जहाँ हैलेट साहब की बर्बरता और दमन-नीति की कहानियाँ प्रचलित हैं, वहाँ एक ऐसी भी सच्ची कहानी को जनता के सामने आना चाहिए, जिससे उनके चरित्र का एक अच्छा पक्ष सामने आए। हैलेट साहब बड़े ही निरंकुश शासक माने जाते रहे, पर दो बार मुझे यह अवसर मिला कि मैं उनसे कड़ी और कड़वी बात स्पष्ट शब्दों में कहूँ, और दोनों ही बार उन्होंने इस स्पष्टवादिता को बड़े सम्मान से ग्रहण किया। उनमें से पहला अवसर यह था।

दद्दा के विषय में बातें करते हुए मैंने हैलेट साहब से जो कुछ कहा, उसका उन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। उन्होंने कहा, "हाँ, आप ठीक कहते हैं। नागरिकों की सिफारिश नहीं आएगी। मैं इस सम्बन्ध में म्यूडी से बातें करूँगा।" गिरफ्तार करने का कोई वास्तविक कारण तो था ही नहीं। कलक्टर ने स्थानीय पुलिस के कहने से ही गिरफ्तारी की आज्ञा दी होगी। दद्दा कुछ ही समय के बाद मुक्त कर दिए गए।

चिरगाँव जाने का अवसर दूसरी बार मुझे १९४४ के अन्त या १९४५ के आरम्भ में—ठीक याद नहीं है कब—मिल सका था। उन दिनों मैं बाँदे में कलक्टर के पद पर नियुक्त था और किसी कार्यवश झाँसी गया था। सायंकाल अपने मित्र श्री वशिष्ठ भार्गव (जो सम्प्रति हाईकोर्ट के जज हैं) के साथ दद्दा के यहाँ गया और दो घंटे बैठकर लौट आया। उसके बाद अनेक बार जाने का संकल्प किया, पर कार्यान्वित नहीं कर पाया।

मेरी नियुक्ति १९४९ में आल इंडिया रेडियो में हुई। हिन्दी वालों का रेडियो के विरुद्ध विरोध और असहयोग अत्यन्त तीव्र और प्रबल वेग से बढ़ता जा रहा था। मैंने, केवल इसीलिए नहीं कि मैं रेडियो का पदाधिकारी था, वरन् इस विश्वास के कारण कि इस असहयोग से जहाँ एक ओर रेडियो की क्षति हो रही है, वहाँ दूसरी ओर हिन्दी भी इस सशक्त माध्यम के उपयोग से अपने को वंचित रखकर अपनी ही हानि करती जा रही है, इसकी चेष्टा की कि रेडियो और हिन्दी-संसार को पुनः सहयोग-सूत्र में बाँध दूं। चेष्टा सफल हुई। मेरे परम आग्रह और अनुरोध के फलस्वरूप और स्वर्गीय डाक्टर अमरनाथ झा के सत्परामर्श से मेरे मित्र श्री सुमित्रानन्दन पन्त रेडियो के हिन्दी परामर्शदाता के रूप में हमारे साथ आ गए। पन्तजी के सम्मिलित होने का आदरणीय दद्दा के मन पर क्या प्रभाव पड़ा, वह हिन्दी-संसार भली भाँति जानता है। पन्तजी को तुरन्त दद्दा का बहुमूल्य सहयोग मिला। निःसंकोच भाव से, दद्दा ने पन्तजी के सम्मुख (अपने ही शब्दों में) "आत्म-समर्पण" कर दिया और रेडियो का "हुक्का-पानी" खुल गया! इस सम्बन्ध में दद्दा से जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह इस बात को प्रमाणित ही नहीं, उद्घोषित करता है कि दद्दा का रेडियो-विरोध केवल भावुकता-जन्य नहीं, सोद्देश्य था और जैसे ही उन्हें विश्वास हो गया कि कुछ ऐसे लोग रेडियो में पहुँच गए हैं जिनके हाथों रेडियो के माध्यम से हिन्दी का हित होगा, उन्हें अपना सहयोग समर्पित करते देर न लगी।

दिल्ली में १९४९ से आरम्भ कर, अपने पदत्याग तक, मैं बराबर रेडियो अथवा सूचना-मंत्रालय में ही रहा। दद्दा भी राज्य-सभा के सदस्य होकर प्रति वर्ष काफी समय के लिए दिल्ली ही रहने लगे। बहुधा

दर्शन का सौभाग्य मिलता रहा। इस अवधि में मुझे इसका पर्याप्त अवसर मिला कि मैं दद्दा को बहुत निकट से देख और जान सकूं, और इस अधिक परिचय के परिणाम-स्वरूप ही अब मैं यह कह सकता हूँ कि दद्दा केवल सिद्धान्त के रूप में ही मानववादी नहीं है, व्यवहार के स्तर पर भी हैं। हिन्दी का यह यशस्वी कवि हिन्दी का जितना समर्थ सेवक है, उससे कम हिन्दी वालों का नहीं।

शिशु-सहज सरलतासे हँसना और हँसाना, रेडियो की पारिभाषिक भाषा में, दद्दा की 'सिग्नेचर ट्यून' है। इस सारल्य के साथ गम्भीरता का और नितान्त निश्छल, भावुकतापूर्ण व्यवहार के साथ स्पष्टदर्शिता का अद्भुत मेल दद्दा के व्यक्तित्व की विशेषता है। वे परम प्रबल सैद्धान्तिक मतभेद रखते हुए भी अपना सम्बन्ध जैसा का तैसा बनाए रखते हैं, क्योंकि उनका विवेक सहज ही वैयक्तिक सम्बन्ध और सैद्धान्तिक मान्यताओं को पृथक् कर देता है और उनकी साधना उन्हें इतनी शक्ति दे सकी है कि वे इस पृथक्ता को निभा सकें। वे अपने कृपापात्रों के गुणावगुण से अपरिचित हों यह बात नहीं है, पर कृपापात्रता उनकी दृष्टि में गुणावगुणों के सहारे नहीं, अपने ही पैरों पर खड़ी होने की क्षमता रखती है। ऐसे व्यक्ति से इसकी आशंका हो सकती है कि वह जिसका भला करना चाहे उसके दोषों पर पर्दा डालकर वह उसे ऐसा पद या ऐसे अधिकार दिलाने का यत्न करे, जिसके लिए वह सर्वथा अनुपयुक्त हो। दद्दा में यह भी कमज़ोरी नहीं है। वे जिसका हित करना चाहते हैं उसका हित करने में कुछ भी उठा न रक्खेंगे, पर उनका यह प्रयत्न होगा कि उसका हित किसी ऐसे पद की प्राप्ति से हो जिसका भार वह सम्हाल सके, किसी ऐसे लाभ के द्वारा हो जिसे वह अर्जित कर सके। उनकी सबसे बड़ी महानता यह है कि उन्होंने अपने आपको इतना महान नहीं होने दिया कि कोई उन्हें बहुत छोटा दिखाई पड़े। वे देश के, जाति के, भाषा के, धर्म के भक्त और सेवक तो हैं ही, पर इन सबसे पहले वे इनके और अपने भक्तों के भक्त और सेवकों के सेवक हैं। हिन्दी और हिन्दी वालों के कल्याण के लिए दद्दा सतत-प्रयत्नशील रहे हैं और रहेंगे। यह अनवरत हित-चिन्तन दद्दा की वह अलिखित कविता है, जिसका मूल्य पूर्णतया तो कोई नहीं, पर आंशिक रूप में सम्भवतः भविष्य का इतिहासकार ही आँक सकेगा।

गुप्त जी के साथ ३५ वर्ष

श्री पद्मनारायण जी आचार्य

★ ★

श्री मैथिलीशरण गुप्त को मैं अपने बचपन से जानता हूँ। अपनी जन्मभूमि गाडरवारा में मैं ने दो ही साहित्यिकों का गुणानुवाद सुना था—बाबू मैथिलीशरण गुप्त और मुंशी प्रेमचन्द। और इन्हीं की कृतियों से मैं परिचित भी था। 'सरस्वती' का पाठक होने के नाते मैथिलीशरण गुप्त की चर्चा केवल सुनता ही न था, उनकी कविता भी बराबर पढ़ता रहता था। जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने उन दिनों कहीं किसी उत्सव में बाबू मैथिलीशरण गुप्त को देखा था। यह सन् १९१८ से पहले की बात है। पर निकट से देखने का अवसर काशी में मिला। और यहाँ उन्हें इतनी बार देखा कि उनके सम्बन्ध में किसी एक दिन की चर्चा करना मुझे कठिन मालूम होता है। उन दिनों जब मैं अपने साथियों से अथवा घर के बंधु-बांधवों से गुप्तजी की चर्चा करता था तो तीन बातों की चर्चा अवश्य करता था। एक तो उनकी भारतीय वेशभूषा, दूसरी उनकी विनयावनत मुद्रा, और उनकी ठेठ सरल मिठास। कभी-कभी खिन्न हो कर अपने अन्तरंग मंडल में एक बात और कहा करता था, "मुझे बार-बार देखने से ऐसा लगने लगा है कि हिन्दी कवियों में सबसे अधिक व्यवहार-कुशल और लोक-चतुर व्यक्ति श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं। वे कवि से बड़े, लोक-पुरुष हैं।" एक बात का आश्चर्य मैं और भी प्रकट करता था कि अन्य जिन कवियों से मेरा परिचय था, उनके जीवन और काव्य में बहुत भेद दिखाई पड़ता है। पर गुप्त जी के जीवन और काव्य में मुझे एकता दिखाई पड़ती है। इसी को कभी प्रशंसा में मैं कहता था और कभी निंदा में। मेरी इन दोनों बातों का अर्थ समझने के लिए पुरानी दो बातों का स्मरण और विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

एक तो, उस युग के कवि-समाज की एक झाँकी। और दूसरे, गुप्त जी के शिष्टाचार के अनेक चित्र। काशी में उस समय परम्परावादी काव्यधारा के प्रतिनिधि श्री रत्नाकर जी विद्यमान थे। उन्हें देखने का बार-बार अवसर मिलता था। छायावादी कवियों के अग्रणी प्रसाद जी भी, आचार्य केशव जी के अभिन्न होने के नाते, हम लोगों के बहुत निकट थे। श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय भी उन दिनों काशी आ पहुँचे थे। मैथिलीशरण जी प्रायः काशी आया करते थे। एक प्रकार से यहाँ काशी में कवि-गोष्ठियाँ बराबर होती थीं। पठन्त कवि-सम्मेलन (!) भी होते थे। अर्थात् इस समय के कवि पुराने कवियों की भी कविताएँ कंठस्थ सुनाया करते थे; और उनके सुनाने की भी विशेष प्रणालियाँ थीं। मुझे स्मरण है कि प्रसाद जी ने एक बार कोई ब्रज भाषा की कविता पढ़ी थी, जिसे लोगों ने बहुत पसन्द किया था। उसका एक चरण कुछ इस प्रकार था :

जैसे छुटीं बड़े बंस ते आयु
बड़े बंस ते और न हूं को छुड़ावति है।

यह छन्द बांसुरी की प्रशस्ति में कहा गया था।

इन पठन्त कवि-सम्मेलनों के बारे में रत्नाकर जी ने कहा था कि इसमें दुहरा लाभ होता है। एक तो पाठ-प्रतिष्ठा का महत्त्व स्थापित होता है; और दूसरे, नए लोगों को सहृदय होने का सुअवसर मिलता है। उस समय तो मैं विनोद में कहा करता था कि ये पुराने लोग सहृदय बनाने की भी मशीन रखते हैं! पर अब मुझे ऐसा लगता है कि उनके उस कहने में बहुत बल था।

साहित्य-प्रवेश की अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ही गुप्त जी की सहृदयता का क्रम इस तरह चल रहा था : अपने ६:१२:१९०७ के पत्र में आपने आचार्य द्विवेदी जी को लिखा, "श्रीमान् पण्डित जी महाराज, प्रणाम। . . .श्रीमान् ने अनेक कवियों के रहते ऐसे उत्तम रंगीन चित्र पर मुझसे लिखवाया। यह श्रीमान की दया

ग्रौर वात्सल्य है। मैं कदापि इस योग्य नहीं हूँ कि ऐसे प्रधान चित्र पर लिखने का साहस कर सकूँ। ग्रस्तु। मैं इस कविता को बहुत सोच कर ग्रौर डर-डर कर लिख रहा हूँ. . .दया रखिए। योग्य सेवा सदैव लिखने की कृपा करते रहिए। चरणसेवक : मैथिलीशरण।" इसी तरह ग्रपने १६:६:१६०८के एक दूसरे पत्र में ग्रापने द्विवेदी जी को लिखा, "यह सब श्रीमान् की ही दया का फल है, जो उन्हें मेरी 'तुकबन्दी' पसन्द ग्राने लगी।

तव मधुर फलों की प्राप्ति का ही रसाल,
यह शुभ फल में हूँ मानता सर्वकाल।
शुक पिक खग की जो भारती ग्रर्थहीन,
इन रसिक जनों को मोद देती नवीन।"

इसके बाद, ग्रपने २० : १२ : १६०८ के पत्र में ग्रापने द्विवेदी जी को लिखा, "मेरी कविता की यह प्रशंसा सुन कर श्रीमान् को जो परमानन्द हुग्रा है वह होना ही चाहिए। ग्रपने एक कृपा-पात्र शिष्य को उसके काम में सफलता प्राप्त होती देख कर गुरु को ऐसा ग्रानन्द होता ही है। यह कोई नई बात नहीं। नई बात तो मेरे लिए है कि ग्रनायास ही मैं ग्रपने गुरु को प्रसन्न कर सका। जिस दिन श्रीमान् इस कविता* को पढ़ कर बहुत रोए थे, मैं उसी दिन जान गया था कि इस कविता में कुछ घुणाक्षरवाला न्याय-सा हो गया।" इसी तरह, ग्रपने ३:७:१६०६ के पत्र में ग्रापने उन्हें लिखा, "जो ग्राज्ञा, मैं पुस्तक छपाने के लिए किसी को ग्राज्ञा न दूँगा। यदि श्रीमान् ग्राज्ञा ही दे देते तो भी मैं रामजीसहाय (भदैनी) को वे कविताएँ कदापि न भेजता, जो, 'कविता-कलाप' में सम्मिलित हुई हैं। पुस्तक जब छपनी होगी, छप जायगी। मुझे कुछ उसकी बड़ी उत्कंठा नहीं है। ग्रौर हो क्यों, पुस्तकाकार छपने में मेरी कविताग्रों का वह गौरव नहीं, जो 'सरस्वती' में छपने से है।" तदुपरान्त, ग्रपने २:११:१६०६ के पत्र में ग्रापने उन्हें लिखा, " 'स्वदेश-बान्धव' का ग्रंक लौटाता हूँ। उसे पढ़ कर मैं बहुत लज्जित हूँ। पाण्डेय लोचनप्रसाद ने जो कुछ लिखा है उसके योग्य मैं कदापि नहीं हूँ। श्रीमान् से प्रार्थना है कि ग्राशीर्वाद दीजिए जिसमें ग्रागे लज्जा बनी रहे। विशेष क्या लिखूँ? जो कुछ है सब श्रीमान् के चरणों का प्रभाव है। मैं किसी योग्य नहीं।" इसी भाव से, ग्रपने २५:५:१६१० के पत्र में ग्रापने उन्हें लिखा, " 'जयद्रथ-वध' पहुँचा। ऐसी ग्रस्वस्थता के समय में श्रीमान् ने उसे ध्यान-पूर्वक देख कर शुद्ध करने का कष्ट उठाया, इसे सोच कर हृदय में जो भाव उठते हैं वे लिखे नहीं जाते। मुझ जैसे ग्रयोग्य को श्रीमान् का इतना कृपापात्र बनाना मेरे लिए सर्वथा सौभाग्य का विषय है। श्रीमान् को वह पुस्तक पसन्द ग्राई। मेरा श्रम सफल हुग्रा।" इसी दास्य-भाव† में, ग्रपने १५:११:१६१२ के पत्र में ग्रापने उन्हें लिखा, " 'सरस्वती' में 'भारत-भारती' के विषय में श्रीमान् ने जो नोट दिया था उस पर क्या कहूँ? मुझे स्वप्न में भी इस बात का ध्यान नहीं था कि श्रीमान् इस पुस्तक को इस प्रकार कृपादृष्टि से देखने योग्य समझेंगे। जिस दिन श्रीमान् ने मुझे ग्रपनाया था उस दिन मुझे इतना ग्रवश्य ज्ञात हो गया था, मेरा परिणाम ग्रच्छा होगा। किन्तु ऐसी ग्राशा कभी नहीं हुई थी। ग्राज मुझे वह लेख मिला है जो मेरे जैसे ग्रज्ञजन के लिए ग्रलम् ही नहीं, बहुत ग्रधिक भी है। फिर मेरे लिए इससे ग्रधिक सौभाग्य का विषय ग्रौर क्या हो सकता है? श्रीमान् के जिन चरणों की दया से 'सरस्वती' ने मुझे इतनी ग्रधिक प्रशंसा दी उनमें कोटि-कोटि प्रणाम निवेदन करके मैं इस पत्र को यहीं समाप्त करता हूँ। दया रखिए। चरणानुचर : मैथिलीशरण।"

हिंदी काव्य-क्षेत्र में इस प्रकार गुप्तजी गुरु-परम्परा को ग्रधिकाधिक बल दिए जा रहे थे। पर बाहरी दुनियां में यह हाल था कि उन दिनों लोग कहा करते थे, हिन्दी के कवियों को देखने से भारतवर्ष की तबियत-दारी की एक प्रदर्शिनी तैयार हो सकती है! ग्रौर उस प्रदर्शिनी के सुमेरु-मणि गुप्त जी हैं!! देहरादून-सम्मेलन के बाद कुछ लोग काशी ग्राए थे; उस समय भी हम सब गुप्त जी को ग्रौर ग्रन्य कवियों को देखने गए

---

* यह कविता 'केशों की कथा' थी ग्रौर १६०८ की 'सरस्वती' के दिसम्बर ग्रंक में प्रकाशित हुई थी।

† दास्य-भाव, प्रणाम-भाव, ग्रात्म-समर्पण-भाव ये वैष्णव-भक्ति के तीन महत्वपूर्ण शब्द हैं जिनसे साधना के क्रम का बोध कराया जाता है।

थे। और उसके बाद यही चर्चा करते थे कि ये लोग जब अपनी वेशभूषा में इतने पुराने हैं, तो युग की चेतना की परख इन्हें कैसे हो सकती है ?

एक बार मालवीय जी ने किसी प्रसंग में रत्नाकर जी और मैथिलीशरणजी गुप्त की चर्चा की तो हम लोगों ने बाल-सुलभ चापल्य और ढिठाई के साथ कहा था, "बाबू जी, ये लोग तो युग को बिल्कुल नहीं जानते। आजकल की सभा में बैठना भी नहीं जानते। 'सभायां साधुः सभ्यः'* इस परिभाषा के अनुसार ये लोग विश्वसाहित्य की सभा में या पूरे भारतीय साहित्य की सम्वेत सभा में क्या हिन्दी की लाज रख सकेंगे ?" बाबूजी ने कहा, "तुम अभी नहीं समझते। ये हिन्दी के कर्णधार हैं। इनको पहचानने के लिए आँखें चाहिएँ।"

इन सब संस्मरणों के उल्लेख का अर्थ यह है कि उस समय के कवियों में आजकल के समान वेश की एकरूपता नहीं थी। और, जब-जब हम अपने अध्यापकों और विशेषकर आचार्य केशव जी और आचार्य शुक्ल जी† से गुप्त जी की प्रशंसा सुनते थे और यह भी सुनते थे कि इय युग के सबसे बड़े आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी उन्हें सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं तो हमारा सबसे पहला ध्यान गुप्त जी की पगड़ी पर जाता था और लगता था, अंगरेजी साहित्य के कवि अपने चित्रों में कितने आकर्षक और भव्य हैं, क्या हमारा यह कवि ऐसा ही है ?

एक बार इसी की चर्चा करते हुए मैंने अपने साथियों में कहा था, "यदि गुप्त जी को प्रदर्शिनी में रखकर टिकट लगा दिया जाय तो महाकवि की वेशभूषा कैसी होती है, यह देखकर लोगों का निश्चय ही बड़ा मनोरंजन होगा।" एक बात से मैं संतोष कर लेता था कि गुप्त जी में बनावट नहीं है, वे भक्त हैं और सरल हैं और इसीलिए उन्हें वाह्य वेशभूषा की चिंता नहीं है। गुप्त जी के आकर्षण का एक दूसरा बड़ा कारण था : जब-जब मैंने उन्हें देखा, तब देखा कि वे आचार्यों के सामने प्रणाम की ही मुद्रा में आते हैं। और यह चीज और भी अधिक अंकित इसलिए हो जाती थी, क्योंकि मैं प्रसाद जी को हँसती हुई अल्हड़ व मुक्त मुद्रा में देखता था, और रत्नाकर जी को एक सामन्ती पर अनुग्रहकारणी मुद्रा में देखता था। पर, हमारे गुप्त जी सदा इस मुद्रा में मिलते थे कि यदि आचार्यवर कुछ कहेंगे तो कविवर चरणों में और भी नत हो जायँगे।

यह स्थिति दो बार, दो प्रसंगों पर, बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ी। एक बार जब गुप्त जी आचार्य केशव जी को अपनी कोई कृति, शायद 'स्वप्नवासवदत्ता', की पाण्डुलिपि दिखा रहे थे और दूसरी, जब वे द्विवेदी जी के सामने द्विवेदी-अभिनन्दन के अवसर पर कुछ बातें सुना रहे थे। इन दोनों अवसरों पर उनकी द्रवित नम्रता से आचार्य लोग पूर्ण तृप्त हो गए थे और इसका प्रतिक्रियात्मक प्रभाव हम लोगों जैसे युवकों पर भी अच्छा पड़ता था। इसी नम्रता का अतिरेक एक बार हमें और दिखाई पड़ा। जब गुप्त जी की स्वर्ण-जयन्तीमें गांधी जी ने उन्हें 'मैथिलीमान' ग्रन्थ के साथ मानस की एक प्रति भी भेंट की, तो आपने अति तरल शब्दों में कहा कि बापू, हमें तो आपका आशीर्वाद और हस्ताक्षर चाहिए। यह कह कर वह मानस की प्रति गांधी जी के सामने बढ़ा दी। तब उस समय हमें लोगों को लगा कि बड़े कवि को इतना अधिक नहीं झुकना चाहिए। इसी प्रसंग में पण्डित जवाहरलाल नेहरू वाली बात और याद आ रही है—

सन् ३६ से पहले की एक घटना है। काशी की एक छोटी-सी गोष्ठी में प्राचीन संस्कृति की और नवयुग की बात करते हुए हमारे बीच एक प्रश्न के उत्तर में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि हमें यह 'कमरतोड़' प्रणाम पसन्द नहीं है। हमें नम्रता पसन्द है, पर दैन्य और हीनता पसन्द नहीं है।

पर उस युग में आचार्य, आलोचक और शिष्ट पुरुष मैथिलीशरण जी की इस सरल विनम्रता में परम्परागत शिष्टाचार और आत्म-समर्पण का अभ्यास देखते थे। चाहे जो हो, इस विनय का गुप्त जी के व्यक्तित्व पर पूरा प्रभाव था और उससे सभी मोहित हो जाते थे। अब आज हम अपनी इन पुरानी आँखों से यह कह सकते हैं कि गुप्त जी ने जो परिवार का सहज सुख पाया है और पारिवारिक जीवन का गान गाया है

---

* सभा में जो सज्जन उपस्थित रहते हैं, वे सभ्य होते हैं।

† "गुप्त जी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करनेवाले अथवा मद में झूमने (या झीमने) वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होनेवाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह, दोनों उनमें हैं।"—श्री रामचन्द्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास'।

उन दोनों का यह 'सुफल' है कि वह इस प्रणाम की सहज और सलोनी मिठास को कभी नहीं भूल सके। और इसीलिए उनकी कविता में भले ही आलोचकों के अनुसार भिन्न-भिन्न दोष मिलें, दुर्बलताएं मिलें, पर उनकी विनम्रता में एक बल रहेगा जिसके कारण सभी उनके सामने झुक जायेंगे। अब तो मैं बच्चों के सामने बड़ी गम्भीरता से गुप्त जी के प्रणाम की प्रशंसा करता हूँ और पौराणिक ढंग से मनुबाबा का एक श्लोक सुनाया करता हूँ : 'अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्।' जो प्रणाम करना जानता है, अर्थात् जो आठों अंगों से सहज समर्पण के भाव से प्रणाम करने का अभ्यासी होता है, और अपने बड़ों-बूढ़ों-आचार्यों और नेताओं की उपसेवा करता है उसकी चार बातें बराबर बढ़ती रहती हैं : आयु, विद्या, यश और विविध प्रकार का बल। इस सदाचार के उदाहरण हमारे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त हैं। मैथिलीशरण गुप्त केवल इसी बल पर बड़े हुए हैं कि उन्होंने योग के बल पर नहीं, व्यायाम के बल पर नहीं, प्रणाम के बल पर आयु पायी है। उनकी विद्या भी इसी प्रकार की है। उनका यश भी इसी प्रकार आचार्यों, महात्माओं और महा-पुरुषों की कृपा का फल है और वे बलवान तो हैं ही; अन्यथा पुराने युग के होने पर भी, अभी इस युग में भी अभिनन्दन पा रहे हैं। बच्चे इस कथा को सुन कर गुप्त जी का दर्शन करने के लिए लालायित हो उठते हैं। और मैं वक्ता के नाते इस दर्शनीय और अभिनन्दनीय की प्रणत-मुद्रा का स्मरण करके अपने को धन्य मानता हूँ। किसी समय जिस विनय का, जिस प्रणाम का मैं विद्रोह करता था, आज उसीका इस ढंग से श्रद्धापूर्वक संस्मरण करता हूँ!

मेरा गुप्त जी के प्रति इस समय जो सद्भाव है, उसका एक इतिहास है। मैं उन्हें हिन्दी की एक विभूति मानता हूँ। उसका एक कारण है। आज मैं उनकी हृदय-तर्पण करनेवाली स्वान्तः सुखाय और लोक-कल्याणाय अच्छी व्याख्या कर लेता हूँ। उसका कारण अतीत युग का स्मरण है। उसी स्मृति का आज संस्मरण लिख रहा हूँ। द्विवेदी-अभिनन्दन एक विन्दु था, जिसके पहले गुप्त जी का मैंने यश सुना था, और गुप्त जी को मैं मनुष्य के रूप में अथवा कवि के रूप में जानता नहीं था। इसका अर्थ यह है कि बार-बार देखते हुए भी उनको सद्भाव से देखा नहीं था। और बार-बार सुनते हुए भी उनकी गुण-गाथा सदा अनसुनी ही रह जाती थी। यों तो मैं भी केशव जी और शुक्ल जी के नाते उन्हें अच्छा मानता था, बड़ा मानता था; पर कभी अपनी हृदय-तृप्ति के लिए सम्वेदन की भूमिका में बात ही न करता था। कड़े शब्दों में कहा जाय तो यह उपेक्षा का भाव था। मैं जन्म से और शिक्षा से संस्कृत साहित्य का प्रेमी था। अंग्रेजी साहित्य का भी प्रशंसक था। और जैसा आरम्भ में प्रायः होता है, इन दो साहित्यों की अभिरुचि के कारण हिन्दी साहित्य को, विशेषकर आधुनिक हिन्दी साहित्य को, उस कोटि में रखता ही न था। पुराने हिन्दी साहित्य को कुछ मान अवश्य देता था, और इसी प्रकार आधुनिक छायावादी साहित्य को कुछ-कुछ अच्छा मानने लगा था। तथापि, अपनी संवेदन की भूमिका में केवल संस्कृत और अंग्रेजी का ही स्मरण करता था। यद्यपि मालवीय जी के सम्पर्क में रहने से अपनी भाषा की प्रशंसा करना कर्तव्य समझता था; आचार्य केशव जी के सामिप्य के कारण अनायास हिन्दी कविता का प्रसाद मिला करता था; पर एकान्त में सदा कहा करता था, "चाहे वह रत्नाकर हों, चाहे प्रसाद—संस्कृत के कवियों की सभा में इनका कहाँ स्थान है?"

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रति मेरी एक विचित्र आस्था थी। उनके बारे में जितना सुना था, उससे भी अधिक उनके युग को देख कर मैंने उन्हें एक महापुरुष मान लिया था। उनके अभिनन्दनोत्सव में एक सुफल मिला, वह यह कि मैंने उन्हें निकट से देखा और मेरे मन में हिन्दी साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया और जिज्ञासा उत्पन्न हो गई कि यह महापुरुष संस्कृतज्ञ होने पर भी, आधुनिक जीवन का मर्मज्ञ होने पर भी, हिन्दी साहित्य को इतना प्यार क्यों करता है! द्विवेदी जी के मिलन-प्रसंग का ही यह फल हुआ कि मैं आचार्य केशव जी और बाबू मैथिलीशरण को दर्शन की दृष्टि से देखने लगा।

मैंने आचार्य केशव जी से सुना कि आचार्य द्विवेदी जी काशी में आ गए हैं और रामघाट पर हैं। मैं प्रातःकाल ही द्विवेदी जी के दर्शन के लिए पहुँच गया। दर्शन की अभिलाषा देखते ही पूरी हुई। संभ्रम के

साथ चरण-स्पर्श किया। ज्यों ही मैंने कहा कि मैं केशव जी का शिष्य हूँ, उन्होंने गले लगा लिया। और बिना किसी प्रश्न के, बिना किसी प्रसंग के द्रवित हो कर कह डाला, "अरे, भाई केशव जी और मैथिलीशरण जी को तो मैं प्यार करता हूँ। उन्होंने मेरी साध पूरी की है। और जब मैं सोचता हूँ तो एक ही बात स्थिर कर पाता हूँ कि मैंने जो कुछ चाहा सो इन लोगों ने किया। केशव जी मेरी रुचि के सहृदय और विद्वान् हैं। गुप्त जी युग की मूर्तिमन्त कविता हैं। और तुम मुझे इसलिए प्यारे हो क्योंकि मूल से सूद ज्यादा प्यारा होता है!" अपरिचित को श्रद्धेय से इतना स्नेह मिला कि उसी दिन मान लिया कि आचार्य केशव जी और कविवर गुप्त को इसी रूप में देखना चाहिए। सच बात यह थी कि अभी तक मैं समझता था कि आचार्य केशव जी छायावाद के आचार्य हैं और उनके आराध्य कवि हैं जयशंकर प्रसाद। पर आज बिना विचारे, बिना तर्क से सिद्ध किए मैं ने केवल आप्त वचन से यह दो नई बातें सीखीं कि ये दोनों द्विवेदी जी की देन हैं। वहाँ केशव जी नहीं थे, पर गुप्त जी थे। वे बीच में एक बार कुछ और बातें करने लगे थे। उन्होंने हमारी बातों में योग दिया अथवा नहीं, पर वे प्रसन्न और मन्त्रमुग्ध मुद्रा में द्विवेदी जी की ओर देख रहे थे, जब मैं अपने आवेग से होश में आया।

इसके बाद जो उत्सव हुआ, उस उत्सव भर में मैं ने अपने भावी जीवन के लिए तीन ही बातें सम्बल के रूप में ग्रहण कीं—आचार्य द्विवेदी जी का महान् व्यक्तित्व, आचार्य केशव जी का योग्य शिष्यत्व, और गुप्त जी का सफल कवित्व।

इस उत्सव में एक बात और मिली कि आचार्य द्विवेदी जी बहुत सहृदय थे। उन्होंने बड़े प्रेम से इस उत्सव की पूर्णाहुति करनेवाला कवि-सम्मेलन संचालित किया था। यह तो मुझे स्मरण नहीं है कि सभापति वे ही थे, अथवा कोई दूसरा, पर वे बीच-बीच में बराबर नयी प्रणाली के कवियों को भी दाद दिए जा रहे थे। इस क्रम में मैंने देखा कि उन्होंने सभी प्रकार के कवियों से द्रवित हो कर अनुरोध किया और छायावादी या प्रगतिवादी सभी कवि उनके हृदयरस से सिंचित हो उठे। और हम सब कहने लगे कि आचार्यवर को कौन कहता है कि किसी वाद से उन्हें खीझ है। वे तो कवि-कर्म के पारखी हैं। पर जब हरिऔध जी जैसे कवि भी कविता पढ़ चुके, तब सबके अन्त में उन्होंने गुप्त जी से इस प्रकार कविता पढ़ने के लिए आग्रह किया, जैसे कोई अपनी संजोई हुई सुमधुर वस्तु सामने रख दे। आप बोले, "आओ, भाई मैथिलीशरण जी, आप भी कुछ सुनाओ।" हम लोग तो गुप्त जी की कविताएँ और चाहे कुछ मानते रहे हों, पर मिठास मानते ही न थे। पर उस समय हमें पहली बार गुप्त जी की कविता के मिठास का सचमुच अनुभव हुआ।

और, इसके बाद एक बार गुप्त जी का सरल विनोद भी देखने को मिला।

सन् ३५ या ३६ की बात है कि जब आचार्य केशव जी के घर एक अनोखी कवि-गोष्ठी का विलास देखने को मिला। आचार्य केशव जी के चिरअभिलषित एकमात्र पुत्र और एकमात्र सन्तान का यज्ञोपवीत समारोह था। काशी के ब्राह्मण के घर में यज्ञोपवीत का उत्सव विवाह से भी अधिक महत्व रखता है। और, उस में उस परिवार की साधना, धन और जन—सभी का वैभव और विलास स्पष्ट दिखायी पड़ता है। इसी विचित्र महोत्सव में प्रातःकाल से ले कर आधी रात तक लोग आया करते हैं और अपने-अपने ढंग से उत्सव मनाया करते हैं। समय का बन्धन नहीं, कोई क्रम नहीं, कोई नियम नहीं। संयोजकों की और सेवकों की भले दुर्दशा हो जाय, पर आगन्तुकों को इस अक्रम और अल्हड़पन में बहुत आनन्द मिलता है। कभी-कभी तो कुछ विशिष्ट स्वयं-संयोजक और स्वयं-सेवक भी बन जाते हैं। केशव जी के घर आनेवाले अनेक साहित्यिक और अध्यापक ऐसे ही मस्त संयोजक और सेवक बन गए थे। उनमें से कुछ नाम ये हैं : कवि-सम्राट् हरिऔध, कविवर मैथिलीशरण गुप्त, अमृतपुत्र श्री जयशंकर प्रसाद, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० पीताम्बरदत्त बड़थवाल, पं० कृष्णानन्द और श्री जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर जी के सुपुत्र राधेबाबू।

यज्ञोपवीत संस्कार से लेकर रात के १२ बजे तक गोष्ठी में न जाने कितने प्रकरण छिड़ते गए और रस की अजस्र वर्षा होती रही। कभी तो किसी छायावादी कविता का विनोद किया जाता था और

कभी किसी कवि को बनाया जाता था। और कभी किसी आलोचक की कठोरता और निर्ममता पर छींटे कसे जाते थे। सब से सुन्दर अवसर तो वह था, जब सचमुच में एक कवि-गोष्ठी का अभिनय होने लगा। और उस अभिनय के मूल प्रेरक गुप्त जी ही थे। गुप्त जी ने मुझसे कहा कि हरिऔध जी से कहो कि हम लोग चाहते हैं कि यहाँ बैठ कर एक कवि-गोष्ठी हो, आप उसके सभापति हो जाइये। गुप्त जी ने मुझसे यह भी कहा था कि बूढ़ों को कुछ रोग होते हैं। इनको 'सम्राट्' कहाए जाने और सभापति होने का रोग है। मैंने समझ लिया कि गुप्त जी अब कोई व्यावहारिक विनोद करेंगे। हरिऔध जी से ज्यों ही मैंने कहा, "यज्ञ में भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य होते हैं, अतः आप यदि बैठ जायँ, सभापतित्व स्वीकार कर लें तो एक सुन्दर साहित्य-गोष्ठी हो जाय", वे राजी हो गए और मैंने सब लोगों को ऊपर-नीचे से बुला कर एक स्थान पर इकट्ठा कर लिया।

इस समय संध्या के पाँच हो चुके थे। उनके लिए अलग एक गद्दी (मसनद) रख दी गयी। हरिऔध जी सभापति के आसन पर बैठ गए और सब लोग यथास्थान। हरिऔध जी ने आरम्भ में ही एक छोटा सा वक्तव्य दिया कि मैं कुछ जातीय सेवा और सांस्कृतिक सेवा को ही काव्य का असली तत्व समझता हूँ। इस कार्य को गुप्त जी बड़ी सफलता से करते हैं। इसलिए मैं गुप्त जी को अनुरोध करके बुलाता हूँ कि वे कविता पाठ करें। गुप्त जी ने आते ही पूर्व योजनानुसार 'झंकार' में से एक कविता सुनायी : 'वह बालबोध था मेरा'। हरिऔध जी ने कुछ मुँह बनाया। उन्होंने कहा, "कोई फड़कानेवाली कविता सुनाइए।" तब गुप्त जी ने एक कविता* सुनाई, जिसे सुन कर हरिऔध जी ने कहा, "असली कविता यह है! गुप्त जी को मैं इसीलिये बड़ा मानता हूँ कि वे युवकों और वृद्धों सभी की आवश्यकता ठीक से पहचानते हैं।"

गुप्त जी ने स्वाभाविक और सहज विनय के साथ कहा, "महाराज, यह ब्राह्मण का आशीर्वाद है।"

तब तक केशव जी ने मुझे बाहर बुला कर कहा, "देखो, हरिऔध जी को चिढ़ाना नहीं।" और मुस्कराते हुए ऊपर चले गए।

अब गुप्त जी ने यह कहा, "भई, मुझ से अच्छी कविता प्रसाद जी लिखते हैं, वे सुनायेंगे।"

हरिऔध जी ने कहा कि प्रसाद जी, कोई अच्छी कविता सुनाइए। कि गुप्त जी ही तुरंत फिर बोल उठे, "अरे, यह कहेंगे कि हमारी सभी ही कविताएँ अच्छी हैं।"

प्रसाद जी मन्द मुस्कान के साथ बोले, "क्या मुझे, छोटे-बड़े और अच्छे-बुरे का कोई विवेक नहीं है?"

पर उनके मुस्कराने से हरिऔध जी खिन्न होकर बोल उठे, "आप जल्दी पढ़िए।"

प्रसाद जी ने कहा, "मैं तो अपनी प्रिय कविता पढ़ूँगा।"

गुप्त जी खूब अट्टहास करके हँसे और बोले कि हम लोग तुम्हारी प्रिय कविता नहीं सुनना चाहते, हम लोग सबकी प्रिय कविता सुनना चाहते हैं।

प्रसाद जी ने हँसते हुए कहा, "ऐसी कविता तो वारांगना होगी!"

हरिऔध जी भी झुंझला कर कहने लगे, "अरे भाई, सुनाओ भी, देखा जायगा कि वह कैसी है।"

तभी गुप्त जी ने कहा, "नहीं, वह जनपद-कल्याणी होगी!"

जनपद-कल्याणी का नाम सुनकर हम सब लोग हँस पड़े, क्योंकि उसकी चर्चा कुछ देर पहले ही विस्तार से हो चुकी थी। प्रसाद जी ने और भी न जाने क्या-क्या कहने के बाद कविता सुनायी और ऐसी कविता† सुनायी जिसे सुनकर हरिऔध जी की खिन्नता बढ़ती ही गई। उस कविता में एक चरण था : 'श्यामा का नखदान मनोहर।' कविता के पूरा होते ही हरिऔध जी ने कहा कि ऐसी कविताएँ न तो यज्ञोपवीत में पढ़ने लायक होती हैं, न कालेज में पढ़ाने लायक!

गुप्त जी ने कहा, "लो भैया जयशंकर, तुम्हारी कविता तो कालेज से भी निकली। तुम मानते हो कि हमारी सभी कविताएँ अच्छी हैं, पर इतना तो निश्चित है कि तुम्हें सहृदय का परखना नहीं आता।"

---

* शायद 'हिंदू' में से कोई संस्कारवादी कविता थी।

† 'स्कन्द गुप्त' से।

हरिऔध जी तुरंत बोल उठे, "तो, मैं असहृदय हूँ ?"

गुप्त जी ने कहा, "नहीं महाराज, यह बात नहीं है। आप तो कवि ही नहीं, आचार्य और अध्यापक भी हैं। आप जब कहते हैं, यह कविता न यज्ञोपवीत-गोष्ठी के लायक है, न कालेज-लायक, इसका अर्थ यह हुआ कि कवि को पहचानना चाहिए कि हम किसके लिए कविता लिख रहे हैं।"

तब तक हरिऔध जी बोल उठे, "अच्छा, प्रसाद जी इस कविता का अर्थ कर दें, या कोई भी अर्थ कर दे तो हम बतायं कि यह यह कविता किस के लायक है ? मैं तो जितनी कविताएँ लिखता हूँ, सब यह ध्यान में रख कर लिखता हूँ कि इस युग के चुने हुए लोगों के लिए हैं। कभी वह कविता रसिकों के लिए रहती है, कभी बच्चों के लिए और कभी भाषा के व्यवहारविदों के लिए। बच्चों के लिए और जनता के लिए कविता लिखने में बहुत सोचना-समझना पड़ता है। आजकल मैंने बच्चों के लिए कुछ चीजें लिखी हैं और मुहावरों का भी खूब प्रयोग किया है। उर्दू की माँज और तबियतदारी दोनों को हिन्दी में लाने का यत्न किया है।"

गुप्त जी ने हाथ जोड़ कर कहा, "हाँ, महाराज, अब हिन्दी आप लोगों की कृपा से समृद्ध हो रही है।"

प्रसाद जी बोल उठे, "हिन्दी माने हिन्दी भाषा।"

हरिऔध जी ने चिढ़ कर कहा, "भाषा और साहित्य में मैं कोई भेद नहीं मानता। अब इस 'श्यामा का नखदान मनोहर' में क्या भाषा अलग है और साहित्य अलग है ?"

गुप्त जी ने कहा, "रहस्यवाद है।"

प्रसाद जी मुस्कराने लगे। कि एक सज्जन ने कहा, "इसका अर्थ छायावाद के आचार्य और हम लोगों के गृहपति केशव जी करेंगे।"

इसके बाद 'गृहपति' और 'अतिथि' पर विनोद होने लगा। इस प्रकार यह कवि-सम्मेलन बिगड़ने लगा। गुप्त जी तो रामनरेशजी त्रिपाठी का स्मरण कराके वे बातें सुनना चाहते थे जो उन्होंने सांस्कृतिक शब्दों के बारे में कही थीं। रामनरेशजी त्रिपाठी ने कभी किसी गोष्ठी में कह दिया था कि हिन्दी में शब्दों का अभाव है। 'धन्यवाद' के लिए अपने यहाँ शब्द नहीं हैं, 'होस्ट' के लिए अपने यहाँ कोई शब्द नहीं है। और इसी चर्चा में 'गृहपति', 'आतिथेय' और 'दम्पति' आदि शब्दों की विवेचना होने लगी।

इतने में ही एक संस्कृत का विद्यार्थी प्रसाद जी से यह पूछ बैठा कि आप अपने काव्य में अतिथि और आगन्तुक* को पुल्लिग में क्यों रखते हैं ? तो प्रसाद जी ने कहा, "न स्त्री, न पुंमान।" पीछे से किसी ने कहा, "नपुंसक !" गुप्त जी तब बोल पड़े, "तो तुम्हारी 'आँसू' कविता में वह आराध्य खसुआ है ?"

इतने में हरिऔध जी झुंझला कर बोल उठे, "यह तो कवि-गोष्ठी की मर्यादा टूट गयी। क्यों पद्म-नारायण, तुमने हमारा अपमान करने के लिए यहाँ बिठाला ?"

मैंने अपनी बचत के लिए तुरंत कहा, "अभी आया, मुझे पंडित जी ने बुलाया है।" मैंने भीतर से केशव जी को बुला लिया। तब तक हरिऔध जी आत्मस्थ हो गए थे। केशव जी को देखते ही बोल उठे, "पंडित जी, आप ही बतलाइए, इस 'श्यामा का नखदान मनोहर' का क्या अर्थ है ?"

आचार्य केशव जी ने इस कविता की इतनी सुन्दर व्याख्या की कि हम लोग तो मंत्रमुग्ध रह गए और हरिऔध जी ने प्रसाद जी को खड़े होकर गले लगा लिया और बोले, "भाई, तुम्हारी कविता मैं आज समझ सका। माफ करना, मेरे मन में कोई दुर्भाव नहीं था।"

इसके बाद यह गोष्ठी तितर-बितर हो गयी।

सन् ३६ में मैंने श्री मैथिलीशरण गुप्त को अपनी पूर्ण दृष्टि से देखने का प्रयास किया। मेरा पूर्ण दृष्टि कहने का एक विशिष्ट अर्थ है। आचार्य केशव जी कहा करते थे, "हम लोग अनायास परम्परा अथवा बड़े-बूढ़ों की बातें सुनते-सुनते उसी दृष्टि से कुछ चीजों को देखा करते हैं; यह 'पूर्ण दृष्टि' नहीं है। कभी-कभी

---

* प्रसाद जी के प्रेम-काव्यों में जिस प्रेम-भाजन का वर्णन है, वह रूप में तो स्त्री जैसा लगता है, पर उसके लिए सम्बोधन पुल्लिंग में रहता है। जैसे 'आंसू' में।

रुचि-वैचित्र्य के कारण अथवा परिचय के अभाव के कारण अथवा अति परिचय के कारण हम किसी को देख कर भी नहीं देख पाते। यह भी 'पूर्ण दृष्टि' नहीं है। कभी-कभी हम किसी घटना के कारण, द्रवित होकर किसी को प्रेम से देखने लगते हैं, यह भी 'पूर्ण दृष्टि' नहीं है, यद्यपि यह दृष्टि सत्य के कुछ पास पहुँच जाती है। एक चौथी प्रकार की दृष्टि होती है जिसमें हृदय की तरलता भी रहती है, बुद्धि की परख भी रहती है, परम्परा का उचित समादर भी रहता है और अन्तर की विदग्धता भी रहती है। ऐसी दृष्टि बोधपूर्वक तैयार करनी पड़ती है, अथवा किसी-किसी सहृदय को अपने जीवन के अभ्यास से वरदान-स्वरूप मिल जाती है।"

सन् ३६ में मुझे कुछ-कुछ ऐसी ही दृष्टि मिलने का स्वर्ण अवसर आया। मैंने गुप्त जी को आचार्य केशव जी की आँखों से देखा। महात्मा गांधी की आँखों से देखा। आचार्य द्विवेदी जी की आँखों से पहले ही देख चुका था, उस तरलता ने भी अपना काम किया। साथ ही, अपने बड़े-बूढ़े साथियों, समवयस्कों और अनुयायियों की दृष्टि से भी देखा। राष्ट्र के सेवकों और राज्य के विदेशी राज्य-कर्मचारियों की दृष्टि से भी देखा। इसी संबंध में अनेक यात्राएँ करके, उस युग के लोक-हृदय और आलोचक समाज से मिलने का अवसर पाया। साथ ही एक चीज और भी विलक्षण देखी। गुप्त जी का चारों ओर प्रबल विरोध देखा। उन विरोधियों से बात-चीत करने में कभी क्षुद्रता का अनुभव हुआ, कभी एक विचित्र और अनोखे सत्य का दर्शन हुआ, और कभी लोक-जीवन के जटिल रूप को देखने का गम्भीर अवसर मिला। और इस विरोध में गुप्त जी का स्वर्ण-समारोह निखर उठा। मैंने तो उस सन् ३६ के विरोध को बीस साल पीछे जा कर देखा; और २० साल बाद तक, आज भी देख रहा हूँ। और इस चालीस साल के जीवन का जब चिंतन करता हूँ तो ऐसा मालूम पड़ता है कि सन् ३६ में मुझे जो विरोध दिखाई पड़ा, वह गुप्त जी के विकास की एक परिस्थिति थी, वह गुप्त जी के जीवन का उपेक्षणीय अंश नहीं था। उन दिनों मैं सोचता था, किसी कवि का कोई विरोध क्यों करता है? विरोध गोपनीय अथवा निंदनीय है, प्रकट करने की वस्तु नहीं है। कम-से-कम, अभिनन्दन करने वालों को तो विरोध छिपाना चाहिए, अथवा दबाना चाहिए। पर अब मुझे ऐसा लगता है, 'वरम्‌विरोधऽपि समम् महात्मभिः' अच्छों से ही विरोध अच्छा होता है। मैं तो एक कदम और आगे जा कर ऐसा सोचने लगा हूँ कि अच्छे आदमी के लिए अपने विरोध में कुछ न कुछ तत्व की बात अवश्य रहती है! यह सब दृष्टि के रूप में सन् ३६ में ही मिला था। इसी दृष्टि को आचार्य केशव जी 'पूर्ण दृष्टि' के नाम से कहा करते थे। वे कहते थे, "दोष भी जान लो, गुण भी जान लो, उस व्यक्ति को मानने भी लगो और फिर यह इच्छा हो कि इसको हम भी देखें और दूसरे भी देखें तो समझो कि हमें कुछ-कुछ पूर्ण दृष्टि मिली है। और इसी पूर्ण दृष्टि का उलझा हुआ और अव्यक्त नाम सहृदय है।"

आचार्य केशव जी के यहाँ भदैनी के उस स्वाध्याय क्षेत्र में अशोक के नीचे गुप्त जी को मैं कई बार देख चुका था। जब कभी वे काशी आते थे तो आचार्य केशव जी से मिले बिना नहीं जाते थे। और इससे मुझे ऐसा लगता था कि गुप्त जी काशी के ही वासी हैं। १६३६ की श्रावण तृतीया को ब्राह्म मुहूर्त में काशी में एक साहित्यिक सभा हुई और संयोजक के नाते मुझे गुप्त जी को उनकी स्वर्ण-जयन्ती के उपलक्ष्य में बधाई का तार देने का आदेश मिला। मैंने बधाई के स्थान पर मन में सोचा कि काशी की ओर से दीर्घायु का आशीर्वाद जाना चाहिए और इसलिए पदावली में लिख दिया, "अपने राम का आशीर्वाद।" पहली कठिनाई तो यह पड़ी कि हैड पोस्टआफिस का तारबाबू हिन्दी में तार लेना ही नहीं चाहता था। बहुत समझाने के बाद उसने कहा, "थोड़ी देर खड़े रहो।" दो घण्टे के बाद झगड़ा करने पर यह तार जा सका। पर गुप्त जी का जब उत्तर मिला तो सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने लिखा था, "विद्युतवेग से काशी का आशीर्वाद मिला। प्रणाम।" इस छोटे से वाक्य को पढ़ कर हम लोगों ने समझा—इस कवि में जितने गुणों की कल्पना की जाती है, वे सभी हैं; इनमें श्रद्धा है, मर्यादा है, सरलता में साहित्यिकता है, संक्षेप और व्यवहार का कौशल है।

उसी दिन संध्या को काशी नागरी प्रचारिणी सभा में गुप्त जी की स्वर्ण-जयन्ती के उपलक्ष्य में साहित्यिकों की एक विशाल सभा हुई। आचार्य केशव जी की प्रेरणा से मैंने एक अभिनंदन-ग्रंथ देने की योजना इस सभा में उपस्थित की। इस अवसर पर प्रसाद जी, निराला जी, स्वर्गीय रामदास जी गौड़, आचार्य केशव जी,

हरिऔध जी, पराड़कर जी और बेढ़ब जी आदि अनेक साहित्य-निर्माता उपस्थित थे। निराला जी ने उठ कर कहा, "एक समिति बना ली जाय और यह कार्य शीघ्र प्रारम्भ कर दिया जाय।" निराला जी का वाक्य ही अन्तिम शब्द बन गया। आगे चल कर एक समिति बनी और एक 'मैथिली-मान' ग्रन्थ के नाम से हस्तलिखित अभिनंदन-ग्रंथ विजयादशमी के अवसर पर राष्ट्र-कवि को भेंट किए जाने का निश्चय स्थिर हुआ।

गुप्त जी के स्वर्ण-जयन्ती का प्रथम उत्सव श्रावण तीज को चिरगांव में तथा अन्यत्र हो चुका था। कोई तीन सप्ताह बाद गुप्त जी काशी पधारे। जिन सहृदय श्रोताओं ने गुप्त जी की कीर्ति और स्तुति उत्सव-समारोह में सुनी थी, वे उनका साक्षात्कार करना चाहते थे। इसके लिए मैथिलीमान समारोह के संयोजक के नाते मैंने दो-तीन आयोजन किए थे। पहला आयोजन भदैनी में मेरे घर पर हुआ था। आचार्य केशव जी ने गुप्त जी से अनुरोध किया था कि काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में ही आप पधारें, पर उनका संकोच देख कर उन्होंने विभाग के अध्यापकों और विद्यार्थियों को घर पर ही तृप्त करना उचित समझा। स्वभावतः इस आयोजन में हिन्दी विभाग के एम० ए० कक्षा के विद्यार्थियों की ही प्रमुखता थी। अध्यापकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, कविसम्राट पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा डा० पीताम्बर दत्त बड़थवाल उपस्थित थे।

प्रारंभिक बातों से, औपचारिक बैठक होने के पहले की बातों से, गुप्त जी बहुत प्रसन्न दीख रहे थे। ज्यों ही संयोजक की हैसियत से मैंने उन्हीं की गंगा-संबंधी कविता मंगल-गान के रूप में कंठस्थ गाकर गुप्त जी का स्वागत् किया, गुप्त जी सामान्य शिष्टाचार छोड़ कर बड़ी मिठास से बोल उठे, "यह कविता तुम ने कहाँ पढ़ी? यह तो मैं ही भूल गया था कि कहाँ छपी है? सचमुच यह मेरी ही है?"

आचार्य शुक्ल जी बोल उठे, "आपके जीते जी ही जाल होने लगा!"

मैंने सविनय निवेदन किया कि यह कविता 'गंगा' पत्रिका में छपी थी। तदनन्तर आचार्य केशव जी ने स्वागत् में एक गंभीर भाषण दिया। आपने कहा, "विद्वान के दो नाम मुझे बहुत प्रिय हैं: एक सहृदय और दूसरा दोषज्ञ। समान हृदय हुए बिना तो कोई कविता का आलोचक क्या, पाठक भी नहीं हो सकता। पर प्रायः विद्वान होने पर लोग सहृदय नहीं रह जाते इसीलिए हम लोगों ने यह यत्न किया है कि गुप्त जी का अध्ययन सहृदय होकर करें। पर मेरे जीवन की विशेषता है कि मैं दोषज्ञ का पद कभी नहीं भूलता। उसका उदाहरण मैं अपने दो मित्र-कवियों का विवेचन करके सामने रखूंगा। दोषज्ञ का अर्थ होता है जो प्रसन्न होने पर भी दोष का स्मरण रखे, जो अपनी मिठास में भी मिर्च के तीखेपन को बनाए रखे। मैं जब अपने सरल विद्यार्थियों को प्रतिभा-कवि और अभ्यास-कवि का भेद बताया करता था तो कहा करता था कि प्रसाद जी प्रतिभा-कवि हैं और गुप्त जी अभ्यास-कवि। साधारणतया प्रतिभा-कवि अथवा प्रतिभाशील कवि कहने पर यह समझ लेते हैं कि यह मुक्त गुणानुवाद है। पर सचमुच में यह अपूर्ण कवि का वर्णन है। कबीर और प्रसाद के समान जो कवि प्रतिभा के कारण प्रिय हो जाते हैं पर उनमें अभ्यास और सौष्ठव की लापरवाही दिखायी पड़ती है उनको इन्हीं मीठे शब्दों में हम लोग सुधारने का प्रयत्न करते हैं कि ये प्रतिभाशाली कवि हैं। इसी प्रकार जिन कवियों के बारे में मैं कहता हूँ कि ये अभ्यास-कवि हैं, जैसे माघ और मैथिलीशरण गुप्त जी, तो उसका अर्थ सामान्य विद्यार्थी यह समझता है कि यह छोटे कवि हैं और केवल इनमें श्रुत अभ्यास, वस्तु और शैली का सौन्दर्यमात्र है। पर मेरे मन में इसके भीतर इससे बड़ी बात छिपी रहती है। जिस कवि ने उचित ढंग से अभ्यास करके, इस्लाह का सम्मान करके, काव्य-रचना का आरम्भ किया है, वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है, और कभी भी अपने साथियों और अनुयायियों के लिए अस्पष्ट और अनोखा नहीं लगता। गुप्त जी ऐसे ही सफल कवि हैं। मेरे लोक के बहुत निकट हैं। गुप्त जी ने जिस भारतीयता और भक्ति-परम्परा का प्रश्रय लिया है वह भी हमें बहुत प्रिय है। पर एक गुण मुझे आज चमत्कृत कर रहा है, चमत्कृत से मेरा अभिप्राय (शुक्ल जी की ओर मुस्करा कर देखते हुए) आजकल के चमत्कारवाद से या चमत्कार से नहीं है। हमारे आचार्य लोग कहा करते हैं कि जब सहृदय कविता पढ़ कर द्रवित हो जाता है उस समय उसे एक प्रकार के चेतोविस्फार की,

चित्त की विशाल भूमि का अनुभव होता है जिसे बहुत से लोग ट्रान्सपोर्टेशन भी कहते हैं, उसे ही चमत्कार कहते हैं। ऐसे ही चमत्कार का ही मुझे अनुभव हुआ, जब मैंने 'द्वापर' पढ़ा। मुझे दंडी का वह श्लोक स्मरण हो आया—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववसना—
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
ततस्तवन्द्रैरनिशं सरस्वती
क्रमादुपास्या खलु कीर्तिमाप्सुभिः
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥

"इसमें दो बातें आचार्य दंडी ने बहुत महत्व की कही हैं। एक तो उपासना से सब कुछ हो सकता है और दूसरा, वह अनिवर्चनीय अनुग्रह भी उपासना से मिलता है जिसे लोग कहते हैं कि वह तो जन्मजात गुण होता है। इसका उदाहरण मैं गुप्त जी की उपासना का इतिहास सुना कर स्पष्ट किया करता हूँ। गुप्त जी के संबंध में अपनी बात कह दूँ तो इस श्लोक का मर्म मेरे विद्यार्थियों की समझ में कुछ आ जायगा। 'रंग में भंग' गुप्त जी की प्रथम कृति (चौथी आवृत्ति) जब मुझे मिली थी तो मैंने जितनी ऊँची कल्पना गुप्त जी के बारे में की थी, वह उससे छोटी लगी। और इसीलिए विनोद करते हुए उन्हीं के छंद में मैंने दो पंक्तियाँ लिखी थीं :

आज मैंने देखकर इस काव्य को, निश्चय किया।
काव्य-रचना की कला का गुप्त ने ठेका लिया॥

जब मैंने 'साकेत' पढ़ा तो ऐसा लगा कि गुप्त जी का काव्य–सौष्ठव निखर उठा है। पर अभी हाल में इस स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित 'द्वापर' देख कर मुझे विस्मय हुआ और चमत्कार का द्रवित आह्लाद मिला और उस समय मैं कह उठा कि क्या वह कवि इतना पूर्ण कवि हो सकता है! सचमुच, सरस्वती उपासना से अद्भुत अनुग्रह करती है। 'द्वापर' में मालूम पड़ता है कि गुप्त जी अपने आपसे परे हो गए हैं। मैं नहीं कह सकता कि वह राष्ट्रीयतावादी हैं, परम्परावादी हैं अथवा छायावादी हैं? मैं यह भी नहीं कह सकता कि वे अभ्यास-कवि हैं अथवा प्रतिभा-कवि हैं। अब तो मैं इतना ही कह सकता हूँ कि वे सफल कवि हैं। और आगे भी बढ़ कर कहूँ तो वे कवि हैं। अब आप लोग एक बार फिर दंडी के श्लोक के सरलार्थ पर विचार कीजिए।

"यदि अद्भुत प्रतिभा, जो पूर्व वासना के गुणोंसे ही उत्पन्न होती है, न प्राप्त हो, तो भी सरस्वती की श्रुत और अभ्यास से उपासना की जाय तो वह ऐसा अनिवर्चनीय अद्भुत वरदान देती है कि मनुष्य सिद्ध कवि हो जाता है। इसीलिए आचार्य दंडी ने अपना निचोड़ दिया है। जिन लोगों की इच्छा है कि कीर्ति मिले और अपनी और अपनी सेवा के बल पर विदग्ध-गोष्टी में विहार का सुख मिले तो उन्हें उपासना करनी चाहिए। इसका भाव यह है कि उपासना न करने से प्रतिभा भी बेकार हो सकती है और उपासना करने से बिना प्रतिभा के भी मनुष्य अद्भुत कार्य कर सकता है। इस उपासना का चमत्कार कविवर गुप्त जी में मूर्तिमान है। मैं ऐसे कवि का स्वागत करके केवल अपने को ही धन्य नहीं मानता, इन विद्यार्थियों को भी सौभाग्यशाली मानता हूँ कि जो ऐसे कवि के दर्शन और श्रवण का सौभाग्य पा रहे हैं। अब हमारा अनुरोध है कि हमारे इन शब्दों की ओर ध्यान न देकर, हमारे भावोंकी सरसता की ओर ध्यान देकर, गुप्त जी इन विद्यार्थियों के लायक कुछ सुनायेंगे। क्योंकि इन लोगों का जिज्ञासा-पूर्ण हृदय चिरकाल से उत्सुक है कि हम कवि की उस उपासना और महत्ता का साक्षात्कार करें जिसकी प्रशंसा आचार्य द्विवेदी ने की और जिस का संकेत मैंने भी समय समय पर किया।"

इसके बाद गुप्त जी ने अपनी चिर-परिचित मिठास और विनय के साथ कहा, "मुझे यह तो नहीं मालूम कि मैं सफल कवि हूँ कि नहीं, मैंने तो पं० जी की सेवा में लिख भेजा था कि मैं तो जयजयकार हूँ। पर एक बात से मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि मुझे इन आचार्यों का आशीर्वाद प्राप्त है। और रुचि के संबंध में मुझे तो 'साकेत' ही अपना सबसे अच्छा लगता है। पंडित जी को 'द्वापर' रुचता है, यह मेरा सौभाग्य है।"

तब तक विद्यार्थी बोल उठे कि 'साकेत' में से आप अपना सर्वोत्तम अंश सुनाइए। विद्यार्थियों और अध्यापकों में ऐसी कल्पना हो रही थी कि गुप्त जी 'साकेत' का नवम् सर्ग जो काव्योत्कर्ष से भरा हुआ है, सुनायेंगे। पर उन्होंने इसके विरुद्ध वह प्रसंग सुनाया जहाँ वीरदर्प का वर्णन है। वह स्थल है हनुमान जी द्वारा लक्ष्मण के मूर्छित होने का समाचार सुन कर मांडवी की उक्ति। इसके बाद आग्रह करने पर गुप्त जी ने कुछ अंश 'द्वापर' के भी सुनाए थे। 'साकेत' में जिस स्थल को (जहाँ मांडवी लंका-विजय की बात कहती है) गुप्त जी ने सुनाया, उसे हम लोग थोड़ा सूखा और नीरस समझा करते थे। संबंध-निर्वाह के लिए आवश्यक समझते थे, पर गुप्त जी की पाठ्य-प्रतिष्ठा ने उस दिन स्थिर रूप से यह हमारे हृदय पर अंकित कर दिया कि यह स्थल उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव से पूर्ण है। और साथ ही, यह भी मालूम हो गया कि गुप्त जी का निजत्व कहाँ रहता है।

आचार्य शुक्ल जी ने बहुत छोटे-छोटे दो-एक विनोद के वाक्य कहे। उनमें एक यह भी था: केशव जी से उन्होंने कहा, "पंडित जी, आपको गुप्त जी तभी पसंद आए, जब वे छायावादी हो गए!"

सन् ३६ की श्रावण की कृष्ण तीज को गुप्तजी की स्वर्ण-जयन्ती का प्रथम समारोह था। और कार्तिक में किसी दिन गुप्त जी काशी से एक अपार भीड़ के बीच पुष्पवर्षा के साथ विदा हुए थे। इन चार महीनों में केवल काशी में पचासों साहित्यिक गोष्ठियाँ और अभिनन्दन-समारोह उनके सम्मान में हुए थे। और काशी के अनेक साहित्यिक इलाहाबाद, कलकत्ता, शांतिनिकेतन, नागपुर, अकोला, वर्धा, सेगाँव, गार्डरवारा, जबलपुर, रायपुर आदि इसी प्रसंग में गए थे। और सर्वत्र मुख्य विषय एक ही था: गुप्त जी की साहित्यिक साधना की चर्चा। मैं यहाँ केवल दो तीन प्रसंग सुनाना चाहता हूँ।

पहला प्रसंग तब उपस्थित हुआ, जब काशी की 'तुलसी मीमांसा परिषद्' काशी के साहित्यिकों और हिन्दी के सभी प्रेमियों से सहयोग ले कर एक मैथिलीशरण-मान-समिति बना चुकी और उसका काशी के कई कोनों से विरोध हुआ। आचार्य केशव जी ने सुना कि काशी के प्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद के सभापतित्व में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भवन में एक गुप्त बैठक हुई थी, जिसमें इस अभिनंदन का दृढ़तापूर्वक बहिष्कार ही नहीं, विरोध करने का निश्चय किया गया था। दूसरी सूचना मिली, कि कवि-सम्राट हरिऔध जी के नेतृत्व में अनेक साहित्यिक और अध्यापक तथा उन अध्यापकों के शिष्यजन भी इस समारोह का विरोध करेंगे। सूचना देने वाले थे आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल। उन्होंने विनोद के साथ कहा, "काशी में तो अभिनन्दनीय दो ही हैं। अभिषिक्त कवि-सम्राट पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय और बिना मुकुट के महाकवि सम्राट जयशंकर प्रसाद। तुमने यह तीसरे अभिनन्दनीय की कल्पना कर ली, अब उसका नजारा देखो!"

बाबू श्यामसुन्दर दास जी से, इससे भी बड़े विरोध की सूचना मिली और उन्होंने कहा, "काशी तो प्रसाद का गढ़ है और अलाहाबाद पंत का गढ़ है। इन दोनों स्थानों मैं तुम्हारा विरोध होना स्वाभाविक है। तुम ने इस काम को बड़ी संस्थाओं की ओर से क्यों नहीं कराया?"

हमारी गोष्ठी के एक अन्तरंग से यह भी मालूम हुआ कि स्वयं हमारी स्वागत् समिति में भी कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो इस आयोजन के गठन-क्रम से तृप्त नहीं हैं। मैंने कल्पना की थी, मैं पूरे राष्ट्र की ओर से और विशेष कर 'हिन्दी राष्ट्र की राजधानी काशी' की ओर से इस आयोजन को कर रहा हूँ। और हम लोगों को सम्मेलन और नागरी प्रचारिणी सभा जैसी हिन्दी की प्रतिनिधि संस्थाओं का सहयोग प्राप्त है। पर इस समय कुछ विरक्ति-सी हुई। तो क्या इस विरोध के वातावरण में अपने गुरुजनों और साथियों से झगड़ा मोल लेना ठीक है?

इस निमित्त भदैनी में एक समिति बुलाई गई। और वह संध्या के छः बजे से ले कर रात के ग्यारह-बारह तक चलती रही। लोग आते थे और अपना मंतव्य कह कर चले जाते थे। केवल आचार्य केशव जी और मुझे स्थायी श्रोता के (!) रूप में अन्त तक रहना पड़ा।

आरम्भ में मैंने चार-पाँच कठिनाइयाँ उपस्थित करके ठोस परामर्श चाहा कि हमें लोगों का विरोध सह कर इस कार्य में लगे रहना कहाँ तक उचित है? लोग कहते हैं कि स्थानीय पंडितों का सहयोग नहीं मिलेगा, कांग्रेस-समर्थन-प्राप्त इस कार्य में सरकार का भी सहयोग नहीं मिलेगा, काशी के साहित्यिकों का और विशेषकर हिन्दू विश्वविद्यालय और नागरी प्रचारिणी सभा के प्रमुख व्यक्तियों का भी सहयोग नहीं मिलेगा। राष्ट्रीय नेताओं को अपना साथी बनाने में भी कुछ प्रभाव की आवश्यकता पड़ेगी जिसका भी इस समय नितान्त अभाव है। धन-जन जुटाने में भी कठिनाई होगी और सब से बड़ा प्रश्न तो यह है कि क्या मैथिलीशरण गुप्त इतने बड़े कवि हैं? कि उनके लिए हम लोग इतना कष्ट उठावें? हम लोगों का स्वयं का इस अभिनन्दन में आत्मसाधना की दृष्टि से क्या लाभ है?

तीन-चार व्यक्तियों के उत्तर निर्णयात्मक हुए। अनेक बातों के बाद जब श्रीरामदास जी गौड़ अपने स्नेहार्द्र शब्दों में कहने लगे, "पुरानी पीढ़ी के दो अद्भुत व्यक्ति हुए हैं। एक प्रेमचन्द जी जो अभी अभी चले गए और दूसरे मैथिलीशरण जी। मैं गुप्त जी की रचनाओं में ठीक धरातल की चीजें पाता हूं। जैसे कोई बूढ़ी नानी अपने बच्चों से बात कर रही हो! उसमें आकाश की उड़ान नहीं रहती, पर ठोस जीवन और सेवा की बातें रहती हैं। उनकी भाषा का एक ही अर्थ होता है और वह है अपने देश और समाज की सेवा। घी का लड्डू टेढ़ा भी भला। इतना मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि गुप्त जी का साहित्य घी का लड्डू है। उनके अभिनन्दन में हम अपने साहित्य का अभिनन्दन ही नहीं, मूल्यांकन भी कर सकेंगे। और हमारा आत्म-साधना वाला लाभ यह होगा कि हम यह विचार कर सकेंगे, भला गुप्त जी को आचार्य द्विवेदी और महात्मा गांधी जैसे महापुरुष अच्छा क्यों मानते हैं?"

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' जी ने कहा, "गुप्त जी बड़े हैं। उनका अभिनन्दन अवश्य होना चाहिए। विरोध से क्या होता है? कोई विश्वविद्यालय की ऊँची कक्षाओं को पढ़ाता है, और कोई मिडिल स्कूल का अच्छा मुदर्रिस होता है। आप लोग यह बताइए, क्या प्रोफ़ेसर का सम्मान होना चाहिए और मिडिल स्कूल के मुदर्रिस का सम्मान न होना चाहिए? मैं तो समझता हूं जो भी समाजसेवा की इस पाठशाला में यश कमा सके उसका उचित सम्मान होना चाहिए, और गुप्त जी को मैं ऐसा ही यशस्वी मुदर्रिस समझता हूँ!"

श्रीकृष्णानंद जी ने कहा, "यह बात तो मेरे मन में भी उत्पन्न हुई थी कि क्या गुप्त जी का कृतित्व इतना बड़ा है, कि हम लोग अपने से विरोध मोल ले कर उनका स्वागत् करें? एक दूसरी बात मेरे मन में अभी भी है कि क्या हम लोग इतने बड़े हैं कि गुप्त जी हमारे अभिनन्दन को पा कर तृप्त होंगे? पर मुख्य बात हमारे मन में है कि गुप्त जी की नई कृतियों में गुप्त जी का काव्य दमक उठा है। उससे ऐसी आशा है कि गुप्त जी आगे कुछ और भी करेंगे। और मेरी प्रसाद जी से अभी-अभी बातें हुई थीं, जिससे यह मालूम पड़ा कि गुप्त जी का अभिनन्दन उन्हें भी अभीष्ट है! वे इसे हिन्दी जगत् का कल्याण समझते हैं।"

आचार्य केशव जी ने कुछ सरल और प्रभावशाली बातें कहकर हम लोगों को सान्त्वना दी। उन्होंने कहा, "मैंने प्रयाग के कुम्भ मेले में देखा, एक बड़ी भीड़ में गुप्त जी की कविताएँ गाई जा रही हैं। मुझे उस दिन गुप्त जी के उस विराट रूप को देख कर बहुत अच्छा लगा। फिर मैंने देखा, स्कूल की छोटी कक्षाओं से लेकर एम० ए० के पाठ्य-क्रमों तक के निर्माता गुप्त जी को सम्मान देते हैं। आलोचना करनेवाले भी इतना निश्चित् मानते हैं कि गुप्त जी की चीजों से किसी का कुछ बिगड़ नहीं सकता। और मैंने एक बात कई बार दोहराई है और वह बात अभिनन्दनीय है कि जीवन में 'अभ्यास' सब कुछ कर सकता है। यह प्रतिभा का निरादर नहीं है। 'अभ्यास'* का समादर है। समाज और राष्ट्र अभ्यास के बल पर बनता है और टिकता है।"

---

* इन दिनों 'अभ्यास' का रूढ़ अर्थ मैथिलीशरण और 'प्रतिभा' का रूढ़ अर्थ जयशंकर प्रसाद था।

दूसरे दिन आचार्य शुक्ल जी से उनके घर पर बातें हुईं। शुक्ल जी से हम लोगों ने स्पष्ट पूछा कि यदि सब को बुरा लग रहा है तो आप बड़े के नाते सलाह दीजिए, हम लोग क्या यह अभिनन्दन बन्द करें ? शुक्ल जी ने छूटते ही कहा, "जो शुरू कर दिया है, उसे पूरा करना चाहिए। और गुप्त जी निश्चय ही अभिनन्दनीय व्यक्ति हैं। थोड़ा उपाध्याय जी* को प्रेम से मना लो और प्रसाद जी तो जहाँ केशव जी रहेंगे, वहाँ साथ देंगे ही। और विरोध को मैं एक शुभ सूचना समझता हूँ। उसका अर्थ यह है कि हम लोग अपने बल पर सद्भाव से जो कर सकें उससे ही सन्तुष्ट हों।"

पराड़कर जी से भी हम मिले। उन्होंने हमारे साथियों में विरोधी तत्वों की कुछ गोपनीय बातें बताते हुए एक ही वाक्य कहा, "मैं गुप्त जी को हिन्दी भाषा और राष्ट्रीय साहित्य का जनक मानता हूँ और मैं पत्रकारों का सहयोग तुम्हें दिलाऊँगा।"

आचार्य शुक्ल जी की आज्ञा से हम हरिऔध जी के पास भी गए। उन्होंने कहा, "मेरा गुप्त जी के अभिनन्दन से कोई विरोध नहीं है। विरोध यह है कि यह कार्य किसी बड़ी संस्था के मंच से क्यों नहीं हो रहा। और तुमने अकेले ही यह भार अपने ऊपर ले लिया है। और मेरे लिए पूछो, तो मैं तुम्हारे उत्सव में अवश्य आऊँगा।"

प्रसाद जी के यहाँ सबसे अधिक सन्तोष मिला। उन्होंने कहा, "मैं उस विरोध में अवश्य उपस्थित था। और सभापति के रूप में था। तुम्हारे हित की दृष्टि से काशी का सारा विरोध मेरे ही सभापतित्व में रहे तो तुम्हारा लाभ ही होगा। और मैंने स्वयं यह वचन दे ही दिया है कि तुम्हारे साथ सदा रहूँगा। इस विरोध से वह कहाँ कटता है ? एक बात और। मैं समझता हूँ इस अभिनन्दन से गुप्त जी पूर्णरूपेण राष्ट्रीय वीर हो जायंगे। और यह विरोध उनके गौरव की कहानी बन जायगा। अभी वे आधे कांग्रेसी हैं, फिर पूरे हो जायेंगे। और मेरा कहना तो यह है कि जैसे निराला जी को सम्मान नहीं मिला, पर सम्मान की इच्छा है, उसी प्रकार गुप्त जी भी अपने को उपेक्षित मानते हैं। उन्होंने उपेक्षिता की वकालत की है, पर वे स्वयं भी कहीं इस दर्द को छुपाए हुए हैं। और मैं तो वेदनावादी हूँ। वेदना के शमन को मानव की सबसे बड़ी पूजा समझता हूँ। इसीलिए निराला और गुप्त जी के अभिनन्दन को मैं ऋण मानता हूँ। तुम्हें इस अभिनन्दन से पुण्य मिलेगा। इस युग के तीन व्यक्तियों को महापुरुष मानता हूँ : गांधी जी, रवीन्द्र बाबू और मालवीय जी। और मैं अपने को इन तीनों में से किसी का अनुयायी नहीं मानता। पर गुप्त जी तो बिना अनुगमन किए रह ही नहीं सकते और वे इसी कला में बेजोड़ हैं। मेरी उनकी क्या बराबरी ? वे दूसरे क्षेत्र में काम करते हैं, और मैं दूसरे क्षेत्र में। जिस क्षेत्र में वे हैं, उस क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं। अतः उनका अभिनन्दन होना चाहिए।"

'सबै सयाने एक मत' जब काशी में हो गए, नागपुर होता हुआ मैं वर्धा पहुँचा। मुझे दो बातों की आशंका थी। एक तो गांधी जी से मेरा कोई परिचय नहीं था, दूसरे मेरे विरोध करनेवालों का उनसे निकट का सम्पर्क था। इस कारण गांधी जी के उस व्यस्त जीवन में मेरी बात उन तक पहुँचेगी, अथवा नहीं ? वर्धा में सेठ जमनालालजी बजाज की कृपा से मुझे सब प्रकार के आतिथ्य और सुविधा की सामग्री सुलभ हो गई—यह पहला अयाचित सौभाग्य मिला। शायद राष्ट्रकवि का नाम सुनकर ही वे प्रसन्न हो गए। अतिथि-भवन में हमारे वर्तमान राष्ट्रपति और उस समय के राजेन्द्र बाबू ठहरे हुए थे। राष्ट्रकवि के सम्मान की बात सुनकर उन्होंने कहा कि मैं शीघ्र ही तुम्हें महात्मा जी से मिला दूंगा। दूसरे दिन उन्हीं की कृपा से मुझे दस मिनट का समय मिला। महात्मा जी मिलते ही बोले, "मेरा भोजन का समय है, दस मिनट में तुम अपनी सब बातें कह जाओ। मैं पहले से भी बहुत कुछ जानता हूँ। और मुझे जो कुछ कहना होगा, अभी कहूँगा अथवा महादेव भाई से कहला दूंगा।"

---

* श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय काशी में उपाध्याय जी के संक्षिप्त नाम से ही जाने जाते थे।

मैंने ज्योंही कहा कि आपको इस अभिनन्दन-समारोह का सभापति बनाना चाहते हैं, गुप्त जी आपको बहुत मानते हैं और वे इससे प्रसन्न होंगे तो बोले, "मैं तो कोई साहित्य का विद्वान नहीं हूँ।" मैंने कहा कि यह राष्ट्रीय पर्व है और इसके सफल बनाने के लिए आपकी आवश्यकता है; साहित्य का विद्वान तो मैं स्वयं भी हूँ और मुझसे बड़े बड़े आचार्य लोग भी काशी में विद्यमान हैं; पर महात्मा जी, असली बात यह है कि आपके आने से हमारा यह साहित्यिक समारोह इस विशाल राष्ट्र के अनुरूप, राष्ट्रभाषा की गरिमा को स्पष्ट करानेवाला और भव्य रूप धारण करनेवाला होगा। महात्मा जी ने इस सरल बात पर प्रसन्न होकर विरोधी पत्रों की वह गड्डी दिखाई जो काशी से विभिन्न सभाओं ने भिजवाई थी। बोले, "मैं अब अवश्य आऊँगा। और तुम्हें दो बातें और बता दूं। कि मैं अतिथि बनूंगा बाबू शिवप्रसाद गुप्त का। और राष्ट्रीय कार्य के लिए तो उनका 'सेवा-उपवन' खुला ही रहता है। इससे हमारा और अन्य राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के आतिथ्य का भार तुम पर नहीं पड़ेगा। और आज से किसी विरोध की बात पर मैं विचार न करूँगा। तुम किसी विरोध से घबड़ाना भी मत। महादेव भाई से कुछ बातें कर लेना।" और अब वे भोजन करने लगे और बीच-बीच में गुप्त जी के सम्बन्ध की चर्चा करने लगे।

मुझे दिए दस मिनट बीत चुके थे। मुझ से कहा, "देखो, सामने से 'द्वापर' और 'सिद्धराज' उठाओ। मैंने इनको उलट-पुलट कर देखा है और मुझे तो उनका 'साकेत' ही अच्छा जँचता है।"

मैंने ससंकोच कहा, "बापू, साहित्यिक दृष्टि से गुप्तजी उत्तरोत्तर बढ़नेवाले व्यक्ति हैं। और इन दोनों काव्यों में उनका चरम उत्कर्ष है। पर 'द्वापर' ही उनकी अमर कृति है।"

बोले, "अच्छा, मैं इसे फिर कभी देखूंगा। पर मैं तो गुप्तजी को इसलिए बड़ा मानता हूँ कि वे हम लोगों के कवि हैं। और राष्ट्र भर की आवश्यकता को समझ कर लिखने की कोशिश कर रहे हैं। हम लोग सब 'काशी के विद्वान् और साहित्यिक' नहीं हैं! मैं तो साहित्यिक दृष्टि से निश्चित् रूप से मूर्ख हूँ। और गुप्तजी हम सभी मूर्खों के प्रतिनिधि कवि हैं। एक बात मैं उनके बारे में अच्छी तरह जानता हूँ कि हमारे और उनके बीच कोई गलतफहमी नहीं हो सकती।" फिर आगे चल कर महात्मा जी ने यह भी कहा, "इस अभिनन्दन-ग्रन्थ के बारे में हमारे कुछ सुझाव हैं। एक तो अभी जो कुछ भी मिले, उस का सर्व संग्रह कर लेना चाहिए। क्योंकि उत्साह का प्रदर्शन भी राष्ट्रीय जीवनका एक महत्वपूर्ण अंग होता है। पर स्थायी साहित्य की दृष्टि से एक खंड पीछे भी तैयार हो सकता है और जिसे दस वर्ष तक अप्रकाशित रखा जाय और फिर उनकी हीरक जयंती पर यदि वह मूल्यवान् जँचे तो प्रकाशित किया जाय। किसी सेवक का प्रमाणपत्रों से अथवा प्रशंसाओं से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। इसीलिए उनके सम्बन्ध में मैं कोई सम्मति अथवा प्रशंसात्मक वाक्य नहीं चाहता। और मैं फिर तुम से कहता हूँ कि मैं उन्हें इसीलिए बड़ा मानता हूँ कि जैसा मैं चाहता हूँ वैसा वे देश का काम करने को तैयार हैं।"

गांधीजी से मिलने के बाद मेरा एक ही काम रह गया था कि कुछ चुने हुए लोगों से गांधीजी से हुई भेंट और उनकी स्वीकृति की बात सुनाना। अब प्रायः जितने लोग मिले, उन्होंने भी प्रसन्न होकर योग देने का वचन दिया। हमारे वत्सल राजेन्द्र बाबू जिन्हें मैं 'चाचाजी' कहने लगा था, इस सफलता से परम प्रसन्न होगए। और स्वयं बोले, "अब तुम्हारा आयोजन महत्ता के अनुरूप उदात्त होगा। और मैं तुम्हारी पूरी सहायता करूँगा।" इसी बातचीत के क्रम में गुप्तजी के साहित्य की बात छिड़ गयी। और उन्होंने भी कहा, "मुझे भी महात्माजी के समान 'साकेत' ही सर्वश्रेष्ठ जंचता है।

मैंने भी अपनी पुरानी बात दोहराई, "मेरी आँखों से एक बार आप 'द्वापर' को पढ़िए।"

उन्होंने मेरी 'द्वापर' की प्रति लेली और उस व्यस्त जीवन में भी उसे मनोयोगपूर्वक पढ़ा और कुछ दिनों बाद एक कार्ड लिखा, "अब मुझे 'द्वापर' का उत्कर्ष प्रभावित करने लगा है।"

सेगांव से चलने से पूर्व मैंने काशी की मित्र-मण्डली को पत्र लिखा, "मैं अब काशी लौट रहा हूँ। और विजय का संदेश लेकर। अब तो मुझे ऐसा लगने लगा है कि इस समारोह के नायक हो गए हैं राजेन्द्रबाबू और अब यह राष्ट्रकवि का अभिनन्दन उनके सहयोग के कारण जैसे तो पूरी कांग्रेस के द्वारा होगा।

यह बनाव ग्रनायास बन गया है ! श्री महादेव भाई, काका कालेलकर जी, जमनालाल जी बजाज ग्रादि भी ग्रपने ग्रनुकूल हो गए हैं।"

बिजयादशमी के दिन हम लोगों की कल्पना के ग्रनुरूप ही, राजेन्द्र बाबू के सत्सहयोग से, पूरे राष्ट्र के नेताग्रों का समूह ग्रनायास प्राप्त हो गया। ग्रौर उस भीड़ में जब कि बापू एक बजे रात को ट्रेन से मुगलसराय पर उतरे, तो गांधीजी के तार की हिदायतों के ग्रनुसार मैं उनसे मिलने के लिए वहाँ उपस्थित था, पर स्वयंसेवकों की कतार में से भीतर जा सकना मेरे लिए कठिन था। देखते देखते गांधी जी की कार जब चल दी तो उतावली में मैंने जोर से ग्रावाज लगाई, "बापू, मैं गुप्त-ग्रभिनन्दन के लिए ग्राया हूँ।" एकाएक कार रुक गई ग्रौर महादेव भाई से उन्होंने मुझे ग्रन्दर घेरे में बुला लिया। मुझे देखते ही उन्होंने पूछा कि तुम्हें तो कार्यक्रम मालूम हो गया होगा ? मैंने कहा कि जी नहीं, मुझे ग्रभी कुछ नहीं मालूम। तुरंत उन्होंने स्थानीय कांग्रेस के तात्कालिक सभापति से पूछा, "क्यों, इनके पास सूचना नहीं भेजी ?" वे मौन रह गए ग्रौर दूसरा वालंटियर बोल उठा, "किसी वालंटियर की गलती से न पहुँचा होगा।" बापू ने तुरंत कहा, "इसका प्रायश्चित् यह है कि तुम जब कहो, तब मैं ग्राऊँगा।" मैंने कहा, "मेरी एक ही साध है। यह उत्सव भाषा ग्रौर साहित्य का है। सबसे प्रथम ग्राप इसीमें ग्राशीर्वाद दें।"

केवल एक चेतावनी देकर मोटर ग्रागे बढ़ गई; गांधीजी कहते गए, "कुछ प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इतना कष्ट सहना होगा।"

हम सबने ही नहीं, कई हजार जनता ने यह कष्ट सहा कि सुबह सात बजे ग्रायोजन सम्पन्न होने की ग्राशा में बैठे-बैठे साढ़े नौ तक गांधीजी के ग्रागमन की प्रतीक्षा की गई।

विजय-दशमी के मुख्य उत्सव के पूर्व महादेव भाई के ग्रादेशानुसार हम लोग महात्माजी से मिलने सेवा-उपवन पहुँचे। किसी प्रकार राजेन्द्र बाबू की कृपा से भीतर भी पहुँच गए ग्रौर गुप्तजी को महात्माजी द्वारा ग्रभिनन्दन के उपलक्ष में दी जाने वाली वस्तुएँ सामने रख दी गईं। दो-चार मिनट ध्यानपूर्वक सब चीजों को देखकर बापूने मुस्कराते हुए कहा, "संग्रह तो ग्रच्छा कर लिया। इस मान-ग्रंथ को जैसा मैं कह चुका हूँ, स्थायी चीज बनाना होगा। ग्रौर इसमें कोई लज्जा की बात नहीं है कि वह कुछ विलंब से छपे। ग्रौर यह 'महा-विद्या' का विशेषांक पत्रिका के नाते तो बहुत ग्रच्छा है, पर मुझे एक ही चीज़ इसमें ग्रच्छी लगी कि दो ग्रादमियों ने तार हिन्दी में दिए। तुमने ग्रौर बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने।" ग्रौर यह कहते हुए वे इस प्रकार मुस्कराए कि जिससे मुझे लगा कि 'महाविद्या' का शेष ग्रंश व्यर्थ का है। विजयांक के बारे में उन्होंने कहा, "इसमें भी एक ही लेख है। ग्ररे, इसमें एकाध चित्र झाँसी का या गुप्तजी के घर का देना था। किसी 'विजय-यात्रा' का वर्णन भी करना था। ग्रौर यह मानस की भेंट सबसे ग्रच्छी भेंट है। पर तुम्हारी सबसे ग्रच्छी चीज़ तो यह 'सरस्वती-श्रृंगार' है। ग्रच्छा, ठीक है। कुल मिलाकर तुम्हारा काम पूरा हो गया। पर इतने से संतुष्ट मत होना, इसे तो ग्रभिनन्दन का ग्रारम्भ समझो। इस काम को दस वर्ष बाद हम फिर देखेंगे। ग्रच्छा, जाग्रो।"

चलने से पूर्व उन्होंने पूछा, "सबको तो तुमने निमंत्रित कर दिया है ?" मैंने कहा कि इसका भार तो शिवप्रसाद जी ग्रौर राजेन्द्र बाबू पर है।

मन में दीनता तो छिपी हुई पहले से ही थी, लेकिन गांधीजी ने ही जब वह दीनता जानकर, ग्रौर समझ कर भी ग्रपना ग्राशीर्वाद हमें दे दिया, तो मन परम संतुष्टि का प्रसाद पा गया ग्रौर हम सब वहाँ से 'भगवान का भोग' चढ़ा चुकने की निष्ठा से लब्ध लौट ग्राए। गांधीजी के शब्दों से हमारे मन के संकोच का ग्रावरण हट गया था, ग्रौर हम सब उत्साहित थे। ग्रब तो स्पष्ट हो चुका था कि गांधीजी भी इस ग्रभिनन्दन में ग्रपना सहयोग देना निजी काम समझ रहे थे।

ग्रभिनन्दन-ग्रंथ को भेंट करने के लिए महात्मा गांधी स्वयं पधारे। काशी नरेश के बाड़े में (भदैनी) ग्रपार जनसमूह के समक्ष देश के भिन्न-भिन्न कोनों से ग्राए हुए साहित्यिकों ग्रौर राजनीतिज्ञ नेताग्रों की उपस्थिति

में यह महोत्सव सम्पन्न हुआ। महात्माजीने केवल एक घण्टे का समय दिया था। प्रातः ९ से १०। इस घण्टे के एक-एक क्षण का अधिक से अधिक उपयोग महात्मा जी ने कराया। आचार्य केशवजी को यह कह कर स्वागत्-भाषण नहीं देने दिया कि आज मेरे स्वागत् का नहीं, कवि के स्वागत् का दिन है। मुझ, संयोजक पद्मनारायण, से यही कहा, "आप ग्रंथ सामने रख दीजिए। परिचय तो मैं ही दे दूंगा।" केवल आचार्य श्री कृष्णानन्द जी का मंगल-गान और गुप्त जी का 'प्रणाम'—इन दो को ही उन्होंने स्वीकार किया। 'प्रणाम' नाम से गुप्त जी ने ग्रंथ-समर्पण का और अभिनन्दन का उत्तर दिया और शेष पूरा समय महात्मा जी ने अपने आशीर्वाद-वचनों में ही सफल किया, जिनमें अपूर्व-आनन्द व विनोद भरा हुआ था।

इसी दिन संध्या तीसरे पहर बाबू शिवप्रसाद गुप्त के 'भारतमाता मन्दिर' का उद्घाटन महात्मा जी ने किया। वह पूरा समारंभ भी महात्माजी के विनोदपूर्ण वचनों से और कार्यों से भरा हुआ था। जिस समय वे बाहर निकल रहे थे, लोग उनके चरण छू रहे थे और प्रणाम करते जा रहे थे। मैं भी वहीं खड़ा था। मुझे देखते ही उन्होंने कहा, "तुमने प्रणाम नहीं किया?" मैं मुस्करा कर रह गया। तुरंत दूसरा प्रश्न हुआ, "तुम्हारा उत्सव तो अच्छा हो गया है न?" यह अप्रत्याशित प्रश्न सुनकर मैं इतना भाव-विह्वल हो गया कि मैं कह उठा, "बहुत सुन्दर! न भूतो, न भविष्यति।" और महात्माजी हँसते हुए आगे बढ़ गए।

मुझे ऐसा लगा, अभी-अभी गुप्तजी ने भारतमाता-मन्दिर के उपलक्ष्य में जो एक कविता पढ़ी है, उससे हम लोगों के उत्सव का स्मरण बापू को फिर हो गया था, पर थोड़ी ही देर बाद महादेव भाई से जो बातें हुईं, उससे यह प्रकट हुआ कि यह केवल उस कविता का ही फल नहीं था, यह स्वयं बापू की वत्सलता थी और महादेव भाई की प्रेमभरी कृपा-दृष्टि।

महादेव भाई ने बहुत आत्मीयता के साथ मुझे अलग बुलाकर कहा, "देखो, आज प्रातः तुम बापू की बहुत सी बातें समझे नहीं। तुम्हारी सभी बातें मैंने उन्हें सुना दी थीं। तुमसे वो बहुत कम बातें करते हैं। पर तुम्हारे बारे में बहुत जानकारी रखते हैं। तुमने जो चिरगांव की यात्रा की थी, उसकी भी चर्चा कर दी थी। तुम्हारा जो सात दिन का भारीभरकम आयोजन है, उसको भी समझा दिया है। बापू कहते थे, उत्साह और प्रचार की दृष्टि से यह सब अच्छा है। पर कुछ चीजें ऐसी भी होनी चाहिएँ जिनसे स्थायी साहित्य की निधि बढ़े। इसीलिए उन्होंने सबेरे उतने प्रश्न पूछे थे। तुम ने कुछ उत्तर दिया होता तो वे कुछ और भी पूछते। उन्होंने जो 'विजय-यात्रा' की बात कही थी, उससे उनका आशय तुम लोगों की सेगांव-यात्रा से था। यह उन्होंने विनोद में नहीं कहा था। इसी प्रकार कवि के घर के चित्र वाली बात भी हलकी नहीं थी। आगे चलकर जब इस ग्रंथ का सम्पादन करना, तब हमसे सलाह ले लेना, तब और भी बातें हम बापू के मन की तुम्हें बता सकेंगे।"

इसी प्रसंग में दो बहुत ज़रूरी बातें न कहने से छूट जायंगी। उन्हें कहना अनिवार्य है:

सन् ३८ में रायपुर से पद-त्याग करके तुलसी-जयन्ती पर भिन्न-भिन्न स्थानों में व्याख्यान देते हुए मैं काशी लौट रहा था। नागपुर में भाषण देने के बाद मैं अपनी इस यात्रा की रिपोर्ट देने के लिए महात्माजी के पास चला गया। व्यस्त होने पर भी महात्माजी ने दस मिनट मेरे लिए निकाले ही, और जयन्ती का विवरण सुनने के बाद, दूसरा प्रश्न उन्होंने पूछा, "उस 'अभिनन्दन-ग्रंथ' का क्या हो रहा है?" मैंने गंभीरतापूर्वक कहा, "आप की सलाह काशीवालों ने मान ली है, अब उसे वे दस वर्ष बाद उनकी हीरक-जयन्ती पर ही निकालने का विचार कर रहे हैं।" बापू बड़ी कठोरता के साथ इस प्रश्न को छोड़कर आगे बढ़ गए...

आठ वर्ष तक उन्होंने फिर कभी इसकी चर्चा नहीं की।

सन् ४७ के अन्त में जब उनके पर्सनल असिस्टेंट श्री ओमप्रकाश जी मेरे यहाँ थीसिस लिखने आए थे, उन के हाथों उन्होंने दो बातों का संदेश भेजा था: कि अब तो हीरक-जयन्ती हो गई, उस 'ग्रन्थ' का क्या हो रहा है?

वह निकले, अच्छे ढंग से निकले, और राष्ट्र के अनुरूप। दूसरा काम 'मानस' का अब और भी अधिक आवश्यक हो गया है। (मैथिली-मान के साथ जो शुद्धपाठ का मानस-ग्रंथ दिया था) उसकी टीका सरल भाषा में महात्माजी की बताई हुई विधि से प्रकाशित होनी चाहिए, जो पूरे भारत भर में प्रत्येक पुस्तकालय में और प्रत्येक प्रार्थना अथवा सेवा के केन्द्र में रखी जाय। यही मैथिलीशरण का सच्चा अभिनन्दन होगा। मैं भी इसमें अर्थ का योग दूंगा—गांधी जी ने यह संकेत भी भिजवाया था!

पर यह सन्देशा भिजवाने के कुछ ही दिन बाद तो गांधीजी हम सब के बीच से चले गए। उनकी अनुपस्थिति में उस अप्रकाशित ग्रन्थ को नए सिरे से मुद्रित करने का प्रश्न विरस हो उठा था, कि सहसा ही कलकत्ता से श्री बरुआजी एक नए अभिनन्दन-ग्रन्थ की योजना लेकर आए। और, बरुआजी की शक्तियों को देखकर, मेरे हृदय में से आवाज आई कि यह उसी सन् '३६ के अप्रकाशित अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन का ही जैसे खोया हुआ सूत्र जाग्रत होकर प्रकट हुआ है। काशी न सही, कलकत्ता ही सही—जो हो रहा है वह राष्ट्रपिता के आदेश की ही सम्पूर्ति-रूप होगा। सन् '३६ ने गुप्तजी को राष्ट्रीय प्रांगण में व्यापक प्रतिष्ठा दी थी। विगत २१ वर्षों में अब वे हम सब के प्रणम्य हो गए हैं।

अन्त में दो संस्मरण और देकर अपना लेख समाप्त करूंगा—

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की हिन्दी-समिति ने १९३९ में स्वर्गीय कवि जयशंकर प्रसाद के चित्रका उद्घाटन करने का निश्चय किया। मुझे यह भार सौंपा गया कि मैं श्री मैथिलीशरण जी गुप्त से इसका उद्घाटन कराऊँ। यह सुनते ही कि गुप्त जी आ गए हैं, मैं रामघाट पहुँचा।

गुप्तजी ने बहुत सरल भाव से कहा, कि मैं चलूंगा अवश्य; मुझे बोलना तो आता नहीं है इसलिए वह विश्वविद्यालय की गरिमा के अनुरूप नहीं होगा। और, एक बात और है कि स्वयं प्रसाद जी भी हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के बीच जाकर खिन्न हुए थे। फिर वहाँ शायद किसी साहित्यिक समारोह में वे नहीं गए। मैंने कहा, "गुप्त जी, वही मेरे मन में है और वही मैं सत्य करूँगा। मेरा हठ है कि आप ही चलिए और एक ही वाक्य बोलिए। मुझे वक्ता की आवश्यकता नहीं है। मेरे कार्य की सिद्धि जिससे हो सके, वही सबसे बड़ा वक्ता है।"

गुप्त जी आए। इस अवसर पर पं० रामनारायण मिश्र, कृष्णदेव प्रसाद जी गौड़, श्री इकबाल नारायण गुर्टू (तात्कालिक उपकुलपति), डा० उपेन्द्रचन्द्र नाग आदि उपस्थित थे। चित्रोद्घाटन हुआ। 'महाकवि' कह कर गुप्तजीने प्रसादजी का स्मरण किया और सजल नेत्रों से जिस प्रकार इस कार्य को सम्पन्न किया कि उसकी स्मृति उस समय के लोगों के हृदय पर आज भी अमिट है। गुप्त जी ने कहा, "इस महाकवि से मेरा सम्बन्ध सुहृद का था। उसका स्मरण करके मुझे विश्वनाथ के प्रसाद का स्मरण हो आता है। मैं वक्ता नहीं हूँ। और आप तो जानते हैं, मैं कविता भी अच्छी तरह नहीं पढ़ सकता। यह तो आचार्यों का अनुरोध था, इसलिए मैं चला आया।" उस समय के एक विद्यार्थी ने जो आज कवि और प्राध्यापक हैं, गद्गद् होकर गुप्तजी के चरण छू लिए और कहा, "सचमुच मैंने महाकवि प्रसाद के सुहृद को देख लिया!" उस विद्यार्थी का नाम था श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'।

केशव जी ने गुप्त जी का स्वागत् करते हुए कहा, "प्रसाद जी का जो यहाँ का सुहृद-मंडल था, उसके ३-४ व्यक्तियों के बारे में मैं निश्चय से कह सकता हूँ कि उन्हें प्रसाद जी का स्नेह प्राप्त था। पर मुझे भी उपहार में यह प्रमाण-पत्र मिला करता था कि अपने पत्रों में वे सुहृदवर लिखा करते थे। और गुप्त जी तो स्वयं बतायेंगे कि प्रसाद जी से उनका क्या नाता था? यह उनके सम्बन्ध में जो कुछ कहेंगे, वह हृदय और जीवन के रस से आप्लावित रहेगा। इतना कह कर मैं कविवर मैथिलीशरण जी का विभाग की ओर से स्वागत् करता हूं।"

सन् ४५ की एक संध्या को हम लोगों ने देखा, हम लोगों के भजन-मंडप के सामने गुप्त जी खड़े हैं। मेरे घर पर गुप्त जी का आना मेरे लिए नई बात नहीं थी। पर योगाभ्यास और भजन की संगति को हमने अपने दैनन्दिन जीवन से अलग एक रहस्य ही बना रखा था। इस रहस्य का गोपनीय संबंध हमारे अवधूत स्वामी जी के साथ ही अधिक था, जो उनके विचित्र स्वभाव के कारण हमें बहुविध संकोच में डाले रहता था। ऐसे स्थान पर गुप्त जी को सहसा ही देख कर मैं बड़ी ही द्विविधा में पड़ गया। ऐसा लगता है कि गुप्त जी मेरे इस रहस्य की जानकारी करने आ पहुँचे थे। वहाँ बैठे हुए अध्यापकों और विद्यार्थियों को, विशेष कर मेरे घर के बच्चों को विस्मय, हर्ष और उलझन का अनुभव हुआ। विस्मय इसलिए कि लोगों ने कल्पना नहीं की थी कि गुप्त जी जैसा बड़ा कवि बिना बुलाए इस अवधूत-मंडली में आ सकता है। हर्ष इसलिए कि उन्होंने हमारे भजन का सम्मान किया। उलझन इसलिए कि स्वामीजी के साथ गुप्त जी का हम लोग उचित सम्मान और आदर कर सकेंगे अथवा नहीं ? स्वामी जी, जो हम लोगों को योग सिखाया करते थे, और इस समय भजन-मंडलके नेता थे, अवधूत प्रकृति के व्यक्ति थे। उनके व्यवहार से भक्त तो प्रसन्न हो सकते थे, पर सामान्य शिष्ट व्यक्ति खिन्न भी हो सकता था। इसलिए हम लोगोंको भय था कि इन दो व्यक्तियों में से कोई खिन्न न हो, और कठिनाई यह थी कि एक ही स्थान पर दोनों पहुँच गए ! मैंने तुरन्त एक विद्यार्थी से कहा, "गुप्तजी को ले चलकर मेरे घर बिठाओ और मैं शीघ्र ही आता हूँ।" पर गुप्त जी ने कहा, "मैं तो गुरुजी को देखना चाहता हूँ।" फिर तो बिना मेरी अनुमति के ही वह विद्यार्थी सीधे गुरुजी अर्थात् अवधूत जी के पास गुप्तजीको लेता चला आया। यथोचित परिचय के बाद, अवधूत जी अपना रामायण का गान गाने लगे। गुप्त जी सजल होकर सुनने लगे। और हम लोग गुरुजी का एक एक भाव-परिवर्तन देखने लगे। कुछ देर तक भाव-भजन चलने के बाद स्वामी जी ने कहा, "आप भी तो भक्त हैं। आप कुछ सुनाइए।" और सब विद्यार्थी आश्चर्य के साथ देखने लगे कि गुप्त जी भी बिना किसी कृत्रिमता के साथ सरल भाव से प्रसन्न होकर कविताएँ सुनाने लगे। गुप्त जी ने कुछ छंद 'साकेत' से, और कुछ छंद 'द्वापर' से सुनाए। द्वापर में से एक छंद राधा का और संभवतः दो छंद कुब्जा के थे। अवधूत जी से अधिक गुप्त जी के इस कविता-पाठ से हम लोग प्रसन्न हुए। उसके दो कारण थे : एक तो गुप्त जी बहुत अनुरोध करने पर कविता सुनाया करते थे और आज बिना विशेष आग्रह के ही वे कविता सुनाने लगे थे। और दूसरे, अवधूत जी को उन्होंने शृंगार-परक कविता सुनायी और हमारे विद्यार्थियों ने यह समझा कि उन्होंने अवधूत जी की परीक्षा ली, पर मैंने देखा कि गुप्तजी के मुख पर अविचलित शान्ति की रेखाएँ थीं। अन्त में गुप्त जी घुल-घुल कर बातें करने लगे। उन्होंने गुरुजी से पूछना शुरू किया कि आपके पिता क्या करते थे, आप कौन संप्रदाय के हैं, क्या शिक्षा है, इत्यादि; और बातें करते हुए स्वामी जी ने सिगरेट निकाला और गुप्त जी के सामने रख दिया। गुप्त जी ने कहा, "मैं सिगरेट तो नहीं पिया करता, मैं तो बीड़ी पीता हूँ। पर यह तो प्रसाद है।" ऐसा कह कर उन्होंने सिगरेट उठा लिया और पिया भी। अन्त में प्रसाद लेकर गुप्त जी प्रसन्न मुद्रा में वहाँ से विदा हो गए। उनके जाने के बाद सभी लोग उनके बड़प्पन की चर्चा करते रहे। स्वामी जी ने तो कहा, "तुम लोग तो इस प्रकार से उनको अपने साथ ले जा रहे थे, मालूम पड़ता था कि कोई भजन-विरोधी आधुनिक कवि है। मैंने तो गुरुजी शब्द सुनकर ही जान लिया था कि इस व्यक्ति में कितनी मिठास है और कितनी मर्यादा है। 'गुरुजी' और 'महाराज जी' में अन्तर हुआ करता है।" विद्यार्थियों ने यहीं एक कटु टिप्पणी की कि गुप्त जी तो मर्यादावादी कवि हैं, वे भी स्वामीजी के कहने से, वह भी अपनी इच्छा से नहीं, धूम्रपान क्यों करने लगे ? विद्यार्थियों ने कभी पहले गुप्तजी को धूम्रपान करते देखा नहीं था। स्वामीजी ने हँसते हुए कहा, "प्रसाद का मर्म मर्यादा से बड़ा होता है।" मेरे चंचल बालक ने ढिठाई के साथ कहा, "बाबूजी ने कहा है, प्रसाद में सब चीजें नहीं लेनी चाहिए। अपनी योग्यतानुसार ही ग्रहण करना चाहिए।" मैंने कहा, "गुप्तजी बड़े हैं, उनका बड़प्पन देखने की कोशिश करो। कुछ दिनों में तुम समझ जाओगे, गुप्त जी ने जो किया वही बड़प्पन था। आज वे हम लोगों के हृदय को जीत कर गए हैं।

•••

जनता के राष्ट्रकवि

श्री भगवान् दास

* *

८६ वर्ष की मेरी वृद्धा स्मृतिशक्ति पैरों पर लड़खड़ाती चलती है, अस्थिर हो गई है। अतः मुझे ठीक स्मरण नहीं कि श्री मैथिलीशरण गुप्त जी को कब मैंने प्रथम बार देखा; किंतु, प्रायः १९२१ और १९२५ में निश्चयेन देखा। इससे पहले भी उनका दर्शन किया हो, यह संभव है। मेरा एक ग्रन्थ 'समन्वय' नाम का है। उसका मुख्य, सबसे बड़ा अध्याय, काशी के दैनिक 'आज' में, क्रमशः छपा; प्रायः १९२५-२६ में। रायकृष्ण दास जी को रुचा, उसको पुस्तकाकार छपाने की अनुमति मुझसे चाही। मैंने बहुत प्रसन्नता से दे दी, तथा और कई लेखों की छपी वा हस्तलिखित प्रतियां दीं। मैंने अपने किसी अंग्रेजी, हिंदी वा संस्कृत ग्रन्थ में 'कापी राइट' नहीं रखा—हाँ, प्रकाशकों ने रक्खा, सो भी, मेरे अनुरोध से, पांच वा सात वर्ष के लिए ही। रायकृष्ण दास जी ने श्री मैथिलीशरण जी से कहा, और उन्होंने, चिरगांव में, अपने ही प्रेस में छपाया। उसकी पहिली प्रति रायकृष्णदास जी ने मुझे दी, उसे मैं अब तक सुरक्षित रक्खे हूँ। वह संस्करण सन् १९२८ में छपा; पीछे दो संस्करण और, सस्ता-साहित्य-मंडल, नई दिल्ली ने छापे। इसके पश्चात् जब-जब गुप्त जी काशी आए, तब-तब, रायकृष्णदास के साथ ही, मुझे दर्शन देते रहे। एक बार, मेरे ज्येष्ठ पुत्र श्रीप्रकाश जी के 'सेवाश्रम' नामक स्थान में, संध्या समय कवि-सम्मेलन हुआ, काशी के कई कवि एकत्र हुए, जिन्होंने अपनी रची कविता वा पूर्व-कवियों की कविताएँ, सस्वर सुनाईं। श्री गुप्त जी की पारी आई—अपनी कविता कोई उनके स्मरण में न आई। एकत्र सज्जन हँसे। गुप्तजी ने अन्य कवियों की कविता सुनाई।

गुप्त जी ने अपने रचे सब ग्रन्थ मुझे दिए। मैं बहुत चाव से पढ़ता रहा। प्रायः महाभारत की कथाओं का आश्रय लेकर 'जयद्रथ वध' बहुत उत्तम बना है, स्यात् विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी रक्खा गया है।

मैंने आपसे प्रार्थना की, बुद्धदेव के समय से आज तक, भारत के ढाई सहस्र वर्षों के इतिहास में, महाभारत से भी बड़ी-बड़ी घटनाएँ हुईं; उनका वर्णन भी कविता में कीजिए; किंतु इस ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।

जनता ने आपको 'राष्ट्रकवि' माना है और भारत के राष्ट्रपति ने भी आपको भारतीय राज्यसभा का सदस्य बना कर माना है। गुप्त जी का यश, ब्रिटेन के भी हिंदी-प्रेमियों में फैला है।

गुप्त जी के एक छोटे, 'पृथ्वीपुत्र' नाम के नाटक का, एक अंग्रेज विद्वान् ने अंग्रेजी में अनुवाद किया है। 'ए० जी० शिरेफ' नाम के ये सज्जन काशी में कमिश्नर रह चुके हैं। सर्कारी नौकरी त्यागने के पीछे ये ब्रिटेन में जा बसे हैं। जब वे काशी में थे, तब से उनसे मेरी जान-पहिचान हुई और अबतक पत्रव्यवहार हो रहा है। अभी गत वर्षों में, काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने उनको अपना सदस्य बनाया है।

मैं परमात्मा से हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि श्री गुप्त जी को शतायु करें, जिसमें वे हिंदी के साहित्य-भांडार में और भी उत्तम-उत्तम काव्यरत्न रक्खें।

अभी पिछले दिनों भारत के भूतपूर्व अर्थमंत्री देशमुख जी ने राज्यपरिषद् में आय व्ययक उपस्थित किया—उस समय श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने दस बारह पंक्तियों की कविता में उन पर और उनके आय व्ययक पर आक्षेप किया—उस आक्षेप से मैं अक्षर-अक्षर से सहमत हूँ—कालिदास जी ने महाराज दिलीप के वर्णन में लिखा है—

प्रजानां एव भूत्यर्थं सः ताभ्यो बलिं अग्रहीत्,
सहस्र गुणमुत्स्रष्टु मा दत्ते हि रसंरविः।

श्री देशमुख—

भाकाहामाविषु उदांतु प्रजाः चूषति निर्हयं,
प्रतिवर्षं वर्धयति च, करभारान् नवान् नवान्।

•••

बहुमुखी विभूति

श्री इलाचंद्र जोशी

★ ★

आदरणीय दद्दा से मेरा परिचय एक प्रकार से तब से है, जब मैं नौ-दस साल का बच्चा था। तब 'सरस्वती' में प्रतिमास उनकी जो कविताएँ प्रकाशित होती थीं, उन्हें पढ़ने के लिए मैं अत्यन्त उत्सुक रहा करता था। विगत मास की 'सरस्वती' की पढ़ाई समाप्त होते-न-होते, मैं आगामी मास की 'सरस्वती' की प्रतीक्षा अत्यन्त अधीरता के साथ करता रहता था। 'सरस्वती' के प्रति मेरा मन जिन विशेष कारणों से प्रबुद्ध रहता था, उनमें प्रमुख था दद्दा के पटाखेदार तुकोंवाले सुन्दर उपदेशपूर्ण पद्यों का प्रबल आकर्षण ! उस युग के सभी साहित्यप्रेमी बालकों की तरह मेरी भी एक ही महत्वाकांक्षा थी—मैथिलीशरण गुप्त नामधारी कवि की तरह सुन्दर रूप से कटे-छँटे, परिष्कृत और परिमार्जित पद्यों की झड़ी लगा सकने की क्षमता प्राप्त कर सकना।

जब 'भारत-भारती' प्रकाशित हुई तब सारे हिन्दी-साहित्य-संसार में ऐसा तहलका मच गया, जिसकी तुलना न उसके पूर्व और न उसके बाद किसी साहित्यिक घटना से की जा सकती है। हिन्दी का साधारण से साधारण पाठक भी उसे पढ़कर अपने को एक बहुत ही उदात्त और ऊँचे धरातल पर पहुँचा हुआ अनुभव करने लगा। हम बालकों के लिए तो वह अपूर्व ग्रन्थ गीता से भी अधिक मान्य और प्रतिदिन का संगी बन गया। दासता की जिस अवमाननापूर्ण स्थिति से होकर तब देश गुजर रहा था, उसकी तीखी पीड़ा का अनुभव तक प्रत्येक अनुभूतिशील बालक नव राष्ट्रीय जागरण के उस युग में अपनेम में में अत्यन्त तीव्रता के साथ कर रहा था। ऐसे वातावरण में जब अतीत की गौरव-गाथा नई ओजभरी वाणी में, यथार्थ के निर्मम विश्लेषण की निविड़ पृष्ठभूमि में, 'भारत-भारती' में आई, तब उसका जादू का-सा प्रभाव जनसाधारण के अन्तर में पड़े बिना न रहा।

गुप्त जी की काव्य-शैली का प्रभाव मेरी पीढ़ी के साहित्यप्रेमी बालकों, किशोरों और नवयुवकों पर काफी लम्बे अर्से तक छाया रहा। पर जमाना बड़ी तेजी से बदल रहा था और फलस्वरूप काव्यकला के क्षेत्र में भी परिवर्तन के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। इस नई प्रेरणा के सूत्रधार थे प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी और स्वयं गुप्त जी के अनुज श्री सियारामशरण गुप्त। छायावादी युग के इन कवियों ने हिन्दी कविता को पिछली रूढ़ियों के बंधनों से मुक्त करके एक नई जीवनधारा उसे प्रदान कर दी थी।

उस नई प्रगति की पृष्ठभूमि में 'भारत-भारती' तथा गुप्त जी की दूसरी रचनाओं का प्रभाव कुछ क्षीण पड़ने लगा, पर दद्दा हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं थे। नए युग के साथ चलते हुए, उसके कदम से कदम मिलाते ए, वह निरन्तर आगे को बढ़े चले जा रहे थे। जब मेरी पीढ़ी के साहित्यकार तथा साहित्यप्रेमी यह सोचने ही चले थे कि गुप्त जी पिछड़ गए, तब उन्होंने नए युग की नई पृष्ठभूमि में प्राचीन सांस्कृतिक विभूतियों को नए ही प्रकाश में साहित्य-संसार के आगे रखना आरम्भ कर दिया। 'साकेत' और 'यशोधरा' के प्रकाशन ने साहित्यजगत में हलचल मचा दी। जब छायावादी युग अपने विकास की पूर्णता पर था, तब 'साकेत' और 'यशोधरा' उस धारा से तनिक भी मेल न खाने पर भी अपनी विशिष्टता से काव्यगगन को आच्छादित और साहित्यिक धरातल को आलोकित करने में सफल हुए थे। इसी एक तथ्य से उनकी प्रतिभा के वैशिष्ट्यपूर्ण चमत्कार का अन्दाज लगाया जा सकता है।

१९२८ में मैंने तत्कालीन हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों पर एक तीव्र आलोचनात्मक लेख अंगरेजी में लिखकर 'मॉडर्न रिव्यू' में छपाया था। उस लेख में मैंने स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि 'भारत-भारती' काव्य-कलात्मक दृष्टिकोण से महत्वहीन है। तब साहित्यिक प्रगति के सम्बन्ध में मेरे बदले हुए दृष्टिकोण से 'भारत-भारती' का मेल बिल्कुल नहीं बैठ रहा था। 'साकेत' तथा 'यशोधरा' तब तक प्रकाशित नहीं हुए थे। उस लेख के विरोध में चारों ओर से आवाजें उठीं और कई पत्रों में मुझ पर व्यक्तिगत रूप से आक्षेपों की

बौछार हुई। यह आरोप लगाया जाने लगा कि मैं हिन्दी-विद्वेषी हूँ और जान बूझकर हिन्दी के साहित्यकारों को अपमानित करना चाहता हूँ। प्रत्युत्तर में, मैंने अत्यन्त विनम्र भाव से अपनी ईमानदारी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया, पर मेरी सफाई में कोई एक बात भी सुनने को तैयार नहीं था।

उक्त लेख के छपने के कुछ ही महीने बाद, एक दिन लखनऊ में गुप्त जी से अचानक और अप्रत्याशित रूप से मेरी भेंट हो गई। उसके पहले मैंने उन्हें नहीं देखा था। उन दिनों जिन सज्जन के यहाँ मैं खाना खाने जाया करता था, वहीं गुप्त जी भी ठहरे हुए थे। शाम को जब मैं खाना खाने पहुँचा, तब आतिथेय महोदय ने हम दोनों का परस्पर परिचय कराया। अपने बचपन के आराध्य कवि के प्रथम दर्शन से मेरे शरीर में शाब्दिक अर्थ में पुलक-जनित काँटे खड़े हो गए और अन्तर श्रद्धा से गद्गद् हो गया। मैं भावमग्न होकर हाथ जोड़े खड़ा ही था कि हमारे आतिथेय महोदय ने विनोदपूर्वक मुस्कराते हुए गुप्त जी को बताया, "यह वही सज्जन हैं जिन्होंने 'मॉडर्न रिव्यू' में 'भारत-भारती' की कड़ी आलोचना की है।"

गुप्त जी यह सुनकर अत्यन्त सौम्य भाव से और प्रसन्न मुद्रा में हाथ जोड़ते हुए बोल उठे—"आइए महाराज, बिराजिए। बड़ी प्रसन्नता हुई आप से मिलकर।"

मैं सुस्पष्ट देख रहा था कि उनकी प्रसन्नता केवल शब्दों तक ही सीमित नहीं थी और न बनावटी ही थी। उनकी आँखों से आन्तरिक स्नेहपूर्ण हार्दिक प्रसन्नता जैसे चू रही थी। मैं हर्ष-गद्गद् अनुभूति के साथ ही अत्यन्त ग्लानि और संकोच अनुभव कर रहा था। मेरे लिए यह एकदम नया ही अनुभव था कि हिन्दी का कोई कवि या लेखक उस व्यक्ति को देखकर आन्तरिक स्नेह और हर्ष का भाव प्रकट करे, जिसने उसकी किसी महत्त्वपूर्ण कृति की बड़ी आलोचना की हो।

मैंने अपनी ग्लानि को शब्दों में प्रकट करते हुए कहा, "मुझे अत्यन्त खेद है कि मुझे कला की दृष्टि से 'भारत-भारती' की तीव्र आलोचना करनी पड़ी। पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि उसे लिखते समय आपके प्रति अश्रद्धा या असम्मान का रंचमात्र भी भाव मेरे मन में नहीं था।"

"नहीं महाराज, खेद की कोई बात नहीं है," सहज भाव से, उसी सौम्य मुद्रा में गुप्त जी बोले। "आपने जैसा उचित समझा, वैसा लिखा। और सच पूछिए तो अब स्वयं मैं भी 'भारत-भारती' को कोई काव्यात्मक रचना नहीं मानता। मैं उसे केवल 'पद्य-प्रबन्ध' मानता हूँ।"

उनकी इस तरह की स्पष्टवादिता, निश्छलता, सहृदयता और विनम्रता का परिचय पाकर मैं पानी-पानी हो गया और उनके महान व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित मैंने मौन श्रद्धा से अपना सिर झुका दिया।

'भारत-भारती' की आलोचना का प्रायश्चित्त करने का बहुत ही उपयुक्त और मनोनुकूल अवसर मुझे मिला १९३३ में, जब मैं भाई साहब (डा० हेमचन्द्र जोशी) के साथ मासिक 'विश्वमित्र' का सम्पादन कर रहा था। तब गुप्त जी का 'साकेत', जो कुछ समय पूर्व तक धारावाहिक रूप में 'विशाल भारत' में छप रहा था, पूरा छपकर तैयार हो गया था। उसकी गहन पृष्ठभूमि और गम्भीर शैली के भीतर से रामायण के पात्र-पात्रियों का जो अत्यन्त सुन्दर और मनमोहक काव्यात्मक चरित्र-चित्रण गुप्त जी ने किया था, वह उन्हें सहज ही किसी भी युग के महाकवि के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त था। मैंने उसकी विश्लेषणात्मक आलोचना करते हुए मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा की।

कुछ समय बाद 'यशोधरा' के छिटपुट अंश विभिन्न पत्रों में प्रकाशित होने लगे, तब उन्हें पढ़कर मुझे लगा कि उसका स्तर 'साकेत' से भी ऊँचा और गहरा है। मैंने मासिक 'विश्वमित्र' में प्रकाशनार्थ जब गुप्त जी से एक कविता भेजने का आग्रह किया, तब उन्होंने 'यशोधरा' का ही एक अंश भेज दिया। वे ही प्रसिद्ध और अमर पद थे, जिनका अन्त इस पंक्ति में होता है—'आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी!' मुझे ये पंक्तियाँ इतनी सुन्दर लगीं कि आज भी उनका स्वर मेरे कानों में बजता रहता है।

लखनऊ में (सम्भवतः १९२९ में) प्रथम मिलन के बाद, १९३७ में गुप्त जी से दूसरी बार मेरा मिलना भारती-भंडार के श्री वाचस्पति पाठक के यहाँ लीडर प्रेस (प्रयाग) में हुआ था। तब गुप्त जी बुन्देलखंडी पगड़ी और एक लम्बा-सा अचकन पहने थे। उनकी दाढ़ी काफी बढ़ी हुई थी। देखने में वह मुझे प्रायः ७० वर्ष के

वृद्ध से लगे। बाद में पता चला कि उन्हें उस बीच काफी परेशानियों से होकर गुजरना पड़ा है। बड़े स्नेह से मुझसे मिले और मेरी बेकारी की स्थिति देखकर बहुत दुखी हुए।

उसके बाद प्रायः छः-सात साल बाद 'साहित्यकार संसद' की अन्तरंग परिषद् की किसी बैठक के सिलसिले में मुझे महादेवी जी के यहाँ उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस बार उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व मुझे एकदम परिवर्तित रूप में दिखाई दिया। दाढ़ी-मूंछ सब साफ थीं। सफेद खद्दर की टोपी, खद्दर ही का अंगरखा और खद्दर ही का पाजामा पहने वह ऐसे चुस्त और जवान रहते थे कि लगता था जैसे फुरती में नौजवानों से भी बाजी मार ले जाएंगे। बहुत ही प्रसन्न चित्त लगते थे। बात-बात पर मीठी-मीठी, सरस और शालीन चुटकियाँ लेते हुए सबको हँसा रहे थे और स्वयं भी हँसते थे। छः-सात साल पूर्व मुझे उनके गुरु-गम्भीर व्यक्तित्व और वार्द्धक्य पर 'तरस' आने लगा था; अब उनकी स्वस्थ जवानी की सहज चंचलता पर रश्क होने लगा। मुझे लगा कि जवानों को उनसे अच्छा साथी दूसरा नहीं मिल सकता!

तब से मैं उत्तरोत्तर उनके निकट से निकटतर आता चला गया। दिन पर दिन मेरी यह धारणा दृढ़ होती चली गई कि उनसे अधिक जीवट का साहित्यकार आज के युग में मिलना कठिन है। जो लोग उन्हें द्विवेदी-युग की समाप्त-प्राय परम्परा का कवि मानते रहे हैं, उनकी धारणा कितनी भ्रान्त है, इस तथ्य का बोध मुझे नित्य नए रूप में होता चला गया। मैं इस बात पर गौर करता चला गया कि वह युग की नवीनतम प्रवृत्तियों के केवल साथ ही नहीं हैं, बल्कि कई कदम आगे भी दृष्टि रखने में समर्थ हैं। उनकी एक कविता की यह पंक्ति अक्षरशः सार्थक है कि—

मैं अतीत ही नहीं भविष्यत् भी हूँ आज तुम्हारा।

उनके व्यक्तित्व से, उनकी दैनन्दिन बातचीत से और नई-नई साहित्यिक कृतियों से समझदारों के आगे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह हिन्दी काव्य-साहित्य के अतीत के सूत्रधार, वर्तमान के प्रेरणा-केन्द्र और भविष्य के द्रष्टा हैं। मैं ऐसी विभूति के अभिनन्दन के अवसर पर उन्हें नतमस्तक होकर प्रणाम करता हूँ।

साधना के कवि

श्री जैनेन्द्रकुमार

*

शायद तीसरी क्लास में पढ़ता था, तब मैथिलीशरण गुप्त नाम मैंने सुना। सोचता हूँ कि तब मैं क्या जानने योग्य रहा हूँगा। अक्षर पढ़ना भर जानता हूँगा। पर जिस शाला में मैं था, उसके छोटे-बड़े, जान-अनजान, सब बालकों के सिर उन दिनों मैथिलीशरण जी और उनके पद्य ऐसे चढ़ गए थे कि हरेक यह दिखलाना चाहता था कि उसको अधिक पद्य याद हैं। मेरे कंठ भी तब कई पद्य बैठ गए थे। मतलब तो उनका पूरा हम क्या समझते होंगे, फिर भी धरोहर की भाँति सेंतकर उन पद्यों को हम अपनी स्मृति में रखे रहना चाहते थे। और ढिठाई देखिए, अनुकरण में वैसी कुछ पद्य-रचना भी खुद किया करते थे।

दिन बीतने के साथ वह नाम कुछ बड़ा ही होता गया। मन के भीतर वह ज्यादा जगह घेरता गया, जैसे उस नामधारी व्यक्ति को जबरदस्त आकार-प्रकार का भी होना चाहिए, नहीं तो हम नहीं मानेंगे। छठी क्लास में था कि सातवीं में, उनके 'जयद्रथ-वध' के खंड पाठ्य के तौर पर पढ़े। तब ऐसा लगता था कि मैथिली-शरण जाने क्या-क्या होंगे। बस पुराण-पुरुषोत्तम ही होंगे और चिरगाँव कोई अनुपम गाँव होगा।

कौन जानता था कि करिश्मा होने आयगा। लेकिन सन् '१४ के बाद सन् '३१ भी आया और करिश्मा सचमुच होने में आ गया। लेकिन जो हुआ, वह करिश्मा-सा बिल्कुल नहीं मालूम हुआ। अरे, मैंने देखा कि यह तो सारी बात एकदम मामूली बात की तरह हो गई! मैथिलीशरण एकदम मामूली आदमी हैं, चिरगाँव बिल्कुल मामूली गाँव है। सब सर्व साधारण है। और, मैं सोचता हूँ कि वाह!

कहना चाहिए कि चिरगाँव मैं यों ही जा धमका। मानिए कि 'मान न मान मेहमान' बनने की ही बात हुई। वह कौन मुझे जानते थे। बस, भाई सियारामशरण का शायद एक पत्र उससे पहले मैंने पाया था। या श्री कृष्णानन्द गुप्त से, जो चिरगाँव में रहते थे, कुछ चिट्ठी-पत्री हो गई थी। उतना सहारा थामकर पूछता-पाछता मैं गुप्त-लोगों के बड़े-से अहाते में जा मौजूद हुआ। वहाँ खड़े होकर क्षणभर सोचता रह गया कि अब क्या कहकर क्या करूँ। पास नीम के पेड़ में पड़े हुए एक झूले में छोटी पटरी रक्खे एक अधेड़ वय के महाशय कृशकाय, नीमास्तीन मैली-सी बंडी पहने धीमे-धीमे झूल रहे थे। वह बंडी खद्दर क्या, टाट की थी और सच कहूँ तो बहुत सफेद नहीं थी। और धोती ऐसी कि मानो कृपापूर्वक उसे घुटने से जरा नीचे तक आ जाने की इजाजत मिली हो। धोती वह बस यथावश्यक ही थी और अपने नाम से अधिक काम नहीं करती थी। कपड़े का टुकड़ा ही उसे कहिए।

मैं अपनी बगल में छोटा सा पुलिंदा दाबे उस बड़े अहाते के बीच खड़ा हुआ कुछ भूल-सा गया कि अपने साथ क्या करूँ? क्या कहूँ, और क्या पूछूँ? झूलनेवाले तो मन-मन कुछ गुनगुना रहे हैं और बाहर का उन्हें विशेष ध्यान नहीं है।

पर मिनिट भर में सब हो गया। किसी ने मुझे संबोधन किया। मैंने सियाराम को पूछा, अपना नाम बताया। जिस पर झट सियाराम मौजूद। कृष्णानन्द भी उपस्थित। और देखते-देखते मैं आत्मीयता से ऐसा घिर गया कि क्या कहूँ! झूलेवाले निकले खुद मैथिलीशरण गुप्त! और क्षणभर में वहाँ मेरे चारों ओर ऐसा घर बन गया कि अपने घर से ज्यादे। उस समय जैसे मुझे थोड़ी देर के लिए भी इन लोगों के प्रति अपने को अजनबी समझने के अपराध पर कुण्ठा होने लगी। सचमुच मुझे बहुत शर्म मालूम हुई। न कुछ में मेरा पुलिंदा छिन गया। जैसे मेरी गाँठ खो गई।

और मैंने सोचा कि राम-राम, मैथिलीशरण यह! यह मैथिलीशरण!!

फिर क्या एक रोज में छुट्टी मिलनेवाली थी? कई रोज वहाँ रहना हुआ। मैं चाहता हूँ कि मेरी एक बात वह भी सुन लें और सब पाठक भी कान खोलकर सुन लें। वह यह कि चिरगाँव के उस घर की खातिर

बस श्राफत है। अतिथि की खैर नहीं। पर आप नीतिज्ञों से पूछ देखिए कि पेट पर जुल्म नहीं होना चाहिए और स्नेह भी एक मिकदार में ही आदमी झेल सकता है।

उसके बाद कई बार चिरगाँव जाने का मौका हुआ है। हर बार मैंने यह अनुभव किया है कि उस घर में जाकर किसी बाहरवाले में अपना-परायापन या अपना-अपनापन कायम नहीं रह सकता। वहाँ वैसी सुध-बुध बिसर जाती है। वातावरण में इतना स्नेह है कि जितना नहीं होना चाहिए। बीसवीं सदी के शहरों में रहनेवाला आदमी ऐसे स्नेह पाने का आदी नहीं होता। उसे अविश्वास से काफी काम पड़ता है और दम्भ से भी काम पड़ता है। इससे खुले स्नेह में वह कुछ खोया-सा हो सकता है। शहराती को मालूम हो सकता है कि यह स्नेह का वर्षण कहाँ है, यह तो सीधा सच्चा आक्रमण है। पर, उस आक्रमण से वहाँ कोई बचाव नहीं है। और, बचाव कहाँ से हो, आदमी निरस्त्र तो पहले हो जाता है।

चिरगाँव का वह गुप्त-लोगों का घर बहुत-सी बातों में आधुनिक नहीं है। पुरातन है, या कहो सनातन है। वह घर, यानी मैथिलीशरण एक ही बात है। घर और वह एक हैं। दोनों में प्रकृति की एकता है।

चिरगाँव गाँव बीसवीं सदी से अछूता है, सो नहीं। बल्कि इसी अहाते के एक ओर एक खासा बड़ा छापाखाना है। वहाँ इंजन चलता रहता है और मशीन की खट-खट गूँजती है। तरह-तरह के कल-पुरजे इधर-उधर आपको दिखाई देंगे। नए शौचालय में फ्लश-सिस्टम है। इस तरह उस परिवार को चौदहवीं सदी की कोई यादगार या खंड नहीं कह सकते। पर निस्सन्देह गुप्त-घराने के अंतरंग में ठेठ भारतीयता से हटकर दूसरी वस्तु अभी प्रवेश नहीं पा सकी है। परम्परा सनातन है और उस परम्परा की वहाँ अक्षुण्ण रक्षा है।

गुप्त-परिवार का पारिवारिक संगठन नए नमूने का नहीं है। वह पुरातन शैली का है। पर इस कारण शिथिल नहीं, बल्कि सक्षम है। इतना सक्षम है कि आधुनिकता को वह झेल ही नहीं रहा है, बल्कि समीचीन भाव में उसे गति भी दे रहा है। (मैथिलीशरण और सियारामशरण की कविता को हम पुरानी कहकर साहित्य से नहीं टाल सकेंगे। असहमति जुदा बात है। पर जाग उनमें भरपूर है। आँखें उनमें मूंदकर नहीं रखी गई हैं।) परिवार वह सम्मिलित ही नहीं, एक है। उसकी जीवन-शक्ति अविभक्त है और मैथिलीशरण मानो उसके प्राण-केन्द्र हैं।

स्वर्गीय प्रेमचन्द के साथ की एक बात मुझे याद आती है। मैंने पूछा कि मैथिलीशरण जी से तो आपकी खुली घनिष्टता है न?

बोले कि सो तो नहीं। हाँ, कुछ दिन लखनऊ में साथ रहना हुआ था। लेकिन यही राह-रास्ती की यह दुआ-सलाम है। आगे कुछ नहीं।

मैंने कहा कि यह तो हिन्दी का सौभाग्य नहीं है। नहीं, नहीं, आप दोनों को निकट आना होगा। निकट लाया जायगा। बोलिए, कभी चिरगाँव चलेंगे?

खैर, उसी बात के सिलसिले में प्रेमचन्द जी ने कहा कि जैनेन्द्र, मुझे एक बड़ा अचरज है। मैथिलीशरण और सियारामशरण दोनों भाइयों को देखकर मैं हैरत में रह जाता हूँ। लक्ष्मण भी क्या रामचन्द्र के प्रति ऐसे होंगे? जैनेन्द्र, दो भाई ऐसे अभिन्न कैसे हो सकते हैं। मेरी तो समझ में नहीं आता। कहीं मैंने उनमें भेद नहीं देखा। या तो दोनों में से किसी एक में कुछ कमी है, दम नहीं है, जान नहीं है। या नहीं, तो फिर क्या कहूँ?

मैंने कहा कि दो सगे भाई झगड़ें, क्या यह आप स्वाभाविक मानेंगे?

बोले कि और नहीं तो क्या? दस्तूर तो यही है। भाई सगे तो छुटपन के होते हैं। बड़े होकर वे आपस में भाई-भाई तक भी क्यों रहें? लड़ने से उन्हें कौन रोकता है? मैं तो देखता हूँ कि सगे भाई अधिकतर दुश्मन बनकर ही रहते हैं, स्पर्द्धा से वे बच नहीं सकते।

मैंने कहा कि दुनिया की तो मैं क्या जानूँ, लेकिन सियाराम और मैथिलीशरण में क्या, बल्कि उनके सभी भाइयों में सचमुच जरा भी भेद नहीं है। मैं तो चिरगाँव कई बार हो आया हूँ।

प्रेमचन्द जी बोले कि यही तो। प्रेमचन्द जी अपने इस विस्मय को कभी नहीं जीत सके। वह मानो उनके भीतर हल ही नहीं होता था। पर उधर जब यह बात मैंने गुप्त-भाइयों को सुनाई तो उन्हें प्रेमचन्द जी के विस्मय पर बड़ा विस्मय हुआ। दो भाइयों के बीच कुछ अन्यथा सम्बन्ध सम्भव भी हो सकता है, मानो यही उनके लिए अकल्पनीय था।

तो यह अंतर है। शहरी के लिए अविश्वास स्वाभाविक है और परिवार का विभक्त होते जाना स्वाभाविक है। यहाँ तक कि पति-पत्नी में भी पृथक् अधिकार की भावना हो आए।

पर यह शहरियत, विशेषता से मैथिलीशरण जी के प्रयत्न से उनके परिवार को नहीं छू सकी है। मैथिलीशरण जी में इसकी छूत नहीं है।

इससे वह अपने व्यवहार में हार्दिक हैं। ऊपरी लिहाज में चूक सकते हैं। अदब के नियमों में भूल कर सकते हैं, पर अपनी भूल में भी वह हार्दिक हैं और प्रेम को नहीं भूल सकते। हृदय को पीछे रोककर चलना उन्हें कम आता है।

मैं मानता हूँ कि पारिवारिक अर्थात् पारिपार्श्विक वातावरण की इस सुविधा के कारण उनका काव्य संघर्ष-जनित पीड़ा से इतना अछूता रह सका है। उसमें वेदना का उभार नहीं है, जैसी कि सुरक्षित व्यवस्था है। वह दुर्दमनीय नहीं, मर्यादाशील है।

'नाम बड़े, दर्शन थोड़े'—उनकी पहली छाप मुझ पर यह पड़ी। शुरू में चाहे यह अनुभव मुझे कैसा भी लगा हो, पर पीछे ज्यों-ज्यों मैं जानता गया हूँ, मालूम हुआ कि दर्शन को थोड़ा रखकर ही उन्होंने अपना नाम बड़ा कर पाया है। अपने चारों ओर दर्शनीयता उन्होंने नहीं बटोरी। बल्कि कहो कि वह उससे उल्टे चले हैं। रूप उन्होंने आकर्षक नहीं पाया, इतने से ही मानो मैथिलीशरण सन्तुष्ट नहीं हैं। अपनी ओर से भी वह किसी तरह उसे आकर्षक न बनने दें, मानो इसका भी उन्हें ध्यान रहता है। लिबास मोटा, देहाती और कुढंगा। सज्जा यदि हो तो तद्नुकूल और आधुनिक फैन्सी के प्रतिकूल। सिर पर बुंदेलखंडी पगड़ी, घुटने तक गया कुरता और लगभग घुटने तक ही रहनेवाली धोती। बाल इतने छोटे कि उन्हें चाहकर भी संवारा न जा सके। शरीर कृश और श्यामल। मूंछ बेरोक उगती हुई, जिसमें कोई छंटाव नहीं। मानो दीखने वालों को अपने समूचेपन से मैथिलीशरण घोषित करना चाहते हों कि मैं किसी संभ्रम के योग्य प्राणी नहीं हूँ। उत्सुकता का, या शोभा का, या समादर का पात्र कोई और होगा। मैं साधारण में साधारण हूँ। देखो न, मैं तो ऐसा हूँ कि जिसे जरा ऊपरी ढंग भी नहीं आता। फिर भी सच यह है कि उनके ढंग में भी एक अपनी आन है। एक निजत्व है।

खैर, मालूम होता है कि अपने बारे में वह न गलतफहमी खुद चाहते हैं, न औरों में चाहते हैं। जो हैं, सो हैं। न अधिक मानते हैं, न अधिक दीखते हैं। और जो हैं, उससे कम कोई मानना चाहे तो उसे भी छुट्टी है। लेकिन सच यह है कि कम माना जाना भी उन्हें पसन्द नहीं है। इज्जत में व्यतिरेक नहीं आ सकता। कुल के और अन्य प्रकार के गौरव की टेक उनमें है। उस मामले में वह दुर्बल भी हैं, हठीले भी हैं।

प्रतीत होता है कि दुनिया में इस यथार्थ की स्वीकृति के द्वारा वह अपनी महत्ता बना सके हैं। निषेध अथवा चुनौती-मूलक उनका महत्त्व नहीं है। किन्हीं नए मूल्यों की प्रतिष्ठा उनके जीवन में नहीं है, मान्य की ही मान्यता है।

गाम्भीर्य? नहीं भाई, वह मैंने नहीं पाया। और अपनी जानें। मैं तो अपनी कहूँ! गम्भीरता की मैंने कमी पाई। कमी भी सोच-समझ कर कह रहा हूँ। किसी के बुरा मानने का डर न हो तो शायद कहूँ कि अभाव पाया। और कुछ मैथिलीशरण आवश्यकता से अधिक हों, गम्भीर आशा से कम हैं। शायद आवश्यकता से भी कम हैं। मैं अनुमान कुछ करता था, निकला कुछ। विद्वान् को गम्भीर होना चाहिए।

पर मैथिलीशरण जी के ऊपर विद्वत्ता ढंग के साथ टिकती मैंने नहीं देखी। बीच में चपलता झाँक ही उठती है। कभी तो डर होता है कि क्या वह सचमुच पचास से ऊपर के हैं भी ? मालूम होता है कि जो भी हों, पर अब भी बचपन है। जिससे बुढ़ापे की आशा हो, उसकी जवानी हमें बचपन न लगेगी, तो क्या लगेगी ? धीमे नहीं चलते, तेज चलते हैं। कहीं पचास के ऊपर उम्रवालों का भाग-कूद के खेलों का भारतीय टूरनामेंट हो जाय, तो मैथिलीशरण का नम्बर शर्तिया पिछड़ा नहीं रह सकता। जहाँ मैं सोचता रह गया हूँ, वे कर गुजरे हैं। सड़क पर हम कई जन जा रहे हैं, एक बच्चा किसी की चपेट में आकर रास्ते की धूल में गिर पड़ा, तो आप में से पहले वह होंगे जो उसे उठाएँगे। सूझ-बूझ उनमें जगी रहती है। परिस्थिति से वे दबते नहीं हैं। मानो परिस्थिति के प्रति दबंग रहते हैं। आधुनिक सूट-बूट वाले समाज में भी अगर उनका पहुँचना हो जाय तो अपने देहाती बाने को लेकर वहाँ भी वह मन्द नहीं दीखेंगे। टी-पार्टी होगी तो न चाय पीएंगे, न शायद कुछ खाएँगे। कदाचित फल भी न छुएंगे। पर उस पार्टी में अपने परहेज के कारण असमंजस में किसी को न पड़ने देंगे। मिलेंगे, बोलेंगे, हँसेंगे और अपनी चाल-ढाल की असाधारणता पर या कि परहेज पर मानो किसी का भी ध्यान तनिक न रुकने देंगे। गलती वह बड़े सहज भाव से कर सकते हैं, पर कुंठित व्यग्रता या असमंजस द्वारा अपनी गलती को डबल गलती बनाने की गलती वह कभी नहीं करते। मानो अपने व्यवहार से वह स्पष्ट व्यक्त रखते हैं कि (आपके) समाज का अदबकायदा कुछ है तो वह जरूर है। पर मैं जितना जानता हूँ, उतना ही जानता हूँ। अधिक नहीं जानता, इसकी लज्जा से अपनी उपस्थिति में मैं किसी को लज्जित नहीं होने दूंगा। आपकी उदारता के सम्मान में अपनी त्रुटि पर मन्दभागी दीखने का अपराध मैं नहीं कर सकता।

पर अदब-कायदे के प्रति अवज्ञा उनमें नहीं है। अवज्ञा किसी के प्रति नहीं हैं। इस बारे में वह कमजोर तक हैं। पुरानी परिपाटी का अदब-कायदा उनसे नहीं छूट सकता। वह हरेक से शालीनता की आशा रखते हैं। छोटा छोटा है, बड़ा बड़ा है। सबको अपना पद देखकर चलना चाहिए। अपने प्रति भी अविनय उन्हें दुस्सह है। इसलिए कम कि वह उनके प्रति है, अधिक इसलिए कि वह अविनय है। इसी से अविनय के लिए वह अपने समान किसी को क्षमा नहीं कर सकते। वह निवेदन तक झुक सकते हैं। हो सकता है कि झुकने में वह हद लाँघ जायें। पर किसी के मान को चुनौती दें यह असम्भव है। अपने से बड़ों को बड़ा मानते हैं और यह हो सकता है कि इसमें अपने से छोटों को भी बड़ा मान बैठें। लेकिन जिनको अपने से छोटा मानना होता है, उनसे वह प्रत्याशा रखते हैं कि छोटों की तरह बड़ों का मान रखकर वे चलें। वय की अवज्ञा उन्हें नापसन्द है। और वय की वृद्धता के कारण मूढ़ भी उनके निकट आदरणीय हो सकता है। विद्या बुद्धि नहीं, गुण भी उतना नहीं, जितना सामाजिकता के लिहाज से मनुष्य-मनुष्य के प्रति अपने व्यवहार में वह भेद करते हैं। राजा और रंक उनके लिए समान नहीं हैं। राजा को 'हुजूर' कहेंगे। रंक को 'तू' भी कह देंगे। लेकिन दबेंगे राजा से नहीं, दबाएँगे रंक को भी नहीं।

सामाजिक मर्यादाओं को बुद्धि-बल से इनकार करके चलने की उनमें स्पर्धा नहीं है। वैसी रुचि और संस्कार ही नहीं हैं। व्यावहारिक समता उनके संस्कारों के प्रतिकूल है। हरिजन के अर्थ जबरदस्त कविता और जबरदस्त उत्सर्ग वह कर सकते हैं, पर चौके की और बात है ! और छूत-छात—वह भी और बात है।

कवि में साधारण व्यक्ति से क्या विशिष्टता है ? शायद यह कि वह भावुक अधिक होता है। इसमें गर्भित है कि सहनशील कम। दृढ़ की जगह उसे कोमल होना चाहिए।

मानव-स्वभाव का विकास दोहरा होता है, दो दिशाओं में होता है। एक ओर उपमा व्यक्तित्व की दी जाती है कि पर्वत की नाईं अचल, वज्र की भाँति अनिवार्य और कठोर, इत्यादि। ये उपमाएँ सन्त-महात्माओं पर फबती हैं। दूसरी तरह की उपमाएँ हैं कि कुसुमवत् कोमल, जल सरीखा तरल, आदि। इन उपमाओं के योग्य कवि होते हैं। जैसे बारीक तार का कसा हुआ कोई कोमल वाद्य-यन्त्र। तनिक चोट लगी कि उसमें से झंकार फूट आई।

मैथिलीशरण किस कोमल वाद्य-यंत्र के समान हैं, यह तो मैं नहीं जानता। संवेदन की मूर्च्छना की सूक्ष्मता मैं क्या समझूं ? लेकिन वह अपने आवेशों को वश में रखनेवाले महात्मा नहीं हैं। आवेशों के साथ बहुत कुछ सम-स्वर होकर बज उठनेवाला कवि का स्वभाव, उनका है। बहुत कुछ सम-स्वर कहा, एकदम एक-स्वर नहीं कहा। जो पूरी तरह अपनी ही तरंगों के साथ एकात्म है, उनमें तो मानो अपना कुछ है ही नहीं। जो है त्रिगुणात्मक लीला है। वे स्वयं उद्वेलित नहीं होते। ऐसा पुरुष कवि होता है और अनायास महात्मा भी वह है। मैथिलीशरण उनमें नहीं हैं। पर अपने आवेशों के साथ वह हार्दिक अवश्य हैं। इसी से उनके काव्य में प्रेरणा है और सचाई है। झोंका आया कि क्रोध में उनके नथने फूल आए, आँखें लाल हो गईं और शिराएँ मानो फड़क उठीं। यह हो सकता है। पर झोंका बीता कि किस बात पर उनकी आँखें नहीं डबडबा आएँगी, यह आप नहीं कह सकते।

कभी कविता-पाठ करते आपने उन्हें देखा है ? मैंने देखा है। उसमें संगीत की बहार नहीं रहती। अभिनय-कौशल नहीं रहता। पर जैसे उनकी वाणी कविता के भाव के साथ एकरूप हो जाती है। जो शब्द है, मानो वही स्वर है। स्वर का आरोह भाव की लय पर मानो आप ही उठता है और भाव के उतरने के साथ मानो अवरोह स्वयं शनैः शनैः आ जाता है। ध्वनि लय के अनुसार चलती है। कविता के भाव से अलग होकर मैथिलीशरण जी के काव्य-पाठ में श्रोता के लिए मानो रस की कोई बात नहीं रहती। जो कविता है, वही कविता का पाठ है।

मैथिलीशरण स्वकेन्द्रित नहीं हैं। इससे उनकी कविता भक्ति की प्रेरणा में से आकर भी रहस्यमयी नहीं है, उपासनामयी है। न उसमें चहुँओर के दबाव की पीड़ा है। समस्या के भार से भरी हुई वह नहीं है। उसमें आवेदन और निवेदन का स्वर मध्यम है। उसमें कुछ-कुछ आदेश की बलिष्ठता है, और प्रतिपादन की स्पष्टता है। उनका काव्य कथनानुसारी है। वह घटना के साथ चलता है। आत्मलक्षी नहीं, स्व परोपकारोपलक्षी है।

मैथिलीशरण कोमल हैं तो दूसरे को लेकर, भावप्रवण हैं तो दूसरे के निमित्त। मानो स्वयं में उनके पास कुछ खर्चने को नहीं है। पुण्यश्लोक पुरुषों की गाथाएँ हैं, और उनका भी गान उन्हें बस है। उसके आगे अपना निज का आवेदन-निवेदन क्या ?

मुझे प्रेमचन्द की याद आती है। प्रेमचन्द निरीह थे, एकाकी। मैथिलीशरण अमित्र नहीं हैं, उस अर्थ में अकेले नहीं हैं। प्रेमचन्द दुनिया को लेकर परेशान रहे। उसका सुधार करते रहे और अपना बिगाड़ करते रहे। कर्म में लोकसंग्रह से विमुख रहे, चिन्ता में लोकसमस्याओं से घिरे रहे। मैथिलीशरण लोकसंग्रह से उतने विमुख नहीं हैं और उनकी बुद्धि लोकोत्तर की ओर है। उनका इहलोक अस्तव्यस्त नहीं है। उनकी चिंता इससे सुविधा-प्राप्त है। प्रेमचन्द मानसिक चिन्ता, यानी साहित्य से इस लोक के थे। ऐहिक कार्य के दृष्टिकोण से मानो वह यहाँ रहते नहीं थे। पर मैथिलीशरण का साहित्य द्वारा लोकोत्तर से नाता है। ऐहिक विचार में वह ऐहिक हैं।

मशीन में मैथिलीशरण कविता से शायद कम दिलचस्पी नहीं लेते। कल-पुरजों में उन्हें अच्छी गति है, और रस है। आपके यहाँ कोई पुराना इंजन है, तो मैथिलीशरण जी को याद कीजिए। वह जरूर कुछ ऑफर देंगे। अरे, इंजन ठीक होकर आज नहीं कल तो काम आयगा। व्यवहार में व्यर्थता छूट जाय, पर काम की बात उनसे नहीं छूट सकती। वह जब बनिए हैं, तो अधूरे नहीं हैं। यह पक्ष उनमें पूरा उतरता है। चाहे इस पक्ष में ब्राह्मणत्व उनका कुछ दब भी क्यों न जाता हो। वह टोटे में रहना नहीं जानते। और टोटा है तो व्यवसाय का टोटा है, जो कि लगा ही रहता है। यह नहीं कि वह पैसा कमाने के सम्बन्ध में बहुत तल्लीन हो सकते हैं। मुझे जान पड़ता है कि द्रव्य-विचार में उन्हें लीनता प्राप्त हो नहीं सकती। पर व्यवसाय की बात में अचतुर उन्हें आप मत जानिएगा।

अपने सम्बन्धों के बारे में वह सावधान हैं। हर कोई उनका दोस्त नहीं बन सकता। पर दोस्त बनकर कुछ और नहीं बन सकता। उनका विश्वास मँहगा है। दिल वह अपना बहुत अधिक नहीं बाँटते।

वह भीड़ के आदमी नहीं। भीड़ में वह अकेले हैं। न वह भीड़ को दिशा दे सकते हैं, न उसका साथ दे सकते हैं। वाणी उनकी मुक्त नहीं और वह प्रवास-भीरु तो क्या, पब्लिक-भीरु हैं।

बहुत कुछ उनको अनायास सिद्ध है। कविता में शब्द और तुक। सफर में तीसरा दर्जा। भूषा में सादगी, वेश में चिरगाँवता। प्रेम में अपत्य-प्रेम। वाणी में मित भाषण और साहित्य में सुरुचि। इन सभी के लिए प्रयासी को प्रयास लगता है। राष्ट्रीय व्यक्ति के लिए रेल का तीसरा दर्जा अभी तक सहज नहीं है, वह गौरव का विषय है। किन्हीं को जरूरत रहती है कि कोई उन्हें देखे, किन्हीं को जरूरत रहती है कि कोई उन्हें न देखे। यही हाल हमारे साथ सादगी का है। पर मैथिलीशरण जी को मालूम होता है कि दूसरी कोई बात मालूम नहीं।

वह अंग्रेजी नहीं जानते। पर अंग्रेजी में चलनेवाली राजनीति को वह जानते हैं। सबेरे डाक आई कि चिट्ठियाँ देखीं। फिर अखबार ले लिए। अखबार जल्दी उनसे नहीं छूटते। वह बातों को जानकर नहीं, जिन्हें जानते हैं उनके विषय में कुछ महसूस करके दम लेते हैं। वह अपने जानने को मानों हृदय के साथ भी जोड़े रखना चाहते हैं। इससे आधुनिक विचार-धाराओं से वह अवगत ही नहीं रहते, उनके प्रति सहानुभूति रख सकते हैं। उनकी आस्था बौद्धिक नहीं है। बौद्धिक तल पर अतः वह बन्धनहीन और उदार हैं और धीरता से प्रश्नों की गहराई छू सकते हैं। बारीक बातें उनसे नहीं बचतीं और मानस-सम्बन्धों की परख में वह सूक्ष्म-दर्शी हैं। चिरगाँव से न टलना उनके हक में भीरुता ही नहीं है, साधना भी है। प्रकृति से अधिक वह साधना से कवि हैं।

अहिन्दी भाषियों के सर्वाधिक प्रिय

★

श्री प्रभाकर माचवे

★

श्री गुप्त जी की पहली झाँकी मुझे सन् १९३३ की याद है। उन दिनों मैं और श्री वीरेन्द्र कुमार जैन इन्दौर में पढ़ते थे। 'यशोधरा' की पहली प्रति आते ही वीरेन्द्र और मैंने, पागल की तरह एक दिन और रात एक साथ बैठकर उसकी सरस काव्यधारा का आस्वाद किया; एक 'सिटिंग' में पूरा पढ़ चुके थे। मैंने उसके बाद कितनी बार उसका पारायण किया और गुप्त जी के अन्य कई ग्रन्थों को अहिन्दी भाषियों को भी पढ़ाया, यह याद नहीं। हम दोनों वीरेन्द्र-केशवसाहित्य-परिषद की ओर से जो वसन्तोत्सव-कवि-सम्मेलन टीकमगढ़ में मेला होता था, उसमें शरीक होने गए थे। वहाँ पहली बार गुप्त जी को देखा। पीली पाग थी। छोटी-छोटी मूँछें थीं, लम्बा अंगरखा और गले में बाकायदा राजकवि का सा उपरना था। तब गुप्त जी वैष्णवी तिलक भी लगाते थे। मेरे मन पर प्रभाव पड़ा—पूरे सामंती राजकवि का—वैसे ओरछा की भूमि कवि केशवदास की याद भुला न सकी थी। मुंशी अजमेरी और सियारामशरण जी को भी तब निकट से देखा। गुप्तजी में उत्साह तब खूब था, चलते थे तो दोनों कन्धों पर का दुपट्टा फहराता चलता। एक ही चीज तब की याद है कि इस सारे साजबाज में वे तम्बू के बाहर आकर बीड़ी पीते जाते, जो बड़ी अटपटी लगती। पर शायद यही उनके प्रजातंत्रवादी होने की प्रतीक घटना थी। उन्हें आसपास के साहित्यिक घेरे रहते। उनसे वे हँसी-मजाक करते, बुन्देलखंडी बोली में बोलते जाते। वहीं मैंने गुप्त बन्धुओं का, बनारसीदास जी का और मुंशी अजमेरी का पेंसिल-स्केच खींचा, जिन पर उनके हस्ताक्षर लिए। ये रेखाचित्र बाद में 'आरती' में सन् '४० में मेरे लेख 'कलम और कूँची के साथ' में पूरे दो पृष्ठ में छापे गए हैं। सो गुप्त जी के पहले दर्शन जो मैंने बाईस वर्ष पूर्व अपनी १६-१७ वर्ष की आयु में किए थे, वे चित्र मुझे अब भी याद हैं। वहाँ ओरछेश की प्रशस्ति में गुप्त जी ने कोई रचना पढ़ी थी, ऐसा मुझे स्मरण है। उसी वीरवसन्तोत्सव में' 'देव पुरस्कार' प्रतिवर्ष देने की घोषणा वीरेन्द्रसिंह जू देव ने की थी।

वहाँ की एक दूसरी दिलचस्प घटना मुझे याद है। सियाराम जी अमरूद खा रहे थे, ऐसा वह 'स्केच' मैं खींच रहा था। तब एक कोई स्थानीय कवि अपना लम्बा सा काव्य लेकर गुप्त जी के तम्बू में उन्हें सुना रहे थे। गुप्त जी ने आँखें मूंद ली थीं। बड़ा उबानेवाला वह काव्यश्रवण निश्चित रहा होगा। आधे घण्टे चलता रहा। हम सब थक चुके थे, पर गुप्त जी के चेहरे पर शिकन नहीं थी। बीच-बीच में यांत्रिक ढंग से 'वाह-वाह' की दाद भी देते जाते थे। इसके बाद अनेकों बार, गुप्त जी के घर में, रेडियो में, साहित्यकार-संसद में और अन्यत्र मैंने गुप्त जी को अन्य कवियों की रचनाओं को प्रोत्साहन देते, आशीर्वाद रूप में दाद देते देखा-सुना है। पर पहले दर्शन की वह बात अभी भी मुझे याद है। जाड़े के कारण अपने तम्बू में कनटोप पहने गुप्त जी बैठे थे। शायद हुक्का भी पास था। जब वे कवि जी अपना उबा देने वाला काव्यपाठ पूरा कर चुके, तब राय माँगने लगे। गुप्त जी ने कहा, "भाई, हमारा तो मन ऐसा है कि आपकी पहली पंक्ति सुनते ही हम एक दूसरे ही उसी समान भाववाली काव्यपंक्ति के कल्पनालोक में पहुँच गए, उसी का विचार करने लगे और उसी में डूब गए। फिर ख्याल नहीं रहा कि आपने आगे क्या सुनाया!" अत्यन्त मधुरता-पूर्वक उन्होंने यह बात कही। इससे मुझे लगा कि गुप्त जी ने ऐसा दिव्य संतुलन अपने मन और इन्द्रियों के बीच में पाया है कि कान, आँखें, जिह्वा आदि अपना कार्य करती जाती हैं, बराबर चलती रहती हैं—'सहजं कर्म कौन्तेय'—और उनका मन उससे निर्लिप्त, अनासक्त रहता है। यह निरी औपचारिकता या शिष्टाचार नहीं। मुझे लगता है कि गुप्त जी का मन कहीं किसी ऊँची, पहुँची हुई साधना में सदा संलग्न रहता है, जबकि उनका व्यवहार-पक्ष विचारपक्ष से भिन्न, सहज कलकल नित्य बहता रहता है। समुद्र के अतल की आग का अन्दाजा क्या उसके तटवर्ती तरंगायित या सतही स्वरूप से लगाया जा सकता है?

गुप्त जी के महाकवित्व का स्रोत भी यही उनका अन्तर्वर्ती अनासक्त एकान्त सेवन है। उनकी बाह्य सुमधुर सामाजिकता मात्र नहीं।

गुप्त जी को दूसरी बार सन् '३६ में प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' के जलसे में देखा। मैं आगरे में विद्यार्थी था और माखनलाल जी के साथ वहाँ गया था। वहाँ उनके ठट्ठे-मजाक, प्रेमचन्द और उनके बीच उन्मुक्त हास्य-विनिमय को भी देखा। एक शाम को कवि-सम्मेलन हुआ। विजयानगरम्-हॉल में वह सम्मेलन हुआ था और गुप्त जी तब 'द्वापर' की रचना कर रहे थे, उसमें से 'कंस' अंश सुना रहे थे। यह काव्य-पाठ उनके मुख से सुनना और भी महत्वपूर्ण था, क्योंकि सार्वजनिक सभाओं में तब गुप्त जी बहुत कम अपनी रचनाएँ पढ़ते थे। लड़के तो लड़के ठहरे, और तिसपर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के लड़के। उनके लिए तो बच्चन की 'मधुशाला' का नशा प्रधान था। वे बहुत शोर मचाने लगे। जैसे सन् '३५ के इन्दौर साहित्य-सम्मेलन के कवि-सम्मेलन में महादेवी जी ने कविता पढ़ना छोड़ दिया, वैसे ही उस समय गुप्त जी भी क्रोधित होकर 'कंस' का पाठ अधूरा ही छोड़ कर बैठ गए। भीड़-भड़क्के से गुप्त जी हमेशा बचते रहे हैं। साहित्य-सम्मेलन का अध्यक्ष-पद उन्होंने तीन बार अस्वीकृत किया। उनके गुरु महावीरप्रसादजी द्विवेदी भी सम्मेलन के अध्यक्ष न बने ! न प्रेमचन्द, न प्रसाद, न निराला को सम्मेलन ने अध्यक्ष बनाया। इसलिए जो कुछ उन्होंने अर्जित किया, वह चिरगाँव जैसे बुन्देलखंड के अंचल में, एक देहात में, जनता की कोलाहलमयी दृष्टि से दूर रह कर, केवल काव्यरचना के सहारे ही। हिन्दी में गुप्त जी एकमात्र श्रेष्ठ कवि हैं, जिन्होंने केवल कविता लिखी है, गद्य नहीं के बराबर लिखा। अन्य सब कवियों ने बहुत-सा गद्य लिखा है; किसी ने नाटक, किसी ने उपन्यास, किसी ने कहानियाँ, किसी ने आलोचना, किसी ने निबन्ध या संस्मरण। पर गुप्त जी के लिखे गद्य-निबन्ध दो ही तीन मिलते हैं—एक बार द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ में कवि-दृष्टि पर कुछ लिखा था, कि वर्षों बाद कुछ अनुज सियारामशरण के संस्मरण-रूप। इधर रेडियो से एक दो वार्ताएँ—'मेरी पहली रचना', 'अन्योक्ति', 'मेरी काव्य-दृष्टि' आदि; ये लिखवाई गई होंगी—वर्ना गद्य-पथ उनकी राह नहीं। इसीलिए वे न तो धुंआधार भाषण देना पसन्द करते हैं, न पुस्तकों की भूमिकाएँ या लम्बे-लम्बे प्रशस्ति-पत्र लिख देना। बहुत अधिक भावमय हुए तो दो-चार पंक्तियाँ पद्य की लिखकर वे अपनी बात पूरी कर देते हैं। जवाहरलाल नेहरू को सन् '५० में दिए गए हिन्दी अभिनन्दन-ग्रन्थ में आरम्भ में ही उनकी चार पंक्तियाँ हैं।

इधर सन् '४० से '४६ तक कई बार लखनऊ रेडियो भी मुझे जाना हुआ और दो-तीन बार चिरगाँव ठहरा। गुप्त जी के आग्रह पर उनके यहाँ आतिथ्य भी ग्रहण किया। उनको और निकट से जाना। इस बीच में बतला दूं कि सन् '३८ में मैंने इन्दौर से प्रकाशित होनेवाले मराठी मासिक 'मालव साहित्य' में एक लेखमाला हिन्दी साहित्यिकों पर लिखी, जिसमें महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के बाद गुप्त-बन्धुओं पर लेख लिखा। लेख का छपना था कि एक अधिकारी सज्जन ने मेरे विरोध में उसी पत्र में लेख लिखा, जिसका शीर्षक था—'माचव्यांची मराठी वर मोहीम' (माचवे की मराठी के खिलाफ मुहिम)। मैंने हिन्दी का पक्ष लेकर पुनः उन्हें सप्रमाण उत्तर दिया।

चिरगाँव में उस जमाने में दाल की चक्की के पास छोटी सी सहन में 'दोउ भज्जा' बैठते थे। तब पता चला कि गुप्त जी अपनी रचनाएँ मूलतः स्लेट-पटिया पर लिखते हैं—बाद में 'फेअर' करते हैं। उनके उस कमरे को भी देखा, जहाँ 'साकेत' पूरा लिखा गया था। सादा कमरा, अन्दर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सम्पूर्ण ग्रन्थ रखे हुए और एक बड़ी-सी घड़ी। संस्कृत साहित्य का गुप्त जी ने बड़ा गहरा अध्ययन किया है। उनके संस्कार उसी से बने हैं।

उनके धुले हुए चौके से दूर बैठ कर उनके यहाँ का भोजन भी पाया। जितने अल्प समय मैं वहाँ रहा, उनकी जिज्ञासा-वृत्ति से मैं बड़ा प्रभावित हुआ। सन् '३९ के दिसम्बर में बापू ने सेवाग्राम में मेरा सम्बन्ध पक्का किया था और सन् '४० में नवम्बर में मेरा विवाह हुआ। तब गुप्त जी की शुभकामनाएँ मुझे विशेष रूप से मिलीं।

चिरगाँव की पहली यात्रा में गुप्त जी ने अपने छापेखाने के पास के स्टोर में जमा अपनी सारी रचनाओं में से एक-एक चुनकर उनका 'सेट' दिया। वहीं मैंने उनसे पूछा था कि गुप्त जी, मैं जानना चाहता हूँ कि आपकी कौन-सी काव्य-पुस्तक सर्वाधिक लोकप्रिय हुई है? यानी, किस पुस्तक के संस्करण सबसे अधिक हुए हैं? गुप्त जी सहज भाव से बोले—"भज्जा, जो कोर्स हो जात हैं, बाकी तो एडीसन हो जात हैं, वर्ना जे 'काबा और कर्बला' जैसी ही पड़ी हैं।"

गुप्त जी सन् '४१ में आगरा की सेन्ट्रल जेल में थे, तब 'जीवनसाहित्य' में उन पर मैंने एक बहुत महत्वपूर्ण लेख लिखा था—खास तौर से पुलिस की ज्यादती के प्रति अपना क्षोभ तीव्रतर शब्दों में व्यक्त करते हुए। बंगाल के अकाल के दिनों की बात है। मैं लखनऊ रेडियो से दद्दा की पुस्तकें 'नकुल' और 'अनघ' की रिव्यू करने जा रहा था, तो चिरगाँव ठहरा। मेरे पास मिनू मसानी की 'अन्न की कमी' के विषय में छपी कोई अंगरेजी पुस्तिका थी, जो पद्मा पब्लिकेशन से छपी थी। गुप्त जी अंगरेजी से अनभिज्ञ हैं। पर पुस्तक का पूरा रसास्वाद लेना चाहते थे। मैंने उसका अनुवाद करके सुनाया। बहुत प्रसन्न हुए। तब ही मैंने जाना कि 'उमर खैयाम' की रुबाइयों का अनुवाद भी गुप्त जी ने फिज्जेराल्ड पढ़कर नहीं, बल्कि मूल फारसी का अनुवाद सुनकर उसके सहारे किया था। अंगरेजी से अनभिज्ञ होना उनके हक में एक बहुत बड़ा वरदान सिद्ध हुआ—वे अपनी कविता की श्रेण्य (क्लासिक) वरेण्यता कायम रख सके। उन्होंने 'कार्ल और 'जयिनी' भी लिखी। नवीनतम काव्यगत और राजनैतिक सिद्धान्तों से वे अनवगत नहीं रहे, परन्तु उन्होंने अपनी 'नेटिविटी' कायम रखी। यह रवीन्द्रनाथ से भी सम्भव नहीं हुआ, जिन्होंने पुनश्च में अपनी धारा बदल दी; नया मुहावरा पकड़ने की कोशिश की, पर न रवीन्द्र, न निराला उस नए 'सुररिअलिस्ट' काव्य-शैली को पूरी तरह अपना सके—उसमें से उनका मूल रूप बार-बार उभर आता रहा है। गुप्त जी ने अपनी वेशभूषा की तरह कविता का चोला बदला, पर उसकी 'स्पिरिट' वही कायम रही। 'भारत-भारती' से 'जयभारत' तक वही सोद्देश्य आदर्शवाद, वही नैतिकता का आग्रह, वही सूत्रमय सूक्ति-भरी शैली। मैंने इस बात की विस्तार से चर्चा (गुप्त जी जब ६० वर्ष के हुए थे, तब) ग्वालियर के 'जयाजी प्रताप' में 'महाकवि मैथिलीशरण' लेख में की थी, जिसका पुनर्मुद्रण मेरे ग्रन्थ 'व्यक्ति और वाङमय' में हुआ है।

सन् '४४ की चिरगाँव की भेंट में गुप्त जी क्लीनशेव्ड हो चुके थे और एक लम्बी-सी खद्दर की टोपी पहनने लगे थे—जेल से छूटने पर उनकी यही आकृति थी, जो अब तक बराबर है।

मैं सन् '४८ में उज्जैन की प्रोफेसरी से पिंड छुड़ा कर, अकाशवाणी के प्रयाग-संगम में पहुँचा। वहाँ गुप्त जी के दर्शन रसूलाबाद में 'साहित्यकार संसद' के अधिवेशनों में हुए, प्रसाद-जयन्ती के विशेष अवसर पर और अनेकों बार उनसे साक्षात्कार हुआ। और दिल्ली में सन् '५१ में आजाने के बाद, जब से गुप्त जी राष्ट्रपति द्वारा राज्य-सभा के मनोनीत सदस्य बनकर आए, उनके निरन्तर स्नेह और कृपाशीर्वाद का प्रसाद तो मैं सदा ही पाता रहा हूँ।

'मैथिलीशरण गुप्त ही ऐसे लेखक हैं जिन्हें अहिन्दी भाषी सबसे अधिक चाहते और आदर से देखते हैं। नागपुर में सन् '४७ में एक कल्याणराव मिले, जिन्होंने 'भारत-भारती' का समवृत्त अनुवाद मराठी में किया है। सुदूर दक्षिण में त्रिवेन्द्रम, कन्याकुमारी, मदुरा, बंगलोर, विजयबाड़ा सब जगह गुप्त जी और उनकी रचनाओं से साहित्य-प्रेमी परिचित हैं। अक्टूबर '५४ में दिल्ली में जो मराठी साहित्य-सम्मेलन हुआ, मूसलाधार वर्षा में भी उद्घाटन-प्रसंग पर जो थोड़े से अमराठी साहित्यिक उपस्थित थे, उनमें गुप्त जी प्रमुख थे। उनका सब भाषाओं के प्रति स्नेह समान भाववाला है।

हमारी छोटी बच्ची चार बरस की है। जब गुप्त जी हमारे घर पर आए, तब उन्हें बापू पर लिखी उनकी दो मार्मिक पंक्तियाँ तुतलाकर सुनाने लगी—'हे लाम हम कैसे लोकें अपनी लज्जा, उनका छोक। अपने ही हाथों से अपने भेजा लाल पिता पललोक।' तब गुप्त जी की भावविभोर सजल बड़ी आँखों का जो भाव हुआ, वह सदा मेरे सामने होता है और लगता है कि हिन्दी साहित्य में गांधीयुग का उद्गाता यदि कोई एक श्रेष्ठ कवि इतिहास में अमर रहेगा, तो वह है—श्री मैथिलीशरण गुप्त!

•••

दो संस्मरण

श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र

★ ★

ठीक संवत् का स्मरण तो नहीं आ रहा है, किन्तु संवत् १९९० में श्री मैथिलीशरण गुप्त जी से भेंट और संलाप करने का सुअवसर काशी के उत्साही साहित्य-सेवी श्री मुरारीलाल जी केड़िया के 'रामरत्न पुस्तक भवन' में मिला था। इसके पहले गुप्तजी को मैंने एक बार श्री जयशंकर प्रसाद जी की नारियल बाजार वाली दुकान पर देखा भर था। उस समय वे पगड़ी बाँधते थे और तिलक लगाते थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है, दाढ़ी भी थी। प्रसाद जी के यहाँ मैं स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी द्वारा 'हिन्दी साहित्य विद्यालय' के किसी कार्य के सिलसिले में गया था। प्रसाद जी उक्त विद्यालय के सदस्य और उप-सभापति थे। उस समय गुप्त जी से बातचीत करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। केड़िया जी के उक्त भवन में सब से पहले और पूर्ण संलाप करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसका श्रेय श्री राय कृष्णदास जी और श्री मुरारीलाल जी केड़िया को है। उन दिनों गुप्त जी जब भी काशी आते तो केड़िया जी के यहाँ एक बार अवश्य आया करते थे। केड़िया जी कभी भोजन और कभी जलपान करने के लिए उन्हें निमंत्रित करते थे। मैं भी निमंत्रित किया जाता था। आलोचना के क्षेत्र में चाहे जो भी उदारता आ गई हो, पर कान्यकुब्ज ब्राह्मण होने के कारण खानपान में मेरे संस्कार बहुत कुछ पुराने ही हैं। उस मण्डली में मैं पृथक् ही भोजन किया करता था और वह भी फलाहार! गुप्त जी का जैसा विनोदी स्वभाव है, वे प्रायः मुझे अन्न की बनी हुई वस्तुओं से धमकाया करते थे। कभी तो मुरारीलाल जी से कहते कि इन्हें एक मोतीचूर का लड्डू दो और मेरी लालसा जगाने के लिए उत्साहित करते कि पंडित जी, जरा इसे तो खाइए! इसका स्वाद 'ऐसा है' और कभी स्वयं ही कोई वस्तु लिए दिए मेरी थाली पर सवार हो जाया करते। वह मण्डली मुझे अछूत कहती थी और मैं उसे (मण्डली को) अस्पृश्य कहा करता। इन सब बातों पर गगनभेदी अट्टहास से केड़िया जी का वास-स्थान गूंज उठता।

इसके अनन्तर तो गुप्तजी से भेंट करने के अवसर निरन्तर मिलते रहे। वे जब भी काशी आते, मुझसे अवश्य भेंट करते। कभी राय साहब के घर पर और कभी केड़िया जी के यहाँ। मैंने अपने घर पर आने के लिए उन्हें कई बार निमंत्रण दिया, पर अभी तक उन्होंने मेरी कुटिया पवित्र नहीं की है। मैं इसके लिए उन्हें जब कभी उलाहना देता तो वे यही कहते कि आप अपने यहाँ बुलाइएगा तो भोजन या जलपान कराइएगा, पर ब्राह्मण का अन्न पचाने में यह वैश्य समर्थ नहीं है। किसी अकस से तो नहीं, पर मैं भी अभी तक चिरगाँव नहीं गया हूँ। यद्यपि उसकी बगल से कई बार हो आया हूँ। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि छत्रपुर गया और झाँसी होकर गया, फिर भी चिरगाँव जा कर गुप्तजी का विश्रुत अतिथि-सत्कार पाने का सौभाग्य न पा सका। शीघ्रता में गया और हड़बड़ी में लौटा। अभी केशवदास जी के तुंगारण्य में भी हो आया, पर चिरगाँव पहुँचने का समय न निकाल सका।

संवत् १९९५ की कार्तिक कृष्ण इकादशी को, राय कृष्णदासजी और श्री मुरारीलालजी केड़िया के साथ मैं आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी के गाँव दौलतपुर के लिए रवाना हुआ। यह पहले से ही निश्चय हो चुका था कि राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और श्री दुलारेलालजी भार्गव बिन्दकी रोड स्टेशन पर मिलेंगे। किन्तु वे लोग कंसपुरगुगौली स्टेशन पर ही आ गए। बिन्दकी रोड उतर कर हम सब द्विवेदी जी के गाँव की ओर चले। गुप्त जी ने दो बैलगाड़ियाँ पहले से ही ठीक कर रखी थीं। एक बैलगाड़ी पर राय साहब, गुप्त जी और केड़िया जी बैठे। दूसरी पर मैं और श्री दुलारेलाल जी। गाड़ी पर बैठते ही मैंने तो अपना बनारसी बाना निकाला। कुर्ता, टोपी और सदरी एक अँगोछे में लपेट कर रख दीं। दूसरा अँगोछा ओढ़ लिया। मेरे शरीर पर सिर्फ खद्दर की एक गंजी थी। पर और लोग उसी पोशाक में डटे रहे। मुझे क्या मालूम था कि ये लोग द्विवेदी जी के यहाँ पहले-पहल जा रहे हैं। कम-से-कम गुप्त जी के सम्बन्ध में मेरा

दृढ़ निश्चय था कि वे पहले कभी वहाँ अवश्य गए होंगे और बैलगाड़ी की धूल उन्हें फाँकनी पड़ी होगी। रास्ते में पता चला कि श्री महावीर-आश्रम के ये सभी यात्री पहले-पहल ही दौलतपुर जा रहे हैं। धूप हल्की थी, कुछ बादल भी थे। रास्ते में सुरखाब, जलकुक्कुट तथा वन-विहंगों के गान और दोलोत्सव पर मुग्ध होते हुए हम लोग चले जा रहे थे। एकाएक एक सँकरे रास्ते में अगली बैलगाड़ी का एक बैल छटक कर बाहर हो गया। उसे एक लड़का हाँक रहा था। पिछली गाड़ी पर गुप्त जी आदि थे। उसका सारथि जब उसे ठीक करने के लिए अगली गाड़ी हाँकने लगा, तब हमारे राष्ट्रकवि पिछली गाड़ी के सारथि बन बैठे। उनकी पगड़ी, दाढ़ी और मूँछों पर धूल लोट रही थी। उन्होंने एक हाथ में पगड़ी ली और दूसरे में औगी। उस समय कैमरा न होने से सब के हृदय में कसक रह गयी। यदि गुप्त जी के उस चित्र को हम लोग अपने हृदय में ही न रख कर जनता के सामने या राय साहब या केड़िया जी के संग्रहालय में कहीं टाँगने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते, तो भारतीय कवि-पुंगव के उस चित्र से न जाने कितने दिनों तक वह मोहक-स्मृति जगती रहती ; उनके हृदय की कोमलता, सरलता और वेश की सादगी हमारे हृदय को और भी निर्मल, भाव-प्रवण बनाती रहती।

आचार्य द्विवेदी जी के स्थान पर पहुँचते ही उन्होंने क्रमशः सभी अभ्यागतों से कुशल-मंगल पूछा। अन्त में गुप्त जी की ओर मुँह फेरा और व्यंग्य किया, "क्यों, महाकवियों और महाजनों को यात्रा करने का फल मिल गया? मना करते थे कि हमारा गाँव जंगल में है, बड़ा कष्ट मिलेगा, पर मानता कौन है!" गुप्त जी ने 'बन विषम न लागौ' कह कर नम्रता प्रकट की।

संवत् १९९२ में, जब मैं 'पद्माकर पंचामृत' का सम्पादन कर रहा था, राय कृष्णदासजी के निवासस्थान पर श्री मैथिलीशरण जी गुप्त से मेरी भेंट हुई। उन्होंने प्राचीन काव्य के सम्पादन-कार्य की बहुत अधिक प्रशंसा की। मैं समझता था कि 'ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली' के आन्दोलन में हिन्दी को योग देनेवाला ब्रजभाषा से पराङ्मुख होगा। पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब गुप्त जी ने पद्माकर का एक ऐसा छन्द सुनाया जिसे उस समय तक मैं संगृहीत न कर पाया था। वह श्रीकृष्ण के बाल-रूप की छटा का वर्णन करनेवाला कवित्त है, जिसमें आलंकारिकता के स्थान पर वात्सल्य भाव पर विशेष ध्यान है—

देखु 'पद्माकर' गोविन्द की अमित छबि,
संकर-समेत बिधि आनन्द सों बाढ़ो है।
झिझिकत झूमत मुदित मुसुकात गहि,
अंचल को छोर दोऊ हाथन सों आढ़ो है।।
पटकत पाँव होत पैंजनी झुनुक रंच,
नेक-नेक नैनन तें नीर-कन काढ़ो है।
आगे नन्दरानी के तनक पय पीबे काज,
तीनि लोक ठाकुर सो ठुनुकत ठाढ़ो है।।

फिर तो गुप्त जी 'प्रबोध-पचासा' के कई छन्द सुना गए। उन दिनों मैं भी पढ़न्त कवि-सम्मेलनों में योग दिया करता था, इसलिए बहुत से कवित्त, सवैये कण्ठाग्र कर रखे थे। मैंने भी 'प्रबोध-पचासा' के कई छन्द सुनाए। किसी-किसी छन्द में जब मैं कहीं अटकता, तो गुप्त जी सहारा देते थे। प्राचीन काव्य जितना गुप्त जी को स्मरण है, उतना नवीन काव्यधारा के कवियों में से कदाचित् ही किसी को याद रहा हो, या याद है। उस समय उन्होंने पद्माकर का एक छन्द और भी सुनाया था, जो मुझे अधूरा ही प्राप्त हुआ था। संयोग की बात कि उस समय वह पूरा छन्द गुप्त जी को भी याद नहीं आया। उस छन्द के दो चरण इस प्रकार हैं—

ब्याध हू लौं बधिक बिराध-लौं बिरोधी राम,
एते पै न तारी तौ हमारो कहा बस है।

* * *

सुनते ना अधम-उधारन तिहारो नाम,
और की न जानै, पाप हम तो न करते।

•••

उनके व्यक्तित्व में कितना आकर्षण है !

श्री मोतीचन्द

★ ★

पूज्यवर गुप्त जी को बहुत नजदीक से जानने का सौभाग्य मुझे करीब बीस वर्षों से है। आज भी मुझे १९३५-३६ के वे स्वर्णिम दिन याद हैं, जब मैं दद्दा, प्रसाद जी और राय साहब की संगति में काव्य, संगीत तथा हँसी-ठिठोली में दुनिया की और सब बातें भूल कर दिन बिताता था। काव्य का जहाँ तक सम्बन्ध है, मुझे केवल कनरसिया ही जानिए। मेरे पुरखे इतना काव्य सृजन कर चुके थे कि मेरे लिए जूठन भी नहीं बचा था। मेरे अनेक मित्र काव्य पर हाथ माँज चुके हैं, पर मेरा अभाग्य कि मेरे हृदय में कभी काव्य का सोता नहीं फूटा। फिर भी कविता के प्रति एक अलक्षित चाह है। शायद इसी चाह ने मुझे बरबस गुप्त जी की ओर आकर्षित किया। पर केवल काव्य ही मुझ जैसे ठूंठ को देर तक रोकने में समर्थ नहीं है, आत्मीयता तथा जीवन की अनेक घटनाओं को हँसी के वातावरण में देखना मुझे भाता है। जिस दिन दद्दा से मेरी भेंट हुई, उसी दिन से मेरे अन्तर्मानस ने मुझे मानों संकेत कर दिया कि तुम इस महापुरुष में ऐसा अपनापन और ममत्व पाओगे जो और कहीं मिलने का नहीं। सुख में, दुख में, आमोद-प्रमोद में तथा काव्य-चर्चा में मैंने हिन्दी की इस महान विभूति का साथ किया है। उनके साथ बहस की है, हँसी की है, शायद कभी अतिपरिचय से उनकी अवज्ञा भी कर गया हूँ, पर उन्होंने सर्वदा मुझे अपना प्रियतम सहोदर ही माना है तथा मुझे बराबर अपनी छत्रछाया में लेते रहे हैं। चिरगाँव तो मेरा दूसरा घर ही बन गया है। शायद ही कोई ऐसा वर्ष बीता हो जिसमें मैं दो-तीन बार चिरगाँव न गया हूँ और वहाँ सब काम छोड़ कर केवल बातचीत में ही समय न बिताया हो। आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि चिरगाँव में हफ्तों पड़ा रहा हूँ, पर वहाँ घर छोड़ कर शायद बाहर बाजार तक भी न गया होऊँ। न जाने दद्दा के व्यक्तित्व में कितना जादू है कि उन्हें कभी छोड़ कर दूसरे काम में मन ही नहीं लगता। भाई सियारामशरण जी कभी-कभी जरा बाहर चक्कर लगाने के लिए उकसाते हैं, पर दद्दा की हमेशा यही आवाज उठती है, "डाक्टर, कहाँ जाओगे, यहीं बैठो, कुछ बातचीत होगी।" इसी क्रम में चिरगाँव के दिन बीत जाते हैं और मैं वहाँ से लौट कर फिर अपनी दिनचर्या में डूब जाता हूँ। चिरगाँव के ये दिन मुझे कभी भूलने के नहीं। इन दिनों ने मुझे मानवता का एक आदर्श सिखलाया है। अपने ऊपर वार होते हुए भी संवेदना न खोने की भावना मुझमें उत्पन्न की है तथा मुझ जैसे ठूंठ इतिहासकार में सच्चे काव्य के प्रति एक उत्साह पैदा किया है। हिन्दी के प्रति मेरे आकर्षण का कारण भी दद्दा ही हैं। मुझे खेद है कि मैंने अपना साहित्यिक जीवन अंगरेजी में लिखने से आरम्भ किया। मुझे इस बात का पूरा ज्ञान था कि एक विदेशी भाषा में मैं अपने पूरे विचार अभिव्यक्त करने में असमर्थ हूँ, पर जिस काम में मैं लगा था उसमें अंगरेजी का ही बोलबाला था। दद्दा मेरे अंगरेजी के लेखों और पुस्तकों की तारीफ तो कर दिया करते थे, पर वे मुझे बराबर इस बात की प्रेरणा देते रहते थे कि मैं हिन्दी में भी लिखूं। आदतवश मैंने कुछ हीला-हवाला भी किया, पर मुझे हिन्दी में लिखवाने का दद्दा का इतना उत्साह था कि मैं स्वयं उत्साहित होकर हिन्दी में लिखने लगा। इस दृष्टि से दद्दा को मैं अपना गुरु मानूं, तो इसमें अत्युक्ति न होगी।

दद्दा के दर्शन सबसे पहले मैंने कब किए, यह तो मुझे स्मरण नहीं आता। लड़कपन में भारतेन्दु-भवन के दीवानखाने की खिड़की पर बैठे हुए कुर्ता, दुपट्टा, धोती और बुन्देलखंडी पगड़ी पहने हुए मुझे रामघाट में स्थित राय साहब के घर की ओर जाते हुए एक भव्य पुरुष के दर्शन कभी-कभी हो जाया करते थे। पर मैंने यह जानने का कभी प्रयत्न नहीं किया कि वे व्यक्ति थे कौन? कालेज के दिनों में भी हिन्दी के प्रति कोई इतनी बड़ी आस्था न थी कि उनके दर्शन करता। पर इस बात से मैं भलीभाँति परिचित था कि गुप्त जी उन महान् कवियों में थे, जिन्होंने किसी व्यक्ति को प्रसन्न करने के लिए ही काव्यसृजन नहीं किया था। बचपन से ही 'भारत-भारती' हम सब की प्यारी थी और कालेज में चल कर 'पंचवटी' और 'जयद्रथ वध' ने मेरी आँखें ही

खोल दी थीं। अकस्मात् ही गुप्त जी का मुझे दर्शन हो गया। मैं विलायत से लौटा था। राय साहब के यहाँ उनकी बेटी का विवाह था। मैं भी शामिल हुआ, गुप्त जी के वहाँ दर्शन हुए। केवल इतना ही नहीं हुआ। उस दिन हम दोनों के बीच जिस आत्मीयता की नींव पड़ी, उसकी आधारशिला काव्य और साहित्य न हो कर प्रेम था। आज दिन भी वह प्रेम नवता को ही पाता जाता है।

शायद १९३६ में मैं पहलेपहल दद्दा के यहाँ चिरगाँव राय साहब के साथ गया और जाते ही गुप्त-परिवार का अंग बन बैठा। वहाँ मैंने उस प्राचीन भारतीय संस्कृति का दर्शन किया, जिसका मूलमंत्र था 'अतिथि देवो भव'। याद नहीं मेरी वहाँ कितनी खातिर हुई। उन दिनों चिरगाँव में आज की तरह भाजी और फल उपलब्ध नहीं थे। पर उससे क्या, हमारे लिए वे कानपुर से पहुँच जाते थे। हम दोनों साइकिल पर लद कर बेतवा जाते थे। परीछा की सैर की थी और एक बार तो झाँसी तक डग बढ़ा दी थी। जो मुझे जानते हैं, उन्हें पता है कि गम्भीर विषयों की चर्चा चलते हुए भी मेरे लिए संजीदगी रखना प्रायः आसान नहीं होता। चिरगाँव की पहली यात्रा में ही मुंशी अजमेरी जी से मेलजोल और बढ़ा और उनके भारीभरकम शरीर और वाणी में मैंने उस भारतीय लोकसंस्कृति का दर्शन किया, जो अब धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। शायद ही कोई ऐसा दिन जाता, जब हम सब एक जगह हँसते-खेलते न थे। काव्य से लेकर लोक-साहित्य, और भी न मालूम किन-किन विषयों पर हम बात करते, और खूब डटकर भोजन करते थे। मैं यहाँ बता दूँ कि उन दिनों गुप्त जी आज के गुप्त जी न थे। एक पक्के वैष्णव की तरह वह छुआछूत का विचार करते थे, पर उनका यह आचरण अपने ही तक सीमित था। मुझे खूब याद है कि बनारस से चिरगाँव के रास्ते में उन्होंने स्वयं तो शायद जल भी न ग्रहण किया हो, पर हम सब को खिलाने में बराबर लगे रहे। मैं था विलायती याने विलायत से लौटा हुआ और नियमानुसार मैं एक ठेठ वैष्णव के पास बैठ कर खाने का अधिकारी न था, पर स्नेहवश उस समय गुप्त जी ने मुझे इस नियम का अपवाद माना। उस समय से भोजन के समय जो मेरा आसन उनके बगल में लगा, वह आज दिन तक कायम है।

चिरगाँव की पहली यात्रा में हम सब महाराज टीकमगढ़ के न्योते पर ओड़छा पहुँचे और वहाँ के एक पुराने राजमहल में ठहरे। वहाँ के गिरते हुए प्रासाद नगर के प्राचीन गौरव की दुहाई दे रहे थे। गुप्त जी ने नगर के बारे में प्रचलित अनेक किंवदन्तियाँ सुनाईं। महाराज से बातचीत में भी उस प्राचीन बुन्देली संस्कृति का आभास मिला। पर सबसे उल्लेखनीय घटना जो मुझे याद है, वह है एक रात की बात। महाराज से मिल कर डेरे पर पहुँचते-पहुँचते काफी रात हो गई थी। थके रहने से पलंग पकड़ते ही सो जाना चाहिए था, पर नींद न आई और बातचीत का सिलसिला चल पड़ा। बातों में बहक कर चर्चा संगीत पर आ पहुँची और गुप्त जी अपने पसन्द की राग-रागिनियों का उल्लेख करने लगे। माँड़ उन्हें बहुत पसन्द है और मुंशी अजमेरी जी थे उसके कुशल गायक। मेरी प्रार्थना पर नींद में झोंके लेते हुए भी मुंशी जी उठ बैठे और अत्यन्त मधुर स्वर से माँड का प्रसिद्ध गीत 'बादीला बेगा आजोजी, म्हारा जोबन झोला खाय' छेड़ दिया। मैंने बहुत बार संगीत सुना है और गायक-गायिकाओं की तारीफ में खूब वाहवाह भी की है, पर उस दिन जिस करुण रस और वेदना का मुझे आभास हुआ वह भूलते नहीं बनता। मुंशी जी की स्वरलहरी करीब १५ मिनट तक गूँजती रही और हम अवाक् होकर सुनते रहे, तारीफ करने की भी हिम्मत नहीं पड़ी। नीरव रात्रि, गिरता-पड़ता राज-प्रासाद और बातचीत की मस्ती में डूबा समाज, इन के बीच सुर ऐसे झरने लगे मानो पारिजात का वृक्ष अपने सुगन्धित स्वर्गीय पुष्प बिखेर रहा हो। १५ मिनट के बाद स्वरलहरी का ताँता टूटा। पर हम सब चुप थे। मैंने आँखें फेरीं तो गुप्त जी की आँखें डबडबाई हुई दीख पड़ीं। इस घटना के बाद गुप्त जी के साथ मुझे अनेक बार संगीत सुनने का मौका पड़ा है और मैंने देखा है कि असल सुर लगते ही उनकी आँखें डबडबा आती हैं। एक बार हम सब नाव पर बनारस से राय साहब के गाँव लछमनगढ़ जा रहे थे। एक साथी ने पूरबी छोड़ दी। कुछ ही मिनटों में उनकी आँखें तर हो गईं और उन्होंने मुझसे कहा कि भाई गाना रुकवाओ, नहीं तो दिन भर का मजा फीका समझो। गाना रुक गया। असल में उनका हृदय कवि और गायक का है, इसलिए रस-निष्पत्ति उसमें सहज भाव से हो जाती है।

इस प्रथम यात्रा के बाद तो मैं कितनी बार चिरगाँव अथवा बनारस में उनके साथ रहा हूँगा, इसका लेखा-जोखा ही भूल गया हूँ। पर जब-जब मैं उनसे मिलता हूँ, बहुत कुछ सुनता-सीखता हूँ। उनके मुख से उनकी कृतियाँ सुनी हैं और काव्य के आदर्श और गुण-दोषों के बारे में उनसे बातचीत की है। मित्रों के साथ गुप्त जी की वाग्धारा खुल जाती है और काव्य-कहानी से लेकर जीवन-सम्बन्धी छोटी-छोटी बातें उनसे नहीं छूट पातीं, पर अनजानों के सामने उनकी सरस्वती कुंठित हो जाती है। उनसे मिलनेवालों का ताँता तो बराबर लगा ही रहता है; कुछ तो उनसे थोड़ी-सी बातें कह-सुन कर बिदा माँग लेते हैं, पर अधिक उनका पिण्ड ही नहीं छोड़ना चाहते। ऐसे लोगों से वे पनाह माँगते हैं, पर पाते नहीं। पर उनकी स्वाभाविक शालीनता ऐसी है कि वे किसी का दिल दुखाना जानते ही नहीं। उनकी कविता पर किसी ने बहस की या प्रश्न पूछे, तो उनका हमेशा का उत्तर है—"अरे महाराज, दो-चार तुकबन्दियाँ लिख दीं, अब उन्हें समझना आप जैसे विद्वानों का काम है।" अनेक बार तथाकथित समालोचकों ने उनकी कटु समालोचना की है—शायद उन्हें ठेस पहुँचाने की गरज से। ऐसी हरकतों से क्षणिक अवसाद होने पर भी, न तो वे अपने कर्तव्यपथ से ही च्युत हुए, न उन्होंने अपने आलोचकों का प्रतिवाद करने की ही कभी सोची।

[वास्तव में गुप्त जी में सब गुण होते हुए भी वे सभाओं से घबराते हैं। पहले तो वे सभा-सोसाइटियों में जाते ही बहुत कम हैं, लेकिन लोगों के घेरघार करने पर गए भी, तो उनका दिल घबराता रहता है। कवितापाठ करते समय वाणी में तो स्थिरता और ओज रहते हैं, पर हाथ और शरीर काँपा करते हैं।] मैंने उनके साथ बिहार की सैर की है, कलकत्ता गया हूँ, और बम्बई की भीड़भाड़ और स्वागतों से उनकी रक्षा की है। साथ चलने के पहले मुझसे वे वादा करा लेते हैं—"डाक्टर, मैं इस शर्त पर चलूँगा कि सभाओं और भेंट-मुलाकातों से तुम मेरी रक्षा करोगे, ये सब बातें मेरे बस की नहीं।"

कलकत्ते की यात्रा में साधारण से साधारण हिन्दी की संस्थाएँ उन्हें बुलाना चाहती थीं और उनका आग्रह ठीक भी था। पर हम सब जानते थे कि ऐसा करना गुप्त जी के लिए सम्भव नहीं था। एक दिन सबेरे एक सज्जन ने आ घेरा—"एक बाल पाणिनि आए हैं, शास्त्रार्थ के लिए लोगों को ललकार रहे हैं। आपको चलना ही होगा।" गुप्त जी की सिट्टीपिट्टी भूल गई। क्षमा माँगने लगे, संस्कृत व्याकरण से अपने को कोरा बतलाया, पर आगन्तुक महाशय का जोर बढ़ता ही गया। बगल में ही हम सब के परम स्नेही और परम विद्वान डा० वासुदेवशरण बैठे थे और बड़ी ही मौज से बातचीत कर रहे थे। पर जैसे ही ये बातें उनके कानों में पड़ीं, वे ऊँघने लगे। बात आगे बढ़ी, तो उन्होंने लम्बी तान दी। बात यह है कि नींद उनके लिए रक्षाकवच है। रक्षा पाने के लिए गुप्त जी ने कहा—"वासुदेव जी से पूछिए।" सोते हुए उनकी आवाज आई—"अगर जानेवाले हो, तब भी न जाने दूँगा।" आगन्तुक महोदय दण्ड प्रणाम करके बिदा हो गए।

मेरे बुलाने पर जब गुप्त जी पहली बार बम्बई पधारे, तब भी मुझसे वादा करा लिया था कि तुम्हें बम्बई में स्वागतसभाओं से मेरी रक्षा करनी पड़ेगी! भाई नरेन्द्र शर्मा की मदद से मैं उनकी रक्षा करने में समर्थ हो सका। उनकी सभा-भीरुता का कुछ लोग उलटा मतलब लगा लेते हैं। पर जो लोग उनकी प्रकृति से परिचित हैं, वे जानते हैं कि सभाओं से उन्हें कितना कष्ट पहुँचता है।

इधर करीब बीस बरस के निकट सम्बन्ध से मैं गुप्त जी की सब बातों से इतना परिचित हो गया हूँ कि शायद उनके बहुत निकटवर्ती भी नहीं हो सकते। इधर कई सालों से मैं उन्हें मुरझाया-सा पाता था। कई बार मैंने उनसे डाक्टरों की सलाह लेने को कहा और स्वयं एक बार उनके साथ लखनऊ डाक्टरी परीक्षा के लिए गया। मूत्रग्रन्थि बढ़ जाने का निदान हुआ। कुछ दवा बतला दी गई और बात वहीं की वहीं रह गई। चिकित्सा कुछ देशी-विलायती दवाओं के आधार पर चलने लगी। हृदय भी कुछ कमजोर रहने लगा, जिसके फलस्वरूप इन्दौर में एकाएक हृदय का दौरा हो गया। मैंने स्वयं फोन किया, तो फोन में ही उनकी हँसी गूँज उठी, जैसे मानो कुछ हुआ ही न हो!

. . . मैं मानता हूँ कि वे जीवट के आदमी हैं और उनके सामने जीवन और मृत्यु समान हैं, पर भावी आशंका से मैं कांप गया। उनकी पेशाब की तकलीफ बढ़ती ही गई। १९५५ का अप्रेल का महीना था। मैं एक मीटिंग के सिलसिले में दिल्ली गया हुआ था और गुप्त जी के पास ही ठहरा हुआ था। रात में उन्हें पेशाब करने में घोर कष्ट हुआ। मैंने और रायसाहब ने यह निश्चय कर लिया कि खतरे की घण्टी बज चुकी है और संकट दूर करने का उपाय किए बिना अब निस्तार नहीं। हमने उन्हें बम्बई लाने का उसी समय निश्चय कर लिया। दद्दा बहुत छटपटाए—जाड़े में सब प्रबन्ध हो जायगा, तब चलूंगा, अभी क्या जल्दी है; पर हम अपनी बात पर डटे रहे। वे चिरगांव होकर बम्बई चलने की शर्त पर तैयार हुए। हमने कहा, वह भी सही। चिरगांव में उनका जाना अच्छा ही हुआ, क्योंकि अपने बड़े भाई श्री रामकिशोर जी के साथ वहीं उनकी अंतिम भेंट हुई। बम्बई आते ही एक रात एकाएक उनका मूत्रनिरोध का कष्ट इतना बढ़ा कि मेरा सारा परिवार सशंकित हो गया। उस रात की उनकी व्याकुलता अब भी याद आ जाती है, तो मन सिहर उठता है। उन्हें उठने, बैठने, चलने, किसी में चैन नहीं था। एकाएक वे घर के बाहर निकल कर सड़क पर टहलने लगे और विह्वल होकर सबसे बिदा माँगने लगे।

इस घटना के पहले उनकी डाक्टरी परीक्षा हो चुकी थी। एक पक्ष की राय तुरंत ऑपरेशन की थी और दूसरे पक्ष की राय कुछ ठहरने की थी। मैंने उसी रात को यह निश्चय कर लिया कि जो भी हो, ऑपरेशन तो लगना ही चाहिए। उसी समय उन्हें अस्पताल ले गए। बाद में उन्हें दो-दो नश्तर लगे और काफी दिनों तक अस्पताल में रहना पड़ा। पर तकलीफ से छटपटाते हुए भी उन्होंने कभी अपनी स्वाभाविक हँसी और लोगों की आवभगत की आदत नहीं छोड़ी।

जब दद्दा अस्पताल में थे, एकाएक मुझे चिरगांव से समाचार मिला कि उनके स्नेहास्पद भाई, जिन्हें हम सब नन्ना कहकर पुकारते थे, संसार में नहीं रहे। गुप्त जी बराबर उनकी याद किया करते थे और उनसे मिलने को आतुर रहते थे। रायसाहब ने फौरन अपना बनारस जाना रोका और हम सब ने डाक्टर से सलाह ली कि दद्दा को यह समाचार किस भाँति देना चाहिए। डाक्टर ने आदेश दिया कि किसी तरह वह समाचार दद्दा को तब तक न देना चाहिए, जब तक कि वे खतरे से बाहर न हो जायँ। वही किया गया। करीब दो हफ्ते के बाद जब उनकी तबीयत संभली, डाक्टर ने स्वयं उस दुर्घटना का समाचार उन्हें दिया। मैं उस समय स्वयं उपस्थित था। ऐसा विलख कर रोते हुए मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। वे धैर्यशील हैं, इसलिए उन्होंने अपने को तुरत संभाला, पर आंतरिक धक्का गहरा था और इसलिए अस्पताल से मुक्त होकर भी उन्हें काफी समय तक बिस्तर झेलना पड़ा।

दद्दा में कवि, भावुक और सांसारिकता का एक अपूर्व सम्मिश्रण है। अगर कवि की परिभाषा 'सब तज हरिभज' मान ली जाय, तो शायद दद्दा इस कसौटी पर खरे न उतरें। पर दद्दा को तो अपनी लम्बी गृहस्थी चलानी थी, लोगों का कर्ज चुकता करना था और संभ्रांत जीवन यापन करना था। इसलिए उनको कवि और व्यावहारिक जीवन में संतुलन रखना पड़ा। पर जहाँ भी उन्हें वास्तविक सौंदर्य का दर्शन होता है, चाहे वह किसी के काव्य में हो, किसी की रसमयी वाणी में हो, अथवा किसी कला की वस्तु में हो, उनका चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। उनकी राय में काव्य अथवा कला कोई मश्क की वस्तु नहीं हैं, काव्यधारा तो बाण-गंगा की तरह स्वयं फूटकर बहने लगती है और रसिक स्वयं उसमें स्नान करके अपने को धन्य मानते हैं। गुप्त जी बहुधा ठाकुर की वह कविता सुनाया करते हैं, जिसमें कविता करते समय कवि की कठिनाइयों की ओर संकेत है और टुटपुंजिए कवियों के प्रति उपालंभ है। बिना किसी मानसिक ओट के अथवा वाद के चक्कर में पड़े, गुप्त जी अच्छी तथा दिल में चुभने वाली कविता से पुलकित हो उठते हैं। सभी साहित्यकारों के प्रति उनकी सहानुभूति रहती है और वे मानते हैं कि सभी को अपनी-अपनी कहने की पूरी स्वतंत्रता है—'जय देव मन्दिर देहली समभाव से जिस पर चढ़ी नृप हेम रंक वराटिका।' उन्होंने अपने को केवल आगे आने वालों का जय जयकार माना है। दद्दा एक युग के प्रतीक हैं और उनकी वाणी युग की धाराओं के साथ ही बोलती रहती है।

मैंने उनसे अनेक बार अनुरोध किया है कि अपना आत्मचरित, जिसके अनेक पहलुओं के बारे में हमें सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ करता है, लिपिबद्ध कर दें। पर दद्दा उस प्राचीन परिपाटी के अनुगामी हैं, जिसके अनुसार कवि का अपने जीवन और अनुभवों का विशेष महत्व नहीं। पर आधुनिकता का तो तकाजा है कि बड़ों के अनुभव बाद की पीढ़ियों के सामने आवें और उनका मार्गदर्शन करें।

दद्दा के कुछ ऐसे कृपापात्र और मित्र हैं, जिनका क्षेत्र कला को परखना है और उनमें मैं अपने को भी मानता हूँ। दद्दा ने स्वयं तो कला पर कभी नहीं लिखा, पर उनकी आँखें सदा ही किसी सुन्दर कलाकृति को देख कर चमकने लगती हैं और उन्हें रसानुभव होने लगता है। उन्हें मैंने अनेक बार भारतीय चित्रों की सैर कराई है। मुगल शैली के चित्र तो अपनी कारीगरी की बारीकियों तथा तैयारी से ही उन्हें रुचिकर लगते हैं, पर राजस्थानी और पहाड़ी चित्रों के चुटकीले रंग और भाव उन्हें बरबस ब्रजभाषा के काव्य की याद दिला देते हैं। पहाड़ी शैली को तो वह ब्रजभाषा की कविता के निकटतम भावों का प्रतीक मानते हैं।

एकबार मैं उनके साथ खजुराहो के प्रसिद्ध मन्दिर देखने गया था। उन मन्दिरों की भव्य बनावट और भावमयी मूर्तियों को देख कर वे आनन्दविभोर हो गए। वे बराबर कहते जाते थे—"डाक्टर, उन कारीगरों के हाथ में पत्थर मानो मोम था, जिस तरह चाहा उसे मोड़ा और काटा। स्त्रियों के रूप-सौन्दर्य और भावभंगियों का क्या इससे बढ़कर उदाहरण तुमने देखा है?" यौन-चित्र खजुराहो की कला की एक विशेषता है, पर दूसरों की तरह गुप्त जी से मैंने उन पर न व्याख्यान सुना, न उन्होंने उस कल्पना पर नाक-भौं ही चढ़ाई। वे तो एक सच्चे कलापारखी की तरह मूर्तियाँ देखते जाते थे और अक्सर मेरा ध्यान उन मूर्तियों की ओर आकर्षित कर देते थे; जिन पर उनकी आँखें जाकर ठहर जाती थीं। मैंने उन्हें बताया कि खजुराहो के कुछ मन्दिर गहोइयों के ही पूर्वजों ने बनवाए थे। मुस्कराकर बोले, "भैया—वे दिन बीत गए, अब कुछ होने हवाने का नहीं।" मैं अक्सर सोचा करता हूँ, अगर दद्दा कभी भारतीय कला पर अपने निजी विचार लिखें, तो कैसी अपूर्व वस्तु तैयार होगी!

दद्दा का शरीर अपना धर्म पालन कर रहा है और व्याधियाँ उन्हें तंग करती ही रहती हैं। पर उनका मन चिरंतन युवा बना रहता है। वे गाते तो हैं—'अब वे बासर बीत गए, मन तो भराभरा सा अब भी, पर तनके रस रीत गए।' पर वे जो कुछ भी मानें, मैं तो यह नहीं मानता। जीवन की उमंगों के रूप और लक्ष्य भले ही बदल गए हों, पर अब भी उनके मानस-समुद्र में ज्वार आया करती है, अब भी वे जीवन और समाज के प्रति उतने ही जागरूक हैं, जितने पहले थे। उन्होंने किसी प्राचीन संस्कृत कवि की तरह यह गर्वोक्ति नहीं की—यदि पथि विपथे वा वर्तयामः सपन्थाः, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उनकी वाणी बराबर समाज को सत्पथ पर चलाने की ओर प्रयत्नशील रही है। भर्तृहरि की अमरवाणी उनके बारे में पूर्णरूप से लागू होती है—

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

साहित्य-सदन की यात्रा

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

चिरगाँव का साहित्य-सदन मेरे जैसे नई पीढ़ी के हिन्दी पाठकों के लिए एक तीर्थ है। स्कूल के शिक्षाभ्यास के समय ही जब काव्य से आनन्द ग्रहण करनेका उन्मेष हो रहा था, मेरे साहित्यिक मानस को श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के 'जयद्रथ-वध' और 'भारत-भारती' से रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त हुआ था। कालान्तर में परिस्थिति ने उस आकर्षण को एक गाढ़ा रूप दे डाला और मुझे गुप्त जी को अपने अति-सन्निकट बन्धु और घनिष्ट मित्र के रूप में प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। साहित्य-सदन देखने की इच्छा बनी हुई थी। अक्तूबर १६४३ के अंत में गुप्त जी के भतीजे श्री वैदेहीशरण जी के आमंत्रण पर कुछ शिलालेख देखने के लिए चिरगाँव की यात्रा का सुयोग मिला।

३० अक्तूबर, कार्तिक शुक्ल द्वितीया को मैंने चिरगाँव के लिए प्रस्थान किया। साहित्य-सदन की यात्रा के उद्दिष्ट पथ पर जाते हुए न जाने किस अदृष्ट संयोग से लखनऊ स्टेशन पर ही मुझे रस के चमत्कार का एक साक्षात् अनुभव प्राप्त हुआ। एक संभ्रांत युवती अपने पति को, जो सम्भवतः किसी विकट यात्रा पर जा रहा था, बिदा देने आई थी। बिदा करके आँसुओं से छलकते हुए नेत्रों को जब वह पोंछने लगी तब उस दृश्य को चलती हुई गाड़ी में से देखकर मेरा हृदय भी द्रवित हो गया, किसी रस के स्पर्श में आकर नेत्र सजल हो गए। किस कारण से ऐसा हुआ? इस प्रश्न पर कुछ देर के लिए ध्यान ठहर गया। करुण रस का उद्रेक उस स्त्री में हुआ था। उसको देखकर दर्शक का सहृदय मन रस-सिन्धु के साथ जुड़ गया। सहृदय मन में ही रस उमड़ता है। सहृदयता जितनी अधिक मात्रा में होगी, रस का अनुभव भी उतना ही तीव्र होगा। सहृदयता ही रसग्रहण के लिए व्यक्ति की सच्ची योग्यता है।

किसी व्यक्ति विशेष में रस का उद्रेक हुआ। सहृदय ने उसको देखा, उसका अनुभव किया। फलस्वरूप उसका परिमित मन, जो स्थूल भावों में निबद्ध था, उन स्थूल भावों से छूट कर सर्वव्यापक रस के साथ जुड़ गया। रस सब काल में सर्वत्र व्याप्त है। भारतीय आचार्यों की दृष्टि में सब जगह प्राप्य वस्तु यदि रस है और आनन्दानुभूति उसका लक्षण है, तो रस और ब्रह्म एक ही होंगे। इसीलिए 'रसो वै सः' की परिभाषा बनी होगी। रस एक प्रकार से अनिर्वचनीय वस्तु है। वह स्वसंवेद्य है, शब्दों में रस अपरिभाष्य है। सर्वत्र भरा हुआ रस-समुद्र एक है, पर उसकी तरंगों में भेद है, उसके रूप या स्वाद भिन्न-भिन्न हैं। ये ही काव्य में आठ या नौ रस हैं। एक रसाप्लुत रस-सिन्धु के पारस्परिक भेदों की आलंकारिकों ने बारीक छानबीन की है।

काव्य में रस के आलंबन जो यक्ष-यक्षिणी हैं, वे भूतकाल की वस्तु बन जाते हैं, अर्थात् उनका भौतिक रूप काल से परिमित होता है। परन्तु उनकी कथा के काव्यमय वर्णन से रसिक सहृदय के मन में भी रस का सोता फूट पड़ता है। रस के पारखी कवि और सहृदय आलोचक होते हैं। कवि रस-सिन्धु के साथ तन्मय होकर उसे दूसरों के लिए सुलभ करता है। अमूर्त रस को मूर्त रूप में प्रस्तुत करना कवि का कौशल है। रस की क्रिया-प्रतिक्रिया को कवि की सूक्ष्म दृष्टि ताड़ लेती है। वह द्रावक और मार्मिक स्थल को सामान्य वर्णनों से अलग जान लेता है और उनके वर्णन में रस-पोष के लिए अपनी काव्यशक्ति का उपयोग करता है। रस का जन्म, उद्बोधन, परिपाक, पोष और उससे प्राप्त होनेवाली फल-निष्पत्ति की पहचान और परख ही सच्ची काव्य-आलोचना कही जा सकती है।

इस प्रकार साहित्य-सदन की यात्रा के लिए प्रस्थान करते ही रसात्मक अनुभव की एक प्रतीति सामने आ गई। इन्हीं विचारों से तरंगित मन को लिए हुए सायंकाल के समय साहित्य-सदन के उदार प्रांगण में पहुँच गया। गुप्त जी की बैठक का विस्तृत आँगन दर्शक के मन को सबसे पहले प्रभावित करता है। प्रातःकाल की शीतकालीन धूप से भरा हुआ यह प्रांगण देवों के लिए भी स्पृहा की वस्तु है। किसी सारस्वतलोक से

कितने रमणीय विचारों के विमान इस पुण्य भूमि में उतरे हैं। यहाँ ही गुप्त जी और उनके छोटे भाई सियारामशरण जी ने अनवरत काव्यसाधना के द्वारा अपने जीवन को कृतार्थ किया है। पूर्वाभिमुखी आस्थान मंडप में खिलखिलाते हुए गुप्त-बन्धुओं की कल्पना दर्शक की प्रिय वस्तु है। गुप्त जी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी मानवता है। वे अन्तर-बाहर से मानवी प्रतिष्ठा और मानवी सरलता के पुजारी हैं। स्वयं उनका स्वभाव नितान्त सरल है, पर दूसरों को प्रतिष्ठा देने में वे सबसे आगे रहेंगे। वे अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि हैं और क्षण भर में बात की गूढ़ता को ताड़ जाते हैं। उनकी स्मृतिशक्ति भी अच्छी है। इतनी अधिक काव्यसाधना करने पर भी जान पड़ता है कि उनके पास समय का अटूट भण्डार है। साहित्यगोष्ठी और साहित्यिकों के साथ ठहाके की हँसी से गुप्त जी के थके हुए मानस को जैसे विश्राम मिलता है।

हिन्दीसाहित्य की प्रगति और साहित्यिक जगत् की प्रवृत्तियों के विषय में गुप्त जी को मैंने बहुत सचेत पाया। अपने काम को करने के बाद भी उनमें इतनी शक्ति बच रहती है कि वे इस प्रकार की गतिविधियों से अपने आपको परिचित रख सकते हैं। साहित्य-सदन की चार दिन की गोष्ठी में बुन्देलखंड के लोकसाहित्य और जनपदीय जीवन की काफी चर्चा रही। उन दिनों गुप्त जी के बड़े भाई रामकिशोर जी साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित जातकों का हिन्दी अनुवाद पढ़ रहे थे। उन्होंने कहा कि जातकों की कितनी ही कहानियाँ अपने जनपदीय रूपान्तर में वहाँ प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए पाली नाम-सिद्धि जातक (सं० ९७) से मिलती हुई यह कहानी गुप्त जी ने सुनाई—

एक जनी के घरवारे की नाव हतो ठनठन राय। बाकों जो नाव बुरौ लगत तो। नाव बदलबे के लाने बाने कौनउ अच्छौ नाव ढूंढ़ै चाओ। तब वा ढूंहुन कौ निकरी।

एक जनो लकरियन को बोझ लए जा रओ तो। बाकौ नाव हतौ धनधनराय। एक जनों मर गओ तौ और बाकी अरथी जा रई ती, बाको नाव हतो अमर।

लुगाई ने जौ सब देख सुनके मन में सोची कै नाव सौ कऊँ आवत जात नई आ और जा कई—

लकरी बेंचत लाखन देखे,
घास खोदतन धनधनराय।
अमर हते ते मरतन देखे,
तुमई भले मेरे ठनठनराय।।

पाली में यह गाथा इस प्रकार है—

जीवकंच मतं दिस्वा,
धन पालिचं दुग्गतं।
पन्थकंच वने मूळ्हं,
पापको पुनरागतो।।

अर्थात् पापक नाम का एक व्यक्ति अच्छे नाम की खोज में घर से निकला। पर मार्ग में जीवक नामधारी व्यक्ति को उसने मरा हुआ देखा। धनपाली नाम की दरिद्र दासी को कमा कर न लाने के कारण पिटते देखा। पंथक नाम के व्यक्ति को वन में रास्ता भूल कर भटकते हुए देखा, यह देखकर पापक फिर घर लौट आया*।

इसी प्रकार रोहिणी जातक (सं० ४५) का यह रूप श्री रामकिशोर जी ने उद्धृत किया—

एक लुहार हतो। बाने एक मजूर घन घालवे को राखौ औ बाने बासें कै जितै हम हाथ से बताउत जायँ उतइ घन घालत जाय। बानो ऐसो ई करौ। एक बेर लुहार के मूंड़ में कुकौरू लगी। कुकबे कों जैसई बाने मुड़ी पै हाथ धरौ तैसई बाने उतई धमका सें घन दें मारौ। लुहार बिचारो होई ढेर होगौ।

---

* बंबई संग्रहालय के अध्यक्ष श्री रणछोड़लाल ज्ञानी से लोक में प्रचलित गाथा का यह रूप मुझे सुनने को मिला—

लक्ष्मी तो कंडै चुने, भीख मंगैं धनपाला।
अमरसिंह तो मर गए, भले बिचारे ठनठनपाला।।

मैंने श्री रामकिशोर जी से प्रार्थना की कि इस प्रकार की जातक कहानियों का, जो बुन्देलखंड में अब भी प्रचलित हैं, वे एक संग्रह तैयार कर लें। कहाँ ढाई सहस्र वर्ष पहले का जातककालीन भारतवर्ष और कहाँ बीसवीं शती का लोकजीवन—दोनों में कितना व्यवधान है, पर फिर भी लोक में सुरक्षित साहित्यिक परम्परा कितनी बलवती है कि उसकी अटूट परम्परा आज तक बनी हुई है। अनन्त ज्ञान का संरक्षण करनेवाले लोक को शतशः प्रणाम करना उचित है।

इस साहित्यिक गोष्ठी में मुझे बुन्देलखंड के कुछ ठेठ शब्दों को निकट से जानने का अवसर मिला। गुप्त जी ने 'साकेत' में सीता के वेष का वर्णन करते हुए, जब वे बुन्देलखंड की सीमा में पधारीं, उन्हें खड़ा कछौटा लगाए हुए चित्रित किया है। उन्होंने बताया कि यह शब्द केवल स्त्रियों के पहराव के लिए प्रयुक्त होता है। घाघर या लहँगे को उंसकर घुटने तक ऊँचा करने को खड़ा कछौटा कहते हैं। जंघा तक ऊँचा उंसकेरने का नाम पूरा कछौटा है। पुरुषों की घुटने तक की धोती के लिए घुटन्ना शब्द है। कुँवारी कन्या और विवाहिता वधुओं के वेष में भी अन्तर है। कन्याएँ आँचल को कंधेला रूप में कंधे पर डाले रहती हैं। बहुएँ आँचल को बगल के नीचे से ले जाकर खोस लेती हैं।

बुन्देलखंड में सती के अनेक स्मारक-स्तम्भ हैं। इन्हें गाँव की भाषा में सत्ती-सत्तन के चौरा कहते हैं। इन सती पत्थरों पर नीचे 'दो पुतरियाँ' (स्त्री-पुरुष की आकृति) और ऊपर 'चंदा सूरज' बने रहते हैं। इसी यात्रा में मोठ से कुमराढ और कुमराढ से निमोनिया गाँव तक हमने कई सती-स्मारक देखे। उनके लेखों में स्थानीय इतिहास की सामग्री मिल सकती है। गुप्त जी ने बुन्देलखंड का परिचय देते हुए टपरियों और डाँगों का वर्णन किया। पहाड़ी डाँग (वे जंगल जिनमें शिकार आदि मिलता है और धरती ऊबड़-खाबड़ होती है) इस प्रान्त की विशेषता है। वीर क्षत्रियों की युद्धनीति को निर्धारित करने में डाँगों का प्रमुख भाग था। उन रक्षित जंगलों के लिए, जिनमें घास रखाई जाती है, बुन्देलखंड में 'रूंद' शब्द प्रयुक्त होता है जो संस्कृत 'रुद्ध' का प्राकृत रूप है। डाँगों में झुरझुरू घास बहुतायत से देख पड़ी, जिसे पशु भी नहीं खाते।

वैश्य होते हुए भी जिस प्रकार गांधी जी की उपजाति मोढ है, उसी प्रकार गुप्त जी गहोई उपजाति में हैं। गहोई प्राकृत 'गहवई' और संस्कृत 'गृहपति' का रूप है। 'गहवई' या 'गृहपति' वैश्यों का उल्लेख ईस्वी सन् के आसपास के ब्राह्मी लेखों में आया है (ल्यूडर्स लेख सूची सं० १२४८, इसी सूची के लेख-संख्या ११५१ में कुधकिय या मोढ जाति का भी उल्लेख है)। मध्यकालीन शिलालेखों में गहवई वैश्यों का बहुत प्रभावशाली वर्णन मिलता है। गहोइयों के लिये कहा जाता है—

बारह गोत बहत्तर आँकने

अर्थात् इनमें बारह गोत्र और बहत्तर आँकने या उपनाम होते हैं। हमारे गुप्त जी का आँकन या जातीय उपभेद 'कनकना' है।

चिरगाँव के समीप ही वेत्रवती नदी पर एक सुन्दर बाँध बाँधा गया है जिसे पारीछा बंधा कहते हैं, गुप्त जी के साथ इस बाँध की भी यात्रा की। इसमें तीन सौ अठारह फाटक हैं। नदी के बीच में एक निर्जन टापू भी पड़ गया है, जिसके लिए यहाँ 'गोदा' शब्द प्रचलित है। यह स्थान प्राकृतिक दृष्टि से बहुत रमणीय है। पारीछा से उजियान गाँव तक कई मील में अपार जलराशि से भरा हुआ ताल फैला हुआ है।

बातचीत के सिलसिले में हमने अहिच्छत्रा की खुदाई में प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी के सुन्दर बासनों की चर्चा की। प्राचीन भाँडों के वर्णन के लिए हिन्दी में उपयुक्त नामों की बड़ी आवश्यकता है। कई स्थानों से नाम सहित बर्तनों की आकृतियों का संग्रह करना पड़ेगा। साहित्य-सदन से भी हमें कुछ शब्द प्राप्त हुए। पारा (सरैयाँ), कुपरा (परात, सं० कर्पर), गौरैया (गौरा नामक मुलायम पत्थर की बनी छोटी कूँडी), घेंडा-घेंडी (घी का बर्तन, घृतभाँड), मटलेनी, बरौसी (आग रखने की तौली), दियट, मोना (बड़ा घड़ा) चरुआ, मटका, अधमुआ, डहर, कुठल-कुठिया—ये कुछ नाम हैं जिनकी वैज्ञानिक स्थिति सचित्र और तुलनात्मक अध्ययन के बाद निश्चित करनी पड़ेगी। इसी प्रकार के नाम और भी कई स्थानों से हमें प्राप्त

हुए हैं। मलिया के विषय में जब मैंने बताया कि यह संस्कृत मल्लक का रूप है, जिसका उल्लेख कुषाण-कालीन मथुरा के पुण्यशाला स्तम्भलेख में आया है, तो गुप्त जी आश्चर्य से कहने लगे—"सच कहते हैं, डाक्टर, बड़ा कौतूहल होता है।" और, सियाराम जी ने उनकी बात का समर्थन करते हुए कहा—"आप तो हमको बहुत पुराना बनाए देते हैं।" मैंने कहा—"हाँ, यह बात ठीक है, हमारी भाषा का एक-एक शब्द मार्कण्डेय की आयु लिए बैठा है, यही भाषा का अमरपन है।

इस गोष्ठी में एक ऐसा शब्द हमारे हाथ लगा, जिसने अकेले ही हमारी यात्रा को सफल बना दिया। खेत में इकट्ठा किए हुए पैर (—सं० प्रकर, प्रा० पयर) और पैर की दंवनी से तैयार होनेवाली रास (—राशि) की चर्चा करते हुए श्री रामकिशोर जी कह गए कि रास किसान के लिए पवित्र वस्तु है। उसकी गुदनैंटै (गोधन का कण्डा) और अकौव्वे के फूल से पूजा होती है और तब रास को किसान 'प्यन' से नापते हैं। रास तोली नहीं जाती थी। आज भी जब तकरी-पसेरी का रिवाज बढ़ गया है, रास पर 'प्या' रख कर उसका पूजन करके कम-से-कम पाँच 'प्या' पहले नाप देंगे, तब तराजू का प्रयोग करेंगे। पहले घर-घर में 'प्या' होते थे।

इस 'प्या' शब्द को सुनते ही कान खड़े हो गए। मेरा ध्यान ठहर गया। जैसे कोई पुरानी गुत्थी सुलझ गई हो और आज तक अनजाना अर्थ ज्ञात हो गया हो। वास्तविक बात यह थी कि मेरे मन में 'प्या' का संस्कृत रूप भास गया। पाणिनि की अष्टाध्यायी के दो सूत्रों में 'पाप्य' नामक एक मान या नाप का उल्लेख हुआ है*। किसी कोष से मुझे उसका अर्थ समझने में सहायता न मिल सकी थी। बुन्देलखंडी 'प्या' संस्कृत 'पाय्य' का ही अपभ्रंश रूप है। पीछे से मुझे ज्ञात हुआ कि राजपूताने या झालरापाटन में इस नाप को 'पाई' कहते हैं। तोलने के रिवाज से पहले प्रायः पाई से नापकर देने-लेने की प्रथा थी। अब तो एक पंजाबी लोकोक्ति में भी इसका प्रयोग मिला है—

पाई पासी चंगी, कुड़ी खड़ाई मंदी।

अर्थात् किसी का पाई भर अन्न पीसना अच्छा, पर लड़की खिलाना अच्छा नहीं। प्या पीतल का बना हुआ भिगौने की तरह का एक बर्तन होता है। भिगौने में कनौठे होते हैं, प्या में नहीं होते। रास और अन्न के नापने के लिए प्या का प्रयोग अब भी देहातों में मिलता है। एक प्या देकर सवा प्या लेने के नियम को 'सवाई' कहते हैं। इसी प्या नाप से किसानों को ऋण देने के सम्बन्ध में रामकिशोर जी से एक बड़ी चुभती कहानी भी सुनने को मिली—

जी बख्ते राम जी लौट कैं आए लंका से जीत कै, सो उनने प्राजजन से पूछी कि तुम सुखी तौ रए। सो उननें कई कि महाराज सुखी रए, पर भरत के तिरछ्यान ने माड़ारे। सो उनने पूछी कैसे? का बात भई? सो उननें कई महाराज, आपके जावें पै अवर्षण भौ सो काल परि गौ। सो सरकारी बंडा † खुले। फिर प्यन से रैयन को अनाज दयो गौ। जब सुकाल भौ और हम सरकारी नाज भरिबेकों आए तब तिरछा सैं नाज लओ गौ। बाके मारे हम मरिगे।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रजा को अन्न देते समय तो प्या बर्तन को सीधा रख कर भर कर दिया गया। पर लेते समय भरत ने इतनी दया की कि प्या को तिरछा कर के रक्खा गया और उस पर जितने दाने ठहर गए उतने दाने एक भरे हुए प्या के बदले में चुकता ले लिए गए। फिर भी प्रजा को भारी पड़ा। मुफ्त लेकर वापिस करना बहुत खलता है। इसी मनोवृत्ति के कारण प्रजा ने भरत की उदारता की भी शिकायत ही की!

---

* पाप्य-सानाय्य-निकाय्य-धाय्या मान हवि निवास सामिधेनीषु (सूत्र ३।१।१२९) तथा कंस मन्थ शूर्प पाय्य काण्ड द्विगा (सूत्र ६।२।१२२)। द्विगु समास में 'द्विपाय्य' 'त्रिपाय्य' प्रयोग बनते हैं।

† बंडा—सरकारी बड़े मकान या कुठार जिनमें अनाज भर कर चिन देते थे। उनमें कई हजार मन अन्न आता था। प्रजा में बाँटने लिए वे बंडे खोल दिए जाते थे। गोरखपुर जिले के सोहगौर स्थान तथा बोगरा जिले के महास्थान गांव से प्राप्त मौर्यकालीन ताम्रपट्ट लेखों में इस प्रकार के सरकारी कोठारों से अन्न के वितरण का वर्णन है।

इसी यात्रा में गुप्त जी के प्रसादरूप में बुन्देलखंडी 'चम्मू' से हमारा परिचय हुआ। यह चम्मू शब्द भी विलक्षण है। प्राचीन वैदिक 'चमू' का वंशज चम्मू है। 'चम्मू' फूल का बना चौड़े मुंह का लोटा है जो देखने में अत्यन्त सुडौल और सुन्दर होता है। यह ठेठ हिन्दू परम्परा का नमूना है, जो अब भी कहीं-कहीं बच गया है। वैसे तो विदेशी प्रभाव ने हमारे लोटों तक की आकृति को अछूता नहीं छोड़ा है। जनपद की प्रशान्त गोद में कला के पूर्णतम नमूने अब भी कुछ बच गए हैं, उन्हीं में बुन्देलखंड का चम्मू है। इसका पेटा चीमरी की भाँति का होता है। अंग्रेजी fluted design के लिए अत्यन्त उपयुक्त यह शब्द हमारे हाथ लगा—चीमरी की भाँति। खरबुजिया फाँकों की तरह के डौल को चीमरी कहते हैं, जो कि संस्कृत 'चिर्मटिका' का तद्भव रूप है। यह नाम भी भारतीय शिल्प के अलंकरणों की प्राचीन परिभाषाओं की याद दिलाता है। ये परिभाषाएँ अब किसी एक ग्रन्थ या कोष में सुरक्षित नहीं रह गई हैं। जनपद-साहित्य और लोक-ज्ञान की परम्परा ही उनकी धात्री है। जौंसार प्रदेश और अहिच्छत्रा में भी हमें इस प्रकार के कई शब्द मिल सके थे। जनपदों की जीती-जागती परम्परा में से सम्भव है, इस अमूल्य निधि का कुछ अंश पुनः प्राप्त किया जा सके।

साहित्य-सदन की पहली यात्रा के संस्मरणों की वह रसधारा आज भी मानस को आप्लावित करती है। मेरा अनुमान है कि उस तीर्थ के सभी यात्रियों को आनन्द का वैसा अनुभव जीवन में सदा छकाए रहता है। गुप्त जी का व्यक्तित्व इस अनुभूति का मध्यबिन्दु है। उनके व्यक्तित्व में कितना उल्लास, कितना माधुर्य, कितना ओज और कितनी सरलता है, इसका अनुभव जैसा पहली बार मैंने किया था वैसा ही बार-बार मुझे हुआ है। जब-जब चिरगाँव की यात्रा करने का अवसर आया है—और ऐसे कितने ही मधुर संस्मरण मेरे मन में आज उमड़ रहे हैं—तब-तब गुप्त जी के महान व्यक्तित्व के अच्छोद सरोवर में उमड़ते हुए स्नेहजल से कृतकृत्य होकर मैं लौटा हूँ। साहित्य-सदन का कोई भी अतिथि वहाँ के छलकते हुए स्नेहजनित आनन्द का सहज अनुभव प्राप्त कर सकता है। गुप्त जी के व्यक्तित्व-सूत्र सूर्य की रश्मियों के समान उनके चारों ओर जिस वितान का निर्माण करते हैं, उसका संस्पर्श शरद् ऋतु के प्रभातकालीन आतप के समान अतीव सुखदायी होता है। गुप्त जी में व्यक्तित्व की सहज गरिमा पाई जाती है। व्यक्तित्व की महानुभावता को वे मानो अपने चारों ओर बखेरते रहते हैं। इसमें कहीं भी कृत्रिमता का आभास नहीं होता। वे उठते-बैठते, बोलते-चालते, हँसते-हँसाते सहज ही अपना अनुभाव प्रकट करते हैं और अपने मिलनेवालों में उसका वितरण करते हैं। उनका चित्त इतना सरल है कि वे दूर से भी अपनी महिमा दूसरों पर लादते नहीं। बल्कि सच्चे वैष्णव की भाँति नम्रता द्वारा दूसरों को ऊँचा उठाने में सुख का अनुभव करते हैं। उनसे मिल कर जो व्यक्ति लौटता है, उसे देर तक इस बात का अनुभव होता है, जैसे मानवी स्वभाव के किसी पारस से संस्पर्श प्राप्त हो गया हो। गुप्त जी का व्यक्तित्व हिमालय के उस उच्च शृंग के समान नहीं जो अपने चारों ओर के व्यक्तियों से ऊँचे उठकर उन्हें ऊपर आँख उठाने के लिए विवश करता हो। वे तो उस सरल गंगाजल के समान हैं जिसकी धारा कल्लोल करती हुई पर्वतशृंग से नीचे उतर कर हमारे पास तक चली आती है और सम धरातल पर अपने स्वच्छ और चारों ओर छिटकनेवाली सीकरों से हमें आनन्द प्रदान करती है। अपनापन गुप्त जी के व्यक्तित्व की ऐसी विशेषता है जिसका अनुभव अनेक साहित्यिक मित्रों ने प्रायः पहलेपहले दर्शन में ही प्राप्त कर लिया है। वे अनौपचारिक स्नेह से जी खोल कर मिलते हैं और ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो उनसे वर्षों पुराना पारिवारिक स्नेह हो। यह कोई कम सफलता की बात नहीं है कि अनेक व्यक्तियों को उनसे ऐसा अनुभव मिले, मानो वे उनके ही सबसे अधिक सन्निकट हों। उनकी इस अद्भुत मिलनसारी के कारण मिलनेवालों का तांता लगा रहता है। अवश्य ही उनकी विलक्षण साहित्यिक कीर्ति से खिंचकर अनेक नए-पुराने साहित्यिक श्रद्धा के भाव से भरे हुए उनके पास आते हैं। पहली ही भेंट में आप उन्हें इस प्रकार उन्मुक्त हृदय से मिलकर अपना स्नेह उँड़ेलते हुए पायंगे, मानो उन्होंने अपने अंतःकरण के सब कपाट आपके लिए खोल दिए हों। घरबार की अंतरंग बातें कुशलप्रश्न के साथ ही वे पूछ लेंगे और आगन्तुक को तत्काल उसके व्यक्तित्व का संतुलन प्रदान करेंगे।

मैंने कितनी ही बार उनकी अथक स्नायविक स्फूर्ति पर मन ही मन आश्चर्य किया है। कभी-कभी तो दस-बारह घण्टों तक आने-जाने वालों का यह क्रम चलता रहता है। किसी अक्षय्य शक्ति का कोई स्रोत उनके भीतर ऐसा छिपा है, जिसे खेद या श्रम का अनुभव नहीं होता। साहित्यिक मित्रों से मिल कर मानो वे विराट भाव का अनुभव करते हैं और किसी व्यापक चैतन्य से आन्दोलित होकर स्वयं नई शक्ति प्राप्त करते हैं और दूसरों को प्राप्त कराते हैं।

कितना भारी साहित्यिक गौरव विलक्षण देवप्रसाद के रूप में उन्होंने पाया है। किन्तु उनकी मिलनसारी में इससे तनिक भी बोझ या तनाव उत्पन्न नहीं हो पाता। उनका मिलना-जुलना, उठना-बैठना सर्वथा सरल भाव से होता है। जैसे व्यक्तित्व की कोई ग्रन्थि उनमें उत्पन्न ही न हुई हो ; अथवा यदि कभी ऐसा रहा भी हो, तो वे उसे सर्वथा समरस बना चुके हैं और दर्शक को प्रयत्न करने पर भी उसका अनुभव नहीं होता। वे कभी आत्मश्लाघा का कोई अवसर न आने देंगे। जितनी श्लाघा और प्रशंसा है, वह आपके ही ऊपर मेघों से भूमि की ओर आनेवाली बूंदों के समान उँडलते रहेंगे। चरित्र का विश्लेषण करते हुए ऐसा लगता है, मानो विराट से उन्हें जो कुछ प्राप्त होता है, व्यक्ति के लिए उसका दान करके वे सुखी होते हैं। दान का यह सत्र निरंतर चलता रहता है। जिस प्रकार आत्मश्लाघा से, उसी प्रकार स्वार्थसाधन से भी वे कोसों दूर रहते हैं। उनके सम्पर्क में आया हुआ व्यक्ति यह अनुभव नहीं कर सकता कि पारस्परिक मिलन का सुख स्वार्थ की आकांक्षा से कभी कुंठित हुआ हो। इसके विपरीत दूसरों का कार्य संसिद्ध करने की तत्परता गुप्तजी का स्वभाव है। परहितचिन्ता वे किस आतुरता से करते हैं और अपनी कितनी शक्ति का समर्पण उन्हें इसके लिए करना पड़ता है, यह उनके अंतरंग मित्र जानते हैं। जब से राजनीतिक कारण उन्हें चिरगाँव के शान्त आश्रम से नई दिल्ली के कोलाहलपूर्ण वातावरण में खींच लाए हैं, तबसे दूसरों के अटके हुए कार्य साधने का निरंतर बोझ-सा उनके ऊपर आ गया है। उनसे कम शक्तिवाला कोई भी दूसरा व्यक्ति इस तनाव से टूट गया होता, पर उनकी अकृत्रिम सर्वभूतहितचिन्ता और वैष्णवी दयार्द्रता उन्हें इस ओर मंदोत्साह नहीं होने देती। जैसे वे अपने पास आनेवालों को उद्वेजित नहीं करते, ऐसे ही बड़े कहे जानेवाले किसी की सन्निधि में वे स्वयं भी उद्वेजित नहीं होते। मानव की व्यक्तिगरिमा और अनुभाव उनके लिए सहज त्रैकालिक सत्य हैं। गुप्त जी के काव्यों का सर्वव्यापी स्पन्दन-सूत्र यदि कोई है, तो वह मानव की सहजसिद्ध गरिमा ही है। वेदव्यास के समान अपने काव्यों द्वारा और अपने व्यवहार द्वारा वे यह प्रख्यात् करते हैं कि इस विश्व में मानव सब का नभ्य-विन्दु है, मनुष्य से श्रेष्ठ यहाँ और कुछ नहीं है—

नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।

सच्चे मानव की खोज ही गुप्त-काव्य-धारा का प्रवृत्तिहेतु है। ऋषियों में, नृपतियों में, कृषकों में, श्रमिकों में, नरों में, नारियों में मानवता का सौरभ ही उनके मन को लुभाता है। उनके लिए देवत्व की चरितार्थता भी मानव के चरित्र-सम्बन्धी आदर्शों में है। यह आदर्श कहने-सुनने के लिए नहीं, नित्यप्रति के व्यवहार की वस्तु होनी चाहिए। यह जीवन का श्वास-प्रश्वास है। गुप्त जी के चमकते हुए नेत्रों की जो एक दूरेक्षणी शक्ति है, वह चरित्र के ध्रुव नक्षत्र को ही काव्य में और जीवन में खोजती है। मानव का मानव के साथ न और कोई सम्बन्ध है, न कोई और आकर्षण या विकर्षण का हेतु है। हमारे जितने आपसी खिचाव या बिलगाव हैं, उन सबको संचालित करनेवाली बिजली एकमात्र धर्मनीति है। इसकी व्यवहारगत व्याख्या यही सच्चा वैष्णवगत धर्म है। गुप्त जी को देख कर सहृदय व्यक्ति वैष्णव धर्म के विषय में सोचने पर बाध्य होता है। यह वह जीवन का दृष्टिकोण है, जो निष्क्रिय वैराग्य से संतुष्ट होनेवाला नहीं। यह तो व्यावहारिक जीवन की सक्रिय दीक्षा है, जो जीवन की क्षुद्रता को अपनी सक्षमताओं से परास्त करती है और सूर्य से फैलनेवाली रश्मियों के समान नीति धर्म की नित्य महिमा को प्रख्यात् करती है। वैष्णव धर्म संसार से सिकुड़ कर बैठ रहने वाला कछुवा धर्म नहीं है। यह नारायणीय भास्वर तेज है, जो जब जीवन में बस जाता है, उसे सर्वथा आलोकित कर देता और रसमय बनाता है। तेज और रस यही दो गुप्त जी के प्रधान

व्यक्तित्व सूत्र हैं। उनकी नम्रता, उनकी भक्ति, उनकी परहितचिन्ता ये सब उनकी मधुर प्रवृत्ति से उत्पन्न हुए सद्गुण हैं। किन्तु किसी भी दर्शक को या उनके मित्र को उनकी इस सहज रसवत्ता से अपने आप को तनिक भी मोह में न पड़ने देना चाहिए। उनका तेजस्वी अन्तःकरण भी अत्यन्त जागरूक है। उनकी सत्यनिष्ठा, उनके व्यवहारों का अतल मेरुदण्ड है, जो न स्वयं झुकता है और न किसी को झुकने दे सकता है। जहाँ तक सत्यपरायण नीतिमत्ता का सम्बन्ध है, गुप्त जी के मानस को वह अत्यन्त प्रिय है। वही उनके साहित्य-सदन का अस्थिपंजर है, जिसके कलेवर पर स्नेह, सौजन्य, माधुर्य और औदार्य के मांसल लेप चढ़े हुए हैं। इन दोनों की अभिन्न आराधना ही सच्ची वैष्णवी दृष्टि है। नारायण और नर, परोक्ष और प्रत्यक्ष, देवलोक और भूतल, परमार्थ और व्यवहार इन दोनों का समन्वय यही मानव की पूर्णता है। जो एकसाथ इन दोनों सूत्रों का अपने जीवन में मेल करा सकता है, उसी का जीवन यहाँ सफल है। भागवतकार ने इसी तथ्य को सरल शब्दों में व्यक्त किया है—

नारायणो नरश्चैव तत्वमेकं द्विधाकृतम्।

जो केवल भूतल को देखता है, आकाश को नहीं, उसका प्रयत्न अधूरा है। जो आकाश के पीछे भाग कर पृथ्वी को खो देता है, वह भी भूला हुआ है। आकाश और पृथ्वी का मेल कराने की एक युक्ति है। जो उसे पा लेता है, वही सफल है। गुप्त जी का जीवनादर्श इसी प्रकार का मेल है। यही उनके काव्य का भी उपासनीय आदर्श है। अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य इस पथ पर चलने का प्रयत्न करते हैं। गुप्त जी भी एक व्यक्ति हैं। उन्होंने अपने मन और कर्म की शक्ति से इस ओर चलने का दृढ़ प्रयत्न किया है। साहित्य-सदन के अन्तरंग जीवन से जो परिचित हैं, वे जानते हैं कि किस प्रकार अपने पाँच भाइयों के बीच में गुप्त जी ने अपने अगाध स्नेह का समवितरण किया है, किस प्रकार आर्थिक तनाव के अवसर आने पर भी उन्होंने उन झंझावातों से अपने को सर्वथा बचा लिया है। घर-घर में कच्चे चूल्हे पाए जाते हैं। पाँचों उँगलियाँ एक-सी नहीं होतीं। मानवों के मन लोभ और त्याग से आन्दोलित होते रहते हैं। वह कौन-सी अयोध्या है, जिस पर मन्थरा रूपी राहु की काली छाया का आक्रमण नहीं हुआ। किन्तु मानवी बुद्धि का कौशल इसी में देखा जाता है कि भाग्य के इन थपेड़ों को सह कर भी मनुष्य इनसे अपनी रक्षा कर सके। ऐसा ही एक अवसर साहित्य-सदन पर भी आया। उसकी भनक उनके परिचित मित्रों के कानों में भी पड़ी। पर मैंने देखा कि जिस राम की आराधना गुप्त जी ने जन्मभर की है, जिनके चरित्रों का गर्वीला गान उन्होंने गाया है, उनके आदर्श से अपने व्यावहारिक जीवन के इस कल्मष को वे सहज ही पार कर गए। उन्होंने कभी अपना सन्तुलन नहीं खोया। लोभ और तृष्णा की जिस वृत्ति ने सुरसा के समान मुँह बाकर उनके आदर्शों के साकेत पर आक्रमण किया था, अपने त्याग की वृत्ति से वे उसे सर्वथा जीतने में सफल हुए।

गुप्त जी को निकट से देखना और जानना उन्हें और अधिक प्यार करने का आमंत्रण है। वे अपने समय का भरपूर दान मिलनेवालों को देते हैं। कभी-कभी तो उनकी इस बेहिसाबी से खीझ जाना होता है। पर यह प्रसन्नता की बात है कि वे जब अपने साहित्यिक सृजन के कार्य में प्रवृत्त होते हैं, तो प्रायः समाधिस्थ हो जाते हैं और जब तक कार्य पूर्ण नहीं हो जाता, वे उस अन्तर्मुखी वृत्ति में व्यवधान नहीं पड़ने देते। आज भी वे साहित्यरचना में श्रमशील हैं। अभी-अभी उन्होंने 'विष्णुप्रिया' नामक काव्य पूरा किया है। लक्षणों से यही विदित होता है कि जीवनसत्र और काव्यसत्र ये दोनों उनके लिए विस्तार में समान रहेंगे। जब तक जीवन, तब तक काव्य रचना। आयुष्य का यह फलवान सूत्र गुप्तजी के लिए सुलभ हो, यही भगवान से प्रार्थना है।

●●●

आगरा जेल के संस्मरण

श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा

साहित्यसेवा में कानपुर का अपना स्थान है। आदिकवि वाल्मीकि यहीं के बिठूर में हुए। भूषण और मतिराम का स्थान भी कानपुर जिले में ही है। पं० प्रतापनारायण मिश्र अपने समय में 'ब्राह्मण' निकाल कर कानपुर को जगाए रहते थे। देश में उनकी वह धाक थी कि पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उनसे मिलने उनके घर नौघड़ा में आए थे और प्रताप गुरु ने दो पैसों के पेड़ों से उनकी खातिर की थी।

पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने भी कानपुर के जूही स्थान में अपना साहित्यिक अड्डा कायम रखा था। इसी गुरुद्वारे में अनेक साहित्यिक पट्ठे तैयार हुए। कौशिक जी और गणेश जी आदि ने यहीं दीक्षा पाई। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त भी इसी अखाड़े के चेले हैं। इन पंक्तियों के लेखक को दो-चार बार जूही में ही गुप्त जी के दर्शन हुए। किन्तु उनसे भलीभाँति परिचय तो सन् १९२४ में प्रताप-प्रेस में श्री गणेश जी के द्वारा हुआ। गणेश जी से गुप्त जी की घनिष्टता थी। वे गणेश जी के पास अक्सर आया करते थे और प्रताप-प्रेस में ही ठहरते थे। गुप्त जी 'प्रताप' के ट्रस्टी भी थे। गणेश जी की बदौलत प्रताप-प्रेस अपने जमाने में साहित्यिकों और क्रांतिकारियों का केन्द्र बन गया था।

इसी दौरान में गुप्त जी से घनिष्टता बढ़ी और वह पूर्ण हुई १९४१ में आगरा जेल में, जहाँ हम दोनों एक ही पंथ के पंथी बनाकर बाँध दिए गए थे। उस समय आगरा जेल जेल नहीं थी, बल्कि आजादी के दीवानों की छावनी थी। वहाँ पर लगभग तीन सौ दीवाने थे, जो अपने हम-जिन्सों से मिलकर अपने-अपने गुट्ट बनाए हुए थे। चरखे के शौकीन चर्खा कातते थे, पढ़ने वाले क्लासें लगाते थे, खेलने वाले कबड्डी खेलते थे। कुश्ती के प्रेमियों के लिए अखाड़ा था—जिसमें नागपंचमी आदि अवसरों पर दंगल होते थे। सभा के शौकीनों के लिए सभाएँ होती थीं, कवि-सम्मेलन और मुशायरों की तो वहाँ धूम थी।

गुप्त जी पक्के गांधीभक्त थे और आठ-आठ घंटे चरखा काता करते थे। जिस समय गांधीजयन्ती पर अखंड-चर्खा-कताई हुई, उस समय उसका आरम्भ गुप्त जी और इन पंक्तियों के लेखक ने किया। दो-दो घंटे बाद दो-दो आदमी आकर बदली कराते रहे। उनमें श्री कृष्णदत्त जी पालीवाल भी एक थे। २४ घंटे के उपरांत पूर्णाहुति होने पर एक बड़ी-सी सभा हुई, जिसमें कई एक व्याख्यान हुए। गुप्त जी के साथ देवता-स्वरूप उनके भाई नन्ना जी भी पकड़ आए थे। उन बेचारों को राजनीति से कोई सरोकार नहीं था। किन्तु पकड़े इसलिए गए थे, क्योंकि वे राष्ट्रकवि के भाई थे!

गुप्त जी का अधिकांश समय चर्खे-पूनी में ही व्यतीत होता। वह लिखते-उखते कुछ नहीं थे। जेल में झगड़े-झमेले भी काफी चलते। किन्तु गुप्त जी को इन झंझटों से कोई सरोकार न था। वह अपने स्थान पर बैठे हुए अपना चर्खा काता करते और गपशप करते रहते थे। गांधी जी पर लिखी हुई उनकी कविता उनके मुख से दो-चार बार सुनी गई और वह भी बड़े आग्रह से।

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का स्वर्गवास भी उन्हीं दिनों हुआ था, जब हम लोग आगरा जेल में बन्द थे। उस समय गुप्त जी ने रवीन्द्र बाबू पर दो मार्मिक पंक्तियाँ लिखी थीं।

अस्त हो गया है तप तप कर प्राची वह रवि तेरा।
विश्व कह रहा है रो रोकर कहाँ गया कवि मेरा॥

मैं उन दिनों पुत्र-शोक से दुखी था और दुख में कवित्व-शक्ति जागृत होती है। किन्तु मैं न कभी कवि रहा और न हूँ, इसलिए गुप्त जी की पंक्तियों को अपने अनुकूल इस रूप में ढाल दिया—

अस्त हो गया प्रकाश देकर नारायण रवि तेरा।
हृदय कह रहा है रो रोकर कहाँ गया सुत मेरा।।

यहीं की ही बात है कि एक दिन बैठा हुआ अपनी बैरक में कुछ लिख रहा था कि श्री गुप्त जी अपनी बैरक से टहलते हुए आकर मेरे पास बैठ गए और पूछने लगे कि क्या लिख रहे हो? मैंने तत्काल उत्तर दिया कि दिल के फफोले फोड़ रहा हूँ। वह कापी उठा कर देखने लगे।

सन् १९३८ में मेरी धर्मपत्नी का स्वर्गवास हो गया था और मैं अकेलापन महसूस किया करता था। सन् १९४१ के जून मास में मेरे २६ वर्षीय पुत्र 'कर्ण' मुझे आहत करके चल बसा। उस समय मैं वहीं जेल में था। मैं तिलमिला उठा।

रंज से वाकिफ न था,
गम से शनासाई न थी।
चोट वह खाई थी दिल पर,
जो कभी खाई न थी।

उसी 'कर्ण' की कुछ स्मृतियाँ लिख रहा था, जिन्हें देखकर गुप्त जी की संवेदना उभड़ पड़ी। वे भी चोट खाए हुए थे और पुत्रशोक से जख्मी थे। दो घायल हृदयों में सहानुभूति हो जाना स्वाभाविक है। दोनों दुखी हृदय आपस में मिल गए। कुछ दिन बाद गुप्त जी ने अपने पुत्रशोक में लिखी हुई और टाइप की हुई 'संवेदना' नामक कविता चिरगाँव से मंगाकर मुझे दिखलाई और मैंने उसे पढ़कर अनेक पंक्तियाँ कापी कर लीं। मेरी प्रार्थना पर कुछ दिन बाद गुप्त जी ने निम्नलिखित पंक्तियाँ मेरी कापी में लिख दीं, जो आज भी सुरक्षित हैं।

स्वर्ग बना कर अपना घर तू,
गई गृहिणी 'कृष्णे' परलोक।
रह न सकी सुत बिना वहाँ भी
मैं रह गया और यह शोक।।

कृष्णा मेरी धर्मपत्नी का नाम था—

कर्ण-जननि, किस बधिर देश में
जा भूली मेरे बिना।
किससे कहूँ व्यथा मैं मन की
कह कृष्णे तेरे बिना।

एक बात आगरा जेल में ऐसी हुई, जो शायद भारतवर्ष की किसी जेल में न हुई होगी। वह यह थी कि वहाँ श्री मैथिलीशरण जी गुप्त की ५६वीं वर्षगाँठ पर उन्हें एक छपा हुआ अभिनन्दन-पत्र श्रावण शुक्ल ३ संवत् १९९८ (ता० २७-७-१९४१) को आगरा जेल में स्थित प्रान्त भर के नजरबंद कैदियों की ओर से भेंट किया गया। मानपत्र साहित्य-प्रेस में छपा था। यह कार्य कवि श्री महेन्द्र जी के प्रयत्न से हुआ था। इस अभिनन्दन का जलसा भी जेल में बड़ी धूमधाम से हुआ था और कई उत्तम व्याख्यान भी हुए थे, क्योंकि उस समय वहाँ अनेक विद्वान जमा थे।

सौभाग्य से यह मानपत्र मेरे पुराने कागजों में प्राप्त हो गया है। हर मानपत्र का एक ऐतिहासिक मूल्य होता है, किन्तु यह मानपत्र तो न केवल गुप्त जी के जीवन का, अपितु समग्र हिंदी साहित्य का एक गौरव-पत्रक है। मानपत्र की नकल इस प्रकार है—

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त

की

५६वीं वर्षगाँठ के अवसर पर

आगरा सेन्ट्रल जेल में स्थित नजरबंदों द्वारा प्रदत्त

अभिनन्दन-पत्र

कविवर,

आज का दिन हम लोगों के लिए बड़े ही सौभाग्य का है। तब आप जैसे देशमान्य, देशभक्त और देशोत्थानक महापुरुष के शुभ जन्मदिवस पर अभिनन्दन करने का शुभ अवसर हमें अनायास ही मिल गया है। कौन नहीं जानता कि आप उत्सवों में सम्मिलित होने से सदा बचते रहे हैं और ऐसे किसी अवसर पर प्रयास करने पर भी लोगों को सदा निराशा ही मिली है। पर आज तो सरकार ने वह सुयोग उपस्थित कर दिया है कि यदि आप चाहें भी, तो इससे अलग नहीं हो सकते और इस दृष्टि से इस अवसर को हम अपना बड़ा सौभाग्य समझते हैं।

आपने भारत के उत्थान-काल में अपनी 'भारती' द्वारा भारतीयता की जो ज्वलंत ज्वाला देश में फूंकी है, वह आज भी उसके हृदय में प्रकाश फैलाती हुई स्वतंत्रता के मार्ग में देशवासियों को आगे बढ़ाती ले जा रही है।

विज्ञवर,

पिछले तीस वर्षों में आपने अपने काव्यग्रन्थों से हिन्दी साहित्य को वह अमर निधि प्रदान की है कि जिसके लिए समस्त हिन्दी भाषाभाषी सदैव ही आपके ऋणी रहेंगे। आपका 'साकेत' सचमुच साहित्य की स्थाई सम्पत्ति है। यही क्यों, आपके सभी ग्रन्थ अपने-अपने स्थान पर अपना विशेष महत्व रखते हैं। और उस दृष्टि से आपको राष्ट्रकवि ही नहीं, महाकवि कहा जाना भी सर्वथा सार्थक है।

स्नेहास्पद,

आपको भलीभाँति ज्ञात है कि हम लोग यहाँ बंदी जीवन बिता रहे हैं और इसलिए सर्वथा साधनहीन हैं। हमारे हृदय में आपके प्रति जो स्नेह और श्रद्धा है, उसे व्यक्त करने के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द भी नहीं हैं। फिर भी हमें विश्वास है कि हमारे भावों को आप पहचान कर हमारी इस श्रद्धांजलि को सहर्ष स्वीकार करने की कृपा करेंगे।

अन्त में, परमात्मा से हमारी यह प्रार्थना है कि वह आपको चिरायु प्रदान करे, जिससे आप इसी प्रकार सत्साहित्य द्वारा देश की अधिकाधिक सेवा करने में समर्थ हों।

आगरा,
श्रावण शुक्ला १९९८ वि०,
२७-७-१९४१।

आपके
विनीत, सेवक और प्रशंसक
आगरा सेंट्रल जेल में स्थित प्रांत भर के नजरबंद

एक लघु संस्मरण

श्री उदयनारायण तिवारी

★ ★

सन् १९१७-१८ की बात है। उस समय मैं हिन्दी-मिडिल का छात्र था। मेरे एक मित्र ने, उसी समय, 'जयद्रथ-वध' पढ़ने के लिए दिया। काव्यग्रन्थों में उस समय मैं तुलसीकृत रामायण से परिचित था और पंडितों के वंश में उत्पन्न होने के नाते मैंने कालिदास की कृतियों—'रघुवंश,' 'कुमारसंभव' तथा 'मेघदूत'—का नाम भी सुना था, किन्तु खड़ीबोली का प्रथम खण्डकाव्य तो 'जयद्रथ-वध' के रूप में ही मुझे पहले-पहल प्राप्त हुआ था। जब उसकी कतिपय पंक्तियाँ मैंने अपने पूज्य पितृव्य को सुनाईं, तो उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"क्या हिन्दी में भी काव्यग्रन्थों की रचना होने लगी ?—यह तो खण्डकाव्य है।" तब तक मैं महाकाव्य और खण्डकाव्य का भेद नहीं जानता था। स्कूल में हिन्दी की पुस्तकें पढ़ने के अतिरिक्त उस समय मुझे हिन्दी बोलने का भी कभी अवसर नहीं मिलता था। परिवार के बड़े लोग साहित्यिक भाषा के रूप में संस्कृत और बोलचाल की भाषा के रूप में भोजपुरी से ही परिचित थे। फिर भी 'जयद्रथ-वध' मुझे बहुत पसन्द आया और इसकी अनेक पंक्तियाँ मैंने कण्ठस्थ कर लीं। स्कूल जाते समय रास्ते में मैं इसकी पंक्तियों को गुनगुनाया करता था। बाबू मैथिलीशरण गुप्त का प्रथम परिचय इस पुस्तक के द्वारा ही प्राप्त हुआ और इसके द्वारा ही मुझे आधुनिक हिन्दी की ओर आकर्षण भी हुआ।

'जयद्रथ-वध' को गुप्त जी ने पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी को समर्पित किया है। मैंने मन-ही-मन सोचा, जब श्री मैथिलीशरण जी ऐसे सरस काव्य के प्रणेता हैं, तो उनके गुरु आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी उनसे बहुत बड़े कवि होंगे। निदान, मैं द्विवेदी जी की कृतियों की खोज में लगा। उस समय द्विवेदी जी की खड़ीबोली की कविता मुझे पढ़ने को मिली या नहीं, यह तो मुझे याद नहीं है, किन्तु उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' की पुरानी प्रतियाँ एक पुस्तकालय में मुझे मिल गईं और उनके द्वारा मुझे अपने हिन्दी के ज्ञानवर्द्धन में विशेष सहायता मिली।

गुप्त जी को मैं मन-ही-मन अपना गुरु मानने लगा। और 'जयद्रथ-वध' के छन्दों में ही मैं भी कविता लिखने का प्रयास करने लगा। मैंने मन-ही-मन सोचा कि मिडिल-परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद मैं गुप्त जी के निवासस्थान चिरगाँव जाऊँगा और उनसे कविता करना सीखूँगा। इन दोनों इच्छाओं की पूर्ति अब तक नहीं हो सकी। कवि बनना तो मेरे लिए अब इस जीवन में असम्भव ही है। हाँ, चिरगाँव जाने की इच्छा कभी-न-कभी पूरी हो ही जाएगी।

'जयद्रथ-वध' के बाद मुझे गुप्त जी की अन्य कृतियों—'रंग में भंग', 'पद्य-प्रबन्ध', 'भारत-भारती'—को भी पढ़ने का सुअवसर मिला। गांधी जी ने सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया था। इसके पहले ही मैं 'भारत-भारती' पढ़ चुका था और इसके अधिकांश पद मुझे कंठस्थ थे। उस युग में 'भारत-भारती' का पढ़ना भी राजद्रोह समझा जाता था। अतएव, मैं इसे छिपा कर रखता था। मेरे ही जैसे उस समय 'भारत-भारती' के अनेक पाठक रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं। हिन्दी-प्रदेशों की जनता को जागृत करने तथा उनमें राष्ट्रीयता का मंत्र फूंकने में 'भारत-भारती' का कितना हाथ है, इसका आज मूल्यांकन भी कठिन है।

गुप्त जी का प्रथम दर्शन मैंने कब और कहाँ किया था, यह आज मुझे स्मरण नहीं, किन्तु उनसे सान्निध्य प्राप्त करने का सुअवसर मुझे दारागंज (प्रयाग) की 'बड़ी कोठी' में मिला था। गुप्त जी के अनन्य बन्धु श्री राय कृष्णदास उस समय अपने पूज्य मामा स्वर्गीय राजा लक्ष्मीनारायण जी से मिलने आए थे। राजा साहब तथा उनके परिवार के अन्य सदस्यों से मेरी भी घनिष्ठता थी। अतएव उनके निवासस्थान पर जब मैं गुप्त जी से मिला, तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे अनेक युगों से हम एक दूसरे से परिचित हैं। गुप्त जी की वेशभूषा

आकर्षक है। वे विनय के साक्षात् अवतार हैं और अपनी ओर आकृष्ट कर लेने का उनमें जन्मजात गुण है। अतएव उनके काव्य के द्वारा मेरे जैसे हिन्दी सीखने वाले व्यक्ति का उनकी ओर आकृष्ट हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। मुझे स्मरण है कि गुप्त जी तथा मेरे बीच महाकवि अश्वघोष के काव्य के सम्बन्ध में चर्चा प्रारम्भ हुई थी। मैंने गुप्त जी को अश्वघोषकृत 'सौन्दरनन्द' का निम्नलिखित श्लोक सुनाया था :

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः ।।

मैं गुप्त जी से कह रहा था कि "न ययौ न तस्थौ" का प्रयोग कालिदास ने भी "शैलाधिराज तनया न ययौ न तस्थौ" में किया है। नन्द का मन तो अपनी सुन्दरी पत्नी की ओर इतना आकृष्ट था कि हजारों प्रयत्न करने पर भी वह संन्यास मार्ग में दृढ़ नहीं होता था। संन्यासी को गृह की ओर लौटने का अनौचित्य बताते हुए अश्वघोष ने बड़ी सुन्दर कविता लिखी है। काव्यकला की दृष्टि से 'सौन्दरनन्द' का यह अंश अत्यन्त उत्कृष्ट है—

कृपणं बत यूथलालसो महतो व्याध भयाद् विनिस्सृतः।
प्रविवक्षति वा गुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः ।।
कलभः करिणा खलूद्धतो बहुपंकाद् विषमान्नदीतलात्।
जलतर्षवशेन तां पुनः सरितं ग्राहवतीं तितीर्षति ।।

ऊपर के श्लोकों से प्रसूत रस का आनन्द हम लोग ले ही रहे थे कि भैया रायकृष्ण दास जी आ गए और बोल उठे—"गुप्त जी, आप वैष्णव होकर कहाँ बौद्ध के चक्कर में पड़ गए ! कहीं यह आपको भी बौद्ध न बना ले।" बात यह है कि उस समय मैं पालि के विशेष अध्ययन में प्रवृत्त था और इस सम्बन्ध में मैं प्रायः सारनाथ जाया करता था। श्री राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, भिक्षु जगदीश काश्यप तथा सारनाथ के अन्य साधुओं से भी मेरा घनिष्ठ परिचय था। श्री रायकृष्ण दास जी इस बात को जानते थे और इसीलिए उन्होंने परिहास में मुझे 'बौद्ध' कहा।

उस दिन गुप्त जी से बड़ी देर तक मैं बातें करता रहा। उनकी विनम्रता एवं काव्य-रसिकता का मेरे ऊपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। तब से मैं उनका विशेषरूप से स्नेहभाजन बन गया। इसके बाद प्रयाग, काशी तथा अन्य स्थानों में गुप्त जी से मिलने के अनेक अवसर मुझे प्राप्त हुए और उनके स्नेहसिक्त वार्त्तालाप तथा अट्टहास में भी सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रयाग में वे जब भी मेरे स्नेही बन्धु पं० वाचस्पति पाठक के निवासस्थान पर आए, तब मुझे उनसे मिलने का बारबार सुअवसर मिला।

हिन्दी-कविता विकास एवं उन्नति के पथ पर अग्रसर होती जा रही है। उसमें अनेक नवीन प्रयोग हो रहे हैं और भविष्य में भी होते जायेंगे। किन्तु खड़ीबोली को शक्ति प्रदान करने तथा उसे काव्योपयुक्त भाषा बनाने वालों में गुप्त जी का मूर्धन्य स्थान रहेगा। हिन्दीभाषा और साहित्य की अभिवृद्धि एवं उसके प्रचार और प्रसार में गुप्त जी की कृतियों का बहुत बड़ा हाथ है। मैं उनके अभिनन्दन के इस अवसर पर नतमस्तक होकर उन्हें नमस्कार करता हूँ। ●●●

हीरक-जयन्ती के क्षण

श्री राजबली पांडेय

यह संस्मरण उस घटना का है, जो श्री गुप्त जी की हीरक-जयन्ती के अवसर पर काशी में नागरी प्रचारिणी सभा के पिछले प्रांगण में घटित हुई थी। रस-विशेष के कवियों की कमी हिन्दी-साहित्य में नहीं है। भाषा के रूप और अलंकरण की दृष्टि से भी बहुत से प्रतिष्ठित कवि हिन्दी जगत् में विद्यमान हैं। वादों के प्रवर्तकों और समर्थकों की भी गिनती लम्बी है। परन्तु आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य में जो प्रतिष्ठा गुप्त जी को मिली, वह अन्य किसी कवि को नहीं। इसका कारण यह है कि उन्होंने देश की सुषुप्त आत्मचेतना को स्पर्श तथा जागरित किया। उनकी वाणी विनोद और विलास की पोषिका न हो कर, आत्मसम्मान और आत्मविश्वास को बल देनेवाली रही है। काव्य उनका साधन और माध्यम है; साध्य नहीं। उनके आराध्य राम हैं और साध्य देश की जागर्ति, समुत्थान और समृद्धि। वे हमारी प्रशंसा नहीं, श्रद्धा के पात्र हैं। ऐसे कवि की जयन्ती बड़ी निष्ठा और श्रद्धा के साथ मनायी जा रही थी। बहुत से साहित्यिक, पण्डित, श्रीमंत तथा शिक्षितवर्ग के लोग उपस्थित थे। मंच के बगल में मैं भी बैठा था।

उपस्थित लोगों में से सब का नाम मुझे स्मरण नहीं। डॉ० अमरनाथ झा प्रयाग से पधारे थे, यह मुझे स्पष्ट याद है। उनका भाषण अवसर के उपयुक्त और बहुत ही सुरुचिपूर्ण था। जयन्ती के अवसर पर श्री गुप्त जी के दीर्घायुष्य की कामना करते हुए उन्होंने अपने ब्राह्मणत्व का आवाहन किया था, ऐसा मुझे अभी तक स्मरण है। काशी के प्रमुख लोगों में श्री श्रीप्रकाश जी वहाँ उपस्थित थे। वे भी अपना अभिनन्दन अर्पित करने के लिए उठे। उनका अपना एक व्यक्तित्व और एक अपनी बोलने की शैली है। अपने भाषणों में व्यंग्य और प्रहसन का वे प्रायः प्रयोग करते हैं और अनेक विषयों पर अपना नैतिक रोष भी प्रकट करते हैं। राजनीति में प्रतिष्ठित और संभ्रांत परिवार के होने के कारण गर्व और आत्मविश्वास के साथ अपने मत की अभिव्यक्ति उनकी एक विशेषता है। उनके व्यंग्य और प्रहसन निश्छल और शुद्ध भावना से प्रसूत होते हैं, किन्तु शब्दावली और शैली में साहित्यिकता और मनोवैज्ञानिकता का अभाव होने के कारण वे लोगों को कभी-कभी चुभ जाते हैं।

बड़े आदर और श्रद्धा के साथ श्री श्रीप्रकाश जी ने अपना अभिनन्दन-भाषण प्रारम्भ किया। उन्हें राष्ट्र-कवि का आदर करना था। बिना किसी वाद अथवा मत-मतान्तर में पड़े वे इसे कर सकते थे। श्री गुप्त जी के काव्य और व्यक्तित्व से उन्हें बोलने के लिए पर्याप्त सामग्री मिल सकती थी। परन्तु उन्होंने कवि को छोड़ कर कविता का ही निरूपण करना शुरू किया। कविता की एक अंग्रेजी परिभाषा भी ढूंढ़ निकाली और कह सुनाया : "पोयटरी इज ए पीस ऑफ् अनएकोनॉमिक राइटिंग" [कविता लिखने की एक अमितव्ययी शैली है (जिसमें चारों तरफ अनावश्यक हाशिया छोड़ कर लिखा जाता है)]। उन्होंने इसी आधार पर कविता और काव्य की व्याख्या भी की। फ्रॉयड के शब्दों में उन्होंने यह तो नहीं कहा कि कविता मानसिक विकार और पागलपन है, फिर भी कविता का काफी मजाक उस समय उनके द्वारा हुआ। श्री श्रीप्रकाश जी ने सब कुछ मजाक में ही कहा, परन्तु उनके भाषण में सूक्ष्मता और हृदय में गुदगुदी पैदा करनेवाली शक्ति का अभाव था। इसीसे मामला गड़बड़ हुआ। वास्तव में कविता का मजाक सुननेवालों को कवि का मजाक लगा और लोगों ने समझा कि जिस राष्ट्रकवि की जयन्ती मनायी जा रही थी, उन्हीं का मजाक हो गया। कुछ लोगों को यह भान भी हुआ कि इससे हिन्दीकाव्य और राष्ट्रकवि का अपमान हुआ। उपस्थित लोगों में एक पं० रामबालक शास्त्री भी थे। उनका ब्राह्मणत्व जग उठा ; मानों किसी बड़े असत्य और अन्याय का विरोध करने के लिए वे व्याकुल हो रहे थे। उत्कट आवेग और आक्रोश में वे उठ खड़े हुए। श्री श्रीप्रकाश जी के एक-एक पद का उन्होंने शास्त्र और न्यायबुद्धि से खण्डन किया। पं० रामबालक शास्त्री का भाषण

आवश्यकता से अधिक उग्र था, पर सुननेवालों को वह श्री श्रीप्रकाश जी के अभिनन्दन-भाषण से अधिक मनोरंजक लगा।

परन्तु सबसे संस्मरणीय बात है श्री गुप्त जी की प्रतिक्रिया। सब के बोलने के बाद जब वे बोलने को उठे, तब उनकी प्रतिक्रिया प्रकट हुई। भक्त होने के नाते उनमें शान्त और वात्सल्य रस की प्रधानता है। वैष्णव होने के कारण उनकी मान्यता है: तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना। अमानिना मानदेन सेवनीयो सदा हरिः ।। (तृण से भी विनम्र, वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु, स्वयं मान न करनेवाले, किन्तु दूसरों को मान देनेवाले से ही हरि सदा सेवनीय हैं)। अपने अपमान से वे विचलित होनेवाले नहीं, पर जैसे उनको भी लगा कि उस दिन कविता और काव्य की कुछ अवमानना हो गयी। जैसा कि पहले कहा गया है, कविता और काव्य उनके लिए साधन और माध्यम हैं। परन्तु साध्य की पवित्रता में विश्वास रखने के कारण वे साधन की पवित्रता में विश्वास करते हैं और इसकी उपयोगिता मान कर चलते हैं। उस अवसर पर कविता का अपमान न भी हुआ हो, किन्तु उस पर व्यंग्य और उसका मजाक भी उनको असह्य हो उठा। बड़ी-बड़ी सभाओं में जाने और बोलने से श्री गुप्त जी प्रायः घबड़ाते हैं। गायक अथवा गेय कवि नहीं हैं और न बनने की चेष्टा करते हैं। परन्तु उस दिन कविता के ऊपर हुए आक्षेपों का निराकरण और उसकी प्रतिष्ठा का समर्थन करने में उनका वक्तृत्व प्रबुद्ध हो उठा। श्री गुप्त जी को कई बार सुनने का अवसर मिला है, पर उस दिन जैसा धारावाही और ओजस्वी भाषण उनके मुख से कभी नहीं सुना। उसमें सामान्य और व्यक्तिगत बातें दोनों थीं। उन्होंने सुनाया कि कविता न तो अर्थशास्त्र है और न व्यापार; राजनीति तो बिल्कुल नहीं; इसका अपना क्षेत्र है, शैली है और उपयोगिता भी। कवि का अभिनन्दन और आदर उसके ऊपर कोई दया अथवा उपकार नहीं; जनता इससे लाभान्वित और अभिनन्दन तथा स्वागत करनेवाला व्यक्ति स्वयं गौरवान्वित होता है। कवि दया का पात्र नहीं; उसकी उपस्थिति स्वयं वरदान और दूसरों को आदर देनेवाली होती है आदि।

यह संस्मरण एक ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया है, जो उनके निकट सम्पर्क में कभी नहीं रहा है, परन्तु बाल्यावस्था से ही उनको आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखता आया है। हीरक-जयन्ती के अवसर पर श्री गुप्त जी का भाषण आज भी उसके हृदय पर अंकित है। कवि के तेजस्वी रूप का यह एक उज्ज्वल चित्र है।

रेखाएँ

★

श्रीमती महादेवी वर्मा

★

मैं गुप्त जी को कब से जानती हूँ, इस सीधे से प्रश्न का मुझसे आज तक कोई सीधा-सा उत्तर नहीं बन पड़ा। प्रश्न के साथ ही मेरी स्मृति अतीत के एक धूमिल पृष्ठ पर उंगली रख देती है, जिस पर न वर्ष-तिथि आदि की रेखाएँ हैं और न परिस्थितियों के रंग। केवल कवि बनने के प्रयास में बेसुध एक बालिका का छायाचित्र उभर आता है।

ब्रजभाषा में जिनका कविकंठ फूटा है, उनके निकट समस्यापूर्ति का कल्पना-व्यायाम अपरिचित न होगा। कवि बनने की तीव्र इच्छा रहते हुए भी मुझे यह अनुष्ठान गणित की पुस्तक के सवाल जैसा अप्रिय लगता था, क्योंकि दोनों ही में उत्तर पहले से निश्चित रहता है और विद्यार्थी को उस तक पहुँचने का टेढ़ा-मेढ़ा क्रम खोज निकालना पड़ता है। पंडित जी गणित के प्रश्नों के सम्बन्ध में जितने मुक्तहस्त थे, समस्याओं के विषय में भी उतने ही उदार थे। अतः दर्जनों गणित के प्रश्नों और समस्याओं के बीच में दौड़ लगाते-लगाते मन कभी समझ नहीं पाता था कि गणित के प्रश्न का हल करना सहज है अथवा समस्या की पूर्ति।

कल्पना के किसी अलक्ष्य दलदल में आकंठ ही नहीं, आशिखा-मग्न किसी उक्ति की समस्यारूपी पूंछ पकड़ कर बाहर खींच लाने में परिश्रम कम नहीं पड़ता था। इस परिश्रम के नाप-तोल का कोई साधन नहीं था, पर सब से अधिक अखरता था किसी सहृदय दर्शक का अभाव। कभी बाहर बैठक की मेज़ पर बैठ कर, कभी भीतर तख्त पर लेट कर और कभी आम की डाल पर समासीन होकर मैं अपने शोधकार्य में लगी रहती थी। उक्ति को पाते ही सरकंडे की कलम की चौड़ी नोक से मोटे अक्षरों की जंजीर से बाँध कर कैद कर देती थी। तब कान, गाल आदि पर लगी स्याही ही मेरी उज्ज्वल विजय का विज्ञापन बन जाती थी।

ऐसे ही एक उक्ति-अहेर में मेरे हाथ ऐसी पूंछ आ गई, जिसका वास्तविक अधिकारी मेरे ज्ञान-जगत की सीमा में नहीं था। 'मेघ बिना जलवृष्टि भई है', अवश्य ही यह समस्या किसी प्रकार पण्डित जी की दृष्टि बचाकर ऐसी समस्याओं के बाड़े में प्रवेश पा गई, जो मेरे लिए ही सुरक्षित थी, क्योंकि साधारणतः पण्डित जी मेरे अनुभव की सीमा का ध्यान रखते थे। बचपन में जिज्ञासा इतनी तीव्र होती है कि बिना कार्य-कारण स्पष्टता किए एक पग बढ़ना भी कठिन हो जाता है। बादल पानी बिना बरसाए हुए रह सकते हैं। परन्तु पानी तो उसके बिना बरस नहीं सकता। उस समय लक्षणा-व्यंजना की गुंजाइश नहीं थी, अतः मन में बारम्बार प्रश्न उठने लगा—बादलों के बिना पानी कैसे बरसा और यदि बरसा तो किसने बरसाया ?

प्रयत्न करते-करते मेरे माथे और गाल पर स्याही से हिन्दुस्तान की रेलवे लाइन का नक़शा बन गया और सरकंडे की कलम की नोक टूट गई, पर वह उक्ति न मिल सकी, जो मेघों के रूठ जाने पर पानी बरसाने का कार्य कर सके।

अतीत के अनेक राजा-रानियों और घटनाओं को मैं कल्लू की माँ की आँखों से देखती थी। विधि-निषेध के अनेक सूत्रों की वह व्याख्याकार थी। मेघरहित वृष्टि के सम्बन्ध में भी मैंने अपनी धृतराष्ट्रता स्वीकार कर, उसकी सहायता चाही। समस्या जैसे मेरे ज्ञान की परिधि के परे थी, आकाश के हस्ती नक्षत्र का नक्षत्रत्व वैसे ही उसके विश्वास की सीमा के बाहर था। वह मानती थी कि आकाश का हाथी सूंड़ में पानी भर कर जब उँडेल देता है, तब कई-कई दिन तक वर्षा की झड़ी लगी रहती है। मैंने सोचा. . .हो-न-हो, मेघों की बेगार ढोने वाला यही स्वर्ग का बेकार हाथी समस्या का लक्ष्य है। पर इस कष्टप्राप्त निष्कर्ष को सवैया में कैसे उतारा जाय, इसी प्रयत्न में कई दिन बीत गए। उन्हीं दिनों 'सरस्वती' पत्रिका और उसमें प्रकाशित गुप्त जी की रचनाओं से मेरा नया-नया परिचय हुआ था। बोलने की भाषा में कविता लिखने की सुविधा मुझे बार-बार खड़ी बोली की कविता की ओर आकर्षित करती थी। इसके अतिरिक्त रचनाओं से ऐसा आभास नहीं

मिलता था कि उनके निर्माताओं ने मेरी तरह समस्यापूर्ति का कष्ट झेला है। उन कविताओं के छंदबंध भी सवैया-छंदों से सहज जान पड़ते थे और 'अहो', 'कहो' आदि तुक तो मानों मेरे मन के अनुरूप ही गढ़े गए थे।

अन्त में मैंने 'मेघ बिना जलवृष्टि भई है' का निम्न पंक्तियों में कायाकल्प किया—

हाथी न अपनी सूंड़ में यदि नीर भर लाता अहो।
तो किस तरह बादल बिना जल वृष्टि हो सकती कहो ?

समस्यापूर्ति के स्थान में जब मैंने यह विचित्र तुकबन्दी पंडित जी के सामने रखी, तब वे विस्मय से बोल उठे, "अरे, यह यहाँ भी पहुँच गए ?" उनका लक्ष्य खड़ीबोली के कवि थे अथवा काव्य, यह आज बताना सम्भव नहीं। पर उस दिन खड़ीबोली की तुकबन्दी से मेरा जो परिचय हुआ, उसे मैं गुप्त जी का परिचय भी मानती हूँ। उसके उपरान्त मैं जो कुछ लिखती, उसके अन्त में 'अहो' जैसा तुकान्त रख कर उसे खड़ी बोली का जामा पहना देती। राजस्थान की एक गाथा भी मैंने हरिगीतिका छंद में लिख डाली थी, जिसके खोजाने के कारण ही मुझे एक हँसने योग्य कृतित्व से मुक्ति मिल गई है।

गुप्त जी की रचनाओं से मेरा जितना दीर्घकालीन परिचय है, उतना उनसे नहीं। उनका एक चित्र, जिसमें दाढ़ी और पगड़ी साथ उत्पन्न हुई-सी जान पड़ती है, मैंने तब देखा, जब मैं काफी समझदार हो गई थी। पर तब भी उनकी दाढ़ी देख कर मुझे अपने मौलवी साहब का स्मरण हो आता था। यदि पहले मैंने वह चित्र देखा होता, तो खड़ीबोली की काव्यरचना का अन्त उर्दू की पढ़ाई के समान होता या नहीं, यह कहना कठिन है।

गुप्त जी के बाह्य दर्शन में ऐसा कुछ नहीं है, जो उन्हें असाधरण सिद्ध कर सके। साधारण मझोला कद, साधारण छरहरा गठन, साधारण गहरा गेहुँआ या हल्का साँवला रंग, साधारण पगड़ी, अँगरखा, धोती या उसका आधुनिक संस्करण गांधी टोपी, कुरता, धोती और इस व्यापक भारतीयता से सीमित साम्प्रदायिकता का गठबंधन-सा करती हुई तुलसी कंठी। अपने रूप और वेश दोनों में, वे इतने अधिक राष्ट्रीय हैं कि भीड़ में मिल जाने पर शीघ्र ही नहीं खोज निकाले जा सकते।

उनके चौड़े ललाट पर क्रोध और दुश्चिताओं की लिखावट नहीं है, सीधी भृकुटियों में असहिष्णुता का कुंचन नहीं है, ऊँची नाक पर दम्भ का उतार-चढ़ाव नहीं है और ओटों में निष्ठुरता की वक्रता नहीं है। जो विशेषताएँ उन्हें सबसे भिन्न कर देती हैं, वे हैं उनकी बँधी दृष्टि और मुक्त हँसी। जब हमारी दृष्टि में प्रसार अधिक रहता है, तब हम किसी एक में उसे केन्द्रित नहीं कर सकते। प्रत्युत् हमारी विहंगम-दृष्टि एक ही क्षेत्र में एक साथ अनेक को स्पर्श कर सकती है। इससे जिस सीमा तक हमारा ज्ञान बढ़ जाता है, उसी सीमा तक हमारी दृष्टि के विषयों का महत्व घट जाता है। इसके विपरीत जब हमारी हँसी में मुक्त विस्तार नहीं होता, तब हम हवा के झकोरे के समान उसका सुखद स्पर्श सब तक नहीं पहुँचा सकते। उस स्थिति में हमारे हास-परिहास व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को केन्द्र बना कर सीमित हो जाते हैं। कलाकार की दृष्टि एक-एक पर ठहर कर ही प्रत्येक को अपना परिचय देती है और उसकी हँसी एकसाथ सब को स्पर्श करके ही आत्मीयता स्वीकार करती है। इस परिचय और आत्मीयता के अभाव में जीवन का वह आदान-प्रदान सम्भव नहीं होता, जिसकी साहित्य और कला में पग-पग पर आवश्यकता रहती है।

गुप्त जी की दृष्टि और हँसी उन्हें किसी के निकट अपरिचित नहीं रहने देती। कभी-कभी तो उनका देखना और हँसना इस तरह साथ चलता है कि दृष्टि हँसती-सी लगती है और हँसी से दृष्टि का आलोक बरसता जान पड़ता है। वे स्वभाव से प्रसन्न और विनोदी हैं, पर इस प्रसन्नता और विनोद की चंचल सतह के नीचे गहरी सहानुभूति और तटस्थ विवेक का स्थायी संगम है, जिस पर सब की दृष्टि नहीं जाती। केवल विनोदी व्यक्ति की दृष्टि इतनी पैनी नहीं होती कि जीवन के बाह्य आवरणों को भेद कर तथ्य तक पहुँच सके और कवि के लिए यह पैनापन अनिवार्य है। इसीसे बाहर से विनोदी कलाकार का स्वभाव अपनी स्पष्टता में भी दुर्बोध

रहता है। यदि उसे जीवन कौतुक से अधिक नहीं जान पड़ता, तो वह जीवनव्यापी विषमता के प्रति असहिष्णु कैसे हो सकता है। यदि वह जीवन से सन्तुष्ट है, तो सामंजस्य भावना न आवश्यक रहती है न तीव्र, और साहित्य में यदि अधिक सामंजस्य की पुकार नहीं है, तो वह इतिवृत्त के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

गुप्त जी स्वभाव से लोकसंग्रही कवि हैं, अतः उनके स्वभाव के तल में ऐसी गम्भीर स्थिरता आवश्यक है, जिस पर हास और विनोद की सौ-सौ चंचल लहरें बनने के लिए मिट सकें और मिटने के लिए बन सकें।

उन्होंने जीवन के उषःकाल में जिस युग से संस्कार ग्रहण किए थे, उसमें देश, समाज, साहित्य आदि के क्षेत्रों में नवीन प्रवृत्तियाँ अपनी चंचलता में सहस्रमुखी हो रही थीं, परन्तु उनका गन्तव्य प्राचीन संस्कार-समुद्र ही था, जो न स्वयं चंचल था और न अपनी परिधि में आनेवाली धाराओं को चंचल होने देता था।

उन्हें परिवार ऐसा मिला, जिसकी प्रतिष्ठा के ऊँचे पर्वत के चारों ओर अर्थ-संकट की खाई गहरी होती जा रही थी। ऊँचाई अच्छी है, पर उस पर धूप, आँधी, पानी और भी अधिक वेग से आक्रमण करते हैं।

चित्र में लम्बी तलवार साथ रखने वाले कवि-पिता जीवन में 'सखी-सम्प्रदाय' के उपासक थे, जिसमें नारी होने की साधना ही इष्टपूजा है। उनकी तलवार यदि एक युग की वीरगाथा है, तो उनकी 'रहस्य रामायण' दूसरे युग का प्रेमगीत; उनकी वर्णव्यवस्था में आस्था यदि एक युग की धरोहर थी, तो मुसलिम बालक मुंशी अजमेरी को छठा पुत्र मान लेना दूसरे युग का वरदान।

यदि हम लोहे के एक सिरे को आग में रख कर दूसरे को पानी में डुबा दें, तो उष्णता और शीतलता अपनी-अपनी सीमा बढ़ा कर लोहे के मध्य भाग में एक संतुलित सर्दी-गर्मी उत्पन्न कर देंगी, पर दोनों सिरों पर आग-पानी अपने मूल रूपों में रहेंगे ही।

बहुत कुछ ऐसा ही संतुलन गुप्त जी के व्यक्तित्व में मिलता है, पर उसमें चरम सीमाओं पर ऐसा आग-पानी भी है, जो कोई समझौता नहीं करता। किस दिशा में चलने पर आग मिल जायगी और कहाँ पानी, यह पहले से जान लेने का कोई साधन नहीं है। इसीसे उनके सम्बन्ध में एक व्यक्ति का मत दूसरे का विरोधी हो, तो आश्चर्य की बात नहीं है। बिजली के पाजिटिव और नीगेटिव तारों के समान दो कोमल कठोर तार उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में साथ-साथ फैले हुए हैं। उनके जीवन और साहित्य में उन तारों के संयोग का ही उजाला है।

शिक्षा-सम्बन्धी परीक्षाओं से शीघ्र ही मुक्ति पा जाने के कारण, उनके व्यक्तित्व को अपने संस्कार और वातावरण के अनुसार विकास की सुविधा प्राप्त हो गई।

जब आज भी हमारा शिक्षायंत्र विद्यार्थी के व्यक्तित्व को तोड़-मरोड़ कर एकांगी बना देता है, तब छः दशक पहले की स्थिति की कल्पना कर लेना कठिन नहीं है। चलने के समय फुट, इंच नाप-नाप कर पग रखने से दो पगों का अन्तर गणित के अंकों में समान हो सकता है, पर इससे न किसी को चलना आ सकेगा और न रास्ता तय हो सकेगा। जिस काँटे पर नाप-जोख कर रोगी को औषधि दी जाती है, उसी पर तोल-नाप कर स्वस्थ को भोजन नहीं दिया जाता, क्योंकि पहला विकृति से प्रकृति की ओर आने का प्रयास है और दूसरा प्रकृति का प्राप्य। ज्ञान अन्य मनुष्यों के समान कलाकार का भी प्राप्य है, पर उसकी प्राप्ति वैसी ही अनायास होनी चाहिए, जैसी फूल को आलोक की होती है। जिस प्रकार बालक बिना किसी पूर्व निश्चित कार्यक्रम के गिर-उठकर गति का संतुलन खोज लेता है, उसी प्रकार कलाकार का ज्ञान भी किसी निश्चित योजना की अपेक्षा नहीं रखता। किसी छोटी कक्षा में पढ़ते समय घटित एक साधारण घटना से गुप्त जी के स्वभाव की कुछ व्याख्या हो जाती है। इंसपेक्टर महोदय संस्कृत के विषय में प्रश्न करेंगे, यह सोच कर, उनके कुछ पूछने से पहले वे 'शिवतांडव-स्तोत्र' सुनाने लगे, जो न उनकी पाठ्यपुस्तक में था और न पठित पाठकों के समान सरल था।

प्रश्न की कल्पना साधारण बालक विद्यार्थी की सीमा में नहीं रहती। वह तो शिक्षक के प्रश्न-संकेत पर अपने ज्ञान के छिछले पोखर में उतर कर कभी शंख व कभी घोंघा निकाल लाना भर जानता है। ऐसा

विद्यार्थी जब शिक्षक के गहरे ज्ञानसमुद्र में गोता लगा कर प्रश्न की मोतीदार सीप खोज लावे, तब समझना चाहिए कि उसके मस्तिष्क में कुछ ऐसे विजातीय अणु हैं, जो उसे विद्यार्थी नहीं रहने देंगे।

साधारणत: परीक्षा के हथौड़े के नीचे प्रतिभा नहीं गढ़ी जाती, उल्टे उसके चूर-चूर हो जाने की सम्भावना रहती है। गुप्त जी उस हथौड़े के नीचे से निकल न भागे होते, तो हिन्दी को तिलक-कंठीधारी राष्ट्रकवि न प्राप्त होता!

पर जीवन की पुस्तक के हर पृष्ठ को उन्होंने जिज्ञासु विद्यार्थी के समान पढ़ा है और उसकी कठिन परीक्षाओं से न कभी भागने की इच्छा की है और न अवैध उपायों से उनमें उत्तीर्ण होना चाहा है। वे उन परीक्षाओं में बैठने के महत्व को सफल-असफल होने के परिणाम से अधिक भारी समझते हैं।

जीवन के तीस वसन्त पार करने के पहले ही वे दो बार विधुर हो चुके थे। दस सन्तानों में अब एक है, जिसके सम्बन्ध में उन्होंने एक बार मुझे लिखा था, . . . "यहाँ भी एक घीसा है, यदि आप उसका भार ले सकें, तो उसे भेजने का प्रबन्ध किया जावे।" एक आस्था-जनित संयम का बाँध न उनके विषाद में ज्वार आने देता है और न हर्ष में। इसीसे खोई सन्तान के लिए उनका शोक भी अव्यक्त रहता है और एकाकी पुत्र के प्रति स्नेह भी। जिस सन्तान-विछोह की आवृत्तियों ने उनकी सरल सहधर्मिणी की हँसी को आँसुओं में बुझा-सा दिया है, उसीने उनकी दृष्टि को हँसी की दीप्ति दे दी है।

भक्त और कवि के दृष्टि-बिन्दुओं में अन्तर अनिवार्य है। भक्त के निकट उसका इष्ट ही विश्व है। जो उसने देना उचित समझा, उसे अपने तथा संसार के लिए सुखपूर्वक स्वीकार कर लेना ही भक्त की विशेषता है। इष्ट के दान के सम्बन्ध में नाप-तोल का विवेक भक्ति को व्यवसाय का रूप दे देता है। पर कवि की स्थिति इससे भिन्न है। उसके लिए लोक-समष्टि ही इष्ट है, पर लोक के दान को निरीह भाव से अंगीकार कर लेना उसे अभीष्ट नहीं होता। वह लोक का निर्माण भी अपनी कल्पना के अनुरूप चाहता है।

पत्थर को तिल-तिल तराश कर उसमें अपनी कल्पना को उतारना और उस मूर्ति को अपने भाव की परिधि मान लेना एक ही मानसिक वृत्ति से सम्भव नहीं। मूर्तिकार तो अपनी कल्पना को आकार दे कर सफल होता है और पुजारी उस आकार में अपने आपको मिटा कर पूर्णता पाता है! एक में अभाव की भाव-परिणति है और दूसरे में भाव का रूप में विलयन।

गुप्त जी कवि भी हैं और भक्त भी, अत: निर्माण भी उनके स्वभाव में है और निर्मित के प्रति आत्म-समर्पण भी। साहित्य में उन्हें ऐसी ही कथाएँ चाहिए जो लोकहृदय में प्रतिष्ठा पा चुकी हों, पर उस परिधि के भीतर हर चरित्र का कुछ नया निर्माण उनका अपना है। वे रामायण को नहीं भूलते, पर रामायणकार जिन्हें भूल गया, उन चरित्रों को अपने ढंग से स्मरण करते हैं। वे महाभारत के स्थान में कोई अन्य कथा नहीं खोजेंगे, पर महाभारत के भीतर खोए किसी साधारण पात्र को खोज लेंगे। ये कथाएँ अनेक युगों की लम्बी यात्राओं का आँधी-पानी-धूप-छाया सहते-सहते धूमिल हो गई हैं, पर जिन्हें ये वहन करके लाई हैं, वे पात्र गुप्तजी के आंसुओं से धुल-धुल कर नए रंगों में उद्भासित आज के प्राणी बन चुके हैं। उनके साहित्य में जो नया है, उसका मेरुदंड पुराना है और जो पुराना है, उस पर रंग नया है।

जीवन में भी कुछ आदान और कुछ निर्माण उनके साथ चलता है। पुरातन संस्कारों का घेरा उन्हें वंशपरम्परा से मिला है, पर उसमें नए आलोक को लानेवाले झरोखों का निर्माण उनका अपना है। ऋण का दुर्वह भार उन्हें रईसों के उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ। पर उस विष का अचूक उतार. . .साधारण रहन-सहन. . .उनकी स्वार्जित सम्पत्ति है। तुलसीकंठी की अनिवार्यता उनकी वैष्णवता की देन है। पर उस सीमा में मुंशी अजमेरी के लिए अनन्य स्थान रखना उनके हृदय की मांग है।

वे नम्र हैं, पर यह विनय उनकी वैष्णवता का ऐसा पानी है, जो बड़े-बड़े जहाजों को संभाल सकता है, किन्तु छोटे से पत्थर का भी भार सहन नहीं कर सकता। इस प्रशान्त सतह वाले सागर के तल में किसी अव्यक्त ज्वालामुखी की चोटियाँ भी हैं, जो ठेस से विस्फोट बन सकती हैं।

जीवन के पिछले पहर में उन्हें ऋण से जो मुक्ति मिली है, उस तक पहुँचने के लिए उन्हें अर्थसंकट की अनेक दुर्गम घाटियाँ पार करनी पड़ी हैं। उन दिनों की स्मृतिमात्र से उनकी आँखों में जो पानी छलक आता है, उसी ने उनके स्वाभिमान पर शान चढ़ाई है। वे जिस सीमा तक साधनहीन के प्रति विनीत हैं, उसी सीमा तक अर्थदम्भी के प्रति असहिष्णु।

किसी परिचित के साधारण द्वार पर उपस्थित हो कर वे अकुंठित भाव से कह सकते हैं "महाराज, हम तो हाजिरी देने आए हैं।" पर सम्पन्नता के संकेत-पट जैसे द्वार पर यह हाजिरी कितनी महँगी पड़ सकती है, उसे न वे बता सकते हैं, न उनके परिचित।

गुप्त जी के बाल्यबन्धु रायकृष्णदास जी ऐसे संस्था-सम्प्रदाय में दीक्षित हैं, जिसके सदस्य 'याचां-मोघा वरं अधिगुणे नाधमें लब्ध काम' पर विचार करने के अधिकारी नहीं होते। उन बेचारे संस्थाबाजों के लिए, समान निरादर आदर ही की साधना अनिवार्य है। याचक एक से दो भले, सोचकर वे अपने अभिन्न बन्धु को लेकर किसी अर्थपति के दरबार में पहुँचे। एक ओर अर्थपति की अवज्ञा स्वाभाविक थी, दूसरी ओर गुप्त जी की नम्रता के तल में छिपे ज्वालामुखी में विस्फोट होना। जब उन्होंने अपनी सप्रयत्न सीखी याचक की भूमिका भूल कर सम्भाव्य दाता को फटकारना आरम्भ किया, तब भाई कृष्ण जी को कुछ पाने की आशा छोड़ कर भागने का द्वार खोजना पड़ा!

यदि मिट्टी को प्रतिबिम्ब-ग्रहण का वरदान मिला होता, तो उस कक्ष की दीवारों पर कवि-अभ्यागत की उग्रता आज भी अंकित होती और यदि स्वर को मिटने का अभिशाप न मिला होता, तो उस वातावरण से निर्वेद में रौद्र रस की प्रतिध्वनि अब तक गूँजती होती।

याचक की सहनशीलता उनमें नहीं है, पर आत्मीयजनों का अनुरोध अस्वीकार करने की दृढ़ता का भी उनमें अभाव है। इस सम्बन्ध में वे चोट खाने से भी डरते हैं और चोट पहुँचाने से भी।

कलाभवन (काशी) के लिए अर्थसंग्रह के उद्देश्य से जब एक शिष्ट याचकमंडल की योजना बनाई गई और उसमें उनका नाम भी सम्मिलित कर लिया गया, तब वे एक प्रकार के आतंक की छाया में रहने लगे। यदि उस चर्चा के उठने से पहले और समाप्त होने के उपरान्त उन्हें तोला जाता, तो निश्चय ही वे वजन में कुछ घटे हुए मिलते। उस याचना-अभियान की संभावना कम होने के साथ-साथ उनके रोग के आक्रमण भी कम हो गए।

सभा-सम्मेलन आदि की अध्यक्षता से भी वे कम नहीं घबड़ाते। संभवतः उनका अवचेतन मन जानता है कि ये सब आयोजन एक ही देवता के अनेक विग्रह हैं। इन सभी कामों से व्यक्ति का अहं इस सीमा तक स्फीत हो जाता है कि उस अहंकार की रक्षा के लिए दैन्य को स्वीकार करना भी स्वाभाविक हो जाता है।

स्पष्टवादिता के कारण उन्हें किसी प्रकार की मंत्रणा में सम्मिलित करना खतरे से खाली नहीं है। वे गोपनशास्त्र की वर्णमाला भी नहीं जानते, जिसकी आज के युग में पग-पग पर आवश्यकता पड़ती है। परिणामतः जहाँ मौन रहना चाहिए, वहाँ वे सब कुछ कह देंगे। उस सम्बन्ध की कुछ घटनाओं के स्मरण मात्र से हँसी आ जाती है। एक संस्था की विशेष बैठक में वे आहूत थे। बैठक के पहले कुछ व्यक्तियों ने विचार-विनिमय करके अपना निश्चित कार्यक्रम बना लिया और सामान्य बैठक में उसी के अनुसार प्रस्ताव और अनुमोदन होने लगे। पूर्व विचार-विनिमय के समय जो अनुपस्थित थे, उनमें से किसी की जिज्ञासा के उत्तर में वे बोल उठे, "हाँ महाराज, हम लोग बात करके पहले ही यह निश्चय कर चुके हैं!" उनके इस उत्तर से अन्य सदस्य निरुत्तर रह गए, तब उन्होंने क्षमायाचना की मुद्रा में कहा, "हमारे साथी मौन हैं, इससे जान पड़ता है कि हमने बता कर ठीक नहीं किया।"

एक दूसरी घटना भी कम मनोरंजक नहीं है। साहित्यकार-संसद के लिए गंगातट पर एक भवन खरीदने का निश्चय हुआ, जिसके स्वामी चालीस हज़ार से कम लेने को प्रस्तुत नहीं थे। मैं जब गुप्त जी को वह स्थान दिखाने ले गई, तब वे रास्ते भर जो कुछ कहते रहे, उसका आशय था कि मुझे ऐसे क्रय-विक्रय का अनुभव नहीं है। मैं वहाँ कुछ न बोलूँ। वे गृहस्वामी से बात करके कम में तय करा देंगे। वहाँ पहुँच

कर उस भवन की तरल सीमा बनाती हुई गंगा और उसके तट पर एक बड़े कमल-सा रखा हुआ मन्दिर देख कर वे सब कुछ भूल गए !

साधारणतः व्यवसाय की नीति में खरीदने वाले और बेचने वाले दो भिन्न-भिन्न छोरों से चलते हैं। एक वस्तु का मूल्य घटाने के लिए उसमें अनेक कल्पित दोषों का आरोप करता है और दूसरा मूल्य बढ़ाने के लिए कल्पित गुणों का। बीच की स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते दोनों ओर की अतिरंजना में संतुलन आ ही जाता है। यदि हम मन की प्रसन्नता को छिपाकर कह सकते कि इसके एक ओर नाला और दूसरी बालू का ऊसर कगार है, अतः वह स्थान काम का नहीं है या गंगा के तट पर होना ही इसका दोष है, क्योंकि उसकी धारा धीरे-धीरे सारी ज़मीन बहा ले जायगी, तो गृहस्वामी की प्रशंसा का पलड़ा अधिक न झुकता। पर गुप्त जी से यह साधना संभव नहीं थी। उनकी कंठी और तन्मयता देख कर गृहस्वामी को इस निर्णय पर पहुँचते देर नहीं लगी कि जिसका अध्यक्ष ऐसा है, उस संस्था से सौदा करने में हानि क्यों उठाई जावे !

उनकी दृष्टि में वही रहता है, जो उनके हृदय में है, और हृदय में वही रहता है, जो वचन में है। हम उन विचारों से सहमत हों या असहमत, पर उनके सम्बन्ध में किसी भ्रम या उलझन में नहीं पड़ सकते। अधिकारी, व्यापारी, सम्पन्न, दरिद्र—किसी भी वर्ग के व्यक्ति के सामने वे उसके दोषों की व्याख्या करने से नहीं हिचकते। उस समय उनकी हँसी जैसे तलवार की मखमली म्यान हो जाती है, जिसका बाहरी कोमल स्पर्श भीतरी धार की पैनी कठिनता का आभास देता है। ऐसी मुखर स्पष्टवादिता लौकिक सफलता से मेल नहीं खाती।

आर्थिक दृष्टि से गुप्त जी की आज जो स्थिति है, उसका कुछ श्रेय इंडियन-प्रेस को भी मिलना चाहिए, जिसने 'रंग में भंग' छाप कर उन्हें कुछ नहीं दिया। यदि बाँटने के लिए पर्याप्त प्रतियाँ भी मिल सकतीं, तो उनके पितृव्य उसे छापने का विचार न करते, क्योंकि उस समय पुस्तक से अर्थ-लाभ का प्रश्न कल्पना से परे था।

आर्थिक दृष्टि से अनुकूल समय न होने पर भी उन्होंने कुछ प्रबंध करके कवि किशोर की कृति छाप देने का साहस किया। जब बाँटने से शेष बची प्रतियाँ बिक गईं, तब उन्होंने पूछा, "क्या और भी लिखा है ?" "ऐसा बहुत-सा लिखा रखा है", सुनकर उनका विस्मित होना स्वाभाविक था।

अपने पितृव्य और अग्रज की व्यवस्था के कारण ही गुप्त जी अर्थसंकट के उस बवंडर में स्थिर रह सकते हैं, जिसने इस युग के अधिकांश साहित्यकारों को कभी खाई में गिरा कर और कभी पर्वतों पर पटक कर चूर कर दिया है।

कुछ संस्कार और कुछ आस्था के कारण गुप्त जी व्यक्तिगत सुख-दुखों में विचलित कम होते हैं। दूसरों के व्यंग्य भी उनकी हँसी में बुझ जाते हैं। पर किसी निर्दोष के प्रति किए गए अन्याय की चेतना उनके स्वभाव के आग्नेय तारों को छूकर चिनगारियाँ उत्पन्न किए बिना नहीं रहती। सन् ४१ के आन्दोलन में पुलिस ने बिना किसी कारण के ही उन्हें तथा उनके अग्रज को अपने बंदीगृह का अतिथि बनाया। वैष्णवता की जिस सजलता ने उनके मन से रोष का दाह धो डाला था, उसी में अनेक निर्दोषों के बन्धन ने ज्वाला उत्पन्न कर दी।

दुर्भाग्यवश कलेक्टर जेल की परिधि में अपने कवि बंदी से प्रश्न कर बैठा, "आप कुछ कहेंगे"। उत्तर देने वाले बंदी की विनम्रता मानों शिला से टकरा कर उग्रता में फूट पड़ी—"आपका दिमाग खराब हो गया है, आप से क्या बातें करें। आप निर्दोषी को पकड़ते घूमते हैं। हमारा क्या, हम तो लेखक ठहरे, यहाँ सब देखेंगे और इसके खिलाफ लिखेंगे।" अनेक कैदियों और जेल के कर्मचारियों की भीड़ के सामने बंदी से ऐसी अभ्यर्थना पाकर अधिकारी ने उस कुघड़ी को कोसा होगा, जिसमें उसने पूछने का शिष्टाचार दिखाया।

गुप्त जी का भावुक होना तो कवि-सामान्य है, पर भावुकता के साथ चलनेवाली धर्म-तत्परता तो उनकी निजी विशेषता है।

प्रायः सभी सच्चे कलाकारों में संवेदनशीलता का आधिक्य स्वाभाविक है, पर सब के सुख-दुखों से तादात्म्य का परिणाम उनकी कला ही होती है। किसी तीव्र रागात्मक अनुभूति का कर्म में व्यक्त होना कला में व्यक्त होने वाली तीव्रता को बाँट लेता है। सामान्यतः कलाकार अपने व्यक्तिगत अभावों का उपचार भी कर्म में नहीं खोज पाता, फलतः उत्कृष्ट कला का सृजन करके भी वह लौकिक दृष्टि से कुशल व्यक्तियों की

अवज्ञा का भार वहन करता है। वह तत्पर सहकर्मी नहीं माना जाता, क्योंकि जीवन की विषमता का जो परिहार उसके सृजन में व्यक्त होता है, वह स्थायी होने पर भी सद्यः फलदायी नहीं हो सकता। कला मनुष्य के हृदय और बुद्धि को प्रभावित कर के ही उसके कर्म को प्रभावित करती है और एक-एक को बदल कर ही सब को बदलने में समर्थ होती है। कलाकार को मनुष्य के रूप में पहचानने के लिए उसकी कला और कर्म में गठबंधन होना ही चाहिए।

किसी मृतवत्सा माता की वेदना से तादात्म्य कर मूर्तिकार उस आकार को पत्थर में स्थायित्व देगा, चित्रकार उस दृश्य को रेखाओं में बाँधेगा, कवि उस दुःख को छंद में गूंथेगा और संगीतकार उस विछोह को विहाग में गा देगा, पर गोद में बालक का शव लिए हुए माता तो उस पड़ोसी को पहचानती है, जो उसकी गोद से मृत शिशु को आग्रहपूर्वक हटा देता है और दूसरे धूलभरे बालक को वहाँ बैठा कर कहता है, "अब इसे तुम्हारे अंचल की छाया चाहिए।"

गुप्त जी ऐसे ही पड़ोसी हैं, अतः उनका दद्दा-रूप कविरूप से अधिक व्यापक हो, तो आश्चर्य नहीं। वे नगर-दद्दा ही नहीं, प्रान्त भर के दद्दा हैं और जो उनके संपर्क में आते हैं, उन्हें भी दूसरी पहचान स्मरण नहीं रहती।

छोटे झरोखे और बड़े आकारवाली हवेली के समीप ही, अयोध्या के निकट साकेत के समान, उनका नीम की टेढ़ी-मेढ़ी बल्लियों पर खपरैल से छाया हुआ शयनकक्ष है। उस के बाहर तुलसीचौरा और गेंदे के पौधे तथा भीतर पत्थर के चबूतरे पर कविता लिखने के लिए रखी हुई दो-तीन स्लेटें और एक छोटा डेस्क देख कर गाँव की प्राथमिक पाठशाला की भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है। उनकी काव्यसाधना के लिए वह कच्चा घर उपयुक्त ही है, पर स्लेट-पेन्सिल देखकर भ्रम होता है कि वे असमय स्कूल छोड़ने का स्मरण कर रहे हैं।

जिसका सफेद फ़र्श सब की धूल ग्रहण कर साम्य की उपासना करता है, वह बैठकखाना और जिसकी गोबर से लिपी धरती सब के चिह्न मिटा कर एकता की बात कहती है, वह आँगन कचहरी भी है और जन्तुशाला भी। वहाँ शिखाधारी पंडित भी विराजमान होंगे और दाढ़ी वाले मियाँ भी। वहाँ व्यापारी भी आसीन होंगे और मजदूर भी। वहाँ दरोगा भी बैठे मिलेंगे और संदिग्ध अपराधी भी। वहाँ गांधीवादी भी उपस्थित होंगे और क्रान्तिकारी भी। परिचित-अपरिचित, सभी प्रकार के अतिथि वहाँ देवता बन जाते हैं।

बैठक के एक ओर कभी स्व० मुंशी अजमेरी के लिए मोटा गद्दा बिछा रहता था, जिस पर आराम से लेटे-लेटे वे अद्भुत आख्यानों का पंचतन्त्र सुनाया करते थे। आज वह कोना खाली है, पर गुप्त जी का हृदय अपने प्रिय बन्धु की चर्चा से भरा रहता है।

श्यामवर्ण और उलझी दाढ़ी में अंधकार और आलोक के संगम बने हुए बड़े मियाँ इसी बैठक में तब तक घर की हिफ़ाजत के लिए रहे थे, जब तक गुप्त-बन्धु जेल के आतिथ्य से मुक्ति न पा सके।

सब की समस्याएँ सुनने का गुप्त जी को अवकाश और सब के काम आने की उन्हें इच्छा रहती है। रास्ते भर वे 'दद्दा जै राम जी' सुनते, 'जै राम जी भइया, अच्छे तो हो' पूछते जाते हैं। संभवतः उनके कारण ही चिरगाँव में राम का नाम-स्मरण अभिवादन बन गया है।

किसी का बनता हुआ मकान देखना, किसी की नई दुकान का निरीक्षण करना, किसी के छप्पर के सम्बन्ध में सलाह देना, किसी के खेत की बात पूछना आदि कार्य वे सहज भाव से करते चलते हैं।

'वंग-दर्शन' के प्रकाशन के अवसर पर मुझे उनकी तत्परता का जो परिचय मिला था, उसका क्रम अब तक अटूट है...जब अन्य कवियों की अस्वीकृति पाने के लिए भी कई-कई पत्र लिखने पड़े थे, तब मेरे पहले ही पत्र के उत्तर में गुप्त जी का तार आया, 'कविता भेजता हूँ।'

उनकी आत्मीयता साहित्यिक वर्ग की विविधता से न सीमित होती है और न घटती-बढ़ती है। चाहे कोई सुकुमार हो, चाहे उग्र, चाहे रहस्यवादी, चाहे स्पष्टवादी...उनकी आत्मीयता सब पर बादल की तरह बरस जाती है। जिसे उसकी आवश्यकता न हो, वह चाहे छाता ताने, चाहे मोमजामा ओढ़े। उनकी आस्था उस गहराई तक पहुँच चुकी है, जहाँ उसे दूसरों के विरोध की आँधी का भय नहीं रहा। परिणामतः उनमें उस सतर्कता का अभाव मिलेगा, जो दो भिन्न विचारवालों को नहीं मिलने देती। •••

बड़े का विनय

★

श्री विष्णु प्रभाकर

★

श्रद्धा का युग जर्जर होकर कभी का व्यतीत बन चुका है और विवेक-युग अभी अनागत के गर्भ में है। हम तर्क-युग के अंतिम चरण में से गुजर रहे हैं। इस युग में किसी अच्छाई को देखना एक गुनाह है, क्योंकि जो कुछ अच्छा है, वह देखनेवाले में समा चुका है। सामने जो कुछ है, वह अपने से बुरा ही बुरा है। ऐसी स्थिति में किसी के बारे में लिखना खतरे से खाली नहीं है, फिर उनके बारे में जो इस युग -परिवर्तन के साक्षी रहे हों।

श्रद्धेय मैथिलीशरण गुप्त ऐसे ही व्यक्तियों में से हैं। पहली बार उनके दर्शन करने का सौभाग्य मुझे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बनारस-अधिवेशन के अवसर पर मिला था। वह कुछ बाद में आए थे, क्योंकि मुझे याद है तब मेरे आसपास 'आ गए', 'आ गए' की ध्वनि उठी थी और उत्सुकता से एक भीड़ एक ओर को लपक चली थी। मैंने भी कोशिश की, पर पहचान न पाया कि वह आनेवाला कौन था? भाई यशपाल जैन तब कुछ दूर थे, पास आकर बोले, "मैथिलीशरण जी आ गए।"

"मैथिलीशरण गुप्त?"

"हाँ, वही तो हैं।"

हृदय की धड़कन एकबारगी बढ़ती चली गई। उचक कर देखा, कौन से हैं गुप्त जी? यह मारवाड़ियों जैसी लाल पगड़ीवाले, अंगरखा-धोती पहने, दुपट्टा डाले और हाथ में छड़ी लिए? यह हैं 'भारत-भारती' के कवि! यह तो निरे मारवाड़ी लालाजी लगते हैं...

यशपाल बोले, "देखते हो, दाढ़ी-मूंछ साफ हैं।"

"तो...?"

"अरे, यह दाढ़ी-मूंछ रखते थे। अब साफ करा दी है।"

तब जिसे देखो वही दाढ़ी-मूंछ की चर्चा करता था—पहले कैसे लगते थे और अब कैसे लगते हैं, इत्यादि-इत्यादि। उस सम्मेलन में बहुत-सी बातें याद करने लायक थीं। महामना मालवीय, डॉ० श्यामसुन्दरदास, महाकवि निराला, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० सुदर्शन आदि अनेक धुरंधरों को मैंने पहली बार वहाँ देखा और संस्मरणीय रूप में देखा, लेकिन प्रथम दृष्टि में मेरी कल्पना से जितनी दूर गुप्त जी थे, उतनी दूर और कोई नहीं था। यह दूसरी बात है कि समय के साथ-साथ उनकी दृष्टि मेरे मन में खुबती चली गई और उनके नेत्रों में साधना का जो तेज था, उसने मेरी शंकाओं को धो दिया। मुझे विश्वास हो गया कि 'हिन्दी प्रवेशिका' में 'किसान' पर जो कविता मैंने बचपन में पढ़ी थी, उसके प्रणेता यही हैं।

याद नहीं पड़ता कि प्रणाम करने के अतिरिक्त और कोई बात उनसे हुई हो। हाँ, दूर से मैंने उन्हें खूब पैनी दृष्टि से देखा। पास से देखने का अवसर मिला जनवरी १९४१ में। तीर्थयात्री के रूप में घूमते हुए एक दिन पाया कि चिरगाँव पहुँच गया हूँ और देवता की मूर्ति के स्थान पर परिवार का कोई बड़ा आ बैठा है। मुश्किल से चौबीस घंटे वहाँ रुका हूँगा। रात को दो बजे स्टेशन पर उतरा था। सूर्योदय तक वहीं रुका रहा, फिर भाई को वहीं छोड़कर सकुचता-सिमटता उनके घर की ओर चला। बहुत पूछना नहीं पड़ा। ग्रामीण-राजपथ से होकर शीघ्र ही उनके विशाल भवन के द्वार पर जा पहुँचा। कहीं कोई रोक-टोक नहीं, सब ओर मुक्त स्वागत; झिझक खुल गई और अंदर चौक में जाकर क्या देखा कि दाहिनी ओर एक चबूतरे पर आग सेकते और बातें करते कुछ लोग बैठे हैं। उन्हीं से श्री सियारामशरण गुप्त के बारे में पूछा। उनसे मैं दिल्ली में काफी परिचित हो चुका था। उस मंडली में मैंने 'दद्दा' को तुरंत पहचान लिया। यद्यपि तब न बनारसवाली वेशभूषा थी और न वह वातावरण, फिर भी उनके नेत्रों का तेज उनके ही घर में उनको छिपा न सका।

उसके बाद वह दिन कैसे बीता, उसका विस्तृत वर्णन करना मानो उस स्मृति की पवित्रता को धूमिल करना है। उस दिन (१२ जनवरी) की डायरी में मैंने लिखा है—'वे सब लोग सज्जन जान पड़े। बड़ा अच्छा आतिथ्य रहा। दिन भर बातें करते रहे। श्री मैथिलीशरण जी बहुत ही चपल और चतुर लगे। बच्चों जसी चपलता उनमें है...इन लोगों में अपूर्व कौटुम्बिक प्रेम देखा। सबने अपने-अपने काम बाँट रखे हैं। गुप्त जी को मशीन से भी बड़ा प्रेम है। संध्या को भोजन कर फिर बातें करते रहे। १०-३० पर सोने लेटे।'

डायरी की यह भाषा शिष्टाचार के बंधन से मुक्त है। इसीलिए स्पष्ट भी है। साहित्यिकों के बारे में आम लोगों के मन में यह धारणा बन जाती है कि वे असाधारण होते हैं, पर दद्दा मुझे बिल्कुल साधारण लगे। एक स्नेही परिजन की आकुलता के साथ-साथ एक कुशल व्यापारी की बौद्धिक सजगता भी मैंने उनमें पाई। निश्छलता इतनी कि मुक्त कंठ से हँसते देर न लगती। वहीं बैठक में फर्श पर सब बैठते, चाय पीते, गप्पें मारते और वहीं सो रहते। वहीं पर वह लिखते-पढ़ते भी। मैं उस कमरे को देखता, उसके सामान को देखता, उन्हें देखता, अपने को देखता और याद आ जाती मुझे ताल्सत्वा और शेक्सपियर आदि के भवनों की। एक दिन 'भारत-भारती' के स्वरकार का यह कमरा भी राष्ट्र का तीर्थ बनेगा और लोग अपूर्व श्रद्धा, अपूर्व चाव से इसके सामान को देखेंगे...

न जाने किस स्रोत से उनकी अपनी रचनाओं की चर्चा चल पड़ी थी। मैंने कहा, "लोग आपकी भाषा की बड़ी आलोचना करते हैं। उसमें बड़ा अटपटापन रहता है।"

कह कर मेरी दृष्टि एकबारगी उनके मुख पर चली गई। वह किसी पुस्तक के पन्ने पलट रहे थे। पास में श्री सियारामशरण गुप्त तथा डॉ० मोतीचन्द बैठे थे। उन्होंने सहजभाव से सियारामशरण जी की ओर देख कर कहा, "हाँ, यह बात तो मुझे भी लगी है कि इधर हम भाषा पर अधिक ध्यान नहीं देते।"

ठीक-ठीक शब्द याद नहीं, पर भाव यही था। देखता रह गया, कोई कटुता नहीं, कोई गर्व-जन्य उपेक्षा नहीं। यूँ इसके दूसरे अर्थ भी लिए जा सकते हैं, पर जिस सहजभाव से उन्होंने उत्तर दिया था, वह आज भी नहीं भूलता। यही नहीं, उस रात हमारी चर्चा साहित्य के क्षेत्र से होकर पशुपालन और एक विशेष प्रकार की मिट्टी से बनने वाले मकानों पर आ गई थी। मैं तब हिसार के सरकारी फार्म में काम करता था। उन्होंने मकान बनाने की कला में विशेष रुचि ली और उसका पूरा साहित्य मँगा भेजा।

यूँ साहित्य के अमर साधकों में आई० सी० एस० से लेकर झल्ली ढोनेवाले तक हैं, पर मशीन, व्यापार और साहित्य में एक समान रस लेनेवाले कम ही हैं। चिरगाँव में आटे की मशीन ही नहीं देखी, गुप्त जी को उसे ठीक करते भी देखा। वस्तुतः दद्दा जिस बात को स्वीकार करते हैं, संपूर्ण रूप में स्वीकार करते हैं। राष्ट्रपति ने जब उन्हें राज्यसभा का सदस्य नामजद किया, तो शायद उन्हें कुछ संकोच हुआ हो, पर एक बार जब उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया तो शासन के इस ढाँचे में वही रस लिया, जो साहित्य के प्रणयन में लेते रहे हैं।

उस दिन इसी बात पर चर्चा चली तो राज्यसभा में उनके साथी श्रद्धेय पं० बनारसीदास चतुर्वेदी बोले, "हम कांग्रेसदल के अनुशासन में हैं, फिर भी बहुत कम अधिवेशन में जाते हैं, परंतु दद्दा पर किसी दल का अंकुश न होने पर भी वह नियम से राज्यसभा की सभी बैठकों में शामिल होते हैं और उसकी प्रत्येक गतिविधि में पूरा रस लेते हैं। इतना रस लेते हैं कि सदस्य इन्हें कांग्रेसदल का 'गैरसरकारी ह्विप' मानने लगे हैं!"

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने अपनी स्वतंत्रता का बलिदान कर दिया है। सरकार की उचित आलोचना करने से वह चूकते नहीं। गत वर्ष के बजट पर उन्होंने जो पद्यात्मक भाषण दिया था, वह उनकी स्पष्टवादिता और विनोदप्रियता का एक साथ प्रमाण है।

दद्दा स्वभाव से संकोची और प्रवास-भीरु हैं। दिल्ली में आकर उन्होंने सभाओं और भोजों से बचने की पूरी कोशिश की है। 'शनिवार समाज' की ओर से जो स्वागत संसद के साहित्यिक सदस्यों का हुआ था, वह शायद पहला सम्मेलन था, जिसमें वह शामिल हुए थे। मुझे याद है, एक बार तो उन्होंने स्पष्ट इंकार कर

दिया था, पर डॉ० नगेन्द्र और मेरे आग्रह पर उन्हें आना ही पड़ा। अपनी स्वाभाविक अत्यंत अहिंसक विनम्रता से उन्होंने कहा, "अरे, हम तो कहीं जाते नहीं...।"

मैंने कहा, "दद्दा! यह सब हिन्दी के लिए किया है, आप न आए तो...।"

यह चुनौती थी, पर एक विनम्र सेवक की। उन्होंने तुरंत कहा, "मैं आऊँगा।"

और आए ही नहीं, उन्होंने कवितापाठ भी किया। इतने उत्साह से किया कि उस गर्मी में परेशान जनता खिल-खिल उठी। बाद में अनेक संस्थाओं ने चाहा कि दद्दा उनके यहाँ पधारें। कुछ नवयुवक मुझे भी सिफारिश के लिए ले गए। दद्दा उसी अहिंसक विनम्रता से बोले, "आप हमारे स्वभाव को जानते हैं, पर आप कहेंगे तो चले जाएंगे...

मैंने एकदम कहा, "न दद्दा। हम आग्रह नहीं करेंगे।"

मैंने देखा, वह इस बात से प्रसन्न हुए। मैं उनको दोष नहीं दे सकता। उनके पास ऐसे-ऐसे नवोदित साहित्यकार आते हैं, जो अपनी पूरी पुस्तक उन्हें सुनाने के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करने में संकोच नहीं करते। मैं बहुत ही कम उनसे मिलने गया हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ मेरे जैसे मिलनेवाले असंख्य हैं, पर वह एक हैं। यूँ मुझ पर उनकी कृपा है। उनका स्वभाव ही ऐसा प्रेमिल है। जब-जब मैं उनके पास गया हूँ, तो उन्होंने कहा, "बनारसीदास जी से मिल कर जाना।" एक बार कह कर रह गए हों सो नहीं, चलते समय विशेषरूप से उसकी स्मृति दिलाई है।

कुछ भी हो, मेरा ऐसा अनुभव है कि दिल्ली-प्रवास में उन्होंने कुछ खोया नहीं, पाया है। जिन सभाओं में वह सम्मिलित हुए हैं, वहाँ मैंने उनमें यौवन का ओज देखा है, उनकी कविता का नया स्वर सुना है। एक सभा में उर्दू के एक प्रसिद्ध ओजस्वी कवि के साथ दद्दा का भी सम्मान हुआ था। उपस्थित व्यक्तियों में उर्दूदाँ अधिक थे। उर्दू कवि की कविताओं ने वह समाँ बाँधा कि सभा फड़क-फड़क उठी। मेरे पास हिन्दी के एक लेखक बैठे थे, बोले, "मैथिलीशरण जी इनका क्या मुकबला करेंगे। कहाँ यौवन का उद्दाम तेज, कहाँ ढलते सूर्य की पस्ती।" लेकिन जब ढलते सूर्य ने बोलना शुरू किया, तो लगा जैसे वह पश्चिम से पूर्व की ओर मुड़ गया है। देर तक वह सभा-स्थल 'वाह-वाह', 'और क्या कहने' की ध्वनि से गुंजायमान होता रहा। मित्र गद्गद् हो उठे, "आज गुप्तजी ने हिन्दी की लाज रख ली।"

कहा जाता है कि उनकी व्यापार-बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है। उनकी विनम्रता एक व्यापारी की विनम्रता है, पर मैं न व्यापारी हूँ, न खरीदार। मैं इसकी कसौटी नहीं बन सकता। लेकिन व्यवहार में सजग होना न असभ्यता है और न अशिष्टता। असभ्यता और अशिष्टता है तो दंभ में है, घमंड में है। दद्दा सजग व्यापारी हैं, तो साहित्य-देवता के अखंडनिष्ठ आराधक भी हैं। आधी शताब्दी तक उन्होंने हिन्दी साहित्य को सँवारा-सँजोया ही नहीं, उसका निर्माण भी किया है। उनकी 'भारत-भारती' ने राष्ट्र में प्राण फूंके हैं। उनके 'साकेत' ने रामकथा को नया रूप दिया है। उनकी 'यशोधरा' ने, उनके 'काबा-कर्बला' ने अखंड-मानवता के पौधे को साहित्य के अमृत से सींचा है। उनकी विनम्रता बड़े की विनम्रता है। (जो जितना बड़ा होता है, उतना ही विनम्र होता है) इसीलिए उस विनम्रता में शिशु का भोलापन और नारी का स्नेह दोनों विद्यमान हैं; इस मात्रा में विद्यमान हैं कि वह खुशामद की सीमा तक जा पहुँचती है। लेकिन वह जितने विनयी हैं, उतने ही स्वाभिमानी भी हैं। दंभी नहीं, स्वाभिमानी। और जो स्वाभिमानी होता है, वह दूसरे की पूरी प्रतिष्ठा करता है, झुक कर भी प्रतिष्ठा करता है। बड़े का झुकना बड़े का गौरव है।

मैथिलीशरण गुप्त सचमुच दद्दा हैं। दद्दा में एक ओर स्नेह और आत्मीयता है, तो दूसरी ओर गौरव और बड़प्पन भी है। वह बड़प्पन जिसकी नींव में स्नेह से छलछलाता मानव-हृदय है, और है दूसरे को समझने की दृष्टि। जो दूसरे को समझता है, उससे बड़ा कौन होता है। •••

दद्दा की छाया में

श्री हरगोविन्द

★ ★

तीर्थ-चरण दद्दा का स्नेह मुझे कब और कैसे मिला, इसकी सुधि उनके स्नेहिल वातावरण ने मेरी भावनाओं में इतने गहरे बैठा दी है कि अब उसे देख पाना असंभव है। अब तो उस पर आधारित मेरे क्रिया-कलापों को ही देखा-परखा जा सकता है। तब यही कह सकता हूँ कि उसका पुनीत संपर्क मेरे लिए संयोग की ही बात थी, अन्यथा आज के प्रगतिशील वातावरण से दूर, ऊबड़खाबड़ ग्राम में साधारण किसान के घर जन्मने वाले को अपना ऊपर का ब्रह्मांड छोड़ आज के बाह्य जगत से परिचित होने का अवसर कहाँ मिलता।

परिस्थितियाँ धमना का अपना घर-घूरा छुड़ा पहले चिरगाँव और फिर चिरगाँव की साधारण-सी परचूनी की दुकान से उठा 'बखरी' अर्थात् साहित्य-सदन के विशाल प्रांगण में और वहाँ के तथा वहाँ आनेवाले विशाल व्यक्तित्वों के निकट संपर्क में ले गई, जहाँ पहुँच कर कोई भी अपने जीवन की सार्थकता अनुभव करेगा।

विद्यार्थी जीवन में—भले ही वह नगण्य-सा रहा हो—'ग्राम-जीवन', 'रण-निमंत्रण', 'कुंती और कर्ण' तथा 'वर्षा रहा है रवि अनल, भूतल तवा सा जल रहा' शीर्षक कविताएँ पाठ्यपुस्तकों में पढ़नी पड़ी थीं, पर उनका पढ़ना टिड्डी के चरने जैसा ही था। उसके रस से कोई सम्बन्ध उस समय न था। डंडे के बल का काम इस से अधिक और क्या होगा?

कवि से परिचित होने के लिए भी इतना ही पर्याप्त था कि पाठ्यपुस्तक में यह अंश कंठस्थ करना पड़ा—

'श्री मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सं० १९४३ वि० में चिरगाँव, जिला झाँसी, के सेठ श्री रामचरण के यहाँ हुआ; आप हिन्दी खड़ीबोली के प्रसिद्ध कवि हैं, इनकी कविताओं में देशप्रेम भरा रहता है, जो इस युग की विशेषता है। 'रंग में भंग', 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध' आपकी प्रसिद्ध रचनाओं में हैं।' इससे आगे कुछ और सरोकार हमें कवि से न था।

स्कूल छोड़ भागने पर जब जाति-गंगा की लहरों में भीगा, तब एक दिन ओरछा राज्यांतर्गत शक्तिभैरव ग्राम में, जो उस समय चंदिया में जाति पर जाति की पंचायतों के लिए प्रसिद्ध था, गहोई जाति का एक छोटा-सा सम्मेलन आयोजित हुआ। प्रश्न उठा कि ब्याह में मध्य का दिन, जिसमें टीका और भाँवर के बीच ३६ घंटे व्यर्थ पड़े रहना पड़ता है, समाप्त कर ब्याह में ही लड़की की बिदाई कर दी जाय। बात सबके मतलब की थी, इसलिए आसानी से सब के गले उतर गई। पर प्रश्न था उसके प्रचलन का, उसके लिए अगुआ कौन बने? नया काम अच्छा हो या बुरा, पहलेपहल करना आसान नहीं, उसे तो कोई विरले प्रभावशाली व्यक्ति ही करते हैं, जिन्हें कोई दूख न सके, 'समरथ कहं नहिं दोष गुसाईं।' तब ऐसी स्थिति में किसी ने बताया, चिरगाँव के श्री मैथिलीशरण कनकने के यहाँ बरात आ रही है, उनसे इस सभा की ओर से प्रार्थना की जाय कि वे समर्थ हैं, कृपा कर इन बातों को अपने यहाँ चला, गरीब भाइयों के निर्वाह की गैल खोल दें। प्रस्तावक की बात निर्वि-रोध मान्य हुई। तब ऊपर के आशय का एक पत्र परंपरा के अनुसार उनके अग्रज श्री महारामदास रामकिशोर कनकने के नाम लिखा गया और उसे चिरगाँव ले जाकर उत्तर लाने का काम मुझे मिला।

पंचों का दस्तखती पत्र ले भाँति-भाँति के तर्कों-वितर्कों में डूबता-उतिराता चिरगाँव आया! और उस पीतवर्णधारी विशाल द्वार को, जिसे पार करते आज भी मन श्रद्धा से नत हो जाता है, लाँघ भीतर के विस्तृत आँगन में पहुँचा। किसी देहाती को अपने से बड़े गाँव में या बड़ों के घर जाते झेंपना-झिझकना अस्वाभाविक नहीं; आँगन में पहुँच इधर-उधर ढूंकता-झांकता चल रहा था कि टीन के सायबान के सहारे अँगूरी बेल के समीप टहलते किसी ने संकेत से मुझे अपने पास बुलाया। उनके निकट पहुँच अपनी ग्रामीण ठकुरासी परंपरा के अनुसार झुक कर राम-राम की और पंचों का पत्र सौंप दिया। मुझे फर्श पर बिठा वे पत्र पढ़ने लगे। इसी

बीच ३-४ जन वहाँ और आए। सबने सलाह कर मुझसे कहा—"भैया, पंचों से हमारी राम-राम कह, कह देना कि हम उनकी पाती पंचों के सामने रखेंगे और जैसी उनकी मरजी होगी करेंगे।

सुन कर मन में लगा कि बात, बात टालने की ही रही। बड़े होकर भी आगे बढ़ने का दम नहीं है। पर अब जब उस उत्तर पर सोचता हूँ, तब लगता है कि उनका वह उत्तर पंचों की प्रतिष्ठा और उनकी सांस्कृतिक विनम्रता के अनुरूप और उचित ही था। अकेले-अकेले छलांग मार कूद भागने की अपेक्षा कुछ गंभीर गति से समाज को साथ ले चलना ही शुभ होता है। राष्ट्रकवि की वाणी है—

मरण अकेले हो सकता है, जीवन नहीं कभी भी।

और उनकी इसी भावना ने उनसे लिखाया—

व्यष्टि रूप में तुम कितनी ही वीर धीरता धारो,
पर समष्टि रूप में क्या हो यह तो तनिक विचारो।
अंग मात्र तुम जिस शरीरके उसकी क्या मति गति है,
सब समाज की जब उन्नति हो तब अपनी उन्नति है।
कुछ अवयव बढ़ जायें देह के रहे न सब में समता।
तो तुम वृद्धि कहोगे उसको या अधिमांस विषमता।।

इस प्रकार समाज का पत्रवाहक बनने पर मैंने जाना कि आज के पूज्यचरण दद्दा और उस समय के श्री मैथिली-शरण कनकने हमारे सजातीय गहोई वैश्य हैं, समाज पर उनकी गहरी छाप है। उनके सहारे हम कहीं से कहीं पहुँच, कुछ-से-कुछ हो सकते हैं।

उनका यह प्रभाव इस व्यापकता में ही हुआ हो, सो बात नहीं। आज से लगभग २७-२८ वर्ष पूर्व एक चुनाव के सिलसिले में मुझे उनके घर होनेवाली पार्टी-मीटिंगों में यह देखने का अवसर मिला कि इस क्षेत्र के निवासी किस श्रद्धा और विश्वास के साथ अपनी शंकाएं और समस्याएँ उनके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं और वे उन पर सब के तर्क सुन अपनी बात, अपने बड़प्पन के बोझ से नहीं, अपनी सूझ-बूझ से लोगों के मन में इस प्रकार बैठाते हैं मानो वह प्रश्नकर्ता के ही हृदय की उपज हो। दूसरों की तर्कसंगत और उचित बात मानने में भी वे अपनी हेठी नहीं मानते। लोगों का कहना है कि उनका यह गुण परंपरागत है, जिसके कारण चिरगाँव और आसपास के जनजीवन में चिरगाँव के जन्म से ही उनके कनकने-वंश की व्यापक महत्ता रही है—समाज में भी और शासन में भी।

चिरगाँव के जीवन में दूषित मनोवृत्तियाँ अब तक खुल कर नहीं खेल पातीं, इसका कारण सर्वथा यही है कि चिरगाँव मैथिलीशरण का चिरगाँव है, उसके वातावरण में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उनकी सांस्कृतिक चेतना की छाप और मन में उनके नाम की लाज है।

चिरगाँव व्यापारिक मंडी है, देश के व्यापारिक नगरों तक उसकी पहुँच है, उसमें उनके वंश का भी हाथ प्रारंभ से ही रहा है। पर आज पूरे देश में ही नहीं, कहीं-कहीं विदेशों में भी जो उसकी पहुँच है, उसके कारण तो दद्दा ही हैं। चिरगाँव के इतिहास से राष्ट्रपिता बापू, राष्ट्रसंत विनोबा, राष्ट्रनायक नेहरू तथा अमरशहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का जो संपर्क जुड़ा, उसके कारण दद्दा ही हैं। चिरगाँव की चिरता देश के कोने-कोने में पहुँची और राष्ट्र के पूर्ण वैभव का साक्षात् उसे मिला, यह सब दद्दा के कारण। और, इसीलिए जब महामान्य राष्ट्रपति महोदय ने उन्हें अपनी ओर से राज्यपरिषद् के लिए ससम्मान सदस्य घोषित किया, तब चिरगाँव के श्री रामदास दर्जी ने गद्गद् स्वर से कहा—"आज दद्दा के साथ पूरा चिरगाँव दिल्ली पहुँच गया।"

चिरगाँव आने से पूर्व, दो बार महीने-महीने या डेढ़-डेढ़ महीने के लिए साहित्य-प्रेस में काम करने का अवसर आया। उन दिनों प्रांतीय असेम्बली की मतदाता सूचियाँ छप रही थीं। बड़े जोर का काम था। तीस-पैंतीस कर्मचारी और घर के सब छोटे-बड़े समान रूप से २०-२२ घंटे काम करते थे। मैं बापू के साथ हिन्दी के और नन्ना-दद्दा उर्दू के प्रूफ देखते थे। उर्दू का काम कुछ कम होता था, और दद्दा में काम निबटाने की स्फूर्ति आज भी औरों की अपेक्षा अधिक है, उस समय तो थी ही। अपना काम पूरा कर वे प्रेस का चक्कर

लगा, एक-एक कर्मचारी के पास उसके काम-आराम की बात कर पीठ ठोक प्रोत्साहित करते, तब कहीं जा कर बैठते थे। मेरे पास भी आए होंगे, पर यदि मेरे देहाती और झेंपू स्वभाव ने बात न की हो, तो आश्चर्य नहीं।

जीवन की सत्तर सीढ़ियाँ पार करने पर किसी भी शरीर में शैथिल्य का अनुभव होना अस्वाभाविक नहीं, फिर दद्दा तो वर्षों के अर्श रोग से और इधर कुछ दिनों से नेत्र और हृदय रोग से पीड़ित रहे हैं। जिसके कारण अब उनसे कहीं भी जाने-आने का प्रस्ताव करने पर, जाने के दो दिन पहले से उन्हें जूड़ी-सी चढ़ने लगती है। पर जब जहाँ जाना होता है, जो काम करना होता है, उसे निभाने में या जाने में जिस स्फूर्ति का दर्शन उनमें मिलता है, उसके आगे कभी-कभी आज के युवक भी चकित होते हैं। जब चर्खा कातने बैठते हैं, तब दो-ढाई गुंडी तक कात लेते हैं। और जब चौपड़ खेलते हैं, तब दूसरे खिलाड़ियों के भागने पर ही उठते हैं।

एक बार की बात है, आदरास्पद डॉ० मोतीचन्द जी बम्बई से लखनऊ किसी ऐतिहासिक कांफ्रेंस का सभापतित्व करने जा रहे थे। अपनी अभिन्नता के नाते उन्होंने पूज्य दद्दा को सहजभाव से इसकी खबर कर दी। आनेवाले दिन उनसे मिलने स्टेशन चलने की बात ठहरी। पूज्य डॉ० साहब का कृपापात्र होने के कारण दद्दा ने मुझे भी उनके आगमन और स्टेशन चलने की बात बताई। उनकी कृपा से ऐसे बहुत से संयोग मिलते हैं, जिनका लाभ छोड़ा नहीं जाता। चिरगाँव में स्टेशन जाने-आने के लिए सवारी की आवश्यकता नहीं, उसका कोई प्रबंध भी नहीं है, लोग पैदल ही आते-जाते हैं। जिस समय हम लोग स्टेशन के लिए चले, गाड़ी का ठीक समय हो गया था। अभी स्टेशन लगभग एक फर्लांग होगा कि गाड़ी स्टेशन पर आ गई, और जब दद्दा ने देखा कि गाड़ी आ गई, तो किसी से कुछ कहे बिना ही धोती का पल्ला हाथ में पकड़ दौड़ लगाई और साथियों को पीछे छोड़, स्टेशन पहुँच, प्लेटफार्म पर घूमते डॉक्टर साहब को हृदय से लगाया। जब हाँफते-हाँफते हम लोग स्टेशन पहुँचे, तो देखा कि दद्दा जैसे अभी-अभी गद्दी से उठ कर खड़े हुए हों। उन्हें देख मन में गूँजा—

तब के बूढ़े, अब के ज्वान,
आगे हूँ, हैं बड़े निकाम।

बुन्देलखंड के विगत वैभव पर, उसकी प्राकृतिक दृश्यावलियों पर उन्हें अगाध स्नेह है। अपने 'सिद्धराज' में महोबे की कीर्त्ति को अपने नए ढंग से उन्होंने चमकाया है, और बेतवा की नीची-ऊँची पठारें, उसके झरने और झुरमुट तो उन्हें ऐसे प्रिय हैं मानो उन्हीं से उन्हें कविता की स्फूर्ति और जीवन की प्रेरणा प्राप्त होती हो। किसी भी समय उचक-कूद कर चलने के लिए उनमें आलस या नाहीं नहीं पाई जाती। जब भी कोई समागत अतिथि आते हैं तब वे कभी 'पारीछा बाँध', कभी 'राजा-बेगर' और कभी ओरछा के मोहक स्थलों के देखने का प्रलोभन दे, उन्हें देखने को उल्लसित करते हैं; चाहे ऐसे अतिथियों में राष्ट्रनायक नेहरू हों या पं० गोविन्दवल्लभ पन्त, अथवा सदैव आने-जाने वाले पूज्य सरकार जी, डॉ० मोतीचन्द जी, अथवा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल या श्री सुमित्रानन्दन पन्त—सभी को दद्दा के चलते बेतवा की झाँकी देखनी और समयानुसार वहाँ के झुरमुटों की छाँह में बैठ दाल-बाटियाँ खानी ही पड़ती हैं। और ओरछे पहुँच कर तो वे अपने अभीष्ट की प्राप्ति कर, उसके वैभव पर कहते हैं—

कहाँ आज वह अतुल ओरछा हाय धूल में धाम मिले,
चुने चुनाए चिह्न मिले कुछ सुने सुनाए नाम मिले,
फिर भी आना व्यर्थ हुआ क्या तुंगारण्य यहाँ तुझ में ?
नेत्र-रंजनी बेत्रवती पर हमें हमारे राम मिले।

अपने संपर्क में रहनेवालों की कमजोरियों से भी वे अपरिचित नहीं रहते, उपेक्षा की दृष्टि से भी उन्हें नहीं देखते। पर किसी दूसरे पर जहाँ-तहाँ प्रकट कर उसे गिराना उनकी प्रकृति में नहीं। उसके एक-आध गुण पर ही वे उसे अपने से लगा उसके और दोष दूर करने को चिंतित रहते हैं। यदि बुराइयों के कारण वे उसे छोड़ दें, तो जो थोड़ा-बहुत गुण उसमें है वह भी दोष में परिणत न हो जाय, इसीलिए वे ऐसों की क्षमार्थ अपने राम से कहते हैं—

क्षमा करो उनको भी राम,

उनके भी उद्धार हेतु, प्रभु करता हूँ मैं तुम्हें प्रणाम।

अमरशहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी दद्दा के स्नेह के कारण चिरगाँव को अपना घर मानते थे। उनकी स्मृति का थोड़ा-सा काम चिरगाँव में प्रारंभ हुआ है। विद्यार्थी जी के बड़े-बड़े मित्र उन्हें भूलते से जा रहे हैं, पर दद्दा के अंतस में उस स्मारक की पूर्णता की चिंता सदैव कसकती रहती है। जब भी कहीं आते-जाते उसके समीप से निकलते हैं, उसकी चर्चा आती है, तब विचारमग्न हो कहते हैं, 'किसी प्रकार इसे पूरा करा पाते।'

मेरा संकलन 'गाँव का मेरुदण्ड : किसान' छपना था। झाँसी के छोटे-बड़े सभी प्रेसों से मोल-तोल कर चुका था, पर नकद-नारायण के अभाव में वहाँ का 'अड़की-ऊँट' भी मेरे लिए लेना मँहगा ही नहीं, असंभव ही था। पर जब मैंने सकुचाते-सकुचाते साहित्य-प्रेस के संचालकों से अपनी पुस्तक छपाने की अपनी इच्छा और अपनी स्थिति बताई, तब उन्होंने रेट-बेट का हिसाब न लगा, मेरी पुस्तक इस शर्त पर छापने को ली कि कागज के दाम और काम करनेवालों को देनेवाला पैसा ही वे मुझसे लेंगे, प्रेस की घिसन और स्याही तथा उनका प्रबंध-सम्बन्धी व्यय मुझे न देना पड़ेगा। सौदा दूसरे छोटे प्रेसों से भी कहीं सस्ता रहा, जब कि छपाई कई अच्छे प्रेसों से अच्छी रही। पुस्तक छपी और दद्दा के आगे पहुँची। पुस्तक की छपाई आदि के बारे में उन्होंने आज्ञा दी, "हरगोविन्द से सिर्फ कागज के दाम ही लिए जायँ।" बापू ने यह कहा कि कागज के दाम भी इस प्रकार लिए जायँ कि उन्हें कष्ट का अनुभव न हो। बतानेवाले की बात सुन कर हृदय में एक हल्का-सा कम्प हुआ, पुलक ने आँखों में आँसू छलछला कर सिर को श्रद्धा से नत कर दिया।

कह नहीं सकता, इस प्रकार पूज्य दद्दा घर और बाहर कितने विशाल परिवार के अभिभावक हैं, कितनों की कैसी चिंता उन्हें व्यस्त कर इधर-उधर फिराती है!

उनके बारे में कुछ कहने का अधिकार या शक्ति मुझ ऐसे अकिंचन में कहाँ? उनके निकट तो उन्हीं के शब्दों में मेरी विनम्र श्रद्धा सादर निवेदित है—

बहु कल-कण्ठ खगों के आश्रय, पालक या प्रतिपाल प्रणाम।

भव-भूतल को भेद गगन में, उठने वाले शाल प्रणाम॥

आदर्श पत्र-लेखक गुप्त जी

श्री मुरारीलाल केड़िया

देश के साहित्य में ही नहीं, विदेशों के साहित्य में भी लोकप्रिय नायकों और साहित्यकारों के पत्रसाहित्य का एक विशिष्ट स्थान मान्य रहा है। इस विश्वव्यापी मान्यता में पत्रसाहित्य की उत्कृष्ट कला का कारण उतना नहीं है, जितनी इस सामग्री की प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक अभिव्यक्ति। पत्रसाहित्य में ही कल्पना से अधिक मनुष्य की अनुभूत यथार्थता उस स्वाद को प्रस्तुत करती है, जिसका रसोपभोग हम किसी कठिन-विशेष परिस्थिति में अपने ही हाथों भोजन पकाकर कर पाते हैं। यदि किसी व्यक्ति-विशेष के अनेक क्रमबद्ध पत्र उपलब्ध हो जाएँ, तो उनके सामने उच्चस्तरीय उपन्यासों का आकर्षण भी कुछ समय के लिए मद्धिम हो जाता है। जितना भी पत्रसाहित्य देखने में आता है, प्रायः सभी में कलात्मक पक्ष की निष्पत्ति के प्रति पत्रलेखक चाह कर भी संतुलित नहीं रह पाता। पत्रलेखन की तुलना केवल उस फोटोग्राफी से की जाती है, जब किसी बाढ़ में उमड़ती-मचलती नदी का एक धारा प्रवाहिक दृश्य किसी मूवी कैमरे ने लिया हो। मन को अनावृत कर और अपने निगूढ़ गढ़ के मुख्य द्वारों को खोल कर ही पत्रलेखक अपने अन्तर्मुखी विराट का रहस्योद्घाटन इस तरह करता है, मानो कुछ क्षणों बाद ही वह निर्ममतापूर्वक उस निगूढ़ गढ़ का परित्याग करने चला हो। इसीलिए केवल पत्रसाहित्य में ही भावों का चरम उद्दीपन, अन्तर्विग्रह का उद्दाम वेग, मानवी मन का एकधार विलोड़न, एकसांस अन्तर्जागरण, हृद्‌शक्ति का देवत्व व निर्लिप्त मनोमंथन और मनुष्य के अंतर में दानवी गति से बहने वाले अंधड़ों का प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है। पर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि केवल पत्रसाहित्य में ही मनुष्य का साधुरूप बिन लागलपेट के और बाह्य आडंबरों के परिलक्षित हो सकता है।

यह सच है कि पत्रलेखक के रूप में बहुत कम, इने-गिने लेखनी के धनी ही इस अभिव्यक्ति के माध्यम को उपकृत कर पाए हैं। बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में इस लेखनकला का एक संतोषप्रद विकास-प्रसार तो हुआ, पर हमारे देश में साहित्यिक निधि के रूप में बहुत ही कम संख्या में पत्रों का संकलन या चयन किया जा सका है। महात्मा गांधी जैसे युगवेत्ता अवश्य इस क्षेत्र में महत् योगदान कर गए। जब कि सभी साहित्यिक कृतियाँ मनरंजन और मानससिंचन करने में सक्षम हैं, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उत्तम पत्रों का पठन-पाठन एक उत्कृष्ट रसज्ञता का मनहर रूप प्रस्तुत कर देता है। इसी दृष्टि से जब भी गुप्त जी की आत्मीयता की चर्चा कहीं होने लगती है, तो मुझे उनके पत्रों में भरी रसभीनी आत्मीयता का तुरंत ही ध्यान आ जाता है। कभी-कभी यह स्पष्ट प्रतीति भी होने लगती है कि व्यक्तिगत रूप में गुप्त जी की आत्मीयता उनके संकोचशील होने के कारण उतनी व्यक्त नहीं हो पाती, जितनी कि उनके पत्रों में रसनिष्ठ हो उमड़ पड़ती है। इसका भी कारण है। गुप्त जी चिरगाँव के जिस सम्पन्न परिवार के गृहपति हैं, वहाँ आज भी ठेठ ग्रामीण संस्कार उसी रूप में पोषित होते हैं, जिस रूप में वे आज से ५० वर्ष पहले उनके पिता श्री सेठ रामचरण के समय में होते थे। भारतीय ग्रामीण संस्कृति किसी भी परिचित या अपरिचित बंधु-बांधव को, हार्दिक आत्मीयता के [illegible] से ही देखने की अभ्यस्त है। वह उस शहरी औपचारिकता को आज भी स्वीकार नहीं कर सकी है, जिसमें औपचारिकता का घोषित प्रदर्शन ही अधिक रहता है। भारतीय ग्रामीण संस्कृति के संस्कार अत्यधिक विनम्र और असंभ्रम होने के कारण मौन रहने में ही शुभ परिणति मानते हैं। गुप्त जी अपने अतिथियों और परिचित मित्रों को असीम स्नेह के आवरण में सुरक्षित कर लेते हैं, हार्दिक आत्मीयता के गुम्फन में उन्हें जैसे अपना गोपनीय स्नेह-पराग भी चुपके से अत्यधिक मात्रा में थमा देते हैं। इतना होते हुए भी, गुप्त जी की आत्मीयता का रस अनिर्वचनीय हो उठता है। उनके निकट बैठ कर उनकी आत्मीयता का रस केवल मौनभाव से ही लिया जा सकता है। वह तो ठीक समझ में तब आता है, जब उनसे

दूर रहने पर उनके रसपगे पत्र हाथ लगते हैं। गुप्त जी के पत्रों में एक अजीब-सा खस्तापन है, उनका स्वाद कुछ ऐसा अकल्पनीय है कि जिन्हें वे पत्र मिलते हैं, बस वे ही अपूर्व रूप में उसे चख पाते हैं। उनके पत्रों की आदर्शवादिता का तो कहना ही क्या।

मुझे तो ऐसा लगता है कि गुप्त जी से मेरा परिचय उनके सुंदर पठनीय पत्रों की सौगात पाने के लिए ही हुआ हो। गुप्त जी से मेरा प्रथम परिचय रायसाहब के द्वारा उन्हीं के रामघाट (काशी) स्थित मकान पर संवत् १९९० में हुआ था। उन्हीं क्षणों में गुप्त जी के माधुर्यपूरित व्यक्तित्व की गहरी छाप मेरे ऊपर पड़ गई। उनका सरल स्वभाव, उदार हृदय एवं सादा रहनसहन—ये सभी एकसाथ उनके प्रति आकर्षण के कारण बन बैठे। कुछ दिनों के बाद रायसाहब के साथ वे मेरा पुस्तकालय देखने पधारे। उसे देख कर वे प्रसन्न हुए और उन्होंने सम्मति-पुस्तक में लिखा—"श्री केड़िया जी का पुस्तक-भवन तथा संग्रहालय का श्रीगणेश देखकर बड़ी ही प्रसन्नता हुई। उनका उत्साह अत्यंत श्लाघनीय है। ईश्वर उनकी यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ाता रहे। हमें पूर्ण आशा है कि शीघ्र ही यह संस्था सार्वजनिक रूप धारण करके काशी की शोभा बढ़ाएगी। —मैथिलीशरण।"

इसके पश्चात उनकी कृपा मुझ पर दिनानुदिन बढ़ती गई। आज वह निकटता में बदल चुकी है। वे जब भी बनारस आते हैं, उनके सहवास का, सत्संग का और आत्मीयता का सौख्य मिलता है और मेरे यहाँ भी कितनी ही बार पधारने का कष्ट उन्होंने सहर्ष उठाया है। अपनी किसी नई कृति के प्रकाशित होते ही उसकी एक प्रति मेरे श्रीरामरत्न-पुस्तक-भवन में अवश्य भिजवाने का अनुग्रह करते हैं। सौभाग्यवश संवत् १९९४ में पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र, रायसाहब, दुलारेलाल जी भार्गव और गुप्त जी के साथ मुझे आचार्य द्विवेदी जी के गाँव दौलतपुर जाने का सुअवसर मिला। यह यात्रा मेरे ही आग्रह पर आयोजित की गई थी। उस समय की गुप्त जी की अनेक मधुर स्मृतियाँ मानसपटल पर सर्वदा के लिए अंकित हो गई हैं। इस यात्रा में आचार्य द्विवेदीजी ने मेरे संग्रहालय के लिए अपना डंडा, खड़ाऊँ एवं एक डायरी प्रदान करने की कृपा की थी।

मेरे पुस्तकालय में एक संग्रहालय भी है। इसमें प्रेमचन्द जी, आचार्य द्विवेदी जी, जयशंकर प्रसाद जी, रामचन्द्र जी शुक्ल आदि अमर साहित्यकारों की पांडुलिपियाँ एवं सभी की कुछ-न-कुछ दैनिक जीवन के व्यवहार में आई हुई कुछ संस्मरणीय वस्तुएँ संगृहीत हैं। इसी संग्रहालय के लिए एक बार मैंने गुप्त जी को अपनी पांडुलिपियाँ, पगड़ी तथा अन्य वस्तुएँ भेजने के लिए लिखा था। उत्तर में उन्होंने ९–१२–३५ को लिखा, "प्रिय केड़िया जी, मेरी हस्तलिपि चाहते हैं। यही तो है। देखिए क्या सुंदर है।" उनके इस पत्र में अपनी लिखावट के प्रति एक गहरा विनोद भरा हुआ है। इस समय आपकी लिखावट ऐसी है, जो कई सहस्र व्यक्तियों की लिखावट में अलग ही पहचान में आ जाएगी। इस पत्र के भेजने के उपरांत आपने ३०-६-३४ को यह पत्र दिया : "मैंने आपसे बहुत पहले ही निवेदन कर दिया था कि मेरी पांडुलिपियाँ छिन्न-भिन्न और अपूर्ण होती हैं। फिर भी खोज करूँगा। यदि आपको देने योग्य मिल गई, तो दूँगा। पगड़ी अब मैं खद्दर की व्यवहार करता हूँ और उनके लिए मुझे बड़ी कठिनाई पड़ती है। मेरे पास केवल दो पगड़ियाँ इस समय हैं। कृपाकर मुझे थोड़ा समय दीजिए।"

इसके बाद अपनी रुचि की पगड़ी के सम्बन्ध में आपने निम्न पत्र दिया—

श्री राम : चिरगाँव (झाँसी), ३०-१२-३५, प्रिय केड़िया जी, कृपापत्र मिला। धन्यवाद। मैं पगड़ी आपको अवश्य भेज दूँगा। जो हस्तलिपि आप चाहते हैं, वह भी। अस्सी नंबर का सूत जितना मोटा होता है, उतना मोटा रेशमी धागा हो, तो बीस-इक्कीस गज लंबी पगड़ी पर्याप्त होगी। अर्ज या पनहा सात इंच। परंतु आप इसके लिए विशेष चिंतित न हूजिएगा। आसानी से मिल जाय, तो आध सेर रेशम ही प्राप्त कर लीजिएगा। संभवतः उससे झाँसी में ही दो पगड़ियाँ बन जायेंगी। यदि वहाँ बन सकें, तो और भी अच्छा।

और सब कुशल है। आशा है, आप सानंद हैं। आपका—मैथिलीशरण।

इसके बाद गुप्त जी ने मेरे संग्रहालय के लिए अपनी एक पगड़ी, एक छड़ी एवं खड़ाऊँ भिजवा दीं, जो अन्य संग्रहणीय वस्तुओं के साथ सुरक्षित रखी हुई हैं। गुप्त जी के भेजे इस पत्र के साथ उनके अनेक हस्तलेख व पत्रादि भी एकत्र किए गए हैं, जिनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

(१) चिरगाँव, २३–७–३६, प्रिय केड़िया जी, आपकी शुभ कामना और पगड़ी यथासमय पहुँच गई थी। हृदय से कृतज्ञ हूँ। मेरा प्रेमाभिवादन स्वीकार कीजिए। लोगों ने जो कृपा की है, उसके भार से मेरा माथा उठता नहीं।* और क्या कहूँ।

पगड़ी बहुत सुंदर बनी। आपने इसके लिए बड़ा कष्ट किया। आपकी यह भेंट मेरे सिर माथे रहेगी, इसका कहना ही क्या। शीघ्र काशी आने का मन है: और बातें उसी समय।

(२) चिरगाँव, ४–६–३७, प्रिय केड़िया जी, सहानुभूति के लिए कृतज्ञ हूँ। अजमेरी जैसा बंधु खोकर मैं अपनी मनोदशा क्या कहूँ। जीवन का आनंद-विनोद जैसे समाप्त हो गया है। ऐसा गुणी और साथ ही चरित्रवान मनुष्य दुर्लभ ही है। जितना आह्लाद उन्होंने हमें दिया, उतना विषाद भी ठीक ही है। फिर भी हम उनसे उऋण होने के नहीं।

प्रसाद जी के लिए बहुत चिंता है। प्रभु उन्हें जीवन दान करें। और क्या लिखूं ?

(३) चिरगाँव, २२–११–३७, प्रिय केड़िया जी, कृपापत्र मिला। क्या बताऊँ, प्रसाद जी भी चले गये। ऐसा बंधु दुर्लभ है। प्रभु की इच्छा! आपका, मैथिलीशरण।

(४) चिरगाँव ३१–८–३८, प्रिय मुरारीलाल जी, बच्चे के जाने का समाचार 'आज' में पढ़ा। दुःख हुआ, यद्यपि पहले ही मुझे निराशा थी। यही तो संसार है। जैसे हो सहना ही होगा और क्या लिखूं यह ऐसा प्रसंग है कि कुछ कहते नहीं बनता और सुनते भी नहीं। व्यथित, मैथिलीशरण।

(५) दैवी विधान कि गुप्त जी के एकसाथ दो बच्चे कालकवलित हो गए। उस समय भारी हृदय से उन्हें पत्र दिया, तो आपने लिखा—"चिरगाँव, २०–१०–३८, प्रिय केड़िया जी, कृपा कार्ड पहुँचा। सहानुभूति के लिए हृदय से कृतज्ञ हूँ। हतभाग्य, मैथिलीशरण।"

(६) चिरगाँव, १६–१–३९, श्री शुक्ल जी, प्रणाम। कृपा कार्ड पहुँच गया। सम्भवतः मैंने ही पहले पत्र को समझने में भूल की। आपको व्यर्थ कष्ट करना पड़ा, क्षमाप्रार्थी हूँ।

लेख† किसी प्रकार लिख कर सेवा में भेज रहा हूँ—अलग बुकपोस्ट से। और भी कितनी ही बातें लिखने को थीं, परंतु मैं प्रकृतिस्थ नहीं रहता। देर लगती, आपको समय पर लेख भी न मिलता। इसलिए अधिक न लिख सका। आशा है, यह समय पर पहुँच जायगा। मुझे गद्य लिखने का वैसा अभ्यास नहीं। भूल-चूक कृपा कर आप ठीक कर लीजिएगा। विनीत, मैथिलीशरण।

(७) चिरगाँव, ८–३–४१, प्रिय केड़िया जी, जय सीता राम। पत्र यथासमय पहुँचा था। उत्तर में विलम्ब हुआ। क्षमा चाहता हूँ।

कलकत्ते से लौटने की त्वरा थी। इस कारण काशी न ठहर सका। अब भी चित्त कुछ व्यग्र है। मेरे भतीजे चि० रघुवीरशरण सत्याग्रह में गिरफ्तार हुए हैं। ११ मार्च को मुकदमा होगा। बालकिशोर जी से कहिए, तनिक स्वस्थ होकर उनके लिए पुस्तकें भिजवाऊँगा। आप सब सानंद होंगे। कभी-कभी कुशल समाचार भेजते रहिए। आपका, मैथिलीशरण।

(८) चिरगाँव, १६–१२–४१, प्रिय केड़िया जी, कृपापत्र यथासमय पहुँचा। उत्तर में विलंब हुआ। क्षमा कीजिएगा। आप लोगों की शुभकामना के बल से जीवन का एक यह अनुभव भी सुख संतोषपूर्वक ही हो गया। जब तक झाँसी में था कुछ लिखता था परंतु आगरे में इतने दिनों में बहुत ही कम लिख पढ़ सका। कभी-कभी 'कुणाल' का एक-आध गीत लिख देता था। यों पुस्तकें दो और भी झाँसी में ही आरम्भ कर

---

* गुप्तजी की स्वर्ण-जयंती के समय आयोजित अभिनंदन-उत्सव। † आचार्य द्विवेदी जी के निधन के बाद 'सरस्वती' ने द्विवेदी-स्मृति अंक निकाला था, उस अवसर पर श्री देवीदत्त जी शुक्ल को भेजा गया लेख।

दी थीं। एक तो महाभारत और दूसरी 'कारा' 'कुणाल गीत' अब पूरा कर रहा हूँ। उसके उपरांत 'कारा' पूरी करने का प्रयत्न करूँगा। फिर जो हो जाय।*

मेरे बड़े भाई को अभी नहीं छोड़ा है। अधिकारी अपने अनुग्रह में त्रुटि नहीं रहने देना चाहते हैं। अच्छा है, हम भी क्या याद करेंगे!

बड़े भाई जब छूट कर आ जायँगे, तभी मैं बाहर निकल सकूँगा। तभी आपसे मिल सकूँगा। समझ लीजिए, अब भी बंधन में हूँ। और क्या लिखूँ। आप सब सानंद होंगे।

(९) चिरगाँव, ७–६–४८, प्रिय सेंगर जी, पत्र पहुँचा। धन्यवाद। अपने महाभारत का 'एक-लव्य' नामक एक अंश भेजता हूँ। यह इन्हीं दिनों लिखा गया है। परंतु शरीर गड़बड़ा गया। नहीं जानता, आगे कैसे काम चलेगा। आप सानंद होंगे। आपका, मैथिलीशरण।

(१०) चिरगाँव, १४–७–४८, प्रिय मोहनसिंह जी, 'नया समाज' बहुत सुन्दर निकला। उससे हिन्दी की गौरववृद्धि हुई है। प्रभु उसे चिरस्थायी करें, यही प्रार्थना है।

आपको और सेकसरिया जी को बधाई। उनसे मेरा यथोचित कहिए। मुझसे कुछ सेवा बन पड़े, तो मैं ही आप लोगों का कृतज्ञ हूँगा। परंतु बहुत आशा नहीं होती। शक्तियाँ क्षीण से क्षीणतर होती जाती हैं। हजारीप्रसाद जी से मेरा प्रणाम कहिएगा। उस बिटिया को वे मेरी ओर से आशीर्वाद दें, जिसकी नख-जिज्ञासा का मूल्य मोती भी नहीं चुका सकते।

(११) †चिरगाँव (झाँसी), २४–७–४८, प्रिय मोहनसिंह जी, आपका मनीआर्डर पहुँचा। धन्यवाद। मैंने पत्रों से उनकी कृपादृष्टि पाकर ही अपने को कृतार्थ माना है। 'सरस्वती' में वर्षों तक मैं निरंतर लिखता रहा और 'सरस्वती' भी मूल्य देकर ही पढ़ता रहा। बहुत दिन पीछे पूज्य द्विवेदी जी ने इसे अपनी भूल कहकर उसे बिना मूल्य लेने की आज्ञा दी थी। परंतु वस्तुतः भूल यही थी। द्विवेदी जी के संपादन छोड़ने पर वह शीघ्र सुधार भी दी गई।

इधर समय बदल गया है। बहुत से कृपालु सम्पादक वर्षों से अपने पत्र भेज रहे हैं। परंतु मैं एक बार भी बहुतों की सेवा में कुछ भी न भेज सका। अपनी असमर्थता पर मैं लज्जित होता हूँ, परंतु विवश हूँ। मेरा शरीर मानसिक परिश्रम नहीं झेलता। इसी से लगकर मैं महाभारत का काम भी नहीं कर पाता, यद्यपि चाहता हूँ कि वह पूरा हो जाय। अस्तु—

इधर दो वर्ष के भीतर दो पत्रों से अवश्य मैंने पुरस्कार किंवा पारिश्रमिक लेकर उसका उपयोग अपनी बुद्धि के अनुसार किया है। दोनों पत्र समर्थ थे। एक के संपादक ने तो विशेष आग्रह किया था। आपके मनीआर्डर के विषय में मेरी इच्छा थी कि उसे लौटा कर आपसे प्रार्थना करूँ कि देना ही आवश्यक समझिए, आप ही इसे किसी संस्था को दे दीजिए—अपनी ओर से। फिर सोचा आपसे पूछ कर मैं ही यहाँ से भेज दूँगा। इस सम्बन्ध में यदि मेरी सम्मति का ही आग्रह, तो 'साहित्यकार संसद' है 'भारत कला भवन' है। 'गणेश शंकर हृदय तीर्थ' नाम की यहाँ भी एक संस्था है, जिसका भवन अधूरा है। प्रयाग होकर काशी तो मैं स्वयं जा रहा हूँ।

अंत में कृपा के लिए मेरी कृतज्ञता स्वीकार कीजिए। साथ ही अपना भय भी प्रकट कर दूँ। ऐसा न हो कि ऐसे पुरस्कार के लोभ में मैं एक पर एक रचनाएँ आपकी सेवा में भेजने लगूँ। इससे आपको भी विरक्ति हो उठेगी और मेरी रहीसही शक्ति भी समाप्त हो जायगी। एक प्रतिक्रिया यह भी हो सकती है कि कभी कुछ भेजने में लज्जा और संकोच का भी अनुभव न करना पड़े।

पत्र अपने पैरों चलने लगे, तब कोई बात नहीं। उससे कभी कुछ मिलेगा, तो वह व्यर्थ नहीं जायगा। अभी क्या त्वरा है। जानता हूँ, पत्र के संचालक समर्थ हैं। तब तो 'नून तेल लकड़ी' से ही संतुष्ट

---

* १९४१ में आगरा-जेल से मुक्त होने पर लिखा गया पत्र। † पत्रसंख्या ९-१०-११ कलकत्ता के 'नया समाज' के सम्पादक के नाम है।

क्यों हूँगा। लोकयात्रा की सारी आवश्यकताएँ ही क्यों न उनको बता दूँगा और उनके अनुग्रह से निश्चिंत हो जाऊँगा। किंतु अब समय ही कितना है। यही आशीष दीजिए कि ऐसा न करना पड़े। आप प्रसन्न होंगे। आपका, मैथिलीशरण।

(१२) चिरगाँव, २३–६–२००६, प्रिय केड़िया जी, आज एक कार्ड मिला है, जिस पर पता तो मेरा लिख दिया गया है, परंतु दूसरी ओर बस कोरा है। हस्ताक्षर आपके से हैं। मुहर भी बनारस की है। इससे जान पड़ता है आप कुछ लिखना चाहते थे, परंतु पता लिख कर ही किसी काम में लग गये और वह वैसा ही पोस्ट कर दिया गया। आप सानंद होंगे। आपका, मैथिलीशरण।

(१३) चिरगाँव, सौर २३–११–२००७ वि०, प्रियवर मुरारीलाल जी, आपका पत्र पहुँचा। हाँ, मैं प्रयाग से ज्वर-खाँसी लेकर लौटा था। यहाँ आकर पड़ गया, अब धीरे-धीरे संभलता बना पड़ता हूँ। आपसे काशी में भेंट न हो सकी। वस्तुतः मेरा वहीं शरीर गड़बड़ा गया था।

आपका यहाँ आना गिनती में नहीं। यह भी कोई आना था। कार्यवश मैं आपको रोक न सका। दुःख है वह कार्य भी न हुआ, जिसके लिए आप को जाना पड़ा था। अब कब आशा करूँ? होली पर महादेवी जी और प्रयाग के कुछ मित्रों के आने की आशा है। श्री सीताराम जी सेकसरिया ने भी आने को कहा था। मैंने उनको और कृष्णदास को भी लिखा है। इसी अवसर पर आप भी आइये न? गाँव की होली देखियेगा। दो-चार दिन आनंद रहेगा। सस्नेह, मैथिलीशरण।

(१४) चिरगाँव, २४–१–२००९, प्रिय केड़िया जी, जब विधि-विपरीत होता है, तब सब साधन विफल हो जाते हैं। नहीं तो अनुभूत औषध का प्रयोग भी क्यों निष्फल जाता। रह-रह कर रक्त जाता ही रहता है। दुर्बलता स्वाभाविक ही है। अब तो यही लगता है कि जो हो। दिल्ली जाना ही है।* साहस बटोर रहा हूँ। प्रभु जैसे निभा दें। आप सब सानंद होंगे। सस्नेह, मैथिलीशरण।

(१५) जब गुप्त जी, दिल्ली में राज्यसभा के मनोनीत सदस्य होकर गए, तो मैंने उनसे उनकी प्रथम दिल्ली-यात्रा के अनुभव पूछ मँगाए। 'भारत-भारती' में एक पंक्ति है: 'बारह बरस दिल्ली में रहे, और भाड़ ही झोंका किए।' इसी को शायद याद करते हुए आपने २३–२–२००९ को लिखा "मैं दिल्ली के लड्डू खाकर लौट आया। भाड़ झोंकना ही मुझे तो दिखाई दिया। परंतु इसकी अवधि ५० बरस की नहीं, यही क्या थोड़ा है।" फिर दूसरे पत्र में लिखा, "ये लड्डू ऐसे हैं कि खाकर भी और न खाकर भी पछताना पड़ता है। फिर खाकर ही क्यों न पछताया जाए।" इसी प्रसंग में उन्होंने तीसरा पत्र इस प्रकार लिखा—"१७९, नार्थ एविन्यू, नई दिल्ली, प्रिय केड़िया जी, पत्र मिला। आपको मेरे लिए चिंता हुई सो ठीक ही है, परंतु प्रभु जैसे चलावें वैसे चलना है।

मैं यहाँ आ तो गया, परंतु अभी तो अपना कोई लाभ नहीं देखता। आगे जो हो। मैं जो कार्य पचास वर्ष से कर रहा था, लगता है, वही मेरे लिए ठीक था। देखूँगा क्या भविष्य है। मैं यहाँ ३१ मई तक तो हूँ ही। तभी तक राज्यपरिषद की बैठकें हैं। आप स्वस्थ सानंद होंगे।"

(१६) चिरगाँव, १२–६–२०१०, प्रियवर,† कल घर पहुँचा हूँ और आज आपका पत्र आ गया। ऐसा तत्पर मित्र पाने के लिए सेंगर जी को बधाई। 'विकास' शीर्षक पद्य भेज रहा हूँ।

> नीचे उतर देव, तुम हमसे कुछ ऊपर रह जाते हो,
> आकर्षित करके क्रम से फिर ऊँचा हमें उठाते हो।
> बढ़ हम तुम्हें धरें, त्योंही तुम तनिक और बढ़ जाते हो,
> हम विकास पाते हैं या यों तुम विनोद पाते हो!

•••

---

* राष्ट्रपति द्वारा राज्यसभा के सदस्य मनोनीत होने पर लिखा गया पत्र।

† श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह के नाम पत्र।

राष्ट्र की संवेदना के प्रहरी

श्री सीताराम सेकसरिया

★ ★

कला निर्धूम यज्ञाग्नि की तरह उस संपूर्ण समर्पण को ग्रहण कर लेती है, जो यज्ञकाल में सहधर्मियों के हाथों होमा जाता है। और कलाकार की कला या कृति का यज्ञकाल तो उतने दीर्घ समय तक चलता रहता है, जब तक कि वह कला या कृति जन-मन-रंजक के रूप में जीवित रहती है। कलाकार की एक कृति ऐसा ही चिरकाल-यज्ञ है, जिसमें कलाकार की आत्मा का निवेदन ही नहीं, उसके पाठकों की प्रशंसा-श्रद्धा भी उस यज्ञाग्नि में घृताहुति का कार्य निरंतर करती रहती है। यही कारण है कि कलाकार का वास्तविक परिचय उसकी ऐसी कृतियों के द्वारा होता है, जो दीखने में 'रत्नाचल' की तरह हैं, लेकिन जिसका महत् उद्देश्य तो दान की महत् कामना है। कलाकार का प्रत्यक्ष दर्शन या उसके संसर्ग में आने का सौभाग्य बहुत कम लोगों को मिल पाता है। पर उसकी कृतियाँ तो चाहने वालों को इस तरह प्राप्त हो सकती हैं, मानो तीर्थयात्री को अपरिचित तीर्थों की पगडंडी अपने आप आगे बढ़ाए ले चले। यही कारण है कि सच्चे कलाकार की कृतियाँ प्रभाव किए बिना नहीं रहतीं।

सन् १९०९–१० की बात होगी। 'सरस्वती' में मैंने गुप्त जी की कविता पढ़ी। उस समय मेरी उम्र बहुत ही कम थी। गुप्त जी कौन हैं, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। मैंने कविता पढ़ी, तो जिनके पास से मैंने 'सरस्वती' पढ़ी थी, उनके पास जा कर मैंने अपनी जिज्ञासा का केवल यही समाधान पाया कि वे महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के शिष्य हैं और द्विवेदी जी ही 'सरस्वती' के सम्पादक हैं। मेरे मन में भी चाह उत्पन्न हुई कि मैं भी 'सरस्वती' का ग्राहक बनूं। उसका वार्षिक मूल्य ४) रु० था, जो उस समय मेरे लिए खर्च करना कठिन था। उन दिनों मैं अपने गाँव नवलगढ़ में था। जो हो, किसी तरह मैंने चार रुपए खर्च किए और 'सरस्वती' का ग्राहक बना और इस तरह गुप्त जी की कविताएँ पढ़ने लगा। उसके कुछ ही दिनों बाद 'भारत-भारती' निकली। उस समय तक मैं कलकत्ता चला आया था और २५–३० रुपए की नौकरी करने लगा था। मेरे एक दूसरे मित्र स्वर्गीय भाई बसंतलाल जी मुरारका ने 'भारत-भारती' की कुछ पंक्तियाँ लिख कर भेजीं और इस कृति को पढ़ने का आग्रह किया। अब तक गुप्त जी के प्रति आकर्षण प्रबल हो ही चला था, उनकी यह कृति भी खरीदी और संपूर्ण पढ़ गया। बार-बार पढ़ता रहा और उसकी अनेक पंक्तियाँ कंठस्थ कर लीं। इस प्रकार गुप्त जी के साहित्य के प्रति मेरा अनुराग व श्रद्धा बढ़ती गई।

जब 'यशोधरा' आई और उसको पढ़ा, तो ऐसा लगा कि यह तो अपूर्व चीज है। 'यशोधरा' के कथानक को गुप्त जी ने जिस मार्मिकता से वर्णन किया है, वह बहुत ही अनूठा और अनुपम है। 'यशोधरा' पढ़े हुए मुझे आज अनेक वर्ष हो गए हैं, पर उसकी एक पंक्ति हरदम मेरे कानों में गूंजती है और यह कहूँ तो अत्युक्ति न होगी कि मौके-मौके पर यह पंक्ति मुझे सहारा और बल देती है—'रुदन का हँसना ही तो गान'। यह बात कितनी गहरी है।

शायद सन् १९३५ में मैंने गुप्त जी के प्रथम दर्शन किए। वे कलकत्ते आए थे। एक साहित्यिक गोष्ठी में वे पहुँचे थे, मैं भी वहाँ बुलाया गया था। संकोची स्वभाव के कारण मैं उनके पास न जा सका। जिस वेशभूषा में गुप्त जी को देखा, वह मेरी कल्पना का न था। बुन्देलखंडी पगड़ी, अंगरखा और दाढ़ी, जिसके बालों का कुछ हिस्सा पक गया था। मैंने उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने मेरी आशा से बहुत ही अधिक स्नेहभाव से नमस्कार के रूप में उसका उत्तर दे दिया। पर परिचय और बातें न हो सकीं। लोगों ने गुप्त जी से कविता सुनाने का आग्रह किया। मेरे मन में गुप्त जी की कविता सुनने की इच्छा थी। मुझे याद नहीं है, उस समय उन्होंने कुछ कहा तो सही, पर कविता न सुनाई। उस कहने में बहुत ही नम्रता थी। उन्होंने अपनी अकिंचनता बतलाई थी।

इसके बाद 'साकेत' प्रकाशित हुआ। बाहरी जीवन में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण उसे मैं १९४२ की जेलयात्रा में ही पूरा पढ़ सका। उससे एक वर्ष पहले गुप्त जी भी जेलयात्रा कर चुके थे और उनके प्रति जो साहित्यिक श्रद्धा थी, वह देशभक्ति का पुट पाकर द्विगुणित हो चुकी थी। मैं रामचरितमानस का नित्य का पाठक हूँ। यह कहने की धृष्टता तो नहीं कर सकता कि 'साकेत' रामचरितमानस से उत्तम है, पर कई स्थलों पर तो वह निश्चय ही बहुत उत्तम है।

बहिन महादेवी कहा करती हैं कि वे हमारे पितामह हैं। प्रयाग की 'साहित्यकार संसद' में सरस्वती-मन्दिर का शिलान्यास करने राष्ट्रपति आए थे, उस अवसर पर दो-तीन दिन गुप्त जी के साथ रहने का सुअवसर मिला। वहाँ राय कृष्णदास जी और वृन्दावनलाल वर्मा भी थे। उस उम्र में भी इन तीनों मित्रों को जिस तरह का विनोद करते देखा, वह आज के शिष्टाचारी और सभ्यता के अभिशाप से पीड़ित लोगों में नहीं मिल सकता। उनके विनोद में जिस आत्मीयता और निःसंकोच सरलता के दर्शन होते हैं, वे इतने प्रिय लगते हैं और ऐसा लगता है जैसे अनपढ़ ग्रामीण अपने खेतों-खलिहानों में काम करते, बातें करते विनोद में झगड़ रहे हों। वहीं एक दिन वृन्दावनलाल जी बाहर से कुछ देर कर आए। गुप्त जी बड़ी देर से प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें देखते ही गुप्त जी ने रायसाहब से कहा कि तुम्हारी वह लाठी कहाँ है? उन्होंने पूछा कि क्या करोगे? बोले कि इस वृन्दा का सिर फोड़ूँगा, यह इतनी देर कर क्यों आया! इस पर वर्मा जी ने भी उत्तर में बहुत ही विनोदभरा उत्तर दिया और उपस्थित मित्रों में एक अट्टहास गूँज गया।

कवि छंद रचता है तो वह कवि कहलाता है, पर जिसका हृदय कवि है, वह छंद-रचना न करने पर भी कवि है। कवि-हृदय का मतलब सहृदयता, सहानुभूति, उदारता, स्नेहशीलता, संवेदना और जिसके अंदर जितनी गहरी संवेदना है, वह उतना ही बड़ा कवि है। दूसरे का दुख देख-सुन कर हृदय में वेदना का संचार होता है, तो कवि की कविताएँ अपनेआप फूट पड़ती हैं और छंद बनते हैं। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बँटवारे की चर्चा चल रही थी। बँटवारा होकर रहेगा, ऐसी स्थिति बन चुकी थी। कांग्रेस के बड़े लोगों ने पूज्य गांधी जी की इच्छा-अनिच्छा का विचार किए बिना उसे स्वीकार कर लिया था। मातृभूमि के अंग-भंग की गुप्त जी के हृदय में कितनी वेदना थी, वह उनकी उस कविता से व्यक्त होती है, जो उन्होंने उन्हीं दिनों लिखी थी। उसकी दो पंक्तियाँ हैं—

कहो तुम्हारी मातृभूमि का है कितना विस्तार,
अवनी को तुम काटो-छांटो, तो क्या व्योम को भी बांटोगे?

आज के इस वैज्ञानिक युग में कवि का यह प्रश्न हल हो गया है। अवनी तो बँटती ही थी, व्योम भी 'बँट' गया। हमारे व्योम से किसी के हवाईजहाज हमारी आज्ञा के बिना नहीं घुस सकते। आगे कहता है—

एक देह के विविध अंग हम, दुखे सुखे एक संग हम,
लगे एक के क्षत पर सब का स्नेहलेप सौ बार।

वे एक के क्षत पर सबके स्नेह का लेप करना चाहते हैं। सब की वेदना, सब का दुख मेरा बन जाए। और मैं अपना सुख सब को दूँ। लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु।

एक दिन गुप्त जी ने बातें करते हुए कहा कि हमारे पिता जी ने रामचरितमानस के एक सहस्र पाठ करने का विचार किया, और करने लगे। उनके स्वर्गवास के समय तक यह संकल्प पूरा नहीं हुआ था। तो, हम सब भाइयों ने मिल कर बाकी रहे पाठों को पूरा किया। पिताजी की रामभक्ति ने हमें वरदान दिया है, उससे ही हम फलते-फूलते रहे हैं। हमारे परिवार की १३ कन्याओं का विवाह हुआ, इतनी बड़ी गृहस्थी आनंद से चलती है। हिन्दी जगत का आदर और प्यार प्राप्त है। यह सब हिन्दीमाता की सेवा, पिताजी की रामभक्ति और लोगों की शुभकामना का ही कारण है। हिन्दी ने हमें सब-कुछ दिया है। हम उसके ऋण से उऋण नहीं हो सकते। गुप्त जी के इन शब्दों में राष्ट्र की संवेदना का जागरूक प्रहरी ही बोलता है। उनके इस अभिनंदन के समय मैं हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि वे अनंत समय तक हमारे बीच रहें। इन शब्दों के साथ मैं भी अपना प्रणाम इन्हें भेजता हूँ।

गुप्तजी का सहज सौजन्य

★

श्री गुलाब राय

★

गुप्त जी का सहज सौजन्य इतना बढ़ा-चढ़ा है कि जो उनके संपर्क में ग्राता है, वह उनसे ग्रात्मीयता का ग्रनुभव करने लगता है। मुझे उनके संपर्क में ग्राने का कई बार सौभाग्य मिला ग्रौर जब मैंने उनको पत्र डाले, तब उनका सौजन्यपूर्ण उत्तर ग्राया। केवल एक पत्र में, जो मेरे उस पत्र के उत्तर में ग्राया था, जिसमें उनसे रेडियो में सहयोग देने के लिए लिखा था, विनम्र विद्रोह की-सी झलक मिली। वे राशन के दिन थे ग्रौर उन्होंने सरकार से सब से बड़े सहयोग की यह बात लिखी कि वे उन दिनों चावल केवल पर्व के दिनों में ही खाते थे ग्रौर मेरी माँग की पूर्ति का प्रश्न ऐसा था, जो सिद्धांत से सम्बन्ध रखता था ; उसके सम्बन्ध में वे सहयोग को तैयार नहीं थे। कहने का तात्पर्य यह था कि सरकार के साथ वे सहयोग के लिए वैयक्तिक कष्ट ग्रवश्य उठा सकते हैं, किंतु सिद्धांत को नहीं छोड़ सकते। यद्यपि गुप्त जी की इस दृढ़ता से मेरी इच्छा की पूर्ति न हुई, तथापि मैंने उसकी मन में सराहना की, क्योंकि मैं भोज्य पदार्थों के संन्यास का मूल्य जानता हूँ। चावल मेरे लिए प्रेय होते हुए भी श्रेय नहीं हैं।

जब गुप्त जी ने कविवर सुमित्रानंदन पंत के कहने से सप्रतिबंध रूप से रेडियो में सहयोग देने का वचन दिया, तब मैंने उनसे विनोद में कहा कि मेरी बात तो ग्रापने मानी नहीं, एक समान शील-व्यसन कवि की बात मान ली। बाबा तुलसीदास कह गए हैं, 'खग जाने खग ही की भाषा।' गुप्त जी ने मेरे विनोद का बुरा नहीं माना ग्रौर हँसते हुए कहा कि जब ग्रापने कहा था, तब तक रेडियो-नीति के सम्बन्ध में जो ग्रापत्तियाँ थीं, जैसी-की-तैसी बनी हुई थीं। पंत जी की नियुक्ति पर वे ग्रापत्तियाँ कम हो गईं थीं ग्रौर उनको भी बिना प्रतिबंध के ग्रपनी रचनाएँ ब्राडकास्ट करने की ग्रनुमति नहीं दी। गुप्त जी में सरकार से सहयोग करने की भावना ग्रावश्य है, किंतु वे ग्रपने सिद्धांत पर भी दृढ़ रहना जानते हैं। मुझे खेद है कि मैं ग्रपनी लापरवाही से उस पत्र को सुरक्षित नहीं रख सका। उससे उनके हृदय की तत्कालीन वेदना का ग्रच्छा परिचय मिल जाता।

आधुनिक खड़ीबोली काव्य के प्रकाश-स्तम्भ

श्री गंगाप्रसाद पांडेय

*

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त का स्मरण आते ही भारतीय भक्त-कवि का आदर्श सामने मूर्तिमान हो उठता है। वैसे वे इसी युग के हैं, आधुनिक खड़ीबोली-काव्य के बड़े-बूढ़े पुरखा हैं, प्रकाश-स्तम्भ हैं, पर भक्त की समर्पणशील भावुकता और सर्वहितकामना उनके जीवन तथा काव्य का सच्चा रूप है। उनके भीतर का भक्त उनकी बाह्य वेशभूषा में भी अपनी स्पष्ट झाँकी दे जाता है। गले में तुलसी की कंठी, माथे पर वैशाखी टीका और व्यवहार में निश्छल तथा अगाध अनुनय-विनय उनकी आंतरिक व्यवस्था के पावन प्रतीक हैं, इसीसे उनका व्यक्तित्व सजता और उभरता है।

किशोरावस्था में उनका चित्र देखा था—मोटा कुर्ता या मिरजई, बुन्देलखंडी बनियाऊ पगड़ी, होड़ लेकर ऊपर चढ़ती हुई घुटनों तक धोती, लंबा लटकता हुआ दुपट्टा और सबसे सटीक, बिना किसी काट-छाँट, अथवा रोकथाम के मनमानी गति से बढ़ती हुई मूँछें। काली, घनी। सब मिलाकर एक प्राचीनता लिए हुए दिव्य व्यक्तित्व, अपने सगे बाबा जैसा आत्मीय और स्नेहशील।

परंतु 'भारतीय परिषद्' के आयोजन में जब उन्हें विश्वविद्यालय के विद्यार्थी की आँख से देखा, तब मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। कहाँ वह चित्र और कहाँ ये गुप्त जी। सहज साम्य की साँसें वैषम्य की बौखलाहट में उपहास का रूप धारण कर रही थीं। मैंने उन्हें पहचाना ही नहीं। वे बीच-बीच में मुक्त रूप से हँसते बातें करते जाते थे। कभी-कभी तो उनके कहकहे और ठहाके इतनी तीव्र गति से छूट रहे थे कि कुछ साथियों ने कहा—"गुप्त जी को देखा, बालकों जैसा ऊधम करते हैं।" इधर-उधर घूमते-फिरते, एक शिशु-सुलभ सारल्य और चंचलता लिए हुए बूढ़े, मसखरे, सर्वप्रिय जीवंत व्यक्ति के रूप में जब गुप्त जी उस दिन प्रकट हुए, तब मुझे विराट-दर्शन का लाभ हुआ। मन में आया कि मुक्त कंठ से 'भये प्रगट कृपाला' वाली स्तुति कर डालें, परंतु जाने क्यों हिम्मत न पड़ी। संभवतः इसलिए कि वे आधुनिक चालू फैशन से सुसज्जित थे। पूरे पक्के क्लीनशेव, बंगाली कुर्ता, अलीगढ़ी पैजामा और हाथ में बढ़िया छरहरी छड़ी। कलाई पर घड़ी भी थी; मैंने तो नहीं, पर साथियों ने देखा।

मानस भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती,
भगवान भारत वर्ष में गूँजे हमारी भारती।

जैसी पंक्तियों का कवि अपने लिबास से जैसे मेरे मन को छल रहा था। मुझे लगा, बड़ों को लोकरंजन के लिए छलिया रूप भी धारण करना पड़ता है। जो भी हो, मेरा मन कुछ उलझने-सुलझने लगा और मैं स्तब्ध भाव से उनकी ओर देखता रहा। यज्ञोपवीत के साथ उनके गले की तुलसी कंठी भी मेरी दृष्टि से बच न सकी, तब मैं कुछ आश्वस्त हुआ। हँसते हुए गुप्त जी ने किसी के प्रश्न का उत्तर दिया—"हाँ-हाँ, भगवान की दया से अब स्वस्थ हूँ।" उत्तर दिया गया था किसी और को, मगर मिला मुझे। मैंने सोचा—'भगवान की दया ही थी कि कंठी दिख गई।' उसी क्षण से मुझ पर उनका ऐसा रोब जमा जैसे स्वयं गोस्वामी तुलसीदास सामने खड़े होकर आरती की सारी सज्जा में व्यस्त हों। जीवन और साहित्य दोनों में गुप्त जी को तुलसी का आधुनिक संस्करण कहना उचित ही जान पड़ता है, अन्यथा आज अणुयुग में और कौन ऐसा लिख सकता है?

राम तुम्हारा नाम स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।

राम की धुन और ध्वनि उनके सात्विक संबल हैं। गुप्त जी के जीवन में आस्था की अटलता, भक्त की टेक, भगवत्-स्मरण की हठ सर्वाधिक महत्व रखती है। और जो उनमें है, उसका छोड़ना या छोड़वाना

सहज संभव नहीं। इस युग में भी, भारतीय जीवन में भक्तों की विशेषता परिव्याप्त है। राष्ट्रपिता बापू भक्त और राष्ट्रकवि गुप्त जी भक्त।

प्रथम दर्शन से ही मैंने समझ लिया कि गुप्त जी ज्ञान, प्रतिभा, चरित्र और वय में बड़े होकर भी गुरु-गंभीर नहीं हो पाए। उनमें शारीरिक शिथिलता-जन्य सयानापन नहीं आ सका, उल्टे वे बालकों जैसे विनोदी, सरल, सहज और निश्छल तथा निर्विकार होते जाते हैं। परिणामस्वरूप स्वाभिमान की उनमें आज भी बहुत कमी है। अहं की आकुलता का उनमें आभास नहीं।

'हम भी कुछ हैं यह ध्यान रहे', न जाने उन्होंने कैसे लिखा ?

भारतीय साधना में परमहंसी वृत्तियाँ बालकों जैसी मानी गई हैं। गुप्त जी कवि परमहंस हैं, सरस्वती के सिद्ध साधक हैं। आप उनसे मिलकर देखिए कि वे अपनी अकलुष स्वाभाविक स्नेहिल आत्मीयता से आपको किस प्रकार मुग्ध कर लेते हैं। वे हास्य से स्निग्ध कर देते हैं, सारल्य से लुभा लेते हैं, ममत्व से मोह लेते हैं और अपनी आत्मीयता से सदा के लिए अपना बना लेते हैं। राष्ट्रकवि का गौरव और डॉक्टरी की उपाधि पाकर भी वे वैसे के वैसे ही बने रह गए हैं, सारे परिवर्तनों में अडिग, केंद्र की अपरिवर्तनशीलता लिए वे सतत गतिशील और जागरूक चेता हैं।

'महाराज' उनका सबसे प्रिय संबोधन है ; वे नेहरू जी, निराला जी, महादेवी जी—सभी को 'महाराज' से संबोधित करते हैं। 'सिया राम मय सब जग जानी' की चरितार्थता ही शायद इसका कारण हो। और वे तो सबके दद्दा हैं ही।

देश की स्वतंत्रता के बाद जेलयात्रा की आशंका से मुक्त होकर गुप्त जी ने धोती, कुर्ता और गांधी टोपी का राष्ट्रीय विन्यास स्वीकार कर लिया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि खादी केवल उनका ही नहीं वरन् उनके सारे परिवार का वस्त्रालंकरण है। गांधी जी वाली खादी की खुरदुरी दिव्यता से उनका घर किस प्रकार दीप्त रहता है, यह चिरगाँव की तीर्थयात्रा से ही जाना जा सकता है। और तो और, उनके चौपड़ की साज भी शुद्ध खादी से निर्मित है। दद्दा स्वयं चौपड़ खेलने के बहुत प्रेमी हैं और बहुत अच्छा खेलते हैं। उस बार चिरगाँव में चौपड़ बिछी कि बिछी ही रही। भोजन तैयार हो गया, कई बुलावे भी आ गए, महादेवी जी, जोशी जी, दिनकर जी आश्चर्य भी करने लगे, पर दद्दा उठने वाले नहीं। आखिर बाजी समाप्त कर ही उठे। यह बात दूसरी है कि सारे कौशल के साथ भी वे जीत नहीं सके। बाजी श्री सियारामशरण जी की ही रही। परंतु उनका ख्याल है कि 'हारहु खेल जितावहि मोही' वाली बात ही सच है, अन्यथा दद्दा हार नहीं सकते।

जीवन में विद्रोही की अपेक्षा दद्दा व्यवस्था के अधिक कायल हैं। वे विद्रोही नहीं, मर्यादाशील रामभक्त हैं। पर जीवन के विकास में किसी नवीनता को अपनाते चलना मानो उनके प्रभु की मर्जी है, मौज है। सच तो यह है कि वे चिरपुरातन होते हुए भी चिरनवीन हैं। जीवन का कुतूहल, औत्सुक्य और उसकी गतिमयी चेतना तथा उसकी अस्थिरता-जनित चंचलता उनमें खूब है। उनके साथ रहकर उनके किसी भी कार्य से यह अनुभव नहीं होता कि वे साठ पार कर चुके हैं।

सन् '४५ की प्रयाग-प्रदर्शिनी के दिनों में वे प्रयाग पधारे थे, नुमायश जाने की बात तय हो चुकी थी। शाम को वे महादेवी जी के यहाँ आए और बोले—"हमें नुमायश जाना है, परंतु यहाँ आना आवश्यक था। यह तो मंदिर है, यहाँ प्रसाद मिलता है, नहीं तो देखिए न, जाड़े-बादल के दिन" वाक्य पूरा भी न कर पाए थे कि बाहर की छपा-छुपी सहसा बढ़ी और हवा के साथ कुछ बूंदें पड़ने लगीं। थोड़ी देर में हवा ने सनाका खींचा और रिमझिम की कलध्वनि गूंजने लगी। महादेवी जी ने कहा—"इन बच्चों को जाने दीजिए, आप अब कहाँ जाइएगा ? पानी तेज भी पड़ सकता है, सर्दी है, आप जाकर विश्राम कीजिए।" दद्दा को जैसे यह आग्रह अच्छा नहीं लगा, सिर हिलाते हुए अपेक्षाकृत शीघ्रता से बोले—"ना महाराज, हम नुमायश तो जायँगे। हमें ऐसे मेलेठेलों में जाना अच्छा लगता है, पानी अभी बंद हो जायगा।" उनके इस उत्तर से सन् '१० की प्रदर्शिनी पर लिखी उनकी ये पंक्तियाँ अपनी सारी सार्थकता के साथ साकार हो उठीं—

संध्या होने पर प्रदर्शिनी दिखलाती थी नई छटा,
उन्नत नैष्ठिक नभस्थली का जिसे देखकर गर्व घटा।
विद्युत दीपों के प्रकाश से अंधकार का करके नाश,
रत्नाभरण युक्त रमणी सम करती थी मानो मृदु हास।

वे उस दिन भी प्रदर्शिनी देखने गए। जल्दी-जल्दी चारों ओर उत्सुकतापूर्वक देखते हुए इस प्रकार घूम रहे थे जैसे गाँव का ही नहीं, चिरगाँव का देहाती बालक बिजली के तालाब में तैर रहा हो। चाल में वह तेजी कि साथियों में दूसरे राउंड की हिम्मत नहीं। मेरा विश्वास है कि हमउम्रों की दौड़ में चैम्पियनशिप दद्दा को ही प्राप्त होगी। श्री गुलाब राय जी को साहित्यकार-संसद का पुरस्कार देते समय दद्दा ने हँसते हुए कहा था—"अरे, हमारी अवस्था इनसे अधिक है, पर हम इनको काँख में दाबकर दौड़ लगा सकते हैं और ये हैं कि पुरस्कार लेने में भी बुढ़ौती के बोझ से दबे चलते हैं!" चिर प्रसन्न मुद्रा में दद्दा से अधिक निश्छल विनोदी व्यक्ति मैंने दूसरा नहीं देखा। यह नहीं कि उन्होंने जीवन में कष्ट या दुख नहीं पाया, वरन् सभी कुछ को प्रभु की इच्छा समझ कर शांत मन से ग्रहण करना और प्रसन्न रहना उनके जीवन का सार-साधन है, जो अपने आप में बहुत बड़ी विशेषता और महत्ता है।

मैंने पिछले दस वर्षों की निकटता से यह भलीभाँति जान लिया है कि किसी की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने में वे सबसे आगे; किंतु किसी की उपेक्षा-अवज्ञा करने में, अप्रिय एवं कड़ी बात कहने में, डींग हाँकने में दद्दा सबसे पीछे हैं। यह काम उनके बूते का नहीं। पुण्य से पुण्य कार्य के लिए भी किसी से कुछ माँगना, उनको अच्छा नहीं लगता। इसी कारण वे किसी प्रकार के पदवीधर बनने में बहुत घबड़ाते हैं। यह तो महादेवी जी की ही महिमा है, जिसने उन्हें साहित्यकार संसद का अध्यक्ष बना रखा है। वास्तव में वे रोब जमाना जानते ही नहीं। इसीलिए व्यक्तिवादी आधुनिक सभ्यता से वे कोसों दूर हैं।

सभा-समाज में कम आना-जाना, परहेज का खानापीना, इस घोर वैज्ञानिक युग में भी नित्य नियम से पूजापाठ करना, अडिग विश्वासी बने रहना आदि-आदि उनकी व्यक्तिगत मान्यताएँ हैं, जिनके विषय में वे किसी के परामर्श या उपदेश की उपेक्षा नहीं रखते। सभा-सम्मेलनों में न जाने का कारण यह नहीं कि वे बड़े-बूढ़े हैं, बल्कि इसलिए नहीं जाते कि वे अपने भीतर के अदम्य बचपन को छोड़ नहीं सकते। वहाँ पहुँच कर सबसे हँसने-बोलने का मन होता है, प्रसन्न और विनोदमय वातावरण अच्छा लगता है, और यह सब चला कि नियमित कार्यप्रणाली में बाधा पड़ी, लोगों की आँखें उठीं, इससे न जाना ही अच्छा। जो हो, पर उनका हास-परिहास कहीं रुकता नहीं।

एक बार एक महाराजा के यहाँ दावत थी। महाराजा ने मिठाइयों का थाल इनकी ओर बढ़ाते हुए आग्रह किया—"लीजिए गुप्त जी, ये मिठाइयाँ विशेषरूप से आपके लिए बनवाई हैं।" "आप भी लें महाराज", वे बोले। महाराज ने अपने जन्मजात स्वाभाविक अभिमान के स्वरों में कहा—"आप लें, हम तो खाते ही रहते हैं।" दद्दा ने तपाक से उत्तर दिया—"सो तो ठीक है, पर आपलोगों के साथ हम भी कभी-कभी खा ही लेते हैं।" महाराज बात का मर्म समझ कर लज्जित हुए। खरी से खरी बात को मीठे से भी मीठे शब्दों में प्रकट करने की कला में वे अद्वितीय हैं।

खानपान के समय उन्हें सब की थाली-पत्तल झाँकना अच्छा लगता है। बीच-बीच में उनके रिमार्क बहुत ही सलोने और सोंधे होते हैं। स्वयं खानपान में व्यस्त होकर शायद वे इस खिलाने के सुख से वंचित रह जाते। सब के साथ आनंद लेने की आकांक्षा का उनमें आधिक्य है, जो व्यक्तिगत त्याग के बिना संभव नहीं। व्यवहार में, स्वभाव में, आचार-विचार में वे किसी के साथ कभी उतने कठोर अथवा दृढ़ नहीं, जितने संवेदनशील, ममतालु और कोमल हैं। तभी तो उनके जैसा व्यक्ति केवल कवि ही नहीं, संत-महात्मा भी होता है।

दद्दा की कविता पढ़ने और सुनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है। दोनों ही स्थितियों में उनके निर्मल हृदय की उत्फुल्ल दिव्यता का ही अनुभव होता रहता है, बाहरी बनाव-ठनाव का नहीं। संगीत की गलादाब या नाकदाब कृत्रिम माधुरी और अभिनय की कुशलता का उनमें एकांत अभाव है, पर बड़ी से बड़ी कलात्मक

अभिव्यक्ति को स्पष्ट, सीधे और सरल शब्दों में सजीव कर देने की निपुणता में वे अकेले और बेजोड़ हैं। 'दोनों ओर प्रेम पलता है' वाला 'साकेत' का गीत, आधुनिक प्रेमगीतों में अग्रगण्य है, प्रेम की पीड़ा का पवित्रतम प्रतीक है, पर कहीं श्लथ और संकीर्ण नहीं। अपने सृजन और विश्वासों में वे स्वकेन्द्रित आत्मचेता न होकर सहज-सजग लोकचेता हैं। अध्यात्मवादी न होकर भक्त हैं, लोककल्याण के लोलुप और लोकरंजक भगवान राम के अनन्य उपासक संभवतः इसीलिए उनके काव्य की प्रेरणा और उसका उन्मेष भक्त की अडिग आस्था और व्यापक उपासना है, न कि किसी रहस्यवादी की अध्यात्म-साधना। सर्वकल्याणकारी स्वस्थ शक्तिशाली आदर्श की स्थापना और उन्नत चरित्र की उद्भावना उनके जीवन और काव्य के प्राण-प्रहरी हैं।

एक बार 'परिमल' की गोष्ठी में उन्होंने कहा था—"हमने आप के साहित्य में चिर प्रतिष्ठित पात्रों को ही अपनी कृतियों में प्रणाम दिया है। इसलिए आप उसकी निंदा तो कर ही नहीं सकते। वस्तुतः आपकी प्रशंसा भी उन्हीं पात्रों की पूजा है, हमारा उसमें कोई भाग नहीं।" इसके साथ यह भी सच है कि दद्दा ने हमारे सामने उन उपेक्षित पात्रों को भी इस उदात्त रूपमें उपस्थित किया है, जिनके लिए बड़े-बड़े महाकवि तक ललक कर रह गए हैं। उनकी करुण-कोमल उर्मिला और ग्लानि-परिष्कृत कैकेयी इसी तथ्य की उद्घोषणाएँ करती हैं। साहित्य में चाहे कुछ उनकी लोकोत्तर निजता भी हो, पर जीवन में वे एकदम लोकमय हैं। ठीक बापू की तरह दुबले-पतले, रामभक्त, स्नेह-सौहार्द के पक्के व्यवसायी वणिक। दिखावे के लिए वे जल्दी किसी का विश्वास नहीं करते, परंतु किसी के प्रति अविश्वास का भी उन्हें अवकाश नहीं।

अपने से छोटों को प्रोत्साहन देने में कभी नहीं चूकते, परंतु उनके साथ भी अपनी विनम्रता नहीं भूलते। एक बार उन्होंने किसी ऐसे ही प्रसंग में कहा था—"हमारे बुन्देलखंड में दो प्रकार के चोर होते हैं, सूर्य-वेधी और चन्द्र-वेधी अर्थात् केवल दिन को चोरी करने वाले और केवल रात को चोरी करने वाले। किंतु महाराज हम दोनों के पंडित हैं। आप दिन-रात कभी कहीं मिलिए, हमें जो अच्छा लगेगा, चुरा लेंगे।" यह उनकी विनम्रता की सीमा ही तो है, अन्यथा उन्होंने कितना साफ लिखा है—

करुणे ! क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई,
मेरी विभूति है जो, उसको भवभूति क्यों कहे कोई ?

वस्तुतः वे अपने 'द्वापर' के महर्षि नारद से अनुप्राणित हैं। वास्तव में मनु की ठेठ मानवीयता की अपेक्षा लीलामय नारद की महर्षिता उनमें अधिक है। इसीलिए उनके सृजन का स्वरूप अनिंद्य, सौंदर्य सात्विक और संदर्भ बहुत ही मार्मिक एवं हृदयहारी है। प्रेम और कर्तव्य के संघर्ष-चित्रण में संतुलन का सम्यक निर्वाह उनकी निजी विशेषता है।

दद्दा के लिखने का क्रम अभी चल ही रहा है। जीवन भर जिस उदात्त आकांक्षा और शक्ति-संयमित साहस के साथ उन्होंने भारती का भांडार भरा है, वह अभिनंदनीय है।

दद्दा की विनम्रता

श्रीमती शांति मेहरोत्रा

बात लखनऊ की है, सन् १९४५ की। शाम का समय था, जब मेरे भाई ने आ कर मुझे बताया, "गुप्त जी कई दिन से लखनऊ आए हुए हैं। वे हमारे मकान के बिल्कुल समीप ही एक सज्जन के घर ठहरे हैं और आजकल में ही वापस जाने वाले हैं।" गुप्त जी से मिलने की इच्छा बरसों से थी। यह शुभ समाचार पा कर मैंने सोचा कि उनसे उसी समय मिल आना उचित होगा, क्योंकि संभव है दूसरे दिन वे व्यस्त रहें और उनसे भेंट न हो पाए। उस समय मेरे साहित्यिकजीवन का श्रीगणेश ही हुआ था और कुछ समय पूर्व मेरा प्रथम कवितासंग्रह 'निष्कृति' प्रकाशित हुआ था। तब तक किसी भी प्रख्यात् साहित्यकार से मेरा परिचय नहीं था, अतः मेरे मन में उत्साह तो बहुत था, किंतु संकोच भी कम न था। तरह-तरह के प्रश्न मन में उठ रहे थे। सोचती थी कि उनसे मिलकर क्या बातें करूँगी ? कैसे अपनी पुस्तक दूंगी ? संभव है, वह उनके विश्राम का समय हो, तब उस समय जाना उचित भी होगा या नहीं ?

इसी उलझन में आठ-साढ़ेआठ बज गए। अंत में मैंने जाने का निश्चय करके नानी जी से साथ चलने का आग्रह किया, जो उन्होंने सहर्ष मान लिया, क्योंकि मई-जून की भरी दोपहर हो या दिसंबर-जनवरी की ठंडी शाम, आवश्यकता पड़ने पर नानी जी का सहयोग मुझे सदैव ही प्राप्य था।

सीढ़ियाँ चढ़ कर जब ऊपर पहुँचे, तो एक सज्जन ने हम लोगों को उस कमरे में पहुँचा दिया, जिस में खादी का कुरता-धोती धारण किए और कंबल ओढ़े गुप्त जी आरामकुर्सी पर बैठे थे। मेरा आधा संकोच तो उनके सरल एवं वात्सल्यपूर्ण व्यक्तित्व को देख कर ही दूर हो गया। उन्होंने सर्वथा अपरिचित होते हुए भी हम लोगों का हार्दिक स्वागत किया। मैंने बहुत झिझकते हुए अपनी पुस्तक उन्हें भेंट की। गुप्त जी पुस्तक को देर तक उलटते-पलटते रहे। फिर अपने आशीर्वचनों द्वारा उन्होंने मुझे बहुत प्रोत्साहन दिया।

कुछ देर बाद, जब उनकी साहित्यसाधना के प्रति मैंने अपनी श्रद्धा व्यक्त की, तो उन्होंने कहा, "अरे बिटिया ! हमने किया ही क्या है ? हमारे समय में तो बहुत सुविधाएँ थीं। जो कुछ अच्छा लिख जाता था, वह आसानी से प्रकाशित भी हो जाता था और मान भी पा लेता था। आजकल तो बहुत संघर्ष के बाद लेखक ऊपर उठ पाता है।"

गुप्त जी की इस अद्‌भुत विनम्रता के सामने मेरा माथा श्रद्धा से झुक गया। आज भी जब किसी नवोदित लेखक की गर्वोक्तियाँ सुनती हूँ, तो मुझे उस महान साहित्यकार का स्मरण हो आता है, जो अपने संपूर्ण जीवन की अमूल्य साधना के लिए सरलता से कह सकता है कि मैंने किया ही क्या है !

इसके बाद गुप्त जी के साथ पत्र-व्यवहार बना रहा, किंतु उनके दर्शन कई वर्ष तक नहीं हो सके। उनसे दुबारा भेंट प्रयाग में हुई, जब वे साहित्यकार-संसद के वार्षिक उत्सव में सम्मिलित होने के लिए आए हुए थे। सन् '५० की बात है। तब तक मेरे लिए वे गुप्त जी से 'दद्दा' हो चुके थे।

मेरे साथ मेरे पति भी थे और बालक आलोक भी। आलोक को देख कर दद्दा ने प्रसन्न होकर उसे अपनी गोद में बैठाते हुए छोटे दद्दा (सियारामशरण जी) से कहा, "लाओ भाई, आलोक के लिए कुछ पेड़े-वेड़े ले आओ।"

किंतु छोटे दद्दा को संकोच में पड़े देख कर वे ज़ोर से हँसते हुए बोले, "हम लोग घर से ढेर से पेड़े साथ लाए थे, पर चील के घोंसले में मांस कहाँ रह सकता है ! पेड़े न बचे हों, तो कुछ और ले आओ।"

वार्षिकोत्सव के कारण महादेवी जी तो उन दिनों संसद में थीं ही, नगर के और बाहर के भी बहुत से प्रमुख साहित्यकार वहाँ एकत्रित थे। चाय और जलपान का दौर चल रहा था। दद्दा ज्वरग्रस्त होने के

कारण उसी कमरे में लेटे हुए थे। फ़ादर कामिल बुल्के भी उनके पास बैठे चाय पी रहे थे । चाय पीते-पीते वे बोले, "मेरा मन तो प्रयाग में ही लगता है । इसीसे मैं इसे अपना मायका तथा राँची को अपनी ससुराल मानता हूँ ।"

"ऐसा है, तब तो आपका मन राँची में ही अधिक लगना चाहिए," दद्दा ने लेटे-लेटे हँस कर कहा ।

तभी आलोक ने फ़ादर बुल्के से पूछा, "आप कहाँ से आए हैं ?"

"राँची से", उन्होंने सस्नेह उत्तर दिया ।

"हाँ, बहुत अच्छा है । तुम हमारे साथ चलो, तो तुम्हें भी घुमा लाएँ", फ़ादर बुल्के ने फिर कहा ।

दद्दा शायद इस वार्तालाप में रस ले रहे थे । झट बोले, "ऐसा मत करना भैया ! नहीं तो ये बपतिस्मा पढ़ा के तुम्हें भी अपने पास ही धर लेंगे ।"

और मुक्त हास्य से कमरा गूंज उठा ।

लौटते समय मैंने दद्दा से अनुरोध किया कि वे यदि स्वस्थ रहें, तो वापस जाने से पूर्व हमारे घर अवश्य आएँ । दूसरे ही दिन दद्दा अपने दोनों छोटे भाइयों, सियारामशरण जी तथा चारुशीला जी सहित जब हमारे घर पहुँचे, तो मेरे हर्ष की सीमा न रही । कुछ देर बेतवा तथा उसके आसपास के स्थलों के प्राकृतिक सौंदर्य की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "आपलोग एक बार चिरगाँव अवश्य आइए ।"

"जी हाँ, आने का निश्चय तो कई बार किया, किंतु किसी-न-किसी कारणवश हर बार रह जाते हैं । इस बार गर्मी में छुट्टी लेने का विचार है, तभी आएँगे," मेहरोत्रा जी ने कहा ।

"यूं तो जब जी चाहे चले आइए, आपका घर है । लेकिन गर्मी में ज़रा सोचसमझ कर ही आइएगा । एक तो वहाँ की भीषण गर्मी, जिसके कारण आप ठीक से घूमफिर नहीं पाएँगे, दूसरे मेरे पास मिट्टी के तेल से फट-फट करके चलने वाला पंखा है, जिसमें हवा अधिक आती है या मिट्टी के तेल की दुर्गंध, यह निश्चित रूप से कह पाना बहुत कठिन है," कह कर वे हँस पड़े ।

इस प्रकार विनोदपूर्ण और अन्य साहित्यिक चर्चाओं में काफ़ी समय बीत गया । जब दद्दा वापस जाने लगे, तब उन्होंने बताया कि उस समय भी उन्हें हल्का-सा ज्वर था । यह जान कर हम लोगों को बहुत कष्ट भी हुआ और आश्चर्य भी कि कैसे अस्वस्थ होते हुए भी वे इतनी देर तक हँसते-बोलते रहे और जाने के पूर्व ज्वर की चर्चा तक न की ।

दद्दा की उदारता एवं विशाल हृदयता की कोई सीमा नहीं । एक बार उनकी पुस्तकों के बारे में कुछ बातें हुईं, जिस पर उन्होंने तथा छोटे दद्दा ने अपनी सारी प्राप्य पुस्तकों—जो संख्या में साठ के लगभग थीं, मुझे भेज दीं । इतना ही नहीं, उन्होंने उन पुस्तकों पर लगा महसूल तक पहले ही से दे दिया था ! एक साथ इतनी अमूल्य पुस्तकें भेंट-रूप में पा कर मुझे जो प्रसन्नता हुई, वह अवर्ण्य है ।

कुछ वर्ष पूर्व एक बार जब दद्दा डॉ० मोतीचंद जी को साथ ले कर हम लोगों से मिलने आए, तो लाल रंग के कुछ फूलों को देख कर बोले, "इनके रंग से मुझे एक बात याद आ गई । दिल्ली में जिन बँगलों में एम० पी० रहते हैं, उनके सामने रक्तकमल की पंक्तियाँ लगी हुई हैं । एक बार बनारस से हज़ारीप्रसाद जी मेरे पास आए और उन पेड़ों को देख कर मुस्करा कर बोले, 'रक्तकमल की छाँह में एम० पी० करें निवास !' इस पर मैंने भी तपाक से दूसरी लाइन जोड़ते हुए कहा, 'चार मास की वृत्ति लें, काटें बारह मास ।।'

उनकी यह बात सुन कर कमरा हँसी से गूंज उठा ।

दद्दा में एक गुण ऐसा है, जिसके बारे में सोचने पर सदैव मुझे आश्चर्य होता है कि वे उसे कैसे निभा पाते हैं और वह है नियमित रूप से पत्रों के उत्तर देना । उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता, आँखों में बहुधा कष्ट रहता है, मिलने वाले बराबर आते-जाते रहते हैं, उनके पास आनेवाले पत्रों की संख्या भी सैकड़ों में ही होगी, फिर भी वे कैसे सब के उत्तर समय से देते रहते हैं, यह मैं समझ नहीं पाती ।

दद्दा का हृदय इतना विशाल है कि वे दूसरों के दुःख से स्वयं दुःखी हो उठते हैं । संकट तो जिस पर आता है, उसी को झेलना होता है, किंतु इस समय में प्राप्त सहानुभूति, संवेदना और आशीष आघात से स्तब्ध

व्यक्ति को जैसे नवजीवन प्रदान करती हैं, थके चरण नई शक्ति पा कर आगे बढ़ने लगते हैं। कुछ ऐसा ही संकटकाल मेरे सम्मुख भी था, जब आलोक एक वर्ष तक बराबर अस्वस्थ रहा और उसकी दशा चिंताजनक हो उठी। ऐसे समय में दद्दा के स्नेहभरे पत्र मुझे बराबर सांत्वना और शक्ति देते रहे। उनमें से एक मैं नीचे दे रही हूँ :

* श्रीराम *

चिरगाँव,
२१–४–२०१०

"कल्याणी शांति जी,

एक महीने पूर्व मैं बनारस से लौटता हुआ कुछ घंटे प्रयाग ठहरा था। मेरे साथ राय कृष्णदास के पुत्र चिरंजीव आनन्दकृष्ण भी थे। दो-तीन स्थानों पर मुझे जाना था। आपके यहाँ भी। परंतु उस दिन न जाने क्या हुआ कि हमारा रिक्शा भटक गया और हम न पहुँच पाए। बड़ा खेद रहा, पानी बरस रहा था।

आपका पत्र पा कर दुःख हुआ। विशेषकर बच्चे की अस्वस्थता सुन कर। आशा है, अब तबीयत सम्भल रही होगी। समाचार दीजिएगा। मैं जानता हूँ, आप लोग मानसिक स्वस्थता से वंचित हैं। इसके लिए चिंतित भी रहता हूँ। आप लोग कठिनाइयाँ झेल रहे हैं। यह स्थिति भी न रहेगी। प्रभु कुछ करेंगे ही।

शुभैषी,
मैथिलीशरण।"

इधर कुछ वर्षों से वे बराबर अस्वस्थ से ही रहते हैं। दिल्ली से ६–६–२०१० के अपने पत्र में दद्दा ने लिखा था, "मेरा शरीर अब तनिक भी कष्ट नहीं झेलता। यहाँ और यहाँ के आसपास नित्य कुछ हुआ करता है। निमंत्रण भी आते रहते हैं। लोग स्वयं आकर चलने का आग्रह करते हैं। पहले दो-चार बार मैं गया-आया भी, परंतु गड़बड़ा जाने से अब प्रायः कहीं नहीं जाता।" और, "मैं यहाँ आ तो गया हूँ, परंतु डाक्टरों के निर्देशानुसार मानसिक और शारीरिक श्रम से भरसक बचता हूँ।"

इधर तो दद्दा विशेष रूप से कष्ट पाते रहे। १७–५–५५ को छोटे दद्दा ने बम्बई अस्पताल से लिखा, "पूज्य दद्दा का दूसरा आपरेशन सफलता के साथ हो चुका है और उससे होने वाले कष्ट और पीड़ा के अतिरिक्त वे प्रसन्न हैं। निरंतर एक प्रकार से पलंग पर पड़े रहने का कष्ट ही ऐसा है कि देखना भी कठिन जान पड़ता है। भगवान की कृपा से ये दिन भी कट रहे हैं और कट जाएँगे।" इसके उपरांत दद्दा का यह पत्र, "६, नार्थ एवेन्यू नई दिल्ली। १५–६–५५। कल्याणी शांति जी, पत्र मिला। प्रसन्नता हुई। पाँच महीने हो रहे हैं, मैं अस्वस्थ हूँ। अप्रेल में मेरे बंधु, डॉ० मोतीचंद बम्बई ले गए। पाँच मई को वहाँ पहला आपरेशन हुआ, बारह को दूसरा। तब से अब तक भोग रहा हूँ। प्राण तो बच गए, परंतु पर्याप्त पीड़ा रही। वो अब भी शेष है, परंतु ज्वर छूट गया है। निर्बल हो गया हूँ। चार-पाँच दिन हुए, अपने झाँसी के डाक्टर की अनुमति से यहाँ आया हूँ। यहाँ का जलवायु अनुकूल है। केवल दो बार हाऊस गया था, बहुत कम समय के लिए।

पिता-पुत्र से मेरा यथोचित कहिए। आप सब सानंद होंगे। शुभैषी—मैथिलीशरण।"

हमारे दद्दा दीर्घायु हों और आनेवाले अनेक वर्षों तक हम सब पर इसी तरह स्नेह लुटाते रहें, यही मेरी प्रभु से कामना है।

●●●

श्रद्धेय राष्ट्रकवि

श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह

*

सन् १९५२ के ग्रीष्मकाल की संध्या थी। राष्ट्रपति-भवन दिल्ली के मुगल-उद्यान का सहन नवनिर्मित भारतीय संसद के सदस्यों, केंद्रीय सरकार के मंत्रियों, राजदूतों एवं अन्यान्य सम्मानीय अतिथियों से भरा था। संसद के एक सदस्य के नाते मैं भी इस चायपार्टी में आमंत्रित था, पर इस जनाकीर्ण स्थान में भी अपने को एकाकी ही पा रहा था, चूंकि संसद की अबतक कोई बैठक न हो पाई थी, अगले दिन होनेवाली थी और सदस्यों के बीच पारस्परिक परिचय का अब तक मौका न मिल सका था। प्रायः दो हजार व्यक्ति निमंत्रित थे। इस जनसमूह के बीच जो हमारे बिहार के सदस्य थे और पूर्व-परिचित थे, उन्हें ढूंढ़ निकालना मुश्किल-सा हो रहा था। मैं चुपचाप खड़ा था, इतने में ही किसी ने पीछे से पुकारा—"राजेश्वर बाबू! कहिए, कैसे हैं आप", और मेरे कंधों पर अपने हाथ रखे। मैंने मुड़ कर देखा, तो हाथ में लट्ठ लिए हुए लम्बे कद के एक सज्जन खड़े थे। प्रायः चौबीस साल के बाद साक्षात्कार होने पर भी उन्हें पहचानने में मुझे क्षणिक देर न लगी—वह थे पंडित श्री बनारसीदास चतुर्वेदी।

"आइए, मैथिलीशरण जी से आपको मिलाऊँ", कह कर वे आगे बढ़े और मुझे साथ ले चले। थोड़ी तलाश के बाद ही वह मिले और ऐसे मिले, मानो हम दोनों के बीच बरसों की घनिष्टता हो! पर मेरे कल्पना-चित्र में श्रद्धेय गुप्त जी का जो रूप था, उससे उन्हें बिल्कुल ही भिन्न पाया। न तो सिर पर पगड़ी थी और न वैष्णव-संप्रदाय का वह चंदन ही, जिसे मैं उनके चित्रों में देखता आया था! खादी की बंडी और गांधी टोपी—इनकी तो मैंने कभी कल्पना भी न की थी! मैंने अपने भाव को प्रकट करते हुए फौरन ही कहा, "गुप्त जी! मेरी आँखों के आगे जो आपकी तस्वीर थी, उससे तो मैंने आपको बिल्कुल ही भिन्न पाया; मैं तो आपके सिर पर पगड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था!" उन्होंने कहा, मेरी वह पगड़ी अंग्रेजी सरकार ने उतार ली (मतलब जेल से था) और तब से मैं आपलोगों की ही श्रेणी में आ गया।" अर्थात् गांधीटोपी-धारी हो गया।

मैं उस दिन को, उस घड़ी को, अपने जीवन का एक बड़े महत्त्व का और सौभाग्य का दिन मानता हूँ। दो-चार दिनों के भीतर ही मैं उनकी अपार कृपा का भाजन बन गया, उनके असीम प्रेम का भी। राष्ट्रकवि के शब्दों में शायद हम दोनों के इस पारस्परिक प्रेम का कारण पूर्वजन्म का कोई सम्बन्ध है। संभव है, ऐसा ही हो। पर उनके प्रति मेरे आकर्षण के और कई जबर्दस्त कारण हैं, जिनमें मुख्यतम कारण तो यह है कि मैं उनके शब्दों में तथा व्यक्तिगत जीवन में एकता पाता हूँ, 'कहना कुछ, करना कुछ'—इससे वह परे हैं, बिल्कुल ही परे हैं। यदि वह अध्यात्मवाद की बातें करते हैं, तो उनका जीवन भी आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है। भौतिकता की गदली गली में स्वयं रह कर वह औरों को हिमालय के उच्च शिखर पर रहने का उपदेश नहीं देते। उनके जीवन में सादगी है, सचाई है, सरलता है, शिष्टता है, और यही कारण है कि उनके शब्दों में आकर्षण है, प्रभावोत्पादिनी शक्ति है, वह जो कि दिल पर असर डालती है।

मनुष्य के भीतर जो भव्यभावनाएँ हैं, पर सुप्त हैं, उन्हें जागृत करने में सदा से काव्य का एक बहुत बड़ा हाथ रहा है। वह प्रेम की मधुर निर्झरिणी को प्रवाहित करता है, रण की आग को भी उभाड़ डालता है। प्राचीन काल में चारणों की वाणी किस प्रकार नसों में बिजली पैदा करती थी, यह इतिहास बताता है। इस देश में निर्विवाद है कि हिन्दी भाषाभाषी शिक्षित जनता के बीच जिस ग्रंथ ने सब से अधिक राष्ट्रीयभावना का प्रचार किया, वह थी राष्ट्रकवि की 'भारत-भारती।' उन दिनों साहित्य की धारा शृंगारमुखी थी, शृंगार-विषयक काव्य के निर्माण की ओर काव्य-प्रणेताओं की अभिरुचि अधिक थी। गुप्त जी को यह श्रेय है कि उन्होंने इस मनोवृत्ति में एक जबर्दस्त परिवर्त्तन ला दिया तथा आज से प्रायः पैंतीस साल पहले समाजसुधार एवं राष्ट्रीय भावनाओं को जगाया। 'भारत-भारती' ने हिन्दीसंसार में एक ऐसी क्रांति ला दी, जो राजनैतिक क्रांति

से किसी कदर कम महत्त्व रखनेवाली न थी। वह थी विचारों की क्रांति। हिन्दी भाषाभाषी समाज के बीच 'भारत-भारती' ने प्रगतिशील विचारों की धारा प्रवाहित की तथा हृदय में स्वदेश एवं जाति का अभिमान जगाया। इसकी पंक्तियाँ गाँवों में, पाठशालाओं में, सभाओं में आमतौर पर उन दिनों गाई जाती थीं। देश इस राष्ट्रीय सेवा के लिए श्रद्धेय गुप्त जी का चिरऋणी रहेगा।

भाषा की दृष्टि से भी आपकी सेवा अमूल्य है। खड़ीबोली जो कि आप से पहले काव्य में व्यवहृत होती थी, पूर्णरूप से परिमार्जित न हो पाई थी। उसे एक सफल कलाकार की तरह सर्वांग सुन्दर तथा अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि टेनीसन की भाँति कतरब्यौंत कर विशुद्ध, त्रुटिहीन बनाने का आपका आरंभ से ही उद्योग रहा और इसमें काफी सफलता भी आपको मिली। आपके काव्य-ग्रंथों में पाठक ढीले-ढाले शब्द अथवा पंक्तियाँ कम, बहुत कम पा सकेंगे। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की तरह आप अपनी रचनाओं में बारंबार सुधार करके उन्हें भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से दोषरहित बनाने की चेष्टा करते हैं। 'काता, और ले दौड़ी' वाले सिद्धांत के आप प्रबल विरोधी हैं।

पर इन सारी बातों से बढ़ कर जो चीज उन्हें औरों से कहीं ऊपर उठाती है, वह है उनकी प्रकृत निरभिमानता। अभिमान मानों उन्हें छू तक न गया।

साहित्यिक जीवन के आदिकाल में उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उदाहरणार्थ, 'जयद्रथ-वध' की छपाई उन्हें एक सज्जन से १००) रुपया ऋण लेकर करनी पड़ी थी तथा 'भारत-भारती' के प्रकाशन में भी अनेक बाधाओं का मुकाबला करना पड़ा। पर इन सब के बावजूद भी उनकी प्रकृति में सहानुभूति एवं माधुर्य के ही स्रोत बहते रहे, कटुता न आई। यही कारण है कि आज भी साहित्य-क्षेत्र में जो लोकप्रियता उन्हें हासिल है, वह कम, बहुत ही कम लोगों को नसीब हुई होगी। दिल्ली में उनका वासस्थान मिलनेवालों से भरा रहता है और उनकी महँमानवाज़ी ऐसी कि शायद ही किसी को वह बग़ैर नाश्ता अथवा चाय के वापस जाने दें। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को मैं उसकी कृतियों से कहीं ऊँचा मानता हूँ और उसकी शराफत को उसकी सामाजिक स्थिति से कहीं बड़ा। शेक्सपियर ने कहा है—

Good name, My Lord, In man and woman,
Is the immediate jewel of his Soul!

अर्थात् किसी पुरुष अथवा स्त्री का सु-नाम उसकी आत्मा की सबसे निकटस्थ मणि है। और इसमें शक नहीं कि इसकी प्राप्ति मनुष्य अपनी सज्जनता के द्वारा ही कर सकता है, अन्य किसी उपाय अथवा वस्तु से नहीं। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि श्रद्धेय गुप्त जी के पास इसका भांडार-सा है।

हिन्दीसाहित्य के लिए यह परम सौभाग्य का विषय है कि इस सत्तर साल की उम्र में भी उनकी मेधा-शक्ति पूर्ववत् बनी हुई है और महाकवि टैगोर की भाँति आज भी वह रचनाशील हैं, उनकी कल्पना में मौलिकता है, ताज़गी है। वह उन काव्य-प्रणेताओं में हैं, जिनके प्रति ये पंक्तियाँ यथार्थ भाव से व्यवहृत हो सकती हैं—

वृद्ध-अवस्था-प्राप्त, महाकवि,
ज्ञान-गम्भीर, सुजान,
पर तेरी वह कृति-भामिनी,
चिर - यौवना महान!

नव-प्रकाशित काव्यग्रंथ 'जय-भारत' एवं उनकी फुटकल रचनाएँ, जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं, इस कथन की पुष्टि करती हैं।

आज उनकी ७२ वीं वर्षगाँठ के शुभ अवसर पर मैं भगवान से यही प्रार्थना करता हूँ कि वह उन्हें चिरायु करे। यों, अपनी साहित्य-सृष्टि के द्वारा वह अमरत्व प्राप्त कर ही चुके हैं।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।

•••

An English Tribute

A. G. Shirreff.

★ ★

A quarter of a century ago Sri Maithilīśaraṇ did me a very great favour by sending me before publication the proof-sheets of his beautiful translation of the Svapna-Vāsavadattā of Bhāsa. I am very glad to have an opportunity after all these years to make a small return in kind, and to present for his acceptance some extracts from a new English translation of the same play which I have recently completed. It owes a great deal to Sri Maithilīśaraṇ's version, as will appear from some extracts from the introduction.

"There is excuse for a new translation of Bhāsa's masterpiece in the fact that to English readers, apart from a few specialists, the play is still almost unknown. ...... The first English translation was made by Dr. Panna Lall and myself; published in Allahabad in 1918, this attracted very little attention in England. Another excuse for the present translation is its form. When Dr. Panna Lall and I collaborated, our only difference of opinion was with respect to the medium in which the play could best be rendered. I preferred blank verse, the medium chosen by H. H. Wilson when he first introduced the masterpieces of Sanskrit drama to English readers; my colleague would have preferred prose, but let me have my way. As I see it now, we were both wrong. It is of the essence of Sanskrit drama that the prose of the dialogue is interspersed with short lyrical pieces, sententious or descriptive, meditative or emotional, intended to express a heightening of sentiment in the character who recites or sings them, and to arouse a similar sentiment in the audience. Bhāsa's plays have the special merit that this intermixture of verse with prose does not retard the action of the play, but is skilfully and naturally used to forward it. A translation which does not observe this pattern of warp and woof fails to reproduce what is a very important feature of the dramatist's art. I have therefore in this new rendering kept to the form of the original, with prose for prose and verse for verse. In this I have followed what I consider the two best translations of this play in other languages, one by the very great Sanskrit scholar Jacobi and the other by the very great Hindī poet Maithilīśaraṇ Gupta. I have gone even further than they did in the attempt to convey in another language the effect of the original, as I have done my best to imitate in English the many different metrical forms of the lyrics. I hope that my verses, however inadequate, will bring to the reader some faint echo of Bhāsa's lovely rhythms."

A few examples must suffice to show the results of my attempt.

ACT I, STANZA 12.

Metre Śardūlavikrīḍita.

Deer pace thicket and glade to pasture unafraid;
these haunts are safe, this they know;—
Trees bear witness by flow'r and foison to the pow'r
of constant toil, care and love;—

Rich-hued cattle are ranging numberless in fields
which never felt plough or hoe ;—
Smoke from many an altar eddies to the sky ;
all shows a true hermits' grove.

ACT I, STANZA 16.

Metre Śikhariṇi.

The birds have sought their nests,
and the brotherhood rests, its orisons said ;
The bright fires gleam : their smoke
is a shimmering cloak curtaining the glade ;
The sun now wheels his car
to revisit the far mountain of the West,
And sinks those last beams low
with diminishing glow slowly to his rest.

ACT IV, STANZA 3.

Metre Arya.

Drowsy with nectar, drunk with delight, to their loves
closely clinging, happy the bees !
Shall a widower's footfall affright them, bringing
bereavement even to these ?

ACT IV, STANZA 6.

Metre Salini.

O'er dead love's dust though a new love be planted,
Old wounds still throb when remembrance revives them ;
Sad hearts still ache till the last bitter tear-drop
Have paid full tale all the old debt of sorrow.

ACT V, STANZA 1.

Metre Vasantatilakā.

Ah, royal lady of Ujjain, since the flames devoured you
Long months have passed, and I am happy again in wedlock;
Yet still my wonder among women is unforgotten,
My lily, withered as it were by the frost of winter.

ACT V, STANZA 2.

Metre Vasantatilakā.

Bright, bright and lovely is my bride, and as sweet as lovely;
Hope told me here I had obtained a relief from anguish;

Yet so afflicted is my heart, so inured to sorrow,
That now it trembles in the fear of a fresh bereavement.

ACT V, STANZA 3.

Metre Vasantatilakā.

You foolish fellow, and so this was your fancied cobra,
This garland fallen to the ground from the arch above you,
Which while it flutters to and fro in the evening breezes
Somewhat suggests by its contortions a writhing serpent.

In a note on the metres I have tried to bring out certain points in Bhāsa's masterly handling of them, especially the Vasantatilakā and the Śārdūlavikrīḍita.

Vasantatilakā. "This is Bhāsa's favourite verse-form ; he uses it more frequently than any other except the sloka, and he obtains lovely effects of melody from the long rhythmical line unbroken by any pause. ......The use of this form in three successive stanzas of Act V is noteworthy. In the two first the hero gives the purest lyrical expression to his love, past and present ; in the third, he twits the jester with his folly. The comic stanza is a foil which enhances the beauty of the others and shows Bhāsa's mastery of the form for the most diverse purposes. Kālidāsa, whose best lyrics were often inspired by Bhāsa's, uses the same form for a memory of bygone love (Śakuntalā, V, 2).

"*When scenes of beauty or melodious sounds awaken*
Languors and yearnings in a heart that would else be happy,
That heart, 'tis certain, is unconsciously then recalling
Deep-seated memories of love in a past existence."

Śardūlavikrīḍita. "Anyone who has seen, as I once saw near Mahoba (in what was once Udayana's Vatsa-land) a pair of panthers playing together in the sunlight will appreciate the fitness of the name of this lovely rolling metre. Bhāsa uses it frequently, mainly for cumulative effects, scenic or narrative. In the description of the hermits' grove in I, 12 each line calls up a separate picture, all combining to form the complete panorama. There is a similar device in the same metrical form in Kālidāsa's Vikramorvaśī II, 22, where that poet depicts a royal pleasure-garden in the noonday heat in four single line cameos.

"*Peafowl find as a place of refuge from the heat*
cool pools that lave orchard trees :
Bees ensconced in the buds that cluster on the boughs
drowse through the long, sultry hours :
Mallard, leaving the burnished middle of the lake,
seek lily beds nearer land :
In this arbour itself the parrot on his perch
with languid voice 'Water' calls."

•••

श्री मैथिलीशरण गुप्त के प्रति

श्री हरवंश राय 'बच्चन'

मैथिली शरण थे हिन्दी के हित आए।

पड़ी हुई थी एक बालिका
अनचाही, असहायी,
अल्प वयस की, देख विवश ही
कवि-छाती भर आई,

मिथिलापति मैथिली कण्व मुनि
शकुन्तला को जैसे,

वैसे ही उसको गोद उठा घर लाए।
मैथिली शरण थे हिन्दी के हित आए।

तुतलानेवाली को क्रमशः
गाना गीत सिखाया,
औ' घुटनों चलनेवाली को
नर्तन-कुशल बनाया,

आजीवन साधना उन्हीं की
आज खड़ी बोली जो

युग, देश, प्रकृति, संस्कृति के साज सजाए।
मैथिली शरण थे हिन्दी के हित आए।

किसे छोड़ते हैं जीवन में
कठिन समय के फेरे,
दुर्भाषा का शाप इसे भी
बहुत दिनों था घेरे,

कटा उन्हीं के तप से, अब यह
भारत-भाषाओं में

पटरानी का अधिकार पूर्ण पद पाए।
मैथिली शरण थे हिन्दी के हित आए।

क्या न मिला उनसे, पाने की
जो रक्खे यह आशा,
जग विख्यात, नहीं होती है
मृषा देव-ऋषि भाषा,

अपना ब्रह्म जगा बस कह दें,
"मेरी यह मुंह बोली,

मुंहबोली सब जन-भारत की बन जाए।"
मैथिलीशरण थे हिन्दी के हित आए।।

●

वे संस्मरणीय क्षण

श्री हरिशंकर शर्मा

★ ★

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त को 'साहित्याचार्य' (डी० लिट्०) की 'आनरेरी डिग्री' देने की घोषणा आगरा विश्वविद्यालय द्वारा की जा चुकी थी। समाचारपत्रों में भी यह सूचना प्रकाशित हो गई थी। उपाधि मिलने की तिथि से एक दिन पहले, शाम को आगरा-राजामंडी रेलवे स्टेशन पर सैकड़ों हिन्दीप्रेमी जमा थे। कालेजों के विद्यार्थियों की बहुत बड़ी संख्या थी। आगरा नगर के सभी गण्यमान्य साहित्य-सेवी और सेठ-साहूकार मौजूद थे।

झाँसी की ओर से धड़धड़ाती हुई डाकगाड़ी राजामंडी स्टेशन पर पहुँची। सैकड़ों नेत्रों ने गुप्त जी के डिब्बे को बात की बात में खोज लिया। जयघोषों से आकाश गूंज उठा। गुप्त जी मालाओं से लाद दिए गए। उस समय उस मुस्कराती हुई स्नेह-मूर्त्ति से जिन थोड़े से व्यक्तियों ने चरणस्पर्श पूर्वक गले मिलने का सौभाग्य प्राप्त किया, उनमें एक इन पंक्तियों का लेखक भी था।

एक सुसज्जित कार पहले से ही स्टेशन के बाहर गुप्त जी की प्रतीक्षा कर रही थी। गुप्त जी पुष्पवर्षा में, कार तक पहुँचे और कुछ ही क्षणों में वह कार गुप्त जी को अपने अंक में आरूढ़ कराकर श्री महेन्द्रजी की कोठी पर ले गई, जहाँ उनके निवास की व्यवस्था की गई थी। कोठी पर बराबर दर्शनार्थी भक्तों की भीड़ लगी रही। यह ताँता दूसरे दिन दोपहर तक बराबर जारी रहा। राष्ट्रकवि अपनी असुविधाओं का तनिक भी ध्यान न कर, आनेवाले व्यक्तियों से बड़ी प्रसन्नता से मिलते और वार्तालाप करते रहे।

मध्याह्नोत्तर आगरा विश्वविद्यालय का दीक्षांत-समारोह था। उसीमें गुप्त जी को 'साहित्याचार्य' की उपाधि दी जानेवाली थी। गुप्त जी निश्चित समय पर पहुँच नियत आसन पर आसीन हुए। उस दिन सभामंडप खचाखच भरा हुआ था। अधिकतर लोगों की जबान पर गुप्त जी की चारु चर्चा और आँखों में उनके दर्शनों की उत्कंठा थी। मानो उस सारे समारोह का केंद्रबिंदु गुप्त जी ही थे, और कोई नहीं!

आह्वान होने पर, नियमित वेशभूषा में गुप्त जी उपाधि प्राप्त करने के लिए खड़े हुए। विश्वविद्यालय की तत्कालीन अध्यक्षा (चांसलर) श्रीमती सरोजिनी नायडू ने गुप्त जी को 'साहित्याचार्य' (डी० लिट्०) की उपाधि प्रदान की। चारों ओर से साधुवादों की वर्षा होने लगी। एक सुप्रसिद्ध कवयित्री द्वारा एक सुविख्यात कवि का सम्मानित होना, कितना सुंदर सुयोग और कैसा अभूतपूर्व अवसर था। उस समय इन पंक्तियों के लेखक के मुंह से, सहसा निकल पड़ा—"'डी० लिट्०' की 'आनरेरी' उपाधि प्राप्त कर राष्ट्रकवि का तो गौरव नहीं बढ़ा, अपितु उसे देकर स्वयं विश्वविद्यालय ही कृतार्थ हुआ है।"

विश्वविद्यालय के इस पदवी-प्रदान समारंभ से अवकाश पाकर मित्रों तथा भक्तों के आग्रह से राष्ट्रकवि दो-तीन दिन आगरा में और रहे। उन दिनों उनके स्वागत-समारोहों और पार्टियों की धूम मच गई। सबसे बड़ा समारोह आगरा नागरी-प्रचारिणी सभाभवन में हुआ। उस समय नगर के गण्यमान्य व्यक्तियों के अतिरिक्त जिलाधीश आदि अनेक उच्च राज्य अधिकारी भी उपस्थित थे। सैकड़ों व्यक्तियों की भीड़ थी। सबने राष्ट्रकवि का उन्मुक्त हृदय से अभिनंदन किया। कई भाषण भी हुए। लोगों के अधिक आग्रह से गुप्त जी को भी अपनी कविता का पाठ करना पड़ा। साथ ही जनता के प्रति कृतज्ञता भी उन्होंने प्रकट की।

इसी प्रकार आगरा के आठ आर्य्यसमाजों की ओर से, हींग की मंडी आर्य्यसमाज-मंदिर में, गुप्त जी का सोत्साह स्वागत किया गया, बहुसंख्यक जनता एकत्र थी। गुप्त जी ने अपने संक्षिप्त भाषण में अभिनंदन का उत्तर बड़े ही सुंदर, समुचित और सौम्य शब्दों द्वारा दिया। अपनी कृतज्ञता प्रकट की। जनता कृत-कृत्य हो गई। वस्तुतः हिन्दी जानने वाली जनता पर जितना प्रभाव महाकवि मैथिलीशरण गुप्त का है, उतना आधुनिक कवियों में, कदाचित् और किसी का नहीं है। वे असली अर्थ में राष्ट्रकवि हैं। •••

जन-नायक, उद्बोधक !

श्री विश्वनाथ

वसुधा के आलोक, विधायक तुम मानव संस्कृति के,
जन-नायक, उद्बोधक तुम हो जन की मति के, गति के।
सौम्य, सरल हो, किंतु अटल हो अपने दृढ़ निश्चय के,
अनाचार के प्रतिरोधी हो, मिथ्या भय-संशय के,—
तुम्हीं सर्वदा समाधान हो, क्रियाशील हो तन से,
द्रवित दया के स्रोत, संयमी, धर्मभीरु हो मन से।
आडंबर से परे कर्म की सहज साधना तुममें,
रीति-नीति, जन की प्रतीति युत भुवन-भावना तुममें।
लोकपुरुष, पुरुषार्थ-सिद्धि को तुमने ही पाया है,
राम-कृष्ण की गुण-गाथा को वाणी में गाया है।
अन्य धर्मियों के भी तुमने, परम वैष्णव होकर,
गुण विशेष देखे हैं अपने ज्ञान सलिल से धोकर।
विघ्न और बाधाओं को तुम अनायास तरते हो,
रहकर तुम निष्काम, कार्य को सफल सदा करते हो।
त्यागमूर्ति, तुमको न वित्त का लोभ चित्त में आया,
अपने संग्रह में औरों को निज-सा स्वयं बनाया।
देकर प्रीति क्रीत कर डाला तुमने जन के मन को,
धाम-धरा-धन से भी बढ़कर तुमने माना जन को।
ओ वाणी के वत्स, सृष्टि का तुमने मर्म लिया है,
अर्थ-गिरा के मंत्रों द्वारा जग को मुग्ध किया है।
भेद-भाव की रही न तुममें दुरभिसंधि यत्किंचित्,
संस्कारों की किंतु मान्यता रोम-रोम में सिंचित।
काव्य-कला की रुचि-तन्मयता तुम जैसी किसमें है,
अनुगामी बनने की कांक्षा यद्यपि जिस-तिसमें है।
विमल तुम्हारे पद चिह्नों की लीक प्रतीक बनी है,
गर्वयुक्त हम सबकी जिसमें श्रद्धा भक्ति घनी है।
नय-निष्ठा की परम प्रतिष्ठा तुमने ही थापी है,
जन के उर में आप तुम्हारी गुरुता ही व्यापी है।
छोटों का सम्मान, बड़ों को मिला निरंतर आदर,—
यहाँ तुम्हारे द्वारा, तुमने लिया सभी को सादर।
राष्ट्र-विभूति, राष्ट्र-कवि हो तुम राष्ट्र-धर्म को लेकर,
है संपन्न राष्ट्र-निधि तुमसे अगणित कृतियाँ लेकर।
बापू का सिद्धांत अहिंसक तुमने अविचल साधा,
क्षमा-दया मय सत्य तुम्हारा हरता जीवन-बाधा।
कृति, तुम्हीं हो चेता-जेता इस युग की संसृति के,
धीर, तुम्हीं हो सफल विधायक इस मानव-संस्कृति के।

●

पिता का हृदय

श्री भागवतप्रसाद मिश्र

★ ★

द्विवेदी-युग से आज तक के उतार-चढ़ाव में प्रवाह की विविध गतियों में जो नौका निरंतर धारा के ऊपर ही रही और जिसे जलवृष्टि का वेग न तो डुबा सका और न बहा सका—ऐसी नौका यदि कोई है, तो राष्ट्रकवि की ही। पर उस नौका में बैठे हुए कर्णधार को कितनों ने देखा है? और जिन्होंने देखा, क्या उन्हें यह विश्वास हो सका कि इस कृशकाया, कंपित करों और आर्द्र नयनों में वह बल है, वह शक्ति और वह आकर्षण है, जो काल को भी पराभूत कर दे।

गुप्त जी के निकट आने का गौरव मुझे प्राप्त हुआ है, उनकी एकमात्र संतान चि० उर्मिलाचरण के शिक्षक के रूप में। अपनी प्रतिष्ठा के पतन की शंका से और शिष्य की बालसुलभ चंचलता को भावी असफलता का सूचक मानकर, अपने को उसका सर्वश्रेष्ठ हितचिंतक जताते हुए, मैंने सहजभाव से एक दिन श्री सियाराम-शरण गुप्त की उपस्थिति में चि० उर्मिला के सम्बन्ध में गुप्त जी से कुछ कहा। कुछ ऐसा ही, जैसा साधारणतया एक शिक्षक एक प्रतिष्ठित अभिभावक से मिलते समय उसके संरक्षित के सम्बन्ध में कह सकता है। मैंने देखा, वे कुछ दुखित, कुछ उदास हुए। मुझसे बोले, "भैया, वह तो है ही। कुछ उनके पिता पढ़े हैं और कुछ अब वह पढ़ेंगे। आप ऐसे शुभचिंतक के होते हुए यदि वह नहीं पढ़ते, तो यह उनका दुर्भाग्य है। और क्या कहें?"

बातचीत की तरंग में उनका उत्तर तो सुना। मन-ही-मन कुछ प्रसन्न भी हुआ, परंतु उनके मुख और नेत्रों की भाषा न पढ़ सका। एक शिक्षित मूर्ख जो ठहरा!

कुछ दिनों बाद पुनः चिरगाँव जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस मध्यांतर में मैं यही समझता रहा कि मैंने इस सूचना द्वारा अपने कर्तव्य का सही-सही निर्वाह किया है। बाहर ही श्री वैदेहीशरण गुप्त मिले। देखते ही बोले, "मिश्र, तुमने बहुत बुरा काम किया। तुम्हें ऐसा न चाहिए था।"

मेरी कुछ समझ में न आया। कुछ हतप्रभ भी हुआ, कुछ अपने को अपमानित-सा अनुभव करते हुए बोला, "क्या बात है भाई? मैंने ऐसा क्या अपराध कर दिया?"

"अपराध, बहुत बड़ा अपराध," उन्होंने उसी ध्वनि में कहा।

मैं कुछ देर उनकी ओर देखता रहा। तब वे बाँह पकड़कर एक ओर ले जाते हुए बोले, "तुम्हे ज्ञात है, जिस दिन से तुमने दद्दा से उर्मिल जी के विषय में कहा है, उन्होंने उर्मिल से बोलना छोड़ दिया है। वे अत्यंत दुखी, अत्यंत उदास हैं।"

मैं सन्न रह गया। काटो तो खून नहीं। मैं इसकी कल्पना भी न कर सकता था। चौदह वर्ष के अध्यापन-काल में अनेकों अभिभावक मिले थे; प्रतिष्ठित, साहित्यिक, सहृदय—सभी प्रकार के। पर ऐसी घटना अश्रुत एवं अलक्षित थी। हृदय पर बड़ा आघात हुआ। अपनी भूल वृहद् रूप में साकार आकर नाचने लगी। 'मैंने क्यों कहा?' मन ने प्रश्न किया। 'क्या स्वयं गुरु में शिष्य को प्रभावित करने की क्षमता न थी?' उत्तर मिला—'थी। अवश्य थी।' मैं आगे सोच न सका। हृदय भर आया। संभाल कर गुप्त जी के समक्ष पहुँचा। प्रणाम किया। वे हँसते हुए बोले, "आइए मिश्र जी, सानंद हैं?"

मैं समझ न सका—यह सब स्वप्न है या सत्य! कहीं खिन्नता, क्रोध, उदासीनता की छाया भी नहीं। मुझसे कुछ उत्तर न बन पड़ा। लज्जित हो नीचे की ओर देखने लगा। मेरी आत्मा मुझे निरंतर धिक्कार रही थी। मुझे कुछ ऐसा लगा—क्या किसी स्वार्थ के कारण मैंने यह सब नहीं किया?

मैंने दद्दा से साहस करते हुए बिना उनके पूछे ही कहा—"दद्दा! अब तो उर्मिलाचरण पढ़ रहा है। बहुत ही गंभीर और शांत रहता है। मुझे बड़ी प्रसन्नता है, उसके इस परिवर्तन पर।"

दद्दा कुछ बोले नहीं। चुपचाप अकेले ताश खेलते रहे। एक हल्की-सी रेखा मुख पर आई और विलीन हो गई। मैं सब देखता रहा।

दिल्ली में प्रदर्शिनी के अवसर पर मैं भी दद्दा के पास ही ठहरा। उसी दिन कार से चि० उर्मिलाचरण तथा घर के अन्य लोग चिरगाँव से आनेवाले थे। कार न आई। दोपहर बीता, संध्या हुई, फिर रात। कोई सूचना भी न मिली। बाहरी कमरे में दद्दा अकेले टहल रहे थे। सब लोग प्रदर्शिनी देखने गए थे। मैं उसी कमरे में बैठा था। चिंता से व्यग्र बोले—"मिश्र जी, उन लोगों की कोई सूचना नहीं मिली। यदि गाड़ी बिगड़ गई थी, तो उन्हें सूचना देनी थी। किसी एक को रेल से आकर बतलाना था।"

मैंने उत्तर दिया—"दद्दा, आते ही होंगे। मोटर बिगड़ जाने से उसी के सुधरवाने में लगे होंगे। और फिर, सुमित्रा जी तो साथ हैं।"

"हाँ, हैं तो। पर भैया, सब लड़के ही लड़के हैं। और फिर अपने शिष्य चि० उर्मिलाचरण को तो जानते ही हो। कहीं स्वयं ड्राइव कर रहे हों?"

वाणी की आर्द्रता में पितृस्नेह घुलकर जिस माधुर्य की सृष्टि कर रहा था, वह अवर्णनीय है।

दूसरे दिन सभी सकुशल पहुँच गए। सब की प्रसन्नता में दद्दा भी संभवतः वह व्यग्रताभरा पहला दिन भूल गए या नहीं—कह नहीं सकता। पर मेरे लिए वह स्मृति एक अमूल्य निधि है और रहेगी।

इकहत्तर वर्षों की अभिनंदनीय गाथा

श्री ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरुआ'

निःसंशयं कार्यमवेक्षितव्यं क्रियाविशेषोऽप्यनुवर्तितव्यः[1]।

—निःसंदेह कार्य करना चाहिए, कर्मयोग का भी अनुष्ठान करना चाहिए।

[१]

इस कलकत्ता महानगरी के विश्वविख्यात् वनस्पति-उद्यान में एक हजार वर्ष प्राचीन एक वटवृक्ष है। एक दिन उस प्राचीन बरगद को देखते हुए आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के युग का सचित्र दर्शन मुझे मिल गया था। उस वृक्ष की विशालकाय ८० - ९० जड़ें पृथ्वी में मजबूती से जमी हुई हैं। इस वटवृक्ष का परम आश्चर्य यही है कि उसके इस जड़-परिवार में कौन-सी जड़ मूल है, कौन-सी प्रधान है, कौन-सी अंतिकाश्रय है—इस रहस्य का भेद आज खोजे नहीं मिल पाता। उस महायोगी वृक्ष ने अपनी दीर्घ श्वासों को ही उन आसेव्य जड़ों में प्ररूढ़ बना दिया है ; शत-शत युगों की साक्षी उन सबल-स्वस्थ जड़ों को आधारमूल बना कर अपना प्राण भी उन्हीं में रमा दिया है। द्विवेदीयुग के अमरप्राणों का माहात्म्य-सूत्र मुझे उन्हीं जड़ों ने एक गहरे विश्वास के साथ थमा दिया था। तभी से अपने विश्राम के क्षणों में उन्हीं जड़ों के चरणों में बैठना मेरी प्रिय बलवती कामना हो चली थी।

द्विवेदीयुग की जड़ों पर जब मैं विचार करता हूँ, तो अनायास ही ध्यान श्री मैथिलीशरण गुप्त पर केंद्रित हो जाता है। द्विवेदीयुग राष्ट्रभारती का निकष रहा है। एक निकष ऐसा होता है, जिस पर मात्र स्वर्ण की परीक्षा होती है ; एक निकष ऐसा होता है, जिस पर अस्त्र की धार तीव्र से तीव्रतर बनाई जाती है। लेकिन द्विवेदी जी ने अपने युग को ऐसा निकष बनाया, जिसके संस्पर्श मात्र से भारतेंदु-युग की 'साधुभाषा' हिन्दी ही नहीं बनी—वह केवल २० वर्षों में ही राष्ट्रभारती बनने की अधिकारिणी हो चली थी। इस निकष के माहात्म्य-सूत्रों से उस वटवृक्ष में निमज्जित सूत्रों की सदृशता इस रूप में है कि द्विवेदीयुग अभी ४० वर्ष पुराना भी नहीं हुआ है, लेकिन सारे राष्ट्र में उसकी शत-सहस्त्र जड़ें अपना सर्वप्रिय चमत्कार फलित कर रही हैं। एक दिन जब मैं उस वटवृक्ष के वरद् हस्त के नीचे ध्यानमग्न विश्राम कर रहा था, तो सहसा ही उसकी एक जड़ ने चुपके से मेरे कान में द्विवेदीयुग के प्रसिद्ध हरिगीतिका छंद के जनप्रिय गायक मैथिलीशरण गुप्त के ६९-७० वर्षों की गाथा का रहस्य भी सुझा दिया !

और, अब तो शिवपुर के उस महा उद्यान में जब भी पहुँचता हूँ, तो धरती की मिट्टी में दबे हुए निगूढ़ चेतना-विधान के अपठनीय शब्दों के मुंहबोलते स्वर यदाकदा सुनने को मिल जाते हैं। रहस्य किसी की समझ में न आए, कोई हानि नहीं है। उस रहस्य का चित्ताकर्षण हमें अपना प्रगाढ़ भुजबंधन देने की आतुरता दिखाए, यही सब-कुछ है। उस पुराण वटवृक्ष के पास प्रकृत आश्चर्य से चकित हो, मैं सुधबुध बिसार कर खड़ा रह जाता हूँ। मेरे विचारों का तंतु कुछ इस प्रकार फैलने लगता है—

शिशु माता का स्तनपान उसी क्षण तक करता है, जब तक उसका निजी होश अपनी स्वतंत्र जड़ें इस जगती में नहीं जमा लेता। देह की कौन-सी रक्त-मांस-मज्जा से, आवृत्त ग्रंथि से वह मधु-सिक्त दुग्ध उसे स्नेहभरी गोदी में बैठे-बैठे बूंद-बूंद धारोष्ण रूप में मिलता रहता है—इसकी जिज्ञासा वह शिशु करे भी क्यों ? क्या स्तनपान का धारोष्ण दुग्ध पैरों पर खड़े होने के उपरांत हम-सब को नहीं मिलता ? मैं ऐसा नहीं मानता। उसके बाद हम इसी धरती का धारोष्ण दुग्ध अनेक रूपों में तृप्त-संतुष्ट दृश्य-अदृश्य जड़ों से पीते रहते हैं।

---

[1] वाल्मीकिरामायण, किष्किंधाकांड, सर्ग ३०, श्लोक २०

यह प्राचीन बरगद का पेड़ भी धरती के इसी धारोष्ण दुग्ध का बलवत्तर प्रमाण है। जड़ों की गहराई पर पेड़ की ऊँचाई ही निर्भर नहीं करती, उसकी जीवनावधि भी आश्रित रहा करती है।

और, मैं फिर सोचता हूँ—मैथिलीशरण अब ७० के होने जा रहे हैं। निश्चय ही उनके जीवन की जड़ें बहुत गहरे धँसी हैं। हमें खोज करना ही होगा कि द्विवेदीयुग में उनके जीवन की जड़ें किस तरह कोंपलाईं ? परंतु उनका दीर्घ श्वास-बीज बुन्देलखंड की भूमि में रोपित हुआ था। सारा रहस्य तो वहीं है, वहीं है। इसीलिए आखिर एक दिन मैं चिरगाँव के पथ का यात्री बनने को तत्पर हुआ। गुप्त जी के ग्रंथों में नहीं, विंध्यप्रदेश की धरती में निमज्जित उनका रहस्य-सूत्र पल्लवित-पुष्पित हुआ है। वहीं चल कर उसे अपनी खुली आँखों देखना होगा. . . .यात्रा की तैयारी में वसंत भी आ गई और उन्हीं क्षणों में मुझे यह श्लोक याद रहा—

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्छितदिगन्ते
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत् कस्य नोत्कंठा ?

—वह दिगंत सहकार-मंजरी के केसर से मूर्छमान हो और मधुपान के लिए व्याकुल बने हुए भौंरे गली-गली घूम रहे हों, तो ऐसे भरे वसंत में किस के चित्त में उत्कंठा नहीं लहरा उठती ?

आज राष्ट्रभारती का चिरवसंत निश्चय ही तरंगायित है। अपनी यौवनश्री के संग खिलखिला कर झूम रहा है। ऐसे क्षणों में मैथिलीशरण जैसे साहित्य-उद्यान के वयोवृद्ध विटप की जड़ों को पूजाभाव में चर्चित करना उस तरुण पीढ़ी का परम धर्म है, जिसका मैं एक विनम्र सेवक हूँ।

जेजाकभुक्ति या बुन्देलखंड का सांस्कृतिक परिचय

२ अक्टूबर (१९५३) की पुन्य तिथि को मैंने चिरगाँव यह सूचना प्रेषित कर दी कि कलकत्ता महानगरी के हिन्दीभाषी राष्ट्रकवि के अभिनंदन की योजना में प्रवृत्त होने की तैयारी कर रहे हैं। चिरगाँव से जो पत्र आया, वह सचमुच उचित और निश्चित दिशा-निर्देशन देने की कृपा कर गया। गुप्त जी ने लिखा था, ". . . . . आप आ रहे हैं, यह आपका ही घर है। यदि यहाँ आपको कोई कष्ट हो, तो उसके लिए पहले से ही क्षमा माँगे लेता हूँ।" इस पत्र ने यह भी आश्वस्त कर दिया कि चिरगाँव आज जो विंध्यखंड का साहित्यिक तीर्थ है, वह पूर्ववत् पूर्वजों की परंपराओं का वहन अवश्य कर रहा है।

ट्रेन में चिरगाँव की ओर अग्रसर होते हुए ध्यान आया कि उत्तरी भारत और दक्षिणापथ का यह कटिबंध (विंध्यप्रदेश) आर्य संस्कृति में जेजाकभुक्ति, जीजभुक्ति अथवा जुझौति नामों से प्रतिष्ठित रहा है। कहा जाता है, मुनि अत्रि, आदिकवि वालमीकि, कृष्णद्वैपायन वेदव्यास इसी भूमि ने प्रसूत किए। यही भूमि ऋषि अगस्त्य की लीलास्थली थी। यहाँ का जन-जन उसी ऋषि-सुलभ सरलता में सहज विचरण करता है। वैदिक-युग, पुराण-काल और इतिहास की क्रीड़ाभूमि में भगवान रामचंद्र का समय कैसे इस वनश्री के पुष्पहास से अछूता रहता। ऐसा लगता है कि राजा दशरथ के समय तक राजपुत्रों को गुरुकुलों में अनिवार्य रूप से भेजने की प्रथा शिथिल हो चली थी। विधि की विडंबना, दशरथ के दो पुत्रों और उनकी एक पुत्रवधू को बलात् १४ वर्ष-पर्यंत (गुरुकुल की अवधि भी लगभग १४ वर्ष हुआ करती) गोष्पद और अगोष्पद भूमियों में सोद्देश्य विचरण करना पड़ा। अयोध्या से चलते ही निर्जनस्थान के उन तीनों पर्यटकों से पहली कुशलक्षेम इसी विंध्याटवी में मुक्तहासयुक्त उल्लासमयी द्रुमलताओं ने पूछी थी और वे इस एकांत, शुभ्र पुष्पाभरण-मंडित अंतःपुरिका में निश्चितभाव से ठहर गए थे। वहाँ जो पृथ्वीपुत्री, अयोध्या की साम्राज्ञी बनती-बनती अकस्मात् यहाँ चली आई, भाग्य का उसके साथ इससे बड़ा क्या न्याय हो सकता था ? सीता को ही यह ऐतिहासिक श्रेय है कि वही पृथ्वीपुत्री इस विंध्यप्रदेश के जन-जन के मानस को राम के इतने सान्निध्य में ले आई। आज तक भी वह भाव बना है।

चंचल और अल्हड़ पाषाण-सुताओं के रूप में जो नदियाँ इस प्रदेश में मृगी-गति से कुलाचें भर रही थीं, उनको निहार कर सीतामाता चित्रलिखित-सी रह गई थीं—

विचित्र वालुकाजलां हंस-सारसनादिताम्
रेमे जनकराजस्य सुता पेक्ष्य तदा नदीम् ।[1]

—नदीतीर की अनेक तरह की बालू देखकर तथा हंस और सारस के शब्द सुन कर सीता बहुत प्रसन्न हुई । राम भी यहाँ के डांग और टोरियों में मंत्रमुग्ध से रह गए थे—

न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ।[2]

—इस रमणीय चित्रकूट पर्वत को देखकर राज्य-च्युति-दुख भी मुझे नहीं सता रहा। सुहृदों के पास से दूर रहना भी मेरे लिए पीड़ा का कारण अब नहीं रहा ।

विंध्य-उपत्यकाओं के सरस परिचय में वाल्मीकि का ब्रह्मद्रव भी बह निकला—

आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान्नगान्
स्वैः पुष्पैः किंशुकान्पश्य मालिनः शिशिरात्यये ।
पश्य भल्लातकान्बिल्वान्नरैरनुपसेवितान्,
फलपुष्पैरवनतान्नूनं शक्ष्याम जीवितुम् ।
पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण,
मधूनि मधुकारीभिः संभृतानि नगे नगे ।
एष क्रोशति दात्यूहस्तं शिखी प्रतिकूजति,
रमणीये वनोद्देशे पुष्पसंस्तर संकटे ।
मातंगयूथानुसृतं पक्षिसंघानुनादितम्,
चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं गिरिम् ।
समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते,
पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने ।[3]

—जानकी ! देखो, वसंत-ऋतु में पलाश के वृक्षों ने अपने पुष्पों की माला धारण कर रखी है । देखो, ये फूले हुए पलाशवृक्ष मानो जल रहे हैं । देखो, ये बहेड़े के वृक्ष हैं, ये बेल के वृक्ष हैं—ये मनुष्यों के लिए दुर्गम हैं, ये फल-फूल से झुके हुए हैं । अवश्य ही हम लोग यहाँ जी सकेंगे, क्योंकि भोजन के साधन फलादि यहाँ प्रचुर हैं । मधु-मक्षिकाओं द्वारा संचित ये मधु के छत्ते देखो, लक्ष्मण ! प्रत्येक वृक्ष पर लटक रहे हैं और बड़े-बड़े हैं । दात्यूह नामक पक्षी बोल रहा है और उसके उत्तर में मोर बोल रहा है । देखो, इधर वनभूमि रमणीय है, पुष्पों की मानो यहाँ वृष्टि हो रही है । हाथियों का समूह यहाँ वर्तमान है । पक्षिसमूह बोल रहा है । शिखर बड़े-बड़े हैं । ऐसे चित्रकूट पर्वत को देखो ; चित्रकूट के पवित्र वन की रमणीय समतल भूमि में जहाँ अनेक वृक्ष होंगे, हम लोग आनंद करेंगे ।····जिस प्रदेश में ऐसे स्थल हैं, वहाँ जन्म लेकर यदि राष्ट्रकवि ने 'साकेत' की कल्पना की हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ।

कलकत्ता से चिरगाँव की दिशा ट्रेन में यात्रा करते हुए मैं कल्पना की नौका पर विचरण करने लगता हूँ । अनेकानेक ऐतिहासिक सूत्र अपनी झलकियाँ दे रहे हैं और वेत्रवती की तरंगों में प्राचीनतम कीर्ति-कथाएँ मुखरित हो रही हैं । गिरि-दुर्ग-वेष्टित शोभन ताल और विशाल गिरि-कांतारों में लहराते सघन निकुंजों के अतिथि मेघ को कालिदास ने यक्ष के मुख से 'वेत्रवत्याश्चलोर्मि' का परिचय दिया है । विंध्यपर्वत इस प्रांत का अमर पिता है और वेत्रवती पयस्विनी माता है । यह प्राचीनतम नदी इतना अगाध स्नेह अपने वक्ष से विंध्यभूमि में सतत बखेर रही है, यही कि यहाँ के नर-नारी सब उससे सिक्त हैं ।

---

[1] वाल्मीकिरामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ९५, श्लोक ३१ ।
[2] ,, ,, ,, सर्ग ९४, श्लोक ३ ।
[3] ,, ,, ,, श्लोक ६-११ ।

—दूरदर्शी व्यक्ति विद्याओं के विमल तीर्थों में स्नान करते हैं। ज्ञानी लोग ज्ञान के तीर्थों में, राजा लोग अनुशासन और कानून की धारा के तीर्थों में, योगीजन चित्तरूपी तीर्थ में, कुलांगनाएँ पति के सेवा-व्रत में, धनाढ्य दानरूपी तीर्थ में अवगाहन प्राप्त कर आनंद लूटते हैं। केवल साधारण मनुष्य ही गंगाजल में अपने पापों को धोया करते हैं।

[२]

चिरगाँव और कनकने वंश का इतिहास

रेल द्वारा झाँसी पहुँचा और वहाँ से मोटर द्वारा चिरगाँव; और उसके बस-लारी के अड्डे से 'साहित्य-सदन' के आँगन में। और, शाम होते न होते मैं गुप्त जी को 'दद्दा' कहने का हकदार अपने से ही बन बैठा और उन्होंने स्वीकार किया भी।

रात उसी आँगन में शयन, जहाँ मेरे से पहले आए हुए अतिथि सो चुके हैं। यह एक अपूर्व मांगलिक संस्कार था। एक पंजाबी लोकगीत की तीन पंक्तियाँ हैं—

पांढे नू पुच्छन में चली थाली पायके तमोल—बोलें।
"खोलीं पांढया वीरा! पत्तरी सावन किस रुत आएगा।" बोलें
"जिस रुत बोलदे बंबीयड़े, कोयल शब्द सुनाए।" बोलें

—ग्रामवधू थाली में ताम्बूल ले के पाधे (पंडित) से पूछने चली कि पोथी-पत्रा देख कर बताओ, सावन कब आएगा? उसने उत्तर दिया कि जिस ऋतु में पपीहे बोलें, कोयल अपना शब्द सुनाए, वही सावन है। ठीक उसी तरह, जिस दिन घरेलू वयोवृद्ध जनों का सामीप्य सुलभ हो जाय, वही जीवन का वरद् दिवस है; वही दीर्घ संरक्षण है; वही नवमंगल की दिशा है। दद्दा के परिवार में शिशुभाव से बैठ कर मुझे जो हाथ लग गया, वह यही सब-कुछ था। चिरगाँव का आतिथ्य तो उसके अतिथि पाते रहे हैं।

दद्दा ने दूसरे दिन मेरी जिज्ञासाओं के अनुरूप बेतवा तथा अन्य स्थानों को देखने की सुविधाओं का प्रबंध कर दिया। साइकिल पर बैठ कर बेतवा के मनोरम तट देखे। परीच्छा बाँध देखा। हजार अनुभूतियों की एक अनुभूति मुझे यह हुई कि बेतवा कालिदास के ऋतुसंहार की 'सगर्भप्रमदास्तनःप्रभैः' उपमा से लब्ध वह कल्याणी है, जो अपनी प्रतिभा के कण-कण को हिमधारा की तरह प्रवहमान करने में एकनिष्ठ तप कर रही है।

चिरगाँव आज से यही १०० वर्ष पूर्व ओरछा राज्य का अंग था। तीसरे रोज ओरछा के दर्शनों का आग्रह मुझे उसी दिशा में ले गया। अन्य राजप्रासादों की भूलुंठित दिव्यता का दर्शन करते हुए वहाँ ही आचार्य केशव का भग्न निवास भी देखा और अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। वहाँ ही रात को इस प्रदेश के कुछ कवियों से साक्षात्कार किया। उनका काव्य सुनने का सौभाग्य स्मृति में भर लिया। चिरगाँव के वास्तविक अर्थ इसी ओरछा में अंकित हुए हैं। उसी के प्राचीन युग की यह कड़ी है। ओरछा जा कर यह बात स्पष्ट हो गई कि उसकी जनपदीय अभिव्यक्ति केवल नीतिशास्त्र तक ही सीमित न थी। वह जनता-जनार्दन के द्वंद्व की समाधानकारक भी थी। इसी मापदंड ने गुप्त जी के काव्य को स्थायी अस्तित्व प्रदान किया है।

ओरछा के बाद भांडेर देखा। वहीं से गुप्त जी के पूर्वज चिरगाँव में आ कर बसे थे। मार्ग में अन्य दर्शनीय प्राकृतिक व ऐतिहासिक स्थल देखे। बुन्देलखंड की संस्कृति से भी साक्षात्कार किया। ६००–७०० वर्षों के ग्वालियर-इतिहास में सबसे अंतिम घटना यह हुई कि रानी लक्ष्मीबाई के निधन के बाद, अंग्रेजों ने ग्वालियर को मुरार और भांडेर दे दिया और झाँसी ले लिया। तभी से चिरगाँव भी झाँसी का ही एक अंग बना।

भांडेर प्राचीन नगरी है। वहाँ के ऐसे प्राचीन संस्कारों का प्रसार करते हुए गुप्त जी के पूर्वज श्री राघव कनकने चिरगाँव के संस्थापकों द्वारा सादर निमंत्रण पा कर स्थानांतरित हुए थे। भांडेर की यात्रा से निश्चय

हो गया कि प्राचीन कुलशील जितना ही पर्यटन करते हैं, उतने ही फलप्रद हुए हैं। भांडेर से आ कर यह कनकने परिवार चिरगांव के नए सामंती वातावरण में पैठ गया। इसे भरसक सुविधाएँ प्रदान की गईं। इस परिवार में सुविधाएँ देनेवाली वह सनद अब भी सुरक्षित रखी है। इसका फल यह हुआ कि अपने युग की एक नई संक्रांति का संस्पर्श इसे एक उच्च सांस्कृतिक धरातल दे गया। यह उच्चता थी यद्यपि सामंती स्तर की, लेकिन थी अपने समय की प्रतिनिधि।

विस्तृत यात्रा करने के बाद अंत में, झांसी जा कर, वह गजेटियर[1] प्राप्त किया, जिसमें चिरगांव का इतिहास वर्णित है—

चिरगाँव (तेहसील मोठ)—"झाँसी से १८ मील दूर, झाँसी-कानपुर सड़क पर स्थित २५°–३५° उत्तर और ७८°–५०° पूरब में स्थित एक छोटा कस्बा है। मोठ से यह १४ मील दूर है। चिरगाँव से पूर्व दिशा में भगेड़ा और गुरसराय को, तथा उत्तर-पश्चिम की दिशा में सिमथरा को कच्ची सड़कें जाती हैं। मुख्य सड़क के समानांतर ही रेल की लाइन है। पश्चिम में कस्बे के निकट ही रेलवे स्टेशन है। उत्तर की दिशा भांडेर स्थित है और वहाँ तक एक पक्की सड़क जाती है। चिरगाँव में एक प्रथम श्रेणी का पुलिस स्टेशन, संयुक्त डाक-तारघर, इंस्पेक्शन-बंगला और स्कूल हैं। कस्बे के निकट ही एक बड़े मैदान में, सेना के कैम्पों का स्थान है। जब से 'इंडियन मिडलैंड रेल' स्थापित हुई है, यहाँ की मंडी को कुछ प्रमुखता मिली है और पूरी तेजी से आयात-निर्यात का बाजार चलने लगा है। प्रारंभ में बुंदेला राजघरानों के हृस्त भैयाओं की सामंती का यह मुख्य गढ़ था। ये यहाँ के सामंत थे। १८७३ में इन्हें ब्रिटिश सरकार से सनदें मिली थीं। इनका राजवंश ओरछा के राजा वीरसिंह देव से संबंधित था। यहाँ की जागीर में कुल २६ गाँव थे और ये ७००० मानशाही रुपयों की नजर अदा किया करते थे। १८४१ में राव बख्तसिंह ने ब्रिटिश सरकार की आज्ञाओं की उपेक्षा की, फलस्वरूप उसके विरुद्ध एक सेना भेजी गई। संक्षिप्त युद्ध के बाद ही वह भाग गया और उसके किले को नष्ट करने के बाद उसकी जागीर जब्त कर ली गई। उसके बाद वह हमीरपुर के निकट परवारी में मारा गया।

"बख्तसिंह के निधन के बाद, उसके दो बेटों राव सेनापत और राव नन्हा साहिब को प्रतिमास ४०० रुपयों की पेंशनें अलग-अलग स्वीकार की गईं। ये दोनों जल्दी ही मर गए; उसके बाद यह पेंशन राव नन्हा साहिब के पुत्र राव रघुनाथ सिंह को दी जाती रही। इसके बाद इसके पुत्र राव दिलीप सिंह को मात्र २५० मासिक की पेंशन मिलती रही। पर यह छोटी अवस्था में ही मर गया। इसकी मृत्यु के बाद राव नन्हा सिंह की विधवा बसंतु कुंवर, राव रघुनाथ सिंह की विधवा लाई दुलैंया और राव दिलीप सिंह की विधवा दीप कुंवरने पेंशन के लिए अर्जी दी, लेकिन सब से अंतिम को ही प्रतिमास मात्र १०० रुपया पेंशन दी गई और इसकी मृत्युके बाद इस पेंशन का दिया जाना बंद हो गया। बसंतु कुंवर का भी अब निधन हो गया है। सारे राजवंश में सिर्फ लाई दुलैंया जीवित है और अपनेको 'चिरगाँव की रानी' कहती है, और आमतौर पर टीकमगढ़ में रहती है।

चिरगाँव की जनसंख्या १८६५ में ३४८२ थी। १९०१ में यह बढ़कर ४०२८ हो गई, जिसमें ३६२४ हिन्दू थे और ३३० मुसलमान तथा ७४ मुख्यतः जैन मतावलंबी व थोड़े से क्रिश्चियन। काछी हिन्दू जातिके अंतर्गत ही आते हैं। १८७० के बाद से इस कस्बेका शासन १८५६ के एक्ट २० के अंतर्गत होता रहा है। इस की वार्षिक आय १४०० रुपए है। अधिकांश आय गृहटैक्स से है और कुछ भाग बाजार में माल तोलने की फीस से मिलता है। इसका व्यय भंगियों, कस्बेके पुलिसदल और सुधारकार्य में होता है।"

गजेटियर में चिरगाँव का जो इतिहास नहीं है, उसकी मार्मिक सूचना हमें गुप्त जी के बड़े भ्राता श्री रामकिशोर जी ने दी। बख्तसिंह और उसके चिरगाँव को जब अंग्रेजी सेनाने घेर लिया, तो—

"...सबेरे चिरगाँव में बस्ती की ओर से शांति थी। कहीं एक सेंवर (एक छोटी मक्खी) भी भन्नाती नजर नहीं आती थी। अंग्रेजों ने उस शांतिमें भी काफी देरतक गोलाबारी की। पर जब उसका यहां से कोई उत्तर न मिला, तब वे बड़े चक्कर में आए। लोगों ने उन्हें समझाया कि शहरमें कोई नहीं रहा।

---

[1] ग्वालियर गजेटियर, संकलन-संपादन : डी. एल. ड्रेक-ब्रूक मैन आई. सी. एस., सन् १९०९।

महाराज चले गए हैं। पर उन्हें विश्वास नहीं होता था। लेकिन जब काफी समय हो गया, तब उन्होंने बड़ी हिम्मत के साथ 'सिया दरवाजे' से चिरगाँव में प्रवेश किया। किले के दरवाजे पर पहुँचते ही उन्हें एक लूला दरबान मिला और उन्होंने उसे एक डाँट बताते हुए महाराज का पता पूछा। पहले तो लूला ने साफ-साफ कह दिया कि महाराज किला खाली कर चले गए हैं। पर अंग्रेजों को विश्वास न हुआ और उन्होंने उसे फिर डाँटा। इस बीच लूला के मन में स्वामिभक्ति ने जोर मारा और उसे मालिक के अन्नसे उऋण होने का उपाय सूझा। अब की बार उसने कहा कि महाराज किले की बैठक में हैं। लूला ने उन्हें रास्ता बताया और जब वे कुछ आगे निकल गए तो बारूदके ढेर में आग का बौंड़ा लगा दिया और फिर उसीमें अपनी भी अंत्येष्टि कर मुक्ति पाई। उधर अनेक अंग्रेज भस्मीभूत हुए।

"अब अंग्रेजों ने चिरगाँव के किले पर अपना झंडा फहराया और अपने विजयी सिपाहियों को जीत की खुशी में चिरगाँव की लूट की छूट की। गाँववाले भी 'लड़ें लोहु पाहन दोऊ, बीच रुई जर जाए' के अनुसार पिटे भी, लुटे भी। लूटपीट के बाद जब अंग्रेजों ने अपना शासन जमा लिया, तब उन्हें मालूम हुआ कि चिरगाँव के प्रसिद्ध सेठ श्रीललनजू कनकने ने महाराज को लड़ाई जारी रखने में पर्याप्त योग दिया था। उन्होंने यहाँ तक राव साहब से कहा था कि हमारे घर से पड़ाव तक एक नाला बनवा दिया जाय, हम उसमें घर बैठे इतना घी बहा देंगे कि जिसे जितना लेना हो, लेता रहे! सहायता-स्वरूप गोलियाँ समाप्त होने पर कई बोरे बालासाही पैसे और कच्चे रुपए भी उन्होंने दिए थे, ताकि बारूद में भरकर उनका उपयोग किया जा सके। उस दिन इसी रसद से दिन भर लड़ाई जारी रह सकी थी। अंग्रेज ने श्रीललनजू को बुलाकर सख्ती से पूछा कि लड़ाई में मदद देने की तुम्हें क्या सजा दी जाय? बनिए होते हुए भी उनमें दबंगपन था। आपने उत्तर दिया, 'उस दिन राजा बख्तसिंह हमारे शासक थे, उनके काम आना हमारी राजभक्ति थी। उसे हमने पूरा किया। अब आप हमारे शासक हैं। समय आने पर आपके काम आना हमारा धर्म होगा। इसकी जो सज़ा हो सकती है, मिले और दी जाय।' इस उत्तर से सजा क्या हो सकती थी। वे राजीखुशी घर लौटा दिए गए।"

इस प्रकार गुप्त परिवार को एक दूसरी राज्य-संक्रांति में भी प्रतिष्ठा का सुअवसर मिल गया।

पुरानी पुस्तकों में चिरगाँव का नाम रामगढ़ भी मिलता है। निकटवर्ती राज्य दतिया में सब कृष्णोपासक हैं। लेकिन यहाँ सारे गाँव में वैष्णव जन हैं। कृषि और मुख्यतया घी का व्यापार इस परिवार में सुविधाजनक था और यही वंशगत व्यवसाय बना रहा। झाँसी के निकट बसे हुए और कानपुर के निकटस्थ, रेल मार्ग से जुड़े रहने से, चिरगाँव बाहरी दुनिया के संपर्क से सर्वथा विलग न रह सका। यहाँ का सांस्कृतिक वातावरण युगानुरूप स्वस्थ बना रहा।

[३]

कनकने वंश की वृद्धि और कनकने मैथिलीशरण का जन्म

इस कनकने वंश की आदिभूमि बुन्देलखंड की प्राचीन पुरी पद्मावती थी, जो अब पचार्यं कहलाती है। यह अब उजड़ चुकी है। भवभूति के 'मालती-माधव' नाटक की यही रंगभूमि थी। इसको स्पर्श करती हुई कालीसिंधु बहती है।

पद्मावती से निकसित यह गुप्त परिवार गहोई वैश्यों का है। बौद्धकाल में जिस 'गृहपति' पद से वैश्य विभूषित थे, उसी मूलसे यह 'गहोई' संबद्ध है। इस वंश की जो वंशावली पहले तैयार हुई थी, उसे 'गृहपति-वंश-पुराण' नाम दिया गया था। पूर्वजों के नाम का द्योतक जो उपनाम चलता है, वह गुप्त जी के वंश का 'कनकने' है। इस शब्द का सरल अर्थ 'तनिक में कुड़क जानेवाला' है। इसीसे मिलता-जुलता राजस्थानी शब्द 'कणकउ' है, जिसका अर्थ 'चेतन, खाता-पीता, संपन्न' होता है। जो भी हो, चिरगाँव में गुप्त-परिवार की जो जन्मपत्री पुस्तक है, उसमें सभी के नाम के पहले 'कनकने' जुड़ा हुआ है। गुप्त जी का पूरा नाम यों लिखा है: कनकने मैथिलीशरण।

चिरगाँव कोई बहुत पुराना स्थान नहीं है। १७ वीं सदी के मध्यकाल में इसकी स्थापना राव वंशीय जागीरदारों ने की थी। यह ग्राम एक नई जागीर के रूप में बसाया गया था और उसको प्रतिष्ठा देनेके बहाने यहाँ का किला भी चिन लिया गया था। यह किला क्या है, सामंती दर्प की मामूली परकोटिया है। इसकी जड़में स्व० मुंशी अजमेरी का मकान अब भी विद्यमान है। इस किले में एक गहरा कुआँ है, जो बावली कहलाती है। किलेवालों की स्नानादि की पूर्ति इसी के जल से होती रही होगी। इसी किले की जड़ में एक बड़ी झील या ताल भी चिना गया था, लेकिन अंग्रेजों के प्रभुत्वकाल में वह इतनी दीन दशा को प्राप्त हुआ कि अब तक उसके अस्तित्व-चिह्न भी पूर्णतया मिट चुके हैं।

जब चिरगाँव बसा, उसी के शुभमुहूर्त्त में कनकने परिवार भी सादर निमंत्रित होकर यहाँ बसा था। श्री राघव कनकने ने ही अपने स्मरणीय आगमन द्वारा चिरगाँव में कनकने वंश की स्थापना की थी। इन्हीं राघव कनकने के पुत्र श्री लल्लाजू हुए। उनके पुत्र ललनजू। इन्हीं के समय में चिरगाँव अंग्रेजी राज्य के झंडे के नीचे रहने लगा और ठेठ सामंती दौर से मुक्ति पा गया। इन्हीं ललनजू के पुत्र श्री रामचरण जी हुए और दाऊजू के नाम से संबोधित हुए। दाऊजू के दो अन्य सगे भाई भी थे—घनश्यामदास जी और भगवानदास जी। दाऊजू के परिवार में पाँच पुत्र हुए—श्री महारामदास जी, श्री रामकिशोर जी, श्री मैथिलीशरण जी, श्री सियारामशरण जी और श्री चारुशीलाशरण जी। इन पाँचों पुत्रों के जन्म-समय तक यह परिवार वंशवृद्धि का सुखोपभोग करते हुए संयुक्त था।

"पिता जी[1] मध्यवित्त गृहस्थ थे। किंतु उनकी प्रकृति अपेक्षाकृत उदार और राजस थी। उनका अधिकांश समय भजन-पूजन और पाठ में ही व्यतीत होता था। दस-बारह गाँवों की जमींदारी थी। घर में चाँदी-सोना भी यथेष्ट था। जब तक मेरे काका जी छोटे थे, तब पिता जी घर का कुछ काम करते भी थे। जमींदारी उन्होंने खरीदी थी। पर वह लाभ के लिए नहीं, प्रतिष्ठा के लिए ही समझनी चाहिए। बहुत बार मालगुजारी घर से ही देनी पड़ती थी। जब वह कुछ देने योग्य हुई, तब उसका मोह छोड़ना पड़ा। लेन-देन का काम ही असल में पिता जी का काम कहा जा सकता है। मकान और दुकान भी बहुत से यहाँ और झाँसी में थे। छोटे काका जी जब काम करने योग्य हुए, तब पिता जी ने सब काम छोड़ दिया। वे उन्हें सम्मति दे दिया करते थे। वह सम्मति अनुमोदन के रूप में ही हुआ करती थी।

"मंझले काका जी जमींदारी का काम करते थे और छोटे काका जी व्यापार का। चिरगाँव एक छोटा गाँव ही था। काका जी के उद्योग से ही यहाँ व्यापार की मंडी बनी। तिलहन, राई और अनाज का व्यापार भी उन्होंने बढ़ाया। घी का काम पैतृक था। इसलिए वह उन्हें स्वाभाविक रुचिकर था। पहले यहाँ का व्यापार कानपुर तक ही सीमित था। काका जी ने ही पहले पहल बंबई और कलकत्ते से उसका संबंध स्थापित किया। उन्हें सफलता भी अच्छी मिली। बढ़ते-बढ़ते चिरगाँव की मंडी ने अपना एक विशेष स्थान बना लिया और दूर-दूर से बिकने के लिए माल आने लगा। एक समय ऐसा भी आया कि झाँसी की मंडी भी होड़ न कर सकी।

"काका जी में व्यवसाय-बुद्धि होते हुए भी उन्हें उपयुक्त कर्मचारी न मिले। दुकानें अनेक दूर-दूर थीं और वे अकेले थे। इसलिए काम संभाला न जा सका। कोंच के कारिंदे ने इतना गबन किया कि उसे छिपाने के लिए उसने हजारों मन के कपास के ढेर में आग लगा दी। चिरगाँव की दुकान की आय दूसरी दुकानों के घाटे को अकेले पूरा न कर सकी। काम रुक गया और देना हो गया। एकाध शुभचिंतकों ने दिवाला पीट कर दो-चार लाख रख लेने की राय भी दी थी, कलम तब तक खुली थी। परंतु पिता जी ने इसे पसंद न किया। कोई ३०-४० वर्ष तक उस संकट से जूझना पड़ा।

"पिता जी पहले ही भगवद्भक्ति में लीन रहते थे। आर्थिक संकट आने पर वे और भी भगवदावलंबी हो गए। उनकी उदारता में भी कमी न आई। गाँव से सभी पंडित नित्य आया करते थे और अयोध्या के साधु महात्मा भी। भगवान की दया से उनकी वैसी ही निभी।

---

[1] अप्रकाशित 'मैथिली-मान-ग्रंथ' (१९३६) में श्री मैथिलीशरण गुप्त का लेख 'अपने विषय में'।

"एक बार गाँव के एक ब्राह्मण, जो हमारे यहाँ मुलाजिम भी थे, उनसे बोले, 'रात को हमें बड़े मालिक (मेरे दादा) ने सपना दिया और ऋणमुक्त कर दिया।' शायद डेढ़-दो सौ रुपए उनकी तरफ निकलते थे। उनकी स्थिति भी बहुत अच्छी थी, परंतु पिता जी ने हँस कर उनका खाता ड्योढ़ा कर दिया।

"झाँसी में भी हमारा लेन-देन रहता था। वहाँ कभी-कभी एक बहुत वृद्धा महाराष्ट्र ब्राह्मणी आया करती थी। जब-जब पिता जी वहाँ जाते, तब-तब वह आकर उन्हें एक दिन अपने यहाँ भोजन का निमंत्रण दिया करती थी। पिता जी खाने-पीने में बहुत ही विचार करते थे। एक बार बहुत आग्रह हुआ, तो उन्होंने कहा, 'इससे तुम्हारा अभिप्राय क्या है?' वृद्धा ब्राह्मणी ने कहा, 'मुझे आपकी दुकान के कई सौ रुपए देने हैं। मैं महारानी लक्ष्मीबाई की रसोई बनाने वाली रही हूँ। रुपए तो अब नहीं दे सकती। एक दिन आप मेरे यहाँ चल कर वहीं भोजन कर लें, तो मैं समझूँ कि मैं आपसे उऋण हो गई।' पिता जी ने कहा कि तुम्हारा निमंत्रण हो चुका और स्वीकृति के रूप में उन्होंने उसे ऋणमुक्ति दे दी। पिता जी यद्यपि खानपान का बहुत विचार रखते थे, परंतु सबसे बड़ा सत्कार वे भोजन का ही मानते थे और स्वजनों में से जब कोई कहीं जाता, तब वे यही पूछते कि वहाँ कैसा सत्कार हुआ? अर्थात् क्या खिलाया-पिलाया गया?

"झाँसी में अनेक पंडित उनके वहाँ जाने पर आया करते थे और उनसे आदर-सत्कार पाते थे। उपासकों की तो कोई बात ही नहीं।

"झाँसी के मन्नूराम ने उनपर दो कवित्त बनाए थे। एक के अंत में था—'रामचरन अनन्य धन्य जीवन तुम्हारो है।' और दूसरे के अंत में था—

भूतल में धन्य होत महिमा अनन्य होत,
सेठ चिरग्राम रामचरन बरसते।

जीकवि को एक बड़ा घोड़ा भेंट किया गया था।

"पिता जी की युवावस्था अपने दोष छोड़ कर ही उनमें आई थी। निम्नलिखित श्लोक अपनी पूर्णमात्रा में उन पर घटित होता था—

व्यसनानि सन्ति बहुधा व्यसनद्वयमेव केवलं व्यसनम्।
विद्याभ्यसनम् व्यसनं अथवा हरिपादसेवनं व्यसनम्।

सब प्रकार के गुणी उनके पास आया करते थे और वे सबका यथोचित आदर-सम्मान करते थे। झाँसी में उन दिनों लावनी गानेवालों की धूम थी। श्यामलाल नाम के कोई शायर थे। उनकी बड़ी ख्याति थी। उनकी एक रचना का एक पद है—'होत नहीं पलकों से न्यारा प्यारा रामचरन है।'

"उनका चरित्र सर्वत्र पवित्र था। शरीर-संपत्ति भी उन्होंने अच्छी पाई थी। एक बार एक जन को उन्होंने एक थप्पड़ मार दिया था। वह अचेत होकर गिर पड़ा। तब से उन्होंने किसी को न मारने की प्रतिज्ञा कर ली थी। ...तथापि सुख्याति की कामना तो उनमें थी ही। ...ओरछा और दतिया के महाराज उन्हें मानते थे। ओरछे की महारानियाँ बहुधा हमारे ही संप्रदाय की हुआ करती हैं। एक बार एक बहुत सुंदर चित्रपट महारानी ओरछा को उन्होंने भेंट किया था। उनकी उपासना अनन्य थी। महाराज दतिया कृष्ण-भक्त थे। एक बार महाराज ने पिता जी से कहा कि हमारे कृष्ण भगवान ने रास में छः महीने की रात कर दी थी। पिता जी इस विषय में सहिष्णु न थे। उन्होंने 'कोसलखंड' आदि अपने उपासना के ग्रंथों के श्लोक पढ़ने आरंभ कर दिए, जिनमें रामचंद्र जी की एक विलास-रजनी में कितने ही ब्रह्मा उत्पन्न होकर विलीन हो गए। महाराज सुनकर हँस गए और जानकीप्रसाद से बोले, 'रामचरण अपनी उपासना में दृढ़ हैं।' दीवानसाहब पिता जी के मित्र, सजातीय और उन्हीं के संप्रदाय के भी थे, प्रसन्न होकर बोले, 'दीनबंध सई मरजी भई, रामचरन ऐसेई हैं।'

"एक बार दतिया के वैश्यों में घोर जातीय कलह उपस्थित हुआ। ऐसा प्रसंग आया कि कुछ लोग राज्य छोड़ने पर उतारू हो गए। बात महाराज तक पहुँची। उन्होंने दोनों के प्रमुख लोगों को बुलाया और उन्हें

समझाया-बुझाया। अंत में महाराज ने उनसे कहा, 'तुम दोनों दल स्वीकृति दो, तो तुम्हारा मामला हम सेठ रामचरण को सौंप दें। उनका निर्णय तुम्हें और राज्य को, दोनों को, मानना होगा। दोनों दलों में हमारे नातेदार लोग थे। दोनों ने सहर्ष स्वीकृति दे दी। महाराज ने रथ भिजवा कर पिता जी को सादर बुलवाया और झगड़े को निपटा देने का आदेश दिया। पिता जी का निर्णय उस दल के प्रतिकूल हुआ, जिसमें अधिक संपन्न लोग थे। फिर भी उस दल को अर्थदंड से उन्होंने मुक्ति देने के लिए महाराज से प्रार्थना की और अंत में दोनों दल संतुष्ट हो गए।

"अधिकारियों से मिलना-जुलना उस समय बहुत बड़ी प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। पिता जी ने यह प्रतिष्ठा भी प्राप्त की थी। परंतु उसके फल से उन्हें वंचित ही रहना पड़ा। अपनी ओर से जब कलक्टर साहब ने उनके कार्यों का पुरस्कार रायबहादुरी के रूप में उन्हें दिलाने का विचार किया और गवर्नमेंट को लिखने के पहले उससे उनके विषय में चर्चा की, तब व्यापार बिगड़ चुका था और भविष्य नहीं दिखाई देता था। इसलिए उन्होंने उसे न लेना ही उचित समझा। आनरेरी मजिस्ट्रेटी वे इसलिए नहीं चाहते थे कि गाँव के लोगों के मुकदमे करके कौन धर्म-संकट में पड़े। कितने ही कलक्टर उनसे बहुत ही संतुष्ट रहे। संवत् १९५३ के अकाल में उन्होंने जो लोकसेवा की थी, उसके लिए लाटसाहब ने उन्हें प्रशंसा-पत्र भेजा था।

"उन दिनों कमिश्नर झाँसी में नहीं, इलाहाबाद में रहा करते थे। एक बार एक कमिश्नर जब दौरे पर यहाँ आए और पिता जी उनसे मिलने गए, तब वहाँ और जो अधिकारी थे, उन्हें चिंता हुई कि आज कुछ गड़बड़ न हो। पिता जी का स्वर गंभीर और ऊँचा था और साहब को धीरे बोलना और सुनना पसंद था। जब पिता जी उनसे बातें कर रहे थे, तब बरामदे में तहसीलदार आदि लोग स्पष्ट सुन रहे थे। संयोग की बात, वे साहब की स्कीम का विरोध कर रहे थे। पिता जी उसे आवश्यक न समझते थे। अंत में साहब उनसे बहुत संतुष्ट रहे और नया गंज की स्कीम रद्द कर दी गई। पिता जी जब कलक्टर से मिले, तब उन्होंने हँस कर कहा, 'आपने साहब से हमारी शिकायत की, हमारी गंज बनाने की स्कीम के विरुद्ध सम्मति देकर।' पिता जी ने कहा कि हमें पता न था कि आप ऐसा गंज बनाना चाहते हैं। परंतु अच्छा ही हुआ, जो हमने ऐसे काम का विरोध किया, जिसमें पीछे आप पर लोग आक्षेप करते। साहब ने पूछा कि कैसे? पिता जी ने कहा, 'व्यापारी तो उतने ही हैं, उन्हें चाहे जहाँ बैठा दीजिए। नई दुकानें बनवाने में जहाँ एक ओर बड़ी-बड़ी रकमें हम लोगों को लगानी पड़ेंगी, वहाँ दूसरी ओर हमारी पुरानी दुकानें खाली पड़ जाएँगी। इससे दुगुनी हानि होगी।' साहब ने बात मान ली। गाँव के लोग संतुष्ट हुए। किसी ने ठीक ही कहा है—नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्त्ता।

"झाँसी में जब मैकडानल हाई स्कूल की स्थापना हुई, तब उसके लिए जो चंदा किया गया, उसमें सबसे बड़ी एक ही रकम थी, तीन हजार की। हमारे यहाँ से तीन सौ रुपया दिया गया था। इसी बीच कलक्टर साहब की बदली हो गई। उन्होंने पिता जी से कहा, 'स्कूल के काम में कुछ रुपयों की कमी रह गई है। हम जानते हैं काम रुकेगा नहीं, परंतु इससे निश्चिंत होकर जाना चाहते थे।' पिता जी ने घर आ कर तीन हजार रुपए और भिजवा दिए। रकम सामान्य ही थी, पर बुन्देलखंड के किसी गृहस्थ ने आज भी किसी ऐसे कार्य के लिए इतनी रकम दी हो, तो बहुत समझना चाहिए, विशेषकर आर्थिक संकट सामने रहते हुए।

"प्रांतीय लाटसाहब के वे दरबारी थे और उस बार जब लार्ड कर्जन झाँसी होकर निकले, तब उनसे मिलने के लिए भी पिता जी आमंत्रित किए गए थे...पिता जी जहाँ एक ओर साहब लोगों से हाथ मिलाना सम्मान की बात समझते थे, वहाँ दूसरी ओर लौट कर स्नान किए बिना जल भी ग्रहण नहीं करते थे।

"गाँव में उपयुक्त वातावरण न होने पर भी पिता जी में कलाप्रेम होना आश्चर्य की बात नहीं, तो कौतूहल की बात अवश्य थी। मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि उनकी राजसी प्रकृति, उनकी संपन्नता और उनके संस्कारों ने उन्हें प्रेरणा दी थी अथवा उनकी भक्ति ने। अपने भावों की अभिव्यक्ति में सहायक मान कर ही वे कलावंतों का आदर करते थे अथवा और किसी कारण से ...गुणीमात्र का वे आदर करते थे। झाँसी में शुकलाल नाम का एक अच्छा चित्रकार था। उससे अपने 'युगल सरकार' के अनेक चित्र उन्होंने बनवाए थे।

आगे आश्रय न मिलने पर उसके कुटुंबियों ने रेल के डब्बों पर वारनिश करना ही लाभप्रद समझा। सितार, सारंगी और मृदंग आदि बाजे ही नहीं, लुहार, बढ़ई और राजों के सब औजार भी हमारे यहाँ रहते थे। कोई उनका उपयोग करे, यही आनंद की बात थी। उपयोग करनेवालों की कमी भी न थी। अंत में वे सब साज-बाज उन्हीं के हो गए, जो उनके सच्चे अधिकारी थे। वही क्या, न जाने और भी कितनी वस्तुएँ मँगनी जाकर फिर नहीं लौटीं। ब्याह-बरातों के सामान और पात-पंगतों के पात्र भी मँगनी जाकर बहुध। नहीं आते थे। न तो किसी के लिए नाहीं थी और न कोई लिखा-पढ़ी।"

रामचरण जी के सम्बन्ध में मुंशी अजमेरी जी ने भी कुछ सूचनाएँ[1] लिपिबद्ध की हैं—"सेठ रामचरन कनकने हमारे यहाँ के बहुत बड़े आदमी थे। जैसा बड़ा उनके मकान का फाटक, वैसा ही बड़ा उनका मकान और घी का गुदाम था। उनके यहाँ रथ, सेजगाड़ी (बड़ी मझोली) और कई प्रकार की बग्घियाँ थीं; बैल, घोड़े, ऊँट, हथियार और सिपाही थे और थे बहुत से नौकर-चाकर।. . .सेठ जी अपनी जाति में एक प्रसिद्ध और संपन्न सेठ थे। कुछ खास चिरगाँव में और चिरगाँव के आसपास के गाँवों में, इस प्रकार कोई १३ गाँवों में उनकी जमींदारी थी। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर थे। उन दिनों डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की मेम्बरी बड़ी प्रतिष्ठा की वस्तु थी। ओरछा और दतिया के महाराजाओं से उनका बड़ा मेल था। वे बड़े उदार और रईसी मिजाज के आदमी थे।"

ऐसे समृद्ध वंश में और प्रसिद्ध पिता के यहाँ विक्रम शुभ संवत् १९४३ के श्रावण मास, शुक्ल पक्ष की हरियाली तीज, सोमवार के दिन, तीसरे पुत्र कनकने मैथिलीशरण का जन्म हुआ। आपको जन्मपत्री-गत नाम कनकने मिथिलाधिपनंदिनी शरण दिया गया। यह नामकरण वंश-समृद्धि के अनुरूप पंडिताऊ सदाशयता का ही परिचायक था। इस शब्द-समुच्चय का घरेलू संक्षिप्त रूप मिथिलाशरण हुआ और मुख-सुख के लिए वही मैथिलीशरण बन गया!

यह बालक परिवार में तीसरा था। जन्म-समय उतनी धूमधाम अवश्य मनाई गई, जो उस समय के छोटे से गाँव चिरगाँव में संभव थी। पास-पड़ोस की स्त्रियों ने बुंदेली बोली के मांगलिक गीत गाए; ढोल की थाप से दूर के मुहल्लों को भी इस जन्म की सूचना दी गई। गाँव में गिना-चुना घराना था, खुशी से दान और नेग बाँटा गया। जन्म-पत्री के लग्न देख कर सेठ जी आने-जानेवालों की बधाई स्वीकार करते हुए एक मौन आनंद का अनुभव कई दिनों तक करते रहे। नियमित समय पर परिवार के पुरुष और स्त्रियाँ मंगल-उत्सव मनाते हुए 'अछरू माता' पर गए और वहाँ बच्चे का मुंडन-संस्कार हुआ। गोदियों का शृंगार तो यह शिशु पूरे दो वर्ष तक रहा। बाँहों की झूलन में इसका मोद देखते ही बनता था। डोरे-तग्गे और नज़र-कवच स्वरूप काजल के गोदने पाता ही रहता था—

"याद नहीं आता[2], मुझमें कवित्व का कोई संस्कार विद्यमान था। अपने छुटपन की एक बात अवश्य मुझे ऐसी याद है, जिसे कालिदास पूर्वजन्म की सुध कहते हैं।

"अब तो हमारे यहाँ वह बहली भी नहीं रह गई है; तब कई घोड़े और गाड़ियाँ थीं। मुझे वह बात नहीं भूलती, जब पहली बार मैं एक नई आई हुई जोड़ी पर बैठ कर बड़ों के साथ हवा खाने गया था। छोटा-सा गाँव, दो मिनिट में ही हम मैदान में थे। दोनों ओर हरे-हरे खेत, उन्हीं के बीच बाईं ओर एक छोटी-सी पहाड़ी, बीच में पक्की लाल सड़क, ऊपर नीला आकाश और सड़क के दोनों पार्श्वों के पेड़ों को हिलाती-डुलाती हुई भीनी-भीनी सुगंध वाली बयार। मानो किसी का पार नहीं। मुझे ऐसा लगा कि न जाने हम कहाँ जा रहे हैं और कब वहाँ पहुँचेंगे! मेरा जी उदास हो गया और शरीर में अवसन्नता-सी आ गई। कुरुक्षेत्र में अर्जुन

---

[1] दैनिक 'प्रताप', २२ जुलाई १९३६, में मुंशी अजमेरी जी का लेख 'मेरा और गुप्त जी का सम्बन्ध'।

[2] चिरगाँव में श्री मैथिलीशरण गुप्त की हस्तलिखित सामग्री से। एक बार गुप्त जी ने आत्मकथात्मक कुछ लिखना प्रारंभ किया था, पर वह यही ५०-६० शीट लिखा जाकर अधूरा ही पड़ा है—"एक बार स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ लिखने की चेष्टा मैंने की थी; परंतु काम चला नहीं। इस असफलता का मुझे कोई खेद भी नहीं!" ('श्री सियारामशरण गुप्त' ग्रंथ में गुप्त जी का लेख 'अनुज')।

की भी इससे अधिक और क्या दशा पहलपहल हुई होगी ! मेरा मन आगे जाने को न चाहता था, परंतु सारथी सब एक से ही होते हैं। मैं चुप बैठा रहा, बोल भी न सका। जब लौट कर गाड़ी से उतरा, तब मेरी आँखें सजल थीं और मेरे पैर न संभलते थे। मां ने समझा, मुझे डीठ लग गई है। मुझे भी याद है कि दुबारा जाने पर उन्होंने मुझे दिठौना लगा दिया था।"

आदर्श माताजी के संस्कार : बालक मैथिलीशरण पर अपनी आदर्श मां के संस्कार गहरे पड़े हैं[1]—

अपनी माँ की जन्म संवत् मुझे ज्ञात नहीं। परन्तु उनकी रामनवमी के दिन हुई थी ~~संभवतः~~ १९२९ में। उन दिनों स्त्रियों के पढ़ने का कोई प्रचलन नहीं था। फिर भी उन्होंने रामायण (रामचरितमानस) पढ़ना सीख लिया था

और 'रामस्वराज' का पाठ भी। इतना ही। लिखने पर उन्हें अभ्यास न था। उनकी अपेक्षा उनकी देवरानियाँ अधिक साक्षर थीं। उनका स्वभाव बहुत ही सरल और विनम्र था, घर में बड़ी होने पर भी अपनी बहुओं से भी वे दबी दबी रहती थीं।

सब को अच्छा खिला कर स्वयं साधारण भोजन से सन्तुष्ट रहती थीं। पहनने ओढ़ने में भी उन्हें कोई लालसा न थी। परिश्रम कर उन्हें मानो व्यसन था। झाँसी से सीपरी की सड़क पर १-१॥ मील दिनारा गाँव है। उसी के पास 'डामरौन' नामक गाँव में उनका जन्म हुआ था। अब वहाँ ~~मेरा~~ हमारी ननिहाल में कोई नहीं है। उस ओर की स्त्रियाँ बड़ी परिश्रमशीला मानी जाती थीं। यह ठीक भी था। दूसरों को खिला पिला कर वे प्रसन्न होती थीं। घर के सेवकों के विषय में भी यही बात थी। मैं छोटे भाइयों के साथ रात को ग्यारह बारह बजे तक दूकान से लौटते थे। उनके आदेशानुसार उनकी

---

[1] दिनांक २६-८-५६ को, हमारी जिज्ञासा का समाधान करते हुए, अपनी माताजी के सम्बन्ध में, गुप्त जी का पत्र।

ब्यालू (अधिकतर दूध-पूरी) रखी जाया
करे। किसी के उठने की आवश्यकता
नहीं, पर जाड़े की रातों में, वे एक बड़ोसी
लेकर बैठे रहते थे। उनके वात्सल्य में भी
प्रेम संकोच अथवा संयम था।

सेवाभाव-संलग्न माता और ठाकुर जी की सेवा में रत पिता का यह तीसरा पुत्र अपने शैशव में जिज्ञासा और चपलता की मिश्रित उमंगों से किस सीमा तक भरापूरा था, उसका भी एक उदाहरण अपनी स्मरणीय कहानी स्वयं ही कहता है—"उस्ताद[1] तो अपना घर ही फूंकने पर उतारू हो गए थे, किंतु मैं एक दिन अपने आप को फूंक बैठा था। कुशल यही हुई कि हिन्दीसाहित्य में मेरे ऐसों के लिए स्थान अथवा अवकाश था, नहीं तो छः-सात वर्ष की अवस्था में ही मैं तो भवसागर पार कर लिया होता!

"मेरे मंझले काका जी के जमींदारी ठाठ थे। जाड़े के दिनों में हमारे हाते में एक बड़ा-सा अलाव लगता था और सांझ-सबेरे उसके आसपास पीढ़ों पर उनकी सभा बैठती, हुक्का चलता और तीनों लोकों की चर्चा छिड़ती। मैं कभी-कभी आग तापने और बातें सुनने के लिए बैठ जाता था। एक दिन किसी के कपड़े में आग की चिनगारी बैठ गई, थोड़ी ही देर में नाकें सिकुड़ने लगीं और आखें चौकन्नी हो उठीं। आग तो स्वयं ही प्रकट हो उठनेवाली वस्तु है। जलता हुआ कपड़ा देख दिया गया और झट से एक जन ने कपड़े को हाथों से मल कर आग बुझा दी। मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। स्वयं वह कठिन कार्य करके गौरवान्वित होने का लोभ लगा। रात को इसी विचार में नींद भी कुछ देर से आई और सबेरे आँख कुछ पहले ही खुल गई। तब भी कुछ अंधेरा था। चौक में दीवट जल रही थी और कोई न था। बस, मैंने अपने रुई-भरे अंगे का पल्ला उठाया और उसे दीपशिखा से उसी प्रकार छुला दिया, जिस प्रकार नए कपड़े को पहनने के पहले मैं तुलसी[2] के बिरवे को छुला लिया करता था। भक से वह जल उठा। मैंने हाथों से उसे बुझाना चाहा, पर मेरी हथेलियों ने दो टूक नाहीं कर दी और कपड़ा छोड़ दिया। जब हाथ नहीं चलते, तब वाणी चलती है। उसने धोखा नहीं दिया और वह गला फाड़ कर चिल्लाई और आज भी वह पुकार मचाती चलती है।

"महीनों गुलगुले गाल में लेटे रहने का स्मरण करते हुए भी अब वह वेदना भूल-सी गई है, परंतु मेरा दक्षिण पार्श्व-पंजर देखकर कुछ लोग अब भी सिहर उठते हैं। मैं नहीं जानता, मेरी यह चेष्टा किस दृष्टि से देखी जायगी। परंतु आशा मैं यही करता हूँ कि मेरी मूर्खता न जानी जाकर यह मेरी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाशीलता ही मानी जाय, भले ही वह पागलपन की निशानी हो।" [चिरगाँव की अप्रकाशित सामग्री से]

---

[1] गुप्त जी ने इस उस्ताद का क़िस्सा चिरगांव में अपने विनोदी क्षणों में सुनाते हुए कहा कि एक बार कोई जन उस्ताद से मिलने आए। लेकिन उस्ताद किसी काम में जुटे थे। उन्होंने बहुत चाहा कि आगत जन उठ कर चला जाए, पर उठ कर कौन चला जाए? बस, उस्ताद ने अपने हुक्के की सुलगती चिलम उठाई और अपने मकान के छप्पर पर उंडेलने लगे! आगत जन ने घबरा कर पूछा कि हैं हैं, यह क्या कर रहे हैं उस्ताद? उस्ताद ने खीझ कर कहा कि अब देखता हूँ कि छप्पर में आग लग चुकेगी, तब आप कैसे बैठे रहेंगे। आप तो यहां जम कर बैठने आए थे न!

[2] आज भी गुप्त जी इस शकुन को मानते हैं। अपने तृतीय चिरगांव-प्रवास (अंतिम सप्ताह, सितंबर, १९४७) में गांव के ही दरजी से दो खादी के कुरते सिलवाए। सिल कर आए तो उनकी सिलाई की जाँच करने के लिए जैसे ही अपनी गर्दन एक नए कुरते के गले में हमने झुकाई कि गुप्त जी ने कहा, "भई, एक वैष्णव के यहां ठहरे हो, ऐसा हम कैसे होने देंगे। पहले आप यहां आइए।" और स्नानघर के पिछवारे लगे पौधों में तुलसी का पौधा खोजने लगे। वहां न मिला, तो बखरी के आंगन में लगे पेड़ों में उसे खोजा और वहीं पर लगे तुलसी के पौधे से अपने नए कुरते को बस स्पर्श कराने भर का आदेश दिया। जब वह हो चुका तो हँसकर बोले, "बस, अब आप पहन कर देख लें।"

सौभाग्य से एक डाक्टर उसी दिन प्रातः चिरगाँव शिशु मैथिलीशरण की चाची जी को देखने आए थे, उन्होंने जले हुए बालक की परिचर्या की। यही तीन-चार महीने तक घाव भरने में लगे थे।

पर स्थायी पाठ तो अभी बहुत पढ़ने बाकी थे। दूसरा पाठ भी कुछ ऐसी ही प्राणनाशक जोखिम साथ लिए था। किले की बावली में ऊपर चाँदे से कूदकर नहाने में अधिक रस मिलता था। यह बावली कुएँ से बड़ी नहीं थी। आसपास की जुटनेवाली बाल-मंडली में जैसे उतना सिर डुबोकर आनंददायक रस लेने का सुभीता न था। एक दिन बालक मैथिलीशरण चाँदे से न कूदकर, अपनी अल्हड़ता में मचला हुआ, मुंडेर से सिर के बल कूद बैठा और कूदते ही जरा-सा झोंका खा गया। कंधा सामने की दीवार से टकरा गया, और आयु बड़ी थी सो बीच जल में ही गिरा। कहीं नीचे की चौतरी से सिर टकरा गया होता तो बड़ी दुर्घटना घटती, जलक्रीड़ा का दुखद अंत होता। उस दिन इस बालक ने सीखा कि चाहे सिर के बल ही कूदो, लेकिन लक्ष्यभेद करते समय चंचलता नहीं, गंभीरता चाहिए। पर उसी दिन से इस बालक को उस बावली में जाने से मना कर दिया गया।

महाजनी सभ्यता में मुंडन-संस्कार के अलावा कर्ण-भेद बालकों में भी होता है। कनकने मैथिली शरण का भी कर्णभेद हुआ और कानों के आभूषण पहनाए जाने लगे—"बचपन[1] में हम लोग मोतियों के झुमके, जिनका बोझ संभालने के लिए मोतियों की ही दुहरी साँकल कानों पर चढ़ी रहती थीं, पहना करते थे। पैरों में चाँदी के कड़े, तोड़े, हाथों में सोने के कड़े, पोंहचियाँ और गले में गोप, गुंज एवं कंठ आदि भी समय-समय पर पहना करते थे। सिरों पर मंडली भी बँधवाते थे। हमारे अंगरखे के घेर में चारों ओर गोटे-पट्टे और पीठ तथा बाहों पर सुनहले पान-पत्ते टंके होते थे। परंतु उन कपड़ों का मूल्य स्यात् उतना भी न होता होगा, जितना आजकल लड़के एक कोट की सिलाई दे आते हैं और थोड़े में बहुत करा लेने का गर्व करते हैं। हमारे अंगरखों के साथ सुथने भी होते थे, परंतु वे प्रायः कोरे ही रहते थे। उन्हें पहन कर कौन गाँव के लड़कों से यह सुनता कि बीबी के खूसने में चार-चार चीलर!"

[४]

पिता की स्नेह-गरिमा का श्रीगणेश

प्रारंभिक पाठशाला गाँव के ही एक अहाते में थी और वहीं पर तीस-एक बच्चे जमीन पर बैठ कर पढ़ते थे। सेठ रामचरण के दोनों बड़े बालक भी इसी पाठशाला में बैठाए गए। सेठ जी के बच्चे थे, इसलिए मास्टर जी इन्हें क्या कहें? जिस तरह का अध्ययन इस पाठशाला में इन बच्चों ने किया, उसका ब्यौरा देते हुए मुंशी अजमेरी[2] लिखते हैं, "जिन दिनों मैं मदरसे[3] में पढ़ता था, दो लड़के पढ़ने आए थे। वे पैरों में चाँदी के कड़े-तोड़े, गले में गोप (सोने का एक गहना) और कानों में दुरबच्ची-मोतियों की झुमकियों वाले बाले पहने हुए थे। ढीली-ढीली धोतियाँ, कुरतों के ऊपर (अंग्रेजी काट के नहीं) देशी कोट कलीदार, और लाल मखमल की जरी के काम वाली टोपियाँ—यही उनकी पोशाक थी। मैं ऊँचे दरजे में था, वे मुझ से नीचे दरजे में थे। उनके बड़े-बड़े बस्ते खुले पड़े रहते थे। और वे प्रायः मदरसे से चल दिया करते थे। दूसरे लड़के उनके बस्तों में से कलमें और कागज निकाल लेते थे और उनकी दावातों में से स्याही अपनी दावातों में उंड़ेल लेते थे, पर वे कभी किसी से कुछ नहीं कहते थे। उनकी यह लापरवाही मुझे बुरी लगती थी, पर मैं उनसे कुछ नहीं चाहता था। मैं उन्हें जानता था कि ये कनकने के लड़के हैं: रामकिशोर और मैथिलीशरण।"

"उन दिनों[4] प्रारंभिक पाठशालाओं में दोनों समय पढ़ाई होती थी। प्रातःकाल अचार के साथ पूरी का कलेवा करके जाना, दोपहर को भोजन के लिए आना और संध्या को छुट्टी पाना। परंतु तब भी छुट्टी कहाँ थी? रात को भी पंडित जी पढ़ाने आते थे।"

---

[1] 'अनुज' लेख, श्री मैथिलीशरण गुप्त।
[2] २२ जुलाई, १९३१, के दैनिक प्रताप में।
[3] यह मदरसा गुप्त जी के मकान के पास ही आज सुनसान उजाड़ में पटा पड़ा है।
[4] 'अनुज' लेख, श्री मैथिलीशरण गुप्त।

चिड़िया का चुग्गा एक अश्रु ढुलकते ही बालक की खुशी की किलकारी, रूठे मृगछौने का थनों में से अनायास दो बूंदें दूध का पीना और शैशव की अ-आ-इ-ई का छः महीने में जाकर कंठ-पकड़ाई संभव होना—ये सब मृदु प्रकृति की हलकी गति बहनेवाली मधुर बयार के सदृश ही हैं। बालक मैथिलीशरण को विद्या का और मदरसे के गुरु जी का और घर पर पढ़ाने आनेवाले पंडित जी का अनुराग ज्यादा अपने स्नेहपाश में न बाँध सका। उसका अति सुकुमार यष्टि सा तन एक दूसरी ही प्रकार की शीतल मृदु स्पर्द्धा लिए हुए था। चंचलबुद्धि रहने पर भी यह स्पर्द्धा मितव्ययी थी, पर प्रवेग पाने पर खुलखेलती थी; बालक का मन अंकुशमुक्त प्रवृत्तियों में अधिक रमने के लिए उतावला रहता था। ये प्रवृत्तियाँ थीं चकरी फिराने की और पतंग उड़ाने की। मुंशी अजमेरी लिखते हैं[1], "हाँ, तो मैं जब मदरसे में पढ़ता था, तब मैं उनसे ऊँचे दरजे में था; था भी तो पाँच बरस बड़ा। उन दिनों चिरगाँव का मदरसा तीसरे दरजे तक ही था। दरजे उलटे चलते थे। पहले आठवाँ, फिर सातवाँ, छठा, पाँचवाँ आदि। मैंने तीसरे दरजे तक तालीम पाई। उस समय का तीसरा दरजा आजकल का चौथा दरजा समझिए। मैंने संवत् १६५१-५२ में मदरसा छोड़ दिया था। मैथिलीशरण जी शायद छठे दरजे में थे। उस समय मदरसे में दो मुर्दरिस ही थे, एक हेडमास्टर, दूसरा नायब। हेडमास्टर मुंशी जगन्नाथ प्रसाद बदल गए थे, जिन से कि मैं पढ़ा था। उनकी जगह एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण आ गए थे, पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र। वे बिनौर (कानपुर) के थे, कट्टर आर्यसमाजी और बड़े उद्दंड आदमी थे। उन्हीं से गुप्त जी पढ़ने गए। पर अधिक नहीं, पुराने पाँचवें अर्थात् आजकल के दूसरे दर्जे तक ही पढ़े... उस समय जब मैंने मैथिलीशरण जी को देखा, तो आप की एक विचित्र दशा थी। उस समय आपको चकरी फिराने और पतंग उड़ाने का बड़ा शौक था। चकरी के हजार-हजार डेढ़-डेढ़ हजार चक्कर हो जाते और चकरी नहीं रुकती थी, बराबर चलती रहती थी। हाँ, उसकी डोरी ही टूट जाय तो लाचारी थी। ऐसा अक्सर होता था कि बल खाते-खाते चकरी की डोरी टूट जाया करती थी। जब आप चकरी फिराते तो लड़कों और दर्शकों का समूह आप को घेर लेता था। कई लड़के चकरी के चक्कर गिनते रहते थे। देखनेवालों में से कोई-कोई कहते थे कि ग्वालियर में जो चकरी का मेला होता है, उसमें मैथिलीशरण आवें तो जरूर इनाम पावें। यही हाल पतंग उड़ाने में था। तरह-तरह की पतंगें आ रही हैं। रीलों पर माँजा चढ़ाया जा रहा है। कई लड़के उस काम में लगे हुए हैं। शाम को पतंगें उड़ाई जा रही हैं और पेंच लड़ाए जा रहे हैं।"

खिलाड़ियों से होड़ कर एक से एक अच्छी पतंगें एकत्र की जातीं, बढ़िया से बढ़िया माँजा तैयार होता। शाम होते ही मैदान में धमाचौकड़ी होती। पतंगें उड़ानेवाले यही तीन-चार होते, बाकी तो माँजा और पतंगें लूटनेवाले ही थे। दोनों का आनन्द भी जुदा-जुदा था। पतंगें लड़तीं, काटनेवाले पर शाबाजी-सूचक तालियाँ पीटी जातीं, गुलगपाड़ा होता। कभी यह भी नौबत आती कि पतंगों के पेच लड़ाने भूलकर, पतंगें उड़ानेवाले ही आपस में लड़ पड़ते[2]। खुट्टी होती। दो की खुट्टी के साथ मित्रों के दलों में अनबन होती, खुट्टी करके न बोलने के इरादे दिनों चलते। पर जहाँ नहर या बावली में तैरने का मौका होता, वहाँ बीते दिन के मनमुटाव अधिक देर याद न रहते।

पतंग उड़ाने का शौक इतना बढ़ा-चढ़ा था कि मैथिलीशरण जब परिवारजनों के साथ किसी बरात में या दूसरे गाँव जाता, तो अपने साथ तीन-चार पतंग उड़ानेवाले साथी भी ले जाता और बस, वहाँ बड़े जन अपना काम करते, चिरगाँव के बालकों की टोली पतंग उड़ाती[1]।

---

[1] दैनिक प्रताप, २३ जुलाई १६३६।

[2] "जिसने दोपहरी भर लाज मुँह छिप तैयारियाँ की हैं और संध्या के पहले ही पतंगें उड़ाई-लड़ाई हैं और कभी-कभी जो स्वयं भी लड़ पड़ा है। लड़ाई के बाद आपने और जिसने आपस में न बोलने की प्रतिज्ञाएँ की हैं, परंतु वे दो दिन भी नहीं निभ सकीं। आप ही बताइए, हमारे वे दिन बड़े थे, जब एक दूसरे के हाथ से छीना-झपटी करके खाने-पीने की कोई वस्तु तुरंत मुँह में डाल लेते थे और एक दूसरे को अँगूठा दिखाते थे, अथवा आज का दिन बड़ा है, जिसमें कि पुरखों की तरह मुँह छिप हुए कोरा जलपान करेंगे?"—स्वर्ण जयंती का संदेश, 'आज' [काशी], २८ जुलाई, १६३६ में प्रकाशित।

[1] झाँसी में २६ मार्च, १६५४, को श्री वृंदावनलाल वर्मा ने हमें जो संस्मरण सुनाए, उनमें से एक।
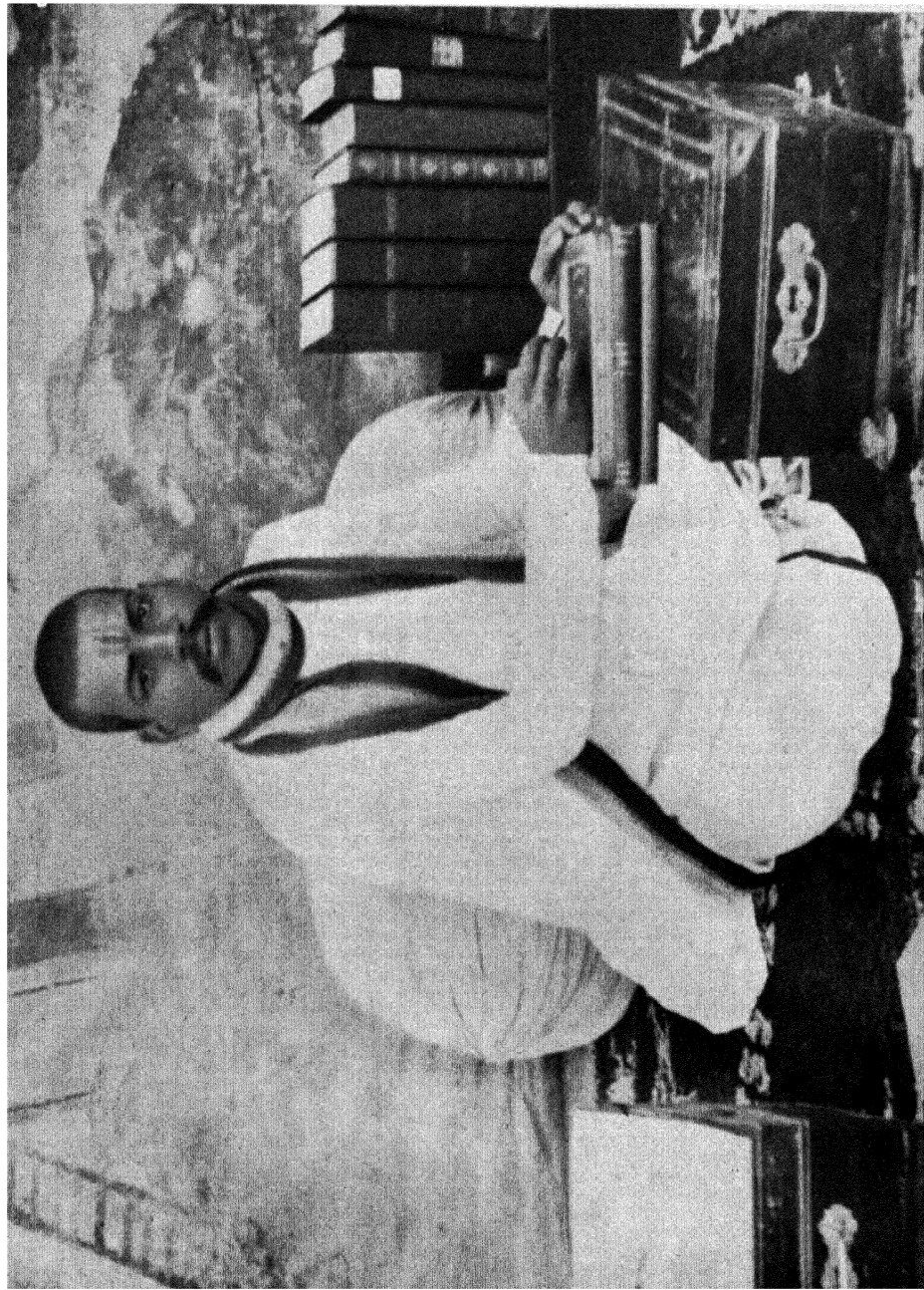
वावू माथलाशरण गुप्त

[१९०९ में इंडियन प्रेस से प्रकाशित हिन्दी के प्रथम लोकप्रिय कविता-संग्रह 'कविता-कलाप' के २४ वर्षीय कवि। यह चित्र चिरगाँव में उस युग की याद दिलाता है, जब कैमरे की प्लेटें भी नहीं आई थीं, केवल शीशे पर एक मसाला चढ़ाना होता था।]

इमली, अमरूद, लहसौड़े, बेर, कैथ, महुए अलग निमंत्रण देते थे। इस सेठ-पुत्र के लिए उसकी प्रचुरता कम न थी, संकेत भर कर देने पर ये वस्तुएँ पंसेरियों जुट सकती थीं। पर बालकों की दुनिया के इरादे जुटी-जुटाई प्रचुरता को लेकर क्या करें। अपने हाथों जब तक पेड़ों तले जाकर फल झोलियों में न बटोरें, तो ग्रामीण बालक क्या! इन इरादों से गाँव के बाहर अभियान होते। पर गाँव के बाहर पके फलों से लदे पेड़ों के रखवाले भी तो होते। पके फलों के पहले दुश्मन होते हैं उद्धत स्वभाववाले पक्षी, दूसरे होते हैं उद्दंड बालक और निर्मम हृदयी बटोही। ये पेड़ों के रखवाले जब ऊधमी टोलियों का पीछा करते, तो यह सेठ-पुत्र भी अपने दल के साथ ही जी जान से गिरता-पड़ता भागकर अपनी जान बचाता...

और ऐसी मुक्तमना टोलियों में गिल्ली-डंडे या गेंद का खेल भी घंटों चलता। ये घंटे सुबह कब शुरू होते, शाम कब पूर्ण होते, इसका न हिसाब था, न विधान था। उमंग, मन-हृदय की हिलोर, डींग और मस्ती की ललक पर सब दारमदार होता। सुकुमार देह के मैथिलीशरण को तगड़े साथी खूब पिदाते थे। अपने पेट में जो पिद्दू हजम करके खेलने वाले हैं, वे दूसरी किस्म के बालक होते हैं। जरा घाघ किस्म के। लट्टू का खेल भी कम रुचिकर नहीं था। यों भी लट्टुओं के लायक साफ-सफूफ और भरपूर खुली जमीन गाँवों में ज्यादा सुलभ हो पाती है।

साथियों की टोलियों में प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ स्पर्द्धा से ही अदलती-बदलती हैं। पहले या बाद में कबूतरों के पालने में भी रुचि रही। जिसने भी उम्दा नस्ल के किसी कबूतर का नाम बतलाया, वही मँगवाया गया।[1] कहाँ-कहाँ से मँगवाया गया, इसका कोई हिसाब न था। यह खब्त भी कम दिन सिर पर सवार न रहा। कबूतरों के पालन में प्रहरी का काम भी कम नहीं करना होता। बिल्लियों से उनकी चौकसी करनी होती। वैष्णव-परिवार में अकेले इसी बालक ने ही अपना यह काम निभाया होगा रात-बिरात!

इन सब नए प्रयोगों में पिताजी से पिटने का कभी भय नहीं रहा। उलटे हर नए प्रयोगों में उनकी अयाचित सहायता ही प्राप्त होती रहती। "हम लोगों को कभी उनसे पिटने का भय न था, परंतु हमने उनके अथाह वात्सल्य का ही उपभोग किया। हम लोगों की इच्छाएँ पूरी करके वे हमसे भी अधिक आनंद प्राप्त करते थे।"[2]

किशोर मैथिलीशरण पर पारिवारिक नियंत्रण

बालपन एक तरल अवस्था है; उसकी दृष्टि में समाज भी एक तरल रंगमंच है। जब तक मैथिली शरण की तरल बुद्धि और तरल अबोधावस्था रही, उसके खेलने की सीमाएँ और टोलियों में रलमिल कर समय बिताने की छूट पर विशेष नियंत्रण न रहा। गाँव यों भी एक लघु तलैया से अधिक नहीं होता, जिसमें कितना डूबें और कितना ऊपर के कंगूरों पर चढ़ें, इसकी अति निश्चित मर्यादाएँ बनी रहती हैं। प्राइमरी पाठशाला में चाहे यह कोरा रहा हो, पर वैष्णव-परिवार के इस बालक को वैष्णवी संस्कार तो कंठस्थ कराए ही जा रहे थे। "मैं और मेरे बड़े भाई उन्हीं पिताजी के निकट अलग-अलग चारपाइयों पर सोते थे।[3] मैं उस समय ५-७ वर्ष का रहा हूँगा। पिताजी रात रहते ही उठकर प्रातःस्मरण करते थे, फिर हम लोगों को जगा कर नाम-महिमा याद कराते थे—ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ, पावा अचल अनूपम ठाऊँ। फिर ध्रुव की कथा सुनाते। इसी प्रकार प्रसंगानुसार और भी कितनी कथाएँ कहते। मुझे बड़ा कौतूहल और आनंद होता। परंतु 'ब्रह्म राम ते नाम बड़' अथवा 'राम न सकहिं नाम गुन गाई' वह प्रसंग आने पर, मुझे भलीभाँति स्मरण है, मुझे अच्छा न लगता था। राम से बड़ा कुछ भी है (भले ही वह उनका नाम ही क्यों न हो) मैं नहीं मानना चाहता था। परंतु युक्तियाँ ऐसी थीं कि मैं कुछ कह न सकता था। परंतु अब जी उदास नहीं होता। कौतुक तो यह है कि राम को मैं अब भी वैसा ही मानता हूँ। नाम का यही महत्त्व है कि वह राम की सुध दिला दे।

---

[1] झाँसी में, श्री वृंदावनलाल वर्मा द्वारा सुनाए गए संस्मरणों में से एक [२९ मार्च १९५४]।

[2] 'अपने विषय में', श्री मैथिलीशरण गुप्त [अप्रकाशित मैथिली-मान-ग्रंथ]। [3] वही।

"कितने ही श्लोक भी, पिताजी ने मुझे याद कराए थे। उनमें से 'युगल प्रभु' के इस ध्यान की बहुधा आवृत्ति हुआ करती थी—

नीलाम्बुजश्यामलकोमलांगम्, सीता समारोपित वाम भागम्।
पाणो महासायक चारु चापम्, नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥

आगे चलकर तुलसीदास जी का ही निम्नलिखित श्लोक मुझे और भी रुचा—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत, स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनंदनस्य मे, सदास्तु सा मंजुल मंगलप्रदा॥

परंतु सखीभाव की उपासना के कारण पिताजी सीता के बिना राम की बात ही न कर सकते थे। वही उनकी इष्ट देवता थीं। उन्होंने अपनी 'रहस्यरामायण' की रचना के आरंभ में ही लिखा है कि महादेवजी ने बहुत काल तक राम का ध्यान किया। प्रभु ने उन्हें दर्शन तो दिए, परंतु कहा यही—नहिं प्रसन्न तुव जप तप साधे, प्रिया जानकी बिन आराधे। तब शिव ने युगलमूर्ति का ध्यान किया।

एक बार उन्होंने गाँव के ब्राह्मणों को रामायण के सौ पाठ कराए। उसके पीछे स्वयं भी सौ पाठ किए। प्रति सप्ताह पाठ पूरा होता था और उस दिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था। वह संकल्प पूरा होने पर उन्होंने एक सहस्त्र पाठ करने का संकल्प किया। अब की बार प्रति सप्ताह दो पाठ पूरे होते थे—एक अध्यात्मरामायण का, दूसरा रामचरितमानस का। स्नान के पश्चात् डेढ़-दो घंटे वे युगलमंत्र का जप किया करते थे। पाठ पूरा करने के लिए एक न एक रामायण का गुटका बाहर जाने पर भी वे हाथ में लिए रहते थे। और जहाँ किसी कामकाज अथवा बातचीत से अवकाश पाते, पाठ करने लगते थे। उसी बीच में पिताजी ने अपनी उपासना के अनुसार 'रहस्यरामायण' लिखना आरंभ किया था। रामचरित में इस प्रकार की उपासना कृष्णलीला की पूर्ति करती है। परंतु मुझे राम के मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप की भक्ति ही भाती है। पिता जी से इस सम्बन्ध में एक आध बार मैंने कुछ कहा भी, परंतु उन्होंने मुझे अनधिकारी समझा। जो हो, महाराज भवानीसिंह जी के कथनानुसार अपनी उपासना के सम्बन्ध में वे दृढ़ थे। मैंने देखा है, मुझे निम्नलिखित दोहा सुनते हुए उनके नेत्रों में जल और मुख पर एक तेज झलक रहा था—

चातक सुतहिं सिखावही आन धर्म जनि लेहु।
मेरे कुल की बानि है, स्वाति बूंद सों नेहु॥"

परिवार के वैष्णव-संस्कारों की पल्लवित-पुष्पित वाटिका का ब्यौरा मुंशी अजमेरी ने इस प्रकार दिया है,[१] "उनका अधिक समय भजन-पूजन में ही बीतता था। अध्यात्मरामायण और रामचरितमानस का साप्ताहिक पाठ किया करते थे। प्रति मंगलवार को दोनों पाठ समाप्त होते थे और उस दिन एक ब्राह्मण को भोजन कराया जाता था। प्रतिदिन संध्या समय गाँव के पंडितों की मंडली उनके पास जुड़ती और अनेक विषयों पर वार्ता होती। दाऊजू वार्ता करते, सुनते और हजाराहजार मणियों की माला जपते रहते थे। वे स्वयं गाते-बजाते नहीं थे, पर संगीत सुनने और पद बनाने का बड़ा शौक था। जो धुन उन्हें पसंद आ जाती, उसी पर पद बना लेते थे। तानपूरा, सितार, सारंगी, पखावज, तबला और खरताल, अनेक बाजे उनके यहाँ थे और सब तैयारी हालत में थे। वे धार्मिक विचारों में बड़े कड़े थे। बड़ी पवित्रता से रहते थे। फलों के सिवा मार्गचली कोई चीज नहीं खाते थे। जब हाकिम-हुक्कामों से, अंग्रेज अफसरों से हाथ मिलाकर आते थे, तब स्नान होता था और वे सब कपड़े धोए जाते थे, जिन्हें वे पहने होते थे। उनका जीवन आनंदमय था। वास्तव में, एक कवि के शब्दों में, उनका जीवन धन्य ही था। वे बड़े सच्चरित्र थे, कोई दुर्व्यसन छू तक नहीं गया था।"

वैष्णव-संस्कार भारत की साधुता को, युग-प्रतियुग, निरंतर महिमामय बनाते हैं। यही साधुता है, जिसने भारतीय मात्र के प्राणों को गहरी स्फूर्णाओं का अक्षय स्रोत सौंपा है। इसी साधुता के स्पर्श से किशोर

[१] दैनिक प्रताप, २२ जुलाई, १९३६।

मैथिलीशरण महाजनी सभ्यता में पल-बढ़ कर भी, उच्चस्तरीय परिवारों के तथाकथित बड़प्पन की संकीर्णताओं से अछूता रहा था। जन-मन में, गाँव के छोटे-बड़े सबमें मिल कर घुले रहने की हुमस बराबर सक्रिय रही चली जा रही थी। वैष्णव-केन्द्र चिरगाँव में प्रायः रामलीला का आयोजन सेठ रामचरण जी अपने ही बड़े आँगन में करवाते थे। इन दिनों रास करवाने में सिर्फ ५-७ रुपए ही व्यय होते थे। प्रायः व्रज की मंडलियाँ रास खेलने आया करती थीं। उन्हें इस लगी-बँधी फीस के अलावा जो चढ़ावा चढ़ जाता था, वह अतिरिक्त लाभ के रूप में रहता था। इस रामलीला में फुलवारी के माली और धनुषयज्ञ के साधु एवं असाधु राजाओं के वार्तालाप से इस किशोर को बड़ा कुतूहल होता था। जिस गाँव में नाटक का चमत्कार न पहुँचा हो, वहाँ रामलीला व रासमंडली ही सबसे बड़ा आकर्षण था। दूसरे, रामलीला के तख्त पर पुराने युग के नायक और नायिकाएँ अपने मनोभाव कम व्यक्त करते हैं, चौपाइयों का ही समाँ वे सब मिलकर अधिक बाँधते हैं। इस किशोर की रुचि भी एक वैष्णवजन के पुत्र के नाते रामलीला के प्रति आकृष्ट हुई। एक वर्ष की लीला में बहुत सोचविचार कर रामजी को फूल अर्पण करने की भूमिका में माली बनने की सुविधा इस किशोर को दे दी गई। शायद दो-एक छंद भी वहाँ अभिनय के समय बोलने थे। ठीक मौके पर माला तो रामजी के गले में चली गई, पर कंठ के भीतर से वे छंद न निकले. . . "मैंने[1] माली की भूमिका में रामजी को फूल अर्पण करते हुए दो-एक छंद पढ़ने की चेष्टा की थी, परंतु मैं सफल न हो सका, कंठस्थ पाठ भी ठीक न पढ़ पाया। एक साथी ने रामजी से निवेदन किया कि महाराज, मेरा यह अनुज अभी बच्चा है, इस कारण अभी तुतलाता है। यह सुन कर दर्शक लोग हँसने लगे। मुझे रुलाई सी आ गई। और मैं चुपचाप खिसक आया।"

किंतु अभिनय के क्षणों में कंठ साहस न कर पाया हो, उसने अन्यत्र अपना साहस कर दिखाया। प्राचीन नायकों के संवाद-प्रतिसंवादों की ओजस्विता कंठ में मुखर होने के लिए अपना मार्ग आखिर खोज ही पाई। मुंशी अजमेरी लिखते हैं,[2] "इसके सिवाय आपको आल्हा पढ़ने का शौक था। बाजार में किसी की दुकान पर आल्हा की किताब देखी और उसे लेकर वहीं बैठ गए और लगे जोर से पढ़ने। वहाँ सुननेवालों की भीड़ लग जाती थी। उस समय आप प्रायः ढीला कुरता पहनते थे और बड़ा साफा बाँधते थे।" यह आल्हा पढ़ने की रुचि ठेठ बुंदेलखंडी थी। इस पाठ के उत्साह में भविष्य अपनी उँगली एक निश्चित दिशा में साधे हुए, इस किशोर के जीवन में अदृश्य भाव से, दीख पड़ता है।

लेकिन घर पर इस किशोर के ऐसे आचरण रुचिकर न लग रहे थे। सेठ-पुत्र को अपने स्तर के जनों में ही उठना-बैठना चाहिए। लेकिन बालक पर नियंत्रण भी जिस औचित्य को लिए लगाया जाए, वह जरा ठहर कर हाथ में आया। गाँव की पाठशाला इस किशोर को अधिक विद्या न दे पाई थी। एक दिन "मेरे गुरुजनों ने जाने कैसे समझ लिया था कि मैं डिपुटी कलक्टर हो सकता हूँ।[3] उस समय न तो ऊँची परीक्षाओं का ऐसा बंधन था, न उनके पश्चात पब्लिक सर्विस कमीशन के आगे उपस्थित होने की विभीषिका पूर्ण बाधा ही थी। कुल-सम्मान शिक्षा की न्यूनता पूरी कर देने में सहायक होता था। और उच्चाधिकारियों के अनुग्रह का कहना ही क्या। वस्तुतः उसी को सर्वोपरि समझिए। पिताजी की उन तक पहुँच थी ही। इतना ही नहीं, उनसे कहा भी गया था कि अपने एक पुत्र को अंग्रेजी पढ़ाइए।[4] ऐसी अवस्था में घर के बड़ों ने ऐसी आशा की तो यह ठीक ही था। परंतु इस अभिलाषा की पूर्ति के लिए मेरा चुनाव गड़बड़ हुआ। मैं गाँव की हिन्दी पाठशाला की तृतीय श्रेणी से उठा कर हाईस्कूल में पढ़ने के लिए झाँसी भेज दिया गया। वहाँ भी अपना घर था और अपनी दुकान भी थी। मैंने पहले वर्ष डबल प्रोमोशन पाकर बड़ों की आशा और अभिलाषा को बढ़ावा भी दिया। परंतु यह मेरी आरंभ-शूरता थी, जिसका मुझ में कभी अभाव नहीं रहा। डबल प्रोमोशन के पाने के पीछे की न पूछिए। दिन में गेंद-बल्ला, डोर-पतंग और रात में नाटक-चेटक। सिनेमा

[1] नई दिल्ली से, अप्रैल, १९५५, में प्रसारित 'मेरे कवि का आरंभ' शीर्षक रेडियो-वार्ता।
[2] दैनिक प्रताप, २२ जुलाई, १९३६।
[3] 'मेरे कवि का आरंभ' शीर्षक रेडियो-वार्ता।
[4] एक कलक्टर ने दाऊजू से कहा था कि अगर आप अपने बच्चों में से किसी को अंग्रेजी पढ़ाओ, तो हम उसे कलक्टर बना देंगे।

तब न था। कुछ दिन पीछे मैं झाँसी से घर बुला लिया गया।[1] बहुत-सा धन नष्ट करके कोरा-का-कोरा लौट आया था। बड़ों को निराशा ही नहीं हुई, शहर में मेरे कुसंग में पड़ जाने का भी भय हुआ।"

और, इस प्रकार किशोर मैथिलीशरण कलक्टर हो जाने की भावी दुर्घटना से बाल-बाल बच गया!

विद्या या विद्या के स्पर्श से अछूते, महाजनी सभ्यताकी परंपरा रही है कि घर में धन चाहिए और नियमित समय पर पुत्र का एक अच्छे घराने से रिश्ता चाहिए। घर में बहू आवे, यही ऐसे युगों में बड़े-बूढ़ों की लालसा रहा करती थी। बाल-विवाह का रिवाज इसमें सबसे बड़ा सहायक था। माता के ममत्व के कारण ९ वर्ष की आयु में किशोर मैथिलीशरण का विवाह तय कर लिया गया। मुंशी अजमेरी लिखते हैं,[2] "संवत् १९५२ में[3] मैथिलीशरण का विवाह हुआ था। मेरे पिताजी भी मुझे साथ लेकर बारात में गए थे। बहुत बड़ी बारात थी। उसके बाद फिर उतनी बड़ी बारात मैंने आज तक नहीं देखी। बारात दतिया गई थी और किले के पास ठहरी थी। पूरी बारात वहाँ नहीं समा सकी थी, इसलिए बहुत से बाराती इधर-उधर भी ठहर गए थे। मैथिलीशरण के ससुर स्वर्गीय रामनाथ जी सोनी भी दतिया के बहुत बड़े सेठ थे। चार-चार हजार आदमियों की ज्योनार होती थी। कनकने जी ने आतिशबाजी इतनी बनवाई थी कि वह टीके के समय खत्म नहीं हुई, इसलिए कई दिन चलती रही। उसी समय बिजावर के तत्कालीन महाराज दतिया-नरेश महाराज भवानी सिंह जी से मिलने आए थे। दतिया-नरेश बिजावर-नरेश को स्टेशन से लेकर लौटे, तो किले के आगे आतिशबाजी चल रही थी। राजाओं की सवारी वहाँ रुक गई। बिजावर-महाराज ने आतिशबाजी की बहुत तारीफ की। उन्होंने समझा कि हमारे सम्मान में रियासत की ओर से चल रही है। दतिया-महाराज ने उसी समय कहा कि चिरगाँव के सेठ की बारात आई हुई है, उसमें यह आतिशबाजी चलती है, कई दिन हुए इसी तरह रोज चलती है। ऐसी धूमधाम से मैथिलीशरण का विवाह हुआ था। सेठ जी जो कार्य करते, बहुत ही आडंबरपूर्ण करते थे। उनका स्वभाव ही ऐसा था।"

विवाह के आसपास ही, जब इस किशोर को सुनिश्चित गृहस्थी की सीमाएँ सौंप दी गई थीं, एक लगे-बँधे लग्गे से लगाने की चिंता में इन्हें आयुर्वेद की शिक्षा दिए जाने का आयोजन हुआ। "मेरे छोटे काका वैद्यक जानते थे[4] और अनेक रसादिकयोग बनाकर धर्मार्थ रोगियों को दिया करते थे। उनका हाथ भी जसीला था। इस कारण उनकी प्रतिष्ठा भी बहुत थी। उन्होंने कहा कि वैद्यक ही सीखो। उपकार का काम है। रीझ-बूझ भी बनी रहेगी। नया कार्य पाकर फिर मेरा उत्साह जाग उठा।[5] 'प्रणम्य जगदुत्पत्ति-स्थिति संहारकारणम्' से आरंभ करके दो-तीन महीने में मैंने लगभग आधा 'माधवनिदान' कंठ कर लिया। परंतु फिर वात, पित्त और कफ के सन्निपात से जी घबराने लगा। मेरा कवि जीवन अभी शेष था। इस कारण मैं व्याधियों के इस जंजाल से बच निकला।"

[५]

पिता के कविगत संस्कार और प्रेरक वातावरण

मैथिलीशरण के बालपन के नौ-दस वर्ष बीत गए थे, लेकिन अपने इस प्रिय पुत्र को उचित शिक्षा दिलाने में सेठ रामचरण जी को वांछित सफलता न मिल पाई। सेठ जी अंग्रेजी नहीं पढ़े थे, पर वे चाहते थे कि मैथिलीशरण अंग्रेजी पढ़ जाएँ। पर झाँसी की स्कूली शिक्षा में भी इतना आकर्षण न था कि वह इस बालक को ज्ञान का मार्जित रूप दे सकता या कामचलाऊ अंग्रेजी का गौरव ही सौंप देता। उल्टे दुलार और वैभव ने इस की प्रकृति को आमोदप्रिय बनाने का उत्क्रम प्रस्तुत कर दिया। ऐसी स्थिति में इस पुत्र को उन्होंने अपने

---

[1] आज भी मैकडानल हाई स्कूल, झाँसी, में मैथिलीशरण की छठी कक्षा का स्कूल-सर्टिफिकेट सुरक्षित रखा है, जिसमें नाम मैथिलीशरण, जाति बनिया और चरित्र अच्छा लिखा हुआ है। यह सर्टिफिकेट १८९६ का है।

[2] दैनिक प्रताप, २२ जुलाई, १९३६।

[3] जब मैथिलीशरण झाँसी में पाँचवीं कक्षा में पढ़ रहा था।

[4] 'मेरे कवि का आरंभ' शीर्षक रेडियो-वार्ता।

[5] श्री वृंदावनलाल वर्मा ने हमें बताया, "गुप्त जी में जो भी नया प्रवृत्ति-वेग आया, वह बड़े वेग से आया।"

वैष्णवी संस्कारों की छाया में ही रखना भला समझा। इस पुत्र की जन्मकुंडली में ग्रह अच्छे थे, इसलिए पिता होनहार समझते थे। ऐसे ही क्षणों में कनकने परिवार में एक वैष्णव मुसलमान का प्रवेश होता है। इस किशोर बालक के जीवन में यह प्रवेश एक अर्थ रखता है; वह एक दिशा-निर्देशन पाता है। यह दिशा यद्यपि प्रारंभिक पगडंडी मात्र के आशय से ही गर्भित है, जो आगे चलकर अपना अस्तित्व सहज नहीं पाती, लेकिन यह प्रारंभ का अंतर्मिलन तो महत्वपूर्ण है ही। यह वैष्णव मुसलमान मुंशी अजमेरी के पिता थे और मुंशी अजमेरी का आगमन इस परिवार में एक वयस्क बालक के रूप में, विशेषकर एक गायक और लिपिकार के रूप में जो हुआ, उसने पिता के कविगत संस्कारों को कुलीन रुचि के अनुरूप शोभनीय बनाने का कार्य किया।

"उन दिनों गुप्त बंधुओं से मेरी मित्रता नहीं थी।[1] यह तो संवत् १९५६ से हुई और फिर बराबर घनिष्ठता को प्राप्त हुई। पहले भैया रामकिशोर जी से मित्रता हुई और फिर मैथिलीशरण जी से। बड़े सेठ जी मुझे पहले से ही जानते थे। मैं अपने पिता जी के साथ उनके यहाँ जाया करता था। मेरे पिता भीका जी बड़े गुणी जन थे। हम लोग जैसलमेर राज्य के निवासी, पालीवाल ब्राह्मणों के भाट हैं, पर हैं मुसलमान। बादशाही जमाने में कभी मुसलमान हो गए थे। काव्य और संगीत में दोनों कलाएँ हमारा कुलकर्म हैं। मेरे पिताजी इन दोनों कलाओं में कुशल और बड़े सभा-चतुर मनुष्य थे। चिरगाँव के मारवाड़ी स्वर्गीय रा० ब० गोविंदराम जी[2] ने उन्हें चिरगाँव में ही बसा लिया था। राव बहादुर से और सेठ रामचरण जी से प्रायः अनबन रहा करती थी। वे परस्पर एक दूसरे का उत्कर्ष सहन नहीं करते थे। मेरे पिता जी थे रावबहादुर साहब के आश्रित, पर वे सेठ जी के पास आते-जाते थे। सेठ जी उनका बहुत आदर करते थे। गुणी का आदर करना वे जानते थे। संवत् १९४९ में रा०ब० साहब का देहांत हो गया, तब से मेरे पिता जी सेठ जी की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो गए थे। संवत् १९५५ में मेरे पिता जी न रहे। 'बाप का मरना और अकाल का पड़ना' यह कहावत मेरे लिए चरितार्थ हो गई। घर का भार एक दम मेरे ऊपर आ पड़ा। घर में हम चार प्राणी थे—मेरी माँ, मेरी काकी, मैं और मेरी स्त्री। उस समय मैं १८ बरस का था। मेरी ऐसी अवस्था देख कर सेठजी द्रवित हो गए और उन्होंने कृपाकर मुझे अपना लिया। उस समय रामकिशोर जी १६ बरस के और मैथिलीशरण १३ बरस के थे। उसी समय से मेरा और उनका संबंध है। ....मेरी मातृभाषा मारवाड़ी है और देश-भाषा बुन्देलखंडी है, क्योंकि मेरे पिता जी मारवाड़ के थे और मेरा जन्म चिरगाँव में हुआ था।...मैं बाल्यकाल से अपने पिता जी की बातें सुनता रहा था और तीन वर्ष उनके साथ देशाटन भी कर चुका था, इसलिए उस समय भी बहुत-सी बातें जानता था। कवित्त, सवैया और श्लोक कहता था, 'पृथ्वीराज-रासो' पढ़ता था, कहानियाँ सुनता था, पद-भजन गाता था और पद्य भी बना लेता था, पर मुझे पिंगल का ज्ञान नहीं था। मैं यह नहीं जानता था कि कवित्त में कितने अक्षर होते हैं और दोहे में कितनी मात्राएँ। मैं तो वजन के तौल पर छंद बनाता था। कवित्त के सिवा और छंद, दोहा, चौपाई, छप्पय आदि ठीक भी बन जाते थे। 'पृथ्वीराजरासो' पढ़ने के करण मुझे अनेक छंदों की गतियाँ मालूम हो गई थीं। पिंगल की बातों का ज्ञान बाद में मुझे दाऊजू ने ही कराया था। इतना ही नहीं, संगीत-शिक्षा में वे मेरे सहायक हुए। उन्होंने अपने बनाए हुए पद सीखने को मुझ से कहा और जितने पद सीख कर, गा कर उन्हें सुना दूँ, उतनी ही चवन्नियाँ मुझे दे देने का नियम बना लिया। चार आना पाने के लोभ से मैंने उनके अनेक पद याद कर लिए थे। उनके पास जो साधु-महात्मा आते, उन्हें मुझ से वे अपने उपासना-विषयक पद सुनवाया करते थे।

---

[1] दैनिक प्रताप, २२ और २३ जुलाई, १९३९।

[2] चिरगाँव में तीन ही प्रसिद्ध वंश थे—राजवंश, कनकने वंश और रायबहादुर गोविंदराम जी का घराना। राजवंश का बड़ा मकान 'हवेली' कहलाता था, चिरगाँव में बस यही हवेली थी। कनकने वंश का मकान 'बखरी' नाम से लोक-ख्यात है। शब्दकोष में इसका अर्थ है—गाँव के साधारण घरों की दृष्टि से बड़ा अच्छा मकान; पर बखरी का लौकिक एक दूसरा अर्थ भी है—आंचलिक भू-भाग का बड़ा गुदाम, जो मोटे तौर पर सम्पन्नता और वैभव-श्री के प्रति ग्रामीण विश्वास प्रकट करता है। राय बहादुर साहब का मकान 'दुकान' कहलाता था। वे बड़े व्यापारी थे। आज तक ये तीनों नाम रूढ़ बने हुए हैं, इन मकानों के परिचयार्थी हैं।

"पदों के अतिरिक्त उन्होंने उन दिनों एक रामायण भी बनाना आरंभ किया था, उस का नाम था 'रहस्यरामायण'। वे उसका खर्रा करके मुझे दे देते थे और मैं उसकी कापी किया करता था। किसी पद्य में जहाँ मुझे कसर जान पड़ती, तब मैं उन्हें बतलाता, कहता कि दाऊजू, यह यहाँ कुछ गड़बड़ है। वे बड़े प्रसन्न होते, कहते कि तुम्हें इतना ज्ञान है, इसी से हम तुमसे लिखवाते हैं। तुम 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' नहीं करते, फिर मुझे वह गलती समझाते। कहते कि देखो, इसमें मात्रा-विषयक अशुद्धि है, इसमें एक मात्रा कम है, इसमें इतनी मात्राएँ। इस प्रकार मात्रा-भेद समझाते। उनकी मुझ पर बड़ी कृपा थी। उन्होंने मुझे पाँच बीघा जमीन भी दी। सेठ भगवानदास जी, अर्थात् कक्का भी मुझ पर वैसी ही कृपा करते थे। उन्होंने अपने घी के गुदाम में मेरी चुंगी बाँध दी थी। किसी दिन पाव भर, किसी दिन आध सेर और किसी दिन सेर भर घी मुझे मिल जाता था। तात्पर्य यह कि मेरी हर तरह से परवरिश की जाती थी।

"मैथिलीशरण जी की ये (बाजार में बैठकर आल्हा गाना, चौपड़े और नहर में कूद-कूद कर तैरना आदि) सब बातें भाई रामकिशोर जी को अच्छी न लगती थीं, पर वे आपसे कहते कुछ नहीं थे। एक दिन उन्होंने मुझ से कहा कि देखो, मैथिलीशरण बिगड़ रहे हैं, आवारा लड़कों के साथ घूमते हैं, बाजार में चाहे जहाँ आल्हा पढ़ने बैठ जाते हैं, ये सब बातें अच्छी नहीं, उन्हें किसी तरह सुधारो। अभी न सुधरेंगे, तो फिर संभलना मुश्किल हो जायगा।

"भाई रामकिशोर जी की बात सुनकर मैंने मैथिलीशरण जी की ओर ध्यान दिया। पहले मैं आपको कहानियाँ सुना कर अपनी ओर आकृष्ट करने लगा; आप आकृष्ट हो गए, मेरे घर आने लगे और मुझ से पूछने लगे कि आज कौन-सी कहानी कहोगे, कल वाली तो बड़ी अच्छी थी। इस प्रकार कहानियाँ सुनाता-सुनाता आपको कवित्त और सवैया सुनाने लगा; आपको शृंगारिक पद्य पसंद आए। कई पद्य आपने लिख कर याद भी कर लिए। फिर मैंने संस्कृत के श्लोक अच्छी धुन के साथ सुनाए, वे आप को बहुत पसंद आए। कहा कि हमें सिखादो! मैं रोज एक श्लोक लिखा देता; इस प्रकार कोई २५-३० श्लोक मैंने सिखलाए। श्लोकों की धुन भी आपने सीखी, फिर तो आप बड़े जोर से उस धुन में श्लोक पढ़ने लगे। मेरे कहने से आपने अपना वह लिबास भी बदल दिया, खाकी रंग का वह बड़ा साफा जो आप बाँधा करते थे, मुझे दे दिया और आप पगड़ी बाँधने लगे; आपने उन खिलाड़ी लड़कों का साथ छोड़ दिया, तात्पर्य यह कि वह रवैया ही बदल दिया। बाद में महीने, दो महीने के लिए मैं देशाटन को चला गया। लौट कर क्या देखता हूँ कि आपने कई पुस्तकें मँगा ली हैं—रसराजसुंदर, चौरपंचाशिका आदि और अनेक श्लोक याद कर लिए हैं। मैं प्रसन्न हो गया। फिर मैंने आपको गाना सिखाना शुरू किया। आपने कहा कि गाँव में आदमियों के आगे न गायँगे, बाहर गाँव चलो। तब गाँव से कोई मील भर दूर, एक कुएँ पर आप को गाना सिखाया जाता। रामकिशोर जी भी साथ जाते और साथ ही गाना भी सीखते। उन्हें संगीत का शौक पहले से ही था। संवत् १९५३-५४ में, उन्होंने सितार सीखना शुरू किया था। एक चलते-फिरते उस्ताद आ गए थे। गाँव के कुछ आदमियों ने आपस में चंदा करके उन्हें सितार सीखने को रख लिया था। उन चंदेवालों में रामकिशोर जी भी थे। मुझे उन उस्ताद की अच्छी तरह याद है; उनका हाथ सुरीला और गला बेसुरा था, पर वे गाए बिना न रहते थे। वे शायद जानते भी न थे कि हम बेसुरा गाते हैं। एक दिन मेरे पिता जी दाऊजू के पास बैठे थे कि वे खाँ साहब आ गए और दाऊजू को गाना सुनाने लगे। दाऊजू ने मेरे पिता से पूछा कि ये कैसा गाते हैं। पिता जी ने कहा कि अच्छा गाते हैं। दाऊजू बोले कि बेसुरे हो जाते हैं। पिता जी हँस पड़े और बोले कि आपको इस बात का ज्ञान है, इनको नहीं है। खाँ साहब सुन रहे थे और बराबर बेसुरी तानें लगा रहे थे। वह गीत मुझे अभी तक याद है—श्याम द्वारका छाये री, उतही में बादर आये। खैर, जब वे उस्ताद चले गए, तो राम-किशोर जी का भी सितार छूट गया था। वैसे वे कई गतें बजाने लगे थे। उन्होंने भी मुझ से गाना सीखना शुरू किया। दोनों भाइयों में इतना अंतर था कि मैथिलीशरण जी की आवाज बहुत अच्छी न थी, रामकिशोर जी की आवाज बहुत अच्छी थी। पर मैथिलीशरण जी तो अकेले भी गा लेते थे, रामकिशोर जी अकेले न गा सकते थे, वे मेरे साथ ही गाते थे। जहाँ मैं रुकता था, वहीं फौरन रुक जाया करते थे। किसी तरह दाऊजू

को मालूम हो गया कि मैथिलीशरण गाना सीखते हैं। उन्होंने मुझ से पूछा; मैंने कहा कि हाँ, सीखते तो हैं। वे बोले कि हमें सुनवाश्रो। मैंने मैथिलीशरण जी से बहुत कहा, पर वे दाऊजी के सामने न गाए। मुझे विफल-मनोरथ देख कर रामकिशोर जी ने इशारा किया कि हमें गवाश्रो, हम गा देंगे। मैंने दाऊजू से कहा कि मैथिलीशरण तो शरमा गए हैं, इससे नहीं गाते। श्राप कहें तो रामकिशोर को गवा दूँ? वे बोले कि रामकिशोर भी गाते हैं? मैंने कहा कि दोनों भाई गाते हैं। फिर मैंने रामकिशोर जी को गवाया, वे खूब गाए। मैं बीच में बेमौके चुप न हुश्रा, क्योंकि मैं समझता था कि जहाँ मैं रुका, ये भी रुक जायँगे। खूब खुल कर ऊँचे स्वरों में वे गाए। सुन कर दाऊजू प्रसन्न हुए श्रौर एक नया कुरता, जो वे पहने बैठे थे, उतार कर प्रसाद-स्वरूप मुझे दे दिया। मैथिलीशरण ने तो लुटिया डुबो दी थी, पर रामकिशोर जी ने मेरी बात रख ली! दाऊजू को विश्वास हो गया कि मैथिलीशरण भी गाते हैं। वे प्रसन्न होकर श्रौरों से कहने लगे कि रामकिशोर श्रौर मैथिलीशरण गाना सीख रहे हैं। पर मैथिलीशरण का वह शौक श्रधिक दिन नहीं चला। श्रापको श्रपनी श्रावाज श्रच्छी न मालूम हुई, इसलिए श्रापने कुछ दिन बाद गाना सीखना छोड़ दिया।

"पर पढ़ने-लिखने का सिलसिला बराबर जारी रहा। 'श्रीवेंकटेश्वरसमाचार', 'हिन्दीबंगवासी' ये दो साप्ताहिक पत्र श्राते थे; फिर पीछे 'भारतमित्र' भी श्राने लगा था। श्रखबारों के श्रतिरिक्त काका भगवानदास जी को उपन्यासों का बहुत शौक था। उन दिनों 'चंद्रकांता' श्रौर 'चंद्रकांतासंतति' की धूम थी। हम सब लोग खूब पढ़ते थे, बंगला से श्रनुवादित जासूसी उपन्यास भी श्राने लगे थे। 'भर्तृहरिशतक', 'हितोपदेश', 'कामंदकीय नीति' श्रौर 'चाणक्यनीति' श्रादि श्रनेक पुस्तकें मैथिलीशरण जी ने मँगा ली थीं। यों बाल्यकाल विनोद में बीत रहा था।

"दतियावाला विवाह तो संवत् १९५२ में संपन्न हुश्रा था, पर गौना हुश्रा ५ वर्ष बाद संवत् १९५७ में। मैं भी साथ गया था। दूल्हे को कलेवे का बुलावा श्राया। कई लड़के श्रापके साथ कलेवा करने गए, श्राग्रह करके श्राप मुझे भी ले गए। सब लोग एक दहलान में बैठाए गए, पर मुझे मुसलमान होने के कारण पौर (पोल) में बैठना पड़ा, पर वहाँ से सब लोग सामने पड़ते थे। इसलिए दिखाई देते थे—मेरे श्रौर उनके बीच में एक दहलान श्रौर चौक था। सब को पात्र परोसे गए, मुझे एक पत्तल श्रौर दो दोने परोस दिए गए। उन लोगों को भोजन की सामग्री परोसी जाने लगी, पर मेरे पास एक भी चीज न श्राई। परोसनेवाले से स्वयं दूल्हे मैथिलीशरण ने कई बार कहा कि वहाँ पोरे में परोसो, पर किसी ने ख्याल नहीं किया। सब लड़कों के पास सामग्री प्राय: पूर्ण हो गई श्रौर मेरे पास कोई चीज नहीं श्राई। तब मैंने इशारे में श्रापसे कहा कि मैं डेरे जाता हूँ। श्रापने भी इशारे से कहा कि जाश्रो। बस, मैं चुपचाप उठ कर चल दिया श्रौर श्रपने डेरे में श्राकर सो रहा। मेरे उठ जाने पर श्राप भी वहाँ से उठ कर चले श्राए श्रौर किसी को न मालूम हुश्रा, स्वयं मुझ को भी। पालकी वहीं लड़कीवाले के यहाँ रखी रही। श्राप पैदल श्राकर श्रपने डेरे में चुपचाप लेट गए। जब वहाँ लोगों ने देखा कि श्रौर तो सब लड़के हैं, पर दूल्हा नहीं है, तब दूल्हे की तालाश हुई। कई श्रादमी बारात के डेरे में श्राए श्रौर श्रापको वहाँ मौजूद पाया। श्रापने कलेवा करने को जाने से साफ इंकार कर दिया। श्रब तो लड़कीवालों की तरफ के कई श्रादमी श्रा गए। सब हाथ जोड़ते थे, विनती करते थे, पूछते थे कि क्या बात है, पर श्राप बोलते ही नहीं थे। श्रंत में दाऊजू को मालूम हुश्रा श्रौर वे श्राकर नाराज हुए कि जाते क्यों नहीं, भाग क्यों श्राए, क्या बात है? तब श्रापने कहा कि हम श्रजमेरी को ले गए थे, सो उन्हें किसीने नहीं परोसा; वे बैठे-बैठे उठ श्राए। इतना कह कर श्राप रोने लगे। तब वे सब श्रादमी मुझे तलाश कर कि श्रजमेरी कौन हैं, मुझ से श्रा चिपटे—बाभा (वाहवाह) गरीबपरवर, श्राप कैसे भाग श्राए, चलबो होय। हाथ पकड़ कर मुझे उठाने लगे, श्राप इशारे में कह रहे थे कि मत जाना। मैं श्राफत में फँस गया। श्रब क्या करूँ? तब दाऊजू ने कहा कि जाश्रो। दोनों श्रादमी चुपचाप उठकर चल दिए। वहाँ जाकर मैंने देखा कि मेरी पत्तल में दूनी सामग्री सजी है श्रौर स्त्रियाँ मुझे देखने को उमड़ रही हैं कि वह श्रजमेरी कौन है, जिसके कारण दूल्हा पालकी छोड़कर पैदल डेरे को भाग गया था! मैं भोजन करने बैठा, कई श्रादमी श्रनेक प्रकार की भोजन-सामग्री लिए मेरे पास खड़े थे, श्रौर बार-बार पूछते थे कि कहिए, क्या चाहिए? लीजिए, श्रमुक वस्तु, श्रमुक

वस्तु। मुझे लज्जा तो लग ही रही थी, क्रोध भी आ रहा था। भला ऐसी आफत में कौन खा सकता है? मैं चाहे भूखा ही उठ आया होऊँ, पर वहाँ मुझे सब जान गए।

"रामकिशोर जी की पहली पत्नी का देहांत हो गया था। मैथिलीशरण के गौने के बाद, उनका दूसरा विवाह हुआ। बारात ओरछा राज्य के सकतभैरों नामक एक गाँव को गई थी। वहाँ दाऊजू ने मुझे सोने का बहुत सा गहना दिया और कहा कि मैथिलीशरण को पहना दो। मैं आप को पहनाने चला और आप भागे। आप खेतों में भागते फिर रहे हैं और मैं अपने कुरते की झोली में जेवर लिए आपके पीछे भाग रहा हूँ!! गनीमत हुई कि कोई जेवर नहीं गिर गया। आप भागने में बहुत तेज थे, मैं पकड़ न सका। दाऊजू स्वयं तो एक अँगूठी तक न पहनते थे, पर पुत्रों को आभूषण से लाद देना चाहते थे। मैंने उनसे कहा कि थोड़ी देर में पहना दूँगा और बाद में समझा-बुझाकर कई आभूषण पहना भी दिए। इस समय आप १४ वर्ष के थे।

"एक दिन भीख माँगते हुए एक ब्राह्मणकुमार दाऊजू के पास आए। वे दक्षिणी ब्राह्मण थे, वेद पढ़ते थे। पढ़ने के लिए ही बिठूर जा रहे थे। उन्होंने दाऊजू को बहुत से वेदमंत्र सुनाए। उन्हें दाऊजू ने रख लिया और वे भैया रामकिशोर, मैथिलीशरण को अमरकोष पढ़ाने लगे। वे दुबले-पतले आदमी थे, उन का सिर बड़ा था और पढ़ने-पढ़ाने में वे उसे बहुत हिलाया करते थे। मैथिलीशरण ने उनका नाम रक्खा था 'मुड़हला गुरु जी'। उनका उच्चारण बहुत शुद्ध था और पढ़ाने की प्रणाली बड़ी विलक्षण थी; श्लोक का एक-एक चरण दस-दस बार कहलाते थे, इसी तरह दो-दो चरण और फिर चारों चरण दस-दस बार कहलाते—पढ़ते-पढ़ते ही श्लोक याद हो जाता था। जब वे गए, तब पं० रामस्वरूप जी मिश्र आए। वे नगलापद्म (परगना खैर, जिला अलीगढ़) के रहनेवाले थे। उनके पिता पूज्य पं० देवकरण जी मिश्र गोमत, जिला अलीगढ़, में संस्कृत पाठशाला के अध्यापक थे। व्रज-मंडल का भ्रमण करता हुआ मैं पं० रामस्वरूप जी से मिला था। मेरी और उनकी मित्रता हो गई थी। मैंने घर आकर दाऊजू से कहा और उक्त पंडित जी को चिरगाँव बुला लिया, भैया रामकिशोर और मैथिलीशरण को संस्कृत पढ़ाने के लिए। दोनों भाई 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' पढ़ने लगे। यह संवत् १९५८-५९ की बात है।"

वैष्णवजन के लिए संस्कृत पढ़ना या अपने पुत्रों को उसका ज्ञान कराना देवधर्म है; वैष्णवों के लिए संस्कृत साधना और आंतरिक निष्ठा की ज्योतिशिखा है। सेठ रामचरण जी ने अपनी समस्त शक्तियों को पुंजीभूत करते हुए अपनी 'बखरी' में संस्कृतमय वातावरण बना रखा था। उन्हें ये संस्कार सूक्ष्मरूप से अपने पिता से प्राप्त हुए थे। श्रीललनजू भी परम वैष्णव थे और उन्होंने अपने हाथों 'रामचरितमानस' तथा पत्रिका की प्रतियाँ तैयार की थीं। ये प्रतियाँ आज भी चिरगाँव में सुरक्षित हैं। 'रामचरितमानस' के अंत में तिथि आदि सुरक्षित नहीं रह गई हैं। 'विनयपत्रिका' के अंत में इस प्रकार लिखा है—"इतिश्री विनय-पत्रिका तुलसीदासजू कृति सम्पूर्ण सुभं मस्तूमंगलं ददात्॥ संवत् १८८९ शाके १७५३॥ जाद्रशी पुस्तकं द्रष्टा तादृसी लिषितं मया॥ मम शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते मीती साउन सुद २ लिखतं ललंजू कनकने॥"

जिस दिन यह कृति समाप्त हुई, उसी दिन एक शुभ सत्य ने जन्म ग्रहण किया। इसी दिन हमारे मैथिलीशरण का जन्म भी हुआ! जैसे जीवन की प्रथम श्वास में ही उन्हें अपने पूज्य पितामह के हाथों की जन्मघुट्टी इस काव्य की शुभ सम्पूर्ति के रूप में मिली हो!!

श्रीललनजू प्रतिदिन 'विनयपत्रिका' का पूरा पारायण किया करते थे। उनके पुत्र सेठ रामचरण जी ने भी अपने परिवार की वैष्णव-परंपराओं का दत्तचित्त होकर पालन किया। यद्यपि वे सखिसंप्रदाय में दीक्षित हुए थे, लेकिन 'अध्यात्मरामायण,' 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' का पारायण तो नियमित रूप से करते ही थे। सखिसंप्रदाय १८ वीं सदी के बाद प्रायः उत्तरभारत में प्रचलित रहा। सेठ रामचरण जी सखिसंप्रदाय के प्रति अपनी प्रगाढ़ निष्ठा निभाते हुए, उसमें प्रचलित मर्यादाओं के अनुरूप, 'कनकलता' नाम से भक्तिपद भी रचते थे। ये पद राम-जानकी (युगलसरकार) के विषय में ही रहते थे। आज दिन तक चिरगाँव में 'युगलसरकार' के पुराने शैली के चित्र सुरक्षित हैं। सेठ जी के अतिरिक्त इस सखिसंप्रदाय के

अन्य कवियों[1] ने भी स्वयं को स्त्री-रूप में मान्य करते हुए अनेक लघु-वृहत् ग्रंथों की रचना की है। बंगाल में तो राधा-कृष्ण पंथी सखिसंप्रदाय के अनेक स्त्री-नामवाची कवि[2] १५वीं सदी से ही ऐसे हुए जो स्वयं स्त्रियों के वेष में रहते थे, हाथों में चूड़ियाँ पहनते थे और उसी रूप में भक्ति से पदरचना करते थे! सेठ रामचरण जी ने निम्न पदों में हिंडोल-कुंज में श्री राम-जानकी के झूलते हुए भक्तिरसपूर्ण दृश्य उपस्थित किया है—

रसबस झोंका लेत, हिंडोरना में हेली, झूलत आज ।टेक।
राम-सिया मिल झूलत दोऊ, मनिकंचन के पटा,
मेचर्ती लेत परस्पर दोऊ, उठती छवि की छटा ।। हिंडोरना में . . .
राग मलार नवल सखि गावत बरसत कारि घटा,
कुसुमित द्रुमन पवन पुरवैया जल सरजू दोउ तटा ।। हिंडोरना में. . .

अपनी प्रौढ़ावस्था में दाऊजू ने 'रहस्यरामायण' नामक एक ग्रंथ लिखना आरंभ किया था। वे इस के तीन कांड ही लिख पाए थे। तीसरा कांड भी अधूरा है। यदि यह ग्रंथ पूरा हो गया होता, तो बुंदेलखंड के साहित्य में यह गौरवग्रंथ सिद्ध होता। इसकी प्रति चिरगाँव में सुरक्षित रखी हैं। इसकी भाषा और पद-रचना का जो लालित्य है, वह निम्न सीताराम प्रादुर्भावकांड (श्री सीता-जन्म) से प्रतीत किया जा सकता है—

दोहा—श्री साकेत विहारनी रामप्रिया सुखमूल।
सो मिथिलाधिप जनक गृह प्रगटी पियअनुकूल ।।
एक मास इक दिवस में रामसिया प्रगटान।
एक मास को मास हुव तातें माधव जान ।।

चौपाई—माधव शुक्ला नमी सुहाई, भोमवार शुभ योग सुभाई।
जनक मुनिन कर आयुस पाई, जातरूप हल दीन्ह चलाई।
कोटन देव यक्ष गंधर्वा, जनक यज्ञ बधुवन युत सर्बा।
महा शम्भु महाविष्णु समेता, वैकुंठी कैलास निकेता।
गगन बिमानासीन सुहाई, पुष्पवृष्टि दुंदभि धुनि छाई।
ब्रह्मा वेदमंत्र उच्चारे, हल अग्रज पट कलस उघारे।
कोटन तड़ित पुंज छबि धामा, कोटन रवि शशि प्रभा ललामा।
सिंहासन आसीन सुश्यामा, नवअभिषेसित सखिवर भाभा।

दोहा— श्रुतकीर्तहु अरु मांडवी उरमिलादि दुहुँ ओर।
छत्र बिजन मणि रत्नमय चामर सिय पर ढोर ।।

चौपाई—पृथ्वी दिव्य रूप धर पावन, सियहिं गोद लै जनक बुलावन।
ललित प्रमोदारण्य चंदवर, ये रघुवर प्रिय सिया परात्पर।
मम द्वारा प्रगटी अति पावन, तव पुत्री ह्वै जग यश छावन।
जनक गोद लिय मोद समेता, अर्पि सुनयना कृपा निकेता।
धरनी सियकी अस्तव गाई, अन्तरधान भई तिहि ठाई।
महाविष्णु हर हरिन सुहाई, प्रिय की अस्तुति बहुविधि गाई।

---

[1] "वस्तुतः ईसवी सन् की ८वीं शताब्दी से ही राम-सीता के पूर्वानुराग का वर्णन मिलता है। वाल्मीकिरामायण के उत्तरकांड......महावीरचरित, जानकीहरण, प्रसन्नराघव नाटक तथा हनुमन्नाटक में राम-सीता के विलास का बहुत ही व्यापक एवं सांगोपांग वर्णन मिलता है।......रसिक संप्रदाय की परंपरा परम प्राचीन है। इसके आकरग्रंथों से पता चलता है कि इसके आदि प्रवर्त्तक श्री हनुमान जी हैं।"—'रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना'।

[2] रूपमंजरी रूपगोस्वामी), लावण्य मंजरी (सनातन गोस्वामी), रतिमंजरी (रघुनाथ दास), गुणमंजरी (गोपाल भट्ट), विलासमंजरी (जीव गोस्वामी), रसमंजरी (रघुनाथ भट्ट)—विश्वनाथ चक्रवर्ती,'रागवत्यचंद्रिका'।

श्री साकेत विहारिनि सीता, ये रघुवर प्रिय परम पुनीता।
निज अंशन युत तब अवतारा, टारिय पिय सह अवनी भारा।

इसी ग्रंथ का एक दूसरा अंश इस प्रकार है—

अथश्रीमद्रहस्यरामा
यणकनकलतामंजरीकृते
सोरठा॥रामसियापदलीन प.
सरस्वतीसुभगगुन भवना।उ
रजउपरधरवीनाबंदहुगाव
तचरिततुलसीगननाइकि
गुमहेन।उरनरमुनगप
महिभजहि चरितरामसि
यदेन कनकेलता[illegible]वंद
नतुमहिं॥२ ध्यावहुशंभुभ
वानि। शैलउपरवटछांहतर॥
रामायणनितगान उमहि।

ऐसे भक्त-कवि-हृदय ने मुंशी अजमेरी जैसे वैष्णव मुसलमान को ठीक ही प्रश्रय दिया था। उनकी दीर्घ दृष्टि ने इसमें अनेक कल्याण-कामनाओं के ग्रंथन-आयोजन की संभावनाओं की अग्रिम कल्पना कर ली थी। मुंशी अजमेरी जी होश सम्हालते ही वैष्णव-पदों को तन्मयता से गाने लगे थे। चिरगाँव में सेठजी की इच्छानुरूप अब संगीतमय वातावरण तैयार हो गया था। उनके हाते में भक्ति की रसमयता और वयस्क बालकों के लिए वैष्णव-संस्कारों की रसज्ञता का वातावरण लहरें मारने की सुविधा पा गया था। राजस्थान और बिहार व अन्य अंचलों में इस प्रकार मुसलमान भक्तों को प्रश्रय दिया जाना एक सरल स्वाभाविक बात थी, लेकिन कुछ रूढ़ तत्वों का अल्प विरोधी संकेत भी सेठ रामचरण जी के लिए असह्य था।

"एक बार[1] अजमेरी के सम्बन्ध में एक पंडित ने उनके परोक्ष में किसी से कहा कि सेठ जी मुसलमान को अपने पास बिठाते हैं। पिता जी ने जब यह सुना, तब उक्त पंडित जी से उन्होंने कहा कि "अजमेरी का आचरण किस से कम है? आप क्या जानें, 'राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात'; वह तो परम वैष्णव हैं।" अजमेरी दाढ़ी जाति के रत्न थे। उनके बड़े भाई शीतल एक अच्छे गायक थे और वे दतिया-महाराज भवानी-

[1] 'अपने विषय में' शीर्षक लेख, श्री मैथिलीशरण गुप्त।

सिंह जू देव के यहाँ दो रुपए दैनिक पाया करते थे। खेद है, उनका देहांत युवावस्था में ही हो गया। गीत-गाथा दाढ़ियों का कुलधर्म है। वे लोग मुसलमान होने पर भी आचारतः अब भी हिन्दू हैं। इन लोगों की कुलदेवियाँ होती हैं और उनकी मूर्तियाँ भी। अजमेरी के गुणी पिता हमारे यहाँ आया करते थे। मार्ग में हम लोग कहीं मिल जाते, तो 'कुँवरसाहब' कह कर हमें आशीष दिया करते थे। मदरसे में हम उनसे नीचे दरजे में पढ़ते थे। इसलिए उन्हें अपने पिता का यह आदर देना हमें खलता था। परंतु उनकी ईर्ष्या के कारण हम अपने प्राप्य से कभी वंचित नहीं हुए। हमारे पिता जी अजमेरी पर छोटे से ही स्नेह करते थे। उसी के फलस्वरूप वे हम लोगों के एक भाई की भाँति हमारे सभी कामों में बराबर भाग लेते रहे। घर में कोई काम होता था, तो उसके लिए उनकी सम्मति भी आवश्यक होती थी।"

एक दूसरे स्थल पर मुंशी अजमेरी जी के सम्बन्ध में और भी स्पष्ट धारणा व्यक्त की गई है—

"जब अपने मास्टर, मौलवी और पंडितों को निराश करके मैं[१] जैसा था, तैसा लौट आया, तब मुझे पौराणिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक कथा-कहानियों, चारणों के गीत-कवित्तों और संस्कृत के सुभाषितों ने अपनी ओर आकर्षित किया। रामायण पढ़ कर यदि मैं गद्‌गद् हो उठता था, तो उसमें मेरे कुलगत भक्ति के संस्कार भी थे। आत्मीयों के आक्षेप सह कर आल्हा पढ़ने में भी मुझे आनंद आता था। 'आल्ह मनौवा' पर अब भी कुछ लिखने की इच्छा होती है। इधर-उधर की कविताओं में मतिराम और पद्माकर के नायिका-भेद और वर्तमान व्रजभाषा के कवियों की समस्या-पूर्ति से कभी-कभी मनोविनोद कर लेता था। तब भी कविता अधिकतर शृंगार और समस्या-पूर्ति तक ही सीमित थी। कालाकांकर के स्वर्गीय राजा रामपाल सिंह जी प्रसिद्ध देशभक्त थे और हिंदी में उस समय भी एक दैनिक पत्र चलाते थे। वे कवि भी थे; उन्होंने एक बार एक समस्या दी थी: 'सूकर न खावा वृथा जन्म को गँवावा है।' राजा साहब ने भी इसकी पूर्ति की थी। उनके दो ही चरण मुझे स्मरण रह गए हैं—

राम फलाहारन में सोंधी जेंवनारन में, दूध में दही में कब ऐसो स्वाद पावा है।
मृग न सतावा भोज पक्षी न बनावा जिन, सूकर न खावा वृथा जन्म को गँवावा है॥

"'श्री वेंक्टेश्वरसमाचार' के तत्कालीन संपादक पंडित लज्जाराम से इस पर उनका वाद-विवाद भी चला था। कह नहीं सकता, इसी घटना से अथवा और किसी कारण से समस्या-पूर्ति की ओर मुझे कभी उत्साह न हुआ। हाँ, मतिराम और पद्माकर के छंदों से छंदों की रचना के अभ्यास में अवश्य सहायता मिली। मैंने जो यह गीत-कवित्त की ओर अपने आकर्षित होने की बात कही है, उसका श्रेय अधिकांश में मेरे बाल्य-सहचर मुंशी अजमेरी को है। मैंने जीवन में जितना रस उनसे पाया है, उसका प्रतिदान नहीं।"

[६]

उदीयमान कवि और उसकी प्रारंभिक पंक्तियाँ

इस प्रकार मुंशी अजमेरी जी सांकेतिक रूप में और प्रधान रूप में सेठ रामचरण जी अपने वयस्क बालकों के लिए स्कूली शिक्षा से दूर, एक उच्च स्तरीय, सरस, काव्य-लब्ध और सहज वातावरण की सृष्टि करने में क्रमशः सफलता प्राप्त कर रहे थे। जहाँ तक पारिवारिक धंधे का प्रश्न था, उस ओर अभी कोई शीघ्रता नहीं थी कि ये बालक अपना ध्यान बटाएँ। पिता की प्रिय मनोभावना यही थी कि जिस रूप में भी हो, ये बालक वैष्णवी संस्कारों से धनी बनें और पिता की प्रतिष्ठा के अनुरूप ही सुरुचिपूर्ण विद्वत्ता ग्रहण करने में स्वतंत्र रूप से सक्षम हो सकें। इन युगों में जो रटंत-विद्या की विद्वत्ता थी, वह अधिक श्रेयष्कर नहीं हो सकती थी। स्वयं मैथिलीशरण इन क्षणों की अपनी मनःस्थिति इस प्रकार लिखते हैं—

"विद्या के मंदिर में उस काल के अछूत के समान प्रवेश न पाकर मैं[२] निराश-सा अन्य नए कार्य की खोज में था। इतने में कला की कुछ झाँकियों के कुछ दर्शन मुझे मिले। 'एकोरसः करुणएव' निमित्त भेद से मेरे

[१] 'कविता के पथ पर' शीर्षक लेख, श्री मैथिलीशरण गुप्त। [२] 'मेरे कवि का आरंभ' शीर्षक रेडियो-वार्ता।

मानस में फूट पड़ा। पहले से उसके कुछ संस्कार अवश्य थे और धीरे-धीरे वे पोषण भी पा रहे थे।[1] 'लघु-कौमुदी' के रूपों की रटंत की अपेक्षा, अपने पंडित जी से 'रघुवंश' सुनना मुझे अच्छा लगता था। मुझे आज भी स्मरण है, रघु और इंद्र के युद्ध-विषयक उस श्लोक का अर्थ सुनकर मैं कितना हर्ष-विह्वल हो उठा था—

रघु भृंशं वक्षसि तेन ताड़ितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः।
मुहूर्तमात्राववधूय तद्व्यथाम् सहोत्थितः सैनिक हर्ष निःस्वनैः।।

—इन्द्र ने क्रुद्ध होकर रघु के वक्षस्थल पर वज्र का प्रहार किया। उससे ताड़ित होकर रघु पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके साथ उसके सैनिकों के आँसू भी गिरे। परंतु एक मुहूर्त में ही अपनी व्यथा पर विजय पा कर वह उठ खड़ा हुआ। उसके साथ उसके सैनिकों का हर्षनाद भी उठा।

"उन्हीं दिनों की वह बात भी नहीं भूलती, जब एकांत में बैठकर मैंने राजा लक्ष्मणसिंह की 'शकुंतला' पढ़ी थी। उसे पढ़कर कितने ही क्षणों तक मैं वैसा का वैसा निस्तब्ध बैठा रह गया था। उस तेरह-चौदह वर्ष की आयु में कैसे ऐसा भावोद्रेक हुआ, नहीं जानता।

"मेरे पिता जी अनन्य वैष्णव भक्त थे। 'रामचरितमानस' और 'अध्यात्मरामायण' दोनों के पाठ प्रति सप्ताह पूरे किया करते थे। मैंने भी मानस के अनेक पारायण किए हैं। फिर भी मैंने संस्कृत और हिंदी के बहुत से सुभाषित कंठ किए थे और मैं उन्हें अकेले में अपनी धुन से दुहराया करता था। धीरे-धीरे औरों के सम्मुख भी पढ़ने लगा था। परंतु मेरे कवित्व का आरंभ, जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस प्रकार हुआ। पिता जी ने 'कवितावली' के अनुकरण पर कुछ सवैये भी लिखे थे। एक छंद में सीता जी से उनकी माता जी कहती हैं—

दूर गली जनि जाहु लली निज आंगन खेल रचो रस भीनी,
कनकलता हिय मांहि बसो नित तात औ मात की जीवन जीनी।

इस छंद में 'कनकलता' नाम अपनी सहज गति से नहीं आता। यह बात मुझे खटकी। मैंने सोचा कि पिता जी का नाम 'कनकलता' न होकर स्वर्णलता अथवा हेमलता होता, तो अच्छा होता। सवैया पढ़ते समय मैं स्वर्णलता ही कहने लगा। मेरे भीतर यहीं से छंद का उदय समझिए। प्रबंध का कहना ही क्या, राम नाम में ही अथाह भरा पड़ा था।

"परंतु छंदोरचना कठिन ही लगी। एक दिन कुछ साथी बैठे थे। मतिराम और पद्माकर आदि के कितने ही पद्य पढ़े गए। फिर बिहारी की चर्चा चली। उनके दोहों का भी पाठ हुआ। मेरी बाल्य-बुद्धि ने गर्व किया, दोहे बनाने में क्या है! किसी ने कहा—'उर मुतियन की माल'। मेरे अग्रज रामकिशोर जी भी गोष्ठी में थे। उन्होंने सहसा कह दिया—'चन्द्रमुखि मृग लोचनी उर मुतियनकी माल।' परंतु मैं अपने मिथ्या गर्व की रक्षा न कर सका। मौन ही रह गया। मुतियन की माल से सम्बन्ध जोड़कर पादान्त में अनायास मराल आ सकता था। जैसे—पायन में मंजीर-मिस मचलत जात मराल। परंतु मैं बाल भी कहाँ, निरा बालक था। स्मरण नहीं, वह दोहा किसने किस प्रकार पूरा किया था।

"तथापि मैंने छंद को आयत्त करने की ठान ली। आप को सुनकर आश्चर्य होगा, मात्रिक छंदों की अपेक्षा गणवृत्तों की रचना मुझे सुलभ जान पड़ी। कैसे, सुनिए—मैंने यह श्लोक सीख लिया था: आदि मध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्, मरता लाघवंयान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्। मैंने स्लेट पर पहले एक नगण के चिह्न लिखे, फिर दो भगण और एक रगण के। उनके नीचे उसी क्रम से अक्षर बिठाने आरंभ कर दिए—अजहुँ दीन दयाल दया करौ, सपदि भारत की विपदा हरौ।

---

[1] "मैं भी कुछ दिन इस (मंत्र बल से अक्षय भंडार प्राप्त करने की चेष्टा के) फेर में रहा था। विशेषकर सरस्वती को सिद्ध करने के स्वप्न में। इंद्रजाल नामक लोथो के छपे एक गुटके के पन्ने भी चमत्कारों पर अधिकार प्राप्त करने की आशा से मैं उलटा करता था।" —'अनुज' लेख।

"यही तो द्रुतविलंबित है ! परंतु घनाक्षरी की गठन बड़ी कठिन लगी। यह गण नहीं, वर्णवृत्त था। तथापि उस समय का लिखा, उसका एक चरण स्मरण आ रहा है—'जगमग जरौ जोति जटित जवाहर की, अंग-अंग अतर तरंग रंग राजै है'। पद्माकर का मनहरण मुझे बहुत रुचता था। उसे पढ़ने में फूल से झड़ते थे। यद्यपि संस्कृत-वृत्तों के प्रयोग से मुझे एक नवीनता जान पड़ी, परंतु भाषा वही पुरानी थी।"

इस प्रकार विद्याप्रेम का बीज कलिया उठा था और जड़ों की कोमलता के अनुरूप ही नमी व मृदु मिट्टी का जुगाड़ भी कर दिया गया था। पिता यद्यपि सखिसंप्रदाय में दीक्षित थे, लेकिन उन्होंने प्रथम और अंतिम न्याय अपने इस पुत्र के साथ यह किया कि इसे सख्यभाव में दीक्षित किया। भविष्य सखिसंप्रदाय का नहीं, विशुद्ध मानवी रामचरित और रामगाथा का आ रहा था। रामोपासना की प्राचीरें उस किलेबंदी की तरह नहीं हैं, जहाँ अनायास ही कोई प्रवेश न कर सके। वह भारत की अंतरात्मा का स्वर लेकर जीवनधारण करती चली आ रही है। पिता जहाँ 'कनकलता' बन कर एक क्लिष्ट साधना करते हुए स्वयं को स्त्री-स्वरूप में केंद्रित करने के योगाभ्यास में जुटे हुए थे, वहीं किशोर मैथिलीशरण ने पिता की कवयित्री-रूप-जनित छंद-रचना में अपनी बालबुद्धि से छिद्रान्वेषण करते हुए, विशुद्ध रामोपासना की दृष्टि से नई तुकबंदियों का अभ्यास प्रारंभ किया। अजमेरी जी लिखते हैं, "मैथिलीशरण को पद्यरचना से प्रेम उसी समय (लघु सिद्धांत कौमुदी के पढ़ने के क्षणों में) हुआ था। उन दिनों आप कभी दोहा और कभी छप्पय लिखा करते थे और लिख कर फाड़ फेंकते या योंही डाल देते थे। एक दिन आप का लिखा एक छंद दाऊजू की दृष्टि में पड़ गया। उन्होंने मुझ से पूछा कि यह क्या मैथिलीशरण ने लिखा है ? उन्हीं का बनाया हुआ है ? वे पद्य बना लेते हैं ? मेरे हाँ कहने पर बोले कि बतलाओ, ये कैसी कविता करेंगे ? हम जैसी या हमसे अच्छी ? मैंने कहा कि आप जैसी तो क्या करेंगे, पर हाँ, अच्छी करेंगे। तब उन्होंने हँस कर कहा कि तुम्हें मालूम नहीं है, हमने उन्हें हृदय से आशीर्वाद दिया है कि हमसे हजारगुनी अच्छी कविता करेंगे ; सो हम तो न रहेंगे, पर तुम देखना।"

सेठ जी को जो इतना असीम संतोष अपने पुत्र के इस छंद से हुआ था, उसका कारण एक ही था और वही पर्याप्त था : उनका होनहार लाडला वैष्णव संस्कारों से पोषित उस अवस्था को पहुँच चुका था, जहाँ अब अनुभूति के लिए पिता की सहायता की अपेक्षा नहीं थी, अपनी दृष्टि ही उसे बहुत थी। निश्चय ही ये छंद धार्मिक भावनाओं की अधपकी अभिव्यक्ति भर थे, फिर भी भक्तजनों को अपनी पीढ़ी का सुमधुर विकास अत्यधिक आनंद देता है। अब उन्हें संतोष था कि अध्यापकीय शिक्षा न सही, घरेलू स्वाध्याय की गहनता और वैष्णव-रसज्ञता तो फलप्रद हो रही है। पुत्र के लिए उनका आशीर्वाद जैसे सच्चा होने को था।

यह पद्य उदीयमान कवि ने रामचंद्र जी की स्तुति में लिखा था। यह छप्पय था और अपने पिता जी की कापी में ही घसीट दिया गया था। छप्पय इस प्रकार है—

लखण आदि सब भ्रात और श्रुति कीरत आदिक ॥
सुमिरत मन सो पवित्र अति आनंद पद ॥
जिनकी कृपा कटाक्ष चहत शेखर संहारक ५
कमलासन जग रचक और नारायण पालक ॥
भज मन [illegible] अरुन पल्लव अति शुभग चरण श्री रघु-
पति भगत ॥ हिय धन कुल पति हरष लखन जन
सफल हार हिय करत ॥ [illegible] मैथिली—

बीहड़ वन का भी एक क्रम होता है। यही हाल अतीत के व्यतिक्रम-जनित घटनावशेषों का है। मुंशी अजमेरी जी एक विशिष्ट परिपाटी के द्रष्टा थे और हर तरह से सेठ रामचरण जी के कृपाकांक्षी थे। उनके वंशानुगत विचार कुछ और थे, सेठ रामचरण जी के वंशानुगत विचार कुलशील-आचार की निजी मान्यताओं की रक्षा में ही प्रसक्त रहा करते थे। इसीलिए अबोधावस्था की ड्योढ़ी लाँघते ही भक्त-कवि के इस लाडले पुत्र ने न सिर्फ प्राचीन काव्य को सरसरी निगाह से उलटा-पलटा, बल्कि समकालीन प्रकाशित हुए ताजा काव्य को भी खरीद कर पढ़ने का विधान अपने जीवन में क्रमशः बना लिया। वयःसंधि की यही अवस्था हैं, जब प्रवृत्तियों का स्पष्टीकरण होने लगता है और रुचियाँ पक्वावस्था को प्राप्त हो जाती हैं। भविष्य की बहुत-कुछ सीधी-पगडंडी हाथ लग जाती है।

मुंशी जी इसी प्रसंग में आगे लिखते हैं[1], "पंडित रामस्वरूप जी मिश्र उस समय थे १८-१९ वर्ष के, पर वे बड़े विद्वान थे। वे 'सिद्धांतकौमुदी', 'मनोरमा-शेखर' और 'नवाह्निक भाष्य' पढ़ चुके थे। पर व्यवहार-कुशल नहीं थे। एक दिन आपने कहा कि 'लघुकौमुदी' पढ़कर 'सिद्धांतकौमुदी' पढ़ने की आवश्यकता रहती है, पर 'मध्यकौमुदी' पढ़ने से सिद्धांत पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती, परंतु मध्यकौमुदी शापित है। मैथिलीशरण जी के मिजाज में जल्दबाजी बहुत थी। अब भी उसका आभास मिला जाता है। आपने कहा कि तो पंडित जी वही पढ़ाइए। 'मध्यकौमुदी' मँगाई गई और उसकी पढ़ाई शुरू हुई। पर यह धंधा अधिक दिन न चल सका। पहले मझले सेठ घनश्यामदास जी न रहे, फिर सियारामशरण जी के विवाहोपरांत मैथिलीशरण जी की पत्नी का देहांत हो गया। फिर चिरगाँव में प्लेग पड़ी। तब पंडित जी चले गए। वे डेढ़-दो बरस रहे, पर न तो 'लघुसिद्धांत कौमुदी' ही पूरी पढ़ा सके, न 'मध्यकौमुदी'। इस प्रकार गुप्त जी का संस्कृत पढ़ना तो छूट गया, पर कविता का शौक नहीं छूटा। वह तो दिन-दिन बढ़ता ही गया।

"भाई मैथिलीशरण जी ने जब कविता लिखना शुरू किया था, तब व्रजभाषा में ही शुरू किया था। उस समय आप दोहा, चौपाई और छप्पय ही लिखा करते थे। संस्कृत छंदों में अनेक अन्योक्तियाँ लिखी थीं।"

(यह ऐसा युग था, जब व्रजभाषा अपने प्रसाद व आमोद से समस्त उत्तरभारत को पूरित कर चुकी थी, रसिकों की वह प्राण थी। भक्ति और लोक-रुचि का काव्य भी इसी माध्यम से मुखरित हुआ करता था। सेठ रामचरण जी ने भी अपने भक्ति-पद इसी में लिखे थे।) फ़ारसी की तुलना में यही ऐसी पूर्ण भाषा थी, जिसमें भारतीय परिकल्पना का सन्निवेश स्वस्थ और सुघर हो सकता था। यही कारण था कि वैष्णव और अन्य संप्रदायों के भक्त भी इसी में रचना करते जा रहे थे। इस युग की नई सतति को भी विरासत में यही भाषा मिली थी। (इसीलिए अपनी युवावस्था के प्रथम चरण में पैर रखते ही १९ वर्षीय मैथिलीशरण ने जो दोहे, चौपाई और छप्पय लिखने शुरू किए, वे व्रजभाषा में ही थे। यद्यपि व्रजभाषा की तुकबंदी अपने आप में कोई चमत्कार नहीं थी, न छप्पय और चौपाइयों का सिलसिला किसी मौलिक अभिव्यक्ति को अवसर दे सकता था, फिर भी इस आयु की स्वच्छंद प्रकृति को शक्ति के सदुपयोग का एक अच्छा क्षेत्र सुलभ हो गया था। अन्योक्तियाँ समस्या-पूर्ति का ही एक रूप थीं। डगर की रक्षा में अजमेरी स्वयं पद्यभाषी और सुभाषी थे।

ये अन्योक्तियाँ क्या थीं ? क्या इन अन्योक्तियों का परिश्रम व्यर्थ ही बैठता था ? ये अन्योक्तियाँ क्या काव्य-रुचि का पोषण करने में समर्थ थीं ? इनके सूत्र क्या इतने सशक्त थे कि भविष्य के स्वस्थ काव्य को वे पोषण दे सकें ? अन्य ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर लंबी विवेचना की अपेक्षा रखता है। स्वयं मैथिलीशरण जी ने इस का समाधान इस प्रकार किया है—

"क्या आप लोगों ने कभी सुना है, कोई पति अपनी पत्नी से कुवाच्य कहे और विरोध करना तो दूर, पत्नी उलटी हँसे ? इसका रहस्य सुनिए। घटना सच्ची है।[2]

"एक थे जमींदार। उनकी जमींदारी तो तीन-चार पाई की ही थी ! परंतु लड़ाकू प्रकृति होने के कारण उन्होंने गाँव के किसान और श्रमजीवियों पर पूरा आतंक छा रखा था। संयोग से उनकी पत्नी भी

---

[1] दैनिक प्रताप, २९ जुलाई, १९३६। [2] 'अन्योक्ति' शीर्षक रेडियो-वार्ता, नई दिल्ली, होली, संवत् २००९ को प्रसारित।

वैसी ही थीं। उनका एक निरीह पड़ोसी उनके गर्जन-तर्जन के मारे दुखी रहता था। जब उससे सहा न जाता, तब वह अपने घर के भीतर आँगन में जाता और अपनी घरवाली को दो-चार खरी-खोटी सुनाकर अपना जी जुड़ाता। घरवाली सुनकर हँसती। वह जानती थी, उनका लक्ष्य कौन है। इसी प्रकार कभी-कभी उसके सुग्गे को भी कुछ जली-कटी सुननी पड़ती—दुष्ट, दिन भर टें-टें किया करता है; कभी राम का नाम भी नहीं लेता और सेंत-मेंत का दूध-भात नष्ट करता रहता है, पापी कहीं का। इत्यादि-इत्यादि।

"इसी को अन्योक्ति कहते हैं। अर्थात् एक से कह कर दूसरे को सुनाना। औरों के मिस अपने मनोगत भाव और विचार प्रकट करने का यह अच्छा साधन है। संभवतः इसी कारण इसका उद्भव अथवा आविष्कार हुआ है। कभी-कभी इसका विलक्षण प्रभाव पड़ता देखा जाता है।

"कहते हैं, बिहारी सतसई के कवि एक अन्योक्ति के ही कारण सफल मनोरथ हुए। जब वे राजाश्रय के अर्थ जयपुर पहुँचे, तब उन्होंने सुना, महाराज इन दिनों अन्तःपुर में ही रहते हैं। एक मुग्धा रानी के रूप ने उन्हें मुग्ध कर रखा है। यह सुनकर कवि ने एक दोहा लिखा और उसे किसी प्रकार राजा के पास पहुँचाया—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल,
अली, कली ही सौं बँध्यौ आगें कौन हवाल।

इसे पढ़कर महाराज बाहर आए और उन्होंने कवि से मिलकर उन्हें पुरस्कृत किया। फलतः बिहारी सतसई जैसी अपूर्व कला-कृति की रचना हुई। यदि उक्त घटना केवल एक प्रवाद है, तो भी दोहे की मार्मिकता प्रकट करने के लिए ही उसकी कल्पना की गई समझनी चाहिए। प्रवाद चाहे मिथ्या हों, एक सत्य प्रकट करते हैं।

"लोकमान्य तिलक ने अपने 'केसरी' पत्र के लिए जो आदर्श वाक्य चुना था, वह भी संस्कृत की एक अन्योक्ति ही है। उसका अर्थ इस प्रकार है—'अरे मदान्ध हाथी, क्या तू नहीं जानता, तेरे धोखे विशाल शिलाओं को अपने प्रखर नखों से विदीर्ण करके केसरी गिरि-गुहा में शयन कर रहा है। उसके जाग उठने के पहले ही तू इस वन से बच निकल। क्षण भर भी विलंब न कर।

"इस अन्योक्ति का चुनाव लोकमान्य के ही अनुरूप था। निरंकुश विदेशी शासन के लिए उनकी यह एक ललकार थी। इसमें हमारा देश ही वन में परिणत हो गया था, जहाँ किसी की कोई सुनवाई न थी। और हमारा स्वाभिमान ही सिंह था, जो सुप्त अवस्था में पड़ा था। ठीक ही हुआ जो अब यह परिवर्द्धित कर दिया गया है।

"मैं भूलता नहीं हूँ, तो, काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के प्रमुख प्रतिष्ठाता बाबू श्यामसुंदर दास ने अपने लिए जो सर्वाधिक प्रिय पद्य चुना था, वह भी एक अन्योक्ति के ही रूप में था। उसका अर्थ इस प्रकार है—हे मेरे मित्र चातक, मेरी एक बात सुन, आकाश में अनेक मेघ आते-जाते हैं, उनमें कुछ बरसने वाले होते हैं, कुछ केवल गरजने वाले। तू जिसे देखे उसी के आगे दीन वचन न कह। इस उपदेश की सार्थकता स्वयंसिद्ध है। परंतु एक सर्वोत्तम अथवा सर्वाधिक प्रिय पद्य का चुन लेना बड़ी विषम समस्या है। अपने लिए तो मैं बिहारी के शब्दों में यही कह सकता हूँ—

को छूटयौ इहिं जाल परि; कत, कुरंग, अकुलात,
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात!

"जो हो। मेघ और चातक का सम्बन्ध बड़ा ही मार्मिक है। उसको लेकर हमारे कवि निरंतर रचनाएँ करते आ रहे हैं, संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में। मैं यहाँ हिन्दी की ही एक रचना सुनाता हूँ, जिसे मैं कभी-कभी दुहराया करता हूँ—

पुहुमी सबीज करो बारिद्, तिहारी रीति, सबपै समान दीठि प्रभुता सुहात की।
स्वाति बूँद पाय प्रेमी पालत कुटुंब सदा, और सौं न प्रीति यही रीति यहि जातकी।
पर्सराम ऐरे घन बरस पपीहा काज, आय जै है पौन रैहै प्रभुता न हात की।
कित जल जै है कित उमंग बिलैहै कित, तू ही चलि जै है कित जै है उड़ि पातकी।

जिस मित्र ने मुझे यह छंद सुनाया था, उन्होंने कहा था कि यह दतिया राज्य के एक अपढ़ कहार की कृति है। मेरी सम्मति में वास्तव में वह धीवर सुधीवर था।

"इस अवसर पर हठात् घनानन्द कवि का एक पद्य स्मरण आ रहा है, जो मुझे बहुत भाता है। मेघ को संबोधन करके वियोगिनी गोपबाला कहती है—

पर कारज देह कों धारें फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ,
निधि नीर सुधा के समान करौ सबही विधि सज्जनता सरसौ।
घनआनंद आनंददायक हौं कबौं मेरी औ पीर हिय परसौ,
कबहूं वा बिसासी सुजान के आंगन मौ अंसुवान हू लै बरसौ।

कालिदास के मेघदूत में भी मेघ के प्रति ऐसी उक्ति स्मरण नहीं आती। 'सन्तप्तानां त्वमसि शरणाम्" की तुलना इससे कैसे करूँ? यद्यपि कालिदास के साथ घनानन्द की भी क्या तुलना?

"अपने पूर्वजों का धन सभी पाते हैं। परंतु जो सपूत होते हैं, वे उसकी और भी वृद्धि करते हैं। बिहारी ने अपनी एक अन्योक्ति में ऐसा ही किया है। एक प्राचीन गाथा में उस कुत्ते की भर्त्सना की गई है, जो दूसरे के अधीन होकर मृगों को पकड़ता फिरता है। यही बात बिहारी ने इस प्रकार कही है—

स्वारथु सुकृतु न, श्रमु वृथा; देखि बिहंग, बिचार।
बाज, पराएँ पानि परि तूं पच्छीनु न मारि॥

"संस्कृत के समान हिन्दी के भी अनेक कवियों ने अन्योक्तियां लिखी हैं। सूर के भ्रमरगीत प्रसिद्ध ही हैं—

मधुकर, हम न होंहि वे बेली
जिन भजि तजि तुम फिरत और रंग करत कुसुमरस कली।

"रहीम का भी एक दोहा सुनिए—

सर सूखे पंछी उड़ें और सरन समाहिं,
दीन मीन बिन पंख के कहु रहीम कहं जाहिं?

यह संस्कृत के एक श्लोक का सरस अनुवाद है।

"दीनदयाल कवि ने अन्योक्तियों पर एक पूरी पुस्तक ही लिख डाली है। बहुत दिन हुए, तब मैंने उसे पढ़ा था—

बरनै दीनदयालु हमें लखि होत अचम्भा,
एक जन्म के काज कहा झुकि झूमत रम्भा।

कदली एक ही बार फल देती है, फिर काट दी जाती है। इसी से कवि ने उसे एक जन्म की चेतावनी दी है।

"ग्वाल कवि की भी एक अन्योक्ति स्मरण कर रहा हूँ—

आस करि आये हैं मिलिंद मतवारे मंजु, उपवनवासी सुख पुंज सरसावेंगे।
गुंजत गुमान करि उनको सुमान कर, करि है कुमान तौ जरूर मुरझावेंगे।
ग्वाल कवि कहत तोमें मृदुता सुगंध दोऊ, जस य तिहारौ लोक लोकनि बढ़ावेंगे।
एरे ए गुलाब गुल गालिब गुलों में यार, कांटे तन लाय है तौ फेर नहीं आवेंगे।

इन्हीं भौरों को लेकर एक संस्कृत कवि कहता है—यदि हाथी ने कान फटफटाकर अपने मद के प्रेमी भौरों को हटा दिया, तो यह उसी के गंडस्थलों की शोभा की हानि होगी! भौंरे तो फिर कमल-वन में जाकर विचरण करेंगे—भृंगा पुनर्विकचपद्मवने वसन्ति। स्थान की न्यूनता न रहते हुए भी ग्वाल यह बात नहीं कह पाए हैं।

"अनीस कवि की अन्योक्ति अवश्य मुझे बहुत अच्छी लगती है—

सुनिए विटपि प्रभु पुहुप तिहारे हम, राखि हौ हमें तौ छवि रावरी बढ़ावेंगे
तजि हौ कदाचित तौ विलग न मानें कछू, जहां जहां जैहें तहां दूनौ जस छावेंगे
सुरन चढ़ेंगे नर सिरन चढ़ेंगे सदा, सुकवि अनीस हाट बाटनि बिकावेंगे
देस में रहेंगे परदेस में रहेंगे काहू, भेसमें रहेंगे तऊ रावरे कहावेंगे'

"राय देवीप्रसाद पूर्ण की भी दो करुणाभरी पंक्तियां सुनने योग्य हैं—

तारा पति पेखन की चरचा चलाई कहा, करत न तारा यहां एकहू प्रकास है
पावस की ऋतु है अमावस की रात तापै, दुखिया चकोर ! काहे ताकत अकास है

बोलचाल की भाषा की कविता में अन्योक्तियों का क्रम टूट सा गया है। जान पड़ता है, अब अन्य का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं रह गई है।

"मैंने संस्कृत की अन्योक्तियों से ही प्रथम उन्हें लिखने की प्रेरणा पाई थी। अतएव आरंभ में वृत्त भी वे ही लिए थे। जैसे—

तू बाण मार मृग के यदि प्राण लेता, तो व्याध ! मैं अधिक दोष तुझे न देता
की किन्तु देकर प्रतीति अनीति तूने, मारा सुनाकर उसे कलगीति तू ने।
एवम्, रे श्वान, तू सभय होकर भौंक चाहे, वा देख धीर गति नीरव, चौंक चाहे
है अन्य जन्तु वह जो तुझसे डरेगा, भ्रूक्षेप भी यह करीन्द्र नहीं करेगा।

"बुंदेलखंड का एक लोकगीत 'लेदे' कहलाता है। कभी-कभी इसका प्रयोग भी मैंने किया है। इसमें कही गई एक अन्योक्ति इस प्रकार है—

चषक, जा उनके मुहूँ लग मान तू जो चितन से थक जायं
धधकता भभका मुझको जान तू तुझ जैसे सौ छक जायें।

"अंत में, एक और घटना वा दुर्घटना जो मुझ पर घटी थी, सुनाकर समाप्त करूँगा। प्रारंभिक दिनों की ही बात है। मैंने एक अन्योक्ति लिखी। अब वह भूल गई अथवा भुला दी गई है। केवल चौथा चरण ही कारणवश स्मरण रह गया है। आशय यह था—कमल के तुम्हारे ऐंसे मित्र अर्थात् सूर्य विद्यमान हैं—'हा ! हा ! उसे तदपि तुच्छ तुषार दाहै।' यह पद्य लिखकर उस समय मुझे हर्ष ही हुआ था। दो-चार दिन पीछे मेरे बाल्य-बंधु मुंशी अजमेरी, कई महीने का पर्यटन करके, घर लौटे। मैंने ललक कर वह पद्य उन्हें सुनाया। उन्होंने कहा कि पद्य तो ठीक है, परंतु इसी यात्रा में मैंने जो छंद सुने हैं, उनमें से एक इसी आशय का है। इतना ही नहीं, तुम्हारा 'तुच्छ तुषार' भी उसमें वैसा का वैसा पहले से ही आ चुका है। यह कहकर उन्होंने एक सवैया पढ़ा। जहां मेरे पद्य में केवल सूर्य ही था, वहां उसमें कमल के और भी अनेक समर्थ आत्मीय गिनाए गए थे। चौथे चरण का तो कहना ही क्या। उत्तरार्द्ध ही मुझे स्मरण रह गया है—

तुच्छ तुषार, इतौ परिवार पै, हाय ! सहाय भयौ नहीं सोऊ
कौन कौ को है विपत्ति परे पर, सम्पत्ति में सब कौ सब कोऊ

इसे सुनकर मैं सन्न रह गया और मैंने अपना पद्य फाड़कर फेंक दिया। इसी समय संस्कृत के आशु कवि (स्वर्गीय) अयोध्यानाथ शर्मा मेरे यहां पधारे। मैंने उन्हें सारी घटना सुनाई। बोले, 'भैया, कवियों ने पहले ही सरस्वती का भाण्डार समाप्त कर दिया है। हमारे लिए अब क्या बचा है ?' इनकी यह बात तो मैं नहीं मान सका, कारण सरस्वती का भाण्डार सदैव अक्षय है। तथापि मेरे जैसे परवर्ती पद्यकारों के आगे यह कैसी विडम्बना है ?"

---

[1] इस अन्योक्ति का प्रयोग पूज्य द्विवेदी जी ने एक बार 'सरस्वती' में बड़ी विदग्धता से किया था।—मैथिलीशरण गुप्त

इस प्रारंभिक लेखन के क्षणों में उदीयमान कवि का अंतःकरण किस तरह ललक कर, मचल कर और तरंगायित होकर काव्य-प्रवृत्तियों की दिशा पूरे वेग से आगे बढ़ रहा था, यह इन पंक्तियों से स्मरणीय बना हुआ है, "प्रसंगवश उस समय की एक बात कह दूं। एक बार मैंने अपने लिपिकार बंधु मुंशी अजमेरी से कहा, 'मेरे संध्याशतक की प्रतिलिपि करने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।' उन्होंने विस्मित होकर मुझ से पूछा कि तुमने संध्या के वर्णन में कब सौ पद लिख डाले? मैंने निश्चितता से उत्तर दिया कि दो पद आज लिखे हैं, केवल अट्ठानवे और लिखने हैं। वे हँस पड़े और बहुत दिनों तक मेरी हँसी उड़ाते रहे। यह अट्ठानवे नहीं, निन्नानवे का फेर समझिए। उन दो पद्यों की भी क्या गति हुई, नहीं कह सकता।"[1]

१८९८ से १९०३ तक स्फुट छंद और छप्पय लिखने का जो सिलसिला जारी था, उस पर हर प्रकार से सहायक गुणों का संरक्षण लक्षित रहता था। इन दिनों कलकत्ता के राम प्रेस से श्री रामलाल जी नेमाणी 'वैश्योपकारक' नामक एक जातीयपत्र निकाल रहे थे। इसमें प्रधानतया उस युग के समाज की कतरब्योंत रहती थी। इसके संपादक शिवचंद्र जी भरतिया थे। प्रयोग के रूप में मैथिलीशरण ने अपनी अन्योक्तियाँ इस पत्र में प्रकाशनार्थ भेजीं और वे धारावाहिक रूप से स्वीकार भी की गईं।[2] जातीयपत्र में वैसे भी अच्छे मैटर का अभाव रहता ही है। छपने के लिए आई हुई इन पंक्तियों में किसी कुशल शिल्पी का हाथ अलग से लगा हुआ प्रतीत होता था। हिंदीकविताओं के क्षेत्र में बड़ी समस्यापूर्तियों का लघु संस्करण ही ये अन्योक्तियाँ थीं। व्रजभाषा में इन का प्रचलन खूब था और अपने समय की ये सशक्त अभिव्यक्तियाँ मानी जाती थीं। इनके प्रति साहित्यिक क्षेत्रों में अत्यधिक रस पाया जाता था। उक्तिवैचित्र्य और उपमावैचित्र्य की अच्छी भरमार इनसे बनी रहती थी, स्वांतःसुखाय लेखन को इससे इन दिनों बहुत बल मिला करता था। चिरगाँव के वैष्णवसंस्कारोंकी वाटिका में रसज्ञता क्या गुल खिला रही थी, उसका व्यावहारिक रूप 'अन्योक्ति-पुष्पावली' शीर्षक निम्न पंक्तियों से मिलेगा। उदीयमान कवि की ये प्रारंभिक और सर्वप्रथम लघु रचनाएँ थीं, जो एक जातीयपत्र[3] में स्थान पा सकी थीं।

ये रचनाएँ कनकने मैथिलीशरण ने मैथिलीशरण गुप्त के नाम से छपाई हैं। इसके पूर्व आपके अग्रज श्री रामकिशोर जी 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' आदि पत्रों के ग्राहक 'कनकने' शब्द छोड़कर 'गुप्त' का प्रयोग करते हुए बने थे। उन्हें इस शब्द का मोह अनायास नहीं उपजा था। इस समय कुछ अन्य वैश्य बंधु अपना वास्तविक 'अल्ल' त्याग कर सामूहिक रूप से 'गुप्त' शब्द का प्रयोग किए जा रहे थे और इस प्रकार यह सार्वजनिक सुरुचि का द्योतक हो चुका था। अग्रज का पदानुसरण मैथिलीशरण ने भी किया।

पवन : नाचें मयूर चपला चमकै अपार, हैं माननी तजत मान जिन्हें निहार।
धारा गिरा स्मर जगाहि कबन्ध वाही, काहे करै? तिनहिं छिन सगन्ध वाही!
काष्ठ : छेवै समोहि यह शस्त्र प्रचंडधार, यासों नहो कुलित वार! न सोचधार।
जी में विचार कर देख हिये निहार, ये तौ करैं रुचिर तोहि अमूल्यसार॥

---

[1] 'मेरे कवि का आरंभ' शीर्षक रेडियो-वार्ता।

[2] इस पत्र की संपादकीय नीति का दूसरा नियम था, "इसमें कोई लेख ऐसा न लिया जायगा, जो वर्तमान राजनीति, समाज और धर्म की पवित्रता के विरुद्ध हो।"

[3] वर्ष १, कार्तिक १९६१, संख्या ८। इसी अंक में इस रचना के नीचे एक सम्पादकीय टिप्पणी इस प्रकार है, "भाद्रपद की संख्या में जो 'अन्योक्ति' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था, उसे 'अन्योक्ति-पुष्पावली' समझिये। कारण कि यह लेख पूर्ण होने पर पुस्तकाकार छपेगा।" आश्चर्य है कि कलकत्ता का यह जातीयपत्र १९०४ में अपने अज्ञान के कारण अन्योक्ति-पदों को 'लेख' शब्द से संबोधित करता है। यह शायद मैथिलीशरण जी की आरंभ-शूरता का ही परिचायक है कि इन अन्योक्तियों को पुस्तकाकार निकालने का निश्चय किया गया था! पर यह निश्चय शीघ्र ही भुला दिया गया या वह बलात् एक नई दिशा चल निकला!!

मधुप : आने सर्वाम्बुज पै हुलास, पी पी परागति कियो निवास।
द्विरेफ सो हा! रस गन्ध हीना, काहे गयो बत्सक पै मलीना!
दीपक : शिखा विखा मोह पतंग लेवै, विनाश पीछे कर शीघ्र देवै।
रे दीप! तो सो तव विश्व कोय, विश्वासघाती अरु नीच होय?
राकेश : परोपकारार्थ प्रकाशकारी, सौंदर्य्य सारामृत अंगधारी।
पूर्णेन्दु! सर्वत्र हिये विचारयो, तवैव पायो नहिं हेर हारयो।।
चातक : केते भ्रमें कछुक केवल मेघ गाजें, सारे घनाघन नहीं नभ में बिराजें।
सारंग! बात यदि तें मम मान सोच, होवै न दीन सब सों कर चित्त पोच।।

—मैथिलीशरण गुप्त (रसिकेश)

चन्द्र : प्रकाश आकाश करै निशंक, लाजै नहीं रे मृग अंग! रंक।
कलंक को ओरन ध्यान लावै, आवै हंसै व्योम नहीं लजावै।।
भ्रमर : करत मीन कलोल हते जहाँ, रुचिर सोहत कंज रहे वहाँ।
मधुप! ता सर सुन्दर बीच है, लखि परै अब केवल कीच है!
इन्द्र : जगत रक्षण के हित नेह सों, करत पूर मही इत मेह सों।
सुरपते! उत वज्र प्रहार है, उचित का करिबौ दुखधार है?
कल्हार : स्वमोदकारी मधु देत तोय कल्हार! संकोच कछू जु होय।
सुगन्ध तौ भृंग न देव लैन, या में तिहारी कछु हानि है न।।
मयंक : भादों सुदी चौथ मृगांक! तोय, कियो भलौ मेघनने सुगोय।
अगोय हो तौ यदि तें निरंकी, होते भलेहू तब तौ कलंकी।।
चन्दन : पाटीर! जो करत मर्दन देह तेरी, देवै सुगन्ध तिन्ह को अति ही घनेरी।
त्यों ही ललाट छबि दै रुजहू नसावै, काहे न धन्य तब तोहि कह्यौ सुजावै।।
गंगाजल : सन्तापहारी व तृषा निवारी, गंगा मृतैवाभृत सौख्य कारी।
सो हाय! मध्यार्णव जाय जाय, अस्वादु होवे दुखदाय काय।।
भृंग : कुसमन रज संगा, शीत सेवैं तरंगा, कमलन मधु रंगा, नित्य पीवैं अभंगा।
भ्रमरगण उमंगा, त्याग सो मातु गंगा, सर बिच किमि अंगा, आ नसावैं अनंगा।।
ग्रीष्म : लता रासी खासी, बन बन विनासी दुखहरी, बिना दोषी रोषी, विमल जलशोषी सुखकरी।
भयो पापी दापी, तव समय का पीरद नहीं, कहाँ तेरे एरे, गुणगण बड़े रे किमि तहीं?

—मैथिलीशरण गुप्त (रसिकेश), चिरगाँव; संख्या ६

दीपक : रे रे प्रदीप! पर दोष निहारबे कों, होवै प्रकाशित सनेहिंहि जारबे कों।
पै हाय! हा!! स्व तल में अति अन्धकार, देखै न नीच! उर बीच सु ज्ञान धार!!
मृग : हे हे कुरंग! सुन घातक बाद्य मोह, ताके समीप नहिं जाउर मांहि जोह।
ये नीच तोहि बध कें सुखदा घनेरी, कस्तूरिका चहत लैन, अमूल्य तेरी।।
कुठार : आलोक चित्त नहिं मध्यम, श्रेष्ठ, नीच, रे रे कुठार! तरु छेदत विश्व बीच।
या सों अवश्य कबहूं तव तीव्र धार, ह्वै है अकार्य्य अति क्षीण हिये विचार।।
काक : रे काक! जो पिकन संग करै बिहार, रोकों न तोहि यहि तें करि कें प्रचार।
पै बोल बोल निज कर्कश शब्द भारी, नाहीं तिन्हें उचित है करिबो दुखारी।।
मढ़ा : रे रे उरभ्र! मन में अति होय क्रुद्ध, ठानें स्वजाति बिच जो बिन बुद्धि युद्ध।
"है नीच तें पशु" न क्यों फिर जान जाऊं, या सों प्रमाण कित मैं दृढ़ और पाऊं?
रत्न : हे रत्न! पर जातन चित्त मांहीं, होवे दुखी, विकल, क्लान्त सु नेक नाहीं।
आलोक तोहि कर निर्म्मल ये निरोग, चाहे हिये करन भूप किरीट जोग।।

गुलाब : प्यारी महा भुवन मोहक गन्ध धारी, हे पुष्प श्रेष्ठ थलकंज! महा सुखारी।
या रावरी चटचटाहट हूं सदाहीं, नीकी लगे सतत सतत भृंगन चित्त माहीं।।
जवासा : रे यास! पेखि जग तापित मोद पावै, तो सौ महा अधम कौन लखै लखावै?
हैं श्रेष्ठ सों नितहिं जो पर दुःख दुःख, सानन्द मानत रहैं पर सुःख सुःख।।
मयूर : गोपानसी सौधनके विहाय, अत्यंत दोषी गिरि भृंग जाय।
है नृत्य ठान्यों उर मोद पर, या को कहा कारण? हे मयूर!
पर्वत : विश्वास कीन्हें निज चित्त माहीं, डोलें मयूराऽचल भृंग पाहीं।
ह्वै खेद भारी यह मोहि जावै, ज्वाला सुखी हो नहिं ये नसावै।। (क्रमशः)
—वर्ष १, पौष-माघ वि० स० १९६१, संख्या १०-११
भ्रमर : हे चंचरीक! कुटजागमपै निवास, तावद् करौ उर सु धीरज धार आस।
यावद्महा तव गुणादर जान कारी, फूले न कंज सर मध्य पराग धारी।।
दंशक : क्षुद्रादि कीटाधम तोहि जान, जो जो धरें सज्जन अंग आन।
काटै तिन्हें ही तव तू बुलावै, क्रीड़ा न रे दंशक! तोहि आवै!!
हेमन्त : तू डार डार निशि में अति ही तुषार, हेमन्त! मान, नहीं पद्मन पत्र जार।
लै धारि है इनहिं तो मधु शाश पाहीं, ह्वै है तवाऽपयश केवल विश्व माहीं।।
जलद : जीमूत! जीवन प्रदायक नाम धार, चासै अहो! उपल वृष्टि घनी प्रहार।
तेरो कुकार्य्य यह पेखि विरुद्ध वेद, होवै मदीय मर्न माहि अतीव खेद!
पलास पुष्प : विलोक शोभा वस अंग की भली, मोहें न गन्ध प्रिय कैस हूं अली।
पलास पुष्पै! फिर तो कुसंग में, कैसे रहें सो उभरे उमंग में?
वायस : पिकन के गण में छिप बेहित, अमित काक उपाय करै नित।
पर अहो! प्रकटै दुख दैन है, वदत ही निज कर्कश बैन है।।
सुधाकर : नभहु विच तुम्हारी, देखि कें कान्ति प्यारी, कुमुद, मन मंझारी, होत भारी सुखारी।।
प्रकट यदि विशेषा, जो निहारें सवेशा, तिन्ह सुख लवलेशा, तो कहै को? निशेशा। (क्रमशः)
—मैथिलीशरण 'रसिकेन्द्र'; वर्ष २, संख्या १
कलि : हा! हा!! बताय द्विज देव न निन्दनीय, जो हैं सदैव सब के प्रिय वन्दनीय।
फैलाय वेदन विरुद्ध अनेक कार्य्य, चाहै अहो! वनन तू कलि! नीच आर्य्य!!
कनक : जो तो हिरे कनक! से वहिं प्रेमसंग, सो हो प्रमत्त अति होवहिं ज्ञानभंग!
आश्चर्य है फिर हमें यह हाय! हाय!! तोहू न तो हि नरत्यागहिं चेतपाय!
दंशक : दुःखी अबै भलहिं तू करलै नृवंश, पी पी नवास्त्र अयि दंशक! वंश वंश।
हेमन्त किन्तु जब शासन हाथ लैहैं, याको अवश्य फल तू तब नीच! पैहै।।
पथिक : दोषान्धकार वश सुन्दर दंड जान, ना छेड़ रे पथिक! है यह व्याल मान।
जोडारि है गहन कों कर, तो उताल, तोकों विहाल करि है विकराल काल।।
वस्त्र : मुखदही अति हीन समाजकों, तुमहिं राखत हो सब लाजकों।
तबहूं चैल, तुम्हें फिर जो कहैं, बुध, महाधन! क्योंकर सो अहै!!
चपला : "क्षणैक ये दिप्नी दिखाय कौंधकें, विलीन ह्वै है बलवारू चौंध कें।"
यो जाने कें हूं चल चित्त चंचला हा हा!! चहै देखन तोहि चंचला!
विषधर : द्विजिह्व! रे! तेहि क्षुधार्त्त जान, जौ दैन चाहें मृदु क्षीर आन।
अहो! उन्हें ही खल! तू बुलावें! तेरी क्षुधा क्यों कर तौ नसावे?
रत्नाकर : मैनाक कों जो भयभीत देख, बचाय लीन्हों तुम दीन लेख।
कैसें क्या तौ बरणों तुम्हारी, हे धीर! धाराधर!! धर्म्मधारी।। (क्रमशः)
—मैथिलीशरण 'रसिकेन्द्र'; वर्ष २, संख्या ४

कनकने परिवार पर आर्थिक संकट और पिता का साकेतवास

जिन क्षणों में मैथिलीशरण अपनी चित्तवृत्ति प्राचीन और नवीन काव्यकृतियों में रमाने में लगे हुए थे, परिवार पर एक चिंतनीय आर्थिक संकट आ चला था। मुंशी अजमेरी लिखते हैं, "सेठ रामचरण जी बड़े उदार और रईस मिजाज के आदमी थे। मंझले सेठ घनश्यामदास जी जमींदारी का काम करते थे। और, छोटे सेठ भगवानदास जी व्यापार के प्रबंधक थे। आढ़त का काम और घी का व्यवसाय होता था। जब तक सिर्फ चिरगाँव में ही दुकान रही, तब तक लाभ को छोड़ हानि कभी नहीं हुई। पर बाद में व्यापार का क्षेत्र बहुत विस्तृत कर दिया गया था—तालबेहट (ललितपुर), मऊ रानीपुर (झाँसी), कोंच (जालौन) और भिंड (ग्वालियर) आदि अनेक स्थानों में दुकानें खोल दी गई थीं, जिनमें घी का व्यवसाय और आढ़त का काम होता था। देखभाल करनेवाले थे अकेले भगवानदास जी। प्रबंध ठीक न हो सका। सब जगह मुनीम-कारिंदों ने हाथ मारने शुरू कर दिए। उन दिनों भोपाल में बेगम साहिबा की कोई मिल थी, उस मिल के लिए कपास की खरीद सेठ जी की आढ़त में थी। वह काम बड़े फायदे का था, पर कोंच की दुकान के गुमाश्ते ने उसमें इतना गबन किया कि उसको छिपाने के लिए उसने कपास के गोदाम में आग लगा दी। हजारों मन कपास जल गई। दो दिन तक जलती रही। इस प्रकार नुकसान पर नुकासन पहुँचने से काम गड़बड़ हो गया। कुछ लोगों ने सेठ रामचरण जी को सलाह दी कि दो-चार लाख दाब कर बैठ जाइए और दिवाला खोल दीजिए। पर उनका कहना था, जग में आबरू रहे तो जान जाना पश्म है। बस, पंसेरियों सोने और मनों चाँदी के साथ बहुत-सी जमींदारी भी बेच दी गई, पर दिवाला नहीं खोला गया। सब का रुपया मय सूद के दिया गया। जिनका कुछ रह गया, किश्तबंदियाँ कर दी गईं।

"ऐसा करने से आर्थिक अवस्था बिगड़ गई थी, पर प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई थी। इसी अवस्था में मेरा सम्बन्ध उनसे हुआ था। फिटनें और टमटमें पड़ी थीं, पर घोड़े और ऊँट नहीं थे। रथें और सेजगाड़ियाँ उसी दशा में थीं, क्योंकि उनके बैल नहीं बिके थे। सिपाहियों और नौकर-चाकरों में बहुत कमी हो गई थी, परंतु फिर भी वह घर उदासभाव से कुछ रहित-सा था। पहली दशा देखे हुए यदि बिहारीलाल जैसे कोई कवि अब आकर देखते, तो वे यही कहते कि—

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार,
पै नवपातनि लहलही, अजहुँ हरिअरी डार।"

इसी स्थिति को मैथिलीशरण जी ने और भी अधिक मार्मिक शब्दों में प्रकट किया है और बताया है कि किस प्रकार आर्थिक संकट आने पर पिता जी उसका सामना कर रहे थे—

"झाँसी में अनेक पंडित उनके वहाँ जाने पर आया करते थे और उनसे आदर-सत्कार पाते थे। उपासकों की तो कोई बात ही नहीं।

"मानिक चौक में हमारे घर के पास ही मोहनलाल जी का मन्दिर है। उसके अधिकारी गुसाईं जी पर भी हमारा पावना था। मैं कभी-कभी वहाँ जा बैठता था। एक बार मंदिर में उन्होंने भागवत का सप्ताह बाँधा। वे दो भाई थे। एक भाई ने दूसरे भाई से कहा, 'मैथिलीशरण कथा पर न रुपए चढ़ावेंगे न नोट, वे तो हमारी रसीद चढ़ावेंगे।' कुछ लोग वहाँ और भी थे, वे मुझे शाबासी देने लगे। मैं लड़का था, बढ़ावे में आ गया। उन लोगों की दशा बहुत अच्छी थी। मन्दिर से पर्याप्त आय भी थी, परंतु हमारी दशा ऐसी न रह गई थी कि सौ-दो सौ की हमारे लिये कोई गिनती न हो। परंतु मुझे इसका ज्ञान न था। फिर भी मेरे कहने पर पिता जी ने रसीद लिखा दी और रसीद के साथ एक या दो नकद रुपये भी चढ़ाने के लिये कहा।"

जब मैथिलीशरण जी ने होश संभाला, तब तक घर की स्थिति अधिक नहीं सुधरी थी। अर्थ कृच्छ्रता बराबर आड़े आ रही थी। "झाँसी की दुकान का काम-काज बंद हो चुका था।...घर की प्रतिष्ठा के अनुकूल व्यापार न रह जाने से हम सभी भाई प्रायः बैठे ठाले रहा करते थे[1]।" फिर भी पैतृक संपत्ति

[1] 'अनुज' लेख, मैथिलीशरण गुप्त।

के आधार पर हैसियत का प्रदर्शन तो लोकसमाज में होता ही रहा। धूमधाम से पुत्रों के विवाह हो ही रहे थे। साधु-सत्कार में भी कमी नहीं की जा रही थी।

१६०३ में भाद्रपद मास में मैथिलीशरण की पत्नी का देहावसान हुआ। उसने एक कन्या को जन्म दिया था, पर वह भी अधिक न जी पाई, अपनी मां के साथ ही चली गई। इन्हीं क्षणों में प्लेग फैली और पत्नी की मृत्यु के दो महीने बाद, सन् १६०३ की दीपमालिका के दिन पिताश्री सेठ रामचरण साकेतधाम को सिधार गए। १६०४ में माता जी का भी देहावसान हो गया।

अब परिवार का संरक्षण करने के लिए केवल छोटे सेठ भगवानदास जी ही बचे थे। पहले से ही घर का सारा भार उन्हीं पर था; अब और भी दृढ़भाव से वे परिवार के एकमात्र संरक्षक और पालक बन गए। एक वर्ष बाद ही, १६०४ में, आपने मैथिलीशरण जी का दूसरा विवाह कर दिया।

[७]

साहित्यिक क्षेत्र के प्राथमिक परिचय

अब मैथिलीशरण जी की आयु १८ वर्ष थी।

परिवार जब पूर्वजनों से रिक्त होता है, तब छोटों पर गंभीरता सी व्यापती है। ऐसे क्षणों में भावुक और भी अधिक कल्पनालोक में विचरण करने लगता है। अत्यधिक लाडले होने के कारण मैथिलीशरण जी अब अपने काव्यसृजन में ही व्यस्त रहते थे। ग्रामीण लंगोटिया यारों से मिलने-जुलने में संकोच की मात्रा बढ़ रही थी। पिता, माता और प्रथम पत्नी के चिरवियोग ने हृदय पर एक गहरी गंभीरता व्याप दी; इसी गंभीरता ने इस किशोर कवि की रसज्ञता को एक सीधी दिशा प्रदान की और उसकी तरलता को प्रवहमान बनाया।

आप चिरगाँव में आनेवाले नए समाचारपत्र तो पढ़ते ही थे, नई प्रकाशित काव्यकृतियों को भी मँगाकर पढ़ने का चस्का ले बैठे थे।

'वैश्योपकारक' के पद्य १६०४-१६०५ में प्रकाशित हुए थे। इस समय तक प्रयाग से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'सरस्वती' को पूरे पाँच वर्ष हो चुके थे। वह साहित्यिक जगत् की उल्लेखनीय पत्रिका थी; पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी संपादन-कार्य के साथ झाँसी के रेलवे दफ्तर में भी काम करते थे और सीपरी बाजार में रहते थे। प्राथमिक रचनाओं का प्रकाशन मन को तुष्ट तो करता है, लेकिन यदि पत्र विशुद्ध साहित्यिक न हुआ और 'वैश्योपकारक' जैसा जातीयपत्र हुआ, तो अन्दर यह चाह बनी रहती है कि रचना छपे, तो अब किसी अच्छे पत्र में। इसी सुयोग की तलाश में युवककवि मैथिलीशरण ने एक दिन अपने निश्चय को मूर्त रूप दिया—

"मैं कुछ पद्य बनाने लगा था।[1] पंडित जी (श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी) उन दिनों झाँसी में ही थे। उनका नाम मैं सुन चुका था और उनकी 'सरस्वती' के दर्शन भी मैंने पा लिये थे। मेरे मन में प्रश्न उठा—क्या 'सरस्वती' में अन्य कवियों की भाँति मेरा नाम नहीं छप सकता? इसका उत्तर अपने ही दीर्घ निःश्वास के रूप में मुझे मिल जाना चाहिए था, परंतु लड़कपन अल्हड़ होता है और दुस्साहसी भी।

"पिता जी के साकेतवास के पीछे उनके नाते, कृपा बनाये रखने के प्रार्थी होकर, अपने काका जी के साथ, हम लोग पहली बार कलक्टर साहब को जुहारने झाँसी गये थे। मेरे जाने का प्रधान उत्साह और ही था। भीतर-भीतर 'सरस्वती' में अपना नाम छपाने का डौल लगाने की लालसा से और बाहर ऐसे महानुभाव के दर्शन करने की इच्छा से, अपने अग्रज को साथ लेकर मैं पंडित जी के स्थान पर पहुँचा। घर छोटा ही था। द्वार पर बाँसकी सीकों की बनी लिपटी हुई चिक बंधी थी, जिसकी गोट का हरा कपड़ा कुछ फीका पड़ चला था। एक ओर उनके नामकी पट्टी लगी थी। दूसरी ओर भी एक पटली थी, उसमें लिखा था, 'सबेरे भेंट न होगी।' हम लोग इस बात को सुन चुके थे। अतएव, तीसरे पहर गये थे। तब भी वे आफ़िस से नहीं लौटे थे।

---

[1] 'सरस्वती' का द्विवेदी-स्मृति-अंक।

छोटे से उसारे में एक बेंच पड़ी थी। उसी पर हम बैठ गये। भीतर कमरे में खुली आलमारियों की पुस्तकों की दूसरी दीवार-सी बनी थी। बाईं ओर के पक्खे से सटकर एक पलंग पड़ा था। उस पर लपेटे हुए बिछौने ने लोड़ का रूप धारण कर रक्खा था। दाईं ओर के पक्खे से लगी दो-तीन कुर्सियाँ पड़ी थीं। बीच के रिक्त स्थान में पलंग से कुछ हटकर प्रवेशद्वार के खुले किवाड़ को छूता हुआ एक छोटा-सा टेबुल या चेयर-डैस्क था। उसके सामने भी एक कुर्सी पड़ी थी। टेबुल लिखने-पढ़ने की सामग्री से भरा था, परंतु सब सामग्री बड़े ढंग से सजाई गई थी। प्रवेश-द्वार के सामने ही भीतर जाने का द्वार था, उसमें से एक मझगौरिया दिखाई देती थी। सारा स्थान बहुत ही परिष्कृत, स्वच्छ और शांत-कांत दिखाई पड़ता था। तो भी पंडित जी के आने का समय निकट जानकर घर की परिचारिका हाथ में गमछा लिये कमरे में इधर-उधर फटकार रही थी। ऐसा जान पड़ता था मानो यह एक विधि है, जिसे आवश्यक हो या न हो, पूरा करना ही चाहिए। ऐसी समझदार और कुशल सेविकाएँ बिरली ही होती हैं। बड़ी अपनाहट के साथ उसने हम लोगों का स्वागत-सत्कार किया।

"तनिक देर पीछे उसने एक बार इधर-उधर देखा, फिर उसारे से नीचे उतरकर कुछ दूर तक पंडितजी के आने का मार्ग भी बुहार दिया। इतना करके मानो वह उस समय के कार्य से निश्चिन्त हो गई। उसी समय पंडित जी आते हुए दिखाई दिये। व्यक्तियों की विशिष्टता मानो उनके आगे चलती है। हम लोगों ने देखते ही समझ लिया, यही पंडित जी हैं, यद्यपि बिना पगड़ी के मैं पंडित जी का अनुमान ही न कर सकता था और उनके सिर पर टोपी थी। मैंने संध्या समय दफ्तर से लौटते हुए बहुत से बाबुओं को झाँसी में ही देखा था। परंतु पंडित जी जैसा कोई बाबू न देखा था। जान पड़ा, 'बाबू' के वेश में वे कोई 'साहब' हैं। विलायती साहब बहादुर से तो हम लोग मिल ही चुके थे। उसका जो तेज था वह बहुत कुछ उसके अधिकार के कारण था, पंडित जी का प्रताप सर्वथा व्यक्तिगत। हम लोग ससंभ्रम उठ खड़े हुए। जाड़े के दिन थे। वे हल्के कत्थई रंग का नीचा ऊनी कोट या अचकन पहने हुए थे और ऊनी ही सफ़ेद फलालैन का पतलून जैसा पाजामा। बायें हाथ में कुछ कागज-पत्र लिये थे, दायें में छड़ी। दफ्तर से लौटने वालों के विपरीत अनातुर धीर गति से पैदल आ रहे थे। ऐसे मानो अभी सवारी से उतरे हों। आफ़िस दूर न था और पैदल आने-जाने से वे छोटे नहीं होते थे, क्योंकि स्वभावतः बड़े थे। झूठे सम्मान के पीछे वे टहलने के सुयोग से वंचित क्यों होते, जब सच्चा सम्मान उन्हें सुलभ था। ऊँचे ललाट के नीचे घनी और मोटी भौंहें उसके अनुरूप ही थीं। उनकी छाया में विशेष चमकती हुई आँखें बड़ी न होने पर भी तेज से भरी दिखाई देती थीं। पंडित जी वेश-भूषा से सुसंस्कृत, आकृति से गौरवशाली और प्रकृति से गंभीर तथा चिंतनशील जान पड़ते थे। हम लोगों का प्रणाम स्वीकार कर और हम पर एक दृष्टि डालकर वे कमरे के भीतर जाकर ही रुके। वहाँ इधर-उधर देख कर और तुरन्त ही 'आइये' कह कर उन्होंने हमें भीतर बुलाया। जब तक हम कमरे में पहुँचे तब तक छड़ी और कागद-पत्र यथा स्थान रखकर उन्होंने अपनी टाइमपीस घड़ी उठा ली थी और उसमें ताली देना आरंभ कर दिया था। वे बड़े ही नियमबद्ध थे और संभवतः आफिस से लौटकर घड़ी कूकने का समय उन्होंने बाँध रक्खा था।

" 'बैठिए' सुन कर भी हम लोग खड़े ही रहे। हमारा भाव समझकर घड़ी रखते हुए वे पलंग पर बैठ गये। सामने की कुर्सियों की ओर हाथ बढ़ाते हुए फिर स्निग्ध स्वर में बोले, 'बैठिये'। हमलोगों के नाम और परिचय से वे कुछ आकर्षित हुए और हाल ही में हमें पितृहीन हुआ सुन कर उन्होंने यह भी पूछा कि आपलोग किस संप्रदाय के अनुयायी हैं। विशिष्टाद्वैत सुन कर बोले, 'हाँ' और यह कहते हुए अपना संप्रदाय भी बताया, संभवतः वल्लभ।

"पंडित जी से हम लोगों की बातचीत आरंभ ही हुई थी, इतने में भीतर से एक सुंदर और हृष्ट-पुष्ट बिल्ली आई और उछलकर पंडित जी की गोद में आ बैठी। उनके कंठस्वर से उन्हें आया जानकर ही वह भीतर से दौड़ी आई थी। पशु-पक्षी मैंने भी पाले हैं, परन्तु पली बिल्ली मैंने पहले पहल वहीं देखी थी। मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। मैंने देखा, पंडित जी धीरे-धीरे उस पर हाथ फेर रहे हैं और वह हर्ष और गर्व से एक असाधारण

शब्द कर रही है। जो लोग पक्के गाने से चिढ़ कर उसे बिल्लियों का लड़ाना कहते हैं, वे कहीं उस बिल्ली का शब्द सुनते तो जानते कि बिल्लियाँ भी स्नेह में कैसा प्यारा बोलती हैं। पंडित जी ने पशु-पक्षियों की चेष्टाओं पर 'सरस्वती' में एक लेख लिखा था। मुझे ठीक स्मरण नहीं, इस बिल्ली को देखकर मुझे उसका ध्यान आ गया था, अथवा उसे देखकर इसका।

"परन्तु जिस उद्देश्य को लेकर मैं पंडित जी के यहाँ गया था, उसके विषय में कुछ कहने का मुझे साहस ही न हुआ। मेरा सारा उत्साह न जाने कहाँ चला गया। मेरे अग्रज ने प्रसंग चलाकर एक बार कहा भी कि ये भी कुछ कविता बनाते हैं। 'बड़ी अच्छी बात है' कह कर पंडित जी ने मेरी ओर देखा। मैं तो 'कुछ नहीं', 'कुछ नहीं' कहकर संकोच-से सिकुड़-सा गया। मुझे विपत्ति में पड़ा देख कर फिर उन्होंने कुछ नहीं कहा। कुछ कहने के लिये मैंने कहा, 'हम लोग तो सबेरे ही आनेवाले थे, परंतु सुना कि संध्या को ही आपसे भेंट होती है, इसलिये इस समय सेवा में उपस्थित हुए हैं।' वे हँसकर बोले कि, हाँ, सबेरे हम 'सरस्वती' का काम करते हैं और कुछ लेख आदि लिखते हैं। फिर अवकाश नहीं पाते। परन्तु जब आप इतनी दूर से आये हैं, तब क्या हम उस समय भी आपसे न मिलते। कभी झाँसी आया कीजिए और सुविधा हो तो मिला कीजिए।

"उनका अधिक समय लेना अपराध करना था। रोकने पर भी हम लोगों को विदा करने वे बाहर आये। आगत का स्वागत सभी करते हैं, परन्तु अपने छोटों के प्रति भी उनका सदा ऐसा ही उदार व्यवहार रहा।

"अपने पद्यों के विषय में प्रयत्क्ष कुछ कहने की अपेक्षा पत्र-व्यवहार करने में ही मुझे सुविधा दिखाई पड़ी। वस्तुतः उनके प्रभाव से मैं अभिभूत हो गया।

"उस दिन लौटकर मुझे कुछ आत्मग्लानि-सी हुई कि मैं क्यों इतना हतप्रभ हो गया कि अपनी बात भी उनसे न कह सका। और, झूठ क्यों कहूँ, उनके प्रति कुछ ईर्ष्या भी मन में उत्पन्न हो गई। परन्तु 'सरस्वती' में नाम छपने का लोभ प्रबल था। आशा भी बलवती थी। कुछ दिन पीछे मैंने एक रचना भेज ही दी और उत्सुकता से मैं उनके पत्र की प्रतीक्षा करने लगा। यथा समय उत्तर आ गया, 'आपकी कविता पुरानी भाषा में लिखी गई है। सरस्वती में हम बोलचाल की भाषा में ही लिखी गई कविताएँ छापना पसंद करते हैं'।"

इसी पत्र में द्विवेदीजी ने व्रजभाषा के इस किशोर कवि के उपनाम 'रसिकेन्द्र' के बारे में भी लिखा था कि अब 'रसिकेन्द्र' बनने का जमाना गया! इसी समय आपके बहनोई, जो बुंदेलखंडी भाषा के कवि थे, ने आपसे एक अच्छा सा उपनाम बताने का आग्रह करा। आपने अपना यह उपनाम उन्हें भेंट कर दिया और उपनामों से सदा सदा के लिए छुट्टी ली!

"बोलचाल की भाषा अर्थात् खड़ीबोली, और पुरानी भाषा अर्थात् व्रजभाषा। पाठक ही समझ लें, मेरे मन में अपनी रचना की अस्वीकृति खली या व्रजभाषा की उपेक्षा। मन कुछ विद्रोही था ही, आशा भी पूरी न हुई। अब क्या था, एक कड़ा-सा पत्र लिख दिया। एक बात सुनी थी कि शेख शादी साहब को फ़ारसी भाषा की मधुरता का बड़ा अभिमान था। एक बार वे यहाँ आए। व्रजभाषा की प्रशंसा सुनकर उन्होंने नाक सिकोड़ी और भौंह चढ़ाई। घूमते-फिरते वे व्रज पहुँचे। वहाँ मार्ग में पहले-पहल उन्होंने एक छोटी-सी लड़की की बात सुनी। वह अपनी माता से कह रही थी, 'मायरी माय, मग चल्यो न जाय, सांकरी गली, पाय कांकरी गड़तु है।' इसका संकेत भी अपने पत्रमें कर दिया और समझ लिया कि बदला ले लिया—

"कार्त्तिक शुक्ल ३, संवत् १९६१, श्रीमान पंडित जी महाराज, चरणार्विन्दों में बहुशः प्रणाम। भवदीय चरण सत पत्र प्रसादात्रं कुशलं तत्रायस्तु, अग्रेवृत्तामिदं ज्ञेयम्! कृपासिंधु। कर कंजांकित शिक्षापत्र २८-१०-१९०४ का प्राप्त हुआ। पत्र देने में कई कारणों से विलम्ब हुआ, क्षमा कीजियेगा। भगवन! इतना खेद मुझे अपनी कविता सरस्वती में न प्रकाशित होने का नहीं हुआ, 'जितना कि सरस्वती के पाठकों की व्रजभाषा पर तुच्छता का।' जो हो अपनी अपनी रुचि होती है, मुंडे मुंडे रुचिर्भिन्ना। इसी प्रकार शेख सादी साहब को भी इस व्रजभाषा पर एक बार तुच्छता प्रगट हुई थी। परंतु इन व्यर्थ के पचड़ों से क्या लाभ। महात्मन्! निःसंदेह श्रीमान के चरणाम्बुजों में मेरी हार्दिक भक्ति है। सरस्वती से पूर्ण प्रेम है और खड़ी बोली में

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

['भारत भारती' के प्रख्यात कवि अपने मित्रों के साथ बीच में बैठे हैं, १६१६]

बाबू मैथिलीशरण गुप्त
[१६२४]

यथाशक्य कविता भी रच सकता हूँ। परंतु क्या किया जाय? खेद का विषय है कि इस दास को स्वभाव से ही खड़ी बोली से कुछ अरुचि सी है। अरुचि है सही किंतु 'यदादा चरित श्रेष्ठ-स्ततदेवेतरो जनः सयत् प्रमाणं कुरुति लोकस्तदनुवर्तते' इस न्याय से जब श्रीमान् जैसे विद्वद्वर पुरुषों को ही खड़ी बोली रुचिकर है तब मुझ जैसे अशिक्षित, अल्पज्ञ, अविवेकी, अनभिज्ञ एवं अबोध बालक की गणना ही क्या? अस्तु, अवकाश पाने पर खड़ी बोली में कविता रचकर श्रीमान की सेवा में अर्पण करूँगा।..."

संभवतः मैथिलीशरण जी का यह पहला साहित्यिक पत्र था।

"परन्तु इस पत्र का कोई उत्तर न मिला। भगवान् ही जानें, इससे मैं अपनी जीत समझा या अपने प्रहार को सर्वथा निष्फल समझकर और भी हताश हो गया। प्रतिघात सह लिया जा सकता है, किंतु आघात का व्यर्थ होना प्रतिघात से भी कठोर होता है। तथापि मेरी क्षुद्रता का वे क्या उत्तर देते? मैंने धृष्टता पूर्वक एक पत्र और भी इस सम्बन्ध में भेजा। वह वैसा ही लौट आया अथवा लौटा दिया गया।

"इस बीच कलकत्ते के 'वैश्योपकारक' मासिक पत्र[1] में मेरे पद्य छपने लगे थे। इससे मुझे कुछ अभिमान भी हो गया था।[2] परन्तु हिंदी की एक मात्र प्रतिष्ठित पत्रिका 'सरस्वती' थी। मेरा मन उधर ही लगा था। झख मारकर खड़ीबोली के नाम से 'हेमन्त' शीर्षक कुछ पद्य लिखे। उन्हीं दिनों रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' की 'शरद्' नाम की एक कविता 'सरस्वती' में छपी थी। वह पुरानी भाषा में ही थी! 'शरद' छपी तो 'हेमन्त' भी छप सकता है। उसे भेजते हुए मैंने निर्लज्जता पूर्वक इतना और लिख दिया कि प्रसन्नता की बात है, अब 'पुरानी भाषा' के सम्बन्ध में आपका वह विचार बदला है। जिस दिन उत्तर मिलना चाहिए था, उत्सुकता पूर्वक मैं स्वयं डाकघर पहुँचा। उनका उत्तर पोस्टकार्ड के रूप में उपस्थित था। धड़कते हृदय से पढ़ा। लिखा था, 'आपकी कविता मिली। रायसाहब की कविता अच्छी होने से हमने छापी है।' अब समझ में आया कि नई-पुरानी भाषा का तो एक बहाना था, मेरी कविता अच्छी न होने से न छप सकी थी! यह उस समय भी न समझ में आया कि मेरी रचना अच्छी न थी, फिर भी उन्होंने उसे बुरा न बताकर भाषा की बात कह कर कितनी शिष्टता से मुझे उत्तर दिया, यद्यपि यह ठीक था कि बोल-चाल की भाषा की कविता के ही वे पक्षपाती थे और उसी का प्रचार भी कर रहे थे। जो हो, मेरा जी बैठ गया। 'सरस्वती' आई, पर 'हेमन्त' न आया। वह क्यों नहीं आया, आवेगा भी या नहीं, यह पूछने का भी धीरज न रहा। कन्नौज से 'मोहिनी' नाम की एक समाचार-पत्रिका निकलती थी। उसी में छपने के लिये मैंने 'हेमन्त' भेज दिया और अगले सप्ताह ही वह छपकर आ गया। एक द्विवेदी जी न सही, तो दूसरे गुणग्राहक तो विद्यमान हैं, यों मैंने मन समझाने की चेष्टा की। मन ने मान भी लिया, कारण, अपमान भी उसी ने माना था। तथापि उसके एक कोने से यह शब्द उठे बिना न रहा कि—हाय 'सरस्वती'!!"

'सरस्वती' देश का पहला मासिक था, जो विदेशी मासिकों के स्तर का था। इतना सुरुचिपूर्ण, मुद्रणकला की सुंदरता से ओतप्रोत और साहित्यिक सामग्री से लब्ध कोई अन्य पत्र हिन्दी में इस समय देश में नहीं था। उसके संपादक द्वारा लिखे गए पत्र ने इस किशोर कवि के मानस की समस्त रूढ़ प्रवृत्तियों और जिज्ञासाओं का जैसे उत्खनन कर दिया। मैथिलीशरण ने अपने सारे अध्ययन और अध्यवसाय को केंद्रित कर, अब खड़ी बोली के काव्य पर अपना ध्यान जमाया और उसी के प्रणयन में जुट गया। और खड़ीबोली के पक्ष-समर्थक कवियों की रचनाओं को मंगा कर वह पढ़ने लगा।

---

[1] 'वैश्योपकारक' में शतरंज के नक्शे भी छपते रहे और उनमें शह देने के प्रश्नों का उत्तर बाबू मैथिलीशरण ने भी दिया।

[2] 'वैश्योपकारक' के दूसरे वर्ष के प्रथम अंक में सम्पादकीय टिप्पणी का एक अंश इस प्रकार है—"बाबू मैथिलीशरण गुप्त का नाम भी कृतज्ञता के साथ स्मरण करने के योग्य है। इन महाशय की कविता लगातार छपती रही है।"

इन दिनों पं० श्रीधर पाठक खड़ीबोली-काव्य के एक उज्ज्वल नक्षत्र थे। इस उदीयमान भावुक स्वाध्यायी ने साहित्यक्षेत्र में प्रवेश करने के बाद संभवतः विशुद्ध रूप से दूसरा साहित्यिक पत्र[1] श्रीधर जी पाठक को लिखा। इस पत्र की भाषा जहाँ इसके लेखक की प्रारंभिक अभिव्यक्ति की परिचायिका है, वहीं इन क्षणों के उसके मानसिक स्तर को भी हस्तामलक-सा सामने रख देती है—

श्री सीतारामः पायात् ２७ मार्च १९०५

परोपकारार्थ प्रकाश कारी,
सौन्दर्यय सारामृत अंग धारी।
पूर्णेन्दु! सर्वत्र हिये विचार्यो,
तवैव पायो नहिं हेर हार्यो॥
—अन्योक्ति पुष्पावली

श्रीमान् पंडितजी महाराज!
बहुशः प्रणाम्!
शमत्र तत्रास्तु, अग्रे वृत्त मिदम्।

महोदय!

भवदीय प्रेषित एवं विरचित "काश्मीर-सुखमा" नामक एक अपूर्व पुस्तक प्राप्त हुई। जिसके प्रत्येक पद्य से सरसता, माधुर्य्यता, चातुर्य्यता, लावण्यता एवं काव्य कुशलता टपकी ही पड़ती है।

कहां तक प्रशंसा करूं? अकथनीय है। अनिर्वचनीय है!! अलेखनीय है!!! यदि हो सका, तो उक्त पुस्तक की प्रशंसा कतिपय पद्यों में वर्णन कर किसी समाचारपत्र में प्रकाशित करवाऊंगा।

कृपासिन्धु! महानुभाव की हृदग्राही कविता निरीक्षण करने की विशेष अभिलाषा हुई। सुतरां 'काश्मीर-सुखमा' के आवर्ण पृष्ठ पर लिखी हुई पुस्तकें 'इण्डियन प्रेस' से मंगवाई हैं। केवल 'भ्रमराष्टक' का प्राप्ति स्थान विदित नहीं। सो लिख देने से बड़ी कृपा समझी जायगी। विशेष क्या निवेदन करूं? कृपा रखियेगा। स्नेहपत्र कृपया सदैव प्रेषणीयम्। अलम्॥

दास
मैथिलीशरण, चिरगांव (झांसी)

साहित्यिकता की उदीयमान अवस्था में प्रसिद्ध साहित्यकारों और लोकप्रिय कवियों से साक्षात्कार करने और उनसे पत्र-व्यवहार करने का कौतूहल प्रायः विद्यमान रहता है। इससे मंजी हुई नई रचना लिखने की प्रवृत्ति मन को सावधान बनाए रखती है।

[८]

प्राग्द्विवेदी-युग

वैष्णवभक्त परिवार के इस युवक में जिस 'सरस्वती' के लिए लोभ इतना प्रबलतर हो उठा था, उसका रूप-दर्शन लगे हाथों कर लिया जाए। इस मासिक पत्र ने अपने प्रकाशन के तीन वर्ष बाद से ही, एक नए युग की स्थापना की थी। उसे 'द्विवेदी युग' नाम से मान्यता प्राप्त हुई है। इसके पूर्व, भारतेंदु हरिश्चंद्र का युग हिंदी साहित्य में चला आ रहा था, उसके संस्कार व प्रभाव सभी हिंदी लेखकों को प्रेरित कर रहे थे। 'सरस्वती' ने भारतेंदुयुग के बाद कौन सा दिशा-परिवर्तन, मोड़ अथवा पुरानी स्थापना से छुटकारा लिया, इसे समझने के लिए प्राग्द्विवेदी-युग का दर्शन अनिवार्य हो जाता है।

धार्मिक पीठिका पर अवतरित चौबीस अवतारों की भाँति मुझे साहित्य की पृष्ठभूमि पर अवतरित चौबीस अवतारों से प्रयोजन है। भारतेंदु हरिश्चंद्र को मैं इसी साहित्यिक भावलोक का २४ वाँ अवतार मानता हूँ।

[1] श्री व्रजमोहन जी व्यास (काशी विश्वविद्यालय) के निजी संग्रहालय में सुरक्षित।

अवतारों ने स्वयं अपने नाम से आश्रम, मठ, वेदपीठिकाएँ या गुरुकुल आदि की स्थापना का लक्ष्य हाथ में नहीं लिया। अंधकार का वक्ष विदीर्ण करने के लिए बस सूर्य की अपरिमित शक्ति ही समर्थ होती है। उसी तरह इन अवतारोंने, जो भी अन्तःकरणका अंधकार घनीभूत होता रहा, उसी की विजय को लक्ष्य बनाया और अपने प्रकाश से मनुष्य जाति को नई सत्य-विजय की राह दी। भारतेंदु यदि कोई स्थायी संस्था या साहित्यिक पीठिका अपने पीछे नहीं छोड़ गए, उसका अर्थ यही है कि वे भविष्य की नई सुरक्षित पगडंडियों का ज्ञान दे गए, कुछ दूर स्वयं चलकर बाधाओं को हटा भी गए। अवतारों का शेष कार्य भाव-भक्तों का रहा है। भारतेंदु के विकल प्राणों का प्रस्फुटन राष्ट्र को राष्ट्रभारती का स्वर मात्र देने के लिए हुआ था। यों तो देश की सभी प्रादेशिक भाषाओं में अपनी दृष्टि से साहित्य क्रमिक मंथर गति से आगे बढ़ रहा था। फिर भी यह गति मंद थी। उन मार्मिक क्षणों में राष्ट्रभारती का दिव्य संदेश उच्चरित हुआ और उसने महान् शुभयज्ञ का सूत्रपात किया। यज्ञ के स्फुलिंग यदि ज्वालामय न रहें, वहाँ पुरोहित की त्रुटि है। राष्ट्रीय यज्ञ का श्रीगणेश उन दिनों—१८५७ के बाद—राष्ट्रीय भावभूमि में स्वप्न ले रहा था। जन-सागर की अतल गहराई से, अपने बलपर भारतेंदु राष्ट्रभारती का संपुट निकाल लाए थे। यह उनका अकेला सामर्थ्य था। इसी संपुट में समस्त उत्तर-भारत के साहित्यकारों के लिए मंत्र-मुक्ता रखा हुआ था। उनका कार्य इतना ही भर था। इसके बाद का कार्य तो शरीरी आत्माओं का था। उनके जीवन का प्रयोजन अवतारी शरीर के श्रम से राष्ट्र को भाषा का प्रकाश-पुंज देकर पूर्ण हुआ।

पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बदरीनारायण 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट, बा० बालमुकुन्द गुप्त, ला० श्री निवासदास, ठा० जगमोहन सिंह, बा० तोताराम प्रभृति स्वनामधन्य साहित्यकारोंने भारतेंदुयुग के दायित्व को जन-मंगल की तत्वानुभूति से भर दिया। इन साधुपुरुषों ने क्रमशः मनोरंजकता, सरलता, व्यंग्यात्मकता, आलंकारिकता के साथ अर्थ गांभीर्य व समास-पदावली, सरल घरेलू शब्दों की मनोहरता तथा हार्दिक चुटकियों की विशेषताओं से समर्थ जनभाषा को क्रमशः ढाल दिया। अंग्रेजों ने इस समय तक अपनी कुटिल नीति से आधिपत्य स्थापित कर, देश को कानूनी शिकंजे में कस दिया था—जनता का कंठ अवरुद्ध था, उसका चैतन्य वाणी के लिए व्याकुल था। उधर अंग्रेजी का प्रबल आक्रमण देश की भाषाओं पर हो रहा था। ऐसे समय इन व्यक्तियों ने भाषा का साका किया। १८८१ में भारतेंदु ने एक पत्र 'भारतमित्र' को लिखा था, जिसमें प्रथम बार चर्चा की गई थी कि जो कविता भेजी जा रही है, वह साधु भाषा में है। आप इसे देख लें और उचित शोधन भी कर लें। उसी साधु भाषा का कार्य इन व्यक्तियों ने किया।

हिंदीसाहित्य के इतिहास पर ग्रंथ लिखते हुए एक सज्जन ने खेद प्रकट किया है कि अंग्रेजों के प्रभुत्वकाल से पहले और बाद में भी, राजभक्ति और देशभक्ति भिन्न रही, उनके अर्थ भिन्न रहे। इस साधु भाषा ने अवतारी भारतेंदु के हाथों पारस-स्पर्श ग्रहण कर प्रखर ज्योति की साधना की और राजभक्ति और देशभक्ति के भिन्न अर्थ, डेढ़ सहस्त्र वर्ष बाद, पुनः एक हो गए!

भारतेंदुयुग में पद्य-निबंधों का सूत्रपात हुआ, इतिवृत्तात्मक पद्य और प्रबोध-गान सरलता से लिखे गए। विषय की व्यापकता, शैली की स्वच्छंदता, व्यक्तित्व की विशिष्टता, भावों की प्रवणता, लक्षणा तथा व्यंजना की मार्मिकता और भाषा की सजीवता निबंध-कला का संस्पर्श[1] कर रही थी।

बाबू लक्ष्मीप्रसाद, श्रीधर पाठक (पहली खड़ीबोली की कविता-पुस्तक 'एकांतवासी योगी', १८८६), अयोध्याप्रसाद खत्री, बदरीनारायण चौधरी, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', कालूराम शर्मा आदि ने भारतेंदु के स्वप्नों को प्रमुखतया चरितार्थ करते हुए खड़ीबोली को अपनाया। माधुरी, प्रांजलता और प्रौढ़ता उच्चस्तरीय मानसिक स्वास्थ्य की चीजें थीं। उसके लिए दिशाबोध का ज्ञान यद्यपि मिल चुका था, पर समय-साध्य होने के कारण १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में सहसा ही सारे सुधार होने की आशा की आंशिक पूर्ति ही हो सकी।

सवैया, कवित्त, दोहा, चौपाई, सोरठों का परिच्छेद समाप्त हुआ और भारतेंदुयुग में रोला, छप्पय, अष्टपदी, लावनी, गजल, रेखता, द्रुतविलंबित, शिखरिणी आदि के रूप में नए परिच्छेद की आंशिक प्रगति

[1] विस्तार से देखिए—'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग'—डॉ० उदयभानु सिंह।

हुई। नया परिच्छेद प्रारंभ हुआ—यही मुख्य बात थी। छंदों की वास्तविक नवीनता, स्वच्छंदता, लय और स्वरपात का उद्गम इस युग की देन हैं। प्रचारात्मकता और उपदेशात्मकता (नया अवतार होने पर ये अवश्यंभावी होते हैं) के युग में सबसे मान्य स्वाभाविक प्रगति यह हुई कि गीति-मुक्तकों की मार्मिक अनुभूति को लिपिबद्ध किया जा रहा था।

सबसे बड़ी बात यह हुई कि व्रजभाषा पूरी एक शती तक व्यापक क्षेत्र की साम्राज्ञी रहकर, अब बूढ़ी हो चली थी। भारतेंदु ने उसी के गढ़ में विराजकर, उसे पदच्युत किया और उसी की वेदी पर जन-जागरण की साधु भाषा खड़ीबोली की सजीव प्रतिमा स्थापित की। व्रजभाषा की पदच्युति के बाद भी उसके भक्तों ने उसका राग, उसकी जयजयकार न छोड़ी, तो भी भारतेंदु ने अविचलित रहते हुए विलक्षण भाषा-प्रयोगों से व्रजभाषा की मोहिनी हटा दी।

युवक मैथिलीशरण के समय तक आते-आते, व्रजभाषा के बाँकपन का समय लगभग जा चुका था। 'सरस्वती' ने प्रकट होते ही सदा-सदा के लिए व्रजभाषा के प्रभुत्व की इतिश्री कर दी।

एक बात और थी। अंग्रेजी—संगीनोंके साएमें पोषित अंग्रेजी, शिक्षितों में और प्रबुद्ध समाजमें व्याप रही थी। हिंदी का आग्रह, निहत्थे वीर की तरह सक्रिय रहते हुए भी, अंग्रेजी के समक्ष संतुलन नहीं पा रहा था। प्रयोग अवश्य नए से नया चल रहा था। पर भारतेंदु की वह पुरजोर राष्ट्रीयता क्षीण पड़ती जा रही थी। भविष्य की ओर नहीं, उसके कर्णधार अपने सीमित दायरे में सोचने लगे थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण वह संकेत है, जो 'हिंदी-प्रदीप'[1] में १९०० के 'जनवरी-फरवरी-मार्च' अंक में 'सरस्वती' की आलोचना करते हुए प्रस्तुत हुआ है। यह पत्र प्रयाग से १८८५ से ही प्रकाशित हो रहा था। इसने लिखा, "इस नाम की सचित्र मासिक हिंदी मेगाज़ीन काशी नागरी प्रचारिणी के पाँच पंचों द्वारा जन्मग्रहण कर ठीक समय से प्रकाशित होती है. . .फिर भी कुछ कहने का साहस होता है कि ये पंच लोग पुरानी हरिश्चंद्र मेगाज़ीन निकाल कर उसका थोड़ा नमूना पकड़ते तो बहुत अच्छा होता—सरस्वती अभी निरी बालिका है बालक खेलकूद हँसी ठठोली के बड़े प्रेमी होते हैं फिर पाँच पंच से पालित होने पर भी यह पंच के ढंग के लेख से बंचित रहे ? . . .मेगाज़ीन का मुख्य काम साहित्य की उन्नति का है और साहित्य की उन्नति कबिता से होती है तो इसलिये कुछ काव्य भी होना चाहिए पर काव्य में पुराने ढंग का असत् नष्ट काव्य नायिका नायक के झगड़े न हों, रस की कबिता से बल्कि उसका न होना अच्छा. . .यदि बिघ्नों के झकोर में आय हम बुझने से बचे रहे तो सरस्वती हमारी सहकारिणी होगी, अब इन पंच पालकों से यही बक्तव्य है कि जैसे इन्होंने इसका जन्म दिया है वैसे ही सरस्वती को काल के गाल में पड़ने से बचाये रहें, इसकी भाषा के संबंध में जुदे २ लोगों की जुदी २ राय है किंतु हम अभी इस बारे में कुछ नहीं कहा चाहते।"

१९०० में 'हरिश्चंद्र' मैगाज़ीन की चर्चा करना उल्टी गंगा बहाने की दुहाई थी! फिर भी इसके संपादक साधु पुरुष थे, उन्होंने व्रज का नायिका-भेद त्याज्य समझने का अनुग्रह किया है। स्वयं 'हिंदी-प्रदीप' विगत १५ वर्षों से निकलने के बाद भी अपने अवरुद्ध स्वास्थ्य का कोई मार्ग नहीं ढूँढ़ सका था।

'सरस्वती' एक दम साफ-स्वच्छ स्लेट लेकर समक्ष आई। प्राग्द्विवेदी-युग की परंपराओं की दृढ़ आस्था उसके साथ थी। पथद्रष्टा रूप में उसे एक सुलझा हुआ साधु मिल गया। इस साधु ने सत्तरह वर्षों की अपनी अनन्य तपस्या से युगांतरकारी निर्माण किया। ये ही ब्रह्मर्षि महावीर प्रसाद द्विवेदी थे—हमारे चरित नायक के समर्थ गुरु।

---

[1] हिन्दी-प्रदीप का आदर्श वाक्य था—
"शुभ सरस देश सनेह पूरित प्रगट ह्वै आनंद भरै।
बीच दुसह दुरजन वायु सों भारी दीप सम थिर नहीं टरै।
सूझै विवेक विचार उन्नति कुमति सब यामें जरै।
हिन्दी-प्रदीप प्रकाशि मूरखतादि भारत तम हरै।।" —जनवरी-फरवरी १९०३।
इसी अंक में इस पत्र की यह सूचना भी मिलती है, "विद्यानाटक, इतिहास, दर्शन, राज-सम्बन्धी इत्यादि के विषय में हर महीने की पहली तारीख को छपता है।"

'सरस्वती' का प्रारंभ और साहित्यिक आश्रम की स्थापना

१९०० के आसपास हिंदी के अनेक पत्र निकल रहे थे। उनका कलेवर और उनका अन्तः बाह्य रूप-रंग ऐसा जोगिया था, जो तपस्या तो कर रहा है, पर सभ्य समाज में जिसका आकर्षण अधिक न था। मासिकों के आगे अंग्रेजी 'मेगाज़ीन' विशेषण प्रयुक्त होता था। द्विवेदी जी ने यह शब्द हटाकर 'पुस्तक' शब्द व्यवहृत किया : मासिक पुस्तक। 'सरस्वती' में प्रति मास (प्रारंभ में) इकरंगा कलात्मक चित्र रहता था या आर्ट-प्लेटों के स्थान पर महाराजाओं, कृपालु धनीमानियों, नरेशों और बाबु श्यामसुंदर दास जैसे हिंदी-प्रेमियों या जगदीशचंद्र वसु अथवा कतिपय महामहोपाध्यायों के चित्र स्थान पा रहे थे। सर वाल्टर स्काट की 'लव आफ पोयटरी' और बाइरन की 'वीमन' जैसी कविताओं के पद्यानुवाद में रुचि ली जा रही थी। काऊंट लियो टाल्सटाय का उच्चारण 'कौंट लीयो तुलस्तुयी' लिखा गया था। सन् १९०४ की फाइल में पृष्ठ २८ पर कोलम्बिया विश्वविद्यालय में संपादकों के लिए स्कूल खुलने की योजना की चर्चा करते हुए संपादकीय लिखा गया था, "जो लोग, इस समय, संपादकता कर भी रहे हैं, वे भी, इस स्कूल में कुछ काल तक रह कर, संपादन-विद्या में कुशलता प्राप्त कर सकेंगे. . .दफ्तर की स्थिति-स्थापकता. . .प्रत्येक विषय की छोटी से छोटी बातों पर व्याख्यान होंगे. . . आजकल के संपादकों में सबसे बड़ी न्यूनता यह पाई जाती है कि वे सत्य के जानने में बहुधा हतसफल होते हैं. . . हम—हिंदी के समाचार और मासिक-पुस्तकों के संपादकों—को अपनी योग्यता का अनुमान करने में बहुत विषमता दृग्गोचर होती है।"

आगे चलकर पृष्ठ ८० पर प्रार्थना शैली में एक कविता है—

सुमिरन कर ईश्वर का उठकर, क्यों तू गाफ़िल सोता है।

१९०४ में वर्ष भर में सिर्फ २० कविताएँ ही छपी हैं। अर्थात् प्रति मास २ कविताओं का औसत बैठा, जिसका अर्थ यह है कि संपादक की कसौटी पर खरी उतरने वाली कविताओं का उस समय अभाव था।

१९०५ की मार्च-पुस्तक के मुख पृष्ठ के सामने रविवर्म्मा का इकरंगा चित्र एक दक्षिणी स्त्री के मनोहर रूप से अंकित छपा है। उसके नीचे शीर्षक है : रम्भा। इसी शीर्षक से संपादक महोदय (पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी) ने इस चित्र की काव्यात्मक अभिव्यक्ति को कविता का रूप देते हुए ये पद प्रकाशित किए—

पहला पद : **रूपवती यह रम्भा नारी, सुरपति तक को यह अति प्यारी।**
रति धृति भी दोनों बेचारी, इसे देख मन में हैं हारी॥

तीसरा पद : **जब यह अद्भुत भाव बताती, वसन इधर से उधर हटाती।**
नाभि-नवल-नीरज दिखलाती, स्तन-तट से पट को खिसकाती॥

अष्टम पद : **कटि इसकी भंग न हो जावे, चलते कहीं न यह गिर जावे।**
इससे त्रिबली-बन्ध बनाया, विधि ने यह चातुर्य्य दिखाया॥

नवम पद : **इसका कुच-नितम्ब-विस्तार, सचमुच हैं अत्यंत अपार।**
दृष्टि युवकजन की जो जाती, थक कर वहीं पड़ी रह जाती॥

अंतिम ११वाँ पद : **इसका चित्र सभी को भाया, रविवर्म्मा ने विशद बनाया।**
कौशल उसमें खूब दिखाया, रुचिर रूप अच्छा उपजाया॥

एकदम साफ-स्वच्छ साधु भाषा में हिंदी के विरुद्ध उठाई गई आपत्ति कि उसमें रस, माधुर्य और उचित अभिव्यक्ति का दम नहीं है, यह कविता अकाट्य उत्तर थी।

यह प्रधानरूप से समस्यापूर्तियों का युग था। स्वतंत्र विषयों पर कविताएँ अत्यल्प होती थीं। सर्वत्र समस्या के ऊपर अपनी काव्य-प्रतिभा को हावी कराने में ही उद्वेगपूर्ण प्रवृत्ति हिलोरें लेती थी।

प्राय: इस तरह की तुकबन्दियों में निरुद्देश्य वाग्विलास की मात्रा अधिक, यथार्थ काव्य-सौंदर्य के स्पष्टीकरण की मात्रा कम रहती थी। अपना पद्य-शौर्य दिखाने में ही सारी शक्ति व्यय की जाती थी। द्विवेदीजी ने धार्मिक, पौराणिक कथा-चित्रों पर कविताएँ रचकर इस प्रेम-प्रधान काव्य-धारा को सामाजिक पृष्ठभूमि की दिशा मोड़ दिया, जिसका शुभ फल आगे ५ वर्ष बाद चलकर परिलक्षित हुआ।

जून अंक में दमयंती और हंस का कलात्मक चित्र है और संपादक महोदय ने उसीपर पद्यबद्ध आख्यायिका प्रेषित की है। इसी अंक में आगे के पृष्ठों में 'क्रोध' पर एक निबंध है। अगस्त के अंक में 'कुमुदसुंदरी' शीर्षक चित्र है। एक स्वस्थ, आभूषण-रहित सुंदरी की प्रतिकृति है। संभवतः रम्भा कविता पर रुचि-वैचित्र्य से प्रेरित प्रतिक्रियाएँ संपादक जी तक पहुँची होंगी, अतः इसी शीर्षक से संपादकजी ने अभिव्यक्ति की सशक्त भावना को एक नई करवट बैठाया है—नख-शिख-वर्णन का पक्ष त्याग कर, एक सुरुचिपूर्ण दृष्टिकोण उपस्थित किया है। सौंदर्य-प्रशस्ति के स्थान पर नैतिक पारिवारिकता का पुट ही प्रमुख बना दिया है—

प्रथम पद : **यह है कुमुदसुन्दरी बाला, है इसका सब ठाठ निराला।**
घर इसका गुजरात देश है, देखो कैसा सुभग वेश है।।

तीसरा पद है : **काम-कामिनी की ले छाया, जिसे चतुर्मुख ने निर्म्माया।**
भूषण उसकी विडम्बना है, महा अनूपम रूप बना है।।

छठा पद है : **इसके अधर देख जब पाते, शुष्क गुलाब फूल हो जाते।**
कोमल इसकी देह-लता है, मूर्तिमती यह सुन्दरता है।।

नवाँ पद है : **घर में सबको भाती है यह, पति का चित्त चुराती है यह।**
सखियों में जब जाती है यह, मधु मीठा टपकाती है यह।।

अंतिम दसवाँ पद है : **यह शिक्षिता गुर्जर नारी, इसको प्रिय है नीली सारी।**
इसकी छवि लोचन-सुखकारी, रविवर्म्मा ने खूब उतारी।।

इस वर्ष संपादक महोदय की चार कविताएँ प्रकाशित हुई हैं, जिनमें से अंतिम कविता सितंबर अंक में मुखपृष्ठ के सामने लाल रंग में मुद्रित 'महाश्वेता' पर है। इसमें पुंडरीक और महाश्वेता की कथा वर्णित करते हुए भावों का क्रम इस तरह शुरू हुआ है—

पहला पद : **यह सुन्दरी कहाँ से आई, सुन्दरता अति अद्भुत पाई।**
सूरत इसकी अति भोली है, और न इसकी हमजोली है।।

अंतिम पद : **चित्र महाश्वेता का सुन्दर, रविवर्म्मा ने विशद बनाकर।**
अतिशय कौशल दिखलाया है, भाव खूब ही बतलाया है।।

इन कविताओं को प्रस्तुत करने का एक उद्देश्य है। 'सरस्वती' मनोरंजक मासिक पत्र से अधिक, पठनीय सामग्री के समुच्चय से भी आगे, संस्था-रूप में प्रतिष्ठित आश्रम का रूप ग्रहण कर रही थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद गांधी जी ने भारतीय राजनीति के आश्रम कायम किए थे। उन आश्रमों में ही भारतीय स्वतंत्रता का युद्ध जय पा सका था। राष्ट्रपिता ने उन आश्रमों में परखे हुए ऐसे युवकों को लिया, जो उनके मनः चक्षुओं का संकेत समझ सकें और उनके मंतव्यों के लिए अपना प्राण होम सकें। बिना आश्रम स्थापित किए, संभवतः भारतीय राजनीति समग्र देश की जनता का हार्दिक बल न पाती। इसी हार्दिक बल को पाने की निष्ठा को एकीभूत किए हुए, द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को साहित्यिक आश्रम का रूप दिया। सद्विचार, लोकहित की भावना, नैतिक दृष्टि, कल्याणकारी प्रेरणाएँ और राष्ट्रभारती को समग्र देश की प्रतिनिधि अभि-व्यक्ति का माध्यम कर देना बिना आश्रम के संभव भी नहीं था। अपने इस साहित्यिक आश्रम में द्विवेदी जी ने साहित्य के अनेक अंगों की नैतिक मर्यादाओं को सुनिश्चित किया। हिंदीकविता भी आश्रमवासिनी बन नए संयम में दीक्षित हुई और सच्चरित्रता एवं राष्ट्रीयता के आदर्श उसके प्रेरक श्वास-प्रश्वास बने।

ऐसे आश्रम के प्रति प्रज्ञाशील युवक मैथिलीशरण ही नहीं, देश में सभी हिंदी लेखक आकर्षित हुए थे। द्विवेदी जी सिर्फ उन्हीं को इस आश्रम की सदस्यता दे रहे थे, जो उनकी कसौटी पर खरे उतरते थे। अंतिम क्षणों तक, २० वर्षों की अवधि में भी, यह सदस्यता बहुत ही सीमित रही।

[१०]

आश्रम के नए सदस्य बाबू मैथिलीशरण गुप्त को प्रारम्भिक दीक्षा

जो युवक झाँसी में उनसे मिलने आया था, उसकी कविता पाकर द्विवेदी जी ने तुरंत ही निर्णय कर लिया। उस पहली, अधकच्ची, नौसिखिए की कविता को परिष्कृत करने के बहाने उन्होंने इस युवक को भी 'सरस्वती' की सदस्यता का अवसर प्रदान किया। और वह कविता 'सरस्वती' में छाप दी। नया अंक नई ही सजधज से निकला। हर अंक पहले से सुंदर सुपाठ्य बनकर निकलता ही था। अंक उदीयमान कवि के पास भी गया। उसमें 'हेमंत'[1] कविता छपी देखकर उसका रोम रोम खिल उठा। जिस 'सरस्वती' में नाम छपा देखने की इतनी साध थी, वह पूरी हुई! लेकिन यह कविता 'मोहिनी' में तो अपने सहज रूप में छपकर आई थी; 'सरस्वती' में उससे दूसरे ही रूप में वह दिखाई पड़ी। उसका अंतरंग भी बदल चुका था। युवक-कवि यह देख कर आनन्दमग्न और आश्चर्य से चकित हो गया। उसने सोचा, "इसमें तो इतना संशोधन और परिवर्धन हुआ कि यह मेरी रचना ही नहीं कही जा सकती। कहाँ वह कंकाल और कहाँ यह मूर्त्ति! वह कितना विकृत और यह कितना परिष्कृत। फिर भी शिल्पी के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा है।"

'हेमन्त' का अंतिम पद्य मूल और संशोधित रूप में इस प्रकार था—

ओढ़ें दुशाले अति उष्ण अंग,	**अच्छे दुशाले, सित, पीत, काले,**
धारें गरू वस्त्र हिये उमंग।	**हैं ओढ़ते जो बहुवित्त वाले।**
तौ भी करें हैं सब लोग सी, सी,	**तौ भी नहीं बन्द अमन्द सी, सी,**
हेमन्त में हाय कंपे बत्तीसी॥	**हेमन्त में है कंपती बत्तीसी॥**

युवक कवि की भावनाभिव्यक्ति अभी कितनी बोदी थी, इस हीनता पर उसका मन लज्जा से भर गया। पर संपादक महोदय ने किस उदार भावना से उस कविता को एकदम 'सरस्वती' में प्रकाशन-योग्य बना दिया था, यह देखकर उसका मस्तक श्रद्धा से झुक गया।

इसी प्रथम श्रद्धा ने युवक-कवि को 'सरस्वती' के आश्रम का सदस्य ही नहीं, अंतेवासी बना लिया।

जब 'सरस्वती' में पहली कविता यों परिष्कृत रूप में छप सकती है, तो दूसरी कविता का भी भाग्य आजमा लिया जाय, इस आशा में दूसरी कविता भी भेज दी गई। इस बार संपादक के प्रति अपनी विनय प्रदर्शित करने का एक उपाय खोजा गया। जून अंक में संपादक महोदय का 'क्रोध' शीर्षक से एक निबंध प्रकाशित हुआ था। इसी क्रोध विषय पर आधारित आपने एक 'क्रोधाष्टक'[2] कविता सेवा में भेज दी। संपादक को यह रचना मिली। उधर वह 'मोहिनी' भी उन्हें देखने को मिली थी। उसमें 'हेमन्त' अपने पूर्व अधकचरे रूप में छपी हुई थी। उन्हें इस तरह इस युवक-कवि की इस आतुरता पर खेद भी हुआ कि जरा धैर्य इसमें नहीं है और संभवतः 'सरस्वती' में छपने से पहले ही यह कविता इसने दूसरे पत्र में भेजने की उतावली दिखाई थी। यह उपद्रव था, पर उनकी गिद्ध दृष्टि ने युवक को परख लिया था। उनकी परख अचूक थी। शांत मन से उन्होंने यत्किंचित क्षुब्ध पत्र लिखा, "हम लोग सिद्ध कवि नहीं। बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं। आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते। कुछ भी लिख कर छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पड़ता है। आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय में लिखा होगा, परंतु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गए। पहला ही पद्य लीजिए—

---

[1] 'पद्य-प्रबंध', पृ० १०५, प्रथम संस्करण १९१२।

२. 'पद्य-प्रबंध', पृ० ८९।

होवे तुरन्त उनकी बलहीन काया । जानें न वे तनिक भी अपना-पराया ।।
होवें विवेक वर बुद्धि विहीन पापी । रे क्रोध, जो जन करें तुझको कदापि ।।

"क्या आप क्रोध को आशीर्वाद दे रहे हैं जो आपने ऐसी क्रियाओं का प्रयोग किया ? इसे हम अवश्य 'सरस्वती' में छापेंगे, परंतु आगे से आप 'सरस्वती' के लिए लिखना चाहें तो इधर-उधर अपनी कविता छपाने का विचार छोड़ दीजिए । जिस कविता को हम चाहें उसे छापेंगे । जिसे न चाहें, उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए, न किसी को दिखाइए । ताले में बंद करके रखिए ।"

अब गुरु-शिष्य का संबंध उभर कर रूप धारण कर रहा था । मैथिलीशरण ने इस आज्ञा को शिरोधार्य किया । यही नहीं, उन्होंने आगे भी अपने कविता-गुरु की सभी आज्ञाएँ शिरोधार्य कीं । "रोष ही मेरे लिए परितोष बन गया । अयोग्य देखकर भी पंडित जी ने मुझे त्यागा नहीं ; सदा के लिए मुझे बोलचाल की भाषा में पद्य रचने का 'गुर' मिल गया ।"

नवम्बर की 'सरस्वती' में यह कविता आई । उसमें कविता के नीचे नोट था कि जून, १६०५, की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'क्रोध' शीर्षक लेख को लक्ष्य करके यह कविता लिखी हुई है । उसमें पहला संशोधित पद इस प्रकार था—

होती तुरन्त उनकी बलहीन काया, वे जानते न कुछ भी अपना पराया ।
होते अचेत, वर-बुद्धि-विहीन पापी, रे क्रोध ! जो जन तुझे करते कदापि ।।

अंतिम संशोधित पद—

देता तुझे जगह जो उर बीच क्रोध ! होता वही तब कुसंगति से अबोध ।
तू ही बता फिर तुझे नर श्रेष्ठ कैसे, त्यागें न भृंग रसहीन प्रसून जैसे ?

उनके अपने निबंध पर यह कविता आई थी, इसमें यह संकेत निहित था कि यह किशोर युवक निष्ठा से उनके पथ-निर्माण में आज्ञाकारी बन कर रहेगा । सभी उदीयमान कवि और साहित्यकार अयोग्य हैं ! लेकिन गुणकी पकड़ अपना मुख्य कार्य कर देती है । मैथिलीशरण ने उनको गुरु-रूप में स्वीकार किया, उन्होंने इस युवक को सदा के लिए अपना लिया । यह जो दूसरी कविता का संशोधन हुआ था, उससे बोलचाल की भाषा में पद्य रचने का गुरु घर बैठे हाथ लग गया । गद्गद् भाव से इसीकी अभिव्यक्ति गुप्त जी ने इन शब्दों में की है, : "मैं जब और कुछ न हो सका, तब मैंने कवि बनने की ठानी । हाय, कहीं सब पोले बांस वेणु बन सकते[1] ! एक जन, जो गधे पर बैठने की भी योग्यता न रखता था, बनाने वाले के बढ़ावे में आकर घोड़े पर चढ़ बैठा । घोड़ा भी ऐसा, जो धरती पर पैर ही न रखना चाहता था । ऐसा आरोही तो उसके लिए अपमान जनक था । परंतु क्या जानें, घोड़े को भी विनोद सूझा और वह उसे एक वर्जित स्थान में ले दौड़ा । वहाँ का प्रहरी सतर्क होकर चिल्लाया, 'सावधन' ! परंतु आरोही सावधान होकर भी क्या करे ? तब प्रहरी ने शस्त्र संभाल कर कहा, 'अच्छा, चला आ ऐसे ही' ! अब आरोही चिल्लाया, 'दुहाई आपकी, मैं स्वयं नहीं आ रहा हूँ, यह दुर्मुख मुझे लिए चला आ रहा है !' प्रहरी भी समझ गया और जिसे अनधिकार प्रवेश करने का दंड देने जा रहा था, उस भाग्यहीन अथवा भाग्यवान की उसे उलटी संभाल करनी पड़ी । कवि तो बनाए नहीं जाते, परंतु कोपभाजन होने योग्य होकर भी, मैं पूज्य द्विवेदी जी महाराज का अनुग्रह-भाजन हो गया । इससे बढ़कर किसी का क्या सौभाग्य होगा ।"

सन् १६०६ आया और अपने साथ 'सरस्वती' में नए दृष्टि-क्षितिज लाया । उसकी सामग्री के चयन का स्तर उन्नत हुआ । इस वर्ष कविताओं की संख्या ३१ हुई, पर इसमें १४ कविताएँ संपादक जी की थीं । और सिर्फ एक कविता मैथिलीशरण की । इस उदीयमान कवि की 'काता और ले भागे' छपाने की आदत पर नियंत्रण कर दिया गया था । पर रचनाओं के अनुपात में उसका स्थान सुरक्षित था । चित्रों पर कविता

[1] रविबाबू की एक उक्ति ; 'सरस्वती' का द्विवेदी-स्मृति-अंक ।

प्रकाशित होने के कारण 'सरस्वती' को लोकप्रियता मिल रही थी। अभी तक कोई कवि ऐसा मिला नहीं था, जो इस कार्य को हाथ में लेकर संपादक जी को भारमुक्त करता। अतः अधिकांश में वे स्वयं ही इसका संचालन कर रहे थे। जनवरी में आर्टप्लेट 'उषा-स्वप्न' है, इसी शीर्षक से उनकी कविता है—

प्रथम पद : **बाणासुर की सुता सयानी, रति भी जिसको देख लजानी।**
रुचिर नाम ऊषा उसका है, विशद वेश-भूषा उसका है।।

दूसरा पद : **जब वह हुई षोड़शी बाला, पड़ा काम से उसका पाला।**
मन्मथ ने सायक सन्धाना, ऊषा उसकी हुई निशाना।।

अंतिम पद : **चित्रकार-वर रविवर्म्मा है, निज गुण में अनन्यकर्म्मा है।**
उसने ऊषा-स्वप्न उतारा, खूब सुयश अपना विस्तारा।।

चित्रकार की प्रशस्ति का यह क्रम आवश्यक था कविता के अंत में। इस बहाने वे अन्य चित्रकारों को भी इसी कोटि के चित्र बनाने का जैसे आग्रह कर रहे थे! अधिक मनपसंद चित्रों की जब सुविधा बढ़ गई, तो उन्होंने गौरी और गंगा-भीष्म जैसे चित्रों पर भी कविताएँ रचीं। इन मर्यादागत, आचारपरक, चित्रात्मक पद्यों के अध्ययन के आधार पर ही मैथिलीशरण की नई कविता जून अंक में प्रकाशित की गई। शीर्षक था: 'प्रणय की महिमा'[1]। इस का पहला पद है—

जो चित्त में प्रणय को रख, सावधान, प्रारंभ कार्य्य करते निज विद्यमान।
पा के सदा सफलता कृत-कार्य-धन्य, होते वही मनुज हैं, न कदापि अन्य।।

नवाँ पद : **है सत्य तो यह कि जो जन देहधारी, आराधते न प्रणय त्रयतापहारी।**
जानो इन्हें न नर, वे पशु अन्नभक्षी, किंवा महा-अधम पक्ष-विहीन पक्षी।।

अंतिम पद : **हारे अनेक सुकवि प्रतिभा-निधान, तो भी न वे कर सके कुछ भी बखान।**
गम्भीर-नीरधि समान महा अथाह, हे मित्र, है प्रणय का महिमा-प्रवाह।।

पांडु और कुरु-पुत्रों की गुरु-परीक्षा के समय अर्जुन ने ही कहा था कि मुझे सिर्फ मछली की आँख दिखाई दे रही है। द्विवेदी जी अब इस उदीयमान कवि की लक्ष्यभेद-निपुणता से संतुष्ट थे। यद्यपि इस कविता में भी संपादक जी ने संशोधन किया था, लेकिन अब वह दोष अधिक महत्त्व का न था।

'सरस्वती' के अक्टूबर अंक में एक नया ही गुल खिला। नागरी प्रचारिणी सभा ने 'सरस्वती' की कविताओं में नई शैली की मधुरिमा को स्वीकार करते हुए उन्हें 'भद्दी कविता' घोषित किया था। द्विवेदी जी ने इस अंक में इस आक्षेप का उत्तर शालीन शब्दों में दिया और वर्ष भर की पूरी सूची-कविताओं के नाम गिनाते हुए प्रश्न किया कि आखिर 'भद्दी कविता' कौन सी है? इसी प्रसंग में 'क्रोधाष्टक' और 'प्रणय की महिमा' इन दोनों कविताओं का हवाला देते हुए आपने इसी लेख में लिखा, "बाबू मैथिलीशरण की भी कविता का यही हाल है। कितने ही लोग उनकी कविता के लिये मुंह बाए रहते हैं।" अभी 'सरस्वती' में सिर्फ तीन कविताएं ही छपी थीं, पर गुप्तजी संपादक के प्रशंसात्मक प्रमाणपत्र के अधिकारी हो चले थे। द्विवेदी जी का यह लेख इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण है कि 'सरस्वती'-आश्रम की सदस्यता के प्रति आप प्रतिक्षण कितने सतर्क रहते थे।

यह सत्य था। गुप्त जी अब अपनी रचनाएँ बिना द्विवेदी जी की आज्ञा के अन्यत्र नहीं भेज सकते थे। नए वर्ष से उनकी रचनाओं को इस प्रशंसनीय अनुपात में 'सरस्वती' में स्थान मिलने लगा—

१९०७ : वर्ष की कुल ४५ कविताओं में से गुप्त जी की ८ कविताएँ।
१९०८ : वर्ष की कुल ३३ कविताओं में से गुप्त जी की १२ कविताएँ।
१९०९ : वर्ष की कुल ३९ कविताओं में से गुप्त जी की २० कविताएँ।

---

[1] पद्य-प्रबंध, पृष्ठ ८७।

१६१० : वर्ष की कुल ३० कविताओं में से गुप्त जी की १७ कविताएँ।
१६११ : वर्ष की कुल ४६ कविताओं में से गुप्त जी की १८ कविताएँ।
१६१२ : वर्ष की कुल ५६ कविताओं में से गुप्त जी की १२ कविताएँ।

और यदि १६२० तक की फाइलों में कविताओं का कुल कलेवर नापने बैठें, तो पता चलता है कि इन १५ वर्षों में गुप्त जी की कविताओं का कलेवर लगभग ६० प्रतिशत है! बल्कि वह कुछ अधिक ही बैठेगा। प्रारंभ से ही द्विवेदी जी ने मैथिलीशरण को बाबू मैथिलीशरण गुप्त लिखा है और वे इसी बाबू शब्द का आदर व्यापक क्षेत्रों में भी पाते चले गए।

१६०७ में नए उत्साह से कविता-गुरु के वरदहस्त का योग पाकर नए स्वतंत्र विषयों पर रचना करते हुए लेखनी को और सिद्ध किया। जनवरी अंक में गुप्त जी के 'ग्रंथ-गुणगान'[1] पद्य प्रकाशित हुए। फरवरी में 'अन्योक्ति-पुष्पावली'[2] (जिनका प्रचलन उन दिनों पर्याप्त था) चातक, काक, पतंग, वसंत, तृण, समुद्र, चंदन, मृग, वायस पर लिखीं। इन्हीं अन्योक्तियों से आपने पद्य-रचना शुरु की थी। उसी रुचि-क्रम को न भूलते हुए, इन पद्यों में आपने अपना संस्कृत का ज्ञान प्रदर्शित कर संपादक जी को मुग्ध कर लिया था—

चातक : सर्वेव हे चातक सुनु! जी से, आशा लगाना घनश्याम ही से।
न भूल जाना यह वंश-सन्था, महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

वायस : घूमा कोकिल-यूथ साथ आजन्म तू काक रे!
छोड़ा किन्तु कटूक्ति को न फिर भी हा हन्त तूने अरे!
किंवा है अपराध-लेश इसमें तेरा नहीं दुर्मते,
या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते।

द्विवेदी जी ने संस्कृत की ही पीठिका पर अपने आश्रम के सब विधि-विधान रचे थे। वे खड़ी बोली को इसी प्राचीन साधुता से लब्ध करने के पक्ष में थे और उस पर अमल कर रहे थे। प्रारंभिक अभ्यास के स्वरूप, उन्होंने मार्च अंक में अपने इस प्रिय कवि का महाकवि कालिदास का वसंत-वर्णन छायानुवाद सहित प्रकाशित किया। 'रघुवंश' ये २१ श्लोक हैं। प्रथम श्लोक का छायानुवाद इस प्रकार है—

जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं, रथयुजा परिवर्तितवाहनः।
दिनमुखानि रविर्हिम निग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत्॥ (रघुवंश ६ : २५)
धनपति के वसने की दिश को जाने के इच्छुक होकर,
हिम-विनाश करने से दिनमुख करते हुए समुज्ज्वल-तर।
लौटाया है वाहन जिनका अरुण सारथी ने पावन,
त्याग दिया जैसे दिनकर ने मलय-महीधर मनभावन।

अंतिम श्लोक है : ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः॥

भावानुवाद यह है : पुष्पायुध-धारी मनसिज की ध्वजारूप, अति परिमल-पूर्ण।
ऋतुपति की सुखमा के मुख का शोभावर्धक सुन्दर चूर्ण।
उपवन-पवन प्रेरणा से उड़ जो ऊंचे छाई स्वच्छन्द,
ऐसी सुमन-धूलि के पीछे गये मिलिन्द-वृन्द सानन्द॥

संभवतः इस छायानुवाद के संबंध में कोई प्रशंसा-पत्र द्विवेदी जी को प्राप्त हुआ। उन्होंने उसकी प्रतिलिपि इस कवि के पास भिजवाई। आपने २३-३-१६०७ को अतिशय विनीत होकर उत्तर दिया, "श्रीमान पंडित जी महाराज प्रणाम। कृपा कार्ड मिला। राय साहब की कृपा के लिये बहुत बहुत धन्यवाद।

---

[1] पद्य-प्रबंध, पृष्ठ ५२।
[2] ये अन्योक्तियां संभवतः प्रारंभिक अभ्यास-रचनाओं के कारण गुप्तजी के किसी ग्रंथ में संकलित नहीं हुई हैं।

दे सज्जनों को कुछ गन्ध दान, मैं निम्ब पाऊं यदि भूरि मान।
तो क्या प्रशंसा इस में मदीय ? बताइए, हे मलयाऽद्वितीय ?

श्रीमान् की आज्ञा मैं कभी न भूलूंगा। 'दीवाने हाली' मंगाया है। चरण सेवक, मैथिलीशरण[1]।"

जहाँ साधक गुरू का चरणसेवक हो गया है, वहाँ दुनिया की प्रशंसा अपने न्यायाधिकरण में उसे अप्रतिभ कर भी कैसे सकती है ?

जून अंक में इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए 'रघुवंश' से महाराज दशरथ के आखेट का छायानुवाद प्रेषित हुआ है। पहला श्लोक यह है—

अथ यथा सुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः ।।

छायानुवाद इस प्रकार है : तदन्तर अद्भुत बलशाली मधु-सूदन-मधु-मदन-समान, (रघु ९।४८)
वर-विलासिनी-बधू-वृन्द के साथी अथवा प्यारे प्राण।
महाराज दशरथ ने करके ऋतुसम्बन्धी भोगविलास,
भूपोचित मृगया विहार की की सुखकर कामना प्रकाश।

अंतिम श्लोक है : तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपंक्ति।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वा तेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ।। (रघु ९।५६)

छायानुवाद इस प्रकार है : शर खींचते हुए तरकस से द्रुत-गामी हयपर आरूढ़,
देख दौड़ते उस नरपति को होकर किंकर्त्तव्य विमूढ़।
पंक्ति भंग कर उस मृग-गण ने व्याकुल सजल दृष्टि द्वारा,
मानों अनिलाकुल कमलों से श्यामल किया विपिन सारा ।।

जुलाई अंक में गतांक की पूर्ति-स्वरूप आगे के अन्य १२ श्लोकों का छायानुवाद और प्रेषित हुआ है। इसी अंक में आपकी 'निदाघ-वर्णन' कविता भी द्रुतविलंबित छंद में है।[2]

इसका प्रथम पद है : अहह ! उष्ण हवा चलने लगी, अवनि आतप से जलने लगी।
गगन में रज का दल छा गया, गत वसन्त हुआ तप आ गया ।।

अंतिम पद है : कर्पूर, चन्दन, सुशीतल, स्वच्छ नीर, भूगर्भगेह, जलयंत्र, तथा उशीर।
चन्द्र-प्रकाश, मृदु भोजन, पुष्पहार, देते समस्त सुख हैं अब ये अपार ।।

अब कवि की आयु २२ वर्ष की हो चली थी। गुरु-कृपा से उसकी दृष्टि उन्मीलित हो गई थी। द्विवेदी जी ने अब उसे भी कलात्मक चित्रों को विषय बनाकर पद्य-रचना करने का अवसर दिया। उनके अन्य प्रिय पात्र यह अवसर प्राप्त कर चुके थे, लेकिन जैसे उन्हें संतोष नहीं मिल रहा था। अगस्त में पद्मावती के राजा के मंत्री भूरिवसु की कन्या मालती और विदर्भाधिपति के मंत्री के पुत्र माधव की कथा से संबद्ध 'मालती महिमा' चित्र प्रकाशित हुआ है। उसी पर बाबू मैथिलीशरण गुप्त की इसी शीर्षक से कविता[1] है। चित्र के नीचे कविता का दूसरा छंद छपा है। कविता के नीचे संदर्भों का स्पष्टीकरण भी दिया गया है।

पहला पद है : है आज तो दिवस कृष्ण-चतुर्दशी का, पूरा विकास फिर क्यों यह है शशी का,
यों चित्त को चकित जो कर डालती है, है मयंक-वदनी यह मालती है।

---

[1] इस पत्र से लेकर सन् १९२२ तक के गुप्तजी के उद्धृत पत्र काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के कला-भवन में रक्षित द्विवेदी जी की पत्र-सामग्री में सुरक्षित हैं।

[2] कविता के नीचे यह टिप्पणी छपी है, "यह कविता गत मास से थी। इससे इसे इस बार देना पड़ा है।" यह सफाई बरसात में गरमी की कविता छापने के एवज में है।

[1] 'कविता-कलाप' नामक हिन्दी के प्रथम लोकप्रिय काव्य-संग्रह में पुनर्मुद्रित।

पांचवाँ पद है : ये केश देखकर इसके मांगवार, हे चित्र दर्शक ! कहो तुमही विचार ।
सिन्दूर-रेख मिस क्या चिकुरान्धकार, जिह्वा ललाट-विधु पै न रहा प्रसार ।

नवाँ पद है : गोरे गुलाब-दल से, अति गोल गोल, कैसे मनोज्ञ युग ये इसके कपोल ।
मानो शरीर-गृह में विधि के बनाये, कन्दर्प के मुकुर मंजुल हैं सुहाये ।।

दसवाँ पद है : भ्रूचाप और दृग-बाण विषाक्त जान, पाता न राहू मन में भय जो महान ।
तो पूर्ण चन्द्र भ्रम से वह दैत्य पापी, क्या मालती-वदन को तजता कदापि ?

अन्तिम पद है : रचकर जिसने यों, मालती का सुचित्र, ललित कर दिया है और भी तच्चरित्र ।
वह नृप रविवर्म्मा, चित्रकार-प्रधान, अहह ! अब नहीं है विश्व में विद्यमान ।

सेप्टेम्बर में 'वर्षा-वर्णन'[1] कविता निकली है । आक्टोबर में कालीमाई का चित्र है और उसी पर 'प्रार्थना-पंचदशी' की प्रौढ़ अभिव्यक्ति से पूर्ण कविता है । इससे संबंधित एक रोचक संस्मरण है[2]—

"साथ ही आप जैसा लिखते हैं, उसे वैसा ही याद रखते हैं और वैसा ही पढ़ते भी हैं । इसकी एक दिल्लगी सुनिए । आपकी एक कविता 'प्रार्थना-पंचदशी' पर द्विवेदी जी महाराज बड़े मुग्ध हुए और उन्होंने आपसे मिलने की इच्छा प्रकट की । दैवयोग से द्विवेदी जी को किसी कार्यवश छतरपुर जाना पड़ा । लौटते समय मार्ग में चिरगांव उतर पड़े । यह आपकी प्रथम और अंतिम चिरगाँव-यात्रा थी । दूसरे दिन गुप्त जी उनको विदा करने स्टेशन तक उनके साथ गए । यहाँ घर पर उसी दिन दोपहर की पहली डाक से 'सरस्वती' आई । वह नौकर के हाथ स्टेशन पर भिजवा दी गई । ट्रेन आने में देर थी । द्विवेदी जी 'सरस्वती' खोल कर उसके पन्ने उलटने लगे । गुप्त जी की वह कविता (प्रार्थना-पंचदशी), जिसे उन्होंने पसंद की थी और जिसके कारण गुप्त जी को उनके आतिथ्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, 'सरस्वती' के उसी अंक में प्रकाशित हुई थी । द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' गुप्त जी के हाथ में दे कर उस कविता को पढ़ कर सुनाने के लिए कहा । गुप्त जी कविता पढ़ने लगे । अचानक द्विवेदी जी एक जगह बोले, 'आप भी खूब हैं । एक तो गलत लिखते हैं, दूसरे यदि कोई उसे सुधार भी दे तो ग़लत पढ़ते भी हैं ।' गुप्त जी ने कविता पर नजर जो डाली, तो जीभ काट कर रह गए । असल बात यह थी कि आपने एक स्थल पर कुछ भूल की थी । द्विवेदी जी ने उस भूल को सुधार कर कविता छपने दी थी । किंतु उन्होंने सुधारा हो या न सुधारा हो, गुप्त जी को तो वही पढ़ना था, जो पहली बार आपकी कलम से निकला था । अपने इस अभ्यास के कारण आपको खासा लज्जित होना पड़ा ।"

यह पहला अवसर है, जब गुप्त जी की यह कविता 'सरस्वती' के प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित होकर समादृत हुई है ।

दिसम्बर में कनेर, केतकी, काक, सिंह, बक, पथिक, कोकिल, कर्म्मनाशा, खजूर, मेघ और घनश्याम जैसे विषयों पर अन्योक्ति-पुष्पावली के क्रम को और आगे बढ़ाया गया है । घनश्याम की अन्योक्ति दर्शनीय है—

फैला भू में समग्र अति ही ग्रीष्म-ताप-प्रताप,
क्या आश्चर्य द्रवित हों हे घनश्याम ! आप ।
ग्रन्थों में हैं यह लिख गये झूठ थोड़े महात्मा—
प्रायः सर्वो भवति करुणा वृत्तिर्द्रान्तरात्मा ।

द्विवेदी जी के एक पत्र का उत्तर देते हुए आपने ६ दिसम्बर को पत्र लिखा, 'श्रीमान् पंडित जी महाराज, प्रणाम । २ दिसम्बर का कृपा कार्ड और 'भीष्म-प्रतिज्ञा' चित्र मिला । बहुत अच्छा, ५० से कम ही पद्य रक्खूंगा । जिन जिन ग्रंथों के श्रीमान् ने नाम लिखे हैं, मैं उन्हें अवश्य पढ़ूंगा । विचार तो ऐसा ही

[1] पद्य-प्रबंध, पृष्ठ १०२ । [2] 'विशाल भारत', वर्ष २, खंड ३, संख्या ४, में सचित्र लेख 'श्री मैथिलीशरण गुप्त' ।

है। फिर रामजी की इच्छा। रामचरितमानस का तो मैं नित्य ही पाठ करता हूँ। गुसांई जी के अन्य ग्रंथ भी ध्यानपूर्वक यदा कदा देखा करूँगा। उन्हें देखना तो मेरा कर्त्तव्य ही है। धर्म्म है।

"चित्र बहुत ही उत्तम है। रंगीन होने पर इसकी शोभा देखते ही बनेगी। श्रीमान् ने अनेक कवियों के रहते ऐसे उत्तम रंगीन चित्र पर मुझसे लिखवाया, यह श्रीमान् की दया और वात्सल्य है। मैं कदापि इस योग्य नहीं हूँ कि ऐसे प्रधान चित्र पर लिखने का साहस कर सकूँ। अस्तु।

"मैं इस कविता को बहुत सोच सोच कर और डर डर कर लिख रहा हूँ।

"मेरा विचार था कि इस कविता के आरंभ में पहले ग्रंथ-गुण-गान की तरह कुछ 'चित्र-चर्चा' करूँ। ८ पद्य बना भी लिए थे। किंतु अब ६-७ पद्य और लिखकर उसे अलग ही सेवा में भेजूंगा।

"शेष कुशल। दया रखिए। योग्य सेवा सदैव लिखने की कृपा करते रहिए। चरणसेवक : मैथिलीशरण गुप्त!" यह पत्र स्पष्ट संकेत दे रहा है कि 'सरस्वती' के आश्रम में यह प्रिय शिष्य गुरु से निर्देश प्राप्त करता हुआ साधना के पथ पर नियमित प्रगति कर रहा था।

किंतु इसी पत्र से एक संकेत यह भी ध्वनि दे ही देता है कि 'सरस्वती' में समय-समय पर सम्पादक महोदय अपनी लेखनी से या अन्य लेखकों की लेखनी से हिन्दी कविता पर जो नए चिंतन का क्रम आगे बढ़ा रहे थे, उसका अध्ययन भी यह युवक कवि कर रहा था। इसी वर्ष जुलाई की संख्या में द्विवेदी जी ने एक लेख 'कवि और कविता' शीर्षक से १० पृष्ठों में दिया है और उसमें उर्दू की स्वाभाविक शैली के उदाहरणों को आदर्श के रूप में लेते हुए हिन्दी-हितैषियों का ध्यान उर्दू के काव्य-साहित्य की ओर आकर्षित किया है और शम्सुल-उल्मा हाली, आज़ाद, ज़काउल्ला, नज़ीरअहमद आदि के काव्य की चर्चा करते हुए आग्रह किया है कि हिन्दी वालों को चाहिए, कि वे इन लोगों की पुस्तकें पढ़ें और वैसी ही पुस्तकें हिंदी में लिखने की कोशिश करें। इस लेख के दौरान में द्विवेदी जी ने कविता-विषयक अपने परिष्कृत विचारों को भी मुखर करते हुए लिखा है, "कविता को सरस, मनोरंजक और हृदयग्राहिणी बनाने के लिए कवि को किन-किन बातों का ख़याल रखना चाहिए, इस बात का विचार आजकल के कितने ही पद्य-रचनाकर्ता बहुत कम करते हैं। उन्होंने कविता लिखना बहुत सहल काम समझ लिया है। यह भ्रम है। कविता एक चीज़ है, तुली हुई शब्द-स्थापना दूसरी चीज़।...यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है, वही कविता कर सकता है।...देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े-बड़े विद्वान अच्छी कविता नहीं कर सकते, उसी पर अपढ़ और कम उम्र लड़के कभी-कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नये तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं कि यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो छन्दः प्रभाकर में दिये गये लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि जिसे वे अब तक कविता कहते आये हैं, वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी कांव कांव। इसी तरह की नुक्ताचीनी से तंग आकर अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सांत्वना की है।...आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अंगरेजी की 'पोयटरी' में और 'वर्स' में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है।... कविता-रूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ फलोंफूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्यों की नई-नई झाँकियाँ आंखों को लुभाती हों। दुनिया में आजकल जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है...।" यह लेख आपने 'मुसद्दस' नामक गज़ब की कविता के कवि हाली के दीवान में प्रकाशित 'मुकद्दमा' नामक लेख के आधार पर लिखा था। इसी लेख के प्रकाश में हम गुप्त जी की आगामी प्रगति का लेखाजोखा केंद्रित बना हुआ देखेंगे।

चित्र-कला का पुनरुज्जीवन और नव-साहित्य का बीजारोपण

१६०८ का नया वर्ष आया और द्विवेदी जी चित्रों के ऊपर पद्य-रचना का भार पूर्ण रूप से गुप्त जी पर छोड़ कर जैसे निश्चिंत हो गए। इस वर्ष की अधिकांश चित्रोपजीवी कविताएँ गुप्त जी की हैं। यह गंभीर दायित्व का काम था। लेकिन इसी दायित्व का वहन करते हुए उन्हें पौराणिक पद्य-प्रबंध लिखने का इप्सित मार्ग भी मिल गया, और जन-जीवन से कविता जो बहुत दूर चली गई थी, उसे निकट लाने का महत्त्व भी प्राप्त हो गया।

जनवरी में 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा'[१] नामक चित्र पर इसी शीर्षक की कविता प्रकाशित हुई। और इसी कविता ने 'जयद्रथ-वध' काव्य का भी लक्षण-सम्पन्न बीज बो दिया। इस समय तक शब्द-सौष्ठव, भाव-तरलता और कथा-प्रवणता गुप्तजी के काव्य में प्रचुर रूप से प्रौढ़ बन चुकी थी। इसका अंतिम पद कथा-क्रम के विकास के प्रति दृढ़ आत्मविश्वास का परिचायक है। यह पहली कविता है जो हरिगीतिका छंद में लिखी गई है। इस छंद ने गुप्तजी को अपनी सिद्धि तत्क्षण दी और वे अग्रणी कोटि की पंक्ति में मान्य हो गए। यह छंद इन्हीं कारणों से गुप्तजी का प्रधान काव्य-अस्त्र बन गया—

दूसरा पद : **यह देखकर इस चित्र में कैसा मनोहर भाव है,**
किस चित्त पर पड़ता नहीं इसका विचित्र प्रभाव है ?
फिर मित्रवर ! संक्षेप में इसकी कथा सुन लीजिए,
निज शौर्य, साहस, धैर्य, दृढ़ता याद उससे कीजिए।

अंतिम पद : **इस समय का ही चित्र है यह ध्यान इस पर दीजिए,**
इसका प्रकाशन सफलकर आत्मस्मरण कर लीजिए।
अभिमन्यु का यह चरित अनुकरणीय प्रायः है सभी।
जो हो सका तो युद्ध भी इसका सुनाऊँगा कभी ।।

फरवरी में मदभरे नयनों की एक मलाबारी युवति का चित्र 'सुकेशी' नाम से छपा है और इसी पर इसी शीर्षक से गुप्तजी की कविता है। सौंदर्य के निरूपण में शब्दों के संयम और अर्थ के आनंद की पूरी छबि इस कविता में है। मार्च में 'अर्जुन-सुभद्रा' की कविता और चित्र भी है। एप्रिल में अर्जुन और उर्वशी का चित्र और कविता है। फरवरी, मार्च व एप्रिल की इन तीनों कविताओं का समावेश यथास्थान 'कविता-कलाप' में भी हुआ। इन रचनाओं से स्पष्ट होता था कि अब कवि स्वतंत्र विषयों पर पद्य-रचना न कर, सीधे पौराणिक विषयों पर अधिक सफलता से बड़े पद्य-प्रबंध प्रस्तुत करेगा। मई में 'ग्रीष्मागमन'[२] जैसे विषय को फिर, लेकिन अच्छी तरह से दुहराया गया है। जून में कवि अपनी पूरी सामर्थ्य और व्यंग्योक्ति का बल दिखाने के लिए 'पंचपुकार का संहार' शीर्षक कविता लेकर आया है। इससे पहले के अंक में पं० नाथूराम शंकर जी की 'पंचपुकार' प्रकाशित हुई थी। शंकर जी 'सरस्वती' के आदरणीय सदस्य थे और आपका स्वर आपकी ही शैली में उग्र रहा करता था। आपकी यह कविता अपने युग की दुखद कहानी आज भी आँखों के आगे सजीव कर देती है। पहले हम इसी के कुछ चुने हुए पदों का रसास्वादन करें—

पंचशरछन्न पुरछन्न पिता की पंचानन पशुराज।
पांचों पावि नाम शंकर के पंचनाद इव आज ।।
अखाड़े में उखाड़ूंगा।
किसी से कभी न हारूंगा ।।१

---

[१] 'जयद्रथ-वध' में नत्थी, 'कविता-कलाप' में भी पुनर्मुद्रित हुई। [२] 'पद्य-प्रबंध', पृष्ठ ६६।

फागुन है होली का पाऊँ ऐप्रिल पूरा फूल।
दोनों ओर बुलसी मारूँ मेरा यही उसूल॥
तीसरी आंख उघारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा॥३॥

साड़ी फाड़ कंचुकी काढ़ी पहना लाया गौन।
लेडी पंचकुलांग परी को अब न कहेगा कौन॥
प्रिया के पाय पखारूंगा।
किसी से कभी न हारूंगा॥५॥

सुन सुन मेरी विकट बोलियां चौंक पड़ें चंडूल।
पर जो हिन्दू बात कहेगा हिन्दी के प्रतिकूल॥
उसे घर घर धिक्कारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा॥६॥

इंगलिश डाग, नागरी गीदड़, उरदू दुम्बा तीन।
न्यारे न्यारे पत्र निकालूं सबके ग्राहक छीन॥
केसरी सा धदकारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा॥७॥

जिस मेले में मतवालों का ऊलेगा उन्माद।
नोटिस पाते ही उस दल में करने को बकवाद॥
बिना पाथेय पधारूंगा।
किसी से कभी न हारूँगा॥६॥

भूला गिरिजा गिरिजापति को गिरजा के गुण गाय।
जान गया महिमा मसीह की जीवन का फल पाय॥
अबोधों को उद्धारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा॥१२॥

यार बनूंगा अंगरेजों का राजभक्ति उर धार।
घेर घेर विद्रोही दल को मन्मथ के अनुसार॥
प्रसूनों से संहारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा॥१४॥

गोरी गोरों के खातिर में खरच करूँगा दाम।
पुच्छल तारा बन जावेगा मेरा जुगनू नाम॥
खिताबों को फटकारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा॥१५॥

सुख से जीवन भर भोगूंगा भांति भांति के भोग।
भिखमंगे महंगी के मारें मरें अभागे लोग॥
न उनकी ओर निहारूंगा।
किसी से कभी न हारूँगा॥१७॥

जो आगे अब से भी दूना दारुण पड़े दुकाल।
तो जड़ जम जावेगी मेरी थल के तोंद विशाल॥
फूल फल कर बल धारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा॥१८॥

तीन रुपे दो आने से कम कभी न लूंगा ब्याज।
धनकुबेर की पदवी पाऊँ बढ़े ब्याज पै ब्याज।।
गरीबों के घर जारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।।१९।।

पढ़ बन्दे मातरम् करेंगे सौदा सब दल्लाल।
दूने दामों पर बेचूंगा निरा विदेशी माल।।
स्वदेशी जाल पसारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।।२०।।

मदिरा ताड़ी भंग कसूमा आसव सर्व समान।
इन पांचों मादक द्रव्यों का कर पंचामृत पान।।
नशीली बात विचारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।।२३।।

जिसमें वीरों के वैभव का नहीं खुलेगा खोज।
ऐसा जहां मिलेगा मुझको भतखौओं का भोज।।
वहां मुख भी न जुठारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।।२४।।

फाड़ दिया जिसको ढब ढब ने धन्वन्तरि का ढोल।
उस मदमाती डाक्टरी पर खोल धर्म की पोल।।
पड़ा जीवन धन वारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।।२५।।

वैतरणी का ठेका लूंगा देकर दाढ़ी मूंछ।
धरधर वाटर वाइसकिल पर बिना गाय की पूंछ।।
मरों को पार उतारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।।२६।।

पंचायत में पास करूँगा बड़े बड़े प्रस्ताव।
पर उनके पूरा करने का लूंगा नहीं सबाब।।
गपोड़े मार बगारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।।२९।।

अक्षतयोनि सिद्ध होने पर नहीं रुकेगी राह।
एक एक रंडा के होंगे ग्यारह ग्यारह ब्याह।।
पके पेठे न बनारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।।३०।।

नई चाल के गुरुकुल खोलूं फांस फीस के फन्द।
देख देख दाता पावेंगे दिव्य दर्शनानन्द।।
पुरानी रीति बिसारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।।३१।।

गरजूंगा जातीय सभा में गरमी नरमी पाय।
सूरत नहीं बिगड़ने दूंगा लात लीतरे खाय।।
लीडरों को ललकारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।।३३।।

बैठी चौमुख बाबा की जो बनी रही अनुकूल।
तो मैं अगले वर्ष बनूंगा कविकुल-विपिन-बबूल ।।
कटीला पाल पसारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा ।।३४।।

आठ बटा नौ पूरी होली पंचो पंचपुकार।
जो कोई लिक्खाड़ लिखेगा इसका उपसंहार।।
उसे दिलबोर बुलाऊँगा।
किसी से कभी न हारूँगा ।।३५।।

'सरस्वती' का युगीन धर्म अपनी सौम्यता में भी छिपे रूप से कितना उग्र था, यह कविता उसका श्रेष्ठ उदाहरण है। समाज और राष्ट्र के दिग्गज कर्णधारों के प्रति कितनी कठोर भर्त्सना एक कवि दे सकता है, उसकी रक्षा केवल द्विवेदी जी ही कर सकते थे अपने शांत व्यक्तित्व से। हिंदी साहित्य में इस प्रकार की फटकार के काव्यमय उपहार (!) बहुत ही कम हैं। इस कविता के प्रकाशन की पृष्ठभूमि में वास्तविक रहस्य वह सत्य है, जो द्विवेदी जी की रगों में उबलते खून के साथ निमज्जित था!! चिरगाँव में श्री सियाराम-शरण जी ुप्त ने हम से कहा कि द्विवेदी जी १९०६ से ही, देश में लोकमान्य तिलक के लोकप्रिय होने के क्षणों से, चुपचाप क्रांतिवाहक बनने का व्रत ले चुके थे और उसी के प्रथम चरण की पूर्ति के निमित्त (स्व०) माधव-राव जी सप्रे के तात्कालिक 'हिन्दी ग्रंथमाला' आयोजन में उन्होंने एक गुमनाम कविकी हैसियत से 'देशोपालम्भ' नाम की कविता छपाई थी। यह कविता द्विवेदी-युग के उग्र भारतीयवाद का सर्वोत्कृष्ट प्रमाणपत्र है। दुख का विषय है कि संयुक्त प्रदेश सरकार ने १९५७ में जो देशप्रेम की कविताओं का संग्रह प्रकाशित किया, उसमें इस कविता को स्थान देते हुए इसके कवि का नाम श्री माधवराव सप्रे लिखा है। यह सर्वथा गलत है।

यद्यपि 'सरस्वती' के संचालक तात्कालिक शासन की आलोचना करने के पक्ष में न थे और सरकारी नीतियों के समर्थक थे, द्विवेदी जी सरस्वती-संचालकों की इस नीति में स्थूल रूप से विश्वास प्रकट करते हुए भी, यह जानते थे कि हिंदी भाषा का जन्म दुखी जीवन और प्रामाणिक दुखवाद की तीव्रता को मौन रखने के लिए नहीं हुआ था। यही कारण है कि बहुत ही संयमित भाव से द्विवेदी जी ने सामयिक उच्छ्वासित आवेगों को सरल ध्वनि के साथ समय-समय पर अपने पत्र में स्थान दिया और आवश्यकता पड़ने पर राज-नीतिक ध्वनि से इनकी रक्षा करते हुए, इन्हें उग्र बनाने में भी कोई कसर न रखी। १९०६ के आसपास ही उन्होंने मिलकी 'लिबर्टी' का जो हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया था, वह उनकी हृदयाग्निका स्फुलिंग मात्र था।

'पंचपुकार' के अंतिम पद में 'पंचपुकारका उपसंहार' लिखनेका आमंत्रण प्रेषित था। गुप्तजीने तत्काल ही 'पंचपुकार का उपसंहार' लिखा और आगामी मास ही वह 'सरस्वती' में प्रकाशित हो गया। यह कविता से अधिक, यथातृप्ति मदनडही प्रमदा-रूप कलुषित सामाजिकता के प्रति गेय फटकार भर थी, पर इन भावों में कुछ अन्य अंकुर भी थे, जो १९१२ में उद्बोधनात्मक लय में विकसित हुए। शंकर जी की कविता जहाँ अनास्था व अधीरता को व्याधि-ग्रस्त मान कर चली थी, वहाँ गुप्त जी ने अपने उपसंहार में (इस समय अन्य कवियोंसे गुप्तजी आयुमें सबसे छोटे थे) शंकरजी का भाव-शिष्यत्व ग्रहण न करते हुए, जातीय जीवनमें मानस-चांचल्यके कारण कौनसे अभाव कष्टदायक हो गए हैं, उन्हींके प्रति अपनी चेतनाका दृष्टिकोण प्रकट कर दिया है। गुप्तजी का यही दृष्टिकोण गीति-झंकारोंके रूपमें आगेके वर्षों में सुस्पष्ट होता गया।

यहाँ हम उन पंक्तियों को लें, जो आज भी इस कविता में पठनीय बनी हुई हैं—

निराकार ईश्वर को भज कर तज साकार-विकार।
'पञ्च-पुकार' नाम कविता का लिख यह उपसंहार।।
यार, यश अब विस्तारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा" ।।१।।

होगा लिखा वेद में भी जो मेरे मन-प्रतिकूल।
तो उसको प्रक्षिप्त बताकर कह दूंगा निर्मूल ।।
भ्रम न अपना स्वीकारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा" ।।२।।

केवल हठधर्म्मी के बल से कर परास्त पर-पक्ष।
विद्या वारिधि वाचस्पति को सन्तत सर्व-समक्ष ।।
दक्ष बन कर फटकारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा" ।।३।।

होकर पुरातत्व दर्शीवर ईसा को ध्रुव मान।
सिद्ध पूर्वजों को करने में निपट अजान किसान ।।
ज्ञान विज्ञान बघारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा" ।।४।।

चाहे धर्म्म रहे या जावे चाहे तजे समाज।
सुख से सदा करूँगा जग में मनचीते सब काज ।।
लाज पर गाज प्रहारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा" ।।५।।

देश दशा उन्नत करने की पूर्ण करूँगा टेक।
द्विज होकर भी सबका खाना खाऊँ विना विवेक ।।
एकता यों सञ्चारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा" ।।६।।

दे पूरा स्वातन्त्र्य प्रिया को पूर्ण करूँगा इष्ट।
राज-पथों के पथिक सुनें सब उसका भाषण मिष्ट ।।
शिष्ट बन न्याय उबारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा" ।।७।।

जीते जी गन्दी हिन्दी का नहीं बनूंगा भक्त।
श्वेताङ्गी इँगलिश पर होकर तन मन से आसक्त ।।
फ़क्त 'टू-टर' उच्चारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा" ।।८।।

वीणा-धारिणि की भी रचना 'भद्दी' रही मान।
ऐसा अद्भुत प्रकट करूँगा समालोचना-ज्ञान ।।
मान मम्मट का मारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा" ।।९।।

जिन्दा को मुर्दा बतलाऊँ दिन को रात यथार्थ।
फिर असत्य को सत्य बताना है क्या कठिन पदार्थ ।।
स्वार्थ की गैल बुहारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा" ।।१०।।

चाहे कविता का लक्षण भी पूरा सकूँ न जान।
पर अनुवाद महाकाव्यों का कर दूंगा हठ ठान ।।
मान का ध्यान बिसारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा" ।।११।।

किसी अन्य भाषा-बल से बन कवि-कुल-कमलादित्य।
ऐयारी, तिलस्म, ऐयाशी ठूंस भरूं साहित्य।।
नित्य नव ग्रन्थ प्रचारूंगा।
"किसी से कभी न हारूंगा" ।।१२।।

राजा और प्रजा दोनों में लूंगा सुयश महान।
हाथ जोड़ भिक्षा मागूंगा तज कर्त्तव्य प्रधान।।
शान शाही विस्तारूंगा।
"किसी से कभी न हारूंगा" ।।१३।।

हां में हां इस तरह मिलाऊं गर पाऊं कुछ माल।
अनुपम इन्द्र-विपिन को कहदूं कष्टकारि-कुल पाल।।
काल की चाल निहारूंगा।
"किसी से कभी न हारूंगा" ।।१४।।

विज्ञापन बाज़ी का पूरा पकड़ चुका हूं छोर।
तद्द्वारा छल बल कौशल से चन्दा खूब बटोर।।
घोर निज दुःख निवारूंगा।
"किसी से कभी न हारूंगा" ।।१५।।

खाना पीना मौज उड़ाना सोना पैर पसार।
इतनी ही बातें दुनियां में हैं जीवन का सार।।
भार सब और विचारूंगा।
"किसी से कभी न हारूंगा" ।।१६।।

बूढ़े होने पर भी मेरा तरुण रहेगा चित्त।
मरते दम तक नई बधू बहु ब्याहूं पुत्र निमित्त।।
बाल बूढ़े शृङ्गारूंगा।
"किसी से कभी न हारूंगा" ।।१७।।

आतिशबाजी नाच रङ्ग में दौलत उड़े तमाम।
किन्तु किसी भी पुण्य-कार्य में दूंगा नहीं छदाम।।
काम कुटिलों के सारूंगा।
"किसी से कभी न हारूंगा" ।।१८।।

पौराणिक इतिहास गपोड़े फाड़ करूंगा दूर।
तान सुनूंगा वार वधू की होकर मद में चूर।
हूर को उस पर वारूंगा।
"किसी से कभी न हारूंगा" ।।१९।।

मन्दिर में हरि के दर्शन को मेरी जाय बलाय।
प्रतिमा परकीया प्यारी की पूजूंगा मन लाय।।
पैर पर मस्तक धारूंगा।
"किसी से कभी न हारूंगा" ।।२०।।

नरक स्वर्ग दोनों कल्पित हैं नहीं वस्तु कुछ धर्म्म।
करना सदा चाहिए निर्भय मनोभीष्ट सब कर्म्म।।
मर्म्म अब यह निर्धारूंगा।
"किसी से कभी न हारूंगा" ।।२१।।

पूरी पञ्च-पुकार सुनाकर दिखला कर निज नीति।
कलि के भक्तों को दे दे कर यह शिक्षा सप्रीति।।
रीति प्राचीन पछारूँगा।
"किसी से कभी न हारूँगा"।।२२।।

जुलाई में भीष्म-प्रतिज्ञा[1], सितंबर में द्रौपदी-हरण[2] और राधा-कृष्ण की आँख-मिचौनी[3] कविताएँ संबद्ध चित्रों पर प्रकाशित हैं। इन चित्रों के नीचे इस कविता की परिचयात्मक दो पंक्तियाँ हैं। तीसरे चित्र के नीचे ये पंक्तियाँ हैं —

हैं मूदते नयन ये हरि राधिका के, बिम्बधारी विधुमुखी सुखसाधिका के।

यह विषय व्रज-विषयक था, अतएव व्रजभाषा के पुराने संस्कार अपनी गंध यहाँ दे ही गए हैं। इस कविता का चौथा पद है :

उन्नतपने से किया अंचल जिन्होंने दूर, धारण किये जो महा अनुपम ओज हैं।
कन्दुक कलश और कुंजरों के कुम्भ तथा लज्जित विलोक जिन्हें सम्पुट सरोज हैं।।
मिलती है एक भी न उपमा अनुकूल कहीं, हार रहे यद्यपि कवीन्द्र कर खोज हैं।
शोभित अतीव कंचुकी में चन्द्रहारयुक्त, राधा के उरोजों से ये राधा के उरोज हैं।।

नवम्बर, १९०८, में 'सरस्वती' में प्रकाशित कलात्मक चित्रों की प्रदर्शिका-कविताओं के कवि का चित्र इस संपादकीय टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ है, "जिन बाबू मैथिलीशरण गुप्त की हृदयहारिणी कवितायें सरस्वती के कवितालोलुप पाठक बरसों से पढ़ते आते हैं, उनका चित्रगत दर्शन करने की वे अवश्य ही इच्छा रखते होंगे। अतएंव इस संख्या में हम 'गुप्त' गुप्त जी का चित्र प्रकाशित करते हैं। गुप्त महाशय के विषय में हम यह भी लिख देना चाहते हैं कि हिंदी के अच्छे कवि होने के सिवा आप संस्कृत में भी अच्छा दखल रखते हैं और फोटोग्राफी भी जानते हैं।"

अंतिम तीन मास अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर में क्रमशः व्यास-स्तवन[4], शकुंतला-पत्रलेखन[5] और 'केशों की कथा' कविताएँ हैं, जो तीन चित्रों की परिचायक हैं। शकुंतला-विषयक रचना से आगे चलकर स्वतंत्र प्रबंधकाव्य की आयोजना हुई। 'केशों की कथा' पौराणिक कथानकों के क्रम में ही एक कड़ी थी। लेकिन इस कविता ने मैथिलीशरण की प्रथम उल्लेखनीय लोकप्रियता की जड़ जमाई। पर उसके प्रति आप विनम्र और तटस्थ ही रहे। पौ० कृ० १३, १९६५ (२१-१२-१९०८) को आपने द्विवेदी जी के पत्र का उत्तर देते हुए इस संबंध में लिखा, "श्रीमान् पंडित जी महाराज, प्रणाम। १५-१२-०८ का कृपा कार्ड तथा १७-१२-०८ का कृपा कार्ड और उसी के साथ श्रीयुक्त बार्हस्पत्यजी महोदय का अंग्रेजी पत्र पहुँचा। एक अनिवार्य्य कारण से उत्तर लिखने में २ दिन का विलम्ब हुआ। उसके लिए क्षमा का पार्थी हूँ।

"श्रीमान् बार्हस्पत्यजी महोदय को 'केशों की कथा' कविता बहुत पसंद आई यह मेरा सौभाग्य है। ऐसे प्रकांड पंडित ने उसे पढ़कर उसके विषय में पत्र लिखने की कृपा की मुझ जैसे अज्ञजन के लिए यह विलक्षण बात हुई। असामान्य घटना हुई। इसके संबंध में श्रीमान् का कृपा पत्र पढ़कर मेरे हृदय में न जाने क्या क्या भाव उदित हुए। एक के बाद एक दूसरी इस प्रकार तरंगों के समान जितनी बातें मेरे मन में पैदा हुईं उनके लिखने में सर्वथा असमर्थ हूँ। बार्हस्पत्यजी की इस कृपा और उदारता के लिए मैं उनसे किन शब्दों में क्या निवेदन करूँ, यही ज्ञात नहीं होता। श्रीमान् ही मेरी ओर से, इस विषय में जो कुछ लिखना योग्य हो, उनको लिखने की कृपा करें।

---

[1] कविता-कलाप में पुनर्मुद्रित। संपादक की ओर से चित्र-दर्शन स्तंभ में लिखा गया है, "इस चित्र-द्वय पर बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने एक मनोहारिणी कविता लिखी है, वह अन्यत्र प्रकाशित की जाती है।"
[2] कविता-कलाप। [3] कविता-कलाप। [4] कविता-कलाप, मंगलघट। [5] कविता-कलाप, शकुन्तला।
[6] कविता कलाप; मंगलघट, पृष्ठ ११३; और अब 'जयभारत' में नत्थी।

"मेरी कविता की यह प्रशंसा सुनकर श्रीमान् को जो परमानंद हुआ है, वह होना ही चाहिए। अपने एक कृपा शिष्य को उसके काम में सफलता प्राप्त होती देखकर गुरु को ऐसा आनंद होता ही है। यह कोई नई बात नहीं। नई बात तो मेरे लिए है कि अनायास ही मैं अपने गुरु को प्रसन्न कर सका। जिस दिन श्रीमान् इस कविता को पढ़कर बहुत रोये थे मैं उसी दिन जान गया था कि इस कविता में कुछ घुणाक्षर वाला न्याय हो गया।

" 'अकेली' के स्थान में निरी यह कहना उनकी विशेष कृपा का द्योतक है। उनका पत्र मैं इसी पत्र के साथ पीछे लौटाता हूँ। लीजिए।

"मिलने पर 'संपत्ति-शास्त्र' को मैं सरस्वती की भेंट समझ कर तो नहीं, किंतु श्रीमान् का पुरस्कार समझ कर भक्तिपूर्वक रक्षित रक्खूंगा। उसे भेजने के लिए श्रीमान् ने इंडियन प्रेस को लिखने का कष्ट नाहक उठाया मैं तो उसे उसी समय मंगवा चुका था जब उसका प्रथम विज्ञापन सरस्वती में निकला था।

"तीन चार दिन से मैं कुछ नहीं लिखने पाया हूँ। अब शीघ्र ही 'कीचक की नीचता' वाली कविता पूर्ण करके सेवा में प्रेषित करूँगा। शेष कुशल। दया रखिए। चरणसेवक, मैथिलीशरण।"

अपने गुरु के प्रति एकनिष्ठ भक्ति का प्रतीक यह पत्र 'सरस्वती' के आश्रम की बढ़ती हुई जनप्रियता पर एक ऐसे कोण से मार्मिक प्रकाश डालता है, जहाँ उसके शिष्यगण हिंदी की सर्वतोमुखी उन्नति में बस प्राणपन से दत्तचित्त थे, और थे व्यर्थ की लिप्साओं से दूर, तन-मन-धन तक अर्पित किए हुए। हिंदी का यह युग उस चिंतनीय अवस्था से गुजर रहा था, जब हिंदी का पत्र पढ़ना आवश्यक नहीं समझा जाता था। उसके लिए पैसे खर्च करना मन में विरसता उपजाता था। हिंदी के नाम पर व्यय करना ही एक प्रकार से अशोभन था ! ऐसी स्थिति में गुप्त जी 'सरस्वती' में कविताएँ भी लिखते थे, पर उसे खरीद कर ही पढ़ते थे ; हिंदी साहित्य के इतिहास में ऐसी भक्तिपूर्ण साधना अविस्मरणीय ही रहेगी।

किंतु प्रयाग (दारागंज) से प्रकाशित 'श्रीयादवेंद्र'[1] के वर्ष १, अंक २, में जो कविता (फाल्गुण, १९६५) 'प्रार्थना-पंचक' नाम से प्रकाशित हुई है, वह सर्वथा दूसरा ही स्वर, उसी १९०४ : ५ के ढर्रे पर, अलाप रही है। आश्चर्य है, द्विवेदी जी की नजर इस पर क्यों नहीं पड़ी। अतः इसे उद्धृत किया जाना आवश्यक है—

सहत हैं नित दुःख वियोग को, बन गयो गृह भारत रोग को।
सुख-विहीन अधोमुख है परो, अजहुँ दीनदयालु! दया करो।
परत काल अहो! प्रति वर्ष है, न कहुं दीखत रंचक हर्ष है।
जित लखो तित दीन भरें गरो, अजहुँ दीनयालु! दया करो।

---

[1] यह पत्र श्री विनोद शर्मा अभिनंदन-ग्रंथ के संपादक श्री श्रीनारायणजी चतुर्वेदी के पिता श्री द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी का था और इसका मुख्य उद्देश्य सनातन धर्म का प्रचार था, तथापि साहित्य-संबंधी लेख भी इसमें रहते थे। पोस्ट देवरिया (गाजीपुर) से प्रकाशित होता था। श्री द्वारकाप्रसाद जी चतुर्वेदी ने इससे पहले 'राघवेन्द्र' (सरस्वती, भाग ८, संख्या ५, पृष्ठ १७२, में भी इस की चर्चा है) नामक पत्र निकाला था, जिसमें गुप्तजी ने 'राघवेन्द्र-स्तव' पद्य प्रेषित किया था। यह एक बड़ी कविता है और 'पद्य-प्रबंध' (द्वितीय में संस्करण) में प्रथम कविता के रूप में शामिल की गई है। प्रस्तुत कविता गुप्तजी की उस प्रथम अप्रकाशित कविता-पुस्तक की सूचना देती है, जो 'भारत-दुर्दशा' नाम से तैयार की गई थी। यह उसी का अंश थी। संभवतः यह अप्रकाशित कृति अब भी चिरगाँव में सुरक्षित रखी है।

श्रीयादवेन्द्रके इसी अंकमें पत्रके संपादकने बाबू श्यामसुंदरदास द्वारा लिखित 'कोविद रत्नमाला' के प्रथम भाग में बाबू मैथिलीशरण गुप्त को कवियों की सूची में शामिल न किए जाने पर आपत्ति प्रकट की है। गुप्त जी ने, हमारी जिज्ञासा का समाधान करते हुए, हमारे चिरगाँव के तृतीय प्रवास में, १ अक्टूबर, १९५७, को बतलाया कि बाबू श्यामसुंदरदास जी ने हमसे इस कृति के दूसरे भाग के लिए एक चीज माँगी थी, पर हमने उन्हें कोई चीज नहीं भेजी थी। इस प्रकार १९०७ से पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने 'सभा की सभ्यता' लेख लिखकर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के कार्यों में अपनी अरुचि की जिस प्रकार घोषणा की थी, उसके बाद उनके शिष्य गुप्तजी के लिए कैसे सह्य हो सकता था कि वे श्यामसुंदरदासजी के कार्यों में भागीदार होते ?

सुन परें न कबहुं शुभ कार्य हैं, बन रहे नित आर्य्य अनार्य्य हैं।
सबनके हिय स्वार्थ रहै भरो, अजहुं दीनदयालु ! दया करो ।।
अब रही न यहां वह धीरता, न वह विश्व उजागर वीरता।
तकत हाय ! सबै पर-आसरो, अजहुं दीनदयालु ! दया करो ।।
बसत हो सुख रूप झरे जहां, अब छयो दुख ही दुख है तहां।
रह चिन्तित चित्त बिथा भरो, अजहुं दीनदयालु ! दया करो ।।

१६०६ अपनी नव शुभकामनाएँ लेकर आया। 'सरस्वती' की ग्राहक-संख्या में आशातीत वृद्धि हो रही थी। आज तक कोई भी हिंदी पत्र इतना नहीं बिक सका था। चित्रों की काव्यमय अभिव्यक्ति देकर चित्रकला का पुनरुज्जीवन और निरंतर नवसाहित्य का बीजारोपण पूरी गति से हो रहा था। द्विवेदी जी के इस आश्रम पर समस्त साहित्यप्रेमियों और विद्वानों की दृष्टि लग गई थी। उसके संपादकीय सरकारी क्षेत्रों में आदर का स्थान ले रहे थे। अतः उसके सदस्यों पर और भी बड़ा दायित्व आ गया था, जिसे वे पूरे स्वाध्याय से पूरा करने में रत थे। देश-प्रेम से लेकर सांस्कृतिक विषयों तक, सब पर प्रकाश पड़ रहा था। इस वर्ष बाबू मैथिलीशरण ने पौराणिक गाथावली के साथ ऐतिहासिक कथानकों को भी पद्यबद्ध किया। उनके पद्य अब एक इस कारण से भी प्रतिष्ठित हो रहे थे, क्योंकि जिन चित्रों पर वे आधारित होते थे, वे तिरंगी छवि से युक्त होते थे। जनवरी मास के संपादकीय में सब पाठकों की दृष्टि बाबू मैथिलीशरण गुप्त पर लिखी गई आलोचना पर प्रेषित एक टिप्पणी पर केन्द्रित हो गई। यह टिप्पणी ११ वीं है। शीर्षक है 'केशों की कथा की आलोचना।' द्विवेदी जी ने लिखा, "दिसम्बर की संख्या (१६०८) में 'केशों की कथा' नामक रंगीन चित्र को लाला छोटेलाल जी साहब, बी० ए० (एक्ज़ी-क्यूटिव एंजीनियर, संयुक्त प्रांत) ने बहुत पसंद किया है। आप संस्कृत और फारसी के भी उद्‌भट विद्वान हैं और काव्य, चित्र-विद्या तथा पुरातत्व-संबंधी विषयों के भी बहुत ही अच्छे ज्ञाता हैं। आप लिखते हैं कि इस चित्र के द्वारा चित्रकार ने जो मर्मस्पर्शी भाव व्यक्त किया है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। इस चित्र पर बाबू मैथिलीशरण गुप्त की जो कविता प्रकाशित हुई है, उसे भी आप उत्कृष्ट कविता का एक बहुत ही अच्छा नमूना समझते हैं। आपकी सम्मति है, यह कविता बेहद कारुणिक है। आज तक गुप्त महाशय की जितनी कविताएँ सरस्वती में निकली हैं यह कविता उन सबसे बढ़कर है। गुप्त जी चाहे जितना प्रयत्न करें, अब इससे अच्छी कविता उनकी लेखनी से निकलने की नहीं। अतएव यदि वे व्याज-स्तुति इसे न समझें तो आज से कविता लिखना बन्द कर दें। सरस्वती और गुप्तजी दोनों के लिये यह बड़े गर्व की बात है। सरस्वती में प्रकाशित कविता के निन्दकों की कमी नहीं। खैर इतनी ही है कि लाला छोटेलाल जी जैसे विद्वान उसकी प्रशंसा करते हैं। आशा है, कोई समय आवेगा जब कविता प्रेमीजन कविता के गुण-दोषों का उचित विवेचन करके भली-बुरी कविता का भेद अच्छी तरह जान सकेंगे। श्रीयुत लाला छोटेलालजी से हमारी प्रार्थना है कि गुप्तजी को वे आशीर्वाद दें जिसके बल से गुप्तजी 'केशों की कथा' से भी उत्तमतर कविता आगे लिख सकें। इस कविता के अंतिम पद के अंतिम चरण में जो 'अकेली' शब्द है उसकी जगह पर आप 'निरी' यह अधिक युक्तिसंगत समझते हैं। आपकी इस सम्मति को हम मानते हैं। आशा है, गुप्तजी भी इसे धन्यवादपूर्वक स्वीकार करेंगे।"

जनवरी में 'रण-निमंत्रण'[1] और फरवरी में 'द्रौपदी-दुकूल'[2] कविताएँ हैं, तत्संबंधी चित्र भी हैं। 'सरस्वती' में लिखते हुए यह ५वां वर्ष था। इस अंतिम चित्र का परिचय देते हुए द्विवेदी जी ने लिखा, "चित्रकार श्रीयुत् धुरंधर का अंकित द्रौपदी-चीरहरण चित्र एक बार सरस्वती में प्रकाशित हो चुका है। इस बार सरस्वती-चित्रकार बाबू ब्रजभूषण राय चौधरी का चित्रित इसी घटना का दर्शक एक चित्र और दिया जाता है। साथ ही बाबू मैथिलीशरणजी गुप्तकी 'द्रौपदी-दुकूल' नामक रसवती कविता भी प्रकाशित की जाती है। आशा है, सरस्वती के सहृदय पाठक कवि और चित्रकार की इन अलौकिक कृतियों से थोड़ा बहुत आनंद जरूर उठावेंगे।"

---

[1]-[2] कविता-कलाप ; मंगलघट, क्रमशः १२८ और ७४ पृष्ठ ; जयभारत।

किंतु इस 'अलौकिक कृति' को उच्च स्तरीय और निर्दोष बनाने के लिए द्विवेदी जी का संशोधन और परिमार्जन पूर्ववत् हुआ था। इस कविता के संशोधन पर दृष्टि-निपात कर लें। अपने प्रिय शिष्य को सर्वप्रसिद्ध करने में गुरु के अंतरंग का प्रभविष्णु प्रहरी जो श्रम कर रहा था, वह यह है—

तीसरे पद्य की दूसरी पंक्ति में शब्द 'प्रकटाता था' को काटकर 'दरसाता था' किया गया है। पाँचवें पद्य की दूसरी पंक्ति है: "जैसे का वैसा होता है इसमें कुछ संदेह नहीं।" बात में कहीं कोर झलकती है। अतः इसे काटकर किया गया है: "अंधे के अंधा होता है इसमें कुछ संदेह नहीं।" सातवें पद्य की दूसरी पंक्ति है: किंतु एक उपदेश न उनका उस हतविधि के मन-भाया। 'हतविधि' का प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से जहाँ शोभनीय नहीं है, वहाँ हिंदीभाषा का अप्रचलित शब्द है। इसे काट कर 'दुर्मति' कर दिया गया है। पद्य ९ की दूसरी पंक्ति है: भ्राताओं के सहित उन्होंने अपने तक को हरा दिया। इसका संशोधन हुआ है: स्ववंश का सब विध विधि-विपरीत किया। १२वें पद्य की अंतिम पंक्ति है, "उसी काटके कारण पीछे सारा कुरुकुल नष्ट हुआ।" इस वाक्य को इस रूप में शुद्ध किया, "जिसके कारण ही पीछे से सारा कुरुकुल नष्ट हुआ।" १५वें पद्य की दूसरी पंक्ति, "निश्चय वही अल्प है जो कुछ हो ऐसी असतीका हाल" इस रूप में की गई, "निश्चय सभी स्वल्प जो कुछ हो ऐसी असतीका हाल"। १६ वें पद्य की तीसरी पंक्ति में संशोधित शब्द "उर विदीर्ण कर" हैं, इनका मूल "हृदय फाड़कर" था। इसी तरह १७वें पद्य की दूसरी पंक्ति में परिमार्जित रूप में ये शब्द हैं, "एक निमेषमात्र ही में सब" जो मूल रूप में इस तरह थे, "अल्पकाल में ही उसने सब।" अंतिम संशोधन २५वें पद्य की इस पंक्ति में है, "तो फिर क्यों इस भाँति दयामय! तुमने मुझे भुलाया।" मूल अंतिम शब्द थे, "मुझको ही बिसराया है।"

आधुनिक पत्रकारिताका एक सिद्धांत है, "पचास हजार शब्दों में यदि एक भी संशोधन संपादक को करना पड़े, वही उसकी सबसे बड़ी सेवा है, कहीं उसकी दृष्टि को धोखा देकर कोई गलत अर्थवाची शब्द न छप जाय।" यह 'सरस्वती' का सौभाग्य था कि उसे बीसवीं सदी के प्रथम अब्दों में ही आधुनिक पत्रकारिता का महर्षि पथप्रदर्शक संपादक के रूप में मिला था।

मार्च, अप्रैल, मई, जून में क्रमशः 'कीचक की नीचता'[1], 'कुंती और कर्ण',[2] 'शकुंतला को दुर्वासा का श्राप',[3] 'रत्नावली' (श्रीहर्ष की रत्नावली नाटिका की कथा) कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। ये सभी विषय द्विवेदीजी की अभिरुचि के अनुरूप और उनके एकाधिप साहित्यिक शासन को वर्धमान करने वाले थे। 'चित्र-प्रदर्शिका' रूप में ये कविताएँ, मौलिक काव्य की महिमा और लघिमा से दूर, अपने युग का प्रणयानुरोध ही स्वीकार कर रही थीं।

एक बार गांधीजी ने अंग्रेजी दैनिक 'हिंदुस्तान-टाइम्स' की दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती हुई लोकप्रियता की धारणा को बड़े विचित्र ढंग से प्रकट किया था। उन दिनों प्रसिद्ध कार्टूनिस्ट 'शंकर' इसी दैनिक में थे। उन्होंने कहा, "मैं नहीं जानता कि 'हिंदुस्तान टाइम्ज़' ने शंकर को बनाया है, या शंकर ने 'हिंदुस्तान टाइम्ज़' को बनाया है?" लेकिन इस एक वाक्य में उन्होंने परस्पराश्रित यश को शब्द दे दिए थे। 'सरस्वती' प्रतिमास गुप्तजी के पद्यों को स्थान दे रही थी, और गुप्तजी प्रतिमास सुंदर से सुंदर काव्य-सृजन कर रहे थे। यह कहना सरल न था कि कौन किस के पालन में पूरक हो रहा था। आज पत्र और लेखक में आत्मीयता स्वार्थ-परक और औपचारिक बन कर रहती है। लेकिन गुप्तजी और 'सरस्वती' में यह आत्मीयता हार्दिक थी और इसका सबसे प्रमाण दिया गया 'कविता-कलाप' के प्रकाशन में। 'सरस्वती' के जुलाई अंक के अंतिम पृष्ठ पर इस पुस्तक का विज्ञापन छपा है। यह ४६ कविताओं का संग्रह इंडियन प्रेस ने श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी द्वारा संपादित करवाकर प्रस्तुत किया था। जो भी कलात्मक चित्र 'सरस्वती' में निकले थे, उनका आकर्षण जनता में बढ़ा था। इसीलिए उनकी और उनकी प्रदर्शिका कविताओं को दुबारा छापा गया था। इन ४६ कविताओं में अकेले गुप्तजी की २८ कविताएं हैं। शेष में रायदेवी प्रसाद जी, नाथूरामजी शंकर शर्मा, कामताप्रसादजी गुरु तथा महावीरप्रसादजी द्विवेदी हैं। यही नहीं, अन्य रचयिताओं की कविताएं तो पहले

---

[1] सैरंध्री। [2] मंगलघट, पृष्ठ १२१; कविता-कलाप; जयभारत। [3] शकुन्तला।

प्रकाशित हो चुकी थीं, किंतु गुप्तजी को अन्य अप्रकाशित चित्र भेजकर उनसे सिर्फ इसी संग्रह के लिए उनपर कविताएं लिखवाई गई थीं। अपने इस सफल शिष्य को प्रधानता देते हुए द्विवेदीजी ने अपनी कविताएं गुप्तजी की कविताओं के बाद, सबके अंत में, रखी थीं। इनमें गुप्तजी के अप्रकाशित पद्य ये थे : मनोरमा, मोहिनी, अशोकवासिनी सीता,[1] रुक्मांगद और मोहिनी, सती सावित्री, प्राणघातक माला, दमयंती और हंस, सीताजी का पृथ्वी-प्रवेश और रामचंद्रजी का गंगावतरण।

यह राष्ट्रभाषा हिंदी का सर्वप्रथम लोकप्रिय व प्रतिनिधि काव्यसंग्रह था!

इस ग्रंथ की भूमिका से पता चलता है कि 'सरस्वती' के १०वें प्रकाशन-वर्ष में द्विवेदी जी हिंदीकाव्य की तात्कालिक प्रगति को किस तुला पर तौलते थे। उसके मुख्य अंश ये हैं—

"...कविता भी एक प्रकार का चित्र है। कविता के श्रवण से आनंद होता है, चित्र के दर्शन से। ...अतएव यदि एक ही वस्तु, दृश्य या भाव का व्यक्तिकरण कविता और चित्र दोनों के द्वारा हो तो, नेत्र और कान दोनोंकी एक ही साथ तृप्ति होनेसे, अवश्य ही आनन्दातिरेककी प्राप्ति होगी।...कविताकी यथार्थ जाँच वही कर सकता है, जो कवि है, जो सहृदय कविता का मर्म्म जान सकता है। सहृदय ही भली-बुरी कविता को पहचान सकता है। यह काम इतर जनोंका नहीं। किसी ने बहुत ठीक कहा है—

यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूष पानोद्भवं,
तल्लम्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम्
कासारे दिवसं वसन्नपि पयः पूरं परं पंकिलं
कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सौरभं सैरिभः?

"अर्थात्, गुरु के कृपारूपी पीयूष पाने से उत्पन्न हुए सरस्वती के वैभव को कविजन ही प्राप्त कर सकतेहैं, कविता का हठपूर्वक पाठमात्र करके शाबाशी लूटनेवाले इतर लोग नहीं। तालाब में दिन भर पड़े रहने वाले और सारे पानी का कीचड़ कर डालने वाले भैंसे को भला कभी कमलों का सुंदर सौरभ मिल सकता है?

"इस पुस्तक की अधिकांश कविताएं बोलचाल की भाषा में हैं। कितने ही छंद भी ऐसे हैं, जिनका आजकल की हिंदी-कविता में बहुत कम प्रयोग होता है। किसी किसी की राय है कि बोलचाल की भाषा में अच्छी कविता नहीं हो सकती, और कुछ विशेष प्रकार के छंदों को छोड़कर और छंदों का प्रयोग करने से कविता का माधुर्य्य जाता रहता है। क्योंकि, उनकी समझ में बिना शब्दों को तोड़े-मरोड़े ऐसे छंद बन ही नहीं सकते। हां, इतना हम अवश्य कहेंगे कि इस पुस्तक में जितनी कविताएं बोलचाल भाषा में हैं, उनमें शब्दों का अंग-भंग बहुत कम हुआ है। इस नए ढंगकी कविताएं सरस्वती में प्रकाशित होते देख बहुत लोग अब इनकी नकल अधिकता से करने लगे हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि इस तरह की भाषा और इस तरह के छंदों में लिखी गई कविता दिन पर दिन लोगों को अधिकाधिक पसंद आने लगी है। अतएव, बहुत संभव है, कि किसी समय हिंदी के गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो जाय...(फरवरी, १९०९)।"

आज से ४९ वर्ष पूर्व की गई द्विवेदीजी की यह भविष्यवाणी कितनी सच निकली है।

'कविता-कलाप' से पहले, खड़ीबोली जब प्राथमिक आंदोलन के रूप में जन्म ही ग्रहण कर रही थी, मुजफ्फ़रपुर की कलक्टरी के पेशकार अयोध्याप्रसादजी खत्री ने बड़ी सज-धज के साथ, इक्कीस वर्ष पहले,

---

[1] इस कविता से सहसा ही गुप्तजी के सहचर और सहायक बंधु मुंशी अजमेरी जी की एक याद नई हो जाती है। गुप्त जी ने अपने लेख "कविता के पथ पर" में लिखा है, "कभी-कभी संशोधन-कार्य में भी मुझे उनसे सहायता मिलती थी। कुछ दिन तक 'सरस्वती' में एक-आध चित्र पर परिचय के रूप में मेरे पद्य छपा करते थे। एक बार 'अशोकवन-वासिनी सीता' नाम के एक चित्र पर मैंने कुछ दोहे लिखे थे। पहला दोहा इस प्रकार था—**जिनके माया सूत्र में ग्रथित सकल संसार।**
बन्दी सो ये जनकजा दशमुख के आगार।
अजमेरी जी ने इसमें 'दशमुख के आगार' के स्थान पर दशमुख कारागार संशोधन बताया। मुझे यह रुचा और मैंने पूज्य द्विवेदी जी को भी लिख भेजा। उन्होंने उत्तर में लिखा, 'कवियों के सहचर कभी-कभी कवियों से भी बढ़ जाते हैं।"
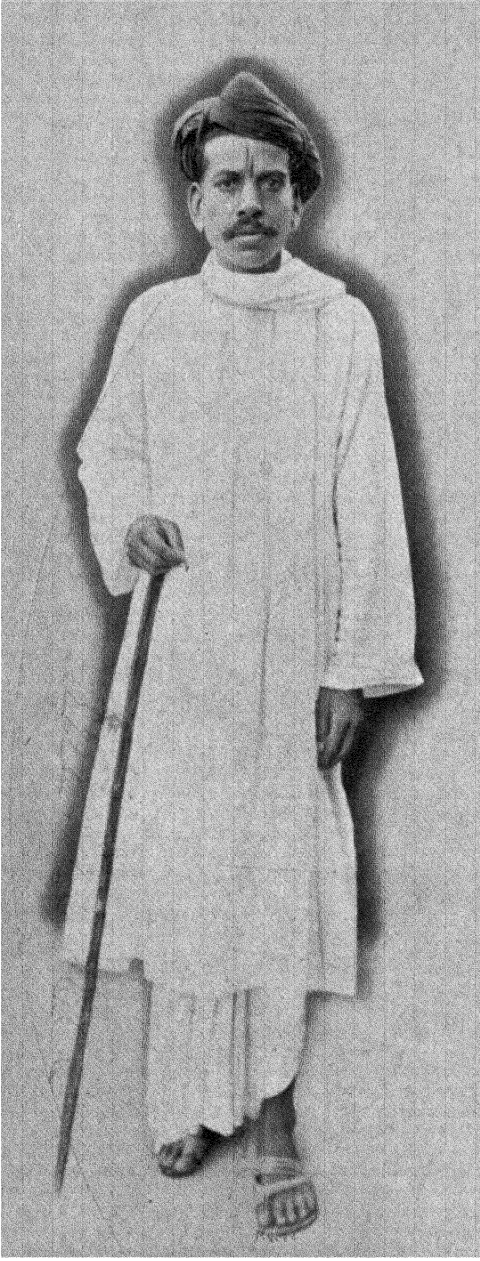
वाबू मैथिलीशरण गुप्त
[१९२८]
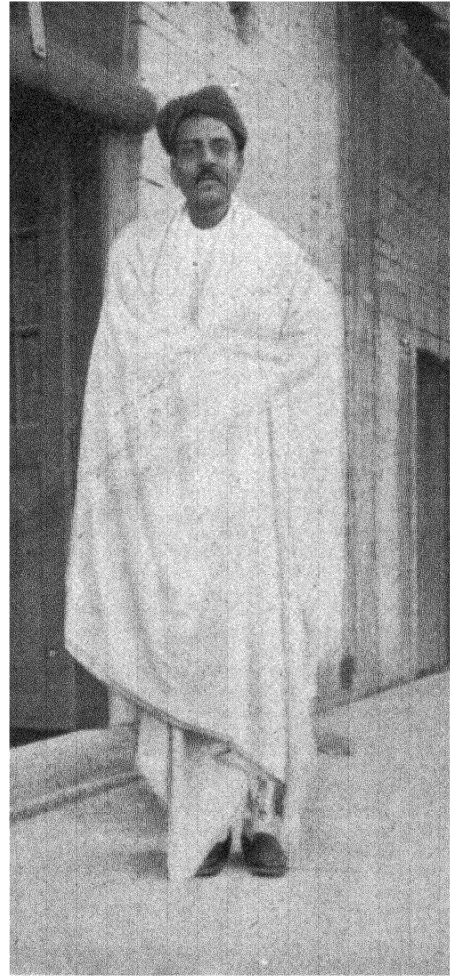
बाबू मैथिलीशरण गुप्त
[१९३०]

बाबू मैथिलीशरण गुप्त
[१९३३]

सन् १८८७ में, विभिन्न भाषाभाषियों की सुविधा तथा नागरी लिपि में प्रचलित खड़ी बोली के विवादास्पद रूपों की एकता की भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रभारती का सर्वप्रथम काव्यसंग्रह 'खड़ीबोली का पद्य' (भाग पहला और दूसरा) प्रकाशित करवाया था। एक वर्ष बाद ही इसका एक अन्य संस्करण बड़ी सजधज के साथ लन्दन के पिंकाट साहब के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ और खत्रीजी ने खड़ीबोली के पद्य का प्रचार करने के लिए इसका चारों ओर निःशुल्क वितरण किया। इस काव्यसंग्रह में क्रमशः ठेठ हिंदी, पंडित हिंदी, मुंशी हिंदी, मौलवी हिंदी और यूरेशियन हिंदी इस प्रकार पाँच हिंदी की शैलियों के नमूने प्रस्तुत किए गए थे। जो भाषा कचहरी, पाठशालाओं और कार्यालयों में प्रचलित हो रही थी, खत्रीजी उसी हिंदुस्तानी को हिंदी की सबसे शिष्ट और प्रतिमित शैली मानते थे और उन्होंने इसी शैली में पद्यरचना के लिए आंदोलन किया। वे चाहते थे कि एक दल व्रजभाषा छोड़ दे और दूसरा दल फारसी लिपि छोड़ दे, दोनों दल हिंदुस्तानी भाषा और नागरी लिपि के समान स्तर पर परस्पर मिल जायें। पिंकाट साहब ने अपनी विस्तृत अंग्रेजी की भूमिका में इन पाँच शैलियों का विवेचन किया है। इसी संग्रह में खत्री जी ने एक भावावेश-जनित स्थापना यह ठहराई थी, "खड़ीबोली के व्याकरण में व्रजभाषा-छंद को जगह देना और व्रजभाषा शब्दों को हिंदी में 'पोयटिकल लाइसेंस' समझना हिंदी व्याकरण की मेरी समझ में भूल है।" इसका आशय यही था कि व्रजभाषा की कविता हिंदी खड़ीबोली की कविता नहीं मानी जा सकती।

किंतु, इस कष्टसाध्य और विवादास्पद और प्रचाराधारित प्रथम काव्यसंग्रह और इसकी भूमिका के संतुलन में, द्विवेदी जी के कठोर तपसाधन के फलस्वरूप जो 'कविता-कलाप' निकला, वह प्रचाराधारित तो माना जा सकता था, लेकिन कष्टसाध्य और 'खड़ीबोली बनाम व्रजभाषा' के विवादास्पद युग का स्वर लेकर नहीं आया—वह तो द्विवेदी-युग के मनःहर प्रभात की अरुण उषा का लावण्य लिए प्रकट हुआ और द्विवेदी जी ने चित्रों पर कविता लिखाने के जिस आंदोलनका जिस दृष्टि से सूत्रपात किया था, उसका परम स्वास्थ्यकर काव्य-वैभव ही थाली में सजा कर ले आया। यह काव्य-वैभव था हिंदीकाव्य में स्वाभाविक करुणा की तन्मयता। इसी करुणा की तन्मयता ने व्रजभाषा की शृंगारिक रसास्वादुता को दिग्भ्रमित कर दिया। इसी करुणा की तन्मयता ने राष्ट्रभारती के राजपथ का राजद्वार तत्काल ही खोल दिया। यह करुणा की तन्मयता अक्षय सरोवर के रूप में महाभारत और रामायण में व्याप्त है। अब खड़ीबोली की विवादास्पद पाँच शैलियाँ नहीं रह गई थीं, अब व्रजभाषा का व्यूह-प्रतिव्यूह जीतने को नहीं रह गया था, अब तो इस 'कविता-कलाप' में हिंदी के पांच अग्रणी कवियों की सीलबंद परिमार्जित शैली-प्रधान काव्य-रति ही हिंदी पाठकों के समक्ष आनंद की वस्तु मान्य हो चुकी थी। केवल २१ वर्षों में एक सुस्पष्ट क्षितिज तक पहुँचने की यह प्रगति द्विवेदी जी और उनके 'सरस्वती'-आश्रम के अंतेवासियों के हाथों कम आश्चर्यजनक नहीं है, कम सफलता-भरी नहीं है।

गुप्त जी ने द्विवेदी जी की संस्कृत-अनुवादों वाली आरंभिक शैली का अनुकरण करते हुए अपनी पहली कविता 'हेमंत' प्रकाशित कराई थी, लेकिन अब पाँच वर्ष बाद वे अपनी ही विशिष्ट शैली के कलाकार बनकर 'कविता-कलाप' में हिंदीकाव्य की प्रासाद-प्रतिष्ठा करनेवाले प्रधान शिल्पी स्वीकृत हुए थे।

'कविता-कलाप' के निकलते ही एक-दो स्थानोंसे गुप्तजी के पास फरमाइश आई कि उनकी कविताओं के संग्रह छपाने की आज्ञा दी जावे। इसकी सूचना द्विवेदीजी को दी गई। उनका जो आदेश प्राप्त हुआ, उसे स्वीकार करते हुए गुप्तजी ने आषाढ़ सुदी १३, १९६६ (३जुलाई, १९०९) को लिखा, "पूज्यवर श्रीमान् पंडितजी महाराज, प्रणाम। पत्र पहुंचा। जो आज्ञा, मैं पुस्तक छपाने के लिए किसी को आज्ञा न दूंगा। यदि श्रीमान् आज्ञा ही दे देते तो भी मैं रामजीसहाय को वे कविताएं कदापि न भेजता जो कविता-कलाप में सम्मिलित हुई हैं। पुस्तक जब छपनी होगी छप जायगी। मुझे कुछ उनकी बड़ी उत्कंठा नहीं है। और हो क्यों, पुस्तकाकार छपने में मेरी कविताओं का वह गौरव नहीं, जो सरस्वती में छपने से है।

" 'हरिणोक्ति' जैसी अन्योक्तियां लिखने की चेष्टा करूंगा।

"आजकल उत्तरा और अभिमन्यु पर कविता लिख रहा हूं। देखूं, कैसी बनती है। ५० पद्य में संभवतः पूर्ण होगी। शेष कुशल। दया राखिए।

" 'रत्नावली'[1] कविता को 'भारतमित्र' ने क्लिष्ट बताया है इसका मुझे खेद नहीं है। मैंने पहले ही श्रीमान् से प्रार्थना कर दी थी कि यह कविता मुझे स्वयं बुरी लगती है मेरी इच्छा तो उसके छापने की ही न थी। अस्तु। चरणानुचर, मैथिलीशरण।"

जुलाई के अंक में 'सलज्जा'[2] और 'कारुण्य-भारती'[3] और 'हिन्दी की वर्तमान दशा'[4] कविताएं निकलीं। अगस्त के अंक में 'गर्विता'[5] और 'स्वर्ग-सहोदर'[6] (भारत का गुणगान) कविताएं हैं। 'सलज्जा' और 'गर्विता' दोनों रचनाएं इन्हीं नामों के दो चित्रों पर हैं। प्रथम कविता में सलज्जा नारी के रूप का सतृष्ण नेत्रों से दर्शन है, दूसरी कविता एक पति-परायणा नारी की अपने सौभाग्य पर स्वीकारोक्ति है। ये दोनों कविताएं 'सरस्वती' में प्रकाशित द्विवेदी जी के प्रारंभिक पद्यों की याद दिलाती हैं और 'प्रणय की महिमा' की स्मृति ताजा करती हैं—

'सलज्जा' का अंतिम पद : यों देख तुझे हे मनोहरे, आश्चर्य नहीं यदि जी न भरे।
सुखकर सुधांशु पर दृष्टि दिये, होते क्या तृप्त चकोर हिये ?

दूसरी कविता का अंतिम पद है : माने जाते इस जगत में सौख्य जो श्रेष्ठ सार,
हैं सो सारे सतत मुझ को प्राप्त सर्व प्रकार।
पृथ्वी में है मुझ पर कृपा ईश की आज जैसी—
प्रार्थी हूं मैं, सब पर करें नित्य विश्वेश वैसी।

'कारुण्य-भारती' में रहै, चाहै, कहै जैसे शब्दों को संशोधित कर रहे, चाहे, कहे किया गया है। 'स्वर्ग-सहोदर' में बकुलादि का वकुलादि, सहतूत का शहतूत और शिर का सिर संशोधन हुआ है। 'स्वर्ग-सहोदर' के बारे में गद्गद् भाव से द्विवेदी जी ने अपने ६ अगस्त, १९०९ के पत्र में पं० पद्मसिंह जी शर्मा को लिखा, "स्वर्ग-सहोदर सचमुच ही उत्तम कविता है। कई लोगों ने तारीफ की है।"

७ अगस्त को गुप्तजी ने यह पत्र प्रेषित किया—"पूज्यवर श्रीमान् पंडितजी महाराज, प्रणाम। कृपा पत्र समेत दोनों रंगीन चित्र पहुँचे। 'उत्तरा अभिमन्यु' वाला चित्र पीछे लौटाता हूँ। लीजिए। रंग फीके हैं। उत्तरा का भाव मुझे अनुकूल मालूम हुआ। 'उत्तरा-उत्ताप' में जहाँ बदल सदल करना श्रीमान उचित समझें कर लीजिएगा। अथवा जहाँ आज्ञा हो, मैं कर दूं ?

" 'वादक' वाले चित्र पर लिखने की चेष्टा करूँगा। कठिन समस्या मालूम होती है। खैर देखा जायगा। 'कविता-कलाप'[7] के निकल जाने की बात सुनकर बड़ा ही आनन्द हुआ।

"कल दो महाशयों के पत्र आये एक पांडेय लोचनप्रसाद का, दूसरा रायपुर के नर्म्मदा प्रसाद मिश्र का। इन दोनों महाशयों की इच्छा मेरी कविताओं के संग्रह छपाने की है। पत्रों में मुझ से अनुमति और आज्ञा मांगी गई है। मैंने धन्यवाद देकर लिख दिया कि आप द्विवेदीजी महाराज से ही आज्ञा लीजिए। वे मेरे कविता–शिक्षक हैं। अतएव उन पर उन्हीं का अधिकार है।....

---

[1] यह जून अंक में प्रकाशित हुई थी और निश्चय ही क्लिष्ट भाषा में थी। संभवत: इसीलिए सरस्वती में प्रकाशन के बाद किसी भी निजी काव्यसंग्रह में गुप्त जी ने इसे स्वीकार नहीं किया है। हम कुछ पंक्तियां यहाँ लें—

अस्तु श्रीयुत-वत्सराज नृपके वाभ्रव्य दूत-प्रति
की आपत्ति यही प्रकाश उसने जो योग्य भी थी अति...
कन्दर्पोत्सव में परंतु इसने भूपाल का दर्शन
पाया ज्यों दिवसान्त कुमुदिनी चंद्रांशु-संस्पर्शन...
राजा के सुन वैन यों वह हुई रोमांचिता, स्तंभिता
लज्जा-संकुचिता प्रकंपित तथा स्वेदाम्बु-संशोभिता...

[2] कविता-कलाप। [3] पद्य-प्रबंध, पृष्ठ ५। [4] पद्य-प्रबंध, पृष्ठ ७२। [5] कविता-कलाप।
[6] पद्य-प्रबंध, पृष्ठ ३३। [7] यद्यपि 'कविता-कलाप' १९०९ के अगस्त में निकला, पर इसके लिए जो विशेष कविताएं विशेष चित्र भेज कर गुप्तजी से लिखवाई गई थीं, उनमें चार कविताएं आगामी वर्षों में 'सरस्वती' में पुनर्मुद्रित की गई।

"परसों 'कुकवि-कीर्त्तन' और 'वेंकटेश्वर'[1] के दो अंक सेवा में भेजे हैं, पहुँचे होंगे ?

" 'सरस्वती की सलज्जा पर सम्मति'[2] के विषय में अभ्युदयवालों ने क्या उत्तर दिया ? शेष कुशल। दया रखिए। चरणानुचर, मैथिलीशरण।"

सितंबर में 'उत्तरा-उत्ताप'[3] और 'आत्मोत्सर्ग' (राजा शिबि की कथा) दो कविताएँ प्रकाशित हुईं।

उक्त पत्र में द्विवेदीजी से प्रार्थना की गई है कि वे 'उत्तरा-उत्ताप' में बदल-सदल कर लें। द्विवेदी जी ने संशोधन इस प्रकार किए हैं—

मूल शीर्षक 'प्रिय-वियोग' को काट कर 'उत्तरा उत्ताप' किया गया है।

पद	पंक्ति	मूल	संशोधित
७	दूसरी	शक्र-नाती	पार्थ-नंदन
१७	पहली	दश बाण	दस शरों
११	पहली	निरंतर	यथायथ
१३	पहली	प्रवेशित सिंह-शावक	प्रविष्ट मृगेंद्र-शावक
१४	पहली	प्रौढ़ विक्रम	विकट विक्रम
४३	पहली	हे प्रिया। हृदय इस भांति क्यों प्राणेश ! फिर अदय कर लिया ?	फिर इस भांति क्यों निज हृदय निर्दय कर लिया ?

'आत्मोत्सर्ग' के संशोधन इस प्रकार हुए हैं—

४	तीसरी	हां शरण जना कर दुःख बड़ा	हो शरणागत कर दुःख बड़ा
७	दूसरी	भूपति अधर्म्म के लिये डरे	भूपति अधर्म से हिये डरे ।
८	दूसरी	है पराजीविका हरण इधर	है अन्य जीविका हरण इधर
	चौथी	जिसकी उपमा को दोल हुआ	मानों आंदोलित दोल हुआ

अक्टूबर में बच्चों के निमित्त 'विनोदी बाजा' और 'कुकवि कीर्त्तन'[4] तथा नवम्बर में हास्यरस से ओतप्रोत 'मक्खीचूस'[5] कविता प्रकाशित हुई हैं। दिसम्बर में 'नकली किला'[6], 'नागरी लिपि और हिंदी भाषा'[7] और 'कातरोक्ति' रचनाएं निकलीं। मूल शीर्षक 'आर्तनाद' था, जिसे काट कर 'कातरोक्ति' किया गया है। 'नकली किला' के संशोधन उलेखनीय हैं—

पद	पंक्ति	मूल	संशोधन

१. चौथी

देख कर ही मत रहो, सोचो विचारो चित्त में। सोचिए इसके अनन्त महत्व को निज चित्त में।

३. तीसरी-चौथी

श्रवण कर उसका चरित निज पूर्वजों के गुण धरो, श्रवण कर उसका चरित मन में प्रमोद बढ़ाइए।

आत्म-परिभव-भाव तज निज रूप का चिन्तन करो। पूर्वजों के भव्य भावों की बड़ाई गाइए।।

५. अंतिम :

अन्न जल ग्रहण करूँ तो मैं कभी क्षत्रिय नहीं। ग्रहण जो मैं अन्न या जल करूं तो क्षत्रिय नहीं।

---

[1] बंबई से प्रकाशित।

[2] इस कविता पर श्री कुँवर कन्हैयाजू ने कुछ लिखा था, जिसका समुचित उत्तर 'अभ्युदय' में मुंशी अजमेरी जी ने दिया था। चिरगाँव से, हमारी जिज्ञासा का समाधान करते हुए, श्री सियारामशरण जी गुप्त ने कृपापूर्वक अपने १६-१२-५७ के पत्र में लिखा है, "श्री कन्हैयाजू की आलोचना कहाँ छपी थी, इसका स्मरण नहीं। हो सकता है, वह भी 'अभ्युदय' में ही छपी हो। पर मेरी समझ में अब यह कविता स्वयं कवि द्वारा उस आलोचना से भी अधिक कटुता से आलोचित हो सकती है। हाँ, वे दोनों आलोचनाएँ और प्रत्यालोचनाएँ आमने-सामने होतीं तो कौतुक उत्पन्न करतीं भी।"

[3] जयद्रथ-वध। [4] पद्य-प्रबंध, पृष्ठ ६१। [5] पद्य-प्रबंध, पृष्ठ ११३।

[6] रंग में भंग ; मंगलघट, पृष्ठ, १८६। [7] पद्य-प्रबंध, पृष्ठ ६७।

७. तीसरी :

देख सकते हैं अशुभ क्या ईश का अनुचर कभी ?	**देख सकते अशुभ स्वामी का भला सेवक कभी ?**

२०. दूसरी-तीसरी :

क्षात्रधर्म-प्रभाव ने उसको विमोहित सा किया,	**क्षत्रियोचित धर्म ने उसको विमोहित कर दिया,**
यद्यपि कृत्रिम, किन्तु वह भव-भूमि ही तो थी अहो।	**यद्यपि कृत्रिम जन्म की दात्री भूमि ही तो थी अहो।**

२२.

शीघ्र शोणित वेग प्रवाह शरीर में होने लगा,	**र्वाधत रुधिर की धार उसकी देह में होने लगी,**
एक विद्युत वेग उसमें वीर्य्य-सा होने लगा।	**बीज विद्युतवेग से वीरता का बोने लगी।**
मातृ-भूमि-स्नेह-जल निश्चल हृदय धोने लगा,	**. . . . .**
मत्त करके मान मन को मृत्यु-भय खोने लगा।	**मान मन को मत्त करके मृत्यु-भय खोने लगा।**

इन संशोधनों में मात्र शब्द-शक्ति-वदान्यता ही कविताको भेंट की गयी है। यह भी स्पष्ट है कि अभी तक कवि के पास शब्द-मंजूषा उतनी ओजपूर्ण नहीं हुई है, जो इच्छित अभिप्राय में से निष्प्रयोजन को छान दे और अपने सन्निवेश को भी अनौचित्य से बचाकर रखे। फिर भी यह स्पष्ट है कि गुरु-शिष्य में कहीं भी दृष्टि-भेद नहीं रह गया था। द्विवेदीजी जितना चाह रहे थे, उससे अधिक ही मैथिलीशरण निरंतर कुछ कर गुजरने का श्रम कर रहे थे। अब तो यत्र-तत्र गुप्तजी की प्रशंसा होने लगी थी। द्विवेदी जी उसकी सूचनाएं प्राप्त करते ही गुप्तजीको भिजवा देते थे। इसमें उनका मंशा उत्साह-दान मुख्य था। प्रशंसा, विशेष कर कवियों में, उपेक्षा की नहीं, अपेक्षा की वस्तु है। कहीं-कहीं तो भरपेट भोजनके बाद भी इस की भूख से शरीर कृश होता रहता है। लेकिन 'सरस्वती' के आश्रम के साधक मैथिलीशरण में इसके प्रति संयम था। १९०९ के 'स्वदेश-बांधव' (आगरा से प्रकाशित) में पांडेय लोचनप्रसाद[1] ने प्रशंसा लिखी थी। उसके प्रति अपनी भावना प्रकट करते हुए गुप्तजी ने अपने २:११:१० के पत्र में लिखा, " 'स्वदेश-बांधव' का अंक लौटाता हूँ। उसे पढ़कर मैं बहुत लज्जित हूँ। पांडेय लोचन प्रसाद ने जो कुछ लिखा है, उसके योग्य मैं कदापि नहीं हूँ। श्रीमान् से प्रार्थना है कि आशीर्वाद दीजिए जिसमें आगे लज्जा बनी रहे। विशेष क्या लिखूं। जो कुछ है सब श्रीमान् के चरणों की धूलिका प्रभाव है। मैं किसी योग्य नहीं। पांडेय लोचन प्रसाद को मैंने कृतज्ञता स्वीकार-सूचक धन्यवाद पत्र लिख दिया। मैंने कई पुस्तकें लिखनी चाहीं पर एक भी न लिखी जा सकी। कुछ दिनों में एक विषय लिखते लिखते चित्त उचट जाता है। जयद्रथवध उतना ही लिखा पड़ा है। अब उसी को लिखने की चेष्टा करूँगा। देखूं जो बन जाय। शेष कुशल, दया रखिए। चरणानुचर, मैथिलीशरण गुप्त।

तव मधुर फलों की प्राप्ति का ही रसाल,
यह शुभ फल मैं हूँ जानता सर्व काल
शुक पिक खग की जो भारती अर्थहीन
इन रसिकपजनों को मोद देती नवीन।"

इसी पत्र के प्रारंभिक अंश में गुप्तजी ने लिखा है, "आज की डाक से हिंदी वाली कविता सेवा में भेजी जाती है। इसे समाप्त करने में बहुत जल्दी की गई है। दो चार पद्य और लिखने की इच्छा थी। परन्तु समय नहीं मिला। परसों रामलीला से निवृत्त होकर कल इसे मैंने समाप्त किया। स्वस्थता से एक दिन भी मैं इसे न लिख सका इसका खेद है। जो त्रुटियां रह गई हों तो कृपापूर्वक सुधार लीजिएगा। यदि इस का यह नाम ठीक न हो तो जो पसन्द आवे लिख दीजिएगा। रामलीला के लिए कुछ अवसरोपयोगी कविता बनाई थी

---

[1] १९०९ के नवंबर में, सरस्वती की संपादकीय नीति के अनुसार, रायदेवी प्रसाद पूर्ण का चित्र प्रकाशित हुआ है, और पांडेय लोचनप्रसादजीने इस चित्रपर ही एक प्रशंसात्मक कविता लिखकर इसी अंकमें प्रकाशित कराई है। साथ ही इसी वर्ष के फरवरी अंक में, जिस विषय पर गुप्त जी ने १९०५ में अपनी पहली कविता लिखी थी, उसी 'हेमंत' शीर्षक से पुनः एक नई कविता लिखी है।

उसमें से दो गजलें श्रीमान् की सेवामें भेजता हूँ। क्या ये प्रकाशित होने योग्य हैं? रामलीला देखकर मेरे हृदय में अनेक भाव उत्पन्न हुए। यदि हो सका तो कभी मैं उनको प्रकाशित करने की चेष्टा करूँगा।"

इन दिनों बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन जन्म ले रहा था। अन्यत्र भी कुछ उग्र घटनाएं घट रही थीं। अपनी 'प्रार्थना-पंचदशी' कविता में गुप्तजी ने कुछ पंक्तियाँ सरकार-विरोधी लिखी थीं, जो बिना हिचक के निकाल दी गई थीं। 'नागरी लिपि और हिंदी भाषा' में भी ऐसा ही संशोधन हुआ था—
चौथे पद, पंक्ति तीसरी की मूल पंक्ति थी, "वहां देश-उद्धार की है कथा क्या" का संशोधन हुआ है, "वहां ज्ञान-विस्तार की है कथा क्या?" पद्य ६ की पहली पंक्ति मूल में थी, "सभी भांति तू लाभकारी" का संशोधन हुआ है, "न सत्कार तेरा कहीं कीर्तिकारी।"

इस स्थल पर रुक कर हम इस वर्ष पर एक विहंगम दृष्टि और डाल लें।

सन् १९०७ में द्विवेदी जी ने अपने आश्रम के इस तरुण कवि को चित्र-प्रदर्शिका कविताओं का सुअवसर प्रदान किया था और प्रयोग के रूप में उस वर्ष इसने दो चित्रों पर कविताएं लिखी थीं। लेकिन १९०८ में और इस वर्ष १९०९ में इस तरुण कवि ने प्रति वर्ष १० : १० चित्रों पर मिला कर २० चित्र-प्रदर्शिका कविताएं लिखी हैं। इन चित्रों पर लिखी गई कविताओं की ओर द्विवेदी जी ने 'चित्र-परिचय' स्तंभ में भी विशेष तौर पर संकेत किया है और 'कर्ण और कुन्ती' चित्र-परिचय में द्विवेदी जी ने यहां तक लिखने की कृपा की है, "हां, बाबू मैथिलीशरण गुप्त जी ने इस चित्र के संबंध में जो कविता लिखी है, और जो इसी संख्या में अन्यत्र प्रकाशित की जाती है, उसे एकबार जरूर पढ़ लेने की हम बार बार प्रार्थना करते हैं।" इन पंक्तियों में गुप्तजी के प्रति द्विवेदी जी का स्नेहाग्रह छलक उठा है, इस पर हमारी कोई भी टिप्पणी लिखना व्यर्थ है। इसका कारण है, इसका प्रमाण है। भारतीय राष्ट्र अपने पुराणों की ही श्वासभरित मुक्तासीपी है। द्विवेदी जी के संरक्षण में इन कविताओं और तत्संबंधी चित्रों ने सारे देश में राष्ट्रभारती के प्रति उतना ही सहज ममत्व जगाया, जैसा कि हम बरसों बाद लौटे हुए पुत्र का अपनी विस्मृत माता के प्रति पाते हैं। उधर गुप्त जी को यह लक्ष्य हाथ लगा कि वे इस प्रकार के काव्य-श्रम से प्राचीन सनातनता की सांस्कृतिक त्रिवेणी का स्नान पा गए और इसी पुन्य के एवज में उन्हें तीन-चार काव्यग्रंथों की नवक्रांति-गर्भित निष्ठा हाथ लग गई।

इस वर्ष 'कारुण्य-भारती' कविता निकली है, इस 'भारती' शब्द पर हम विशेष ध्यान दें। यद्यपि यह करुणा की भाषा में है, पर 'भारती' शब्द प्राचीन आदर्शवादी धार्मिकता की नई उपयोगिता लेकर गुप्तजी को जैसे नकद लाभ में मिला था। इस भारती के साथ, 'हिंदी की वर्तमान दशा' तथा 'नागरी लिपि और हिन्दी भाषा' कविताएं भी राष्ट्रभारती के इतिहास की वे प्राथमिक सशक्त अभिव्यक्तियां हैं, जिन पर न केवल गुप्त जी का, बल्कि आधुनिक हिंदी काव्य का परकोटा चिना गया है। बीसवीं सदी के प्रारंभ में हिंदी के कवि की ऐसी सर्वोपरि निष्ठा सारे साहित्य-इतिहास में केवल गुप्त जी में ही पाई जाती है।

गत वर्ष 'पंचपुकार का उपसंहार' नामक कविता प्रकाशित हुई थी। इस वर्ष पुनः गुप्तजी को उसी सांस में 'कुकवि-कीर्त्तन' लिखने के लिए जैसे ललकार मिली थी। किंतु यह गत वर्ष की कविता से कहीं अधिक गेय है। पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी ने लिखा है कि जब यह कविता 'सरस्वती' में छप कर आई तो युवकवर्ग खंडवा की गलियों में इसे गाते हुए घूमा करते थे। जहाँ इसका गेय गुण द्रष्टव्य है, वहाँ इसका मर्म भी गुप्तजी के तेजाभिमान की सूचनाओं से महत् है। यहां इसकी कुछ पंक्तियों को देने का लोभ संवरण नहीं हो पा रहा है—

गणयन्ति नापशब्दं न वृत्तभंग क्षय न चार्थस्य।
रसिकत्वेनाकुलिता वेश्यापतयः कुकवयश्च॥

प्रथम पद : हो तुष्ट नीच को ऊँच प्रमाणित करना,
हो रुष्ट ऊंच को नीच पंक्ति में धरना।

लेकर मनमाना मार्ग सगर्व विचरना,
लड़ने भिड़ने को नहीं किसी से डरना।
यों आप सभी पर विकट प्रभाव जमाते,
कविराज! आपके चरित न जाने जाते।।

दूसरा पद : हो आश्रयदाता क्यों न अज्ञ अभिमानी,
कर देंगे जाहिर उसे आप लासानी।
होती हों तो हो जाय कलंकित वानी,
पर आप करेंगे जरा नहीं आनाकानी।
मिथ्या स्तुति कर के कभी न आप अघाते,
कविराज! आप के चरित न जाने जाते।।

तीसरा पद है : बाहर अपने को दीन दास बतलाना,[1]
इस भाँति अलौकिक शील स्वभाव दिखाना।
पर रखकर भीतर गर्व महा मनमाना,
सब जग को तुच्छ विचार नहीं सकुचाना।
जाने कितने छल नहीं आपको आते,
कविराज! आपके चरित न जाने जाते।।

छठा पद है : है जिस कविता का काम लोकहित करना,
सद्भावों से मन मनुज मात्र का भरना।
पहले तो कान्ता-सदृश हृदय को हरना,
फिर प्रकटित करना विमल ज्ञान का झरना।
हा! उसे आप व्यभिचार-प्रयोग बनाते,
कविराज! आप के चरित न जाने जाते।।

सातवाँ पद है : रखना न ध्यान कुछ समय आवि की गति का,
करना विचार कुछ तथा न भावी क्षति का।
गा कर सदैव बस राग एक रतिपति का,
करना विनाश नवयुवकजनों की मति का।
यों कुरुचि बढ़ाकर आप समाज डुबाते,
कविराज! आप के चरित न जाने जाते।।

आठवाँ पद है : कविता द्वारा वे बीज आप बोते हैं,
फल जिनके विष से अधिक विषम होते हैं।
जगते कुभव सद्भाव सभी सोते हैं,
दोनों लोकों से लोग हाथ धोते हैं।
रोते हैं कितने नहीं आपके नाते।
कविराज! आपके चरित न जाने जाते।।

दसवाँ पद है : प्रियचन्द्र-वदन की चटक नहीं हो जिसमें,
नागिन-सी लट की लटक नहीं हो जिसमें।
भ्रू और दृगों की मटक नहीं हो जिसमें,
मन्मथ-महीप का कटक नहीं हो जिसमें।

---

१ दीन और दास श्री भगवानदीन जी तथा उनके एक साथी कवि श्री दास जी की ओर ही यहाँ इशारा है।

उसको कविता ही नहीं आप बतलाते।
कविराज! आपके चरित न जाने जाते।।

तेरहवां पद है : कर नकल और की सदा स्वनाम छपा के,
रख देना झट पट ग्रंथसमूह छपा के।
यदि कोई कुछ प्रतिकूल कहे, छल पाके,
करना दृग लोहित यथा प्रसून जपा के।
चोरी शहज़ोरी साथ आप अपनाते,
कविराज! आपके चरित न जाने जाते।।

उन्नीसवां पद है : कर कर असंख्य आक्षेप आप मरते हैं,
पर बुधवर उन पर ध्यान नहीं धरते हैं।
इससे यह मतलब नहीं कि वे डरते हैं,
हां, किन्तु उपेक्षा तुच्छ जान करते हैं।
(क्या श्वान-शब्द पर ध्यान गजेन्द्र लगाते?)
कविराज! आपके चरित न जाने जाते।।

अंतिम (२०) की अंतिम पंक्तियां :
है अनन्वयालंकार आप के खाते,
कविराज! आपके चरित न जाने जाते।।

जब नक्षत्रों का ज्ञान बढ़ा, तो उच्चवर्गीय नक्षत्र-याजकों की संख्या भी बढ़ी। इसी तरह जब हिंदी में सत्काव्य की वृद्धि हुई, तो हिंदी के सत्समालोचक भी क्षेत्र में आए। इसी १९०९ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का पहला लेख 'सरस्वती' में 'कविता क्या है?' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। यह बंगला पत्र 'प्रवासी' में प्रकाशित किसी लेख पर आधारित था और इसमें कविता के सामाजिक मूल्यों का अंकन किया गया था।

●

द्वितीय खंड

[१२]

स्वतंत्र कूलयुग्म का निर्माण

दृष्टोहि वृण्वन् कलभप्रमाणो प्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः।

—पूर्वीय वायु का योग पाकर हाथी के बच्चे के समान छोटा मेघखंड भी दिशाओं को जाता हुआ देखा जाता है।
(रघुवंश १८।२८)

इस समय तक 'सरस्वती' हिंदी की सर्वश्रेष्ठ लोकप्रिय मासिक पत्रिका बन चुकी थी। उसका मंच उद्‌बोधन का वास्तविक प्रेरणा-बिंदु बन गया था। शिक्षित हिंदी भाषाभाषी समाज उस की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखने लगा था। सबसे बड़ी बात, अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता में पटु भारतीय भूले हुए होश से सचेत होकर 'सरस्वती' की उपेक्षा नहीं, अपेक्षा करने लगे थे। बाबू मैथिलीशरण गुप्त अब, पल्लवग्राही कवियों से अलग, 'सरस्वती' के ऐसे मंच से हिंदी काव्य के ललाट पर यशस्तिलक लगाने का पौरोहित्य कर रहे थे। उनका काम बड़ा था, इसीलिए उनकी ख्याति भी मर्मस्पर्शिनी थी।

१९०९ में द्विवेदी-युग का प्रथम चरण पूरा हुआ था। विगत सात वर्षों की सफलता का जितना श्रेय 'सरस्वती' को था, उसमें गुप्तजी का भी काफी हिस्सा था। १९१० से इस युग का दूसरा चरण प्रारंभ

होता है। उस पर विहंगम दृष्टि डालने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम इस स्थल पर 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक में प्रकाशित उस घोषणा का पाठ कर लें, जो एक प्रकार से द्विवेदी जी के नेतृत्व में स्थापित आश्रम की मर्यादाओं को सुस्पष्ट करती है—

"हिंदी के उत्साहियों, हितैषियों, उन्नायकों, रसज्ञों और सहयोगियों से ऐसी अखंडनीय आशा क्यों न की जाय कि वे लोग सब प्रकार से अपनी बाहुल्यता की शीतल छाया में इस नवीन बालिका को आश्रय देने में कदापि परांगमुख न होंगे कि जिनके सम्मुख आज यह अपने नए रंग, नए वेश-विन्यास, नए उद्योग, उत्साह और नई मनमोहिनी छटा से उपस्थित हुई है।

"इसके नवजीवन धारण करने का केवल यही उद्देश्य है कि हिंदी रसिकों के मनोरंजन के साथ-ही-साथ भाषा के सरस्वती-भंडार की अंगपुष्टि, वृद्धि और यथायथपूर्ति हो तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भाव-भरित ग्रन्थराजि को प्रसव करे।

"और इस पत्रिका में कौन-कौन से विषय रहेंगे, यह केवल इसी से अनुमान करना चाहिए कि इसका नाम सरस्वती है। इसमें गद्य-पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू, इतिहास, जीवनचरित, पत्र, हास्य, परिहास, कौतुक, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प, कलाकौशल आदि साहित्य के यावतीय विषयों का अवकाश समावेश रहेगा और आगत ग्रंथादिकों की यथोचित समालोचना की जाएगी। यह हम लोग निज मुख से नहीं कह सकते कि भाषा में यह पत्रिका अपने ढंग की प्रथम होगी। किंतु, हाँ सहृदयों की समुचित सहायता और सहयोगियों की सच्ची सहानुभूति हुई, तो अवश्य यह अपने कर्तव्यपालन में सकल मनोरथ होने का यथाशक्य उद्योग करने में शिथिलता न करेगी।

"इससे लाभ केवल यही सोचा गया है कि सुलेखकों की लेखनी स्फुरित हो, जिससे हिंदी की अंगपुष्टि और उन्नति हो। इसके अतिरिक्त हम लोगों का यह भी दृढ़ विचार है कि यदि इस पत्रिका-संबंधीय सब प्रकार का व्यय देकर कुछ भी लाभ हुआ, तो इसके लेखकों की हम लोग उचित सेवा करने में किसी प्रकार भी त्रुटि न करेंगे।"

राष्ट्रभारती का यह प्रथम, विवेकसम्मत, ऐतिहासिक घोषणा-पत्र है। भारतेंदु-युग और प्राग्द्विवेदी-युग की समस्त अर्जित परंपराओं को स्वीकार करते हुए इतने व्यापक आंदोलन का सूत्रपात उस अंग्रेजीनिष्ठ, दासतामूलक और दोषदग्ध समाज की छत्रछाया के अंतर्गत केवल कुछ साधु पुरुष ही अपने आश्रम की पीठिका से कर सकते थे।

इसी अंक में 'सरस्वती' के प्रथम संपादक बा० श्यामसुंदर दास ने इस घोषणा-पत्र की भूमिका में १८८५ से चले आ रहे खड़ी बोली के आंदोलन के सूत्रों को ही दीर्घ व चिरायु बनाते हुए लिखा था, "अभी तक हिन्दी पद्य की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम हुआ है। हिन्दी पद्य से हमारा आशय उस पद्य से है, जो आजकल की हिन्दी में लिखा हो और न कि प्राचीन व्रजभाषा में। व्रजभाषा की कविता चाहे मधुर हो, पर यह बात हिन्दीभाषा के लिए बड़ी निंदा की है और उसके एक बड़े भारी अभाव को दिखाती है कि गद्य तो एक प्रकार की भाषा में, जो उन्नीसवीं शताब्दी में हो संपन्न हुई, लिखा जाय और पद्य पुरानी भाषा में।" इसी आशय को आपने इसी वर्ष दूसरे अंक में स्पष्टतर करते हुए जोरदार शब्दों में लिखा था, "हिन्दी के अवरोध का दूसरा एक कारण यह है कि इसकी दो प्रकार की भाषाएं हैं—एक गद्य की, दूसरी पद्य की। पद्य की भाषा स्वतंत्र है। उसका व्याकरण भिन्न है और वह एक प्रादेशिक भाषा है। यदि गद्य और पद्य की भाषा एक नहीं हुई, तो हमारी भाषा सदा अपाहिज बनी रहेगी।" (भाग २, संख्या ६) इन पंक्तियों में राष्ट्र-भारती की मधुर उपासना की संजीवनी नवनीत-सी तैर आई है। राष्ट्र के मर्म में जिस पीड़ा को घनीभूत हुए एक लंबा समय हो चुका था, उसी को 'सरस्वती' के संपादक ने अपनी मननशीलता एवं रसानुभूति की गंभीरता से जनता के सामने हस्ताम्लक-रूप में प्रस्तुत करते हुए सूत्रधार का काम किया। वास्तव में वह असली घड़ी आ चुकी थी, जब शील-शक्ति-सौंदर्य-निधान हिन्दी गद्य सुषमा-सुधा-माधुरी रूप हिन्दी पद्य से प्रगाढ़ संबंध स्थापित कर ले। १९०१ से दोनों नए युग के सेवा-वासना-अभिज्ञान बनकर राष्ट्र के रंगमंच

पर सहर्ष उपस्थित भी हो गए। दोनों का चिद्-गठन इतना स्तुत्य हो चुका था कि सबने इनका मंगलमय स्वागत किया।

१६०६ तक 'सरस्वती' के आश्रमवासियों ने एक निश्चित कार्यक्रम को पूरा करते हुए 'सरस्वती' के उक्त घोषणा-पत्र की आधारभूत नींव को गहरे जमा दिया था। द्विवेदी जी ने अपने संपादन और लेखन से विपन्न हिंदी को बहुमुखी शल्यचिकित्सा-जनित स्वास्थ्य दिया। द्विवेदी जी के युगनिर्मातृत्व के अनिवार्य अंग-स्वरूप, उक्त सामूहिक आंदोलन की दुर्दमनीय निष्ठा का सबल व्यक्तित्व बने हुए गुप्त जी ने अपने सुषमित उपस्थापन से काव्यमंदिर को कलात्मक बनाया। द्विवेदी जी के 'चरणानुचर' शिष्य बने हुए, 'कविता-कलाप' के प्रकाशन के बाद, अपनी वेगवती काव्यधारा के निमित्त उन्होंने स्वतंत्र कूलयुग्म का निर्माण कर लिया था और 'सरस्वती' के अनन्य सदस्य बने रहकर भी, स्वतंत्र ग्रंथ-रचना की क्षमता प्राप्त कर ली थी।

१६१० के अप्रैल अंक की 'सरस्वती' के तृतीय आवरण-पृष्ठ पर गुप्त जी की पहली पुस्तक 'रंग में भंग' का आधा पृष्ठ विज्ञापन है, "सचित्र कविता पुस्तक—इस पुस्तक के आरंभ में एक रंगीन चित्र और द्विवेदी जी की लिखी हुई छोटी पर सारयुक्त भूमिका भी है। यह पुस्तक १२० पद्यों में समाप्त की गई है। पुस्तक का कागज मोटा, चिकना और चमकीला है। रंगीन कवर से पुस्तक की शोभा चौगुनी हो गई है। पुस्तक जैसी दर्शनीय हुई है, वैसी ही पठनीय भी है। विषय विकल्पित नहीं, सच्चा ऐतिहासिक है। इसके लेखक हैं—'सरस्वती' प्रेमियों के सुपरिचित हिंदी के प्रसिद्ध कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त : बस, पाठक कवि के नाम से ही अनुमान कर सकते हैं कि उक्त पुस्तक की कविता कैसी रसीली, कैसी मनोहारिणी और कैसी प्रभाव-शालिनी होगी। कविता की उत्कृष्टता, छपाई की स्वच्छता और काव्य की सुंदरता को देखते हुए इसका मूल्य ।) आने बहुत ही कम है।"

यह पुस्तक इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुई। कवि के गुरु ने आशीर्वचन-रूप भूमिका में लिखा, "इस देश के, विशेषकर राजपूताने के इतिहास में ऐसी अनंत वीरोचित, गाढ़ देशभक्ति-दर्शक और गंभीर-गौरवा-स्पद घटनाएँ हुईं, जो चिरस्मरण योग्य हैं। उन को भूलना, उनसे शिक्षा न लेना, उनके महत्व को लेख, पुस्तक और कविता द्वारा न बढ़ाना दु:ख की बात है—दुर्भाग्य की बात है।

"जिस घटना के आधार पर यह कविता लिखी गई है वह एक ऐतिहासिक घटना है, कोरी कवि-कल्पना नहीं। वह जितनी ही कारुणिक है, उतनी ही उपदेशपूर्ण भी है इसीसे उसके महत्व की महिमा बहुत अधिक है। यह तो कवितागत वस्तुवर्णन की बात हुई। रही स्वयं कविता, सो उसके विषय में कुछ कहने का हमें अधिकार नहीं, इसलिए कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की रचना को हम प्यार करते हैं, उसे स्नेहार्द्र दृष्टि से देखते हैं। —महावीर प्रसाद द्विवेदी, २२ दिसंबर १६०६।"

लेखक की ओर से सूचनार्थ प्रकट किया गया है कि इस पुस्तक की ऐतिहासिक घटना जानने में बूंदी-निवासी पं० लज्जाराम मेहता से सहायता मिली थी।

यों तो हिंदी में प्रारंभ से ही कविता का बाहुल्य रहा है, और उसी परंपरा को सत्य बनाते हुए 'सरस्वती' ने भी अपने पृष्ठों में काव्य की सामग्री अधिकतम दी, पर गुप्तजी ने ही हिंदी काव्य में सर्वप्रथम अध्ययन, गंभीर चिंतन और भाव-निबंधन का मिश्रित फल प्रस्तुत किया। द्विवेदीजी के काव्य-आंदोलन की प्रतिष्ठा का गुरु भार गुप्तजी ने ही अपने कंधों पर उठा लिया था। इसीलिए वे अपने इस शिष्य से अत्यधिक प्रसन्न थे। १६१० की जनवरी का अंक आया और उसमें द्विवेदी जी ने संपादकीय विज्ञप्ति में यह प्रधान सूचना दी : "प्रबंध ऐसा किया गया है कि जहाँ तक हो सके, हर संख्या में एक रंगीन चित्र प्रकाशित किया जाय और उस पर सरस्वती के सिद्धकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की रसवंती, मनोहारिणी और ओजस्विनी कविता पाठकों को भेंट की जाय। यह ऐसी बात होगी जो एक आध बंगला मासिक पुस्तकों को छोड़कर इस देश की अन्य किसी भाषा की किसी मासिक पुस्तिका में आज तक नहीं देखी गई।"

इस वर्षके प्रारंभसे ही द्विवेदीजी 'सरस्वती' के कार्यसे अवकाश ग्रहणकर एक वर्षकी छुट्टी पर चले गए थे। इस वर्ष सरस्वती में कुल ३० कविताएँ निकलीं, जिनमें से गुप्तजी की १७ कविताएँ थीं। जनवरी,

फरवरी श्रौर मार्च में क्रमशः 'प्राचीन भारत'[1], 'सन्ध्या-वर्णन' श्रौर 'लीला-संवरण'[2] कविताएँ थीं। श्रप्रैल में दो रचनाएँ थीं : 'विदुरवाणी' (स्रग्धरा) विदुर श्रौर धृतराष्ट्र चित्र पर; श्रौर 'होली का हर्ष'[3] कविता, दूषित फाग को तिलांजलि देकर, साधुभाषा में हर्ष की सूचिका थी। मई में 'मुनि का मोह'[4] नारद जी के दो चित्रों पर श्राधारित कविता थी। उसी के साथ 'ब्राह्मणों से विनय' भी प्रकाशित हुई। जून में 'बंधु-विरोध' निकली। जुलाई में 'गोवर्द्धन-धारण'[5] छपी। पर प्रकाशन से पूर्व गुप्त जी ने इसके बारे में द्विवेदी जी से पर्याप्त परामर्श ग्रहण किया श्रौर इसके श्रनेक पद दुबारा नए सिरे से लिखे गए। इस कविता के कतिपय श्रंशों में मनभावन व्रजभाषा-विषयक कथन बड़े ही श्रानंददायक बने श्रौर पाठकों द्वारा वे वर्षों तक कंठस्थ बने रहे। इतने सालों बाद जाकर—सात साल बाद, व्रजभाषा-समर्थक कवि को श्रवसर मिला था कि उस के लहजे में कुछ लिखे। उन्हें पढ़ कर पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने श्रागामी श्रंक में व्रजभाषा के प्राचीन काव्यसे जितने 'गोवर्धन-धारण' संबंधी उद्धरण स्मरण पड़े, प्रकाशित कराए।

श्रगस्त, सितंबर, श्रक्टूबर, नवंबर श्रौर दिसंबर में क्रमशः 'कुरुक्षेत्र के संग्राम का परिणाम'[6] (रणक्षेत्र में उपस्थित श्रीकृष्ण श्रौर गांधारी चित्र पर), 'उत्तर श्रौर बृहन्नला'[7] (तिरंगा चित्र) तथा 'धृतराष्ट्र का द्रौपदी को वरदान'[8], 'वीरात्म बाजीप्रभु देशपांडे'[9] (इकरंगा चित्र) तथा 'धृतराष्ट्र श्रौर संजय' (रंगीन चित्र)', संबोधन'[10] व 'मृत्यु' रचनाएं प्रकाशित हुईं। इस तरह इस वर्ष सात चित्र-प्रदर्शिका कविताएं रहीं।

इसी वर्ष 'सरस्वती' के श्राश्रम में सहसा ही एक श्रकल्पनीय घटना घटी। इसी श्राश्रम के एक नवयुवक सदस्य पांडेय लोचनप्रसाद ने एक काव्य-संग्रह का संपादन (वस्तुतः 'काव्य-कलाप' के वज़न पर नहीं, पर उसी की प्रतिद्वंदिता के श्रावेश में) इस तरह किया कि वह नाहक क्लेश का विषय बन गया। संक्षेप में उसका यों विस्तार हुश्रा।

पहले वर्ष 'कविता-कलाप' संग्रह सिर्फ पाँच कवियों की कविताश्रों को लेकर प्रकाशित हुश्रा था। उससे इन श्रन्य कवियों में श्रसंतोष होना स्वाभाविक था, जो 'सरस्वती' में श्रधिक स्थान नहीं पा रहे थे। वह श्रसंतोष श्रस्फुट स्वर में द्विवेदी जी के प्रति भी बढ़ रहा था। इसके श्रासार श्रन्यत्र प्रकट भी हो रहे थे श्रौर जितने भी नए मासिक निकल रहे थे, वे खुल्लमखुल्ला द्विवेदी जी के संपादन पर व्यंग्यात्मक टिप्पणियां कसा करते थे। पांडेय लोचनप्रसादजी भी कवि थे श्रौर उठती हुई प्रतिभा के रूप में मान्य बन चुके थे। श्रापने १० जुलाई को एक पत्र गुप्त जी को दिया, "प्रियवर गुप्तजी, प्रणाम, पत्र मिला। श्रस्वस्थता का हाल सुनकर बड़ा दुःख हुश्रा। ईश्वर करे, श्राप शीघ्र श्रारोग्य हों।

"श्रापके २६ पदों में हेरफेर है, तो बस यह चौथा पद। इसे मैंने जोड़ दिया है। दूसरा पद्य 'गुण गुम्फित...निछावर है।' श्रौर तीसरा पद्य 'मेरी भद्दी तुकबंदी'...मैंने श्रापसे संग्रह में निज कविताएँ रखने की श्राज्ञा माँगी थी। श्रापके उत्तर श्राने के पहले ही संग्रह की पांडुलिपि प्रेस में भेज चुका था। फिर श्रापके पत्र से ज्ञात हुश्रा कि श्रापकी कविताश्रों के लिए द्विवेदीजी महाराज से श्राज्ञा लेनी होगी। श्रस्तु

"फिर मैंने द्विवेदी जी महाराज को उनकी श्रस्वस्थावस्था में कष्ट देना उचित न समझा। मुझे दृढ़ विश्वास है वे तथा श्राप कोई इससे बुरा न मानेंगे। भूमिका में 'माला' के कवियों से श्रौर द्विवेदी जी से मैंने क्षमा प्रार्थना की है। विशेष विनय। दया बनी रहे। द्विवेदी जी का स्वास्थ्य श्रब कैसा है? वे कहाँ हैं?...भवदीय, लोचनप्रसाद।"

गुप्तजी ने चिरगाँव से १६ जुलाई को उत्तर दिया, "प्रिय पांडेय जी, कृपा कार्ड पहुँचा। 'स्वर्ग-सहोदर' में हेरफेर करने की मुझे ऐसी जरूरत नहीं जान पड़ती। यह घटाना-बढ़ाना भी श्रावश्यक नहीं दीखता। मुझे खूब याद है कि जब पहले श्राप ने मुझे इस विषय में लिखा था, तभी मैंने यह निवेदन कर दिया था।

---

१ पद्य-प्रबंध, पृष्ठ ४१।
२ कविता-कलाप; श्रौर, जय-भारत।
३ पद्य-प्रबंध, पृष्ठ १०७।
४ पद्य-प्रबंध, पृष्ठ १५।
५ पद्य-प्रबंध, पृष्ठ २३।
६ कविता-कलाप ; जयमारत।
७ मंगलघट, पृष्ठ ६४; जयमारत।
८ मंगलघट, पृष्ठ, ८८।
९ पद्य-प्रबंध, पृष्ठ १२७; मंगलघट, पृष्ठ, १६८।
१० पद्य-प्रबंध, पृष्ठ १६५।

"एक दफा एक राज्य-दीवान ने और एक दूसरे सज्जन ने मेरी कविताओं का संग्रह छपवाने की इच्छा प्रकट की थी। परंतु बिना द्विवेदी जी महाराज से पूछे मैं आज्ञा कैसे देता। जब द्विवेदी जी महाराज को मैंने इस विषय में लिखा, तब जो उत्तर उन्होंने दिया उससे यही मालूम हुआ कि स्वयं ही वे उन्हें (संपादन करके) छपवावेंगे। यह बात पहले भी मैं आपको लिख चुका था। उस समय उनसे पूछ लेना और अच्छा होता। परंतु अब भी समय है। मुझे कोई आपत्ति नहीं, परंतु उनकी आज्ञा लेनी आवश्यक है। वे मेरे कविता-गुरु हैं। अतएव मुझे डर है कि कोई ऐसी बात न हो कि असंतोष का कारण हो। वे आजकल अपने घर हैं। इस मास के अंत तक शायद वे वहाँ रहें।

"हाँ, आपने यह लिखने की तो कृपा ही न की कि उसमें किस-किस की कितनी कविताएँ हैं। खैर।

"दया रखिए। तबीयत पहले से मेरी कुछ अच्छी है। आपका, मैथिलीशरण।"

निश्चय ही, यह एक विचित्र स्थिति थी। कविता-गुरु और सबके उन्नायक द्विवेदीजी ने जिन कविताओं को अपने संशोधनों से 'सरस्वती' में प्रकाशित कर दिया था, उन्हें भी दुबारा संशोधित कर लोचन-प्रसादजी ने एक नई समस्या अपने व्यक्तित्व की यह खड़ी कर दी कि जैसे वे द्विवेदीजी के व्यक्तित्व को भी लाँघने की क्षमता रखते हों। इस स्थिति से क्षुब्ध होकर गुप्तजी ने १९ जुलाई को एक पत्र द्विवेदीजी को लिखा, "...पांडेय लोचनप्रसाद ने मेरी कुछ कविताएँ अपनी एक पुस्तक में संग्रह करने की आज्ञा माँगी थी। इस बात को ८-९ महीने हो गए। श्रीमान को भी मैंने इस की सूचना उसी समय दी थी। मैंने पांडेयजी को लिख दिया था कि वे श्रीमान् से आज्ञा ले लें। पर अभी हाल में उनका एक कार्ड आया था। उसमें लिखा है कि मेरी संग्रह की हुई कविता 'कविता कुसुम माला'[1] नाम की एक पुस्तक इंडियन प्रेससे छप रही है। ९१ कविताएँ उसमें हैं। आपकी ५ कविताएँ मैंने उसमें रक्खी हैं। इसके उत्तर में मैंने लिखा कि श्रीमान् से आज्ञा ली गई है या नहीं? इसका जो उत्तर पांडेयजी ने दिया है उसे और तत्संबंधी अपने पत्र की नकल भी श्रीमान् की सेवा में भेजता हूँ। शेष कुशल। दया रखिए। चरणानुचर : मैथिलीशरण गुप्त।"

इसी पत्र पर द्विवेदीजी ने पेंसिल से लिखकर प्रेस से पूछा है, "यह पुस्तक आपके यहाँ छप रही है? म० प्र० द्वि०।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि पांडेयजी ने इस पुस्तक के प्रकाशन की द्विवेदी जी तक को सूचना नहीं दी थी। कारण क्या था?

पांडेय लोचनप्रसाद ने इस पुस्तक की योजना इस तरह आयोजित की कि बिना द्विवेदीजी के आदेशों को सरमाथे किए ही यह प्रकाशित हो जाय। अतः उन्होंने यह पुस्तक प्रेस के संचालक चिंतामणि घोष को 'समर्पण' में सौंप दी, ताकि वे सहज ही इसे अपनी देखरेख में छाप दें। घोष बाबू ने भी उस समय इसके प्रकाशन में द्विवेदी जी से परामर्श करना आवश्यक नहीं समझा। व्यवसाय का प्रश्न था। दूसरे, वे इस पुस्तक में किसी आंशिक असंतोष की गंध पा भी नहीं सके होंगे। उन्हें यही संतोष बहुत था कि यह संग्रह उन्हें भेंट किया गया था।

"समर्पण :

"श्रीमान् बाबू चिन्तामणि घोष समीपेषु—

"मान्यवर, आज मैं यह कविता-रूपी कुसुमों की अमूल्य माला लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। भिन्न-भिन्न कवियों की हृदय-वाटिका में खिले हुए इन कविता-कुसुमों को चुन-चुन कर मैंने इस पुस्तक-रूपी सूत्र में गूँथ दिया है। इनके अतिरिक्त इस माला में मेरे हृदय-वन-विकसित दो चार वन्य-कुसुम भी हैं। नहीं तो इस मालाकार के यहाँ पड़े-पड़े इस माला के मुरझा कर नष्ट हो जाने का भय है। इसे नष्ट न होने दीजिए। अपने जन की इस स्नेहमयी भेंट को अस्वीकार कर उसे हतोत्साह न कीजिए। विशेष विनय। आपका दया-भिखारी : लोचनप्रसाद।"

---

[1] १९१० में 'खड़ी बोली और ब्रज भाषा का स्फुट कविताओं का संग्रह इंडियन-प्रेस द्वारा प्रकाशित, जिसे बालपुर निवासी पांडेय लोचन प्रसाद ने तैयार किया।'

इस 'दया-भिखारी' होने का पुरस्कार यह मिला कि पुस्तक के प्रारंभ में ही लोचन प्रसादजी पांडेय का चित्र छाप दिया गया !

पर यह पुस्तक द्विवेदीजी के उस समस्त आंदोलन को ही समूल नष्ट करने की तैयारी थी, जिसके आयोजन में उन्होंने और उनके आश्रम-सदस्यों ने पिछले सात वर्षों तक कठोर परिश्रम किया था और इस यज्ञ में अपने को होम दिया था। इस पुस्तक में खड़ी बोली के साथ ब्रजभाषा के कवियों को भी उदारता के साथ स्थान दिया गया था। जो व्यक्ति 'सरस्वती' में स्थान पाने के अधिकारी नहीं थे, वे सहज ही इसमें आ गए। और उन्हीं की सूची में द्विवेदीजी के कोप से बचने के लिए पांडेयजी ने द्विवेदीजी की भी कविताएँ यत्र-तत्र शामिल कर लीं, लेकिन बहुत ही अशोभनीय ढंग से, बिना उनके पद-सम्मान का विचार किए ही !!

अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने के लिए पांडेयजी ने पहले भूमिका अंग्रेजी में लिखी और उसके अनुवर्ती पृष्ठ में इसका हिंदी अनुवाद दिया : "हमारे यहाँ के ग्रेजुएट सज्जन-गण बहुधा यह कहा करते हैं कि हिंदी में दो-तीन काव्य-संग्रहों को छोड़कर स्फुट कविता की कोई पढ़ने योग्य उत्तम पुस्तक नहीं है. . .कवियों से उनकी कविता संग्रहीत करने की ढिठाई की है। आशा है वे हिंदी के उपकार के नाते इसके लिए मुझे क्षमा कर अपनी महानुभावता का परिचय देंगे. . . (इस) की अधिकांश कविताएँ. . .'सरस्वती' से संग्रहीत की गई हैं। इसके लिए मैं सरस्वती-संपादक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का धन्यवादपूर्वक कृतज्ञता स्वीकार करता हूँ। लोचनप्रसाद। २६ जून, मंगलवार, १६०६।"

यह पुस्तक तीन खंडों में विभाजित है—१. स्तुति-प्रार्थना विषयक, २. प्राकृतिक शोभा एवं दृश्य वर्णन तथा ३. शिक्षा और उपदेश।

इस 'उत्तम काव्य संग्रह' में पांडेयजी ने भूमिका के बाद अपनी विद्वत्ता का परिचय पुनः देते हुए कविता के प्रचलित भेद इस तरह दिए हैं : १. गीतिकाव्य, दृश्य-काव्य, संभ्रांत कविता (Poetry of Aristocracy), साधारण कविता (Poetry of Democracy), प्राकृत (Realistic), आदर्श (Idealistic), व्यक्तित्वहीन (Abstract), और व्यक्तित्वयुक्त कविता (Concrete)। गुप्तजी की बढ़ती हुई लोकप्रियता को गौण मानते हुए उनकी केवल ५ कविताएँ शामिल की गई हैं : 'भारत-स्तुति', 'निदाघ-वर्णन', 'वर्षा-वर्णन', 'ग्रंथ-गुण-गान' और 'क्रोधाष्टक'। किंतु ६१ कविताओं में से पांडेयजी ने 'दो चार वन्य-कुसुम' स्वरूप अपनी २६ कविताएँ प्रस्तुत की हैं !!!

इस वर्ष 'रंग में भंग' निकल चुकी थी। 'जयद्रथ-वध' की कथा से सम्बद्ध दो अंश चित्र-प्रदर्शिका के रूप में 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुके थे, गुप्त जी ने उन्हें पूर्ण कथा के रूप में ग्रथित कर और स्वतंत्र पुस्तक का आकार-प्रकार देकर द्विवेदीजी को देखने के लिए भेजा। अपने इस शिष्य की प्रिय प्रगति पर उन्हें पूर्ण संतोष था। १४ मई को अपने लंबे पत्र के नोट में उन्होंने 'जयद्रथ-वध' की पांडुलिपि लौटाते हुए लिखा, "इसे देख लिया। ध्यान से। यत्र-तत्र पेंसल के निशान और सूचनाएँ देख जाइए। उत्तम काव्य है। उत्तरार्द्ध और पूर्वार्द्ध करने की अपेक्षा ७ सर्गों में विभक्त करना अच्छा हुआ। एक खासा काव्य हो गया। इसमें कहीं-कहीं पर क्लिष्टता खटकती है। यथासंभव उसे दूर करने का यत्न कीजिए। नहीं तो टिप्पणियाँ दे दीजिएगा। एक बात का विचार रखिएगा। भाषा सरल हो। भाव सार्वजनीन और सार्वकालिक हों। सब देशों के सब मनुष्यों के मनोविकार प्रायः एक-से होते हैं। काव्य ऐसा होना चाहिए, जो सबके मनोविकारों को उत्तेजित करे—देशकाल से मर्यादाबद्ध न हो : ऐसी ही कविता अमर होती है। शुभेच्छु म० प्र० द्विवेदी।"[1]

२५ मई को इस सूचना की स्वीकृति भेजते हुए गुप्तजी ने लिखा, "प्रणाम, जयद्रथ-वध पहुँचा। ऐसे अस्वस्थता के समय में श्रीमान ने उसे ध्यानपूर्वक देख कर शुद्ध करने का कष्ट उठाया, इसे सोचकर हृदय में जो भाव उठते हैं वे लिखे नहीं जाते। मुझ जैसे अयोग्य को श्रीमान का इतना कृपापात्र बनाना मेरे लिए सर्वथ

---

[1] द्विवेदी-पत्रावली, पृष्ठ ११३।

सौभाग्य का विषय है। श्रीमान को यह पुस्तक पसंद आई। मेरा श्रम सफल हुआ। जहाँ-जहाँ श्रीमान ने बदलने को लिखा, बदल दूंगा। सरलता पर ध्यान रखूंगा। कर्ण के विषय में दो पद्य और बढ़ा दूंगा। लिखे भी थे, न मालूम क्या सोच कर निकाल लिए थे। अब बढ़ा दूंगा। और जरूर बढ़ने चाहिएँ। इस पुस्तक के भावों में जरूर कहीं-कहीं एकदेशीयता है। परंतु वह भगवान श्रीकृष्णचंद्र के विषय में है। राम-कृष्ण के चरित को सार्वदेशीय बनाने के लिए कहानी की तरह लिखना हम लोग बुरा समझते हैं। आशा नहीं, विश्वास है कि श्रीमान भी इसे पसंद करेंगे।

"दूसरे प्रकार की कविताओं के भावों के विषय में सार्वदेशीयता का ध्यान मैं यथासंभव रखता ही हूँ। आगे से इसके लिए और यत्न करूँगा। 'चंद्रहास'[1] चरित को मैंने इसीलिए विशेष कर चुना था कि वह प्रकृति में मिल जाता है। पौराणिक विषयों में प्रायः लोकोत्तरता रहती है। परंतु चंद्रहास का चरित प्रायः सार्वदेशीय हो सकता है। जयद्रथ-वध में जो कल्पना भाग है, उसे श्रीमान ने देखा ही है। कहीं और कुछ घटाने-बढ़ाने की तो जरूरत नहीं है?"

१९ जुलाई को गुप्तजी ने फिर लिखा, "आज जयद्रथ-वध भेजता हूँ। श्रीमान के आज्ञानुसार पुनः संशोधन कर दिया है। कहीं-कहीं टिप्पणियाँ भी लगा दी हैं। जहाँ-जहाँ और त्रुटियाँ हों कृपापूर्वक ठीक कर दीजिएगा।"

इसी वर्ष नवंबर मास में 'मर्यादा' (मासिक पत्रिका) का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इसके पहले ही अंक में 'पूर्वदर्शन' नाम से गुप्तजी के २० पद प्रकाशित हुए।

द्विवेदी जी ने समय-समय पर गुप्तजी को अनेक ग्रंथों के पारायण का आदेश दिया ही था, स्वयं हाली के दीवान की भूमिका पर आधारित एक लेख सन् १९०७ में लिखा भी था और उसी समय प्राप्त आदेश का उत्तर देते हुए १९०७ के प्रारंभ में ही गुप्तजी ने स्वीकार किया था कि उन्होंने हाली का 'मुसद्दस' मंगवाया है। तभी से पौराणिक गाथाओं के आधार पर 'सरस्वती' में जो खंड-काव्य आंशिक रूपों में लिखे जा रहे थे, उन्होंने शनैः शनैः हमारे कवि में एक स्थायी प्रतिक्रिया नियोजित कर दी। जो भी प्राचीन गौरव था, वह महामहिम था और उसके समक्ष वर्तमान विदेशी शासन के अधीनस्थ भारत की महत्ता गुरु अर्थ नहीं दे पा रही थी। 'कारुण्य-भारती', 'हिंदी की वर्तमान दशा', 'स्वर्ग-सहोदर', 'कुकवि-कीर्त्तन', 'नागरी लिपि और हिंदीभाषा', 'कातरोक्ति', 'प्राचीन भारत', 'ब्राह्मणों से विनय', 'सम्बोधन' और 'मृत्यु' ऐसी ही कविताएं थीं। संस्कृत साहित्य व गुसाईं तुलसीदास जी के काव्यों के अध्ययन ने इस प्रक्रिया को और भी मुखर बना दिया। 'मर्यादा' में प्रकाशित 'पूर्व-दर्शन' वह भूमिका थी, जिस पर आगे के वर्षों में परिश्रम और ज्ञान-संवर्धन के आधार पर सर्वोपरि उद्बोधनात्मक काव्य रचने का स्वप्न विकल करने लगा। लोकभाषा में इसी बात को हम सरल भाव से इस तरह कहेंगे कि जैसे गुप्त जी अब देश में अलख जगाने की ही धुन में अपने को खोने से लगे!

१९११ का वर्ष 'सरस्वती' के स्वर्णयुग का वरदान लेकर आया। शासन की अवधि चाहे सीमित हो या शीघ्र, जिस क्षण से ही उज्ज्वलतम उद्भावनाएं सर्वत्र समवेत होने लगती हैं, वही उस शासन को दिव्य प्रकाश देती हैं। किंतु यह नया वर्ष गुप्तजी के निजी जीवन में भी एक वांछनीय मोड़ लाया। वे अपने पारिवारिक जीवन में अभी तक कोरे कवि ही रहे थे, अब वे समर्थ पुरुष के रूप में अग्रणी पद के अधिकारी बनने का सुअवसर पा गए।

'सरस्वती' में पारिश्रमिक के लिए ११वाँ नियम इस तरह था : 'यदि लेखक पुरस्कार देने योग्य समझे जायेंगे और यदि लेखक उसे लेना स्वीकार करेंगे, तो 'सरस्वती' के नियमों के अनुसार पुरस्कार भी प्रसन्नतापूर्वक दिया जायगा।'

'यदि लेखक उसे लेना स्वीकार करेंगे तो'—अपने युग का एक विचित्र सत्य है। यह युग ही ऐसा था, जब हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि का अर्थ बस यही था कि अपनी पूंजी—मानसिक और आर्थिक, राष्ट्र-

[1] पहले इसका एक सर्ग लिख भी लिया गया था, बादमें उसे नाटकका रूप दे दिया गया; प्रथम संस्करण प्रकाशित १९१६ई०।

भारती के चरणों में चढ़ाए जाम्रो। पत्रों से धन लेना, क्योंकि इस समय लेखन रईसों को ही शोभा देता था भ्रौर रईस संपादकों से गिनेचुने दस-बीस रुपए लें भी क्या ?, जैसे रीति नहीं थी। इस तरह, गुप्त जी जैसे भ्रार्थिक समस्याभ्रों से ग्रस्त परिवार के कवि के लिए कल्पना सेपरे की बात थी कि वे पारिश्रमिक की चाह करते। हम देख चुके हैं कि वे प्रतिदिनका स्वाध्याय भ्रौर लेखन 'सरस्वती' को ही पुष्ट करनेके लिए, उसका भांडार समृद्ध करनेके लिए होमे जा रहे थे। यहाँ तक कि, कविता की दीक्षा भ्रौर संस्कार-प्रियता प्राप्त करते हुए पारिश्रमिक की प्राप्ति तो दूर, उल्टे जिस भ्रंक में कविता छपती थी, वह भी खरीद कर ही मंगवाई जाती थी ; तब भ्रन्य भ्रंकों को नियमित खरीद कर पढ़ने के सिवा चारा ही नहीं था। लोकमर्यादा के नाते, विवशता होते हुए भी, लिखकर कमाने की संगति यों सह्य होती भी कैसे ? मुख्य बात यही थी कि 'सरस्वती' जिस भ्राश्रम का रूप लिए हुए कार्य कर रही थी, उसमें तन-मन-धन का होम सभी लेखकों का प्रथम कर्तव्य था !

यह दूसरी बात है कि इस वर्ष द्विवेदीजी के भ्रवकाश-ग्रहण करने के क्षणों में नए संपादक महोदय ने द्विवेदीजी को सूचित किया कि भ्राप भी खूब हैं, गुप्तजी को 'सरस्वती' खरीद कर पढ़नी पड़ रही है। द्विवेदी जी को यह सूचना मिलते ही दुख सा हुभ्रा भ्रौर उन्होंने लिखा कि भ्रविलंब 'सरस्वती' गुप्तजी को फ्री-लिस्ट में पहुँचनी चाहिए। पर गुप्त जी ने प्रतिउत्तर दिया कि भ्रब उसकी जरूरत नहीं है। द्विवेदी जी ने तब गुप्तजी को लिखा, "खूब हैं भ्राप !" बस, उसी के बाद से 'सरस्वती' को खरीद कर पढ़ने से मुक्ति मिली।

पर श्री लोचनप्रसाद पांडेय की 'कविता कुसुम माला' ने काव्य—संकल्प में दृढ़ीभूत इस कवि को हठात् विचलित कर दिया भ्रौर 'सरस्वती'-संचालकों की नीयत पर उसे शक हो गया। इंडियन प्रेस यद्यपि 'सरस्वती' को प्रथम कोटि की पत्रिका बनाने के लिए द्विवेदी जी को हर संभव योग प्रदान कर रहा था, लेकिन उसकी व्यावसायिक नीति भ्रधिक लाभांश कमाने की भ्रोर मुड़ चली थी। 'रंग में भंग' छाप कर उसने केवल ५० प्रतियाँ ही रायल्टी के बतौर कवि को भेंट की थीं, पुरस्कार या पारिश्रमिक के संबंध में वह मौन रहा। शेष प्रतियाँ भ्रावश्यकता पड़ने पर गुप्त जी को खरीदनी पड़ीं। पर संकोच में यह बात भ्राइ गई हो गई, उसके बारे में गुप्त जी ने द्विवेदी जी को कभी लिखा भी नहीं। 'कविता-कलाप' पहले निकल चुका था, उसका पारिश्रमिक भी देने का प्रश्न उसके प्रकाशक ने न उठाया। जब भ्रन्य स्थानों से कुछ व्यक्तियों ने १००) रु० या इससे भ्रधिक पारिश्रमिक देने का निश्चय करते हुए,गुप्त जी के काव्यसंग्रह प्रकाशित करने की माँग की, तो स्वाभाविक-तौर पर इन्होंने भ्रपने गुरु जी से पूछना भ्रावश्यक समझा। द्विवेदी जी ने इस संभावनाको प्रश्रय न देते हुए, यही लिखा कि चाहे इंडियन प्रेस कम ही दे, पर हर पुस्तक, किसी दूसरे को देने के बजाय, उसीके यहाँ ही प्रकाशित की जाय। इसी बीच 'कविता कुसुम माला' जिस चित्य स्वरूप को ले कर प्रकाशित हुई, उस पर भ्रपना विरोध प्रकट करते हुए गुप्त जी ने प्रेस को लिखा कि हमारी कविताएँ प्रकाशित करने से पहले हमारी भ्राज्ञा लेनी जरूरी थी। प्रेसने उत्तर देने की भ्रपेक्षा वह पत्र द्विवेदी जी के पास भिजवा देना उचित समझा। द्विवेदी जी 'सरस्वती' के नाते प्रेस के हित में भ्रपने मित्र-लेखकों को ऊँचा-नीचा समझाने में विश्वास करते थे। उन्होंने एक पत्र गुप्त जी को लिखा। पर वह क्षोभ की सांत्वना न कर सका। गुप्त जी ने ६ नवंबर, १६१०, को उत्तर में द्विवेदी जी से प्रश्न किया,"...'कविता कुसुम माला' इंडियन प्रेस की चीज है सही, पर मेरी कविताएँ भी क्या इंडियन प्रेस की ही हैं ? क्या उन्हें उसने खरीद लिया है ? मान लिया कि कानूनन इस विषय में हम किसी को रोक नहीं सकते। किंतु प्रेस क्या एक कार्ड लिख कर मुझसे इतना भी न पूछे कि वह मेरी भ्रमुक-भ्रमुक कविताएँ भ्रपनी भ्रमुक पुस्तक में छापता है। भ्रौर देखिए, कि मेरे कार्ड की पहुँच तक उसने न दी। उसे श्रीमान् के पास भेज दिया। इससे जान पड़ता है कि मेरी कविताभ्रों पर मेरा स्वत्व स्वीकार करना वह नहीं चाहता भ्रौर मुझसे बिना पूछे मेरी कविताएँ न छापना भ्रागे के लिए भी स्वीकार करना नहीं चाहता। इसीसे शायद मेरे प्रश्नों का उत्तर उसने नहीं दिया। खैर, प्रेस ने जो किया, भ्रच्छा किया। भ्रब मुझे इस विषय में उससे कुछ नहीं कहना है। श्रीमान् के लिखने पर मुझे संतोष है। जब तक सरस्वती से श्रीमान् का सम्बन्ध है, तब तक उसे भ्रपना समझ कर मैं उसकी सेवा के लिए सब प्रकार से प्रस्तुत हूँ। जानकी वल्लभ

से प्रार्थना है कि जब तक मैं जीवित रहूँ सरस्वती से श्रीमान् का ऐसा ही सम्बन्ध बना रहे और मैं इसी प्रकार किंबहुना इससे भी अधिक उसकी सेवा के लिए सक्षम हो सकूँ। बस।......"

इससे पूर्व ८ अगस्त, १९१०, को गुप्त जी ने अपने पत्र में द्विवेदी जी को सूचित किया था, "प्रणाम,... श्रीमान् की सूचनाओं वाला इंडियन प्रेस का पत्र पहुँचा। पुरस्कार के विषय में नम्रतापूर्वक मेरा निवेदन है कि प्रेस का पुरस्कार मुझे मंजूर नहीं। यहाँ सब की राय है कि वह पुस्तक स्वयं ही छपा ली जाय। परंतु पुस्तक श्रीमान् को ही यदि देना हो तो यों ही भले दे दीजिए। मैं कुछ न लूँगा। यही नहीं, जितनी कापियाँ मुझे वितरण करनी होंगी, वे भी मैं बिना मूल्य नहीं लूँगा। खरीद कर लूँगा। यह निश्चय है। प्रेस के पत्र को पढ़ कर ज्ञात होता है कि 'रंग में भंग' की जो प्रतियाँ प्रेस ने मुझे दी थीं, वे कापीराइट के बदले में थीं। खैर, ठीक है। मंडली को लिख दिया कि मैं पुस्तक न दे सकूँगा। शेष कुशल। दया रखिए। चरणानुचर, मैथिलीशरण गुप्त।"

अपने एक दूसरे पत्र में गुप्त जी ने लिखा, "इंडियन प्रेस ने 'रंग में भंग' की एक प्रति मेरे पास भेजी है और लिखा है—'रंग में भंग' दुबारा छपेगी। यदि आप इसमें कुछ फेर-फार करना आवश्यक समझें तो कर दीजिएगा। इसीलिए उसकी एक कापी आपकी सेवा में भेजी जाती है। कृपया शीघ्र लौटाइएगा। पहली बार की छपी सब कापियाँ चुकने पर आ गईं।

"मैंने इसका उत्तर अभी तक नहीं दिया। कारण कि इस विषय में मुझे श्रीमान् से कुछ पूछना है। वह यह है कि इस पुस्तक को अब स्वयं छपा लिया जाय तो कैसा? इसमें कुछ बुराई तो नहीं? और ऐसा हो सकता है या नहीं? यदि प्रेस को उसका स्वत्व न भी प्राप्त हो और श्रीमान् की इच्छा हो कि यह पुस्तक सर्वदा के लिए प्रेस को दे दी जाय, तो वैसा ही कर दीजिए। कोई हर्ज नहीं। दे दीजिए। मैं इस विषय में कुछ नहीं समझता। जो श्रीमान् उचित समझें आज्ञा देने की कृपा कीजिए। श्रीमान् जो आज्ञा देंगे, वही प्रेस को लिख दूँगा। जो कहीं कुछ संशोधन करना होगा कर दूँगा।

"तो कृपा कर अपनी पसंद के दो-चार संस्कृत छंदों के नाम भी बतला दीजिए। मैं यथा शक्ति उनका प्रयोग करूँगा। इन पद्यों में जो पद्य अनावश्यक जान पड़ें, कृपा कर काट दीजिएगा। अथवा और कोई बात हो हाशियों पर लिख दीजिएगा। अब जिस तरह श्रीमान् की आज्ञा होगी, मैं उसी तरह इसे लिखूँगा। कष्ट के लिये मैं क्षमा प्रार्थना करता हूँ। मुझे विश्वास है और पूरा विश्वास है कि आपके दिखाए पथ पर चल कर मैं अवश्य सफलता प्राप्त कर सकूँगा। कृपाकांक्षी : मैथिलीशरण।"

द्विवेदी जी के सामने भी एक भावना-मिश्रित समस्या थी। इंडियन-प्रेस और गुप्त जी, दोनों ही उनके अपने आत्मीय थे। उन्होंने अपना निर्णय गुप्त जी के पक्ष में दिया।

इधर प्रेस के मालिक चिंतामणि घोष ने गुप्त जी के कुछ पद्यों को उग्र और अनावश्यक बताया था। इस 'अनावश्यक' शब्द पर गुप्तजी को बड़ा क्रोध (ठेठ बुदेंलखंडी!) आया। इस समय तक 'जयद्रथ-वध' तैयार था। चाचा जी व्यापारिक बुद्धि के आदमी थे। उन्होंने अपने सिद्धकवि भतीजे से पूछा, "तुमई काए न छपवा लो अपनी किताब?" कवि का आग्रही आत्मविश्वास भी इसी दिशा में कुरेद रहा था। अन्य स्थानों से जो कविता-पुस्तक माँगने के संकेत आ रहे थे, उनसे भी यही सूझ दृढ़ हो रही थी कि अपनी पुस्तकें अब स्वयं छपवा ली जायें। लेकिन घर की स्थिति को देखते हुए कहने का साहस किसी से न होता था। पर अब स्वयं चाचा जी ने जोखिम लेना उचित समझा था; 'सरस्वती' में प्रकाशित हो रही अपने इस भतीजे की प्रशंसाओं से वे भी इसके प्रति उत्साहित हो चले थे। कहीं से, इधर-उधर से, व्यवस्था कर वे १००) रु० उधार लाए और हिसाब कर तय पाया कि पहले सिर्फ 'जयद्रथ-वध' की यही ६०० प्रतियाँ ही छपवा ली जायें। फलत: यही पुस्तक अपनी ओर से प्रकाशित करने के लिए इंडियन-प्रेसको ही छपनेके वास्ते दे दी गई। पर उसने 'रंग में भंग' की दुबारा प्रकाशन-स्वीकृति न मिलने पर, चिढ़ कर पुस्तक इतनी भद्दी छापी और की गई शुद्धियों को भी प्रूफ में बिना शुद्ध किए छोड़ दिया कि देख कर सभी का जी चिढ़ गया। पर उपाय आगे तो था, इस पर मौन ही रहना उचित था; इस प्रकार द्विवेदी जी का इंडियन-प्रेस के प्रति आग्रह भी जो रहा-सहा था, अब

समाप्त हुआ समझा गया। १९११ की 'सरस्वती' के मार्च अंक में तृतीय आवरण-पृष्ठ पर इस पुस्तक का विज्ञापन इस प्रकार प्रकाशित हुआ है : "हिन्दी-प्रेमियों के सुपरिचित बाबू मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित, श्रीमान् पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी जी को अर्पित और उनके चित्र-सहित अति चिक्कण[1] और पुष्ट कागज पर इंडियन प्रेस से मुद्रित रंगीन कवर से सुशोभित सात सर्गों में समाप्त। बोलचाल की भाषा में वीर और करुणरस का अपूर्व ग्रंथ।"

यह पुस्तक देखते ही देखते बिक गई। लगभग १०० प्रतियाँ इच्छित स्थानों पर भेंट के लिए भी सुविधानुसार भेज दी गईं। गुप्त जी ने इसके प्रकाशन की सफलता की सूचना देते हुए १३ जुलाई १९११ को द्विवेदी जी को लिखा, "श्रीमान् यह सुन कर खुश होंगे कि 'जयद्रथ-वध' की लागत वसूल हो गई। और कोई १०० प्रतियाँ उसकी मुफ्त बाँट दी गईं। २५० से अधिक कापियाँ अभी और हैं। माँगें भी महीने में दस-पाँच आ ही जाती हैं।"

'गुरु-दीक्षा' के रूप में 'जयद्रथ-वध' के 'समर्पण' में गुप्त जी ने लिखा—

"सरस्वती' सम्पादक श्रीमान पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी जी महाराज की सेवा में—

आर्य्य !

पाई तुम्हीं से वस्तु जो कैसे तुम्हें अर्पण करूँ ?
पर क्या परीक्षा-रूप में पुस्तक न यह आगे धरूँ ?
अतएव मेरी धृष्टता यह ध्यान में मत दीजिए,
कृपया इसे स्वीकार कर कृतकृत्य मुझको कीजिए।

अनुचर, मैथिलीशरण।"

इस समर्पण में राष्ट्रभारती के उस यज्ञ की सोल्लास सफलता का उद्‌घोष था, जिसमें कुछ भाग्य-निर्णायक साहित्यकार भावी पीढ़ी की मंगल-कामना के निमित्त अखंड धूनी रमाए बैठे थे !

हिन्दी की यह पहली कविता पुस्तक है, जो सर्वाधिक लोकप्रिय हुई है; हिन्दीका यह पहला सफल-प्रबंध-काव्य माना ही गया है। २५ वर्ष पहले १८८६ में, श्रीधर जी पाठक की **'पहली हिन्दी कविता पुस्तक'** 'एकांत-वासी योगी' प्रकाशित हुई थी। पहले हम 'जयद्रथ-वध' की भूमिका देखें और उसके संतुलन में २५ वर्ष पहले श्रीधर जी पाठक की भूमिका से उसका संतुलन करें। गुप्त जी ने अपनी इस पुस्तक की भूमिका में लिखा—

"हिन्दी में आजकल ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है जिनके द्वारा हमें अपनी पूर्वापर स्थिति का यथार्थ ज्ञान हो कर सब प्रकार की उन्नति करने में प्रोत्साहन मिले। इसके लिये प्रयत्न करना प्रत्येक साहित्य-सेवी और देश-वत्सल मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है, प्रधान धर्म है।

"प्रिय पाठकगण ! न तो हम में लेखक होने की योग्यता है और न कवि बनने की शक्ति ! तो भी हमारी तुच्छ रचना को कृपापूर्वक सहृदय जनों ने अपनाया है। हमारे लिए यह कम सौभाग्य की बात नहीं है। इसी उत्साह से उत्साहित हो कर आज हम यह 'जयद्रथ-वध' नामक खंड-काव्य प्रकाशित कराते हैं। इसके लिखने में हमें कहाँ तक सफलता हुई है इसका विचार कविता-मर्मज्ञ जनों पर ही छोड़ कर हम आशा करते हैं कि हमारी अन्य रचनाओं के समान इसे भी वे दया-दृष्टि से देख कर हमको कृतार्थ करेंगे।

"यदि यह पुस्तक कुछ भी उपयोगी समझी गई, जिसकी हमें अपनी योग्यता के विचार से बहुत कम संभावना है, तो हम अपना परिश्रम सफल समझ कर शीघ्र ही कोई और पुस्तक प्रकाशित करेंगे। चिरगाँव (झाँसी), आश्विन कृष्ण १० सं० १९६७।"

'एकांतवासी योगी' की भूमिका में पं० श्रीधर जी पाठक ने लिखा था, "हिन्दी के प्रेमी पाठक ! यह एक प्रेम कहानी आपको भेंट की जाती है—निस्संदेह इसमें ऐसा तो कुछ नहीं जिसे यह आपको एक ही बार में

[1] अर्थात् आर्ट पेपर।

अपना सके, अथवा आपके इस नित्य नवीन रसान्वेषी मनोमधुप को सहज ही लुभा सके। केवल दो प्रेमियों के प्रेम का निर्वाह मात्र है—पर हम को और क्या चाहिए? हम-तुम भी तो एक हिन्दी के प्रेमी हैं, बस यही सम्बन्ध इस भेंट के लिये बहुत है।"

दोनों भूमिकाओं की तुलना में यह कहना बहुत अर्थ नहीं रखता कि इस भूमिका के बाद 'जयद्रथ-वध' की भूमिका हिन्दी-काव्य की दीर्घ प्रशस्त यात्रा की, २५ वर्षों के बाद, प्रथम पड़ाव थी।

'जयद्रथ-वध' के प्रकाशन के बाद गुप्त जी का काव्य-संकल्प काव्यदीप्ति के स्तर पर आरूढ़ हो गया। अब काव्यसृजन जीवन में स्वावलंबन भी बन गया, मर्मस्पर्शी अनुभूतियों को उपजाऊ भूमि मिल गई। 'जयद्रथ-वध' का पहला संस्करण समाप्त होते ही दूसरा संस्करण बंबई के निर्णयसागर प्रेस में छपने के लिए भेज दिया गया और वहीं से 'रंग में भंग' भी छपवा लिया गया। यद्यपि अब भी सर्वत्र कविगण धनीमानी और सामंतवर्ग के आश्रित एक निराले स्वर में रह रहे थे, लेकिन हमारे इस कवि ने पूरे स्वाभिमान के साथ राष्ट्रभारती की सेवा में अपनी पुस्तकों के स्वयं प्रकाशन करने का मार्ग ढूंढ़ लिया था। धनीमानी लोगों का आश्रय इसलिए भी था, ताकि उनकी कृपा के बल पर पुस्तकें यदा-कदा छपती रहें। पर इस कवि के चाचा जी अब बड़े स्फूर्त स्वर में यही पूछने लगे थे, "कछु और लिखौ है?" उनका मंशा यही था कि उसके प्रकाशन की भी व्यवस्था अपने ही हाथों की जाए . . .

'जयद्रथ-वध' उस राष्ट्रभारती के काव्य का पहला चरण था, जो देश की सभी भाषाओं का समग्ररस ले कर पौष्टिक खाद्य ग्रहण कर रहा था। हिन्दी किसी एकांत प्रांत की एकांगी दृष्टि कभी रही भी नहीं। संस्कृत सार्वदेशीय भाषा थी। अपभ्रंश आदि भी सार्वदेशीय भाषाएँ थीं। इन्हीं की जड़ों से इसका अंकुर निकला था। 'सरस्वती' के आश्रम में जिस राष्ट्रभारती का सुघर सरूप तैयार हो रहा था, उसमें देश की सभी भाषाओं की चहुँमुखी उन्नति और प्रगति का स्वर भरा जा रहा था। हरीगीतिका छंद रामायण में भी है और यह हमें उर्दू की गज़लकी भाँति सहज मिलता था। अजमेरीजी अच्छे गायक थे, उन्हें यह गानेमें अच्छा बैठा—गेय होने के कारण यही जँचा भी कि इसकी लोकप्रियता बहुत सधेगी। उधर 'केशों की कथा' में इसकी प्रसिद्धि ने जैसे इस छंद को प्रमाण-पत्र दे दिया था। पर यह भी सत्य है कि यह छंद इन दिनों मराठी में भी अच्छा प्रयुक्त हो रहा था। पर इस छंद का राष्ट्रव्यापी कांतिमय निखार तो 'जयद्रथ-वध' में ही हो कर आया।

लाला भगवानदीन बिहारके गया नगरसे 'लक्ष्मी' मासिक पत्रिका निकालने लगे थे। वे गुप्तजीके प्रशंसकों में से थे। उन्होंने 'जयद्रथ-वध' देख कर 'एक आत्मीय मित्र के नाते', उसकी कुछ भूलों की ओर संकेत करते हुए, गुप्त जी को सूचित किया। चिरगाँव से जो लंबा उत्तर दिया गया, उससे पता चलता है कि गुप्त जी इस समय तक अपने काव्य के श्रम के प्रति कितनी अटूट आस्था रखते थे। आपने ७ जनवरी, १९११, को लिखा, "प्रिय लाला जी, जय जानकी जीवन। आपका २० दिसम्बर का कृपा-पत्र जब यहाँ आया, तब मैं यहाँ नहीं था, प्रयाग गया था। आपका पत्र यहाँ से मेरे पास भेजा गया था, पर खेद है कि किसी कारण से वह पत्र मुझे वहाँ न मिल सका। यहीं वापस आ कर मैंने आपका पत्र पाया। इसीसे उत्तर में कुछ विलंब हो गया, आशा है आप क्षमा करेंगे।

"बहुत दिन हुए मैंने 'श्वासोच्छ्वास' शीर्षक एक कविता आपकी सेवा में भेजी थी। मुझे भी आश्चर्य है कि वह आपको क्यों न मिली। मेरे पास उसकी प्रतिलिपि होगी तो देखूंगा। यदि आपको वह पूर्व-प्रेषित कविता मिल गई हो अथवा मिल जाय तो कृपा कर के मुझे सूचना दीजिएगा।

"मैंने आपका पत्र पढ़ा। आपने मेरी तुच्छ रचना को 'बड़े प्रेम' से पढ़ा, यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है। 'मित्रभाव' से आप मेरी कविताको 'अद्वितीय, सर्व भाँति सराहनीय, अनुकरणीय और संग्रहणीय' कहते हैं, पर 'सत्य समालोचक की दृष्टिसे' आपको कुछ ऐसी त्रुटियाँ भी मिली हैं, जो आपकी राय में मेरी कवितामें न होनी चाहिए थीं। आप मुझ को 'लब्ध-प्रतिरठ कवि' मानते हैं, यह आप की उदारता और दया है, नहीं तो मैं किस योग्य हूँ। आपकी इस कृपा के लिए मैं कृतज्ञता-ज्ञापन पूर्वक धन्यवाद देता हूँ।

"यह जानकर मुझे और भी खुशी हुई कि आप 'निज सम्पादित पत्रिका लक्ष्मी में' जो समालोचना प्रकाशित करते हैं सत्य-समालोचक की दृष्टि से करते हैं। परमात्मा से प्रार्थना है कि आप अपने इस व्रत पर हमेशा अटल बने रहें।

"भला ऐसा हो सकता है कि मैं त्रुटियाँ दिखाने के लिए आपसे अप्रसन्न होऊँ। आप तो मेरे हित के लिए ही ऐसा करने चले हैं। फिर कौन ऐसा होगा जो अपने हितैषी पर नाराज हो ?

"मैं यह नहीं कहता कि मेरी रचना सर्वथा निर्दोष है, मैं क्या कोई भी यह दावा नहीं कर सकता। 'दृष्टं किमपि लोकेस्मिन्निर्दोषंनं च निगुणम्'। फिर मेरे जैसे साधारण मनुष्य से भूल हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर माफ कीजिए आपने जो त्रुटियाँ दिखलाई हैं, उन पर मुझे सन्तोष नहीं हुआ। इस धष्टता के लिए मैं आप से फिर क्षमा माँगता हूँ। मैं यह भी नहीं मान सकता कि आप जैसे विद्वान् उन त्रुटियों का समाधान कर सकें।

" 'शिक्षा तरंगों में बहो' आदि प्रयोगों में मुहाविरे की क्या बात है ? जो प्रयोग नई रीति पर हिन्दी में प्रयुक्त किए जायँ और वे अशुद्ध न हों, तो क्या वे अनुपयुक्त कहे जा सकते हैं ? उन्हें अनुपयुक्त कहना मेरी मन्द बुद्धि के अनुसार मानो भाषा के विस्तार में बाधा डालना है—उसे एक संकुचित सीमा में रख कर शृंखलाबद्ध करना है। जब 'दुःखोदधि में मग्न होना', 'सुखार्णव में समा जाना', 'सोच-सागर में डूब जाना' और 'प्रेमापगा में बहना' बामुहाबिरा है, तब बेचारी 'शिक्षा-तरंगों' ने क्या अपराध किया है ? क्या समुद्र और नदियों की तरंगें दुःख, सुख, सोच और प्रेम के ही साथ बाँध दी गई हैं ? जिन प्रयोगों के विषय में आपने लिखा है कि ये कहाँ तक उपयुक्त हैं, सो इस विषय में यहाँ पर मैं क्या राय दे सकता हूँ ? इसका तो आप ही लोग विचार कर सकते हैं। किंतु हाँ, इतना जरूर कहूँगा कि इस विषय में क्या कोई नियम निश्चित हुए है ? बेशक मेरी लेखनी से कभी-कभी संस्कृत के मुहाबिरे निकल जाते हैं, पर उनके अच्छे-बुरे होने का निर्णय भी विद्वान् ही कर सकते हैं। यदि वे अच्छे सिद्ध होंगे तो ग्राह्य रहेंगे अन्यथा उनके विषय में विद्वानों का जैसा विचार होगा, स्वीकार किया जायगा। अभी तो बेचारी हिन्दी की दशा ही अनस्थिर है और जब उर्दू के मुहाबिरे ग्राह्य हो रहे हैं तब ऐसी दशा में कुछ संस्कृतके मुहाबिरे भी विद्वानों के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित किये जायँ तो क्या अनुचित है ? मैं संस्कृत मुहाबिरों के लिए हठ नहीं करता, इस विषय में विद्वानों की जैसी सम्मति होगी, प्रसन्नता से मैं उसे शिरोधार्य करूँगा।

"कोई-कोई लेखक अपनी समझ के अनुसार अपनी भाषा को जोरदार बनाने के लिए—अपने भावों का पाठकों के चित्त पर विशेष रूप से प्रभाव डालने के लिए—एक विलक्षण प्रकार से शब्दस्थापना करता है। फिर दूसरा लेखक चाहे भले ही उस रीति को पसन्द न करे, पर वह हमेशा उसका ध्यान रखता है। जो शब्द उचित अर्थ देते हैं उनके प्रयोग करने की रीतियाँ लेखकों की रुचि-विशेष पर अवलंबित रहती हैं। इस बात के यथेष्ट उदाहरण हैं। कहने का मतलब यह है कि जिस एक वाक्य को एक लेखक पसंद करे, बहुत संभव है कि दूसरा उसी को पसंद न करे। 'मर्यादा' में मेरी 'पूर्व दर्शन' शीर्षक कविता छपी थी, उसके एक पद्य का उत्तरार्द्ध इस प्रकार है :

बस टिमटिमाता दीख पड़ता आज जीवन-दीप है,
हा दैव ! क्या रक्षा न होगी सर्वनाश समीप है।

आपको यह पसंद नहीं। आप की राय में मैंने ऐसा लिख कर असावधानी की है। पर मेरी राय में ऐसा नहीं है। मुझे ऐसा लिखना पसंद है। उक्ति तो है अपनी-अपनी, मत है अपना-अपना।

"मुहाबिरे आदि के सम्बन्ध में आपके प्रश्नों का इकट्ठा उत्तर संक्षेप से दिया गया है। जुदा-जुदा उत्तर देने से अधिक विस्तार हो जाता। यदि आपकी आज्ञा जुदा-जुदा उत्तर देने के लिए होगी, तो वैसा ही किया जायगा। दूसरी बातों पर मेरा निम्न लिखित निवेदन है :

" 'धिक्कार मढ़ता जायगा' यह प्रयोग आपकी राय में जबरदस्ती-सा जान पड़ता है। पर मुझे इस बात का स्मरण भी नहीं है कि यह प्रयोग जबरदस्ती लादा गया था या अनायास ही आ गया था। आप तो

कवि हैं इस बात को अच्छी तरह से जानते होंगे कि जब कविता लिखने की उमंग चित्त में उठती है तब जबरदस्ती और जेरदस्ती का झगड़ा नहीं रहता। एक प्रकार की उन्मत्तता की दशा से अनायास ही लेखनी या मुँह से शब्द निकल जाते हैं। जहाँ कहीं कुछ सोचना पड़ता है वह विशेष करके छंदों और अनुप्रास आदि के ही कारण। अतएव कभी-कभी शब्दों को घुमा-फिरा कर भी बात कहनी पड़ती है। जैसे—

'बिजनौर के श्रीतेल सहित सुर की कन्या'[1]

में यह भी मानता हूँ कि इन प्रतिबंधकताओं के कारण कहीं-कहीं पद्य में प्रयुक्त शब्दों की दशा गद्य की-सी नहीं रहती। ब्रजभाषा की तो बात ही जाने दीजिए, बोलचाल की भाषा की कविता में भी, जिस कवि के पद्यों में से कहिए, ऐसे अनेक प्रयोग दिखाये जा सकते हैं, जो जबरदस्ती के प्रयोगों से भी परे कहे जा सकते हैं और जिनके अर्थ करने में कुछ-न-कुछ खींचतान किये बिना काम नहीं चलता। अतएव 'धिक्कार मढ़ता जायगा' जबरदस्ती का ही प्रयोग सही, पर क्या इससे इच्छित अर्थ नहीं निकलता?

" 'यह दुःख आया है हमें' यह आपको अशुद्ध-सा जान पड़ता है। शायद हो। परंतु जब 'यह तो बड़ी आफत आई', 'यह कहाँ का रोग आया' और 'उन पर बड़ा संकट आया' आदि वाक्य बोले जाते हैं तब 'यह दुःख आया' ही क्यों अशुद्ध-सा है? खुशी की बात है कि इस विषय में आपका विचार भी संदिग्ध है।

" 'धारा' शब्द को मैंने कहीं भी पुल्लिंग नहीं माना है और न मान ही सकता हूँ। पेज ५१ के ५८वें पद्य के उत्तरार्द्ध का मतलब यह है: 'तब दोनों आँखों से अविरल सलिल धारा बहा कर और कुछ आलंब-सा पा कर याज्ञसेनी ने इस तरह कहा।'

" 'परतंत्रता का जाल क्या टूटा नहीं' इसमें जाल का टूटना कैसे अयुक्त है, सो मेरी समझ में नहीं आया। जाल क्या टूटता नहीं है?

" 'सुरसरी यह टूटती' यह आपको कुछ भद्दा-सा जान पड़ता है। लाला जी, भद्देपन की कुछ न कहिए, यह बात तो बहुत दिन हुए सिद्ध हो चुकी है[2]। परंतु मैं सत्य कहता हूँ इस पद्य को लिख कर मेरा चित्त बहुत ही संतुष्ट हुआ था। खेद है, इसीमें आज 'भद्दापन' दोष निकल आया! आपका कहना है कि बहने या गिरने के अर्थ में टूटने का प्रयोग यहाँ पर कुछ भद्दा-सा जान पड़ता है, परंतु मेरी समझ में यहाँ पर बहने और गिरने में वह मजा नहीं है, जो कि टूटने में है। 'गिरने' के बदले टूटने का प्रयोग कहीं-कहीं अच्छा समझ कर किया जा रहा है। बिहारी का एक दोहा सुनिए,

'हेरि हिंडोरे गगन ते परी परी सी टूट।
धरी धाय पिय बीच ही करी खरी रस लूट।'

खोजने पर ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

" 'मानों प्रबल तीनों बली विधि, विष्णु और महेश थे' इसमें आपको उपमा-धर्म-दोष जान पड़ता है। आपका कहना है कि ब्रह्मा की गणना वीरों में किसी कवि ने नहीं की। इस पर मेरा निवेदन है कि जो बात आपने ब्रह्मा के विषय में कही है वही बात 'कहते हुए यों पार्थ के दो बूंद आँसू गिर पड़े—मानो हुए दो सीपियों से व्यक्त दो मोती बड़े' इस स्थान पर क्यों न कहीं? यहाँ भी तो नेत्रों को सीपियों की उपमा दी गई है। मैं इस उपमा (को) बिल्कुल नयी समझता हूँ। क्या आपने और कहीं ऐसी उपमा देखी है? मैंने तो आज तक कहीं नहीं देखी। जो हो, आपने इसे सदोष नहीं समझा। यदि आप इसमें भी 'उपमा-धर्म-दोष' समझते, तो जरूर लिखते। जब आपने जरा-जरा-सी बातें लिखी हैं, तब आप इसे कैसे छोड़ते। खैर, इसी तरह उस स्थान पर वह ब्रह्मा की नई उपमा दी गई है। उस उपमा से सिर्फ उपमेयों की शक्ति की उत्कृष्टता दिखाने से ही मेरा मतलब है। क्या लेखक के भाव को जरा भी न सोचना चाहिए? यह बात भी ध्यान में रखने के योग्य है कि मैंने ब्रह्मा को अकेला कर के उपमा नहीं दी है। फिर ऐसा भी नहीं है कि सुर ज्येष्ठ ने कभी संग्राम

[1] यह भगवानदीन जी की ही कविता-पंक्ति थी।
[2] यह १९०६ वाले 'भद्दी कविता' विषयक लेख की ओर संकेत-भरी गूँज थी।

में विष्णु और शंकर का साथ न दिया हो। एक बार त्रिपुरासुर-संग्राम की बात याद कीजिए, फिर इस स्थिति पर विचार कीजिए। बस।

"मैं इस बात का भी कायल नहीं हूँ कि मुझे कोई नई बात सूझ पड़े, तो मैं उसके लिए पुराने कवियों का आधार खोजता फिरूँ। महाकवि बिल्हण ने इस विषय में क्या ही अच्छा कहा है :

'नवीन भावेन पुराणरीति व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम्
अत्युन्नति स्फोटित कंचुकानि वन्द्यानि कान्ता कुच मण्डलानि।'

"छठवें सर्ग के १८ वें पद्य में अलंकार-निर्वाह की, आपकी राय में, कुछ त्रुटि-सी है। प्रार्थना है, कि एक पद्य में दो उपमायें या उत्प्रेक्षायें क्या नहीं हो सकतीं? या एक पद्य में दो या तीन अलंकार क्या नहीं होते? उस पद्य में अर्जुन की दो भिन्न-भिन्न आस्थाओं पर भिन्न-भिन्न से उत्प्रेक्षायें हैं।

" 'भरने लगे सब सैनिकों के हृदय हर्ष-प्रवाह से' इस पर आपका कहना है कि 'प्रवाह से किसी वस्तु का भरना असंगत सा जँचता है।' पर मेरी समझ में कुछ भी असंगत नहीं। प्रवाह जिस स्थान पर आकर गिरेगा, वह स्थान उससे भरेगा नहीं, तो क्या रीत जायगा!

"प्रथम सर्ग के ६ वें पद्य के दूसरे चरण में 'प्रकटित' शब्द आपको अनावश्यक जँचता है। क्या मैं विनीत भाव से पूछ सकता हूँ कि क्यों? अपने चाचाओं से अभिमन्यु कह रहा है कि आप सोच न कीजिए, आपके प्रवेश के लिए मैं व्यूह में द्वार प्रकट कर दूँगा।

"अफसोस है कि 'यथायथ' शब्द पर आपको छापे की भूल का संदेह हुआ। वह शब्द शुद्ध है। उसके मानी हैं : यथार्थ, जैसा चाहिए वैसा, ठीक-ठीक।

"निस्संदेह क्लिष्ट शब्दों के कारण प्रसाद गुण को धक्का लगता है यह मैं स्वीकार करता हूँ। और इस विषय में मैं प्रयत्नशील भी हूँ। पर क्या करूँ, कहीं-कहीं अर्थ के लोभ से विवश हो कर मुझे वैसे शब्द रखने पड़ते हैं। इसका एक उदाहरण लीजिए :

कर वन्दना श्रीकृष्ण की वे शीघ्र ही रथ पर चढ़े,
बलवान वृत्रासुर निधन को मेघवाहन सम बढ़े।

इसमें मेघवाहन शब्द जरूर कुछ क्लिष्ट है। पर क्या किया जाय, 'इन्द्र' या 'सुरराज' कहने से यहाँ पर वह मतलब नहीं निकल सकता, जो मेघवाहन से निकलता है। शब्दों की महिमा ही तो है। 'इन्द्र' कहने से अर्जुन के लिए इन्द्र की उपमा आ जाती, पर 'मेघवाहन' कहने से वह तो हो ही जाती है। साथ-साथ उनके रथ के लिए मेघ की उपमा हो जाती है। अब कृपापूर्वक आप ही बतलाइए कि इसमें कुछ विशेषता है या नहीं। फिर भी मैं ऐसे शब्दों पर प्रायः टिप्पणी दे देता हूँ। एक बात और है : 'भाषा की क्लिष्टता और सरलता पढ़नेवाले के भाषा-ज्ञान की न्यूनाधिकता पर अवलंबित होती है।' इस विषय में राय देवी प्रसाद जी (पूर्ण कवि) ने अपने 'धाराधर-धावन' की भूमिका में जो कुछ लिखा है, उसे पढ़ने के लिए आपसे प्रार्थना करना ही मैं अलम् समझता हूँ।

"अरबी-फारसी के शब्दों के प्रयोगों के लिए आपने जो कुछ लिखा है उसके सम्बन्ध में मेरा यह निवेदन है कि ऐसे शब्द जो हिन्दी में अधिकता से व्यवहृत होते हैं, वही मेरी लेखनी से निकलते हैं। हमेशा, जरा, खूब, और जोर आदि ऐसे शब्द हैं कि हिन्दी-शब्द से हो गये हैं। उनका प्रयोग करना मैं बुरा नहीं समझता। इसके सिवा जो शब्द हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं, वे नहीं लिखता और न लिख ही सकता हूँ। क्योंकि मैं अरबी या फ़ारसी जानता ही नहीं। तथापि जो ऐसे शब्द किसी ऐसे स्थल पर प्रयुक्त किये गये हों, जहाँ वे अच्छे न मालूम होते हों, तो कृपा कर आप बतलाइए, मैं उन पर यथोचित विचार करूँगा।

"आपकी राय है कि यह पुस्तक पार्थ-प्रतिज्ञा से शुरू की जाती और प्रसंग फिरा कर अभिमन्यु-वध और उत्तरा-उत्ताप का वर्णन किया जाता तो वीर-रस की सामग्री की योजना और अधिक सुन्दर हो जाती। पर आपकी इस बात से, खेद है, मैं जरा भी सहमत नहीं हूँ। आशा है कि आप इस किंचित् कठोर वाक्य के लिए

मुझे क्षमा करेंगे। यदि आपके कथनानुसार पार्थ-प्रतिज्ञा से शुरू कर के फिर प्रसंग फिरा कर अभिमन्यु-वध और उत्तरा-उत्ताप लिखा जाता, तो मेरी जड़ताक्रांत बुद्धि के अनुसार इस कविता की सारी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती। वे विषय बिल्कुल बेजोड़ से जान पड़ते। यदि दो-चार या दस-बीस पद्यों में वे विषय समाप्त हुए होते तो ऐसा भी हो सकता, पर इतनी कथा बीच में छोड़ना कहाँ तक उचित होता। इसका विचार करने की कृपा कीजिए। उपन्यासों में ऐसा होता है, पर इस पुस्तक में वह क्रमभंग-कारक जान पड़ता और ऐसी दशा में आश्चर्य नहीं कि आप ही उसे उद्वेगजनक कहने लगते। सुंदर योजना की बात तो जाने ही दीजिए।

"अन्त में मैं फिर निवेदन करता हूँ कि मैंने ऊपर जो लिखा है उससे यह न समझिए कि मुझसे भूल नहीं हो सकती, मैं जो कुछ लिखता हूँ वह बिल्कुल ठीक होता है। और मेरी इस पुस्तक में त्रुटियाँ न होंगी। नहीं, महाकवियों से भी जब भूलें हुई हैं तब मेरी बात ही क्या है। मुझसे गलतियाँ होनी तो और भी संभव हैं। कारण, एक तो मैं अयोग्य हूँ और दूसरे इस प्रकार की कविता का प्रचार हिन्दी में नया है और इसके नियम भी अभी तक पूर्णतया निश्चित नहीं हुए। न ऐसी कविता ही अधिकता से मिलती है कि जो अनुकरण करने के लिए यथेष्ट हो। अच्छी कविता अभी बोलचाल की भाषा में लिखी ही कितनी गई है। जो महानुभाव इस तरह की आदर्श कविता करने की योग्यता ही रखते हैं उनकी संख्या ही कितनी है। जो आजकल की बोलचाल की भाषा में कविता करते हैं, उनमें से अधिकांश लोगों की तो कुछ बात ही न पूछिए। जो कुछ लिखते हैं वह चाहे जैसा भ्रष्ट हो वे उसी को दूसरों के लिए आदर्श अतएव अनुकरणीय समझते हैं। ऐसी दशा में मुझ जैसे अज्ञ जन अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए भी कुछ लिखने का साहस करें और उसमें कुछ त्रुटियाँ या अशुद्धियाँ रह जायँ तो आश्चर्य की बात नहीं। परंतु जैसा मैं निवेदन कर चुका हूँ आपकी दिखाई हुई इन त्रुटियों से मुझे संतोष नहीं हुआ। इन्हें मैं त्रुटियाँ नहीं मानता। आप कृपा करके मुझ पर मित्र भाव रखते हैं इसी से आपके इस पत्र का उत्तर देना मैंने आवश्यकीय (आवश्यक) समझा। यदि दूसरा समालोचक ऐसी त्रुटियाँ दिखलाता, तो मैं उसकी ओर दृक्पात भी न करता। अस्तु।

"मेरी इस पुस्तक के विषय में आप जो कुछ लिखना चाहें यथेच्छ लिख सकते हैं। आपकी आलोचना के प्रकाशित होने में मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं :

'हेमः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकारी वय।'

"शेष कुशल। दया रखिए। किमधिकम्। भवदीय, मैथिलीशरण गुप्त।"[1]

द्विवेदी जी ने इस पत्र की नकल को देख कर लिखा था कि 'ऐसे लोगों के साथ बेफायदा वक्त जाया करना ठीक नहीं!'

यद्यपि गुप्त जी ने अपने इस पत्र में अपना निश्चित उत्तर दे दिया था, लेकिन दीन जी ने अपने पत्र 'लक्ष्मी' के जनवरी अंक में इस पुस्तक को 'सहृदय आलोचना' प्रकाशित करते हुए लिखा कि युनिवर्सिटियों में हिन्दी को स्थान मिल जाय तो यह पुस्तक बी० ए० में पढ़ाए जाने योग्य है। और इस आग्रह के साथ कि गुप्त जी दोष-दर्शन को मित्रभाव से लेते हुए बुरा न मानेंगे, आगामी सात अंकों में क्रमशः 'जयद्रथ-वध' की उन्होंने त्रुटियाँ दिखलाई थीं। इसमें दो राय नहीं हो सकतीं कि इसी तरह की सद्चर्चाओं ने इस ग्रंथ को सुयश दिया, लोकप्रिय बनाया। बल्कि पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने तो इसे अपने महाविद्यालय की अनेक श्रेणियों के पाठ्य-क्रम में इसी वर्ष रखने का विचार प्रकट करते हुए चिरगाँव से यथेष्ट संख्या में इसकी प्रतियाँ भी मँगवाई थीं।

इस बात से एक सत्य और प्रमाणित होता है। निर्वीर्य साहित्य सबल समालोचना-साहित्य को जन्म नहीं दे सकता। स्वस्थ, अभिनव और प्राणवान साहित्य ही समालोचना के स्फुलिंगों को ज्वलनशक्ति देता है और देता है उसको स्वतंत्र अस्तित्व। गुप्त जी के ग्रंथ प्रारंभ से ही ऐसी प्रेरणाओं को जन्म देते रहे हैं।

---

[1] १३ अक्टूबर १९११ को गुप्तजीने द्विवेदीजी को अपने पत्र के साथ नकल कर यह पत्र भेजा।

१९११ में एक तीसरी पुस्तक का सिलसिला भी निखार पा रहा था। १९०८ की 'सरस्वती' में भुजंग-भूषण भट्टाचार्य महाशय का एक लेख 'कवियों की ऊर्मिला-विषयक उदासीनता'[1] प्रकाशित हुआ था। किंतु इसके वास्तविक लेखक स्वयं द्विवेदी जी ही[2] थे और यह उनका कृत्रिम नाम था। पर उस समय तो यह रहस्य अपना जादू कर गया। इस विषय पर सभी कवियों ने अपना अपना दिल टटोला, अपनी शक्ति कूती और किसी उचित प्रकाश की तलाश में प्रवृत्त हुए।[3] गुप्त जी को भी यह आग्रह दिशा-निर्देशन तो अवश्य दे गया, लेकिन एक बड़े काव्य-ग्रंथ का ढाँचा उनकी उस काल की समझ में न अंट पाया। फलतः उन्होंने अपने अग्रजों से परामर्श लेना प्रारंभ किया। एक लंबे विचार के बाद, उस समय के प्रसिद्ध विद्वान और काव्यमर्मज्ञ श्री छोटेलाल जी वार्हस्पत्य ने इस वर्ष की १ली जनवरी (आदित्यवार), १९११, को एक दिशा-बोधक पत्र गुप्त जी को लिखा—"प्रियवर महाशय, आज हमारी उदार सरकार अंग्रेज जाति का नया साल शुरू हुआ है। श्रीरामचन्द्र भगवान की कृपा से हम सब बहुत अच्छी तरह हैं। आशा है, कि आप भी सपरिवार आनंद से होंगे।

"आज पूरे दो वर्ष हुए जब मैंने आपकी 'केशों की कथा' के विषय में अपनी सम्मति प्रकट की थी। इन दो वर्षों में आपकी रची हुई अच्छी-अच्छी कविताएँ सरस्वती के द्वारा देखने में आईं। अब थोड़े ही दिन हुए कि आपने कृपा करके अपना निर्माण किया हुआ 'जयद्रथ-वध' शीर्षक खंडकाव्य मेरे पास भेजा, उसको पढ़ कर जितना आनंद मुझको हुआ वह मैं ही जानता हूँ। इस पत्र में कुछ नहीं लिख सकता। मगर हाँ, यह संभव है कि मेरे मन के भाव का कुछ परिचय नीचे लिखी बातों से आपको मिल जाय।

"दो वर्ष हुए द्विवेदी जी ने सरस्वती में लिखा था कि मैं आपको यह आशीर्वाद दूँ कि आप 'केशों की कथा' से भी अच्छी कविता लिख सकें। आज शुभ अवसर समझ कर मैं द्विवेदी जी की आज्ञा का प्रतिपालन करता हूँ और आशा करता हूँ कि आप इस वर्ष बहुत ही अच्छी कविता करने के लिये समर्थ होंगे। जिस तरह श्रीकृष्ण जी ने सूरदास जी की सहायता की थी, उसी तरह मैं आशा करता हूँ कि श्रीरामचन्द्रजी आप की सहायता करेंगे। एवमस्तु।

"आपने कृपापूर्वक मुझसे पूछा कि केशों की कथा से अच्छी पद रचना किस विषय पर होनी चाहिए, सो इस बात को तो आप ही अच्छी तरह जान सकते हैं, मैं किस लायक हूँ जो आप को राय दूँ। मगर मैं देखता हूँ कि आप अपने पत्र में आग्रह करते हैं कि मैं कोई मज़मून बतलाऊँ, इसलिए आपका दिल रखने के लिये मैं एक लंबी फर्मायश करने का साहस करता हूँ।

"आपको याद होगा कि वर्ष दो वर्ष हुए[4] भुजंग भूषण महाशय ने सरस्वती में अपना उद्वेग इस बात पर प्रकाश किया था कि रामायण नाम महाकाव्य की कई महानुभाव कवियों ने रचना की मगर आदिकवि वाल्मीकि की तरह सबके सब बेचारी ऊर्मिला के फेरे डलवा कर उसको बिल्कुल भूल ही गए। इस उलाहने का जवाब जो कुछ मेरी समझ में आया मैंने उसी वक्त द्विवेदी जी के पास भेज दिया था। खैर, वह बात तो आई गई हुई। मेरी राय में कोई वजह नहीं है कि अगर ऊर्मिला के वास्ते रामायण महाकाव्य में जगह न हो तो ऊर्मिला विरह शीर्षक एक नया खंडकाव्य रचें और उसमें ऊर्मिला के हृदय में सब तरह के भावों का दृश्य हिन्दी-प्रेमियों को दिखलावें। मेरी राय है कि इस काव्य में इन दो तीन बातों का ज़रूर ख्याल रखा जावे—

(१) भारतीय काव्य के नवों रस दिखलाये जावें।

(२) शृंगार रस निर्देश में अश्लीलता का लेशमात्र भी न हो। साथ ही तुलसीदास की सीता की तरह ऊर्मिला निर्गुण भी न हो। नख-शिख-वर्णन इस तरह किया जावे जिस तरह आजकल के अच्छे घरों की बहू बेटियाँ आपस में किया करती हैं।

---

[1] इससे पूर्व विश्वकवि टैगोर ने इसी आशय का एक लेख बंगला में लिखा था। यह लेख उसी पर आधारित था।

[2] श्री गुप्त जी ने यह निजी सूचना दे कर हमें कृतकृत्य किया है।

[3] १९१४ की सरस्वती के जून अंक में श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय की 'उर्मिला' शीर्षक (षट्पदी) कविता प्रकाशित हुई है। १९३६ के 'प्रताप' (वार्षिक अंक) में श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के 'उर्मिला' काव्य के तृतीय सर्ग के प्रारंभिक अंश 'वन-गमन' नाम से निकले हैं।

[4] 'सरस्वती' के जुलाई, १९०८, अंक में।

(३) भाषा सरल हो। जहाँ कहीं छंदोबंध के लिये संस्कृत शब्दों के समासों का प्रयोग आवश्यक हो, वहाँ फुटनोट दे कर मतलब जरूर समझाना चाहिये।

(४) जगह-जगह पर विरहिणी ऊर्मिला के मुख से किसी बारहमासे की लय में षड्-ऋतु वर्णन जरूर कराना चाहिये। छंद संस्कृत हो मगर बारह मासे की तरह गाने के लायक।

(५) काव्य के प्रधान विषयों में से निम्नलिखित ज़रूर हों—

ऊर्मिला विवाह, राम युवराजोत्सव, लक्ष्मण का ऊर्मिला से बगैर मिले बन को जाना, ऊर्मिला विरह, हनुमान का संजीवनी ले कर जाते हुए अयोध्या में ठहरना और ऊर्मिला से लक्ष्मण का हाल कहना, ऊर्मिला का मौन विलाप, चौदह वर्ष की अवधि बीतने पर राम लक्ष्मण का अयोध्या में आना और लक्ष्मण ऊर्मिला संवाद।

मतलब यह कि अगर मुझ में पद रचने की शक्ति होती तो मैं ऊपर लिखे विषयों पर जरूर लिखता। मगर आप जानते हैं कि अनजान मनुष्य बहुतेरी बातें ऐसी कहता है कि जिन पर कवि लोगों को हँसी आती है। इसलिये यदि आपको मेरी किसी बात पर हँसी आवे तो कृपा कर के आप मन-ही-मन में हँस लेवें, आपकी कविता में उसका प्रतिबिम्ब न झलके। जब मैं चिरगाँव में था तो सेठ रामचरण जी के मकान में रहता था। अगर आप का उनसे कुछ सम्बन्ध हो तो जरूर लिखियेगा। भवदीय, छोटेलाल।"

यहाँ हम 'कवियों की ऊर्म्मिला-विषयक उदासीनता' लेख का संक्षिप्त सिंहावलोकन करलें—"कवि स्वभाव ही से उच्छृंखल होते हैं। वे जिस तरफ झुक गये, झुक गये। जी में आया तो राई का पर्वत कर दिया, जी में आया तो हिमालय की तरफ भी आंख उठाकर न देखा। यह उच्छृंखलता या उदासीनता सर्वसाधारण कवियों में तो देखी ही जाती है, आदिकवि तक इससे नहीं बचे। क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक पक्षी को निषाद द्वारा वध किया गया देख जिस कवि शिरोमणि का हृदय दुःख से विदीर्ण हो गया, और जिसके मुख से 'मा निषाद' इत्यादि सरस्वती सहसा निकल पड़ी, वही परदुःखकातर मुनि, रामायण निर्म्माण करते समय, एक नवपरिणीता दुःखिनी वधू को बिलकुल ही भूल गया। विपत्ति विधुरा होने पर उसके साथ अल्पादल्पतरा समवेदना तक उसने न प्रकट की—उसकी खबर तक न ली।

"वाल्मीकि-रामायण का पाठ किंवा पारायण करनेवालों को ऊर्म्मिला के दर्शन सबसे पहले जनकपुर में सीता, मांडवी और श्रुतकीर्ति के साथ होते हैं। सीता की बात तो जाने ही दीजिए। उनके और उनके जीविताधार रामचन्द्र के चरितचित्रण ही के लिए रामायण की रचना हुई है।...रही बालवियोगिनी देवी ऊर्म्मिला, सो उसका चरित सर्वथा गेय और अलेख्य होने पर भी, कवि ने उसके साथ अन्याय किया। मुने! इस देवी की इतनी उपेक्षा क्यों? इस सर्वसुखवंचिता के विषय में इतना पक्षपात-कार्पण्य क्यों? क्या इसलिए कि इसका नाम इतना श्रुति-सुखद, इतना मंजुल, इतना मधुर है और तापस जनों का शरीर सदैव शीतातप सहने के कारण कठोर और कर्कश होता है—पर नहीं, आपका काव्य पढ़ने से तो यही जान पड़ता है कि आप कटुता-प्रेमी नहीं। भवतु नाम। हम इस उपेक्षा का एकमात्र कारण भगवती ऊर्म्मिला का भाग्यदोष ही समझते हैं। हा हतविधिलसिते! परमकारुणिकेन मुनिना वाल्मीकिनापि विस्मृतासि! हाय वाल्मीकि! जनकपुरी में तुम ऊर्म्मिला को सिर्फ एक बार वैवाहिक वधूवेश में दिखाकर चुप हो बैठे। अयोध्या आने पर ससुराल में उसकी सुध यदि आपको न आई थी तो न सही। पर क्या लक्ष्मण के बनप्रयाण-समय में भी उसके दुःखाश्रुमोचन करना आपको उचित न जंचा? रामचंद्र के राज्याभिषेक की जब तैयारियाँ हो रही थीं...उस समय नवला ऊर्म्मिला कितनी खुशी मना रही थी सो क्या आपने नहींदेखा?...हाय! वही ऊर्म्मिला एक घंटे बाद, राम-जानकी के साथ निज पति को १४ वर्ष के लिए बन जाते देख, छिन्नमूल शाखा की तरह राजसदन की एक एकान्त कोठरी में भूमि पर लोटती हुई क्या आपके नयनगोचर नहीं हुई? फिर भी आपकी उसके लिए 'वचने दरिद्रता'! ऊर्म्मिला वैदेही की छोटी बहन थी। सो उसे बहन का भी वियोग सहना पड़ा और प्राणाधार पति का भी वियोग सहना पड़ा! पर इतनी घोर दुःखिनी पर भी आपने दया न दिखाई। चलते समय लक्ष्मण को उसे एक बार आंख भर देख भी न लेने दिया। जिस दिन राम और

लक्ष्मण सीता देवी के साथ चलने लगे—जिस दिन उन्होंने अपने पुर त्याग से अयोध्यानगरी को अंधकार में, नगरनिवासियों को दुःखोदधि में और पिता को मृत्युमुख में निपतित किया, उस दिन भी आपको ऊर्म्मिला याद न आई। उसकी क्या दशा थी, वह कहाँ पड़ी थी, सो कुछ भी आपने न सोचा! इतनी उपेक्षा! नवोढत्व को प्राप्त होते ही जिस ऊर्मिला ने, रामचन्द्र और जानकी के लिए, अपने सुखसर्वस्व पर पानी डाल दिया, उसी के लिए अन्तर्दर्शी आदिकवि के शब्दभांडार में दरिद्रता! . . .वाल्मीकि को ऐसी उच्चाशय रमणी का विस्मरण होते देख किस कवितामर्मज्ञ को आन्तरिक वेदना न होगी। तुलसीदास ने भी ऊर्म्मिला पर अन्याय किया है। आपने इस विषय में आदिकवि का ही अनुसरण किया है। . . .हां, भवभूति ने इस विषय में कुछ कृपा की है। . . .कैसे खेद की बात है कि ऊर्म्मिला का उज्ज्वल चरित-चित्र कवियों के द्वारा भी आज तक इसी तरह ढँकता आया। —भुजंगभूषण भट्टाचार्य"

द्विवेदीजी का यह लेख 'सरस्वती' के आश्रम-कवियों के लिए आदेशपत्रक से कम नहीं था और जब वार्हस्पत्यजी का आदेश इस संबंध में स्पष्ट सुझावों को लेकर आ गया, तब तो गुप्त जी ने उसे शिरोधार्य कर ही लिया। यदि इससे पहले ही द्विवेदी जी ने गुप्त जी को अन्य कविताएँ बन्द कर इस विषय पर लिखने का आदेश दिया होता, तो शायद गुप्त जी ने ऊर्मिला-विषयक काव्य अपनी इस आयु के हिसाब से लिख भी लिया होता, जिसमें संस्कृत के छंदों की अंतर्ध्वनि ही अधिक होती, गुप्त जी का अपना मौलिक चिद्गठन कम-से-कम होता। पर द्विवेदी जी अपने हर आदेश का वज़न जानते थे। ४ जनवरी १९११ को गुप्त जी ने वार्हस्पत्यजी को उत्तर देते हुए लिखा "श्रीमान् महोदय, मैं प्रदर्शिनी देखने प्रयाग गया था। कल शाम को घर पहुँचा। श्रीमान् का कृपापत्र मिला। पढ़कर बड़ा हर्ष हुआ। विशेष प्रसन्नता इस बात से हुयी कि यहां श्रीमान् अपने ही घर में रहते थे। मेरे स्वर्गीय पिताजी से श्रीमान् का परिचय था।

"मेरी तुच्छ रचना को आप स्नेहार्द्र दृष्टि से देखते हैं, मेरे लिए यह बड़े सौभाग्य का विषय है, बड़े ही उत्साह की बात है। आज आपका वर-स्वरूप आशीर्वाद पाकर मैं कृतार्थ हुआ।

"आपने एक खंडकाव्य निर्माण करने के लिए मुझे जो विषय और उसके संबंध की आवश्यकीय बातें बतलाने की कृपा की है, उसके लिए मैं हृदय से आपका कृतज्ञ हूँ। मेरी भी प्रवृत्ति इस ओर है। मेरी इच्छा थी कि ऊर्मिला देवी के सम्बन्ध में एक खंडकाव्य लिखूं। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने दो सर्ग[1] लिख भी डाले। इस पुस्तक को ३-४ सर्गों में समाप्त करने की मेरी इच्छा थी। दो चित्र भी मैंने इसके लिए बनवा लिये थे। आज वह सब सामग्री आपकी सेवा में भेजता हूँ। एक चित्र का जो फोटो आप देखेंगे वह पहले सर्ग की काल्पनिक कथा से सम्बन्ध रखता है। दूसरा चित्र उस समय का है जब लक्ष्मण जी ऊर्मिला से बनवास के लिए विदा हो रहे हैं। ३ : ४ सर्गों में यहीं ऊर्मिला से लक्ष्मण की बिदा लिखकर इस पुस्तक को पूरा करने का विचार था। श्रीमान के पत्र को पढ़कर मालूम हुआ कि ऊर्मिला से बिना मिले ही लक्ष्मण का जाना लिखा जाना चाहिए। अवश्य ही इसमें कोई बात होगी। क्या मैं उसे जानकर लाभ उठा सकता हूँ? भुजंगभूषण महाशय के लेख पर आपने जो राय द्विवेदी जी महाराज को लिख भेजी थी, अफसोस कि मैं उसे नहीं जान सका। यदि कष्ट न हो तो कृपा कर लिख भेजिए। अब श्रीमान् इस कविता को पढ़कर जैसी आज्ञा देंगे, मैं उसी तरह इसे लिखूंगा। पहले मैं जानता था कि यह पुस्तक थोड़े ही पदों में पूर्ण हो जायगी। इसलिए प्रति सर्ग में छन्द नहीं बदला। अब यदि यह बढ़ाई जाय. . . (आगे का अंश प्राप्य नहीं है।)"

अपने कृतसंकल्प नियम के अनुसार इन दोनों पत्रों की प्रतिलिपियाँ द्विवेदी जी को भेजते हुए दूसरे दिन उन्हें पत्र में लिखा, "प्रणाम, मैं कानपुर और कालपी होता हुआ ३ ता० को यहां पहुँचा। कल शाम को श्रीमान् का कृपा कार्ड मिला। जिस चित्र पर लिखने की श्रीमान् आज्ञा देंगे मैं उसी पर कविता लिखूंगा। जो चित्र पसन्द हो भेज दीजिए। सावित्री और यम वाला चित्र कैसा है? सावित्री और सत्यवान वाले

---

[1] संस्कृत के उपेन्द्र वज्रा इन्द्रवज्रा छंदों में।

चित्र पर मैं एक बार लिख चुका हूँ। दो-एक दिन ठहर कर प्रदर्शिनी वाली कविता शुरू करूँगा। बार्हस्पत्यजी का एक पत्र आया है। और उसकी नकल और मैंने जो उन्हें उत्तर लिखा है, उसकी नकल भेजता हूँ। भुजंगभूषण महाशय के लेख पर बार्हस्पत्यजी ने जो राय दी थी श्रीमान् को उसका स्मरण है। हाँ, तो लिखिए।

"लाला भगवानदीन ने 'जयद्रथ-बध' के सम्बन्ध में एक पत्र भेजा है। उसकी नकल भी भेजता हूँ। आज दीनजी के इस पत्र का उत्तर लिखूँगा। कल उसकी नकल श्रीमान् की सेवा में भेजूँगा। 'ऊर्मिला' बार्हस्पत्यजी के देखने को भेज दी। शेष कुशल। दया रखिए। चरणानुचर : मैथिलीशरण।"

विचार-विमर्श का यह क्रम अप्रैल तक चलता रहा। इसी मास की ११ तारीख को आपने एक पत्र द्विवेदीजी को इस प्रकार लिखा, "बार्हस्पत्यजी की चिट्ठी, ऊर्मिला-विषयक नोट और ऊर्मिला भेजता हूँ। लीजिए। ये सब कागज देख लीजिए। बार्हस्पत्यजी की बातें मुझे जँच गईं। लिखते समय दो-चार बातें जो पूछना होगा, और पूछूँगा।

"बार्हस्पत्यजी का नोट पढ़ते-पढ़ते उन विषयों की तस्वीर-सी आँखों के सामने खिंच जाती थी। बड़े दिमाग के आदमी हैं। इन्हें देखकर जो आज्ञाएँ श्रीमान् को करनी हों, वे भी लिख दीजिए। बार्हस्पत्यजी की इस परीक्षा में देखूँ मैं उत्तीर्ण हो सकता हूँ या नहीं। कोशिश में कमी न होगी। तृतीय सर्ग के अन्त में जहाँ लक्ष्मणजी की खासियत बताई गई है वहाँ एक अंग्रेजी शब्द आया है, उसका पर्यायवाची कोई हिन्दी संस्कृत शब्द लिख दीजिएगा। उसका प्रकृत अर्थ भी[1]। शेष कुशल। दया रखिए। चरणानुचर : मैथिलीशरण।"

गुप्तजी ने यह काव्य संस्कृत के गण-छंदों में लिखना आरम्भ किया था। इन दिनों मराठी की देखा-देखी हिन्दी में संस्कृत के गण-वृत्त खूब चलते थे। मैथिलीशरणजी ने कई सर्ग ऐसे ही छंदों में लिख डाले, जिनमें लाला छोटेलालजी बार्हस्पत्य की सलाह का पूरा उपयोग किया गया था।

इस स्थल पर श्री बार्हस्पत्यजी का लघु परिचय देना समीचीन मालूम पड़ता है। वे बड़े ही विद्वान् और सहृदय व्यक्ति थे। जीवन में सरकारी इंजीनियर थे, किन्तु गणित, ज्योतिष, पुरातत्त्व, दर्शन आदि का उन्होंने गहरा अध्ययन किया था। साथ ही पर्याप्त काव्य-प्रेमी और सहृदय भी थे। हिन्दी के वे बहुत बड़े जुबाँदाँ थे। बड़ा सुन्दर स्वभाव पाया था उन्होंने। अफसरी की बू न थी। जहाँ गुण पाते, ललक कर मिलते। पद व आयु का कोई विचार न करते। उनमें स्वभाव से बुजुर्गी थी। उनसे बड़ी उमरवाले भी उनकी इस स्वाभाविक बुजुर्गी और इस बुजुर्गी के बाह्य रूप दाढ़ीवाली उनकी भव्य आकृति को देखकर यह मानने के लिए तैयार न होते कि बार्हस्पत्यजी वयस में उनसे छोटे हो सकते हैं।

वे दिल्ली के निवासी थे और उनका नाम लाला छोटेलाल था। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के कारण वे सब परीक्षाओं में प्रथम रहे और नौकरी पा लेने के बाद भी अधिकांश भारतीयों के विपरीत उन्होंने पढ़ने-लिखने का व्यसन बना रक्खा था। 'बार्हस्पत्यजी' उनका उपनाम था। इस नाम से उन्होंने 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में याजुष ज्योतिष वेदांग का अंग्रेजी भाष्य किया था। इस ज्योतिष वेदांग को समझने में बड़े-बड़े ज्योतिष के विद्वानों के छक्के छूट जाते थे। किन्तु बार्हस्पत्यजी ने उसकी बहुत-सी गुत्थियों को सुलझाकर उसके अनेक अंशों का अर्थ स्पष्ट कर दिया था। द्विवेदीजी ने उनकी प्रतिभा देखकर उन्हें 'सरस्वती' की ओर खींचा और उनसे निरंतर 'सरस्वती' में लिखवाने लगे। इस प्रकार वे हिन्दी की गतिविधि और मैथिलीशरणजी गुप्त से परिचित हुए थे।

इसी बीच मुंशी अजमेरीजी प्रयाग या कानपुर (जूही) गए थे। वहाँ से उन्होंने द्विवेदीजी से भेंट कर, जनवरी के अन्त में ही लिखा था, "पंडितजी की आज्ञा है कि ऊर्मिला ऐसी हालत में न लिखी जाय।" गुप्तजी ने 'ऐसी हालत' की बात समझकर अपने ३ फरवरी, १९११ के पत्र में द्विवेदीजी को लिखा, "ठीक है, मैं स्वयं उसका लिखना बन्द किये हूँ। जब तबियत ठीक हो जायगी, तब लिखूँगा।" और इस तरह कुछ विचार-विमर्श, कुछ अन्य ग्रन्थों में हाथ लग जाने के कारण इस ग्रंथ का कार्य उस समय स्थगित ही रहा।

---

[1] गुप्तजी अंग्रेजी इस समय तक बहुत साधारण जानते थे।

पूर्व वर्ष 'मर्यादा' में 'भारत-भारती' की भाव-स्थापना का कार्य सम्पन्न हो चुका था। इस वर्ष उसपर द्विवेदीजी ने इसकी नींव चिनने में अपना निर्देशन देना प्रारंभ किया। 'रंग में भंग' और 'जयद्रथ-बध' को वे अपना पारस-स्पर्श दे चुके थे। २७ मार्च को उन्होंने पत्र दिया, "प्रियवर बाबू मैथिलीशरणजी, राजा साहब[1] की चिट्ठी पढ़ी। 'मुसद्दस' हमारे पास था। क्यों उन्हें कष्ट दिया। ज़रूर ऐसा काव्य लिखिए। पर तबियत को संभालकर। आपने राजा साहब को जो पत्र भेजा है, उसका जिक्र न करके हम भी राजा साहब को धन्यवाद देंगे—उनके ऐसे साधुवाद पर। 'मुसद्दस' को सुनिए, उसी से आपको सामग्री मिल जायगी। भवदीय, म० प्र० द्वि०[2]।"

'मुसद्दस' का 'हिन्दूकरण' और 'हिन्दीकरण' राजनीतिक दृष्टि से भी, और तात्कालिक प्रकाशकीय स्थिति की शोचनीय प्रवृत्तियों से और भी, एक मुश्किल कार्य था। फिर भी द्विवेदीजी इस दिशा में पूरा मार्ग-प्रदर्शन कर रहे थे। उन्होंने अपने ३० मार्च के पत्र में लिखा, "प्रिय बाबू मैथिलीशरण, राजा साहब की सुरुचि की हमने प्रशंसा की है। यह भी लिख दिया है कि 'मुसद्दस' के सदृश कविता इस समय छापेगा कौन और लेखक की रक्षा भी कौन करेगा।..."[3]

इस प्रकार मार्ग के स्पष्टीकरण और प्रोत्साहन मिलने पर गुप्तजी ने इस कार्य को पूरा करने का संकल्प किया। उर्दू का अज्ञान (लिपि पढ़ने की दिशा में) इस कार्य में बाधक हो रहा था। अंग्रेजी की सहायता भी पराश्रित थी। फिर भी आपने १४ अप्रैल को द्विवेदीजी को लिखा, "हाली का 'मुसद्दस' मैंने पढ़ा है। कहीं-कहीं समझ में नहीं आया। कल-परसों से उसे एक मौलवी साहब से पढूंगा। बहुत अच्छा, अपनी पुस्तक में ५०० पद्य रखने की कोशिश करूँगा। छन्द 'जयद्रथ-बध' वाला (हरिगीतिका) ही रक्खा है। लिखना शुरू कर दिया है। जो बातें श्रीमान् ने कही हैं, उनका सब ख्याल रक्खूंगा। एक बात बताइये, बुद्ध देव हमारे अवतार हैं, फिर उनका मत वेदों के प्रतिकूल क्यों हुआ और शंकराचार्य ने उसे क्यों निकाला? मैं इस भेद को नहीं जानता, जान लेने से बौद्धकाल की चर्चा करने में सुविधा पड़ेगी। हिन्दी में कोई ऐसी पुस्तक नजर नहीं आती, जिससे कुछ मदद की आशा की जाय। फर्ग्यूसन कालेज, पूना के प्रोफेसर भानु द्वारा सम्पादित इतिहासमाला नाम की पुस्तकमाला में 'ऋषिखंड' नाम की एक पुस्तक निकली है। मैं मराठी न जानने पर भी उसे मँगाकर देखूंगा। सुना है, उसमें लिखा है कि भारत की पूर्व दशा कैसी थी। कौन-कौन विद्याएँ यहाँ वालों से किन-किन देशों ने सीखीं। इत्यादि। हिन्दू सुपीरियरटी में भी ऐसी ही बातें हैं। पर यहाँ अंग्रेजी की पोथी कौन सुनावेगा। झाँसी जाकर वहाँ से किसी को बुलाकर उसके सुनने की चेष्टा करूँगा। हिन्दी में कोई ऐसी पुस्तक हो जिससे कि सहायता मिल सके, तो श्रीमान् उसका नाम और पता लिखने की कृपा कीजिएगा। दत्त का इतिहास कैसा है? न होगा तो उसी को मँगा लूंगा। जब जो बात पूछनी होगी, तो श्रीमान् से पूछ लूंगा। श्रीमान् को कष्ट देने का मुझे बड़ा दुःख है पर मैं बिल्कुल लाचार हूँ, श्रीमान् को कष्ट न दूं, तो किस को दूं।"

'भारत-भारती' का लेखन 'सरस्वती'-आश्रम के आंदोलन का मुख्य सिद्धियज्ञ था। द्विवेदीजी उसमें पूर्ण कटिबद्ध थे। आपने १६ अप्रैल को उत्तर दिया, "मुसद्दस को किसी मौलवी से ज़रूर सुनिए। हरिगीतिका छन्द बुरा नहीं। कविता खूब ओजस्विनी और यथास्थान कारुणिक होनी चाहिए। संभल-संभल कर लिखिएगा। देरी हो, तो हर्ज नहीं। नमूने के लिए थोड़ी 'सरस्वती' में पहले छापेंगे।

"बुद्ध को आप ही ने अवतार माना है। वेदों को भी आप ही ने ईश्वरकृत मान रक्खा है। ईश्वर के यहाँ से इन विषयों में कोई दस्तावेज हम लोगों के पास नहीं। जब यज्ञों में पशु-हिंसा अधिक होने लगी, तो समझदार आदमी घबराये। वे सुधार की बातें सोचने लगे। ऐसों में बुद्ध सबसे बढ़कर निकले। उन्हें अपने काम में कामयाबी हुई। इससे वे अवतार मान लिये गये। पशु-हिंसा कम हो गई। परन्तु पशु-

---

[1] देश-हितैषी, विद्याप्रेमी, उन्नतमना, कुर्रीसुदौली के अधिपति श्रीमान् माननीय राजा रामपाल सिंहजी, सी० आई०। 'भारत-भारती' इन्हें ही समर्पित की गई थी।

[2,3] 'द्वि० प०'।

हिंसा वेदोक्त है। और वेद ईश्वरकृत माने गये हैं। अतएव उनकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने के लिए शंकराचार्य को बौद्धमत का खंडन करना पड़ा।

"दत्त का इतिहास सभा से मँगा लीजिए। उससे पुरानी बातें बहुत कुछ मालूम हो जायँगी और कोई पुस्तक हिन्दी में नहीं। टाडकृत राजस्थान के आदि में भी कुछ हाल है।"[1]

इस प्रकार 'भारत-भारती' सुनियोजित हो रही थी।

साधना की अपूर्णता अथवा असमय की ध्यानच्युति ईर्ष्या-मत्सर का कारण बनती है। १६१० में 'सरस्वती' के आश्रम के कई साधकों में और उसके दूरस्थ भक्तों में गलतफहमियों का मैल एकत्र होकर अपनी दुर्गन्ध फैलाने लगा था। सर्वप्रथम द्विवेदीजी जैसे पथ-निर्देशक और हिन्दी के प्रथम आचार्य को भिन्न-भिन्न लांछनाएँ प्राप्त हुईं, लेकिन बड़े धैर्य के साथ वे सब का सामना कर रहे थे। किन्तु अब गुप्तजी भी इस लांछनाग्नि के शिकार बनाए जाने लगे। वे अपने गुरु के प्रियतम कृपा-पात्र जो थे!

लेकिन गुप्तजी पर उनके पूर्व-मित्रों या स्नेहभाजकों का क्रोध अनायास न था। द्विवेदीजी ने उन्हें निषेध कर दिया था कि वे अपनी कविताएँ या पुस्तकें किसी अन्य पत्र या प्रकाशक को न दें। इस आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए गुप्तजी ने गत वर्ष की १६ फरवरी को द्विवेदीजी के पास पत्र दिया था, "प्रणाम, कल का कृपाकार्ड पहुँचा। बहुत अच्छा, जो आज्ञा; मैं अन्य पत्र के लिए कविता माँगने वाले सज्जन से कृपापूर्वक क्षमा माँग लिया करूँगा। श्रीमान् का लिखना ठीक है। मेरी स्वयं भी किसी पत्र में कविता भेजने की इच्छा नहीं होती है। श्रीमान् के चरणों में मैं यह सत्य ही निवेदन करता हूँ। पंडित सकलनारायण पांडेयजी को हाल में, विनयपूर्वक अस्पष्ट उत्तर देकर समय को टाल दिया है। मेरी मातृभाषा में एक कहावत है कि 'अनी चूकें हजार बर्स की उम्मर होत' यही सोचकर गोलमोल जवाब दे दिया है।"

कुछ सज्जन गुप्तजी की मार्फत 'सरस्वती' में अपनी कविता छपाना चाहते थे और यदि उन्हें ये टालने की कोशिश करते, तो सारा गुस्सा इन्हीं पर उतारा जाता। इसी वर्ष की ६ जनवरी को गुप्तजी ने अपने पत्र में द्विवेदीजी को लिखा, "बाबू ब्रजनन्दन सहाय को लिख दिया कि आपकी कविता 'सरस्वती' में छप जायगी। बड़ी कृपा की श्रीमान् ने। मैं ऐसे झगड़ों में पड़ना खुद नापसन्द करता हूँ। अस्तु।"

१३ जनवरी, १६११ के पत्र में गुप्तजी ने लिखा, " 'अन्योक्ति-सप्तक' की आलोचना पढ़ी। खुशी की बात है कि बी० ए०, एम० ए० और 'काव्यतीर्थ' लोगों का ध्यान तो मेरी तरफ आकृष्ट हुआ--मेरी त्रुटियाँ दिखाने की जरूरत तो उन्हें जान पड़ने लगी। मेरे लिए यही क्या कम है। पर इस समालोचना में तथ्यांश कितना है, इस विषय में मैंने विचार किया, तो सन्तोष न हुआ। पं० पद्मसिंहजी की राय है कि श्रीमान् इसका उत्तर दें, तो अच्छा हो। अतएव यदि उत्तर देने की ज़रूरत व्यर्थ समझिए, तो जाने दीजिए। मुझे कुछ उत्सुकता नहीं है। समालोचना के बहाने दो-चार जलीकटी बातें इन लोगों ने सुनाई हैं। काव्यतीर्थजी की 'काव्यविलास' नामक कविता एक दफा 'सरस्वती' में छपने आई थी। उसकी भाषा बड़ी बेढंगी थी। मैंने उस रूप में उस कविता का 'सरस्वती' में छपना ठीक न समझा। कविता कुछ दिन मेरे पास पड़ी रही, पर तबीयत अच्छी न रहने से यहाँ अपना काम भी भार हो रहा था। अन्त में शुक्लजी ने लिखा कि काव्य-तीर्थजी अपनी कविता वापस चाहते हैं। लाइये लौटा दें। मैंने वैसी ही वह कविता शुक्लजी के पास भेज दी। सो मेरी कविता तो 'सरस्वती' में धड़ाधड़ छपें और काव्यतीर्थों का ऐसा निरादर! ज़रूर 'सरस्वती' भ्रम में है!! खैर, देखा जायगा। चरणानुचर : मैथिलीशरण गुप्त।"

३ फरवरी, १६११ को गुप्तजी ने फिर द्विवेदीजी को लिखा, " 'काव्यप्रभाकर'[2] के विषय में मेरी यह राय पहले ही थी जो पंडित पद्मसिंहजी ने लिखी है। मैं उसपर लिख रहा हूँ। जिस नाम से उचित समझिए

---

[1] द्वि० प०।

[2] श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु द्वारा लिखित। द्विवेदीजी ने इस काव्य-पुस्तक की आलोचना मैथिलीशरणजी गुप्त से लिखाई थी और वह अप्रैल-मई, दो अंकों में, क्रमशः १६१२ में प्रकाशित हुई।

छाप दीजिएगा। मेरे नाम से छपने में बेशक खराबी पैदा होगी। 'कालिदास की निरंकुशता'[1] अब बन्द न कीजिए। होने दीजिए जिसे नाराज़ होना हो। अनस्थिरता[2] जैसा झगड़ा उठ खड़ा हो, ऐसी संभावना मुझे नहीं होती। परन्तु यह सच है कि हिन्दी के महापुरुष जो न कर बैठें थोड़ा है। आज एक कार्ड सेवा में भेजता हूँ देखिए इसमें 'सतसईसंहार' पर नाराज़गी दिखाई गई है। मैंने अभी इसका उत्तर नहीं दिया। जी में आया तो कुछ लिख दूंगा। यह भी मुझे मालूम है कि बहुत लोग मुझ पर खार खाये बैठे हैं। यही ग़नीमत है कि अभी तक बैठे ही हैं। मारने नहीं दौड़े। मैं हाजिर हूँ, जो कुछ करना हो करें। दिन-दिन लोग नाराज़ ही होते जाते हैं। पंडित कृष्णकान्तजी भी जान पड़ता है, रुष्ट हो गये[3]। 'गृहलक्ष्मी' के सम्पादक ने 'गृहलक्ष्मी' का एक अंक भेजा है। शायद इसलिए कि उसमें 'मर्यादा' की आलोचना है, उसे पढ़कर मैं जान लूं कि उसमें और-और लेखकों का जिक्र करके भी मेरा नहीं किया गया है। यही पंडित सुदर्शनाचार्य पहले अपने पत्रों में (जो कविता माँगने के लिए मुझे लिखते थे) मेरी तारीफों के तूमार बाँधते थे। उधर 'वेंकटेश्वर समाचार' के सम्पादकजी लिख रहे हैं कि 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' का भी मुझ पर दावा है। कहने की जरूरत नहीं है कि कविता ही के लिए यह दावा है। 'शिक्षा' के सम्पादक पंडित सकल-नारायणजी ने कोई दो वर्ष हुए मुझसे 'शिक्षा' और आरा की 'सभापत्रिका' में लिखने के लिए विशेष आग्रह किया था। उस वक्त शायद मैंने लिख दिया था कि 'सरस्वती' से भिन्न दूसरे पत्र में यदि मैं लिखने को समर्थ हुआ तो 'शिक्षा' का ध्यान रक्खूंगा। जान पड़ता है कि इसी से 'शिक्षा' में मेरी 'प्रतिज्ञा' का उल्लेख किया गया है। पांडेय लोचनप्रसादजी ने बिना पूछे मेरी कविताएँ 'कविता कुसुममाला' में रख लीं, इस पर मैंने कुछ लिखा, तब से वे भी नाराज़ हो गये। ऐसी ही बातें हैं[4]।"

आखिर सब की नाराज़गी से बचने के लिये एक उपाय यह सूझा कि 'सरस्वती' में जो कविताएँ गुप्तजी की छपें, उन पर उनका नाम ही न रहे! अपने १६ मार्च के पत्र में गुप्तजी ने लिखा, "पूज्यवर श्रीमान् पंडितजी महाराज, प्रणाम, सुलोचना वाली कविता सेवा में जाती है। अनुष्टुपवृत्त में एक कविता लिखने के लिए उत्सुकता थी, अतएव इसी को लिखा है। कहीं गड़बड़ हो गई हो, तो ठीक कर लेने की कृपा कीजिएगा। इस कविता में मैंने अपना नाम नहीं दिया। कई पत्र-सम्पादक पीछे पड़े हैं। मैं सब को कविताएँ देकर सन्तुष्ट नहीं कर सकता। विचार है कि न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। अब से जब नाम ही न रहेगा, फिर सब शान्त हो जाएँगे। किसी का दिल न दुखेगा। यदि कोई हानि न समझिए, तो कोई भी नाम इस कविता के नीचे न दीजिएगा। अथवा कोई कल्पित नाम लिख दीजिएगा। किसी तरह शान्ति तो मिले। क्या कोई नाम न देने में हानि है[5]? वर्षान्त[6] में एक नोट दे देने से क्या उस हानि को दूर नहीं किया जा सकता है? होली शुरू हो गई है। 'होली का हास्य' जाता है। यदि अनुचित न हो, तो 'सरस्वती' की इसी अप्रैल वाली संख्या में छाप दीजिएगा। इसे पढ़ने से पहले मेरी धृष्टता, जो श्रीमान् के विषय में की गई है—क्षमा कर दीजिएगा।"

यह 'होली का हास्य' गुप्तजी के नाम से नहीं, 'नित्यानन्द' के नाम से छपा। 'पंचपुकार का संहार' और 'कुकवि-कीर्त्तन' की ही श्रेणी की विस्मयविवर्धक सफलता से पूर्ण कविता थी यह। किसी भी इमारत की

---

[1] यह लेखमाला 'सरस्वती' में द्विवेदीजी लिख रहे थे।

[2] यह वाद-विवाद कलकत्ता के 'भारतमित्र' में श्री बालमुकुन्दजी गुप्त से द्विवेदीजी का चला था और उसमें गोविन्दनारायण जी मिश्र ने भी भाग लिया था।

[3] रुष्ट होने की बात ही थी। बड़ी आशाएँ लेकर उन्होंने नया हिन्दी मासिक 'मर्यादा' शुरू किया था और उसमें गुप्तजी जैसे सिद्धकवि का सहयोग जो नहीं मिल रहा था!

[4] इन्हीं बातों का संकेत करते हुए द्विवेदीजी ने पं० पद्मसिंहजी शर्मा को अपने ३१-१-११ के पत्र में लिखा—"...बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त की कविता पर कौन-कौन खार खाए नहीं बैठे हैं।" द्वि० प०।

[5] यह छपी, पर गुप्तजी के ही नाम से; द्विवेदीजी घोर विरोध के बीच ही कार्य करने में विश्वास करते थे।

[6] 'वर्षान्त में' अर्थात् वर्ष के अन्त में।

पायदारी पर ही इमारत के कंगूरे सजते हैं। हिन्दी-काव्य इन क्षणों में मन्थन-वाणी का विकल्प इन अर्थों में भी हो गया था कि समूल देशीय संस्कृति के प्रांगण में से वह राष्ट्रमंगल का ऋजुभाव ही सुहावना और प्रिय बना रहा था। पर कुछ लोग थे, जिनका लक्ष्य भ्रांत था। यह कविता उस भ्रांति को भी आनंद का प्रतिरूप बनाने आई थी!

फिर भी इस कविता से अनेक प्रश्न मन में उठते हैं, जिनमें सबसे बड़ा प्रश्न 'व्यक्तिगत रुचि बनाम व्रती साहित्य' का समाधान चाहता है। भारतेन्दु-युग, प्राग्द्विवेदी-युग और द्विवेदी-युग-साहित्य को स्थायी महत्व का सामाजिक कर्म मानकर ही अपने-अपने समय की प्रतिभाओं का संपादन करते आ रहे थे। लेकिन इधर १९०९-१० से जो साप्ताहिक-मासिक पत्र हिन्दी में निकलने लगे थे, वे व्यक्तिगत चिंतन रुचि का आश्रय लेकर, सिरों पर मँडराने वाले आवश्यक दायित्वों से आँख बचाते हुए जनमानस को विश्रृंखलित करने का अनजाना कार्य ले बैठे थे। साहित्य यदि साहित्यकार के आश्रित सामूहिक समाजशक्तियों का समग्र तप है, तो काव्य समग्र जीवन का ऐसा रहस्यमय दान है, जो रहस्यमय तरीके से ही अपना सांस्कृतिक उत्थान करता है। किन्तु 'सरस्वती' के अतिरिक्त, इस संश्लिष्ट कर्तव्य से अनभिज्ञ अन्य पत्रों ने अनावश्यक ईर्ष्या, व्यक्तिगत नुक्ताचीनी और सस्ते मनोरंजन का सिलसिला ही प्रधान कर्तव्य के रूप में मुख्य जान लिया था। यही कारण था कि द्विवेदीजी गुप्तजी को किसी अन्य पत्र में लिखने देने के पक्ष में नहीं थे, उससे गुप्तजी की शक्ति के अपव्यय होने का ही भय उन्हें था। 'होली का हास्य' कविता में गुप्तजी ने अत्यंत संयम के साथ तात्कालिक अशुद्ध हास्य के संतुलन में, अन्योक्ति रूप में कर्तव्यज्ञान को ही सुलभ करने का संकेत दिया है। फिर भी निःसंकोच यह स्वीकार करना होगा कि विगत वर्षों में लिखी 'पंचपुकार का संहार' और 'कुकवि-कीर्त्तन' के बाद, यह तीसरी कविता थी, जो 'सरस्वती'-आश्रम की मर्यादाओं की रक्षा के निमित्त गुप्तजी को लिखनी पड़ी और इसीलिए द्विवेदीजी ने इसे तत्काल ही स्थान भी दिया। यह कविता अपने युग के विपथिक साहित्यकारों का भी मृदु परिचय देती है। संभवतः इस हास्यरस की कविता को गुप्तजी के नाम से छापने के पक्ष में द्विवेदीजी न रहे होंगे, अतः उन्होंने कोई अन्य चलतू नाम सुझाया होगा। २० मार्च, १९११ को उत्तर देते हुए गुप्तजी ने लिखा, "कवि किंकर नाम बहुत अच्छा है। यह कृत्रिम नाम छिपेगा नहीं। इससे तो प्रकृत नाम ही ठीक है। 'लीलावती' की जो कविता 'मर्यादा' में छपी थी, उसके विषय में स्वयं कृष्णकान्त मालवीय ने मुझ से कहा था कि यह आपकी लिखी जान पड़ती है। उन्होंने यह भी कहा था कि पंडित श्रीधर पाठक भी कहते थे कि यह कविता गुप्तजी की है। पंडित पद्मसिंहजी ने लिखा था : "ऐसा 'विनय' लीलावती करें यह लीला तो समझ में नहीं आती? कविता स्वयं अपने 'गुप्त' कवि का पता दे रही है। 'खत उनको दे भी दिया तो कासिद ने जौक देकर किसी का धोका, वह खत न पहचान लेंगे, मेरी इबारत न देख लेंगे'—जौक। अस्तु।"

किसी लड़की ने अपनी एक कविता 'सरस्वती' में छपने के लिए गुप्तजी के मार्फत भेजी थी। गुप्तजी ने उसमें इतना संशोधन किया था कि वह एक प्रकार से नई ही कविता बन गई थी; वही लीलावती के नाम से 'मर्यादा' में छपी थी। 'होली का हास्य' इस प्रकार थी—

सम्पादकजी! जय श्रीराम,
जय शंकर, जय श्यामाश्याम।
नमो नमस्ते और प्रणाम,
गुड मार्निंग, जुहार, सलाम॥
है वसंत होली का रंग,
छनी खूब केसरिया भंग।
रुक सकती अब नहीं उमंग,
रहिए आज क्षमा के संग॥
डाल-डाल कर रंग-गुलाल,
लाल-लाल कर सब का भाल।

रसमय समय दशा को देख,
भेजा जाता है यह लेख॥
सोच हमारे श्रम को आप,
देना इसे समय पर छाप।
इससे सरस्वती का अंक—
नहीं रहेगा रस का रंक॥
सरस्वती का पद्य-विभाग—
है कोरा काँटों का बाग।
पर इसमें है रस भर पूर,
होगा अब भद्दापन दूर॥

काव्य हमारा उत्तम जान,
अपना उससे नीरस मान।
हिन्दी के लेखक निःशेष—
रखते हम पर ईर्ष्या-द्वेष।।
कहें हमें चाहे जो अज्ञ,
हैं हम पूर्ण काव्य-मर्मज्ञ।
काव्यतीर्थ का पद प्रधान—
हमें दे चुके हैं विद्वान।।
अहा! हमारा काव्य-विलास—
करता ब्रह्मानन्द-विकास।
सरस्वती के वाचक-वृन्द—
पावें आज वही आनन्द।।
सरस्वती में बारंबार—
चमकें हम भी किसी प्रकार।
यह उत्कट इच्छा है आज,
करिये पूर्ण इसे महराज।।
कई हमारे लेख ललाम,
गद्य-पद्यमय रस के धाम।
दिये आपने हैं लौटाल,
हो अबके भी वही न हाल।।
सच कहते हैं, जो इस बार,
छप न सके ये विमल विचार।
तो यह समझ लीजिए आप—
होगा बड़ा हमें परिताप।।
जो हम अबके हुए हताश,
तो फिर होगा वैर-विकास।
सरस्वती पर करके रोष,
ढूंढेंगे हम नाना दोष।।
केवल लेखक मात्र महान—
आप न हमको लेना जान।
समालोचना का भी गर्व—
रखते हैं हम सदा अखर्व।।
लिख न सकें चाहे कुछ शुद्ध,
पर कर सकते हैं हम युद्ध।
लेखक छोटे-बड़े तमाम—
डरते हमसे आठों याम।।
जो कह दें हम कविता-कान्त,
है वह ईश-वाक्य निर्भ्रान्त।
सुनते रहते हैं सब मौन,
चूं तक कर सकता है कौन।।

रहते हैं जो लोग विरुद्ध,
होते हैं हम उन पर क्रुद्ध।
करने को उनका अपमान,
करते हैं बहु यत्न-विधान।।
हो विज्ञों का कहना ठीक—
सिद्ध करें हम उसे अलीक।
लें जो हम झूठा भी पक्ष,
आ सकता है कौन समक्ष।।
बढ़ता देख किसी का मान,
होता हम को दुःख महान।
लेकर तब हम कलम-कुठार—
करते उस पर प्रबल प्रहार।।
कवियों के हम हैं कविराज,
समालोचकों के सिरताज।
लेखक-कला-प्रवीण प्रसिद्ध,
सम्पादन में भी हैं सिद्ध।।
सरस्वती - सम्पादन - कार्य,
दें जो आप हमें अनिवार्य।
तो फिर देखें शीघ्र सुयोग,
हों झट दूने ग्राहक लोग।।
करने में ग्राहक-गण-वृद्धि—
पाई हमने पूर्ण प्रसिद्धि।
हो कैसा ही सड़ियल पत्र,
बढ़े मांग उसकी सर्वत्र।।
है सब ओर जरा सी आड़,
ज्यों तिनके की ओट पहाड़।
कलह-पूर्ण हो लेख अमन्द,
क्यों न बढ़ेंगे ग्राहक-वृन्द।।
सच्चे-झूठे किन्तु विचित्र,
छपा करें यदि चित्र-चरित्र।
बढ़े पत्र का ऐसा नाम,
दें सब ग्राहक दूने दाम।।
लेख न भेजे जो लिक्खाड़,
पाये हमसे बुरी लथाड़।
समालोचना रूपी शूल—
तत्क्षण दें हम उस पर हूल।।
हैं हम बड़े धीर-गम्भीर,
त्यों समाज-संशोधक वीर।
लिख-लिख उपन्यास अश्लील,
रक्षित रखते सबका शील।।

देशोद्धारक भी सब काम,
करते हैं हम बिना विराम।
चन्दा करते हुए वसूल,
खिल जाते हैं जैसे फूल।।

हैं हम में गुण-गर्व प्रतीव,
हम हैं बड़े विलक्षण जीव।
नित्यानन्द हमारा नाम,
हँसना और हँसाना काम।।

श्रीमती लीलावती के दो पद इस प्रकार थे—

पतितपावन, पुण्यमय, अशरण-शरण, लक्ष्मीमते,
दीन-दुखहारी, दयाकर, देव-देव, महामते।
भयहरण मंगलकरण संकट निवारण आप हो!
विश्वके उत्पत्ति, पालन, प्रलय-कारण आप हो।।

हे हरे बस आपसे विनती हमारी है यही।
दुःखसागर में अहो! डूबे न यह भारत मही।
दैत्यवर इसको जलधि में नाथ! जब था ले गया,
तब उबारा था तुम्हीं ने निज जनों पर कर दया।

गुप्तजी 'सरस्वती' के ऐसे अभिन्न अंग थे कि उस पर उठे हुए आक्षेपों से भी उन्हें क्लेश होता था। इस वर्ष जनवरी से ही द्विवेदीजी ने 'कालिदास की निरंकुशता' नामक एक लेखमाला निकाली थी, जो अपने युग की बड़ी ही निर्भीक आलोचना-पद्धति पर आधारित थी। समालोचना की कठोर रूढ़ियों के विरुद्ध यह एक पूरा जिहाद था। अपने तर्कों के समर्थन में अप्रैल में द्विवेदीजी ने सर गंगानाथ झा आदि विद्वानों के विचार भी प्रकाशित किए। उससे प्रसन्न होकर गुप्तजी ने अपने १४ अप्रैल, १९११ के पत्र में लिखा, "अप्रैल की 'सरस्वती' के लेख बड़े मार्के के हैं। मेरे एक मित्र निरंकुशता को नापसन्द करते थे। अब उन लेखों को देखकर उनकी भी आँखें खुल गईं। बार्हस्पत्यजी की सम्मति बड़े महत्व की है। ऐसे लेख लिखने की आवश्यकता उन्होंने बड़ी खूबी से सिद्ध की है। अरविन्द बाबू की सम्मति तो बड़ी भयंकर मालूम होती है। ये दोनों लेख हमारे विपक्षियों[1] के घर मातम मनाने के लिए काफ़ी हैं।"

किन्तु असंयत आक्षेप, कटु आलोचना, अनुचित चर्चाएँ इतनी सशक्त न थीं कि 'सरस्वती' में गुप्तजी के नियमित लेखन को निस्पंद कर सकतीं। यों, इस समय सारी शक्ति 'सरस्वती' के चित्रों पर कविताएँ लिखने से अलग, स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थों की दिशा में भी प्रवृत्त हो रही थी, फिर भी १९११ में 'सरस्वती' की ४९ कविताओं में गुप्तजी ने १८ कविताएँ प्रेषित कीं। जनवरी अंक में भ्रमर, काक, मेघ, चक्रवाक, गज, समृद्ध, कस्तूरी मृगया पर अन्योक्ति सप्तक व 'प्रह्लाद' (३० पद) निकले। अन्तिम कविता एक तिरंगे चित्र पर लिखी गई थी। फरवरी में भी दो रचनाएँ 'वनवास' और 'प्रयाग की प्रदर्शिनी' निकलीं। गत वर्ष ६ नवम्बर को ही गुप्तजी ने द्विवेदीजी को लिखा था, "प्रदर्शिनी-विषयक कविता, इच्छा है कि प्रयाग की प्रदर्शिनी देखकर लिखूँगा। यदि हो सका, तो मैं वहाँ जाऊँगा। यदि आज्ञा हो, तो अभी लिख डालूँ।"

२४ दिसम्बर को गुप्तजी प्रयाग गए। अपने समय की यह एशिया की सबसे बड़ी औद्योगिक प्रदर्शिनी थी। और इसका कौतूहल मुख्य रूप से यह था कि इस समय तक भारत में सार्वजनिक रूप से तात्कालिक वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रदर्शन कभी हुआ नहीं था। यमुना-तट पर संगम और अकबरी दुर्ग के सन्निकट आलीशान महलों की एक बस्ती-सी इस प्रदर्शिनी में बस गई थी। देश के कोने-कोने से लोग इसे देखने दौड़ पड़े थे। गुप्तजी के साथ उनके १०-११ वर्षीय छोटे भाई चारुशीलाशरण भी गए। वहाँ चारुशीलाजी के जूते ने काट लिया, तो गुप्तजी को ही उन्हें पीठ पर लाद कर घर लाना पड़ा! इसी अवसर पर वे द्विवेदीजी से भी मिले। पर जब छोटे भाई की तबीयत खराब हो गई, तो प्रदर्शिनी देखकर जल्दी ही दोनों भाई ३ जनवरी को घर लौटे।

मार्च के अंक में एक कविता 'मातृभूमि' और अप्रैल में 'सुलोचना का चितारोहण' (रंगीन चित्र-सहित) व 'श्रीरामनवमी'[2] दो कविताएँ थीं। मई में 'सुकवि-संकीर्तन'[3] व 'शकुन्तला को कण्व का आशीर्वाद'[4]

---

[1] कलकत्ता के एक पत्र में प्रकाशित और बाद में डिमाई सोलह पेजी साँचे के १९५ पृष्ठों की किताब में मुद्रित श्री मनसाराम की 'निरंकुशता निदर्शन'; 'मर्यादा', अप्रैल, १९१२ में इसकी सोत्साह समालोचना मिलती है।
[2] पद्य-प्रबन्ध, पृष्ठ ९। [3] पद्य-प्रबन्ध, पृष्ठ ५५। [4] शकुन्तला।

(रंगीन चित्र सहित), जून में 'स्वर्गीय-संगीत'[1] जुलाई में 'बाल-विनोद, अगस्त में 'पंजरबद्ध कीर'[2] व 'मनोरंजक श्लोक', सितम्बर में 'ग्राम्य जीवन'[3], अक्टूबर में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन'[4] जो साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में पढ़ने के लिए लिखी गई थी, पर वहाँ किसी कारण से नहीं पढ़ी गई, नवम्बर में 'पूर्व-प्रभा' व 'न्यायादर्श'[5] और दिसम्बर में 'राज्याभिषेक'[6] व 'हिन्दू विश्वविद्यालय'[7] कविताएँ निकलीं। इस अन्तिम अंक में श्री व्रजनन्दन सहायजीकृत 'सौंदर्योपासक' नामक उपन्यास की आलोचना भी आपकी लेखनी से ही लिखी गई थी।

यह कविता १६०६ में ही लिखकर 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी गई थी। पर द्विवेदीजी ने अपने २२ जून, १६०६ के पत्र में सूचित किया, "तोतेवाली कविता, यहाँ लोगों को बहुत पसन्द आई। प्रेस के मालिक उसे सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। परन्तु जमाना नाजुक बड़ा है। लेखों का कुछ-का-कुछ अर्थ लगाया जाता है। इससे निश्चय यह हुआ कि अभी कुछ दिन न प्रकाशित की जाय। आशा है। आप इससे खिन्न या अप्रसन्न न होंगे।" इस पर गुप्तजी ने अपने २८ जून के पत्र में लिखा, "यदि 'पंजरबद्ध कीर' के प्रकाशित करने में कुछ हानि की सम्भावना हो, तो उसे न छापिएगा। 'सरस्वती' की पालिसी और समय की गति का विचार कर लीजिएगा। अभी नासिक के 'सावरकर' महाशय की कविता निर्दोष कहते हुए भी विचारपति महोदय ने विचारासन पर बैठकर और न्याय देवता को साक्षी देकर उनको राज्य-दण्ड से दण्डित किया है। अतएव ऐसी स्थिति में हठात् यह पद्य स्मरण आ जाता है—

कस्तूरिकां हरिण मुंच वनोपकंठे
मा सौरभेय कुकुभः सुरभीकुरुष्व
आस्तां यशो, ननु किरातशराभिघातात्
त्रातापि हन्त भविता भवतो दुरापः।"

द्विवेदीजी ने अपने २८ जून के पत्र में पुनः सूचना दी, "'पंजरबद्ध कीर' अभी कुछ दिन न छापेंगे। यही फैसला हुआ है। न छापना ही अच्छा है।" पर पूरे दो वर्ष बाद जब द्विवेदीजी ने इसे प्रकाशित करने की सूचना दी, तो गुप्तजी ने अपने १३ जुलाई, १६११ के पत्र में लिखा, "'पंजरबद्ध कीर' को यदि श्रीमान् 'सरस्वती' में निकालें, तो खुशी से निकालें। इसको बड़े बाबू प्रकाशित करना स्वीकार करेंगे? मुझे अभी विश्वास नहीं होता।"

संस्कृत में इस शीर्षक से एक कविता अप्पाशास्त्रीजी ने लिखी थी, जिसका हिन्दी पद्यानुवाद श्री गिरधर शर्मा ने किया था। गुप्तजी ने यह कविता स्वतन्त्र आधार पर देशीय दासता को आधारित कर लिखी थी।

यद्यपि ये सभी कविताएँ विभिन्न विषयों पर आधारित हैं, तथापि इनका कलेवर एक ही जीवनरक्त से सिंचित है। 'भारत-भारती' की सम्भाव्य सीमाएँ विस्तार पा रहीं थीं, उन्हीं के अन्तरिक्ष की वाणी इनमें क्षेमकरी हो रही थी। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दू-विश्वविद्यालय जैसे विषय भी कविता में इस कारण सक्षम हो उठे थे, क्योंकि राष्ट्रभारती क्रमशः ब्रह्म-शंसित कल्याणी होती जा रही थी। ये दोनों संस्थाएँ अपने साथ भवितव्य लेकर पनपीं। इन कविताओं ने उसी भवितव्य का मार्ग प्रकाशित किया।

'राज्याभिषेक' कविता गुप्तजी के जीवन में अनेक अवसरों पर प्रश्नवाचक चिह्न बनकर अलग जा खड़ी हुई है। भारत के सहायतार्थ ईश्वर से प्रार्थना करने में भारतेन्दु-युग की ही आवाज प्रबल थी। और विदेशी सरकार के प्रति भी कुछ उदार अभिव्यक्तियाँ जो प्रसूत हुईं, उनका लक्ष्य प्रशस्ति से अधिक सार्वजनिक सम्यक् ज्ञान के प्रति संकेत करना ही था। पर शनैः-शनैः अंग्रेजी शिक्षा में आशातीत प्रगति हुई और सर्वत्र विदेशी शासन के गीत गाए जाने लगे। द्विवेदीजी भी इस प्रभाव से अछूते न रहे। उन्होंने 'कृतज्ञता-प्रकाश' आदि रचनाओं में कुछ सुविधाएँ देनेवाली सरकार की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा और हर्ष की इतनी असंस्कृत

---

[1] मंगलघट, पृष्ठ २९१।
[2] पद्य-प्रबन्ध, पृष्ठ १३२।
[3] पद्य-प्रबन्ध, ९२।
[4] पद्य-प्रबन्ध, पृष्ठ ७५।
[5] पद्य-प्रबन्ध, पृष्ठ १२२; मंगलघट, पृष्ठ १७५।
[6] पद्य-प्रबन्ध, पृष्ठ १४२।
[7] पद्य-प्रबन्ध, पृष्ठ १४६।
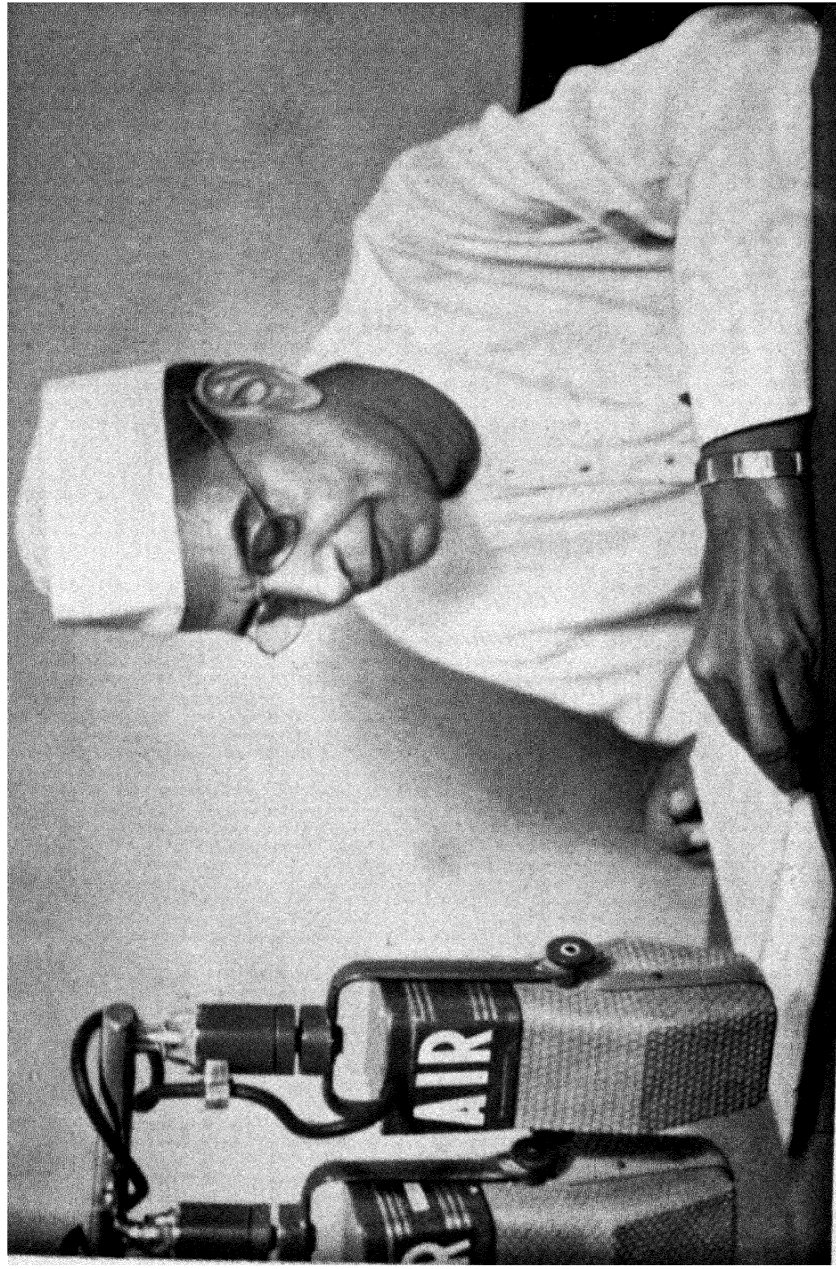
श्री मैथिलीशरण गुप्त
[आकाशवाणी, नई दिल्ली, से वार्ता प्रसारित करते हुए, १९५४]

अभिव्यक्ति की है, मानो किसी बच्चे को अभीष्ट खिलौना मिल गया हो। द्विवेदीजी का ख्याल था कि सरकार को प्रसन्न कर वे हिन्दी के लिए कुछ प्राप्त कर सकेंगे। उधर सारे देश में जार्ज पंचम के राज्याभिषेक की धूम थी। वह सार्वजनिक हर्ष का विषय था। उन्हीं की आज्ञा से गुप्तजी ने यह कविता लिखी। 'सरस्वती' ने एक प्रकार से इस समारोह से सम्बद्ध अनेक लेख प्रकाशित किए। एक प्रकार से यह 'सरस्वती' का राज्याभिषेक विशेषांक था।[१] देश के सभी समाचार इस आयोजन की चर्चा में बढ़-बढ़ कर आगे हुए। किन्तु द्विवेदीजी ने इस कविता में से वे अंश निकाल दिए थे, जो इस समय कवि के हृदय की निजी बात थी, सार्वजनिक संदर्भ में जिसका प्रकटीकरण कर्णकटु और अप्रासंगिक ही सिद्ध होता[२]। गुप्तजी भी इस समय तक अपनी प्रबल भावनाओं की बौद्धिक ईदृक्ता के प्रति सच्चे रहना चाहते थे। अतः उन्होंने पूना से निकलने वाले हिन्दी साप्ताहिक 'हिन्दी चित्रमय' नवम्बर अंक में 'धर्मराज्याभिषेक' रचना सिर्फ इसीलिए भेजी, क्योंकि द्विवेदीजी द्वारा राज्याभिषेक का संपादन उन्हें प्रीतिकर न लगा। इस संबंध में इस विषम स्थिति का रहस्योद्घाटन करते हुए मुंशी अजमेरीजी लिखते हैं (दैनिक प्रताप, ३० जुलाई, १९३६), "द्विवेदीजी की आज्ञा से आपने एक कविता लिखी थी, पर वह उसी समय 'सरस्वती' में पूरी नहीं छपी थी, कुछ पद्य अनुचित और अनावश्यक समझ कर निकाल दिये गए थे। उस समय 'सरस्वती' के स्वामी की नीति ऐसी ही थी।" पर 'चित्रमय-जगत्' की यही एक कविता है, जिसने हिन्दी-काव्य में बहुत स्पष्ट शब्दों में 'सरस्वती'-आश्रम से दूरस्थ मंच पर जाकर, पंचम जार्ज के राज्याभिषेक के ठीक अवसर पर, अन्योक्ति-शक्ति से उस विद्रोही उद्बोधन की सूचना दी, जो अति शीघ्र 'भारत-भारती' के रूप में घोषित होनेवाली थी। 'सरस्वती' से भिन्न पत्र में सुदूर मराठी अंचल में जाकर, जहाँ लोकमान्य तिलक का उग्रवाद उन दिनों राजनीतिक स्वर में घोषित हो रहा था, यह कविता जब निकली, तो इसका स्पष्ट आशय यह अवश्य था कि द्विवेदीजी के नायकत्व को पूर्ववत् स्वीकार करते हुए भी गुप्तजी ने अपना स्वस्थ विरोध अपनी कविता में किए गए अनावश्यक संपादन के प्रति डटकर किया और सिद्ध कर दिया कि जो पंक्तियाँ निकाली गई थीं, वे सोद्देश्य थीं, सार्थक थीं और कवि-धर्म का सत्य लेकर लिखी गई थीं। उन पंक्तियों ने दुबारा स्वरूप ग्रहण कर इस कविता के रूप में इस तरह १० पदों का विस्तार पाया—

कहो आज किस ओर चलोगे ? देखोगे किस ओर भला ?
एक ओर वीरत्व विभव है, एक ओर कारुण्य-कला।
एक दृश्य है चित्ररूप में आज तुम्हारे सन्मुख मित्र,
और दूसरा प्रतिबिम्बित है मनोमुकुर में महाविचित्र॥

प्रबल पाडवों के प्रताप का एक ओर है प्रखर प्रकाश,
एक ओर भारतमाता के अगणित शूरसुतों का नाश।
एक ओर विजयी बलशाली धर्मराज का है अभिषेक,
एक ओर मृत वीरवरों की विधवाओं का शोकोद्रेक॥

---

[१] 'राज्याभिषेक' की इस धूमधाम में देश का कोई भी पत्र ऐसा न बचा, जिसने अपना विशेषांक न निकाला हो। 'मर्यादा' जो राजनीतिक विचारों की अग्रणी पत्रिका समझी जाती थी, उसमें पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'राजराजेश्वर का स्वागत' नामक संस्कृत कविता और एक दूसरी संस्कृत कविता 'राजराजेश्वर को आशीर्वाद' प्रकाशित कराई। इसी प्रकार इसी पत्रिका के इसी अंक (भाग ३, संख्या २-३, दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२) में पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने 'राज प्रशंसा' कविता और पं० श्री बद्रीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' जी की 'साम्राज्याभिनन्दन' कविता निकली। पं० बालकृष्ण भट्ट ने स्तुतिपरक 'बड़ों का बड़प्पन' लेख लिखकर इसी अंक में बताया, "भारत को श्रीमान् जार्ज पंचम महाराज का आगमन वैसा हो सुखद हुआ, जैसा ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप से सन्तापित धरती को वर्षाकाल के नव मेघोदय से होता है।" 'मर्यादा' ने अपनी संपादकीय टिप्पणी में लिखा, "इस बात में किसी को भी सन्देह न होगा कि सम्राट् के अभिषेकोत्सव के कारण भारत का मान और गौरव संसार में बढ़ गया है…।" 'पंजरबद्ध-कीर'……

[२] द्विवेदीजी ने कुछ अन्य पंक्तियों के साथ 'राज्याभिषेक' में से निम्न पंक्तियाँ भी निकाल दी थीं—

दीख रही जो आज बाहरी लाली।
भीतर होली जले, किंतु बाहर दीवाली॥

पांचजन्य के पुन्योदक से, प्रभु पुरुषोत्तमके द्वारा,
एक ओर तो धर्मराज के सिर पर गिरती है धारा।
एक ओर उस कुरुक्षेत्र-से बढ़कर रण का रक्त-प्रवाह,
डुबा रहा है आर्यभूमि का बल, विक्रम, साहस, उत्साह ।।

आर्यों के एकाधिपत्य का एक ओर उत्सव भारी,
(बुझने के पहले ज्यों दीपक बढ़ता है विस्मयकारी।)
एक ओर अष्टादश-संख्यक अक्षौहिणी चमू का अन्त,
जहाँ शकुन्त-शृगाल-गणोंका विकृत नृत्य दुग्गति-पर्यन्त।।

राजकीय दानों की अद्भुत एक ओर है धूम बड़ी,
एक ओर उस रण के कारण सर्वनाश की त्राहि पड़ी।
एक ओर है फुल्ल कुसुम-सा आमोदित यह अनुपम देश,
एक ओर उस फुल्ल कुसुम में विकट कीट का हुआ प्रवेश।।

एक ओर जातीय पताका चित्रतुल्य छबि पाती है,
एकच्छत्र सु-राज्य हमारा ऊँचे चढ़ दिखलाती है।
एक ओर निःशंक भाव से दल-बल-सहित,विजय के अर्थ,
अन्य देशियों के आने पर होंगे अब क्या यत्न समर्थ ?

एक ओर फूलों की वर्षा, मानो खेल रहे तारे,
पड़े अनन्त चिताओं के हैं एक ओर वे अंगारे।
एक ओर तो मातृभूमि पर मधु-धारा-सी ढलती है,
एक ओर उस मृतवत्सा की छाती धकधक जलती है ।।

भिन्न-भिन्न भावों का ऐसा होगा आविर्भाव कहाँ ?
एक ओर गौरव-गरिमा है एक ओर है पतन यहाँ।
एक ओर बल का विकास है एक ओर उसका उपहास,
एक ओर उल्लास-वास है, एक ओर है श्वासोच्छ्वास ।।

समझ नहीं पड़ता है कुछ भी उधर जायँ या रहें इधर,
तुम्हीं कहो अब किधर चलोगे, देखोगे हे मित्र ! किधर ?
एक ओर हो रहा धर्म का जय-जयकार अपार अनन्त,
एक ओर कातर कंठों का हाहाकार हरे हा हन्त !

भारत की दोनों आँखों की भिन्न-भिन्न है आज छटा,
एक आँख प्रेमाश्रु पूर्ण है, एक आँख शोका श्रु-घटा।
आओ, तब दोनों आँखों से देखें हम भी दोनों ओर,
एक आँख से अपनी उन्नति एक आँख से अवनति घोर ।।

इस वर्ष के अन्त में जार्ज पंचम का राज्याभिषेक हुआ और उसके वाद विदेशी शासन ने पश्चिमी विधि-विधान का प्राचीर इस देश के चारों तरफ चिन दिया। किन्तु उक्त कविता-पंक्तियों के कवि ने, जो कल तक ईश्वर को देश की सहायता के लिये याद करता रहा था, अब अपने कवि-धर्म में एक नया मोड़ लिया और देशवासियों से अपील करता हुआ, 'भारत-भारती' के उद्घोष को लेकर जन-मानस के मुक्त मार्ग पर द्रुतगति से चल पड़ा। विदेशी शासन देशीय हृदय को आतंकित किए हुए था; कवि ने पहले उस मानस से ही जन-सम्पर्क स्थापित किया। गुसाईं तुलसीदास शाश्वत सत्यों की जो सामाजिक परम्परा मुस्लिम शासनकाल में मान्य कर गए थे, उसे ही बिना साम्प्रदायिक रंग दिए, इस २६ वर्षीय कवि ने अपने श्लाघ्य युवक धर्म के ओज द्वारा परवर्ती-पूर्ववर्ती के विवेचन में एकरस कर दिया। हिन्दी-कविता के क्षेत्र में यह नया परिच्छेद था। राष्ट्रीय भावनाओं के क्षेत्र में उद्दीप्त रूप में कला की यह नई गहराई नापी गई थी। काव्य-गत उन्मेष का यह नवीनतम सकर्मक आदेश था।

पहले वर्ष (१९१०) 'मर्यादा' में 'पूर्व-दर्शन' कविता छपी थी। द्विवेदीजी को यह छपना अखरा और फलस्वरूप उनकी चुटकियाँ पत्र-रूप में प्राप्त हुईं। उसी भावधारा को पक्व-पुष्ट रूप देते हुए जो आमूल-चूल नई कविता 'सरस्वती' के लिए बनी, वही 'पूर्व-प्रभा' (१९११, नवम्बर) थी।

इसी वर्ष 'मर्यादा' के अक्टूबर में 'हरिश्चन्द्र-पंचक' शीर्षक की एक और कविता निकली, जो काशी की हरिश्चन्द्र-जयन्ती में पढ़ी गई थी। 'मर्यादा' में छपने के लिए गुप्तजी ने इसे नहीं भेजा था, काशी से ही यह कविता येन-केन प्रकारेण 'मर्यादा' के हाथ लग गई थी। उस पर तुर्रा यह कि 'मर्यादा' ने इसे अपनी रुचि से संशोधित कर प्रकाशित किया ! आरा से प्रकाशित 'लक्ष्मी' के फरवरी अंक में 'श्वासोच्छ्वास' और मार्च में 'ब्रह्मचर्य का अभाव' पद्य प्रकाशित हुए।

यह सब सक्रियता पुरजोर थी, लेकिन गुप्तजी का शरीर रुग्ण और श्रान्त हो रहा था। अपने १३ जनवरी, १९११ के पत्र में इसी वर्ष आपने द्विवेदीजी को कुछ नुस्खे भेजे थे, उसमें यह भी लिखा था, "साल में तीन दफे से कम मेरी आँखें नहीं आती थीं। जब से मैं ये उपचार करने लगा हूँ, बहुत फायदा है। अब दो-

तीन बरस में कभी आँखें आती हैं।" इसके बाद, आपने ६ जून, १६११ के पत्र में लिखा, "...८ पद्यों के सिवा मैंने दो-तीन महीने से प्राय: कुछ नहीं लिखा। मेरी तबीयत खराब होती जाती है। जब तबीयत ही अच्छी नहीं, तब कविता कैसे बन सकती है। मैं कोई ५-६ वर्ष से निरन्तर लिख रहा हूँ। आज कुछ समय के लिये छुट्टी की दरख्वास्त लेकर श्रीमान् के सामने आते हुए मुझे संकोच होता है, पर लाचार हूँ। यदि उचित समझिए, तो इसे मंजूर करने की कृपा कीजिए। बुरी कविता से कविता न लिखना ही अच्छा है। यदि शरीर ने साथ दिया और भगवान की कृपा हुई, तो श्रीमान् की छाया में रहकर बहुत कुछ लिखने की आशा रखता हूँ। आज तक जिस वात्सल्य-भाव से मुझे श्रीमान् ने निभाया है, उसके लिए मैं अपना सौभाग्य समझ कर सविनय प्रार्थना करता हूँ कि आज तक मुझसे जब जो ज्ञात और अज्ञात अपराध हुए हों, उन्हें कृपा कर क्षमा कर दीजिए। बस।..."

चिन्ता प्रकट करते हुए द्विवेदीजी ने सारी वास्तविकताएँ जाननी चाहीं। उसके उत्तर में आपने १३ जुलाई, १६११ को लिखा, "पूज्यवर श्रीमान् पंडितजी महाराज, प्रणाम, कृपा-पत्र पहुँचा। श्रीमान् ने मेरे लिए बड़ी चिंता की। क्यों न करते, श्रीमान् का ही हूँ। मुझे बहुत दिनों से शिरोरोग है। कभी कम हो जाता है, कभी अधिक। आजकल यह दशा है कि विशेष परिश्रम किया कि दर्द होने लगा। फिर कुछ करते नहीं बनता। उधर कुछ दिन ज्वर आने से शरीर भी अच्छी दशा में नहीं रहता। निरन्तर लिखते रहने से शायद कविता भी अच्छी नहीं बनती और लिखने से जी भी कुछ उचटता है। इसी से कुछ दिनों के लिए मैंने श्रीमान् से छुट्टी की प्रार्थना की है। इधर दो-तीन महीने से विशेष लिखा-पढ़ी नहीं की, इससे कुछ फायदा है। श्रीमान् के आशीर्वाद से, आशा है, मुझे शीघ्र ही आरोग्य लाभ होगा।

"एक प्रबल रोग और भी मुझे है। उससे जी बहुत घबराता है। वह पत्र-सम्पादकों की प्रेरणा है। बहुतों को तो मैं उत्तर ही नहीं देता। पर किसी-किसी को देना ही पड़ता है। लेकिन कोरे उत्तर से लोग नाराज हो जाते हैं। बहुतों की नाराजगी अब प्रकट होने लगी है। हो, इसकी मुझे परवाह नहीं। पर मेरा स्वभाव कुछ ऐसा है कि जिनसे कुछ विशेष परिचय है, उनकी कविता-याचना पर टालटूल करते संकोच होता है। जब पद्मसिंह शर्मा सरीखे किसी कृपालु जन का पत्र आता है, तब बड़े संकोच में पड़ जाता हूँ। 'मर्यादा' को कविता भेजने की जरा भी इच्छा नहीं। पर क्या करूँ, पं० कृष्णकान्त मालवीय के कई ऐसे पत्र आये कि एक कविता भेजना स्वीकार करते ही बना। . एक अधूरी कविता मेरे पास पड़ी है। उसी को पूरा करके 'मर्यादा' को भेज दूंगा। भेजना क्या है, आफत टालना है। इच्छा है कि कुछ दिन विश्राम करूँ। लिखना-पढ़ना बन्द कर दूं। पर निश्चय पूर्वक नहीं कह सकता कि ऐसा ही होगा। श्रीमान् ने बहुत ठीक लिखा है कि चुपचाप मुझसे बैठा भी तो न जायगा। कविता मेरे सर्वप्रिय व्यसन की वस्तु है।...कुछ भी हो, जब तक 'सरस्वती' से श्रीमान् का सम्बन्ध है, तबतक 'सरस्वती' मेरी है और मैं 'सरस्वती' का हूँ। जिस तरह से हो सके, मैं उसकी सेवा के लिए हाजिर हूँ। उस साल में कुछ अधिक बीमार हो गया था। अजमेरी कहते हैं कि प्रलाप की दशा में भी मैं सरस्वती-विषयक बातें कहा करता था। अब भी डिंगलजी[1] कभी-कभी उन बातों को कहकर मुझसे मजाक किया करते हैं।"

द्विवेदीजी ने संकेत रूप में जो आशंका प्रकट की थी, वही सत्य निकली। गुप्तजी ने १३ अक्टूबर, १६११ को फिर पत्र लिखा, मैं बहुत दिनों से चाहता हूँ कि कुछ दिनों लिखना-पढ़ना बन्द रक्खूं। पर कविता ऐसा रोग है कि चुप बैठा ही नहीं जाता। मेरी भी यही दशा हुई। मैंने विश्राम लेने का विचार तो किया, पर वह पूरा न हो सका। तबीयत भी न सुधरी। मैं चाहता हूँ कि जनवरी की 'सरस्वती' के लिए एक कविता अच्छी बन जाय, पर अभी तक कुछ लिखना शुरू नहीं कर सका। तीन-चार किताबें अधूरी पड़ी हैं। कोई ५ महीने से उनमें भी एक पद्य नहीं लिखा गया। अस्तु 'सरस्वती' के लिए एक कविता लिखकर मैं कुछ दिन के लिए लिखना-पढ़ना बिलकुल बन्द नहीं, तो बिलकुल कम करना चाहता हूँ। यदि हो सका, तो

---

[1] मुंशी अजमेरीजी।

कभी-कभी करुण क्रन्दन किया करूँगा और उसे 'सरस्वती' के लिए भेजा करूँगा। विना विश्राम लिए अब काम नहीं चलेगा। कृष्णकान्त मालवीय को मैं जवाब दे चुका। उनकी एक कविता संशोधन के लिए आई थी। उसे वैसा ही लौटा दिया। महामंडल के अधिवेशन पर कानपुर आने का विचार था और उसमें पढ़ने के लिए एक धार्मिक कविता लिखना चाहता[1] था, पर कुछ नहीं हो सका। प्रतिदिन भोजनोपरान्त ज्वर हो जाता है। लाचार हूँ। 'सोने-लोहे का झगड़ा' मैं अवश्य लिखूंगा। पर क्या १०-५ दिन की अवधि और मिल सकती है। श्रीमान् यह क्या लिखते हैं कि 'एहसान मुझ पर होगा।' मेरे लिए ऐसी बातों के लिए कष्ट करने की जरूरत नहीं। मैं तो श्रीमान् का एक ग्रामीण सेवक हूँ, पुत्र स्थानीय हूँ। मुझे तो आज्ञा देना ही उचित है। खैर, यह सौन्दर्योपासक देखिए, मुझे बहुत पसन्द आया है। यदि श्रीमान् को भी पसन्द आवे—और मैं जानता हूँ जरूर आवेगा—तो कृपा कर इस नोट को छाप दीजिएगा। एहसान मुझ पर होगा। ठीक है न? धृष्टता क्षमा कीजिए।..."

द्विवेदीजी इन 'पुत्रस्थानीय' व 'ग्रामीण सेवक' शब्दों को पढ़कर निगूढ़ संवेदना में डूब-उतरा चले। शरीर की अवस्था जब ऐसी है, तब तो कठिन निर्देशन की आवश्यकता है—उतनी, जितनी कि वे सम्पादकीय कलम से दिया करते थे। और उन्होंने अपने इस परम प्रिय ('ग्रामीण') भाजन को लिखा, लिखा क्या, शपथ भिजवाई कि सब काम बन्द करें, सब काम बन्द सही, पत्र लेखन तो क्यों कर रुक सकता है। गुप्तजी ने १३ नवम्बर, १९११ को लिखा, "पूज्यवर श्रीमान् पंडितजी महाराज, प्रणाम, कृपा-पत्र पहुँचा। श्रीमान् को मेरी बड़ी चिंता है। अतएव होनी ही चाहिए। पर शपथ देकर तो श्रीमान् ने मुझे बिलकुल ही विवश कर दिया। कृपा कर इतनी छुट्टी अवश्य दीजिए कि जब जी न माने, तब कभी एकाध पद्य लिख लिया करूँ। जब कुछ लिखने की तरंगें स्वतः उठती हैं, तब फिर बिना लिखे जी नहीं मानता। हाँ, इतना मैं कहता हूँ कि बहुत ही कम काम करूँगा। पर यदि जी न माने, तो सिर्फ उस समय के लिए तो छुट्टी अवश्य मिलनी चाहिए। एक कविता सरस्वती के लिए शुरू की थी, वह भी अधूरी पड़ी है। जब तक श्रीमान् आज्ञा न देंगे, कुछ नहीं लिख सकूंगा।"...

जहाँ इस कोटि की मान-भावना और हार्दिक स्नेह से पगे आदेश-निर्देश-नियंत्रण बरते जा रहे थे, वहाँ शल्य-चिकित्सक सम्पादक द्विवेदीजी अतिशय रूप से किसी को अपना बनाने वाले व्यक्ति थे। विगत चार-पाँच वर्षों से जहाँ उन्होंने इस युवक कवि को बड़ों का-सा मान-सम्मान और आदर दिया था और समय-समय पर उनकी प्रशंसा-चर्चा करते थे, वहाँ इस वर्ष (१९११) उन्होंने अपने दो लेखों में गुप्तजी के प्रति सर्वोपरि मुक्तकंठ शुभ अभ्यर्थना प्रकाशित की। अप्रैल में आपने 'कालिदास की कवितामें चित्र बनाने योग्य स्थल' शीर्षक से एक लेख 'सरस्वती'में दिया। इसमें पहले 'कविता-कलाप' की भूमिका में वर्णित कविता और चित्र के परस्पराश्रित संबंधों की व्याख्या को दुहराते हुए आपने लिखा, "यही समझ कर राजा रविवर्म्मा आदि भारत के आधुनिक चित्रकारों ने पुराणों और प्राचीन काव्यों के मुख्य-मुख्य दृश्यों के चित्र खींचकर आँख और कान के असूया जात पारस्परिक विवाद को दूर करने की चेष्टा की है। 'सरस्वती' के सिद्धकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त इसका विपरीत व्यवहार करके पाठकों का मनोरंजन करते हैं। वे चित्रकार नहीं, कवि हैं। अतएव चित्रकारों के चित्रगत भावों को वे कविता द्वारा प्रकट करते हैं। अथवा यह कहिए कि वे चित्रों के टीकाकार, भाष्यकार या भावार्थ समझाने वाले सायण[2] हैं।"

और अपने इस युवक कलाकार के प्रति स्थायी भावना की दूसरी अभिव्यक्ति अक्टूबर (१९११) में प्रकाशित 'हिन्दी की वर्तमान दशा' में की। यह लेख द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए लिखा गया

---

[1] डॉ० सेन के यहाँ लड़कियों की एक पाठशाला थी, उसी के लिए द्विवेदीजी ने यह कविता लिखवाई थी।

[2] इस लेख को पढ़कर गुप्तजी ने अपने १४ अप्रैल के १९११ के पत्र में लिखा, "...चित्रोंवाले लेख में मेरे विषय में श्रीमान् ने बहुत लिख दिया। क्या जरूरत थी। यह सब श्रीमान् के चरणों की कृपा है। मैं किस योग्य हूँ। शेष कुशल, दया रखिए। चरणानुचर : मैथिलीशरण गुप्त।"

था और इसमें संक्षेप से (१) हिन्दी का बीज-वपन, (२) अंकुरोद्भव, (३) पत्रोद्गम, (४) वर्त्तमान अवस्था, (५) साहित्य का महत्त्व, (६) समाचारपत्र, (७) वैज्ञानिक पुस्तकें, (८) कोश और व्याकरण, (९) इतिहास और जीवनचरित, (१०) पर्यटन-विषयक पुस्तकें, (११) काव्य और नाटक, (१२) उपन्यास, (१३) समालोचना, (१४) फुटकर विषयों के ग्रन्थ, (१५) भाषा और (१६) उन्नति के उपाय जैसे विशाल पट पर अपने गंभीर विचार प्रस्तुत करते हुए काव्य-चर्चा में गुप्तजी की उल्लेखनीय चर्चा की थी। व्यक्ति का महत्त्व एकांत में नहीं, समाज के व्यापक अंचल में है। सर्वांगीण समस्याओं से जब उसका सापेक्ष संबंध होता है, तभी वह नायकत्व ग्रहण करता है। हिन्दी के सर्वांगीण विषयों पर द्विवेदीजी की आचार्य-लेखनी से जो यह चर्चा हुई, वह इसलिए पठनीय है कि इसको देखने से १९११ तक की हिन्दी-प्रगति का लेखाजोखा मिल जाता है और स्पष्टतया पता चल जाता है कि गुप्तजी किस प्रकार उस समय अग्रणी स्थानग्रहणकर सके थे। द्विवेदीजी ने इस ऐतिहासिक लेख में लिखा. . . वर्त्तमान हिन्दी की प्रथमावस्था का सबसे प्रतिष्ठित ग्रन्थ जो अब तक उपलब्ध हुआ है,पृथ्वीराज-रासो ही है। अतएव निश्चय पूर्वक केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वर्त्तमान हिन्दी का बीज-वपन चन्दबरदायी के समय में, या उसके कुछ पहले, हुआ. . .बोने के अनन्तर बीज से अंकुर निकलता है। चन्दबरदायी आदि कवियों ने जिस बीज को बोया, उससे अंकुर तो शीघ्र निकल आया। परन्तु पत्तियाँ बहुत देर से निकलीं। जिस हिन्दी में आजकल समाचारपत्र और पुस्तकें लिखी जाती हैं, उसके उद्भव तक हिन्दी में प्रायः काव्य-ग्रन्थों ही की उत्पत्ति हुई। . . .हिन्दी का अंकुर निकला तो सही, पर वह अंकुर ही रहा। वह पुष्ट जरूर होता गया, पर उसकी अपनी अगली अवस्था की प्रगति बहुत काल के अनन्तर हुई।. . .हिन्दी के जिस नये पौधे में आज से तीस-पैंतीस वर्ष पहले केवल दो-चार कोमल-कोमल पत्ते दिखाई दिये थे, वे अब, इस समय, अनेक पल्लवपुंजों से आच्छादित हैं। यद्यपि उसका तना अभी बहुत पतला और कमज़ोर है, यद्यपि उसमें फूल और फल लगने में अभी बहुत देरी है—तथापि वह बढ़ रहा है और आशा है कि किसी समय उसके अंग-प्रत्यंगों की पूर्ति और पुष्टि भी देखने को मिलेगी. . . मैं तो यहाँ तक कहने का साहस कर सकता हूँ कि हमारे साहित्य की इस शाखा (समाचारपत्र) की जो इतनी हीन दशा है, उसका एक कारण यह भी है कि हम हिन्दी-लेखक अंग्रेजी नहीं जानते और जानते भी हैं, तो बहुत कम. . . .हिन्दी के साहित्य में काव्यों का बाहुल्य है। अनेक अच्छे-अच्छे काव्य हैं। अनन्त काव्य-ग्रन्थ तो अब तक अप्रकाशित अवस्था में ही पड़े हैं। सर्वाधिक संख्या शृंगार-रस प्रधान-काव्यों की है, उससे कम भक्त कवियों के काव्यों की, उससे भी कम वीर-रस के काव्यों की। फुटकर विषयों के काव्य भी बहुत हैं। यह सब पुराने काव्यों की बात हुई। वर्त्तमान समय में जो काव्य हिन्दी में निकले हैं या निकल रहे हैं, उनमें से कुछ बिरले कवियों की कृतियों को छोड़कर शेष को काव्य या कविता कहते संकोच होता है। आजकल कवियों की संख्या बहुत बढ़ रही है। परन्तु जिस तरह के काव्य प्रकाशित होते हैं, उनसे विशेष लाभ नहीं। 'रंग में भंग' और 'जयद्रथ-बध' की कक्षा के कवियों की इस समय आवश्यकता है। काव्यों की भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सब की समझ में आ जाय—चाहे वह बोलचाल की भाषा हो, चाहे ब्रज की भाषा। ब्रजभाषा न जानने या न लिखने वालों को शाखामृग कहने का अब समय नहीं। काव्यों की रचना और उनका विषय ऐसा होना चाहिए, जो देश और काल के अनुकूल हो। पढ़ने से हृदय पर कविता-पाठ का कुछ असर होना चाहिए, इससे सदुपदेश मिलना चाहिए, और कुछ नहीं, तो थोड़ी देर के लिए प्रमोदानुभव तो अवश्य ही होना चाहिए। भारत में अनन्त आदर्श-नरेश, देशभक्त, वीर शिरोमणि और महात्मा हो गए हैं। हिन्दी के सुकवि यदि उनपर काव्य रचना करें, तो बहुत लाभ हो। पलासी का युद्ध, वृत्रसंहार, मेघनाद-बध और यशवन्तराव महाकाव्य की बराबरी का एक भी काव्य हिन्दी में नहीं। वर्त्तमान कवियों को इस तरह के काव्य लिखकर हिन्दी की श्रीवृद्धि करनी चाहिए।. . . ."

हिन्दी की इस वर्त्तमान दशा में आचार्य ने अपनी 'सरस्वती' के उन कवियों की चर्चा करना बिल्कुल आवश्यक न समझा, जो उनके कम प्रिय आश्रमवासी न थे। यहाँ पर हम स्मरण करें कि द्विवेदी-काल की 'सरस्वती' के प्रारम्भिक कवियों में, जिन्होंने हिन्दी-जगत को विशेष आकृष्ट किया, उनमें सत्यशरण रतूली और

सनातन शर्मा सकलानी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी भाषा बड़ी सुथरी और व्याकरण सम्मत होती थी। ये सदा ही छन्दों के नियमों का यथेष्ट पालन करते थे। बड़े चाव से इनकी रचनाएँ पढ़ी भी जातीं, यद्यपि उनका रूप बहुत कुछ द्विवेदीजी का सुधारा हुआ होता। ये 'सरस्वती' की उन्नत सीढ़ी के आरम्भिक चरण थे, उसके बाद अन्य चरण भी इस सीढ़ी के क्रम में व्यवस्थित हुए। पर आचार्य ने केवल गुप्तजी के काव्य की चर्चा ही इष्ट मानी। इसका एकमात्र कारण यही था कि द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के रूप में एक विशाल कर्मक्षेत्र पाया था—इतना विशाल कि जिसमें वे अपने तैयार किए हुए साहित्यकारों की जीवनी-शक्ति भी जुटा सकते थे। इस कर्म-क्षेत्र में सक्रिय पात्र उनके लिए सबसे प्रिय गुप्तजी हो चले थे। इस क्षण तक गुप्तजी को अपने प्रति गहन विश्वास हो चुका था, यह उनके ऊपर उद्धृत पत्रों से पता चलता है। द्विवेदीजी के हृदय में भी इसी अनुपात में उनके प्रति इतना ही गहरा विश्वास नियमबद्ध हो चुका था। गुप्तजी के रूप में वे अपनी मनोवांछित स्वरावलि हिन्दी-काव्य में अवतरित कराते जा रहे थे।

उक्त लेख छप जाने के बाद, गुप्तजी ने ४ अक्टूबर, १९११ को अपने पत्र में द्विवेदीजी को लिखा, "अक्टूबर की 'सरस्वती' देखकर जी बहुत ही खुश हुआ। गद्य और पद्य दोनों विभाग इसके मनोहर हुए हैं। श्रीमान् की कविता दो-तीन दफे पढ़ी, पर अभी कई आवृत्तियाँ होंगी। 'हिन्दी की वर्त्तमान दशा' वाला लेख बड़ा ही गंभीर था। सब बातें काम की और असर करनेवाली हैं। 'रंग में भंग' और 'जयद्रथ-बध' पर श्रीमान् ने कृपा कर बहुत लिख दिया।"

और, संभवतः यही कारण है कि द्विवेदीजी के कर्मठ शिष्यों में अग्रणी बने रहने के लिए इस लेख में इंगित नए, पर कठिन काव्य-सृजन के प्रति उठाई गई उँगली को गुप्तजी ने अपनी ओर उठाई गई उँगली समझा और 'पलासी का युद्ध' व 'मेघनाद-बध' जैसे काव्य-ग्रंथों का कठोर अनुवाद-कार्य उन्होंने तत्काल अपने ही जिम्मे समेट लिया। लेकिन यह कार्य आपने 'मधुप' नाम से ही किया। 'सरस्वती' के मई अंक १९१९, में सर्व-प्रथम 'पलासी का युद्ध' के कुछ अंश पद्यमय अनुवादित होकर 'मधुप' नाम से ही आपने प्रकाशित करवाए। पुस्तक रूप में इसका प्रथम संस्करण १९२० में प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार पुस्तक रूप में श्रीमधुपजी (गुप्तजी) का दूसरा पद्यबद्ध अनुवादित ग्रंथ 'मेघनाद-बध' का पहला संस्करण १९२७ में निकला।

प्रथम काव्य-संग्रह की शुभ घड़ी और सन् १९११ का उपसंहार

हिन्दी-साहित्य ही नहीं, उससे पूर्वकालिक साहित्य के इतिहास में भी एक मान्यता साहित्यकार के व्यक्तित्व को लेकर इस रूप में अवश्य फलवती हुई है कि एकांत साधना का प्रश्न जब प्रधान रह गया है, तब स्थान-विशेष का महत्त्व इसके लिए गौण-से गौण ही बन गया था। रमते योगी की तरह वट जहाँ जमा, वहीं उसे अत्यधिक पोषकतत्त्व सुलभ हो गए। गुप्तजी के जीवन में चिरगाँव का कोना ही अपनी साहित्य-साधना के लिए मौजूं होता चला गया। और, जैसे उनकी जीवन-जड़ साहित्य को अपने शेष जीवन का पाथेय बनाये हुए, इसी चिरगाँव में हृदय की मधुर वाणी और जीवन की मधुकरी से तृप्त मौलिक विशेषताओं का ईंधन बटोरने में ही एकनिष्ठ होकर गहरे प्रविष्ट होती चली गई। इसी चिरगाँव में बैठे-बैठे उन्हें जीवन के निर्देशक और मार्ग-दर्शक ही सुलभ नहीं हुए, इस युग के परम साधक हिन्दी-साहित्यकार पं० पद्मसिंहजी शर्मा और लाला छोटेलाल बार्हस्पत्य प्रभृति व्यक्ति उनके आत्मीय मित्र व सखा भी बन गए और उनकी मार्ग-प्रशस्ति में इन जैसे साधु पुरुषों ने उनके साहित्य का सीमा-निर्धारण या काल-निर्धारण ही नहीं किया, वरन् वे इनकी चारित्रिक साधुता को भी अनेकार्थी बनाने का समग्र पोषण चिरगाँव की बखरी तक आत्मीय भाव से पहुँचाते रहे। १९१२ के अंतिम दिनों तक गुप्तजी लोकजीवन की उपयोगिता से इतने निहाल हो चुके थे कि उनका साहित्याराधन आत्मतेज और आत्मावलम्बन की नीति से विश्वस्त और मित्रों के सदाशयों से न्यस्त राष्ट्रीय उन्मेष के क्षितिज पर जिस दीप्त आभा की प्रत्याशा करने लगा था, वह अब उनके ही नहीं, उनके सैकड़ों पाठकों के जीवन की उपयोमिता का प्रश्न बन गया था। इसी बात को सरल शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि

लोकजीवन की समष्टि का साक्षात्कार गुप्तजी को होने लगा था और उस सुखद प्रतीति का लाभ भी वे दक्ष वणिक की तरह से वसूल करने लगे थे।

झाँसी के लाला बोधराजजी ने, गुप्तजी के प्रति जो लोकासक्ति कृपालु हो उठी थी, उसको अपने ही शब्दों में इस प्रकार लिखा है : "गुप्तजी मेरे पुरोहित भी हैं और जजमान भी। पुरोहित तो इस कारण कि जो (धार्मिक) संस्कार मेरे यहाँ होते हैं, छोटे या बड़े, समाप्ति पर वे आशीर्वाद देते हैं। जजमान इस तरह कि मैंने उनकी शुद्धि की है। उनके पुराने मिलनेवाले भलीभाँति जानते हैं कि वह चौके के मामले में कितने कट्टर हैं। चौके से चली हुई रोटी मेज पर सबसे पहले मेरे यहाँ खाई। उनको परदे से बाहर लाने और चिरगाँव से झाँसी घसीटने की जिम्मेदारी मेरी है।"

"चिरगाँव की बखरी के संबंध में एक बात इसी संबंध में याद आई। मैं चिरगाँव उनसे मिलने जाता था। ऐसा हुआ कि चार-पाँच बार मेरे सेठ और मुवक्किल के मुनीम मुझे चिरगाँव की गलियों में मिले। बोले, 'आप कनकने की बखरी में बहुत आते हैं। क्या बात है?' मैंने उत्तर दिया कि कमबख्त, पढ़ा-लिखा होकर यह प्रश्न करता है? यह बखरी कितना बड़ा तीर्थ-स्थान है, जहाँ चढ़ावा तो चढ़ाना नहीं पड़ता, उल्टे प्रसाद में ताजा भुनी हुई सुगन्धित काफी, गरम पकौड़ी, बासी पूड़ी व पपड़ी[1], बेसन के लड्डू[2] और पटना की मिर्च[3] मिलती है।"

अपनी इस प्रसिद्ध मेहमान नवाजी के बारे में प्रश्न करने पर गुप्तजी कहते हैं, "अरे भैया, अब तो जमाना ही बदल गया। हम बचपन में जब कभी घर से बाहर जाते थे, तो हमारे साथ दो हाली-हपाली चलते थे, एक आदमी कंधे पर बन्दूक रखकर पीछे होता था। जाते समय पिताजी तरह-तरह की शिक्षाएँ देते थे और लौटने पर एक-एक कर सबसे पूछते थे—'कहो, कैसी खातिरदारी हुई?' खातिरदारी का मतलब होता था खाने पीने से। जब उन्हें यह मालूम होता कि भोजन-छाजन का खूब बढ़िया इंतजाम रहा, तो वह बड़े खुश होकर कहते थे—'क्यों न हो? खानदानी घर जो ठहरा!' अगर उन्हें उसमें कुछ कमी की सूचना मिलती तो बिना चूके वह कहते थे—'बड़े आदमी हुए तो क्या, नीच खानदान के हैं।' सो भैया हमारे तभी से ऐसे संस्कार पड़े हैं।"

झाँसी के घनिष्ट मित्रों में इस समय तक लाला बोधराजजी के अतिरिक्त लाला हरिश्चन्द्रजी इंजीनियर और श्री वृन्दावनलालजी वर्मा थे, जो नियमित रूप से चिरगाँव आते थे और चिरगाँव के महत्त्व को साहित्यिक संगम का पद प्रदान करने लगे थे।

चिन्तनीय स्वास्थ्य का भार वहन करते हुए और अनुरूप या विपक्षीय चर्चाओं के बीच गुप्तजी १९११ के अन्त में अपने प्रथम काव्य-संग्रह में लगे। अब तक आप इतनी कविताएँ तो लिख ही चुके थे कि उनसे एक अच्छा काव्य-संग्रह तैयार हो सकता था। इस काव्य-संग्रह के तैयार करने का अभीष्ट यह भी था कि उससे लेखकीय आय भी आनी थी। 'सरस्वती' में जब तक द्विवेदीजी थे, वह साहित्यिक-आश्रम था—ऐसा आश्रम, जहाँ पास की रोटी घर से बाँध कर लानी होती थी। यद्यपि इण्डियन-प्रेस अपनी आय दिन-दूनी, रात चौगुनी कर रहा था[4], लेकिन 'सरस्वती' में लिखनेवालों के लिए पुरस्कार या पारिश्रमिक की परंपरा का बीज-वपन जैसे होने का अभी अनुकूल मौसम नहीं आया था। इस नाते 'सरस्वती' में प्रकाशित कविताओं

---

[1] बेसन के पापड़ तेल में तले हुए।

[2] आज भी गुप्तजी के निवास पर, चाहे नई दिल्ली में या चिरगाँव में, बेसन के शुद्ध घी में भुने लड्डू उपलब्ध होते हैं।

[3] पटना की मिर्च का अचार अपनी एक खासियत के लिए प्रसिद्ध है, जो उसका मीठा स्वाद है और यह स्वाद उसमें पूरे साल भर तक विद्यमान रहता है। इस मिर्च का भोग गुप्तजी अपने अतिथियों को बासी पूड़ी के साथ करने का ही मीठा आग्रह करते हैं और मजा यह कि चिरगाँव में इन बासी पूड़ियों को खाने का आग्रह भी अन्तस्तल से स्वतः प्रबल हो उठता है।

[4] गुप्तजी के एक पत्र १७-७-१३ से पता चलता है, "इंडियन प्रेस का अभ्युदय दिनोंदिन हो रहा है। अभी १ लाख का कागज प्रेस में पड़ा होगा। ३० हजार की नई ईमारत बन रही है। १२ हजार का नया सामान जर्मनी से आ रहा है।"

के पुनर्मुद्रण से एक कृति रूप में कुछ आय होती है, तो वह कवि की अभी तक होनेवाली क्षीण उपलब्धियों को क्षुरस्य धारा ही क्यों बना कर रखे, उसे पारिवारिक सिंचनवती कूल-धारा का रूप क्यों न दे दिया जाए ?

१३ जुलाई, १९११ को आपने अपने कविता-गुरु को सूचित किया, "अपनी फुटकर कविताओं का संग्रह निकालने की इच्छा है। जल्द छपवाऊँगा। कविता-कलाप के सिवा कुछ चित्रों पर और भी मेरी कविताएँ हैं। उनको शामिल करने न करने के विषय में क्या राय है ?"

४ अक्टूबर को यह काव्य-संग्रह तैयार कर और उसकी भूमिका लिखकर आपने अवलोकनार्थ तथा सम्मत्यर्थ द्विवेदीजी के पास भेजते हुए लिखा, " 'पद्य-प्रबन्ध' की भूमिका देख लीजिए। जहाँ कहीं हेरफेर करना जरूरी समझिए, कर दीजिए। याद रहे, मैंने पूरी भूमिका लिखने का कष्ट नहीं दिया, यद्यपि मुझे लिखना नहीं आता। यदि 'पद्य-प्रबन्ध' नाम अच्छा न हो, तो 'कविता-कादम्बिनी' आदि जो कहिए, लिखा जाय। पर फिर भूमिका प्रकाशक के नाम से रहेगी, या संग्रहकर्ता के नाम से। अपना नाम न दूँगा।"

'पद्य-प्रबन्ध' की भूमिका इस प्रकार है—

" 'खड़ी बोली' में, भिन्न-भिन्न विषयों पर, अब तक हिन्दी-पत्रों में, मुख्यतया 'सरस्वती' में, मेरे जो पद्य-प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं, उनका यह संग्रह, अनेक मित्रों की आज्ञानुसार, पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाता है।

"कवित्व-शक्ति दुष्प्राप्य वस्तु है। मेरा इतना पुण्य नहीं कि मैं कवि हो सकता। इसलिए मेरी पद्य-रचना कविता कहलाने योग्य नहीं—वह पद्य ही है। इसी विचार से इस पुस्तक का नाम 'पद्य-प्रबन्ध' ही रखना उचित समझा गया। कविता और पद्य दोनों में बड़ा अन्तर है। कविता मनोभावों की सजीव प्रतिमा, अतएव, लोकोत्तरानन्द की जननी है। और पद्य, छन्दोबद्ध वाक्य-नियम-विशेष पर तुला हुआ वर्ण-समूह मात्र है। अस्तु।

"जिन प्रबन्धों का संग्रह इस पुस्तक में नहीं किया गया है, उनमें से बहुतों को पाठक 'कविता-कलाप' में पढ़ चुके हैं। 'आत्मोत्सर्ग', 'बन्धु-विरोध' और 'प्रह्लाद' नाम के प्रबन्ध इस पुस्तक में इसलिए नहीं रक्खे गये, क्योंकि इसी तरह के कुछ पौराणिक आख्यान और लिखकर इस विषय की एक भिन्न पुस्तक प्रकाशित करने का मेरा विचार है।

" 'शकुन्तला' पर अब तक मैंने तीन प्रबन्ध लिखे हैं। मेरे मित्रों का अनुरोध है कि कुछ पद्य और लिखकर 'शकुन्तला' नाम का एक छोटा-सा निबन्ध अलग ही प्रकाशित किया जाय। इसी विचार से 'शकुन्तला को दुर्वासा का अभिशाप' और 'शकुन्तला को कण्व का आशीर्वाद' नामक निबन्ध इस संग्रह में नहीं रक्खे गये।

"कुछ और भी पद्यों को इससे निकाल देने की इच्छा थी, इसलिए कि लेखक स्वयं ही उनमें कोई ऐसी विशेषता नहीं देखता, जिससे उनके द्वारा कुछ मनोरंजन की आशा की जाय। फिर व्यर्थ ही पुस्तक की कलेवर-वृद्धि करने से क्या लाभ :— **"कृशताभिमता लोके पीनता न तु शोभिता।"**

"परन्तु, वे पद्य, बोलचाल की भाषा में मेरी प्रारम्भिक रचना होने के कारण नहीं निकाले गये। उनको देखकर आज भी मुझे उन दिनों की अपनी उस दशा का ध्यान आ जाता है, जिन दिनों मेरे शुष्क हृदय में भी, भगवत्कृपा से, कविता-प्रेम अंकुरित हुआ था। और मैं कविता के नाम से पद्य-रचना, करने के लिए दिन-रात उन्मत्तता की पहली अवस्था में व्यस्त रहा करता था। अतएव, आशा है उदार पाठक कृपापूर्वक इस दुर्बलता के लिए मुझे क्षमा करेंगे।

'निज कवित्त केहि लाग न नीका।
सरस होइ अथवा अति फीका॥'

"परन्तु यहीं जब स्वयं लेखक को ही अपनी रचना पर विरक्ति है, तब उससे पाठकों को क्या लाभ हो सकता है। फिर भी, दूसरे के अत्यल्प गुण को भी बहुत बड़ा समझने वाले सज्जनों के स्वभाव पर विश्वास करके यह साहस किया जाता है। यदि इस संग्रह से सहृदय सज्जनों को थोड़ा-सा भी आनन्द मिलेगा, तो मैं उसी को बहुत समझूँगा। मेरे लिए इतना ही क्या कम है ?

'कवि न होहुँ नहीं चतुर प्रवीना।
सकल कला सब विद्या हीना॥'

चिरगाँव (झाँसी) मकर संक्रान्ति, १९६८ **—मैथिलीशरण गुप्त।"**

राष्ट्रीय साहित्य के ज्योत्स्नामय क्षितिज का आविर्भाव

१९१२ श्रीमैथिलीशरण गुप्त का भाग्य-निर्णायक वर्ष था।

अत्यधिक अपेक्षाओं और आशाओं के प्रति जन-जन की जिज्ञासा का नाम ही लोक-प्रतिष्ठा है। यह प्रतिष्ठा दिगन्त की किसी एक दिशा से नहीं आया करती, इसका वर्षण आसमान से भी नहीं हुआ करता—इसका शुभागमन लोकोत्तर अनुप्राणों के हर्षोच्छ्वास की फुहार बनकर घनीभूत हुआ करता है और शुभकामना बनकर उसकी बूंद-बूंद इस दिशा से उस दिशा तक इस तरह सिंचन कर जाती है कि जो उस आर्द्रता का सुहावना स्पर्श पाता है, वह तो पुलकित हो ही उठता है, लेकिन जो उसका हार्दिक स्पर्श नहीं पाता, वह भी कम-से-कम उस प्रतिष्ठा की सूचना के प्रति कृतज्ञ हुए बिना नहीं रहता। ऐसे क्षणों में, जब देश की अन्य भाषाएँ अपनी समृद्धि की अटूट साधना में दत्तचित्त थीं और उनके साहित्यकार अपने प्रभाव-क्षेत्रों में जन-मन की आदरणीयता पाते चले जा रहे थे, हिन्दी-भारती के प्रांगण में आचार्य द्विवेदीजी का नायकत्व स्वीकार करते हुए अपनी-अपनी राष्ट्रीय आत्मा के रस के जो एकसाँस लोक-कल्याण के निमित्त गिने-चुने उत्तमर्ण बने हुए थे, उनमें गुप्तजी का नाम १९१२ के साल तक सबकी जबान पर सबसे पहले आने लगा था। गुप्तजी के लिए साहित्य-सृजन स्वान्तःसुखाय न था। लोक-प्रतिष्ठा का नाजुकमिजाजी वाला बहाना भी न था। वह उनकी श्वास-प्रश्वास में निमज्जित, जीवन की समग्रता की अभिव्यक्ति बनकर उस मनोनुकूल स्रोत की तरह फूटकर बह रहा था, जो ईप्सित स्थान पर अपनी सलिलधारा और मधुरिमा के बल पर एक व्यापक क्षेत्र के जनसमूह को बरबस आकर्षित ही न करने लगा हो, बल्कि एक बड़े अभाव का पूर्तिदायक भी सिद्ध हुआ हो। इस सलिल-धारा में बुन्देलखण्ड की प्राचीन और शाश्वत परम्पराएँ एकरस होकर आई थीं। लेकिन इस सलिलधारा में भारतीय मात्र की नई आत्मिक स्वरावली भी भरकर बोल रही थी। जब कि अन्य प्रान्तीय साहित्यकारों के साथ उनकी अपनी विशेषताएँ थीं और वे एक व्यापक क्षितिज के स्वागत की दुन्दुभि बजाने का सौभाग्य किसी तरह नहीं पा रहे थे, चिरगाँव जैसे निपट ग्रामीण अंचल में बैठकर भी गुप्तजी के काव्य में भारत के नवीनतम राष्ट्रवाद की व्यापक सूचनाएँ आश्चर्यजनक ईमानदारी के साथ, आज्ञानुवर्तिनी-सी, शक्ति-सौंदर्य की समष्टि का जय-अभिमान लिए विराजमान थीं। इसी हृदय-शुचिता के बल पर गुप्तजी जनता के मन-चढ़े कवि बन रहे थे।

यह वर्ष मुख्य रूप से 'भारत-भारती' के लेखन का वर्ष है।

'भारत-भारती' जिस युग में लिखी गई है, उसका मर्म स्पष्ट करने के लिए पहले हमें इस वर्ष तक की देशीय राजनीतिक गतिविधि पर एक विहंगम दृष्टिपात कर लेना होगा। 'भारत-भारती' एक आकस्मिक विस्फुटन नहीं थी। वह ऐतिहासिक कालक्रम से ऐसी शुष्क वल्लरी की नव-उद्गमित हरीतिमा मात्र थी, जिसके बल पर बाद में चलकर देशीय साहित्य में नई-से-नई कोंपलें निकलीं। टहनियाँ तो बहुत बाद में चलकर प्रस्फुटित हुई थीं।

स्वामी रामदास-कृत 'दासबोध' प्रथम भारतीय ग्रन्थ है, जिसने राष्ट्रीय भावों के स्फुलिंग देश में सुलगाए थे।

अंग्रेज इस देश में सैनिक आरोही के रूप में आए, विजय उन्होंने कूटनीतिक स्तर पर की और शासक वे ऐसी कट्टर पंथी कोटि के बने, जिनका हृदय सख्त था, रूढ़ था, निर्मम था, क्रूर था और था प्रतिक्रियावादी, क्योंकि वे अपने देश में उस वर्ग के थे, जो बुद्धिहीनता व दंभपूर्ण वैभव में विश्वास करते थे, और किसी विवेक सम्मत दर्शन में अपनी निष्ठा नहीं रखते थे। ऐसे शासकों ने सारे देश को अपनी एड़ी के नीचे दबा कर रखने के लिए चारों सीमाओं को राजनीतिक एकता से सूत्रबद्ध किया और देश के अन्तरतम में प्रवेश पाने के लिए और वहाँ भी अपना आर्थिक साम्राज्य व शोषण-चक्र फैलाने के लिए रेलें चलाईं और तारों का जाल फैलाया। इसके साथ अधीनस्थ आस्तीन के साँपों को 'फर्जन्द-ए-दौलत-ए-इंगलीशिया' (ब्रिटिश साम्राज्य के चुने हुए सपूत!), 'इन्द्रमहेन्द्र' (देवताओं के अधिपतियों के अधिपति!), 'सपूरे-सलतनत' (साम्राज्य की प्राचीर!) जैसी हास्यास्पद पदवियों से शोभित करते हुए, उनके इर्द-गिर्द रायसाहबों और रायबहादुरों की एक ऐसी

जमात पैदा कर दी, जो भारतीय थी, लेकिन साँस अंग्रेजी अहलकारों की आज्ञा से लेती थी। इनका जीना साहब-बहादुरों की खुशी के लिए था। इस बाहरी परकोटे के चारों ओर अंग्रेजी सरकार के सफेदपोशों, दरबारियों, जी-हुजूरों, झोली चुकों और टोडी बच्चों का मजमा जमा रहता था। देश के प्रति वफादारी नहीं, सात समुद्र पार से शासन करनेवाली सरकार के प्रति ही वफादारी किसी को धन दे सकती थी, जीने की सहूलियतें बख्श सकती थीं। और यह सरकार देश का धन ही नहीं अपहरण कर रही थी, देश का शील और देश की मातृभाषाओं के प्रति मोह और ममत्व भी विशुष्क बना रह थी। धर्म और अपने प्रति विश्वास की धरती में दरारें न पड़तीं, तो क्या पड़तीं ?

१८५७ के बाद अंग्रेजों ने अपने शासन को सुगठित करने के लिए प्रशासन की इकाइयों को बाँटना शुरू किया। लेकिन देशकी आत्मा की अपनी स्वभाषाकी चेतना का चना संगीनों के बल पर लादी गई शिलाओं के नीचे से फुटाव लेने लगा। पश्चिमी संसर्ग ने भारत में अनायास कोई नया युग नहीं सौंप दिया। अंग्रेजी प्रभुता के कृपा-भाजन बने हुए उच्च वर्ग बस आधे अंग्रेज ही बन सके। उन जैसे मुल्लाओं की दौड़ उनकी मस्जिद से अधिक हो ही नहीं सकती थी। पर जो अपनी स्वभाषा को न भूले, वे राष्ट्रीय अन्तश्चेतना के धनी निकले, और चाहे अंग्रेजी के संस्कार उन्होंने पाये या न पाये, स्वभाषा की प्रभुता को ही उन्होंने अपने युग का ध्वज बनाया। इसी स्वभाषा की हरियाली से प्रेरित स्वदेशी का आंदोलन १६०४ के आसपास चला और लोगों में और जनता में इतना बल आया कि उन्होंने लार्ड कर्जन जैसे वायसराय के भी दाँत खट्टे कर दिये। उसका बंग-विभाजन का स्वप्न पूरा नहीं हो सका।

स्वभाषा और स्वदेशी इन दो राष्ट्रीय नेत्रों ने जब अपने हृदय को टटोला, तो वहाँ पर उन्हें एक काँटा चुभा हुआ मिला। यह काँटा था कुली-प्रथा का। इसके विरुद्ध गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष छेड़ रक्खा था। श्री गोखलेजी ने वैधानिक स्तर पर इसके खिलाफ आवाज उठा रक्खी थी। और, सन् १६१२ में वे गांधीजी के सत्याग्रह को आर्थिक सहायता पहुँचाने के लिए कलकत्ता तक चन्दा वसूल करने गए थे। इन्हीं क्षणों में लार्ड हार्डिंज नई दिल्ली आए और अपने साथ देश की राजधानी कलकत्ता से नई दिल्ली लेते गए। वैधानिक सुधारों के नाम पर वे भारतीय प्रजा के मित्र बनने का सर्वोपरि स्वप्न चरितार्थ कर रहे थे। एक वर्ष पहले ही देश में जार्ज पंचम का शाही दरबार सम्पन्न हो चुका था। यह सब था, लेकिन इन सब के ऊपर जो चीज थी और जिधर सारे देश की आँखें लग चुकी थीं, वह थी बंगाल में और अन्यत्र अंचलों में सशस्त्र क्रांतिकारियों की देशभक्तिपूर्ण विभीषिका ! कुछ नौजवानों ने प्राणों पर खेलकर राजभक्ति के प्रति काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक अनास्था उत्पन्न कर दी थी। शासकों ने उन्हें देशद्रोही कहा, लेकिन थे वे देशभक्त ही और ऐसा ही अबोध, निरीह और अशिक्षित जनता ने उन्हें माना भी। इसीलिए जब लार्ड हार्डिंज पर दिल्ली में बम फेंका गया, तो सारे भारत में एक सनसनी छा गई। वायसराय पर फेंका गया बम सात समुद्र पार ब्रिटिश सत्ता के राजमुकुट पर फेंका गया अस्त्र ही था !

उग्रवादिता का एक हाथ सशस्त्र क्रांति के लिए उतावला था, तो दूसरा हाथ लोकमान्य तिलक की गरम राजनीति के शोलों को नग्न हथेली पर धरने के लिए तरस रहा था। जो होशहवास से दुरुस्त नौजवान थे, उनके आराध्य देव तिलक ही थे। और सन् १६१२ में वे मंडले जेल में बन्द थे। वहाँ पर वे कर्मयोग का भाष्य तैयार कर रहे थे। सारे राष्ट्र के लिए वे एक जबरदस्त मंत्र पहले दे चुके थे : 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' इस गीता भाष्य द्वारा वे दूसरा महामंत्र तैयार कर रहे थे। इस तरह स्वभाषा, स्वदेशी और स्वतन्त्रता—इस त्रिवेणी ने भारतीय मात्र को रोमांचित कर दिया था। वह गुलामी की यंत्रणाओं में दुखी भी हर्षमना रहने लगा था।

यह सब तो था, पर राजनीति से अधिक जनता के पास अपना काव्य नहीं था, जिसे वे मन-ही-मन हृदय की भाषा में इस तरह गुनगुना सकें कि उस पर पुलिस का नियंत्रण न रहे और देशद्रोहिता का लांछन न लग सके, फिर भी प्राणों की बलि देने का आस्वाद मिल जाये . . .

यह उद्‌बोधन-भरा काव्य मैथिलीशरण गुप्त ने दिया।

मैथिलीशरण के इस काव्य की चर्चा करने से पहले मैथिलीशरण की ठेठ अवशताओं की चर्चा हम और कर लें। वे उच्च साहित्य के पारंगत न तो विद्वान् थे, न विदेशी साहित्य के अध्ययन से लब्धबुद्धि कुशाग्र राजनीतिज्ञ ही थे। अंग्रेजी का उन्हें ज्ञान न था। बस संस्कृत का साहित्य देखा था, बंगला अपने अध्यवसाय से सीखी थी और हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के भूखे रहते थे। इसलिए उनसे ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ सांघातिक प्रहार करनेवाले बहुत ऊँचे काव्य की आशा करना —मानो वे सत्ता के चिने हुए किले को ढहाने के लिए कटिबद्ध हुए हों, उनके साथ अन्याय करना होगा। यह युग ऐसे कवियों का था भी नहीं। हाँ, मैथिलीशरण ने विनीत भाव से उस राष्ट्रीय स्वर को जनबोली में लिपिबद्ध किया, जो शिक्षित और अशिक्षित सबके लिए ग्राह्य थी, जिसमें बारूद की गन्ध न थी, पर नासूर पैदा करने की क्षमता अवश्य थी! देश की महाक्रांति के प्रारम्भिक क्षणों में इस तरह मैथिलीशरण ने एक ग्रामीण नागरिक के रूप में जो यह काम किया, वह कम-से-कम था, फिर भी उसका घोष चहुँदिशाओं में फैला और जन-मन के कण्ठों में मानो उनका यह काव्य ऐसे फूटा, जैसे तो हर आदमी ने अनजान में स्वयं ही उसे गढ़ा हो!

'भारत-भारती' के अवतरण को कुर्रीसुदौली के राजा रामपाल सिंहजी ने अपने सबल कन्धों पर अगर न लिया होता, तो शायद यह काव्य हिन्दी-जगत को या तो बहुत देर से मिला होता, या वह उस समय तैयार होता, जब उसकी अधिक आवश्यकता न रह जाती। १९११ की ३१ अगस्त को गुप्तजी कुर्रीसुदौली पधारे थे। वहाँ आपने राजा साहब को इस काव्य के बहुत से अंश सुनाए। उसे सुनकर वे सन्तुष्ट हुए। इसके बाद का काम गुप्तजी पर यह रह गया कि वे उसे शीघ्र पूरा कर दें। राजा साहब ने उसके मुद्रण का भार अपने ऊपर ले ही लिया था। अपनी ओर से गुप्तजी ने यह काव्य उन्हें भेंट करने की स्वीकृति ले ली थी।

इस भेंट के पूरे एक वर्ष बाद गुप्तजी ने अपने एक-दो मित्रों से राय ली कि काव्य तो पूरा हो गया है, पर क्या इसका नाम 'भारत-भारती'[1] रख दिया जाए? देश के प्रचलित कठोर नियमों के संदर्भ में नाम ऐसा ही रक्खा जाना चाहिए था, जिसमें कुचक्र का संशय न हो, बस आत्मनिष्ठा की कोमलता हो। 'भारत-भारती' नाम रखने से पहले गुप्तजी ने अपने मित्रों को इस काव्य की सूचना केवल 'मुसद्दस-वाली कविता' कह कर ही दी थी। नाम भी जब 'भारत-भारती' उचित परामर्श के बाद निश्चित हो गया, तो कवि ने अपनी ओर से इसे १९१२ की जन्माष्टमी (सितम्बर, प्रथम सप्ताह) को पूरा कर दिया। शुरू में इसमें ६५० पद्य[2] ही रखे गए। समाप्त होने के क्षणों में, २७ अगस्त को द्विवेदीजी ने अपने हर्षातिरेक का संवरण करते हुए केवल गुप्तजी को इतना-सा ही एक पत्र दिया, " 'भारत-भारती' का कोई अंश (२०-२५ पद्य) 'सरस्वती' में छपने के लिए भेजिए[3]।" साथ ही दूसरे दिन, २८ अगस्त को एक दूसरे पत्र में गुप्तजी की जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए लिखा, "यहाँ हमारे पास कोई पुस्तक नहीं, जिससे पारसियों के आने का समय बतावें। कैफ़ी का कहना ठीक है। मुसलमानों ने पारसियों पर अत्याचार आरम्भ किया—मरो या मुसलमान बनो। बहुत थोड़े से पारसी अत्याचार से पीड़ित होकर हिन्दुस्तान को भाग आए। उन्हें शायद गुजरात के किसी हिन्दू राजा ने शरण दी[4]।" इसके बाद जब गुप्तजी से द्विवेदीजी ने जन्माष्टमी का पत्र पाया, तो ८ सितम्बर को पत्र दिया, "आशीष। 'भारत-भारती' की समाप्ति का समाचार सुनकर बड़ी खुशी हुई। फ़ुरसत में दुहरा-तिहरा कर छापिएगा। फ़ारस में पहले पारसियों का राज्य था। तीसरे ईज़दी-गिर्द राजा के समय में अरब लोगों ने उसपर चढ़ाई की और उनके मन्दिर आदि तोड़-फोड़ डाले। मरो या मुसलमान हो—यही शर्त थी। लाखों पारसी मारे गए। करोड़ों मुसलमान हो गए। हज़ार-पाँच सौ बच रहे। हज़ारों भारत की तरफ़ भागे। करोड़ों मुसलमानों ने पीछा किया। भारत पहुँचते-पहुँचते बहुत थोड़े रह गए। यहाँ व खम्भात की खाड़ी में दीब नामक बन्दरगाह में उतरे। १९ वर्ष वहाँ रहकर वे संजान नामक नगर

---

[1] १९०९ की जुलाई 'सरस्वती' में गुप्तजी ने 'काव्यय-भारती' कविता प्रकाशित कराई थी। यह 'भारती' शब्द विगत तीन वर्षों से उनके मानसिक क्षितिज पर मानो सर्वाधिक चमचमाता तारा बना रहा था।

[2] गत वर्ष 'मुसद्दस-वाली' कविता के आरंभिक क्षणों में द्विवेदीजी ने आज्ञा दी थी कि इस में कम-से-कम ५०० पद्य अवश्य रखे जायँ। [3,4] द्वि० प०।

को ७१७ ई० के लगभग आये। वहाँ उस समय यादव राना नामक हिन्दू राजा था। उससे रक्षा की प्रार्थना की। उसने प्रार्थना स्वीकार की और संजान में पारसियों को बसने दिया। संजान इस समय उजाड़ है[1]।"

द्विवेदीजी के इस पत्र से और पिछले अन्य पत्रों से एक बात स्पष्ट हो जाती है। अभी तक अपने इस ग्रामीण कवि को उन्होंने तिरंगे या सादे चित्र भेजकर अपने मासिक के लिए कविताएँ लिखवाई थीं। ऐसी ही दीर्घ कविताओं के सुनियोजित क्रम को लेकर 'रंग में भंग' तथा 'जयद्रथ-बध' जैसी कृतियाँ तैयार हुई थीं। 'भारत-भारती' का आदेश तो द्विवेदीजी ने दिया ही था, पर एक-के-बाद एक तत्सम्बन्धी चित्र न भेजकर सचित्र गाथा के रूप में आवश्यक कलेवर की पृष्ठभूमि संजोने का काम मुख्य रूप से वे ही कर रहे थे। कवि तो पहले की ही तरह मात्र काव्य का श्रम कर रहा था। विश्व-साहित्य में इस तरह का उदाहरण दुर्लभ तो नहीं होगा, लेकिन उनके साथ इतना गुरु-शिष्य के मिश्रित श्रम से काव्य-सृजन का साम्य भी नहीं पाया जा सकेगा।

'भारत-भारती' पूरी होने के बाद, पांडुलिपि का अध्ययन करते हुए द्विवेदीजी ने २३ अक्टूबर को पत्र दिया, "आशीष! 'भारत-भारती' में हेडिंग्स हों, तो सब कहीं हों। न हों, तो कहीं न हों। बेहतर तो यही है कि हेडिंग्स सर्वत्र कर दीजिए। शुभैषी : महावीर[2]।"

जिस दिन द्विवेदीजी ने पांडुलिपि वापस भेजी, उसी दिन गुप्तजी ने (१० नवम्बर, १९१२) को उन्हें पत्र लिखा, "पूज्यवर श्रीमान् पंडितजी महाराज, प्रणाम, कृपा-पत्र पहुँचा। 'भारत-भारती' भी आ गई। मेरा चित्त शंकित था कि न मालूम पुस्तक कैसी बनी, किन्तु श्रीमान् उसे देखकर सन्तुष्ट हुए, बस मेरा सारा परिश्रम सफल हो गया। श्रीमान् ने 'भारत-भारती' पर जो मेरे विषय में एक पद्य लिखा है, उसे मैं आदर-पूर्वक सिर पर धारण करता हूँ। मुझ पर श्रीमान् की इतनी कृपा है, सच कहता हूँ, इसे मैं अपना बहुत बड़ा सौभाग्य समझता हूँ। श्रीमान् का ही यह अनुग्रह है कि आज मैं इस प्रकार आशीर्वाद पाने का पात्र समझा गया हूँ। और क्या लिखूं। जानकी-जीवन से प्रार्थना है कि मैं आगे भी श्रीमान् को इसी प्रकार सन्तुष्ट करने में समर्थ हो सकूं।

"सूचनाएँ प्रायः सब अच्छी हैं। एक-आध बात समझ में नहीं आई, सो पीछे पूछूंगा। अथवा ४-६ दिन में अयोध्या की तरफ जाने का विचार है। श्रीमान् की सेवा में उसी समय कहूँगा। इस पुस्तक के विषय में और भी दो बातें कहनी-सुननी हैं, वे भी उसी समय कहूँगा।"

काव्य तैयार हो गया, तो उसके कुछ अंश 'सरस्वती' में निकलने शुरू हो गए। पर कृति-रूप में गुप्तजी ने उचित परामर्श और संशोधन के लिए उसे पं० पद्मसिंहजी शर्मा के पास भेज दिया। इससे पहले वे इसके कुछ अंश लाला छोटेलाल बार्हस्पत्यजी को भी सुना चुके थे और आपने उनसे भी प्रार्थना की थी कि पूरी पुस्तक देखने का कष्ट वे अवश्य करें। बार्हस्पत्यजी का देख लिया जाना इसलिए आवश्यक था, ताकि उसमें ऐतिहासिक संदर्भ कहीं त्रुटिपूर्ण न रह जाएँ। उधर इस काव्य की एक प्रति राजा रामपाल सिंहजी को देखने के लिए भेज दी गई थी। सम्भवतः एक प्रति द्विवेदीजी के पास चली गई थी। १९१३ के जनवरी मास के प्रथम सप्ताह में राजा साहब ने और पं० पद्मसिंहजी शर्मा ने अपने-अपने नोट लगाकर काव्य को कवि के पास उचित संशोधनार्थ वापस भेज दिया। इन नोटों को एक ही प्रति में शामिल कर अब यह प्रति बनारस लाला छोटेलाल बार्हस्पत्यजी की सेवा में उनकी राय और उनके संशोधनों के निमित्त भेजी गई। जहाँ तक शीर्षकों का सवाल था, द्विवेदीजी ने सभी खण्डों में उन्हें रखने का आदेश दिया था। लेकिन शीर्षकों के विषय में गुप्तजी ने अपने परामर्शदाताओं पर यह कार्य छोड़े रक्खा। बनारस को जो पत्र ६ जनवरी, १९१३ को गया, उसमें लिखा था, "एक प्रार्थना है, इस पुस्तक में मैंने जो शीर्षक दिए हैं, उन्हें जरा ध्यान से देख लीजिएगा। शीर्षक अधूरे भी हैं। तीसरे खण्ड में तो बहुत कम हैं। यह त्रुटि भी आपको ही पूरी करनी है। मेरी समझ में नहीं आता कि शीर्षक कैसे दिये जाने चाहिए[3]।" इस पत्र में यह भी लिखा गया है कि सभी की इच्छा

---

[1],[2] द्वि० प०।

[3] इस प्रसंग से जितने पत्र बनारस लिखे गए हैं, वे श्री रायकृष्णदास के नाम हैं और भारत कला भवन में सुरक्षित हैं।

है कि 'भारत-भारती' शीघ्र छप जानी चाहिए। कुर्रीसुदौली के राजा साहब ने भी उसे जल्द छापने का आग्रह किया था।

बार्हस्पत्यजी ने इस पुस्तक को मार्च के प्रथम सप्ताह में देखना शुरू किया। उससे पहले वे अपने सरकारी दौरे आदि में व्यस्त रहे। काव्य देखने के बाद बार्हस्पत्यजी ने इस कृति में तिलक का नाम रखना समय के प्रतिकूल समझा! वे देशद्रोही जो थे!! गुप्तजी अपने ८ अप्रैल, १९१३ के पत्र में लिखते हैं, "... 'भारत-भारती' में तिलक का नाम रखना बार्हस्पत्यजी समय के प्रतिकूल समझते हैं। द्विवेदीजी महाराज और राजा साहब भी ऐसा ही कहते हैं। इसलिए निकाल देना पड़ा।" लेकिन अपने दिनांक श्रीरामनवमी, के पत्र में गुप्तजी ने लिखा, "...मेरी भी राय थी कि तिलक रहें, पर विवश हूँ। तिलक का बोध 'लोकमान्य' पद से होता है, उसे रक्खूँगा। न साँप जायगा, न लाठी टूटेगी।" इस पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तजी इस युग की सामयिक राजनीति से पूर्ण परिचित थे और तिलक का भारतीय राजनीति में कितना युगीन स्थान था, इसकी स्पष्ट ध्वनि उनके चौकन्ने कानों ने सुन ली थी।

बनारस से 'भारत-भारती' का एक अंश मई के दूसरे सप्ताह में चिरगाँव पहुँचा। गुप्तजी ने तत्काल ही सब प्राप्त संशोधनों पर कार्य करते हुए उसे प्रेस में देने की व्यवस्था की। इसके बाद अन्य अंश में एक संशोधन के बारे में अपनी राय व्यक्त करते हुए गुप्तजी ने २२ मई के पत्र में बनारस लिखा, "मैंने अपने कार्ड में लिखा था कि भारती संबंधी दो-एक बातों में आपसे सलाह करनी है। सो आज करता हूँ। शुभस्यशीघ्रम्। (१) मेरी राय नहीं है कि अकबर वगैरह की व्यर्थ प्रशंसा की जाय। उसकी कुटिल नीति याद आते ही शरीर थर्रा उठता है। जहाँगीर ने भी हिन्दुओं का क्या भला किया, सो मैंने नहीं सुना। पर राजा साहब (रामपाल सिंहजी) की राय है कि कुछ लिख दिया जाय। उन्होंने कहा है कि इस विषय में द्विवेदीजी आदि विद्वानों की राय ले लीजिएगा। किन्तु द्विवेदीजी महाराज ने स्पष्ट कुछ नहीं कहा। बार्हस्पत्यजी की राय है कि कुछ लिख दिया जाय। उपमा बीमारी के एफ़ाक़े से दी जाय। एफ़ाक़े का पर्याय कोई हिन्दी या संस्कृत शब्द मिल सकता है? (२) अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा में जो कुछ मैंने लिखा है, या मुझे लिखना पड़ा है, उससे मालूम होता है राजा साहब सन्तुष्ट नहीं हैं। बार्हस्पत्यजी की राय है कि कुछ और लिखा जाय। किन्तु अब और क्या लिखूं? आपकी राय है कि अधिक लिखना जरूर चाटुकारी में शामिल होगा। किन्तु आपकी यह राय भी है कि चाहूँ तो रेल-तार आदि का जिक्र कर सकता हूँ।

"एक बंगाली सज्जन ने 'राजभक्ति' नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने लिखा है, "फलत: आमरा मधुसूदन, हेमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, बंकिमचन्द्र प्रभृतिर न्याय कवि: रमेशचन्द्र, एस० पी० सिंह ओ कान्ति-चन्द्रेर न्याय राजनीति वित् एवं जगदीशचन्द्र, प्रफुल्लचन्द्रेर न्याय विज्ञाने विशारद पाइयाछि ओ पाइतेछि ताहार एक मात्र कारण इंरेज राजत्वरेइ सुफल इत्यादि।" इस पुस्तक की समालोचना करते हुए प्रवासी-सम्पादक ने लिखा है, "आमरा इंरेज राजत्वेर सुफल अस्वीकार करि ना। किन्तु ताहार प्रकृति ओ परिमाण निर्द्धारण करिबार जन्य ग्रन्थकार के स्मरण कराइया दितेछि ये, चीन, जापान इंरेजेर अधीन नय, अक्ल ए दुइ देशे रेल, टेलिग्राफ़ हइयाछे एवं कवि मनीषिग्रो जन्मियाछेन। पूर्वेकालिदास हइते चन्डिदास पर्यन्त कवि, भास्कराचार्य प्रभृति वैज्ञानिक एवं टोडरमल, ओ नाना फड़नवीस राष्ट्रनीति विशारदेरा जखन एइ भारत-वर्षेइ जन्मियाछिलेन तखन भारतवर्षे इंरेजेर शासन छिलना।"

"अब आपकी क्या राय है? प्रवासी सम्पादक की राय में, "इंरेजशासने आमरा जाति धर्म निर्विशेषे सम्मिलित हइया देशके आपनार बलिया शिखियाछि, इहा इंरेज शासनेर महत् लाभ।

"इस लाभ का जिक्र भारती में है ही। (३) भारती के तीसरे खण्ड में मैंने जाति-पाँति मिटा देने-वालों के खिलाफ कुछ कहा है। राजा साहब की राय है कि वे पद्य निकाल दिये जायें। किन्तु मैंने उन्हें लिख दिया था कि खेद है, मैं अपने विचार बदलने के लिये बाध्य नहीं हूँ। इस पर राजा साहब ने लिखा था कि मैं इस पर आग्रह नहीं कर सकता। वे आपके विचार हैं, और उनके बदलने की ऐसी ज़रूरत नहीं। राजा साहब ने इतना और लिख दिया था कि मैं चाहता हूँ कि 'भारत-भारती' से सब तरह के आदमी लाभ उठा सकें।

इस विषय में द्विवेदीजी महाराज की राय मैंने ली थी। उन्होंने लिखा था कि किसी को प्रसन्न करने के लिए अपने विचार न बदलना चाहिए। किन्तु आप समझें कि उन पद्यों के निकल जाने से पुस्तक के अधिक लोकप्रिय होने की सम्भावना है, तो उन पद्यों के स्थान में दूसरे भाव आप व्यक्त कर सकते हैं। इससे यह मतलब नहीं कि आपने अपने विचार बदल दिये। नहीं, जो दूसरे विचार आप व्यक्त करें, वे भी आपके निज के विचार होने चाहिएँ। इससे आपके विचार भी नहीं बदलते और राजा साहब की बात भी रह सकती है। कहिए आपकी क्या राय है? और जो आवश्यक होगा, लिखूंगा। कष्ट के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ। दया रखिए। आपका : मैथिलीशरण[1]।"

यह पत्र गुप्तजी के कठिन स्वाध्याय और कठिन काव्य-श्रम का उत्तम प्रमाण है।

इस बीच गुप्तजी बीमार पड़े और काम कुछ स्थगित हुआ। लेकिन फिर भी 'भारत-भारती' के संशोधन और परिवर्द्धन तो वे करते ही रहे। अपने १७ जुलाई के पत्र में आप लिखते हैं, "कल से 'भारत-भारती' के संशोधन शुरू किये हैं। मंगलाचरण वाला पद्य मुझे पहला ही अच्छा लगता है। द्विवेदीजी गीतामते को क्लिष्ट बताते हैं। पर सीतापते के जोड़ में यह बहुत अच्छा बैठता है। बार्हस्पत्यजी से कहिए कि क्या यह पद्य कुछ परिवर्तन के साथ शुरू में नहीं रक्खा जा सकता? यदि ऐसा हो, तो बहुत अच्छा हो। अन्त में इतना अच्छा न लगेगा। दूसरे पद्य का उत्तरार्द्ध पहले वाला भी रह सकता है।

पुनश्च : गणागण से बचने के लिए 'निज मनोमन्दिर में उतारें आर्य जिसकी आरती' भी हो सकता है[2]।"

अपनी पूरी सामर्थ्य भर गुप्तजी प्राप्त संशोधनों पर परिश्रम कर रहे थे। २३ जुलाई के पत्र में आप लिखते हैं, "ब्रिटिश राज्य के सम्बन्ध में जो बार्हस्पत्यजी और आपकी आज्ञा हुई थी, उसके पालन करने की मैंने इस प्रकार चेष्टा की है :

अन्याय यवनों का हमें निज दोष से सहना पड़ा,
है किन्तु नारायण सदा व्यापी तथा सकरुण बड़ा।
देते हुए भी कर्मफल हम पर हुई उसकी दया,
भेजा प्रसिद्ध 'मतापहारी' ब्रिटिश राज्य यहाँ नया॥

मतलब निकल गया? रही सुविधाओं के स्पष्टीकरण की बात, सो मैं दो-एक पद्य और लिख दूंगा। प्राचीन कीर्ति-रक्षा के विषय में भी सारनाथ के बौद्ध बिल्डिंग को ध्यान में रखकर कुछ लिख दूंगा। अंग्रेजी में इस महकमें को क्या कहते, हैं यह बता दीजिए। ऊपर के पद्य में मतापहारी का ठीक अर्थ मैं नहीं समझा। 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' के अनुसार जैसा आपने लिखा, वैसा ही मैंने लिख दिया। हम जैसे देहाती तो इसमें ब्रिटिश-राज्य की तारीफ़ न समझ कर निन्दा ही समझेंगे। अतएव, या तो इसे खूब समझा दीजिए या कोई दूसरा शब्द बताइये। जैसा मैंने कहा है, मुझ जैसे लोग इसका यह अर्थ करके सरकार पर आक्षेप न करें कि वह हमारे मत का 'अपहरण ' करती है? 'मतापहारी' के आगे एक अंगरेजी शब्द आपने ब्रैकेट में लिखा है, वह शायद इस प्रकार है : डिसइंफेक्टिङ्ग। इसी के अर्थ में 'मतापहारी' शब्द प्रयुक्त किया गया है। यवन राजत्व विषयक पद्य अलग देखिए[3]।"

जुलाई गया, अगस्त आ गया। कुर्रीसुदौली के राजा साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी ने एक पत्र लिखकर गुप्तजी से आग्रह किया कि पुस्तक जल्दी छपाई जाए। लेकिन छपाई में विलम्ब का एक कारण यह भी था कि मन-पसन्द कागज नहीं मिल रहा था। आखिर यही निश्चय हुआ कि जिस कागज पर 'जयद्रथ-बध' छपी है, उसी पर यह पुस्तक भी छपवा दी जाए। अक्टूबर मास में इसकी छपाई शुरू कर दी गई। दूसरा खण्ड छपना जाकर कहीं १९१४ के मार्च मास में शुरू हुआ। जून मास में छपाई पूरी हुई। और अगस्त मास में जाकर 'भारत-भारती' की छपाई का काम समाप्त हुआ।

---

[1] मा० क० म०। [2] मा० क० म०। [3] मा० क० म०

'मुसद्दस' पर एक लघु दृष्टि

'भारत-भारती' नाम रखने से पहले गुप्तजी जो पुस्तक लिख रहे थे, उसे 'मुसद्दस वाली कविता' नाम से इंगित कर रहे थे। 'मुसद्दस' अपने युग का ऐसा काव्य रहा है, जिसने मुसलमानी कौम में नई जान फूंक दी थी। उसे जो पढ़ता था, चाहे वह मुसलमान न भी हो, अपने प्रति सजग हो जाता था। द्विवेदीजी की कार्य-तालिका में इस कृति के समक्ष हिन्दी में एक नई कृति लिखवाने की चाहना थी। मुसद्दस 'भारत-भारती' से दो पीढ़ी पहले लिखी गई थी। इसमें मुस्लिम संस्कृति के मुख्य आधारों का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। इसके लेखक हाली साहब इसकी भूमिका में लिखते हैं, "जमाने का नया ठाठ देखकर पुरानी शायरी से दिल भर गया था और झूठे ढकोसले बाँधने से शर्म आने लगी थी।...कौम के एक सच्चे खैरख्वाह ने आकर मलामत की और ग़ैरत दिलाई कि हैवाने-नातिक़ (मुंह से बोलनेवाले जीव) होने का दावा करना और खुदा की दी हुई जबान से कुछ काम न लेना बड़े शर्म की बात है। ...कौम की हालत तबाह है। मगर नज्म... कौम को जगाने के लिए अब तक किसी ने नहीं लिखी...बरसों की बुझी हुई तबीयत में एक वलवला पैदा हुआ और बासी कढ़ी में एक उबाल आया। अफसुर्दा दिल (मुर्झाया हुआ) बोसीदा (सड़ा हुआ) दिमाग, जो अमराज (रोग) के मुतवातिर हमलों से किसी के काम के न रहे हैं, उन्हीं से काम लेना शुरू किया और एक मुसद्दस (छः छः बन्दोंवाली कविता) की बुनियाद डाली।"

ऊपर कौम के जिस सच्चे खैरख्वाह की चर्चा की गई है, वे सर सैयद अहमद खाँ थे। वे मुसलमानों के बहुत बड़े सांस्कृतिक आंदोलन की पेशवाई कर रहे थे। 'मुसद्दस' मुसलमानों की एक छोटी-मोटी गुटका रामायण ही समझिए। 'मुसद्दस' इस रुबाई से आरम्भ होता है—

> पस्ती का कोई हद से गुजरना देखे!
> इस्लाम का गिर कर न उभरना देखे!
> माने न कभी कि मद है हर जज के बाद
> दरिया का हमारे जो उतरना देखे!

इसके बाद युग की माँगें दर्द भरे स्वर में निश्छल अपनाव के साथ सीधे-सादे असर को लिए हुए मुखर होती हैं—

> बहुत आग चिलमों की सुलगानेवाले,
> बहुत घास की गठरियाँ लानेवाले,
> बहुत दर-ब-दर माँग कर खानेवाले,
> बहुत फाके कर-कर के मर जानेवाले,
> जो पूछो कि किस खान के हैं वो जौहर,
> तो निकलेंगे नस्ले-मलूक[1] उनमें अक्सर।
> यों जो कुछ हुआ, एक शम्मा है उसका
> कि जो वक्त तारों पे है आनेवाला...
> नहीं गर्चे कुछ कौम में हाल बाक़ी
> अभी और होना है पामाल बाक़ी।

जमीमें (परिशिष्ट) में आशा का धुंधला प्रकाश इस गहरी करुणा के विराम को मिटाने लगता है। अलसायी चेतना करवटें लेती हुई किस प्रकार शैथिल्य को त्याग कर जीवन को प्रगति की ओर उन्मुख कर रही है—

> बहुत दिन से दरिया का पानी खड़ा था।...
> हुई थी ये पानी से जायल रवानी,

---

१ राजसी घराने के।

पर अब उसमें से कुछ-कुछ आने लगी है,
किनारों को उसके हिलाने लगी है,
अफूनत[1] वो पानी से जाने लगी है . . .
जरा दस्तो-बाजू हिलाने लगे हैं,
वो सोते में कुछ कुलबुलाने लगे हैं। . . .
बुजुर्गों के दावों से फिरने लगे हैं,
वो खुद अपनी नजरों से गिरने लगे हैं। . . .
नयी रोशनी से हैं आँखें चुराते,
मगर साथ ही यह भी हैं कहते जाते,
कि दुनिया नहीं गर्चे रहने के काबिल
पर इस तरह दुनिया में रहना है मुश्किल . . .
धुएँ कुछ दिलों से निकलने लगे हैं,
कुछ आरे से सीनों पै चलने लगे हैं,
वो गफ़लत की रातें गुजरने को हैं अब
नशे जो चढ़े थे उतरने को हैं अब। . . .
नहीं, गर्चे कुछ दर्दे-इस्लाम उनको,
बराबर है, हो सुबह या शाम, उनको,
मगर क़ौम की सुन के कोई मुसीबत,
उन्हें कुछ-न-कुछ आ ही जाती है रिक्क़त[2]।

'मुसद्दस' और 'भारत-भारती' में बस इतना ही अन्तर है कि पहली दो पीढ़ी पूर्व लिखी गई और दूसरी अपने युग की प्रगति और जाग्रत दृष्टिकोण को हृदयंगम कर कुछ अधिक नए बोल संजो सकी। यह अन्तर अधिक महत्व का नहीं है कि प्रथम कृति में मुस्लिम संस्कृति का दृष्टि-समर्थ क्षितिज है, लेकिन 'भारत-भारती' में हिन्दुओं की वह इतिहास-रेखा है, जो हिन्दू-संस्कृति के क्षितिज को ही नहीं, उसके भारतीय व्योममंडल को भी आवृत्त कर रही है। जातीय उद्‌बोधन 'मुसद्दस' में बस मुसलमानों तक अपनी दर्दभरी आवाज छोड़ जाता है, 'भारत-भारती' न केवल हिन्दुओं में, बल्कि सारे भारत के देशवासियों में—जिसने भी उसे सुना वह एक हुंकार करने की क्षमता रहस्यमय वरदान की तरह दे गई!

'भारत-भारती' की मस्तक-रेखा

गुप्तजी ने इस पुस्तक का आधार गहरे अध्ययन और विस्तृत सूचनाओं पर टिकाया है। पुराण, टाड-राजस्थान, इंजील और कुरान, सर वाल्टर रेले की हिस्ट्री आफ द वर्ल्ड, मनुस्मृति, व्याधगीता, मेगस्थनीज़, आपस्तंब, शंकरदिग्विजय, अभिज्ञानशाकुन्तल, रघुवंश, यूनान का इतिहास, महाभारत, नोटविच (रूसी यात्री), काउंट जार्नसजेनीकी 'थ्योजोनी आफ द हिन्दूज़', इण्डियन रिव्यू में डेलीमार का लेख, डॉ० कीलहार्न, छान्दोग्योपनिषद्, मैक्समूलर के व्याख्यान, शोपेनहार, मानियर विलियम्स, लैथब्रिज साहब के लेख, हिन्दू सुपीरियरिटी, ताजीरात हिन्द, उदयनाचार्य, मुद्राराक्षस नाटक, पंचतंत्र, प्रो० वेबर और कोलब्रूक, एलबरूनी, आर० सी० दत्त का इतिहास, डॉ० थीबो, भारतवर्ष का इतिहास, बी० सूर्यनारायण राव (मद्रास के ज्योतिषी), श्लजल साहब, डॉ० वेलटाइन डब्लू० सी० टेलर, मौलाना हाली, आयुर्वेद, डॉ० हंटर, आनरेबुल अलफेन्सटन साहब, जर्मन तत्ववेत्ता हंबोल्ड, तबक़ाते नासरी, सैर मुताख़रीन, ऋग्वेद, डॉ० फरग्यूसन, कविवर गेटे, सर विलियम जोन्स का शकुन्तला नाटक, पारसियों का इतिहास, वाल्मीकि, वशिष्ठ, श्रीमद्भागवत, मुतालुलसादीन, यूनानी एरियन, कर्नल स्लीमेन,

[1] झाँप। [2] दुर्गन्ध।

विष्णु पुराण, जर्नल ए० बी० बेंगाल १८६४ वोल्यूम ३३, कनिंघम आरक्योलाजिकल सरवे आफ इण्डिया वोल्यूम ४, नरहरि कवि, बदाऊनी का इतिहास, मुंडकोपनिषद्, हिन्दी ग्रन्थमाला १६०८, इतिहास तिमिरनाशक, वैन्स साहब, निबन्ध संग्रह, सर टामस रो, पाली की थेरी गाथा आदि ग्रन्थों से आवश्यक तथ्य संगृहीत कर जनधरणी के अतीत और वर्त्तमान को झकझोर दिया है और उसके लौटाए हुए होश को जीवन-उर्वर और स्पर्श-मुखर बनने की ललकार दी है। इसमें जो हिन्दू शब्द दुहरा-तिहरा कर भावोच्छ्वास का आधार बन गया है, उसका कारण स्पष्ट है। भारत का समस्त अतीत इसी हिन्दू-जाति के बुद्धि-चरणों के पग-धावन कर रहा था। अन्य पश्चिमी जातियाँ तो उस दीर्घकाल की तुलना में अभी कल ही आई हैं। यही कारण है कि 'भारत-भारती' के लेखन में हाली का 'मुसद्दस' ध्यानावस्थित कवि को आत्म-मग्न अवश्य कर गया, लेकिन उसे वह स्वप्नहीन-निद्रा भी दे गया, जिसमें उसने इस संक्षिप्त कल की तुलना में समस्त शक्तियों का सनातन चैतन्य हस्तामलक-सा देख लिया। द्विवेदीजी ने अवश्य ही इसी 'मुसद्दस' के सदृश हिन्दू-जाति के प्राणों की जड़िमा को नव-स्पन्दन से भर देनेवाले एक काव्य के लिखने का आग्रह किया था। किन्तु 'भारत-भारती' के रूप में वह आग्रह इस प्रारम्भिक उद्देश्य को भी अतिक्रान्त कर गया। यह पुस्तक जाति-भेद से अलग, पूरे राष्ट्र के घोर नैराश्य-तिमिर को भेदकर पूरे एक युग तक अपना सबल संदेश सुनाती रही। १९२० के आसपास जो राजनीतिक आंदोलन चले और उनमें जिन प्रभात-फेरियों ने प्रमुख स्थान लिया, उनमें 'भारत-भारती' के पद ही नगरों और गाँवों में गुंजित हुआ करते थे।

लेकिन जनता और प्रशंसकों ने जिस पुस्तक को ८-१० साल बाद अपनाया, आचार्य द्विवेदी ने उसके जन्म के समय ही उसकी जन्म-पत्री लिखी और उसके भविष्य की घोषणा भी अपने उस पत्र में कर दी, जिसमें 'पंजरबद्ध कीर' जैसी साधारण कविता छपाने में वे पूरे दो साल तक हिचक रहे थे। १९१२ के नवम्बर की 'सरस्वती' में 'अतीत भारत की सभ्यता' (भारत-भारती से उद्धृत) नामक पहला परिचायक अंश छापते हुए द्विवेदीजी ने इसी अंक में इस कृति के ऊपर अपनी सम्पादकीय टिप्पणी जिस प्रकार लिखी है, उसका हर वाक्य और हर वाक्य का हर शब्द ध्यान से पढ़ने की चीज है—

"सरस्वती के सिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने एक नवीन काव्य की रचना की है। उसे समाप्ति को पहुँचे अभी कुछ ही दिन हुए हैं। उसका नाम है 'भारत-भारती'। अपूर्व काव्य है। हाली साहब के 'मुसद्दस' के ढंग का है। उससे बढ़कर नहीं, तो उससे कम भी किसी बात में नहीं। पद्य-संख्या ७०० के लगभग है। उसमें भारत के उत्थान और पतन आदि का वर्णन है। शीघ्र ही छपकर प्रकाशित होगा। तब तक उसके विशेष-विशेष स्थल 'सरस्वती' की हर संख्या में निकलेंगे। आरम्भ इसी संख्या से किया जाता है। गुप्तजी की इस कविता का उत्तरोत्तर हृदयविदारक अंश पढ़ने के लिए पाठक अपना हृदय अभी से कड़ा कर रक्खें। ऐसी अच्छी कविता लिखने के लिए हम नहीं जानते, किन शब्दों में हम गुप्तजी का अभिनन्दन करें :

> **येनेदमीदृशमकारि महामनोज्ञं**
> **शिक्षान्वितं गुणगणाभरणैर्भृतं च।**
> **काव्यं, कृती कविवरः स चिरायुरस्तु**
> **श्री मैथिलीशरण गुप्त उदारवृत्तः॥**

लेकिन एक अंश प्रकाशित होने से न तो द्विवेदीजी को सन्तोष हो सकता था, न 'सरस्वती' के पाठकों को ही। अतः 'सरस्वती' में इसके अंश दिसम्बर मास से इस प्रकार निकले—

दिसम्बर, १९१२ : अतीत भारत के वीरों की वीरता और शासकों की महत्ता[1] ; जनवरी, १९१३ : अतीत भारत के अधःपतन का आरम्भ[2]। मार्च : भारत का अविद्यान्धकार[3]। अप्रैल : हमारे साहित्य और संगीत की शोचनीय दशा[4]। मई : वर्त्तमान भारत के श्रीमान् और उनके सपूत[5]।

---

[1] अवनति का आरम्भ (भारत-भारती) [2] वर्तमान खण्ड [3] अविद्या [4] साहित्य [5] रईस

जून : वर्त्तमान भारत का व्यापार[1]। अगस्त : भारत में गो-वंश नाश[2] और दिसम्बर उद्बोधन[3]। अक्टूबर (१९१४) : हमारा प्राचीन ग्रन्थ साहित्य।

'मुसद्दस' की प्रस्तावना सूक्ष्म रूप में हम देख चुके हैं। अब मैथिलीशरण की वह प्रस्तावना भी हम देखें, जो 'भारत-भारती' में उनके हृदयोद्गार बन कर हिन्दी के काव्य-क्षितिज पर नई प्रकाश-रेखा बनकर खचित हुई थी—"प्रिय पाठकगण, आज जन्माष्टमी है। आज का दिन भारत के लिए गौरव का दिन है। आज ही हम भारतवासियों को यहाँ यह कहने का अवसर मिला था कि—

जय जय स्वर्गागार-सम, भारत-कारागार।
पुरुष पुरातन का जहाँ, हुआ नया अवतार।।

जब तक संसार में भारतवर्ष का अस्तित्व रहेगा, तब तक यह दिन उसकी महिमा का महान दिन समझा जाएगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। आज भगवान ने अपने उन वचनों की सार्थकता दिखाई थी, जिन्हें आपने, कुरुक्षेत्र में अर्जुन को गीता का उपदेश करते हुए, प्रकट किया था :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

भला मेरे लिए इससे शुभ और कौन-सा दिन होता कि मैं प्रस्तुत पुस्तक आप लोगों के सम्मुख उपस्थित करने के लिए पूर्ण करूँ?

"यह बात मानी हुई है कि भारत की पूर्व और वर्त्तमान दशा में बड़ा भारी अन्तर है। अन्तर न कहकर इसे वैपरीत्य कहना चाहिए। एक वह समय था कि यह देश विद्या, कला-कौशल और सभ्यता में संसार का शिरोमणि था और एक यह समय है कि इन्हीं बातों का इसमें शोचनीय अभाव हो गया है। जो आर्यजाति कभी सारे संसार को शिक्षा देती थी, वही आज पद-पद पर पराया मुँह ताक रही है! ठीक है, जिसका जैसा उत्थान, उसका वैसा ही पतन!

"परन्तु क्या हम लोग सदा अवनति में ही पड़े रहेंगे? हमारे देखते-देखते जंगली जातियाँ तक उठकर हमसे आगे बढ़ जायँ और हम वैसे ही पड़े रहें, इससे अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है? क्या हम लोग अपने कार्य से यहाँ तक हट गये हैं कि अब उसे पा ही नहीं सकते? क्या हमारी सामाजिक अवस्था इतनी बिगड़ गई है कि वह सुधारी ही नहीं जा सकती? क्या सचमुच हमारी यह निद्रा चिरनिद्रा है? क्या हमारा रोग ऐसा असाध्य हो गया है कि उसकी कोई चिकित्सा ही नहीं?

"संसार में ऐसा कोई भी काम नहीं, जो समुचित उद्योग से सिद्ध न हो सके। परन्तु उद्योग के लिए उत्साह की आवश्यकता है। बिना उत्साह के उद्योग नहीं हो सकता। इसी उत्साह को, इसी मानसिक वेग को, उत्तेजित करने के लिए कविता एक उत्तम साधन है। परन्तु बड़े खेद की बात है कि हम लोगों के लिए हिन्दी में अभी तक इस ढंग की कोई कविता-पुस्तक नहीं लिखी गई, जिसमें हमारी प्राचीन उन्नति और अर्वाचीन अवनति का वर्णन भी हो और भविष्यत् के लिए प्रोत्साहन भी। इस अभाव की पूर्ति के लिए जहाँ तक मैं जानता हूँ, कोई यथोचित प्रयत्न नहीं किया गया। परन्तु देशवत्सल सज्जनों को यह त्रुटि बहुत खटक रही है..पर साथ ही अपनी अयोग्यता के विचार से संकोच भी कम न हुआ। तथापि यह सोचकर कि बिल्कुल ही न होने की अपेक्षा कुछ होना ही अच्छा है, मैंने इस पुस्तक के लिखने का साहस किया।...मैं जानता हूँ कि इस पुस्तक को लिखकर मैंने अनाधिकार चेष्टा की है। मैं इस काम के लिए सर्वथा अयोग्य था। परन्तु जब तक हमारे विद्वान और प्रतिभाशाली कवि इस ओर ध्यान न दें और इस ढंग की दूसरी कोई अच्छी पुस्तक न निकल, तब तक आशा है, उदार पाठक मेरी धृष्टता को क्षमा करेंगे।"

---

[1] व्यापार (८० से १०५वें पद तक)
[2] गो-वध (५९ से ७६वें पद तक)
[3] भविष्यत् खण्ड (१ से १३४वें पद तक)

अपनी विगत दो पुस्तकों की तरह यह पुस्तक भी स्वयं गुप्तजी ने ही प्रकाशित कराई। जब यह छपी तो द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के मंच से इसके प्रकाशन की सूचना देते हुए पुनः एक महत्वपूर्ण संपादकीय लिखा। अपनी इन पंक्तियों में उन्होंने हिन्दी-साहित्य में गुप्तजी का क्या स्थान बन चुका है और आगे क्या रहेगा, इसकी संभाव्य प्रतिक्रिया पर भी अपनी दिव्य दृष्टि से प्रकाश डाला। आपने लिखा, "बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' छप गई। इस नोट के निकलने के पहले ही वह शायद प्रकाशित हो जाय। इसके दो संस्करण निकलने वाले हैं। एक राज-संस्करण, दूसरा साधारण। पहला संस्करण ६० पाउण्ड के मोटे, चिकने आर्ट पेपर पर छपा है। इस पर कपड़े की स्वर्णांकित जिल्द रहेगी। मूल्य होगा २) रु० कापी। दूसरे संस्करण की कापियाँ मामूली मोटे कागज पर छपी हैं। उनपर साधारण जिल्द रहेगी। मूल्य १) रु० कापी होगा। छपाई निर्णयसागर प्रेस (बम्बई) की है। पुस्तक की पृष्ठ संख्या २०० के लगभग है।

"यह काव्य वर्तमान हिन्दी-साहित्य में युगान्तर[1] उत्पन्न करनेवाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिये यह आदर्श का काम देगा। इसके जो कितने ही अंश सरस्वती में निकल चुके हैं, उनसे इसके महत्त्व का अनुमान पाठकों ने पहले ही कर लिया होगा। यह सोते हुओं को जगानेवाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लानेवाला है, निरुद्योगियों को उद्योगशील बनानेवाला है, आत्मविस्मृतों को पूर्व-स्मृति दिलानेवाला है, निरुत्साहियों को उत्साहित करनेवाला है, उदासीनों के हृदयों में उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला है। यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है, यह सुख, समृद्धि और कल्याण की प्राप्ति में हमारा सहायक हो सकता है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है, जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती। इससे हम लोगों की मृतप्राय नसों में शक्ति का संचार हो सकता है—उनमें फिर सजीवता आ सकती है, क्योंकि हम क्या थे और अब क्या हैं इसका मूर्तिमान चित्र इसमें देखने को मिल सकता है। जिन्होंने मुसलमानों को जगाने और उनका दिल दहलानेवाला हाली का लिखा हुआ, 'मुसद्दस' नामक काव्य, उर्दू में, देखा है, उन्हें उसका स्मरण दिला देने से ही इस काव्य की महत्ता उनकी समझ में आ जायगी। क्योंकि यह उसी के नमूने पर लिखा गया है। आशा है, हम लोग इससे अधिक नहीं, तो उतना लाभ तो अवश्य ही उठावेंगे, जितना कि मुसलमानों ने उक्त 'मुसद्दस' से उठाया है। आशा है, 'सरस्वती' के पाठक इसे लेकर एक बार साद्यन्त पढ़ेंगे और पढ़ चुकने पर—

हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।
मिल कर विचारेंगे हृदय से ये समस्याएँ सभी॥

आशा है, 'भारत-भारती' के कर्त्ता के इस किंचित् परिवर्तित अनुरोध-वाक्य को मान लेने की कृपा पाठक अवश्य करेंगे।"

'भारत-भारती' सरस्वती-आश्रम की चरम आंदोलन-दुन्दुभि थी। कृति-रूप में प्रकाशित होकर यह 'सरस्वती' से एक विराट मेघ-खंड की तरह विलग हुई और स्वतंत्र भाव से अपने काव्य का वर्षण चहुँ दिशाओं में एक-दो दिन नहीं, एक-दो वर्ष नहीं, अनेक वर्षों तक करती रही। 'भारत-भारती' के समकक्ष राष्ट्रीय काव्य में इसके बाद कोई ऐसी दूसरी पुस्तक नहीं आई, जो ग्राम और नगरों में समान भाव से आबाल-वृद्ध-नारी को कंठस्थ हुई हो और बराबर ही कंठ पर चढ़कर मुखर होती रही हो!

निःसंकोच कहना चाहिए कि ब्रजभाषा के मनोवेगों से अपना पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद करते हुए और साधुभाषा हिन्दी की संजीवनीधारा का अवगाहन करते हुए इस संक्रमण-काल में 'भारत-भारती' प्रारंभिक हिन्दी की अंतिम परिणति है। इसके बाद ब्रजभाषा के छुट-पुट सवाल उठे, पर खड़ीबोली हिन्दी की अभीष्ट रमणीयता के समक्ष, उधर फिर किसी ने गर्दन तक न घुमाई।

---

[1] इस शब्द पर हम विशेष ध्यान दें। सन् १९३० से जितने अग्रणी कवि हिन्दी में आए, उन सबके लिए सब से बड़ा विशेषण 'युगान्तरकारी' प्रयुक्त है, पर १८८५ से लेकर १९२० तक की लम्बी अवधि में गुप्तजी को यह पहला आदरास्पद संबोधन आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ही देना आवश्यक मान लिया था।

आज इस कृति के काव्य-चमत्कार आदि की व्याख्या करना जरूरी नहीं रह गया है। 'भगवान ! भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती।' इसका यह वाक्य स्व-भाषा, स्वदेशी और स्वतंत्रता इन तीनों के सौंदर्य का उपस्थापन करनेवाला मूलमंत्र था। अंग्रेजीयत की संगीन और उसका दानवी वैभव जिस क्रांति के हाथों अपने अर्थ खोने लगा था, वह शत-प्रतिशत स्व-भाषा की प्रासादिकता ही थी। आचार्य द्विवेदी ने अपना सारा जीवन इसी सरस्वती की अन्त:सलिला क्रांति की धारा की ज्ञानभूमिका के असाधारण विस्तार में खपा दिया था। हिन्दी के प्रति उनकी अमायिक और सात्त्विक पूजा का भाव लाखों देशवासियों में आत्म-गौरव की उद्भावना कर चुका था। उनकी ही छत्रछाया के नीचे व्यक्तीकरण का प्रपात बनकर 'भारत-भारती' ने राष्ट्रीय और देशभक्ति के काव्य की दुर्गम चट्टानों को इस तरह काट दिया कि उनमें नए रक्त का नया काव्य वेगवती नदी की तरह जब बह कर आया, तो वे उसे बहने का सहज मार्ग दे सके। देश के भग्न पौरुष की इससे अधिक सेवा और कुछ नहीं हो सकती थी।

'भारत-भारती' अगस्त माह में छपकर आई और दो माह में उसकी १२०० प्रतियाँ बिक भी गईं। गुप्तजी ने ७ अक्टूबर, १९१४ के पत्र में लिखा, "लक्षणों से मालूम होता है, शीघ्र उसका दूसरा संस्करण होगा[1]।"

ऐतिहासिक पत्रावली

प्रारंभिक चित्र-प्रदर्शिका कविताओं ने जिस तरह एक धाराप्रवाहिक कथा का स्वरूप ग्रहण कर 'जयद्रथ-बध' का बाना पहन लिया था, उसी तरह 'भारत-भारती' का जो उच्छिष्ट भाग बचा, उसमें पर्याप्त स्वर्णकण बच गए थे। उन स्वर्णकणों को लेकर गुप्तजी ने एक नई कृति की 'पत्रावली' के नाम से रचना शुरू कर दी थी। भारत महाराष्ट्र तो सदा रहा, पर उसकी सांस्कृतिक एकता अपना इतना विराट प्रतिरूप बहुत ही दुर्लभ घड़ियों में बना सकने में सफल हुई है—वह भी उन क्षणों में जब राजभक्ति की झूठी प्रतिष्ठाओं को विदीर्ण करते हुए समूचे देश की रक्षा ही जन-मन में प्रमुख बनी है। ऐसे क्षणों में भारत का स्वर हिन्दुत्व के कंठ से निकला या किसी छत्रपति ने उसकी घोषणा की—इसका विभेद करना अधिक अर्थपूर्ण नहीं है। यह 'पत्रावली' गुप्तजी की लेखनी से प्रकट होकर हिन्दी-काव्य में अपना अभिनव मंतव्य प्रस्तुत कर गई। इन पत्रों में इतिहास की प्रियता जिस रूप में धूमिल हो गई थी, वह विदेशी दासता के बीच देशीय प्राणों की विकलता को बहुत कुछ नया रास्ता दिखा गई।

१९११ के अंतिम दिनों से इस पुस्तक की रूपरेखा तैयार हो रही थी। पर १९१२ के उदय से ही इसका लेखन शुरू किया जा सका। इसके लिए गुप्तजी ने लाला छोटेलाल बार्हस्पत्य, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए०, पं० केदारनाथ पाठक, रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मुंशी देवीप्रसाद आदि मित्रों से भरपूर मंत्रणा और सहायता ली। द्विवेदीजी ने इस कार्य को अग्रिम प्रचार का संबल देते हुए 'सरस्वती' के फरवरी, १९१२ अंक में 'महाराज राजसिंह का पत्र औरंगजेब के नाम' प्रकाशित करते हुए यह टिप्पणी भी प्रकाशित की, "ऐतिहासिक पत्रावली। 'सरस्वती' की इसी संख्या में महाराजा राजसिंह का एक पत्र प्रकाशित किया जाता है, जिसे उन्होंने जजिया कर के विषय में औरंगजेब को लिखा था। किसी-किसी की राय है कि यह पत्र जोधपुर के महाराज यशवन्त सिंह ने लिखा था। कोई-कोई इसे शिवाजी महाराज[2] का लिखा हुआ मानते हैं। पर टाड साहब को इसका दृढ़ प्रमाण मिला है कि यह पत्र महाराज राजसिंह ने ही औरंगजेब को लिखा था। वे कहते हैं, 'हमारे उदयपुर के मुंशी ने इस असल पत्र की लिपि को पाया था, जिसके आरम्भ में ही लिखा था कि महाराज राजसिंह के पास से औरंगजेब के समीप यह पत्र भेजा गया।' टाड साहब कहते हैं कि जिस कर का उल्लेख इस पत्र में हुआ है, वह यशवन्त सिंह के जीतेजी प्रचलित ही नहीं हुआ था। अतएव यदि यह सच है, तो यह पत्र उनका लिखा नहीं हो सकता। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि पत्र है बड़े महत्व का।

---

[1] मा० क० म०

[2] उन दिनों यह पत्र एक गुजराती पुस्तक में शिवाजी के नाम से ही प्रकाशित हुआ था। बाद में गुप्तजी ने अपनी पुस्तकाकार पत्रावली में भी इस पत्र को 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' नाम से पृष्ठ १२ पर सम्मिलित किया।

कैसी प्रजा-वत्सलता, नीतिपरायणता और निर्भीकता इससे प्रकट होती है। टाड साहब की राय है कि इस विशाल संसार में कभी किसी की लेखनी से ऐसा पत्र निकला होगा या नहीं, इसमें संदेह ही है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त की इच्छा है कि इस तरह के पत्रों को पद्य में परिणत करके 'ऐतिहासिक पत्रावली' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की जाय। कुछ महत्व के पत्र मिले भी हैं। जैसे—औरंगजेब का पत्र उसके पुत्र के नाम, पृथ्वीराज का पत्र महाराज प्रतापसिंह के नाम, स्वामी रामदास और तुकाराम के पत्र छत्रपति शिवाजी के नाम, रूप नगर की राजकुमारी रूपवती का पत्र महाराना राजसिंह के नाम इत्यादि। यदि कोई महाशय ऐसे और भी ऐतिहासिक पत्र बतलाने की कृपा करेंगे, तो उनको भी कृतज्ञतापूर्वक इस पुस्तक में स्थान मिलेगा। पर पत्रों में कुछ विशेषता होनी चाहिए।"

इसके बाद, 'सरस्वती' में 'पत्रावली' की कुछ कविताएँ इस प्रकार निकलीं—मार्च, १६१२ : महाराजा पृथ्वीराज का पत्र[1] ; अप्रैल, १६१२ : औरंगजेब का पत्र पुत्र के नाम[2] ; सितम्बर, १६१३ : भयंकर भर्त्सना (महाराज जसवन्तसिंह के नाम उसकी रानी का पत्र[3]) ; नवम्बर : महाराना प्रतापसिंह का पत्र (पृथ्वीराज के प्रति[4]) ; मई, (१६१४) : महारानी अहिल्याबाई का पत्र (राघोबा के नाम[5])।

जहाँ तक पुस्तक पूरी करने का सवाल था, गुप्तजी ने अपने मित्रों और परामर्शदाताओं के सहयोग से उल्लेखनीय पत्र एक अच्छी संख्या में एकत्र किए। इनमें अरविन्द का भी एक पत्र था। पर प्रतिपादित विषय के अनुरूप इन सब पत्रों को पुस्तक में स्थान देना गुप्तजी को अभीष्ट न हुआ।

सदैव की भाँति इस पुस्तक में भी द्विवेदीजी का वरद-हस्त अपनी अदृश्य भाग्यलिपि लिखता रहा। एक बार द्विवेदीजी ने अक्षयवट मिश्र को लिखा था, "मैं खुलकर लिखता हूँ। क्षमा कीजिएगा। 'सरस्वती' के लिए लेख लिखते समय मेरी, 'सरस्वती' तथा अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रखा कीजिए। **'सरस्वती' में स्थान पाना साधारण योग्यता का काम नहीं है[6]।"** गुप्तजी इस समय तक 'सरस्वती' में द्विवेदीजी की कृपा के बल पर और अपने कठोर स्वाध्याय की उच्च प्रयोजनीयता पर आरूढ़ लोकप्रिय कवि बन चुके थे। तीन-चार पुस्तकों के स्वनामधन्य लेखक हो गए थे। यह कहना भी कोई अतिशयोक्ति नहीं कि द्विवेदीजी की तुलना में भी 'सरस्वती' के एक अनुशासक बन चुके थे। पर युग-संपादक का दीर्घ हाथ अपना अंकुश उसी सबलता से थामे हुए था। आपने ३१ अक्टूबर, १६१३ को पत्र लिखा, "प्रियवर बाबू मैथिलीशरण, टाल्सटाय का वह अधूरा पत्र मेरी समझ में पत्रावली में रखने योग्य नहीं। तरुदत्त के फ्रेंच भाषा के पत्र का पता मुझे मालूम नहीं। स्वामी रामतीर्थ नामक पुस्तक के प्रथम भाग में उनका कोई पत्र नहीं। लाहौर के एक महाशय औरंगजेब के पत्रों का अनुवाद हिन्दी में कर रहे हैं। उनका नाम और पता है : हरिवल्लभ शर्मा, बी० ए०। 'सरस्वती' में छपाने कहते हैं। मैंने नमूने का एक पत्र माँगा है। इन पत्रों में दो-एक आपकी पत्रावली योग्य अवश्य होंगे। मुझे मिले तो मैं आपको भेज दूंगा। बेहतर होगा आप इनसे स्वयं पत्र-व्यवहार करें। विवेकानन्द के जो पत्र पुस्तकाकार हिन्दी में निकले हैं, उनमें से एक-आध को लीजिए। शायद पं० लक्ष्मीधर ने उनका अनुवाद किया है[7]।"

विवेकानन्द को भी काव्य का पात्र बनाना भारतीय काव्य में इस युग को देखते हुए एक साहस का काम था। 'भारत-भारती' में तिलक को लेकर काफ़ी मतभेद रहा। पर इस योगिराज के नाम में भारतीय मात्र के लिए एक जादू था और किसी भी ऐतिहासिक नररत्न की तुलना में वे अपने जीवनकाल में ही एक ऐतिहासिक महत्व के देवता बन चुके थे। द्विवेदीजी ने अपने १७ फरवरी, १६१४ में गुप्तजी को इसी आशय को स्पष्ट करते हुए, एक दूसरे प्रसंग में, लिखा है, "समय-सूचकता बड़ा भारी गुण है। समयानुकूल कविता[8] का बड़ा असर होता है।"

१८ अप्रैल, १६१४ को आचार्य ने 'पत्रावली' के कवि को पत्र दिया, "अहिल्याबाई का पत्र बहुत पसंद आया। बड़े महत्व का है। यह तो और भी बड़ा होना चाहिए था। विचार-विस्तार के लिए बहुत

---

[1] पत्रावली, पृष्ठ १। [2] पत्रावली, पृष्ठ १६। [3] पत्रावली पृष्ठ २०। [4] पत्रावली, पृष्ठ ८।
[5] पत्रावली, पृष्ठ २४। [6] 'बालक', द्विवेदी-स्मृति-अंक। [7]; द्वि० प०।

जगह थी। मई की सर० में छापूंगा। नीचे लिखे अनुसार उसमें संशोधन करना चाहता हूँ। ठीक न हो तो आप कर दीजिए—

"१. पद्य २, पंक्तियाँ २-३ : विख्यात वीर करते जिससे विरोध होता किसे। २. पद्य ३, चरण ३ : दूं आपको अब न जो शत साधुवाद। ३. पद्य १३, चरण १ : वीराग्रगण्य यह भी अब सोच लीजे। ४. पद्य १५, चरण ४ : फिर सोचिए किस लिए इतना अनर्थ। पद्य ५ में : हैं भूलते सुमति भी सब एक बार—यह खटकता है। कोई नियम नहीं कि सभी सुमतिवाले भूलें और एक ही दफ़ा भूलें। पद्य ६ : सैन्य शब्द पुंल्लिग हो, तो अच्छा। पद्य ९ : डरना किस पाप से चाहिए।

"कविता छपने भेजता हूँ। संशोधन करना हो, तो पद्यों का हवाला देकर लिख भेजिए। वही पत्र प्रेस को भेज दूंगा[1]।"

इसके बाद २७ अप्रैल को द्विवेदीजी ने पत्र दिया, "२३ का पत्र पहुँचा। अहिल्याबाई के पत्र में इस प्रकार संशोधन कर दिया : पद्य ५—जो भूल हो उचित है उसका सुधार। पद्य १५—तो सोचिए किस लिए इतना अनर्थ। पद्य ६—सैन्य स्त्रीलिंग ही रहने दिया। पद्य ९—'पाप को' भी रहने दिया। पद्य २-३-१३ में अपने किये संशोधन रहने दिये। पद्य १५ में 'तो' की जगह 'फिर' करना मेरी भूल थी। मेरा बुद्धि-वैकल्य अब दिन-पर-दिन बढ़ रहा है[2]।"

"मेरा बुद्धि-वैकल्य अब दिन-पर-दिन बढ़ रहा है।" शेर बूढ़ा होने पर जैसे महसूस कर रहा हो कि उसकी शक्ति अब क्षीण हो रही है!

द्विवेदीजी महाराज ने राय दी कि 'पत्रावली' में १२ पत्र अवश्य होने चाहिएँ।

'पद्य-प्रबन्ध' का प्रकाशन और अन्य कृतियों का उपक्रम

गत वर्ष के जुलाई मास से एक स्वतंत्र काव्य-संग्रह उन कविताओं को लेकर छपाने की तैयारी चल रही थी, जो समय-समय पर 'सरस्वती' तथा अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी थीं। १९१२ के मार्च में यह कृति 'पद्य-प्रबन्ध' नाम से छपकर तैयार हो गई। प्रकाशक अब चिरगाँव का निजी प्रकाशन-गृह था ही। इसका नाम साहित्य-सदन रक्खा गया था। इस पुस्तक को मिलाकर १९१२ में गुप्तजी की तीन कृतियाँ तैयार हो गईं।

इसी मार्च मास में 'जयद्रथ-वध' के दूसरे संस्करण की तैयारियाँ शुरू हो गईं। गुप्तजी का यह प्रकाशन चिरगाँव जैसे एकान्त में स्थित होकर भी उनके काव्य को दूरस्थ अंचलों में प्रचारित करने का एक स्थायी केन्द्र बन गया। 'जयद्रथ-वध' के इस संस्करण में १४ पद्य और बढ़ाये गए। इस बार यह संस्करण बम्बई के निर्णयसागर प्रेस में छपा और पूरे एक वर्ष बाद, सितम्बर, १९१३ में यह प्रेस से छपकर बाहर आया। कुछ प्रतियाँ इस बार भी जिल्ददार बनाई गईं। जिल्द-बँधी प्रति को देखकर द्विवेदीजी ने २७ नवम्बर, १९१३ को पत्र दिया, "श्रीयुत मैथिलीशरणजी, 'जयद्रथ-वध' की जिल्द-बँधी कापी मिली। बड़ी सुन्दर जिल्द है। जिल्द पर जो फूल या चक्र है, उसे देखने से आपके मोनोग्राम (नामाक्षरों) का भ्रम होता है[1]।"

१९१३ के मार्च मास में 'रंग में भंग' का भी दूसरा संस्करण तैयार हो गया। अक्टूबर, १९१४ में 'रंग में भंग' का तीसरा संस्करण छपा। 'भारत-भारती' तो छपते ही दो माह में १२०० बिकी थी। हिन्दी-प्रकाशन के क्षेत्र में गुप्तजी पहले कवि हैं, जिन्होंने अपनी काव्य-पुस्तकों के दूसरे और तीसरे संस्करण का सौभाग्य सर्वप्रथम पाया है। इस मामले में वे अव्वल मान्य किए जायेंगे।

अपनी व्यवस्था-बुद्धि के सौजन्य का आनन्द लाभ करते हुए, वणिक-पुत्र मैथिलीशरण अब सन् १९१२ से स्वतंत्र कृति-निर्माण में ही अपना अधिकांश समय दे रहे थे। 'सरस्वती' में इस वर्ष नियमित रूप से लेखन का क्रम अधिक प्रमाण में सामग्री प्रेषित न कर सका। फिर भी १९१२, १३, १४ में इस प्रकार फुटकर

---

[1]; [2]; [1] द्वि० प०।

उनकी कविताएँ प्रकाशित हुईं : जनवरी (१९१२) : क्रन्दन ; जून (१९१२) : 'पूर्व स्मृति' और 'विरहिणी सीता'[1], जुलाई (१९१२) : टाइटनिक की सिंधु-समाधि। टाइटनिक अपने समय का सबसे बड़ा जलपोत था। इसी वर्ष की १० अप्रैल को ३३४६ यात्रियों को लेकर यह अमरीका की दिशा में जा रहा था। लेकिन बीच में एक बहते हुए हिमखंड से रात को टकरा गया। १५ रोज पहले ही इस जलपोत का डेढ़ करोड़ का बीमा हुआ था। जिस समय यह जहाज डूबा, उस समय अपने प्रभावशाली नाम के अनुरूप इसकी जल-समाधि नाविकों की जीवनी में एक अनुपम घटना घटी और वह सदा के लिए अमर हो गई। जिस समय यह डूब रहा था, उस समय इस पर २३४० यात्री थे, जिनमें अधिकांश स्त्री और बच्चे थे। न्यूफाऊंड-लेंड के निकट इसको जल-समाधि मिली थी। डूबते हुए यात्रियों में जितने पुरुष थे, उन्होंने तत्काल प्राण बचानेवाली नावें नीचे डालकर उनमें सिर्फ स्त्रियों और बच्चों को उतारा और शेष पुरुष डूबते हुए जहाज पर ही वीरतापूर्वक खड़े रहे। यद्यपि अनेक पुरुषों की पत्नियों ने भी अपने पतियों के साथ ही जल-समाधि सहर्ष लेने की इच्छा प्रकट की, पर जो अन्य भीरु पुरुष थे, वे नावों में जबरदस्ती उतरने के लिए लड़ने-झगड़ने लगे थे या भयभीत होकर समुद्र में कूदकर उन्होंने आत्महत्या कर ली थी। कुल मिलाकर १५-१६ सौ आदमी 'समुद्रास्तृप्यन्तु' हुए। अपने समय की यह वीरोचित ढंग की एक ही घटना अब तक नाविक क्षेत्रों में स्मरणीय बनी हुई है। गुप्तजी ने इसी घटना पर प्रस्तुत कविता तैयार की थी। द्विवेदीजी ने इसी जुलाई के अंक में इस घटना पर एक मार्मिक संपादकीय भी तैयार किया।

लेकिन टाइटनिक की जल-समाधि ने भारतीय पत्रकारिता में एक नई घटना को जन्म दिया। इस जहाज पर अपने समय के बड़े आदर्श पत्रकार और रिव्यू आफ रिव्यूज के संपादक मिस्टर डब्लू० टी० स्टेड भी थे। वे अमरीका के किसी धार्मिक जल्से में शरीक होने जा रहे थे। जब लोगों में जान बचानेवाली नावों पर जगह पाने के लिए मारपीट हो रही थी, तब आपने यह दृश्य देखकर अपने कैबिन में ही लौट जाना उचित समझा और मृत्यु को मौन भाव से वरा। इस घटना से मर्माहत होकर खंडवा (मध्यप्रदेश) के एक महाराष्ट्रीय हिन्दीप्रेमी वकील श्री कालूराम गगराड़े ने इस समाचार की व्याख्या करते हुए अपने प्रिय साथी और युवक श्री माखनलाल चतुर्वेदी से चर्चा की और कहा कि हिन्दी में एक ऐसे मासिक की बहुत आवश्यकता है, जो रिव्यू आफ रिव्यूज की तरह निकले। बात आगे बढ़ी और एक वर्ष बाद ही खंडवा से 'प्रभा' नामक मासिक इस विचार के गर्भ में से निकला। इसके प्रधान संपादक यद्यपि श्री कालूराम गगराड़े ही रहे, लेकिन कर्ताधर्ता संपादक श्री माखनलाल चतुर्वेदी ही थे। 'प्रभा' के प्रथम अंक में कवर-पृष्ठ के चित्र पर श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी कविता प्रेषित की और वह 'प्रभा' के प्रथम पृष्ठ पर शोभायमान बनी। पहला अंक अप्रैल, १९१३ को निकला था।

टाइटनिक की जल-समाधि में अमरीका के सबसे बड़े और इतिहास-प्रसिद्ध उद्यान-विद्या विशारद लूथर बरबंक की मृत्यु भी हुई थी।

अगस्त (१९१२) की 'सरस्वती' में गुप्तजी ने रघुवंश के ६ पदों का पद्यानुवाद 'सांत्वना' नाम से प्रकाशित कराया। सितम्बर, १९१२ में : अन्योक्ति-पुष्पावली, अक्टूबर, १९१२ : याञ्चा[2]।

१९१३ में 'सरस्वती' में भारत-भारती' के कतिपय अंश और 'पत्रावली' का एक पत्र छोड़कर स्वतंत्र रचना केवल 'आश्वासन' नाम से नवम्बर अंक में निकली। होली के अवसर पर नित्यानंदन नाम से 'बक-विनोद' कविता मार्च अंक में ही निकली थी। १ नवम्बर को द्विवेदीजी ने गुप्तजीको अपनी अंतर्वेदना लिखते हुए पत्र दिया, "... 'सरस्वती' का पद्यभाग अब बहुत ही कमजोर हो चला है। हमारी दौड़ सिर्फ आप तक है[3]।" इस वाक्य में केवल यही ध्वनि है कि गुप्तजी से जो अन्य ज्येष्ठ शिष्य थे, वे उनकी आशा के अनुरूप सिद्ध कवि न हो सके और उनके आश्रमकी प्रयोजनीयता में अपना तन-मन होमने का साहस न दिखा सके।

---

[1] 'कविता-कलाप' में पहले मुद्रित हो चुकी थी। [2] मंगलघट। [3] द्वि० प०।

१६१४ में कविताओं के प्रकाशन का क्रम इस प्रकार था—जनवरी, फरवरी, मार्च में क्रमश: 'स्वर्गीय-संगीत' के तीन अंश[1]। इसके उपरान्त इसी शीर्षक से यह सामग्री एक स्वतन्त्र कृति रूप में प्रकाशित हुई। अप्रैल : काल की चाल। जून : नक्षत्र-निपात[2]। जुलाई : जन्टिलमेन व खुजली। अगस्त : तू ही तू। सितम्बर : नाम का सहारा व अधीर। नवम्बर : प्रेमपत्र।

१६१४ में 'भारत-भारती' छप गई। इस प्रकार कवि की प्रकाशित चार कृतियाँ साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित हो गईं। १६१४ के सितम्बर मास में 'शकुन्तला' (जन्म और बाल्यकाल) अंश छपा और इस प्रकार इसी वर्ष 'शकुन्तला' का आख्यान भी नवीन काव्य कृति के रूप में तैयार होने लगा। इस वर्ष के अंत तक वह पूरी लिख भी ली गई। १६१५ के प्रथम मास में, जहाँ 'भारत-भारती' के दूसरे संस्करण के छपाने की तैयारियाँ हो रही थीं, वहीं काशी में 'शकुन्तला' भी छपने दे दी गई। यों 'सरस्वती' के जनवरी, फरवरी, मार्च, १६१५ के अंकों में क्रमश: बिदा, त्याग और दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति अंश प्रकाशित होते रहे। सितम्बर मास में ६ मास बाद, वह छपकर तैयार हो गई। छपने से पहले ही चिरगाँव में 'शकुन्तला' पुस्तक की माँग गुप्तजी के पाठकों की ओर से आनी शुरू हो गई थी। 'शकुन्तला' को मिलाकर प्रकाशित कृतियाँ पाँच हो गईं। गुप्तजी पाँच कृतियों के मूर्धन्य कवि हो गए—ऐसी कृतियों के, जो स्वत: पाठकों की अन्तर्प्रेरणा के बल पर धड़ाधड़ बिक रही थीं।

इस अवधि में, १६१२ से १४ तक, 'सरस्वती' से अन्यत्र पत्रों में गुप्तजी ने इस प्रकार अपनी कविताएं प्रकाशित कराईं—'हिन्दी चित्रमय जगत', पूना : १६१२ के फरवरी-मार्च अंक में 'ब्रह्मचर्य का अभाव'। खंडवा की 'प्रभा' : प्रथम अंक, अप्रैल, १६१३ में 'सुप्रभात'। आरा से प्रकाशित 'मनोरंजन', वर्ष १, अंक ६ में 'एक ऐतिहासिक घटना' (जोधपुर नरेश्वर यशोवन्त के बालकों की कथा), वर्ष २, दिसम्बर, १६१३ के अंक में 'प्रार्थना' तथा 'रुचिरता और स्थिरता'।

१६१४ के जनवरी-फरवरी अंक में 'मनोरंजन'-संपादक ने अपनी टिप्पणियों के अंतर्गत लिखा है, "कविवर बाबू मैथिलीशरण के दो छोटे-छोटे, पर अच्छे पद्य निकले देखकर हमारे पाठकों ने हमसे पूछा है कि गुप्तजी ने कोई बड़ी कविता अंशत: ५-६ पद्यों की क्यों न दी। हम विनय करना चाहते हैं कि वे दो पद्य कितने ही तुक्कड़ों की दो-दो पेज की कविता की अपेक्षा कहीं मूल्यवान थे।"

१६१४ की जनवरी अंकवाले 'इंदु' (काशी) में 'संयोग'।

काव्य-अनुवादकों के रंगमंच पर श्री मधुपजी का आगमन

राष्ट्रभारती हिन्दी प्रारंभ से ही, हम देख चुके हैं, समग्र देशीय भाषाओं की सत्यद्रष्टा अन्तर्ध्वनि और उनकी कल्याणमूलक अभिधा का पीयूष पान करती हुई पुष्ट हो रही थी। इस समय तक रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबल प्राइज़ मिल चुका था और वे विश्वकवि के पद पर विभूषित हो चुके थे। उन्हीं के सम्मान से बंगला भाषा भी सम्मानित हुई थी। उनके वरदहस्त के नीचे बंगला का साहित्य प्रौढ़ और सशक्त बनता जा रहा था। द्विवेदीजी ने माईकेल मधुसूदन दत्त आदि के काव्यों को हिन्दी में पद्यमय अनुवाद करने की प्रेरणा प्रचारित की ही थी। गुप्तजी ने अपने कठोर स्वाध्याय से शीघ्र ही, इतने व्यस्त साहित्य-सृजन के जीवन में और इतने दुर्बल-कृश स्वास्थ्य का भार वहन करते हुए बंगला का पारायण किया और उसका अच्छा अध्ययन किया। "शरीरा-स्वास्थ्य से जो कार्य में रुकावट पड़ती है, मुझे अधिकतर उसी की चिन्ता है. . .स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण लिखने में जी नहीं लगता. . .मैं बंगला नहीं जानता, पर दो एक बड़े-बड़े कवियों की ग्रन्थावली मँगाकर रख छोड़ी है। कभी-कभी कुछ देखता हूँ। मेघनादवध, वृत्तसंहार, पलाशीरयुद्ध और व्रजांगना काव्य मुझे बहुत अच्छे मालूम होते हैं। व्रजांगना का अनुवाद तो 'मधुप' कर रहा है[3]।"

---

[1];[2] 'नक्षत्र-निपात' अपने अनुज श्री सियारामशरण के पुत्र-निधन पर लिखी गई थी।

[3] गुप्तजी का पत्र, दिनांक १८-३-१३ ; मा० क० म० में सुरक्षित।

भारत के माननीय अतिथि मार्शल बुलगानिन और श्री ख्रुश्चेव को हिन्दी की प्रतिनिधि पुस्तकें भेंट में दी गयीं। यह शुभकार्य राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के हाथों संपन्न कराया गया [१९५५]।

'सरस्वती' ने अपने जीवन-काल में न केवल बंगला बल्कि अन्य देशीय भाषाओं से अनेक पर्याप्त सामग्री का अनुवाद प्रकाशित किया था और उस अनुवाद पर आधारित नई-से-नई सूचनाएँ संकलित होती रहती थीं। अंग्रेजी-साहित्य से सर्वाधिक साक्षात्कार बंगाल के विद्वानों ने ही किया, यही कारण है कि २० वीं सदी के प्रथम अब्दों में ही बंगला भाषा लावण्यमंजरी तुल्य हो गई। लेकिन किशोरी के रूप में सिद्ध देहवती बंगला भाषा अयोजित नहीं थी। पाश्चात्य सहवास का साक्षात् उपोद्घात तो था ही यह, उसकी पुरानी वैष्णवी विरासत भी उसकी यथागृहीत कमनीय भावुकता का अभिसिंचन करती रही थी। जब अंग्रेजी शासन की शिक्षा के बीज फलवान बने, तो वे सबसे पहले बंगाल में ही बने और उस नाते, बंगाल में साहित्य का शतदल यदि नई किरणों के बीच मुकुलित हुआ हो, तो उसमें आश्चर्य ही क्या था।

लेकिन बंगला का साहित्य बंगाल की विशिष्टता अवश्य बना, भारतीय साहित्यों में वह सुरभित निःश्वास भी देने में समर्थ हुआ, किन्तु राष्ट्र की धमनियों में, उन धमनियों में जो विदेशी शासन की विराट चट्टानों को आमूलचूल हटाने का दम साधे श्रम कर रही थीं, हुंकारका बल देने राष्ट्रभारती ही आई।

पर विनीत राष्ट्रभारती के सपूतों ने बंगला साहित्य को सदा शिरोधार्य किया और उसके अनुवाद में भरपूर रस लिया। गुप्तजी ने, ऊपर उद्धृत पत्र के अनुसार, बंगला काव्य देखना शुरू कर दिया था और वे 'मधुप' के नाम से कतिपय बंगला कविताओं का पद्यानुवाद करने लगे थे। इस तरह प्रकाशन से उत्साह बनता था और आगे का पथ प्रशस्त होता था। जो रचनाएँ 'मधुपजी' की 'सरस्वती' में समादृत हुईं, वे इस प्रकार हैं—

१९१२ : मई, यमुना तट पर विरहिणी राधिका (विरहिणी व्रजांगना का एक अंश); जुलाई, मयूरी (विरहिणी व्रजांगना का एक अंश); अगस्त, मलय-मारुत; सितम्बर, प्रेम। १९१३ : जुलाई, ऊषा (व्रजांगना); सितम्बर, विदा (श्री सत्येन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता का भाव); अक्टूबर, इटली (बंगानुवाद का अनुवाद)। १९१४ : जून, दो पत्नियों का प्रेम। इस कविता का रसास्वादन करने का लोभ हमसे संवरण नहीं हो पा रहा है—

युग-पत्नी-वर बना एक बूढ़ा घरवाला,
प्रौढ़ा पत्नी एक, दूसरी थी वर-बाला।
बाला उसके शुक्ल केश बीना करती थी,
प्रौढ़ा काले बाल इसी मिस से हरती थी।
रूपानुरूप यों प्रीति की नई रीति में जो पड़ी,
हो गई शीघ्र ही वृद्ध की गंजी झंझी खोपड़ी।

आगामी वर्ष जून मास (१९१५) में 'विरहिणी व्रजांगना' कृति रूप में छपकर तैयार हो गई। उसे प्राप्तकर द्विवेदीजी ने अपने १८ जून के, पत्र में लिखा, "व्रजांगना की कापी भी मिली। मुझे तो छपाई पसंद है। मात्राएँ जरूर टूटी हैं, पर पढ़ा जा सकता है। इस पुस्तक की जो कविताएँ 'सरस्वती' में नहीं निकलीं, उनके नाम लिख भेजिए। मौका मिला, तो 'सरस्वती' में छापूंगा[1]।"

प्रश्न आखिर बना ही रहता है कि 'मधुप' नाम रखने का प्रश्न क्यों आया? उत्तर सरल है। प्रतिष्ठा ही इस नाम के प्रकटीकरण में एक सुनहरी चिलमन बनकर द्वारे टँग गई थी। मैथिलीशरण नाम हिन्दी में मौलिक और ओजस्वी काव्य के लिए पर्याप्त बन गया था। अनुवाद का प्रश्न ऐसी आयु में गौण ही रह सकता था। इस नाते मधुपजी का आगमन पद्यानुवादक की भूषा में हुआ।

'व्रजांगना' जब छप गई, तो कवि की प्रकाशित कृतियाँ छः हो गईं।

आश्चर्यजनक ईमानदारी और कोखजली अधोगति रुचि

यह सब कुछ था, पर ऐसा था जो कुछ नहीं था! वेदों ने लोककल्याण का स्वप्न देखा, पवित्र मंत्र बनाए, फिर भी कुछ ऐसा था, जो तेज गति से राक्षसों की वंश-वृद्धि करता गया।

---

[1] द्वि० प०।

ऐसी ही स्थिति 'सरस्वती'—आश्रम के साथ थी। इसके सब साधक घोर तपस्या में दत्तचित्त थे, पर जो साधना का धैर्य और साहस न दिखा सके, उन्होंने एक दूसरा मार्ग अपनाया। पर लोकप्रियता से कुछ को चिढ़ न हो, तो वे जीना भूल जायँ। ऐसे व्यक्ति कोखजली वृत्ति ओढ़कर साहित्य के क्षेत्र में समालोचक बनते हैं। ठीक कहें, समालोचकों की वंदनीय पंगत में आकर विराजमान हो जाते हैं। ऐसे ही स्वयं-वंदनीय महाशय गुरु द्विवेदीजी और गुप्तजी के पीछे बुरी तरह क्रुद्ध और अशान्त थे। ऐसी एक प्रमुख घटना श्रीकामताप्रसाद गुरु के हाथों हुई। गुरुजी 'सरस्वती' आश्रम के अनन्य सदस्य थे, उनका अपना योगदान हिंदी के प्रारंभिक काव्य में भरपूर हुआ। 'कविता-कलाप' में आप की भी कविताएँ शामिल हुई थीं। 'सरस्वती' के ये आदरणीय सदस्य थे। और क्रमशः आपका क्षेत्र हिन्दी व्याकरण होता जा रहा था। आपने जून की 'सरस्वती' में 'खड़ी बोली की काव्य-स्वतन्त्रता' नाम से एक लेख प्रकाशित किया, जिसमें मुख्यतः गुप्तजी के पद्यों से ही अधिकांश उदाहरण प्रस्तुत हुए थे। द्विवेदीजी ने प्रकाशन से पूर्व यह लेख गुप्तजी को देखने के लिए भेजा। उन्होंने इसे पढ़कर लेख-रूप में इसका समुचित उत्तर दिया और उसे अपने १३ नवम्बर (१९११) के पत्र के साथ भेजते हुए लिखा, "गुरु महाशय के लेख पर वह सम्मति मैंने यों ही लिख दी थी। छपाने के इरादे से नहीं। यदि श्रीमान् की ही इच्छा हो, तो उसे भले ही छाप दीजिए। मुझे कुछ नहीं। यदि छापियेगा तो उसे ठीक कर लेने की कृपा कीजिएगा। पर इससे गुरुजी बुरा तो न मानेंगे? जो उचित समझिएगा, कीजिएगा।

गुप्तजी के काव्यों पर उँगली उठाना एक चिंत्य प्रश्न था और यह आवश्यक था कि गुप्तजी भी अपने पक्ष में पूरे प्रमाण दें। गुप्तजी का लेख जुलाई के अंक में निकला। इसे पढ़ने से गुरुजी के लेख का तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है—

"**काव्य-स्वतन्त्रता पर सम्मति।**" सरस्वती की गत मास की संख्या में पंडित कामताप्रसाद गुरु का जो लेख निकला है, उस पर मेरा निवेदन इस प्रकार है—

"गुरुजी ने इस लेख में अपनी कविता का एक भी दूषित उदाहरण नहीं दिया। यदि महाकवि क्षेमेन्द्र की तरह वे इस विषय में उदारता दिखलाते, तो उनकी बड़ी प्रशंसा थी, जहाँ व्याकरण-विषयक दोषों का उल्लेख किया गया है, वहाँ :

(१) **खुले ठौर की कड़ी शीत में जो मरता है**
(दीन निहोरा)

(२) **तो भी नहीं इष्ट सपने भी मुझे आप से दूर निवास**
(दासी रानी)

(३) **यह आर्य्य-भूमि पावन सौ दुःख की सताई**
सब से अधिक सहै है तेरी कठोरताई॥
(ईर्ष्या)

इन पंक्तियों में निम्नांकित छपे शब्दों पर भी यदि आप कुछ लिखने की कृपा करते, तो आपकी उदारता विशेष रूप से प्रदर्शित होती।

"कहीं-कहीं (शायद शीघ्रता के कारण) आप बिना विचार किये भी लिख गये हैं। जैसे 'स्वर्गीय-संगीत' में आये हुए 'दिले बिस्मिल', 'साक़ी' और 'काकुल' आदि शब्दों पर आपने व्यर्थ ही आक्षेप किया है। गुरु महाशय को जानना चाहिए कि वे शब्द उस कविता में जान बूझकर रक्खे गये हैं। खेद से मुझे कहना पड़ता है कि उस कविता के उद्देश्य पर आपने कुछ भी विचार न करके वृथा ही यह परिश्रम उठाया है। उर्दू की गन्दी शायरी का नमूना उसमें दिखलाया गया है। बात है तो स्पष्ट, पर नहीं मालूम क्यों आपके ध्यान में नहीं आई। ऐयारी और तिलिस्म से भरे हुए काशी के अश्लील उपन्यासों की भी निन्दा उस कविता में की गई है। इसीलिए तिलिस्म और ऐयार शब्द भी वहाँ आए हैं। जान पड़ता है आपने उस कविता को पढ़ते समय उसके शब्दों पर ही ध्यान रक्खा है, भाव पर नहीं।

"प्राचीन शब्दों के उपयोग के विषय में मेरी राय है कि वे एक सीमा के भीतर रहने चाहिए। जो शब्द प्रचलित हो गए हैं वे तो रहेंगे ही, पर उनकी अधिकता न होनी चाहिए। अन्यथा हानि है। मेरी मन्दबुद्धि के अनुसार गुरुजी की कविता में ऐसे शब्दों की जितनी अधिकता रहती है, उतनी न रहनी चाहिए।

संस्कृत-शब्दों के विषय में भी आपकी राय विचारणीय है। मैं इस बात को मानता हूँ कि भाषा का सबसे बड़ा गुण सरलता है। पर कहीं-कहीं संस्कृत के शब्द लेने ही पड़ते हैं। बिना ऐसा किए मुझ ऐसे अल्पज्ञ जनों का काम नहीं चलता। मेरी तो यह राय है कि अभी हिन्दी में संस्कृत के शब्द और भी सम्मिलित होंगे। बिना ऐसा हुए उसका शब्द-समुच्चय विपुल न होगा। खैर, गुरुजी लिखते हैं, 'ये गूढ़ शब्द किसी नए विचार या उपमा के लिये नहीं आते, परन्तु उनका अभाव प्रत्यक्ष दिखा देते हैं। कहीं-कहीं तो इन शब्दों की कुछ भी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। खड़ी बोली की कविता को मधुर बनाने के बदले ये शब्द उसे कर्कश बनाते हैं। जैसे—'ज्यों इन्दीवर में वराटक—।' इस पर मेरा निवेदन है कि क्या ये शब्द किसी नई उपमा के लिये नहीं आए हैं? सम्भव है आपने यह उपमा कहीं देखी हो, पर लेखक की समझ में तो यह नवीन ही है। इसमें 'वराटक' शब्द पर स्वयं लेखक को दुःख है, पर दूसरा कोई अच्छा शब्द न मिलने से इसे ही रखना पड़ा। यदि आप जानते हों, तो कृपा कर बतला दें। आगे आवश्यकता पड़ने पर, उसी का प्रयोग करने की चेष्टा की जायगी। शब्द ऐसा हो जो सब कहीं समझ लिया जाय और पूरा अर्थ देता हो। अन्यथा उसकी अपेक्षा 'वराटक' के ही प्रयोग में क्या हानि है? यदि आपकी राय में यह नई उपमा नहीं, तो कृपा कर इस की प्राचीनता भी दिखा दीजिए, कृतज्ञ हूँगा। परन्तु अपने लिए मैं इसे फिर भी नवीन ही समझूँगा। क्योंकि मैंने इसे कहीं देखकर नहीं लिखा। रही कर्कशता की बात, सो मेरी राय में यहाँ नहीं। हाँ, क्लिष्टता हो सकती है। यदि 'वराटक' के 'ट' से ही कर्कशता है, तो फिर इसे आप क्या कहेंगे :

मन भाई भाइयों का तूने निपट फटाया
फिर मित्र के खड्ग से सिर मित्र का कटाया।

(ईर्ष्या)

"कहिए, आप ही कहिए और सच कहिए कि इस 'निपट फटाया' में वराटक से कितना अधिक माधुर्य्य है। इन पंक्तियों में 'भाई' की जगह भाइ और खड्ग के स्थान में खड़ग पर मैं कुछ नहीं कहता। कहने की जरूरत भी नहीं।

"उस दिन काशी में 'बार्हस्पत्य' जी को मैंने अपनी एक तुकबन्दी सुनाई थी। उसमें एक जगह लिखा है :

थे योग-बल से वश हमारे नित्य पाँचों तत्त्व भी
मनुजत्व में वह शक्ति थी रखता न जो अमरत्व भी॥

इस तुकबन्दी भें मनुजत्व शब्द सरल है। परन्तु अमरत्व होने से बार्हस्पत्यजी की सम्मति है कि यहाँ मर्त्यत्व में विशेषता है। अतएव वे इस क्लिष्टता को क्षम्य समझते हैं। गुरुजी इसे चाहे जो समझें।

"मैं देखता हूँ 'भव्य भात' आपको बहुत ही खटका है। आपकी राय भें यहाँ देशी घोड़ी पर विलायती जीन रख दिया गया है। इसके उत्तर में निवेदन है कि हिन्दी के विशेष्य शब्दों के लिये क्या संस्कृत के विशेषण नहीं आते? फिर एतराज क्यों? आप चाहे इसे देशी घोड़ी पर विलायती जीन रखना कहें, चाहे और कुछ, पर मैं तो ऐसे मौके पर ऐसा साहस नहीं कर सकता। सुनिए :

उचित भाव मेरा हिय ज्ञाता पति ही से अब टूटेगा।

(दासी रानी)

यह उचित भाव क्या है? अच्छा जाने दीजिए इसे। 'हिय ज्ञाता' को ही देखिए। 'भव्य भात' तो हुआ देशी घोड़ी पर विलायती जीन रखना, पर यह क्या हुआ, सो आप ही समझ लें। यदि इससे भी आप सन्तुष्ट न हों तो और सुनिए :

क्या स्वराज्य, क्या सभा, पक्ष सीरा, क्या ताता।
(शिवाजी)

अहा 'पक्ष सीरा क्या ताता' क्या ही मधुर भाषा है। यह 'सीरा' तो सचमुच शक्कर का शीरा ही जान पड़ता है। आफ़त इतनी ही है कि 'शीरा' ज़रा 'ताता' है, इससे जीभ के जलने का डर है। और कुछ नहीं।

"ध्यान रहे कि 'भव्य भात' में एक प्रकार का अनुप्रास भी है।

"अरबी-फारसी के शब्दों के प्रयोगों पर आप नाराज़ी ज़ाहिर करते हुए लिखते हैं :

शिरोरोग का अतः एक दिन लिए बहाना।
किया बहू ने शुरू खूब रोना-चिल्लाना।

यहाँ शिरोरोग के साथ 'शुरुअ' होता तो बनाव पूरा बन जाता। मेरी राय में उर्दू, फारसी या अरबी के प्रचलित शब्दों पर कुढ़ना भी अनुचित है। शब्द चाहे जिस भाषा के हों यदि वे प्रचलित हैं और सब कहीं बोलचाल में आते हैं, तो उन्हें हिन्दी के शब्दसमूह से बाहर समझना भूल है। फिर शुरू, खूब और बहाना आदि शब्दों से एतराज़ क्यों? क्या वे नित्य के बोलचाल में नहीं आते? गुरुजी यदि अपनी ही कविताएँ उठाकर देखेंगे, तो सारी बात आपकी समझ में आ जायगी। देखिए : 'ज़रा उबालो अपना रक्त'—(भानु की झाँकी)। गुरुजी कहते हैं कि 'शिरोरोग' के साथ 'शुरुअ' होता तो बनाव पूरा बन जाता। क्या मैं उनसे प्रार्थना कर सकता हूँ कि यदि ऊपर की कविता में 'ज़रा' के साथ 'रक्त' की जगह खून होता, तो बनाव पूरा बन जाता? और लीजिए :

(१) **जीती जाती हुई जिन्होंने भारत-बाज़ी**
(शिवाजी)

(२) **धन-प्रभुता-बल-बुद्धि व्यर्थ है निरा बहाना**
(दीन निहोरा)

(३) **प्यारी बहिन! सौंपती हूँ मैं अपना तुम्हें खजाना**
(बेटी की बिदा)

(४) **वे भी निरख रहे हैं तुम डाह के इशारे**
(ईर्ष्या)

आप इसी लेख में एक जगह लिखते हैं, "गद्य और पद्य की भाषाओं में जमीन आसमान का अंतर होना चाहिए।" सो गद्य-पद्य और अन्तर के बीच में 'जमीन-आसमान' को तो जगह मिल जाय पर 'शिरोरोग' के पास 'शुरू' को जगह न मिले। आकाश-पाताल शायद यहाँ बेमुहाविरा होता। गुरुजी एक जगह लिखते हैं :

देशभक्ति थी भरी झोपड़ी तलक महल से
(शिवाजी)

इसमें ज़रा तलक की झलक तो देखिए। यह उर्दू मुहाविरा है या क्या? मेरी राय में तो 'तलक' हिन्दी में शायद ही कोई लिखता हो। इसके उत्तर में गुरुजी शायद यह कहें कि गुरुजन जो कुछ करें उसे न करके जो कुछ वे आज्ञा करें, वही करना चाहिए। बहुत अच्छा। मैं हार गया, आप ही की जीत हुई!—मैथिली-शरण गुप्त।"

गुरुजी और गुप्तजी 'सरस्वती'-आश्रम के साधु साहित्यकार थे। गुरुजी ने किसी ईर्ष्या भावना से नहीं, व्याकरण की दिशा में उनका जो नया अध्ययन चल रहा था, उसी की प्रेरणा और स्वस्थ चिंतन से यह लेख प्रस्तुत किया था। गुप्तजी ने अपने उत्तर में उस मत का प्रतिपादन किया, जो द्विवेदीजी का मान्य मत था। यह विवाद सरस और व्यंजक था और था निर्णायक। इसीलिए 'सरस्वती' में इसे स्थान दिया गया।

लेकिन ऐसे सोद्देश्य विचार-विमर्श से भिन्न, गुप्तजी के काव्य पर अन्य पत्रों में जिस प्रकार अनुचित चर्चाएँ इस अवधि में हुईं, उनकी व्यूह-रचना विशेषणातीत थी।

'कविता-कलाप' को निकले चार वर्ष हो चुके थे। किन्तु उस समय तक वैसी सुरुचिपूर्ण अन्य संग्रह-पुस्तक न निकली थी, संभवतः इसी कारण वह इतनी दीर्घ अवधि तक चर्चा की वस्तु बनी हुई थी। गुप्तजी किसी अन्य पत्र में कविता न भेजने के लिए बाध्य थे। 'मर्यादा' के संपादक श्रीकृष्णकान्त मालवीय ने प्रारंभ में एक चित्र चित्र-प्रदर्शिका कविता अपने पत्र के लिए तैयार कर देने के लिहाज से भेजा था। पर वह रूखे ढंग से मनाही का उत्तर लेकर लौट आया था। क्षणिक उत्तेजना और अज्ञान का अपज्ञान और उस पर आधारित बड़प्पन विग्रह उत्पन्न करते हैं। अतः गुप्तजी की मनाही से कृष्णकान्त मालवीय विक्षुब्ध हुए। ऐसा होने का अधिकार उन्हें नहीं था, फिर भी हुए। और उन्होंने १९१३ में अपनी 'मर्यादा' में (मर्यादा शब्द की मर्यादा वे पवित्र रखना चाहते तो ऐसा न करते!) 'कविता-कलाप' में, उसके प्रकाशन के चार वर्षों बाद, इन शब्दों में प्रकाशित की : "इस संग्रह में पाँच कवियों की कविताएँ हैं। पाँचों महाशयों के चित्र भी उपस्थित हैं। अलग-अलग नहीं, एक ही चित्र में। एक साथ ये पंच मूर्तियां पाँचों सवारों की तरह एकत्रित हैं। मानों कहती हैं कि किसी छठे के लिये अब स्थान नहीं है। 'सरस्वती' के मोर पर अब जगह नहीं है। मोरछल में पाँच ही चित्रक हैं। राय देवीप्रसाद, नाथूराम शंकर शर्मा, पं० कामताप्रसाद गुरु, बाबू मैथिलीशरण गुप्त और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी......गुप्तजी का नमूना : बड़े मियाँ तो बड़े मियाँ, छोटे मियां सुबहान अल्ला। बाबू मैथिलीशरण की तुक संस्कृत की भाँति ह्रस्व और गुरू को नहीं गिनतीं। कृति, सुकृती, अमरावती, अति, दयावती, सम्प्रति का तो कुछ कहना ही नहीं। सुन्दर तो एक मामूली बात है। शशी आप भी लिखते हैं। आपकी जितनी भाषा निराली है, उतना ही व्याकरण भी। (और कुछ उदाहरण देने के बाद...) बाबू मैथिलीशरण की २६ कविताओं पर यहाँ विचार करने से लेख बहुत बढ़ जायगा। आपने सरस्वती की ऐंप्रिटिसी खूब की है। आपके सारे ग्रन्थ हाल में पढ़ने का सौभाग्य हम को प्राप्त हुआ है। आशा है, सम्पादक महाशय शीघ्र ही उनकी समालोचना के अर्थ समुचित स्थान देंगे...।"

क्या यह संभव था कि इस तरह के घात-प्रतिघात गुप्तजी के निरभिमान अन्तःकरण में रूपायित हों? गुप्तजी तो ऋजुभाव का सुख-सौभाग्य बांटने का श्रम कर रहे थे और यह आलोचक उनके अस्तित्व के प्रति ही अपना संशय जनमन में फैलाने की भावना लेकर लोकप्रियता के पद से गुप्तजी को अपदस्थ करने का स्वप्न देख रहा था। एक मन्थन-वाणी अमृत का दर्शन कराती है; दूसरी मन्थन-वाणी हलाहल ही चुआती है—यह आलोचना ऐसी ही मन्थनवाणी थी।

एक प्रश्न और हो सकता है। क्या यह समालोचना अपने स्वर से मनोविलास का द्योतक होकर सामने आई थी? नहीं, ऐसी बात नहीं थी। मानसिक असंतुलन का ही यह अवश्यंभावी प्रतिफल था। विकृत साहित्य एकान्त में ही फफूंदता है। आश्चर्य है, वह विकृत समालोचना को कभी प्रश्रय नहीं देता। केवल लोकप्रिय साहित्य का ही यह दुर्भाग्य रहा है कि वह प्रशंसा के साथ सांघातिक प्रहार भी आमंत्रित करता है।

इस आलोचना का किसी भी विवेकशील व्यक्ति पर कोई असर न हुआ। द्विवेदीजी और गुप्तजी ने इसकी कहीं चर्चा न की; हाँ, उन्होंने 'मर्यादा' खरीदनी इसी मास से बंद कर दी ताकि व्यर्थ प्रपंच का स्वर कानों में न पड़े। लेकिन जब 'भारत-भारती' की कटु आलोचनाओं की तैयारी होने लगी, तब गुप्तजी ने अपने २-२-१९१५ के पत्र में लिखा, "...भारती की आलोचनाएँ खुशी से लोग करें। मैं किससे कहूँ कि आप पेशबन्दी कर दीजिए। आप ही बताइए, ऐसा कहना उचित है? मैं यह नहीं मानता कि भारती में दोष नहीं होंगे। उनकी आलोचना सुनने के लिए भी तैयार हूँ। किन्तु आलोचनाएँ कई तरह की होती हैं। 'मर्यादा' ने जैसी आलोचना 'कविता-कलाप' की निकाली थी, वैसी आलोचना को मैं आलोचना नहीं मानता। पर यदि कोई करे, तो उसकी खुशी।...रही दलबन्दी की बात, सो उसका परिणाम यह होगा कि एक दल इधर से भी पैदा हो जायगा। शायद इसे तो सभी मानेंगे कि बहुत नहीं, तो थोड़े से सज्जनों की मुझ पर भी कृपा है। ...मुझे प्रयाग में वेंकटेशनारायणजी[1] भी मिले थे। कहते थे कि

[1] श्री वेंकटेशनारायणजी तिवारी।

मालवीयजी[1] भारती की तारीफ करके कहते थे कि इसका अनुवाद दूसरी भाषाओं में भी होना चाहिए।"[2]

जिस समुचित स्थान को समालोचक महोदय ने 'मर्यादा' संपादक से माँगा था, वह उन्हें १९१५ की फरवरी के अंक में दिया गया। इस स्थान में २७ कालम मैटर घेरा गया और 'भारत-भारती' पर लोढ़ी-सिलबट्टा वाली धतूरा-मिश्रित भांगबूटी पीसी गई। १० वर्ष पहले 'सरस्वती' पर बाबू श्यामसुन्दर दास ने जिस 'भद्दी कविता' का आरोप लगाया था, उसी की गूंज को दुहराते हुए यह समालोचना श्री उद्भटजी ने अपनी मौलिक सूझ से लिखी—

"हिन्दी में आजकल समालोचनाएँ होती हैं, उनमें से बहुतों की यदि समालोचना की जाये तो जान पड़ेगा कि वे आँख वालों के लिये नहीं अंधों के लिये की जाती हैं। समालोचक यह मान लेते हैं कि उनके लोचनों की परीक्षा करने वाले कहीं नहीं हैं। वे उन पर चाहे जिस प्रकार का चश्मा चढ़ाकर चाहे जिसको छोटा, बड़ा, श्वेत, कृष्ण कह सकते हैं। वे अपने या अपने भक्तों के लिये अन्योन्याश्रय कर्म का पालन करते हुए समाज में एक कृत्रिम रुचि की स्थापना तक करने का उद्योग करते हैं और अपने झंडों के नीचे ऐसे लोगों की एक टोली बसाना चाहते हैं जो किसी विषय में अपना निज का कोई विचार नहीं रखते। ऐसे समालोचकों की समालोचना की जो परवा करें वे असमर्थ, जो गर्व करें वे अहंकारी और जो कुछ मूल्य समझें वे अंधे हैं।

"भद्दी कविता की चर्चा जिस प्रकार इधर बहुत दिनों से सुनाई पड़ती है उसी प्रकार इस चर्चा को बन्द करने का प्रयत्न भी बहुत कुछ देखने में आता है। पर जब तक भद्दापन है तब तक यह चर्चा बन्द होने की नहीं। यद्यपि यह चर्चा तभी से उठी है जब से त्वदीय, मदीय, यथा, तथा ऐसे पदों की निस्सार भावशून्य योजना कविता के नाम से आरंभ हुई, पर बा० मैं० के पद्यात्मक पद्य-प्रकाट्य के साथ इसका प्रवाह भी बढ़ा और इसको रोकने का अर्थात् लोक की मार्मिकता को नष्ट करने का प्रयत्न भी। इस नाशकारी प्रयत्न को व्यर्थ करना प्रत्येक काव्य-मर्मज्ञ का कर्त्तव्य है। अपनी रुचि को कोई जहाँ तक चाहे वहाँ तक भ्रष्ट करे, पर आदर्श भ्रष्ट करने का अधिकार किसी को नहीं।

"आज 'भारत-भारती' हमारे सामने है। यदि इसके पहले भी वही भूमिका लगी होती, जो पद्य-प्रबंध आदि में है तो कुछ कहने सुनने की बात न थी, पर जब पुस्तक छपने के बाद ही लेखक महाशय ने उसकी उच्चता की घोषणा अपने मुँह से एक गद्य-लेख द्वारा सरस्वती में की (ध्यान रखना चाहिए कि इसके पहले गुप्तजी को गद्यलेख द्वारा कविता के आदर्श बतलाने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी क्योंकि इस विषय पर बहुत से गंभीर और विचारपूर्ण लेख मासिक पत्रिकाओं में निकल चुके हैं) और उनके एक पूज्यवर उसे उच्च भावपूर्ण तथा काव्य में एक नया युग तक उपस्थित करनेवाली कहने लगे तब आदर्श पर लांछन लगते देख कुछ लिखना ही पड़ता है। काव्य के एक बार आदर्श भ्रष्ट हो जाने पर पीछे उसे संभालना बहुत कठिन हो जाता है।

"भारत-भारती पर विचार करते हुए पहिले तो हम यह देखेंगे कि उसमें काव्यत्व कहां तक आया है, फिर उसकी वाक्य रचना आदि पर विचार करते हुए प्रसंगवश यह भी विवेचित करेंगे कि उच्चतापूर्ण कविता किसे कहते हैं। हमारे यहां के आचार्यों ने काव्य के मुख्य अंग तीन माने हैं—रस, ध्वनि और अलंकार।

रस—रस द्वारा वह सम्बन्ध पुष्ट किया जाता है जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं और व्यापारों के साथ मनोवेगों का होना चाहिए अर्थात् उसके द्वारा मनोवेग तीव्र और परिष्कृत किए जाते हैं। जिस प्रकार चेष्टा मंद होने पर चन्द्रोदय आदि रस दिए जाते हैं उसी प्रकार मनोवृतियों को उभाड़ने के लिये वीर, करुण आदि रसों के छींटे दिए जाते हैं। अब भा० भा० के किसी पद्य को उठा लीजिए और देखिए तो उसमें मनोवेगों को उभाड़ने की कितनी शक्ति है। शिक्षित समाज में बहुत दिनों से प्रचलित, तथा पढ़े लिखे लोगों के मुँह से नित्यप्रति सुनाई पड़नेवाली साधारण बातों का उसमें सूखा उल्लेख मात्र मिलेगा। अतीत खंड में इतिहास की बातों की खतिऔनी भर की गई है। हमारे यहां 'कला कौशल्य था, चित्रकारी थी, ज्ञान था, विज्ञान

[1] संभवतः श्री कृष्णकान्तजी मालवीय।

[2] मा० क० म०।

था। स्थूल रूप से इतना ही देखना हो तो अतीत खंड का कोई पृष्ट खोल लीजिए और इसी प्रकार के पद्य पढ़ चलिए—

निज चित्रकारी के विषय में क्या कहें क्या क्रम रहा।
प्रत्यक्ष है या चित्र है यों दर्शकों को भ्रम रहा।
इतिहास, काव्य, पुराण नाटक ग्रंथ जितने दीखते।
सबसे विदित है चित्र रचना थे यहाँ सब सीखते।।

अब इसका अन्वय कीजिए—निज चित्रकारी के विषय में क्या कहें कि क्या क्रम रहा, दर्शकों को भ्रम रहा कि प्रत्यक्ष है या चित्र है। इतिहास, काव्य, पुराण, नाटक—जितने ग्रन्थ दीखते हैं, सबसे विदित है कि यहां सब चित्र रचना सीखते थे।

अब पाठक ही बतलावें कि अन्वय करने पर बचा क्या जिसे कोई कविता कहे। पद्य का क्रम तोड़ देने से जो कुछ शेष रहता है, वह भावपूर्ण अच्छा गद्य भी नहीं कहा जा सकता, कविता की तो बात ही जुदी है।"

और इस प्रकार समालोचकजी ने सिद्ध किया कि बाबू मैथिलीशरण के पद्यात्मक पद्य-प्राकट्य के साथ (त्वदीय, मदीय; यथा, तथा ऐसे पदों की) निस्सारभाव-शून्य-योजना कविता का प्रवाह भी बढ़ा और इसे रोकने का अर्थात लोक की मार्मिकता को नष्ट करने का प्रयत्न भी। इस नाशकारी प्रयत्न को व्यर्थ करना प्रत्येक काव्यमर्मज्ञ का कर्त्तव्य है। अपनी रुचि को चाहे कोई जहाँ तक भ्रष्ट करे, पर आदर्श भ्रष्ट करने का अधिकार किसी को नहीं।. . .और आलोचक महोदय ने बताया कि गुप्तजी की कविताओं में काव्यत्व, वाक्यरचना, रस, ध्वनि आदि में भाव-रंकता है और रस-परिपाक बिलकुल नहीं हैं। शेक्स-पीयर की मर्चेंट ऑफ वेनिस या सर सैयद अहमद की प्रसिद्ध उक्तियों या कतिपय फारसी के शेरों के अविकल गद्यात्मक अनुवाद मात्र हैं। अपने अकाट्य तर्कों का विस्तार करते हुए आलोचकजी ने यहाँ तक सिद्ध करने की कोशिश की है कि 'भारत-भारती' में एक भी ऐसा पद्य नहीं है जिसमें भावगर्भित ध्वनि हो। अलंकार के बहाने वाच्यार्थ दूषित हो गया है। भाषा-दोष के अन्तर्गत दुष्ट और निरर्थक प्रयोग हुए हैं। व्याकरण दोष भी है। अर्थासंगति भी है। भाषा पर अधिकार का कहना ही क्या ?

'मर्यादा' की अधिकांश शक्ति राजनीतिक विचारधारा के पिष्टपेषण में ही खर्च होती थी। यह समालोचना वास्तव में ऐसी ही राजनीतिक बुद्धि से स्खलित हुई थी, जो सत्य का मूल्यांकन हृदय की सात्विकता से नहीं आँक सकती थी।

आज इसका रहस्योद्‌घाटन कर दिया जाए कि ये श्रीउद्‌भट जी वास्तव में श्री वेंकटेशनारायणजी तिवारी ही हैं, जिन्होंने प्रयाग में यह सूचना दी थी कि मालवीय जी 'भारत-भारती' की प्रशंसा कर रहे थे और कहते थे कि इसका अन्य भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए। लगता है कि उन्होंने गुप्तजी को यह बात विद्रूप में ही कही होगी। इन पंक्तियों के लिखे जाने तक (२० सितम्बर, १९५८) श्री वेंकटेशनारायण जी तिवारी भारतीय संसद के सम्मानित सदस्य हैं।

गुप्तजी ने इस समालोचना को पढ़ा। उन पर क्या प्रतिक्रिया हुई ? क्लेशदायक नहीं। आपने लिखा, ". . .मर्यादा ने भी कृपा की है। देखिए, और क्या क्या होता है :

दे गालियां तू मुझ को यथेष्ट
सपत्न! लोभी रह तू सचेष्ट
तेरे मनोमध्य करूँ न वास
तो व्यर्थ मेरा सब है प्रयास![1]

'मर्यादा' का अप्रैल अंक आया और उसमें श्री उद्भट जी का शेषांश निकला तो गुप्त जी ने लिखा, "मुझ पर तो खूब चोटें हुईं, और हो रही हैं। देखिए, बचता हूँ या एक ही बार उड़ा दिया जाता हूँ।"[2]

[1] १०-३-१५।

[2] १०-४-१५, मा० क० म०।

जब 'लक्ष्मी' ने भी कुछ इसी प्रकार की आलोचना प्रकाशित की, तो गुप्तजी ने लिखा, "...मुझ पर दया दृष्टि आरम्भ हो गई। श्रीमती 'लक्ष्मी'[1] ने ही सर्वप्रथम कृपा की है। अहोभाग्य।"

लेकिन 'मर्यादा' की आलोचना का शिष्ट उत्तर दिया 'मनोरंजन' पत्र ने। १९१३ की जुलाई के अंक में आरा से प्रकाशित होने वाले इस पत्र ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा, "मर्यादा में जो समालोचना निकली है, वह एक निरंकुश निष्कर्म्मा, नष्टाचार्य की है।" इसी अंक में पं० रूपनारायण पांडेय (जो १९५८ की ग्रीष्म ऋतु में लू लगने के कारण दिवंगत हुए हैं) ने मर्यादा की उक्त समालोचना का करारा जवाब दिया है। 'खंडवा' की 'प्रभा' में 'भारत-भारती' की उच्च शब्दों में व्याख्या की गई है।

करारा जवाब! चिरंतन प्रश्नों का उत्तर युगयुगान्तरों से, सदियों से केवल काल देवता ही वास्तव में देने का अधिकारी माना गया है। जमाने ने इस समालोचना का यह उत्तर दिया कि एक गहरी वितृष्णा से उसने कठोर मौन साध लिया। मौन हजार उत्तरों का एक उत्तर है। बस, गुप्तजी के विरुद्ध इस प्रकार की यह पहली और आखरी आलोचना थी। जमाने ने अपने मौन से इस विष को जो पीया तो कंठ में ही धारे रहा। आज भी वह कंठ में ही धारे हुए हैं। विश्व में जहां भी साहित्यकार के खिलाफ ऐसा विष उगला गया है, जमाने ने ही उस विष को अपने गले में धारा है!!

पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन में खड़ी बोली के वयोवृद्ध सेनानी पं० श्रीधर जी पाठक ने अध्यक्षीय पद से भाषण देते हुए 'भारत-भारती' की चर्चा की और कहा, "...हिन्दी-काव्य में सन्नाटा नजर आता है...जिन हितकर लोकोत्तर विचारों से हमारा भविष्योत्थान संभव है, वे भी पद्य-द्वारा लोकचित्र पर खचित किए जा सकते हैं। इस कोटि का एक काव्य 'भारत-भारती' नामक श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त की लेखनी से हाल ही में समुदभूत हुआ है। यह अनेक गुण-सम्पन्न है, परन्तु ऐसे अनेक काव्यों की आवश्यकता है।"

यह जमाने का मौन गर्हित आक्षेपों का शोधन किस तरह करता है, यह भी हम गुप्तजी के मामले में देख लें और इस प्रसंग को समाप्त कर लें।

'मर्यादा' में 'भारत-भारती' की आलोचना १९१५ में छपी थी। समय बीता और १९१६, १७, १८ बीते और १९१९ आया। पिछली बातें आई-गई हो गईं। एक बार श्रीकृष्णकान्त जी मालवीय चिरगांव पधारे। चिरगांव १९१४ से ही नए-पुराने साहित्यकारों का संगम स्थल रहा है। ऐसा संधि-स्थल, जहां हृदय और मस्तिष्कों का शुष्क ग्रंथन नहीं, संतप्त शकुन्तला-सी अनुभतियों का छद्महीन आत्मालिंगन हुआ करता था और आज भी हुआ करता है। श्री अजमेरी जी ने गुप्तजी की एक कविता गा कर सुनाई। मालवीय जी ने उसे सुना और उन्हें अपनी १९१५ की 'मर्यादा' याद आ गई, याद आई और निश्छल मन से हंस दिए। छीन कर कविता ले गए और १९१९ की मई की 'मर्यादा' में उसे छाप दिया। और इस प्रकार मालवीयजी ने अपने मन को गुप्तजी की तरफ सदा के लिए धो लिया। यह कविता क्या थी? वह इस प्रकार थी—जिसका रस आज भी उतना ही ताजा और सुस्वादु है, जितना उस समय रहा था, जब वह विक्षुब्ध मन को बरबस दबा कर हार्दिक सहिष्णुता के स्वर में लिखी गई थी—

हृदयोद्गार :

चुटकियां लो और दो सौ गालियां ये तुम्हारे पान की हैं छालियां
पहुंचते ही कान तक मेरी कथा झूम झूमेंगी तुम्हारी बालियां
चित्त को न चुरा सके तो बात क्या लाख ताले खोल लेंगी तालियां
मुंह न मोड़ो पथ्य कड़ुवा ही सही छोड़ते हैं क्या परोसी थालियां
खार खाने पर तुम्हें कैसे रखें आज मेरी फूलफल की डालियां
रंग ही देती मुझे हैं ढंग से धन्य आंखों की तुम्हारी लालियां।

---

[1] इसके सम्पादक श्री लाला भगवान दीनजी थे, जिन्होंने 'जयद्रथ-वध' की विस्तृत समालोचना करते हुए सैकड़ों दोष निकाले थे।

'पंचपुकार का उपसंहार' और 'होली का हास्य' जैसा अधपका हास्य १६१६ की इस कविता तक आते-आते इस तरह धुल पुंछकर मर्मस्पर्शी बन गया है, मानो प्रपातवत् वेगवती धार से बहती अनुभूतियों से कोई संगमरमर की शिला घिसघिसा कर अमलधवल शुचिता का श्रेष्ठ आदर्श बन गई हो। आगे चलकर गुप्तजी का हास्य, हिन्दी साहित्य में ही नहीं, हिन्दी-साहित्यकारों में भी हार्दिकता और आत्मीयता की अक्षय गंगोत्तरी बन गया।

आलोचना-प्रत्यालोचना के इस प्रसंग को समाप्त करने से पहले, इसी विषय का एक अनुच्छेद पढ़ लेना भी कम रुचिकर न होगा।

मध्यप्रदेश के खंडवा नगर में श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' बी० ए०, एल० एल० बी० निवास करते थे और सरकारी पद सेटलमेंट आफिसर के गौरव से शोभायमान थे। हिन्दी-साहित्य की एक ज्योति के रूप में मध्यप्रदेश के इस कोने में बैठकर साहित्याराधन करते थे। अपने इर्दगिर्द नवयुवकों को भी एकत्र कर उन्हें मराठी के इस गढ़ में हिन्दी का प्रणय-मंत्र कंठस्थ कराया करते थे। श्री माखनलाल चतुर्वेदी जब एक ग्रामीण अध्यापक के ग्रामीण पुत्र के रूप में खंडवा की सरकारी प्राइमरी पाठशाला में प्रथम और द्वितीय कक्षा के अध्यापक भर थे, उन दिनों भानुजी के पास जाते थे और हिन्दी साहित्य की इस ज्योतिसे उन्होंने, इस क्षेत्र में आगे बढ़ने का जो क्रमिक उत्साह संजोए हुए थे, उसमें नया उत्साह पाया था। जब श्री सैयद मीर अली 'मीर' अपने निवास स्थान से त्रस्त होकर बेकारी की अवस्था में खंडवा आए, तो भानुजी ने कृपा कर उन्हें अपने विभाग में नौकर रख लिया था। मीर साहब हिन्दी की विभूति थे और रसखानी ढंग से इसका लगाव तजने को तैयार न थे। पर मीर साहब भानुजी के विभाग में काम करते हुए भानुजी जैसे विद्या-बुद्धि-कौशल में पारंगत व्यक्ति की खुदगर्ज़ी के शिकार होने से न बचे। उन दिनों अन्य रईस लेखकों की भाँति भानुजी ने भी अपने जीवन का रवैया कुछ ऐसा ही बदल लिया था कि परिश्रम और करें, नाम किसी का जाए। मीर साहब नौकरी नाम की करते थे, वे वास्तव में भानुजी के नाम से लिखी जानेवाली 'काव्य-प्रभाकर' पुस्तक की तैयारी में ही श्रम करते थे। जब यह पुस्तक छपी और इसमें भानुजी का नाम ही रौशन हुआ पाया और कहीं भी उन्होंने अपने नाम का शिकवा तक न देखा (!) तो उनकी तबीयत उस बछड़े-सी मलाल हुई, जिसने अपने हिस्से का दूध इसलिए नहीं पीया, क्योंकि उसकी मां बीमार थी, पर जिस मां ने अपने ऐसे बच्चे का सदा लात-मार ही स्वागत किया। दुखी होकर मीर साहब 'काव्य-प्रभाकर' के प्रकाशन के बाद खंडवा छोड़कर अन्यत्र चले गए।

लेकिन भानुजी ने मीरसाहब की बिदाई पर उन्हें रोका तक नहीं।

आज न मीर साहब हैं, न भानुजी हैं, पर यह कहानी तो है।

ऐसी कहानी के नायक भानुजी ने अपनी नवप्रकाशित कृति 'काव्य-प्रभाकर' पत्रों में समालोचनार्थ भेजी। सरस्वती में जब वह आई, तो द्विवेदीजी ने उसकी समालोचना के लिए योग्य पात्र गुप्तजी को ही चुना। पुस्तक काव्य-विधान और अलंकार-शास्त्र की गर्भित चर्चा से ओतप्रोत थी। गुप्तजी ने इसकी समालोचना तैयार की और तैयार करने से पहले पं० पद्मसिंहजी शर्मा से भी परामर्श कर लिया, उन्होंने चेतावनी यही दी कि इस पर लिखना व्यर्थ कटुता को आमंत्रण देना होगा। और उसी के अनुसार द्विवेदीजी को अपना आलोचना-लेख प्रेषित करते हुए सूचित किया कि मेरे नाम से इसके छपने में खराबी होगी। पर द्विवेदी जी अड़ वाले आदमी थे। उन्होंने वह आलोचना गुप्तजी के नाम से ही छापी और उनके लेख के प्रारंभ में संस्कृत का यह सूत्र, "तरुः प्रसूते पुष्पाणि मरुद्वहति सौरभम्" भी प्रकाशित किया। यह समालोचना १६१२ की संख्या ६ और ७ दो अंकों में क्रमशः छपी। इतना स्थान देने का सदाशय यही था कि नीर-क्षीर विवेक के प्रति कोई भ्रांति शेष न रह जाए। द्विवेदीजी निर्भीक थे और चाहते थे कि उनका शिष्यवर्ग भी निर्भीक बने, अन्यथा निर्भीक साहित्य का पाचन या साहित्य की शल्यक्रिया वह क्या खाक करेगा! यह युग वह था जब सामंतवाद के जहरीले दांत तोड़े जा चुके थे, लेकिन अपनी मूंछों पर वे ताव देना न भूले थे। यही हाल वैभव से मंडित सरकारी अधिकारी लेखकों और धनी लेखकों का था। यह क्या जरूरी है

कि सदा पुस्तक की प्रशंसा ही निकले ? और यदि वह दोष-दर्शन की ईमानदारी से लब्ध है, तो क्या यह जरूरी है कि लेखक प्रत्युत्तर में किसी दूसरे पत्र में उस आलोचना की पूरी 'ऐसी की तैसी' या शिष्ट भाषा में 'बैठक-खाने के सोफे से उतार कर बाहर खड़ा करने' की हिमाकत दिखाए और अपने दोषों का पाचन करने में ही हीलहुज्जत दिखाए ?

"तरुः प्रसूते पुष्पाणि मरुद्वहति सौरभम् ।"

यह लेख इस बात का प्रमाण है कि गुप्तजी ने काव्य-विधान का गहरा अध्ययन किया था और वे अपने युग के काव्य-ग्रंथों पर ठोस सम्मति सबल शब्दों में लिख भी सकते थे। इस प्रकार है—

"हिंदी-साहित्य में एक ऐसे ग्रन्थ की बड़ी आवश्यकता है, जिसमें कविता-सम्बन्धी सब विषयों का विशद रूप से वर्णन हो। यद्यपि कविता सम्बन्धी कई ग्रन्थ हैं, पर उनके लिखने की प्रणाली ऐसी है कि वे आजकल के लिए यथोचित उपयोगी नहीं। इसके सिवा क्लिष्ट होने के कारण कुछ दुर्बोध भी हैं। इस त्रुटि को दूर करने के लिए समय-समय पर जो प्रयत्न किये हैं, "रस-कुसुमाकर", "रस-वाटिका" और "अलंकार-प्रकाश" आदि ग्रन्थ उन्हीं प्रयत्नों के फल हैं। ये ग्रन्थ अपने ढंग के अच्छे हैं, पर इनमें भी सब विषयों का वर्णन नहीं आया है। खुशी की बात है कि जिस ग्रन्थ के विषय में यह लेख लिखा जा रहा है, वह इसी त्रुटि को दूर करने के लिए प्रकाशित किया गया है। इस "साहित्य-विषयक सर्वांगपूर्ण और सटीक अपूर्व काव्य-ग्रन्थ" का नाम है—"काव्य-प्रभाकर"। हिंदी के हित-चिन्तकों को बाबू जगन्नाथप्रसादजी (भानुकवि) का कृतज्ञ होना चाहिए, जिन्होंने इस शुभ-उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए यह प्रशंसनीय प्रयत्न किया है।

इस ग्रन्थ में द्वादश मयूख हैं। विस्तृत भूमिका से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। छपाई कल्याण के "लक्ष्मी-वेंकटेश्वर प्रेस" की है। सुन्दर जिल्द बंधी है। मूल्य ५) है। आरम्भ में ग्रन्थकार का एक प्रसन्न-वदन चित्र भी है। पुस्तक दर्शनीय है। ग्रन्थकार ने कवियों को कृष्ण मान कर सुदामा के चार चावलों के रूप में यह बृहद्ग्रन्थ समर्पित किया है। तद्विषयक आपकी नम्रतापूर्ण उक्ति सुनिए :—

"कोविद कवीजन को कृष्ण मान भेंट देत
अंगीकार कीजे चारि चांउर सुदामा के।"

जो लोग कवि होने की योग्यता रखते हैं, आशा है, वे भानुजी की इस प्रेम-भरी भेंट को कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करके कृतकृत्य होंगे, और अपने को धन्य समझ लेंगे। किन्तु मेरी रायसे तो ये कृष्ण और सुदामा दोनों ही धन्य हैं। कवि और कविताप्रेमी दोनों के लिए यह ग्रन्थ लाभदायक है। भानुजी का उद्योग सर्वथा प्रशंसनीय है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके संग्रह और संपादन करने में आपको बहुत परिश्रम हुआ होगा।

हिंदी के पत्रों में जो समालोचनाएं इस पुस्तक की निकली हैं, उनमें इसकी खूब प्रशंसा की गई है। यह है भी प्रशंसनीय। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि कहीं-कहीं इसमें कुछ ऐसी त्रुटियाँ दिखाई देती हैं, जो बहुत खटकनेवाली हैं। भानुजी ने लिखा है कि इस पुस्तक के विषय में जो सम्मतियाँ उन्हें दी जावेंगी, उन पर, दूसरे संस्करण के समय, वे विचार करेंगे। आपकी यह उदारता स्तुत्य है। इससे यह मालूम होता कि आप प्रशंसा के ही भूखे नहीं हैं। आप यह भी चाहते हैं कि यदि आपकी पुस्तक में कोई त्रुटि हो, तो दूसरे संस्करण में वह निकाल दी जाय। पर जहाँ तक मुझे स्मरण है किसी ने इसकी तारीफ करने के सिवाय कोई बात ऐसी नहीं कहीं, जिससे ग्रन्थकार का यह उद्देश्य सफल हो।

मैं इस योग्य नहीं कि भानुजी की त्रुटियाँ दिखला सकूं। पर उनके वचनों पर विश्वास करके अपनी मन्द बुद्धि के अनुसार कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।

इस पुस्तक की भूमिका में इसकी रचना के कारण और प्रत्येक मयूखमें वर्णित विषयोंके उल्लेख के सिवा और भी कितनी ही उपयोगी बातें हैं—जैसे काव्य का प्राचीन इतिहास, वर्तमान समय में काव्यावनति का

कारण, काव्य से लाभ और काव्य-निर्माण के कारण इत्यादि। भानुजी ने वर्तमान काल में काव्यावनति के ये कारण बतलाये हैं—

"इस काव्य की अवनति के कई प्रधान कारण हैं, जिनमें से प्रथम तो यह कि अब पूर्ववत् समय नहीं रहा। द्वितीय वर्तमान काल के राजा-महाराजाओं में प्रायः तादृश रुचि का अभाव ही प्रतीत हो रहा है। इसी से विद्याविदग्ध सज्जनों की लेखनी भी हतोत्साहित हो मौनावलम्बित हो रही है। तृतीय कितने ही बुद्धिमान् महाशय विदेशीय भाषा के पूर्ण प्रेमी ही नहीं वरन् अभिमानी भी हो गये हैं। विचारी मातृभाषा हिंदी तो उनके ध्यान में ही नहीं आती। इसके अतिरिक्त कतिपय नवशिक्षित बाबू लोग सकल-कला-संपन्न संस्कृत-भाषा को भी तुच्छ समझ कर उस ओर ध्यान देना तो दूर रहा, निहारते तक नहीं हैं। हा! कितने शोक का स्थल है कि जिन कृतविद्य और भव्य महाशयों के ऊपर हम अपने साहित्य उद्धार की आशा रखते हैं उन्हीं के द्वारा इस काव्य का तिरस्कार! खेद!!! किन्तु हम उनके एतादृश विचार को निज कण्ठाविभूषित चिन्तामणि को भूल मरुस्थल की बालुका में खोजने के सदृश भ्रमात्मक समझते हैं।"

यह लेख "अलंकार-प्रकाश" की भूमिका से लिया गया है। कहीं-कहीं कुछ शब्द घटा-बढ़ा दिये गये हैं। परन्तु आश्चर्य की बात है कि भानुजी ने इस विषय में अलंकार-प्रकाश का नामोल्लेख नहीं किया। देखिए "अलंकार-प्रकाश" की भूमिका का यही अंश इसी तरह है या नहीं :—

"एक तो इस समय के राजा-महाराजाओं में प्रायः तादृश रुचि का अभाव-सा हो गया है। इसी से विद्वानों की लेखनी ने भी हतोत्साहित होकर मौनावलम्बन कर लिया है। द्वितीय कुछ विद्वद्गण विदेशीय (इंग्रेजी) भाषा के पूर्ण प्रेमी हो गये हैं। उन लोगोंके लिये यह विचारी मातृभाषा हिंदी तो कुछ दृष्टिमें ही नहीं आती। इसके सिवाय वे लोग सकल कलासंपन्न संस्कृत भाषा को भी तुच्छ समझ के उस ओर कुछ ध्यान नहीं देते हैं। ओह! कितने शोक का स्थल है कि जिन कृतविद्य महाशयों के ऊपर हम हमारे साहित्य के उद्धार की आशा रखते हैं उन्हीं के द्वारा इसका ऐसा निरादर, किन्तु हम तो उनके एतादृश विचार को निज कण्ठ-विभूषित चिन्तामणि को भूल मरुस्थल की बालुका में उसे खोजने के सदृश भ्रमात्मक समझते हैं।"

इसी तरह और भी कई जगह "अलंकार-प्रकाश" और "काव्य-प्रभाकर"की भूमिका परस्पर आधाराधेय भाव धारण किये हुए हैं। परन्तु, जैसा ऊपर कहा गया है, भानुजी ने इस विषय में कुछ नहीं लिखा। यह तो माना ही नहीं जा सकता है कि भानुजी ने स्वयं ही ये कारण विचार कर लिखे हों। दो लेखकों के भाव कभी- कभी परस्पर लड़ जाते हैं सही, पर कहीं-कहीं, सब कहीं नहीं। अच्छा, थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि भाव मिल जाते हैं, पर क्या इस प्रकार शब्द-स्थापना भी मिल जाती है? सम्भव है असावधानी के कारण भानुजी "अलंकार-प्रकाश" का नाम लिखना भूल गये हों। एक और पुस्तक का भी नाम नहीं लिखा गया। उसकी भी इबारत आपने अपने ग्रन्थ की "रस की सामग्री" में कई जगह नकल की है। वह पुस्तक "रसवाटिका" है।

"काव्यकारण" नामक लेख में भानुजी ने कविता के निम्नलिखित छः अंग माने हैं :—

"छन्द चरण भूषण हृदय कर मुख भावानु भाव। बल थायी श्रुति संचरी काव्य सुअंग सुभाव"

इसमें काव्य के स्थान में यदि स्त्रीलिंग 'कवित्त' शब्द रक्खा जाता, तो अधिक अच्छा होता। कविता को प्रायः कान्ता की उपमा दी जाती है। और यही उपमा अच्छी भी मालूम होती है। अतएव उसके अंग निरूपण करते समय 'काव्य' शब्द का प्रयोग खटकता है। आपकी राय है कि किसी ने कविता के दश अंग माने हैं और किसी-किसी ने आठ। पर भानुजी 'वेदवत्' काव्य के भी छः ही अंग मानना मुनासिब समझते हैं। जान पड़ता है कि 'वेदवत्' काव्य की प्रतिष्ठा स्थापन करने के लिए, पर यह तो बताइए कि फिर गद्य काव्य की क्या दशा होगी? क्योंकि आपके पूर्वोक्त दोहे में छन्द भी कविता का एक अंग माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि छन्द के बिना कविता सर्वाङ्गपूर्ण हो ही नहीं सकती। तो क्या गद्य-काव्य को काव्यत्व ही न प्राप्त होगा? संस्कृत में जो कादम्बरी आदि काव्य हैं, वे पद्यात्मक नहीं, तो क्या उनकी गणना काव्य में नहीं? अथवा क्या वे पंगु काव्य हैं?

पहले गद्य का कम प्रचार था। पद्य की ही अधिकता थी। अतएव उस समय किसी ने छन्द को भी कविता का एक अंग कह दिया हो, तो क्या आज कल भी वही बात कहते चले जाना चाहिए ? आपने तो भूमिका के आरम्भ में ही लिखा है कि—"यह ग्रन्थ प्राचीन तथा अर्वाचीन रीत्यनुसार काव्य-निर्माण की रीति का पथ-दर्शक है।" फिर कविता का अंग छंद क्यों ? यह कैसी पथ-दर्शकता है ? पद्य के बिना कविता सर्वाङ्गपूर्ण हो ही नहीं सकती—यह कहना, मेरी राय में तो, भ्रमात्मक जरूर है। महापात्र विश्वनाथ के "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" वाक्य को आप कविता का बिलकुल ठीक लक्षण मानते हैं। पर इसमें भी "वाक्य" ही का प्रयोग है, छंद का नहीं। अतएव फिर कविता के पाँच ही अंग क्यों माने जायं ? सच तो यह है :—

"सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मारस है मनोहरे!
शरीर तेरा सब शब्द मात्र है,
नितांत निष्कर्ष यही यही यही॥"

इस ग्रन्थ के प्रथम मयूख में "छंद-वर्णन" है। छंद : शास्त्र-विषयक और भी कितनी ही बातों का वर्णन इसमें किया गया है। इस विषय को भानुजी ने अपने "छंद प्रभाकर" से उद्धृत किया है। आपने छंदों के उदाहरण प्राय: ऐसे दिये हैं, जिनके पढ़ने में किसी को संकोच नहीं हो सकता, अर्थात् कोई अश्लील उदाहरण नहीं है। यह आपने बहुत अच्छा किया। परंतु कहीं-कहीं, विशेष कर गणात्मक छंदो के उदाहरणों में, गुण का अभाव पाया जाता है। दो-एक उदाहरण सुनिए :—

मंदाक्रान्ता

"मो भा नीती तगि कहत क्यों अज्ञता रे अजाना!
सर्वव्यापी समुझि मुहिं जो आत्मज्ञानी सुजाना।
मेरी भक्ती सुलभ तिहिं को शुद्ध है बुद्धि जाकी।
मन्दाक्रान्ता करत मुहिं को धन्य है प्रीति ताकी॥"

स्रग्धरा

"मोरे भौने यय् यो कहहु सुत!
कहाँ ते लिये आवते हो?
भाका आनन्द आजी, तुम फिर
फिर के माथ जो नावते हो॥
बोले माता! विलोक्यो, फिरत सह
चमू बाग में स्रग्धरे ज्यों।
काटी माला रुभारे विपुल रिपु
बली अश्व लो जीति कै त्यों॥"

दुर्बोधता आदि दोषों को जाने दीजिए। इन उदाहरणों की भाषा को तो देखिए, कैसी बेढंगी है। यद्यपि कविता एक वस्तु है, छंद दूसरी वस्तु, और भानुजी का मतलब, यहाँ पर, छंद की गति दिखाने ही से है, परंतु पूर्वोक्त दोष उनकी योग्यता के बाधक जरूर हैं।

द्वितीय मयूख में ध्वनि-वर्णन है। आरम्भ में काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण और काव्य-लक्षण का निरूपण कर के शब्द-निरूपण किया गया है। तदनन्तर अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का वर्णन है। काव्य-प्रयोजन इस प्रकार बतलाये गये हैं :—

यश सम्पति आनन्द अति, दुरितनि डारै खोय।
होय कवित तें चातुरी, जगत राम वश होय॥

"भा०—यश फैलना, संपत्ति मिलना, आनंद पाना (दुरितनि अनेक दुःख) दुःखों का नाश होना, चातुरी आना, संसार और प्रभु को वश में करना। ये सब काव्य-प्रयोजन हैं।"

परन्तु, भानुजी क्षमा करें, उनके इस दोहे से उनका यह इष्टार्थ स्पष्टतापूर्वक नहीं निकलता। यश, संपत्ति और आनन्द के आगे मिलैं' इत्यादि न होने से उन सबका संबन्ध 'दुरितनि' के साथ 'खोय' से हो जाता है। इसके सिवा 'जगत रामवश होय भी भ्रामक है। अतएव इस दोहे में 'असमर्थता' दोष जान पड़ता है।

दुःखनाश का उदाहरण आपने इस प्रकार दिया है—

"निज गिरा पावन करन कारन राम यश तुलसी कह्यो।"

जान पड़ता है, उदाहरण उद्धृत करते समय, भानुजी इस बात को भूल गये कि हम क्या कर रहे हैं। गिरा पावन हो जाने ही से क्या दुःखों का नाश हो जाता है? जिस "अलंकार-प्रकाश" से आपने अनेक बातें लीं हैं, उसकी भूमिका में दुःख-नाशक उदाहरण भी तो हैं। वहीं का उदाहरण आप भी दे देते, तो अच्छा होता।

श्रव्य-काव्य का वर्णन करते हुए उसके भेद और लिख दिये जाते, तो अच्छा होता। दृश्य-काव्य के वर्णन में नाटकीय परिभाषा और नाटक लिखने की रीति आदि का भी संक्षेप से वर्णन कर दिया गया है।

इसी संबंध में संगीत का भी वर्णन है। परन्तु इस मयूख के संबंध में भानुजी से मेरी एक शिकायत है। वह यह कि शब्द-शक्तियों के जो उदाहरण आपने दिये हैं, वे पर्याप्त नहीं। अनेक स्थलों में उनसे तृप्ति नहीं होती। कहीं-कहीं तो छोटे-छोटे पद्यों के एक-एक दो-दो चरणों में ही उदाहरण देकर किसी तरह काम चला लिया गया है। नायिका-भेद वर्णन में तो बड़े-बड़े, पन्द्रह-सोलह, पद्य दिये जायं, पर व्यंग आदि के वर्णन में एक दोहा या चौपाई, और कहीं-कहीं इनके एक ही दो चरण उदाहरण के लिये अलं समझे जायं—यह क्यों?

यदि नायिका-भेद से इन बातों का महत्व अधिक नहीं, तो कम भी न समझा जाना चहिए। फिर, हिन्दी में नायिका-भेद-वर्णन की कमी नहीं है, कमी है तो इसी विषय के वर्णन की। यदि आपको विस्तार का भय था तो संगीत की इतनी चर्चा आप भले ही न करते। इस मयूख में तो शब्द-रहस्य का ही विस्तृत और बोध-गम्य वर्णन होना चाहिए था। कोई-कोई उदाहरण तो इसमें ऐसे हैं कि उन्हें उदाहरण ही नहीं कह सकते। देखिए, अभिधा-शक्ति का वर्णन करते हुए, जहाँ प्रसंग से अर्थ लिया जाता है, आप लिखते हैं :—

"वाचक ते कहुँ जानिये, एकै अर्थ सुघाट।
सरस्वती कहिये कहूं वानी बैठो हाट॥"

इसका स्पष्टीकरण भानुजी इस प्रकार करते हैं :—

"यहाँ सरस्वती के कई अर्थ हैं, पर हाट के प्रसंग से वानी (बनियाँ) ही? समझा गया।"

यहाँ सरस्वती के कई अर्थ कहाँ हैं? यहाँ तो हाट के प्रसंग से उसका अर्थ 'वानी' (बनियाँ) ही हुआ। फिर 'यहाँ' शब्द का प्रयोग पहले क्यों? मेरी जड़ताक्रांत बुद्धि के अनुसार यदि यह वाक्य : सरस्वती के कई अर्थ होते हैं, पर यहाँ हाट के प्रसंग से वानी (बनियाँ) ही समझा गया—"इस तरह लिखा जाता, तो अच्छा होता। अच्छा, अब उदाहरण पर विचार कीजिए—हाट में सरस्वती बैठा है (!) ऐसा कहने से बनियाँ का बोध किस तरह होगा? इस तरह कि सरस्वती का एक नाम वाणी भी है। पहले उसे सोचिए, फिर वाणी की 'णी' को 'नी' बना डालिए। जब 'वानी' बन जाय तब हाट के प्रसंग और अपने बुद्धि-बलसे वानी का बनियाँ समझ लीजिए। ऐसे द्राविडी प्राणायाम से यदि अभीष्ट अर्थ निकालना पड़े, तो अभिधा-शक्ति को कोई शक्ति न कहकर सिर्फ एक प्रकार की पहेली कहना चाहिए। इसी सम्बन्ध में आपने दूसरा उदाहरण यह दिया है :—

"हरि हित सहित राम जब जोहे।"

इस पर आप लिखते हैं :—"यहाँ हरि शब्द के कई अर्थ हैं, परन्तु राम के प्रसंग से वाजि (घोड़ा) ही जाना गया।" क्यों? राम के प्रसंग से हरि शब्द का अर्थ घोड़ा ही क्यों जाना गया? बन्दर क्यों न जाना गया? राम के प्रसंग से तो हरि शब्द का अर्थ घोड़े की अपेक्षा बन्दर और भी निकट का है। मैंने माना कि

कहीं राम के प्रसंग से हरि का अर्थ घोड़ा भी हो सकता है, पर प्रसंग का उल्लेख भी तो करना चाहिए। यह उदाहरण 'रामचरितमानस' से लिया गया है। वर के वेश में जनकजी के यहाँ जाते हुए अश्वारूढ़ रामचन्द्रजी की शोभा का सब देवताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसी पर तुलसीदास ने लिखा है कि :—

हरिहित सहित राम जब जोहे
रमा समेत रमापति मोहे।

अर्थात्—जब प्रेम-पूर्वक विष्णु भगवान ने रामचंद्रजी को देखा, तब रमा समेत वे रमापति मोहित हो गये। 'रामचरितमानस' की चार-पांच प्रसिद्ध-प्रसिद्ध टीकाएँ इस समय मेरे सामने हैं। उन सब में हरि शब्द का अर्थ यहाँ पर विष्णु ही लिखा है, घोड़ा किसी में नहीं लिखा! यदि घोड़े के समेत रामचन्द्रजी की शोभा पर लक्ष्मीनारायण मोहित हुए, तो फिर घोड़े का उपमान क्या लक्ष्मीजी को होना पड़ेगा?

उदाहरण यथासंभव सरस और ऐसे होने चाहिएं कि वे पूरे-पूरे घट जायँ। इस स्थल पर मैं प्रसिद्ध देव कवि कृत "काव्यरसायन" नामक एक अप्रकाशित ग्रंथ के दो-एक पद्य पाठकों की भेंट किये बिना नहीं रह सकता। सुनिए :—

उज्ज्वल अखण्ड खण्ड सातये महल महा
मण्डल चवारो चन्द्र मण्डल की चोट हीं
भीतर हू लालन के ज़ालनि विशाल जोति
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन के जोट हीं।।
बरनत बानी चौर ढोरत भवानी कर
जोरें रमा रानी ठाढ़ी रमन की ओट हीं।।
देव दिगपालन की देवी सुखदायिनि ते
राधा ठकुरायनि के पायन पलोटहीं।।

'देव के ही शब्दों में इसका स्पष्टीकरण भी सुनिए :—

"श्रीराधा श्रीकृष्ण की प्रभुतानन्य निकेत।
वाच्य बाचकै वचन को साक्षात संकेत।।"

लक्षक का लक्षण भानुजी इस प्रकार लिखते हैं :—

"मुख्य अर्थ के बोध को लक्षक कहत सुजान।

"भा०—जिस शब्द से मुख्यार्थ से भिन्न अन्यार्थ का बोध हो, वह लक्षक है।" बहुत दुरुस्त! पर, माफ कीजिए, आपका यह अर्थ मूल की प्रतिकूलता करता है। मूल में तो मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ की बात आप क्या कह रहे हैं। उचित हो, तो दूसरे संस्करण के समय इस बात पर जरा विचार कर लीजिएगा।

तृतीय मयूख में नायिका-भेद का वर्णन है। नायिका-भेद पर आज तक न मालूम कितना लिखा गया है और अब तक लिखा जा रहा है। उससे हिन्दी-साहित्य लबालब भरा हुआ है। फिर इस ग्रंथ में इस विषय का इतना लम्बा-चौड़ा वर्णन क्यों? यद्यपि इस विषय के सैकड़ों ग्रन्थ विद्यमान हैं तथापि भानुजी की शिकायत है कि उनमें से किसी में तो लक्षण पद्य में दिये गये हैं और किसी में गद्य में। इस कारण उनसे यथोचित लाभ होना कठिन है। आपकी राय में यह एक बड़ी भारी त्रुटि है। समझ तो है अपनी-अपनी। 'काव्यप्रभाकर' के इस मयूख में आपने इस कसर को खूब ही मिटाया है। दूसरे कवियों के उदाहरण तो आपने दिये ही हैं, कहीं-कहीं अपने बनाये हुए पद्य भी आपने उदाहरणार्थ रक्खे हैं। इस मयूख की आपकी कोई-कोई कविता और मयूखों की कविता से अच्छी बनी है।

इस मयूख में आपने अपने दोहों की रचना कहीं-कहीं प्राचीन कवियों की कविता के आधार पर की है। गुप्ता के दूसरे भेद का आपने यह उदाहरण दिया है :—

"बहि जाती में सरित में जो न गहति हरि म्रान।"

पद्माकर के एक पद्य का भाव इस दोहार्द्ध के भाव से बहुत मिलता-जुलता है। उस पद्य का चौथा चरण इस तरह है :—

"को कहतो यह मेरी दशा गहतो न गुबिन्द तो में बहि जाती।"

इसी तरह ग्रौर भी ग्रनेक स्थानों पर ग्रापके भाव पुराने कवियों की कविता से मिलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रापने दूसरे कवियों के "ग्रनेक ग्रन्थों से" जो उदाहरण उद्धृत किये हैं, उनको संग्रह करने में ग्रापको बहुत परिश्रम हुग्रा होगा। परलोकवासी पण्डित नकछेदी तिवारी ने मनोज-मंजरी नाम की एक पुस्तक संग्रह करके छपाई थी, उसमें भी इस विषय का उत्तम संग्रह है।

भानुजी, उदाहरणों के विषय में लिखते हैं—"जहाँतक बना ग्रश्लील उदाहरणों का बहुत कुछ बचाव किया गया है। यदि इतने पर भी कहीं भूल हो गई हो, तो ग्राशा है कि उदार पाठक क्षमा करेंगे।" यह लिखना ग्रापकी शालीनता है, पर, खेद है, 'काव्यप्रभाकर' के ग्रनेक स्थलों में बेहद श्रृंगारिक पद्य ग्रा गये हैं। उनमें से कोई-कोई ग्रश्लील भी हैं।

इस मयूख के ग्रन्त में ग्रापने एक नया काम किया है। वह यह कि ग्रापने "दादरों में समस्त नायिका भेद" वर्णन किया है। ग्रौर इस काम की ग्रालोचना भी ग्रापने स्वयं कर दी है। ग्राप लिखते हैं :— "बात पुरानी होने पर भी ग्राप लोगों के सम्मुख बिलकुल नवीन रीति से उपस्थित की जाती है। उसे पढ़कर ग्राप देखेंगे कि रेत में से सोना निकाला गया है ग्रर्थात् मृत्तिका में से मणि का ग्रन्वेषण किया गया है।" साधु-साधु! पाठकों को ग्रापके दादरे पढ़ने से कुतूहल होगा। ग्रतएव इच्छा न रहते हुए भी, में इस "मृत्तिका में से मणि के ग्रन्वेषण" का नमूना नीचे दिखलाता हूँ। परन्तु में सिर्फ ४-६ मणियों का ही परिचय दूंगा। यदि इतने से पाठकों का कुतूहल न शान्त हो तो में लाचार हूँ। लीजिए :—

'गोरा गाल तिल काला मुनइयां ने क्या जादू डाला'—नायिका
'सवतिया काहे को जरी जाय'—प्रेमगर्विता
'कुग्रां पानी न जैहों नजर लागे'
'बलम कजरोटी इ लइयो रे ये नैना बिगरे जायं'—रूपगर्विता
'ग्राली री बरतोर भयो है'—ग्रज्ञातयौवना
'काय रंगरेजा रंगी मोरी ग्रंगिया'—ज्ञातयौवना

बस, ग्रब ग्रौर नहीं। पाठक इतने से ही इस रेत में से निकाले गये सोने की उत्तमता की जाँच करलें। इसकी में ग्रौर कोई समालोचना नहीं करना चाहता, भानुजी स्वयं ही इसकी ग्रालोचना कर चुके हैं। यदि दादरों में नायिका-भेद का वर्णन किया जा सकता है तो क्या फाग में नहीं? फिर उसे क्यों ग्रापने छोड़ दिया! गजलों ग्रौर ठुमरियों में भी तो नायिका-भेद कहा जा सकता है। कहा किस राग-रागिनी या छंद में नहीं जा सकता? परंतु क्या इस विषय की इन चीजों से भी हिन्दी-साहित्य को भरना इष्ट समझा जा सकता है।

चतुर्थ मयूख में उद्दीपन विभाव-वर्णन है। जिनसे रस का उद्दीपन होता है, वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। यद्यपि इनकी कोई निश्चित संख्या नहीं स्थिर हो सकती तथापि भानुजी ने उद्दीपन के मुख्य बारह हेतु माने हैं। उन सबका वर्णन इस मयूख में ग्रच्छी तरह किया गया है। इसी मयूख में "मण्डनान्तर्गत" नख-सिख का वर्णन इस मयूख में भी है। ग्रंथकार की राय है कि श्रृंगार-रस-उद्दीपन के ग्रनेक कारणों में से नख-सिख प्रधान कारण है।

श्रृंगार-रस के उद्दीपक कारणों में से नख-सिख प्रधान कारण ग्रवश्य है। पर मण्डनान्तर्गत नख-सिख होना चाहिए या नख-सिख के ग्रन्तर्गत मण्डन? मेरी राय में नख-सिख प्रधान है, मण्डन गौड़। नख-सिख-वर्णन से मतलब है शरीर-सौंदर्य के वर्णन से ग्रौर मंडन-वर्णन भूषणादि की सजावट के वर्णन से। यद्यपि

नख-सिख के अन्तर्गत भूषण-वर्णन भी आ जाता है, पर हैं ये दोनों बातें भिन्न-भिन्न। इनके नाम से ही इनकी भिन्नता प्रकट है। यदि भानुजी मण्डन-मण्डित नख-सिख को ही शृंगार-रस-उद्दीपन का प्रधान कारण मानते हैं, तो खेद की बात है। जो सहज ही सुन्दर है, उसके लिए भूषणों का होना न होना बराबर है।

न रम्यमाहार्य्यमपेक्षते गुणम् —भारवि

वृग-पग पोंछन को किये भूषण पायंदाज —बिहारीलाल

कण्वऋषि के तपोवन में जब पहले पहल दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखा, तब वह अपने साधारण वेश में थी। 'मण्डनान्तर्गत नख-सिख' भूषिता न थी। पर उसे देखकर दुष्यन्त के हृदय में जो भाव उत्पन्न हुआ था, वह कवि-कुल गुरु के इस पद्य से भलीभाँति प्रकट होता है :—

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति
इयमधिकमनज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्

अर्थात्

'सरसिज लगत सुहावनों यदपि लियो ढकि पंक।
कारी रेख कलंक हू लसति कलाधर अंक।।
पहरें न भूषण होय जो रूप लिख्यो विधि भाल।
पहरें वलकल-वसन यह लागत नीकी बाल।।

—राजा लक्ष्मणसिंह

नख-सिख वर्णन करते समय भानुजी ने यह भी लिख दिया है कि अमुक-अमुक अंगों के अमुक-अमुक उपमान होते हैं। इस विषय में 'कविप्रिया' में जो बातें हैं, उनके सिवा आपने इधर-उधर से भी बहुत-सी बातों का संग्रह किया है। षड्ऋतु वर्णन भी आपका खूब है। सच तो यह है कि तीसरे, चौथे और आगे के कई मयूखों में भी अनेक कवियों की रचनाओं के रसास्वादन की बहुत कुछ सामग्री है।

पंचम, षष्ठ, सप्तम और अष्टम मयूखों में क्रम से अनुभाव, संचारी, स्थायी और काव्य के रसों का वर्णन है। जगद्विनोद और रसकुसुमाकर आदि पुस्तकों में इन विषयों का जैसा सरस और बोधगम्य वर्णन है वैसा ही इन मयूखों में भी है। यथासम्भव सरल रीति से सब बातें समझाई गई हैं। उदाहरण भी अच्छे-अच्छे दिये गये हैं। पर एकाधाध जगह, कहीं-कहीं, कुछ बातें चिन्त्य हैं—जैसे वियोग की दशाओं का उल्लेख करते हुए प्रलाप के उदाहरण में भानुजी ने रसखान कवि का एक यह पद्य दिया है :—

मोर पखा सिर ऊपर राजिकै (?धारिकै)
गुंज की माल हिये (गरे) पहरौंगी।
ओढ़ि पीताम्बर लै लकुटी
वन गावत गोधन संग फिरौंगी।।

भावै री तोहि कहा रसखान सो
तेरे लिए सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की
अधरा न धरी अधरा न धरौंगी।।

इस पद्य का आपके द्वारा प्रलाप के उदाहरण में दिया गया देख, सच कहता हूँ, मुझे अपरिमेय परिताप हुआ। अहा! क्या ही सरस उक्ति है! कैसा विलक्षण प्रेम-चिन्तन है! यदि यह प्रलाप है, तो फिर आलाप रसातल को गया समझिए! मालूम नहीं, भानुजी जैसे जन से ऐसी बात कैसे लिखी गई!

नवम मयूख में अलंकारों का वर्णन है। अलंकार-शास्त्र वादग्रस्त विषय है। कोई किसी के किये हुए लक्षण को लक्षण ही नहीं समझता। कोई कहता है, अमुक ग्रन्थकार ने अमुक अलंकार को भिन्न लिखा है, यह उसकी भूल है। उसे तो अमुक अलंकार के ही अन्तर्गत मानना चाहिए। अप्पयदीक्षितकृत कुवलयानन्द के अनुसार ही प्राय: हिन्दी में अलंकारों का वर्णन हुआ है। पण्डितराज जगन्नाथ की अप्पयदीक्षित से बिल्कुल ही नहीं पटती थी। उन्होंने अनेक स्थलों में अप्पय दीक्षित की बातों का खण्डन किया है। श्रीयुत कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने 'अलंकार-प्रकाश' में कहीं-कहीं ऐसी बातों का वर्णन भी किया है। यद्यपि काव्य-प्रभाकर में ऐसा विवेचन नहीं है, तथापि लक्षण और उदाहरण यथासंभव सरल दिये गये हैं। यदि उदाहरणों के अन्त में स्पष्टीकरण और जोड़ दिया जाता, तो और भी सरलता आ जाती। एक बात और रह गई है। कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न दो अलंकारों में एकता-सी दिखाई देती है। यदि उनकी भिन्नता समझा दी जाती, तो बहुत अच्छा होता। यद्यपि दो-चार स्थलों में ऐसा किया भी गया है, परन्तु इस ओर भानुजी का विशेष ध्यान नहीं गया। यह त्रुटि खटकती है। क्योंकि मेरे जैसे अज्ञ जनों को इससे कहीं-कहीं भ्रम हो सकता है। जैसे—समतादृश्य और पंचम प्रतीत अलंकारों के उदाहरण मिल से जाते हैं। पंचम प्रतीप का उदाहरण आपने यह दिया है :—

"हम आगे मृग कछु न ये पंचप्रतीपाकार"

आपका समतादृश्य का उदाहरण सुनिए :—

"नैन कमल ये ऐन हैं और कमल किहि काम"

देखिए, ये दोनों कितने मिलते हैं। दोनों से उपमानों का निष्फलत्व ही बोध होता है। सेठ कन्हैयालाल ने पंचम प्रतीप का यह उदाहरण दिया है :—

"अमिय झरत चहुँ ओर तें नयन ताप हरि लेत।
राधा जू को बदन अस चंद उदय किहि हेतु॥"

भानुजी के समतादृश्य के उदाहरण में और इसमें परस्पर कुछ भी भिन्नता नहीं मालूम होती। अतएव ऐसे स्थलों में टिप्पणी देना जरूरी था।

इस मयूख में एक विशेषता भी है। वह यह कि प्रत्येक अलंकार के सम्बन्ध में पहले एक संस्कृत-पद्य दिया गया है, जिसमें लक्ष्य-लक्षण दोनों आ गये हैं। उसी के नीचे आपने दोहे में उसका अनुवाद दिया है। जैसे—

विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्य्यजन्म चेत्।
अप्यलाक्षारसासिक्तं रक्तं तच्चरणद्वयम्॥

इसका अनुवाद :—

"विभावना षट हेतु बिन जहँ वरणत है काज।
बिन जावक दीन्हें चरण अरुण लसे हैं आज।"

इस तरह प्रत्येक अलंकार का वर्णन करके फिर आपने और उदाहरण दिये हैं। परन्तु संस्कृत में अलंकारों के भेदों का वर्णन नहीं किया गया। ऐसा करने से विस्तार बहुत हो जाता। अतएव आपने हिन्दी-पद्यों में ही लक्ष्य-लक्षण लिख दिये हैं। जैसे इसी विभावना का दूसरा भेद :—

"हेतु अपूरण ते जबै कारज पूरण होय।"
कुसुमबाण कर मंह मदन सब जग जीत्यो जोय॥

इसी अलंकार के और-और उदाहरणों के साथ एक यह दोहा भी है :—

तिय कत कमनैती पढ़ी बिन जिहि भौंह कमान
चित बेधत चूकत नहीं बंक विलोकति बाम॥

यद्यपि काव्य-प्रभाकर से यह नहीं मालूम हो सकता कि यह दोहा किस कवि का है, पर जो बिहारी के कविता के रसिक हैं, उन्होंने किसी तरह जान ही लिया होगा कि यह सतसई का है ! 'किसी तरह' में इसलिए कहता हूँ कि यह दोहा दुर्दशा में पड़ कर ऐसा हो गया है कि सहज में नहीं पहचाना जाता !

रसखान कवि के एक पद्य के सम्बन्ध में भानुजी से मैं ऊपर, संकेत द्वारा, शिकायत कर चुका हूँ। बड़े दुःख की बात है कि यहाँ भी इस दोहे के लिए मैं आपको उपालम्भ देता हूँ। और, यह उपालम्भ उससे अधिक है। कारण यह कि उस पद्य से तो कवि की विशेष हानि नहीं, पर इसमें तो कवि की कविता-कान्ता पर बुरी तरह से आघात किया गया है। भानुजी ने पूर्वोक्त दोहे का जैसा पाठ दिया है, उससे यह अर्थ निकलता है :—

"हे तिय ! तूने यह कमनैती कहाँ पढ़ी है कि बिना प्रत्यंचा की भौंह-कमान से तू चित्त को बेधती है, चूकती नहीं। वाम (स्त्री) टेढ़ा देखती है !" आरम्भ में तिय और अन्त में भी तिय (वाम) ! इस पुनरुक्ति का विचार भी आपने नहीं किया ! खैर। पुनरुक्ति को जाने दीजिए। जो अज्ञ हैं, वे भी इस दोहे को सुनकर कह उठेंगे कि ओह, यह क्या ? यहाँ तो तुक ही नहीं मिली, ऊपर कमान और नीचे उसी के जोड़ में 'वाम'।

यद्यपि 'बिन जिहि' से आपका कार्य पूर्ण हो गया, पर यहाँ तो बिहारी का एक रत्न ही चूर्ण-चूर्ण हो गया ! आपने यह भी नहीं सोचा कि कमनैती पढ़ी नहीं जाती, सीखी जाती है।

'बिन जिहि' के सिवा यहाँ पर कुछ और भी है, और वह कुछ इस दोहे के सब कुछ में से है। सुनिए—

"तिय कत कमनैती सिखी बिन जिहि भौंह कमान।
चल चित बेधत चुकत नहिं बंक विलोकनि बान॥"

अर्थात्—हे सुन्दरि ! तूने यह कमनैती-धनुर्विद्या कहाँ सीखी है। तू तो बिना प्रत्यंचा की भौंह-कमान पर वंकविलोकन रूप बाण रखकर चलायमान चित्त को बेध डालती है ! सो भी एक-दो दफे नहीं हमेशा—कभी चूकती ही नहीं ! इधर तेरी कमान तो बिना प्रत्यंचा की है और उधर तेरा लक्ष्य स्वभाव से ही चंचल है। तिस पर भी तू उसे बेधने में नहीं चूकती। गजब करती है !!! किसी-किसी ने बंक को भी बाण का विशेषण माना है। अतएव टेढ़े बाण से हेतु की और भी अपूर्णता हुई। क्या भानुजी के दिये हुए पाठ वाले दोहे से इस अर्थ की गंध भी आ सकती है ?

दशम मयूख में दोष-वर्णन है। कर्णकटु, निरर्थक, अवाचक और असमर्थ आदि दोषों का सोदाहरण वर्णन इस मयूख में किया गया है। कविताकारों के लिए ये बातें विशेष काम की हैं। असमर्थ का जो उदाहरण इसमें दिया गया है, उसे पढ़कर अफसोस हुआ। जिस अर्थ के लिए जो शब्द रक्खा जाय, वह यदि उससे न निकले, दूसरा ही अर्थ निकले, तो उसे असमर्थ-दोष कहते हैं। इसका उदाहरण सुनिए :—

"सुन्दर कोप नहीं सपने"

इसका प्रकृत अर्थ यह है कि सुन्दर को सपने में भी क्रोध नहीं होता। परन्तु कोप के 'प्रकार' को नहीं में मिलाकर पढ़ने से अर्थ निकलता है—सुन्दर को पनहीं, अर्थात् जूते !

रघुवंश के तीसरे सर्ग में एक पद्य है। वह यह है :—

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते
कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम्।
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः
शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे॥

इसका अर्थ—कुमार (रघु) का जन्म हुआ है, ये अमृतमय वचन सुनानेवाले अन्तःपुर के सेवकों के लिए राजा दिलीप को केवल चंद्रमा के समान छत्र और दोनों चामर—ये तीन ही चीजें अदेय रहीं, और कुछ नहीं। मतलब यह कि पुत्र के जन्म की बात सुनकर उदार राजा ने अपने राज-चिह्नों के सिवा और किसी वस्तु के देने में संकोच नहीं किया। इस पद्य के अन्त में 'उभे च चामरे' का मतलब एक बार एक पण्डितजी ने

हँसकर यह किया था कि उभे दोनों चचा मरे, अर्थात् दोनों चाचा मर गये ! भानुजी के उदाहरण को पढ़कर मुझे इस बात का स्मरण हो आया। भानुजी का दिया हुआ पूर्वोक्त उदाहरण असमर्थता का द्योतक नहीं।

एकादश मयूख में काव्य-निर्णय है। इस मयूख के कुछ विषयों की सूची सुनिए :—

मंगलाचरण-निर्णय,साहित्य और काव्य-निर्णय,लक्षण-निर्णय,छंदो-निर्णय, काव्य-लक्षण-निर्णय, काव्य-कारण-निर्णय, काव्य-स्वरूप-निर्णय, काव्य-भेद-निर्णय.ध्वनि लक्षण-निर्णय इत्यादि ऐसी ही और भी कितनी ही बातों का निर्णय इस मयूख में किया गया है। मंगलाचरण-निर्णय में तीनों तरह के मंगलाचरण का वर्णन है। साहित्य-निर्णय में इस बात का विवेचन किया गया है कि काव्य से साहित्य भिन्न है, पर काव्य के अर्थ में यह शब्द रूढ़ हो गया है। छंदो-निर्णय में इस बात का निर्णय किया गया है कि किस विषय के लिए कौन-सा छंद विशेष उपयुक्त है। काव्य-निर्णय में साहित्यदर्पण के अनुसार काव्य का विवेचन करके 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को भानुजी ने कविता का ठीक लक्षण माना है। इसी प्रकार की बातें इस मयूख में लिखी गई हैं। आपकी दो-एक बातों के विषय में अपना मत प्रकट करके मैं इस लेख को समाप्त करूँगा।

काव्य-कारण-निर्णय में आप लिखते हैं :—

"मराठी निबन्धमाला के लेखक चिपलूनकर महाशय के इस सिद्धान्त से कि काव्य के लिए केवल शक्ति ही बस है, विद्वत्ता की कुछ भी आवश्यकता नहीं है, हम बिल्कुल सहमत नहीं हैं। काव्य के लए शक्ति, निपुणता और आयास तीनों की नितांत आवश्यकता है। इससे यह प्रतिपादित हुआ कि अभ्यास से निपुणता और निपुणता से शक्ति प्राप्त होती है। अतएव अभ्यास ही सब में मुख्य है।"

श्रीयुत कन्हैयालाल पोद्दार ने भी 'अलंकार प्रकाश' की भूमिका में कुछ ऐसा ही लिखा है। भानुजी अभ्यास को प्रधानता देते हैं। पर मेरी राय में कविता विशेष कर शक्ति या प्रतिभा पर ही अवलम्बित रहती है। अभ्यास तो होता ही है, पर यदि प्रतिभा नहीं है, तो कवि होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। और, प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है। वह उत्पाद्या भी होती है, पर असल असल ही है। असल और नकल में बड़ा भेद है। जो लोग प्रतिभावान् होते हैं, उन्हें अनायास ही निपुणता प्राप्त हो जाती है। वे थोड़े ही में बहुत कुछ कर दिखलाते हैं। अतएव यदि पंडित विष्णुशास्त्री चिपलूनकर महाशय ने कविता के लिए प्रतिभा ही को प्रधानता दी तो वह सर्वथा उचित है। हमारे आचार्यों ने भी प्रतिभा को ही प्रधानता दी है। प्रतिभा को उन्होंने पहले लिखा है, निपुणता और अभ्यास को पीछे। किसी-किसी ने तो स्पष्ट भी कह दिया है :—

"कवित्वं जायते शक्तेः"

भानुजी ने अभ्यास को तो प्रधानता दी है, पर आप ही ने आगे एक जगह लिखा है कि "कविता शक्ति परमेश्वर की देन है।" इससे भी प्रतिभा की ही प्रधानता सिद्ध होती है। यदि कवित्व शक्ति प्रतिभा पर ही अवलम्बित न रहती, तो लाखों-करोड़ों कालिदास नजर आते। कवित्वशक्ति को कवि मा के पेट से ही प्राप्त करके पैदा होता है। अंगरेज-विद्वानों ने भी इस बात को स्वीकार किया है।

आपने इस विषय में एक बात और भी मुझे सुनाई। वह पोप कवि के जीवन चरित से सम्बन्ध रखती है। पोप स्वभाव से ही कवि था। पर उसका पिता नहीं चाहता था कि पोप कवि बने। इसलिए कि उस समय इंगलैंड में कविता का बुरा हाल था। पोप के पिता को चिन्ता हुई कि कवि होने पर पोप को पेट भरना भी कठिन हो जायगा। कवियों को पूछता ही कौन है। इस कारण वह पोप को कविता करने से रोका करता था। पर क्या प्रतिभा का वेग रोका जा सकता है ? एक दिन पोप कुछ लिख रहा था कि उसका पिता अचानक आ गया। बालक पोप अपने ध्यान में मग्न था। उसे अपने पिता के आने की खबर भी न हुई। खबर कब हुई, जब पिता के हाथ का बेंत आप पर पड़ने लगा ! बालक सहसा घबरा उठा। उसने पिता से माफी माँगी कि क्षमा कीजिए, अब मैं कविता न लिखा करूँगा। पर आप जानते हैं कि यह माफी माँगी किस तरह। पोप की प्रतिभा का वेग उस समय खूब प्रबल हो रहा था। अतएव मार खाने पर भी अनायास उसके मुंह से एक पद्य निकल गया ! अर्थात् पद्य में ही उसने अपने पिता से माफी माँगी।

शॉ साहब ने अंगरेजी-साहित्य का इतिहास लिखा है। उसमें उन्होंने एक जगह लिखा है कि पोप दाईखाने से भी बाहर न निकला था, जब उसने कविता लिखना आरम्भ किया था। यह बात भी मैंने अपने एक मित्र से सुनी है। इससे भी कविता प्रतिभा ही पर अवलम्बित सिद्ध होती है।

चिपलूनकर महाशय की गति काव्य-शास्त्र में बहुत अच्छी थी। अतएव उनके उस कथन में चाहे कुछ अत्युक्ति भले ही हो, पर उनकी बात सर्वथा सत्य की नींव पर अटल है। चाहे जैसी निपुणता और चाहे जैसा अभ्यास हो, यदि प्रतिभा नहीं, तो कविता में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। फिर, जो कारण मुख्य है, उसे ही मुख्यता क्यों न दी जाय? मैंने ऐसे आदमियों का हाल सुना है और एक-आध को देखा भी है जो विद्वान् नहीं, पर कवि जरूर हैं। दतिया रियासत के एक गाँव में एक कहार था। वह कुछ विशेष पढ़ा लिखा न था। पर सुनते हैं वह अच्छी कविता बना लेता था। उसकी रचना का एक नमूना मैं यहाँ पेश करता हूँ :—

"पुहुमी सबीज करो वारिद ! तिहारी रीति
सब पै समान वृष्टि प्रभुता सुहात की।
स्वाति बूंद पाय प्रेमी पालत कुटुम्ब सदा
और सों न प्रीति ऐसी रीति यहि जात की।।

'परसराम' न एरे घन ! बरस पपीहा काज
आय जैहै पौन रैहै प्रभुता न हात की।।
कित जल जैहै कित उमग विलैहै कित-
तू ही चलि जैहै कित जैहै उड़ि चातकी।।"

इस लेख से यह न समझना चाहिए कि मैं निपुणता और अभ्यास के प्रतिकूल हूँ। ऐसा समझना भूल है। मैं कविता के लिए शक्ति को ही प्रधानता देता हूँ। निपुणता आदि को मैं सहायक कारण समझता हूँ।

"हिन्दी कविता की भाषा शीर्षक निबन्ध" में, जो स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदासजी के एक लेख के आधार पर लिखा गया है, भानुजी ने लिखा है कि "खड़ी बोली की कविता के प्रेमियों को चाहिए कि वे प्रथम सर्व गुण-आगरी परम रसीली ब्रज-भाषा की कविता में अच्छी योग्यता प्राप्त कर लें, पश्चात् खड़ी बोली की कविता में हाथ डालें। ब्रज-भाषा के ग्रंथ देखे तथा उसमें अनुभव प्राप्त किये बिना खड़ी बोली की कविता में माधुर्य आना असम्भव है।"

और, यदि सम्भव हो, तो भानुजी की यही बात और बढ़ाकर इस तरह कही जा सकती है कि जो लोग अंगरेजी में कविता करना चाहें वे पहले लैटिन में योग्यता प्राप्त कर लें। अथच जो ब्रज-भाषा में कविता करना चाहें वे पहले उसकी पूर्ववर्त्तिनी भाषाओं की कविताओं में योग्यता प्राप्त कर लें। नहीं तो उनकी कविताओं में माधुर्य आना असम्भव है। यद्यपि किसी भी विषय का ज्ञान निरर्थक नहीं, पर यह बात युक्ति-सिद्ध नहीं है कि बिना ब्रज-भाषा की कविता सीखे बोल-चाल की भाषा में माधुर्य आना असम्भव है। कविता के लिए भाव प्रधान है, भाषा गौण। किसी भी भाषा में कविता की जा सकती है। यदि आप यह कहते कि भाषा-ज्ञान अच्छी तरह सम्पादन करके तब कविता करना ठीक है, तो आपका कहना उचित भी होता। कविता की भाषा पर यद्यपि किसी कदर भानुजी ने बोल-चाल की भाषा का अधिकार स्वीकार किया है, पर अपने इतने बड़े ग्रंथ में बोल-चाल की भाषा का एक भी पद्य नहीं लिखा। यह कार्पण्य क्यों? मेरी अल्प बुद्धि तो यह कहती है कि अब खड़ी बोली में ही कविता होना सर्वथा इष्ट है। ब्रज-भाषा की कविता सब कहीं इतनी बोधगम्य नहीं हो सकती, जितनी खड़ी बोली की कविता हो सकती है। मेरी राय में आपका यह कहना भी ठीक नहीं कि ब्रज-भाषा के कवियों को खड़ी बोली की ओर न झुकाया जाय। जिस हिन्दी को हम लोग राष्ट्रभाषा बनाने की कोशिश करें, उसी का साहित्य कविता से खाली पड़ा रहे, यह कैसे दुःख की बात है। कविता, साहित्य का प्राण है। जिस भाषा में कविता नहीं, वह भाषा कभी साहित्यवती होने का गर्व नहीं कर
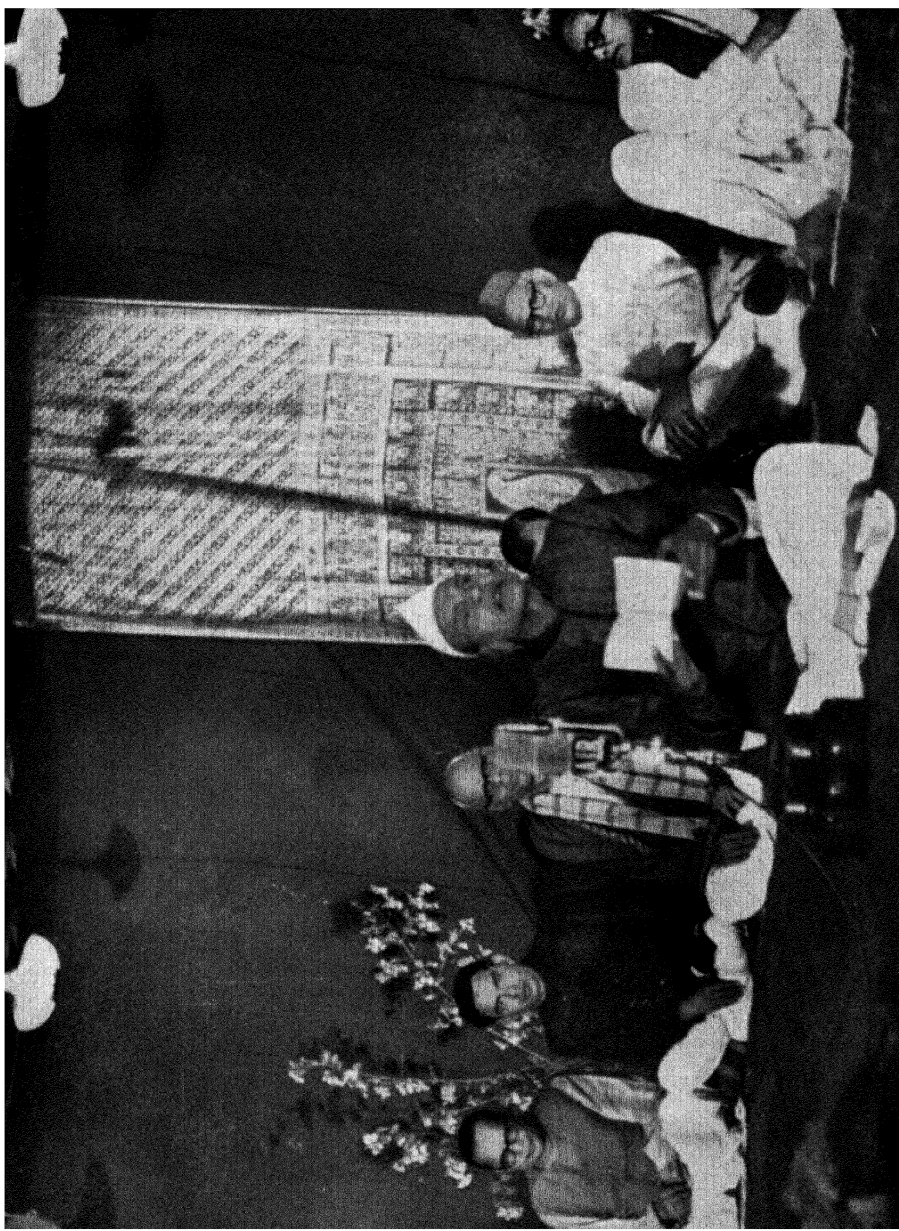
"समस्त देश की अन्य भाषाओं को आगे कर, अब सब के पीछे हिन्दी आती है।"

२६ जनवरी, १९५६ को आकाशवाणी, नई दिल्ली, द्वारा आयोजित १४ भाषाओं के कवि-सम्मेलन में राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त

सकती। और, जिस भाषा को साहित्य का गर्व नहीं, वह राष्ट्रभाषा क्या खाक हो सकती है? अतएव बोल-चाल की भाषा में ही कविता होना इष्ट है। आपका यह कहना सर्वथा अनुचित, अदूरदर्शिता-दर्शक और देशहित-घातक है कि "यह आग्रह करना कि आजकल खड़ी बोली में ही कविता की जाय सर्वथा हानिकारक है।" यह कहना हानिकारक होना तो दूर रहा, उल्टा लाभदायक है। इसे हानिकारक कहना मानो हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रयत्न में बाधा डालना है।

भानुजी भले ही बोल-चाल की भाषा की कविता को अपने ग्रंथों में स्थान न दें, और ब्रज-भाषा के कवियों को खड़ी बोली की कविता की तरफ़ झुकाने से मना करें, पर समय की गति को कौन रोक सकता है? वे दिन नजदीक आ रहे हैं, जब कविता की भाषा का मुख्य आसन बोल-चाल की भाषा ही को प्राप्त होगा और हमारी हिन्दी—वह हिन्दी जिसमें सब तरह की किताबें लिखी जाती हैं और जो राष्ट्रभाषा होने का पूरा दावा रखती है, गद्य और पद्य दोनों में समानता को प्राप्त होकर पूर्णरूप से अपने अधिकार को प्राप्त होगी। एवमस्तु।

'शब्द-रूपांतर-निर्णय' शीर्षक लेख में आपने कुछ ऐसे शब्दों का कोष्ठक दिया है, जो शुद्ध से अपभ्रंश हो गये हैं। इस कोष्ठक में कुछ ऐसे शब्दों को आपने अपभ्रंश लिख दिया है, जिन्हें देखकर बुद्धि काम नहीं करती। देखिए :—

शुद्ध	अपभ्रंश
तुरग	तुरंग, तुरंगम
औषधि	ओषधि
मस्तिष्क	मस्तक
सूर्य	सूर
चरित्र	चरित

कहने की जरूरत नहीं कि जिन शब्दों को आपने अपभ्रंश बतलाया है, वे सर्वथा विशुद्ध हैं! सुनते हैं, भानुजी संस्कृत जानते हैं। पर संस्कृतज्ञों से तो ऐसी गलती न होनी चाहिए। आपने एक और गजब किया है कि कहीं अपभ्रंश शब्दों को भी आपने शुद्ध शब्द मान लिया है जैसे 'भेष'। शुद्ध शब्द वेश या वेष है, भेष नहीं। ऐसी बातें आपकी योग्यता में बट्टा लगानेवाली हैं।

प्रकृति-प्रत्यय के विषय में भानुजी की संमति है :—

"प्रकृति-प्रत्यय साथ ही लिखें सुगमता हो।
भिन्न लिखे कछु हानि नहीं दूर लिखो मत कोय ।।"

खूब झगड़ा निपटाया! यद्यपि आपने फ़ैसला मिलाकर लिखनेवालों के ही पक्ष का किया है पर भिन्न लिखनेवालों का भी मन आपने रख लिया है। हिन्दी के लेखक भी कभी-कभी बड़ा मजा करते हैं। एक महाशय ने एक बार लिखा था कि आजकल एकता के लिए प्रयत्न हो रहा है। फ़िर, विभक्तियाँ क्यों शब्दों से विभक्त रक्खी जायें। मेरी राय तो यह है कि इस एकता के लिए प्रयत्न करने के जमाने में शब्द भी अलग-अलग न लिखे जाने चाहिएँ, सब मिलाकर ही लिखना उचित है! तभी पूरी एकता होगी!

द्वादश मयूख में 'कोष-लोकोक्ति-संग्रह' है। इसका विषय नाम ही से स्पष्ट है। लोकोक्ति-संग्रह का नाम आपने लोकोक्ति हजारा रक्खा है। पर अन्त में आप लिखते हैं :—

"कहिबे को लोकोक्ति हजारा।
पर यथार्थ में डेढ़ हजारा।
कविजन करि काव्यामृत पाना,
भानु सदा पैहें सुख नाना।।"

यद्यपि अभी और भी कितनी ही बातों पर लिखा जा सकता है, पर भानुजी जैसे विज्ञजनों के लिए यह दिग्दर्शन ही बहुत है। मत-भेद होना कोई विचित्र बात नहीं। मत-भेद से हानि नहीं, लाभ ही होता है।

जिस विषय में मत-भेद होता है, उसका विचार विशेष रूप से होता है और विचार करने से बड़ी-बड़ी विषम समस्याएँ भी हल हो जाती हैं। अतएव जो कुछ मैंने भानुजी के लेख के प्रतिकूल कहा है, उसके लिए क्षमा माँग कर, अन्त में इस बृहद् ग्रंथ के संग्रह और सम्पादन करने के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ।"

'काव्यप्रभाकर' की यह आलोचना छपते के साथ ऐसा ही हुआ और 'भारतमित्र' के तेरह अंकों में उसका कस कर प्रत्युत्तर दिया गया[1]। यह आयोजन भानुजी के हाथों आयोजित हुआ था। इस प्रत्युत्तर में न केवल गुप्तजी, बल्कि द्विवेदीजी की भी खबर ली गई। द्विवेदीजी ने इन अंकों को देखने के लिए गुप्तजी के पास भेज दिया। इन्हें देखकर वापस करते हुए गुप्तजी ने पत्र लिखा, "पूज्य श्रीमान् पंडितजी महाराज, प्रणाम, भारतमित्र के अंक पहुँचे। श्रीमान् ने बड़ी कृपा की जो इन्हें भेजा। नहीं तो अपने इन कृपालु समालोचक का हाल ही न मालूम होता। मुझे इस लेख की कुछ खबर न थी। श्रीमान् की सम्भावना ठीक मालूम होती है। बहुत सम्भव है कि पांडेयजी ने ही यह कृपा की हो, मुझे कुछ चिन्ता नहीं। सच कहता हूँ, कहीं भी मुझ पर इस लेख का प्रभाव नहीं पड़ा। मुझे वही दुःख है कि मेरे पीछे श्रीमान् जी को भी दो-एक बातें सुननी पड़ीं। खैर, सुन लीजिए। यदि श्रीमान् की इच्छा हो, तो इसका उत्तर लिखा जाय? मैं लिख सकता हूँ। परन्तु लेखक के कथनानुसार ऐसी बातों को सुनकर जरा हँस देना ही उनका उत्तर है। मैं हँसा तो नहीं, स्वयं हँसी आ गई। अपने मेहरबानों की यादगार में इस लेखमाला को रख छोड़ा है। उत्तर के विषय में जैसी श्रीमान् की आज्ञा हो। भला जब श्रीमान् पर भी लोग कृपा करते हैं, तब मेरी क्या गिनती है? मैं तो पहले ही जानता था कि मेरे लिखने पर कितने ही लोग बिगड़ेंगे। परन्तु खुशी की बात है, जो लेख मेरे लेख के प्रतिकूल निकला है, उससे मुझे आशंका नहीं। लोग दिल के गुब्बारे निकाल रहे हैं। अभी क्या हुआ है? और भी निकालेंगे। पांडेय लोचनप्रसाद ने लिखा था कि काव्य-समीक्षा की आलोचना देखकर प्रसन्नता हुई। कृपा कर मेरी कविताओं की समालोचना आप किसी पत्र में कर दें, तो बड़ी कृपा हो। किन्तु मैंने ऐसा करने में असमर्थता दिखाई थी। 'भारत-भारती' भी छपने के पहले वे देखने को माँगते थे। परन्तु उनकी इस आज्ञा का भी पालन न हो सका। तब से चिट्ठी-पत्री बन्द है। क्या किया जाय? किस तरह सब लोगों को संतुष्ट रक्खा जाय? कितने ही पत्रों की चिट्ठियाँ कविता के लिए आती हैं। किन्तु मेरी असमर्थता के कारण प्रायः सभी विरक्त होते जाते हैं। कितने ही नाहीं कर देने पर भी पिंड नहीं छोड़ते। इसीसे लाचार होकर किसी-किसी को कभी ४-६ पद्य भेज देता हूँ। क्या श्रीमान् सब बातें सोचकर इसके लिए मुझे आज्ञा देना उचित न समझेंगे? अभी पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने एक पत्र निकाला है। छः महीने से उसके लिए वे एक ४-६ पद्य की तुकबन्दी माँग रहे हैं। लाचार होकर कल उन्हें लिख दिया कि हो सकेगा, तो कुछ लिख दूंगा। आज वाजपेयीजी का यह कार्ड आ गया है। एक साल से पत्र भी भेज रहे हैं।" जोर-जबरदस्ती, बिना पारिश्रमिक, रचनाएँ माँगने का यह युग भी कितना जिंदादिल था।

रोगाक्रान्त शरीर और द्वितीय पत्नी का निधन

चिरगाँव साहित्य-सृजन की भूमि बनकर इतना सक्षम अवश्य हो गया था कि वह हिन्दी के साहित्याकाश के इस क्षितिज से उस क्षितिज तक की रेखाओं को छूने लगा था। लेकिन स्वयं चिरगाँव का कवि निरंतर रुग्ण और रोगाश्रित बना हुआ था। गुप्तजी के वंश-गत व्यवसाय को भाई-भतीजे निभा रहे थे। जमींदारी का काम गुप्तजी कभी नहीं देखते, उसमें भी परिवार-जन ही हाथ बँटाते। उनका काम साहित्य की साधना था। रात और दिन। गाँवों के लड़कों के साथ उधमा-मस्ती अब नहीं थी। अब बन्द कमरे की संजीदगी थी। अनेक अवसरों पर द्विवेदीजी से कवि ने अस्वस्थ शरीर के कारण छुट्टी चाही थी, पर (काव्य-कलाप के समालोचक जी के शब्दों में) एप्रेंटिसी कोई मजाक थी? उसमें जी-जान होमना पड़ता था। शरीर होमो तो स्वस्थ कहाँ से रहो। शरीर अस्वस्थ होने से कार्य में जो रुकावट पड़ती थी, उसकी गूँज गुप्तजी के इस काल के पत्रों

[1] 'भारतमित्र' ने अपनी ओर से न्याय करते हुए तेरह अंकोंवाले पद्य का प्रत्युत्तर भी छापा, जिसके लेखक थे श्री ताराचन्द द्विवेदी।

में बराबर मिलती है। सन् ११ के जून में आँखें आ गईं, लिखने में जी न लगने लगा। 'अविराम लिखते रहने से मेरी तबियत खराब हो गई।' पर चाह कर विश्राम कहाँ ? नवम्बर में फिर अस्वस्थ होने की शिकायत। दूसरे अस्वस्थ मित्रों को कुपथ्य आदि न करने का आदेश, पर स्वयं इस परहेजी से तोबा। सन् १९१२ का मार्च आया और चिरगाँव में प्लेग फैला। सारे गाँव के लोग गाँव खाली कर गाँव से बाहर जाकर खेतों में फैल गए। अप्रैल का दूसरा सप्ताह भी बीता लेकिन बीमारी न घटी, गुप्तजी भी अपने परिवार के साथ गाँव के बाहर ही पड़े रहे। जब बीमारी घटी, तो लौटे। सन् १२ का साल 'भारत-भारती' को पूरा करने का साल है। देह बिसराए अध्ययन और लेखन चलता रहा, कि पुनः नवम्बर मास में शिकायत कि "तबियत खराब रहने से मैंने आजकल लिखना छोड़ दिया है।" लेकिन यह शिकायत तब, जब 'भारत-भारती' का प्रथम लेखन और वाचन समाप्त हो गया था। यह लेखन पूरे मास भर तक स्थगित रहा। "लिखूंगा क्या नहीं, अधिक लिख ही नहीं सकता। देखिए, कब तक तबियत ठीक होती है। वैसे तो कोई बीमारी मालूम नहीं होती, पर विचार करने से, मस्तिष्क पर जोर देने से सिर में दर्द हो उठता है। बड़ी तकलीफ़ हो जाती है। फ़िर कुछ लिखते-पढ़ते नहीं बनता[1]।" लेकिन 'भारत-भारती' के मुद्रण, 'जयद्रथ-वध' तथा 'रंग में भंग' के दूसरे संस्करणों की छपाई में फिर सब भूले और भूलते चले गए। उत्साह यही कि लेखनी अविराम गति से चलती रहे। "देखूं, इस साल परमात्मा मुझ से हिन्दी की क्या सेवा कराता है ?" पर सेवा के इस मूल्य पर शरीर का यह हाल कि १९१३ का जून आते न आते, फिर शरीर ने शैया ही पकड़ ली। कई दिन तक बीमार पड़े रहे। बहुत कमजोर हो गए। पड़े-पड़े तबियत नहीं लगती थी। लेकिन दिल-दिमाग 'भारत-भारती' में लगा था कि कब वह छपे और कब कृति सबके सामने आए। दुर्भाग्य से इस बार तबियत जरा फिर लम्बे समय के लिए बिगड़ी। तो तय हुआ कि दतिया के एक नामी हकीम से चिकित्सा कराने के लिए वहाँ पहुँचा जाए। इधर जब तबीयत दिन-दिन खराब होने लगी तो लवणभास्कर घर पर ही बनाने का विचार हुआ। पर परहेज करने की तोबा किस तरह टूटे, यह सब से बड़ी समस्या थी। "मैं और कुछ नहीं चाहता। आपने मेरे लिए जो व्यवस्था लिख भेजी है मैं यथासाध्य उसका पालन करूँगा। प्रमेह और बहुमूत्र रोग के लिए शिलाजीत और चाँदी की भस्म तो बहुत अच्छी मेरे यहाँ है। कल शिलाजीत के लिए भी लिखा है। शाम-सवेरे इन दोनों औषधियों के सेवन का विचार है। आपकी कैसी राय है ? कृपा करके लिखिए। एक उपालम्भ है। आपने खटाई और मिठाई दोनों के खाने का निषेध किया है। एक चीज तो छोड़ देते। खटाई पर मेरी रुचि कुछ अधिक रहती है। पर जब उससे हानि की सम्भावना है, तब छोड़नी ही पड़ेगी। आपने जो चटनी लिख भेजी है, उसीको गनीमत समझता हूँ। थोड़ी-सी कस्तूरी और केसर डालकर औटाया हुआ दूध यदि पिया जाय, तो कैसा ? मीठे के लिए दो-चार छुहारे डालने से कुछ हानि तो न होगी ? भोजन में अधिकतर दाल-चावल और दलिया आदि का ही उपयोग करूँगा। अपनी तबियत का जब जैसा हाल होगा बराबर लिखता रहूँगा। फलों की मिठाई भी क्या त्याज्य है ?"

इस बीच शिलाजीत का प्रयोग भी हुआ। तब कहीं जाकर अगस्त के प्रथम सप्ताह में तबियत में सुधार हुआ। लेकिन कमजोरी नवम्बर तक चलती रही। सन् १९१४ आया और अप्रैल मास में भी स्थिति यही रही कि "मैं साधारणतः अच्छा हूँ।" लेकिन वहीं जून मास आने पर शरीर की रुग्णता और मन की व्यग्रता एक साथ बलवती हो गई।

मैथिलीशरणजी का प्रथम विवाह ९ वर्ष की अवस्था में हुआ था, पर उनका गौना ५ बरस बाद होने की नौबत आई थी। इस तरह जो दाम्पत्य १४ वर्ष की अवस्था में शुरू हुआ था, वह तीन वर्ष बाद ही, प्रथम सन्तान एक कन्या के जन्मते ही पत्नी के असमय निधन से शोक में परिवर्तित हो गया था। यह दूसरी बात है कि वह युग अपने रीति-रस्मों में विवाह को लेकर कुछ दूसरा था और इस नाते १९०४ में ही मैथिलीशरण का दूसरा विवाह उनके चाचाजी ने कर दिया। पर विवाह होकर भी १९१४ तक अर्थात् २८ वर्ष की आयु तक सन्तान-सुख से वंचित ही रहे। इस पत्नी से एक बच्चा पहले हुआ तो था पर वह जीवित नहीं रहा था।

[1] २९-११-१९१२, मा० क० म०।

१९१४ में आशा बँधी कि इस बार अवश्य सन्तान-सुख प्राप्त होगा। ११ वर्ष के दाम्पत्य काल के बाद इसकी उग्र प्रतीक्षा जो थी। लेकिन क्या हुआ ? जिन क्षणों में 'भारत-भारती' लगभग छप चुकी थी और एक सुन्दर स्वप्न चरितार्थ होने जा रहा था, उस समय पारिवारिक सुख का क्षितिज प्रकाशित होने के क्षणों में क्या रूप ले बैठा ? पुत्र ही उत्पन्न हुआ, लेकिन ?

"आजकल मेरा चित्त स्वस्थ नहीं है। एक महीने से मेरी स्त्री सख्त बीमार है। बाल-बच्चा होने वाला था, आठवाँ महीना था। बुखार आने लगा, फ़िर गले में भीतर की तरफ़ छाले हुए। खाना-पीना और बोलना बन्द ही गया। डाक्टर के इलाज से गले को तो आराम हो गया, परन्तु आठवें महीने में ही बच्चा हो गया। दो-तीन दिन जीकर बच्चा मर गया। परन्तु वह मरते-मरते बच-सी गई। इस बात को कोई २० दिन हुए होंगे। तबियत कुछ अच्छी हो चली थी, परन्तु अभी ५-७ दिन से फिर खराब हो गई। फिर गले में वही दर्द, खाने-पीने और बोलने में तकलीफ़। बुखार और खाँसी। थोड़ा-थोड़ा-सा दूध पिलाया जाता है, किन्तु वह भी कष्ट से पिया जाता है। बुखार नहीं टूटता, विषम ज्वर है। विषम ज्वर अज्ञात रूप से कोई ४-५ महीने से था। अब उसी में प्रसूत शामिल हो गया है। कमजोरी हद दर्जे की है। चिकित्सा देशी तरीके पर हो रही है। वक्लादि तैल और क्वाथ इत्यादि। गले को तो कुछ फायदा है, परन्तु बुखार नहीं टूटता। देखिए, क्या होता है। घर के सब लोग व्याकुल हैं। विशेष क्या लिखूँ[1] ?"

गुप्तजी की पत्नी की रुग्णता का समाचार पाकर द्विवेदीजी ने चिरगाँव लिखा, "आपके घर की बीमारी का हाल सुनकर बड़ा दुख हुआ। न मालूम कैसी बीमारी है, अब तक नहीं दूर हुई। मैं आपके दुख का अच्छी तरह अनुमान कर सकता हूँ। मैंने तो कोई पुण्य कार्य किया नहीं। इससे ईश्वर से बहुत दूर हूँ। तथापि उससे मेरी प्रार्थना है कि वह आपकी चिन्ता को शीघ्र दूर करे।"

रोगिणी की यह स्थिति १५ सितम्बर तक बनी रही और उस दिन उसका प्राणांत हो गया। दूसरी पत्नी भी इस तरह असमय में ही कालकवलित हुई और कोई सन्तान-सुख ले-दे कर न जी सकी। पत्नी के फूल लेकर गुप्तजी ही अयोध्या गए। चित्त बहुत अस्थिर था। पत्नी गई पर गुप्तजी के जीवन में एक करुणा घोल गई।

अयोध्या से लौटे तो कानपुर स्टेशन पर जीवन की एक अविस्मरणीय घटना घटी। पत्नी-दुख से शोकसंतप्त कवि को कानपुर स्टेशन पर लिवा लेने के लिए कुछ मित्र आए थे, उस मंडली में एक नवयुवक भी था। यह नवयुवक गणेशशंकर विद्यार्थी था। अभी तक इसने द्विवेदीजी और अन्य पत्रकारों के साथ रहकर पत्रकारिता की दीक्षा ली थी। अब स्वतंत्र रूप से 'प्रताप' साप्ताहिक प्रकाशित करने की योजना बना चुका था। गुप्तजी से प्रार्थना करने आया था कि पत्र के लिए एक शीर्ष-मंत्र (मोटो) लिख कर दें।[2] इन क्षणों में हुई गुप्तजी और गणेशजी की यह भेंट आगे चलकर हिन्दी-साहित्य की पुण्यवती मैत्री सिद्ध हुई !

हिन्दी कविता के यौवन का प्रहरी

१९११ में भारतीय काव्य के क्षितिज पर 'गीतांजलि' उज्ज्वल सतीत्व की स्वर्णरेखा-सी सबकी आँखों को चकाचौंध कर गई। १९१२-१३ में उसी भारतीय काव्य के क्षितिज पर 'भारत-भारती' अस्त्र वेग से गिरते हुए प्रपात की पौरुषी तरुणाई की कौस्तुभमणि-सी उसी तरह सब की आँखों को चकाचौंध कर गई। 'गीतांजलि' और 'भारत-भारती' की तुलना अमर साहित्य की दृष्टि से नहीं की जा सकती। एक मांगलिक

---

[1] २५-६-१९१४, मा० क० म०

[2] यह सिद्धांत-वाक्य जब गुप्तजी से तैयार न हुआ, तो द्विवेदीजी ने ही इस प्रकार तैयार किया—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नहीं नर, पशु निरा है और मृतक समान है॥

सौन्दर्य का शाश्वत सत्य बन कर रहेगी ; दूसरी बलि-पंथियों को संगीनों की दासता से मुक्त होने का प्रकाश गहन अंधकार में कड़कती-चमकती बिजली की तरह दे गई और बराबर ३० वर्षों तक देती रही। 'गीतांजलि' से अधिक 'भारत-भारती' का संदेश गूंजा। अपने ही देश में वह लोकप्रियता के शिखर पर आसीन होकर कोलाहलमय कर्मचक्र का खुला निमंत्रण देती रही, और इस तरह ब्रिटिश कानूनों की भयंकतरा के बीच केवल 'भारत-भारती' ने व्यापक जागृति का काम किया।

'गीतांजलि' को कतिपय आलोचकों ने अनावश्यक रूप से तूल दिया है और उसका हिन्दी काव्य पर आच्छादक प्रभाव दर्शित किया है। इसमें सर्वांश सत्य हो ही कैसे सकता है ? केवल हिन्दी-साहित्य से अनभिज्ञ अज्ञानी समालोचक ही ऐसा लिख सके। अन्यथा, उसे हिन्दी ने उतने ही परिमाण में स्वीकार किया, जितना वह देश की समग्रता को ग्रहण करने के निमित्त उसे स्वीकार कर सकती थी। 'गीतांजलि' राष्ट्रभारती के साहित्यकारों की प्रिय वस्तु ही बन सकी, वह राष्ट्रभारती के कालप्रवाह का वरण करने में असमर्थ रही। हिन्दी अपने समग्र गद्य व पद्य (लव-कुश रूप में) को धारण किए हुए थी, जिसने होश सम्हालते ही अपना उच्च-स्तरीय वरण प्राप्त करके भी, अथाह कष्ट पाया, अग्नि-परीक्षाएँ बारंबार दीं और जो समस्त राष्ट्र के मर्मों को दीर्घ जीवन का असाध्य कार्य हाथ में थामे हुए अपनी क्लिष्ट पर राजसी जीवन साधना में आज भी समाधिस्थ है और कोटि-कोटि जनों के सांस्कृतिक प्रकाश का एकमात्र कारण बनी हुई है।

काव्यगत जितनी भी मान्यताएँ इस समय काव्यक्षेत्र में सक्रिय हो चुकी थीं, मैथिलीशरणजी का उन सब पर अधिकारपूर्ण अध्ययन हो चुका था। द्विवेदीजी पर और उन पर स्वयं जितने सांघातिक प्रहार आलोचना-स्तंभों में हुए थे, उनसे अविचलित रहते हुए उन्होंने 'भारत-भारती' के बाद अपना हृदय-मंथन अत्यधिक किया। 'सरस्वती' के आश्रम का प्रथम विधान मर्यादाओं की व्युत्पत्ति तो सहन कर सकता था, लेकिन उसकी अखंडता में अटूट विश्वास रखता था। गुप्तजी भी विभिन्न छंदों को प्रयोग में लाना और हिन्दी-काव्य के वैभव को पुष्ट करना शिष्ट ही नहीं, लोकप्रिय अभिरुचि मानते थे, लेकिन काव्यगत मर्यादाओं में परिवर्तन के पक्षपाती नहीं थे। आखिर आपने सांघातिक और चिंतनशील सभी समालोचकों को ही नहीं, समूचे हिन्दी-जगत को संबोधित करते हुए १९१४ के पंचम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, लखनऊ, में एक निबंध 'हिन्दी-कविता किस ढंग की हो ?' शीर्षक से लिखकर पढ़ने के लिए भेजा। शायद उसका आमंत्रण प्राप्त हुआ था। इस सम्मेलन के अध्यक्ष पं० श्रीधरजी पाठक थे, जो खड़ी बोली के पद्यों के प्रथम कवि थे। १८८५ से ही उन्होंने अपने एक सबल हाथ से खड़ी बोली हिन्दी में पद्य-रचना करने का एकाकी दुरूह दायित्व स्वीकार किया था, और दूसरे सशक्त हाथ से ब्रजभाषा के हिमायतियों को अकाट्य उत्तर देने में जूझ रहे थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जब भरी जवानी में भरापूरा नेतृत्व अधूरा ही छोड़कर क्रूर काल के ग्रास बन गए, उस समय खड़ी बोली में पद्यरचना करने का दुस्साहस अपमान और विडंबना से इतना बोझिल था कि कोई बिरला ही उसकी परिकल्पना अपने मस्तिष्क में ला सकता था। लेकिन पाठकजी के पास एक ही बल था। वे देख रहे थे कि १८८५ के आसपास हिन्दी-गद्य कल्पनातीत रूप में लोकप्रियता ग्रहण कर रहा है और लोकमानस की सार्वजनिक अभिव्यक्तियों का वह सर्वसम्मत साधन एक नई बहती हुई बहार के रूप में बन चुका है। भिन्न भाषाभाषी अंचलों की पाठ्यपुस्तकें, इश्तिहार, अखबारों की रिपोर्टें और जनजीवन की अन्य भाषा-आधारित सूचनाएँ हिन्दी-गद्य में लोकोपयोगी बनती जा रही हैं। देश में जिस गति से मुद्रणयंत्रों का प्रचार-प्रसार हुआ, लगता है उससे सहस्र गुनी गति से अधिक, देश के मानस ने हिन्दी-गद्य को न केवल पचाया, बल्कि उसे देशीय जीवन का एक पुष्टिकर तत्व भी स्वीकार किया। रेल, तार और डाक ने हिन्दी गद्य के पराग को देश की चहुँ दिशाओं में फैलाकर एक नई सुगंध का संभार रोम-रोम में निमज्जित कर दिया था। बस, श्रीधर जी पाठक और उनके हमउम्र एक ही बात से परेशान थे। ब्रजभाषी अंचलों से लोक-प्रचलित खड़ी बोली गद्य में छपने वाले पत्र या ग्रंथ बिहार-बंगाल-उड़ीसा तक में सरलतापूर्वक पठनीय हो सकते हैं, लेकिन हिन्दी-पद्य का सर्वत्र अभाव है। केवल ब्रजभाषा के ही पद्य उत्तरभारत के एक सीमित क्षेत्र में समझे जा सकते हैं। बिहार (भोजपुरी) और अन्य भाषा के क्षेत्रों में वह दुरूह भाषा ही बनी हुई थी और इस प्रकार

हिन्दी-गद्य के विकास में बड़ी अड़चन रूप सिद्ध हो रही थी ; बेचारे इन क्षेत्रों के विद्यार्थियों को जहाँ गद्य सीखने में अभ्यास नहीं, मात्र रुचि-परिष्कार भर करना होता था, वहाँ उन्हें व्रज की कविता समझने के लिए पूरा सरदर्द उठाना पड़ता था। साहित्य या विद्या से अलग क्षेत्रों में व्रज के पद्य काला अक्षर भैंस बराबर ही थे। इस प्रकार गद्य और पद्य की भाषा-विषयक समस्या इतनी विषम बनी हुई थी कि उस ओर पाठक जी जैसे युगकवि का ध्यान जाना अनिवार्य था। वे बिहार के थे। उनका व्रजभाषा-विरोध स्वाभाविक था। पर उनके साथ बिहार का पत्र 'बिहारबन्धु' भी था। उसने १८८६ के १६ दिसम्बर के अंक में एक बड़ा अग्रलेख लिखकर हिन्दी-पद्यों की शोचनीय अवस्था पर सबका ध्यान आकर्षित किया था। ऐसे क्षणों में अकेले योद्धा की तरह १८८६ ई० में श्रीधरजी पाठक ने खड़ी बोली में थोड़ा-सा अनुवाद कार्य करते हुए 'एकांत-वासी योगी' का प्रकाशन किया। डॉ० सुधीन्द्र ('हिन्दी कविता में युगांतर') का कहना बहुत ही उचित है कि "अयोध्याप्रसाद खत्री ने जो खड़ी बोली आंदोलन का झंडा उठाया था, उसमें 'एकांतवासी योगी' का वही स्थान था, जो आज राष्ट्रीय झंडे में चक्र का है।" अयोध्याप्रसाद जी खत्री ने १८८७ में 'खड़ी बोली का पद्य' पहला भाग प्रकाशित कराया था और इसका एक लंदन-संस्करण १८८८ में लंदन से पिन्काट साहब के संपादकत्व में बड़ी सजधज से प्रकाशित हुआ था। पर इसका निःशुल्क वितरण ही खत्रीजी ने किया था, क्योंकि वे खड़ी बोली पद्य का अमृत जनजीवन में बाँटने का व्रत धार चुके थे। १८८७ में ही आपने 'खड़ी बोली का पद्य' दूसरा भाग भी प्रकाशित कराया, जिसमें आपने मौलवी स्टाइल, यूरोपियन स्टाइल, मुन्शी स्टाइल और पंडित स्टाइल की रचनाओं का संकलन किया था। पर आपने युग का ऐसा एक विचित्र नारा भी इस संकलन में लगाया, जिसने एक वितंडा ही नहीं खड़ा किया, जिसने व्रजभाषा की पदच्युतिका अंतिम डंका बजा दिया। आपने लिखा, "खड़ी बोली के व्याकरण में व्रजभाषा छंद को जगह देना और व्रजभाषा शब्दों को हिन्दी में 'पोएटिकल लाइसेंस' समझना हिन्दी व्याकरण की मेरी समझ में भूल है।" इस प्रकार आपने स्पष्ट शब्दों में कहा कि व्रजभाषा की कविता हिन्दी भाषा की कविता नहीं मानी जा सकती। यह एक सांघातिक प्रहार उस भाषा के समर्थकों पर था, जो यह कहते नहीं थकते थे कि हिन्दी-कविता की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि व्रजभाषा की कविता ही हिन्दी-कविता है। इससे अलग आपका यह दूसरा मौलिक सुझाव था, जिसने हिन्दी-साहित्य में आश्चर्यजनक कल्याणप्रद फल प्रस्तुत किया है, कि उर्दू के छन्दों को हिन्दी के छन्द ही समझना चाहिए। इस प्रकार समूची उर्दू के वैभव-विकास को आपने हिन्दी की थाती ही घोषित कर दिया था। आज ७२ वर्षों बाद उनकी वह सूझबूझ राष्ट्र के लिए कितने गौरव की सिद्ध हुई है ! !

पर खत्रीजी और पाठकजी इस क्षेत्र के निर्विरोध नेता नहीं थे। उनके प्रबल विरोधी थे राधाचरण गोस्वामी, जो अपने आपको खुल्लमखुल्ला 'खड़ी बोली पद्य का विरोधी' कहने में किसी प्रकार की लज्जा या हीनता अनुभव नहीं करते थे और हिन्दी-कविता को 'डाकिनी' कहने में शूरवीरता ही समझ बैठे थे। ऐसे निम्नस्तर के विरोध का सामना करते हुए सारे देश में अकेले श्रीधरजी पाठक पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने १८८७ के २० दिसम्बर वाले 'हिन्दुस्तान' में गोस्वामी जी के तर्कों का शिष्ट, समीचीन और सारगर्भित उत्तर देते हुए सिंहगर्जना की—"यह (खड़ी बोली गद्य) अंतर्प्रांतीय व्यवहार की भाषा है और योरोपियन इसे यहाँ की फ्रेंच जबान (लिंगुआ फ्रेंका) करके समझते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जिन छन्दों का व्रजभाषा पद्य में व्यवहार किया जाता है, उन्हीं का केवल हिन्दी में व्यवहार किया जाय। घनाक्षरी, सवैया आदि के अलावा अनेक ऐसे छन्द हैं, जिनका प्रयोग खड़ी बोली कविता में बड़ी सुन्दरता से हो सकता है। और यदि आवश्यकता पड़ी, तो वे छन्द खड़ी बोली में प्रस्तुत भी किए जायँगे।" और पाठकजी ने यह कार्य किया भी। वे अपने समय में उत्कृष्ट खड़ी बोली के कवि मान्य हो चुके थे। इसीलिए आपने विवाद के बढ़ने पर फिर एक बार लिखा, "अभी कवियों ने अपनी शक्ति को भलीभाँति इस (हिन्दी-कविता) पर परीक्षित नहीं किया, तो फिर क्यों कर कहा जा सकता है कि इसकी कविता में कविता के गुण नहीं आ सकते या इसकी भाषा काव्योपयोगी नहीं है ? एक साथ ही कोई काव्य उत्कृष्टता की परमावधि को नहीं पहुच सकता। दूसरी ओर व्रजभाषा की कविता कई बातों में उन्नति की पराकाष्ठा से भी परे पहुँच चुकी है, अतः अब उसके विश्राम का समय आ गया है।"

श्रौर जब इस विवाद में प्रतापनारायणजी मिश्र भी कूदे तो श्रीधरजी पाठक ने ८ मार्च, १८८८ में, 'हिन्दुस्तान' में ही प्रेषित अपने ऐतिहासिक उत्तर में "व्रजभाषा को बुड्ढी नायिका की उपमा देते हुए खड़ी बोली के लिए लिखा कि अभी वह वयःसंधि में ही है।" इन्हीं क्षणों में खड़ी बोली कविता के यौवन-संभार की परिचायिका आपने 'जगत सचाई सार' नाम की एक अन्य मौलिक पद्य रचना बड़ी प्रवहमान एवं सरस खड़ी बोली में प्रस्तुत की, जिसके सम्बन्ध में मिश्र बंधुओं ने लिखा, "खड़ी बोली में तो ऐसे विलक्षण वर्णन अब तक बने ही न होंगे, पर व्रजभाषा में भी इसके जोड़ बहुत न मिलेंगे।"

खड़ी बोली कविता के ऐसे दुर्द्धर्ष सेनानी को पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बनाया गया था। यद्यपि द्विवेदीजी के भीषण प्रहारकारी नेतृत्व में व्रजभाषा का समर्थन-अनुरोध-अनुग्रह-आग्रह क्षीण पड़ गया था, लेकिन भाषा को स्थिर रूप ग्रहण करने में क्योंकि समय लग रहा था, इसलिए व्रजभाषा की बात समय-समय पर पुराने नासूर की तरह से यंत्रणा देती चू पड़ती थी। विशेषकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मंच पर तो व्रजभाषा विवाद का वितंडावाद लेकर उपस्थित होने में अपनी श्रीवृद्धि ही समझती थी ; इस बेचारी को अपना रोना रोने के लिए दूसरा मंच भी तो न था। लखनऊ-सम्मेलन के अवसर पर नवयुवकों में और जनता में खड़ी बोली के जो कवि सबसे अधिक प्रतिष्ठित हो चुके थे, उनमें मैथिलीशरणजी को सम्मेलन में अपने खड़ी बोली काव्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन और दल-गत राजनीति के पिष्टपेषण के लिए पक्ष-समर्थन करने का आमंत्रण दिया जाना स्वाभाविक था। गुप्तजी ने इसे दूसरे रूप में स्वीकार किया। आप स्वयं लखनऊ नहीं पधारे। इसका कारण था। आपके गुरु श्री महावीरप्रसादजी द्विवेदी भी सम्मेलन से दूर थे। पर आपने अपना निबंध लखनऊ भेज दिया। वह वहाँ पढ़ा भी गया। उसके उपरांत यह निबंध १९१४ के दिसम्बर की 'सरस्वती' में भी उद्धृत हुआ। श्रीधरजी पाठक ने विगत ३० वर्षों में जितनी सिंहगर्जनाएँ की थीं, उन्हीं की प्रतिध्वनियों को अपनी शैली में गुंजाते हुए गुप्तजी उनसे भी एक कदम आगे बढ़े और आपने बुलन्द घोषणा की, "जो लोग खड़ी बोली को कविता के योग्य नहीं समझते और पुरानी भाषा में ही, जिसे खड़ी बोली वाले चाहें तो पड़ी बोली कह सकते हैं, कविता किये जाने का आग्रह करते हैं, वे सच पूछिए तो हमारी राष्ट्रभाषा के जानी दुश्मन हैं।" राष्ट्रभाषा शब्द ही अपने आप में इतना सार्थक है कि वह गद्य और पद्य दोनों का मिला-जुला सजीव शरीर है। श्रीधरजी पाठक ने आज से ३० वर्ष पहले केवल 'लिंगुआ फ्रैंका' शब्द से ही काम चलाना श्रेयष्कर समझा था। गुप्तजी ने अपने इस शीर्षक से एक मंतव्य यह भी निर्विवाद बना दिया कि अब इस द्विधा में कोई भी विवेकी पुरुष नहीं है कि वह किस भाषा में कविता करे। बल्कि अब तो एक मात्र समाधान यही रह गया है कि वह किस ढंग की कविता करे ? गुप्तजी का यह लेख आधुनिक हिन्दी साहित्य की राष्ट्रीय मान्यताओं का ध्वज बन कर सदा फहराता रहेगा। यह पूरा लेख इस प्रकार है—

"जिस तरह संस्कृत की कविता का आरम्भ एक गौरवपूर्ण आदर्श-चरित को लेकर हुआ है, उसी तरह हिन्दी की कविता का आरम्भ भी एक महत्त्वपूर्ण इतिहास को लेकर हुआ है। हिन्दी-काव्य का पहला गणनीय ग्रंथ 'रासो' ही समझा जाता है। वह हमारा जातीय काव्य है। यह दूसरी बात है कि भाषा-परिवर्तन के कारण अब हम उससे यथोचित लाभ न उठा सकें। भेद केवल इतना ही है कि रामायण हमारे विजय गौरव की कथा है और रासो गौरव की कथा होकर भी हमारे शोचनीय पराजय की गाथा है।

यहीं से हमारी पराधीनता का आरम्भ होता है। विजित जाति पर विजेताओं का प्रभाव पड़ता ही है। वह प्रभाव वेश-भूषा ही तक नहीं रहता, आचारों और विचारों पर भी थोड़ा बहुत पड़ता है। हमारी भी यही दशा हुई। हमारे साहित्य—विशेष कर कविता पर वह प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। मुसलमानों के संसर्ग से, उन्हीं के ढंग पर, वह विलासिता की ओर अग्रसर होता गया। उसकी गति यहाँ तक बढ़ी कि भूषण को अपनी कविता के श्रोताओं से हाथ धो डालने तक को कहना पड़ा। भूषण-सम्बन्धिनी यह जनश्रुति मिथ्या भी हो सकती है, पर अवस्था वास्तव में ऐसी ही हुई।

परन्तु यह अवस्था सहसा नहीं हुई। क्रम-क्रम से हुई। पूर्व और परवर्ती कवियों की रचनाओं का परस्पर मिलान करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। ज्यों-ज्यों कविता का ढंग बदलता गया, त्यों-त्यों

वह अपन उद्देश्य से गिरती गई। अन्त में उसकी सीमा यहीं तक संकुचित हुई कि नख-शिख और नायिका-भेद ही उसके विषय रह गए। मैं यह नहीं कहता कि इन बातों के वर्णन की आवश्यकता न थी। नहीं, पहले भी इन बातों का वर्णन होता था और हिन्दी के तत्कालीन कवियों ने भी इन बातों का वर्णन किया है। परन्तु वे लोग इन्हीं बातों को कविता का उद्देश्य न मान बैठे थे। समय के फेर से एक अप्रधान बात तो प्रधान बन गई और जो प्रधान थी, उसका तिरोधान हो गया।

एक बात अवश्य हुई। वह यह कि हमारी भाषा की बहुत कुछ उन्नति हुई। क्रमशः परिष्कृत होती हुई वह व्रजभाषा के रूप में आई। समर्थ कवियों के हाथों में पड़ कर परिष्कृत और अलंकृत हुई और इतनी कर्ण-मधुर बन गई कि आज भी हममें से बहुत लोग उसी में कविता करने का आग्रह करते हैं।

भाषा की यह उन्नति निस्संदेह आश्चर्यमयी है। परन्तु फ़िर भी अधिकांश में वह आदर्श-रहित है। पीछे से उसमें कृत्रिमता भी आ गई। नूपुरों का रव ही उसमें अधिक सुन पड़ता है, और तरह की ध्वनियां कम सुनाई देती है। उसमें आवेग हो सकता है, पर संयम नहीं। असंयम अवश्य है। ऊपर से वह मधुर अवश्य हुई, पर उसके भीतर ही भीतर एक ऐसी चीज है जो हृदय को अवश कर देती है। उससे हमारी नाड़ियों में जीवनी शक्ति नहीं दौड़ती। हाँ, रक्तसंचालन का वेग अवश्य बढ़ा देती है। शब्द-सम्बन्धिनी विभूति उसमें अवश्य है, पर दिव्य भावों की सहानुभूति विरल है। लोकानुभूति तो और भी विरल है। फिर कहिए कोरी विभूति को लेकर क्या करें? आप बड़े संपत्तिशाली हैं, परन्तु यदि जन-साधारण के साथ आपके हृदय में सहानुभूति नहीं तो उस सम्पत्ति से उन्हें क्या लाभ? इसी कारण से हमारी कविता का सम्बन्ध सर्वसाधारण के साथ न रह सका। यदि थोड़ा बहुत रहा भी तो वह भगवान के नाम-संयोग के कारण। कवियों ने चाहे जैसी कविता लिखी, परन्तु उसके साथ उन्होंने विशेष कर श्रीराधाकृष्ण का सम्बन्ध जोड़ दिया। बहुतों ने तो निमित्त मात्र के ही लिए ऐसा किया। उर्दू की आशिकाना गजलों के विषय में भी मैंने बहुधा सुना है कि वे इश्के हकीकी का ही वर्णन करती हैं और उसी ओर लक्ष्य करके लिखी गई हैं। चाहे जो हो, पर असर अच्छा न हुआ। बहुत से कवियों ने तो ऐसी ऐसी बातें कह डाली कि उनका उल्लेख करते हुए भी संकोच होता है। तुलसीदास जी भी भक्तकवि थे, पर उनकी भावना का प्रभाव दूसरी ही ओर था। उन्हीं के भाई नन्ददास जी की एक कविता सुनिए—

चिरियन के चौचिहात दुलही उठि प्रात जागी,
धीरे धीरे आयके जसुदा के पाय लागी।
जसुदा दई असीस अचल अहिबात तेरो,
सुन्दर जोरी निहार हिय सिरात मेरो।
सुख की करनि दुख की हरनि कीरति की जाई,
नन्ददास बड़े भाग बहू ऐसी पाई।।

इन्हीं का एक पद्य और लीजिए। गोपियां उद्धव से कहती हैं—

जो मुख नाहिंन हतो कहो किन माखन खायो?
पायन बिन गो-संग कहो बन बन को धायो?
आंखिन में अंजन दियो गोबरधन लियो हाथ,
नन्द जसोदा पूत है कुंवर कान्ह ब्रजनाथ।।

कितने सरल और स्वाभाविक वर्णन हैं—बनावट का नाम नहीं। कौन कह सकता है कि इन कविताओं के भाव सार्वजनिक नहीं। सूरदास जी का भी एक पद लीजिए—

कहा कहौं यहि रिस के मारे हौं खेलन नहिं जात?
पुनि पुनि कहत कौन है माता कौन तिहारो तात?

गोरे नन्द जसोदा गोरी तुव कत स्यामल गात
चुटकी दै दै ग्वाल सुनावत हसत सबै मुसकात
तू मोही को मारन सीखी दाउहिं कबहु न खीझै
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति मन अति रीझै
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत
सूरस्याम मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत।"

ऊपर लिखी हुई सब कविताएँ कैसी स्वाभाविक और सरल हैं! उनके भाव कैसे सर्वकालीन और व्यापक है! उनके प्रकाशन का ढंग कैसा सीधा-सादा है और अपने आराध्य देवों के साथ लेखकों की कैसी एकांत सहानुभूति है! क्या परवर्ती कवियों में ऐसे कवि नहीं हुए कि वे ऐसी कविता कर सकते? चाहे इतने समर्थ न हुए हों, पर हुए अवश्य हैं और उन्होंने सरस कविता भी की है। पर रुचि बदल गई। वह केवल शृंगार-रस में ही उलझ गई। उनके पात्र अधिकतर अन्तःपुर में ही रहने लगे। यदि भूल कर कभी वे इधर-उधर दिखाई भी दिए तो उसी साज-बाज के साथ। पूर्व कवियों ने भी शृंगार रस का वर्णन किया है और खूब किया है, पर वे उसी के पीछे नहीं पड़े रहे; और बातों की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया है। अथवा यह कहना चाहिए कि उनके आराध्य देव केवल विहारी ही नहीं, वे दानवारि भी हैं। एक स्थल में वे गोपीनाथ हैं तो दूसरे स्थल में योगेश्वर भी हैं। वे मुरलीधर अवश्य हैं, पर समय समय पर पांचजन्य का गगनभेदी नाद भी करते हैं। केवल व्रजबालाओं में प्रीति-विधान ही नहीं करते, नीति-निधान के रूप में भी दिखाई देते हैं। और परवर्ती कवियों के श्रीकृष्ण? वे विशेषकर विहारी ही हैं। वे विश्वेश्वर अवश्य हैं, पर उनके दर्शन व्रजेश्वर के ही रूप में होते हैं। व्रज में भी वे बहुधा कुंजों से बाहर नहीं निकलते। व्रज-वासियों को कभी-कभी उनसे यह कहने की भी आवश्यकता नहीं दिखाई जाती कि—"अब की राखि लेहु गोपाल।" यदि कभी प्रसंग पड़ता भी है तो वह भी ऐसा ही कि—

मेरे कर मंहदी लगी है नन्दलाल प्यारे।
लट उरझी है नेक बेसर सुधार दै॥

इसीसे यह दशा है। यहाँ पर कहा जा सकता है कि व्रजभाषा में वीररस की कविता भी तो है। अवश्य है, और ऐसी कविता यथासम्भव उपयोग में भी लाई जा सकती है। परन्तु मेरी प्रार्थना यह है कि क्या यह विशेष-रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकती है? और तो क्या, भूषण की कविता के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। कितने ही कवियों ने अपने आश्रय-दाताओं के विषय में वीर रस की कविता की है, पर वे प्रायः शब्दाडम्बर के पीछे ही पड़े रहे हैं। उनकी भाषा बनावटी है। कानों को कोंचने वाली परुष पदा-वली उनमें अधिक दिखाई देती है, पर हृदय को उत्तेजित करनेवाली सामग्री बहुत कम। वही बाह्याडम्बर, वही घटाटोप और वही कृत्रिमता। उनके वीरों के कार्य कौतुकी वीरों के से कार्य जान पड़ते हैं। शस्त्रों की झंकार आपको बहुत सुन पड़ेगी, पर क्या हृदय की वास्तविक हुंकार भी सुनाई देगी? बहुत कम। वीरों का शारीरिक संघर्ष भी बहुत मिलेगा, पर उनके भीतरी भावों का घात-प्रतिघात केवल कभी कभी। उनमें कौशल हो तो हो, पर सरलता और अकृत्रिमता नहीं। वाक्य-विन्यास हो, पर स्वाभाविकता नहीं। इसी से जीवनी-शक्ति भी नहीं। देखिए—

तुपक्कैं तड़क्कैं धड़क्कैं महा हैं
प्रलै चिल्लिका सी झड़क्कैं जहाँ हैं।
खड़क्कैं खरी बैरि छाती भड़क्कैं
सड़क्कैं गये सिन्धु मज्जै गड़क्कैं॥

* * * *

चली चद्दरें त्यों मचे हैं धड़ाके
छड़ाके फड़ाके सड़ाके खड़ाके
छुटे सेर बच्चे भजे बीर कच्चे
तजें बाल बच्चे फिरें खात दच्चे
छुटे सब्ब सिप्पे करें दिग्ध टिप्पे
सबै शत्रु छिप्पे कहू हूं न दिप्पे
कराबीन छुट्टैं करें बीर चुट्टैं
करीकन्ध टुट्टैं इतै उत्त बुट्टैं
चली तोप धांधा धधां धाई जग्गी
धड़ाधड़ धड़ाधड़ धड़ा होन लग्गी
झड़ाझड़ झड़ा बीर बांके छुड़ावें
भड़ाभड़ भड़ाभड़ भड़ा त्यों मचावें।।

यह एक प्रसिद्ध कवि की रचना है। इस तरह के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। बात यह है कि कविगण वीर रस की कविता लिखते समय तद्नुकूल वृत्ति के निर्वाह में ही लगे रहे। इसके लिए उन्होंने भाषा को भी बिगाड़ दिया। शब्दों को जैसा चाहा तोड़ा-मरोड़ा। रासों के समय की बात जाने दीजिए। उस समय भाषा का कोई रूप स्थिर न था। परन्तु पीछे वह परिष्कृत हो चुकी थी। तो भी कवियों ने उसे मनमाना रूप दिया। अतएव जहाँ एक ओर वह मधुर भाषा के रूप में दिखाई देती है, वहाँ दूसरी ओर उसे गड़बड़ भाषा भी कह सकते हैं। अस्तु।

मेरी राय में तो भक्ति-विषयक कविताओं को छोड़ कर दूसरे ढंग की पुरानी कविताओं से हमें विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। एक अंश में हम पर उनका बुरा प्रभाव अवश्य पड़ सकता है। उनमें मनोरंजन चाहे जितना हो, पर लोकशिक्षा की ओर उनका लक्ष्य नहीं। और इसीसे वे हमारे जीवन की संगिनी भी न हो सकीं।

देव उच्च श्रेणी के कवि थे अथवा यह कहना चाहिए कि उनमें उच्च श्रेणी की कवित्व-शक्ति थी। पर क्यों उनकी कविता का प्रचार तुलसीदास की कविता के समान न हुआ? मतिराम आदि में भी अच्छी कवित्व-शक्ति थी, पर क्यों रहीम की रचना के समान वह सर्वसाधारण तक न पहुँच सकी? केशवदास की 'रामचन्द्रिका' के समान क्यों उनके दूसरे ग्रंथों ने प्रचार न पाया? गिरिधर की कुण्डलियाँ क्यों इतनी फैल गईं और उनसे अच्छी कवित्व-शक्ति रखने वाले दूसरे कवियों की कविता ने क्यों वैसा प्रचार न पाया? हमारे कवियों ने विशेष कर चमत्कार की ओर ही ध्यान रक्खा है, उपयोगिता की ओर नहीं। कविता के अंग वर्णन करने में ही उन्होंने सारी शक्ति लगा दी। इसी से सर्वसाधारण से उसका संबंध न रहा। यही कारण है कि भूषण की कविता से आल्हा का अधिक प्रचार है। और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। भूषण ने शिवाजी के विषय में कविता जरूर लिखी, पर ढंग वही रहा। अतएव उनकी कविता से थोड़े विद्वज्जन भले ही अपना मनोरंजन कर लें, पर सर्वसाधारण को उससे बहुत कम लाभ पहुँच सकता है। वे मनोरंजन के साथ और भी कुछ चाहते हैं।

कै यह कै वह होत है जहं ऐसो सन्देह।
भूषण सो सन्देह है या में नहिं संदेह।।

इस दोहे को न जान कर भी—'जानों ना परत ऐसो काम है करत कोऊ गन्धरब है, सिद्ध देवा है, कि सेवा है'—इस उक्ति का अर्थ समझने में कोई बाधा नहीं आती। और—"इन्द्र जिमि जम्भ पर बाड़व सु-अम्भ पर" अथवा "आज कहा मृगराज कहा अति साहस में शिवराज के आगै"।—कहने से उतना लाभ नहीं जितना साधारण कवि के द्वारा लिखे गए आल्हा के उस स्थल को पढ़ने से है जहाँ जगमक आल्ह को मनाने

गया है। परमाल के बुरे व्यवहार का स्मरण करके आल्हा ने उसे फ़टकार दिया। तब वह देवलदे के पास गया और उससे मोहबे की दुर्दशा का वर्णन करने लगा। अपने मोहबे और अपने राजा परमाल की अवस्था का हाल सुन कर देवलदे का हृदय द्रवित हो उठा। साथ-साथ सुननेवाले भी द्रवित हो उठे। मैंने स्वयं ऐसा होते देखा है। परन्तु शिवराजभूषण को पढ़ कर चित्त चमत्कृत होने के सिवा क्या और भी कुछ होता है? कम से कम मुझे तो इसका अनुभव नहीं। कविता तो भावों की प्रकाशक होती है। उसका सम्बन्ध कानों से कम, हृदय से ही अधिक है। "मणिमय महल शिवराज के इमि राजगढ़ महं राजहीं"—कहने की अपेक्षा शिवाजी का चरित्र वर्णन करके उनके हार्दिक भावों को सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करना भूषण का काम था। उन्हें ऐसा करने का सुयोग भी था और ऐसा करने की शक्ति भी उनमें थी। पर उन्होंने ऐसा न किया, यह उनका अभाग्य है, शिवाजी का अभाग्य है और सबसे अधिक हमारे साहित्य का अभाग्य है। पर बात यह है कि वह जमाना ही और था। लोग रूढ़ि और अन्ध-परम्परा के दास थे। इसी से शायद भूषण जैसे कवियों का भी ध्यान भावमयी कविता लिखने की ओर नहीं गया।

इसी प्रकार रसराज, जगद्विनोद, रसरहस्य, रसार्णव और कविकुलकल्पतरु की अपेक्षा रामचरितमानस की कहीं अधिक आवश्यकता है। परन्तु खेद की बात है कि हमारे योग्य कवियों ने इस ओर लक्ष्य न दिया, वे एक और ही उपलक्ष्य का भेदन करने में लगे रहे। उनकी वह प्रतिभा जो हमारे सामने अनेक आदर्शों का विकास कर सकती थी, गौण बातों ही की ओर स्फुरित होती रही।

कविता के अंगों का वर्णन करना मम्मट का काम है, कालिदास का नहीं। विश्वनाथ उन बातों की आलोचना करें, भवभूति को इससे क्या? यदि कालिदास और भवभूति मम्मट और विश्वनाथ का काम करें तो बताइए, फिर 'रघुवंश', 'कुमारसंभव', 'शकुन्तला' और 'उत्तररामचरित' आदि कहाँ से आवें? हिन्दी के कालिदासों और भवभूतियों ने मम्मट और विश्वनाथ का ही अनुसरण किया है। इसी से उसमें 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव', 'शकुन्तला' और 'उत्तररामचरित' आदि का अभाव है। कैसे परिताप की बात है कि वे शिल्पी जो अपूर्व मन्दिरों का निर्माण कर सकते थे, उनके चित्र बनाने में ही लगे रहे। जो माली नन्दन-कानन की प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले उपवन तैयार कर सकते थे, वे उनके फलों के स्वाद की ही कल्पना करते रहे! ऐसी ही स्थिति के कारण आज हमें इस बात पर विवेचना करने की आवश्यकता हुई है कि हिन्दी कविता किस ढंग की हो?

इस प्रश्न पर विचार करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि किस उद्देश्य को लेकर कविता की सृष्टि हुई है। मेरी राय में उसी से इस प्रश्न का समुचित उत्तर मिल सकता है। तो, आइए, पहले उसी ओर चलें।

शान्त तपोवन है। वृक्ष फूले-फले हैं। उनके नीचे ब्रह्मचारी-गण वेदाध्ययन कर रहे हैं। ऊपर शुकादि पक्षी कभी-कभी उनके शब्दों की आवृत्ति कर देते हैं। सुरभित समीर उस पवित्र ध्वनि को यज्ञ के धुवें के साथ अनन्त नभोमण्डल में फैला रहा है। कहीं मयूर नाच रहे हैं, कहीं मृग विचरण कर रहे हैं। सब निर्भय हैं। पास ही निर्मल नीरा नदी बह रही है। उसमें जलचर जीव क्रीड़ा कर रहे हैं। एक ओर तट पर ऋषि-कन्यायें घड़ों में जल भर रही हैं। उनकी सुन्दर और सरल मूर्तियों को हृदय में धारण करके जल मानो और भी लहरा उठता है। चारों ओर प्रेम और ममता का मिलन हो रहा है। किसी को किसी से द्वेष नहीं। स्वाभाविक वैर रखनेवाले जन्तु भी मानो हिल-मिल रहे हैं। ये सब बातें महर्षि के उस तप के प्रभाव से थीं, जिससे वे स्वयं भी नृशंसभाव से इस पद को प्राप्त हुए थे। वे कौन थे? महर्षि वाल्मीकि!

एक दिन महर्षि इसी पुण्याश्रम से जा रहे थे। लताएँ उनके चरणों में पुष्पांजलि दे रही थीं। सुगन्धित समीर उनकी कीर्ति फैला रहा था। वृक्षों पर बैठे हुए पक्षिगण उनका जय-जयकार कर रहे थे। मृग-शावक अपने विशाल और सरल नेत्रों से उनकी ओर देखते हुए कृतज्ञता का भाव प्रकट कर रहे थे। और महर्षि? वे इन सब बातों को देख कर एक अव्यक्त राज्य में विचरण कर रहे थे। किन्तु हाय! अचानक यह क्या हुआ? इस शांत तपोवन में यह किस का चीत्कार गूंज उठा? महर्षि चौंक पड़े। वह विषाद

ध्वनि उनके रोम-रोम में बज उठी। उन्होंने घूम कर देखा। दिखाई दिया कि समीप ही एक बाण-बिद्ध रक्ताक्तकलेवर क्रौंच पक्षी पृथ्वी पर छटपटा रहा है और उसकी प्रेयसी पक्षिणी अपने पर फैलाए हुए उसी के ऊपर, आकाश में, चीत्कार कर रही है। निकट ही एक कालमूर्ति निषाद अपने लक्ष्य की सफलता का गौरवानुभव करता हुआ मुग्ध-दृष्टि से अपने शिकार की ओर देख रहा था।

इस दृश्य को देखकर महर्षि को आपार दुःख हुआ। उनका हृदय करुणा से द्रवीभूत हो उठा। क्रौंच के प्रति उनकी सहानुभूति यहाँ तक बढ़ी कि वह एक अपूर्व—जो पहले कभी नहीं देखी गई थी—मूर्ति धारण करके निषाद को उसके निन्द्य कार्य के लिए धिक्कार देती हुई अकस्मात् बाहर निकल पड़ी। उसी शब्द-रूपिणी निन्द्य कार्य-विरोधिनी और सहानुभूति-प्राणसुन्दरी मूर्ति का नाम कविता है।

कविता की वह मूर्ति अपूर्व तो थी ही, साथ ही मनोहारिणी और विलक्षण शक्ति-शालिनी भी थी। स्वयं महर्षि उसे देख कर चमत्कृत हो गए। महर्षि ने देखा कि वह संसार का असीम हित कर सकती है। परन्तु यह भी देखा कि दुरुपयोग करने से वह अहित भी कर सकती है। वह उस दीपशिखा के समान है जो समाज के मन्दिर को आलोकित कर सकती है, परन्तु यदि असावधानता से उसका प्रयोग किया जाय तो वह उसे भस्म भी कर सकती है। क्योंकि महर्षि ने देखा कि वह हृदय पर अधिकार कर लेनेवाली वस्तु है। तब उन्हें दूसरी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा, क्या करना चाहिए, जिससे उनके द्वारा मानव-जाति का कल्याण-साधन हो। सोच-विचार कर उन्होंने उसका सम्बन्ध एक आदर्श के साथ जोड़ना स्थिर किया। सौभाग्य से आदर्श भी ऐसा मिल गया, जिसकी समता आज तक नहीं पाई गई। वह आदर्श हमें आज भी रामायण में देखने को मिलता है। बस, मणि-कांचन का संयोग हो गया। महर्षि भी कृतकृत्य हो गए। संसार में नए युग का आरम्भ हुआ।

सभ्यता की इस आदि-भूमि में कविता का यह इतिहास अत्यन्त महत्त्व की घटना है। किन्तु आप कह सकते हैं कि इससे क्या? प्रश्न तो यह है कि हिन्दी-कविता किस ढंग की हो? ठीक है, परन्तु मेरी राय में कविता उसी ढंग की होनी चाहिए, जिससे उद्देश्य -सिद्धि हो। और उद्देश्य क्या है, सो उसके इतिहास से ही भलीभांति प्रकट हो जाता है। इसी से मैंने यहाँ उसका उल्लेख करना उचित समझा।

जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है, सहानुभूति के कारण ही कविता की उत्पत्ति है। उसका कार्य बुरी बातों का विरोध करना है और उसकी सफ़लता आदर्श का विकास करने में है। अतएव यह स्पष्ट है कि कविता इसी ढंग की होनी चाहिए।

मेरी राय में हिन्दी ही क्या, किसी भी भाषा की कविता ऐसी ही होनी चाहिए। जहाँ इन बातों से उसका सम्बन्ध न रहे वह केवल मनोविनोद की सामग्री समझी जाय। वहीं समझना होगा कि उसका उद्देश नष्ट हो गया, उसका ढंग बिगड़ गया। दुर्भाग्य से हिन्दी की कविता में ऐसा ही हुआ है। इसीसे हिन्दी में कवित्ता का आधिक्य होने पर भी, काम की कविता थोड़ी ही पाई जाती है। इससे यह न समझना चाहिए कि हिन्दी के कवि काम की कविता न कर सकते थे। ऐसा समझना भूल है। मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं। मैं तो यही कहूँगा कि समय के फ़ेर से रुचि बदल गई। यदि हमारे कवियों की प्रवृत्ति एक ही ओर को न हो गई होती तो आज यह प्रश्न पूछने की आवश्यकता ही न पड़ती कि कविता किस ढंग की हो। यदि हमारे कवि एक ही ओर न झुक जाते, तो आज हम भी विश्व-सभ्यता के मन्दिर में ऐसे-ऐसे भाव लेकर उपस्थित होते कि उनके प्रभाव से कुछ निराला ही प्रकाश पड़ता। अतएव मानना पड़ेगा कि हमारी प्रतिभा का प्रयोग समुचित रीति पर नहीं हुआ। नहीं तो भारतेन्दु की तरह यदि हमारे कवि—"यदि पाखे पतिव्रत ताखे घरो' कहने से अवकाश पाते, तो वे भी कितने ही सत्य हरिश्चन्द्र और नीलदेवी आदि छोड़ जाते।

परन्तु अब भगवान् की कृपा से समय ने पलटा खाया है और हम लोगों की रुचि बदलने लगी है। इसी के फ़ल से भारतीय—विशेष कर बंगाली—कवियों ने थोड़े ही समय में 'मेघनादवध', 'वृत्रसंहार' और 'पलाशीर-युद्ध' जैसे काव्य-ग्रंथ लिख डाले हैं। यही नहीं, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने कवित्व-बल से सारे सभ्य संसार को चकित करके दिखला दिया है कि यदि भारतीय कवित्व-शक्ति का प्रयोग उचित रीति पर हो, तो अब भी

उसकी समता कोई देश नहीं कर सकता। उद्योग करने से हम भी ऐसा ही कर सकते हैं। परन्तु हम तो अभी यही विचार रहे हैं कि हिन्दी-कविता किस ढंग की हो! खैर, यह भी गनीमत है।

कविता की उद्देश्य-सिद्धि के विषय में उसके इतिहास से जो तीन बातें प्रकट होती हैं, उन्हीं के विषय में अब मैं कुछ कहूँगा।

पहली बात सहानुभूति है। साथ-साथ अनुभव करने को सहानुभूति कहते हैं। कवि में इस गुण का होना अनिवार्य है। जब तक हम स्वयं किसी विषय को अनुभव न कर सकेंगे, तब तक दूसरों को उसका अनुभव कैसे करा सकेंगे? जिस कविता में सहानुभूति के भाव नहीं वह यथार्थ कविता नहीं। सहानुभूति ही ऐसी चीज है जो सबके मन को आकर्षित कर सकती है। उसकी उत्पत्ति सहृदयता से होती है। उसके लिए उदार हृदय की आवश्यकता है। कवि को स्वयं ऐसा होना चाहिए और अपनी कविता द्वारा ऐसे भावों को परिस्फुट करना चाहिए।

कवि की कविता में मुख्य विषय के साथ अलक्ष्य भाव से उसकी सहानुभूति रहती ही है। यह स्वाभाविक है। मेघदूत की यक्ष-पत्नी का स्मरण कीजिए। उसकी जो दशा वर्णन की गई है, उसके साथ कवि की सहानुभूति स्पष्टतया प्रकट होती है। यक्ष मेघ के हृदय में भी उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न कराने की चेष्टा करता है—

> सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
> शय्योत्संगे निहितमसकृद् दुःखदुःखेन गात्रम्।
> त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
> प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तिरात्मा।

अर्थात्—

> सेज परे कोमल खरे बिन आभूषण गात।
> धारत अबला होयगी परी विकल बिलखात।
> तेरे हू आँसू जलद देगी अवसि बहाय।
> सरस-हृदय जन होत हैं बहुधा मृदुल-स्वभाय।।

यही नहीं, यक्ष अपने विषय में भी मेघ के हृदय में सबसे पहले सहानुभूति उत्पन्न कराता है। तब वह संदेश ले जाने की प्रेरणा करता है। वह उसे मार्ग में सुन्दर-सुन्दर दृश्य देखने का लोभ भी देता है, परन्तु पहले—"सन्तप्तानां त्वमसि शरणम्"—तू सन्तप्त जनों का रक्षक है—यही कहता है। जिन सुन्दर दृश्यों के देखने का लोभ वह मेघ को देता है, उनके विषय में भी उसकी अनुभूति प्रकट होती है और वह अनुभूति यथार्थ में कवि-कुल-गुरु की ही है, जिसे उन्होंने पाठकों के हृदयों में प्रकट किया है। हमारे कवियों को भी ऐसा ही करना चाहिए। हमारी कविता इसी ढंग की होनी चाहिए कि उसके विषयों के साथ पाठकों की सहानुभूति हो और वे विषय सामयिक हों। अर्थात् समय के अनुकूल विषयों पर हमें कविता करनी चाहिए और उनके साथ लोगों में सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए।

मान लीजिए कि घोर दुर्भिक्ष है। लोग भूखों मर रहे हैं। हर दम लुटेरों का भय है। पल-पल कठिनता से बीत रहा है। लोगों को जीवन की आशंका है। ऐसी दशा में हमने गाने-बजाने की ठानी। तो, कहिए, हमारा यह काम किसे रुचिकर होगा? गाना अच्छी चीज है और सबके लिए है, पर ऐसे समय में सर्वसाधारण से उसका क्या सम्बन्ध होगा? उसका स्वर कितना ही लय-विशिष्ट क्यों न हो, पर वह समयोचित नहीं कहा जा सकता। वह उलटा विरक्तिकर होगा। इसी प्रकार हमारे समाज की तो कुछ और ही दशा है और कविजी और ही कुछ कह रहे हैं। तो, कहिए, उनका यह काम कहाँ तक उपयुक्त होगा? स्वयं कविजी भले ही उससे आनन्दित हों, किन्तु हमें उससे क्या?

अथवा, मान लीजिए कि एक समाज विलासी और आलसी हो गया है। लोगों में बुरी बातें फैल गई हैं। ऊँचे भाव दूर हो गए हैं। ऐसी दशा में कवि का यह कर्तव्य है कि वह अपनी कविता में ऐसे भावों पर घृणा प्रकट करके लोगों के चित्त में भी उनके प्रति घृणा उत्पन्न करने की चेष्टा करें।

इससे यह न समझना चाहिए कि वर्तमान समय में हमें शृंगार-रस की कविता लिखनी ही न चाहिए अथवा उससे सर्वथा उदासीन हो जाना चाहिए। ऐसा नहीं। यथावसर हमें दाम्पत्य-प्रेम के भाव भी प्रकट करना आवश्यक है। दुर्दिनों में भी यह भाव विलुप्त नहीं हो सकता। फिर कैसे कहा जा सकता है कि हमें इसका त्याग करना चाहिए? परन्तु इतना अवश्य कहा जायगा कि इस विषय में हमारे वर्णन सुरुचि-संगत होने चाहिए और उनकी एक सीमा रहनी चाहिए। नंगी-नंगी बातों का वर्णन सर्वथा अनुचित है। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि अब भी हमारे उपन्यासों में इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। दत्त, बंकिम और रवीन्द्र बाबू के उपन्यासों में भी शृंगार-रस का वर्णन है। पर उन्हें पढ़कर अन्त में दाम्पत्य-प्रेम की ही शिक्षा मिलती है। इधर हमारे उपन्यासों की इससे विपरीत दशा है। उनके परिणाम तक पहुँचने के पहले ही इतनी कुरुचि फ़ैल जाती है कि उनकी शिक्षा के लिए स्थान ही नहीं रहता। उनके आदर्श पात्र भ्रूण-हत्या तक कर डालते हैं। यह सर्वथा अनुचित है। ऐसा न होना चाहिए।। अस्तु।

मतलब यह, कि हमें अपने समाज से सहानुभूति होनी चाहिए और हमारी कविता में उसके अनुकूल सामयिक भावों का विकास रहला चाहिए। तभी समाज का कल्याण-साधन हो सकता है। पारस्परिक सहानुभूति उत्पन्न करने की ओर भी हमें लक्ष्य रखना चाहिए। उसके बिना उन्नति का मार्ग नहीं खुल सकता। सहानुभूति ही एक को दूसरे की सहायता करने में प्रवृत्त करती है। उसी की प्रेरणा से कुन्ती दीन ब्राह्मण के बदले भीम को राक्षस के मँह में भेज देती है। भूखा रन्तिदेव आगे आया हुआ थाल दूसरी ओर सरका देता है और बुद्धदेव राज-पाट छोड़ कर लोकोद्धार के लिए भिक्षुक बन जाते हैं। अतएव सहानुभूति को उत्पन्न करना, उसे फैलना और स्थिर रखना कवि का मुख्य कर्तव्य है। हमारे कवियों को ऐसा ही करना चाहिए। एक विद्वान कहता है—"क्या तुम लेखक बनना चाहते हो? तब तुम अपनी जाति की सौ-सौ शताब्दियों की संचित दुःखकथा का वर्णन करो। यदि इतने पर भी तुम्हारा हृदय द्रवित न हो—वह रो न उठे—तो लेखनी फेंक दो। सब कोई तुम्हारे पाषाण-हृदय को पहचान लें।"

दूसरी बात, बुरे कामों का विरोध है। इसके साथ एक बात और है। वह यह कि अच्छे कामों का अनुरोध। मनुष्यमात्र में प्रवृत्तियों का होना स्वाभाविक है। सबका जीवन कर्ममय है। अतएव जब बुरे कामों का विरोध करना कविता का काम है, तब अच्छे कामों का अनुरोध करना स्वतः सिद्ध है। हमारे कवियों को सर्वदा इसका ध्यान रखना चाहिए और अपनी कविता में यह विरोध और अनुरोध बराबर दिखलाना चाहिए। हमारे समाज में इस समय जो सर्वसम्मत बुराइयाँ फैल रही हैं उनके दुष्परिणाम हमारे सामने प्रकट करके दिखाना उनका कर्त्तव्य है। साथ ही अच्छी बातों के सुफल भी दिखलाना उचित है। तभी कविता से लाभ हो सकता है। कोरा मनोरंजन तो गप-शप में भी हो जाता है। यदि कविता का भी यही काम है तो उसका होना न होना बराबर है। फिर उसमें विशेषता ही क्या? आप कह सकते हैं कि यदि उसमें कुछ विशेषता नहीं तो उन बातों के होने में भी ऐसी कौन-सी विशेषता है? झूठ न बोलो, परोपकार करो और ईश्वर में विश्वास रक्खो, ये बातें तो धर्मशास्त्र आदि ग्रंथों में स्थान-स्थान पर लिखी ही हैं और इन्हें साधारणतः सभी जानते हैं। ठीक है। क्या इन बातों का उस रूप में हम पर विशेष प्रभाव पड़ सकता है? झूठ न बोलने की ही बात लीजिए। हम जानते हैं कि झूठ बोलना बुरा है। फिर भी हमारा इस बात पर विशेष ध्यान नहीं जाता। क्योंकि यह वाक्य ऐसा नहीं है कि हृदय को आकर्षित कर सके। इस वाक्य में उपदेश तो है, पर रस नहीं। किन्तु कविता उपदेश को नीरस नहीं रहने देती। वह उसे मधुर बनाती है। इसी से हृदय उसे सानंद ग्रहण कर लेता है। कवि का यही सबसे बड़ा महत्त्व है कि वह शिक्षा को सरस बना देता है। वह उपदेश देता है, पर परोक्ष-भाव से। और, इससे बढ़कर उपदेश देने की कोई दूसरी रीति नहीं। ऐतिहासिक घटनाओं अथवा काल्पनिक कथाओं को अपनी मधुर भाषा में वर्णन करके

उनका सजीव चित्र वह हमारे सामने उपस्थित कर देता है। उन घटनाओं अथवा कथाओं के परिणाम हम प्रत्यक्ष की तरह देखते हैं। उस समय हम स्वयं ही समझ लेते हैं कि अमुक बात का अमुक परिणाम होता है। इसी से कविता का महत्त्व है। झूठ न बोलो, यह धर्मशास्त्र का उपदेश है। पर कवि इस बात को दूसरी तरह से बतलाता है। बहुतों ने उस चरवाहे की कहानी सुनी होगी जो जंगल में भेड़ें चराता हुआ बहुधा झूठ मूठ बाघ कहकर चिल्ला उठता था। उसका चिल्लाना सुनकर खेतों से लोग दौड़ आते थे और वह उन्हें देखकर हँस देता था। दो-चार दफ़े ऐसी ही दशा देखकर फिर लोगों को उसका विश्वास न रहा। अतएव फिर कोई उसके चिल्लाने पर ध्यान न देता। एक बार सचमुच ही बाघ आ गया। चरवाहा बहुत चिल्लाया, पर लोगों का विश्वास उसकी बात पर से उठ गया था, इसलिए कोई न आया। अंत में वह बाघ के द्वारा मारा गया। कवि के उपदेश देने की यही रीति है। झूठ न बोलो—कहने में जो बात नहीं है वह इसमें है और खूबी यह है कि कवि को यह नहीं कहना पड़ा कि झूठ न बोलो। उसने अपनी कवित्व शक्ति के बल से हमारे सामने उसका परिणाम उपस्थित कर दिया, जिसे देखकर हम स्वयं कह उठे कि झूठ बोलना ऐसा बरा होता है। अर्थात् कवि ने स्वयं न कहकर हमीं से कहला लिया कि झूठ न बोलना चाहिए। कहिए, कितनी बड़ी बात है। अतएव जो लोग कविता को केवल मनोविनोद की सामग्री समझते हैं, वे भूलते हैं। कविता का काम मनोरंजन के साथ शिक्षा देना है। कवि के वाक्य कान्ता-सम्मत वाक्य कहलाते हैं। अर्थात् जैसे कान्ता अपने हाव-भाव-सौंदर्य आदि से मन को अपने अधीन करके इच्छानुसार कार्य करा लेती है और मन स्वयं ही आग्रह, आनन्द और उत्साहपूर्वक उसकी इच्छा के अनुकूल कार्य करने को उद्यत हो जाता है, वैसे ही कविता भी मन को आकर्षित करके सार-गर्भित उपदेश देती है। अतएव हमारे कवियों को मनोरंजन के लिए ही कविता न लिखनी चाहिए। हमारे समाज में जो आलस्य, निरुत्साह, अकर्मण्यता और स्वार्थ-परायणता आदि दोष फ़ैल गए हैं उनके दुष्परिणाम हमारे सामने रखने चाहिए। इस प्रकार उनके प्रति हमारे हृदय में विरोध उत्पन्न करके सद्‌गुणों की ओर हमारी प्रवृत्तियों को उत्तेजना देनी चाहिए।

तीसरी बात आदर्श दिखलाने की है। हमारे कवियों को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। आदर्श-चरित पढ़ने की ओर पाठकों की विशेष रुचि रहती है। उसमें एक कौतूहल-पूर्ण आग्रह-सा रहता है। कविता में उसका वर्णन और भी मधुर हो जाता है। इस देश में असंख्य आदर्श जन हो गए हैं। उनकी धार्मिकता, धीरता, वीरता, उदारता, परोपकारिता और न्यायप्रियता एवं शील और सौजन्य आदि गुणों से इतिहास आलोकित हो रहा है। उनके ऊपर अनन्त काव्य-नाटक आदि लिखे जा सकते हैं। ऐसे काव्य चरित्र-गठन में सहायक ही नहीं होते बल्कि उसके कारण होते हैं। संस्कृत में इस तरह के चरित्रात्मक काव्य लिखने की परिपाटी विशेष रूप से रही है। परन्तु पीछे से उनमें भी कथा भाग गौण होता गया, उसके मिस से कवियों ने केवल अपने कर्त्तव्य-कौशल का ही विस्तार अधिक किया है। कालिदास के रघुवंश और माघ के शिशु-पाल बध को मिलाकर देखिए। दोनों महाकाव्य हैं। पर उनकी रचनाओं में विशेष अंतर है। कालि-दास के आखेट, प्रभात और ऋत्वादि के वर्णन आवश्यकता के अनुसार ही होते हैं और उनमें उनका कथानक छिप नहीं जाता। परन्तु माघ को देखने से जान पड़ता है कि उन्हें उन बातों का वर्णन करना अभीष्ट था। इसलिए उन्होंने उनके लिए प्रयत्न किया है और कथाभाग उनमें छिप-सा गया है। हमें इस विषय में कालिदास का अनुकरण करना उचित है। सृष्टि-सौंदर्य का अनुभव कराना कवि का अवश्य कर्तव्य है, पर उसके पीछे पड़कर हमें मुख्य विषय को न भूलना चाहिए। स्थान-स्थान पर उसकी योजना अवश्य करनी होगी, किन्तु ऐसे वाक्यों में उसको ही कथावस्तु न बना लेना होगा।

किसी-किसी की राय है कि महाकाव्यों की अपेक्षा खण्डकाव्य लिखना अधिक उपयोगी है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि महाकाव्य के कितने ही विषय कवि पर एक प्रकार का दबाव डालते हैं। जिस कथा में उनकी आवश्यकता न हो उसमें भी उन्हें लाने से अप्रासंगिकता का डर है। पर उनके बिना महा-काव्यत्व नहीं रहता। बन-विहार-वर्णन, जलकेलि-वर्णन, आखेट-वर्णन, षड्ऋतु-वर्णन, गिरि-वर्णन और समुद्र आदि के वर्णन सभी महाकाव्यों के लिए आवश्यक समझे गए हैं। परन्तु इस विषय में हमें परतन्त्र

होना उचित नहीं। समय और कथानक के अनुकूल बातों का ही वर्णन करना उचित है। इन बातों के बिना महाकाव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता। मेरी राय में किसी एक विषय पर भी कविता लिखकर महाकवि होने का परिचय दिया जा सकता और कविता-मर्मज्ञों से स्वीकार भी करा लिया जा सकता है। प्राचीनों के मत से मेघदूत खण्डकाव्य है, पर उसे महाकाव्य मानने में कोई बाधा का कारण नहीं। लोग उसे महा-काव्य मानते भी हैं। फ़िर हमलोग उसके लिए कुछ विशेष बातों की प्रतिबन्धकता क्यों स्वीकार करें? जो बातें किसी विशेष कथानक से सम्बन्ध रखती है वे उसी के साथ अच्छी मालूम होती हैं। तो क्या हमें महाकाव्य लिखते समय हर दफे उन्हीं के अनुकूल कथानक खोजना होगा? यह तो उलटी बात है। अथानक के अनुकूल विषय-योजना होनी चाहिए। महाकाव्य के कितने ही विषय समयानुकूल भी नहीं। ऐसी दशा में उनके बिना महाकाव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता।

हमारे काव्यों की भाषा यथासम्भव सरल रहनी चाहिए। प्रसाद-गुण के बिना सारे गुण दबे रहते हैं। राष्ट्रीयता और व्यापकता के लिहाज से बोलचाल की भाषा में कविता लिखना विशेष उपयोगी है। खुशी की बात है कि इसका प्रचार दिनोंदिन बढ़ रहा है और इसके विरोधियों की संख्या घट रही है। जो लोग "खड़ी बोली" को कविता के योग्य नहीं समझते और पुरानी भाषा में ही—जिसे खड़ी बोली वाले चाहें तो पड़ी बोली कह सकते हैं—कविता किये जाने का आग्रह करते हैं, वे सच पूछिए तो हमारी राष्ट्रभाषा के जानी दुश्मन हैं। वे उस पर व्यर्थ दोषारोपण करके उसकी योग्यता में बट्टा लगाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु, जैसा ऊपर कहा गया है, प्रसन्नता की बात है कि ऐसे लोगों की संख्या घट रही है और बोलचाल की भाषा की कविता दिनोंदिन अपनी लोकप्रियता सिद्ध कर रही है। तथापि एक बात का ध्यान रखना उचित है। वह यह कि हमें अपनी भाषा दुरंगी न होने देना चाहिए। कितने ही कवियों की भाषा ऐसी होती है कि उसे नई और पुरानी भाषा का मिश्रण कह सकते हैं। ऐसा न होना चाहिए। यह असमर्थता और हीनता-सूचक तो है ही, उद्वेग-जनक भी है। अतएव इससे बचना चाहिए।

हमारी भाषा में कुछ दिन से बेतुकी कविता भी होने लगी है। ऐसी कविता यद्यपि अभी बहुत थोड़ी प्रकाशित हुई है, किन्तु यह बात भावी अभ्युदय की सूचक है। अतएव ऐसी कविता लिखने वालों को उत्साह मिलना चाहिए। जब दूसरी भाषाओं में ऐसी कविता हो चुकी है और होती है तब कोई कारण नहीं कि हिन्दी में न हो सके। अनुप्रास मिलाने में कभी-कभी भाव को अवश्य हानि पहुँचती है। और, कविता के लिए भाव ही मुख्य वस्तु है। अतएव शब्दालंकारों के पीछे अर्थालंकारों को बिगाड़ना ठीक नहीं। भाव को अक्षुण्ण रखकर यदि अनुप्रास आवें तो निस्संदेह कविता की कार्यप्रियता बढ़ जाती है, तथापि तुकहीन कविता यदि कानों को खटके तो उसे कानों का ही विकार समझना चाहिए—

बस, अब मुझे यही निवेदन करना है कि—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।"

इस लेख की पृष्ठभूमि में एक तथ्य की ओर शान्ति से ध्यान दे लिया जाय, तभी हम इस लेख का ऐतिहासिक महत्त्व कूत सकेंगे। १८८५ में भारतेन्दु-युग का अंतिम परिच्छेद पूर्णाहुति को प्राप्त होता है और उसी वर्ष मैथिलीशरण गुप्त का जन्म होता है। भारतेन्दु-युग के बाद अराजकता-युग अपने सीमित सृजन को लेकर भारतेन्दु के व्यक्तित्व की गुरुता का नगाड़ा तो बजाता ही रहता है। लेकिन, जब महारथी और सारथि-रूप में प्रभुविष्णु और सकर सेनापति के संयुक्त दायित्वों को मजबूती से हाथ में थामे हुए द्विवेदीजी अपना युग स्थापित करते हैं, तब भी उनके इर्दगिर्द जो अन्य पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही थीं, उनमें एक उच्छृं-खलता और अराजकता अनेक दृष्टियों से फैल चली थी। द्विवेदीजी का पूरा जीवन (जब तक वे सक्रिय रहे) उत्तेजना से विरक्त, उत्तमर्ण के रूप में रहा और राष्ट्रभारती को अपने व्यक्तित्व का वरदान और आशीर्वाद देता ही रहा और अराजकता के विरुद्ध संग्राम-मुखी रणभेरी भी बजाता रहा। गुप्तजी उनके दाएँ हाथ हैं। अपने कविता-गुरु की विधायिनी शक्ति का अधिकार वे युगान्तरकारी सूत्रधार के रूप में पा चुके हैं।

'पंचपुकार का उपसंहार' और 'होली का हास्य' आदि कविताओं द्वारा उन्होंने सरल मन और मनोविनोदी ढंग से अराजकता के विरुद्ध रंग खेला है, लेकिन अराजकता सुरसा राक्षसी जो ठहरी। अपनी लेखनी की प्रेरक श्रुति और प्रांजल भाषा के अर्थगाम्भीर्य का श्रेय लेकर आपने इस लेख में चारों ओर फैले अज्ञान व अज्ञान-जनित आतंक और द्वन्द्व के विरुद्ध मौलिक प्रयास किया और पहली बार हिन्दी-कविता की वैज्ञानिक गवेषणा करते हुए उसकी सूक्ष्म विशेषता जिस रूप में की, वह आज भी अपने साधु अर्थ ताजा बनाए हुए हैं! ! भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कविता का मंगल-स्वरूप लेकर अवतारी भाव से राष्ट्र को क्या कुछ कम दे गए हैं? गुप्तजी ने उनकी दीर्घ परम्परा को उत्कर्षोन्मुखता सौंपते हुए इस लेख में एक खरा दिशा-उद्बोधन दिया है।

सम्मेलन का मंच अनेक अर्थों में दुराग्रहों का मंच भी रहा है। इसी लखनऊ सम्मेलन में श्री वियोगी हरिजी ने व्रजभाषा की पैरवी की। उनके पास तर्क नहीं थे, राष्ट्रीय चेतना नहीं थी, स्वयं किस पक्ष का समर्थन कर रहे थे, इसकी भी सजगता नहीं थी। आपने व्रजभाषा का समर्थन करते हुए एक प्रकार से खड़ी-बोली के सभी आरोपों को निःसंकोच स्वीकार कर लिया। पर इसकी ध्वनि न देते हुए आप जिद्दी बालक की तरह बोलते चले गए और खड़ी बोली की कविता और उसके कवियों को खूब कोसते गए और कहने लगे कि व्रजभाषा देवभाषा से भी मधुर है; जिसे व्रजभाषा में आनन्द नहीं आता, वह मनुष्य नहीं बन्दर है। वियोगी हरिजी ने कितना सच कहा। बन्दर अपने प्राकृतिक विधान से कभी पतित नहीं होता, लेकिन व्रज-भाषा समझनेवाले तथाकथित मनुष्य व्रजभाषा के नायिका-शृंगार और चोली-दामन-कुच-नितंब की नग्न वीभत्सता में पतित होने का भी गौरव अर्जित कर लेना चाहते थे!! वियोगी हरिजी ने मैथिलीशरण के इस लेख का संदर्भ देते हुए काफी कटु आलोचना की। पर यह आलोचना आज अपना शब्द-चमत्कार तक खो बैठी है, उसकी हस्ती भी तो इतनी-सी थी।

वियोगी हरिजी की आलोचना एक महत्वपूर्ण रहस्योद्घाटन कर देती है। १९०० तक व्रजभाषा के हिमायती आक्रामक थे, हिन्दी भाषा की कविता वाले केवल नम्र अनुरोध भर करते थे। गुप्तजी ने अब आक्रामक होने की दिशा में पहला कदम उठाया था!

द्विवेदी-युग इन क्षणों में उत्तम वयस पा चुका था। गुप्तजी का यह लेख उसका एक परिपक्व लक्षण है। हिन्दी-कविता जहाँ स्वयं भावाभिव्यंजना की क्षमता सम्पूर्ण रूप में ग्रहण कर चुकी थी, वहाँ उसके कवि अपने गुरु दायित्वों को उत्खनन करने में भी संकोच न करते थे। वे अपनी पीठ-पीछे की परम्परा की उत्तम अवस्थिति जाँचने में ही अपनी सकुशलता समझते थे। द्विवेदी-युग का परिपाक इसी मनहर रूप में उत्खचित हुआ है।

इस लेख ने मैथिलीशरणजी के जीवन में कृतित्व का दूसरा अध्याय खोल दिया। अभी तक वे लोकप्रिय कवि के रूप में माने जा रहे थे। इस लेख के लेखक के रूप में वे गद्य-लेखक के रूप में सामने आते हैं। 'भारत-भारती' की भूमिका और कामता प्रसादजी गुरु को दिए गए उत्तर में उनका गद्य उतना स्वादिष्ट नहीं बन पड़ा था। इसके उपरान्त आपका गद्य एक निश्चित मान्यता लेकर अपनी अलग अभिरुचि स्थापित करता है।

द्विवेदी-युग के अन्तिम चरण और गुप्तजी की नई मानसिकता

१९१४ में भारतीय कुलियों का प्रश्न जोर पर था और महामना मदनमोहन मालवीय जैसे इम्पीरियल कौंसिल के माननीय सदस्य उसको बन्द करने में अपनी कानूनी बुद्धि का सारा जोर लगाने पर तुले हुए थे। १९१४ में ही विश्वयुद्ध शुरू हुआ। अंग्रेजों से पराधीन भारत उस युद्ध में बलात् शरीक हुआ; चेता भारत पराधीनता की अभिशप्त घड़ियों को कम-से-कम करने की धुन में व्यस्त रहा। १९१५ में ही भारत में गांधी-युग का प्रारम्भ हुआ। और १९१५ से ही भारतीय काव्य में मैथिलीशरण ने एक नई मानसिकता को शुक्लेन्दुवत् प्रस्तुत करते हुए हिन्दी-काव्य की शारदीय शोभा को उत्कर्षित कर दिया।

द्विवेदी-युग के वास्तविक परिपाक की प्रतिपूर्ति के लिए गुप्तजी का १९१५ से लेकर १९२० तक जितना साहित्य-अंश 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ है, उस पर एक दृष्टि डालने से इस अवधि के उनके बहु-प्रतिज्ञ स्वप्नों

से साक्षात्कार हो जाता है और यह भी जानकारी लगे हाथों मिल जाती है कि वे एक साँस किस प्रकार समाधिस्थ भाव से भारती का श्रम-साध्य भांडार भरने की तपस्या में जुटे हुए थे ;

१९१५ : जनवरी—शकुन्तला की विदा। फरवरी—शकुन्तला का त्याग। मार्च—दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति। अप्रैल—अनुरोध। मई—आँसू। जून—संबंध। जुलाई, अगस्त, सितम्बर में क्रमशः कृषक-कथा का पहला, दूसरा, तीसरा अंश। अक्टूबर—मेरा भारत। नवम्बर—तुलसीदास। दिसम्बर—स्वर्गीय-संगीत (४)।

१९१६ : जनवरी—नम्र निवेदन। मार्च—ओले की कहानी (बालकों के लिए)। अप्रैल—अनुताप। मई—भारतीय कृषक। जून—साकेत (प्रथम सर्ग)। जुलाई—साकेत (द्वितीय सर्ग)।

१९१७ : जनवरी—साकेत (तृतीय सर्ग)। मई—साकेत (चतुर्थ सर्ग)। जून—पुष्पांजलि। जुलाई—वैतालिक (१)। अगस्त—वैतालिक (२)।

१९१८ : अप्रैल—राजकुमारी रूपवती का पत्र महाराज राजसिंह के नाम (पत्रावलि)। जून—काले बादल (कविता-चतुष्टय)। जुलाई—साकेत (पंचम सर्ग)। अगस्त—विकट भट। सितम्बर—आय का उपयोग। अक्टूबर—खेल और दस्ताने। नवम्बर—स्वयमागत। दिसम्बर—मातृ-मूर्ति।

१९१९ : जनवरी, मार्च, अप्रैल, जुलाई—लीला (१, २, ३, ४)। मई—कवि। अगस्त—मोह। अक्टूबर—प्रतिज्ञा। नवम्बर—हाट।

१९२० : फरवरी, मार्च, अप्रैल, मई—वन-वैभव। जून—हे चन्द्र। अगस्त—प्रणाम। सितम्बर—प्रभु की प्राप्ति।

१९२१ : जनवरी—आँख-मिचौनी।

इस अवधि में अन्य पत्र-पत्रिकाओं में जो रचनाएँ प्रकाशित हुई, उनका ब्यौरा इस प्रकार है—

१९१५—'प्रभा' (खंडवा), वर्ष २, अंक १ : संबंध। अंक ५-६ : कविता। इस 'कविता' शीर्षक कविता को यहाँ उद्धृत कर लें—

> **कविता से सप्रेम कहा मैंने, "वर मुझको,**
> **दूंगा मैं उपहार अलंकारों का तुझको।"**
> **बोली तब वह कि, "मैं चाहती हूँ कब इसको ?"**
> **पूछा मैंने, "भला खोजती है फिर किसको ?"**
> **"जो मुझको हृदय का दाग दे"**
> **कविता ने फिर उत्तर दिया—**
> **"वह कोई हो मैंने उसे**
> **अपना करके वर लिया।"**

'इन्दु' (काशी) : सांत्वना। 'प्रताप' (कानपुर) का राष्ट्रीय-अंक (जनवरी, १९१५—संभवतः यह प्रताप का वर्ष १, अंक १ था) : अफ्रीका-प्रवासी भारतवासी। पहले यह कविता 'सरस्वती' में छपने गई थी, किन्तु सामयिक राजनीति से इस पत्रिका को द्विवेदीजी ने अछूता ही रखा था, अतः इस कविता ने 'प्रताप' के राष्ट्रीय अंक की शोभा-वृद्धि की। एक प्रकार से यह कविता भारतीय कुलियों पर न होकर, गुप्तजी की पहली कविता गांधीजी पर ही मानी जानी चाहिए। इसी कविता से पता चलता है कि गांधी-युग शुरू होते ही गुप्तजी ने कितनी सूक्ष्मता से गांधी-विचारधारा को आत्मसात् कर लिया था। यहाँ पर आप प्रथम, छठा, सातवाँ और अंतिम आठवाँ पद पढ़ें—

> **दीन हैं, हम किंतु रखते मान हैं,**
> **भव्य भारतवर्ष की संतान हैं।**

> **हाँ, वही भारत हमारा देश है**
> **शेष जिसके आज भी कुछ गान हैं।**

कर्मकर हैं, पर किसी से कम नहीं;
सब नरों के स्वत्व एक समान हैं।
न्याय से अधिकार अपना चाहते,
कब किसी से माँगते हम दान हैं।।

शत्रु मत समझो हमें अपना अहो!
मित्रता के साथ हिलमिल कर रहो।
हम मितव्यय—तुम अपव्यय-शील हो;
दोष इसमें क्या हमारा है कहो?

क्या यही कहना तुम्हारा धर्म है—
हम सुखी हों, और तुम सब दुख सहो
बात तो यह है कि गुरु समझो हमें,
और संचय-बोध से वंचित न हो।।

मन न होगा रुद्ध कारागार से,
प्राण मर सकते भला किस भार से?
देख ली हैं घोर नादिरशाहियाँ!
क्या डराते हो हमें तलवार से?

मिट नृशंसों के गये हैं वंश भी,
पर हमारा कुछ न बिगड़ा वार से।
जो न हो साहाय्य हमको तुम यहाँ—
तो सताओ तो न यों अविचार से।।

आर्य गांधी! देश का संदेश सारा भेज दो,
शीघ्र भारतवर्ष को वर्णन हमारा भेज दो।
यह, हमारी ओरसे लिख दो कि "प्यारे भाइयो—
बस हमें समवेदना का तुम सहारा भेज दो।

दृढ़ रहें योंही यहाँ हम, ईश से अनुनय करो,
और शुभ-संवाद अपना तार द्वारा भेज दो।
विघ्न बाधाएँ हमारी सब यहाँ बह जायँगी,
जो हमें तुम एक अपनी अश्रुधारा भेज दो।।

१९१७—'प्रताप', १९ जुलाई : स्वराज्य-परिभाषा; २२ अक्टूबर : नवयुग का स्वागत; ४ नवम्बर : स्वराज्य की योग्यता। 'प्रताप' में गुप्तजी की अनेक छोटी रचनाएँ 'विदग्ध-हृदय' तथा अन्य कल्पित नामों से भी गणेशजी ने छापी हैं।

१९१८—साप्ताहिक प्रताप, ५ अगस्त : क्या करूँ? ; १५ जुलाई : प्रताप के पुनर्प्रकाशन पर 'भारतीय हृदय' मे ३८ पंक्तियों की एक ओजस्वी कविता 'पुनरोक्ति'।

१९१९—साप्ताहिक प्रताप, १७ मार्च : आह्वान; १२ मई : भारत का भाग्य-निर्णय; १९ मई : न्याय में संदेह; २५ अगस्त : जीवन का अस्तित्व। ये सब ४-४ पंक्तियों की सूक्तियाँ मात्र हैं। 'न्याय में संदेह' इस प्रकार है—

हथकड़ी भर दी पुलिस ने एक मेरे मित्र को।
किन्तु छोड़ दिया पकड़ कर उस उदार चरित्र को।।
दोष पूछा तो कहा, "कुछ भी नहीं, सन्देह था।"
खूब! देखो न्याय में सन्देह के इस चित्र को!!

१९२०—'प्रभा' (कानपुर; खंडवा से १९१५ में बंद हुई; गणेशजी ने दुबारा प्रकाशन शुरू किया), स्वप्नोत्थित; मार्च : बक-संहार; अप्रैल : बक-संहार। 'शारदा' (जबलपुर; संपादक, श्री गोविंद-दास), मार्च : प्रार्थना।

१९२१—'प्रभा' (कानपुर), अगस्त : तिलकावतार। इसी वर्ष लोकमान्य तिलक का निधन हुआ था, उस पर श्रद्धांजलिमूलक कविता थी।

इन छः वर्षोंमें मैथिलीशरणजी की (उनकी आयु के हिसाब से २९ वर्ष से लेकर ३५ वर्ष की आयु तक) कविता का प्रभाव उत्तम भवितव्यता ग्रहण कर रहा था। १९१५ तक कवि की प्रकाशित कृतियों की संख्या छः हो चुकी थी। १६–९–१५ को 'तिलोत्तमा' लिखकर पूरी की गई और १५–१–१६ को वह छप कर तैयार हो गई। 'चन्द्रहास' १६–९–१५ को पूरा लिखा गया और ३१–१०–१६ को वह छपकर तैयार

हो गया। इस प्रकार ये दो कृतियाँ मिलाकर प्रकाशित पुस्तकों की संख्या ८ हो गई। इसी समय ६–११–१६ को 'भारत-भारती' का तीसरा संस्करण भी तैयार हो गया। इस अवधि में 'कृषक कथा' भी २०–५–१५ को पूरी लिख ली गई। प्रारंभ में कृषक-कथा में ही फिज़ी की एक कविता भी शामिल करने का विचार था, फिर इसको स्थागित कर दिया। २०–३–१५ को द्विवेदीजी ने लिखा था, "कोई बात समय और सरकार के विरुद्ध न रहे। इशारा भी न रहे। कल नया कानून बना है। कानून क्या, मार्शल्ला, जंगी कानून है। फाँसी तक की सजा है।" फिर २५–१–१५ को लिखा, "फिज़ी का हाल इस से निकाल दिया, यह अच्छा किया। ज़माना नाजुक आ रहा है। लेकिन इन सब कृतियों से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति 'साकेत' का लेखन नए सिरे से शुरू होना है। इसका पहला सर्ग १६–६–१५ से प्रारंभ किया गया और १७–२–१६ तक वह पूरा किया गया। इसके बाद ११–५–१६ तक उसके चार सर्ग और लिख लिए गए। इसी साहित्य-सृजन के बीच 'पद्य-प्रबंध' का दूसरा संस्करण भी १४–४–१६ तक प्रकाशित होकर सामने आ गया। सन् १६ के बाद 'विकट भट', 'वन-वैभव', 'वैतालिक'—ये तीन ग्रंथ और तैयार किए गए। मधुप नाम से 'वीरांगना' और 'पलासी युद्ध' जैसा काव्यग्रंथ भी पद्यानुवादित कर दिया गया। १६१६ में 'वैतालिक' भी द्विवेदीजी की अनुमति के बाद छपा। इन सब प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रंथों की कुल संख्या १६ हो जाती है। सन् १६२१ में द्विवेदीजी सरस्वती से अवकाश लेकर अलग हुए। उनके वरद हस्त के नीचे उस कवि द्वारा, जिनको उन्होंने शिशुवत् उँगली पकड़ कर अपनी हथेली पर बैठाकर कवि बनाया था, द्विवेदी-युग में १५ ग्रंथ हिन्दी-साहित्य को भेंट कर देना कम श्रेयष्कर और उल्लेखनीय कार्य नहीं था। इस पर यदि द्विवेदीजी गर्व करते रहे, तो वह उनके लिए शोभनीय था।

ऊपर हमने श्री मधुपजी के नाम को लेकर एक सरस प्रश्न किया था। उसका उत्तर १६१६ में आकर भी अनिर्णीत ही रह जाता है। १६१६ की सरस्वती (मई अंक) में ही द्विवेदीजी ने अपने प्रथम सम्पादकीय 'पलासी का युद्ध' शीर्षक से एक लम्बा वक्तव्य 'मधुपजी' की नई पद्यानुवाद पुस्तक का परिचय देते हुए इस रूप में दिया है, "बंगला के सुप्रसिद्ध कवि श्रीयुत नवीनचन्द्र सेन से अनेक साहित्य-सेवी परिचित होंगे। 'पलाशिर युद्ध' उन्हीं की एक अद्भुत कृति है। इस काव्य का रसास्वादन उन सज्जनों को कराने के लिए जो बंगला नहीं जानते, हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध कवि ने 'पलासी का युद्ध' तैयार किया है। यह 'पलाशिर युद्ध' नामक काव्य का पद्यानुवाद है। किसी भी ग्रन्थ का एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना कठिन काम है। किसी काव्य का अनुवाद करना तो और भी मुश्किल है। इस कार्य में यदि कुछ सफलता हो सकती है, तो प्रायः कवियों को ही। 'पलासी का युद्ध' का अच्छा अनुवाद हुआ है। इसको पढ़ने में मूल ग्रंथ का बहुत कुछ आनन्द आ जाता है। ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुआ। परन्तु पाठकों के मनोरंजनार्थ हम उसके कुछ स्थल उद्धृत किये देते हैं। पलासी के युद्ध के पहले कवि ने कल्पना द्वारा क्लाइव को राजलक्ष्मी के दर्शन करा दिये हैं। राजलक्ष्मी का वर्णन और उसकी वक्तृता सुनिए. . .।"

आश्चर्य है, द्विवेदीजी ने इस एक सुप्रसिद्ध कवि का नाम नहीं खोला। और यह कृति मधुप कवि के ही नाम से प्रकाशित हुई! जैसे 'मधुप' का कृतित्व युगों के लिए मैथिलीशरण गुप्त के कृतित्व से जाति-बहिष्कृत रहने चला हो!!

खैर, उक्त १५ मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त इन छः वर्षों की अवधि में जो फुटकर रचनाएँ निकल रही थीं या लिखी जा रही थीं, वे 'मंगलघट' और 'झंकार' नामक काव्य-संग्रहों के स्वरूप ग्रहण करती जा रही थीं।

द्विवेदी-युग के परिपाक-परिच्छेद में गुप्तजी के काव्य का यह कलेवर सर्वाधिक पठनीय और मूल्यवान था।

द्विवेदीजी के अवकाश लेते ही गुप्तजी का 'सरस्वती' से सम्बन्ध-विच्छेद

सन् १६१२ में द्विवेदीजी की पत्नी का निधन हुआ। उसके बाद 'सरस्वती' में कठोर श्रम करते हुए, और उचित पारिवारिक संरक्षण के अभाव में उनका मानसिक शैथिल्य भी बढ़ चला। सन् १६१५ में एक बार गुप्तजी द्विवेदीजी से कानपुर में मिले और उनसे कहा कि आप अपना स्वास्थ्य देखिए, और सरस्वती

के लिए इतनी जांफिशानी क्यों करते हैं ? कुछ सोचकर द्विवेदीजी ने कहा कि हम दौलतपुर में रहेंगे और सरस्वती अपने इलाहाबाद में ! इस पर गुप्तजी ने आचार्य से कहा कि मैं भी अब सरस्वती से छुट्टी चाहता हूँ। आपको अपने शरीर की उपेक्षा करना अच्छा नहीं है। अब विश्राम कीजिए। जो कुछ अनायास हो सके, वही किया कीजिए। इण्डियन प्रेस तो अपना स्वार्थ देखता है। सरस्वती का जैसा सम्पादन आप करते हैं, वैसा किसी से करायेगा, तब मालूम होगा। और उनसे पूछा कि प्रवासी का सम्पादन कैसे होता है ? इस पर द्विवेदीजी ने बताया कि उसके सम्पादकीय विभाग में बहुत आदमी रहते हैं। तो गुप्तजी बोले कि—लीजिए ! सरस्वती के विभाग में बस ३५) रु० का एक सहकारी मात्र ? इस बातचीत में स्पष्ट हो गया था कि द्विवेदीजी अब इण्डियन प्रेस की व्यवस्थापकीय और संचालक-नीति से तंग आ गए थे और वे जल्दी ही सम्पादन छोड़नेवाले थे। उनकी शरीर-रक्षा के लिए यह अब अनिवार्य हो गया था। पर छोड़ते-छोड़ते पाँच साल निकल गए। तब १९२१ में और भार असह्य हो गया और उन्होंने स्थायी विश्राम ले लिया।

द्विवेदीजी के बाद 'सरस्वती' के सम्पादक श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी हुए। द्विवेदीजी अवकाश ग्रहण करते ही दौलतपुर चले गए। बख्शी जी प्रयाग में आकर रहने लगे। उन्होंने हिन्दी की इस प्रथम कोटि की पत्रिका का भार सम्हालते ही द्विवेदीजी द्वारा व्यवस्थित शासन-पद्धति की मूल आस्था में सबसे पहले परिवर्तन करना वांछनीय समझा। शासन-प्रिय व्यक्तित्व का ऐसा ही स्वभाव होता है। दूसरे, आपने अभी तक की जो लेखक-सूची थी, उसके अतिरिक्त नए लेखकों को इस सूची में समादृत करने का संकल्प लिया। पर इस जल्दबाजी में आपके निगूढ़ गोपन का एक रहस्य अनजाने कुछ अशुभ अर्थों को प्रकट करते हुए क्लेश मचा बैठा। मेरी यह पक्की मान्यता है कि बख्शीजी ने यथार्थ में ऐसी मंशा रखी नहीं थी। फिर भी दुर्घटना घटनाओं की विषमता का ही दूसरा नाम है. . . .

पहले शासन-पद्धति की मूल आस्था में परिवर्तन करने की बात लें।

श्री बख्शीजी ने 'सरस्वती' का सम्पादन प्रारम्भ करते ही, इसके प्रथम अंक से, हिन्दी-कविता पर प्रतिमास सम्पादकीय-रूप में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया। यह नए युग की ध्वनि थी, नए सम्पादन का स्वर था। जनवरी के तीसरे सम्पादकीय में 'कविता की भाषा' पर विचार करते हुए आपने अनुप्रास बनाम अन्त्यानुप्रास-हीन कविता की चर्चा की और लिखा, "इसमें सन्देह नहीं कि कविता में भाव प्रधान हैं और भाषा गौण। परन्तु हमें यह जान रखना चाहिए कि भावों की अभिव्यक्ति भाषा ही द्वारा हो सकती है। कवि के मस्तिष्क में भाव निराधार नहीं उड़ते रहते। जब वे आते हैं तब भाषा ही का परिच्छेद पहन कर आते हैं। अतएव कविता में भाव को भाषा से पृथक् देखना अनुचित है। संस्कृत में काव्य की परिभाषा की गई है काव्यं रसात्मकं वाक्यम्—यहाँ जैसे रस पर जोर दिया गया है, वैसे ही वाक्य पर भी। कविता में भाषा का वैसा ही प्राधान्य है जैसा भाव का। . . .हृदय के गम्भीर भाव पद्य में ही भलीभाँति व्यक्त हो सकते हैं:. . .यदि कविता मनुष्यों के इस स्वाभाविक आनन्द का बहिष्कार करेगी, तो वह आनन्दप्रद भी न रहेगी। चेस्टरटन का यह कथन सिर्फ पद्यों के लिए नहीं, किन्तु सानुप्रास पद्यों के लिए है।"

फरवरी के प्रथम सम्पादकीय 'साहित्य की गति' में आपने लिखा, ". . .साहित्य की इस अवनति का एक प्रधान कारण यह है कि मनुष्यों की आशा और आकांक्षा इहलोक में ही सीमाबद्ध हो गई है। जब तक मनुष्य भविष्य की अज्ञेय यवनिका को भेद करने की चेष्टा करेगा, तब तक काव्य और साहित्य का द्वार अवरुद्ध हो जाता है. . .इस भावना से साहित्य की उन्नति नहीं होगी, अवनति होगी।"

ये भाव 'सरस्वती' के विगत २१ वर्षों की गम्भीर सम्पादकीय नीति के[1] संतुलन में नए थे और उस भावी की सूचना दे रहे थे, जो नए सम्पादक के हाथों 'सरस्वती' में निकट भविष्य में ही उपस्थित होने वाला

---

[1] ९ वर्ष पहले, १९१२ मार्च के अंक में द्विवेदीजी ने अपना पहला संपादकीय अपनी काव्य-गत नीति का पिष्ट-पेषण करते हुए इस प्रकार लिखा था, "आर्थर डैवीसर फिके नामक एक साहब का एक लेख आधुनिक कविता पर अमेरिका के एक मासिक पत्र में निकला है। कवि के लक्षणों पर विचार करते हुए साहब कहते हैं कि कवि को देश और काल की अवस्था का पूरा ज्ञान होना चाहिए। वह मनोविज्ञान का वेत्ता हो और मनुष्य

था। पर इन विचारों के साथ ही मई के प्रथम सम्पादकीय में जो विचार प्रकट हुए, वे द्विवेदीजी के कथन को निर्वीर्य करनेवाले सिद्ध हुए। दो वर्ष पहले, १९१९ के मई अंक में द्विवेदीजी ने 'पलासी का युद्ध' पद्यानुवाद अपनी सम्पादकीय लेखनी से समादृत किया था। बख्शीजी ने इस समादर को अनादर में बदल दिया, "... हिन्दी में अभी बंगला-काव्यों के अनुवाद करने में हमें उतनी सफलता नहीं हो सकती। फिर एक बात और है। काव्य में कवि की आत्मा रहती है, उसका एक विशेषत्व रहता है। वह उसके अनुवादक में नहीं आ सकता। यही कारण है कि कविवर मधुप के 'पलासी का युद्ध' से हमें सन्तोष नहीं हुआ। माडर्न रिव्यू के समालोचक ने यह कहा था कि अनुवादक ने स्वच्छन्दता से काम नहीं लिया, नहीं तो अनुवाद में हमें अधिक सफलता होती। 'पलासी-युद्ध' के विषय में कहा गया है कि 'कवि ने आग्नेय गिरि के अग्निस्त्राव के साथ करुणा-मन्दाकिनी की पवित्र धारा बहाई है।' पर हमने अनुवाद में न तो अग्नि की ज्वाला का अनुभव किया और न हमें मन्दाकिनी-प्रवाह का ही दर्शन मिला। हाँ, उसमें हमने मधुप के माधुर्य का रसास्वादन अवश्य किया।"

इस प्रकार 'काव्य' उपशीर्षक के अन्तर्गत मधुप नाम के मैथिलीशरण गुप्त के कृतित्व पर १९२१ की 'सरस्वती' ने ही अपनी पहली १९१९ वाली स्वीकृति-सूचक मुहर के ऊपर उसे, बदरंग करते हुए, दूसरी अस्वीकृति की मुहर लगाई!!

ऊपर देख चुके हैं कि गुप्तजी ने १९२० की अगस्त वाली 'सरस्वती' में 'प्रणाम' शीर्षक कविता लिखी थी। जहाँ तक कविता का निगूढ़ संकेत है, वह द्विवेदीजी के विराट व्यक्तित्व को ही उन्मुख कर किया गया है। द्विवेदीजी अब सदा के लिए सरस्वती से विदा ले रहे थे, इसकी जानकारी गुप्तजी को थी। और उसी श्रद्धा-विगलित मनोभाव से उन्होंने वह पद्य तैयार किया था। लेकिन बख्शीजी ने अपना सम्पादन प्रारम्भ करते ही कुछ ऐसे लेख दिये, जिनमें कवित्व के नए मूल्यांकन पर जोर था। इसी प्रसंग में आपने अपना नाम न देते हुए अगस्त की सरस्वती में 'कवि-रहस्य' शीर्षक एक लेख लिखा, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है: "...कवि होना बड़ा कठिन माना गया है...तो भी अभ्यास से लोग कवित्वपूर्ण पद्यों की रचना कर सकते हैं। यह सच है कि ऐसी पद्य-रचना से कोई कवियों की पंक्ति में नहीं बैठ सकता। पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में उसकी अच्छी कद्र होती है। इसलिए वह सर्वथा निरर्थक नहीं कही जा सकती...अच्छा, अब एक उदाहरण लीजिए। गद्य भाग—यह एक वृक्ष है। इसका नाम शाल है। देखो, वह कितना ऊँचा है, जमीन को फाड़ कर यह आकाश को छू रहा है। यहाँ चिड़ियाँ बसेरा करती हैं। यह खूब हरा-भरा है। इसे देखकर आँखें ठण्डी हो जाती हैं। इसके नीचे मुसाफिर ठहर कर विश्राम करते हैं। यह खूब मजबूत झाड़ है। हवा इसे गिरा नहीं सकती। इसकी सुगन्ध हवा में फैल रही है। आओ, इस झाड़ को हम प्रणाम करें।

"यदि हम इसे किसी पत्र-सम्पादक के पास भेजें तो वह कूड़ा-कचरा समझ कर फेंक देगा। परन्तु जब हम इसे अपने मस्तिष्क के पद्य भाग में भेजते हैं तब देखिए इसका रूप, कितना दिव्य हो जाता है। जो पढ़ेगा वही मुग्ध हो जायगा:

बहु कलकंठ खगों के आश्रय, पोषक या प्रतिपाल प्रणाम।
भव-भूतल को भेद गगन में उठनेवाले शाल, प्रणाम।

के चरित्र का उसने अच्छी तरह अध्ययन भी किया हो। सबसे अच्छी कविता वह है जिसमें जीवन की सार्थकता के उपाय और उसके उद्देश्य मनोहारिणी भाषा में बतलाये जाते हैं, मनुष्य को अच्छी शिक्षा दी जाती है, उसे उन्नति का भाव दिखाया जाता है और उसके हृदय को उदार और सहानुभूतिपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया जाता है। अच्छी कविता में उन्हीं विषयों का वर्णन होता है जो मनुष्य के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और जो उसकी आत्मा और आध्यात्मिकता पर गहरा असर डाल सकते हैं। आप आगे चलकर कहते हैं कि बुद्धिमान लोग उसी कविता की कदर करते हैं जो उच्च कोटि को प्रकट करती है, हृदय और बुद्धि के ऊपर अच्छा प्रभाव डालती हो और समयोपयोगी आवश्यक उपदेशों को ऐसे ढंग से देती हो जिससे मनुष्य बहुत जल्द उन्हें ग्रहण कर सके।"

हरे भरे, आँखों को शीतल करनेवाले, तुम्हें प्रणाम।
छाया देकर पथिकों का श्रम हरनेवाले तुम्हें प्रणाम।
अटल अचल, न किसी बाधा से डरनेवाले, तुम्हें प्रणाम।
शुद्ध सुमन-सौरभ समीर में भरनेवाले, तुम्हें प्रणाम।

यह एक उत्कृष्ट कविता है। कविता में जो गुण होने चाहिए, वे सब इसमें हैं। इसमें माधुर्य है, भाषा-सौष्ठव है और वह भाव है, जो पाठक को क्षण भर पृथ्वी से हटा कर ऊँचा ले जा सकता है।

किन्तु, इससे पूर्व 'सरस्वती' में गुप्तजी के काव्य-श्रम पर छींटे फेंके गए। जो कवि इस पत्र का शिरमौर था, शासन बदलते ही उस पर आक्षेप उठाये जाने लगे। इससे चिंतित होकर द्विवेदीजी ने एक पत्र बख्शीजी को लिखा, जिसका उत्तर उन्होंने २२ नवम्बर को दिया, "मई १६२१ की सरस्वती में गुप्तजी की निन्दा छपी है। यदि वह सचमुच निन्दा है, तो अगस्त १६२१ की सरस्वती में उनकी प्रशंसा करने क्यों बैठता? उस महीने की सरस्वती का ११४ पेज आप कृपा कर अवश्य देखिए। उसमें मैंने गुप्तजी की एक कविता के विषय में लिखा—यह एक उत्कृष्ट कविता है। कविता में जो-जो गुण होने चाहिए वे सब इसमें हैं। इसमें माधुर्य है, भाषा-सौष्ठव है और वह भाव है, जो पाठक को क्षण भर पृथ्वी से हटा कर ऊँचे ले जा सकता है। 'शंकर की रचना'[1]...में मैंने जो कुछ लिखा है, वह मेरी सच्ची राय है। मैं मान लेता हूँ कि वह बिलकुल गलत है। पर मैंने उसको गुप्तजी की निन्दा करने के लिए (सो भी द्वेषभाव में) लिखा है, यह समझना गलत है। मैं इतना नीच नहीं हो गया हूँ कि गुप्तजी 'सरस्वती' में कविता न भेजें, सिर्फ इसीलिए मैं उसकी निन्दा करने लगा हूँ...आप विश्वास रखिए, कि चाहे सरस्वती में रद्दी लेख छापने के कारण मैं नौकरी से निकाल दिया जाऊँ पर किसी भी व्यक्ति की अनुचित निन्दा कर मैं अपने हृदय को कलुषित न करूँगा ...पाप कमाने के लिए क्या मैं तीर्थराज आया हूँ?..."

जब शासन बदलते हैं, तो मान्यताएँ बदलती ही हैं। उसमें एक कटु स्वाभाविकता होती है। जब शासन की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन होता है, तो कुछ व्यक्तियों के प्रति जमे हुए विश्वास हिल जाते हैं और जिनके प्रति विश्वास जमने में अनेक रुकावटें हो रही थीं, वे अपनी नींव का दृढ़ीकरण बड़ी सुविधा से कर ले जाते हैं। 'सरस्वती' के सम्पादन का रद्दोबदल इसके सिवाय और कर भी क्या सकता था?

२४ नवम्बर, १६२१ को गुप्तजी ने अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए द्विवेदीजी महाराज को लिखा, "पूज्यवर श्रीमान् पंडित जी महाराज, प्रणाम, कृपा-पत्र मिला। यह जानकर खेद हुआ कि श्रीमान् की तबियत अच्छी नहीं। यदि गाँव जाने से तबियत अच्छी हो, तो वहाँ जाइए। इस साल बुखार न जाने कैसा है। हम लोग भी अब तक उसके शिकार रहे हैं।

"...इस लेख में मेरे ऊर्मिला-विरह-वर्णन पर भी टीका की गई थी। इससे मुझे कुछ दुःख अवश्य हुआ था। श्रीमान् जानते हैं कि साकेतवालों का और मेरा क्या सम्बन्ध है। इसीसे यह दुःख हुआ था। वह भी इसलिए कि मैंने ऊर्मिला देवी को हास्यास्पद बना दिया, रस का विपर्यय कर डाला[1]।

---

[1] यह मई का छठा सम्पादकीय हैं। आप इसे यों शुरू करते हैं, "सोलन नामक एक ग्रीक विद्वान का कथन है कि जब तक तुम किसी का अन्त न देख लो तब तक उसकी सफलता अथवा असफलता का निश्चय मत करो। हिन्दी की आधुनिक कविता का अभी प्रारम्भ ही हुआ है। अतएव अभी हम यह नहीं कह सकते कि उसे सफलता प्राप्त होगी कि नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि अब लोग खड़ी बोली की कविता का विरोध नहीं करते। 'भारत-भारती' और 'प्रिय-प्रवास' खड़ी बोली ही के काव्य हैं। इनका प्रचार भी अच्छा हुआ है। परन्तु क्या वे दोनों काव्य हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति हैं—क्या पचास-साठ वर्ष के बाद भी ये ऐसे ही लोकप्रिय बने रहेंगे? आजकल हिन्दी के चार कवि लब्धप्रतिष्ठ हैं—पं० श्रीधर पाठक, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त और पं० रामचरित उपाध्याय। पाठकजी की कविता में सरलता है, उपाध्यायजी की रचना में उनका भाषाधिकार लक्षित होता है, गुप्तजी की कृति में माधुर्य है और रामचरितजी की कविता में आडम्बरहीन कविता है। शंकरजी का स्थान इन सबसे पृथक है...शंकरजी की रचना में उनका यह आत्मविश्वास साफ लक्षित होता है। गुप्तजी का 'भगवान भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती'

इसके बाद 'प्रणाम' शीर्षक कविता की चर्चा और उसकी प्रशंसा के उपरान्त प्रसंग इस तरह बदलता है, "...हिन्दी के कवियों के लिए अलंकारों का एक बड़ा झमेला है। नवीन छन्दों की अब काफी संख्या हो गई है। पर अलंकार पुराने ही हैं। इसीसे मेल नहीं खाता। प्राचीन काल के कवि प्राकृतिक दृश्य से अलंकारों की सृष्टि करते थे। अब नगरों की वृद्धि होने के कारण कवि प्रकृति का आश्रय ग्रहण नहीं कर सकते। उन्हें एक छोटे कमरे में कुर्सी पर बैठकर अनन्त प्रकृति का विलास कल्पना द्वारा देखना पड़ता है। पाश्चात्य सभ्यता की वृद्धि से अब कवि अपनी कविता कामिनी के पैरों में नूपुर के स्थान में बूट जकड़ देते हैं और कलाई में कंकण का स्थान रिस्टवाच के चमड़े के बन्द को दे डालते हैं। इससे कविता-कामिनी का रूप अस्वाभाविक हो जाता है। उनका भाषा-परिच्छेद भी अल्पात्यल्प हो रहा है। बंगाल में हरिप्रसादजी शास्त्री ने इन चुटकी (?) कविताओं पर एक बार बड़ा रोष किया था। पर हमारी समझ में वर्तमान कविता का यह स्वाभाविक रूप है। अब उदाहरण लीजिए। हमें एक आधुनिक वियोगिनी का वर्णन करना है। वियोग-व्यथा के वर्णन में संस्कृत-शब्दों का अधिक प्रयोग करना चाहिए। इससे गम्भीरता आ जाती है। अतएव, हम उसे यों कहेंगे, "नई भोली-भाली वधू, जिसमें सुहाग की लाली थी, अब ऐसी कुम्हलाई जैसी करवाली अथवा ग्रस्त-चन्द्र की उजियाली। यह मूर्छित पड़ी हुई है। बिल्कुल चुप है, बोलती तक नहीं। हाय, हाय, इस कुमुदवती को किस ने जल से भिन्न किया, किस ने अपने तीक्ष्ण करों से इसे छिन्न कर दिया। आँखें भर-भर कर सखियाँ उसे जगा रही हैं। पर भयंकर, खरतर शोक है। चैतन्य मोह से बढ़ कर है।" यह तो गद्य भाग हुआ। अब इसे पद्य भाग में ले जाइए। देखिए, कैसी अच्छी कविता बनकर निकलती है:

यह नई बधू भोली भाली, जिसमें सुराग की थी लाली।
कुम्हलाई कि ज्यों करवाली—या ग्रस्त-चन्द्र की उजियाली।
किन तीक्ष्ण करों से छिन्न हुई, यह कुमुदवती जल-भिन्न हुई।
भर भर कर भीति भरी अँखियाँ, करती थीं उसे सजग सखियाँ।
पर शोक भयंकर खरतर था, चैतन्य मोह से बढ़कर था।

आप अपनी कल्पना के द्वारा कुर्सी-टेबुल से सज्जित एक कमरे को देखिए। बीचोंबीच एक कोच पड़ा है। उस पर सुशिक्षिता नायिका मौन पड़ी हुई है। आँखें वियोग के दुख से बन्द हैं। इतनी कल्पना कर लेने के बाद आप उपर्युक्त पद्यों को पढ़िए। देखिए, कितना मौजू है। रस का विपर्यय अवश्य हो जायगा; करुणरस हास्य रस हो जायगा और हास्य रस करुण रस में परिणत हो जायगा। यदि हिन्दी के कोई कवि हास्य रस का आचार्य होना चाहते हैं, तो उनके लिए यह एक अच्छी कुंजी है। बस, अभी कवि का इतना ही रहस्य हम जान सके हैं। मौजी।"

जिनकी कविताओं से सरस्वती को व्यापक लोकप्रियता मिली, उन्हीं गुप्तजी के सर्वोत्कृष्ट काव्य 'साकेत' के षष्ठ सर्ग की प्रारम्भिक इन पंक्तियों की उक्त रूप में 'सरस्वती' में ही छीछालेदर करना कहाँ तक संगत था?

उनका आत्मशैथिल्य प्रकट करता है। गुप्तजी भगवान् की कृपा से अपनी भारती का प्रचार करना चाहते हैं। गेटेका कथन है कि कवि में एक अलक्षित शक्ति निवास करती है। उसकी प्रेरणा से वह कविता लिखता है। रवीन्द्रबाबू ने अपनी कविता में इस शक्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है। जो इस शक्ति का अनुभव नहीं करता, वह कवि नहीं तुक्कड़ है...।"

अपने 'कवि-रहस्य' लेख में 'मौजी' नाम से बख्शीजी ने एक प्रकार से सारा कलेवर गुप्तजी के काव्य को ही कसने के लिए संजोया है। इस लेख का प्रारम्भ इस प्रकार हैं: "कवि होना बड़ा कठिन माना गया है। उसके लिए ईश्वर-प्रदत्त शक्ति चाहिए। कहावत प्रसिद्ध है कि कवि बनाया नहीं जाता, वह जन्म लेकर आता है। तो भी अभ्यास से लोग कवित्व पूर्ण पद्यों की रचना कर सकते हैं। यह सच है कि ऐसी पद्य-रचना से कोई कवियों की पंक्ति में नहीं बैठ सकता। पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में उसकी अच्छी कद्र होती है। इसलिए वह सर्वथा निरर्थक नहीं कही जा सकती। हिन्दी के पत्रों में जो कविताएँ छपती हैं, उनके विषय में हम राय देने का साहस नहीं कर सकते...।"

आज ३५ वर्षों बाद इस पर टिप्पणी करना एकदम व्यर्थ है। बे सिर-पैर की तुक मिलाकर केवल दुराग्रह ही इस प्रयास में उलूक-ध्वनि कर सका है!!

परन्तु मन ने यही कहा कि यदि यह भूल हुई है, तो जानबूझ कर नहीं। वे मेरे लिए अन्तर्यामिनी हैं, इसलिए वे मेरे भाव समझ लेंगी।...मेरी श्रीमान् से प्रार्थना है, कष्ट न हो तो किसी समय,...'साकेत' के पाँचवें सर्ग का प्रारम्भिक अंश पढ़कर मुझे लिख भेजने की कृपा कीजिएगा कि ऊर्मिला के वर्णन में मैंने अज्ञानता के कारण कोई ऐसी गलती तो नहीं की जिससे कि उनके निकट मैं अपराधी होऊँ।...यदि श्रीमान् उसमें कुछ रद्दोबदल करना उचित समझेंगे तो कर दूँगा, नहीं तो नहीं।

"खैर, आज यह मालूम हो गया कि कवि-रहस्य के लेखक भी बख्शीजी हैं...'प्रणाम' शीर्षक तुकबन्दी उन्हें पसन्द आई है, यह मेरा सौभाग्य है।...और मेरे उस (सरस्वती) में न लिखने की बात? इस सम्बन्ध में श्रीमान् के चरणों में कैफियत देने के लिए मैं बाध्य हूँ। झूठी बात न कहूँगा। अब उसमें लिखना उतना आवश्यक नहीं समझता। परन्तु मैं अन्यत्र भी कहाँ और कितना लिखता हूँ?...अनेक झंझटों में उलझे रहने के कारण तबीयत बुझ-सी गई है। सांसारिक बाधाएँ भी बहुत घेरती हैं। एक-न-एक चिन्ता लगी रहती है। मेरा शरीर भी घिसपिस ही रहता है। जो पुस्तकें अधूरी पड़ी हैं वे ही पूरी हो जायँ तो बहुत समझूँ! ...मेरी असमर्थता के कारण बहुधा लोग मुझ से नाखुश भी हो जाते हैं...बहुधा ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं। इनके कारण और भी जी टूट गया है। कभी-कभी तो यह इच्छा होती है कि साहित्य-क्षेत्र से हमेशा के लिये छुट्टी ले लूँ। पर अधूरी पुस्तकों का मोह बाधा देता है, विशेषकर 'साकेत' का। एक बार पुस्तकों को पूरा करने का प्रयत्न करूँगा। इसके बाद 'साकेत'। और बस, उसके बाद कुछ नहीं। यही विचार है, इसी से उसे अभी रख छोड़ा है।

"परन्तु मैं फिर निवेदन करता हूँ कि बख्शीजी के प्रति मेरा ऐसा विचार कदापि नहीं कि उन्होंने विद्वेष-वश मेरे प्रति वैसा लिखा है। मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे आशीर्वाद दें कि मैं फिर 'प्रणाम' शीर्षक तुकबन्दी की तरह कोई कविता लिखकर उन्हें संतुष्ट कर सकूँ। परन्तु साहस नहीं होता। कारण वही है, जो शंकर की रचना शीर्षक नोट में उन्होंने स्वयं प्रकट कर दिया है।

"बख्शीजी ने अपने नोट में ठीक ही लिखा है। सचमच मुझमें आत्मविश्वास बिल्कुल ही नहीं है। प्रसंगवश मैं श्रीमान् से एक बात कहता हूँ। बख्शीजी ने जिस लाइन को लेकर अपने नोट में मेरा जिक्र किया है, वह यह है—

भगवान, भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती।

"एक बार मेरे मन में आया था कि इसमें 'हमारी' के स्थान पर 'तुम्हारी' कर दूं। पर सोचा कि लोग कहेंगे कि लो, यह अपनी भारती को ईश्वर की भारती बना रहा है। मेरा चाहे जो मतलब हो, यह नहीं, भारती न ठहरी, श्रुति ठहरी। इसलिए जाने दिया।

"भारत-भारती के वर्तमान खण्ड के आरम्भ में लिखा है—

जिस लेखनी ने है लिखा उत्कर्ष भारतवर्ष का,
लिखने चली अब हाल वह उसके अमित अपकर्ष का,
जो कोकिला नन्दन विपिन में प्रेम से गाती रही,
दावाग्नि दग्धारण्य में रोने चली है अब वही!

इसमें मैंने पहले कोकिला ही लिखा था, पर कापी करते समय वहाँ 'पक्षिणी' कर दिया। पं० पद्म-सिंहजी ने जब कापी पढ़ी तब 'पक्षिणी' काट कर कोकिला कर दिया। मैंने उन्हें लिखा कि लोग कहेंगे कि अपने मुंह लेखनी को कोकिला की उपमा! परन्तु उन्होंने कहा, 'नहीं, कोकिला ही रखिए।' अस्तु,

"बख्शीजी की कृपा के लिए मैं उन्हें बहुत धन्यवाद देता हूँ। मुझे उनसे कोई शिकायत भी नहीं।... जिस विषय में उनकी जो राय होती है वही कहते हैं, यह बड़ी बात है...उनसे कह दीजिए कि वे भी मुझे इतना नीच न समझें।

"परन्तु हाँ, श्रीमान् से इतना कह देने में मुझे कोई संकोच नहीं मालूम होता कि कवि-रहस्य शीर्षक लेख के अन्त में 'साकेत' के उन पद्यों पर टिप्पणी करने में उन्होंने जिस शैली का अनुसरण किया है, उसके लिए मुझे जरूर खेद है...

"...श्रीमान् को शायद याद न होगा, 'प्रणाम' शीर्षक कविता मैंने श्रीमान् को ही लक्ष्य करके लिखी थी। उस समय कोई ऐसी बात हुई थी कि मुझे उस तरह के भाव उठे थे। उसका आरम्भ इस तरह है :

बहुकल कंठ खगों के आश्रम, पोषक या प्रतिपाल प्रणाम।
भव-भूतल को भेद गगन में उठनेवाले शाल, प्रणाम।

इसका अर्थ किया गया है : 'यह एक वृक्ष है। इसका नाम शाल है।' मालूम नहीं, यह अर्थ लेखक ने कैसे किया। 'शाल' तो स्वयं वृक्ष को ही कहते हैं। फिर, 'इसका नाम शाल' इस वाक्य का क्या अर्थ ? साल या साखू तो नहीं ? पर मैंने साखू को लक्ष्य करके वह कविता नहीं लिखी। यदि किसी खास वृक्ष को लक्ष्य करके वह कविता लिखी गई समझी जा सकती है, तो 'रसाल' को, क्योंकि मैंने आगे लिखा है—

देनेवाले औरों को ही सारे स्वफल रसाल, प्रणाम।

असल में तो रसाल यहाँ फल का विशेषण है। किसी भी वृक्ष के ऊपर, जिसमें उल्लिखित गुण हों, यह तुकबन्दी घटित हो सकती है। भला मैं साखू को ही लक्ष्य करके क्यों लिखता ? साखू के फल तो मैंने कभी खाये ही नहीं।

"यही कारण है कि उसकी प्रशंसा पर भी मैंने ध्यान नहीं दिया...

"विशेष क्या लिखूं। श्रीमान् ने मेरे लिए बहुत प्रयास किया है। श्रीमान् का वात्सल्यभाजन होने से, ईश्वर जानता है, मैं अपना बहुत बड़ा सौभाग्य समझता हूँ। जिस दिन से मैंने उन चरणों का आश्रय लिया है, मुझ पर श्रीमान् की कृपा बराबर बढ़ती ही गई। उनके प्रताप से मुझे अनेक प्रकार के लाभ भी हुए। मैं क्यों कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ ?

चरणानुचर,
मैथिलीशरण गुप्त।"

सचमुच गुप्तजी जैसे राष्ट्रकवि का व्यक्तित्व केवल द्विवेदीजी जैसे युग-निर्माता के ही हाथों सँवर सकता था, परिपुष्ट हो सकता था, सजीव मूर्ति रूप में खड़ा हो सकता था। जो 'भारत-भारती' नगर-नगर और गाँव-गाँव में असंख्य व्यक्तियों को एक नई चेतना का मन्त्र दे गई, उसके लेखक के बारे में यह कहना कि उसमें आत्मविश्वास नहीं है, सरासर पोच मनोवृत्ति है और कठमुल्लापन है। द्विवेदी-युग का अधिकांश काव्य-कृतित्व जिस कवि की लेखनी से अक्षय स्रोत के रूप में प्रवाहित हुआ, उसके ऊपर अनावश्यक रूप से छींटे उछालना साफ मनोवृत्ति नहीं हो सकती। द्विवेदी-युग के बाद जहाँ अन्य सक्रिय प्रवृत्तियाँ साहित्य क्षेत्र में अपना अभिनव कृतित्व ले कर आईं, वहाँ कठमुल्लापन भी बहुत ही दूषित रूप में आया। भारतेन्दु-युग के बाद अराजकता फैली, जिसकी जगह द्विवेदीजी ने गुप्तजी जैसे हाथों का योग पाकर सुव्यवस्था फैलाई। लेकिन उनके अवकाश ग्रहण करते ही गुरुडम और कठमुल्लापन हावी होने के लिए कितना अवश हो उठा... यह कठमुल्लापन वाचाल होकर उपस्थित हुआ।' इसने गुप्तजी की प्रशंसा भी कितने गलत भाव-पृष्ठ पर की ? कोई भी लोकप्रिय कवि, गुप्तजी के स्थान पर बैठकर, इसके बाद 'सरस्वती' में लिखना कैसे गवारा कर सकता था ? कोई गुंजाइश बाकी ही कहाँ छोड़ी गई थी ? गुप्तजी का 'सरस्वती' से सम्बन्ध-विच्छेद उतना ही ठीक था, जितना कि माता की कोख से नव-पुत्र का नाभि-नाल काट दिया जाना !

किन्तु यह दुर्घटना गुप्तजी के जीवन में एक नया शुभ लाई। अब उनकी शक्ति केवल 'सरस्वती' में ही लेखन करने से अवकाश पा गई और वे मुक्तभाव से अपने ग्रन्थों में जुट गए। हिन्दी का पाठक-जगत अब उन्हें समूल ग्रन्थ-लेखक के रूप में ही अपने हाथों में पाने के लिए लालायित रहता था। इस प्रकार, द्विवेदी-

युग का एक वास्तविक परिपाक यह भी हुआ कि गुप्तजी प्रतिष्ठित कवि के रूप में स्वतन्त्र रूप से काव्य-ग्रन्थ के रचयिता मान्य हुए। इसी के बाद गुप्तजी ने राष्ट्रभारती को अपनी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ अर्पित कीं !!

तृतीय विवाह, प्रेस का धन्धा और ऋणि-मुक्ति का क्रम प्रारम्भ

बचपन का प्रेम कब तरुणाई का श्रेय बन जाए, इसका निर्णय करने के लिए व्यक्ति की प्रौढ़ावस्था बीतते तक प्रतीक्षा करनी होती है। उस समय यह निर्णय करना और भी कठिन हो जाता है, जब व्यक्ति का जीवन घटना-विहीन हो, घटना त्यक्त हो और वह केवल एक दीर्घजीवी वटवृक्ष की तरह अपनी ही जड़ पर मजबूती से ऊपर की ओर प्रसार पा रहा हो और ऊपर से नीचे की ओर अपनी सघन डालियों का विस्तार पनपा रहा हो ! गुप्तजी का जीवन घटनाओं से न बाधित है, न उनकी कृपाओं पर आश्रित है। उनके जीवन का रस घटनाओं से निचोड़ कर निकाला हुआ नहीं है। चिरगाँव न तो बड़ा शहर है, न बड़ा कस्बा, न बड़ा गाँव है। न ही वह किन्हीं विशेष घटनाओं का या विचारों का संगम है। हाँ, चिरगाँव का हृदय कुमारी की तरह अकलंक और तरल है। उसने इतिहास की कृच्छ्र साधना की थी, कर रहा था। इस नाते गुप्तजी को विरासत में कृच्छ्र साधना जब मिली, तब उसमें कष्टकर कुछ नहीं था। वह स्वभाव में था। वही उनका जीवन-श्रेयस बना। वही उनका मानस-चक्षु बना। और देखते-देखते गुप्तजी का जीवन केवल मानस-चक्षुओं का जीवन बन गया। ऐसे व्यक्ति की जीवनी में चार चाँद लगाने का सवाल ही नहीं उठता। बस, उनके कर्म की भाषा को शुद्ध रूप से पढ़कर लिपिबद्ध ही तो कर देना है। इन पंक्तियों के लेखक का काम इसीलिए सरल है और इसीलिए सब से कठिन है, दुरूह अभियान की तरह कठिन !!

गुप्तजी के जीवन का एक ही आधार है। बालपन से ही उनमें जिस प्रवृत्ति का उद्वेग आया, वह पूरे प्राबल्य को लेकर आया। बालपन की चर्चा हम कर चुके हैं। १९०७ के आस-पास आपने फोटोग्राफी सीखने का उद्यम शुरू किया। वह उद्यम ही था, क्योंकि चिरगाँव जैसे शहर में जो भी मानसिक विलास की सामग्री आती थी, वह कानपुर से ही मँगाई जा सकती थी। इसके लिए एक 'डार्करूम' बनाया गया, प्लेटें मुहैया की गईं और सीखने के लिए खलक सिंह नाम के उस्ताद भी हाथ लग गए। केमरा सफेद हाथी नहीं, तो एक खर्चीले अतिथि से कम नहीं होता। सुबह से शाम, या फुर्सत में जब भी दौरा उभड़ आया, केमरा फिट करने, पोज लेने और उसके बाद नीगेटिव प्लेटों को धोने का श्रम ! यह क्रम दो वर्ष तक चला। १९०९ में 'सरस्वती' में जब गुप्तजी का चित्र पहली बार छपा, तो उसके परिचय में द्विवेदीजी ने लिखा था कि आपको फोटोग्राफी से भी शौक है। पर इस कार्य में विघ्न उस समय आया, जब दतिया महाराज के साले वह केमरा अपने साथ ही ले गए। केमरा गया, पर उसकी स्मृति 'डार्करूम' अब भी विद्यमान है !

कविता लिखने का श्रम जब फलप्रद हुआ और पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगीं, तो नई रुचि ने आसरा पाया। जमींदारी का काम नए सिरे से चलने लगा था। पुस्तकों की बिक्री से जो आय होने लगी थी, और वह सन्तोषजनक रीति में हो रही थी, व्यावसायिक दृष्टि से लाभप्रद हो रही थी, उस लाभ का एक उपयोग यह होने की बात आई कि जमीन के हिस्से में आमों के पेड़ लगाये जायें। १०-१२ बीघे का बाग लगाने का निश्चय हुआ। इसके लिए बनारस से आमों की, बढ़िया और सुस्वादु आमों की कलमें मँगाई गईं। कई तरह के आमों को लगाने का इरादा था। कुछ पौधे कलकत्ता और नागपुर से भी मँगवाए गए। सेठाई तौर-तरीके पिता के रक्त से आए थे। बनारस के जो बहुत ही स्वादिष्ट बेर होते थे, उनके पेड़ भी रोपे गए। बाँस भी बनारस से आया और अन्यत्र से भी पेड़ आए। गन्ना रोपा गया। साग-भाजी भी जमाई गई। एक बार बनारस से जो बढ़िया आम विलम्ब के कारण पार्सल में ही खराब हो गए, तो दुःख नहीं माना। उनके बीजों को ही इस सन्तोष के साथ रोपा कि आम नहीं, न सही, उनके पेड़ ही सही !

आमों के बाद दूसरा शौक चर्राया। यह चर्राया ही चर्राया। निभाव भी हुआ। पर जिसने आश्रम का जीना सीखा और फिर राजनीतिक आश्रम का तानाबाना चिरगाँव में आरोपित किया, वह इस शौक से पूरा लगाव निभा नहीं सकता था। यह शौक आशनाई से कम नहीं था। यह शौक एसेंस बनाने का

था। तैयार कर घर में रखने का था। लेकिन यह मन की उमंग द्वितीय पत्नी के निधन के पूरे एक बरस बाद जन्मी थी। और एसेंस भी कौन-सा? जिसके लिए इस युग की प्रसिद्ध कम्पनी अन्नपूर्णा का नाम याद किया जाता था। इसके अलावा एक दूसरा एसेंस और होता था, जिसे विलायती इत्र कहा जाता है। लेकिन इत्र वही बनाना है, जो यहाँ के फूलों से बन जाए। यहाँ के अर्थात् चिरगाँव के फूलों से। और चिरगाँव जैसे फूलों की बड़ी मंडी हो! अरे, चिरगाँव ने तो बस एक ही फूल पैदा किया—वह अपनी किस्म का एक ही फूल था और उसका नाम था मैथिलीशरण गुप्त। उस फूल की सुगन्ध सारे देश ने सूँघी और आज तक सूँघ रहा है।

लेकिन यह एसेंस निकालने का गन्धीपन क्योंकि निभनेवाला नहीं था, इसलिए इस कृत्रिम गन्धीपने से गुप्तजी जल्दी ही बहुत पीछे रह गए।

जब पहली बार 'रंग में भंग' इण्डियन प्रेस में छपी, तो उस प्रेस ने, जो अपनी छपाई के लिए सारे देश में प्रसिद्ध था, उन्हीं गुप्तजी की यह पुस्तक भद्दे ढंग से छापी, जिन गुप्तजी के बल पर उनकी 'सरस्वती' सारे देश में लोकप्रियता ही प्राप्त नहीं कर रही थी, धन भी अर्जित कर रही थी और उस धनार्जन में से गुप्तजी को फूटी कौड़ी के नाम पर भी कुछ नहीं देती थी। प्रेस की इस असुविधा को फिर सह्य बनाया गया अपनी इस पुस्तक के दूसरे संस्करण को बम्बई के निर्णय सागर में छपवा कर। 'जयद्रथ-वध' और 'भारत-भारती' भी इसी तरह अन्यत्र, चिरगाँव से बाहर, छपे। 'शकुन्तला' आदि कुछ बम्बई में छपीं, कुछ काशी में। लेकिन स्थिति यह होने लगी कि पैसे पूरे व्यय किए जायँ, लेकिन काम में दूना समय लगे और वस्तु मन की हाथ न लगे। तब सन् १६ में गुप्तजी कलकत्ता आए। कागज खरीदा और प्रेसादि लगाने में कितनी लागत लगेगी, इसका सुराग लिया; जिल्दसाजी और कागज की जानकारी भी पाई। इस यात्रा का एक उद्देश्य यह भी था कि 'भारत-भारती' के दूसरे संस्करण की जिल्द कलकत्ता में कराई जाए। सो, १३) सैकड़े से लक्ष्मीनारायण प्रेस को दी गई। अपने पत्राचार में आपका निश्चय अनेक बार दुहराया गया है कि प्रेस जरूर करना है। यह निश्चय सन् १९१७ तक चला। इधर प्रायः सभी पुस्तकों के संस्करण दुहराए और तिहराए जा रहे थे, उधर नई कृतियाँ भी लिखी जा रही थीं। बिना प्रेस अपना लगाए, अपना प्रकाशन करने का मजा आ नहीं रहा था; प्रकाशन का लाभ का मोटा अंश तो छपाई-बँधाई करने में प्रेसवाले ले लेते थे। इधर जब इरादा पक्का कर लिया तो देखते-न-देखते 'साहित्य प्रेस' नाम से चिरगाँव में प्रेस लग गया। पहले हैण्ड प्रेस ही लगा। इसी का चलन था। और इस तरह बाहर मुद्रण कराने का सर-दर्द समाप्त हो गया। यद्यपि मशीनों के रूठ जाने पर उन्हें मनाने का सर-दर्द बना रह गया!

प्रकाशन और प्रेस से जो आय हो रही थी, उसका कुछ भाग वंश के ऊपर आए हुए ऋण को चुकाने में लग रहा था। यद्यपि पिता के समय में जमींदारी का अंश और घोड़े-बैल आदि बहुत कुछ चला गया था, बिक गया था, फिर भी रुतबे को बरकरार रखने के लिए गुप्तजी ने अब समर्थ हो कर अपनी शक्ति का बड़ा हाथ नीचे नींव में लगा दिया था। ग्राम का बड़ा लाभ यह है कि ऊपरी दिखाव-शृंगार और बनाव में पूँजी नहीं खर्च होती। लेकिन ग्राम के ठाट भूखे-नंगे भी नहीं होते, दूसरे ढंग से व्यय माँगते हैं। और इस मद में सब से बड़ा व्यय घर आए अतिथि की पूरी सेवा करना है। गुप्तजी ने एक हाथ से ऋण चुकाया, मन लगा कर चुकाया, दूसरे हाथ से अपनी नई प्रतिष्ठा के अनुरूप सेठाई के हार्दिक स्वरूप को भी समृद्ध किया। नए युग के हिसाब से साहित्यकार होने के बाद गुप्तजी असली अर्थों में सेठ नहीं हो सकते थे, लेकिन सेठ-पुत्र होने के नाते वे अपने प्रसिद्ध वंश की ख्याति को तो अक्षुण्ण रख ही सकते थे। गुप्तजी ने वही किया।

दुनियादार गुप्तजी पक्के हैं। बड़े घराने का व्यक्ति पक्का दुनियादार न हो, तो जमाना उसे बना देता है। दूसरी पत्नी निस्सन्तान तो नहीं गईं, पर स्मृति छोड़कर न गईं। १९१७ में आयु ३१ बरस की हो चली थी। इतने बड़े भरेपूरे घराने में पत्नी न हो, सन्तान तो हो।

श्री अजमेरीजी लिखते हैं, "दूसरी पत्नी के न रहने पर आपके तीसरे विवाह की तैयारी हुई, पर आपने विवाह करने से साफ इनकार कर दिया और २-३ वर्ष उसी अवस्था में रहे। एक दिन काका भगवानदासजी

ने बहुत दुखित होकर मुझसे कहा, 'तो, अब मैथिलीशरण विवाह न करेंगे ? उनकी खुशी ! पर हम सुखी न मर सकेंगे ।' उनकी यह बात सुनकर मुझे भी दुःख हुआ । मैंने वह बात आपको सुनाकर कहा, 'भैया, विवाह कर लो । काकाजी की उस बात का आपके चित्त पर बहुत प्रभाव पड़ा और आपने विवाह की स्वीकृति दे दी ।' और इस तरह आपने दीन-दुनिया के दबाव से तीसरा विवाह किया । माधोपाड़ा ग्राम है, जालौन जिले में । तीसरी बार गुप्तजी दूल्हा बने । बारात इसी ग्राम में गई । और एक नई गृहस्थी बसाकर गुप्तजी फिर नए उत्साह से जीवन-यात्रा में अग्रसर हुए । यहाँ हम उस सुख से सुखी होने का लोभ संवरण करें कि दूल्हे किस ठाट के बने गुप्तजी, वह चित्र तो देखें । जी नहीं, उसके बिना ही हम उस सुख की कल्पना करें......

अब ३१ वर्ष की अवस्था में गुप्तजी द्विवेदीजी को पत्र लिखनेवाले 'आपका चरणानुचर' या 'चरण-सेवक' मात्र न थे । आपका व्यक्तित्त्व अब गम्भीर और दायित्वपूर्ण था । अपने परिवार के कर्मठ बड़ों में थे । प्रताप-परिवार के अभिन्न सदस्य बनकर आपने राष्ट्रीय स्वप्नों के अनुरूप आशाएँ बाँधी और वैसी ही भारतीय परिकल्पना के स्वप्न संजोए । इस कार्य में 'प्रताप' की निजी जद्दोजहद में भी आप पीछे न रहे । जब प्रताप १६१७ के अन्त में बन्द हुआ, तो उसे दूसरी बार चलाने में आपने आर्थिक भार भी वहन किया । इसके बाद जब रायबरेली के वीरपाल सिंह ताल्लुकेदार ने अपने किसानों पर गोली चलाई, तो प्रताप ने उन किसानों का कट्टर समर्थन किया । प्रताप पर मानहानि का मुकदमा चला । गुप्तजी चार-पाँच बार राय-बरेली गए कि किसी तरह फैसला हो जाए, पर ताल्लुकेदार न माने । इन दिनों दुर्भाग्य के मारे उत्तर प्रदेश के गवर्नर सर बटलर थे । उनका कड़ा आदेश था कि इस मुकदमे में फैसला प्रताप के खिलाफ दिया जाए । इस मुकदमे में फैसला जब तक न हुआ, गुप्तजी बराबर व्यस्त ही रहे । आपकी यह व्यस्तता आपके पक्के और निर्भीक स्वभाव का परिचय देती है । अन्यथा वे जिस तरह खुलकर एक राजद्रोह के मुकदमे में (यद्यपि यह पूरा राजद्रोह न था, पर ब्रिटिश सत्ता इस पर कड़ा कदम वैसा ही लेना चाहती थी) अपना सहयोग प्रदान कर रहे थे, वैसा कोई दूसरा राजनीति से दूर व्यक्ति कदापि न करता ।

जो घटना-प्रधान व्यक्ति होता है, वह उन घटनाओं का भी स्वागत करता है, जो उसके हाथ की बनाई नहीं होतीं, लेकिन जो उस पर आरोपित की जाती हैं । चिरगाँव में किसी नई घटना का निमंत्रण भी तो नहीं दिया जा सकता । लेकिन १६१६ के बाद जब जलियानवाला बाग घट चुका और देश में गांधी की आँधी बहने लगी तो चिरगाँव के आसपास कुछ गरम खून वाले युवकों ने मिलकर स्टेशन से कुछ दूर रेल लाइनों को उखाड़ दिया और तार काट डाले । पुलिस आई । पकड़ा-धकड़ी शुरू हुई । पुलिस की नजर गुप्तजी की बखरी पर थी ही, क्योंकि हर फुर्सत में गणेशजी कानपुर से यहाँ आ जाया करते थे । गणेशजी का साहचर्य मजाक न था, लोहे के चने चबाने का खुला आमंत्रण था । पुलिस ने गुप्तजी के दो भतीजों को भी गिरफ्तार कर लिया । गणेशजी के साथ होकर यह परिवार राजद्रोह के कार्य में भला क्यों न शरीक हुआ होगा ? शायद गुप्तजी ने कल्पना भी न की थी कि राजद्रोह की चिनगारी उनके दरवाजे ही आकर इस तरह अपनी आँच लेकर सुलगेगी ! रात कटी । क्षण-क्षण भारी हो रहा था । अंधेरा छाया हुआ था आँखों के आगे । दूसरे दिन आँखों में मौन आँसू लिए झाँसी गए श्री वृन्दावनलालजी के पास और उनको साथ लेकर प्रयाग पहुँचे श्री चिन्तामणिजी के पास । चिन्तामणिजी 'लीडर' के सम्पादक ही नहीं थे, उनकी धाक ऊपर तक थी । जल्दी ही सारे चिरगाँव के लड़के राजद्रोह से बरी होकर छूट गए । तब जी की सांसत मिटी ।

चिन्तामणिजी के प्रति कृतज्ञता का कर्तव्य दूसरे ही वर्ष उपस्थित हो गया । श्री सी० वाई० चिन्ता-मणिजी यू० पी० कौंसिल के चुनाव में झाँसी जिले से खड़े हुए थे । किसी काम से गुप्तजी प्रयाग गए और वहाँ दारागंज गए । यहाँ से 'भविष्य' निकलता था । चिन्तामणिजी उदार दलीय नेता थे । पं० सुन्दरलाल ने उदार-पन्थियों पर, कांग्रेसी होने के नाते, कुछ व्यंग्य आरोपित किया 'भविष्य' में छपवा कर । गुप्तजी ने उसे पढ़ा और उस व्यंग्य का समुचित उत्तर उसी दिन लिखकर भविष्य में छपवाया । वह इस प्रकार था—

तीर्थराज में भूतजनों का नरक से आया है,
वह नरमों के नाम वहां से पत्र लिखाकर लाया है।
नरमों का जो उत्तर होगा उसे भविष्य बतायेगा,
किन्तु प्रश्न है यही कि उस को वहां कौन पहुँचायेगा ?
हमें कृपा कर बतला दे वही नरक का सुन्दर दूत,
नरमों में किस वर्तमान को किया चाहता है वह भूत ?
शास्त्री, चिंतामणि, सुरेन्द्र सब जावेंगे क्यों नहीं वहां,
बन्धुजनों के लिये गए थे धर्मराज भी कभी जहां ।।

पण्डित सुन्दरलाल को नरक का सुन्दर दूत नाम से आड़े हाथों लेकर और नरम दलीय व्यक्तियों का औचित्य जताकर यह उत्तर प्रिय भी था, शिष्ट भी था और समीचीन भी था।

सौभाग्य से वह समय भी शीघ्र ही आ गया, जब गुप्तजी के उक्त विचारों की सत्यता उज्ज्वल रूप में प्रमाणित हो गई। चुनाव में जीत जाने के बाद चिन्तामणिजी १९१९ के गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट के अनुसार शिक्षा मन्त्री नियुक्त हुए। पर दो वर्ष बाद ही उस समय के गवर्नर सर विलियम मैरिस से उनकी न बनी और चिन्तामणिजी विरोध-स्वरूप त्याग-पत्र देकर प्रान्तीय शासन से अलग हो गए। गुप्तजी चूकने वाले न थे। उन्होंने तत्काल ही लिखा,

फँसा न पाया तुम्हें धन्य, उस रजत रज्जु की फांसी ने।
अनी बना पाया न तुम्हें, उस सौ अनियों की गांसी ने ।।
चिंतामणि चिरजीवी हो तुम, आन बान यह बनी रहे।
सिर ऊँचा ही किया प्रान्त में, तुम को चुन कर झांसी ने ।।

और यों, गुप्तजी का परिचय कानपुर से आगे प्रयाग तक बढ़ा। उधर काशी में श्री जयशंकर प्रसाद जी तक बढ़ ही चला था। उनका नाम गौण था, वे 'भारत-भारती' आदि ग्रन्थों के रचयिता थे, वही आदर का कारण था। और सब से आकर्षण का कारण यह था कि अंग्रेजी-प्रधान भारत में वे विशुद्ध भारतीयता की सूचक पगड़ी, गल-दुपट्टा और धोती पहनते थे। वेश में आचार्य द्विवेदीजी भी चूके। वे टोपी पहनते थे, पर सूट धारते थे। लेकिन तिलक और गोखले अपनी लाल पगड़ी के कारण और भी अधिक उग्र भारत के पूजनीय बने। गुप्तजी अपनी लाल पगड़ी के कारण स्मृति पर गहरी छाप छोड़ जाने वाले कवि बनने लगे······

१९२१ से 'सरस्वती' से फुर्सत मिल गई। अब लखनऊ से नया पत्र 'माधुरी' निकला और उधर 'प्रताप' था ही। गणेशजी खण्डवा की 'प्रभा' को अलग निकाल रहे थे। अब केवल इन्हीं पत्रों में उन लिखे जा रहे ग्रन्थों के अंश निकलते रहे, जो १९२१ से लेकर १९३० पक पूरे हुए हैं। इस अवधि में द्विवेदीजी जैसा सबल युग-पुरुष नहीं था। बस, गुप्तजी के अपने ही मानस-चक्षु सक्रिय थे। उनके तप की वही अग्नि थे। यद्यपि १९२१ से कुछ नए कवियों ने द्विवेदी-युग से अलग, जिसकी अग्रिम सूचना श्री पदमलाल पन्नालाल बख्शी ने दी थी, एक नई शैली और प्रयोजनीयता से अलग नई भावुकता को हिन्दी-काव्य में लाए, और सर्वत्र पत्रों में उन्हीं कविताओं का शोर होने लगा, लेकिन गुप्तजी शान्त भाव से अपने काव्य के अपराजित शैल-शृंग की ओर ही बढ़ते रहे। इस अरसे में आपने खण्ड काव्य, जातीयता-प्रेरक गीत, कथा-प्रसंग के प्रबन्ध काव्य, भावात्मक गीति काव्य, ऐतिहासिक कथानक काव्य लिखकर रामायण और महाभारत काल की और पौराणिक युग की गाथाओं को भी पद्यबद्ध किया। इनकी सूची इस प्रकार है—

१. पत्रावलि, १९२३। २. पंचवटी, नवम्बर, १९२५। ३. स्वदेश-संगीत, नवम्बर, १९२५। ४. अनघ, (गीति-नाट्य) जनवरी, १९२६। ५. हिन्दू, नवम्बर, १९२७। ६. त्रिपथगा, अप्रैल, १९२८। ७. शक्ति, अप्रैल, १९२८। ८. गुरुकुल, दिसम्बर, १९२८। ९. विकट भट, दिसम्बर,

१९२८। १०. स्वप्नवासवदत्ता (रवीन्द्रनाथ ठाकुर का पद्यानुवाद), अक्टूबर, १९२९। ११. सिद्धराज (मध्ययुग की ऐतिहासिक झाँकी), अगस्त, १९३०। १२. झंकार, नवम्बर, १९२९। १३. उमर खैयाम की रुबाइयात (पद्यानुवाद और सचित्र), दिसम्बर, १९३१।

इस अवधि में अन्य कृतियों के तीसरे-चौथे संस्करण होते रहे। १९२६ में 'भारत-भारती' का नौवाँ संस्करण हो चुका था। बाद में भी होता रहा।

और, १९३० तक श्री मैथिलीशरण गुप्त १९ काव्य-कृतियों के प्रणम्य लेखक बन गए। सारे देश में जहाँ भी हिन्दी भाषी छात्र पढ़ते थे, उनके लिए जो पाठ्यक्रम निर्धारित हो रहे थे, उनमें गुप्तजी की सात्विक भावों से ओतपोत रचनाएँ भावी नागरिकों को पढ़ाई जानी जरूरी मानी जा रही थीं और इस तरह नई पीढ़ी को भी गुप्तजी का नाम कण्ठस्थ होने लगा था।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जन्म काशी में १९१० में हुआ था। उसकी प्रथम वर्षीय रिपोर्ट से पता चलता है कि मंच पर मैथिलीशरण गुप्त भी उपस्थित हुए थे। लेकिन उनके गुरु और पथ-निर्देशक द्विवेदी जी की अन्यमनस्कता के कारण गुप्तजी उसके बाद इस संस्था से न केवल दूर ही रहे, बल्कि उसके निमंत्रणों को भी उन्होंने कभी स्वीकार न किया। इसी प्रकार देश में कवि-सम्मेलनों की बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण जितनी बार देश के विभिन्न अंचलों से कवि-सम्मेलनों के निमंत्रण गुप्तजी को प्राप्त हुए, उनमें भी उन्होंने अपनी अनुपस्थिति ही प्रिय मानी। यह स्वीकार करना गलत है, जैसा कि श्री रामधारी सिंहजी 'दिनकर' ने लिखा है, कि देश में हिन्दी-कविता कवि-सम्मेलनों के मंच पर फलवती हुई है। इस कथन में एक प्रतिशत भी सत्यांश नहीं है। कवि-सम्मेलनों में वे ही व्यक्ति रस लेते रहे हैं, जिन्होंने कविता-पाठ को अपनी आजीविका का साधन बना रखा है। गुप्तजी, प्रसादजी और द्विवेदी-युग के अन्य स्वनामधन्य कवि कवि-सम्मेलनों में कितने दिन उपस्थित हुए, यदि इसका ब्यौरा हम जान सकें, तो यह कथन निष्प्राण ही ठहरेगा। हाँ, हरिऔध जी का मोह कवि-सम्मेलनों के प्रति इसलिए रहा है, कि अपनी आयु के लिहाज से वे कवि-सम्मेलनों के सभापति होने में विश्वास करते रहे थे। ऐसे ही एक कवि-सम्मेलन में, जो कि १९२६ के २६ दिसम्बर को कानपुर में हुआ, हरिऔधजी सभापति थे। कानपुर झाँसी के पास है और उन्हें प्रिय निमंत्रण से बाध्य किया गया कि वे भी इस सम्मेलन में आएँ। गुप्तजी आए। अन्य १०० कवि और आए। हरिऔधजी ने अपने भाषण में खड़ी बोली की समुन्नति के लिए कार्यरत उन्नायकों में मैथिलीशरण का नाम भी लिया। यह उपस्थिति एक प्रकार से गुप्तजी के जीवन में अपवाद मानी जायगी।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपना कार्यक्रम और प्रचार स्तुत्य प्रगति के साथ देशप्रिय बना रहा था। नियमित समय पर उसके अधिवेशन हो रहे थे। सन् १९२८ में पहली बार 'सुधा' जिसका जन्म लखनऊ में 'माधुरी' के प्रतिष्ठाता और उसके भूतपूर्व सम्पादक श्री दुलारेलाल भार्गव के हाथों हुआ था, वे अपने सम्पादकीय में मुजफ्फरपुर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पहले सभापतियों के नाम में एक नाम मैथिलीशरण गुप्त का रखते हुए आग्रह किया था कि 'वे हिन्दी के गौरव हैं। आपकी रचनाएँ बहुत सुन्दर हैं। आपके जोरदार संग्रहों से हिन्दी-संसार अच्छी तरह परिचित है—इसलिए वे सम्मेलन के सभापति चुने जायें।' इसी 'सुधा' ने फिर १९३१ के फरवरी अंक में बीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए श्री मैथिलीशरण गुप्त का नाम प्रस्तावित किया और लिखा—मैथिलीशरण गुप्त अपनी विशुद्ध खड़ी बोली के लिए प्रसिद्ध हैं, और उस भाषा के वर्तमान सर्वश्रेष्ठ कवि भी हैं। आपकी रचनाएँ राष्ट्रीय भावों से भरी होती हैं। 'भारत-भारती' का नाम प्रत्येक राष्ट्रभाषा-प्रेमी की ज़बान पर है। आपको २५ वर्षों से भी अधिक हिन्दी की सेवा करते हो गए।

सन् ३० की दुर्घटना : गणेशजी की शहादत

गणेशशंकरजी से गुप्तजी का परिचय द्विवेदी-युग में ही गुप्तजी के जीवन का दूसरा मोड़ मैं मानता हूँ। पहला मोड़ द्विवेदीजी से झाँसी में परिचय था। प्रताप-परिवार के एक अंग होकर गुप्तजी ने राष्ट्रीय राजनीति का अन्तर्ज्ञान पाया और उस आँधी को हृदयंगम किया, जो १९१४ के बाद से, प्रथम महायुद्ध के क्षणों

से ही, सारे देश में उड़ रही थी। यह गणेशजी की ही सत्संगति का परिणाम था कि पहली बार गुप्तजी चिरगाँव से सार्वजनिक प्रयोजन को लेकर निकले। वे १९१६ में लखनऊ की कांग्रेस को देखने निकले, जहाँ तिलक माण्डले की जेलों से छुटकर आए थे और जहाँ पर गरम-नरम दलों का समझौता होना था। 'प्रताप' में गुप्तजी का लेखन उनके अन्य साहित्यिक लेखन से सर्वथा भिन्न है। गणेशजी का व्यक्तित्व आग्रही था। वे कहते न थे, उनकी उपस्थिति का आग्रह ही बहुत था। उनके मौन संकेत से गुप्तजी ने जो भी 'प्रताप' में लिखा, वह दोनों ओर ही जीवन का नया संस्करण बना। गणेशजी सार्वजनिक जीवन की पहली सुगन्ध बनकर प्रकट हुए थे। १९१४ से लेकर १९३० तक गणेशजी का जीवन एक हुतात्मा का जीवन है। जब १९३० में गणेशजी ने कानपुर के साम्प्रदायिक दंगे में शहादत पाई तो उनके सभी मित्रों और बन्धुओं में हाहाकार छा गया। लगा कि सगे से भी हजार गुना सगा खो गया है। गुप्तजी से न रहा गया। उन्होंने अपने अन्य प्रियतम मित्रों और बन्धुओं पर जो श्रद्धांजलियाँ अभिव्यक्त की हैं, वे बहुत सूक्ष्म रहीं, लेकिन 'गणेशजी' शीर्षक से उन्होंने 'सुधा' के नवम्बर १९३१, अंक में अपनी मर्मभेदी श्रद्धांजलि प्रेषित की। यहाँ पर उसका अविकल उद्धरण इस जीवनी को भी पवित्र करेगा। साथ ही १९३० के वे संस्मरण भी हाथ लग जायँगे, जिनके सजीव चित्र स्वयं गुप्तजी ही रहे हैं :

'प्रताप' के प्रवर्तक गणेशजी उस पर एक आदर्श वाक्य रखना चाहते थे। उसके लिये उन्होंने अंग्रेजी का एक पद्य चुना था। परन्तु वे उसका हिन्दी-रूप देना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि यह काम कर दूं। फिर भी मुझ से परिचय न होने के कारण अथवा अपने स्वाभाविक आत्मसम्मान के कारण उन्हें स्वयं मुझे लिखते हुए संकोच हुआ। अपने एक मित्र से, जो मेरे भी मित्र थे, उन्होंने मुझे लिखाया। यही हम दोनों के परिचय का सूत्रपात है।

जैसा बना, मैंने पद्य बना दिया, और उसे उन्होंने पसन्द भी किया। परन्तु चार पंक्तियाँ बहुत होती हैं, आदर्श वाक्य जितने छोटे रूप में होते हैं, उतने ही अच्छे लगते हैं। इसलिये पूज्य द्विवेदीजी महाराज ने स्वयं ही दो मौलिक पंक्तियाँ उन्हें लिख दीं—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं, नर-पशु निरा है, और मृतक-समान है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि गणेशजी ने कभी अपने गौरव को खर्व नहीं होने दिया, और न अपने देश का कभी अभिमान छोड़ा।

'प्रताप' निकला, और एक नई आन-बान के साथ। तुरन्त उसकी धूम मच गई। गणेशजी के लिखने का ढंग स्वयं उनका अपना था। उनकी लेखनी में एक अपूर्व आभा थी, जिसका तेज प्रतिपक्षी के लिये आतंक-रूप था, और अपनों को स्फूर्तिदायक। परन्तु यह भी सत्य है कि 'प्रताप' के द्वारा गणेशजी ने जहाँ लोगों को शिक्षा दी, वहाँ स्वयं भी उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। सिखाने के लिये सीखना भी पड़ता है। 'प्रताप' के द्वारा ये दोनों काम, साथ ही साथ, उन्होंने किए।

उन्हीं दिनों मैं एक बार अयोध्याजी जा रहा था। कानपुर-स्टेशन पर मेरे उक्त मित्र मुझसे मिलने आए। उनके साथ एक नवयुवक सज्जन और थे। वे नंगे सिर, धोती और कमीज़ पहने थे। दुबले-पतले, परन्तु सतेज और सुदर्शन। आँखों में उज्ज्वलता और मुख में मन्द-मन्द मुसकान। मित्र ने मुझे उनका परिचय दिया कि 'यही प्रताप के संपादक श्री गणेशशंकरजी विद्यार्थी हैं।' मुझे बड़ा आनन्द और कुछ कौतूहल हुआ। साधारण शिष्टाचार के बाद उन्होंने लौटते समय कानपुर उतरने के लिये मुझसे आग्रह किया। मैंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। थोड़ी ही देर हम लोगों में बातचीत हुई, परन्तु मुझे ऐसा जान पड़ा कि हम लोग चिरपरिचित हैं। मैंने उनकी लेखनी पर उन्हें बधाई दी। हँस कर नम्रतापूर्वक तनिक सिर झुकाकर उन्होंने उसे ग्रहण किया। उनकी वह मूर्ति आज भी मेरी आँखों में झूल रही है, परन्तु स्वयं वे कहाँ ?

गाड़ी छूट गई। मैं बड़ी देर तक उनके विषय में सोचता रहा। तब भी उनके शरीर में हड्डियाँ ही हड्डियाँ थीं। मुझे जान पड़ा, मानो हमारी वेदना के दाह से वे धक-धक करके जल रही हैं, और उनकी ज्वलित लेखनी उन्हीं का एक अंग है, जिसे उन्होंने अपने पार्श्व-पंजर से उखाड़ कर उल्का की भाँति, अन्धेरे में हम लोगों को मार्ग दिखाने के लिये, अपने हाथ में ले लिया है। ऐसे पुरुष से परिचय प्राप्त करके मैंने अपना अहोभाग्य समझा।

लौटकर मैं कानपुर उतरा। आरम्भ से ही प्रताप-प्रेस अतिथियों के लिये अपना घर-सा रहा है। वहाँ मौखिक शिष्टाचार के आडम्बर का अभाव था, परन्तु अपनपे की कमी न थी। खान-पान के सम्बन्ध में आज भी मैं 'पुराण-पंथी' हूँ, उस समय तो था ही। गणेशजी छुआछूत और कच्ची-पक्की का भेद नहीं रखते थे। परन्तु भेद रखनेवालों को 'भ्रष्ट' भी नहीं करना चाहते थे। 'भ्रष्ट' शब्द उन्हीं का है। अब भी कभी-कभी विनोद में वे मुझ से कहा करते थे कि "एक दिन तुम्हें भी भ्रष्ट करके हम अपनी पंक्ति में ले लेंगे।" परन्तु इसके लिये उन्होंने कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। फिर भी मुझे यह मानना पड़ेगा कि विचारतः उन्होंने मुझ पर विजय पाई है, और थोड़ी-बहुत कार्यतः भी। इस कार्य में परोक्ष रूप से मेरे बन्धु रायकृष्णदास ने भी उन्हें यथेष्ट सहायता पहुँचाई है। नल का पानी न पीने के कारण प्रयाग की प्रदर्शनी में कई दिन मुझे बड़ा कष्ट हुआ था। गणेशजी यह सुनकर बहुत हँसते थे। नल का जल पहले पहल मैंने, आखिर तो गंगा-जल है, यह समझ कर कानपुर में ही पिया था, और बहुत दिन बाद बर्फ का पानी, गंगा के किनारे कृष्णदास के यहाँ, काशी में।

परन्तु जब-जब मैं कानपुर जाता था, गणेशजी सर्वप्रथम मेरे आचार की रक्षा का प्रबन्ध करते थे। अब भी मिलने पर पहले मुझ से यही पूछते थे कि "शिवनारायण के यहाँ से पानी-वानी आ गया ?" मैं भोजन शिवजी के यहाँ करता था, परन्तु फल गणेशजी मँगाकर खिलाया करते थे। मेरे विषय में तो अब उन्हें चिन्ता न रहती थी, किन्तु मैंने देखा कि है वे प्रत्येक अतिथि का कितना ध्यान रखते थे। कभी-कभी आवश्यक कार्य से उन्हें कहीं जाना होता, और मैं वहाँ होता, तो वे मुझ से भी कह जाते थे, "भाई, ये अमुक सज्जन हैं, इनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखना।"

छुआछूत के सम्बन्ध में इधर एक बात की चर्चा दुःखपूर्वक कई बार गणेशजी ने मुझ से की थी। वह श्रमजीवियों के सम्बन्ध में कहते थे, "मिलों में काम करनेवाले हिन्दू मजदूर जब दिनभर भुने चनों पर गुज़र करते हैं, तब मुसलमान मजदूर मज़े में रोटी-तरकारी ले जाते और तृप्तिपूर्वक खाते-पीते हैं। फलतः वे सबल और सतेज रहते हैं, और इनका शरीर सूखता जाता है। परिणाम यह होता है कि ये वैसा काम नहीं कर सकते। और, मालिकों को तो काम प्यारा होता है। अभी हिन्दू-संगठन की धूम में एक हिन्दू मिलवाले ने मुसलमान मज़दूरों को अलग कर दिया था। परन्तु थोड़े ही दिन बाद उन्हें वापस बुलाना पड़ा। व्यापारी अपना व्यापारिक लाभ नहीं छोड़ सकते। आवश्यक होने पर वे अच्छा चन्दा दे सकते हैं, किन्तु इस प्रकार के त्याग की आशा उनसे नहीं की जा सकती।"

प्रसंग-वश इसी सम्बन्ध में उन्होंने मुझे बताया था कि "कुछ लोगों ने आजकल एक बड़ा अच्छा धन्धा पा लिया है। एक शहर में गए। शुद्धि करा ली, और कुछ दिन हलवा-पुड़ी उड़ाए। फिर दूसरे शहर में जाकर कलमा पढ़ा, और ज़र्दा-पुलाव उड़ाया। इसके बाद तीसरा शहर देखा ! ये ला-मज़हब और ल-मका लोग ही मुनाफे में हैं।"

परन्तु हिन्दू-जाति के पुनरुत्थान के सम्बन्ध में गणेशजी सदैव आशावादी रहे। उनका विश्वास था कि शताब्दियों के आघात सहती हुई भी हिन्दू-जाति निर्जीव नहीं हुई। किसी भी पर्व के समय तीर्थस्थान में देखने से स्पष्ट दिखाई देता है कि उसमें जीवन है। केवल उसे उचित दिशा में ले जाने की आवश्यकता है। अतएव, इसके लिये उद्योग करनेवालों के लिये निराश होने की कोई बात नहीं।

प्रताप-प्रेस उस दिनों पीली कोठी में था। तीन-चार कमरे ले लिए गए थे। संभवतः जो कमरा संपादक के लिये था, वही लोगों के मिलने-जुलने का स्थान था, और प्रायः सदैव भरा रहता था।

बहुत थोड़ी पूँजी से प्रताप का प्रकाशन आरम्भ किया गया था। शिवनारायणजी ने मुझे बताया, "गणेशजी केवल संपादक ही नहीं, प्रताप के क्लर्क भी हैं। कभी-कभी प्रेस पर फ्लाईब्वाय का काम भी उन्हें करना पड़ता है।" मैंने हँसकर पूछा, "उस समय आप क्या करते हैं?" बोले, "मैं रूला लेकर फार्म पर स्याही देता हूँ।" मुझे अमृतबाजार-पत्रिका के प्रवर्तकों की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ याद आ गईं।

परन्तु यह मैंने उसी समय देख लिया कि गणेशजी के साथ बहुतों की सहानुभूति है, और लोग उनका हाथ बँटाने के लिये तैयार हैं। शिवजी के अतिरिक्त उस समय एक और सज्जन से मेरा स्मरणीय परिचय हुआ। वे महाशय काशीनाथ जी थे। उनकी गम्भीर विचारशीलता का गणेशजी बड़ा सम्मान करते थे। मुझे उनके प्रति प्रेम के बदले श्रद्धा ही उत्पन्न हुई, और यही उचित भी था। बाद में तो अनेक मित्रों से प्रताप-प्रेस में ही प्रथम परिचय हुआ था। वेणीजी (डाक्टर वेणीप्रसाद) उन दिनों पढ़ते थे, और प्रेस में आया करते थे। 'प्रताप' के लिये लेख आदि भी लिखा करते थे। गणेशजी ने उनकी बुद्धि की सुझ से बहुत बड़ाई की थी। प्रत्येक बार वहाँ दो-एक नए सज्जनों से भेंट होती थी। 'प्रताप' का द्वार हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये एक-सा खुला रहता था, और अतिथियों का क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। गणेशजी हृदय खोलकर सब का स्वागत करते थे। आगे चलकर उन्हें आतिथ्य के साथ-साथ अपने अनेक अतिथियों के लिये कोई काम भी खोजना पड़ता था। इन अतिथियों में मैंने ऐसे लोग भी देखे हैं, जो अनेक देश घूमे हुए और वहाँ शिक्षा पाए हुए थे। गणेशजी से जो कुछ हो सकता, उसे करने में वे कभी निरुत्साह नहीं हुए।

हाथ बँटानेवालों की भी उन्हें कभी-भी कमी नहीं रही। कानपुर-कांग्रेस में इसका मुझे विलक्षण परिचय मिला। वहाँ कुछ झगड़ा हुआ, और एक पार्टी उपद्रव करने पर उतारू हो गई। उसका एक आदमी जो महाराष्ट्री था, हम लोगों को मिला। उग्र मूर्ति, लाल आँखें। बातों-बातों में उसने कहा, "आज हम लोग पण्डाल को बम से उड़ा देते, परन्तु कुछ सोचकर रह गए।" हम लोगों ने जब गणेशजी से यह बात कही, तब हँसे, और बोले, "मुझे मालूम है, परन्तु उसे मालूम नहीं कि ऐसे आदमियों में से प्रत्येक के पीछे-पीछे हमारा भी एक आदमी लगा था, और जिस समय किसी उपद्रवी का हाथ ऐसे अनर्थ के लिये उठता, उस समय उसकी कलाई हमारे आदमी के हाथ में होती!"

यह तो सभी जानते हैं कि कानपुर-कांग्रेस के प्रत्येक विभाग के लिये ऐसे पुरुषों का चुनाव किया गया था कि सब काम आदर्श रूप में सम्पन्न हुए।

साधारणतः लोग अपनी अर्थ-हीनता प्रकट नहीं होने देना चाहते—उसे यत्नपूर्वक छिपाते हैं। परन्तु 'प्रताप' के प्रकाशकों का मानो अपना कुछ था ही नहीं। जो कुछ था, उन्होंने पहले ही जनता को दे डाला था। 'प्रताप' का ट्रस्ट तो पीछे से तब बना, जब उसकी एक स्थिति हो गई।

यद्यपि उन लोगों के पास धन न था, परन्तु मन ऐसा था, जैसा कुछ चाहिए। 'प्रताप' और 'प्रताप-पुस्तकालय' से यदि कुछ आय होती, तो वह उसी के उद्देश्य की सिद्धि में व्यय हो जाती थी। मेरा विश्वास है कि यदि व्यवसाय-बुद्धि से काम किया जाता, तो आज 'प्रताप' भी अपने ही भवन में होता और, उसका एक विशेष वैभव भी। वे लोग व्यवसायी न थे, किन्तु अपने मिशन के मिशनरी थे। उनके स्वभाव में एक फक्कड़पन था, और इसी में वे मगन थे।

धन साधन होने पर भी कभी गणेशजी का साध्य नहीं हुआ। उसके लिये कभी उन्होंने अपने मन के प्रतिकूल कोई काम नहीं किया। धन की अपेक्षा जन का ही उनके निकट विशेष मूल्य था, सो भगवान ने उसकी उनके लिये कभी कमी नहीं रहने दी। जनता उन पर वारी जाती थी।

मानवीय सहानुभूति से उनका हृदय उमड़ा पड़ता था। वे मानवीय दुर्बलताएँ समझते थे, और उदारतापूर्वक उन्हें क्षमा कर देते थे।

एक बार एक कर्मचारी ने प्रताप की एक रक़म अपने काम में उठा दी। पीछे बात खुल गई। मैंने गणेशजी से कहा, "इस सम्बन्ध में तुमने क्या निश्चय किया?" बोले, "भाई, मनुष्य आवश्यकताओं के अधीन है। काम तो बुरा हुआ, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु हमें कुछ सहानुभूति के साथ विचार करना चाहिए

मनुष्य को अवसर देना उचित है। कभी-कभी क्षमा करना ही बड़ा दण्ड है। दण्ड सुधार के लिये है, प्रतिशोध के लिये नहीं। इसलिये मैंने उसे अलग नहीं किया और कह दिया है कि अपने वेतन से थोड़ा-थोड़ा करके 'प्रताप' की रक़म पूरी कर देना। तुम्हारी क्या राय है ?" मैंने कहा, "तुम्हारे निश्चय पर मेरी क्या राय होगी, परन्तु कहीं इसके लिये पीछे पछताना न पड़े। क्योंकि मैं उस कर्मचारी के शील-स्वभाव से परिचित नहीं।" बोले, "नहीं, ऐसा न होगा।" मैंने देखा, उनका विचार ठीक ही निकला।

एक सज्जन पर राजनीतिक अभियोग चल रहा था। उनसे एक बड़ी-सी जमानत माँगी गई थी, जिसे देने में कठिनाई पड़ रही थी। तब तक मेरी उन पर श्रद्धा न थी। परन्तु उन्होंने मुझे लिखा, "मैं जानता हूँ, तुम उन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। परन्तु इस समय जिस कारण वे कष्ट में हैं, उस पर विचार करते हुए हम सब का धर्म है कि उनकी जितनी सहायता कर सकें, अवश्य करें।" इसके साथ ही उन्होंने मेरे एक आत्मीय के विषय में लिखा, "उनके द्वारा ज़मानत करा दी जाय। यदि रुपए मारे जायँगे, तो हम ज़िम्मेदार होंगे।" मैंने अपनी भूल मान ली। मनुष्य में चाहे जितने दोष हों, पर उसमें एक-आध गुण भी ऐसा होता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

हम लोगों का परिचय कब बन्धुता को पहुँचा, मैं नहीं कह सकता। परन्तु 'प्रताप' के ट्रस्ट-पत्र में अपना नाम देखकर जब मैंने उनसे कहा, "यह हंसों में बगुले का मैल कैसा ?" तब उन्होंने लापरवाही से उत्तर दिया, "दोनों एक ही तालाब में रहते हैं।"

१९१५ में, बम्बई से लौटते हुए, गणेशजी पहले-पहल चिरगाँव आए थे। उस बार हम लोग बड़े धर्म-संकट में पड़े। उन्होंने दाल-रोटी खाने की इच्छा प्रकट की। हम साग-पूरी खिलाने जा रहे थे। हमारे काका जी ने कहा, "अच्छी बात है, ब्राह्मण से कच्ची रसोई बनवा दो।" गणेशजी ने कहा, "ब्राह्मण से क्यों ? भीतर चौके में क्या रसोई नहीं बनी ?" "बनी क्यों नहीं, परन्तु कायस्थ होकर आप वैश्यों की कच्ची रसोई कैसे खायेंगे ?" "काकाजी, हम लोग तो भ्रष्ट हो गए हैं। क्षमा कीजिए, परन्तु मेरे लिये भीतर से ही भोजन मँगवा दीजिए।" यहाँ देहातों में तब तक ऐसी बातें अनहोनी समझी जाती थीं और कदाचित् अब भी मानी जाती हैं। भीतर स्त्रियों ने भी आपत्ति की, "क्यों किसी की जाति लेना चाहते हो !" परन्तु गणेशजी का कहना था, "इस प्रकार हमारी जाति नहीं घटती। वह तो अब उलटी और बड़ी हो गई है।" इस बात की चर्चा एक-दो बार मेरे सामने भी गणेशजी ने मित्रों के बीच की थी, "जब मैंने दाल-रोटी के लिये कहा, तब इन लोगों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। एक भाई इधर एक भाई से काना-फूसी कर रहा है, दूसरा भाई उधर तीसरे से कुछ कह रहा है, मानो आज कोई बड़ा अनर्थ हो रहा है !"

चिरंजीव हरिशंकर का कहना था कि चिरगाँव बाबूजी का हिल-स्टेशन है। बुन्देलखण्ड की गरमी तो प्रसिद्ध ही है, परन्तु गणेशजी का हम लोगों पर जो स्नेह था, वही उन्हें यहाँ ले आता था, और जब वे काम से थक जाते थे, तब कभी-कभी दो-तीन दिन के लिये यहाँ हो जाते थे। यहाँ कभी मुंशी अजमेरी की बातें और उनका गान सुनते थे, कभी बेतवा के किनारे जाकर टहलते थे, और कभी देश-विदेश की बातें सुनाया करते थे। बातचीत करने में वे जी खोलकर हँसते थे, और दो-चार हँसी-विनोद के चुटकले भी सुनाया करते थे। एक दिन रात को अपने प्रारम्भिक जीवन की बातें, करेंसी की नौकरी और इस्तीफ़े की कथा वे बड़ी देर तक कहते रहे, और हम रात के दो बजे तक जागते रहे।

जब वे यहाँ से जाने लगते, तब हुए तो कुछ पपीते, कभी पापड़ और कभी एक-आध पुस्तक ले जाते थे। अभी चिरंजीव हरिशंकर जो यहाँ आए, तो मुझ से कहने लगे, "अम्मा ने कहा है कि चिरगाँव से हमारे यहाँ पापड़ आया करते थे। लेते आना।" सुनकर मेरा जी भर आया, मैंने कहा, "भाई, तुमने अपना यह अधिकार नहीं छोड़ा, इससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ।"

पकवानों की अपेक्षा गणेशजी रोटी ही अधिक पसन्द करते थे, और उनके भोजन में दही होने से मानो सारे अभाव मिट जाते थे। यही हम लोगों को उनके आतिथ्य में बड़े सुभीते की बात थी। फल वे थोड़े-बहुत अपने साथ ही ले आते थे, परन्तु रोकते-रोकते भी प्रायः सब बच्चों को बाँट दिया करते थे। मेवे भले-

बुरे यहाँ भी मिल जाते हैं। परन्तु फलों के अभाव में ही वे कभी-कभी थोड़ा-बहुत उन्हें ले लिया करते थ। कभी-कभी वे कोई ओषधि भी सेवन करने के लिये अपने साथ लाया करते और शरीर की शिकायत किया करते थे। एक बार ऐसे ही प्रसंग पर हम लोगों ने कहा, "मन की शिकायत करो, तो ठीक है, बेचारा शरीर क्या करे? उसी पर अत्याचार करो, और उसी की शिकायत! यह तो दुगुना अन्याय है।" हँसकर बोले, "क्या करें?"

एक बार हम लोग सड़क पर टहल रहे थे। सामने से मेरे छोटे भाई चि० चारुशीलाशरण साइकिल से आ रहे थे। पास आने पर वे गाड़ी से उतर पड़े। मैंने गणेशजी से पूछा, "तुम साइकिल पर चढ़ना जानते हो?" बोले, जानता तो नहीं, फिर भी साइकिल पर मुझे बीस-बीस मील जाने का प्रसंग आया है।" मैंने कहा, "सो कैसे?" बोले, "अजी, अब हम नेता हो गए हैं! देहातों में सभाएँ होती हैं, और हमें भाषण करने के लिये जाना पड़ता है। उस समय और कोई उपाय न होने पर हम सीट के आगे, साइकिल के डंडे पर, डट जाते हैं, और तगड़े भक्त लोग हमें और साइकिल को घसीट ले जाते हैं।" कैसी दयनीय दशा थी! मैंने कहा, "इस नेतापन को दूर से नमस्कार!" बोले, "करें क्या, काम तो हमें उन्हीं में करना है। बेचारों का उत्साह कैसे भंग करें!" मैंने कहा, "परन्तु इस तरह कितने दिन चलेगा। अभी तो शरीर अत्याचार सह भी लेगा, पर शीघ्र बूढ़ा हो जायगा और वह अपना बदला चुकावेगा।" बोले, "क्या हम पापी हैं, जो आजकल के समय में बूढ़े होकर भोगेंगें? अजी, हम तो भरी जवानी में ही, शक्ति रहते हुए, चल देंगे।"

यद्यपि यहाँ वे काम से बचकर ही आया करते थे, परन्तु फिर भी एक-आध झंझट उनके पीछे लगी ही रहती थी। एक बार शाम को देखता हूँ कि गणेशजी आ रहे हैं, उनके पीछे-पीछे एक देहाती युवक और एक स्त्री गठरी-पोटली लिए है। मैंने पूछा, "इन्हें कहाँ से पकड़ लाए?"

बोले, "ये लोग घर से रूठकर बम्बई भागे जा रहे थे। घर में मज़े में हैं, पर बाप से कुछ कहा-सुनी हुई और स्त्री को लेकर चल दिए। सारे गाँव शहर की ओर भाग रहे हैं, और हम शहरवाले ग्राम-जीवन के लिये तरस रहे हैं। हमने सोचा, वहाँ कष्ट भोगेंगे, इसलिये ट्रेन से उतार लिया। अब इनके टिकटों के बाक़ी दाम वापस लेनें हैं, और इन्हें घर पहुँचा देना है।"

मैंने कहा, "तुमने उस चमार की बात सुनी है, जो एक बार कुएँ में गिर पड़ा था। वहाँ उससे एक मेढक ने पूछा—तू कौन है? उसने अपनी जाति बतलाई, तो मेढक महाशय ने अपना एक पैर पसार कर कहा—जरा मेरे जूते का नाप ले लेना! सो तुम कहीं जाओ, तुम्हारे पीछे एक-एक बेगार लगी ही रहेगी।"

सुनकर मुस्कराए और बोले, "फ़र्स्ट या सेकिंड क्लास में ही यात्रा किया करें, तो इन बेगारों से बच सकते हैं।"

उनकी इच्छा थी कि एक कुटुम्ब के रूप में एक गाँव बसाया जाय, और अपनी साधारण आवश्यकता वहीं पूरी करने का उद्योग किया जाय। परन्तु बीच में ही उनके निधन से यह विचार कार्य में परिणत न हो सका।

हमारे यहाँ अधिक ठहरने में एक ही बात की उन्हें बाधा थी। देश के समाचार कानपुर में उन्हें शीघ्र मिल जाते थे, यहाँ कुछ देर होती थी। कानपुर के जिस कलह-कुण्ड में उन्होंने अपनी आहुति दी है, उसके एक दिन पहले ही मेरे भतीजे, चि० श्रीनिवास वहाँ थे। उनसे उन्होंने कहा था, "भैया से कह देना, मैं शीघ्र पहुँचूंगा। जब से जेल से आया हूँ, काम के मारे नाक में दम है। इससे तो जेल में ही अच्छा था। अभी चलता, परन्तु आजकल कांग्रेस हो रही है, वहाँ के समाचारों की उत्सुकता रहती है। तुम लोग तो सभ्य संसार से एक दिन पीछे हो। यह भी कह देना कि अब की बार जेल में विक्टर ह्युगो के ला मिजरेबिल का अनुवाद पूरा कर दिया है। उसे भी लाऊँगा। 'प्रताप' के लिये नई मशीनरी के सम्बन्ध में भी बातचीत करनी है।"

सरकार की आँखों में तो 'प्रताप' खटकता ही था, देश के राजा-रईस भी उसे अपना शत्रु समझते थे। जब-जब मैं कानपुर जाता था, एक-न-एक धमकी के पत्र अथवा नोटिस की बात सुनता था—माफ़ी माँगो,

नहीं तो यह किया जायगा, वह किया जायगा। परन्तु गणेशजी ऐसी धमकियों की कभी परवा न करते थे। उचित उत्तर अवश्य दिला देते थे। वे मूक जनता के स्वयंसेवक थे। उसकी भलाई के लिये निस्वार्थ भाव से जो कर सकते थे, बराबर करते रहते थे। परन्तु वे पराधीनों के प्रतिनिधि थे, इसलिये मानो उनका एक पैर 'प्रताप' आफ़िस में और दूसरा जेल की कोठरी में सदैव रहता था। चौबीस घड़ी नंगी तलवार सिर पर झूलती थी, पर उनका सिर अन्याय के आगे झुकना जानता ही न था।

मैंने एक दिन हँसी में कहा, "एक तुम हो कि सर्वदा झंझटों में फँसे रहते और श्रीमानों को अपना शत्रु बनाए रहते हो। एक वे हैं, जो उनसे मान-सम्मान पा कर मौज-मज़े करते हैं।" हँसकर बोले, "तो फिर क्या है, तुम तो ट्रस्टी हो, एक प्रस्ताव रख दो, और 'प्रताप' की नीति निश्चित कर दो। हम भी हाय-हाय से छुट्टी पावें।"

धमकियों के साथ-साथ उन्हें प्रलोभन भी दिए जाते थे। परन्तु लोभ और भय के सामने वे कभी नहीं लचे। महाराज ग्वालियर से उनका जो मतभेद हुआ था, उसकी चर्चा श्री वृन्दावनलालजी वर्मा अपने लेख में कर चुके हैं। गणेशजी यहीं होकर वहाँ गए थे, और यहीं होकर लौटे थे। जाते समय उन्होंने मुझ से कहा था, "देखोजी, मैं महाराजाओं का अतिथि होने जा रहा हूँ!" किन्तु लौटकर कहने लगे, "भैया, हाथ जोड़े राजआतिथ्य को! वहाँ की वह भारीभरकम अतिथिशाला और वहाँ का राजभवन, क्या कहना है! परन्तु मुझे तो उस अतिथिशाला में कहीं छिपने का स्थान नहीं मिला। परिचालकों का सामना हुआ नहीं कि उन्होंने तीन-तीन बार झुक कर सलाम किया नहीं। आते-जाते दो बार बात होती, तब भी एक बात थी। वहाँ तो जब भी सामना हुआ, तभी यह ढोंग चलता था। मैंने एक-आध बार रोका भी, परन्तु वह तो वहाँ का नियम था। मनुष्य ही मनुष्य को अपने लिये कितना पतित और तुच्छ बना डालता है, इसका मुझे विलक्षण अनुभव यहाँ हुआ। यहाँ के नौकरों से मैं अपने आपको बचाता फिरा।"

देशी राज्यों का प्रश्न संभवतः 'प्रताप' ने ही पहले-पहल विशेष रूप से अपने हाथ में लिया। परन्तु न तो वह लोभ-मूलक था, और न द्वेष-मूलक। मुमताज या कमलाबाई के विषय में जब इन्दौर के महाराज गद्दी छोड़ने को विवश हुए, तब उनके विरुद्ध ही बहुतों ने लिखा था। किन्तु गणेशजी का कहना था कि, "आए दिन रियासतों में ऐसी बातें हुआ करती हैं, और किसी के कान पर जूं नहीं रेंगती। किन्तु महाराज तुकोजीराव कुछ स्वतन्त्र विचार भी रखते हैं। इस कारण सरकार की आँखों में खटकते हैं।" इसी विचार से उस नीति के विरोध में उन्होंने उनका पक्ष लिया था। 'प्रताप' में उनका लिखना था कि हिन्दी के पत्रों का भाव बदल गया, और उन्होंने उनका साथ दिया। मुझे यह भी मालूम है कि इस घटना के सिलसिले में साधारण लोगों ने भी इन्दौर से अच्छी प्राप्ति कर ली। परन्तु 'प्रताप' का व्रत ही दूसरा था। रिसायतों से 'प्रवेश-निषेध' का ही पुरस्कार उसे मिलता रहा सुतरां इन्दौर में भी उसका जाना मना था। उनके एक पत्र लिख देने से ही इस समय वह रोक उठ सकती थी, परन्तु इस विषय में कुछ लिखना गणेशजी ने अपने आतमभिमान के विरुद्ध समझा। न तो वे सरकार पर अनुचित आक्रमण करना चाहते थे, और न अपनों का अनुचित पक्षपात। प्रमाद तो मनुष्य-मात्र से होते हैं। पर गणेशजी की नीयत के विषय में कौन उँगली उठा सकता है?

एक बार आफ़िस में एक सज्जन आए। मैं भी उन्हें जानता था। देशी राज्यों के विषय में वे भी कुछ लिखते रहते थे। 'प्रताप' के तत्कालीन मैनेजर श्री हरप्रसाद गोयल से बातें कर रहे थे। थोड़ी देर बाद मैं उधर गया, तो वे चले गए थे। मैंने पूछा, "ये कैसे आए थे?" बोले, "कोई खास बात न थी। वाइसराय का पूरा पता नहीं जानते थे। एक कवर पर लिखा ले गए हैं।" मालूम हुआ, वह कवर भी आफ़िस का ही था। मुझे कुछ सन्देह हुआ। मैंने जाकर गणेशजी से कहा, "मुझे यह ठीक नहीं जान पड़ता।" गणेशजी को भी सन्देह हुआ। परन्तु उन्होंने कहा, "हमारे लिफाफे पर पता लिखा गया है, तो वह हमारे ही पोस्ट-आफ़िस में छोड़ा भी गया होगा।" उनका सोचना ठीक था, और उनकी सूझ-बूझ का परिचायक भी। गणेशजी ने पोस्ट-आफ़िस से वह पत्र निकलवा लिया। खोलकर पढ़ा, तो 'बन्देखुदा' ने कुछ राज्यों के सम्बन्ध में गन्दी-गन्दी बातें लिखीं थीं, और उनकी जाँच के लिये वाइसराय से आग्रह किया था।

कभी-कभी इस घटना की चर्चा करके गणेशजी हँसा करते थे। उक्त सज्जन भी यथापूर्व गणेशजी से मिलते रहे। एक बार गणेशजी ने मुझ से कहा, "इतने दिन पीछे शायद बेचारों का उद्योग सफल हो गया। एक रियासत में प्राइवेट सेक्रेटरी होकर जा रहे हैं।" मैंने कहा, "अब क्या है, 'प्रताप' निहाल हो जायगा।" बोले, "यह तो पीछे की बात है। अभी तो 'प्रताप' ने ही उनके सूट-बूट का भार अपने सिर पर लिया है। दीन प्रताप इससे अधिक व्यय कर भी न सकता था।" फिर संभल कर बोले, "हमारे यही रुपए मिल जायें, तो हम समझेंगे कि भर पाया।" मैंने कहा, "इस जन्म में नहीं, तो अगले जन्म में शायद मिल जायें।" बोले, "यह तो मैं भी जानता हूँ।" "फिर भी शील नहीं तोड़ सकते!" मैंने कहा। गणेशजी हँसने लगे।

आवश्यकता होने पर 'प्रताप' को समर्थ मित्रों से सहायता मिल ही जाती थी। इनमें वही व्यवसायी लोग होते थे, जो उसके उद्देश्य से सहानुभूति रखते थे। ऐसे ही एक सहायक मित्र एक बार बहुत घाटे में आ गए। इसी बीच में संपत्ति-विषयक एक अभियोग में विफल होने पर वे और भी निःस्व हो गए। गणेशजी ने उनके विषय में कहा, "यदि उनकी दशा अच्छी होती, और उस दशा में उनका रुपया न लौटाया जाता, तो कोई बात न थी। परन्तु ऐसी स्थिति में हमारा कर्त्तव्य है कि जो कुछ कर सकें, करें। सब रुपया तो एक साथ नहीं दिया जा सकता, परन्तु सौ रुपया मासिक रूप में उन्हें दिया जाना चाहिए।"

मैंने मन-ही-मन उनके विशाल हृदय की समवेदना का अनुभव किया।

मनुष्य-मात्र में दुर्बलताएँ होती हैं। उनमें भी होंगी। परन्तु मैंने एक बात को छोड़कर उनके किसी दूषण को न कभी देखा, न सुना। वह एक बात हठ थी। इस दोष के सम्बन्ध में, संभव है, मेरी ही भूल हो, और यदि ऐसा हो, उससे मुझे संतोष ही होगा। किन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि यह दोष भी दुर्बलता को नहीं, दृढ़ता को लेकर ही उनमें था। अपने निश्चय पर अटल रहने की जो उनमें विशेषता थी, उसी के कारण उनका स्वभाव कुछ आग्रही हो गया था। यह अन्त तक रहा। बल्कि यह कहना चाहिए कि यही उनके अन्त होने का भी एक कारण हुआ। जो हो, उनका वह आग्रह कभी-कभी दुराग्रह-सा दिखाई देता था।

रायबरेली के गोली-काण्ड पर सरदार वीरपाल सिंह के सम्बन्ध में इण्डिपेण्डेण्ट और 'प्रताप' में कुछ लिखा गया। उस पर दोनों को नोटिस दी गई कि अपने लेख वापस लो और माफ़ी माँगो, नहीं तो कानूनी कारररवाई की जायगी। इण्डिपेण्डेण्ट ने तो माफ़ी माँग ली, पर गणेशजी इसके लिये तैयार न हुए। अन्त में उन पर और शिवनारायणजी पर फ़ौजदारी में दावा कर दिया गया। प्रताप-पक्ष के कुछ लोगों ने चाहा कि यह झगड़ा न बढ़े, तो अच्छा। दौड़-धूप, रुपए-पैसे की बरबादी और नतीजा कुछ नहीं। उधर दूसरा पक्ष भी यही चाहता था, परन्तु उनका कहना था कि हम ऐसी स्थिति में हैं कि यदि चुप बैठ जाते हैं, तो मानो उस अपराध को अपने माथे पर लेते हैं, जो हम पर लगाया गया है, परन्तु जिसे हमने नहीं किया है। मुझे यह आशा हुई कि संभव है, कोई अच्छी सूरत निकल आवे और झगड़ा न बढ़े। मैंने गणेशजी से इस विषय में कुछ करने के लिये पूछा, तो उन्होंने कहा, बड़ी अच्छी बात है।

इस अभियोग में जो स्पेशल मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए थे, वह भी मेरे परिचित थे। काशी में जो उनसे मेरी भेंट हुई, तो मुझे यह जानकर और भी सन्तोष हुआ कि वे स्वयं भी यही चाहते हैं कि झगड़ा आपस में निबट जाय, तो अच्छा। उन्होंने मुझ से आग्रह भी किया, "गुप्तजी, यह झगड़ा तुम किसी तरह आपस में तय करा दो। हमें इस अप्रिय कर्त्तव्य से छुट्टी मिल जाय।"

मैं रायबरेली पहुँचा, और उन्होंने वादी पक्ष के बैरिस्टर को बुलाकर मेरी उनसे भेंट करा दी। मैं नाम भूलता हूँ, परन्तु वह एक मुसलमान सज्जन थे। हिन्दी न जान कर भी 'प्रताप' के नाम से परिचित थे, और उसके प्रति आदर भी रखते थे। उन्होंने इस झगड़े पर अफसोस किया, और स्वयं भी आपसी समझौते पर जोर दिया। मैंने कहा, "आप बैरिस्टर हैं, आप ही कोई ऐसी तरकीब निकालिए, जिसमें दोनों फ़रीक राज़ी रहें।" बोले, "सरदार साहब ईमानदारी के साथ कहते हैं कि हमने किसानों पर गोलियाँ नहीं चलाईं, सिर्फ़, एक फ़ायर किया है, वह भी हवा में और अपने बचाव के ख़याल से। ऐसी हालत में एडिटर साहब

को चाहिए कि वह इस पर यक़ीन करें, अपना मज़मून वापस लें, और माफ़ी माँग लें।" मैंने कहा, "यही माफ़ी माँगने की बात ज़रा मुश्किल है।" बोले, "यह तो मामूली बात है। अंगरेजी में थैंक्स और एपालोजी ऐसे अल्फ़ाज़ हैं, जो मामूली-मामूली बातों में बोले-बर्ते जाते हैं। क्षमा और माफ़ी उस लिहाज़ से भारी पड़ते हैं। ऐसी हालत में अंगरेजी में ही लिखा-पढ़ी करके काम चलाया जा सकता है। एपालोज़ी पर तो किसी को ख़याल भी नहीं होगा। और, आप ही सोचिए, इतना बड़ा इल्ज़ाम वापस लेते हुए अगर आप इतना भी न करें, तो क्या यह मुनासिब होगा।"

महाशय काशीनाथ भी मेरे साथ थे। हमने कहा, "हम एक-आध दिन में जवाब देंगे।" उन्होंने कहा, "अच्छी बात है। इसके सिवा आप लोग कोई दूसरी मुनासिब तजवीज़ पेश करें, तो मैं ख़ुशी से उस पर भी गौर करूँगा।" हम लोग धन्यवाद देकर चले आए, परन्तु गणेशजी इस पर राजी न हुए।

मैंने इस सम्बन्ध में श्रीमान् राजा सर रामपाल सिंहजी को भी बहुत कुछ लिखा था। उन्होंने भी यही ठीक समझा कि मामला आपस में ही निबट जाना चाहिए। और, आवश्यकता होने पर, जो कुछ वे कर सकें, उसे करने में अपनी प्रसन्नता भी उन्होंने प्रकट की थी। उस समय राजा साहब लखनऊ में थे। मैं वहाँ गया। वे तुरत रायबरेली चले आए। स्वर्गीय पं० गोकर्णनाथजी मिश्र को भी मैं राजा साहब के साथ ले आया। मार्ग में मोटरों में हम लोग इस सम्बन्ध में बातचीत करते रहे। राजा साहब और मिश्रजी ने भी यही कहा कि, "इसमें गणेशजी की अप्रतिष्ठा नहीं, क्योंकि सरदार साहब ईमान के साथ कहने को तैयार हैं।" मैंने कहा, "अदालत में तो दोनों पक्ष ईमान के साथ अपनी बातें कहा करते हैं। अदालती ईमान ऐसा ही होता है कि सच्चे-झूठे दोनों ही उसे लेकर अपना काम चलाते हैं।" राजा साहब ने हँसकर कहा, "तब आप अदालत के बाहर ईमान के साथ उनकी सफ़ाई ले लीजिए।" मैंने कहा, "यदि वे अदालत के बाहर हमारे ही चुने हुए विशिष्ट व्यक्ति के सामने ऐसा करने को राजी हों, तो शायद गणेशजी भी मान लें।" राजा साहब ने कहा, "अच्छी बात है, मैं सरदार साहब को इसके लिये राजी कर लूँगा, आप विद्यार्थीजी को राजी कीजिए।"

मैंने आचार्य श्री भगवानदासजी को इस काम के लिये चुना। परन्तु गणेशजी राज़ी न हुए, न हुए।

शिवनारायणजी हम से सहमत थे, परन्तु गणेशजी के मन के प्रतिकूल वे कुछ नहीं कहते थे। उस बार मैंने आग्रह किया, तो यह कहकर मुझे टाल दिया कि, "मैं भी अभियुक्त हूँ। ऐसी दशा में मेरा कुछ कहना उचित न होगा।" जो होना था, होकर रहा। 'प्रताप' केवल इसीलिए जीता रहा कि वह अपने प्रवर्तक की अमर लेखनी का अमृत पिए हुए था!

समझौता न होने पर मेरी एक राय और हुई थी। मैंने गणेशजी से कहा, "ऐसी दशा में मुझे यही उचित जान पड़ता है कि आप अपने विश्वास के अनुसार अपना एक लिखित बयान दे दें। वकील-बैरिस्टर और गवाहों में हजारों स्वाहा करने से क्या लाभ। जो होना है, वही होगा।" परन्तु गणेशजी का यही विचार था कि, "सरदार वीरपाल सिंह ने अवश्य गोलियाँ चलाई हैं, और ऐसी दशा में हम मामले को योंही नहीं जाने देंगे।" इतना कहकर अदालत के हाते में एक पेड़ के नीचे बैठकर वह विक्टर ह्यूगो का एक उपन्यास जो उनके हाथ में था, पढ़ने लगे।

वे लेख भी, जिन पर मुकदमा चला, उनके लिखे न थे। परन्तु दायित्व उन्हीं पर था, और वह उन्हें स्वीकार भी था।

गणेशजी राजनीतिक क्षेत्र में वज्रादपि कठोर होते हुए भी निजी जीवन में कुसुमादपि मृदु थे। उन्हें अपने बड़प्पन का तनिक भी गर्व न था। साधारण-से-साधारण लोगों से भी वह इस प्रकार का व्यवहार करते थे, मानो वे भी वही हैं। मुझे ऐसे-ऐसे देशोद्धारकों के दर्शन हुए हैं, जो साधारण जनों को अपने पास बिठाने में भी अपनी मान-हानि समझते हैं, परन्तु गणेशजी उनमें से न थे। वे जानते थे कि जनता में अनेक अवगुण हैं, परन्तु यदि हम उसे उठाना चाहते हैं, तो हमें उसके बीच जाकर बैठना ही पड़ेगा। हम घृणा प्रकट करके नहीं, प्रेम प्रकट करके ही उन्हें विश्वास दिला सकते हैं, और उनके अनुकरणीय हो सकते हैं। यदि

हमारे निकट वे पतित हैं, तो हम भी उनके निकट किरेंटे हैं। मेरे परिचारक 'जगना' से भी वे जगन भाई कह कर दो-चार आपसदारी की बातें किया करते थे। एक बार उसने पंचायत से एक आदमी का हुक्का-पानी बन्द कर दिया—इस बात पर कि वह कुछ मुसलमानों के संसर्ग में रहा था, और उनका पानी-वानी भरता था। गणेशजी ने इस पर जगना को बहुत देर तक समझाया था, और कहा था कि, "तुम कहो, तो हम उसके हाथ का खा सकते हैं। तुम लोग क्यों ज़बरदस्ती उसे मुसलमान बनाए डालते हो।"

एक संचयशीलता को छोड़ कर वे पूरे गृहस्थ थे, और एक गृहस्थ को गृहस्थ की भाँति अच्छी सलाह दे सकते थे। बच्चों से उन्हें बड़ा प्रेम था, और उनके साथ हँसने-खेलने में बहुत आनन्द मिलता था, एक दिन आफ़िस में आकर हँसते-हँसते मुझ से बोले, "सुनते हो ओंकार की बात!" चिरंजीव ओंकारशंकर उनका कनिष्ट पुत्र है। उन दिनों वह ६-७ वर्ष का होगा। बोले, "आप छत पर दिगम्बर रूप में खड़े-खड़े हवा में अपनी धोती उड़ा रहे थे। मैंने कहा, "ओंकार, भला इसमें तुम्हें क्या आनन्द आता है?" छूटते ही बोला, "बाबूजी, करके देखो।"

अपनी पत्नी के विषय में उन्होंने मुझसे कहा था, "वे बहुत पढ़ी-लिखी तो नहीं, परन्तु हमारी गृहस्थी का सब काम चला लेती हैं, और हमारे बच्चों की माँ हैं।"

चिरंजीव ओंकार का कहना है कि "जिस समय बाबूजी मारे गए, उसी समय अचानक अपने आप हमारी माँ के पैर से बिछवा निकल गया, और हम लोगों के मन व्याकुल हो उठे!"

हिन्दू-मुस्लिम-विरोध उनमें कभी न था। अपने लड़कपन की एक बात मुझ से कहते थे कि हमारा एक मुसलमान मित्र हमारे यहाँ आया। मैं उसे पत्तल में न खिला सका। घर में विरोध होते हुए भी मैंने अपने बर्तनों में ही उसे खिलाया-पिलाया।

कानपुर-कांग्रेस के अन्त में वहाँ सब प्रतिनिधियों का जो भोज हुआ था, उसकी बात सुनाते थे कि, "हिन्दू और मुसलमानों का पास-ही-पास परन्तु अलग-अलग प्रबन्ध था। मुसलमानों की संख्या थोड़ी थी, इसलिये उस ओर उजाड़-सा दिखाई देता था, और हिन्दुओं की ओर भीड़-भाड़ और चहल-पहल मची थी। यह मुझे न जाने कैसा मालूम हुआ। मैं जाकर मौलाना मुहम्मद अली के पास बैठ गया। मुझे देख कर कुछ मित्र और आ गए। तब वह मण्डप कुछ भरा-भरा दिखाई दिया।"

एक बार सियारामशरण ने उनसे कविता लिखने के लिये कोई विषय बताने को कहा, तो उन्होंने अलाउद्दीन की उस जैसलमेर की चढ़ाई पर लिखने के लिये कहा, जिसका सेनापति महबूब खाँ था। वह दिन को शत्रु की भाँति राजा से लड़ता था, और रात को मित्र की भाँति उसके साथ रहता था। अन्त में लड़ाई में राजा मारा गया, और वहाँ जौहर भी हुआ, परन्तु राजा अपने दो पुत्र महबूब खाँ को ही सौंप गया अथवा उनका भार उसे दे गया।

महात्मा गांधी के मार्ग पर चलने के ही वे पक्षपाती थे। बम-पार्टी से देश का उद्धार होने की उन्हें आशा न थी। कहते थे, "इससे थोड़ा-बहुत आतङ्क भले ही फैल जाय, परन्तु सफलता की आशा नहीं। और, जब हमें एक नया मार्ग सूझ गया है, और वह संसार को हमारा एक अभूतपूर्व दान भी है, तब हमें उसीको प्रशस्त करना और उसी पर चलना उचित है।" परन्तु यह भी सच है कि प्रसंग आने पर विद्रोहियों के संसर्ग से वे इस डर से बचना भी न चाहते थे कि सरकार रुष्ट होगी। उनका कहना था, "इस बात से कोई नाहीं नहीं कर सकता कि उन लोगों के हृदय में हमारी व्यथा बजती है, जिसके कारण वे मृत्यु-भय भूल कर मरने-मारने पर उतारू हो जाते हैं। उनसे मिल कर यदि हम उन्हें अहिंसा के मार्ग पर ले आवें, तो वे हमारे सत्याग्रह-संग्राम के कितने बड़े सैनिक सिद्ध हो सकते हैं!"

परन्तु सरकारी मामलों में वे अपने मित्रों को कभी किसी संकट अथवा संकोच में नहीं डालना चाहते थे। एक बार आधी रात को गाड़ी से वे चिरगाँव आए। मेरे बड़े भाई साहब बाहर की बैठक में सो रहे थे, सियारामशरण अन्दर थे, और मैं कहीं बाहर गया था। जब उन्हें मेरी अनुपस्थिति की बात मालूम हुई, तब यह कह कर झाँसी चले गए कि, "मुझे आवश्यक काम से अभी जाना है। भैया से मिलने आया था, पर

वे बाहर गए हैं, इसलिये मैं अभी चला जाऊँगा।" भाई साहब ने बहुत कहा, पर वे न ठहरे। सबेरे जब सियारामशरण को मालूम हुआ, तब वे तुरन्त झाँसी जाकर उनसे मिले। गणेशजी ने कहा, "मेरे नाम गिरफ्तारी का वारण्ट है। जेल जाने से पहले मैं भैया से मिलना चाहता था। वे थे नहीं। यद्यपि मैं कलेक्टर को पत्र लिख आया हूँ कि मैं अमुक दिन तक उपस्थित हो जाऊँगा ; परन्तु मैंने सोचा, कहीं सरकारी असामी से बड़े भाई साहब को संकोच न हो, इसलिये यहाँ के मित्रों से मिलने चला आया।" सियारामशरण दो-तीन दिन उनके साथ रहे और ओरछा आदि घुमा कर उन्हें घर पकड़ लाए। उसी दिन कानपुर से डाक्टर जवाहरलाल उन्हें खोजते हुए चिरगाँव आए और रात को उनके साथ कानपुर लौट गए। उस बार शारीरिक, मानसिक और पारिवारिक कई झंझटों के कारण वे जेल के बाहर ही रहना चाहते थे। मिनिस्टर श्री सी० वाई० चिन्तामणि को बीच में करके इसके लिये प्रयत्न भी किया गया, परन्तु बात माफ़ी पर आकर अटक गई। गणेशजी ने जेल जाना ही उचित समझा।

क्षमा चाहनेवाला काम
कभी नहीं करता है राम।

यह वाक्य मेरी 'लीला' नामक पुस्तक में है। क्या ठीक, जो गणेशजी को ही लक्ष्य करके लिखा गया हो।

अपने निश्चय के विरुद्ध वे अपनों का पक्षपात भी नहीं करते थे। हम लोगों ने उस बार झाँसी से मि० चिन्तामणि को कौंसिल के लिये खड़ा करके उनका समर्थन करने का वचन दिया। उसी समय कौंसिल के बहिष्कार की चर्चा उठी। मैं वचन-बद्ध था और मि० चिन्तामणि कौंसिल के उपयुक्त थे। इसे गणेशजी भी मानते थे। मैं एक समर्थन-पत्र निकालने जा रहा था। गणेशजी से मैंने मि० चिन्तामणि के विषय में तीन प्रश्न किए, और उनका उत्तर चाहा। उनके उत्तर हमारे अनुकूल थे, परन्तु उन्हीं के साथ वे कौंसिल बहिष्कार की बात भी कह रहे थे। मेरे साथ उस दिन पण्डित देवीप्रसादजी शुक्ल भी थे। हम लोग कहते थे, "यह बात हमारे प्रश्न के बाहर की है।" परन्तु वे हँस-हँस कर यही कहते रहे कि, "हमारे उत्तर के भीतर की है।"

फिर भी हमारा काम निकल गया, और श्री चिन्तामणि मेम्बर और मिनिस्टर भी हो गए। मुझे उन्होंने स्नेहपूर्ण शब्दों में धन्यवाद भी दिया। "तुम तो पक्के एक्स्ट्रीमिस्टों में से हो, तुम ने मेरे समर्थन की यह भूल कैसे की?" मुझे जान पड़ा कि यहाँ गणेशजी ही पर संकेत था, फिर भी मैंने कहा, "ऐसी भूल और भी मुझसे एक-आध बार हुई है। जैसे उस बार जब नरमों के नाम नरक से एक पत्र आया था, और वह 'भविष्य' में प्रकाशित हुआ था।"

मिनिस्टर चिन्तामणि जब अपने दौरे में मेरे यहाँ आए, तब भोज में अनेक मित्र उपस्थित थे। परन्तु एक गणेशजी की अनुपस्थिति मुझे उस दिन बहुत ही खली थी। फिर भी उसके लिये उन्हें निष्फल आमन्त्रण देना मानो उनका अपमान करना था।

मेरा यह क्षोभ उस दिन मिटा, जिस दिन यू० पी० के दौरे में, समय न रहते हुए भी, महात्माजी मेरे यहाँ पधारे। गणेश जी को देखते ही वे हँसे, और बोले, "तुम कहाँ?"

मैंने मन-ही-मन बापू से भी यही प्रश्न किया। गणेश जी ने उनसे कहा, "गुप्तजी ने बुला लिया है।" अपने भाषण में बापू ने अपने लिये भी यही बात कही।

गणेशजी को चिरगाँव बुलाने के लिये हम लोग बहाना खोजते रहते थे।

एक बार बातों-बातों में गणेशजी ने कहा, "हम ऐसी-ऐसी बातें जानते हैं कि चाहें तो किसी भी पत्र को ग्राहकों की कमी न रहे, परन्तु कर नहीं सकते। सनसनीदार खबरों से ही बहुत लोग अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं। इन अदालती खबरों का मूलोद्देश्य भी आजकल प्रायः यही है। तुम देखोगे कि इन खबरों में अधिकतर गन्दे मुकद्दमों की बातें ही रहती हैं।"

'चाँद' के मारवाड़ी-अंक पर बहुतों ने उसे बधाई दी थी। गणेशजी ने ही पहले-पहल उसकी खरी आलोचना छापी थी। इस सम्बन्ध में मुझ से भी अपना क्षोभ उन्होंने प्रकट किया था।

एक बार एक सज्जन ने उन्हें लिखा, "मैं कानपुर में कुछ ऐसे साधुओं को ला रहा हूँ, जो पाँच-पाँच सौ वर्ष के प्राचीन हैं। एक-आध तो महाभारत के समय के भी हैं। उनके स्वागत का प्रबन्ध कीजिए।" गणेशजी ने वह पत्र रद्दी की टोकरी में डाल दिया। एक दिन वे सज्जन आए और गणेशजी से शिकायत करने लगे, "आपने कुछ भी प्रबन्ध नहीं किया।" गणेशजी ने कहा, "वे पाँच सौ वर्ष के हों या पाँच हजार वर्ष के, इससे हमें क्या? यदि वे इतने दिन जिये, तो अपने लिये। हमारे लिये एक दिन भी मरे-जिये हों, तो आप बताइए।"

उक्त सज्जन एक 'रहस्यवादी' कवि थे, और शायद इसीलिए गणेशजी ने इस विषय को कवि-कल्पना ही समझा!

'भारत-भारती' का विनय-शीर्षक गीत सी० पी० सरकार ने ज़ब्त कर लिया। उसके बाद बिहार-सरकार ने भी ज़ब्ती की आज्ञा निकाली। संयोग से उन्हीं दिनों गणेशजी आ गए। उनकी राय हुई, "अब यू० पी० सरकार भी यही करेगी, और तलाशी-वलाशी भी होगी। अच्छा यह होगा कि पुलिस-सुपरिण्टेंडेण्ट को एक पत्र लिख दिया जाय, और विनय की प्रतियाँ भेज दी जायँ कि हमने इसकी ज़ब्ती की खबर समाचार-पत्रों में पढ़ी है। परन्तु अभी हम इसे अमानत के तौर पर आपको भेजते हैं। ऐसा करने से शायद तलाशी न भी हो।" उन्हीं की सम्मति के अनुसार काम किया गया। सुपरिण्टेडेण्ट को जो पत्र लिखा गया, वह भी उन्हींने लिख दिया। गणेशजी ने कहा, "विनय ज़ब्त हो गई, परन्तु हमारी इच्छा है कि मामले को यों ही न जाने दिया जाय। हम ऐसा करेंगे कि कानपुर में हजारों आदमियों का जुलूस रोज विनय गाता हुआ निकले, और गंगाजी तक जाय। दूसरे नगरों में भी ऐसा ही हो।" सी० पी० में जेनरल आबारी भी इसे लेकर सत्याग्रह करने जा रहे थे। इसी बीच में पटना-हाईकोर्ट में विनय को लेकर एक मुकदमा हुआ, और सरकार ने अपनी आज्ञा वापस ले ली।

इधर कुछ दिनों से उनकी साहित्यिक रुचि निरन्तर बढ़ती जा रही थी, और जब वे आते थे, एक-आध विदेशी लेखक की चर्चा किया करते थे। उससे उनकी सहृदयता और सूक्ष्मदर्शिता का परिचय मिलता था। किसी अंगरेज़ विद्वान ने मिथुन-विज्ञान पर एक बहुत बड़ी पुस्तक लिखी है। गणेशजी बहुधा उसकी चर्चा करके लेखक के अध्यवसाय की साश्चर्य प्रशंसा करते थे।

जब साहित्य-सम्मेलन के सभापतित्व के लिये उनका चुनाव हुआ, तब मुझसे कहने लगे, "भला, मैं वहाँ क्या कहूँगा?" मैंने कहा, "सम्पादक तो सर्वज्ञ होते हैं, परन्तु तुम अपनी बातें कह देना। ऊहा-पोह बहुत हो चुका। तुम्हें उसकी ज़रूरत नहीं है।" परन्तु दस-पन्द्रह दिन के अध्ययन में ही उन्होंने इतनी जानकारी कर ली कि देखकर मुझे आश्चर्य हुआ।

एक बार मैं उन्हें कुछ सुना रहा था। उसमें 'हर्म्य' शब्द आया। उसका अर्थ उन्होंने पूछा, तो मैंने महल बता दिया। वे कुछ सोचने लगे। मैंने कहा, "क्या 'हरम' की बात सोचते हो?" मुस्करा कर बोले, "हाँ।" मैंने कहा, "ऐसे अनेक शब्द हैं।" बोले, "इससे यही जान पड़ता है कि किसी समय हम सब एक ही थे।"

'साकेत' का दूसरा सर्ग जब 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ, तब उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा था। खेद है, वह न जाने कहाँ खो गया। आज जब 'साकेत' पूरा हो कर छपने जा रहा है, वे स्वयं खो गए!

दक्षिण अफ्रीका के सम्बन्ध में पूज्य द्विवेदीजी महाराज के आदेशानुसार मैंने एक कविता लिखी थी। परन्तु प्रेस के मालिक उसे 'सरस्वती' में प्रकाशित करते हुए सशंकित हुए, और वह पड़ी रही। जब गणेशजी को यह बात मालूम हुई, तब वे पण्डितजी से उसे ले आए, और प्रताप के विशेषांक में उसे छापा। मैंने कुछ भिन्न-भिन्न देशों के राष्ट्रीय गीतों का सुन-सुना कर पद्यानुवाद किया था। उन गीतों को भी उन्होंने छापा, और लेखक के स्थान पर 'कवि-मण्डल' लिख दिया। एक बार मेरी एक कविता प्रेस में देकर उन्होंने मुझे लिखा, "मैंने तुम्हारा एक नाम 'भारतीय हृदय' रक्खा है।"

आरम्भ में तो वे कभी-कभी मुझे कुछ लिख भेजने के लिये लिखते भी थे, पर इधर बहुत दिनों से इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते थे। एक-आध बार प्रसंगवश किसी ने कहा कि गुप्तजी से क्यों नहीं लिखाते, तो बोले, "वे यदि 'प्रताप' के लिये कुछ लिखेंगे, तो स्वयं भेजेंगे। मुझे कहने की आवश्यकता न पड़ेगी। मैं जानता हूँ, लेखकों को लोग कितना घेरते हैं, और उन्हें शील-संकोच में पड़कर कितनी परेशानी में पड़ना पड़ता है।"

एक बार कानपुर में उन्होंने कहा, "कुछ सुनाओ।" 'वन-वैभव' की पाण्डुलिपि मेरे पास थी। मैं उसे पढ़ने लगा—

शकुनि की सुन यों गूढ़ गिरा, हँसा दुर्योधन मूढ़ निरा।

रोककर बोले, "तुम हमारे कहने की बात क्यों कहते हो? मूढ़ शब्द पर मुझे आपत्ति है। परन्तु शायद तुम्हारे गूढ़ की तुक मिलती है।" मैंने कहा, "मूढ़ शब्द स्वयं मुझे भी खटका था। मैंने बदल भी दिया था, परन्तु पूर्वाभ्यास-वश वही मेरे मुँह से निकल गया।" यह कहकर मैंने कापी उनके हाथ में दे दी। उसमें मूढ़ काट कर हठी कर दिया गया था। देख कर बहुत सन्तुष्ट हुए।

पूज्य द्विवेदीजी महाराज की सेवा में रहकर उन्होंने अपने गद्य का विकास किया था, और उन्हीं की कृपा से मैंने पद्य-रचना सीखी थी। जब तक वे जुही में थे, गणेशजी बीच-बीच में उनकी सेवा में उपस्थित और उनसे उपदिष्ट होते रहते थे। जब मैं कानपुर जाता, तब तो अवश्य ही जुही जाना होता था। हम लोग चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया करते थे। एक बार गणेशजी उनके चरण छूने लगे, तो उनके सिर पर हाथ रखते हुए पण्डितजी ने कहा, "रहो, रहो, अब तो ये पुरानी बातें हो गई हैं।" शिवनारायणजी अपनी घरेलू बोली में कुछ कहकर हँसे, साथ ही हम सब भी हँस पड़े।

एक बार गणेशजी ने मुझ से कहा, "तुम्हीं मज़े में हो। मैं भी अब कविता लिखना आरम्भ करता हूँ। गद्य लिखते-लिखते तो कलम घिस जाती है और मैं पिस जाता हूँ। तुमने दस-पाँच पंक्तियाँ लिखीं और छुट्टी पाई।" परन्तु यदि मेरे पद्य से वे अपने गद्य का बदला करते, तो निस्सन्देह टोटे में वही रहते।

बौद्ध जातक पढ़ते समय मघजातक पर कुछ लिखने की मेरी इच्छा हुई। मघ में मुझे महात्मा गाँधी के चरित का आभास दिखाई पड़ा। परन्तु 'अनघ' लिखते समय युवक मघ की मूर्ति के रूप में गणेशजी ही मुझे दिखाई दिए। उन्हीं की मूर्ति को, हृष्ट-पुष्ट रूप में, मैंने ले लिया—

शिरोपरि चिकुर-जाल शोभन है,
सुधा-मधुचक्र लोक-लोभन है।
मुकुरता देखो तो इस मुख की,
पड़ी है छाया-सी पर-दुख की।
शुष्क आभा हो नहीं दृगों में,
सरसता इतनी कहाँ मृगों में?
प्रकृति में क्या ही भोलापन है,
आर्द्र उर में ज्यों ओलापन है।
गौर तनु कान्ति सौम्य शुभरुचि है,
सहज ही दीख रहा यह शुचि है।

सिर पर अस्त-व्यस्त और रूखे-सूखे बाल, धूप में लाल-लाल मुख और पसीने-पसीने शरीर लिए हुए, क्लान्त गति से, मैंने उन्हें प्रताप-प्रेस में प्रवेश करते हुए देखा है। उसीको लक्ष्य करके मघ की माँ के मुँह से मैंने उनके प्रति कहलवाया है—

आह! आ गया, वह आया,
स्वेद अरुण मुख पर छाया।

वहाँ रजःकण रह न सके,
पर बालों के बह न सके।
मानो मधुप पराग-सने,
उस अंबुज के रसिक बने।
जिसका कोष खुला रवि से,
शोभित हिम मौक्तिक-छवि से।
श्रम-संतप्त मूर्ति इसकी,
स्वयं सिद्ध शुचिता जिसकी।
सह्य नहीं मुझको ऐसी,
उष्ण हेम-मुद्रा जैसी।

अब कभी वह मूर्ति देखने में न आवेगी, इसका स्मरण आते ही हृदय में एक हूक-सी उठती है और इस पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। भाई कृष्णदास के शब्दों में जान पड़ता है, "मानो किसी औपन्यासिक पात्र की भाँति गणेशजी अचानक घटनावश अदृश्य हो गए हैं, और समय पर आश्चर्यपूर्वक प्रकट हो जायेंगे!" व्यर्थ आशा! उनके निधन से हमारे देश को जो हानि हुई, उसकी पूर्ति तो भगवान ही के हाथ में है, परन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मेरे कुटुम्ब का ही एक समर्थ जन चल बसा। जीवन में ऐसा बन्धु अब काहे को मिलेगा?"

गाँधीजी का वरद हस्त

१९१५ के प्रारंभ में गाँधीजी अफ्रीका से भारत लौट कर आए। वहाँ उन्हें एक अभिनव ख्याति मिली थी; वे देश के एक नए प्रतिनिधि थे। उनके आते ही देश के राजनीतिक जागरण ने उन्हें अपनी पलकों पर बैठाया। उनके आते ही देश में गाँधी-युग का प्रभात शुरू हो गया। इस प्रभात में देश के मस्तिष्क को एक नया युक्तार्थ हाथ लगा, जिसके प्रभाव में कौन नहीं आया? कोई तुरन्त ही आ गया, कोई देर-सबेर आया। गाँधी-युग ने समग्र देशीयता को भैरवी राग सुनाई और कौन सोते से नहीं जाग उठा? इस नए अर्थपूर्ण जागरण में लेखक और कवि भी नई जाग जागे। गुप्तजी भी इस राष्ट्रीयता के संस्पर्श से अछूते न रह सके। बल्कि इस आवाहन में वे सबसे अग्रिम पंक्ति में ही रहे।

इस स्थल पर, यह आवश्यक हो उठा है कि हम गाँधीजी और मैथिलीशरण के अब तक के जीवन का सूक्ष्म पर्यवेक्षण कर लें—

जहाँ इतिहास साक्षी नहीं रहता, वहाँ मनुज घटनाओं के सही अर्थों की पुनर्स्थापना करने में असहाय हो जाता है। लेकिन, इतिहास जिस घटना का साक्षी बना हुआ है, न्याय की रसवंती तूलिका वहाँ शब्दाडंबर या वाग्विलास का कौशल नहीं रच पाती। वह घटना अपने सम्पूर्ण रूप में मंगलमय होकर आदर्श गाथा बन जाती है। यदि हम भारतीय इतिहास के ३००-४०० वर्षों पर दृष्टिपात करने का लोभ त्याग कर केवल बीसवीं शती के प्रथम दो दशकों तक के इतिहास (समस्त पूर्वार्द्ध को दृष्टिपथ में रखते हुए) का ही अध्ययन करने बैठ जायँ, तो विदेशी दासता की इस उग्र अवधि में भारत के निर्विजित सूर्य से अपरिच्छिन्न साक्षात्कार संभव हो जाता है। गाँधीजी और मैथिलीशरण गुप्त इसी निर्विजित सूर्य की, दो दिशाओं में समानधर्मा कार्य करती हुई, दो रश्मियाँ थे। भारतीय इतिहास निम्न रूप में इन दोनों का कार्य-कारण भाव हमारे सन्मुख रखता है—

भारतीय राजनीति में गाँधीजी का आलोकपथ ४४ करोड़ (अविभाजित भारत) की जनसंख्या को सुखानुभूति देने में समर्थ हुआ था। इसी के समानान्तर, एक-सी परिस्थितियों में, मैथिलीशरण का काव्य किपलिंग और अंगरेज़ी कवियों और अंगरेज़ी भाषा के संगीन-बन्दूक-अधिकारों के देशव्यापी शासित साम्राज्य में समग्र कलमष से निवृत्ति का (हल्का-फुल्का नहीं) प्रचंड आंदोलन प्रारंभ करता है। १९१० के आसपास

संभ्रान्त श्रौर सम्पन्न देशी परिवार श्रंगरेज़ी भाषा के मोहावेश में एक स्वर से नाक-भौं चढ़ाकर कहा करते थे, "खड़ी बोली हिन्दी ? छि: । वह कोई भाषा है ? कभी नहीं ।" लेकिन गाँवों, कस्बों श्रौर दूरस्थ नगरों की श्रर्द्धशिक्षित जनता ने जहाँ 'भारत-भारती' या 'जयद्रथ-वध' कंठस्थ किया, वहाँ चुपके-चुपके इन श्रसंभव कहनेवाले देशी साहबों ने भी इस काव्य का रसास्वादन करते हुए श्रपना श्रद्धा-निवेदन गुप्तजी के तईं देने में कहीं कंजूसी नहीं की ।

पर बात का श्रर्थ करीने से लें......

गाँधीजी गदर के शमन के ७ वर्ष बाद जन्म धारण करते हैं। गुप्तजी का जन्म इस तिथि के १९ वर्षों बाद, १८८६ में (जिस वर्ष भारतेन्दु के युग का श्रंतिम श्रध्याय पूरा हुश्रा) होता है । दोनों ही महाजनी सभ्यता के शिशु हैं । दोनों ही वैष्णव संस्कारों के पुंज हैं । एक दीवानी पद की प्रतिष्ठा के विश्वासों का श्रौदार्य पैतृक-सम्पत्ति के रूप में पा चुका है, गुप्तजी सेठाई-साहूकारी सुविधाश्रों की मौजों से बचपन को लाभान्वित कर सके हैं। गाँधीजी का विवाह १३ वर्ष की श्रवस्था में हुश्रा, लेकिन गुप्तजी ने जैसे जन्म के इन ४ वर्षों के विलम्ब को श्रस्वीकार करते हुए, ९ वर्ष की श्रवस्था में ही पाणिग्रहण का सुखोपभोग पा लिया । गुजरात की सामाजिक रस्में गाँधीजी को दाम्पत्य की श्रधिकार-सुविधाएँ १८ साल की श्रायु तक कम-से-कम देती हैं। गुप्तजी ऐसे बन्धनों की श्रनमोल उपयोगिता नहीं पा सके, श्रौर १६ वर्ष की श्रवस्था तक वे एक पुत्री के पिता हो चुकते हैं । किन्तु विधि का निरंकुश विधान, यह पुत्री श्रौर यह प्रथम पत्नी दोनों इन्हीं दिनों काल-कवलित हो जाती हैं । गाँधीजी के पिता १६ वर्ष की श्रवस्था में स्वर्ग लाभ कर परिवार को एक दुश्चिंता सौंप जाते हैं । गुप्तजी के पिता इनके १७ वर्ष होते-न-होते श्रपना वरद हस्त ही नहीं हटा लेते, भरे-पूरे परिवार को एक भारी कर्जा चुकाने का भार दे जाते हैं । श्रब गाँधीजी श्रपने पिता की दीवानी को पुनः हस्तगत करने के लिए विलायत यात्रा करते हैं, ताकि बैरिस्टर बनकर श्रा सकें । गुप्तजी को भी इसी श्राशय से हाईस्कूल भेजा जाता है कि वह श्रंगरेज़ी पढ़ लें, तो उन्हें कलक्टर बना दिया जायगा श्रौर परिवार में एक व्यक्ति सरकारी हुक्कम बनकर कुलगत यश में चार चाँद लगा लेगा । पर गाँधीजी हाईस्कूल की परीक्षा पास कर चुके थे, इसलिये मजे में विलायत का मजा चख सके ।

गुप्तजी छठी कक्षा से श्रागे का घुणाक्षर-ज्ञान चाह कर भी नहीं पा सके । ठेठ ग्रामीण वातावरण में किसी ने उसका श्राग्रह रखा भी नहीं ।

इस प्रकार दोनों १९-२० वर्ष तक एक-जैसी परिस्थितियों में जीवन की श्वासें श्रौर उसके यत्किंचित श्रधिकार पा सके । लेकिन इसके बाद दो समानान्तर रेखाएँ श्रलग-श्रलग दिशाश्रों में मुड़ गईं । गाँधीजी विलायत जाकर सत्य-शोधन, मर्यादाश्रों के सौंदर्य की चेतना-प्राप्ति, सत्यमय श्रौर श्रानंदमय की जिज्ञासा में बढ़ते हैं, प्रवृत्त होते हैं । श्रंगरेज़ी श्रनुवाद की गीता से उनको भारतीय शाश्वत-साहित्य का बोध मिलता है । सशक्त भाषा श्रंगरेज़ी एक सशक्त राष्ट्र की भाषा थी । उसका संबल गाँधीजी देशीय रूप में (भारतीयता के दृष्टिकोण से) संचित करते चलते हैं । एकनिष्ठ कर्त्तव्यपरायणता का पाठ श्रंगरेज़ी के माध्यम से ही उद्घाटित होता है । मूल में भारतीयता का पुनरुज्जीवित संस्कार सक्रिय बना हुश्रा है । शीघ्र ही वे प्रमुख प्रवृत्तियों में—जो सीधे सत्य श्रौर धार्मिक शोध से श्रपनत्व करने के लिए लालायित हैं, श्रग्रसर हो उठते हैं । पाँच वर्ष बाद बैरिस्टरी कर भारत लौटते हैं । परिस्थितियों को श्रौर मन की दुर्बलताश्रों को कार्य-क्षेत्र में श्रौर भी प्रिय बनाने के मिस, विदेशी वातावरण में जरा सुविधाजनक जीवनयापन करने के उद्देश्य से (श्रंगरेज़ी भाषा का पहला संस्कार किसी भी भारतीय पर यही होता है) है । श्रफ्रीका की यात्रा करते हैं । १९१३-१४ तक इस महाप्रदेश में उनका कार्य उन्हें केवल श्रफ्रीका में ही नहीं, भारत में भी व्यापक ख्याति प्रदान करता है । जो न देखा, न सुना, ऐसा सत्य का श्राग्रह वे श्रफ्रीका में कर सके ? जीवन-मरण की प्रखर श्रनुभूतियों से गुजरते हुए, वे सत्याग्रह की सक्रियता का नेतृत्व हाथ में थामे इस देश की राजनीति में जूझ जाते हैं । उनका मानस भारतीय प्राग्वचनों से श्रब लब्ध है । वे भारतीयता श्रौर उसकी सनातन वाणी के उद्घोषकर्ता भी श्रब तक ही चले हैं ।

किन्तु इतना सब कुछ गाँधीजी को मिला पूरे २० वर्ष इंग्लैंड और अफ्रीका की भावभूमि पर विचरण करने के बाद। यह साक्षात्कार और इसका सौभाग्य गाँधीजी विदेशी वातावरण में अपने भारतीय सत्यों की कठिन अग्नि-परीक्षा करने के बाद संजो सके...

लेकिन गुप्तजी ने इन २० वर्षों को चिरगाँव जैसे महत्वहीन गाँव के नितान्त एकान्त के ठेठ गँवई वातावरण में ही इसी अनुपात में इसी परिमाण में मुखर कर लिया। अपने व्यक्तित्व का विकास मुंशी अजमेरी-जैसे वैष्णवभक्त के संदेशों की शरण में रहते हुए वे करने लगते हैं। भारत के अतीत गौरव और उज्ज्वल भविष्य की रूपरेखाएँ उन्हें घर बैठे मिलने लगती हैं। बिना अंगरेजी पढ़े, वे संस्कृत और अन्य देशी साहित्य का पारायण कर बैठते हैं। दासताओं के अभिशाप जब अपनी शृंखलाएं खुशी से झंकृत कर रहे हैं, तब गुप्तजी को सत्य-शोधन, मर्यादाओं के सौंदर्य की चेतना-प्राप्ति, सत्यमय और आत्मानंद की जिज्ञासाएँ कवि बनाती चलती हैं। भाग्य का चमत्कार कि झाँसी में भारतेन्दु के बाद अपना युग स्थापित करने वाले पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी इस किशोर उदीयमान कवि को पहली ही भेंट में अपना पितृत्व और गुरु-आशीर्वाद दे देते हैं। उनका यह 'चरण सेवक', 'चरणानुचर', 'पुत्र-स्थानीय', 'ग्रामीण-सेवक' उनकी आज्ञाओं और आदेशों का अक्षरशः पालन करता हुआ 'सरस्वती' का शीर्षस्थ हिन्दी-कवि मान्य हो जाता है। युवक कवि मैथिलीशरण का आत्मिक सुख यही है कि द्विवेदीजी को हर तरह से संतोष दे और उनके उच्च सिद्धान्तानुरूप पुरातन समाज के संस्कारों का उच्छेदन करता हुआ नई चेतना के बीजों का आज्ञानुसार रोपण करता रहे। स्वान्तःसुखाय लेखनी चलाने की फुर्सत द्विवेदीजी ने इस भाग्यवान सेठ-पुत्र को न दी। उन्होंने तो इससे लेखनी-तुल्य हल ही उजाड़ किन्तु उर्वरा भूमि पर चलवाया। ब्रिटिश शासन की भारतीय तिमिराच्छन्न निःशब्द मृत शान्ति को यह कवि गहरी कचोट मारता हुआ पुरातन गौरव-गान की स्वर-लहरी फैलाने में एकनिष्ठ तन्मयता से जुट गया। 'जयद्रथ-वध' का जन्म भी इसकी सजग दृष्टि की जाग्रत दीप्ति के रूप में हुआ—द्विवेदीजी के कठिन आदेशों से ही स्फूर्त होकर इसने इस कृति में एक अग्निशिखा सुलगा दी थी। जो भी प्राचीन वैभव था, वह दासता से जकड़े हुए भारत को आशीर्वचनों से पुनः मंडित करने के लिए लालायित हो उठा था। जिस ज्योतिः स्तम्भ को भारत के विकल प्राण खोज रहे थे, उसकी अधिकांश प्रखरता गुप्तजी के काव्य की अभिषिक्त ज्योत्स्ना से अशिक्षित-अर्द्धशिक्षित-शिक्षित पाठकों को मिलने लग गयी थी। और, तभी द्विवेदीजी के कठोर अंकुश में कार्य करते हुए 'भारत-भारती' का धारावाहिक प्रकाशन 'सरस्वती' में होने लगा। इसने भारतीय-मात्र को एक नई श्रद्धामय शक्ति के प्रति उन्मुख कर दिया। जैसे लोग अपना कोई भूला राग नवीन उद्वेग से भरा पा गए हों।

यहाँ एक ऐतिहासिक तथ्य पुनः समझ लेना होगा। गाँधीजी ने अपने राजनीतिक आश्रम १६२० के बाद स्थापित किए। भारत के सभी शाश्वत आंदोलन आश्रमों में ही उद्‌भूत हुए हैं। भारतीय स्वतंत्रता का रणभेरी-शंख इन्हीं आश्रमों में प्राणकोश तुल्य बजा था। उसका आह्वान जान की बाजी लगा लाने के लिए था। किन्तु इन राजनीतिक आश्रमों से पहले, भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के प्रथम अध्याय के रूप में, द्विवेदीजी ने १६०३ से ही 'सरस्वती' के रूप में साहित्यिक आश्रम की स्थापना कर दी थी और इसी आश्रम में उन्होंने खड़ी बोली का दीर्घ आंदोलन विजयी बनाया था। खड़ी बोली के आंदोलन की विजय भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की पहली विजय थी। गुप्तजी इसी आश्रम के अग्रणी सदस्य थे। अन्यथा, इस आश्रम के बाहर बैठकर 'भारत-भारती' या 'जयद्रथ-वध' के लेखन की समस्या शायद कभी भी समाधान न खोज पाती। पूरे तीन युगों तक समूचे राष्ट्र के नैराश्य-तिमिर को भेद कर ये पुस्तकें अपना सबल संदेश सुनाती रहीं। १६२० के आसपास जो राजनीतिक आंदोलन (दीर्घ युद्ध के रूप में) चले, उनमें प्रभात फेरियों ने प्रमुख स्थान लिया और 'भारत-भारती' के पद ही हर नगर, हर गाँव में गुंजित होते रहे...

१६१४ में यह कृति पुस्तक-रूप में निकली। इसी वर्ष गाँधीजी अफ्रीका से लौटकर आए। और, लक्ष्यसिद्धि के अविजेय आत्मतेजवान अधिनायक मनोनीत हो गए। इन क्षणों तक गुप्तजी सम्यक् प्रयत्न के सजग सेनानी मान्य हो ही चुके थे। गाँधीजी ने भारत में सक्रिय होते ही समस्त आंदोलनों के क्षितिज

नई दिशाओं में स्थापित किए। साहित्यिक क्षितिजों की दिशा परिवर्तन करनेवाले गुप्तजी १९१५ से 'साकेत' और अन्य ८-१० काव्य-ग्रन्थ लिखने में व्यस्त थे। परन्तु मुख्य रूप से आपका मानस राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को 'प्रताप' के माध्यम से हृदयंगम करने में लगा था। गाँधीजी के एक स्फुलिंग-सूत्र के रूप में गणेशशंकरजी विद्यार्थी मैथिलीशरण का सान्निध्य पाकर उन्हें नियमित रूप से 'प्रताप' में सार्वजनिक राजनीति पर काव्यमय पद लिखने को बाध्य करते थे। 'विदग्ध हृदय' उपनाम से आपने 'प्रताप' में जो लिखा है, वह आपकी राष्ट्रीय चेतना का पल्लवित विकास है। इसीसे भरपूर सिद्ध हो जाता है कि आप राष्ट्रीयता की खुली पगडंडी पर प्रशंसनीय रूप से निकल पड़े थे। 'सरस्वती' ने जहाँ गुप्तजी की काव्य-क्षमता को प्रथम क्षणों से विपुल मंथन का व्यापक क्षितिज मुट्ठी में ही थमा दिया था, वहाँ 'प्रताप' ने अपने प्रथम क्षणों से ही राष्ट्र-संवर्धन का असिव्रत उन्हें पक्के विश्वास के धरोहर रूप में दे दिया था। गुप्तजी ने इस दिए विश्वास को श्रद्धा-आस्था का दीप-स्तम्भ बनाकर राष्ट्रीय क्षितिज पर जगमग कर खड़ा कर दिया! गुप्तजी ने जहाँ भी काम किया, पल्लवग्राही रूप में नहीं किया, हृदयांजलि देकर किया।

८ जुलाई, १९१८ को जब 'प्रताप' का ट्रस्ट बना, तो आप भी उसके एक ट्रस्टी बनाए गए। भारत की राष्ट्रीय क्रांति के मज़बूत किलों में 'प्रताप' का स्थान गर्वोन्नत मस्तक के साथ लिया जायगा।

१९२० में 'सरस्वती' से सदा-सदा के लिए अवकाश पाकर, गुप्तजी गाँधीजी के वरद हस्त को शिरोधार्य करने में लग गए। अन्य देशीय कवि भी किसी रूप में पीछे न थे।

गाँधीजी ने अपने वृहद् आंदोलन में उन सभी आंदोलनों को समाहित कर लिया, जो देश की चेतना-में किसी-न-किसी रूप में या तो योग दे चुके थे या दे रहे थे। गुप्तजी खड़ी बोली के दीर्घ आंदोलन के प्रतीक रूप में थे। गाँधीजी ने इनको शीघ्र ही अपने राजनीतिक आश्रम का माननीय सदस्य बनाने का उपक्रम तैयार कर लिया......

मैथिलीशरण सक्रिय राजनीति में कभी नहीं रहे। वे वैष्णव धर्म की रति में ध्यानमग्न रहते थे। यों आचरतः वे गाँधीवादी अवश्य बने। लेकिन गाँधीवादी राजनीतिज्ञ तो आचारतः सक्रिय राजनीति में ही रहे। वे चिरगाँव आते अपने राष्ट्रकवि के पास। उनके उस आगमन से ब्रिटिश हुकूमत की पुलिस यही अन्दाज़ लगाती कि गुप्तजी भी सक्रिय राजनीति में हैं। विश्व-युद्ध का धुआँ अभी तक व्योम में था। देश की राजनीति भीषण गति से अंगरेज़ी सत्ता के विरुद्ध असहयोग करने पर आमादा थी। यद्यपि 'करो या मरो' का बिगुल नहीं बजा था, लेकिन उसका कारवाँ व्यक्तिगत सत्याग्रह के रूप में अपने शिविर से निकल पड़ा था। चारों ओर पकड़ा-धकड़ी होने लगी क़ानूनी हिसाब से। क़ानून विदेशी सत्ता के थे, क़ानून का वार खुली छाती पर सहने के लिए देश के वीर सामने डटे थे। ऐसे क्षणों में चिरगाँव में भी एक अकल्पनीय घटना इस तरह पैर दे गई, मानो कोई उद्धत पशु किसी नई बोई हुई क्यारी में खाने को जब न पा सका, तो अपने पैरों से ही सारे खेत को अस्तव्यस्त कर गया हो...

इस घटना का रोमांचक दृश्य हम श्री जैनेन्द्रकुमार[1] के शब्दों में लिपिबद्ध हुआ देखें :—

"आज साप्ताहिक 'प्रताप' में कवि मैथिलीशरण गुप्त की गिरफ्तारी के सिलसिले में यह पढ़ने को मिलता है : 'हेड कान्सटेबल एकदम गिरफ्तारी के वारन्ट की बात कह देता है। मैथिलीशरणजी ब्यालू कर लेने के लिए पूछते हैं। वह जवाब देता है, अब वहीं ब्यालू कर लीजिएगा। मैथिलीशरण कहते हैं, अच्छा वहीं सही। उसके बाद हेड कान्सटेबल को इस बात पर भी एतराज होता है कि कवि अपना चश्मा पहन लें। कवि ने कहा, 'चश्मे के बिना एक कदम चल सकना मुश्किल है। मैं तो चश्मा लगाकर ही चलूंगा, तुम चाहना तो उतार लेना।' इसके बाद कवि को कई घंटे हवालात के कमरे में गर्मी में बन्द रखा गया। खबर मिली है कि मैथिलीशरण को झाँसी में पैदल ही जेल ले जाने की तैयारी थी। अन्त में एक मित्र ने ताँगा कर दिया, इसलिए वे तांगे में जेल जा सके।"

---

[1] 'हिन्दी का भाग्य' लेख, मई-जून, १९४१, 'आरती', पटना।

"पाठक को इस खबर पर यकीन लाने के लिए मैं भी कह सकता हूँ। काश कि उसका अविश्वास किया जा सकता। पर भाई सियारामशरण ने खत से पहले यह भी बात मुझे लिख दी थी। अगर उन्हें खाना न खाने देने और चश्मा न लेने की कोशिश तक सच है, तो बाकी बात छोटी रह जाती है।

"देश में गिरफ्तारियाँ हो रही हैं। गिरफ्तारी समझ में आती है। सरकार कानून पर चलती है और जो कानून तोड़े उसके लिए जगह जेल ही है। पर गिरफ्तारी के साथ बेहूदगी होने की क्या जरूरत है? वह किसी सरकार के लिए अक्षम्य है। और जब ऐसी असभ्यता हो, तब सरकार को लोकमत की ओर से चेतावनी मिलनी चाहिए। कोई सरकार सदा बहरी नहीं हो सकती।

"हम मानते हैं कि सरकार अपने कानून की अवज्ञा बर्दाश्त नहीं कर सकती। उसका कर्त्तव्य है कि जब तक उसे अपनी नीति सही मालूम हो, तब तक सत्याग्रहियों को जेल ही दे। पर कानून को नहीं छोड़ा जा सकता। अशिष्टता गैरकानूनी है, चाहे वह सरकार की ही तरफ से हो।

"हमारे पास यह मानने के कारण हैं कि सरकार अशिष्ट व्यवहार नहीं चाहती। अशिष्टता पर वह दुःखी होती है। इस सम्बन्ध में अवसर आने पर अपनी त्रुटि पर वह खेद ही प्रकट करेगी। नाहक अपने को असभ्य समझा जाना वह नहीं चाहेगी। मैं मानता हूँ कि इस अशिष्ट उदाहरण के पीछे सरकार की बदनीयत नहीं है। यह एक अदने सिपाही की हिमाकत भर है। लेकिन सरकार की तरफ से उसकी पेटी-पगड़ी बाँधकर आनेवाले सिपाही के काम को लेकर जरूर सरकार की आलोचना की जा सकती है। वह काम एक आदमी का है, पर सरकार अपने एक आदमी को भी सभ्यता से बाहर जाने देने की कैसे इजाजत दे सकती है?

"लेकिन यहाँ मैं दूसरी ही बात कहना चाहता हूँ। मैथिलीशरण हिन्दी के सर्वमान्य पुरुष हैं। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। ऐसे वह राष्ट्र के मान्य पुरुष हैं। चिरगाँव में रहते हैं और चिरगाँव चाहे तहसील भी न हो, पर राष्ट्र का बल उनकी पीठ पर है। पर स्पष्ट है कि सरकार यह नहीं जानती। वह यह जानना नहीं चाहती। आज ऊपर की दुर्घटना से मुझे यही दीखता है। सरकार अशिष्टता पर उतरी है, सो नहीं। अगर वह मैथिलीशरण को मैथिलीशरण जान कर घोर निर्दय व्यवहार करती है, तो हम समझ सकते थे। पर ऐसा नहीं हुआ। जो हुआ उससे तो यही प्रकट होता है कि सरकार अँधेरे में रहती है और वह बुराई है। सिपाही नहीं जानता था, और शायद वारंट निकालनेवाला मजिस्ट्रेट भी नहीं जानता था कि किस को वह पकड़ रहा है? कि जिसका नाम मैथिलीशरण है, वह हमारे कितनों का प्रतिनिधि है।

"इससे एक घोर दुर्भाग्य की बात स्पष्ट हो आती है। वह यह कि राष्ट्रभाषा हिन्दी हो, पर सरकारी लोग उस हिन्दी में व्यक्त होनेवाले राष्ट्र के प्राण से बिल्कुल अपरिचित नहीं हैं। वह हिन्दुस्तान के हाकिम हैं, पर हिन्दुस्तान को ही नहीं जानते! यहाँ क्या-क्या है, इसका पता उन्हें नहीं है। कारण, वह अंग्रेजी में रहते हैं। सरकार अंग्रेजी में चल रही है, इसीसे हिन्दी का बड़े-से-बड़ा कवि उसके लिए इकाई से अधिक कुछ नहीं है। मैं कहना चाहता हूँ कि वह कवि का अपमान नहीं, बल्कि सरकार पर लांछन है। वह अंग्रेजी में भूली, अयथार्थ में रहती है। जो शासन का दावा करती है, उस सरकार का धर्म था कि वह जाने कि यहाँ किसका महत्व क्या है? वह यह कहकर नहीं बच सकती कि हम कवि को नहीं जानते। यह कहकर सरकार अपने शासन के दावे का दिवाला निकालेगी। लेकिन, यह भी सच है कि सरकार कवि को नहीं जानती थी। यह सच है और यही आज की सरकार की सबसे बड़ी आलोचना है।

"हिन्दीवालों को आज यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उन्हें अप्राकृतिक परिस्थितियों के नीचे काम करना पड़ रहा है। हिन्दुस्तान के सिर पर अंग्रेजी है। वह उसी हिन्दुस्तान के प्राणों में बिल्कुल घुली हुई नहीं है। अंग्रेजी बोलने-लिखनेवाला अफसर उनके ऊपर भाग्य-विधाता है। अंग्रेजी के अखबार हैं,, अंग्रेजी की अदालत है। अंग्रेजी की कौंसिल और अंग्रेजी का व्यापार। हमारा नागरिक जीवन ही अंग्रेजी भाषा और सभ्यता से मढ़ा हुआ है। देहात नगर से दबा है, नगर अंग्रेजियत से दबा है। आज की स्थिति का सबसे बड़ा यही अभाग्य और अभिशाप है, और यदि स्वराज पाना है तो इसी अभिशाप से मुक्ति

ाने के लिए। हिन्दुस्तान अगर हिन्दुस्तानी नहीं है, तो पार्लमेंट से एक्ट की पोथी बदल जाने से कुछ न होगा। हिन्दुस्तान विलायत की नकल बनकर स्वाधीन न कहलायेगा।

"हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषा का काम करनेवालों के आगे यह महासत्य प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये। पश्चिम के लेखक और किताबें जिस रास्ते पर चली हैं, वही एक रास्ता नहीं है। वह रास्ता आज पश्चिम को कराल युद्ध में लाकर पटक गया है। अपने बुद्धिवाद और प्रश्नवाद और शक्तिवाद से और विज्ञानवाद के नीचे पश्चिम उत्तप्त है। उसका ताप जगत को झुलसा रहा है। लेकिन उस बात से अलग होकर अंग्रेजी हिन्दुस्तान के लिए प्रभुता की भाषा है। प्रभुता की है, इससे प्रीति की नहीं हो सकती। प्रीति की भाषा बेपढ़े आती है। इसलिए प्रभुता के वातावरण में रहनेवाले लोग हिन्दी के नाम से अपरिचित रहें, इसमें अचरज नहीं है। पर स्थिति यह अस्वाभाविक है और अधिक काल नहीं टिक सकती।

"भविष्य के बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता। खास तौर से आजकल सब अनिश्चित है। अब दुनिया छोटी हो गई है। अब जल्दी वह आरपार की जा सकती है। रेडियो है और हवाई जहाज है। कल्पना उनसे भी ऊँची उड़ती है...हिन्दुस्तान में भी सामाजिक या राजनीतिक ऊँचाइयों में अंग्रेजी सुनी-समझी जाती है, पर हिन्दी का यही सद्भाग्य है और यही उसकी ताकत होगी कि वह जनता की बोली है, कि वह जनहित से सशक्त है और अकृत्रिम है।"

यह गिरफ्तारी १६ अप्रैल, १९४१ को हुई। इस गिरफ्तारी का अमिट लेखा श्री सियारामशरण गुप्त ने 'कवि का सम्मान' शीर्षक से प्रस्तुत किया है—

भूल नहीं सकता उसे—भूलना चाहूँ तब भी। मैंने वह सब अपनी आँखों देखा है। रहा मैं दर्शक-मात्र हूँ; फिर भी अनुभव कुछ ऐसा होता है, जैसे वह सम्मान मुझे भी स्पर्श कर गया है।

कवि का वैसा सम्मान सर्वत्र और सदैव नहीं देखा जा सकता। यह पृथ्वी अपने सूर्य के न जाने कितने चक्कर काट चुकती है, तब कहीं वह अचानक योग उपस्थित होता है। उसे देखने के लिए हृदय को पत्थर का कर लेना पड़ता है।

हाँ, मैं दर्शक हूँ। उस दृश्य की पूरी की पूरी छाप मेरे प्राण, मेरे मन और मेरे हृदय पर है। प्राण मेरा उस समय निस्पन्द था, मन मेरा उस समय शून्य में था और हृदय मेरा उस समय किसी शिलाखण्ड में परिणत हो चुका था।

और अब मैं यह समझ सका हूँ कि क्यों वह सब मेरे लिए इस प्रकार अमिट है। मेरी हृदय-शिला पर वह घटना ऐसा शिलालेख बन गई है, जिसे तीखी टांकियों का अनुभव यथास्थान स्वयं नहीं होता। होता हो, तो इसे हम जानते नहीं हैं।

देख रहा हूँ, स्पष्ट देख रहा हूँ।

महीना वैशाख का है, समय सायंकाल का। दोपहरी भर गरम लपटें सनसनाहट के साथ चारों ओर दौड़-धूप करके इस समय तक शान्त हो चुकी हैं। समय उस चूल्हे के समान रीता-रीता है, जिसमें की आग और राख अभी-अभी निकाली गई हो।

खोली जाती है थाने के जेल की कोठरी। समाज के निशाचरों के लिए इसका निर्माण हुआ है। दिन में भी, इसी से, थोड़े बहुत निशाकाल के रह सकने की व्यवस्था इसमें है। बाहर से यह स्पष्ट नहीं देखा जा सका कि नीचे गच पर कितना कूड़ा है।

किवाड़ खुलते हैं। अर्थ इसका इतना स्पष्ट कि पुलिस को व्याख्या करने का कष्ट नहीं करना पड़ता। दो पुरुष अपने आप भीतर पहुँच जाते हैं। इनमें एक कवि है, दूसरा उसका अग्रज। पहले की पचासवीं वर्षगाँठ कई साल पहले देश भर में मनाई जा चुकी है। फलतः दूसरे की अवस्था का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। तब भी इन दोनों के भीतर किसी ऐसे दुर्दम तारुण्य का बोध किया जा चुका है कि खटाक से तुरन्त ही द्वार बन्द हो जाता है और बाहर से ताले में चाभी के घूमने का खटका होता है।

कवि ! पुलिस नहीं जानती कि यह कवि है। हेड कांस्टेबिलों को, थानेदारों को, इतना ज्ञान आवश्यक नहीं होता। उनका व्यवहार है चोर से, डाकू से, बदमाश से। और यह काम अनायास उन शब्दों से चल जाता है, जिन्हें न कवि की कविता में स्थान मिलता है और न कोशकार के कोश में। पुलिस की दुनिया कुछ दूसरी है। वहाँ पर उसे असम्भव को सम्भव दिखाना पड़ता है। जन-गणना विभाग हमें यह तो बता सकता है कि कहाँ कितने हिन्दू हैं और कहाँ कितने मुसलमान, परन्तु यह बताना पुलिस के ही हिस्से में पड़ा है कि कहाँ पर कितने बदमाश हैं और कहाँ पर कितने नहीं। जो काम उसका है, उसमें उससे चूक नहीं होती। इसी बस्ती के ज्ञानी डिक्टेटर ने इसका प्रमाण भी अभी-अभी दिया है। उसने अपना निर्णय एक साथ प्रकट किया है कि इस गाँव में पनचानबे प्रतिशत बदमाश हैं। शेष संख्या उनसे पूरी नहीं होती, जो सांझ-सबेरे उसकी कुर्सी के आसपास बैठकर दरबार करते हैं। इसी कारण इस निर्णय में पक्षपात का दोषारोपण भी नहीं किया जा सकता और ऐसी पुलिस ने ही सोच-समझ कर कवि को इस कोठरी में बन्द किया है।

कवि शरीर से दुर्बल है। उसके निर्विकार मुख से यह दुर्बलता प्रमाणित नहीं होती। वह ज्वराक्रांत रह चुका है और रोग ने उसे छुट्टी दे दी कि नहीं, यह अभी तक संदिग्ध है। यथासमय संध्या का भोजन उसे नहीं करने दिया गया है और अब वह इस कोठरी की भूमि पर बैठा है।

हठात् देखता क्या हूँ, सींकचों के बाहर एक व्यक्ति टोंटीदार जलपात्र लिए खड़ा है और कवि अंजलि बाँधकर पानी पीने के लिए नमित होता है। दृश्य अद्‌भुत है। कवि के मुख पर किसी प्रकार का विकार नहीं दिखाई देता। कदाचित् उसके जी में ऐसा कुछ कौतुक है कि देखें इस कोठरी में पहुँच कर बाहर का मिष्ठ जल कटु तो नहीं हो जाता। जल के मिष्ठ-कटु को आँखें नहीं देख सकतीं। मैं कवि की ओर देखता हूँ। देखता हूँ, मीठी मुसकराहट के साथ अंजलि बाँधकर वह झुक गया है। उसका यह झुकना ऐसा है, जैसे इस दुर्लभ क्षण में उसे कोई राजसम्मान ग्रहण करना हो।

हठात् मेरा मन वर्तमान से हटकर एक साथ कई बरस पीछे की विश्वनाथपुरी में जा पहुँचा है। मैं जानता हूँ, यहीं का वर्तमान क्षण मेरे लिए किसी तीर्थ से कम नहीं है। परन्तु मन के लिए कहा क्या जाय, वह वहाँ जा पहुँचा है, जहाँ एक पवित्र प्रभात में काशी की सम्मान्य जनता देश की प्रतिनिधि बनकर सुस्मरणीय सभा में परिणत हो गई है। वहाँ के प्रधान पद को जिन्होंने प्रतिष्ठित किया है, वे ऐसे महापुरुष हैं, जिनका प्रकाश वर्तमान की देहली पर से इस ओर और उस ओर पहुँच कर, अतीत के लिए और भविष्य के लिए, एक अपूर्व पुण्योत्सव हो उठा है। कवि उनके सम्मुख उपस्थित है और वे महापुरुष उनका अभिनन्दन करने के लिए मुसकराते हुए दो अँगुलियोंसे थाल की मांगलिक रोटी ग्रहण करते हैं। मैं नहीं देख पाता कविकी मुखमुद्रा को। फिर भी जैसे देखने से अधिक स्पष्ट वह नम्र भाव मेरे हृदय पर अंकित है। उस क्षण में सब के सब एकटक देख रहे हैं कि सारे देश के आशीर्वाद-तुल्य महापुरुष का दक्षिण कर आगे की ओर उठा और कवि का तत्काल नम्रता के साथ नमित हो गया है।

वहाँ उस पुण्य सभा का वह नमन और यहाँ इस जेल की कोठरी का यह नमन,—दोनों के दोनों मेरे मन में अमिट होकर स्पष्ट रूप से आसपास अंकित हैं।

मेरे हृदय का एक खण्ड जैसे इन दो दृश्यों का एक कठोर शिलालेख हो गया हो।

कवि उस दिन जन-सम्मान ग्रहण करने के लिए उस सभा में झुका था और आज इन सींकचों के भीतर जल के निमित्त से राज-सम्मान करने को झुका है। कितनी समता है इन दो के बीच !

× × ×

शताब्दियों की दूरी लाँघकर मेरी कल्पना सहसा बहुत दूर चली गई है। वहाँ पर आज की घटनाओं का काल-निर्णय ऐतिहासिकों और पुराण-तत्त्ववेत्ताओं का काम है। भूल गए हैं वहाँ के जन आज के इस ब्रिटिश शासन को। वह एक कौतुकालय का विषय रह गया है। आज की अदालतों, आज के वायसरीगल लाज किस स्थान पर कहाँ दबे पड़े हैं, इसकी शोध आसान नहीं है। ऐसे में एक दिन मेरे हृदय का वह शिला-लेख जिसमें कवि के जन-सम्मान और राज-सम्मान का दृश्य बराबरी पर अज्ञात की तीखी टांकी से अंकित है,

ऐतिहासिक के हाथ में एकाएक पड़ जाता है। काल की अगाध जलराशि में से न जाने किस तरंगमाला ने हाथों-हाथ लाकर उसे खुले आकाश के खुले तट तक पहुँचाया है।

जानते हो, शिलालेख का अध्ययन करके ऐतिहासिक ने अपने नए निबन्ध के अन्त में क्या लिखा? उसने लिखा है—"ब्रिटिश शासन को भले-बुरे की तमीज़ नहीं रह गई थी। जिन आँखों से वह देखता था, उन्हें अपने चारों ओर बदमाश ही बदमाश देखने की बीमारी थी। और इसी बीमारी में उसका पतन हुआ है।"

और, जानते हो, उस काल के तरुण कवि ने उस शिलालेख को देखकर क्या गया? उसने गाया है—"मैं स्वतन्त्र हूँ, मेरे देशवासी स्वतन्त्र हैं और मेरा विश्व स्वतन्त्र है। मेरा स्वर उन्मुक्त है, मेरे देशवासियों का स्वर उन्मुक्त है और मेरे विश्व का स्वर उन्मुक्त है। मेरे देश और मेरे विश्व के बीच में न किसी समुद्र की सीमा-रेखा है और न किसी पर्वत की। आज मेरे कण्ठ में स्वतन्त्रता का संगीत है। मेरे इस संगीत को जीवन-रस वहाँ से मिल रहा था, जहाँ एक दिन मेरे अग्रवर्ती ने जन-सम्मान और राज-सम्मान एक से प्रसन्न भाव से ग्रहण किया था। शताब्दियों के सींकचों के उस पार से उस जल की कुछ बूँदें आज मेरे कण्ठ में भी पड़ गई हैं, जिसे अग्रज ने जेल की कोठरी में बाहर से ग्रहण किया था। मैं अनुभव करता हूँ, जैसे मेरे कण्ठ में इससे और भी पौरुष आ गया है। काल के सुदूर तट से मैं अनुज कवि, आज अपने उस अग्रवर्ती अग्रज कवि को अपना नम्र नमस्कार अर्पित कर रहा हूँ।" सियारामशरण गुप्त, जेष्ठ, कृष्ण ५, ९८।

मैंने पहले ही कहा है कि गुप्तजी ने अपने हाथों घटनाओं का निर्माण नहीं किया। न उनको वे बुलावा भेजते हैं। चिरगाँव में स्वयं कोई घटना घुमड़ती हुई आवे और उनसे कहे कि लीजिए, मानस-चक्षु का जीवन काव्य की रंगीनियों में तो बहुत जीया, अब बदरंगी का भी मजा लो! तो, वे नाहीं नहीं करते। पुलिस ने पकड़ा, पकड़ाई में आ गए। और सक्रिय राजनीति की पकड़ाई में भी आए, तो ठेठ ५५ वर्ष की अवस्था में। पर पकड़ाई में आते ही गुप्तजी की प्रपातवत् उग्रता भी अपनी निर्बंध उत्ताल तरंगों में बह निकली, जो उनकी स्वयं जानकारी में जैसे उनके पास कभी नहीं रही थी। चिरगाँव से झाँसी जेल ले जाए गए। देश में चारों ओर दिन-रात, रात-दिन पुलिस का काम बस यही था कि पकड़ो, अंधाधुंध पकड़ो। मानो बहेलिये को ऐसी पकड़ने की ऋतु शायद फिर कभी जीवन में हाथ न लगे। जब जेल पहुँचे, तो सारी जेल उन-जैसे ही नागरिकों से भरी हुई थी। उनमें सक्रिय राजनीतिक शायद एक प्रतिशत रहे होंगे, शेष उनकी कोटि के ही थे। बच्चे भी थे, युवक भी थे, वृद्ध भी थे। गुप्तजी के साथ-साथ उनके अग्रज भी पकड़ाई में आकर झाँसी ले आए गए थे। गुप्तजी ने यह देखा और उनका विशाल हृदय देश की इस वेदना का आकण्ठ रसपान करने लगा। वे अपनी विनयावनत मुद्रा भूल बैठे। ऐसे ही क्षण में झाँसी का कलेक्टर उद्धत दर्प का प्रदर्शन करते हुए जेल में आया। वह मैथिलीशरण को राष्ट्रकवि के रूप में देखने का चश्मा पहने हुए नहीं था। उसने ब्रिटिश सत्ता का अपराध-छिद्रान्वेषी चश्मा पहन रखा था। अन्य बन्दियों के बाद बन्दी कवि से उसने पूछा, "आप कुछ कहेंगे?" जीवन में यह एक विचित्र प्रश्न था। समालोचकों की कर्णकटु तीरंदाजी से तो वे अभ्यस्त थे, पर यह कैसा बेतुका प्रश्न था। जेल में क्या कहना होगा? पर कुछ तो कहना ही होगा। गुप्तजी ने बड़े उग्र बनकर कलेक्टर को झाड़ते हुए कहा, "आपका दिमाग खराब हो गया है, आप से क्या बात करें? आप निर्दोषी को पकड़ते घूमते हैं। हमारा क्या, हम तो लेखक ठहरे, यहाँ सब देखेंगे और इसके खिलाफ लिखेंगे।" बन्दियों की भरी भीड़ में राष्ट्र के प्रतिनिधि कवि को अब भी कलेक्टर ने नहीं पहचाना। पर वह इस लताड़ से सहम जरूर गया।

गाँधीजी बार-बार कहते थे कि देश के जेलखाने हमारे भावी नागरिकों के लिए विश्वविद्यालय हैं। चिरगाँव के उन्मुक्त गगन और हिन्दी-जगत के विस्तृत क्षितिज से हटकर गुप्तजी जेल की चहारदीवारी की संकीर्णता में सिमटा कर बैठा दिए गए थे, लेकिन उनके मानस-चक्षु यहाँ के विशाल हृदय पर आसीन उगते हुए भारत के भाग्योदय को अब अपनी आँखों से साक्षात् देखने लगे।

गुप्तजी जेल में थे, पर 'प्रताप' और अन्य सहयोगी उनके सम्बन्ध में समाचार छापना अपना प्रथम कर्तव्य मान रहे थे। 'भारती' ने 'क्या हिन्दी ही दंडनीय है?' शीर्षक से मई-जून, १९४१ अंक में सम्पादकीय

लिखते हुए गुप्तजी की गिरफ्तारी पर अपना आक्रोश इस प्रकार प्रकट किया—"हिन्दी से कुछ भी परिचय रखनेवालों में कोई बिरला ही होगा, जिसने श्री मैथिलीशरण का नाम न सुना हो और 'भारती' के पाठकों में ऐसा कोई नहीं हो सकता, जिसने उनकी गिरफ्तारी का समाचार न सुना हो। यद्यपि आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि आधुनिक हिन्दी की इस आधारशिला को उत्पाटित करके स्थानांतरित किए जाने का समाचार हिन्दी पत्रों में भी मानो विज्ञापनों के बीच की जगह भरने को ही छापा गया है और इतनी लंबी अवधि बीत जाने पर भी उस पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं हुई। युद्ध की नित्य नई और अधिकाधिक सनसनीदार खबरें सुनते-पढ़ते स्नायुओं का कुछ शिथिल पड़ जाना स्वाभाविक है, और इसीलिए इस समाचार से बौखला न उठना भी क्षम्य, किन्तु यहाँ तो ऐसा जान पड़ता है कि जनता इस घटना के महत्व को अनुभव ही नहीं कर रही।

हम उन व्यक्तियों में से नहीं हैं, जिन्होंने जेल जाने को ही कभी सिद्धांत बनाया हो। जेल जाना कभी भी सिद्धांत नहीं है, क्योंकि किसी भी आदर्श के आग्रह के लिए जेल की अपेक्षा बाहर अधिक क्षेत्र मिलता है और मिल सकता है। किन्तु साथ ही जेल का आतंक भी हम नहीं मानते। यदि बिना चाहे जेल मिलती है, तो उससे विचलित होना भी अधर्म है। हमें पूरा विश्वास है कि मैथिलीशरण जैसे स्थितप्रज्ञ और स्थिर-प्राण मनीषी के लिए जेल कोई अवरोध नहीं है, उनकी मनीषा उससे रुद्ध अथवा कुंठित नहीं होगी, बल्कि तीक्ष्णतर होकर ही आवेगी। गुप्तजी की गिरफ्तारी पर हमें जो कुछ कहना है, वह गुप्तजी के लिए नहीं, हमें तो उस शासन-प्रणाली से जवाब माँगना है, जिसने उन्हें बंदी किया है, बिना कारण बताए बंदी किया है और बर्बरता-पूर्ण ढंग से बंदी किया है। समाचारों से और पत्रों से पता चलता है कि गिरफ्तारी कैसे अजीब मौके पर और कैसे असाधारण ढंग से हुई। सायंकाल हेड कांस्टेबिल ने आकर उन्हें साथ चलने के लिए कहा, उन्हें ब्यालू करने से रोक दिया गया और यहाँ तक कि चश्मा लेने से भी रोका गया। कहने को सिपाही ने कहा कि ब्यालू वहीं चलकर होगा, किन्तु अनुभवी लोग जानेंगे कि सूर्यास्त के बाद गए कैदी को शाम का भोजन देने की कानून में 'व्यवस्था नहीं है'—यह दूसरी बात है, मैथिलीशरण भी अस्थान में भोजन न करते। बन्दी को चिरगाँव से झाँसी तक का कई कोस का मार्ग पैदल तय कराने का भी इरादा किया गया था। एक मित्र के सौजन्य से ही वे ताँगे में जा सके।

किसी की सहायता पर अविश्वास बुरा है। एक हेडकांस्टेबल की दुराशयता का महत्त्व भी विशेष नहीं है, क्योंकि यहाँ हम फिर वर्षों के अनुभव की बात कहते हैं—सरकारी महकमों में 'कानूनी उत्तरदायित्व' भले ही स्थानीय कार्यकर्त्ता का रहता हो, उसके पीछे नैतिक स्वीकृति या सहमति अवश्य ऊँचे अफसरों की भी रहती है और सहमति ऐसी कि वह अव्यक्त भले ही हो, प्रेरणाहीन कदापि नहीं होती। इसलिए हम इस घटनाक्रम को एक अकिंचन प्राणी का प्रमाद मानने को कदापि तैयार नहीं हैं, विशेषकर तब, जब कि घटना के महीने भर बाद तक उसके लिए न किसी प्रकार का खेद प्रकाश हुआ है, न किसी तरह की सफाई, न उसकी ओर तनिक-सी सुचेती ही। न ही अभी तक गुप्तजी तथा उनके अग्रज की गिरफ्तारी का कोई कारण बताया गया है।

यों गिरफ्तारी 'भारत-रक्षा-कानून के अधीन' हुई है। यह स्पष्टीकरण ही सबसे बड़ी विडंबना है। क्या अंधेर है कि 'भारत-रक्षा' के लिए भारत के प्राणों को बाँधा जाय, क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि गुप्तजी भारत की धमनियों में दौड़ते हुए जीवन-प्रवाह के प्रतीक हैं। जिन विभूतियों में भारत की भारतीयता का रस खिंच कर संचित हुआ है, उनमें गुप्तजी का स्थान असंदिग्ध है।

गुप्तजी राजनीति से दूर हैं

एक बात हमें और कथनीय जान पड़ती है। जिन लोगों ने गुप्तजी की गिरफ्तारी पर आश्चर्य और रोष प्रकट किया है, उनमें से कुछ ने कहा है कि गुप्तजी के राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस कथन की जड़ में जो आक्रोश है, वह उचित है, तथापि इस नकारात्मक स्थिति पर ज़ोर देना हम अनावश्यक भी समझते हैं और अनुचित भी, क्योंकि हम अनुभव करते हैं, जो व्यक्ति अपने

जीवन का 'क्षण-क्षण सरस्वती की पूजा में व्यतीत करता है', एक साधना में एकनिष्ठ तपस्वी की भाँति काल-यापन करता है, वह यदि यह कार्य हिन्दी की माध्यमिकता से संपन्न करता है, तो वह राजनीति से परे नहीं है। हमारी दृढ़ धारणा है कि हिन्दी का विरोध अथवा अपमान कभी मुसलमानों के हाथ नहीं हुआ, इस या उस संप्रदाय के हाथ नहीं हुआ, हुआ है तो उस शासन-संगठन के द्वारा, जिसने आरम्भ से ही हिन्दी के प्रति एक चौकन्नी उपेक्षा की नीति बरती है। मुसलमानों के शिथिल होते हुए हाथों से देश के रथ के अनेक बिगड़ैल घोड़ों की रासें जब अंग्रेजों ने छीन लीं, तब उस आरम्भ के जमाने में उन्होंने संभवतया मुसलमानों के मुकाबले में हिन्दुओं से लाभ उठाने के लिए हिन्दी को प्रोत्साहन दिया, किन्तु कुछ ही आश्वस्त अनुभव करते ही सरकार ने नीति बदली और उस समय से वह परिवर्त्तन स्थायी हो गया है। क्यों? क्या कारण है कि सरकार का हिन्दी-विरोध सतह के नीचे रहता हुआ भी निरंतर फैलता गया है, जिस तरह विषैले पौधे की जड़ें मिट्टी के भीतर ही भीतर नित्य नई दिशा में स्फुरित होती हैं? क्या कारण है कि जो सरकार प्रत्येक प्रांत में प्रांतीय भाषा को प्रोत्साहन देती है, वही हिन्दी जैसी सर्वाधिक मान्य भाषा को उसके अपने क्षेत्र में भी पनपने नहीं देना चाहती? क्या कारण है कि जनगणना में 'हिन्दी' का अस्तित्व ही 'अनियमित' माना जाता है और हिन्दी भाषी की भाषा 'हिन्दुस्तानी' लिखने को बाध्य किया जाता है, जब कि उर्दू भाषी के आग्रह पर उसकी भाषा उर्दू लिखने की अनुमति दे दी जाती है? (यह तुलना हम उर्दू का विरोध करने के लिए नहीं कर रहे हैं, पक्ष-पातपूर्ण व्यवहार को दिखाने के लिए ही कर रहे हैं।) हम जानते हैं कि हम फिर एक भारी आरोप करने जा रहे हैं, एक व्यक्ति ही नहीं, एक समूचे संगठन, एक व्यवस्था के आशयों पर आक्षेप करने जा रहे हैं, उसे अभियुक्त कर रहे हैं, पर इन प्रश्नों का एक के अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं है। और वह उत्तर यह है कि सरकार समझती है कि हिन्दी में देश का जीवन स्पंदित है। सरकार देखती है कि हिन्दी में देश का जीवन वाणी पाता है। हिन्दी में भारत की आत्मा बोलती है, और वह आत्मा अशांत है, जागरूक है, विद्रोही है।

गुप्तजी की गिरफ्तारी अगर हम हिन्दी-भाषियों को इस तथ्य के प्रति जगा दे, समझा दे कि हम देश की आत्मा की वाणी के रक्षक हैं, उस आत्मा में तिलमिलाती हुई विद्रोह-सामर्थ्य के प्रहरी, तो वह गिरफ्तारी अन्याय और मूर्खता से भरी होकर भी धन्य है और यदि वह चेतना हममें नहीं उत्पन्न होती, तब—तब हम मैथिलीशरण को अपने बीच स्वच्छन्द रखने के अधिकारी ही नहीं हैं। उससे उनके प्रति किया गया अन्याय कम नहीं हो जाता, पर तब उसका विरोध करने का मुँह हमारा नहीं है।"

इस टिप्पणी के बाद कहने को शेष क्या रह जाता है?

यह टिप्पणी श्री सच्चिानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' की थी।

यद्यपि 'सुधा' ने भी इस विषय पर अपना संपादकीय प्रेषित किया था, फिर भी कुछ कहने को जो शेष था, वह श्री सोहनलाल द्विवेदी ने अपनी लोकप्रिय लेखनी से 'हिन्दी प्रचार समाचार' मद्रास के जुलाई, १९४१, अंक में 'राजबन्दी श्री मैथिलीशरण गुप्त से' इस प्रकार लिखा—

बने बन्दिनी के वन्दन में बन्दी तुम भी आप,
निखरेगी इससे अब प्रतिभा गरिमा अधिक अमाप!
खादी, चर्खा, देशभक्ति, और आजादी की साध,
हे भारत के पुत्र! तुम्हारा यही घोर अपराध,
जाओ, उस कारागृह में जो बना युगों से पूत,
जहाँ शान्ति के दूत बने थे, अमर क्रान्ति के दूत,
हम भी बाहर क्या हैं? सारा भारत कारागार!
कर भी सकते व्यक्त कभी क्या जी के मुक्त विचार?
पतन, पतन की सीमा का भी होता है कुछ अन्त,
उठने के प्रयत्न में लगते हैं अपराध अनन्त!

चढ़े आज आहुति पर आहुति, बलिवेदी हो पूर्ण,
विश्व कँपे, विश्वंभर काँपे देख सत्य को पूर्ण,
हाथ-पाँव बाँधें जो चाहें, है उनका अधिकार,
जंजीरों में कैद न होगी आत्मा मुक्त उदार,
धन्य आज यह जीवन दिन है, धन्य आज ये घड़ियाँ,
जयमाला शरमाती मन में, देख हाथ हथकड़ियाँ!
पूछ रहे हो, किया कौन-सा था तुमने अपराध?
जीवन भर क्या किया, जगाई कौन सलोनी साध?
फिर बापू-से षड़यंत्री से किया खूब सम्पर्क
पिया प्रेम से चुप-चुप तुमने आत्मशक्ति मधुपर्क!
चले उलटने सिंहासन तुम ओ विद्रोही वीर!
इसीलिये यह दंड, तुम्हारे पाँवों में जंजीर!

मैथिलीशरणजी को ब्रिटिश सत्ता ने अपना अतिथि बनाया राजबन्दी के रूप में। झाँसी जेल से उन्हें आगरा जेल ले जाया गया। जिस दिन वे झाँसी से आगरा के लिए चले, तो स्टेशन पर झाँसी के नागरिक बड़ी संख्या में उन्हें बिदा देने आए थे। सक्रिय राजनीति में जब बरबस निमंत्रित हुए हैं, तो उन्होंने इस शुभ घड़ी को अपनी प्रणामांजलि विनीत भाव से इस रूप में दी कि पास खड़े एक रिश्तेदार की टोपी उसके सिर से उतारी और अपनी नीली पगड़ी का सदा के लिए परित्याग कर वह गाँधी टोपी अपने सिर पर धार ली। गाँधीवादी इस स्वातंत्र्य-यज्ञ में गाँधी टोपी की धूनी भी उन्होंने अपने यशस्वी मस्तक पर विभूषित कर ली। जिसने भी इस दृश्य को देखा, वह आश्वस्त हो गया और उसके हर्ष के आँसू उमड़ चले। गाँधी टोपी राष्ट्रकवि के सिर पर विराजमान होकर जैसे चिरसुहागिनी का पद पा गई। पगड़ी की तरुणाई इस आँधी के अभियान में अब नए तुमुल जीवन के अनुरूप अशन और व्यसन में कब तक साथ देती? उस साथ का व्यामोह गुप्तजी को छलने से रह गया।

आगरा जेल में जेल नहीं था, कारागार भी नहीं था। तपे हुए ज्वाल समूह का हवन-कुंड था और उस कुंड के चारों तरफ एक से एक बढ़े-चढ़े तपस्वी बैठे थे। आचार्य नरेन्द्र देव थे, कृष्णदत्तजी पालीवाल थे, केसकरजी थे, महेन्द्रजी थे और अन्य १०० राजनीतिक कार्यकर्ता थे। जेल में जेली वस्त्र जो मिलते थे, वे तो सुविधा से पहने ही जाते, पर घर के वस्त्र भी पहनने में जेल अधिकारियों को एतराज नहीं था। चिरगाँव और आगरा जेल में गुप्तजी के लिए अधिक अंतर नहीं रह गया। उतना ही बखरी-जैसा आंगन और वैसा ही सरस, मिला-जुला, आमोद-प्रमोद से भीना और बौद्धिक स्तर की दृष्टि से रूप-रस-गन्ध-मकरन्द भरा। इस कर्म-चक्र में गुप्तजी का अहर्निश हाथ चर्खे पर घूमता रहता। समय मिलता तो अपनी 'कारा' नाम से नई कृति के पद लिखते।

पर इस जीवन से गुँथा हुआ एक दूसरा हृदय था, जो कसमसा कर एक नई अभिव्यक्ति पा रहा था, वह था उनके अनुज श्री सियारामशरण का। वे एक बार गुप्तजी से मिलने आए। मिल कर गए और अपने भावों को 'आगरा जेल के फाटक पर' शीर्षक से लिपिबद्ध करते हुए लिखा—"आगरा सेंट्रल जेल के फाटक पर आज पूरे चार घंटे जम कर रहना पड़ा है। वेदना का, खीझ का, प्रतीक्षा का जितना बोझ इस बीच में वहन करना पड़ा है, उसका पता स्वयं मुझे भी नहीं है, फिर भी मेरा आज का यह दिन सार्थक है। समय की ऐसी सार्थकता जीवन में कभी भाग्य से ही मिलती है। और मेरा यह सौभाग्य प्रकट हुआ है केवल एक क्षण के भीतर। उस एक क्षण में मैंने वह पाया है, जिसका अधिकार मुझ से एकाएक छीना जा चुका था।

सबेरे के सात बजे से ही मैं इस फाटक पर आ पहुँचा हूँ। इसके अन्दर मेरे तीन आत्मीय जन नजरबन्द हैं। क्यों नजरबन्द हैं, किया क्या है उन्होंने, किसके लिए नजरबन्द हैं, इस तरह के प्रश्नों का उत्तर मैं

नहीं दे सकता। जिन्होंने ऐसा किया है, वे तक इस विषय में मौन हैं। अदालतों के, हाईकोर्टों के दरवाजे भी इन प्रश्नों के लिए बन्द किए जा चुके हैं। और यह सब हुआ है भारत-रक्षा के नाम पर। तब इसका अर्थ क्या यह लिया जाय कि भारत-रक्षा के कार्य में न्याय देवता की अयोग्यता और निरुपयोगिता स्वीकार कर ली गई है और इसीलिए उसे निःशंक करके उसके ऊपर बल को और स्वेच्छा को प्रतिष्ठित किया गया है? जो कुछ हुआ हो, इस समय मैं यह कहा रहा था कि इस फाटक के भीतर मेरे तीन आत्मीयजन नजरबंद हैं और इसी सिलसिले में मुझे यहाँ तक दौड़ना पड़ा है।

सामने ही यह फाटक है, लोहे की छड़ों से बना हुआ। ऊँचाई में इसकी तुलना किसी दैत्य के साथ आसानी से की जा सकती है। इसके भीतर इधर और उधर जेल के अधिकारियों के आफिस हैं। इसके बाद एक दूसरा फाटक पड़ता है। और उसके बाद वह तीसरा। अब इस स्थान से यह नहीं देखा जा सकता कि फाटकों की यह परंपरा इस प्रकार कितनी दूर तक चली गई है। और भी पहले यहाँ की यात्रा कर चुका हूँ, पर आज भीड़-भाड़ कुछ अधिक है। यह दिन अराजनैतिक बन्दियों की मुलाकात का है। जगह-जगह से कितने ही स्त्री-पुरुष आकर यहाँ इकट्ठे हैं। वेशभूषा से पता चलता है कि इनमें से बहुतों को यहाँ तक आने में अपने कई दिन का आटा-नमक गिरवी रख कर व्रत और उपवास करना पड़ा होगा। उनके मुख पर विषाद का कोई ऐसा रहस्य है, जिसके भेदन का साहस कल्पना को भी नहीं होता। सुनता हूँ, भीतर इन्हें किसी जगह पहुँचा दिया जायगा और बीच में रस्सी डालकर मिलने वाले कैदी खड़े कर दिए जायेंगे। इस प्रकार देख लो और पहचान लो एक दूसरे को, और बन सके तो आँसू रोक कर कुछ काम की बात भी कर लो। समय पन्द्रह या बीस मिनट से अधिक का नहीं। और ऐसे में मिनट भी वामनरूपी हो जाते हैं। हिरन की-सी छलांग मार कर वे अदृश्य हुए नहीं कि फिर यहाँ तुम और नहीं रुक सकते। जाओ अपने-अपने घर और फिर से प्रतीक्षा करो। साल में, छः महीने में दुबारा जब कभी यह दर्शन-पर्व उपस्थित हो, तब फिर आ सकते हो।

मैं किसी से मिलने के लिए नहीं आया हूँ। मेरा दर्शनयोग किसी आगे की तिथि में पड़ता है, मेरा काम इतना है कि एक आत्मीय से कुछ कागजों पर हस्ताक्षर करा ले जाऊँ। फाटक की लोहे की छड़ पकड़ कर उन्हें मैंने जमादार के हवाले कर दिया है। ठीक पता नहीं कि वह जमादार ही है। मेरा ज्ञान इतने से अधिक नहीं कि वैसे जन को जमादार कहा जाए, तो इसमें उसकी अप्रतिष्ठा न होगी। किसी को जमादार कह देना यह स्वीकार कर लेने जैसा है कि उसमें बहुतों पर हुकुम चलाने की क्षमता है। सचमुच भलमनसाहत भी उसमें दिखाई दी। मुझे यह आश्वासन मिल गया है कि काम में शीघ्रता की जायगी।

यह शीघ्रता कैसी है? खड़े-खड़े पैर दुखने लगे हैं। बीच-बीच में बैठ जाने के लिए भी एक स्थान नियत कर लिया है। पर इससे क्या? बैठे-बैठे भी तो पैर दुखते हैं। और सच तो यह है, कहीं किसी स्थान पर मेरा मन भी दुख रहा है। मुझे पता है कि इस फाटक के भीतर रहनेवाले राजबंदी अनशन करने-वाले हैं। रह-रह कर उन्हीं की बात जी में चक्कर काटती है। जिस देश के निवासियों में लाखों-करोड़ों की संख्या ऐसों की है कि जिनका जीवन ही एक दीर्घकालीन अनशन हो, और फिर भी जो इस बात का अनुभव तक नहीं कर पाते, उसी देश के इस जलवायु में मैं भी इतना बड़ा हुआ हूँ। मैं इस बात का दावा नहीं कर सकता कि मुझ में हृदय है। हृदय तो कदाचित् यहाँ से बहुत दूर बसनेवाले यहाँ के सर्वोपरि शासन में भी नहीं। फिर भी मेरे भीतर किसी स्थान में कुछ छिद रहा है। हो सकता है, वहाँ हृदय न हो। हृदय के अतिरिक्त शरीर में दूसरे भी मर्मस्थल हैं। कहीं भी हो, मैं पीड़ा का अनुभव कर रहा हूँ। मैं सोच रहा हूँ, इन फाटकों की परम्परा के भीतर पड़े हुए उन राजबन्दियों की बात, जो अन्याय और अपमान के विरुद्ध विद्रोह करके उदरानल की वेदी पर अपने आपकी आहुति कर देने को उद्यत हैं।

इधर-उधर देखता हूँ कि कितने ही आ रहे हैं, कितने ही जा रहे हैं। जमादार क्षण-क्षण में फाटक की खिड़की खोलता है और किसी को भीतर लेकर या बाहर निकाल कर फिर ताला जड़ देता है। क्षण के लिए भी उसे विराम नहीं। विराम है किस को? सब कोई अपनी-अपनी धुन में हैं। सबको अपना-अपना

काम है। मैं जो यहाँ थक कर बैठ गया हूँ, सो वह मैं भी बैठा ही नहीं हूँ। भीतर जानेवालों के साथ मेरा मन भी वहीं चला जाता है। कदाचित् वहाँ से भी कुछ आगे। उतावली में वह बाहरवालों से अधिक उतावला है। इन बड़े-बड़े फाटकों का निषेध न मानकर वह उन राजबन्दियों की एक झलक ले लेना चाहता है, जो ऊपर के किसी बुर्ज पर से नीचे के किसी अग्निकुण्ड में कूद पड़ने के लिए वस्त्र संभाल रहे हैं। इस अग्निकुण्ड को जैसे उन्होंने शीतल जलाशय समझ रक्खा है! इच्छा मेरी यह है कि झपट कर ठीक वहीं जा पहुँचूं। एकाएक हाथ पकड़ कर मुझे उनको पीछे की ओर खींच लेता है। वे जानते नहीं हैं, उनके प्राण का मूल्य कितना अधिक है। मैं उन्हें समझाना चाहता हूँ, मैं उन पर बल प्रयोग करना चाहता हूँ, पर यह सब संभव कहाँ? मैं देखता हूँ, सामने यह फाटक है, बगल में मेरे यह संगीनधारी पुलिस की चौकी है। जो कुछ जितना यहाँ है, सब का सब बाधक ही बाधक है। मैं जिस लिए यहाँ आया हूँ, वह भी तो नहीं हो रहा है। काम पूरा हो और मैं यहाँ से हटूं।

एक-दो-तीन—ये अराजनैतिक बन्दी हैं, जिन्हें फाटक की खिड़की में से बाहर निकाला जा रहा है। ये कहीं दूसरी जगह जाकर काम करेंगे। इन्हें गिन लिया जा रहा है। इस गिनने में किसी अविश्वास की गन्ध है। फिर भी राजनैतिकों की अपेक्षा ये सब अधिक विश्वसनीय हैं, यह स्पष्ट जान पड़ता है। और इसीलिए ये इन फाटकों के बाहर आ-जा सकते हैं। इनमें से एक ने मेरे हृदय का हाल जैसे कुछ जान लिया है। वह जानना चाहता है कि मुझे अपने किसी भाई-बन्धु तक अपना कुशल संवाद तो नहीं पहुँचाना है। कुशल संवाद मेरा क्या? कुशल तो उनका अपेक्षित है, जो अन्दर हैं। बाहर निकले हुए इन अराजनैतिकों में राजनैतिकों की भाँति 'दुबाड़ा' 'तिबाड़ा' के बन्दी भी हैं। इनकी वर्दी की काली धारी यह बात बता देती है। राजनैतिकों के लिए संभवतः ऐसा कोई संकेत निर्धारित नहीं। क्या राजनैतिक होना ही उनकी अविच्छिन्न अपराधवृत्ति का द्योतक है?

कितने संतोष के साथ जा रहे हैं ये सब! पता नहीं, कितने महीनों और बरसों में इन्होंने इस प्रकार निर्द्वन्द्व रहना सीखा है। इनके साथ इनके मैले-कुचैले वस्त्रों की यह पोटलियाँ कैसी? क्या इन्हें किसी दूसरे जेल में भेजा जा रहा है? मैं अपने कुतूहल को दबा नहीं सकता। पूछने पर पता चलता है कि इनके साथ यह सामान इसलिए है, जिसमें अनुपस्थिति के समय भीतर इसे कोई पार न कर दे। इनका यही तो सर्वस्व है। मैं देखता रह जाता हूँ इनको और इनके इन जर्जर वस्त्रों को। इन फाटकों के भीतर ये वस्त्र इतने लोभ की वस्तु हैं कि इन्हें इस प्रकार छाती से चिपका कर रक्खा जाय? ये बड़ी-बड़ी दीवारें जुर्म और चोरी-चपाटी को दूर करने में असमर्थ रही हैं। तब क्या इनका उद्देश्य मनुष्य को केवल दाब रखना है, सुधार और संस्कार से इनका कोई सरोकार नहीं? नहीं ही है। वैसा होता तो भीतर के उन राजबन्दियों को वहाँ रखने की बात भी न सोची जाती। उनके साथ और उनके देश के साथ वैसी हालत में कोई दूसरा व्यवहार किया गया होता।

सूरज दोपहरी की ओर अग्रसर होता जाता है। हवा उसकी किरणों में कोड़े फटकारने लगी है। उसमें शीघ्रता ही शीघ्रता है। शीघ्रता नहीं है तो मेरे उस काम में। पूछने पर वही एक बात सुनने को मिलती है कि कागज भीतर भेजे गए हैं। कण्ठ मेरा सूखना चाहता है, फिर भी गुनगुनाने की चेष्टा करता हूँ—

जितने कष्ट-कंटकों में है
जिनका जीवन-सुमन खिला,
गौरव-गंध उन्हें उतना ही
अत्र - तत्र - सर्वत्र मिला।

ध्यान चला जाता है उस कवि की ओर, जिसके कण्ठ से पहले-पहल इन पंक्तियों का उच्चार हुआ था। वह इस लम्बी चहारदीवारी के अन्दर ही कहीं है। वह मेरे अग्रज हैं और यहाँ पर मेरा यह अधिकार भी नहीं कि उनके संबंध में कुछ जान-समझ सकूं। मेरे इस काम से भारत की शान्ति खतरे में पड़ जायगी! मैं

नहीं चाहता कि वह खतरे में पड़े। परन्तु कदाचित् यह तो कोई जुर्म की बात नहीं कि मैं उनके विषय में मन-ही-मन सोचूं।

चित्त में अस्थिरता है। कभी इधर जाता हूँ और कभी उधर। इस बीच में मुझे पता भी न चला कि अराजनैतिक बन्दियों से मिलनेवाले वे स्त्री-पुरुष कब के भीतर चले गए हैं। गिन-गिन कर अब उन्हें खिड़की के बाहर निकाला जा रहा है। इसके बीच में यह एक जो किशोर है, इस पर मेरी दृष्टि अटक गई है। इसकी बरौनी के नीचे आँसू का जो यह अर्द्धबिन्दु सूखते-सूखते स्थिर हो गया है, उसी की भाँति जड़ होकर यह भी अपने स्थान पर निश्चल है। इसे पता नहीं बाहर हो क्या रहा है। बारी आने पर धक्का देकर ही इसे बाहर करना पड़ता है। बाहर यह आ तो गया है, फिर भी इसका ध्यान, इसकी धारणा और इसकी आत्मा जैसे इन फाटकों के भीतर ही कहीं रह गई है। कौन है वहाँ इसका ? इसका पिता है, इसकी माता है या इसका बड़ा भाई ? उनके किस.कष्ट-कंटक ने यहाँ इस प्रकार इसे जड़ और अवसन्न कर रक्खा है, इसका पता मुझे नहीं चल सकता।

वेदना के साथ-साथ जी की हलचल भी बढ़ रही है। भीतर से किसी बन्दी का करुण स्वर सुनाई पड़ता है—बाबू, मुझ से काम नहीं बनता, चाहिए तो फाँसी पर चढ़ा दीजिए। सुनता हूँ और सुनने के साथ जैसे मेरे गाल पर चटाक से चाँटा पड़ता है। काम नहीं बन सकता ! फाटक की छड़ों के बाहर और भीतर भी इधर-उधर के जन उत्सुक होकर सिमिट पड़े हैं। नहीं, मैं यह सब नहीं देख सकता। जहाँ का कष्ट, जहाँ की पीड़ा दूर करने का उपाय मेरे हाथ में नहीं है, वहाँ केवल कौतूहल की शान्ति मेरे लिए लज्जा की बात है।

× × ×

देखो, देखो, भीतर का वह तीसरा फाटक किसी काम से खुल गया है। वहाँ कितने ही जन इधर से उधर आ-जा रहे हैं। और वे वहाँ कौन हैं ? दूरी कितनी ही क्यों न हो, पहचानने में मैं भूल नहीं कर सकता। बचपन में उनकी गोद में खेलता रहा हूँ और अब मैं इस अवस्था में हूँ कि कुछ दूसरों को स्वयं भी गोद में खिला सकूं। यह होने पर भी उनकी वह गोद मेरे लिए पहले की ही बनी हुई है। उनके स्वर में स्वर मिलाकर मैंने बोलना सीखा है। कण्ठ न होते हुए भी उनके कण्ठ में मिलाने की चेष्टा करके मैंने गान की कड़ियाँ छेड़ी हैं। भूल उन्हें मैं कैसे सकता हूँ। एक ओर से निकल कर तिरछी रेखा में वे दूसरी ओर चले गए हैं। उन्होंने मुझे नहीं देखा है, पर मैंने उन्हें देख लिया है। इस प्रकार देख लिया है, जिस प्रकार इस जीवन में कभी नहीं देखा था। गति में ही गति मैंने उनकी देखी है। उस गति में न तो किसी प्रकार की श्रान्ति थी और न किसी प्रकार की कुंठा। आवेग-ही-आवेग उसमें था।

और मुख ? हाँ, वह देखा है। परन्तु वह मुख अग्रज का मुख न था। रात-दिन का साथ रहते हुए भी वह इतनी असाधारणता वहाँ मैंने कदाचित् और कभी नहीं देखी। यहाँ दिन के इस दोपहर में भी मैं ऐसा अनुभव करता हूँ, जैसे रात के आकाश में कोई संचारित विद्युत् सामने से निकल गई हो। आकार-प्रकार देखने की अपेक्षा मैंने उसका चेतन-ही-चेतन देखा है। व्यक्ति को देखने के लिए समय चाहिए। वह तो यहाँ जैसे उस गति के साथ भागा जा रहा था। चेतन को उपलब्ध करने के लिए एक क्षण भी बहुत है और इसी से इस क्षण में मैंने अग्रज के नहीं, कवि के दर्शन किए हैं। अग्रज इस समय मुझसे यहाँ इतनी दूरी पर थे, जितनी दूरी पर मुझसे कालिदास और भवभूति हैं, तुलसीदास और सूरदास हैं। इतनी दूरी से यह क्षण-दर्शन करा सकने के लिए आज मैं अपना धन्यवाद किसे अर्पित करूँ ?

मेरे कागज हस्ताक्षर होकर आ गए हैं और मैं डेरे के लिए लौट रहा हूँ। मेरी सारी क्लांति न जाने कहाँ है। मैं बार-बार उसी फाटक की बात सोच रहा हूँ, जिसके बाहर के कुछ ही घण्टे मेरे लिए असह्य हो उठे थे। और मैं सोच रहा हूँ उस शक्ति की बात भी, जिसने वहाँ दीर्घकालीन दुख, अपमान और वेदना के विरूपाक्ष का वरण कर लिया है। वहाँ जैसे शक्ति और शिव एकाकार हैं।

चिरगाँव, श्रावणी १९९८ —सियारामशरण गुप्त

गुप्तजी के कुछ पत्र

[यहाँ १६ पत्र दिए जा रहे हैं, जो अधिकांशतः हमें उनके अन्तरंग मित्र और हिन्दी में गद्य-काव्य-लेखन के प्रारंभकर्त्ता श्री राय कृष्णदास के संग्रह से सहज ही उपलब्ध हो गए। ये सब पत्र सन् १६१२ से १६२१की कालावधि के हैं। सैकड़ों पत्रों के संकलन में से हमने इनको छाँटा है। इनमें से अधिक पत्र श्री राय कृष्णदास को ही लिखे हुए हैं।

राष्ट्रकवि ने विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न अवसरों पर जो पत्र लिखे, उनकी संख्या हजारों में होगी। अतएव इन पत्रों को उनके समस्त पत्र-संकलन का नमूना मात्र समझना चाहिए ; यह नहीं कि यहाँ जो पत्र प्रकाशित किए गए हैं, वे ही उनके किसी भी दृष्टि से सब से अधिक महत्वपूर्ण पत्र हैं।

इन पत्रों से राष्ट्रकवि की सहज स्निग्ध मित्र-वत्सलता का जो रूप प्रकट होता है, वह कितना हृदयाकर्षक है ? कैसे सहज भाव से साहित्यिक प्रश्नों की चर्चा और रोजमर्रा घटनेवाली घर-गृहस्थी की छोटी-छोटी बातें इनमें मिल गई हैं। इनमें से कुछ पत्रों में तो कवि की साहित्य-लेखन-संबंधी बातें आई हैं, और कुछ में उनके और उनके आत्मीय जनों के व्यक्तिगत और कौटुम्बिक जीवन की अच्छी-बुरी बातों को लेकर हुई प्रतिक्रियाएँ हैं, जिनसे उनकी संवेदनशीलता का परिचय मिलता है। कुछ पत्रों में उस जमानेकी कतिपय महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओंका बड़ा हृदयस्पर्शी वर्णन भी है। श्री गुप्तजी के सरस विनोदी स्वभाव की झलक तो इन पत्रों में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी ही है। इस दृष्टि से इन पत्रों का महत्व स्पष्ट है।

'साकेत' की रचना को लेकर गांधीजी से कवि का जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह भी यहाँ दिया गया है, क्योंकि वह कई दृष्टियों से बहुत ही महत्वपूर्ण है।]

[१]

चिरगाँव,
१०–५–१२

प्रिय राय साहब,

जय जानकी जीवन। कृपा-पत्र और रजिस्टर्ड पैकट पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आपने मेरे लिए बड़ा कष्ट उठाया। इसके लिए सिवा कृतज्ञ रहने के और क्या बदला दे सकता हूँ ? आप मुझ पर इतनी कृपा रखते हैं, मेरा सौभाग्य है। चार अक्षरोंवाले धन्यवाद शब्द में इतनी शक्ति नहीं है कि वह मेरी कृतज्ञता को प्रकाश करने में समर्थ हो सके। अस्तु।

बड़ी खुशी की बात है कि ऐतिहासिक पत्र आपको पसन्द आये। इस विषय में और भी दो-एक सज्जनों ने मुझे उत्साहित किया है। अस्तु, मुझे यह जानकर बड़ा खेद हुआ कि स्त्रग्धरा आदि छन्दों का प्रयोग आपको पसन्द नहीं आया। जिस समय आपसे पत्रावली लिखने के विषय में बातचीत हुई थी, उस समय छन्द के विषय में आपने कुछ नहीं कहा था। और मैं यह जानता नहीं था कि ऐसे छन्द आप पसन्द नहीं करते। अब क्या किया जाय ? तीर हाथ से निकल गया। यद्यपि संस्कृत-छन्दों का प्रयोग मैं वैसे बुरा नहीं समझता, पर यदि पहले से मालूम होता तो इस पुस्तक में उनका प्रयोग न करता। यह जानकर ही बड़ा दु:ख है कि आप की आज्ञा से ही लिखी गयी पुस्तक में आपकी रुचि का छन्द न रखा गया। मेरी राय में अब मात्रिक छन्दों का प्रयोग इस पुस्तक में शोभन न होगा क्योंकि कई पत्र गणात्मक छन्दों में लिखे जा चुके हैं। आपकी क्या राय है ? मैं यह मानता हूँ कि गणवृत्तों के प्रयोग से कहीं-कहीं क्लिष्टता आ गई है। द्विवेदीजी महाराज ने पृथ्वीराज के पत्र के विषय में लिखा था : "कविता क्लिष्ट पर बड़ी ओजस्विनी है।" परन्तु यह दोष मैं छन्द का नहीं मानता। दोष मेरी असमर्थता का है।

आश्चर्य है कि वार्हस्पत्यजी को ऐसे छन्दों का प्रयोग पसन्द नहीं। 'उर्मिला' काव्य के लिए तो उन्होंने सर्ग सूची बनाते हुए गणात्मक छन्दों के नाम लिख भेजे थे। जो हो, कृपापूर्वक अब इस वृत्त-प्रयोग को सहन कर लीजिए। और क्या करूँ?

पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए० ने पत्रावली के लिए दो विक्टोरिया के पत्र भेजे हैं। एक पत्र का पता और चला है। वह पत्र शाहजहाँ बादशाह का (औरंगज़ेब के नाम) है। महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र (भारतीय नरेश और प्रजा के नाम) इस पुस्तक में रखने के योग्य है। आपने किसी नवाब के पत्र का मुझसे जिक्र किया था। वह पत्र औरंगज़ेब के नाम है परन्तु आप कहते थे कि वह बहुत उग्र होने से कुछ भयंकर है। कृपा कर उसका नाम लिखिए और हो सके तो उसे भिजवाइये। देखने की इच्छा है। यदि हानि की संभावना न हुई तो लिख भी डालूंगा। पर यदि आपकी राय में उसका न लिखा जाना ही अच्छा हो तो जाने दीजिए। एक पत्र मैंने और सुना है। वह महाराजा अमरसिंह का है जहांगीर के नाम। पर चेष्टा करने पर भी अभी तक नहीं मिल सका। पाठकजी जब वैवाहिक कार्यों से निश्चिन्त हो जाँयं, तब आप पत्र भिजवाइयेगा। ऐसी जल्दी नहीं।

आपका,
मैथिलीशरण

[२]

चिरगांव,
२६-११-१२

प्रिय राय साहब,

जय जानकी जीवन। कृपा कार्ड पहुँचा। आपके कई निकट संबंधियों की मृत्यु का हाल पढ़ कर खेद हुआ। संसार में स्वजन-वियोग ही तो सबसे बड़ा दुख है :

होता स्वजन-वियोग न यदि इस वसुधातल में,
बन जाता तो यही अमरपुर निश्चय पल में।

किन्तु जो ईश्वर को इष्ट होता है, वही होता है। अस्तु।

हाँ, 'भारत-भारती' के जो पद्य 'सरस्वती' में निकले हैं उनमें अधिकतर वही हैं जो आपने देखे थे। कुछ नये हैं। आपके उत्तर में विलम्ब देखकर 'भारत-भारती' की कापी मैंने पंडित पद्मसिंह शर्माजी के पास भेज दी है। कई दिन हुए। शायद दो चार दिन में ही लौट आवे। आते ही सेवा में भेज दूंगा। आपको और वार्हस्पत्यजी को उसका दिखलाना बहुत जरूरी है।

तबीयत अच्छी न रहने के कारण कुछ समय के लिए मैंने लिखना बन्द कर दिया है। कोई तीन महीने में बहुत लिखे होंगे तो २० पद्य। खंडवा (सी० पी०) से 'प्रभा' नाम की एक सचित्र मासिक पत्रिका निकलनेवाली है। रंगढंग सरस्वती का सा होगा। बड़ी धूमधाम से तैयारियाँ हो रही हैं। उसके कवर पर जो चित्र रहेगा, उसके लिए आज कुछ लिखा है। पर ८-१० पद्यों से अधिक न लिखूंगा। लिखूंगा क्या नहीं, अधिक लिख ही नहीं सकता। देखिए, कब तक तबीयत ठीक होती है। वैसे तो कोई बीमारी मालूम नहीं होती है, पर विचार करने से, मस्तिष्क को ज़ोर देने से, सिर में दर्द हो उठता है। बड़ी तकलीफ हो जाती है। फिर कुछ लिखते-पढ़ते नहीं बनता।

काशी आने के विषय में प्रार्थना है कि जिस समय मैंने "भारत-भारती" का वह अंश वार्हस्पत्यजी को सुनाया था, जो आपने देखा था, उस समय सारी पुस्तक देखने के लिए मैंने उनसे प्रार्थना की थी। उन्होंने प्रार्थना स्वीकार कर ली थी, पर कहा था कि उस समय मैं भी वहीं (काशी में) रहूँगा तो अच्छा होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष में जो बातें कहीं जा सकती हैं, वे लिखने में नहीं आ सकतीं। मैंने भी यही विचार किया था कि ऐसा ही करूँगा। पर तबीयत कुछ खराब हो जाने से अब पुस्तक ही भेजकर उनसे प्रार्थना करूँगा। मुझे विश्वास है कि आप तो देख लेने की कृपा करेंगे ही। कहीं वे भी इस प्रार्थना को स्वीकार कर लें तो बहुत अच्छा हो।

इस समय न आ सकने के बदले मैं फिर किसी मौक़े पर हाज़िर हो जाऊँगा। पुस्तक के विषय में यदि कोई विशेष बात होगी तो वार्हस्पत्यजी आपसे कह सकते हैं। क्या एक दिन आप उनसे इस पुस्तक के विषय में भेंट करने की कृपा करेंगे? मेरा तो यही विचार है। फिर जैसी आपकी आज्ञा हो किया जाय। कृपा कर के उत्तर ज़रा जल्द दीजिएगा। पहले मैं जानता था कि पं० देवीप्रसादजी शुक्ल ही पत्रोत्तर में विलम्ब करते हैं। किन्तु आप तो ऐसे निश्चिन्त रहते हैं कि कभी-कभी आक्षेप करने को जी चाहता है। धृष्टता क्षमा कीजिएगा।

आप ने इस वर्ष शायद मेरी लिखी हुई "काव्य-प्रभाकर" की आलोचना 'सरस्वती' में पढ़ी होगी। हाल में दैनिक भारतमित्र के तेरह अंकों में उसकी प्रत्यालोचना निकली है। क्या उसे आपने पढ़ा है? न पढ़ा हो तो ज़रूर पढ़िए। पढ़कर यह भी लिखिएगा कि उसका उत्तर देने की ज़रूरत है या नहीं। आज यहीं तक। क्षेम कुशल। दया रखिए।

आपका,

मैथिलीशरण

[३]

चिरगाँव,

१२–२–१३

प्रिय राय साहब,

जय जानकी जीवन। कृपा कार्ड मिला। खुशी हुई। भला "राष्ट्र-कवि" की योग्यता मुझमें कहाँ? मुझे तो आप लोगों का "गुप्तजी" ही रहना बहुत है :

मुझे आपका यही भाव है शुभफल सारा
कि है मैथिलीशरण गुप्त भी एक हमारा।

बस,

आपका,

मैथिलीशरण

[४]

चिरगाँव,

१–३–१३

प्रिय राय साहब,

जय जानकी जीवन। कृपाकार्ड पहुँचा। बहुत अच्छा, शकुन्तलावाला निबन्ध पूरा करूँगा। पत्रावली के लिए निम्नलिखित पत्र ही मुझे मालूम हैं :

१. प्रतापसिंह का पत्र पृथ्वीराज के नाम।
२. रूपवती का पत्र राजसिंह के नाम।
३. रामदास का पत्र शिवाजी के नाम।
४. तुकाराम का पत्र शिवाजी के नाम।

तीन पत्र मैं लिख ही चुका, और हाँ, एक अहल्याबाई का पत्र भी है। और कौन हैं? अरविन्द बाबू का जो पत्र आपको मिला है, वह यदि इसके योग्य हो तो जरूर भेजिए। सुना है वर्नियर ने कुछ पत्र भारत के सम्बन्ध में विलायत अपने मित्रों को लिखे थे। यह बात ठीक है? शेष कुशल।

आपका,

मैथिलीशरण

पुनश्च : 'भारत-भारती' की छपाई का नमूना पहुँचा? 'इन्दु' वाली कविताएँ मुझे तो पसन्द हैं। इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव आपसे करना है। दूसरी चिट्ठी में लिखूँगा।

चिरगाँव,
१८-३-१३

प्रिय राय साहब,

जय जानकी जीवन। कृपा पत्र के साथ रजिस्टर्ड पैकट पहुँचा। १५ तारीख का कृपा कार्ड भी पहुँचा। पहले कार्ड की बात। आपने अपने विषय में जो कुछ लिखा है, उसमें क्या गर्वोक्ति है? नवीनचन्द्र अच्छे कवि थे, इसमें शक नहीं, पर मनुष्य ही थे। आप हिन्दी में उनका स्थान प्राप्त करें तो आश्चर्य की बात नहीं। ईश्वर आपका उद्योग अवश्य सफल करेगा। मैं बंगला नहीं जानता, पर दो एक बड़े-बड़े कवियों की ग्रन्थावली मंगाकर रख छोड़ी है। कभी कभी कुछ देखता हूँ। मेघनाथवध, वृन्तसंहार, पलाशीर युद्ध और ब्रजांगना काव्य मुझे बहुत अच्छे मालूम होते हैं। ब्रजांगना का अनुवाद तो "मधुप" कर रहा है। इसी से मैंने मेघनादवध के लिये आपको लिखा था। पर आपकी रुचि उसमें नहीं है तो जाने दीजिए। अंगरेजी से कोई पुस्तक चुन लीजिए। मैं तो जानता नहीं जो किसी पुस्तक का नाम बताऊँ। इतना जरूर जानता हूँ कि जो कुछ आप लिखेंगे, वह हम लोगों के काम की चीज होगी।

मुझे बताइये कि अब मैं क्या करूँ? उर्मिला के लिए तो कुछ और ठहरने की इच्छा है। पत्रावली के विषय में कुछ निश्चित कर दीजिए तो उसे ही लिख डालूँ। भारती के लिए आपने बड़ा कष्ट स्वीकार किया। किस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करूँ। संशोधन प्रायः सब ठीक हैं। उनके अनुसार सुधार दूंगा। वार्हस्पत्यजी ने भी बड़ी कृपा की। यदि आप कृपा करके मेरी ओर से वकालत न करते तो मुझे ऐसी दशा में बड़ी असुविधा होती। क्योंकि जब तक वार्हस्पत्यजी को पुस्तक दिखा न लेता, तब तक मैं निश्चिन्त न होता और इस समय मेरा काशी आना हो नहीं सकता। अतएव पुस्तक के छपने में बड़ा विलम्ब होता। पर आपने मेरी लाज रख ली। संकोच के मारे मैंने अभी तक वार्हस्पत्यजी को कुछ नहीं लिखा था। अब उन्हें धन्यवाद दूंगा।

मरते नहीं वह मौत हैं जो फिर उन्हें मरना पड़े,
करते नहीं वह काम उनको नाम जो धरना पड़े।

ये दोनों पंक्तियाँ सचमुच अमूल्य हैं। मैंने जो पंक्तियाँ लिखी थीं, उनसे मेरा भी यही मतलब था। पर मैं इस खूबी से उसे व्यक्त न कर सका था। इसे मैं हृदय से स्वीकार करता हूँ। मर्यादा मैंने बन्द कर दी है। अतएव कृष्णविहारी मिश्र का नोट नहीं देखा। यदि उसकी जरूरत हो तो संख्या आदि का पता लिख भेजिए। मंगा लूंगा। 'कुसुम-संग्रह' की पहुँच मैं लिख चुका हूँ।

जयद्रथवध की जो भूमिका आपने पसन्द की, उसी तरह की भूमिका मैंने छपने भेज दी। इस भूमिका में से तो आपने अपना नाम काट दिया, पर जो मैंने भेजी है उसमें से आप अपना नाम कैसे काटेंगे? वह तो प्रेस में पहुँच चुकी। खैर, जयद्रथवध में जो संशोधन आपने बताये थे, उनमें से जितने हो सके, कर दिये। "गीता की कथा" इसलिए रखने पर बाध्य हुआ कि कोई अच्छा शब्द न मिला जो इस अर्थ को व्यक्त करे। आप कुछ बताइये तो प्रूफ में सुधार दूंगा। चार्वाक मत का उल्लेख तो शायद वाल्मीकि रामायण में भी कहीं है। ऐसा याद पड़ता है। जयद्रथवध के इस संस्करण में १४ पद्य और बढ़ाये गये हैं। प्रतिज्ञा सम्बन्धी जिस पद्य को आपने अनावश्यक बताया था, उसे निकाल दिया। आपका कहना ठीक था, वह पद्य अच्छा जरूर न था।

और क्या लिखूं? हां, सरस्वती की मार्च की संख्या में खड़ी बोली के ऊपर नित्यानन्द ने एक कविता लिखी है। होली के मिष से। लाचारी से उसमें हिन्दी के बड़े बूढ़ों के प्रतिकूल कुछ कड़ी बातें लिखी हैं। यदि आपकी राय में यह धृष्टता हो तो उसके लिए माफ कीजिएगा। मनोविकारों के प्रवाह का वेग हुआ कब वारण है?

भट्टजी ने अच्छा नहीं किया जो खड़ी बोली के प्रतिकूल ऐसी राय दे डाली। प्रयागवाले सम्मेलन की अपनी स्पीच में भी उन्होंने कुछ ऐसी ही बातें कही थीं। खुशी उनकी। निर्णय सागर को लिख दिया कि विभक्तियां विभक्त ही रक्खी जायं। बस। पत्र कुछ लंबा हो गया। क्षमा कीजिए।

आपका,

मैथिलीशरण

[६]

चिरगाँव,

२२-५-१३

प्रिय राय साहब,

जय जानकी जीवन। कृपा कार्ड मिला। बहुत अच्छा; एक खंड ठीक करके प्रेस में भेज दूंगा। पानी क्यों न बरसता? कृष्ण जो मुझ पर अनुकूल हैं। वे घनश्याम भी तो हैं। फिर मेरी मनस्कामना अपूर्ण कैसे रहती?

अब क्या उत्तर चाहिए, मई की असह्य गरमी शान्त करने के लिए पानी तो बरसा दिया। मैं समझ गया, इस उजरत के लिए मुझे काशी तक दौड़ना पड़ेगा। इसीसे 'हाँ' नहीं कहता। कुछ दिन ठहरकर। और हां, यह तो कहिए, वार्हस्पत्यजी से आप मिले ही हैं कि अड़ियल सेठ की आख्यायिका भी देखी है? जनाब, अभी उज़रत में बड़ी कसरें हैं।

मैंने अपने कार्ड में लिखा था कि भारती सम्बन्धिनी दो एक बातों में आपसे सलाह करनी है। सो आज करता हूँ। शुभस्यशीघ्रम्। (१) मेरी राय नहीं है कि अकबर वगैरह की व्यर्थ प्रशंसा की जाय। उसकी कुटिल नीति याद आते ही शरीर थर्रा उठता है। जहांगीर ने भी हिन्दुओं का क्या भला किया सो मैंने नहीं सुना। पर राजा साहब की राय है कि कुछ लिख दिया जाय। उन्होंने कहा है इस विषय में द्विवेदी जी आदि विद्वानों की राय ले लीजिएगा। किन्तु द्विवेदीजी महाराज ने स्पष्ट कुछ नहीं कहा। वार्हस्पत्यजी की राय है कि कुछ लिख दिया जाय। उपमा बीमारी के एफ़ाक़े से दी जाय। आप इस पर उदासीन हैं। अब क्या करूँ, क्या न करूँ? कुछ तो कहिए। एफ़ाक़े का पर्याय कोई हिन्दी या संस्कृत शब्द मिल सकता है?

(२) अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा में जो कुछ मैंने लिखा है, या मुझे लिखना पड़ा है, उससे मालूम होता है, राजा साहब सन्तुष्ट नहीं हैं। वार्हस्पत्यजी की भी राय है कि कुछ और लिखा जाय। किस तरह लिखा जाय, यह भी उन्होंने नोटों में लिख दिया है। किन्तु अब और क्या लिखूं? आपकी भी राय है कि अधिक लिखना ज़रूर चाटुकारी में शामिल होगा। किन्तु आपकी यह राय भी है कि चाहे तो रेल, तार आदि का ज़िक्र कर सकता हूँ।

एक बंगाली सज्जन ने राजभक्ति नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने लिखा है: "फलतः आमरा मधुसूदन, हेमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, बंकिमचन्द्र प्रभृतिर न्याय कवि; रमेशचन्द्र, एस० पी० सिंह ओ कान्तिचन्द्रेर न्याय राजनीति-वित् एवं जगदीशचन्द्र, प्रफुल्लचन्द्रेर न्याय विज्ञाने विशारद पाइयाछि ओ पाइतेछि ताहा एक मात्र कारण इंगरेज राजत्वेरइ सुफल इत्यादि।" इस पुस्तक की समालोचना करते हुए प्रवासी-सम्पादक ने लिखा है: "आमरा इंगरेज राजत्वेर सुफल अस्वीकार करिना। किन्तु ताहार प्रकृति ओ परिमाण निर्द्धारण करिवार जन्य ग्रन्थकार के स्मरण कराइया दितेछि जे, चीन जापान इंगरेजेर अधीन नय, ता सत्वेउ दुइ देशे रेल टेलिग्राफ़ हइयाछे एवं कवि मनीषि ओ जन्मिया छेन।पूर्वकालिदास हइते चण्डिदास पर्यन्त कवि, भास्कराचार्य प्रभृति वैज्ञानिक एवं टोडरमल, ओ नाना फड़नविस राष्ट्रनीति विशारदेरा जखन एइ भारतवर्षेइ जन्मियाछिलेन तखन भारतवर्षे इंगरेजेर शासन छिल ना।"

अब आपकी क्या राय है? प्रवासी सम्पादक की राय में, "इंगरेज शासने आमरा जाति धर्म निर्वि[illegible] सम्मिलित हइया देशके आपनार वलिया शिखिया छि, इहा इंगरेज शासनेर महत् लाभ।"

इस लाभ का जिक्र भारती में है ही। (३) भारती के तीसरे खंड में मैंने जातिपांति मिटा देने वालों के खिलाफ कुछ कहा है। राजा साहब की राय है कि वे पद्य निकाल दिये जायं। किन्तु मैंने उन्हें लिख दिया था कि खेद है, मैं अपने विचार बदलने के लिये बाध्य नहीं हूँ। इस पर राजा साहब ने लिखा था कि मैं इस पर आग्रह नहीं कर सकता। वे आपके विचार हैं, और उनके बदलने की ऐसी ज़रूरत नहीं। राजा साहब ने इतना और लिखा था कि मैं चाहता हूँ कि भारत भारती से सब तरह के आदमी लाभ उठा सकें। इस विषय में द्विवेदीजी महाराज की राय मैंने ली थी। उन्होंने लिखा था कि किसी को प्रसन्न करने के लिए अपने विचार न बदलना चाहिए। किन्तु आप समझें कि उन पद्यों के निकल जाने से पुस्तक के अधिक लोकप्रिय होने की सम्भावना है तो उन पद्यों के स्थान में दूसरे भाव आप व्यक्त कर सकते हैं। इससे यह मतलब नहीं कि आपने अपने विचार बदल दिये। नहीं, जो दूसरे विचार आप व्यक्त करें, वे भी आपके निज के विचार होने चाहिएं। इससे आपके विचार भी नहीं बदलते और राजा साहब की बात भी रह सकती है। कहिए आपकी क्या राय है? और जो आवश्यक होगा लिखूंगा। कष्ट के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ। दया रखिए।

आपका,
मैथिलीशरण

[७]

चिरगांव,
२५-६-१४

प्रिय राय साहब,

जय जानकी जीवन। २१ जून का कृपा-पत्र मिला। 'स्वर्गीय संगीत' आप को पसन्द आया। यह जानकर चित्त प्रसन्न हुआ। परन्तु उसके पूर्ण होने में अभी विलम्ब है। कह नहीं सकता कि वह कब समाप्त होगा। बेतुकी लिखने का विचार बहुत दिनों से मेरे चित्त में है, परन्तु अभी तक उसे कार्य में परिणत नहीं कर सका। कोशिश करूँगा। देखिए, कब तक आपको प्रसन्न कर सकता हूँ। मेरी इच्छा है कि उर्मिला को बेतुकी ही रक्खूं। ऐसा करने से एक की जगह दो महात्माओं के प्रसन्न होने की सम्भावना है। क्यों, ठीक है न?

जयद्रथवध का तीसरा संस्करण हो रहा है। भारती में सिर्फ जिल्दबन्दी का काम बाकी है। उसके विषय में आपकी विवशता की बात मुझे मालूम है। इसी से उपालम्भ नहीं देता। यदि कभी दूसरे संस्करण का मौका आया तो उस समय देखा जायगा। वार्हस्पत्यजी की खिन्नता का मैं भी अनुभव कर रहा हूँ और जितना शीघ्र हो सका, मैं उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करूँगा। सच मानिए, मैं सचमुच रुग्ण और व्यग्र हूँ। स्वर्गीय संगीत और पत्रावली के दस-बीस पद्य लिखना भी कोई लिखना है? मैंने कहा था कि तब तक शकुन्तला ही लिखकर उन्हें प्रसन्न करूं। पर ३०-३५ पद्य ही लिखे थे कि उसका काम भी रुक गया।

१०८ ग्रंथों की मालिका का विचार जानकर बड़ी खुशी हुई। हो सका तो महीने-दो-महीने में आपसे मिलकर इस विषय में बातचीत करने का विचार है। तब तक उस मालिका के विषय में इतना लिखने की कृपा कीजिए:

मालिका का नाम क्या होगा, किस प्रेस में छपेगी, कहाँ से और कब प्रकाशित होगी, प्रकाशक कौन होंगे, साल में कितनी पुस्तकें निकला करेंगी और किन-किन महाशयों की पुस्तकें निकलेंगी?

क्या उपर्युक्त बातों का निश्चय हो चुका है? स्मरण रखिए कि स्वर्गीय संगीत और पदावली पर ही नहीं, उनके लेखक पर भी आपका सर्वथा अधिकार है। नाटक को श्रीमान् द्विवेदीजी महाराज की सेवा में भेज रहा हूँ। वहाँ से लौटने पर आप की सेवा में भेजूंगा। आजकल मेरा चित्त स्वस्थ नहीं है। एक महीने से मेरी स्त्री सख्त बीमार है। बाल-बच्चा होनेवाला था। आठवां महीना था। बुखार आने लगा, फिर गले में भीतर की तरफ छाले हुए। खाना-पीना और बोलना बन्द हो गया। डाक्टर के इलाज

से गले को तो आराम हो गया, परन्तु आठवें महीने में ही बच्चा हो गया। दो-तीन दिन जीकर बच्चा मर गया। परन्तु वह मरते-मरते बच सी गई। इस बात को कोई २० दिन हुए होंगे। तबीयत कुछ अच्छी हो चली थी, परन्तु अभी ५-७ दिन से फिर खराब हो गई। फिर गले में वही दर्द, खाने-पीने और बोलने में तकलीफ। बुखार और खाँसी। थोड़ा-थोड़ा-सा दूध पिलाया जाता है, किन्तु वह भी कष्ट से पिया जाता है। बुखार नहीं टूटता, विषम ज्वर है। विषम ज्वर अज्ञात रूप से कोई ४-५ महीने से था। अब उसी में प्रसूत शामिल हो गया है। कमज़ोरी हद दर्जे की है। चिकित्सा देशी तरीके पर हो रही है। वलादि तैल और क्वाथ इत्यादि। गले को तो कुछ फायदा है, परन्तु बुखार नहीं टूटता। देखिए, क्या होता है। घर के सब लोग व्याकुल हैं। विशेष क्या लिखूं। दया रखिए। आपका,

मैथिलीशरण

[८]

चिरगाँव,
२१–२–१८

लीजिए सरकार,

आपके 'पलीत' ने दो दिन खाना-पीना भुला दिया। अब जी हलका हुआ। मुंशीजी दिल्ली की तरफ भाग गये। इससे लिखने की बेगार मुझे भुगतनी पड़ी। आप देख लीजिए तो साफ कापी करा ली जायगी। लिखने में मुझसे बहुत भूलें हुई होंगी। अक्षर गायब कर जाना तो मेरे बाँये हाथ का खेल है। दो जगह टिप्पणी भी लगती है, लिखते समय भी कहीं-कहीं फेर-फार किये हैं। वे मूल कापी में नहीं हैं। मेरी राय में यह अच्छी है। इस लायक है कि छपे। उपमाएँ बड़ी अच्छी हैं। प्रवाह भी है। अर्थ भी।

जहाँ-जहाँ उचित हो, और संशोधन कर दिये जायँ। वे दो कविताएं आपके उत्तर की प्रतीक्षा में रुकी हुई हैं।

अधीन—मैथिलीशरण

[९]

चिरगाँव,
८–७–१८

प्यारे भाई,

तार मिला। खेद है, मैं इसी समय नहीं आ सकता। कोशिश करूँगा कि मेहताजी के जाने के एक आध दिन पहले पहुँचूं। पर न पहुँच सकूं तो उसके लिए क्षमा प्रार्थना करता हूँ।

कार्य आवश्यक है। मेरे भविष्य के सम्बन्ध में है। बाहरी नहीं, भीतरी। तुम शायद विश्वास न करोगे, समझोगे कि टाल रहा हूँ, इसलिए मैं बता देना चाहता हूँ कि मैं अपना विल, ट्रस्ट या सेटिलमेन्ट करने जा रहा हूँ। कल वृन्दावनलाल आयेंगे। सेटिलमेन्ट की ही राय होती है। उसकी रजिस्ट्री भी करानी होगी। इसी से विलम्ब होने की सम्भावना है। तुम न भी लिखते तो भी मैं शीघ्र ही तुम से मिलता। अपने कार्यक्रम के बारे में तुमसे सलाह करनी है। शायद मैं काशी में तुम्हारे पास रहकर ही कुछ काम करता, पर उसमें दो-तीन बाधायें हैं। सब बातें मिलने पर होंगी।

मेरा अनुरोध यही है कि तुम फिजूल तार में पैसे बरबाद न करना। जितनी जल्दी हो सकेगी, मैं खुद ही करूँगा।

विशेष क्या लिखूं।

तुम्हारा,
मैथिलीशरण

॥लईसोंहसीसुननकीतजिमुरलीधुनिज्ञान ॥कियेंरहतनितरातिदिन
काननलागेकान॥३३॥

[१०]

चिरगाँव,
१६-१-१६
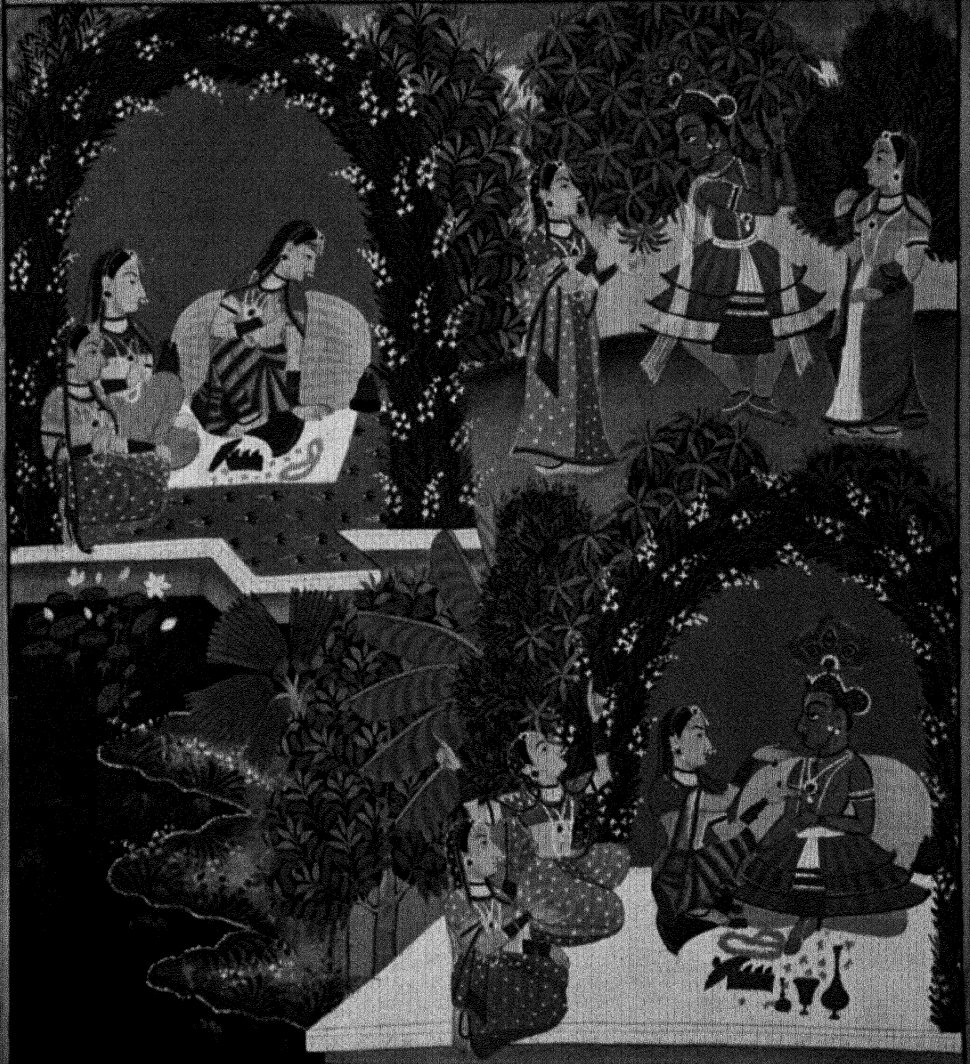
सरकार,

बेचारे शाह साहब परेशान हैं कि हुजूर ने कोई जवाब नहीं दिया कि कब सवारी आवेगी। बात यह है कि वे सरकार के आने के समय परीछा अपना मुकाम रखना चाहते हैं, जिसमें मुझे वहाँ जाने में सुगमता हो। सरकार भी नदी की सैर कर सकें। उन्हें फौरन से पेश्तर एक तार भेज दीजिए कि हम फलाँ तारीख को पहुँचेंगे। मेरे लिए कुछ 'पान तमाखू' लेते आइए तो हुजूर का बड़ा इक़बाल हो। ऽ२ अच्छी तमाखू और पान जितने मुनासिब हों। तमाखू दो सेर की जगह ऽ४ भी हो तो क्या हर्ज है।

मैथिलीशरण

[११]

मसूरी,
१०-१०-१९१६

राय कृष्णदास साहब,

यार, दूसरी बार मसूरी देखी मैंने,
देखी भरसक, किन्तु न पूरी देखी मैंने।
फिर भी कैसे कहूँ, अधूरी देखी मैंने?
यहाँ स्वर्ग की अधिक न दूरी देखी मैंने।
पर अब की खुफिया चोर-सी पीछे पीछे थी चली
जो हो, उड़ गई पहाड़ पर मेरे जूतों की तली॥

[१२]

झाँसी
३-५-२०

प्रियवर,

मैं आज यहाँ आया हूँ। चिरगाँव में एक भीषण काण्ड हो गया है और हो रहा है। कई आदमी गिरफ्तार हुए हैं। मेरा भतीजा रघुवीरशरण पकड़ा गया है। तुमने उसे खुद देखा है। कितना सीधा लड़का है। मेरी समझ में नहीं आता कि इन लोगों ने, जिनमें बच्चे ही अधिक हैं, क्या अपराध किया है जिससे ये पकड़े गये हैं। ठाकुरदास भी, जिन्होंने पुलिस के खिलाफ पारसाल मानहानि का मामला चलाया था, पकड़े गये हैं। शायद पुलिस की नाराजगी का यह नतीजा है कि इस प्रकार बेइज्जती हो रही है।

पारसाल चिरगाँव स्टेशन पर से ३-४ मील पर तार कट गया था। सुना है कि एक आदमी ने बयान किया है कि तार हमने काटा था। हमारी सभा में जिसमें तार काटने की बात तय हुई थी ये लोग शामिल थे। अभी ठीक नहीं मालूम क्या बात है। आज वर्माजी का वकालतनामा लग जायगा फिर, सब हाल मालूम होगा।

आजकल हम लोग आफत में हैं। न मालूम क्या हो। पुलिस मुझ पर भी खड्गपाणि है। पर अभी तक कोई बात नहीं।

तुम्हें अपनी आफत की खबर देना आवश्यक समझा। और क्या लिखूँ।

तुम्हारा,
मैथिलीशरण

साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)
७–५–२०

भाई कृष्णदास,

पत्र मिला। घबराने की कोई बात नहीं, जो सिर पर आ गया है भोगूँगा। विपत्ति जब तक नहीं आती, तब तक डर की बात आने पर धैर्य के साथ उसका सामना करना ही उचित है। तुम्हारे हृदय को मैं जानता हूँ। हमारा दुःख भी तुमने अपना लिया है।

यहाँ एक बाबा त्रिवेणीदास थे। कुश्तीबाज आदमी था। बड़ा सीधा और भोला दिखाई देता था। गाँव में उसकी चुंगी भी बँधी हुई थी। कुछ दिन से उसकी बदचलनी की शिकायत हो रही थी। इससे कुछ लोग उससे नाखुश हो गये थे, कुछ उदासीन। कई जगह से बाजार में उसकी चुंगी भी बन्द हो गई थी। अभी जब हमारे भतीजे की बारात मोंठ गई थी, तब हम भी बाबाजी को नहीं ले गये थे। खैर, एक काछी ने एक आदमी को मारकर उसके रुपये ले लिये। वह पकड़ा गया। वहाँ उसने बयान किया कि हमारा एक गिरोह है। उसमें बाबा त्रिवेणीदास और एक दूसरे गाँव के कुछ नीच लोग शामिल हैं। उसके बयानों पर बाबाजी गिरफ्तार हुए। सुना है उन्होंने एक-आध डाके का डालना मंजूर किया। यह भी कहा कि पारसाल गान्धीजी की गिरफ्तारी के समय जो तार काटा गया था, उसे भी हमीने काटा था। एक सभा हुई थी जिसमें तार काटने की बात तय हुई थी। उस सभा में ठाकुरदास चौदा का नाम भी बताया, जिन्होंने पुलिस के खिलाफ मानहानि का दावा किया था। साथ ही रघुवीरशरण का और भी एक आध भले घर के लड़के का नाम लिया। कुछ मुदर्रिसों के नाम भी लिये। मेरे नाम का एक लड़का पहाड़ी में है, उसका भी नाम लिया। सुना है मेरे नाम की भी बात उठी थी, परन्तु पारसाल मैं तुम्हारे साथ बहुत घूमा था और जिन दिनों मीटिंग की बात कही गई है, उन दिनों बनारस में था। बल्कि हड़ताल के दिन हमारी तुम्हारी और देशाई की बात चीत भी हुई थी, जब मैंने कहा था कि जो लोग उपवास करते हैं वे अपनी-अपनी खुराक के पैसे जमा करें तो एक अच्छी रकम देश-हित के लिए इकट्ठी हो सकती है। उसी दिन या उसके दूसरे ही दिन मैं कृष्णजी के यहाँ भी गया था और उन्होंने टेक्स्ट बुक कमिटी के लिए चिट्ठी टाइप की थी।

खैर, मुझ पर अभी वार नहीं हुआ। शायद इसमें अब होगा भी नहीं।

यही किस्सा है। पुलिस हमीं लोगों से पूरा खार खाए चली आती है। अब उसे एक मौका भी मिला है। तथापि न्याय है तो कोई डर नहीं। जो कुछ करने का है और होगा, वह सब किया जायगा। आगे ईश्वर की इच्छा। तुम्हारे करने का जो होगा, वह भी होगा। इसका कहना ही क्या। आज रात को मैं और वर्माजी इलाहाबाद जायेंगे। वकील के लिये और सलाह के लिए। वर्माजी ने बाकायदा इस बात की दरखास्त दी थी कि हमें उन लोगों से मिलने की आज्ञा दी जाय, जो पकड़े गये हैं। पर अधिकारी टाल-टूल करते हैं, पर यह कब तक ?

और जो बात होगी, लिखूँगा। चिन्ता तो होगी ही पर मुझे भविष्य पर विश्वास है।

तुम्हारा,
मैथिलीशरण

जो लोग पकड़े गये, वे थाने में बुला-बुला कर बैठा लिए गये, फिर उन सबके मकानों की तलाशियाँ हुईं। यहाँ एक सब-इंस्पेक्टर, एक इन्सपेक्टर और एक डिप्टी-सुपरिटेंडेंट आये थे। सिर्फ लाइब्रेरी देखी और कुछ स्वराज्य विषयक किताबें, जैसे स्वराज्य पर मालवीय जी इत्यादि। यह १ मई की बात है। बाबाजी २६ अप्रैल को गिरफ्तार हुए थे। २७ को उनके बयान यहीं आकर डिपटी साहब ने कलमबन्द किये। तभी से सुगसुग थीं कि बाबा ने कई आदमियों के नाम लिये हैं। किस-किस का नाम लिया है सो भी मालूम हो गया था। रघुबीर से हम लोगों ने—खास मैंने—बहुत पूछा और सब तरह से पूछा, पर उसने यही कहा कि मुझे कुछ मालूम नहीं। उचित समझिए तो रामकृष्ण जी साहब और बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त से जिक्र कर दी जिएगा।

चिरगाँव,
६-१०-२१

भाई कृष्णदास,

तुम्हारा कार्ड मिल गया था। कक्का की तबीयत पहले से कुछ अच्छी है। बुखार छूट गया है, किन्तु इतने कमजोर हैं कि उठ नहीं सकते। खड़ा होकर चलना तो दूसरी बात है। रात को सोते नहीं। श्वास के कारण तकलीफ रहती है। क्या बताऊँ मैं बड़ी दुश्चिन्ता में हूँ। खाने-पीने का भी उनका कोई नियम नहीं। जिद्दी वे शुरू से ही रहे हैं। दवा-उवा का भी कुछ ध्यान नहीं रखते। ईश्वर की इच्छा! भविष्य भगवान के हाथ में है। इधर एक घटना और हो गई है। परसों शिवनारायण कानपुर से आये थे। तुम्हें मालूम ही है कि १०८ दफा के अनुसार गणेशजी और शिवनारायणजी पन्द्रह-पन्द्रह हजार की जमानतें दिये हुए हैं। ४-५ दिन हुए, गणेशजी ने मैजिस्ट्रेट को नोटिस दे दिया है कि जब हम रायबरेली के मुकद्दमे में फँसे थे, तब सरकार ने हमारे हाथ फँसाने के लिए अन्यायपूर्वक हमारे ऊपर १०८ का प्रयोग किया जिसमें हम उधर पैरवी न कर सकें और सरकारी पक्ष की बातें प्रकट न होने पावें। चूँकि हमें अभीष्ट था कि सच्ची बातें जनता के सामने आ जायें, इसलिए इच्छा न होने पर भी हमें मुकद्दमा लड़ना पड़ा और इसीलिए जमानत भी देनी पड़ी। अब हमारा उद्देश्य पूरा हो गया है और यद्यपि हम मुकद्दमा हार गये हैं, परन्तु मामले की असलियत जनता ने समझ ली है। ऐसी दशा में जमानत में बद्ध रहकर और इस प्रकार अपनी स्वतंत्रता खोकर रहने से हम जेल में रहना कहीं अच्छा समझते हैं। इसलिए हम अपनी जमानत रद्द करते हैं। और अपने को स्वाधीन समझते हैं। आप जो चाहें करें। इत्यादि।

इसका नतीजा यह होगा कि गणेशजी जेल जायेंगे। शिवनारायणजी कहते हैं हमारे लिए भी यही मार्ग होना चाहिए। मगर गणेशजी और मित्र रोकते हैं। क्योंकि फिर प्रताप का चलना बन्द हो जायगा। इसी सम्बन्ध में शिवनारायणजी सलाह लेने आये थे। मैं भी यही समझता हूँ कि फिर प्रताप नहीं चल सकेगा। खैर, जो कुछ समझ में आया, उनसे कह दिया। मगर फिर भी प्रताप की खरियत नहीं मालूम होती।

गणेशजी और पालीवाल आदि कुछ लोगों ने सलाह की है कि जिन लेखों पर गणेशजी से जमानत मांगी गई है उन्हीं लेखों को स्वाधीनता की रक्षा के उद्देश्य से पालीवाल उद्धृत करके गवर्नमेंट को चुनौती दें कि जो चाहो करो। उसके बाद जमानत जब्त होनी है। पालीवाल भी जेल जायेंगे। उसके बाद तीसरा आदमी आकर उन्हीं लेखों को फिर उद्धृत करेगा। इस तरह कोई ७-८ आदमियों का गुट हो चुका है। नतीजा यह होगा कि प्रेस जब्द हो जायगा। लोग जेल जायेंगे। यह विषम संकट उपस्थितप्राय है। शिवनारायणजी चले गये। पर एक दिन के लिए मुझे अवश्य कानपुर जाना पड़ेगा। तार की प्रतीक्षा है। दोनों ओर आफत है। अक्ल काम नहीं करती। देखें क्या होता है?

उस वार अजमेरी का पट्टू का कोट मिस्टर या मिनिस्टर चिन्तामणि के ऊपर निछावर हो गया था। एक १०) १२) का पट्टू का थान ले ही रखना। मैं बनारस आऊँगा, तब ले आऊँगा, या अजमेरी वहाँ आवेंगे ही, उन्हें वहीं बनवा देना। दाम मेरे नाम डाल देना।

आशा है तुम अच्छे हो। देशाई अच्छे हैं। तुम कब तक लौटोगे? जी न, जाने कैसा रहता है। बहूजी से प्रणाम कह देना।

यहाँ थोड़ी-थोड़ी सरदी कसकने लगी है। मैं ख्याल करता हूँ दीवाली तक तुम काशी पहुँच ही जाओगे?

तुम्हारा,
मैथिलीशरण

[१५]

चिरगाँव,

भाई कृष्णदास,

१०-११-२१

कल सवेरे एक कार्ड भेज चुका हूँ। शाम को तुम्हारा पत्र मिला। पढ़कर बड़ी चिन्ता हुई। मामाजी की ओर से मुझे बहुत दिन से आशंका थी। आखिर वही हुआ। आज तुमसे एक बात कहता हूँ। एक बार उनसे मैं प्रयाग में मिलने गया था। उनकी बातें सुनकर मुझे बड़ी निराशा हुई थी। बात कोई खास नहीं हुई थी। परन्तु उनकी प्रकृति मैंने भयानक पाई। उस दिन से मुझे उनसे किसी तरह की आशा न रह गई थी। खैर, जो हो, कोशिश तो करनी ही चाहिए।

मेरे घर की दशा तुम्हें मालूम ही है। जिस चिन्ता में मेरे [illegible] जा रहे हैं, मैं ही जानता हूँ। अबकी बार प्रयाग में जो १६ तारीख को कवि सम्मेलन होनेवाला है उसमें उपस्थित होने के लिए पंडित देवीप्रसादजी शुक्ल के द्वारा मुझ पर बड़ा जोर डाला गया। शुक्लजी को मैंने सब स्थिति लिख दी। वे मौन हो गये।

एक दिन के लिए कानपुर जाना था। नहीं जा सका। मगर मेरे आने से यदि तुम्हें आशा हो--मुझे तो है नहीं—तो चाहे जैसे हो मैं दो दिन के लिए चला आऊँगा। तथापि मेरी यह बात मान लो कि मुझे प्रयाग न बुलाओ। तुम जाकर, नहीं तो अच्छा तो यह होगा कि बहूजी को भेजकर किसी तरह जैसा तुमने लिखा है, उन्हें दो दिन के लिए काशी ले आओ। न हो एक तार दो कि मेरी तबीयत अच्छी नहीं। एक दिन के लिए आकर मुझे देख जाए। इत्यादि किसी तरह उन्हें काशी बुलाओ। वहाँ सब लोग उन्हें घेरें। मैं भी आ जाऊँगा। मैं उनके पैर पड़ूँगा और जो समझ में आवेगा कहूँगा। सफलता की बात क्या कहूँ।

तुम्हारा,

मैथिलीशरण

[१६]

चिरगाँव,

३-१२-२१

भाई कृष्णदास,

तुम्हारा कार्ड मिला। मामाजी की बात मालूम हुई। तुम कहते हो—भूल जाओ, पर हृदय जो जलता है, उसके लिए क्या करूँ। तुम भूल सकते हो, उच्चाशय हो, सहन भी कर सकते हो—महान हो। पर मैं? मैं आज अपनी कुछ बातें कहूँगा। जी नहीं मानता। सुनो।

कक्का अब तब हो रहे हैं। आज हम सब लोग प्रायः रात भर जागते रहे। अजमेरी भी थे।

तुम्हें हमारी दशा मालूम है। मध्य वित्त के गृहस्थ थे। जमींदारी थी, पैसा था और भी कुछ था—क्या था नहीं कह सकता। अब कुछ नहीं। जो हमारी वृत्ति थी व्यापार, उसीमें सब स्वाहा हो गया। अब केवल ऋण रह गया।

हम सब छोटे थे। पहले मंझले काका मरे। वे जमींदारी का काम करते थे। पिता ने इन्सालवेंसी करके और लखपती रहने की अपेक्षा ऋण चुकाने के लिए अपने आपको बेच देना अच्छा समझा। जमींदारी जो १३ गाँवों में थी बेच दी गयी। मंझले काका ने भी शान्ति पाई। उसके बाद पिताजी गये—जिस सम्मान के साथ आये थे, उसी सम्मान के साथ। धन तो नहीं, पर उनके इष्टदेव ने उनका यश और मान रहने दिया। अब रह गये हम पाँचों भाई और छोटे काका।

उन्होंने भी तैयारी कर दी। आजकल में जानेवाले हैं।

सत्य के लिए यह भी तुमसे कहे देता हूँ कि इन्होंने व्यापार में सब खोया। यह ठीक नहीं, कहना चाहिए इन्हीं के हाथ से सब खोया गया।

परन्तु, इन्होंने हम लोगों को पाला भी—ऐसे वैसे नहीं, बड़े प्यार के साथ। इस सम्बन्ध में हम लोगों को पितृ-वियोग जरा भी न खला। बहुत-सा ऋण भी चुकाया गया। उन्हें श्वास का रोग शुरू हो गया था।

तो भी रात को दो-दो बजे तक स्टेशन पर रहकर उन्होंने अपने सामने माल की गाड़ियाँ लदवाई। लाभ भी खूब उठाया। परन्तु वह चंचला लक्ष्मी का हम लोगों के भाग्य के साथ मानो एक व्यंग्य परिहास था। फिर हजारों की हानि हुई। जो साझीदार था, वह पल्ले झाड़कर खड़ा हो गया। अधिकांश हमारे ही माथे पर पड़ा। कक्का बड़े साहसी रहे हैं—बड़े हेकड़ भी। पर मनुष्य ही हैं। इस बार वे भी विवश हो गये। श्वास का रोग शुरू हो ही गया था, वह बढ़ चला। पन्द्रह बरस हो गये। तथापि किसी आशा से प्राण उनके अटके रहे। मैं तो शायद १५ दफे मर चुकता यदि मुझे इतना सहन करना पड़ता।

व्यापार के लिए पूँजी चाहिए। हम लोग संभले भी, पर बेकार रहे। छोटा-मोटा काम करते हुए न तो बन ही सकता था, न उससे पूरा ही पड़ सकता था। हमारे कुल में अब तक नौकरी नहीं की गई थी, अब तो उसकी भी आशा नहीं। उसके लिए भी किसी बात की जरूरत होती है, जो बेकारी में रहनेवालों में कहाँ?

थोड़ी-सी जमींदारी रह गई थी। उसीसे और कुछ और नाममात्र के व्यवसाय से संसार चलने लगा। जब लेनदारों की ज्यादती हुई तब बाकी की जमीदारी भी दे दी गई। बहुत मकान वगैरह भी थे। वे भी। अब रह गया १५-२० हजार का ऋण और जमींदारी में चिरगाँव का हिस्सा और एक आध जगह की कुछ जमीन। यह इतना है कि हम ऋण चुका दें। पर चिरगाँव का हिस्सा प्राणपण से बचाना चाहते हैं। वही गाँव में हमारे सम्मान की चीज है। इसी कारण से।

पुस्तकों के व्यवसाय से काम निकल जाता है। पर खर्च का ही। देने की सुविधा नहीं। तुम्हें इन बातों का आभास मैं थोड़े में कई दफे दे ही चुका हूँ, पर आज फिर कह रहा हूँ, कहने दो।

इसी पुस्तकों के व्यापार की आशा ने शायद कक्का को संतोष देकर इधर कई बरस तक जीवित रक्खा पर उनकी आशा पूरी न हुई, ऋण नहीं चुकाया जा सकता। वे दु:खी ही जा रहे हैं। कृष्णदास, क्या बताऊँ, जी की जी ही में है।

हमने बाजार में अभी ५-४ बरस पहले जो जमीन और दुकानें सैकड़ों में बेची हैं, वे ही अब हजारों की हैं। सियारामशरण और चारु शीलाशरण नाबालिग थे। आज कल का कानून उन इमारतों और जमीनों को बिना कुछ दिये निकाल लेने में उनका पूरा पूरा सहायक है पर हम लोगों की आत्माओं का कानून नहीं। नहीं तो कुल २००००) हमारी तिजोरी में आ सकते हैं और अब झगड़े शान्त हो सकते हैं।

तब उपाय? कुछ नहीं मालूम होता। कक्का को हम लोग शान्ति नहीं दे सकते। ऐसे ही अभागे हम लोग हैं।

हमारा अदृष्ट हमारे साथ सब जगह रहता है। इसके उदाहरण है पर दूँगा नहीं।

बिलकुल लाचार होकर मैंने एक निश्चय किया था। वह वही जो जौनपुर वालों से तय हुआ है। पर मेरे भाग्य ने शायद उसे भी सहन नहीं किया। उन बेचारों पर मुकद्दमा उठ खड़ा हुआ। जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ, अमंगल मेरे साथ जाता है। मैं कहाँ जाऊँ।

उस दिन मुझे बुखार चढ़ा था। मैं अकेला पंडित शम्भूरत्नजी के बंगले में पड़ा था। नई जगह थी। एकान्त होने के कारण शरीर के साथ-साथ मानसिक संताप भी सताने लगा। उसी समय शम्भूरत्नजी आये। उनकी थोड़ी-सी बातचीत से मैंने समझ लिया कि उनमें सहानुभूति है और ब्राह्मण-सुलभ करुणा भी, साथ-साथ सामर्थ्य भी। मैं बुखार के मारे अर्ध संज्ञा की अवस्था में उनसे सब बातें थोड़े में कह गया। उन्होंने सहानुभूति प्रकट की। जब दुबारा मैं जौनपुर गया तब फिर बातें हुई। मैंने, जैसा तुम्हें सुनाया था, उनसे कहा कि आप कर सकें तो ऐसा कर दीजिए कि थोड़ेसे ऐसे लोगों को तैयार करके मुझे १५ हजार रुपये दिलवाइए। मैं उन्हें एक-एक पुस्तक भेंट कर दूँगा। रुपये मुझे एक साथ मिल जाना चाहिए। कुछ पुस्तकें तैयार हैं ही और तैयार करके मैं शीघ्र ही अपना वादा पूरा कर दूँगा। इसे उन्होंने बहुत पसन्द किया। यह भी कहा कि यह प्रबन्ध मैं बहुत जल्द और आसानी से कर लूँगा। दूसरे ही दिन उन्होंने मुझसे कहा कि मैंने दो-तीन जगह को पत्र लिख लिए। श्रीमान् राजासाहब (जौनपुर) से भी जिक्र किया है। उन्होंने तीन

हजार अपनी ओर से देने को कहा है। मुझे बड़ा संतोष हुआ। घर आकर मैंने कक्का से कहा कि शायद अब हम लोगों का पाश कट जायगा। एक ब्राह्मण हमारी सहायता करने का यत्न कर रहा है। सब हाल भी सुनाया। उन्हें भी संतोष ही हुआ। और उपाय भी तो न था।

खैर, कुछ दिन बाद मैंने शम्भूरत्नजी को पत्र लिखा, परन्तु उत्तर न मिला। इससे मेरे आत्मसम्मान को कुछ धक्का लगा। ऐसा होता ही है। जब मैं फिर जौनपुर गया तब शुक्लजी ने मुझ से कहा कि मैं प्रयत्न कर रहा हूँ। शीघ्र ही सफलता हो जायगी। दो-तीन आदमी ठीक कर लिए हैं। पहले उन्होंने मुझसे कहा था कि यह काम ५-७ आदमी ही कर लेंगे। अधिक की जरूरत ही क्या? मुझे वह बात याद थी। मैंन पूछा अब कितने आदमी और तैयार करना है। तब उन्होंने ५-७ कहा। मैंने मन में कहा, पहले कुल ५-७ थे। अब और भी ५-७। शुक्लजी ने यह भी शिकायत की कि मैंने राजा रामपाल सिंह जी को इस विषय में लिखा था परन्तु उनका उत्तर नहीं आया। दो तीन दिन हुए राजा रामपाल सिंह जी खुद मुझे लिखते हैं कि मैंने जौनपुर को एक पत्र लिखा था पर वहाँ से उत्तर नहीं आया। शुक्लजी का पत्र, वे कहते थे, मुझे नहीं मिला।

मतलब यह कि मुझे इस काम की भी अब आशा नहीं सी है। पर मैंने कक्का से यह नहीं कहा है क्योंकि उनकी अन्तिम आशा भंग न हो। भगवान से यही प्रार्थना है कि हम लोगों का कुछ भी परिणाम हो, पर वे हमारी ओर से निश्चिन्त होकर ही प्रयाण करें।

तो भी तुमसे मैं इतना कहना चाहता हूँ कि इस मामले का निबटारा अब हो जाना चाहिए। क्योंकि आशा की जो झलक बाकी है वह छुरी का काम करती है।

एक बात और भी है। वह यह कि इस काम की आशा में कई पुस्तकें बहुत दिन से बिना छपी पड़ी हैं। मेघनादवध का अनुवाद भी पूरा हो चुका है। उनकी बिक्री में ही क्यों खलल पड़े। इसलिए जवाब चाहे वह सूखा ही हो—ले लेना अच्छा है। मैं सुनने के लिए बिल्कुल तैयार हूँ। पर जवाब मिले कैसे?

मैं इस विषय में स्वयं नहीं लिखना चाहता। अब और पछताने का मौका न मिले तो अच्छा। यदि उचित समझो तो तुम मैनेजर साहब से पूछ लो कि इस सम्बन्ध में अब आपका क्या निश्चय है। परन्तु जल्दी। वे कभी-कभी बनारस आते ही होंगे। चाहो तो लिख सकते हो कि हमसे मिल लीजिए। अथवा आदमी भेजकर पत्र से उत्तर मंगा सकते हो। जैसा तुम चाहो। मैं भी अपने भीषण भविष्य के लिए तैयारी करूँ। वह बिल्कुल अंधकारमय है। पर मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि भगवान मेरी इतनी तो सहायता करे, मैं यथासाध्य ऐसा कोई मार्ग ग्रहण न करूँगा जिससे तुम्हारा सिर नीचा हो। मैं यह नहीं कह सकता कि अब तुम से कब तक और किस दशा में मिल सकूँगा। परन्तु चाहे जब और चाहे जैसी दशा में मिलूँ तुम्हें अपना भाई ही पाऊँगा। इसका मुझे विश्वास है—ध्रुव विश्वास। और क्या लिखूँ।

जौनपुर का निश्चित उत्तर पाने के लिए अब मैं जरा भी विलम्ब नहीं करना चाहता। मैं यह लिखने के लिये भी तैयार हो जाता कि तुम स्वयं एक दिन के लिये वहाँ चले जाओ। परन्तु तुम्हारा सम्मान मुझे यह लिखने में बाधा देता है। मैं इस सम्बन्ध में इतना भी न लिखता यदि मेरी लेखनी सीधे-सीधे पत्र लिखने को उठती। एक बात और सुनो। शुक्लजी ने एक बार मुझसे कहा था कि हमारी रियासत में हर साल दो हजार की छपाई का काम होता है। आप ही इसे कर दिया कीजिए। इस साल मैंने उन्हें लिखा कि हमें काम दीजिए। ईश्वर ही जानता है, यह मैंने लाभ उठाने के लिए ही लिखा था कि उनके प्रति अपने किसी और भाव के अनुसार लिखा था। परन्तु उत्तर नहीं मिला। फिर आशा की झलक कैसी?

इस बार दशहरे पर उन लोगों ने मुझे फिर बुलाया था। मैं जा न सका मगर मैंने इसका यह नतीजा अवश्य निकाला कि ये मुझसे किनाराकशी नहीं करना चाहते। क्या यह नतीजा निकाल कर मैंने भूल की? यदि तुम्हारे विचार में आवे कि हाँ, भूल ही की तो जाने देना। फिर कुछ करने की जरूरत नहीं।

छ बातें और लिखनी हैं। पर आज नहीं।

तुम्हारा,
मैथिलीशरण

गांधीजी के साथ 'साकेत' सम्बन्धी पत्र-व्यवहार

[१७]

यरवदा सेन्ट्रल जेल,
५ अप्रेल, १९३२

भाई मैथिलीशरणजी,

आपका पत्र मिला था। 'साकेत', 'अनघ', 'पंचवटी' और 'झंकार' सब रसपूर्वक पढ़ गया। बहुत अच्छे लगे। परन्तु टीका करने की मैं अपनी कुछ भी योग्यता नहीं समझता हूँ। तो भी आपने मेरे अभिप्राय पूछे हैं और क्योंकि जैसे पढ़ते गया वैसे विचार भी आते रहते थे इसलिए जैसे आये वैसे ही आपके सामने रखता हूँ। उर्मिला का विषाद अगरचे भाषा की दृष्टि से सुन्दर है परन्तु 'साकेत' में उसको शायद ही स्थान हो सकता। तुलसीदासजी ने उर्मिला के बारे में बहुत कुछ नहीं कहा है यह दोष माना गया है। मैंने इस अभाव को दोषदृष्टि से नहीं देखा। मुझको उसमें कवि की कला प्रतीत हुई है। मानस की रचना ऐसी है कि उर्मिला जैसे योग्य पात्र का उल्लेख अध्याहार में रखा गया है, और उसी में काव्य का और उन पात्रों का महत्व है। उर्मिला इत्यादि के गुणों का वर्णन सीता के गुण विशेष बताने के लिए ही आ सकता था। परन्तु उर्मिला के गुण सीता से कम थे ही नहीं। जैसी सीता वैसी ही उसकी भगिनीयाँ। मानस एक धर्मग्रन्थ है। प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक वाक्य में सीता सीताराम का ही जप जपाया है। 'साकेत' में भी मैं वही चीज देखना चाहता था। इसमें कुछ भंग उपरोक्त कारण के लिए हुआ। × × ×

यह सब लिखने का मेरा उद्देश्य हरगिज यह नहीं कि आप दूसरे संस्करण के लिए सुधारणा करें। हाँ, यदि मेरे लिखने में आपको कुछ योग्यता प्रतीत हो तो दूसरी बात है।

× × ×

आपका,
मोहनदास

[१८]

चिरगाँव (झाँसी)
रामनवमी १९८९

पूज्य बापू,

प्रणाम। कृपापत्र पाकर कृतार्थ हुआ। जो कुछ मैं चाहता था, उससे अधिक मुझे आप के इस वाक्य में मिल गया कि 'सब रसपूर्वक पढ़ गया। बहुत अच्छे लगे।' × × ×

बापू, आप तो समझौते के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं। सम्भव हो तो मेरी भी एक बात मान लीजिए। आप उर्मिला के विषाद को 'साकेत' में स्थान रहने दीजिए और मैं दशरथ के जितने आँसू पोंछ सकूँ, साकेत के अगले संस्करण तक पोंछने का प्रयत्न करूँ। मेरी माँग बहुत नहीं है। एक तो इसलिए कि आप उसे स्थान मिलने में सन्देह मात्र करते हैं, दूसरे एक दृष्टि से उसे सुन्दर भी समझते हैं। अपनी माँग उपस्थित करने में मेरे दिये हुए हेतु यदि सबल न जान पड़ें, तो इसे मेरी तर्क-दुर्बलता ही समझिये, और हो सके तो, अपने निकट मेरी ओर से भी थोड़ी-बहुत वकालत कर लीजिए।

आपने ऊर्मिला के विषाद की बात कह कर लिखा है—'साकेत में उसको शायद ही स्थान हो सकता।' इसी के अनन्तर आपने तुलसीदास की चर्चा करके मानस की रचना में उर्मिला के अध्याहार की बात कही है। उसे पढ़कर एक बार मुझे यह भान भी हुआ कि यहाँ 'साकेत' से आप का अभिप्राय 'मानस' से तो नहीं है। ऐसा हो तो मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। परन्तु मैं 'साकेत' को विशेष अर्थ में लेकर ही अपना आवेदन उपस्थित करूँगा।

मानस की रचना में उर्मिला का अध्याहार करने की बात मैंने पहले भी सुनी है। क्यों नहीं, यह भी एक कला है। इस प्रकार की कला अपने मौन से इतना कह देती है, जितना वाणी से नहीं कहा जा सकता। वह अपने विषय को अकथनीय अथवा गूंगेका गुड़ बना देती है। परन्तु यह भी यथार्थ जान पड़ता है कि

तुलसीदास को राम और सीता के चरित को ही प्रधानता देनी थी। उनके लिए उचित भी यही था। ऐसी दशा में उर्मिला के थोड़े से वर्णन से कदाचित् उन्हें संतोष न होता और अधिक वर्णन से सम्भवतः मुख्य विषय में बाधा पड़ती। जैसा आपने कहा है, उन्होंने प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक वाक्य में सीताराम का ही जप जपाया है। रामचरित मानस के नाम से भी यही प्रकट होता है। इसी कारण मैंने अपनी रचना का नाम 'साकेत' रखा। उसमें मुझे सब के दर्शनों की सुविधा मिल गई है, और आपने देखा होगा, उसमें मैंने कुछ देरतक माण्डवी की झाँकी के एवं एक झलक श्रुतकीर्ति के भी दर्शन पाये हैं तथा शत्रुघ्न का भाषण भी सुना है। मैं नम्रतापूर्वक आपको विश्वास दिलाता हूँ कि तुलसीदास का दोष मानकर अथवा उनसे स्पर्धा करने के लिए मैंने उर्मिला का वर्णन नहीं किया है। आपके शब्दों में उनके इस अनुपम धर्मग्रन्थ ने ही मुझे इस ओर प्रेमाभिभूत करके आकर्षित किया है।

"गुरु गोविंद दोनों खड़े, किसकू लागूं पाय,
बलिहारी उन गुरुन की, गोविंद दिये मिलाय।"

इस पद्य की सार्थकता तुलसीदास में उतनी ही दिखाई देती है, जितनी वह हो सकती है। अस्तु।

उपर्युक्त सुविधा, मुख्यतया उर्मिला की अनुभूति और अपनी रचना में कुछ नवीनता की इच्छापर ही 'साकेत' का अस्तित्व है। फिर भी तुलसीदास के उद्देश्य से मेरे उद्देश्य में कुछ भिन्नता तो है ही। सख्य भाव की उपासना में दीक्षित होते हुए भी मानस के राम के समीप मुझे बहुत सावधान रहना पड़ता है। उनकी मित्रता मानो राजा की मित्रता है, जो हाथीपर चढ़ाते-चढ़ाते शूलीपर भी चढ़ा सकती है। इसलिए मुझे उनसे डर लगा रहता है। वह अभ्यस्त भय 'साकेत' में भी नहीं छूटा और मुझे उन्हें प्रभु कहते ही बना है। फिर भी मानो मेरा भाव समझ कर 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्' के अनुसार 'साकेत' में वे उसी प्रकार आ बैठे हैं जैसे आप अपने बड़प्पन को लिखने की गद्दी पर छोड़ कर आश्रम के बच्चों के बीच में आकर हँसते-खेलते हैं।

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर लिखा है—

'रामायण में किसी देवता ने अपने को खर्व करके मनुष्य नहीं बनाया है, एक मनुष्य ही अपने गुणों के कारण बढ़कर देवता बन गया है।' कवि ठाकुर की लेखनी में ऐसी शक्ति है कि वह किसी साधारण सेसाधारण पात्र को लेकर भी उसे बढ़ाकर देवत्व प्रदान कर सकती है! परन्तु मेरे लिए तो यही आधार है कि स्वयं देवता नहीं, करुणा तथा लीलामय स्वयं ब्रह्म अपने को अवतीर्ण करके मेरे बालविनोद में सम्मिलित हो जायँ। इस लिए 'साकेत' के प्रधान पात्रों ने मानों अपनी अलौकिकता छोड़कर अधिकतर लौकिकता ही धारण कर ली है। तथापि जैसा मैं कह चुका हूँ 'साकेत' में मुझे राम को प्रभु कहते ही बना है। लक्ष्मण में सैनिक भाव की प्रबलता रहते हुए भी वह लौकिकता यथेष्ठ मात्रा में होने से मेरी उनके साथ सरलता से निभ जाती है। ऐसी दशा में आप ही बताइये, उर्मिला के अध्याहार से मेरा काम कैसे चल सकता?

यह ठीक है कि जैसी सीता, वैसी ही उनकी भगिनियाँ। परन्तु तत्वतः एक होते हुए भी, जैसे मनुष्य-रूप में राम और लक्ष्मण के स्वभाव में विभेद-वैचित्र्य है, वैसे ही उर्मिला और सीता में होना स्वाभाविक है। यह वैचित्र्य लीलाशील सीताराम को भी इष्ट था। इसी से चार मूर्त्तियों में वे अवतीर्ण हुए। वस्तुतः रामचरितमानस के सीताराम 'साकेत' में नायकों के भी नायक और सबके शिक्षक अथवा शासक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस नाट्यलीला में जितने पात्र हैं, सीताराम ही सब के सूत्रधार हैं। मेरे मानस में वे अपना जप जपाते हैं; किन्तु 'साकेत' में पाठ पढ़ाते हैं। 'साकेत' में सीता ही उर्मिला को आत्मविश्वास की शिक्षा देती है।

धनुष के टूटने के पहले ही सीता ने राम को मन से वरण कर लिया है। इसी पर उर्मिला को जीवन में पहली चिन्ता हुई। वह घबराकर कहती है—'प्रभु चाप न जो चढ़ा सकें'—परन्तु सीता निश्चिन्त हैं। वे उससे कहती हैं—

"चढ़ता उनसे न चाप जो,
वह होते न समर्थ आप जो,

उठती यह भौंह भी भला,
उनके ऊपर तो अचंचला ?
दृढ़ प्रत्ययके बिना कहीं
यह आत्मार्पण दीखता नहीं।"

यही है वह आत्म-विश्वास, जो भयानक कहा जा सकता है। परन्तु उर्मिला ने उसकी शिक्षा पाई है, और वह भी यह कहने को समर्थ हुई है कि—

"यदि लीक धरे, न मैं रही,
मुझको लीक धरे, यही सही।"

इस दृढ़ प्रत्यय की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती। अयोध्या में सुना जाता है कि लक्ष्मण को शक्ति लगी है, और भरत की ओर से उर्मिला को शत्रुघ्न सान्त्वना देते हैं—

"भाभी, भाभी सुनो, चार दिन तुम सब सहना,
मैं लक्ष्मण-पथ-पथी आर्य का है यह कहना।"

इस पर उर्मिला उत्तर देती है—

"देवर, तुम निश्चिन्त रहो, मैं कब रोती हूँ;
किन्तु जानती नहीं, जागती या सोती हूँ।
जो हो, आँसू छोड़ आज प्रत्यय पीती हूँ;
जीते हैं वे वहाँ, यहाँ जब मैं जीती हूँ।"

सीता के उस विश्वास के समान ही यह दृढ़ है परन्तु इससे मेरा हृदय भीत न होकर स्फीत ही होता है। इसीलिए सीताराम के समीप मुझे जो भय लगता है, वह उर्मिला और लक्ष्मण के समीप नहीं।

उर्मिला के विषाद में उसका यह विश्वास डूब नहीं गया। यदि अनुकरण करनेवालों से ही अनुकरणीय की सार्थकता होती है, तो इसी आत्म-विश्वास के अनुकरण के लिए 'साकेत' में उर्मिला का एक विशेष स्थान होना चाहिए। परन्तु यदि हम उसे लेंगे, तो हमें उसका विषाद भी लेना पड़ेगा।

मैंने एक कथा में सुना है कि स्वर्ग में भी एक विषाद रहता है। स्वर्गीय प्राणी भी हम नीचे पड़े हुओं को देखकर दुःखसे हाय-हाय करते हैं, यही तो हम लोगों के लिए सहारा है। इतने पर भी इस विषाद को यदि दुर्बलता माना जाय, तो इस युग में, स्मरण रखिये, सबसे बड़े दुर्बल आप ही निकलेंगे।

और, क्षमा कीजिए, आप के राम की भी कुशल नहीं। 'साकेत' के पात्रों ने मानो हठ कर लिया है कि इन्हें रुलाकर ही छोड़ेंगे। हम रोते रहें और ये हँसते रहें, यह नहीं हो सकता। अस्तु, भरत ने राम को रुला कर ही छोड़ा और धोखा देकर नहीं, डंके की चोट। इसे स्वयं राम ने स्वीकार किया है—

"रे भाई, तूने रुला दिया मुझको भी,
शंका थी तुझसे यही अपूर्व अलोभी।"

दूसरी पंक्ति से स्पष्ट है कि उन्हें पहले ही इसकी शंका थी, और वे मानों अपनी व्यथा को विनोद में छिपा कर सामना करने के लिए प्रस्तुत थे। परन्तु भरत के आगे उनकी एक न चली। और, उर्मिला और लक्ष्मण के आगे तो उन्हें माता-पिता की आज्ञा से राज्य छोड़कर बनवास स्वीकार करने के गौरव का गर्व भी छोड़ देना पड़ा—

"लक्ष्मण, तुम हो तपस्पृही,
मैं वन में भी रहा गृही।
वनवासी है निर्मोही,
हुए वस्तुतः तुम दो ही।"

राम की इस पराजय पर मुझे प्रसन्नता है। कारण, जैसा मैं कह चुका हूँ, मैं उनसे डरा करता था। दूसरे, मेरा यह उद्देश्य भी सिद्ध हो गया, जिससे मैंने उन्हें नायक के बदले शिक्षक के पद पर प्रतिष्ठित किया था।

तीसरे, तुलसीदास की इस उक्ति की चरितार्थता मुझे देखने को मिल गई कि—'राम तें अधिक राम कर दासा।'

उर्मिला का रोना स्वार्थ को लेकर नहीं चलता—

"मैं अपने लिए अधीर नहीं,
स्वार्थी यह लोचन नीर नहीं।
क्या-से-क्या हाय! हो गया यह,
रस में विष कौन बो गया यह?
जो यों निज प्राप्य छोड़ देंगे,
अप्राप्य अनुग उनके लेंगे?
माँ ने न तनिक समझा-बूझा,
यह उन्हें अचनाक क्या सूझा?"

जब चित्रकूट में कैकेयी रोकर अपनी करनी पर पश्चाताप रूप कुछ प्रायश्चित्त कर चुकती है, तब उर्मिला मानों अपनी ओर देखने का अवकाश पाती है। वहाँ भी उसके हृदय में समवेदना का स्रोत उमड़ रहा है—

"अपने अतुलित कुल में प्रकट हुआ था कलंक जो काला,
वह उस कुल बाला ने अश्रुसलिल से समस्त धो डाला।"

चाहिए तो यही कि लोग उस विषाद की भीषणता को देखें और अपने कुल में वैसा कलंक न लगने देने की शिक्षा ग्रहण करें।

साधारणतः विरह-वर्णन में देखा जाता है कि विरहीजन सारे उद्दीपन विभावों को उपालम्भ देकर कोसा करते हैं। द्विजराज चन्द्रमा तक को कसाई[1] कह देना तो कोई बात नहीं, और भी न जाने क्या-क्या नहीं कहा जाता। किन्तु उर्मिला इस विचार के विरुद्ध मानों विद्रोह करती है।

वह सब का स्वागत करती है। इस कारण प्रकृति की शोभा में उसको अपने प्रियतम की आभा दिखाई देती है—

"प्रकृत सुकृत फैले, भा रहा जो उन्हीं सा।"

और—

"हँसो हँसो हे शशि, फूल फूलो,
हँसो हिंडोर पर बैठ झूलो।
यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ,
झड़ी लगा दूँ, इतना पिये हूँ।"

---

[1] सिन्धु के सपूत अरु सिन्धुतनया के बन्धु,
आकर - पियूष औ प्रभा के समुदाई के,
कहै पदमाकर गिरीस के चढ़े हो सीस,
ओषधि के नाथ कुल-कारन कन्हाई के।
ह्वै के सुधाधाम काम विष को बगारै अरु,
बनिता वियोगिनी सतावत अघाई के,
ऐरे मतिमन्द चन्द! आवत न तोहि लाज,
ह्वै के द्विजराज काज करत कसाई के।

कभी वह चक्रवाक को सान्त्वना देती है, कभी कोयल को धैर्य धराती है, कभी लता को अवसर से लाभ उठाने के लिए प्रेरित करती है, कभी कली को शिक्षा का पाठ पढ़ाती है। मकड़ी और मक्खी भी उसकी सहानुभूति से वंचित नहीं। अपने रुदन से वह एक पत्ता भी सूखा नहीं रहने देना चाहती और उसे सरस बनाने के लिए अंचल पसार लेती है। अपनी वेदना का भी वह स्वागत करती है, और उसमें प्रियतम की स्मृति की मिठास पाती है—

"प्रियतम के गौरव ने लघुता दी है मुझे, रहें दिन भारी,
सखि, इस कटुता में भी मधुर स्मृति की मिठास, मैं बलिहारी।"

यदि मानव-स्वभाववश कभी क्षणिक भोग की लालसा उत्पन्न होती है, तो वह दूसरे ही क्षण मनसिज को अपने आत्म-विश्वास के बल पर चुनौती देती है—

"मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो,
होकर मधु के मीत मदन पटु तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर बिन्दु यह—यह हरनेत्र निहारो!
रूपदर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो;
लो यह मेरी चरण-धूलि, उस रति के सिर पर धारो।"

यदि इतने पर भी वह विषादिनी निर्वासन पायगी, तो कहाँ जायगी? वह तो यही कहती है कि 'साकेत' में रहने का उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह बना रहे—

"डूब बची लक्ष्मी पानी में, सती आग में पैठ,
जिये उर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।"

वह सहना चाहती है। दुःख की तो बात ही क्या, उसके पिता ने सुख के विषय में भी उसे यही उपदेश दिया था— 'सुख को भी सहनीय जानियो।' पहले उसे एक कामना भी थी। अपने बनगामी स्वामी से वह इतना चाहती थी—

"आराध्य युग्मके सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर,
तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।"

परन्तु अपने स्वामी को स्मृतिजन्य वेदना से बचाने के लिए वह उस चाह को भी छोड़ देती है, और कहती है— 'मुझे भूलकर ही त्रिभुवन में बिचरें मेरे नाथ।'—'परन्तु मुझे न भूले उनका ध्यान।' 'साकेत' के एक कोने में बैठकर इतनी-सी प्रार्थना करने का स्थान भी क्या उसे दुर्लभ होगा? वह रोती है, परन्तु आप की किसी मर्यादा का भंग तो नहीं करती। जिस प्रियतम के लिए वह रोती है, उसके लिए स्वयं उसी को जाने देती है। सीता से जैसी शिक्षा उसने पाई है, वैसी ही गुरुदक्षिणा भी उन्हें चुकाई है। मेरी तो यह भावना है कि यदि स्वर्ग में भगवान की करुणा के लिए स्थान है, तो 'साकेत' में उर्मिला के विषाद के लिए भी वह निश्चित है।

प्रभु को वन में छोड़कर उसके स्वामी स्वप्न में भी यदि उसके पास आ जाते हैं, तो भी वह 'जाओ' कह-कर उन्हें वहीं लौटा देती है। राधा की प्रेम-पीड़ा और सीता की मर्यादा का भार वह वहन करती है। फिर भी कभी-कभी रोकर वह अपना जी हल्का न करे तो क्या करे, उसे जीना जो है। और, रोना तो उसे इतना रुचिकर हो गया है कि अन्त में भी वह यही कहती है—

"विरह रुदन में गया, मिलन में भी मैं रोऊँ ;
मुझे और कुछ नहीं चाहिए, पद-रज धोऊँ।"

मैंने तो रज धोनेवाली समझकर ही कुछ बूंदें उसके रुदन से संग्रह की हैं। मैं तो उसे यही कहते सुनता हूँ कि राम के साथ वन न जाकर यदि——

"रहते घर नाथ तो निरा
कहती स्त्रैण उन्हें यही गिरा।"

एवं सैनिकों को संबोधन करते हुए शत्रुघ्न के समीप उसे इस प्रकार पहुँचते देखता हूँ——

"प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी।"

वह सैनिकों को लंका के सोने की लूट से रोकने के लिए ही वहाँ पहुँचती है——

"सावधान ! वह अधम धान्य–सा धन मत छूना,
तुम्हें तुम्हारी मातृभूमि ही देगी दूना।"

घायलों की सेवा के लिए वह लंका के युद्ध में भी जाना चाहती है ; परन्तु रोये बिना मानो वह रह नहीं सकती। इसलिए वहाँ भी वह अपने रोने की सुविधा कर लेती है और वह भी गाने के बीच में——

"गा अपनों की विजय, परों पर रोऊँगी मैं।"

बापू, मैंने आनन्द से अधिक मानकर ही वह विषाद लिया है। आप चाहें तो इसे मानव-स्वभाव की एक विलक्षणता समझ कर ही 'साकेत' में इसके लिए स्थान रहने दें। यदि यह उर्मिला के कर्तव्य में बाधक न होकर साधक ही सिद्ध हो, तो उसे इस पर अभिमान कर लेने दीजिए। अपने प्रियतम की हास्य की अपेक्षा भी वह उसे अधिक मानती है——

"सखे, जाओ तुम हँसकर भूल,
रहूँ मैं सुध करके रोती।
तुम्हारे हँसने में हैं फूल,
हमारे रोने में मोती।"

रोना उसने स्वयं स्वीकार किया है। उसे कुछ देर के लिए तब वह छोड़ती है, जब साधारणतः रोना चाहिए ! जिस दिन लंका में उसके स्वामी को शक्ति लगती है, उस दिन वह रोना छोड़ देती है। उसके विषय में भरत से माण्डवी कहती है——

"किन्तु बहन के बहने वाले आँसू भी सूखे हैं आज,
वरुनी के वरुणालय भी वे अलकों-से रूखे हैं आज।"

फिर भी उसके विषाद अथवा रुदन से किसी की वीरता की हानि हो, तो क्या इसका दायित्व उसी पर है ?

रही भक्ति की बात, सो इसका भार भक्तों पर है। वह तो केवल अपनी भक्ति के विषय में कह सकती है, और उसे तो अपने रूप और गुण की अपेक्षा भी अपनी भक्ति का ही अधिक विश्वास है। एक आत्मा अपने परमात्मा में लीन होना चाहती है और कहती है——

"दयित देखते देव भक्ति को,
निरखते नहीं नाथ, व्यक्तिको।"

हाँ, उसकी बहिन माण्डवी, जो उसकी और अपने स्वामी की तपस्या नित्य देख रही है, अवश्य कहती है——

"दैव——अभागा दैव, हमारा कर क्या लेगा,
श्रद्धांजलि चिरकाल भुवन भर भर-भर देगा।"

ग्रौर कुछ न सही, उर्मिला ग्रापके वात्सल्य की ग्रधिकारिणी तो ग्रवश्य है। जनक के समान निष्ठा रखनेवालों के प्रति उसका ऐसा ग्रधिकार, उसके ग्रौर स्वयं उनके, दोनों ही के लिए ग्रनुचित नहीं। हमारे सम्प्रदाय में ऐसे भावुक भी सुने गये हैं, जो हमारे प्रभु को प्रणाम न करके ग्राशीर्वाद दिया करते थे, ग्रौर ऐसे भी,जो बेटी के यहाँ भोजन न करने की भावना से ग्रयोध्या में पानी भी नहीं पीते थे।

मानस जैसे ग्रनुपम धर्मग्रन्थवाली वस्तु ग्रापने 'साकेत' में देखनी चाही थी, इसलिए कुछ भंग होना ठीक ही है। परन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि मैंने बापूकी रस-विनोदमयी मार्मिक मनोवृत्ति देखी है, ग्रौर मैंने टाल्सटाय को रोमियो-जूलियट की भेंट नहीं भेजी।

'साकेत' में मैंने, कालिदास की प्रेरणा से, उस प्रेम की एक झलक देखने की चेष्टा की है, जो भोग से ग्रारम्भ होकर, वियोग झेलता हुग्रा, योग में परिणत हो जाता है। प्रथम सर्ग में उर्मिला ग्रौर लक्ष्मण का प्रेम भोगजन्य किंवा कामजन्य है। उसी को योगजन्य ग्रथवा रामजन्य देखने के उद्योग में 'साकेत' की सार्थकता है। लक्ष्मण ने ग्रपने प्रेम को तप की ग्रग्नि में तपाकर शुद्ध किया है, जैसा चित्रकूट में वे उर्मिला से कहते हैं—

"वन में तनिक तपस्या करके,
बनने दो मुझको निज योग्य,
भाभी की भगिनी तुम मेरे
ग्रर्थ नहीं केवल उपभोग्य।"

वे सफल हुए हैं ग्रौर ग्रन्त में उर्मिला से कह सके हैं—

"ग्राँखों में ही रही ग्रभी तक तुम थीं मानों,
ग्रन्तस्तल में ग्राज ग्रचल निज ग्रासन जानों,
जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप कामी,
कह सकती हो ग्राज उसे तुम ग्रपना स्वामी।"

इसी प्रकार ऊर्मिला ने ग्रपने प्रेम को वियोग के पानी से धो-धोकर उसका मैल छुड़ाया है, ग्रौर ग्रन्त में वह बिना साज-सिंगार किए ग्रपने स्वामी के सामने ग्रा गई है। वह सखी के शृंगारानुरोध का प्रत्याख्यान करके कहती है—

"नहीं-नहीं, प्राणेश मुझी से छले न जावें,
जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।
शूर्पणखा मैं नहीं, हाय! तू तो रोती है,
ग्ररी, हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है।"

इतने पर भी ग्रापको उर्मिला का रुदन ग्रसहनीय हो तो उसे मैं ग्रापके पास भेजे देता हूँ। गुरुजनोंके सामने वह किसी प्रकार ग्रपने रुदन को रोक लेगी, परन्तु उसे भय है कि उसकी दशा पर विचार करके ग्राप स्वयं ही व्यथित न हो उठें। क्योंकि प्रसंग-विशेष में ग्राप चाहे वज्रादपि कठोर बन जायँ, परन्तु स्वभाव से कुसुमादपि मृदु ही हैं। कालिदास ने कहा है—

"उष्णत्वमग्न्या तपसम्प्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य।"

इसी भय से उर्मिला ग्रपनों से बचती रहती है—

"रोती हैं ग्रौर दूनी, निरख कर मुझे
दीन-सी तीन सासें,
होते हैं देवर श्री नत हत बहनें
छोड़ती हैं उसासें।

आली, तू ही बता दे, इस विजन बिना
मैं कहाँ आज जाऊँ,
दीन हीना अधीना, ठहर कर जहाँ
शान्ति दूँ और पाऊँ।"

यदि आप उसे किसी काम में लगा दें, तो कदाचित् वह कुछ भूली रहे। वह भी यह चाहती है—

"मैं निज ललित कलाएँ भूल न जाऊँ वियोग-वेदन में,
सखि, पुरबाला-शाला खुलवा दे क्यों न उपवन में।"

वह तो आपके लिए बकरी का दूध भी लाना चाहती है, परन्तु डरती है कि उसमें कभी पानी मिला देखकर आप यह न कह दें कि छोड़ा मैंने बकरी का दूध भी। पानी, हाँ, आँखों का पानी। बहुत रोकने पर भी एक-आध बार वह टपक पड़ा तो बापू दूध से भी गए, फिर चाहे उनके हाथ-पैरों में भ्रान्तिका संचार ही क्यों न होने लगे। वह कहती है—

"बनाती रसोई, सभी को खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोना सलोना।"

यह न समझिये कि वह कातना-बुनना नहीं जानती, उसकी बड़ी बहन चित्रकूट में कोल-किरात-भिल्ल-बालाओं से कहती है—

"तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ, हम कातें-बुनें गान की लय में।"

परन्तु इस परिस्थिति में कदाचित् उसे रहंटा देना आप उचित न समझें, क्योंकि किसी दिन अन्यमनस्क होकर उसने अपने हाथ में उसका तकुवा लगा लिया तो और भी विपत्ति है। ड्रेसिंग के लिए डाक्टरों को न जाने कितनी फीस देनी पड़ेगी। आप जैसे कौड़ी-कौड़ी का लेखा लगानेवाले 'लोभी'[1] के लिए यह सुविधाजनक न होगा। तकुवे के बदले यदि आप उसे तूली दें, तो उसका उपयोग वह अवश्य करेगी। उसने कई चित्र बनाये भी हैं, एक नाम है, 'दग्धवर्तिका' पसन्द है?

प्रसंगानुसार यह भी कह देना चाहता हूँ कि एक बार मैंने उसे आप की बात का विरोध करते भी देखा है। जिन दिनों आप चिरगाँव आ रहे थे, उन्हीं दिनों किसी सभा में बहुत से फूल लाये गये देखकर, उनके तोड़े जाने पर आपकी विरक्ति की बात सुनी गई थी। किन्तु उर्मिला कह रही थी—

"छोड़ छोड़, फूल मत तोड़ आली, देख मेरा
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हलाये हैं,
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है,
दुःखिनी लताके लाल आँसुओं से छाये हैं।
किन्तु नहीं, चुन ले सहर्ष खिले फूल सब,
रूप गुण गन्ध से जो तेरे मन भाये हैं,
जाये नहीं लाल लतिका ने झड़ने के लिए,
गौरव के संग चढ़ने के लिए जाये हैं।"

---

[1] गाँधी जी अपने १९२९ के दौरे में जब २३ नवम्बर को चिरगाँव पधारे थे, तब उन्होंने अपने भाषणमें कहा था कि यद्यपि समय नहीं था, किन्तु मैंने अपना प्रोग्राम बनानेवालों से कहा था कि इस दौरे में मुझे चिरगाँव जाना ही होगा। मेरे लिए यहाँ दो-दो प्रलोभन थे। एक तो यहाँ मैथिलीशरण जी रहते हैं; दूसरे वे जानते हैं कि मैं लोभी हूँ, इसलिए उन्होंने मुझे पैसे का लोभ भी दिया।

परन्तु मैं समझता हूँ, इस अपराध के लिए 'साकेत' में आप उस विषादिनी को स्थान देने में कृपणता न करेंगे, संभवतः उसकी ठोड़ी पकड़ कर 'पगली !' कहते हुए हँस जायँगे। सचमुच यदि आप उसे पगली कह दें, तो फिर क्या पूछना ? यही तो वह चाहती है—

"स्वजनि, पागल भी यदि हो सकूं,
कुशल तो अपनापन खो सकूं।"

यह अपनापन—यह अहंभाव—ही तो वह छोड़ना चाहती है, प्रियमयी होकर। परन्तु सखी उसे अपने आपे में ले जाती है और तब वह कहती है—

"उन्मादिनी कभी थी, विवेकिनी उर्मिला हुई सखि, अब है,
अज्ञान भला, जिसमें सोहं तो क्या, स्वयं अहं भी कब है।"

इस अज्ञान की प्राप्ति के लिए आप उसे आशीर्वाद देंगे या नहीं, यह आप ही जानें।

उसके विषाद के विषय में लक्ष्मण का कहना है—

"पाप रहित सन्ताप जहाँ,
आत्म-शुद्धि हो आप वहाँ।"

मानो इसी भावसे अनुप्राणित होकर उर्मिला कहती है—

"सुख शान्ति नहीं, न हो मुझे,
तुम संतोष, बने रहो मुझे।"

मैं नहीं कह सकता, आपकी संस्कृति की रक्षा करने में वह कहाँ तक समर्थ हुई है ; परन्तु उसने प्रयत्न अवश्य किया है, यह कहने में मुझे कोई बाधा नहीं जान पड़ती।

मैं तो उसके विषाद की हलचल को और भी बढ़ाने की इच्छा रखता था ; परन्तु आगे उसमें और भाग न लेने के नियम पर ही आप मुझे निष्कृति दे दें, तो भी मैं समझूंगा कि मेरा आवेदन स्वीकृत हो गया। और कहीं उस विषाद को आप भाषा की दृष्टि से सुन्दर मानने के साथ भाव की दृष्टि भी असुन्दर न समझें, तो फिर आप का निर्णय मेरे पक्ष में है।

जो हो, आप के युग में उर्मिला का स्थान बने रहने के लिए मुझे आप से समझौता करना ही पड़ेगा। इसी लिए तो मैंने आप को इतना कष्ट दिया है, और इसीलिए पुस्तक लिखते और छपते समय भी यथाशक्ति मैंने आप का कितना ध्यान रखा है, उसके कहने की आवश्यकता नहीं। अब भी मैं नम्रतापूर्वक कहता हूँ कि आपका कष्ट व्यर्थ नहीं गया, क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप मेरे प्रभु के कितने निकट हैं। आपने मेरी प्रार्थना मानली और 'साकेत' के दूसरे संस्करण के लिए उसकी त्रुटियों की उपेक्षा नहीं थी, इसके लिए मैं नहीं जानता, किस प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ। मधुर तो मुझे बहुत मिला है और अब भी मिल रहा है ; किन्तु आप से मैं जिस कल्याणकारी कटु की कामना रखता था, उसके साथ आप ने मुझे मधुर भी दिया है। उसे भी मैं सिर झुकाकर ग्रहण करता हूँ। मेरे पद्य आप को बहुत प्रिय लगे, इससे अधिक उनको और क्या सफलता मिल सकती है, एवं जैसा परशुरामजी के पत्र से ज्ञात हुआ, आपने 'अनघ' और 'साकेत' को आश्रम में पढ़ाने की आज्ञा दी है, इससे अधिक आप भी उन्हें क्या दे सकते थे।

कष्ट के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। आशा है, आप सकुशल हैं। मैंने सुन्दर लिपि-विषयक आप के विचार लज्जापूर्वक पढ़े थे। आज मेरी वह लज्जा और भी बढ़ गई थी, और विवश होकर मैंने टाइपराइटर का आश्रय भी ले लिया था, तब तक अजमेरी बाहर से आ गये। उन्होंने कहा, यह पत्र तो मैं अपने हाथ से लिखकर बापू की सेवा में भेजूंगा, और प्रतिलिपि प्रस्तुत कर दी।

अजमेरी का प्रणाम।

विनीत,
मैथिलीशरण

यरवड़ा मंदिर,
२३-४-३२

भाई मैथिलीशरणजी,

आपका पत्र मिल गया। यह पत्र पत्र नहीं है, परन्तु काव्य है। आपने मुझको हरा दिया है। मैं आपकी बात समझ गया हूँ और उस दृष्टि से उर्मिला के विलाप को स्थान है। बात यह है कि मुझको कुछ भी कहने का अधिकार नहीं था। हमारे शास्त्रों का मेरा अभ्यास यत्किंचित् है, साहित्य का उससे भी कम, भाषा का ज्ञान वैसा ही। यह सब अपनी त्रुटियों को जानते हुए मैंने जो असर मेरे दिल पर हुआ आपको बता दिया। मित्र वर्ग मेरी अपूर्णता जानते हैं। तौ भी क्योंकि मैं सत्यका पुजारी हूँ, मेरा अभिप्राय कैसी भी हो चाहते हैं। ऐसे प्रेमके वश होकर मैंने आपको अभिप्राय भेज दिया था। इसके उत्तर में आपके सुन्दर पत्र की, काव्य की, प्रतीक्षा कभी नहीं कर सकता था। इसे मैं रखुंगा, दुबारा पढुंगा। और अब आपने जो दृष्टि दी है उस दृष्टि से 'साकेत' फिर पढ़ना होगा। मुश्किल यह है कि अगरचे आपकी भाषा बहुत आसान है तो भी हिन्दीका मेरा ज्ञान अल्प होनेके कारण कहीं-कहीं समझने में कठिनता आती है। और हिन्दीका ज्ञान भी मेरा बहुत परिमित है, यह भी कठिनाइ का कारण होता है। हिन्दी में ऐसा कोइ शब्द कोष है क्या, जिसमें से 'साकेत' आदि ग्रन्थके प्रत्येक कठिन शब्दका अर्थ मिल सके ? मैं जानता हूँ कि अधिक परिश्रम से बहुत सी चीज तो ऐसे ही समझ लुंगा।

अजमेरीजी को मेरे बन्देमातरम्। उनके भजनों का मुझे खूब स्मरण है। ईश्वर कृपा होगी तो दुबारा किसी दिन सुनुंगां।

हाँ, 'साकेत' और 'अनघ' दोनों आश्रम में पढ़ाने का मैंने परसराम को लिखा था। सम्भव है उसका आरम्भ भी हो गया हो।

आपका,
मोहन दास

मैथिलीशरण-काव्य-दर्शन

श्रीराम

क्यों कर हो मेरे मन-मानिक की रक्षा ओह!
मार्ग के लुटेरे काम क्रोध मद लोभ मोह।
किन्तु मैं बढ़ूँगा राम,
लेकर तुम्हारा नाम,
रक्खो बस तात, तुम थोड़ी क्षमा थोड़ा छोह।

श्रीराम

जय देवमन्दिर देहली
समभाव से जिस पर चली
नृप-हेम-मुद्रा और रंक-वराटिका।
मुनि सत्य-सौरभ की कली
कवि कल्पना जिसमें बली
फूले फले साहित्य की वह वाटिका

—मैथिलीशरण गुप्त

एकाराधननिष्ठ मैथिलीशरण गुप्त

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

★ ★

आज, जब मैं पूज्य दद्दा के गंभीर, चिन्तनशील, व्यथारेखामंडित, सरल, शान्त मुखमण्डल को निहारता हूँ तो, मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं अतीत के जीवित, जागृत, सक्रिय, आराधनानिष्ठ, अभिनव संस्करण के दर्शन कर रहा हूँ। चार दशाब्दियाँ बीत चुकी हैं, जब मैंने सर्वप्रथम, किंचित् दूर से, उनके दर्शन किए थे। सन् १६१६ का वर्ष, लखनऊ-कांग्रेस-अधिवेशन, दिसम्बर मास, जाड़े की संध्या, कांग्रेस-मण्डल के बाहर का एक शिविर—पुण्यश्लोक गणेशशंकर विद्यार्थी, स्व० बंधुवर शिवनारायण मिश्र, राय कृष्णदास जी, दद्दा और कुछ अन्य जन। दद्दा लाल पाग बांधे थे। मैं और पूज्य दादा (पंडित माखनलाल चतुर्वेदी) उस शिविर की ओर बढ़े जा रहे थे, जहाँ उपर्युक्त मंडली थी। माखनलाल जी ने भी सर्वप्रथम लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर ही दद्दा के दर्शन किए। जब माखनलाल जी से दद्दा का परिचय कराया गया, तो माखनलाल जी ने उनके चरण छुए। दद्दा ने स्नेह से उन्हें हृदय से लगा लिया। मैं दूर खड़ा था। जब माखनलाल जी लौट कर मेरे पास आए तो, उन्होंने भरे हृदय और भारी कंठ से, मुझसे कहा, "आज मैंने अपने गुरु बाबू मैथिलीशरण गुप्त के चरणस्पर्श किए।"

मैं अवाक्। अरे, क्या वे लाल पगिया वाले ही गुप्त जी हैं? और, तब मैंने एक लाल-बुझक्कड़ी अटकल लगाई। मैंने माखनलाल जी से कहा, "महाशय, यदि गुप्त जी आपके गुरु हैं, तो फिर आप निश्चय ही 'एक भारतीय आत्मा' हैं।" माखनलाल जी मेरे मुख की ओर देखते रहे। बोले, "एँ-एँ—यह तुमसे किसने कहा?" बात यह थी, कि उन दिनों पूज्य दादा 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से कविता लिखा करते थे। पर, उनका नाम किसी को ज्ञात नहीं था। सो, अस्मदादि पंडित बालकृष्ण शर्मा ने यह तीर छोड़ दिया। दादा बिचारे! न निगलते बने, न उगलते। बोले, "तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ कि मैं 'एक भारतीय आत्मा' हूँ?" मैंने कहा, "देखिए, दो और दो चार होते हैं न?" वे बोले, "पहेली मत बुझाओ, ठीक-ठीक बताओ।" मैंने कहा, "बात यों है कि मैं आपकी 'प्रभा' का ग्राहक हूँ। मैंने दो मास पूर्व की 'प्रभा' में एक कविता 'एक भारतीय आत्मा' की पढ़ी थी। वह कविता श्री मैथिलीशरण गुप्त पर थी। उसमें गुप्त जी का स्मरण गुरु-रूप में किया गया था। सो, आज मैंने यदि कविता के लेखक को गुरु-चरणों में नमित होते जान लिया तो क्या बड़ा तीर मारा?" पूज्य माखनलाल जी बोले, "तुम बड़े विचित्र हो!" वार्त्तालाप मेरे और माखनलाल जी के बीच, कुछ इसी तरह का हुआ था। चालीस वर्ष उस बात को हो गए।

तो जिन दद्दा के दर्शन मैंने आज से प्रायः चालीस वर्ष पूर्व किए थे, वे इस समय एक अश्वत्थ के सदृश, हम सब पर अपनी छाया किए हुए, ऊर्ध्व-शिर और उन्मुख रूप में हमारे बीच विराजमान हैं। मैंने दद्दा को 'अतीत का जागरूक अभिनव संस्करण' कहा है। जागरूक अतीत हमारे बीच है, यह हमारा परम सौभाग्य है। अतीत का सुप्त अंश सड़ जाता है। वह कलियुग-पूर्ण होता है। 'कलिःशयानो भवति', उसमें गति नहीं होती। उसमें तो केवल मात्र निद्रा की धड़कन भर ही होती है। निर्गतिमय वह अतीत मानव के चरणों को निगड-बद्ध और हस्तों को पाशबद्ध कर देता है। ऐसे अतीत के अभाव से मानव की कर्मठता विलुप्त हो जाती है। मानव के हाथों के सम्बन्ध में ऋषि-वचन हैं: अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः—यह मेरा हाथ भगवान है। यह मेरा (हाथ) भगवत्तर है। मानव के हाथों की यह महिमा बड़ी गरीयसी है। यह संदेश स्वावलम्बन, निरलस कर्म और चिरन्तन उद्यम की प्रेरणा देने वाला है। हाथों को 'कोई परिपाटी न बाँधे, कोई अतीत उन्हें लुञ्ज न बनावे' यह उस मंत्र का संदेश है। जो अतीत जागरूक नहीं, वह प्रगति-नाशक है। मेरे मतानुसार मैथिलीशरण गुप्त हमारे अतीत के जागरूक, गतिमान्, कर्मठ स्वरूप हैं।

आप पूछ सकते हैं कि अन्ततः अतीत की आवश्यकता ही क्या है ? अतीत की ओर अभिमुख क्यों हुआ जाय ? हम वर्तमान में हैं। हमारी समस्याएँ वर्तमान के ऊपर आधारित हैं। उनके सुलझाने में अतीत हमारी क्या सहायता कर सकता है ? क्यों न हम अतीत से बहिर्मुख होकर भविष्य-अभिमुख हो जाएँ ? यह मत समझिए कि मैं ये प्रश्न यों ही, अकारण, उठा रहा हूँ। हमारे यहां और बाहर भी विचारकों में ऐसे कुछ जन हैं जिन्होंने ऐसे प्रश्न उठाए हैं ! आज भी ऐसे प्रश्न उठ रहे हैं।

यह सोचना तो ठीक ही है कि हम वर्तमान में हैं और हमारी समस्याएँ वर्तमान से बहुत अधिक सम्बद्ध हैं। पर प्रश्न यह है कि 'हम' क्या हैं ? वर्तमान में स्थित होने के कारण क्या 'हम' केवल वर्तमान के ही हैं ? विचारिए। जो 'हम' हैं, वह तो अतीत का ही समुच्चय है। हमारा शरीर, हमारी भाषा, हमारे वंशपरम्परागत गुण-अवगुण, हमारा सहजात ज्ञान, हमारा वेश, हमारी भूषा, हमारे संस्कार, हमारी मनोवृत्ति, सभी तो अतीत-आगत हैं। तब फिर, हम अतीत से कैसे मुक्त हो सकते हैं ? और, अतीत से छुटकारा पाने का प्रयास न केवल व्यर्थ, किन्तु घातक भी, है। कोई जाति, कोई व्यक्ति, कोई समाज, जिसकी जड़ें अतीत के गर्भ में नहीं हैं, एक क्षण भी तो संसार में टिक नहीं सकता। ऐसे किसी समाज की कल्पना भी तो नहीं हो सकती जो अतीत-संस्कार-शून्य हो। अतः हमें यह समझ लेना चाहिए कि मानव समाज अतीत-आधारित ही है और विगत से उसे उच्छिन्न नहीं किया जा सकता। बिना अतीत-आधार के मानव-प्रगति असंभव है।

मैथिलीशरण गुप्त का जीवन और उनका काव्य-आराधन प्रेरणादायक, अभिनव, शाश्वत मूल्य युक्त अतीत का प्रतीक है। इतना ही नहीं, वे मानव के शुद्ध, स्थायी, उदात्त भावों के गायक हैं। भारतीय इतिहास की घटनाओं पर उनके जो काव्य आधारित हैं, वे प्रायः व्यक्ति या जाति के बलिदान-प्रकरणों का चित्र बड़े ही हृदयग्राही रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं। उनके द्वारा चित्रित सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन के चित्र मर्मस्पर्शी, यथार्थ, आदर्शरंजित और आकर्षक होते हैं। उनके गीत मानव-हृदय के शाश्वत, ऋजु और उच्च भावों के उन्नायक हैं। उनकी वर्णन-सामर्थ्य ऊँची कोटि की है। उनकी महाकाव्य-लेखन-सामर्थ्य अद्भुत है। सामाजिक जीवन की झाँकियां उनके काव्य में प्रायः मिलती हैं। उन झाँकियों में आदर्श-मिश्रित यथार्थ—ऐसा यथार्थ आदर्श, जो ग्राह्य एवं कल्याणकर है, हमें मिलता है।

मैथिलीशरण जी के महाकाव्यों के सम्बन्ध में मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि आज के युग में हिन्दी में जो प्राणायाम-साधना और जो समाधि-स्थिति उनके महाकाव्यों—'साकेत' और 'जयभारत', में मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वे महेष्वास और महाश्वास कवि के रूप में इन महाकाव्यों में प्रकट हुए हैं। पुरातन कथाओं को महाकाव्यों में आबद्ध करना और इस प्रकार आबद्ध करना कि उनमें नवीनता आ जाय, कोई सरल काम नहीं है। राम, लक्ष्मण, सीता, ऊर्मिला, भरत, माण्डवी, कौशल्या, कैकेयी, ये सब पुराणपात्र हैं। भारतीय कवि-परम्परा ने अनेक बार इन पात्रों का स्मरण किया है। मैथिलीशरण जी ने भी हमें इन सब महा-मानव स्त्री-पुरुषों के पुनर्दर्शन कराए हैं। पाठक यदि ग्रन्थि-शून्य हृदय से 'साकेत' का पाठ करेंगे, तो उन्हें विश्वास हो जायगा कि मैथिलीशरण के सब पात्र वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी के पात्रों से भिन्न हैं। कविवर मैथिलीशरण के राम अतिमानव, अवतारी पुरुष होते हुए भी अत्यधिक संवेदनशील, सहानुभूति-पूर्ण, सुसंस्कृत, स्नेहागार और जाने पहचाने मानव के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। उसी प्रकार माता कौशल्या और माता कैकेयी भी उदात्त नारी रूप में प्रकट होती हैं।

और ऊर्मिला ? उनकी तो बात ही और है। ऊर्मिला गुप्त जी की अमर देन है, जिसके लिए सहृदय जन उनके सदा ऋणी और चिरकृतज्ञ रहेंगे। इसी प्रकार 'जय भारत' में महाभारत के पात्र भी अपनी नवीनता लिए हुए हमारे सम्मुख आते हैं। यदि मैं अपनी इन मान्यताओं के सम्बन्ध में उदाहरणों का आश्रय लूं, तो लेख का कलेवर बढ़ जायगा। पाठक यदि मेरी बातें सम्मुख रखकर 'जय भारत' और 'साकेत' पढ़ेंगे, तो उन्हें पद-पद पर मेरे विचारों का समर्थन मिलेगा। इन दोनों काव्यग्रन्थों में अनेक

स्थल ऐसे हैं, जहाँ गुप्त जी ने हमारे पुराने जाने-पहचाने पात्रों को आज के ऊँचे मानवादर्शों के प्रतीक-रूप में प्रस्तुत किया है।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि गुप्त जी हमारे अतीत के प्रतीक हैं, फिर भी वे अन्ध परिपाटी के पूजक नहीं है। भारतीय विचार ने अपनी धारणाओं और मान्यताओं में जो परिवर्तन किया है, विवेकानन्द, दयानन्द, गाँधी, विनोबा और राधाकृष्णन् ने पुरातन का नवीन युगधर्मानुकूल जो विवेचन किया है, उसका समन्वय हम मैथिलीशरण गुप्त की अभिव्यक्ति में देख सकते हैं। आज की धर्मधारणा औपचारिकता में आबद्ध नहीं है। मैथिलीशरण का अतीत प्रेम भी औपचारिकता की सीमा में आबद्ध नहीं है। उनके युगधर्म में सनातनता, शाश्वतता, चिरन्तनता और 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति' ऐसी रमणीय नूतनता है। उनको केवल हिन्दू-संस्कार-प्रेरित अथवा साम्प्रदायिक कवि मानना भी ठीक नहीं है। उनमें एक विशेष प्रकार की सार्वलौकिकता है। मेरा यह मन्तव्य उनकी 'काबा और कर्बला', 'अर्जन और विसर्जन', 'गुरु तेग बहादुर', 'कुणाल गीत', 'गुरुकुल' आदि काव्यकृतियों के अवलोकन से स्पष्ट होता है।

मैथिलीशरण जी में एक बड़ी विशेषता यह है कि वे स्वयं को काल-प्रवाह में, विवश मानव के सदृश, बहने तो नहीं देते, किन्तु काल-प्रभाव को ग्रहण करने की सामर्थ्य उनमें सदा रही है और वे उसी प्रभाव को सदा स्वीकार करते रहे हैं। यह उनकी सजगता का, सचेष्टता का, प्रमाण है। निश्चय ही वे प्रबन्धकाव्य के सामर्थ्यवान् कवि हैं। परन्तु हिन्दी में जो गीति-काव्य का प्रवाह आया, उसमें भी वे पैठे और एक समर्थ, कुशल तैराक के रूप में हमारे सम्मुख आए। 'मंगल घट', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'झंकार' आदि ग्रन्थों में जो उनके गीत हैं और 'साकेत' में ऊर्मिला के जो आत्म-निवेदनात्मक पद हैं, वे सब इस बात के प्रमाण है कि गुप्त जी मर्मस्पर्शी, झंकृत कर देने वाले, हृदयग्राही और गहरे अनुभूतिपूर्ण गीतों के सफल रचयिता हैं। पाठक यदि उनके गीतों को पढ़ेंगे तो वे आनन्दविभोर हुए बिना नहीं रहेंगे। 'द्वापर' में ग्वालवालों का गीत है—'बलिहारी, बलिहारी जय-जय गिरधारी गोपाल की—हम हैं हाथी घोड़े उसके, यमुना उसकी पालकी।' इस गीत को पढ़िए और मैं आपको चुनौती देता हूँ, यदि आप उफन न जाएँ। 'झंकार' के गीतों में भी हृदय को मन्थन कर डालने की वही अनूठी शक्ति है। और 'यशोधरा' तथा 'साकेत' के गीतों का क्या कहना? वेदना, व्यथा, संयम, गहन अनुभूति, उदात्त विचार, तत्त्वविवेचन, उन गीतों में ये सब बातें पाठकों को मिलेंगी। मैथिलीशरण जी जहाँ एक ओर मानव-कथाओं की सर्जना सफलतापूर्वक करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे गीतों के भी पूर्ण सफल सिद्ध गायक हैं।

मैथिलीशरण जी को हिन्दी भाषा-भाषी जनसमाज ने कृतज्ञतापूर्वक 'राष्ट्रकवि' की पदवी से विभूषित किया है। यह सम्मान उनकी जीवन-साधना के सर्वथा अनुकूल है। वे हमारे उद्‌बोधन-काल के कवि हैं। हमारे जीवन में—अर्थात् हमारे राष्ट्रीय, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में, एक काल ऐसा था जो ग्लानिमय, आत्मदीनतापूरित, हीनतापूर्ण और नैराश्यमंडित था। उस समय हम सब जैसे अपना स्वरूप ही भुला चुके थे। हमारा गौरव भूलुंठित और हमारा आत्म-सम्मान-भाव मरणप्राय अवस्था में था। ऐसे समय मैथिलीशरण गुप्त हमारे सम्मुख 'भारत-भारती' का ओजपूर्ण संदेश लेकर आए। 'भारत-भारती' के मंगलाचरण में ही उन्होंने जो आशीर्वचनमयी शुभेच्छा प्रकट की, वह पूर्ण हुई है—

> **मानस भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती—**
> **भगवान, भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती।**
> **हो भद्रभावोद्‌भाविनी वह भारती, हे भगवते!**
> **सीतापते! सीतापते!! गीतामते! गीतामते!!**

आज हम देखते हैं, उनकी भारती भारतवर्ष भर में गूंजी और वह भद्रभावों की उद्‌भाविनी भी सिद्ध हुई। 'भारत-भारती' का मूल्यांकन हम केवल छंदशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र के आधार पर नहीं कर सकते। ऐसा करना अवास्तविकतापूर्ण होगा। यदि हम यह मान कर भी चलें कि गुप्त जी के इस ग्रन्थ में काव्यगुण

उस मात्रा में नहीं है जिस मात्रा में होने चाहिएँ, तब भी हमें यह देखना होगा कि इस ग्रन्थ का समाघात हिन्दी भाषी समाज पर कैसा हुआ ? सीधी भाषा और सरल छन्द में इस प्रभविष्णु ग्रंथ में जो कुछ कहा गया है, वह देश की दलित आत्मा को उभारने वाला है। अपने गत गौरव के प्रति अभिमान, अपने वर्तमान के प्रति ग्लानि और अपने भविष्य के प्रति उद्दाम आशा का संचार हिन्दीभाषी समाज में 'भारत-भारती' के कारण हुआ है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। इस ग्रंथ ने राष्ट्र की हीन भावना को उन्मूलित किया है। इसके द्वारा हमें आत्मस्थ, आश्वस्त और गतियुक्त होने का संदेश मिला है। इस कारण 'भारत-भारती' देश की जागरोन्मुख अमर आत्मा की पुकार है। वह अपने विगत के प्रति गर्व का और अपने भावी के प्रति अखण्ड विश्वास का संदेश है। 'भारत-भारती' एक युग का आह्वान है। इसी दृष्टि से उसका मूल्यांकन होना चाहिए। यह एक उद्बोधनात्मक काव्यग्रन्थ है। ऐसे काव्य में यत्रतत्र गद्यात्मक अंशों का होना अनिवार्य है।

उद्बोधनात्मक ऐसी अनेक कविताओं और राष्ट्रगीतों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जायगी। फ्रांस के प्रसिद्ध राष्ट्रगीत 'मार्सेया' को ही लीजिए। उसमें क्या ऐसी काव्य-कला है ?—

Soldiers of France, the Morn is breaking,
The day of glories dawns at last,
See the Tyrant's banners shaking,
As it barely streams in the blast.

* * *

To arms and hence a way,
To arms this glorious day.
March on, march on, brave sons of France
To fame and victory!

पाठक देखेंगे कि इस गीत में काव्यशास्त्र-प्रतिपादित गुणों के देखने का प्रयास अधिक फलप्रद सिद्ध न होगा। पर, यह गीत एक युगधर्म-प्रेरित आह्वान के रूप में अमर है और अमर बना रहेगा। ठीक इसी प्रकार हमारा झंडागान लीजिए। काव्य-कला और भाषा की दृष्टि से वह कोई सर्वाङ्गपूर्ण कविता नहीं है। पर उस समय की भारतीय आकांक्षा की वह एक पुकार है और इस कारण कानपुर-निवासी श्री श्यामलाल गुप्त पार्षद का 'झंडा ऊंचा रहे हमारा, विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' यह गीत भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

यों तो तत्कालीन एकाधिक कवियों ने अपने देश की दशा, अपने समाज की स्थिति, अपने गत की गौरव-गरिमा और अपने भविष्य की उज्ज्वलता के आस्था आदि भाव हृदय में आन्दोलित होते अनुभव किए ही होंगे। पर यह सब अनुभव किसी ने व्यक्त नहीं किया। उस समय के युगधर्म को सुन सकने तथा उसे अभिव्यक्ति दे सकने का गौरव तो मैथिलीशरण जी को ही मिला था। और उन्होंने हमें 'भारत-भारती' का दान देकर चिरकाल के लिए कृतज्ञ बना लिया है। इसका कारण उनका सह-अनुभूतिपूर्ण हृदय, जागरूकपन एवं सुसंस्कृत मस्तिष्क है।

देश की आत्मा के प्रत्येक कंपन को वे अनुभव करते हैं। तिलककालीन राष्ट्रीयता, गांधीकालीन मानवीयता और विनोबाकालीन अपरिग्रही सामाजिकता के प्रति वे सजग हैं। हिन्दू समाज में उठते रहनेवाले उफान को भी वे देखते, समझते, हृदयंगम करते और उन्हें अभिव्यक्ति देते रहते हैं। जहाँ जो भी सत्, उदात्त, बलिदान-प्रेरक, यज्ञमय कर्म हुआ है, उसके प्रति उनकी आस्था है।

उनके 'हिन्दू' नामक काव्यग्रन्थ में हिन्दू समाज के गौरव और उसकी पराजय का चित्र ही नहीं है, उसमें उद्बोधन की ललकार भी है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, गुप्त जी के मन और मस्तिष्क में हिन्दू जाति में उठते रहने वाले उफानों का अनुभव करने की शक्ति है। हिन्दू समाज की दुर्बलता उनसे छिपी नहीं है। यह दुर्बलता शुद्धि-आन्दोलन के दिनों में अंततोगत्वा समाज के विचारकों के सम्मुख बड़े तीव्र रूप में उपस्थित

हुई थी। उसीसे प्रभावित होकर गुप्त जी ने 'हिन्दू' की रचना की है। उसमें हिन्दू समाज की अनेक दुर्बलताओं का बड़ा सजीव और मार्मिक चित्रण है। उसमें हिन्दुओं को ललकारा भी गया है। पर, उसमें पाठकों को कहीं ओछी, संकुचित साम्प्रदायिकता और नीच मनोवृत्ति को उभारने वाली बात नहीं मिलेगी। गुप्त जी की सहज सार्वलौकिकता 'हिन्दू' काव्य के प्रति पृष्ठ से बोल रही है।

और, यह कौन नहीं जानता कि सत् और यज्ञमय कर्म के प्रति उनकी आस्था बड़ी ही दृढ़ और बलवती है। उनके 'गुरुकुल', 'यशोधरा' और 'कुणाल गीत' काव्यग्रन्थ वैदिक हिन्दूधर्म की धारा से किंचित् विलग धर्मों और उनके प्रवर्तकों के प्रति नितान्त निश्छल, भक्तिपूर्ण एवं सहज अर्घ्य-अर्पण है। 'काबा और कर्बला' में कवि ने अपनी इस सहज उदार मर्मज्ञता का परिचय विशेष रूप में दिया है। स्वयं कवि ने 'हिन्दू' के उपोद्घात में कहा है—

"लिखने की धुन कहिए अथवा महापुरुषों की ओर हृदय का आकर्षण कहिए, लेखक को अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में, न जाने, किन-किन विषयों पर लिखने की उमंग उठा करती थी। महच्चरित्र, संसार के किसी भी भू-भाग पर उद्भूत हों, वे सार्वभौमिक होते हैं। इसलिए महाराणा प्रतापसिंह, छत्रपति शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह तक ही लेखक की वह लालसा सीमित न थी। हज़रत हसन-हुसैन पर भी अपनी सह-अनुभूति प्रकट करने के लिए उसका हृदय उत्कंठित हुआ करता था।"

ये शब्द इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि गुप्त जी एक उदार, मनस्वी, गुणग्राही, मर्मज्ञ कविवर हैं।

गाँधी के विश्वैकात्मभाव से प्रेरित होकर ही—मेरा यह अनुमानमात्र है—गुप्तजी ने अपने सुप्रसिद्ध 'पृथिवीपुत्र' नामक काव्य की सृष्टि की है। उनकी इस नाम की कविता-पुस्तक में तीन कविताएँ हैं—'दिवोदास', 'जयिनी', और 'पृथिवीपुत्र'। इस समय प्रथम दो कविताएँ, 'दिवोदास' और 'जयिनी', मेरे विचार का विषय नहीं है। केवल 'पृथिवीपुत्र' के सम्बन्ध में ही मैं यहाँ कुछ कहना चाहता हूँ। 'पृथिवीपुत्र' मैथिलीशरण जी के परिपक्व, अनुभूतिभरित, विचारशील, चिन्तनसमर्थ हृदय और मस्तिष्क की कृति है। उद्दाम, उद्दण्ड, गर्वभरा, तत्त्वदृष्टि-रहित और नितान्त विचारशून्य पृथिवीपुत्र मानव अपनी माता भूमि से वार्तालाप करता है। पृथिवीपुत्र को अपनी भौतिक सिद्धियों पर गर्व है। वह आत्मश्लाघा का दास है। वह प्रकृति-विजय कर चुका है—ऐसी उसकी मिथ्या धारणा है। स्वयं माता भूमि के स्वगत कथन के अनुसार—

पुत्र-गर्व-गौरव से गरिमामयी हूँ मैं,
मेरा यह इतना विशाल क्रोड़ उसके—
एक क्रीड़ा-कूर्दन के योग्य अब है कहाँ?
जल-थल-व्योम में अबाध गति उसकी!
मंगल-निवासी बन्धुओं से भेंट करके
सारे ग्रह-लोक घूमने को वह व्यग्र है!
वाष्प और विद्युत हैं किंकर-से उसके,
उसके समक्ष खड़ी अचला-सी चंचला!
हाथ में रसायन है और सिद्धि साथ है
भौतिक विभव ऐसा देखा कब किसने?

ऐसा है मानव। ऐसा है वह पृथिवीपुत्र जिसे पाकर निश्चय ही धरती माता पुत्र-गर्व-गौरव से महिमामयी ही है।

परन्तु फिर भी मानव बच्चा है। वह दम्भी और अहम्मानी है। उसकी गति दन्द्रम्यमानाः परि-यन्तिमूढ़ाः अन्धे नैव नीय माना यथान्धाः के सदृश है। वह माँ से हुज्जत करता है—मैं यह करूँगा, मैं वह करूँगा,

मैं युद्ध करूँगा, मैं अपने वैरियों का नाश करूँगा, मैं विजय-यात्रा पर निकल रहा हूँ। विश्व-विजय की इस लालसा में मत्त मानव अणु-बम दिखला कर पृथिवी माता से कहता है—

मेरे इस कन्दुक की एक ही उछाल में
विश्व का विजय मुझे प्राप्त हुआ रक्खा है।

और पृथिवीपुत्र मानव अकड़-अकड़ कर अपनी माता भूमि से अपने विकास की कथा कहता है। पर पृथिवी उसे दबोच लेती है। वाह रे विकसित प्राणी! पृथिवी माता कहती है—

मैं तो देखती हूँ लाख-लाख गुना तुझमें—
विकसित गृध्र वही साधनों के साथ है!

प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेने का गर्व एक धक्का खाता है। क्या मानव प्रकृति-जय कर चुका? बाह्य प्रकृति के कुछ तत्त्व जाने, अवश्य। पर इस भीतर की प्रकृति का क्या? घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, लोभ, काम, मोह, मत्सर, मद—क्या ये सब विजित हुए? यदि प्रकृति अन्ततोगत्वा एक तत्त्व—विद्युत तत्त्व, अथवा इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रान, पाजिट्रान के संघात, से बनी है तो हम सब भी तो उसी के अन्तर्गत हैं न? फिर यह मानव मानव के प्रति दुर्भाव कैसा?

यदि हम वास्तविक विज्ञानी हैं और एक तत्त्व के ज्ञाता हैं तो फिर तत्र को मोहः? कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः? भूमि माता कहती है—

तुझको बड़े से बड़ा देखा चाहती हूँ मैं।
मेरे जात सारे तन्तुओं में मुख्य तू ही है,
किन्तु छोटा होकर ही कोई बड़ा होता है।
मिथ्यादर्प छोड़ने का साहस हो तुझमें,
तो व्यक्तित्व अपना समष्टि में मिला दे तू,
देश, कुल, जगत किंवा वर्ग-भेद भूल के।
जा तू, विश्व-मानव हो, सेवा कर सबकी।
भीति नहीं, प्रीति यथारीति तेरी नीति हो।
उठ, बढ़, ऊँचा चढ़, संग लिए सबको,
सबके लिए तू और तेरे लिए सब हैं।
नाश में लगी जो बुद्धि, विलसे विकास में,
गर्व करूं मैं भी निज पुत्रवती होने का।

इस प्रकार माता भूमि अपने पुत्र को समझाती है। गुप्तजी की यह कविता हिन्दीसाहित्य की ही नहीं, विश्वसाहित्य की एक मूल्यवाननिधि है। आज के बुद्धि-वैभव-मत्त मानव के लिए गुप्त जी की यह कविता, यदि मानव इस कविता के तत्त्व को स्वीकार करे तो, एक अभय कवच है।

उपनिषत्-कालीन ऋषियों से लेकर आज के ऋषि गांधी, विनोबा तक सब सन्त-महात्माओं ने मानव को यही संदेश दिया है। पर, क्या हुआ? लोग कहते हैं कि मानव इन सब अनुभव-सिद्ध वचनों को सुनकर भी, आज वैसा का वैसा ही उपमानव, गुहा-मानव, हिंस्रवृत्ति मानव बना हुआ है, जैसा वह पूर्व काल में था। इस कारण, लोग यह भी कहते हैं कि मानव की भावी प्रगति की—अर्थात् नैतिक स्तर पर प्रगति कर सकने की, आशा निराशामात्र ही सिद्ध होगी। मैथिलीशरण गुप्त इस प्रकार के निराशावादी नहीं हैं। वे इस द्विभुज, द्विपादनर के नारायण तत्व को गांधी में, विनोबा में, भारतीय संत-परंपरा में, भारतीय अवतारी पुरुषोत्तमों में विकसित होते देख चुके हैं। इसीलिए 'पृथिवीपुत्र' का अन्त माता पृथिवी की परम आशापूर्ण, आशीर्वादमयी,

आस्थाभरित विधि-वाणी में होता है—नाश में लगी जो बुद्धि, विलसे विकास में, गर्व करूँ मैं भी निज पुत्रवती होने का।

मैथिलीशरण जी के हृदय की अडिग आस्था और ध्रुव विश्वास मानव की ऊर्ध्वगमनशीलता में है। उन्हें किसी प्रकार बुद्धि-भेद अथवा विचार-सांकर्य भ्रमित नहीं कर सकता। वे मूलभूत सत्, चित्, आनन्दमय सिद्धान्तों पर स्थित हैं। इसी कारण उनकी रचनाएँ उदात्त मानवीय भावों से परिपूर्ण हैं। इसी कारण उनका 'पृथिवीपुत्र' विश्वसाहित्य में स्थान पाने योग्य कृति है।

मैथिलीशरण जी का जीवन सतत एकाराधन की भावना से ओतप्रोत है। गत पचास वर्षों से निष्ठापूर्वक वे माता भारती की उपासना में लीन हैं। जिस प्रकार स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी को हिन्दी गद्य-भाषा का मानदण्ड स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है, उसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त और स्व० जयशंकर प्रसाद को हिन्दी की काव्य-भाषा के मानदण्ड को स्थापित करने का श्रेय है। मैथिलीशरण जी ने लक्षावधि हिन्दी भाषियों के जीवन को प्रभावित किया है। वे जनता और शिष्टश्रेणी, दोनों के कवि हैं। उन्होंने हम हिन्दी भाषियों की रुचि का परिष्कार किया है। उन्होंने हमें शुभ विचार, कल्याणकर भाव और श्रेयस्कर जीवनादर्श प्रदान किए हैं। वे हमारे प्रेरणादायक काव्य-स्रष्टा हैं। मानवीय सम्बन्धों का जैसा हृदयग्राही और उन्नयनकारी चित्रण मैथिलीशरण ने किया है, वैसा किसी अन्य वर्तमान कवि ने नहीं किया। उनके महाकाव्यों तथा खण्डकाव्यों के पात्र जीते, जागते, असाधारण, किन्तु फिर भी नितान्त साधारण, जाने-पहचाने जन हैं।

गुप्तजी का व्यक्तित्व कैसा है? इसका उत्तर मैं क्या दूं? उनके सम्पर्क में आने के उपरान्त ही आप उनके व्यक्तित्व को ठीक प्रकार से समझ सकेंगे।

मैंने उन्हें निकट से देखा है। मैंने उन्हें निष्पक्ष, निर्धूम दृष्टि से देखा है। एक प्रकार से मैंने उन्हें विलग भाव से नापा-तोला है। मैं यही कह सकता हूँ कि मैथिलीशरण जी एक ऊँचे मानव हैं। वे राग-द्वेष, ईर्ष्या-मत्सर और लोकप्रियता प्राप्त करने की आपा-धापी से बहुत दूर हैं। उन्होंने कभी भी अपने प्रशंसकों का दल नहीं बनाया। उन्होंने कभी भी अपनी प्रशंसा में लेख नहीं लिखवाए। उन्होंने भूल कर भी कभी अपने समकालीन समानधर्माओं के विरुद्ध कोई बात नहीं कही और न कहलवाई। वे एक वत्सल पिता, एकनिष्ठ स्नेही पति, समदर्शी पितृव्य, आज्ञाकारी अनुज, अत्यधिक प्यार-दुलार करने वाले उदार अग्रज और आदर्श सद्गृहस्थ हैं। उनका समस्त जीवन शुद्धतामय है। उन्हें कोई व्यसन नहीं। वे मर्यादापुरुषोत्तम राम के उपासक हैं। सच्चे उपासक हैं। उनके जीवन में भी सदैव मर्यादा रही है। वे स्वयं मर्यादा-पालक हैं।

अतिथि-सत्कार के लिए तो गुप्तजी की 'बखरी'—उनका चिरगांववाला निवासगृह, प्रसिद्ध ही है। और, दद्दा जहाँ जाकर रहते हैं, वहीं बखरी बन जाती है।

दद्दा स्वभाव से बड़े सौम्य, स्नेही और गहर गंभीर हैं। पर, वे बड़े खरे भी हैं। बड़े से बड़े करोड़पति को भी वे खरी, सच्ची, स्पष्ट बात कह सकते हैं। उनका सात्विकत्वेष यदि उभर पड़े तो फिर दद्दा किसी को भी दो स्पष्ट बातें सुना सकते हैं। वे अत्यन्त विनम्रजन हैं। विनम्रता और शील उनके सहजगुण हैं। पर उनकी विनम्रता में दैन्य नहीं है। वे चिर अदीन हैं। लम्बे श्रवण, उभरी नासा, स्वप्नशील नेत्र, उन्नत ललाट, उदात्त गंभीर कण्ठस्वर—ऐसे दद्दा को देखते ही मन अपने आप उनके चरणों में नत हो जाता है, फिर चाहे शरीर किसी भी अवस्था में रहे। •••

आगे के कुछ पृष्ठों में श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के काव्य-ग्रन्थों से कुछ प्रतिनिधि काव्य-अंश उद्धृत किये गए हैं। यद्यपि गुप्तजी के काव्य-ग्रन्थों की संख्या बड़ी है और उनकी भावभूमि में विगत पचास वर्षों के साहित्य के प्रतिनिधि आन्दोलनों का नेतृत्व मुखर हुआ है, लेकिन संक्षेप में उनके काव्य का नवनीत प्रस्तुत करने की दृष्टि से ही यह चयन किया गया है। इन कविताओं का पाठ करके पाठक मैथिलीशरण-काव्य की एक प्रतिनिधि झाँकी प्राप्त कर सकेंगे।

जयद्रथ-वध

उन्मत्त विजयोल्लास से सब लोग मत्त-गयन्द-से,
राजा युधिष्ठिर के निकट पहुँचे बड़े आनन्द से।
देखा युधिष्ठिर ने उन्हें जब, जान ली निज जय तभी,
मुख-चिह्न से ही चित्त की बुध जान लेते हैं सभी।।
तब अर्जुनादिक ने उन्हें बढ़ कर प्रणाम किया वहाँ,
सिर पर उन्होंने हाथ रख सुख दिया और लिया वहाँ।
सब लोग उनको घेरकर थे उस समय उत्सुक खड़े,
बोले युधिष्ठिर से स्वभू सुन्दर सुमन मानों झड़े—
"हे तात ! जीत हुई तुम्हारे पुण्य-पूर्ण प्रताप से,
रण में जयद्रथ-वध हुआ, छूटे धनञ्जय ताप से।
तुमने इन्हें सौंपा सबेरे था हमारे हाथ में,
सो लीजिये अपनी धरोहर, सुख-सुयश के साथ में"।।
सुनकर मधुर घन-शब्द को पाते प्रमोद मयूर ज्यों,
श्रीकृष्ण के सुन वचन सबको सुख हुआ भरपूर त्यों।
राजा युधिष्ठिर हर्ष से सहसा न कुछ भी कह सके,
थे भक्ति के गुरु-भार से मानों वचन उनके थके।।
"साक्षात् चराचरनाथ, तुम रखते स्वयं जब हो दया,
आश्चर्य क्या फिर जो जयद्रथ युद्ध में मारा गया ?
तो भी इसे सुनकर हृदय में सुख समाता है नहीं,
साधन-सफलता-सुख-सदृश सुख वृष्टि आता है नहीं।।
बहु विज्ञ तत्वज्ञानियों ने बात यह मुझसे कही—
माधव ! तुम्हें जो इष्ट होता सर्वदा होता वही।
अज्ञानता से मूर्ख जन मानव तुम्हें हैं मानते,
ज्ञानी, विवेकी, विज्ञवर, विश्वेश तुमको जानते।।
जो कुछ किया तुमने स्वयं हे देव-देव ! हुआ वही,
जो कुछ करोगे तुम स्वयं आगे वही होगा सही।
जो कुछ स्वयं तुम कर रहे हो, हो रहा अब है तथा,
हैं हेतुमात्र सदैव हम, कर्त्ता तुम्हीं हो सर्वथा।।
हो निर्विकार तथापि तुम हो भक्तवत्सल सर्वदा,
हो तुम निरीह तथापि अद्भुत सृष्टि रचते हो सदा।
आकार-हीन तथापि तुम साकार सन्तत सिद्ध हो,
सर्वेश होकर भी सदा तुम प्रेम वश्य प्रसिद्ध हो।
करते तुम्हारा ही मनन, मुनि रत तुम्हीं में ऋषि सभी,
सन्तत तुम्हीं को देखते हैं ध्यान में योगीन्द्र भी।
विख्यात वेदों में विभो ! सबके तुम्हीं आराध्य हो,
कोई न तुम से है बड़ा, तुम एक सबके साध्य हो।।

पाकर तुम्हें फिर और कुछ पाना न रहता शेष है;
पाता न जब तक जीव तुमको भटकता सविशेष है।
जो जन तुम्हारे पद-कमल के असल मधु को जानते,
वे मुक्ति को भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते।।
हे सच्चिदानन्द प्रभो! तुम नित्य सर्व सशक्त हो,
अनुपम, अगोचर, शुभ, परात्पर ईश-वर अव्यक्त हो।
तुम ध्येय, गेय, अजेय हो, निज भक्त पर अनुरक्त हो,
तुम भवविमोचन, पद्म लोचन, पुण्य, पद्मासक्त हो।।
तुम एक होकर भी अहो! रखते अनेकों वेश हो,
आद्यन्त-हीन, अचिन्त्य, अद्भुत, आत्म-भू अखिलेश हो।
कर्त्ता तुम्हीं, भर्त्ता तुम्हीं, हर्त्ता तुम्हीं हो सृष्टि के,
चारों पदार्थ दयानिधे! फल हैं तुम्हारी वृष्टि के।।
हे ईश! बहु उपकार तुमने सर्वदा हम पर किये,
उपहार प्रत्युपकार में क्या दें तुम्हें इसके लिये?
है क्या हमारा सृष्टि में? यह सब तुम्हीं से है बनी,
सन्तत ऋणी हैं हम तुम्हारे, तुम हमारे हो धनी।।
जय दीनबन्धो, सौख्य-सिन्धो, देव, देव दयानिधे,
जय जन्म-मृत्यु-विहीन शाश्वत, विश्व-वन्द्य, महाविधे।
जय पूर्ण-पुरुषोत्तम, जनार्दन, जगन्नाथ, जगद्गते,
जय जय विभो, अच्युत हरे, मङ्गलमते, मायापते"!
कहते हुए यों नृप युधिष्ठिर मुग्ध होकर रुक गये,
तत्क्षण अचेत-समान फिर प्रभु के पदों में झुक गये।
बढ़ कर उन्हें हरि ने हृदय से हर्षयुक्त लगा लिया,
आनन्द से सत्प्रेम का मानों शुभालिङ्गन किया।।
वह भक्त का भगवान से मिलना नितान्त पवित्र था,
प्रत्यक्ष ईश्वर-जीव का सङ्गम अतीव विचित्र था।
मानों सुकृत आकर स्वयं ही शील से थे मिल रहे,
युग श्याम-गौर सरोज मानों साथ ही थे खिल रहे।।
करने लगे सब लोग तब आनन्द से जयनाद यों—
त्रैलोक्य को हों दे रहे निर्भय विजय-संवाद ज्यों।
अन्यत्र दुर्लभ है भुवन में बात यों उत्कर्ष की,
सचमुच कहीं समता नहीं है भव्य भारतवर्ष की।।
कुछ दुःशलादिक का अभी कहना यदपि अवशिष्ट है,
पर पाठकों का जी दुखाना अब न हमको इष्ट है।
कर बार बार क्षमार्थना होते विदा अब हम यहीं,
सुख के समय दुख की कथा अच्छी नहीं लगती कहीं।।

विश्व-वेदना

छोड़कर वह त्रेता युग दूर, आज हम बढ़ आये भरपूर।
साथ ही वह कर्बुरता क्रूर, प्रगति के मद में है यह चूर!
आज के योग्य, एक अविभाज्य,
विश्व को मिले राम का राज्य।

गगन में गति-गृह बने विमान, जलधि में दुर्ग-सदृश जलयान।
भूमि पर होता है यह भान,—लोह-पथ पर पुर का प्रस्थान!
भ्रमण ही बढ़ा, मिटी क्या भ्रान्ति,
हुई यह कैसी उलटी क्रान्ति!

काचनयनी, कृत्रिमदशना, यथारुचि अखिल जन्तुग्रशना,
प्रलयपिण्डा, विद्युद्‌हसना, वाष्पनिःश्वसना, बहुवसना,
नई संक्रान्ति आगई ऊल,
उड़ा वह धुवाँ, उड़ी यह धूल!

चक्रिणी चली बिखेरे बाल, तुंग वल्मीक वहिर्गत व्याल!
उभर भर रहे शून्य का भाल, धुवें के ऊर्ध्वपुण्ड्र, घन-जाल।
चञ्चला नाच उठी है नग्न!
यन्त्रिता अचला लय में मग्न!

●

भारत-भारती

मानस-भवन में आर्य्यजन जिसकी उतारें आरती—
भगवान! भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।
हो भद्रभावोद्भाविनी वह भारती हे भगवते!
सीतापते! सीतापते!! गीतामते! गीतामते!!

उपक्रमणिका

हाँ लेखिनी, हृत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा,
दृक्कालिमा में डूबकर तैयार होकर सर्वथा।
स्वच्छन्दता से कर तुझे करने पड़ें प्रस्ताव जो,
जग जायँ तेरी नोंक से सोये हुए हों भाव जो॥
संसार में किसका समय है एक-सा रहता सदा,
है निशि-दिवा-सी घूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा।
जो आज एक अनाथ है, नरनाथ कल होता वही;
जो आज उत्सव-मग्न है, कल शोक से रोता वही॥

चर्चा हमारी भी कभी संसार में सर्वत्र थी,
वह सद्गुणों की कीर्ति मानो एक और कलत्र थी।
इस दुर्दशा का स्वप्न में भी क्या हमें कुछ ध्यान था?
क्या इस पतन ही को हमारा वह अतुल उत्थान था?
उन्नत रहा होगा कभी जो हो रहा अवनत अभी,
जो हो रहा उन्नत अभी, अवनत रहा होगा कभी।
हँसते प्रथम जो पद्म हैं तम-पङ्क में फँसते वही,
मुरझे पड़े रहते कुमुद जो अन्त में हँसते वही।।
उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखण्ड है,
चढ़ता प्रथम जो व्योम में गिरता वही मार्तण्ड है।
अतएव अवनति ही हमारी कह रही उन्नति-कला,
उत्थान ही जिसका नहीं उसका पतन ही क्या भला?
होता समुन्नति के अनन्तर सोच अवनति का नहीं,
हाँ, सोच तो है जो किसी की फिर न हो उन्नति कहीं।
चिन्ता नहीं जो व्योम-विस्तृत चन्द्रिका का ह्रास हो,
चिन्ता तभी है जब न उसका फिर नवीन विकास हो।।
है ठीक ऐसी ही दशा हतभाग्य भारतवर्ष की,
कब से इतिश्री हो चुकी इसके अखिल उत्कर्ष की।
पर सोच है केवल यही यह नित्य गिरता ही गया,
जब से फिरा है दैव इससे नित्य फिरता ही गया।।
यह नियम है, उद्यान में पककर गिरे पत्ते जहाँ
प्रकटित हुए पीछे उन्हींके लहलहे पल्लव वहाँ।
पर हाय! इस उद्यान का कुछ दूसरा ही हाल है,
पतझड़ कहें या सूखना, कायापलट या काल है?
अनुकूल शोभा-मूल सुरभित फूल वे कुम्हला गये,
फलते कहाँ हैं अब यहाँ वे फल रसाल नये नये?
बस, इस विशालोद्यान में अब झाड़ या झंखाड़ हैं,
तनु सूखकर काँटा हुआ, बस शेष हैं तो हाड़ हैं।।
दृढ़ दुःख दावानल इसे सब ओर घेर जला रहा,
तिस पर अदृष्टाकाश उलटा विपद-वज्र चला रहा।
यद्यपि बुझा सकता हमारा नेत्र-जल इस आग को,
पर धिक्! हमारे स्वार्थमय सूखे हुए अनुराग को।।
सहृदय जनों के चित्त निर्मल कुढ़क जाकर काँच-से—
होते दया के वश द्रवित हैं तप्त हो इस आँच से।
चिन्ता कभी भावी दशा की वर्तमान व्यथा कभी,
करती तथा चञ्चल उन्हें है भूतकाल-कथा कभी।।
जो इस विषय पर आज कुछ कहने चले हैं हम यहाँ,
क्या कुछ सजग होंगे सखे! उसको सुनेंगे जो जहाँ?
कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता?

हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी,
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।
यद्यपि हमें इतिहास अपना प्राप्त पूरा है नहीं,
हम कौन थे, इस ज्ञान को, फिर भी अधूरा है नहीं।।

भारतवर्ष की श्रेष्ठता

भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है।।
हाँ, वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है?
भगवान् की भव-भूतियों का यह प्रथम भाण्डार है,
विधि ने किया नर सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है।।

विश्वास

सौ सौ निराशाएँ रहें, विश्वास यह दृढ़ मूल है—
इस आत्म-लीला-भूमि को वह विभु न सकता भूल है।
अनुकूल अवसर पर दयामय फिर दया दिखलायेंगे,
वे दिन यहाँ फिर आयेंगे, फिर आयेंगे, फिर आयेंगे।।

विश्राम

री! लेखनी! बस बहुत है, अब और बढ़ना व्यर्थ है,
है यह अनन्त कथा तथा तू सर्वथा असमर्थ है।
करती हुई शुभकामना निज वेग सविनय थाम ले,
कहती हुई "जय जानकी जीवन" तनिक विश्राम ले।।

शुभकामना

सबकी नसों में पूर्वजों का पुण्य रक्त-प्रवाह हो,
गुण, शील, साहस, बल तथा सबमें भरा उत्साह हो।
सबके हृदय में सर्वदा समवेदना का दाह हो,
हमको तुम्हारी चाह हो, तुमको हमारी चाह हो।।
विद्या, कला, कौशल्य में सबका अटल अनुराग हो,
उद्योग का उन्माद हो, आलस्य-अघ का त्याग हो।
सुख और दुख में एक-सा सब भाइयों का भाग हो,
अन्तःकरण में गूंजता राष्ट्रीयता का राग हो।।
कठिनाइयों के मध्य अध्यवसाय का उन्मेष हो,
जीवन सरल हो, तन सबल हो, मन विमल सविशेष हो,
छूटे कदापि न सत्य-पथ निज देश हो कि विदेश हो,
अखिलेश का आवेश हो जो बस वही उद्देश हो।।

आत्मावलम्बन ही हमारी मनुजता का मर्म्म हो,
षड्रिपु-समर के हित सतत चारित्र्यरूपी वर्म्म हो।
भीतर अलौकिक भाव हो, बाहर जगत का कर्म्म हो,
प्रभु-भक्ति, पर-हित और निश्छल नीति ही ध्रुव धर्म्म हो॥
उपलक्ष के पीछे कभी विगलित न जीवन-लक्ष हो,
जब तक रहें ये प्राण तन में पुण्य का ही पक्ष हो।
कर्तव्य एक न एक पावन नित्य नेत्र-समक्ष हो,
सम्पत्ति और विपत्ति में विचलित कदापि न वक्ष हो॥
उस वेद के उपदेश का सर्वत्र ही प्रस्ताव हो,
सौहार्द्र और मतैक्य हो, अविरुद्ध मन का भाव हो।
सब इष्ट फल पावें परस्पर प्रेम रखकर सर्वथा,
निज यज्ञ-भाग समानता से देव लेते हैं यथा॥

विनय

इस देश को हे दीनबन्धो! आप फिर अपनाइए,
भगवान! भारतवर्ष को फिर पुण्य-भूमि बनाइए।
जड़-तुल्य जीवन आज इसका विघ्न-बाधा पूर्ण है,
हेरम्ब! अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइए॥
हम मूक किंवा मूढ़ हों, रहते हुए तुम शक्ति के,
माँ ब्राह्मि! कह दे ब्रह्म से सुख-शान्ति फिर सरसाइए।
सर्वत्र बाहर और भीतर रिक्त भारत हो चुका,
फिर भाग्य इसका हे विधाता! पूर्व-सा पलटाइए॥
तू अन्नपूर्णा माँ! रमा है और हम भूखों मरें!
कह दे जनार्दन से जगाकर दैन्य दुःख मिटाइए।
यह सृष्टि-गौरव-गज ग्रसित है ग्रह दशा के ग्राह से,
हे भक्तवत्सल! शुभ सुदर्शन चक्र आप चलाइए॥
माँ शङ्करी! सन्तान तेरी हाय! यों निरुपाय हो,
श्रीकण्ठ से कह दे कि हे हर, अब न और सताइए।
शून्य श्मशान-समान भारत हाय! कब से हो चुका,
आकर कराल विपत्ति-विष से व्योमकेश, बचाइए॥
संपूर्ण गुण-गौरव-रहित हम पतित अवनत हो चुके,
अब छोड़ निर्गुणता विभो, सत्वर सगुण बन जाइए।
सीतापते! सीतापते!! यह पाप-भार निहारिए,
अवतीर्ण होकर धर्म्म का निज राज्य फिर फैलाइए॥
गोपाल! अब वह चैन की बंशी बजेगी कब यहाँ?
आलस्य से अभिभूत हमको कर्म्म योग सिखाइए।
जिस वसुमती पर आपने बहु ललित लीलाएँ रचीं,
करुणानिधे! इस काल उसको आप यों न भुलाइए॥
पशु-तुल्य परवशता मिटे, प्रकटे यथार्थ मनुष्यता,
इस कूपमण्डूकत्व से परमेश, पिण्ड छुड़ाइए।

जीवन गहन वन-सा हुआ है, भटकते हैं हम जहाँ,
प्रभुवर ! सदय होकर हमें सन्मार्ग पर पहुँचाइए ।।
वह पूर्व की सम्पन्नता, यह वर्तमान विपन्नता,
अब तो प्रसन्न भविष्य की आशा यहाँ उपजाइए ।
वर मन्त्र जिसका मुक्ति था, परतन्त्र, पीड़ित है वही,
फिर वह परम पुरुषार्थ इसमें शीघ्र ही प्रकटाइए ।।
यह पाप-पूर्ण परावलम्बन चूर्ण होकर दूर हो,
फिर स्वावलम्बन का हमें प्रिय पुण्य पाठ पढ़ाइए ।
"व्याकुल न हो, कुछ भय नहीं, तुम सब अमृत-सन्तान हो"
यह वेद की वाणी हमें फिर एक बार सुनाइए ।।
यह आर्य्य-भूमि सचेत हो फिर कार्य्य-भूमि बने अहा !
वह प्रीति-नीति बढ़े परस्पर, भीति भाव भगाइए ।
किसके शरण होकर रहें ? अब तुम बिना गति कौन है !
हे ! देव वह अपनी दया फिर एक बार दिखाइए ।।

●

मंगलघट

मातृभूमि

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर हैं,
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खग-वृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं,
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की ।
हे मातृभूमि, तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की ।।

मृतक समान अशक्त, अवश, आँखों को मीचे
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे,
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था
लेकर अपने अतुल अंक में त्राण किया था,
जो जननी का भी सर्वदा, थी पालन करती रही ।
तू क्यों न हमारी पूज्य हो ? मातृभूमि मातामही !

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं,
परमहंस-सम बाल्य काल में सब सुख पाये,
जिसके कारण 'धूलि-भरे हीरे' कहलाये,
हम खेले-कूदे हर्ष युत जिसकी प्यारी गोद में ।
हे मातृभूमि, तुझको निरख मग्न क्यों न हों मोद में ?

पालन पोषण और जन्म का कारण तू ही,
वक्षस्थल पर हमें कर रही धारण तू ही,
अभ्रंकष प्रासाद और ये महल हमारे,
बने हुए हैं अहो! तुझी से तुझ पर सारे,
हे मातृभूमि, हम जब कभी तेरी शरण न पायेंगे।
बस, तभी प्रलय के पेट में सभी लीन हो जायेंगे।।

हमें जीवनाधार अन्न तू ही देती है,
बदले में कुछ नहीं किसी से तू लेती है,
श्रेष्ठ एक से एक विविध द्रव्यों के द्वारा,
पोषण करती प्रेम-भाव से सदा हमारा,
हे मातृभूमि, उपजें न जो तुझ से कृषि-अंकुर कभी।
तो तड़प तड़प कर जल मरें जठरानल में हम सभी।।

पाकर तुझसे सभी सुखों को हमने भोगा,
तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हमसे होगा?
तेरी ही यह देह, तुझी से बनी हुई है,
बस, तेरे ही सुरस-सार से सनी हुई है,
फिर अन्त समय तू ही इसे अचल देख अपनायगी।
हे मातृभूमि, यह अन्त में तुझ में ही मिल जायगी।।

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता,
जिस प्रेमी का प्रेम हमें मुददायक होता,
जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता,
नहीं टूटता कभी जन्म भर जिनसे नाता,
उन सब में तेरा सर्वदा, व्याप्त हो रहा तत्त्व है!
हे मातृभूमि, तेरे सदृश, किसका महा महत्त्व है?

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है,
षड्ऋतुओं का विविध दृश्य युत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है,
शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्र प्रकाश है।
हे मातृभूमि, दिन में तरणि करता तम का नाश है।।

सुरभित, सुन्दर, सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं,
भांति भांति के सरस, सुधोपम फल मिलते हैं,
ओषधियां हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातु-वर रत्नों वाली,
जो आवश्यक होते हमें, मिलते सभी पदार्थ हैं।
हे मातृभूमि, वसुधा-धरा तेरे नाम यथार्थ हैं।।

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी,
नदियां पैर पखार रही हैं बन कर चेरी,
पुष्पों से तरु-राजि कर रही पूजा तेरी,
मृदु मलय-वायु मानों तुझे चन्दन चारु चढ़ा रही!
हे मातृभूमि, किसका न तू सात्विक भाव बढ़ा रही?

क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षमामयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है,
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुखहर्त्री है,
भयनिवारिणी, शान्तिकारिणी, सुखकर्त्री है,
हे शरणदायिनी देवि, तू, करती सब का त्राण है।
हे मातृभूमि, सन्तान हम, तू जननी, तू प्राण है।।

आते ही उपकार याद हे माता! तेरा,
हो जाता मन मुग्ध भक्तिभावों का प्रेरा,
तू पूजा के योग्य, कीर्ति तेरी हम गावें,
मन होता है—तुझे उठा कर शीश चढ़ावें,
वह शक्ति कहां, हा! क्या करें, क्यों हमको लज्जा न हो?
हम मातृभूमि, केवल तुझे, शीश झुका सकते अहो!

कारण वश जब शोक-दाह से हम दहते हैं,
तब तुझ पर ही लोट लोट कर दुख सहते हैं।
पाखण्डी भी धूल चढ़ा कर तन में तेरी,
कहलाते हैं साधु, नहीं लगती है देरी,
इस तेरी ही शुचि धूल में मातृभूमि, वह शक्ति है—
जो क्रूरों के भी चित्त में उपजा सकती भक्ति है!

कोई व्यक्ति विशेष नहीं तेरा अपना है,
जो यह समझे हाय! देखता वह सपना है,
तुझको सारे जीव एक से ही प्यारे हैं,
कर्म्मों के फल मात्र यहां न्यारे न्यारे हैं,
हे मातृभूमि, तेरे निकट सब का सम सम्बन्ध है।
जो भेद पाता वह अहो! लोचन-युत भी अन्ध है।।

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान! कभी हम रहें न न्यारे,
लोट लोट कर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे,
उस मातृभूमि की धूलि में जब पूरे सन जायेंगे।
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम आत्मरूप बन जायेंगे।।

विशाल भारत

उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!
उठ अमिताभ, लाभ कर निज पद,
लुटा, लक्ष्य पर लाल।

जीवन के अरुणोदय में ही होमामोद पवित्र—
फैल गया पृथ्वी में तेरा, बजे त्रिदिव-वादित्र।
दो देशों के सन्धि पत्र में, ओ चिर-चारु-चरित्र,
साक्षी होते थे तेरे ही इन्द्र, वरुण, वसु, मित्र,
गूंजे तेरे ही मन्त्रों से जल, थल, नभ, पाताल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

बेध गई वासुकि की मणि को तेरे मख की मेख,
धर्म्म-स्तम्भ उठे अम्बर में, शिलातलों पर लेख।
जल पर नहीं, उपल पर तूने खींची अक्षय रेख,
अब भी देश-विदेशों में निज शेष मूर्तियां देख,
तेरे आदर्शों के आगे प्रणत हुआ भव-भाल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

विश्व-विजय के स्वप्नों में थे ग्रीस, रोम, ईरान,
और हो रहे थे बेचारे बस-बस कर वीरान।
तूने ही मैत्री-करुणा का गाया था तब गान,
पाया था सम्पूर्ण अवनि में अग्र-दूत का मान,
एक बार तू उस अतीत की ओर दृष्टि तो डाल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

दिया स्व हेतु महत्व न जिसको तूने किसी प्रकार,
पर जिसके हितार्थ त्यागा था राज-पाट, घर-बार,
बाट देखता है फिर तेरी वह व्याकुल संसार,
सुन, वह चारों ओर मचा है दारुण हाहाकार।
जकड़ रहा है मकड़-जाल-सा उसे स्वयं निज जाल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

स्वयं आज भी करा रहा है विषम विश्व-विद्रोह,
सभ्य देश में, दस्यु दुराशय, बजा रहे हैं लोह।
नहीं धर्म पर, धन-धरती पर अड़ा लोभ मय मोह,
वह अशोक-साम्राज्य-निदर्शन निष्फल था क्या द्रोह!
तू ही सफल करेगा उसको, आ, अपना व्रत पाल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

देख रहे हैं सागर तेरे जल यानों की बाट,
स्वागतार्थ आतुर, उत्सुक हैं उनके सारे घाट।

मेटें तेरे बुद्ध वीर फिर विषम युद्ध-विभ्राट,—
लूट पाट की, मारकाट की, नर शोणित की चाट।
हृदयहीन हिंसक बदलेंगे सहज न अपनी चाल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

उठ, फिर देव-पितर अम्बर में होकर सब समवेत,
देने को उद्यत हैं तुझको स्वस्ति और संकेत।
उठ, प्रत्यय-दृढ़ निश्चयपूर्वक, साहस शौर्य्य समेत,
पूर्व प्रमादों से शिक्षा ले, तज यह तन्द्रा, चेत।
अपने ही अधीन हैं अपने बन्ध-मोक्ष चिरकाल,
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

विश्व मिलन का भार उठा कर बैठ न यों तू हार,
'चित्त दया, समर-निष्ठुरता' व्यर्थ और विस्तार।
धर्म राम का, कर्म कृष्ण का, प्रेम बुद्ध का धार,—
और अहिंसा महावीर की, सर्व समन्वय-सार।
कौन संभाल सकेगा तुझको, स्वयं स्वरूप संभाल,
उठ, ओ, वृहद्, विराट, विशाल!

तेरे ही स्वर का साधक है भव-भविष्य-संदेश,
किन्तु कंठ में पाश पड़ा है तेरे, मेरे देश!
यह कैसा अपमान और हा! है यह कैसा क्लेश!
आने दे तू आत्म-स्मृति का एक उष्ण आवेश।
शीतल पाकर ही चन्दन पर लिपटे हैं बहु व्याल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

कर्तव्य

भावुक! भरो भाव रत्नों से, भाषा के भाण्डार भरो।
देर करो न देशवासी-गण अपनी उन्नति आप करो।।

एक हृदय से एक ईश का धरो विविध विध ध्यान धरो।
विश्व-प्रेम-रत, रोम रोम से, गद्‌गद निर्झर-सदृश झरो।।

मन से, वाणी से, कर्म्मों से, आधि, व्याधि, उपाधि हरो।
अक्षय आत्मा के अधिकारी, किसी विघ्न-भय से न डरो।

विचरो अपने पैरों के बल, भुज-बल से भव-सिन्धु तरो।
जियो कर्म्म के लिए जगत में और धर्म्म के लिए मरो

वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे

विचार लो कि मर्त्य हो, न मृत्यु से डरो कभी,
मरो, परन्तु यों मरो कि याद जो करें सभी!
हुई न यों सु-मृत्यु तो वृथा मरे, वृथा जिये,
मरा नहीं वही कि जो जिया न आपके लिये।

यही पशु-प्रवृत्ति है कि आप आपही चरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ।।

उसी उदार की कथा सरस्वती बखानती,
उसी उदार से धरा कृतार्थ-भाव मानती ।
उसी उदार की सदा सजीव कीर्ति कूजती,
तथा उसी उदार को समस्त सृष्टि पूजती ।
अखंड आत्मभाव जो असीम विश्व में भरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ।।

क्षुधार्थ रन्तिदेव ने दिया करस्थ थाल भी,
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थिजाल भी ।
उशीनर-क्षितीश ने स्वमांस दान भी किया,
सहर्ष वीर कर्ण ने शरीर चर्म्म दे दिया ।
अनित्य देह के लिए अनादि जीव क्या डरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ।।

सहानुभूति चाहिए, महा विभूति है यही,
वशीकृता सदैव है बनी हुई स्वयं मही ।
विरुद्ध-वाद बुद्ध का दया-प्रभाव में बहा,
विनीत लोक वर्ग क्या न सामने झुका रहा ?
अहा ! वही उदार है परोपकार जो करे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ।।

रहो न भूलके कभी मदान्ध तुच्छ वित्त में,
सनाथ जान आपको करो न गर्व चित्त में ।
अनाथ कौन है यहां त्रिलोकनाथ साथ हैं,
दयालु दीनबन्धु के बड़े विशाल हाथ हैं ।
अतीव भाग्यहीन है अधीर भाव जो भरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ।।

अनन्त अन्तरिक्ष में अनन्त देव हैं खड़े,
समक्ष ही स्व-बाहु जो बढ़ा रहे बड़े बड़े ।
परस्परावलम्ब से उठो, तथा बढ़ो सभी,
अभी अमर्त्य-अंक में अपंक हो चढ़ो सभी ।
रहो न यों कि एक से न काम और का सरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ।।

"मनुष्य मात्र बन्धु हैं" यही बड़ा विवेक है,
पुराण पुरुष स्वभू पिता प्रसिद्ध एक है ।
फलानुसार कर्म्म के अवश्य बाह्य भेद हैं,
परन्तु अन्तरैक्य में प्रमाणभूत वेद हैं ।
अनर्थ है कि बन्धु ही न बन्धु की व्यथा हरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ।।

चलो अभीष्ट मार्ग में सहर्ष खेलते हुए,
विपत्ति-विघ्न जो पड़ें उन्हें ढकेलते हुए।
घटे न हेलमेल हाँ, बढ़े न भिन्नता कभी,
अतर्क एक पन्थ के सतर्क पान्थ हों सभी।
तभी समर्थ भाव है कि तारता हुआ तरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।।

शब्द के प्रति

सागर भरा तुम्हारे घर में, विश्रुत तुम बहु वृत्त-विधान,
भरे रहें भाण्डार तुम्हारे, अहो शब्द! जो अर्थ-निधान!
जननी सरस्वती के छौने, मधुर सजौने, शुचि, सोत्साह,
तुम्हीं खिलौने मुग्धामति के, तुम्हीं ज्ञान के पुतले वाह!
खेलो-कूदो, हँसो-हँसाओ, करो चित्त की पूरी चाह,
आह! तुम्हारे रोने में भी रहता है क्या रस-प्रवाह!
हे भावों के चित्र बोलते! गाओ तुम निज नव-नव गान,
भरे रहें भाण्डार तुम्हारे, अहो शब्द! ओ अर्थ-निधान!
जीते रहो, जगत है जब तक, तुम ध्वनि के जीवन-धन प्राण,
लो अनुभूति-विभूति विश्व की, तुम्हीं करोगे उसका त्राण।
तुम सजीव संकेत हमारे, आत्म-सिद्धि के स्वतः प्रमाण,
तुम्हीं प्रकाशक सत्य-सत्त्व के, तुम्हीं कल्पना के कल्याण!
तव सुवर्ण-पात्रों में, हम सब करें सदा कर्णामृत-पान,
भरे रहें भाण्डार तुम्हारे, अहो शब्द! ओ अर्थ-निधान!

●

पत्रावली

महारानी सीसोदनी का पत्र*

हे ना—नहीं, नाथ नहीं कहूँगी, अनाथिनी होकर ही रहूँगी।
होते कहीं जो तुम नाथ मेरे, तो भागते क्या फिर पीठ फेरे?
यथार्थ ही क्या मुँह को छिपाये, संग्राम से हो तुम भाग आये?
धिक्कार है हा! अब क्या करूँ मैं, रक्खी कहाँ मौत कि जो मरूँ मैं।
हा! पीठ वैरी-दल को दिखा के, त्यों हार माथे पर यों लिखा के।
आये दिखाने मुँह हो यहाँ क्या? भला बनेगा तुम से कहाँ क्या?

* राज्य प्राप्ति के लिए औरङ्गजेब और दारा का जो युद्ध हुआ था उसमें जोधपुर के महाराज ने दारा का साथ दिया था। पर अनेक कारणों से औरङ्गजेब की जीत हुई। महाराज जसवन्त सिंह युद्ध से विरत होकर जोधपुर गये। परन्तु उनकी महारानी ने उनके हार कर लौटने पर बड़ा क्रोध किया। सुनते हैं, उसने किले का फाटक भी बन्द करा दिया था। इसी सम्बन्ध में यह पत्र है, जो महाराज जसवन्त सिंह के नाम लिखा गया था।

परन्तु मैं होकर वीर-बाला, जो लोक में है करती उजाला ।
देखूं तुम्हारा मुंह आज कैसे ? सहूँ कहो तो यह लाज कैसे ?
आये यहाँ क्या छिपने घरों में ? या रानियों के घन-घाँघरों में ?
परन्तु भागे तुम भीरु ज्योंही, हुए कहो क्या हत वे न त्योंही ?
जो मृत्यु की थी इस भाँति भीति, जो मेटनी थी निज रीति-नीति ।
तो जन्म क्यों सत्कुल में लिया था ? क्यों ब्याह राना-कुलमें किया था ?
जयाब्धिजा को न वरा गया जो, न युद्ध का सिन्धु तरा गया जो ।
तो क्या मरा भी न गया समक्ष, डूबा सभी हा ! तुम से स्वपक्ष ।
राठौर ! क्या लाज तुम्हें न आई, जो कीर्ति दोनों कुल की मिटाई !
क्या देह से है यश हाय ! छोटा, या मृत्यु से है अमरत्व खोटा ?
संग्राम में जो तुम काम आते, तो लोक में निश्चल नाम पाते ।
मैं भी सती होकर धन्य होती, न क्षत्रिया होकर आज रोती ।
न भाग्य में था यह किन्तु मेरे, दुर्दैव हैं ये सब काम तेरे ।
तू जो करे सो सब ठीक ही है, मनुष्य विश्वास अलीक ही है ।
माँ मेदिनी, तू फट, मैं समाऊँ ; कुकीर्ति से जो अब त्राण पाऊँ ।
न लोक में मैं यदि जन्म पाती, तो भीरु-भार्या फिर क्यों कहाती ।
नहीं नहीं, मैं यदि भीरु-भार्या, तो कौन होगी फिर और आर्या ?
हाँ, है तुम्हीं ने कुल-लाज खोई, परन्तु मेरे तुम हो न कोई !!
सीसोदियों के बन के जमाई, है कीर्त्ति अच्छी तुम ने कमाई !
आई तुम्हें लाज न नाम की भी, रक्षा न होगी अब धाम की भी !
सुना तुम्हें था वर-वीर मैं ने, सौंपा तभी था स्वशरीर मैं ने !
यथार्थता किन्तु मुझे तुम्हारी, हुई अभी है यह ज्ञात सारी ।
विशाल वक्षस्थल, दीर्घ-भाल, आजानु लम्बे युग बाहु-जाल ।
थे देखने ही भर के तुम्हारे, ज्यों चित्र में अङ्कित अङ्ग सारे ।
या क्षत्रियों का वह उष्ण-रक्त, हुआ यहाँ लौं अब है अशक्त ।
बहा सके जो न विपक्षियों को, दुराग्रही गो-धन-भक्षियों को ।
दैवात् कभी शत्रु कुदृष्टि लावें, सोत्साह मेरे हरणार्थ आवें ।
तो क्या मुझे भी तुम छोड़ भागो ? आश्चर्य क्या जो मुंह मोड़ भागो !
विश्वास क्या भीत पलातकों का ? स्वकर्म वा धर्म-विघातकों का ?
कर्त्तव्य से जो च्युत हो चुके हों, क्या है जिसे वे न डुबो चुके हों ?
जाओ, यहाँ से तुम लौट जाओ ; तुम्हें यहाँ स्थान कहाँ कि आओ ।
हो शून्य तो भी यह सिंह-पौर, है गीदड़ों को इस में न ठौर ।
चाहे अवज्ञा करके तुम्हारी, मैं ने किया हो अपराध भारी ।
परन्तु मैं होकर क्षत्रियाणी, कैसे कहूँ हा ! न यथार्थ वाणी ?
मेरा-तुम्हारा न मिलाप होगा, हा ! शान्त कैसे यह ताप होगा ।
विश्वेश लेवें सुध शीघ्र मेरी ; देवें मुझे मृत्यु करें न देरी ।

वैतालिक

श्री रवि-कुल-मणि रघुनायक,
तुम को रहें दीप्तिदायक।
श्री सीता धन-धान्य भरें,
उर्वर कर्म्म-क्षेत्र करें ।।
नई पौ फटी, रात कटी;
तम की अन्तर-पटी हटी।
उठो, उठो, बोलो, बोलो,
खोलो मनो-द्वार खोलो ।।
बन्द किवाड़ न रक्खो अब,
कोई आड़ न रक्खो अब।
रुद्ध साँस बह जाने दो,
शुद्ध समीरण आने दो ।।
हिम-कण उसे उड़ाने दो,
मिथ्या स्वप्न छुड़ाने दो।
उस कल्पित माया से क्या?
प्राण-हीन काया से क्या?
चिर निद्रा का जाल कटे,
युग युग का जंजाल हटे।
हृदय हृदय से लगने दो;
भय भगने, जय जगने दो ।।
उर की आग उभड़ने दो,
प्रेमाहुतियाँ पड़ने दो।
सरस सुगन्धि समाने दो,
मस्तक को बल पाने दो ।।

●

अनघ

अरण्य

विषम विश्व का कोना है;
मेरा जहाँ बिछौना है।
पर मैं सो जाऊँ या जागूँ?
कैसे इसकी तन्द्रा त्यागूँ?
डट जाऊँ या हटकर भागूँ?
यह जगना या सोना है?
विषम विश्व का कोना है ।।

बारंबार ठगाते हैं हम,
पर क्या भूल भगाते हैं हम?
फिर फिर घात लगाते हैं हम;
कैसा जादू टोंना है!
विषम विश्व का कोना है॥

इसके हित भी इसमें धँसना,
नहीं आप क्या उलटा फँसना?
है ऊपर ऊपर का हँसना,
भीतर केवल रोना है!
विषम विश्व का कोना है॥

रहे प्रवाह भले ही पैंना,
पर मुझको इसका क्या लेना?
किन्तु कहीं निकला कुछ देना?
तो क्या वह भी खोना है?
विषम विश्व का कोना है॥

वर्त्तमान ही जहाँ तहाँ है;
भावी का कुछ ध्यान कहाँ है?
देखा जाता यही यहाँ है—
मीठा है कि सलोना है!
विषम विश्व का कोना है॥

बदले अपने लाख रंग यह,
छोड़ेगा क्या सहज ढंग यह?
स्वयं स्वप्न है, स्वप्न-संग यह—
छूँछी छाँछ बिलोना है!
विषम विश्व का कोना है॥

पर क्या यह झूठी रटना है?
(ईति-भीति दैवी घटना है।)
उसका वैसा ही कटना है—
जिसका जैसा बोना है।
विषम विश्व का कोना है॥

तो क्या अब भी और डरूँ मैं?
रण में पीछे पैर धरूँ मैं?
बस, अपना कर्त्तव्य करूँ मैं;—
हुआ करे जो होना है।
विषम विश्व का कोना है॥

मधुवन

कलिके, तेरा ही जन्म धन्य।
हम सब तो हैं बस अहम्मन्य।

जीवन है कितना अल्प हाय!
उसमें भी तू उत्फुल्लकाय,
कर जाती है इतना उपाय
गुण गाता है अलि-सम्प्रदाय।

तुझ-सा उदार है कौन अन्य?
कलिके, तेरा ही जन्म धन्य।

थोड़े में जीवन रस निचोड़,
हँसते-हँसते मधु-गन्ध जोड़,
उसके देने में मुँह न मोड़,
झड़ पड़ती है तू बन्ध तोड़,—

फल छोड़ अन्य-हित आत्म-जन्य।
कलिके, तेरा ही जन्म धन्य।

प्रेम करता है तो कर त्याग

प्रेम करता है तो कर त्याग,
नहीं तो है वह कोरा राग।

प्रकट कर चित्त, न अपनी चाह,
भरम खोदे न मरम की आह।
सिन्धु-सम सह तू अन्तर्दाह,
और रह धीर, गभीर अथाह।

बुझे तुझमें ही तेरी आग;
प्रेम करता है तो कर त्याग।

एकान्त

मन, अपने को आप सँभालो,
कौन कहाँ क्या करता है तुम
इसे न देखो भालो।
कोई क्रोध-विरोध करे तो
उधर दृष्टि मत डालो,
जो पथ शोध लिया है तुमने
बस उसका व्रत पालो।
ढले न कोई तुम पर, सब पर
तुम अपने को ढालो,
कायर हो, कर्त्तव्य कठिन यदि
किसी युक्ति से टालो।

मेरा प्रयत्न पूरा
चाहे रहे अधूरा
पर मैं उसे करूँगा ;
सब विघ्न-भय तरूँगा ।
फल हो न हाथ मेरे,
कर्तव्य साथ मेरे ।
वैफल्य का वृथा भय,
है कर्म्म-बीज अक्षय ।
मेरे अनेक सङ्गी
यदि हैं अनेक रङ्गी
तो भी न मैं टलूंगा,
निज मार्ग पर चलूंगा ।
कोई मुझे न माने,
जो हूँ वही न जाने,
तो भी विरत न हूँगा ;
सब शान्ति से सहूँगा ।
जो हूँ वही रहूँगा,
यह अन्त में कहूँगा—
मैंने स्वधर्म्म पाला,
फिर और क्या कसाला ?

●

हिन्दू

याद करो अपने को आर्य

याद करो अपने को आर्य !
सत्य करो सपने को आर्य !
तापों से अब तपो न और,
जीवन-मन्त्र जपो सब ठौर ।
तुम हो सबसे पहले सभ्य,
जिन्हें न कुछ भी रहा अलभ्य ।
तुम हो उनके ही कुलशील
जो थे सर्व समर्थ सलील ।
तुम हो उनकी ही सन्तान
बनें कि जिनसे विश्व-विधान ।
खोजे गूढ़ जिन्होंने तत्व,
पाया है उज्वल अमरत्व ।
तुम हो उनके ही कुलजात
कि जो हुए ऋषि-मुनि विख्यात ।

जिनका त्याग और तप देख
बदली स्वयं कर्म की रेख ।
डोल उठा इन्द्रासन आप,
वज्राधिक था जिनका शाप !
रचे जिन्होंने तीर्थ अनेक,
जिनके बिना न हो अभिषेक ।
उत्तराधिकारी तुम लोग
उनके हो जिनके उद्योग
सफल हुए सब ओर सदैव,—
अनुगत-सा था जिनका दैव ।
किसके पूर्वज थे वे लोग
किये जिन्होंने अद्भुत योग ?
दिये दिव्य सन्देश उदार
जाग उठा जिनसे संसार ?

तुममें हैं उनके ही प्राण
जिनके करगत थे कल्याण।
देख सकी उनकी ही दृष्टि—
'ब्रह्ममयी है सारी सृष्टि।'
वे थे ऐसे योग्य उदार
था कुटुम्ब उनका संसार।
जगती की सुख-शान्ति समृद्धि
और उन्होंने की शुभ वृद्धि।
व्यापक थे उनके व्यवहार,
सीमाबद्ध न था विस्तार।
कह सकते थे वही अगर्व—
'वाराणसी मेदिनी सर्व।'
साधन था उनका पुरुषार्थ,
और सिद्धि थी मुक्ति यथार्थ।
करते थे वे नियम-निदेश,
पलवाते थे जिन्हें नरेश।
तुममें है उनका ही रक्त
जो थे सच्चे शूर सशक्त।
जिनका बल - विक्रम - उत्साह
था अथाह ज्यों महाप्रवाह।
होकर असुरों से आक्रान्त
सुर जब हो जाते थे श्रान्त,
तब रण में दैत्यों का गर्व
कौन किया करता था खर्व?
चन्द्र-सूर्य का यशः-प्रताप
रखते थे उनके कुल आप।
वे कुल अब भी नहीं विलुप्त,
किन्तु रहेंगे कब तक सुप्त?
मान्धाता के युग की बात
नहीं आज भी है अज्ञात;
था तब भी वह राज्य प्रशस्त—
सूर्य न हो सकता था अस्त।
किसने किये विश्वजित याग?
और विश्व-विभवों के त्याग?
राजसूय, हय-मेध महान
थे किसके वीरत्व विधान?
तोड़ा किसने राक्षस-राज्य—
जो था अचल, अटल, अविभाज्य?
उड़ी हेम-लङ्का की धूल,
तुम हो वही, न जाओ भूल।

वीरोचित बाणों की सेज!
किसने दिखलाया यह तेज?
उस पर तकिया अनी यथार्थ
विषय वहाँ भी था परमार्थ!
दृश्य भीष्म-सुन्दर यह और
देखा गया कहो किस ठौर?
प्राप्त करो वह पानी आर्य,
कि हो पितामह-तर्पण-कार्य।
याद करो निज वीर्य विलुप्त;
कहो कौन थे मौर्य कि गुप्त?
थे जिनके साम्राज्य विशाल,
स्वस्थ, व्यवस्थित, मालामाल।
था वह किन घावों का दाह
जिससे जला सिकन्दर शाह?
पूरी हुई न मन की चाह,
ली घर की—यमपुर की—राह!
चढ़ कर आया था यूनान,
लौट गया कर कन्या-दान!
बाँध आर्य-विक्रम का तूण
तुमने ही जीते शक-हूण।
किसका था वह पुण्य प्रताप
चौंका जिससे अकबर आप?
करके सब कुछ भी बलिदान
रक्खी स्वतन्त्रता की बान।
महाराष्ट्र - संस्थापन - कार्य
किया तुम्हीं ने कल था आर्य!
'हर हर महादेव' का घोष
असन्तोष का था सन्तोष।
भू-मण्डल भर में अनिवार्य
बजा तुम्हारा डंका आर्य!
अपने धर्म-राज्य का छत्र
छाया करता था सर्वत्र।
गङ्गा-तट का पूजा-पाठ,
यज्ञ-याग, उत्सव का ठाठ,
दूर नील-नद के भी तीर
करता था निज ध्वनि गम्भीर!
सीतारामोत्सव का हर्ष
रखता था ज्यों भारतवर्ष,
अमरीका भी स्वयं सगर्व
कभी मनाता था वह पर्व!

जहाँ रहे तुम, भारत-तुल्य,
बढ़ा धर्म-वैभव बाहुल्य।
बनें उच्च मन्दिर-प्रासाद,
गूँजा दुन्दभि-शङ्ख-निनाद।
प्राण-प्रतिष्ठा-सी सब ओर
की तुमने इससे उस छोर।
करके जगती का आह्वान
गाया अनुपम वैदिक गान।
देकर सबको प्रथम प्रकाश
किया सभ्यता का सुविकाश।

सुना सुना कर शास्त्र-पुराण
किया सदा सबका कल्याण।
उस विभु से जो सबमें व्याप्त
की तुमने तन्मयता प्राप्त।
सुना सृष्टि ने सोहं नाद
सर्वोपरि सच्चा संवाद।
विश्व-बन्धुता का बर्ताव,
और परम करुणा का भाव,
फैलाया तुमने सब ओर;
बढ़ा विश्व धन-धर्म बटोर।

शास्त्र

रूढ़ि-बद्ध हो जायें न शास्त्र,
कीट न काट जाय धर्मास्त्र।
काई निकले, झलके नीर,
जागे निज जीवन गम्भीर।
शास्त्र अखिल अर्थों के मूल,
व्याख्या है निज बुद्धयनुकूल।
जो करना हो कर लो सिद्ध,
वह हो चाहे स्वयं निषिद्ध।
सड़ी सड़ी बातों का मोह।
आधारों का ऊहापोह,
बना न दे बकवादी भेक;
धारण करो स्वतन्त्र विवेक।
शास्त्र तुम्हारे लिये अशेष,
बनो न तुम उनके बलि-मेष।
सुनो प्रमाण शान्ति के साथ,
पर निर्णय हो अपने हाथ।
जितने भी हैं शास्त्र-ग्रन्थ,
दिखलाते हैं केवल पन्थ।
पर पाथेय और गति-शक्ति,
संग्रह करें स्वयं सब व्यक्ति।
किस मुँह से शास्त्रों की ओट,
लेकर सहें युक्ति की चोट।
जब हम छोड़ उन्हीं का धर्म
करते हैं उलटे बहु कर्म?
"बोलो मूँठ न" अक्षर पाँच,
लिए शास्त्र में हमने बाँच।
मान लिए बस पहले चार!
चला कौन सबके अनुसार!

यही हमारी शास्त्र-प्रीति!
यही तर्क करने की रीति।
हम हैं आश्रम-धर्म विहीन,
फिर भी वेद-वाद में लीन!
बन कर पूर्वज-सदृश समर्थ,
नई समस्याओं के अर्थ।
करो नई विधियाँ निर्माण,
समय स्वयं है बड़ा प्रमाण।
समयोचित न समझते सूरि
तो क्यों भिन्न स्मृतियाँ भूरि।
रचते रहते यहाँ नवीन,
तुम वैसे ही बनो प्रवीण।
भुसी फटक देते हैं सूप,
तुम तो हो चिर चेतन-रूप।
हुई चेतना चलनी शोक!
सार फेंक रखती है फोक।
अपने शास्त्रकार मतिमान,
देश काल से न थे अजान।
उठो, अवस्था के अनुसार,
करो व्यवस्था स्वयं विचार।
भिन्न पुराण स्मृतियाँ वेद,
मुनियों में भी बहुमत-भेद।
करके प्रकट परिस्थिति-बोध,
बनो स्वयं साक्षी विधि शोध।
त्यागो मुनि-मत भी प्रतिकूल,
करते बड़े बड़ी ही भूल।
बुद्धि शरण लो, न हो उदास,
तुम में प्रेरक प्रभु का वास।

उपादेय हो और सयुक्ति,
मानो बालक की भी उक्ति।
ब्रह्म-वाक्य भी जँचें न ठीक
तो तुम जानों उन्हें अलीक।
सज्जन-मत है स्वतः प्रमाण;
वही शास्त्र-रत्नों का शाण।
पौरुष हो, पर आर्ष-समान
दो उसको तुम आदर-मान।
मार्ग बड़ों का हो स्वीकार्य,
पर वह रहे परिष्कृत आर्य।
करो अकण्टक उसको झाड़,
भरो गर्त्त झंखाड़ उखाड़।
माता पिता वृद्ध बल-हीन
पत्नी पतिव्रता शिशु दीन
करके भी अकार्य भर्त्तव्य,
समय समय का है कर्तव्य।
धर्मोद्धार, समाज-सुधार,
करो हृदय में दृढ़ता धार।

होने पर विस्फोट-विकार,
अस्त्र-योग भी है उपचार।
दम्भ, महाडम्बर, पाखण्ड,
सन्निपात सम चण्डोद्दण्ड—
करते हैं सुधर्म का नाश,
काटो यह त्रिदोष मय पाश।
कुल-गत नहीं, व्यक्ति-गत वीर्य;
ऐसा ही सब गुण-गाम्भीर्य।
नहीं शीश पर जिनके सींग,
वे चाहें तो मारें डींग!
द्विज-सा देवप्रिय चाण्डाल,
यदि वह है स्ववृत्ति-व्रत पाल।
नहीं वित्त विद्या अनिवार्य,
वृत्त बनाता है बस आर्य।
दीपक से भी कज्जल-जात,
और पङ्क से भी जलजात।
एक डाल में काँटे-फूल,
जाति नहीं गुण मङ्गलमूल।

रामकृष्ण की जय

भगें हमारे सारे भय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।
क्या साकेत धाम वह प्यारा,
क्या वह क्रूर कंस की कारा;
वह प्रकाश सर्वत्र हमारा,
जय भारत निज देवालय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।
जय तृण तुल्य राज्य के त्यागी,
जिनके अनुज भरत बड़भागी;
जय अधिकारों के अनुरागी,
कि हो महाभारत निश्चय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।
जय अमोघशर, अरिमदभञ्जन,
जय मुरलीधर जन मन रञ्जन,
जयति पतितपावन, अघगञ्जन,
जयति कर्ममय, कौशलमय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।
बना बानरों को नर-नागर,
बँधवाया सौ योजन सागर;
तान छत्र-सा अद्रि उजागर,

मेटा व्रज का जल-प्रलय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।
जय सीता, निज धार्मिक दीक्षा,
अग्नि आप कर चुका परीक्षा;
जय गीता, निज मुक्ति समीक्षा,
पाओ पूर्णतया प्रत्यय,
जय जय राम-कृष्ण की जय।

हर हर महादेव

काँपे दैत्य दस्यु थर थर,
हर हर महादेव हर हर!
जय विषपानिप्रलयङ्कर,
अमृतदानि, जय अभयङ्कर।
जय शूली, जय शिवशङ्कर,
निकलें सब काँटे-कङ्कर,
भगे स्वयं सब डर डर डर,
हर हर महादेव हर हर!
किसके बाधा-विघ्न किधर,
तेरा सिद्ध गणेश इधर।
जीवन तो है मुक्ति-समर,
होते हैं नर जहाँ अमर।
बढ़ें क्यों न साहस कर कर?
हर हर महादेव हर हर!
हमें प्रलय का भी क्या डर,
नई सृष्टि उसके भीतर।
वह है प्रसव-वेदना भर,
हम हैं विभो, बद्ध परिकर।
हो तेरा ताण्डव तर तर,
हर हर महादेव हर हर!
डम डम डम डमरू का स्वर,
दूर कर त्रय ताप-ज्वर।
बम् बम् बोलो, हों जर्जर--
विषय पञ्चशर विष वर्वर,
बहे शान्ति-निर्झर झर झर,
हर हर महादेव हर हर!
जय गिरीश, जय गङ्गाधर,
देश मूर्तिमय शशिशेखर!
तेरे अभिमानी अनुचर--
हम हों कीर्तिवधू के वर।
दे निज भक्ति शक्ति भर भर,
हर हर महादेव हर हर!

महावीर की जय

अरि-गृह में भी संयम मय,
बोलो महावीर की जय।

बसो ग्राम-वन में भी नागर,
गिनो तुच्छ विघ्नों के सागर।
लो सीता-संवाद उजागर,—
जो निज मान-मूर्ति निश्चय;
बोलो महावीर की जय।

राक्षस रिपुओं की क्या शङ्का,
जले कनक की भी अघलङ्का।
बजे राम राजा का डङ्का,
प्रेत-पिशाचों का क्या भय?
बोलो महावीर की जय।

पथ-पर्वत सब कुछ दुर्गम हों,
पर साहस उत्साह न कम हों।
सञ्जीवनी और बस हम हों,
फिर क्या सोच और संशय?
बोलो महावीर की जय।

गुरुदक्षिणा कपट मुनि पावें,
लक्ष्मण-से भाई बच जावें।
हम निज कार्य्य सिद्ध कर लावें,
रहें शक्ति-सम्पन्न सदय,
बोलो महावीर की जय।

हमारा हिन्दुस्तान

हम सब हैं हिन्दू-सन्तान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

जैन, बौद्ध, सिख, आर्य्य अशेष,
सब हिन्दू-कुल के ही वेश।
फिर क्या विग्रह, क्या विद्वेष?
छेड़ो मधुर मिलन की तान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

एक अतुल हम सबका मूल,
हमको भिन्न समझना भूल।
सम्प्रदाय चिर के अनुकूल,—
हैं श्रद्धा के ही संस्थान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

एक हमारे हैं संस्कार,
हममें एक रुधिर-सञ्चार।
एक हमारा देश उदार,

गूंजे एक गर्व का गान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

स्वस्तिक-प्रणव हमारा एक,
एक त्याग-तप का उद्रेक।
जन्म-कर्म का एक विवेक,

इष्ट एक निर्वाण महान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

इतने ज्ञानी, ध्यानी, धीर,
इतने दानी, मानी, वीर,
इतने अधिक गुणी गम्भीर,

कौन देश कर सका प्रदान?
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

चीन देश की अद्भुत ओट,
कब सह सकी काल की चोट?
किन्तु हिमालय का वह कोट--

तान रहा है व्योम-वितान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

मेटी हमने भव की भ्रान्ति,
दी सुख-शान्ति, विश्व-विश्रान्ति।
जाकर कहीं नहीं की क्रान्ति,

प्राप्त हमीं को है यह मान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

ऐसा देश कौन है और?
ऐसी जाति कहां, किस ठौर?
रहे, रहेंगे हम सिरमौर;

हमको है निज कुल की आन,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

उठो बन्धुगण, करो विवेक,
जैसे हो, हो जाओ एक।
रक्खो हिन्दूपन की टेक,

हो चाहे जितना बलिदान,
जिये हमारा हिन्दुस्तान।

●

झंकार

इस शरीर की सकल शिराएँ
हों तेरी तन्त्री के तार,
आघातों की क्या चिन्ता है,
उठने दे ऊँची झङ्कार।
नाचे नियति, प्रकृति सुर साधे,
सब सुर हों सजीव, साकार,
देश देश में, काल काल में,
उठे गमक गहरी गुञ्जार।
कर प्रहार, हाँ, कर प्रहार तू,
मार नहीं, यह तो है प्यार,
प्यारे, और कहूँ क्या तुझसे,
प्रस्तुत हूँ मैं, हूँ तैयार।
मेरे तार तार से तेरी
तान तान का हो विस्तार,
अपनी अँगुली के धक्के से
खोल अखिल श्रुतियों के द्वार।
ताल ताल पर भाल झुका कर
मोहित हों सब बारंबार,
लय बँध जाय और क्रम क्रम से
सम में समा जाय संसार॥

विराट-वीणा

तुम्हारी वीणा है अनमोल।
हे विराट! जिसके दो तूंबे
हैं भूगोल - खगोल॥
दया-दण्ड पर न्यारे न्यारे,
चमक रहे हैं प्यारे प्यारे,
कोटि गुणों के तार तुम्हारे,
खुली प्रलय की खोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल॥
हँसता है कोई रोता है—
जिसका जैसा मन होता है,
सब कोई सुधबुध खोता है,
क्या विचित्र हैं बोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल॥
इसे बजाते हो तुम जब लों,
नाचेंगे हम सब भी तब लों,

चलने दो—न कहो कुछ कब लों,—
यह क्रीड़ा - कल्लोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल ।।

बन्धन

सखे, मेरे बन्धन मत खोल,
आप बंधा हूँ आप खुलूं मैं,
तू न बीच में बोल।
जूझूंगा, जीवन अनन्त है,
साक्षी बन कर देख,
और खींचता जा तू मेरे
जन्म - कर्म की रेख।
सिद्धि का है साधन ही मोल,
सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
खोले-मूंदे प्रकृति पलक निज,
फिर दिन हो फिर रात,
परमपुरुष, तू परख हमारे
घात और प्रतिघात।
उन्हें निज दृष्टि-तुला पर तोल,
सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
कोटि कोटि तर्कों के भीतर
पैठी तेरी युक्ति,
कोटि कोटि बन्धन-परिवेष्ठित
बैठी मेरी मुक्ति,
भुक्ति से भिन्न, अकम्प, अडोल,
सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
खींचे भुक्ति पटान्त पकड़ कर
मुक्ति करे संकेत,
इधर उधर आऊँ जाऊँ मैं
पर हूँ सजग सचेत।
हृदय है क्या अच्छा हिण्डोल,
सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
तेरी पृथ्वी की प्रदक्षिणा
देख रहे रवि सोम,
वह अचला है करे भले ही
गर्जन तर्जन व्योम।
न भय से, लीला से हूँ लोल,
सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
ऊबेगा जब तक तेरा जी
देख देख यह खेल,

हो जावेगा तब तक मेरी
भुक्ति-मुक्ति का मेल।
मिलेंगे हां, भूगोल-खगोल,
सखे, मेरे बन्धन मत खोल।।

प्रणाम

वह कलकण्ठ खगों के आश्रय,
पोषक या प्रतिपाल प्रणाम।
भव-भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल, प्रणाम।।
हरे भरे, आंखों को शीतल
करने वाले, तुम्हें प्रणाम,
छाया देकर पथिकों का श्रम
हरने वाले, तुम्हें प्रणाम।
अटल अचल, न किसी बाधा से
डरने वाले, तुम्हें प्रणाम,
शुद्ध सुमन-सौरभ समीर में
भरने वाले, तुम्हें प्रणाम।
देने वाले औरों को ही
सारे स्वफल रसाल, प्रणाम,
भव-भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल, प्रणाम।।
व्रत में रत, आतप, वर्षा, हिम
सहने वाले, तुम्हें प्रणाम,
स्वावलम्बयुत, उन्नत भी नत
रहने वाले, तुम्हें प्रणाम।

खींच रसातल से भी रस को
गहने वाले, तुम्हें प्रणाम,
सब कुछ करके भी न कभी कुछ
कहने वाले, तुम्हें प्रणाम।
जन्मभूमि के छत्र, पत्रमय,
अहो समुन्नत भाल, प्रणाम,
भव-भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल, प्रणाम।।
विस्तृत शत भुज-शाखाओं से
देने वाले वीर, प्रणाम,
हिमकण से प्रभुदत्त वज्र तक
लेने वाले धीर, प्रणाम।
विविध-कालदर्शी साक्षी-सम,
बद्ध-मूल, गम्भीर, प्रणाम,
सभी दशाओं में सदैव ही
परहित-हेतु-शरीर, प्रणाम।
क्रम क्रम से सर्वस्व त्याग के
स्थाणुमूर्ति चिरकाल प्रणाम,
भव-भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल, प्रणाम।।

शरणागत

आया यह दीन आज चरण-शरण आया,
हाय! सौ उपाय किये फल न एक पाया।
भाल-तन्तु डाल डाल
था बुना विशाल जाल,
आप फँसा! हा कपाल!
मकड़जाल छाया,
आया यह दीन आज चरण-शरण आया।
सर्व अहङ्कार गर्व
नाथ हुआ आज खर्व,
पाऊँ अब प्रगति पर्व,
मिटे मोह-माया,
आया यह दीन आज चरण-शरण आया।

कृपा-कौमुदी

जीवन-यात्रा के आतप से
मूर्च्छित है मति मेरी।
"कविर्मनीषी—!" कब छिटकेगी
कृपा-कौमुदी तेरी?

मानवीय मानस-रस सारा—
बन बन कर श्रम-जल की धारा,
बह न जाय यों ही बेचारा,
दुस्सह है अब देरी।
"कविर्मनीषी—!" कब छिटकेगी
कृपा-कौमुदी तेरी?

इसे प्रकाश कहूँ क्या प्यारे!
नाश करे जो नेत्र हमारे?
दीख पड़ें दिन ही में तारे!
सिर लावे चकफेरी!
"कविर्मनीषी—!" कब छिटकेगी
कृपा-कौमुदी तेरी?

दौड़ धूप ही हाय! यहाँ है,
मृगतृष्णा ही जहाँ तहाँ है,
"सब की मैया साँझ" कहाँ है—
सङ्ग शान्ति चिर चेरी?
"कविर्मनीषी—!" कब छिटकेगी
कृपा-कौमुदी तेरी?

देख रहा है तू यह सब तो,
उठ अमृतांशु कलाधर! तब तो,
उजला करदे उसको अब तो,
जो है आप अँधेरी।
"कविर्मनीषी—!" कब छिटकेगी
कृपा-कौमुदी तेरी?

नटनागर आज कहाँ अटके?

नटनागर, आज कहाँ अटके?

रथ-सूत हुए अपने भट के,
कि फँसे युग छोर कहीं पट के,
कल-हंस हुए यमुना-तट के,
कि बनें पिक वीर किसी बट के,
नटनागर, आज कहाँ अटके?

फिर याद पड़े टटके टटके,
व्रज-गोप-बधू दधि के मटके,
उनका कहना—'हटके ! हटके !'
उलझी-सुलझी लट के लट के,
नटनागर, आज कहाँ अटके ?

तुम चित्त चुरा कर जो चटके,
रस गोरस लूट कहीं सटके,
भटका कर तो न फिरो भटके,
हम इच्छुक हैं फिर आहट के,
नटनागर, आज कहाँ अटके ?

उर के न कपाट खुले खटके,
हम हार गए कब के रट के,
भव-कूप पड़े घट में लटके,
झट दो अपने गुण के झटके,
नटनागर, आज कहाँ अटके ?

गुञ्जार

तेरे गीतों की गुञ्जार
मेरे शून्याकार गर्त्त को भर दे बारंबार।

उठे उमंग, उठे उन्माद,
कण कण करे संग अनुवाद,
दुहरावे वह शुभ-संवाद,
फिर फिर सुने उसे संसार,
यही गर्व-गौरव हो उसका यही सफलता-सार।
तेरे गीतों की गुञ्जार।

पाकर ऐसा अमृतस्रोत,
हो जावे वह ओतप्रोत,
तेरे पद-पद्मों के पोत,
तरें वहाँ मुझको भी तार,
इसी प्रकार पार होऊँ मैं ओ मेरे आधार !
तेरे गीतों की गुञ्जार।

प्रवाह

ठहर, तनिक ठहर आह !
ओ प्रवाह मेरे,
आप मैं बहूँ न कहीं
संग संग तेरे।

कूड़ा-कर्कट समेत,
बह चला स्वयं निकेत,
डूबे खलिहान खेत,
बहे गाँव खेरे ?
ठहर, तनिक ठहर आह !
ओ प्रवाह मेरे !

पृथ्वीतल पाट पाट,
पृथुल शैल काट काट,
घाट घाट बाट बाट,
तू न चाटले रे,
ठहर, तनिक ठहर आह !
ओ प्रवाह मेरे !

सुनकर निर्मम निनाद,
पाकर विषमय विषाद,
नभ ने भी निर्विवाद,
आज कान फेरे,
ठहर, तनिक ठहर आह !
ओ प्रवाह मेरे !

आशा थी हरा हरा
होगा भव भरा भरा,
किन्तु प्रलय-मग्न धरा !
अब न और एरे ;
ठहर, तनिक ठहर आह !
ओ प्रवाह मेरे !

पकड़े कर कौन आज,
एक वही राजराज,
किन्तु अहंकार-लाज,
कौन उसे टेरे,
ठहर, तनिक ठहर आह !
ओ प्रवाह मेरे !

खेल

ध्यान न था कि राह में क्या है,
काँटा कङ्कर ढोंका ढेला,
तू भागा मैं चला पकड़ने
तू मुझसे मैं तुझसे खेला ।

सुरभित शीतल ब्यार बही थी,
चारु चन्द्रिका छिटक रही थी,
रजतमयी-सी मुदित मही थी,
रत्नाकर लेता था हेला,
तू मुझसे मैं तुझसे खेला।

अब पकड़ा, अब पकड़ा पल में,
मैं पीछे दौड़ा जल-थल में,
आ आकर के भी कौशल में,
हाथ न आया तू अलबेला,
तू मुझसे मैं तुझसे खेला।

यदि तू कभी हाथ भी आया,
तो छूने पर निकली छाया,
हे भगवन्! यह कैसी माया,
इतना कष्ट व्यर्थ ही झेला,
तू मुझसे मैं तुझसे खेला।

थका अन्त में बैठ गया मैं,
लगा चाहने दैव दया मैं,
पाता था सब दृश्य नया मैं,
लगा हुआ था मन का मेला,
तू मुझसे मैं तुझसे खेला।

क्रय-विक्रय का क्रम चलता था,
मुझको अपना श्रम खलता था,
तिस पर तेरा भ्रम छलता था,
श्रान्त-भ्रान्त मैं रहा अकेला,
तू मुझसे मैं तुझसे खेला।

बिना मोल मन मैंने जिसको
दिया कहाँ वह? दूँ अब किसको?
बेचूँ क्यों न मोलकर इसको,
मचल रहा यह, मिटे झमेला,
तू मुझसे मैं तुझसे खेला।

गाहक एक इसी क्षण आया,
मुझे देखकर वह मुसकाया,
उसने मन का मोल लगाया—
आधी दमड़ी पूरा धेला,
तू मुझसे मैं तुझसे खेला।

इतने में पीछे कोई जन,
बोला—"यह तो है अमूल्य धन।"
और ले भगा मुट्ठी में मन,
तू था, थी अरुणोदय बेला!
तू मुझसे मैं तुझसे खेला।

इन्द्रजाल

अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया!
खोलूँ जब तक पलक, कौतुकी,
तुमने पेड़ लगाया!
भाँति भाँति के फूल खिले हैं,
रंग-रूप रस-गन्ध मिले हैं,
भौंरे हर्ष समेत हिले हैं,
गुञ्जारव है छाया!
अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया!

उड़ उड़कर पंछी आते हैं,
फुर फुर कर फिर उड़ जाते हैं,
क्या लाते हैं, क्या पाते हैं?
कुछ भी पता न पाया!
अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया!

यह जो अम्ल-मधुर फल लाया,
उसने किसे नहीं ललचाया?
वह पछताया जिसने खाया
और न जिसने खाया!
अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया!

पहले के पत्ते झड़ते हैं,
उड़ते हैं गिरते पड़ते हैं,
नव दल रत्न तुल्य जड़ते हैं,
यह क्रम किसे न भाया?
अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया?
फल में स्वादु, सुगन्ध कुसुम में,
पर है मूल कहां इस द्रुम में?
क्या कहते हो, वह है तुम में?
राम, तुम्हारी माया!
अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया!

स्वयमागत

तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?
सब द्वारों पर भीड़ मची है,
कैसे भीतर जाऊँ मैं?
द्वारपाल भय दिखलाते हैं,
कुछ ही जन जाने पाते हैं,
शेष सभी धक्के खाते हैं,
क्यों कर घुसने पाऊँ मैं?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?
मुझमें सभी दैन्य दूषण हैं,
नहीं वस्त्र तक, क्या भूषण हैं,
किन्तु यहां लज्जित पूषण हैं,
अपना क्या दिखलाऊँ मैं,
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?
मुझमें तेरा आकर्षण है,
किन्तु यहां घन संघर्षण है,
इसी लिए दुर्द्धर धर्षण है,
क्यों कर तुझे बुलाऊँ मैं?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?
तेरी विभव कल्पना करके,
उसके वर्णन से मन भर के,
भूल रहे हैं जन बाहर के,
कैसे तुझे भुलाऊँ मैं,
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?
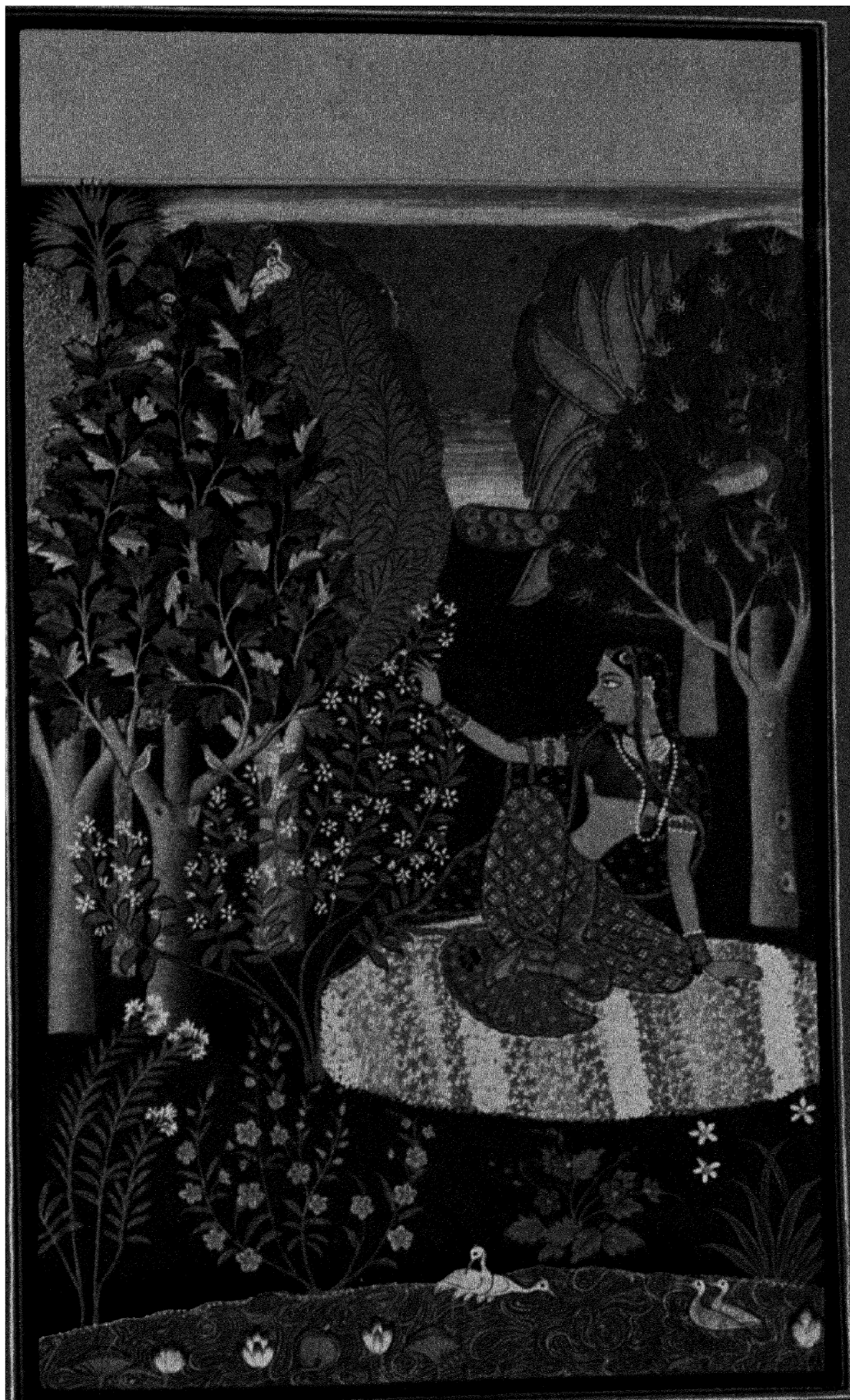
बीत चुकी है बेला सारी,
किन्तु न आई मेरी बारी,
करूँ कुटी की अब तैयारी,
वहीं बैठ गुन गाऊँ मैं,
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?
कुटी खोल भीतर जाता हूँ,
तो वैसा ही रह जाता हूँ,
तुझको यह कहते पाता हूँ—
"अतिथि, कहो क्या लाऊँ मैं?"
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊँ मैं?

आय का उपयोग

निकल रही है उर से आह;
ताक रहे सब तेरी राह।

चातक खड़ा चोंच खोले है,
सम्पुट खोले सीप खड़ी;
मैं अपना घट लिये खड़ा हूँ,
अपनी अपनी हमें पड़ी।
सबको है जीवन की चाह;
ताक रहे सब तेरी राह।

मैं कहता हूँ—मैं प्यासा हूँ,
चातक—'पी, पी'—रटता है;
व्यंग्य मानता हूँ मैं उसको,
हृदय क्षोभ से फटता है।
पर क्या वह रखता है डाह?
ताक रहे सब तेरी राह।

मैं अपनी इच्छा कहता हूँ,
पर वह तुझे बुलाता है;
मुझसे अधिक उदार वही है,
पर भ्रम यहाँ भुलाता है।
किसको है किसकी परवाह!
ताक रहे सब तेरी राह।

हम अपनी अपनी कहते हैं,
किन्तु सीप क्या कहती है?
कुछ भी नहीं, खोल कर भी मुँह
वह नीरव ही रहती है!
उसके आशय की क्या थाह?
ताक रहे सब तेरी राह।

घनश्याम, फिर भी तू सबकी
इच्छा पूरी करता है;
चातक-चञ्चु, सीप का सम्पुट,
मेरा घट भी भरता है।
सब पर तेरा दया-प्रवाह;
ताक रहे सब तेरी राह।

तेरे दया-दान का मैं ने,
चातक ने भी, भोग किया;
किन्तु सीप ने उसको लेकर
क्या अपूर्व उपयोग किया—
बना दिया है मुक्ता, वाह!
ताक रहे सब तेरी राह।

बाँसुरी

यह बाँसुरी ही बाँस की,
है साक्षिणी तेरी सरस--
संजीवनी-सी साँस की।

क्या मन्त्र फूँका कान में,
बस, बज उठी यह भान में!
उस गान में, उस तान में,
गहरी गमक थी गाँस की,
यह बाँसुरी ही बाँस की।

कैसी करारी कूक थी!
आह्वान-युक्ति अचूक थी;
उठती हृदय में हूक थी--
फिर फिर उसी की फाँस की;
यह बाँसुरी ही बाँस की।

मृदु अँगुलियाँ बचती रहीं,
ध्वनि-धार पर नचती रहीं,
श्रुति-सृष्टि-सी रचती रहीं,
क्या है कुशलता काँस की?
यह बाँसुरी ही बाँस की।

निस्सारता हरकर हरे,
वे छिद्र सब तू ने भरे,
क्या स्वर-सुधा-निर्झर झरे!
मैं बलि गई उस आँस की,
यह बाँसुरी ही बाँस की।

माला

बड़े यत्न से माला गूँथी,
किसे इसे पहनाऊँ?
वरण करूँ मैं जिसे प्रेम से,
उसे कहाँ मैं पाऊँ?

काँटों में ये फूल खिले थे,
बड़े कष्ट से मुझे मिले थे,
चुनने आकर अङ्ग छिले थे,
अब मैं इनके योग्य अनोखा
पात्र कहाँ से लाऊँ,
बड़े यत्न से माला गूँथी,
किसे इसे पहनाऊँ?

अरे खोजती हूँ मैं किसको ?
मैं ही क्यों न पहन लूँ इसको,
श्रम करके गूंथा है जिसको,
पर निज मुख से निज कर-चुम्बन-
कर किस भाँति अघाऊँ,
बड़े यत्न से माला गूंथी,
किसे इसे पहनाऊँ ?

बस, बस

बस, बस, अरे हरे, बस, आहा !
तनिक ठहर जा,—हा हा !
उठा न हूक लूक मुरली की,—
हो न जाय सब स्वाहा !

उठ उठ कर गिर रही गोपियां
व्रज की गली गली में,
बुरी बात हो जाय न कोई
भावुक, भली भली में।
खलभल खलभल खेल रही है
यह कल भाप नली में,
झुलस न जायें अँगुलियां तेरी
लगे न कीट कली में !

दीवट-सी जल उठे न जगती
पाकर नभ का फाहा !
बस, बस, अरे हरे, बस आहा !
तनिक ठहर जा, हा हा !

सम्मुख पड़े कहीं कोकिल तो
वहीं कण्ठ कट जावे,
क्या जानें इस ध्वनि-धारा में
कहां कौन तट जावे।
कितना है यह अम्बर जिसमें
स्वर-समूह अट जावे,
देख वीन ब्रह्माण्ड न घट-सा
उपट कहीं फट जावे।

कान्ह ! प्रेम के बदले तू ने
कब का वैर निवाहा ?
बस, बस, अरे हरे, बस आहा !
तनिक ठहर जा, हा हा !

झेलेगा ये कौन प्रलय की
लय में सम के झटके ?
तुझे छोड़ सरपट हय सहसा
रोकें कर किस भटके ?
कब ऐसे कल्लोल कूल पर
किस प्रवाह ने पटके,
तड़प रहे हैं प्राण शफर से
इस वंशी में अटके।

भला वेदना—बड़वा—फेनिल
राग-सिन्धु अवगाहा।
बस, बस, अरे हरे, बस आहा !
तनिक ठहर जा, हा हा !

उफने सप्त सिन्धु रस विष के
सात स्वरों में तेरे,
तीनों लोक तीन ग्रामों में—
उथल पुथल से हेरे।
काले ! तेरी एक फूंक में—
मैं क्या कहूँ अरे रे !
कोटि मूर्च्छनाएँ जगती हैं
तन में मन में मेरे।

गुण का हो, पर तू ने हम पर
यह कैसा गिरि ढाहा !
बस, बस, अरे हरे, बस आहा !
तनिक ठहर जा, हा हा !

हा! इससे तो यही भला है
तू जो शंख बजावे,
जिसका सीधा एक "जूझना"
अर्थ समझ में आवे।
गदा-चक्र भी पद्म-तुल्य हैं
जीव मुक्ति झट पावे,
अब भी सँभली नहीं सृष्टि जो
वेणु-वृष्टि सह जावे।

सप्त सिन्धु थाहे पर तू ने
मानस अभी न थाहा!
बस, बस, अरे हरे, बस, आहा!
तनिक ठहर जा, हा हा!

विष बरसाती हुई बाँसुरी
हाँ, पीयूष पिलाती,
मार मार फिर मारण-कारण
बारंबार जिलाती।
गुंजाग्रथित भिल्लिनी तुझको
यह आखेट खिलाती,
खेद खदेड़ मनोमृग मेरा
घर झकझोर हिलाती।

तुझे प्यार करके अपने से
मैंने वैर बिसाहा।
बस, बस, अरे हरे, बस आहा!
तनिक ठहर जा, हा हा!

गोल कपोलों पर कुण्डल की
लोल लटक लटकाती,
हिलती हुई अलक फाँसी का
फन्दा-सा अटकाती।
यह अधखुली पलक की प्रतिभा
हृदय खोल खटकाती,
रोम रोम में झटक झार-सी
मुरली मुँह मटकाती।

नागर नट, क्या इसीलिए है
मैं ने तुझको चाहा?
बस, बस, अरे हरे, बस आहा!
तनिक ठहर जा, हा हा!

●

साकेत

सीता माता का गीत

"निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

सम्राट स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं,
देते आकर आशीष हमें मुनिवर हैं।
धन तुच्छ यहाँ,—यद्यपि असंख्य आकर हैं,
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।
सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

क्या सुन्दर लता-वितान तना है मेरा,
पुञ्जाकृति गुंजित कुंज घना है मेरा।
जल निर्मल, पवन पराग-सना है मेरा,
गढ़ चित्रकूट दृढ़-दिव्य बना है मेरा।
प्रहरी निर्झर, परिखा प्रवाह की काया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
श्रमवारिविन्दुफल स्वास्थ्यशुक्ति फलती हूँ,
अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूँ।
तनु-लता-सफलता-स्वादु आज ही आया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

जिनसे ये प्रणयी प्राण त्राण पाते हैं,
जी भर कर उनको देख जुड़ा जाते हैं।
जब देव कि देवर विचर-विचर आते हैं,
तब नित्य नये दो-एक द्रव्य लाते हैं।
उनका वर्णन ही बना विनोद सवाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

किसलय-कर स्वागत-हेतु हिला करते हैं,
मृदु मनोभाव-सम सुमन खिला करते हैं।
डाली में नव फल नित्य मिला करते हैं,
तृण तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।
निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

कहता है कौन कि भाग्य ठगा है मेरा?
वह सुना हुआ भय दूर भगा है मेरा।
कुछ करने में अब हाथ लगा है मेरा,
वन में ही तो गार्हस्थ्य जगा है मेरा।
वह बधू जानकी बनी आज यह जाया
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया

फल-फूलों से हैं लदी डालियाँ मेरी,
वे हरी पत्तलें, भरी थालियाँ मेरी,
मुनि बालाएँ हैं यहाँ आलियाँ मेरी,
तटिनी की लहरें और तालियाँ मेरी।
क्रीड़ा-सामग्री बनी स्वयं निज छाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

मैं पली पक्षिणी विपिन-कुंज-पिंजर की,
आती है कोटर-सदृश मुझे सुध घर की।
मृदु-तीक्ष्ण वेदना एक एक अन्तर की,
बन जाती है कल-गीति समय के स्वर की।
कब उसे छेड़ यह कण्ठ यहाँ न अघाया?
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

गुरुजन-परिजन सब धन्य ध्येय हैं मेरे,
ओषधियों के गुण-विगुण ज्ञेय हैं मेरे।
वन-देव-देवियाँ आतिथेय हैं मेरे,
प्रिय-संग यहाँ सब प्रेय श्रेय हैं मेरे।
मेरे पीछे ध्रुव-धर्म स्वयं ही धाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

नाचो मयूर, नाचो कपोत के जोड़े,
नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोड़े।
गाओ दिवि, चातक, चटक, भृङ्ग भय छोड़े,
वैदेही के वनवास-वर्ष हैं थोड़े।
तितली, तूने यह कहाँ चित्रपट पाया?
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

आओ कलापि, निज चन्द्रकला दिखलाओ,
कुछ मुझसे सीखो और मुझे सिखलाओ।
गाओ पिक, मैं अनुकरण करूँ, तुम गाओ,
स्वर खींच तनिक यों उसे घुमाते जाओ।
शुक, पढ़ो,—मधुर फल प्रथम तुम्हीं ने खाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

अयि राजहंसि, तू तरस तरस क्यों रोती,
तू शुक्ति-वंचिता कहीं मैथिली होती,
तो श्यामल तनु के श्रमज-बिन्दुमय मोती,
निज व्यजन-पक्ष से तू अँकोर सुध खोती,
जिन पर मानस ने पद्म-रूप मुँह बाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

ओ निर्झर, झरझर नाद सुना कर झड़ तू,
पथ के रोड़ों से उलझ-सुलझ, बढ़-अड़ तू।
ओ उत्तरीय, उड़, मोद-पयोद, घुमड़ तू,
हम पर गिरि-गद्‌गद भाव, सदैव उमड़ तू।
जीवन को तूने गीत बनाया, गाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

ओ भोली कोल-किरात-भिल्ल बालाओ,
मैं आप तुम्हारे यहाँ आ गई, आओ।
मुझको कुछ करने योग्य काम बतलाओ,
दो अहो! नव्यता और भव्यता पाओ।
लो, मेरा नागर भाव भेंट जो लाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

सब ओर लाभ ही लाभ बोध-विनिमय में,
उत्साह मुझे है विविध वृत्त-संचय में।
तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ, हम कातें-बुनें गान की लय में।
निकले फूलों का रंग, ढंग से ताया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।"

राम-कैकेयी-भरत संवाद

तदनन्तर बैठी सभा उटज के आगे,
नीले वितान के तले दीप बहु जागे।
टकटकी लगाये नयन सुरों के थे वे।
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे।
उत्फुल्ल करौंदी-कुंज वायु रह रह कर,
करती थी सबको पुलक-पूर्ण मह मह कर।
वह चन्द्रलोक था, कहाँ चाँदनी वैसी,
प्रभु बोले गिरा गभीर नीरनिधि जैसी।
"हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना।"
सब सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना।
"हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
हा ! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा,
निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा।
अब कौन अभीप्सित और आर्य, वह किसका ?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुँह फेरा,
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा ?"
प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा,
रोदन जल से सविनोद उन्हें फिर सींचा !—
"उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जन कर जननी ही जान न पाई जिसको !"

"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को।"
चौंके सब सुन कर अटल केकयी-स्वर को।
सबने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा।

बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरंगा,
वह सिंही अब थी हहा! गोमुखी गंगा—
"हाँ जन कर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।
दुर्बलता का ही चिह्न विशेष शपथ है,
पर, अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है?
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ!
ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो,
पाओ यदि उसमें सार उसे सब चुन लो।
करके पहाड़-सा पाप मौन रह जाऊँ?
राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ?"
थी सनक्षत्र शशि-निशा ओस टपकाती,
रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती।
उल्का-सी रानी दिशा दीप्त करती थी,
सबमें भय-विस्मय और खेद भरती थी।
"क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।
जल पंजर-गत अब अरे अधीर, अभागे,
वे ज्वलित भाव थे स्वयं तुझीमें जागे।
पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन में?
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र, क्या तेरा?
पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा।
थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके?
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे,
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे?
कहते आते थे यही अभी नरदेही,
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।'
अब कहें सभी यह हाय! विरुद्ध विधाता,—
'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'
बस मैंने इसका बाह्य-मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा।
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,
इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा!
युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'

निज जन्म जन्म में सुनें जीव यह मेरा—
'धिक्कार! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'—"
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।"
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"

"हा! लाल? उसे भी आज गमाया मैंने,
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने।
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने,
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने।
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है,
शंकित सबसे धृत हरिण-तुल्य होता है।
श्रीखण्ड आज अंगार-चण्ड है मेरा,
तो इससे बढ़कर कौन दण्ड है मेरा?

पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद में,
जन क्या क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में?
हा! दण्ड कौन, क्या उसे डरूँगी अब भी?
मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी।
हा दया! हन्त वह घृणा! अहह वह करुणा!
वैतरणी-सी हैं आज जाह्नवी-वरुणा!
सह सकती हूँ चिरनरक, सुनें सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी।
लेकर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा,
मैंने इसके ही लिए तुम्हें वन भेजा।
घर चलो इसीके लिए, न रूठो अब यों,
कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों?
मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझसे न्यारे।
मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम,
अपने से पहले इसे मानते हो तुम।
तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
यदि वह सब पर यों प्रकट हुआ है वैसा,
तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा,
मैं रहूँ पङ्किला, पद्म-कोष है मेरा।
आगत ज्ञानी जन उच्च भाल ले ले कर,
समझावें तुमको अतुल युक्तियाँ दे कर।

मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेंटा।
देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है।
दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहाँ फलती है।"
हँस पड़े देव केकयी-कथन यह सुन कर,
रो दिये क्षुब्ध दुर्दैव दैत्य सिर धुन कर!
"छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का,
बल दिया उसीने भूल मान लेने का।
अब कटे सभी वे पाश नाश के प्रेरे,
मैं वही केकयी, वही राम तुम मेरे।
होने पर बहुधा अर्ध रात्रि अन्धेरी,
जीजी आकर करतीं पुकार थीं मेरी—
'लो कुहुकिनि, अपना कुहक, राम यह जागा,
निज मँझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा!
भ्रम हुआ भरत पर मुझे व्यर्थ संशय का,
प्रतिहिंसा ने ले लिया स्थान तब भय का।
तुम पर भी ऐसी भ्रान्ति भरत से पाती,
तो उसे मनाने भी न यहाँ मैं आती।—
जीजी ही आतीं, किन्तु कौन मानेगा?
जो अन्तर्यामी, वही इसे जानेगा।"
"हे अम्ब, तुम्हारा राम जानता है सब,
इस कारण वह कुछ खेद मानता है कब?"
"क्या स्वाभिमान रखती न केकयी रानी?
बतला दे कोई मुझे उच्चकुल-मानी।
सहती कोई अपमान तुम्हारी अम्बा?
पर हाय, आज वह हुई निपट नालम्बा?
मैं सहज मानिनी रही, सरल क्षत्राणी,
इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी।
पर महा दीन हो गया आज मन मेरा,
भावज्ञ, सहेजो तुम्हीं भाव-धन मेरा।
समुचित ही मुझको विश्व-घृणा ने घेरा,
समझाता कौन सशान्ति मुझे भ्रम मेरा?
यों ही तुम वन को गये, देव सुरपुर को,
मैं बैठी ही रह गई लिये इस उर को!
बुझ गई पिता की चिता भरत-भुजधारी,
पितृभूमि आज भी तप्त तथापि तुम्हारी।
भय और शोक सब दूर उड़ाओ उसका,
चलकर, सुचरित, फिर हृदय जुड़ाओ उसका।
हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य सम्हालो,
मैं पाल सकी न स्वधर्म, उसे तुम पालो।

स्वामी को जीते जी न दे सकी सुख मैं,
मर कर तो उनको दिखा सकूँ यह मुख मैं।
मर मिटना भी है एक हमारी क्रीड़ा,
पर भरत-वाक्य है--सहूँ विश्व की व्रीड़ा।
जीवन-नाटक का अन्त कठिन है मेरा,
प्रस्ताव मात्र में जहाँ अधैर्य अँधेरा।
अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता,
करती है तुमसे विनय आज यह माता--।"

"हा मातः, मुझको करो न यों अपराधी,
मैं सुन न सकूँगा बात और अब आधी।
कहती हो तुम क्यों अन्य-तुल्य यह वाणी,
क्या राम तुम्हारा पुत्र नहीं वह मानी?
इस भाँति मना कर हाय, मुझे न रुठाओ,
जो उठूँ न मैं, क्यों तुम्हीं न आप उठाओ।
वे शैशव के दिन आज हमारे बीते,
माँ के शिशु क्यों शिशु ही न रहे मनचीते।
तुम रीझ-खीझ कर प्यार जनातीं मुझको,
हँस आप रुठातीं, आप मनातीं मुझको।
वे दिन बीते, तुम जीर्ण दुःख की मारी,
मैं बड़ा हुआ अब और साथ ही भारी।
अब उठा सकोगी तुम न तीन में कोई।"
"तुम हलके कब थे?"--हँसी केकयी, रोई!
"माँ, अब भी तुमसे राम विनय चाहेगा?
अपने ऊपर क्या आप अद्रि ढाहेगा?
अब तो आज्ञा की अम्ब, तुम्हारी बारी,
प्रस्तुत हूँ मैं भी धर्मधनुर्धृतिधारी।
जननी ने मुझको जना, तुम्हींने पाला,
अपने साँचे में आप यत्न से ढाला।
सबके ऊपर आदेश तुम्हारा मैया,
मैं अनुचर पूत, सपूत, प्यार का भैया।
बनवास लिया है मान तुम्हारा शासन,
लूँगा न प्रजा का भार, राज-सिंहासन?
पर यह पहला आदेश प्रथम हो पूरा,
वह तात-सत्य भी रहे न अम्ब, अधूरा--
जिस पर हैं अपने प्राण उन्होंने त्यागे,
मैं भी अपना व्रत-नियम निबाहूँ आगे।
निष्फल न गया माँ, यहाँ भरत का आना,
सिरमाथे मैंने वचन तुम्हारा माना।

सन्तुष्ट मुझे तुम देख रही हो वन में,
सुख धन-धरती में नहीं, किन्तु निज मन में।
यदि पूरा प्रत्यय न हो तुम्हें इस जन पर,
तो चढ़ सकते हैं राजदूत तो घन पर!"
"राघव, तेरे ही योग्य कथन है तेरा,
दृढ़ बाल-हठी तू वही राम है मेरा।
देखें हम तेरा अवधि मार्ग सब सह कर।"
कौसल्या चुप हो गई आप यह कह कर।
ले एक साँस रह गई सुमित्रा भोली,
कैकेयी ही फिर रामचन्द्र से बोली—
"पर मुझको तो परितोष नहीं है इससे,
हा! तब तक मैं क्या कहूँ सुनूँगी किससे?"
"जीती है अब भी अम्ब, ऊर्मिला बेटी;
इन चरणों की चिरकाल रहूँ मैं चेटी।"
"रानी, तूने तो रुला दिया पहले ही,
यह कह काँटों पर सुला दिया पहले ही।
आ, मेरी सबसे अधिक दुःखिनी, आ जा,
पिस मुझसे चंदन-लता मुझी पर छा जा!
हे वत्स, तुम्हें वनवास दिया मैंने ही,
अब उसका प्रत्याहार किया मैंने ही।"
"पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है,
लौटा कर वह कब कहाँ लिया जाता है?
क्यों व्यर्थ तुम्हारे प्राण खिन्न होते हैं,
वे प्रेम और कर्तव्य भिन्न होते हैं।
जाने दो, निर्णय करें भरत ही सारा—
मेरा अथवा है, कथन यथार्थ तुम्हारा।
मेरी-इनकी चिर पञ्च रहीं तुम माता,
हम दोनों के मध्यस्थ आज ये भ्राता।"

"हा आर्य! भरत के लिए और था इतना?"
"बस भाई, लो माँ, कहें और ये कितना?"
"कहने को तो है बहुत दुःख से सुख से,
पर आर्य! कहूँ तो कहूँ आज किस मुख से?
तब भी है तुमसे विनय, लौट घर जाओ।"
"इस 'जाओ' का क्या अर्थ, मुझे बतलाओ?"
"प्रभु, पूर्ण करूँगा यहाँ तुम्हारा व्रत मैं।"
"पर क्या अयोग्य, असमर्थ और अनिरत मैं?"
"यह सुनना भी है पाप, भिन्न हूँ क्या मैं?"
"इस शंका से भी नहीं खिन्न हूँ क्या मैं?—

हम एकात्मा हैं, तदपि भिन्न है काया।"
"तो इस काया पर नहीं मुझे कुछ माया।
सड़ जाय पड़ी यह इसी उटज के आगे,
मिल जायें तुम्हीं में प्राण आर्त्त अनुरागे।"
"पर मुझे प्रयोजन अभी अनुज उस तन का।"
"तो भार उतारो तात, तनिक इस जन का।
तुम निज विनोद में व्यथा छिपा सकते हो,
करके इतना आयास नहीं थकते हो।
पर मैं कैसे, किसलिए, सहूँ यह इतना?"
"मुझ जैसे मेरे लिए तुम्हें यह कितना?
शिष्टागम निष्फल नहीं कहीं होता है,
वन में भी नागरभाव-बीज बोता है।
कुछ देख रही है दूर दृष्टि-मति मेरी,
क्या तुम्हें इष्ट है वीर, विफल-गति मेरी?
तुमने मेरा आदेश सदा से माना,
हे तात, कहो क्यों आज व्यर्थ हठ ठाना?
करने में निज कर्त्तव्य कुयश भी यश है।"
"हे आर्य, तुम्हारा भरत अतीव अवश है।
क्या कहूँ और क्या करूँ कि मैं पथ पाऊँ?
क्षण भर ठहरो, मैं ठगा न सहसा जाऊँ।"

सन्नाटा-सा छा गया सभा में क्षण भर,
हिल सका न मानों स्वयं काल भी कण भर।
जाबालि जरठ को हुआ मौन दुःसह-सा,
बोले वे स्वजटिल शीर्ष डुला कर सहसा—
"ओहो! मुझको कुछ नहीं समझ पड़ता है,
देने को उल्टा राज्य द्वन्द्व लड़ता है।
पितृ-वध तक उसके लिए लोग करते हैं।"
"हे मुने, राज्य पर वही मर्त्य मरते हैं।"
"हे राम, त्याग की वस्तु नहीं वह ऐसी।"
"पर मुने, भाग की भी न समझिये वैसी।"
"हे तरुण, तुम्हें संकोच और भय किसका?"
"हे जरठ, नहीं इस समय आपको जिसका!"
"पशु-पक्षी तक हे वीर, स्वार्थ-लक्षी हैं।"
"हे धीर, किन्तु मैं पशु न आप पक्षी हैं!"
"मत की स्वतन्त्रता विशेषता आर्यों की,
निज मत के ही अनुसार क्रिया कार्यों की।
हे वत्स, विफल परलोक-दृष्टि निज रोको।"
"पर यही लोक हे तात, आप अवलोको।"

"यह भी विनश्य है, इसीलिए हूँ कहता।"
"क्या?—हम रहते, या राज्य हमारा रहता?"
"मैं कहता हूँ—सब भस्मशेष जब लोगो,
तब दुःख छोड़ कर क्यों न सौख्य ही भोगो?"
"पर सौख्य कहाँ है, मुने, आप बतलावें?"
"जनसाधारण ही जहाँ मानते आवें।"
"पर साधारण जन आप न हमको जानें,
जनसाधारण के लिए भले ही मानें।"
"यह भावुकता है।" "हमें इसीमें सुख है,
फिर पर-सुख में क्यों चारुवाक्य, यह दुख है?"
तब वामदेव ने कहा—"धन्य भावुकता,
कर सकता उसका मूल्य कौन है चुकता?
भावुक जन से ही महत्कार्य होते हैं,
ज्ञानी संसार असार मान रोते हैं।"
"किनसे विवाद हे आर्य, आप करते हैं?"
बोले लक्ष्मण—"ये सौख्य खोज मरते हैं!
सुख मिले जहाँ पर जिन्हें, स्वाद वे चक्खें,
पर औरों का भी ध्यान कृपा कर रक्खें।
शासन सब पर है, इसे न कोई भूले—
शासक पर भी, वह भी न फूल कर ऊले।"

हँस कर जावालि वसिष्ठ ओर तब हेरे,
मुसकाकर गुरु ने कहा—"शिष्य हैं मेरे!
मन चाहे जैसे और परीक्षा लीजे,
आवश्यक हो तो स्वयं स्वदीक्षा दीजे।"
प्रभु बोले—"शिक्षा वस्तु सदैव अधूरी,
हे भरतभद्र, हो बात तुम्हारी पूरी।"

"हे देव, विफल हो बार बार भी, मन की,—
आशा अटकी है अभी यहाँ इस जन की।
जब तक पितुराज्ञा आर्य यहाँ पर पालें,
तब तक आर्या ही चलें,—स्वराज्य सँभालें।"
"भाई, अच्छा प्रस्ताव और क्या इससे?
हमको-तुमको सन्तोष सभी को जिससे।"
"पर मुझको भी हो तब न?" मैथिली बोलीं—
कुछ हुई कुटिल-सी सरल दृष्टियाँ भोलीं।
"कह चुके अभी मुनि—'सभी स्वार्थ ही देखें।'
अपने मत में वे यहाँ मुझी को लेखें!"

"भाभी, तुम पर है मुझे भरोसा दूना,
तुम पूर्ण करो निज भरत-मातृ-पद ऊना।
जो कोसलेश्वरी हाय! वेश ये उनके ?
मण्डन हैं अथवा चिह्न शेष ये उनके ?"
"देवर, न रुलाओ आह, मुझे रोकर यों,
कातर होते हो तात, पुरुष होकर यों ?
स्वयमेव राज्य का मूल्य जानते हो तुम,
क्यों उसी धूल में मुझे सानते हो तुम ?
मेरा मण्डन सिन्दूर-विन्दु यह देखो,
सौ सौ रत्नों से इसे अधिक तुम लेखो।
शत चन्द्र-हार उस एक अरुण के आगे,
कब स्वयं प्रकृति ने नहीं स्वयं ही त्यागे ?
इस निज सुहाग की सुप्रभात वेला में,
जाग्रत जीवन की खण्डमयी खेला में,
मैं अम्बा-सम आशीष तुम्हें दूं, आओ,
निज अग्रज से भी शुभ्र सुयश तुम पाओ!"
"मैं अनुगृहीत हूँ, अधिक कहूँ क्या देवी,
निज जन्म जन्म में रहूँ सदा पद-सेवी।
हे यशस्विनी, तुम मुझे मान्य हो यश से,
पर लगें न मेरे वचन तुम्हें कर्कश-से।
तुमने मुझको यश दिया स्वयं श्रीमुख से,
सुख-दान करें अब आर्य बचाकर दुख से।
हे राघवेन्द्र, यह दास सदा अनुयायी,
है बड़ी दण्ड से दया अन्त में न्यायी!"
"क्या कुछ दिन तक भी राज्य भार है भाई ?
सब जाग रहे हैं, अर्द्धरात्रि हो आई।"
"हे देव भार के लिए नहीं रोता हूँ,
इन चरणों पर ही मैं अधीर होता हूँ।
प्रिय रहा तुम्हें यह दयाधृष्टलक्षण तो,
कर लेंगी प्रभु-पादुका राज्य-रक्षण तो।
तो जैसी आज्ञा, आर्य सुखी हों वन में,
जूझेगा दुख से दास उदास भवन में।
बस, मिलें पादुका मुझे, उन्हें ले जाऊँ,
बच उनके बल पर, अवधि-पार मैं पाऊँ।
हो जाय अवधि-मय अवध अयोध्या अब से,
मुख खोल नाथ कुछ बोल सकूं मैं सब से।"
"रे भाई, तूने रुला दिया मुझको भी,
शंका थी तुझसे यही अपूर्व अलोभी!
था यही अभीप्सित तुझे अरे अनुरागी,
तेरी आर्या के वचन सिद्ध हैं त्यागी!"

"अभिषेक अम्बु हो कहाँ अधिष्ठित, कहिए,
उसकी इच्छा है--यहीं तीर्थ बन रहिए।
हम सब भी कर लें तनिक तपोवन-यात्रा।"
"जैसी इच्छा, पर रहे नियत ही मात्रा।"
तब सबने जय जयकार किया मनमाना,
वंचित होना भी श्लाघ्य भरत का जाना।
पाया अपूर्व विश्राम साँस-सी लेकर,
गिरि ने सेवा की शुद्ध अनिल-जल देकर।
मूँदे अनन्त ने नयन धार वह झाँकी,
शशि खिसक गया निश्चिन्त हँसी हँस बाँकी।
द्विज चहक उठे, हो गया नया उजियाला,
हाटक-पट पहने दीख पड़ी गिरिमाला।
सिन्दूर-चढ़ा आदर्श-दिनेश उदित था,
जन जन अपने को आप निहार मुदित था।
सुख लूट रहे थे अतिथि विचर कर, गाकर--
'हम धन्य हुए इस पुण्यभूमि पर आकर।'
इस भाँति जनों के मनोमुकुल खिलते थे,
नव नव मुनि-दर्शन, प्रकृति-दृश्य मिलते थे।

गुरु-जन-समीप थे एक समय जब राघव,
लक्ष्मण से बोलीं जनकसुता साऽलाघव--
"हे तात, तालसम्पुटक तनिक ले लेना,
बहनों को वन-उपहार मुझे है देना।"
"जो आज्ञा,"--लक्ष्मण गये तुरन्त कुटी में,
ज्यों घुसे सूर्य-कर-निकर सरोज-पुटी में।
जाकर परन्तु जो वहाँ उन्होंने देखा,
तो दीख पड़ी कोणस्थ ऊर्मिला-रेखा।
यह काया है या शेष उसी की छाया,
क्षण भर उनकी कुछ नहीं समझ में आया!

"मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी।"
गिर पड़े दौड़ सौमित्रि प्रिया-पद-तल में,
वह भींग उठी प्रिय-चरण धरे दृग-जल में।

"वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझको निज योग्य।
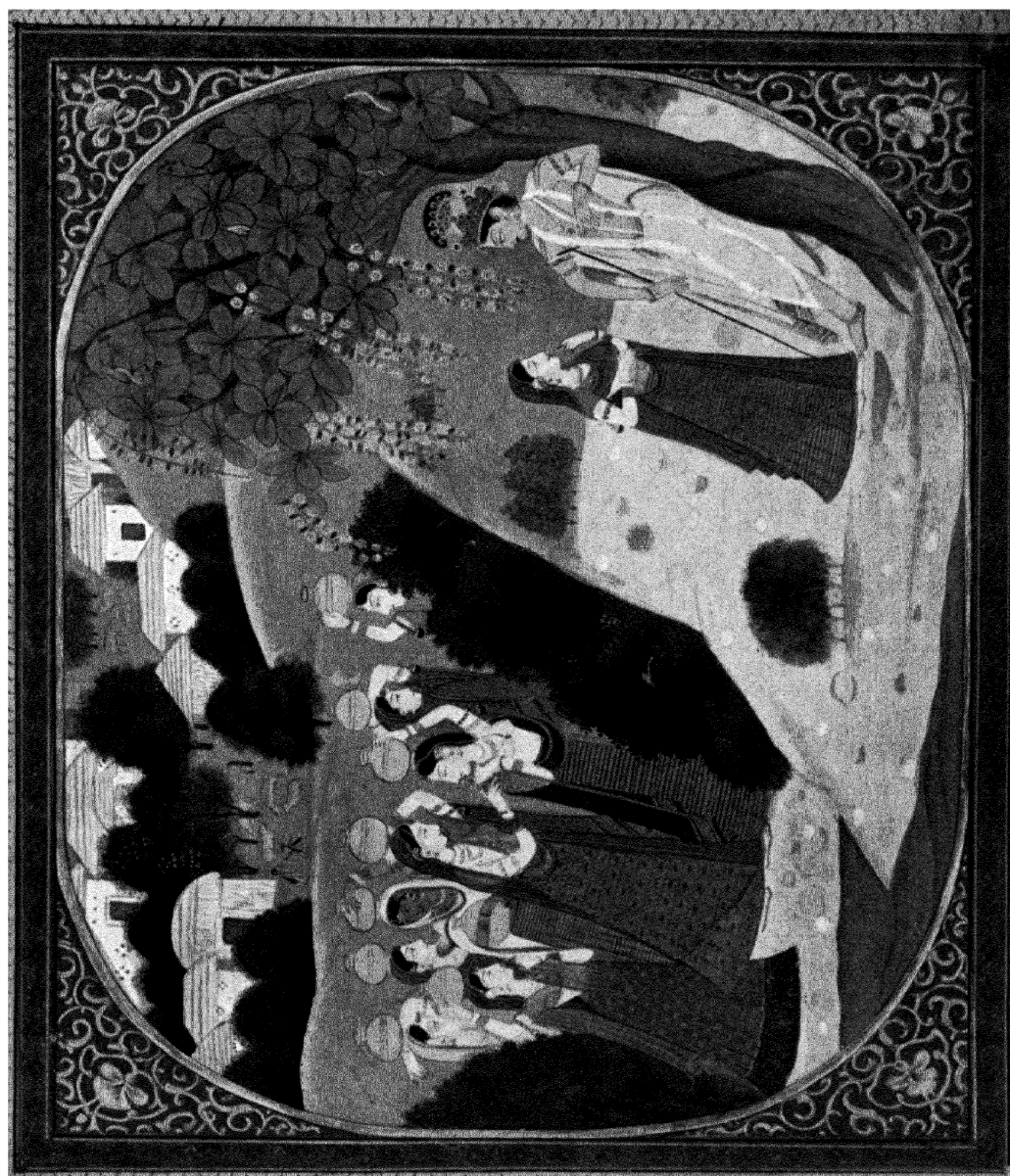
भाभी की भगिनी, तुम मेरे
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।"
"हा स्वामी! कहना था क्या क्या
कह न सकी, कर्मों का दोष!
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो
मुझे उसीमें है सन्तोष।"

एक घड़ी भी बीत न पाई,
बाहर से कुछ वाणी आई।
सीता कहती थीं कि—"अरे रे,
आ पहुँचे पितृपद भी मेरे!"

बनी आरती आप

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप!

आँखों में प्रिय-मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग!
आठ पहर चौंसठ घड़ी स्वामी का ही ध्यान,
छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्मज्ञान!

उस रुन्दती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से,
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के?

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे,
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे?

उसे बहुत थी विरह के एक दण्ड की चोट,
धन्य सखी देती रही निज यत्नों की ओट।

मिलाप था दूर अभी धनी का,
विलाप ही था बस का बनी का।
अपूर्व आलाप वही हमारा,
यथा विपंची—दिर दार दारा!

सींचें ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखा फूल फूलें यथेच्छ बढ़ के, फैलें लताएँ हरी।
क्रीड़ा-कानन-शैल यन्त्र-जल से संसिक्त होता रहे,
मेरे जीवन का, चलो सखि, वहीं सोता भिगोता बहे।

क्या क्या होगा साथ, मैं क्या बताऊँ ?
है ही क्या, हा ! आज जो मैं जताऊँ ?
तो भी तूली, पुस्तिका और वीणा,
चौथी मैं हूँ, पाँचवीं तू प्रवीणा !

हुआ एक दुःस्वप्न-सा सखि, कैसा उत्पात,
जगने पर भी वह बना वैसा ही दिन रात !
खान-पान तो ठीक है पर तदनन्तर हाय !
आवश्यक विश्राम जो उसका कौन उपाय ?

अरी, व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई,
हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई ?
वही पाक है, जो बिना भूख भावे,
बता किन्तु तू ही, उसे कौन खावे ?

बनाती रसोई, सभी को खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोंना-सलोंना ?

वन की भेंट मिली है, एक नई वह जड़ी मुझे जीजी से,
खाने पर सखि, जिसके गुड़ गोबर-सा लगे स्वयं ही जी से !

रस है बहुत, परन्तु सखि, विष है विषम प्रयोग,
बिना प्रयोक्ता के हुए, यहाँ भोग भी रोग !

लाई है क्षीर क्यों तू ? हठ मत कर यों, मैं पियूंगी न आली,
मैं हूँ क्या हाय ! कोई शिशु सफल हठी, रङ्क भी राज्यशाली ?
माना तूने मुझे है तरुण विरहिणी, वीर के साथ ब्याहा,
आँखों का नीर ही क्या कम फिर मुझको ? चाहिए और क्या हा !

चाहे फटा फटा हो, मेरा अम्बर अशून्य है आली,
आकर किसी अनिल ने भला यहाँ धूलि तो डाली !
धूलि-धूसर हैं तो क्या, यों तो मृण्मात्र गात्र भी,
वस्त्र ये वल्कलों से तो हैं सुरम्य, सुपात्र भी !

फटते हैं, मैले होते हैं, सभी वस्त्र व्यवहार से ;
किन्तु पहनते हैं क्या उनको हम सब इसी विचार से ?

पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि, पहन लूँ ला, सब करूँ ;
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो, मानूँ सो, किस विध बता, धीरज धरूँ ?
अरी, कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ।

रोती हैं और दूनी निरख कर मुझे दीन-सी तीन सासें,
होते हैं देवर श्री नत, हत बहनें छोड़ती हैं उसासें।
आली, तू ही बता दे, इस विजन बिना मैं कहाँ आज जाऊँ?
दीना, हीना, अधीना ठहर कर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ?

आई थी सखि, मैं यहाँ लेकर हर्षोल्लास,
जाऊँगी कैसे भला देकर यह निःश्वास?
कहाँ जायँगे प्राण ये लेकर इतना ताप?
प्रिय के फिरने पर इन्हें फिरना होगा आप।

साल रही सखि, माँ की झाँकी वह चित्रकूट की मुझको,
बोलीं जब वे मुझसे—'मिला न वन ही न भवन ही तुझको!'

जात तथा जामाता समान ही मान तात थे आये,
पर निज राज्य न मँझली माता को वे प्रदान कर पाये!

मिली मैं स्वामी से, पर कह सकी क्या संभल के?
बहे आँसू होके सखि, सब उपालम्भ गल के।
उन्हें हो आई जो निरख मुझको नीरव दया,
उसीकी पीड़ा का अनुभव मुझे हा! रह गया!

न कुछ कह सकी अपनी, न उन्हींकी पूछ मैं सकी भय से,
अपने को भूले वे, मेरी ही कह उठे सखेद हृदय से।

मिथिला मेरा मूल है और अयोध्या फूल,
चित्रकूट को क्या कहूँ, रह जाती हूँ भूल!

ओ गौरव-गिरि उच्च-उदार

सिद्ध-शिलाओं के आधार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

तुझ पर ऊँचे ऊँचे झाड़,
तने पत्रमय छत्र पहाड़!
क्या अपूर्व है तेरी आड़,
करते हैं बहु जीव विहार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार।

घिर कर तेरे चारों ओर,
करते हैं घन क्या ही घोर!
नाच नाच गाते हैं मोर,
उठती है गहरी गुंजार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

नहलाती है नभ की वृष्टि,
अंग पोंछती आतप-सृष्टि,
करता है शशि शीतल वृष्टि,
देता है ऋतुपति शृंगार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !

तू निर्झर का डाल दुकूल,
लेकर कन्द-मूल-फल-फूल,
स्वागतार्थ सबके अनुकूल,
खड़ा खोल दरियों के द्वार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !

सुदृढ़ धातुमय उपलशरीर,
अन्तःस्तल में निर्मल नीर,
अटल-अचल तू धीर-गभीर,
समशीतोष्ण, शान्ति सुखसार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !

विविध राग-रंजित, अभिराम,
तू विराग-साधन, वन-धाम,
कामद होकर आप अकाम,
नमस्कार तुझको शत बार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !

×

गृहवापी कहती है—'भरी रही, रिक्त क्यों न अब हूँगी ?
पङ्कज तुम्हें दिये हैं, और किसे पङ्क आज मैं दूंगी ?'
दिन जो मुझको देंगे, आलि, उसे मैं अवश्य ही लूंगी,
सुख भोगे हैं मैंने, दुःख भला क्यों न भोगूंगी ?
आलि, इसी वापी में हंस बने बार बार हम विहरे,
सुध कर उन छींटों की मेरे ये अङ्ग आज भी सिहरे।

×

कहती मैं, चातकि, फिर बोल,
ये खारी आँसू की बूंदें दे सकतीं यदि मोल !
कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलों की तोल ?
फिर भी फिर भी इस झाड़ी के झुरमुट में रस घोल।
श्रुति-पुट लेकर पूर्वस्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल,
देख, आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल !
जाग उठे हैं मेरे सौ सौ स्वप्न स्वयं हिल-डोल,
और सन्न हो रहे, सो रहे, ये भूगोल-खगोल।
न कर वेदना-सुख से वंचित, बढ़ा हृदय-हिन्दोल,
जो तेरे सुर में सो मेरे उर में कल-कल्लोल !

चातकि, मुझको आज ही हुआ भाव का भान।
हा! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान!
घूम उठे हैं शून्य में उमड़-घुमड़ घन घोर,
ये किसके उच्छ्वास से छाये हैं सब ओर?

×

बरसो परसो घन, बरसो,
सरसो जीर्ण शीर्ण जगती के तुम नव यौवन, बरसो।
घुमड़ उठो आषाढ़ उमड़ कर पावन सावन, बरसो।
भाद्र-भद्र, आश्विन के चित्रित हस्ति, स्वातिघन, बरसो।
सृष्टि दृष्टि के अंजन रंजन, ताप विभंजन, बरसो।
व्यग्र उदग्र जगज्जननी के, अयि अग्रस्तन, बरसो।
गत सुकाल के प्रत्यावर्तन हे शिखिनर्तन, बरसो।
जड़ चेतन में बिजली भर दो औ उद्बोधन, बरसो।
चिन्मय बनें हमारे मृण्मय पुलकांकुर बन, बरसो।
मन्त्र पढ़ो, छींटे दो, जागे सोये जीवन, बरसो।
घट पूरो त्रिभुवनमानस रस, कन कन छन छन, बरसो।
आज भींगते ही घर पहुँचें, जन जन के जन, बरसो।

×

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये!
फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरसाये,
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये!
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक सुहाये!
स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये!

×

भ्रमरी, इस मोहन मानस के
सुन, मादक हैं रस-भाव सभी,
मधु पीकर और मदान्ध न हो,
उड़ जा, बस है अब क्षेम तभी।
पड़ जाय न पङ्कज-बन्धन में,
निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी,
दिन देख नहीं सकते सविशेष
किसी जन का सुखभोग कभी!

×

शिशिर, न फिर गिरि-वन में,
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में।
कितना कम्पन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में।
सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में?

वीर, जमा दे नयन-नीर यदि तू मानस-भाजन में,
तो मोती-सा मैं अकिंचना रक्खूं उसको मन में।
हँसी गई, रो भी न सकूं मैं,—अपने इस जीवन में,
तो उत्कण्ठा है, देखूं फिर क्या हो भाव-भुवन में!

×

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर-विन्दु यह—यह हरनेत्र निहारो!
रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो!

×

सखि, मैं भव-कानन में निकली
बनके इसकी वह एक कली,
खिलते खिलते जिससे मिलने
उड़ आ पहुँचा हिल हेम-अली।
मुसकाकर आलि, लिया उसको,
तब लों यह कौन बयार चली,
'पथ देख जियो' कह गूंज यहाँ
किस ओर गया वह छोड़ छली?

×

अब जो प्रियतम को पाऊँ!
तो इच्छा है, उन चरणों की रज में आप रमाऊँ!
आप अवधि बन सकूं कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।
ऊषा-सी आई थी जग में, सन्ध्या-सी क्या जाऊँ?
श्रान्त पवन-से वे आवें, मैं सुरभि-समान समाऊँ!
मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ,
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ!
इधर अनल है और उधर जल, हाय! किधर मैं जाऊँ!
प्रबल वाष्प, फट जाय न यह घट, कह तो हाहा खाऊँ?

×

लाना, लाना, सखि, तूली!
आँखों में छवि भूली।
आ, अंकित कर उसे दिखाऊँ,
इस चिन्ता से निष्कृति पाऊँ,
डरती हूँ, फिर भूल न जाऊँ, मैं हूँ भूली-भूली,
लाना, लाना, सखि, तूली!

जब जल चुकी विरहिणी बाला,
बुझने लगी चिता की ज्वाला,
तब पहुँचा विरही मतवाला, सती-हीन ज्यों शूली।
लाना, लाना, सखि, तूली !
झुलसा तरु मरमर करता था,
झड़ निर्झर झरझर करता था,
हत विरही हरहर करता था, उड़ती थी गोधूली।
लाना, लाना, सखि, तूली !
ज्यों ही अश्रु चिता पर आया,
उग अंकुर पत्तों से छाया।
फूल वही वदनाकृति लाया, लिपटी लतिका फूली !
लाना, लाना, सखि, तूली !

मर्यादा पुरुषोत्तम का अयोध्या आगमन

भर कर श्वासोच्छ्वास अयोध्या-वासी जागे,
दीख पड़े गुरुदेव सभीको अपने आगे।
बोले मुनि—"सब लोग सजाओ अपने मन्दिर,
अपनी उस चिर-अजिर-मूर्ति को पाओ फिर फिर।"
गूँजा जय जय नाद, गर्व छाया जन जन में,
वह उमड़ा उत्साह लगा स्वागत-साधन में।
सैन्यजनों ने फेंट अनिच्छा पूर्वक खोली,
"निकली नहीं उमङ्ग?" वीर-बधुएँ हँस बोलीं—
"वानर यश ले गये!" "प्रिये, देखा है सब तो,
अश्वमेध की बाट जोहनी होगी अब तो!"

मज्जन पूर्वक सुधा नीर से पुरी नहाई,
उस पर उसने वर्ण वर्ण की भूषा पाई।
लिख बहु स्वागत-वाक्य सुपरिचय दे रति-मति का,
वासकसज्जा बनी देखती थी पथ पति का!

आया, आया, किसी भाँति वह दिन भी आया,
जिसमें भव ने विभव, गेह ने गौरव पाया।
आये पुरा-प्रसाद-रूप-से मारुति पुर में,
प्रकटे फिर, जो छिपे हुए थे सबके उर में।
अपनों के ही नहीं, परों के प्रति भी धार्मिक,
कृती प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग-मर्यादा-मार्मिक,
राजा होकर गृही, गृही होकर सन्यासी,
प्रकट हुए आदर्श-रूप घट घट के वासी।

पाया, हाँ, आकाश-कुसुम भी हमने पाया,
फैलाता निज गन्ध गगन में पुष्पक आया।
अगणित नेत्र-मिलिन्द उड़े, प्रभु गुण-रव-छाया,
मानुष-मानस लाख तरङ्गों से लहराया!

भुक्ति विभीषण और मुक्ति रावण को देकर,
विजय-सखी के सङ्ग शुद्ध सीता को लेकर—
दाक्षिणात्य-लंकेश अतिथि लाकर मन भाये,
आतिथेय ही बने लक्ष्मणाग्रज घर आये।
भरत और शत्रुघ्न नगर तोरण के आगे,
मानों थे प्रतिविम्ब प्रथम ही उनके जागे।
कहा विभीषण ने सुकंठ से सुध-सी खोकर—
"प्रकटित सानुज राम आज दुगुने-से होकर!"
वर विमान से कूद, गरुड़ से ज्यों पुरुषोत्तम,
मिले भरत से राम क्षितिज में सिन्धु-गगन-सम!
"उठ, भाई, तुल सका न तुझसे, राम खड़ा है,
तेरा पलड़ा बड़ा, भूमि पर आज पड़ा है!
गये चतुर्दश वर्ष, थका मैं नहीं भ्रमण में,
विचरा गिरि-वन-सिन्धु-पार लङ्का के रण में।
श्रान्त आज एकान्त-रूप-सा पाकर तुझको,
उठ, भाई, उठ, भेंट, अङ्क में भर ले मुझको!
मैं वन जाकर हँसा, किन्तु घर आकर रोया,
खोकर रोये सभी, भरत, मैं पाकर रोया।"
"आर्य, यही अभिषेक तुम्हारे भृत्य भरत का,
अन्तर्वाह्य अशेष आज कृतकृत्य भरत का।"
पूरी भी थीं युगल मूर्त्तियाँ अब तक ऊनी,
मिल होकर भी एक, हर्षमय थीं अब दूनी।
हिल हिल कर मिल गईं परस्पर लिपट जटाएँ,
मुख-चन्द्रों पर झूम रही थीं घूम घटाएँ।

साधु भरत के अश्रु गिरें चरणों में जब लों,
नयनों में ही भरे सती सीता ने तब लों।
लता-मूल का सिंचा सलिल फूलों में फूटा,
फैला वह रस-गन्ध सर्वदा सबने लूटा।
देवर-भाभी मिले, मिले सब भाई भाई,
बरसे भू पर फूल, जयध्वनि ऊपर छाई।
भरत मिले सुग्रीव-विभीषण से यह कह कर—
'सफल बन्धु-सम्बन्ध हमारा तुममें रह कर।'

पैदल ही प्रभु चले भीड़ के संग पुरी में,
संघर्षित थे आज अंग से अंग पुरी में।
अहा! समाई नहीं अयोध्या फूली फूली,
तब तो उसमें भीड़ अमाई ऊली ऊली!
पुरकन्याएँ खील-फूल-धन बरसाती थीं,
कुल-ललनाएँ धरे भरे शुभ घट, गाती थीं—
"आज हमारे राम हमारे घर फिर आये,
चारों फल हैं इसी लोक में हमने पाये।"
द्वार द्वार पर झूल रही थीं शुभ मालाएँ,
झलती थीं ध्वज-व्यजन शील-शीला शालाएँ।
राज-मार्ग में पड़े पाँवड़े फूल भरे थे,
छत्र लिये थे भरत, चौंर शत्रुघ्न धरे थे।
माताओं के भाग आज सोते से जागे,
पहुँचे पहुँचे राम राज-तोरण के आगे।
न कुछ कह सकीं, न वे देख ही सकीं सुतों को,
रोकर लिपटीं उठा उठा उन प्रणति-युतों को।
काँप रही थीं हर्ष-भार से तीनों थर थर,
लुटा रही थीं रत्न आज वे तीनों भर भर।
लिए आरती वे उतारती थीं तीनों पर,
क्या था, जिसे न आज वारती थीं तीनों पर।
दिन था मानों यही बधू-वर के लेने का,
जो जिसको हो इष्ट, वही उसको देने का।
"बहू, बहू, वैदेहि, बड़े दुख पाये तूने।"
"माँ, मेरे सुख आज हुए हैं दूने दूने।"
"आया फिर तू राम, कोख में मानों मेरी,
लक्ष्मण, मेरी गोद रहे शिशु-शैया तेरी।"
"जन्म जन्म में यही कोख जननी, मैं पाऊँ।"
"माँ, मैं लक्ष्मण इसी गोद में पलता आऊँ।"
सुप्रभ प्रभु ने कहा सुमित्रा से नत होकर—
"पाया मैंने अम्ब, पुनः लक्ष्मण को खोकर।
रख न सका मैं हाय! दिया मुझको जो तुमने,
धन्य तुम्हारा पुण्य, प्राण पाये इस द्रुम ने।"
"किन्तु तुम्हें ही सौंप चुकी हूँ राम इसे मैं,
लूँ फिर कैसे उसे, दे चुकी आप जिसे मैं?
लिया अन्य का भार भरत ने, मैं अब हलकी,
तुमको पाया, रही कामना फिर किस फल की?"

समझी प्रभु ने कसक भरत-जननी के मन की,
"मूल शक्ति माँ, तुम्हीं सुयश के इस उपवन की।

फल, सिर पर ले धूल, दिये तुमने जो मीठे
उनके आगे हुए सुधा के घट भी सीठे।"
"भागी हो तुम वत्स राम रघुवर, भव भर के,
कैकेयी के दोष लिये तुमने गुण करके।
ढोया जीवन-भार, दुःख ही ढाया मैंने,
पाकर तुम्हें परन्तु भरत को पाया मैंने!"
मिल बहनों से हुई चौगुनी सचमुच सीता,
गाई प्रभु ने बधू ऊर्मिला की गुण-गीता--
"तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर
धर्मस्थापन किया भाग्यशालिनि, इस भू पर!"

मानों मज्जित हुई पुरी जय जय के रव में,
पुरजन, परिजन लगे इधर अभिषेकोत्सव में।
पाई प्रभु से इधर नई छवि राज-भवन ने,
सागर का माधुर्य पी लिया मानों घन ने!
पाकर अहा! उमंग ऊर्मिला-अंग भरे थे,
आली ने हँस कहा--"कहाँ ये रंग भरे थे?
सुप्रभात है आज, स्वप्न की सच्ची माया!
किन्तु कहाँ वे गीत, यहाँ जब श्रोता आया!
फड़क रहा है वाम नेत्र, उच्छ्वसित हृदय है,
अब भी क्या तन्वंगि, तुम्हें संशय या भय है?
आओ, आओ, तनिक तुम्हें सिंगार सजाऊँ,
बरसों की मैं कसक मिटाऊँ, बलि बलि जाऊँ।"
"हाय! सखी, शृङ्गार? मुझे अब भी सोहेंगे?
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे?
मैंने जो वह 'दग्ध-वर्तिका' चित्र लिखा है,
तू क्या उसमें आज उठाने चली शिखा है?
नहीं, नहीं, प्राणेश मुझीसे छले न जावें,
जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।
शूर्पणखा मैं नहीं--हाय, तू तो रोती है!
अरी, हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है।"
"किन्तु देख यह वेश दुखी होंगे वे कितने?"
"तो, ला भूषण-वसन, इष्ट हों तुझको जितने।
पर यौवन-उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं?
वह खोया धन आज कहाँ सखि, पाऊँगी मैं?"
"अपराधी-सा आज वही तो आने को है,
बरसों का यह दैन्य सदा को जाने को है।
कल रोती थीं आज मान करने बैठी हो,
कौन राग यह, जिसे गान करने बैठी हो?

रवि को पाकर पुनः पद्मिनी खिल जाती है,
पर वह हिमकण बिना कहाँ शोभा पाती है?"
"तो क्या आँसू नहीं सखी, अब इन आँखों में?
फूटें, पानी न हो बड़ी भी जिन आँखों में!"
"प्रीति-स्वाति का पिया शुक्ति बन बन कर पानी,
राजहंसिनी, चुनो रीति-मुक्ता अब रानी!"
"विरह रुदन में गया, मिलन में भी मैं रोऊँ,
मुझे और कुछ नहीं चाहिए, पद-रज धोऊँ।
जब थी तब थी आलि, ऊर्मिला उनकी रानी,
वह बरसों की बात आज हो गई पुरानी!
अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी,
मैं शासन की नहीं, आज सेवा की प्यासी।
युवती हो या आलि, ऊर्मिला बाला तन से,
नहीं जानती किन्तु स्वयं, क्या है वह मन से!
देखूं, कह, प्रत्यक्ष आज अपने सपने को,
या सजबज कर आप दिखाऊँ मैं अपने को?
सखि, यथेष्ट है यही धुली धोती ही मुझको,
लज्जा उनके हाथ, व्यर्थ चिन्ता है तुझको।
उछल रहा यह हृदय अंक में भर ले आली,
निरख तनिक तू आज ढीठ सन्ध्या की लाली!
मान करूँगी आज? मान के दिन तो बीते,
फिर भी पूरे हुए सभी मेरे मनचीते।
टपक रही वह कुञ्ज-शिला वाली शेफाली,
जा नीचे, दो चार फूल चुन, ले आ डाली!
वनवासी के लिए सुमन की भेंट भली वह!"
"किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये, अली यह!"
देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखी किधर थी?
पैरों पड़ती हुई ऊर्मिला हाथों पर थी!

लेकर मानों विश्व-विरह उस अन्तःपुर में,
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में।
रोक रही थी उधर मुखर मैना को चेरी—
'यह हत हरिणी छोड़ गये क्यों नये अहेरी।'
"नाथ, नाथ, क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया?"
"प्रिये, प्रिये, हाँ आज—आज ही—वह दिन आया।
मेघनाद की शक्ति सहन करके यह छाती,
अब भी क्या इन पाद-पल्लवों से न जुड़ाती?
मिला उसी दिन किन्तु तुम्हें मैं खोया खोया,
जिस दिन आर्या बिना आर्य का मन था रोया।

पूर्ण रूप से सुनो, तुम्हें मैंने कब पाया,
जब आर्या का हनूमान ने विरह सुनाया !
अब तक मानों जिसे वेषभूषा में टाला,
अपने को ही आज मुझे तुमने दे डाला।
आँखों में ही रही अभी तक तुम थीं मानों,
अन्तस्तल में आज अचल निज आसन जानों।
परिधि-विहीन सुधांशु-सदृश सन्ताप-विमोचन,
धूल रहित, हिम-धौत सुमन-सा लोचन-रोचन,
अपनी द्युति से आप उदित, आडम्बर त्यागे,
धन्य अनावृत-प्रकृत-रूप यह मेरे आगे।
जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप कामी,
कह सकती हो आज उसे तुम अपना स्वामी।"
"स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के स्वामी मेरे !
किंतु कहाँ वे अहोरात्र, वे साँझ-सबेरे !
खोई अपनी हाय ! कहाँ वह खिल खिल खेला ?
प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती बेला ?"
काँप रही थी देह-लता उसकी रह रह कर,
टपक रहे थे अश्रु कपोलों पर बह बह कर।
"वह वर्षा की बाढ़, गई, उसको जाने दो,
शुचि-गभीरता प्रिये, शरद की यह आने दो।
धरा-धाम की राम-राज्य की जय गाने दो,
लाता है जो समय प्रेम-पूर्वक, लाने दो।

तुम सुनो, सदैव समीप है—
जो अपना आराध्य है।
आओ, हम साधें शक्ति भर,
जो जीवन का साध्य है।

अलक्ष की बात अलक्ष जाने
समक्ष को ही हम क्यों न मानें ?
रहे वहीं प्लावित प्रीति-धारा,
आदर्श ही ईश्वर है हमारा।"

स्वच्छतर अम्बर में छन कर आ रहा था
स्वादु-मधु-गन्ध से सुवासित समीर-सोम,
त्यागी प्रेम-याग के व्रती वे कृती जायापती
पान करते थे गल बाँह दिये, आपा होम।

क्षुद्र कास-कुश से लगा कर समुद्र तक,
मेदिनी में किसका था मुदित न रोम रोम ?
समुदित चन्द्र किरणों का चौंर ढारता था,
आरती उतारता था दिव्य दीप वाला व्योम !

•

द्वापर

मंगलाचरण

धनुर्बाण वा वेणु लो श्याम-रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा राम ! दूसरा रंग ।

श्रीकृष्ण

राम-भजन कर पाञ्चजन्य ! तू,
वेणु बजा लूँ आज अरे,
जो सुनना चाहे सो सुन ले,
स्वर ये मेरे भाव भरे--
कोई हो, सब धर्म छोड़ तू
आ, बस मेरी शरण धरे,
डर मत, कौन पाप वह, जिससे
मेरे हाथों तू न तरे ?

राधा

शरण एक तेरे मैं आई,
धरे रहें सब धर्म हरे !
बजा तनिक तू अपनी मुरली,
नाचें मेरे मर्म हरे !
नहीं चाहती मैं विनिमय में
उन वचनों का वर्म हरे !
तुझको--एक तुझीको--अर्पित
राधा के सब कर्म हरे !
यह वृन्दावन, यह वंशीवट,
यह यमुना का तीर हरे !
यह तरते ताराम्बर वाला
नीला निर्मल नीर हरे !
यह शशिरंजितसितघन-व्यंजित,
परिचित, त्रिविध समीर हरे !
बस, यह तेरा अंक और यह
मेरा रंक शरीर हरे !
कैसे तुष्ट करेगी तुझको,
नहीं राधिका बुधा हरे !
पर कुछ भी हो, नहीं कहेगी
तेरी मुग्धा मुधा हरे !
मेरे तृप्त प्रेम से तेरी
बुझ न सकेगी क्षुधा हरे !
निज पथ धरे चला जाना तू,
अलं मुझे सुधि-सुधा हरे !
सब सह लूँगी--रो रो कर मैं,
देना मुझे न बोध हरे !
इतनी ही विनती है तुझसे,
इतना ही अनुरोध हरे !

क्या ज्ञानापमान करती हूँ,
कर न बैठना क्रोध हरे!
भूले तेरा ध्यान राधिका,
तो लेना तू शोध हरे!
झुक, वह वाम कपोल चूम ले
यह दक्षिण अवतंस हरे!

मेरा लोक आज इस लय में
हो जावे विध्वंस हरे!
रहा सहारा इस अन्धी का
बस यह उन्नत अंस हरे!
मग्न अथाह प्रेम-सागर में
मेरा मानस-हंस हरे!

यशोदा

मेरे भीतर तू बैठा है,
बाहर तेरी माया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

मेरे पति कितने उदार हैं,
गद्गद हूँ यह कहते—
रानी-सी रखते हैं मुझको,
स्वयं सचिव-से रहते।

इच्छा कर, झिड़कियाँ परस्पर
हम दोनों हैं सहते,
थपकी-से हैं अहा! थपेड़े,
प्रेमसिन्धु में बहते।

पूर्णकाम मैं, बनी रहे बस
तेरी छत्रच्छाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

जिये बाल-गोपाल हमारा,
वह कोई अवतारी;
नित्य नये उसके चरित्र हैं,
निर्भय विस्मयकारी।

पड़े उपद्रव की भी उसके
कब-किसके घर वारी,
उलही पड़ती आप, उलहना
लाती है जो नारी।

उतर किसी नभ का मृगांक-सा
इस आँगन में आया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

गायक बन बैठा वह, मुझसे
रोता कंठ मिला के;
उसे सुलाती थी हाथों पर
जब मैं हिला हिला के।

जीने का फल पा जाती हूँ
प्रतिदिन उसे खिला के;
मरना तो पा गई पूतना,
उसको दूध पिला के!

मन की समझ गया वह समझो,
जब तिरछा मुसकाया!
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

खाये बिना मार भी मेरी
वह भूखा रहता है!
कुछ ऊधम करके तटस्थ-सा
मौन भाव गहता है।

आते हैं कल-कल सुन कर वे,
तो हँस कर कहता है—
'देखो यह झूठा झुँझलाना,
क्या सहता-सहता है!'

हँस पड़ते हैं साथ साथ ही
हम दोनों पति-जाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

मैं कहती हूँ—बरजो इसको,
नित्य उलहना आता,
घर की खाँड़ छोड़ यह बाहर
चोरी का गुड़ खाता।

वे कहते हैं—'आ मोहन, अब
अफरी तेरी माता;
स्वादु बदलने को न अन्यथा
मुझे बुलाया जाता!'

वह कहता है—'तात, कहाँ-कब
मैंने खट्टा खाया?'
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

मेरे श्याम-सलौने की है,
मधु से मीठी बोली,
कुटिल अलक वाले की आकृति
है क्या भोली-भोली!

मृग-से दृग हैं, किन्तु अनी-सी
तीक्ष्ण दृष्टि अनमोली,
बड़ी कौन-सी बात न उसने
सूक्ष्म बुद्धि पर तोली?

जन्म जन्म का विद्या-बल है
संग संग वह लाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

उसका लोकोत्तर साहस सुन,
प्राण सूख जाता है;
किन्तु उसी क्षण उसके यश का
नूतन रस पाता है।

अपनों पर उपराग देख कर
वह आगे आता है;
उलझ नाग से, सुलझ आग से,
विजय-भाग लाता है।

'धन्य कन्हैया, तेरी मैया!'
आज यही रव छाया,
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

काली-दह में तू क्यों कूदा,
डाँटा तो हँस बोला—
"तू कहती थी—'और चुराना
तुम मक्खन का गोला।

छींके पर रख छोड़ेंगी सब
अब भिड़-भरा मठोला!'
निकल उड़ीं वे भिड़ें प्रथम ही;
भाग बचा मैं भोला!"

बलि जाऊँ! वंचक ने उलटा
मुझको दोष लगाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

उसे व्यापती है तो केवल
यही एक भय-बाधा—
"कह दूँगी, खेलेगी तेरे
संग न मेरी राधा।

भूल जायगा नाच-कूद सब,
धरी रहेगी धा-धा।
हुआ तनिक उसका मुँह भारी
और रहा तू आधा!"

अर्थ बताती है राधा ही,
मुरली ने क्या गाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

बना रहे वृन्दावन मेरा,
क्या है नगर-नगर में!
मेरा सुरपुर बसा हुआ है
व्रज की डगर-डगर में।

प्रकट सभी कुछ नटनागर की
जगती जगर-मगर में;
कालिन्दी की लहर बसी है
क्या अब अगर-तगर में।

चाँदी की चाँदनी, धूप में
जातरूप लहराया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

अहा! घास में भी सुवास है,
भूमि हरी जब मेरी;
गायों-भरा गोठ, गायें हैं
दूध-भरी सब मेरी।

बनी गिरस्ती क्षीरोदधि की
पूर्ण तरी अब मेरी;
मैं तेरी चेरी, पर पटतर
कौन नरी कब मेरी?

गर्व नहीं, यह कृतज्ञता है,
मैंने जिसे जनाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

बाहर में जन-मान्य और धन-
धान्य-पूर्ण घर मेरा;
पाया है, तब देने को भी
प्रस्तुत है कर मेरा।

लहराता है गहरा गहरा
यह मानस-सर मेरा;
वही मराल बना है इसमें,
जो इन्दीवर मेरा।

मुक्ति शुक्ति-सी पली युक्ति से,
भुक्ति-भाग मन-भाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

ग्वाल-बाल

अरे, पलट दी है काया ही
इस केशव ने काल की;
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

अति कर दी अच्युत ने आहा!
भर दी गति-मति और ही;
कर लेता है ठीक ठिकाना
वह चाहे जिस ठौर ही।

नागर-नटवर होकर भी वह
हम सबका सिरमौर ही;
हम हाथी-घोड़े हैं उसके;
यमुना उसकी पालकी!

बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।
हम मृग, वह मद, किन्तु भ्रमर हैं
हम उसके सम्बन्ध से;

भागें भय के कीट आप ही
उस गुण-धर के गन्ध से।
गिरे असुर आ आकर कितने
द्रोह-मोह-वश अन्ध-से;

तुलना हो सकती है उसकी
छाती से किस ढाल की?
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

मुरली है अपूर्व असि उसकी,
विजयी है वह प्रेम का;
वह गोधन का धनी, हाथ है
उस उदार का हेम का।

शिखि-शेखर को ध्यान सदा है,
सबके योग-क्षेम का;
राधा चिढ़े, श्यामता हरि की
है उसके विधु-भाल की!

बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।
खेल उसीका, वही खिलाड़ी
और खिलौना भी वही;

खेलें उसके संग सदा हम,
इष्ट हमें बस है यही।
हार-जीत का निर्णय राधा
करती रहे सही-सही;

चिन्ता करे बलाय हमारी
जगती के जंजाल की!
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

चोरों की है या विनोद के
धनियों की यह मंडली?
घर का भद्र जहाँ भेदी है,
वहाँ किसी की क्या चली।
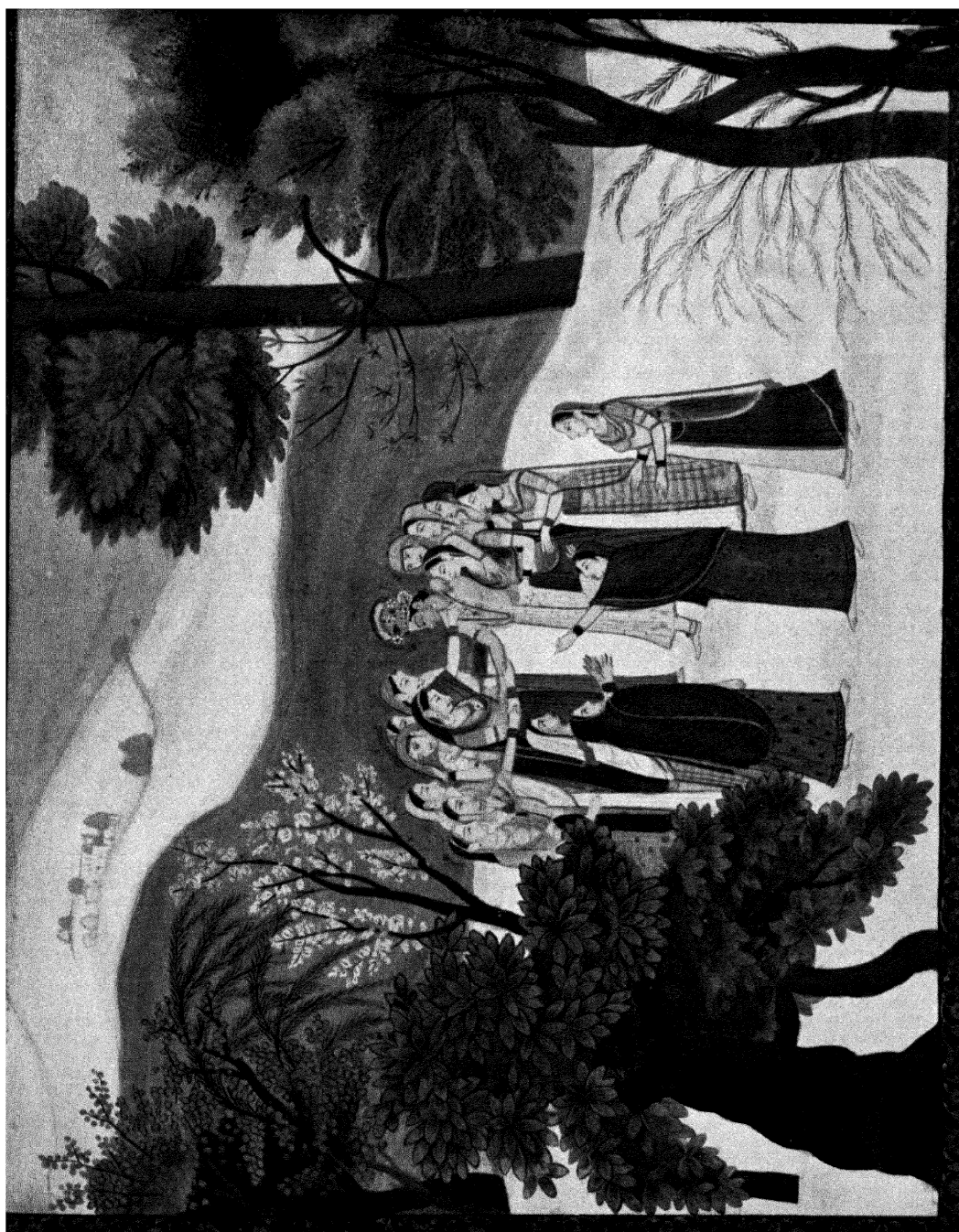
चढ़ जाने में कुशल और हम
कूद भागने में बली;
रस की तो है भली लूट भी,
सो भी ऊँची डाल की!
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

उस दिन वहीं हमें न मिला कुछ,
यज्ञ हो रहा था जहाँ;
द्विज न पसीजे, द्विजस्त्रियाँ ही
बनीं अन्नपूर्णा वहाँ।
माँ की जाति किसी बच्चे को
भूखा देख सकी कहाँ?
भेजा उनके निकट, सूझ थी
यह किस बुद्धिविशाल की?
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

हाय! एक द्विज ने दानव बन
निज देवी को धर लिया;
क्या चांडाल रूप धारण कर
कुछ न हमें देने दिया!
मरी वराकी, किन्तु मरण ने
उसके मंगल ही किया;
भागी हिंसा और भीति वह
स्वयं इन्द्र के जाल की!
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

उठा लिया सचमुच पहाड़ ही
गौरवमय गोविन्द ने;
फूला इन्द्र और उसका रस
पिया मुकुन्द-मिलिन्द ने!
झलकाये कुछ कण हिम-से बस
उसके मुख-अरविन्द ने;
गोवर्द्धन की दरियाँ थीं या
पुरियाँ वे पाताल की?
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

इतना करके भी बस हँस कर
यही कहा बलवीर ने—
'राधा जो न भरे नयनों में,
प्रलय किया था नीर ने!'
किन्तु पुलक ही दी राधा के
कोमल कुसुम-शरीर ने;
फिर भी तिरछी होकर उसने
भृकुटी कुटिल-कराल की!
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

वह गरुड़ध्वज मत्स्य न था, जो
चला बकासुर लीलने;
अघ-अजगर से हमें बचाया
उसी अलौकिक शील ने।
विष ही झाड़ दिया कालिय का
सहृदय सदय सलील ने;
आग पिये था, इस पानी से
हुई शान्ति ही ज्वाल की!
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

यमुना बहा ले गई, पानी
उतर गया सुरराज का;
अन्त प्रलय का भी है आहा!
और वही दिन आज का।
हरियाली ही हरियाली है,
जब नव जन्म समाज का;
अब फिर बजे चैन की वंशी
उस माई के लाल की!
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

निर्मल-नीलाकाश हासमय
चमके चन्द्र-विकास में;
दमके कल-जल, गमके थल-थल
कोमल कुसुम-सुवास में।
लय से बँधा अराल-काल भी।
डूबे रासोल्लास में;
घूमें भूमण्डल भी गति से
सम भर कर स्वर-ताल की!
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

कुब्जा

कंसराज के लिए ले चली
फूल और चन्दन मैं,
पहुँच पार्श्व से बोला पथ में—
"शुभे, नन्दनन्दन मैं।

किसके लिए लिये जाती हो
तुम पूजा की थाली?"
यह कह कर क्या जाने, कैसे
मुसकाया वनमाली।

रवि-शशि लटके रहें शून्य में,
उसमें सार भरा था;
धन्य, धरा ने ही उस धन का
गौरव-भार धरा था।

अथवा अपने पैरों पर ही
खड़ा आप वह नर-वर;
बची रसातल जाने से यह
धरा वही पद धर कर।

कसी क्षीण कटि, पीन वक्ष था,
कच कन्धरा ढँके थे;
स्वर्ण-वर्ण के उत्तरीय में
चित्रित रत्न टँके थे।

दुगुने-से दो भुज विशाल थे
पार्श्व छीलते-छिलते;
गंड-द्युति-मण्डल से मण्डित
श्रुति-कुंडल थे हिलते।

चिबुक देख फिर चरण चूमने
चला चित्त चिर चेरा;
वे दो ओंठ न थे, राधे, था
एक फटा उर तेरा!

फिर भी उसके दन्त-हास में
मोती खो जावेंगे;
उस नासा को निरख कुटिल भी
सीधे हो जावेंगे।

देख लिया मैंने सहस्रदल
ले उस मुख की झाँकी;
वृद्ध न होकर बाल बनी थी
पलट प्रौढ़ता बाँकी!

उन काली आँखों में कैसी
उजली दृष्टि निहारी;
जान पड़ा व्रज-कुंज-विहारी
मुझको विश्व-विहारी!

श्याम-रूप, हो न हो, राम ही
पुनः आप आया वह;
पर इस कंसपुरी में भी क्यों
नहीं चाप लाया वह?

हृदय सशंक हुआ पर आहा!
वंक भृकुटियाँ तीखी,
निज विलास में विश्व नचाती,
वंशीधर की दीखी।

मेरे मन की मूर्त्ति ढली थी
उसके साँचे में वह;
खेल रहा था नारायण ही
नर के ढाँचे में वह।

मोर-पंख भी मुकुट बना था
उसके अपनाने से;
सिंह पुरुष बन जाय हाय! वह
पीताम्बर पाने से!

पड़ी तरल यमुना तरंगिणी
घनी खड़ी हो जावे,
तो उस अंग-भंगिमा का कुछ
रंग-ढंग वह पावे।

वह सजीव रचना थी युग की
पल में आकर झलकी;
नहीं समाई जड़-जंगम में
छवि उसकी जो छलकी!

काम-रूप धारी वह जलधर
जगमग ज्योतिर्मय था;
घन होकर भी सहृदय था वह;
निर्भय किन्तु सदय था।

ललित-गभीर तदपि चंचल-सा
वह विस्फूर्ति-भरा था;
मूर्ति मन्त भव-भद्र भाद्र-सा
श्यामल हरा हरा था।

राधा ने पहनाया होगा
वह रण-कंकण उसको;
और मिल चुकी थी जय निश्चय
वहीं उसी क्षण उसको।

व्रजरानी के विजयी वर के
धरे चरण ही चेरी;
पर अपने अतिरिक्त भेंट क्या
हो सकती है मेरी?

देखा मैंने, देव आज ही
मेरे आगे आया;
अब तक दानव-पूजन में ही
मैंने जन्म गँवाया।

मैं ऊँची न हो सकी, फिर भी
हिलते हाथ बढ़ाये;
माथे पर चन्दन, चरणों पर
मैंने फूल चढ़ाये।

बायें कर से सिर सँभाल कर
धर दायें से ठोड़ी,
किया मुझे उत्कर्षित उसने,
शक्ति लगा कर थोड़ी।

देख पैर उठते, चरणों से
हँस कर इन्हें दबाया;
मैं उठ गई और कूबड़ का
मैंने पता न पाया!

चमक गई बिजली-सी भीतर,
नस-नस चौंक पड़ी थी;
तनी, जन्म की कुब्जा क्षण में
सरला बनी खड़ी थी।

चिबुक हिला कर छोड़ मुझे फिर
मायावी मुसकाया;
हुआ नया प्रिस्पन्दन उर में,
पलट गई यह काया।

मैं ही नहीं, सृष्टि ही सारी,
पलट गई थी पल में;
उतर इन्द्र का नन्दन वन-सा
छाया था भूतल में।

इस भव में रस और भाग था
मेरा भी उस रस में;
छूटे स्रोत, साथ ही शतदल
फूटे इस मानस में।

सत्य हुआ मैं देख रही थी
अनदेखे सपने को;
आत्म-ग्लानि छोड़ कर मैंने
देखा तब अपने को।

"अब फिर कभी मिलूँगा" कह कर
हँसता चला गया वह;
ज्यों ज्यों दूर गया, मानस में
धँसता चला गया वह!

धरती ही देखी थी मैंने,
पृष्ठ-भार से झुक कर;
अब ऊँची ग्रीवा कर सीधे
देखा नभ रुक रुक कर।

ओ हो! वही सुनील वर्ण था
उसी मदन-मोहन का;
एक पक्षिणी-तुल्य ठौर ही
बहुत वहाँ इस जन का।

हरा-भरा भूतल भी ऐसा
देखा मैंने कब था;
शस्यश्यामला वर्ण वहाँ भी
उसी श्याम का अब था।

अहा! उसीमें एक कुसुम-सा
यह जन भी खिल जावे;
मुझे और कुछ नहीं चाहिए,
बस इतना मिल जावे।

देखा मैंने, रँगा उसीके
रँग में निर्मल जल है;
अनल उसीकी आभा धारे,
अनिल गंध-गति-बल है।

एक तरंग, एक चिनगारी,
एक साँस में उसकी;
बजे वेणु उस नट नागर की,
एक आँस में उसकी!

मेरा तत्व-तत्व तन्मय था,
किसे कंस का भय था?
लौट पड़ी मैं घर वैसी ही,
जन जन को विस्मय था।

किन्तु मुझे निर्जन अभीष्ट था
चिन्तनार्थ कुछ मन के;
अपने को भी देख सकी थी
मैं क्या विम्बित बन के।

लेने नहीं, राज्य देने ही
वह विक्रान्त चला था।
कंस मरा, पर उग्रसेन का
फिर भी भाग्य भला था।

रोता देख वृद्ध नृप को वह
बोला—"नाना! नाना!"
मिल वसुदेव-देवकी ने भी
भर पाया मनमाना।

आने की न आप कहता तो
कुब्जा क्या राधा थी;
मैं तो चेरी थी, जाने में
मुझे कौन बाधा थी?

किन्तु आज आकुल है वन में
जैसी वह व्रजरानी;
दासी ने घर बैठे उसकी
मर्म-वेदना जानी।

अथवा एक परस में ही जब
तरस रही मैं इतनी;
होगी विकल न जाने तब वह
सदा-संगिनी कितनी?

होती हाय! आज कुब्जा ही
यदि राधा की दूती;
जाकर शरण इसी मिस तो वे
अरुण चरण तो छूती।

कल्प हुआ यह जिस काया का,
इसे कहाँ ले जाऊँ?
आवे वही, उसे अर्पण कर
परित्राण मैं पाऊँ।

दे न गया वह यह शरीर ही
हाय! शील भी ऐसा;
करते बनता नहीं, चाहती
हूँ मैं करना जैसा।

आया नहीं विसासी अब भी
बस ये आँसू आये;

अहा! उसी लावण्य-सिन्धु का
रस ये आँसू लाये।

पी पी कर मैं इन्हें, भाग्य को
अब भी कैसे कोसूँ?
पर अजान इस आतुर उर को
कब तक पालूँ-पोसूँ?

आई रात, हुआ चन्द्रोदय,
मैंने यही विचारा—
वह शशि है, मैं निशि होऊँ या
वह तमिस्र, मैं तारा!

हुआ प्रभात और अरुणोदय,
गूँजी उर की अलिनी;
उसी पूर्व की फटती पौ में,
उसी हंस की नलिनी।

चढ़ी बहुत निज नील गगन में,
मैंने पार न पाया.
ढुलक पड़ी मैं आप ओस-सी
हा! आधार न पाया।

रह सकता है बस यह पानी
उन्हीं नखों पर चढ़ के।
किन्तु पधारे कहाँ चरण वे,
लूँ मैं जिनको बढ़ के।

वह भीतर ही रहा, व्यर्थ ये
द्वार सजाये मैंने;
श्रुति-प्रतीत वह, क्यों इस तन के
तार बजाये मैंने?

क्यों घृत-दीप जलाये मैंने,
माखन-चोर न आया;
फिर भी अन्तर में तो छाया
वह नव-घन-मन-भाया।

स्नेह-हीन दीपक सो जावें,
सजग सजल लोचन तो;
फीके पड़ें सुमन, चिन्ता क्या,
अनुरंजित यह मन तो।

मेरा अतिथि देव आवे तो,
मैं सिर-माथे लूँगी,
उसने मुझको देह दिया, मैं
उसे प्राण भी दूँगी।

धड़कन वक्ष, कक्ष में है वह,
फड़क वाम-भुज मेरे ;
मिले मिलनमय अन्त मुझे, तो
सफल सभी रुज मेरे।

रहें भ्रान्तियाँ, रहें श्रान्तियाँ,
रहें क्रान्तियाँ चाहे ;
नटवर ! तेरा नाटच-बन्ध निज
सन्धि-शान्ति निर्वाहे।

क्रान्ति हो चुकी, श्रान्ति मेट अब
आ, मैं व्यजन करूँगी ;
मोती न्यौछावर करके, वे
श्रम-कण बीन धरूँगी।

मेरा ही अधिकार यहाँ, सुन,
राधा रुष्ट न होगी ;
दासी को वंचित कर, तेरी
रानी तुष्ट न होगी।

वह व्रजरानी भी नारी है,
यह सरला भी नारी ;
आत्म-समर्पण के दोनों जन
हम समान अधिकारी।

एक पुरुष से योषित्ता ने
सहज किसे न मिलाया ;
पर मेरा नारीत्व निहत था,
तूने आप जिलाया।

कूबड़ न था, कुंडली पकड़े--
जकड़े मुझे पड़ा था ;
तूने कौन मंत्र फूँका, वह
उठ हट दूर खड़ा था।

किन्तु विरह-वृश्चिक ने आकर
अब यह मुझको घेरा ;
गुणी-गारुड़िक, दूर खड़ा तू
कौतुक देख न मेरा।

तू न आज भी आवेगा तो
मैं ही कल जाऊँगी ;
कुछ न सही तो कुटिल भृकुटि तो
तेरी मैं पाऊँगी।

यही कहेगा न तू--"अधीरे,
निकली तू चेरी ही!"
हाँ हाँ, मैं चेरी, मैं चेरी,
तेरी ही, तेरी ही।

गड़े हुए धन-सा, मन में ही
रक्खूँ क्या मैं तुझको ;
तो यह मेरा तन क्यों तूने
दिया बना कर मुझको ?

रोम रोम बस तुझे पुलक-सा
पा कर जड़ रह जावे ;
और उन्हीं चरणों में जीवन
स्वेद बना बह जावे।

पत्र पत्र में तेरी आहट
चौंकाती आती है ;
किन्तु प्रतीक्षा में ही बेला,
बीत बीत जाती है।

निद्रा तेरा स्वप्न ले गई,
अरे सत्य, अब आ जा ;
जाग रही हूँ स्वागतार्थ मैं,
ओ राजों के राजा !

अहोरात्र के पंख लगा कर
सुध-सी उड़ती हूँ मैं ;
तुझसे मिलने को अपने से
आप बिछुड़ती हूँ मैं।

और बड़ा कौतुक तो यह, तू
यहीं कहीं बैठा है ;
ओ कठोर, कह किस कोठे में
तू घुस कर पैठा है ?

तेरी व्यथा बिना सुन, मेरी
कथा न पूरी होगी ;
तू चाहे जिसका योगी हो,
मेरा क्षणिक वियोगी।

तेरे जन अगणित, परन्तु मैं
एक विजनता तेरी ;
बस इतनी ही मति है मेरी,
इतनी ही गति मेरी।

गोपियों के प्रति

अहा! गोपियों की यह गोष्ठी,
वर्षा की ऊषा-सी;
व्यस्त-ससम्भ्रम उठ दौड़े की
स्खलित ललित भूषा-सी।

श्रम कर जो क्रम खोज रही हो,
उस भ्रमशीला स्मृति-सी;
एक अतर्कित स्वप्न देख कर
चकित चौंकती धृति-सी।

हो होकर भी हुई न पूरी,
ऐसी अभिलाषा-सी;
कुछ अटकी आशा-सी, भटकी
भावुक की भाषा-सी।

सत्य-धर्म-रक्षा हो जिससे,
ऐसी मर्म मृषा-सी;
कलश कूप में, पाश हाथ में,
ऐसी भ्रान्त तृषा-सी!

उस थकान-सी, ठीक मध्य में
जो पथ के आई हो;
कूद गये मृग की हरिणी-सी,
जो न कूद पाई हो!

तिमिर देखती उस यात्रा-सी,
जो संध्या की भूली,
नहीं समाती हुई साँस-सी;
जो असमय उठ फूली।

बालक की फल चेष्टा-सी, जो
पा न सके, पर लपके;
उस जलती भट्ठी-सी जिससे
उड़ उड़ मदिरा टपके!

अवश अचलता-सी, जिससे हो
रस-चंचलता चूती;
कठिन मान की हठ समाप्ति-सी,
खोज रही जो दूती।

उस उत्कंठा-सी, जो क्षण-क्षण
चौंक उठे एणी-सी;
खुल कर भी जो सुलझ न पाई,
उस उलझी वेणी-सी।

बद्ध-वारि-लहरी-सी जिसको
चौमुख वायु विलोड़े,
उस निमग्नता-सी, जो अपना
तल पावे, तब छोड़े!

वृन्दावन की ही झाड़ी-सी,
झंझा की झकझोरी,
जिसका सिद्ध हुआ अन्तर्हित,
सहसा चोरी चोरी।

सुरांगना-सी, तपोभंग की
ठान चली, जो मन में;
किन्तु तपोवन के प्रभाव से
लगी स्वयं साधन में!

तुल्य-दुःख में हत-ईर्ष्या-सी,
विश्व-व्याप्त समता-सी;
जिसको अपना मोह न हो, उस
मूर्त्तिमती ममता-सी।

लिखा गया जिसमें विशेष कुछ,
ऐसी लोहित मसि-सी;
किसी छुरी के क्षुद्र म्यान में
ठूंस दी गई असि-सी!

सम्पुटिकता होकर भी अलि को
धर न सकी नलिनी-सी;
अथवा शून्य-वृन्त पर उड़ कर
मड़राई अलिनी-सी।

पिक-रव सुनने को उत्कर्णा
मधुपर्णा लतिका-सी,
प्रोषितपतिका पूर्वस्मृति में
रत आगतपतिका-सी!

जो सबको देखे, पर निज को
भूल जाय उस मति-सी;
अपने परमात्मा से बिछुड़े
जीवात्मा की गति-सी!

चन्द्रोदय की बाट जोहती
तिमिर - तार - माला - सी;
एक एक व्रज-बाला बैठी
जागरूक ज्वाला-सी!

अहो प्रीति की मूर्ति, जगत में
जीवन धन्य तुम्हारा ;
कर न सका अनुसरण कठिनतम
कोई अन्य तुम्हारा।

चपल इन्द्रियों को भी तुमने
तन्मय बना दिया है ;
पावन हुआ पाप भी जिसमें,
वह पथ जना दिया है।

धन्य दूरता ही प्रिय की, जो
और निकट ले आवे ;
चर्म-चक्षुओं के बदले यह
आत्मा उसको पावे।

प्राप्य अन्ततः वह परमात्मा
आत्मा ही के द्वारा ;
मिथ्या माया का प्रपंच है
दृश्यमान यह सारा।

एक एक तुम सब राधा हो,
कहाँ तुम्हारी राधा ?
नहीं दीखती मुझे यहाँ वह,
हुई कौन-सी बाधा ?

सच कहता हूँ, मैंने अपना
राम तुम्हीं में पाया,
किन्तु तुम्हारा कृष्ण कहाँ, मैं
यही पूछने आया।

•

कुणाल-गीत

मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा ?
हिम किंवा खर-रश्मि-राशि में
किसमें आज समायगा ?
दोनों में अपने को खोना,
और उन्हें कुछ लाभ न होना।
पर क्या अपने को देकर तू
उनको आप न पायगा ?
मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा ?
क्या होगा लेकर भी इतना ?
हमें यथार्थ अपेक्षित कितना ?
वह मरीचिका-जाल, न जानें,
कहाँ कहाँ भरमायगा !
मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा ?
क्या स्वतन्त्र खद्योत बनेगा ?
तिमिर-रत्न-खनि खोज खनेगा ?
कुसुम-कुंज को दीपित करके
ऊजड़ बास बसायगा ?
मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा ?

अथवा पर-हितार्थ तू निज से,
ऊँचे उठकर कहीं क्षितिज से,
ध्रुव-तारक-सा भ्रान्त-पथिक को
उचित-दिशा दिखलायगा!
मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा?
विचर यथेच्छ मनोरथ पर तू,
डाल प्रकाश किसी पथ पर तू।
मैं कृतार्थ, यदि कभी किसी के
काम यहाँ तू आयगा।
मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा?

×

बहता ही रहता है वात,
दिन मेरे तो किसकी रात?
मेरे जगते तारे सोये,
अरुण हुए वे किसके कोये?
जाग विहग गाये या रोये,
सीमित है क्या नहीं प्रभात?
दिन मेरे तो किसकी रात?
उठो, चलो, मेरे पग आओ,
क्या है, बढ़कर जिसे न पाओ?
अपना पथ तुम आप बनाओ,
बने रहें बाधा-व्याघात।
दिन मेरे तो किसकी रात?

×

हे अवनि और अम्बर, प्रणाम;
करता हूँ सबसे राम राम।
हे रवि-शशि-ग्रह-तारक-समाज,
हे वर्ण वर्ण के साज-बाज,
लेता हूँ सबसे बिदा आज।
रह हरा-भरा तू धरा-धाम!
करता हूँ सबसे राम राम।
हे ह्रद-नद-निर्झर, धरे वेत्र,
हे वन-उपवन, हे हरे क्षेत्र,
रह जायँ रिक्त ये मेरे नेत्र,
तुम भरे रहो चिर सरस-श्याम।
करता हूँ सबसे राम राम।
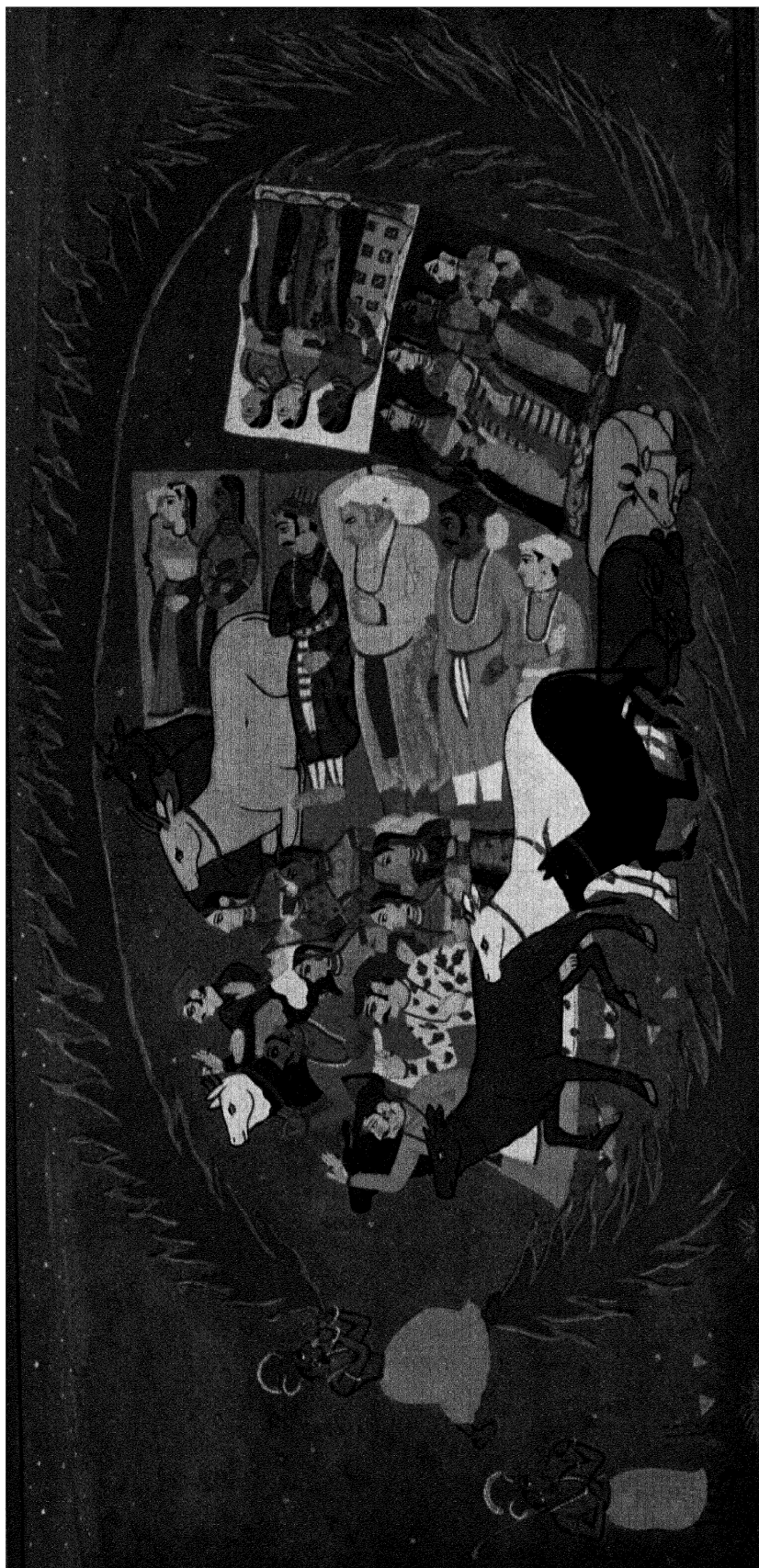
हे सान्ध्य वृष्टि-घन, मधुर मन्द्र,
शुभ शरन्निशा के कुमुद-चन्द्र,
मधु के प्रभात-अम्बुज अतन्द्र,
लूं मैं किस किसका आज नाम?
करता हूँ सबसे राम राम।

बाहर से कुछ दीखे न आज,
सब रहे किन्तु भीतर विराज।
रम रहा व्यक्ति में ज्यों समाज,
तुम जागो मुझमें अष्ट याम,
करता हूँ सबसे राम राम।

अवलोक लोक-सौन्दर्य-सृष्टि,
हो गई कृतार्थ कुणाल-दृष्टि।
सब संसृति पर हो अमृत-वृष्टि,
गूंजें घर घर में तीन ग्राम।
करता हूँ सबसे राम राम।

छोड़े मैंने मणि-रत्न आज,
चुक गये स्वयं वे यत्न आज?
पर मेरा कौन सपत्न आज?
मैं दक्षिण हूँ, विधि रहे वाम।
करता हूँ सबसे राम राम।

दीखे न भले ही रूप-रंग,
आने दो द्विज! निज ध्वनि-तरंग।
श्रुति में ही दर्शन के प्रसंग!
निष्काम आप ही पूर्ण काम।
करता हूँ सबसे राम राम।

निर्मुक्त हुई यह आज सीप,
तुम जलो न मेरे अर्थ दीप!
झुलसें न शलभ आकर समीप;
मेरी निशि में सब लें विराम।
करता हूँ सबसे राम राम।

५

अब तक आंखों में था, आ अब
बस इस मानस में उत्पल!
सौ रूपों का एक रूप तू
मेरे श्रीमन्दिर शतदल!
मेरा शून्य-सुधाकर थपकी
देकर तुझे सुलावेगा,

गुणी भृंग के द्वारा दिनकर
तेरा द्वार खुलावेगा,
मद-कल हंस प्रशंस भाव से
हँस हँस टेर बुलावेगा,
श्वसन गुदगुदा कर लहरों से
रस-वश व्यजन डुलावेगा।
ढुलक पुलक-जल के मुक्ताफल
झलकेंगे तुझपर झलमल,
अब तक आँखों में था, आ अब
बस इस मानस में उत्पल!
अन्तर्मुख होकर मैं कैसे
जाऊँ बाहर त्याग तुझे?
शतदल से सहस्रदल करके
पाऊँ मैं प्रिय भाग, तुझे,
मिला कहाँ से बता जगत में
यह अलिप्त रस-राग तुझे,
भरना है इस अन्तस् में भी
अपना पुण्य पराग तुझे।
तोड़ सकेगा तुझे यहाँ से
नहीं किसीका भी छल-बल,
सौ रूपों का एक रूप तू
मेरे श्रीमन्दिर शतदल।

×

आओ शून्य, भरो यह अंक!
व्यापारिणी नियति प्रस्तुत है
लेकर भ्रू-विकार यह वंक!
मैं घाटे में नहीं रहूँगा,
दीन-वचन किसलिए कहूँगा?
तिमिर-पंक यह सहज सहूँगा,
फूटें अर्घ-पद्म अकलंक;
आओ शून्य, भरो यह अंक!

×

हो गया क्या नष्ट मेरा?
मैं न होऊँ, भव-विभव सब हो भले ही भ्रष्ट मेरा।
जा रजस्, तू खोज अपना और कोई चटुल चेरा;
डाल देखे तमस् मुझ पर दसगुना घन-घोर घेरा।
स्वगति सत्पथ पर रहे तो क्या करेगा यह अँधेरा?

दीखने दो कुछ न मुझको, लक्ष्य है सुस्पष्ट मेरा।
हो गया क्या नष्ट मेरा ?
क्या हुआ यदि आज मैंने बाह्य संसृति को न हेरा ?
नियति, कितना स्वप्नमय है यह असित अभिसार तेरा ?
मिलन की यह रात शुभ अथवा विरह का वह सबेरा ?
पा गया पंछी बसेरा, तो कहाँ श्रम-कष्ट मेरा ?
हो गया क्या नष्ट मेरा ?

×

काँटे-कंकर, गर्त्त भयंकर,
रहा मुझे अब किसका डर ?
चलता हूँ मैं अन्धा होकर
आज तथागत के पथ पर !
द्वेष न दम्भ न दोष मुझे है,
यथालाभ सन्तोष मुझे है।
प्राप्त कर्म का कोष मुझे है,
मेरा फल है मेरे कर।
चलता हूँ मैं अन्धा होकर
आज तथागत के पथ पर !
नहीं चाहता मैं कोई धन,
बहुत मुझे हैं थोड़े से कन ;
मेरे हैं सब जगती के जन,
जहाँ रहूँ मैं, मेरा घर,
चलता हूँ मैं अन्धा होकर
आज तथागत के पथ पर !

×

अयि जीवन की ज्योती !
मैं अन्धा भी देख रहा हूँ, रोती हो तुम, रोती !
क्या कुणाल को दीन जानकर,
मन में करुणा क्लेश मानकर,
नयन-शुक्तियों में समान भर
देती हो ये मोती ?
अयि जीवन की ज्योती !
प्रिये, आज तो त्याग-दिवस है,
सुख ही नहीं, दुःख भी बस है।
यह भी एक नया ही रस है,
तुम क्यों कातर होती ?
अयि जीवन की ज्योती !

गेह गया, पर विश्व बड़ा है,
सभी ओर पथ खुला पड़ा है।
लोक जाय, परलोक खड़ा है,
चलो, सींचती-बोती।
अयि जीवन की ज्योती!

×

अरी भावती, भामिनी!
मेरी कांचन-कामिनी!
हो जा अब तो अग्रगामिनी,
रही बहुत अनुगामिनी!
अरी भावती, भामिनी!

भोजन में मातृत्व दिखाकर,
भगिनी-सी शुभ सीख सिखाकर,
रही सेविका नाम लिखाकर,
लिख लूं अब तो स्वामिनी?
अरी भावती, भामिनी!

तुझमें मेरा सारा जग है,
मेरे पग हैं, तेरा मग है।
चन्द्रमुखी, किससे जगमग है
मेरी यह चिरयामिनी?
अरी भावती, भामिनी!

×

संगिनि, तू फिर सिसकी!
कहाँ रहें, क्या करें आज हम,
वृथा भावना इसकी।

जाग, सँभाल तनिक अपने को,
जाने दे अब उस सपने को।
हटा हाथ से वे निज अलकें,
जो पलकों पर खिसकी!
संगिनि, तू फिर सिसकी!

हुई धूप भी मुझको छाया,
गई आप ही मिथ्या माया।
आज हमारी चिन्ता सबको,
हमें नहीं जिस-तिसकी।
संगिनि, तू फिर सिसकी!

हममें कुछ छल-छिद्र नहीं है,
सदय स्वदेश दरिद्र नहीं है।
वसुधा विपुल, समाज सुसंस्कृत,
कह फिर बाधा किसकी?
संगिनि, तू फिर सिसकी!

अब क्या हम सुख से न रहेंगे?
सबकी सुन अपनी न कहेंगे?
भिक्षुक भी राजा हूँगा मैं,
तुझ-सी रानी जिसकी।
संगिनि, तू फिर सिसकी!

हम बाहर हों अथवा घर में,
अपना धन है अपने कर में।
आ, हँसकर ही करें उपेक्षा
निठुर नियति की रिस की।
संगिनि, तू फिर सिसकी!

×

सोच न कर तू मेरा।
हुआ प्रिये, प्रेमान्ध मात्र मैं, डाल कहीं भी डेरा!
निर्मल जल में हिलता-डुलता,
शोभन शतदल खिलता-खुलता,
रहता है मेरे सम्मुख वह रखकर सजग सबेरा।
सोच न कर तू मेरा।
नील गगन में झलमल करता,
वसुधा का हरितांचल भरता,
उदित इन्दु सन्ध्या में मेरी हरता हुआ अँधेरा!
सोच न कर तू मेरा।
और, और क्या कहूँ अहा! मैं,
अविरत अपलक देख रहा मैं—
वह अरविन्द-इन्दु-अभिनन्दित शील-भरा मुख तेरा!
सोच न कर तू मेरा।

×

अयि ममतामयि, क्या कहती हो, यह जन धैर्य धरे?
काया के बदले छाया की यों चिन्ता न करे?
अपने में मूर्च्छित हो छाया,
पर चेतन रखती है काया।
कंटकिता छाया काया का क्योंकर ताप हरे?
अयि ममतामयि, क्या कहती हो, यह जन धैर्य धरे?

तो भी यह तप लिया आप जब,
दिया जाय तब किसे शाप अब ?
वर्तमान बढ़ भावी से ही अखिल अभाव भरे।
अयि ममतामयि, क्या कहती हो, यह जन धैर्य धरे ?
सचमुच ही तुम छाया मेरी,
कितनी शीतल, सघन अँधेरी !
तो क्यों मेरा भ्रमणशील यह जीवन कहीं डरे ?
अयि ममतामयि, क्या कहती हो, यह जन धैर्य धरे ?
पीछे छूट प्रकाश गया है,
आगे छाया, दैव दया है।
रहा उसी पर अवलम्बित मैं, तारे और तरे।
अयि ममतामयि, क्या कहती हो, यह जन धैर्य धरे ?

×

हाँ, निशान्त आया,
तूने जब टेर प्रिये, 'कान्त, उठो' गाया—
चौंक शकुन-कुम्भ लिये हाँ, निशान्त आया।
आहा ! यह अभिव्यक्ति,
द्रवित सार-धार-शक्ति।
तृण तृण की मसृण भक्ति
भाव खींच लाया !
तूने जब टेर प्रिये, 'कान्त, उठो' गाया।
मागध वा सूत गये,
किन्तु स्वर्ग-दूत नये,
तेरे स्वर पूत अये,
मैंने भर पाया।
तूने जब टेर प्रिये, 'कान्त, उठो' गाया।

×

तत्त्व तल से ही निकलता,
देख लो, यह रहँट चलता।
चकित हरिणी-सी न चौंको, निकट जाओ, डर नहीं है,
वृषभ-वाहन मुंडमाली वह विकट यह हर नहीं है,
शुद्ध शंकर-रूप है यह, प्रकट प्रलयंकर नहीं है;
शस्य में है वास इसका, घोर मरघट घर नहीं है !
लोक इससे फूल फलता,
देख लो, यह रहँट चलता।
हर-जटा की घन-घटा का यह घरर घर्घर नहीं है,
मधुर मर्मर से अधिक क्या यह चरर चर्मर नहीं है ?

हरि कहूँ वा विधि, झरित क्या सुरसरित झरझर नहीं है ?
प्रकट धन्वन्तरि चला क्या अमृत-घट भरभर नहीं हैं ?
दूर हो बाधा-विकलता,
देख लो, यह रहँट चलता।

यन्त्र है यह, पर नहीं कुछ पाप वा उपपाप इसमें,
सहज शीतलता भरी है, फिर रहे क्यों ताप इसमें ?
डूब बहता है प्रखर तर काल का अभिशाप इसमें !
खेलता-सा दीखता है आप अपना आप इसमें !
और पालक अन्न पलता।
देख लो, यह रहँट चलता।

धन्य तू अयि यन्त्र-घटिके, क्या करूँ तेरी बड़ाई,
एक साथ उड़ेल सब रीती गई, भर लौट आई।
कह, कहाँ आवागमन की यह अनोखी युक्ति पाई,
नियत बन्धन में पड़ी भी मोल-सी तू मुक्ति लाई।
धन्य है तेरी कुशलता !
देख लो, यह रहँट चलता।

×

आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया,
लो, रसाल-गन्ध-जात-पुलक भेंट लाया।
दुग्ध-भार मन्द मन्द,
लौट पड़ा धेनु-वृन्द,
वेणु-छन्द गूंज उठा, हम्बारव छाया।
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया।
मृग - मयूर, पेड़ - पत्र,
नाच रहे यत्र-तत्र;
फैल गया सान्ध्यराग, गीत गया गाया।
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया।
सिर के घट नीर-भरे,
उर के हैं क्षीर-भरे !
माँ है यह, तब न तुम्हें 'बेटी' कह पाया !
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया।
गोबर से गेह लिपे,
दीपक से दिव्य दिपे।
छींकों पर झूल रही स्नेहमयी माया !
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया।
आँगन में घूम घूम,
बच्चे कर रहे धूम;
मानें थक हार कहाँ गोरस की काया ?
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया।

तरल वे कटाक्ष नहीं,
सरल हास्य सभी कहीं ;
पति से भी गति विशेष रखती है जाया !
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया।
नन्दीगण नित्य जहाँ,
शिव प्रयाण करें कहाँ ?
सुन्दर शुचि सर्ग स्वतः सत्य में समाया !
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया।

×

धार न धरो कृपाण में,
पीती है रस नहीं, रुधिर ही,
किरण फूटकर बाण में।
चिनगारियाँ न छोड़ो आहा !
संघर्षण कर शाण में,
इस प्रकाश में ही जीवन तो
अन्धकार है प्राण में।
चमके नहीं कृपाण तुम्हारी,
बजे न मृत्यु विषाण में।
रुको, दमकती हुई दामिनी,
टूट न पड़े प्रयाण में।
मनुज, जलाओ न वह नरक की
ज्वाला इस परिमाण में,
बुझा सकें न तुम्हारे आँसू
जिसे लोक-कल्याण में।
डरो, नाश न करो औरों का
तुम अपने निर्माण में,
आग लगाकर लखो न कौतुक,
भूले हो किस भाण में ?
सुनो, सत्य भी मर्यादित है
नूतन और पुराण में,
रत्न-दीप्ति के लिए पुरुष क्या,
परिणत हो पाषाण में ?
अथवा उस जीवन से ही क्या,
घृणा भरे जो घ्राण में ?
मृग-मरीचिका की आभा से
भला तिमिर ही त्राण में।
यह अगियावेताल, न भूलो
इसके प्रभा-प्रमाण में,

जाने दो मिथ्या प्रकाश वह,
निरत रहो निर्वाण में।

×

झपक गई हैं मेरी पलकें,
दीख रही हैं मुझे स्वप्न में कैसी कैसी झलकें!
आहा! यह भविष्य की झाँकी,
विकसित वर्त्तमान की आँकी,
लुठित कन्धरा पर क्या बाँकी
वे अतीत की अलकें!
झपक गई हैं मेरी पलकें!
कौन कौन मणियाँ यह धारे,
कंकड़-से हैं रत्न हमारे!
वारे गये गगन के तारे,
छूटी छवि की छलकें।
झपक गई हैं मेरी पलकें।
वर्ण और आकृतियाँ कैसी,
परिवर्तित हैं चाहे जैसी।
देख विलक्षण कृतियाँ ऐसी
सुर-शिल्पी भी ललकें!
झपक गई हैं मेरी पलकें।
अपने अजर-अमर जैसे जन,
नवनव गीत-काव्य छवि-दर्शन,
नये फूल-फल, नवल धान्य-धन,
कन मोती-से ढलकें!
झपक गई हैं मेरी पलकें।
धन्य मनोरथ-सी गति-माया,
जो चाहा सो पल में पाया।
विस्मय है, फिर भी भय छाया!
तो क्यों हृदय न दलकें?
झपक गई हैं मेरी पलकें।

×

ज्योति नहीं, पर इन आँखों में
शेष आज भी जल है,
और प्रफुल्ल उल्लसित उसमें
मेरा हृदय-कमल है।
भर ले आकर वह जन, जिसका
सूखा अन्तःस्थल है,

धारा यह प्रस्तुत है, धो ले
मिटा न जिसका मल है।
जगती, तेरे सुप्रभात में
बचा कौन तृण-दल है,
छूट गया फलने से जिसमें
मेरा मुक्ता-फल है?
मेरा घट भरपूर और यह
मानस आज अतल है,
ज्योति नहीं, पर इन आंखों में
शेष आज भी जल है।

×

प्रिये, प्रिये, कैसा आभास!
अनजाने आ गये घूमते हम निज पुर के पास।
गीत एक दो मैंने गाये,
खिंच-से तातचरण ये आये!
आंखों में हैं आंसू छाये
मुख है हाय! उदास।
प्रिये, प्रिये, कैसा आभास!
ज्यों ही मुझे इन्होंने परसा,
निशि में भी मानो दिन दरसा!
जल ही नहीं दृगों से बरसा,
हुआ प्रकाश-विकास!
प्रिये, प्रिये, कैसा आभास!
मन्त्र-दीप ज्यों दृग ये जागे,
वही दृश्य सब भागे भागे
आप आ रहे हैं अब आगे—
निज जन नगर-निवास।
प्रिये, प्रिये, कैसा आभास!
मांगूं मैं क्या, मिला स्वयं सब,
कैसे हो सन्तोष इन्हें तब?
मां को क्षमा करें ये बस अब,
पूरे मेरी आस।
प्रिये, प्रिये, कैसा आभास!
सफल करूं निज नई दृष्टि में,
देखूं निर्मल निखिल सृष्टि में,
पाऊं सबकी प्रेम-वृष्टि में
दूं सबको विश्वास।
प्रिये, प्रिये, कैसा आभास!

×

अर्पित हो मेरा मनुज-काय,
'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।'
छोड़े मैंने सब राज-पाट,
मैं नहीं चाहता ठाट-बाट।
घूमूं अब घर घर, घाट घाट,
दूं सुगत-गिरा का दिव्य-दाय।
'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।'
सुख भोग चुका मैं जाग जाग,
दे दुःखी अब निज दुःख-भाग।
रोदन पर वारे जायें राग,
यह जाता जीवन क्यों न जाय—
'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।'
हे जन, अर्जन से मुंह न मोड़,
मिल सके जहां जितना, न छोड़।
घर भर ले सब कुछ जोड़ जोड़,
पर यह तो कह, किस हेतु हाय!
'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।'

•

यशोधरा

महाभिनिष्क्रमण

आज्ञा लूं या दूं मैं अकाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

रख अब अपना यह स्वप्न-जाल,
निष्फल मेरे ऊपर न डाल।
मैं जागरूक हूं, ले सँभाल—
निज राज-पाट, धन, धरणि, धाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

रहने दे वैभव यशःशोभ,
जब हमीं नहीं क्या कीर्तिलोभ?
तू क्षम्य, करूं क्यों हाय क्षोभ,
थम, थम अपने को आप थाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

क्या भाग रहा हूं भार देख?
तू मेरी ओर निहार देख?
मैं त्याग चला निस्सार देख,
अटकेगा मेरा कौन काम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

रूपाश्रय तेरा तरुण गात्र,
कह, वह कब तक है प्राण-पात्र?
भीतर भीषण कंकाल मात्र,
बाहर बाहर है टीम-टाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

प्रच्छन्न रोग हैं, प्रकट भोग;
संयोग मात्र भावी वियोग!
हा लोभ-मोह में लीन लोग,
भूले हैं अपना अपरिणाम!
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

यह आर्द्र-शुष्क, यह उष्ण-शीत,
यह वर्तमान, यह तू व्यतीत!
तेरा भविष्य क्या मृत्यु-भीत?
पाया क्या तूने धूम-धाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

मैं सूँघ चुका वे फुल्ल फूल,
झड़ने को हैं सब झटित झूल।
चख देख चुका हूँ मैं, समूल—
सड़ने को हैं वे अखिल ग्राम!
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

सुन सुन कर, छू छू कर अशेष,
मैं निरख चुका हूँ निर्निमेष,
यदि राग नहीं, तो हाय! द्वेष!
चिर-निद्रा की सब धूम-धाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

उन विषयों में परितृप्ति? हाय!
करते हैं हम उलटे उपाय।
खुजलाऊँ मैं क्या बैठ काय?
हो जाय और भी प्रबल पाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

सब देकर भी क्या आज दीन,
अपने या तेरे निकट हीन?
मैं हूँ अब अपने ही अधीन,
पर मेरा श्रम है अविश्राम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

इस मध्य निशा में ओ अभाग,
तुझको तेरे ही अर्थ त्याग,
जाता हूँ मैं यह वीतराग।
दयनीय, ठहर तू क्षीण-क्षाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

तू दे सकता था विपुल वित्त,
पर भूलें उसमें भ्रान्त चित्त।
जाने दे चिर जीवन-निमित्त,
दूँ क्या मैं तुझको हाड़-चाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

रह काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह,
लेता हूँ मैं कुछ और टोह।
कब तक देखूँ चुपचाप ओह!
आने-जाने की धूम-धाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

हे ओक, न कर तू रोक-टोक,
पथ देख रहा है आर्त्त लोक,
मेटूँ मैं उसका दुःख-शोक,
बस, लक्ष्य यही मेरा ललाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

मैं त्रिविध-दुःख-विनिवृत्ति-हेतु
बाँधूँ अपना पुरुषार्थ-सेतु;
सर्वत्र उड़े कल्याण-केतु,
तब है मेरा सिद्धार्थ नाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

वह कर्म-काण्ड-ताण्डव-विकास
वेदी पर हिंसा-हास-रास,
लोलुप-रसना का लोल-लास,
तुम देखो ऋग्, यजु और साम!
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

आ, मित्र-चक्षु के दृष्टि-लाभ,
ला, हृदय-विजय-रस-वृष्टि-लाभ।
पा, हे स्वराज्य, बढ़ सृष्टि-लाभ
जा दण्ड-भेद, जा साम-दाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

तब जन्मभूमि, तेरा महत्त्व,
जब मैं ले आऊँ अमृत-तत्त्व।
यदि पा न सके तू सत्य-सत्त्व,
तो सत्य कहाँ? भ्रम और भ्राम!
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

हे पूज्य पिता, माता, महान,
क्या माँगूँ तुमसे क्षमा दान?
क्रन्दन क्यों? गाओ भद्र-गान,
उत्सव हो पुर-पुर, ग्राम-ग्राम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

हे मेरे प्रतिभू, तात नन्द,
पाऊँ यदि मैं आनन्द-कन्द
तो क्यों न उसे लाऊँ अमन्द?
तू तो है मेरे ठौर-ठाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

अयि गोपे, तेरी गोद पूर्ण,
तू हास-विलास-विनोद-पूर्ण!
अब गौतम भी हो मोद-पूर्ण,
क्या अपना विधि है आज वाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

क्या तुझे जगाऊँ एक बार?
पर है अब भी अप्राप्त सार;
सो, अभी स्वप्न ही तू निहार,
हे शुभे, श्वेत के साथ श्याम।
ओ क्षगभंगुर भव, राम राम!

राहुल, मेरे ऋण-मोक्ष, माप!
लाऊँ मैं जब तक अमृत आप,
माँ ही तेरी माँ और बाप;
सुल, मातृ-हृदय के मृदुल दाम!
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

यह घन तम, सन सन पवन-जाल,
भन भन करता यह काल व्याल,
मूर्च्छित विषाक्त वसुधा विशाल!
भय, कह, किस पर यह भूरि भाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

छन्दक, उठ, ला निज बाजिराज,
तज भय-विस्मय, सज शीघ्र साज।
सुन, मृत्यु-विजय-अभियान आज!
मेरा प्रभात यह रात्रि-याम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

वह जन्म-मरण का भ्रमण-भाण,
मैं देख चुका हूँ अपरिमाण।
निर्वाण-हेतु मेरा प्रयाण;
क्या वात-वृष्टि, क्या शीत-घाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

हे राम, तुम्हारा वंशजात,
सिद्धार्थ, तुम्हारी भाँति, तात,
घर छोड़ चला यह आज रात;
आशीष उसे दो, लो प्रणाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

अब है मेरो बारी

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

मेरे लिए पिता ने सब से धीर-वीर वर चाहा,
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा।
फिर भी हठ कर हाय! वृथा ही उन्हें उन्होंने थाहा,
किस योद्धा ने बढ़ कर उनका शौर्य-सिन्धु अवगाहा?
क्यों कर सिद्ध करूँ अपने को मैं उन नर की नारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

देख कराल काल-सा जिसको काँप उठे सब भय से,
गिरे प्रतिद्वन्द्वी नन्दार्जुन, नागदत्त जिस हय से,
वह तुरंग पालित-कुरंग-सा नत हो गया विनय से,
क्यों न गूँजती रंगभूमि फिर उनके जय जय जय से?
निकला वहाँ कौन उन जैसा प्रबल-पराक्रमकारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

सभी सुन्दरी बालाओं में मुझे उन्होंने माना,
सबने मेरा भाग्य सराहा, सबने रूप बखाना,
खेद, किसी ने उन्हें न फिर भी ठीक ठीक पहचाना,
भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना।
इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

मेरे रूप-रङ्ग, यदि तुझको अपना गर्व रहा है,
तो उसके झूठे गौरव का तूने भार सहा है।
तू परिवर्तनशील उन्होंने कितनी बार कहा है—
'फूला दिन किस अन्धकार में डूबा और बहा है?'
किन्तु अन्तरात्मा भी मेरा था क्या विकृत-विकारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी!

मैं अबला! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्ति! पर वे कब थे विषयों के चेरे?
अयि मेरे अर्द्धांगि-भाव, क्या विषय मात्र थे तेरे?
हा! अपने अञ्चल में किसने ये अङ्गार बिखेरे?
है नारीत्व मुक्ति में भी तो अहो विरक्ति-विहारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी! फिर उसकी क्या गति है?
पर उनसे पूछूं क्या, जिनको मुझसे आज विरति है!
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है!
मैं भी नहीं अनाथ जगत में, मेरा भी प्रभु पति है!
यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भार-भय भारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

यशोधरा के भूरि भाग्य पर ईर्ष्या करने वाली,
तरस न खाओ कोई उस पर, आओ भोली-भाली!
तुम्हें न सहना पड़ा दुःख यह, मुझे यही सुख आली!
वधू-वंश की लाज दैव ने आज मुझी पर डाली।
बस जातीय सहानुभूति ही मुझ पर रहे तुम्हारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

जाओ नाथ! अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी;
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूं बस हे दानी—
कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण कहानी?
तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधराकरधारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

यशोधरा की विनय यही

सखि, वसन्त-से कहाँ गये वे,
मैं ऊष्मा-सी यहाँ रही।
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।
तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया,
हाय! विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया।

सूखा कण्ठ, पसीना छूटा, मृगतृष्णा की माया,
झुलसी दृष्टि, अँधेरा दीखा, दूर गई वह छाया।

मेरा ताप और तप उनका,
जलती है हा! जठर मही,
मैंने ही क्या सहा सभी ने
मेरी बाधा व्यथा सही।

जागी किसकी वाष्पराशि, जो सूने में सोती थी?
किसकी स्मृति के बीज उगे ये, सृष्टि जिन्हें बोती थी?
अरी वृष्टि, ऐसी ही उनकी दया-वृष्टि रोती थी,
विश्व-वेदना की ऐसी ही चमक उन्हें होती थी।

किसके भरे हृदय की धारा,
शतधा होकर आज बही?
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

उनकी शान्ति-कान्ति की ज्योत्स्ना जगती है पल पल में,
शरदातप उनके विकास का सूचक है थल थल में,
नाच उठी आशा प्रति दल पर किरणों की झल झल में,
खुला सलिल का हृदय-कमल खिल हंसों के कल कल में।

पर मेरे मध्याह्न! बता क्यों
तेरी मूर्च्छा बनी वही?
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

हेमपुञ्ज हेमन्तकाल के इस आतप पर वारूँ,
प्रियस्पर्श की पुलकावलि में कैसे आज बिसारूँ?
किन्तु शिशिर, ये ठंडी साँसें हाय! कहाँ तक धारूँ?
तन गारूँ, मन मारूँ, पर क्या मैं जीवन भी हारूँ?

मेरी बाँह गही स्वामी ने,
मैंने उनकी छाँह गही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

पेड़ों ने पत्ते तक, उनका त्याग देख कर, त्यागे,
मेरा धुंधलापन कुहरा बन छाया सबके आगे।
उनके तप के अग्नि-कुण्ड-से घर घर में हैं जागे,
मेरे कम्प, हाय! फिर भी तुम नहीं कहीं से भागे।

पानी जमा, परन्तु न मेरे
खट्टे दिन का दूध-दही?
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

आशा से आकाश थमा है, श्वास-तन्तु कब टूटे ?
दिन-मुख दमके, पल्लव चमके, भव ने नव रस लूटे !
स्वामी के सद्भाव फैल कर फूल फूल में फूटे,
उन्हें खोजने को ही मानों नूतन निर्झर छूटे।

उनके श्रम के फल सब भोगें,
यशोधरा की विनय यही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

×

कूक उठी है कोयल काली।
ओ मेरे वनमाली !
चक्कर काट रही है रह रह, सुरभि मुग्ध मतवाली,
अम्बर ने गहरी छानी यह, भू पर बुगुनी ढाली !
ओ मेरे वनमाली !
समय स्वयं यह सजा रहा है डगर डगर में डाली,
मृदु समीर-सह बजा रहा है नीर तीर पर ताली,
ओ मेरे वनमाली !
लता कण्टकित हुई ध्यान से ले कपोल की लाली,
फूल उठी है हाय ! मान से प्राण भरी हरियाली।
ओ मेरे वनमाली !
ढलक न जाय अर्घ्य आँखों का, गिर न जाय यह थाली,
उड़ न जाय पंछी पाँखों का, आओ हे गुणशाली !
ओ मेरे वनमाली !

आली चक्र कहाँ चलता है ?

आली, चक्र कहाँ चलता है ?
सुना गया भूतल ही चलता, भानु अचल जलता है।
आली, चक्र कहाँ चलता है ?

कटते हैं हम आप घूम कर, निर्वश-निबलता है,
दिनकर-दीप द्वीप-शलभों को पल पल में छलता है।
आली, चक्र कहाँ चलता है ?

कुशल यही, वह दिन भी कटता, जो हमको खलता है,
साधक भी इस बीच सिद्धि को लेकर ही टलता है।
आली, चक्र कहाँ चलता है ?

गोपा गलती है, पर उसका राहुल तो पलता है,
अश्रु-सिक्त आशा का अंकुर देखूं कब फलता है ?
आली, चक्र कहाँ चलता है ?

×

सखि वे मुझसे कह कर जाते

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?

मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसीको जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में,—
क्षात्र-धर्म के नाते।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा ?
जिसने अपनाया था, त्यागा;
रहें स्मरण ही आते !
सखि, वे मुझसे कह कर जाते !

नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,
पर इनसे जो आँसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे सहते ?
गये तरस ही खाते !
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

जायें, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूं मैं किस मुख से ?—
आज अधिक वे भाते !
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते गाते ?
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

सो, अपने चञ्चलपन, सो

सो, अपने चञ्चलपन, सो !
सो, मेरे अञ्चल-धन, सो !

पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर में,
गुञ्जन सोया कभी भ्रमर में,
सो, मेरे गृह-गुञ्जन, सो !
सो, मेरे अञ्चल-धन, सो !

ऊपर तारे झलक रहे हैं,
गोखों में लग ललक रहे हैं,
नीचे मोती ढलक रहे हैं,
मेरे अपलक दर्शन, सो !
सो, मेरे अञ्चल-धन, सो !

तनिक पार्श्व-परिवर्त्तन कर ले,
उस नासा-पुट को भी भर ले।
उभय पक्ष का मन तू हर ले,
मेरे व्यथा-विनोदन, सो !
सो, मेरे अञ्चल-धन, सो !

तेरी साँसों का सुस्पन्दन,
मेरे तप्त हृदय का चन्दन !
सो, मैं कर लूं जी भर क्रन्दन !
सो, उनके कुल-नन्दन, सो !
सो, मेरे अञ्चल-धन, सो !

रहे मन्द ही दीपक-माला,
तुझे कौन भय-कष्ट-कसाला ?
जाग रही है मेरी ज्वाला,
सो, मेरे आश्वासन, सो !
सो, मेरे अञ्चल-धन, सो !

खेले मन्द पवन अलकों से,
पोंछूं मैं उनको पलकों से।
छद-रद की छवि की छलकों से
पुलक-पूर्ण शिशु-यौवन, सो !
सो, मेरे अञ्चल-धन, सो !

माँ, कह एक कहानी

"माँ, कह एक कहानी।"
"बेटा, समझ लिया क्या तूने
मुझको अपनी नानी?"
"कहती है मुझसे यह चेटी,
तू मेरी नानी की बेटी!
कह माँ, कह, लेटी ही लेटी,
राजा था या रानी?
राजा था या रानी?
माँ, कह एक कहानी।"
"तू है हठी मनधन मेरे,
सुन, उपवन में बड़े सबेरे,
तात भ्रमण करते थे तेरे;
जहाँ सुरभि मनमानी।"
"जहाँ सुरभि मनमानी?
हाँ, माँ, यही कहानी।"
"वर्ण वर्ण के फूल खिले थे,
झलमल कर हिम-बिन्दु झिले थे,
हलके झोंके हिले-मिले थे,
लहराता था पानी।"
"लहराता था पानी?
हाँ, हाँ, यही कहानी।"
"गाते थे खग कल कल स्वर से,
सहसा एक हंस ऊपर से
गिरा, बिद्ध होकर खर-शर से।
हुई पक्ष की हानी!"
"हुई पक्ष की हानी?
करुणा-भरी कहानी!"
"चौंक उन्होंने उसे उठाया,
नया जन्म-सा उसने पाया।
इतने में आखेटक आया,
लक्ष्य-सिद्धि का मानी।"
"लक्ष्य-सिद्धि का मानी?
कोमल-कठिन कहानी।"
"माँगा उसने आहत पक्षी,
तेरे तात किन्तु थे रक्षी।
तब उसने, जो था खगभक्षी—
हठ करने की ठानी?"
"हठ करने की ठानी?
अब बढ़ चली कहानी।"
"हुआ विवाद सदय-निर्दय में,
उभय आग्रही थे स्वविषय में,
गई बात तब न्यायालय में,
सुनी सभी ने जानी।"
"सुनी सभी ने जानी?
व्यापक हुई कहानी।"
राहुल, तू निर्णय कर इसका—
न्याय पक्ष लेता है किसका?
कह दे निर्भय, जय हो जिसका।
सुन लूँ तेरी बानी!"
"माँ, मेरी क्या बानी?
मैं सुन रहा कहानी।
कोई निरपराध को मारे
तो क्यों अन्य उसे न उबारे?
रक्षक पर भक्षक को वारे,
न्याय दया का दानी।"
"न्याय दया का दानी?
तूने गुनी कहानी।"

राहुल-जननी

घुसा तिमिर अलकों में भाग,
जाग, दुःखिनी के सुख, जाग!
जागा नूतन गन्ध पवन में,
उठ तू अपने राज-भवन में,
जाग उठे खग वन-उपवन में,

और खगों में कलरव-राग।
जाग, दु:खिनी के सुख, जाग!
तात! रात बीती वह काली,
उजियाली ले आई लाली,
लदी मोतियों से हरियाली,
ले लीलाशाली, निज भाग।
जाग, दु:खिनी के सुख, जाग!
किरणों ने कर दिया सवेरा,
हिमकण-दर्पण में मुख हेरा,
मेरा मुकुर मंजु मुख तेरा,
उठ, पंकज पर पड़े पराग।
जाग, दु:खिनी के सुख, जाग!
तेरे वैतालिक गाते हैं,
स्वस्ति लिए ब्राह्मण आते हैं,
गोप दुग्ध-भाजन लाते हैं,
ऊपर झलक रहा है झाग।
जाग, दु:खिनी के सुख, जाग!
मेरे बेटा, भैया, राजा,
उठ मेरी गोदी में आ जा,
भौंरा नचे, बजे हाँ, बाजा,
सजे श्याम हय, या सित नाग?
जाग, दु:खिनी के सुख, जाग!
जाग अरे, विस्मृत भव मेरे!
आ तू, क्षम्य उपद्रव मेरे!
उठ, उठ, सोये शैशव मेरे!
जाग स्वप्न, उठ, तन्द्रा त्याग!
जाग, दु:खिनी के सुख, जाग!

अम्ब, स्वप्न देखा है रात,
लिये मेष-शावक गोदी में खिला रहे हैं तात।
उसकी प्रसू चाटती है पद कर करके प्रणिपात,
घेरे हैं कितने पशु-पक्षी, कितना यातायात!
'ले लो मुझको भी गोदी में' सुन मेरी यह बात,
हँस बोले—'असमर्थ हुई क्या तेरी जननी? जात!'
आँख खुल गई सहसा मेरी, माँ, हो गया प्रभात,
सारी प्रकृति सजल है तुझ-सी भरे अश्रु अवदात!

बस, मैं ऐसी ही निभ जाऊँ।
राहुल, निज रानीपन देकर
तेरी चिर परिचर्य्या पाऊँ।

तेरी जननी कहलाऊँ तो
इस परवश मन को बहलाऊँ।
उबटन कर नहलाऊँ तुझको,
खिला पिला कर पट पहनाऊँ।
रीझ-खीझ कर, रूठ-मना कर
पीड़ा को क्रीड़ा कर लाऊँ।
यह मुख देख देख दुख में भी
सुख से देव-दया-गुण गाऊँ।
स्नेह-दीप उनकी पूजा का
तुझमें यहाँ अखण्ड जगाऊँ।
डीठ न लगे, डिठौना देकर,
काजल लेकर तुझे लगाऊँ।

कैसी डीठ? कहाँ का टौना?
मान लिया आँखों में अंजन, माँ, किस लिए डिठौना?
यही डीठ लगने के लच्छिन—छूटे खाना-पीना,
कभी काँपना, कभी पसीना, जैसे तैसे जीना?
डीठ लगी तब स्वयं तुझे ही, तू है सुध-बुध-हीना,
तू ही लगा डिठौना, जिसको काँटा बना बिछौना।
कैसी डीठ? कहाँ का टौना?
लोहित-बिन्दु भाल पर तेरे, मैं काला क्यों दूं माँ?
लेती है जो वर्ण आप तू, क्यों न वही मैं लूं माँ?
एक इसी अन्तर के मारे मैं अति अस्थिर हूँ माँ!
मेरा चुम्बन तुझे मधुर क्यों? तेरा मुझे सलौना!
कैसी डीठ? कहाँ का टौना?
रह जाते हैं स्वयं चकित-से मुझे देख सब कोई,
लग सकती है कह, माँ, मुझको डीठ कहाँ कब कोई?
तेरा अङ्क-लाभ कर मुझको चाह नहीं अब कोई।
देकर मुझे कलङ्क-बिन्दु तू बना न चन्द खिलौना।
कैसी डीठ? कहाँ का टौना?

यशोधरा

रे मन, आज परीक्षा तेरी!
बिनती करती हूँ मैं तुझसे, बात न बिगड़े मेरी!
अब तक जो तेरा निग्रह था,
बस अभाव के कारण वह था।
लोभ न था, जब लाभ न यह था;
सुन अब स्वागत-भेरी!
रे मन, आज परीक्षा तेरी!

दो पग आगे ही वह धन है,
अवलम्बित जिस पर जीवन है।
पर क्या पथ पाता यह जन है?
मैं हूँ और अँधेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी!

यदि वे चल आये हैं इतना,
तो दो पद उनको है कितना?
क्या भारी वह, मुझको जितना?
पीठ उन्होंने फेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी!

सब अपना सौभाग्य मनावें,
दरस-परस, निःश्रेयस पावें।
उद्धारक चाहें तो आवें,
यहीं रहे यह चेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी!

शोध की पूर्ति यही क्या आज?
भिक्षुक बनकर घर लौटे हैं कपिलनगर-नरराज!

राजभोग से तृप्त न होकर मानो वे इस बार
हाथ पसार रहे हैं जाकर जिसके-तिसके द्वार!
छोड़कर निज कुल और समाज।
शोध की पूर्ति यही क्या आज?

हाय नाथ! इतने भूखे थे, धीरज रहा न और?
पर कब की प्यासी यह दासी बैठी है इस ठौर—
तुम्हारी—अपनी लेकर लाज।
शोध की पूर्ति यही क्या आज?

स्वयं दान कर सकते हैं जो माँगें वे यों भीख!
राहुल को देने आये हो आज कौन-सी सीख?
गिरे गोपा के ऊपर गाज!
शोध की पूर्ति यही क्या आज?

प्रभु उस अजिर में आ गये, तुम कक्ष में अब भी यहाँ?
हे देवि, देह धरे हुए अपवर्ग उतरा है वहाँ।
सखि, किन्तु इस हतभागिनी को ठौर हाय! वहाँ कहाँ?
गोपा, वहीं है, छोड़ कर उसको गये थे वे जहाँ।

रुदन का हँसना ही तो गान

रुदन का हँसना ही तो गान।
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान।
मीड़-मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक;
चातक की हृत-हृदय-हूति जो, सो कोइल की कूक।
राग हैं सब मूर्च्छित आह्वान।
रुदन का हँसना ही तो गान।
छेड़ो न वे लता के छाले, उड़ जावेगी धूल,
हलके हाथों प्रभु के अर्पण कर दो उसके फूल,
गन्ध है जिनका जीवन-दान।
रुदन का हँसना ही तो गान।
कादम्बिनी-प्रसव की पीड़ा हँसी तनिक उस ओर,
क्षिति का छोर छू गई सहसा वह बिजली की कोर!
उजलती है जलती मुसकान,
रुदन का हँसना ही तो गान।
यदि उमङ्ग भरता न अद्रि के ओ तू अन्तर्दाह;
तो कल कल कर कहाँ निकलता निर्मल सलिल-प्रवाह?
सुलभ कर सबको मज्जन-पान।
रुदन का हँसना ही तो गान।
पर गोपा के भाग्य-भाल का उलट गया वह इन्दु,
टपकाता है अमृत छोड़ कर ये खारी जल-बिन्दु!
कौन लेगा इनको भगवान?
रुदन का हँसना ही तो गान।

●

पृथिवीपुत्र

माताभूमि और पृथिवीपुत्र

माताभूमि

पुत्र-गर्व-गौरव से गरिमामयी हूँ मैं;
मेरा यह इतना विशाल क्रोड़ उसके
एक क्रीड़ा कूर्दन के योग्य अब है कहाँ?
जल-थल-व्योम में अबाध गति उसकी!
मंगल-निवासी बन्धुओं से भेंट करके
सारे ग्रह-लोक घूमने को वह व्यग्र है!
वाष्प और विद्युत हैं किंकर-से उसके;
उसके समक्ष खड़ी अचला-सी चंचला!

Earth and Her Son

(*Translated by* **A. G. Shirreff**)

Earth

Mother Earth am I, who watch with pride
The prowess of my progeny;
My lap no longer can provide,
Wide as it is, a playground fair
For one who is in three elements free—
Free in water and land and air,—
And now is tip-too poised to spring
Through interplanetary space
From orbit to orbit, visiting
The farthest kinsmen of our race.

हाथ में रसायन है और सिद्धि साथ है।
भौतिक विभव ऐसा देखा कब किसने ?
लोहहयारूढ़ यन्त्र माया-तन्त्र उसके ;
सच्चा ऐन्द्रजालिक-सा आज वह कौतुकी !
कर रहा नित्य नये आविष्कार अपने ;
सिद्ध-सी हुई है महाशक्ति उस शाक्त को !
किन्तु वाममार्गियों का रक्षक है राम ही।
राम, मेरी सन्तति की कोई गति क्यों न हो,
सीता के समान उसे और किसे सौंपूं मैं ?
आया वह, कैसे कहूँ, आज कहाँ जाने को।

पृथिवीपुत्र

अम्ब, नई यात्रा का मुहूर्त मेरा आ गया।

माताभूमि

बैठ मेरे बच्चे तू, डिठौना तो लगा दूं मैं,
लेकर प्रदीप्त-स्नेह मैंने जो बनाया है।
अन्य भूत-दृष्टि-बाधा व्यापे नहीं तुझको,
तेरे सिर यों हो एक प्रेत चढ़ा बैठा है !

पृथिवीपुत्र

नाम मिटा डालूंगा स्वयं मैं जरा-मृत्यु का
अपने प्रयोगों से, परन्तु क्या सदैव ही
बच्चा ही रहेगा अम्ब, पुत्र तुझ पृथ्वी का ?

माताभूमि

अर्थ इसका तो यही, मैं मातृत्व छोड़ दूं ;
ठीक ही है, अब तो तू व्योमचारी हो गया !

पृथिवीपुत्र

मेरी बात समझे बिना ही रुष्ट हो गई ?
छूटे नहीं तेरे व्यर्थ वे संस्कार आज भी
आदिमयुगीन ! हाय, भूत-बाधा अब भी ?

माताभूमि

ये संस्कार मेरे भले तेरे युग-भार से,
जब भी न जाऊँ मैं तलातल-वितल में !

Lightnings and vapours are vassals to
serve him ;
Fortune makes stable her wheel to pre-
serve him ;
Life's elixir, philosopher's stone,
All that this world can give is his own ;
Steeds that are tireless with sinews of steel
Toil for their master with shaft and wheel;
Many inventions he has sought out,
And magic is his beyond all doubt.
God grant his fancies may not stray
To magic of the left-hand way ?
Thou who didst fashion him of my dust,
To Thee I commit him; accept my trust ?
See where he comes, but whither going
That is what I would fain be knowing.

Son

Mother, my hour is come to start
On a new journey.

Earth

Ere you depart,

Sit by me, child, while I weave a charm
To guard you from all ghostly harm.
This mark I print your brows above,
Emblem of a mother's love,
Will ward off every deadly shape—
Save One from whom is no escape.

Son

Is it Death that you speak of,—death and
decay ?
Trust me to deal in my own way
With these and destroy them. You do ill
To treat me as a baby still.

Earth

So, Earth must renounce a mother's right
Now that in air you take your flight ?

Son

What, you are angry ? But you miss
My meaning, Mother. It was this,—
You are old, old, old, as old as Time.
A brave new age requires no spell
To guard it against the powers of hell,
Those out worn phantoms of your prime.

Earth

To powers of hell though you pay no heed,
My ancient spells you yet may need.

अौर सच कह तू, क्या बच्चा नहीं अब भी
सर्वथा अबोध ! मारा-मारी करता हुआ
डोलता है, खेलता है गोलियों से अभी भी !

पृथिवीपुत्र

(हँसकर)

गोलियां कहां मां, देख, अब यह गोला है !

माताभूमि

गोली नहीं गेंद सही।

पृथिवीपुत्र

तेरे स्थूल रूप-सा !
आप भी तो गोल है तू !

माताभूमि

किन्तु क्या है इसमें ?

पृथिवीपुत्र

आप निज गोलक में क्या-क्या धरे बैठी तू,
ज्ञात नहीं ; तो भी सुन, मेरे इस गोले में
मेरा नया आविष्कार।

माताभूमि

आवश्यकता तुझे
इसकी हुई क्यों ?

पृथिवीपुत्र

इसे खेल ही समझ तू।
मेरे इस कन्दुक की एक ही उछाल में
विश्व का विजय मुझे प्राप्त हुआ रक्खा है !

माताभूमि

तू क्या बकता है अरे, क्या है कह इसमें ?

You still are a child for all you say,
And your mind is set on toys and play ;
Why, even now at a base you stand
To throw that marble you hold in your
hand.

Son *(laughing)*

A marble ? No, it is something bigger.

Earth

What is your plaything, then ? A ball ?

Son

You may call it that, for in compass small
It c opies the shape of your own wide figure.

Earth

What is in it ? Say.

Son

I will do as you bid,
And tell you, though it still remains
A secret what your orb contains.
In this ball that I hold is hid
The latest of my discoveries.

Earth

And what is the need that it supplies ?

Son

Why, if you count it as a game,
"King of the Castle" might be its name,
For I shall have victory over all
The world with one bounce of this ball.

Earth

What idle folly is this you prate ?
I still am waiting to be told
What lies hid in that ball you hold.

Son

What lies hid ? The fire of Fate !—
A fury of flame that shall devour
Every rebel against my power.
Less fierce than this by a hundred-fold
Are the lave-streams from your craters
rolled,
For it is compacted of those rays
With which your vitals were ablaze
For many million years. I see
You shudder at the memory.

Earth

God sain you and save you from sin and
blame !

पृथिवीपुत्र

कालानल ! विद्रोही-विपक्षी जहाँ मेरे जो,
सर्वनाश उनका ! अधिक और क्या कहूँ,
तेरे उस ज्वालामुखी से भी यह सौ गुना ।
कि वा तू करोड़ों वर्ष आप जिस ज्वाला में
जलती रही थी, वही आ समाई इसमें !
सिहर उठी तू यह, क्या उसीकी स्मृति से ?

माताभूमि

शांत पाप, शांत ताप, शांत बुद्धि-शाप हो !
मान लिया, सविता-सुता मैं जलती रही ;
धो दिया था मेरा दाह मेरी बाष्प-वृष्टि ने ।
मेरी अग्नि-शुद्धि में क्या ऐसी द्वेष-बुद्धि थी,
जैसी इसमें है भरी ? मुग्ध, तेरी ईर्ष्या ने
खोजा है कहाँ से यह सर्वनाश सहसा ?
बोल, तेरे कौन बन्धु लक्ष्य होंगे इसके ?

पृथिवीपुत्र

बन्धु नहीं वैरी ! अम्ब, मेरे विश्व-जय के
यज्ञ-पशु-मात्र !

माताभूमि

उन्हें वैरी भले कह तू,
मैं तो उनकी भी प्रसू, तात, जैसी तेरी हूँ ।

पृथिवीपुत्र

तू तो उनकी भी प्रसू, हिंसक जो मेरे हैं !
जिस दिन जन्म हुआ मेरा, उसी दिन से
मेरे मारने को मुँह खोले खड़े आज भी ।
मेरी बुद्धि ने ही मुझे उनसे बचा लिया ;
पत्थर ही मार उन्हें मैंने निज रक्षा की ।
अग्नि को सहायक बनाया फिर अपना ;
लोहे के कृपाण और बाण तो थे पीछे के ।
आज मेरे कुत्ते बने व्याघ्र उस काल के ;
मेरे एक अंकुश के वश में द्विरद है ।
मैंने ही निकाले विष भीषण भुजंगों का
सिद्धरस-योग बना डाला बहु रोगों का ।

Since I was cast out by the Sun, my sire,
I dreed my penance and purged my shame
In tears of vapour and torment of fire.
That fire by which I was purified,
Did not, like yours, from malice spring ;
For malice it is and senseless pride
That have brought forth this fearful thing.
How will you use it ? Answer me.
Which of your kinsmen are to be
The targets for this fell device ?

Son

Not kinsmen, foes ! They shall be hurled
Like sheep to the shambles, a sacrifice
To grace my conquest of the world.

Earth

How can you call them foes ? They too
Have life from me, no less than you.

Son

They have life from you, yet it is they
Who injure me in every way.
Since the day that you gave me birth
These other children of the earth
Have lain in wait to overpower me,
With tooth and claw to rend and devour me.
I have saved myself by my sapience ;
First, I flung stones in self-defence ;
Alliance then with fire I made
And fashioned of iron dart and blade ;
The fiercest beasts of prey became
My hounds and answered to their name ;
The tusk'd Behemoth I bestrode,
Makiag him docile to my goad ;
In poison fangs I found a store
Of healing medicines, and—

Earth

No more !
You have surely shown yourself to be
The subtlest of my progeny !
But these that you boast to have destroyed,
Or tamed and to your service bound,
Are creatures that crawl upon the ground
Or beasts of the field, of reason void.
You that have reason, how can you plan,

ग्रौर—

माताभूमि

मानती हूँ, बड़ा धूर्त था तू सब में।
किन्तु वे सरीसृप वा पशु ही हैं, उनमें
ज्ञान का अभाव है, तू वैज्ञानिक जीव है।
मारता है फिर भी मनुष्य तू मनुष्यों को!

पृथिवीपुत्र

अम्ब, वे मनुष्य हैं वा बर्बर हैं, वन्य हैं?

माताभूमि

एक दिन तू भी उनसे भी बड़ा वन्य था,
ग्राकृति तो पलटी है, प्रकृति वही रही
तेरी।

पृथिवीपुत्र

अम्ब, मेरी ग्रौर उनकी क्या तुलना?
योग्यतम का ही ग्राधिपत्य सदा योग्य है।

माताभूमि

उनमें भी ऐसे योग्य क्या हो नहीं सकते,
तेरा यह ग्राविष्कार ग्रणु-सा उड़ा दें जो?
दूसरों को बार बार वन्य कहता है तू,
देखे नहीं ग्रारण्यक तूने, यदि देखता,
भूल जाता दम्भ निज नागरिकता का तू।
किन्तु मैंने देखे हैं, इसी से कहती हूँ मैं,
देखते थे सब में वे ग्रपने ही ग्रापको।
लोभ न था उनको किसी के धन-धाम का,
भोग में नहीं, वे त्याग में ही तुष्टि मानते।
किन्तु दीखती है ग्राज बाहर से ग्रर्थ की,
भीतर से काम की ही मुख्यता मनुज में।
धर्म ग्रौर मोक्ष दो विनोद उन दोनों के!

पृथिवीपुत्र

तो क्या कहती है फिर पीछे लौटने को तू?

माताभूमि

ऐसा करना न तेरे हाथ है न मेरे ही;
खेत भला किन्तु बिना नींव के निकेत से।

A man, to slay your fellow man ?

Son

Can you call them men, those savages,—
Wild men of the woods ?

Earth

You were once as wild,
Ay, wilder than the worst of these.
And still a savage you are, my child.
All that is changed is the outer frame ;
Your inner nature is the same.

Son

What comparison can there be
Between barbarians and me ?
I am far the abler, and thereby
Can rightly claim supremacy.

Earth

Yes, you are able, it is true,
But others may be able too,—
Able to shatter and atomize
The invention that you value most.
That you have culture is your boast,
And these your kinsmen you despise
As men of the woods, but, had you seen
The forest dwellers of olden time,
As I beheld them in my prime,
Abandoned would that boast have been,
They lived not for themselves but others:
They thought of all men as their brothers:
They sought not power or wealth: in giving
They found delight, not in receiving.
You differ from them in thought and deed :
The human aims that now are rife
Are the lust of the flesh and the pride of life ;
The higher aims of an earlier creed,
Piety here and bliss hereafter,
Are themes today for scornful laughter.

Son

Would you have me go back and begin anew ?

Earth

That neither you nor I can do—
Yet better to couch on the bare ground
Than, where foundations are unsound,
In a high-storeyd house to dwell.

पृथिवीपुत्र

जैसे सही, मान गई भित्ति से भवन तू ;
मेरा इसी भाँति हुआ क्रमिक विकास है।

माताभूमि

विकसित ईशु से भी दो सहस्र वर्ष तू
आगे !

पृथिवीपुत्र

हाँ, जुडास से सहस्रों गुना सभ्य मैं।

माताभूमि

मैं तो देखती हूँ, लाख-लाख गुना तुझमें
विकसित गृध्र वही, साधनों के साथ है !

पृथिवीपुत्र

अम्ब, कुछ कह तू, परन्तु एक सबका
शासक हूँ मैं ही, तुझे शीघ्र दिखा दूंगा मैं।

माताभूमि

पर मैं करूँगी गर्व कैसे उस जय का ?
एक केतु पूंछ फटकार कर नभ में
किसको डराता नहीं अपने उदय से ?

पृथिवीपुत्र

युद्ध से ही युद्ध को समाप्त कर दूंगा मैं।

माताभूमि

एक के अनन्तर अपेक्षा एक युद्ध की,
देखती मैं आ रही हूँ, ज्ञात नहीं कब से।
एक सदुद्देश्य कहके ही सब जूझे हैं,
किन्तु एक इति में जुड़ा है अथ दूसरा !
शासक का नाम रख त्रासक ही होगा तू ;
भय से जो बाध्य होंगे साध्य होंगे क्या कभी ?
अनुगत होंगे घात करने को पीछे से !
तेरे पहले भी हुए कितने विजेता हैं,
किन्तु जनता ने उन्हें नेता कहाँ माना है ?

Son

Houses of clay, as you know well,
Are built up slowly, wall by wall ;
My uplift, too, has been gradual.

Earth

Sure, twenty centuries since Christ
For uplift should have well sufficed !

Son

They have sufficed, for am I not
More civilized than Iscariot
A thousand Times ?

Earth

And to what good,
If, with the progress I behold in you,
The Judas vulture-thirst for blood
Is multiplied a million-fold in you ?

Son

Say what you will, you soon shall see
That I am the whole world's lord and master.

Earth

Can I glory in such a victory ?
No glory, but terror and disaster
That star portends which bursts and spreads
It's meteor glare above men's heads.

Son

The war that I wage shall end all war.

Earth

How often have I seen of yore
A new war press on an old war's traces !
And those who wage war still lay claim
To wage it for some righteous aim,
Till some fresh aim the first replaces.
The sceptre that you seize will be
An iron rod of tyranny.
No ruler can lead on the right track
Subjects whom terror must control :
And if they follow, their only goal
Will be to stab him in the back.
Many a conqueror have I seen
Before your day, but none has been
As leader revered by the human race.

Son

I shall leave nothing mean or base
In all my realm.

पृथिवीपुत्र

छोड़ूँगा नहीं मैं कहीं कुत्सित-कदर्य को।

माताभूमि

कुत्सित-कदर्य किसे कहता है तू भला?
एक दृष्टिकोण से ही देखा नहीं जाता है।
होता नहीं नष्ट कर देने योग्य मल भी;
उसका भी सार बना लेने में बड़ाई है,
वृद्धि पावे जिससे हमारी शस्य-सम्पदा।
कुत्सित-कदर्य स्वयं तू ही न हो पहले;
इधर उठाता और ढाता है उधर तू।
तो भी कहता है, अब बालक नहीं हूँ मैं!
बालक भला था, आज पागल हुआ है तू।
अथवा मैं पागल भी कैसे कहूँ तुझको,
तेरे सब तन्त्र आज सीधे षडयंत्र हैं।
नाम कुछ और, हाय काम कुछ और है!

पृथिवीपुत्र

तो क्या चाहती है तू, बता दे यही मुझको।

माताभूमि

तुझको बड़े से बड़ा देखा चाहती हूँ मैं।
मेरे जात सारे जन्तुओं में मुख्य तू ही है;
किन्तु छोटा होकर ही कोई बड़ा होता है।
मिथ्या दर्प छोड़ने का साहस हो तुझ में,
तो व्यक्तित्व अपना समष्टि में मिला दे तू,
देश, कुल, जाति किंवा वर्ग-भेद भूल के।
जा तू, विश्व-मानव हो, सेवा कर सबकी।
भीति नहीं, प्रीति यथा रीति तेरी नीति हो।
उठ, बढ़, ऊँचा चढ़ संग लिये सबको;
सबके लिए तू और तेरे लिए सब हैं।
नाश में लगी जो बुद्धि, बिलसे विकास में;
गर्व करूँ मैं भी निज पुत्रवती होने का!

Earth

But what is due
For extirpation as base and mean
Must still depend on the point of view;
Ordure, though common and unclean,
Is worth preserving when it yields
A richer foison from my fields.
"Base," "mean" are terms I might employ
For you, whose pride is to destroy.
You say you are no more a child;
A child you were, but now I see
In all your thoughts and deeds the wild
Derangement of insanity.
I am sad for this, but yet more sad
To think that your schemes,—sheer wickedness,
Beneath a cloak of cleverness,—
Brand you as rather bad than mad.

Son

Tell me, Mother, what is your will?

Earth

To see you greater and greater still.
But of my teeming family
Though you are chief, and occupy
The highest order, you must be
Exalted by humility.
You must have the courage to lay aside
All pretensions of false pride:
Your private will you must enrol
In the militia of the whole:
All distinctions you must efface
Of caste and class, of land and race,
And as citizen of the world must be
The servant of humanity:
Not fear but love, not might but right
Must rule your thoughts and deeds aright.
So rise to your full stature, stride
The unimagined heights to reach
With all creation at your side,
Each for all and all for each.
Those powers of mind that were bent upon
Destruction as their beneful aim
Shall vaunt a worthier victory won,
And I be proud that I can claim
To be the mother of such a son.

●

जय भारत

द्रौपदी और सत्यभामा

देवों से अजेय दैत्यों पर विजय पार्थ ने पाई,
उससे दिव्यायुध-शिक्षा की गुरु-दक्षिणा चुकाई।
तीर्थों में ही नहीं, उन्हींके द्वारा नन्दन वन में
विचर कृतार्थ हुए-से पांडव फिरे द्वैत कानन में।

उनके आने तक ही मानो वर्षा रुकी खड़ी थी,
तप के पीछे ही आ सकती ऐसी सुघर घड़ी थी।
लेकर सुख की सांस स्वस्थ थी आगतपतिका वनिका,
चौमासे भर तक चिन्ता से मुक्त हुई वह धनिका।
झुके घनों को लेने गाढ़ा धुआं उठा उटजों से,
दिया अर्घ्य-सा आर्द्र विपिन ने निज प्रस्फुट कुटजों से।
छप्पर में गोधन सँभाल कर वृद्ध कृषक भी गाया—
"आ जा घटा, पूर घट सबके, छा जा मेरी छाया!"
रिम झिम रिम झिम रस की बूंदें बरसीं जो ऊपर से,
उठा पुलक रोमांच आप ही एक साथ भू पर से।
उठी गन्ध-गुणमयी मेदिनी पावस के स्वागत में,
धूल झाड़ ठंडा हो मारुत निरत हुआ निज व्रत में!
फहरीं शान्ति-ध्वजाएँ, लहरीं कल कन्दली-कदलियां,
खिलीं पल्लवों के हाथों में हँस कदम्ब की कलियां।
प्रस्तुत हुईं आम-जामुन की सजी डालियां-डलियां,
मुकुट चन्द्रिकाएँ रच लाईं नाच मयूरावलियां।
उग आये बोये-अनबोये धान्य धन्य धरती के,
गोरस की धारों में महके तृण विशेष परती के।
डोरे डाल फूलती-फलती बढ़ीं वीचि-सी बेलें,
चढ़ अपनी ही उपशाखायें उच्चस्थान न ले लें!
झड़ीं चंचला की कबरी से मोती की-सी लड़ियां,
जोड़ जिन्होंने दीं टूटी-सी जलाशयों की कड़ियां।
छूटीं नभ में बिखर बकों की झक झक कर फुलझड़ियां,
दौड़ी-सी आईं नदियों की सिंधु-मिलन की घड़ियां!
प्रिय से यह प्रिय लगा प्रिया को प्रिय अब जा न सकेंगे!
हुआ विरह से विषम बधू को, वर घर आ न सकेंगे।
दूर कहीं से पिक-केकी को नई कूक उठ आई,
चौंक, स्वप्न से भी वियोगिनी गई, हूक उठ आई।
उठे बांस ऊपर के जल की थाह लगा लेने को,
छिपे कन्द भी उझके अपनी चाह जगा देने को।

मग्न हुआ-सा वासर अपनी सारी सुध-बुध भूला,
धार पवन आसार-जोतियाँ झोंके लेकर झूला।
मोद-मंगलाचार हो उठे, बँधी चतुर्दिक डूबा,
पी पी कर चहकीं चातकियाँ, रस में कौन न डूबा ?
चकाचौंध भरकर चपला ने जब द्रुत लय की यति की,
धीर ताल में घन-मृदंग ने तब उसकी संगति की !
अभ्र-वस्त्र सब छाया में भी पुरवैया से ऊदे,
रुके जहाँ के तहाँ पथिक जन, दादुर उछले-कूदे।
भरे सलिल से बिल, किलबिल कर निकल सरीसृप डोले,
पुलक कण्टकित केतकियों ने सौरभ-सम्पुट खोले !
यौवन के कुम्भों में मद भर घनी घटाएँ घुमड़ीं,
ग्राम दिखाई दिये द्वीप-से, जल-धाराएँ उमड़ीं।
कादम्बिनी-स्पर्श से गिरि ने गैरिक धारा त्यागी,
अथवा अपना राग जताने चला अचल अनुरागी !
श्वान-शृगाल डरे चिल्लाये खड्ग भरे कौंधे से,
चरने लगे महिष-वृष पल भर होकर चकचौंधे-से।
छिपे पड़े थे झाड़ी में जो सिंह वृष्टि के कारण,
निकल पड़े घन-गर्जन सुनकर, निकट न हो वर वारण।
समतल कर दी भूमि शस्य ने लेकर लहर पवन में,
लगी पर्ण-कुटियाँ नावों-सी हरित सिन्धु-से वन में।
मार्कण्डेय सदृश ऋषियों से सुनकर पुण्य-कथाएँ,
व्रती पाण्डवों ने पूरी कीं ऋतु की पर्व-प्रथाएँ।

जल बरसा कर चित्राम्बर ने फिर मोती बरसाये,
भरीं उषा की नलिनांजलियाँ, गये हंस फिर आये।
पथ का पंक सूर्य ने सोखा, अमृत चन्द्र ने सींचा,
कनक कलम लेकर सुकाल का चित्र प्रकृति ने खींचा !
पांचाली झुक शेफाली के फूल चली जब चुनने,
सानुराग हँस उन जैसे ही वचन कहे अर्जुन ने—
"प्रिये, प्यार से दिये हुए वे इन्द्राणी के गहनें,
क्यों न तुम्हारे अंग आज इस उत्सव के दिन पहनें ?
"पर इन केशों का क्या होगा ?" कहा प्रिया ने सहसा,
पर सुनने में स्वयं उसे वह लगा आज दुस्सह-सा।
"क्षमा करो प्रिय, तुमने सब कुछ मेरे लिए किया है,
मैं क्या करूँ, न जाने मेरा कैसा कठिन हिया है।"
"नहीं, भूल थी यह मेरी ही, तुमने ठीक कहा है,
अब भी समय नहीं आया वह, यद्यपि पहुँच रहा है।"
"तब तक मुझे स्वर्ग की ही कुछ बातें और सुनाओ,"
"यही स्वर्ग का गुण है, उसमें नित्य नयापन पाओ।"

"इसीलिए क्या मुझे सजाकर नया बनाते थे तुम ?
निज अतृप्ति में भी करुणा-वश मुझे मनाते थे तुम ?"
"तुमसे सदा अतृप्त रहूँ मैं, यही कामना मेरी।"
"इससे अधिक और क्या चाहे यह चरणों की चेरी ?
किन्तु नाथ, भव तो भव ही है, वह दिव कैसे होगा ?
सुन सकती हूँ क्या मैं, तुमने उसको कैसे भोगा ?"
"नहीं भूलता यह सुख मुझको, चाहे जहाँ रहूँ मैं।"
"इसको निज सौभाग्य कहूँ वा निज दुर्भाग्य कहूँ मैं ?
मेरे कारण रह न सके तुम सुरपुर में भी सुख से।"
"फिर भी मेरा सुख न मिले क्या प्रिये तुम्हारे मुख से ?"
"किन्तु अमृत तो यहाँ नहीं है, रहो, वहीं वह छूटा,
दोष तुम्हारा ही है तुमने उसे नहीं यदि लूटा।"
"प्रिये, 'नहीं' क्यों मुझे दोष ही जब तुम लगा रहीं हो ?
मुझे लुटेरा कहो, आपको तुम क्यों ठगा रहीं हो ?"
"अमरी नहीं मरी हूँ मैं तो !" "समझा कसक तुम्हारी,
मान्य शची-सी ही थीं मुझको सुरांगनायें सारी,
किन्तु उर्वशी से मैंने वर छोड़ शाप ही पाया,
विफल हुआ जो राग जहाँ भी वहाँ द्वेष ही लाया।
पर अज्ञातवास में हमको हितकर होगा वह भी।"
स्तब्ध हुई सुन द्रुपद-नन्दिनी, सकी न वह कुछ कह भी।
फिर गद्गद् हो स्वयं पार्थ से लिपट गई वह कसके,
मिला स्वयं, वे रागी थे जिस परिरम्भण के रस के।
पलटा पृष्ठ उसीने "तुमको सुरपुर कैसा भाया ?"
"ईश्वर की ईश्वर ही जानें, वहाँ अनोखी माया !
पर मैं पृथिवी-पुत्र, अन्त में जगती ही गति मेरी,
जहाँ साधना है इस तनु की रहे वहीं रति मेरी।"
"देवों के चरित्र में तुमने लोकोत्तर क्या पाया ?"
"अग्रज के प्रति अपनी श्रद्धा मैं दुगुनी कर लाया !
उनको भी इनका गौरव है, मुझको यही लगा है।"
"तुमसे यह सुन कर मुझमें भी नूतन गर्व जगा है।"
"फिर भी अद्भुद एक स्वप्न था, जो यह मुझको दीखा,
गन्धर्वों का गुण भी मैंने कुछ विनोद-वश सीखा।"
"अहा ! इसीमें तो मेरी रुचि, नचो न कुछ, मैं देखूँ,
ताण्डव अथवा लास्य, स्वर्ग का लाभ यहीं मैं लेखूँ।"
"पहले सिंहासन आने दो, तब अनुशासन करना !"
"मैं तो सदा तुम्हारी रानी, तुम इससे न मुकरना !"
"सचमुच यह अपराध हो गया।" "तो कुछ दंड चुकाओ,
नृत्य नहीं तो आज स्वर्ग का एक गीत ही गाओ।
सुख ही सुख है जहाँ, वहाँ का तुमसे गान सुनूँ मैं,
बिना वेदना की कैसी है, कोई तान सुनूँ मैं।"

"गान स्वर्ग का किन्तु कण्ठ तो इसी कठिन धरती का,
होगा नहीं कार्य यह मेरा क्या कोरा भरती का ?
किन्तु सुनो रथ-शब्द, अहा! श्रीकृष्ण आ रहे जैसे !"
उठ दोनों ही गये कुंज से आतर-उत्सुक ऐसे।

हरि के साथ सत्यभामा भी मिलने को आई थी,
स्वागत करती हुई द्रौपदी सचमुच सकुचाई थी।
"नहीं तुम्हारे योग्य यहाँ आसन भी, फिर क्या सज्जा ?
प्रस्तुत है मेरा तन मन ही लेकर कोरी लज्जा।"
"पुण्य तीर्थ-यात्रा यह मेरी, कितनी स्वच्छ कुटी है,
प्रासादों की तड़क भड़क सब इस पर आप लुटी है।
वहाँ ऊबकर ही मानो मैं तुमसे मिलने आई,
अपनी इष्ट-सिद्धि-सी तुमको पाकर मैंने पाई।
कहा सुभद्रा ने प्रणाम है, प्रिय अभिमन्यु भला है,
अच्छे सभी तुम्हारे बच्चे, क्रम सब ठीक चला है।
अपने से पहले पाँचों का ननद ध्यान रखती हैं,
और एक ही रस में मानो वे षड्रस चखती हैं!"
"औरस जननी वत्सलता-वश औरों की भी धात्री,
मिला स्वयं उसको किससे क्या, वह दात्री ही दात्री।
तुम उससे मेरी असीस कह यही सँदेसा कहना—
'टुक अपने को भी औरों के लिए देखती रहना।'—"
"उनके मत में उन्हें तुम्हींने अपना भाग दिया है,
द्वेष-रहित अनुराग दिया है और सुहाग दिया है।
आई हूँ मैं भी तुमसे कुछ आज माँगने को ही,
शुभे, हो उठा है मेरा मन मुझसे ही विद्रोही!"
"सखि, माधव-सा धन पाकर भी इष्ट और क्या तुमको !
तिक्त तुम्हारा मन क्यों, उनसे मिष्ट और क्या तुमको !"
"जो निधि मुझे मिला, जगती में मिलता है वह किसको,
किन्तु उसे रख सकूँ यथा विधि, नहीं जानती इसको।
अहो ! एक को ही जब मानो मैंने रुष्ट किया है,
पाँच पाँच देवों को तुमने कैसे तुष्ट किया है!
कौन यातु-विद्या है ऐसी, कृपया मुझे सिखा दो,
यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रादिक जो हों मेरे योग्य, लिखा दो।"
"रहो, यातु-विद्या पर तुम यों अपने को न बिकाना,
मेरी बहन हिडिम्बा है पर तुमको कहाँ ठिकाना!"
हुई सत्यभामा हतमति-सी, हँसी द्रौपदी, बोली—
"नहीं जानती थी मैं आहा! तुम हो इतनी भोली।
टुटपुँजिये हैं, जो टौने की माया पर मरते हैं,
क्या कर सकते हैं वे कायर, जो तप से डरते हैं।

मेरी तुच्छ कुटी जो तुमको सहज स्वच्छ-सी सूझी,
इसके लिए स्वकटि कसकर मैं झाड़ू लेकर जूझी।
बाहर चूर चूर होकर नर बहुधा घर आता है,
नारी का मुख वहाँ निरख वह फिर नवता पाता है।
यदि ऐसा न हुआ तो समझो दोनों बड़े अभागी,
दोनों की ही सद्गृहस्थता अब भागी तब भागी।
कच्चे-पक्के घर विभिन्न हों, पर अभिन्न हैं प्राणी,
आगे-पीछे मिलता ही है सबको भोजन-पानी।
किन्तु हमारे मधुर भाव के राव-रंक सब भूखे,
इतना भी न परोस सकें हम तो सुहाग रस सूखे!
जब बाहर आतो हैं तब हम सज बज कर आती हैं,
घर भीतर ऐसी वैसी ही बहुधा रह जाती हैं।
पूरा न हो, किन्तु यह आधा उलटा चलन हमारा,
घर के वर के लिए वधू का साज बाज है सारा।
दास-दासियाँ दिखलाते हैं कोरी प्रभुता जन की,
सखि, सच्ची संभाल हमको ही करनी है निज धन की।
अपना जितना काम आप ही जो कोई कर लेगा,
पाकर उतनी मुक्ति आप वह औरों को भी देगा।

प्रकट किया बहु करपीड़न में पौरुष-दर्प नरों ने,
उसका विनिमय मुझे दिया है मेरे पाँच वरों ने।
किया विनयपूर्वक ही निर्भय जो कुछ किया उन्होंने,
स्वयं साक्षिणी मैं, स्मरहर-सा विष यह पिया उन्होंने।
मेरी उनकी बात छोड़ दो, उसकी बड़ी कथा है,
किन्तु तुम्हारे लिए हृदय से होती मुझे व्यथा है।
फिर भी उचित मन्त्र दूँगी मैं, क्यों यह क्षोभ तुम्हें है?
कारण, अपने रूप-गुणों के फल का लोभ तुम्हें है!
नारी लेने नहीं, लोक में देने ही आती है,
अभु शेष रखकर वह उनसे प्रभु-पद पा जाती है।
पर देने में विनय न होकर जहाँ गर्व होता है,
तपस्त्याग का पर्व हमारा वहीं खर्व होता है।"

नहुष

"नारायण! नारायण! साधु नर-साधना,
इन्द्र-पद ने भी की उसीकी शुभाराधना!"
गूँज उठी नारद की वीणा स्वर-ग्राम में,
पहुँचे विचरते वे वैजयन्त धाम में।

आप इन्द्र को भी त्याग करके स्वपद का,
प्रायश्चित करना पड़ा था वृत्र-वध का।
पृथ्वीपुत्र ने ही तब भार लिया स्वर्ग का,
त्राता हुआ नहुष नरेन्द्र सुर-वर्ग का।

था सब प्रबन्ध यथापूर्व भी वहाँ नया,
ढीला पड़ा तन्त्र फिर तान-सा दिया गया।
अभ्युत्थान देके नये इन्द्र ने उन्हें लिया,
मुनि से विनम्र व्यवहार उसने किया।
"आज का प्रभात, सुप्रभात, आप आये हैं,
दीजिए, जो आज्ञा स्वयं मेरे लिए लाये हैं।"
"दुर्लभ नरेन्द्र, तुम्हें आज क्या पदार्थ है?
दूंगा मैं बधाई अहा कैसा पुरुषार्थ है!"
"सीमा क्या यही है पुरुषार्थ की पुरुष के?"
मुद्रा हुई उत्सुक-सी मुख की नहुष के।
मुनि मुसकाये और बोले—"यह प्रश्न धन्य!
कौन पुरुषार्थ भला इससे अधिक अन्य?
शेष अब कौन-सा सुफल तुम्हें पाने को?"
"फल से क्या, उत्सुक मैं कुछ कर जाने को।"
"वीर, करने को यहाँ स्वर्ग-सुख-भोग ही,
जिसमें न तो है जरा-जीर्णता, न रोग ही।
ऐसा रस पृथ्वी पर–" "मैंने नहीं पाया है,
यद्यपि क्या अन्त अभी उसका भी आया है।
मान्य मुने, अन्त में हमारी गति तो वहीं,
और मुझे गर्व ही है, लज्जा इसमें नहीं।
ऊँचे रहे स्वर्ग, नीचे भूमि को क्या टोटा है?
मस्तक से हृदय कभी क्या कुछ छोटा है?
व्योम रचा जिसने, उसीने वसुधा रची,
किस कृति-हेतु नहीं उसकी कला बची?
जीव मात्र को ही निज जन्मस्थान प्यारा है।"
"किन्तु भूलते हो, स्वर्गलोक भी तुम्हारा है।
करके कठोर तप, छोर नहीं जिसका,
देना पड़ता है फिर देह-मूल्य इसका।
कहते हैं, स्वर्ग नहीं मिलता बिना मरे,
पाया इसी देह से है तुमने इसे अरे!"
नम्र हुआ नहुष सलज्ज मुसकान में,—
"त्रुटि तो नहीं थी यही मेरे मूल्य-दान में?"
"पूर्णता भी चाहती है ऐसी त्रुटि चुनके।"
"मैं अनुगृहीत हुआ आज यह सुनके।
देव, यहाँ सारे काम-काज देखता हूँ मैं,
निज को अकेला-सा परन्तु लेखता हूँ मैं।
चोट लगती है, यह सोचता हूँ मैं जहाँ,—
छूत तो किसीको नहीं इस तनु से यहाँ?
यद्यपि कुभाव नहीं कोई भी जनाता है,
तो भी स्वाभिमान मुझे विद्रोही बनाता है।"
"आह! मनोदुर्बलता, वीर, यह त्याज्य है,
आप निर्जरों ने तुम्हें सौंपा निज राज्य है।
दानवों से रक्षा कर भोगो इस गेह को,
मानो देव-मन्दिर ही निज नर-देह को।"
"आपकी कृपा से मिटी ग्लानि मेरे मन की,
प्रकट कृतज्ञता हो कैसे इस जन की?"
बोले हँस नारद प्रसन्न कल वर्णों से—
"ज्ञाता है अधिक मेरा मन ही स्वकर्णों से!"

×

दिव्य भाग पाके भव्य याग तथा त्याग से,
रंजक भी राजा अब रंजित था राग से!
ऐसा नर पाके धन्य स्वर्ग का भी भोग था,
नर के लिए भी यह चरम सुयोग था।
सेवन से और और बढ़ते विषय हैं,
अर्थ जितने हैं सब काम में ही लय हैं।
एक बार पीकर प्रमत्त जो हुआ जहाँ,
सुध फिर अपनी-परायी उसको कहाँ?
देव-नृत्य देख, देव-गीत-वाद्य सुनके,
नन्दन विपिन के अनोखे फूल चुनके,
इच्छा रह जाती किस अन्य फल की उसे?
चिन्ता न थी आज किसी अन्य कल की उसे!
प्रस्तुत समक्ष उसे स्वप्न की-सी बातें थीं,
सोकर क्या खोने के लिए वे रम्य रातें थीं?
प्रातःकाल होता था विहार देव-नद में,
किंवा चन्द्रकान्त मणियों के हृद्य ह्रद में।
नेत्र ही भरे थे नरदेव के न मद से,
होती थी प्रकट एक झूम पद पद से।
ऊपर से नीचे तक मत्तता न थी कहाँ,
ऐरावत से भी दर्शनीय वह था वहाँ।
अधमुँदी आँखें अहा! खुल गईं अन्त में,—
पाकर शची की एक झलक अनन्त में
पति की प्रतीक्षा में, निरत व्रतस्नेह में,
काट रही थी जो काल सुरगुरु-गेह में।
आया था विहारी नृप राज-हंस-सरि से,
वह निकली ही थी नहाके सुरसरि से।
निकली नई-सी वह वारि से वसुन्धरा,
वर तो वही है बड़ा जिसने उसे वरा।
एक घटना-सी घटी सुषमा की सृष्टि में,
अद्भुत यथार्थता थी कल्पना की सृष्टि में।

पूछना पड़ा न उसे परिचय उसका,
कर उठीं अप्सराएँ जय जय उसका।
'ओहो यह इन्द्राणी!"—उसाँस भर बोला वह,
बैठा रहके भी आज आसन से डोला वह।
मन था निवृत्त हुआ अप्सरा-विहार से,
उसने निभाया उसे मात्र शिष्टाचार से।
'यह दिपी, वह छिपी दामनी-सी क्षण में,
जागी इसी बीच नई कान्ति कण कण में।
मेरी साधना की गति आगे नहीं आ सकी,
सिद्धि की झलक एक दूर से ही पा सकी।
विस्मय है, किन्तु यहाँ भूला रहा कैसा मैं,
इन्द्राणी उसीकी इन्द्र है जो, आज जैसा मैं।
वह तो रहेगी वही, इन्द्र जो हो सो सही,
होगी हाँ कुमारी फिर चिर युवती वही।
तो क्यों मुझे देख वह सहसा चली गई,
आह! मैं छला गया हूँ वा वही छली गई?
एक यही फूल है जो हो सके पुनः कली,
इतने दिनों तक क्यों मैंने सुधि भी न ली।
इन्द्र होके भी मैं गृहभ्रष्ट-सा यहाँ रहा,
लाख अप्सराएँ रहें, इन्द्राणी कहाँ अहा!
ऊलती तरंगों पर झूलती-सी निकली,
दो दो करी-कुम्भी यहाँ हूलती-सी निकली!
क्या शक्रत्व मेरा, जो मिली न शची भामिनी,
बाहर की मेरी सखी भीतर की स्वामिनी।
आह! कैसी तेजस्विनी आभिजात्य-अमला,
निकली सुनीर से यों क्षीर से ज्यों कमला।
एक ओर पर्त्त-सा त्वचा का आर्द्र पट था,
फूट-फट रूप दूने वेग से प्रकट था।
तो भी ढके अंग घने दीर्घ कच-भार से,
सूक्ष्म थी झलक किन्तु तीक्ष्ण असि-धार से।
दिव्य गति लाघव सुरांगनाओं ने धरा,
स्वर्ग में सुगौरव तो वासवी ने ही भरा।
देह धुली उसकी वा गंगाजल ही धुला,
चाँदी घुलती थी जहाँ सोना भी वहाँ घुला।
मुक्ता तुल्य बूँदें टपकीं जो बड़े बालों से,
चू रहा था विष वा अमृत वह व्यालों से।
आ रही हैं लहरें अभी तक मुझे यहाँ,
जल-थल-वायु तीनों पानेच्छुक थे वहाँ।
बाह्य ही जहाँ का बना जैसे एक सपना,
देखता मैं कैसे वहाँ अन्तःपुर अपना।

सबसे खिंचा-सा रहा उद्धत प्रथम मैं,
फिर जिस ओर गया हाय! गया रम मैं।
वस्तुतः शची के लिए बात थी विषाद की,
माँगूंगा क्षमा मैं आज अपने प्रमाद की।
ऊँचा यह भाल स्वर्ग-भार धरे जावेगा,
उसके समक्ष झुक गौरव ही पावेगा।"

दूती भेज उसने शची से कहलाया यों—
"वैजयन्त धाम देवराज्ञी ने भुलाया क्यों?
दूना-सा अकेले मुझे शासन का भार है,
आधा कर दे जो उसे ऐसा सहचार है।
सह नहीं सकता विलम्ब और अब मैं,
आज्ञा मिले, आऊँ स्वयं लेने कहाँ, कब मैं?"
उत्तर मिला—"तुम्हें बसाया वैजयन्त में,
चाहते हो मेरा धर्म भी क्या तुम अन्त में?
जैसे धनी-मानी गृही जाय तीर्थ-कृत्य को,
और घर-बार सौंप जाय भले भृत्य को,
सौंपा अपने को यह राज्य वैसे जानो तुम,
थाती इसे मानो, निज धर्म पहचानो तुम।
त्यागो शची-संग रहने की पाप-वासना,
हर ले नरत्व भी न कामदेवोपासना।"
जा सुनाया दूती ने सुरेश्वरी ने जो कहा,
सुनके नहुष आप आपे में नहीं रहा।
"अच्छा! इन्द्रपद का नहीं हूँ अधिकारी मैं?
सेवक-समान देव-शासनानुचारी मैं?
स्वर्ग-राज्य तो क्या, अपवर्ग भी है एक पण्य,
मूल्य गिन दे जो धनी, ले ले वह आप गण्य।
असुर पुलोम-पुत्री इन्द्राणी बने जहाँ,
नर भी क्यों इन्द्र नहीं बन सकता वहाँ?
कौन कहता है, नहीं आज सुर-नेता मैं?
पाकशासनासन का मूल्यदाता, क्रेता मैं।
साग्रह सुरों ने मुझे सौंपी स्वयं शक्रता,
कैसी फिर आज यह वासवी की वक्रता?
प्रस्तुत मैं मान रखने को एक तृण का,
और मैं ऋणी हूँ परमाणु के भी ऋण का।
अपना अनादर परन्तु यदि मैं सहूँ,
तो फिर पुरुष हूँ मैं, किस मुँह से कहूँ?"

झूला हठ-बाल पाके मन्मथ का पालना,
पाने से कठिन किसी पद का सँभालना।

देव-कुल-गुरु को प्रणाम कर दूत ने
सँदेसा सुनाया, जो कहा था पुरहूत ने।
"आपकी कृपा से देव-कार्य विघ्न-हीन है,
जाकर रसातल में दैत्य-दल दीन है।
बाहर की जितनी व्यवस्था, सब ठीक है,
घर की अवस्था किन्तु शून्य है, अलीक है।
फिर भी शची थीं इस बीच आपके यहाँ,
और मायके-सा मोद पा रही थीं वे वहाँ।
आज्ञा मिले. आऊँ उन्हें लेने स्वयं प्रीति से,
आप जो बतावें उसी राजोचित रीति से।"
"सुन लिया मैंने, प्रतिवाक्य पीछे जायगा,
कहना, विलम्ब व्यर्थ होने नहीं पायगा।"
कह गुरुदेव ने यों दूत को विदा किया,
और मन्त्रणार्थ मुख्य देवों को बुला लिया।
बैठे यथास्थान सब सभ्य उन्हें नत हो,
बोले गुरु—"सुगत सुचिन्तित सुमत हो!
ईश्वर का जीव से है मानो यही कहना—
'तू निश्चिन्त होके कभी बैठ नहीं रहना।'
नर अधिकारी आज देवराज-पद का,
किंवा वह लक्ष हुआ हाय! सुर-मद का।
सम्प्रति शची में हठी नहुष निरत है,
सोचो कुछ यत्न यह उससे विरत है।"
माँग जो नहुष की थी, सबने सुनी, गुनी,
किन्तु कहाँ हो सके हैं एक मत दो मुनी?
एक ने उचित मानी, अनुचित अन्य ने,
तो भी दिया मुक्त मत किस मतिमन्य ने?
तर्क स्वयं भटका है खोजने जा तत्व को,
फिर भी न माने कौन उसके महत्व को?
शंका-बधू जेठी, वर हेठा समाधान है!
बोले श्रीद—"मत तो शची का ही प्रधान है।"
"मेरा मत?" मानधना बोली—"पूछते हो आज?
पूछ लूँ क्या मैं भी, क्यों बनाया उसे देवराज?
कोई न था तुममें जो भार धरे तब लौं,
स्वामी कहीं प्रायश्चित पूरा करें जब लौं?"
"हाय महादेवि!" बोले व्यथित वरुण यों—
"अपने ही ऊपर क्यों आप अकरुण यों?
मारा जिस वज्र ने है वृत्र को अभी अभी,
होता नहीं निष्फल प्रयोग जिसका कभी,
व्यर्थ वह भी है यहाँ, अक्षत है धर्म तो,
काटा नहीं जा सकता वज्र से भी कर्म तो!
कोई जो बड़े से बड़ा फल भी न पायगा,
ऊँचे उठने का फिर कष्ट क्यों उठायगा?
कर्म ही किसी के उसे योग्य फलदायी हैं,
देव पक्षपाती नहीं, समदर्शी, न्यायी हैं।
योग्य अनुगत को बढ़ाते क्यों न आगे हम?
दान-मान देने में कृती को कहाँ भागे हम?
वस्तुस्थिति जो है, वह आपके समक्ष है,
और कुछ भी हो, उसका भी एक पक्ष है।
आपके लिए भी विधि है, यदि उसे वरें,
सोचें परिणाम फिर आप कुछ भी करें।"
"मैं तो मनःपूत को ही मानती हूँ आचरण;
ऐच्छिक विषय मेरा व्यक्ति-वरणावरण।
सत्ता हाँ समाज की है, वह जो करे, करे,
एक अबला का क्या, जिये, जिये; मरे, मरे!
किंवा यह सारी कृपा ऋषि-मुनियों की है,
गरिमा गभीर गूढ़ उन गुनियों की है।
मारने की आततायी ब्रह्मदैत्य यति को,
हत्या ऋषियों ने ही लगाई देवपति को।
धिक्, वह विधि ही निषिद्ध मेरी स्मृति में,
दोष मात्र देखे जो हमारी कृति कृति में!
हमने किया सो आत्म-रक्षा के लिए किया,
ध्यान इस पर भी किसीने कुछ है दिया?
आहुतियाँ देके इस नहुष अभाग को,
दूध ऋषियों ने ही पिलाया कालनाग को।
अच्छा तो उठाके वही कन्धों पर शिबिका,
लावें उस नर को बनाके वर दिवि का।"
"अलमिति" बोल उठे वाचस्पति—"हो गया,
यान हो शची के नये वर का यही नया!"

विस्मित-सा सम्मत नहुष हुआ ऐसे भी,
पाना जो उसे था मिले क्यों न वह कैसे भी।
बोले ऋषि—"भुगतेंगे हम यह विष्टि-भार,
सह्य निज राजा की अनीति भी है एक बार।"
मत्त-सा नहुष चला बैठ ऋषि-यान में,
व्याकुल-से देव चले साथ में विमान में।
पिछड़े तो वाहक विशेषता से भार की,
आरोही अधीर हुआ प्रेरणा से मार की!
"बस क्या यही है, बस बैठ विधियाँ गढ़ो,
अश्व-से अड़ो न अरे, कुछ तो बढ़ो, बढ़ो!"

बार बार कन्धे फेरने को ऋषि अटके,
आतुर हो राजा ने सरोष पैर पटके।
क्षिप्त पद हाय! एक ऋषि को जो जा लगा,
सातों ऋषियों में महा रोषानल आ जगा।
"भार वहें, बातें सुनें, लातें भी सहें क्या हम,
तू ही कह क्रूर, मौन अब भी रहें क्या हम?
पैर था या साँप यह, डस गया संग ही,
पामर, पतित हो तू होकर भुजंग ही!"
चौंक पड़ा राजा, मुख-मुद्रा हुई विकला,
"हा! यह हुआ क्या?" यही व्यग्र वाक्य निकला।
शून्य पट-चित्र हुआ घुलता-सा दृष्टि से,
देखा फिर उसने समक्ष शून्य दृष्टि से।
दीख पड़ा उसको न जाने क्या समीप-सा,
हो उठा प्रदीप्त वह बुझता प्रदीप-सा।
"संकट तो संकट, परन्तु यह भय क्या?
दूसरा सृजन नहीं मेरा एक लय क्या?"
सँभला अदम्य मानी खींचकर ढीले अंग,
"कुछ नहीं, स्वप्न था सो हो गया भला ही भंग।
कठिन कठोर सत्य, तो भी शिरोधार्य है,
शान्त हों महर्षि, मुझे शाप अंगीकार्य है।

मानता हूँ भूल हुई, खेद मुझे इसका,
सौंपे वही कार्य उसे, धार्य हो जो जिसका।
स्वर्ग से पतन, किन्तु मेदिनी की गोद में;
और जिस जोन में जो, सो उसीमें मोद में।
काल गति-शील मुझे लेके नहीं बैठेगा,
किन्तु उस जीवन में विष घुस पैठेगा।
तो भी खोजने का कुछ कष्ट जो उठायँगे,
विष में भी अमृत छिपा वे कृती पायँगे।
मानता हूँ, भूल गया नारद का कहना—
'दैत्यों से बचाये निज देवधाम रहना।'
आ घुसा असुर हाय! मेरे ही हृदय में,
मानता हूँ, आप लज्जा पाप अविनय में।
मानता हूँ और सब, हार नहीं मानता,
अपनी अगति आज भी मैं नहीं जानता।
आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूंगा कल मैं ही अपवर्ग भी।
गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी?
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूंगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं।"

हिडिम्बा

विदुर कृपा से कर छद्म-घर छार-खार,
वन में प्रविष्ट पांडुपुत्र हुए गंगा-पार।
भीम ने बनाया मार्ग बीहड़ में बढ़के,
कुन्ती जा सकी उन्हींके कन्धों पर चढ़के।
माँ को लिये वे, दिये सहारा भाइयों को भी,
गिनते न मार्ग में थे खड्ड-खाइयों को भी।
देखते उन्हें थे वन-जन्तु सुविस्मय से,
किन्तु दूसरे ही क्षण भागते थे भय से!
घने घने वृक्ष आतपत्र लिये आते थे,
निज फल-फूल उन्हें भेंट दिये जाते थे।
कंटक भी इनके पदों को धर रहते,
शल्य-विद्ध मन में वे उनसे क्या कहते?
केकी गति धरते थे, पिक स्वर भरते,
उनके विनोद का प्रयास-सा थे करते।
वे आखेट-मग्न मान सकते थे आपको,
भूलते परन्तु कैसे माँ के मनस्ताप को।

रानी भी न होती वह, तो भी गृह-नारी थी,
घन-वन-योग्य न थी, चिर सुकुमारी थी।
पर उसको भी आज दुःख न था अपना,
पुत्रों की विपत्ति का ही जी में था कलपना।
बैठ भी सकी न वह अन्त में गहन में,
मन में अशान्ति थी ही, श्रान्ति आई तन में।
छाई शून्य जड़ता प्रसून की-सी काया में,
झड़-सी पड़ी वह बड़ी-सी वटच्छाया में!
"हाय! हम जैसे पाँच पाँच पुत्र रहते,
जननी हमारी सहे ऐसे दुःख वहते।
तो वृथा सहेगी कौन वेदना प्रसव की?
होगी क्यों इतिश्री नहीं भाग्यहीन भव की?
निज पर हैं वे, यह जिनसे छली गई,
धन गया, धाम गया, धरती चली गई!
करनी पड़ेगी भरपाई किसे इसकी?
दुर्योधन, तू है वह ऐसी मति जिसकी!

आज अपने को तू कृतार्थ भले कह ले—"
"जाओ किन्तु खोजो भीम, पानी कहीं पहले।"
बोले उन्हें रोकके युधिष्ठिर थकित-से।
"जो आज्ञा" वृकोदर चले चुप चकित-से।
दृष्टि और श्रुतियों को विस्तृत-सा करके,
जलचर पक्षियों का कलरव धरके,
जाके कुछ दूर पा गये वे एक झरना,
दैव के अनुग्रह का ऊँचे से उतरना!
उतरी थकान, जो चढ़ी थी उन्हें वन में,
प्राप्त हुए व्याप्त नये प्राण-से पवन में।
श्वास खींच बोले बली—"अम्बा-आर्य आ जावें,
तो वे पुनर्नवता तुरन्त यहाँ पा जावें।"
रुक न सके वे वहाँ, लौटे वायु-बल से,
पात्र के अभाव में दुकूल भर जल से।

माता और भ्राता यहाँ हारे थके सोये थे,
भाव गति खोजते-से आप भी वे खोये थे।
प्रहरी हो भीम क्या क्या सोचा किये मन में,
साँझ को ही रात हुई उनको गहन में।
धारे गगनस्थली ने तारे-रत्न चुनके,
चमके वे नूपुरों की रुन-झुन सुनके।
सुन पड़ी राग की नई-सी टेक उनको,
दीख पड़ी सुन्दरी समक्ष एक उनको।
उत्थित वसुन्धरा से रत्नों की शलाका थी,
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्त्तिमती राका थी!
अंग मानो फूल, कच भृंग, हरी शाटिका,
कर-पद-पल्लवा थी जंगम-सी वाटिका!
ओस मुसकान बन ओठों पर आई थी,
सुरभि-तरंग वायुमंडल में छाई थी।
चौंक उठे भीम, रह वे न सके स्थिर भी,
खिन्न थे भले ही अविनीत न थे फिर भी।
ओठों पर तर्जनी धरे वे बढ़े धीरे से,
"देवि, कौन है तू यहाँ?" बोले हँस हीरे-से—
"जागें नहीं कच्ची नींद माता और भ्राता ये,
आप कष्ट में भी शरणागतों के त्राता ये।"
"धन्यवाद! देवि-पद दान किया तुमने,
वस्तुतः मैं राक्षसी हूँ, मान दिया तुमने।
स्वीकृत इसीलिए मैं करती हूँ इसको,
अन्यथा मैं अपने समक्ष गिनूँ किसको?"

"राक्षसी इसीलिए क्या तू जो है निशाचरी?
यद्यपि दिवा-सी यह दीप्ति तुझमें भरी!
फूटा जिसे देख यहाँ पत्थर में सोता है,
ऐसा रस-रूप यदि राक्षसी का होता है,
तो थी राक्षसों के प्रति मेरी भ्रान्त धारणा,
तन्वि, तुझे योग्य नहीं यह वन-चारणा।"
"मानती हूँ इसको गुणज्ञता तुम्हारी मैं,
दुगुनी कृतज्ञ हुई बलि, बलिहारी मैं!
मेरा बड़ा भाग्य यह, जो मैं मन भा गई,
वन घर मेरा, तुम्हें देखा और आ गई।
अपने अतिथि का मुझी पर न भार है,
कह दो, अपेक्षित तुम्हें क्या उपहार है?
दुःख में पड़े हो तुम सर्व सुख सेवी-से।"
"तो आलाप करता हूँ मैं क्या वन-देवी से?"
"देवी ही सही मैं तब मेरे देव तुम हो,
कामलता हूँ मैं, तुम्हीं मेरे कल्प द्रुम हो।"
"सुन्दरि, क्या सत्य ही तू कोई अन्य बाला है?
रूप से जो ज्वाला और वाणी से रसाला है।"
"मैं हूँ"—हँस बोली वह "जो भी तुम जान लो,
हानि क्या मुझे यदि निशाचरी ही मान लो?
कल्प-सा किया है स्वयं मैंने निज काया का,
यातुधानी हूँ न, योग रखती हूँ माया का।"
"तो तू अपने को भले शूर्पणखा मान ले,
लक्ष्मण-सा धीर मैं नहीं हूँ, यह जान ले!"
"शूर्पणखा तक ही तुम्हारा बड़ा ज्ञान है,
वे हो तुम, जिनमें अतीत ही महान है!"
"लक्ष्मण न होने में प्रतिष्ठा कौन मेरी है?
तब भी प्रशंसनीय सत्य-निष्ठा तेरी है।
शूर्पणखा, 'राक्षसी मैं,' यों कह सकी कहाँ,
किन्तु इस रूप-रचना का हेतु क्या यहाँ?"
बोली चढ़ी भृकुटी उतार कर ललना—
"चाहो तो कहो तुम भले ही इसे छलना,
प्रिय-रुचि हेतु चुना मैंने यह चोला है,
नरवर मेरा अहा भारी भला भोला है!"
"भोला? भली, 'मुग्ध' कह तो भी एक बात है,
रूठे वह क्यों न सीधा सीधा यह घात है!"
"रूठना भी उसका क्या जो उदार चेता है,
चाहे जिसे देवी जान लेता, मान देता है!
देवों की अपेक्षा दैत्य हमसे निकट हैं,
नर तो निरीहिता में दोनों से विकट हैं!

चाहिए उन्हें तो किसी दिव्य की अधीनता,
दीनता कहूँ मैं इसे किंवा आत्म-हीनता ?
अस्तु और बेला नहीं, संकट समीप है,
सोदर हिडिम्ब मेरा रक्षः-कुल-दीप है।
उसने मनुष्य-गंध पाके मुझे भेजा है,
आके तुम्हें देख कैसा हो उठा कलेजा है !
मारने को आई थी, बचाऊँगी तुम्हें अहो !
होने से विलम्ब किन्तु डरती हूँ, जो न हो।"
"प्रेम करने वा कृपा करने तू आई है ?
जा बुला ला, देखूँ, कौन तेरा वह भाई है ?"
"इच्छा रहने दो उसे देखने की हाय ! तुम,
खो न बैठो आप निज रक्षा का उपाय तुम।
मैं भी उससे न बचा पाऊँगी तुम्हारे अंग,
भाग चलो प्यारे, हठ छोड़ अभी मेरे संग।"
"भाग चलूं ? छोड़ माता-भ्राता, वे जियें-मरें,
राक्षस नहीं हैं हम, तू ही कह, क्या करें !"
"राक्षस न होना किसी भाँति तो तुम्हें खला !
कौन रक्ष उनमें तुम्हारा लक्ष्य है भला ?"
"इन्द्रियों के भोग की क्या बात कहूँ तुमसे,
प्राणों के लिए भी यह होगा नहीं मुझसे।"
"मुक्ता छोड़ हंस कहाँ जाय कुछ चुगने ?
प्रिय के जो प्रिय हैं, वे मेरे प्रिय दुगने।"
"यदि यह बात है तो चिन्ता भय छोड़ दे,
मेरे नरनाम में अभी से जय जोड़ दे।
जैसी हो, परन्तु तू है ऐसी भी, बहुत है,
भागना क्या, जीवन तो जन्म से ही हुत है।"

आ गया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,
भीरुओं की कल्पना का सच्चा भय-भूत-सा !
बोला दूर से ही वह–"व्यर्थ होगा भागना !"
सोते हुओं को भी इस बार पड़ा जागना।
एक बार काँप के हिडिम्बा हुई जड़-सी,
आई स्वजनों में अकस्मात झंझा झड़-सी।
झुक झुक झोंके झेल ज्यों त्यों वन ठहरा,
वज्रदन्त वाला बढ़ काला घन घहरा।
"तू बलि बनेगा नर, भाग्य भला तेरा है !"
भीम हँसे "आ गया मृगव्य आप मेरा है।
अन्य बलिदान वाली पूजा है अशक्तों की,
ईश चाहता है आत्म-बलि ही स्वभक्तों की।

राक्षस सहायता मैं दूंगा तुझे इसमें,
आज तुझे छोड़ के विनोद मेरा किसमें ?"
यह सुन आग हो हिडिम्ब बढ़ गरजा,
बीच में हिडिम्बा ने विरोध कर बरजा—
"सावधान ! मैं वर चुकी हूँ इसे मन में !"
"लाई क्लिन्नरूपता तभी तू निज तन में ?"
रुष्ट हुआ राक्षस–"क्या बकती है तू अरी,
धिक धिक, राक्षसी हो, मर्त्य पर ही मरी।
खोके हा ! निजत्व तूने अच्छी यह सज्जा की,
होके स्वयं हीन मुझे कैसी लोक-लज्जा दी।"
"आगे मुझे मार !" "नहीं पीछे तुझे मारूँगा,
और निज कुल को कलंक से उबारूँगा।"
भीम बोले–"अन्य जन्म लेके कुछ करना,
सम्प्रति तू निश्चित ही जान निज मरना।"
राक्षस बहन को हटाके भिड़ा भीम से,
कौशल में बल में वे दोनों थे असीम-से।
भीम के लिए न रण-रंग-रस तिक्त था,
भाइयों का साहस बढ़ाना अतिरिक्त था।
लड़ लड़ जाते क्रुद्ध गंडकों से मुंड थे,
टाँगें मारते थे मत्त वारणों के शुंड थे।
कर धरते थे कर किंवा अजगर थे,
करते अमानुषिक नाट्य वे दो नर थे !
रक्खी गुणग्राहकता पार्थ ने लड़ाई की,
निज पर भेद भूल दोनों की बड़ाई की।
शत्रु की प्रशंसा जो वृकोदर को खटकी,
ग्रीवा धर उसकी उन्होंने खींच झटकी।
औंधे मुंह नीचे गिर उठने न पाया वह,
रह गया लेके भग्न कटि की स्वकाया वह।
पीठ पर पैर रख, हाथ डाल दोनों ओर,
मोड़ा उसे भीम ने, हुआ तड़ाक शब्द घोर।
मरते हिडिम्ब ने कहा सो सबने सुना—
"योग्य ही बहन, तूने वर अपना चुना।"
"हाय भैया ! किसने तुम्हारी रीढ़ तोड़ दी ?"
खींची अनुजा ने साँस, अग्रज ने छोड़ दी।
क्रुद्ध भीम भूले भाव राक्षस को जाई के,
बोले–"भगिनी भी संग जायगी क्या भाई के ?"
धर लिया वेग से सुजात को सुमाता ने,
गर्व से सराहा उन्हें एक एक भ्राता ने।
"अम्ब, अम्ब, आर्य, आर्य, आज्ञा मिले, जावे भीम,
दुर्योधन की भी यही दुर्गति बनावे भीम।

मेरा पुरस्कार यही, न्याय का निवेश हो,
राज्य धर्मराज का हो, निष्कंटक देश हो।"
चिन्ता की युधिष्ठिर ने नाम खुले लेखके,
शान्त किया भीम को हिडिम्बा ओर देखके।
"भद्रे, हम निज को छिपाये हुए हैं अभी,
तो भी जानने की बात जान गई तू सभी।
भेद खोल देने से निवारें तुझे कैसे हम?
आप बचने के लिए मारें तुझे कैसे हम?
वैरी की बहन भी तू स्त्री है, त्राण तेरा हो,
अपने समान हमें क्यों न प्राण तेरा हो?
बाधा है लिखी-बदी-सी हमको अराति की,
रह तू सुरक्षित ही रक्षणीया जाति की।"
"आर्य शंका मुझसे करें न किसी बात की,
हममें प्रवृत्ति नहीं ऐसे घृण्य घात की।
प्रेम-वैर दोनों हम सीधे साध लेते हैं,
अन्य के करों से निज नाव नहीं खेते हैं।
फिर भी चिता की बाट जोह रहा भ्राता है,
उससे यहीं तक अभागिनी का नाता है।
हाय! इसमें भी घृणा तुमको न हो कहीं।"
"नहीं नहीं" बोल उठे पांडव—"नहीं नहीं।"
मित्र सम शत्रु का संस्कार किया सबने,
और फिर निर्झर का मार्ग लिया सबने।

तोड़ लिये किसने वे तारे इस बीच में,
फूले मणि-पद्म थे जो कालिमा की कीच में।
साथ थी हिडिम्बा, रुक बोली उससे पृथा—
"पुण्यजने तू यों कष्ट करती है क्यों वृथा।"
"पुण्यजना-पापमना-क्या हूँ, नहीं जानती,
पुण्य-पाप दोनों को सहैतुक मैं मानती।
कुछ भी सही मैं किन्तु मेरे भी हृदय है,
औरों का नहीं तो मुझे अपना ही भय है।
न्याय से उन्हीं पर न भार मेरा सारा है,
रक्षक जिन्होंने एक मात्र मेरा मारा है?
सोदर के वैर हेतु मैं भी जूझ सकती,
किन्तु कुछ और भी समझ बूझ सकती।
वैर की यथार्थ शुद्धि वैर नहीं, प्रेम है,
और इस विश्व का इसीमें छिपा क्षेम है।
उठ चली जाति-तिरस्कार भयहीन मैं,
आप अहम्भाव कर बैठी हूँ विलीन मैं।
तो भी नहीं चाहती हूँ भव में मैं मरना,
जीवन का भाग निज भोग मुझे करना।"
"किन्तु हम मानव हैं और तुम—" "राक्षसी?"
बोली ओंठ काट वह और भी कसी-कसी।
"यदि तुम आर्य हो तो वो हमें भी आर्यता,
अपनी ही उच्चता में कैसी कृतकार्यता?
और राक्षसी भी मैं, असुन्दरी क्या वैसी हूँ?
सम्मुख उपस्थित हूँ, खोटी, खरी जैसी हूँ।"
"कृत्रिम" "तो खोल दूं यथार्थ की भी गठरी?
अम्ब, है अकृत्रिम तो हड्डियों की ठठरी!
कर - पद - अधर - कपोल - नख रँगना,
इष्ट नूपुरों के संग कांची-हार-कँगना।
नथ-तरकी ही तो अकृत्रिमता लाती है,
जब वह नाक-कान दोनों कटवाती है!
प्राणि मात्र सहज प्रवृत्तियों में एक-से,
राक्षस भी चलते हैं अपने विवेक से।
होकर मैं राक्षसी भी अन्त में तो नारी हूँ,
जन्म से मैं जो भी रहूँ, जाति से तुम्हारी हूँ।
कर सकती हो अविश्वास कैसे मेरा तुम?
तोड़ दिया मैंने अम्ब, छोड़ो क्षुद्र घेरा तुम।
भार नहीं हूँगी मैं तुम्हारे भीम के लिए,
विचरूँगी व्योम में भी उनको लिये दिये!
निश्चित समय जहाँ आया लौट आऊँगी,
केवल उन्हें ही तुम्हें सौंप नहीं जाऊँगी,
और एक जन को भी, जिसको जनूंगी मैं,
और फिर मरके भी अमर बनूंगी मैं।
पुत्रों के तुम्हारे वह पौत्र काम आवेगा,
और आगे मेरी भावनाओं को बढ़ावेगा।"
"मान लो, परन्तु भीम प्रत्याख्यान कर दे?
भंग यह सारा स्वप्न और ध्यान कर दे?"
"तब भी मैं पतित न हूँगी किसी पाप से,
उजल उठूंगी शुचिस्नेह के प्रताप से।
निष्फल भी सच्चा प्रेम व्यक्त कहाँ होता है?'
"तीर्थ ही बनाता वह, व्यक्त जहाँ होता है।"
"असुरों से नाता नहीं जोड़ते क्या सुर भी?
पूर्ण है पुलोमजा से इन्द्र-अन्तःपुर भी।
और यदि शर्मिष्ठा तुम्हारी पुरखिन है,
तो तुम्हें हिडिम्बा को निभाना क्या कठिन है?'
कुन्ती ने विचार कर पूछा युधिष्ठिर से,
देखा एक बार भली भाँति उसे फिर से।

स्त्री का गुण रूप में है और कुल शील में,
पद्मिनी की पंकजता डूबे किसी झील में।
"तुझ-सी बहू भी मुझे सहज मिली अहा!
पूर्ण काम हो तू!" यों उन्होंने उससे कहा।

हाथ उसका तो नहीं भीम को धरा दिया,
भीम का ही पाणि उसे ग्रहण करा दिया!
बिचरे हिडिम्बा-संग भीम कुछ दिन यों,
बीतते हैं ऐसे दिन रात पल-छिन ज्यों।

सुफल घटोत्कच था इस नव कार्य का,
राक्षस के बल में समाया शील आर्य का।

वन-गमन

राज्य मिला, पर यश न मिला दुर्योधन को,
वश करने में लगा प्रजा के वह मन को।
उद्धत भी वह अज्ञ न था नृप-कौशल से—
प्रजा राज्य के, राज्य प्रजा के ही बल से।
द्रोण विनय-वश उसे छोड़कर जा न सके,
उसका मंगल किन्तु पितामह पा न सके।
पाण्डव पूजित रहे, भले ही छले गये,
धौम्य पुरोहित सहित वीर वन चले गये।

पाकर सब संवाद कृष्ण दौड़े आये,
और बहुत से बन्धु-सुहृदज्जन मन भाये।
सब थे सहज सहानुभूति से भरे हुए,
सबसे मिलकर व्यथित हृदय वे हरे हुए।
आकर कृष्ण-समीप आर्त कृष्णा रोई,
"यदि तुम होते नहीं, न था मेरा कोई।
नारी पर कब कहाँ दैव की वृष्टि हुई?
मेरी तो अपमान-हेतु ही सृष्टि हुई!
पाकर ऐसे नाथ अन्यथा मैं अबला,
नर पशुओं की हुई हाय क्यों करकवला।
देखो ये सम्राट दीन से दुर्गत हैं,
महा हीन भी नहीं छोड़ते निज पत हैं!"
"पर मैं उसको कर न सकूँगा कभी सहन,
जिसने यह अपमान किया तेरा बहन!
अयि भारत-सम्राज्ञि, और क्या कहूँ भला?
छले गये वे स्वयं, जिन्होंने तुम्हें छला।"
"छलियों से भी—" भीम व्यंग्यपूर्वक बोले—
"क्यों न सरल व्यवहार करें हम हैं भोले!
किसी पाप-वश विप्र-वंश से दूर गिरे,
क्षत्रिय भी हम कहाँ, क्षमाधर ही निरे!"
बोल उठे बलराम—"अतीव अनर्थ अहो!
लगता है, जन-पाप-पुण्य सब व्यर्थ न हो!"

तब सात्यकि ने कहा—"नहीं, हे आर्य, नहीं,
पर क्या सबके लिए समय अनिवार्य नहीं?
मिलता सबको स्वफल अवश्य सदैव यहाँ,
जन को जन के हाथ दिलाता दैव यहाँ।
जाने जिसे अनीति, उसे चुपचाप सहें,
तो हम निजको नीतिमन्त किस भाँति कहें?
दुर्योधन से धर्मराज पण-बद्ध रहें,
पर हम क्यों उस निन्द्य नियम से नद्ध रहें?
आज्ञा दीजे, अभी खलों पर चढ़ जाऊँ,
"धर्मराज का राज्य जीतकर ले आऊँ।"
पर ये क्या स्वीकार करेंगे उसे कभी,
जिसके लिए न आप युद्ध कर सकें अभी?"—
कहा कृष्ण ने—"धैर्य न इतना थकने दो,
"कार्य समय सापेक्ष्य, रहो, फल पकने दो।"
"यही बात है तात!" युधिष्ठिर तब बोले—
प्रथम हमारा नियम यहाँ पूरा हो ले।
इष्ट पाप-जय-हेतु पुण्य ही, पाप नहीं,
पा सकते हैं वह सुयोग हम आप यहीं।
सिंहासन यदि गया, कुशासन मिला मुझे,
औरों का यह नहीं, स्वशासन मिला मुझे।
क्या इतना ही आज यथोचित न था मुझे?
मुझसे मेरे व्यथित हुए, यह व्यथा मुझे।
मैंने जो कुछ किया, हो चुका है वह तो,
जो था मुझको मिला, खो चुका है वह तो।
इतना भी विश्वास दिलाऊँ मैं कैसे,
होंगे मुझसे कर्म न आगे भी ऐसे?
अनुचित मुझपर द्रुपदसुता का रोष नहीं,
कर दें मेरा त्याग अनुज, तो दोष नहीं।
मेरे पीछे किन्तु उन्होंने सभी सहा,
तो मेरा क्या गया, मुझे क्या प्राप्य रहा?
अब भी समझा नहीं इसे मेरे मन ने,
माँगा सीधे क्यों न राज्य दुर्योधन ने?

मुझसे कहते उसे आत्म-संकोच हुआ,
वंचक बनते हुए न रंचक सोच हुआ!
मैं अपने में आप न नियम-विरुद्ध रहा,
द्यूत अपूत, परन्तु स्वयं में शुद्ध रहा।
नहीं युद्ध भी भला, किन्तु करना होगा,
स्वत्व धर्म पर हमें जूझ मरना होगा।
करनी होगी तदपि प्रथम सज्जा हमको,
देंगे यों ही नहीं निमन्त्रण हम यम को।
यह जो हमको समय मिला, हम बल जोड़ें,—
भीतर का बल, तभी विजय के फल तोड़ें।"
अर्जुन बोले—"भले न समझे बुद्धि कभी,
मन से अनुगत सतत आर्य के अनुज सभी।
चिन्ता हमको नहीं वंचकों के बल की,
क्षुद्र भीरु ही छाँह पकड़ते हैं छल की।
उन्हें हमारी हानि अन्त में भरनी है,
पर अब निश्चय हमें प्रतीक्षा करनी है।"
बोला धृष्टद्युम्न—"कठिन है बात यही,
पर जो सबको ग्राह्य, मुझ भी सह्य वही।"

अतिथि विसर्जित हुए प्रेम-पूजित होकर,
हरि सह शिशु-वश चली सुभद्रा भी रोकर।
पांचाली से कौन कह सका चलने को,
भेजे उसने अनुज-संग सुत पलने को।
"जीजी, तुम तो सहज नागरी सुकुमारी,
वृन्दावन-सी घनी बनी मुझको प्यारी।
उचित नहीं यह एक तुम्हीं सब भार धरो,
निज सेवा के अर्थ मुझे स्वीकार करो।"
जब यों रोकर कहा सुभद्रा ने नत हो,
कृष्णा बोली भेंट उसे मर्माहत हो।
"भद्रे मेरे लिए न कर चिन्ता उर में,
वन से भी मैं बहुत सह चुकी हूँ पुर में!
गोदी में शिशु लिये चली तू भी वन को,
तो क्या होगा सह्य स्वामियों के मन को?
सह तू, रह, संकुचित क्यों न लजवन्ती-सी,
त्यक्त न हों हम उभय सहठ दमयन्ती-सी।"
"आर्ये, शिशु भी आज अभागिन का पिछड़ा,
सभी पिताओं, सभी भाइयों से बिछड़ा।"
"मेरी पगली बहन, व्यथा मत दे मुझको,
मेरे पांचों पुत्र समर्पित हैं तुझको।
जाते ही तू बुला लीजियो वहीं उन्हें,
पर न प्यार ही प्यार कीजियो कहीं उन्हें!
बढ़ा चली तू आप बोझ अपना भोली,"
"अनुगृहीत मैं हुई" सुभद्रा झुक बोली।

अस्त्र-लाभ

"तुम्हें बहुत, पर मुझे समय लगता है स्वल्प,
कहाँ गये हैं, कौन कहे, कितने युग कल्प?
हमें पाशुपत अस्त्र प्राप्त करना है तात!"
धर्मराज ने कही भाइयों से यह बात।
"अर्जुन, इसके लिए करो तुम तपःप्रयास,
मुझको यह निर्देश दे गये वेदव्यास।"
अर्जुन ने सौभाग्य मानकर किया प्रयाण,
शुभ शकुनों ने बता दिया भावी कल्याण।
हिमगिरि-वन में किया उन्होंने तप आरम्भ,
आकर बोला एक विप्र—"यह कैसा दम्भ?
तप करते हो और धरे हो तुम यह शस्त्र?"
वे हँस बोले—"नहीं हमारे देव निरस्त्र।"
"वंचक भी हैं विबुध परन्तु इसीके साथ!"
"नहीं नहीं, वे महादेव हैं भोलानाथ!"
"तदपि रजोगुण-चिन्ह नहीं क्या यह कोदण्ड?"
"आवश्यक यह दुष्ट-दण्ड के अर्थ अखण्ड।
अस्त्र-हेतु ही यत्नशील होकर मैं आप,
कहें आप ही, त्याग करूँ कैसे निज चाप?
आज्ञा हो, आ सके आपके यदि यह काम,
मान्य, इसीसे मिला मुझे गाण्डीवी नाम।"
तुष्ट हुआ द्विज और दे गया आशीर्वाद,
"प्राप्त करो तुम तात, शीघ्र ही शिवप्रसाद।"

व्रत में रत वे रहे अभिक्षु अयाचक सन्त,
उनके तप से पिघल उठा मानो हिमवन्त।
जहाँ अप्सरा-विघ्न, वहाँ यह क्या उत्पात,
वन-विचरण में किया एक शूकर ने घात।
विद्युद्दंष्ट्रा लिये उपद्रव मूर्ति प्रचण्ड,
लगा पार्थ को, टूट पड़ा भू पर घन-खण्ड।
भागे दन्ती इधर उधर सुन घुर घुर घोर,
स्वयं सिंह आ सके न उस उद्धत की ओर।

खड़ीं सटाएँ देख जटाधर वट-से वृक्ष,
काँप उठे, जा चढ़े भाग कर जिन पर ऋक्ष।
एक कूट के खड्ग हो गये उससे खर्व,
उलटे सींगों भगे वन्य सैरिभ गतगर्व।
मुख लम्बा कर लपक छोड़ता मुस्तकगन्ध,
झपटा मेवुर सीध बाँध कर मद से अन्ध।
छूता भर था धरा, भार से धँसें न पैर,
जा सकता था कौन तरलता उसकी तैर?
सम्मुख आती हुई भूल आपत्ति अथाह,
अर्जुन उसे सराह उठे,—बोले वे—"वाह!"
वाह न सुन कर किये आह सुनने की चाह,
टूटा उनपर बाण-वेग से विकट वराह।
पर क्या वह सह सका पुरुष के शर की बाढ़,
निज दंष्ट्रा से प्रखर लगी नर की वह दाढ़।
किन्तु पार्थ ने वहाँ विद्ध पाये दो बाण,
और सुनाई दिया शंख-सा उन्हें विषाण।
चौंक पड़े वे देख उसी क्षण एक किरात,
सुदृढ़ लचीले लौह-तुल्य था जिसका गात।
वन्यचरों का प्रकट हुआ मानो कुलदेव,
बनी बनी वर जिसे नागरिकता स्वयमेव!
जब दोनों जन मान रहे थे निज अपमान,
उसके मुख पर खेल रही थी मृदु मुसकान।
उभय भटों की हुई भयंकर-सी वह भेंट,
"यह मेरा आखेट," "कहाँ तेरा आखेट?"
वचनों से आ गया कर्म में वाद-विवाद,
बाण रूप रख चला पार्थ का क्रोधोन्माद।
पर विशिखों ने किया प्रकट विस्मय बाहुल्य,
जब वे निष्फल गये भिल्ल-तनु पर तृण-तुल्य!
विस्मय-से भी अधिक लगा उनको अपमान,
भुजबल का ही शेष भरोसा रहा महान।
मल्ल-युद्ध की ठान जा भिड़े उससे पार्थ,
हार जीत की वही कसौटी एक यथार्थ।
पर विपक्ष के महावक्ष पर झिलमिल झूल,
उन पर हँसने लगे मंजु माला के फूल!
"यह माला तो वही, मुझी से जो अव्याज,
पार्थिव-पूजन-समय चढ़ी थी शिव को आज!"
बस बिजली-सी कौंध गई, बिसरा सब वैर,
हाथ जोड़ रह गये पकड़ वे हर के पैर।
"मैं प्रसन्न हूँ, रहा ठीक ही मेरा स्वाँग,
तुझे पाशुपत दिया, और जो चाहे माँग।"

"विभो, भवानी-सहित मिले भव, अब क्या शेष?
सब जीवन का सार रूप यह एक निमेष।"
"विजयी हो," कह हुए उधर हर अंतर्भूत,
रथ ले आया इधर वहाँ सुरपति का सूत।
"शिव-दर्शन का सुफल उपस्थित यह हे वीर!
बनो इन्द्र के अतिथि स्वर्ग में तुम सशरीर।"
"जो आज्ञा" कह हुए पार्थ प्रस्थित तत्काल,
झुका परम सौभाग्य-भार से उनका भाल।

आया पृथिवीपुत्र, उठा उत्सुक सुरलोक,
उसका पथ कब कौन कहाँ सकता है रोक?
सुरबालाएँ बनी सुमन बरसा कर मूर्ति,
चिर सुर-यौवन, किन्तु रुचिर यह नर की स्फूर्ति।
बोला नत सिर सूँघ इन्द्र—"तुम यहाँ अबाध,
पूर्णकाम हो सप्रयोग दिव्यायुध साध।"
"अनुगृहीत मैं।" किया पार्थ ने पुनः प्रणाम,
और किया आरम्भ यथाविधि अपना काम।

एक रात उर्वशी अप्सरा-मणि सविलास,
दिव-विभूति-सी हुई उपस्थित उनके पास।
आगे बढ़ती हुई तनिक तिरछा तन मोड़,
रूप-गन्ध की फलित ललित लपटें-सी छोड़!
चलती फिरती कल्पलता रस-रंग-विभोर,
आकर्षित-सी हुई आप नव नर की ओर।
मदिर दृष्टि से मनःसृष्टि के स्वप्न बिखेर,
विह्वल होती हुई आप भी उनको हेर!
नूपुर-रव से मुखर बनाती मृदु मुसकान,
नर को करने चली अप्सरा सुधा-प्रदान!
मधु लाया क्या यह अपूर्व मद की छवि आँक,
उठी मदन की प्राण-प्रतिष्ठा जिसमें झाँक!
गगन-सिन्धु ने दिया उन्हें यह रत्न विशेष,
सुर भी जिसको देख रह गये थे अनिमेष!
ठहर गई थी लहर चंचला की-सी कान्ति,
मानो कान्ता न थी, किन्तु कान्ता की भ्रान्ति!
तनिक झुकी थी धरे भरे यौवन-घट भार,
माँग रही थी अलस इंगितों में आधार!
चौंके अर्जुन एक बार उसको अवलोक,
फिर भी वे स्थिर रहे चपल उत्सुकता रोक।

उनको विस्मित देख सुतनु सस्मित तत्काल
बोली उन पर डाल दशन-किरणों का जाल—
"तुम उदास-से मुझे दीख पड़ते हो शूर !
हुई यहाँ भी नहीं मनोबाधा क्या दूर ?"
"उस बाधा का देवि, अवनि पर ही उपचार,
स्वर्ग-भोग का कहाँ आज मुझको अधिकार ?
अब भी मेरे आर्य-चरण वन-कंटक-विद्ध,
और", "और क्या, कहो अहो! यदि न हो निषिद्ध।"
"मैं किस मुंह से कहूँ याज्ञसेनी की बात,
बीत रहे हैं किस प्रकार उसके दिन रात।
त्रिविधि पवन में यहाँ उसीकी ठंडी सांस,
गड़ती है इस व्यग्र हृदय में गहरी गाँस।
नन्दन-वन के फूल फूल में व्यथा-विभोर,
उसका मुख ही ताक रहा है मेरी ओर !
इसी ताप से पड़ न सका ठंडा यह देह,
मृत्यु बिना क्या भोग्य अमृतमय यह शुभ गेह ?"
"पर क्या निश्चित नहीं लिया-सा वह प्रतिशोध ?
उसमें अब भी तुम्हें हो रहा संशय-बोध ?
इस शरीर से सुलभ नहीं निश्चय यह धाम,
क्या इसका अपमान उचित है हे वरवाम !"
"मैं ऐसा हतबुद्धि नहीं, यद्यपि हतभाग्य,"
"तो आओ प्रिय, दूर करो मिथ्या वैराग्य।"
"सुन्दरि, समझो नहीं मुझे तुम ऐसा अन्ध,
जो मैं देख न सकूँ शक्र से निज सम्बन्ध।
तुम मेरी जन–" "रहो, न लो जननी का नाम,
उसकी तुलना रहे, मुझे उससे क्या काम ?
मैं किसको माँ-बहन ? और पत्नी भी आह !
एक प्रेयसी मात्र, करूँ जिसकी भी चाह।
पर मैं इतनी सुलभ नहीं, समझो यह ठीक,
अपना सच्चा स्वप्न न कर दो आप अलीक।
तप करते हैं और साधते हैं जब योग,
पाते हैं तब कृती भाग्य से ऐसा भोग।"
"रहें तुम्हारे भाव तुम्हारे मन के साथ,
पर मेरा मन रहे निरन्तर मेरे हाथ।"
"तब तुमको यह नहीं सोहता नरवर-वेष,
क्लीब-रूप में रहो, और क्या कहूँ विशेष !"
"स्वस्तिवाद-सा शिरोधार्य है यह अभिशाप,
किसी रूप में रहूँ, किन्तु निर्भय-निष्पाप।"

कुन्ती और कर्ण

अभिमानी दुर्योधन ने जब मानी नहीं बड़ों की बात,
सन्धि न हुई, वंश-विग्रह का दीख पड़ा दारुण उत्पात ;
तब कुन्ती के मन को मानो मथने लगे घात-प्रतिघात,
उस दिन न तो खा सकी कण भर, न वह सो सकी क्षण भर रात।
कभी लेटती, कभी बैठती, कभी घूमती विकल पृथा ;
गये डूबती-उतराती के स्थिर रहने के यत्न वृथा।
निशाचरी चिन्ताएँ तम में चित्त चबाती आती हैं,
तदपि एक निश्चय पर जन को वे ही पहुँचा जाती हैं।
गई सबेरे साहस करके रानी सुर-सरिता के तीर,
किरणों से झिलमिला रहा था गलित-सुवर्ण-ललित शुचि नीर।
सुकच कर्ण आकंठ मग्न हो करता था मृदु मन्त्रोच्चार,
विकच कमल से निकल रहा था अलि-दल का कल-गल-गुंजार।
रवि के सम्मुख दृश्य अनोखा था मनस्वि-मुख-मंडल का,
किंवा रवि की ही छवि का था बिम्ब विमल जल में झलका !
वासरमणि के कर कुन्ती को लगे चुभाते-से शर-शूल,
साल रही थी जिसे प्रथम ही बाल्यकाल्य की अपनी भूल।
मुख नीचा कर खड़ी रही वह टपटप आँसू टपकाती,
बीच बीच में झलक झाँककर पलक आप ही झपकाती।

नित्य-कृत्य पूरा कर अपना निकला ज्यों ही जल से वीर,
सिहर अचानक उसे देखकर हुआ ससम्भ्रम, फिर गम्भीर।
सूख गया गीला शरीर, पर फिर स्वेदार्द्र हुआ दानी,
कुन्ती की याचना इन्द्र से सहज कठिन उसने जानी!
तो भी अपने को सँभाल कर बोला रविनन्दन अविजेय—
"आर्ये, पद-वन्दन करता है आज्ञा का उत्सुक राधेय।"
"हा राधेय, सत्य से भी यह अनृत आज जाग्रत जीता,
तू कौन्तेय, अनृत से भी यह दुर्विष सत्य गया बीता!"
"देवि, सुना सब कुछ यह मैंने स्वयं कृष्ण के श्रीमुख से,
वह दुःस्मृति संचित करके अब वंचित न हो सहज सुख से।"
"देवी नहीं, न आर्या ही हूँ, मैं नागिन-सी जननी हूँ,
सबसे ऊँचा पद पाकर भी स्वयं स्वगौरव हननी हूँ।
माँ से माँ न कहे तो कुछ भी कहे पुत्र, वह गाली है,
किन्तु दोष दूं कैसे तुझको जो स्वकर्म गुणशाली है।"
"सभी बड़ी-बूढ़ी तुम जैसी माताएँ ही हैं मेरी,
पर मेरी संदिग्ध जातता बजा चुकी अपनी भेरी।"
"मैं अभागिनी भी किस मुंह से कहूँ जात-धन आप तुझे!"
"तुम-सी माता हुई अमाता, यह किसका अभिशाप मुझे?"
"उन्हीं उदित से पूछ न, जिनसे चालित ग्रह-नक्षत्र समस्त,
मुझे दिखाये बिना त्राण-पथ हुए हाय! उस दिन जो अस्त।"
दीख पड़ा धूमिल-सा पल भर उन्हें महानल का गोला,
बल से बाष्प रोक पुरुषार्थी अंगराज रुककर बोला—
"तो इतना कहकर ही क्या तुम निरपराधिनी होती हो?
इससे अधिक मूल्य तो उसका, जो मुंह ढककर रोती हो।"
"किन्तु नहीं रोऊँगी अब मैं, जल से भली मुझे ज्वाला,
तू भी क्या समझेगा, कैसे क्या कर बैठी कुल-बाला।
मुख्य दंडदाता है जन का मन ही उसकी भूलों का,
कंटक-मय कर देता है वह उसका आसन फूलों का।
तब भी तुझ जैसे उदार से आशा थी मुझको अनुकूल,
किन्तु मानती हूँ अभाजना मैं इसको भी अपनी भूल।
शस्त्र-परीक्षा के दिन ज्यों ही सूत-पुत्र तू कथित हुआ,
एक साथ ही मेरा मानस व्यथित भाव से मथित हुआ।
मैं चिल्लाने चली—'नहीं, यह मेरा सुत है, मेरा ही!'
किन्तु डूब-सी गई उसी क्षण, दीखा मुझे अँधेरा ही।
जो हो गया, हो गया वह तो, गया, बह गया जो पानी,
यही समझ तू, आई हूँ मैं सुनकर तुझे महादानी।"
"जो आज्ञा हो, पर यह जीवन अर्पित दुर्योधन के अर्थ।"
"समझ गई मैं, किन्तु अर्थ में न हो उसीका महा अनर्थ।
डालूंगी न धर्म-संकट में हीन याचना करके मैं,
तू दाता तो नहीं याचिका तुझे कोख में धरके मैं।

किन्तु कृतापराध की अपने क्षमा-याचना हीन नहीं
इसे देखते हुए लोक में मुझ-सा कोई दीन नहीं।
राज्यदान कर दुर्योधन ने क्रीत किया यदि तेरा चाप,
तो सर्वस्व समर्पण करके होगा अनुग युधिष्ठिर आप।"
"किन्तु कहेगा अखिल लोक क्या, करो न तुम मुझको यों ग्रस्त।"
"हा! लोकापवाद से मैं ही डरी न थी, तू भी है त्रस्त।
भाई से भाई को भी क्या लोक नहीं मिलने देगा?"
"किन्तु नींव निज दृढ़ मैत्री की कर्ण कहाँ हिलने देगा?
क्या संकट में उसे छोड़ दूं, जो मुझपर अवलम्बित है?"
"पर यह भी तो देख, अन्ततः उचित कहाँ उसका हित है।
जितने भी ज्ञानी गुरुजन हैं, विग्रह के वे सभी विरुद्ध,
तेरे बल पर ही दुर्योधन ठान रहा है यह गृह-युद्ध।
कुल ही नहीं देश भी सारा हो जावेगा इसमें नष्ट,
वीर-हीन होकर यह वसुधा होगी अपने पद से भ्रष्ट।
क्या तू रोक नहीं सकता है उसे मित्र की सम्मति से?
तुझमें वीरता का बल है तो बचा उसे तिर्यग्गति से।"
"इसे मानता हूँ, उसका मन मैं भी मोड़ नहीं सकता,
वह मुझको भी छोड़ेगा, मैं उसको छोड़ नहीं सकता।
होनहार कुछ ऐसा ही है, वह होकर ही मानेगा।"
"पर जिसके कारण यह होगा, जगत उसे भी जानेगा।"
"तुम तो जानोगी, मैंने निज वचन अन्त तक पाला था।"
"हाँ, सहोदरों पर अनाथिनी माँ का क्रोध निकाला था।"
नहीं पाँच गाँवों का भी क्या पाँच पाण्डवों को अधिकार?
यही न्याय करने वाले का साथी है तू अरे उदार!"
"प्रेम दोष-गुण नहीं देखता।" "यह अबलाओं की-सी बात,
तेरे मुंह से नहीं सोहती, धीर-वीर है जो विख्यात।
प्रेम न देख सके चाहे कुछ, पर विवेक तो अन्ध नहीं,
तू ही कह, आता है तुझको इसमें उसका गन्ध कहीं?"
"शान्ति-हितार्थ पाँच गाँवों का त्याग तुच्छ क्यों और न हो?"
"कहाँ रहें वे, जिन्हें सुई के अग्रभाग भर ठौर न हो?
तुझे इष्ट है, अन्यायी को कर दें आत्म-समर्पण वे?
स्वत्व धर्म पर भी न लगा दें अपने प्राणों का पण वे?"
"नहीं-नहीं, मेरे अनुजों को मुझसे भी लोहा लेना,
तुमसे यही विनय है, मेरा परिचय उन्हें न तुम देना।
सचमुच मेरी प्रसू तुम्हीं, मैं और कहाँ होता उद्भूत?"
"मैं यह कैसे कहूँ, किन्तु है तू मेरा ही सिंह सपूत।
तुझमें जो मिथ्यापवाद-भय, उसका अघ मेरे सिर है,
भीरु कहो, पर दर्प-दम्भ से ऊँचा उठा युधिष्ठिर है।"
"ध्रुव वह धर्मराज, विजयी हो, हठी पुत्र क्या और कहे?
पुत्र पाँच के पाँच तुम्हारे, अर्जुन किंवा कर्ण रहे।"

"दोनों ओर मुझे रोना ही, रुके किन्तु कातर वाणी,
मरने में ही जीने वाले जनती हैं हम क्षत्राणी ?"
"दो मुझको पदधूलि, तुम्हें मैं दे न सका माँ, मनचाहा।"
"हाय वत्स, अब धूलि-भस्म ही शेष, और सब कुछ स्वाहा !
जैसे तू जाने, राधा पर प्रीति प्रकट करना मेरी,
मैं दुःखिनी देवकी-सी हूँ, वही यशोदा माँ तेरी !"

स्वर्गारोहण

भव-विभव-भरे गृह से निस्पृह,
निज धर्म-कर्म कर भले भले,
सम्पूर्ण प्रपंचों से ऊपर
उठ पाँच पंच ये कहाँ चले ?
रख एक शान्त रस अन्तस में
विष-सा विषयों को त्याग चले,
दुःखों से लड़कर शूर-सदृश,
सुख के स्वप्नों से जाग चले।
बल से भूमण्डल-जय करके
ये स्वर्ग-विजय के हेतु चले,
तर सकें अन्य भी भव-सागर,
रच अचल शील के सेतु चले।
ये धर्मराज्य-संस्थापन कर,
उद्यापन कर सब छोड़ चले,
उद्योगों के ये आश्रय-से
सब भोगों से मुँह मोड़ चले।
जो रत्न जड़ित-से थे तन में,
ये तृण-सा उन्हें उखाड़ चले,
बाहर ही बल्कल धरे नहीं,
भीतर से राजस झाड़ चले।
पर छोड़ सकी क्या श्री इनको,
ये निकल न जावें घेरे से,
वह प्रभा-मंडलस्थिता इन्हें
देती जाती है फेरे-से !
क्षणभंगुरता से रूठे-से !
ये किसे मनाते जाते हैं ?
ये मार्ग बनाते आये थे,
अब उसे जनाते जाते हैं।
इनके दृढ़ चरण-चिह्न अपने
माथे पर पथ है लिखा रहा,
निज का, निज भावी पथिकों का,
वह भाग्य खुला-सा दिखा रहा।

नव जीवन-तुल्य मरण को भी
बढ़ यथा समय ये लेते हैं,
विभु का वार्त्तावह जान उसे
आतिथ्य-मान सब देते हैं।
डरते हैं,—जिनमें चोर छिपा,
इनको सब ओर अभय ही है,
ज्ञानी, कृतकर्मा, भक्त सभी
ये जहाँ जायँ जय-जय ही है।
निस्सार समझ शस्त्रों को भी
कर चले विसर्जित ये जल में।
पर हाय ! मनुष्यों ने उनको
क्या जाने दिया रसातल में ?
उनके अनर्थ के चिन्तन पर
कब चतुर जनों का चित्त गया ?
हो रहा अर्थ-बलि ले लेकर
उनका विकास ही नित्य नया !

सहचरी हो रही है इनकी
यह कौन मुक्ति-सी मूर्तिमती ?
इन साधु-शिरोमणि पतियों की
सच्ची साध्वी, अनुरूप सती।
इन युधिष्ठिरों को लुभा सकी
क्या ऋद्धराज्य की सत्ता है ?
बन चली याज्ञसेनी पीछे
उसकी प्रत्यक्ष महत्ता है।
हो रही उच्चता प्राप्त स्वयं
इस हिमगिरि से भी आज इन्हें,
निज शिखर-शीर्ष ऊँचे करके
अवलोक रहा नगराज इन्हें !
आध्यात्मिकता के आँगन में
अब कौन नहीं अंगी इनका ?

इंगित-भंगी से स्वीकृत-सा
है सारमेय संगी इनका!
नीचे अवनी, ऊपर अम्बर,
अब इन्हें मध्य पथ बढ़ा रहा,
गिरिराज उठाकर गोदी में
मानो कन्धों पर चढ़ा रहा!
लेकर समाधि, जम कर जल भी
अविचलता से संलग्न हुआ,
दधिकाँदो का उत्सव करके
हिम-शैल उसीमें मग्न हुआ!
पट पकड़ झाड़ियाँ रोक इन्हें
संस्पर्श-सुरस चखती जाती,
पर वसन रहे, तनु-मोह न लख
कुछ अभिज्ञान रखती जाती।
जगती अतीव ठंढी साँसें
इनके वियोग में भरती है,
अपनी माया इनमें न निरख
काया भी काँप सिहरती है!

रुक कहा युधिष्ठिर ने—"कृष्णे,
तुम श्वेत हो रही हो जैसे,
अथवा उदार गिरिराज तुम्हें
निज रौप्य नहीं देता कैसे?
अब हम सुमेरु की सीमा में
आ गये साध्वि, जो सोने का।"
"तो नाथ, आ गया मेरा भी
यह समय शान्तिमय सोने का!
मैं भाग्यवती, सब मिला मुझे,
मेरा कुछ कहीं नहीं छूटा;
अपना प्रवाल-पंचक भी मैं
ले चली, यहाँ जो था फूटा।
फिर भी प्रिय पुण्यभूमि मेरी
मेरे स्मृति-तन्तु न तोड़ेगी,
यह कौन कहे रोकर-गाकर
कब कहाँ मुझे वह छोड़ेगी।
यह-यही-एक इच्छा मेरी—
पंचत्व प्राप्त करके प्यारे!
मैं एकात्मा से भजूं तुम्हें,
रख तुल्य रूप न्यारे न्यारे।

तुम किन्तु न रुको, बढ़ो आगे,
जो कहे, जगत मुझको कहले;
मैं गिरती हूँ, यह गिरी प्रभो,
पर पहुँचूंगी तुमसे पहले!"
"तुम नहीं, गिरी अर्जुन के प्रति
यह पक्षपातिता मेरी ही।"
चल पड़े युधिष्ठिर यन्त्र-सदृश,
अनुजों को लगी अँधेरी ही।
बोले सहदेव तनिक चलकर
हे आर्य, अचल अब गात हुआ,
मैं गिरा, द्रौपदी-बिना मुझे
मानों यह पक्षाघात हुआ!"
रुककर न युधिष्ठिर ने, उनसे
चलते चलते बस यही कहा—
"तुम नहीं, गिरा तुममें मेरा
रूपाभिमान जो उठा रहा।"
कुछ आगे कहा नकुल ने यों
"गिरता हूँ अब मैं अवश निरा।"
सुन कहा युधिष्ठिर ने "तुम में
मेरी मति-गति का गर्व गिरा।"
आगे चल गिरे धनंजय भी,
"अब और नहीं उठता पद ही।"
"तुम नहीं गिरे, झड़ गिरा यहाँ
तुममें मेरा मानी मद ही।"
बोले गिर भीम अन्त में यों—
"हे आर्य, यहाँ मैं भी टूटा।"
"तुम छूटे नहीं तुम्हारे मिस
मेरा औद्धत्य यहाँ छूटा।"
खुल गये सभी बन्धन मानों,
अब आप आप वे व्यक्त हुए,
भौतिकता के सब भाव स्वयं
आध्यात्मिकता से त्यक्त हुए।
उस विषम दशा में पड़कर भी
क्या ही सहिष्णु थे वे विनयी,
निकले उनके-से पुरुष वही
जो हुए अन्त में प्रकृतिजयी।
उन्मुक्त जीव-से वे सुकृती
स्वच्छन्द, स्वस्थ अब दीख पड़े,
उनकी गति देख सुवर्ण-शिखिर
रह गये जहाँ के तहाँ खड़े।

जिन अनुजों को ही देख सदा
मानों सजीव थे जो जग में,
कैसे वे ऐसे छोड़ उन्हें
बढ़ गये परम दुर्गम मग में ?
जो आप मुक्ति-पथ-गामी हैं,
चाहें अपनों की मुक्ति न क्यों ?
हो जिन्हें मोह-ममता-माया,
मानें वे इसे अयुक्ति न क्यों।
लगते थे जो सशंक-से, वे
थे दृढ़ निश्चयी अचल ध्यानी,
जिज्ञासु-रूप में रहकर भी
निश्चिन्त गूढ़ तत्वज्ञानी।
था जिन्हें द्वेष, उनके प्रति भी
उन सक्षम को कुछ द्रोह न था,
था जिन्हें प्रेम, जो प्यारे थे,
उनपर भी उनमें मोह न था।
"जो होना है सो हुआ करे,
मेरे अधीन मेरा पथ है,
माने वह बाधा-विघ्न कहाँ,
जिसका अनिरुद्ध मनोरथ है।
जो थे शरीर रहते मेरे,
अब आत्म-रूप अविभिन्न हुए,
माना, शरीर भी अनुपम थे,
पर छूट आप वे छिन्न हुए।
भार्या-भ्राता सब छूट गये,
अब देह, स्वयं तेरी बारी,
तू भी अब मेरा मोह न कर,
जाऊँ मैं तेरी बलिहारी!
सुख-दुःखों में है साथ दिया
तूने समान ही सत्वों से,
क्या कहूँ और मैं, मिल तू भी
अपने उदारतम तत्वों से।
अब, तुझसे जो था मुझे मिला,
मैं तुझको लौटा चला सभी,
जब चाहे तू ही भूल मुझे,
मैं तुझको भूलूँगा न कभी।
यदि फिर भी आना पड़ा मुझे
तो पाऊँगा क्या वृद्ध तुझे ?
करता जावेगा काल स्वयं
निज नूतन और समृद्ध तुझे।

संसार, मुझे अब आज्ञा दे,
आवेंगे नये अतिथि तेरे,
उनके स्वागत के अर्थ सदा
सद्भाव रहेंगे ही मेरे।
हम नहीं कर सके जो साधन,
वह सिद्ध करे अगली पीढ़ी;
बढ़ता रह तू इस भाँति सदा,
चढ़ता रह नित्य नई सीढ़ी।
जाने वालों की जीत वहीं
आने वालों से हार जहाँ,
अन्यथा हमारा गौरव जो,
वह सन्तानों का भार यहाँ।

कुछ और नहीं, अब मैं ही मैं,
इस 'मैं' को भी किसको सौंपूँ ?
पर बोझ न हो उसको मेरा,
अपने को मैं जिसको सौंपूँ ?
कहता है अहा! अहं, तू क्या,
'कुछ ऐसा खेल न खेलूँ क्यों,
जो मुझे ले सके अपने में,
उसको मैं आप न ले लूँ क्यों।'
हे नारायण, क्या और कहूँ,
तू निज नर मात्र मुझे रखना;
क्या नहीं एक से दो अच्छे,
लीला-रस रहे जहाँ चखना ?
बुझ जाने में वह ज्योति कहाँ ?
क्या तुझे देखने से भागूँ ?
मैं चिरस्नेह से उजल उठूँ,
जलकर भी जहाँ तहाँ जागूँ।
पर अब भी मैं निश्चिन्त नहीं,
जब छूट गये घोड़े-हाथी,
यह पूँछ हिला कर उछल उछल
धरता है मुझे शुनक साथी।
जगती में जात जहाँ जो हों,
रस लेकर फूलें और फलें;
पर अपनी यात्रा शेष अभी,
आ संगी, आगे चले चलें।"

सहसा 'जय भारत!' शब्द हुआ,
नभ से फूलों की वृष्टि हुई,

स्वर्गीय गन्ध गमका, ऋतु में
सुस्पृश्य भाव की सृष्टि हुई।
देखें जब तक उन्मुख होकर
कुछ चौंक कृती कुन्तीनन्दन,
तब तक समीप आ रुका त्वरित
सुस्वरित शचीपति का स्यन्दन।
मातलि ने कहा—"चलें श्रीमन्,
सुर करें आपका अभिनन्दन।"
"मैं अनुगृहीत" नत हुए नृपति,
"यदि करूँ यथा उनका वन्दन।
चल भाई!" मातलि चौंक पड़ा—
"कुत्ता भी साथ चलेगा क्या?
इस रथ का यह अपमान स्वयं
नृप को भी नहीं खलेगा क्या?"
"खलता अवश्य, होता यदि मैं
रूपानुरूप लोकाचारी।
भौतिक सीमाएँ भद्र, स्वयं
अब छूट गईं मेरी सारी।
तुम जाओ, मेरा भाग्य नहीं,
जो मैं सुदेव-दर्शन पाऊँ,
शरणागत, अनुजाधिक सहचर
यह श्वान छोड़ क्योंकर जाऊँ?"
"जय जय भारत!" मैं धर्म वही,
तुम पुनरुत्तीर्ण हुए, जाओ।"
वह कुत्ता अन्तर्द्धान हुआ
कह—"तात योग्य निज पद पाओ।"
"मैं अनुगृहीत।" कह धर्मात्मज
सानन्द स्यन्दनासीन हुए,
भारत अब भारत मात्र न थे,
ऊँचे उठ सार्वजनीन हुए।

"जय पृथिवीपुत्र, जयति भारत,
जय जय अजातशत्रो, स्वागत!"
सादर देवों से लिये गये
स्वर्गप्रतिष्ठ वे निष्ठा-नत।
नाचीं सुरांगनाएँ गाकर—
"क्या ऊर्ध्वगामिनी धारा है!
हे वसुन्धरा के धन, आओ,
सुरपुर भी क्रीत तुम्हारा है!"

"कुछ कहो भद्र," सुन सुरपति से
वे बोले—"सब कुछ बना यहाँ,
जो रहा जन्म भर रूठा ही,
वह दुर्योधन भी मना यहाँ।
पर तात, अमरपुर में भी हा!
क्या रहे मर्त्य तनु की तृष्णा?
आज्ञा हो तो मैं मिलूँ स्वयं
जाकर हैं जहाँ अनुज-कृष्णा।"
लज्जित-से हुए त्वरा पर वे,
हँस वासव ने आदेश दिया,
द्रुत देवदूत ले चला उन्हें
कह—"मैंने तो यह क्लेश किया!'
वे "नहीं नहीं" कहते कहते
रुक गये अचानक हतमति-से,
विस्मित भी हुए व्यथित भी वे
अपनी अचिन्त्य-सी उस गति से।
"वह अमृतार्णव, यह गरलोद्भव!
हे दैव, यहाँ भी यह छलना?
चिर जीवन ही अभिशाप वहाँ
मरने के बिना जहाँ जलना!
हे दूत, देख कर आया हूँ
जिस अमरपुरी का गौरव मैं,
यह देख रहा हूँ सचमुच क्या
उसके समीप ही रौरव में!
प्रत्येक स्वर्ग के साथ नरक
क्या आवश्यक अनिवार्य अहे!
ये उभय परस्पर पूरक हैं
अथवा दूरक, यह कौन कहे?
उस कुरुक्षेत्र का नर-कुंजर
वह अश्वत्थामा तरा तभी,
पर मेरे मृषा-कथन का क्या
यह मथन-दण्ड था शेष अभी?
अच्छा है, वह भय-कम्प मिटे
इस अन्धतमस की ऊमस में,
मेरी अपनी ही दृष्टि नहीं
रह गई किन्तु मेरे बस में।
अब मुझे दीखते हैं, उड़ते
व्यालों से बिखरे बाल कटे,
ये सड़े-गले चलते फिरते
कंकाल कराल, कपाल फटे!

लगता है, एक दण्ड में ही
यह एक कल्प मैंने भोगा,
रह सायें सायें! कह, अन्त कहाँ
इस भायें भायें का कब होगा?
हे पथप्रदर्शक, धन्य तुम्हीं,
पर अमर नहीं मेरा चोला!"
"चाहें तो लौट चलें श्रीमन्!"
हँसता-सा देवदूत बोला।
सुन पड़े करुण चीत्कार तभी—
"हा धर्मराज! आओ, आओ,
भूले भटके आ गये यहाँ,
तो दया करो, टुक रुक जाओ।
जो लगा तुम्हारा वायु हमें
इससे हमको विश्रान्ति मिली,
हम दले-जले-से जाते थे,
तुमसे हम सबको शान्ति मिली।
हे अनुज रुको, हे नाथ रुको,
हे अग्रज रुको, दया करके,
हम अधिक न रोकेंगे तुमको,
पर जिये आज मानों मरके।"
रुक खड़े हो गये वे सहृदय—
"लो ठहरा मैं, तुम शान्त रहो,
तुम नहीं दीखते, भाग्य यही,
पर कौन स्वजन हो, कहो अहो!"
"हम कर्ण, द्रौपदी, भीमार्जुन,
हम नकुल और सहदेव सभी,
हे तात, हमें क्या आशा थी,
हम देख सकेंगे तुम्हें कभी?"
सुन सन्न हुए वे दया-द्रवित,
जी भर आया, भर उठा गला,
"तब सुकृती रहा सुयोधन ही।"
आनन से यही वचन निकला।
"वे देखें सुनें, सुकृति हैं जो
वह नृत्य-गान निज मनमाना,
कर सकूँ दैव, कुछ मृदु ही मैं
यह तीव्र तड़पना-चिल्लाना।
मेरा मन मुझसे पूछ रहा—
'यह नरक पार कर जाओगे,
पर कहो, कौन-कितने हैं वे,
तुम जिन्हें तार तर जाओगे?'
हो जाय न दग्ध, मुझे भय है,
दिव इसी दाह से दरक कहीं?
यदि यह सड़ाँध फैली आगे
तो न हो स्वर्ग भी नरक कहीं!
हे दूत!" सँभल कर बोले वे—
"जाओ तुम, यहीं रहूँगा मैं;
इन आत्मीयों के साथ सदा
स्वर्गाधिक नरक सहूँगा मैं।
जाकर सुरेन्द्र को तुम मेरे
सादर सौ धन्यवाद देना,
कहना, मैं हूँ सन्तुष्ट यहीं,
मुझको वह स्वर्ग नहीं लेना!"

"ये तुम त्रिवार उत्तीर्ण हुए,
जय जय जय भारत!" नाद हुआ।
दुःस्वप्न-सदृश दुर्दृश्य मिटा,
अति अकथनीय आह्लाद हुआ।
पार्थिव शरीर में फूट पड़ी
उद्दीप्त दिव्य उनकी काया,
खुल गई गाँठ मानो गल कर,
झल मल कर निष्क निकल आया!
हँस मिल स्वजनों ने कहा—"स्वतः
हमको अमरों का ओक मिला,
पर तात, तुम्हारे आने से
आहा! अब यह गोलोक मिला।"
सस्मित नारायण प्रकट हुए—
"आओ, हे मेरे नर आओ!
जो कुछ है जहाँ, तुम्हारा है,
मुझको पाकर सब कुछ पाओ!"

रण-निमन्त्रण

घन और भस्म-विमुक्त भानु-कृशानु-सम शोभित नये,
अज्ञातवास समाप्त करके प्रकट पाण्डव हो गये।

होकर कुमति-वश कौरवों ने प्रबलता की भ्रान्ति से,
रण के बिना देना न चाहा राज्य उनको शान्ति से।
निज बल बढ़ाकर तब परस्पर विजय की आशा किये,
होने लगे वे प्रकट प्रस्तुत युद्ध करने के लिए।
सब ओर, अपनी ओर के राजा बुलाने को वहाँ,
भेजे गये युग पक्ष से द्रुत दक्ष दूत जहाँ तहाँ।
जाकर त्वरित श्रीकृष्ण को लेने इसी उपलक्ष में,
देने उन्हें रण का निमन्त्रण आप अपने पक्ष में,
आधार लेकर एक से सम्बन्ध के अधिकार का,
दैवात् सुयोधन और अर्जुन संग पहुँचे द्वारका।

मध्याह्न भोग समाप्त कर सुख-शयन में भगवान थे,
गम्भीर-नीरव-शान्त-सुस्थिर श्याम-सिन्धु-समान थे।
ओढ़े मनोहर पीत पट वे दिव्य रूप-निधान थे,
प्रत्यूष-आतप-युक्त यमुना-ह्रद-सदृश सुविधान थे।
यों लग रहे उनके निमीलित नेत्र युग्म ललाम थे,
भीतर मधुप मूँदे हुए ज्यों सुप्त सरसिज श्याम थे।
वर बाल मुख-मंडल-सहित यों सोहते अभिराम थे,
घेरे हुए ज्यों सूर्य को घन सघन शोभा-धाम थे।
नीलारविन्द समान तनु की अति मनोहर कान्ति थी,
गलहार के गज मौक्तिकों में नीलमणि की भ्रान्ति थी!
यों चिह्न कन्धों में खचित थे कुंडलों के सोहते,
माया-लिखित मानो वशीकर मन्त्र थे मन मोहते।
निःश्वास नैसर्गिक सुरभि यों फैल उनकी थी रही,
ज्यों सुकृत-कीर्ति गुणी जनों की फैलती है लहलही।
किसलय-कुसुम-सा पाणि-तल था पीठ कान्त कपोल का,
वा शेष-फण पर भार था श्यामल सरस भूगोल का!
उन अंगरागों से सुशोभित अंग उनके पीन थे,
शय्यावसन-संघर्ष से जो हो रहे अब क्षीण थे।
मानो शरद के चित्रघन के विरल खंडों से खिली,
निर्मल सुनील नभस्थलों को सात्विकी शोभा मिली।
था शयन-पाटाम्बर अरुण, झालर लगी जिसमें हरी,
उस पर तनिक तिरछे पड़े थे पीत-पट ओढ़े हरी।
वह दिव्य सुषुमा देखने से ज्ञात होता था यही,
मानों पुरन्दर-चाप सुन्दर खींच लाई है मही।
ऐसे समय में शीघ्रता से पहुँच दुर्योधन वहाँ,
वैकुंठ के बैठा सिराने, उच्च आसन था जहाँ।
कुछ ही क्षणों में पहुँच कर अर्जुन, बिना कुछ भी कहे,
हरि के पदों की ओर निश्चल नम्रता से स्थित रहे।

उन युग्म योधों के सहित शोभित हुए अति विष्णु यों,
कन्दर्प और वसन्त सेवित सो रहे हों जिष्णु ज्यों।
पर वे परस्पर दूसरे को विघ्न मन में लेखते,
ज्यों त्यों रहे प्रभु-जागरण की बाट दोनों देखते।
दोनों अतिथियों के मनों में भाव बहु उठने लगे,
पर कह सके कुछ भी न वे जब तक न पुरुषोत्तम जगे।
आते हुए अभिमुख सलिल के दो प्रवाह बहे बहे,
मानो मनोरम शैल से थे बीच में ही रुक रहे।

कुछ देर में जब भक्तवत्सल देवकीनन्दन जगे,
तब देख सम्मुख पार्थ को बोले वचन प्रियता पगे—
"भारत, कुशल तो है? कहो यों आज भूल पड़े कहाँ?
जो कार्य मेरे योग्य हो, प्रस्तुत सदा मैं हूँ यहाँ।"
कहते हुए यों सेज पर निज पूर्व-तनु के भाग से,
उठ बैठ तकिये के सहारे, देखकर अनुराग से,
सस्मित अविस्मित पार्थ को निज वचन कहने के लिए,
अविलम्ब उनकी ओर हरि ने नेत्र युग प्रेरित किये।
तब देख उनकी ओर हँसकर कुछ विचित्र विनोद से,
नत भाल पर कर रख किरीटी ने कहा यों मोद से,—
"होते सुलभ सब भोग जिससे, भागते भवरोग हैं,
जिन पर तुम्हारी वह कृपा, सकुशल सदा हम लोग हैं।
यह जन जनार्दन, स्वार्थ-वश ही आज आया है यहाँ,
निज पक्ष में रण का निमन्त्रण मात्र लाया है यहाँ।"
सब गर्व उच्च-स्थान का कुरुराज का यों हृत हुआ,
कुछ अप्रतिभ-सा पहुँच वह भी सामने उपकृत हुआ।
"आया प्रथम गोविन्द, मैं हूँ आपके शुभ-धाम में,
पहले मुझे ही प्राप्य है साहाय्य इस संग्राम में।
मैं और अर्जुन आपको दोनों सदैव समान हैं,
पर पूर्व आये को अधिकतर मानते मतिमान हैं।"
हरि ने कहा—"हे वीर, तुम बोले सुवाक्य विवेक से,
तुम और पाण्डव हैं हमारे स्वजन दोनों एक से।
है प्रथम आने की तुम्हारी बात तात, यथार्थ ही,
पर प्रथम दृग्गोचर हुए मुझको यहाँ पर पार्थ ही।
जो हो, करूँगा युद्ध में सहयोग दोनों ओर मैं,
पालन करूँगा यह किसी विध स्वकर्त्तव्य कठोर मैं।
दूँगा चमू नारायणी निज एक ओर सशस्त्र मैं,
केवल अकेला ही रहूँगा एक ओर निरस्त्र मैं।
दो भाग निज सहयोग के इस भाँति मैंने हैं किये,
चुन लें प्रथम ये पार्थ दो में एक जो भी चाहिए।

विस्तृत चमू निज पक्ष से रण में लड़ेगी सब कहीं,
पर युद्ध की तो बात क्या, मैं शस्त्र भी लूंगा नहीं।"
सुनकर वचन यों पार्थ ने स्वीकार माधव को किया,
कुरुनाथ ने नारायणी सुविशाल सेना को लिया।
तब पार्थ से हँसकर वचन कहने लगे भगवान यों—
"स्वीकृत मुझे तुमने किया है त्याग कटक महान क्यों?"
गम्भीर होकर पार्थ ने उनको यही उत्तर दिया—
"करना मुझे जो चाहिए था, है वही मैंने किया।
सेना रहे, मुझको जगत भी तुम बिना स्वीकृत नहीं,
श्रीकृष्ण रहते हैं जहां सब सिद्धियां रहती वहीं।"

केशों की कथा

जब पूर्ण दोनों ओर सज्जा हो उठी संघर्ष की,
निज रक्त में बहने चली सब शक्ति भारतवर्ष की,
तब भी क्षमा के भाव जिनके सदय मन में थे जगे,
ज्ञानी युधिष्ठिर निज सभा में कृष्ण से कहने लगे—
"दुर्योधनादिक ने हमारे साथ जो कुछ है किया,
जैसे बना, हमने उसे चुपचाप विष-ऐसा पिया।
फिर सन्धि के सम्बन्ध में उत्तर उन्होंने जो दिया,
हे श्रुतिनिधे, तुमने उसे भी खेद-पूर्वक सुन लिया।
कर्तव्य करने को तुम्हारी इष्ट है अनुमति हमें,
रण के बिना अब दीखती है दूसरी क्या गति हमें।
जब सन्धि करना चाहते हैं वे बिना कुछ भी दिये,
कैसे कहूँ मैं, वे नहीं सन्नद्ध विग्रह के लिए।
कब तक अनादृत हो मुझी से मानिनी मेरी रमा,
हो जाय मर्यादा-रहित क्या आज इस जन की क्षमा?
फिर भी अवश-से हम न हों आवेग के उन्मेष से,
पक्षी विहग बनते नहीं हैं एक पक्ष विशेष से।
अधिकार-रक्षा हेतु हम संघर्ष से डरते नहीं,
क्षत्रिय समर में काल से भी भय कभी करते नहीं।
पर व्यर्थ वंश-विनाश की बाधा मुझे है रोकती,
निज रीति-नीति सभीति मेरी ओर है अवलोकती।
कौरव हमारा राज्य निश्चय रोक तो सकते नहीं,
आश्चर्य, फिर भी पाप करने से तनिक थकते नहीं।
हम भी समर से क्यों डरें, जिनके सहायक तुम बने,
पर मन नहीं करता इसे, हम आप अपनों को हनें।
सब शूर देश-विदेश के लड़कर परस्पर कट मरे,
तो त्रिदिव क्यों न बसे, धरा हो जायगी ऊजड़ हरे!
असमय मरण का वरण करके स्वर्ग भी क्यों चाहिए,
यदि सर्व-हित साधन रहे, अपवर्ग भी क्यों चाहिए?

तनु है यहीं तक, क्यों न उससे लोग पूरा काम लें,
जब काल आवे सहज गति से शान्ति से विश्राम लें।
अरि भी जियें नय से, भले ही मनुज मूढ़ कहें मुझे,
कोई सहे न सहे, तुम्हारे शुभ कटाक्ष सहें मुझे।
सौभाग्य से है प्राप्त देवों की हमें अनुकूलता,
पर दैत्य-मद से मत्त हो प्रतिपक्ष है पथ भूलता।
रोकें नहीं यदि हम उसे, तो हानि है यह धर्म की,
विधि ही बिलटती दीखती है नियत नरकुल-कर्म की।
बनता हमारा धर्म भी क्या ही कठोर कभी कभी,
करना हमें पड़ता यहां आघात घोर कभी कभी।
पर अन्य गति हो तो कहां आश्रय उचित है युद्ध का,
क्या शुद्ध बुद्धि-विवेक रह पाता समर-संक्रुद्ध का।
बनने चली प्रत्येक शाला श्वापदों की-सी दरी,
हो जाय मरघट में न विघटित पुण्यभूमि हरी-भरी।
गूंजे न निज नन्दन विपिन में घोर क्रन्दन नाद ही,
छा जाय इस उन्माद के पीछे न हाय! विषाद ही।
निज दर्प से ही हत द्रुमों की गृहिणियों की गर्हणा,
डँस ले न शेष समाज को भी बन विषम विषधर-फणा।
आचार भी ऊंचे घरों के पतित होने जा रहे,
रक्षक गये, भक्षक चतुर्दिक दाब चढ़ते आ रहे।
सुनते नहीं वे किन्तु मेरे कान मानो फट रहे,—
'पानी अरे पानी, यहां हम रक्त देकर कट रहे!'
मैं सुन रहा हूं रात दिन धर्षित शवों के ध्वान ये,
'किस पर लड़े हम, हाय! हम पर लड़ रहे हैं श्वान ये।'
वे अन्ध हैं, पर दीखता सब ओर मुझको स्पष्ट है,
एकत्र क्षत्र-समाज सब निश्चेष्ट नष्टभ्रष्ट है।
सबको डुबाती जा रही नर-रक्त की खर धार है,
हम पांच की ही नाव तुमसे जा लगी उस पार है।
तृण-तुल्य भी गिनते नहीं हैं जो किसीको गर्व से,
सहसा बिखरते गिर रहे हैं टूट तारक खर्व-से।
ननु-नच-बिना नुच गृध्र-पक्षों की पड़े हैं छाँह में,
बल आप उठने का बचा है किस बली की बाँह में?
सौ सौ शिवाएँ झपटती हैं, और चीलें टूटती,
रस-पुष्ट अंग पड़े भटों के वे जिन्हें हैं लूटती।
हतभाग्य जितने नर निहत क्रव्याद भी उतने कहां?
शत गन्ध-लिप्तों से स्वयं उठती सड़ांध जहां तहां!
गतिशील काल, परन्तु घर घर घोर काली रात है,
जन-शून्य-बिन्दु बना अरुण रवि प्रज्वलित प्रतिभात है।
रह रह सिहरता वायु विधवा-वृन्द के चीत्कार से,
सन्देश करता है वहन किसके दयित का प्यार से।

सब सृष्टि धूमिल हो हरे! निस्तब्ध जड़-सा रह गई,
निज दिव्य जनपद की कहाँ चिर चेतना वह बह गई?
देती प्रतिध्वनि भी नहीं यह गर्जना यह तर्जना,
संहार पूरा हो गया, तब भी कहाँ नव सर्जना।
हे देव, जन के रक्त से रंजित न जन के हाथ हों,
मधु-मूर्ति बालक और बधुएँ व्यर्थ ही न अनाथ हों।
पाते यहाँ यों तुच्छ तृण भी ठौर रहने के लिए,
तो भी रहे अक्षत हमारा स्वत्व कहने के लिए।
करता न मेरा धर्म मुझको बाध्य लड़ने के लिए,
तो क्या समन्वय-योग्य हम सब हैं झगड़ने के लिए?
भाई सभी कौरव हमारे, भाव उनके भिन्न हों,
ममता कहाँ जावे हमारी, हम भले ही खिन्न हों।"
यों कह युधिष्ठिर भाव-गद्गद मौन होकर नत हुए,
अभिभूत से भीमादि भी उनसे स्वयं सहमत हुए।
हरि ने कहा—"भवदीय भाषा भाव भद्र सदैव ही,
पर देखता हूँ मैं, यहाँ बाधक बना है दैव ही।
जो हो, इसी उद्देश्य से मैं ही वहाँ जाऊँ न क्यों?
फिर एक बार स्वयं उन्हें परिणाम समझाऊँ न क्यों?
इससे न होगा और कुछ तो अल्प होगा क्या यही,
निर्दोषता तो जान लेगी आपकी सारी मही।"
बोले युधिष्ठिर फिर—"करोगे कष्ट तुम इतना अहा!
मैं आप अपनी ओर से तो हूँ यहाँ तक कह रहा।
यदि गाँव केवल पाँच ही दे दें हमें वे प्रेम से,
तो ठीक, सारा राज्य भोगें वे यथाविधि क्षेम से।"

सहसा सभा की भाव-गति में एक झन्नाटा हुआ,
झंझागमन के पूर्व का-सा घोर सन्नाटा हुआ।
तत्काल बिजली-सी चमक चौंकी वहाँ कृष्णा कृशा,
फिर टूट मानो वह पड़ी निज लक्ष पर लोहित वृशा!
"यह भाइयों पर भाइयों का त्याग आहा! धन्य है,
इस पर भला वह क्या कहेगा, जो अभागा अन्य है।
फिर भी अहो दानव-दलन, कुछ धृष्टता मैं कर रही,
मुझ पर तुम्हारी जो कृपा, कारण यहाँ केवल वही।
अथवा तुम्हें अविदित कहाँ जन के हृदय की बात है?
पर शब्द उठता है स्वयं होता जहाँ आघात है।
भाई अहा! ऐसे कहाँ देखे गये चिरकाल से,
जो भाइयों को मुक्त कर दें इस विषम भव-जाल से!
धिक्कार है, जीती रही मैं भोग कर मन की व्यथा,
निर्लज्ज इस तन के लिए क्या रोग भी कोई न था।

मैं किन्तु भूल नहीं सकी अपमान अपना यत्न से।
तो शान्ति होने से रही यह, हार मान सपत्न से!
कर्तव्य करते हैं कृती, फल का वहाँ क्या ध्यान है?
पर सुन रही हूँ मैं जिसे, यह दूसरा ही ज्ञान है।
यह नाश हम अथवा उपस्थित कर रहे हैं आप वे?
हमसे मरें तब भी करेंगे आत्म-हत्या पाप वे!
हम काल के प्रतिकूल जाकर देश रख सकते नहीं,
उन्मत्त कुत्ते मनुज का मख-भाग भख सकते नहीं।
पापी प्रकट निज पाप का प्रतिफल न पावेगा यहाँ,
तो कष्ट करके पुण्य-पथ से कौन जावेगा यहाँ?
उन दुष्कृतों की प्रकृति पलटी जायगी ऐसे कहीं,
जो कर चुके हैं वे, करेंगे फिर उसे कैसे नहीं?
इस जन्म में निज दंड से बच जायँगे यदि दुष्ट वे,
उस जन्म तक तो क्या न होंगे और भी परिपुष्ट वे?
आश्चर्य है, कृतकर्म उनके आज विस्मृत-से हुए,
चेतन जहाँ जड़-सा हुआ जीवित वहीं मृत-से हुए।
तब तो अधीर अनाथ-सी निरुपाय मैं हूँ रो रही,
आशा किये थी अन्त में जो, आज वह भी खो रही।
सुनकर न सुनने योग्य ही इस सन्धि के प्रस्ताव को,
यह चित्त मेरा हो रहा है प्राप्त जैसे भाव को,
कैसे उसे वर्णन करूँ मैं दग्ध-हृदया परवशा?
हरि, जान सकते हो तुम्हीं जन के मथित मन की दशा।
क्या दस्युओं पर यह दया ही मात्र दिखलाई गई,
दौर्बल्य का दृष्टान्त रख दुर्नीति सिखलाई गई।
चलते बड़े जन आप हैं जिस रीति से संसार में,
करते उन्हींका अनुसरण हैं अन्य जन व्यवहार में।
यह रक्त निकला आज हा! पंचाननों के घाव से!
निज पर तथा पर निज यहाँ देखे गये बर्ताव से।
ये कुछ कहें, पर 'डर गये पाण्डव' कहेंगे जो अहो,
उनके मुखों पर कौन अपना हाथ रख लेगा कहो?
सब सह चुके ये, शेष क्यों रह जाय यह अपमान भी!
मेरे सदय दयनीय बनकर भूल बैठे मान भी।
होता सदा है मानियों को मान प्यारा प्राण से,
यश के धनी हैं जो उन्हें अपयश कराल कृपाण से।
हा! दिग्विजय कर इन्द्र-सा वैभव विलसते जो रहे,
वे पाँच गाँवों के भिखारी आज यों ही हो रहे।
तन से अधिक मन का हरे, जन-दैन्य मरण-समान है,
निज राज-लक्ष्मी का इन्हें अपहरण वरण-समान है!
यह आह, यह उच्छ्वास, यह कम्पस्फुरण सब ठीक है,
पर देखती थी मैं जिसे, वह स्वप्न आज अलीक है।

जानें यही गन्तव्य निज, मैं तो सदा अनुगामिनी,
पर क्या करूँ विधि ही बना बैठा मुझे जब वामिनी।
किंवा कथन कुछ व्यर्थ अब, जब दी गई उनको क्षमा,
क्या बन्धुओं के बीच में बोले वधू अधमाधमा!
मैं किन्तु दासी ही नहीं, यदि मन्त्रिणी भी हूँ कभी,
तो आज मैं कैसे भुला दूं आप अपनी सुध सभी।
पतिवर अमर मेरे, सहज ये विष विशेष पचा गये,
डूबे न जल में, अनल से भी सबल अंग बचा गये।
मैं ही मरण माँगूं न क्यों, क्या दीन अब देखूं इन्हें,
उन तीन तीन परीक्षणों का श्रेय फिर भी दूं किन्हें?
पर पाँच गाँवों के धनी ये, दीन क्यों कहलायेंगे?
निज बन्धुओं का चित्त चौसर खेल कर बहलायेंगे!
फिर झेलना क्या दुःख, सुख से झूलना ही झूलना,
भूले भले भोले सभी ये, तात, तुम मत भूलना।
मृगचर्म पहने देख इनको विकल वन में डोलते,
तुमने कहा था जो स्वयं आक्रोश पूर्वक बोलते,
जो रोष इनके भाइयों पर था तुम्हें उस दिन हुआ,
क्या आज भी उसके स्मरण ने मन तुम्हारा है छुआ?
देखे गये जो दक्ष केवल अक्ष-पण के खेल में?
क्या जुग जुड़ेगा पाण्डवों का कौरवों से मेल में!
उस बार जो घटना घटी, क्या भूल ये वह भी गये,
अथवा विचार विभिन्न इनके हो गये हैं अब नये।
क्या वे प्रतिज्ञाएँ वृथा ही की गई थीं क्रोध में?
क्या वह विषम वन वन भटकना था इसीकी शोध में?
क्या दिव्य अस्त्रों के लिए वह कठिन तप था स्वांग ही?
क्या सिद्धि उन सब साधनों की थी अहो! यह मांग ही?"
फिर दुष्ट दुःशासन हुआ था तुष्ट जिनको खेंच के,
वे केश लेकर वाम कर में अश्रु-जल से सींच के,
हृदयस्थ दक्षिण कर किये, शरविद्ध हरिणी-सी हता,
कहने लगी वह मानिनी वा चू उठी पावक-लता!
"करुणा-सदन तुम कौरवों से सन्धि जब करने लगो,
चिन्ता-व्यथा सब पाण्डवों की शान्त कर हरने लगो,
हे तात, तब इन मलिन मेरे कृष्ट केशों की कथा,
मैं और क्या विनती करूँ, भूले तुम्हें न यथा-तथा।"
बाधा-विकृत मुख मूंद कर फिर सुन्दरी रोने लगी,
नत निर्झरी-सी पाद्य लेकर प्रभु-चरण धोने लगी।
होकर स्वयं भी द्रवित-से सुन प्रार्थना करुणा भरी,
देने लगे निज कर उठा कर सान्त्वना उसको हरी।—
"भद्रे, न रो हा! शान्त हो, यह सोच सब मन से हटा,
तू जान ले, अविलम्ब अपना कष्ट-काल कटा कटा।

वैभव-सहित रिपु-रहित पाण्डव शीघ्र ही हो जायेंगे,
निज क्रूर कर्मों का कुफल प्रत्यक्ष कौरव पायेंगे।
सौभाग्यवति, तू रो रही है आज पद-परिणति बिना,
रोती फिरेंगीं कौरवों की नारियाँ कल पति-बिना।
उनकी व्यथा भी, जानता हूँ मैं, तुझे कलपायगी,
सुख-दुःख दोनों एक-से ही बहन, तब तू पायगी।
प्रिय ज्येष्ठ पाण्डव की प्रतिष्ठा मान्य मुझको ज्ञान में,
पर आत्म-निष्ठा ही अटल तेरे अतुल आख्यान में।
होगा अधिष्ठित फिर महाभारत अखिल संसार में,
पर जीत तेरी ही रहेगी आज सबकी हार में।
निज साधना से अधिक नरकुल को युधिष्ठिर में मिला,
क्या स्वर्ग में भी सुलभ यह जो सुमन धरती पर खिला।
तो भी समय के पूर्व मानो ये कृपा कर आ गये,
इस द्वन्द्व-मध्य अजातरिपुता आप अपनी पा गये।"
"हरि, वह तुम्हारा ही दिया जो भी यहाँ जन को मिले,
झेलो न तुम तो आप अपना भार भी किससे झिले।
जीवन, यशस्, सम्मान, धन, सन्तान, सुख सब मर्म के।
मुझको परन्तु शतांश भी लगते नहीं निज धर्म के।"

युयुत्सु

निर्मल नीलांचल रत्न-टँका,
निशि ने पसार संसार ढँका।
पर कर्ण अचंचल हो न सका,
पीड़ित शिशु-सा वह सो न सका।
आकर बयार बहलाती थी,
मुँह चूम केश सहलाती थी।
पर शान्त न थी मन की पीड़ा,
क्या तुच्छ आँध का वह कीड़ा।
था मन्द गन्ध-दीपक जलता,
उसका प्रकाश भी था खलता।
वह भी अधीरता देख न ले,
छिप जाय आपसे वीर भले।
पर दीप न बली बढ़ा पाया,
उससे युयुत्सु मिलने आया।
वह भी था नृप धृतराष्ट्र-तनय,
प्रिय न था विदुर ज्यों जिसे अनय।
जननी न किन्तु गान्धारी थी,
वह असवर्णा सुकुमारी थी।
सुनकर जिसका स्वर मात्र मधुर,
रीझा था अन्ध नृपति का उर।
मुँह पोंछ ससंभ्रम चादर से,
उठ कर्ण मिला बड़ आदर से।
"आये तुम इतनी रात गये,
होगी ऐसी क्या बात अये!"
माँ के अनुरूप मधुर वाणी,
बोला युयुत्सु—"तुम हो दानी,
कुछ समय मात्र तुमसे पाऊँ,
मैं भी कृतार्थ तो हो जाऊँ।
भीतर ज्वाला-सी जहाँ जगे,
ऐसे में कैसे आँख लगे?
मैं था अनिद्र कुछ अकुलाया,
तुम जाग रहे हो, सुन आया।
हरि आये गये, न सन्धि हुई,
मन सुमन हुए न सुगन्धि हुई।
सद्भाव यहाँ कुछ जगा नहीं,
मुझको यह अच्छा लगा नहीं।
सौजन्य उधर, अन्याय इधर,
मैं आकुल हूँ, अब रहूँ किधर?"

"मुझसे यह प्रश्न असंगत है,
अज्ञात कहाँ मेरा मत है?"
"वह भली भाँति है ज्ञात मुझे,
कर दो इतना व्याख्यात मुझे,
मैं भीत नहीं, जो कहे, कहो,
पर मातृ-पक्ष अवगीत न हो।"
आ गया कर्ण सन्नाटे में,
जो था कुल-धन के घाटे में।—
"आया यह मेरे निकट तभी!"
सँभला वह, जो सहमा न कभी।
"यदि है यह दोष, दम्भ-कृत है,
आत्मा से कौन अनादृत है?
होता प्रदीप से कज्जल ज्यों,
कर्दम से शत-सहस्र-दल त्यों।
इतना ही किन्तु यथेष्ट नहीं,
तुम बनो न यों दुश्चेष्ट कहीं।
अपनों के साथ मरण अच्छा,
अथवा पर-पक्ष वरण अच्छा?"
"पाण्डव क्या कभी पराये हैं?
वे छल से गये हराये हैं।
अपनों से बैर किया किसने?
क्रूरों का मार्ग लिया किसने?"
"देते हैं तुमको अन्न वही।"
"यह तो कहने की बात रही।
पाते हैं स्वयं कहाँ से वे?
हम भी क्या नहीं जहाँ से वे?
यों कौन किसे क्या देता है,
कोई किससे क्या लेता है।
सीधा विनिमय व्यापार यहाँ,
समझूँ इसमें उपकार कहाँ?
धनियों के हाथ भले धन है,
पर जन के साथ स्वजीवन है।
पाता, जो स्वेद बहाता है,
धन तन का मैल कहाता है।
अधिकार सभी को है चुन का,
सम्बन्ध बड़ा मेरा - उनका।
वे करें किन्तु अनरीति कहीं,
तो क्या मैं रक्खूँ नीति नहीं।
जो अंगराज्य है प्राप्त तुम्हें,
हो और न हो पर्याप्त तुम्हें,
किसलिए मिला उसका पट्टा,
तुम करो पार्थ का मुँह खट्टा।
औदार्य स्वार्थमय ही उसका,
उद्देश्य राज्य जय ही उसका।
इस कारण तुम पर प्रीति उसे,
तुमसे है मिली अभीति उसे।
जो वैरी बना बन्धुजन का,
है मित्र कौन दुर्योधन का?
यदि उसकी प्रियता में फूले,
तो तुम न रहो भ्रम में भूले!"
"तुम अपनी कहो मुझे छोड़ो,
बाहर से व्यर्थ न बल जोड़ो।
जाकर पहले न विदुर के घर,
तुम आये यहाँ कहो क्यों कर।"
"सोचा यह, प्रथम विरोध सुनूं,
निर्णय कर फिर औचित्य चुनूं।"
"यदि कर्ण समीप न तुम आते,
मिलने विकर्ण से ही जाते।
तो पाते फिर भी कुछ वैसा,
मुझसे है इष्ट तुम्हें जैसा।"
"उसमें अवश्य अच्छी मति है,
फिर भी क्या अप्रतिहत गति है।
जो ठन कर ठान नहीं सकता,
मैं उसको मान नहीं सकता?"
"कुछ कहती नहीं तुम्हारी माँ?"
"क्या कहे भाग्य की मारी माँ?
वह स्वामि-सेविका मात्र सदा,
रो उठती है यों यदा कदा—
'तुमको पीछे परिताप न हो,
मुझको लेकर अपलाप न हो।'
वह किस रानी से हीन कहीं,
स्वेच्छा से ही स्वाधीन नहीं।
जो स्वयं न उसको देख सके,
उनसे कब उसके नेत्र थके।"
"तो अपनी ही क्या तुम्हें पड़ी?
जननी से कौन समृद्धि बड़ी?"
यह कह कर कर्ण तनिक काँपा,
रुक वहीं अधर उसने चाँपा।
"निष्क्रिय-सा न्याय-लक्ष उसका,
मैं पूरक दाय-पक्ष उसका।

मैं जननी का वह जात नहीं,
जो सहे न्याय का घात कहीं।
आक्रोश दोष के प्रति मेरा,
गतिशील, स्वमति का मैं प्रेरा।
हो चाहे मेरी हानि न हो,
पर मुझको आत्मग्लानि न हो।
माँ को जग में अपवाद मिले,
पर प्रभु का उसे प्रसाद मिले।"
"क्या यह सीधा विद्रोह नहीं?"
"हो, मेरा उच्चारोह यहीं।
मैं कुछ करने के लिए तुला,
होगा मेरा विद्रोह खुला।
कुछ समाधान मैं खोज रहा,
अपने को वहीं नियोज रहा।
पर पाता नहीं कहीं वैसा।"

"यदि करने लगें सभी ऐसा?"
"कर सकते केवल तुम्हीं कहीं,
कुरुराज-कर्ण दो अलग नहीं।"
"बलि, मेरे लिए बहुत इतना,
दूँ तुमको धन्यवाद कितना!"
"कृतकृत्य हुआ हूँ मैं आकर,
देखूँ अब नियति-नृत्य जाकर!"
जब गया युयुत्सु, कर्ण डोला,
निःश्वास छोड़कर वह बोला—
"सचमुच मैं क्रीत सुयोधन से,
क्या एक मात्र भौतिक धन से?
मुझ पर है इतना भार लदा,
रहता हूँ, जिससे दबा सदा।
जो था मैं हा! वह भी न बना,
जननी, क्यों तूने मुझे जना?"

युद्ध

युद्ध कहीं पाल पाता अपने नियम ही!
तुल्य प्रतिद्वन्द्वियों को छोड़ कर औरों से—
यों ही नहीं लड़ते थे योद्धा उस काल के।
बहुधा पदातियों से केवल पदाति ही,
अश्व-गजारोहियों से अश्व-गजारूढ़ ही,
रथियों से केवल रथी ही थे झगड़ते।
हारे-थके शत्रु को वे अवसर देते थे,
वर्महीन पर भी प्रहार करते न थे।
कोई वाक्य युद्ध करे तो वे वही करते,
मारते नहीं थे किसी हार मानते को भी।
शस्त्र-भंग होने पर कहते विपक्षी से—
"ऐसे क्या लड़ोगे, रहो, ले लो कुछ मुझसे।"
यदि वह कहता—"अभी तो भुजदण्ड हैं।"
तो वे शस्त्र छोड़ करते थे मल्लयुद्ध ही।
संगर भी उनके लिए था एक रंग-सा!
भेदिये ही प्राणों पर खेलते थे उनके।
युद्ध थमते ही मिलते थे बन्धु-सम वे।
चारणों की और परिचारकों की बात क्या,
शस्त्र-भार-वाहक भी उनके अवध्य थे।
वादक तो मादक थे रक्ष्य दोनों पक्षों के।

किन्तु अकस्मात जब काल निज रूप में
आता है समक्ष, तब किंकर्तव्यमूढ़ हो,
अपने नहीं तो अपनों के लिए, धीर भी
नियम-विरुद्ध कर बैठते हैं कुछ भी।
ऐसा इस युद्ध में भी देखा गया बहुधा।
तो भी नियमों का भंग निंदनीय होता है।
ऐसी लोक-निन्दा क्या यहाँ भी अपवाद थी?
पाई भगवान ने ही उसमें बड़ाई थी।
'आयुध न लूँगा मैं' उन्होंने यह था कहा,
और भक्त भीष्म ने कहा था—'देख लूँगा मैं।'
बाध्य वे हुए थे बात रखने को भक्त की।
ऐसा रण-रंग गंगानन्दन ने था किया,
पाण्डवों का सारा बल अस्तव्यस्त हो गया।
द्वन्द्व जहाँ हो रहा था, संकुल तुमुल था।
भर गई सारी रणभूमि रुण्ड-मुण्डों से,
रक्त के प्रवाह छूटे, पानी की पुकार थी।
हुंकारें जहाँ थीं, वहीं आहें थीं, कराहें थीं।
लाल लाल भूमि सब ओर विकराल थी,
दीखे रक्त-कर्दम में हाथी भी अशक्त-से!
कट कट शीश गिर राहु-से उदित थे,
केतु-से कटे भी बाहु भय उपजाते थे।
कर्तित थी कन्धराएँ, नर्तित कबन्ध थे!
टूटे रथ आँतें-सी बिखेर कर अंगों की,
तड़प रहे थे जन्तु शीघ्र मर जाने को!
हड़प रहे थे स्यार गीध शव नोंच के,

सो गये थे शत्रु-मित्र भूमि पर साथ ही।
सबको किशोरों-सा खिलाया पितामह ने।
आशा जय की तो कहाँ, प्राणों की रही किसे ?
लेके तब चक्र चले कृष्ण उन्हें मारने।
उनके प्रताप तथा तेज के प्रभाव से,
आस पास छाये हुए धूलि-कण क्षण में
तप्त चिनगारियों-से उद्भासित हो उठे!
बोले पितामह से वे—"पाण्डवों के वध की
इच्छा न हो तुमको, परन्तु मेरा कार्य तो
पूरा नहीं होगा, यदि हार हुई उनकी।
और, मेरी हार बिना कैसे तुम जीतोगे ?
मानता हूँ, आज मुझे तुमने हरा दिया।
साधु साधु! लो, मैं हुआ बाध्य शस्त्र लेने को।
और जो कहो सो करूँ, किन्तु सावधान हो!"
चाप रख ऊँचा भाल भीष्म ने झुका दिया—
"मारो प्रभो, मारो, यह कोप नहीं, करुणा।
आज मेरे जन्म-मृत्यु दोनों की समाप्ति है।"
धर प्रभु-पाणि इसी बीच कहा पार्थ ने—
"करते प्रहार पितामह पर अब भी
मेरा कर काँपता था, मुझको क्षमा करो,
करना पड़ेगा नहीं कष्ट अब तुमको।"
धर्मराज ने भी किया अनुनय उनसे—
"युद्ध में पितामह के रहते हुए हरे!
जीतने की आशा नहीं की जा सकती कभी।
यदि तुम चाहो तो अकेले इस चक्र से
मार सकते हो सब शत्रुओं को काल ज्यों।
तो भी तात, तुमने कहा है—'इस युद्ध में
आयुध न लूँगा मैं,' निभाना इसे चाहिए,
चाहे मन मार हमें खानी पड़े हार ही।
करते पितामह प्रहार नहीं नारी पै
और वे शिखण्डी को समझते हैं नारी ही,
चाहे कितना ही पुरुषार्थी वह क्यों न हो।
वचन तुम्हारे भंग होने से यही भला,
सफल करा दो तुम उसकी प्रतिज्ञा ही।
अर्जुन प्रधान पृष्ठ-पोषक हों उसके।"

अन्त में यही हुआ, प्रसन्न न थे मन में
अर्जुन, परन्तु अन्य कौन-सा उपाय था ?
त्राण-हेतु घूँट कड़ा पीना पड़ा उनको।

कौरव न रोक सके बढ़ते शिखण्डी को,
पार्थ के विशिख उसे बीच में लिये रहे।
उसके विरोध-हीन बाणों के प्रहार से
बिंध कर सारा तन शान्त पितामह का,
गिरता हुआ भी रहा ऊपर ही भूमि से।
बिद्ध वैरि-बाण-पंक्ति शय्या बनी उनकी।
मानो निज रश्मि-जाल संवरण करके
ओढ़के बिछाके वही सान्ध्य रवि था पड़ा!

रुक गया युद्ध, महायोद्धा युगपक्ष के
होकर उदास उन्हें घेर आ खड़े हुए।
देह था शरों पर परन्तु सिर लटका।
सस्मित उन्होंने कहा—"कोई उपधान दो।"
लाये गये शीघ्र वे उन्हींके रिक्त रथ से
खिन्न हो उन्होंने कहा—"दूर करो इनको!"
पार्थ को पुकार बोले—"वत्स, उपधान दो,"
"जो आज्ञा" तुरन्त तीन बाण छोड़ वृद्ध के
मस्तक के नीचे खड़े कर दिये पार्थ ने।
ऊँची उठी ग्रीवा, कहा तुष्ट पितामह ने—
"योग्य उपधान यही मेरी इस शय्या के,
जीते रहो वत्स, तुम!" "तात, तुम्हें मार के
जीना अभिशाप ही है,"—पार्थ चुप हो गये।

जय जयकार किया पूज्य पितामह का
दोनों ही दलों ने और साथ ही सुरों ने भी
शत्रु-मित्र दोनों का मतैक्य जहाँ होता है,
फूट पड़ती है वहीं भव्यता में दिव्यता!
"होंगे जब सूर्य उत्तरायण, मरूँगा मैं,
तब तक जीते जो रहेंगे, वे मिलेंगे ही,
श्रान्ति मेटें शिविरों में योधजन अधुना।"
सप्रणाम आँसुओं की अंजलि प्रथम ही
दे देकर उनको प्रयाण किया लोगों ने।
बोले वे सुयोधन को निकट बुलाके यों—
"बेटा, अब भी तू पाण्डवों से सन्धि कर ले;
और दस दिन भी चलेगा अब युद्ध क्या ?"
बोला कुरुराज अति दुःख और लज्जा से—
"धिक्! हम सबके समक्ष ही शिखण्डी ने
शल्य-सा शरीर कर छोड़ा यह आपका।"

हँस पड़े वृद्ध—"क्या वे विशिख शिखण्डी के ?
वर्म भेद पार्थ-शर मर्म जो न छेदते।
कटता है कर्कटक अपने ही बेटों से!"
"किन्तु मेल हो सका न जिनसे प्रथम ही,
वे तो अब हत्यारे हमारे पितामह के।
अब उनसे क्या सन्धि! अन्त तक जूझूँगा,
आज यदि कर्ण होता—" "जानता हूँ मैं उसे,
किन्तु वत्स, वैर बढ़ता है इसी रीति से।
होता वह शान्त मेरे साथ ही तो अच्छा था,
किन्तु अब तू भी उसे रोक नहीं सकता।
अपना नियन्ता आप होकर भी लोक में
हन्त! निज हन्ता बनता है नर आप ही।"

अन्त में आ कर्ण ने प्रणाम किया उनको—
"आपका सदैव दोषी कर्ण क्षमा-प्रार्थी है।"
"शिष्ट, हम सबको क्षमा ही इष्ट अन्त में।
उत्स तू लगा था मुझे इस रण-रस का!
और की तो बात ही क्या, आप तेरा जन्म भी
तेरे प्रतिकूल गया, तो भी गुण-कर्म से
तुझको महान मानने को विश्व वाध्य है।
धन्य वह जननी, अपूर्व रत्न-खननी,
धन्य पुरुषार्थ तेरा, मानो स्वयं दैव भी
दमन न कर पाया तेरे दृढ़ दर्प का!
किसने लिया है प्रतिशोध भी यों भव से?
किन्तु क्षमा होती कहीं दानि, तेरे दंड में,
तो इस प्रचंड वैर का भी यत्न तू ही था।
पूरक है तेरा यहाँ एक युधिष्ठिर ही।"
वृद्ध मुसकाये फिर बोले आह भर के—
"राम और भरत सदा ही नहीं मिलते!
जान लिया मैंने, अब प्रेम नहीं होने का
जूझना भले तू, किन्तु द्वेष दूर करके।"
"भरसक ऐसा ही करूँगा"—कहा कर्ण ने।
द्रोण के विषय में भी अर्जुन में वैसी ही
जागी दया-दुर्बलता और उन्हें उसका
दंड मिला मानो अभिमन्यु-वध-रूप में।
भीष्म के समान ही धनंजय-तनय ने
करके विपक्ष-दल दलित स्वबल से,
मारे थे अनेक अरि योद्धा ललकार के,
दुर्योधन-पुत्र और कर्ण के कनिष्ठ-से।

मन्त्रणानुसार तब संशप्तक शूरों ने
एक नया अयन बनाया दूर अपना।
देकर चुनौती वहीं ले गये वे पार्थ को,
और इस ओर चक्रव्यूह रच द्रोण ने,
उसमें अकेले ही सुभद्रा के सपूत को
घेरा, यथा पंजर में केशरी-किशोर को!
वह घुस पैठना ही जानता था उसमें,
अर्जुन ही जानते थे घुसना-निकलना।
अन्य कोई घुस भी सका न साथ उसके,
द्वार पर दुर्द्धर जयद्रथ नियुक्त था,
जिसको मिला था वर मानो इसी जय का।
तो भी कौन जूझ सका वीर अभिमन्यु से?
हँस हँस उसने रुलाया रणधीरों को!
रथियों को विरथ बनाकर उड़ा दिया,
शल्य को अचेत कर उसके अनुज को।
मार के, तनुज को भी छोड़ा नहीं उसने
आप ही अकेले एक एक कर युद्ध में
किसको हराया नहीं, द्रोण-कृप-कर्ण से
बोला वह—"जो हो, तुम गुरुजन अन्ततः,
मारूँ क्या तुम्हें मैं, उपहार में लो हार ही!"
बोला कुरुराज-पुत्र लक्ष्मण से वह यों—
"भाई तुम मेरे, तुम्हें दूँगा वीरगति ही!"
जो जो कहा उसने सो करके दिखा दिया।

मिल तब छः छः महारथियों ने घातें कीं,
मारने चले वे उसे घेर सब ओर से।
"यह षडयन्त्र मूर्तिमन्त!"—कहा उसने
मारके बृहद्बल को वायु के-से वेग से
बोला वह—"मैंने तुम्हें पंच ही बना दिया
चाहो तो प्रपंच करो!" एक बृहद्बल के
मरते ही दो दो रथी और नये आ जुटे,
छः थे जहाँ सात हुए। सामने के ही नहीं,
दायें और बायें तथा पीछे के प्रहारों से
मारे अश्व, तोड़ा रथ, काटा चाप, खड्ग भी
वैरियों ने; तो भी उपहास कर उसने
ठोके भुजदण्ड दोनों—"आओ, जिसे जाना हो!"
जाना था परन्तु किसे! दुर्योधन बोला यों—
"हिंस्र पशुओं से सम युद्ध नर क्यों करें,
शुद्ध सार-शस्त्र जब कर में हो उनके!"

मौन अभिमन्यु हुआ अन्त में यों कहके–
"कायर बनाके तुम्हें मरके भी जीता मैं।"

ठोकर दे पाप-पथ-पंक-भरे पैर की
शव पर, वीरता दिखाई जयद्रथ ने,
आप देवव्रत ने सराहा जिसे जीते में,–
मान कर अपने समान ही समर में,
सबसे बड़े से लड़ा छोटा जब सबसे,
मारना भी मरना भी सीखता-सा उनसे!

पाण्डव क्या शोक सह पाते यह सहसा,
आता कोप कौरवों के ऊपर न जो उन्हें।
पार्थ ने प्रतिज्ञा की–"न मारूँ जयद्रथ को
मैं सूर्यास्त पूर्व कल, तो जल मरूँ स्वयं।"
सूख गई मानो दया जलते हृदय की,
बढ़ते गये वे प्रलयाग्नि के समान ही।
किन्तु नहीं रुकता है समय कभी कहीं,
ढल चले अस्ताचल ओर दिवाकर भी।
अर्जुन के अर्थ हुई चिन्ता युधिष्ठिर को।
सात्यकि से कहने लगे वे–"बड़ी देर से
अर्जुन का कोई समाचार नहीं आया है।
बढ़ गये निश्चय ही लक्ष्य तक दूर वे,
किन्तु जान पड़ता है, शत्रुओं के घेरे में
शंखनाद का भी अवकाश नहीं उनको!
शूर, तुम जाकर सहायक हो उनके।"
उत्तर में सात्यकि यों बोला–"आर्य, आपकी
आज्ञा शिरोधार्य मुझे, किन्तु छोड़ आपको
जाना प्रतिकूल क्या न होगा स्वयं उनके?
धरकर आपको सुयोधन को देने का
वचन दिया है उसे उग्र द्रोणाचार्य ने,
कृष्णार्जुन छोड़ गये मुझको इसीलिए।"
हँस पड़े भ्रान्ति में भी धर्मराज सहसा–
"सीता के समीप जैसे लक्ष्मण को छोड़ के
माया-मृग मारने गये थे राम वन में!"–
सात्यकि भी रोक नहीं पाया हँसी अपनी–
"रावण भी द्विज ही था द्रोण ऐसा पहले!"
"किन्तु मुझे चिन्ता है उन्हींको, अपनी नहीं।
हो भले ही मेरी धृति, निष्कृति हो मेरों की।
जाओ तुम वीर, तुम्हें देता हूँ वचन मैं,
धर न सकेंगे गुरुदेव मुझे कैसे भी।
भाग बचना भी एक यत्न आत्मरक्षा का।
भागा नहीं यों मैं कभी गुरुओं से डरके।"
सात्यकि को जाना पड़ा, एक घड़ी पीछे ही
भीम को भी भेजे बिना वे रह सके नहीं।
पार्थ और सात्यकि तो कतराके गुरु से
व्यूह में घुसे थे किन्तु भीम न थे आपे में
जल उठे देखते ही उनको समक्ष वे–
"द्विज-उज जो हो तुम, गुरु हो अवध्य ही,
किन्तु वध-योग्य वह जो भी आततायी हो।"
फेंक दे उखाड़ ऊँचा झाड़ झंझावात ज्यों,
रथ के समेत उन्हें एक ओर फेंक के
सामने से हो वे घुसे शत्रु-दल दलते।
आधी धार्त्तराष्ट्र-चमू उस दिन युद्ध में
मर कर भी न बचा पाई जयद्रथ को।
पूरी हुई पार्थ की प्रतिज्ञा दिन रहते,
कठिन तपस्या फली पाशुपत पाने की;
कृष्ण की कृपा से कृतकृत्य हुए वे कृती।

किन्तु सान्त्वना की खोज तब भी बनी रही।
द्रौपदी-सुभद्रा और उत्तरा की यातना
तीन ओर, चौथी ओर अपना विषाद था;
शान्ति किसी ओर भी दिखाई न दी उनको।
देखते थे मानो एक स्वप्न वे शिविर में,
दे रहे हैं मानो हरि धैर्य उन सबको–
"कौन कहता है अभिमन्यु मरा? वस्तुतः
वह तो अमर हुआ–कीर्ति करके यहाँ।
गर्व-योग्य ऐसी गति मिलती है किसको?
पाया पूर्व देह से भी दिव्य रूप उसने
और महत्पद की कहूँ क्या बात तुमसे,
खेलता है आज वह इन्दिरा की गोद में।"
"भैया, एक बार कैसे देखूँ उसे ऐसे मैं?
प्रस्तुत अभी हूँ यह देह छोड़ कर भी।"
यों कह सुभद्रा पड़ी पैरों पर उनके।
"निम्न गति होती है बहन, आत्मघात से,
ऐसे वह उच्चगति-शील कैसे दीखेगा?
उत्तरा की कोख में है भव्य रूप उसका
अधुना उसीका हमें मंगल मनाना है।"

शोकानल का है कुछ यत्न अश्रु-जल ही,
किन्तु अवकाश न था पाण्डवों को यह भी,
गरज रहे थे अरि सिर पर उनके।
रक्खा विकराल दैत्य-रूप गुरुदेव ने,
दीख पड़ा काल-सा समक्ष इस पक्ष को।
द्रुपद-विराट ऐसे उद्भट भी उनसे
कट कर खेत रहे, पूले यथा घास के,
छू लें आप यम भी तो चाप रहते उन्हें!
तो भी धीर धृष्टद्युम्न उनसे नहीं दबा,
उनके वधार्थ ही लिया था जन्म उसने।
वे ही नहीं, भिड़ गये स्यंदन भी दोनों के।
द्रोण भी अजेय ही थे शस्त्र रहते हुए,
वर-सा उन्हें भी यह प्राप्त था विधाता का।
देख निज युद्ध वे दहल उठे आप भी!
तनु नहीं किन्तु मन मानो उन मान्य का
आकुल-सा हो उठा कृतित्व में भी अपने!
ब्राह्मण की करुणा हिलोड़ उठी उनको—
"धारण न करता कठोर क्षात्र धर्म मैं
तो हा! यह घोर कर्म करना क्यों पड़ता?
साधारण शस्त्रधारियों को इन अस्त्रों से
हत्या जो नहीं तो और क्या है यह इतनी,
करनी पड़ी जो मुझे? कारण क्या इसका?
कन्द-मूल-फल भी क्या मुझको न मिलते?
शिव शिव! शव ही दिये हैं मुझे हिंसा ने!
मेरे लिए दोनों पक्ष एक ही समान थे,
न्याय से तो पाण्डव ही प्रथम वरेण्य हैं,
मेरे स्नेह-भाजन हैं वे निज गुणों से भी।
छोड़ा निज धर्म मैंने, छोड़ूँ पर धर्म भी
कैसे हाय! कैसे! वह मेरे बन्धु भीष्म भी
रुक रहे मानो मुझे आगे कर लेने को!
कौन उनका-सा यहाँ मेरा अन्य साथी है?
मारने से मरना ही अच्छा क्या नहीं मुझे?"

×

इसके बिना क्या पाण्डवों का भी कुशल था?
अस्त्र छोड़ने को उन्हें कर सके बाध्य जो,
ऐसी एक झूठी बात कौन कहे उनसे?—
यह विष कौन पिये शोणित-समुद्र का?
"संरक्षक सबका मैं," सोचा युधिष्ठिर ने—
"दुर्गति हो मेरी भले, सबकी सुगति हो।"
मार अश्वत्थामा गज वैरी इन्द्रवर्मा का
गर्ज उठे भीम—"अश्वत्थामा हत हो गया!"
वज्राहत वृक्ष की-सी द्रोण की दशा हुई।
बोले किसी भाँति वे—"युधिष्ठिर कहें तो है।"
सिहर युधिष्ठिर ने साख भरी इसकी—
"हाँ आचार्य देव, अश्वत्थामा हत हो गया,
वह नर-कुंजर गया है मृत्यु-मुख में!"
किन्तु छल पूर्ण यह सत्य भी अनृत था।
दोनों नर-कुंजर स्वजन शंख-रव में
डूब गये। साथ ही युधिष्ठिर का रथ भी,
ऊँचा-सा धरा से उठ चलता था जो सदा,
धँस गया नीचे चार अंगुल प्रमाण में!
शस्त्र फेंक गुरु तो समाधिस्थित-से हुए।
टूट पड़ा श्वापद-सा धृष्टद्युम्न सहसा
लेने को कठोर प्रतिशोध पिता-पुत्र का।
पक्व केश उनके पकड़ बायें हाथ से
दायें से उसीने सिर काट डाला उनका।
हाय उठा कहते ही रह गये पार्थ यों—
"मारो मत, मारो मत, उनको पकड़ लो!"
हाहाकार कर उठे शत्रु-मित्र दोनों ही।
सात्यकि तो क्रोध कर दौड़ा उसे मारने,
बीच में आ अपनों ने शान्त किया दोनों को।

×

निन्दा की युधिष्ठिर की आप धनंजय ने—
"हाय आर्य, यह क्या किया है आज आपने?
आपके निकट भी क्या राज्य बड़ा सत्य से?"
मौन थे युधिष्ठिर, भृकुटि चढ़ी भीम की—
"सावधान अर्जुन! क्या कहते हो किससे?
सत्य-रक्षा से भी आत्म-रक्षा बड़ी होती है,
एक छोड़ सौ सौ सत्य-धर्म पलें जिससे।
अग्रज के 'आत्म' में हमीं-तुम हैं, वे नहीं,
कहते इन्हें हो राज्यकामी तुम? धिक है।
आप गुरु भी तो निज धर्म छोड़ बैठे थे,
उद्धत अधर्मियों के अर्थ-दास बन के।
स्वत्व उस अर्थ में हमारा भी नहीं था क्या?
पाप के पराजय में पाप भी है पुण्य ही।"
"नहीं नहीं, पाप कभी पुण्य नहीं होता है।"
बोले धर्मराज—"भीम, भाई, तुम शान्त हो।
सिद्ध नहीं होता शुद्ध साधन से साध्य जो,
उसकी विशुद्धता भी शंकनीय होती है;
तात, मेरा पक्षपात योग्य नहीं इतना।

पाप जो हुआ है, उसे मानना ही चाहिए,
अन्यथा असंभव है प्रायश्चित उसका।
ऐसी स्थितियाँ भी हैं असत्य जहाँ क्षम्य है,
किन्तु मेरा स्खलन खलेगा नहीं किसको ?
मर्त्य की तो बात क्या, अमर्त्य भी अपूर्ण हैं,
उचित परन्तु नहीं ऐसा समाधान भी,
प्रश्रय जो देता चले पाप की प्रवृत्ति को।
नर को तो नारायण तक है पहुँचाना।
मैंने जो किया है, वह जान कर ही किया—
राज्य-हेतु अथवा नरक-हेतु, क्या कहूँ ?
दुःखित हूँ, किन्तु मैं निराश नहीं फिर भी।
मेरी साधना के लिए काल जो अनन्त है !
मति-गति अर्जुन, तुम्हारी रहे ऐसी ही
भोगो मिल राज्य तुम, भोगूं जा नरक में।"
"अनुग तुम्हारा वहाँ आगे !" कहा भीम ने
रोने लगे अर्जुन—"हा ! आर्य, निज दुःख से
मैंने तुम्हें मिथ्या बोल मारे, मुझे दंड दो ;
किन्तु यों न त्यागो हमें।" पैरों पर वे गिरे।
अंक में ले उनको युधिष्ठिर भी रो पड़े।
बोले हँस कृष्ण—"हुआ, देखो अब सामने !"

×

भीष्म और द्रोण के अनन्तर था कर्ण ही।
मान कर प्रार्थना सुयोधन की, उसका
शल्य सारथी तो बना, किन्तु कहा उसने—
"यह अभिमानी भला पार्थ से लड़ेगा क्या ?—
हार खा चुका है बार बार जो प्रथम ही।
जाति को छिपाके सूत-पुत्र विप्र बनके
धोखा दे चुका है यह गुरु भृगुराम को।
भेद खुलते ही अभिशप्त हुआ उनसे—
'भूले तुझे विद्या ठीक अवसर पर ही' !"—
बोला क्रुद्ध कर्ण—"स्वयं सूत बना, तो भी तू
लज्जित क्यों होता नहीं ओछी बात कहते ?
मैंने तो कहा था यही उनसे—'मैं द्विज हूँ'
यह छल है तो पूछ जाके बड़े पार्थ से—
छल है वा सत्य—'अश्वत्थामा हत हो गया' ।"—
"ओहो ! अब जाना, ज्येष्ठ पार्थ पर तेरी ही
छाया यहाँ आ पड़ी थी !" "और क्या कहेगा तू ?
जैसे तुझे इष्ट हो, परीक्षा कर देख ले,
रूप की वा वर्ण की, शरीर की वा रक्त की,
आकृति-प्रकृति की वा अस्थि-चर्म-मज्जा की,
मन की वा आत्मा की, बता मैं निम्न किससे ?
उच्च कहाँ कौन किस बात में है मुझसे ?
यों तो जन जाति का है मूल गोत्र एक ही,
कुल का विकास भिन्न भिन्न रहे सबका।
कर ले भले तू मनस्तुष्टि कुछ कहके,
जानता हूँ तुझको मैं और तेरे देश को !"
"मैं भी जानता हूँ तुझ गोघातक म्लेच्छ को !
मेरा देश कैसा है, मुझीमें सब देख लें।
धोखे में कही भी बात मैं निभाता जाता हूँ।
और—" "साक्षी हूँ मैं।" कुरुराज बोला बीच में—
"किन्तु तात, आपस में लड़ना क्या ठीक है ?
गरज रहे हैं जब शत्रु खड़े सामने।
आप दोनों ही तो अब मेरे अवलम्ब हैं।"
"मैं कभी रुकूँगा नहीं कहने से अपनी,
किन्तु त्रुटि होने नहीं दूँगा निज कर्म में।"
"इतना यथेष्ट मुझे, आप गुरुजन हैं,
कटु भी बनेगा मिष्ट मेरे लिए आपका।"
यह कह कर्ण ओर देखा कुरुपति ने।
कर्ण बोला—"तुमने कहा सो स्वयं मैंने भी।
जूझना है मुझको तो, जो भी परिणाम हो।"
"जीतने की आशा बिना जूझ क्या सकेगा तू ?"
यह कह शल्य हँसा। बोला हँस कर्ण भी—
"मैं निष्कामकर्मा भला, हो, जो फलकामी हो !"

×

भय कहते हैं किसे, कर्ण न था जानता,
छक्के-से छुड़ा दिये परन्तु घटोत्कच ने।
मानो भीम-भैरव ही उसके बहाने से
कौरवों की सेना ध्वंस करने को आ गये !
जाता था बवंडर-सा वह जिस ओर को
उड़ते विपक्षी तृण तुल्य थे तुरन्त ही।
वाहन ही कौन था, जो तेज सहे उसका ?
पैदल ही प्रलय मचाया उस योद्धा ने।
भागे सब अश्व-गज सामने से उसके,
शल्य ने कठिनता से रोका रथ अपना।
अर्जुन के केतु पर बैठे कपि-केसरी
देखकर उसकी लड़ाई लहरा उठे !
मेघनाद ही क्या यह मित्र बन आ गया,
लेके नया जन्म, अब किसका कुशल है ?
कूद कूद कर्ण के शरों को सरकन्डों-सा
धर धर, तोड़ तोड़, हँस हँस, उसने

फेंक फेंक उनको उसीकी ओर यों कहा—
'लेके यही अस्त्र आया लड़ने तू मुझसे?
मारें तुझे काका, मैं अकर्ण कर छोड़ूँगा!"
कर्ण भान भूल गया क्षोभ-अपमान से,
मान रख पाया वह इन्द्र की हो शक्ति से,
अर्जुन के मारने को रक्खे वह था जिसे।
काका को बचाके मरा राक्षस भतीजा यों
और पितृ-ऋण से उऋण वह हो गया।

×

'पीछे अभिमन्यु के गया हा! घटोत्कच भी,
संकट-सहाय मेरा, प्यारा सहदेव-सा!"
क्षुब्ध हुए धर्मराज—"देख लिया सबका
शौर्य मैंने, देखूं अब कर्ण को मैं आप हा!"
चल पड़े विस्फोटित वे आग्नेय गिरि-से
सक्षमों का क्षोभ भी भयंकर ही होता है।
आये अकस्मात वहाँ व्यासदेव ऐसे में,
देके शुभाशीष बोले वे उन प्रणत से—
'तात, निज मर्यादा समुद्र नहीं छोड़ता,
तुम भी न हो यों क्षुब्ध, स्वाभाविक रूप से
जूझो भले, जैसे वह उत्थित तरंगों से
खेलता है, सटता है हटता है तट से।
कार्य अभिमन्यु से भी मान्य घटोत्कच का;
तुम थिर धर्ममय, विजय समीप है।"
यह कह द्वैपायन अन्तर्द्धान हो गये।
हो गये समाहित युधिष्ठिर प्रथम ही।

×

"कर्ण, एक शक्ति थी, उसे भी तुम खो चुके।
यह तो था बेटा, अभी बाप-काका हैं सभी!"
"रहने दो मद्रराज, मैं भी अभी शेष हूँ;
अपने ही बल का भरोसा सदा सच्चा है।"
पौरुष से दृप्त अति दीप्त वह हो उठा।

×

आँधी-सा घटोत्कच तो आकर चला गया,
कर्ण था अटूट सार-धारा का प्रपात-सा,
सामने जो आया, वही डूबा-बहा उसमें!
आशा भी किसीके बचने की रही किसको?
सीमा छोड़ मानो महासिन्धु वहाँ उमड़ा।
बात क्या युधिष्ठिर-नकुल-सहदेव की?
उनको डुबाकर न उसकी तरंगों ने,
फेंक दिया एक ओर दूर बालखंड-सा।

आप भीम भी क्या इस बार पार पा सके?
डालें मृत हाथियों के देहों की बनाके भी
रक्षा नहीं पा सके वे। किन्तु उन्हें उसने
मारा नहीं, कुन्ती को वचन जैसा था दिया।
छोड़ दिया जीता उपहास मात्र करके—
"खाना जानता है और सोना तू, लड़ेगा क्या?
हट जा, न आना अब और मेरे सामने!"
"कर ले प्रलाप मृत्यु-पूर्व कुछ कर्ण, तू,
प्राप्त पुनर्नवता करूँ मैं इस बीच में।
तेरे नीच स्वामी के सहोदर-समूह को
और तेरे अन्य बहु बन्धु-बान्धवों को भी,
मार मार अश्व-गज वाहनों के साथ ही
मानता हूं, सम्प्रति हुआ मैं कुछ श्रान्त-सा।
वायु भी शिथिल पड़ जाते हैं कभी कभी,
सूर्य भी विराम नहीं लेते क्या दिनान्त में?
फिर भी न भूल, मैं वही हूँ, जिसने तुझे
छोड़ा था धनंजयार्थ अधमरा करके।"
"हाथ नहीं चलते तो मुँह ही चला ले तू!
देखा तुझे, देखता हूँ, तेरे धनंजय को।"
करके स्मरण हनूमान-सा स्वबल का
स्वस्थ क्षण में हो भीम आये फिर रण में;
दीख पड़ा सम्मुख ही दुःशासन उनको।
भभक उठे वे—"अरे पापी, तुझको तो मैं
व्योम में रसातल में खोज कर मारता,
भाग्य से तू भू पर ही मिल गया मुझको!"
सिंह-से उछल कब टूट पड़े क्रुद्ध वे,
दुःशासन ने भी तब जाना, जब वे उसे
स्यंदन से खींच फिर पृथ्वी पर आगये।
कसके चलाये हाथ डूबते हुए ने भी,
किन्तु वे थे भान भूले, मानते क्या उनको?
छिप-से गये वे निज नग्न रोष-ज्वाला में।
पटक-पछाड़ उसे छाती पर चढ़के
गरज उठे यों—"कहाँ दुर्योधन-कर्ण हैं?
शक्ति हो तो रोकें, रक्त दुष्ट दुःशासन का
भीम पीने जा रहा है सबके समक्ष ही!
चुपड़ उसीसे वह केश याज्ञसेनी के
उससे कहेगा—'शुभे, वेणी अब बाँध तू'।"—
शस्त्र छोड़ निज के नखों से ही नृसिंह ने
चीर डाला वैरि-वक्ष और—अहो! और क्या?
देख वह घोर दृश्य भाग चले भट भी।

अर्जुन ही एक मुख्य लक्ष्य रहे कर्ण के,
टिक सके उसके समक्ष वही मेरु-से।
दोनों रथियों का वह युद्ध एक दृश्य था,
उनसे भी दर्शनीय सारथी थे उनके।
घात करते थे रथी, सारथी बचाते थे,
वाहों के बहाने नरनाहों को नचाते थे!
"सावधान!" कहके प्रहार किया कर्ण ने,
पैर मोड़ घोड़े झुके तत्क्षण ही कृष्ण के,
बचे पार्थ-प्राण, शिरस्त्राण बाण ले उड़ा।
किन्तु पार्थ ज्यों ही योग्य प्रत्युत्तर दें उसे,
धँस फँसा एक रथ-चक्र त्यों ही उसका,
दीख पड़ा कर्ण मानो भानु निज यान में।
रुककर उठाके वह अर्जुन की ओर को,
सारथी को असफल देख आप उतरा
और धँसा चक्र धर खींचने चला उसे।
किन्तु खींच पाया नहीं वह उसे आप भी,
मानो भाग्य ने ही उसे नीचे रोक रक्खा था!
बोल उठे पार्थ—"कर्ण, किस अधिकार से
मुझसे ठहरने को कहता है क्रूर, तू?
भूल गया आज ही क्या बात वह कल की—
'हिंस्र पशुओं से सम युद्ध नर क्यों करें—
शुद्ध सार-शस्त्र जब कर में हो उनके।'
आती है सभीको सुध संकट में धर्म की
किन्तु तूने पहले ही घात किया उसका।"
यह कह दाँत पीस क्रोध से अबोध ज्यों
आकर्षित उग्र शर छोड़ दिया पार्थ ने,
कट कर कर्ण-शिर टूट गिरा तारे-सा।
तारे ही दिखाई दिये दिन में विपक्ष को!
तो भी एक तेज कढ़ कर्ण के ललाट से
ऊर्ध्वगति तारक-सा लीन हुआ रवि में।
कर्ण तक ही थी सब आशा कुरुराज की,
जूझा वह निर्मम-निराश-सा ही अन्त में।
शल्य को बनाया निज सेनापति उसने।
शल्य बोला—"तुमने जो मान किया मेरा है,
उस पर वार दूंगा प्राण भी मैं अपने।
किन्तु मैं सहूँगा नहीं भीष्म और द्रोण ज्यों,
व्यंग्य से तुम्हारा बार बार वह कहना,—
'प्रीति है तुम्हारी पाण्डवों पर, इसीलिए
जीत नहीं हो पाती हमारी इस युद्ध में।'
जीवित युधिष्ठिर को धर न सके द्रोण भी,

कामना तुम्हारी यह पूर्ण कर दूंगा मैं।
अन्यथा स्वयं ही हुत हूँगा समराग्नि में।
अणु-परमाणु मेरे सारे ही तुम्हारे हैं।"
"कब किससे क्या कहूँ, जानता हूँ तात, मैं।"
मौन हुआ दुर्योधन इतना ही कहके।
शल्य के पराक्रम से एक बार फिर भी
लौटता-सा साहस दिखाई दिया सेना का।
किन्तु एक बार करवाल लिये काल-सा
दौड़ा जब शल्य टूटे स्यन्दन से कूद के—
धरने वा मारने युधिष्ठिर को वेग से,
तब घबराये बिना धीर धर्मराज ने,
लेने को स्वभाग मानो मातुल-हृदय का,
उसको विभक्त कर डाला तीक्ष्ण शक्ति से!
काट इसी बीच दो दो पुत्र और कर्ण के
मारा म्लेच्छराज को भुजंग-सा नकुल ने।
और सहदेव ने उलूक-पात करके,
वंचक शकुनि के भी प्राणों को उड़ा दिया;
काम नहीं आई कुछ धूर्त-विद्या उसकी।

×

घायल-सा घोड़े पर बैठा घूम घूम के
दुर्योधन सेना को सँभालता था व्यर्थ ही।
भूला जयी पक्ष ध्यान उसका भी हर्ष से
फूल कर। ले जा कर एक ओर उसको
बोले कृपाचार्य—"वीर, अब भी जो चाहो तो
पाण्डवों से सन्धि का प्रयत्न करूँ जाके मैं?
आशा है युधिष्ठिर से चाहे जब जो मुझे,
छोड़ा है उन्होंने सदा औरों पर आपको,
मानेंगे तुम्हें वे भीमसेन के समान ही।"
हाय! भर आई आज आँखें कुरुराज की,
कौन जाने, शोक से वा क्षुब्ध अभिमान से।
बोला अश्रु रोक बली उन्मुख हो उनके—
"आर्य मेरे हित के लिए ही यत्नशील हैं।
मुझसे कहा था यही मान्य पितामह ने,
तब भी था आदि ही-सा किन्तु अब अन्त है!
अन्तर है इनमें, परन्तु मुझमें नहीं।
हत हैं पितामह, निहत गुरुदेव हैं;
और वह कर्ण—मेरा कर्ण—सुख-दुःख का
साथी गया पुत्र और भाइयों के साथ ही—
मेरे अर्थ। मेरा भक्त दुःशासन भी गया,
मारा हा वृकोदर ने कैसा पशु-सा उसे!

सौ थे हम, आज यह एक ही मैं शेष हूँ;
भाई भी भतीजे भी सभी तो गये मेरे हैं।
लक्ष्मण-समान सब मेरे पुत्र हैं कहाँ?—
जब मैं पड़ा हूँ यहाँ जीवित नरक में।
पाण्डवों का एक अभिमन्यु मात्र जिसके
बल से विजित हुआ, डूबा सिन्धुराज है।
मातुल शकुनि-से हितैषी भी नहीं रहे।
सौ सौ मित्र राजा, त्यक्त जीवित मदर्थ जो
आये थे, सभी के सभी मृत्यु-मुख में गये।
किसके लिए मैं अब इच्छा करूँ सन्धि की?
लेकर किसे मैं अब भोगूँ राजभोग भी?
त्यागी आप और गुरु-पुत्र तो तपस्वी हैं।
अन्ध मेरे वृद्ध पिता-माता, हाय! फिर भी
उनके समक्ष भी मैं जाऊँ किस मुँह से?
क्या है आज, सान्त्वना दूँ जिससे मैं उनको?
आशीर्वाद चाहता हूँ एक यही आपसे
अन्त तक आन बान अपनी निभा सकूँ।
मानता हूँ बात धर्मराज के विषय में
आपकी यथार्थ। राजसूय की समाप्ति में
मुझको उन्होंने रोक आप यह था कहा—
'तात, मैंने निश्चय किया है यही मन में,
तुम अपनों के अनुसार ही चलूँगा मैं।'
किन्तु जिन्हें मैंने पाँच गाँव भी नहीं दिये,
सन्धि करने के लिए कैसे कहूँ उनसे?
मैंने जो कराया यह इतना विनाश है,
व्यर्थ कर दूँ क्या इसे? आप ही बताइए,
क्या मुख दिखाऊँगा मरों को मर कर मैं?
विधि की विनोद-लीला हार-जीत जन की!
युद्ध भी जुआ-सा एक खेल प्राण-पण का।
हारे हैं बली भी यहाँ, निर्बल भी जीते हैं,
किन्तु वीर हारे कहाँ जीवन-मरण में?
अब भी गदा है अतिरिक्त मेरे हाथ में,
भीम और जो हो, उसे देता हूँ चुनौती मैं।
किन्तु कुछ बेला माँगती है श्रान्ति मुझसे!"

×

"धन्य वीर, धन्य! यह एक गेय गुण ही
मुझको तुम्हारे सब दोष भुला देता है।
जाओ, श्रान्ति मेटो तुम, शीघ्र ही मिलूँगा मैं।
अष्टादश अक्षौहिणी अष्टादश दिन में
हो गई समाप्तप्राय, पाण्डवों के थोड़े से
सैनिक बचे हैं, इस ओर तुम राजा हो,
मैं हूँ, कृतवर्मा के समेत अश्वत्थामा है।
लड़ सकते हैं पाण्डवों से हम चार ही।"
"मैं अनुगृहीत हुआ, तोष यही मुझको,
अन्त तक कोई त्रुटि छोड़ी नहीं हमने।"

×

जाने लगा ज्यों ही कुरुराज, सुना उसने—
"वीर, कुछ क्षण दो मुझे भी कष्ट करके,
जानता हूँ, इष्ट तुम्हें सम्प्रति विजन ही।"
यह कृतवर्मायुत उग्र अश्वत्थामा था,
मुहँ भभरा था, केश बिखरे थे उसके।
असजग दीप्त दृग, पग डगमग थे।
"पागल न हो यह," विचारा कृपाचार्य ने।
बोला वह उनको प्रणाम कर राजा से,
"वीर, विजयी हो तुम, जीवित हूँ मैं अभी।
आज रात जैसे बने, वैरियों से बचना,
आके स्वयं सूचित करूँगा सुप्रभात मैं।
राज-शिविरों में शत्रु सो लें आज सुख से
किन्तु मुँह धो लें फिर जागने से वे सभी।"
"सेनानी तुम्हीं हो अब शेष हम सबके,
किन्तु गुरु-पुत्र! एक पिण्डदाता छोड़ना।
पास ही मैं ह्रद में रहूँगा, और क्या कहूँ?"
"जीवित के अर्थ पिण्ड-पानी, नहीं जीव के।"
"तात, श्रद्धा-भक्ति का तो भूखा भगवान भी।
जीवन का वैर रहे मृत्यु के भी साथ क्या?"
यों कह विनम्र हो सुयोधन चला गया।
सोचने लगे वे शेष तीनों भावि योजना।
बोले इस ओर कृष्ण भावोन्मत्त भीम से—
"भूलो मत वीर, अभी दुर्योधन शेष है!"
चौंक-से गये सब—"परन्तु वह है कहाँ?"
भीम बोले—"डूब मरा होगा कहीं पानी में,
मुँह क्या दिखायगा किसीको और हमको?"
"ऐसे मरने का नहीं वह चिर साहसी,
निश्चय छिपा है कहीं पास के ही ह्रद में,
कुशल बली है जल-वास की कला में भी।"
आकर चरों ने तभी सूचित किया उन्हें—
"पास ही सरोवर में दुर्योधन पैठा है।"
खोजने चले वे सब शीघ्रता से उसको।
आज्ञा दी युधिष्ठिर ने पहले युयुत्सु को—
"जाओ, तुम वीर, हस्तिनापुर तुरन्त ही

लेकर सुयोधन के परिकर वर्ग को।
संजय को मारा नहीं, छोड़ दिया हमने,
ले लो उसको भी संग, जैसे बने तात को
धीरज बँधाना और माता को सँभालना।
आये तुम मेरे साथ, तब वे समर्थ थे,
पा सकेंगे आज वे तुम्हीं से कुछ सान्त्वना।"
"जो आज्ञा" युयुत्सु कह पाया कहाँ उनसे,
उसका गला था भरा, वह सिर झुका गया।

×

कोस भर दूर था जलाशय शिविर से।
तीर पर पहुँच निनाद किया भीम ने—
"दुर्योधन है क्या यहाँ ? जाँघ ही निकाल दे,
बनने चली थी जो द्रुपदजा की पीठिका!"
जिस नलिका से श्वास-वायु नीचे जाता था,
भीम-गर्जना भी घुस पैठ गई उसमें—
"मैं तो जानता था, कुछ तत्व होगा तुझमें,
किन्तु ऐसा कापुरुष निकला तू अन्त में,
सबको समक्ष कटवा कर समर में,
धिक ! छिप बैठा आप मरने के डर से।
माँग प्राण-भिक्षा फिर निर्भय विचर तू।
रो रही हैं तेरी गृह-नारियाँ बिलख के,
रो रहे हैं अन्ध वृद्ध माता-पिता, उनको
सान्त्वना दे, देख, खड़े कृष्ण-युधिष्ठिर ये,
सहज उदार क्षमा देंगे, यदि चाहे तू।
अन्यथा सौ कोठों में तुझे क्या भीम छोड़ेगा ?"
सह सकता है वीर किसकी प्रचारणा ?
ऊँचा गदा गेंद किये उद्धृत भू-गोल-सा
निकला कुरूद्वह बराह-सा सलिल से !
किंवा मद-कुंभ धरे दैवत-द्विरद-सा
दैव-वश हो के स्वयं शकुन विपक्ष का!
"देखो यह आ गया मैं, आओ, जिसे आना हो।
दूंगा प्रतिवाक्य तुम्हें कर्म से कुशब्दों का!
होती है विराम की अपेक्षा चेतनों को ही।
जीने के समान मरना भी जानता हूँ मैं,
जीते रहें तुमसे अलज्ज अपमान में।
चाहता था राज्य जिन्हें लेके, वे चले गये।
लेकर उन्हीं की वैरि शुद्धि आज तुमसे
मैं भी चला जाऊँगा पुनीत तपोवन को।
भुक्तोज्झिता वसुधा रहेगी, उसे कोई ले।
ठाठ से मैं आया और ठाठ से ही जाऊँगा।
पौरुष तो मेरा जन्म-जात अधिकार है;
कुशल तुम्हीं हो क्लीब-जीवन बिताने में!"
"साधु सत्यवादी, साधु ! पौरुष के पुतले !
संयम-नियम को भी क्लैब्य कहता है तू।
पौरुष न होता यदि ऐसा बड़ा तेरा तो
कर्ण कैसे सेवक से स्वामी बन बैठता ?
अब भी उसीका अनुगामी क्यों न होगा तू,
जूझा हमसे था जिस मत्सरी के बल से।
कुछ कह, मरता सो क्या न करता यहाँ ?"

×

घोर गदा-युद्ध हुआ भीम-दुर्योधन का।
छाया भर छोड़ मानो रुण्डों पर मुण्डों की
दोनों गदा दण्डों पर लेकर उन्हें लड़े!
आ-सा गया भूमण्डल पैतरों में घिरके।
घोर रव ही न उठा बजती गदाओं का,
दर्शकों की दृष्टि छूती छूटी चिनगारियाँ!
भीम ने जो आती हुई देखी कुछ क्लान्ति-सी,
करके स्मरण पुनः द्यूत सभा-काण्ड का,
कूद सिंहनाद कर द्विगुणित वेग से,
वज्र-सा प्रहार किया ऊरु पर उसके,
गिर पड़ा योद्धा—"धिक पापी!" कहता हुआ।
"पापी मैं नहीं, तू" यह कह कर भीम ने
मारी एक लात और सिर पर उसके।
"हैं हैं भीम!" बोल उठे कृष्ण-युधिष्ठिर भी,
अर्जुनादि का भी सिर नीचा हुआ लज्जा से।

×

लौट बलराम इसी बीच वहाँ पहुँचे,
आँखें यह देख दूनी लाल हुईं उनकी।
लांगल उठाके चले मारने वे भीम को—
"मैंने गदा-युद्ध यही तुझको सिखाया था ?
होता उत्तरांग ही नहीं क्या लक्ष्य उसका ?
नियम-विरुद्ध तूने मेरे अन्य शिष्य को
मारा, रह, मैं तुझे भी जीता नहीं छोड़ूंगा।"
आकर तुरन्त मधुसूदन ने बीच में
रोक लिया अग्रज को और कहा उनसे—
"भीम की प्रतिज्ञा थी, इन्होंने वही पूरी की;
था संयोग ही जो गदा हाथ में थी इनके।"
"नहीं-नहीं!" भीम बोले—"मैंने कहा स्पष्ट था—
तोड़ूँगा गदा से जाँघ मैं इस जघन्य की।
शुद्ध योद्धाओं के साथ युद्ध के नियम हैं,

कापुरुष क्रूर यह, सच्चे बली छल का
लेते नहीं आश्रय, कुलस्त्री की कदर्थना
करते नहीं वे, इस दुष्कृत ने जैसी की
दुःशासन युक्त, रक्त मैंने पिया जिसका।
केवल विकर्ण-वध चाहता नहीं था मैं,
विवश उसीने किया उसके लिए मुझे।
मैं कर चुका हूँ पूर्ण अपनी प्रतिज्ञाएँ,
और जय हो चुकी है मेरे धर्मराज की,
मेरे बलदेव अब मारें भले मुझको।
अब प्रतिकार कहाँ, शेष यहाँ प्यार ही।"
"कौन मारे उसको, बचावें कृष्ण जिसको ?"
बोले बलभद्र फिर हरि से—"हरे-हरे !
धर्म का भी पक्षपात क्या तुम्हें उचित है ?"
हरि हँस बोले—'तात, ठीक यही बात है,
धर्म की ही ओर मेरी मति गति है सदा !"
"चुप रहो दुष्ट !" हँस बैठे बलराम भी !
"जो कुछ हुआ है, सब दारुण-करुण है।
मानता हूँ, दुर्योधन भूल करता गया,
क्रूरता दिखाई सदा शूरता ने इसकी।
तृप्त नहीं होते दृप्त अपने ही सुख से,
दूसरे के दुःख से ही उसकी विशेषता।
किन्तु दूसरा था कौन, भाई सब थे यहाँ,
कौन पर-पाप अपनों के बीच आ गया ?—
सबको लड़ाके आज सबसे परे हुआ।
दोष रहें, गुण ही है ध्येय-गेय गत के,
किन्तु मेरी पीड़ा नहीं दुर्योधन तक ही;
हाय ! सारा उपवन छिन्न-भिन्न हो गया !
माधव, मुझे कुछ समझ नहीं पड़ता,
मन में तुम्हारे कब क्या है, कहूँ कैसे मैं ?
मैं तो हली-हाली, तुम ज्ञानी और योगी हो।
कैसी यह साधना की तुमने समाधि में ?
हाय चक्री, क्या हुई तुम्हारी वह मुरली ?
क्या हुआ तुम्हारा व्रज ! कालिन्दी कहाँ रही ?
कैसे दिन थे वे कनू, कैसा यह काल है ?
गाएँ ही भली न थीं क्या स्यंदन के घोड़ों से ?
घट न तुम्हारा रस-गोरस से जो भरा,
द्वारका का सिन्धु भी उसे क्या भर पा रहा ?
कुरुओं की ऐसी गति वृष्णियों की भी न हो,
डूब गया कृष्ण, महा भारत रुधिर में !
युद्ध के भी लाभ होंगे, सर्वनाश यह तो,

सिहर उठा मैं यहाँ सुनकर ही जिसे।
कैसे वह देखा गया तुमसे, सहा गया ?
वीर-रस-भाव रखता हो युद्ध आदि में,
रौद्र-भाव मध्य में, भयानक है अन्त में;
और परिशिष्ट में तो है बीभत्स ही सदा !
शत्रुओं का पीछे, घात पहले ही अपना
करते हैं लोग भय-रोष किंवा लोभ से,
चोट कर अपने चरित्र पर आप ही;
अनुचित उचित प्रतीकार नहीं देखता।
तुच्छ मशकों से सूक्ष्म कीट-कृमि-दंश भी
भेद डालते हैं जिन्हें, ऐसे नर देहों को
शक्ति, शूल, परशु, कृपाण, कुन्त, बाणों से
छिन्न भिन्न करके जनाता नर गर्व है !
कब से यही क्रम अखण्ड चला आ रहा
और नर जीवित है अब भी, मरा नहीं !
निश्चय मनुज ही दनुज रक्तबीज है।
मानुष की सत्ता हा ! अमानुषिकता में है !
कृष्ण, विष व्यापा यहाँ मेरे मोद-मधु में
अपनी-सी आकृति-प्रकृतियाँ थीं जिनकी,
अपने से देह-मनः-प्राण रखते थे जो,
अपनी-सी जिनमें थी आशा-अभिलाषाएँ,
अपना-सा जीवन अभीष्ट जिन्हें था यहाँ,
आप ही कराल शस्त्र मारकर उनको
अपनी ही मूर्तियाँ-सी भंग की मनुष्यों ने,
हाय ! अपने से हार मात्र मनवाने को,
आप जिसे मानने में लज्जा उन्हें आती थी !
किंवा अपने-से ही मनुष्य क्यों, कहूँ स्वयं
अपने ही भाई-बन्धुओं को, बड़े-बूढ़ों को,
मामा-भानजों को, गुरु-शिष्यों को, सखाओं को,
साले-बहनोइयों को, काकाओं-भतीजों को,
अपने ही हाथों मार डाला यहाँ लोगों ने !
और अपनी ही बड़ी छोटी कुलदेवियाँ
काकियाँ-बुआएँ, स्नेहमूर्ति मामी-मौसियाँ,
भानजी-भतीजियाँ, बहिन-बहू-बेटियाँ,
सलहज-सालियाँ, सहज सखी भाभियाँ
विधवा बना दीं आत्मघातकों ने सहसा !
बैठ जिन कन्धों पर शैशव में खेले थे,
काट डाला यौवन में आप उन्हें क्रूरों ने !
कन्धों पर जिनको चढ़ाये फिरे प्यार से,
करके हताहत गिराया उन्हें धूलि में !

धिक यह घोर कर्म, शर्म कहाँ इसमें?
एक साथ बढ़े-पढ़े, खेले-हँसे-विलसे,
शोणित के प्यासे हुए आपस में ऐसे वे,
होते नहीं जैसे हिंस्र पशु भी अरण्य के।
धिक! नर नागरों के अर्थ की अनर्थता।
दीख पड़ते हैं मुझे दोनों पक्ष हत्यारे!
शून्य भी भला न था क्या शेष हाहाकार से?"

×

बोल उठे बीच में युधिष्ठिर—"यथार्थ है,
किन्तु भद्र, मेरा पक्ष सर्वथा विवश था।
दोष नहीं मेरा, यदि है तो क्षात्र धर्म का!
हम अपराधी निज धर्म पालने के हैं।
वह है विगुण तो हमारा अपराध क्या?
तात, पर-धर्म तो भयावह कहा गया।
अन्यथा मैं भूप नहीं भिक्षुक भुवन का।
मानो वा न मानो तुम, मेरा मन आदि से
सबको बचाने के लिए ही यत्नशील था।"
"जानता हूँ आर्य तुम्हें, हरि से विनोद में
एक बार मैंने ही कहा था—'युधिष्ठिर तो
साधु है स्वभाव से ही, क्यों उस निरीह को
राज्य के प्रपंच में फँसा रहे हो तुम यों?
एक कमंडलु ही यथेष्ट उसके लिए!'
हँसके इन्होंने कहा—'भैया, एक मात्रा ही
इधर लगा रहा हूँ लेके मैं उधर से,
और कमंडलु को कुमंडल बनाता हूँ।'
किन्तु मैं प्रकट करूँ दुःख कैसे अपना?"
"राम, अब भी मैं यही कहता हूँ मन से
कामना नहीं है मुझे राज्य की, वा स्वर्ग की,
किंवा अपवर्ग की भी, चाहता हूँ मैं यही
ज्वाला ही जुड़ा सकूँ मैं अपनों के दुःख की
भोगूँ अपनों का सुख, मेरा पर कौन है?
सब सुख भोगें, सब रोग से रहित हों,
सब शुभ पावें, न हो दुःखी कहीं कोई भी।"
यों कह युधिष्ठिर अधीर भावावेश से,
बैठ गये धूलि में, सुयोधन के पार्श्व में?
अंक में समेट उसे बोले आर्द्र वाणी से—
"भाई, यदि अब भी तू भूल नहीं मानता,
तो मैं मानता हूँ, उसे तू क्षमा ही कर दे।
युद्ध परिसीमा है परत्व के विकास की,
तू ही नहीं हाय! आज मैं भी हूँ लुटा-कुटा।
और कह तुझसे कहूँ क्या हतभाग्य मैं?
तेरा अनुचरण करूँगा मैं, न जा तू यों
छोड़ निज धाम-धरा अरुण अनूरु-सा!"
अद्रि से अटल में भी फूटा आज उत्स-सा—
"आर्य, अब जीवन तो मेरे लिए मृत्यु है,
नीचे का विरोध रहे, ऊपर मिलूँगा ही;
मिलना वहीं है, यहाँ केवल बिछुड़ना—"
मौन हुआ वीर, धीर धर्मराज रो उठे,
"सम्मुख समर में निहत स्वर्ग-भागी तू
जीवित नरक-भोग मेरे लिए है यहीं।"
बोले भगवान यों गंभीर खड़े भ्राता से—
"पाँच गुना पातिव्रत पाला यहाँ जिसने,
मेरी उस एक शीलशालिनी बहिन की
घर्षणा का कर्षणा का यह परिणाम है।
कल भी मरेंगे, जो न लेंगे सीख आज से,
आवर्तन आगे न हो इस इतिहास का।
किन्तु तात, कातर क्यों तुम इस घात से?
जब तक जगती है, अंकुरित होगी ही;
नित्य नये फूल-फल फूलेंगे-फलेंगे ही।
आज भारलाघव हुआ है कुछ उसका,
माता भूमि होगी नहीं हीन पृथ्वीपुत्रों से
और यह भारत तो भव का भव है,
इसका विभव एक मुझमें ही अल्प क्या?
युद्ध की अशोभनता जन यदि जान लें,
तो न होगा व्यर्थ यह इतना अनर्थ भी।
तात, इसे जाने और माने बिना गति क्या?
कौन हो निराश इस मेरी पुण्यभूमि से?
आगे आयेंगे सो आप आगे की सँभालेंगे,
छोड़ें आज इंगित जो, वे भी कृतकृत्य हैं।
भावी तो समृद्ध है सदा ही वर्तमान से,
आज के प्रलय में भी जय किस अन्य की?
कल की विजय भी मैं आज ही मनाता हूँ!"
"पूरी हो तुम्हारी अभिलाषा, और क्या कहूँ?
किन्तु रह सकता नहीं मैं यहाँ, जाता हूँ।"
यह कह द्वारका को प्रस्थित हुए हली।
पीछे पांडवों को साथ लेके यदुनाथ भी,
समझ सुयोधन की इच्छा, भृत्य छोड़ के,
करके न वंचित कराहने से भी उसे,
हो गये विसर्जित। न जाकर शिविर में
और ही कहीं वे गये, सात्यकि भी संग था।

गुप्त-काव्यालोचन

श्री मैथिलीशरण जी गुप्त युगकवि हैं। सविता के समान उन्होंने अपनी भाव-रश्मियों से हमारे भुवन को आलोकित किया है। ज्ञान और कर्म के आलोक से प्रदीप्त भुवन ही मानव-मन की सच्ची प्रतिष्ठा और विकास-भूमि है। निश्चय ही सुकविता की प्रेरणा से मानव के अंतर्जगत् का अंधकार हटता है—

है अंध सा अंतर्जगत् कविरूप सविता के बिना।
सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सुकविता के बिना।।

अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम रूप होने के कारण कविता सब कलाओं में मूर्धन्य है। कवि के शब्दों में—

अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला। (साकेत)

वैदिक परिभाषा के अनुसार सृष्टि तीन प्रकार की होती है—भावसृष्टि, गुणसृष्टि और भूतसृष्टि या विकारसृष्टि। तीनों में भावसृष्टि का सम्बन्ध मन से, गुणसृष्टि का प्राण या क्रिया से और विकारसृष्टि का स्थूल अर्थ से रहता है। इनमें भावसृष्टि ही सर्वोपरि है। वही आगे आनेवाले निर्माण की दृढ़ भूमि बनती है। भावों की समष्टि से ही युग का आदर्श बनता है। युग के आदर्श को भाव, चरित्र और जीवन की नई-नई कल्पनाओं में जो सुंदर काव्य-कौशल से अभिव्यक्त कर सकता है, वही युगकवि है। जाति का साहित्य उसका जीवित चित्र होता है। गुप्त जी ने इस चित्र को चालीस वर्षों तक नए-नए रंगों से उन्मीलित किया है। साहित्यजगत् के शून्य को जैसे उन्होंने भावप्रवण कविता से भर दिया है। उन्होंने न केवल उदात्त अतीत की अर्जित निधि के विषय में ही हमारा उद्बोधन किया है, वरन् आगे आनेवाले उदात्ततर जीवन का भी भव्य रूप प्रस्तुत किया है—

मैं अतीत ही नहीं भविष्यत् भी हूँ आज तुम्हारा।

गुप्त जी भागवती दृष्टि और साधना के प्रतीक हैं। उनके समस्त पैतृक और पारिवारिक संस्कारों ने उनके इस व्यक्तित्व का पोषण किया है। उनका काव्य उसी भागवती दृष्टि का निचोड़ है। किंतु, यह दृष्टि किसी काल्पनिक देवाधीन स्वर्ग पर लक्ष्य नहीं करती। उसका लक्ष्य मानव का यही हाड़-मास से बना पुतला ही है। उसीका दूसरा रूप हमारा जीवन है। उसी जीवन को पूर्णतम मानवीय आदर्श के अनुसार ढालना उन्हें इष्ट है—

अलक्ष की बात अलक्ष जाने;
समक्ष को ही हम क्यों न माने ?

अनेक प्रकार से, अनेक दृष्टिकोणों से मानवपरायण समक्षवाद के काव्य में स्फुटित हुआ है। बार-बार वे उसी की आराधना करते हैं। समक्ष के प्रति यह आग्रह स्थूल जीवन के वैभव में विजड़ित हो जाने के लिए नहीं है। कवि का मन समक्ष में इसलिए रमता है कि वह किसी आदर्श का प्रतिबिम्ब समक्ष में देखे। उस आदर्श को ही वे ईश्वर कहते हैं—

रहे वहीं प्लावित प्रीति-धारा,
आदर्श ही ईश्वर है हमारा।।

गुप्त जी का यह भागवतधर्म क्या है ? उनके व्यक्तित्व को समझने के लिए भगवान विष्णु की भावना से प्रेरित इस धर्म के उज्ज्वल प्रकाश को समझना आवश्यक है। मंदिर के भीतर किसी देव-विशेष के लिए

शब्दों का अमर्यादित प्रयोग इस धर्म की विशेषता नहीं। इस धर्म की प्रेरणा तो देवमंदिर की उस देहली से आती है, जहाँ सदा समभाव की वीणा झंकृत है—

जय देव-मंदिर देहली
समभाव से जिस पर चढ़ी—
नृप हेममुद्रा और रङ्क वराटिका।

समता के भाव से अभिषिक्त यही वह दृष्टि है, जिसके विषय में कभी पहले कहा गया था—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
अविभक्तं विभक्तेषु यःपश्यति स पश्यति॥

समत्व की मूल भावना से प्रेरित होकर भागवतों ने समस्त समाज को अपने प्रेम और भक्ति से सींच दिया था। भेदों का निराकरण कर अभेद की पहचान इस दृष्टि की विशेषता थी। जिस प्रकार सत्य का उपनिषद् या रहस्य इन्द्रिय-निग्रह है, उसी प्रकार भागवतधर्म का रहस्य सब भूतों में एकता-जनित प्रेम और करुणा का अनुभव है। भागवतों ने अनेक देवों के केन्द्र में स्थित महान देव को तथा अनेक विभूतियों को एक सूत्र में पिरोनेवाले तत्त्व-विशेष को विष्णु कहा—वेवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः। वही महान आत्मा प्रत्येक मानव के हृदय-देश में प्रतिष्ठित है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

इस सत्य की स्वीकृति का आवश्यक परिणाम मानव की महिमा को अंगीकार करना है। यदि नारायण महान है, तो नर भी उसीका रूप है। एक अव्यक्त है, दूसरा व्यक्त है। कवि के शब्दों में एक अलक्ष और दूसरा समक्ष है। महाभारत के अनुसार नारायणीय धर्म का मौलिक तथ्य यही है—

नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्। (उद्योगपर्व)

इसी को और भी अर्थवती भाषा में भागवतों ने इस प्रकार दुहराया—

नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये। (भागवत ११।७।१८)

उस नारायण की आराधना करो, जिसने नर को अपना सखा बनाया है। जो नर की उपेक्षा करके उसे अपने आनंद और ऐश्वर्य से दूर रखता हो, वैसा नारायण नहीं चाहिए। वस्तुतः समन्वय और समत्व की भागवती दृष्टि ही इस देश का दृष्टिकोण कहा जा सकता है। राम उसी के प्रतीक हैं। राम के रूप में निर्गुण नारायण मानव के लिए सगुण बनकर भूतल पर आता है और इसी भूतल को स्वर्ग बनाता है—

स्वर्ग से भी आज भूतल बढ़ गया,
भाग्य-भास्कर उदयगिरि पर चढ़ गया।
हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है॥

रामचरित की यह सशक्त व्याख्या गुप्त जी के काव्य का प्राणवंत स्वर है। राम कौन हैं और वे क्यों इस पृथ्वी पर आते हैं? अनादि, अव्यक्त, अचिन्त्य, अप्रतर्क्य, अप्रजात अद्वैततत्त्व तो राम है ही, पर उस मायावी ने यह लीला किसलिए की है, क्यों मनुष्य बनकर उसने मानवी का दूध पिया है? उसके उस महनीय कार्य का उद्देश्य यह है—

पथ दिखाने के लिए संसार को,
दूर करने के लिए भूभार को।

ईश्वर स्वयं नर इसलिए बनता है कि वह नर को ईश्वरता प्राप्त करा सके। अथवा भागवत के शब्दों में नर को अपना मित्र बना सके, क्योंकि नर का सच्चा सखा नारायण रूपी नर ही हो सकता है—

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।।

संप्रदायों में राम का चाहे जो स्वरूप ढाला गया हो, कवि की दृष्टि में कर्मपरायण राम क्रांति द्वारा सुख और शांति के राज्य की स्थापना करने आते हैं—

सुख शांति हेतु मैं क्रांति मचाने आया,
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन, शापित हैं।

ये राम प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों की मर्यादा का मर्म जानने वाले हैं। राजा और गृहस्थ, गृहस्थ और संन्यासी के द्वि-विरुद्ध आदर्श उनमें एक साथ प्रकट हुए हैं—

अपनों के ही नहीं, परों के प्रति भी धार्मिक,
कृती प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग मर्यादा मार्मिक।
राजा होकर गृही, गृही होकर संन्यासी,
प्रकट हुए आदर्श रूप घट घट के वासी।।

नूतन प्रवाह का नाम क्रांति है। उसके बिना समाज मूर्च्छित और शून्य बना रहता है। युग-कवि नए प्रवाहों का स्वागत करता है। पर उसके अनुसार मेघ-जलों के कूलभेदी प्रवाह भी अंततोगत्वा मर्यादा में ही बहने के लिए पृथ्वी पर आते हैं। व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के जीवन का सर्वोपरि नियम मर्यादा है—

जितने प्रवाह हैं, बहें—अवश्य बहें वे,
निज मर्यादा में किंतु सदैव रहें वे।

गुप्त जी के काव्य-मानस की प्रेरणा और प्रवृत्ति का स्रोत चतुर्विध है। अतीत संस्कृति और कला का प्रेम उसका एक अंश है। वर्तमान युग के प्रति आस्था और राष्ट्रीयता उसका दूसरा पाद है। समक्षवाद और उसी के साथ जुड़ा हुआ प्रवृत्ति मार्ग या कवि के शब्दों में गेह-गौरववाद उसका तीसरा अंश है। मानव की गरिमा या अनुभाव या महिमा के प्रति आस्था और आशा एवं उसी आधार पर मानवतावाद या व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसान, यह दृष्टिकोण उसका चौथा अंश है। इन चारों का जहाँ एकसाथ सम्मिलन होता है, भगवान विष्णु के उस प्रभविष्णु चतुर्भुजी रूप का परिचायक गुप्त जी का काव्य है।

मानव को सदा आदर्श की आवश्यकता रही है। उसी आदर्श की संज्ञा रामचरित है। स्थूल सृष्टि जैसी है, उसे 'यथा' कहें तो उसका अव्यक्त भाव वह 'तथा' है, जिसके नमूने के अनुसार व्यक्त भाव उत्पन्न होता है। अव्यक्त ही आदर्श है। वही कल्पना है, जो साकार रूप में जीवन में परिणत होती है। प्रत्येक 'यथा' किसी न किसी 'तथा' की आकांक्षा रखता है। जो असल है वह प्रतिमान और प्रतिरूप कहलाता है। उसी की अनुकृति से विविध रूप निर्मित होते हैं। दार्शनिक परिभाषा में रूप और अरूप के इस अभिन्न सम्बन्ध को याथातथ्य सम्बन्ध कहते हैं। प्रजापति ने इसी नित्यनियम के अनुसार सब वस्तुओं का निर्माण किया है—

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधा च्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः

प्रत्येक विचारशील निर्माता अपने-अपने अनुकूल आदर्श की कल्पना किया करता है। गुप्त जी के जीवन में वह आदर्श राम है। मानवीय चरित्र के सम्बन्ध में जितनी कल्पनाएँ सम्भव हैं, उन सबकी

समष्टि राम का चरित्र है। वैष्णव परिवार के वातावरण में प्रतिपालित, अनेक कल्पनाओं के पर्याय के रूप में राम का आदर्श गुप्त जी ने अपने मेधावी और धृतिशील पिता से ही प्राप्त कर लिया था, जिसे उन्होंने 'साकेत' के 'समर्पण' में स्वीकार किया है—

स्वयं तुम्हारा वह कथन, भूला नहीं ललाम।
"वहीं कल्पना भी सफल, जहाँ हमारे राम।"

अतीत भारत की संस्कृति की नूतन गुणगाथा गुप्त जी के मन में 'भारत-भारती' बनी। उसका विशिष्ट अर्थवान् स्वर युगकवि की वाणी से राष्ट्रीयता के उस गाढ़े समय में मुखरित हुआ, जब उस स्पंदन की नितांत आवश्यकता थी। 'भारत-भारती' का एक-एक छंद हमारे राष्ट्रजननीय यज्ञ में आहुति-मंत्र जैसा बन गया। प्रत्येक कर्म के पूर्व में विचारों का ब्राह्मसरोवर आंदोलित होता है। मानस-भवन में सरस्वती की प्रथम वंदना की जाती है। वहीं से ज्ञान और कर्म के नाना अनुष्ठानों का सूत्रपात हुआ करता है। 'भारत-भारती' के प्रथम छंद में हम राष्ट्र के गंभीर अंतस्तल की वह निनादमयी वाणी सुन रहे हैं, जो आगे चलकर मातृभूमि के शतकोटि कंठों से कर्म की शक्ति लेकर प्रकट हुई। राष्ट्रीय विजय के पुण्य स्वातंत्र्य पर्व में जिस मंगल की आवश्यकता थी, वैसा ही आशीर्विधान इस छंद में सुनाई पड़ता है—

मानस भवन में आर्यजन जिनकी उतारें आरती
भगवान भारत वर्ष में गूंजे हमारी भारती।
हो भद्रभावोद्भाविनी वह भारती हे भगवते!
सीतापते! सीतापते!! गीतामते! गीतामते!!

कवि ने मातृभूमि के उस स्वरूप का आवाहन किया, जो अत्यंत भव्य, दिव्य और ज्ञान और कर्म के अनेक वरदानों से परितृप्त था। जहाँ जीवन की समृद्धि से भरे हुए मेघजल चारों दिशाओं में बरसे थे; जहाँ अपने महान वैभव से मानवों के अनुभाव और आदर्शों की उच्चता मध्य एशिया से हिन्द-एशिया तक छा गई थी, वह भारत का अतीत गौरव-लोक था, जिसके विषय में किसी समय यह कहा गया—

न भारत समं वर्षं पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः। (ब्रह्मपुराण—२७।७१)

पिछले सौ वर्षों में संस्कृत-साहित्य और पुरातत्त्व का अपरिमित उद्धार हुआ है। उसके द्वारा जो भारत की गौरवगाथा प्रकट हुई है, 'भारत-भारती' में उसी की उषःकालीन रागिनी है। कवि की आस्था में भारतवर्ष भगवान की भूमि है—

धन्य भगवद्भूमि भारतवर्ष है।

इसका भाग्योदय निश्चित था। अतएव 'भारत-भारती' का अंत उस प्रेरणात्मक विनय के साथ किया गया है, जिसमें इस पुण्यभूमि के पुनः भाग्योदय के लिए भगवान से प्रार्थना है—

भगवान भारतवर्ष को फिर पुण्यभूमि बनाइए।

और मानों भगवान की ओर से उत्तर-रूप में आश्वासन है—

व्याकुल न हो, कुछ भय नहीं, तुम सब अमृत संतान हो।

यह कैसा सुखद आश्वासन था? चारों ओर के अंधकार को चीर कर आती हुई आशा की किरण में 'श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' का आलोक भरा हुआ था। किंतु अतीत की सफलता तभी है, जब वह महान वर्तमान के निर्माण के लिए प्रेरणाओं के स्रोत उन्मुक्त करे। कवि के शब्दों में—

वह अतीत पुरखों का युग था, उसका क्या कहना है?
सुनो, किन्तु अपने ही युग में हम सबको रहना है।

विगत हुआ तो विगतों का युग, अपना तो प्रस्तुत है,
कितना नव्य भव्य तुम देखो यह अपूर्व अद्भुत है।।
नए नए अध्याय खुले हैं, नए पाठ हैं कितने?

वर्तमान की हीन अवस्था से आत्मा में विषाद न लाना चाहिए। वह तो आत्मघात का मार्ग है—

अपने युग को हीन समझना आत्महीनता होगी।

अतीत पुरुषों के लिए था, भविष्य भावी संतति के लिए है, किंतु अपने लिए तो जो वर्तमान या प्रस्तुत है, उसीकी महिमा है—

जिस युग में हम हुए वही तो अपने लिए बड़ा है।

वर्तमान युग के प्रति यह आस्था और उल्लास का भाव गुप्त जी का शाश्वत आशावाद है। इस समक्षवाद से उनके व्यक्तित्व और काव्य का निर्माण हुआ है। भाषा, भाव दोनों पर इसकी पूरी छाप है। गुप्त जी के काव्य में समक्षवाद का फल एक ओर तो राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रीयता के रूप में प्रकट हुआ, दूसरी ओर उस मानववाद के रूप में प्रकट हुआ, जो गुप्त जी के काव्य की विशेषता है और जिसका प्रतिपादन करते हुए वे कभी नहीं थकते। भगवान वेदव्यास ने किसी प्राचीन युग में इस नित-नूतन सत्य का उद्घोष किया था—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुषात्, श्रेष्ठतरं श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

'दिवोदास' इसी प्राचीन सूक्ति की युग के अनुकूल नई व्याख्या है। स्वयं प्रजापति ब्रह्मा के मुख से कहलाया गया है—

मेरी कृति में मनुष्यत्व से श्रेष्ठ नहीं कुछ अन्य।

सचमुच वर्तमान युग में शिव-विष्णु के वे ठाठ अब तिरोहित हो गए हैं। अब वे मानव को पहले की भाँति आकर्षित नहीं करते। कवि की यह उक्ति कितनी सत्य है—

भद्र इस धरती पर कोई देव नहीं अवशेष।

मानव सोचता है कि अब उसकी भुक्ति-मुक्ति का उपाय स्वर्ग के देवताओं की तुष्टि या वरदान से नहीं, उसके अपने कर्म और पुरुषार्थ से ही संभव होगा—

सिद्ध एक पुरुषार्थ हमारी भुक्ति-मुक्ति का मंत्र।

कर्म और श्रम ही नए मानवीय विचारों की शक्ति हैं—

कल तक नाम जपा है हमने आज करेंगे काम। (दिवोदास)

ऊपर जो आकाश का शून्य वितान है, उस ओर देखने से अब कुछ काम न सरेगा। मेघ-जलों की कृपा से नहीं, किंतु मानव पृथिवी पर भरे हुए अगाध जलस्रोतों के उपाय से अपने खेतों को सींचकर आत्म-निर्भर बन जाना चाहता है—

ऊपर शून्य तको क्यों, नीचे भरे सिंधु गम्भीर,
करो सींचने के उपाय ही, अक्षय है निज नीर।।

स्वर्ग के राजा इन्द्र की ओर न देखकर मानव अब अपने ही समीप बहती हुई गंगा की ओर दृष्टि डाल रहा है। अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह नए-नए आविष्कार कर रहा है। निज कर्तव्य से ही उसे संतोष प्राप्त हो रहा है। ये कर्म ही उसके नूतन यज्ञयाग हैं। दूर स्वर्ग के कुछ धुंधले दृश्य देखकर नए युग का मानव अपने समक्ष-जीवन की भव्यता या सौंदर्य को नहीं खोना चाहता। दिवोदास के ये शब्द नए युग के भालपट्ट पर अंकित उसकी ललाट-लिपि हैं—

रहे सदा सबके समक्ष यह मेरा लक्ष्यक लेख,
हम न भव्यता भी तो बैठें दूर दिव्य कुछ देख ॥

मानव का भाग्य अब देवों के भाग्य से भी अधिक पल्लवित है। मानव ने इस जीवन को पर्व बना दिया है। दिवोदास का मानव पुरुषार्थ और कर्मसिद्धि का गर्वीला पुतला है। राम के आदर्श से उसका मेल नहीं हुआ। अतएव गर्व से फूल कर वह विनाश के मार्ग पर बढ़ जाता है। सच ही मानव ने अपने पुरुषार्थ की कोई सीमा नहीं मानी है, नर आज देवराज-पद का अधिकारी बन गया। पर देवों के स्थूल भोगों के लिए देवों जैसा मन भी चाहिए। आसुरी मन से देवधाम की प्राप्ति असंभव है। नहुष का यही सार्थक संदेश है—

सीमा क्या यही है पुरुषार्थ की पुरुष के ?
मुद्रा हुई उत्सुक सी मुख की नहुष के।
नर अधिकारी आज देवराज पद का,
किंवा वह लक्ष्य हुआ हाय! सुरमद का।
मानता हूँ भूल गया नारद का कहना—
दैत्यों से बचाए निज देव धाम रहना।

किंतु नहुष का स्वर्ग से पतन मानव की अंतिम पराजय का सूचक नहीं। उसे भविष्य के लिए सावधान करने का हेतु है। जैसा कवि ने स्वयं कहा है—'नहुष के इस आख्यान में स्पष्ट दिखाई दिया कि मनुष्य बार-बार ऊँचे उठने का प्रयत्न करता है और मानवीय दुर्बलताएँ बार-बार उसे नीचे ले आती हैं। मनुष्य को उन पर विजय पानी ही होगी। तब तक, जब तक वह पूर्णता प्राप्त न कर ले·

गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी,
मैं ही तो उठा था आप, गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूँगा और बढ़ के रहूँगा मैं,
नर हूँ पुरुष हूँ मैं, चढ़ के रहूँगा मैं ॥

यद्यपि यह दृढ़ आशावाद और संकल्प मानव के कर्म की टेक हैं, किंतु मानव तो मानव है। देवता उसकी सफलता से सिहाते और असफलता पर हँसते हैं, और असुर उसे कभी चैन से नहीं बैठने देते—

देव सदा देव तथा दनुज दनुज हैं,
जा सकते किंतु दोनों ओर मनुज हैं।

मानव की समस्याएँ देखने में अनेक किंतु मूल में एक हैं, अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोहरूपी शत्रुओं पर विजय-प्राप्ति और अन्तर्द्वंद्व का अंत। नहुष रूपी मानव का पतन इसी कारण होता है। स्वर्ग में भी अंतर्जगत् के इन तस्करों से पीछा नहीं छूटता। ये ही वहाँ के असुर हैं, जो रह-रह कर मानव के सौभाग्य का विलोप करते हैं।

किंतु यह तो मानव की चिरंतन समस्या है, जिससे वह जूझता रहा है और आगे भी यदि जीवित रहा, तो जूझता रहेगा। मानव का तात्कालिक संकट वह आत्मविनाश है, जिसका अभिनय विश्व के रंगमंच पर वह करने चला है। दिवोदास के मानव ने यह सोचा था—

हम मनुष्य होकर क्या चाहें ?
देवों से भी अधिक क्यों न यह अपना भाग्य सराहें ?
निज सुयोग पर गर्व जनाएँ,
इस जीवन को पर्व बनाएँ।

मानव की जो साध थी, सब उसे प्राप्त हो गई है। जल, थल, नभ में जो अबाध गति वह चाहता था, वह उसे मिल गई है—

वाष्प और विद्युत हैं किंकर से उसके
उसके समक्ष खड़ी अचला सी चंचला !
हाथ में रसायन है और सिद्धि साथ है
भौतिक विभव देखा ऐसा कब किसने ?

मानव का यह स्वरूप और उसके विनाश का चीत्कार 'पृथिवीपुत्र' नाम की कविता में सुनाई पड़ता है। सचमुच इस लघुकाव्य में विश्वमानस के नवीनतम अनुभवों का विस्फोट हुआ है। 'पृथिवीपुत्र' विश्वसाहित्य की कृति है। न केवल एक देश किंतु सारी मानवजाति की सबसे बड़ी समस्या पर इसमें आत्मनिरीक्षण किया गया है। युद्ध से युद्ध को समाप्त करने का दर्प सीधा पागलपन है। इसीलिए माताभूमि अपने पुत्र से कहती है—

बालक भला था आज पागल हुआ है तू।
नाम कुछ और हाय काम कुछ और है।

सचमुच नाम मानव का और काम दानव का—यही आज मानव की स्थिति है। माता के अभिशाप से घबड़ा कर पुत्र प्रश्न करता है—

तो क्या चाहती है तू बता दे यही मुझको।

इस प्रश्न का उत्तर किसी एक देश के विकास में नहीं, मानवजाति के विकास में है। मानवजाति इतिहास की दीर्घकालीन यात्रा के जिस मोड़ पर पहुँची है, वहाँ प्रातःकालीन क्षितिज पर उदित होते हुए बालसूर्य के समान विश्वमानव का जन्म हो रहा है। हमें जो राष्ट्रीयता इष्ट रही है, उस सब का सफल पर्यवसान मानवतावाद में प्रस्फुटित हो रहा है। उस की सच्ची स्वीकृति और अवलंबन से ही अब जीवन की सफलता संभव होगी—

जो सबको लेकर चल सके, सच्चा वही समर्थ है

और भी,

लाख विचार व्यर्थ होंगे यदि न हो एक आचार।
मन से नहीं किंतु तन से ही जाना होगा पार ॥

पृथिवी अपने नवजात शिशु को अब विश्वमानव के रूपों में देखना चाहती है। देश-देश से इसी आदर्श के स्वर ऊँचे उठ रहे हैं। अचिर भविष्य में विश्वमानव को विश्वसेवा का व्रत लेना ही होगा—

माताभूमि— तुझको बड़े से बड़ा देखा चाहती हूँ मैं
मेरे जात ! सारे जंतुओं के मुख्य तू ही है ;
किंतु छोटा होकर ही कोई बड़ा होता है,
मिथ्या दर्प छोड़ने का साहस हो तुझमें
तो व्यक्तित्व अपना समष्टि में मिला दे तू
देश, कुल, जाति, किंवा वर्ग-भेद भूल कर
जा तू विश्वमानव हो सेवाकर सबकी।
भीति नहीं प्रीति यथा रीति तेरी नीति हो
उठ बढ़ ऊँचा चढ़ संग लिए सबको।
सब के लिए तू और तेरे लिए सब हों।

'पृथिवीपुत्र' में मानव की विफलता या अप्राप्त अभिलाषा है, उसकी पूर्ति युधिष्ठिर के इस आदर्श में सामने आती है—

युधिष्ठिर— राम, अब भी मैं यह कहता हूँ मनसे—
कामना नहीं है मुझे राज्य की वा स्वर्ग की,
किंवा अपवर्ग की भी, चाहता हूँ मैं यही
ज्वाला ही जुड़ा सकूं मैं अपनों के दुःख की
भोगूं अपनों का सुख, मेरा पर कौन है?
सब सुख भोगें सब रोग से रहित हों—
सब शुभ पावें, न हो दुखी कहीं कोई भी।

अपार करुणा से भरा हुआ यह वही मानव का मन है, जिससे वैष्णवधर्म में भगवद्भक्त का चित्त और महायान धर्म में बोधिचित्त कहा गया था। प्रह्लाद जैसे भक्तों ने भगवान के चरणों में अनुराग रखते हुए और मानवों के हित में चित्त की वृत्ति दृढ़ करते हुए कहा था—"मुझे राज्य नहीं चाहिए, स्वर्ग नहीं चाहिए और मोक्ष भी नहीं चाहिए। त्रिविध दुःखों से संतप्त प्राणियों का दुःख किस प्रकार दूर हो यही मेरी कामना है।" महायान बौद्धधर्म के शब्दों में मानव के लिए जीवन की प्रेरणा का जो स्रोत है वह एकमात्र करुणा भावना से मानव की समस्याओं का समाधान करना है। जीवन की प्रेरणा देने वाला जो सत्य मनुष्य के लिए है उसका प्रयोजन न राज्य है, न भोग है, न स्वर्ग है, न इंद्रपद या चक्रवर्ती राजाओं का पद है। उसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि मानव को मानवोचित उत्तमप्रज्ञा प्राप्त हो और मन की उस स्वच्छ वृत्ति से वह उन्हें जो इन्द्रियों में आसक्त हैं, आत्मनिग्रह के लिए प्रेरित कर सके; जिन्हें कोई धैर्य देनेवाला नहीं है उन्हें आश्वस्त कर सके; जो बद्ध हैं उन्हें बंधन-मुक्त कर सके और जिनका चित्त शांत नहीं है उन्हें सुखी कर सके।*

देवी रूपावती के त्याग की पृष्ठभूमि में जो यह करुणा की भावना थी, वह किसी संप्रदाय विशेष की सम्पत्ति नहीं, वह तो मानव की शाश्वत सनातनी भावभूमि है जिसका देश और काल में अंत नहीं है। युधिष्ठिर उसी सनातन मानव के प्रतिनिधि हैं। 'जय भारत' में इसी शाश्वत आदर्श की विजय कवि को इष्ट है। मनुष्य की जो साधना है वह अधिक से अधिक मानवता का कौन सा स्तर प्राप्त कर सकती है, युधिष्ठिर में उसी का दृष्टांत है। कवि के अनुसार स्वर्ग में भी वैसा देवपुष्प दुर्लभ है, जैसा युधिष्ठिर के रूप में इसी पृथ्वी पर खिल सकता है। स्वयं कृष्ण द्रौपदी से कहते हैं—

निज साधना से अधिक नरकुल को युधिष्ठिर में मिला।
क्या स्वर्ग में भी सुलभ यह जो सुमन धरती पर खिला?

गुप्त जी के मानवीय आदर्श का यह आधा ही चित्र है। उसका दूसरा आधा भाग गृहस्थ की महिमा का प्रतिपादन एवं प्रवृत्ति मार्ग की आवश्यकता का आग्रह है। मानव अपने कल्याण का चतुर्भुजी स्वस्तिक बनाना चाहता है। सर्वप्रथम अपने निजी केन्द्र में, दूसरे उस परिवार के लिए जिसकी परिधि में उसका जीवन पल्लवित, पुष्पित और प्रतिफलित होता है, तीसरे उस समाज या राष्ट्र के जीवन में जिसका वह अंग है, और चौथे उस विश्वमानव के लिए जिसके साथ उसका निःसीम सम्बन्ध है, सर्वथा कल्याण की भावना एवं सर्वविध मंगल-कामना यही सच्ची दृष्टि है। आत्मा, गृहस्थ, राष्ट्र और विश्व इन चार भुजाओं से मानव-जीवन के स्वस्तिक का निर्माण होता है। कहीं भी शांति, तृप्ति, तुष्टि, भुक्ति या मुक्ति की न्यूनता हो तो मानव का मन स्वस्थ नहीं होता। गुप्त जी के काव्यों में गृहस्थ-मंगल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे वे 'गेह-गौरववाद' कहते हैं। गृहस्थजीवन की सब भांति समृद्धि, प्रतिष्ठा, शांति और सुख यही गृहस्थ का गौरव है। भागवतीय दृष्टिकोण में संसार का परित्याग या निराकरण इष्ट नहीं, बल्कि उसे सब प्रकार के वैभव से सम्पन्न करना आवश्यक है। श्रमणों की भांति निवृत्ति पथ का आग्रह लेकर गृहस्थधर्म से भागना, यह मानव का कर्तव्य

* येन सत्येन मया दारकस्यार्थाय उभौ स्तनौ परित्यक्तौ, न राज्यार्थं, न भोगार्थं, न शक्रार्थं, न राज्ञां चक्रवर्तिनां विषयार्थं, नान्यत्र अहं अनुत्तरां संबोधिं अभिसंबुद्ध्य, अदान्तान् दमयेयम्, अमुक्तान् मोचयेयम्, अनाश्वस्तान् आश्वासयेयम्, अपरिनिर्वृतान् परिनिर्वापयेयम्। (दिव्यावदान, रूपावती अवदान, पृ० ४७३)

नहीं है। मानव को गृहस्थजीवन में ही भूतल पर स्वर्ग का दर्शन करना है। परिवार ही मानव के लिए वह प्रयोगशाला है जिसमें वह स्वच्छ व्यवहार और प्रीति के अनेक प्रयोग करता है, एवं ममता, समता, त्याग और संग्रह इनके संतुलन का पाठ सीखता है। गुप्त जी ने जिसे भव-विभववाद एवं गृह-वैभववाद कहा है, वे दोनों एक ही सिक्के के चित और पट दो दर्शन हैं। गृहस्थ या परिवार के गौरव का आदर्श ही राम का चरित है। राम के साथ सीता उसी प्रकार हैं जैसे आतप के साथ छाया। माता और पिता गृहस्थ रूपी अंकुर के दो पत्ते हैं। वहीं से मानव विकास प्राप्त करता है। स्त्री और पुरुष, पृथिवी और आकाश, राम और सीता—ये सब जीवन के द्विविध भाग में व्याप्त अभिन्नता के प्रतीक हैं। राम और सीता 'साकेत' की सृष्टि के द्यावापृथिवी हैं—

राम सीता धन्य धीराम्बर-इला—

अर्थात् राम धीर आकाश के समान और सीता क्षमाशीला धरित्री के समान हैं। गृहस्थ के संपूर्ण चित्र में माता चक्र की नाभि और पिता परिधि है। नारी की इस सम्मानित पदवी को और प्रकृतिनियत महिमा को गुप्त जी ने बहुत ही सुंदर और व्यापक रूप से चित्रित किया है। उनकी दृष्टि में नारी का अपना व्यक्तित्व है, पर उसके मानस की करुणा में ही उसका वह व्यक्तित्व अपना अनंत विकास प्राप्त करता है। उसका व्यक्तित्व केन्द्र से उचट कर अपने लिए पृथक् तंत्र की कल्पना नहीं करता। स्त्री का संपूर्ण जीवन अथ से इति तक अजस्र दान और त्याग का जीवन है। गुप्त जी की अमर पंक्ति है—

अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी—

आँखों में आँसू और अंचल में दूध यही नारीजीवन की निधि हैं। इन दोनों को भी वह अपने पास नहीं रखती। अश्रुओं की करुणा का उत्सर्ग पति के लिए और अंचल के दूध का दान पुत्र के लिए करती है—

नारी लेने नहीं लोक में देने ही आती है।
अभु शेष रख कर वह उससे प्रभु पद पा जाती है॥

इसमें संदेह है कि नारी के कल्पनाशील मानस के इतने अधिक चित्र अन्यत्र सुलभ हो सकें, जितने 'यशोधरा' और 'साकेत' में हैं।

यशोधरा की इस उक्ति में कितना आत्मविश्वास, कितना उपालंभ और अपने पति की इच्छाओं के साथ अपने मन का कैसा अभिन्न भाव है—

सखि, वे मुझसे कह कर जाते?
कह तो क्या मुझसे वे अपनी पथ-बाधा ही पाते
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना?
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते।

श्रमणधर्म नारी की कल्पना पथ-बाधा के रूप में करता है; गृहस्थ छोड़नेवाली नारी को वह निर्वाण का प्रलोभन दिखाता है। किंतु क्या सचमुच ही नारी के साथ इस पंथ में न्याय किया गया है! अंत में तो बुद्धदेव स्वयं स्वीकार करते हैं—

दीन न हो गोपे, सुनो हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से,
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से विशेष जब,
मुझको बचाया मातृजाति ने ही खीर से।

आया जब मार मुझे मारने को बार बार
अप्सरा-अनीकिनी सजाए हेमहीर से,
तुम तो यहां थी, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहां
जूझा, मुझे पीछे कर पंचशर वीर से ।।

यशोधरा ममता की साक्षात् मूर्त्ति है। उसे ममता का आग्रह है और वही उसका रक्षाकवच है। उसी की अक्षय्य थाती लेकर वह अपने मातृमंदिर में अंत तक विराजती है। बुद्ध स्वयं उसके द्वार पर आकर उसे त्याग कर जाने का मानो प्रायश्चित्त करते हैं। श्रमण बुद्ध के लिए समता भले ही ठीक हो, यशोधरा के लिए माता की ममता ही सब कुछ है—

ममता को लेकर ही समता,
ममता में है मेरी क्षमता।

बुद्ध के पास जो भारी ज्ञान है, उसमें से वे नारी के लिए इतना ही उपादेय तत्त्व दे पाते हैं—

बतलाऊं मैं क्या अधिक तुम्हें तुम्हारा कर्म,
पाला है तुमने जिसे वही वधू का धर्म।

पति से परित्यक्त होकर भी उसी के प्रति निष्ठा या निर्वाह करती हुई गोपा अपने भोग को तिलांजलि देकर जीवन का उच्चतम भोग और समाधि प्राप्त कर लेती है—

कृत कृत्य हुई गोपा,
पाया यह योग, भोग अब आ तू।

'साकेत' की सीता के तेज का तो अंत ही नहीं है। जैसे सूर्य-रश्मियों की महिमा के लिए वैदिक भाषा में 'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' कहा जाता है, वैसे ही रामचरित के साथ सीता की महिमा है—

उन सीता को, निज मूर्तिमती माया को,
प्रणय प्राण को और कान्तकाया को।
यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी,
योगी के आगे अलख ज्योति ज्यों जागी।।

उस सत् शक्ति के रूप में जिसके द्वारा भगवान अपनी सत्ता धारण करते हैं, उस चित्शक्ति के रूप में जिसके द्वारा वे प्राणन किया करते हैं, एवं उस ह्लादिनी शक्ति के रूप में जिसके द्वारा वे आनंद का वितान करते हैं—इन तीनों रूपों में सीता भगवान राम की पूर्णतम अभिव्यक्ति है। सचमुच सीता की महिमा की कोई माप नहीं है। वैदिक शब्दों में कहते हैं—गोस्तु मात्रा न विद्यते।

गुप्त जी ने अपने काव्यों में विशाल भारतीय जीवन के अनेक समृद्ध चित्र दिए हैं। उनके पात्र मानो हमारे सामाजिक, पारिवारिक और राष्ट्रीयजीवन की वर्णमाला हैं। उन्होंने कुटिर और राजभवन सब को समभाव से अंकित किया है। उनके काव्य में दर्शन कितना है इसकी उन्हें चिंता नहीं, किंतु वह जीवन से सर्वथा भरपूर है। उनका मानस-चैतन्य बहुत ही बढ़ाचढ़ा है। सर्वतः प्लावित जीवन की महाधारा का वे दर्शन कर सकते हैं और उसमें अंतर्निहित करुणा का भी उन्होंने अनुभव किया है। पुराकाल में वाल्मीकि मुनि को एक अनुभव हुआ था, उसके कारण क्रौञ्च पक्षी की करुणा उनके लिए अर्थवती बन गई थी। करुणा का वह सौरभ ही साहित्यवाटिका का वास्तविक प्राण बना। मुनि के हृदय का वही सत्य जब-जब कवि की कल्पना से संयुक्त होता रहेगा, तब-तब साहित्यवाटिका में सुरभित पुष्प खिलते रहेंगे। यही गुप्त जी का साहित्यिक स्रोत है और यहीं से उनकी समस्त कल्याणमयी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ है। विश्व के अधिदेवता ने सृष्टि के मूल में जिस समत्व की स्थापना की है, उस समत्व के साक्षात्कार करने का करुणा के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है।

●●●

गुप्त जी के अन्तर्जगत की एक झाँकी

श्री गुलाब राय

★

गुप्त जी उन बिरले रस-सिद्ध कवियों में से हैं, जिन्होंने जनसाधारण और पंडित समाज को समान रूप से प्रभावित किया है। जहाँ उनकी 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' ने राष्ट्रीय जागरण में रणभेरी का काम किया, वहाँ उनकी 'यशोधरा' और 'साकेत' नाम की कृतियों ने कलात्मक सौष्ठव के साथ पंडितों के विचारों को उत्तेजना प्रदान की। वे समय की गति के साथ आगे बढ़ते गए। उनका काव्य वाणी का विलास मात्र नहीं रहा। उसके द्वारा देश की राजनीतिक चेतना मुखरित हुई और मानवता की प्रतिष्ठा हुई। गांधीवाद को लोकप्रिय बनाने में अग्रसर रहे। गुप्त जी के 'अनघ' में हमको गांधीवाद की सहिष्णुतापूर्ण वीरता के दर्शन होते हैं—

पापी का उपकार करो, हाँ,
पापों का प्रतिकार करो।
उत्पीड़न अन्याय कहीं हो
दृढ़ता सहित विरोध करो
किंतु विरोधी पर भी अपने
करुणा करो, न क्रोध करो।

गुप्त जी की वैष्णवता उनकी राष्ट्रीयता के कारण परधर्म सहिष्णुता की चरम सीमा तक पहुँच गई है। उन्होंने बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, सिक्ख आदि सभी संप्रदायों के आराध्यों का गुणगान कर हिन्दी की सहज उदारता प्रमाणित की है। 'द्वापर' में श्रीकृष्ण जी की लीला का गान करके भी उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी की भाँति भगवान रामचन्द्र जी के प्रति अपनी अनन्यता अक्षुण्ण बनाए रखी है—

धनुर्बाण या वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम दूसरा रंग॥

वैष्णवता की रक्षा करते वर्तमान बुद्धिवाद से जितना समझौता हो सकता है, उतना गुप्त जी ने सहर्ष किया है। उनके राम मानव होते हुए भी ईश्वर हैं। यदि वे ईश्वर नहीं, तो वे निरीश्वर तक होने के लिए तैयार हैं और उस निरीश्वरता के लिए ईश्वर से ही क्षमायाचना करेंगे—

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं, सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे॥

फिर भी उनके राम लोगों से अपने नाम-स्मरण मात्र से संतुष्ट नहीं होते, वरन् वे गुण, कर्म, स्वभाव का अनुसरण चाहते हैं। 'साकेत' के राम अपनी ईश्वरता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

जो नाममात्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।

किंतु वे आगे संभल जाते हैं और बौद्धिक दृष्टिकोण प्रधान हो जाता है—

पर जो मेरा गुण स्वभाव धरेंगे,
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे?

इन दोनों पंक्तियों में कहाँ वैष्णव भावना और बौद्धिकता का संघर्ष दिखाई देता है। गुप्त जी के राम तोड़ने नहीं, गढ़ने आए थे। वे स्वयं धन जोड़ने नहीं, बाँटने आए थे; किन्तु जन-जन का आदर करके—

जन-सन्मुख धन को तुच्छ बताने आया

उनके राम के लिए मानव सर्वोपरि था, इसीलिए वे इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आए थे। वे नर को ही ईश्वरता प्राप्त कराने आए थे। गुप्त जी को नर की ईश्वरी संभावनाओं में पूर्ण विश्वास है। गुप्त जी परोपकार के लिए कष्ट-सहिष्णुता में पूर्ण विश्वास रखते हैं। वे सीता जी के प्रसिद्ध गीत में कहलाते हैं—

गौरव क्या है, जन भार वहन करना ही
सुख क्या है, बढ़कर दुःख सहन करना ही

गुप्त जी बंधनों से मुक्ति नहीं चाहते। वे बिना साधन की सिद्धि में विश्वास नहीं करते—

सखे मेरे बन्धन मत खोल
आप बन्ध्य हूँ, आप खुलूं मैं
तू न बीच में बोल
सिद्धि का साधन हो मोल।

गुप्त जी में एक अदम्य आशावाद है। वे पतन और विफलताओं को ह्रास का कारण नहीं मानते हैं। स्वर्ग से गिरा हुआ पतित नहुष भी आत्मगौरव नहीं खोता है और आशा भरे स्वरों में कहता है·

चलना मुझे है, बस अंत तक चलना,
गिरना ही मुख्य नहीं, मुख्य है संभलना,
फिर भी उठूंगा और बढ़के रहूँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ चढ़के रहूँगा मैं।

इसीलिए गुप्त जी ने कैकेयी को गिरा कर ऊँचा उठाया है और चित्रकूट में जमा हुए सारे साकेत-वासियों द्वारा उसकी साधुता मुक्तकंठ से स्वीकार कराई है—

पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई।
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।

गुप्त जी की नारियों के प्रति आदर-भावना और नारी-गौरव 'यशोधरा' में पूर्ण रूप से मुखरित हो उठा है। यशोधरा ने अपने चरित्र से प्रमाणित कर दिया है कि नारी त्याग और तप में पुरुष से कम नहीं, वह अविश्वास की पात्र नहीं।

गुप्त जी स्वच्छंदता के पक्षपाती होते हुए भी, दूसरों के हित के लिए आत्म-संयम द्वारा बंधन में रहना पसंद करते हैं। 'साकेत' के अष्टम सर्ग में नदियों के बाँधों के सम्बन्ध में सीता जी से विनोदपूर्ण वाद-विवाद करते हुए श्री रामचन्द्रजी कहते हैं—

मैं तो नद का परमार्थ इसे मानूंगा
हित उसका उससे अधिक कौन जानूंगा ?
जितने प्रवाह हैं बहें—अवश्य बहें वे,
निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे।

स्वतंत्रता के साथ मर्यादा-पालन उनके सार्वजनिक और पारिवारिक जीवन की कुंजी है।

गुप्त जी का काव्यादर्श

श्री भगीरथ मिश्र

हिन्दी काव्यादर्श को ढूंढ़ने के लिए हिन्दी-काव्य का अनुशीलन करना आवश्यक है। साहित्याचार्यों की अपेक्षा हिन्दी के कवियों का काव्यादर्श, हिन्दी का वास्तविक काव्यादर्श है; क्योंकि हिन्दी के आचार्यों ने प्रायः प्राचीन संस्कृत या अब अंग्रेजी में प्राप्त काव्यादर्शों का ही प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से चन्दबरदाई, विद्यापति, जायसी, तुलसी, सेनापति, देव, बिहारी, घनानंद, ठाकुर, पद्माकर, हरिश्चन्द्र आदि की रचनाओं में प्रगट और प्रच्छन्न रूप से व्याप्त उनके काव्यादर्शों का अनुसंधान किया जा सकता है। आधुनिक युग के कवियों में भी हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, महादेवी, पंत आदि की रचनाओं में उनके काव्यादर्श ढूंढ़े जा सकते हैं।

किसी भी कवि की रचना में व्यक्त काव्यादर्श के अंतर्गत हमें युग की पृष्ठभूमि में व्यक्तिगत धारणाओं का रूप प्राप्त होता है। मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में द्विवेदी-युग की चेतना और जागरण की छाप स्पष्ट है।

द्विवेदी-युग का काव्यादर्श समाजोन्मुखी है। देश, समाज और संस्कृति के सुघर चित्र प्रस्तुत करना उस युग के कवियों का लक्ष्य था। युगकवि-गुरु पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य के भीतर उदात्त भावनाओं को चित्रित करने की प्रेरणा दी, जो उस युग के कवियों की रचनाओं में विद्यमान है। उदात्त रूप और चरित्र का चित्रण ही उस युग के काव्य का स्वरूप है। कवि और चित्रकार के कर्मसाम्य पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है—

"चित्रकला और कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में एक प्रकार का अनोखा सादृश्य है। दोनों का काम भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्यों और मनोविकारों को चित्रित करना है।...कविता भी एक प्रकार का चित्र है।"* द्विवेदी जी की इस धारणा का प्रभाव उस युग के कवियों पर पड़ा; चित्र-वर्णन की सी इतिवृत्तात्मकता उस समय के काव्य में देखने को मिलती है। परिणामस्वरूप इस काव्य में गतिमत्ता का अभाव है। परिवर्तित होती हुई भाव-भंगिमाओं का, आंदोलित अंतर्वृत्तियों का और प्रमथनशील मनोविकारों का सूक्ष्म, सजीव चित्रण इस युग के काव्य में नहीं हो पाया।

आधुनिक हिन्दी-काव्य का वह द्वितीय चरण था। इस समय रीतिकालीन शृंगार-अलंकार-काव्य-धारा का विरोध हुआ। वह भाषा भी छूट गई और वह प्रवृत्ति भी। भक्तिकालीन आलंबन, विषय और शैली भी ग्राह्य न हो सके; क्योंकि समकालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ भिन्न भूमियों को अपना रही थीं। कांग्रेस के उत्थान और राष्ट्रीय आंदोलन के फलस्वरूप देशप्रेम की भावना को जाग्रत करना और फैलाना ही कवियों का वरणीय कर्तव्य था। आर्यसमाज के आंदोलन ने अंधविश्वास, अवतारवाद और मूर्तिपूजा का खंडन किया। इन सबका परिणाम यह हुआ कि जागरूक कवियों के सामने से परंपरागत सभी प्रकार की काव्यभूमियाँ खिसक रही थीं। मोटे तौर पर कवि के सामने सरल, शुद्ध भाषा में उदात्त भावों का चित्रण कर देश और समाज के उद्धार में सहयोग देने का उद्देश्य स्पष्ट था। युग की यह भावना सबसे पहले प्रधान रूप में गुप्त जी के काव्य में मुखरित हुई और उनकी 'भारत-भारती' में सबसे पहले जन-जागृति को प्रेरित करने वाला शंखनाद ध्वनित हुआ। 'भद्रभावोद्भाविनी' 'भारत-भारती' में कवि का काव्यादर्श इसी रूप में व्यक्त हुआ है।

अतीत भारत के गौरवपूर्ण, उदात्त और प्रेरक चित्रों का चित्रण गुप्त जी ने अपने अनेक छोटे-बड़े ग्रंथों में किया है। हिन्दू-संस्कृति और वैष्णव भावना से अधिक प्रभावित होते हुए भी उनके चित्रणों में

* महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'कविताकलाप'—भूमिका, पृ० १

संकीर्णता नहीं। बौद्ध, सिक्ख, मुस्लिम आदि धर्मों के महान और उदात्त चरित्रों से उन्होंने प्रेरणा प्राप्त की। रामायण, महाभारत के अनेक चरित्रों को लेकर अपने खंडकाव्यों में त्याग और कर्तव्यपूर्ण जीवन की झलक देना उनका उद्देश्य जान पड़ता है। इन चित्रणों से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कवि को सबसे अधिक प्रेरणा देनेवाली, आदर्श व्यक्ति और आदर्श समाज की कल्पना है।

देश और समाज की प्रबुद्ध भावधारा को अपनाने में गुप्त जी अग्रणी हैं और इसीलिए वे हमारे राष्ट्र-कवि के रूप में सम्मानित हैं। काशी में अपने अभिनंदन के समय गुप्त जी ने कहा था—"जो पीछे आ रहे उन्हीं का आगे का मैं जय-जयकार।" इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि लोकभावना की व्यापक गूँज उनके काव्यों में सबसे अधिक ध्वनित हुई है। गुप्त जी के समकालीन बहुत से कवियों की रचनाएँ केवल नागरिक समाज का ही मनोरंजन करनेवाली हैं, पर उनकी कृतियाँ सर्वत्र लोकप्रिय हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि वे साहित्य को जाति का जीवन-चित्र मानते हैं : 'मृत हो कि जीवित जाति का साहित्य जीवन-चित्र है।' जाति के जीवन-चित्र होने के नाते साहित्य में किसी एक वर्ग का नहीं, वरन् पूरे समाज का चित्रण आवश्यक है। नागरिक और ग्राम्य दोनों ही समाजों की भावनाओं का स्पर्श करने वाले उनके काव्य हैं, इसमें संदेह नहीं।

गुप्त जी के काव्यादर्श की एक प्रमुख विशेषता सरलता है। आधुनिक युग के जटिल छायावादी काव्य के अभ्यासी पाठक कभी-कभी उनकी यह सरलता, काव्य के दोष के रूप में लेते हैं; पर यह उसका गुण है। सरलता ने ही प्रेमचन्द और गुप्त जी दोनों को लोकप्रिय बनाया है। संभवतः भाषा की सरलता की यह विशेषता गुप्त जी ने अपने काव्यादर्श के भीतर गोस्वामी तुलसीदास के काव्यादर्श से प्रभावित होकर उतारी है। गोस्वामी जी का स्पष्ट कथन है—

सरल कवित, कीरति बिमल, सुनि आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु, जो सुनि करैं बखान।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम का उदात्त सामाजिक आदर्श, वैष्णव निष्ठा और सरल कविता, ये तीनों बातें तुलसी की रचनाओं के प्रभावस्वरूप हैं। काव्य का आदर्श और विषय उच्च और उदात्त होना चाहिए, यह गुप्त जी मानते हैं और गोस्वामी जी के समान ही विनीत भावना से वे 'भारत-भारती'* के प्रारंभ में कहते हैं—

कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता।
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता।।

कवि और काव्य की शक्ति :

कवि और काव्य दोनों ही की अमोघ, महान शक्ति को गुप्त जी स्वीकार करते हैं। उनके विचार हैं कि कवि की लेखनी में सोते हुए भावों को जगा देने की अद्भुत शक्ति होती है।† निराशों को धैर्य दिलाना, पराजितों को जय के लिए प्रेरित करना, मुरझाए मनों में बिजली के समान शक्ति भर देना, नीच भावों को हटाकर उच्च भावों को भरना—यह सब कवि का ही काम है‡

धैर्यच्युतों को धैर्य से कवि ही मिलाना जानते।
वे ही नितांत पराजितों को जय दिलाना जानते।
संसार में कविता अनेकों क्रांतियाँ है कर चुकी।
मुरझे मनों में वेग की विद्युत्प्रभाएँ भर चुकी।।
मृत जाति को कवि ही जिलाते हैं सुधा रस योग से।

---

* 'भारत-भारती', पृ० ३

† 'जग जायँ तेरी नोक से सोए हुए हों भाव जो।'—'भारत-भारती', पृ० १, छं० २

‡ 'भारत-भारती', भविष्यत् खंड, ९६, ९७ छंद।

कवि की इसी प्रभावशाली शक्ति को मानकर उन्होंने अपनी अनेक कविताओं में कवि को उच्च, उदात्त और समाजोपयोगी विषयों पर लिखने की प्रेरणा दी है। सन् १९०९ के अक्तूबर मास की 'सरस्वती' में 'कुकविकीर्तन' शीर्षक कविता के अंतर्गत गुप्त जी ने उन कविराजों को फटकारा था, जिन्होंने अलंकार के पीछे भाव और सद्विचारों को तिलांजलि दे दी थी।

साहित्य के क्षेत्र में वे काव्य को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं। सद्भावों को अमर बनाने में काव्य ही सबसे अधिक समर्थ है। काव्य के बिना सद्भाव जीवित नहीं रह सकते।* अंतर्जगत का अंधकार दूर करने वाला काव्य ही है—

है अंध सा अंतर्जगत कवि रूप सविता के बिना।
सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सुकविता के बिना।।

अंतर्जगत को प्रकाश देने की शक्ति कवि में होती है, यह सत्य है। हम स्वयं अपने अंतर्जगत को नहीं जानते। कवि के द्वारा प्रस्तुत मानस के भावजगत के चित्रणों में हम अपने मानस का प्रतिबिम्ब प्राप्त करते हैं और उसके द्वारा अपने अंतस् में आलोक ग्रहण करते हैं। 'इसी से जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' वाली लोकोक्ति में कवि को रवि से भी बढ़कर माना गया है। इस बात को हृदयंगम करके ही हम कवि और काव्य के प्रति न्याय कर सकते हैं।

गुप्त जी का यह स्पष्ट विचार रहा है कि जाति और भाषा की उन्नति और समृद्धि उसके काव्य की उन्नति और समृद्धि से ही आँकी जा सकती है। सन् १९१२ की मई मास की 'सरस्वती' में प्रकाशित एक लेख में उन्होंने लिखा था——

"कविता साहित्य का प्राण है। जिस भाषा में कविता नहीं, वह भाषा कभी साहित्यवती होने का गर्व नहीं कर सकती और जिस भाषा को साहित्य का गर्व नहीं, वह राष्ट्रभाषा क्या खाक हो सकती है?" अतः अपनी जाति और भाषा को समृद्ध बनाना गुप्त जी के विचार से कवियों का काम है। वे कवियों की अमोघ शक्ति को स्वीकार करते हुए भी कवि-प्रतिभा को ईश्वर-प्रदत्त मानते हैं; पर उनका विश्वास यह भी है कि ईश्वर के प्रसाद और अनुग्रह को भी सुकृतों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। 'सुकवि संकीर्तन' में उन्होंने लिखा था†—

यदपि कल्पना के स्वामी हो। किंतु सत्य के अनुगामी हो।।
कुछ भी हो तुम झूठ न कहते। दूर चाटुकारी से रहते।।
जिन वाक्यों को हम कहते हैं। वे ही कविता में रहते हैं।।
पर ये चित्त चमत्कृत करते। तुम उनमें बिजली सी भरते।।
तुम मनुष्यता के त्राता हो। भव्य भारती के भ्राता हो।।
कवि होना ईश्वराधीन है। ईश्वर संतत सुकृत लीन है।।

इस कथन से गुप्त जी के काव्यादर्श की कुछ अन्य विशेषताएँ प्रकट होती हैं। उनके विचार से कवि की कल्पना का आधार सत्य होना चाहिए, झूठ नहीं। कवि किसी की झूठी प्रशंसा या चाटुकारी नहीं करता। मनुष्यता का वह रक्षक और भाषा का विकास करने वाला है। साधारण शब्दावली में भी कवि एक चमत्कार ला देता है। गुप्त जी की रचनाओं और विशेषकर उनकी बाद की कृतियों में यह चमत्कारिता स्पष्ट है। 'यशोधरा', 'पंचवटी', 'साकेत' आदि ग्रंथों में उक्तिवैचित्र्यपूर्ण पंक्तियाँ स्मरणीय हो गई हैं।

काव्य का स्वरूप :

काव्य और कला के स्वरूप के सम्बन्ध में भी गुप्त जी के स्पष्ट और निश्चित विचार हैं। वे अभिव्यक्ति की कुशलता को ही कला मानते हैं।‡ अभिव्यक्ति किसी भी बात की क्यों न हो। भाव की, चरित्र

* 'भारत-भारती', भविष्यत् खंड, ९७ छंद। † 'सरस्वती', १९१२ मई।
‡ 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला'—'साकेत', सर्ग १

की, आदर्श की कुशल अभिव्यक्ति कला का रूप धारण करती है। इस प्रसंग में गुप्त जी के विचार आदर्शवादी हैं। वे अपूर्ण की पूर्ति को भी कला मानते हैं।* और इस प्रकार कलाकार और कवि का कर्तव्य केवल यथार्थ चित्रण नहीं, वरन्, जो होना चाहिए उसका चित्रण करना है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है†—

हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा।
यदि यही हमने कहा तो क्या कहा।
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ?
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।

प्रयोजन और उद्देश्य :

गुप्त जी के उपर्युक्त कथन में काव्य का प्रयोजन और उद्देश्य भी निहित है। वह यह है कि कवि का उद्देश्य जीवन के सुंदर, उदात्त और आदर्श स्वरूप का चित्रण करना होता है, कोरा यथार्थ चित्रण नहीं। वे कला को कला के लिए नहीं मानते, वरन् जीवन में उसके असंदिग्ध महत्व को स्वीकार करते हैं। काव्य और कला की सृष्टि केवल मनोरंजन के हेतु करना भी उन्हें अभीष्ट नहीं। उसके भीतर जीवन का अनुभव और सत्कर्तव्य की प्रेरणा का होना अत्यंत आवश्यक है। गुप्त जी के इन विचारों का प्रमाण हमें उनकी नीचे लिखी पंक्तियों में मिल जाता है—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥‡

*　　*　　*

मानते हैं जो कला के अर्थ ही।
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिए।
चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये!×

ऊपर लिखी अंतिम पंक्ति 'साकेत' में लक्ष्मण के द्वारा उर्मिला से कही गई है। जीवन कला के लिए और कला जीवन के लिए है। दोनों एक दूसरे के प्रेरक हैं।

आज के कलाकार और कवि के लिए उपर्युक्त धारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है। काव्य और कला की प्रेरणा जब जीवन से उसके विविध रूपों के दर्शन और अनुभव से प्राप्त होती है, तब जो काव्यरचना होती है, उसके अंतर्गत एक अद्भुत प्रभाव डालने की क्षमता होती है। ऐसी रचना ही अधिक लोकप्रिय हो सकती है। उसमें एक प्रकार की नव्यता और ताज़गी रहती है। केवल कलाकृतियों को देखकर ही जो रचना की जाती है, वह उतनी प्रेरक नहीं होती। संसार के महान कलाकारों और कवियों ने जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करके ही लिखा है। और जीवन से सीधे प्रेरणा ग्रहण करने के कारण उनमें एक सर्वकालीन प्रभाव और सजीवता है। यही किसी भी रचना को अमर बनाने का कारण होती है। अतः जीवन के साथ कला की पारस्परिकता उसके लिए संजीवनी है। और ऐसी कला जीवन को भी प्रेरणा देने में समर्थ होती है। हम उनके इन विचारों को आदर्शवादी भले ही कह लें; पर उनकी वास्तविकता से कोई इंकार नहीं कर सकता। इस प्रकार हमें यह मानना चाहिए कि काव्य और जीवन का अटट सम्बन्ध है।

काव्य के साधन :

यों तो हम मानते हैं कि काव्य के क्षेत्र में सभी वस्तुएँ साधन बन जाती हैं; जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है—

* 'जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है'—'साकेत', सर्ग १
† 'साकेत', सर्ग १
‡ 'भारत-भारती', भविष्यत् खंड, ९५ छंद
× 'साकेत', प्रथम सर्ग

न स शब्दो न तद्वाच्यं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगं अहो! भारः महान् कवेः॥

फिर भी गुप्त जी के काव्य-ग्रंथों का अनुशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य के आन्तस् और बाह्य, तात्विक और रूपात्मक दो प्रकार के साधन हैं। आन्तस् साधनों में वे उदात्त चरित्रों और भावों को लेते हैं। इनके चुनाव के लिए गुप्त जी की कसौटी है—सामाजिक या लोककल्याण की दृष्टि। जो भाव लोककल्याण के लिए सहायक सिद्ध हों, उनका ग्रहण ही काव्य के लिए हितकर है। गुप्त जी का विश्वास है कि कविता, संगीत, चित्र आदि कलाएँ इतनी शक्तिशालिनी होती हैं कि वे हमें ऊँचे भी चढ़ा सकती हैं और नीचे भी गिरा सकती हैं। अतः उन्हें उच्च, उदार और प्रगतिमान भावों की वाहक बनाना चाहिए। कविता को संकीर्ण न होकर सभी प्रगतिशील भावों का पोषक होना चाहिए, अन्यथा वह एकांगी बन जाएगी।

बाह्य साधन है, उक्ति-वैचित्र्य या चमत्कार। इसके द्वारा कवि अपने भाव या चरित्र को सुग्राह्य, आकर्षक और प्रभावशाली बनाता है। बात सभी कहते हैं, पर कवि की बात में एक विद्युत्-सी आभा रहती है, जो सबको अपनी ओर खींचती है। अतः उदात्त भावों और चरित्रों को जीवन से प्राप्त कर, उन्हें एक नवीन आकर्षक, सुरुचिपूर्ण और प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करना कवि का काम है। यह अभिव्यक्ति-कौशल कवि का बाह्य साधन है, जिसमें शब्द-रचना, अलंकार, वक्रोक्ति आदि हैं। क्रोचे और प्रसाद के समान गुप्त जी का भी यह विश्वास जान पड़ता है कि उच्च भावों का संचार और उदात्त चारित्र्य का संपर्क स्वतः अभिव्यक्ति-सौष्ठव में सहायक होता है।

अभी तक गुप्त जी के काव्य-सिद्धांत के सामाजिक पक्ष की ओर संकेत किया गया है, जो आदर्शवादी होते हुए भी जीवन से अलग नहीं होना चाहता, वरन् उसी से प्रेरणा प्राप्त करता है। यही उसकी यथार्थ-वादी भूमि है। इसी ने 'साकेत' में राम, भरत और उर्मिला को मानव-रूप में चित्रित करने के लिए उन्हें प्रेरित किया और इसी ने 'यशोधरा' के द्वारा इस लोक के जीवन की महत्ता का गुणगान कराया। परंतु इसका एक वैयक्तिक या एकांतिक पक्ष भी है, जो प्रमुखतया 'झंकार' में और संकेत रूप से कुछ अन्य ग्रंथों की कुछ पंक्तियों में आया है। यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। इसे हम सामाजिक पक्ष की अंतिम परिणति मान सकते हैं। उदात्त चरित्रों के चित्रण के विविध स्वच्छंद प्रयत्नों के द्वारा अंत में हम सब में रमने वाले ईश्वर का एक सुंदर चित्र प्राप्त कर सकते हैं, जो जीवन और व्यक्ति का पूर्ण और लोकाभिराम चित्र होगा। गुप्त जी ने लिखा है*—

बढ़ें विचित्र वर्ण वे अपने
गढ़ें स्वतंत्र चरित्र;
बने एक उन सबसे उसकी
सुंदरता का चित्र।
रहे जो लोक ललाम।
रमा है सब में राम॥

यह आध्यात्मिक पक्ष भारतीय साहित्य के उस सार को लेकर चलनेवाला है, जो ऋषियों के अनुशीलन, मनीषियों के दर्शन, साधकों की साधना और भक्तों के मानस-मंथन का परिणाम है। इस आध्यात्मिक पक्ष की उपर्युक्त समष्टिगत दृष्टि है, व्यष्टि-निहित आदर्श और भी ऊँचे जाता है। कवि या गायक इस प्रकार लोक को प्रेरित कर अपने भावों में उसे आत्मविभोर कर सकता है†।

---

* 'झंकार' पृ० १८
† 'झंकार' पृ० ९

ताल ताल पर भाल झुका कर
मोहित हों सब बारंबार;
लय बँध जाय और क्रम-क्रम से
सम में समा जाय संसार।।

कवि का यह रूप और उसकी वाणी का यह प्रभाव उसकी साधना का परिणाम है। ऊपर के भावों में भक्त कवि का आदर्श व्यक्त हुआ है। जयदेव, विद्यापति, मीरा, तुलसी, सूर, चैतन्य आदि की वाणी का ऐसा ही प्रभाव रहा है और आज भी अंशतः बना हुआ है। यह कवि के काव्य का प्रभाव है। परंतु उसका व्यक्तित्व क्या है, उसकी अपनी स्थिति और लक्ष्य क्या है? यह भी 'झंकार' में व्यक्त हुआ है। इसे स्पष्ट करने वाली कवि की भावना निम्नांकित पंक्तियों में देखी जा सकती है—

गाता हुआ गीत ऐसा ही
रहता मैं स्वच्छंद।
तू भी जिसे स्वर्ग में सुनकर
पाता परमानंद।
होते यंत्र न तंत्र और ये
आयुध यान अपार।

गुप्त जी की इस कल्पना से सभी सहमत न होंगे। परंतु कवि की स्वच्छंदता और उसके गीत के प्रभाव का उपर्युक्त संकेत बहुतों के लिए स्पृहणीय होगा।

इसमें संदेह नहीं कि गुप्त जी का काव्यगत आदर्श अत्यंत ऊँचा है। उनके काव्यादर्श का सामाजिक पक्ष अत्यंत प्रेरक और प्रगतिशील है, जो उनकी उदार भावना का परिचायक है। गुप्त जी के अनेक ग्रंथों में आए हुए कवि और काव्य के महत्व को प्रगट करने वाले उद्‌गार इस बात के प्रमाण हैं। 'साकेत' के प्रारंभिक पृष्ठ में अंकित एक छंद, उनकी उदार काव्य के प्रति मंगलभावना का परिचायक है। काव्य और धर्म के उदार स्वरूप का स्वागत स्वस्थ समाज का लक्षण है, अतएव वह वांछनीय है। नीचे के छंद में प्रगट धर्म और साहित्य के प्रति उदात्त मंगलकामना कितनी प्रेरक और उन्मेषदायिनी है!

जय देव मंदिर देहली
समभाव से जिस पर चढ़ी
नृप-हेममुद्रा और रंक-वराटिका।
मुनि सत्य-सौरभ की कली
कवि कल्पना जिसमें बढ़ी
फूले फले साहित्य की वह वाटिका।।*

उपर्युक्त पंक्तियों में धर्म और साहित्य का उदात्त और स्वस्थ स्वरूप प्रगट हुआ है। मुझे विश्वास है कि भारतीय परंपरा को लेकर विकसित होने वाले आधुनिक भारत के समाजवादी वातावरण में गुप्त जी के इन काव्यादर्शों का और अधिक विकास हो सकेगा।

---

* 'साकेत'

गुप्त जी की बहुमुखी प्रतिभा

श्री उदयभानु सिंह

आज से आधी शताब्दी पूर्व खड़ीबोली के काव्यदेवता की मंदिर-देहली पर वराटिकाएँ ही चढ़ाई जा रही थीं[1]। उन भारती-भक्तों के पास हेम-मुद्रा थी ही नहीं[2]। माध्यम-निर्माण के उस युग में की गई आयास-साधित तुकबंदियों को, ऐतिहासिक दृष्टि पर ध्वांत का आवरण डालकर, केवल रमणीयता के मानदंड से नापना सहृदयता की न्यूनता, प्रतिभा की जड़ता और लोचन की मलिनता का परिचायक है। खड़ी-बोली कविता के इतिहास-निर्माता गुप्त जी का अवेक्षणीय गौरव यह भी है कि जब खड़ीबोली कविता का शैशव था, तब उन्होंने तुतलाती भाषा देकर उसे वाङ्मती बनाया, तदनंतर सरस अभिव्यंजना की क्षमता देकर उसे क्रमशः प्रौढ़तरता प्रदान की। उन्होंने अपनी ही नहीं, दूसरों की कविता का भी परिष्कार किया[3]।

कविता के क्षेत्र में गुप्त जी की प्रतिभा बहुमुखी है। उनकी रचनाओं में परंपरा और प्रगति का, सौंदर्य और ज्ञान का, अंतर्जगत् और बाह्यजगत् का, वैयक्तिक और सार्वजनीन अभिव्यंजना का असामान्य तथा रमणीय समन्वय है। उनमें युगधर्मापेक्षी सभी विषयों का उपस्थापन है। सभी ग्रहणीय काव्यरूपों और छंदबंधों की रचना है। कविता की सभी अभिव्यंजना-शैलियों का अभिराम प्रयोग है। वस्तुतः उनकी कविता समस्त काव्य-प्रतिमानों का निदर्शन है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से उनकी कविता का क्षेत्र अत्यंत विशाल है। पुरातन निर्गुण-सगुण राम से लेकर अद्यतन 'बिचबिन्दी खोली'[4] तक की अपार वस्तु उसकी परिधि में समा गई है। उन्होंने परंपरागत मानव, प्रकृति आदि विषयों को नवीन दृष्टि से देखा है। शृंगारिक संदर्भों में प्रेम को व्यापक, विश्वजनीन या रहस्योन्मुख रूप देकर उसे उदात्त बनाया है। भारतेन्दु-युग तक चली आनेवाली रीतिकालीन शृंगार-धारा से आगे बढ़कर जीवन के अन्य अनुपेक्षणीय विषयों पर समुचित ध्यान दिया है।

प्राचीन भारतीय कथाओं की संचित राशि अपरिमेय है। प्रख्यात वृत्तों में काव्य-पाठकों के मन को रमाने की अत्यधिक शक्ति है। गुप्त जी पूर्व भावों के प्रेमी हैं[5]। इसीलिए उनके प्रबंधकाव्यों के उपजीव्य भी प्रायः पुराण-इतिहास ही हैं। उनके योगदान की यह भी एक विशेषता है कि उन्होंने पौराणिक अवतारों के मानवीकरण द्वारा बीसवीं शती के बुद्धिवादी मानव की मानसिक भूमि के उपयुक्त चित्र अंकित किया है[6]

---

[1] दे० 'सरस्वती'—सन् १९०० से १९०८ ई० तक की कविताएँ।

[2] विशेष द्रष्टव्य—'सरस्वती' में छपने के लिए आई हुई अप्रकाशित रचनाएँ; कलाभवन, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

[3] द्रष्टव्य—गिरिधर शर्मा की 'अंशुमती' कविता के हाशिए पर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा बाबू मैथिलीशरण गुप्त को लिखित पत्र—'सरस्वती' के स्वीकृत लेख, १९११ ई० का बंडल, कलाभवन, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

[4] (क) रंग किसी की पिचकारी में राग किसी की झोली में।
खुल कर खेलो फाग बंधुओ! 'बिचबिन्दी' की 'खोली' में।।
—१९५५ ई० की होली के अवसर पर पं० नेहरू के निवासस्थान पर सुनाई गई कविता से।

(ख) हे भगवान! मुक्ति दो इसको यह वह सुंदर बोली है।
जिसकी 'खोली' में 'बिचबिन्दी' 'बिचबिन्दी' में 'खोली' है।। (भगवान की श्लिष्टता विशेष लक्ष्य है)

[5] 'किंतु मुझे तो सीधे सच्चे पूर्व भाव ही भाते हैं।' —'पंचवटी'

[6] राम! तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं, सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे।। —'साकेत'

रामभक्त वैष्णव कवि 'यशोधरा', 'द्वापर' आदि के नायकों की महिमा का गान करते हुए भी अपने आराध्य 'साकेत'-नायक राम को भूला नहीं[१]। इस धार्मिकता में अंधता नहीं है, मानवतावाद का वांछनीय आदर्श है[२]।

पौराणिक, अर्धपौराणिक या ऐतिहासिक कथानकों को काव्य का विषय बनाते हुए उन्होंने सामाजिक विषयों की अवहेलना नहीं की। आधुनिक हिन्दीकविता में व्यक्त सामाजिक भावना के प्रायः सभी रूप उनकी कविता में दृष्टिगोचर होते हैं[३]—समाज के शोषित या संतप्त वर्ग के प्रति सहानुभूति[४]; साहित्यिकों[५] एवं साहित्यकेतरजनों[६] को सन्मार्ग पर चलने और कुरीतियों से बचने का स्पष्ट उपदेश; उपदेश और आदेश से न सुधरनेवाले पतनोन्मुख समाज की, उसकी बुराइयों के कारण, कठोर भर्त्सना;[७] पंडितम्मन्य साहित्य-समालोचकों[८], संपादकों[९] पर आक्षिप्त गूढ़ागूढ़ हृदयस्पर्शी व्यंग्य आदि। शांतप्रकृति गुप्त जी की कविता में यत्रतत्र अभिव्यंजना की कशाघात-पद्धति युगधर्म का प्रसाद है।

---

[१] राम, तुम्हारे इसी धाम में नाम-रूप-गुण-लीला-लाभ ;
... ...
भुक्ति-मुक्ति माँगें क्या तुमसे हमें भक्ति दो ओ अमिताभ ! —'यशोधरा'
धनुर्बाण या वेणु लो श्याम रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा राम ! दूसरा रंग। —'द्वापर'
वाचक ! प्रथम सर्वत्र ही 'जय जानकी-जीवन' कहो —'जयद्रथ-वध'

[२] सुख देने आया, दुख झेलने आया,
मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया।
... ...
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया। —'साकेत'

[३] दे० 'भारत-भारती'—वर्तमान खंड

[४] तुम भी वाचकवृन्द ! तनिक सहृदय हो जाओ,
अपने दुर्विध बंधुजनों को यों न भुलाओ।
यही समय है कि जो कर सको कर दिखलाओ,
बंधु नहीं तो मनुज जानकर ही अपनाओ।। —'किसान', प्रार्थना
कृमि, कीट, खग, मृग आदि भी भूखे नहीं सोते कभी,
पर वे भिखारी स्वप्न में भी भूख से रोते सभी। —'भारत-भारती'

[५] केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए। —'इंदु', कला ५, किरण १, पृष्ठ ६५

[६] 'भारत-भारती'—भविष्यत् खंड

[७] मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ।
किंतु पतित को पशु कहना भी कभी नहीं सह सकता हूँ।। —'पंचवटी'

[८] (क) वीणा धारिणि की भी कविता भद्दी रद्दी मान,
ऐसा अद्‌भुत प्रकट करूँगा समालोचना-ज्ञान,
मान मम्मट का मारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।। —'सरस्वती', १९०८ ई०, पृ० २७७

(ख) कोकिल, तू क्यों 'कु-ऊ' 'कु-ऊ' रटता रहता है ?
करके उसमें संधि न क्यों 'कू-कू' कहता है ?
आलोचक जी, रीति मुझे भी यह जँचती है।
बात वही है और एक मात्रा बचती है।
सुनिए वर घूघू यह विषय कैसा अच्छा जानता।
है 'घु-ऊ' 'घु-ऊ' कहकर न जो 'घू-घू' मात्र बखानता।। —'माधुरी', भाग १, खंड १, सं० ४, पृ० ३३

[९] "अच्छे तो हैं आप ?" "मरा जाता हूँ भाई,"
"अंत समय का दान आप को हो सुखदाई।"

गुप्त जी भारत के राष्ट्रकवि हैं। इसके अनेक कारण हैं। वे भारत के कवि हैं। उनकी प्रत्येक कृति में, वाच्यत: या व्यंग्यत:, भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य का चित्र अंकित है। उनकी आरंभिक कृति 'भारत-भारती' (सं० १९६९) में देश के गौरवमय अतीत, दीनहीन वर्तमान और आशापूर्ण भविष्य का उपस्थापन है। स्वगत राष्ट्रभावना के कारण भी वह अपने युग की लोकप्रियतम रचना हुई। वे राष्ट्र-भारती के महाकवि हैं। उन्होंने अपनी अर्धशत रचनाओं से आधी शती तक राष्ट्रभाषा की अविराम सेवा की है। अधिक न्यायसंगत भाषा में, उन्होंने आधुनिक हिन्दी-कविता के इतिहास का निर्माण किया है। उनकी देशप्रेम और राजनीति-विषयक कविताएँ हमारी राष्ट्रभावना के विकास की विविध प्रवृत्तियों की सर्वतोमखी अभिव्यक्ति करती

कहीं देश की दीनहीन दशा का समानुभूतिपूर्ण चित्र, उसकी वर्तमान अधोगति के प्रति ग्लानि और क्षोभ[१], भारत का प्रेम-पुरस्सर गौरवगान[२], देश की प्राकृतिक रमणीयता के मनोहर दृश्य तथा देवी-देवताओं के रूप में उसकी प्रतिष्ठा[३], विभिन्न भूमिकाओं में स्वतंत्रता की आकांक्षा, दयनीय परिस्थिति के अनुरोधवश दुखनाश के लिए प्रार्थना[४], गिरी दशा से ऊपर उठने के लिए देशवासियों को विनम्र प्रोत्साहन तथा मेल-जोल का उपदेश[५] और कहीं इन सब से आगे बढ़कर अतिचारी शोषक शासक का बाहुबल से संहार कर देने का स्पष्ट संदेश है।[६] राष्ट्रकवि गुप्त जी की राष्ट्रीय कविता में अतीत और वर्तमान, कल्पना और यथार्थ

"क्या दूँ?" "कोई लेख" "लेख में तथ्य न होगा।"
"तो भी क्या इस रुग्ण पत्र का पथ्य न होगा?"
"हैं, हैं" "हाँ, हाँ कोसता कौन चाँद के दाग को?"
"हा! चाट गए कीड़े यही मेरे मरे दिमाग को।"

—'सम्पादक और लेखक', 'सरस्वती', १९१८ ई०, पृ० १७९

[१] अब कमल क्या, जल तक नहीं सर-मध्य केवल पंक है
वह राजराज कुबेर अब हा! रंक का भी रंक है। —'भारत-भारती', वर्तमान खंड

[२] हाँ, वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है?
भगवान की भवभूतियों का यह प्रथम भांडार है। —'भारत-भारती', अतीत खंड

[३] नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुंदर है,
सूर्य-चन्द्र-युत मुकुट, मेखला रत्नाकर है,
नदियाँ प्रेम-प्रवाह फूल तारे मंडन हैं,
बंदीजन खगवृन्द, शेषफन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्त्ति सर्वेश की।। —'भारतगीत'

[४] 'भारत-भारती'—विनय

[५] हम कौन थे क्या हो गए अब और क्या होंगे अभी,
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी। —'भारत-भारती'

[६] सजे सभी साकेत, बजे हाँ, जय का डंका;
रह न जाय अब कहीं किसी रावण की लंका। —'साकेत'

या

तब जीवन का गान बजे जब मारू बाजा,
मेरा शासक कौन? आप मैं अपना राजा! —'अजित'

उपदेश और कर्म, परप्रार्थना और स्वावलंबन, निराशा और आशा, अविश्वास और विश्वास, दीनतापूर्ण नम्रता और क्रांतिपूर्ण उद्‌गार—उभय पक्षों का—निरूपण है।

उनके वर्ण्य विषयों की परिधि में आधुनिक हिन्दी-काव्य के विविधवाद सन्निविष्ट हैं। रूढ़िवाद, प्रगतिवाद, हालावाद[1], गांधीवाद, यथार्थवाद, छायावाद, रहस्यवाद आदि सभी कुछ हैं। बाह्यार्थता, याथातथ्य, जनतंत्री भावना[2] आदि के साथ ही अंतर्वृत्तिनिरूपण, व्यक्तिवादिता, मधुमती कल्पना, स्वच्छंदतानुराग, गौणीवृत्ति, प्रतीकविलक्षणता, निराशावाद, भक्तिभावनात्मक औपनिषदिक दार्शनिकता आदि भी हैं।

उनके धर्मप्रधान काव्य का एक प्रधान उपजीव्य प्रेम है। उसका स्वरूप व्यापक है—प्रणय, स्नेह, वात्सल्य, श्रद्धा, राजभक्ति, देशप्रेम, जातिप्रेम, भाषा-साहित्य-प्रेम आदि। उनका रति-निरूपण परप्रसन्नता-साधक, वस्तुवर्णनात्मक, वासनाप्रधान, नखशिखवर्णन या नायिका-भेद की प्राचीर में परिसीमित नहीं है। उसमें प्रेमभावना का सुसंस्कृत रूप है। घोर शृंगारिकता, असंयम, व्यक्तिगतत्व, वासना आदि के स्थान पर उसमें शिष्ट संस्कृति, मर्यादा, व्यापकता, लोकपावनत्व आदि का वैशिष्टय है। उर्मिला और यशोधरा की प्रेमकथा में षड्ऋतुवर्णन आदि का रूढ़िपालन प्राचीनता-प्रेमियों के लिए रमणीय और उनकी प्रगतिशील अभिनव दृष्टि अन्यों के लिए चित्तरंजनकारिणी है। वे मुख्यतया विवाहित-प्रेम के कवि हैं। आश्रय की दृष्टि से उनका काव्य निबद्ध प्रणय-भाव परानुभूत है। संभव है स्वानुभूत—आत्माभिव्यंजक—भी हो। उन्होंने धर्म-समाजानुमोदित दाम्पत्यरति की बड़ी ही उत्कृष्ट व्यंजना की है।

गुप्त जी के काव्य में प्रकृति का भी सभी दृष्टियों से सर्वांगीण चित्रण है। उसका विधान प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों रूपों में हुआ है। इन्द्रिय-प्रभावक कलातत्व-प्रधान रूपचित्रण चित्तवृत्ति के अनुसार कहीं कोमल[3] या मधुर और कहीं कठोर[4] या उग्र है। रहस्याभिव्यंजक ज्ञानतत्वप्रधान भावचित्रण में स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की अभिमुखता है[5]। प्रकृति की विभावता उद्दीपनरूप[6] में भी है और आलंबनरूप[7] में भी। प्रथम का आश्रय कवि-कल्पित पात्र है और द्वितीय का कवि भी। कवि और प्रकृति का सम्बन्ध कहीं दृश्य-दर्शक-भाव-द्योतक[8] है और कहीं तादात्म्य-सूचक बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव[9] है।

---

[1] रुबाइयात उमरखय्याम का अनुवाद।

[2] राजा हमने राम! तुम्हीं को है चुना
करो हाय! तुम यों न लोकमत अनसुना! —'साकेत'

[3] चारु चन्द्र सी चंचल किरणें खेल रही हैं जल थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अंबरतल में;
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोंकों से
मानों झीम रहे हैं तरु भी मंद पवन के झोंकों से॥ —'पंचवटी'

[4] इसी दशा में रात कटी,
छाती सी पौ प्रात फटी;
अरुण भानु प्रतिभात हुआ,
विरूपाक्ष सा ज्ञात हुआ॥ —'साकेत'

[5] मैं अकेला जा रहा हूँ इस अँधेरी रात में। —'झंकार'

[6] उर्मिला एवं यशोधरा का वियोग-वर्णन।

[7] पथ के प्रहरी वृक्ष झूमते थे कहीं,
खग मृग चरते हुए घूमते थे कहीं। —'साकेत'

[8] लिखकर लोहित लेख डूब गया है दिन अहा!
व्योमसिंधु सखि, देख, तारक-बुद्‌बुद दे रहा! —'साकेत'

[9] मेरा ताप और तप उनका, जलती है हा! जठर मही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने मेरी बाधा-व्यथा सही। —'यशोधरा'

यद्यपि उनकी कविता में सभी रसों और भावों की, चित्तवृत्तियों की तलस्पर्शी व्यंजना हुई है, तथापि वे मुख्यतः शांत, करुण, वीर और शृंगार के कवि हैं। यह भारतीय कवियों की चिराचरित प्रथा है। साहित्य की उपेक्षिताओं का अपेक्षित चित्रांकन उनकी कविता की निजी विशेषता है। जीवन की सकल मूलभूत समस्याएँ, जीव के उत्कर्षापकर्ष की सभी दशाएँ, उनकी रचनाओं में निरूपित हैं।

काव्य की चाहे जो भी परिभाषा की जाय, ऐतिहासिक मूल्यांकन का चाहे जो भी मानदंड निर्धारित किया जाय, गुप्त जी का प्रशस्त पद निरपाय रहेगा। जो कृति सौंदर्यमूलक दृष्टि से हेय है, वह भी ऐतिहासिक दृष्टि से अनिवार्यतः उपादेय है। उनकी कविता में रस का द्रुतिकारक प्रवाह है[१], अनायास समापन्न गुणालंकारों[२] की शोभा है ; वैदग्ध्य-भंगी-भणिति[३] की सजीवता है ; विशिष्ट-पद-रचना[४] की रमणीय रीति है ; चमत्कारकारिणी शब्दार्थध्वनि है ; भाव, भाषा, चरित्र, संदर्भ आदि का औचित्य है। उसमें अभिधा-लक्षणा-व्यंजना, अप्रस्तुत विधान[५], मानवीकरण[६], नाटकीय मूर्त्तिमत्ता[७], नाद-सौंदर्य, संगीतात्मकता, भावमयी कल्पना, मार्मिक अनुभूति[८] आदि का सफल सन्निवेश है। वाणी और अर्थ का, भाव और कला का सुंदर समन्वय है।

---

[१] अबला-जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ! —'यशोधरा'

भारतलक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में,
सिंधु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में ;
... ...
बंदीगृह में बाट जोहती खड़ी हुई है,
व्याध-जाल में राज-हंसिनी पड़ी हुई है।
अबला का अपमान सभी बलवानों का है,
सती-धर्म का मान मुकुट सब मानों का है। —'साकेत'

[२] (क) "तुम हलके कब थे ?"—हँसी कैकेयी, रोई ! —'साकेत'
(ख) पानी के ही पात्र तुम, प्रभो ! रुष्ट या तुष्ट हो। —'यशोधरा'

[३] करुणे ! क्यों रोती है ! 'उत्तर' में और अधिक तू रोई—
'मेरी विभूति जो है, उसको 'भव-भूति' क्यों कहे कोई ?' —'साकेत'

[४] सखि, नील नभस्सर में उतरा यह हंस अहा ! तरता तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिम-बिंदु बचे तब भी, चलता उनको धरता धरता,
गड़ जायें न कंटक भूतल के, कर डाल रहा डरता डरता। —'साकेत'

[५] (क) वेदने ! तू भी भली बनी।
... ...
(ख) मेरे चपल यौवन-बाल।
... ... —'साकेत'

[७] इसी समय पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति-पटी का रंग,
किरण-कंटकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग,
कुछ कुछ अरुण सुनहली कुछ कुछ प्राची की अब भूषा थी,
पंचवटी की कुटी खोलकर स्वयं खड़ी क्या ऊषा थी ! —'पंचवटी'

[८] (क) कर्म-विपाक-कंस की मारी दीन देवकी-सी चिरकाल,
लो, अबोध अन्तःपुरी मेरी ! अमर यही माई का लाल। —'द्वापर'
(ख) युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी'
... ...
निज जन्म जन्म में सुने प्राण यह मेरा—
'धिक्कार ! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।' —'साकेत'

काव्य-विधान के क्षेत्र में भी उनकी देन बहुमुखी है। पद्य को ही मुख्यतया माध्यम स्वीकार करते हुए भी उन्होंने गद्य का तिरस्कार नहीं किया। पद्यबंध के सभी रूप उनकी कविता से मंडित हुए हैं। यह साधिकार कहा जा सकता है कि जितने प्रबंधकाव्यों की रचना उन्होंने की, उतनी हिन्दी के किसी भी लब्ध-प्रतिष्ठ कवि ने नहीं की। उन्होंने 'साकेत' और 'जयभारत' सरीखे महाकाव्यों की सृष्टि की। उनके आगमन के पूर्व हिन्दी-साहित्य लोकप्रिय खंडकाव्यों से शून्य ही था। 'जयद्रथ-वध', 'किसान', 'पंचवटी', 'वक-संहार' आदि के द्वारा इस न्यूनता की अभीप्सित पूर्ति हुई है। प्रबंध-रचना के तीसरे रूप पद्यनिबंधों की देन भी अप्रतिम है। चम्पूकाव्य 'यशोधरा' की कल्पना कवि की असाधारण प्रतिभा का फल है।

उनके गीत और गीतेतर मुक्तक भी अनेक प्रकार के हैं। 'साकेत' जैसे प्रबंध के अंतर्गत मुक्तकों की योजना परतंत्र है; 'स्वदेश-संगीत', 'कुणालगीत', 'झंकार' आदि में स्वतंत्र। सौंदर्यपरक गीतों में काव्योपयुक्त चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य और मर्मस्पर्शी संवेदना की हृदयहारी व्यंजना है। समस्या-पूर्तियों आदि में उनकी रुचि नहीं रही[1]। जहाँ उन्हें इस अखाड़े में उतरना पड़ा है, वहां उनकी ओजस्विनी भारती मुखर है।[2] उपदेशक के स्वर में लिखित मुक्तक उपदेशाभिधानता, सूक्तिप्राधान्य एवं अन्योक्तिवक्रता से विशिष्ट है। वर्णनात्मक, व्यंग्यात्मक, या चित्रात्मक शैली में रचित एकछंदोमय, मिश्रछंदोमय या मुक्तछंदोमय गीतों की निर्मिति विभिन्न पद्धतियों पर हुई है। 'यशोधरा', 'द्वापर' आदि में प्रबंध का कथानक किंतु मुक्तक की स्वच्छंदता तथा अनविच्छिन्नता है। यदि एक दृष्टि से मुक्तकों ने कथा की धारावाहिकता को खंडित कर दिया है, तो दूसरी दृष्टि से द्विकलात्मकता के कारण काव्य-सौंदर्य का उपचय भी हुआ है

रसभावानुकूल विविध वृत्तों का प्रयोग उनकी बहुमुखी प्रतिभा का अन्यतर प्रमाण है। संस्कृत के द्रुतविलंबित, वंशस्थ, शिखरिणी आदि; हिन्दी के परंपरा-प्रचलित घनाक्षरी, सवैया, दोहा आदि तथा अप्रचलित गीतिका, हरिगीतिका, रूपमाला आदि; अन्य भाषाओं के छंदों के भी शुद्ध या संकर प्रयोग उनकी व्यापक शक्ति के द्योतक हैं। हरिगीतिका छंद तो उन्हीं का ही लगता है। 'मेघनाद-वध', 'सिद्धराज' आदि में भिन्नतुकांत कविता की अपनी मनोहरता है। 'जयद्रथ-वध', 'भारत-भारती', 'पंचवटी', 'साकेत', 'द्वापर' आदि में तुकांतवृत्तों के अंत्यानुप्रास का वैभव कवि की असामान्य सरस्वती-साधना का परिचायक है।

आधुनिक हिन्दी-कविता की सबसे बड़ी विशेषता उसके माध्यमरूप में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा है। खड़ीबोली और ब्रजभाषा के उस विकट संघर्षकाल में खड़ीबोली के समर्थकों को मूलबद्ध रूढ़ि के विरुद्ध कितना कठिन संग्राम करना पड़ा था—इतिहास के प्रज्ञ ही इसे भलीभांति समझ सकते हैं। द्विवेदी-युग का प्रथम चरण (१९०३–०९ ई०) नवीन काव्यभाषा का सुधारकाल था। उसके समाप्त होते-होते, अपने कवि-जीवन के लगभग पांच ही वर्षों में, गुप्त जी ने कविता के क्षेत्र में खड़ीबोली के व्याकरण-सम्मत, धारावाहिक, काव्योचितरूप की प्रतिष्ठा कर दी। 'कविता-कलाप' (१९०९ई०) और 'जयद्रथ-वध' (सं० १९६७) आधुनिक हिन्दी-काव्य के इतिहास के योजन-स्तंभ है। 'भारत-भारती' (सं० १९६९) हिन्दी-पाठकों का कंठहार बन सकी—इसका बहुत कुछ श्रेय उसकी प्रासादिकता को भी है। यदि हम गुप्त जी के

---

[1] एकाध समस्यापूर्तियाँ अपवाद हैं—

> सब जात खिचे कितके कित हैं
> जब लौं हरिजू तुम तानत ना।
> अपनो अपनो सपनो सब है
> जन जानत हैं मन मानत ना।।

[2] दे० 'पंचपुकार का उपसंहार'—'सरस्वती', सन् १९०८ ई०।

नाम-परिवर्तन की धृष्टता करें तो कह सकते हैं कि जयशंकर को 'गुप्त' और मैथिलीशरण को 'प्रसाद' के नाम से प्रज्ञप्त होना चाहिए था।

उनकी प्रसन्न कविता में रसाभिव्यंजक काव्य के दोनों ही गुण—माधुर्य एवं ओज— यथास्थान विद्यमान हैं।[1] उनकी भाषारीति कहीं भी संकुचित नहीं है। संस्कृत के प्रति अतिशय अनुराग होने पर भी हिन्दी मुहावरों, कहावतों और जनसाधारण की भाषा की अवहेलना नहीं की गई। उनकी कविता में संस्कृत की आलंकारिक पदावली का लालित्य भी है और सरस प्रांजल हिन्दी का सहज सौंदर्य भी; अपिहित वाक्य-विन्यास की सुप्रकाशता भी है और 'गागर में सागर' वाले अर्थगौरव[1] से संपन्न गूढ़ व्यंजना के साथ ही राजशेखर[2] द्वारा संकेतित सौभाग्य भी; वाच्यप्रधान वर्णनात्मक शैली में वस्तूपस्थापन भी है और लक्ष्यप्रधान चित्रात्मक शैली का चमत्कार भी। इतिवृत्तात्मक वर्णनों में वाणी का अजस्र प्रवाह है। निबद्ध पात्रों के कथोपकथनों में प्रत्युत्पन्नमतित्व, विदग्ध-वक्रोक्ति, नाटकीय वैचित्र्य, संगति, सरसता, गतिशीलता, सप्राणता, शिष्टता, प्रसन्नता, संक्षिप्तता और स्वाभाविकता से व्याप्त संवाद-कला का निखरा हुआ रूप है।[3]

काव्य के विषय, बंध, छंद, भाषा, शैली आदि की उपरिनिर्दिष्ट विविधता गुप्त जी की बहुमुखी प्रतिभा का असंदिग्ध प्रमाण है। हिन्दी-कविता के विगत पचास वर्षों का इतिहास वस्तुतः उन्हीं की कविता का इतिहास है। उनकी कविता आधुनिक हिन्दी-कविता की समस्त प्रवृत्तियों की चित्रशाला है। हिन्दी-काव्य के इतिहास में उनका देदीप्यमान स्थान सर्वदा सुरक्षित रहेगा। उनकी अनुपस्थिति में सहस्रवर्षीया हिन्दी के महामहिम साधकों का कविसम्मेलन अपनी सर्वांगीण शोभा से वंचित रह जायगा। 'द्वापर', 'यशोधरा', 'साकेत' आदि के बिना खड़ीबोली के ही नहीं, संपूर्ण हिन्दी के काव्य-रत्नों की प्रदर्शिनी अधूरी रह जायगी।

महाकवे !

ये प्रासाद रहें न रहें पर अमर तुम्हारा यह साकेत।

—'साकेत'

•••

---

[1] सहज मातृगुण गंध था कर्णिकार का भाग,
विगुणरूप दृष्टांत के अर्थ न हो यह त्याग। —'साकेत'

या

यह क्या, यह क्या, भ्रम या विभ्रम? दर्शन नहीं अधूरे;
एक मूर्ति, आधे में राधा, आधे में हरि पूरे! —'द्वापर'

[2] नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः॥ —'राजशेखर'

[3] उर्मिला बोली "अजी, तुम जग गए?
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गए?"
"मोहिनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ!" —'साकेत'

गुप्त जी के काव्य में गार्हस्थ्य भावना

श्री देवराज उपाध्याय

गुप्तजी के व्यक्तित्व, उनकी प्रतिभा एवं उनके मानस की तरलता की छाप हिन्दी-काव्य के इन पचास वर्षों पर स्पष्ट रूप से अंकित है। गत अर्द्ध शताब्दी की हिन्दी-काव्यधारा ने जो भी रूप धारण किया है, जो भी मोड़ लिया है, अथवा लोगों के हृदय में स्फूर्ति-संचार के लिए जितने भी साधनों का प्रयोग किया है, उन सबों पर गुप्त जी का प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ा ही है। 'भारत-भारती' के कंठ-स्वर से जो काव्यलहरी निसृत हुई, उसने कभी भी विश्राम नहीं लिया, वह आज भी उतनी ही तल्लीनता के साथ अपनी साधना में लग्न है और अपनी दिव्य ज्योति से मानव-मन के अन्तस्थित अंधकार को दूर कर रही है। कवि होते हैं और हुए हैं, जिनकी कृतियों ने साहित्य के क्षेत्र में क्रांति का दृश्य उपस्थित कर दिया है, जिन्होंने काव्यधारा को मोड़कर एक दूसरे ही मार्ग पर प्रभावित कर दिया है, अपनी प्रतिभा की प्रखर किरणों में आवृत मिट्टी को भी सुवर्ण के रूप में देखने के लिए बाधित किया है, पर कुछ दिनों तक इस अपूर्व दीप्ति से जलते-बलते रहने के बाद उनकी ज्योति मंद पड़ गई है। काव्य-गगन में अपने पूर्ण तेज के साथ उदीप्त हो बुझ जाने या मंद ज्योति हो जाने वाले कवियों में वर्डस्वर्थ का नाम लिया जाता है। मिलटन के विषय में भी यही कहा जाता है कि उसकी काव्यात्मक प्रेरणा बीच-बीच में सूख जाती थी और अनेक वर्षों की कुंभकरणी नींद के बाद जागृत होती थी। कालरिज के सम्बन्ध में यही बात कही जाती है कि वह अपनी स्वप्नप्रसूत 'कुबला खाँ' नामक कविता की रचना के पश्चात् किसी उच्च कोटि की कविता की सृष्टि नहीं कर सका। पर मैथिलीशरण गुप्त उन इनेगिने कवियों में से हैं, जिनकी काव्य-प्रतिभा का तेजःपुंज अमावस्या की रात्रि को जेठ के प्रखर मध्याह्न में भले ही परिणत न कर सका हो, पर जिसकी निष्कंप लौ अपनी आंतरिक शक्ति के बल पर उत्तरोत्तर भास्वर ज्योति से प्रकाशित होती रही है। उस शक्ति का मूल स्रोत कहाँ है?

इस शक्ति के रहस्य का पता पाने के लिए हमें गुप्त जी के विशाल काव्यसाहित्य के प्राणरूप में प्रतिष्ठित कुछ मूल भावनाओं को पहचानने का प्रयत्न करना होगा। जिस तरह मानवशरीर को संचालित करने वाली प्राणशक्ति अति सूक्ष्म होती है, इतनी सूक्ष्म कि देखी भी न जा सके, पर उसी की अभिव्यक्ति मनुष्य के विविध क्रियाकलापों में होती रहती है। ठीक उसी तरह कवि के व्यक्तित्व में कुछ मौलिक भावनाएँ उमड़ती-घुमड़ती रहती हैं, बाहर आने के लिए व्याकुल रहती हैं, कवि को अपनी अभिव्यक्ति के लिए बेताब किए रहती हैं—वे ही अनेक रूपों में प्रकट होती रहती हैं। तुलसी के पूरे साहित्य में एक ही भाव रह-रह कर अपने स्वरूप को प्रकट कर रहा है और वह है भक्ति। यही भक्ति यथाअवसर अनेक पात्रों और चरित्रों के माध्यम से अपना विजयोच्चार कर रही है। यह बात दूसरी है कि इस भक्ति के भी कितने रूप हो सकते हैं। सूर मधुर भाव के उपासक हों और तुलसी दास्य-भाव के और इसी कारण दोनों के साहित्य में महान अंतर आ गया हो। पर अंतिम विश्लेषण में बात यही आ जाती है कि किसी कवि के काव्यसाहित्य ने जो रूप धारण किया है, उसकी प्रगति में जो वैचित्र्य है, जीवनक्षेत्र के जिस व्यापकत्व या गहराई को स्पर्श किया है, वह सब उसकी अन्तस्थ कुछ मूल भावनाओं का ही परिप्लावन है, बढ़ावा है।

गुप्त जी के साहित्य के मूल में उनके आस्थावान हिन्दू हृदय का दर्शन होता है। चाहे वे 'भारत-भारती' में भारत के गौरवगान में अपनी प्रतिभा को प्रेरित करते हों, चाहे वे किसी पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान को ही अपने काव्य का उपजीव्य बनाते हों, सब में उनके वैष्णव हृदय की सादगी, सात्विकता, आस्तिकता एवं मर्यादारक्षा की भावना स्पष्टतया झलकती है। भारतीय इतिहास की परंपरा बहुत ही प्राचीन है, घटना-बहुल है। और, उसमें ऐसी घटनाओं का अभाव नहीं जिनके द्वारा सब कुछ विध्वंस कर एक क्रांति के मार्ग

पर क्रांतिकारी साहित्य की रचना बड़ी सुगमता से हो सकती है। गुप्त जी जानते हैं कि 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है'; उसे लेकर 'कोई कवि बन जाना सहज संभाव्य है'। उनके लिए यह जानना कुछ कठिन न था कि भारतीय परंपरा की राह पर ऐसी चिनगारियाँ बिखरी पड़ी हैं, जिनको फूंक कर क्रांति की आग सहज ही धधकाई जा सकती है। पर उनकी दृष्टि उधर नहीं गई। प्रह्लाद का चरित्र बड़ा ही क्रांतिकारी था, ध्रुव में विद्रोह की मात्रा कम न थी, रावण और बेन जैसे राजाओं का चरित्र कम विद्रोही न था। पर गुप्त जी की दृष्टि इन घटनाओं की ओर नहीं ही गई। बहुत साहस करने पर नहुष तक उनकी दृष्टि अवश्य पड़ी। पर ऋषियों के शाप के सामने जो उसका पतन हुआ और इन्द्राणी के सतीत्व की मर्यादा की रक्षा जिस कुशलता से हो सकी है, उससे तो कवि-हृदय के गतानुगतित्व की भावना ही स्पष्ट होती है।

जिस हृदय के अंदर 'साकेत' और 'यशोधरा' की सृष्टि हो सकती है, वह विधि और निषेधों में विश्वास करने वाला तथा मर्यादा-रक्षण-तत्पर रहने वाला हृदय है। स्वाभाविक तथा नैसर्गिक प्रवृत्तियों के संकेत पर नाचनेवाला हृदय नहीं, पर कर्तव्य-बुद्धि द्वारा निर्णीत नियमों एवं सदाचारों के नियंत्रण को स्वीकार कर चलने वाला है। भक्तियुग के कुछ शब्दों का आधार लेकर कहें तो कह सकते हैं कि गुप्त जी का हृदय बँधी भक्ति के आसपास बना रहने वाला हृदय है, रागानुगा भक्ति की एकांतिक लोक-बाह्य भावना से वह बहुत कुछ असम्पृक्त है। यही नहीं, कहीं भी किसी सामाजिक बंधन का निर्दय या कटु उपहास उसने नहीं किया है। यह नहीं कि उसमें वर्तमान सामाजिक बंधनों के प्रति असंतोष के भाव नहीं उठते। उठते तो हैं, पर वह जानता है कि विध्वंसात्मक प्रणाली किसी समस्या को उतना सुलझाती नहीं, जितनी दूसरी समस्याओं को खड़ा करती है। अतः गुप्त जी के काव्य में उद्बोधन तो मिलेगा, मधुर चेतावनी भी मिलेगी, पर कहीं भी नाश और विनाश की प्रलयंकारी ज्वाला को धधकाने वाली आग नहीं मिलेगी।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है, "हिन्दी-साहित्य में दो भिन्न प्रकृति के आर्यों ने ग्रंथ लिखे हैं। पूर्वी आर्य अधिक भावप्रवण, आध्यात्मिकतावादी और रूढ़ियुक्त थे और पश्चिमी या मध्यदेशीय अपेक्षाकृत अधिक रूढ़िबद्ध, परंपरा के पक्षपाती, शास्त्रप्रवण और स्वर्गवादी थे।" वास्तव में देखा जाए तो हिन्दी-साहित्य की ही यह विशेषता नहीं, किसी भी साहित्य में यह बात पाई जा सकती है, क्योंकि अन्ततोगत्वा यह मानव स्वभाव की विशेषता है। कुछ व्यक्ति निसर्गतः विद्रोही होते हैं, कुछ रूढ़िवादी। इसे अंग्रेजी के आलोचकों ने प्रयोगवादी तथा परंपरावादी कहा है। इसका भूगोल से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। गुप्त जी के काव्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि वे परंपराप्राप्त उस आर्यधर्म के प्रतिनिधि हैं, जो परिस्थितियों के अनुसार अपने स्वरूप का विकास करता गया, पर अपने मूलाधार की नाल से त्यक्त होकर जिसने अपने स्वतंत्र विकास की चेष्टा कभी नहीं की।

अतः इसी भावधारा के प्रतिनिधि होने के कारण गुप्त जी के काव्य में ऐसी ही भावनाओं का समावेश अधिक हो सका है या उन्हीं भावनाओं के चित्रण में कवि की चित्तवृत्ति तल्लीन-सी दीख पड़ती है, जिनके द्वारा जीवन में स्थिरता आए, शांति की स्थापना हो, संतुलन की रक्षा हो। आर्यों ने गृहस्थाश्रम की महत्ता तथा गौरव समवेत कंठ से स्वीकृत किया है। इसे सब आश्रमों का मूल एवं आधारस्तंभ कहा गया है। आर्य संस्कृति का श्रेष्ठतम प्रतिनिधित्व जनक के व्यक्तित्व में वर्तमान है, जिन्होंने परिवार के बीच में रहते हुए भी संन्यास का आदर्श उपस्थित किया। आर्यों में जीवन की इकाई परिवार है और उस परिवार की धुरी है नारी, जिसके दो रूप हैं माता और पत्नी। पत्नी के रूप में वह जीवन में गति प्रदान करती है, स्फूर्ति का संचार करती है। सारी दुनिया पर छा जाने की हविश पैदा करती है। माता जीवन में स्थिरता प्रदान करती है, जीवन के उत्ताप को आलोक में परिणत करती है। उद्दाम प्रवृत्तियों को शांतिपूर्वक उचित मार्ग की ओर प्रेरित करती है। नारी के इन दोनों रूपों के योग से गृहस्थजीवन के अनेक सुंदर चित्र गुप्त जी की लेखनी से निर्मित हो सके हैं, जिनके कुछ उदाहरण 'साकेत' से लिए जा सकते हैं।

डॉ० नगेन्द्र ने 'साकेत—एक अध्ययन' में गुप्त जी द्वारा चित्रित गार्हस्थ्यजीवन की विविध झाँकियों का दिग्दर्शन कराया है। पर 'साकेत' एक जीवनकाव्य है। कह लीजिए महाकाव्य है। उसमें कवि पर एक

बाध्यता होती है कि वह जीवन का साँगोपांग चित्रण करे और कोई इस तथ्य से कैसे आँख मूंद ले सकता है कि हिन्दू-परिवार में लालित-पालित व्यक्तियों का जीवन बहुत अंश में परिवार की परिधि में ही आबद्ध रहता है, अथवा प्रभावित होता रहता है। 'साकेत' में वर्णित व्यक्तियों—आर्य-धर्म-प्राण-मर्यादा-स्थापक व्यक्तियों की तो बात ही क्या है। कहा जा सकता है कि 'साकेत' की वाटिका में जो गार्हस्थ्य के अनेक सुंदर चित्र खिल रहे हैं, वे तो अनिवार्य थे। कवि बाध्य था, वैसे चित्रों को उपस्थित करने के लिए। पर जब-जब हम गुप्त जी द्वारा रचित अन्य छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में भी इस तरह के चित्रण पाते हैं, तो उनके हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रति कुछ भी संदेह नहीं रह जाता।

ऐसी ही एक छोटी पुस्तिका 'वक-संहार' है। लाक्षागृह के अग्निदाह से बच निकलने के बाद पांडव एक विप्र परिवार के साथ अतिथि के रूप में निवास कर रहे थे। वक नामक राक्षस के सामूहिक नरसंहार से बचने के लिए ग्रामवासियों ने इस शर्त पर संधि कर ली थी कि हर परिवार में से एक व्यक्ति बारी-बारी से राक्षस के क्षुधा-निवारणार्थ भेजा जायगा। एक दिन इस परिवार की भी बारी आई। इस अवसर पर गुप्त जी की लेखनी ने परिवार का जो चित्र खींचा है वह अपनी सहजता, स्वाभाविकता और सात्विकता में अपूर्व हो गया है। परिवार के सब व्यक्तियों में होड़ लगी है कि उन्हें ही राक्षस के पास जाने का अवसर मिले। पिता यदि उत्सुक है, तो माता यह कैसे सहन कर सकती है। पुत्री भी पीछे रहनेवाली नहीं है। ब्राह्मण सबको समझाते हुए कहता है, "...तुम लोग शोक करो न यों, मत हो अधीर।" स्त्री बोली, "... जीती रहूँ मैं और तुम जाकर मरो, इससे अधिक परिताप की क्या बात होगी पाप की ?" तब 'शील-सद्‌गुण-संयुता' द्विज-सुता कहने लगी, "....है दान की ही वस्तु कन्या लोक में, तो त्याग तुम मेरा करो।" इस विपद की घड़ियों में भी अपनी बहन के कंधे पर बैठा हुआ कुलदीप-सा बालक अपनी तोतली वाणी में कहता है, "मालूं अचुल को मैं अभी, वह है कहाँ ?" तो कौन ऐसा व्यक्ति है, जिसका हृदय ऐसे सुखद पारिवारिक वातावरण तथा गार्हस्थ्यजीवन की छाँह के लिए मचल न उठे। इस प्रकार की कुछ प्रारंभिक पंक्तियों को देखिए—

> **वह विप्र का परिवार था, शुचि लिप्त घर का द्वार था**
> **पूजा-प्रसूना-कीर्ण थी वृह देहली**
> **आगत अतिथियों के लिए, शीतल पवन सुरभित किए**
> **मानो प्रथम ही थी पड़ी पुष्पांजली**
> **द्विज वर्य विघ्नों से रहित, वेदी निकट, शिशु सुत सहित**
> **सानंद संध्योपासना था कर रहा**
> **परितृप्त गृह-सुख-भोग से, मंत्र-स्वरों के योग से**
> **मानों भुवन की भावना था हर रहा।**

इन पंक्तियों में वर्णित गृहस्थजीवन में सात्विक आकर्षण है।

पत्नी गृहस्थजीवन की नींव है। पुरुष को बाहरी संघर्ष में इतना निरत रहना पड़ता है। उसे बाह्य प्रभावों के लिए इतना खुला रहना पड़ता है कि उसका व्यक्तित्व अति जटिल बन जाता है। उसका व्यवहार कुछ विक्षिप्त तथा असाधारण-सा मालूम पड़ने लगता है। ऐसी अवस्था में नारी शांतिपूर्ण विवेक से काम न ले और परिस्थिति पर सहृदयतापूर्वक विचार न करे, तो यह जीवन नरक बन सकता है। ऐसे ही आपदकाल में नारी के नारीत्व की परीक्षा होती है। सब के लिए इस परीक्षा में सफल होना सहज होता भी नहीं। सत्यभामा के हृदय में भी कृष्ण के व्यवहारों के प्रति कुछ भ्रममूलक विचार उत्पन्न हो रहे थे। देश में ताजाहाल क्रांति हुई थी और नवस्थापित शासनसूत्र को सफलतापूर्वक संचालित कर राष्ट्र को व्यवस्थित रूप से उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए कृष्ण के समय का एक-एक क्षण तथा उनकी शक्ति का एक-एक कण लग जाता था। कृष्ण के पास कुछ भी नहीं रह जाता था, जिसे प्राप्त कर सत्यभामा का

पत्नीत्व अपनी सार्थकता का अनुभव कर सके। अतः वह अपने को उपेक्षित समझ रही थी। ऐसी ही मनोदशा में कृष्ण सत्यभामा के साथ पांडवों से मिलने के लिए उस समय आए, जब वे वनवास का काल व्यतीत कर रहे थे। सत्यभामा देखती है कि द्रौपदी की गृहस्थी सारे संकटों के बीच में भी जंगल में मंगल मनाती हुई चल रही है, मानो जीवन की सारी कटुता अपने बाहुल्य में माधुर्यमयी हो उठी हो। हो न हो, द्रौपदी कोई जादू जानती है। वह सच्चे हृदय से पूछ उठती है—

अहो! एक को ही जब मानो मैंने रुष्ट किया है,
पाँच-पाँच देवों को तुमने कैसे तुष्ट किया है?

उसके उत्तर में द्रौपदी जो कुछ कहती है, वह भारतीय संस्कृति, गार्हस्थ्यजीवन तथा आर्य ललनाओं के आदर्श का शृंगार है—

मेरी तुच्छ कुटी जो तुमको सहज स्वच्छ-सी सूझी,
उसके लिए स्वकटि कसकर में झाड़ू लेकर जूझी।
बाहर चूर-चूर होकर नर बहुधा घर आता है,
नारी का मुख वहाँ निरख वह फिर नवता पाता है,
यदि ऐसा न हुआ तो समझो दोनों बड़े अभागी,
दोनों की ही सद्गृहस्थता अब भगी तब भागी।

आगे चलकर वह कहती है—

फिर भी उचित मंत्र दूंगी में, क्यों यह क्षोभ तुम्हें है?
कारण अपने सब गुणों के फल का लोभ तुम्हें है।
नारी लेने नहीं, लोक में देने ही आती है
अश्रु शेष रखकर वह उनसे प्रभु-पद धो जाती है
पर देने में विनय न होकर जहाँ गर्व होता है
तपस्त्याग का पर्व हमारा, वहीं खर्व होता है॥

इस काव्य-चित्र को पढ़ कर बरबस एक चित्र की याद आ जाती है। गांधी जी कुछ दूर चल कर थकेमांदे आश्रम में आए हैं और 'बा' उनके चरणों को पखार रही हैं। चरणों को क्या पखार रही हैं, आश्रम में भी गार्हस्थ्य भाव जग पड़ा है। 'बा' के हाथों की अंगुलियाँ और गांधी जी के चरण 'अन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य' हो गए हैं।

रामचंद्र जी जब रावण को मारकर तथा तापस वेश में वनवास की चौदह वर्ष की अवधि को समाप्त कर लौटे, तो भरत ने सीता के चरणों पर अपना सिर रख कर उनका स्वागत किया। इस दृश्य को कालिदास ने जिन शब्दों में वर्णित किया है, उसकी महनीयता तथा दिव्यता भारतीय क्या विश्वसाहित्य में लामिसाल है—

लङ्केश-प्रणति-भंग दृढ़ व्रतं यद्वद्यं
युगं चरणयोः जनकात्मजायाः
भर्तानुवर्त्रिजटिलं शिरोऽस्य साधोः
अन्योन्य पावनमभूदुभयं समेत्य

अर्थात् लंकेश की प्रणय-याचना को ठुकराने वाली सीता के दोनों वंदनीय चरण तथा स्वामी की आज्ञानुवर्ति जटिल भरत का सर —ये दोनों मिलकर एक दूसरे को पवित्र कर रहे थे। कहने का अर्थ यह है कि कालिदास द्वारा वर्णित भरत और सीता का चित्र, चित्रकार द्वारा चित्रित गांधी और 'बा' का चित्र और गुप्त जी का 'द्रौपदी और सत्यभामा' का चित्र—ये तीनों एक ही जाति के चित्र हैं। सब में गार्हस्थ्यजीवन की महिमा समूर्त हो उठी है। यदि कविता बोलता चित्र है और चित्र मौन कविता है, तो कालिदास का श्लोक, चित्रकार

का चित्र तथा गुप्त जी की ये उद्धृत पंक्तियाँ अपने नाम को पूर्णरूपेण सार्थक कर रही हैं। बात यह है कि भारत जैसा देश, जिसकी परिस्थितियों में अनेक परस्परविरोधिनी विविधताएँ और विषमताएँ आकर सिमटी हुई हैं, वहाँ समन्वयवादिता ही मान्य हो सकती है और गार्हस्थ्य ही एक ऐसा भाव है, जिसके क्षेत्र में श्रेयस और प्रेयस, स्वार्थ और परमार्थ दोनों की साधना हो सकती है। भारत में संस्कृति ने सदा गृहस्थभाव का आदर किया है। वास्तव में यही उसकी निर्बलता और सबलता है। विद्रोहियों को सदा यही खटकी है और उन्होंने इस पर सीधा प्रहार किया है। पर गंभीर विचारकों ने सदा ही इसके महत्व को स्वीकार किया है और इसी को लेकर परिस्थितियों के अनुरोध पर कुछ परिशोधन तथा परिमार्जन करते हुए अग्रसर होना ही उन्हें रुचिकर हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुप्त जी इसी दूसरी श्रेणी के मनीषियों में आते हैं।

ऊपर एक-दो उदाहरण ही दिए गए हैं। 'साकेत' तो गृहस्थजीवन के भावपूर्ण पुष्पों की मनोहर वाटिका है, जिससे गृहस्थजीवन के विविध रूपों के शांत, कोमल तथा तेजोदीप्त अनेकों चित्र साकार हो उठे हैं। डॉ० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है, "यह युग राष्ट्रीयता का होने के कारण लोग गुप्त जी की राष्ट्रीयता को ले उड़े, किंतु उनकी प्रधान विशेषता गृहस्थजीवन के सुख-दुख की व्यंजना ही है

गृहस्थजीवन के दो पहलू होते हैं: गंभीर और सरस। एक में कर्तव्यों की, उत्तरदायित्वों की तथा अधिकारों की कठोरता एवं जटिलता मनुष्य को जकड़े तथा दबाए रहती है। विधि-निषेधों के बंधन में आबद्ध होकर उसे सब को साथ लिए जीवनयात्रा में अग्रसर होना पड़ता है। उसे बहुत सतर्कता से पाँव फूंक-फूंक कर रखना पड़ता है, ताकि किसी तरह वह मार्गच्युत न हो जाय। अर्थात् वह शिलाधर्मी है, जिसके भार के नीचे मनुष्य के व्यक्तित्व को पूर्णरूप से विकसित होने का अवसर नहीं मिलता। पर गृहस्थजीवन का दूसरा रूप भी होता है, जिसमें स्वच्छंदता रहती है, जो केवल पत्नी को लेकर ही अपने स्वरूप का निर्माण करता है। उसमें केवल पत्नी रहती है, माता, पिता, भाई, बंधु, परिवार इत्यादि की चिंताओं से वह बहुत कुछ मुक्त होता है। अतः उसमें रस होता है, मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित होने का अवसर रहता है। उसमें रसास्वादुता होती है और उस रस से सिंचित होकर आयुर्बल के विकास में सहायता मिलती है। उसमें आनंद है, उल्लास है, महोत्सव है, मनमृग को स्वच्छंदतापूर्वक चौकड़ी भरने का अवसर रहता है। उसके पैर में किसी तरह का बंधन नहीं रहता। यही दाम्पत्य जीवन है और शायद अधिक महत्वपूर्ण कारण कि गृहस्थ भार से ग्रस्त और ऊबा मानव इसकी ही शीतल छाँह में विश्राम करता है और पुनः स्फूर्त होकर कर्तव्यमार्ग की ओर चल पड़ता है। गृहस्थजीवन के इस पहलू की, भारतीय साहित्य में, सदा से अवहेलना होती आ रही है। अवहेलना का अर्थ यह नहीं कि इसकी चर्चा ही नहीं है। इतना ही कि इसके विनोदमय तथा शृंगारमय रूप की ओर लोगों का ध्यान जाने ही नहीं पाया है। गार्हस्थिक-शृंगार—ये दोनों शब्द भारतीय साहित्य के लिए 'वदतोव्याघात' के उदाहरण होंगे।

पर गुप्त जी का ध्यान गृहस्थजीवन के इस पहलू की ओर भी गया है। 'साकेत' में प्रथम-प्रथम उर्मिला और लक्ष्मण को जब हम देखते हैं, तो वे उस अवस्था में हैं, जिसे आज के शब्दों में मधुयामिनी की अवस्था में कह सकते हैं। भारतीय साहित्य में दाम्पत्य जीवन की इस अवस्था की ओर कवियों का ध्यान कम गया है। 'नैषध' में नल-दमयंती की मधुयामिनीवाली अवस्था का वर्णन अवश्य है, पर कहीं-कहीं स्थूल विशृंखल रति-रीति के चित्रण से चित्त विक्षुब्ध हो उठता है। पर 'साकेत' में प्रधानता शिष्ट प्रकृत विनोद की है। बीच-बीच में प्रणय-प्रकर्ष के शृंगारिक पुट से आर्द्रता और स्निग्धता का अधिक संचार अवश्य हो गया है—

विविध विधि फिर भी विनोदामूल बहा,
हार जाते पति कभी, पत्नी कभी,
किंतु वे होते अधिक हर्षित तभी
प्रेमियों का प्रेम गीतागीत है,
हार में जिसमें परस्पर जीत है।

यह गुप्त जी की ही लेखनी की सिद्धि है कि राम के मुख से भी निकले बिना न रह सका, "मैं बन में भी रहा गृही" और सीता ने कह ही तो दिया, "सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया। मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।"... "कुछ करने में अब हाथ लगा है मेरा। वन में ही तो गार्हस्थ्य जगा है मेरा...।"' साकेत' के अष्टम सर्ग में, जहाँ सीता नई छवि धारे अर्थात् अंचलपट कटि में खोंस, कछोटा मारे लताओं के आलबाल को सिंचित करती हुई गुनगुना रही है, वहाँ गुप्त जी की लेखनी ने एक अमर, अलौकिक और दिव्य गार्हस्थ्य भाव का चित्रण किया है। हमें यहाँ याद रखना चाहिए कि यह वही सीता है, जो तुलसी के यहाँ चित्रांलांखत कपि को भी देखकर डर जाने वाली थी और राक्षसों के विकराल रूप को देख कर तो त्रास से प्रकंपित हो उठती थी और राम के लिए भारस्वरूप तो नहीं, पर चिंता का कारण तो थी ही। (तुलसी के राम मर्यादापुरुषोत्तम अवश्य थे और धर्म की रक्षा के लिए अवतार उनका अवश्य हुआ था, पर सब धर्मों की मूल गार्हस्थ्य भावभूमि को दिव्यभावों से सिंचित कर उसे उर्वर बनाने की ओर उनका ध्यान कम गया था।) हो सकता है, तुलसी के समय में संयुक्त पारिवारिक जीवन की श्रेष्ठता के भाव लोगों के हृदय में इस दृढ़ता के साथ स्थापित हों कि लोगों में इस तरह की कल्पना का भी अवसर न हो कि एक ऐसा युग भी आ सकता है, जब उसकी नींव पर कुठाराघात होने लगे। और यही कारण है कि तुलसी के राम को भारतीय जीवन के इस पारिवारिक रूप को अपना अधिक अवलंब देने की अधिक आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई हो। परंतु 'साकेत' के काल में तो इस व्यवस्था पर हर तरह के प्रहार प्रारंभ हो गए हैं और सब मनीषियों को यह चिंता होने लगी है कि भारतीय जीवन की इस विशेषता के साथ भारत ही कहीं नष्ट न हो जाय। (अत: क्या आश्चर्य है कि हमारे राष्ट्रकवि की अन्त:प्रज्ञा ने ताड़ लिया हो कि संयुक्त परिवार समाजसंगठन की नींव है) यह हमें विरासत में मिला है, इसके बिना राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जायगा, और इसकी रक्षा आवश्यक है।

आधुनिक युग में पारिवारिक जीवन के एक विशिष्ठ संकुचित रूप की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होने लगा है। आज का परिवार बहुत छोटा होता है, वह पति और पत्नी केवल दो प्राणियों को लेकर बना होता है। कोई तीसरा व्यक्ति उसकी सुख-शांति में बाधक नहीं होता। रह गई संतान की बात। वह आवश्यक तो है, पर उस पर बहुत कुछ नियंत्रण किया जा सकता है अपनी सुविधा के अनुसार। इसमें दम्पति कर्तव्यराक्रान्त गृहस्थ न होकर प्रेमी-प्रेमिका ही बना रहता है। पहले का परिवार भरापूरा पुत्र, पौत्र, बहन, भाई, चाचा, चाची, बंधु-बांधवों से युक्त वह विश्व का प्रतिबिंब होता था। वहाँ पर स्थित होकर मनुष्य विश्व-बंधुत्व का पाठ सीखता था। (पति-पत्नी का पारस्परिक, चाहे तो स्वार्थमय कह लीजिए, प्रेम संतान के लिए दिए जाने वाले निस्पृहार्थी प्रेम की राह से होकर विश्वप्रेम के रूप में विकसित हो जाता था। यही प्रेम भारत के राष्ट्रकवि का आदर्श है) आज का छोटा-सा आँगन वाला घर और छोटा-सा परिवारवाला आदर्श नहीं। गुप्त जी बहु-जन-गृही गृहस्थ का आदर करते हैं। उनका कथन है कि 'होता है कृतकृत्य सहज बहु-जन-गृही'। (उन्होंने 'साकेत' में जिस परिवार का चित्रण किया है, वह बहुत बड़ा है; उसमें बंधु-बांधवों के सगे-संबंधियों की तो विशाल सेना है ही, नौकरों तक को भी हमारे कवि ने अपने हृदय के दान से महिमान्वित किया हैं। यहाँ तक कि पशु-पक्षियों तक भी उनकी दृष्टि गई है। ये भी हमारे जीवन के अंग है। भारतीय साहित्य में पशु-पक्षियों ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किए हैं, पर अधिकतर उनकी क्रियाएँ जीवन के रसात्मक प्रसंगों तक ही सीमित रही हैं। (गुप्त जी ने 'साकेत' के सुग्गे को परिवार-संबद्ध कर और उर्मिला को लक्ष्मण के प्रति यह कहने का अवसर देकर कि—**और भी तुमने किया कुछ है अभी, या कि सुग्गे ही पढ़ाए हैं अभी।** केवल विनोदामृत ही नहीं बहाया है, परंतु भविष्य के कवियों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित किया है कि परंपरासे प्राप्त इन जीवों की सेवाएँ नए-नए मार्गों में नियोजित करें।)

(गार्हस्थ्य एक बहुत बड़ा व्यापक भाव है, इसकी परिधि बहुत व्यापक है। इसमें शृंगार है, संयोग है, वियोग है, वात्सल्य है, स्नेह है, श्रद्धा है, भक्ति है, बहनापा है, सेव्य-सेवक भाव है और न जाने कितने पहलू हैं। सूर ने वियोग की जितनी अंतर्दशाएँ हो सकती हैं, उन सबको चित्रित किया है। ठीक उसी तरह गुप्त जी का ध्यान गार्हस्थ्य के प्रत्येक पहलू की ओर गया है।)

●●●

मैथिलीशरण गुप्त के वियोग-वर्णन की एक विशेषता

श्री कन्हैयालाल सहल

★

रघुवंश में महाकवि कालिदास ने यथार्थ ही कहा है कि तपने पर लोहा भी जब नरम पड़ जाता है, तो फिर देहधारियों की तो बात ही क्या है।[1] दुख में मनुष्य की वृत्तियाँ कोमल रूप धारण कर लेती हैं; उसके हृदय में मृदु भावनाओं का संचार होने लगता है। दुखी मनुष्य यह इच्छा करने लगता है कि जैसा दुख का पहाड़ उस पर टूट पड़ा है, वैसा किसी दूसरे पर न टूटे। मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ मनुष्य सबसे अपने अपराधों की क्षमा-याचना करता हुआ प्रायः देखा जाता है। प्राणप्यारे व्यक्तियों का विरह भी हमारे हृदय की कठोरता को दूर कर देता है और ऐसी अवस्था में हम स्वयं दुख सहते हुए भी दूसरों की सुख-कामना करने लगते हैं। प्रियप्रवासकार ने पुत्र-वियोग से विह्वला माता यशोदा के मुख से कहलवाया है—

रो रो हो हो विकल न सभी बार बीतें किसी के।
पीड़ाएं हों सकल, न कभी मर्म-बेधी व्यथा हो।।
मैं रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही।
हा! ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी।।

स्वयं भुक्तभोगी होने के कारण यशोदा देवकी को व्यथित नहीं करना चाहती। आत्मौपम्य-भावना वास्तव में दुख में ही जागृत होती है; दुख में आत्मप्रसार की महती शक्ति पाई जाती है। मनुष्य के हृदय में जब वेदना की ज्वाला जलती रहती है, तब सारा दुखी संसार उसकी सहानुभूति का पात्र बन जाता है। 'आँसू' के निम्नलिखित पद्य में इसी तथ्य की अभिव्यक्ति हुई है—

तेरे प्रकाश में चेतन संसार वेदना वाला
मेरे समीप होता है, पाकर कुछ करुण उजाला।

कभी-कभी मनुष्य के मन के भीतर जब आँधी चलने लगती है, तब वह 'कामायनी' के मनु की भाँति कहने लगता है—

सुखी रहे सब सुखी रहें बस
छोड़ो मुझ अपराधी को।

उपाध्याय जी और प्रसाद जी आदि आधुनिक कवियों की रचनाओं में यद्यपि वियोग और दुख के सम्बन्ध में उक्त प्रकार के उद्‌गार कहीं-कहीं मिल जाते हैं, किंतु सच तो यह है कि वियोग-वर्णन के सम्बन्ध में एक अभिनव प्रणाली का सूत्रपात 'साकेत' में हुआ है। भक्तिकाल और रीतिकाल के कवियों की नायिकाएँ विरहोद्दीपक होने के कारण चंद्रमा, मधुवन, ज्योत्स्ना आदि को कोसती रही हैं; किंतु जहाँ तक मैं समझता हूँ, 'साकेत' की उर्मिला अपनी करुण-कोमल और मृदु-मंजुल भावना के वशीभूत हो हिन्दीसाहित्य में प्रथम बार प्रकृति के प्रति निम्नलिखित उद्‌गार प्रकट करती है—

तरसूँ मुझ-सी मैं ही, सरसे-हरसे-हँसे प्रकृति प्यारी,
सबको सुख होगा, तो मेरी भी आयगी बारी।

जैसी दुखिया वह है, वैसी दुखिनी वह और किसी को नहीं देखना चाहती। प्रेम के प्रभाव से उसके हृदय में प्रकृति के प्रति भी सदय भाव उत्पन्न हुआ है। वह चाहती है कि यह प्यारी प्रकृति सरसे, हरसे और हँसे। सबको सुख मिलेगा, तो उसके दुख के दिन भी फिरेंगे।

---

[1] विललाप स वाष्पगद्‌गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु।। —रघुवंश ८।४३

प्रकृति की शोभा में उर्मिला को अपने प्रियतम की आभा दिखलाई पड़ती है। इसलिए वह चाहती है कि सृष्टि-सुंदरी प्रकृति चिर-दिन हरी-भरी रहे। प्रिय की स्मृति ही उसे जीवित रख सकेगी और इस प्रकार जीवन-दान का श्रेय भी प्रकृति को ही मिलेगा।

चंद्र और पुष्प को संबोधित करके वह कहती है कि हे चंद्रमा! तुम हँसते रहो और हे फूल! तुम प्रफुल्लित होकर शाखा रूपी हिंडोले पर झूलते रहो। रोने के लिए तो मैं ही बहुत हूँ; अश्रु-वर्षा करने में मैं जल बरसाने वाले बादल से भी कम नहीं हूँ!

रह चिर दिन तू हरी-भरी, बढ़, सुख से बढ़, सृष्टि-सुंदरी!
सुध प्रियतम की मिले मुझे, फल जन-जीवन-दान का तुझे!
हँसो, हँसो हे शशि, फूल, फूलो, हँसो, हिंडोरे पर बैठ झूलो!
यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ, झड़ी लगा दूँ, इतना पिये हूँ!

वियोग-वेदना के कारण उर्मिला की हृदय-वृत्ति बहुत कोमल हो गई है। उसका आदेश है कि मालि कलश लेकर केवल पौधों की सिंचाई का काम करें, कैंची लेकर कोई उन्हें कतरे नहीं। वृक्ष यथेच्छ बढ़ कर फूलें-फलें और हरी-हरी लताएँ फैलती रहें। क्रीड़ा-कानन का पर्वत भी फव्वारे के जल से सींचा हुआ रहे और हे सखि! चलो, मेरे जीवन का झरना भी भिगोता हुआ बहता चले—

सींचे ही बस मालिनें कलश ले, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़ के, फैलें लताएँ हरी।
क्रीड़ा-कानन शैल यंत्र-जल से संसिक्त होता रहे,
मेरे जीवन का, चलो, सखि, वहीं सोता भिगोता बहे।

उर्मिला के हृदय में दया का संचार हो रहा है। वह कहती है कि हे सखि! फूल मत तोड़; देख तो सही, मेरा हाथ लगते ही ये कैसे कुम्हला गए हैं। हमारे क्षणिक विनोद के कारण इनका कितना विनाश हो जाता है। उन फूलों को (जिन पर ओस पड़ी हुई है) देख कर उर्मिला कहती है कि ये दुखिनी लता के लाल (बच्चे) हैं, जो रो-से रहे हैं—

छोड़, छोड़, फूल मत तोड़, आली, देख मेरा
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हलाए हैं?
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है,
दुखिनी लता के लाल आँसुओं से छाए हैं।

शाखा से अलग होकर पीला पत्ता निराधार हो जाता है। उर्मिला भी इसी तरह निराधार हो रही है। दो निराधार एक दूसरे के सहारे हो जाएँ, तो दोनों को थोड़ा आधार मिल जाता है। इसीलिए पीले पत्ते को संबोधित करके उर्मिला कहती है—

पाऊँ मैं तुम्हें आज, तुम मुझको पाओ,
ले लूँ अंचल पसार, पीत पत्र आओ।
फूल और फल निमित्त,
बलि देकर स्वरस-वित्त,
लेकर निश्चित चित्त,
उड़ न हाय! आओ,
ले लूँ अंचल पसार, पीत पत्र आओ।
तुम हो नीरस शरीर,
मुझमें है नयन-नीर,
इसका उपयोग वीर,

मुझको बतलाओ।
ले लूं अंचल पसार, पीत पत्र आओ।

हे पीत पत्र ! मैं तुम्हें पा जाऊँ और तुम मुझको पा जाओ, तो कितना अच्छा रहे ! इसलिए हे पीले पत्ते ! आओ, तुम्हारा यहाँ स्वागत है। तुमने अपना सारा रस वृक्ष को फूलने-फलने के लिए दिया है ; खुद पीले पड़कर इतना त्याग तुमने किया है। सचमुच ही तुमने अपना रस रूपी धन परोपकार में लगाया है। हे भाई पीले पत्ते ! तुम यहाँ रुक जाओ। तुम्हारा शरीर तो नीरस है, और मेरे पास आँसू बहुत हैं। तुम यह बतलाओ, मेरे ये आँसू तुम्हारे किसी काम आ सकते हैं क्या ? मेरे इन आँसुओं से यदि तुम फिर हरे-भरे हो सकते हो, तो ऐसे परोपकारी भाई के लिए मैं अपनी अश्रु-मालाएँ अर्पित करने के लिए तैयार हूँ।

प्रकृति के पदार्थों के साथ-साथ उर्मिला की करुणा पक्षियों तथा कीट-पतंगों तक को भी अपनी परिधि में समाविष्ट कर लेती है। वर्षा-ऋतु में मयूर को नृत्य करते हुए देखकर उर्मिला अपनी सखी से कहती है—

न जा उधर हे सखी, वह शिखी सुखी हो नचे,
न संकुचित हो कहीं, मुदित लास्य-लीला रचे।
बनूं न पर-विघ्न मैं, बस मुझे अबाधा यही,
विराग-अनुराग में अहह ! इष्ट एकांत ही।

हे सखि ! उधर न जाना, उस मयूर को सुखी होकर नृत्य करने दे। तेरे उधर जाने से कहीं उसके नृत्य में बाधा न पड़े। अब तो एक मात्र यही मेरा इष्ट रहता है कि दूसरों के सुख में किसी प्रकार बाधा न पहुँचे। इसी प्रकार उर्मिला की करुणा उसे प्रेरित करती है कि पिंजड़े के पक्षियों को छोड़ दिया जाय[1], किंतु दूसरे ही क्षण वह सोचती है कि अब तो ऐसा करना इनके प्रति निर्दयता दिखलाना होगा, क्योंकि इतने समय तक बद्ध रहने के कारण ये उड़ना भी भूल गए हैं, छोड़ देने पर कौवे इन्हें मार डालेंगे। इतना ही नहीं, इनके परिजन इन्हें भूल गए हैं, ये अपने परिजनों को भूल गए हैं। अब तो हम इनके साथी-संगी रह गए हैं—

विहग उड़ना भी ये हो बद्ध भूल गये, अये,
यदि अब इन्हें छोड़ूँ तो और निर्दयता वये !
परिजन इन्हें भूले, ये भी उन्हें, सब हैं बहे ;
बस अब हमीं साथी-संगी, सभी इनके रहे।

'लाल' नामक एक प्रसिद्ध छोटी चिड़िया होती है, जिसका शरीर कुछ भूरापन लिए लाल-रंग का होता है और जिस पर छोटी-छोटी सफेद बुंदकियाँ पड़ी रहती हैं। यह पक्षी बहुत कोमल तथा चंचल होता है और इसकी बोली बहुत प्यारी होती है। लोग इसकी मादा को 'मुनियाँ' कहते हैं।

उर्मिला जब इन प्यारे-प्यारे लाल पक्षियों को देखती है, तब उसे ये पक्षी विरहिणी के अंगार के टुकड़े-से जान पड़ते हैं। तुरंत ही इन पक्षियों के प्रति उसकी सहानुभूति जागृत हो उठती है और वह इनके कुशल-क्षेम की कामना करती हुई कहने लगती है कि हे लाल पक्षियो ! तुम पर किसी प्रकार की आँच न आने पावे, तुम अपनी मुनियों से मिले हुए यहीं पले रहो—

मेरे उर-अंगार के बने बाल-गोपाल
अपनी मुनियों से मिले, पले रहो तुम लाल॥

इसी प्रकार मकड़ी जब उर्मिला की तरफ आने लगती है, तब वह कहती है कि हे सखि ! मकड़ी को न हटा, वह सहानुभूति-वश इधर आई है। हम दोनों की समान दशा है ; जहाँ वह अपने जाले में फँसी हुई है, वहाँ मैं भी दुख के जाल में पड़ी हूँ—

सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति-वशा,
जालगता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान-दशा।

---

[1] सखि, विहग उड़ा दे, हों सभी मुक्ति-मानी।

विरह-दग्धा उर्मिला की यह इच्छा होने लगती है कि उसका दुख किसी दूसरे के सुख का साधन बन जाय। वह अपनी सखी से कहती है कि जितनी भी प्रोषितपतिकाएँ हों, उन्हें निमंत्रण दे आ और प्रेमपूर्वक उन्हें ले आ। समदुखिनी मिले तो दुख तो बँटे। इस समय दुखीजन ही मुझे सुख दे सकते हैं। यहाँ क्या कोई नहीं है, जिसका अभाव मैं भी मेटूँ? मेरे दुख को देख कर शायद अन्य किसी का ही दुख हल्का हो जाय। अपने को दुखिनी बतला कर वह चक्रवाकी को सांत्वना देने लगती है—

कोकि, कष्ट में हूँ मैं भी तो, सुन तू मेरी बात।
धीरज धर अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात।।

इस तरह दूसरों को धीरज बँधाने में अपना दुख भी कुछ हलका पड़ने लगता है। विरह-विह्वला यशोधरा के हृदय में भी गुप्त जी ने सदय भावनाओं का प्रादुर्भाव दिखलाया है। अपने से पहले यशोधरा चातकी को ही सुखी देखना चाहती है—

भटकी हाय! कहाँ घन की सुध, तू आशा पर अटकी।
मुझसे पहले तू सनाथ हो, यही विनय इस घट की।।

ऊपर जिस प्रकार के वियोग-वर्णन की चर्चा की गई है, उसे मैं गुप्त जी की केवल विशेषता ही नहीं, एक देन मानता हूँ। मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि गुप्त जी ने सर्वत्र विरह-वर्णन की इसी पद्धति को अपनाया है। मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि यह विरह-वर्णन अपनी मौलिकता लिए हुए है; परंपरा-भुक्त प्रणाली का आश्रय लेकर यह नहीं चलता। यद्यपि 'साकेत' की भूमिका में गुप्त जी ने स्वयं स्वीकार किया है—"उर्मिला के विरह-वर्णन की विचारधारा में मैंने स्वच्छंदता से काम लिया है", तथापि हिन्दी के सुधी समीक्षकों का ध्यान विरह-वर्णन के उल्लिखित रूप पर विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हुआ है। इस प्रकार का विरह-वर्णन मनोवैज्ञानिक आधारों पर प्रतिष्ठित है और सर्वथा स्वाभाविक है।

दुख इस विश्व की एक बड़ी भारी प्रेरक शक्ति है। दुखी व्यक्ति परस्पर मिल जाते हैं और एक दूसरे के दुखों की कहानी कह-सुनकर अपना दुःख-भार हलका कर लेते हैं और आशा का पाथेय लेकर जीवन-पथ पर अग्रसर हो जाते हैं। कबीर ने तो अपनी एक साखी में कहा है कि हम सुख के लिए जा रहे थे और सामने 'दुख' के दर्शन हो गए। तब तो हमने सुख से कहा कि अब तुम तो अपने घर जाओ, अब तो हम हैं और हमारा दुख है—

कबीर सुख कौं जाइ था, आगैं आया दुक्ख।
जाहि सुक्ख घर आपणें, हम जाणौं अरु दुक्ख।।

दुखात्मक नाटक में शक्ति-संपन्न नायक जब दुख सहता है, तो हमारी सदय भावनाएँ जागृत हुए बिना नहीं रहतीं; हमारे हृदय की कठोरता द्रवीभूत होने लगती है। यदि शील के उत्कर्ष पर भी किसी का हृदय न पिघले, नेत्रों में आँसू न आए, तो धूल खाय ऐसा मनुष्य।[1]

हम जब सुखी रहते हैं, दूसरे के दुख को नहीं समझ पाते। 'साकेत' की उर्मिला जब अपने प्रिय का संयोग-सुख भोग रही थी, वह चातकी के रुदन को भी उसका गान ही समझती रही। वियुक्त होने पर ही उसे पता चला कि जिसे उसने अब तक चातकी का गान समझ रखा था, वह तो उसका रुदन था—

चातकि मुझको आज ही, हुआ भाव का भान।
हा! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान।।

दुख वास्तव में एक सात्त्विक भावना है, हृदय-हृदय को मिलाने के लिए एक विलक्षण औषधि है आत्म-प्रसार का अनुपम साधन है। दुख की ज्वाला में जलकर ही मनुष्य के गुणों का प्रकाश होता है, जलने पर ही धूप की गंध फैलती है, पहले नहीं। •••

---

[1] सुनि सीतापति सील सुभाऊ
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाऊ। —तुलसी

गुप्त जी का राष्ट्र-कवित्व

श्री बलदेवप्रसाद मिश्र

★

कवि होना कठिन है। राष्ट्रकवि होना तो और भी कठिन है। प्राचीन आचार्यों ने तो कहीं-कहीं कवि का आसन इतना ऊँचा उठा दिया है कि वह स्वयंभू के समकक्ष हो गया है। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।' वह स्वयंभू नहीं, तो स्रष्टा तो है ही; और अपने मनोराज्य का सर्वतंत्र स्वतंत्र सम्राट् भी है। ऐसे महिमाशाली पद का अधिकारी हर कोई नहीं हो सकता। जो अपने कृतित्व के बल पर अपने ही मनोराज्य का अधिकारी मान लिया गया हो, वह है कवि; और जो अपने कृतित्व के बल पर समूचे राष्ट्र के मनोराज्य का अधिकारी मान लिया गया हो, वह है राष्ट्रकवि। कवि से कितना अधिक ऊँचा और कितना कठिन दर्जा है राष्ट्रकवि का!

भावों का अनुभव तो प्रायः सभी लोग किया करते हैं, परंतु उक्तियों द्वारा उनका उल्लासपूर्ण अनुभव करा देना सबके बलबूते की बात नहीं। 'अनुभव करता है सब कोई, करा सके जो कवि है सोई।' अनुभव करा सकने का अर्थ यह हुआ कि उस व्यक्ति में न केवल विभिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले भावों के अनुभव करने की ही शक्ति हो, किंतु जब वह चाहे तब अपनी कल्पना के बल पर एक ओर तो अभीष्ट भावों की अनुभूति करता रहे और उसी क्षण दूसरी ओर तटस्थ निरीक्षक की भाँति उस अनुभूति का वर्णन भी करता चले। वह भावक भी हो, भोजक भी हो। वह रससिक्त भी हो जाय और अपने ही रससिक्त हृदय का प्रसाद वितरण करने वाला आलोचक भी बनता चले। अनुभूति और कृति के कौशल का गंगा-जमनी जोड़ा एक साथ चलना चाहिए। तभी कवित्व की दिशा में उसके शब्द सार्थक होंगे।

अनुभव करने और अनुभव करा सकने की क्षमता के बीच, अन्य भी अनेक बातें हैं, जो कवित्व के लिए अनिवार्य हैं। पहले तो अनुभूति ही की बात लीजिए। असंस्कारी अथवा कुसंस्कारी मानस की जो अनुभूतियाँ होंगी, वे सुसंस्कारी मानस की अनुभूतियों की बराबरी पर नहीं बैठाई जा सकतीं। अनुभूतियाँ जितनी ही अधिक सुरुचि संपन्न होंगी, उनकी महत्ता और उपादेयता उतनी ही अधिक होगी। जो कृती ऐसी अनुभूतियाँ दूसरों के पास तक पहुँचा सकता है, वही विशेष सफल कहा जा सकता है। राग और द्वेष सामान्य मानव-प्रवृत्तियाँ हैं, जिनका अनुभव प्रायः प्रत्येक मानव को हुआ करता है; परंतु जिसने धन के लोभ में अपने पड़ोसी का संहार किया और जिसने लोकसेवा की प्रेम-वेदी पर अपने क्षुद्र स्वार्थ की समूची बलि दे दी, उन दोनों के राग-द्वेष की कहीं तुलना हो सकती है? प्रथम व्यक्ति के रागद्वेष का प्रधान रूप से अनुभव कराने के लिए किस कवि की लेखनी चलायमान हुई है? परंतु दूसरे प्रकार के व्यक्ति के राग-द्वेष की अनुभूति अपने शब्दों द्वारा प्रत्येक मानव हृदय को देने के लिए कौन सत्कवि लालायित न होगा? फिर, रागद्वेष के भी इतने सूक्ष्म आकार-प्रकार हैं कि हर कोई उनकी ठीक-ठीक अनुभूति भी नहीं कर पाता। रस की कोटि तक उन्हें पहुँचा देना क्या कोई सरल काम है! भावों और रसों के भेद भी अपार ही समझिए। 'भाव भेद रस भेद अपारा।' कवित्व के इस पक्ष की व्यापकता का इतना ही उल्लेख पर्याप्त होगा। इस पक्ष को, बराबर संभालते हुए, इसे सुरुचिसंपन्न बनाना कवि की पहली आवश्यकता है।

दूसरी बात जो कवि के लिए अनिवार्य है, वह है कृति-कौशल। कौशल का अर्थ केवल आलंकारिकता, या केवल मुहाविरेबंदी, या केवल त्रिगुण-संपन्नता ही नहीं है। चमत्कार की सीमा यहीं तक नहीं रहा करती। कभी-कभी एक सीधा-सादा अलंकार-विहीन छोटा वाक्य अनुभूतियाँ जाग्रत कराने में इतना प्रभावपूर्ण हो जाता है कि हम उसे काव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहने लगते हैं। जिस रचना-कौशल द्वारा अनुभूतियाँ शीघ्र से शीघ्र, अधिक से अधिक स्पष्ट हो उठें, अतएव जो चमत्कारिक प्रतीत होता हुआ मानस को एकदम फड़का दे, वही कवि का परम वांछित कौशल है और वह उसके लिए अनिवार्य है। यह चमत्कारिता क्या है, कैसे

आती है, इससे जो मनोरंजन होता है—जो मानसिक उल्लास होता है—[illegible]ार का है, इसके सहायक-रूप जो शब्द हैं, शब्द-प्रयोग हैं, शब्दों की अर्थशक्तियाँ हैं, शब्द और अर्थ के विविध अलंकार हैं, वे सब क्या हैं और उन सबको एक में समेट कर अपनी कृति में किस प्रकार का कौशल लाया जाय, जिससे वह सफल कहा जा सके—यह समझ जाना क्या कोई सरल बात है ?

कृति-कौशल का मोह तो कतिपय आलोचकों के मन में भी इतना प्रबल हो गया है कि उन्होंने काव्य के कलापक्ष को ही सब कुछ मान लिया और केवल चमत्कार अथवा केवल मनोरंजन ही को कविकर्म कह दिया है। हमारे राष्ट्रकवि को एक स्थल पर कहना ही पड़ गया—'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।' ऐसी काव्य-कला, जिसमें केवल शब्दों और उक्तियों का प्रयोग-चमत्कार हो, यदि क्षणिक आनंद दे भी देगी, तो भी वह सुरुचिसंपन्नता के अभाव में सफल न कही जा सकेगी। सुसंस्कृत हृदय निश्चय ही उससे बहुत शीघ्र ऊब जाएगा। सच्ची काव्यकृति वही है, जिसमें कलापक्ष और भावपक्ष दोनों का ठीक-ठीक संतुलन हो और दोनों ही सुरुचिसंपन्न हों। ✓

राष्ट्रकवि की काव्य-कृतियाँ निश्चय ही ऐसी होनी चाहिए, जिनमें समूचे राष्ट्र की उदात्त आत्मा प्रतिबिंबित हो। उस दर्पण में राष्ट्र का वर्तमान ही न झलके, किंतु अतीत भी आ जाय और भविष्य भी स्पष्ट हो उठे। कृतियों की उस शब्दावली में राष्ट्र का वर्तमान, अतीत की उज्ज्वलता लेकर, भविष्य के निर्माण के लिए विह्वल हो जाय। उन कृतियों का यथार्थ आदर्शोन्मुख होकर आवे, और वह यथार्थ अथवा वह आदर्श, किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं, किंतु समूचे राष्ट्र का हो। यदि उसमें व्यक्ति-संस्कृति का चित्रण हो, तो वह भी इस तरह कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति उसे अपनाने में अपना गौरव समझे। कृतियों की सच्ची सफलता तब है, जब वे अपने राष्ट्र के विशिष्ट देशकाल का प्रतिनिधित्व करती हुई भी सार्वदेशिक और सार्वकालिक कहा सकें तथा हर कहीं हर समय, हर किसी मानव के मानस को परिष्कृत करने या ऊँचा उठाने में सहायक हो सकें।

राष्ट्रकवि अपनी कृतियों के लिए ऐसे शब्द चुनेगा, जो राष्ट्र की आत्मा के अनुकूल हों, जिनमें राष्ट्रीय भावनाएँ पल रही हों, जो राष्ट्रीय कानों के लिए अत्यंत श्रुति-मधुर जान पड़ें और जो आप ही आप राष्ट्रीय मानस के प्रेरणा-स्रोत बन सकें। केवल शब्द ही नहीं, वह ऐसे ही वाक्य-प्रयोग भी चुनेगा, जिनमें जन-साधारण की सादगी, परंतु साथ ही उनके स्तर की बोधगम्य सुरुचिसंपन्नता भी हो। उसके शब्दों और वाक्य-प्रयोगों में अर्थ-गर्भता ऐसी होगी, जो 'बुध-विश्राम' भी हो और साथ ही 'सकल-जन-रंजिनी' भी हो, जो विद्वज्जनों को चमत्कृति की ऊँची से ऊँची वस्तु दे, परंतु साथ ही सकलजन के मनोरंजन और भाव-उन्नयन की सामग्री से भी भरपूर हो। उसके वर्ण्य विषयों का चुनाव ऐसा होगा, जिसमें राष्ट्र की आदर्श-संस्कृति सुंदर रूप से प्रतिफलित हो उठे। वह आदर्श संस्कृति यथार्थ से विच्छिन्न न होगी, किंतु यथार्थ को लेते हुए उसका उन्नयन करने वाली होगी। उसका प्रयत्न होगा कि वह जितनी अधिक बहुमुखी हो सके, उतनी ही उत्तम। वस्तुतः वह अपनी इकाई में राष्ट्र के प्राणों को अनुप्राणित करता है और उसके शब्दों में समूचा राष्ट्र ही मुखर होकर मानों उदारता के लिए स्वतः सक्रिय हो उठता है।

राष्ट्रकवि की उपाधि किसी सरकारी आदेशपत्र से नहीं, किंतु राष्ट्र की स्वतः स्फूर्त मनोभावना से निर्धारित हुआ करती है। भारतीय राष्ट्र ने कविवर मैथिलीशरण गुप्त को जो यह सम्मानास्पद पद दिया है, वह उनके उपर्युक्त गुणों ही के कारण है, इसमें कोई संदेह नहीं। श्री गुप्त जी की अनुभूति केवल कल्पना-जन्य नहीं है। उन्होंने अपने जीवन को राष्ट्र के जीवन के साथ सब प्रकार समरस किया है, इसीलिए उनकी कृतियों में इस प्रकार की व्यापक वास्तविकता आ पाई है। ग्रामवासिनी भारतमाता का ग्रामीण जीवन उन्होंने बिताया है। किसानों के साथ वे एक होकर रहे हैं। देश की पराधीनता पर वे आँसू ही बहा कर नहीं रह गए, किंतु उसकी बेड़ियाँ तोड़ने के लिए उन्होंने सक्रिय सहयोग दिया और कृष्ण-जन्म-स्थान की यात्रा भी की। उन्होंने अपने आस्तिक पिता से भारतीय संस्कृति के परंपरागत उदात्त स्वरूप का उत्तराधिकार पाया, जिसे अपनी प्रतिभा के बल पर भलीभाँति माँज-सँवार कर न केवल इस राष्ट्र के जन-जन को, किंतु अखिल विश्व के मानव-समाज को वितरित करने का सुदृढ़ संकल्प किया। इन्हीं सब बातों का परिणाम है कि भारती के मंदिर

में चढ़ाए हुए उनके काव्य-प्रसून भारत की अमूल्य राष्ट्रीय निधि बन कर अक्षय सौरभ वितरित करते जा रहे हैं और कुम्हलाने के बदले उत्तरोत्तर विकच होते जा रहे हैं।

इसे सुंदर संयोग ही समझिए कि राम को उन्होंने इष्टदेव के रूप में पाया। मानव-मन या तो विशेषतः ऐकांतिकता का प्रेमी होता है या सामूहिकता का। इन दोनों भावों के अनुरूप भारत के दो महामानव परम प्रसिद्ध हैं। वे हैं कृष्ण और राम। वे मानव से बढ़कर महामानव बन गए अथवा महामानव (परमात्मा) स्वतः उनमें अवतरित हो गया, यह तो अपनी-अपनी समझ और रुचि की बात है। परंतु यह अवश्य है कि भारत और भारती का साधना-पथ प्रायः इन्हीं को लेकर आगे बढ़ा है। कृष्ण में ऐकांतिकता है। वे केवल अकेले आए और अकेले गए। सब में रहते हुए भी सबसे अलग रहे। कारावास का त्याग, व्रज का त्याग, मथुरा का त्याग, कौरवों-पांडवों और यहाँ तक कि यदुवंशियों का त्याग, उन्हीं की विशिष्टता है। वे भले और उनकी वंशी भली। कितनी मादकता है उस वंशी में, परंतु कितना निर्मोह है समाज के प्रति उसमें! प्रेममय आकर्षण ही उनका सार है, परंतु उस सर्वग्रासी प्रेम में पड़ कर साधक को फिर समाज की सुध कहाँ रह जाती है। नैतिक बंधनों तक को तोड़ता हुआ वह प्रेम एकदम ऐकांतिक हो उठता है। राम के चरित्र में यह बात नहीं। वे आए तो बंधुओं के साथ, वन गए तो बंधु के साथ, लंका गए और अयोध्या लौटे तो सखाओं के साथ और महाप्रस्थान भी किया, तो अयोध्या के मानवों-अमानवों सभी के साथ। यह है उनकी सामूहिकता। राष्ट्रीय भावना ऐकांतिकता नहीं, किंतु सामूहिकता चाहती है। वह चाहती है रामराज्य—ऐसा राज्य जो स्वराज्य को स्वाराज्य में परिणत कर दे, स्वर्ग को भूतल पर उतार दे। राम जिसके आदर्श होंगे, राम के प्रति जिसकी इष्ट-देवत्व-भावना होगी, उसकी अनन्यता में भी यही मति रहेगी कि 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।' श्री गुप्त जी की रामभक्ति ने इसीलिए उनकी राष्ट्रीय भावना पर चार चाँद लगा दिए हैं।

यह युग मानव की महत्ता का युग है, इस बात को श्री गुप्त जी भूले नहीं। उन्होंने अपने आराध्य राम को भी यदि काव्य में उतारा, तो एकदम मानवी रूप में ही। अवतार की बात भी वे कितने सुंदर ढंग से कहते हैं—

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं, सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।

वे अपने राम के मुख से कहलाते हैं—

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

यह थी समय की माँग। यह थी राष्ट्र की माँग, जिसे गुप्त जी ने खूब अच्छी तरह परखा है।

हम लोग जब छोटे-छोटे थे, तब गुप्त जी की शब्दावली और वाक्यावली ने खड़ीबोली के प्रति हमारी साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत की थी। उनकी 'विरहिणी व्रजांगना' अब तक भी स्मृतिपथ से आकर हम लोगों के कानों में अमृत घोल जाया करती है। 'शिखिनि! विरस-वदना हो बैठी तरुशाखा पर तू कैसे? तेरे प्राण न देख श्याम को रोते हैं क्या मुझ जैसे'। सरीखी पंक्तियाँ सर्वजन-संवेद्य भाषा-सौष्ठव का अपूर्व आकर्षक चित्र सामने उपस्थित कर देती हैं। उनके 'रंग में भंग' और 'जयद्रथ-वध' ने प्रेरणा दी कि कथानक किस प्रकार के चुने जाएँ। उनकी 'भारत-भारती' के द्वारा तो हिन्दी-जगत में राष्ट्रीय भावना का प्रवाह-पूर सा आ गया। बच्चा-बच्चा उनके सुर में सुर मिलाता हुआ बोल उठा, 'हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी, आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।' इसमें प्रयुक्त हरिगीतिका छंद उदीयमान कवियों का एकमात्र

आश्रय-स्थल हो गया। राष्ट्र की समूची आत्मा 'भारत-भारती' की पंक्तियों में बोल उठी। जो काव्य को केवल एक कला कहने के अभ्यासी हो गए हैं और उसे बौद्धिक विलास का एक उपकरणमात्र मानते हैं, वे भले ही 'भारत-भारती' में कोई विशेषता न देखें, परंतु हमारे विचार में राष्ट्रकवि का राष्ट्रकवित्व सार्थक न होता, यदि वे 'भारत-भारती' न लिखते।

यहीं से उनकी सर्वोच्च कृति 'साकेत' का श्री गणेश होता है, जो परिस्थितिवश कई वर्षों बाद पूरी हुई। उसके भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही बहुत ऊँचे दर्जे के हैं। रामकथा तो यों भी आदर्श-चरितों की अनुपम मंजूषा है, जिसे हम कवि-प्रतिभा का अक्षय प्रेरणा-स्रोत कह सकते हैं। राष्ट्रकवि के हाथों आकर वह राष्ट्र की सामयिकता के अनुकूल वातावरण वाली भी बन गई। चरित्रों के निखार में, कथानक के प्रवाह में, वर्णन शैली की व्यंजना में, सर्वत्र हमें भारतीय संस्कृति के उस रूप के दर्शन होते हैं, जिसकी उस समय आवश्यकता थी। राम से संबंधित कुछ पंक्तियाँ ऊपर दी ही जा चुकी हैं। निर्जीव वर्ण्य वस्तुओं से संबंधित भी एक दोहा सुन लीजिए। वे उर्मिला के मुख से कहाते हैं—

रह कर भी जल-जाल में तू अलिप्त अरविन्द।
रीझें फिर तुझ पर गूँजें न क्यों कविजन-मनो-मिलिन्द॥

कमल का सौंदर्य कविजनों के लिए यों ही आकर्षक रहता है—उसका रूप-सौंदर्य भी और उसका गुण-सौंदर्य भी। परंतु यहाँ उसके एक ऐसे क्रिया-सौंदर्य की ओर संकेत है, जो भारतीय संस्कृति का विशिष्ट सौंदर्य कहा जा सकता है, परंतु जिसकी ओर सामान्य कविजनों का ध्यान प्रायः नहीं जाया करता।

भारतीय संस्कृति में नारी के प्रति परंपरागत पूज्य भावना रही है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।' राष्ट्र के उज्ज्वल उत्कर्ष के प्रेमी किसी राष्ट्रकवि का हृदय नारी की किसी प्रकार की उपेक्षा सह ही नहीं सकता। श्री गुप्त जी भी ऐसी उपेक्षा नहीं सह सके और जहाँ कहीं अवसर आया, वहीं उन्होंने सांस्कृतिक इतिहास की उपेक्षिता नारियों को बड़े उज्ज्वल वर्ण देकर आगे बढ़ाया है। लोगों ने तो उनके साहित्य को उपेक्षिताओं का आश्रयधाम मान लिया है। उपेक्षिताओं के प्रति उनकी तीव्र सहानुभूति ही कदाचित उर्मिला के विरह-वर्णन को कुछ असंतुलित कर गई है और गोपा के मुख से एक बड़ी हाय के साथ कहला गई है, 'अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में पानी।' दूध और पानी को हम संतान-वहन के भार और परवशता का ही प्रतीक नहीं मानते, किंतु वात्सल्य और कारुण्य का भी प्रतीक मानते हैं। हमें तो उनमें वात्सल्य और कारुण्य की भावनाएँ ही विशेष ध्वनित होती दिखाई पड़ती हैं और ये दोनों भावनाएँ इतनी दिव्य हैं कि इनकी प्रकृत अधिकारिणी होकर नारी अबला नहीं, किंतु देवी कहाने की क्षमता रखती है। इनके लिए उसे 'हाय' कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

श्री गुप्त जी ने कृष्ण पर आस्था न दिखाई हो, यह बात नहीं है। उन्होंने कृष्ण से संबंधित 'द्वापर' आदि अनेक काव्य लिखे, परंतु उनके मन में राम के जिस लोक-मंगल रूप की छाप पड़ चुकी थी, वही उन्होंने कृष्ण और अन्य चरित्रनायकों के रूप में भी देखी। 'द्वापर' का मंगलाचरण देख लीजिए—

धनुर्बाण या वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम! दूसरा रंग॥

प्रत्येक ग्रंथ के कथानक के संग उनका यही रंग रहा है। उन्होंने बीसियों ग्रंथ रच डाले हैं, जिनके कथानक राम और कृष्ण की कथाओं की प्रधानता रखकर भी वहीं तक सीमाबद्ध नहीं रहे। उनके कुछ स्फुट काव्य तो किसी प्रकार के कथानक का भी आश्रय नहीं ले रहे हैं। परंतु उनकी ऐसी कोई रचना नहीं है, जिसमें भारतीय संस्कृति का कोई न कोई उज्ज्वल पक्ष वर्तमान नहीं है और जो उन्हें राष्ट्रकवि के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित नहीं किए रहती। परमात्मा से हमारी प्रार्थना है कि हमारे राष्ट्रकवि अपनी अमर कृतियों से भारत और भारती का भंडार उत्तरोत्तर संपन्न करते रहें और ऐसे सांस्कृतिक भाव-रत्न प्रदान करते जाएँ, जो काल-व्याल के फण-मणि बन कर समग्र संसार में अपनी प्रभा प्रसारित करते रहें। ●●●

मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य : मूल धारणाएँ

श्री उमाकान्त गोयल

सिद्धांत रूप में मैथिलीशरण ने कहीं किसी प्रसंग में भी इस काव्य-रूप के विषय में अपने विचार प्रकट नहीं किए हैं। किंतु उन्होंने महाकाव्यों का प्रणयन अवश्य किया है—'साकेत' और 'जयभारत' निश्चित रूप से महाकाव्य हैं। इन दोनों के आधार पर उनकी महाकाव्य संबंधी धारणाओं की कल्पना की जा सकती है। उनमें बाह्यरूप रचना की दृष्टि से असमानता होने पर भी मूल अंतर्तत्वों में विशेष भेद नहीं है। इनकी वस्तु, चरित्रचित्रण , उद्देश्य और रस-व्यंजना आदि में सूक्ष्म मौलिक साम्य है।

वस्तु : किसी साहित्यिक कृति के कथानक को वस्तु अथवा कथावस्तु कहा जाता है। महाकाव्य अंततः कथा-काव्य है। वस्तु उसका महत्वपूर्ण अंग है। इसीलिए स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने काव्य की इस विधा की कथावस्तु का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध होनी चाहिए। कवि को अपनी कल्पना-शक्ति के उपयोग का अधिकार अवश्य है—किंतु उसकी कथा सर्वथा उत्पादित नहीं होनी चाहिए। क्योंकि कल्पित कथा द्वारा साधारणीकरण अथवा रसोद्रेक अपेक्षाकृत कठिन हो जाते हैं। अतएव मैथिलीशरण महाकाव्य के लिए सुविख्यात कथानक ही अपनाते हैं।

मूल-स्रोत : राम एवं युधिष्ठिर आदि के पावन चरित न जाने कब से प्रचलित हैं—रामायण और महाभारत भारतवर्ष के दो श्रेष्ठ और समादृत महाकाव्य हैं। सहस्रों वर्ष उपरांत आज भी इनका महाकाव्यत्व अक्षुण्ण है। गुप्त जी ने इन चिरपुरातन महाकाव्यों के कथानकों को ही वस्तुरूप में ग्रहण किया है—अन्य ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथाओं को नहीं। कारण स्पष्ट है—ऐतिहासिक कथाओं में कवि का अभीष्ट आदर्श नहीं है। और, पौराणिक गाथाएँ इतनी प्रतीकात्मक हैं कि उनमें ऐहिक जीवन की कर्मण्यता का अभाव है। दिव्य जीवन का आदर्श और ऐहिक जीवन की कर्मण्यता—इन दोनों का समन्वय उपलब्ध है रामायण तथा महाभारत में, अतएव मैथिलीशरण केवल इन दोनों कथानकों को ही महाकाव्य के उपयुक्त मानते हैं।

परिमाण और प्रभाव : रामायण और महाभारत की वस्तु को ग्रहण करने का दूसरा कारण है, उनका विपुल परिमाण और पुष्कल प्रभाव। महाकाव्य की कथा वृहदाकार तथा सप्रभाव होनी चाहिए। गुप्त जी के महाकाव्यों की वस्तु भी अत्यंत विशद एवं विशाल है। 'साकेत' में स्पष्ट रूप से लक्ष्मण-उर्मिला एवं राम-सीता के दो संबद्ध पर भिन्न कथानकों का अंतर-आयोजन हुआ है ; कवि ने इन दोनों को एक ही में समाहित करने का प्रयास किया है। इतना जटिल कथानक स्वयं वाल्मीकि एवं तुलसी ने भी नहीं अपनाया था। 'जयभारत' में भी यही हुआ है—महाराज नहुष के वृत्तांत से लेकर पांडवों के स्वर्गारोहण तक की एक भी बात छूटने नहीं पाई है। महाभारत पर आधृत किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध आदि जितने भी महाकाव्य आज तक लिखे गए हैं, उन सबमें इस कथा के किसी एक अंश को ही वस्तुरूप में अपनाया गया है। किंतु जयभारत-कार ने उसे समग्र रूप में ग्रहण करने का प्रयास किया है। और प्रभावक्षमता तो इन कथानकों की निर्विवाद ही है। भारतीय जनमानस पर 'साकेत' के आधार पर रामायण का प्रभाव स्वयं सिद्ध है। उधर 'जयभारत' के मूल-स्रोत महाभारत को पंचम वेद अथवा भारतीय संस्कृति का विश्वकोष तक माना जाता है। मैं समझता हूँ, इनके प्रभूत प्रभाव की सिद्धि के लिए किसी साक्षी की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार मैथिलीशरण महा-काव्यों के लिए अत्यंत लोकप्रसिद्ध, विस्तृत तथा प्रभावक्षम वस्तु का चयन करते हैं।

मूलवर्ती दृष्टिकोण : पूर्वोक्त दोनों कथाएँ भारतवर्ष में शताब्दियों से गाई जा रही हैं—और प्रत्येक युग अपने विश्वासों एवं मान्यताओं के अनुसार उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन करता आया है। गुप्त जी ने भी उनमें युगधर्म की प्रतिष्ठा की है। वह जहाँ भी जाते हैं, अपने युग का वातावरण लेकर जाते हैं। उनके महाकाव्यों में वर्तमान युग के विचार-व्यवहार का समावेश हुआ है—'साकेत' में राम-वनप्रयाण के अवसर पर आयोध्यावासी

उनके रथ के आगे लेट जाते हैं।[1] इसी प्रकार 'जयभारत' के नहुष पतन के समय भी मानवोत्थान के विश्वासी हैं।[2] भारतेन्दु-युग में आरब्ध तथा द्विवेदीकाल में परिपुष्ट जनजागरण के प्रभाव से हमारे देश में व्यापक राजनैतिक सजगता ही नहीं, बौद्धिक उद्‌बोधन भी हुआ। श्रद्धा की अपेक्षा वैज्ञानिकता की ओर झुकाव हुआ। फलस्वरूप प्राचीन कथानकों का बौद्धिक व्याख्यान किया गया। स्वाभाविक तथा विवेक-सम्मत घटना-विधान की प्रवृत्ति बढ़ी और मानवीयता एवं राष्ट्रीयता का समावेश किया जाने लगा। मैथिलीशरण भी अतिप्राकृत तत्व का निराकरण कर वस्तु को तर्कसंगत रूप प्रदान करते हैं। अतएव उनके महाकाव्यों में राम और कृष्ण की अलौकिक शक्तियों का प्रयोग प्रायः नहीं है। हरण से पूर्व 'साकेत' की सीता अग्नि-प्रवेश नहीं करती और न ही 'जयभारत' में पद्मनालस्थित इन्द्र के पास उपश्रुति के साथ इंद्राणी के जाने का उल्लेख है। मानवीयता एवं राष्ट्रीयता आदि की प्रतिष्ठा के लिए भी उन्होंने काफी परिवर्तन किए हैं। 'जयभारत' की हिडिम्बा राक्षसी होने पर भी काम-पीड़ा की दुहाई नहीं देती, राम पर आपत्ति का समाचार सुनते ही शत्रुघ्न सेना-संकलन करते हैं।[3] किंतु गुप्त जी दीर्घ परंपराओं एवं विश्वासों की अवहेलना सहज ही नहीं कर पाते। वह कथानक को विवेकसम्मत रूप भी देना चाहते हैं और परंपरागत विश्वासों की रक्षा भी। इस प्रकार मैथिलीशरण श्रद्धा एवं नवीन दृष्टिकोण के समन्वय का प्रयत्न करते हैं। जयभारतकार के युधिष्ठिर द्रौपदी-पंचपत्नीत्व-समस्या का समाधान करते हैं—

> **बोले धर्मात्मज धृतिशाली**
> **वर पार्थ वधू है पांचाली**
> **दो वर ज्येष्ठ का पद पावें**
> **दो देवरत्व पर बलि जावें**
> **भोगें यों पाँचों सुख इसका।[4]**

पर इस प्रकार कवि का श्रद्धा समन्वित संस्कारी हृदय युग-युगांतरों के विश्वास की अवहेलना नहीं कर सका है। निदान व्यासकृत व्यवस्था ही स्वीकार करनी पड़ती है और उसकी पुष्टि में प्रसिद्ध पौराणिक कल्पना।[5] 'साकेत' में हृदय और बुद्धि का, विवेक और संस्कारिता का तथा श्रद्धा और नवीन दृष्टिकोण का यह समन्वय और भी स्पष्ट है।

नूतन उद्‌भावनाएँ : विवेकसम्मत घटना-विधान, मानववाद की प्रतिष्ठा तथा राष्ट्रीयता आदि के कारण ही गुप्त जी के काव्यों में अनेक उद्‌भावनाएँ हुई हैं, जिनमें से संक्षेपतः कुछ इस प्रकार हैं—

१. **अयोध्यावासियों की शस्त्र-सज्जा** : हनुमान द्वारा लक्ष्मण के शक्ति-प्रहार से मूर्च्छित होने की बात श्रवण कर शत्रुघ्न शंख बजा देते हैं। अयोध्यामें आशंका की लहर-सी दौड़ जाती है और तब संपूर्ण अयोध्या लंका-प्रयाण को प्रस्तुत हो जाती है। यह प्रसंग रामकाव्य के लिए अपरिचित है, किंतु राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कवि के लिए सर्वथा अनिवार्य। वाल्मीकि रामायण में तो यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, वहाँ तो न हनुमान संजीवनी लाते हैं और न अयोध्यावासियों को इस आपत्ति का समाचार मिलता है। किंतु रामचरितमानस के भरत इस तथ्य से अवगत होकर भी तटस्थ हैं। यद्यपि उन्हें इसका शोक काफी है—

> **अहह दैव मैं कत जग जायउँ।**
> **प्रभु के एकहु काज न आयउँ।।[6]**

तथापि वह हैं सर्वथा निश्चेष्ट। तुलसीदास हनुमान के मुख से भरत की रामभक्ति का गुणगान करते हुए उसके लंका-प्रस्थान का उल्लेख कर—

---

[1] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ८६

[2] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १४

[3] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५ पृष्ठ ३०५, ३०६

[4] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११०

[5] कहते हैं पाँच बार वर था महेश का —'जयभारत', प्र० सं०, पृष्ठ ११०

[6] रामचरितमानस—लंकाकांड

भरत-बाहु-बल-सील-गुन प्रभु-पद-प्रीति अपार।
जात सराहत मनहि मन पुनि-पुनि पवन कुमार।।[1]

सीधे लंकास्थित राम-लक्ष्मण का वर्णन करने लगते हैं—

उहाँ राम लछिमनहि निहारी।
बोले बचन मनुज अनुसारी।।
अर्धराति गइ कपि नहिं आयउ।
राम उठाइ अनुज उर लायउ।।[2]

कितनी असंगत बात है कि जिसका वियोग भरत तथा अन्य अयोध्यावासियों को असह्य है, उसी प्रिय राष्ट्रनायक को आपद्ग्रस्त देखकर भी वे लोग निष्क्रिय हैं। स्वयं तुलसीदास अपनी गीतावली के इसी प्रसंग में सुमित्रा से शत्रुघ्न को लंका-प्रयाण का आदेश दिलाते हैं और वह भी अपने को धन्य मानते हैं—

तात! जाहु कपि संग रिपुसूदन उठि करि जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे, जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं।।[3]

किंतु इस आज्ञा का परिपालन कहीं दृष्टिगत नहीं होता (कदाचित् प्रबंधकाव्य न होने के कारण)। लंका-प्रस्थान की निष्पत्ति तो 'साकेत' में भी नहीं होती, पर वहाँ तर्कसंगत समाधान तो है—

शांत, शांत! सब सुनो कहाँ जाते हो ठहरो,
लंका विजित प्राय, तनिक तुम धीरज धारो।।[4] —वसिष्ठ

इसके पश्चात् मुनि वसिष्ठ अपनी दिव्यदृष्टि द्वारा लंका का दृश्य दिखा सबका रोष-शमन करते हैं। इस प्रकार कवि ने बड़ी योग्यता से इस असंगति का निवारण किया है। और अयोध्यावासियों में वांछित राष्ट्रीयता की स्थापना की है। भरत तो सीता के लंका-निरोध को भारत-लक्ष्मी का बंधन ही मानते हैं—

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में।
सिंधु पार वह विलख रही है व्याकुल मन में।।[5]

यहाँ स्पष्टतः समकालीन प्रभाव है, यह तत्कालीन भावना कदापि नहीं हो सकती।

२. **द्रौपदी-चीरहरण**: यह महाभारत का अत्यंत लोमहर्षक प्रसंग है। सभाभवन में पंचपांडवों की धर्मपत्नी पांचाली को नग्न करने का प्रयत्न क्या कोई छोटी-सी बात है? यह जघन्य कर्म गुरुजनों के समक्ष होता है, अतः उसकी भीषणता और भी बढ़ जाती है। फिर द्रौपदी की लज्जा की रक्षा भी अस्वाभाविक ढंग से ही होती है। द्रुपदसुता भगवत् स्मरण करती है—धर्म कपड़ा बन कर बढ़ने लगता है। धर्म-प्रताप और कृष्ण-कृपा से वह चीर समाप्त नहीं होता।[6] कपड़ा खींचते-खींचते जब दुःशासन थक जाता है, तब लज्जित होकर बैठ जाता है। गुप्त जी ने इस प्रसंग की भीषणता और अस्वाभाविकता को दूर करने का सफल प्रयत्न किया है। सर्वप्रथम तो उस धिक्कृत सभा से उन भीष्म, द्रोण और विदुर को हटाया, जो क्रुद्ध भीमसेन को तो शांत करते हैं—

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च।
क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं संभाव्यते त्वयि।।[7]

---

[1] रामचरितमानस—लंकाकांड
[2] रामचरितमानस—लंकाकांड
[3] गीतावली—लंकाकांड
[4] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३१६
[5] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २९७
[6] महाभारत, सभापर्व
[7] महाभारत, सभापर्व

किंतु दुष्कर्मा दु:शासन को रोकने में असमर्थ हैं। एक ओर तो इससे उन पुण्यात्माओं के आत्मसम्मान एवं गौरव की रक्षा होती है और दूसरे इस घोरकर्म की भीषणता भी अपेक्षाकृत कम हो जाती है। अतिप्राकृत तत्व का भी सप्रयत्न निराकरण हुआ है। 'जयभारत' में भी द्रौपदी भगवान का स्मरण तो करती है, पर उससे उनका कपड़ा नहीं बढ़ता। वरन् वह दु:शासन की प्रतारणा करती है और तब—

सहसा दु:शासन ने देखा अंधकार सा चारों ओर
जान पड़ा अंबर सा वह पट जिसका कोई ओर न छोर
आकर अकस्मात् अति भय सा उसके भीतर पैठ गया
कर जड़ हुए और पद काँपे, गिरता सा वह बैठ गया ।।[1]

अपनी बात को और अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए कवि वहाँ गांधारी को भी उपस्थित करता है, जिससे—

चौंक संभल कर पाप-सभा ने पुनः सभ्यता सी पाई ।[2]

३. **कृष्ण-दौत्य :** कृष्ण पांडवों की ओर से संधि-संदेश लेकर जाते हैं, किंतु दुर्मति दुर्योधन किसी प्रकार भी नहीं मानता, वरन् दूत वेषधारी कृष्ण को बंदी बनाने का अवैध कर्म करने को उद्यत होता है। तब वह अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं। उनके शरीर से ज्योतिपुंज तथा अँगूठे के बराबर देवता निकलने लगते हैं। उनके मस्तक पर ब्रह्मा, वक्षस्थल पर रुद्र दृष्टिगत होते हैं; यही नहीं युधिष्ठिर, भीमार्जुन, नकुल-सहदेव और बलराम भी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित दिखाई देने लगते हैं।[3] कृष्ण के नेत्रों, नासिकारंध्रों और कानों से सधूम अग्नि निकलने लगती है—

नेत्राभ्यां नस्ततश्चैव श्रोत्राभ्यां च समन्ततः।
प्रादुरासन्महारौद्राः सधूमाः पावकार्चिषः ।।[4]

उनके इस रूप के दर्शन कर भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर, संजय और तपस्वियों के अतिरिक्त सब डर जाते हैं। कृष्ण षोडश कला-अवतार हैं। फिर भी जब उन्होंने मानवावतार लिया है, तो कर्म भी मानवीय ही करने होंगे। वह महामानव भले ही बन जाएँ, किंतु मानवेतर नहीं। उक्त प्रसंग को हृदयंगम करने के लिए अंध-विश्वास अथवा अतर्क्य श्रद्धा की अपेक्षा है। आज का पाठक इसे गले से उतारने में असमर्थ है। अतः जयभारतकार ने इसे विवेक-सम्मत रूप देकर प्रस्तुत किया है—

दुर्योधन की ओर न जाने देखा[5] कैसे
परिकर समेत वह काँप कर वहीं लड़खड़ाता रहा
वे गए विदुर के गेह, वह बैठ बड़बड़ाता रहा ।[6]

यह विवरण अत्यंत संक्षिप्त होने पर भी बुद्धि-संगत एवं मनोवैज्ञानिक है।

४. **चित्रकूट की सभा में कैकेयी का सफाई पेश करना :** वाल्मीकि और तुलसी दोनों ही दुष्कर्मा कैकेयी को अपनी बात कहने का, पश्चाताप करने का अवसर नहीं देते। भरत द्वारा उसकी प्रतारणा अवश्य कराई जाती है—

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा विश दण्डकान् ।
रज्जुं बद्ध्वाथवा कण्ठे नहि तेऽन्यत्परायणम् ।।[7]

---

[1] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३८
[2] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३८,
[3] महाभारत, उद्योगपर्व,
[4] महाभारत, उद्योगपर्व,
[5] श्रीकृष्ण ने
[6] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृ० ३२४
[7] वाल्मीकीय रामायण—अयोध्याकांड

तुलसी की कैकेयी ग्लानि-गलित भी है, किंतु उसे कुछ बोलने का मौका नहीं दिया जाता। वह मृत्यु का आवाहन तो करती है, पर राम से प्रत्यावर्तन का आग्रह नहीं।[1] गुप्त जी सर्वप्रथम उसे अपनी सफाई पेश करने का सुयोग प्रदान करते हैं—

> **हाँ जन कर भी मैंने न भरत को जाना**
> **सब सुन लें तुमने स्वयं अभी यह माना**
> **यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया**
> **अपराधिन मैं हूँ तात तुम्हारी मैया।।[2]**

इस प्रकार मानववादी कवि ने प्रायश्चित के द्वारा कैकेयी के दोष-परिहार का प्रयत्न किया है।

इनके अतिरिक्त 'वक-संहार', 'नहुष', 'हिडिम्बा' आदि खंडों से संबद्ध उद्भानाएँ भी उल्लेखनीय हैं, किंतु उनका आलेखन मैं पहले ही कर चुका हूँ। ये नूतन कल्पनाएँ गुप्त जी के महाकाव्यों को मौलिकता प्रदान करने में सहायक हैं।

मौलिकता : वास्तव में किसी भी काव्य के लिए मौलिकता अनिवार्यतः अपेक्षित है। इसके अभाव में रचना की संपूर्ण साज-सज्जा, उसका समग्र भाव-वैभव व्यर्थ है। और फिर मैथिलीशरण के कथानक तो बहुश्रुत थे। यदि कवि नूतन रूप न दे पाता, तो उन्हें बार-बार कौन पढ़ता? यद्यपि संस्कारी कवि मैथिलीशरण गुप्त के हृदय में प्राचीनता के प्रति महती श्रद्धा है, तथापि उनके दोनों महाकाव्य मौलिक हैं। सर्वप्रथम तो उनमें मौलिकता है राष्ट्रीय मानवीय दृष्टिकोण की, जिसके कारण कि आदर्श एवं विवेक सम्मत घटना-विधान हुआ है। दूसरे कवि मूल कथानक के रस में परिवर्तन भी करता है। वाल्मीकीयरामायण का मुख्य रस करुण और रामचरितमानस का प्रधान रस शांत है, किंतु 'साकेत' का अंगी रस इन दोनों में से कोई न होकर श्रृंगार है। इसी प्रकार महाभारत का प्रधान रस शांत माना जाता है, पर गुप्त जी के 'जयभारत' का मुख्य रस वीर है। यह रस-परिवृत्ति विशेष चमत्कार की उत्पादक एवं उत्कृष्ट कवित्व शक्ति की परिचायक है। प्रबंधवक्रता का यह श्रेष्ठ रूप है। प्रबंधवक्रता के साथ-साथ इन काव्यों में प्रकरणवक्रता भी विद्यमान है। गुप्त जी बड़ी योग्यता से नीरस का त्याग करते हैं। लंकाकांड के चिरपरिचित इतिवृत्त का संक्षेपण तथा 'जयभारत' में आदिपर्व की अधिकांश घटनाओं की उपेक्षा इसी कारण हुई है। इसके विपरीत मैथिलीशरण रसपेशलता के निमित्त मूल में अविद्यमान प्रकरणों की परिकल्पना करते हैं। उदाहरणतः उर्मिला-लक्ष्मण प्रेम-परिहास, उर्मिला-विरह, भरत-मांडवी संवाद आदि रामकाव्य के लिए नूतन प्रसंग हैं। और कुंती में सहज मातृहृदय एवं हिडिम्बा में नारी-स्वभाव की स्थापना आदि महाभारत के लिए सर्वथा अपरिचित प्रकरण हैं। किंतु रस-संचार में समर्थ होने के कारण महाकाव्यों को अपूर्व दीप्ति एवं मौलिकता प्रदान करते हैं और पूर्वोल्लिखित उद्भावनाएँ तो नूतन अतएव मौलिक हैं ही। इसके अतिरिक्त कवि घटनाओं के क्रम में भी परिवर्तन करता है। महाभारत में नहुष-चरित अधिकांशतः उद्योगपूर्व के अंतर्गत आता है, पर जयभारत में उसे सर्वप्रथम स्थान मिला है। 'साकेत' में यह व्यक्तिक्रम और भी अधिक है। रामायणों के बाल कांड की कथा उसके दशम सर्ग में आती है—उर्मिला स्मृति-रूप में सरयू को पूर्वकथाएँ सुनाती है। इस प्रकार गुप्त जी विश्वविख्यात एवं परंपरागत कथानकों में भी मौलिकता के दुष्कर समावेश में कृतकार्य हैं। और यह कृतकार्यता निश्चित रूप से उनकी सफल प्रबंध-कल्पना की परिचायक है।

वस्तु-संघटना : मौलिकता के साथ ही कथानक की क्रमबद्धता भी अनिवार्य है। महाकाव्य चाहे घटना-प्रधान हो और चाहे चरित्र-प्रधान, उसमें वस्तु का विशेष महत्व है। अतएव स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने उसकी संघटना की ओर विशेषतः ध्यान आकृष्ट कराया है। कथानक की सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि उसके आदि, मध्य, अवसान स्पष्ट हों। और संपूर्ण घटनाएँ एक ही मुख्य घटना में पर्यवसित हो जायें।

---

[1] अवनि जमहिं जांचति कैकेयी।
महि न बीचु विधि मीचु न देई।। —रामचरितमानस, अयोध्याकांड

[2] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७८

मैथिलीशरण के महाकाव्यों में सर्वथा स्पष्ट न होने पर भी आदि, मध्य एवं अवसान का संधान असंभव नहीं। 'साकेत' के प्रथम आठ सर्गोंको आदि, नवम और दशम को मध्य तथा शेष दो को अवसान के अंतर्गत परिगणित किया जा सकता है। इसी तरह 'जयभारत' में नहुष से लेकर लक्ष-वेध तक के १३ प्रकरणों को आदि, इंद्रप्रस्थ से बृहन्नला तक के १७ खंडों को मध्य और शेष कथा को अवसान मान सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि संपूर्ण कथा की व्यवस्था का बराबर ध्यान रखता है। साथ ही वह घटना-ऐक्य को अनिवार्यत: अपेक्षित मानता है। उसके दोनों महाकाव्य मेरे इस कथन के साक्षी हैं। 'साकेत' का मुख्य कार्य है लक्ष्मण-उर्मिला मिलन—प्राय: सब घटनाएँ उसी से संबद्ध हैं। प्रथम सर्ग का प्रेमालाप बाद के विरह की तीव्रानुभूति में सहायक है। मंथरा-कैकेयी-संवाद और फिर राम-वनवास तो वियोग के कारण हैं ही। इसके पश्चात् भरतागमन वर्णित है, जिससे कि चित्रकूट सभा का आयोजन होता है—उस आयोजन से एक बार आशा होती है कि शायद राम और उनके साथ ही लक्ष्मण लौट आएँ। नवम-दशम सर्गों में उर्मिला-विरह है, जो उसकी प्रेमानुभूति का व्यंजक है। शेष दो सर्गों में लंकायुद्ध का कथन है, जिसमें विजय-प्राप्ति पर लक्ष्मण-उर्मिला का संयोग निश्चित है। अंत में दोनों के मिलन पर पुस्तक समाप्त होती है। उधर 'जयभारत' का कार्य है, दुर्योधन पर युधिष्ठिर की विजय। उसमें प्रथम चार प्रकरण युधिष्ठिर एवं दुर्योधन की वंश-परंपरा के परिचायक हैं। पंचम खंड बंधु-विद्वेष में वर्णित कौरवों और पांडवों का जन्मजात वैरभाव 'जयभारत' के कार्य का प्रवर्तक है ही। द्रोणाचार्य और एकलव्य प्रसंगों में दुर्योधन का द्वेष और भी स्पष्ट हो जाता है। इसके आगे की मुख्य घटनाओं—परीक्षा के अवसर पर अपमानित कर्ण से दुर्योधन की मित्रता, द्रोण द्वारा अनादृत द्रुपद की तपस्या से द्रौपदी और धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति तथा लाक्षागृह प्रसंग आदि का युद्ध से सहज संबंध है। लक्ष-वेध, इंद्रप्रस्थ-स्थापन, एवं राजसूय से दुर्योधन के मन में ईर्ष्या होती है, जिससे द्यूत का आयोजन होता है। यह द्यूत ही तो कलह-मूल है। वनवास में पांडव दिव्यास्त्र प्राप्त करते हैं, अनेक कष्ट भोगते हैं—इनसे युद्ध निश्चित हो जाता है। फिर भी दूत भेजे जाते हैं, कृष्ण शांति-संदेश लेकर जाते हैं—किंतु सब निष्फल। यह असफलता भी युद्ध से संबद्ध है। युद्ध होता है और उसके परिणामस्वरूप ही बाद में हत्या, विलाप तथा पांडवों में विरक्ति की प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार 'जयभारत' का मुख्य कार्य महाभारत का युद्ध ही है और प्राय: अन्य सभी घटनाएँ उससे संबद्ध हैं।

घटना की एकता का विशेष ध्यान रखने के कारण उक्त महाकाव्यों में घटना-ऐक्य सिद्ध तो होता है, किंतु सर्वथा निर्दोष नहीं। बहुत से प्रसंगों का मनोयोगपूर्वक अंकन होने पर भी कार्य से सहज सम्बन्ध नहीं है, जैसे 'साकेत' में दशरथ-मरण, भरत-आगमन, गुहराज-मिलन, चित्रकूटस्थ राम-सीता की गृहस्थी का वर्णन आदि प्रत्यक्षत: मुख्य कार्य से संबद्ध नहीं हैं। जयभारत के वक-संहार, द्रौपदी और सत्यभामा, सैरंध्री आदि खंडों की भी यही दशा है। सर्वप्रथम अध्याय नहुष का अनपेक्षित विस्तार भी खटकता है। नहुष निस्संदेह कुरुकुल के पूर्वपुरुष हैं, अत: वंशवृक्ष-आलेखन के नाते उनका संक्षिप्त विवरण अवश्य आ सकता था—१३ पृष्ठ का आख्यान-प्रणयन नहीं। स्वरचित प्रबंधों में इन त्रुटियों की अवस्थिति में भी, गुप्त जी का प्रयास यही रहता है कि प्रत्येक घटना मुख्य कार्य में बाधक अथवा साधक बन कर आए, उससे सर्वथा असम्पृक्त नहीं। इसके निराकरणार्थ ही तो उन्होंने रामायणों के बालकांड की कथा का प्रारंभ में अंकन न कर उर्मिला-स्मृति रूप में उपयोग किया है। और महाभारत के आदिपर्व के प्रारंभिक कई प्रसंगों का सर्वथा त्याग ही कर दिया है।

वस्तु-संघटना के विषय में यह भी उल्लेख्य है कि मैथिलीशरण महाकाव्य में स्थान-ऐक्य को अनिवार्य नहीं मानते। चौबीस-पच्चीस वर्ष पूर्व अर्थात् 'साकेत' की रचना के समय तो वह इसे भी आवश्यक समझते थे। इसीलिए 'साकेत' में बलात् स्थल-ऐक्य सिद्ध किया था—उसके लिए संपूर्ण साकेत-समाज को चित्रकूट उठा ले गए थे।[1] किंतु अब उनकी इस धारणा में परिवर्तन हो गया है। आज वह महाकाव्य के लिए स्थान-ऐक्य को अनिवार्यत: आवश्यक नहीं मानते। 'जयभारत' इसका ज्वलंत प्रमाण है।

---

[1] 'साकेत'—अष्टम सर्ग

रोचकता और औत्सुक्य : किसी भी कथाश्रित काव्य के लिए रोचकता परम अपेक्षित गुण है, जिससे उसमें पाठक की उत्सुकता बनी रहे। और रोचकता का आधार है कौतूहल। आद्यंत कौतूहल बनाए रखने के लिए मैथिलीशरण पर्याप्त प्रयत्न करते हैं। 'साकेत' एवं 'जयभारत' के चिरपरिचित कथानकों में कौतूहल की प्रतिष्ठा दुस्साध्य थी। किंतु गुप्त जी ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं एवं नवीन व्याख्याओं द्वारा उसका सफल समावेश किया है : लक्ष्मण-उर्मिला के रुचिर संयोग, चित्रकूट-सभा में कैकेयी की सफाई, अयोध्यावासियों की रण-सज्जा आदि प्रसंगों ने तथा द्रौपदी-पंचपत्नीत्व, द्रौपदी-चीरहरण, कृष्ण-दौत्य आदि प्रकरणों के पुनर्व्याख्यान ने वस्तु को काफी रोचक बना दिया है। इन नवीन कल्पनाओं के अतिरिक्त कौतूहल की सृष्टि के लिए कवि कई युक्तियों का प्रयोग करता है—

१. **तीव्र आलोकमय उपस्थिति** : कवि कभी-कभी इस नाटकीय कौशल से दृश्य उपस्थित करता है कि विचार-प्रवाह की दिशा ही एकदम परिवर्तित हो जाती है। इस अकस्मात् परिवृत्ति को पाठक देखता ही रह जाता है। एक उदाहरण लीजिए—शांति-संदेश लेकर दुर्योधन के पास जाने के लिए प्रस्तुत कृष्ण को युधिष्ठिर कहते हैं कि हम केवल पांच गाँव लेकर ही संतुष्ट हो सकते हैं। यह बात चल ही रही थी कि इतने में—

सहसा सभा की भाव-गति में एक भन्नाटा हुआ
झंझागमन के पूर्वका-सा घोर सन्नाटा हुआ
तत्काल बिजली सी चमक चौंकी वहां कृष्णा कृशा।[1]

शम्पा सदृश इस तीव्र उद्भास से अभिभूत पाठक की चेतना को एक सुखद झटका लगता है, जिससे उसे एकरसता-जन्य अरुचि के स्थान पर मधुर तारल्य का अनुभव होता है।

२. **संभाव्य का असंभावित प्रस्ताव** : इन पूर्व परिचित कथाओं की जानीबूझी घटनाओं को भी मैथिलीशरण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं मानो वे आकस्मिक हों। 'साकेत' के द्वितीय सर्ग में राम-अभिषेक के समाचार से सुसज्जित साकेत-नगरी के अपरिमित उल्लास का वर्णन करता हुआ कवि कह रहा है—

मोद का आज न ओर न छोर,
आम्रवन-सा फूला सब ओर।।[2]

पाठक मंत्रमुग्ध हो कवि के साथ-साथ झूम रहा है, पर अगली ही पंक्तियाँ—

किंतु हा! फला न सुमन क्षेत्र,
कीट बन गए मंथरा नेत्र।।[3]

पढ़ कर वह चमक उठता है। यद्यपि यह बात निश्चित है, और वह इसे जानता भी है। फिर भी इसका असंभावित उपस्थितीकरण सर्वथा नवीन, अतएव कथा की रोचकता का अभिवर्द्धक है।

३. **नाटकीय वैषम्य** : कौतूहल बनाए रखने के लिए मैथिलीशरण नाटकीय विषमता का भी प्रयोग करते हैं। 'साकेत' के अष्टम सर्ग में चित्रकूट-स्थित राम-सीता दम्पति आनंदमग्न है। राम को लक्ष्य कर सीता कहती है—

हो सचमुच क्या आनंद छिपूं मैं बन में
तुम मुझे खोजते फिरो गंभीर गहन में।।[4]

इसके काफी देर बाद हनुमान द्वारा सीता-हरण का समाचार मिलने पर सीता की यह उक्ति अनायास ही याद आ जाती है, जो निश्चित रूप से विस्मयकारी है। यह तो हुई शाब्दिक विषमता। अब 'जयभारत' से परिस्थिति की विषमता का एक उदाहरण लीजिए। 'परीक्षा' खंड में अर्जुन की प्रशंसा श्रवण कर कर्ण प्रतियोगी के रूप में मैदान में उतर आते हैं, तब युधिष्ठिर अपने मन में सोचने लगते हैं कि यह कैसा वैषम्य

---

[1] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३०४
[2] 'साकेत', संस्करण, संवत् २००५, पृष्ठ ३२
[3] 'साकेत', संस्करण, संवत् २००५, पृष्ठ ३२
[4] 'साकेत', संस्करण, संवत् २००५, पृष्ठ १६३

है—'इसमें[1] ईर्ष्या जगी किंतु मुझमें क्यों ममता'।[2] युधिष्ठिर की इस अप्रत्याशित ममता का भेद कुंती के मूर्च्छित होने पर कवि की निम्न उक्ति से स्पष्ट होता है—

कर्ण उसी का[3] पूत सूत के यहाँ पला था
धर्मराज से बड़ा भाग्य ने जिसे छला था।[4]

पाठक तो इस रहस्य से यहीं परिचित हो जाता है, किंतु युधिष्ठिर वर्षों अनभिज्ञ रहते हैं। उन्हें तो 'अंत' में दाहकर्म के अवसर पर इस बात का पता चलता है। कुंती कहती है, 'वत्स कर्ण को भी अंजलि दो निज अग्रज के नाते'।[5] यह सुनते ही युधिष्ठिर को तो मानो काठ मार जाता है, किंतु पाठक इस बात को पहले से ही जानता है। परिस्थिति की यह विषमता कितनी करुण-मधुर है।

इस प्रकार गुप्त जी अपनी उद्भावनाओं एवं युक्तियों द्वारा परंपरागत कथानकों में भी रोचकता के सृजन में सफल हुए हैं। अपेक्षाकृत 'साकेत' अधिक रोचक है। उसमें उर्मिला के अपरिचित व्यक्तित्व के संस्पर्श से मधुर तरलता आ गई है; किंतु 'जयभारत' में ऐसी कोई परिकल्पना नहीं है। दूसरे उसकी घटना-संकुलता भी रोचकता में बाधक हुई है।

गति और अनुपात : रोचकता के साथ ही वस्तु की गति एवं अनुपात का प्रश्न सामने आता है। यहां गति से तात्पर्य है कथा-प्रवाह और अनुपात से अभिप्रेत है कथानक के विभिन्न अवयवों के परिमाण में सापेक्षिक सम्बन्ध। सफल प्रबंधकाव्य में गति तथा अनुपात औचित्य की सीमा में रहने चाहिएँ अर्थात् वस्तु के भिन्न-भिन्न अंगों की गति और अनुपात में अतर्क्य वैषम्य नहीं होना चाहिए। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि मैथिलीशरण इनके प्रति सचेत नहीं हैं। उनके दोनों महाकाव्यों की गति में अत्यधिक विषमता है। 'साकेत' के आरंभिक आठ सर्गों में अत्यंत मंथरता तथा अंतिम दो सर्गों में अत्यधिक तीव्रता है। इसी प्रकार 'जयभारत' के प्रथम दो खंडों—'नहुष' तथा 'यदु और पुरु' की गति में आकाश-पाताल का अंतर है, यद्यपि वे दोनों ही वंश-परंपरा के परिदर्शनार्थ आए हैं। गति के साथ ही अनुपात भी असम है। एक ओर तो संपूर्ण नहुष आख्यान है, दूसरी ओर मत्स्यगंधा एवं पराशर मुनि का वृत्तांत एक ही पंक्ति में उल्लिखित है—

नया जन्म सा दिया पराशर मुनि ने मुझे[6] किया धन्या[7]।

इसी तरह हिडिम्बा, वक-संहार सैरंध्री-कीचक आदि प्रसंगों का विस्तृत विवेचन है। किंतु अर्जुन-उलूपी तथा चित्रांगदा-अर्जुन ये दो वृत्त केवल छः पंक्तियों में आबद्ध हैं।[8] 'साकेत' की भी यही दशा है—प्रथम आठ सर्गों में केवल कुछ दिन की कथा है। और चौदह लंबे वर्षों का वृत्तांन्त कुल चार सर्गों में समाहित है। गति और अनुपात का यह वैषम्य सर्वथा अकारण नहीं है। किंतु इस विषमता के लिए अनेक कारणों के उत्तरदायी होने पर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि गुप्त जी इस ओर से सावधान नहीं हैं, और स्पष्ट शब्दों में वह गति एवं अनुपात के साम्य-असाम्य की विशेष चिंता नहीं करते।

मूल्यांकन : उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से स्पष्ट है कि मैथिलीशरण की वस्तु-विषयक प्रायः सभी धारणाएँ शास्त्र-सम्मत हैं। वह लोक-प्रख्यात, विस्तृत और सदाश्रित कथानक अपनाते हैं। किंतु उनकी प्रकृति अतिरिक्त प्रसिद्ध कथानक की ओर है। 'साकेत' और 'जयभारत' की कथाएँ प्रसिद्ध ही नहीं, प्रत्येक भारतीय पाठक की जिह्वा पर किंवा उसकी रग-रग में समाई हुई हैं। साथ ही, उनके विषय में वाल्मीकि, तुलसी और व्यास अपने ढंग पर अंतिम बात कह चुके थे। इन विषयों पर अपेक्षाकृत कम लिखा जाना मेरे इस कथन का प्रमाण है। ऐसी लब्धख्याति एवं चरम विकसित कथावस्तु में मौलिकता तथा रोचकता का सृजन दुष्कर होता है। तथापि कवि ने इन्हें मौलिक रूप देने के लिए अतुल प्रयास किया है। कविकृत प्रबंध एवं प्रकरण की वक्रता तथा अन्य अनेक युक्तियों का प्रयोग स्तुत्य ही है। निश्चित रूप से वह मौलिकता माइकेल

---

[1] कर्ण में
[2] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५२
[3] कुन्ती का
[4] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५३
[5] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४१९
[6] मत्स्यगंधा को
[7] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ २३
[8] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२४

मधुसूदनकृत 'मेघनाद-वध' जैसी नहीं है। यह कवि का अपना दृष्टिकोण है। युगधर्म के अनुसार कथा का पुनर्व्याख्यान होने पर भी उनके परंपरागत रूप की क्षति नहीं हुई है; साथ ही रक्षा हुई है विषय की गरिमा की, जिसका कि 'मेघनाद-वध' में अभाव है। तात्पर्य यह कि मैथिलीशरण मौलिकता अथवा नूतनता के चक्कर में मूलभूत गरिमा की उपेक्षा नहीं करते; और रोचकता तो इनमें पूर्व कथाओं से किसी प्रकार भी कम नहीं है, वरन् उर्मिला-वृत्त के संश्लेषण से 'साकेत' रामायणों की अपेक्षा (श्रद्धालु भक्त क्षमा करें) अधिक कौतूहलपूर्ण अतएव रोचक बन गया है। निष्कर्षतः मैथिलीशरण द्वारा स्वीकृत इन कथानकों में महाकाव्योचित विराटता, व्यापकता एवं गांभीर्य है।

किंतु गुप्त जी का वस्तु-विधान सर्वथा निर्दोष नहीं है। उदाहरण के लिए सबसे पहले तो महाकाव्यों की वस्तु का अनियंत्रित विस्तार ही खटकता है। वह अत्यंत विशद एवं विशाल घटनाचक्र का चयन करते हैं। 'साकेत' की वस्तु दो महाकाव्यों के लिए पर्याप्त है—उसमें लक्ष्मण-उर्मिला तथा राम-सीता की दो वृहत् कथाएँ आबद्ध हैं। और 'जयभारत' के मूलस्रोत महाभारत की कथावस्तु से तो निर्विवादतः अनेक महाकाव्यों का निर्माण हो सकता है, वरन् किसी ने संपूर्ण कथानक को अपनी कृति का विषय बनाया ही नहीं। किराता-र्जुनीय, शिशुपाल-वध आदि सभी महाकाव्यों में इस महत् कथा से कोई एक महत्त्वपूर्ण घटना गृहीत है। किंतु मैथिलीशरण ने 'जयभारत' में उसे प्रायः समग्र रूप में अपनाया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी वस्तु-परिमाण-विषयक धारणा निर्भ्रांत नहीं है। उसका (वस्तु का) परिमाण इतना होना चाहिए, जितना कि स्मरणशक्ति वा मनश्चक्षु स्वीकार अथवा धारण कर सके।[1] परंतु व्यापकता के अन्वेषी मैथिलीशरण इस बात का ध्यान नहीं रखते। इसीलिए उनके महाकाव्यों की वस्तु में अनपेक्षित विस्तार एवं जटिलता है। कथानक के इस विस्तार और जटिलता एवं तज्जन्य शैथिल्य के लिए आंशिक रूप में कवि की श्रद्धा भी उत्तर-दायी है। यदि वह रामकथा-आलेखन और महाभारत के संपूर्ण कथा-वर्णन का लोभ संवरण कर पाता, तो निश्चित रूप से अधिक व्यवस्थित, सुसंघटित एवं कलापूर्ण महाकाव्य दे पाता।

महाकाव्य की वस्तु में समुचित गति और अनुपात के प्रति उदासीनता प्रबंध काव्यकार के लिए दोष है—कुछ प्रसंगों में रम जाना और कुछ को चलता कर देना अपरिहार्य त्रुटि है। किंतु गुप्त जी इन बातों की चिंता नहीं करते। 'साकेत' के दशरथ-मरण, गुहराज-मिलन, भरत-शत्रुघ्न आगमन, वनवासी राम-सीता की गृहस्थी तथा 'जयभारत' के नहुष-आख्यान, वन-वैभव, वक-संहार, सैरंध्री-कीचक आदि प्रसंगों में उनकी वृत्ति ऐसी रमी कि वे कुछ स्वतंत्र से प्रतीत होते हैं, उनका अपना महत्व हो गया है। अन्य अनेक प्रकरण—बालि-वध, अर्जुन-उलूपी प्रसंग तथा अर्जुन-चित्रांगदा वृत्त आदि—चलते कर दिए गए हैं। यह असंतुलन महाकाव्य की प्रकृत शोभा के लिए हानिकर है। वस्तुतः उपर्युक्त प्रसंगों में कवि "रस के प्रवाह में ठीक उसी प्रकार बह गया है, जिस प्रकार प्रेमचंद जी 'रंगभूमि' के कुछ प्रासंगिक स्थलों में।"[2] यह कवि की अपनी सीमा है—और शक्ति भी! क्योंकि यदि इन प्रसंगों को छोड़ या संक्षिप्त कर दिया जाए, तो 'साकेत' और 'जयभारत' का अधिकांश काव्य-वैभव निःशेष हो जाए।

अब रही कवि की स्थान-ऐक्य विषयक धारणा। वह वास्तव में आवश्यक नहीं है और मैथिलीशरण जी भी उसे महाकाव्य के लिए आवश्यक नहीं समझते। यूरोप के आचार्यों ने भी स्थल-ऐक्य का निर्देश केवल नाटकों के लिए किया था, क्योंकि उनके देश में रंगमंच पर पट आदि की व्यवस्था न होने से दृश्य-परिवर्तन असंभव था। किंतु आज तो नाटकों के लिए भी यह नियम अनिवार्य नहीं रहा; फिर महाकाव्य पर, जिसका कि मंच से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, यह कैसे लागू किया जा सकता है। उसमें तो अनेक स्थलों से संबद्ध घटनाओं का प्राक्कथन सुगमता से हो सकता है। अभिप्राय यह कि स्थान-ऐक्य के अभाव को महाकाव्य में दोष नहीं कहा जा सकता। हाँ, घटना-ऐक्य अनिवार्यतः आवश्यक है। उसका मैथिलीशरण यथाशक्ति निर्वाह करते ही हैं।

---

[1] The whole, he (Aristotle) says, must be of such dimensions that the memory or mind's eye can embrace or retain it.

[2] डॉ० नगेन्द्र—'साकेत : एक अध्ययन', पंचम संस्करण, पृष्ठ १६

इस प्रकार गुप्त जी के कथानक उदात्त एवं ऐतिहासिक तो हैं, उनमें अपेक्षित गंभीरता और गरिमा भी है, साथ ही रोचकता भी। किंतु उनमें वांछित अनुपात की कमी है। कवि ने यद्यपि अन्विति-सूत्र को सप्रयास अक्षुण्ण रखा है, पर वस्तु के अंगों में कसावट नहीं है। फिर भी सब मिला कर वाल्मीकि, तुलसी और व्यास के कथानकों को लेकर इतनी सफलता भी श्लाघनीय प्रबंध-कौशल की द्योतक है।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण महाकाव्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। काव्य की इस विधा में आदर्श जीवन का पूर्ण विश्लेषण होता है। उसमें महच्चरित्रों का अंकन होता है। अतः महाकाव्य के प्रमुख पात्र गंभीर एवं ओजस्वी होने चाहिए, जिनका मानवजीवन पर स्वस्थ प्रभाव पड़े। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ महाकाव्य के लिए 'धीरोदात्त गुण समन्वित' नायक अनिवार्य मानते हैं। वस्तुतः सच्चरित्र महान पात्रों की सर्जना में ही महाकाव्यकार की सफलता अंतर्निहित है। किंतु चरित्र-चित्रण में मैथिलीशरण के समक्ष बड़ी जटिल समस्या थी। उनके सभी पात्र पूर्वकल्पित थे अर्थात् अपने गुण-अवगुणों के लिए चिरकाल से प्रसिद्ध थे। यदि कवि उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार करता है,तो मौलिकता का प्रश्न सामने आता है, और यदि उन पात्रों को छोड़ता है, तो ऐतिहासिकता एवं लोकप्रसिद्धि पर आघात होता है। ऐसी दशा में समाधान है केवल पुनस्सृजन एवं पुनस्स्पर्श। गुप्त जी इन्हीं का आश्रय ग्रहण करते हैं। पुनर्निर्माण के अतिरिक्त वह चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता, सहज मानवीयता, पूज्य पात्रों की गौरव-रक्षा एवं प्रमुख पात्रों की धीरोदात्तता आदि का भी विशेष ध्यान रखते हैं।

पुनस्स्पर्श : परंपरागत ऐतिहासिक चरित्रों में मैथिलीशरण परिवर्तन प्रायः नहीं करते, फिर भी पुनस्स्पर्श अवश्य करते हैं। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, उर्मिला, मांडवी, कैकेयी, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, द्रौपदी, दुर्योधन, कुंती और कर्ण आदि मैथिलीशरण के महाकाव्यों के प्रमुख पात्र हैं। इनमें से उर्मिला, कैकेयी, मांडवी एवं दुर्योधन के अतिरिक्त शेष सभी पात्र परंपरायुक्त हैं तथापि पुनस्स्पर्श से पर्याप्त अंतर आ गया है। वाल्मीकि के राम महामानव हैं; और तुलसी के आराध्य नर होते हुए भी नारायण हैं। उनका अवतार ही 'विनाशाय च दुष्कृताम्' हुआ था, किंतु गुप्त जी के राम निश्चित रूप से भगवान हैं—

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?[1]

उक्त पंक्ति में परिव्यक्त जिज्ञासा मेरे इस कथन की परिचायक है। पर वह भगवान होते हुए भी मनुष्य-कर्म करते हैं। वह कबीर के समान 'साहब का संदेस' नहीं लाए, वरन् 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने'[2] आए हैं। लक्ष्मण का व्यक्तित्व कुछ अधिक तीखा हो गया है। यदि उनकी कुछ पंक्तियाँ—

खड़ी है मां बनी जो नागिनी यह
अनार्या की जनी हतभागिनी यह
अभी विष दंत इसके तोड़ दूंगा
न रोको तुम तभी मैं शांत हूंगा।[3]

को प्रकरण से पृथक् करके देखा जाए, तो कदाचित् उनके प्रति अश्रद्धा ही उत्पन्न होगी। किंतु ये विषमय वचन भी प्रसंग-प्राप्त हैं—और यहां पर निश्चित रूप से पाठक का लक्ष्मण से साधारणीकरण हो जाता है। भरत की साधुता में वृद्धि हो जाती है और 'साकेत' के शत्रुघ्न भी अन्य रामायणों से अधिक क्रियाशील हैं। युधिष्ठिर परंपरा से श्रेष्ठ पात्र हैं, किंतु 'जयभारत' में उनका चरित्र और भी निखर आया है। भीम महाभारत के काफी उद्दंड पात्र हैं—शायद यह शारीरिक बल की अनिवार्य सीमा है। 'जयभारत' में भी उद्दंडता बनी हुई है, पर वह अमर्यादित नहीं है। महाभारत के क्रोधांध भीम द्रौपदी-चीरहरण प्रसंग में युधिष्ठिर को उसके लिए उत्तरदायी बता कर उनके हाथ तक जलाने को उद्यत हैं—

[1] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ९
[2] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६७
[3] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ६१

त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः
अस्याः कृते मन्युरयं त्वयिराजान्निपात्यते
बाहू ते संप्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय ।[1]

पर गुप्त जी ने इस वाक्य को दूसरे पक्ष में लगाकर अमर्यादित होने से बचा लिया—

दुर्योधन की जाँघ न तोड़ूँ तो मैं अपना सिर फोड़ूँ,
यदि मैं कभी प्रतिज्ञा छोड़ूँ तो पितरों से मुँह मोड़ूँ
यहाँ हमारे होते कृष्णा जिनके कारण हुई अनाथ
तुम सहदेव अग्नि लाओ मैं अभी जला दूँ उनके हाथ ।[2]

इस प्रकार भीम का औद्धत्य कम किया गया है ।

युधिष्ठिरेतर पांडवों एवं द्रौपदी के चरित्रों में सर्वाधिक परिवर्तन हुआ है देहपात-प्रसंग में । महाभारतकार ने तो यहाँ युधिष्ठिर के अतिरिक्त सभी को सदोष बताया है । उदाहरणतः अर्जुन के पतन पर युधिष्ठिर कहते हैं—

एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत्
न च तत्कृतवा नेष शूरमानी ततोऽपतत् ।।[3]

ऐसे सर्वसहा व्यक्तियों को भी अंत में दोषी बताया जाता है—उनके प्रति पाठक के मन में जमी हुई पूज्य भावना मानो खरौंच दी जाती है । किंतु गुप्त जी के युधिष्ठिर देह-पात के कारणों के चक्कर में न पड़कर अपने को बंधन-मुक्त देखते हैं, जैसे द्रौपदी के गिरने पर उनका कथन है—

तुम नहीं गिरी अर्जुन के प्रति
यह पक्षपातिता मेरी ही ।[4]

और सब के पतन पर वह शुद्ध-बुद्ध आत्मा रह जाते हैं । इससे एक तो पांचाली तथा अनुजों के चरित्र अधिक उज्ज्वल बन जाते हैं, दूसरे युधिष्ठिर की उदार भावना का परिचय मिलता है । गुप्त जी के धृतराष्ट्र एक विवश पिता हैं, पुत्र जिनकी सुनता ही नहीं वरन् मनमानी करता है । विवशता का प्रदर्शन तो महाभारत में भी हुआ है । किंतु वहाँ धृतराष्ट्र वास्तव में कपटी हैं, अनेक दुरभिसंधियों में उनका भी हाथ है । 'जयभारत' में धृतराष्ट्र मोहांध तो अवश्य हैं, पर छल-कपट से सर्वथा शून्य हैं ।

स्त्री-पात्रों में उर्मिला तो कवि की अपनी उर्वर कल्पना की ही सृष्टि है—कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता का परिहार भी तो 'साकेत' का उद्देश्य था । सीता परंपरागत आर्या रूप में ही प्रतिष्ठित हैं, किंतु जगदंबा होते हुए भी उनमें मानवीयता का कुछ अधिक समावेश हो गया है । देखिए, कितना सहज-सात्विक पर सर्वथा मानवीय चित्रण है—

गोट जड़ाऊँ घूँघट की बिजली जलदोपम पट की,
परिधि बनी थी विधु-मुख की, सीमा थी सुषमा सुख की ।[5]

तथापि उनका आर्यत्व अखंड है । मांडवी का संपूर्ण वृत्त कल्पना-प्रसूत है । पूर्व रामायणों में कहीं भी उनका चित्रण नहीं । गुप्त जी ने भरत के अनुरूप ही उनकी चरित्र-सर्जना की है । कुंती में मैथिलीशरण ने क्षत्रियत्व के साथ-साथ मातृ-हृदय की भी प्रतिष्ठा की है—'वक-संहार' प्रसंग में मैं पहले ही इसका उल्लेख कर चुका हूँ । द्रौपदी केवल भावमयी नहीं रही, उनके व्यक्तित्व में बौद्धिकता का भी समावेश हुआ है । अतएव दो-एक स्थलों पर उनके तर्क में पर्याप्त तीक्ष्णता है ।

---

[1] महाभारत—सभापर्व
[2] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३८
[3] महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व
[4] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३१
[5] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ७२

संगति : पात्रों के पुनर्निर्माण में कवि की दृष्टि स्वाभाविकता एवं संगति की ओर भी रही है। इस युग में चरित्रगत अस्वाभाविकता एवं असंगति ही कवि को सर्वाधिक अखरती है। गुप्त जी उनका विवेक-सम्मत परिहार करते हैं। उदाहरणतः रामायणों में लक्ष्मण को एक ओर तो अत्यंत क्रोधी और कर्मठ तथा दूसरी ओर राम-सीता के समक्ष निर्जीव एवं निष्क्रिय कठपुतली-सा प्रदर्शित किया गया है—कैसी विचित्र बात है! साकेतकार सर्वप्रथम इस असंगति को पहचानता है। राम के सम्मुख नतशिर तो 'साकेत' के लक्ष्मण भी हैं, किंतु वह अवसर आने पर—

प्रतिषेध आपका भी न सुनूंगा रण में।[1]

की घोषणा भी कर सकते हैं। मैं समझता हूँ, यह उक्ति लक्ष्मण के चरित्र के अनुरूप ही है और उसे स्वाभाविकता प्रदान करती है। ऐसी ही एक असंगति थी युधिष्ठिर के चरित्र में। महाभारत में वह सहगामी श्वान को तो त्याग कर स्वर्गारोहण के लिए राज़ी नहीं होते। पर स्वर्गस्थ दुर्योधन को देखते ही उबल पड़ते हैं। दुर्योधन के साथ उन्हें स्वर्ग में रहना भी स्वीकार्य नहीं—

अस्ति देवा न मे कामः सुयोधनमुदीक्षितुम्।[2]

मानव-महत्व के प्रतिष्ठापक मैथिलीशरण इस त्रुटि का निराकरण करते हैं और सर्वभूतहितकामना के विश्वासी युधिष्ठिर को वहाँ प्रसन्न ही दिखाते हैं, उद्विग्न नहीं।[3] इस प्रकार गुप्त जी चरित्रों से अनौचित्य एवं असंगतियों का परिहार कर, उन्हें स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न करते हैं।

सहज मानवीयता की खोज : मैथिलीशरण जहाँ चरित्रगत असंगतियों का निराकरण कर उन्हें स्वाभाविक रूप देते हैं, वहाँ पात्र में सहज मानवीयता की स्थापना भी करते हैं। प्रकृति-भेद से चरित्र दो प्रकार के हुआ करते हैं—आदर्श और सामान्य। सात्विक अथवा तामस प्रकृति के पात्र आदर्श और राजस प्रकृति के चरित्र सामान्य होते हैं। इन्हें मानवीय और अतिमानवीय भी कहा जा सकता है। गुप्त जी आदर्श पात्रों में भी मानवीय गुण-दोषों का संधान करते हैं—अतिमानवीयता के स्थान पर मानवीय शक्ति का विकास दिखाते हैं। सिद्धांततः वह राम में ईश्वरत्व का आरोप करते हैं, फिर भी चित्रण मानव रूप में ही हुआ है। राम और सीता के दाम्पत्य में सद्गृहस्थी का स्वस्थ निदर्शन है।[4] राम में मानव-सुलभ दुर्बलता भी है—पिता की मृत्यु से अवगत होते ही साधारण मनुष्य के समान उनका गला रुंध जाता है, नेत्रों में आँसू छलछलाने लगते हैं। इतना ही नहीं, वह अपने को निस्सहाय, निरवलंब, अनुभव करते हैं और ब्रह्मर्षि वसिष्ठ से पितृ-तुल्य रहने की प्रार्थना करते हैं।[5]

सीता भी एक कुलवधू के रूप में उपस्थित हुई हैं। 'साकेत' के चतुर्थ सर्ग की सीता में शुद्ध मानवीय रंग है। उधर 'जयभारत' में कृष्ण सर्वपूज्य पात्र हैं—किंतु हैं मानव ही। वह महामानव भले ही बन गए हैं, पर महाभारत के समान अतिमानव नहीं। महाभारत में कृष्ण जब युधिष्ठिर की ओर से शांति-संदेश लेकर जाते हैं, तो दुर्योधन द्वारा उनको बाँधने का प्रयत्न होने पर उनके शरीर में ही अनेक देवता और भीमार्जुन आ जाते हैं।[6] किंतु जयभारतकार के अनुसार अतिमानवीय शक्तियाँ नहीं आतीं। केवल कृष्ण के दृष्टि-निक्षेप के प्रभाव से दुर्योधन लड़खड़ाकर गिर पड़ता है।[7] यह तो हुई सात्विक आदर्श पात्रों की बात। रावण परंपरा से तामस आदर्श है। कवि ने उसकी अतिमानवीय शक्तियों का भी उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार वह आदर्श चरित्रों में भी सहज मानवता का समावेश करता है।

धिक्कृत पात्रों का परिष्कार : आदर्श चरित्रों में मानवीयता की प्रतिष्ठा के साथ मैथिलीशरण दूषित पात्रों का उद्धार भी करते हैं—वह धिक्कृत पात्रों के भी आंतरिक सौंदर्य का उद्घाटन करते हैं। भारतीय

---

[1] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७०
[2] महाभारत—स्वर्गारोहण पर्व
[3] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३७
[4] 'साकेत', अष्टम सर्ग
[5] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७४
[6] महाभारत—उद्योगपर्व
[7] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२४

साहित्य के चिरकलंकित पात्रों—कैकेयी और दुर्योधन की तो उन्होंने काया ही पलट दी है। कैकेयी के लिए पुत्र-प्रेम अभिशाप बनकर आता है और वह सदैव को कलंकित हो जाती है। किंतु गुप्त जी ने चित्रकूट-सभा में कैकेयी को सफाई पेश करने का अवसर प्रदान कर इस कलंक को धो डाला है। 'साकेत' के अध्ययन के पश्चात् कैकेयी के प्रति युग-युगांतर का घनीभूत मालिन्य निःशेष हो जाता है। दुर्योधन भी परंपरा से कलंकित है—महाभारतकार ने उसे 'सकल कपट अघ अवगुन खानी' के रूप में चित्रित किया है। 'जयभारत' के कवि ने भी यथास्थान उसके दुष्कृत्यों का उल्लेख किया है, किंतु वह उस पापराशि के हृद्गत सौंदर्य के भी दर्शन करता है। दुर्योधन का कर्मयोगी रूप देखिए—

.. .. .. तोष यही मुझको
अंत तक कोई त्रुटि छोड़ी नहीं हमने।[1]

पाषाण-हृदय दुर्योधन के मन में भी दया जैसी कोमल भावना मैथिलीशरण स्थापित करते हैं। इसका पता उस समय चलता है, जब दुर्योधन, अश्वत्थामा के पांडवों की हत्या करने की प्रतिज्ञा कर लेने पर, एक पिंडदाता छोड़ने की बात कहता है।[2] वस्तुतः जयभारतकार के दुर्योधन के प्रत्येक कार्य में औदात्त्य है, पग-पग पर स्मरणीय शालीनता है। उसके अपने शब्दों में—

ठाठ से मैं आया और ठाठ से ही जाऊँगा।[3]

रावण, कर्ण और दुःशासन के सदोष चरित्रों में भी कवि मानव-गुण का सृजन करता है। उनकी पाप-कालिमा सर्वथा प्रक्षालित नहीं हो पाती तथापि उसमें एक ज्योतिष्कण का उद्भास अवश्य दृष्टिगत होता है। रावण से घोर-कठोर व्यक्ति के हृदय-गह्वर में भी मैथिलीशरण भव्यता देखते हैं। कम-से-कम एक बार तो राम को भी उसे अपने से अधिक सहृदय मानना पड़ता है।[4] द्रौपदी-वस्त्रहरण में सक्रिय योगदान कर्ण के दानी-मानी एवं ओजस्वी व्यक्तित्व के लिए अभिशाप है—फिर भी वह महान है। केवल एक गुण मित्रधर्म का निर्वाह ही कर्ण को संपूर्ण दोषों से मुक्त कराने में समर्थ है। कितना विश्वसनीय और साहसी है वह व्यक्ति, जो मित्र के दोषों से अभिज्ञ होने पर भी आपत्काल में उसे त्यागने को तैयार नहीं—

क्या संकट में उसे छोड़ दूं, जो मुझ पर अवलंबित है।[5]

इसी प्रकार कवि ने दुःशासन में भ्रातृत्व-सी भव्यभावना का संधान किया है—वही उसके जीवन का मूलमंत्र है। वह अपने को दुर्योधन का भाई न मानकर किंकर समझता है।[6] यह 'जयभारत' के कवि की ही परिकल्पना है। वस्तुतः गुप्त जी की प्रवृत्ति दोष-दर्शन की ओर न होकर, तलवर्तिनी मानवीय प्रेरणा के उद्घाटन की ओर रहती है।

पूज्य पात्रों की गौरव-रक्षा : जब कवि दूषित पात्रों के भी आंतरिक सौंदर्य को प्रकाशित करता है, तब यह अनिवार्य हो जाता है कि वह पूज्य पात्रों के चरित्रों में मिलने वाली एकाध त्रुटि का भी परिहार करे। अतएव मैथिलीशरण सम्मान्य पात्रों के गौरव की रक्षा के लिए उत्कट प्रयत्न करते हैं। वाल्मीकिरामायण में रावण के देहावसान पर शोक-संतप्ता मंदोदरी तो सहगमन की इच्छा करती है—

नय मामपि दुःखार्तां न वर्तिष्ये त्वया विना
कस्मात्त्वं मां विहायेह कृपणां गंतुमिच्छसि॥[7]

परंतु दशरथ-मरण के अवसर पर उनकी अश्रुविगलित रानियों में से कोई भी ऐसा नहीं करती। सतीप्रथा अपने आप में त्याज्य होते हुए भी पति की गौरव-व्यंजक है। और उस युग में तो ऐसा होता ही था। अतः

---

[1] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३९०
[2] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३९१
[3] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३९३
[4] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २९२
[5] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३३३
[6] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०५
[7] वाल्मीकिरामायण—युद्ध कांड

दशरथ से महामहिम नृप के लिए किसी पत्नी का ऐसी बात न कहना कुछ खटकता है, किंतु गुप्त जी ने इसकी क्षति-पूर्ति की। यद्यपि वसिष्ठ के परामर्श के कारण सती-क्रिया संपन्न 'साकेत' में भी नहीं होती, तथापि प्रस्ताव तो है—

> **हाय! भगवन् क्यों हमारा नाम?**
> **अब हमें इस लोक में क्या काम?**
> **भूमि पर हम आज केवल भार?**[1]

यहाँ निश्चित रूप से दशरथ के गौरव एवं रानियों की गूढ़ानुरक्ति का प्रतिपादन है। इसी प्रकार वह द्रौपदी-चीरहरण-प्रसंग में भीष्म, द्रोण और विदुर को पाप-सभा से हटा कर उन पुण्यात्माओं के आत्म-सम्मान एवं मर्यादा की रक्षा करता है। 'साकेत' में राम-चरित्र की भव्यता में बाधक छद्म से बालि-वध का प्रसंग केवल एक पंक्ति में चलता कर दिया गया है।[2] और द्रौपदी-चरित्र के औज्ज्वल्य की रक्षा के लिए तो कवि ने प्रकरण ही बदल दिया। राजसूय यज्ञ के अवसर पर निमंत्रित दुर्योधन को मयकृत भवन में जल में थल का तथा स्थल में जल का आभास होने पर द्रौपदी ने उसका उपहास किया था—यह कृत्य उसके परिष्कृत चरित्र के लिए अशोभनीय है। अतः गुप्त जी ने प्रकरण ही बदल दिया—

> **हुआ कक्ष में घुसते उसको द्वार खुला प्रतिभात,**
> **लगा किंतु उसके ललाट में स्फटिक कपाटाघात।**
> **जल में थल का, थल में जल का देख उसे भ्रमभास,**
> **रोक न सके दास-दासी भी आकस्मिक उपहास।**[3]

और द्रौपदी को साफ बचा लिया। इस प्रकार मैथिलीशरण पूज्य पात्रों की गौरव-रक्षा के लिए अनेक युक्तियों का प्रयोग करते हैं।

प्रमुख पात्रों की धीरोदात्तता : मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि महाकाव्य के मुख्य पात्र धीर, गंभीर एवं ओजस्वी होने चाहिए। हम देखते हैं कि 'साकेत' और 'जयभारत' के सभी प्रमुख अर्थात् विजयी पात्र धीरोदात्त हैं। राम, भरत, शत्रुघ्न, सीता, युधिष्ठिर, अर्जुन, कृष्ण और कुंती आदि की धीरोदात्तता तो निर्विवाद ही है। हाँ, लक्ष्मण, उर्मिला और द्रौपदी के धीरोदात्त्य पर शंका हो सकती है। क्या लक्ष्मण-सा क्रोधी व्यक्ति भी धीर है? क्या रुदनरता उर्मिला और द्रौपदी भी उदात्त हो सकती हैं? किंतु इन प्रश्नों का समाधान कठिन नहीं। लक्ष्मण अवश्यमेव क्रोधी हैं, वह झट से क्रुद्ध हो जाते हैं। पर अकारण नहीं, उनका क्रोध साधार होता है, अतः वह दूषण नहीं माना जा सकता। वस्तुतः हम ऊपर से उन्हें कितना ही उद्धत क्यों न बताएँ, भीतर से तो उनके इस रूप पर मुग्ध ही हैं। और फिर धीरोदात्तता में धीरता-गंभीरता के अतिरिक्त ओज भी तो अपेक्षित है। अपेक्षाकृत राम और भरत में धीरता तथा गंभीरता अधिक है। लक्ष्मण में भी उनका एकांताभाव नहीं, पर ओज का प्राचुर्य है। अभिप्राय यह कि राम-भरत तथा लक्ष्मण में मात्रा का अंतर है, प्रकार का नहीं। उर्मिला और द्रौपदी रुदनशीला हैं—किंतु उनकी करुण परिस्थितियाँ भी तो देखिए। अपरिमेय कष्ट-सहिष्णुता उनकी धीरता की ही परिचायक है। और यदि उनके व्यक्तित्व का ओज देखना हो, तो पाप-सभा में दुःशासन को दुत्कारती हुई द्रौपदी एवं शत्रुघ्न के साथ लंका-प्रस्थान की इच्छुक उर्मिला के दर्शन कीजिए। सारांश यह कि गुप्त जी महाकाव्य के प्रमुख पात्रों में धीरोदात्तता चाहते हैं।

दोष : मैथिलीशरण के चरित्र-चित्रण में कुछ दोष भी हैं। उर्मिला को ही लीजिए। कवि उन्हें 'साकेत' की नायिका बनाना चाहता है, और वह इसमें सफल भी है। किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसे अवांछनीय अवसरों पर भी उपस्थित कर दिया जाए। द्वादश सर्ग में वह अकस्मात् सेना के समक्ष आती है और 'पापी का सोना न लाने' का उपदेश देने लगती है। षष्ठ सर्ग में दशरथ-मरण के अवसर पर भी वही सर्वाधिक रोती है—कौशल्या एवं सुमित्रा से भी अधिक। कितनी विचित्र बात है? वास्तव में

---

[1] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १४८
[2] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २८५
[3] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३४

'कवि ने उर्मिला को अधिक प्रमुखता देने के बहाने से उचित से अधिक मुखर बना दिया है।'[1] इसी प्रकार दुर्योधन के चरित्र का परिष्कार करते-करते आदर्श को भुला बैठा है। क्या दुर्योधन की स्वर्ग-प्रतिष्ठा समीचीन है? आयुपर्यंत दुष्कर्म करने पर भी यदि दुर्योधन को बैकुंठवास मिल गया, तो नरक का निर्माण किसके लिए हुआ था? महाभारत में भी दुर्योधन स्वर्गधाम-स्थित है, पर वहाँ स्पष्ट कह दिया गया है कि जिन लोगों का पाप अधिक और पुण्य थोड़ा होता है, उनको पहले स्वर्ग और फिर नरक में रखा जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति पुण्य अधिक और पाप थोड़े करते हैं, उन्हें पहले नरक और फिर स्वर्ग में रहना होता है। इस प्रकार महाभारतकार ने दुर्योधन के अंततः नरक-पात का संकेत कर दिया है। किंतु 'जयभारत' में ऐसा कोई निर्देश नहीं है। पांडवों के नरक-भोग का तो उल्लेख है, दुर्योधन के स्वर्ग-भ्रष्ट होने का नहीं। अतः पाठक को भी युधिष्ठिर के साथ यही कहना पड़ता है—

तब सुकृती रहा सुयोधन ही।[2]

क्या यह आदर्शवाद पर कुठाराघात नहीं है? मैं समझता हूँ, दशरथ से महामहिम चक्रवर्ती राजा के गौरव की रक्षा भी कवि पूर्णतः नहीं कर सका। 'साकेत' में उन्हें निष्क्रिय विलासी राजाओं की पंक्ति में बैठा दिया गया है। प्रेमी तो 'मानस' के दशरथ भी हैं—

जानसि मोर सुभाऊ बरोरू
मनु तव आनन चंद चकोरू।[3]

पर, 'साकेत' के समान अतिरिक्त विलासी नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पात्र को प्रमुखता देते समय या किसी का परिष्कार करते समय गुप्त जी अन्य आनुषंगिक बातों को विस्मृत कर देते हैं।

कई पात्रों के चरित्र उलझ भी गए हैं। उनमें मानवीय और अतिमानवीय गुणों का सम्मिश्रण है। परिणामतः उन पात्रों के चरित्र न तो सर्वथा लौकिक हैं और न ही बिल्कुल अलौकिक। उदाहरण के लिए, राम मानव के रूप में चित्रित हैं, मानव-सुलभ दुर्बलताएँ भी उनमें हैं। अनेक स्थलों पर उनमें मोह का प्राचुर्य देखा जा सकता है, जैसे पिता के लिए सुमंत्र को दिए गए संदेश में।[4] लक्ष्मण-शक्ति-प्रसंग में उनके शोक का भी दर्शन किया जा सकता है। किंतु कवि उन्हें स्पष्ट रूप से भगवान मानता है। मैथिलीशरण राम को निर्गुण का सगुण अवतार मानते हैं।[5] वह स्वयं भी अपने देवत्व की घोषणा करते हैं—

जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।[6]

सीता के चरित्र में कवि ने कुछ अधिक मानवीय रंग भरा है। पुत्र-वधू के रूप में वह कौशल्या की पूजा-सामग्री एकत्रित कर रही हैं और 'मां! क्या लाऊँ? कह कह कर'[7] आवश्यक वस्तुएँ लाती हैं। कैसा सहज पार्थिव चित्र है। पर सीता के जिज्ञासा प्रकट करने पर गुप्त जी राम तथा सीता दोनों की दिव्यता प्रदर्शित करते हैं।[8] ऐसे ही 'जयभारत' के कृष्ण महामानव के रूप में प्रकट हुए हैं, किंतु उनकी अलौकिक शक्तियों का सर्वथा लोप नहीं हुआ है। कृष्ण शांति-संदेश लेकर जाते हैं, दुर्योधन के उनको पकड़ने की कुचेष्टा करने पर अनेक कृष्ण तो नहीं बनते, पर उनके दर्शनार्थ जन्मांध धृतराष्ट्र के नेत्र अवश्य खुल जाते हैं—

जग गए एक क्षण के लिए दृग-दीपक जो थे बुझे।[9]

---

[1] नन्ददुलारे वाजपेयी—'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', संस्करण सन् १९४९, पृष्ठ ४४

[2] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४४०

[3] रामचरितमानस—अयोध्याकांड

[4] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १२२

[5] ,, ,, ,, ,, १२

[6] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६७

[7] ,, ,, ,, ,, ७२

[8] ,, ,, ,, ,, १६५

[9] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२३

इस प्रकार कुछ पात्रों के चरित्र में दिव्य और मानवीय गुणों की उलझन है। वस्तुतः इस वैज्ञानिक और बौद्धिक युग के कवि को अमानवीयता से कोई अनुराग नहीं है। इसीलिए उसने यथासंभव मानवीयता की रक्षा का प्रयास किया है। किंतु, उसके हृदयस्थ भक्त को राम, कृष्ण, सीता आदि में अपार श्रद्धा है। उसी के कारण इन पात्रों में देवत्व की स्थापना होती है। युग-चेतना और कवि-हृदय के वैषम्य के प्रभाव स्वरूप ही राम, कृष्ण और सीता के चरित्रों में विषमता है। उनमें लौकिकता और अलौकिकता का विचित्र संश्लेषण है।

रस

रस काव्य की आत्मा है। अतः सरसता किसी भी साहित्यिक कृति का अनिवार्य गुण है। विशेषतः महाकाव्य में तो रस का अविरोध संचार होना चाहिए। काव्यादर्शकार आचार्य दंडी का 'रसभावनिरंतरम्' से यही अभिप्राय है और महाकाव्य में यथास्थान सभी रसों का समावेश अनिवार्य माना गया है। किंतु शर्त यह है कि कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए। विषयगत वैविध्य की अवस्थिति में भी कोई एक प्रधान रस होना चाहिए, जिसमें कि शेष सबका पर्यवसान हो। 'साकेत' और 'जयभारत' का कवि जीवन की प्रायः संपूर्ण अवस्थाओं का अंकन करता है। अतः उनमें न्यूनाधिक मात्रा में सभी रस उपलब्ध हैं। अपेक्षाकृत रति एवं उत्साह की अधिक व्यंजना है, अतः गुप्त जी के महाकाव्यों में शृंगार तथा वीर का प्राधान्य है। किंतु परिष्कृत-रुचि कवि मैथिलीशरण शृंगार और वीर का संयत चित्रण ही करते हैं। 'साकेत' के प्रथम सर्ग में ही लक्ष्मण-उर्मिला का मधुर-स्निग्ध वाग्विनोद है। आलिंगन का चित्र भी उपस्थित हुआ है, पर कहीं भी लालसा की दाह का वीभत्स प्रदर्शन नहीं है। संयोग पर गार्हस्थ्य का पावन आवरण झिलमिला रहा है। नवम एवं दशम सर्गों में विप्रलंभ का उत्कृष्ट निदर्शन है। 'जयभारत' में भी शृंगार के चार प्रसंग आते हैं—योजनगंधा, हिडिंबा, जयद्रथ और सैरंध्री। शास्त्रीय दृष्टि से इनमें से 'जयद्रथ' शीर्षक प्रकरण में जयद्रथ का द्रौपदी के प्रति प्रेमप्रदर्शन और सैरंध्री-प्रसंग में कीचक का सैरंध्री के प्रति प्रणय-निवेदन रसाभास कहे जाएँगे। 'जयभारत' में विप्रलंभ शृंगार का एकांताभाव है।

वीर में युद्धवीर का चित्रण प्रायः गुप्त जी नहीं करते। उनके महाकाव्यों में युद्ध का विवरण न मिल कर, व्यंजना अधिक मिलती है।

वस्तुतः दया, वीरता एवं धर्मवीरता की ओर ही कवि का विशेष ध्यान रहा है। 'युद्ध' अध्याय के अतिरिक्त शेष सभी विशेषतः परीक्षा, हिडिंबा, वक-संहार, राजसूय आदि खंडों में भी यत्र-तत्र उत्साह परिव्यक्त है। 'साकेत' के लंका-युद्ध प्रसंग में वीर रस व्यंजित है। रौद्र के 'साकेत' में दो मुख्य प्रसंग हैं—(१) लक्ष्मण का कैकेयी-विरोध, (२) लंका-युद्ध। 'जयभारत' में तो दो-एक प्रकरणों को छोड़ कर रौद्र सर्वत्र ही विद्यमान है, किंतु वह सदैव वीर के सहायक रूप में ही आया है। करुण के लिए 'साकेत' के दशरथ-मरण तथा लक्ष्मण-शक्ति-प्रसंग और 'जयभारत' के सैरंध्री, केशों की कथा, युद्ध तथा विलाप आदि प्रकरण द्रष्टव्य हैं। वक-संहार, स्वर्गारोहण एवं भरत-तपस्या प्रसंगों में शांतरस उपलब्ध है। अद्भुत और हास्य का प्रायः अभाव है। भयानक और वीभत्स का चित्रण भी बहुत कम है। युद्धवलित काव्यों में उनका अभाव तो असंभव है—किंतु प्राचीनों के समान आधिक्य नहीं। लंका-युद्ध तथा हिडिंबा, युद्ध, कुरुक्षेत्र आदि प्रकरणों में वीभत्स और भयानक के उदाहरण मिल सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी के महाकाव्यों में सभी रस समाविष्ट हैं। उनमें शृंगार और वीर की प्रधानता है। 'साकेत' में शृंगार तथा 'जयभारत' में वीर रस प्रमुख हैं। और शेष सभी रस उनमें पर्यवसित हैं। निष्कर्ष यह कि मैथिलीशरण शृंगार और वीर को अंगी तथा अन्य रसों को अंग-रूप में ग्रहण करते हैं। वास्तव में इन रसों का जीवन की मूलवृत्तियों से सहज सम्बन्ध है—शृंगार का काम अर्थात् जीवनेच्छा से और वीर का उत्साहमूलक होने के कारण जीवन के विकास से। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने भी इन्हें अंगीपद प्रदान किया है। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि गुप्त जी ने शृंगार को भोग-प्रधान न बना कर, भव्य-त्याग से युक्त उदात्त रूप प्रदान किया है। उनका प्रेम शरीर की भूख न होकर आत्मा का गुण है। उसमें स्वार्थमयी वासना न मिल कर निस्स्वार्थ आत्मविलय की भावना मिलती

है। इसी प्रकार उनके वीर में हिंसात्मक उत्साह नहीं है, वरन् व्यापक अर्थ में धर्ममय उत्साह है। और स्पष्ट शब्दों में वह वैरवृत्ति से पुष्ट मानव-द्वेषी युयुत्सा नहीं है, वरन् मानव-कल्याण की कामना से प्रेरित सात्विक उत्साह है। राम एवं युधिष्ठिर का उत्साह पाठक को सहिष्णुता की ही प्रेरणा देता है, क्रूरता की नहीं।

विविध वस्तु-वर्णन

महाकाव्य-सी विराट रचना में जीवन और जगत के वैविध्य का चित्रण अपेक्षित है—उसमें उनकी सभी परिस्थितियों का आलेखन आवश्यक है। जीवन और जगत के विभिन्न चित्रों की वृहत् योजना के लिए ही आचार्यों ने संध्या-सूर्य, नगर-नदीश, संयोग-वियोग, पुत्र-कलत्र, सैर-शिकार, युद्ध-यात्रा आदि का यथास्थान सांगोपांग वर्णन महाकाव्य में अनिवार्य माना है। स्पष्टतः इसके दो भाग किए जा सकते हैं—

(१) प्रकृति-चित्रण
(२) सामाजिक जीवन का चित्रण

अभिप्राय यह कि महाकाव्य में प्रकृति एवं सामाजिक जीवन (इसके अंतर्गत पारिवारिक एवं राजनैतिक जीवन भी सम्मिलित हैं) का विशद वर्णन होना चाहिए।

प्रकृति-चित्रण : मैथिलीशरण शुद्ध प्रकृति-चित्रण बहुत कम करते हैं। वास्तव में वह मानवीय संबंधों के कवि हैं। उनकी कविता का मुख्य विषय मानव ही है, मानवेतर सृष्टि की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। प्रकृति के प्रति गुप्त जी के मानस में छायावादी कवि का-सा सहज अनुराग नहीं है। अतएव उनके यहाँ आलंबन रूप में प्रकृति-वर्णन का प्रायः अभाव है। वह या तो अप्रस्तुत के रूप में गृहीत है, जैसे—

एक तरु के विविध सुमनों-से खिले
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले।[1]

या फिर भावी घटना के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि अथवा भूमिका के रूप में उपस्थित है। और, जहाँ आलंबन रूप में चित्रण होता भी है, वहाँ कवि की वृत्ति नहीं रमती। 'साकेत' के प्रथम सर्ग में कवि 'सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ'[2] आदि से प्रातः काल का वर्णन प्रारंभ करता है, किंतु थोड़ी देर बाद ही वह अपने प्रकृत विषय पर आता है—

अरुण-पट पहने हुए आह्लाद में
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में।[3]

इस प्रकार उषाकाल का वह सारा दृश्य उर्मिला-वर्णन का पूर्वाभास है। ठीक इसी तरह 'जयभारत' में अमावस्या की कालिमामयी रात्रि की घोरता का निरूपण[4] भी पांडव-पुत्रों की भावी हत्या की भूमिका ही प्रस्तुत करता है, उसका अपना स्वतंत्र महत्व नहीं है। फिर भी प्रयास करने पर शुद्ध प्रकृति-चित्रण के दो-चार श्रेष्ठ उदाहरण मिल सकते हैं। उदाहरणतः 'साकेत' में छाया[5] तथा चित्रकूट[6] के मानवीकरण का उल्लेख किया जा सकता है और 'जयभारत' में नदी-नदीश का मिलन तो देखते ही बनता है—

मिलन गंगा और सागर का जहाँ था
क्षार रस भी हो उठा मधुमय वहाँ था
एक तनु में ही न पाकर तोष गंगा
बन गई शततनु, सहस्र तरंग भंगा।[7]

नदी अथवा समुद्र का चित्रण तो अनेक कवियों ने किया है, किंतु दोनों के मिलन का अंकन अपूर्व है।

---

[1] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १५
[2] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७
[3] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १९
[4] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०३
[5] 'साकेत', संस्करण सं० २००५, पृष्ठ ११०
[6] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५ पृष्ठ ११३
[7] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५९

सामाजिक, राजनैतिक जीवन का चित्रण : महाकाव्य किसी भी देश के जातीय जीवन का कोष होता है—उसमें सामाजिक (पारिवारिक और राजनैतिक भी) जीवन की प्रमुखता होती है। मैथिलीशरण भी अपने महाकाव्यों में जीवन की नाना परिस्थितियों का आलेखन करते हैं। उनमें राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पुत्र-माता, पुत्र-विमाता, सास-वधू, देवर-भाभी, भाई-भाई, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य आदि के संबंधों तथा विवाह, स्वयंवर, संयोग-वियोग, युद्ध इत्यादि का यथायोग निरूपण है। दो-एक उदाहरण लीजिए। 'साकेत' के चतुर्थ सर्ग में सीता कौशल्या के लिए पूजा की सामग्री एकत्रित कर रही हैं। सास-बहू के सहज-सरल सम्बन्ध का पावन चित्र देखिए—

माँ! क्या लाऊँ? कह-कह कर, पूछ रही थीं रह-रह कर
सास चाहती थीं जब जो, देती थीं उनको सब सो
कभी आरती, धूप कभी, सजती थीं सामान सभी।[1]

'जयभारत' से अर्जुन-द्रौपदी का वाग्विनोद उद्धृत करता हूँ—

(अर्जुन) **"तुमसे सदा अतृप्त रहूँ मैं यही कामना मेरी।"**
(द्रौपदी) **"इससे अधिक और क्या चाहे यह चरणों की चेरी।"**

... ...

"नहीं भूलता यह सुख मुझको चाहे जहाँ रहूँ मैं।"
"इसको निज सौभाग्य कहूँ वा निज दुर्भाग्य कहूँ मैं
मेरे कारण रह न सके तुम सुरपुर में भी सुख से।"[2]

इत्यादि। इसमें 'साकेत' के संयोग-वर्णन जैसी सूक्ष्म-स्निग्धता नहीं है, फिर भी पर्याप्त तरलता है। इनके अतिरिक्त 'साकेत' के राम-वनगमन प्रसंग तथा 'जयभारत' के तीर्थयात्रा और स्वर्गारोहण खंडों में यात्रा का विवरण है। वन-वैभव प्रकरण में जल-विहार का मनोमोहक चित्रण है और राजसूय अध्याय में राजसूय-यज्ञ का आयोजन उपलब्ध है। दशरथ-मरण प्रसंग में दाहकर्म का भी उल्लेख है। 'साकेत' और 'जयभारत' दोनों में युद्ध का विशद वर्णन तो है ही।

सारांश यह कि मैथिलीशरण जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण करते हैं। वह यथासंभव जीवन और जगत की संपूर्ण स्थितियों का अंकन करते हैं। प्रकृति-चित्रण अपेक्षाकृत कम है—इसका कारण कवि की अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति है।

उद्देश्य

किसी भी सदनुष्ठान का लक्ष्य धर्मार्थ काम-मोक्ष हुआ करता है। अतः सामान्य रूप से काव्यमात्र का—विशेष रूप से महाकाव्य का—उद्देश्य जीवन के इन परम पुरुषार्थों की सिद्धि ही है। गुप्त जी भी अपने महाकाव्यों में इन की प्रतिष्ठा करते हैं। 'जयभारत' का मुख्य कार्य दुर्योधन पर युधिष्ठिर की विजय है, जो कि पाप पर पुण्य की विजय का द्योतक है। ऐसे ही 'साकेत' में उर्मिला के माध्यम से भोग के ऊपर त्याग की विजय व्यंजित की गई है—वह प्रियपथ का विघ्न न बन कर विरहव्यथा को ही श्रेष्ठ समझती है। जिन कृतियों में असत् पर सत् की और भोग पर त्याग की विजय की स्थापना हो, वे निश्चित रूप से धर्म की साधक हैं। और, अर्थ प्रत्यक्षतः तथा काम एवं मोक्ष परंपरासिद्ध हैं। इस प्रकार ये दोनों प्रबंध धर्मार्थ, काम, मोक्ष के साधक हैं।

किंतु महाकाव्य का कुछ विशेष ध्येय भी होता है। सामान्य फल के ऐक्य की अवस्थिति में भी काव्य और महाकाव्य के उद्देश्य में कुछ अंतर है। काव्य में तो किसी रमणीय भावना की व्यक्ति होती है, और बस! पर महाकाव्य में ऐसे महच्चरित्रों की अवतारणा होती है, जिनका देश के नैतिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय

[1] 'साकेत', संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ७२ [2] 'जयभारत', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७६

जीवन पर पुष्कल प्रभाव होता है ; जो सभ्यता और संस्कृति के इतिहास पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं। और स्पष्ट शब्दों में महाकाव्य किसी महान एवं उदात्त व्यक्तित्व की कल्पना को साकार करने के लिए लिखा जाता है—प्रमुख पात्र में जीवन की महानतम संभावनाओं को चरितार्थ किया जाता है। मैथिलीशरण अपने महाकाव्यों के लिए मुख्यपात्र के रूप में ऐसे ही महामना चरित्रों का चयन करते हैं—उनके सर्वप्रमुख पात्र स्वार्थ की नहीं, परार्थ और परमार्थ की ही साधना करते हैं। उर्मिला समष्टि के निमित्त व्यष्टि का त्याग करती है। युधिष्ठिर भी धर्म के लिए युद्ध करते हैं, स्वार्थ के वशीभूत होकर नहीं। इस प्रकार इन दोनों के महार्घ जीवन-वृत्तों द्वारा स्वार्थपरक मूल्यों की नहीं, वरन् परार्थपरक जीवनमूल्यों की—उच्चतर मानवीय भावनाओं की, प्रतिष्ठा होती है। तात्पर्य यह कि गुप्त जी के महाकाव्यों में असत् का तिरस्कार कर सत् की प्रतिष्ठा, स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ की श्रेष्ठता का महान संदेश है।

इसके अतिरिक्त कवि ने उनमें समग्र जाति किंवा राष्ट्र के शाश्वत जीवन का, उसकी आशाओं-आकांक्षाओं का, विचारों-विश्वासों का, नीति-आदर्शों का, भव्यचित्र प्रस्तुत कर अखंड भारतीय जीवन का प्रतिफलन किया है। युग-धर्म के अनुकूल हमारे चिर-अभीष्ट राष्ट्रीय-सांस्कृतिक मूल्यों की काव्यात्मक प्रतिष्ठा इन महाकाव्यों की विशेषता है। वास्तव में युग-धर्म का संदेश जिस ज्वलंत रूप में यहाँ मिलता है, वैसा न 'प्रियप्रवास' और 'कामायनी' में है, न 'मेघनाद-वध' में। तुलसी के रामचरितमानस के पश्चात् इस दृष्टि से 'साकेत' और 'जयभारत' का अपना विशिष्ट स्थान है।

शैली

महाकाव्य की शैली उसके महामहिम प्रतिपाद्य के अनुरूप ही अत्यंत शालीन, विभूतिमती तथा गरिमा-वरिष्ठ होनी चाहिए। जीवन और जगत् के वैविध्य-वर्णन में सूक्ष्म तथा विस्तारगर्भा होनी चाहिए। इसीलिए अरस्तू ने महाकाव्य की शब्दावली, पद-रचना, छांदिक संगीत आदि में असाधारणता को अनिवार्य तत्त्व माना है। उसमें वैविध्य की अवस्थिति में भी प्रारंभ से अंत तक असाधारण ओज, समृद्धि और गांभीर्य अपेक्षित है, जो कि चित्त की स्फीति में समर्थ हो। किंतु मैथिलीशरण के महाकाव्यों की शैली में अत्यधिक वैषम्य है। कहीं उसमें महाकाव्योचित गरिमा और गंभीर प्रवाह है, जैसे 'साकेत' के पंचम, एकादश एवं द्वादश सर्गों में तथा 'जयभारत' के 'योजनगंधा' एवं 'युद्ध' आदि प्रकरणों में। और कहीं-कहीं वह सर्वथा क्षीण और हलकी हो गई है, जैसे 'साकेत' के चतुर्थ, नवम एवं दशम सर्गों में तथा 'जयभारत' के 'वक-संहार' एवं 'केशों की कथा' आदि प्रसंगों में। कुल मिलाकर शैली में वांछित स्थिरताका अभाव है। उसमें विविधता तो है, परंतु वैविध्य के बीच जो गरिमा और भव्यता निरंतर विद्यमान रहनी चाहिए, वह नहीं है। पर इसके कारण स्पष्ट हैं : 'जयभारत' के तो विभिन्न खंडों की रचना ही समय-समय पर हुई है, अतः उसकी शैली में स्थैर्य की आशा करना दुराशा मात्र है। और, 'साकेत' में कवि ने इतिवृत्तात्मक वर्णन न करके भावपूर्ण प्रकरणों में अपनी भावना का रंग भरकर उपस्थित किया है। इसीलिए उसमें प्रगीतात्मक मृदुल-मसृणता और आधुनिक कहानी के समान कतिपय भाव-खंडों के अनुबंधन का प्रयास तो है, किंतु श्रृंखलाबद्ध महाप्रवाह नहीं है।

गुप्त जी के महाकाव्यों में आद्योपांत खड़ी बोली व्यवहृत है, पर पद-योजना सर्वत्र एक-सी नहीं है। 'जयभारत' के आरंभकालीन खंडों की भाषा व्यस्त एवं अभिधा-प्रधान है और उत्तरकालीन भागों में अपेक्षाकृत व्यंजनापूर्ण। उदाहरण के लिए 'केशों की कथा' और 'रण-निमंत्रण' की भाषा की तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार 'साकेत' के अंतिम दो सर्गों में जो गुंफित झंकार और प्रबलता है, पहले दस सर्गों में उसका अभाव है। परिणामतः मैथिलीशरण के महाकाव्यों में महानद का-सा गंभीर नाद और अव्याहत प्रवाह नहीं है। यद्यपि भाषा काफी प्रौढ़ एवं परिमार्जित तथा शैली नाना वर्णनक्षमा है, फिर भी उसमें न तो 'पैराडाइज लॉस्ट' की गरिमा है, न 'मेघनाद-वध' का दुर्धर प्रवाह, न 'कामायनी' का ऐश्वर्य है, न 'प्रियप्रवास' का हिल्लोलकारी संगीत और न श्री निराला विरचित 'राम की शक्तिपूजा' की उदात्तता। वस्तुतः महाकाव्यकार गुप्त जी का सर्वाधिक दुर्बल पक्ष शैली ही है।

महाकाव्यकार मैथिलीशरण की सिद्धि

सर्वप्रथम तो एक नवीन पात्र की सृष्टि : चिर-उपेक्षिता उर्मिला की चरित्र-परिकल्पना और वह भी नायिका के रूप में, बहुत बड़ी सफलता है। दूसरे वाल्मीकि एवं तुलसी के पश्चात् मौलिक रामकाव्य का, और भारत के पंचम वेद, महाभारत की सहस्रों पृष्ठों में प्रकीर्ण प्रायः संपूर्ण कथा को लेकर साढ़े चार सौ पृष्ठ के एक सफल सरस काव्यग्रंथ का निर्माण अपने आप में महती सिद्धि है। तीसरे 'साकेत' में एक ओर यदि कवि को आत्मसाक्षात्कार-साहित्य-सर्जन के सुख का वास्तविक अनुभव हुआ है, तो दूसरी ओर 'जयभारत' में उसके संपूर्ण साहित्यिक जीवन का समाहार हो गया है। इसके अतिरिक्त 'साकेत' और 'जयभारत' दोनों को युग-धर्म-मानववाद की प्रतिष्ठा का अपूर्व गौरव प्राप्त है।

उधर शिल्प-विधान की दृष्टि से भी गुप्त जी के महाकाव्यों में अनिवार्य तत्त्व ही नहीं, महाकाव्य के शास्त्र-प्रतिपादित गौण अंग भी मिल जाते हैं। अनेक दोष भी हैं, पर दोष किसमें नहीं होते ?—और फिर 'साकेत' तथा 'जयभारत' की त्रुटियाँ तो सकारण हैं। 'साकेत' के वस्तुविधान तथा शैली के दोषों के लिए कथानक की अतिरिक्त ख्याति और खड़ीबोली की अपरिपक्वता ही उत्तरदायी है। 'जयभारत' की अधिकांश त्रुटियों का मूल कारण है कथा का विपुल परिमाण। महाभारत कोई छोटी-सी कथा थोड़े ही है ! वस्तुतः इस महदनुष्ठान को इस रूप में संपूर्ण करना भी बहुत बड़ी उपलब्धि है। कवि की अपनी सीमाओं से भी इंकार नहीं किया जा सकता, तथापि उसकी सिद्धि के समक्ष नतशिर आलोचक को मैथिलीशरण की प्रबंध-कल्पना का क़ायल होना ही पड़ेगा।

गुप्त जी की गीतिकला

श्री कमलाकांत पाठक

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी का रचनाकाल अर्द्ध-शताब्दी को लाँघ चुका है। वे इसलिए राष्ट्रकवि नहीं हैं कि उनके काव्य में राष्ट्र-हृदय की प्रत्येक धड़कन स्पंदित होती है। उन्होंने समयानुसारिता की काव्य-प्रवृत्ति को अपनाया है, पर यही उनकी काव्य-सीमा नहीं है। सांस्कृतिक जागरण की व्यापक मनोवृत्ति तथा स्वातंत्र्य-चेष्टा की बलवती प्रेरणा का यह स्वाभाविक परिणाम था। मैं समझता हूँ कि गुप्त जी राष्ट्रकवि इसलिए कहे जाएँगे कि उन्होंने राष्ट्रीय काव्य-परंपरा को विकसित किया और राष्ट्रीय जीवन की आशा-आकांक्षा, दृष्टिकोण और धारणा को वाणी दी। उन्हें अतीत और वर्तमान एक-दूसरे के पूरक दिखाई पड़े। आशय यह है कि गुप्त जी का काव्य भारतीयजीवन की भारती है। वह राष्ट्रीय काव्य-परंपरा का विकास-फल है, नवोन्मेष भी। उसका निर्माण विजातीय काव्योपकरणों से नहीं हुआ।

वस्तुनिष्ठ काव्य : गुप्त जी हिंदी की एक महत्वपूर्ण साहित्य-संस्था हैं। आधुनिक काव्य में मानवोत्थानवादी और छायावादी काव्यधाराएँ प्रायः एक साथ प्रवाहित हुईं। वे एक दूसरे से संपृक्त भी रहीं, पर प्रथम मानवादर्शवादी काव्यधारा है और द्वितीय स्वच्छंदतावादी। आधुनिक काव्य में इन्हीं का उत्कर्ष सर्वाधिक सुंदर और निर्माण अपूर्व है। गुप्त जी प्रथम काव्यधारा के पुरस्कर्त्ता हैं। वे इसके प्रतिनिधि और कृती कवि हैं। छायावादी काव्य प्रगीतात्मक है और मानवोत्थानवादी काव्य कथात्मक। गुप्त जी भी कथाकार कवि हैं। उनकी काव्य-प्रवृत्तियाँ अंतर्मुखी नहीं हैं। वे वस्तु-निरूपण अथवा विषय-वर्णन के माध्यम से प्रायः भाव-व्यंजना करते हैं। अतएव उनकी काव्यकला वस्तुनिष्ठ है। पर अंतर्मुखी और बहिर्मुखी काव्य का विभाजन सापेक्षिक है। कवि सर्वांशतः न बहिर्मुख हो सकता है, न अंतर्मुख। निस्संदेह विषय-प्रधान और विषयी-प्रधान काव्य का भेद तो होता ही है। गुप्त जी विषय-प्रधान काव्य के निर्माता हैं और छायावादी विषयी-प्रधान काव्य के। गुप्त जी की मूल प्रवृत्ति वस्तून्मुखी है, प्रगीतात्मक नहीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि गुप्त जी गीतिकार नहीं हैं। वे बहुमुखी प्रवृत्तियों के कवि हैं और उन्होंने प्रबंध, निबंध, गीत, मुक्तक और रूपक—कई प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। यहाँ उनके कवि-व्यक्तित्व की प्रमुख और मौलिक प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। गुप्त जी ने अपने युग की प्रवृत्तियों को आत्मसात् किया है, अतएव उन्होंने प्रगीतात्मक काव्य-सृष्टि भी की है। वे उच्चाशयी कवि हैं और उनके काव्य में सांप्रदायिक कट्टरता का अभाव है। उन्होंने जिस प्रकार व्यापक जीवन का चित्र-फलक ग्रहण किया है, उसी प्रकार बहुमुखी काव्य-प्रवृत्तियों का निदर्शन और अनेक साहित्य-विधाओं का सुप्रयोग। उनका काव्य वैविध्यपूर्ण है और मर्यादावादी भी। उन्हें इन्हीं कारणों से साहित्य-संस्था कहा गया है।

गीतिकला का विकास : गुप्त जी का गीतिकाव्य सुदीर्घ कालावधि में लिखा गया। 'भारत-भारती' का विनय-गीत—'इस देश को हे दीनबंधो, आप फिर अपनाइए', उनका प्रथम प्रसिद्ध गीत है, जिसकी रचना सन् '१२ में हुई। 'कहाँ करुणानिधि केसव सोए' में भारतेंदु हरिश्चंद्र की राष्ट्रभावना का जो स्वरूप प्रत्यक्ष हुआ है, उसीका प्रतिरूप यहाँ दिखाई पड़ता है। 'कहीं हमारा भी होता छोटा-मोटा एक खेत' उनकी नई रचना है। गुप्त जी ने प्रायः चालीस-पैंतालीस वर्षों की लंबी अवधि में गीति-रचना की है। अतएव उनकी गीतिकला की भिन्न-भिन्न विकास-स्थितियाँ हैं। उन्होंने विविध विषयों के, अनेक अनुभूतियों के और नाना प्रकार के गीत रचे हैं। यहाँ भेदों के आधार पर उनका विषय-विवेचन नहीं किया जायगा। हम यह देखना चाहेंगे कि गुप्त जी की गीतिकला का विकास किस प्रकार हुआ और उसका क्या सौंदर्य है ?

गुप्त जी के गीतिकाव्य का प्राथमिक विकास सन् '१२ और सन् '३० के बीच हुआ। उसका वास्तविक उन्मेष सन् '३० और सन् '४० तक प्रत्यक्ष हुआ। इसके पश्चात् परवर्ती या प्रौढ़ोत्तरकालिक रचनाएँ लिखी गईं। प्राथमिक विकास के अंतर्गत 'पत्रावली', 'वैतालिक', 'स्वदेश-संगीत', 'झंकार' तथा 'मंगल-घट' की प्रगीतियाँ परिगणित होंगी। 'साकेत' और 'यशोधरा' के प्रगीत तथा 'द्वापर' प्रौढ़ि की रचनाएँ हैं। 'कुणाल-गीत', 'विश्व-वेदना', 'अंजलि' और 'अर्घ्य', 'भूमि-भाग' तथा अन्य असंगृहीत रचनाएँ प्रौढ़ोत्तरकालिक हैं। इन्हीं तीन विकास-स्थितियों में गुप्त जी की गीतिकला का विवेचन और सौंदर्योद्घाटन प्रस्तुत निबंध में किया गया है।

आरंभिक प्रयास : गुप्त जी ने प्रायः सन् '१२ के लगभग गीति-रचना आरंभ की। 'भारत-भारती' के रचनाकाल तक वे अपनी भाषा का स्वरूप प्रायः स्थिर कर चुके थे, तथा स्फुट रचनाओं और सूक्तियों के अतिरिक्त बँगला के काव्यानुवाद तथा अंग्रेजी कविता के रूपांतर, जैसे 'इटली', करने लगे थे। आख्यानक रचनाओं के कारण उनकी प्रसिद्धि होने लगी थी। वे साहित्य-क्षेत्र में अपना स्थान बना रहे थे। इस समय उन्हें प्राचीन पद-पद्धति का एक नया रूप प्राप्त हुआ था, जो पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति से मेल रखता था और जिसका विषय-विस्तार भारतेंदु हरिश्चंद्र कर चुके थे। राष्ट्रीय भावना के उद्बोधनात्मक गीतों का मार्ग खुला हुआ था। 'आल्हा' आदि स्थानीय वीरगीतों की लोकप्रियता का गुप्त जी पर आरंभिक प्रभाव था ही। श्रीधर पाठक की प्रवृत्तियाँ थोड़ी स्वच्छंद थीं, पर उनके काव्य-प्रयोगों का गुप्त जी पर सीधा प्रभाव नहीं पड़ा। बंगीय साहित्य के प्रति गुप्त जी विशेष आकर्षित थे। हिंदी-काव्य पर रवींद्रनाथ के काव्य का सन् '१३ के आसपास अत्यधिक प्रभाव पड़ा। अवश्य ही गुप्त जी प्रगीतकाव्य-रूप के प्रवर्त्तक या उद्भावक नहीं हैं, पर उन्होंने गीति-रचना प्रायः उसी समय आरंभ की। वे राष्ट्रीय उद्बोधनात्मक गीत लिखने लगे, पर इसी समय रवींद्रनाथ का उन पर प्रभाव पड़ा और उन्होंने 'गीतांजलि' की शैली का अनुवर्त्तन किया। माइकेल मधुसूदन दत्त के कथाश्रित गीतिशिल्प का भी उन्होंने सहारा लिया।

प्राथमिक विकास : आख्यानक रचना में हाथ सध जाने पर गुप्त जी ने गीति-रचना आरंभ की। उनका आरंभिक गीतिकाव्य राष्ट्रीय गीतों, उद्बोधनों, स्तवनों और प्रशस्तियों के रूप में लिखा गया। उस पर द्विवेदी युगीन काव्यकला की पूरी छाप है। सन् '१४ के लगभग 'सरस्वती' में 'स्वर्गीय संगीत' का प्रकाशन हुआ। 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे' का मानवादर्शवाद यहीं कवि ने ग्रहण किया। इसी के साथ रवींद्र की 'गीतांजलि' से प्रभावित गीतों की भी वे रचना करने लगे। अध्यात्मपरक गीत गुप्त जी के काव्य में अपवाद-रूप दिखाई पड़ते हैं। वे व्यक्त जीवन और प्रकट सत्ता के कवि हैं, अतएव रहस्य-भावना उन्हें तात्कालिक प्रवृत्ति-विशेष के रूप में ग्राह्य हुई। सियारामशरण जी की काव्य-प्रतिभा उनकी अपेक्षा अधिक मनोमयी है। इसी कारण उन पर रवींद्र की छाया अधिक गहरी है। मैथिलीशरण जी ने रहस्य-काव्य कम लिखा और वह भो युग-विशेष में। रवींद्र का प्रभाव अस्थायी सिद्ध हुआ। 'झंकार' उसी प्रवृत्ति का प्रतिफल है। उनकी प्रथम रहस्यगीति यह है—

रोको मत, छेड़ो मत, कोई मुझे राह में।
चलती हूँ आज किसी चंचल की चाह में।

उन्होंने तीसरा मार्ग भी अपनाया। मधुसूदन दत्तका अनुसरण करते हुए उन्होंने पत्र-गीतियों की रचना कीं। 'पत्रावली' इन्हीं का संग्रह है। उन्होंने व्यक्तिगत अनुभूति को भी काव्य-विषय बनाया। 'मंगलघट' में कतिपय प्रतीकात्मक प्रगीतियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से है और कवि की प्रकृति के प्रतिकूल उनमें विषाद का स्वर मुखरित हुआ है। पर ऐसे शुद्ध आत्मानुभूतिमय प्रगीत अत्यल्प हैं।

राष्ट्रीय गीतियाँ : हमारे देश और साहित्य में राष्ट्र-भावना क्रमशः विकसित हुई है। गुप्त जी की आरंभिक राष्ट्रीयता अनुग्र थी। वह उदार और सुधारवादी समझी जा सकती है। उसमें नवजागरण की

चेष्टा, सांस्कृतिक उन्मेष, मातृभूमि के प्रति प्रेम और स्वातंत्र्य-कांक्षा की सम्मिलित अभिव्यक्ति हुई है। उसमें विरोध का स्वर अनुदात्त है। वह संघर्ष-प्राण नहीं है। आक्रोशमयी और संघर्ष-प्रेरक रचनाएँ गुप्त जी के वैष्णव व्यक्तित्व के प्रतिकूल होतीं। हिन्दी में सन् '३० के आसपास ऐसी रचनाएँ लिखी गयीं, पर उसके पूर्व उपयुक्त राजनीतिक वातावरण के अभाव में वे अकल्पनीय थीं। गुप्त जी ने उपदेश दिए, मातृभूमि का स्तवन किया, बलिदानियों पर प्रशस्तियाँ लिखीं तथा उज्ज्वल भविष्य की कामना की। गांधी जी के प्रभाव में आने पर वे सत्य और अहिंसा के पुजारी हो गए। रचनात्मक-कार्य-पद्धति और नैतिक जीवनादर्श उनके प्रिय विषय बने। गांधीवादी जीवन-दर्शन और व्यापक राष्ट्रीयता का परिपाक 'साकेत' में हुआ।

'स्वदेश-संगीत' सन् '२५ में प्रकाशित हुआ, पर उसकी रचना प्रायः एक दशक में हुई। इसमें राष्ट्रीय भावना-युक्त गीत हैं और वर्णनात्मक अथवा निराख्यानक कविताएँ भी। प्रार्थनात्मक राष्ट्रीय गीत देखिए—

राम, तुम्हें यह देश न भूले।
धाम-धरा-धन, जाय भले ही, यह अपना उद्देश्य न भूले।
निज भाषा, निज भाव न भूले, निज भूषा, निज वेष न भूले।
प्रभो, तुम्हें भी सिंधु पार से सीता का संदेश न भूले।

सामयिक गांधीवाद, मध्य श्रेणी का मर्यादावाद और कवि की वैष्णव-भावना—इन तीनों ने उसके भावों को गंभीर, विचारों को उदार, कल्पनाओं को सौम्य और स्वर को मंद बनाया है। गुप्त जी की सामयिक चेतना ऊर्ध्वमुखी है। 'स्वदेश-संगीत' में देश, समाज तथा राजनीति से संबद्ध रचनाएँ हैं। कवि ने मातृभूमि का स्तवन किया है—

हरि का क्रीड़ा-क्षेत्र हमारा, भूमि-भाग्य सा भारतवर्ष।

अथवा—

नीलाम्बर परिधान हरित-पट पर सुन्दर है। इत्यादि

गुप्त जी मातृ-मूर्ति के रूप में देश की अर्चना ही नहीं करते, जैसे—'जय जय भारत-भूमि-भवानी,' बल्कि 'विशाल भारत' में देश को जगाने का उपक्रम भी करते हैं। 'चेतना' की उक्ति है—'अरे भारत, उठ, आँखें खोल,' और 'अनिश्चय' यह है: 'विश्व, तुम्हारा भारत हूँ मैं? हूँ या था, चितारत हूँ मैं।'

'मंगल-घट' में भी ऐसी ही रचनाएँ संगृहीत हैं, पर उसमें उद्बोधन ही नहीं, उपदेश भी मुखरित है, यथा: 'नर हो न निराश करो मन को', 'मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है।' वह 'स्वप्नोत्तिथ' का 'स्वर्गीय-संगीत' है। गुप्त जी ने इन्हीं संग्रहों में समाजसुधार संबंधी गीत भी लिखे हैं, पर वे अधिक नहीं हैं। यथा—वृद्ध-विवाह विषयक 'आज उदार बना है सूम।' सामयिक राजनीतिक आंदोलनों आदि पर गुप्त जी बराबर लिखते रहे हैं, पर यह उनकी मुख्य काव्य-प्रवृत्ति नहीं है। 'स्वदेश-संगीत' में उनका झंडा-गीत 'भारत का झंडा फहरै' है और भारत के स्वतंत्र होने पर उन्होंने लिखा है—'विजय पताका फहरे।' असहयोग-आंदोलन-संबंधी गीत जैसे 'विचित्र संग्राम' ('अस्थिर किया टोप वालों को गांधी-टोपी वालों ने'), 'ओ विश्वस्त बारडोली, ओ भारत की थर्मापोली', 'हुई आग भी हिम की धारा, सत्याग्रह था उसे तुम्हारा', सुप्रसिद्ध हैं। उन्होंने भाषा का समृद्धि-साधन राष्ट्रीय कार्य समझा है और 'भाषा का संदेश' सुनाया है: 'भाषा का संदेश सुनो, हे भारत, कभी हताश न हो।' उन्होंने स्वराज्य की अभिलाषा प्रकट की है और अफ्रीका-प्रवासी भारतवासी की दारुण दशा का चित्रण किया है।

सांस्कृतिक गीत: 'मंगल-घट' के प्रगीत सामयिक राष्ट्रीयभावना की अपेक्षा व्यापक भावभूमि से सबद्ध हैं। उसमें 'सोया मैं, सदियों तक सोया' का जागरण-गान है, पर उसे संस्कृति का 'आभास' भी है; अन्यथा वह यह प्रश्न ही न करता—"अरे, ओ अब्दों के इतिहास! फिर कह, तू किन शब्दों में देगा युग-युग का आभास?' व्यास का स्तवन और आर्य-भार्या का प्रशस्तिवाचन भी हुआ है। पर इन सामयिक और

सांस्कृतिक गीतों में युगधर्म का आह्वान तो है, अनुभूति की तलस्पर्शिता नहीं। इन की शैली भी पद-पद्धति की ओर निराख्यानक काव्य की मध्यवर्तिनी है, जिसमें कवि की सूक्ति-प्रियता सन्निविष्ट है। ये गीत प्रायः विषय-प्रधान और विवरणात्मक हैं।

वैतालिक : गुप्त जी के सफल प्रगीतों का विवेचन करने के पूर्व उनकी पूर्ववर्ती गीति-सृष्टि का उल्लेख अपेक्षित है। उन्होंने इस युग की अपनी राष्ट्रभावना का प्रकर्ष 'वैतालिक' में प्रकट किया है। इसे एक लंबा जागरण गीत कहा गया है, जो चौदह-चौदह मात्राओं के सवा सौ छंदों में समाप्त हुआ है। यदि चरणों का छोटा होना ही गीतिकाव्य है, तो दूसरी बात है; अन्यथा यह एक लंबी कविता है तथा जागरण का भावानुबंध लिए हुए है। यह एक उपदेशात्मक और वर्णनप्रधान रचना है। शुक्लजी का कथन है कि 'वैतालिक' की रचना उस समय हुई, जब गुप्त जी की प्रवृति खड़ीबोली में गीतिकाव्य प्रस्तुत करने की ओर भी हो गई थी। इसमें जागरण की भावना पूर्णतः अन्वित है, पर उसका अनुबंध प्रगीतात्मक न होकर खंडकाव्यात्मक है। यह कवि की एकांतिक आत्माभिव्यक्ति नहीं है और गीतिकाव्य के किसी भी भेद में परिगणित नहीं की जा सकती। ऊषा ने आँगन लीप दिया और कवि ने देशवासियों को जगाने का उपक्रम किया, 'वैतालिक' देश को जगाता हुआ उपदेश भी देता गया। उसने दार्शनिकता प्रकट की तथा प्रकृति को जीवन के सान्निध्य में देखा। प्रकृति के स्वाभाविक सौंदर्य के प्रति कवि आकर्षित हुआ, पर उसका वर्णन सप्रयोजन किया गया। वह पूर्व की आध्यात्मिक संस्कृति तथा पश्चिम की भौतिक संस्कृति के संयोग से उत्थान के नए मार्ग का निर्देश करता है। वह पश्चिम के प्रेय, ज्ञेय, गति और उन्नति के साथ भारतीय श्रेय, ध्येय, पद्धति और मति को समन्वित करना चाहता है। निश्चय ही यहाँ कवि के विचारों का विकास हुआ है, पर उसकी गीतिकला अपरिपक्व रही है; अन्यथा इस निराख्यानक रचना को सुंदर गीतिकाव्य का परिच्छद दिया जाता। 'विश्व-वेदना' भी इसी प्रकार की रचना है, पर वह प्रौढ़ोत्तरकाल में पूर्ण तथा प्रकाशित हुई। उसका कार्यारंभ सन् '१८-'१९ में हुआ। उसका काव्यरूप संभवतः इसी कारण 'वैतालिक' का रंग-ढंग लिए हुए है। वह युद्ध-विरोधी काव्य है।

पत्रावली : माइकेल मधुसूदन दत्त के प्रभाव का उल्लेख हम कर आए हैं। माइकेल ने 'वीरांगना' नामक एक पत्रात्मक गीतिकाव्य लिखा था। गुप्त जी उसके अनुवादक हैं। पत्रों में मानसिक एकतानता और आवेग का सम्यक् निर्वाह किया जा सकता है। अतएव पत्रगीति भी साहित्य-विद्या मानी गई है। गुप्त जी ने 'पत्रावली' नामक सात पद्य-बद्ध पत्रों का संग्रह उपस्थित किया है। सभी पत्र ऐतिहासिक आधार पर रचे गए हैं और पद्यात्मक हैं। स्वयं कवि ने इन्हें पत्रगीति नहीं माना है। कवि वस्तु-वर्णन के स्थान पर यदि भाव-चित्रण पर अधिक ध्यान देता, तो ये हिन्दी की अपूर्व पत्रगीतियाँ सिद्ध होते माइकेल के 'विरहिणी व्रजांगना' काव्य में प्रगीततत्व खूब निखरा है। गुप्त जी ने उसका हिन्दी-रूपांतर किया है। माइकेल और रवींद्रनाथ के काव्यानुशीलन के कारण आत्मानुभूति और गीति-पद्धति से वे सुपरिचित थे। वैष्णव भक्तों की मार्मिकवाणी और कालिदास की कला से वे अभिज्ञ थे ही। पर उन्हें स्वानुभूति की व्यंजना ही अभीष्ट न थी। नीतिमत्ता के आग्रह ने उन्हें स्वच्छंद न होने दिया।

स्वानुभूति-व्यंजक गीत : शुद्ध प्रगीत रचना के उदाहरण 'मंगल-घट' में मिल जाते हैं और 'झंकार' तो रहस्यभावना पर आधारित गीतिकाव्य ही है। क्षार-पारावार, नक्षत्र-निपात, पुष्पांजलि, झंकार, कीर, चयन, सांत्वना आदि गीत विषण्ण मनस्थिति की रचना हैं। कवि की पुत्रशोकजन्य वैयक्तिक करुण-वियोगानुभूति इनमें सर्वत्र व्याप्त है। अवश्य ही वह प्रगाढ़ है, आवेगमयी नहीं। कवि पूर्ण आत्मसंयम के साथ हृदय-व्यथा का उद्‌घाटन करता है। प्रतीक-आयोजना के द्वारा कवि ने शोक-व्यंजना की है, पर यह उसका प्रकृत-क्षेत्र नहीं है। इनकी काव्यकला चाहे आरंभिक नवीनता या अविकसितावस्था का बोध कराए, पर इन्हें शुद्ध प्रगीत माना जाएगा। इनकी रचना सन् '२०-'२५ के लगभग हुई। 'जीवन की जय' उपर्युक्त

गीतों का निष्कर्ष है। वह कवि की जीवनावस्था को पूर्णतः व्यक्त करता है। 'जीवन पर सौ बार मरूँ मैं', क्योंकि नया जन्म ही जग पाता है' और 'मरण मूढ़-सा रह जाता है' यह जीवन-दर्शन गुप्त जी का अपना है। यहाँ आकर उन्होंने अपनी शोक-वृत्ति पर विजय पाई है। पर यह अस्थायी विजय है। उन्हें पुनः 'द्वापर' में ऐसा ही आयास करना पड़ा है। 'निर्झर' गीत में छायावादी काव्य की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। यदि पद-योजना पर दृष्टि न रखी जाय, तो 'निर्झर' को गुप्त जी का प्रयासकालिक श्रेष्ठ प्रगीत कहना होगा। यह प्रगीत छायावादी रचना होते हुए भी, उनके कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट करता है, क्योंकि 'मेरा जीवन गतिमय गान' के साथ 'काल, तुझी से मेरी होड़' भी है।

आध्यात्मिक गीत : 'झंकार' का प्रकाशन सन् '२६ में हुआ, पर रचना हुई सन् '१४ से सन् '१८ के बीच में। स्वानुभूति व्यंजक गीतों के पूर्व 'झंकार की रहस्यमयी' गीतियाँ लिखी गई। काव्यकला की दृष्टि से ये दोनों प्रायः एक-सी कृतियाँ हैं, पर एक का आधार मूर्त है और दूसरे का अमूर्त। दोनों ही स्वानुभूतिमयी रचनाएँ हैं।

अध्यात्म-भावना गुप्त जी के वैष्णव-संस्कारों के प्रतिकूल नहीं ठहरती,—पर निर्गुण की उपासना उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। वे अप्रत्यक्ष के माध्यम से अपरोक्ष की खोज करते हैं, राम के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं चाहते—

वह बाल-बोध था मेरा !
निराकार निर्लेप भाव में भान हुआ जब तेरा।

अथवा—

निर्गुण, तू तो निखिल गुणों का निकला बास-बसेरा।

यही कारण है कि कियत्काल में रहस्य-साधना उन्हें अग्राह्य हुई और रवींद्र का अस्थायी प्रभाव शीघ्र ही तिरोहित हो गया। उसका कभी प्रत्यावर्तन नहीं हुआ। सारांश यह है कि रहस्यमयी प्रगीतियाँ नवयुग के साहित्यिक प्रभाव के कारण लिखी गईं। वे कवि की सहज वृत्ति का परिणाम नहीं हैं। एक बात और है। गुप्त जी कथाकार कवि हैं और प्रत्यक्ष जीवन उनका वर्ण्य विषय है। उन्हें अज्ञेय की अपेक्षा ज्ञेय और अमूर्त के स्थान पर मूर्त ही रुचिकर रहा ; अन्यथा उनकी नीति,भक्ति और जीवन-दृष्टि किस राम-राज्य का अवतरण करतीं ? अथवा चरित्र के पूर्ण प्रकर्ष, संस्कृतियों के संतुलित समन्वय और विश्व-मानवता-वाद के आधारभूत तत्वों का कैसे प्रतिपादन होता ? गुप्त जी भावनाशील कवि हैं, बुद्धिवादी नहीं। उन्हें निरुद्देश्य कला-सृष्टि अस्वीकृत रही है। उनका मत मांडवी ने व्यक्त किया : 'सुंदर को सजीव करती है, भीषण को निर्जीव कला।' यह सौंदर्य उन्हें चारित्र्य में, पारिवारिक जीवन में और सामाजिक कार्यों में दिखाई पड़ा। वे सूक्ष्म भाव-संवेदनों के सौंदर्य की व्यंजना नहीं करते, परिस्थितियों के बीच हृदय-सौंदर्य का उद्‌घाटन करते हैं। उन्हें असुंदर के प्रति विरक्ति भी जगानी पड़ी है। आशय यह है कि गुप्त जी ने रहस्य-मय प्रगीत लिखे हैं, पर यह उनकी आनुषंगिक और परिस्थिति-जन्य प्रवृत्ति है, प्रधान और स्वभावगत नहीं।

भाव-व्यंजना : उन्होंने संपूर्ण विश्व में परोक्ष सत्ता की व्याप्ति व्यंजित करते हुए उसे अधम, दीन, असहाय, रोगी आदि विपन्नों की प्रार्थना, याचना, सेवा, श्रम और रोदन में पहचानने की चेष्टा की है। कवि ने मानव-पूजा में ईश्वर-पूजा का दर्शन किया है। आध्यात्मिक खोज में आत्माभिमान की निरर्थकता का परिचय देते हुए उसने पश्चात्ताप के भीतर इष्ट की प्राप्ति दिखाई है। कहीं नैतिक भावना व्यंजित हुई है और कहीं सगुणोपासना स्वतः स्फूर्त हो उठी है। कहीं आराध्य की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है और कहीं सरल जीवन के प्रति अनुराग प्रकट हुआ है। 'शरणागत' की प्रणति में भक्ति-प्रवाह की नई परिणति देखी जा सकती है। कवि का आत्मनिवेदन प्रधान है और प्रेममयी भक्ति का उच्छ्‌वास कम। 'झंकार' उनकी एकमात्र ऐसी कृति है, जिसमें स्वयं कवि काव्य का आश्रय है, आत्माभिव्यंजना ही काव्य का प्रतिपाद्य है और

ईश्वराराधन ही अभिप्रेत है। इसी प्रगीत-रचना में गुप्त जी ने विषय-कथा, पात्र या प्रसंग किसी का माध्यम नहीं रखा है। यह विशुद्ध गीतिकाव्य है।

विशेषता : गुप्त जी का कवि-व्यक्तित्व आचार्य द्विवेदी जी के काव्यादर्श के अनुरूप ढला था। वे पुनरुत्थान-युग के मर्यादावादी कवि के रूप में उपस्थित हो रहे थे। अतएव आत्माभिव्यंजक प्रगीतकला को स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण के साथ वे ग्रहण भी कैसे करते? पर वे नवीन और प्राचीन के सामंजस्य-स्थापक कवि रहे हैं। इसी कारण उन्होंने नवीन काव्यप्रवृत्तियों से अलगाव नहीं दिखाया। निश्चय ही इनका उतना ही स्वीकार संभव था, जितना उनके निर्मित व्यक्तित्व के भीतर किया जा सकता था, अथवा आदर्शवाद के भीतर जितना स्वच्छंदतावाद समा सकता था। कहना न होगा कि गुप्त जी ने प्रायः कथाश्रित प्रगीत लिखे हैं। विषयी-प्रधान काव्य का 'झंकार' ही अकेला उदाहरण है।

रहस्यानुभूति : 'झंकार' के सम्बन्ध में कतिपय प्रश्न किए जा सकते हैं। इसकी दार्शनिक पीठिका क्या है? इसका गीतितत्व किस कोटि का है और उसका सौंदर्य कहाँ है? गुप्त जी की अध्यात्म भावना का क्या स्वरूप है? आदि। गुप्त जी विशिष्टाद्वैतवादी रामोपासक कवि हैं। उनकी यही दार्शनिक वृत्ति है, पर शास्त्रीय तत्वज्ञान को लेकर 'झंकार' की रचना नहीं की गयी। जीवन, जगत, और ब्रह्म तथा ज्ञान, भक्ति और माया के सम्बन्ध में उनके मंतव्य वे ही हैं, जिन्हें साधारण भारतीय भी ग्रहण किए हुए है। अतः रहस्यवादी प्रतीकों का अप्रतीतत्व उनके काव्य में आ ही न सका। उन्होंने सुप्रसिद्ध और स्वदेशी प्रतीकों का व्यवहार किया। वे भक्ति को महत्वपूर्ण समझते हैं, पर उसे प्रेम से अपृथक् रखना उन्हें अभीष्ट है। 'रमा हैं सबमें राम', 'हुआ एक होकर अनेक वह, हम अनेक से एक', 'तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किसमें होकर आऊँ मैं' आदि उक्तियाँ दर्शन को अनुभूत तत्त्व के रूप मे उपस्थित करती हैं। 'पुरुष-पुरातन, बन जा फिर तू वही बाल-गोपाल हरे' में सगुण का आग्रह स्पष्ट है। उन्हें सख्योपासना प्रिय है। राम की सखी-भाव की उपासना उनकी पारिवारिक भक्ति-पद्धति है। 'सखे, मेरे बंधन मत खोल' उनकी उपासना का अविकृत रूप है। गुप्त जी असांप्रदायिक मनोवृत्ति के कवि हैं। पर ईश्वर के प्रति उनका सखाभाव समीपी है और दास्य-भाव उन्हें इष्ट से दूर रखता है। यहाँ उन्होंने सगुण-निर्गुण को एक ही मान कर आत्मनिवेदन किया है।

गीति-शिल्प : इन गीतों को एक वाक्य में हिन्दी की विकासोन्मुख प्रगीतिकला का आरंभिक उदाहरण समझना चाहिए। गुप्त जी ने प्रगीतकाव्य के आरंभिक विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है और उसका ऐतिहासिक महत्व है। अपने समसामयिक प्रगीतों की तुलना में 'झंकार' की रचना सुष्ठु, ऋजु, संयत और भावमयी दिखाई पड़ेगी। निस्संदेह पद-लालित्य अथवा शब्द-शोधन कवि का लक्ष्य नहीं रहा। उसने एकांत माधुर्य की रचना भी नहीं की। शब्द-शोधन का और अर्थव्यंजक ध्वनियों का आग्रह उसमें अंत तक नहीं दिखाई पड़ा। वचन-वक्रता के द्वारा उसने भाव-भंगिमाओं का अच्छा चित्रण किया है। कहीं-कहीं शिथिल और व्याकरण असम्मत प्रयोग मिल जाएँगे, जैसे 'मैंने पहचान न पाया' अथवा 'मैंने भर पाया'। तुकांत में 'आह-वाह' जैसी निरर्थक शब्दयोजना भी मिलेगी। निश्चय ही 'झंकार' श्रेष्ठ गीतिकाव्य नहीं है, पर अपने युग का प्रतिनिधि काव्य अवश्य है। गुप्त जी की गीतिकला का प्राथमिक सौंदर्य भी इसमें सुस्पष्ट है। इस की सफलता प्राचीन पद-पद्धति को स्वानुभूतिव्यंजक प्रगीतकाव्य शैली के रूप में नए सिरे से ढालने में देखी जा सकती है। प्रगीतकाव्य-रूप का आविष्कार 'एक भारतीय आत्मा', मैथिलीशरण, मुकुटधर पांडेय तथा 'नवीन' के कर्तृत्व से हुआ। उसका परिष्करण छायावादियों ने किया। 'झंकार' की यही नवीन गीति-विद्या है। उसकी गीतिमत्ता आत्मनिवेदन और स्वच्छंद छंदयोजना में है। उसकी नवीनता अविकसित है और गीतिकला अपरिष्कृत नवीनता लिए हुए है। गुप्त जी ने न शृंगार-चित्र सजाए, न सौंदर्यवादी अभिव्यंजना की। यह प्रगीत की विकासावस्था का कार्य है। कालांतर से 'साकेत' और 'यशोधरा' में शृंगार की कथाश्रित अभिव्यंजना की गई तथा गुप्त जी का गीति-शिल्प प्रौढ़ और परिष्कृत हुआ।

छायावादी काव्यप्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव द्विवेदी युग के दूसरे दशक में हुआ। उसके आरंभिक कवि हैं: जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, मुकुटधर पांडे आदि। गुप्त जी ने स्वच्छंदिनी जीवनदृष्टि को नहीं अपनाया, नवीन काव्यप्रवृत्तियों का ग्रहण भर करते रहे। उनकी भावुकता अनुद्वेलित है, पर गंभीर भी। शुक्ल जी का मत है, "कुछ अंग्रेजी ढर्रा लिए हुए जिस प्रकार की फुटकल कविताएँ और प्रगीतमुक्तक बंगला में निकल रहे थे, उनके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तु-विन्यास और अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यंजक भाषा में इनकी (गुप्त जी की) नए ढंग की रचनाएँ संवत् १९७०-७१ से ही निकलने लगी थीं, जिनमें से कुछ के भीतर रहस्यमय भावना भी रहती थी।" इस प्रवृत्ति के दो परिणाम हुए और उनका गुप्त जी के काव्य पर स्थायी प्रभाव पड़ा। प्रगीततत्व का उनके काव्य में महत्वपूर्ण स्थान निश्चित हो गया तथा उनकी पदावली बहुत कुछ सरस तथा कोमल हो गई, 'यद्यपि कुछ ऊबड़-खाबड़ और संस्कृत शब्दों की ठोकरें कहीं-कहीं, विशेषत: छोटे छंदों के चरणांत में अब भी लगती हैं।' यह अंत्यानुप्रास-प्रियता का कुफल है।

प्रौढ़ि: सन् '३० के आसपास 'साकेत' के गीतों का निर्माण हुआ। शुक्ल जी ने 'साकेत' और 'यशोधरा' में 'काव्यत्व का पूरा विकास' देखा, पर उन्हें प्रबंधत्व की कमी खटकी। इसका कारण यही गीतिरचना की प्रवृत्ति है। यह मत दो प्रश्नों को उपस्थित करता है: (१) क्या प्रबंधकाव्य के अंतर्गत प्रगीतकाव्य की नियोजना सौंदर्यह्रासिनी होती है? (२) क्या कथा के आधार पर शुद्ध प्रगीत-रचना की जा सकती है? तीसरा प्रश्न भी उपस्थित होता है कि शुक्ल जी जिसे प्रगीतात्मक मुक्तक कहते हैं, क्या वह प्रगीत से भिन्न कोई काव्य-विधा है? प्रगीत और मुक्तक परस्परविरोधी शब्द हैं: एक का सम्बन्ध आत्माभिव्यंजना से है और दूसरे का वस्तु-व्यंजना से। आकार की लघुता के कारण क्या वे एक समझे जायँ? इस स्थिति में प्रसाद और निराला के प्रगीत क्या बिहारी और वृंद के दोहों, तुलसी की कवितावली, देव के शब्द-रसायन या पद्माकर के जगद्विनोद की समीपी वस्तु हैं? निश्चय है कि नहीं। गुप्त जी के काव्य से इस प्रश्न का सीधा सम्बन्ध नहीं है, क्यों कि कथाश्रित गीत मुक्तक या स्फुट रचना नहीं हो सकते, जैसे 'सूरसागर' या 'गीतावली'। वे गीतिकाव्य ही कहे जाएँगे।

साकेत–कथाश्रित गीत: क्या इतिवृत्त का आधार लेकर रचे गए पद या प्रगीत गीतिकाव्य है? क्या घटना-प्रसंग या परिस्थिति की योजना गीतिकाव्य की सीमा में संभव है? मैं समझता हूँ कि जो कवि कथा न कहकर उसके मर्मस्पर्शी-स्थल का चित्रण इस अभिप्राय से करता है कि वह अपने मनोवेगों को व्यंजित कर सके या उस पात्र के अंतस्तल की मन:स्थिति उद्घाटित कर सके, जिसके साथ स्वयं तादात्म्य स्थापित कर चुका है अथवा उसकी अनुभूति पात्र की मन:स्थिति के साथ तद्वत हो गई है, तो वह रचना गीतिकाव्य की श्रेणी में रखी जा सकती है। गीतिकाव्य में आत्मानुभूति, हार्दिकता अथवा आवेगशील मन:स्थिति की अभिव्यंजना ही तो की जाती है। कथा के मर्मस्पर्शीस्थल गीतिकाव्यात्मक होने पर सीधा प्रभाव डालते हैं। कथा-काव्य में कवि का माध्यम रहता है और कथाश्रित गीतों में पात्र का। नाटकीय चित्रणों के द्वारा गुप्त जी ने कथा-काव्य में अपने माध्यम को गौण बनाया है और गीतों की नियोजना करके उसे और भी अपदस्थ किया है। 'साकेत' के वर्णन नाटकीय हैं और उर्मिला का विरहोच्छ्वास गीतिमय। गीतिकाव्य के अंतर्गत कथा का उतना ही अंश गृहीत हो सकता है, जो रागात्मक आत्माभिव्यक्ति में बाधक न सिद्ध हो। अतएव कथा का सांकेतिक प्रयोग ही संभव है। वस्तु-वर्णना के स्थान पर भावव्यंजना को सजीव बनाने के लिए कथा-क्रम का निर्देश किया जा सकता है पर वह केवल पीठिका के रूप में, जिसपर भाव-चित्र उभर सकें। गीतों में जितना उपयोग रूप-चित्रण या प्रकृति-चित्रण का किया जा सकता है, उतना ही घटना-वर्णन या इतिवृत्त-संकेत का। सूर और तुलसी ने यह किया भी है। [गुप्त जी भी इसी मार्ग पर चले हैं। 'साकेत' का कथाक्रम उसकी प्रगीतिओं में सुस्थिर है, गतिवान् नहीं। गति बाहरी नहीं है, मानसिक है, अतएव गीति-काव्योचित है।

वह चौदह वर्ष की कालावधि का एकरसत्व लिए हुए है। वैविध्य संचारियों और वियोगदशाओं का है, घटना या परिस्थिति का नहीं।

प्रबंधकाव्य और प्रगीत : अब प्रथम प्रश्न को लीजिए। क्या गीतिकाव्य वस्तु-व्यंजक प्रबंधकाव्य का सौंदर्य-वर्द्धन नहीं करता? यह प्रश्न प्रस्तुत विषय से संबद्ध नहीं है। हम प्रबंधकाव्य के उत्कर्षापकर्ष की छानबीन में प्रवृत्त न होकर, यह निवेदन करेंगे कि मार्मिक स्थलों पर विरल गीति-योजना वस्तु-विधान के धाराप्रवाह को अव्याहत रखती है, पर अंतर्वृत्तिव्यंजक काव्य होने के कारण उसका आधिक्य कथा-वस्तु के विकासोन्मुख बाह्यार्थ-निरूपक विवरणों को श्री-हत कर देता है। 'कामायिनी' में आकर दोनों काव्य-प्रकारों का एक संतुलन सध गया है, पर उसमें भी प्रगीतात्मकता समता की भूमि पर नहीं है, वह प्रबंधात्मकता की अपेक्षा कहीं प्रधान हो गयी है और 'साकेत' में यह क्रम उलट गया है। सम्यक् संतुलन का काव्य संभवत: हिन्दी में आता, पर नई कविता ने प्रगीतिकला के अर्जित सौंदर्य की रक्षा तक नहीं की और प्रबंध-वृत्ति मनोवैज्ञानिक अंत: प्रकाश की शास्त्रीयता के सम्मुख धुंधली पड़ गई। प्रबंध-रचना उपन्यास का स्वरूप अपनाने लगी और प्रगीत का उत्कर्ष आत्माभिव्यंजक न रहकर वस्तून्मुखी हो गया। 'कामायिनी' अपनी 'कोमलता में बलखाती' हुई रचना मानी गई और 'साकेत' में प्रबंधधारा का क्रमिक विकास प्रगीतिप्रियता के कारण क्षतिग्रस्त हुआ। 'साकेत' के प्रगीत प्रबंध-शिल्प से संगति रखते हैं, पर कथा की गति को अग्रसर नहीं करते।

साकेत के प्रगीत-भेद : 'साकेत' के प्रगीत विप्रलंभ शृंगार के व्यंजक हैं। उनके तीन प्रकार हैं: प्रगीत, संबोधगीत, और पदपद्धति के गीत। पद और प्रगीत नवम् सर्ग में हैं और संपूर्ण दशम सर्ग संबोधगीति है। अष्टम सर्ग में प्रबंधगीति का विधान हुआ है। नवम् सर्ग में सूक्तिमय मुक्तक रचनाएँ गीतिकाव्य के क्रम-विन्यास के हेतु ही प्रयुक्त नहीं हुई, उनका स्वतंत्र विधान भी हुआ। नवम सर्ग में मुक्तक, पद और प्रगीत तीनों को क्यों रखा गया? उर्मिला की आत्माभिव्यंजना को व्यक्त करना कविका लक्ष्य होता, तो वह केवल प्रगीतियाँ लिखता, पर उसे नायिका के विरहाधिक्य का वर्णन करना था तथा उसके रूप, गुण और कार्य-संबंधी चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट भी। निस्संदेह वह चमत्कारवादी कवि नहीं है, अतएव विरहातिशयता का वर्णन ऊहात्मक नहीं हुआ। नायिका के चरित्र को स्पष्ट और उसकी विरहातिशयता को व्यक्त करने के लिए मुक्तक पद्धति अपनाई गई तथा 'हे मेरे प्रेरक भगवान' जैसे पदपद्धति के गीत रचे गए। विरहोच्छ्वास अथवा आत्मोद्गार को प्रकट करने के लिए नई प्रगीत-पद्धति का विनियोग किया गया, यथा—'कहती मैं चातकि, फिर बोल !'

अष्टम सर्ग का 'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' प्रगीत भिन्न श्रेणी की रचना है। वह कथातत्व से पूर्णत: अन्वित ही नहीं है, सीता के चरित्रादर्श का व्यंजक भी है और गुप्त जी की जीवन-निष्ठा और युगचेतना का उदाहरण भी। 'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई' उक्ति की भाँति वह नाटकीय प्रभाव लिए हुए है। वह वस्तु–परक और सोद्देश्य गीतिसृष्टि है, सीता की आत्मानुभूति का अप्रच्छन्न प्रकाशन नहीं। इसे प्रबंध-प्रगीति की कोटि में परिगणित किया जाना चाहिए।

संबोधगीति की शैली में दशम सर्ग लिखा गया, जिसमें सरयू को लक्ष्य कर उर्मिला ने अपनी व्यथा-कथा और बालकांड का संक्षिप्त वृतांत निवेदित किया। पर यह संबोधगीति प्रगीतात्मक न हो कर, वस्तु-वर्णनात्मक है। बालकांड की कथा संक्षिप्त होकर भावमयी हो गई है। वह स्मरण संचारी के अंतर्गत आ जाती है और विरहोद्दीपक है ही। कवि ने सूच्यांशों के सहारे पूर्वराग और वियोग-दशा का निरूपण किया है। उर्मिला का यह संलाप उसकी विरह-वेदना को भलीभाँति प्रकट करता है, पर यह उत्कृष्ट संबोधगीति नहीं है, जैसी कीट्स की 'ओड टु नाइटइंगेल।' कवि ने आवरण भर नया रखा है, प्रसंगोद्भावना भी नई है, पर अभिव्यक्ति-भंगिमा वस्तुनिष्ठ है। यह प्रबंधगीति का ही एक प्रकार है। 'ओ गौरव गिरि, उच्च, उदार' भी संबोधगीति है।

गीतिकाव्य : नवीन और प्राचीन : नवम सर्ग के प्रगीत वस्तुमयी गीति-पद्धति पर नहीं रचे गए, उनमें नवीन प्रगीतियों का शिल्प व्यवहृत हुआ। प्रायः सभी प्रगीत आत्माभिनिवेशमयी कला के उदाहरण हैं, पर उनमें दो प्रकार की भावधाराओं का संगम है। वियोगिनी नायिका का सर्वांगपूर्ण चित्र रीतिकाल के शृंगारी कवियोंने तैय्यार किया था। ऊर्मिला का चित्र वही नहीं है, पर खाका वही है। साँचा पुराना है और द्रव्य नया। ऊर्मिला का चारित्र्य नए युग की कल्पना है। नारी-जीवन के प्रति करुणा की दृष्टि भी नए युग की देन है। छायावादयुगीन उसकी विशेषताएँ हैं—अंतर्वृत्तियों का प्राधान्य, विरहताप तथा कृशता की न्यूनता, स्थूल सौंदर्य-भावना का परित्याग तथा सूक्ष्म आत्म-विवृत्तिमयी व्यंजना। गुप्त जी ने अष्टयाम का विशेष आग्रह नहीं किया, पर षट्ऋतु वर्णन को अन्य प्रसंगोद्भावनाओं की अपेक्षा अधिक महत्व दिया। विरहोद्दीपन के अतिरिक्त संचारी भावों का और वियोग की दस अवस्थाओं का सन्निवेश भी हुआ। अलंकारवादियों की चमत्कृत शैली का सत्कार भी उन्होंने किया। उनकी सूक्तियाँ अनुभूतिशून्य नहीं हैं, अनुभूति और चमत्कार दोनों को लिए हुए हैं। नई काव्यपद्धति से उन्होंने उक्ति-वैचित्र्य, प्रतीक-योजना, चित्रोपमता, लाक्षणिक वैलक्षण्य, मानवीकरण, ध्वन्यर्थ व्यंजना, विशेषण विपर्यय, स्वच्छंद-छंद-विधान आदि का स्थापत्य ग्रहण किया। प्रगीतकाव्य-रूप में उन्होंने इन्हीं प्राचीन और नवीन उपकरणों का समाहार किया। इसीलिए निर्देश किया गया है कि वियोग-वर्णन के पुराने रेखाचित्र को गुप्त जी ने नया रंग-रूप प्रदान किया या पुराने साँचे में नया द्रव्य ढाला। अतएव यह भी स्पष्ट है कि उनकी गीतिकला में पदों का नया संस्कार और प्रगीतों का निर्वैयक्तिक प्रयोग उपलब्ध होता है। ये रचनाएँ पृथक्-पृथक् न होकर प्राचीन और नवीन गीतिशिल्प के समन्वय को चरितार्थ करती हैं। आत्मनिवेदन-परक पद-पद्धति से ये बहुत दूर हट आई हैं।

भाव-व्यंजना : प्रतीक्षा प्रेम-परीक्षा है। यहीं से आरंभ कर कवि वेदना का वैशिष्ट्य प्रकट करता है—'वेदने, तू भी भली बनी' तथा 'विरह-संग अभिसार भी'। 'दोनों ओर प्रेम पलता है' प्रगीत में प्रेम के उभय पक्षों की समतुल्यता दिखाते हुए अकिंचन प्रेमी के महत्व का निदर्शन किया गया है,। 'आजा मेरी निंदिया गूंगी' वयस्क वियोगिनी की लोरी है। 'दरसो, परसो, घन बरसो' तथा 'कहती मैं चातकि, फिर बोल' गीत उत्कृष्ट हैं और विरहोद्दीपक से कहीं अधिक भाव-व्यंजक हैं। 'निरख सखी, ये खंजन आए' के द्वारा प्रेम-पात्र की प्रत्यक्ष प्रकृति में सांकेतिक व्याप्ति का सुंदर निरूपण हुआ है। 'सखि, निरख नदी की धारा' प्रगीत की पदावली ध्वन्यर्थ-व्यंजक है। हेमंत-संबंधी प्रगीत भावव्यंजक उतने नहीं हैं, जितने परिस्थिति-ज्ञापक और चमत्कारपूर्ण। 'भूल पड़ी तू किरण, कहाँ ?' अथवा 'शिशिर, न फिर गिरि-वन में' प्रगीत के नवीन सौंदर्य को स्पष्ट करते हैं। 'काली काली कोयल बोली' भावाक्षिप्त प्रकृति-चित्र है। 'मुझे फूल मत मारो' भाव-शबलता का अच्छा नमूना है। 'अब जो प्रियतम को पाऊँ' या 'लाना, लाना, सखि तूली' प्रगीत में दर्शनाभिलाष की मार्मिक व्यंजना हुई है। 'स्वजनि, रोता है मेरा गान' अर्थ-गांभीर्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। कतिपय प्रगीत सायास रचित ज्ञात होते हैं और उनमें गुप्त जी के अन्य गीतों का सा भावोत्कर्ष नहीं है, जैसे 'खिल सहस्र दल, सरस, सुवास' या 'मनको यों मत जीतो।' 'ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई' प्रगीत शील-निरूपक है। 'मेरे चपल यौवन-बाल' में ऊर्मिला का प्रेम-गांभीर्य मनोमय न रहकर शरीरी हो गया है और वियोगावस्था में उसकी विशेष संगति नहीं है। काम को ललकारना ही पर्याप्त था। 'मचल कर मत साल' के द्वारा आत्मोन्मुख प्रेम को कायिक बनाने का उपक्रम गौरवपूर्ण नहीं है।

गीतिकला : 'साकेत' के इन प्रगीतों में कवि की मनोदृष्टि सूक्ष्म सौंदर्य-बोध अथवा आत्माभिव्यंजना पर ही केंद्रित नहीं है। वह बारंबार विषय, वस्तु, चरित्र, प्रकृति आदि को स्थूल रूप में ग्रहण करती चलती है। गुप्त जी की कल्पनाएँ सार्थक होते हुए भी औपचारिक या लाक्षणिक हैं, रीति-मुक्त नहीं हैं। छायावादियों की भाँति उन्होंने भावात्मक और वास्तविक कल्पनाएँ अधिक प्रयुक्त नहीं कीं। इसी प्रकार गुप्त जी की पदावली कोमल और मधुर चाहे हो, पर उसमें शब्द-संगीत और अर्थ-निष्पत्ति का सामंजस्य नहीं है। पदलालित्य

का ऐसा सुप्रयोग, जिसके द्वारा शब्दों के संगीत में भाव-प्रतिमा मूर्त हो उठे और केवल अर्थवती ही न हो, गुप्त जी के गीतिकाव्य में क्वचित् ही हुआ है। उनकी प्रवृत्ति शब्द-शोधन की ओर भी नहीं रही, अन्यथा 'ओ गौरव-गिरि, उच्च उदार' के साथ 'झाड़'-'पहाड़' और 'दृष्टि'-'सृष्टि' का प्रयोग ही क्यों करते ! 'दोनों ओर प्रेम पलता है' में दीपक और पतंग की कल्पना रीति-बद्ध है, पर वह उतनी नहीं खटकती, जितनी 'जगती वणिग् वृत्ति है रखती' की स्थूल-कल्पना। 'उपमोचितस्तनी' 'वेदने, तू भी भली बनी' प्रगीत के लिए दाल-भात में मूसरचंद है। 'अरी गूंजती मधुमक्खी' उपयोगितावाद का नारा चाहे बन जाय, पर वह सौंदर्य-संस्कारों पर आघात करती है। शब्दों के चयन में यदि गुप्त जी थोड़ी सतर्कता बरतते तो उनकी गीतिकला और निखर उठती। संक्षेप में, 'साकेत' के प्रगीत मर्मस्पर्शी हैं और विकासशील काव्यरूप के उदाहरण हैं। कतिपय प्रगीत ऐसे अवश्य हैं, जो उत्कृष्ट प्रगीतकला के द्योतक ज्ञात होंगे, यथा 'कहती मैं चातकि, फिर बोल', 'दरसो, परसो, घन बरसो', 'मुझे फूल मत मारो', 'अब जो प्रियतम को पाऊँ' इत्यादि।

यशोधरा : 'यशोधरा' की भावधारा में 'साकेत' की स्वाभाविक परिणति हुई है। ऊर्मिला का विरह-वर्णन एकांतिक है, पर यशोधरा का गार्हस्थिक। दोनों में करुण-विप्रलंभ के उद्गार हैं, पर यशोधरा के मातृ-हृदय का चित्रण भी हुआ है। 'साकेत' के प्रगीत ऊर्मिला के विरहोच्छ्वास हैं, पर यशोधरा के प्रगीतों में अन्य पात्रों का आत्माभिव्यंजन भी सम्मिलित है। बौद्ध-संस्कृति का दार्शनिक या सांप्रदायिक रूप गृहीत नहीं हुआ, पर यह व्यापक सांस्कृतिक-भावना का स्फुरण अवश्य है। प्रधानता निःसंदेह यशोधरा के निरवधि करुण विप्रलंभ को दी गई है। आशय यह है कि 'यशोधरा' में गुप्त जी ने अपने गीतिकाव्य में गृहीत भाव-क्षेत्र का पर्याप्त विस्तार किया है। अब उनके जीवन की नाना अर्थ-भूमियों में संचार दिखाई पड़ता है, पर उनकी पारिवारिक सीमा अक्षुण्ण है। वह 'साकेत' से ज्यों की त्यों ले ली गई। नायिकाप्रधान सांस्कृतिक काव्य में पारिवारिक सीमा का अतिक्रमण अनुचित ही न होता, कदाचित् अकाव्योचित भी दिखाई पड़ता।

परित्यक्ता : ऊर्मिला वियुक्ता है, पर यशोधरा परित्यक्ता और उसका परिचय है--

> **जाओ नाथ अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी ;**
> **चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।**

उसकी आँखों में पानी है और आँचल में दूध। वह नारी के करुण-जीवन का त्यागपूर्ण और सहिष्णु जीवंत रूप है। यशोधरा 'सखि, वे मुझसे कहकर जाते' प्रगीत में अपरितोष प्रकट करती हुई उपस्थित होती है। इसी अनुताप के साथ उसे प्रिय के प्राथमिक परिचय का स्मरण होता है और वह प्रिय के श्रुतिपथ से आने और दृष्टिपथ से चले जाने की अपनी संक्षिप्त प्रेमकथा के कारण विह्वल हो उठती है। प्रिय के समान निरलंकृत बनने के लिए वह अपना केश-कलाप कर्तरी को भेंट कर देती है, पर सौभाग्यचिह्न नहीं छोड़ती। 'मैं हँस लेती तुझे वियोग' या 'नाथ मुझे इतना ही कहना' उसकी विविध मनस्थितियों के व्यंजक प्रगीत हैं। 'आर्यपुत्र, दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी' का प्रगीत-सौंदर्य वस्तुनिष्ठ है। 'सखि, प्रियतम हैं वन में ?' का भ्रम तथा 'मरण सुंदर बन आया री' में प्रेम और वात्सल्य का द्वंद्व आकर्षक है। 'जलने को ही स्नेह बना' गुप्त जी की उक्ति अधिक है, यशोधरा की कम। जो यशोधरा के हृदय में है, वही प्रकृति में प्रतिच्छायित हो रहा है, यह छायावादी अनुभूति—'सखि वसंत से कहाँ गए वे, मैं ऊष्मा-सी यहाँ रही' प्रगीत में अभिव्यक्त हुई है। इसके अंतर्गत षट् ऋतुओं की भावाक्षिप्त वर्णना मर्मस्पर्शी है। 'कूक उठी कोयल काली' की भी यही भाव-भूमि है।

मातृत्व : यशोधरा का मातृत्व सचेत है। विरहानुभूति-गर्भित होने के कारण वह अत्यधिक कोमल है, उज्ज्वल भी। 'चुप रह, चुप रह, हाय अभागे' के साथ यह प्रतीक-व्यंजना भी हुई है—'जीर्ण तरी, भूरि-भार, देख, अरी, एरी।' 'किलक अरे, मैं नेक निहारूँ' में राहुल के दाँतों की यह सादृश्य कल्पना अनूठी है और वात्सल्य भावना मनोवैज्ञानिक :'पानी भर आया फूलों के मुँह में आज सबेरे ! हाँ, गोपा का दूध जमा है, राहुल, मुख में तेरे !'

'बाल-गोपाल कन्हैया' सूरदास के पद का स्मरण दिलाता है। है भी यहीं पद ही। गुप्त जी ने 'माँ कह एक कहानी' तथा 'सो, मेरे अंचल-धन सो' आदि गीतों में बाल-चेष्टा तथा मातृहृदय का स्वाभाविक चित्रण किया है। पर न यहाँ बालवृत्ति की अनेकरूपता है, न मातृहृदय का उल्लास। यह अपनी करुण-शृंगार-भावना की सहकारिता में ही अपूर्व है।

विस्तृत भावभूमि : 'अब क्या रक्खा है रोने में' की धैर्य-धारणा 'जाग, दुःखिनी के सुख, जाग' के विरोधाभास में व्याकुल हो उठी। 'कैसी डीठ, कहाँ का टोना ?' में राहुल का कृत्रिम गुरुत्व वात्सल्य का सुरुचिर संवर्द्धक है। 'रुदन का हँसना ही तो गान' सर्वाधिक सुंदर प्रगीत है तथा अलंकृत काव्यकला का निदर्शक। इसमें प्रेम का साधनात्मक रूप पूरी तीव्रता, गंभीरता और विकलता के साथ प्रकट हुआ है। इसे किसी भी छायावादी प्रगीत के साथ रखा जा सकता है। यह सौंदर्य–संवेदन, प्रकृति-चित्रण और वियोगानुभूति की अस्थूल-व्यंजना में उत्कृष्ट ज्ञात होगा। 'कह मुक्ति, भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ ?', 'गए हो तो यह ज्ञात रहे', 'चाहे तुम सम्बन्ध न मानो', 'नदी, प्रदीप दान ले' आदि प्रगीत भाव-क्षेत्र की संवृद्धि व्यक्त करते हैं। गुप्त जी प्रेम की विविध मनोवृत्तियों को उद्घाटित करते अवश्य हैं, पर उन्हें प्रकर्ष पर नहीं पहुँचाते। 'क्या देकर मैं तुमको लूंगी', 'लूंगी क्या तुमको रोकर ही', 'फिर भी नाथ न आए', 'रे मन, आज परीक्षा तेरी' आदि प्रगीतों में गुप्त जी अपने प्रकृत क्षेत्र में हैं। उनकी सीधी-सादी भावाभिव्यंजना मर्मस्पर्शिणी है। 'पधारो, भव-भव के भगवान' प्रिय का स्वागतगान है, पर 'आओ हो बनवासी' की व्याकुल पुकार अधिक सशक्त है। प्रगीतकला का चरम उत्कर्ष इस विशेषोक्ति में देखिए—

> **जल में शतदल तुल्य सरसते**
> **तुम घर रहते, हम न तरसते**
> **देखो दो-दो मेघ बरसते,**
> **मैं प्यासी की प्यासी।**

आशय यह है कि प्रेम, विरह और वात्सल्य की भावानुभूति में यशोधरा का व्यक्तित्व सुविस्तृत भावभूमि पर अवतरित हुआ है। वह अश्रुमती नायिका है और उसके करुण भावोच्छ्वास काव्यकला के निदर्शक। गृहिणी, वियोगिनी और माता की उक्तियाँ मौलिक हैं। वे कहीं सरल हैं और कहीं अलंकृत सरल प्रगीतियाँ मार्मिक हैं। अलंकृत प्रगीतियाँ वक्रतापूर्ण हैं तथा छायावादी काव्यकला से संपन्न।

अन्य पात्र : सिद्धार्थ की मानसिक प्रतिक्रिया को स्पष्ट करने के लिए प्रगीत-योजना की गई है। 'देखी मैंने आज जरा' में वह भली-भाँति प्रकट हुई है। 'घूम रहा है चक्र' का अंत्यानुप्रास सारे गीत का सौंदर्य नष्ट कर देता है। 'ओ क्षण-भंगुर भव राम-राम' गीतकी लंबी आकृति विरक्ति पैदा करती है। नंद, महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन तथा छंदक की आत्माभिव्यक्तियाँ गीतिमयी हैं। अवश्य ही प्रसंग-कल्पना या कथाक्रम के द्वारा गीतिकाव्य भाराक्रांत नहीं हुआ है। प्रगीतों के सहारे कथा-विन्यास किया गया। पर यशोधरा की वियोग-व्यथा को छोड़कर अन्य व्यक्तियों का और भावों का महत्व प्रबंध-संगति में ही देखा जा सकता है। उनका पृथक् सौंदर्य नहीं है। 'भाई रे, हम प्रजाजनों का हाय, भाग्य ही खोटा', 'चला गया रे, चला गया', 'मैंने दूध पिलाकर पाला' आदि प्रगीत पात्र-विशेष की केवल मनस्थिति सूचित करते हैं। कवि पार्श्ववर्ती पात्रों के साथ तादात्म्य स्थापित न कर सका।

गीतिकला : 'साकेत' की गीतिकला का 'यशोधरा' में इस दृष्टि से विकास हुआ कि कवि ने एक ओर समृद्ध छायावादी काव्यकला का सुप्रयोग किया, जैसे 'रुदन का हँसना ही तो गान', 'सखि, बसंत से कहाँ गए वे', 'आओ, हे बनवासी' आदि तथा दूसरी ओर सरलतम, पर सुललित भावव्यंजना का आदर्श चरितार्थ किया, जैसे—'सखि, वे मुझसे कह कर जाते', 'चाहे तुम सम्बन्ध न मानो' आदि। इन दोनों ही प्रकार के प्रगीतों

में माधुर्य का निर्वाह हुआ और आत्माभिव्यंजना का प्रयास। एक तीसरा गीति-प्रकार और है, जो कहीं प्राचीन पद-शैली को लिए हुए है, कहीं जीवनदर्शन का भारवाही है और कहीं अपरिष्कृत पदावली तथा अकाव्योचित शब्द-प्रयोगों द्वारा आघात करता है। यह गीति-स्वरूप असमृद्ध है और अविकसित गीतिकला को स्पष्ट करता है। यह अहार्दिक भी हो उठता है। निश्चय ही 'साकेत' के गीतों में जो स्वच्छंदता है, वह 'यशोधरा' के गंभीर स्वर में दब गई है, पर कलात्मक सिद्धियाँ यहाँ अधिक हैं। यह भी उल्लेख करना चाहिए कि 'साकेत' और 'यशोधरा' की गीतिकला प्रायः समसामयिक है और वह गुप्त जी की प्रतिनिधि कला है। अतएव किसी महत्वपूर्ण अंतर की संभावना नहीं की जानी चाहिए। एक बात और है। गुप्त जी की चमत्कार साधन-वृत्ति सूक्ति-प्रिय है और अभिव्यंजना-कौशल की मुखापेक्षी। उन्होंने प्राचीन और नवीन अलंकरणों का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग किया है। 'साकेत' का जीवनादर्श, 'यशोधरा' में आकर समृद्ध ही नहीं हुआ, उसे दार्शनिक पीठिका भी प्राप्त हुई।

सांत्वना : 'द्वापर' की विवेचना के पूर्व 'सांत्वना' शोक-गीति की चर्चा आवश्यक है। 'सांत्वना' पुत्रशोक-विषयक सुदीर्घ शोक-गीति है, पर वह अप्रकाशित है, अप्राप्य भी। उसमें आख्यानक काव्य की शैली प्रयुक्त हुई है, पर उसका भावानुबंध गीति-काव्यात्मक है। वह वस्तुनिष्ठ-कला से युक्त है, फिर भी शोक-गीति समझी जायगी। उसमें कवि के हृदय का हाहाकार सरल, स्पष्ट और सीधे ढंग से व्यंजित हुआ है। हिन्दी में वह अपने ढंग की—वात्सल्य रस की—अप्रतिम रचना है। संभव है, वह कभी सुलभ हो। यह अंश द्रष्टव्य है—

> "'अब न लिखो' 'रे ठहर', 'नहीं, अब नहीं' 'करूँ क्या?'
> 'मुझ से खेलो' 'काम अधूरा छोड़ धरूँ क्या?'
> 'फिर कर लेना' सुलभ आज भी हों ये बातें,
> कहाँ लेखनी छीन-झपटने की वे घातें?"

आत्मसंलापात्मक प्रगीत : 'द्वापर' : 'सांत्वना' का व्यग्र समाधान 'द्वापर' है। पर क्या वह गीति-काव्य है? मैंने उसे नाटकीय आत्मसंलाप (Dramatic monlogue) माना है, जो गीतिकाव्य का ही एक भेद है। अंग्रेजी के सुकवि ब्राउनिंग आत्मसंलाप-कला के सिद्धहस्त गीतिकार थे। 'द्वापर' 'साकेत' और 'यशोधरा' की गीतिकला से भिन्न कोटि की रचना है। इसमें पात्रों की मनोगतियों को कवि ने आत्म-संलापों के माध्यम से व्यंजित किया है। वे आत्मोद्गार ही हैं और गीतिकला के नमूने हैं। आत्मकथात्मक शैली के माध्यम से परिस्थितियों का आत्मीयता पूर्वक चित्रण हो जाता है और व्यक्तित्व का मर्मस्पर्शी विश्लेषण। मनः प्रक्रिया की निर्बाध अभिव्यक्ति संवेदना को प्रमुख, प्रत्यक्ष और सीधे ढंग से उपस्थित करती है। उनमें कथाप्रवाह के माध्यम अथवा घटनाओं के आवरण की आवश्यकता नहीं रहती।

विधान : 'द्वापर' के नायक कृष्ण हैं। वे ही केंद्रवर्ती चरित्र हैं। उनके क्रांतिकारी, प्रेमी और मानवीय स्वरूप का चित्रण ही प्रधान है। पर सोलह चरित्रों को उपस्थित कर कवि ने कृष्ण को षोड़ष-कला संपन्न ही नहीं बनाया, सभी पात्रों का भावोच्छ्वास भी व्यंजित किया।

गीतिकाव्य का आकार भावसघनता के कारण लघु होता है और स्वरूप सुगेय, पर 'द्वापर' की प्रगीतियाँ सुदीर्घ हैं और संगीतात्मक नहीं हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या इसके कारण 'द्वापर' प्रगीत-रचना न माना जाय? मैं कहूँगा कि संगीतात्मक प्रगीत के अतिरिक्त लघु, प्रलंब तथा स्फुट प्रगीतात्मक रचनाएँ आधुनिक-युग में हुई हैं और केवल टेक-अंतरा या लघुत्व के अभाव में वे अप्रगीतात्मक नहीं हो जातीं। 'द्वापर' की प्रत्येक रचना में एक ही भाव का एकतान रूप चाहे न मिले, पर उसकी प्रमुखता अवश्य मिलेगी। आत्मोद्गार स्वतः प्रगीतकाव्य का लक्षण है। 'द्वापर' में प्रत्येक पात्र मनोवृत्ति-विशेष को लेकर अपने व्यक्तित्व का

उद्घाटन करता है। उनके क्रिया-कलाप और भावोच्छ्वास कृष्ण से संबद्ध होने के कारण नायक की स्थिति निर्मित करते हैं। व्यक्तिगत आत्माभिव्यंजना प्रगीतकाव्य की सर्वोपरि विशेषता है। अतएव 'द्वापर' के प्रगीततत्व पर प्रश्नसूचक चिह्न नहीं लगाया जा सकता। मैं कहूँगा कि 'द्वापर' प्रगीतकाव्य ही नहीं है, उसमें तलस्पर्शिता, भावावेग और आत्मीयता का यथेष्ट विनियोग भी दिखाई पड़ेगा। इतनी आघात-कारिणी शक्ति गुप्त जी की अन्य किसी रचना में नहीं हैं। पर यह उनकी गीतिकला का अपवाद है ; 'साकेत', 'यशोधरा' और 'कुणाल-गीत' से यह भिन्न कोटि की रचना है।

भाव-प्रतिमाएँ : 'द्वापर' में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ सक्रिय हुई हैं। प्रथम प्रवृत्ति आत्मलीन पात्रों का भावोन्मेष प्रकट करती है, यथा—गोपी, राधा, कुब्जा। दूसरी प्रवृत्ति सामाजिक और सांस्कृतिक मानों से संबद्ध क्रांतिकारी विचारधारा को स्पष्ट करती है, यथा—विधृता, बलराम, नारद। 'द्वापर' में संदेह के फूल ने विश्वास का फल दिया। प्रेम की सुकोमल धरती को फोड़कर विद्रोह का वृक्ष उत्पन्न हुआ। आत्म-लयकारी प्रेम के पार्श्व में विध्वंसकारी पौरुष जागरूक रहा। गोपालकृष्ण अशरण-शरण ईश्वरत्व के प्रतीक हैं। राधा आत्मसमर्पणशीला उत्कृष्ट प्रेमिका है। उल्लसिता यशोदा वात्सल्यमयी है। विधृता पुरुष के अत्याचार, संदेह और उत्पीड़न का प्रतीक है। वह दांपत्यजीवन की समस्याओं का इंगित करती है तथा नारी की सामाजिक स्थिति पर सप्रश्न होती है। बलराम सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्रांति के अग्रदूत और कृष्ण के सहयोगी हैं। ग्वालबाल व्यक्तित्व-रहित हैं, पर कृष्ण को नवयुग-निर्माता समझते हैं। 'अरे पलट दी काया ही इस केशव ने काल की' सामूहिक गीत है। नारद क्रांति का माहात्म्य स्पष्ट करते हैं। संघर्षशील जीवन उन्हें प्रिय है। देवकी के मन में कंस के प्रति आवेशपूर्ण आक्रोशभाव है। उग्रसेन सामान्य चरित्र हैं। उनमें पितृ-हृदय की उदारता, पुत्र की हित-चिंता तथा सतोगुणी वृत्तियाँ हैं। कंस अपना नियंता आप है। वह साम्राज्यवाद का प्रतीक है। वह अहंताग्रस्त, नास्तिक, मत्स्य-न्याय का समर्थक, निर्बंध, पराक्रमी, पुण्य-पाप को तत्त्वहीन समझने वाला क्रूर-कर्मा है। अक्रूर औपचारिक और सद्भावनाशील पात्र है। नंद कृष्ण के लौट आने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। कुब्जा कृष्ण की रूपासक्त अनन्य प्रेमिका है। और गोपियाँ ? वे विरह की अवतार ही हैं ! वे राधा से अभिन्न हैं और कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त। वियोग की चरम अवस्था में राधा कृष्णमय हो गई और गोपियाँ राधामय। सुदामा संकोचशील मित्र हैं। निष्कर्ष यह है कि 'द्वापर' में अनेक कोमल और परुष भाव-प्रतिमाएँ निर्मित हुई हैं और वे प्राणवान् भी हैं। 'द्वापर' में जीवन की विशाल रंगशाला का निर्माण हुआ और मनोवैज्ञानिक प्रगीतों का विधान।

गीतिकला : 'द्वापर' की यह प्रमुख विशेषता है कि उसमें यथार्थ जीवन का सप्राण आलेखन हुआ। कवि ने व्यक्तित्वों का अंतरंग उद्घाटित करते हुए उनकी स्वानुभूतियों का व्यक्तीकरण किया। कथावस्तु, नायक, घटनाएँ, सभी कुछ मानसिक अधिकरण में रख दिए गए। यह स्वानुभूतिमयी आत्मोद्गारात्मक गीति-पद्धति भावाविष्ट है। इतना आवेग गुप्त जी की अन्य किसी रचना में नहीं मिलता। यह विशिष्ट मनःस्थिति की रचना है। जीवन में सर्वतोमुखी क्रांति और आत्महारा प्रेम की ऐसी सशक्त अभिव्यक्ति उन्होंने अन्यत्र नहीं की। पूरे काव्य में और विशेषतः गोपी, कुब्जा और विधृता अंशों में प्रगीतकला का सुंदर विन्यास हुआ। विदग्ध-भणिति अथवा वचन-भंगिमा का सर्वत्र प्रसार दिखाई पड़ता है, पर वह प्राचीन पद्धति पर आश्रित नहीं है, नई काव्यकला का आधार लिए हुए है। प्रगीतकाव्य के क्षेत्र में 'द्वापर' की विशिष्ट स्थिति है और सौंदर्य भी उसका अपना है।

पर गुप्त जी के काव्य-विकास में, विशेषतः गीतिकाव्य के क्षेत्र में 'द्वापर' एक अपवाद है। वह उसके प्रणेता के कवि-व्यक्तित्व का प्रतिनिधि काव्य-ग्रंथ नहीं है। 'साकेत', 'यशोधरा' और 'कुणाल-गीत' में वैचारिकता का एक विकास-सूत्र उपलब्ध होता है, पर 'द्वापर' उसमें जुड़ता नहीं, उसकी कड़ी अलग ही रह जाती है। गुप्त जी की सामान्य मनःस्थिति तथा विधायक जीवनादर्श अथवा गांधीवादी दार्शनिकता 'साकेत',

'यशोधरा' और 'कुणाल'-गीत' में उत्तरोत्तर विकसित होती गई है। सांस्कृतिक नवोत्थान की भावना भी उसी क्रम में समृद्ध और साकार हुई है। पर 'द्वापर' इस विकास-क्रम में अंतर्भुक्त नहीं हो पाता। उसमें कवि ने अनेक पात्रों को लेकर मनोवैज्ञानिक प्रयोग अधिक किए हैं। अतएव वह विशुद्ध भावात्मक गीति-सृष्टि न होकर, मनोविज्ञान और चरित्र-चित्रण-प्रधान कृति हो गई है।

प्रौढ़ोत्तर काल : 'द्वापर' के पश्चात् आवेगशील गीतिकाव्य की सृष्टि नहीं हुई। कवि की प्रवृत्ति अंतर्जगत को प्रधानता न दे सकी। 'कुणाल'-गीत' प्रगीतकाव्य के प्रतिवर्त्तनकाल की रचना है। इसमें न वह तरल भावोन्मेष है और न वह आलंकारिक अभिव्यंजना, जो गुप्त जी की पूर्ववर्ती रचनाओं में दिखाई पड़ी। इसमें गुप्त जी की संपूर्ण जीवन-साधना का विधायक जीवन-स्वप्न और गांधीवादी लोकादर्श परिपक्व रूप में अधिष्ठित हैं। यह कृति प्रौढ़ोत्तर कालिक इसलिए समझी गई कि यह बुद्धि-विशिष्ट है, पर दार्शनिक गीति-रचना के प्रशांत सौंदर्य और उदात्त चरित्र-कल्पना के गंभीर सौष्ठव से सुसंपन्न भी है।

कुणाल-गीत : दार्शनिक गीतिकाव्य : 'कुणाल-गीत' में गुप्त जी के गृहीत जीवनदर्शन का, गांधीवादी विचारणा और प्रौढ़ जीवनादर्श का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है। इसमें भावुकता की अपेक्षा दार्शनिकता का—बुद्धितत्त्व का—प्राधान्य है। राजकुमार कुणाल का आदर्श चरित्र और उसकी जीवनोत्थानमयी विधायक कल्पना 'कुणाल-गीत' के प्रगीत-सौष्ठव का मूलाधार है। 'साकेत' और 'यशोधरा' की गीति-परंपरा यहाँ कथात्मक प्रतिबंधों का सर्वथा तिरस्कार कर केवल गीति-परिच्छद में प्रकट हुई है। अंतर यही है कि यहाँ दार्शनिकता प्रधान हो उठी है, और पूर्ववर्ती गीतिकाव्यों में वह अप्रधान थी। 'झंकार' की दार्शनिकता भावमयी है और अपरिपक्व, पर 'कुणाल-गीत' की दार्शनिकता सुनिश्चित विचार-सरणि में गृहीत है और प्रशस्त भी। यह उच्चाशयी जीवन-निष्ठा से व्युत्पन्न है। इसे न असाहित्यिक तत्त्वज्ञान का स्वरूप प्राप्त है, न यह उदात्त जीवनयोजना से निरपेक्ष है। संक्षेप में, 'कुणाल-गीत' गुप्त जी के जीवनदर्शन का शीर्ष-फल है।

'कुणाल-गीत' में पथ-गीत हैं। वे जीवनदर्शन की व्यापक महत्ता को प्रकट करते हैं तथा बुद्धकालिक सांस्कृतिक उच्चादर्श को लिए हुए हैं। अवश्य ही वे कुणाल के आत्म-कथन हैं, अंतर्यात्रा में पड़ने वाले गति-प्रेरक विराम-स्थल हैं। कुणाल ऐसा पात्र है, जिसने अपनी समस्त अनुभूतियों को निर्वेद में पर्यवसित कर दिया है। शांत रस भी आस्वाद्य होता है। पर कुणाल का चरित्रविकास भावापन्न ही नहीं है, वह संकल्पात्मक बौद्धिकता से निष्पन्न भी है। तत्त्व-बोध मानों उसका सर्वस्व है। 'तत्त्वतल से ही निकलता' उसके साधना-शील व्यक्तित्व का मंतव्य है।

भाव-भूमि : 'कुणाल-गीत' में विश्व-बंधुत्व की व्यापक भावना, सांस्कृतिक वैशिष्ट्य समन्वित चरित्रोत्कर्ष और गौतम बुद्ध के करुणावाद की त्रिवेणी प्रवाहित हुई है। अधिकांश प्रगीत कुणाल-पत्नी कांचनमाला को लक्ष्य कर कहे गए हैं। दांपत्य भाव के संस्पर्श के कारण थोड़ी आत्मीयता आ गई है, पर वह औपचारिक है। बौद्ध जीवनदर्शन ने इन्हें उपदेश-निष्ठ बनाया है। कुणाल का व्यक्तित्व महान है, पर वह मानवादर्श का आत्मोन्मुख और विरतिपूर्ण स्वरूप है। यहाँ कवि-दृष्टि काव्य-विषय पर केंद्रित हो गई है, वह भाव-सुषमा पर स्थिर न रह सकी। कांचनमाला प्रत्येक परिस्थिति में कुणाल की सहानुभूतिशीला संगिनी बनी रही। वह स्वयं मौन है, पर कुणाल की शक्ति, अंधे की लकड़ी, सहधर्मिणी, सखी और प्रेममयी है। उसका अचंचल नारीत्व गौरवपूर्ण है। यह इस कृति की कौटुम्बिक काव्य-सीमा है। 'मैं हूँ कौटुम्बिक कवि मात्र' इसी समय का एक स्फुट प्रगीत है।

भाव-व्यंजना : शांत रस : विरोधियों के प्रति प्रेमभाव रखना और प्रत्येक परिस्थिति का गुण-दर्शन करना कुणाल की प्रमुख प्रवृत्ति है। अंधा होने पर वह अंतर्मुख हो गया, पर उसका लक्ष्य लोककल्याण ही रहा। उसकी संवेदनशीलता यदि उदार वृत्ति के साथ-साथ वर्द्धमान होती जाती तो वह मनोवैज्ञानिक सत्य

होता और गीतिकाव्य के लिए उपयोगी भी। वह प्रत्येक वस्तु, घटना या व्यक्ति का सत्स्वरूप ही देखता है। और संतों का साधना-मार्ग अपनाता है। उसकी अंतर्यात्रा-बहिर्यात्रा सापेक्ष है। आत्मार्थ और लोकार्थ की एकता तथागत के अध्यात्ममार्ग की परमसिद्धि है। वह गांधीवादी जीवनयोजना का चरमोत्कर्ष समझी जायगी।

कुणाल गृहस्थ-संत है। 'पार उतरना है तो तर, नारायण हो मेरे नर', 'चलता हूँ अंधा होकर आज तथागत के पथ पर', 'पाऊँ सबकी प्रेम-वृष्टि मैं, दूँ सब को विश्वास' आदि प्रगीत इसी आध्यात्मोन्मुखी प्रवृत्ति के निदर्शक हैं।' 'यशोधरा' की अपेक्षा यहाँ पर बुद्ध-दर्शन का विशेष आग्रह स्पष्ट होता है, पर वह भारतीय ज्ञान-मार्ग का अविरोधी ही नहीं, रूपांतर भी है। कुणाल-गीत की मुख्य वृत्ति आध्यात्मिक है और भाव शम या निर्वेद है। उसकी व्यंजना वैचारिक अधिक है, उन्मेषमयी कम। ये प्रगीतियाँ विवेक की उक्तियाँ हैं। इन्हें आत्मोद्गार न मान कर आत्मकथन ही समझना चाहिए।

सहयोगी भाव : पथ-गीतों में ऐसे अनेक स्थल आए हैं, जहाँ कुणाल का संयत पत्नी-प्रेम प्रकट हुआ है। पर उपदेश-निष्ठता और बुद्धि-विशिष्टता के कारण यह दांपत्यभाव अविकसित रह गया है। ग्रामवास के प्रसंग में कतिपय प्रकृति-चित्र अंकित किए गए हैं, पर कवि की वृत्ति जितनी जीवन-व्यापारों में रमी है, उतनी प्राकृतिक सौंदर्य में नहीं। आदर्श–निष्ठा भी भावुकता पर हावी हो गई है। 'सोए हैं मुंद मेरे सरोज' अलंकृत और साभिप्राय प्रकृति–चित्र है। यदि दार्शनिकता प्रधान न हो उठती तो प्राकृतिक रूपों और व्यापारों में रस-ग्रहण किया जा सकता। ग्राम्यजीवन की विशेषताओं का विवरण देते हुए श्रम का और आतिथ्य-धर्म का महत्व उद्घाटित किया गया है। 'ग्राम-पुर के बीचवाली, हो नई संस्कृति निराली' में कवि नई संस्कृति के निर्माण का आकांक्षी है। धर्म, युद्ध, समाज तथा राजनीति विषयक आदर्शों का कवि ने पर्याप्त विश्लेषण किया है। 'धरो न धार कृपाण में' उसका निष्कर्ष है। काव्य के सम्बन्ध में कवि की उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। वह रसवादियों की भाँति काव्य-रस को ब्रह्मानंद-सहोदर कहता है और कलावादियों की भाँति सत्य, शिव और सुंदर। काव्य इष्ट का संदेश-वाहक, कर्म-प्रेरक, गति-संचालक और सौ-सौ राज्यों से भी श्रेष्ठ है। 'बढ़ो बंधु, स्वच्छंद भाव से, रति-मति-यति-गति भंग न हो' उक्ति स्वच्छंदतावाद को मर्यादा के भीतर ही स्वीकार करने का मंतव्य स्पष्ट करती है। ये सभी मनोवृत्तियाँ एक ही भावधारा की—शांत रस की सहयोगिनी हैं।

गीतिकला : कुणाल-गीत आयास-साध्य कृति है। यहाँ अलंकृति अधिक नहीं है, पर भावोन्मेष की न्यूनता है। विशुद्ध प्रगीतरचना की दृष्टि से यह अधिक सफल कृति नहीं कही जा सकती। निश्चय ही प्रौढ़ि का वैचारिक गांभीर्य और आदर्श-साधना का आत्मसंयम प्रकट हुआ है। कवि की पदावली अर्थवती है, पर सूक्ष्म भावचित्रण की कला से समृद्ध नहीं है। पदावली में ऋजुता और मार्दव है, माधुर्य और लालित्य नहीं। शब्द-योजना में संगीतात्मक परिशोधन नहीं दिखाई पड़ा। हानी, ज्योती, जाइयो, आइयो आदि प्रयोग खटकते हैं। घूंट की तुक ऊँट से मिलाई गई और उसे खूंट से बाँधा गया। ऐसे कर्ण-कटु प्रयोग भी हुए हैं। संस्कृति के तत्सम तथा बुन्देलखंडी के ग्राम्य शब्द-प्रयोग जहाँ-तहाँ मिल जाते हैं। लंबे समासों की योजना गीति-काव्योचित नहीं है। लाक्षणिक प्रयोग, प्रतीक-व्यंजना, रूपक-विधान आदि सुविन्यस्त हैं। अप्रस्तुत योजना के अंतर्गत पौराणिक उपमानों का चयन कवि की विशिष्ट और स्थायी प्रवृत्ति है। चमत्कार-साधन भी हुआ है, पर वह कवि का साध्य नहीं है। प्रौढ़ोत्तर-काल में कवि ने पुनः अभिव्यक्तिगत सादगी अपनायी है। कतिपय प्रगीत निस्संदेह उत्कृष्ट हैं, जैसे—'हे ! अवनि और अंबर प्रणाम !' 'देखता हूँ मैं अद्भुत आज' तथा 'एक ओर सौ राज-विधान'। अंत की लोकोत्तर-परिणति तथा 'बहुजन हिताय' का नारा अनाटकीय नहीं है। यह गीतिकला वास्तव में आश्रमवासिनी है।

विश्ववेदना : इस कृति का उल्लेख किया जा चुका है। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के समय इसकी रचना आरंभ हुई और द्वितीय महायुद्ध के समय पूर्ण। सोलह-सोलह और पंद्रह-पंद्रह मात्राओं के दो सौ इक्कासी

छंद-बंदों में यह रचित है। इसमें कवि ने किसी कथावस्तु का अवलंब नहीं लिया। उसने युद्ध और उसके दुष्परिणामों की आलोचना करते हुए अपने समस्त युग और उसकी विषमताओं का विवरण उपस्थित किया। यह लघु-काव्य कवि-हृदय के उस हाहाकार को व्यंजित करता है, जो विश्व-वेदना का सकरुण स्वर और भौतिक सभ्यता का दुष्परिणाम है। इसमें किसी विशेष विचारणा का कवि ने उपयोग नहीं किया। उसने साधारण जन की मनःस्थिति में आकर विज्ञान की संहारक शक्तियों का नाश चाहते हुए, उसे मानवकल्याण में सहायक बनाने की कामना की है। यह भावुकतापूर्ण ढंग से लिखा गया युद्ध-विरोधी काव्य है। इसकी काव्यकला इतनी विवरण-प्रधान और वस्तून्मुखी है तथा शैली इतनी वर्णनात्मक है कि इसे गीतिकाव्य की सीमा में स्वीकृत करना दुस्साहस का काम है। यह 'वैतालिक' की 'विश्व-वेदना' है, अंतर्वेदना नहीं, यथा—

समय के सुर, वसुधा के वीर,
बुद्धि का मेरुदंड धर धीर,
मथे वह विज्ञानाब्धि गंभीर,
निकालें मुक्ता-हाटक-हीर,
किंतु शिव कौन, करे जो त्राण !
बचा ले विष से सब के प्राण।

अंजलि और अर्घ्य : यह शोक-गीति की अपेक्षा श्रद्धांजलि अधिक है। इस काव्य-पुस्तक की केंद्रवर्ती भावना महात्मा गांधी के निधन से उद्‌भूत कवि की मनःपीड़ा है। यह शोक वृत्ति अमिश्र नहीं; आत्मग्लानि, दैन्य, पश्चाताप, विश्व-मैत्री, मानवतावाद से परिपुष्ट राष्ट्र-भावना प्रभृति मनोवृत्तियों का सन्निवेश है।

अरे राम, कैसे हम झेलें, अपनी लज्जा, उसका शोक ?
गया हमारे ही पापों से अपना राष्ट्र-पिता परलोक !

में अभिव्यक्त शोक, लज्जा तथा ग्लानि की भाव-शबलता प्रायः संपूर्ण श्रद्धांजलि की मूलवर्ती मनस्थिति प्रकट करती है। यह विशुद्ध शोक-गीति न होकर श्रद्धांजलि है, क्योंकि कवि के मन का शोक, स्थायी भाव होने पर भी, आलंबन के गुण-दर्शन और माहात्म्य-वर्णन का अतिक्रमण नहीं कर पाया। अवश्य ही 'अंजलि' में मार्मिकता है, पर 'अर्घ्य' में कवि की कामना मात्र। यह कामना भावोद्वेलन का वह रूप है, जिसमें हम अभाव को स्वीकार ही नहीं करना चाहते। यह हेत्वाभास (Pathetic fallacy) का उदाहरण है। राष्ट्र-पिता के प्रति जितनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित हुईं, उनमें यह उत्कृष्ट और भावपूर्ण कृति है।

भूमिभाग : यह विषय-प्रधान सोद्देश्य गीति-रचना है। इसमें इक्कीस गीत संगृहीत हैं। गुप्त जी की गीति-शैली अपनी विशिष्टता रखती है। वह आत्माभिव्यंजक होने पर भी वस्तुनिष्ठ रहा करती है। 'भूमिभाग' की यही रचना-पद्धति है। यह कृति गुप्त जी की वैतालिक प्रवृत्ति या समयानुसारिता के गुण को प्रकट करती है। आचार्य विनोबा भावे नई सामाजिक क्रांति और नवीन अर्थ-व्यवस्था को भूमि-दान यज्ञ के द्वारा देश में प्रवर्तित करने का गुरुतर कार्य कर रहे हैं। उनकी इसी अहिंसक और सर्वोदयी क्रांति का सत्संदेश गुप्त जी ने 'भूमिभाग' में अभिव्यक्त किया है। यह गांधीवादी जीवनदर्शन की नव्यतम परिणति है। गुप्त जी आशावादी कवि हैं। उनका 'भूमि-हीन' भूमिदान-यज्ञ की सफलता का विश्वास लेकर अपने आत्मोद्‌गारों को गीति-बद्ध करता है। भूमि-वंदना और बलि-वंदन करते हुए उन्होंने 'एक खेत' का अभिलाष व्यक्त किया है। उनके 'भूमि-हीन' ने कवियों की खबर भी ली है—

कल्पित प्रिया-विरह की बाधा,
सहते हो तुम आप अगाधा,
किंतु यथार्थ अभावों का हम सिर पर बोझ लिया करते हैं।

'चढ़ौती' में कृषक-पत्नी भूमि का दान करने के लिऐ अपने पति को मनाती है। 'सुनते हो, हे स्वामी!' में पारिवारिक माधुर्य की अभिव्यक्ति हुई है। 'भूमि का अधिकार छोड़ेंगे न तृण भी' प्रगीत परुष भावना को व्यक्त करता है। 'अनुनय' में कवि स्वयं साग्रह अपनी भूमि का दान करता है। 'लिए हो तुम कब से भू-भार? उसे बँटाने का हम को भी दो अवसर इस बार।' 'भू-भ्रष्ट' अपने शिशु किसी उदार व्यक्ति को देकर मरना चाहता है। जीवन की कठोर वास्तविकता का परिचय कराते हुए कवि ने पौराणिक दृष्टांत और उपमान रक्खे हैं तथा व्यंग्योक्तियाँ भी की हैं। यह एक मार्मिक और समयानुकूल गीति-रचना है।

विशेष : कवि की प्रौढ़ोत्तर कालिक प्रवृत्ति सरलता तथा व्यंग्य-विनोद की ओर हो गई है। उसका चमत्कार-साधन संपूर्ण उक्ति की वक्रता पर निर्भर रहने लगा है। वह प्रगीतकाव्य के प्रकर्ष को स्पर्श कर सदाशयी प्रासादिकता की ओर पुनः लौट आया है। उसकी गीतिकला में गंभीरता और सरलता तथा वस्तु-मत्ता और वैचारिकता प्रधान हो उठी है। भावोन्मेषशील अभिव्यक्तियाँ चाहे कम हुई हों, पर जीवन की अनेकरूपता उनमें प्रतिच्छायित है। गुप्त जी कला का स्वागत 'आ, नव-नव वेष धरे' के द्वारा करते हैं। प्रौढ़ि के पश्चात् यदि प्रगीतकला का वैभव कम भी हुआ हो तो क्या चिंता? गुप्त जी स्वयं असफल से कहलाते हैं—हुआ आज असफल मैं; किंतु पा रहा हूँ अपने में नवोत्साह नव बल मैं!' ऐसी असफलता भी स्पृहणीय है, पर उनकी परवर्ती काव्य-कृतियाँ असफल रचनाएँ नहीं है। समसामयिक काव्यकला तो गुप्तजी की अपेक्षा प्रगीत-शिल्प से कहीं और दूर हट आई है।

उपसंहार

गुप्त जी गीतिकाव्य की विवेचना करने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनका गीतिकाव्य प्रगीतात्मक है, पर वह कथाश्रित, वस्तुनिष्ठ तथा आत्म-संलापात्मक भी है। उनके प्रगीत शैली-वैशिष्ट्य के कारण छिप नहीं पाते, अपना परिचय आप देते हैं। हिन्दी में गुप्त जी के गीतिकाव्य का पृथक् स्वरूप और विशेष स्थान है। छायावादी प्रगीतकला की उपलब्धियों का गुप्त जी के गीतिकाव्य में अभाव नहीं है, पर वे मूलतः वस्तुनिष्ठ कलाकार हैं, प्रसाद या पंत की भाँति आत्म-निष्ठ कवि नहीं। उनके वास्तविक काव्योत्कर्ष का मूल्यांकन कथा-काव्यों के द्वारा ही किया जाना चाहिए। 'साकेत', 'यशोधरा' और 'कुणाल-गीत' में उनका प्रतिनिधि गीतिकाव्य उपलब्ध होता है। 'कुणाल-गीत' गांधीवादी जीवनदर्शन की उदात्त चरित्र-कल्पना को चरितार्थ करता है। 'द्वापर' भिन्न प्रगीत-सरणि की रचना है—मनोवैज्ञानिक और आवेशमयी।

गुप्त जी की गीतिकला आधुनिक प्रगीतकाव्य के आरंभिक विकास की परिचायक है; पंत, प्रसाद और निराला की प्रगीतकला उसके उत्कर्ष की, महादेवी की प्रगीतकला उसकी साज-सज्जा या अलंकृति की, तथा बच्चन की प्रगीतकला उसके उतार की। इसी ऐतिहासिक अनुक्रम में गुप्त जी के गीतिकाव्य का महत्त्व अंतर्हित है। उनके प्रगीत केवल आत्मनिवेदन नहीं हैं। उन्होंने पदपद्धति का अनुवर्त्तन नहीं किया। आत्मानुभूति चाहे अपनी हो अथवा पात्रों की, उन्होंने अभिव्यंजित की। इसीलिए उनकी ये रचनाएँ प्रगीतात्मक हैं। इस नवीन काव्य-रूप का प्रारंभिक विकास उनके काव्य में प्रत्यक्ष हुआ। उसके सौंदर्य, उत्कर्ष और महत्त्व का तथा सीमा और अभाव का यथास्थान निर्देश किया गया है। गुप्त जी ने व्यक्त जीवन और प्रत्यक्ष सौंदर्य के आदर्शवादी प्रगीत रचे हैं और अपनी विशिष्ट शैली में रचे हैं। उन्हें लोक-बाह्य अथवा एकांगी स्वात्म-लीनता अग्राह्य रही है। उनका प्रगीत-शिल्प प्रत्यक्ष सौंदर्य की चित्रांकन-पद्धति पर आधारित है। वे काव्योपयोगी भाषा के निर्माता हैं, प्रगीत काव्य-रूप के प्राथमिक संस्कारक हैं, नई भावभूमियों के उद्घाटक हैं और व्यापक जीवन के भावक हैं। प्रगीतकाव्य का आरंभिक, किंतु विकासशील सौंदर्य उनके नवोत्थान-वादी गीतिकाव्य की सर्वसम्मत परिभाषा हो सकती है।

•••

केशवदास और मैथिलीशरण गुप्त

श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र

★ ★

केशवदास का प्राचीनकाल में काव्यजगत् में क्या माहात्म्य था, इसकी कल्पना आज नहीं की जा सकती। इस युग में भी उनका जैसा मान पहले था, वैसा अब नहीं रहा। केशवदास जी की पढ़ाई पहले सर्वत्र होती थी; बी० ए० में केशवदास की 'रामचंद्रचंद्रिका' आधी या संक्षिप्त चलती ही थी, लाला भगवानदीन जी ने 'केशवकौमुदी' के नाम से उस पर टीका लिखी। 'केशवपंचरत्न' निकाला। 'रसिकप्रिया' 'कविप्रिया' एम० ए० में चलती थीं। धीरे-धीरे केशवदास जी हटाए गए। बी० ए० के संग्रहों से लगभग हट चुके हैं। कहीं-कहीं एम० ए० में उनकी कुछ पढ़ाई इधर प्रयत्न करने पर फिर से चली है। ये उन केशवदास जी की स्थिति है, जिनकी कृतियों पर प्राचीन युग में सूरति कवि ऐसे पंडित और सरदार कवि ऐसे कवि-सरदार ने टीकाएँ लिखी थीं।

हिन्दी में भारी गड्डुलिका-प्रवाह है। केशवदास जी के दोषों की चर्चा, उनकी कड़ी आलोचना क्या कर दी गई, लोगों ने समझ लिया कि केशव बेकार हैं। हटाओ इन्हें। 'हटाओ' में उनके काव्य की कठिनाई भी हेतु है। जिन शुक्ल जी ने केशवदास की कड़ी आलोचना की, उन्होंने उन्हें पढ़ाई में बराबर बनाए रखा। 'रामचंद्रचंद्रिका' हिन्दी में संस्कृत-परंपरा के महाकाव्यों के प्रतिनिधि-रूप में उन्हें स्वीकार थी, उस परंपरा के ग्रंथ का महत्त्व उन्हें स्वीकार था। इधर केशवदास के सम्बन्ध में जितने प्रयत्न हुए, उनसे भी उनकी उपेक्षा का परिहार नहीं हुआ है। 'केशव की काव्यकला' श्रीकृष्णशंकर जी शुक्ल ने लिखी, 'केशवदास' पं० चंद्रबली जी पांडे ने प्रस्तुत किया। हीरालाल जी दीक्षित ने केशवदास पर पूरा प्रबंध ही लिख डाला। हिंदुस्तानी-अकदमी (प्रयाग) से केशव-ग्रंथावली के दो खंड ही अभी निकले हैं।

यही नहीं, केशवदास को हिन्दी-नवरत्न में जो स्थान मिला, वह भी उनके अनुरूप उस समय बहुतों को नहीं लगा था। अब तो केशवदास पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता का भरपूर अनुभव करना ही त्याग दिया गया है। उनके सम्बन्ध में प्रायः ये उद्धरण दिखाई देते हैं—'कठिन काव्य के प्रेत', 'कवि कों दीन न चहै बिदाई। पूछै केसव की कविताई ।।', 'उड़गन केसवदास'।

'केसव अर्थ गँभीर कों' की चर्चा अब कोई नहीं करता। 'प्रेत' शब्द का क्या प्रासंगिक अर्थ है। केशवदास जी के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदंती का स्मरण कीजिए। कहते हैं कि जो सुख-भोग केशवदास और उनकी मंडली तुंगारण्य में कर रही थी, वह परलोक में भी खंडित न हो, इस विचार से उन्होंने प्रेत-यज्ञ कराया। सब-के-सब प्रेत हो गए। केशवदास जी प्रेतयोनि में जिस कष्ट का अनुभव कर रहे थे, उसे उन्होंने तुलसीदास जी से निवेदित किया और उनके आदेशानुसार अपनी 'रामचंद्रचंद्रिका' का पाठ कर मुक्त हुए। औरों की मुक्ति के सम्बन्ध में किंवदंती मौन है। बस, केशवदास 'कठिन काव्य के प्रेत' हो गए। 'एक भए प्रेत एक भीजि मारे हाथी हूँ' में भी यही जनश्रुति मुखर है। इसका अर्थ यही है कि केशव का काव्य कठिन है। कठिन-काव्य पहले समझ में आए तब न! बस, 'कवि को दीन न चहै बिदाई, पूछै केसव की कविताई।' केसव के कठिन काव्य को पहले स्मरण कौन करे और स्मरण करे भी तो जो सुनेगा, उसे पहले अर्थ लगेगा तभी तो कार्य सधेगा। कवि अर्थात् भाट कबिताई सुना देगा, वह कोई टीकाकार या महाभाष्यकार तो है नहीं कि उसका अर्थ भी श्रोता को बतलाए। अर्थ लगता नहीं, तो अर्थ हाथ कैसे लगे। इस कठिनाई का अर्थ यह भी लगाया जाने लगा कि उनकी कविता में 'रस नहीं', 'सहृदयता नहीं।' आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उन्हें हृदयहीन क्या लिख दिया, वे बेचारे रसिकों, सहृदयों, कवियों—सबकी मंडली से खारिज किए जाने लगे। केशवदास जी परंपरा से इतने अभिभूत थे कि वे अपने हृदय का योग उस अवसर पर नहीं कर पाते थे, जिस अवसर पर शुक्ल जी के विचार के हृदय का योग अनिवार्य रूप से होना चाहिए। प्रकृति के प्रति उनके हृदय में वह राग नहीं था, जो

कवि के लिए होना अपेक्षित है। पर यह तो हिन्दी के सभी कवियों के लिए है। केवल केशव ही प्रकृति से उदासीन नहीं, सारा मध्यकालीन काव्य उदासीन है।

एक प्राध्यापक से, जो केशव की 'रामचंद्रचंद्रिका' पढ़ाते थे, महामना मालवीय जी ने पूछा—"आजकल क्या पढ़ाते हो।' उन्होंने तुरंत सोत्साह उत्तर दिया, "केशवदास की रामचंद्रिका।" फिर पृच्छा हुई, केशव की कोई रचना तो सुनाओ। प्राध्यापक मौन। केशव की कविता भी स्मरण रखनी चाहिए, इसका ध्यान प्राध्यापक जी को नहीं था। पढ़ानी थी स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी की केशवकौमुदी-टीका। अत्र तत्र सर्वत्र। 'रामचंद्रचंद्रिका' के छंद प्राचीनों ने तो कुछ कंठाग्र भी किए, रामलीला में संवादों के बीच अब भी वे सुनाई पड़ते हैं, पर नवीनों को, पढ़ने-पढ़ानेवाले शिक्षितों-सुशिक्षितों को इसकी आवश्यकता! बेचारे परीक्षार्थी अवश्य ही कुछ अंश कभी पूरा पद्य और कभी पद-पदांश मात्र परीक्षा के त्रास से मुखाग्र-कंठाग्र कर लिया करते थे। प्राध्यापक इस बखेड़े से बरी। यह उन केशवदास जी की रचना की कथा है, जिन्होंने कभी अकबर के यह पूछने पर कि युग का सबसे उत्तम कवि कौन है, उत्तर दिया था—"मैं।" सूरदास और तुलसीदास को भक्तों की मंडली में बिठलाया था। केशव के उक्त विस्मरण या अस्मरण का हेतु है केशव के काव्य का काठिन्य। केशव की कुत्सा काव्य-पांडित्य के स्खलन के कारण नहीं थी। मध्यकाल में किसी के पांडित्य या विदग्धता की जाँच की कसौटी थी केशव की कविता। उन्हें धीरे-धीरे बहुत भुला दिया गया। ये केशव जिस प्रदेश में हुए थे, वही व्रज का प्रदेश था। वह व्रज के काव्य-वाङ्मय का केंद्र था। वे 'बुंदेली के कवि थे' कहना उनका मान कम करना है। व्रज के कवियों का भारी जमघट उसी अंचल में था। मुगल सम्राटों का निवास दिल्ली में नहीं, आगरे के पास था। दिल्ली से रसखानि भी भागकर वृंदावन आ बसे। घनआनंद ने भी दिल्ली छोड़ी, वृंदावन आए। जिस भू-भाग पर केशव उड़गन ही होकर सही, चमक रहे थे, वही व्रज का आरंभिक भू-भाग था। भाषा काव्य-निर्माण का स्रोत वहीं से फूटा है। उस अंचल में जैसे-जैसे प्राचीन कवि हुए हैं और उन्होंने जैसी-जैसी रचनाएँ की हैं, उनमें से बहुतों का पता तक हिन्दी जगत् को नहीं है। नैषध का हिन्दी में उल्था करनेवाले गुमान ने केशव की 'रामचंद्रचंद्रिका' के जोड़-तोड़ में 'कृष्णचंद्रिका' लिखी। यह 'कृष्णचंद्रिका' यदि हिन्दी के आलोचकों ने देख ली होती, तो पता चलता कि हिन्दी में ऐसे प्रबंध भी लिखे गए हैं। इनके भाई खुमान ने 'कृष्णायन' लिखा है रामायण के जोड़-तोड़ पर, जो अभी तक अप्रकाशित है। समझा यह जाता है कि द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कदाचित् सबसे पहले इस नाम की कल्पना की और कृष्ण पर रामायण के ढंग का काव्य लिखा। उस कविंधरा भू-भाग में अनेक सरस कवि हुए। उन सबके नगड़दादा थे केशवदास, जिनका लोहा सभी मानते थे, जिनकी रचना का अध्ययन निरंतर होता रहा।

इस भू-भाग के कवियों की विशेषता रही है कि वे काव्य-चमत्कार सब प्रकार का दिखा सकने की शक्ति रखते थे। केशव के पूर्व जिस प्रकार का प्रवाह था, सबका नमूना उन्होंने प्रस्तुत कर दिया है। उन्होंने 'रामचंद्रचंद्रिका' के अतिरिक्त प्रशस्ति-काव्य भी कई लिखे हैं—'वीरचरित', 'रतनबावनी' और 'जहाँगीर-जस-चंद्रिका।' संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय' का पद्यबद्ध भाषानुवाद 'विज्ञानगीता' के रूप में है, जिसमें अपनी ओर से भी बहुत-सी सामग्री पौराणिक वृत्ति वाले पंडित कवि ने जोड़ रखी है। इस भू-भाग का कवि बहुश्रुत होता था। अनेक काव्यों और शास्त्रों का पहले अध्ययन करना, फिर उस निपुणता से अपने काव्य का उपबृंहण! प्राचीन काव्य और शास्त्र संस्कृत के भी पढ़े जाते थे और फलस्वरूप उनसे प्रभावित होना स्वाभाविक था। संस्कृत का आग्रह इन में होता ही था। शौरसेनी की प्रकृति भी तो संस्कृत ही मानी जाती है। इसलिए संस्कृत के शब्दों और प्रयोगों का ग्रहण इनमें सहज था। केशवदास जी 'देवता' को स्त्रीलिंग ही लिखते रहे, 'देह' को पुंल्लिग। संस्कृत के उन शब्दों का भी प्रयोग 'भाषा' में करते रहे, जो भाखावालों के लिए दुरूह हैं। यह व्रज की प्रवृत्ति थी; केशवदास की—जिनके कुल के दास 'भाखा' बोलना नहीं जानते थे—व्यक्तिगत प्रवृत्ति मात्र यह नहीं थी। इस भू-भाग में सांप्रदायिक आग्रह नहीं रहा। साहित्य ही उन्हें सांप्रदायिकता से नहीं पृथक् करता रहा; उनमें ऐसी उदारता, हृदय की विशालता जन्मभूमि-साहित्यभूमि भी लाती रही। रीति का आग्रह करनेवाले भी यहाँ थे, उससे स्वच्छंद रहनेवाले भी यहाँ थे। केशव निंबार्क-संप्रदाय में दीक्षित

थे। उन्होंने 'रसिकप्रिया' में प्रियजू और प्रियाजू की प्रशस्ति लिखी। पर 'रामचंद्रचंद्रिका' भी लिखी। ऐसे भू-भाग में जन्म लेनेवाले श्री मैथिलीशरण गुप्त में उस भू-भाग की विशेषताएँ होना स्वाभाविक है।

जिस प्रकार केशवदास जी को हिन्दी कविता का स्वरूप निश्चित करना, आगे के कवियों के लिए मार्गदर्शन करना था, उसी प्रकार श्री मैथिलीशरण गुप्त के सामने भी कुछ ऐसी ही समस्या थी। खड़ी-बोली हिन्दी की रचना के पथिकृत हैं ये। उस समय इन्होंने अनेक प्रकार की रचना करके मार्ग निकाले थे। खड़ीबोली का मार्ग किस पद्धति पर चले, इसकी खोज में कोई संस्कृत की ओर लपका, कोई फारसी-उर्दू की ओर धाया। गुप्त जी ने हिन्दी की अपनी पद्धति चलाई—'हरिगीतिका' लिखकर। संस्कृत शैली पर रचना इन्होंने न की हो, सो नहीं। उनके 'पद्य-प्रबंध' में संस्कृत-वृत्तों की रचना संगृहीत है। केशवदास ने संस्कृत का पंडित होने पर भी केवल संस्कृत-वृत्तों से संतोष नहीं किया। उनकी हिन्दी-शैली की रचना परिमाण में अधिक है। गुप्त जी की रचना भी हिन्दी-शैली में अधिक है। उन्होंने हिन्दी का पारंपरिक मार्ग प्रशस्त किया है। गुप्त जी उस अंचल के व्यक्ति हैं, जहाँ कर्ता पूरे पांडित्य के अनंतर काव्य-कौशल में संलग्न होते रहे हैं। बिना पांडित्य-प्रदीप के उनकी रचना देखने-समझने में स्पष्ट न हो सकेगी। संस्कृत में 'तंतुवाय' का अर्थ 'मकड़ा' भी होता है। 'मकड़ा' न मिलने से समालोचक भारी भ्रमजाल में फँसते हैं—

आकाश-जाल सब ओर तना
रवि तंतुवाय है आज बना।
करता है पद-प्रहार वही,
मक्खी सी भिन्ना रही मही।

जब 'द्वापर' की यह पंक्ति सामने आती है, तो समालोचक उसका स्वारस्य नहीं समझ पाते—

पुत्रों से निश्चिंत सदा को पितरजनों का नारद मैं।

'नारद' मुनि तो हैं ही, जल देनेवाले भी हैं। 'नार' जल को कहते हैं ; 'नारायण' में वही शब्द है। ब्याह किया नहीं, इसलिए पुत्रों से निश्चित, बेटी-बेटे का बखेड़ा नहीं—उनसे तर्पण में जल पाने की चिंता नहीं ; पर स्वयम् पितरों को निरंतर जल देते हैं—तर्पण कर तृप्त करते हैं।

उस रुदंती विरहिणी के विरह-रस के लेप से।
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से।
वर्ण-वर्ण सुवर्ण जिनके हैं विभूषण कर्ण के।
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के।।

जो यह न जानता होगा कि 'रुदंती' 'रुद्रवंती' को कहते हैं और इस रुद्रवंती के रस का लेप करने से ताँबा सुवर्ण-स्वर्ण हो जाता है, उसकी मति रुदंती के 'रोती' अर्थ को ही लेकर रोती रह जाएगी। जो कविता में व्याकरण-व्यवस्था का उल्लंघन करके 'निरंकुशाः कवयः' की छूट देने के अभिलाषी होंगे, वे 'सांकुशाः कवयः' की कठिनाई क्या समझेंगे। गुप्त जी की कविता पतिव्रता नारी की भाँति मर्यादा, आदर्श, व्यवस्था सबका बंधन स्वीकार करती है। पांडित्य होने पर भी वह नम्रता, सुशीलता, शिष्टता की मूर्ति है। केशवदास में पांडित्य था, उस पांडित्य का अभिमान भी उनमें था। मैथिलीशरण में पांडित्य है, पर उसका अभिमान नहीं। केशवदास कवि थे, पर 'रामचंद्रचंद्रिका' में उन्होंने भक्तों की-सी फलश्रुति रखी है; मैथिलीशरण गुप्त भक्त हैं, पर उन्होंने राम को पुरुषोत्तम-रूप में ही रखा, भगवान-रूप में नहीं।

राम, कृष्ण ही नहीं, बुद्ध पर भी उनकी लेखनी चली है, मुहम्मद पर भी। उदार भावना उनमें निरंतर दिखाई देती है। विश्ववेदना से उनका मानस पीड़ित है। केशवदास के गुण श्री मैथिलीशरण में भरपूर हैं—पांडित्य, बहुश्रुतत्व और विभिन्न शैलियों पर अधिकार। पर जो उनमें नहीं है, वह भी इनमें है। केशवदास रामभक्त नहीं थे, वे श्रीकृष्ण के रसरूप के उपासक थे। अतः रसिकता की अभिव्यक्ति में उन्होंने सामाजिक मर्यादा का विचार कहीं-कहीं स्वभावतः नहीं रखा। पर गुप्त जी रामभक्त हैं, ऐश्वर्य

रूप के उपासक, इसलिए उस रसिकता से इनका कोई प्रयोजन नहीं। केशवदास जी ने कवि-शिक्षा की पुस्तक लिख कर आचार्यत्व भी दिखलाया। गुप्त जी को इस आचार्यत्व से कोई प्रयोजन नहीं। केशव की रचना ज्ञान के लिए, साहित्य-सरणि का रूप समझने के लिए पढ़ी जाती रही। गुप्त जी की रचना आकर्षण से आकर्षण के लिए पढ़ी जाती रही है। हरिगीतिका की अनुकृति तो इतनी अधिक हुई कि गाँव-गाँव में उसकी नकल होने लगी। उन दिनों व्यापार की पत्रिकाओं में यदि कोई नियम पद्यबद्ध किया जाता, तो हरिगीतिका में। दोहे-चौपाई का चलन हट गया, हरिगीतिका छा गई थी उस समय। साबुन के बनाने की विधि हरिगीतिका में दी जाती थी!

मैथिलीशरण जी गुप्त ऐसे कवि हैं, जिन्हें जनता भी चाहती है और साहित्य के सुजन भी चाहते हैं। इतना लोकप्रिय, जनप्रिय कवि आधुनिक युग में दूसरा नहीं हुआ। साहित्य-सुजनों के बीच भी इनका स्थान सुरक्षित है। जिस छाया-रहस्य का डंका पिटता रहा है, उसे भारतीय ढंग से आरंभ करनेवालों में गुप्त जी भी थे। गुप्त जी अपनी परंपरा का मोह छोड़ नहीं सकते। सारी प्रगतिशीलता उसी परंपरा की पीठिका पर होती रही है। केशवदास जी परंपरा के स्थापक थे, गुप्त जी परंपरा के रक्षक हैं। यही कारण है कि इनकी रचना चाहे जितनी गूढ़ हो जाए, उसके अर्थ, व्यंग्य आदि में किसी को भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कोई इनकी रचना पढ़कर यह नहीं कह सकता कि यह मेरी समझ में नहीं आ रही है। पर छाया-रहस्य के कवियों के सम्बन्ध में जितने मुनि उतने मत। गुप्त जी की परंपरा-रक्षा उनकी सर्वग्राह्यता का बीज है।

गुप्त जी ने खड़ीबोली के आंदोलन में योग दिया। व्रजभाषा के प्रतिपक्ष में झंडा उठाया। पर व्रजभाषा की जितनी रचना उन्होंने पढ़ी है और जितनी रचना उन्हें कंठाग्र है, उतनी सांप्रतिक व्रजभाषा के पंडितों को भी नहीं। उधर नई काव्यधारा के समर्थन में व्रजभाषा की कविता की कुत्सा तो प्रकाम की गई, पर उसे पढ़कर, उसका अध्ययन-मनन करके कुछ कहने की शिष्टता किसी ने नहीं की। केशव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि की रचना परिमित दृष्टि से लिखी गई और नई कविता अपरिमित दृष्टि-विस्तार से लिखी जा रही है—कह देना सरल है, पर उसे प्रमाणित करना उतना सहज नहीं। पुराने कवियों की कविता चाहे जैसी हो, वह व्यक्तिनिष्ठ नहीं है। व्यक्तिनिष्ठ रचना को परिमित कहा जाय या समाजनिष्ठ रचना को। साहित्य में केवल अभिव्यक्ति का ही मोल नहीं होता, उसके औचित्य का भी मोल होता है। पुराने कवि औचित्य का मोल जानते थे। गुप्त जी संस्कृत-हिन्दी का पूरा अध्ययन कर लिखनेवाले हैं। जो भी अध्ययन कर लिखता है, उसकी रचना स्वच्छंदता खोती है। चाहे वे केशवदास हों, चाहे तुलसीदास। सूरदास के लिए यह बखेड़ा नहीं। गुप्त जी केशवदास और तुलसीदास की श्रेणी के कवि हैं, सूरदास की श्रेणी के नहीं। 'सूर सूर तुलसी ससी उड़गन केशवदास' में सूर का महत्व साहित्य में उनके द्वारा गृहीत आलंबन की स्वीकृति के कारण है। सूर ने हिन्दी को, रीति-काल की कविता को आलंबन दिया। तुलसीदास ने भाषा दी। केशव ने शैली दी। गुप्त जी ने हिन्दी को भाषा दी, शैली दी। काव्य-विषय नहीं दिया। इस दोहे में विशेष दृष्टि से तारतम्य की स्थापना है, इसीसे बहुतों को यह नहीं रुचता।

केशवदास और तुलसीदास की रचना साहित्य और समाज पर छाई हुई थी। सूर की रचना साहित्य और समाज पर छाई नहीं। सूर की न भाषा आगे चली, न शैली। उनकी सामग्री अवश्य काम में आई, उनके आलंबन अवश्य गृहीत हुए। गुप्त जी केशवदास और तुलसीदास की भाँति हिन्दी पर छाए। इनमें उन दोनों के गुणों का योग संघटित है। इसलिए आधुनिक युग में और किसी कवि की कविता चाहे प्रवाह से हट जाए, पर गुप्त जी की रचना कभी हटनेवाली नहीं। जब तक भारतीसमाज में, साहित्य में केशवदास और तुलसीदास के गुणों की पूछ होती रहेगी, तब तक 'भारत-भारती' के कवि की भी अर्चना होगी। आचार्य केशवदास हिन्दी पर ही छाए रहे, तुलसीदास राष्ट्रभारती भर में छा गए, राष्ट्रकवि भी भारत-भारती में छा रहा है। जैसे तुलसीदास विश्वभारती में छा रहे हैं, वैसे 'भारत-भारती' के कर्ता के भी छाने की संभावना है।

●●●

राम के तीन गायक—वाल्मीकि, तुलसी और मैथिलीशरण

श्री विनयमोहन शर्मा

★ ★

भारतीय साहित्य और जीवन में 'राम' की सत्ता अप्रतिम है। संसार के किसी भी राष्ट्र के इतिहास में यह नहीं पाया जाता कि इतिहास में प्रतिष्ठित नायक किसी जाति का आदर्श बन कर युग-युग से उसे अनुप्राणित और उत्फुल्लित कर रहा हो। ईसा के अनिर्णीत काल-पूर्व आदिकवि वाल्मीकि ने 'राम-चरित्र' अनुष्टुप् छंद में बाँधकर जनता के सम्मुख जिस संस्कृति को प्रस्तुत किया, उसकी प्रतिध्वनि अभी भी सुनाई पड़ रही है। मध्ययुग में तुलसी और इस युग में मैथिलीशरण ने उसी राम की गाथा को अपने-अपने युग के अनुरूप भाषा-निबद्ध कर अन्तःकरण में सुख अनुभव किया है। प्रश्न यह है कि जिस 'राम' ने भारत के बहुसंख्यक जन-मन को रंजित किया है, वह क्या आदिकवि की मनोरम कल्पना है—ब्रह्म का प्रतीक है या उसका ऐतिहासिक अस्तित्व भी है? इसका उत्तर स्वयं आदिकवि ने दे दिया है। वे प्रारंभ में नारद से पूछते हैं—

कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्
धर्मज्ञश्च, कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः।

इस समय ऐसा कौन-सा पुरुष इस लोक में है, जो गुणवान, वीर्यवान, धर्मज्ञ, कृतज्ञ और दृढ़व्रत कहा जा सकता है? नारद कहते हैं—हे मुनि! आपने जिन गुणों का नाम लिया है, वे इस लोक में दुर्लभ तो हैं, पर मैं स्मरण करके एक पुरुष का परिचय देता हूँ—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान्वशी॥

इक्ष्वाकु वंश में राम नाम से विख्यात ऐसा पुरुष है, जो महावीर्य, कीर्तिमान, धैर्यवान और जितेंद्रिय है।

'साम्प्रतम्' शब्द से यह भी ज्ञान होता है कि कवि वाल्मीकि और राजा राम का काल एक ही है। कवि ने अपने आदर्श युग-पुरुष की जीवन-घटनाओं का सोल्लास वर्णन किया है[1]। उन्होंने राम पर ईश्वरत्व का आरोप नहीं किया। राम के चरित्र की ओर ही स्वयमेव ईश्वरत्व खिंच आया है। उन्होंने लंकाकांड में देवताओं के समक्ष राम से कहलाया है—"मैं नहीं जानता, मेरा आदि स्रोत क्या है? मैं तो अपने को राजा दशरथ का पुत्र और मनुष्य मात्र मानता हूँ।" वाल्मीकि ने राम की मानवोचित उदात्त और अनुदात्त भावनाओं और कृत्यों को अविकार भाव से अंकित किया है। इसके विपरीत तुलसीदास राम को ब्रह्म मानकर ही चले हैं,[2] और एकाध स्थल को छोड़कर कहीं भी उनके मानव-सुलभ स्खलन को दिखाने के लिए तत्पर नहीं हुए। मैथिलीशरण का वैष्णवहृदय राम में ईश्वरत्व तो देखता है, पर जब वह कवि की भूमिका में पहुँचता है, तो उन्हें मानव रूप में चित्रित करना ही उसे भाता है। ऐसा करने के बाद मानों, उसे एक अप्रत्याशित झटका-सा लगता है और वह सशंकित हो उठता है—

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?

---

[1] पार्जिटर ने अनेक पुराणों के मंथन के पश्चात् यह निश्चित किया है कि राम ऐतिहासिक पुरुष थे और सूर्यवंशी राजाओं में से एक थे। त्रेतायुग के ये अंतिम राजा माने गए हैं। राम का समय ईसा के लगभग १९०० वर्ष पूर्व अनुमाना जा सकता है।

[2] व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥
—रामचरितमानस (बालकांड, दोहा—१९८)

वह राम और ईश्वर को अभिन्न मानता है[१]। इस प्रकार राम को देखने के तीन कवियों के तीन दृष्टिकोण हमारे सम्मुख आते हैं। आदिकवि वाल्मीकि उन्हें पुरुष-श्रेष्ठ, तुलसी भूभारहर्ता विष्णु का अवतार तथा मैथिलीशरण वाल्मीकि और तुलसी दोनों की समन्वित भावदृष्टि से देखते हैं। वाल्मीकि में इतिहास-कार की प्रधानता है, तुलसी में पुराणकार की और मैथिलीशरण में युगानुरूप मानव प्रवृत्ति के सन्निवेश की; क्योंकि जब अखिलेश अवतार लेकर मनुज रूप धारण करता है, तब वह मनुष्य के समान ही आचरण करता है, 'लीला' करता है।

जब मैं वाल्मीकि को इतिहासकार की संज्ञा देता हूँ, तब मेरा आशय यह नहीं है कि उनमें कवि की भाव-स्रोतस्विनी का कलगान नहीं है, कल्पना की मनोमुग्धकारी हरीतिमा नहीं है। यदि वे कोरे इतिहास-कर्ता होते, तो उन्हें आदिकवि की संज्ञा से कैसे अभिहित किया जाता? पर इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि तुलसी में 'नाना पुराण-निगमागम सम्मत' तथा 'क्वचिदन्यतोऽपि' सामग्री होते हुए भी भक्त-सुलभ कवि-भाव अधिक है। मैथिलीशरण उपर्युक्त कवीश्वरों के पद-चिह्नों पर चलने का आयास करते हुए दीख पड़ते हैं। राम के गायकों में उनका शीर्ष स्थान आधुनिक युग में कोई छीन सका है, ऐसा भान नहीं होता।

वाल्मीकि के राम हमारे समान ही भूलोकवासी होने के कारण हमें अधिक आकर्षित करते हैं, क्योंकि हम उन्हें अपने ही समान परिस्थितियों के कारण ऊँचे उठते और नीचे गिरते देखते हैं। उनकी श्रेष्ठता इसमें है कि वे नाजुक क्षणों में भी अपना संतुलन नहीं खोते, परिस्थिति से ऊपर उठने का यत्न करते हैं। उनमें कई बार सामान्य मनुष्यों के समान विकारों का विस्फोट होता है, पर वे उनका सार्वजनिक प्रदर्शन प्रायः नहीं होने देते। वाल्मीकि ने राम की बाह्य अलौकिक छवि का विभोरक वर्णन करने के बजाय उनके हृदय की वृत्तियों का विशेष रूप से उद्‌घाटन किया है। तुलसीदास उनके बाह्य रूप पर अत्यधिक मुग्ध हैं; जब-जब प्रसंग आता है, उनके मन-मधुकर की पाँखें अपने आराध्य के सौंदर्य-रस में सिक्त हुए बिना नहीं रहतीं। उन्हें देख-देख कर उनके लोचन जल से भर आते हैं, उनकी जिह्वा से यही निकल कर रह जाता है—

सोभा बहुत थोरि मति मोरी।

वाल्मीकि के राम सबको प्रिय हैं, सबके द्वारा सम्मानित हैं। एक बार जो निर्णय कर लेते हैं, उसका विरोध करने का साहस उनके प्रिय से प्रिय व्यक्ति में भी नहीं होता। शरणागत की रक्षा करना उनका धर्म रहा है। शत्रु के प्रति भी अनुदार होना उन्होंने नहीं सीखा। लंका पर चढ़ाई करने के पूर्व विभीषण, रावण के कृत्यों से क्षुब्ध होकर, राम की शरण में आता है। राम सुग्रीव, हनुमान, लक्ष्मण आदि की सलाह लेते हैं। हनुमान को छोड़कर कोई भी विभीषण को विश्वास में लेने के पक्ष में नहीं है। राम बहुमत के साथ न जाकर विभीषण को अपनाने का निश्चय कर लेते हैं। उनकी उदात्त वृत्ति जाग कर बोल उठती है—"यदि आज रावण भी मेरी शरण में आ जाता, तो मैं उसे अवश्य आश्रय देता। यदि गिड़गिड़ा कर कोई यह कहे कि 'मैं आपका हूँ', तो उसे अभय बनाना मेरा धर्म है।" विभीषण को अपनाने में राम का कूटनीतिज्ञ होना भी सिद्ध होता है। घटनाएँ बतलाती हैं कि विभीषण के द्वारा राम को लंका का सारा भेद मिल गया था। शत्रु के प्रति राम की सदयता का उदाहरण उस स्थल पर मिलता है, जब रावण युद्ध में लड़ते-लड़ते थक जाता है और किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाता है। राम उससे कहते हैं—"जाओ। आज अपनी थकान मिटा लो, कल फिर शस्त्रास्त्र से सज्जित होकर आना।" यदि राम सामान्य व्यक्ति होते, तो शत्रु की असहायावस्था का लाभ उठाकर उसका वहीं अंत कर देते। पर वे उदार थे, नीतिवान थे, तभी तो आदिकवि को प्रिय थे। और भी उनकी महानता का परिचय प्राप्त कीजिए। रावण युद्ध में बड़े संघर्ष के बाद मारा जाता है। कई बार उसने राम के शौर्य को चूर करने का प्रयत्न किया। फिर भी राम विभीषण से कहते हैं—"रावण महान् पुरुष था, सम्राट् था, वीर था, उसका

[१] (अ) हो गया निर्गुण-साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है। —'साकेत,' पृ० १२
(ब) प्रभु अवतरित अयोध्या में थे
जनकपुरी में उनकी शक्ति। —'प्रदक्षिणा,' पृ० १४

अंतिम संस्कार विधिपूर्वक होना ही चाहिए।" विभीषण रावण के पूर्व दुष्कृत्यों का स्मरण कर झिझक प्रदर्शित करता है। इस पर राम फौरन बोल उठते हैं—"यदि तुम राजी न होगे, तो मैं स्वयं उसका संस्कार करूँगा, क्योंकि 'मरणान्तानि वैराणि'—मरण के बाद बैर का अंत हो जाता है।" उनकी एक उदात्त भावना की झाँकी हमें चित्रकूट में भी मिलती है। चित्रकूट में भरत राम को अयोध्या लौट चलने का आग्रह करते हैं। वे राज्य-भार संभाल लें और उनके साथ ही अयोध्या की जनता को आंनद प्रदान करें। इसके लिए भरत सत्याग्रह तक करते हैं। कैकेयी के प्रति उनके मुख से अनेक अपशब्द भी निकलते हैं। राम नीतिवेत्ता थे। उन्हें इस बात का ज्ञान था कि जब उनकी माता कौशल्या के संतति नहीं हुई, तो दशरथ ने कैकेयी से विवाह करते समय कैकेयी-नरेश को वचन दिया था कि मैं कैकेयी के पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाऊँगा; परंतु जब सबसे पहले कौशल्या के गर्भ से राम उत्पन्न हुए, तब दशरथ बड़े धर्म-संकट में पड़ गए। रघुकुल-रीति के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को राज-पद मिलना चाहिए। यदि वे कैकेय-राज को दिए गए वचन का पालन करते हैं, तो राम के साथ भयंकर अन्याय होता है। इसलिए दशरथ ने भरत को ननिहाल भेज कर और जनसभा में राम का युवराज-प्रस्ताव पास कराकर अपने वंश की मर्यादा को रक्षित करने का उपक्रम किया था। राम ने, यह भीतरी भेद मालूम होने के कारण, बिना किसी किंतु-परंतु के अयोध्या का परित्याग कर दिया। अतः ऐसी परिस्थिति में अयोध्या लौट जाना पिता के साथ विश्वासघात होता और भरत के प्रति अन्याय। अतएव वे कहते हैं—"जिस तरह मैं पिता की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ, उसी तरह तुम भी उनकी आज्ञा का पालन करो। वास्तव में तुम्हीं अयोध्या में राज्य करने के अधिकारी हो।" कैकेयी के प्रति सद्भाव रखने की भी उन्होंने शिक्षा दी—"मातरं रक्ष कैकयी मां रोषं कुरु तां प्रति।"

इसी प्रसंग में वाल्मीकि राम का मानवोचित विकार भी उद्घाटित करते हैं। जिस समय दशरथ और राजसभा के द्वारा राम ने अभिषेक का संवाद सुना, उनका हृदय सहज उल्लास से भर गया। उन्होंने सीता के पास जाकर अपने आसन्न युवराज पद के सम्बन्ध में मीठी-मीठी बातें कीं। इसी समय दशरथ कैकेयी के महल में राम को बुलाकर उन्हें वनवास का संवाद सुनाते हैं। उसे वे वहाँ शांत भाव से सुन लेते हैं। उसके पश्चात् पहले कौशल्या के यहाँ जाते हैं, उनसे भी शांत चित्त से बातें करते हैं। यहाँ वाल्मीकि एक ही शब्द में न कहने योग्य बात कह गए हैं। वे कहते हैं—राम कौशल्या के पास मन में दुख छिपा कर गए—'धारयन् मनसा दुःखम्।' सीता के पास पहुँचने पर उन्होंने किंचित सिर झुका लिया। सीता ने उन्हें विवर्ण वदन और सप्रस्वेद देखा। जब लक्ष्मण भी राम के साथ चलने को उद्यत हुए, तो राम का सारा धैर्य, सारा संयम बह गया। वे सभी पर अविश्वास करने लगे। उन्होंने लक्ष्मण से कहा—"सौमित्र! क्या तुम भी मेरे साथ वन चलोगे? तब कौशल्या और सुमित्रा को कौन देखेगा? राजा मोहवश कैकेयी के पाश में बँधे हुए हैं। वह सौतों से डाह करेगी।" इतना ही नहीं, राम भरत पर भी संदेह करते हैं—'भरत भी अपनी माँ के प्रभाव में रहेंगे।' यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जब दूसरे कैकेयी या भरत की भर्त्सना करते हैं, तब राम उन्हें ऐसा नहीं करने देते। परंतु जब वे अपनों के बीच बोलते हैं, तो उनके हृदय की प्रतिध्वनि बाहर सुन पड़ती है।

तुलसी ने कहीं भी राम की इस प्रकार की कमजोरियों पर प्रकाश नहीं डाला। भरत को दशरथ ने साभिप्राय ननिहाल भेजा है और अभिषेक के उत्सव पर आमंत्रित नहीं किया, ऐसा उल्लेख उन्होंने अपने 'मानस' में नहीं किया। और, न राम का भरत के प्रति आंतरिक संदेह-भाव ही प्रकट होने दिया है, क्योंकि ऐसा करने से राम के उज्ज्वल चरित्र पर कालिमा की रेखा दिख सकती है। मैथिलीशरण ने मंथरा के मुख से यद्यपि यह कहलाया है—

भरत से सुत पर भी सन्देह
बुलाया तक न उन्हें जो गेह। —साकेत

परंतु उन्होंने भरत को न बुलाने का यह कारण दिया है[1] कि पुत्र-विरह में कष्ट पाने का अभिशाप इसी समय राम को राजपद दे वन-गमन करने से दूर हो जाएगा। तुलसी ने इसका कोई कारण नहीं दिया। मंथरा अवश्य

---
[1] मारकर धोखे में मुनि-बाल, हुआ था मुझको शाप कराल।

भरत को ननिहाल भेजने में षड़यंत्र का संकेत करती है। वाल्मीकि ने जिस प्रकार राम के मन का चढ़ाव-उतार चित्रित किया है, उस तरह न तो तुलसी में ही हम पाते हैं और न मैथिलीशरण में। उनके राम निर्विकार भाव से माता, पिता सबको सांत्वना देकर सीता और लक्ष्मण सहित वन निकल जाते हैं। तुलसी और मैथिलीशरण ने राम के पुरुषोत्तम रूप की रक्षा की है, क्योंकि इन दोनों कवियों का लक्ष्य सर्वथा आदर्श चित्रण रहा है। तुलसी के लिए वे नारायण के अवतार थे, मैथिलीशरण के लिए नारायण स्वरूप आदर्श नर।

वाल्मीकि के राम को मानव मन की अच्छी पकड़ थी। जब सुमंत्र ने वन में राम के पास रहने का अनुनय किया, तब उसे समझाते हुए राम कहते हैं—"देखो सुमंत्र! कैकेयी बड़ी कठोर हृदया है। यदि तुम घर नहीं लौटोगे, तो वह संदेह करेगी कि मैं वन आया हूँ कि नहीं। वह पिता पर भी क्रुद्ध होगी। परंतु जब तुम घर पहुँचोगे, तब तुमसे सारा हाल सुनकर उसे विश्वास हो जायगा कि मैं सचमुच वन में आ गया हूँ।"

पिता के सम्मान की रक्षा करना राम को अभीष्ट था। पर वास्तव में उनके हृदय में किस प्रकार के भाव आलोड़ित हो रहे थे, यह बात सुमंत के बिदा हो जाने के पश्चात् प्रकट होती है। व सीता और लक्ष्मण के सम्मुख हृदय खोल देते हैं, "कैकेयी कृतकार्य हो गई है। अपन पुत्र के आ जान पर वह पिता के प्राणों के साथ निश्चय घात करेगी।" पिता के सम्बन्ध में उनकी उक्ति है, "कैकेयी के वशीभूत, कामात्मा वृद्ध राजा मेरे बिना अनाथ होकर क्या करेगा!" भरत के प्रति भी उनके हृदय में ईर्ष्या झलक उठती है—"कैकेयी-सुत भरत अपनी पत्नी सहित कोसल देश पर सुख से राज करेगा।" यहाँ राम की आँखों के सामने वन में भटकनेवाली अपनी पत्नी सीता और राज्यविरहित स्वयं का चित्त झूल उठता है। एक जगह वे और कहते हैं कि भरत सारे राज्य का एकाकी उपयोग करेगा। कैकेयी को 'क्षुद्रकर्मा' कहते हुए भी राम नहीं झिझकते। क्या इस प्रकार के उद्‌गार राम की विभुता के अनुरूप हैं? परंतु आदिकवि को तो अपने चरित्रनायक की मानव-कमजोरियों पर भी प्रकाश डालना अभीष्ट था। तुलसी संभवतः अपने युग में ऐसा नहीं कर सकते थे। जब समाज का नैतिक धरातल बेहद गिर चुका हो, तब आदर्श चरित्र के छिद्रों की ओर बार-बार इशारा करने से जनता को सहज फिसलने का साहस मिल जाता है। वह सोचने लगती है—साक्षात् भगवान के अवतार भी तो हमारे समान विकारों से भरे हुए हैं। तुलसी का लक्ष्य समाज की अव्यवस्था को दूर कर धर्म का आदर्श प्रतिष्ठित करना रहा है। राम को उन्होंने ऐसे ही आदर्श के प्रतीक के रूप में चुना था। अतएव राम के मानसिक स्खलन का बाह्य विस्फोट उन्हें प्रायः सह्य नहीं हुआ। एक बात और है। तुलसी को राम का लीला-रूप ही पूजनीय नहीं है, उनका नाम भी वंदनीय और जप-योग्य है। इतना होते हुए भी आदिकवि वाल्मीकि के कथा-प्रसंगों की वे सर्वथा उपेक्षा भी नहीं कर पाए हैं, क्योंकि ऐसा करने से कथा की शृंखला टूटने की संभावना बढ़ जाती।

बाली-वध प्रसंग में वाल्मीकि के समान तुलसी ने भी राम के पक्षपात पर पर्दा नहीं डाला—

मैं बैरी सुग्रीव पियारा
अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।

बाली पर छिपकर बाण चलाने से राम के शौर्य की धवलता पर निश्चय ही श्यामलता छा जाती है। उनका 'धर्मावतार' संदिग्ध हो जाता है। 'अनुज-वधू' पर कुदृष्टि डालने के जिस अपराध पर बेचारे बाली का वध किया गया, क्या वही अपराध, वही अवगुन, सुग्रीव और विभीषण से नहीं हुआ? तो क्या राम के दरबार में भी अपनों के 'सौ खून माफ' होने का न्याय चलता है? यदि हाँ, तो फिर राम, धर्म-संस्थापक कैसे? तुलसी ने भी राम की इस 'पक्षपात-लीला' पर काली टिपकी का एक डिठौना लगा दिया है, जिससे वे जन-सामान्य भूमि पर उतर आए हैं। मैथिलीशरण ने भी सुग्रीव के शत्रु का राम के द्वारा आखेट करवाया है।[1]

कि तुमको भी निज पुत्र-वियोग, बनेगा प्राण-विनाशक रोग।
अस्तु यह भरत-विरह आक्लिष्ट, दुःखमय होकर भी था इष्ट
इसी मिस पा जाऊँ चिर शान्ति, सहज ही समझूँ तो निष्क्रान्ति।

[1] कह सुकण्ठ को बन्धु उन्होंने, किया कृतार्थ अंक भर भेंट।
बर्बर पशु कह एक बाप से, किया बालि का फिर आखेट। —'प्रदक्षिणा' (४८)

बाली-वध के पश्चात् सुग्रीव जब निश्चिंत होकर भोग-विलास में डूब जाता है और सीता की खोज के सम्बन्ध में उदासीनता दिखलाता है, तब वहाँ वाल्मीकि ने राम के क्रोध की पराकाष्ठा दिखलाई है। वहाँ तुलसी ने भी राम के मुख से रोषोद्गार प्रकट करवाए हैं—

जेहि सायक मारा मैं बाली
तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली।

परंतु वे फौरन संभल जाते हैं और राम के इस क्रोध को रहस्य के पर्दे में छिपाने का यत्न करते हैं—

जासु कृपा छूटहिं मद-मोहा
ता कहुँ उमा कि सपनेहु कोहा।

जिसकी कृपा से पद और मोह छूट जाते हैं, उसे क्या स्वप्न में भी क्रोध हो सकता है। राम का चरित्र तो मुनि-ज्ञानी ही समझ सकते हैं, यह कहकर तुलसी जनता को समझा देते हैं। मैथिलीशरण लक्ष्मण के उग्र रूप को प्रस्तुत करते हैं। उन्हें तो धनुष-बाण लेकर सुग्रीव की तंद्रा भंग करने को भेजते हैं[1]।

राम का भरत के प्रति मन में संदेह-जाग्रत होने का एक प्रसंग और याद आता है, जिसकी ओर वाल्मीकि ने स्पष्ट अँगुली उठाई है। लंका-विजय से लौटते समय राम सीधे अयोध्या नहीं गए। भारद्वाज ऋषि के आश्रम में ठहर कर उन्होंने हनुमान को भरत की भाव-भंगी का अध्ययन करने के लिए अयोध्या भेजा। उनसे कहा—"भरत की मुद्रा से उनके भाव जानकर शीघ्र लौटना। यदि भरत की इच्छा राज्य करने की होगी, तो मैं दंडकारण्य में लौट जाऊँगा।" राम का संदेह प्रस्तुत है या अप्रस्तुत, इसकी चर्चा हम नहीं करते। हमारे कहने का आशय यही है कि जिस भरत की सार्वजनिक प्रशंसा करते हुए राम की जिह्वा नहीं थकती, उसी पर मन में संदेह का उठना मनुष्य की मानसिक कमजोरी का ही द्योतक है। राम की उच्चाशयता इस बात में है कि वे भरत की इच्छा के विरुद्ध उनसे लड़कर राज्य छीनना नहीं चाहते थे। यदि उन्हें विश्वास हो जाता कि भरत सचमुच राज्य भोगना चाहते हैं, तो वे चुपचाप वन की ओर लौट जाना ही श्रेयस्कर समझते। तुलसी और मैथिलीशरण में राम के मन का यह संदेह-भाव अनुल्लिखित है।

एक स्थल पर वाल्मीकि और मैथिलीशरण प्रायः समान भाव से राम का विनोदी स्वभाव चित्रित करते हैं। पंचवटी में जब शूर्पणखा राम पर मोहित हो, उनसे परिणय-प्रस्ताव करती है, तब राम उसे लक्ष्मण के निकट भेज कर उसका परिचय देते हैं। "अनुजः तु एषः मे भ्रातः शीलवान् प्रियदर्शनः" (यह मेरा छोटा भाई शीलवान और सुंदर है।) यहाँ तक तो ठीक है। आगे कहते हैं—"श्रीमान् अकृतदाराश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्।" लक्ष्मण को 'अकृतदारा' अर्थात् अविवाहित कह कर राम असत्य-भाषण के दोषी नहीं बनते। कवि वाल्मीकि ने स्वयं लिखा है कि राम उस समय विनोद की मुद्रा में थे। तुलसी ने भी 'अनृत-विनोद' कराया है—

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता
अहहि कुमार मोर लघु भ्राता।

मैथिलीशरण ने 'पंचवटी' और 'साकेत' में राम के घरेलू विनोदपूर्ण जीवन का लुभावना चित्रण किया है। राम शूर्पणखा के साथ ही नहीं, सीता और लक्ष्मण के साथ भी व्यंग्य-विनोद करते हैं। तुलसी अपने भगवान को जन-सामान्य भूमि पर उतारने का साहस नहीं करते।

लंका-विजय के पश्चात् सीता के प्रति राम का जो कठोर व्यवहार हुआ है, उसका चित्रण वाल्मीकि ने सविस्तार किया है। राम सीता को अपने निकट बुलाते हैं। वे आज्ञानुसार शृंगार कर डोली में बैठ कर जाती हैं। राम उनके अनिंद्य सौंदर्य को देख कर संदेह करने लगते हैं—इतनी रूपवती स्त्री, चंचल और कामी रावण के यहाँ किस भाँति पवित्र रह सकी होगी? सीता को देखते ही उनकी भौंहों में बल पड़ जाते हैं और वे अत्यंत निर्दय

---

[1] भूल मित्र का दुःख शत्रु-सा सुख भोगे, वह कैसा मित्र?
पहुँचे पुर में प्रकुपित होकर धन्वी लक्ष्मण चारु चरित्र। —'साकेत,' (२८५)

वाणी में कहते हैं, "तुम रावण के अंक में बैठ चुकी हो। मेरा तुम्हारे प्रति कोई राग-भाव नहीं है। तुम स्वेच्छा से कहीं भी जा सकती हो। लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण किसी का भी आश्रय ले सकती हो[1]।" जिस सीता ने स्वप्न में भी पर-पुरुष का चिंतन नहीं किया, उसके पास अग्नि की शरण लेने के सिवाय और क्या चारा था? पर जब देवताओं के समक्ष अग्निदेव ने राम को सीता अर्पित की, तब उन्होंने उसे अंगीकार किया। तुलसी ने भी सीता की अग्नि-परीक्षा करवाई है और राम के मुख से 'दुर्वाद' कहलाए हैं।[2] यह वाल्मीकि का अनुकरण मात्र है। क्योंकि 'रामचरितमानस' में सीता-हरण के पूर्व ही राम ने कहा था—

तुम पावक महँ करहु निवासा
जब तक करौं निसाचर नासा।

जब वास्तविक सीता को राम ने कहीं सुरक्षित रख दिया था, तब तुलसी ने राम के मुख से विरह-विलाप कराकर अभिनय-कार्य ही किया है। तुलसी का विरह-वर्णन पाठकों की कोई सहानुभूति जागृत नहीं करता, क्योंकि वे जानते हैं कि असली सीता का तो हरण ही नहीं हुआ। मैथिलीशरण ने सीता के अग्नि-परीक्षा-प्रसंग का वर्णन ही नहीं किया। क्योंकि इससे राम का चरित्र ऊँचा नहीं उठता।

राम ने अवध लौटने पर जन-प्रवाद से डरकर सीता को लक्ष्मण के द्वारा वन में भेजकर जो उनका प्रत्याख्यान किया, उसका समर्थन शायद तुलसी का मन भी नहीं कर पाया, इसीसे उन्होंने इस प्रसंग को 'मानस' में नहीं आने दिया। पर वाल्मीकि ने इस पर विस्मृति की धूल नहीं डाली। राम इस कृत्य से जनता में भले ही ऊँचे उठ गए हों, परंतु वे मानवता की दृष्टि से जघन्य अपराधी सिद्ध होते हैं। संभवतः राम के जीवन का यह सबसे अधिक गर्हित पृष्ठ है। मैथिलीशरण ने 'साकेत' और 'पंचवटी' में राम के चरित्र की झाँकी मात्र प्रस्तुत की है। 'साकेत' में राज्याभिषेक से लेकर पंचवटी तक की घटनाएँ तो तनिक विस्तार के साथ मिलती हैं, परंतु उसके बाद की घटनाएँ सरसरी तौर पर हनुमान के मुख से कहला दी गई हैं। कवि का लक्ष्य प्रधान रूप से उर्मिला की विरह-दशा का चित्रण था, राम का चरित्र प्रासंगिक रूप से आ गया है, जिसमें मानव के कर्तव्य-धर्म की प्रतिष्ठा पर विशेष आग्रह प्रदर्शित किया गया है। मैथिलीशरण के राम न सर्वथा ईश्वर के अवतार हो पाए हैं, न सर्वथा आदर्श पुरुष ही बन पाए हैं। वे कर्मशील सौजन्यपूर्ण मानव हैं, जिनके गुणों के अंदर ईश्वरत्व आरोपित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मैथिलीशरण का कवि वाल्मीकि के समान राम को सर्वथा मानव-रूप में ही अंकित करना चाहता था, जो 'साकेत' की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

अलक्ष की बात अलक्ष जाने, समक्ष को ही हम क्यों न माने?
रहे वहीं प्लावित प्रीति-धारा, आदर्श ही ईश्वर है हमारा। —द्वादश सर्ग, पृ० ३३५

परंतु रह-रह कर उनका वैष्णवहृदय उनके कवि पर विजयी होना चाहता है। इसी से उनके राम कभी ईश्वर और कभी सामान्य मनुज दिखाई देने लगते हैं। तुलसी के मन में ऐसी द्विधा नहीं रही। वे एक ही (भगवान) भाव से राम को देखते रहे हैं और अपने पाठकों की आँखों में भी उसी भाव को भरने की व्याकुलता दिखलाते हैं। मैथिलीशरण में राम को अंकित करते समय उनके प्रति तुलसी के समान दास्य-भाव के होते हुए भी सर्वथा आत्मसमर्पण नहीं आ पाया। भक्त के नाते उनकी यह पराजय है, पर कवि के नाते विजय है। क्या ही अच्छा होता यदि वे काव्य की भूमिका में पहुँचने पर अपने मन से राम की अवतार-कल्पना को सर्वथा विस्मृत कर देते! तभी उनके राम का यह उद्‌गार सार्थक होता—

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

•••

---

[1] लक्ष्मणे भरते वा त्वं कुरु बुद्धिं यथासुखम् ।।२२।।
सुग्रीवे वानरेन्द्रे वा राक्षसेन्द्रे विभीषणे।
निवेशय मतः सीते यथा वा सुखमात्मनः ।।२३।। —सीता प्रत्यादेशः, सर्ग ११८, युद्धकांड, पृष्ठ नं० १३७८

[2] तेहि कारन करुना निधि कहे कछुक दुर्बाद।
सुनत जातुधानी सब लागीं करै बिषाद।। —रामचरितमानस (लंकाकांड—दोहा १०८)

मैथिलीशरण गुप्त के 'राम'

श्री शिवनाथ

★ ★

जब तुलसीदास कहते हैं, 'हरि अनंत हरि कथा अनंता', तब इसका बोध हमारे हृदय-मन पर धार्मिक और दार्शनिक रूप से होता है। यह भी बहुत संभव है कि इस उक्ति में तुलसीदास की यह जानकारी भी निहित हो कि भारतीय वाङ्मय में रामकथा के विभिन्न रूप हैं और इन विभिन्न रूपों को राम के अनन्य भक्त होने के कारण उन्होंने अर्थवाद के रूप में 'अनंत' कहा हो। वैदिक और लौकिक-साहित्य में, बौद्ध और जैन-साहित्य में राम की कथाओं और उनके धार्मिक-दार्शनिक स्वरूपों से तुलसीदास निश्चय ही भलीभाँति अवगत रहे होंगे, क्योंकि उनकी विद्या-बुद्धि निश्चय ही बहुत बड़ी थी। भारत के अतिरिक्त दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में रामकथा के विभिन्न रूपों और स्वरूपों की जानकारी भी आज हमें भलीभाँति है। रामकथा के इन रूपों-स्वरूपों की जानकारी क्या तुलसीदास को थी? इस प्रश्न को मैं यहाँ 'प्रश्न' ही रहने दे रहा हूँ। मैं यही निवेदन करना चाहता हूँ कि भारत के व्यापक और विस्तृत वाङ्मय में, बौद्ध और जैनवाङ्मय भी जिसके अंतर्गत हैं, रामकथा और राम का चरित अनेक रूपों-स्वरूपों में अंकित है। इन रूपों-स्वरूपों से अनेक धार्मिक-दार्शनिक-साहित्यिक वा आलंकारिक धारणाएँ संबद्ध हैं। यही रामकथा और रामचरित की अनंतता-विभिन्नता है।

जिन भारतीयों की धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टि राम को किसी न किसी रूप से—विवेचना-शैली के विविध माध्यमों से—परात्पर ब्रह्म के रूप में देखती है, वे राम के भारत को मानवीय आँखों से देख तर्कपूर्वक गुण-दोष की विवेचना नहीं करना चाहेंगे। एक बार एक संस्कृत-साहित्य के विद्वान् और भारतीय दर्शन के पारंगत पंडित ने मुझ से कहा था कि देव-चरितों की विवेचना व्यर्थ है, वे जिस रूप में प्रचलित हैं, उसी रूप में उन्हें देखना-ग्रहण करना साधु है, उनके सम्बन्ध में ननु-नच करना असाधुता है।

परंतु भारतीय कवियों तथा आलंकारिकों ने उक्त प्रकार की विवेचना की है। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति ने राम को उत्तम मानव, मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में ही हमारे सामने चित्रित किया है। 'रामायण', 'रघुवंश', 'उत्तररामचरित' में राम हमारे समान ही कई दृष्टियों से हम से ऊँचे मानव ही हैं। उक्त ग्रंथों में वे मानव के गुण-दोषों से युक्त हैं। यद्यपि इन ग्रंथों में कहीं-कहीं यह आभास भी प्राप्त है कि राम भगवान हैं, परात्पर ब्रह्म हैं। यहीं तुलसीदास के राम भी हमारे सामने आते हैं, जो दशरथ-पुत्र मानव भी हैं और परात्पर ब्रह्म भी हैं। मगर, तुलसीदास ने राम को सभी प्रसंगों में मानवीय लीला करते हुए भी भगवान के रूप में ही रखा है—विशेषरूप से 'रामचरितमानस' में। तुलसीदास के राम गुण-दोष जो भी करते हैं, वह भगवान के रूप में ही। वे 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्' विशिष्ट हैं। 'रामचरितमानस' में जहाँ राम नर-लीला भी कर चुकते हैं, वहाँ तुरत ही तुलसीदास यह स्मरण दिलाते हैं कि राम भगवान हैं, मानव नहीं। एक दूसरा कार्य भी तुलसीदास ने किया। वह यह कि राम के संपर्क में आने वाले समग्रतः सभी को राम का (भगवान का) भक्त बना दिया।

ऊपर मैंने 'रामायण', 'रघुवंश', उत्तररामचरित' में अंकित राम के स्वरूप की चर्चा की है। राम के भगवान रूप का उल्लेख भी मैंने ऊपर किया है। ऐसा जान पड़ता है कि संस्कृत-साहित्य के आलंकारिकों ने उक्त ग्रंथों में राम के स्वरूप के आधार पर भी प्रसंग से राम के चरित के सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रकट किया है। विश्वनाथ महापात्र ने 'साहित्य-दर्पण' में नायक की विवेचना करते हुए राम के सम्बन्ध में भी लिखा है—

> **प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।**
> **दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः॥(६-९)**

इस प्रसंग में वृत्ति यों है—

राजर्षयोः दुष्यंतादयः। दिव्याः श्रीकृष्णादयः। दिव्यादिव्यः, यो दिव्योऽप्यात्मनि नराभिमानी। यथा—श्रीरामचन्द्रः।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीकृष्णचंद्र 'दिव्य' नायक हैं और रामचंद्र 'दिव्यादिव्य'; क्योंकि 'दिव्य होते हुए भी—भगवान होते हुए भी—वे अपने में नराभिमानी थे, उनमें नर-तत्त्व का अभिमान-बोध था।' हम देखते हैं कि 'रामायण', 'रघुवंश', 'उत्तररामचरित' के राम विशिष्ट नर ही हैं, यद्यपि भगवान तत्त्व भी उनमें है।

विश्वनाथ ने कृष्ण को 'दिव्य' कहा है और राम को 'दिव्यादिव्य'। कृष्ण की समस्त लीलाओं की मार्मिक विवेचना से ज्ञात होता है कि कृष्ण बाल्यावस्था से ही लीलाएँ करते हुए सब समय और सभी स्थानों पर अपने में भगवान का बोध धारण किए हुए हैं। उनकी लीलाओं का अनुकरण करना संभव नहीं, क्योंकि वे सब भगवान की लीलाएँ हैं। राम के जो कार्य हैं, वे सभी उन की अपार शक्ति-सामर्थ्य के द्योतक हैं। उनके मर्यादापूर्ण कार्यों का अनुकरण लोग कर सकते हैं। इसीलिए संभवतः कृष्ण को 'दिव्य' और राम को 'दिव्यादिव्य' कहा गया। तुलसीदास ने राम को 'दिव्य' रूप में अंकित किया है। इस सम्बन्ध में हमने ऊपर संक्षिप्त विवेचना की है। इस प्रकार तुलसीदास के राम आलंकारिकों के कृष्ण की भाँति ही 'दिव्य' हैं।

मैथिलीशरण गुप्त के राम भी 'दिव्योऽप्यात्मनि नराभिमानी' हैं। इस प्रकार उनके राम भी मूलतः वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति के ही राम हैं। उनके राम का स्वरूप समग्रतः भगवान का नहीं है, जैसा कि तुलसीदास के राम का है। हमने कहा है कि मैथिलीशरण गुप्त के राम 'दिव्य' भी हैं, अतः भगवान-बोधक 'प्रभु' जैसे शब्दों का प्रयोग उन्होंने अनेक स्थलों पर किया है। परंतु वे तुलसीदास की भाँति बार-बार पाठक अथवा श्रोता को यह स्मरण नहीं दिलाते कि राम नर नहीं, भगवान ही हैं। अन्य कवियों के राम से तुलना की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त के राम का मूलतः यही स्वरूप है।

यहाँ इसका भी स्मरण रखना आवश्यक है कि तुलसीदास द्वारा राम को बार-बार भगवान कहे जाने के तथ्य से मैथिलीशरण गुप्त परिचित हैं। और इस सम्बन्ध में उनकी (तुलसीदास की) टीका-टिप्पणी से भी अनभिज्ञ नहीं हैं। साथ ही उन्होंने संस्कृत के कवियों के राम के स्वरूप-चित्रण की शैली को भी देखा है। एक बात और है, वे कवि होते हुए भी पूरे तौर से राम-भक्त हैं। ऐसी स्थिति में राम की आध्यात्मिक अथवा अलौकिक सत्ता से परिचित होते हुए भी उन्होंने अपने कवि-रूप को नहीं छोड़ा है। यही कारण है कि राम के स्वरूप-चित्रण में वे अनेक स्थानों पर श्लेष का उपयोग करते हैं। इससे राम के भक्त उन्हें अलौकिक रूप में ग्रहण करते हैं और साहित्यिक सरल और सामान्य रूप में। यथा—

हमको लेकर ही अखिल सृष्टि की क्रीड़ा,
आनंदमयी नित नई प्रसव की पीड़ा।[1]

ऐसा राम सीता से कहते हैं। यहाँ 'हमको' का तात्पर्य 'भगवान राम' भी हो सकता है और 'लौकिकजन' भी हो सकते हैं। ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ दो रुखा अर्थ लगाया जा सकता है। किंतु कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ स्पष्ट रूप से राम के अलौकिक अथवा भगवान रूप का चित्रण है। ऐसे स्थल 'प्रदक्षिणा' में भी हैं, और 'साकेत' में तो अनेक हैं। जैसे—

धर्म-हेतु अवतीर्ण हुए प्रभु,
मुनियों ने यह जाना था।
नर-रूपी निज परमेश्वर को,
पहले ही पहचाना था।[2]

✓ मैथिलीशरण गुप्त ने राम के भगवान रूप के चित्र चार रूपों में रखे हैं १—अन्य व्यक्तियों का राम को भगवान रूप में देखना, २—राम को स्वयं अपने में भगवान का बोध होना, ३—पौराणिक शैली में उल्लेख

[1] 'साकेत', प्रथम संस्करण, पृ० २१४

[2] 'प्रदक्षिणा', प्रथम संस्करण, पृ० ६

द्वारा राम के भगवान रूप की अभिव्यक्ति, ४—कवि द्वारा राम के भगवान-रूप का वर्णन। वसिष्ठ, गुह तथा लक्ष्मण ने और अन्यों ने भी राम को भगवान रूप में देखा है। वसिष्ठ उनसे भूमि का भार हरने के लिए कहते हैं।

हरो भूमि का भार भाग्य से लभ्य तुम।[1]

लक्ष्मण कहते हैं कि मैं तो राम-चरण में आत्मसमर्पण कर कभी का भवसागर पार कर चुका—

मैं तो निज भव-सिंधु कभी का तर चुका,
राम-चरण में आत्मसमर्पण कर चुका।[2]

यहाँ भगवान के प्रति आत्मनिवेदन, जो नवधा-भक्ति की परम कोटि है, मुक्ति है, इस तथ्य को ही भक्त ग्रहण करेगा। गुह राम की चरणधूलि माँगता है, जिसके स्पर्श से जड़ अहल्या चेतन-मूर्ति हो गई।[3] कवि वर्णन करता है कि प्रभु-पद धो और चरणामृत पान कर भक्त मुक्त-अमर-सा हो गया—

प्रभु-पद धोकर भक्त आप भी धो गया,
कर चरणामृत पान अमर-सा हो गया।[4]

नीचे की पंक्तियों से ज्ञात होता है कि मैथिलीशरण स्वयं प्रभु-पद-धूलि के प्रति आस्था रखते हैं—

धोली गुह ने धूलि अहल्या-तारिणी,
कवि की मानस-कोष-विभूति-विहारिणी।[4]

अहल्या के इस प्रसंग को हम पौराणिक शैली द्वारा राम के भगवान रूप के चित्रण के अंतर्गत भी रख सकते हैं। एक स्थान पर यह पौराणिक शैली स्पष्टतः सामने आती है। सुमंत के अयोध्या लौट आने का प्रसंग है। लोक-जन राम के न लौट आने के सम्बन्ध में सुमंत से जिज्ञासा करते हैं। कवि वर्णन करता है—

रथ देख सभी ने शीश धुना,
ऊपर अमरों ने स्पष्ट सुना,—
'क्या फिरे हमारे आर्य नहीं?'
सुन बोले—'था सुर-कार्य वहीं'

*　　*　　*

देवों के वाक्य सुधा-सींचे,
सुन पड़े न उसी समय नीचे
वे कोलाहल में लीन हुए,
पुरवासी दुख से दीन हुए।[5]

इससे स्पष्ट है कि कवि राम को अवतारी रूप में वर्णन करना चाहता है। राम पृथ्वी का भार उतारने, सुर-कार्य करने आदि के लिए पृथ्वी-तल पर अवतरित हुए हैं।

वनवास-काल में प्रसंग से सीता ने राम से पूछा कि आप यहाँ वन में क्यों आए हैं? इस पर राम ने अपने वन जाने के कारणों का बहुत व्यापक रूप से वर्णन किया है। अनेक कारण तो ऐसे हैं, जो भक्त के लिए लौकिक और पारलौकिक दोनों रूप व्यक्त करते हैं। सामान्य जन के लिए वे लौकिक ही हो सकते हैं। परंतु ऐसे कारण भी वर्णित हैं, जिनका पारमार्थिक अर्थ ही लिया जा सकता है। राम लौकिक कारणों का वर्णन करते-करते जैसे भावावेश में पारलौकिक कारणों का वर्णन करने लगते हैं, जैसे उन्हें अपने में भगवान का बोध आता है—

---

[1] 'साकेत', पृ० १०९
[2] वही, पृ० १२५
[3] 'साकेत', पृ० १२६
[4] वही पृ० १२७
[5] वही, पृ० १५५-५६

मैं मनुष्यत्व का नाटय खेलने आया।[1]

* * *

हंसों को मुक्ता-मुक्ति चुगाने आया।[2]

* * *

नर में ईश्वरता प्राप्त कराने आया।[2]

* * *

अथवा आकर्षण पुण्य भूमि का ऐसा
अवतरित हुआ मैं, आप पुण्य फल जैसा
जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे
वे भी भव-सागर बिना प्रयास तरेंगे
पर जो मेरा गुण कर्म, स्वभाव धरेंगे
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे।[2]

अनेक भक्तों ने कहा है कि राम का नाम भी भव-तारक है। तुलसीदास ने कहा कि "राम तें अधिक राम कर दासा"। दास भी भव-सागर से पार उतारते हैं। इन भावों की अभिव्यंजना भी उक्त पंक्तियों में है।

'साकेत' के आरंभ में ही मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है, "आज भू-तल का भाग्य स्वर्ग से भी बढ़ गया है, उसका भाग्य-भास्कर उदयगिरि पर चढ़ गया है", क्योंकि—

हो गया निर्गुण सगुण-साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।[3]

* * *

भूमि पर प्रकटा अनादि अनंत है।[3]

प्रभु ने यह खेल किसलिए किया है? मनुज होकर उन्होंने मानवी का पय क्यों पिया है? कवि कहते हैं—

भक्त वत्सलता इसी का नाम है,
और वह लोकेश लीला-धाम है।[3]

यह सब उसने किया है—

पथ दिखाने के लिए संसार को,
दूर करने के लिए भू-भार को।[3]

इस प्रसंग में ऐसे ही और वर्णन भी किए गए हैं।

मैथिलीशरण गुप्त द्वारा राम के इस प्रकार के वर्णनों को देखकर संदेह नहीं रह जाता कि उनके लिए राम उत्तम मानव ही नहीं, भगवान भी हैं। वे कवि होते हुए भी भक्त हैं, अतः उनके द्वारा राम के इस स्वरूप की स्थापना स्वाभाविक ही है।

विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न व्यक्तियों ने राम को विभिन्न सद्गुणों से युक्त कहा है। मैथिलीशरण गुप्त जी भी उन्हें इसी प्रकार अनेक गुण-संपन्न कहते हैं। वन-गमन के प्रसंग में दशरथ अपना दुख प्रकट करते हुए राम को 'गुणाकर'[4] कहते हैं। मंथरा का विष जब कैकेयी पर चढ़ा नहीं था, तब कैकेयी भी उन्हें 'कुलधन्य', 'प्राण-स्फूर्ति', और 'राम में गुण भी हैं सब श्रेष्ठ'[5] कहती है। कवि ने उन्हें 'महाव्रतनिष्ठ',[6] मारुति ने

---

[1] 'साकेत', पृ० २१५
[2] वही पृ० २१६
[3] वही पृ० ७
[4] 'साकेत', पृ० ५३
[5] वही, पृ० ३३-४
[6] वही, पृ० १०८

'सत्यविग्रह'[1] कहा है। राम कर्तव्य जानकर अलौकिक कर्म भी करने वाले हैं।[2] सुमित्रा उन्हें 'हिमालय से भी ऊँचा हृदयवाला'[3] कहती हैं। सुमंत राम के सम्बन्ध में स्वयं उन्हीं से कहते हैं—

उर से किंतु अलौकिक हो,
निज पतंग-कुल के पिक हो,
अंतःकरण अपार्थिव है,
उदित वहां दिव ही दिव है।[4]

कवि कहता है कि राम 'सत्य-धर्म का श्रेष्ठ भाव भरने वाले'[5] हैं। इसीलिए वे—

पूज्य पिता के सहज सत्य पर वार सुधाम, धरा, धन को।[6]

वन चले जाते हैं। राम इसीलिए यह सब करते हैं कि वे पिता को परमाराध्य मानते हैं, उनके कहने पर आग में भी पड़ सकते हैं—

पड़ूं मैं आग में भी जो कहो तुम !
तुम्हीं हो तात ! परमाराध्य मेरे,
हुए सब धर्म अब सुख-साध्य मेरे ![7]

अपने प्रति राम की इसी श्रद्धा-भक्ति के कारण दशरथ कहते हैं—

भरत था आप ही राज्याधिकारी,
हुआ पर राज्य से भी राम भारी।[8]

राम की अर्द्धांगिनी सीता भी राम के इस 'सत्य' से अपरिचित नहीं हैं। वे उन्हीं से कहती हैं—

हँसने में भी तो झूठ नहीं बोले हो।[9]

'साकेत' के अंतिम अंश में मैथिलीशरण गुप्त राम के चरित्र का मूल तत्व यों कहते हैं—

अपनों के ही नहीं, परों के प्रति भी धार्मिक,
कृती, प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग-मर्यादा-मार्मिक,
राजा होकर गृही, गृही होकर संन्यासी।[10]

इस प्रकार हम देखते है कि दशरथ के शब्दों में 'गुणाकर' है।

ऊपर हमने देखा है कि राम को 'लीला-धाम' कहा गया है। यह 'लीला-धाम' उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, जिस अर्थ में कृष्ण को 'लीलापुरुषोत्तम' कहा जाता है। यह 'मानव-लीला करने वाले मर्यादापुरुषोत्तम' के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त के राम मर्यादापुरुषोत्तम ही है। एक स्थान पर राम कहते हैं—

जितने प्रवाह हैं, बहें—अवश्य बहें वे,
निज मर्यादा में किंतु सदैव रहें वे।[11]

कहने का तात्पर्य यह कि राम की लीलाएँ मात्र नर-लीलाएँ हैं, जो अपने सभी क्षेत्रों में मर्यादा को छूती हुई चलती हैं। कृष्ण की लीलाओं की भाँति उनकी लीलाएँ ऐसी नहीं हैं, जिनके लिए गृह-मर्यादा और लोकमर्यादा का त्याग करना पड़े। राम के कार्य पारिवारिक और लौकिक अथवा सामाजिक क्षेत्रों में मर्यादा को लेकर चलते हुए दिखाई पड़ते हैं। स्मरण यह भी रखना है कि दोनों क्षेत्र निरपेक्ष रूप से अपनी अलग-अलग सत्ता नहीं

---

[1] 'साकेत', पृ० ३९६
[2] वही, पृ० ५२
[3] वही, पृ० ९२
[4] वही, पृ० ९६
[5] वही, पृ० १११
[6] 'पंचवटी', तृतीयावृत्ति, पृ० ५
[7] 'साकेत', पृ० ५८
[8] वही पृ० ६६
[9] वही पृ० २११
[10] वही पृ० ४३८
[11] वही पृ० २१३

रखते हैं, वरन् ये दोनों सापेक्षिक अथवा एक दूसरे के पूरक हैं। किसी को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। राम के कार्यों के सम्बन्ध में इसका बराबर ध्यान रखना आवश्यक है। इस प्रकार हम राम की लीलाओं को पारिवारिक तथा लौकिक दो क्षेत्रों में बाँट कर देखते और चलते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त के राम की पारिवारिक लीलाओं के सम्बन्ध में चर्चा करते समय हमें इस पर ध्यान रखकर चलना जरूरी है कि मैथिलीशरण गुप्त को पारिवारिक वातावरण के प्रति बड़ा आकर्षण है। वे परिवार का प्रसंग उपस्थित होने पर इस क्षेत्र के सुख-दुख दोनों स्थितियों में आदर्श सौहार्द्य के चित्र दिए बिना नहीं रहते। पारिवारिक संस्कृति के प्रति उनका मोह सभी रचनाओं में दिखाई पड़ता है। परिवारी अपने परिवार में अथवा जब वह दूसरे परिवार से मिलता है, तब भी उक्त संस्कृति को मानकर चलता है। इस प्रकार अपने परिवार तथा जब एक परिवार दूसरे परिवार में जाता है, तब भी एक सौहाद्र्यपूर्ण अपनत्व का वातावरण उपस्थित हो जाता है। इस सौहाद्र्यपूर्ण अपनत्व के कारण ही राम गुह की पत्नी को 'भाभी' कहते हैं—

वन का व्रत हम आज तोड़ सकते कहीं,
तो भाभी की भेंट छोड़ सकते नहीं।[1]

मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी' पारिवारिक वातावरण से परिपूर्ण खूब गँठी हुई रचना है। रचना के आरंभ में ही सीता लक्ष्मण से कहती हैं कि ये तो पिता की आज्ञा मानकर सब छोड़ चले आए।

पर देवर, तुम त्यागी बन कर क्यों घर से मुंह मोड़ चले।[2]

इस पर लक्ष्मण कहते हैं कि 'आर्ये, बरबस बना न दो मुझको त्यागी',[3] 'आर्य की चरण-सेवा में मुझे भी अपना भागी समझो।' राम ने कहा, 'क्या कर्तव्य यही है भाई?' यह सुन लक्ष्मण ने सिर झुका लिया और कहा—'आर्य, आपके प्रति इस जन ने कब-कब क्या कर्तव्य किया।'[3] इस पर—

'प्यार किया है तुमने केवल!'
सीता यह कह मुसकाई,
किंतु राम की उज्ज्वल आँखें,
सफल सीप-सी भर आई।[3]

यहाँ राम की आँखों के भर आने के कारण अपने राम के प्रति लक्ष्मण का श्रद्धावश सब कुछ, और विशेष रूप से उर्मिला को भी, छोड़ कर उनके साथ वन आना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त की दृष्टि उर्मिला पर केवल 'साकेत' में ही नहीं है, वरन् पूर्व की रचनाओं में भी बीज रूप से थी। 'पंचवटी' के अंत में भी सौहाद्र्यपूर्ण पारिवारिक वातावरण मिलता है। देखिए—

'तनिक देर ठहरो, मैं देखूं
तुम देवर - भाभी की ओर,
शीतल करूँ हृदय यह अपना
पाकर दुर्लभ हर्ष - हिलोर
यह कह कर प्रभु ने, दोनों पर,
पुलकित होकर, सुध-बुध भूल,
उन दोनों के ही पौधों के
बरसाए नव विकसित फूल।[4]

इसी पारिवारिक वातारण के कारण राम वन में भी प्रसन्न रहते हैं। लक्ष्मण कहते हैं कि घर वाले—

विस्मित होंगे देख आर्य को
वे घर की ही भाँति प्रसन्न,

---

[1] 'साकेत' पृ० १२२
[2] 'पंचवटी', पृ० २
[3] 'पंचवटी' पृ० २
[4] वही, पृ० ७०

मानों वन-विहार में रत हैं,
ये वैसे ही श्रीसंपन्न।[1]

कैकेयी के मानसिक संतुलन के त्याग पर दशरथ के परिवार में जो विभ्राट् उपस्थित हुआ है, उसको संभालने में राम अपने मन के समुचित संतुलन के कारण ही समर्थ हुए हैं। अपने प्रति हुए अन्याय का रंचमात्र भी ध्यान न रख माता कैकेयी तथा पिता दशरथ की वचन-रक्षा के लिए ही उन्होंने अमानवीय दुखों-विपत्तियों को भी सहन किया है। उदार संबुद्धि से संपन्न होने के कारण उनका मन किसी के प्रति दुर्भावनाओं से मुक्त नहीं होता है, वे सभी की विकट परिस्थितियों के प्रति संवेदनशील होकर सारा विष स्वयं ही पी जाते हैं। जब वे राज्य पाने की चर्चा सुनते हैं, तब उसे स्वयं ही नहीं भोगना चाहते। उसे वे अन्य तीन भाइयों का भी भोग्य मानते हैं, अपने को वे केवल इसके दायित्व के हेतु ही मानते हैं। सीता से कहते हैं—

रहेगा साधु भरत का मंत्र,
मनस्वी लक्ष्मण का बल-तंत्र
तुम्हारे लघु देवर का धाम,
मात्र दायित्व हेतु है राम।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त के राम राज्यभोग में भी त्याग की भावना से प्रेरित हैं और उसके संपूर्णतः त्याग में तो रंचमात्र इतस्ततः करते ही नहीं हैं। राज्य के प्रति राम की इन दोनों प्रकार की उदासीनताओं से भरत परिचित हैं, जिसके कारण वे अपना पितृ-शोक भी भूलते-से दिखाई पड़ते हैं—

आर्य का औदास्य यह अवलोक,
सहम-सा मेरा गया पितृ-शोक![3]

राम का यह त्याग, उनकी यह उदासीनता इसी कारण है कि वे राज्य को प्रजा की थाती मात्र मानते हैं।[4] वह अपना नहीं है। और, इसी कारण वे वनवास की प्राप्ति पर अपने को कृतार्थ मानते हैं, उनके लिए यह जीवन का परमार्थ तथा उसे पावन कारक है, यह उनके लिए व्रतोद्यापन की भाँति है—

मां! मैं आज कृतार्थ हुआ,
स्वार्थ स्वयं परमार्थ हुआ।
पावनकारक जीवन का,
मुझको वास मिला वन का।[5]

* * *

सौ विघ्नों के बीच व्रतोद्यापन करूं,
गंगा-सम कुछ नव्य-निधि स्थापन करूं।[6]

उनको वनवास होने पर लक्ष्मण जैसे खरे और स्पष्टवक्ता भरत तथा कैकेयी की निंदा में लगते हैं, परंतुभरत की निंदा के शब्द राम के लिए विष-बाण के समान हैं और कैकेयी की निंदा भी वैसी ही, क्योंकि उनके लिए 'मँझली मां भी माता हैं।'[7] भरत में और अपने में वे भेद नहीं मानते। कहते हैं कि भरत यहाँ 'निज कर्म-पालन' करें और मैं 'विपिन में निज धर्म-पालन' करूँगा। इन दोनों प्रकारों से 'लोकरंजन सिद्ध' होगा—

उभय विध सिद्ध होगा लोक-रंजन,
यहाँ जन-भय वहाँ मुनि-विघ्न-भंजन।[8]

---

[1] 'पंचवटी' पृ० २०
[2] वही, पृ० ४०
[3] वही, पृ० १७७
[4] वही, पृ० ४०
[5] 'पंचवटी' पृ० ७९
[6] वही, पृ० ११५
[7] वही, पृ० ९५
[8] वही, पृ० ५७

'लोकरंजन' राम के चरित की बहुत बड़ी सत्ता है। इस 'लोकरंजन' के लिए ही उन्होंने सीता का त्याग किया है। भवभूति ने अपने 'उत्तररामचरित' में जिसे बहुत अधिक मार्मिक रूप से चित्रित किया है। मैथिलीशरण गुप्त के राम नगर-जनपद की रक्षा को ही राजा के कर्तव्य के अंतर्गत नहीं रखते, वरन् वनवासी ऋषि-मुनियों की रक्षा भी उसका कर्तव्य मानते हैं, जिससे उनकी तपश्चर्या, उनका यज्ञयाग निर्विघ्न चलता रहे, जो रक्षा भारतीय सम्राटों का आदर्श मानी गई है। इस प्रकार द्विविध रूप से मैथिलीशरण गुप्त के राम 'धरा का धर्म-भय'[1] दूर करना चाहते हैं। राम राज्य को तृण-सम त्याज्य मानते हैं, राज्य को वे अपना भाग्य नहीं मानते, 'यों तो सब सपना ही' समझते हैं। ऐसी स्थिति में मँझली मां पर कोप पुत्र-धर्म का लोप मानते हैं—

मँझली मां पर कोप करूँ ?
पुत्रधर्म का लोप करूँ ?[2]

ऊपर हमने राम के पारिवारिक जीवन अथवा चरित की झाँकी ली है। मीमांसा करने से विदित होता है कि राम का जैसे अपना कुछ है ही नहीं, उनका अपना जीवन भी जैसे अपने लिए नहीं है, वे अपने लिए कुछ सोचते ही नहीं हैं। पारिवारिक जीवन में सब समय तथा सर्वत्र उन्होंने दूसरों की सुख-सुविधा का ही खयाल रखा है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि पारिवारिक जीवन में भी उन्होंने अपने पर नहीं, अन्यों पर, व्यष्टि पर नहीं समष्टि पर दृष्टि रखी है। सत्य यह है कि उदार चरितों की दृष्टि अपने पर रहती ही नहीं, वे अपने लिए जन्म ही नहीं ग्रहण करते, उनका अपना सब कुछ दूसरों के लिए, लोक के लिए ही होता है। राम के पारिवारिक जीवन के भीतर से भी सब समय तथा सभी अवसरों पर उनका लौकिक जीवन ही झलकता रहता है। राम कहते भी हैं—

हम हों समष्टि के हेतु व्यष्टि बलिदानी।[3]

ऊपर हमने वनवास के प्रसंग में राम के लोकरंजन की बात देखी है। वे राज्य के रक्षक के रूप में ही राजा थे। उनके राज्य का भोग तो प्रजा ने ही किया। उनकी प्रवृत्ति धन-धान्य, ऐश्वर्य की ओर न होकर सब समय लोक-जन की ओर ही रही—

रक्षक मात्र रहे वे राजा,
राज्य प्रजा ने ही भोगा।[4]

* * *

प्रस्थान,—वन की ओर,
या लोकजन की ओर ?
होकर न धन की ओर,
हैं राम जन की ओर।[5]

मैथिलीशरण गुप्त के राम में आर्यत्व-बोध, आर्य-सभ्यता के विस्तार के प्रयत्न का बोध यथाप्रसंग सर्वत्र देखा जाता है। कहा जाता है कि दक्षिण भारत में राम ने आर्य-सभ्यता को ले जाकर प्रतिष्ठित किया था। इस जन-श्रुति पर मैथिलीशरण गुप्त बराबर दृष्टि रखते हैं। इस सत्कार्य के करने में सफल होने के लिए दस्युनाश पर राम की दृष्टि है। राक्षसों के नाश से यह कार्य सिद्ध भी हुआ—

जय जयकार किया मुनियों ने, दस्युराज यों ध्वस्त हुआ,
आर्य-सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य-धर्म आश्वस्त हुआ।[6]

---

[1] 'पंचवटी', पृ० ५७
[2] वही, पृ० ८७, देखिए, पृ० ८५-८७
[3] 'पंचवटी' पृ० २१४
[4] 'प्रदक्षिणा', पृ० ७४
[5] 'साकेत', पृ० १०६
[6] वही, पृ० ३७९

आर्य-सभ्यता की यह प्रतिष्ठा और आर्य-धर्म की आश्वस्ति भारतीयता की स्थापना, उसका प्रचार-प्रसार है। 'गो-द्विजदेव-धर्म-कर्मों' के लिए कंटक-स्वरूप रावण को मार कर भव-भय दूर करने के लिए ही कैकेयी ने कहीं राम को वन न भेजा हो, ऐसा कवि कहते हैं—

जो निज गो-द्विज-देव-धर्म-कर्मों का कंटक।
उसी क्रूर को काढ़, दूर करने भव-भय को,
वन भेजा हो कहीं न मां ने ज्येष्ठ तनय को ?[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त के राम आर्य अथवा भारतीय मर्यादा की सर्वांगीण रक्षा करते हुए देखे जाते हैं। इस दृष्टि से वे तुलसीदास के राम के अतिनिकट अथवा, समझना चाहिए, उन्हीं के राम हैं।

हमने देखा है कि मैथिलीशरण गुप्त के राम यत्र-तत्र सामान्य भेद के साथ मूलतः भारतीय वाङ्मय में चित्रित राम ही हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम, आर्य-सभ्यता के प्रतिष्ठापक, प्रसारक और दस्यु-दलन राम हैं, जैसा कि भारतीय वाङ्मय में आधुनिकता (माडर्निज्म) का संनिवेश भी किया है। त्रेता के युग-पुरुष राम में आधुनिक युग-पुरुष महात्मा गांधी की छाया भी दो-एक जगहों पर पड़ती हुई दिखाई पड़ती है। कवि ने जहाँ अयोध्या के माध्यम से राम द्वारा जन्मभूमि की स्तुति कराई है, वहाँ स्पष्ट लक्षित होता है कि कवि हमें भारत माता की स्तुति स्मरण करा रहा है। ऐसा करते हुए वह जन्मभूमि की प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक विशेषताओं की ओर हमारी दृष्टि ले जाना चाहता है। उसके गौरव का स्मरण वह हमें कराता है।[2] मैथिलीशरण गुप्त के राम आत्मरक्षा के पहले स्वदेश-रक्षा कर्तव्य मानते हैं—

मुझे आत्म-रक्षा के पहले है स्वदेश-रक्षा कर्तव्य।[3]

इस प्रसंग को पढ़-सुनकर हमारे युग-पुरुष महात्मा गांधी का रूप आ जाता है, जो आधुनिक काल में हमारी राष्ट्रीयता के उन्नायक हैं।

राम-रावण का युद्ध हिंसा द्वारा जीता गया, यह रामकथा का सत्य है। गांधी का राष्ट्रीय युद्ध अहिंसा का युद्ध है, मूलतः जिसके द्वारा ही हम स्वतंत्र हुए हैं। किंतु गांधी का यह सिद्धांत कि हमें शत्रु के व्यक्तित्व से बैर नहीं है और उसकी विपत्ति में हम उसके मित्र हो उसके प्रति संवेदना रखें, यह मैथिलीशरण गुप्त के राम मे हम स्पष्ट रूप से पाते हैं। मेघनाद मारा गया, तब कुंभकर्ण आया ; राम ने उसे भी मार डाला। राम के सामने रावण है, भाई की मृत्यु पर राम रावण से यों कहते हैं—

छोड़ धनुः शर बोले प्रभु भी कर युग कर रावण की ओर
'आ भाई, वह बैर भूल कर, हम दोनों समदुःखी मित्र,
आजा, क्षण भर भेंट परस्पर, करलें अपने नेत्र पवित्र !
हाय ! किंतु इसके पहले ही मूर्छित हुआ निशाचर-राज
प्रभु भी यह कह गिरे-'राम से रावण ही सहृदय है आज ![4]

शत्रु के प्रति इस प्रकार का राम का व्यवहार हमें महात्मा गांधी की याद दिलाता है। राम उसे 'मित्र' कहते हैं और उसकी व्यथा से स्वयं भी मूर्च्छित होते हैं। यह 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' राम का चरित है। मैथिलीशरण गुप्त के राम भी ऐसे ही हैं। शूर्पणखा राम से कहती है—

तो अब सुनो, बड़े होने से
तुम में बड़ी बड़ाई है,
दृढ़ता भी है, मृदुता भी है,
इनमें एक कड़ाई है।[5]

---

[1] 'साकेत', पृ० ४१७
[2] वही, पृ० ११६-१८
[3] 'प्रदक्षिणा', पृ० ११
[4] 'साकेत', पृ० ३९५
[5] 'पंचवटी', पृ० ५३

उपर्युक्त विवेचनाके आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने राम में महात्मा गांधी के तत्व भी रखे हैं। इससे उन के राम में भारतीय वाङ्मय में वर्णित राम से कुछ भिन्नता भी आई है। यहीं यह भी कहूँ कि मैथिलीशरण गुप्त के राम मनुष्य की बाह्यता को भूल कर उसके भीतर बैठी जो मानवता है, जो निरुपधि होकर दुख में दुखी और सुख में सुखी होती है, उसके उपासक हैं। इसी कारण वे लक्ष्मण से कहते हैं कि समस्त संसार में अपने राज्य का विस्तार जानो; राज्य का यह विस्तार मानवता के राज्य का विस्तार है, जिस पर राम बल देना चाहते हैं, इसमें संदेह नहीं—

मन: शासक बनो तुम, हठ न ठानो,
अखिल संसार अपना राज्य जानो।[1]

ऐसी स्थिति में अपने-पराए का भेद नहीं रह जाता। सब अपना ही दिखाई पड़ता है। ऐसे ही उदारचेता राम जन-भार-वहन को गौरव और आगे बढ़कर दुख सहन को सुख मानते हैं—

गौरव क्या है, जन-भार-वहन करना ही,
सुख क्या है, बढ़ कर दुख सहन करना ही।[2]

इस विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि मैथिलीशरण गुप्त के राम में भारतीय प्राचीनतत्व भी हैं और नूतन तत्व भी। कवि ने एक स्थान पर ('साकेत', पृ० २१५-१७) स्वयं राम द्वारा अपने चरित के मूल तत्वों को कहलाया है, वहाँ हम उक्त समन्वयपूर्ण रूप राम में देखते हैं। हम मैथिलीशरण गुप्त के राम के किन्हीं नूतन तत्वों का उल्लेख करते हैं। राम कहते हैं—

निज रक्षा का अधिकार रहे जन-जन को,
सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को।

* * *

सुख-शांति-हेतु मैं क्रांति मचाने आया।

* * *

मैं आया उन के हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन शापित हैं।

* * *

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।[3]

राम की इस वाणी को सुनकर महात्मा गांधी के विराट् चरित का स्मरण हो जाता है।

हमने मैथिलीशरण गुप्त के राम के विभिन्न रूपों के दर्शन किए हैं। राम के चरित का रूप भारतीयों के मन में रम रहा है। राम हमारे इतने अपने हैं कि उनके चरित के सम्बन्ध में हमारी धारणाएँ हमारे मन से बँधी हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने ऐसे राम में अपनी चिंतना तथा कवित्व के द्वारा आधुनिकता की रेखाएँ भी भरी हैं। इससे राम हमारे लिए प्राचीन होकर भी नूतन हैं। हम त्रेता को ही नहीं, अपने युग को भी उनके रूप में देखते हैं। इस प्रकार हम राम के और निकट ही आए हैं। आरंभ में मैंने आलंकारिकों द्वारा वर्णित दिव्य तथा दिव्यादिव्य चरितों की चर्चा की थी। हम देखते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त के राम उक्त आलंकारिकों के चरित के तत्वों से युक्त तो हैं ही, उनमें कुछ ऐसे तत्व भी हैं जिनके कारण वे हमारे अपने युग के लिए बहुत ही सगे हो गए हैं। वे प्रभु हैं, मर्यादावान महान् चरित तो हैं ही, साथ ही जान पड़ता है कि वे हमारे आज के नेता भी हैं। इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त के राम का जीवन हमें प्राचीन-नवीन दोनों का समाहार करके चलने का संदेश देता है। मैथिलीशरण गुप्त के राम में प्राचीन तथा नवीन दोनों संग-संग सन्निहित हैं।

●●●

---

[1] 'साकेत', पृ० ६३ [2] वही, पृ० २१० [3] वही, पृ० २१५-१६

जयभारत : समीक्षात्मक अध्ययन

श्री विजयेन्द्र स्नातक

कृष्ण द्वैपायन व्यास विरचित महाभारत के घटना-संकुल, ऐतिहासिक एवं पौराणिक विराट आख्यान की सुपरिचित पृष्ठभूमि पर 'जयभारत' काव्य की रचना हुई है। महाभारत के विशाल कथानक का इस रीति-नीति से काँट-छाँट कर संचयन किया गया है कि मूल कथा का आवश्यक भाग ही रक्षित रहा है, अनावश्यक विस्तार (या अवांतर क्षेपक अंश) छूटता गया है। कथा के त्याग और ग्रहण में कवि ने प्रमुख चरित्रों को अक्षुण्ण रखते हुए, उन महत्वपूर्ण घटनाओं का ही चयन किया है, जिनके आधार पर कौरवों-पांडवों से संबद्ध महाभारत-कथा आज तक ग्रंथों में ही नहीं, अनुश्रुतियों में भी जीवित है। कुछ प्रसंग मेरे इस कथन के अपवाद हो सकते हैं, किंतु उनकी स्थिति महाकाव्य के विशाल कलेवर में असह्य नहीं है। महाभारत के विराट आख्यान में सैकड़ों पौराणिक उपाख्यान कदली-दल की भाँति संग्रथित हैं, उनका विच्छेद और चयन सचमुच दुष्कर है। फिर भी कहना न होगा कि वस्तु-मर्म के पारखी गुप्त जी ने उन सभी प्रसंगों को चुनने में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है, जो प्रबंधकाव्य में प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। कथा-प्रसंग को सतत गतिशील रखते हुए, जहाँ कहीं कवि ने संक्षेप किया है वहां प्रसंग की अन्विति का ध्यान रखा है; किंतु इस सतर्कता के बावजूद भी कुछ स्थलों पर प्रवाह में व्याघात आ गया है। यह व्याघात पौराणिक अंतर्कथाओं के कारण आया है। कथा का अध्याहार करके उसकी अन्विति बिठाने के लिए पाठक को यदि तनिक भी रुकना पड़े तो यह झटका उसकी रसानुभूति में बाधक होगा ही।

'जयभारत' में नहुष से प्रारंभ करके पांडवों के स्वर्गारोहण तक समस्त कथानक सैंतालीस सर्गों (प्रकरणों) में विभक्त है। प्रत्येक प्रकरण का शीर्षक संबद्ध व्यक्ति या घटना के नाम पर है। संपूर्ण काव्य का रचनाकाल एक न होने से शैली में भेद है। गुप्त जी ने अपने सुदीर्घ रचनाकाल में महाभारत के विभिन्न प्रसंगों पर यथासमय जो कुछ लिखा, उसमें से ही कतिपय प्रसंगों का इस कृति में परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ समावेश किया है। अपने निवेदन में कवि ने इस हेरफेर और परिष्कार को अपनी लेखनी का क्रम-विकास ही माना है। महाभारत के 'जयद्रथ-वध' प्रसंग पर गुप्त जी ने द्विवेदीयुग में जो खंडकाव्य लिखा था, उसका उपयोग इस महाकाव्य में नहीं किया। 'जयद्रथ-वध' प्रसंग नए सिरे से, संक्षेप में, लिखा है। कदाचित कवि को अपनी प्रौढ़ि पर पहुँच कर किशोरावस्था की कृति के प्रति मोह नहीं रहा। चूँकि इस महाकाव्य में विभिन्न प्रसंगों की सृष्टि विभिन्न कालों में हुई, अतः उनकी अभिव्यंजना-शैली में भेद होना स्वाभाविक है। प्रारंभिक रचनाओं में (इतिवृत्तात्मक) वर्णनात्मक व्यास-पद्धति का आश्रय लिया गया है, परवर्ती रचनाओं में समासशैली के साथ वाक्यों में कसाव और विचारों में गांभीर्य लक्षित होता है। कथाप्रवाह भी आद्योपांत एकसा नहीं है। कहीं कथा कहने का आग्रह है तो क्षिप्रता आ गई है, कहीं किसी प्रसंग को नवीन रूप देना अभीष्ट हुआ तो कवि की चित्तवृत्ति उसमें रम गई है और प्रवाह में मंथरता आ गई है। प्रायः उन्हीं प्रसंगों में तीव्रता आई है जहाँ संक्षेप और समाहार शैली से कथा को समेटा गया है। कौरव-पांडव, परीक्षा, लाक्षागृह, इंद्रप्रस्थ, आदि प्रकरण इसके प्रमाण हैं। कल्पना का पुट देकर जिन घटनाओं को नूतन उद्भावना के साथ लिखा गया है, उनमें 'एकलव्य', 'हिडिम्बा', 'द्यूत', 'तीर्थयात्रा', 'कुंती और कर्ण', 'द्रौपदी और सत्यभामा', तथा 'स्वर्गारोहण' आदि हैं। इन्हीं के नवनिर्माण में रचयिता की कृतकार्यता लक्षित होती है

जयभारत का मूल ध्येय : मानव-महत्व की स्थापना

'जयभारत' महाकाव्य शैली की प्रबंधरचना है। इसका मूल ध्येय नर (मानव) का महत्व प्रदर्शित करना है। नर की कर्तव्य-निष्ठा और धर्म-साधना जब चरम उत्कर्ष पर पहुँचती हैं, तब उसमें से एक ऐसी

दिव्य आभा प्रस्फुटित होती है, जो लोक-परलोक सबको अपनी दीप्ति से आलोकित कर देती है। महाभारत में 'न मानुषाद् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' कह कर व्यासमुनि ने इसी नर-महिमा की ओर संकेत किया है। 'जयभारत' के कवि ने भी अपने काव्य के मंगलाचरण में इसी उद्देश्य से 'नमोनारायण, नमो नर-प्रवर पौरुषकेतु' कह कर नर को नमस्कार किया है। इसके बाद काव्य का प्रारंभ (उपक्रम) भी 'नारायण-नारायण साधु नर-साधना' द्वारा होता है। उपसंहार में भी युधिष्ठिर (नायक) भगवान् से यही याचना करते हैं, "हे नारायण! क्या और कहूँ, तू निज नरमात्र मुझे रखना।" मनुष्य-जन्म को ही साधना की सफलता समझने वाले युधिष्ठिर के समक्ष भगवान् ने प्रकट होकर यही कहा—

सस्मित नारायण प्रकट हुए
आओ हे मेरे 'नर' आओ।
जो कुछ है जहाँ तुम्हारा है
मुझको पाकर सब कुछ पाओ।

नर-देह में मानव की गौरव-गरिमा से मंडित युधिष्ठिर को देखकर यही लगता है कि नरजन्म से बढ़कर इस संसार में कुछ काम्य नहीं, मानवधर्म से बढ़कर कुछ साध्य नहीं, मानवता की उपासना से बढ़कर कुछ उपास्य नहीं। सच्ची नर-साधना ही ऐहिक एवं आमुष्मिक सुख-शांति की जननी है। और इस संसार में मानवात्मा ही दृष्टव्य, श्रोतव्य, मंतव्य और निनिध्यासितव्य है।[1]

यथार्थ मानव-प्रतीक युधिष्ठिर का चरित्रांकन

धर्मराज युधिष्ठिर का चरित्रांकन 'जयभारत' में नरत्व के प्रतीक 'यथार्थ मानव' के रूप में हुआ है। धर्मप्राण युधिष्ठिर की कर्तव्यनिष्ठा का आधार कोरी शास्त्रमर्यादा न होकर लोकमर्यादा है जो 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' तथा 'स्वस्यच प्रियमात्मनः' का मानदंड सामने रखकर 'आत्मसुख' को 'पर-कल्याण' में पर्यवसित कर देती है। इसीलिए 'आत्म' को 'परात्म' में देखते हुए 'सर्वेभवन्तु सुखिना सर्वे सन्तु निरामया:, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुखभाग्भवेत्" के ऊर्जस्वित् स्वर में युधिष्ठिर ने युद्ध और हिंसा के प्रति अपना उद्वेग प्रदर्शित करते हुए कहा है—

राम, अब भी मैं यही कहता हूँ मन से
कामना नहीं है मुझे राज्य की वा स्वर्ग की,
किंवा अपवर्ग की भी, चाहता हूँ मैं यही
ज्वाला ही जुड़ा सकूँ, मैं अपनों के दुःख की,
भोगूँ अपनों का सुख, मेरा पर कौन है?
सब सुख भोगें, सब रोग से रहित हों—
सब शुभ पावें, न हो दुखी कहीं कोई भी।

मानवमात्र को एक ही परमात्मा का अंश मानते हुए सबमें समभाव रखते हुए युधिष्ठिर कहते हैं—

सुनो तात, हम सभी एक हैं भवसागर के तीर,
हो शरीर यात्रा में आगे पीछे का व्यवधान,
परमात्मा के अंश रूप हैं आत्मा सभी समान,

[1] वैष्णव संप्रदायों में मानव की श्रेष्ठता और उसकी महत्ता का प्रतिपादन प्रारंभ से होता रहा है। चंडीदास ने मनुष्य-महिमा का गान करते हुए कहा है—
"शुनि हे मानुष भाई।
सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपरे नाई।" [पदावली-चंडीदास]

एकलव्य तो मनुज मुझी सा मुझ में सब का भाग,
मैं सुरपुर में भी न रहूंगा निज कूकर तक त्याग।

धर्म के प्रति जैसी अटल आस्था युधिष्ठिर के सांसारिक कृत्यों के बीच दृष्टिगत होती है, वैसी राम के चरित्र को छोड़कर भारतीय साहित्य में अन्यत्र नहीं है। 'जयभारत' के कवि ने उसी प्रत्यय को व्यावहारिक क्षेत्र में यथार्थ की भूमि पर अवस्थित करके मानव की महिमा का बार-बार यशोगान किया है। युधिष्ठिर का जीवन विरोधी शक्तियों के भीषण आक्रमणों से उत्तरोत्तर कान्तिमय होता गया है। पग-पग पर संयम और धैर्य की परीक्षा देते हुए युधिष्ठिर न तो विचलित होते हैं और न हतप्रभ ही। संसार के सुख-भोग के प्रति गहरी अनासक्ति उनके भीतर पैठी हुई है और यथार्थ में वही उनकी शक्ति, बल, तेज सब कुछ है—

जीवन, यशस्, सम्मान धन, संतान, सुख सब मर्म के,
मुझको परंतु शतांश भी लगते नहीं निज धर्म के।

द्यूत, 'तीर्थयात्रा', 'युद्ध' और 'स्वर्गारोहण' इस काव्य के ऐसे सर्ग हैं, जिनमें युधिष्ठिर सांसारिक दृष्टि से मान-अपमान, सुख-दुख, हर्ष-विषाद और उत्थान-पतन के चरम बिंदुओं तक पहुँचे हैं। किंतु भौतिक द्वंद्व और संघर्ष की बेला में उनकी वृत्तियां न तो कुंठित हुई हैं और न परास्त ही। किसी प्रकार का अतिरेक उनके व्यापारों में नहीं है। दुख को आनंदपूर्वक वैसे ही स्वीकार करते हैं, जैसे समुद्रमंथन से उद्‌भूत कालकूट को भगवान शंकर ने ग्रहण करके देवताओं को विपत्ति से बचाया था। सुख को अपनी व्यक्ति-सीमाओं में न बांधकर स्वस्थ-संयतभाव से जन-जन में बाँट देते हैं। निस्वार्थ, निष्कपट, निरीह और निस्पृह भाव से जीवन-लीला का विस्तार करते हुए मानवता के आदर्श की स्थापना करना ही जैसे उनके तितिक्षामय जीवन का ध्येय हो। दुर्योधन की कुचालों से पराजित होकर वन जाते समय उन्हें सिंहासन छूटने का रंचमात्र भी खेद इसलिए नहीं है कि वहाँ 'कुशासन' सुलभ होगा, प्रजा का शासन छोड़ कर वन में 'आत्मशासन' का सुअवसर प्राप्त होगा।

युधिष्ठिर के चरित्र की महिमा का वर्णन 'जयभारत' के उन प्रमुख पात्रों द्वारा भी कराया गया है, जिनके प्रति पाठक की पूज्य-बुद्धि बनी हुई है। श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र और स्वयं नारायण भी उनके उदात्त चरित्र का गुणगान करते हुए उन्हें श्रेष्ठ मानव समझते हैं। द्रौपदी, भीम और अर्जुन भी धर्मराज को श्रेष्ठतम मानव मानते हुए उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं। ज्ञान के क्षेत्र में युधिष्ठिर की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए कृष्ण द्रौपदी से कहते हैं—

निज साधना से अधिक नरकुल को युधिष्ठिर में मिला,
क्या स्वर्ग में भी सुलभ यह जो सुमन धरती पर खिला।

"तीर्थयात्रा' प्रसंग में विलक्षण रूप में हनुमान से भीम की भेंट का वर्णन है। वहां हनुमान ने भीम को प्रबोधते हुए यही कहा कि पांडवों का संकट क्षणिक है, क्योंकि युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा सफल होगी, 'यतोधर्मस्ततोजयः।'

है युधिष्ठिर की युगोपरि धर्म निष्ठा,
पायगा राजत्व ही उनसे प्रतिष्ठा।

'जयभारत' में युधिष्ठिर के चरित्र का विकास क्रमिक रूप से दिखाया गया है। प्रारंभ में उनके औदार्य, त्याग और तितिक्षा का वर्णन है। बाद में समता, वत्सलता, अनासक्ति और कर्म-निस्संगता विकसित हुई है। स्वर्गारोहण के प्रसंग का वर्णन कवि ने मानवतावाद के चरम उत्कर्ष के स्तर पर पूरी प्रौढ़ता के साथ किया है। इस सर्ग की प्रत्येक पंक्ति उनकी धर्मनिष्ठा को व्यक्त करती हुई धर्मराज को त्याग, प्रेम, समता, बंधु-वत्सलता, सौजन्य, वैराग्य और अनासक्ति की पराकाष्ठा तक पहुँचा देती है। 'शुनकसाथी' को अपने साथ स्वर्ग ले जाने के आग्रह में जिस कोटि के निर्मल शरणागत भाव की रक्षा हुई है वह परमात्मा के अंश की समत्वभाव से पूजा-अर्चा ही है। आत्मीयों के साथ नरकवास को आह्लाद के साथ स्वीकार करने में भी उनकी मानवता का उन्नयन ही है। धीर-प्रशांत नायक के समस्त गुणों से उपेत युधिष्ठिर को अंतिम सर्ग में कवि ने

मानवता के जिस उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया है वह भारतीय राजर्षि का वरेण्य आसन है। तीन बार उनकी परीक्षा होती है और तीनों बार वे सहज रूप से अपना वही मार्ग ग्रहण करते हैं जो मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर स्थित एक कर्मयोगी को ग्रहण करना चाहिए। फलतः उनको तो परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, किंतु उनके साथ समस्त मानवता का पथ भी प्रशस्त होता है।

प्राचीन कथा का नवनिर्माण

गुप्त जी प्रबंध-पटु कवि हैं। अपनी समृद्ध कल्पना द्वारा वे प्राचीन-वस्तु को जिस शैली से नवीन रूप देकर आकर्षक और सरस बनाते हैं, उसका उदाहरण 'साकेत' और 'यशोधरा' के उन प्रसंगों में है जहाँ उर्मिला, कैकेयी, यशोधरा आदि नारी पात्र परंपरागत कथानक से भिन्न रूप में व्यंजना करके पाठक को मुग्ध कर लेते हैं। इतिहास की अनुश्रुति में पात्रों का जो चरित्र मिलता है उसे सर्वथा भुलाकर नवीन सृष्टि नहीं की जा सकती। किंतु युग के विवेक का ध्यान रखकर अतिप्राकृत और अतिमानव शक्ति पर आधृत घटनाओं को औचित्य के धरातल पर समन्वित किया जा सकता है।[1] दूसरे, युगधर्म को दृष्टि में रखकर भी पुरातन घटनाओं का पुनराख्यान आवश्यक हो जाता है। कला की पूर्ण अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह पुनःसृजन या पुनपुनर्व्याख्यान इसलिए भी करना होता है कि पुरानी कथा को ज्यों की त्यों, न तो कहने की प्रवृत्ति होगी और न पाठक उसे पढ़कर रस ग्रहण करेगा। नवनिर्माण की अपेक्षा पुनर्निर्माण की यह पद्धति कठिन है, इसके लिए प्रबंध-क्षमता अनिवार्य है। जो कवि प्रबंधात्मक शैली की कल्पना से रहित हों, उन्हें इस फेर में न पड़ना चाहिए। गुप्त जी प्रबंध-कल्पना के समर्थक कवि हैं। अतः वे पुरातन को नूतन करने के लिए अनेक मार्मिक स्थल ढूंढ लेते हैं।

पुनराख्यान में युगधर्म की प्रतिष्ठा

'जयभारत' में ऐसे ही कई मार्मिक स्थलों को चुन कर उनकी नवीन शैली से बुद्धिगम्य व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अपने इस कथन की पुष्टि में मैं यहां तीन-चार प्रसंगों का उल्लेख करता हूँ। भीम और हिडिम्बा का विवाह महाभारत की एक बहुत साधारण-सी घटना है। भीम का हिडिम्बा के प्रति आकर्षण और परिणय सामाजिक मर्यादा में अपराध-कोटि में आयगा। हिडिम्बा के प्रति, महाभारत पढ़कर, किसी प्रकार की सहानुभूति उत्पन्न नहीं होती ; प्रत्युत, उसके राक्षसी होने के कारण पाठक का मन विचित्र विद्रूप और विकर्षण से भर जाता है। किंतु 'जयभारत' की हिडिम्बा राक्षसी होने पर भी सहज सुंदरी, सहज गुणशील समन्विता, बुद्धि-विवेक परिपूर्णा नारी है। उसके हृदय की संवेदनशीलता इतनी व्यापक है कि वह अपने सम्पर्क में आने वालों को सहज ही अपने स्नेहपाश में बांधने में समर्थ है। भीम उसे देखते ही 'देवि' संबोधन से पुकार उठे ; किंतु हिडिम्बा ने उत्तर में स्पष्ट कहा कि मैं 'देवि' नहीं, दानवी हूँ। राक्षसी जानने पर भीम के मन में उसके प्रति जातिगत हीनभाव पैदा हुआ और उसके राक्षसी रूप पर व्यंग्य करने लगे। हिडिम्बा ने भीम को जिस संतुलित भाषा में उत्तर देकर निरुत्तर किया, वह गुप्त जी की कल्पना द्वारा ही संभव हो सकता है। भीम-हिडिम्बा का वह वार्तालाप वर्तमान युग की बौद्धिक चेतना के अनुकूल और सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं के अनुरूप है। इसी कारण आज के बुद्धिवादी पाठक को हिडिम्बा का चरित्र निर्दोष और नीति-संगत प्रतीत होता है। सच बात तो यह है कि 'जयभारत' के कवि की कलापूर्ण लेखनी के पारस-स्पर्श से ही वह आदर्श बन गई है। भीम द्वारा अपने भाई का वध किए जाने पर प्रतिशोध की बात न सोच कर अहिंसा के परम तत्व को हृदयंगम करती हुई वह यही कहती है—

[1] धार्मिक आख्यानों से जो अति प्राकृत घटनाएँ मिलती हैं, उनको अब काव्य में स्थान दिया जाय, तो उनको सम्भाव्य बनाकर ही रखना चाहिए। पाठक की प्रतीति के लिए उन मानस-सूत्रों का संकलन आवश्यक हो जाता है, जो उन अति-मानव घटनाओं को विश्वसनीय एवं बुद्धिगम्य बना सकें। केवल महान् घटनाओं के नियोजित करने से कवि-कम की पूर्ति नहीं होती—उस महान् घटना की प्रतीति की नियोजना करना भी कवि-कर्म की कुशलता है।

वैर की यथार्थ शुद्धि वैर नहीं प्रेम है,
और इस विश्व का इसी में छिपा क्षेम है।

कुंती के प्रति हिडिम्बा की उक्ति उच्चतम मानव-आदर्श की शिक्षा से ओतप्रोत है। मानव तभी सफल है, जब वह अपनी पावनता से दानव का भी उद्धार कर सके—

यदि तुम आर्य हो तो दो हमें भी आर्यता,
अपनी ही उच्चता में कैसी कृत कार्यता ?

*　　　*　　　*

होकर मैं राक्षसी भी अन्त में तो नारी हूँ,
जन्म से मैं जो भी रहूँ जाति से तुम्हारी हूँ।

हिडिम्बा ने कुंती के समक्ष केवल आदर्श की बात ही नहीं की वरन् युक्ति, तर्क और प्रमाण द्वारा अपनी पात्रता सिद्ध कर दी। फलतः कुंती की क्रोड़ में हिडिम्बा को वधू का सम्मान मिला। इस प्रसंग के नूतन-सृजन का प्रयोजन स्पष्ट है। भीम-हिडिम्बा परिणय तब तक पाठक को विधेय न लगता जब तक हिडिम्बा को रूप, गुण, शील समन्विता नारी के रूप में अंकित न किया जाता। हिडिम्बा-चरित्र का यह नवनिर्माण केवल भीम की वासनावृत्ति का ही परिमार्जन नहीं करता, वरन् इस अनमेल विवाह को सामाजिक मर्यादा में ग्रथित करके नैतिकता भी प्रदान करता है। इस प्रसंग में गुप्त जी ने दानव और मानव की प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए तटस्थ दार्शनिक के समान जो विचार व्यक्त किए हैं, वे उनके कवि-दार्शनिक रूप के द्योतक हैं।

महाभारत के सभा-पर्व में वर्णित 'द्रौपदी-चीरहरण' को 'जयभारत' के कवि ने द्यूत-सर्ग में युगविवेक के आधार पर नवीन रूप से प्रस्तुत किया है। मूल कथा में कोई परिवर्तन न करके केवल अतिप्राकृत शक्ति के उपयोग को (जो आज के वैज्ञानिक और बुद्धिवादी युग में अव्यवहार्य लगता) हटा कर औचित्य की सीमा-मर्यादा में विवेक का प्रयोग किया है। व्यास ने कौरवों के जघन्य पाप को रोकने के लिए पहले तो द्रौपदी के करुण-क्रंदन का वर्णन किया है, बाद में भगवान् की अति प्राकृत शक्ति द्वारा द्रौपदी का वस्त्र असीम बना दिया है। उस वस्त्र-राशि को खींचते-खींचते परिश्रांत और लज्जित होकर दुःशासन बैठ जाता है।

यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः।
तदा दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत्॥　　[महाभारत सभापर्व]

इसके आगे धृतराष्ट्र की आत्मग्लानि और दुर्योधन के प्रति आक्रोश वचन का महाभारत में वर्णन है। किंतु 'जयभारत' में द्रौपदी असहाय दशा में भगवान का स्मरण करती हुई, आततायी दुःशासन को धिक्कारती हुई उसके अंतर में पाप-भीति भी उत्पन्न करती है। उसके बचनों को सुनकर दुःशासन पापफल की विभीषिका से सिहर उठता है और उसे अपने चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है। उसे द्रौपदी के वस्त्र के ओर-छोर का पता न रहा, वह भयभीत होकर काँपने लगा और स्तंभित होकर वहीं बैठ गया—

सहसा दुःशासन ने देखा अंधकार सा चारों ओर,
जान पड़ा अंबर सा वह पट जिसका कोई ओर न छोर।
आकर अकस्मात् अति भयसा उसके भीतर पैठ गया,
कर जड़ हुए और पद काँपे, गिरता सा वह बैठ गया।

इसके आगे सभा को सावधान करने के लिए कवि ने गांधारी का प्रवेश कराया है। नारी के अपमान के क्षणों में किसी वृद्धा नारी की कातर वाणी का प्रयोग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अधिक समीचीन और सामयिक है। गांधारी ने सभा में आते ही सबसे पहले अपने अंधपति को प्रबोधा और फिर आत्मग्लानि के साथ भाई के कुत्सित आचरण के कारण, अपने पितृकुल और पुत्रों की अनैतिकता के कारण, अपने पतिकुल के कलंकित होने की बात कही। अपनी अंतर्व्यथा को चरम बिंदु तक पहुँचाने के लिए उसने लोक-लाज की दुहाई दी और कातर भाव से पुकार उठी—

हाय ! लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गई रक्षित क्या !
आज बहू का तो कल मेरा कटि पट नहीं अरक्षित क्या !

निस्संदेह गांधारी के उपर्युक्त वचनों में किसी भी नराधम को त्रस्त करने की, पापकर्म से विरत करने की अद्भुत क्षमता है। महाभारत में यह काम धृतराष्ट्र ने किया है और उसने बार-बार दुर्योधन को कोसा है। किंतु धृतराष्ट्र की भर्त्सना में न तो इतना बल है और न श्रोताओं को लज्जावनत करने की ऐसी क्षमता।

ऐसा ही एक और प्रसंग महाभारत में उस समय आता है, जब अज्ञातवास के समय पांडव द्रौपदी सहित राजा विराट के यहाँ वेष बदल कर समय काट रहे थे। सैरंध्री के रूप में द्रौपदी दासी का कार्य कर रही थी। रानी का भाई कीचक द्रौपदी के रूप पर आसक्त हो गया। असहाय द्रौपदी ने आत्मरक्षा के लिए भीम की सहायता ली। 'जयभारत' के कवि ने इस प्रसंग में द्रौपदी को विराट की सभा में आकर अपील करने का अवसर दिया है। उसने केवल आत्मरक्षा की अपील ही नहीं की, प्रत्युत वह राजा के शासन-धर्म को भी ललकारती हुई उसके स्त्रैण-भाव का संकेत देकर उसे लज्जित कर गई—

लज्जा रहनी अति कठिन है, कुल वधुओं की भी जहाँ !
हे मत्स्यराज किस भाँति तुम हुए प्रजारंजक वहाँ ?

*　　*　　*

तुमसे निज पद का स्वांग भी भलीभाँति चलता नहीं,
अधिकार रहित इस छत्र का भार तुम्हें खलता नहीं ?

द्रौपदी के चारित्रिक विकास में सतीत्व और निर्भीकता को उद्घाटित करने के लिए गुप्त जी की यह नूतन उद्भावना श्लाघ्य है।

चौथा, एक और प्रसंग इस विषय में उल्लेखनीय है। वह है धर्मराज युधिष्ठिर का द्रोणाचार्य को युद्ध-विरत करने के लिए असत्य-भाषण। 'अश्वत्थामा हतः, नरो वा कुंजरो वा' की उक्ति में छल और कैतव का जो पाप है, युधिष्ठिर को उससे अलिप्त नहीं किया जा सकता। औचित्य और नीति की किसी भी व्यवस्थामें युधिष्ठिर का यह असत्य भाषण दोषपूर्ण ही ठहरेगा। महाभारत में गुरुभक्त अर्जुन ने क्रुद्ध होकर युधिष्ठिर की इस कार्य के लिए प्रत्यक्ष रूप से निंदा की है। किंतु उन निंदा-वचनों का उत्तर देते हुए भीम ने कौरवों के छल, कपट, अनीति और अन्याय का वर्णन करके युधिष्ठिर के इस कार्य को उचित कह कर, पाठक के मन को हल्का करने की चेष्टा की है। 'जयभारत' में कवि ने पाठक की भावनाओं का साथ दिया है और पाप को पाप कह कर सत्य की प्रतिष्ठा की है। पाप को पाप कहने के लिए स्वयं युधिष्ठिर की वाणी का उपयोग हुआ है। पाप की मुक्तकंठ से स्वीकृति—(कनफैशन)—में ही युधिष्ठिर को अपनी निष्कृति दृष्टिगत हुई। इस स्वीकृति से एक ओर पाठक के क्षुब्ध मन को सांत्वना मिली, तो दूसरी ओर युधिष्ठिर का चरित्र और अधिक उज्ज्वल हुआ। पाप को स्वीकार करते हुए युधिष्ठिर भीम से कहते हैं—

बोले धर्मराज—भाई भीम तुम शान्त हो,
सिद्ध नहीं होता शुद्ध साधन से साध्य जो,
उसकी विशुद्धता भी शंकनीय होती है,
तात, मेरा पक्षपात योग्य नहीं इतना,
पाप जो हुआ है उसे मानना ही चाहिए।

युधिष्ठिर-चरित्र के इस लांछन का परिमार्जन 'कनफैशन' के माध्यम से युगोचित विवेक-बुद्धि की दृष्टि से संगत और शोभन है। कवि की निष्पक्ष दृष्टि में सत्य का आग्रह जिस रूप में प्रतिफलित हुआ है, वह धर्मराज के अनुरूप है। निस्संदेह यह वर्णन महाभारत से अधिक बुद्धिगम्य और युक्तिसंगत ठहरता है।

नूतन उद्भावना में आत्मग्लानि का प्रयोग

महाभारत की प्राचीन कथा के अंतर्गत असंगत या असंभाव्य प्रतीति होने वाली घटनाओं को विवेक-सम्मत बनाने तथा उनमें युगोचित सामंजस्य लाने के लिए स्थान-स्थान पर संबद्ध पात्रों द्वारा आत्मग्लानि एवं पश्चाताप प्रकट करने की मर्मस्पर्शी शैली भी अपनाई गई है। 'जयभारत' में कवि ने अपनी कल्पना द्वारा ऐसे अनेक अवसर ढूंढ़ निकाले हैं, जब सद्‌वृत्त तथा दुर्वृत्त दोनों कोटि के पात्र आत्मग्लानि की आँच में तप कर पाठक की मनस्तुष्टि करने में सफल हुए हैं। महाभारत के पात्र इस प्रकार की आत्मग्लानि से संतप्त नहीं हुए। फलतः वहाँ शोक और विलाप तो है, किंतु ग्लानि की मर्मांतक पीड़ा नहीं। उदाहरण के लिए दो-एक मार्मिक स्थलों का संकेत ही पर्याप्त होगा। द्रौपदी के अपमान में साझीदार होने पर कर्ण को मनस्ताप हुआ और वह अपने ऊपर खीज कर आत्मग्लानि से विगलित होकर कह उठा—

मैंने अपना एक कर्म ही अनुचित माना,
कृष्णा का अपमान, किन्तु तब क्या यह जाना,
वह है मेरी अनुज वधू, अब कहाँ ठिकाना,
इसका प्रायश्चित मृत्यु के हाथ बिकाना।

दुर्योधन की अनीतिपूर्ण हठधर्मिता से खिन्न होकर धृतराष्ट्र और गांधारी अपने भाग्य को बार-बार कोसते हैं। गांधारी तो दुर्योधन-सा पुत्र पैदा करके अपनी पुत्रैषणा को ही धिक्कारती है। यह आत्म-धिक्कार उसके अंतर का विद्रोह है, जिसे वह कृष्ण के समक्ष व्यक्त करती है—

मैं भी हे गोविन्द अन्ततः अबला नारी,
पांडु सुतों को देख मुझे भी डाह हुई थी,
एक एक पर बीस-बीस की चाह हुई थी।
दुर्योधन में विकसित हुई घनीभूत वह डाह ही।
क्या कर सकती हूँ मैं भला, भर सकती हूँ आह ही।।

कुंती की आत्मग्लानि तो सचमुच उसे पश्चाताप की वह्नि से संतप्त करके भस्म-सा किए दे रही है। कर्ण के प्रति अपराधिनी कुंती का स्वर अश्रु-विगलित होकर इतना करुण-विह्वल हो गया है कि पाठक की संवेदना एक साथ उसे क्षमा के आलवाल में घेर लेती है। कुंती अपने आप को नागिन कह कर कर्ण के प्रति किए गए दुर्व्यवहार को स्वीकार करती है। 'साकेत' की कैकेयी और 'जयभारत' की कुंती में आत्मग्लानि की यह समता देखकर गुप्त जी की कल्पना की सराहना करनी पड़ती है। कुंती का पश्चाताप शब्द-शब्द से फूटा पड़ रहा है—

देवी नहीं, न आर्या हूँ, मैं नागिन सी जननी हूँ,
सबसे ऊँचा पद पाकर भी, स्वयं स्व गौरव हननी हूँ।
मां से मां न कहे तो कुछ भी कहे पुत्र वह गाली है,
किन्तु दोष दूं कैसे तुझको जो स्वकर्म गुण शाली है।

मानवतावाद की स्थापना

'जयभारत' में युगधर्म के साथ कवि ने 'मानवतावाद' की व्यापक दृष्टिकोण से स्थापना की है। मानवतावाद के विधायक तत्व समता, प्रेम, सत्य, अहिंसा आदि का स्थान-स्थान पर विशद वर्णन किया है। मानव मात्र में उस परमात्मा का अंश देखना और जन्मगत जाति-बंधनों की अवहेला करके सबमें समभाव से ममत्व रखना गुप्त जी के काव्य में युगीन प्रभाव की छाया है। व्यक्ति का अहंभाव ही यथार्थ में संकीर्णता की सृष्टि करके उसे सीमित बनाता है। इस 'अहं' की परिधि यदि व्यापक हो सके, एक बार अहं के भीतर समाज

समा सके, तो मानवतावाद का सिद्धांत चरितार्थ हो सकता है। कृष्ण ने कौरवों को समझाते हुए यही कहा था—

वह ग्रहं हमीं हम तो नहीं, हम भी उसका ग्रर्थ है।
जो सबको लेकर चल सके, सच्चा वही समर्थ है।

* * *

ग्रपना क्षेम तभी संभव है जब हो ग्रौरों का भी क्षेम।

एकलव्य, कर्ण ग्रौर युयुत्सु जैसे पात्रों का चरित्रांकन करते समय कवि ने इस बात का बड़ी सतर्कता से ध्यान रखा है कि जन्मगत जाति का ग्रारोप कहीं इनके चरित्रगत गुणों को ग्रावृत्त न कर ले। 'गुणाः पूजा स्थानं गुणिषुनर्चलिंग न च वयः' के ग्राधार पर इनके व्यक्तिगत गुणों की प्रतिष्ठा में ही मानवता की प्रतिष्ठा कवि को ग्रभीष्ट है। 'कुल से नहीं शील ही से तो होता है कोई जन ग्रार्य' कह कर समाज-निर्मित वर्णगत भेदभाव का परिहार किया गया है। एकलव्य ने तो स्पष्ट रूप से गुरु द्रोणाचार्य से यही जिज्ञासा प्रकट की है—

गुरुवर नहीं ग्रराजन्यों में क्या ईश्वर का ग्रंश,
ग्रौर नहीं है क्या उनका भी वही मूल मनु वंश ?

एकलव्य की जिज्ञासा ने समाज में प्रतिष्ठित जिस जन्मगत ग्राभिजात्य की चुनौती दी है, वह वर्तमान युग की भावना पर ग्राश्रित विवेक-बुद्धि का ही फल है। ग्राज समाज में वर्ग-वैषम्य के प्रति सभी प्रकार का विद्रोह उठ खड़ा हुग्रा है।

ग्रपने मातृवंश की हीनता के सामाजिक लांछन की चिंता न करके युयुत्सु भी ग्रात्मा की एकता में विश्वास प्रदर्शित करता हुग्रा यही कहता है कि जन्मगत जाति-दोष मिथ्या है—

यदि है यह दोष दम्भकृत है,
ग्रात्मा से कौन ग्रनावृत है,
होता प्रदीप से कज्जल ज्यों
कर्दभ से होता शत-सहस्रदल त्यों।

मानवतावाद के विरोधी तत्वों का वर्णन

मानवतावाद की प्रतिष्ठा करते हुए कवि के ग्रंतर्मन पर उन विरोधी शक्तियों का प्रभाव सतत बना रहा है, जो मानव-मानव के बीच वैर-विद्वेष की खाई खोद कर उसे मनुष्यता की समतल भूमि पर खड़े होने नहीं देतीं। . युद्धलिप्सा ग्रौर राज्यलोभ इन विरोधी शक्तियों के प्रतीक हैं। ग्राज के युग में यह युद्धलिप्सा ग्रपनी विकरालता में इतनी भयावह हो उठी है कि मानव के समस्त प्रयत्न, ज्ञान-विज्ञान प्रसूत ग्रखिल ग्राविष्कार उसे सर्वनाश के पथ पर खींचे लिए जा रहे हैं। स्रष्टा की सुंदरतम रचना 'मानव' ग्राज ग्रपने बौद्धिक निर्माण से नृशंस दानव बन कर संहार के बीज बो रहा है। कवि को ऐसे मानव के प्रति जो ग्रमर्ष है, उसे व्यंग्यमयी भाषा में व्यक्त किया है। द्रौपदी के ग्रपमान की बात सुनकर, घटोत्कच कहता है—

हाय ये दुष्कृत ग्रसम्भव दानवों से,
हम निशाचर ही भले तुम मानवों से।

मानव की निरीहता पर व्यंग्य करती हुई हिडिम्बा कहती है—

देवों की ग्रपेक्षा दैत्य हम से निकट हैं,
नर तो निरीहता में दोनों से विकट हैं।

स्वार्थरत मनुष्य की विच्छेद-भावना पर युधिष्ठिर की यह मार्मिक उक्ति भी कम व्यंग्यभरी नहीं है—

हाय जल से भी मनुज कुल आज पिछड़ा,
जल मिला जल से, मनुज से मनुज बिछड़ा।

मानव की युद्धलिप्सा की निंदा करते हुए कवि ने 'युद्ध' सर्ग में जो विचार व्यक्त किए हैं, उन पर गांधीवादी विचारधारा का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। मनुज में युद्ध-प्रियता दनुज के रक्तबीज का द्योतक है और मनुष्य की सफलता क्या अमानुषिकता में ही है! स्वर्गारोहण के समय पांडवों ने शस्त्रों को निस्सार समझ विसर्जित कर दिया था। पांडव शस्त्रों की अनर्थकारी शक्ति से पूर्णतया अवगत हो गए थे। किंतु, खेद! मानवजाति की युद्ध-प्रियता ने क्या उन्हें रसातल में जाने दिया? अपार धन-राशि व्यय करके आज भी मानव शस्त्र-निर्माण-लीन है। युद्ध के दुष्परिणामों का वर्णन करते हुए कवि ने करुण और वात्सल्य भाव की भूमि पर जो सुंदर व्यंजना की है, वह युद्ध की निस्सारता, भीषणता और अनर्थता को प्रत्यक्ष मूर्तिमान कर देती है—

बैठ जिन कंधों पर शैशव में खेले थे
काट डाला यौवन में आप उन्हें क्रूरों ने
कंधों पर जिनको चढ़ाए फिरे प्यार से
करके हताहत गिराया उन्हें धूलि में,
धिक्! यह धीर कर्म, शर्म कहाँ इसमें
धिक्! नर नागरों के अर्थ की अनर्थता।

भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों का उन्मेष

'जयभारत' भारतीय संस्कृति के उन आदर्शों का व्यावहारिक चित्र प्रस्तुत करता है, जो सामाजिक और धार्मिक मर्यादाओं की परंपराओं को चुनौती देकर व्यक्ति-विशेष के आचरण से स्थापित होते हैं। महाभारत को यथार्थतावादी कोटि का काव्य इसीलिए कहा जाता है कि उसमें सनातन शास्त्र-मर्यादा का आग्रह न होकर यथार्थ जीवन के कर्तव्य-कर्म का अनुरोध है। यह होते हुए भी गुप्तजी ने अपनी सांस्कृतिक विचारधारा को उसी शैली से व्यक्त किया है, जैसे उन्होंने 'साकेत' और 'यशोधरा' में वैष्णवधर्म की पृष्ठभूमि पर किया था। समाज, देश, जाति, नारी, पाप, पुण्य, धर्म-अधर्म आदि विषयों पर जो भाव प्रकट किए हैं, उनमें मौलिक विचार प्रायः एक से ही हैं। भारतीय नारी के सम्बन्ध में उनकी जो मान्यता और पूज्य बुद्धि है, उसको 'जयभारत' में और अधिक स्पष्ट रूप में अंकित किया है। अबला-जीवन की कहानी कहते हुए 'यशोधरा' में जो चित्र है, ठीक वैसा ही यहाँ भी मिलेगा—

नारी लेने नहीं लोक में देने ही आती है,
अश्रु शेष रखकर वह उनसे प्रभु-पद धो जाती है,
पर देने में विनय न होकर जहाँ गर्व होता है
तपस्त्याग का पर्व हमारा वहीं खर्व होता है।

भारतीय परिवार-संस्था, विवाहप्रथा, दांपत्यभाव की मर्यादा, गृहस्थाश्रम में एषणात्रय की मांगलिक परिणति आदि सामाजिक विषयों पर 'जयभारत' में जो विचार कवि ने प्रकट किए हैं, उनका मूलाधार भारतीय जीवन-दर्शन ही है। भारतीय संस्कृति के चिर-प्रतिष्ठित आदर्शों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना ही महाभारत का उद्देश्य कहा जाता है—'जयभारत' भी इस दृष्टि से उसके बहुत कुछ समकक्ष है।

जयभारत में मुख्य रस, चरित्र-चित्रण और रूप-सौंदर्य-अंकन

काव्यसौष्ठव की दृष्टि से 'जयभारत' की समीक्षा करते हुए उसके भाव-पक्ष पर ऊपर की पंक्तियों में जो कहा गया है, वह ध्यान देने योग्य है। रस-निष्पत्ति, अलंकार-विधान, छंद-योजना आदि विषयों पर स्वतंत्र रूप से विचार किया जा सकता है। चरित्र-चित्रण, रूपवर्णन, दृश्यांकन आदि भी इस प्रसंग में उल्लेख्य

समझे जाएँगे। किंतु प्रस्तुत निबंध के सीमित कलेवर में इन सब विषयों का सविस्तार समावेश संभव नहीं, अतः मैं यहाँ कुछ विशिष्ट तथ्यों का ही संकेत मात्र करूँगा।

मैंने प्रारंभ में ही लिखा है कि 'जयभारत' विभिन्न काल की रचनाओं का संकलन होने से राष्ट्रकवि का प्रतिनिधि ग्रंथ है, जिसमें उनके कविकृतित्वों को पूर्णता प्राप्त हुई है। भाषा, भाव और शैली सभी में समानता न होकर स्पष्ट परिलक्षित होने वाली भिन्नता और विविधता है। अतः समग्र भाव से इन तत्वों पर एक साथ विचार नहीं किया जा सकता। महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'धर्म की जय' और मुख्य रस शांत है। 'जयभारत' में भी शांत रस की ही मुख्यता है, अन्य रस उसके अंग बनकर आए हैं। प्रतिपाद्य विषय मानव की श्रेष्ठता और मानव-प्रतीक धर्मराज युधिष्ठिर की जय है। युधिष्ठिर 'जयभारत' के धीर-प्रशांत नायक हैं। युधिष्ठिर के प्रवृत्तिजन्य क्रिया-व्यापारों के बीच निवृत्ति की जो अन्तःसलिला धारा प्रवाहित हो रही है, वही निर्वेद को सींचती है। आजीवन कर्तव्यरत रह कर, जीवन की अंतिम घड़ियों में सब कुछ छोड़कर, जब पांडव हिमालय पर्वत पर देहपात के लिए चले, तब उनके अंतस् में केवल एक ही रस था—'रख एक शांत रस अंतस में विष-सा विषयों को त्याग चले'। 'स्वर्गारोहण' सर्ग में जिस निर्लिप्त भाव से युधिष्ठिर की चित्तवृत्ति स्वर्ग और नरक को ग्रहण करती है वही शमभाव—निर्वेद की—सर्वोच्च स्थिति है। शृंगार, वीर, करुण और रौद्र अंगभूत रस होकर काव्य में यथास्थान आए हैं, किंतु अंगी रस में शांत को ही स्वीकार करना चाहिए।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से काव्य में कवि का पूर्वग्रह स्पष्ट परिलक्षित होता है। जिन पात्रों का चरित्र महाभारत में हेय और तिरस्कार योग्य है, उसे भी गुप्तजी ने किसी-न-किसी प्रकार उठाने की चेष्टा की है। द्रौपदी का चरित्र बहुत ही तेजस्वी और सजीव रखा है। दुर्योधन को अंतिम क्षणों में एक ऐसी भावभूमि पर कवि ने खड़ा कर दिया है कि उसमें, दुर्द्धर्षता के होने पर भी, दर्शक या पाठक को मुग्ध करने की शक्ति आ गई है। दुःशासन भी भ्रातृभक्ति से परिपूर्ण कर दिया गया है। कर्ण और अर्जुन के चरित्रों में नूतन शैली से उदात्त गुणों का आधान किया गया है। चरित्र-चित्रण का मूल मानवतावाद का आदर्श है। अतः दुर्वृत्त पात्रों में गुप्तजी ने गुणों का संधान कर लिया है। युधिष्ठिर, द्रौपदी, हिडिम्बा और कर्ण इस काव्य के सुंदर चरित्र हैं—जिनके अंकन में कवि को अपूर्व सफलता मिली है। श्रीकृष्ण का चरित्र 'जयभारत' में विकसित नहीं हुआ। महाभारत के प्रमुख पात्र के प्रति गुप्तजी का ध्यान कदाचित् इसीलिए नहीं गया कि युधिष्ठिर के नर रूप को ही इसमें प्रमुखता देनी थी। श्रीकृष्ण तो ईश्वर के अवतार हैं।

रूपवर्णन और दृश्यांकन की दृष्टि से काव्य में अनेक सुंदर, सजीव और आकर्षक स्थल हैं, जिन्हें पढ़ते ही नेत्रों के सामने मनोरम व्यक्ति या दृश्य खचित हो जाता है।

एकलव्य का रूप-वर्णन—

> कसी गँसी थी मांसपेशियाँ, श्यामल चिकना चर्म,
> बना आप ही था जो अपना जन्मजात वर वर्म।
> भाल ढका-सा था बालों में, ढाल बना था वक्ष,
> घर्षित भी भुजदंडों से थे उत्कर्षित युग कक्ष।
> कर में क्या भू अधरों पर भी रखते था वह चाप,
> दृष्टि प्रखर थी किंतु मृदुल था उसका सरलालाप।

हिडिम्बा का सौंदर्य-वर्णन—

> उत्थित वसुंधरा रत्नों की शलाका थी,
> किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी,
> अंग मानो फूल, कच भृंग, हरी शाटिका,
> कर-पद-पल्लवा थी, जंगम-सी वाटिका।

श्रीकृष्ण का वर्णन 'रणनिमंत्रण' सर्ग म प्राचीन परंपरा-भुक्त अलंकार शैली से किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों की छटा दर्शनीय है। प्रकृति-वर्णन के भी दो-तीन स्थल पठनीय हैं।

भाषा पर संस्कृत का प्रभाव

भाषा के सम्बन्ध में केवल एक बात का ही उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। महाभारत की प्राचीन कथा पर आधृत होने पर भी 'जयभारत' में संस्कृत श्लोकों का अनुसरण नहीं किया गया। किन्तु कहीं-कहीं संस्कृत की सूक्ति और सुभाषितों को अनूदित करने का लोभ कवि संवरण नहीं कर पाया है। अपने इस कथन की पुष्टि में कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत करता हूँ—

१—भोगने से कब घटे हैं रोग रूपी राग,
और बढ़ती है निरंतर इंधनों से आग। —'जयभारत', पृष्ठ २०

संस्कृत—न जातु काम कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्धते।

२—विविध श्रुति स्मृतियाँ कल्याणी,
भिन्न-भिन्न मुनियों की वाणी,
गूढ़ धर्म गति, पूछूँ किससे,
पथ वह गए महाजन जिससे। —'जयभारत', पृष्ठ ७४

संस्कृत—श्रुतिर्विभिन्नाः स्मृतयोर्विभिन्नाः
नैको मुनिर्यस्यमतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्था॥

३—एक स्वजन को त्याग करे कुल कष्ट निवारण,
ग्राम हेतु कुल तजे, ग्राम जनपद के कारण,
जनपद जगती सभी तजे आत्मा के हित में।
—'जयभारत', पृष्ठ १३८

संस्कृत—त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

गुप्तजी ने 'आत्मा के हित में' कह कर संस्कृत श्लोक के भाव को व्यापक बना दिया है। यहाँ आत्मापद मानवात्मा के अर्थ में है। संस्कृत का 'आत्मार्थे' पद 'स्व' का बोधक है।

४—पर आत्मरक्षा इष्ट है,
धन से तथा दारादि से भी सर्वथा। —'जयभारत', पृष्ठ ८१

संस्कृत—आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि।

संस्कृत के सुभाषित वाक्यों के अतिरिक्त कवि के अपने वाक्य-विन्यास भी ऐसे हैं, जो सूक्ति कोटि में आते हैं। जिनकी भावव्यंजना इतनी सीधी, सरल औल अर्थपूर्ण है कि उन्हें टकसाली बनने में देर नहीं लगेगी। यदि इस तरह की सुंदर सूक्तियों का संकलन किया जाय, तो उनकी संख्या शताधिक होगी। उदाहरणार्थ दो-चार सूक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

मिलना ही आनन्द बिछुड़ना खेद है,
पुनर्मिलन ही इष्ट जहाँ विच्छेद है।

रस के विरल घूंट ही अच्छे अधिक भोग में रोग है।

*　　*　　*

होता सदा है मानियों को मान प्यारा प्राण से।
यश के धनी हैं जो उन्हें अपयश कराल कृपाण से।

*　　*　　*

कीर्तिमान जन मरा हुआ भी अमर हुआ जग में जीत।

*　　*　　*

निराश तो जीवित ही मरा है,
उत्साह ही जीवन का प्रतीक।

अलंकारों की दृष्टि से इस काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थांतरन्यास, दृष्टांत और रूपक की प्रधानता है। उपमा को इस काव्य का प्रमुख अलंकार कहा जा सकता है। छंदों की विविधता से तो काव्य भरा हुआ है। प्रत्येक सर्ग में नया छंद ग्रहण किया गया है। मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छंदों का प्रयोग है। 'युद्ध' सर्ग मुक्त छंद का सुन्दर निदर्शन है।

महाभारत और जयभारत

महाभारत को संस्कृत साहित्य में 'पंचमवेद' की संज्ञा दी गई है। ज्ञान-विज्ञान की व्यापक परिधि को घेरकर व्यास मुनि ने उसकी वस्तु का विस्तार किया है। सामान्य लौकिक व्यवहार-नीति से लेकर पारलौकिक चिंतन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों पर दार्शनिक दृष्टि से महाभारत में विचार-विमर्श हुआ है। किंतु 'जयभारत' में न तो वैसी व्यापकता है और न गूढ़ता। गंभीर विषयों का जहाँ कहीं प्रसंग आया है, कवि ने उसे शास्त्रीय-विमर्श की कोटि तक न पहुँचा कर बौद्धिक-मंथन तक ही सीमित रखा है। मेरे कहने का तात्पर्य यह न समझा जाय कि 'जयभारत' में गूढ़ विषयों पर विचार व्यक्त नहीं किये गये, किंतु उन्हें शास्त्रीय रूप नहीं दिया, यही मुझे अभीष्ट है। वस्तु, पात्र, रस और उद्देश्य में 'जयभारत' की महाभारत से समानता है। परिधि-विस्तार को सीमित रखने के कारण वस्तु की काट-छाँट करके बहुत अधिक त्याग करना पड़ा है। 'जयभारत' के कवि ने न तो महाभारत की कथा का आनुपूर्वी अनुकरण किया है और न पर्वों के विभाजन की शैली को अपनाया है। स्वतंत्र रूप से खंडकाव्य की शैली में लिखे गये विभिन्न प्रसंगों को बाद में महाकाव्य के शरीर में संग्रथित कर दिया है। अतः एक सर्ग का दूसरे सर्ग से आकांक्षा-परक सम्बन्ध नहीं है। सभी सर्ग स्वतंत्र और एक तरह से अपने में पूर्ण हैं और कथा-अन्विति की दृष्टि से यह बात महाकाव्य में त्रुटि ही समझी जायगी। महाभारत में पाठक का औत्सुक्य और कथा की आकांक्षा सतत बनी रहती है। क्षेपक और अवान्तर कथा-प्रसंगों के होते हुए भी उसमें पाठक समग्र कथावस्तु को साथ लेकर बढ़ता है। 'जयभारत' में यह सम्बन्ध प्रारम्भ के तीन सर्गों में तो कुछ जुड़ता है, बाद में सभी प्रकरण स्वतंत्र हो जाते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि संपूर्ण काव्य को पढ़ने के बाद महाभारत की—कौरव-पाडवों की—मूल कथा का बोध हो जाता है। महाभारत के व्याख्यात्मक प्रसंगों को 'जयभारत' के कवि ने प्रायः छोड़ ही दिया है। दो-एक स्थल पर तथ्यात्मक हेर-फेर भी हो गया है, जो खटकता है। जैसे 'स्वर्गारोहण' सर्ग में सहदेव और नकुल के देहपात के कारणों में विपर्यय। सामान्यतः तथ्यों में परिवर्तन का अधिकार कवि को प्राप्त नहीं होता।

एक बात और। महाभारत का आख्यान इतना समृद्ध, विशाल, शक्तिशाली और विरुदमय है कि गुप्तजी सदृश प्रबंधकाव्य की प्रतिभा से संपन्न कवि से उसके पृष्ठाधार पर महाकाव्य लिखते समय अधिक प्रांजल, प्रौढ़, गंभीर, शक्तिशाली और प्रवाहपूर्ण रचना की आशा करना स्वाभाविक है। भारतवर्ष के तत्कालीन सांस्कृतिक संघर्ष का यथार्थ की भूमि पर जैसा सजीव वर्णन व्यास ने यिा, 'जयभारत' का कवि उसका आभास

मात्र दे सका, यही उसकी सफलता समझी जानी चाहिए। युगादर्श, युगधर्म और युगोचित विवेक की रक्षा करने में भी कवि सफल हुआ है। पुरातन कथा का नवनिर्माण करने में उसने सद्धर्म की जय को ही प्रतिष्ठित किया है, किंतु धर्म की प्रतिष्ठा भगवान से न होकर मानव (युधिष्ठिर) के प्रयत्न से हुई है। महाभारत और रामायण हमारी पैत्रिक संपत्ति हैं। इस संपदा का उपयोग करने का उत्तराधिकार हमें वंश-परंपरा से उसी तरह प्राप्त है, जैसे बपौती का स्वत्व बेटे को मिलता है। यदि श्रीकृष्ण के द्वारा 'जयभारत' में धर्म-रक्षा की जाती, तो नर का गौरव आज हमारे सामने न होता, नारायण की पूजा में ही हमारी समस्त शक्ति शेष हो जाती। कदाचित् इसीलिए कवि ने धर्म की प्रतिष्ठा का भार नर के कंधों पर रखकर उसके नरत्व को ऊँचा ही नहीं बनाया, वरन् उसके महत्त्व को गौरव-गरिमा से आलोकित भी कर दिया है।

'जयभारत' में कवि ने चरित्र-चित्रण में कुछ अधिक स्वतंत्रता से काम लिया है, इसलिए महाभारत के पात्रों की आत्मा के अक्षुण्ण रहते हुए भी उनके शरीर में कहीं-कहीं परिवर्तन दृष्टिगत होता है। महाभारत के चरित्र जिस सहज भाव से जीवन के राग-द्वेष, सुख-दुख, पाप-पुण्य को स्वीकार करके अपनी गतिविधि का परिचय देते हैं, उतनी सहजता हमें 'जयभारत' के पात्रों में नहीं दिखाई देती। एक प्रकार की जागरूक सतर्कता और विवेक-परायणता से अनवरत उद्बुद्ध चरित्र जिस विकास-पथ का अनुगमन करते हैं, उसका सूत्र कवि अपने हाथ में रखता है। पाठक को वह उन्हें सौंपता है, जब उसके वांछित चरित्र-गुण उनमें (पात्रों में) उभर आते हैं। कवि की यह सृष्टि पाठक के लिए सदैव आनंदमयी हो, यह आवश्यक नहीं है। किंतु गुप्तजी जैसे प्रबुद्ध कवि की कलम विवेक का संतुलन नहीं खोती। इसी कारण उनकी पात्र-सृष्टि भी सदा पाठक को मुग्ध किये रहती है। पात्रों के उन्नयन की प्रक्रिया बौद्धिक होने पर भी कहीं तर्कहीन नहीं है, इसलिए संवेदनशील पाठक उनमें रम जाता है। किंतु उन्नयन की अनिवार्यता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया जा सकता है। महाभारत में सभी प्रमुख पात्रों के चरित्र विकास की चरम सीमा तक पहुँचे हैं। 'जयभारत' में युधिष्ठिर ही एक ऐसा पात्र है, जो सभी दृष्टियों से पूर्णता पा सका है। शेष सभी चरित्र अर्द्धविकसित रह गए हैं। स्त्री-पात्रों में द्रौपदी के चरित्र को उदात्त और दुर्द्धर्ष बनाने में कवि को सफलता मिली है। द्रौपदी के प्रति कवि ने अतिशय औदार्य रखा है और उसे स्त्री-रूप का आदर्श बनाना चाहा है। हिडिम्बा एक ही सर्ग में वह सब कुछ देकर धन्यता की भागी बन जाती है, जो द्रौपदी को दीर्घ संघर्ष के बाद उपलब्ध हुआ है। भीष्म और श्रीकृष्ण के चरित्र अपने तेज, बल, पराक्रम और शक्ति की दृष्टि से सर्वथा अप्रस्फुटित हैं। 'शांति पर्व' की अवतारणा न करके कवि ने उस विषय को छोड़ ही दिया है, जो महाभारत की चिंता-धारा का स्रोत है। शांति-पर्व की विवेचन-पद्धति 'जयभारत' में नहीं है—कथा भी दो-तीन पंक्तियों में कह दी गई है। इन त्रुटियों के रहते हुए भी 'जयभारत' के मूल ध्येय को पाने में कवि सफल हुआ है। अंतिम सर्ग में कवि ने 'जयभारत' 'जय जय भारत' और 'जय जय जय भारत' कहकर त्रिवार युधिष्ठिर की जय का ही उद्घोष किया है। यह जयनाद युधिष्ठिर की जय के रूप में मानव की जय का प्रतीक है। काव्य और कवि-कर्म की पूर्णता की दृष्टि से 'जयभारत' में 'युद्ध' और 'स्वर्गारोहण' प्रकरण ही गुप्तजी के यश को चिरस्थायी बनाने के लिए पर्याप्त हैं। 'युद्ध' सर्ग में मानव की रागात्मक प्रवृत्तियों का अंतर्द्वंद्व और 'स्वर्गारोहण' सर्ग में मानव की उत्कर्ष-साधना का जो रूप परिलक्षित होता है, वह क्रमशः लोक (मर्त्यलोक) परलोक (स्वर्ग) की कल्पना से भलीभाँति मेल खाता है। 'युद्ध' सर्ग पर काव्य को समाप्त करने में मर्त्यलोक के संघर्ष-द्वंद्व का चित्र पूरा हो जाता, 'स्वर्गारोहण' पर समाप्त करने में लोक-परलोक दोनों की पूरी झाँकी कथा के उपसंहार से साथ सामने आती है।

संक्षेप में, 'जयभारत' राष्ट्रकवि के अर्द्धशताब्दि के साहित्यिक अनुष्ठान का क्रमिक विकास प्रदर्शित करता हुआ उनके कवि-कृतित्व को पूर्णता पर पहुँचाने वाला महाकाव्य है। राष्ट्रकवि के कृतित्व का समग्र रूप में, यदि एक ही रचना में परिचय पाना हो, तो 'जयभारत' को ही प्रतिनिधि रचना के रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

●●●

यशोधरा : स्रोत, काव्य और विकास

श्री कल्याणमल लोढ़ा

★

बौद्ध धर्म के अनेक मान्य ग्रंथों में भगवान बुद्ध का जीवन-संबंधी विवरण बिखरा पड़ा है। यह समूची सामग्री पालि और संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है। पालि साहित्य में पिटक (महावग्ग), अवदान ग्रंथ, निदान कथा, 'महाभिनिष्क्रमण सुत्त', जातक आदि मुख्य हैं और संस्कृत साहित्य में 'महावस्तु', 'ललित विस्तर', 'बुद्ध चरित' एवं बोधिसत्व-अवदान मालाएँ आदि। ज्यों-ज्यों इन ग्रंथों के विदेशी भाषाओं में (चीनी, बर्मी, तिब्बती आदि) अनुवाद होते गये, त्यों-त्यों बुद्ध की जीवन-सामग्री भी क्षेत्रीय विस्तार पाती गई। इन ग्रंथों में भगवान बुद्ध के साथ-साथ प्रायः यशोधरा के जीवनवृत्त पर भी यत्र-तत्र प्रकाश पड़ता है, पर उससे संबंधित एवं प्राप्त सामग्री इतनी अल्प, विभिन्न एवं विवादास्पद है कि आज भी उसका प्रामाणिक जीवन, कुछ घटनाओं के अतिरिक्त, अनिश्चित है। सिद्धार्थ की पत्नियों के अनेक नाम उपलब्ध होते हैं जिनमें यशोधरा, गोपा (साधारणतया इन्हें एक ही माना जाता है) मृग्दजा एवं भद्दकच्छा मुख्य हैं। कहीं-कहीं तो केवल राहुल-माता ही उपलब्ध होता है। भगवान बुद्ध की जीवनगाथाओं के साथ-साथ यशोधरा की सामग्री भी विदेशों में पहुँची और उसने अनेक रूप धारण किए। डॉ० ब्रियूवेस्टर[1] ने 'बुद्धवंश' के आधार पर सिद्धार्थ की स्त्री का नाम भद्दकच्छा माना है, तो ओल्डनबर्ग ने उनके विवाह-प्रसंग को ही परवर्ती कल्पना और सूझ समझी।[2] 'ललित विस्तर' में 'गोपा' का उल्लेख है और 'बुद्धचरित' में यशोधरा का। इसी प्रकार यशोधरा की जीवन-संबंधी अनेक घटनाओं में भी मत-मतांतर हैं। विभिन्न ग्रंथों में विभिन्न की जीवन-सामग्री उपलब्ध होती है। 'सुत्तनिपात' आदि के आधार पर धर्मानंद कौसंबी ने तो यहाँ तक प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि सिद्धार्थ ने सब के समक्ष सब को रोता हुआ छोड़कर गृहत्याग किया था।

'हमावस्तु'[3] में, जो हीनयान धर्म का परम मान्य अवदान-ग्रंथ है, यशोधरा-संबंधी अनेक आख्यान व जातक-प्रसंग मिलते हैं। यशोधरा और सिद्धार्थ का जन्म एक ही समय हुआ। वसंतोत्सव के समय वह सुसज्जित होकर निर्भीक भाव से कुमार के सम्मुख गई। महाभिनिष्क्रमण के पूर्व उसे दुःस्वप्न दिखाई दिये और ब्रह्मा ने बुद्ध द्वारा विश्व-कल्याण की उसे सूचना दी। छंदक को लौटाते समय सिद्धार्थ ने सबके लिए संदेशे भेजे, केवल यशोधरा ही उससे वंचित रही, उसके लिए एक शब्द भी नहीं। परित्यक्त होने के उपरांत यशोधरा भी कषाय धारण करती है। बुद्धत्व-प्राप्ति के अनंतर अनेक जातककथाओं द्वारा भगवान बुद्ध यशोधरा के पूर्व जन्म पर प्रकाश डालते हैं। इन जातककथाओं में 'श्यामा जातक', 'चंपक नागवान जातक', 'मृगराज जातक' आदि मुख्य हैं। 'ललित विस्तर'[4] के अनेक परिवर्त्तों में गोपा का उल्लेख मिलता है। अश्वघोष विरचित 'बुद्ध चरित'[5] में भी इसका प्रचुर वर्णन है। यद्यपि ये ग्रंथ संपूर्ण रूप में प्राप्त नहीं हैं—फिर भी गोपा और यशोधरा के पर्याप्त विवरण इसमें उपलब्ध हैं।

---

[1] 'दी लाइफ ऑफ गौतम'—डा० ब्रियूवेस्टर, पृ० ४५

[2] Buddha : His life, doctrine, his P. 141

[3] 'महावस्तु' : डा० विमल चरण लाहा

[4] 'ललित विस्तर' महायान धर्म का मान्य ग्रंथ है। भगवान बुद्ध की क्रीड़ा के वर्णन के कारण इसका नाम 'ललित विस्तर' पड़ा। अभिनिष्क्रमण सूत्र (नेञ्जीयो सूची) के अनुसार इसको महाव्यूह भी कहते हैं। इसका रचनाकाल निश्चित नहीं, पर है अति प्राचीन। इसके चीनी, बर्मी आदि अनेक अनुवाद हुए।

[5] 'बुद्धचरित', इत्सिंग के अनुसार एक बृहत् ग्रंथ था। पर उसके वर्तमान रूप में कुछ सर्ग ही उपलब्ध हैं। इस ग्रंथ का बड़ा प्रचार था और अनेक अनुवाद हुए।

तिब्बत के प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथ 'कँजूर' एवं 'तँजूर'[1] के आधार पर रोकहिल ने गौतम की तीन स्त्रियों के नाम गिनाये हैं। वे हैं गोपा, मृग्दजा और यशोधरा। मृग्दजा की कथा एवं उसका प्रसंग ठीक 'किसी गौतमी' का ही है, पर इन ग्रंथों में महाभिनिष्क्रमण के सात दिन पूर्व कुमार सिद्धार्थ का उससे विवाह हो जाता है। गोपा का विवाह भी सिद्धार्थ और उसके पारस्परिक आकर्षण के कारण हुआ। तिब्बती वर्णनों में वसंतोत्सव, शास्त्रपरीक्षा आदि प्रकरण नहीं हैं—इसके विपरीत यशोधरा के जीवन से संबंधित अनेक नवीन घटनाएँ प्रकाश में आती हैं।[2] महाभिनिष्क्रमण के छः वर्ष उपरांत राहुल का जन्म होता है और महाराज शुद्धोदन द्वारा शंका किए जाने पर यशोधरा को अपने सतीत्व की परीक्षा[3] देनी पड़ती है, जिसमें वह शुद्ध प्रमाणित होती है। इन ग्रंथों में यशोधरा निरंतर प्रयास करती रहती है कि गौतम पुनः गृहस्थ में चले आएँ। इसके लिए वह गोपा और मृग्दजा का शृंगार ही नहीं करती, पर राजगृह के एक तांत्रिक की सहायता भी लेती है। उसके सारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं। पर उसके दुखों का यहीं अंत नहीं होता—देवदत्त, जो भगवान बुद्ध का प्रतिद्वेषी था, उसकी ओर आकृष्ट होता है और विवाह का प्रस्ताव करता है; यशोधरा दुत्कार कर उसे निकाल देती है।

'महाभिनिष्क्रमण सुत्त' का अनुवाद ईसा की छठी शताब्दि में चीनी भाषा में हुआ[4]। इस अनुवाद में सिद्धार्थ की दो स्त्रियों का उल्लेख है: यशोधरा और गौतमी। इन दोनों विवाहों में वसंतोत्सव, शस्त्रपरीक्षा आदि के उल्लेख हैं और अनेक स्थानों पर यशोधरा से संबंधित जातकों का विवरण है। यशोधरा के जीवन पर इस ग्रंथ में अच्छा प्रकाश पड़ता है एवं 'बुद्धचरित' और 'ललित विस्तर' के अनेक वर्णन इससे मिलते हैं। जैसे स्वप्न, विलाप, छंदक की भर्त्सना आदि। स्वयं भगवान बुद्ध यह कहकर यशोधरा की प्रशंसा करते हैं कि उसे उपहार-स्वरूप प्रदत्त आभूषण-रत्न इत्यादि कभी प्रिय नहीं लगे। इस ग्रंथ में भी, तिब्बती ग्रंथों के अनुसार, राहुल गृहत्याग के ६ वर्ष उपरांत जन्म लेता है और कपिलवस्तु-गमन पर भगवान बुद्ध जातक कथाएँ सुनाकर इसका रहस्य सुलझाते हैं।

बर्मी बौद्धसाहित्य से, जो तीन भागों में विभक्त है (थूत, विनी और अभिधम्म), अंग्रेजी विद्वान बिगेनडेट[5] ने बुद्ध की जीवनगाथाएँ संकलित की हैं; उनमें उनकी पत्नी का नाम यशोधरा (यत्थादूरा) ही उपलब्ध होता है। यशोधरा और सिद्धार्थ एक ही समय जन्मे। उनका विवाह १६ वर्ष में हुआ। महाभिनिष्क्रमण के समय उन्होंने राहुल को चूमना चाहा, पर उसके वक्ष पर पड़े यशोधरा के हाथ ने बाधा डाली। (अनेक जातककथाओं में भी यह प्रसंग मिलता है।) भगवान बुद्ध जब कपिलवस्तु आते हैं, तो राहुल और यशोधरा दोनों ही दीक्षित होते हैं।

यशोधरा की काव्यपरंपरा

'ललित विस्तर' और 'बुद्ध चरित' में पहली बार गोपा या यशोधरा की स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत की गई और उसके जीवन पर प्रकाश डाला गया। अश्वघोष[6] का समय महाराज कनिष्क के समकालीन या कुछ ही पूर्व है। डॉ० जोनसन ने इसे ईसा की पहली शताब्दि गिना है। अश्वघोष एक महान बौद्ध विचारक थे।

---

[1] Bakh-Hgyur & Bastan-Hgyur को तिब्बती साहित्य में बुद्ध के जीवन का आधार मानते हैं दुल्वा (विनय पिटक) है। पालि में प्राप्त विनय से भिन्न इनमें जातक, अवदान, उदान आदि सभी सम्मिलित हैं।

[2] यशोधरा भी गौतम के समान तप करती है, उपवास करती है और पीछे काषाय धारण।

[3] महाराज शुद्धोदन की शंका पर यशोधरा राहुल को एक शिला पर रखकर सरोवर में यह कहकर छोड़ देती है कि यदि वह बोधिसत्व का पुत्र हो, तो डूबे नहीं, अन्यथा डूब जाए। शिला और राहुल दोनों ही नहीं डूबते।
(The life of Buddha by Rockhill, Page 33)

[4] छठी शताब्दि में भारतीय भिक्षु द्वारा चीनी में अनुवाद द्रष्टव्य Romantic History of Buddha : Beal.

[5] Legend of Gaudama : Rev. Bigandet.

[6] द्रष्टव्य : (i) Literary Hisstory of Sanskrit Buddhism by Nariman G. K.
(ii) Introduction to Buddha Carita by Johnson E. H.

बुद्ध-भक्ति का प्रचार ही उनका ध्येय था। वे विश्रुत संगीतज्ञ थे। उनकी संगीत-मंडली जनता को जीवन की क्षणभंगुरता और उसके दु:खों के गीत सुनाकर बौद्धधर्म में दीक्षित करती थी। यह सब होते हुए भी 'बुद्ध चरित' में उन्होंने यशोधरा की वेदना और मार्मिक पीड़ा को पहिचाना। विवाह के समय वे उसके शील और सौंदर्य की प्रशंसा करते हैं—

यशोधरां नाम यशोविशालां
वामाभिधानां श्रियमाजुहाव।[1]

कुछ ही समय बाद राहुल का जन्म और सिद्धार्थ का गृहत्याग होता है। छंदक सिद्धार्थ को समझाता है कि परिव्रज्या उचित नहीं। यशोधरा को लक्ष्य कर वह कहता है—

बाल पुत्रां गुणवतीं,
कुलश्लाघ्यां पतिव्रताम
देवीमर्हसि न त्यक्तं क्लीव[2]
प्राप्तामिव श्रियाम॥ —६.३३

यशोधरा का विलाप और उसके उपालंभ तो अश्वघोष में अद्वितीय हैं। छंदक को देखते ही यशोधरा पूछती है—

निशि प्रसुप्तावशां विहाय मां[3]
गतः क्व सच्छंदक मन्मनोरथः —८.३२

एवं गौतम को लक्ष्य कर कहती है—

स मामनाथां सह धर्म चारिणीमपास्य
धर्मं यदि कर्तुमिच्छति
कुतोऽस्य धर्मः सह धर्म चारिणीं[4]
विना तपो यः परिभोक्तुमिच्छति —८.६१

पर अपने दुख को सम्हाल नहीं पाती, मूर्च्छित हो गिर पड़ती है और सारा रनिवास उसे देखकर कराह उठता है। महायान के मान्य ग्रंथ 'ललित विस्तर'[5] में दंडपाणि की कन्या गोपा का यही गौरव और दुख व्याप्त है। वसंतोत्सव में सिद्धार्थ द्वारा पुरस्कृत होकर मुखानवृत्ता वह राजदरबार में प्रवेश करती है। दरबारी आश्चर्य करते हैं; गोपा उत्तर में कहती है—

वस्त्रासहस्र यदि छादयि आत्म भावं
चित्तं च येषु विवृतं न हिरि न लज्जा
न च येषु ईदृष गुणा न पि सत्य वाक्यं
नग्ने विनग्नतर ते विचरन्ति लोके—शिल्प संदर्शन परिवर्त: २०

अतएव उसके लिए घूंघट आवश्यक नहीं :('यथामह्य शील गुण संवरु अप्रमादो वदनानगुंठनमत: प्रकरोमि किं मे'।) (वही २२) गोपा के ये वचन सुनकर महाराज शुद्धोदन स्तब्ध हो जाते हैं। वह नारी-

---

[1] यशः प्राप्त यशोधरा से विवाह हुआ। यशोधरा अनेक गुणयुक्त, सौंदर्य, सहिष्णुता और दिव्य आचरण वाली है।

[2] तुम्हें एक कायर की भाँति अपनी स्त्री, नवजात शिशु की मां यशोधरा को, जो धर्म और पतिसेवा में रत है, नहीं छोड़ना चाहिए।

[3] रात्रि में मुझे सोती छोड़ मेरे हृदय की अभिलाषा कहाँ चली गई।

[4] यदि वह धर्म का पालन ही करना चाहते हैं, तो मुझे क्यों छोड़ते हैं, मैं उनकी सहधर्मिणी हूँ, मुझे छोड़कर कौन से धर्म का वे पालन करेंगे।

[5] 'ललित विस्तर' : लेफमान द्वारा अनूदित।

गौरव की प्रतिमा है। स्वप्न-परिवर्त में स्वप्न देखकर सिद्धार्थ द्वारा आश्वस्त हो पुन: सो जाती है। अभिनिष्क्रमण परिवर्त में उसकी अकथ वेदना उमड़ पड़ती है। छंदक लौट आया, कंथक भी; पर सिद्धार्थ नहीं लौटे, 'हा वंचिता स्मः कहि गतु बोधिसत्त्वो'[1]। उसके केश उन्मुक्त हैं और वह धरती पर बेहोश गिरी है। उसका सर्वस्व आज लुट गया। मौसी आकर समझाती है। मालूम पड़ता है, सिद्धार्थ अब पुन: लौटकर नहीं आएँगे—'गोपा विदित्वा दृढ़मतिबोधिसत्त्वं नो चापि हर्षी न च गिर श्रद्धाति'[2]। वह अश्वराज कंथक को पकड़ कर विलाप करती है—उसके दीन वचनों और प्रलाप को सुनकर सभी आहत होते हैं। इसी 'ललित विस्तर' के आधार पर ईसा की ८वीं शताब्दी के लगभग जावा के बोरोबुदर के चित्रों में वहाँ के मनीषी कलाकारों ने बुद्ध का जीवन अंकित किया था ; उन चित्रों में प्रदर्शित गोपा की उपर्युक्त भाव-झाँकियाँ अद्वितीय हैं।

'बुद्ध चरित' और 'ललित विस्तर' के ये उपर्युक्त वर्णन धर्म-ग्रंथों की भाँति शुष्क इतिवृत्त तक ही सीमित नहीं रहे। विप्रलंभ-शृंगार के ये उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन ग्रंथकारों ने धार्मिक सीमाओं के परे मानव-हृदय और जीवन की विकलता का, अनुभूतियों का सफल और सच्चा चित्रण किया है। फिर भी जीवन के वैफल्य और नैराश्य का, नारीजीवन की महत्ता, प्रेम की उदात्त तीव्रता और व्यापक संघर्ष का चित्र इनमें अप्राप्य है। धार्मिक सीमाओं से ऊपर उठकर भी ये ग्रंथकार धार्मिक मर्यादाओं को नहीं छोड़ सके और इसीसे सिद्धार्थ और गौतम का यशोधरा-संबंधी चिंतन और संघर्ष इनमें नहीं है।

यशोधरा की इस काव्यपरंपरा को १९वीं सदी में आगे बढ़ाया बंगाल के युगप्रवर्त्तक कवि नवीन सेन और भारतप्रेमी अंग्रेजी कवि एडविन आॅरनोल्ड ने। इन दोनों कवियों ने परंपरानुसार यशोधरा के केवल विरहवर्णन से ही अपने को संतुष्ट नहीं किया। परंतु इसके विपरीत मानवहृदय के नित्य संघर्ष और अनुभवों का दिग्दर्शन नवीन सेन के 'अमिताभ'[3] और आॅरनोल्ड की 'लाइट आफ एशिया' में मिलता है। दोनों ने यशोधरा को बुद्ध के समानांतर रक्खा, यद्यपि भगवान बुद्ध की जीवनचर्या ही उन्हें मुख्य रूप से अपेक्षित थी। नारीजीवन का महत कारुण्य हमें इन काव्यों में मिलता है। इन ग्रंथों में सिद्धार्थ भी हृदयशून्य नहीं है, एक पति की और एक पिता की सरस ममता उनमें विद्यमान है। यशोधरा से संबंधित परवर्ती साहित्य पर इन ग्रंथों का प्रचुर प्रभाव पड़ा।

आॅरनोल्ड ने महाभिनिष्क्रमण के समय सिद्धार्थ के आंतरिक संघर्ष का सजीव चित्र खींचा है। अभी-अभी गोपा स्वप्न देखकर चौंकी थी और सिद्धार्थ ने उसे आश्वासन दिया था कि "उनका प्रेम अटूट है। यदि उसके स्वप्न आने वाली घटनाओं के प्रतिबिंब भी हों, तब भी सिद्धार्थ ने सदैव उसे चाहा था और आगे भी वह सदैव चाहेगा[4] (चतुर्थ अध्याय)।" गोपा आश्वस्त हो पुन: सो गई और सिद्धार्थ के गृह त्याग का 'समय आ गया।' सुप्त यशोधरा के पैरों में नत मस्तक हो, स्नेहभरी दृष्टि से उसे और राहुल को देख उनकी परिक्रमा कर कंपित मन और बोझिल आँखों से वे तीन बार जाने की चेष्टा करते हैं और लौट आते हैं[5]। अंत में संघर्ष को जीतकर वे निश्चय करते हैं कि जाना ही पड़ेगा और वे गए। यह है सिद्धार्थ के आंतरिक संघर्ष का दृश्य; वे हृदयहीन ममत्वशून्य व्यक्ति की भाँति नहीं जाते। अनेक वर्षों के उतरांत जब भगवान बुद्ध कपिलवस्तु लौटते हैं, तब यशोधरा भी उनके पैरों में गिर कर अपना मूल्य चुकाती है और राहुल प्रव्रजित होता है।

नवीन सेन के 'अमिताभ' में गौतम के साथ-साथ गोपा का भी गौरव है। महाभिनिष्क्रमण के समय सिद्धार्थ देखते हैं कि गोपा और राहुल दोनों सो रहे हैं—'सोनार प्रतिमा बक्खे सोनार कुसुम' (महाभिनिष्क्रमण),

---

[1] मुझे वंचित कर बोधिसत्व कहाँ चले गए।

[2] बोधिसत्व को दृढ़ जानकर गोपा ने हर्ष और दुख छोड़ दिए।

[3] बंगला-भाषा में १९ वीं शताब्दी में विरचित बुद्ध का जीवनवृत्त।

[4] Comfort thee, dear, he said, if comfort lives in changeless love......Be sure, I loved and love Yasodhara". (4th Book)

[5] So with his brow he touched her feet and bent. The farewell of fond eyes, unutterable, upon her sleeping face, still wet with tears". (Ibid)

मोह जाग उठता है, पर वे स्थिर होते हैं। आँखों से दो बूंद गिर पड़ती हैं और वे चल देते हैं[1]। दुखपूर्ण धरा के कल्याण के लिए, असंख्य गोपा और असंख्य राहुल के दुख-निवारणार्थ! इसके उपरांत 'यौवन-योगिनी' का चित्र है। उसके वियोग का। गोपा को विश्वास नहीं होता कि सिद्धार्थ चले गए—कारण,

कांदे जार प्राण बेखिले
कीटेर बिंदुमात्र रक्तपात।
पिता, माता, पत्नी, सद्य शिशु शिरे
शे कि करे वज्राघात॥[2] —यौवन-योगिनी

पर जब सचमुच चले ही गए, तब वह शोक में अचेत हो जाती है। अब क्या कहे और क्या नहीं! किसे उपालंभ दे?

तिनि नारायण ताहांर संन्यास,
उद्धार कोरिते नरे।
आमि क्षुद्र नारी आमार संन्यास
ताहारं चरण तरे[1]! —वही

इसी 'वेदी को पूज कर' वह अपना जीवन बिता देगी—यही उसका कर्तव्य है, नारीधर्म! उधर कठोर तपस्या के मध्य भी जब गौतम को सिद्धिलाभ नहीं होता, तब वे सोचते हैं—क्या संन्यास केवल एक भ्रांति ही रहा, गोपा और राहुल को वृथा छोड़ा!

अनाथ अंकेर शिशु
करिलाम करिलाम ए शरीर क्षय
शेषे कि फिरिते घरे,
फिरिते से राजपुरे
सेई नाट्यशाला हाय! करिया श्मशान[3]!!

खैर, अंत में उन्हें बुद्धत्व मिला, सिद्धि मिली और वे पुनः कपिलवस्तु लौटकर आए। माँ अब कोस रही

आमाय अनाथा वधू यौवन-योगिनी गोपा
के तुमि आशिते बोलें, छलिते ताहाय[4]! —संसार-श्मशान

किंतु गोपा!! भगवान बुद्ध स्वयं उस मानिनी के कक्ष में जाते हैं और भिक्षास्वरूप राहुल को ग्रहण करते हैं। गोपा का विलास-कक्ष महातीर्थ बना[5]।

---

[1] केवल दूइटि बिन्दू अश्रु नयने आशिलो, माशिलो धीरे मायार चरने, सिद्धार्थेर सुशीतल शेष उपहार!!

[2] जिसके प्राण कीट का एक बिंदु रक्त देखकर भी रो उठते हैं, वह पिता, माता एवं पुत्र पर क्या ऐसा वज्राघात कर सकेगा?
वे नारायण हैं। उनका संन्यास नर के उद्धार के लिए है। मैं एक क्षुद्र नारी हूँ, मेरा संन्यास तो उन्हीं के चरणों में है।
मैंने इस शरीर को क्षय किया, क्या इसलिए कि पुनः चलना होगा—उस राजपुर और नाट्यशाला को, जिसे श्मशान करके चला आया।
"किसने आकर के मेरी अनाथ वधू यौवन-योगिनी गोपा को छलने के लिए कहा।"

Buddhist Manual of Ceylon (Vol. iii-iv) में यशोधरा पर एक पुरस्कृत कविता बारथोलोमेन्ज की प्रकाशित हुई थी। कवि लिखता है—The sword of grief had pierced her tender heart. The gulf betwixt her and her Lord was great.

इधर बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० जे० बी० चौधरी ने भी संस्कृत में यशोधरा पर कुछ श्लोक लिखे हैं, जिनमें उसके जीवन पर नवीन मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रकाश डाला गया है।

हिन्दीकाव्य में यशोधरा

हिन्दीकाव्य में यशोधरा की इस परंपरा को आगे बढ़ाया आचार्य रामचंद्र शुक्ल, श्री मैथिलीशरण गुप्त और पं० अनूप शर्मा ने। आचार्य शुक्ल ने आॅरनोल्ड के ही उपरिउक्त ग्रंथ का अनुवाद 'बुद्धचरित' में किया। परंतु इस अनुवाद में केवल एक अनुवादक के ही नहीं, एक ब्रजभाषा के सिद्धहस्त कवि के भी सिद्ध दर्शन होते हैं। अनेक स्थलों पर उन्होंने केवल परिवर्तन ही नहीं किया, अपितु काव्यगत रोचकता और लालित्य को अपनी कल्पना और सूझ से बढ़ा दिया है। पं० अनूप शर्मा ने प्रच्छन्न रूप से आॅरनोल्ड को ही आधार मानकर महाकाव्य के परंपरागत शास्त्रीय लक्षणानुसार 'सिद्धार्थ' की रचना की, जो भाषा, वृत्त और शैली में 'प्रिय-प्रवास' का अनुकरण है। यशोधरा के संयोग और वियोग का वर्णन भी परंपरा-भुक्त है। संयोग में जहाँ सौंदर्य-वर्णन, आसक्ति, विहार आदि का वर्णन है, वहाँ वियोग में 'प्रियप्रवास' के पवन-संदेश की भाँति हंस-दूतत्व है। यशोधरा हंस के द्वारा सिद्धार्थ को संदेशा भेजती है और सरोज–कली, भ्रमर तथा रोहिणी नदी को अपना रोना सुनाती है। 'सिद्धार्थ' की यशोधरा शब्द, वृत्त और परंपरा के जाल में अपना असली व्यक्तित्व खो बैठी।

पर गुप्त जी की 'यशोधरा' नवीन मार्मिक कोमलता से अनुप्राणित हो सामने आती है एवं अपनी पुनीत परंपरा में एक नवीन अध्याय जोड़ती है। गुप्तजी की दृष्टि पूर्ववर्ती कवियों के अनुसार गौतमबुद्ध के जीवन पर नहीं रह कर, यशोधरा पर ही रहती है। वही उनके ग्रंथ का मुख्य पात्र और प्रयोजन है। उन्होंने स्वयं कहा है, "अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आँखें चौंधिया गईं और उन्होंने यशोधरा की ओर देख कर भी नहीं देखा" (शुल्क)। 'महावस्तु', 'ललित विस्तर' आदि अनेक बौद्धग्रंथों की भाँति यह भी गद्य-पद्यमय भाषा में है—अर्थात् शास्त्रीय दृष्टि से चम्पू काव्य है। गुप्त जी को 'यशोधरा' में न परंपरा का मोह रहा, न शास्त्रोक्त महाकाव्य के लक्षणों का। प्रबंध-विधान, सांगोपांग घटनाक्रम और वस्तुचित्रण कवि को इष्ट नहीं। उसे तो यशोधरा का जीवन, चरित्र और उसके संघर्ष का चित्रण ही अभीष्ट है। इसीलिए प्रबंधकाव्य का जातीय स्वरूप इसमें नहीं मिलता। महाभिनिष्क्रमण के उपरांत यशोधरा का जीवन दो भागों में बँट जाता है: विरहिणी परित्यक्त नारी और राहुल-जननी में। पहला उसकी 'आँखों का पानी' है और दूसरा उसके 'आँचल का दूध'। समूचा ग्रंथ, कुछ प्रारंभिक गीतों को छोड़कर, इन दो संदर्भों में बँटा है। 'यशोधरा' में उसके तिरस्कृत नारीत्व और पत्नीत्व का उभार है, तो 'राहुल-जननी' में उसके दिव्य मातृत्व का। यही उसका समग्र जीवन-प्रवाह है और इसी के भीतर गुप्तजी की 'गर्विणी गोपा की स्वतंत्र सत्ता और महत्ता।' कवि ने गोपा को गौतम से अधिक ऊँचा उठाया है। उसकी विशेषता है उसका उन्नत नारीत्व, जातीय स्वाभिमान, निस्वार्थ प्रेम, असीम धैर्य, आदर्श त्याग और जीवनपर्यंत अव्याहत वियोग, जिसे शास्त्रीय परिभाषा में आचार्य विश्वनाथ ने 'करुण विप्रलंभ' कहा है। उसका जीवन, एतदर्थ, तिरस्कृत होकर भी उन्नत है, उसकी हार ही जीत है। स्वयं शुद्धोदन को कहना पड़ता है—

गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको

यशोधरा गुप्त जी की नारी-भावना का पुष्कल प्रतीक है। युग-युग की संचित पुरुष की कठोरता और उपेक्षा उन्हें यशोधरा में मिली। अनजाने लुकछिपकर गृहत्याग एवं निष्क्रमण कर, 'सिद्धि मार्ग में बाधा नारी' समझ, सिद्धार्थ ने नारीत्व का तिरस्कार और अतिक्रमण किया। यशोधरा को यही दुख है और कवि को भी, कि उन्होंने नारी को इतना तुच्छ समझा—

सिद्धि हेतु स्वामी गए,
यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गए, यही बड़ा व्याघात!!

तब भी क्या इस नारीत्व से वे मुक्त हो सकेंगे—'मुक्ति' में भी तो वही नारीत्व है—व्याकरण से भी और भावना से भी। यशोधरा न सही, मुक्ति ही उनकी रानी बने, उसका गौरव तो चेरी ही रहने में सार्थक है।

गौतम अमृत पाएँ, उसके लिए उसका 'पानी' ही बहुत है। पर हृदय को कैसे समझाए ? वह नहीं मानता, पूछता है—

अयि मेरे अर्द्धांगि भाव
क्या विषय मात्र थे तेरे ?

क्या यही उसका अर्द्ध विश्व है ! —यह है उसकी मूल कसक और उसकी पीड़ा। उसके माध्यम से समूचे नारीत्व का अकारण तिरस्कार और अपमान उसे असह्य है।

तब भी वह अपना आत्मविश्वास नहीं खोती 'वधू वंश की लाज' निभा लेगी। उसकी श्रद्धा सच्ची है। गौतम स्वयं एक दिन 'मानिनी का मान' रखने आएँगे, कारण—

मेरे ये निश्वास व्यर्थ यदि तुमको खींच न लाए।

आएँगे वे अवश्य, पर उसका प्रेम यदि सिद्धि से पहिले उन्हें खींच लाया, तो चारों ओर अनर्थ और सिद्धि के उपरांत उस मिलन की सार्थकता ही क्या ? महाराज शुद्धोदन उन्हें खोज लाने को कहते हैं, पर वह विरोध करती है। उसका भी स्वाभिमान है, अपने जातीय गर्व और गौरव को कैसे खोदे ! आंग्ल-कवि शेक्सपियर का 'नारी-दौर्बल्य'[१] गुप्त जी की यशोधरा में नहीं। उसका आत्मबल ही उसके जीवन का आदर्श है। अश्वघोष और 'ललित विस्तर' की यशोधरा की भाँति अपनी 'आह' और 'कराह' से वह संवेदनाएँ नहीं बटोरती। काषाय धारण कर, सिर के बाल काट, 'हेम हीर और मणिमाल' त्याग, अपनी मलिन गुदड़ी में 'राहुल' सा लाल रखती है और भाल पर सिंदूर-बिन्दु, जिससे—

वह जलता अंगार जला दे
उनके सब जंजाल।

स्वामी उसे भले ही छोड़ जाएँ, वह उन्हें कैसे छोड़े। अश्वघोष ने 'मार विजय' में आश्चर्य किया था—

शैलेन्द्र पुत्री प्रतियेन बिद्धो
देवोऽपिशंभुश्चलितो बभूव
न चिन्तयत्येष तमेव बाणं किं
स्याद चित्तो न शरः न एषः।[२] —१८.१६

गुप्त जी की यशोधरा उस आश्चर्य का उत्तर देती है—"तुम्हें अप्सरा विघ्न न व्यापे, यशोधरा कर धारी"। प्रकृति का क्रम, षट ऋतुओं का प्रवर्त्तन तो चलता ही है, विरह को उद्दीप्त करने वाले फूल खिलते हैं, कोयल कूकती है। यशोधरा सोचती है, वह भी कभी अपने 'मानस' की राजहंसनी थी, उसके प्रिय के तप ने उसी 'मानस' का सारा पानी सुखा दिया—यही उसका दुख है : उसका वियोग ! उसका विरहवर्णन भी शास्त्रीय विधान को छोड़ देता है। कवि विप्रलंभ की समस्त दशाएँ गिनाने में नहीं उलझा, न घिसे-पिटाए बारह मासे ही सुनाए। यशोधरा के विरहवर्णन में जितनी शुद्धता है, उतनी ही नवीनता और तीव्रता। अब आँचल का दूध ! राहुल-माता ! ! इसका कर्तव्य भी उसे पूरा करना है और वह उसे करती है—

गोपा गलती है पर उसका राहुल तो पलता है
अश्रुसिक्त आशा का अंकुर देखें कब खिलता है

और वह खिला। दिन, मास, वर्ष बीते : आज बुद्ध पुनः लौट रहे हैं। तिरस्कृत नारीत्व का गर्व और गौरव जाग उठता है। उसके निश्वास फले-फूले,—स्वाभिमान रहा।

---

[१] Fraility, thy name is woman.

[२] 'मारविजय' में मार गौतम को धीर और अडिग देखकर कहता है—
"जिसके बाणों से साक्षात शिव भी विचलित होकर पार्वती के प्रति आकृष्ट हुए, उन्हीं बाणों को यह किस धैर्य के साथ सह रहा है। क्या इसके पास चित्त नहीं है, या ये बाण ही अब बाण नहीं रहे।"

भक्त कहीं जाते नहीं, आते हैं भगवान।
यशोधरा के अर्थ है, उसका यह अभिमान।।

अब 'यशोधरा' और 'राहुल माता' मिल जाती हैं; स्वार्थ परमार्थ बनता है, गोपा का नारीत्व अपने 'संधान' पर पहुंच जाता है। सारे उपालंभ, सारे दुख और तिरस्कार भूल वह तथागत, जो स्वयं उसके कक्ष में आते हैं, वह स्वागत करती है, जैसे इस लंबी अवधि में उसे कभी क्लेश हुआ ही नहीं हो। भगवान बुद्ध उसके मान को रखते हैं, और अपनी निर्दयता के लिए क्षमा मांगते हैं—

दानिनी आया स्वयं द्वार पर
यह तव तत्र भवान!
क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की
निर्दयता प्रिय जान।।

पीड़ा की वह दीर्घ अवधि अपने में सिमट कर केवल एक ही रात्रि रह जाती है। यशोधरा को लगता है, जैसे वह संध्या से प्रतीक्षा कर रही थी और गौतम 'सहज सबेरे' ही आ पहुंचे हों! अब उसका दुख 'विश्व सुख' में समा जाता है और राहुल-माता बुद्ध के ही 'अनुरूप' राहुल को उन्हें दीक्षा में देती है। भगवान को भी कहना पड़ता है—

पाला है तुमने जिसे वही वधू का धर्म

—यह है गुप्त जी की यशोधरा, जो अपने दीर्घकालीन विकास की विशृंखल गति और रुग्ण परंपरा में संबद्ध और स्वस्थ दिखाई देती है, समस्त नारीत्व के गौरव से पूर्ण जिसके लिए न्यूमैन ने कहा था कि मानव आत्मा की चरम स्थिति नारीत्व में ही है, चाहे मनुष्य कितना भी 'पुरुष' क्यों न बने[1]!

पर यशोधरा का यह विकास गुप्त जी के जीवन की एक आकस्मिक और अप्रत्याशित घटना नहीं है, अपितु उनकी नारी-भावना के विकास की एक सबल शृंखला है, जिसके भीतर उनके काव्य की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, नारीत्व की जातीय कल्पना और चिंताधारा है।

गुप्तजी की नारी-भावना और 'यशोधरा'

'यशोधरा' के 'शुल्क' में गुप्त जी लिखते हैं,....."और इसका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिला देवी को ही है जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर संकेत किया है; हाय, यहां भी वही उदासीनता।" सहसा प्रश्न उठता है, क्यों और किस प्रकार उर्मिला ने यह संकेत किया। इस प्रश्न का निश्चित उत्तर है, गुप्त जी की नारी-भावना और उसके विकास का क्रम। उनके प्रथम काव्यग्रंथ 'रंग में भंग' से लेकर अद्यांत 'विष्णुप्रिया' तक उनकी नारी-भावना विकसित होती और पनपती रही है। सरस्वती में प्रकाशित रवि वर्मा के नारी-सौंदर्य व प्रणय-चित्रों के शीर्षक-परिचायक पद्य उन्होंने देना प्रारंभ किया था? 'रंग में भंग' में नारी की करुणा का ही वर्णन है। 'केशों की कथा', 'सैरंध्री', 'हिडिम्बा', 'शकुंतला' आदि में भी उसी का प्रसार। 'साकेत' की उर्मिला ने गुप्त जी की नारी-भावना को एक निश्चित आधार दिया और उसके बाद 'यशोधरा', 'द्वापर', 'जयभारत' और 'विष्णुप्रिया'। 'मानसिक परिश्रम का शरीर के प्रतिकूल पड़ने पर भी' कवि ने अभी-अभी 'विष्णुप्रिया' की यह कहकर अर्चना की है—

अयि, उर्मिले, धैर्य रख मन में कट जावेगा काल।
भद्रे! ऊंचा हुआ और भी अब में तेरा भाल।।
यशोधरे! तू रख संभाल कर राहुल सा निज लाल।
उसे मांगने को आवेंगे तेरे बुद्ध विशाल।।

---

[1] If thy soul wants to go into higher blessedness, it must become woman; yes, however manly it may be.

पर यह विष्णुप्रिया करे क्या, ले कर शून्य कपाल।
कापालिक थोड़े हैं उसके प्राणों के प्रतिपाल।।

—उर्मिला, यशोधरा और विष्णुप्रिया। कवि स्वयं विकास के इस क्रम की ओर संकेत कर रहा है।

गुप्त जी की नारी-भावना का मूल तत्व और केन्द्र है—सीता। सीता उनके कुल की अधिष्ठात्री हैं। शैशव से ही वे उनके जीवन और काव्य की मूल प्रेरणा रही हैं। उन्हीं के शब्दों में 'मेरे पिता राम के अनन्य उपासक थे। सीता उनकी कुलदेवता थीं। घर में वही चर्चा रहती थी, उसी वातावरण में मैं भी पला[1]।' यही बात उन्होंने काका कालेलकर से भी कही थी, "हमारे पिता कुलदेवता को लक्ष्य कर कविता किया करते थे। मुझे भी उनके अनुसार स्तुति या गुणगान करने की इच्छा उत्पन्न हुई। वही इच्छा प्रेरणा हुई और उसकी परिणति आत्मनिवेदन से आत्म-समर्पण में हो गई।[2]" राम की स्तुति उन्होंने बहुत की, हर ग्रंथ में की; पर सीता की स्तुति वे कहाँ और कैसे करते? सीता के जीवन में उन्हें नारीत्व की सारी करुणा और वेदना पुंजीभूत होकर मिली थी, नर का नारी के प्रति किया गया कठोर व्यवहार, घोर अविश्वास और उपालंभ। सीता इस नारीत्व का प्रतीक थीं। उत्तररामचरित में स्वयं भवभूति को भी कहना पड़ा—

करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी
विरह व्यथेव वनमेति जानकी। —उत्तररामचरित, ३रा अंक

उनके 'एको रसः करुण एव...' के भीतर भी तो प्रच्छन्न रूप से सीता का ही कारुण्य, वैफल्य और दुःख था। अपने इस कुलदेवता से ही गुप्त जी को नारी-भावना का मूल मंत्र मिला—'आँचल में है दूध और आँखों में पानी।' उनका 'कवि' यह चाहता था कि वह अपनी 'माँ' के उस दुखी और तिरस्कृत जीवन का चित्र आँके, पर गुप्त जी के भक्त ने यह अनुमति नहीं दी—सनातन मर्यादा, वैष्णव भावना और भक्त-परंपरा इसके विपरीत पड़ती थीं—सीता के कारुण्य का चित्रण राम को उपालंभ है और गुप्त जी का भक्त इसे कैसे स्वीकार करे? इसीसे कवि ने भिन्न-भिन्न, पर सीता के ही समानांतर नारी पात्रों की उद्भावना की और उनकी करुण कथाएँ सुना-सुना कर सिद्धि प्राप्त की। 'विष्णुप्रिया' के मंगलाचरण में, जिसे लिखकर कवि ने अपने चिरबंधु को लिखा था—"बहुत दिनों से ऐसा आनन्द नहीं मिला"। वे लिखते हैं—

मांग भर पाती राम क्या तुम्हारी लीला की,
मैथिली की करुणा न देती तुम्हें मोती जो।

—प्रारंभ इस करुणा से है और अंत उसके त्याग, बल और धैर्य में, जहाँ कवि भरतवाक्य की उपलब्धि से कहता है—

सीते, सीते, सीते!!
माँ, अब तो तेरे बल पर हूँ, मेरे बल सब रीते।
रावण से राक्षस के तूने प्रबल लोभ भय जीते
पल-पल से है मुझे जूझना, ले कर ये कर रीते। —विष्णुप्रिया

कवि चाहता है कि सीता पर किए गए दुर्व्यवहार को भी नारीत्व की करुणा और वेदना की व्यापक भूमि में समा ले, पर, करे क्या? भक्त आगे नहीं आने देता। 'अपने इष्ट राम के समीप इन्हें बहुत सावधान रहना पड़ता है' (गांधी को लिखे पत्र से) उनसे डर भी लगता है। चाह कर भी, अतएव, सीता के आँसुओं को गुप्तजी नहीं आँक सके, अन्यथा साकेत में सीता का ही प्राधान्य होता, उर्मिला का नहीं। फिर भी समय पाकर लुक-छिप कर यशोधरा के व्याज से उनका कवि कह ही देता है, 'सखि, सीतादेवी ने बहुत सहा। संभवतः मैं उतना नहीं झेल सकती। कहते हैं, स्वामी-वंचिता होने के साथ-साथ उन्हें मिथ्या लोकापवाद भी सहना पड़ा था।' (यशोधरा, पृ० ७२) अतएव, सीता ही गुप्तजी की नारी-भावना का चरम लक्ष्य है। एक ओर

[1] लेखक को लिखे एक पत्र से।
[2] डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी कृत 'गुप्त जी के काव्य की कारुण्य धारा' से उद्धृत (पृ० ८)

प्रेम, करुणा और वात्सल्य, दूसरी ओर घोर अपमान और तिरस्कार के मध्य भी त्याग, धैर्य और क्षमता का अजस्र प्रवाह! यही गुप्तजी का नारीत्व है। अपनी समस्त कृतियों में उन्होंने इसी का विश्लेषण किया है—शकुंतला, उर्मिला, यशोधरा, राधा, विधृता, द्रौपदी और विष्णुप्रिया इस विश्लेषण और विकास की क्रम-शृंखलाएँ हैं। 'जयभारत' में उन्होंने स्पष्ट कह दिया—

नारी लेने नहीं लोक में देने ही आती है,
अश्रु शेष रख कर वह उनसे प्रभुपद पा जाती है।

—जयभारत : द्रौपदी : सत्यभामा

इन नारी-पात्रों का सृजन और पालन जीवन की दुखान्त भूमिका में हुआ है—वे नर के तिरस्कार और उपालंभों के प्रतीक हैं। और प्रारंभ से ही कवि इसी संधान को चाहता था

उर्मिला में वियोग था, प्रेम था, ममता थी पर उसके रुदन और वियोग की पीड़ा में नर का तिरस्कार और उपालंभ कहाँ था। प्रत्युत सभी ने उसे सराहा, सम्मान और समवेदनाएँ दीं। लक्ष्मण ने वन जाते समय, 'वन में तनिक तपस्या करके, बनने दो मुझको निज योग्य' (८वाँ सर्ग) कह कर विदा ली। चौदह वर्ष ही सही, पर विरह का अंत तो मिलन में हुआ और लक्ष्मण ने लौट कर 'धन्य अनावृत प्रकृत रूप यह मेरे आगे पाया।' स्वयं राम ने उसे सहधर्मचारिणी सीता से ऊपर ठहराया। अभ्यर्थना और मिलन की इस आभा में उर्मिला का सारा दुख और वियोग छिप जाता है, पर कवि की वृत्ति इससे संतुष्ट नहीं होती। वह तो ऐसा चरित्र-विधान माँगती है, जो सीता की ही पूर्ण प्रतिच्छाया हो, जिसमें केवल दूध और पानी हो—प्रेम और तिरस्कार। तभी उर्मिला कवि से कहती है, 'मैं तुम्हें संतुष्ट नहीं कर सकी, लो देखो, कपिल वस्तु के राजोपवन की ओर। इस दयनीय विषाद की ओर, करुण विप्रलंभ, नर के तिरस्कार, और नारी के त्याग, धैर्य और स्वाभिमान की ओर।' यशोधरा इसी संकेत का परिणाम है, इसी खोज की उपज। नारीजीवन की वही शृंखला आगे 'द्वापर' और 'जयभारत' से होती हुई अब 'विष्णुप्रिया' तक पहुँची है।

गुप्त जी के ये नारी पात्र प्रायः उपेक्षित रहे हैं, जीवन में भी, काव्य में भी। पर गुप्त जी ने उनके जीवन के भीतर झाँककर सदैव ही नारी को नर से ऊँचा पाया है—

'दो-दो मात्राएँ ले कर है नर से भारी नारी'। ये दो मात्राएँ स्वरों की नहीं, प्रेम और करुणा की हैं; प्रेम जो जीवन की चरम साधना है और करुणा उसकी सर्वोच्च निधि, जिसके भीतर अव्याहत उपेक्षाएँ भरी पड़ी हैं। यही उर्मिला थी, यही यशोधरा। 'द्वापर' की 'विधृता' तो खुले शब्दों में कह देती है—

राम नाम के नृप को छल कर
सुहृदय सीतावर का।
घर लुटवाने में भी कर था
किसी तुम्हीं से नर का।।

—द्वापर, विधृता

'विष्णुप्रिया' में तो यह स्वर और अधिक तीव्र हो उठा है जब वे कहते हैं—

......नारी पर नर का कितना अत्याचार है
लगता है, विद्रोह मात्र ही अब इसका प्रतिकार है।

—विष्णुप्रिया, पृ० ५९

विद्रोह का यह अर्थ नहीं कि नारी अपनी सनातन मर्यादाओं को त्याग दे, अपनी सांस्कृतिक परंपराओं को छोड़ दे। गुप्तजी का कोई भी नारी पात्र अपना जातीय गौरव और स्वाभिमान नहीं खोता, नारीत्व की अन्य मर्यादाओं से च्युत नहीं होता। गुप्तजी नवीन हो कर भी प्राचीन हैं, वर्तमान में रह कर भी अतीत से पोषित। इसीसे अवैध दुर्व्यवस्था के भीतर, जीवन के घोर वैषम्य के मध्य भी, तपस्या की अग्नि में तप कर इन नारीपात्रों का दिव्य प्रेम, आत्मबल और गौरव अधिक निखर उठता है। उनकी प्रेमभावना पुरुष की

भाँति केवल वासना की तुच्छ भूमि पर ही आश्रित नहीं रहती, वह तो 'भोग से प्रारंभ हो'कर वियोग झेलती हुई योग में परिणित हो जाती है' (गांधी जी को लिखे पत्र से)। यही उसका गौरव है एवं प्रेम की अनन्यता। कालिदास ने भी यही किया था। ऐहिक और लौकिक प्रेम जब तक आग में तप कर खरा नहीं होता, तब तक औरों की बात तो दूर, स्वयं पार्वती भी शिव को नहीं पा सकीं।

गुप्तजी के नारीपात्रों में भी इसी दिव्य प्रेम के दर्शन होते हैं, मांगलिक सौंदर्य के। उर्मिला यही गाती है—

मुझे भूल कर ही विभु वन में विचरें मेरे नाथ।
मुझे न भूले उनका ध्यान।
हे मेरे प्रेरक भगवान॥

—स्वकीय प्रेम और त्याग की इससे अधिक उच्चता क्या होगी। यशोधरा को तो देख ही चुके। 'द्वापर' में उद्धव गोपियों के उपालंभ से निरुत्तर हो जाते हैं, जब 'ज्ञान योग' से 'प्रेम वियोग' को भला बता कर राधा के प्रेम के आगे करुणा का पलड़ा कितना हलका कर दिया!

राधा हरि हो गई हाय, यदि हरि राधा हो पाते।
तो उधो, मधुवन से सीधे तुम मधुपुर ही आते॥

—ठीक भी तो है। लक्ष्मण ने भाई के लिए भार्या छोड़ी। गौतम ने सिद्धि के लिए नारी को बाधा पाया, कृष्ण राधामय हो ही नहीं सके और चैतन्य महाप्रभु राधामय हो कर भी 'विष्णुप्रिया' नहीं बन सके। सीता की ही भाँति इन प्रोषितपतिकाओं ने, परित्यक्ताओं ने इस वियोग और उपेक्षा को परवशता से नहीं, गौरव और कर्तव्य से, त्याग और बल से धैर्यपूर्वक ग्रहण किया। अपने लिए और अपने 'प्रभुओं' के लिए भी; तभी तो—

चले गए माधव मुँह मोड़
राधा जा न सकी व्रज छोड़
कुल छोड़ा व्रज क्यों न छोड़ती पर था कौन उपाय।
उनका पीछा कर क्या उनकी हँसी कराती हाय। —विष्णुप्रिया

—अंत में विजय, इस स्थिरता में, उन्हीं की हुई। गौतम ने गोपा के वधू-धर्म को सराहा और चैतन्य ने गृहस्थ की मर्यादा को।

नारीजीवन के ये समस्त चित्र एकाङ्गी नहीं हैं और न वर्तमान युग से पृथक्। हाँ, इनमें समान अधिकार के प्रलोभन का, सामाजिक विद्रोह का चित्रण नहीं है, है उनके मूलभूत कर्तव्य और आत्म-धर्म का, मर्यादा और धैर्य का, जो भारतीय संस्कृति की मूल भित्ति है। गुप्तजी के नारीपात्र हमारी सांस्कृतिक परंपराओं में रँगे हैं, उसकी उच्च विचारधारा के प्रतीक हैं। उनके गौरवमय निरपराध जीवन की महिमा और गरिमा के समक्ष नर अपराधी और फीका है। महर्षि वेदव्यास ने भी यही कहा था—

न ऽपराधो ऽस्ति नारीणां, नर एव ऽपराध्यति।
सर्व कार्य ऽपरध्यत्वात, न ऽपराध्यति चाऽङ्गनां।

—महाभारत, शांतिपर्व, अ० २७२

इस प्रकार गुप्तजी के इन समस्त नारी पात्रों को हम एक ही वाक्य से बाँधते हैं—

नारी की व्यथा कथा नर की, नर का विकास नारी का क्षय!

•••

मैथिलीशरण का काव्य-विकास

श्री सत्येन्द्र

★

श्री मैथिलीशरण गुप्त की आज तक की रचनाएँ ये हैं—

क्रम संख्या	रचना	प्रकाशन सन्	रिक्त वर्ष
१.	जयद्रथ-वध	१९१०	
२.	रंग में भंग	१९१०	११
३.	भारत-भारती	१९१२	
४.	पद्य-प्रबंध	१९१२	१३, १४, १५
५.	तिलोत्तमा	१९१६	
६.	चंद्रहास	१९१६	
७.	किसान	१९१७	१८
८.	वैतालिक	१९१९	२०, २१, २२
९.	शकुंतला	१९२३	
१०.	पत्रावली	१९२३	२४
११.	पंचवटी	१९२५	
१२.	अनघ	१९२५	
१३.	स्वदेश-संगीत	१९२५	२६
१४.	हिन्दू	१९२७	
१५.	त्रिपथगा	१९२८ (वक-संहार, वन-वैभव, सैरंध्री)	
१६.	शक्ति	१९२८	
१७.	गुरुकुल	१९२९	
१८.	विकट भट	१९२९	
१९.	झंकार	१९२९	३०, ३१
२०.	साकेत	१९३२	
२१.	यशोधरा	१९३२-३३	
२२.	मंगलघट	१९३४	३५
२३.	द्वापर	१९३६	
२४.	सिद्धराज	१९३६	३७, ३८, ३९
२५.	नहुष	१९४०	
२६.	कुणाल-गीत	१९४१-४२	
२७.	अर्जन और विसर्जन	१९४२	
२८.	विश्ववेदना	१९४२	
२९.	काबा और कर्बला	१९४३	४४, ४५
३०.	अजित	१९४६	४७, ४८, ४९
३१.	प्रदक्षिणा	१९५०	
३२.	पृथ्वीपुत्र	१९५१	
३३.	जयभारत	१९५२	

१९१० से १९५२ तक ४२ वर्ष के लंबे अर्से में लगभग ३३ रचनाएँ तो कवि ने मौलिक ही दी हैं। अनुवादों को छोड़ दीजिए। ऊपर की तालिका से यह विदित होता है कि २१ वर्ष ऐसे हैं, जिनमें कवि का कोई प्रकाशन सामने नहीं आया। इस प्रकार अनायास ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जितने वर्ष प्रकाशन के हैं, उतने ही वर्ष अप्रकाशन के हैं—२१ वर्ष प्रकाशन, २१ वर्ष प्रकाशन-रहित। किंतु अभी रचना के प्रश्न को कुछ और गणितीय विधियों से भी देखना है—

गुप्तजी का रचना-क्रम
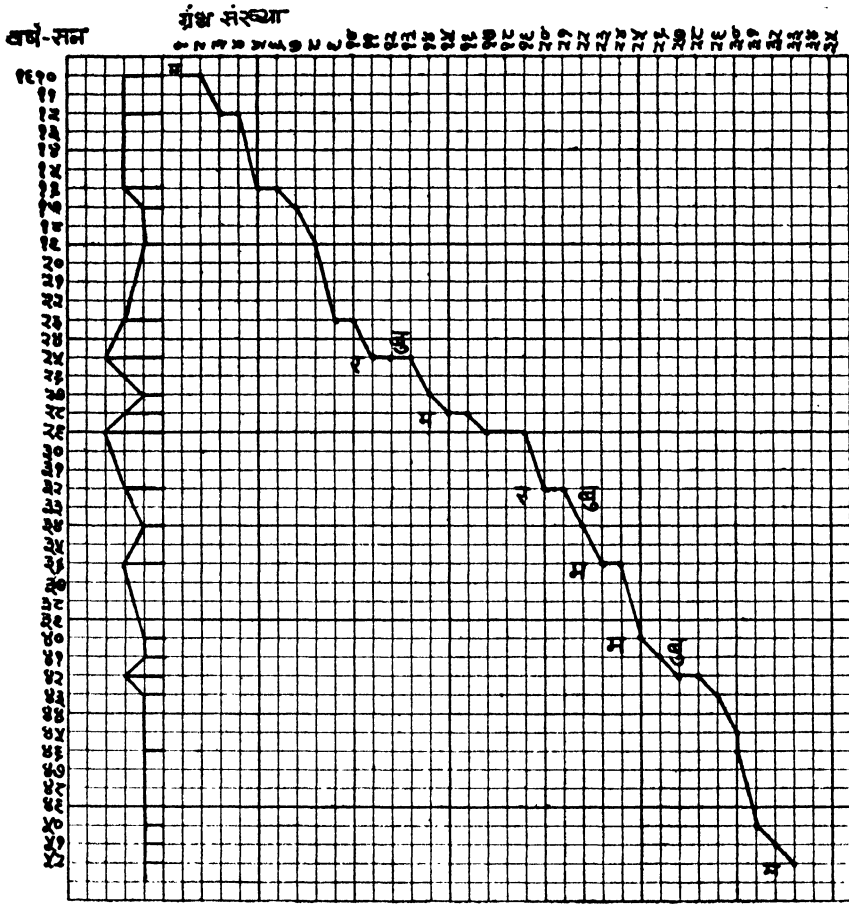
र=रामचरित बु=बौद्ध म=महाभारत

कृतियों के इस क्रम पर ध्यान देने से कवि की मेधा के प्रवाह की दिशाओं का भी पता चलता है, उस प्रवाह की मंथर और तीव्र गति का भी आभास मिलता है और उसकी क्षमता का स्वरूप भी प्रकट होता है।

कवि ने चाहे जब, चाहे जिस रचना से लिखना आरंभ किया हो, पर साहित्य-क्षेत्र में उनकी सबसे प्रथम मौलिक रचना 'जयद्रथ-वध' ही कही जायगी, जो महाभारत से संकलित खंड-कथा के आधार पर रची गयी थी। महाभारत से आरंभ करके हमें १९५२ में एक प्रकार से उनकी जो अंतिम कथात्मक रचना मिलती है, वह 'जयभारत' है। इन दोनों आरंभ और अंत की कृतियों के नामों में भी एक तारतम्य प्रतीत होता है। पहले नाम में भी जय विद्यमान है और अंतिम नाम में भी। किंतु पहले नाम में वध की प्रधानता है, जब कि अंतिम में भारत की। पहले नाम में जयद्रथ के 'जय' शब्द से वध की प्रशंसा है और अभिनंदन है, जब कि जयभारत से भारत देश को संकेत करते हुए भी उस भारत का अभिनंदन है, जो महाभारत का एक

अंश है। 'जयभारत' के निवेदन में कवि ने लिखा है, "अर्द्ध शताब्दी होने आई, जब मैंने 'जयद्रथ-वध' का लिखना आरंभ किया था। उसके पश्चात् भी बहुत दिनों तक महाभारत के भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर मैंने अनेक रचनाएँ कीं। उन्हें लेकर कौरव-पांडवों की मूल कथा लिखने की बात भी मन में आती रही, परंतु उस प्रयास के पूरे होने में संदेह रहने से वैसा उत्साह न होता था।" इन पंक्तियों से यह व्यक्त होता है कि कवि यह सोचता था कि उसने अब तक महाभारत के भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर जो रचनाएँ की हैं, उन्हीं के सहारे कौरव-पांडवों की कथा अथवा महाभारत की कथा, दूसरे शब्दों में 'जयभारत', लिख डालेंगे। इस कवि की महाभारत-विषयक रचनाएँ, जो 'जयभारत' से पूर्व लिखी गईं, निम्नलिखित हैं—

१—जयद्रथ-वध

२—त्रिपथगा अर्थात् अ—वक-संहार, ब—वन-वैभव, स—सैरंध्री

३—द्वापर

४—हिडिम्बा

इस प्रकार महाभारत-विषयक कथानक से संबंधित सात रचनाएँ कवि ने प्रस्तुत कीं। इससे यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि कवि का मानस महाभारत की ओर विशेषरूप से आकृष्ट रहा, क्योंकि संख्या में इतनी रचनाएँ इस कवि ने और किसी विषय पर नहीं कीं। इस विधि से यदि इनकी रचनाओं का विभाजन किया जाय, तो विदित होगा कि सात रचनाएँ महाभारत-विषयक, तीन रामचरित-विषयक, तीन रचनाएं बौद्ध क्षेत्र से संबंधित, चार पौराणिक, एक वैदिक, चार ऐतिहासिक (राजपूत-कालीन), दो मुस्लिम वृत्ताश्रयी, एक सिखधर्म-विषयक, पांच भारतीय गौरव विषयक वैविध्य युक्त, एक कारावास से संबंधित राष्ट्रीय, एक गीत-ग्रंथ आदि। तो, यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि कवि को महाभारत विशेष रुचिकर रहा है।

महाभारत, रामायण और कथासरित्सागर उन प्रसिद्ध ग्रंथों में हैं, जिन्होंने भारत में युग-युग में लौकिक काव्यकर्ता को अपनी रचना की वस्तु प्रदान की है। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं मानी जा सकती कि कवि का ध्यान विशेषतः महाभारत की ओर गया। महाभारत, रामायण और कथासरित्सागर प्रबंध-विधान की दृष्टि से दो वर्गों में बांटे जा सकते हैं—

१—मणिमाला-विन्यास

२—एकमणि-विन्यास

महाभारत या कथासरित्सागर मणिमाला-विन्यास वाली रचनाएँ हैं, जिनमें अनेकों कथाएं तथा वस्तुएँ विविध मणियों की भाँति एक सूत्र में पिरोयी गई हैं। रामायण एकमणि-विन्यास वाली कृति है। इसमें एक ही वृत्त एक मणि की तरह अपनी छटा से जगमगाता है। महाभारत और रामायण के स्रोतों के सम्बन्ध में अतः यह एक महदन्तर विदित होगा कि मणिमाला में से कोई भी मणि लेकर यदि एक स्वतंत्र काव्य प्रस्तुत किया जायगा, तो वह अपने में पूर्ण मणि की भाँति ही देदीप्यमान होने लगेगा। उसका आदि और अंत व्यवस्थित होगा। किंतु यदि मणि का कोई खंड लिया जायगा, तो वह एक चूर या कण का रूप ग्रहण करेगा। अंश का प्रकाश तो उसमें होगा, पर वह खंड-प्रकाश ही विदित होगा। यही कारण है कि महाभारत और कथासरित्सागर स्रोत की दृष्टि से अधिक उपयोगी और अधिक लोकप्रिय होंगे। इसका एक परिणाम यह भी होता है कि मणिमाला में अनेकों मणियाँ होती हैं, वे छोटी-बड़ी भी हो सकती हैं। कुछ मणियों का प्रकाश सबको दिखायी पड़ सकता है, कुछ का विशेष द्रष्टा को ही। महाभारत में वैविध्य है। अनेकों कथाएँ गुँथी हुई हैं। उनमें से बहुत-सी कथाएँ लोक-प्रचलित हैं। वे स्वतंत्र कथा की भाँति भी प्रचलित हैं और महाभारत के अंग की भाँति भी। उन कथाओं में से कुछ ऐसी भी हैं, जिन्हें महाभारत के पढ़नेवाले ही जानते हैं। अतः महाभारत से नई सामग्री भी मिल सकती है, जो पाठकों को आकर्षक हो सकती है। महाभारत का मुख्य सूत्र ज्ञात हो, तब भी उसमें सन्निविष्ट अनेकों कहानियाँ नई ज्ञात होंगी। रामायण का मूल तथा सूत्र ही एक प्रकार से संपूर्ण कथा है—बहुत कम ऐसी कथाएँ उसमें रह जाती हैं, जो सूत्र से बाहर की होती हैं। इन गुणों के कारण महाभारत सदा ही कवियों के लिए स्रोत का विषय रहा है।

इस सामान्य प्रेरणा के साथ ही श्री मैथिलीशरण के लिए तो एक विशिष्ट भावभूमि भी प्रस्तुत थी, जिससे महाभारत उनके आकर्षण का विषय बना। वह विशिष्ट भावभूमि थी—भारत की राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक स्थिति।

राजनीतिक स्थिति, ऐतिहासिक स्थिति, सामाजिक और साहित्यिक स्थिति के सूत्र जटिल थे, उलझे हुए और वैविध्य लिए हुए और द्वापर—संदेह और अनिश्चय के भावों से परिपूर्ण, जिन्हें हम स्थूल रूप से यों गिन सकते हैं—

१. साहित्य की परंपरा में शृंगार-बाहुल्य के विरोध-भाव में वीररस की माँग
२. भारत के जन में पारस्परिक आंतरिक विरोध, जिसके कई पहलू थे—
   (अ) हिन्दू-मुस्लिम विरोध
   (आ) शासक-प्रजा विरोध
   (इ) हिन्दू-आर्यसमाजी विरोध
   (ई) हिन्दुओं में परस्पर जाति-जाति विरोध
   (उ) किसान-जमींदार
३. समाज के गिरते हुए नैतिक मान
४. आत्महीनता का भाव
५. प्राचीन गौरव के प्रति अज्ञान और अनास्था
६. आर्थिक स्थिति मेरुदंड के प्रति असहानुभूति
७. आचार में महत्‌शील का अभाव
८. बौद्धधर्म-विषयक हलकी पुनर्जागृति
९. अहिंसा और निष्काम का संदेश
१०. स्त्री-वर्ग के प्रति करुणा
११. कला के आदर्शों के सम्बन्ध में मति-भ्रम
१२. पाप-पुण्य के मानकों में परिवर्तन

ऐसी जटिल स्थिति के लिए प्रेरणा-स्रोत महाभारत ही हो सकता था, क्योंकि उसमें सभी प्रकार के और सभी भावों के कथासूत्र गुँथे हुए हैं।

'जयद्रथ-वध' से जिस कवि ने अपने महा कविकर्म का आरंभ किया, वह निश्चय ही तत्कालीन साहित्यिक स्थिति से क्षुब्ध होगा और तद्विषयक माँग की ही पूर्ति करना चाहता होगा।

वाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकी जीवन कहो।
फिर पूर्वजों की वीरता के......तरंगों में बहो।।

इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि कवि भारतेन्दु-युग से चली आने वाली गौरवगाथा की गायन-प्रवृत्ति से प्रेरित हुआ है। इसमें वह वीररस का परिपाक करेगा और उस समय, जिसका साहित्य में अभाव बताया जाता था, उसकी पूर्ति करेगा। वह एक ऐसा विषय चाहता था, जिसमें—

१. अपने प्राचीन महान पुरुषों की गौरवगाथा हो।
२. वह गौरवगाथा ऐसी हो, जो निश्चय ही गौरव बढ़ानेवाली हो।
३. वह ऐसी हो, जो किसी सामयिक समस्या पर प्रकाश डाल सके।
४. वह ऐसी हो, जो सभी को आकर्षित कर सके।

'जयद्रथ-वध' की कहानी उनको ऐसी ही विदित हुई। यह प्राचीन महान पुरुषों की तो गाथा थी ही। इसके सभी पात्र महान थे—युधिष्ठिर, अर्जुन, कृष्ण, अभिमन्यु, दुर्योधन, जयद्रथ।

यह गाथा निश्चय ही भारतीय गौरव को बढ़ाने वाली है—इसमें भाई-भाई के युद्ध का उल्लेख होते हुए भी 'न्याय' का महत्व दिखाई पड़ता है—"न्यायार्थ अपने बंधु को भी दंड देना धर्म है"। उस न्याय

की प्रतिष्ठा करने के लिए व्यग्र होता है एक व्यक्ति अथवा छोटा समुदाय और वह उस न्याय की प्रतिष्ठा के लिए अकेला भी लड़ने को प्रस्तुत है, यहां तक कि अपने को सर्वतः समर्पित और नष्ट कर देने को प्रस्तुत हो जाता है। मनुष्य जहाँ अपने सर्वस्व को दाँव पर रख देता है, वहाँ ईश्वर का साहाय्य भी मिलता ही है और अन्यायी को दंडित भी होना पड़ता है। इस गौरवगाथा का संघर्ष इस रूप से उपस्थित होता है—

शक्ति-मद	
शासकीय सत्तारूढ़ चक्र	—सत्ताहीन वर्ग
शासकीय सत्ता के दास महानपुरुषों का संगठित अन्याय	—न्यायारूढ़ निर्भीक एक वीर
अन्याय अपने ही बंधुओं पर	—न्याय के लिए बंधुओं का ही विरोध
प्रबल सैन्य शक्ति	—व्यक्ति का व्रत और अध्यात्म
	न्याय और ईश्वर का भरोसा

इस संघर्ष का स्वरूप राजनीतिक है—राज्य पाने के लिए। अपना स्वत्व पाने के लिए पांडव युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं, तब, जब कि विनय-अनुनय करके माँगने पर सुई की नोक बराबर भी भूमि-अधिकार उन्हें नहीं दिया जा रहा। भूमि उनकी है—मदमाते व्यक्तियों ने अन्याय से उसपर अधिकार कर लिया है और उस अधिकार में से कुछ भी यथार्थ अधिकारी को नहीं देना चाहते।

धर्मयुद्ध यही है कि स्वत्वहीन अपहरण करने वाले के विरुद्ध उठ खड़ा हो, फल की कामना न करे। वह अपने धर्म पर है, बस। धर्म पर बलि हो जाय।

इस महान संदेश को गर्भित करने वाली यह गाथा महान गौरव से अभिमंडित तो है ही, सामयिक समस्या पर प्रकाश ही नहीं डालती, वह मनोबल भी देती है, जो उस समस्या को हल करने के लिए आवश्यक है। साथ ही इसमें सभी आकर्षित करने की सामग्री है—

राजनीतिक आकृष्ट होना इसमें गर्भित संघर्ष के कारण
साहित्यिक आकृष्ट होना 'रस' के लिए, भावों के ओज के लिए
वृद्ध के लिए वृद्ध सप्तमहारथियों का चरित्र आँख खोलने वाली है। अन्यायपूर्ण परिपाटी का साथ देने से कल्याण नहीं हो सकता।
युवकों को संकल्पपूर्वक अन्याय का प्रतिकार करना चाहिए।
बालक अभिमन्यु जैसे हों।

तात्पर्य यह कि इनकी सामाजिक चिंतनाओं से घुला-मिला यह कथानक उस समय सबसे अधिक महत्वपूर्ण था, जिसके माध्यम से कवि और सामयिक अभाव को भी दूर कर सका, अपनी क्रांति-दृष्टि से भविष्य का चित्र भी दे सका। भारत के इस युग के महान संघर्ष का एक रूपक उसमें आया है। कृष्ण के समावेश से वह दिव्यादिव्य से युक्त हो गया है, जिससे साधारण जन की सहज धार्मिक वृत्ति भी उसमें लीन हो सकती है। किंचित रूपक को भी खोल देखिए—

राज्यसत्ता	आरूढ़—वे जिनका वास्तविक अधिकार नहीं : कौरव	अंग्रेज
संचालक	कर्ण—पांडवों का भाई	जनता के अपने ही अंग
द्रोणाचार्य	पांडवों के गुरु	हिन्दू, मुसलमान,
भीष्म	पांडवों के बाबा	अधिकारी अफसर लोग
विरोधी विद्रोही	पांडव	यथार्थ अधिकारी भारतीय जन
संचालक	कृष्ण	लोकमान्य गांधी प्रभृति
परिणाम	अभिमन्यु की बलि	जनता के लघु अंश का नाश

जयद्रथ का वध — सत्तारूढ़ के जयरथ की गति का नाश
पांडवों की जय — भारतीय जन की विजय।

इस ऊहा-पोह से स्पष्ट है कि इस जटिल स्थितिमें यह महाभारत से लिया हुआ अंश ही सर्वथैव समीचीन था। कवि का जिस गाथा में विशेषत: धार्मिक मोह था, वह इतनी नीति-निहित और बहु-अभिप्राय-वर्तिनी नहीं थी और एक भिन्न स्तर की थी। वह राजनीतिक से अधिक सांस्कृतिक थी।

महाभारत का यह कथा-सूत्र कवि के हाथ पड़ा और एक वैविध्य के साथ विशेष अभिप्रायों को व्यक्त और सिद्ध करता हुआ 'जयभारत' तक जा पहुँचा।

इन प्रेरणाओं से महाभारत की ओर कवि का विशेष आकर्षण हुआ, पर मुख्य बात तो यह थी—

फिर अपने को याद करो।
उठो अलौकिक भाव भरो॥

—वैतालिक

यह भाव था जो गुप्त जी में आदि से अंत तक विद्यमान है। दूसरे शब्दों में उन्होंने भारत की आत्मा को आत्मस्वरूप जानने की चेष्टा की है। उनका प्रत्येक काव्य उसी दिशा में किया गया प्रयत्न है। महाभारत में भी भारत के जटिल स्वरूप का अमर चित्र है, अत: उसी ने उन्हें विशेष आकृष्ट किया और उसी के विविध सूत्रों से उनकी रचनाओं की पृष्ठभूमि प्रस्तुत हुई। 'जयद्रथ-वध' से 'जयभारत' तक कवि ने लिखा है कि—

"अर्द्ध-शताब्दी होने आई, जब मैंने 'जयद्रथ-वध' का लिखना प्रारंभ किया था। उसके पश्चात् भी बहुत दिनों तक महाभारत के भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर मैंने अनेक रचनाएँ कीं। उन्हें लेकर कौरव-पांडवों की मूल कथा लिखने की बात भी मन में आती रही, परंतु उस प्रयास के पूरे होने में संदेह रहने से वैसा उत्साह न होता था।

"अब से (सं० २००९) ग्यारह-बारह वर्ष पहले पर-शासन के विद्वेष के रूप में जब मुझे राजबंदी बनना पड़ा, तब कारागार में ही सहसा वह विचार संकल्प में परिणत हो गया और मैं यह साहस कर बैठा। परंतु वहीं 'अजित' और 'कुणाल-गीत' लिखने का काम भी हाथ में ले लेने से इस पर पूरा समय न लग सका। आगे भी अनेक कारणों से क्रम का निर्वाह न कर सका।

"एक अतर्कित बाधा और आगई। अपनी जिन पूर्व कृतियों के सहारे यह काम सुविधापूर्वक कर लेने की मुझे आशा थी, वह भी पूरी न हुई। 'जयद्रथ-वध' से तो मैं कुछ भी न ले सका। युद्ध का प्रकरण मैंने और ही प्रकार से लिखा। अन्य रचनाओं में भी मुझे बहुत से हेर-फेर करने पड़े। कुछ तो नए सिरे से पूरी की पूरी फिर लिखनी पड़ीं। तथापि इससे अंत में मुझे संतोष ही हुआ और इसे मैंने अपनी लेखनी का क्रम-विकास ही समझा (निवेदन)।"

इसमें गुप्त जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि : १—'जयद्रथ-वध' से 'जयभारत' तक महाभारत का सूत्र उनसे किसी-न-किसी रूप में अवश्य संबद्ध रहा।

२—वे समय-समय पर लिखी गई रचनाएँ ऐसी थीं कि उनको ही संपादित करके वे कौरव-पांडवों की कथा सहज ही पूर्ण कर डालना चाहते थे।

३—पर वे उनपर निर्भर नहीं कर सके। उनमें उन्हें बहुत कुछ हेर-फेर करने पड़े और तब वे वर्तमान 'जयभारत' के अंग बन सके।

४—पूर्व रचनाओं में इस हेर-फेर, संशोधन-परिवर्धन को वे अपनी लेखनी का क्रम-विकास मानते हैं।

इससे जहाँ इस बात की पुष्टि होती है कि महाभारत की कथा कवि को निरंतर आकर्षण का विषय बनी रही है, वहाँ यह भी प्रकट होता है कि समय-समय पर जो कथावस्तु महाभारत में उन्होंने ग्रहण की, उस वस्तु की तात्कालिक व्याख्या में उनका कुछ और दृष्टिकोण था और 'जयभारत' लिखते समय कुछ और।

दृष्टि के इसी भेद के कारण महाभारत के कथानक के अंशों को विविध समयों पर कवि ने जहाँ-तहाँ से चुना था, स्वाभाविक क्रम में महाभारत का कथा-क्रम नहीं था—

१—जयद्रथ-वध
२—वक-संहार
३—वन-वैभव
४—सैरंध्री
५—द्वापर (द्वापर को महाभारत का नहीं, भागवत का अंश मानना चाहिए)
६—नहुष
७—हिडिम्बा

• यह उनकी रचनाओं का स्वाभाविक क्रम है, पर 'जयभारत' के कथाक्रम का यह रूप है—

१	२	३	४	५	६	७
नहुष (६)	यदु और पुर	योजनगंधा	कौरव-पांडव	बंधु-विद्वेष	द्रोणाचार्य	एकलव्य
८	९	१०	११	१२	१३	१४
परीक्षा	याज्ञसेनी	लाक्षागृह	हिडिम्बा (७)	वक-संहार (२)	लक्ष-वेध	इंद्रप्रस्थ
१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१
वनवास	राजसूय	द्यूत	वन-गमन	अस्त्रलाभ	तीर्थ-यात्रा	द्रौपदी-सत्यभामा
२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८
वन-वैभव (३)	दुर्योधन का दुख	वनमृगी	जयद्रथ	अतिथि-आतिथेय	यक्ष	अज्ञातवास
२९	३०	३१	३२	३३	३४	३५
सैरंध्री (४)	वृहन्नला	उद्योग	विदुर-वार्ता	रण-निमंत्रण	अनाहूत	मद्रराज
३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२
केशों की कथा	शांतिसंदेश	कुन्ती और कर्ण	युयुत्सु	समर सज्जा	अर्जुन का मोह	युद्ध (१)
४३	४४	४५	४६	४७		
हत्या	विलाप	कुरुक्षेत्र	अंत	स्वर्गारोहण		

१	११	१२	२२	२९	४२
६	७	२	३	४	१

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने कथा के जिस अंश को सबसे पहले अपनी रचना का विषय बनाया था, वह उनकी 'जयभारत'-योजना में बयालीसवें स्थान पर पहुँचा, वह भी अत्यंत संक्षिप्त होकर। जिस रूप में वह आरंभ में ग्रहण किया था, वह 'जयभारत' का नहीं रहा। इसीलिए कवि ने भूमिका में लिखा है कि वह 'जयद्रथ-वध' से कुछ भी न ले सका। कारण स्पष्ट है कि 'जयद्रथ-वध' के समय जो स्थिति थी, उसमें 'जयभारत' के समय बहुत परिवर्तन हो गया था। फिर 'जयद्रथ-वध' स्वयं जब काव्य का विषय बना, तब उसमें रसोत्पादन के लिए विशेष वर्णनों और विस्तार का समावेश करना पड़ा था। अब यहाँ यह एक विशद वस्तु का एक अंग मात्र होकर आया है, इसीलिए कलेवर में बहुत लघु हो गया है। वस्तुत: 'जयद्रथ-वध' महाभारत के युद्धकांड का एक छोटा-सा ही अंश था, महाभारत के अंत का सूत्र का। 'जयभारत' में गुप्त जी ने इस युद्ध के उपरांत पाँच सर्ग ही और जोड़े हैं। कवि ने महाभारत के अंत से अपना काव्य आरंभ किया था। दूसरा अंश जो उन्होंने अपने काव्य के लिए महाभारत से चुना, वह था 'वक-संहार'। यह 'जयभारत' की योजना में बारहवें स्थान पर रखा गया है। वक-संहार १९२८ के लगभग लिखा गया होगा। क्योंकि लिखा गया, उसका रहस्य उन पंक्तियों से प्रकट होगा, जो 'जयभारत' में सम्मिलित करते समय 'वक-संहार' से कवि ने निकाल दी हैं, वे ये हैं—

आतिथ्य और अतिथि-कथा,
तेरी पुरानी वह प्रथा,
प्राचीन भारत आज भी सु नवीन है
अब अतिथि भिक्षुक मात्र है,
अधिकांश अन्न अपात्र है,
भिक्षा बना व्यवसाय, तू भी दीन है।
हे देश होकर भी गृही
तू था न यों स्वार्थ स्पृही
वह धर्म की ध्रुवता कहाँ तेरी बता?
अब भूत चाहे भूत है,
पर वह बड़ा ही पूत है।
इतिहास देता है हमें उसका पता।

इन पंक्तियों में पूर्व गौरव का स्मरण भारतेन्दु-युग के बीज का द्विवेदी-कालीन संस्करण है।

सब ने उचित स्वागत किया,
सुख से उन्हें आश्रय दिया,
मृग-चर्म-धारी ब्रह्मचारी पाण्डुसुत
थे शास्त्र अब भी सीखते,
मां युक्त थे यों दीखते—
प्रत्यक्ष मानों पंच मख थे, पूर्तियुत।

आज हम इस भारतेन्दु-काल की पूर्व गौरव-विषयक मनोवृत्ति से बहुत आगे बढ़ आए हैं। इसी प्रकार 'वन-वैभव' ने 'जयभारत' में बाईसवाँ स्थान पाया है, 'सैरंध्री' ने उन्तीसवाँ, 'नहुष' ने पहला और 'हिडिम्बा' ने ग्यारहवाँ। ये सब परिवर्तन सामयिक दृष्टिकोण के कारण हुए हैं। 'जयभारत' भारत की 'जय' का स्वरूप प्रस्तुत करता है। वह जहाँ भारत की स्वतंत्रता के ऐहिक पक्ष को अभिनंदित करता है, वहीं 'नहुष' के मानव-पतन और मानव की पुनरुत्थान की दीर्घयात्रा की ओर भी संकेत करता है। अंत में उसी आरोहण को भारत की जय मानता है। वस्तुतः 'जयभारत' मानव के इस विजय की घोषणा है जो मानव का अपना उपार्जित स्वत्व उपलब्ध कराता है। मानव जिस अभिशाप से मर्त्य हुआ, जिस अभिशाप से वह धूल बना, भारत में उस अभिशाप से मुक्ति का मार्ग भी प्रस्तुत किया गया और 'जयभारत' उसी मार्ग की ओर इंगित करता है। यह मार्ग एक ओर मिट्टी से मिट्टी के संघर्ष का है अर्थात् सांसारिक संघर्ष का, तो दूसरी ओर मानव के अमरत्व और मृत्तिका के मृतित्व का भी है। स्वर्गच्युत मिट्टी से उठकर मानव पुनः उसे प्राप्त कर सकता है, इस आशा को 'जयभारत' प्रकाशित करता है। भारत ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की, यही मानो मानव के अपने अमरत्व प्राप्त करने के तुल्य है, क्योंकि मानव की मूल धरोहर भारत का ही जन है।

गुप्त जी की काव्य-कला के विकास और उत्कर्ष की यह पगडंडी संक्षेप में यहाँ उद्घाटित की गई है। अब यहाँ पहुँचकर कवि 'विष्णुप्रिया' के दर्शन कर रहा है। तुलसीदास ने जैसे अपनी विनयपत्रिका पर भगवान के हस्ताक्षर कराने के लिए सीतामाता की शरण ली, वैसे ही गुप्त जी विष्णुप्रिया के पास पहुंचे हैं। उनके काव्य के मर्म को समझने के लिए उत्सुक जिज्ञासु अब उनकी 'विष्णुप्रिया' से आगे मानवात्मा की यात्रा की दिशा के नए स्वरूप की प्रतीक्षा करेगा। गुप्त जी में मानव-आत्मा ने ही कवित्व प्राप्त किया है।

•••

विष्णुप्रिया : मृत्युंजयी मृण्मूर्ति का राष्ट्रीय अभिषेक

श्री ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरुआ'

★ ★

श्रावण शुक्ला तीज, २०१४ विक्रमी को गुप्त जी ने ७२वें वर्ष में प्रवेश किया है। इसी शुभ उपलक्ष्य में कलकत्ता-रेडियो से एक श्रद्धा-निवेदन-वार्ता प्रसारित करते हुए मैंने कहा, "हम एक बात स्पष्ट कर दें। गुप्त जी आज जो भी हैं, वे तो उस ऋतुधर्म के बल पर हैं, जो वर्ष में क्रमवार से पोषण-सिंचन-आवेदन का धर्मचक्र चलाता रहता है। आज वे ७१ वर्षों के वसंतों की साक्षी मुट्ठी में थामे ७२वें वर्ष का स्वागत कर रहे हैं। लेकिन अपने इस दीर्घ जीवन में जैसे उन्होंने बस एक ही दिशा थामे रखी है : उन काव्य-मूल्यों की समुचित व्यवस्था किए जाना, जो गहरे जाकर राष्ट्र को प्राण देते हैं, ओज देते हैं।"

रेडियो-स्टेशन से जैसे ही वार्ता समाप्त कर घर लौटा, तो आदरणीय दद्दा का पत्र हाथ लगा, लिखा था, "विष्णुप्रिया भेज रहा हूँ, स्वीकार कर लीजिएगा।" इस पत्र ने मुझे नया आश्चर्य नहीं दिया। अपने ७१वें वर्ष में उनकी अश्रांत लेखनी ने सहसा ही अपने राष्ट्रकवित्व को मुखर कर यह 'विष्णुप्रिया' प्रस्तुत की है।

विष्णुप्रिया गौरांग महाप्रभु की पत्नी थी और आज भी पूर्वी भारत के लोकअंचलों में विष्णुप्रिया परिगीतरूपा, प्रातःस्मरणीया और भारतीय नारीत्व की ऐसी चिरंतन प्रतिनिधि है, जो अपने विरह-वियोग-तप से परामृत सिद्ध हुई है। बंगाल के वैष्णवी कीर्तनों में विष्णुप्रिया परिगृह्या वर्ग की जीवंत मूर्ति है। गुप्त जी ने राष्ट्रीय क्षितिज पर 'विष्णुप्रिया' प्रस्तुत कर जैसे आधुनिक हिंदी-काव्य की हीरक-जयंती का शुभ उद्घाटन किया है। यह कृति हमें सदैव स्मरण कराती रहेगी कि १९५७ में आधुनिक खड़ीबोली-काव्य के ७५ वर्ष पूरे हुए।[1]

विष्णुप्रिया और गुप्त जी की बद्ध-दृष्टि

'विष्णुप्रिया' पुस्तक खोलने से पहले मेरे मन में निम्न प्रश्न इस क्रम से समाधान की प्रतीक्षा में सामने आए—

१. इस ७१वें वर्ष की आयु में पुराणयुग के सम्मोहन से विमुक्त होकर गुप्त जी ने मध्ययुग पर अपना ध्यान केंद्रित क्यों किया? और मध्ययुग में ही कवि की दृष्टि कुछ खोज रही थी, तो उत्तरभारत और मध्य-देश की बहुत ही जानी-मानी लोकनायिकाओं को प्रमुखता न देते हुए, पूर्वी भारत के धुर पूरब में उनकी दृष्टि एक ऐसे स्थल पर क्यों टिक गई, जहां अभी कल ही वैष्णवधारा की एक नई ज्योति प्रस्फुटित हुई थी।[2]

२. क्या विष्णुप्रिया उर्मिला, यशोधरा प्रभृति गुप्त-काव्य की लोकप्रिय राजसी नारियों के संतुलन में कोई प्रबुद्ध संदेश देने आई है इस राष्ट्रनिर्माण के युग में—और, ऐसा संदेश, जो विष्णुप्रिया-संबंधित बंगला

---

[1] डा० उदयभानुसिंह, 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' (पृष्ठ १४) में लिखते हैं कि सन् १८७६ से खड़ीबोली का प्रभाव बढ़ने लगा। स्वयं भारतेन्दु ने खड़ीबोली में पद्य लिखे। पहली सितंबर सन् १८८१ के 'भारतमित्र' में अपने छंदों के साथ भारतेन्दु ने यह पत्र भी छपाया था, "प्रचलित साधुभाषा में यह कविता भेजी है। देखिएगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलंबन करने से इसमें काव्यसौंदर्य बन सकता है। इस सम्बन्ध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे से वैसा परिश्रम किया जायगा। लोग विशेष इच्छा करेंगे तो और भी लिखने का यत्न करूँगा।" (डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु-युग, पृ० १६८–६९)।

[2] "Vaisnavism of Bengal is the youngest of the world's reputed creeds."—D. C. Sen, 'Chaitanya and his age.'

साहित्य में प्राप्तव्य नहीं है? विष्णुप्रिया पर बंगला-भाषा में प्रचुर सामग्री विद्यमान है।[1] वह यहाँ के वैष्णवी साहित्य की द्युतिमान शक्ति है।

३. जब कि उत्तरभारत में गोस्वामी तुलसीदास १५७३ में अयोध्या में बैठ कर 'रामचरितमानस' लिख रहे थे, नवद्वीप के आसपास चैतन्य महाप्रभु के वैष्णव भक्तगण १५७४ में ही, चैतन्यभागवत[2] और विष्णुप्रिया की अन्य विशद गाथाएँ लिखने में अटूट परिश्रम कर रहे थे। किंतु इन ग्रंथों से लिखे जाने के पूर्व ही बंगाल का कोना-कोना विष्णुप्रिया और चैतन्य के नाम-सुमिरण से गुंजरित हो उठा था। बहुत अधिक संभव तो यही है कि दोनों की इतनी लोकख्याति से प्रभावित होकर ही चैतन्य के मित्रों में उनके साथ बिताए गए दिनों को लिपिबद्ध करने का लोभ समाया हो। एक ओर रामभक्ति की नई भागीरथी न सिर्फ उत्तर भारत में, बल्कि महाराष्ट्र और दक्षिण में प्रवहमान हो रही थी, तो दूसरी ओर कृष्णभक्ति का उद्घोष भी उत्तरी भारत में किसी प्रकार कम न था। लेकिन चैतन्य ने तो बंगाल में एक नई कृष्णभक्ति का परिच्छेद प्रारंभ किया था। ऐसी पृष्ठभूमि की मुक्ताप्रसू विष्णुप्रिया ने गुप्त जी जैसे वैष्णवभक्त को क्या कोई तपः पूत दृष्टि प्रदान की है, जो उनके वैष्णव-चिंतन में चार चांद लगा सकी हो? किंतु गुप्त जी ने अपनी ओर से बंगला-साहित्य में विद्यमान विष्णुप्रिया की विभिन्न गाथाओं से भिन्न, अपनी इस नवीन कृति में क्या नवीनता दी है?

४. विष्णुप्रिया बंगाल के गौड़ीय[3] मठ आदि कुछ संप्रदायों की शक्तिदेवी और अधिष्ठात्री के रूप में मान्य हो चुकी है। विष्णुप्रिया को उर्मिला-यशोधरा जैसी उपेक्षिताओं की कोटि में बैठा कर विरहतप्त नायिका भर ही क्या गुप्त जी ने बनाया है? पर, विष्णुप्रिया बंगाल में उपेक्षिता कभी नहीं मानी गई। चैतन्य के महामहिम कार्य की पूरक बन कर ही वह जीवित रही, और उसी के साथ, वह बंगाल प्रदेश के मध्य-युगीय ५००–६०० वर्षों की अंतिम दिव्य परिणति ही मनोनीत हुई। एक साधारण काव्य-उपेक्षिता से अधिक, विष्णुप्रिया बंगाल में लक्ष-लक्ष जनता को जीवन-संबल देनेवाली चिरजीविनी देवी है। जिस प्रकार गुप्त जी की कुलदेवी सीता हैं, उसी प्रकार बंगाल के सहस्रों ही परिवारों की कुलदेवी विष्णुप्रिया हैं। ऐसी कुलदेवी के जीवन में कुछ ऐसा प्रकरण तो गुप्त जी ने नहीं जोड़ा है, जो बंगाल में उनके भक्तों को अस्थिर कर दे?

५. क्या बंगाल की इस अमर मानवी के जीवन में ऐसा संदेश है, जिसे समग्र भारत को सुनाया जा सकता है?

---

[1] विष्णुप्रिया की जीवनगाथा-विषयक अन्य सामग्री निम्न कृतियों में है—(क) मुरारी गुप्ता कृत चैतन्य-चरितम् और 'कड़चा', (ख) चैतन्यभागवत, (ग) चैतन्यचरितामृत, (घ) लोचनदास कृत चैतन्यमंगल, (ङ) जयनंद कृत चैतन्यमंगल, (च) गोविंददास का 'कड़चा', (छ) प्रेमविलास, भक्तिरत्नाकर और चैतन्य-संबंधी अन्य गीत, (ज) नरहरि सरकार के गीत, (झ) श्री शिशिरकुमार घोष कृत 'श्री अमिय निमाई चरित', (ट) समयानुसार लोक में प्रचलित दंतकथाएँ, (ठ) जगद्बंधु कृत गौरपदतरंगिनी (साहित्य परिषद, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित), (ड) चैतन्य चंद्रोदय नाटक—कवि कर्णपूर कृत, (ढ) विष्णुप्रिया : श्री विधुभूषण सरकार कृत, (ण) श्री श्री विष्णुप्रिया ठाकुरानी : नदिया से प्रकाशित मासिक, (त) अनंत संहिता, (थ) निमाई के ताऊ के पुत्र श्री प्रद्युम्न मिश्र द्वारा श्री कृष्ण चैतन्य चंद्रोदया-वली, (द) वासुदेव घोष का वर्णन, (ध) प्रेमदास कृत वर्णन।

[2] 'चैतन्य भागवत' : इस पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें चैतन्य के जीवनवृत्त को उसी आधार पर ढाला गया है, जिस प्रकार भागवत में कृष्ण के जीवन की रूपरेखा है। शुरू से अंत तक इसमें चैतन्य को कृष्णावतार ही प्रदर्शित किया गया है। लेकिन स्थान-स्थान पर, जहां चैतन्य की स्थूल घटनाएं हैं, वे मानवी हैं और प्रायः सत्य हैं। प्रारंभ में इसका नाम चैतन्यमंगल था, लेकिन बाद में इसकी सामग्री से प्रसन्न होकर वैष्णवजनों ने इसे भागवत बना दिया। यह चैतन्य के नश्वर शरीर के तिरोधान के ४० वर्ष उपरांत लिखी गई थी। एक बात निःसंकोच स्वीकार करनी पड़ेगी कि लेखक में एक इतिहासकार जैसे गुण विद्यमान हैं। इसमें विष्णुप्रिया की सरस और वेदनामयी कथा बहुत अंशों में विश्वसनीय है।

[3] इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक चैतन्य महाप्रभु ही माने जाते हैं।

६. और सबसे अंतिम, 'विष्णुप्रिया' कहीं गुप्त जी की बहुत अधिक अप्रचलित पुस्तकों की कोटि में तो नहीं चली जाएगी ? क्या हिन्दी जगत का जनमन अपनी जानी-पहचानी उर्मिला-यशोधरा से अधिक, धुरपूरब की एक अपरिचिता नारी की जीवनी को पूरे उत्साह के साथ समादर करने और लोकप्रियता हाथों-हाथ प्रदान करने में उदार बनेगा ? उर्मिला और यशोधरा के चमत्कार की कस्तूरी उनके पतियों की नाभि में थी। विष्णुप्रिया के जीवन की गंधधूलि भी उसके पति के कार्यकलापों में ही निहित है। लेकिन विष्णुप्रिया के पति चैतन्य उत्तरभारत में कम से कम परिचित हैं। तो क्या विष्णुप्रिया, गुप्त जी की लेखनी का स्वयंसिद्ध संबल पाकर, अकेली ही, अपने पति की अंतर्दृष्टि से विलग होकर भी, उत्तरभारत में प्रख्यात् होने की भाव-भूमि सहज ही प्राप्त कर सकेगी ?

हिन्दी के लोकप्रिय काव्यों में गिनीचुनी पुस्तकें ही ऐसी हैं, जिन पर हिन्दीभाषी ही नहीं, अहिन्दीभाषी जनता भी बलिहारी हुई है और जिन पर वर्तमान का ही नहीं, भविष्य का विद्याभिमान भी आश्रित रहेगा। गुप्त जी ने अभी तक इस दृष्टि से रामायण और महाभारत युग के कथानकों पर जो काव्य लिखे हैं, वे ऐसे ही कथानकों से संबंधित थे, जिनका सम्बन्ध देश के सभी प्रदेशों की सांस्कृतिक चेतनाओं से जुड़ा हुआ है। फिर भी गुप्त जी ने अपनी सिद्ध कल्पना के आधार पर उनमें जो नए प्रकरण जोड़े हैं, वे ज्ञानतः युगानुरूप बन पड़े हैं। देशीय इतिहास में कविकर्म का महत् योगदान पाषाणतुल्य अतिप्राचीन आख्यानों में ऐसी मानवी सरसता का संचरण करने में समर्थ हुआ है, जो युगपुरातन नदी की तरह हमें दीर्घ कालक्रम का पवित्र अभिषेक देने के लिए प्रवहमान हो उठा है। सूखी नदियों में जलप्लावन की ही तरह गुप्त जी का यह काव्यकर्म नित्यानंद-दायक हुआ है।

प्राचीन कथावृत्तों में इतिहास की विस्मृति-बोझिल विरूपता को भेद कर गुप्त जी ने संवेदनात्मक रुचि का पुट देने की सूझबूझ का उत्तम परिचय दिया है। जितना ही पुराना इतिहास हो जाता है, उसमें कवि और कथाकार दोनों को ही जैसे अपनी भेदक दृष्टि के दृग्वृत्तों को प्रकाशमान बनाने का और उसके विस्तार-प्रसार का उतना ही अवधान सुलभ हो जाता है। वह महान घटनाओं के तटों पर खड़ा होकर कालग्रंथियों में बद्ध मूर्च्छित मानवी स्वरों को, पद्मनिधि की तरह जानकर, दोनों हाथों संजोने लगता है। रसनिष्पत्ति और काव्यालंकरणों के लिए भी काव्य-क्षमता को तैयार भूमि सी हाथ लग जाती है। कवि के समक्ष प्राचीन इतिहास की आत्मा कल्पनालुब्ध अनुभूतियों के मोती ढालने की, गहन अंधकार-अंतराल में पड़ी हुई, सीपी है।

किंतु नए इतिहास के क्षेत्र में स्थिति दूसरी रहती है। विष्णुप्रिया यही आज से ४०० वर्ष पहले की सतीसाध्वी भारतीय नारी है। इतिहास जितना ही अधिक हाल का होगा, उसमें ऐतिहासिक तथ्यों के अवतरण पूर्वनिर्मित लोहे के लट्ठे जैसे सिद्ध होते हैं, जिनके अनुरूप ही दीवार खड़ी करना आवश्यक हो जाता है। कल्पना-प्रसूत यथार्थता को जन्म देने के परिश्रम के संतुलन में, ऐतिहासिक सत्यों का दोहन-मंथन ही इस सदुद्देश्य से किया जाता है, ताकि उस युग की चिरंतन प्रतिष्ठाएँ हमें मोहित कर उठें। 'विष्णुप्रिया' गौरांग महाप्रभु की पत्नी को लेकर लिखा गया है; इसमें गौरांग का युग अपनी चिरंतनता का उद्घोष लेकर सबसे अगली पंक्ति में विद्यमान है।

विष्णुप्रिया नए इतिहास की ऐसी ही एक सन्नारी है, जिसकी साधना ने[१] बंगाल की सहस्र-सहस्र नारियों को विरासत में प्राणसंजीवनी और चारित्रिक निष्ठाओं का वरदान दिया है। वह अंधेरे की तड़पती हुई मछली नहीं थी कि गुप्त जी ने जिसकी नई खोज की हो। परंतु, विष्णुप्रिया की जिजीविषा अवश्य इस कोटि और ऐसे चैत्य-वर्ग की थी, कि बंगाल में उसे इस नाते मृत्युंजयी मृण्मूर्ति के रूप में हृदय-मंदिरों में जहां प्रतिष्ठित कर दिया गया है, वहां गुप्त जी ने उसे अपने काव्य में राष्ट्रीय स्तर पर एक आदर्श जिजीविषा-लब्ध लोकनायिका के रूप में सम्मानीय स्थान दिया है।

---

[१] The sorrows of Shachi (mother) and Vishnupriya, his wife, are sorrows of the whole of Bengal and Orissa today.—D.C. Sen in 'Chaitanya and his Companions.'

नारी जिजीविषा की अक्षय गंगोत्तरी है। उसके हृत्कंपन में शत-शत युग बीत जाने पर भी कहीं क्षय का आभास तक प्रकट नहीं हुआ है। किंतु नर जिजीविषा की कुछ ही चुल्लुओं को अपनी मुट्ठी में बंदर की तरह बांध लेने का अथक प्रयास करते आज भी नहीं थका है। गुप्त जी ने उर्मिला, शकुंतला, द्रौपदी, यशोधरा, कुंती आदि राजसी नारी-पात्रों की रचना कर आधुनिक खड़ीबोली के काव्य में अपनी नरोत्तमता की सदाशयता ही जनजन में वितरित की थी। परंतु अपनी हीरक-जयंती मनाने की अवस्था में विष्णुप्रिया जैसी एक साधारण परिवार के नारी-रत्न का काव्य लिख कर उन्होंने सहसा ही जिस नवीनतम साहस का परिचय दिया है, वह उनके हृदय में रमी हुई नारी की जिजीविषा का एक नया गीतिमय परिच्छेद है।

विष्णुप्रिया राजसी बाला नहीं है। वह जिस नरपुंगव की पत्नी है, वह भी समाज का एक साधारण कोटि का ब्राह्मण मात्र ही है। उसे अपने काव्य की मुख्य पात्री बनाकर गुप्त जी ने आज देश की ही भावश-बलता को अपनी इस नई रचना में प्रणम्य बनाया है। यह पहली पुस्तक है, जिसमें गुप्त जी ने भावशांति के क्षेत्रों में एक नई क्रांति की है। संभवतः इसी क्रांति के निमित्त उन्हें यह उचित लगा कि वे साधारण समाज की ही एक पात्री लेकर अपनी उद्देश्यसाधना कर सकते हैं। राजसी क्षेत्रों की नारियों की महत्ता का गुणगान करना—चाहे उनमें कितनी ही आदर्शवादिता का समुत्थान करने की क्षमता क्यों न हो, आधुनिक रुचि और वर्तमान नयनोत्सव की दृष्टि से आस्वाद की वस्तु नहीं हो सकता। इतिहास में उनका किया और उनका देय हमें किसी न किसी रूप में विरासत में मिल ही चुका है। पर आज समग्र राष्ट्र में अभावग्रस्त और दीन समाज की शक्तियों को जिन क्षणों में सामर्थ्य और नैष्क्रमण-उत्सव का प्रियपात्र बनाया जा रहा है, विष्णु-प्रिया का यह जीवनक्रम राष्ट्रभारती के माध्यम से प्रचारित होकर हमें उस भावनामयी स्रोतस्विनी के दर्शन कराता है, जिसके अभिषेक से पूर्वी भारत के असंख्य परिवारों ने दिन-प्रतिदिन आनंदलाभ किया है। आज ऐसी ही साधारण, पर जीवंत, चरित्रमूर्तियों व भवभामिनियों के भावोद्दीपक प्रकाश में हम राष्ट्रीय स्तर पर सुखद दांपत्य की नई दिशाओं की प्रतिष्ठा करने जा रहे हैं।

प्रबंधकाव्य की दृष्टि से विष्णुप्रिया का जीवनवृत्त कवि के लिए रूढ़ शैली की आलंकारिक रम्यस्थली प्रस्तुत नहीं करता, क्योंकि बहुत ही अल्पावस्था में उसका विवाह हो जाता है। विवाह के तत्काल बाद ही, सही तो यह है कि विवाह से पहले ही, चैतन्य संन्यास-प्रवृतियों के अग्रिम ब्रह्मतेज-आंदोलन-प्रवृत्ति में डूब चुके हैं। और विवाह के एक वर्ष के आसपास ही वे संन्यास के निमित्त घर से चले जाते हैं। अब नदिया में विष्णुप्रिया का या तो पीहर है, पीहर की कुछ सखियाँ हैं और ससुराल में सास है। बस, इस चमत्कारहीन एकांत में उसका समग्र जीवन बीतता है। बहुत दिनों बाद उसके पति वृंदावन से लौटते हुए नदिया से गुजरते हैं। क्षणमात्र को विष्णुप्रिया उनके दर्शन करने घर से बाहर जाती है और भरी भीड़ में वह अनादृता होती है, क्योंकि पहली दृष्टि में चैतन्य उसे नहीं पहचानते। पहचान कर भी वे उससे मृदु व्यवहार नहीं करते। अब वह केवल 'अस्पृश्या' है। पर, समाज के बीच आग्रह करने पर वे उसे अपनी खड़ाऊँ भेंट कर देते हैं। राम की खड़ाऊँ भरत को मिलीं, चैतन्य की खड़ाऊँ विष्णुप्रिया को मिलीं। राम की खड़ाऊँ ने अयोध्या की राजगद्दी पर बैठकर शासकीय प्रतिनिधित्व किया, लेकिन चैतन्य की खड़ाऊँ तो विष्णुप्रिया के एकांत अश्व-मेधयज्ञ में चैतन्य की स्वर्णप्रतिमा बन कर विराजमान रहीं ! उनके पद-रज से स्निग्ध वे काष्ट-पट्टियां विष्णु-प्रिया को क्या सांत्वना दे सकीं, यह तो उसी के गोपन का रहस्य बना रहा, पर विष्णुप्रिया इसके बाद अपनी उसी ससुराल के एकांत में समाधिस्थ हो जाती है। सास पुत्र-वियोग में बहुत दिन नहीं जी सकी, लेकिन विष्णुप्रिया ने चैतन्य की प्रथम स्थायी स्मृति उसकी एक मूर्ति के रूप में निर्मित कराई और अपने यहां प्रति-ष्ठित की। बस, उन्हीं युगल चरणों में उसकी जीवनसाधना का मौन, चैतन्य की मुखर साधना में क्षेपक बना हुआ, गतिमान रहा। एक दिन विष्णुप्रिया का नश्वर शरीर भी नहीं रहा, लेकिन विष्णुप्रिया की वह विरहतप्त-भूमि तो वैष्णभक्तों की पंक्तियों के लिए धाराधार पवित्र अवगाहन की तीर्थस्थली बन गई। इस प्रकार विष्णुप्रिया के जीवन में काव्यरूढ़ियों की गुंजाइश कम से कम है। नायिका के रूप में कवि-श्रम-जन्य स्वेदकणों से उसकी गाथा को हीरकजटित करने की गुंजाइश भी कम से कम ही है। स्थूल रूप से उपेक्षिताओं

की श्रेणी, व उसी धारणायोग की नायिका के रूप में, सूक्ष्म दृष्टि देखें तो, यशोधरा से अधिक विष्णुप्रिया उर्मिला के समकक्ष इस अर्थ में आती है कि दोनों को नवोढ़ावस्था में ही, विवाह होते ही विरह की दीर्घ-प्रचंड ग्रीष्मऋतु प्राप्त हो जाती है। लक्ष्मण ने उर्मिला के संग कुछ मधुर दांपत्य व्यतीत कर लिया है, लेकिन नवोढ़ा विष्णुप्रिया तो बेचारी चैतन्य की प्राथमिक पागल-सी अवस्था के कारण केवल मौन अश्रुओं से सेवा-सुश्रुषा ही कर सकती है या उनके घर से बाहर रहने पर कुलशीला वधु की तरह उसे दैनिक दायित्वों में व्यस्त रहते हुए सास की सेवा में दत्तचित्त रहना पड़ता है। उर्मिला रूढ़ काव्य-नायिका भर ही है, विरह से तप्त उसका ज्वर इसलिए सुख-सुविधा संपन्न है, क्योंकि जीवन की सभी राजसी सुविधाएँ उसे सुलभ हैं। वह अपनी सास की सेवा में कहीं प्रकट नहीं होती, क्योंकि सास की सेवा के लिए सेविकाओं की कमी नहीं है। यही कारण है कि उर्मिला काव्य की अधिकारिणी होकर भी जनमन में आदर की पात्री न हो सकी, केवल कुछ कवियों की लेखनी का प्रसाद ही चख सकी।

उर्मिला को १४ वर्ष बाद सावन की मल्हार राग, जैसे विरह-तप की पूर्णाहुति के रूप में, मिलती है। यशोधरा को भी बौद्ध ने अधिक चाहा था और वे निर्वाण की प्राप्ति के बाद उसी के कक्ष में स्वयं चाह कर मिलने आते हैं और उसे अपने धर्म में दीक्षित करते हैं। लेकिन चैतन्य नवद्वीप में अंधड़गति से प्रकट होकर केवल अपनी मां से मिलते हैं, विष्णुप्रिया के लिए उनके मन में सहानुभूति या उच्चस्तरीय दार्शनिक प्रेम का भी एक शब्द नहीं है। बड़ी रूक्षता से उस विष्णुप्रिया से पूछते हैं, जो अपने अधिकार के बल पर और लौकिक लाज का त्याग करते हुए घर की चौखट लांघ कर,बीच बाजार में ही उनके चरणों में सिर रख कर,अपना भविष्य जानने आई है, "तुम कौन हो ?" हाय, यह कैसा प्रश्न है। सुन कर भीड़ के नर-नारी अश्रुविगलित हो जाते हैं। पर चैतन्य अपने अधिकार का प्रयोग केवल इन शब्दों में करते हैं कि तुम भी कृष्णमय हो जाओ। वे उसे दीक्षित नहीं करते। बंगाल में वह समय ही ऐसा संकटमय था कि स्त्री को दीक्षित करना ही अपने सारे भक्ति-आंदोलन को धूलधूसरित कर देना जैसा सिद्ध होता। इस प्रकार विष्णुप्रिया की विरहगाथा का व्रण अत्यधिक टीस से भरा हुआ है। अनेक विवशताओं के आगे विनीत भाव से नतशिर होते हुए, और विष्णुप्रिया के जीवन के शील को व्यर्थ के काव्योल्लास से अभिशप्त करने से बचते हुए गुप्त जी ने जिस मर्मभेदी भाषा में और जिस शैली से प्रस्तुत प्रबंधकाव्य की रचना की है, गुप्त जी के पाठकों के लिए वह नई नहीं है, पर वह मूलकथा की अधिकारिणी बंगलाभाषा के धुरंधर आचार्यों को भी आश्चर्य में डाल देगी। यद्यपि बंगाल के लोकगीतों में विष्णुप्रिया की चरम विरह-वेदना चारों दिशाओं के घट-घट में व्याप्त होकर बहुत ही दर्दीले गीतों में मुखर हो चुकी है,[1] किंतु गुप्त जी ने अपनी कुलदेवी सीता के अंतिम जीवन की प्रतीक-गाथा को ही वैष्णवभक्त की दृष्टि से विष्णुप्रिया में मूर्त करते हुए, पहली बार ऐसी मानवी की कहानी प्रबंध-काव्य

---

[1] पागलिनी विष्णुप्रिया भिजा वस्त्र चूले। त्वरा करि बाड़ी आसि शाशुड़ीरे बॅले।।
बॅलिते ना पारे किछु काँदिया फाँफर। शची बॅले मागो एतो कि लागी कातर।।
विष्णुप्रिया बॅले आर कि कबो जननी। चरिदिके अमंगल काँपिछे परानी।।
नाहिते पॅड़ीलें जले, नाकेर बेशर। भांगिबे कपाल माथे पॅड़िबे बजर।।
थाकि-थाकि प्राण काँदे नाचे डानि आंखि। दक्खिने भुजंग जेनें रहि-रहि देखि।।
काँदि कहे बासुघोष कि कहिबो शती। आजि नवद्वीप छाड़ि जाबे प्राणपती।।

—वासुदेव घोष कवि ने गौरांग के संन्यास लेने के क्षणों में विष्णुप्रिया की करुण-विह्वल मानसिक अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है, कि पगली सी विष्णुप्रिया भीगे वस्त्रों और खुले बालों ही अस्तव्यस्त बनी शीघ्रता से उल्टे पैरों गंगातट से लौट पड़ी और पतिगृह पहुँचते ही कुछ न कह कर अपनी सास शची के तईं रोने लगी। शची यद्यपि अपनी पुत्रवधू की वेदना खूब जानती है, लेकिन फिर भी पूछने लगी कि भला क्यों रोती है। आखिर विष्णुप्रिया ने कह ही दिया कि क्या करूँ माताजी, आज प्रातःकाल से ही चारों दिशाओं में अमंगल और अपशकुन ही दीख रहे हैं। गंगातट पर स्नान करते समय नाक का आभूषण (सुहाग-चिह्न) खो गया है। सर और कपाल इस तरह फट से रहे हैं, जैसे तो इन पर बज्र पड़ गया हो। रह-रह कर प्राण भी अनायास ही रो उठते हैं। दोनों ही आंखें तेजी से फड़क रही हैं। और जब से मैंने अपने दाएँ सर्प देखा है, तब से कुछ सूझता नहीं, क्या करूँ, क्या कहूँ ! आज मेरे प्राणपति नवद्वीप छोड़ कर जा रहे हैं।

के निमित्त ली है जो युग की उग्र विभीषिकाओं के समक्ष मध्ययुगीय नारी-चरित्र की अस्पष्टताओं से बोझिल क्षुब्ध समाज में अपने कठोर मौन से, बंगाल की जैसी पतित भिक्षु-भिक्षुणियों की नरसंकुल समाज-रचना से घिरी हुई रह कर भी, पारिवारिक निष्ठाओं को लब्ध कर सकी। सूक्ष्म दृष्टि से विष्णुप्रिया की विरह-विरस-गाथा उर्मिला और यशोधरा से कहीं अधिक निगूढ़ अर्थों से भरी है। इसके लिए हमें गुप्त जी की 'विष्णु-प्रिया' से अलग, उन बंगला-भाषा के ग्रंथों को भी लेना होगा, जिनमें विष्णुप्रिया की विस्तृत और भक्तिभाव से आवृत्त कहानी लंबे-चौड़े कैन्वास पर प्रस्तुत की गई है। इस कहानी में चैतन्य के जीवन-साक्षियों का वृत्तांत निहित है, इसीलिए उसका कथासार बंगाल के जनजन का निजी धन-सा बन गया है। इतना ही नहीं, विष्णुप्रिया के नाम पर, बंगाल में आधुनिक युग उपस्थित होने के उपरांत, बंगाल के वर्तमान लोकप्रिय बंगला भाषी दैनिक 'आनंदबाजार पत्रिका' का १९१७ के आसपास पूर्वनाम 'श्रीश्री विष्णुप्रिया ओ आनंदबाजार' था। विष्णुप्रिया के नाम से नवद्वीप से १९४२ के युग में बहुत दिनों तक एक मासिक भी निकलता रहा। इसी नाम से बंगलाभाषा में एक फिल्म भी बन चुकी है। स्कूली पाठ्यक्रमों में इस जनहृदयासीन देवी का चरित्र बालकों को कंठस्थ कराया जाता है। इस प्रकार प्रबंध-काव्य के रूढ़ दृष्टिकोण से भी विष्णुप्रिया उपेक्षा के गहन अंधकार में मृत्यु के बाद किसी भी दिन आज की तिथि तक नहीं रही। नवद्वीप में उसकी मूर्ति एक मंदिर में पूजा का अधिष्ठान बन कर धर्मस्थली का केन्द्र बनी हुई है। और अब, गौरांग महाप्रभु के भक्तों में एक संप्रदाय विष्णुप्रिया को दैवी शक्ति रूपा उन्हें नवधा भक्ति[1] के स्वरूप मानता हुआ उसकी अर्चना-पूजा करता है। बंगाल के वैष्णव जन चैतन्य को कृष्ण का अवतार और विष्णुप्रिया को राधा का अवतार मानते हैं। और अब वे केवल विष्णुप्रिया नाम से नहीं, श्री श्री विष्णुप्रिया ठाकुरानी के नाम से पूजनीया बन गई हैं!

इसके पूर्व कि हम गुप्तजी द्वारा लिखित 'विष्णुप्रिया' पर अपना ध्यान केंद्रित करें, यह आवश्यक है कि बंगाल की सामाजिक रचना के संदर्भ में विष्णुप्रिया के व्यापक अर्थ हम स्पष्ट कर लें। गुप्त जी ने केवल विष्णुप्रिया की मानवी कहानी प्रस्तुत की है, लेकिन बंगाल के इतिहास में विष्णुप्रिया की तप-साधना अपने व्यापक प्रभाव छोड़ गई है। उन्हें समझने के लिए हमें एक विहंगम दृष्टि बंगाल के ५००–६०० वर्षों पर डालनी होगी। उसी के बाद हम विष्णुप्रिया पर लिखित हिन्दी-काव्य का मर्म और आस्वाद ग्रहण करने में समर्थ हो सकेंगे और यह समझ सकेंगे कि गुप्त जी ने कहां तक अपनी पुस्तक की रचना में सफलता प्राप्त की है, कहाँ तक उन्होंने, 'साकेत' और 'यशोधरा' के लिखने के लगभग ४० वर्ष बाद, यह प्रबंधकाव्य लिख कर प्रबंधकाव्य की रचना में कौन-सा नया अध्ययन-योग्य प्रकरण जोड़ा है।

मध्ययुग का नक्तंचर अभिशाप, तंत्र-पीड़ित नारी और विष्णुप्रिया

विष्णुप्रिया चैतन्य महाप्रभु के जीवन और आंदोलन का अविभाज्य अंग है। बंगाल में चैतन्य के आविर्भाव से जो नई प्रकाशरेखा विस्तृत हो रही थी, उस पर विष्णुप्रिया की बलिदानी श्वासों ने अपना सबसे अधिक गहरा सुर्ख रंग इस तरह प्रकाशित किया है कि आज भी वह बंगाल के जनमन में ध्रुव-प्रकाशस्थली-सी लोकसंस्कृति की बहुक्षीरा बनी है। यही नहीं, विष्णुप्रिया बंगाल का वह सुपाठ्य मंत्र है, जिसमें बंगाल वैष्णव-आंदोलन का इतिहास गर्भित है।

चैतन्य का जन्म १४८६ में नदिया में हुआ था। उससे दो वर्ष पहले नदिया और निकटवर्ती इलाकों में अकाल पड़ा। यह अकाल उस निर्जन प्रदेश में छाया, जिसे बंगाल के शासक और गौड़ के शहंशाह ने अपने प्रतिशोध से तबाह कर दिया था। उसकी सेना ने नदिया और आसपास के इलाकों के हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाने का आंदोलन छेड़ दिया था। जनेऊ पहने जाने पर सामूहिक रूप से प्रतिबंध था, गंगा-स्नान वर्जित था और बरगद के वृक्ष व मंदिरों को जहां कहीं भी वे थे खंडित कर दिया गया था। पंडित

---

[1] "श्री नवद्वीप-धाम जे रूप नवविद्याभक्ति पीठस्वरूप श्रीमती विष्णुप्रिया देवी तद्रूप नवधाभक्ति-स्वरूपा"
—'विष्णुप्रिया ठाकुरानी' (मासिक), ३१ जनवरी, १९४२ ई०।

ऐसे अत्याचारों से पीड़ित उड़ीसा की दिशा भाग चुके थे। जो कुलीन ब्राह्मण-वंश थे, उनके परिवारों को कहीं का न छोड़ा गया था।

बंगाल में इसी मुस्लिम निरंकुशता का शिकार इससे भी १०० वर्ष पहले १३८३ व ८५ के बीच, चंडीदास हुआ था। उसे हाथी की पीठ से बंधवाकर गौड़ के शहंशाह ने मृत्युदंड की यंत्रणा इस तरह दी कि वह कलप-कलप कर मरा था। शहंशाह की आज्ञा थी कि मरने से पहले उसकी बोटी-बोटी अलग-अलग हो जाए। चंडीदास का कोई अपराध नहीं था। शहंशाह की पत्नी ने केवल भर यही स्वीकार किया था कि चंडीदास की प्रशंसाओं से मुग्ध जब शहंशाह ने चंडीदास को उसे अपने दरबार में बुलाकर उसके मुख से पद सुने थे, तो परदे के पीछे बैठी हुई बेगम उसके गीतों पर तन-मन से रीझ उठी थी। यह वह युग था, जब किसी भी संकेत पर मुस्लिम शहंशाह की इच्छाएँ जनजीवन में हाहाकार फैला सकती थीं। बंगाल के वरद्पुत्र चंडीदास हाथी से प्रताड़ित किए जाकर निःशेष कर दिए गए और जैसे उनकी मृत्यु ने मुस्लिम अत्याचारियों को और भी सशक्त बना दिया।

चंडीदास का युग बंगाल के तांत्रिकों और तथाकथित वामपंथियों-अघोरियों के पतन का अंतिम पृष्ठ था। फिर भी मध्ययुग का गहन अंधकार अपनी श्मसान-तुल्य विभीषिका को धारे नख-शिख बंगाल की छाती पर आरूढ़ था। गंगा की तराई से महायान बुद्धधर्म के नैतिक शील का तिरोभाव हो चुका था। चारों ओर पूर्वी भारत में तांत्रिकों ने अलक्ष्य की प्राप्ति के लिए जिस चिंतनीय पथ पर कदम बढ़ाया था, उस पर वे स्वयं विपथिक बने हुए समाज में खुलखेल कर चरित्र का अधःपतन प्रचारित कर रहे थे। सुरा-कांचन-कामिनी नवयुवकों की दृष्टि को अंध बना रही थी। परकीया नारी की तलाश ही जैसे जीवन का परम धर्म बन चुकी थी। मंदिर में, साहित्य में, काव्य में, दरबारों में और आध्यात्मिक क्षेत्रों में विलास-भोग की तीक्ष्णता जातीय जीवन में ऐसे मर्मभेदी नश्तर लगा रही थी कि हमारा बाह्य-भीतर अपने निरंतर रिसते हुए प्राणरक्त को उदासीन भाव से देखता रहता था। और निरुपाय था। जनहिताय का स्वप्न मध्ययुग के अंधकार ने अपने पैरों के नीचे मिट्टी में मिला दिया था। विडंबनापूर्ण आत्मोन्नति, शासकीय मनोविनोद, मंदिरों का वैभव और आंचलिक धर्मगुरुओं की परहितकामना घूम-फिर कर मात्र यही थी कि परकीया नारी की हर संभव उपलब्धि की जाए। गांव-गांव में यह महामारी अपना कुष्ट फैला रही थी। जो तांत्रिक थे, उन्होंने समाज की जड़ों पर ही आघात किया था। वे दीनहीन निम्नवर्गीय कन्याओं को अपने गोपनीय तंत्रमंत्रों की वेदी पर बलि देने में, उनको भोग की सामूहिक सामग्री मात्र बनाने में विश्वास करते थे। गरीबों का समुत्थान जैसे बस यही बचा था. . .चारों ओर 'सहजधर्म' अपने प्रभुत्व का ध्वज थामे था और उसके अंतर्गत विषयवासना की विकृतियां ईश्वरीय प्रेरणा का आधार मानी जाती थीं। १०वीं सदी से लेकर १६वीं सदी तक पूर्वी भारत ऐसे ही अंधकार की मर्मान्तिक वेदना से त्रस्त रहा। अनेक स्थानों पर काली के समक्ष नरबलि भी दी जा रही थी। 'बुद्ध-ज्ञान-ओ-दोहा' में अनेक ऐसे स्थल हैं, जिसमें विलासी प्रेम को जीवन का चरम सुख बताया गया है। बुद्धधर्म की नैतिक भव्यता अपना संपूर्ण आकर्षण खो चुकी थी। आस्था नहीं, स्थानीय बौद्धिक भावुकताएं ही समाज की नीतियां करार दी जाती थीं। बात सभी उन्नति की और परम मुक्ति की करते थे, लेकिन सब रसातल के मार्ग को, कलुषित भोगवाद को प्रिय मानते थे. . .

१३वीं सदी में बंगाल में नाथसंप्रदाय लोकप्रिय हो चुका था। यह नाथपंथ मोटे रूप में शैव और बौद्धधर्म का मिश्रित रूप था, और शिव का उपासक था। चमत्कारों और सिद्धों में ही वह विश्वास रखता था। मैनावती के गीत नाथपंथियों के हाथों जहां बंगाली भाषा की आदि रूपरेखा गढ़ रहे थे, वहीं नाथ-संप्रदाय भी इन्हीं गीतों के बल पर जनजीवन में अपनी जड़ें जमा रहा था। यहीं से बंगाल की भावुकता और मधुर गीतों में धार्मिक चेतना का विकासक्रम प्रारंभ होता है। ये गीत 'संध्याभाषा' में लिखे गए हैं। इनमें अधिकांश रूप से चरित्र और संयम पर बल दिया गया है। प्रिया और परकीया नारी की कुत्सा के विरुद्ध नाथसंप्रदाय एक संगठित आंदोलन था। गोपीचंद्र की कहानी भी कुल मिलाकर यही है। लेकिन नाथ संप्रदाय तांत्रिकों के युग में अपने चरित्रसंयम को इसलिए क्षुण्ण न रख सका, क्योंकि उसके प्रचारक इन गीतों

में कठोर संयम और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की बात तो करते थे, लेकिन साथ ही उसी उत्साह से त्रियाचरित्र के माधुर्य की कहानियाँ भी बरसाते थे। शिव और पार्वती के रति-दृश्यों का भी कम बोलबाला न था। पुरी और कोणार्क के मंदिरों का निर्माण जैसे शासकीय स्तर पर नग्न आसनों की ही निरावरण-पूजा मान्य करने के लिए लाखोंलाख रुपया व्यय कर किया गया था। युग का बस यही एकमात्र व्यसन रह गया था। दुख का विषय यह नहीं है कि जनजीवन का चरित्र यों कलुषित और अधःपतनोन्मुख हो चुका था, दुख यह है कि सार्वजनिक जीवन का घुन ऊपर से नीचे, शासक से निम्न वर्ग की ओर बह रहा था। ऐसी बाढ़ में फिर बचाव कहां था? शिल्प, काव्य और कला की आसंदी की अधिकारिणी केवल मात्र जैसे निम्नकोटि की भोग्या नारी ही रह गई थी। और यदि किसी नरेश ने भी किसी हीनवर्ग की सुंदर कन्या के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया तो वह सर्वोपरि प्रशंसा का पात्र माना जाता था। ऐसे युग में गोरखनाथ का प्रयास एकांगी ही रहा, रात्रि का विलास दिवास्वप्न बना हुआ अपने अधःपतन के रोपण में फिर भी सक्रिय बना रहा। यही कारण है कि इस युग के शिव-गीतों में पार्वती दुखिया है और शिव हीनवर्गीया नारी के संग रतिविलास में व्यस्त हैं। मनसादेवी के गीत घर-घर में शिव के ऐसे ही घृणित आचार-विचार को स्तुत्य मानकर गाए जाते थे।

१३वीं सदी में विद्यापति और चंडीदास बंगाल में सांस्कृतिक और साहित्यिक स्तर पर जैसे एक नया पृष्ठ जोड़ने आए। चंडीदास ने स्वयं 'सहजधर्म' के प्रकोप का नवयुवकों पर छाया हुआ दुष्परिणाम देखा और उसकी चर्चा की। चंडीदास ने लिखा है कि लाखों में केवल एक ही—दो भी नहीं, केवल एक ही व्यक्ति स्त्री के प्रेम में अध्यात्म का स्वर्ग प्राप्त कर सकता है, अन्यथा शेष ये सभी लाखों लोग स्त्री की वासना में ही गर्त-विवर्त हो जाते हैं। लेकिन ब्राह्मण होकर भी चंडीदास अपने समाज के प्रकोप का शिकार हुए बिना न रहा। समाज-च्युति के दंड का भार भी उसने सहा। इसीलिए और इसीलिए निडरतापूर्वक उसने मनुष्य के मूल्य का और उसके उत्थान का गीत गाया। देखने में रुचि का यह परिष्कार था, मध्यवर्गीय वीभत्सता से उबरने का यह आयास था, जनता की आध्यात्मिक और नैतिक परिणति स्वर्गीय आनंद की दिशा उन्मुख भी हो सकी थी। लेकिन चंडीदास और उसके अनुवर्ती कवियों ने रुचि-परिष्कार कर भी, कृष्ण के माध्यम से जनजीवन में उसी वृत्ति को प्रमुख रखा, जो तांत्रिकों ने घोषित किया था। बस, अंतर यह और आ गया था कि अब विलास की सामग्री किसी हीनवर्ग की नारी मात्र नहीं रह गई थी। अब प्रेम और विलास का क्षेत्र सभी के लिए समान भाव से खोल दिया गया था। अब उसका आयोजन किसी भी वर्ग में स्वागत-योग्य था। किंतु चंडीदास ने एक रूढ़ि का अवश्य विस्फोट किया। उसने तांत्रिक-सिद्धि के स्थान पर विशुद्ध मानवी प्रेम का जयघोष किया। पहले तंत्र की बलिवेदी पर नारी और उसका मानवी मूल्य होम दिया जाता था और उसके उपरांत वह निर्मूल्य और निर्माल्य कर दी जाती थी! चंडीदास ने घर-घर में जैसे इसी प्रेम के बहाने गार्हस्थ्य-भावना को बल दिया। उसकी प्रेमसिद्धि विश्वस्त दंपति ही केवल कर सकते थे—और इस नाते उसने व्यापक स्तर पर समाज में विलास, विकृति, भोग, सामाजिक च्युति और विशृंखलता के विरुद्ध एक सबल योद्धा की तरह युद्ध करते हुए गांव-गांव में चित्र-विचित्र पंथों और उनकी निरुद्देश्यता का भंडाफोड़ किया और सारे प्रांत को भागवत का संदेश सुनाते हुए कृष्ण जैसे लोकनायक का जीवनवृत्त सुनाया, जो अपने जीवन में नैतिक मूल्यों और चरित्र के नवनीत की सिद्धि के लिए वंदनीय हो गया था। चंडीदास ने स्पष्ट कहा है कि जो प्रेम कर, उसका त्याग करता है, वह ईश्वरत्व की प्राप्ति कभी नहीं कर सकता है। इस रूप में उसने शासन, धर्मगुरुओं और तांत्रिकों के व्यापक अनाचारों के खिलाफ आवाज उठाए बिना ही, एक मूक क्रांति अपने मधुर काव्य के द्वारा की और जन-जन को विशुद्ध एकपत्नीव्रत की दिशा का पथ दिखलाया।

पर चंडीदास की अतिशय भावुकता जिसे पचे, उसे ही पचे, वरना वह पचने की चीज नहीं है। उसके युग में तो वह और भी पचाई नहीं जा सकती थी। उसके युग में चरित्र नाम की जो भी वस्तु थी, वह साधना नहीं रह गई थी। चंडीदास की प्रेमसिद्धि का अर्थ यदि उसके युग ने तांत्रिकों के स्वरों में ही लिया, तो क्या आश्चर्य। इसीलिए आज भी उत्तरी बंगाल में चंडीदास के पदों पर आधारित धमाली के जो आयोजन होते हैं, उनमें उसी के युग से चले आ रहे निम्नरस-ग्रहण की प्रवृत्ति ज्यों की त्यों देखी जा सकती है—कृष्ण किसी

गोपी के पीछे फूहड़तापूर्वक प्रेमप्रदर्शन करने से बाज नहीं आते। दर्शक उनसे अत्यधिक रस लेने से नहीं चूकते। इस कारण यहाँ यह प्रश्न अनिवार्य रूप से उठता है कि आखिर चंडीदास ने क्या नहीं किया? तो हम देखते हैं कि चंडीदास अपने युग का प्रतिनिधि कवि और सुधारक नेता इस रूप में है कि उसने युग की भावधाराओं को मोड़ने का प्रयास नहीं किया, मात्र युग में प्रचलित भावधारा को ही रुचि-परिष्कृत और अर्थगर्भित गेय पदोंमें निबद्ध किया, पर वह भी अतीन्द्रीयता से पीड़ित होकर भारतीय नारी का अन्यथा मूल्य न आंक सका।[1] भारतीय नारी के शील, सतीत्व, सात्विक गुणधर्म और मातृत्व-प्रतिष्ठा का वह वज़न न कर सका। शैव या वैष्णव—अब दोनों में ही प्रीति और रति का प्राचुर्य, अधूमक सा, जनजीवन को दारुगर्भा मानने लगा था। उधर लोकजीवन की शक्ति ने अपने ह्रास से मुसलमानों का शासन अपने ऊपर ओढ़ लिया था। पर शासन ओढ़ कर भी हिन्दू जाति के कुछ संस्कार थे, जो भक्ति-आंदोलनों के सहारे अपने समूल अस्तित्व की रक्षा का अब-तब प्रयास करते रहते थे। इसी प्रयास का फल यह था कि चंडीदास ने बंगाल की रगोंमें-एक नया प्राण फूंका था। भक्ति की नीरसता और चारित्रिक क्लिष्टता से सांस लेने का मौका लोगों को मिला था। चंडीदास के पद विलासोत्तेजक से अधिक, प्रेमानुराग की विचारोत्तेजना से प्रशस्त हैं।

१०वीं सदी के आसपास बंगाल में सेन राजाओं का शासन रहा; ये दक्षिण से आए थे। इनके गुरु आचार्य रामानुज लक्ष्मी व नारायण के पूजक थे। यह एक सर्वपरिचित तथ्य है कि तत्वज्ञान प्राप्त करने से पहले रामानुज १०३४ ई० में बंगाल आए थे और यहां के कांचीपूर्ण नामक एक शूद्र की कृष्णभक्ति से प्रभावित हुए थे। सेन राजाओं के तत्वावधान में बंगाल में वासुदेव की ही पूजा मान्य रही। पर भक्ति-आंदोलनों की वृद्धि के कारण इस प्रांत में वैष्णवी प्रवृत्तियों का विकास प्रारंभ हुआ और भागवत की और कृष्ण की मान्यता बढ़ने लगी। १३वीं सदी में मध्यपंथ के १०वें गुरु विष्णुपुरी ने भागवत का व्यापक प्रचार किया और संस्कृत में एक ग्रंथ 'भक्ति रत्नावली' लिखा। यह ग्रंथ बंगाल में वैष्णवधारा का उद्गमस्रोत माना जाता है। बंगाल की प्रकृति में और उसकी सुषमा में और उसकी ऋतुओं में राग अधिक है, अनुराग की प्रियता सहज है। यहाँ का प्राकृतिक वातावरण और जलक्रीड़ा की रमणीयता उस मुक्त जीवन का प्रेरक रहा है, जिसमें नर-नारी जीवन के संघर्षों से पीड़ित न होकर, उल्लासमय कर्म-धर्म का हास ही ग्रहण करने में विश्वास रखते आए हैं। यही कारण है कि रम्य कुंजों से भरपूर बंगाल ने वृंदावनी कुंजों में क्रीड़ा रचनेवाले राधा-कृष्ण की गोपनीयता को सबसे अधिक माधुर्यपूरित करने में उत्साह लिया[2] और शनैः शनैः यहाँ की अन्य धार्मिक पूजाएँ लोप होती चली गई।[3] पद और संकीर्तन और गेय मधुरिमा की अनुरक्ति ही लोकजीवन की आस्था बन कर बंगाल को 'राधा का देश' बनाने की दिशा में अधिकाधिक उत्साहित हुई। बंगाल के लोकजीवन की भागवती दृष्टि उसके प्राणों में निमज्जित है।[4] इसी ने उसे शक्ति दी है, इसी ने उसे आश्चर्यजनक रूप से मातृशक्ति का पूजक भी बनाया है। बंगाल की यह राधा-प्रियता अभी कल की ही खिली हुई कली के सदृश्य है। इसीलिए बंगाल के घर-घरमें उसकी तरोताजगी और उसकी रसास्वादुता पेड़ पर पके हुए आम के तुल्य अपने प्राकृतिक सौरभ से युक्त है।

---

[1] 'सति व असति तुमि मोर आमार गति'—चंडीदास।

[2] Bengal being a pastoral country, its inhabitants delight in pastoral poetry and pastoral religion more than in anything else, and the 10th Skand of Bhagwat embodies these in a way which has perhaps no parallel in world's literature.—D.C. Sen in 'Chaitanya and his age', page 32, 1922.

[3] But nowhere is this diety in evidence to prove that Vasudeo had been worshipped here, before the Sen kings became dictators of the religion under the Brahmanic renaissance.—ibid, page 39.

[4] It is unquestionable that the Vaisnawas—the worshippers of Krishna are dominant in Bengal owing to the great success of the reformed cult established by Chaitanaya.—The Times (London) Literary Supplement, 2nd Aug., 1917.

पर 'राधा के देश' बंगाल में वैष्णव होना, वैष्णव बनकर समाज में स्वच्छंद घूमना, वैष्णव जन कहलाकर और पास के अन्य रूढ़ विश्वासों का उत्सारण और समीरण करना १० से लेकर १४वीं सदी तक एक ऐसी प्रवंचना रही, जो मानसिक यंत्रणाओंको ही नहीं दहकाती थी, पेटकी ज्वालाके विक्षोभ को भी उग्रतर बना दिया करती थी। इस उन्मुक्त दुर्मद शरीर वाले दीर्घ युग में समाज सुकाल की महिमा गाने का न अधिकारी था, न वह दुर्विदग्ध मायावियों के हाथों ही कोई आत्मचेतना तथा आत्मावलंबन की शक्ति का चयन कर सकता था। ऐसी अव्यवस्था के बीच चैतन्य ने पूर्वी भारत में एक नई व्यवस्था दी ; ऐसी अस्थिरता के बीच विष्णुप्रिया ने भारतीय नारीत्व की उत्कर्षोन्मुखता का प्रसव किया। असाध्य और कष्टसाध्य आर्थिक संरक्षण और एकांत गोपनीयता में जीवन की दुस्सह श्वास लेते हुए, १२–१३ वर्ष की अवस्था से ही पतिविरह और पतित्यक्त शोचनीयता की बूंद-बूंद पीते हुए, विष्णुप्रिया ने नदियामें इस प्रकार जीवन धारण किया कि अपने धनी पिता से न तो कभी एक पैसे की सहायता स्वीकार की और न ही वह कभी पिता के संरक्षण में किसी प्रकार का उपभोग ग्रहण करने ही अपने पीहर गई। संन्यास के क्षणों में अपनी माँ से गौर कहते गए थे कि तुम्हारी सेवा के लिए घर में बहू है ही ; पति की इसी अभिलाषा की पूर्णाहुति पर अपना होम करते हुए विष्णुप्रिया कठोरमना सास की सेवा में ही दत्तचित्त रही।[1] पुत्र के संन्यासी हो जाने पर शची माता का समस्त पुत्र-स्नेह पुत्रवधू में ही आधृत हो गया था। १५३३ ई० में चैतन्य का स्वर्गारोहण होता है। इस समय विष्णुप्रिया की आयु ३८ वर्ष की थी—अर्थात्, वह अपने कठोर विरह का भोग पूरे २६ वर्ष तक कर चुकी थी ! देहांत से १५ वर्ष पहले एकबार चैतन्य नदिया आए थे, लेकिन अपनी वृद्धा माँसे उन्होंने जरूर बातें कीं, पर अपनी उस विष्णुप्रिया को, जिसके सौंदर्य का वर्णन करते हुए कवि लोचनदास ने लिखा था, "विष्णु प्रियार अंग जिनि लाखवाण सोणा। झलमल करे जेन तड़ित प्रतिमा।। फणधर जिनि वेणी मुनि-मन मोहे। कपाले सिन्दूर से तुलना दिव काहे।। त्रैलोक्य जिनिया पद गड़िल विधाता। डगमग करे पदतल पद्माराता।।" (विष्णुप्रिया का अंग स्वर्ण का लावण्य जीत गया है, आज वह वधूवेश में इस प्रकार झलमला रहा है जैसे कोई तड़ित-बाला हो। उसकी वेणी फणिधर को जीतकर मुनियों का मन मोह रही है और भाल का सिन्दूर ? उसकी उपमा किससे दूं ? . . . त्रैलोक्य की कोमलता को जीतने के लिए विधाता ने उसके चरणों को गढ़ा है। शरीर का भार सम्हालने में असमर्थ होकर वे अलक्तक पदपद्म डगमग कर रहे हैं . . . इतनी कोमल लजवंती वधू है वह !) और 'श्रीकृष्णचैतन्य चरित' में मुरारिगुप्ताने लिखा है, "सौंदर्य-माधुर्य-विलास-विभ्रमैःरराजराजस्वर हेमगौरः विष्णुप्रियालालितपाद पंकजो रसेन पूर्णो रसिकेन्द्रमौलिः"—संन्यासी चैतन्य ने पहली ही दृष्टि में न पहचान कर सामाजिक रूपसे अनादृत किया और आग्रह करने पर केवल यही कहा कि तुम भी कृष्ण को याद करो। किंतु कृष्णमय निमाईरूप पति को वह निमाई रूप में ही याद कर सकती थी। और वही वह करती रही। जब पति का देहांत हो गया, तो सास भी पुत्र-वियोग से अधिक, पुत्राघात से क्षीण होती चली गई और अधिक दिन जीवित न रह सकी। ऐसी स्थिति में अब विष्णुप्रिया अकेली रह गई थी। एक अकेली नारी का अपने पतिगृह में जीवित रहना—वह भी दीन-हीन-अनाश्रित अवस्था में, किसी भी अभिशाप से कम नहीं था। केवल भक्तों का हल्का-सा आसरा था। पर विष्णुप्रिया ने अपनी ही तपसाधना से ८० वर्ष से भी अधिक जीवन बिताया। अर्थात् उसने ४२ वर्ष तक वैधव्य का कष्ट वहन किया। श्री यतीन्द्रमोहन चौधरी का कहना है कि श्री विष्णु-

---

[1] प्रारंभ के वैवाहिक जीवन में विष्णुप्रिया अपनी माता से अपनी सास के सम्बन्ध में और उसके द्वारा प्रदत्त प्रेम के बारे में कहती है, "आमि यदि कखनो रांधिते याइ, ताहा हइले तिनि क्षणेकरेइ रन्धनशाला हइते कौन छल करिया डाकिया आनिया आमाके कोले लइया बसेन एवं स्वीय अंचल दिया कत सोहाग करिया आमार मुख मुछाइया देन, गाये हात बुलायेन, गो मुखे कत चुम्बन प्रदान करेन ' ' ' मागो, एमन स्नेह जगते आर हय ना। (अर्थात्, मैं यदि कभी रसोई बनाने भी जाती तो वे उसी क्षण रसोईघर में कोई न कोई बहाना कर मुझे बुला लेतीं। अपने पास बैठा लेतीं। कभी गोद में लेकर अपने आंचल से मेरा मुंह पोंछती हुई इतना प्यार करतीं, न जाने कितना प्यार करतीं ! मेरे वदन पर हाथ सहलातीं और चुंबन करतीं। मां ऐसा प्यार जगत में और कहीं नहीं होगा।)—'श्रीश्रीविष्णुप्रिया', श्रीविधुभूषण सरकार, सन् १३२२ बंगाब्द।

प्रिया जी ९२ वर्ष तक जीवित रहीं, इसके भी छुटपुट प्रमाण मिलते हैं। विष्णुप्रिया ९२ वर्ष की वयोवृद्धा होकर इस लोक से गईं, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है, यह कम गौरव की बात नहीं है। श्री विष्णुप्रिया जी ने अपनी इस दीर्घ आयु से ही मातृत्व का पद प्राप्त किया था और वे जननी प्रियाजी नाम से विभूषित हुईं।[1] कवियों के लिए विरहिणी काव्य-नायिका भर वे पति के जीवन-पर्यंत ही रहीं। पर जब वैधव्य को उन्होंने अपने अस्तित्व पर ओढ़ लिया, उसके बाद कोई भी कवि यह न जान सका कि प्रिया जी किस तरह अपने पति-गृह में जीवित रह रही हैं। वे एक अनजाना रहस्य बन गई थीं। यही कारण है कि कोई भी भक्त कवि या जीवनीलेखक यह साहस न कर सका कि वे प्रिया जी का अंतिम जीवनसूत्र लिपिबद्ध कर दें। यद्यपि १५७४ के आसपास ही चैतन्य की जीवनियां लिखी जानी शुरू हुई हैं, और इस समय तक विष्णुप्रिया अवश्य ही जीवित थीं, पर किसी भी ग्रंथ में उसका अंतिम जीवनांश प्रस्तुत नहीं किया गया। पर कवियों और जीवनगाथाओं के वैष्णव गायकों की लेखनी से चमत्कृत न होकर भी, विष्णुप्रिया, विधवा होने के उपरांत, अपने ४२ वर्षों तक दिवंगत पति की तपसाधना का प्रतीक बनी हुईं, अपनी एकांत गोपन-सीपी में नारीत्व की ऐसी अमृत-बूंद बनीं, जो कालांतर में बंगनारी की सुहाग-मुक्ता-द्युति के रूप में सदा के लिए अमर हो गईं।

बंगाल के इन चैतन्य-पूर्व ५००-६०० वर्षों में उसके नारीसमाज ने जितना अंधकार सहन किया था, वह विष्णुप्रिया के युग तक कट-छंट जाता है। तांत्रिकों के अधःपतन के युगों में[2] पूर्वी भारत की नारी गृहस्थधर्म की अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण होना भूल चुकी थी! विष्णुप्रिया अपने जीवन में, गौरांग प्रभु की अध-भूली पत्नी से अधिक, पावन और सुसेव्य गृहस्थधर्म की अग्निपरीक्षा में इस तरह उद्‌गीत हुईं कि वे अपने ही व्यक्तित्व के प्रकाश का उत्तुंग स्तंभ बनकर जयजयकार पाती चली गईं। बंगाल से यदि तांत्रिकों का अभिशाप निःशेष शीघ्र से शीघ्र हुआ, उसका बहुत कुछ श्रेय मैं विष्णुप्रिया को ही देना चाहता हूं। इतना ही नहीं, विष्णुप्रिया अपने गहन मौन से पूर्वीभारत के नारी समाज को नए सिरे से आलोकित करती है। रूढ़ और श्रृंगारिक कृष्ण-राधा की पूजा में कुछ भी ऐसा तत्व नहीं रह गया था, जो जीवन को नई उमंग दे सकता। इस तह की कृष्णराधा-भक्ति की श्लथ, पर बहती धारा में चैतन्य और विष्णुप्रिया ने अपने-अपने केन्द्रों में मान-वीयता की उद्दाम गंगा ही प्रमुख बना दी। वास्तविक अर्थों में, उसके बाद से ही बंगाल राधा का देश बना है। तांत्रिक भी नारी-चरित्र के इस उज्ज्वल पक्ष की कल्पना नहीं कर सके थे। राधा उस सशक्त आत्मा का स्वर है, जो दैवी अभिव्यक्ति का मार्ग पा गई है। चैतन्य ने इसीलिए सर्वप्रथम अपने व्यक्ति को 'राधा' बनाया। उनके असमय ही काल-कवलित हो जाने के बाद, विष्णुप्रिया ने उनका अधूरा कार्य पूरा किया। बंगाल में आज विष्णुप्रिया द्वारा बहाई भाव-गंगा ही सर्वोच्च सत्य है!

विष्णुप्रिया का जीवन-लेखन और कवियों की कातर भावना

मैथिलीशरण गुप्त ने 'विष्णुप्रिया' के 'निवेदन' में लिखा है, "इधर मानसिक परिश्रम मेरे शरीर के प्रतिकूल पड़ने लगा है। इस कारण मैं उससे बचता-सा रहता हूं। परंतु इस पुस्तक ने मुझ से अपने को बरबस

---

[1] ऐसी जननी, जिसके लिए मनुसंहिता में कहा गया है, "उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणं शतं पिता। सहस्रंतु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥" अर्थात्, सौ उपाध्यायों के बराबर एक आचार्य होता है। १००आचार्यों की मान-प्रतिष्ठा के तुल्य एक पिता की ही मान-प्रतिष्ठा होती है। किन्तु जननी के पद पर १००पिताओं की मान-मर्यादा भी निछावर की जा सकती हैं!

[2] "करये कुक्रियायत के कहिते पारे। छाग मेष महिष शोणित घरे घरे॥ केह केह मानुषेर मुण्ड लइया। खड़्ग करे करये नर्त्तन मत्त हैया॥ से समये कहे से पथे याय। हइलेग्यो विप्र तार हात न एड़ाय॥ सभे स्त्री-लम्पट जाति विचार रहित। मद्यमांस बिने न भुंजये कदाचित॥" (नरोत्तमविलास) अर्थात्, उनकी कुक्रियाओं का वर्णन कौन करे? सब के घर में बकरे, भेड़ का खून घर-घर में फैला रहता है। किसी-किसी के यहां मनुष्य का मुण्ड भी दिखाई पड़ता है। मत्त होकर तलवार लेकर वे नाचते हैं। उस समय यदि कोई उस रास्ते से गुजरे, तो ब्राह्मण होने पर भी उसकी रक्षा नहीं! वे जातिविचार रहित हैं; मांस-मद्य के बिना वे रह नहीं सकते।

लिखा लिया है। ...श्रीचैतन्यदेव से मैं कुछ परिचित भी था, परंतु विष्णुप्रिया के सम्बन्ध में मैंने कुछ नहीं पढ़ा था। घर आकर मैंने स्वर्गीय शिशिरकुमार घोष के 'श्री अमिय निमाई चरित' से पढ़ना आरंभ किया। सोचा, यह आधुनिक काल के विद्वान की कृति है। मेरे लिए उपयुक्त होगी। किंतु मुझे शीघ्र ही विदित हो गया, भक्त में नए-पुराने का भेद नहीं होता। तथापि लेखक ने तर्कबुद्धि से भी अपनी श्रद्धा की पुष्टि करने का प्रयास किया है...प्राप्त सामग्री तो आज तक भी मैं बहुत नहीं पढ़ पाया हूँ। परंतु कथा मैंने संक्षेप में जान ली। वास्तव में महाप्रभु के विषय में मुझे कोई खोज नहीं करनी थी। इतना ही जानना था। विष्णुप्रिया का व्यक्तित्व तो मानो स्वयं उन्होंने मेरे अन्तस् में आकर स्पष्ट कर दिया था। बाहर जो था, सो था ही। उस व्यक्तित्व का मैं कैसा चित्रण कर सका, यह दूसरी बात है। परन्तु मैं उसके विशेषरूप से प्रभावित हुआ, इसमें संदेह नहीं।...जो हो, गत वसंतपंचमी (संवत् २०१४) के दिन कौतूहलपूर्वक ही मैंने स्लेट उठा ली और 'विष्णुप्रिया' का मंगलाचरण कर दिया। कह नहीं सकता, उस दिन मुझे कैसा पुलक हुआ...उसी सुख से मैं आगे के श्रम की सार्थकता समझता हूँ। नहीं जानता, उसे महाप्रभु का प्रसाद समझूँ अथवा विष्णुप्रिया देवी का। मैं दोनों के चरणों में प्रणाम करता हूँ।"

यह चरणों में प्रणाम करने की और तदुपरांत जीवनगाथा लिखने की प्रथा यही एक सहस्र वर्ष प्राचीन है। लेकिन विष्णुप्रिया के चरणों में, जो एक साधारण मानवी भर थी, प्रणाम करने की प्रथा का श्रीगणेश कर गुप्त जी ने अत्यधिक आधुनिकता की अतिशयता से पीड़ित साहित्यकारों के सम्मुख एक नई अन्त:चक्षु-पूजा का प्रारंभ किया है। हम जीवनगाथा लिखते हैं, उपन्यास लिखते हैं, पर उनमें उल्लिखित, चित्रित, निर्मित पात्रों के प्रति हमारी कितनी निष्ठा और पूजा और आदरभावना हमारे हृदय में व्याप्त रहती है? वास्तव में वे हमारी बुद्धि की महिमा पर चढ़ाई जाने वाली हवि भर रहते हैं। केवल भक्त ही अपनी पूजनीय मूर्ति के प्रति वैसी वंदनीय मानसिक स्थिति रखता है। यही कारण है कि गुप्त जी का यह काव्य-शिल्प राष्ट्रभारती के क्षेत्र में एक नई प्रतिष्ठा करने में समर्थ हुआ है। सहस्रों भक्तों की तरह उनके लिए भी चैतन्य महाप्रभु हैं, पर विष्णुप्रिया उनके लिए उस सोमलता-वाटिका की तरह है, जिसके सूखने का संकट सामने है और जिसे भाव-सिंचन की आवश्यकता है।

ऊपर 'श्रीनिमाई अमिय चरित' की चर्चा आई है। श्रीशिशिर कुमार घोष अपनी भूमिका में लिखते हैं, "जहाँ पर ऐसे में भी कुछ समझ में न आया, वहाँ पर बड़े कातर भाव से श्रीभगवान् की पूजा की है; इस तरह कातर होकर निवेदन करते-करते मेरे मनमें जैसी स्फूर्ति हुई है, वैसी लीला लिखी है। गौर-तत्त्व और गौरधर्म दो भिन्न बातें मानी हैं... किंतु जब सीता जी की अग्नि-परीक्षा की गई थी, तब हनुमान प्रभृति भक्तों को एक बेर भी संदेह नहीं हुआ था कि जनकदुहिता इस परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सकेंगी...श्रीगौरांग सत्य वस्तु हैं, कोई चाहे जितनी परीक्षा क्यों न करें, सत्य वस्तु को परीक्षा से भय क्या है।"

इस भूमिका में लेखक के पास सबल तर्क नहीं है, विष्णुप्रिया के प्रति कोई निश्चित भावना नहीं है, केवल चैतन्य के कर्मों में ही निबिड़ आस्था है। और उनके प्रति भक्ति ने जैसा प्रेरक आग्रह किया है, वैसी ही उनकी लीला लिखी है, अर्थात् उनकी मानवी गाथा नहीं, चैतन्य-भक्तिबोझिल स्तुति-परक गाथा को गद्य म लिखने में ही उनका दृष्टिकोण प्रधान रहा है। ऐसी गाथा में निश्चय ही विष्णुप्रिया के प्रति श्री शिशिरकुमार घोष निर्हेतु रहते हैं। उसके समक्ष उसकी वेदना को स्पर्श करना भी उन्होंने अपना अनधिकार ही माना है।

गुप्त जी (१९५७) से पहले, शिशिर कुमार घोष का ग्रंथ अवश्य पठनीय है। 'अमियनिमाई चरित' से पहले, सवा तीन सौ वर्ष पहले, वे ही ग्रंथ हमारे सहायक बन कर आते हैं, जो चैतन्य के जीवनसाथियों ने लिखे हैं। उनमें विष्णुप्रिया के प्रति न्याय-अन्याय का प्रश्न कहीं नहीं है, क्योंकि उस युग के लेखक उन्हीं सामाजिक प्रतारणा से स्वयं पीड़ित और ध्वंसित थे, जो नारी के मानवी मूल्यों के सम्बन्ध में प्राय: मौन रहते थे, या नारी को विजय के बाद शत्रु के यहांसे लाया गया धन-रूप 'ध्वजाहृत' मात्र मानते थे। बंगाल में गृहस्थी की मर्यादाएँ सीमित थीं। सार्वभौम भावना तो तांत्रिकों ने विषाक्त कर रखी थी। इन परिस्थितियों में सोलहवीं सदी

के प्रायः सभी लेखकों ने विष्णुप्रिया के प्रति एक अनिवार्य श्रद्धा-पूजा इसलिए लिपिबद्ध कर दी है, क्योंकि वह भगवान की प्रिया है, पत्नी है और कीर्तन में उसकी गाथा लोकजगत की नारियों को श्रद्धा-विगलित करती रहेगी। पर इस श्रद्धा-पूजा में एक लोक-विश्वास ने सबसे अधिक काम किया है, उसी का प्रभाव इन ग्रंथों पर इस तरह व्याप्त हो गया है, मानो किसी मंदिर में सुरक्षित ग्रंथ रामनामी वेष्टन में लिपटा हुआ सर्व-साधारण के लिए स्पर्शयोग्य भी न हो। पिछले सौ वर्षों से (१४वीं सदी से) लोकविश्वास चला आ रहा था कि चंडीदास ने अपनी निम्न पंक्तियों में एक भविष्यवाणी कर दी थी कि इस प्रकार का अवतारी पुरुष जन्म-ग्रहण करेगा—

आजु के गो मुरली बजाय,
एतो कभु नहे श्याम राय?
इहार गौर बरणे करे आलो
चूड़ा टि बांधिया केबा दिलो?
चन्डीदास मने मन हासे,
एरूप हईबे कोन देशे?

कहते हैं, एक बार श्रीमती राधिका कौतुकवश पीतवस्त्र पहन कर, हाथ में मुरली धर कर, केशों के ऊपर मोहनजूड़ा बाँधकर श्रीकृष्ण की नाईं बंकिम ठाठ से कदम्ब के नीचे खड़ी हो गई थीं। यह अपरूप और ठगहाई चमत्कार देख कर कवि की कल्पना विह्वल हो उठी और अपने से ही उलझ कर पूछ बैठी कि अरे, यह गौर मूर्ति मुरलीधर कौन प्रकट हो गया है? यह तो कृष्णवर्ण कृष्ण नहीं है। फिर यह मुरली कौन बजा रहा है? प्रेमयोगी छंद-शिल्पी चंडीदास की आसक्ति एक अनिर्वचनीय मोह से प्रवेगमयी हो उठी, वे आवेश से भर उठे और उनका दृष्टि-क्षितिज एक दूरस्थ प्रकाश से झिलमिल करने लगा। उनकी चेतना अदृश्य में श्यामसुंदर की झूलती हुई राधा-रूपिनी गौरमूर्ति पर स्थिर हो गई और तत्क्षण ही उन्हें भविष्यत्काल की प्रिय सूचना दे गयी। गौरवर्ण श्यामराय के आविर्भाव का आभास उन्हें मिल गया ... पर प्रश्न तो बना ही रहा कि श्रीकृष्ण भगवान की इस गौरमूर्ति का कब, किस देश में आविर्भाव होगा?

जब निमाई गया से लौट कर आए और कृष्ण की मादकता उन पर छक गई, तब प्रायः सभी भक्तगण व साधारण जन यही कहने लगे कि चंडीदासकी भविष्यवाणी सच निकली है, राधामय कृष्णका आविर्भाव हो गया है ... निमाई इतने गोरे थे कि उन्हें देख कर राधा का भान ही होता था।[1] इस तरह का एक वर्णन मत्स्य पुराण में भी आता है—

शुद्धगौरः सुदीर्घांगो गंगातीर-समुद्भवः।
दयालुः कीर्तग्राही भविष्यामि कलियुगे॥

और जब चैतन्य 'मुई सेई, मुई सेई' अर्थात् 'मैं ही वह, मैं ही वह' कहते थे, तो सभी यही समझते थे कि इसी सूत्र में यह रहस्य छिपा है कि निमाई अपने ऊपर ईश्वरका आरोप कर रहे हैं। ऐसे क्षणों में वैष्णव भक्तों को और चाहिए था क्या! उन्होंने उन्हें घेरना शुरू कर दिया और बस, निमाई सुबह-शाम, रात-बिरात अपने दल में कीर्तन करते हुए व्यस्त रहने लगे। वे पतिव्रता बालिका-वधू विष्णुप्रिया को भी भूल बैठे। जब घर आते भी, माँ चाहतीं कि इस प्रमत्त पुत्र को सुंदरी विष्णुप्रिया अपने सौंदर्य के मोहपाश में ग्रस्त करे और उसका पुत्र अन्य पुरुषों की तरह अपनी पत्नी के संग आमोद-आह्लाद करे, तो निमाई अपनी पत्नी से अधिक बातें न करते। एक दिन वे कुछ रीझे भी और विष्णुप्रिया से बातें करने ही लगे थे कि इतने में ही निताई[2] आकर आँगन में खड़े

[1] श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'विष्णुप्रिया' के प्रारम्भ में ही लिखा है—"राधामय श्याम मानो गौर हरि हो गये! नारायण नर बने, नर नर ही बनें।"

[2] बाद में चलकर यही वे प्रसिद्ध नित्यानंद हुए, जिन्होंने बड़े पैमाने पर बौद्धधर्म में भटके हुए नेड़ा-नेड़ियों को वैष्णव-धर्म में दीक्षित किया था।

हो गए। उन्होंने जरा भी विचार नहीं किया कि उनका मित्र अपनी पत्नी के संग एकांत में बैठा हुआ है। तत्काल ही निताई ने अपनी कमर का कोपीन खोल कर माथे पर लपेट लिया और पूरे नंगे हो गए! विष्णुप्रिया बेचारी इस पागलपन के लिए क्या कहती? लज्जित होकर पति के पास से उठकर भागी। पर कहते हैं, निमाई निताईकी इस हरकत पर नाराज न हुए, उल्टे उन्हें पकड़कर उनका पादोक भक्तगणों को पिलाया। इतनी चिंतनीय स्थिति थी विष्णुप्रियाके पति और उनके मित्रों की। उसे किसी भी रूपमें पतिका एकांत सुलभ नहीं होता था। अपनी साससे वह इन हरकतोंकी शिकायत करती भी तो कैसे! जब चैतन्य न रहे और उनके भक्तगणों ने उनकी जीवनगाथाएँ लिखीं, तो वे कातरभाव से केवल चैतन्य के माहात्म्य का ही वर्णन करने में होश खोए रहे। विष्णुप्रिया केवल एक अविभाज्य अंग की तरह, भगवान की प्रिया की तरह, साधारण चर्चा का विषय ही इन ग्रंथों में रही। आज की दृष्टि से यह कहना अतिशयोक्ति या दोषवृद्धि न होगी कि वे लेखक छछूंदर-गुणों का ही आरोप चैतन्य की मानवी गाथा पर करते रहे! छछूंदर सूंघते हुए आगे गति करती है, ये लेखक उसी पगडंडी पर आगे बढ़े, जहां-जहाँ चैतन्य-रूप कृष्णावतार के चरण गति कर चुके थे। विष्णुप्रिया इस गति-लोक से दूर रही, इसलिए उसकी स्मृति भी चैतन्य की समस्त गाथाओं से दूर रही।

किंतु मिश्रित धातुओं से निर्मित चांदी के रुपये में अपनी ही एक निराली कलदार आवाज होती है और उसीसे खोटे रुपये की आवाज की तुलना की जाती है। भगवान रूप चैतन्य के जीवन में ऐसी ही कलदार आवाज विष्णुप्रिया के व्यक्तित्व से निःसृत होती है। भक्ति से सने और समाधियोग में तल्लीन चैतन्य-साहित्य-समुद्र की असीम लहरों की फेनराशि से जो ज्योति प्रस्फुटित होती है, वह उस विष्णुप्रिया की झिलमिल प्रतिच्छबि ही है, जो चैतन्य से बहुत दूर नदिया में विरहिणी का जीवन बिता रही थी। और लोकजगत में तपते सूर्य की साकार मूर्ति थी। उस विष्णुप्रिया के विरह-उच्छ्वास लोकमानस के वात्याचक्र में रह-रह कर भरते जा रहे थे। यही कारण है कि सहस्रशीर्षा वाले जनता-जनार्दन की नैतिक आस्था का केन्द्रबिंदु विष्णुप्रिया जब हो गई, जनकवियों ने विष्णुप्रियाके दर्दीले गीत लिखे और उसकी श्वास-प्रश्वास को घर-घर में उछलते समुद्र-सा प्रवाहित कर दिया। वासुदेवघोष और लोचनदास और अन्य कवियों का काव्य कातरवाणी से प्रेरित नहीं है; वह उसकी मानवी गाथा को मानवी और जनभाषा में कहते-कहते ही अमर हो गया है। बीसवीं सदी के प्रथम दशकोंमें जब श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण ('श्रीश्री गौर विष्णुप्रिया', १९१३ई०) और श्रीविधुभूषण सरकार (विष्णुप्रिया, १९१५ ई०) विष्णुप्रिया-सम्बन्धी सामग्री लेकर प्रस्तुत हुए, तो वे कुछ नया लेकर नहीं आए, विष्णुप्रिया के वर्धमान सौंदर्य को वे बहुमुखी आकांक्षाओं से बहुमूल्य न बना सके, १६ वीं सदी के जनकवियों के लोकगीतों की जलती हुई मशालों से ही उन्होंने अपने हृदय के तिमिर को प्रकाशित किया। और विष्णुप्रिया फिर भी अपने दीर्घ जीवन की तपस्या का अंतिमभाग रहस्यमय ही रखती चली गई। कोई न जान सका कि उस 'कनकलता प्रतिमा' के अंतिम दिन, जब उसकी सास भी दिवंगत हो चुकी थी और उसके पति अल्पायु में ही नश्वरता से मुक्ति पा चुके थे, किस तरह अपने पति के झोंपड़ों में बन्द रह कर वह जीवनयापन कर रही थी? मैथिलीशरण जी गुप्त भी अपने काव्य में इस बारे में मौन ही हैं। किंतु विष्णुप्रिया का यही जीवन-अंश ऐसा है, जिसे यदि हम जान लें तो कोई भी कवि या जीवनीलेखक विष्णुप्रिया का काव्य लिखते समय कातर न रहेगा, वह आत्मबोध के उस संदेश को दिगंत में गुंजित कर देगा, जिस की आधुनिक भारत को अत्यंत आवश्यकता है। बहुत कम भारतीय नारियां ऐसी हुई हैं, जो शक्ति की समग्र सीमाओं को छू सकी हैं। विष्णुप्रिया सास और पति के देहावसान के बाद ऐसी ही मानवी बनी, जिसे कभी किसी ने नहीं देखा, लेकिन उसकी अदृश्य रेखाओं को गढ़ने के लिए बंगाल के शिल्पी और जिसकी श्वासों को काव्यमय बनाने के लिए वैष्णव कवि अधीर हो उठे...

यही कारण है कि २० वीं सदी के प्रारंभ होते ही विष्णुप्रिया की स्वतंत्र गद्य-जीवनी सब से पहले १९१३ में लिखी गई है। उसी का मिला-जुला आधार स्वीकार करते हुए श्री विद्याभूषण सरकार ने १९१५ में दो खंडों में 'श्रीश्री विष्णुप्रिया' प्रकाशित करवाई। इसके आमुख में लेखक ने अपनी कातरवाणी का ही जैसे पर्यालोचन किया है और लिखा है, "भूलोक में वास कर, संसार के बीच रह कर किस प्रकार सहज मधुर भाव

से श्री भगवान का संग-सुख लाभ किया जा सकता है, इस तथ्य को श्री विष्णुप्रिया ने पूर्णरूप से प्रदर्शित किया है। इस बात की उपलब्धि उनकी यह आख्यायिका का पाठ करने पर हो जायगी। विष्णुप्रिया की कार्यावलि का मर्मार्थ समझना किसी सांसारिक जीव के लिए असाध्य है। फिर भी अपने को पवित्र करने की इच्छा से उनका परम पुण्य चरित्र संक्षेप में यहाँ अवतरित किया जाता है। (पेज २, भूमिका)" और उनके प्रारंभिक विरह का विशद काव्यात्मक वर्णन करने के उपरांत, लेखक ने अपनी लेखनी से एक नई कल्पना करते हुए चैतन्य की लेखनी से विष्णुप्रिया को और विष्णुप्रिया की लेखनी से, उत्तर-स्वरूप, चैतन्य को पत्र लिखवाए गए हैं। किंतु इन पत्रों में कल्पना जैसे बौनी हो गई है। इस ग्रन्थ में उस सक्षम-सशक्त मानवी के जीवन की असाधारण तप-चयनशक्ति का क्रम-विकास किसी भी रूप में ग्रथित करने का प्रयास नहीं किया गया है।

इसके उपरांत १९४० के आसपास न्यूथिएटर्स ने 'विष्णुप्रिया' फिल्म बनाई। यद्यपि इसके गायन फिल्मी ढंग के थे, किंतु उनका आधार चंडीदास और विद्यापति के पदों को ही रखा गया था ; चैतन्य जो इन दोनों कवियों के पद गाते रहे थे ! इस फिल्म के सिने-कहानी लेखक श्री बिनय चटर्जी ने अवश्य पहली बार विष्णुप्रिया की गाथा का आधार बदला। मेरे आग्रह पर उन्होंने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए मुझे लिखा है कि, "जब श्रीमती कल्याणी मुखर्जी द्वारा लिखित विष्णुप्रिया की जीवनीगाथा मेरे समक्ष फिल्मी-करण के निमित्त प्रस्तुत की गई, तो तत्काल मुझे वह न केवल उचित विषय लगा, बल्कि प्रायः ही जिसके हम अभ्यस्त हैं, उन सब भावनाओं से अलग वह एक श्रेष्ठ कथानक अनुभव हुआ। श्रीमती मुखर्जी की कहानी में मुख्य विन्दु यही है कि कोई भी अवतार या महान पुरुष किसी संगठित दल के कार्यकलापों से नहीं बनता। वह तो मानवता के इतिहास में किसी चिंतनीय क्षणों का वरदान ही बनकर प्रकट होता है। फिर भी ऐसे एक व्यक्तित्व के निर्माण में एक स्त्री बहुत भारी योगदान कर सकती है। यद्यपि विष्णुप्रिया ने अपने पति के साथ संक्षिप्त जीवन ही बिताया है, क्योंकि अल्पावधि के लिए ही वे संग-साथ रह सके थे, फिर भी उस का अवतरण महात्मा गांधी के जीवन में कस्तूर बा की तरह से ही होता है। हम यह बात गांठ बांध लें कि एक नारी एक पुरुष में बिना किसी प्रतिभा-जन्य लक्षणों के होते हुए, अनायास ही कोई सर्वोपरि अभिधा उत्पन्न नहीं कर सकती। किंतु वह, गुणों के विद्यमान रहते हुए भी, एक महान प्रतिभाशाली व्यक्ति को नष्ट अवश्य कर सकती है। यही वह आधार है, जिस पर मैं ने विष्णुप्रिया की जीवनी को फिल्मी परदे पर चित्रित करने की चेष्टा की थी। यद्यपि कस्तूर बा की तरह से विष्णुप्रिया अपने पति के साथ-साथ जीवनयात्रा न कर सकी, फिर भी उसने दूर रह कर भी अपने पति के चरणों का ही अनुगमन किया।"

श्री मैथिलीशरण गुप्त कृत 'विष्णुप्रिया'

आखिर ३५० वर्षों बाद बंगाल में ही यह साहस तो किया गया कि कातरवाणी से अधिक, लेखकों ने विष्णुप्रिया को हस्तामलक-सा परखा और चैतन्य के योगसाधन में तथा स्वतंत्र रूप से बंगाल की भागवती दृष्टि के शुद्धिकरण में विष्णुप्रिया ने कितना बलवत्तर कार्य किया है, उसकी नापजोख की। 'विष्णुप्रिया' फिल्म के सिनेकहानी लेखक के उक्त शब्दों में आधुनिक भारत का निर्द्वन्द्व जीवन-दर्शन अंकित हो गया है।

लेकिन विष्णुप्रिया के जीवन-परीक्षण का आंदोलन जैसे यहीं पूर्ण नहीं हुआ। उसे और भी खरी कसौटी की अपेक्षा थी। बंगाल से १००० मील दूर, चिरगाँव में बैठे हुए राष्ट्रकवि (से अधिक आधुनिक भारत के वैष्णव युगद्रष्टा) ने इसी वर्ष अपने नवीनतम काव्य का आधार विष्णुप्रिया को बनाया और जैसे उन्हों ने ही विगत ३५० वर्षों से चल रहे मनोमंथन का नवनीत निकाल कर समग्र राष्ट्र के समक्ष भेंट कर दिया है। इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। गुप्त जी की 'विष्णुप्रिया' के रूप में राष्ट्रभारती ने अपना युगधर्म ही दृढ़ शब्दों में प्रकट कर दिया है। राष्ट्रभारती किसी भी देशीय भूभाग की भावधाराओं का नया भावमंथन करने की शक्ति से आज न केवल स्वस्थ है, बल्कि वह इस क्षेत्र में नेतृत्व करने के शील से भी विनीत है !

पुराण में कथा है कि विहुंड दैत्य के युग में महापातकनाशन, पुण्यमय गंगाद्वार पर कामोदपुर नगर में दिव्यभोगयुक्ता, नानाभरणभूषिता कामोदा नाम की ऐसी रमणी थी, जिस की हंसी से परम रमणीय, सुरासुर-

दुर्लभ पुष्प उत्पन्न होते थे, लेकिन जब रुदन करती थी तो उसके अश्रुबिंदु जल में पड़ते ही महासुगन्धयुक्त कमल में परिणत हो जाते थे। इन्हीं अश्रुओं से निर्मित कमलों को लेकर विहुंड दैत्य का संहार संभव हो सका। १६ वीं सदी के अंत में बंगाल के वैष्णवी गढ़ नवद्वीप में विष्णुप्रिया भी ऐसी ही कामोदा हुई, जिसकी हंसी से चिरजीवि पुष्प उत्पन्न हुए, और जो पुष्प आज भी बंगाल की सांस्कृतिक थाती के तौर पर घर-घर में सुरक्षित रखे हुए हैं। लेकिन जिसके अश्रुओं से उत्पन्न कमल-पुष्पों ने (बंगाल कमलों का अक्षय सरोवर जो ठहरा!) सदा-सदा के लिए, ब्रह्मविद्या के इतिहास में, युवकावस्था में गृहस्थों को संन्यासी बनानेवाले अदृश्य दैत्य का संहार कर दिया।

चैतन्य के युगों में विष्णुप्रिया अकेली नहीं थी। चैतन्य से पहले भी अनेक संभ्रान्त परिवारों के राजकुमार अपनी नववधुओं को छोड़ कर संन्यास के लिए निकल पड़ते थे। स्वयं चैतन्य के संन्यास लेने के बाद, १२ वीं सदी में बंगाल में हुए राजा गोपीचंद्र (जो अपने युग का सब से सुंदर राजपुरुष था, किंतु जो अपनी दो श्रेष्ठ सुंदरी पत्नियों का त्याग कर अपने युग का सबसे बड़ा संन्यासी भी हुआ) के समान ही, श्रीखेतुड़ी के राजा कृष्णचन्द्र के पुत्र और उत्तराधिकारी नरोत्तमदास ने १६ वर्ष की कमसिनी हालत में ही सब वैभव का त्याग कर वृंदावन में (चैतन्य के दिवंगत होते ही) गृहत्यागी के रूप में निवास करने लगा था। दूसरा राजकुमार रघुनाथ था और चैतन्य का समकालीन बंगाली था। उसके पिता की जमींदारी २० लाख रु० सालाना थी। उसकी संन्यास के प्रति रुझान देखकर उसकी मां ने एक बहुत ही रूपवती कन्या से उसका विवाह कर दिया, किंतु वह तो एक दिन चैतन्य की तरह से ही घर से भागा और चैतन्य के चरणों पर जाकर ही उसने विश्राम लिया। इसी तरह हुसैनशाह के उच्च पदीय और विलासी मंत्री सनातन और रूप भी वैभव और पत्नी-भरित विलास का त्याग कर चैतन्य के शिष्य हुए। यही हाल गोविंददास के साथ हुआ, जो अपनी पत्नी को बर्दवान में छोड़कर चैतन्य के दल में आ मिला था और जिसने चैतन्य की दक्षिण यात्राओं का साहित्यिक वृत्तांत लिखा है।

एक बात स्पष्ट है—गुप्त जी की लेखनी से विष्णुप्रिया की जो मूर्ति प्रकट हुई है, वह शुभ्र है, शीलवती है, पर बंगाली भावभूमि की उपज वह नहीं है। राष्ट्रभारती के स्पर्श से उसका समग्र सत्य राष्ट्रीय स्तर पर इस तरह निखर गया है, कि बंगालकी सीमाओंसे ऊपर उठकर संदेश-वाणीसे लब्ध वह राष्ट्रनारी ही बन गई है।

गुप्त जी ने कथारंभ में निमाई के अवतार-रूप हो जाने की उस रूढ़ दृष्टि का संक्षिप्त पिष्टपेषण किया है, जिसे एकस्वर से १६ वीं सदी के सभी बंगाली वैष्णव भक्तकवियों ने अपनाया है, कि जन्मसमय से ही निमाई के सारे कार्यकलाप भागवती कृष्ण की लीला का ही पुनर्सृजन करने के अभिप्राय से संपन्न हुए थे। गुप्त जी जैसे वैष्णव के लिए यही शोभनीय भी था। उसके बाद राष्ट्रकवि ने बंगभूमि की प्रशस्ति यथार्थ शब्दों में लिपिबद्ध की है—

कवियों की, कोविदों की, भावुकों की, भक्तों की,
गुणियों की, ज्ञानियों की, भूमि बंगभूमि तू,
तुझको प्रणाम अयि धात्रि गात्र-मन की!
शक्ति समाराधना की साधना की सिद्धि-सी!
शस्यश्यामला ही नहीं, तू चैतन्यमंगला,
वैष्णवों की भाव-मूर्ति विष्णुप्रिया-रूपिणी!

गुप्त जी की महिमा-अभिषिक्त लेखनी ने इस अंतिम पंक्ति में बंगाल का समग्र रूप ग्रहण कर लिया है। इस संबोधन के बाद ही लगभग ६०पंक्तियों में निमाई के माता-पिता, बड़े भाई का संन्यासी होना, निमाई का सरस्वती को सिद्ध करते हुए गांव में ही अल्पायु में प्रकांड पंडित बन जाना आदि २१ वर्ष तक का जीवन समेट लिया गया है। क्योंकि काव्य का शीर्षक 'विष्णुप्रिया' होने से इन प्रारंभिक संदर्भों की वैसी आवश्यकता कवि को नहीं है। फिर भी हम यहां संक्षेप में इस अवधि के वे प्रसंग अपने तौर पर दुहरा लें, जो निमाई के गृहत्यागी होने और उनकी द्वितीय पत्नी (दूजवरा) विष्णुप्रिया को आमरण पति-त्यक्त होने के कारण बने—

निमाई के पिता गरीब ब्राह्मण थे। वे विद्वान अवश्य थे, लेकिन आर्थिक संकट से ग्रस्त व्यक्ति की दीनता बस जैसे अभिशाप ही पीने के लिए बलवती होती जाती है, वही 'पुरंदर' उपाधिधारी पिता के साथ हुआ। पिता की दीनता से त्रस्त और प्रतिक्रियाओं के भार से दबे निमाई के बड़े भाई विश्वरूप ने अपने विवाह की घड़ियों में ही संन्यास लेने का निश्चय किया और जब कि उसके विवाह की वाद-झंकृति सारे मुहल्ले में गूंज रही थी, वह घर से चल पड़ा रातोंरात।...पिता की गरीबी का बहुत-कुछ संशोधन निमाई ने अपने सबल हाथों कर लिया था और देखते-देखते निमाई पंडित के दो-तीन नए बंगले (झोंपड़ेनुमा अर्द्ध-पक्के मकान; मध्यप्रदेश में इन्हें बंगलिया कहा जाता है) गंगातट पर प्रियदर्शन रूप में एक नए व्यक्तित्व के उद्भव की सूचना भी देने लगे थे—इससे पता चलता है कि १७-१८ वर्ष की अवस्था में ही, पिता का देहांत हो जाने से, निमाई में लौकिक जगत में ऊपर उठने की कितनी सांसारिकता थी और यश-उपलब्धि की उग्र उत्कंठा भी। स्वयं निमाई सारे नवद्वीप में इतना प्रियदर्शी था कि उतना सौंदर्य आंखों को बिना चकित किए नहीं रहता था; वह अत्यधिक गौरवर्ण था और लगता था कि साक्षात् गुलाब के पुष्पों के खिलखिलाते उद्यान में पूर्ण चंद्रमा की ज्योत्सना से लब्ध कोई बादल अतिथि की नाईं ठहर गया हो! गर्दन से नीचे तक लटकते हुए, चमकते और खुशबूदार तैल से ललकते घुंघराले केश और सारे शरीर पर कृष्णकेलि वस्त्र शोभायमान रहते थे। निमाई की अब निजी संस्कृत पाठशाला चलती थी और उसी में अन्यत्र से अधिक छात्र रहते थे। कानों में सोने की बालियाँ निमाई के शुभ्र गौर मुख पर जिस मनमोहकता की सूचना देती थी, उसके यथार्थ अर्थ तो कुछ आगे चल कर ही अपना रहस्योद्घाटन कर सके। यह सब २१ वर्ष की अवस्था तक हो चुका था। 'विद्यासागर' हो चुकने के बाद, निमाई पंडित ने अपने युग के कुछ प्रसिद्ध तर्कशास्त्रियों को पराजित कर 'वादीसिंह' की उपाधि भी अपने ही अधिकार में कर ली थी। सांसारिक पद-मद से संपन्न होकर २१ वर्ष की अवस्था में निमाई ने अपनी रुचि और अपनी इच्छा से अपना विवाह रचाया। उन दिनों संस्कृतज्ञों का और विद्यादानी ब्राह्मणों का स्वागत बहुमूल्य ब्रह्मदेय से और गाँव-गाँव में धन और दान के चढ़ावे से खूब होता था। लक्ष्मीप्रिया शीलवती और निमाई की मन-चढ़ी पत्नी थी। यद्यपि पिता धन नाम की कोई वस्तु छोड़ कर नहीं गए थे, लेकिन निमाई की पाठशाला ठीक चलने लगी थी। फिर भी लक्ष्मीप्रिया जैसी प्रिया पत्नी के संग सुखी गृहस्थी को और अधिक सुखद करने के लिए ब्रह्मदेय प्राप्त करने के इरादे से वे पूर्वी बंगाल की यात्रा पर निकले। पर उनकी अनुपस्थिति में उनकी प्रिया पत्नी सर्पदंशन से अपनी इहलीला समाप्त कर लेती हैं। इस समय तक निमाई सांसारिक जीव हैं, प्रकांड पांडित्य से मंडित हो कर भी उनकी युवकोचित चपलबुद्धिका करतब मचता ही रहता है, गांवके अन्य विद्वानों की उच्छिष्ट और अनुच्छिष्ट रूढ़ बुद्धि को वे अपनी ही तार्किक छलनी से छानने में आनंद लेते हैं और अपने से बड़े-बूढ़ों और विशेषरूप से वैष्णवों की हंसी उड़ाने से भी नहीं चूकते हैं। पर लक्ष्मीप्रिया के निधन-अभाव ने सहसा ही उनकी चपलता, ढिठाई, विनोदप्रियता का अपहरण कर लिया। प्रथम पत्नी की इस असामयिक घटना ने चैतन्य के सांसारिक जीवन का शुक्ल पक्ष समाप्त किया और कृष्णपक्ष के आगमन की सूचना दी। प्रथम पत्नी के साथ निमाई पंडित का दांपत्य यही आठ-दस महीने भी मुश्किल से न रहा था। दांपत्य का शुभ उदय होने से ही पहले जैसे कोई अदृश्य राक्षस भोगवती की श्री को ही हर ले गया! बुद्ध ने दांपत्य का भोग कम नहीं किया था। महावीर भगवान भी दांपत्य का प्रचुर भोग कर चुके थे। लेकिन त्रस्त और आहत भारत में सबसे अधिक संकटमय बंगाल प्रदेश के निमाई पंडित के लिए जैसे इस प्रथम पत्नी के निधन के रूप में भास्वती वृत्तियों का निमंत्रण ही प्रमुख होने आया था, दांपत्य सर्वोपरि आनंद का विभवी किस तरह हो, इस का नया पाठ ही जन-जन को देने का काम जैसे उनके पास अब बचा था। संतानोत्पत्ति तो वैसे घर-घर में सारे बंगाल में हो ही रही थी, लेकिन उन (दैवी) संतानों के लिए षोड़श-उपचार के साथ-साथ बलवती आत्मा की उपलब्धि कैसे हो, इस का भार निमाई पंडित ने अपने कंधों पर ले लिया। लक्ष्मीप्रिया अपने स्वल्प संस्पर्श से ऐसा ही मन:प्रसाद निमाई को दे गई थी!

पर अपनी आठ पुत्रियों के असमय, एक के बाद एक, दिवंगत हो जाने और अपने बड़े पुत्र के संन्यासी हो कर भाग जाने तथा अपने पति के चिरवियोग के बाद, निरीह एकाकी मां दस महीने में ही अपनी प्रिया पुत्र-

वधू का देहांत कैसे स्वीकार कर सकती थी। पुत्रवधू का देहांत सांसारिक तथ्य उस मां के लिए नहीं हो सकता था। लोकजगत में भी वैसा तथ्य कभी किसी ने नवयुवकों के लिए आज तक स्वीकार नहीं किया है। मां ने गाँव में ही एक दूसरी सुशीला और रूपवती कन्या को निमाई के लिए पूरे उत्साह के साथ चुना। उसे यह ध्यान रहा कि शायद निमाई ने भी उसे गंगातट पर अब-तब देख लिया होगा। निमाई के अनुरूप ही उसका सौंदर्य भी पूरक से अधिक, शोभायमान था। शची के मन में यह आशंका रह-रह कर, अवश्यंभावी रूप से बरसनेवाले गर्जनकारी बादलों की तरह, उमड़घुमड़ रही थी कि विश्वरूप के ही पदचिन्हों पर कहीं विश्वंभर (निमाई का घरेलू नाम) भी न चल पड़े अर्थात् संन्यास न ले ले। इसके लिए लोकसनातन उपाय यह है कि उदास–विरक्त बेटे को घर में एक नई परम रूपवती बहू के खूंटे से कस कर इस तरह स्थिर कर दिया जाए कि वह गृहस्थी के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र अपनी भावनाओं को स्थिर न कर सके। इन क्षणों में लक्ष्मी देवी की स्मृतिको निमाई पंडित के दुखी विरक्त चित्त से स्थायीरूप से पोंछ देने के लिए षोडशशृंगारभूषिता विष्णुप्रिया को पुत्रवधू के रूप में शची ने स्वीकार कर लिया। वह वही कर भी सकी, जो ऐसी अवस्था में पासपड़ोस में अन्य कुलमाताएँ सरलभाव से किया करती हैं। किंतु, जिसका पुनर्विवाह होना था, उसकी अवस्था तो दूसरी ही थी। लक्ष्मीप्रिया की मृत्यु होते ही निमाई सहसा गंभीर होकर, बुद्धि-चापल्य से भी विरत हो जाते हैं और उनका अंतःकरण अनायास ही प्रियापत्नी के निधन से उत्पन्न सांसारिकता की विरसता से साक्षात्कार कर लेता है। और वे अंतर्मुखी हो उठते हैं।[१] ऐसे क्षणों में शची माता अपने इस द्वितीय पुत्र के भी संन्यासी हो जाने की आशंका से भर कर सिहर जाती है और शीघ्रता से विष्णुप्रिया से उनका सम्बन्ध स्थापित कर देती है। यहाँ तक कि निमाई को भी इस द्वितीय विवाह का पता नहीं चलता। और जब चलता है तो वे सहसा ही व्यंग से हंस कर कह देते हैं कि किस का विवाह? मेरा नहीं हो सकता। पर जब उन्हें बचे-खुचे सांसारिक होश से पता चलता है कि मां को इस दूसरे विवाह से संतोष होगा और इस तरह घर में एकाकिनी मां को सेवा करनेवाली एक बहू मिल जायगी, वे स्वीकृति दे देते हैं। आज भी जहाँ आधुनिकता का दौर-दौरा अधिक नहीं हुआ है, द्वितीय विवाह का बड़ा कारण बूढ़ी माता की सेवा करना ही प्रधान उद्देश्य रहता है।

किंतु गुप्त जी ने इस प्रकरण को बिल्कुल ही स्वीकार न करते हुए, लक्ष्मीप्रिया से प्रथम विवाह का प्रसंग ही अपने काव्य से निकाल दिया है। उन्होंने विष्णुप्रिया का परिचय इस प्रकार देना प्रारंभ किया है (और प्रायः सभी वैष्णव कवियों ने विष्णुप्रिया की आसक्ति राधारूप में परिवर्तित कर दी है, जैसे तो वह जन्म से ही निमाई के प्रति दृढ़ थी) कि मानों वह निमाई के प्रति बरस-महीनों से अनुरक्त रहती चली आ रही है और उसने इसीलिए शची माता के चरणों में प्रतिदिन चुपचाप नमस्कार करना भी शुरू कर दिया है। कवि वासुदेव घोष ने इस स्थल पर विष्णुप्रिया को राधारूप में प्रकट करते हुए, निमाई के प्रति उसके अनुराग को इस प्रकार व्यक्त किया है—

गोरा रूप लागिल नयने।
किवा निशि किवा दिशि शयने स्वप्ने॥
ये दिके फिराई आंखि सेइ दिके देखि।
पिछलिने करि साधना पिछले आंखि॥

---

[१] "(लक्ष्मीप्रिया के निधन पर) हास्यप्रिय और आमोदप्रिय नवयुवक पंडित (निमाई) ने एक ही क्षण में अपने को संभाल लिया और शोक के बाहरी चिह्न किसी भी रूप में प्रकट किए बिना, मधुर वाणी में प्राकृतिक विधान की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए अपनी माता को भी धैर्य बँधाया। एक-दो महीने इसी प्रकार बीते, पर वह दुखिया स्त्री सदा ही उदास रहने लगी; उसने निमाई से पुनर्विवाह का आग्रह किया और निमाई ने अपनी माता को सुख देने के इरादे से नदिया के प्रसिद्ध विद्वान् सनातन की पुत्री विष्णुप्रिया से विवाह कर लिया। इस समय उसकी आयु केवल इक्कीस वर्ष की थी। उसकी माँ पुनः एक बार (बहू को पा कर) खुश रहने लगी, पर उसके पुत्र के स्वभाव में और चेतना में एक स्पष्ट अंतर दीख पड़ने लगा। उसकी आत्मा पर जैसे कोई गहरी भावना भारवती बन बैठी थी और आनंदप्रियता-भरी उसकी चुहल समाप्तप्राय हो चली थी; लगता था उसका अंतराल एक नई गंभीरता से उद्बुद्ध हो गया है।"
—दिनेशचंद्र सेन, 'बंगाली लेंग्वेज एंड लिटरेचर', पृ० ४२५।

कि क्षणे देखिनु गोरा किना मोर हैल।
निरवधि गोरा रूप नयने लागिल ।।
चित्त निवारिते चाहि नहे निबारण।
वासुदेव घोष बॅले गोरा रमणी मोहन ।।

—गोरा (निमाई) का रूप आँखों पर चढ़ गया है; क्या स्वप्न में, क्या शयन में, कभी जागरण में, जिधर नजर डालती हूँ, उधर ही वह दिखाई पड़ता है। आँखें हटा लेने की इच्छा करती हूँ, पर आँखें हटा नहीं पाती। जाने किस क्षण में गोरा को देखा (कि ऐसी दशा हुई)? मेरी क्या (असमर्थ) दशा नहीं हो गई? गोरा का असीम रूप नयनों में व्याप्त हो गया है। चित्त वहाँ से हटाना चाहती हूँ, पर हटा नहीं पाती। वासुदेव घोष[1] कहते हैं कि गोरा रमणीरूपमोहन हैं।

यह १६ वीं सदी का काव्य-सत्य है। लेकिन गुप्त जी ने इन क्षणों की विष्णुप्रिया को बहुत ही सुसंस्कृत्, शीलवती और (यद्यपि इस समय उसकी आयु मुश्किल से १२ वर्ष की था) अबोधावस्था से सलज्ज यौवन-संभ्रम चित्रित किया है। सखि से यह जानकर भी कि उसका विवाह निमाई से होना सहज है, विष्णुप्रिया लाज में भर कर अपनी आशंका प्रकट करती है—

कुछ भी न कह तू, कहाँ वे और मैं कहाँ?
सागर समेटने चलेगी कौन पोखरी?......
हाय सखि, तूने यह क्या कर दिया अभी,
कैसी एक हूक-सी उठा दी इस उर में।
उठती रहे न यह जन्म भर ऐसी ही!......
मेरे भगवान सबके हों, मैं उन्हीं की हूँ।......

वैष्णव भक्तों ने बड़े विशद रूप से निमाई और विष्णुप्रिया का विवाह-वर्णन किया है। वर की यात्रा और ससुराल में वर का आतिथ्य अपने युगों की बंगाली-रीतियों का सूचक है। श्री शिशिर कुमार घोष ने इस प्रकार लिखा है:—

भूषित कर सब अंग अलंकारन सुखदाई,
विष्णुप्रिया को लाय सभा मंडप पधराई।
विष्णुप्रिया मन मुदित ओट घूंघट पट छाहीं,
लज्जित वाके नयन विलोकत पतिमुख माहीं ।।
मन मन करत उछाह कहा सुंदर मुख देखो,
कौन यज्ञ तप सुफल विधाता यह सुख लेखो
ठाड़े दहिने पास इन्हें लोभित मन हेरो
नहीं अन्य अधिकार यहै पूरन धन मेरो।
खड़े दाहिनी ओर अहो यह है मेरे वर
केवल यह धन अहै मोर धन है यह मोकर ।।
श्रीमुख तनक नवाय चरण युग दर्शन लीनी
सहित परम अनुराग आत्मा अर्पन कीनी।

पर गुप्त जी ने केवल २४ पंक्तियों में स्वप्नशीला विष्णुप्रिया का विवाह-पूर्व अपने मधुर सुहाग की कल्पना करता हुआ गीत, तदुपरांत, विवाह-वर्णन समाप्त कर दिया है। अब, वधू ससुराल आई है कि

[1] वासुदेव घोष चैतन्य के समकालीन थे और कुमारहट्टा के निवासी थे, पर बाद में स्थायी रूप से नवद्वीप में बस गए थे। जाति से कायस्थ थे। चैतन्य की प्रशंसा में लिखे गए वासुदेव के पद ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वैष्णवों के राधाकृष्ण-संबंधी सभी पदों की भूमिका-स्वरूप 'गौर चंद्रिका' के रूप में गाने के लिए वे स्वीकार किए जाते हैं—इस प्रकार वासुदेव घोष के पदों का सम्मान सर्वोपरि है।

चौखट पर ही ठोकर लगती है और विष्णुप्रिया के अंगूठे से खून निकल आता है। तुरंत वर महाशय अपने पैर से उस खून-स्राव को दबा देते हैं। कथन है कि जब लोचनदास ने अपना 'श्री चैतन्य मंगल' सम्पूर्ण कर विष्णुप्रिया के पास अवलोकनार्थ भेजा था, तब उसमें यह घटना नहीं थी। विष्णुप्रिया ने स्वयं इस अंश को सुना कर बाद में जुड़वा दिया था। इसी स्थल से गुप्त जी का कथानक सप्राण हो गया है और काव्य का प्रवाह अपने पूरे वेग पर आ गया है। पति के पैरों से अंगूठे के रक्त-स्राव के रुक जाने पर, विष्णुप्रिया गुनगुना उठती है—

नाथ चरण से व्रण न दबाते तो क्या रुकती धार?
किंतु इसी मिष नख से सिख तक गूंजे तनु के तार!
कूजी पदस्पर्श-मद-विह्वल मेरी प्राण-पिकी!

गुप्त जी ने अपने कथानक का क्रम अपने तरीके से लिखा है और बताया है कि विवाह के बाद ही एक बची हुई साध को ले कर निमाई गया पिंडदान करने जाते हैं। लेकिन लोकपुरातन कहानी है कि, मां के बरबस आग्रह पर विष्णुप्रिया को वधू-रूप में स्वीकार कर भी, अपनी प्रथम पत्नीके निधनके बादसे ही वे सांसारिकता से विरक्त हो चले थे; द्वितीय विवाह चन्द्रिकाकी शीतलता-स्निग्धता लेकर आया था, पर निमाईके जीवनमें (इसके लौकिक अर्थ पूर्णतया विपरीत सिद्ध हुए!) यह द्वितीय विवाह की चंद्रिका और वधू के नागपाशी सौंदर्य की मुस्कराहट सूर्य की गहरी तपिश सिद्ध हुई और उनका मानस संतप्त हो उठा। द्वितीय विवाह से आच्छादित धूल-धूसरित परिणाम निमाई के सामने जैसे अंगड़ाई लेकर उठ बैठा था—प्रथम पत्नी के निधन से प्रकाशित व्योम में जो आश्चर्य उनसे बातें करने लगा था, वही असली सत्य था। इसीलिए निमाई विष्णुप्रिया जैसी अलकनंदा, जो बुद्धिवैभव में बहुत ही दीन थी क्योंकि अबोध बालिका मात्र थी, को जीवन-साथी के रूप में ग्रहण कर भी जैसे वे गृहस्थ की दृष्टि से अकिंचन ही बने रहे, और इसीलिए उसके प्रति चाह कर भी, मान कर भी, आसक्त न हो सके। विष्णुप्रिया की रूपग्रंथि रेशम की अवश्य थी, पर बँटे तारों की न थी, सुलझे तारों की थी, जिसे निमाई ने तोड़ना बहुत ही सहज माना. . .विष्णुप्रिया की मधुरात्रियां अभी बीत भी न चली थीं कि निमाई ने गया में पिंडदान करने का दिशाबोध अपने अन्तस में मुख्य जाना और तत्क्षण ही वे उसी दिशा चल पड़े। इसके अतिरिक्त दूसरा सत्य न था। अन्यथा २१ वर्ष का युवक और १२ वर्षीया रूपवती वधू की ताजा प्रणयगाँठ के ढीली पड़ने की गुंजाइश इस लोक में कहीं खुले भी खुला करती है?

पर गुप्त जी ने क्योंकि प्रथम पत्नी के निधन को अस्वीकार कर दिया है, इसलिए वे लिखते हैं कि निमाई के जीवन में एक साध शेष रहती है, वे पितरों को पहले पिंड देने की इच्छा प्रकट करते हैं। माँ ने इस इच्छा में धर्मलाभ ही देखा और आज्ञा दे दी। चलते हुए वे विष्णुप्रिया से मिले, जिसने आँसू आने के पहले ही निज मुख नीचा करके कहा—"लोभिन हूँ, देना नहीं, लेना जानती हूँ मैं!" निमाई-रूप रसिक पति पूछते हैं, "तो कहो, क्या लाऊँ मैं तुम्हारे लिए ललने!" प्रिया ने (लाज में गड़ कर कहा) कहा, "मैं क्या चाहती हूँ बता दूँ तो मुझे भय है, सुनकर अन्य कोई छीन न ले उसको! किन्तु तुम जानते हो, ले आना संभाल के।" और, "यह कह ज्यों ही वह रूप-गुण शालिनी पैरों पड़े, हाथों पर ले ली गई अंक में।" इस प्रकार पति पत्नी से विदा लेता है। इधर दिन बीतने पर, पति की अनुपस्थिति में विष्णुप्रिया की सखि उससे मिलने आती है; दोनों अपने दुख-सुख और पतियों से प्राप्त प्रेम की सूचना का आदान-प्रदान करती हैं। विष्णुप्रिया कहती है, "मैं क्या कहूँ जानती है आप ही तू उनको। लगता है, पाया अनायास मैंने इतना, जिसका सहेजना भी बन नहीं पड़ता। मूल्य भर सकने की बात भला क्या कहूँ, उसकी निछावर के योग्य भी कहाँ हूँ मैं? राम जाने, कैसा परिणाम होगा अन्त में। मेरा मन काँप उठता है बीच-बीच में। उनकी दया का ही भरोसा एक मन में।" क्योंकि विवाह से पहले गुप्त जी ने उसे शील और विचार में तनिक जाग्रत बताया है, इसीलिए क्रमविकास की दृष्टि विष्णुप्रिया का यह कथन बहुत ही सांगोपांग और वधू के मानसिक स्वास्थ्य का श्रेष्ठ परिचायक है। अपने गाँव भर में बौद्धिक दृष्टि से निमाई श्रेष्ठ पंडित थे ही, उनके तईं नई पत्नी का अपने को जरा तोल में

कम पाना सहज-स्वाभाविक है। पर सखि के समझाने पर विष्णुप्रिया यह कह कर स्वयं ही आश्वस्त होती है, "ठीक, अब अपने को दीन कहूँ कैसे मैं, इससे कृतघ्न हूँगी मैं निज विधाता की।"

इसी स्थल पर पहुँच कर लगता है, गुप्त जी की ऊर्मिला 'साकेत' में जैसे मात्र विरह-अनुतप्त है, अभिव्यक्तियाँ भी उसकी शील-मिश्रित अनुगामिनी भर हैं; 'यशोधरा' की यशोधरा माँग-साधिका और रविरथीय-राधिका के रूप में सहसा ही अपने गले की जयमाल के अदृश्य हो जाने पर अपने देह-आवाससे ऊपर उठकर नारीत्व के युग-पुरातन प्रकाश से भर उठती है; लेकिन यहाँ विष्णुप्रिया तो इन दोनों युगपुरातन भारतीय ललनाओं से अलग, मध्ययुग की उन भीगी पलकों वाले दो नयनों को लेकर उपस्थित हो गई है, जिन्हें हम आज भी घर-घर में भारतीय दांपत्य का वास्तविक मधुपर्क बना देख सकते हैं! मधुपर्क में दही, घी, शहद, जल और शकर का योग हुआ करता था और उसी से देवता या अतिथि का स्वागत् किया जाता था। लेकिन आज ही नहीं, युग-युगों से भारतीय दांपत्य का जो दही जिस रूप में जमता आया है, वह हमारी रमणियों के अश्रुओं का ही योग पाकर जमता रहा है; खट्टे दही से भला नवनीत की उपलब्धि किसने की है और उसका स्वाद किसने चखा है? पर घर-घर में वही विद्यमान है, इसलिए विष्णुप्रिया का यह काव्य इसी स्थल से (एक बंगनारी से भिन्न) भारतीय नारी की मुंहबोली कहानी कहने लगता है। और इसी स्थल से विष्णुप्रिया की भावधारा, बंगाल में विगत ३५० वर्षों से पाए जाने वाले साहित्य की धारा से भिन्न, अपनी एक नई दिशा बनाती है और उसी दिशा में खड़े होकर हम विष्णुप्रिया के समूचे जीवन का वह मधुचक्र देख सकते हैं, जिस पर बैठ कर उसने मधु के स्थान पर मधुशिष्ट (मोम) ही संजोया और अपने युग की स्निग्ध जलती मोमबाती ही वह युग-युगों के लिए बन गई।

पति की याद में विष्णुप्रिया एक गीत गुनगुनाती है, "अब तक लौटे नहीं प्रवासी। देखा करती है ऊपर चढ़ दूर-दूर तक दासी।" इस गीत के स्वर नवपत्नी की सुकोमल वय की मृदु सूचना भी देते हैं, लेकिन इतना भी कहते हैं कि बुद्धि-विभव पति की नवविवाहिता संगिनी अब शक्तिबहुल लता की भाँति नए संस्पर्श, नया उद्योग पा कर प्रवेग से चिंतनवती बन रही है।

आखिर निमाई गया से लौटते हैं। उनकी अवस्था बदल गई है। रह-रह कर मूर्छित होते हैं। कृष्ण-भक्ति का अनुराग उनमें लौ जगा गया है। फिर भी होश आने पर वे प्रिया की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि—

> **जननी की सेवा तुम्हें देकर गया था मैं**
> **श्रेय इसका है किसे, तुमको वा मुझ को?**
> **भार सौंपना है बड़ा अथवा संभालना?**

और यहीं पर राष्ट्रकवि की लेखनी ने वह विराट अंतर उपस्थित कर दिया है, जिसके अभाव में विष्णुप्रिया रूढ़ धर्म की अगम्य और अज्ञेय नारी भर ही रह गई थी! यह तो सच है ही कि अपनी प्रथम पत्नी के निधन के बाद निमाई ने अपना दूसरा विवाह माता को संतुष्ट करने से अधिक, माता की सेवा होती रहे, इसी भरोसे किया था और गया-प्रवास की अनुपस्थिति में उसकी पत्नी किस प्रयोजन की रक्षा कर चुकी है, उक्त शब्दों में पत्नी से वे स्पष्ट कह भी देते हैं, पर विष्णुप्रिया के मन की और हृदय की कामना इससे भी उज्ज्वल है और वह विनीत उत्तर में कहती है, "कोमल चरण ये रहे जो यों भ्रमण में, इनकी असेवा का अभाग्य मात्र मेरा है।" निमाई ने अपनी इस पत्नी की महत्वाकांक्षा को जाना और उसे बल नहीं दिया, लेकिन अपने निम्न शब्दों में उसके भविष्य की, उसके समूल जीवन की ही जैसे स्थायी परिभाषा निर्धारित कर दी—

> **किन्तु प्रिये, जो कुछ मिला है इस यात्रा में**
> **वस्तुतः तुम्हारा ही दिया वह मिला मुझे।**
> **अन्यथा क्या सम्भव था जाना छोड़ अम्बा को?**
> **आगे के लिए भी अब चिन्ता नहीं उनकी।**

परिभाषा हो गई पत्नी के आमरण जीवन की। पर पत्नी का चिरंतन प्रश्न तो अधूरा, बिन उत्तर का ही रह गया। उसने तत्क्षण ही पूछा, "और मेरी? प्रश्न किया विष्णुप्रिया देवी ने। उत्तर न देकर उन्होंने उसे

इसका, अति ही सदयता से छाती से लगा लिया।" नारी पुरुष के हृदय-वक्ष का आलिंगन-भाव भर रहे, उसके आगे कर्म पुरुष का ही अधिकार लेकर चलता है। १६वीं सदी से पहले बंगाल की सामाजिकता इसी निष्कर्श तक पहुँच पाई थी, उसके बाद का समाधान तो वैष्णवों ने और स्वयं निमाई ने चैतन्य-पद प्राप्त करने के बाद निर्णीत किया है. . .उसे नए शब्दों से संजोया है...

देखते-देखते निमाई कृष्णभक्ति का चमत्कार अपने अन्तर में संजोए सर्वत्र चर्चा का विषय बन गए। उनके कुछ साथी भी एकत्र हो गए। रातोंरात कीर्तन की एक धारा बह निकली। कीर्तन के साथ संगीत की सरसता भी बढ़ चली। पर नवद्वीप तर्कवादियों का और मायावियों का गढ़ था। अधिक प्रचार यही होने लगा कि निमाई पागल हो गए हैं। और इसी असत्य प्रचार के द्वारा वैष्णव-विरोधियों ने निमाई के दल-वालों का जीवन दूभर कर दिया। पर १६वीं सदी में निमाई को कृष्ण का अवतार माननेवाले और सिद्ध करनेवाले लेखकों ने जब हार्दिक तर्कों के आधार पर निमाई की जीवनी लिखी तो कृष्णकी ही भाँति निमाई के ऊपर भी क्षण भर में आम का वृक्ष उगा देने जैसी बलात् विश्वास करानेवाली आग्रह-पद्धति का आसरा लिया। गुप्त जी ने भी उसी परम्परा को दुहराते हुए निमाई की ईश्वरीय लीलाओं का सोत्साह वर्णन किया है। एक वैष्णव कवि का विश्वास इससे कम नरहरि का रूप भला देखे भी क्यों? भक्तों की भाव-पीठिका जो विगत ३५० वर्षों से चली आ रही है, उसे सत्य मान कर चलने में जब रस मिलता है! इस तरह पूर्ण रूप से निमाई, संन्यास-पूर्व के अर्द्ध-विक्षिप्त और अन्तः स्पंदनों से बोझिल भक्तके रूप में, सांसारिक रेखाओं की तिलांजलि देने की तैयारी कर चुके हैं। ऐसे क्षणों में केवल दो पंक्तियों में गुप्त जी ने पत्नी के विह्वल और कातर हृदय की गोपन भावनाओं को बिजली-सा चमका कर प्रोज्ज्वल बना दिया है—

कीर्त्तन में मग्न हुए नाचते ही नाचते
होकर अचेत प्रायः गिर पड़ते थे थे।....
पीछे रहते थे, जो संभाल सकें उनको।
किन्तु चोट सहती थी विष्णुप्रिया उनकी!

और इसी स्थल पर कवि ने वेदनाभरी पत्नी का एक गीत देकर काव्य की चरम करुणा को प्रकाशित कर दिया है; पाठक उसे पढ़ कर विष्णुप्रिया की दुखद गाथाकी उत्तप्त मरुस्थली का विराट दर्शन कर लेता है—

मानो अब निज से भी न्यारे,
खोये से रहते हैं प्यारे।
सखि मैं लाजों मर गई सुन उनकी यह बात,
'रास रचो राधे चलो आज रुपहली रात।
क्यों तुम यों अपना मन मारे?'
झर-झर आँसू बह उठे भर-भर लाये मेह,
हर-हर मैं कहने लगी थर-थर कांपी देह।
वे थे सारी सुध-बुध हारे।
खोये से रहते हैं प्यारे।...

और वह क्षण आखिर उपस्थित हो गया, जिसको टालने के लिए क्या नहीं किया गया था। उसी को टालने के लिए एक धनी पंडित की परम रूपवती पुत्री को भी सहचरी तक बना दिया गया था, जब कि विष्णुप्रिया को किसी राजसी घर में ही, नियम से, ब्याहा जाना चाहिए था। निमाई जिस रूप में जीवन बिताने का विधान बनाना चाहते हैं, वह नवद्वीप में संभव नहीं है। विरोधियों ने उनके विरुद्ध षड़यंत्र रचना आरंभ कर दिया है। यदि बंगाल में विशाल स्तर पर वैष्णव धर्म की पीठिका स्थापित करनी है, तो वह उसी रूप में हो सकेगी कि जनता हृदयतः उसे स्वीकार करे। इसके लिए गृहत्याग पहली शर्त है! अपनी पत्नी-माता से भी उन्होंने इसकी आज्ञा ली। इस प्रसंगमें कवि ने ५६ पंक्तियोंमें माता-पुत्रका जो दृश्य शब्द-शिल्पसे बांधा है, वह पाठकको सिहरा देता

है। किंतु इसकी झाँकी वैष्णव साहित्य में भी बहुत कुछ है। पर विष्णुप्रिया से विदाई का दृश्य ही वह केन्द्र-विन्दु है, जिसे प्रकट करने में वैष्णव गायक व लेखक भी अभिव्यक्ति-क्षमता की रक्षा नहीं कर सके थे। लोचनदास ने तो विष्णुप्रिया से विदाई के पूर्व लाक्षणिक तौर पर राधाकृष्ण का विलास-विहार-प्रकरण दिया है, जिसका आशय यही है कि निमाई ने संन्यासी होने के क्षणों में जैसे विष्णुप्रिया के संग अंतिम रूपभोग किया था! लोचनदास के काव्य की यह हालत है, मानो चैतन्य प्रभु नहीं, उनकी मायावी लीला ही विष्णुप्रिया जैसी मानवी से अपना मनःहर रमण रच रही हो। किंतु लोचनदास का यह ग्रंथ एक प्रज्ञा-क्षालन-काव्य है। बंगाल और उसकी वैष्णवी संस्कृति तार्किक या रूप-भावोद्दीपन पर विहार नहीं करती। राधाकृष्ण का नाम भी अपने आप में पूर्णामृता-सदृश है। जयदेव या विद्यापति या चंडीदास या चैतन्य के प्रख्यात् गीत बंगाल में साक्षात् मानसून-सा कार्य करते रहे हैं। ये गीत न होते तो बंगाल का वैष्णव धर्म किस करवट बैठता, उसका हिसाब देना या आँकना कठिन कार्य है। लोचनदास ने अपनी इस कृति में चैतन्य और विष्णुप्रिया को अतिशय काव्यमय बनाकर अमर कर दिया है। इसलिए इस स्थल पर पहले इसी कवि का वह अंश भी लें, जहाँ विष्णुप्रिया ने अपने प्रभु के साथ विदाई-रास रचाने से पहले उनसे विदाई ग्रहण की है—

"चरणकमल पाशे निश्वास छाडिया बैसे, नेहारये कातर नयने। हियार उपरे थुइया, बांधे भुजलता दिया, प्रिय प्राणनाथेर चरणे। दु नयने बहे नीर, भिजिल हियार चीर, बुक बहिया पड़े धार। चेतना पाइया चिते, उठे प्रभु आचम्बिते, विष्णुप्रिया पुछे बारबार।। मोर प्राण हिया तुमि, कांद कि कारणे जानि, कह कह इहार उत्तर। थुइया हियार परे, चिबुक दक्षिण करे, पुछे वाणी मधुर अक्षर।। कांद देवी विष्णुप्रिया, शुनिते बिदरे हिया, पूछिते ना कहे किछु वाणी। पुनः पुनः पुछे प्रभु, सम्बरिते नारे तबू, कांदे मात्र चरण धरिया। अन्तरे दगधि प्राण, देहे नाहि सन्विधान, नयने झरये मात्र पानि।। प्रभु सर्वकला जाने, कहे विष्णुप्रिया स्थाने, अंगवासे बदन मुछिया नाना रूपे कथा भाव, कहिया बाड़ाय भाव, ये कथाय पाषाण मुंजरे। प्रभुर व्यग्रता देखि, विष्णुप्रिया चांदमुखी, कहे किछु गदगद स्वरे।। शुन शुन प्राणनाथ, मोरे शिरे देह हात, संन्यास करिबे ना कि तुमि। लोकमुखे शुनि इहा, बिदरिया जाय हिया, आगुणे ते प्रवेशिबो आमि। तो लागि जीवनधन, ए रूप जौवन, वेश लीला रसकला। तुमि यदि छाड़ि जाबे, कि काजे एछार जीबे, हिया पोड़े जेन विष ज्वाला।। आमि हेन भाग्यवती, नाहि हेन युवति, तुमि हेन मोर प्राणनाथ। बड़ आशा छिलो मने, ए नव यौवने, प्राणनाथ दिबो तोमा हाते। धिक रहुँ मोर देहे, एक निवेदन तोहे, केमने हाँटिया जाबे पथे। गहन कंटक बने, कोथा जाबे कार सने, केबा तव जाबे साथे-साथे। शिरिष कुसुम येन, सुकोमल चरन तेन, परशिते मने लागे भय। भूमि ते दांडाबो जाबे, मोर प्राण लये तबे, हेलिया पड़ए पाछे गात्र। अरण्य कंटक बने, कोथा जाबे कोन स्थाने, के मने हांटिये रांगा पाए। सुखमय मुखइन्दु, ताहे धर्म्म बिन्दु, अल्प आयासे मात्र देखि। वरिषा बादल धारा, क्षणे जल, क्षणे क्षरा, संन्यास करण बड़ दुखी।। तोमार चरण बिनि, आर किछु नाहि जानि आमार फेलह कार ठांई। कि कहिब मुंइ छार, आमि तोमार संसार, संन्यास करिबे मोर तरे। तोमार निछनि लइया, मरि जाबो विष खाइया, सुखे तुमि बस एइ घरे।। (चैतन्य मंगल)"—अर्थात्, चरणकमलों के पास निश्वास छोड़ती हुई विष्णुप्रिया बैठी हैं। कातर नयन से चरणों की ओर देखती रहीं। उन चरणों को हृदय पर लेकर भुजलता से बाँध लिया। उनके दोनों नयनों से अश्रु बहने लगे। अश्रु से वक्ष का चीर भीज गया और उसकी धार वक्ष से होकर बहने लगी। प्रभु आश्चर्य में पड़ कर बार-बार विष्णुप्रिया से पूछते हैं कि तुम मेरी प्राणप्रिया हो, किस कारण रो रही हो, कहो, इसका कारण क्या है? हृदय से लगाकर चिबुक दक्षिण हाथ में लेकर बार-बार मधुर शब्दों में पूछते हैं, तो भी विष्णुप्रिया देवी रोती जा रही हैं। उनका क्रंदन सुनकर हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। प्रभु के बार-बार पूछने पर भी वे कुछ नहीं बोलतीं। केवल रोती ही जा रही हैं। उनका हृदय दग्ध हो रहा था। देह की सुधि नहीं थी और नयनों से झरझर कर आँसू झर रहे थे। प्रभु सर्वभेद जाननेवाले हैं। विष्णुप्रिया को प्यार करते हुए, उनके अंग सहलाते हुए बोले, नाना रूप से उन्होंने प्रेम की बातें की। इन बातों को सुनकर पाषण भी कोमल हो सकता है। प्रभु की यह व्यग्रता देखकर चंद्रमुखी विष्णुप्रिया गद्गद् स्वर से बोलने लगीं, "सुनो, सुनो, प्राणनाथ मेरे सिर पर हाथ रखो। कहो क्या

यह सत्य है कि तुम संन्यासी हो रहे हो ? लोगों से मैंने यह सुना है। सुनते ही मेरा हृदय विदीर्ण हो गया। अगर यह सत्य है, तो मैं अग्नि में प्रवेश करूँगी। ऐ जीवनधन, यह जीवन तो तुम्हारे ही लिए है। इस रूप की, इस यौवन की सार्थकता तुम्हारे साथ लीला करने में, तुम्हारे साथ रसकेलि करने में ही तो है। अगर तुम इसे छोड़ जाते हो, तो यह जीवन रखकर क्या होगा ? यह मेरे लिए भस्म है, धूल है। सच कहती हूँ कि मेरा हृदय विष की ज्वाला से दग्ध हो रहा है। तुम्हारे जैसे प्राणनाथ पाकर भला मुझ जैसी कौन भाग्यवती नारी है ? मन में बड़ी साध थी कि इस यौवन को तुम्हारे हाथों में समर्पण करूँगी। खैर, मैं तुम से एक निवेदन करती हूँ। मुझ से सच बतलाओ, तुम कैसे पाँव-पाँव चलोगे ? गहन कंटकवन में, कहाँ जाओगे, किसके साथ ? **तुम्हारे चरण शिरीष कुसुम से भी अधिक सुकोमल हैं। उन चरणों का स्पर्श करते हुए मुझे स्वयं भी डर लगता है! !** भूमि पर जब खड़े होगे, तो सच कहती हूँ, मेरे बदन में प्राण नहीं रहेगा। घोर कंटकवन में इन अरुण चरणकमलों से तुम किसके साथ कहाँ जाओगे ? हे प्रिय, तुम्हारा चंद्रवदन घर में जरा-सा ताप लगने पर भी अपने आप प्रस्वेदमय हो जाता है, यह मैं अपनी आँखों से ही देखती हूँ। हाय, वर्षा की अभिराम धारा में, जब खंड मेघ और खंड रौद्र के उदय में कैसे तुम संन्यासधर्म का निबाह करोगे ? यह बड़ा दुखप्रद व्रत है। तुम्हारे चरणों के सिवा मैं दुनिया में कुछ और नहीं जानती। मुझे किसके सहारे छोड़े जा रहे हो ? अगर मेरे लिए संन्यास धारण करके जाते हो, तो इस संसार में मैं रहकर क्या करूँगी ? तुम्हारी बला लेकर मैं विष खाकर मर जाऊँगी। तुम कहीं न जाओ, इसी घर में सुखपूर्वक रहो।

किंतु गुप्तजी के काव्य में काव्य अधिक नहीं है, वाग्विलास की वंचना भी अधिक नहीं है, निमाई का कृष्णरूप भी अधिक नहीं है—जैसा कि १६ वीं सदी के चैतन्य-ग्रंथों में अतिशय है और जिस रूप के घनाच्छादन के कारण विष्णुप्रिया सदेह अदृश्य हो जाती है ; राष्ट्रभारती की शब्द-वेधी बाणशक्ति का ही कौशल इस प्रसंग में अपना जयघोष प्रकट कर रहा है और इसी जयघोष में गुप्तजी द्वारा 'विष्णुप्रिया' का लेखन-लक्ष्य भी इस तरह स्पष्टतर प्रकाश के साथ प्रकट हो गया है, मानो विष्णुप्रिया के युग की कंठ-त्रासक प्रवंचनाओं को प्रस्तुत करते हुए राष्ट्रकवि ने १६ वीं सदी की भारतीय नारियों की अश्रु-सिक्त बुझी दीपपंक्तियों को ही मंत्रबल से दुबारा जगमग कर दिया हो !

●●●

रामकथा

लोकगीतों में रामकथा

श्री रामनरेश त्रिपाठी

रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति के दो विशाल संग्रहालय हैं। दोनों में से रामायण का मान समाज में अधिक है, क्योंकि उसके चरितनायक का जीवन-चरित्र व्यक्ति और समाज दोनों के लिए आदर्श, सुख और समृद्धि का उत्पादक एवं अनुकरणीय है।

आदिकवि वाल्मीकि ने संस्कृत में संपूर्ण रामकथा लिख कर उसे केवल संस्कृतज्ञों के लिए सुलभ कर दिया था। गोस्वामी तुलसीदास ने उसे अपने समय की बोलचाल की भाषा में लिख कर उसकी व्यापकता को असीम बना दिया। उन्होंने उसे हमारे इतना निकट ला दिया कि हमको अब महाराज दशरथ के राज-महल में जाने की ज़रूरत नहीं। सारे देश में, गाँव-गाँव में, ग़रीबों के घरों में भी, चाहे वह ब्राह्मण हो या अछूत, किसी भी वर्ण या जाति का कुटुंब हो, महाराज दशरथ का कुटुंब उसका अपना कुटुंब बन गया है। वह पुत्र को राम, पिता को दशरथ, माता को कौशल्या, स्त्री को सीता, भाई को भरत और लक्ष्मण, सेवक को हनुमान मान कर उनको अपना कुटुंबी ही समझता है। वह समझता है कि रामलीला उसकी अपनी ही लीला है। राम की मूलकथा माला में तागे की तरह एक ही रहती है—सिर्फ फूल समाज की रुचि और आवश्यकता के अनुसार बदलते रहते हैं।

वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास आदि बड़े-बड़े सिद्धांतवादी कवियों से कुछ सहायता पाने की आशा छोड़ कर अपढ़ ग्रामीणों ने अपने सामाजिक जीवन के साँचे में ढाल कर अपनी रामकथा अलग बना ली है, जिसे वे अपने हर्ष और उत्सव के अवसरों पर बड़े प्रेम से गाते और सुनते रहते हैं और उसी को सत्य समझते हैं। इतिहास के पचड़े में वे नहीं पड़ते।

ग्रामगीतों में रामकथा के अधिकतर करुण प्रसंग ही चुन-चुनकर लिए गए हैं। करुण रस का प्रभाव हृदय में देर तक ठहरता भी है। इससे ऐसे गीतों का समाज में प्रचार और आदर भी बहुत होता है।

रामकथा में राम-वनवास से भी अधिक करुण प्रसंग सीता-वनवास का है। स्त्रियों में इस प्रसंग के गीतों का अधिक प्रचार है। सीता-वनवास का एक गीत, जो अवधी भाषा में है और भाषा का थोड़ा रूप बदलते हुए बिहार, छोटा नागपुर और बुन्देलखंड तक प्रचलित है, यहाँ दिया जा रहा है :—

ननद भौजाई दूनों पानी गईं अरे, पानी गईं।
भउजी जवन रवन तुहें हरि लेइ ग उरेहि देखावहु ।। १ ।।

ननद और भौजाई दोनों पानी भरने गईं। ननद ने कहा—हे भाभी ! जो रावण तुम्हें हर ले गया था, उसका चित्र बना कर मुझे दिखाओ ।।१।।

जौ मैं रवना उरेहउँ उरेहि देखावउँ।
ननदा सुनि पइहइँ बिरन तुम्हार त देसवा निकरिहइँ ।। २ ।।

सीता ने कहा—हे ननद ! यदि रावण का चित्र बना कर मैं तुमको दिखाऊँगी और कहीं तुम्हारे भाई यह सुन पाएँगे, तो मुझे देश से निकाल देंगे ।।२।।

लाख दोहइया राजा दसरथ राम मथवा छुवौं।
भउजी लाख दोहइया लछिमन भइया जो भइया से बतावउँ ।। ३ ।।

ननद ने कहा—हे भाभी ! मैं राजा दशरथ की लाख शपथ खाती हूँ, राम का माथा छूती हूँ और लक्ष्मण भाई की लाख शपथ खाती हूँ, जो राम को बताऊँ ।।३।।

माँगौ न गाँग गँगुलिया गंगाजल पानी।
ननवा समुहे के श्रोबरी लिपावनि में रवना उरेहउँ ।। ४ ।।

सीता ने कहा—अच्छा, गंगाजल मँगाओ और सामने की कोठरी को लीपपोत दो, मैं रावण का चित्र बनाकर दिखा दूंगी ।।४।।

माँगिनी गाँग गँगुलिया गंगाजल पानी।
सीता समुहे क श्रोबरी लिपाइनि रवना उरेहई ।। ५ ।।

गंगाजल मँगाकर और सामने की कोठरी लिपवा कर सीता रावण का चित्र बनाने लगीं ।।५।।

हथवहु सिरजिनि गोड़वहु नयना बनाइनि।
आइ गये हैं सिरी राम अँचर छोरि मूँदिनि ।। ६ ।।

सीता ने रावण के हाथ बनाए, पैर बनाए और आँखें बनाईं। इतने में श्रीराम (भोजन करने) आ गए। सीता ने आँचल खोल कर चित्र को ढँक लिया ।।६।।

जेंवन बैठे सिरी राम बहिनि लोही लाइनि।
भइया जवन रवन तोर बैरी त भउजी उरेहई ।। ७ ।।

श्रीराम भोजन करने बैठे। बहन ने चुगली खाई—हे भाई! जो रावण तुम्हारा बैरी है, भाभी उसका चित्र बना रही हैं ।।७।।

अरे रे लछिमन भइया विपतिया के साथी।
भइया सीता क देसवा निकारउ रवना उरेहई ।। ८ ।।

राम ने कहा—हे विपत्ति के साथी भाई लक्ष्मण! सीता को देश से बाहर कर आओ, यह तो रावण का चित्र बनाती है ।।८।।

जे भौजी भूखे क भोजन नांगे क बस्तर।
भइया से भौजी गरुहे गरभ से में कैसे निकारउँ ।। ९ ।।

लक्ष्मण ने कहा—हे भाई! जो भाभी भूखे को भोजन और वस्त्रहीन को वस्त्र देती है और जिसको गर्भ भी है, मैं उसे देश के बाहर कैसे ले जाऊँ? ।।९।।

अरे रे लछिमन भइया विपतिया के नायक।
भइया सीता क देसवा निकारउ इ त रवना उरेहई ।।१०।।

राम ने फिर कहा—हे विपत्ति में आगे चलनेवाले भाई लक्ष्मण! सीता को देश से बाहर निकाल आओ। यह तो रावण का चित्र बनाती है ।।१०।।

अरे रे भउजी सितल रानी बड़ी ठकुराइनि।
भउजी आवा है तोहँका नेवतवा बिहान बन चलबइ ।।११।।

लक्ष्मण ने सीता से कहा—हे मेरी भाभी महारानी सीता! तुमको निमंत्रण आया है, कल बन को चलेंगे ।।११।।

ना मोरे नैहर माई न बपई जनक अस।
देवरा के अब नेवता पठाये त रहिओ सपन भइ ।।१२।।

सीता ने कहा—हे देवर! न मेरी माँ अब जीवित है और न जनक ऐसा पिता ही जीवित है। मुझे न्योता कौन पठाएगा? अब तो नैहर की राह भी स्वप्न हो गयी ।।१२।।

कोंछवा के लिहीं सरसैया छिटैंत सीता निकसीं।
सरसो यहि राहे अइहीं लछिमन देवरा त रहिया बतायउ।
सरसो हरि लिह्यो भुखिया पिअसिया कँवरिया तोरि खइहैं ।।१३।।

सीता लक्ष्मण के साथ वन में जाने के लिए आँचल में सरसों लेकर घर से निकलीं और उसे वन के रास्ते में छीटती हुई चलीं। उन्होंने सरसों से कहा—हे सरसों! इसी रास्ते से देवर लक्ष्मण लौटेंगे, उन्हें राह बताना और तुम्हारा डंठल तोड़ कर वे खाएँगे, तो तुम उनकी भूख-प्यास हर लेना ।।१३।।

एक बन डाँकिनि दुइ बन तिसरे बिन्द्रावन।
देवरा एक बूँद बनिया पिअउतेउ पिअसिया से व्याकुल ।।१४।।

लक्ष्मण के साथ सीता ने एक वन पार किया, दूसरा वन पार किया, तीसरा वृंदावन मिला। तब सीता ने कहा—हे देवर! प्यास के मारे विह्वल हो रही हूँ। कहीं से एक बूंद पानी ला कर पिला दो ।।१४।।

बैठहु न भउजी चँदन तरे चँदना बिरिछ तरे।
भउजी पनिया क खोज करि आई त तोहँका पिआई ।।१५।।

लक्ष्मण ने कहा—हे भाभी! तुम इस चंदन-वृक्ष की छाया में बैठो, मैं पानी खोज कर ले आऊँ, तब तुमको पिलाऊँ ।।१५।।

बहै लागी जुड़ली बयरिया कदम जूड़ी छहियाँ।
सीता भुइयाँ में परीं कुम्हिलाइ पिअसिया से व्याकुल ।।१६।।

ठंडी हवा बहने लगी। कदंब-वृक्ष की छाया भी शीतल थी। प्यास से व्याकुल सीता मूर्च्छित हो कर धरती पर लेट गयीं ।।१६।।

तोरेनि पतवा कदम कर दोनवा बनायेनि।
टाँगेनि लवँगिया के डरिया लखन चले घर को ।।१७।।

लक्ष्मण पानी लेकर लौटे। कदंब का पत्ता तोड़ कर, उससे दोना बना कर और उसे लौंग की डाल में लटका कर वे घर चल दिए ।।१७।।

सोय साय सीता जागीं झझकि उठि बैठीं।
कहँवा गये लछिमन देवरा त हमें न बतायउ।
हिरदैया भरि देखतेउँ आँखिआ भरि रोवतेउँ ।।१८।।

सो-सा कर सीता जागीं और झिझक कर उठ बैठीं। वे कहने लगीं—हे देवर लक्ष्मण! तुम कहाँ गए? मुझे बताया भी नहीं, मैं तुमको हृदय-भर कर देख तो लेती, आँख-भर कर रो तो लेती ।।१८।।

छापक पेड़ छिउल कर पतवन घनबिन।
रामा तोहि तर ठाढ़ि सितलदेई बहुत विपति में ।।१९।।

सघन पत्तोंवाला ढांक का छोटा-सा पेड़ है; सीता देवी बड़ी विपत्ति में पड़ कर उसीके नीचे खड़ी हैं ।।१९।।

को मोरे दुइ खर तोरिहइँ त मड़ई छवइहइँ।
ए हो, को मोरे दियना जरइहइँ त मड़ई रखइहइँ ।।२०।।

सीता चिंता कर रही हैं—कौन खर (सरपत) काटेगा? कौन झोंपड़ी छवाएगा? कौन मेरे लिए दिया जलाएगा और कौन झोंपड़ी की रखवाली करेगा? ।।२०।।

बन से निसरे बन तपसी त सितै समुझावहँ।
सीता हम तोर दुइ खर तोरब त मड़ई छवाउब।
सीता हम तोर दियना जराउब त मड़ई रखाउब ।।२१।।

सीता का विलाप सुन कर वन में से वन के तपस्वी निकल आए। वे सीता को समझाने लगे—हे सीता! हम तुम्हारे लिए सरपत काटेंगे, झोंपड़ी छा देंगे, तुम्हारा दिया जला देंगे और तुम्हारी झोंपड़ी की रखवाली भी कर देंगे ।।२१।।

कहाँ पउबै सोने का छुरौना कहाँ पउबै धगरिन ।
को मोरे आगे पीछे बैठइ को लट छोरइ ।
को मोरी जागइ रइनिया कवन दुख बाँटइ ।।२२।।

सीता फिर चिंता कर रही हैं कि मैं सोने का छुरा कहाँ पाऊँगी ? धगरिन (बच्चे का नाल काटनेवाली) कहाँ पाऊँगी ? कौन मेरी लट खोलेगा ? मेरे आगे-पीछे कौन बैठेगा ? मेरी रात कौन जागेगा ? और कौन मेरा दुःख बाँटेगा ? ।।२२।।

बन से निकरीं बन तपसिन सितै समुझावईं ।
सीता हम तोरे आगे पीछे बैठब हम लट छोरब ।।२३।।
सीता हम तोरी जगबै रइनिया त हम होबै धगरिन ।
बेटी ! जिनि करु मन माँ बिरोग बिपति हम बाँटब ।।२४।।

सीता का विलाप सुन कर वन में से वन की तपस्विनियाँ निकल आईं । उन्होंने कहा—हे सीता ! हम तुम्हारे आगे-पीछे बैठेंगी, हम तुम्हारी लट खोलेंगी, हम तुम्हारी रात जाग देंगी और हमी धगरिन बनेंगी । हे सीता ! मन में कोई चिंता न करो । हम तुम्हारी विपत्ति बाँट लेंगी ।।२३, २४।।

होत बिहान लोही लागत होरिल जनम भये ।
सीता लकड़ी क किहिनि अँजोर संतति मुख देखिनि ।।२५।।

प्रातःकाल होने पर उषा के उदय होते ही बच्चे का जन्म हुआ । सीता ने लकड़ी जला कर उसके उजाले में संतान का मुँह देखा ।।२५।।

जौ पूता होतेउ अजोधिया राजा दसरथ घर ।
राजा सगरिउ अजोधिया लुटउतें कौसिल्ला रानी अभरन ।।२६।।

सीता विलाप करने लगी—हे पुत्र ! तुम आज अयोध्या में, राजा दशरथ के घर में, जन्मे होते तो राजा आज सारी अयोध्या नगरी और रानी कौशल्या अपने कुल गहने लुटा देतीं ।।२६।।

तुम पूता भयहु विपति में बहुतै सँसति में ।
पूता कुसै रे ओढ़न कुस डासन बनफल भोजन ।।२७।।

ह पुत्र ! तुम बड़ी विपत्ति में पैदा हुए ; यहाँ तो कुश का ओढ़ना, कुश ही का बिछौना और वन के फलों का ही आहार है ।।२७।।

हँकरिनि बन केर नउवा बेगिहि चलि आयउ ।
नउवा जलदी अजोधिया क जाउ रोचन पहुँचावउ ।।२८।।

सीता ने वन के नाई को बुलाया । वह तत्काल आ गया । सीता ने कहा—हे नाई ! जल्दी रोचन ले कर अयोध्या को जाओ ।।२८।।

पहिले दिहेउ राजा दसरथ दुसरे कौसिल्ला रानी ।
नउवा तिसर रोचन लछिमन देवरा पै पियै न जनायउ ।।२९।।

हे नाई ! पहला रोचन राजा दशरथ को, दूसरा रानी कौशल्या को और तीसरा देवर लक्ष्मण को देना ; पर मेरे प्रिय (पति) को न जानने देना ।।२९।।

पहिले दिहेसि राजा दसरथ दुसरे कौसिल्ला रानी ।
तिसर त लछिमन देवरा पै पियै न जनायसि ।।३०।

नाई ने पहला रोचन राजा दशरथ को दिया, दूसरा रानी कौशिल्या को और तीसरा देवर लक्ष्मण को ; पर सीता के प्रिय (पति) को जानने नहीं दिया ।।३०।।

राजा दसरथ बिहिन आपन घोड़वा कौ[illegible] भरन।
लछिमन देवरा बिहेंनि पाँचों जोड़वा बिहँसि नौवा घर चल्यो ।।३१।।

राजा दशरथ ने नाई को अपना घोड़ा दिया, रानी कौशल्या ने गहने दिए और देवर लक्ष्मण ने पाँचो जोड़े (पगड़ी, दुपट्टा, अँगरखा, धोती और जूता) दिए। बिदाई पा कर नाई हँसता हुआ घर को चला ।।३१।।

चारिउ खूंट क सगरवा राम दतुइनि करईं।
भइया भहर भहर करइ माथ रोचन कहँ पायउ।
भइया केकरे भये नँदलाल त जिया जुड़वायन ।।३२।।

चार कोने का तालाब है, जिसमें राम दातुन कर रहे हैं। लक्ष्मण के माथे पर रोचन लगा देख कर उन्होंने पूछा—हे भाई! तुम्हारा माथा तो चमचम चमक रहा है, रोचन कहाँ पाए? पुत्र ने जन्म ले कर किसके हृदय को शीतल किया है? ।।३२।।

भउजी तो हमरी सितल रानी दोऊ कुल राखनि।
भइया उनके भये हैं नँदलाल रोचन हम पायेन ।।३३।।

लक्ष्मण ने कहा—हे भाई! दोनों कुलों (नैहर और ससुराल) का नाम रखनेवाली मेरी भाभी सीतारानी के पुत्र हुआ है, उसी का रोचन मैंने पाया है ।।३३।।

हाथ क दतुइनि हथ रहि मुख कै मुख रहि।
रामा ढुरै लागी मोतियन आँसु पितम्बर पोंछइँ।
पूता जनम जो लेतेउ अजोधिया हमहूँ मुख देखित ।।३४।।

सुन कर राम के हाथ की दातुन हाथ में और मुख की मुख में रह गई। आँखों से मोती जैसे आँसू ढुलक चले और वे उसे पीताम्बर से पोंछने लगे। राम आप-ही-आप कहने लगे—हे पुत्र! तुम अयोध्या में जन्म लेते, तो मैं भी तुम्हारा मुंह देखता ।।३४।।

हँकरौ न बन केर नउवा बेगि चलि आवइ।
नउवा सीता क हलिया बताउ सितै लइ आउब ।।३५।।

राम ने कहा—वन के नाई को बुलाओ तो। नाई जल्दी से चल कर आ गया। मैं सीता को ले आऊँगा, तुम सीता का हाल सुनाओ ।।३५।।

कुस रे ओढन कुस डासन बनफल भोजन।
साहेब लकड़ी क किहिन अँजोर संतति मुख देखिनि ।।३६।।

नाई ने कहा—हे मालिक! सीता कुश ओढ़ती हैं, कुश बिछाती हैं और वन के फल खाती हैं। उन्होंने लकड़ी जला कर उसके उजाले में संतान का मुंह देखा ।।३६।।

रामा तरर तरर चुवैं आँसु पटुकवन पोंछइँ।
अरे रे लछिमन भइया विपतिया के नायक।
भइया एक बेर बिन्द्रावन जातेउ भउजइए लइ अउतेउ ।।३७।।

सुन कर राम के आँसू तरर-तरर चूने लगे। वे दुपट्टे से पोंछने लगे। उन्होंने कहा—विपत्ति-काल में आगे चलनेवाले हे भाई लक्ष्मण! एक बार वृंदावन जाते और अपनी भाभी को ले आते ।।३७।।

चलिभे अजोधिया से लछिमन बिन्द्रावन उतरेनि।
भउजी राम क फिरा हैं हँकार त तुम के बुलावइँ ।।३८।।

लक्ष्मण अयोध्या से चल कर वृंदावन पहुँचे। उन्होंने सीता से कहा—हे भाभी! राम ने तुमको बुलाया है ।।३८।।

जाहु लखन घर लौटि त हम नाहीं जाबई।

देवरा जौं रे जिग्रइ नन्दलाल त उनहीं क बजिहई ।।३६।।

सीता ने कहा—हे लक्ष्मण ! घर लौट जाग्रो, मैं नहीं चलूँगी। ये पुत्र जीते रहेंगे, तो यही उनके कहलाएगें ।।३६।।

माघैं कई तिथि नउमी राम जग्गि रोपेन।

रामा सीता बिन जग्गि न होइ सितै लइ ग्रावउ ।।४०।।

माघ महीने की नवमी तिथि को राम ने यज्ञ ग्रारम्भ किया। प्रजा ने, खास कर स्त्री-समाज ने, कहा—हे राम ! सीता के बिना यज्ञ नहीं होगा, सीता को ले ग्राग्रो ।।४०।।

ग्ररे रे गुरु बसिष्ट मुनि पइयाँ तोरी लागउँ।

गुरु तुम्हरे मनाये सिता ग्रइहैं मनाइ लइ ग्रावहु ।।४१।।

राम ने गुरु वशिष्ठ से कहा—हे गुरु जी ! ग्रापके पाँव छूता हूँ। ग्रापके मनाने से सीता ग्राएगी, जा कर मना लाइए ।।४१।।

घोड़ा चढ़ि चलेन बसिष्ट मुनि पलकी कहार लिहें।

हेरैं लागें रिषि क मढुलिया जहाँ सीता तप करइं ।।४२।।

वशिष्ठ मुनि घोड़े पर चढ़ कर चले ; कहार पालकी ले कर चले। वे ऋषि की कुटी खोजने लगे, जहाँ सीता तप कर रही थीं ।।४२।।

ग्रँगनेहि ठाढ़ी सितल रानी रहिया निहारत।

रामा ग्रावत ग्रहें गुरुजी हमार त पइयाँ धाइ लागउँ ।।४३।।

कुटी के ग्राँगन में सीता रानी खड़ी हुई राह की ग्रोर देख रही हैं। उन्होंने देख कर मन में कहा कि हमारे गुरु जी ग्रा रहे हैं, दौड़ कर पाँव छुऊँ ।।४३।।

पतवा क दोनवा बनाइनि गंगाजल पानी।

सीता धोवैं लागीं गुरुजी के चरन ग्रौ मथवा चढ़ावइँ ।।४४।।

सीता ने पत्तों का दोना बनाया, उसमें गंगाजल लिया ग्रौर वे गुरु वशिष्ठ के चरण धोने ग्रौर माथे पर चढ़ाने लगीं ।।४४।।

येतनी ग्रकिलि सीता तोहरे तु बुद्धि कई ग्रागरि।

सीता किन तोरा हरा है गेयान राम बिसरायउ ।।४५।।

सीता की नम्रता देख कर गुरु वशिष्ठ ने कहा—सीता ! तुम ऐसी बुद्धिमती हो, फिर तुम्हारा ज्ञान किसने हर लिया, जो तुमने राम को भुला दिया ? ।।४५।।

सब कै हाल गुरु जानउ ग्रजान बनि पूँछउ।

गुरु ग्रस कै राम मोहि डाहेनि कि कइसे चित्त मिलि है ।।४६।।

हे गुरु जी ! ग्राप तो सब का हाल जानते हैं, फिर भी ग्रनजान की तरह पूछते हैं। राम ने मुझे इतना डाहा कि ग्रब उनसे चित्त कैसे मिलेगा ? ।।४६।।

ग्रगिया में राम मोहि डारेनि लाइ भूँजि काढ़ेनि।

गुरु गुरुए गरभ से निकारेनि त कइसे मन मिलिहइ ।।४७।।

राम ने मुझे ग्राग में डाला, भून कर निकाला ; फिर जब मैं गर्भिणी थी, तब घर से निकाल दिया, तो मन कैसे मिलेगा ? ।।४७।।

तोहरा कहा गुरु करबै परग पाँच चलबइ।

रामा ऐसनै पुरुष क पिरितिया त विधि न मिलावइँ।

गुरु ग्रब न ग्रजोधिया क जाब बहुत सुख भोगेउँ ।।४८।।

लेकिन हे गुरुजी ! मैं आपका वचन नहीं टालूँगी और अयोध्या की ओर पाँच कदम चल दूँगी। पुरुष का ऐसा ही प्रेम होता है, तो ब्रह्मा उससे न मिलाएँ तो ठीक। हे गुरुजी ! मैं अयोध्या को अब न जाऊँगी, मैंने बहुत सुख भोग लिया है ।।४८।।

हँकरहु नगर के कँहरा बेगि चलि आयउ।
कँहरा चनन क डँड़िया फनावउ सितहिं लइ आउब ।।४६।।

(गुरु वशिष्ठ के निष्फल लौट आने पर) राम ने कहार को बुला कर कहा—चंदन की डाँड़ी तैयार करो, मैं सीता को ले आने जाऊँगा ।।४६।।

एक बन गइलें दुसर बन तिसरे बिन्द्रावन।
गुल्ली डंडा खेलत दुइ लरिकवा त राम देखि मोहेनि ।।५०।।

राम एक वन को लाँघ कर दूसरे वन में गए, दूसरे से तीसरे घने वन में गए, वहाँ दो लड़के गुल्ली-डंडा खेल रहे थे ; राम उनको देख कर मोहित हो गए ।।५०।।

केकर तुं पुतवा नतियवा केकर तुं भतिजवा हो।
लरिको कवनी मयरिया क कोखिया जनमि जुड़वायउ ।।५१।।

राम ने पूछा—हे लड़को ! तुम किसके पुत्र हो ? किसके नाती हो ? किसके भतीजे हो ? किस माता की कोख से जन्म ले कर तुमने उसे शीतल किया है ? ।।५१।।

बाप क नउँवां न जानउँ लखन के भतिजवा हो।
राजा जनक के हं हम नतिया सीता कं दुलरुवा ।।५२।।

लड़कों ने कहा—हम बाप का नाम नहीं जानते। हम लक्ष्मण के भतीजे और राजा जनक के नाती तथा सीतादेवी के लाड़ले बेटे हैं ।।५२।।

इतना वचन राम सुनलेन सुनहू न पउलेन।
रामा तरर तरर चुवै आंसु पटुकवन पोंछई ।।५३।।

लड़कों का उत्तर राम पूरी तरह सुन भी नहीं पाए कि तर-तर आँसू गिरने लगे और वे उसे दुपट्टे से पोंछने लगे ।।५३।।

अगवें रिषि कं मढुलिया राम नियरानेनि।
रामा छापक पेड़ कदम कर लगत सुहावन ।।५४।।

आगे ऋषि की कुटी थी। राम उसके पास पहुँचे। वहाँ कदंब का छोटा-सा एक पेड़ था, जो बड़ा ही सुहावना लगता था ।।५४।।

तेहि तर बैठी सितल रानी केसियन झुरवइं।
रामा पछवां पलटि जब चितवें रामजी ठाढ़े ।।५५।।

उस कदंब-वृक्ष के नीचे सीता रानी बैठ कर सिर के बाल सुखा रही थीं। उन्होंने पीछे मुड़ कर देखा, तो रामजी खड़े हैं ।।५५।।

रानी छोड़ि देहु जियरा बिरोग अजोधिया बसावउ।
सीता तोरे बिन जग अँधियार त जिवना अकारथ ।।५६।।

राम ने कहा—हे रानी ! मन का दुःख भुला दो और चल कर अयोध्या को बसाओ। हे सीता ! तुम्हारे बिना संसार अंधकारमय है और मेरा तो जीवन ही व्यर्थ है ।।५६।।

सीता अंखिया में भरलीं बिरोग एकटक देखिनि।
सीता धरती में गईं समाय कुछौ नाहीं बोलिनि ।।५७।।

सीता की आँखों में दुःख भरा हुआ था। उन्होंने राम को एकटक देखा। फिर वे धरती में समा गईं और कुछ बोली नहीं ॥५७॥

स्त्रियों की राय में राम ने सीता के साथ अन्याय किया है। एक धोबी की बात पर अपनी पाणिगृहीता पत्नी का त्याग करके उन्होंने पति की उस प्रतिज्ञा को तोड़ा है, जिसे राजा होने से पहले, पाणिग्रहण के अवसर पर उन्होंने की थी। स्त्रियों ने सीता का पक्ष ले कर राम के इस कृत्य का बदला पुरुष-मात्र से लिया है। उन्होंने घर, बाहर, जंगल, खेत, खलिहान, मेला, त्योहार आदि सब स्थानों और सब मौकों पर अपने गीतों द्वारा राम के नाम पर पुरुष-मात्र की भर्त्सना की है। ये गीत जब स्त्री-कंठ से निकलते हैं, प्रकृति निस्तब्ध होकर सुनने लगती है, और करुण-रस का समुद्र-सा उमड़ पड़ता है। सुनने पर शायद ही कोई पुरुष हो, जिसके हृदय को चोट न लगती हो।

'वाल्मीकि-रामायण' में सीता के वनवास की कथा तो ही है, पर उसमें राम ही के पक्ष का समर्थन किया गया है। राम के अनन्य भक्त तुलसी ने तो इस प्रसंग को छुआ ही नहीं। पर स्त्रियों ने राम को क्षमा नहीं किया। स्त्रियों ने गीत में सीता-वनवास का जो कारण बताया है, उससे राम के सम्मान की कुछ रक्षा हो जाती है। और, उसमें सत्य झलकने लगता है। आर्य-स्त्री कभी पर-पुरुष को ध्यान में नहीं आने देती। सीता जब तक रावण का चित्र बनाती रहीं, तब तक तो उसे ध्यान में रक्खा ही; आर्य-स्त्री का यह साधारण अपराध नहीं था। राम ने इस कारण से सीता को घर से निकाल दिया, तो उन्होंने आर्यधर्म की रक्षा ही की। स्त्रियों के बताए हुए इस कारण में औचित्य अधिक दिखाई पड़ता है।

उनके पास सूर, कबीर, तुलसीदास आदि कवि नहीं थे, तो क्या हुआ? उनकी वेदना तो असह्य थी, वह छंद और अलंकार की प्रतीक्षा न करके उनके कंठ से गीतों के रूप में आपसे आप बाहर निकल आई और शताब्दियों से वह सहृदय पुरुषों को मर्माहत और लज्जित और कुल-वधुओं को सीता की क्षमा, कष्टसहिष्णुता, धैर्य और आत्मसंयम की ज्योति से मार्ग-प्रदर्शन करती आ रही है।

एकटक देख कर और कुछ न बोल कर सीता ने, पति के प्रेम से परिपूर्ण एक पत्नी ने, पति को जो उलहना दिया है, उसकी चोट राम ही समझते होंगे। सीता का पक्ष ले कर स्त्रियों ने राम से कस कर बदला लिया है। उन्होंने कितनी ही बार राम को रुलाया है। मानिनी सीता ने घर-भर को पुत्र-जन्म का रोचन भेजा, पर राम को जनाया भी नहीं, तब पति राम रोए। सीता ने अपने बच्चों का मुँह लकड़ी जला कर उसके उजाले में देखा, यह सुन कर राजा राम रोए; सीता ने अपने बच्चों को उनके पिता का नाम नहीं बताया, यह जान कर पिता राम रोए; अंत में एकटक देख कर और मूकभाषा में राम को जो उलहना दिया, उससे तो मानव रामका हृदय चूर-चूर हो ही गया होगा। तुलसीदास ने राम को क्षमा कर दिया, स्त्रियों ने नहीं किया। वे शताब्दियों से पुरुषमात्र को रुलाती आ रही हैं। विद्वद्वर डा० वासुदेव शरण के शब्दों में "राम के रूप में अपराधी पति पर एक बार निगाह डाल कर वह सती जीवित नहीं रही, धरती में समा गयी, और पुरुष अपराधी की भाँति आज भी वहीं खड़ा है।"

सारे गीत में सीता का चित्र कैसा सुंदर निखर आया है, जो प्रत्येक भारतीय कुल-वधू को शोभा देता है। लक्ष्मण उनको वन में छोड़ने ले जा रहे हैं। तो भी लक्ष्मण के लिए सीता के हृदय में द्वेष नहीं है, बल्कि उनको चिंता है कि लौटते समय लक्ष्मण वन में कहीं राह न भूल जायँ और वे भूखे-प्यासे होंगे, तो खाएँगे-पिएँगे क्या? इससे वे सरसों बाँध कर घर से निकलती हैं और राह में उसे बोती चलती हैं। स्त्री के हृदय की विशालता का इससे सुंदर चित्र और हो ही क्या सकता है? जो सीता सोने के बर्तनों में जल ले कर कुल-गुरु वशिष्ठ के चरण धोती थीं, वे पत्तों के दोने में जल ले कर वन में भी अपने कुल-गुरु के पैर धो कर अपने कुल की मर्यादा का पालन करती हैं; कोई ईर्ष्या नहीं, कोई कटुता नहीं। स्त्री-जाति के स्वभाव में निरंतर बसनेवाली क्षम और सहनशीलता का क्या यह अद्भुत रूप नहीं है?

सीता ने भारत-भूमि को अपने चरणों की धूलि से पवित्र किया है। उसी धूलि में लोट कर भारतीय कन्याएँ निर्मल होती हैं और साध्वी बनती हैं।

आदिकवि वाल्मीकि का जीवन-वृत्त

श्री कामिल बुल्के

★ ★

रामायण के प्रामाणिक कांडों में, अर्थात् अयोध्याकांड से युद्धकांड तक, वाल्मीकि की ओर कहीं भी संकेत नहीं मिलता। बालकांड तथा उत्तरकांड में वाल्मीकि को रामायण का रचयिता माना गया है; इस परंपरा की सच्चाई के विरोध में कोई भी न्यायसंगत तर्क नहीं दिया जा सकता है। किंतु यह अवश्य मानना पड़ता है कि उस महान् कवि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री का नितांत अभाव है।

२. **तैत्तरीय प्रातिशाख्य** (१, ६, ४) में एक वैयाकरण वाल्मीकि का उल्लेख मिलता है, जो निश्चित रूप से आदिकवि से भिन्न है। इससे कम-से-कम इस बात का पता चलता है कि प्राचीन काल में वाल्मीकि नाम प्रचलित ही था। अतः हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए, यदि अन्यत्र भी वाल्मीकि नामक और व्यक्तियों का उल्लेख मिल जाए।

३. **महाभारत** में केवल एक स्थल पर वाल्मीकि को स्पष्ट शब्दों में कवि माना गया है—

अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
पीडाकरममित्राणां यत्स्यात्कर्तव्यमेव तत् ॥४८॥

—द्रोणपर्व, अध्याय ११८

शांतिपर्व में एक भार्गव नामक कवि का उल्लेख है, जो वाल्मीकि ही प्रतीत होता है—

श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना।
आख्याते रामचरिते नृपतिं प्रति भारत ॥४०॥

—शांतिपर्व, अध्याय ५७

द्रोणपर्व तथा शांतिपर्व के ये उद्धरण पूना के प्रामाणिक संस्करण में हैं; अनुशासन पर्व में एक तीसरा निर्देश किया गया है, जो इतना स्पष्ट नहीं है; इसका अलग विश्लेषण आवश्यक है (दे० आगे अनु० ४)।

महाभारत के अन्य पर्वों में बहुत से स्थलों पर ऋषिवर वाल्मीकि का उल्लेख है; उदाहरणार्थ—आदिपर्व ५५,१४; सभापर्व ७,१६ (वाल्मीकिश्च महातपाः); वनपर्व ८५,११४; विराटपर्व ८३,२७ और १०१,११; शांतिपर्व २०७,४। विशेषज्ञों (हॉप्किन्स, सुखठणकर) के अनुसार द्रोणपर्व का वर्तमान रूप बहुत ही परिवर्द्धित है; शांतिपर्व और अनुशासनपर्व निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। अतः यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि महाभारत के व्यास केवल अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल में 'कवि' वाल्मीकि से परिचित थे और कि ये बहुसंख्यक स्थल आदिकवि से भिन्न किसी अन्य ऋषि वाल्मीकि से सम्बन्ध रखते हों। जो कुछ भी हो, इन स्थलों पर जीवनवृत्त-विषयक कोई सामग्री नहीं मिल सकती; प्रायः नाम-मात्र का उल्लेख है। विराटपर्व (१०१,११) से पता चलता है कि महर्षि वाल्मीकि विष्णुभक्त थे।

४. एक परंपरा के अनुसार वाल्मीकि पहले डाकू थे और दीर्घकालीन तपस्या के बाद ही रामायण की रचना करने में समर्थ हुए। इस कथा की प्राचीनता के सम्बन्ध में संदेह है; स्कंदपुराण में इसका पहले पहल विकसित रूप मिलता है। इस पुराण की अधिकांश सामग्री आठवीं शताब्दी ई० के बाद की है, और इसमें भी बहुत से प्रक्षेप जोड़े गए हैं, जिनका रचनाकाल अज्ञात है (दे० आर० सी० हाजरा, पुरानिक रेकर्डस्, पृ० १६५)। फिर भी प्रचलित अनुशासनपर्व में (इस पर्व का प्रामाणिक संस्करण अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है) प्रस्तुत कथा का एक प्रकार से प्रथम आभास विद्यमान है। वाल्मीकि युधिष्ठिर से कहते हैं कि

किसी विवाद में मुनियों ने मुझको ब्रह्मघ्न कहा था। इस कथन मात्र से मैं पापी बन गया था। मैंने शिव की शरण ली और उन्होंने मुझको पाप से मुक्त करते हुए कहा—"तेरा यश श्रेष्ठ होगा"।

वाल्मीकिश्चाह भगवान्युधिष्ठिरमिदं वचः।
विवादे साग्निमुनिभिर्ब्रह्मघ्नो वै भवानिति ।। ८ ।।
उक्तः क्षणेन चाविष्टस्तेनाधर्मेण भारत।
सो ऽहमीशानमनघममोघं शरणं गतः ।। ९ ।।
मुक्तश्चास्मि ततः पापैस्ततो दुःखविनाशनः।
आह मां त्रिपुरघ्नो वै यशस्तेऽग्र्यं भविष्यति ।।१०।।

—अनुशासनपर्व, अध्याय ४९

इसमें एक वाल्मीकि का उल्लेख है, जिसके बारे में कहा जाता है कि उनका यश श्रेष्ठ होगा ; अतः उसे आदिकवि मानना अधिक न्यायसंगत ही है। उनको मुनियों के शाप से ब्रह्महत्या का दोष लगा था। आगे चलकर वाल्मीकि का वास्तव में ब्रह्मघ्न तथा डाकू माना जाना अनुशासनपर्व के इस प्रसंग का स्वाभाविक विकास प्रतीत होता है। ध्यान देने योग्य है कि ऋषि वाल्मीकि महाभारत के अन्य स्थलों पर वैष्णव माने जाते हैं ; यहाँ पर वाल्मीकि शिव की शरण लेते हैं।

५. **रामायण** के बालकांड तथा उत्तरकांड में वाल्मीकि को राम का समकालीन माना गया है। बालकांड के प्रारंभ में रामायण की उत्पत्ति की कथा मिलती है। तपस्वी (सर्ग १,१), मुनि (२,४), महर्षि (४,४) वाल्मीकि नारद से रामकथा का सार सुन लेते हैं ; अनंतर वह श्लोक का आविष्कार करने के बाद ब्रह्मा के आदेश से रामकथा श्लोकबद्ध करते हैं और अपनी इस रचना को कुश और लव को सिखलाते हैं। ये दोनों रामायण सर्वत्र गाते हैं और एक बार उसे अयोध्या के राजमहल में राम और उनके भाइयों को सुनाते हैं (दे० बालकांड, सर्ग १-४)। उत्तरकांड के अनुसार सीता वाल्मीकि के आश्रम में लव और कुश को जन्म देती हैं (दे० सर्ग ६६)। वे वाल्मीकि से रामायण सीख लेते हैं और बाद में उसे राम के यज्ञ-स्थल पर सुनाते हैं (दे० सर्ग ९३ और ९४)। रामायण सुनने के बाद राम सीता को बुला भेजते हैं और वाल्मीकि सीता को ले आकर सभा में सीता के सतीत्व का साक्ष्य देते हैं। इस अवसर पर वाल्मीकि अपना परिचय देकर कहते हैं कि मैं प्रचेता का दसवाँ पुत्र हूँ और हजारों वर्ष तक तप किया है—

प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो रघुनन्दन।
न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ ।।१८।।
बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता। —सर्ग ९६

बालकांड (२,३) के अनुसार वाल्मीकि का आश्रम तमसा तथा गंगा के समीप ही स्थित है। तमसा यहाँ पर अयोध्याकांड (सर्ग ४५-४६) की तमसा से भिन्न गंगा की कोई उपनदी है। उत्तरकांड के प्रसंगों से पता चलता है कि वह नदी गंगा के दक्षिण में ही थी, क्योंकि लक्ष्मण और सीता अयोध्या से आकर गंगा पार करने के बाद ही वाल्मीकि के आश्रम के निकट पहुँचते हैं (दे० सर्ग ४७)। शत्रुघ्न के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वाल्मीकि आश्रम से पश्चिम की ओर जाते हुए वह **'यमुनातीरं'** पर उतरते हैं (दे० सर्ग ६६, १५)। बाद में एक अन्य परंपरा प्रचलित हुई, जिसके अनुसार आश्रम गंगा के उत्तर में माना जाता था ; रामायण के टीकाकार कतक और गोविंदराज **'यमुनातीरं'** के स्थान पर **'गंगातीरं'** शुद्ध मानते हैं।

रामायण के दाक्षिणात्य पाठ के एक प्रक्षेप के अनुसार, जो गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों में नहीं मिलता, राम, लक्ष्मण और सीता चित्रकूट के निकट ही वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचते हैं—

इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृतांजलिः।
अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन् ।।१६।।

—अयोध्याकांड, सर्ग ५६

इसके अनुसार **अध्यात्म रामायण** (२,६), **आनंद रामायण** (१,६), **रामचरितमानस** (२,१२४) आदि में वाल्मीकि-आश्रम यमुना के पार चित्रकूट के पास ही स्थित है। आजकल भी यह बाँदा जिले में ही माना जाता है।

वाल्मीकीय रामायण में भार्गव च्यवन का दो प्रसंगों में उल्लेख हुआ है ; बालकांड में सगर की कथा के अंतर्गत (सर्ग ७०, ३२) तथा उत्तरकांड में लवण-वध के वृत्तांत में (सर्ग ६०—६४)। इन स्थलों पर भार्गव च्यवन तथा वाल्मीकि के किसी भी सम्बन्ध का संकेत नहीं मिलता तथा रामायण में कहीं भी वाल्मीकि को भार्गव का नाम नहीं दिया गया है। आगे चलकर इन दोनों की कथाओं का सम्मिश्रण हुआ है।

६. वाल्मीकि के दस्यु होने की कथा का बीज अनुशासनपर्व के उपर्युक्त श्लोकों में देखा जा सकता है (दे० ऊपर अनु० ४)। इस कथा के विकसित रूप में एक नया तत्व पाया जाता है ; वाल्मीकि नाम के कारण यह माना जाता है कि वह वास्तव में वल्मीक (दीमकों की बांबी) में से निकला था। रामायण के टीकाकार 'वाल्मीकि' शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए ब्रह्मवैवर्त्त की यह उक्ति उद्धृत करते हैं—

वल्मीकप्रभवो यस्मात्तस्माद्वाल्मीकिरित्यसौ।

भार्गव च्यवन के विषय में भी इस प्रकार की कथा अति प्राचीन काल से प्रचलित थी। **महाभारत** के आरण्यक पर्व के अनुसार भृगु के पुत्र च्यवन तपस्या करते हुए इतने समय तक निश्चल खड़े रहे कि उनका सारा शरीर वल्मीक से आच्छादित हो गया था। राजपुत्री सुकन्या ने उनको अंधा बना दिया और बाद में उनसे विवाह भी किया (अध्याय १२२)। यह वृत्तांत **स्कंदपुराण** (आवन्त्य खंड, चतुश्शतिलिंग माहात्म्य, अध्याय ३० और प्रभासखंड, प्रभासक्षेत्र माहात्म्य, अध्याय २८१), **देवीभागवत पुराण** (६, २-३) और **पद्मपुराण** (पातालखंड, अध्याय १५) में भी पाया जाता है।

इस कथा के कारण भार्गव च्यवन तथा वाल्मीकि के वृत्तांतों का सम्मिश्रण स्वाभाविक प्रतीत होता है। एक ओर च्यवन का सम्बन्ध रामकथा से जोड़ा गया तथा दूसरी ओर वाल्मीकि को भार्गव की उपाधि मिली है। कृत्तिवास रामायण में तो वाल्मीकि को च्यवन का पुत्र बना दिया गया है।

अश्वघोष कृत **बुद्धचरित** में कहा गया है कि जिस काव्य की रचना करने में च्यवन समर्थ नहीं हो पाए, उसकी वाल्मीकि ने रचना की—

वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं।
जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः ॥१,४३॥

महाभारत के शांतिपर्व में रामचरित के रचयिता भार्गव का जो उल्लेख है, वह आदिकवि वाल्मीकि ही प्रतीत होता है, क्योंकि जिस श्लोक का प्रसंग है, वह प्रचलित रामायण में ही सुरक्षित है।

श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना।
आख्याते रामचरिते नृपतिं प्रति भारत ॥४०॥
राजानं प्रथमं विंदेत् ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकस्थ कुतो भार्या कुतो धनम् ॥४१॥

—शांतिपर्व, अध्याय ५७

अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके।
इदमत्याहितं चान्यत्कुतः सत्यमराजके ॥११॥

—अयोध्याकांड, सर्ग ६७

इससे यह प्रतीत होता है कि कम-से-कम शांतिपर्व के संपादन-काल से वाल्मीकि को भार्गव नाम मिला था। **विष्णुपुराण** में भी वाल्मीकि को भार्गव ही माना गया है। व्यासों की नामावली में वाल्मीकि के विषय में कहा जाता है—"इसके बाद भार्गव ऋक्ष नामक व्यास हुए जो वाल्मीकि कहलाए"—

ऋक्षोऽभूद्भार्गवस्तस्माद्वाल्मीकिर्यो ऽभिधीयते। —विष्णुपुराण ३,३,१८

७. **स्कंदपुराण** में वाल्मीकि के विषय में चार कथाएँ सुरक्षित हैं। **वैष्णवखंड** के वैशाखमास माहात्म्य में एक व्याध का वृत्तांत मिलता है, जिसका नाम नहीं दिया जाता है। वह रामनाम का जप करने के फलस्वरूप यह वर प्राप्त कर लेता है कि वह अपने अगले जन्म में ऋषि वल्मीक के कुल में उत्पन्न होगा तथा वाल्मीकि का नाम धारण कर यश प्राप्त करेगा। कृणु नामक तपस्वी के शरीर के चारों ओर वल्मीक बन गया था, जिससे उसका नाम वल्मीक ही पड़ा था। व्याध उसी वल्मीक के पुत्र के रूप में प्रकट हुआ, जो वाल्मीकि के नाम से विख्यात होने लगा और दिव्य रामकथा की रचना करने में समर्थ हुआ (दे० अध्याय २१)।

इस कथा में वाल्मीकि अपने पूर्वजन्म में ही व्याध थे तथा उनके पिता के शरीर में वल्मीक बन गया था। स्कंदपुराण की अन्य कथाएँ लोकप्रसिद्ध वृत्तांत के अधिक निकट हैं, किंतु उनमें रामनाम-जप का उल्लेख नहीं है।

अवंतीखंड के आवन्त्यक्षेत्रमाहात्म्य (अध्याय २४) में अग्निशर्मा की कथा वर्णित है। वह डाकू था; किसी दिन सात ऋषियों से भेंट हुई। वह उनको मार डालना चाहता था। उन्होंने उसको अपने परिवार से यह पूछने भेज दिया कि "क्या तुम लोग मेरे पापफल के भागी बनने के लिए तैयार हो"। इसपर परिवार ने इनकार किया। अग्निशर्मा ने ऋषियों के पास लौटकर उनका ध्यान और मंत्र जप करने का परामर्श हृदयंगम किया। १३ वर्ष के बाद वे फिर उस स्थल पर पहुँचे और उन्होंने उसके शरीर के चारों ओर वल्मीक बना हुआ देख लिया। तब ऋषियों ने उसको निकालकर उसका नाम वाल्मीकि रखा और उसको रामायण लिखने का आदेश दिया।

नागरखंड के १४वें अध्याय में लोहजंघ नामक द्विज की कथा है। वह 'पितृमातृपारायण' होने के कारण अकाल के समय अपने परिवार का पालन करने के लिए दस्यु बन जाता है। सप्तर्षियों से भेंट होती है। अन्य वृत्तांतों की भाँति परिवार उसके पाप का भागी बनने से इनकार करता है। वह ऋषियों के पास लौटता है और वे उसको **'जाटघोट'** मंत्र पढ़ाकर चले जाते हैं। बाद में सप्तर्षि उस जगह होकर वापस आते हैं; वे उसे कुमंत्र द्वारा भी संसिद्धि-प्राप्त पाते हैं तथा उसका शरीर वल्मीक से समावृत देखकर उसको वाल्मीकि नाम देते हैं।

प्रभासखंड के प्रभासक्षेत्रमाहात्म्य (अध्याय २७८) में निम्नलिखित कथा है। शमीमुख नामक ब्राह्मण का पुत्र वैशाख चोरी द्वारा अपने परिवार का पालन-पोषण करता था। सप्तर्षियों से भेंट होने पर उसका परिवार उसके दोष का भागी बनने से इनकार करता है और वैशाख को वैराग्य हो जाता है। वह हजारों वर्ष तपस्या और जप करता है और उसके शरीर के चारों ओर वल्मीक बन जाता है। सप्तर्षि लौटते हैं और उसका नाम वाल्मीकि रखकर भविष्यवाणी करते हैं कि वह रामायण की रचना करेगा—

स्वच्छंदा भारती देवी जिह्वाग्रे ते भविष्यति।
कृत्वा रामायणं काव्यं ततो मोक्षं गमिष्यसि॥

८. उपर्युक्त कथाओं का अंतिम तथा सब से प्रचलित रूप **अध्यात्मरामायण** के अयोध्याकांड (सर्ग ६, श्लोक ४२–८८) में मिलता है।

जब राम, लक्ष्मण और सीता निर्वासित होकर चित्रकूट के पास पहुँचे, उन्होंने अपना निवास-स्थान निश्चित करने के लिए वाल्मीकि का परामर्श माँगा। वाल्मीकि ने राम की स्तुति करने के पश्चात् राम-नाम-माहात्म्य दिखलाने के उद्देश्य से अपनी कथा सुनाई।

अहं पुरा किरातेषु किरातैः सह वर्धितः।
जन्ममात्रद्विजत्वं मे शूद्राचाररतः सदा॥६५॥

"मैं पहले किरातों के साथ रहता था और निरंतर शूद्राचार के आचरण में रत रहने के कारण मेरी द्विजातीयता जन्ममात्र की थी। शूद्रा के गर्भ से मेरे बहुत से पुत्र उत्पन्न हुए। चोरों के कुसंग से मैं भी चोर बन गया था और सदा धनुष-बाण धारण किए रहता था। एक दिन मैंने सात मुनियों को जाते देखा

और उनके वस्त्रादि छीनने के उद्देश्य से उन्हें घोर वन में रोक लिया। मुनियों ने कहा कि जिन कुटुंबियों के लिए तुम नित्य पाप-संचय करते हो, उनसे जाकर पूछ लो कि वे तुम्हारे अधर्म के भागी बनने के लिए तैयार हैं कि नहीं। मैंने पुत्र-स्त्री आदि से पूछा। वे मुझसे बोले—'यह पाप तो तुम्हीं को लगेगा; हम केवल धन के ही भोगनेवाले हैं।' यह सुनकर मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ और मैंने उन मुनियों की शरण ली। हे राम! उन्होंने आपस में परामर्श किया और आपके नामाक्षरों को उलटा करके मुझसे कहा, 'तुम इसी स्थान पर रहकर एकाग्रचित्त से सदा मरा का जप करो (**एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा**)। मैंने ऐसा ही किया। निश्चल खड़ा रहने के फलस्वरूप मेरे ऊपर वल्मीक बन गया। एक हजार युग बीत जाने पर वे ऋषि लौटे और उन्होंने मुझको निकलने का आदेश देकर कहा—'हे मुनिवर! तुम वाल्मीकि हो। इस समय तुम वल्मीक से निकले हो, अतः तुम्हारा दूसरा जन्म हुआ'।"

९. **आनंदरामायण** के राज्यकांड (अध्याय १४) में जो कथा मिलती है, इसमें वाल्मीकि के तीन जन्मों का वर्णन किया गया है। पहले जन्म में वह स्तंभ नामक ब्राह्मण है, द्वितीय जन्म में वह व्याध है; तीसरे जन्म में वह कृणु का पुत्र है और तपस्या करने के उपरांत वाल्मीकि बन जाता है। इस वृत्तांत की अधिकांश सामग्री अध्यात्मरामायण तथा स्कंदपुराण के वैष्णवखंड की कथाओं से ली गई है।

आनंदरामायण के राज्यकांड में राम के राज्यशासनकाल का विस्तृत वर्णन है। किसी दिन राम वाल्मीकि से मिलकर पूछते हैं कि "आपने मेरे अवतार लेने के पहले ही रामायण लिखा है; इसका परिचय आपको कहाँ से मिला था?" इसपर वाल्मीकि बताते हैं कि वह किस प्रकार राम-नाम के प्रभाव से ब्रह्मर्षि बन गए। अपने पूर्व जन्म में वह व्याध था। एक दिन उसने पंपातीर के पास शंख नामक ब्राह्मण का सर्वस्व लूट लिया। बाद में यह देखकर कि पथरीली जमीन पर चलने के कारण ब्राह्मण को बहुत कष्ट हो रहा है, उसने उनको उनके जूते वापस दिए। ब्राह्मण ने आशीर्वाद दिया और व्याध को यह भी बताया कि पूर्वपुण्य के कारण उसमें अब जूते लौटाने की सद्बुद्धि आ गई है। पूर्वजन्म में यह व्याध शाकलनगर के निवासी, श्रीवत्सगोत्र का स्तंभ नामक ब्राह्मण था। महापापी स्तंभ एक वेश्या पर आसक्त होने के कारण नित्यक्रिया त्याग कर शूद्रवत् आचार किया करता था। फिर भी किसी दिन उसके घर में एक ब्राह्मण का आतिथ्य-सत्कार हुआ और उसी पुण्य के फलस्वरूप आज शंख से भेंट हुई और जूते लौटाने की सद्बुद्धि भी। स्तंभ अपनी मृत्युशय्या पर उस गणिका का स्मरण करते-करते चल बसा; इसी कारण से उसे व्याध का जन्म मिला और वह वेश्या भिल्लिनी के रूप में प्रकट होकर आज उसकी पत्नी है। इसके बाद शंख व्याध को भविष्य की घटनाएँ बताते हैं—"कृणु नामक मुनि घोर तपस्या करेंगे; उनके नेत्रों से वीर्य बह जाएगा, जिसे एक साँपिन खाकर गर्भवती होगी। उस सर्पिणी से तुम्हारा जन्म होगा। किरात लोग तुम्हारा पालन करेंगे और तुम भी किरात बन जाओगे। तुमने आज जो मेरे उपानह लौटाए, इस पुण्य के प्रभाव से सप्त मुनियों से तुम्हारी भेंट होगी। उनके आशीर्वाद से तुम वाल्मीकि बनकर रामकथा लिखोगे।" शंख की यह भविष्यवाणी सच निकली; व्याध सर्पिणी के गर्भ से जन्म लेकर किरातों द्वारा पाला गया। यहाँ पर अध्यात्मरामायण की उपर्युक्त समस्त कथा प्रायः एक ही शब्दावली में उद्धृत की जाती है। अंत में वाल्मीकि रामायण की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं—"शंभु ने ब्रह्मा को रामचरित सुनाया; नारद ने उसे ब्रह्मा से सुन लिया और उसे बाद में मुझे सुनाया। क्रौंचवध के अवसर पर श्लोक की उत्पत्ति के बाद मैंने **'शतकोटिविस्तरम्'** रामचरित की रचना की।"

१०. **कृत्तिवासीय रामायण** में अध्यात्म रामायण की कथा का किंचित् परिवर्त्तित रूप पाया जाता है। व्याध का नाम **रत्नाकर** है और वह च्यवन का पुत्र माना जाता है—**च्यवन मुनिर पुत्र नाम रत्नाकर**। सात मुनियों के स्थान पर ब्रह्मा और नारद से उसकी भेंट होती है। वैराग्य उत्पन्न होने के बाद वह ब्रह्मा के कहने पर सरोवर में नहाने जाता है। किंतु सरोवर पर रत्नाकर की दृष्टि पड़ते ही वह सूख जाती है। तब ब्रह्मा रत्नाकर को राम-नाम का जप करने को कहते हैं, किंतु उसका पापी मुँह उस पावन नाम का उच्चारण करने में असमर्थ है। अंत में रत्नाकर को 'मरा' जपने का परामर्श दिया जाता है। एक अन्य कथा में

शिव और नारद से व्याध की भेंट का वर्णन मिलता है (दे० Indian Antiquary, भाग ३१, पृ० ३५)। डे पोलिए के अनुसार वाल्मीकि दो ऋषियों के कहने पर बारह वर्ष तपस्या करके **भावी रामायण** लिखने में समर्थ हुए (दे० de Polier, Mythologie Des Indous भाग १, पृ० १७८ और W. Crooke, Tribes and castes of N. W. Provinces and Oudh, भाग १, पृ० २६२–६३)।

११. **भक्तमाल** (कवित्त ७२) में वाल्मीकि को श्वपच कहा गया है तथा गोस्वामी तुलसीदास भी 'विनयपत्रिका' में (४६,६) लिखते हैं—**स्वपंचखलभिल्लजमनादिहरिलोकगत नामबल**। पंजाब में वाल्मीकि भंगियों द्वारा पूजे जाते हैं। इसके सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है कि जब तक नागरिक भंगियों को देखने से इनकार करते थे, तब तक वाल्मीकि की लाश प्रतिदिन बनारस में दिखाई पड़ती थी (दे० R. C. Temple, Legends of the Punjab, भाग १,पृ० ५२६ और Indian Antiquary, भाग २७,पृ०११२)।

१२. प्रस्तुत सिंहावलोकन का निष्कर्ष यह है कि महाभारत के प्राचीनतम पर्वों के रचनाकाल से ही एक ऋषि वाल्मीकि विख्यात थे, जो आदिकवि वाल्मीकि से भिन्न प्रतीत होते हैं। रामायण के बाल-कांड तथा उत्तरकांड की सामग्री से पता चलता है कि बाद में आदिकवि और ऋषि वाल्मीकि दोनों को अभिन्न माना गया है। प्रचेता का पुत्र, महर्षि वाल्मीकि राम के समकालीन थे तथा उनका आश्रम गंगा के दक्षिण में तमसा नदी के निकट स्थित था। आगे चलकर यह व्यापक रूप से माना जाने लगा कि उनका आश्रम चित्रकूट के पास ही था।

महाभारत के अनुसार भार्गव च्यवन के निश्चल खड़े रहने के कारण उनके शरीर में **वल्मीक** बन गया था; इससे संभवतः च्यवन और वाल्मीकि के वृत्तांतों का सम्मिश्रण हुआ। फलस्वरूप वाल्मीकि को भार्गव की उपाधि मिल गई और उनके विषय में भी यह प्रसिद्ध होने लगा कि तपस्या करते समय उनके शरीर के चारों ओर दीमकों ने वल्मीक बनाया था।

अनुशासनपर्व में वाल्मीकि को किसी विवाद में एक बार **ब्रह्मघ्न** कहे जाने का उल्लेख है। क्या वाल्मीकि की इस निंदा में उनकी नीच जाति प्रतिध्वनित है? और क्या इसीलिए उत्तरकांड के प्रणेताओं ने उनके हजारों वर्ष तक तप करने पर बल दिया है? यह कष्टकल्पना नहीं कहा जा सकता है। जो कुछ भी हो, अनुशासनपर्व की इस उक्ति से उन कथाओं का विकास हुआ होगा, जिनमें तपस्या करने के पूर्व वाल्मीकि के दस्यु होने का वर्णन है। उन कथाओं के प्राचीन रूप में राम-नाम का प्रायः उल्लेख नहीं है; रामभक्ति के पल्लवित होने के पश्चात् ही वाल्मीकि का यह वृत्तांत राम-नाम-माहात्म्य के गुणगान में परिणत कर दिया गया है।

रामायण का अध्ययन

श्री मुनि पुण्यविजय

भारतवर्ष की पुण्यभूमि में एक वह युग था, जब कि वह धर्मप्रधान भूमि थी, जिसको हम धर्मयुग के नाम से जानते हैं। उस युग में, पुण्यभूमि भारत में, जिन-जिन महापुरुषों ने अवतार धारण किया, वे न तो किसी संप्रदाय में सीमित हो कर रहे थे और न किसी संप्रदाय ने ही उनको अपने घेरे का सीमित व्यक्ति माना था। उस युग में होने वाले ऋषि-महर्षि भी ऐसे थे, जिन्होंने प्रजा को विशुद्ध धर्मामृत का पान कराया था। यही कारण था कि उस युग की प्रजा का जीवन भी उन्नत, विशद एवं विशाल भावनाओं से परिपूर्ण था। जिस युग का निर्माण ऋषि-महर्षियों ने किया, उस पवित्र युग को ऋषियुग या धर्मयुग कहना अत्यंत समुचित होगा।

रामायण के वास्तविक अध्ययन की जिज्ञासा रखनेवालों के लिए यह नितांत आवश्यक है कि रामायण के विषय में जो-जो साधन आज भारत में उपस्थित हों, उन सबों का अध्ययन एवं अवलोकन करना ही चाहिए। शायद बहुत कम विद्वान महानुभावों को ही यह ज्ञात होगा कि रामायण के विषय में जैनाचार्यों ने अपनी लेखनी ठीक-ठीक चलाई है। इस लघु लेख में रामायण के विषय में जैनाचार्यों ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और जो छोटे-बड़े प्राकृत-संस्कृत आदि भाषाओं में रामायण ग्रंथ लिखे हैं, उनका परिचय दिया जाता है।

१. पउमचरियं

यह सबसे प्राचीन एवं विस्तृत रूपमें लिखा गया रामायणकथा ग्रंथ है। इसके प्रणेता नागिलवंशीय स्थविर-आचार्य राहुप्रभके शिष्य स्थविर श्री विमलाचार्य हैं। वीरसंवत् ५३० अर्थात् विक्रम संवत् ६० में या इस्वी सन् ४ में इस ग्रंथ की रचना हुई है। प्राकृत भाषा में ६००० आर्यापरिमित यह चरितग्रंथ है। जैनाचार्यों ने रामायण-विषयक जो ग्रंथ लिखे हैं, उन सबों में यह महाकाय ग्रंथ है। श्री रामचंद्र को जैनग्रंथ एवं जैनाचार्य पद्मनाम से पहचानते हैं, अतः ग्रंथ का प्राकृत नाम "पउमचरिउ" (सं० पद्मचरित) रखा गया है। इसका संपादन स्वर्गस्थ जर्मन् विद्वान् डॉ० याकोबी ने बड़ी योग्यता से किया है और प्रकाशन विक्रम संवत् १९७० में भावनगर (सौराष्ट्र) की 'जैनधर्म प्रसारक सभा' ने किया है। इस ग्रंथ की रचना बड़ी विशद शैली से की गई है। अतः रामायण के अध्ययन की दृष्टि के अतिरिक्त साहित्य, भाषा, सामाजिक इतिहास आदि के लिए भी यह महत्त्व रखता है। दिगंबर आचार्य श्री जिनसेन रचित पद्मपुराण इसी ग्रंथ का प्रायः अक्षरशः संस्कृत रूपांतर है।

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित सप्तम पर्व

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित ग्रंथ के प्रणेता प्रसिद्ध आचार्य श्री हेमचंद्र हैं। यह समग्र ग्रंथ दशपर्व एवं परिशिष्टपर्व को मिलाकर ग्यारह पर्वों में रचा हुआ है। समग्र ग्रंथ के संस्कृत भाषा में ३२००० श्लोक प्रमाण हैं। विक्रम की तेरहवीं सदी के प्रारंभ में इसकी रचना हुई है। इसके सातवें पर्व में रामायण का ३५०० श्लोकों में वर्णन है। आचार्य श्री हेमचंद्र की प्रतिभा विश्वतोमुखी थी। वे जो कुछ लिखते थे, उसे एकांगी न बनाकर व्यापक शैली से लिखने का प्रयत्न करते थे और जैन-जैनेतर तत्तद्विषयक ग्रंथों का अध्ययन करके लिखते थे, अतः उनकी रचना में सहज ही गांभीर्य का दर्शन हो जाता है। रामायण के अध्ययन करने-वालों को इसका अध्ययन बड़े महत्त्व का होगा। विक्रम संवत् १९६८ में भावनगर की जैनधर्म-प्रसारक सभा ने इस महाकाय ग्रंथ का समग्र रूप में प्रकाशन किया है।

३. वसुदेव हिंडी

महाकवि गुणाढ्य[१] की पिशाचभाषामयी वड्डुकहा सं० बृहत्कथा का अनुकरण रूप यह ग्रंथ दो खंडों में प्राप्त है। पहले खंड के प्रणेता श्री संघदासगणि वाचक हैं और दूसरे के रचयिता श्री धर्मसेनगणि महत्तर हैं।

---

[१] सयलकलागमनिलया (यो) सिक्खाविियकइयणो सुमुहयंदा (दो)।
कमलासणा (णो) गुणड्ढा (ड्ढो) सरस्सई जस्स वड्डु कहा ॥ —उद्योत्तल—कुवलयमालाकहा प्राकृत.

पहले खंड की भाषा जैन प्राकृत है और दूसरे की भाषा मागधी-शौरसेनी है। पहले खंड के २९ लंभक हैं और दूसरे के ७१ लंभक हैं, इस प्रकार यह समग्र ग्रंथ शतलंभक प्रमाण है। पहले खंड की ग्रंथसंख्या १०३८१ श्लोक हैं और दूसरे की १७००० श्लोक परिमित हैं। पहले खंड की रचना विक्रम की छठीं सदी है और दूसरे की अनुमानतः सातवीं सदी प्रतीत होती है। दोनों खंडों की रचना भिन्न-भिन्न समय की है। यहाँ पर यह बात ध्यान योग्य है—पहले खंड की रचना पूर्ण रूप में ही है, अतः दूसरे खंड के अभाव में भी किसी को यह प्रतीत न होगा कि यह ग्रंथ अपूर्ण है। इसके बदले में यह अवश्य प्रतीत होगा कि दूसरे खंड का निर्माण एवं अनुसंधान उसके रचयिता आचार्य ने अपनी कल्पनामात्र से ही किया है, न कि अपूर्ण ग्रंथ की पूर्त्ति के लिए। पहला खंड बीच में से भी खंडित है और इसका अंत भाग भी नष्ट हो गया है। इस ग्रंथ में श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव का कुमारावस्था में देशभ्रमण वर्णित है। देशाटन की विविध सामग्री एवं प्राचीन कथासाहित्य के इतिहास की दृष्टि से ही यह ग्रंथ महत्त्व का है। इतना ही नहीं, किंतु महाकवि गुणाढ्य की वड्ड कहा का क्या स्वरूप था, इसका पता चलाने के लिए और तुलना के लिए भी यह ग्रंथ बड़े महत्त्व का है। जर्मन् विद्वान् डॉ० आल्स्डॉर्फ ने इस ग्रंथ का इस दृष्टि से अध्ययन करके वहाँ के जर्नल में एक लेख[1] भी इस विषय में लिखा था। इस ग्रंथ का प्रथम खंड और इसका गुजराती भाषा में अनुवाद भावनगर की 'श्री जैन आत्मानंद सभा' ने प्रकाशित किया है। मूल प्राकृत ग्रंथ का संपादन हम गुरु-शिष्य श्री चतुरविजय जी महाराज और मैं, दोनों ने साथ मिल कर किया है। और गुजराती अनुवाद डॉ० भोगीलाल जे० सांडेसरा ने किया है। इस प्रथम खंड का सार भाग यूरोप की स्वीडिश भाषा में भी प्रकाशित हो चुका है।

इस प्रथम खंड के पृ० २४०-२४५ में रामायण का संक्षिप्त वर्णन है और यह बड़े महत्त्व का भी है। अध्ययन करने वालों को यह अंश अवश्य ही देखना चाहिए।

४. चउपण्णमहापुरिसचरियं

इसकी रचना निर्वृतिकुलीन आचार्य श्री मानदेव के शिष्य आचार्य श्री शीलांक-अपरनाम श्री विमलमति ने प्राकृतभाषा में गद्य-पद्य रूप में की है। इसका रचना-समय अनुमानतः विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी प्रतीत होता है। इसकी ११५०० श्लोक संख्या है। इसमें आचार्य श्री शीलांक ने प्रसंगोपात्त रामायण का संक्षिप्त वर्णन किया है। यह अंश सिर्फ ५० श्लोक जितना है। इस चरितग्रंथ में आचार्य ने विबुधानंद' नामक एकांकी रूपक रचना का भी समावेश किया है।

५. कहावली

इसकी रचना आचार्य श्री भद्रेश्वर सूरि ने प्राकृत में की है। ग्रंथ का प्रमाण २३००० श्लोक जितना है। इसका रचनाकाल निश्चित नहीं है, फिर भी अनुमानतः विक्रम की नवीं-दसवीं सदी से अर्वाचीन नहीं है। इसमें आचार्य ने रामायण का वर्णन ठीक रूप में किया है। वसुदेव हिंडी एवं चउपण्णमहापुरिसचरियं की अपेक्षा ठीक-ठीक है, विस्तृत है।

६. सीयाचरियं

यह ग्रंथ प्राकृत भाषा में है। इसके रचयिता के नाम का पता नहीं चला है। ३४०० इसकी **ग्रंथ संख्या** है। ग्रंथ अर्वाचीन कृति नहीं है।

ऊपर जिन ग्रंथों के नामों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त और भी इस विषय के अनेक ग्रंथ जैन-साहित्य में पाए जाते हैं। किंतु वे सभी प्रायः अर्वाचीन हैं और उपरिनिर्दिष्ट ग्रंथोंकी प्रायः इनमें छाया ही है।

यहाँ पर जिन ग्रंथों का निर्देश किया गया है, वह जैन श्वेतांबर-साहित्य को लक्ष में रख कर किया गया है। दिगंबर जैन-कथासाहित्य में भी पद्मपुराण, तेवट्ठिगुणालंकारचरिय आदि अनेकानेक ग्रंथरत्न संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में बड़ी प्रौढ़ शैली से निर्मित पाए जाते हैं।

गुजराती व हिंदी भाषा में भी रामायण को लक्षित करके दिगंबर-श्वेतांबराचार्य निर्मित अनेक रचनाएँ हुई हैं।

---

१ डॉ० आल्स्डोर्फ के इस निबंध का गुजराती अनुवाद डॉ० सांडेसराने अपने गुजराती अनुवादकी प्रस्तावनामें दिया है।

पृथ्वीराजरासो में रामकथा

श्री विपिनबिहारी त्रिवेदी

दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट महाराज पृथ्वीराज चौहान तृतीय के दरबारी कवि चंद वरदायी के सुप्रसिद्ध, परंतु विवादग्रस्त, महाकाव्य 'पृथ्वीराजरासो' में रामकथा की चर्चा उक्त ग्रंथ के दूसरे प्रस्ताव या समय में आई है। इस दूसरे प्रस्ताव का नाम रासो के अन्य प्रस्तावों के अनुरूप न होकर 'अथ दसम लिख्यते' है। इस प्रस्ताव के अंत में लिखा है—"इति श्री कविचंद विरचिते प्रथीराजरास के दसावतार वर्णनं नाम द्वितीय प्रस्ताव सम्पूर्णम्।" इस पुष्पिका के अनुरूप इस प्रस्ताव में दशावतारों का वर्णन किया गया है।

प्रथम समय के अंत में कवि-पत्नी की मुक्ति प्राप्त करने वाले हरि रस के विविध वर्णन की जिज्ञासा—

अंग अंग हरि रूप रस। विविधि विवेक वरेन॥
मुकति समप्पन कंत रस। जुगतिनि जोग सरेन॥१,७८२

पर कवि द्वारा उसे ध्यान पूर्वक सुनने का उत्तर प्राप्त होता है—

कह्यौ भांमि सौं कंत इम। जो पूछं तत मोहि॥
कान धरौ रसना सरस। अग्नि दिषाऊँ तोहि॥१,७८३

और इस युक्ति द्वारा दशावतार-वर्णन वाले दूसरे प्रस्ताव 'अथ दसम' को प्रथम प्रस्ताव से जोड़ा गया है तथा क्रमशः मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि की कथा ५८४ छंदों में वर्णन करके, अपनी थोड़ी आयु, चौहान का अमित भार और रामकृष्ण की अगाध कीर्ति बखानने के लिए अमित समय की चर्चा करके—

राम किसन कित्ती सरस। कहत लगै बहु बार॥
छुच्छ आव कविचंद की। सिर चहुआना भार॥२,५८५
सिर चहुआना भार। राम लीला छिग गाइय॥
सनक सनंद सनत्त। कही सुकदेव न जाइय॥
वालमीक रिषराज। किसन दीपायन धारिय॥
कोटि जनम संभवं। तोय हरि नाम अपारिय॥
मानुच्छ मंद मति मंद तन। पुब्बभार चहुआन सिर॥
जं कह्यौ सलप मति सुलप करि। सुहरि चित्त चित्यौ सुथिर॥२,५८६

इस द्वितीय प्रस्ताव को पृथ्वीराज की कथा से जोड़ने का प्रयास किया गया है। महाराज पृथ्वीराज की गाथा से इस प्रस्ताव का कोई विशेष सम्बन्ध न होने के कारण[1] मैंने इसको कभी बाद में जोड़ने का अनुमान किया था[2]। वैसे इस मूल में परिवर्द्धित और प्रक्षेप से संयुक्त प्रस्ताव को चंद की रचना न मानने का भी कोई कारण नहीं है।

अजमेर और जयपुर के संग्रहालयों में संग्रहीत बारहवीं शती की अनेक विष्णु की मूर्तियाँ इस बात का प्रतिपादन करती हैं कि पृथ्वीराज के काल में वैष्णव मत का पर्याप्त प्रचार था और वैष्णव मत के कारण उसके दशावतार भी जनता द्वारा पूज्य थे। 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्यम्' के प्रणेता, जयानक ने भी कुमार पृथ्वीराज के कंठ में दशावतार-आभरण पहनाने का उल्लेख किया है—

दशावताराभरणं कण्ठे रक्षार्थमाहितम्।
अमन्यरक्षरक्षमात्मानशंसतस्य रक्षितु॥२,४३

---

[1] 'चंद वरदायी और उनका काव्य', विपिनबिहारी त्रिवेदी, पृ० ११४

[2] 'रेवातट समय' (पृथ्वीराजरासो), विपिनबिहारी त्रिवेदी, भूमिका पृ० १४४

जो हमारे निर्दिष्ट युग में विष्णु की महिमा का द्योतक है और चंद वरदायी द्वारा 'अथ दसम' नामक 'दशावतार' वंदनात्मक प्रस्ताव लिख डालना साधारणतः समझ में आ जाता है। यह बात दूसरी है कि 'पृथ्वीराजरासो' में उसे कवि ने जोड़ा अथवा उसके पुत्र जल्ह ने।

इस 'अथ दसम' नामक रासो के दूसरे प्रस्ताव में अवतारों का क्रम श्रीमद्‌भागवत् विष्णुपुराण के अनुसार है।

रासो की आद्योपांत वर्णन-पद्धति वाली शैली इसमें भी दृष्टिगोचर होती है, अर्थात् वार्ता को प्रथम तो सूक्ष्म रूप से कहना, तदुपरांत उसे विस्तृत रूप देना। वर्णन-शैली की शिथिलता वाली रासो की यह विशेषता[1] इस प्रस्ताव में कौशलपूर्वक इसके प्रथम ८२ छंदों में योजित है, जिसकी क्रमशः पुनरावृत्ति आगे होने पर उसका आभास तक नहीं हो पाता। मत्स्यावतार २२ छंदों में, कच्छपावतार ३७ छंदों में, बाराहावतार २८ छंदों में, नृसिंहावतार ५४ छंदों में, वामनावतार १७ छंदों में, परशुरामावतार ३३ छंदों में, रामावतार ३८ छंदों में, कृष्णावतार २६३ छंदों में, बुद्धावतार ६ छंदों में और कल्कि अवतार १४ छंदों में वर्णन किए गए हैं। इस छंदगणना से स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण के उपरांत वर्णन-आकार को देखते हुए, राम की ही महिमा है। परंतु इन सारे अवतारों के वर्णन की विशेषता यह है कि इनमें अवतार-विशेष के वीर और रौद्र रूप का ही विस्तृत वर्णन किया गया है, जो कवि की वीर-वृत्ति का परिचायक और इस वीरकाव्य का वांछित अंशी है तथा फलरूप में कर्म की ओर प्रेरित करने वाला है।

रामावतार की कथा परशुराम द्वारा क्षत्रियों के संहार और ब्राह्मणों को पृथ्वीदान, अयोध्या के राजा दशरथ के घर में राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का जन्म, कैकेयी द्वारा भरत को राज्य और राम को वनगमन की माँग तथा राम-लक्ष्मण का पंचवटी जाकर कुटी-निर्माण प्रथम चार छंदों में समाप्त करके, शेष चौंतीस छंदों में राम-रावण युद्ध, रावण-वध और सीता के उद्धार का वर्णन किया गया है। यह वर्णन टेढ़ी नाक, तीखे नख, काले वर्ण और अंगारमय नेत्र वाली मायाविनी सूर्पणखा से प्रारंभ होता है––

सूपनषा राषसी। रहै वन मक्कर ढाली॥
रूप नष्ष चष धुंम। रंग श्रवनं तन काली॥
नाक वक्र नष तिष्ष। जाइ षरदूषन दष्षिय॥
दौरि दौरि धरि ढौरि। राम सब राषिस भष्षिय॥
हरि सीत नीत रावन गयौ। भयौ चित्त राषिस हरन॥
कहि पवन पूत दूतह चलिय। सुर सुकाज साइँ करन॥२,२६८

और प्रतिज्ञापालक वीर-श्रेष्ठ हनूमान द्वारा दसों दिशाओं के दिक्‌पालों को चकित करते हुए सागर को लाँघ कर लंका में प्रवेश देखिए––

बंधि पाज बर बीर। नंषि साइर सु अष्ट कुल॥
बय तरंग तपि तथ्य। भरे जनु अगस्ति सु अंजुल॥
सिर मच्छी ऊछरी। मनौं रवि मनि धर सेसं॥
पिट्ठ राम भर हनुअ। किन्न मन कारन भेसं॥
चक चकित नाथ दस बेद पुर। छोरि देव सेवन ग्रहय॥
घर लंक सदा थप्पन सुथिर। अगह गहन हनुमंत भय॥२,२७२

लंका में देवी के उपासक परम मायावी इंद्रजित मेघनाद का राघव के दल से प्रबल युद्ध भी द्रष्टव्य है––

वपु नंषत षुप्परिय। किनन किन नार कुरंगिय॥
गनन गनन गय नंग। छलन छक्किय उच्छरंगिय॥

---

[1] 'रेवातट समय' (पृथ्वीराजरासो), विपिनबिहारी त्रिवेदी, भूमिका पृ० १८४

सनन सोक भिल्लरिय । घनन घर भार घलक्किय ।।
गिलन डक्क डिल्लरिय । भनन भू भार भलक्किय ।।
धरनी धरीय बनरं रषिय । परिय पंति मोहन प्रबल ।।
असुरान गंजि लंका नयह । इंद्रजीत जीतित अतुल ।।२,२८३
फिर सज्जिय रघुवंस । हनूगढ कोट उडायिय ।।
मरन छोरि मरजाद । इंद्रजीत न सुधि पाइय ।।
मंत्र होम रथ जग्य । सरन देवी सुष जापं ।।
लषिमन हनु सुग्रीव । लंकपति भीषन थापं ।।
आरूढि रथ्थ अप्पन अवर । धवर पत्ति द्वारह धरिय ।।
छर छरिय वान छकि छंछटिय । भरिय पत्र अभरन भरिय ।।२,२८४

फिर तो लक्ष्मण ने आकाश-मंडल बाणों से तान दिया और राक्षस भयभीत हो उठे—

धरनि तरनि आकास । वास रथ सासन रुक्किय ।।
वसन अंब लगि बांन । धरनि बट साषन धुक्किय ।।
कुकिय कंत बिन कोर । सोर जोरह चौसट्ठिय ।।
मंत्र जप्प सब भूल । करुन कारुन अन विट्ठिय ।।
रथ च्यारि चक्र फिरि चक्क चव । वान वृष्टि लषमन बलिय ।।
करि कंक संक आसुरनि डर । कहर बत्त ता दिन कलिय ।।२,२८५

क्षुधित वैश्वानर सदृश कुंभकर्ण वानरों पर झपटा और उनको चबाता तथा रक्त की धारा पीता हुआ रणभूमि में अग्रसर हुआ। लंका में अस्थियों और मांस के कीचड़ की बाढ़ आई। राम द्वारा उसके धराशायी किए जाने पर उसकी पत्नियाँ छाती पीट कर विलाप कर उठीं—

रिन रसौ कुंभक्रन्न । परयौ भूषौ वैसन्नर ।।
धर बंदर धक धाह । दन्त कटि षद्धे बन्नर ।।
पंष भष्य पलचरिय । नही लद्धे तिहि वारं ।।
सोषि सरित रत धार । पानि लै पिये अपारं ।।
सा हंत सित्त बंदर सुघट । गिरन धार उप्पर परयौ ।।
रघुवंस नाम रावन करयौ । करन फट्टि वाहन धरयौ ।।२,२८६
परत भ्रात धर धरनि । पदम अट्ठह दमि पालन ।।
जनु कि सद्द साइरन । आनि प्रथ्थी जर तारन ।।
परिभष्यन रष्षिसन । कुइक चौसन मुष सासन ।।
कर सुपिट्ठ (मसलिग्ग) कमंध । भरत मुष इष्षिय भासन ।।
करि लंक कंक पंकन पलन । पलन राम हथ्थी बुतिय ।।
धर धरत नारि कंतन क्रसन । कूटि कूटि वारुन छतिय ।।२,२९०

अंततः राम-रावण का भीषण संग्राम छिड़ गया। उस भयंकर युद्ध-वेला में अश्व पर चढ़ा हुआ नीच राक्षसराज विपक्षियों को चकनाचूर करता हुआ बढ़ने लगा। अपने रथ से राम ने उस पर बाणवर्षा की झड़ी लगा दी। प्रलयंकर युद्ध में बीस भुजा वाला गिर गया, राक्षस रोने लगे, ऋषि और देवता हँस पड़े। प्रशस्ति-गायक आगे बढ़े। मंद रावण की मृत्यु पर विभीषण के साथ राम ने कार्य किया। सुंदर दुर्ग का निर्माण करके हाट पट्ट की रक्षा की। तदुपरांत राम लक्ष्मण के साथ, सीता को लेकर, सागर की वंदना करके, आनंद सहित चल दिए। उनके ऊपर पुष्पवृष्टि हो रही थी।

•••

सेतुबंध की कथा का आधार

श्री रघुवंश

★ ★

'सेतुबंध' की कथा वाल्मीकीय रामायण से ग्रहण की गई है। व्यापक कथाविस्तार की दृष्टि से 'आदि रामायण' तथा 'सेतुबंध' की कथा में मौलिक अंतर नहीं है। डॉ० कामिल बुल्के अपनी 'रामकथा' में इसकी कथावस्तु के सम्बन्ध में लिखते हैं—" 'रावणवह' के पंद्रह सर्गों में वाल्मीकिकृत युद्धकांड की कथावस्तु का अलंकृत शैली में वर्णन मिलता है। कथानक में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया है। समुद्र-बंधन के वर्णन में मछलियों के सेतु को नष्ट करने का उल्लेख है। आगे चलकर इस घटना के विषय में अनेक कथाओं की कल्पना कर ली गई है। 'रावणवह' की एक विशेषता यह है कि 'कामिनीकेलि' नामक दसवें सर्ग में राक्षसियों का संभोग-वर्णन मिलता है। बाद में इस वर्णन का अनुसरण 'जानकीहरण', अभिनंद कृत 'राम-चरित', कम्बन कृत 'तामिल रामायण' तथा जावा के प्राचीनतम 'रामायण' आदि में किया गया है।" परंतु प्रवरसेन ने 'आदिरामायण' से कथा लेकर उसको अपनी कल्पना से अधिक सुंदर रूप प्रदान किया है। यह प्रभाव कवि ने बहुत साधारण परिवर्तनों तथा उद्भावनाओं से संपन्न किया है।

इस महाकाव्य का प्रारंभ शरद-ऋतु के वर्णन से हुआ है। इसके पूर्व केवल दो छंदों में कवि ने यह सूचना दी है कि राम ने बालिवध करके सुग्रीव को राजा बना दिया है। और निष्क्रियता की स्थिति में वर्षा काल अत्यंत क्लेश के साथ बिताया है। 'आदिरामायण' में शरद-वर्णन का स्थान किंचित भिन्न है। वह वर्णन किष्किंधा के अंतर्गत आया है। उसमें वर्षा तथा शरद ऋतुओं के वर्णन के बाद सीता की खोज के लिए वानरों को भेजा गया है। वहाँ शरद-ऋतु के साथ ही हनूमान का प्रवेश होता है। शरद-काल के सुखद वर्णन के साथ वह प्रवेश अधिक कलात्मक बन पड़ा है—

णवरि अ जहासमत्थिआणिव्वत्तिअकज्जणिव्वलन्तच्छाअम् ।
पेच्छइ मारुअतणअं मणोरहं जेअ चिन्तिअसुहोवणअम् ।।१ : ३६।।

आशा-सूत्र के अदृश्य होने के कारण राम शरद के वातावरण में भी व्यथित हैं और उसी समय मनोरथ के समान हनूमान उपस्थित हो जाते हैं। उनका यह प्रवेश नाटकीय है। 'आदिरामायण' में शरद का वर्णन किष्किंधा कांड के सर्ग ३० में है और हनूमान का आगमन सुंदरकांड के सर्ग ६४ में होता है। महाकाव्य में महा प्रबंधकाव्य की विस्तृत कथावस्तु को काव्यात्मक ढंग से संक्षिप्त कर दिया है। इस प्रयोग के माध्यम से कवि ने समस्त कथा के संतुलन की रक्षा की है और साथ ही अपने महाकाव्य के कथा-केंद्र की स्थापना भी की है।

इसके बाद की 'सेतुबंध' में वर्णित समस्त कथा 'आदिरामायण' के लंकाकांड के अंतर्गत आती है। प्रस्तुत महाकाव्य में समाचार पाकर राम लंका-अभियान के लिए वानरसेना के साथ चल पड़ते हैं, पर 'आदि रामायण' में कथा अपने मंथर प्रवाह से चलती है। 'सेतुबंध' में सीता के क्लेश की बात सुनकर राम की भृकुटियाँ चढ़ जाती हैं, वे वीर-दर्प से धनुष को देखते हैं और दृष्टि से ही वे लंकाभियान की आज्ञा लक्ष्मण, सुग्रीव तथा हनूमान द्वारा प्रचारित करते हैं। पर एपिक के नायक राम पहले हनूमान की प्रशंसा करते हैं और फिर उसी समय उनके मन में सागर पार जाने की चिंता भी है—

कथं नाम समुद्रस्य दुष्पारस्य महाभंसः ।
हरयो दक्षिणं पारं गमिष्यंति समागताः ।।स० १,१७।।

राम की चिंता को दूर करने के लिए इसी प्रसंग में सुग्रीव प्रोत्साहित करते हैं (स० २)। और हनूमान लंका की रचना का वर्णन करते हैं (स० ३)। मार्ग का वर्णन किंचित विस्तार से किया गया है, पर चतुर्थ सर्ग

में समाप्त हो जाता है। मार्ग में सह्याचल और मलयाचल को पार कर वानरसेना महेंद्र पर्वत पर पहुँची, जहाँ से सागर दिखाई पड़ता है। 'सेतुबंध' का वर्णन संक्षिप्त है, पर 'आदिरामायण' के समान ही है।

'सेतुबंध' में सागरतट पर पहुँच कर सारा वानरसैन्य सागर के विस्तार को देख कर आश्चर्यचकित हो जाता है और हतप्रभ दिखाई देता है। पर 'आदिरामायण' की कथा में समस्त सेना के व्यवस्थित होने के बाद राम लक्ष्मण से अपने सीता-विषयक वियोगजन्य शोक का वर्णन करते हैं। 'सेतुबंध' के कवि ने अपनी कथा में सागर को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उसके सम्मुख अन्य किसी बात की चर्चा की नहीं जा सकी। 'आदिरामायण' के लंकाकांड के छठे सर्ग से सोलहवें सर्ग तक की कथावस्तु 'सेतुबंध' में अप्रासंगिक होने के कारण छोड़ दी गई है। इसमें रावण की सभा का वर्णन है। सत्रह, अठारह तथा उन्नीसवें सर्गों में राम से विभीषण के मिलने के प्रसंग का विस्तार है, जो 'सेतुबंध' में केवल १५ छंदों में उपस्थित कर दिया गया है। विभीषण को लेकर राम की सेना में जो तर्क-वितर्क 'आदिरामायण' में हुए हैं, 'सेतुबंध' में केवल उनका अत्यंत सूक्ष्म संकेत है। बीसवें सर्ग के रावण द्वारा दूत भेजे जाने का उल्लेख 'सेतुबंध' में नहीं है।

'सेतुबंध' में प्रायोपवेशन का प्रस्ताव राम द्वारा ही किया गया है। जाम्बवान् ने जब राम के सामर्थ्य का उल्लेख किया, तब राम ने कार्य का उत्तरदायित्व सुग्रीव पर डालते हुए यह प्रस्ताव किया। परंतु 'आदि रामायण' में सुग्रीव तथा हनूमान ने विभीषण से सागर-संतरण का उपाय पूछा, और विभीषण से जान कर सुग्रीव ने राम से समुद्र की उपासना के लिए कहा (स० २०)। 'सेतुबंध' के कवि ने प्रायोपवेशन-काल में रात्रि की चाँदनी में राम के सीता-वियोग का चित्रण किया है, जब कि 'आदिरामायण' में सागरतट पर पहुँचते ही राम के वियोग-जन्य क्लेश का वर्णन विलाप रूप में किया गया है। आगे अवधि बीतने पर भी सागर के अचल रहने पर राम को रोष आता है, वे धनुष पर बाण आरोपित कर चलाते हैं। सागर बाण से विकल होकर राम के सम्मुख उपस्थित हो जाता है और सेतु-निर्माण का प्रस्ताव करता है (स० २१, २२)। यह सारा प्रसंग दोनों में समान है। 'आदिरामायण' में समुद्र ही नल का परिचय देता है, और तब नल अपना वृत्तांत बताता है। इसके बाद इसी सर्ग २२ में नल द्वारा सेतु की रचना हो जाती है और वानरसेना सागर पार उतर जाती है।

सेतु-रचना का यह प्रसंग 'सेतुबंध' में पर्याप्त विस्तार से वर्णित है। सागर प्रकट होकर पर्वतों से सेतु-निर्माण का प्रस्ताव अवश्य करता है, परंतु 'आदिरामायण' के समान निश्चित विधि नहीं बताता। जब वानर-सेना सागर को पर्वतों से पाटते-पाटते थक जाती है, उस समय सुग्रीव नल से सेतु-रचना के लिए कहते हैं और नल विश्वकर्मा के पुत्र होने के कारण सेतु बनाने में सफल होता है। वस्तुत: जैसा इस महाकाव्य के नाम से स्पष्ट है कि इसकी प्रमुख घटना सेतु-निर्माण है, अतएव इसमें सागर-वर्णन, पर्वतोत्पाटन तथा सेतु-रचना आदि का वर्णन अधिक विस्तार से किया गया है। 'सेतुबंध' में कई आश्वासों में यह कथावस्तु चलती है, जब कि 'आदिरामायण' में केवल एक सर्ग में इतनी घटनाएँ एकत्र कर दी गई हैं।

आगे फिर 'आदिरामायण' के विस्तार को 'सेतुबंध' में छोड़ दिया गया है। सर्ग तेईस से लेकर तीस तक के प्रसंगों का उल्लेख प्रस्तुत काव्य में नहीं है, जिनमें प्रमुखत: राम तथा रावण एक दूसरे की सैनिक-शक्ति का पता चलाने का प्रयत्न करते हैं, विशेषकर रावण के दूतों की चर्चा है। 'सेतुबंध' में सुवेल पर वानरसेना के डेरा डालने के बाद रात में निशाचरियों के संभोग का वर्णन है। वस्तुत: यह 'सेतुबंध' के कवि की मौलिक कल्पना है, जहाँ तक रामकथा का सम्बन्ध है। आगे चलकर इसी के आधार पर रामकथा के अंतर्गत राक्षसियों के संभोग की परंपरा का विकास हुआ है। 'भट्टि काव्य' सर्ग ११, 'रामायण काकाबिन' सर्ग १२, 'जानकी हरण' सर्ग १६, अभिनंदकृत 'रामचरित' सर्ग १८, कम्बनकृत रामायण ६,२४, तथा 'रामलिंगामृत' सर्ग ८ में इस प्रसंग का विकास विशेष रूप से देखा जा सकता है। प्रस्तुत महाकाव्य में भी आ० ११ के अंतर्गत रावण की काम-व्यथा तथा आ० १२ के अंतर्गत प्रात:वर्णन में भी कामिनियों की दशा का वर्णन किया गया है, जिसका मुख्य दृष्टिकोण समान है। रात्रि में रावण राम के मायानिर्मित सिर को सीता के पास भेजता है, जिसे देख कर सीता की व्यथा का पार नहीं रह जाता। सीता बार-बार मूर्छित होती हैं और त्रिजटा आश्वासन देती है। 'आदिरामायण' में रावण राम का समाचार सुनकर घबरा जाता है और विद्युज्जिह्व नामक मायावी राक्षस

से राम के सिर की रचना के लिए कहता है (स० ३१)। सिर को लेकर स्वयं रावण सीता के पास जाता है। सीता का विलाप विस्तार के साथ इसमें भी है (स० ३२)। परंतु त्रिजटा के स्थान पर विभीषण की पत्नी सरमा सीता को समझाती है (स० ३३)। सरमा रावण के गुप्त कार्यों की सूचना सीता को देती है (स० ३४)। 'आदिरामायण' में सरमा सीता को विश्वास दिलाने में इस प्रकार सफल होती है, पर उसमें सेना के घोर शब्द ने सीता के विश्वास को दृढ़ किया है। 'सेतुबंध' में त्रिजटा सीता को अंततः तभी विश्वास दिला पाती है, जब वह वानरसेना का कलकल नाद सुनती है—

माआमोहम्मि गए सुए अ पवआण समरसंणाहरवे।
जणअतणआइ दिट्ठं तिअडाणेहाणुराअभणिस्स फलम् ।।११,१३७।।

'आदिरामायण' का मूल्यवान प्रसंग भी 'सेतुबंध' में नहीं लिया गया है (स० ३५, ३६)। आगे युद्ध के विभिन्न वर्णनों में अनेक स्थलों पर संक्षेपतया परिवर्तन किया गया है। अधिकांश परिवर्तन 'आदिरामायण' के वर्णनों को संक्षिप्त करने की दृष्टि से हुए हैं। 'सेतुबंध' में प्रातःकाल से निश्चित युद्ध प्रारंभ हो जाता है और राम-रावण की सेनाएँ आमने-सामने आ जाती हैं। बीच-बीच में प्रमुख-प्रमुख सेनापतियों और योद्धाओं के युद्ध और मरण का चित्रण भी किया गया है। पर 'आदिरामायण' में युद्धारंभ का क्रम इस प्रकार है। सर्ग ३७ में राम वानरसेना की व्यूहरचना करते हैं, सर्ग ३८ में सुवेल पर्वत पर चढ़ते हैं, वहाँ से सब लंका की शोभा देखते हैं (स० ३९)। वस्तुतः 'सेतुबंध' में केवल सुवेल के सौंदर्य का वर्णन (आ० ९) किया गया है। सुग्रीव और रावण का द्वन्द्व होता है (स० ४०)। तदनंतर लंकावरोध प्रारंभ होता है, लेकिन इसी बीच अंगद दूत-कार्य के लिए रावण की सभा में जाते हैं (स० ४१)। वस्तुतः 'आदिरामायण' में प्रमुख रूप से युद्ध का आरंभ सर्ग ४२ से होता है। उसके पूर्व की सभी घटनाएँ 'सेतुबंध' में नहीं ली गई हैं।

'सेतुबंध' में युद्धवर्णन के क्रम में मौलिक अंतर नहीं है, परंतु महाकाव्य में महा प्रबंधकाव्य के विस्तार को संक्षिप्त करना स्वाभाविक था। इसी दृष्टि से कवि ने आदिकथा की अनेक बातों और घटनाओं को छोड़ दिया है या उनको संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया है। 'सेतुबंध' के आ० १३ का द्वन्द्व युद्ध 'आदिरामायण' के सर्ग ४३ के समान है। इनमें कुछ वीरों के जोड़े भी समान हैं, जैसे अंगद-इंद्रजित, हनूमान-जम्बुमाली, मैन्द-वज्रमुष्टि, द्विविद-अशनिप्रभ, नल-प्रतपन, सुषेण-विद्युन्माली। कुछ अंतर भी है, जैसे 'आदिरामायण' में सुग्रीव-प्रघस, सम्पाति-प्रजंघ, लक्ष्मण-विरूपाक्ष का द्वन्द्व वर्णित है। मेघनाद के युद्ध का वर्णन दोनों में समान है और इसी प्रकार मेघनाद राम-लक्ष्मण को नागपाश में भी बाँधता है। मूर्च्छित भाइयों को सीता को दिखाए जाने का उल्लेख 'सेतुबंध' में है, परंतु 'आदिरामायण' में सीता को पुष्पक विमान में चढ़ा कर संग्राम भूमि में गिरे हुए दोनों भाइयों को दिखाया जाता है। इस प्रसंग में त्रिजटा सीता को समझाती है (सर्ग ४७, ४८)। राम का मूर्च्छा से जागने पर विलाप दोनों काव्यों में है (स० ४९)। सुग्रीव का वीर-दर्प भी दोनों में समान है, परंतु 'सेतुबंध' में अधिक काव्यात्मक है। इसके बाद 'आदिरामायण' में विभीषण, सुग्रीव, सुषेण आदि के वार्तालाप के मध्य में गरुड़ का प्रवेश आकस्मिक रूप से होता है और वे दोनों भाइयों को स्वस्थ कर देते हैं। बाद में राम द्वारा पूछे जाने पर गरुड़ अपना परिचय देते हैं (स० ५०)। जब कि 'सेतुबंध' में विभीषण के यह संकेत करने पर कि ये सर्प-बाण हैं, राम स्वयं गरुड़ का आवाहन करते हैं।

रावण को जब यह समाचार मिलता है, तब वह दुखी होकर धूम्राक्ष को भेजता है। युद्ध में धूम्राक्ष का हनूमान द्वारा बध होता है (स० ५१, ५२)। हनूमान द्वारा वज्रदंष्ट्र का भी बध होता है। परंतु, 'सेतुबंध' में यह प्रसंग नहीं है (स० ५३, ५४)। हनूमान ही अकम्पन का द्वन्द्व युद्ध में बध करते हैं (स० ५५, ५६)। 'सेतुबंध' में नल-प्रहस्त का द्वन्द्व होता है, परंतु 'आदिरामायण' में नील द्वारा प्रहस्त का निधन होता है (स० ५७, ५८)। इसके बाद रावण स्वयं युद्धभूमि में जाता है और हार कर वापस लंका लौट आता है, यह दोनों में समान है (स० ५९)। इसी प्रकार लौट कर वह कुंभकर्ण को जगाता है। 'आदिरामायण' में यह प्रसंग एक विस्तृत सर्ग में (स० ६०) है और उसको रावण की आज्ञा से राक्षस जगाते हैं, जब कि 'सेतुबंध' में रावण

द्वारा ही वह जगाया जाता है। असमय जगाए जाने के कारण उसके बढ़े हुए क्रोध का वर्णन दोनों में है। 'आदिरामायण' में राम के पूछने पर विभीषण उसके बल और पराक्रम का वर्णन करते हैं (स० ६१)। इसके सर्ग ६२ में रावण ने कुंभकर्ण के सम्मुख सारी परिस्थितियाँ रक्खीं। अनंतर कुंभकर्ण ने रावण को नीति की शिक्षा दी, परंतु रावण के क्रुद्ध होने पर उसने अपने पराक्रम के कथन द्वारा उसको आश्वासन दिया (स० ६३)। इस बीच महोदर मंत्रणा देकर रावण को सीता-प्राप्ति का उपाय सुझाता है (स० ६४)। अगले तीन सर्गों में कुंभ-कर्ण के युद्ध का सविस्तार वर्णन है, जिसके अंत में वह राम द्वारा मारा जाता है। इनमें से 'सेतुबंध' में केवल युद्ध और उसके बध का संक्षेप में वर्णन है। कुंभकर्ण के बध पर रावण के विलाप और रुदन का वर्णन समान है (स० ६८)। 'आदिरामायण' में त्रिशिरा, अतिकाय, देवांतक, नारांतक, महोदर तथा महापार्श्व—इन छः वीरों का युद्धयात्रा से लेकर इनके बध तक का प्रसंग विशिष्ट है, जो प्रस्तुत काव्य में नहीं है (स० ६९-७१)।

'सेतुबंध' में रावण कुंभकर्ण के बध के बाद युद्ध के लिए स्वयं तैयार होता है और उसी समय इंद्रजित उसे मना करके स्वयं युद्धभूमि में जाता है। पर 'आदिरामायण' में उपर्युक्त छहों वीरों की मृत्यु के बाद रावण अत्यंत चिंतित है। उसी समय इंद्रजित पिता से युद्ध के लिए आज्ञा माँगता है (स० ७२)। 'सेतुबंध' में मेघनाद-युद्ध की कथा भी संक्षिप्त की गई है। ये अंश 'सेतुबंध' में नहीं हैं. . . . इंद्रजित का अदृश्य युद्ध, राम-लक्ष्मण का ब्रह्मास्त्र से मूर्छित होना (स० ७३), हनूमान का औषधि लाना और सबको स्वस्थ करना (स०७४), सुग्रीव की आज्ञा से लंका का भस्म किया जाना (स० ७५), मुख्य-मुख्य वीरों का द्वन्द्व युद्ध, निकुंभ का मरण (स०७७), मकराक्ष की युद्ध-यात्रा और उसका बध (स० ७८, ७९)। इतने अवांतर के बाद मेघनाद के अंतर्धान होकर युद्ध करने का पुनः वर्णन किया गया है (स० ८०)। इसी बीच 'आदिरामायण' में इंद्रजित युद्धभूमि में राम के सम्मुख माया-सीता का बध करता है (स० ८१) और इसी के अनुकूल इस समाचार को सुनकर राम मूर्च्छित हो जाते हैं और लक्ष्मण उनको सांत्वना देते हैं (स० ८३)। पर 'सेतुबंध' में विभीषण की मंत्रणा से लक्ष्मण मेघनाद को निकुंभ नामक स्थान पर जाने से रोकते हैं, जब की 'आदिरामायण' में मेघनाद निकुंभिला में जाकर यज्ञ करता है (स० ८२) और विभीषण की सलाह से लक्ष्मण सेना सहित वहाँ जाकर मेघनाद का यज्ञ ध्वस्त कर उसका बध करते हैं (स० ८४, ९१)। प्रसंग को अधिक विस्तार दिया गया है, इसमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मेघनाद और विभीषण एक दूसरे को धिक्कारते हैं (स० ८७)। रावण का विलाप तथा रुदन पुनः दोनों में वर्णित है (स० ९३)। रावण द्वारा सेना का युद्धभूमि में भेजा जाना तथा राक्षसियों का विलाप 'सेतुबंध' में नहीं है (स० ९४, ९५)। रावण युद्धभूमि के लिए प्रस्थान करता है (स० ९६)। इस बीच फिर 'आदिरामायण' की ये घटनाएँ अतिरिक्त हैं—विरूपाक्ष, महोदर तथा महापार्श्व का युद्ध तथा बध (स० ९७ ९९)। इसके बाद रावण का युद्ध प्रारंभ होता है (स० १००)। रावण की शक्ति से लक्ष्मण मूर्च्छित होते हैं, पर हनूमान द्वारा लाए हुए (पर्वत) औषध से लक्ष्मण आरोग्य होते हैं (स० १०१, १०२)। संक्षेप में इस कथा का उल्लेख 'सेतुबंध' में हुआ है। मातलि द्वारा इंद्र अपना रथ भेजते हैं। राम उसका कवच आदि धारण कर रथ पर चढ़ते हैं और युद्ध आरंभ होता है (स० १०३)। रावण-बध की कथा भी 'सेतुबंध' में संक्षिप्त है, पर 'आदिरामायण' के कई सर्गों में फैली हुई है—सर्ग १०४ में रावण अत्यधिक मूर्च्छित होता है, सर्ग १०५ में वह अपने सारथी से कठोर वचन कहता है और सारथी रावण को समझाता है (स० १०५)। अगस्तमुनि राम को 'आदित्य हृदय स्तोत्र' सिखाते हैं (स० १०६)। शकुन अपशकुन का वर्णन (स० १०७), राम-रावण द्वन्द्व-युद्ध (स० १०८) से कथावस्तु पुनः 'सेतुबंध' में समान है। रावण के सिर कट-कट कर बढ़ते जाते हैं, अंत में राम ने बाण (ब्रह्मास्त्र) से रावण के हृदय को विदीर्ण कर डाला (स० ११०)। 'सेतुबंध' में किंचित अंतर है कि राम एक ही बाण से उसके दसों सिर काट डालते हैं। रावण-बध के बाद 'सेतुबंध' (रावण-बध) की कथा समाप्त हो जाती है, केवल 'आदिरामायण' के समान विभीषण के रुदन तथा रावण के (विभीषण द्वारा) अंतिम संस्कार का उल्लेख और किया गया है। अंत में कवि ने इस बात का संकेत भी कर दिया है कि अग्निशुद्धि के बाद सीता सहित राम पुष्पक-विमान पर अयोध्या लौट आए।

•••

कविच्चक्रवर्ती कम्बर

★

सु० शंकर राजू नायुडु

★

भारतीय साहित्य का अन्वेषण करने पर हमें एक विशिष्ट तथ्य यह दृष्टिगोचर होता है कि भारत के विभिन्न भाषा-साहित्यों की रचना देशकालानुकूल विभिन्न वस्तुओं पर आधारित होने पर भी, एक अद्वितीय वस्तु उन सभी के लिए मुकुट के समान बनी हुई है, और साधारणतः उसी का रचयिता उक्त भाषा-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कलाकार भी माना जाता है। तमिष् और हिन्दी के सम्बन्ध में यह तथ्य शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध होता है। वह वस्तु है 'रामकथा', और तमिष् और हिन्दी में क्रमशः उसके कलाकार हैं कविच्चक्रवर्ती कम्बर और भक्तवर गोस्वामी तुलसीदास। रामायण की कथावस्तु ने भारत के सभी भाषा-साहित्यों को विशेष रूप से आकृष्ट किया है, आभूषित किया है, अत्यधिक गौरव प्रदान किया है। यदि रामकथा साहित्य को संपूर्ण भारत के भाषा-साहित्यों का चिरकालीन सम्बन्ध-सूत्र कहें, तो युक्तियुक्त ही होगा। रामकथा के समान अन्य किसी कथावस्तु ने भारत के समस्त साहित्यिकों के हृदय एवं मस्तिष्क को आकृष्ट नहीं किया है। रामकथा को लेकर विभिन्न भाषाओं के कलाकारों ने अपनी विशिष्ट संस्कृति तथा साहित्यिक पद्धति के अनुसार विभिन्न रीतियों में काव्यग्रंथों की रचना की है। गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

रामकथा में भारतीय कवि अत्यधिक रमा है, तो उसका कारण सुस्पष्ट है, जिसे हमारे प्रिय राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त ने अपने महाकाव्य 'साकेत' में अभिव्यक्त किया है—

राम! तुम्हारा चरित स्वयम् ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है॥

दक्षिण भारत के चारों भाषा-साहित्यों में रामकथा को भव्य स्थान प्राप्त हुआ है। तमिष् में तो राम तथा रामकथा पर रचित पद 'संघ काल' के साहित्य में भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। उत्तर संघ काल में रचित 'परिपाड़ल' नामक ग्रंथ की प्रारंभिक ईश्वर-स्तुति ही 'तिरुमाल्' भगवान विष्णु व राम पर आधारित है। कहा गया है—

तिरुमाकिरुनान्गु

अर्थात् 'श्री विष्णु पर आठ पद'। ये पद रामकथा को ध्यान में रख कर ही उस अज्ञात कवि के भक्ति-संपन्न हृदय से निस्सृत हुए हैं। इसके अतिरिक्त 'पुरनानूरु', 'अहनानूरु' आदि में भी ऐसे पद प्राप्त होते हैं। ये ईसा-पूर्व के तमिष्-साहित्य में प्राप्त पद हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी में रचित प्रथम तमिष् महाकाव्य 'शिलप्पदिहारम्' में राम का माहात्म्य रामकथा के आधार पर अत्यंत सरस रूप में व्यक्त किया गया है। उसमें "आञ्चियर कुरवै' नामक विभाग में कवि कहता है—

तेन्निलंगै कट्टाषित्त सेवहन सीर
केलाद सेवियेन्न सेवियै।
तिरुमाल् सीर केलाद सेवियेन्न सेवियै॥

अर्थात् वे कान किस काम के जिन्होंने दक्षिण लंका का नाश करने वाले सेवक (हनूमान) की प्रशंसा न सुनी हो? श्री विष्णु (राम) की प्रशंसा न सुनी, तो वे कान क्या कान हैं?

आठवीं शताब्दी के लगभग वैष्णव भक्त 'आषवारों' का अवतार इस पवित्र तमिष् भूभाग में हुआ। वे संख्या में १२ माने जाते हैं। इनके भक्ति-संपृक्त सरस पदों को 'प्रबंध' कहते हैं। इन सबने कुल मिलाकर

४००० पदों की रचना की है, जिसे संकलित करके 'नालायिर प्रबन्धम्' नामक ग्रंथ-विशेष के रूप में प्रकाशित किया गया है। इनमें सभी ने भगवान विष्णु की व उनके विभिन्न अवतारों की गुणगाथा गाई है। उन्हीं में से एक थे केरल के कविकुशल सम्राट 'कुलशेखर आष्वार'। इन्होंने अपने 'पेरुमाल् तिरुमोषि' (विष्णु श्री वचन) नामक काव्य में १० पदों में रामकथा को सरस-सुंदर-संक्षेप में गाया है। यद्यपि दूसरे आष्वारों ने भी रामकथा-गान किया है, तथापि कुलशेखर आष्वार का ही काव्य उनसे अति श्रेष्ठ एवं चित्ताकर्षक है।

काव्य रीत्यानुसार रामकथा पर महाकाव्य की रचना करने का श्रेय तमिष् में कविच्चक्रवर्ती कम्बर को ही प्राप्त है। उनका काल साधारणतः १२वीं शताब्दी का प्रारंभ माना जाता है। कुछ लोग इन्हें नवीं शताब्दी का मानते हैं। इन्होंने रामकथा वाल्मीकि से ग्रहण की है, इसमें तो कुछ संदेह के लिए स्थान है ही नहीं। परंतु उस कथा-वस्तु को यथानुरूप ग्रहण करते हुए कम्बर ने आद्योपांत जो मौलिक उद्भावना प्रकट की है, उसे देख कर यही कहना पड़ता है कि वाल्मीकि की रामकथा रूपी देह में द्राविड़ सभ्यता के प्राण-संचरण के द्वारा मूर्तीकृत नवीन रूप कम्बरामायण है। कम्बरामायण में ऐसे अनेक स्थान उपलब्ध होते हैं, जो वाल्मीकि रामायण में हैं ही नहीं, या हो भी नहीं सकते। उदाहरणार्थ राम-सीता पूर्वराग जिस रूप में कम्बरामायण में वर्णित है, उसकी कल्पना हम वाल्मीकि रामायण में कर ही नहीं सकते। वीर्यशुल्का सीता के साथ रघुकुल-रत्न राम का विवाह से पूर्व परस्पर प्रेम वाल्मीकि की कल्पना में नितांत असम्भव है। इसी प्रकार सीता को पंचवटी की पर्णकुटी से रावण के ले जाने का स्वरूप जिस रूप में वाल्मीकि में चित्रित किया गया है, उसकी कल्पना कम्बर की कल्पना में भी असम्भव है। कम्बर का रावण सीता को बिना अपने करों से भी स्पर्श किए पर्णकुटी समेत उस भूखंड को उखाड़ कर ले जाता है और सम्मान के साथ अशोक-वाटिका में स्थान देता है। और सीता यहाँ भी पंचवटी में लक्ष्मण द्वारा निर्मित उसी पर्णकुटी में रहती हैं। इस प्रकार के अनेकानेक स्थल कम्बरामायण में दिखाए जा सकते हैं।

कम्बर के समकालीन कविवर ओट्टक्कूत्तर थे, जो चोल सम्राट के राजकवि थे। किंवदंती है कि इन्होंने कम्बर द्वारा रचित रामायण को सुनकर अपनी रामकथा पर रचित कृति के ताड़पत्रों को स्वयं एक-एक करके फाड़ कर अग्नि में भस्मीभूत कर डाला और युद्धकांड तक इस प्रकार जलाकर समाप्त किया ही था कि संयोगवश कम्बर स्वयं वहाँ पहुँच गए। कम्बर के कहने पर ही ओट्टक्कूत्तर ने अपने उत्तरकांड को नहीं जलाया, और उसी कम्बरामायण का, जिसमें उत्तरकांड नहीं है, यह अंतिम भाग बन कर आज दिन भी समादृत हो रहा है।

इनके अतिरिक्त एक अज्ञात कवि ने 'तक्कै रामायण' की रचना की है। कुछ लोगों का मत है कि वस्तुतः यह कम्बरामायण का ही निचोड़ है। दूसरे एक अज्ञात कवि ने 'रामायण-तिरुप्पुहल्' की रचना की है, जो तमिष्-रामायण-साहित्य का विशिष्ट अंग बनकर आज भी तमिष्-साहित्य को गौरव प्रदान कर रहा है। श्री अरुण गिरिनादर कृत 'रामनाड़हम्' रामकथा पर रचित एक रम्य नाटक है। इसकी रचना १८-१९ वीं शताब्दी में हुई। इसमें संपूर्ण रामकथा का बहुत ही चित्रोपम ढंग से दर्शकों व पाठकों को यथा-नुरूप साधारणी कृत करनेवाले मनोरम वर्णनों व दृश्यों के साथ निरूपण हुआ है।

दक्षिण की अन्य तीन भाषाओं में से तेलुगु में रामकथा पर सबसे अधिक काव्यों की रचना हुई है। विविध काव्यों की संख्या २०० से भी कुछ ऊपर है। प्रत्येक काव्य में कुछ न कुछ नवीन उद्भावना सन्निहित है। 'रंगनाथ रामायण', जिसे दो चरणवाले 'द्विपद' छंदों के आधार पर 'द्विपद रामायण' भी कहते हैं, १३वीं शताब्दी की संपूर्ण रामकथा पर की गई एक महान रचना है। इसी काल की दूसरी रचना है 'भास्कर रामायण'। इसमें भी संपूर्ण रामकथा समन्वित है। दोनों ही अपने-अपने ढंग की अनुपम रचनाएँ हैं। सोलहवीं शताब्दी में एक रामायण की रचना हुई, जिसमें काव्यत्व के गुण तथा विद्वत्ता का व्यक्तिकरण विशिष्ट रूप से हुआ है, और वह है 'मुल्ल रामायण'। उपर्युक्त प्रथम दो रचनाओं में हम तुलसी की-सी भक्ति व प्रबंधात्मकता पाते हैं, तो 'मुल्ल रामायण' में हम केशव की काव्य-कुशलता का दर्शन करते हैं। इनके अति-रिक्त संपूर्ण रामकथा पर लिखित महाकाव्यों में अठारहवीं शताब्दी में रचित 'कट्ट वरदराजु रामायण' तथा

उन्नीसवीं शताब्दी में चंपू शैली में रचित 'गोपीनाथ रामायण' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त अनेकानेक रामकथा काव्यों की विभिन्न रूपात्मक रचनाएँ तेलुगु-साहित्य को राम-मय बनाती हुईं रमणीयता प्रदान कर रही हैं।

कन्नड़-भाषा के प्राप्य ग्रंथों में 'कविराज मार्ग' का स्थान काल के दृष्टिकोण से सर्वप्रथम है। यह एक लक्षण-ग्रंथ है, जिससे यह स्वतः सिद्ध है कि उससे पूर्व भी विविध काव्यग्रंथों की रचना अवश्य हुई होगी। नवीं शताब्दी में रचित इस लक्षण-ग्रंथ के लेखक अभी अज्ञात हैं। माना जाता है कि इसमें अनेकानेक विद्वान लेखकों के श्रम का परिणाम एकत्र किया गया है। इस ग्रंथ में विभिन्न स्थलों में रामकथा के प्रसंग आए हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि रामकथा का प्रचार साहित्यिक क्षेत्र में उससे पूर्व यथेष्ट हो चुका था।

कन्नड़-साहित्य पर प्रारम्भ से ही जैन साहित्य का विशिष्ट प्रभाव पड़ा है, और उसे हम रामायण साहित्य में अत्यंत स्पष्ट रूप से देखते हैं। जैन रामायण 'पउमसिरी चरियं' के आधार पर ही कन्नड़ में सर्वप्रथम रामायण महाकाव्य की रचना हुई है। 'अभिनव पंप' श्री नागचन्द्र ने राम को 'अरहत' के रूप में चित्रित करते हुए संहार का संपूर्ण कार्य लक्ष्मण पर डाल कर अपनी रामायण की रचना की है। यही 'पंप रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्यारहवीं शताब्दी की रचना मानी जाती है। वाल्मीकि के आदर्श राम न होने पर भी अभिनव पंप के आदर्श राम अहिंसा के दृष्टिकोण से अनुपम व अलौकिक ठहरते हैं और संपूर्ण कथावस्तु यथानुकूल परिवर्त्तन के साथ उपस्थित की गई है। 'पंप रामायण' कन्नड़-साहित्य का एक अनमोल रत्न है। वर्त्तमान जीवित भाषाओं में से किसी में भी इस अहिंसात्मक भाव्य भावना को प्रधानता देते हुए 'पंप रामायण' जैसा कोई महाकाव्य नहीं लिखा गया है। अतः भारतीय साहित्य में इसका एक अनुपम स्थान है।

वाल्मीकि के आधार पर कन्नड़ में रामायण की रचना करने वालों में कुमार वाल्मीकि एवं वेंकामात्य प्रमुख हैं। पंद्रहवीं शताब्दी में कुमार वाल्मीकि ने वाल्मीकि रामायण का अनुवाद ही किया। परंतु उसमें स्थान-स्थान पर स्थानीय व प्रादेशिक वैशिष्ठ्य का भी सुंदर सामंजस्य करते गए हैं। यही तथ्य सत्रहवीं शताब्दी के वेंकामात्य रामायण के सम्बन्ध में भी सत्य सिद्ध होता है। यह अनुवाद न होने पर भी वाल्मीकि की कथावस्तु को इसमें उसी रूप में रक्खा गया है। कम्बरामायण के समान इसमें वस्तु-परिवर्त्तन नहीं हुआ है। वाल्मीकि के समान ही 'राम-सीता पूर्व राग' आदि पर वेंकामात्य ने लेखनी नहीं चलाई है। परंतु 'वेंकामात्य रामायण' के विभिन्न प्रसंगों में देश-काल की विशिष्ट छाप स्पष्टतः द्रष्टव्य है।

मलयालम भाषा-साहित्य में भी रामकथा पर रचित काव्य उसके आदि काल से प्राप्त होते हैं। बारहवीं शताब्दी में महाकवि चीरामन (श्री रामन) रचित 'राम चरितम्' १६०० छन्दों व १६४ सर्गों का एक महान प्रबन्धकाव्य है। कतिपय विद्वानों का विचार है कि ये तिरूवितांकूर राज्य के १२वीं शताब्दी के साहित्य-प्रेमी सम्राट् थे। 'राम चरितम्' में केवल युद्धकांड वर्णित है, परंतु भारत-हनुमान प्रसंग में हनुमान के मुख से एक सर्ग में संपूर्ण रामकथा का सरस संक्षेप लाकर रख दिया गया है। अनेक आलोचक रामकथा पर रचित इसी ग्रंथ-विशेष को मलयालम् भाषा का प्राचीनतम प्राप्य ग्रंथ मानते हैं।

संपूर्ण रामकथा की रचना करनेवाले कविवर चौदवीं शताब्दी के राम पणिक्कर ही माने जाते हैं। इन्होंने प्रधानतः वाल्मीकि के आधार पर 'पाट्टू' शैली में अर्थात् संस्कृत के मात्रिक व वर्णिक छंद-बंधन से मुक्त स्वतंत्र गीतात्मक शैली में रामायण की रचना की है, जो 'कण्णाश्श रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सातों कांडों का सरस-सुंदर वर्णन हुआ है। पंद्रहवीं शताब्दी में कविवर पूनम् नम्बूतिरी ने भी वाल्मीकि के ही आधार पर संपूर्ण रामकथा गाई है, इसकी शैली 'चम्पू' की है। गद्य-पद्य का अति सुंदर सामंजस्य इसमें अवलोकनीय है। यह 'रामायण चम्पू' के ही नाम से प्रसिद्ध है।

यदि प्रश्न किया जाए कि मलयालम भाषा-साहित्य के प्राचीन कवियों में सर्वश्रेष्ठ कौन है, तो निस्संकोच 'आध्यात्म रामायण' के रचयिता महाकवि तुंजत्तु ऐषुत्तच्छन्न का नाम लिया जा सकता है। सत्रहवीं शताब्दी के सरस्वती के इस वरद पुत्र ने संस्कृत के 'आध्यात्म रामायण' के आधार पर मलयालम में 'मणिप्रवाल संयोग'

के साथ 'पाट्टू' शैली में संपूर्ण रामायण एक कीर के मुख से कहलाया है। इसे 'किलिपाट्टू' अर्थात् 'कीर गीत' कहते हैं, जो पाट्टू की विविध शैलियों में से एक है। इसमें प्रथम ६ कांड ही वर्णित हैं, और यथानुसार काव्य का अंत सुखांत ही हुआ है। इस कविवर को हम मलयालम के 'तुलसी' कह सकते हैं।

इसी शताब्दी में एक अज्ञात् कवि की रामायण 'इरुपत्तिनाल वृत्तम्' के नाम से चौबीस वृत्तों व छंदों में प्राप्त होती है। यह आकार में छोटा होने पर भी प्रकार में अति भव्य है। इसके एक-एक छंद एक-एक प्रसंग-विशेष और भाव-विशेष को अपने में ग्रहण किए हुए हैं। अंतिम रामायण महाकाव्य है अठारहवीं शताब्दी का 'केरल वर्मा रामायण', जो श्री केरल वर्मा नामक कोट्टयम् के राजा की रचना है। इनके अतिरिक्त छोटे-बड़े अन्य रामायण भी उपलब्ध हैं, जिनमें अनेक अनुवाद मात्र हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिणभारत की चारों भाषाओं में प्राचीन काल से रामायण का विशेष स्थान रहा है और देशकालानुसार वही कथावस्तु विविध रूपों में विभिन्न भाषाओं का आवरण पहन कर विविध अलंकरणों के साथ नवरसोद्बोधन करती रही है। प्रत्येक का अपना-अपना महत्व होने पर भी कविच्चक्रवर्ती कम्बर का स्थान उन सबमें अद्वितीय है। कहा गया है—

कम्बनाड़न कविदैयेप्पोल
कट्ट्रोर्क्कु इदयम् कलियावे।

अर्थात् कविवर कम्बर की कविता के समान पढ़े-लिखों के हृदय को आनंद देनेवाली वस्तु और कोई नहीं है। उसकी रामायण की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख नीचे किया जाता है।

जैसे ऊपर व्यक्त किया जा चुका है, कम्बरामायण की कथावस्तु का ढाँचा वाल्मीकि का ही है; परंतु इससे पढ़ने पर ज्ञात होगा कि इसके प्रत्येक प्रसंग एवं व्यक्तिकरण की रीति में अनुपमता है। प्रेम-वर्णन में, युद्ध-वर्णन में, शोक-वर्णन में, विषय-प्रतिपादन आदि सभी में कम्बर का अपना निजी व्यक्तित्व व उसका अपना काव्य-सौष्ठव व्यक्त होता है। केवल दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

विश्वामित्र मुनि के साथ राम-लक्ष्मण मिथिलापुरी में प्रवेश कर रहे हैं। राजसौध की गगनचुम्बी पताकाएँ फहरा रही हैं। कम्बर कहता है कि यह पताकाओं का फहराना नहीं है, परंतु मिथिलापुरी अपने दीर्घ करों से राम का आवाहन कर रही हैं, कि उसकी (राम की) भूतपूर्व एवं भावी पत्नी साक्षात् लक्ष्मी स्वयं सीता के रूप में अवतरित हो उसी की अर्धांगिनि बनने के लिए योग्य आयु व सकल गुणों के साथ प्रस्तुत हैं।

अयोध्याकांड का आरम्भ वस्तुतः होता है सम्राट दशरथ के मन में राम को युवराज-पद प्रदान करने के साथ। यह प्रसंग किस प्रकार प्रारम्भ किया जाय? कम्बर इसका स्पष्टतः कारण यह देते हैं कि सम्राट दशरथ में वार्धक्य के प्रारम्भिक चिह्न प्रकट होने लगे थे। अतः कवि कहता है कि एक दिन जब दशरथ दर्पण में अपना मुख देख रहे थे, तो उन्होंने प्रथम बार अपने कानों के पास एक सफेद बाल को देखा और वह सफेद बाल उनसे कह रहा था कि हे सम्राट! अब तुम वृद्ध हो गए हो, अतः अपने पुत्र राम को राज्याभिषेक कराओ और स्वयं वानप्रस्थ ग्रहण करो।

विषय है अति साधारण। परंतु उसका प्रतिपादन है अति अनुपम। यह कम्बर का ही काव्य-कौशल है। कविच्चक्रवर्ती जो ठहरा।

प्रकृति को लेकर यथानुकूल प्रसंग का आलंकारिक वर्णन विविध रूपों में सभी कवि करते हैं। जैसे कमल को या चंद्र को लेकर सुंदर मुख का वर्णन; चकोर, खंजन, कमल, मृग व मीन को लेकर नेत्र का वर्णन; 'अनुपम बाग' को लेकर सुंदर रमणी का वर्णन आदि। कम्बर में ये वर्णन प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं को लेकर तो आद्योपांत हुए ही हैं; परंतु उनके दूसरे ही ढंग के अनुपम वर्णन भी स्थान-स्थान पर द्रष्टव्य हैं। उदाहरणार्थ जब कवि देखता है कि मुख को नील-कमल मात्र कहने से राम का सौंदर्य स्पष्टतः व्यक्त नहीं होता, तो कहता है कि यह नील-कमल नील-मेघमंडल के मध्य विकसित हुआ है। असंभव को संभव कर दिखाता है कवि! प्रकृति और कल्पना का सुंदर सामंजस्य इसमें किस अनुपम ढंग से हुआ है, इसे सहृदय विज्ञ पाठक स्पष्टतः देख सकते हैं।

●●●

अपभ्रंश का राम-साहित्य

श्री नामवर सिंह

रामकथा अपभ्रंश के मुख्यतः दो काव्यग्रंथों में मिलती है—स्वयंभूकृत पउमचरिउ[1] (८वीं और ९वीं सदी ईस्वी के बीच) और पुष्पदंतकृत महापुराण[2] (९६० ई०)। स्वयंभू के विवरण से अपभ्रंश के दो अन्य रामकवि कीर्तिधर और चतुर्मुख का पता चलता है, लेकिन अभी तक उनके काव्य नहीं मिल सके हैं, इसलिए उनसे लाभ उठा सकने में हम असमर्थ हैं।

पउमचरिउ में १२ हजार ग्रंथाग्र हैं, जो १२६९ कडवकों, ९० संधियों और ५ कांडों में विभाजित हैं। कांडों के नाम क्रमशः विद्याधरकांड, अयोध्याकांड, सुंदरकांड, युद्धकांड और उत्तरकांड हैं। आरंभ की ८२ संधियों में से प्रायः सभी के अंत में कवि स्वयंभूदेव ने अपना नाम दिया है, परंतु अंतिम आठ संधियों में इस आशय के वाक्य आए हैं कि महाकवि स्वयंभूदेव के लघु पुत्र त्रिभुवन उनके शेष कार्य को संपूर्ण कर रहे हैं। मतभेद इस पर हो सकता है कि स्वयंभू ने अपनी समझ से ८२वीं संधि में ही रामकथा समाप्त कर दी थी और त्रिभुवन ने उसे पूरा नहीं किया, बल्कि अपनी समझ तथा रुचि के अनुसार ऊपर से जोड़ दिया है, लेकिन इस विषय में तनिक भी संदेह नहीं है कि वर्तमान पउमचरिउ स्वयंभू और त्रिभुवन दोनों महाकवियों की सम्मिलित रचना है।

संधियों का अंत स्वयंभू ने प्रायः इस प्रकार किया है, जैसे प्रथम संधि का अंत—

इय एत्थ पउमचरिए धणञ्जयासिय-सयम्भुएव कए।
'जिण-समुप्पत्ति' इमं पढमं चिय साहियं पव्वं॥

अर्थात् 'धनञ्जयाश्रित स्वयम्भूदेवकृते पद्मचरिते' अमुक नाम का पर्व। संधि के लिए 'पर्व' नाम ध्यान देने योग्य है, अपभ्रंश के अन्य प्रबंधकाव्यों में संधि के लिए 'पर्व' का नाम शायद ही कहीं आया हो। सम्भवतः यह महाभारत का प्रभाव है।

परंतु कांड के अंतर्गत संधियों के विशिष्ट नाम का उल्लेख स्वयंभू ने सर्वत्र नहीं किया है। विद्याधर-कांड में केवल पाँच संधियों के अंत में ही ऐसा मिलता है। प्रथम संधि का नाम 'जिण-समुप्पत्ति' द्वितीय संधि का 'जिणवर-णिक्खमणं' तेरहवीं संधि का 'कइलासुद्धरण', सत्रहवीं संधि का 'रावण-विजय' और अठारहवीं संधि का 'पवणञ्जणविवाहो।'

इसके विपरीत त्रिभुवन ने सभी संधियों का विशिष्ट नामोल्लेख स्पष्ट रूप से किया है। तिरासी से नब्बे तक उनकी संधियों के नाम क्रमशः ये हैं—सीयदीव, स-परियण हलीस-भव, सीया-सण्णास, मारुइ-णिव्वाण, हरि-मरण, राहव-णिक्खमण, वल-णाणुपपत्ति और राहव-णिव्वाण।

अपने वंशपरिचय, राजाश्रय तथा कार्य का उल्लेख करते समय त्रिभुवन ने 'वन्दइ-आंसिय' और 'महकइ-सयम्भु-लहु-अगंज' तथा 'पोमचरिय-सेसोणिस्सेसो' जैसे पदों का प्रयोग किया है, जो पर्याप्त संकेतगर्भी हैं।

महापुराण में रामकथा केवल २१४ कडवकों और ११ संधियों (६९-७९) में है। प्रत्येक संधि को समाप्त करते हुए संधि का नामोल्लेख करने से पहले पुष्पदंत ने 'इय महापुराणे तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारे महाभव्वभरहाणुमण्णिए महाकइ पुपफयंत विरइए महाकव्वे' अवश्य लिखा है। महापुराण के इस राम-चरित वाले अंश की संधियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

---

[1] डॉ० हरिवल्लभ भायाणीद्वारा सिंघी-जैन-ग्रंथमाला (३४,३५) में संपादित, १९५३। अभी केवल सुंदरकांड तक प्रकाशित।

[2] डॉ० परशुराम ल० वैद्य द्वारा 'माणिक्यचंद्र जैन-ग्रंथमाला' (३७,४१,४२) में संपादित, १९३७, ४१, ४२।

१–रामलक्खणुप्पत्ती जागणिवारण, २–सीयाविवाहकल्लाणं, ३–णारयआगमणं, ४–सीयाहरणं, ५–सुग्गीवहणुमंतागमणं सीयादंसणं, ६–हणुमंतदूयगमणं, ७–वालिणिहणणं रामलक्खण विज्जा-साहणं, ८–णंदणवणमोडणं, लंकाडाहं, ९–राहवरामबल संणहणं, १०–रावणणिहणणं विहीसण-पट्टबंधो, ११–रामलक्खणगुणकित्तणं हरिसेणचक्कवट्टि कहंतर।

पउमचरिउ की तरह महापुराण कांडों में विभक्त नहीं है और न संधि के लिए कहीं पर्व शब्द का ही उल्लेख है।

अपभ्रंश रामकथा की विशेषता यह है कि वह जैन-परंपरा के अनुसार वर्णित हुई है। अभी तक अप-भ्रंश में जो राम-साहित्य प्राप्त हुआ है, उसमें कोई भी रचना ब्राह्मण-परंपरा के अनुसार रामकथा नहीं कहती।

जैन-पुराण में चरित-वर्णन के लिए तिरसठ शलाका-पुरुष मान्य हैं, जिनमें ऋषभदेव से लेकर महावीर तक २४ तीर्थंकर, भरत से ब्रह्मदेव तक १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव परिगणित होते हैं। इस चक्र में राम आठवें बलदेव हैं और उनके साथ ही लक्ष्मण आठवें वासुदेव हैं तथा रावण आठवें प्रति-वासुदेव हैं। ध्यान देने योग्य है कि परंपरा में रावण राम के विपरीत प्रतिबलदेव नहीं, बल्कि लक्ष्मण के विपरीत प्रतिवासुदेव है, इसीलिए जैन रामकथा में रावण का वध लक्ष्मण करते हैं, राम नहीं। इसी तरह ब्राह्मण-परंपरा में वासुदेव संज्ञा जहाँ विष्णु के अवतार कृष्ण और संभवतः राम को दी गई है और बलदेव संज्ञा लक्ष्मण की हो सकती है, वहाँ जैन-परंपरा में इस क्रम को उलट दिया गया है। जैन-परंपरा में राम ही बलदेव और लक्ष्मण वासुदेव। इस प्रकार जैन-कवियों का राम के चरित पर काव्य-रचना करना उनकी पौराणिक परंपरा का एक आवश्यक अंग है।

यों तो ब्राह्मण-परंपरा के राम-काव्यों की तरह अपभ्रंश के जैन-कवि स्वयंभू और पुष्पदंत ने भी अपने-अपने काव्य को 'रामायण' कहा है, परंतु इस परंपरा में राम-काव्य के लिए 'परमचरिउ' नाम ही विशेष प्रचलित दिखाई पड़ता है।

ग्रंथ समाप्त करते हुए स्वयंभू ने लिखा है—इति रामायणपुराणं समाप्तम्। त्रिभुवन ने ८८वीं और ८९वीं संधि के अंत में पुराण छोड़कर केवल 'रामायण' शब्द का भी प्रयोग किया है; १८वीं और ८४वीं संधि के अंत में इस काव्य को 'रामएवचरिए' (राम देव-चरित) तथा ८६वीं संधि में 'राम-चरित्र' (राम-चरित) भी कहा गया है। बीच में रामायण काव (काव्य) संज्ञा भी मिलती है और विषय का उल्लेख करते समय स्वयंभू ने प्रायः इसे 'रामकह' (राम-कथा) बताया है।

इसी तरह पुष्पदंत ने भी महापुराण में रामकथा का आरंभ करते ही इसे 'रामायण' कहा है—

मुणि-सुव्वय-जिणतित्थि तोसिय-सुर-रामायणु।
हरिहलहर-गुणथोत्तु जं जायउं रामायणु॥

फिर भी प्रचलन 'पउमचरिउ' या 'पोम-चरिउ' (पद्म-चरित) का ही अधिक है। इसका कारण यह है कि जैन-परंपरा में राम का 'पद्म' नाम रूढ़ हो गया है। इसीलिए जैन-परंपरा में राम पद्म-वर्ण अर्थात् गौरांग माने जाते हैं, जबकि ब्राह्मण-परंपरा उन्हें बराबर नीलोत्पल की तरह श्यामवर्ण मानती आई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन-परंपरा में राम-लक्ष्मण का जो नाम-विपर्यय हुआ, उसके साथ ही वर्ण-विपर्यय भी हो गया। इसी के फलस्वरूप जैन-लक्ष्मण श्याम वर्ण हैं।

स्वयंभू और पुष्पदंत की रामकथा में कुछ बातें ऐसी हैं, जो स्पष्टतः ब्राह्मण-परंपरा की रामकथा से भिन्न ही नहीं, बल्कि विपरीत भी हैं। जैन-कवियों के विवरण से पता चलता है कि ऐसा उन्होंने जान-बूझकर सोद्देश्य किया है। बहुत संभव है, रामकथा को इस प्रकार विकृत करने के पीछे उनका अपना धार्मिक दृष्टि-कोण भी रहा हो। अपने दृष्टिकोण और उद्देश्य के अनुसार कवि परंपरा-प्राप्त कथा को विकृत करते ही रहते हैं। स्वयं ब्राह्मण-परंपरा के कवियों ने भी रामकथा में समय-समय पर परिवर्तन किया है। रामकथा के प्रति जैन-कवि स्वयंभू और पुष्पदंत ने अपना दृष्टिकोण कथारंभ में ही प्रकट कर दिया है।

महावीर की वंदना करने के बाद राजा कोणिक उनसे रामकथा कहने का अनुरोध करते हैं और साथ ही जिज्ञासा के रूप में (ब्राह्मण-परंपरा की) रामकथा में दिखाई देनेवाली असंगतियों को भी प्रस्तुत करते हैं—

पणवेप्पिणु जिणु तग्गय-मणेण । पुणु पुच्छिउ गोत्तमसामि तेण ।।
परमेसर पर-सासणेहिं सुव्वय विवरेरी ।
कहे जिण-सासणे केम थिय कह राहव-केरी ।।
जगे लोएहिं ढक्करिवन्तएहिं । उप्पाइउ भन्तिउ भन्तएहिं ।।
जइ कुम्में धरियउ धरणि-वीढु । तो कुम्भु पडन्तउ केण णीढु ।।
जइ रामहो तिहुअणु उवरे माइ । तो रावणु कहिं तिय लेवि जाइ ।।
अण्णु वि खरदूसरण-समरे देव । पहु जुज्झइ सुज्झइ भिच्चु केंव ।।
किह तियमइ-कारणे कविवरेण । वाइज्जइ वालि सहोयरेण ।।
किह वाणर गिरिवर उव्वहन्ति । बन्धेवि मयरहरु समुत्तरन्ति ।।
किह रावणु दहमुहु वीस हत्थु । अमराहिव-भुव-बन्धण समत्थु ।।
वरिसद्धु सुअइ किह कुम्भयण्णु । महिसा-कोडिहिं मि ण धाइ अण्णु ।।
जें परिसेसिउ दहवयणु, पर-णारीहिं समणु ।
सो मन्दोवरि जणणि-सम, किह लेइ विहीसणु ।।

—पउमचरिउ, विज्जाहरकांड, संधि ९-१०

इसी तरह पुष्पदंत के 'महापुराण' में भी श्रेणिक गौतम गणधर से प्रश्न करते हैं :—

किं दहमुहु सहुं दहमुहहिं हुउ । किर जम्में गरुयउ तासु सुउ ।।
जो सुम्मइ भीसणु अतुलबलु । किं रक्खसु किं सो मणुय खलु ।।
किं अंचिउ तेण सिरेण हरु । किं वीसणयणु किं वीसकरु ।।
किं तहु मरणावह रामसर । किं दीहर थिर सिरि रमणकर ।।
सुग्गीव पमुह णिसियासिधर । किं वाणर किं ते णरपवर ।।
किं अज्जु वि देव विहीसणहु । जीविउ ण जाइ जमसासणहु ।।
छम्मासइं णिद्द णेय मुयइ । किं कुंभयण्णु घोरइ सुयइ ।।
किं महिससहासहिं धउ लहइ । लइ लोउ असच्चु सव्वु कहइ ।।
वम्मीय वास वयणिहिं णडिउ । अण्णाणु कुम्मग्ग कू वि पाडिउ ।।

—६९।३।३-११

परंतु स्वयंभू और पुष्पदंत की शंकाओं में थोड़ा अंतर है। यह शंका तो दोनों कवियों को है कि रावण को दशमुख और बीस हाथ कैसे था और कुंभकर्ण किस प्रकार छः महीने सोता था तथा करोड़ों महिष खाता था। परंतु स्वयंभू को आश्चर्य इस बात पर है कि कूर्म ने यदि पृथ्वी को अपनी पीठ पर धारण किया, तो स्वयं वह कहाँ था? राम यदि त्रिभुवन भर माप करके भी अधिक होते हैं, तो रावण सीता को कहाँ ले जा सकता है? खरदूषण के समर में देव-प्रभु तो जूझें और मृत्यु नहीं दिखाई पड़े। स्त्री के कारण वालि अपने सहोदर भाई से किस प्रकार मारा गया? दशानन की पत्नी मंदोदरी को विभीषण ने अपनी पत्नी कैसे बना लिया?

पुष्पदंत को आपत्ति है कि रावण का पुत्र इंद्रजित उम्र में अपने पिता से किस प्रकार बड़ा है, क्या वह रावण से पहले पैदा हुआ था? रावण राक्षस था और मनुष्य नहीं था? रावण ने शिव की उपासना अपने सिर देकर की थी? रावण राम के शरों से मरा? लक्ष्मण के बाण दीर्घ और स्थिर थे? सुग्रीव इत्यादि मनुष्य नहीं, वानर थे? विभीषण आज भी जीवित है?

इन शंकाओं में-से बहुत-सी साधार हैं। पुष्पदंत ने इन सभी भ्रांतियों के लिए वाल्मीकि और व्यास को दोषी ठहराया है, परंतु स्वयंभू ने किसी कवि-विशेष पर दोषारोपण न करके केवल इतना ही कहा है कि

मिथ्याभाषी और भरमानेवाले लोगों ने जगत में भ्रांति फैला रखी है। स्वयंभू की शालीनता चाहे उनके निजी स्वभाव का अंग हो, चाहे उनके संप्रदाय की धार्मिक सहिष्णुता का परिणाम हो, परंतु इस तरह के संयम और सौजन्य का दर्शन उनकी रचनाओं में अन्यत्र भी दिखाई पड़ता है। जान-बूझकर ब्राह्मणों को चिढ़ाने अथवा ठेस पहुँचाने के लिए उन्होंने कुछ नहीं कहा है।

जैन-कवियों ने इन भ्रांतियों से बचने का प्रयत्न किया है। रावण के दशानन कहलाने के लिए स्वयंभू ने अत्यंत काव्यात्मक युक्ति दी है। बचपन में खलते-खेलते रावण एक बार भांडार में पहुँच गया और वहाँ उसे तोयदवाहन का हार मिल गया। इस हार में नौ मणियाँ जड़ी हुई थीं, जिनमें से प्रत्येक में पहननेवाले का मुख प्रतिबिम्बित होता था। रावण ने भी उसे गले में पहन लिया और तभी से लोग उसे दशानन कहने लगे।

> परिहिउ णव-मुहइं समुट्ठियइं। णं गहबिम्बइँ सु-परिट्ठियइं।
> पेक्खेप्पिणु ताइं वहाणणइं थिर-तारइं तरलइं लोयणइं।
> तें वहमुहु वहसिरु जणेण किउ पंचाणणु जेम पसिद्धि गउ॥—१।९।४

जहाँ तक रावण आदि के राक्षसत्व और सुग्रीवादि के वानरत्व का सम्बन्ध है, उसका हल स्वयंभू और पुष्पदंत ने अपने जैनधर्मके कठोर कर्मफलवाद और पुनर्जन्मवादसे निकाल लिया है। स्वयंभूने राक्षसोंकी उत्पत्ति (विद्याधर कांड, ५वीं संधि) और वानरों की उत्पत्ति (विद्याधर कांड, ६वीं संधि) का वर्णन काफी विस्तार और युक्तिसंगत ढंग से किया है। पूर्व जन्म में ये भी मनुष्य ही थे, परंतु अपने कर्मों के फलस्वरूप उन्हें इस योनि में आना पड़ा। इसी के सादृश्य में स्वयंभू ने राम और लक्ष्मण के भी पूर्ववर्ती जन्मों की कथा कही है, जिसमें उनका चरित्र अत्यंत सामान्य मनुष्यों की तरह मानवीय दुर्बलताओं से युक्त दिखाया गया है। इस विषय में पुष्पदंत ने भी स्वयंभू का ही अनुसरण किया है और यही जैन-पुराण की परंपरा है। विमलसूरि, रविषेण, जिनसेन, गुणभद्र, हरिभद्र, आदि सभी जैन-कवियों ने पुनर्जन्म और जन्म-चक्र का विस्तृत वर्णन किया है। जैन-परंपरा में इस प्रवृत्ति का इतना महत्व है कि स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' का समूचा 'विद्याधर कांड' रामकथा के पात्रों का पूर्वजन्म बताने में ही लगा दिया है और अयोध्याकांड की पहली संधि भी जनक तथा दशरथ के ऐसे ही पुनर्जन्मों तथा राम-लक्ष्मण इत्यादि के पूर्व-जन्म वाले वृत्तांतों में ही समाप्त हो गई है। पुष्पदंत ने भी अपनी रामकथा की छोटी-सी परिधि में पात्रों के पुनर्जन्म पर काफी ध्यान दिया है।

इस प्रकार जैन-परंपरा की रामकथा अवतारवाद की आदर्शभावना से मुक्त यथार्थ एवं युक्तिसंगत कथा-प्रसंगों पर आधारित शुद्ध मानवीय कहानी है।

परंतु जैन-परंपरा में भी रामकथा के अनेक रूप प्रचलित दिखाई पड़ते हैं, स्वयंभू और पुष्पदंत की राम-कथा में भी समानता की अपेक्षा विषमता कहीं अधिक है। इस विभिन्नता और विषमता का कारण क्या हो सकता है? पुष्पदंत के कथन से प्रमाणित है कि वे स्वयंभू को जानते थे और इस अनुमान के लिए पूरी गुंजाइश है कि उन्होंने स्वयंभू की रामायण भी अवश्य देखी होगी, फिर भी रामकथा लिखते समय उन्होंने स्वयंभू की लीक छोड़कर अनेक स्थानों पर स्वतंत्रता दिखलाई है। इसे या तो व्यक्तिगत रुचि कहा जाय अथवा सांप्रदायिक अंतर। द्वितीय संभावना में बल अधिक प्रतीत होता है, क्योंकि पुष्पदंत दिगंबर मत के थे और स्वयंभू याप-नीय संघ के (जो किसी समय काफी प्रबल था, परंतु अब नामशेष ही है)। इसीलिए पुष्पदंत ने अपने मत के आचार्य गुणभद्र का अनुसरण किया है, जबकि स्वयंभू ने बहुत कुछ विमलसूरि और रविषेण को ही मुख्य आधार माना है। इसके अतिरिक्त स्वयंभू की रामकथा पुष्पदंत की अपेक्षा वाल्मीकि की रामकथा के अधिक निकट है। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि स्वयंभू के समय आसपास के समाज में वाल्मीकि की रामकथा अधिक प्रचलित रही होगी, या फिर यह हो कि स्वयंभू में ब्राह्मणत्व-विरोधी प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम थी, इसीलिए उन्होंने वाल्मीकि की कथा को अपनाने में संकीर्णता नहीं दिखलाई।

यहाँ ऐसे मुख्य प्रसंगों को ले सकते हैं, जहाँ स्वयंभू पुष्पदंत की अपेक्षा वाल्मीकि के अधिक निकट हैं—

१—वाल्मीकि की तरह स्वयंभू के लक्ष्मण भी सुमित्रा के पुत्र हैं तथा भरत कैकेयी के, परंतु पुष्पदंत के लक्ष्मण कैकेयी के पुत्र हैं। राम की माँ कौशल्या का नाम दोनों ही जैन-काव्यों में नहीं मिलता। स्वयंभू ने राम की माँ का नाम अपराजिता लिखा है और पुष्पदंत ने सुबला।

२—वाल्मीकि की तरह स्वयंभू ने भी सीता को जनक-तनया माना है, लेकिन पुष्पदंत ने उन्हें मंदोदरी से उत्पन्न रावण-कन्या बनाया है। स्वयंभू ने तो वाल्मीकि से भी एक कदम आगे बढ़कर, सीता को जनक की पाणिगृहीता भार्या से उत्पन्न कहा है, न कि खेत में मिली हुई।

३—वाल्मीकि की तरह स्वयंभू के राम का भी जनक के धनुषयज्ञ में केवल एक विवाह हुआ, जबकि पुष्पदंत ने राम के सात विवाह और करवाए हैं। लक्ष्मण के अनेक विवाह के वृत्तांत तो स्वयंभू में भी मिलते हैं, लेकिन पुष्पदंत ने राम को भी उन्हीं के साथ रख दिया।

४—राम का राज्याभिषेक तथा कैकेयी की आपत्ति पर उनका वन-गमन यह पूरा प्रसंग पुष्पदंत के यहाँ लुप्त है, लेकिन स्वयंभू ने वाल्मीकि की तरह इस प्रसंग पर समुचित ध्यान दिया है। वाल्मीकि की तरह स्वयंभू के भी भरत राम को वन लौटाने के लिए जाते हैं।

५—सीताहरण का कारण पुष्पदंत ने नारद को बताया है, क्योंकि नारद के ही उत्तेजित और प्रेरित करने पर रावण ने सीताहरण का संकल्प किया। लेकिन स्वयंभू ने दिखाया है कि दूषण से लक्ष्मण-युद्ध और सीता जैसी परम सुंदरी का समाचार पाकर रावण विमान से घटनास्थल पर पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर रूप-लुब्ध होकर उसने सीता को हर लिया।

६—रावणवध और सीता-उद्धार के बाद सीता की अग्निपरीक्षा का प्रसंग पुष्पदंत ने छोड़ दिया है, लेकिन इस मार्मिक प्रसंग का वर्णन 'पउमचरिउ' की ८३वीं संधि में अत्यंत मार्मिक ढंग से हुआ है, जो स्वयंभू की नहीं, तो उनके पुत्र त्रिभुवन की रचना तो है ही।

इतना होते हुए भी स्वयंभू की रामकथा में ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जो ब्राह्मण-परंपरा से परिचित पाठकों के लिए सर्वथा नई प्रतीत हो सकती हैं।

१—सीता का एक सगा भाई भामण्डल भी था, जो जन्म से ही अन्यत्र पालित-पोषित हुआ और आगे चलकर सीता से विवाह करनेवाले उम्मीदवारों में से एक बनकर आया, परंतु सफल न हो सका। अंत में जब राम से सीता का विवाह हो गया और नवदम्पति अयोध्या चले गए, तो भामण्डल ने सीता को हर लेने का प्रयत्न किया, परंतु इसी समय उसे सीता के साथ अपने वास्तविक सम्बन्ध का पता चल गया और प्रायश्चित-स्वरूप उसने संसार छोड़कर संन्यास ले लिया।

२—राम और सीता की सगाई जनक ने बहुत पहले कर दी थी, क्योंकि राम-लक्ष्मण ने मिथिला में आक्रामकों से जनक की रक्षा की थी, जिसके पुरस्कार-स्वरूप दशरथ ने सीता को राम की वाग्दत्ता बना दिया था। आगे चलकर नारद के उत्तेजित करने पर जब भामण्डल ने राम-सीता के विवाह में हस्तक्षेप किया, तो जनक ने धनुष-यज्ञ और स्वयंवर का निश्चय किया। उस यज्ञ में वज्रावर्त और समुद्रावर्त दो धनुष रखे गए। उन धनुषों को चढ़ाने में केवल राम और लक्ष्मण सफल हो सके। इसलिए जनक ने दोनों का विवाह कर दिया, साथ ही उनके अन्य दो भाइयों का भी विवाह वहीं संपन्न हुआ।

३—राम ने स्वेच्छा से वनवास स्वीकार किया और यह वनवास वाल्मीकि की तरह चौदह वर्ष का नहीं, बल्कि सोलह वर्ष का था।

४—राम के वन-गमन पर दशरथ की मृत्यु नहीं हुई, बल्कि उन्होंने जैन-धर्म में दीक्षा लेकर संन्यास में प्रवेश किया।

५—राम को वापस ले आने के लिए भरत चित्रकूट से पहले ही मिले थे। भरत के संतुष्ट करने के बाद राम चित्रकूट गए।

६—राम-वन-गमन-प्रसंग में वज्रकरण तथा सिंहोदर, कल्याणमाल, रुद्रभूति तथा कपिल, वनमाला, अनंतवीर्य, जितपद्मा, कुलभूषण तथा देशभूषण, लक्ष्मण द्वारा सूरहास तथा चंद्रहास की प्राप्ति इत्यादि अनेक

आनुषंगिक प्रसंग हैं, जो वाल्मीकि में नहीं मिले, परंतु जिनका वर्णन स्वयंभू ने बड़े विस्तार से किया है। यहाँ तक कि एक-एक अवांतर प्रसंग के लिए पूरी संधि लगा दी है।

७—शूर्पणखा के लिए जैन-कवियों ने 'चंद्रनखी' संज्ञा का प्रयोग किया है। चंद्रनखी रावण और खरदूषण की बहन नहीं, बल्कि खरदूषण की पत्नी है। चंद्रनखी की नाक कटने का प्रसंग न तो स्वयंभू में है और न पुष्पदंत में ही। इस तरह सीता-हरण में भगिनी के अपमान वाली युक्ति स्वभावतः ही नहीं उठती।

८—मारीच को स्वर्ण-मृग बनाकर सीता-हरण की कल्पना भी जैन-काव्यों में नहीं है। राम-लक्ष्मण का ध्यान नकली सिंह-गर्जना से आकृष्ट किया गया है।

९—हनुमान एक साथ ही खर और सुग्रीव दोनों के दामाद थे और जब उन्हें पता चला कि राम ने खर को मार डाला, तो वे स्वभावतः राम से रुष्ट हुए। लेकिन जब उन्हें पता चला कि राम ने बालि को मारकर सुग्रीव को राज्य दिया है, तो वे प्रसन्न हुए। इसलिए जब उन्हें सीता को खोजने में राम की सहायता करने के लिए बुलाया गया, तो अपनी पत्नियों के कारण कुछ असमंजस में पड़ गए। फिर भी वे सुग्रीव के निमंत्रण पर गए और राम के प्रभाव में आ गए।

१०—सीता-वियोग की स्थिति में राम ने राजा दधिमुख के अनुरोध पर उनकी तीन पुत्रियों से शादी कर ली।

११—लंका में प्रवेश करने के लिए हनुमान ने द्वाररक्षक आशाली को मारा, फिर वज्रायुध को; और अंत में वज्रायुद्ध की पुत्री लंकासुंदरी हनुमान के शौर्य पर इतनी मोहित हो गई कि दोनों ने विवाह कर लिया। एक रात उसके साथ बिताकर हनुमान दूसरे दिन विभीषण के घर गए।

१२—त्रिजटा का अनिष्ट-भरा स्वप्न, हनुमान का अक्षयकुमार को मारना और फिर इंद्रजित के नाग-पाश में बँध जाना आदि बातें तो वाल्मीकिवत् ही हैं, परंतु हनुमान-द्वारा लंका-दहन का प्रसंग जैन-रामायण में नहीं दिखाई पड़ा।

इसी तरह और भी विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं।

कथा का विभाजन स्वयंभू ने इस प्रकार किया है कि अयोध्याकांड में ही 'अरण्य' और 'किष्किंधा' कांड की बहुत-सी घटनाएँ आ गई हैं। किष्किंधाकांड की कुछ घटनाएँ जैसे बालि-सुग्रीव युद्ध, बालि-वध, हनुमान-राम-मिलन आदि सुंदरकांड में मिला ली गई हैं। यद्यपि राम की दण्डक-यात्रा और किष्किंधा-प्रवास का वर्णन स्वयंभू ने भी किया है, तथापि उन घटनाओं को अलग-अलग कांडों में रखने की आवश्यकता शायद महसूस नहीं की।

स्वयंभू-रामायण के कथा-प्रसंग से एक बहुत ही मनोरंजक तथ्य पर प्रकाश पड़ता है और वह है सुंदर-कांड नाम पड़ने के कारण पर। बालयुद्ध और उत्तर तथा अयोध्या, अरण्य और किष्किंधाकांडों के नामकरण का कारण तो समझ में आ जाता है, क्योंकि वह काफी स्पष्ट है। परंतु 'सुंदरकांड' के नामकरण का कारण बहुत कुछ रहस्य ही है। लोगों की सामान्यतः यही धारणा है कि यह कांड दूसरों की अपेक्षा अधिक सुंदर है, इसलिए इसका नाम सुंदरकांड पड़ा। परंतु यह व्याख्या किसी प्रकार संतोषजनक नहीं कही जा सकती, क्योंकि अन्य कांडों के साथ इस व्याख्या वाले नाम का मेल नहीं बैठता।

सही व्याख्या की कुंजी स्वयंभू-रामायण के 'विद्याधर' कांड में मिलती है—

> **'सुंदरु' जगे सुंदरु भणेवि, 'सिरिसइलु' सिलायलु चुण्णुणिउ।**
> **हणुरुह-दीवे पवड्ढियउ, 'हणुवन्तु' णामु तें तासु किउ॥ —१।१९।११**

हनुमत् के अनेक नामों में से एक नाम 'सुंदर' भी था। इसलिए जिस कांड में सुंदर के शौर्य का वर्णन हो, उसका 'सुंदरकांड' नाम न होगा, तो क्या होगा? रामकथा के पाठक जानते हैं कि 'सुंदरकांड' में आदि से लेकर अंत तक हनुमान के ही पराक्रम का वर्णन है। हनुमान का लंका-प्रवेश, सीता का पता लगाना, सीता को आश्वासन देना, लंका को उजाड़ना, रावण को दहलाना, विभीषण से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना आदि सभी कार्यों

के नायक हनुमान हैं और रामकथा में इन कार्यों का कितना महत्त्व है, इसे बतलाने की जरूरत नहीं है। ऐसे पराक्रम पूर्ण कार्यों के नायक सुंदर के नाम पर एक संपूर्ण कांड का नामकरण उचित ही कहा जायगा।

इस प्रकार यदि अपभ्रंश के राम-साहित्य का अध्ययन केवल कथा की दृष्टि से किया जाय, तब भी अनेक आलोकदायिनी बातों का पता चलेगा। अपभ्रंश रामकथा के अनेक स्तरों के विश्लेषण से प्रचलित लोक-कथाओं तथा तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं के साथ ही भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण इकाई-संबंधी काफी तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं। हिंदी रामकथा के अध्येताओं के लिए विशेष रूप से स्वयंभू की रामायण में पर्याप्त सामग्री मिल सकती है। जो लोग रामकथा की केवल ब्राह्मण-परंपरा तथा उस परंपरा के भी केवल एक टुकड़े से परिचित हैं, वे यदि अपभ्रंश की जैन-रामकथा से परिचय प्राप्त करें, तो उनकी आँख खुल जायगी और आँखों के सामने पौराणिक आख्यानों के क्रमिक निर्माण की सारी प्रक्रिया तथा उसके पीछे काम करनेवाली प्रवृत्तियों का संपूर्ण चित्र स्पष्ट हो जायगा।

भिन्न कथा-परंपरा को अपनाते हुए भी अपभ्रंश के इन राम-कवियों ने जगह-जगह अपनी कथा में ऐसी-ऐसी अनेक कथानक-रूढ़ियों और प्रतीक-प्रसंगों का उपयोग किया है, जो उन्हें भारतीय संस्कृति की परंपरा का अभिन्न अंग प्रमाणित करती है। इस तरह 'मोटिफ़' की दृष्टि से भी अपभ्रंश का राम-साहित्य विशेषतः 'स्वयंभू-रामायण' अत्यंत महत्वपूर्ण है।

उदाहरण के लिए राम की वनयात्रा में ऐसे बहुत से कथा-प्रसंग आते हैं, जिनका उद्देश्य किसी-न-किसी 'मोटिफ़' का निर्वाह करने के सिवा और कुछ नहीं मालूम होता। इन कथा-प्रसंगों का रामकथा से सीधा सम्बन्ध नहीं है और न ये रामकथा की किसी अन्य परंपरा में ही मिलते हैं। कथा के भीतर उपकथाओं की यह शृंखला कथासरित्सागर की याद दिलाती है। इस दृष्टि से अयोध्याकांड के वज्रकर्ण-सिंहोदर-उपाख्यान, कल्याणमाल उपाख्यान, रुद्रभूति और कपिल उपाख्यान, वनमाला उपाख्यान, अनंतवीर्य उपाख्यान, जितपद्मा उपाख्यान और लक्ष्मण द्वारा सूरहास तलवार की प्राप्ति का उपाख्यान विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि सभी उपाख्यानों का सम्बन्ध राम से नहीं, बल्कि लक्ष्मण से है। सभी लक्ष्मण के शौर्य और प्रेम को उद्‌घाटित करते हैं। अक्सर इन उपाख्यानों में लक्ष्मण को राजकुमारियाँ प्रदान की गई हैं और यदि कुल मीजान मिलाया जाय, तो लक्ष्मण की रानियों की संख्या हजार से ऊपर पहुँच जाती है। लक्ष्मण से ही ये उपाख्यान क्यों संबद्ध हैं, इस पर विचार करने के लिए संभवतः यह तथ्य भी कुछ सहायक हो कि जैन-परंपरा की रामकथा में लक्ष्मण का स्थान विशिष्ट है, उनका जीवन राम से कहीं अधिक कर्म-संकुल है। यहाँ तक कि रावण का वध भी लक्ष्मण के ही हाथों होता है।

इन उपाख्यानों के कुछ विचित्र मोटिफ़ ये हैं—

१—नर-वेश में प्रच्छन्न नारी का दर्शन (२६वीं संधि)।

२—लक्ष्मण आदि के साथ राम का स्त्री-वेश में अनंतवीर्य की राजसभा में प्रवेश (३० वीं संधि)।

३—राम-लक्ष्मण-द्वारा क्षेमांजलि नगर के पास विशाल अस्थि-राशि का दर्शन, जो राजकुमारी जितपद्मा के असफल प्रेमियों की बताई जाती थी। (३१वीं संधि)।

४—प्यासी हुई सीता के लिए लक्ष्मण का जल ढूंढने निकलना और दूर से सहसा वन में सरोवर-दर्शन, परंतु पास पहुँचने पर उसमें मंचस्थ और क्रीड़ारत राज-समाज का दर्शन (२६वीं संधि)।

५—वंशस्थल नगर पर सहसा पाषाण-वर्षा का दर्शन (३२वीं संधि)।

६—लक्ष्मण को सहसा बाँस से लटकी हुई एक सुघर तलवार का दिखाई पड़ना। लक्ष्मण द्वारा असि-ग्रहण और उससे बाँस पर प्रहार। देखते-देखते आँखों के सामने बाँस की जगह स-मुकुट और स-कुंडल एक नर-मुंड का गिरना। इस प्रकार लक्ष्मण को माया-असि सूरहास की प्राप्ति (३६वीं संधि)।

इस तरह के 'मोटिफ़' कथासरित्सागर तथा अन्य कथा-संग्रहों में मिलते भी हैं और विद्वानों ने इनमें निहित प्रयोजनों की व्याख्या भी की है। 'पउमचरिउ' के ये तथा ऐसे ही अन्य कथाखंड 'मोटिफ़' के रूप में लिए जा सकते हैं और फिर इनकी व्याख्या से कुछ नए तथ्य सामने आ सकते हैं।

परंतु कवि की कल्पनाशक्ति और भावुकता का पता कथा में निभाए गए इन रूढ़-प्रतीकों से उतना नहीं चलता, जितना प्रसंगोद्भावना से अथवा मार्मिक प्रसंगों की पहचान से। जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है, "प्रबंधकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चलता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्म-स्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं।" मार्मिक प्रसंग भिन्न-भिन्न कवियों के लिए भिन्न हो सकते हैं। संभव है कि एक कवि के लिए जो प्रसंग अत्यंत मार्मिक हो, दूसरे कवि को वह बिल्कुल ही मार्मिक न लगे। उदाहरण के लिए रामकथा का सबसे मर्मस्पर्शी प्रसंग राम का वनगमन पुष्पदंत की 'रामायण' में है ही नहीं। इसी प्रकार पुष्पदंत का राम-काव्य राम का अयोध्या-त्याग और पथिक रूप में वनगमन, राम को लौटाने के लिए भरत की चित्रकूट-यात्रा और फिर राम-भरत का मिलना आदि प्रसंगों से वंचित हो गया। परंतु इसके लिए पुष्पदंत को दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि बहुत संभव है, उनके सामने रामकथा के माध्यम से कुछ और कहने का उद्देश्य रहा हो और इसलिए उन्होंने कथा का कोई दूसरा ही रूप अपनाना अधिक अच्छा समझा हो और उस दृष्टिकोण से अपनाई हुई रामकथा के मार्मिक प्रसंग दूसरे ही प्रतीत हुए हों। इस प्रकार कथा के स्थल-विशेष में मार्मिकता भरना कवि की अपनी रुचि और अपने दृष्टिकोण की उपज है।

उदाहरण के लिए सीता-विवाह का वर्णन स्वयंभू ने सरसरी तौर से संक्षेप में समाप्त कर दिया है, लेकिन पुष्पदंत ने विरम कर नर-नारियों के सौंदर्य का अलंकृत वर्णन भी किया है, फिर भी सीता-विवाह को जो विस्तार और महत्त्व तुलसी के 'मानस' में दिया गया है, वह अपभ्रंश के किसी रामकाव्य में नहीं है। परंतु दूसरी ओर विवाह के बाद वाराणसी के उपवन में पुष्पदंत ने राम-लक्ष्मण-सीता तथा पूरे रनिवास की उद्यान-क्रीड़ा का जैसा मनोरम वर्णन किया है, वह न तो स्वयंभू के यहाँ है और न वाल्मीकि या तुलसी के यहाँ ही। इसके बाद जिस समय राम वाराणसी से अयोध्या पहुँचते हैं, उस समय पुरनारियों में राम को देखने के लिए जो हलचल मची, उसका भी वर्णन केवल पुष्पदंत के ही यहाँ मिलता है। इस वर्णन की एक छटा देखें —

> जणु बोल्लइ दसरहजेट्ठसुउ इहु स-सहोयरु आवइ।
> कंचीकलाव गुप्पंत पहि पुरणारीयणु धावइ।।
> कवि मेल्लइ कोंतल-फुल्ल-दामु णीससइ, का वि जोयंति रामु।
> काइ वि थणजुयलउं विहलु गणिउं हा एउ ण लक्खण णहहिं वणिउं।
> कवि दावइ कंकणु का वि हारु कवि ऊयलु कवि मुहबिंबं यारु।
> पयलंतउं कवि परिहाणु परइ कवि कट्ठदिट्ठि जोयंति मरइ।
> कवि सिंचइ पेम्पजलेण भूमि कवि चिंतइ एवहिं घरु ण जामि।
> दारें भत्तारु ण जाहुं वेइ पायारु किं पि अंतरु करेइ।
> मणि का वि विसूरइ चंदवयण तलहत्थि ण जाया मज्झु णयण।
> कवि णेउरु पहि णिवडिउ ण वेइ कवि भिक्खाचारिहि भिक्ख देइ। —७०।१८-१९

सहोदर के साथ दशरथ के ज्येष्ठ सुत आ रहे हैं, यह सुनते ही पुर-नारीगण पथ पर काँची-कलाप फेंकता हुआ दौड़ता है। कोई अपने कुंतल का फुल्लदाम फेंकती है, तो कोई कंकण और कोई हार। कोई चलते-चलते ही परिधान पहन रही है, तो किसी का नूपुर ही पथ पर गिरा जा रहा है और उसे खबर ही नहीं है। ऐसी भी स्त्रियाँ हैं, जो अपनी हथेली में ही नयन होने की आकांक्षा करती हैं। काम-पीड़िता इतर शारीरिक चेष्टाओं का तो कहना ही क्या?

पुष्पदंत का यह संपूर्ण वर्णन रघुवंश और कुमारसंभव के उन स्थलों की याद दिलाता है, जहाँ रघु और शिव को देखने के लिए उत्सुक पुरनारियाँ ऐसी ही विह्वल शारीरिक चेष्टाएँ करती हैं।

राम के अयोध्या-त्याग वाले प्रसंग को यदि पुष्पदंत ने नहीं लिया है, तो उस क्षति की पूर्ति स्वयंभू की रामायण में हो जाती है। इस प्रसंग में स्वयंभू ने जो मार्मिकता भर दी, वह केवल लोकगीतों में ही मिलती है— राज्याभिषेक के प्रभातकाल में वनवास का निर्णय कर के जब राम नितांत सामान्य वेशभूषा में अपनी मां के पास आते हैं, तो राम-जननी विलाप करती हुई कहती हैं —

दिवे दिवे चडहि तुरंगम-णाएहिं अज्जु काइं अणुवाहण पाएहिं।
दिवे दिवे वन्दिण-विन्देहिं थुव्वहि अज्जु काइं थुव्वन्त ण सुव्वहि।
दिवे दिवे धुव्वहि चमर-सहासेहिं अज्जु काइं तउ को विण पासेहिं।
दिवे दिवे लोयहिं वुच्चहि राणउ अज्जु काइं दीसहि विद्दाणउ।

हे पुत्र, अन्य दिन तो तुम हाथी चढ़े आते थे, आज बिना सवारी के पैदल क्यों हो ? अन्य दिन तो वंदीजन तुम्हारी स्तुति करते थे, आज क्यों नहीं करते ? अन्य किसी दिन तो तुम्हारे ऊपर सहर्ष चामर डुलते थे और आज तुम्हारे पास कोई क्यों नहीं है ? और जब मां को वास्तविक बात का पता चल जाता है, तो उसका वत्सल हृदय इन शब्दों में फूट पड़ता है—जिनकी प्रतिध्वनि आज भी लोकगीतों में सुनाई पड़ती है—

पइं विणु को पल्लंके सुवेसइ पइं विणु को अत्थाणे वईसइ।
पइं विणु को हय-गयहुं चड़ेसइ पइं विणु को झिन्दुएण रमेसइ।
पइं विणु रायलच्छि को माणइ पइं विणु को तम्बोल समाणइ।
पइं विणु को पर-वलु भंजेसइ पइं विणु को मइं साहारेसइ। —२।२३।४

तुम्हारे बिना पलंग पर कौन सोएगा ? तुम्हारे बिना अथाई में कौन बैठेगा ? तुम्हारे बिना हाथी-घोड़ा कौन चढ़ेगा ? तुम्हारे बिना गेंद कौन खेलेगा। तुम्हारे बिना राजलक्ष्मी को कौन मानेगा ? तुम्हारे बिना तांबूल को सम्मानित कौन करेगा ? तुम्हारे बिना शत्रु-सैन्य को कौन भाँगेगा ? तुम्हारे बिना मुझे कौन हर्षित करेगा ? इस प्रकार, मां की संपूर्ण व्यथा मार्मिक चित्रों से मूर्तिमान हो उठी है। स्वयंभू का यह चित्रण संक्षिप्त होते हुए भी अत्यंत प्रभावशाली है।

जब पुत्र के जाने की इतनी व्यथा है, तो पुत्री के समान प्रिय पुत्र-वधू के जाने से मां को कितनी व्यथा हो सकती है—इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। राजभवन से सीता का निकलना स्वयंभू की दृष्टि में ऐसा है, जैसे हिमवत से गंगा का, छंद से गायत्री का और शब्द से विभक्ति का निकलना।

णिय-मन्दिरहो विणिग्गय जाणइ णं हिमवंतहो गंग महा-णइ।
णं छंदहो णिग्गय गायत्री णं सद्दहो णिसरिय विहत्ती। —२।२३।६

राम के वन जाने पर सूनी अयोध्या का स्वयंभू ने जो मार्मिक चित्रण किया है (२।२४।१) वह राम-काव्य के उत्कृष्ट स्थलों में से एक है।

दूसरी ओर राम की वनयात्रा में स्वयंभू ने जिन प्राकृतिक और वन्य-दृश्यों का वर्णन किया है, वह तो अनूठा ही है। वनवासियों के शोभन-द्वार से युक्त गोष्ठ नरपतियों के राजभवन की याद दिलाते हैं। कहीं टकराती हुई लहरें नलिनी के मृणाल-खंड को तोड़ती दिखाई पड़ती हैं, कहीं शृंगहीन छोटे-छोटे बछड़े शृंग-हीन पर्वत के समान मालूम होते हैं, कहीं दधि-चर्चित जनपद हैं, तो कहीं लोग सिर पर प्रथम धान्य की मंजरी धारण करके नाच रहे हैं, तो कहीं विलासिनियों के सुरत-व्यापार का वर्णन—इस तरह के कुछ और भी दृश्य देखकर राम-लक्ष्मण को अपना बचपन याद आने लगा—२।२४।१३

राम-वनवास का सबसे करुण प्रसंग है सीता-हरण। सीता-हरण के कारण को लेकर मतभेद होने पर भी स्वयंभू और पुष्पदंत ने इस प्रसंग को अधिक से अधिक मार्मिक ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। पुष्पदंत ने तो अपनी ११ संधियों की रामायण में सीता-हरण के लिए एक संपूर्ण संधि लगा दी है। काम-मोहित रावण जब मारीच के साथ राम-सीता के क्रीड़ा-वन में पहुँचा, तो वन्य-प्रकृति की सुंदर पृष्ठभूमि में सीता के विश्व-विमोहन रूप को देखकर मुग्ध हो उठा। पुष्पदंत के शब्दों में वन और सीता के यौवन का तुलनात्मक चित्र देखिए—

वणु दीसइ णच्चिय-णील गलु सीयहि जोव्वणु मणु-मीणगलु।
वणु दीसइ णिम्मल-भरिय-सरु सीयहिं जोव्वणु णिरु महुरसरु।
वणु दीसइ संचरंत-कमलु सीयहि जोव्वणु वर-मुह-कमलु।
वणु दीसइ ललिय-लया हरउं सीयहि जोव्वणु बिंबाहरउं।

वणु दीसइ कालालिंगियउं सीयहि जोव्वणु सालिंगियउं।
वणु दीसइ फुल्लासोय-तरु सीयहि जोव्वणु परसोययरु।
वणु दीसइ दुग्गउं कंचयहिं सीयहि जोव्वणु घर-कंचुइहिं।
वणु दीसइ तरु-कीलंत-कइ सीयहि जोव्वणु वण्णंति कइ।
वणु दीसइ मूल-णिरुद्ध-रसु सीयहि जोव्वणु कय-मयण-रसु। —७२।२

पुष्पदंत के इस वर्णन में श्लेष और यमक का सौंदर्य देखने योग्य है। वस्तुतः सीता-हरण जैसे करुण प्रसंग को और भी करुणोत्पादक बनाने के लिए ही पुष्पदंत ने उसके पूर्व क्रीड़ा और सुखोपभोग का इतना रागपूर्ण वर्णन किया है। सीता-हरण की ऐसी पृष्ठभूमि अन्यत्र नहीं मिलती। पुष्पदंत ने प्रायः ऐसे ही प्रसंगों को काव्यात्मक विस्तार दिया है, जिन पर अन्य कवियों का ध्यान नहीं गया है।

राम को अपनी ओर आते देख स्वर्णमृग ने किस प्रकार की मोहक चेष्टाएँ कीं, इसे स्वयंभू तथा अन्य कवियों ने दो-चार पंक्तियों में चलता कर दिया है। लेकिन पुष्पदंत इस अवसर को हाथ से जाने देने के लिए तैयार नहीं हैं। राम के हाथ वह मृग आते-आते भी निकल जाता है और थोड़ी दूर जाकर—

णव-दूवा-कंद-कवलु भरइ तरुवर-किसलय-पल्लव चरइ।
कच्छंतरि सच्छ सलिलु पियइ वंकिय गलु पच्छाउहुं णियइ।
सुय-चंचु-घाय-'परियखिग' फलि खणि खीसइ चंपय-चूय-तलि।
खणि वेल्लिणि हेलणि पइसरइ अण्णण्ण-पएसहिं अवयरइ।
ओहच्छइ अइ-कोड्डावणउ लइ माणमि णयण-सुहावणउ। —७२।४

इसके बाद तो रावण के द्वारा हरी जाती हुई सीता का करुण विलाप और राम की विरह-दशा ही रह जाती है। एक ओर त्रैलोक्यजयी रावण की धमकियों और प्रलोभनों के सामने निष्कंप दीपशिखा के समान सीता के चरित्र की उठान और दूसरी ओर विरही राम का अधीर विलाप। मनोभावों के कुशल पारखी स्वयंभू तथा विदग्धता के भावक पुष्पदंत—दोनों कवियों ने इस स्थिति का सफल चित्रण किया है। स्वयंभू के राम 'हा हा सीय' कहते हुए वन-वन भुजंग की तरह भ्रम रहे हैं—

राहउ भमइ भुअङ्गु जिह वण 'हा हा सीय' भणन्तउ।

और पागलपन की दशा में सामने जाते हुए वन-गयंद को देखकर बोल उठते हैं—

हे कुंजर कामिणि गइ-गमण कहे कहि मि दिट्ठ जइ मिग-णयण।
णिय-पडिर वेण वेयारियउ जाणइ सीयए हक्कारियउ।
कत्थइ दिट्ठइं इंदीवरइं जाणइ धण-णयणइं दीहरइं।
कत्थइ असोय तरु हरुलवियउ जाणइ धण-वाहा-डोल्लियउ। —२।३९।१२

दूसरी ओर पुष्पदंत के राम भी इसी प्रकार वन के पशु-पक्षियों और वृक्षों से सीता का पता पूछते हुए प्रलाप कर रहे हैं—

सइं काणणि रहुवइ हिंडमाणु पुच्छइ वणि मिगइं अयाणमाणु।
रे हंस हंस सा हंस गमण पइं दिट्ठी कत्थइ विउल-रमण।
चंगउं चिम्मक्कहुं सिक्खओ सि महुं अकहंतु जि खल किं मओ सि।
रे कुंजर तुह कुंभत्थलाइं णं मह महिलाइ थणत्थलाइं।
सारिक्खउं लइयउं एउ काइं भणु कंतइ कहिं दिण्णाइं पयाइं।
सरंग कहहि महु जणयधीय णयणहिं उवजीविय पइं मि सीय।
अलि घरिणि-केस-णिद्धत्त-चोर णिसि सररुह-वल-कय-बंधणार।
रे कीर ण लज्जहि जंपमाणु जइ दिट्ठ पइं मुद्धहि पमाणु। —७३।४

सारा उपालंभ 'विक्रमोर्वशीयम्' के चतुर्थ अंक के उन अपभ्रंश छंदों की याद दिलाता है, जो विरह-कातर पुरूरवा के हृदय से प्रलाप की तरह फूटे हैं। कालिदास की परंपरा का बोध अपभ्रंश के इन कवियों में इतना था कि इसके बाद ही पुष्पदंत के विरही राम सीता के पास मेघदूत भी भेजते हैं—

मेह दूयय तुहुं वच्चहि। —७२।४

रावण के नंदनवन में बंदिनी सीता को जब हनुमान पहले-पहल देखते हैं और फिर सीता से उनकी जो बात-चीत होती है, वह भी रामकथा के मार्मिक प्रसंगों में से एक है। सुंदरकांड की ४६ संधि में स्वयंभू ने इस प्रसंग का विस्तृत वर्णन किया है। संभवत: सीता के अनिंद्य सौंदर्य का चित्रण इतने विस्तार से स्वयंभू ने पहली बार किया है। हनुमंत इस रूप से अभिभूत हो जाते हैं, परंतु भ्रमर-ताड़ित सीता की यह स्थिति उन्हें सबसे अधिक प्रभावित करती है— —३।४६।६

भ्रमर-पीड़ित सीता का यह रूप कालिदास की शकुंतला की याद दिला देता है,परंतु स्वयंभू ने इस चित्र को प्रस्तुत प्रसंग में उपस्थित करके उसमें एक नई व्यंजना भर दी है। सीता के मुख के आसपास मँडराने वाला यह भ्रमर रूप-लोभी रावण का प्रतीक बन जाता है।

ऐसे ही समय सीता को समझाने के लिए मंदोदरी भी आती है और मंदोदरी को जिस ओजस्वी वाणी में सीता उत्तर देती हैं, वह सती-चरित्र का मानदंड है। सीता-मंदोदरी के कलह पर स्वयंभू की उत्प्रेक्षा देखने योग्य है—

मंदोयरि-सीयाएविहिं कलहे पवड्ढिए भुवण-सिरि।
णं उत्तर-दाहिण भूमिहिं मज्झे परिट्ठिउ विंझइरि।।

यह कलह क्या है, मानों उत्तर और दक्षिण-भारत के मध्य में विंध्यगिरि!

परंतु सीता-मंदोदरी-मिलन पुष्पदंत की कथा-परंपरा में और ही प्रकार की मार्मिक छटा के साथ होता है, क्योंकि वहाँ सीता मंदोदरी की पुत्री है और यह मिलन एक प्रकार से मंदोदरी द्वारा सीता का अभिज्ञान है। स्थिति की जटिलता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। मंदोदरी आती है अपने रावण की ओर से सीता को समझाने, परंतु आने पर उसे पता चलता है कि यह तो उसकी पुत्री है—हृदय की धारा पलट जाती है, मां-बेटी एक हो जाती हैं और मंदोदरी पुरुष की स्वेच्छा चारिता के विरुद्ध ये वाक्य कहती है—

हा पुरिस हुंति सयल विणिहीण घरघरिणि जइ वि उव्वसि-सयाण।
कामेण तइ वि ते खयहु जंति पर घर-दासिहि लग्गिवि मरंति।।

पुरुष के प्रति नारी की ऐसी कटु-सत्यपूर्ण उक्ति उस युग के किसी अन्य काव्य में शायद ही कहीं मिले।

सचमुच काव्य की दृष्टि से पुष्पदंत के रामायण की 'सीयादंसणं' (७३) अनूठी रचना है।

इसी प्रकार का मार्मिक प्रसंग है सीता की अग्नि-परीक्षा, जो पुष्पदंत के काव्य में तो नहीं है, परंतु स्वयंभू के 'पउमचरिउ' में वाल्मीकिवत् ही नारी-पराधीनता के प्रति विद्रोह की भावना के साथ व्यक्त हुआ है। 'पउमचरिउ' की ८३वीं संधि इस दृष्टि से पठनीय है।

राम के मुख से नारी जाति के प्रति कटु वचन सुनकर भी शांत संयत स्वर में सीता ने जवाब दिया कि पुरुष गुणवंत होकर भी निहीन होते हैं, वे मरती हुई स्त्री का भी विश्वास नहीं करते। पुरुष उस रत्नाकर की तरह हैं, जो समर्पणशीला नदियों को भी क्षार ही देता है—

पुरिस णिहीण होंति गुणवंत वि तियहे ण पत्तिज्जन्ति मरंत वि।
खडु लक्कडु सलिल वहंतिहे पउरणियहे कुलग्गयहे।
रयणायरु खारइ देंतउ तो वि ण थक्कइ णं णइहे।।

कुल मिलकर अपभ्रंश के राम-काव्य की विशेषता उसके चरित्रों के यथार्थ मानवीय चित्रण, मार्मिक प्रसंगों की अनुभूतिपूर्ण अभिव्यक्ति, व्यंजक दृश्य-वर्णन, प्रभावशाली संवाद-योजना तथा कथा के आख्यानक-रस में है। इस प्रकार संस्कृत और हिंदी आदि आधुनिक भाषाओं के राम-काव्य की तरह अपभ्रंश के राम-काव्य की भी कुछ अपनी निजी विशेषताएँ हैं, जो भारतीय-साहित्य को समृद्ध बनाने में योग देती हैं। ●●●

रामकेर्ति :
ख्मेर भाषा की रामायण[1]

श्री फ्रांसुआ मर्तीनी

ख्मेर या कंबोडियन भाषा में भी राम और सीता की कथा का एक रूप प्राप्त है। इस कथा का शीर्षक है 'रामकेर्ति' (सं० रामकीर्त्ति), जिसका उच्चारण 'रि अमके' है। यह पद्य में है और इसकी रचना अभिनय की दृष्टि से हुई है। यह सर्गों में विभक्त है। इसका गायन किया जाता है और साथ-साथ नृत्यों में अभिनय भी। प्रत्येक सर्ग के आरंभ में छंद का उल्लेख है, जिससे दो बातों का संकेत मिलता है—गायन-विधि एवं राग। राग के अनुसार नृत्य चलता है और वातावरण का सृजन भी होता है। इसमें छोटे-छोटे दृश्यों की क्रमिक व्यवस्था है तथा प्रत्येक दृश्य के प्रारंभ में इस प्रकार का निर्देश मिलता है—'उसी समय', 'अबकी बार', 'अब' आदि। इससे दर्शक को दृश्य के परिवर्तन की सूचना मिलती है।

यह रचना बहुत विस्तृत है। वृद्धजनों ने मुझे बताया है कि पुराने ज़माने में गौण कथानकों को छोड़ देने पर भी इसका अभिनय कई दिनों और रातों तक चला करता था। दुर्भाग्यवश इस अत्यंत विस्तृत रचना का केवल एक अपेक्षाकृत् छोटा खंड प्राप्त है; इसकी तीन हस्तलिपियाँ उपलब्ध हैं और वे तीनों ही खंडित हैं। एक मुद्रित संस्करण प्राप्त है, जो सुश्री सुज़न कार्पेले (Suzanne Karpeles) के प्रयास से निकला है। इसमें सोलह पुस्तिकाएँ हैं, जिनकी संख्या १ से १० तक तथा ७५ से ८० तक है। इन पुस्तिकाओं का आकार बहुत कुछ समान है और हस्तलिपि के सर्गों के अनुसार इनका विभाजन हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि अभी ⅘ भाग अप्राप्य है।

इस संस्करण के संपादकों ने केवल दो हस्तलिपियों का प्रयोग किया है; तीसरी हस्तलिपि पेरिस के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। मैंने मिलाकर देखा है कि यह मुद्रित संस्करण से अधिक भिन्न नहीं है। जो पाठांतर मिलते हैं, वे मात्र शब्दों के ही हैं और प्रतिलिपिकारों द्वारा प्रविष्ट किए गए हैं। पेरिस की हस्तलिपि अपूर्ण है; मुद्रित संस्करण की केवल प्रथम आठ पुस्तिकाओं की सामग्री इसमें है। वह लगभग दो इंच चौड़े और बाइस इंच लंबे २२७ पन्नों की है। प्रत्येक पन्ने पर पाँच पंक्तियाँ हैं।

'रामकेर्ति' का रचयिता साहित्यशास्त्री और कलाकार दोनों ही था। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह कंबोडियन भाषा की सर्वोत्तम साहित्यिक कृति है। इसका कवि सचमुच सुसंस्कृत है। भाषा, शैली और अलंकार-विधान से ज्ञात होता है कि उन्होंने संस्कृत-साहित्य का अध्ययन किया था। जहाँ कहीं समझने में कठिनाई पड़ती है, इसका प्रायः कारण यही होता है कि उन्होंने कंबोडियन भाषा में अप्रचलित किसी संस्कृत शब्दावली का रूपांतर किया है। वह कलाविद् भी हैं, क्योंकि उनकी शैली अत्यंत परिष्कृत है। उनके छंद नियमानुकूल हैं और अनुप्रास-बाहुल्य भी हैं। फिर भी सुरुचि और संतुलन है। पांडित्यप्रदर्शन और शब्दाडंबर उनमें बिरले ही दिखाई देता है, जो कि कंबोडियन साहित्यकारों को बहुत प्रिय रहा है। एक दूसरी विशेषता जो कंबोडियन साहित्य में बहुत कम मिलती है, वह है प्रकृति के प्रति भावप्रवणता। इस विशेषता से वाल्मीकि का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि शिलालेखों से स्पष्ट है कि वाल्मीकि की रचना प्राचीनकाल से ही कंबोडिया में विख्यात थी।

कंबोडियन साहित्य और नृत्य के विशेषज्ञों ने लिखा है कि रामकेर्ति संस्कृत-रामायण का अनुवाद है, जिसमें स्थान-स्थान पर स्थानीय कथाओं के आधार पर नए कथानकों को समाविष्ट किया गया है। किंतु इस रचना के परिशीलन से पता चलता है कि 'रामकेर्ति' एक स्वतंत्र काव्य है और इसके रचयिता ने वाल्मीकि रामायण से भिन्न, एक दूसरी कथा-परंपरा को आधार माना है। किंतु रूपविधान के लिए उन्होंने संस्कृत-

[1] मूल फ्रेंच भाषा से हिन्दी अनुवाद—श्री साधु कामिल बुल्के के सौजन्य से।

काव्य का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि उसे उन्होंने एक सुप्रसिद्ध आदर्श माना होगा। हम केवल एक उदाहरण देंगे, जो महत्त्वपूर्ण है अर्थात् सीता के जन्म का, जिसका रूपांतर इस प्रकार है—

"उस समय में मिथिला के राजा ने अपने पूर्वजों की प्रथा के अनुसार तथा राज्य में समृद्धि लाने के लिए बैशाख में अपने सब पुरोहितों को सीता की धार्मिक क्रिया संपन्न करने के हेतु निश्चित दिवस पर बुलाया।

राजा सोने का हल चला रहे थे, जिसमें राज्य के सांड़ जुते हुए थे और जिनकी गति दहाड़ते हुए सिंह के समान थी। राजा यमुना के तट तक हलकी रेखा बना रहे थे। वहाँ (नदी में) उनको सोने के बेड़े पर एक दिव्य कन्या दिखाई दी। कन्या रूपवती, मनोहारी एवं अद्वितीय थी। वह एक अलौकिक, पूर्ण विकसित तथा निर्मल कमल पर विराजमान थी। इस राजकन्या को देखकर राजा का हृदय गद्गद् हो गया।

तब मिथिला के राजा अपने अनुचरों को एकत्र करके अविलंब राजधानी लौटे; और उस अलौकिक कन्या को अपनी पुत्री के समान अपनाकर साथ ले आए। राज्य में राजकुमारी के आगमन के पश्चात् राजा अपने शासन द्वारा प्रजा को पूर्ण सुख-शांति देने में समर्थ हुए। तब राजा ने अपनी कन्या का नाम रखने के लिए अभिषेक (नामकरण-संस्कार) का आयोजन किया। उसका नाम राजकुमारी 'सेता' रखा गया, क्योंकि उसका सौंदर्य निर्मल तथा पूर्णिमा की ज्योत्स्ना की भाँति आभामय था।"

इस वृत्तांत से विदित होता है कि यह वाल्मीकि की परंपरा से बहुत भिन्न है। राजकन्या पृथ्वी से उत्पन्न न होकर पानी पर बहती हुई मिलती है। उसका नाम सीता नहीं रखा जाता है, क्योंकि वह सीता (लांगल-पद्धति) से नहीं निकलती है, लेकिन उसको सेता (श्वेता) नाम दिया गया, क्योंकि वह सर्वांग सुंदरी थी।

कंबोडियन 'रामकेर्ति' का सम्यक् परिचय देने के लिए तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता होती, जिसके लिए समय और विस्तार अपेक्षित है। प्रस्तुत संक्षिप्त लेख में हम केवल उन विशेषताओं का उल्लेख कर सके हैं, जो हमारी दृष्टि में कंबोडियन रामायण की अपनी हैं। सर्वप्रथम, कंबोडियन रामायण का कथानक हिंदेशिया की दंतकथाओं से बहुत ही प्रभावित है, फिर भी जैसे मैंने ऊपर कहा है, ग्रंथकार ने हिंदेशिया की सामग्री तथा भारत के महाकाव्य का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। इस कारण जावा के 'सेरी राम' की अपेक्षा 'रामकेर्ति' वाल्मीकि की रचना के कहीं अधिक निकट है। अब प्रश्न यह उठ सकता है कि 'रामकेर्ति' पर 'सेरी राम' का सीधा प्रभाव है अथवा दोनों का मूल स्रोत एक ही है, क्योंकि 'रामकेर्ति' तथा 'सेरी राम' की सामान्य सामग्री भारत में भी अर्वाचीन रामकथाओं में पाई जाती है। उदाहरणार्थ, कंबोडियन रामायण में लक्ष्मण निद्रादेवी से प्रार्थना करते हैं कि वह चौदह वर्ष तक उनसे नींद और भूख दूर रखें तथा उनको निरंतर ही हृष्टपुष्ट और बलवान रहने दें। यह प्रार्थना वाल्मीकि में नहीं है, लेकिन 'सेरी राम' में पाई जाती है। फादर बुल्के मुझे लिखते हैं कि यह प्रसंग तेलगू रामकथा में भी प्राप्त है।

इस्तम्बुल के अंतर्राष्ट्रीय प्राच्य महासम्मेलन (१९५१ ई०) में मैंने एक निबंध पढ़ा था, जिसमें मैंने कंबोडियन 'रामकेर्ति' पर बौद्ध प्रभाव का उल्लेख किया था। यहाँ पर मैं उस निबंध का केवल सारांश दे सकता हूँ। यह बौद्ध प्रभाव निर्विवाद है, क्योंकि इसका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख मिलता है। राम विष्णु के अवतार होते हुए भी बुद्ध के अग्रदूत माने जाते हैं। यद्यपि यह दिव्य राजकुमार हरि, नाराय(ण) और अधिकतर नाराय(ण)-राम के नाम से पुकारे जाते हैं, उनको निम्नलिखित विशेषण भी दिए जाते हैं—बुद्धांकुर, बोधिसंभार और बोधिसत्व; कहा जाता है कि वे राजाओं में सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि नाराय (ण) बुद्ध के वंशज हैं।

बहुत-सी बातों से ज्ञात होता है कि रचना का यह बौद्ध दृष्टिकोण साहित्यिक परंपरा अथवा अर्वाचीन वैष्णव समन्वय की प्रतिध्वनि मात्र नहीं है, वरन् भावनापूर्ण भक्ति की अभिव्यक्ति। यह तथ्य कई प्रसंगों के प्रस्तुतीकरण से स्पष्ट हो जाता है। संक्षेप में तीन उदाहरण देता हूँ।

—चित्रकूट की यात्रा करते समय तीनों निर्वासितों को प्रचंड ग्रीष्म का प्रकोप सहना पड़ा। भयंकर सूखा के कारण पौधे भस्मीभूत हो गए थे, जलस्रोत सूख गए और पेड़ों के पत्ते जल गए थे। इस ताप के कारण सीता शिथिल हो गई और प्रकृति के उजाड़पन के कारण बहुत ही भयभीत। उस समय राम के चरण-स्पर्श

से घास उगने लगी, झाड़ियाँ फूलों से लद गईं और वृक्षों में नवजीवन का संचार हो गया। यह चमत्कार राम के बोधिसत्व के तेज के कारण हुआ था—**तेजस् ब्रःपाद् भवना वंस् बोधि संभार।**

इसका संस्कृत रूपांतर इस प्रकार होगा—**रामेण भावितस्य बोधि संभारवंशस्य तेजसा।**

—एक दिन सीता की क्लांति तथा क्लेश से द्रवित होकर राम ने उनको सांत्वना देते हुए कहा—"मैं तुझे अविज्जा (अविद्या) से बचाऊँगा और भवचक्र से मुक्त करूँगा। हे प्रिए, मैं तुझे उस स्थान में ले चलूँगा, जहाँ कोई बाधा नहीं है और जिसे 'महा विरोध निब्बान' कहते हैं।" जब यात्री बारद्वद्य (भारद्वाज) के आश्रम पहुँचते हैं, ग्रंथकार कहते हैं कि ब्रःपाद् बोधिसत्त्वथ्लाइ (तत्र भवान् बोधिसत्व) को देखकर मुनि को अत्यधिक आनंद हुआ—"जिस प्रकार मरणासन्न वैद्य को औषध लिए आते देखता हो" और हृदय से यह उद्‌गार फूट निकला—"अब मेरे सब पाप क्षमा हुए, क्योंकि महान् बोधिसत्व से मेरी भेंट हो गई है।"

वैष्णव तथा बौद्धधर्म का यह समन्वय, कथानक में उन तत्वों का समावेश जो केवल अर्वाचीन राम-कथाओं में पाए जाते हैं तथा जावा के 'सेरी राम' का सुस्पष्ट प्रभाव, इन सब कारणों से ज्ञात होता है कि कंबोडियन रामकथा अधिक प्राचीन नहीं है। फादर बुल्के अपने पत्र में कहते हैं कि जावा के 'सेरी राम' का वर्तमान रूप सोलहवीं शताब्दी से बहुत पहले का नहीं हो सकता। अतः उस समय के बाद ही कंबोडियन 'रामकेर्ति' की रचना हुई होगी। यह धारणा भाषा के रूप से जो बहुत प्राचीन नहीं है, और दृढ़ हो जाती है। Aymonier (Le Cambodge, I, p. 44) ने उसे शैली के आधार पर प्राचीन माना है, किंतु शैली तथा भाषा में बहुत अंतर है। यह सच है कि 'रामकेर्ति' कहीं-कहीं अबोधगम्य है और इससे उसकी प्राचीनता का अनुमान हो सकता है। लेकिन यदि इसकी भाषा अर्वाचीन शिलालेखों (१६वीं तथा १७वीं शताब्दी के) से मिलायी जाती है तो पता चलता है कि 'रामकेर्ति' की भाषा बाद के शिलालेखों के अधिक निकट है; जिससे हम उसे सोलहवीं शताब्दी के अंत के पहले नहीं रख सकते हैं। एक बात है, कंबोडिया में हस्तलिपियाँ देर तक सुरक्षित नहीं रह सकती हैं तथा लिपिकारों की यह प्रकृति है कि वे शब्दों की वर्तनी बदलते रहते हैं और कहीं-कहीं भाषा भी। यदि कोई शब्द या वाक्यांश अबोध-गम्य होता है, तो उसे बदल देते हैं। फिर भी यह पद्यात्मक रचना है, और इसी-लिए छंद और अनुप्रास के कारण लिपिकारों की स्वतंत्रता सीमित हो जाती है। दो और विशेषताओं के द्वारा रचनाकाल का अनुमान होता है (यदि यह लिपिकारों का कार्य न हो), एक तो संस्कृत तथा पाली शब्दों का साथ-साथ प्रयोग और दूसरे, स्यामी शब्दों और मुहावरों की विद्यमानता। यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि भाषा के आधार पर काल का निर्णय करना कठिन है, क्योंकि कंबोडियन भाषा का विकास बहुत ही मंदगति से हुआ है। यही श्री सुदे (M. Coedes), ख्मेर-शिलालेखों के विशेषज्ञ, की भी राय है। एक शिलालेख से पता चलता है कि 'रामकेर्ति' की रचना १७०२ ई० से पहले हुई थी। यह शिलालेख उसी समय का है और इसमें Aymonier के अनुसार कंबोडियन रामायण का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इसमें यह कथन मिलता है—"मैं अपने लिए सुविख्यात ऐश्वर्य की अभिलाषा करता हूँ, जो 'ब्रः नाराय' के ऐश्वर्य के समान हो, जिस समय वह 'ब्रः राम' के रूप में लंका के उग्र असुरों का दमन करने के लिए अवतरित हुए थे।" यहाँ 'रामकेर्ति' का नाम नहीं है, फिर भी इसमें निःसंदेह (शिला का) लेखक कंबोडियन रामायण की ओर संकेत करता है, क्योंकि कंबोडियन रामायण में ही राम को प्रायः 'ब्रः नाराय' कहा जाता है।

अंत में यह कहना है कि कंबोडियन 'रामकेर्ति' हमें इतने खंडित रूप में प्राप्त होता है कि हम इसके संबंध में अंतिम निर्णय करने में असमर्थ हैं। इतना ही निश्चित है कि इसका रचयिता एक ऐसी परंपरा के आधार पर लिखता है, जो हिंदेशिया होकर उसके पास आई थी। परंतु उन्होंने संस्कृत साहित्य का भी गंभीर अध्ययन किया था तथा वाल्मीकि के काव्य को अपना साहित्यिक आदर्श माना था। यह सुस्पष्ट है कि वाल्मीकि रामायण से भिन्न सामग्री आधार मानते हुए भी उन्होंने अपनी रचना को अपने महान् आदर्श के साथ समन्वित करने का प्रयास किया है। उसके काव्य से स्पष्ट है कि वे पूर्ण बौद्ध थे, परंतु उनके अपने धर्म का रामभक्ति के साथ इस प्रकार समन्वय हुआ है कि उन्होंने राम को बोधिसत्व मान लिया तथा अवतारों का क्रम इस प्रकार रखा—नारायण, राम और बुद्ध।

●●●

तुलसीदास-कालीन राघवोल्लास-काव्य

श्री राघवप्रसाद पांडेय

रामकथा के मान्य विद्वान् डॉ० कामिल बुल्के के यहाँ यह काव्य माइक्रोफिल्म-रूप में मुझे मिला। देखने से पता चला कि इसकी रचना तुलसीदास के समय में हुई है, और वह भी बनारस में ही। यह जानकर उत्सुकता और भी बढ़ी कि यह काव्य अप्रकाशित तो है ही, भारत में किसी को इसका पता भी नहीं है। यदि इसमें राम की ही कथा है, तो अन्य दृष्टि से न सही, किंतु कथानक की विवेचना की दृष्टि से तो अवश्य इसका महत्त्व होगा। मैंने इस हस्तलिखित काव्य की प्रतिलिपि किसी प्रकार पूरी की। इसके अनेक पृष्ठ इतने अस्पष्ट और लिपे-पुते थे कि उन्हें हूबहू उतारना कठिन था। बीच-बीच में, किनारों पर छोटे-छोटे अक्षरों में कई एक श्लोक बाद में लिखे जैसे लगते थे; कथासूत्र को पकड़ कर ही उन्हें यथास्थान बैठाना पड़ता था। कहीं-कहीं तो ये श्लोक सिद्धांत-वाक्य के रूप में ऊपर से चिपकाए जान पड़ते थे, कथा से इनका सीधा सम्बन्ध नहीं रहता था, किंतु उन्हें भी रखना ही पड़ा? कई एक वाक्य नहीं पढ़े जा सके, किंतु ऐसे स्थल बहुत कम मिले। प्रस्तुत निबंध में लिपिकार, ग्रंथकार, आरंभ, अंत, रचनाकाल, कथावस्तु, काव्य-सौंदर्य आदि का संक्षेप में परिचय देने का प्रयास किया जाएगा।

यह हस्तलिखित काव्य, इंडिया आफिस लाइब्रेरी, सं० ३९१५, लंदन से प्राप्य है। इसमें १२ सर्ग हैं, आरंभ के तीन सर्ग नहीं हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर सात पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक सर्ग का आरंभ—

जयन्ति रघुनाथस्य पदपंकजपांसवः।
मूकोपि वावदूकोयमद्वैतो यदुपाश्रयात् ॥

इस श्लोक से होता है। और प्रत्येक सर्ग का अंत '**इति श्री राघवोल्लासे महाकाव्ये परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य दिगंबर श्री रामकृष्णाश्रम भगवत्पूज्यपाद शिष्याद्वैत विरचिते**' इस वाक्य से होता है। इसके पृष्ठों के किनारों पर ऐसे भी श्लोक हैं, जिनकी संख्या नहीं दी गई है, कहीं-कहीं उनकी संख्या अस्पष्ट है। फिर भी प्रत्येक सर्ग के अंत में जो श्लोक-संख्या दी गई है, वह इस प्रकार है—

चतुर्थ: १६८, पञ्चम ९८, षष्ठ ४९, सप्तम ८२, अष्टम १७३, नवम ६६, दशम ५०, एकादश ११८, द्वादश १७२।

इस काव्य के अंत में लिखा है—'**संबत् १६८२ समये फाल्गुन वदी अष्टमी वार सूभ दीने (श्लोक, शिष्य) संख्या २२७५ लिषीतं मानसाहि काएस्थः**'। इससे यह निश्चित होता है कि संबत् १६८२ में फाल्गुन कृष्ण अष्टमी को इस ग्रंथ का लिखना समाप्त हुआ। लिखनेवाले लिपिकार थे मानसाहि कायस्थ। प्रत्येक सर्ग की आरंभिक स्तुति में तो कवि ने अपना नाम दिया है। सर्ग के अंत में भी सर्वत्र 'अद्वैत विरचिते' लिखा है। अतः इस काव्य के कवि अद्वैत हैं, यह सुनिश्चित है। यह अद्वैत कवि अपनी सारी कामनाओं को छोड़ कर काशी में ही अहर्निश निवास करता था। इसकी अमृतभरी वाणी को सुनकर जनता श्रमरहित हो जाती थी।

अद्वैत नामा प्रविहाय कामान् करोति काश्यामनिशं निवासं।
यद्वाक्यपीयूषरसेनसिक्ताः श्रमैर्विमुक्ताजनता भवंति ॥—द्वादश सर्ग, श्लोक १६८

वाराणसी में शिवस्थान में मानस नामक सरोवर पर, अद्वैत ने सीताकांत के नियोग से इस काव्य की रचना की।

वाराणस्यां शिवस्थाने, मानसाख्ये सरोवरे।
अद्वैतेन कृतं काव्यं सीताकांत नियोगतः ॥ —द्वादश, श्लोक १७२

सुमित्रा का संबोधन : इस काव्य की कथा सुमित्रा से कही गई है। स्थान-स्थान पर संबोधन के रूप में सुमित्रा का उल्लेख है। यह पता नहीं चलता कि यह सुमित्रा कौन हैं; यदि इन्हें दशरथ-पत्नी भी मानते हैं, तब

भी यह नहीं ज्ञात होता है कि यह कथा सुमित्रा से कह कौन रहा है। यह सुमित्रा दशरथ-पत्नी सुमित्रा भी हो सकती है अथवा अन्य भी कोई। आरंभ के तीन सर्ग नहीं हैं, इसलिए इस विषय में स्पष्ट कुछ नहीं कहा जा सकता।

राम के जन्मोत्सव से प्रारंभ करके विवाह के बाद अयोध्या लौटने तक की ही कथा, इस काव्य में चतुर्थ सर्ग से प्रारंभ करके, द्वादश सर्ग तक वर्णित है।

चतुर्थ सर्ग में : राम चतुर्भुज रूप में ही प्रकट होते हैं। माँ स्तंभित होकर बालक्रीड़ा के लिए कहती है, तब बालक होकर राम रोना प्रारंभ कर देते हैं। रघुवंश-दीप के आगमन पर देवता आकाश में आकर पुष्पवृष्टि करते हैं; ऋषि, किन्नर आदि के स्तुतिगीतों से दिशाएँ ध्वनित हो उठती हैं। राम का विस्तृत सौंदर्य-वर्णन होता है, राम के विविध आभूषणों की चर्चा होती है। पिता आनंदमग्न होकर ऐश्वर्य लुटाते हैं। चंद्रकला की भाँति राम दिन-दिन बढ़ते हैं। माँ सबेरे बालक राम को जगाती है, "दयासागर रघुनाथ उठिए, आपके सोने पर संसार नष्ट हो जाएगा, विश्वंभर राघव आपको नींद नहीं आनी चाहिए, आपका जागरण ही सबका जीवन है। ऐ राम! तोते भी तुम्हारी पावन नाम-माला का जप कर तुम्हें जगा रहे हैं। तुम्हारी सभी स्तुति करते हैं, अब तुम्हारा सोना ठीक नहीं; देखते नहीं, प्रसिद्ध खल लंकेश्वर लोक को शोक-युक्त कर रहा है; ऐ दया-सागर, अब तो उठो।" माँ और पिता बालक राम के साथ बालक्रीड़ा करते हैं। राम कभी माँ की गोद से पिता की गोद में जाते हैं, कभी पिता की गोद से माँ की गोद में। रह-रह कर आनंदमग्न दम्पति राम की स्तुति करने लगते हैं। कौशल्या और दशरथ की स्तुति-द्वारा ही सर्ग की समाप्ति होती है।

पंचम सर्ग में : विश्वामित्र दशरथ के यहाँ आते हैं और राम की सुंदरता का वर्णन करते हैं। लोकोपकार के लिए ही राम की अवतारण हुई है। भवबंधन से मुक्त होने के लिए राम-नाम ही आधार है; दशरथ का घर ही वैकुंठ है, क्योंकि विष्णु यहाँ मनुष्य-रूप में निवास करते हैं। इस प्रकार राम ईश्वर हैं, यही बात व्यक्त करते हैं। अंत में राजा दशरथ से राम और लक्ष्मण को, मारीच और सुबाहु के वध के लिए मांगते हैं। राजा विश्वामित्र की बात सुनकर चेतना-शून्य हो जाते हैं, कुछ देर बाद साहसपूर्वक नाना युक्तियों से यही सिद्ध करते हैं कि राम के बिना मैं नहीं जी सकता। यह मेरा छोटा लाल उन निशाचरों का वध कैसे करेगा। जनक के यहाँ वैवाहिक कौतुक देखने की इच्छा इस मेरे राम की थी, किंतु मैंने इसे जाने न दिया। अब उसी कोमल राम को युद्ध के लिए कैसे दे दूं। दशरथ की बात सुनकर वसिष्ठ आदि मान्य व्यक्ति उन्हें समझाते हैं कि आप ऐसा न सोचें, मुनीश्वर रुष्ट हो जाएँगे। बहुत समझाने-बुझाने पर धैर्य के साथ दशरथ राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र के हाथों सौंप देते हैं। राम पिता को प्रणाम करके उन्हें शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता समझाते हैं। देवता, मुनि आदि राम का यह उपदेश सुनकर प्रसन्न होते हैं। राम-लक्ष्मण माता से भी आज्ञा लेकर विश्वामित्र के साथ प्रस्थान करते हैं।

षष्ठ सर्ग में : विश्वामित्र ताड़का निशाचरी का परिचय देते हैं। राम उसका वध करते हैं। सुबाहु को भी मारते हैं। मारीच को दूर फेंक देते हैं। विश्वामित्र राम के इस पराक्रम को देख कर आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। राम की प्रशंसा करते हैं। आगे चलने पर मार्ग में एक आश्रम दिखाई पड़ता है, राम के प्रश्न करने पर पाषाण-भूता अहल्या की कथा विश्वामित्र उन्हें सुनाते हैं। राम अपनी चरण-रज से अहल्या का उद्धार करते हैं।

सप्तम सर्ग में : अहल्या राम की स्तुति करती है। आप ईश्वर हैं, यही बात बार-बार दुहराती है। 'स एव रामः भगवानसि त्वं' वाक्य से राम की विस्तृत स्तुति करके वह चली जाती है। विश्वामित्र दोनों भाइयों के साथ जनकपुर की ओर प्रस्थान करते हैं।

अष्टम सर्ग में : नगर के बाहर तेजोमय मुनिश्रेष्ठ कौशिक का आगमन हुआ है, जानकर जनक स्वागत के लिए आते हैं। विश्वामित्र का स्वागत करते हैं। उनके साथ सूर्य, चंद्र जैसे दो बालकों को देखकर उनका परिचय पूछते हैं। विश्वामित्र राम-लक्ष्मण का परिचय देते हैं। प्रसन्नता के साथ जनक सबको अपने नगर में लाते हैं। इधर सीता सबेरे रोती-रोती जग कर रात में देखे स्वप्न को अपनी प्रियसखी से सुनाती

है—"एक सुंदर पुरुषरत्न स्वप्न में मुझे मिला था, कोमल स्वच्छ तुलसीदल की माला उसके गले में थी। नील कमल जैसा उसका नीला शरीर था। उस नरेंद्र के रूप को देखकर मैं तो आनंदसागर में मग्न हो गई। आलिंगन-कर्म में जाही रही थी कि लज्जा का आवरण प्रतिरोधक होगया। उस पुरुष का शरीर आभूषणों से विभूषित था, पीतांबर से आच्छादित मनोज्ञ वह प्रेमपरिपूरित कमल-नयनों से मुझे देख ही रहा था कि मैं जाग गई। जाने कब वह रूप नयन-गोचरी होगा। समझ में नहीं आता, विधाता ने मेरे भाल में क्या लिखा है, पता नहीं स्वप्न में भी फिर उस पुरुष से संयोग होगा या नहीं। देखो, सखी, तुम मेरी प्रिया हो, इसीलिए तुमसे मन की बात कहती हूँ, मेरा दुख दूर करो। अरी, देखती नहीं, उरोज देश में यहाँ वक्ष भी धड़क रहा है।" स्वप्नार्थ-विज्ञानकला में प्रवीण, वीणावादन में निपुण उस चतुर सखी ने कहा—"निश्चित तुम्हें कोई अभिराम वस्तु मिलेगी।" उसी समय जनक-पुत्री ने भी कोलाहल सुना। पूछा कि यह कैसा कोलाहल हो रहा है। शीघ्र ही पता लगाकर एक मृगनयनी ने कहा—"अरी विशाल भालवाली जनकनंदिनी, घर के भीतर क्या छिपी हो, इधर गवाक्ष पर आकर देखो। एक सुंदर पुरुष आ रहा है, उसका नाम राम है, अलौकिक सौंदर्य-समन्वित है।" सीता सखियों के साथ राम को देखती है। राम की रूप-माधुरी पर मुग्ध होकर चेतना-शून्य हो जाती हैं। सखियाँ किसी प्रकार संभालती हैं, होश में लाने के लिए अनेक उपाय करती हैं। कोई विधाता को भला-बुरा कहती है, कोई अपनी ही गलती मानती है। कोई सीता के कान में जोरों से 'जानकी, जानकी', चिल्लाती है। कोई सुझाव देती है कि तमाशा क्या देखती हो, कर्पूर-पूराश्रित नीर-सेक से काम लो, अमलकमल के मृणाल-जाल का प्रयोग करो। अंत में किसी प्रकार सीता होश में लाई जाती हैं। राम को देखने के लिए पुनः गवाक्ष पर जाना चाहती हैं, सखियों के मना करने पर उत्तर देती हैं कि राम के दर्शन से तो शायद प्राण निकलें, किंतु उनके वियोग से तो मरण निश्चित है। 'रामेक्षणं प्राणहरं कदाचित् ध्रुवं मृतिं दास्यति तद्वियोगः'। सखी, क्या कहूँ, आज प्रण रखकर मेरे पिता भी बैरी बन गए हैं। तुमसे मैं सच-सच कहती हूँ, यदि राम मुझे नहीं मिलेंगे, तो मैं जी न सकूँगी। पिता से कोई मतलब नहीं, मैं स्वतः जाकर राम के चरणकमलों की सेवा करूँगी।

अहं करिष्ये स्वयमेव गत्वा नत्वाच रामांघ्रिसरोज सेवां। —अष्टम, श्लोक १२८

जिसका मन राम में रम गया, जनापवाद उसका क्या करेगा। मैंने भी पुराण में सुना है, अन्य देवों को छोड़कर राम की ही सदा सेवा करनी चाहिए। सखियाँ सीता की व्याकुलता भरी इन बातों को सुन कर समझाती हैं कि धैर्य रखो, राम के चरणयुगल का ध्यान करो, तुम्हारे सभी दुख दूर हो जाएँगे।

जनक के कहने पर मुनि के साथ ही राम-लक्ष्मण बैठे हैं। राम के तेज से सभी राजा पराभूत हैं। जनक अपना संदेश कहते हैं। गुरु के आदेश से राम धनुष तोड़ने के लिए जाते हैं। सीता अपने मन में पार्वती की प्रार्थना करती है। राम धनुष उठाकर तोड़ देते हैं। जोरों की ध्वनि होती है, ब्रह्मा भी अपनी जीभ दाँतों तले दबा लेते हैं, अमरपति इंद्र भी भय से मुख छिपा कर कान बंद कर लेते हैं, पर्वत काँपने लगते हैं, संपूर्ण भूमंडल आर्त हो उठता है। विश्वामित्र की भी आँखें बंद हो जाती हैं। स्मृति-शून्य होकर काँपते-काँपते राम-नाम लेने लगते हैं। राजा अपने बल-पौरुष को धिक्कारते हैं। कुछ कायर दूर ही पर व्यर्थ में कोलाहल करते हैं।

नवम सर्ग में : राम के धनुष तोड़ने पर शिव, रमेश, ब्रह्मा—सभी प्रसन्न हो जाते हैं। वृद्ध, प्रसिद्ध, सिद्ध प्रार्थना करने लगते हैं कि सीता की मानसिक वेदना को विलीन करने वाले अभिराम राम हमें भी आनंद दें, हमारी भी पीड़ा शांत करें। जानकी अपनी सखियों के साथ राम के गले में जयमाल डालने के लिए प्रस्थान करती हैं। सोचती हैं, कुछ भी हो, मैं इस क्षण राम को नहीं छोड़ूँगी; राम स्मित के साथ जयमाल स्वीकार करते हैं। विदेह अपनी पुत्री के साथ विश्वामित्र को प्रणाम करते हैं और जनकतनया के साथ घर जाते हैं, माता भी पुत्री को आशीर्वाद देती है। जनक अपने हाथों पत्र लिख कर दशरथ के यहाँ भेजते हैं। दशरथ सदलबल आते हैं। जनक उनके स्वागत के बाद उन्हें समझाते हैं कि राम ईश्वर हैं, विष्णु हैं, आदि। एक सुंदर भवन में दशरथ को ठहराया जाता है। सबके जाने के बाद दशरथ विश्वामित्र से मिलते

हैं, विश्वामित्र भी कुशल-प्रश्न के बाद राम के अलौकिक रूप का ही परिचय विस्तार के साथ दशरथ को देते हैं। दशरथ भी राम के उसी रूप का स्मरण करने लगते हैं।

दशम सर्ग में : राजा जनक ज्योतिषियों को शुभ मुहूर्त्त निकालने का आदेश देते हैं। जानकी सोचती हैं, मुझे तो रामचंद्र-बल प्राप्त है, चंद्रबल मिले या न मिले, कोई परवाह नहीं। मुहूर्त्त निश्चित किया जाता है, राम अनेक आभूषणों से विभूषित होते हैं। सोने की रंग जैसी गोरी जानकी भी हरिद्रा-लेपन से सुसज्जित होती हैं ? विवाह के लिए कस्तूरी, चंदन, कर्पूर आदि वस्तुएँ एकत्र की जाती हैं। सीता के सौंदर्य का वर्णन होता है। जानकी कहती हैं, हृदय को शांति देनेवाले राम कब आ रहे हैं, सखी, देरी तो अब मुझसे नहीं सही जाती। सखी समझाती है, इतना घबड़ाना ठीक नहीं, इतनी उतावली समुचित नहीं, अभी तुम्हारे मन के देवता आरहे हैं, सारी कामनाएँ पूर्ण होने जा रही हैं। राम के सौंदर्य-वर्णन के साथ सर्ग समाप्त होता है। कवि यह कामना करता है कि ऐसे ही राम मेरे मानस में निवास करें।

एकादश सर्ग में : रामचंद्र विवाह के लिए बुलाए जाते हैं। इनके मोहन-रूप को देखने के लिए सूर्य भी रुक जाते हैं। अपनी किरणों से राम के शरीर का स्पर्श करके आनंद का अनुभव करते हैं। जनक की अन्य स्त्रियाँ भी राम-राम की ही रट लगा रही हैं। राम गजद्र पर आसीन होकर आते हैं। उसकी पीठ से जब नीचे उतरने लगते हैं, तब वह गजेंद्र भी राम के वियोग से दुखी होकर सिर हिला-हिला कर आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित करता है। राम विवाह-मंडप में जाते हैं। सीता भी नुपूर ध्वनि से गृह को ध्वनित करती हुई मंडप में आती हैं। दोनों एक आसन पर आसीन होते हैं। एक गौरी हैं, दूसरा शंकर; एक रति, दूसरा कामदेव; एक अपनी प्रतिभा-किरण से आलोक विकीर्ण करती है, दूसरा अपने तेज से आर्त-तिमिर का संहार करता है। एक कौमुदी है, दूसरा चंद्र। स्नानादि से शुद्ध होकर विदेह कन्यादान के लिए आते हैं। विधिवत् पाणिग्रहण-संस्कार संपन्न होता है। सभी प्रसन्न होते हैं। जनक तो आनंदसागर में मग्न ही हो जाते हैं।

द्वादश सर्ग में : जनक वसिष्ठ से प्रश्न करते हैं कि विवाह की कोई विधि अवशिष्ट हो तो बताइए, उसे भी पूरा करूँ। उत्तर में वसिप्ठ कहते हैं, वेदविहित सारी विधियाँ पूर्ण हो गई, कुतुकलीला ही अब बची है। जनक उसके लिए अपनी स्त्रियों को आज्ञा देते हैं। स्त्रियाँ स्वर्ण-पात्र में दीप सजाकर जानकी को साथ लेकर चलती हैं। जानकी राम के ललाट में केसर का तिलक लगाती हैं। राम को अपलक नयनों से देखती हैं। राम की पूजा के बाद सभी उन्हें प्रणाम करती हैं। जनक विदाई में दशरथ को असंख्य मणि, धन-ऐश्वर्य आदि देते हैं। जानकी अपनी माँ, पिता—सबसे रो-रो कर विदा लेती हैं। राजा दशरथ स्वर्णरथ पर आसीन होकर सबके साथ प्रस्थान करते हैं। इसके बाद क्षत्रियों के काल ब्राह्मण परशुराम मार्ग में मिलते हैं। राम को लड़ने के लिए ललकारते हैं। अपने शौर्य, पराक्रम आदि का वर्णन करते हैं। उत्तर में राम यही कहते हैं कि मैं अपने पराक्रम का क्या वर्णन करूँ, ब्रह्मा, शंकर आदि भी उसे नहीं जान पाते। अब परशुराम की आँखें खुलती हैं। राम के चरणों पर गिर कर आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित करने लगते हैं। पाहि-पाहि पुकारने लगते हैं। राम की स्तुति के बाद प्रस्थान करते हैं। आगे चलकर त्रिलोकीतिलक राम अयोध्या में प्रवेश करते हैं। सभी उन्हें देखकर प्रसन्न होते हैं, राम की माँ आनंद-विभोर हो उठती हैं। अंत में कवि अपने विस्तृत परिचय और राम की स्तुति के साथ काव्य समाप्त करता है।

कथावस्तु की समीक्षा : इस काव्य में राम के बाल-सौंदर्य का विस्तृत वर्णन आरंभ में हुआ है, किंतु उस वर्णन में नवीनता नहीं है, बालकों की सहज प्रवृत्तियों का उल्लेख नहीं है, आभूषणों की ही विशेष चर्चा हुई है। राम की माँ को आरंभ में ईश्वर के चतुर्भुज रूप के ही दर्शन होते हैं, माँ उनकी स्तुति करती है और बालक रूप में उन्हें देखने की प्रार्थना करती है। ईश्वर बालक राम तो बन जाते हैं, किंतु मां उनके ईश्वरत्व को नहीं भूल पाती है।

रामचरितमानस में बालक राम कौशल्या को अपने मुख में विराट रूप के दर्शन कराते हैं। यहाँ वैसा प्रसंग नहीं है। पिता, माता कभी सहज भाव से राम को पुत्र मानते ही नहीं। माँ बालक राम को

प्रातः जगाती भी है, तो यह कहना नहीं भूलती कि ऐ विश्वंभर, तुम सो जाओगे, तो संसार का कार्य कैसे चलेगा, लंकेश्वर रावण सबको कष्ट दे रहा है, अब तो उठो। परिणाम यह हुआ है कि सूर की बाल-लीला की बात कौन कहे, रामचरितमानस में भी बाल-क्रीड़ा का जो संक्षिप्त वर्णन है, उसका भी यहाँ अभाव है। हाँ, एक स्थल पर दशरथ के पुत्र-प्रेम का आभास अवश्य मिलता है। विश्वामित्र जब दशरथ से राम-लक्ष्मण को माँगते हैं, तो दशरथ पुत्र-प्रेम का ही हवाला देकर विश्वामित्र की इस याचना को सहज ही नहीं स्वीकार करते। नाना युक्तियों से यह सिद्ध करते हैं कि मैं पुत्र राम के बिना नहीं जी सकता।

इसी स्थल पर बालक-राम पिता को उपदेश देते हैं, जो नवीन है, रामचरितमानस में इसका उल्लेख नहीं है। राम एक दार्शनिक की भाँति संसार की क्षणिकता और शरीर की क्षणभंगुरता का विवेचन करते हैं। उनके इस उपदेश को सुनकर वसिष्ठ आदि मुख्य मुनि विस्मित हो जाते हैं—

श्रुत्वाऽभवन् विस्मित मानसास्ते,
वशिष्टमुख्या मुनयोपि सभ्याः ॥ —पंचमसर्ग, श्लोक ८२

बालक राम का यह उपदेश महत्त्वपूर्ण और सारगर्भित भले ही हो, स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

रामचरितमानस की अहल्या के समान ही यहाँ की अहल्या भी पाषाण-भूता है और राम के चरणों की धूलि से ही उसका उद्धार होता है। किंतु यहाँ अहल्या द्वारा राम की विस्तृत स्तुति की जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास ने राम-सीता के पूर्वानुराग को व्यंजित करने के लिए ही, जनक की पुष्पवाटिका की मनोरम झाँकी समुपस्थित की है और वहीं जनकतनया और राम का साक्षात्कार भी कराया है। इस काव्य में पुष्पवाटिका का उल्लेख नहीं है, धनुष तोड़ने के पूर्व राम जानकी को नहीं देख पाते। किंतु जानकी स्वप्न में ही राम को देखती हैं और बाद में गवाक्ष से राम को देख कर उनके संयोग के लिए आकुल हो उठती हैं। इस प्रकार कवि ने सीता के हृदय में राम के प्रति अनुराग जगाने में सफलता प्राप्त की है। किंतु परस्पर चाक्षुष-संयोग न होने के कारण, राम इस अनुराग से अपरिचित ही रह जाते हैं।

स्वयंवर : स्वयंवर की योजना यहाँ ठीक रामचरितमानस जैसी नहीं हुई है। इस धनुष-यज्ञ में राजाओं का आगमन तो अवश्य हुआ है, किंतु उनका क्रमशः उठ-उठ कर धनुष तोड़ने के लिए प्रस्थान करना वर्णित नहीं है। रावण और वाणासुर के नामों का भी उल्लेख नहीं है। 'धनुष किसी से भी न टूट सका' जनक की यह उक्ति ही इस स्थल के लिए अलम् समझी गई है। राम के धनुष तोड़ने के पूर्व लक्ष्मण, रामचरितमानस में—

दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला,
धरहु धरनि धरि धीर न डोला,
रामु चहहिं संकर धनु तोरा
होहु सजग सुनि आयसु मोरा।

कह कर सबको सावधान करते हैं ; यहाँ लक्ष्मण की यह आज्ञा अवर्णित ही है। धनुष के तोड़ने से एक भयानक आवाज होती है, सभी भयभीत हो जाते हैं। इसका सजीव चित्रण यहाँ किया गया है। विश्वामित्र भी राम-नाम लेने लगते हैं, यह नवीन बात है। रामचरितमानस में विश्वामित्र की इस आकुलता का उल्लेख नहीं है।

रामचरितमानस में धनुष टूटने के पूर्व सीता की व्यग्रता का बड़ा ही स्वाभाविक और रोचक वर्णन हुआ है। इस काव्य में भी जानकी के मानसिक संघर्ष का सुंदर चित्रण हुआ है। वह पार्वती की स्तुति मन-ही-मन प्रारंभ कर देती हैं। जाने, शरणागत की आशा पूर्ण करनेवाले महेश क्या करेंगे, शंकर की पत्नी, मेरी कामना पूर्ण करो ; सच कहती हूँ अवश्य आपकी पूजा करूँगी ; मणि, आभूषण आदि सब कुछ समर्पित करूँगी ; इस प्रकार कातर भाव से जानकी अपनी आकुलता व्यक्त करती हैं। राम के अलौकिकत्त्व पर भी उन्हें विश्वास है, इधर कार्य के काठिन्य से भी सुपरिचित हैं। कवि ने यहाँ जानकी के मानसिक भावों की अभिव्यक्ति में सजीवता लाने का सफल प्रयास किया है।

इस काव्य में परशुराम का आगमन मार्ग में होता है, जनकपुर में नहीं। राम जनकपुर से विवाह के बाद अयोध्या लौट रहे हैं, तभी अचानक परशुराम आते हैं। परशुराम क्षत्रियों के शत्रुरूप में ही चित्रित हुए हैं, इन्हें न तो ईश्वर का अवतार कहा गया है, न शंकर का भक्त। इनके पराक्रम का ही विस्तृत वर्णन है। राम की प्रभावपूर्ण बातों से ही इनका क्रोध शांत हो जाता है। राम इन्हें विश्वास दिलाने के लिए इनका धनुष नहीं चढ़ाते हैं। परशुराम स्वतः अपने सभी अस्त्र-शस्त्रों को वहीं राम के सामने रख कर चले जाते हैं। रामचरितमानस के समान इस स्थल पर परशुराम-लक्ष्मण-संवाद की योजना नहीं हुई है। लक्ष्मण तो यहाँ परशुराम से एक शब्द भी नहीं बोलते हैं। राम भी अधिक बातचीत नहीं करते हैं; मैं ईश्वर हूँ, यही बात सांकेतिक ढंग से व्यक्त कर देते हैं।

जहाँ तक काव्य-सौंदर्य का प्रश्न है, यह काव्य असफल नहीं कहा जायगा। भावानुरूप शब्द-योजना सर्वत्र हुई है। अनावश्यक अलंकारों का प्रदर्शन कहीं नहीं हुआ है। कोमल-कांत-पदावली भी यथा-स्थान है ही। माता बालक रामको प्रातः जगाती हैं—

> कीराश्च राम तव पावन नाम माला,
> उच्चार्यवर्यं वचसा परिबोध यन्ति,
> दत्वा श्रुतिं श्रुतिविशारद शारदेंदु,
> कीर्ते भृणुव्रज च बोधमबोध शत्रो। —चतुर्थ, श्लोक ४६

यहाँ अलंकार भावोद्‌बोधन में सहायक है, बाधक नहीं। शब्द-योजना भी प्रायः सर्वत्र भावानुरूप ही है। एक उदाहरण लिया जाय, राम के सौंदर्य को देखकर जानकी चेतनाशून्य हो जाती हैं, तब कैसा उपचार किया जाता है—

> वातैःसुशीतैर्व्यजनप्रसूतैः
> कर्पूरपूराश्रित नीर सेकैः
> किंचामलैः श्रीकमलैः प्रवालै-
> र्मृणाल जालैर्विदधुः प्रयोगं। —अष्टम सर्ग, श्लोक ८६

सौंदर्य-वर्णन में सर्वत्र मर्यादा का ध्यान रखा गया है। राम के अप्रतिम सौंदर्य की ही चर्चा अधिक है। सीताराम का कहीं भी नखशिख-वर्णन नहीं है।

द्वादश सर्ग के अंत में करीब ७२ श्लोक कवि ने अपने विषय में ही लिखे हैं। वह बार-बार यह प्रमाणित करता है कि वह भक्त है और उसने भक्ति-चंद्रिका की ही रचना की है। उसकी यह कामना है कि वह कब भागीरथी के निर्मल जल में राम के चरणों का प्रेमपूर्वक ध्यान करता हुआ अपने शरीर को छोड़ देगा[1]। वह विश्वास करता है कि गंगा के जल में स्नान, शंकर की पूजा, देवस्थान में ईश्वर की कथा का कथन, सज्जनों के साथ प्रमोद—इनके अतिरिक्त संसार में दूसरा आनंद कहीं नहीं है।[2] वह पूर्वजन्म के किसी पुण्य के प्रभाव से ही गंगा के किनारे उच्चस्वर से राघव-राघव की रट लगाता क्रीड़ा कर रहा है। उसका अपना सच्चा परिचय यही है—

> तातस्तु रामो जननी च रामो।
> भ्रातापि रामो भगिनी च रामः।
> मित्रं च रामः सकलं च रामो॥
> रामात्परं नो मम किंचिदस्ति॥ —द्वादश, श्लोक १३४

स्तुति का आधिक्य : इस भक्तकवि की राम-भक्ति सर्वत्र मुखर हो उठी है। राम की स्तुति के किसी भी अवसर को इसने यों ही नहीं छोड़ा है। चतुर्थ सर्ग में दशरथ और कौशल्या राम की स्तुति करते हैं। पंचम सर्ग में, राम के महत्त्व-प्रतिपादन में, विश्वामित्र राम की ही स्तुति करते हैं। षष्ठ सर्ग

[1] द्वादश सर्ग, श्लोक १२९।

[2] द्वादश सर्ग, श्लोक १३२, १३३।

में, जहाँ सुबाहु का वध होता है, वहाँ राम के दिव्यगुणों की चर्चा के नाम पर राम की स्तुति ही होती है। सप्तम सर्ग में 'स एव रामः भगवनसित्वं' प्रत्येक श्लोक की चतुर्थ पंक्ति में रखकर अहल्या द्वारा राम की विस्तृत स्तुति की जाती है। अष्टम सर्ग में सखियों द्वारा राम के अलौकिक सौंदर्य का वर्णन होता है, सीता भी स्वप्नदृष्ट पुरुष की प्रशंसा करती हैं—फिर राम-दर्शन के बाद, राम के ईश्वर-रूप को ही ध्यान में रखकर उनकी स्तुति करती हैं। नवम सर्ग में विश्वामित्र दशरथ को, राम ईश्वर हैं, यह समझाते समय प्रकारांतर से राम की स्तुति ही करते हैं। दशम सर्ग में राम के सौंदर्य-वर्णन में उनके दिव्यरूप की ओर ही संकेत है। एकादश सर्ग में हाथी राम को ईश्वर समझकर, अपनी पीठ से नीचे उतरते समय, अश्रुधारा प्रवाहित करता है। कवि ने वहाँ पर स्तुति-सूचक ही वाक्य कहे हैं। द्वादश सर्ग में परशुराम द्वारा राम की स्तुति तो है ही, कवि ने भी अंत में आत्मपरिचय के साथ राम की स्तुति द्वारा ही अपनी भक्ति निवेदित की है। इस प्रकार प्रत्येक सर्ग में राम की स्तुति का समावेश है। फलतः यह काव्य रामकथा के रूप में भक्तिकाव्य बन गया है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि यह कोई स्तोत्र है।

इसका प्रमुख कारण यह है कि इसका कवि वीतरागी संन्यासी है। इसका जन्म का नाम अद्वैत नहीं है। गुरु ने कृपापूर्वक इसका नाम अद्वैत रख दिया—

अद्वैत एवं गुरुणास्यनाम
कृतं कृपातः करुणामयेन।
यत्पादकासार जनि प्रसाद-
संजातशक्तिः कुरुतेस्म काव्यम् ।। —द्वादश, श्लोक १०३

'राघवोल्लास' के कवि का पहला नाम मुरारि था। काशी में आकर इन्होंने संन्यास लिया और इस काव्य की रचना की।

मुरारिणातेन समस्त मेतत् संन्यस्य काश्यामितमात्मरूपम्। —द्वादश, श्लोक १००

इस काव्य को लिखने के लिए इन्हें प्रेरणा प्रतापसाह नृपति से मिली थी। उन्होंने इनकी प्रतिष्ठा की और ग्रंथ लिखने के लिए प्रेरित किया—**प्रताप साहर्म्पित गौरवेण**' (द्वा०, श्लोक १००)।

प्रतापनृपति की आज्ञा से ही इन्होंने इसकी रचना की—

येनाकारि विचारि मानस मनोहारी कथासागरो।
ग्रंथोद्ग्रंथमतेः प्रतापनृपतेरादेशतः पूर्वतः।
काव्यानामपि च त्रयं गुणमयं श्री रामनामाश्रयं।
काश्यामद्य जयत्य यस्य निलयः सोद्वैत नामायतिः।। —द्वादश, श्लोक १०१

कवि ने जीवन के अंतिम दिनों में, वृद्धावस्था में, ही इस काव्य का निर्माण किया था। **आयुनयाम्युत्तरं** (द्वादश, श्लोक १०५)। इसीलिए स्थान-स्थान पर संसार के प्रति उदासीनता, इस काव्य में दृष्टिगोचर होती है। कवि का मन स्थिर है, शांत है, राम के चरणकमलों में ही स्थित है, पल भर के लिए भी इधर-उधर नहीं जाता।

नै तन्मनो गच्छति न प्रयाति, क्वापिक्षणं नैव च तिष्ठतीदं।
चित्तां रघुतंस पदांबुजस्य कुर्वन् पुनर्मज्जतिचात्रचित्रम् ।। —द्वादश, श्लोक १०७

इस काव्य में प्रतापसाह नृपति के विजय में नाम के अतिरिक्त कुछ भी उल्लेख नहीं हुआ है। मुरारि के विषय में भी मात्र इतने से ही संतोष करना पड़ता है कि कवि अद्वैत का पहला नाम मुरारि था। 'अनर्घ राघव' नाटक के प्रसिद्ध नाटककार ये मुरारि नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों के समय में अधिक अंतर है। फिर उस मुरारि के साथ प्रतापसाह नृपति की कोई संगति भी नहीं बैठती है। अतः किस प्रतापसाह नृपति की आज्ञा से मुरारि ने इस काव्य की रचना की, यह प्रश्न विचारणीय है। ●●●

तुलसीदास-कृत रामचरितमानस के स्रोत और उसकी रचना का अध्ययन[1]

सुश्री सी० वॉंदवील

★ ★

तुलसीदास की महत्ता और उनके काव्यों की—विशेषतया 'रामचरितमानस' की, अतिशय लोकप्रियता के सम्बन्ध में जो आज तक भारत में उन्हें प्राप्त है, बहुत कुछ कहा जा चुका है। पश्चिम में महान भाषाशास्त्री और भारतीय विद्या के पंडित जार्ज ग्रियर्सन के शब्दों में वे 'भारत में उत्पन्न संभवत: सबसे महान कवि थे।' (माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान, प्रस्तावना पृष्ठ २०)। भारतीय आलोचक मिश्र-बंधुओं ने अपने 'मिश्रबंधु विनोद' में तुलसीदास को पहला स्थान दिया है और वह उचित ही है। यह श्लाघा का भाव उत्तरोत्तर बढ़ा है और गत बीस वर्षों में अनेक ग्रंथ और लेख ऐसे प्रकाशित हुए हैं, जिनमें तुलसीदास की प्रतिभा और 'रामचरितमानस' के सौंदर्य की प्रशस्ति हुई है, कभी-कभी अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में भी।

इस विषय में अर्वाचीन साहित्य की राशि पर ध्यान रखते हुए भी यह अचरज की बात है कि वास्तविक आलोचनात्मक कार्य जो अबतक हुआ है, बहुत ही कम है। आज भी कवि के व्यक्तित्व और उनके जीवन की घटनाओं के विषय में निश्चित रूप से शायद ही हमें कुछ ज्ञात है। उनके समकालीन प्रमाण और ऐतिहासिक सामग्री के अभाव के कारण ही प्राय: यह स्थिति है। उनका जन्म-संवत् भी अनिश्चित है। (डॉ० माताप्रसाद गुप्त ग्रियर्सन से सहमत हैं कि वह सं० १५८९ या १५३२ ई० था। 'गोस्वामी तुलसीदास', प्रयाग १९४६।) उनकी मृत्यु की तिथि भी अविदित है। पर अनश्रुति के अनुसार १६२३ ई० मानी जाती है। उनके जीवन के विषय में प्रचलित अधिकांश वर्णन कथानक मात्र हैं। इसी प्रकार बहुत से ग्रंथ भी जो उनके लिखे कहे जाते हैं, संदिग्ध हैं; तथापि ग्रियर्सन द्वारा स्थापित सूची सभी आधुनिक आलोचकों द्वारा स्वीकार कर ली गई है। इस सूची में छ: छोटे और छ: बड़े ग्रंथ हैं, जिनमें 'रामचरितमानस', जिसे 'हिन्दीरामायण' भी कहते हैं, उनका सबसे विशिष्ट ग्रंथ है। इसे चौपाई-छंद में रचे जाने के कारण कभी-कभी 'चौपाईरामायण' भी कहा जाता है।

तुलसीदास के ग्रंथों में केवल चार में तिथि दी हुई है। सौभाग्य से 'रामचरितमानस' इन चारों में से एक है। उसके कथारंभ में कहा है कि यह काल संवत् १६३१ (१५७४ ई०) में अयोध्या में शुरू हुआ। उसके समाप्त होने की तिथि ज्ञात नहीं। अयोध्या की एक अनश्रुति के अनुसार यह सं० १६३३ अर्थात् दो वर्ष बाद समाप्त हुआ। पर ग्रंथ के कलेवर को देखते हुए यह बहुत संभव नहीं जान पड़ता।

'वाल्मीकिरामायण' की भाँति 'रामचरितमानस' सात खंडों में विभक्त है, जिनके नाम वाल्मीकि के कांडों के समान ही हैं। केवल छठा वाल्मीकि के 'युद्धकांड' की जगह मानस में 'लंकाकांड' कहा गया है। पर ये नाम यद्यपि लोक में प्रचलित हैं, तो भी वही नहीं हैं, जो स्वयं कवि ने अपने 'रामचरितमानस' के कांडों के लिए रखे थे।

यह विपुल काव्य-ग्रंथ आनुपातिक परिमाण की दृष्टि से सुविहित नहीं ज्ञात होता, और रचना की दृष्टि से भी विचित्र जान पड़ता है। बालकांड नामक पहले खंड में जो सबसे बड़ा है (३६०० अर्धाली या पंक्तियों से अधिक) राम-संबंधी कथाओं के अतिरिक्त बहुत-सी सामग्री है। दूसरे खंड अयोध्याकांड, जो भारत में सबसे अधिक प्रशंसित है, बहुत बड़ा है। ३२०० अर्धाली से अधिक। ये दोनों कांड मिलकर सारे काव्य के दो-तिहाई के लगभग हैं। उनके बाद के अरण्य, किष्किंधा और सुंदरकांड अपेक्षाकृत बहुत छोटे हैं। अंतिम दो लंका और उत्तर-मध्यम परिमाण के हैं, पर प्राय: सारा उत्तरकांड और बालकांड का पूर्वार्ध रामकथा से बाहर के हैं।

---

[1] अंग्रेजी से अनुवादक, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल।

'रामचरितमानस' की हस्तलिखित प्रतियाँ बहुसंख्यक हैं, पर सबसे अधिक रुचि की प्रतियाँ अक्सर पहुँच से बाहर हैं। राजापुर की सुप्रसिद्ध प्रति के विषय में, जो बहुत दिन तक कवि के हाथ की लिखी मानी जाती रही, खासकर यही बात है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त[1] और पं० रामनरेश त्रिपाठी[2] ने, जो इस प्रति की परीक्षा करने में सफल हुए, सिद्ध किया है कि यद्यपि प्रति पुरानी है, पर स्वयं कवि के हाथ की लिखी नहीं है। इस प्रति में केवल अयोध्याकांड का पाठ है। संपूर्ण काव्य की सबसे प्राचीन प्रति, जिसका वर्तमान में उपयोग किया जा सकता है, काशी की प्रति है, जो महाराज बनारस के पास सुरक्षित है। यह सं० १७०४ (१६४७ ई०) की प्रति है, पर तो भी आजतक उपलब्ध प्रतियों के आधार पर तैयार किया हुआ 'रामचरित-मानस' का वस्तुतः संशोधित संस्करण नहीं है। नए संस्करणों में सबसे अच्छा इंडियन-प्रेस का संस्करण (श्यामसुंदर दास की टीका सहित, इलाहाबाद, १९२७) और गीता-प्रेस का मानसांक संस्करण (गोरखपुर, १९३८) है। जिनका इस अध्ययन में उद्धरण देने के लिए उपयोग किया गया है।

टीकाएँ प्रायः अच्छी नहीं हैं। उनका उपयोग सोच-समझकर करना चाहिए, जैसा कि ग्रियर्सन ने लिखा है, "अधिकांश टीकाकारों की यह गहरी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे कठिन स्थलों को बचा जाते हैं और सरलतम स्थलों का ऐसा रहस्यमय अर्थ करते हैं, जो कवि को कभी इष्ट नहीं था।" नई टीकाओं में श्यामसुंदर दास की टीका संभवतः सबसे अच्छी है। अभी हाल तक किसी यूरोपीय भाषा में 'रामचरितमानस' का पूरा अनुवाद केवल अंग्रेजी में ग्राउस कृत (१८९७ ई०) था, जो कई बार पुनर्मुद्रित हो चुका है। यह बहुत उपयोगी है, यद्यपि प्रायः मूल से हटा हुआ है और सरलता से रहित है। अंग्रेजी में हिल द्वारा किया हुआ नया अनुवाद अभी निकला है। फ्रेंच में गर्सां दि तासी (१८३९ ई०) का किया हुआ एक बहुत पुराना अनुवाद सुंदरकांड का (सर्वप्रथम) था। हाल में अयोध्याकांड का सुश्री सी० वाँदवील का, भूमिका और आलोचनात्मक टिप्पणियों के साथ प्रकाशित हुआ है (पेरिस १९५४)।

जार्ज ग्रियर्सन ने, जिन्हें तुलसी-विषयक अध्ययन का आरंभकर्ता कहा जा सकता है, सर्वप्रथम उन्होंने ही इस महान हिन्दी कवि के ग्रंथों के अध्ययन में आलोचनात्मक शैली का उपयोग किया। उनके 'तुलसीदास पर टिप्पणियाँ' (नोट्स ऑन तुलसीदास) शीर्षक लेख ने, जो १८९३ ई० में 'इंडियन एन्टीक्वेरी' में प्रकाशित हुआ था, एक प्रकार से मार्ग का परिष्कार किया। मिश्रबंधुओं ने उनका उपयोग किया। 'रामचरितमानस' के स्रोत के प्रश्न और वाल्मीकिरामायण पर उसकी निर्भरता को इटली के विद्वान टेसीटोरी ने उठाकर उस पर लंबी समीक्षा अपने 'रामचरितमानस और रामायण' (इल् रामचरितमानस ए इल रामायण) शीर्षक लेख में की, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'इंडियन एन्टिक्वेरी' में प्रकाशित हुआ (—१९१२, १९१३, भाग ४१, ४२)। बालकांड के पूर्वार्ध और समस्त उत्तरकांड को, जिनका वाल्मीकि की कथा से कुछ सम्बन्ध नहीं, अलग छोड़ कर टेसीटोरी ने यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि तुलसीदास ने अपने काव्य के शेषभाग में वाल्मीकिरामायण का ही अधिक अनुगमन किया, अतएव उसे ही 'रामचरितमानस' का मुख्य आधारग्रंथ मानना चाहिए। अपनी बात सिद्ध करने के लिए टेसीटोरी ने वाल्मीकि के उन स्थलों की एक लंबी सूची दी है, जिनकी छाया उन्हें 'रामचरितमानस' में दिखाई दी। उन्होंने यह भी निश्चय करने का दावा किया कि वाल्मीकिरामायण की तीन मुख्य धाराओं में से किस धारा का उपयोग तुलसीदास ने अपने काव्य के किस भाग में किया है। तुलसी की कथावस्तु और वाल्मीकि के कथानक में जो अनेक भेद हैं, उनका कारण टेसीटोरी के मत में, हिन्दी कवि की स्मृतिशक्ति की अक्षमता या अन्य कोई भ्रांति थी। टेसीटोरी ने स्वयं अपने मत को कुछ मर्यादा के साथ प्रकट किया था, "क्योंकि हमने केवल वाल्मीकिरामायण पर ही विचार किया है, इसलिए हमारी स्थापनाएँ स्वभावतः अस्थाई हो जाती हैं। हमें विदित है कि तुलसीदास ने अध्यात्मरामायण का भी उपयोग किया था, जो कि 'ब्रह्माण्ड पुराण' का एक भाग है और रामायण का आध्यात्मिक पुनःसंस्कार है। जब उस स्रोत की भी परीक्षा हो लेगी, तब 'रामचरितमानस' के स्रोतों में रामायण की प्राथमिकता का अंतिम निश्चय किया

[1] रामचरितमानस की सबसे प्राचीन प्रति 'हिन्दुस्तानी', जनवरी १९३४

[2] तुलसीदास और उनकी कविता, प्रयाग, १९३१

जा सकेगा। किंतु रामायण को जो प्राथमिकता यहाँ दी गई है, उसे किसी अंश में मर्यादित भी करना पड़े, तो भी संपूर्ण की दृष्टि से हमारी प्रमुख स्थापनाएँ बिल्कुल निश्चित पाई जाएँगी।"

हमें ज्ञात है कि तुलसी ने स्वयं अपने काव्य के आरंभिक श्लोकों में अपने स्रोतों का उल्लेख किया है, जिसमें उन्होंने कहा है कि वे रामकथा को विविध पुराण, निगम और आगमों के अनुसार तथा जो रामायण में कहा है, उसके अनुसार एवं अन्य प्रमाणों के अनुसार (क्वचिदन्यतोऽपि) वर्णन करेंगे। 'अन्यतोऽपि' के अंतर्गत टीकाकार अध्यात्मरामायण, का और संप्रदायों में मान्य रामायणों का, जिनमें भुशुंडि रामायण भी सम्मिलित है, और महानाटक 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्नराघव' जैसे नाटकों का उल्लेख करते हैं। टेसीटोरी के अध्ययन की आलोचना करते हुए ग्रियर्सन ने उनके निबंध के अल्प प्रमाणित स्थलों का निर्देश किया है और यह सम्मति प्रकट की है कि टेसीटोरी ने 'रामचरितमानस' के उन स्रोतों को पर्याप्त महत्व नहीं दिया, जो वाल्मीकि रामायण से बाहर के थे। ग्रियर्सन के अनुसार "इन बाहरी स्रोतों की समीक्षा से तुलसीदास और वाल्मीकि के ग्रंथों के पारस्परिक भेदों की व्याख्या टेसीटोरी की अपेक्षा अधिक सरल ढंग से की जा सकेगी।"[1]

सब मिलाकर ग्रियर्सन के निर्देश का अनुगमन करनेवाले भारतीय आलोचकों ने 'रामचरितमानस' के स्रोतों के प्रश्न पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। सबने कवि के विस्तृत 'अध्ययन' की प्रशंसा की है और उनके द्वारा संस्कृत साहित्य के उपयोग पर अधिक बल दिया है। कुछ ने, जैसे रामनरेश त्रिपाठी और शिवनंदन सहाय[2] ने (बिना अवतरणांक दिए हुए) ऐसे स्थलों की सूचियाँ दी हैं, जिनसे संस्कृत-साहित्य के प्रति गुसाईंजी का ऋण प्रकट होता है। शिवनंदन सहाय ने अपनी पुस्तक के एक अध्याय में 'रामचरितमानस' की एक ओर वाल्मीकि से और दूसरी ओर अध्यात्मरामायण से तुलना की है। उनका प्रयत्न रोचक है, पर उन्हें टेसीटोरी के कार्य का पता न था और उनका विश्लेषण भी पल्लवग्राही है।

'रामचरितमानस' के अधिकांश नवीन आलोचकों ने उसकी रचना पर अध्यात्मरामायण के प्रभाव पर बल दिया है। रामनरेश त्रिपाठी और माताप्रसाद गुप्त के अनुसार तुलसीदास ने अध्यात्मरामायण से अपने कथानक का सार भाग ही लिया है। माताप्रसाद गुप्त का तो यहाँ तक कहना है कि तुलसी ने मानस के आरंभिक श्लोक में जिस रामायण का उल्लेख किया है, वह वाल्मीकिरामायण नहीं, अध्यात्मरामायण ही है। 'तुलसीदास के ग्रंथ और उनका जीवनचरित' नामक अपने ग्रंथ के अंतिम अध्याय में उन्होंने दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से 'रामचरितमानस' का 'विनयपत्रिका' और अध्यात्मरामायण के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है।

इन कारणों से हमें भी ऐसा प्रतीत हुआ कि 'रामचरितमानस' के स्रोतों के अध्ययन के लिए 'रामचरितमानस' और अध्यात्मरामायण की सूक्ष्म तुलना आवश्यक है। वस्तुतः हमारे कार्य का वही मूलबिंदु था। 'तुलसी ने अध्यात्मरामायण से कितनी बार और कितना लिया है', न केवल इसकी जाँच के लिए, बल्कि टेसीटोरी के मतों की सत्यता जानने के लिए भी ऐसा करना नितांत आवश्यक था। यह स्पष्ट है कि 'रामचरितमानस' की कथा मोटे तौर पर वाल्मीकि की कथा से मिलती है। इसके अतिरिक्त लोक में तुलसीदास वाल्मीकि के अवतार माने जाते हैं। अतएव एक अत्यंत सीमित अर्थ में कहा जा सकता है कि वाल्मीकिरामायण 'रामचरितमानस' का उस अंश में प्रमुख स्रोतग्रंथ है, जिस अंश में हिन्दी-रामायण वाल्मीकि की परंपरा पर निर्भर है। यह सभी मध्यकालीन रामायणों के लिए और विशेषतः अध्यात्मरामायण के लिए सत्य है। पर इस प्रश्न की खोज शेष रहती है कि क्या तुलसीदास ने सीधे वाल्मीकि से सामग्री ली और यदि हाँ, तो कहाँ तक ? वस्तुतः टेसीटोरी ने 'रामचरितमानस' और वाल्मीकि-कृत रामायण के जो सदृश स्थल संगृहीत किए थे, उनकी जब एक-एक करके हमने परीक्षा की, तो पता लगा कि उनमें से कम-से-कम आधे वाल्मीकि के समान ही अध्यात्मरामायण में भी हैं और अधिकांश के विषय में पूर्णतः यह निश्चय करना असंभव है कि इन दोनों ग्रंथों में

---

[1] रायल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका, १९१२ ई०, पृ० १९७

[2] श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी का जीवनचरित्र, बाँकीपुर, १९१९

से किससे तुलसी ने अपनी सामग्री उधार ली; और भी, टेसीटोरी को जब 'रामचरितमानस' के किसी अंश का सादृश्य वाल्मीकिरामायण की तीन धाराओं[1] में-से केवल किसी एक में प्राप्त हुआ, तो उन्होंने स्वतः यह परिणाम निकाला कि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के उस विशेष अंश में उस धारा-विशेष का प्रयोग किया था। वस्तुतः इनमें से अधिकांश स्थलों में वही अंश अध्यात्मरामायण में भी उपलब्ध है, और यह बिल्कुल संभव है कि तुलसीदास ने सीधे वहीं से उसको ग्रहण किया हो।

प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने अपने कथानक का ठाठ अध्यात्म से ही लिया है, क्योंकि 'रामचरितमानस' के बालकांड में जो शिव-पार्वती-संवाद है, वह अध्यात्मरामायण की प्रस्तावना के रूप में शिव-पार्वती-संवाद से मिलता है ; और भी, हिन्दी-काव्य के कई स्थलों में और विशेषत: अंतिम पाँच कांडों में शिव-पार्वती के प्रति रामकथा के प्रमुख वक्ता हैं। पर जैसा हम देखेंगे, 'रामचरितमानस' के बालकांड में शिव-पार्वती-संवाद ऐसे ढंग से रखा गया है कि उसे कथा का वास्तविक आरंभ नहीं मान सकते। वह एक सौ सात चौपाई में आता है और वहाँ भी रामकथा का आरंभ नहीं होता, वहाँ तो बहुत आगे १५७वीं चौपाई से होता है, दोनों के बीच में विभिन्न स्रोतों से आई हुई कथाओं की एक लड़ी है, जिनमें से किसी के जोड़ की वस्तु वाल्मीकि में या अध्यात्मरामायण में नहीं है। बालकांड के उत्तरार्ध में और समस्त अयोध्याकांड में (अर्थात् संपूर्ण काव्य के एक तिहाई से अधिक अंश में) शिव वक्ता के रूप में कहीं नहीं आते। अतएव, यह मानना पड़ेगा कि 'रामचरितमानस' में शिव-पार्वती-संवाद, भले ही वह अध्यात्मरामायण से लिया गया हो अथवा नहीं, रामकथा के लिए कृत्रिम और अनिश्चित-सा ठाठ ज्ञात होता है। वह समस्त काव्य के साथ संगत नहीं है, जो पुराण तंत्र की विशेषताओं से रहित है।

यद्यपि रामायण के वर्णन में अध्यात्मरामायण, वाल्मीकिरामायण की 'सी' संज्ञक पाठ-परंपरा का पालन करती है, कथा के सूक्ष्म प्रपंच अध्यात्मरामायण में प्रायः भिन्न हैं। जहाँ-तहाँ अध्यात्मरामायण में वाल्मीकि से बाहर के प्रसंग भी हैं, जिनमें से अधिकांश उद्भावनाएँ 'रामचरितमानस' में भी चली आई हैं और दोनों मूल-ग्रंथों की बारीक छानबीन से प्रायः ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने अध्यात्म से ही अपनी सामग्री ली। साथ ही प्रायः ऐसा भी है कि 'रामचरितमानस' में आते-आते उन प्रसंगों का स्वरूप बदल जाता है और यहाँ वे नया महत्व प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार का स्वरूप-परिवर्तन इसलिए रोचक है, क्योंकि इससे तुलसीदास के मन की प्रवृत्तियों और विशेष धार्मिक कल्पनाशक्ति का परिचय प्राप्त होता है।

अध्यात्मरामायण का प्रभाव 'रामचरितमानस' के गीतिप्रधान और नीतिप्रधान भागों में अधिक स्पष्टता से लक्षित होता है। वस्तुतः अधिकांश 'स्तुतियाँ' और 'गीताएँ' जो मानस के कथाभाग में बिखरी हुई हैं, सीधे अध्यात्मरामायण से ली गई हैं। दोनों काव्यों में वक्ता, अवसर और उनके कथन के विषय एक समान हैं। फिर भी कभी-कभी किसी कथन का सार-विषय एक ग्रंथ में दूसरे से बहुत भिन्न है। परंतु उसमें भी स्वयं परिवर्तन से विशेषरूप में यह प्रकट हो जाता है कि हिन्दी के महाकवि की धार्मिक और दार्शनिक विषयों में अभिरुचि या विमुखता किस प्रकार की थी।

अध्यात्मरामायण का प्रभाव, असमान रूप में ही सही, बालकांड के आरंभिक सौ दोहे और संपूर्ण उत्तरकांड को छोड़कर सारे 'रामचरितमानस' पर है। किंतु तुलसीदास ने अपने ग्रंथ के एक या दूसरे भाग में और भी बहुत से स्रोतों से सहायता ली है। उनमें से जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, उन्हीं का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

एक विशेष महत्वपूर्ण 'शिवपुराण' है, जो कि उपपुराण है और शैवपुराण से भिन्न है (जिसकी समानता 'वायु' से की जाती है) और जिसकी गणना कभी-कभी अष्टादश महापुराणों की सूची में की जाती है। इस पुराण की दूसरी संहिता से, जिसका नाम रुद्रसंहिता है, बालकांड के पूर्वार्द्ध में वर्णित आख्यानों

---

[1] एच० जैकोबी के वर्गीकरण के अनुसार ए० बी० सी० (रामायण, बॉन, १८९३); और भी देखिए, कामिल बुल्के, रामायण की तीन पाठ-परंपराएँ : (दी थ्री रिसेन्सन्स ऑफ दी रामायण, जर्नल आफ ओरियन्टल रिसर्च भाग १७, १९४१)।

का तुलसी ने लिया। प्रतीत होता है, पर उन्होंने उनके कुछ संस्कार कर के उनकी संगति अपने रामभक्ति के मत से बैठी दी है।

संस्कृत नाटकों से भी बहुत सामग्री प्राप्त हुई—विशेषतः 'महानाटक' और 'प्रसन्नराघव' से। 'रामचरितमानस' के आरंभ के श्लोक से, जिसमें हनुमान की, जो महानाटक के काल्पनिक रचयिता हैं, वाल्मीकि के साथ रामकथा के वक्ता के रूप में वंदना की गई है, विदित होता है कि तुलसी के मन में इस प्रसिद्ध नाटक के लिए कितनी आस्था थी। 'प्रसन्नराघव' जिसका तुलसी ने बालकांड के अंतिमभाग में और सुंदरकांड में अधिक उपयोग किया है, तार्किकरत्न जयदेव की रचना है (जो 'गीतगोविंद' के गायक, बंगाल के जयदेव से भिन्न थे।) कीथ के अनुसार इसकी रचना १२०० ई० के लगभग हुई। अध्यात्मरामायण के अतिरिक्त तुलसीदास को संप्रदायों की परंपरा में चली आती हुई कुछ रामायणों का भी परिचय था, जिनका संभवतः उन्होंने अपने ग्रंथ में उपयोग भी किया था। इनमें 'योगवाशिष्ठ', 'अद्भुत' और 'भुशुंडि' रामायण का सबसे अधिक नाम लिया जाता है।

टीकाकार 'रामचरितमानस' के स्रोतों में प्रायः 'भुशुंडिरामायण' का उल्लेख करते हैं। श्रीप्रबोधचंद्र बागची उसे अध्यात्मरामायण के स्रोतों में गिनते हैं। ग्रियर्सन का कहना है कि उन्होंने न तो भुशुंडिरामायण देखी और न उनका इसके अस्तित्व के विषय में ज्ञान है। यद्यपि इस समय वह अप्राप्य है, किंतु मानने के लिए पर्याप्त कारण है कि भुशुंडिरामायण नामक ग्रंथ का अस्तित्व है अथवा कम-से-कम वह तुलसीदास के समय में अवश्य थी। भुशुंडि नामक काग जो कि राम का महान भक्त है, कुछ रहस्यात्मक व्यक्ति है। योगवाशिष्ठरामायण में भी उसका प्रयोग है। योगवाशिष्ठरामायण और मराठी की एकनाथी-भागवत में तथा भक्तमाल में भी उसका उल्लेख है, पर उसके आख्यान के विषय में उसके सिवाय, जो तुलसी ने उत्तरकांड में बताया है, हम और कुछ नहीं जानते।

'रामचरितमानस' के आमुख भाग के एक स्थल में जो, जैसा कि हम देखेंगे, बाद में जोड़ा गया रामकथा के वक्ताओं में भुशुंडि का उल्लेख है, जो कि पक्षिराज गरुड़ के सामने कथा सुनाते हैं। किंतु तथ्य तो यह है कि भक्त कागभुशुंडि वक्ता के रूप में तृतीय कांड से पहले दिखाई नहीं देते, अर्थात् 'रामचरितमानस' के अंतिम एक-तिहाई अंश में ही वे दर्शन देते हैं। तीसरे से छठे कांड तक प्रायः शिव ही वक्ता हैं, यद्यपि भुशुंडि कभी-कभी दिखाई पड़ते हैं। इसके प्रतिकूल सातवें कांड में शिव भुशुंडि से भी बढ़ जाते हैं और वे 'रामचरितमानस'-संज्ञक रामकथा के प्रमुख वक्ता कहे जाते हैं। उत्तरकांड का अंतिम भाग भुशुंडि कथापरक है और वहीं रामभक्ति के सम्बन्ध में गरुड़ के साथ उनका संवाद दिया हुआ है। हमें लगता है कि उत्तरकांड का वह अंतिम भाग कुछ परिशिष्ट जैसा है, जो मूलकाव्य में पैबंद के समान जुड़ा हुआ है। उसके सामान्य भाव, स्वरूप से, तथा उसमें निर्दिष्ट सिद्धांतों की दृष्टि से भी उसका शेष ग्रंथ के साथ मेल नहीं बैठता। दूसरी ओर, तीसरे से छठे कांड तक के कुछ स्थलों में जहाँ भुशुंडि वक्ता हैं, 'रामचरितमानस' के इस अंतिम भाग से कुछ सादृश्य दिखाई पड़ता है, जिससे अनुमान होता है कि वे भी उसी स्रोत से लिए गए हैं, जो भागवतपुराण से प्रभावित किसी सांप्रदायिक रामायण का था। यह संभाव्य प्रतीत होता है कि यह संप्रदायगत रामायण भुशुंडिरामायण ही थी, जिसका टीकाकारों ने उल्लेख किया है। इस ग्रंथ की विषयवस्तु के सम्बन्ध में अज्ञानता है, इसलिए और भी शोचनीय है, क्योंकि 'रामचरितमानस' की रचना कुछ विशेषताओं को और खास कर अंतिम कांड की संगति बैठाने के लिए इस प्रकार के ग्रंथ का अस्तित्व मानना ही पड़ता है।

भागवतपुराण का 'रामचरितमानस' पर बहुत प्रभाव है, उससे कहीं अधिक प्रायः स्वीकार किया जाता है, और उस पर बल देने की आवश्यकता है। तुलसी ने इस ग्रंथ से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जितनी अधिक सामग्री ग्रहण की, वह इस प्रसिद्ध पुराण को 'रामचरितमानस' के मुख्य स्रोतग्रंथों में स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है। पर बात इससे भी अधिक है, इस प्रसिद्ध ग्रंथ ने विशेष रूप से 'रामचरितमानस' की समस्त रचना को प्रभावित किया ज्ञात होता है। मानस ने बहुत अधिक अंश में उसकी भावात्मकता को आत्मसात् कर लिया है।

इन मुख्य स्रोतग्रंथों के अतिरिक्त और भी कितनी पुस्तकों से तुलसीदास को सामग्री मिली होगी। कुछ आलोचकों ने इस प्रकार के ऋण-ग्रहण[1] की लंबी सूची दी है, किंतु अधिकांशतः उनके कथन का प्रमाण नहीं दिया जा सकता। और हमारा यह अध्ययन कुछ इस विषय में निःशेषीकृत भी नहीं है कि हम संपूर्ण 'रामचरितमानस' की शल्यक्रिया करके यह निश्चित करने का प्रयत्न करें कि कवि ने किस पूर्ववर्ती ग्रंथ से कौन-कौन से भाव या शब्द लिए हैं, ऐसा करना असंभव और व्यर्थ है। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य दूसरी दिशा में है, इससे 'रामचरितमानस' को और भी अधिक अच्छी प्रकार समझने में सहायता मिलनी चाहिए, विशेषतः इस काव्य के उद्भव, स्वरूप, उद्देश्य और अन्य विशेषताओं को जानने में।

यह जानना अवश्य ही महत्वपूर्ण है कि तुलसीदास ने अपनी प्रेरणा कहाँ से ली, किंतु स्रोतों के साथ 'रामचरितमानस' के तुलनात्मक अध्ययन का अधिक मूल्य इस बात में है कि उससे कवि की विशेष प्रतिभा और लेखक, विचारक एवं अनुभवकर्ता संत के रूप में उनकी मौलिकता प्रकट होती है। जिस विशेष विधि से तुलसीदास कुछ तथ्य, कुछ मतों और सिद्धांतों को स्वीकार करके उन्हें गौरव देते हैं और साथ-ही-साथ कुछ दूसरे सिद्धांतों को या तो वे परिवर्तित कर लेते हैं या बिल्कुल छोड़ देते हैं, उससे उनके अंतःकरण की निगूढ़तम प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त होता है।

स्रोतों का पृथक-पृथक विवेचन किसी प्रकार अमहत्वपूर्ण नहीं है। हम पाते हैं कि कभी तुलसी एक स्रोत से प्रभावित होते हैं और कभी दूसरे से, और हम यह भी देखते हैं कि इस प्रकार की विविधता से उनके भाव, कथा-वर्णन, और कभी-कभी शब्दावली और वाक्यविन्यास के चुनाव में भी पर्याप्त भेद हो जाता है। प्रायः उनके कारण वक्ता के चुनाव में और छंदों के चुनाव में भी भेद पड़ जाता है। स्रोतों के अनुकूल कभी स्वयं कवि वक्ता के रूप में आते हैं और कभी पौराणिक पात्र वक्ता बनता है। इस प्रकार के संयोग 'रामचरितमानस' की रचना-विधि के सम्बन्ध में मूल्यवान सूचना देते हैं। वे प्रकट करते हैं कि काव्य की रचना लगातार रूप में नहीं हुई, बल्कि उसे कई अवस्थाओं में से पार होना पड़ा होगा। हिन्दी रामायण का जितना अधिक अध्ययन किया जाता है, उतना ही अधिक उसका रचनागत पार्थक्य सामने आता है, यद्यपि उसके कर्ता ने जोड़ों को छिपाने के लिए बड़े कौशल से काम लिया है, जिससे पाठकों पर उसकी एक सूत्रता की छाप पड़े। अतएव यह अनुभव होता है कि 'रामचरितमानस' के स्रोतों का अध्ययन और उसकी रचना का अध्ययन एक सम्मिलित समस्या है, जिस पर अलग-अलग विचार नहीं किया जा सकता।

'रामचरितमानस' के स्रोत और रचना के अध्ययन से तुलसीदास के निजी दार्शनिक मत का विवादास्पद प्रश्न अनिवार्यतः उठ खड़ा होता है, जिसे तुलसी-मत कहा जाता है। वस्तुतः तुलसीदास को 'द्वैत', 'अद्वैत', 'विशिष्टाद्वैत'—इन परंपराप्राप्त संप्रदायों में वर्गीकृत करना नितांत असंभव है, क्योंकि अपने 'रामचरितमानस' के विभिन्न भागों में उन्होंने विविध महत्वों का प्रतिपादन किया है, तर्क द्वारा जिनकी परस्पर संगति नहीं बैठती। फलतः प्रत्येक आलोचक समस्या को पृथक-पृथक रीति से, प्रायः अपनी निजी रुचि के अनुसार सुलझाने का प्रयत्न करता है। 'रामचरितमानस' की दार्शनिक व्याख्या असमाधेय समस्या या अनबूझ पहेली रहती है। यदि हम इस ग्रंथ के स्रोतों पर, विशेषतः अध्यात्मरामायण पर ध्यान नहीं देते, और यदि हम यह स्वीकार नहीं करते कि अमुक-अमुक पात्र ने कथाप्रसंग में जो कुछ कहा है, वह उस विषय में ग्रंथ-लेखक की निजी सम्मति निश्चय नहीं है—यदि यह मान भी लिया जाय कि उनका कोई निजी सिद्धांत था। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने ठीक ही कहा है कि कवि ने कितना जानबूझ कर अन्यत्र से लिया और कितना प्रासंगिक रूप से आ गया, इन दोनों में भेद करना प्रायः कठिन है। अतएव 'रामचरितमानस' के किसी स्थल को पृथक रूप से आधार मानकर उसके स्रोत का बिना विचार किए, मानस की दार्शनिक व्याख्या करना असंभव है। अधिकांश आलोचकों ने ठीक यही किया है, और इसलिए कुछ आश्चर्य नहीं कि वे परस्पर नितांत विरुद्ध परिणामों पर पहुँचे हैं। 'रामचरितमानस' की किसी भी व्याख्या में इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि इसका निर्माण पृथक

---

[1] उदाहरण के लिए, रामनरेश त्रिपाठी, उपरिलिखित, पृ० ३५३

भागों के पारस्परिक संघटन से हुआ और वह क्रम अनेक वर्षों तक जारी रहा। जैसा कि हम देखेंगे, काव्य के प्राचीनतम भाग में जो अयोध्या में लिखा गया, विषय और स्वरूप की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो काशी के लिखे गए बाद के भागों में नहीं मिलतीं। अतएव यह मानने का कुछ आधार है कि कवि के विचारों में विकास हुआ था।

'रामचरितमानस' के कथानक में पाए जाने वाले बहुत से प्रयोगों का कारण यह था कि कवि ने विरोधी मतों का समन्वय करना चाहा। उन्होंने ग्रंथ की प्रस्तावना में स्पष्ट इस इच्छा का उल्लेख किया है। रामानंदी और भागवत इन दो अर्द्धरूढ़ धाराओं के संगम पर खड़े होकर तुलसीदास ने यह प्रयत्न किया कि उनके सम्मिलन से ठीक ऐसा शास्त्रानुमोदित धर्ममार्ग निर्मित हो, जो ब्राह्मणीय पुराणधर्म और वेदांत के सर्वब्रह्मवाद इन दोनों आस्थाओं की रक्षा करे, और ऐसा करते हुए उन्होंने राम पर आश्रित अपने एकेश्वरवादपरक विश्वास से कोई बाधा नहीं आने दी। समन्वय, जो हिन्दू मन का विशेष स्वाभाविक गुण है, तुलसीदास की वास्तविक विशेषता थी। उनकी यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति और साथ में महती काव्य-प्रतिभा ही हिन्दी 'रामचरितमानस' की वृहत् सफलता और उसके अद्‌भुत प्रभाव का कारण है, जो उत्तर भारत की समस्त हिन्दू जनता के मन पर मोहिनी की तरह पड़ा हुआ है।

तुलसीदास का अपना मत क्या था और अपने समकालीन अन्य दार्शनिक विचारों और धार्मिक मतों के साथ उनका क्या सम्बन्ध था, इस प्रश्न का उत्तर विशेष कठिन है और उसके लिए एक पृथक अध्ययन आवश्यक है। यहाँ हमने उसे सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि हमारे विचार से 'रामचरितमानस' के स्रोत और रचना का नियमित अध्ययन उस मार्ग का परिष्कार करेगा और जो समस्या अभी तक ठीक प्रकार से सामने नहीं आई है, उसकी उद्‌भावना के सम्बन्ध की सामग्री प्रस्तुत करेगा। हम समझते हैं कि हमारा उद्देश्य भली प्रकार पूरा हो जाएगा, यदि हम ये दिखा सकें कि 'रामचरितमानस' के लेखक ने अपनी प्रेरणा कहाँ से प्राप्त की, किस प्रकार का ग्रंथ उन्होंने लिखने का विचार किया था, और क्या वे वस्तुतः लिख सके।

अब हम 'रामचरितमानस' के आमुख भाग पर इस दृष्टिकोण से समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

रामचरितमानस का बालकांड : कथारंभ—

'रामचरितमानस' का प्रथम बालकांड परिमाण में बहुत विपुल है। इसमें ३६१ दोहे (लगभग ३७०० अर्धालियाँ हैं), अर्थात् समग्र ग्रंथ के एक-तिहाई भाग से लगभग अधिक। न केवल उसका परिमाण वरन् उसकी रचना की जटिलता और उसमें एकसूत्रता का अभाव और भी ध्यान देने योग्य है। अतएव एक इकाई के समान समझकर उसपर विचार करना संभव नहीं। अपने विश्लेषण को स्पष्टतर बनाने के लिए हमने उसे कुछ भागों में बाँटा है और प्रत्येक भाग पर अलग विचार करना आवश्यक होगा।

अध्याय एक—आमुख, 'बालकांड, दोहा १–४३'।

अध्याय दो—शिवचरित, 'बालकांड, दोहा ४४–१०४'।

अध्याय तीन—शिव-पार्वती-संवाद, 'बालकांड, दोहा १०५–१२०'।

अध्याय चार—अवतार के हेतु, 'बालकांड, दोहा १२१–१८४'।

अध्याय पाँच—रामजन्म और बालचरित, 'बालकांड, दोहा १८४–२०५'।

अध्याय छः—राम की तरुणाई और विवाह, 'बालकांड, दोहा २०६–३६१'।

आमुख, १।१ से ४३—'रामचरितमानस' के पहले ४३ दोहे उसकी कथा के आमुख भाग हैं, जिसमें तुलसीदास ने अपने नाम की भणिति डाल कर अपने काव्य का परिचय दिया है। जैसा कि ग्रियर्सन ने लिखा है, "यह संपूर्ण ग्रंथ के अति विशिष्ट भागों में से एक है" (वर्नाकुलर लिटरेचर, पृ० १८७)। इस भाग में समस्त काव्य के विषय में मूल्यवान सूचना पाई जाती है, जैसे उसकी रचना-तिथि, उसके स्रोत, उसका उद्देश्य, उसके लिखने की भावना, ग्रंथ-लेखक का धार्मिक अभिप्राय और अपने एवं अपनी कला के विषय में उसके विचार। इस भाग में लगभग ४५० अर्द्धालियाँ हैं। यहाँ उसका संक्षिप्त विश्लेषण किया जाता है—

श्लोक १ से ५	वंदना, सरस्वती, गणेश, भवानी, शंकर, गुरु, वाल्मीकि, हनुमान, सीता।
श्लोक ६	ईश्वरस्वरूप राम की वंदना।
श्लोक ७	कवि का कथन कि भाषा में होते हुए भी उनका निबंध नाना पुराण निगमागम सम्मत है।
सोरठा १ से ५	वंदना का विकास। कवि, गणेश, सरस्वती, विष्णु, शिव और गुरु से प्रार्थना करता है।
दोहा १ से २	गुरु-प्रशंसा, उनकी चरणरज की महिमा। रामचरित को समझने के लिए गुरु-पद-रज का प्रभाव।
दोहा २ से ३	ब्राह्मण और संतों की वंदना। संत-समाज से होनेवाला आनंद और फल-दायक होने के कारण उसकी प्रयाग से तुलना।
दोहा ४ से ७	खलों की वंदना, जो सज्जनों से विपरीत होते हैं, जैसे दोष गुणों के प्रतिरूप हैं। दोष और गुण विधाता की सृष्टि में एक दूसरे के पूरक हैं। कवि सारे जगत को राममय जानता हुआ उसकी वंदना करता है।
दोहा ८ से १०	कवि अपने आपको अपने कर्म के अनुपयुक्त समझता है और अपनी अयोग्यता के लिए क्षमा माँगता है। दुष्ट उसके काव्य पर हंसेंगे, पर सज्जन इसमें राम का भक्तिपूर्ण यश सुनकर प्रसन्न होंगे। उसके काव्य का मूल्य विषय की महिमा से है, जिससे ग्राम्यभाषा की त्रुटि का परिहार हो सकेगा।
दोहा ११ से १४	तुलसीदास कवि की प्रेरणा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। कविता का जन्म ईश्वरोपासना से होता है और काव्य का मूल्य कुछ उसके विषय पर निर्भर है। कवि पुनः अपने अवगुण स्वीकार करता है और अपने पूर्ववर्ती महान कवियों से प्रार्थना करता है कि वे प्रसन्न होकर उसे वरदान दें।
दोहा १४ (सोरठा १ से २)	तुलसी रामायण के निर्माता वाल्मीकि मुनि की, राम का यश गान करने वाले चारों वेदों की और भवसागर के रचयिता ब्रह्मा की एवं सब देवता, ब्राह्मण और विद्वानों की वंदना करते हैं।
दोहा १५ से १८	सरस्वती और गंगा की वंदना, राम के भक्त शिव-पार्वती की पुनः वंदना, शावर मंत्रों के निर्माता शिव का यश-कथन, तुलसी को शिव-कृपा की प्राप्ति और अपनी सचाई का आश्वासन। रामकथा के सब पात्रों की वंदना—कौशल्या, दशरथ, जनक, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवंत, अंगद, रावण, पशुपक्षी, मनुष्य, असुर, देवता आदि राम के सब उपासकों की वंदना ; सनत्कुमार, नारद आदि सब मुनियों की वंदना और अंत में राम-सीता की वंदना, 'जो कहियत भिन्न, न भिन्न' हैं।
दोहा १९ से २७	कवि द्वारा रामनाम की महिमा का कथन। वह उन कथाओं का उल्लेख करते हैं, जिनसे रामनाम की महिमा प्रकट होती है। भगवान के नाम की बड़ाई और उसके गुण-वर्णन स्वरूप विषयांतर। ब्रह्म के निर्गुण-सगुण दो स्वरूपों से भी नाम बड़ा है। राम से भी राम का नाम बड़ा है। राम-नाम की पावन शक्ति का कथाओं द्वारा निदर्शन। कलियुग में रामनाम की विशेष महिमा, वही कलिकाल में एकमात्र मोक्ष का अवलंबन है।
दोहा २८ से २९	कवि की राम में अगाध निष्ठा। राम ही हृदय का भाव पहचान कर उस पर कृपा करेंगे।
दोहा ३० से ३१	रामकथा की उत्पत्ति।

दोहा ३१ से ३३	रामकथा की महिमा और उसकी पापनाशनी एवं पावनशक्ति का कथन। रामकथा का जन्म शिव-पार्वती-संवाद से हुआ। इस कथा का विस्तार अपरिमित है।
दोहा ३४	काव्य की तिथि का उल्लेख। इसका आरंभ अयोध्या में हुआ। 'रामचरितमानस' नाम की व्याख्या, जो शिव के द्वारा रखा गया।
दोहा ३५ से ४३	'रामचरितमानस' काव्य का परिचय और मानसरोवर से उसकी तुलना। उसके अंतर्गत विभिन्न कथा-विभागों का उल्लेख, उनमें से प्रत्येक की मानसरोवर के रूपक के विविध अंगों से तुलना।

यह आमुख अनियत संख्या से युक्त चौपाइयों में लिखा गया है, जिनमें १० से १८ तक अर्धालियाँ हैं। कुछ चौपाइयों के अंत में एक की जगह दो दोहे हैं। १४ वाँ छंद लंबाई में अपवाद-रूप है। उसमें २६ अर्धालियाँ हैं। छंद १९ से २७ तक, जिनमें रामनाम की महिमा है, समान विशेषताओं से युक्त इकाई है, जिसमें चार चौपाइयों के बाद एक दोहा नियत रूप में आता है।

संस्कृत वंदना को अलग रखते हुए, आमुख के दो प्रधान भाग पहचाने जा सकते हैं। पहले में (१ से २९) कवि मनुष्यों और देवों में अनेक व्यक्तियों की वंदना करता है और उनकी कृपा चाहता है। वह अपने काव्य में त्रुटियाँ मानते हुए क्षमायाचना करता है। दूसरे भाग में (३० से ४३ तक) वह रामकथा के उद्भव का कथन करके उसके नाम की व्याख्या करता है और उसकी महिमा का गुणगान करता है।

वंदना—काव्य के आरंभ के संस्कृत श्लोक में तुलसीदास ने प्रथा के अनुसार सरस्वती, गणेश, भवानी और शंकर की वंदना की है। पुनः वे गुरु की वंदना करते हैं, जो शंकर के अवतार हैं। और फिर कवियों के कवीश्वर अर्थात् वाल्मीकि और कपीश्वर हनुमान की वंदना करते हैं जो क्रमशः संस्कृत रामायण और महानाटक या हनुमन्नाटक के रचयिता थे। इन दोनों को सीता और राम के गुणसमूह रूपी पवित्र अरण्य में विहार करनेवाला कहा गया है। इसके अनंतर राम की वल्लभा सीता की वंदना है, जो स्थिति और नाश का कारण है। और सबसे अंत में स्वयं रामकी अथवा राम कहलाने वाले ईश्वर हरि की वंदना है। वे उस माया के अधिपति हैं, जो विधाता ब्रह्मा और अन्य देवताओं के साथ अखिल विश्व को वश में रखती है।

छठे और अंतिम श्लोक में काव्य के स्रोतों का सीधा उल्लेख है—

नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्,
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा,
भाषानिबन्धमतिमंजुल मातनोति।

इससे हम मान सकते हैं कि तुलसी का उद्देश्य राम की पवित्र कथा को इस रूप में प्रस्तुत करना था, जो सुनने में अच्छी लगे और सबकी समझ में आ सके। इस कार्य का बीड़ा उन्होंने किसी पक्ष-समर्थन के उद्देश्य से नहीं, बल्कि अपनी ही अंतरात्मा को प्रसन्न करने की आस्था से उठाया था। इसी कथन के साथ वे अपनी शास्त्रनिष्ठा की भी घोषणा करते हैं। उनका काव्य श्रुति-सम्मत है, जिसमें कवि ने तंत्र (आगम) और पुराणों को सम्मिलित किया है। तुलसी का पुराणों को श्रुति के अंतर्गत मानना मध्यकालीन हिंदूधर्म के अनुसार ही था, जिसके धार्मिक विश्वास अधिकतः विभिन्न सांप्रदायिक पुराणों पर आश्रित थे। आगमों से तात्पर्य न केवल शाक्त ग्रंथों से वरन् समस्त तांत्रिक साहित्य से था। 'रामचरितमानस' में निगम और आगम का बराबर एकसाथ उल्लेख आता है। निगम और आगम को एक दूसरे का पूरक कहा गया है—निगमागम गुण दोष बिभागा (११६।५)। ज्ञात होता है कि शिव ने पार्वती से जिस ज्ञान का प्रकाश किया, उसे ही तुलसी एक प्रकार का अप्रधान 'वेद' मानते हैं।

पुराण, ग्रागम ग्रौर निगम ये श्रुति के प्रतिनिधि थे। दूसरी ग्रोर कवि-परंपरा स्मृति या ग्रनुश्रुति की सूचक थी[1]। संदर्भ से साफ प्रकट होता है कि यहां तुलसी का तात्पर्य ग्रौर किसी दूसरी रामायण से नहीं है। तुलसी की दृष्टि में ग्रध्यात्मरामायण श्रुति थी। क्योंकि सूत-कथित होने के कारण उसमें पुराण के लक्षण हैं ग्रौर शिव द्वारा पार्वती से कथित होने के कारण उसमें तंत्र के लक्षण हैं। यही बात उन सांप्रदायिक रामायणों के विषय में कही जा सकती है, जिनका उपयोग 'रामचरितमानस' के लेखक ने किया होगा। वे चाहे कितनी ही बाद की हों, रहस्यार्थ का गंभीर प्रतिपादन करनेवाली श्रुति के सदृश मान्य थीं।

वाल्मीकिरामायण पर ग्रपने को निर्भर मानते हुए तुलसी ने यह स्वीकार किया है कि उन्हें कुछ सामग्री 'ग्रन्यत्र' से भी मिली। हम समझते हैं कि इनमें मनु ग्रौर भर्तृहरि की गिनती होनी चाहिए, क्योंकि काव्य भर में उनके उद्धरण पाए जाते हैं। इसी प्रकार रामकथा पर ग्राश्रित हनुमन्नाटक ग्रौर प्रसन्नराघव नामक नाटक भी 'क्वचि दन्यतोऽपि' की पृष्ठभूमि में थे।

ग्रारंभ के सात संस्कृत श्लोकों के बाद फिर पाँच सोरठा ग्राते हैं, जिनमें वंदना के विषय का ही विस्तार किया गया है। पहला सोरठा विघ्ननाशक गणेश के लिए है। दूसरा ग्रौर तीसरा 'भगवान' के लिए —

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिवर गहन,
जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलि मल दहन,
नील सरोरुह स्याम तरुन ग्ररुन बारिज नयन,
करउ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन।

यहाँ तुलसी एक 'भागवत' के रूप में बोल रहे हैं। उन्होंने यहां राम का नाम नहीं लिया, किंतु उनका एकात्म्य भगवत् से किया है, जो कि भागवतों के परम देवता विष्णु से एकात्मरूप हैं।

चौथा सोरठा शिव-परक ग्रौर पांचवां गुरु-परक है—

बंदउँ गुरु पदकंज कृपा सिंधु नररूप हर (हरि)।
महामोह तमपुंज, जासु वचन रविकरनिकर।।

रामचरितमानस के प्रधान हस्तलेखों में ग्रौर सब ग्रर्वाचीन संस्करणों में (पं० विजयानंद त्रिपाठी का संस्करण छोड़ कर) पहली ग्रर्धाली के ग्रंत में 'हरि' पाठ है। इसी ग्राधार पर तुलसीदास के गुरु का नाम प्रायः 'नरहरि' बताया जाता है[2]।

पर 'हरि' पाठ निश्चय रूप से ग्रशुद्ध है। कुछ प्रतियों में दिया हुग्रा 'हर' पाठ तुक मिलने के लिए (हर-निकर) ग्रावश्यक है। इसके ग्रतिरिक्त ग्रभी-ग्रभी शंकर का उल्लेख ग्रा चुका है ग्रौर पहले भी तीसरे श्लोक में तुलसीदास ने गुरु को शंकर-रूप कहा है—बंदे बोधमयं नित्यं गुरु शंकर रूपिणम्।

ग्रंत में जैसा कि माताप्रसाद जी गुप्त ने कहा है, सोरठा का दूसरा पाद (महामोहतमपुंज ग्रादि) 'विनयपत्रिका' के कुछ पदों को स्मरण दिलाता है, जहां निश्चित रूप से शंकर का वर्णन है[3]। ग्रतएव इसमें संदेह नहीं कि तुलसीदास शिव को ही ग्रलौकिक गुरु मानते थे।

किंतु शंकर के ग्रवतार-रूप में वर्णित ये मानवी गुरु कौन थे ? ग्रामुख के ग्रन्य स्थल में तुलसी ने 'निज-गुरु' का उल्लेख किया है (छंद ३०, दोहा १), किंतु पाँचव सोरठे में, जैसा नवें श्लोक में, संबंधवाची शब्द का ग्रभाव है। किंतु यह निश्चित है कि दोनों स्थलों में एक ही व्यक्ति होना चाहिए, जिसके वर्णन के लिए नित्य, बोधमय, ग्रौर 'नररूपहर' पद प्रयुक्त हुए हैं। ग्रतएव इस संदर्भ में जिस व्यक्ति से तात्पर्य है, वे तुलसी

---

[1] तुलसी इस परंपरा की खोज में रामायण तक जाते है ग्रथांत् उस प्रसिद्ध काव्य तक, जो मुनि वाल्मीकि-रचित कहा जाता है। ये वही वाल्मीकि हैं, जिन्हें कवीश्वर कहकर, ग्रारंभ के श्लोक में तुलसी ने जिनकी वंदना की है।

[2] ग्रियर्सन (इण्डियन एन्टिक्वेरी २२, १८९३, पृ० २६६) दो गुरु-परंपराएँ देते हैं, किंतु उनकी विश्वसनीयता संदिग्ध है। देखिए, श्री माताप्रसाद गुप्त, 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० १४४ ग्रादि।

[3] श्री माताप्रसाद गुप्त, तुलसी-संदर्भ में विनयपत्रिका के ९, १०, १२, १३ पद का प्रमाण देते हैं।

के निज गुरु नहीं हो सकते। वरन् कुछ अंश तक पौराणिक कोई अन्य व्यक्ति हैं, जो मनुष्य होते हुए भी देवतारूप में वर्णित हुए हैं। हो सकता है, रामानंद से[1] तात्पर्य हो, जो रामानंदी संप्रदाय के संस्थापक और उसके आदिगुरु थे। जो कुछ भी हो, इस सोरठे से तुलसीदास के गुरु की पहचान के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती, और इस पर आश्रित विवाद निरर्थक है।

मानस के पहले छंद में सोरठे के ही भाव का विस्तार हुआ है। इसमें गुरु के चरणकमलों की रज की महिमा का वर्णन है, जिसकी उपमा विवेक की दृष्टि उत्पन्न करनेवाले अंजन से दी गई है। उस प्रकार अपने ज्ञानचक्षु को पवित्र करके तुलसी रामकथा वर्णन करने चलते है। यहीं वंदना वाला अंश समाप्त हो जाता है और एक लंबा विषयांतर आरंभ होता है—जिसमें आमुख का पूर्वभाग सम्मिलित है—(१, २–२९)।

आमुख का प्रथम भाग : २–२९ : 'रामचरितमानस' के आमुख का प्रथम भाग कुछ उसी प्रकार की निजी क्षमायाचना है, जैसी कालिदास के रघुवंश के प्रथम सर्ग में पाई जाती है—(रघुवंश १।१०)—

सत और असत् का भेद करनेवाले सज्जन मेरे इस काव्य को सुनें, क्योंकि सोने का खरा या खोटापन आग में परखे जाने से ही सिद्ध होता है।

तुलसी भी सज्जनों की प्रशंसा करते हुए उनके गुणों का परिगणन करते हैं। उनकी संगति में सबसे बड़ा लाभ है और नैतिक गुणों की परिपूर्णता है। पर हिंदी कवि साथ ही 'असाधुओं' को नहीं भूलता (१४।१)—

बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ, जो बिनु काज दाहिनेहु बाएँ।
परहित हानि लाभ जिन केरें, उजरें हरष बिषाद बसेरें।

इस प्रकार असाधुओं का स्वभाव-वर्णन कर तुलसी साधु-असाधु को एक दूसरे का पूरक मानते हैं (१६।२) —

भलेउ पोच सब बिधि उपजाए, गनि गुन दोष बेद बिलगाए।

दोनों के बीच में कोई बहुत निश्चित सीमा-रेखा नहीं है। भाग्यवश सज्जन भी बुरा कर डालते हैं, असाधु भी कभी-कभी भले काम कर देते हैं। भला-बुरा, पाप-पुण्य, परिस्थिति और संगति के वश होता है और वे एक दूसरे के पूरक हैं। अतएव भक्त तुलसीदास सब प्राणियों को प्रणाम करते हैं (१।७, दोहा ३, ४)—

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल, सदा जोरि जुग पानि।।
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्ब।
बंदउँ किंनर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्ब।।

यह कम संभव है कि तुलसीदास यहाँ किसी विशेष वर्ग के लोगों पर लक्ष्य कर रहे हैं, किंतु इन असाधुओं के प्रतिरूप जिनके अवगुण उन्होंने गिनाए हैं, स्वयं उनके ही शत्रु हो सकते थे, जो अकारण ही भलाई करनेवाले के साथ शत्रुता का व्यवहार करते हैं, क्योंकि खलों को दुश्चरित्र, कामी, नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करनेवाले 'हरिहर' के विरोधी कहा गया है। यह अनुमान हो सकता है कि इस प्रकार के दुष्ट लोग भक्त तुलसीदास का विरोध करते रहे होंगे। कुछ यह भी ध्वनि निकलती है कि उनमें से कुछ तुलसी के प्रति द्वेष-भावना से प्रेरित थे (१।८।५, ६)—

हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर दूषन भूषन धारी।
निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका।
जे पर भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं।

[1] गुरु की भगवान के रूप में पूजा कबीर-पंथ और नानक के सिख-धर्म की विशेषता थी। कबीर के वचनों में 'गुरु' शब्द के दोनों अर्थ हैं, कभी सत्पुरुष के लिए और कभी वह कबीर के लिए प्रयुक्त होता जान पड़ता है। किंतु उसी अंश में, जिसमें कि ईश्वर की उसमें और उसके द्वारा अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे ही नानक में भी गुरु ईश्वर ही है (देखिए, मैकोलिफ ; सिखधर्म, १।५४)। कबीर और नानक में गुरु मनुष्य न होकर ईश्वर का रूप है।

इस पर भी तुलसी अपने दोषों को स्वीकार करते हैं, और सच्ची विनय प्रकट करते हैं। रघुवंश के प्रथम सर्ग में कालिदास की विनय-परिपाटी के अनुसार है, किंतु तुलसीदास की अधिक सच्ची है—(१।८।२-५)।

निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करउँ सब पाहीं।
करन चहउँ रघुपति गुनगाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा।
सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ।
मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी।
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बालबचन मन लाई।
जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता।।

'रामचरितमानस' के लेखक के मन में इस बात की बहुत ग्लानि है कि उनकी बुद्धि की क्षमता बहुत थोड़ी है और उनके विषय का प्रकर्ष महान् है। किंतु उनकी सम्मति में विषय की यह उच्चता ही उनके काव्य को मूल्यवान बनाती है। राम का यश-वर्णन ही इसका उद्देश्य है और इसलिए सज्जन राम-नाम के यश को इसमें देखकर प्रसन्न होंगे। जो असज्जन हैं, वे भले ही हँसें, तुलसी को उसकी चिंता नहीं (१।९।३, दोहा १०।१)—

प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हई कथा सुनि लागिहि फीकी।।
हरिहर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की।।३।।
राम भगति भूषित जियँ जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी।।
कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू।।४।।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना।।
भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।।५।।
कबित्त बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।।६।।
भनिति मोरि सब गुन रहित। बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति। जिन्ह कें बिमल बिबेक।।९।।
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।।

इस कथन में भक्ति से उत्पन्न होनेवाली काव्यप्रवृत्ति के सम्बन्ध में विचित्र विचार पाए जाते हैं। कवि उसे भगवान को समर्पित कर देना चाहता है अथवा वह अपनी उस कृति को बिलकुल ही नष्ट कर देगा।

तुलसी ऐसे कुटिलताभरे युग में लिख रहे हैं, जब लोग बाहर से हंस और भीतर से कौवे के समान आचरण करते हैं। सच्ची भक्ति विरल है, सब जगह दंभ फैला हुआ है और तुलसी अपने आप को भी उस युग के प्रभाव से बाहर नहीं समझते—(१।१२।४-९।)

तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी।।२।।
जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ।।
ताते मैं अति अलप बखाने। थोरे महुँ जानिहहिं सयाने।।३।।
समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।।
एतेहु पर करिहहिं जे असंका। मोहिते अधिक ते जड़ मति रंका।।४।।
कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप रामगुन गावउँ।

इसमें केवल लकीर पीटने की बात नहीं, वरन् कहीं अधिक गंभीरता है। निश्चय ही सच्ची भक्ति और भगवान की सर्वोपरि महिमा की जाग्रत अनुभूति से ही इस प्रकार की अतिशय नम्रता की व्याख्या किसी अंश में की जा सकती है। किंतु उसका कारण लेखक का आत्मनिरीक्षण भी हो सकता है, जिसका यश अभी तक स्थिर न हुआ था और जो लोगों की सम्मति को चुनौती देने की तैयारी कर रहा था। ऐसा अनुभव

होता है, जैसे तुलसी निंदा के लिए तैयार कितने ही शत्रुओं से घिरे हों, अथवा कट्टरपन में प्रसन्न होने वाले ब्राह्मण, भाषा—कविता से द्वेष करनेवाले पंडित, धर्म अर्थात् भक्ति के शत्रु, जिन्हें रामकथा में कोई रस न था, ऐसे लेखक और आलंकारिक जो संस्कृत-काव्यशास्त्र की जटिलताओं से गर्वित थे, जिनके विषय में तुलसी अपना अज्ञान स्वीकार करते हैं और अंत में उस प्रकार के तुक्कड़ों से जो सच्चे कवि को देखते ही उसकी टाँग लेने के लिए लपकते हैं—इस प्रकार के व्यक्तियों ने जैसे उन्हें घेर रखा था। अतएव तुलसी सब ओर से अपनी रक्षा का प्रबंध करते हैं, कुछ को समझाकर और कुछ को प्रसन्न करके और सबसे ऊपर वे अपने प्रयत्न का अपनी सच्ची नम्रता द्वारा समर्थन करते हैं, इस नम्रता में आत्मसम्मान को छोड़ा नहीं गया है, और इसमें उन द्वेष करनेवालों के प्रति कुछ व्यंग्य भी है, जो दूसरों के दोषों को अपना भूषण मान लेते हैं।

अपनी इस क्षमायाचना में तुलसी कहते हैं कि मैं न कवि हूँ (कबि न होउँ) और न चतुर प्रसिद्ध हूँ (नहिं चतुर कहावउँ) और कविता के विभिन्न नियमों से भी अनभिज्ञ हूँ[1]। ये कथन बहुत ही अपूर्व हैं। यह संभव नहीं कि वे इतने अज्ञ थे, जितना कहते हैं। जिस ढंग से वे काव्य के अंगों की चर्चा करते हैं, उससे ही उनका कथन विपरीत सिद्ध हो जाता है। उनकी यह असत्यता 'रामचरितमानस के उन स्थलों से, जिनमें बढ़ा हुआ सौंदर्य और पर्याप्त मात्रा में अलंकारादि भी हैं, अन्यथा प्रमाणित होता है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी उस कथन से यह सूचित कर रहे थे कि वे अपने काव्य को साहित्य के पचड़ों में नहीं बाँधना चाहते। क्योंकि यह काव्य जनता के लिए था, जिसका उद्देश्य बुद्धि का कुतूहल नहीं, वरन् रामभक्तों के चित्त को संतुष्ट करना था। दूसरे शब्दों में इस आमुख के पूर्वार्द्ध में तुलसी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वे उसी विषय पर दूसरा काव्य रच कर अपने से पूर्वकाल के महाकवि वाल्मीकि के साथ स्पर्धा करना नहीं चाहते थे। जब वे अपने को 'कवि' होना अस्वीकार करते हैं, तो संभवतः वे 'कवि' शब्द का सीमित अर्थ 'विद्वान, काव्य-विशेषज्ञ' लेते हैं, जो कि संस्कृत के विशेषण कवि शब्द (क्रांतदर्शी, प्रज्ञावान) का अर्थ था। वे अपने ग्रंथ को कभी काव्य नहीं कहते, वरन् उसके लिए अपेक्षाकृत कम गौरवपूर्ण एक साधारण-सा शब्द 'कवित्त' या 'कविता' प्रयुक्त करते हैं। उदाहरण के लिए दसवें दोहे के छंद में तुलसी का कथन है कि राम की महिमा ने उनकी भद्दी कविता की नदी (कूर कविता) को पवित्र गंगा के समान बना दिया है। अपने विरोधियों से इस प्रकार अपने ग्रंथ की रक्षा करके फिर अपने से पूर्ववर्ती महाकवियों का ऋण स्वीकार करते हैं, जिनसे उनका कार्य सरल हो गया है—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई।
अति अपार जे सरितबर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहिं जाहिं।
एहि प्रकार बल मनहिं देखाई। करिहउँ रघुपति कथा सुहाई।।
ब्यास आदि कबि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।।
चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे। पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे।

वेद, महाभारत और पुराणों के कल्पित कर्ता व्यास एवं वाल्मीकि—ये महान और देवकल्प पूर्वज थे, जिन्होंने तुलसी के समान लघु पिपीलिका के लिए मार्ग बनाया था। उनके बाद 'रामचरितमानस' के कर्ता ने अपने से तुरंत पूर्व में होनेवाले कलियुग के कवियों का उल्लेख किया है—

कलि के कबिन्ह करउँ परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा।
जो प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने।
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगे। प्रनवउँ सबहि कपट सब त्यागे।
होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधुसमाज भनिति सनमानू।

वे प्राकृत अर्थात् केवल मानवीय कवि, जिन्होंने भाषा में हरिचरित का बखान किया था, तुलसी से तुरंत पूर्व में हुए थे या उनके समकालीन ही थे, यह उल्लेख इतना अनिश्चित है कि उनकी पहचान के विषय में

---

[1] इसी प्रकार की बात पार्वती-मंगल में कही गई है।

कल्पना करना उचित नहीं। यह भी ज्ञात नहीं कि उन्होंने किस भाषा में लिखा था और उनका भी सम्बन्ध राम से था या नहीं। 'हरि' विष्णु का ही पर्याय है, और हरि का गुणगान करने वालों में कृष्ण-चरित के कवि ही आ जाते हैं, जिनमें तुलसी के समसामयिक सूर सबसे प्रसिद्ध हैं। यदि तुलसी ने उन प्राकृत कवियों के समूह का उल्लेख करने की सावधानी बरती है, तो इसीलिए कि वे किसी को भी विस्मृत करना नहीं चाहते। किंतु वे उनका कोई ऋण स्वीकार नहीं करते, केवल उनके प्रति सम्मान और प्रेम प्रकट करते हैं और उनकी श्रेणी में सम्मिलित होना चाहते हैं, जिससे उनकी कविता को भी, यद्यपि वह भद्दी है, साधुसमाज में अर्थात् हरिभक्तों में सम्मान प्राप्त हो।

करहु कृपा हरि जस कहउं, पुनि पुनि करउँ निहोर।।१४ख।।

प्राकृत कवियों के विषय का कथन १४ वें छंद के दूसरे दोहे पर समाप्त हो जाता है। पर वह छंद बहुत ही लंबा है। उसमें ६ चौपाई ३ दोहे और तीन सोरठे और एक और दोहा अर्थात् कुल ३६ अर्धाली हैं, जब कि आमुख के दूसरे अधिकतम लंबे छंदों में २६ अर्धालियों से अधिक नहीं हैं।

उस छंद के तीसरे दोहे से विचारधारा कुछ विच्छिन्न जान पड़ती है। तुलसी पुनः कवि और मुनियों के विषय में कहने लगते हैं और राम के चरित्ररूपी मानसरोवर के सुंदर हंस से उनकी तुलना करते हैं। यह संकेत 'रामचरितमानस' इस नाम की ओर जान पड़ता है, यद्यपि इस नाम का उल्लेख अभी तक कहीं आया नहीं है। इसका उल्लेख और व्याख्या तो छंद ३४ में आमुख के उत्तरार्द्ध में आएगी।

१४ वें छंद के पहले सोरठे में वाल्मीकि की पुनः वंदना है।

बंदउँ मुनिपद कंजु, रामायन जेहिं निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित।।१४घ।।

यह भी अप्रत्याशित है, क्योंकि वाल्मीकि और रामायण का पहले ही वंदना-प्रसंग में उल्लेख आ चुका है। वाल्मीकि की गणना तो उन प्रसिद्ध 'मुनियों' और 'कविपुंगवों' में हो ही जाएगी, जिन्होंने हरिचरित का गान किया है और जिनका उल्लेख १३ वें छंद में और १४ वें छंद की पहली चौपाई में अभी हो चुका है। वाल्मीकि के पुनः उल्लेख का तुलसी के पास कोई कारण ज्ञात नहीं होता, सिवाय इसके कि उन्होंने आशाके विपरीत रामायण के सम्बन्ध में एक सूक्ष्म कल्पना के अनुसार ढाली हुई पंक्ति से परिचित कराना आवश्यक समझा। इस पंक्ति में उन्होंने कहा है कि रामायण सुकोमल (करुण रस से पूर्ण) और सखर (कठोर, भयंकर और खर नामक राक्षस के सहित) है एवं साथ ही 'दोष रहित' और 'दूषन सहित' (दोष से मुक्त क्योंकि रामकथा के आरंभ में ही राम के अन्यायपूर्ण वनगमन की कथा आती है)[1]। यहाँ तुलसी ने सच्चे कवि की वाकचातुरी का परिचय दिया है। ऐसे वैदग्ध्यपूर्ण स्थलों से तुलसी के पहले कथन का खंडन होता है और आमुख के इस भाग की सीधी-सरल शैली से उनका मेल भी नहीं बैठता।

चौदहवें छंद का दूसरा सोरठा वेदों की वंदना करता है, जो संसार-सागर को तरने के लिए बोहित समान है। तीसरे सोरठे में तुलसी ने ब्रह्मा का स्मरण किया है, जो भवसागर का निर्माण करने वाले हैं और जिनसे अमृत चंद्रमा और कामधेनु के समान संत एवम् विष और वारुणी के समान खल उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मा का उल्लेख वंदना के प्रसंग में नहीं आया। किंतु छंद संख्या छः में प्रसंग से जड़-चेतन और गुण-दोष के कर्ता के रूप में उनका उल्लेख आ गया है। यदि कवि उनकी वंदना भी करना चाहता, तो इतनी देरतक ठहरने की क्या आवश्यकता थी। शायद जो बात वे पहले भूल गए थे, उसका वे सुधार यहाँ कर रहे हैं, किंतु मन में यह बात आती है कि ब्रह्मा की यह विलंबित वंदना एक नए अलंकार से काव्य को सजाने के लिए ही है, जिसमें संसार-रूपी सागर की तुलना सुविदित क्षीरसागर के मंथन के साथ की गई है। इसके विपरीत इसी छंद के अंतिम दोहे में श्लेष या अलंकार नहीं है। किंतु उसमें दूसरे छंद के दूसरे दोहे में पहले सीधेसादे ढंग से कही गई प्रार्थना की ही पुनरावृत्ति है।

[1] 'दूषन सहित' का अर्थ 'दूषण' नामक राक्षस से युक्त भी है।

इस विश्लेषण से विदित होता है कि चौदहवें छंद की अंतिम दस अर्धालियाँ प्रस्तुत छंद से ठीक मेल नहीं खातीं। जिन विशेषताओं की ओर हमने अभी ध्यान दिलाया है, वे इस कल्पना को जन्म देती हैं कि ये दस पंक्तियाँ छंद की रचना के बाद उसमें जोड़ी गईं। संभवतः उसी समय जब कथामुख का उत्तरार्ध रचा गया। मूल में चौदहवें छंद में छः चौपाई और दो दोहों से अधिक न थे।

कथामुख का पूर्वार्ध जैसा कि हम देख चुके हैं, मुख्यतः क्षमायाचनापरक है। फिर भी धार्मिक कल्पनाओं का उसमें अभाव नहीं है। कवि ने अपने धार्मिक विचार विषयांतर के रूप में, परंतु बहुत ही स्वाभाविक रूप में, आत्मीय शैली में व्यक्त किए हैं।

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई।
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा।।
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।।
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।।
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी।।
जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू।
गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू।।

इस प्रकार का शक्तिशाली ईश्वरवाद भक्तिमार्ग के अनुयायी के सर्वथा योग्य है। भागवतों के समान तुलसीदास उस ईश्वर की उपासना करते हैं, जो पुरुष रूप में सगुण और निर्गुण रूप में अगम्य अगोचर है, जिसने अपने भक्तों की प्रीति से मानवशरीर धारण किया है और जिसका सब से बड़ा गुण दया है। ऐसे ईश्वर को वे राम कहते हैं और उसे दशरथ के पुत्र रामकथा वाले राम से अभिन्न मानते हैं। किंतु यह रोचक है कि इस स्थल में तुलसी ने फारसी के शब्दों को वेदांत और भागवत की शब्दावली के साथ कितने सहज रूप में मिला दिया है। गरीब नेवाजू, साहिब ये शब्द 'रामचरितमानस' में बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं। ये कथामुख के इस भाग में और अयोध्याकांड में आए हैं। अन्य कांडों में नहीं[1]। यहाँ इनका प्रयोग निश्चित उद्देश्य से किया गया है। वे लेखक के मनकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति के सूचक हैं। और राम-भक्ति के मत को व्यापक स्वरूप में ढालने की आकांक्षा को व्यक्त करते हैं।

मानव-शरीर में अवतार लेने वाले ईश्वर राम की वेदांत के विश्वव्यापी ब्रह्म से अभिन्नता, दार्शनिक प्रश्नों से संबंधित है, जिन पर तुलसी ने आमुख में विचार नहीं किया, फिर भी उसमें सगुण और निर्गुण ब्रह्म के मानने वालों के विवाद की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। सब संदेहों की निवृत्ति और आपत्तियों के निराकरण की इच्छा से तुलसी ने इन दो विरोधी मतों में एक प्रकार का समन्वय बैठाने का प्रयत्न किया है, जिसमें उन्होंने राम के नाम को ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों से ऊपर रखा है।

राम-नाम की महिमा में आठ छंद कहे गए हैं, जिनमें दोहे चौपाइयों की संख्या और क्रम व्यवस्थित है। सब से पहले नाम को मंत्रों का राजा (महामंत्र) कहा गया है। कवि ने उस मंत्र के चमत्कारों का उल्लेख किया है और उसके चमत्कारी अक्षरों के पुण्य प्रभाव का वर्णन किया है, जिन्हें कवि ने वेदों का सार कहा है। उसके बाद कवि नाम और रूप की वेदांतगत मान्यता के विषय में अपनी व्याख्या देते हैं। उनका कहना है कि रूप नाम से छोटा है, क्योंकि नाम के द्वारा ही रूप का परिचय होता है, उसके विपरीत नहीं। पर इस रहस्यात्मक प्रक्रिया पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया—

नाम रूप गति अकथ कहानी, समुझत सुखद न परति बखानी।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी, उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।।

---

[1] गरीब (अरबी गरीब) कथामुख में तीन बार, अन्यत्र रामचरितमानस में कहीं नहीं।
नेवाज़ु (फारसी नेवाज) कथामुख में दो बार और अयोध्याकांड में दो बार।
साहिब (अरबी साहिब) कथामुख में दो बार और अयोध्याकांड में कई बार और शेष काव्य में कहीं नहीं।

राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेर हुँ, जौं चाहसि उजियार।।

पुनः राम के नाम की सहायता से ही योगी अपना लक्ष्य प्राप्त करता है और नाम रूप से अतीत परब्रह्म के साथ एक हो जाता है। नाम के द्वारा ही वह सिद्धि और गंभीर रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करता है। सब भक्तों में नाम का जप करने वाले राम को प्यारे हैं। नाम की अद्भुत महिमा तो है ही, यह भी कहा गया है कि राम-नाम विभिन्न दार्शनिक मतों में समन्वय स्थापित कर सकता है (१।२३।१)—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मोरे मत बड़ नाम दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें।
प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जनकी। कहउं प्रतीति प्रीति रुचि मन की।
एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें।
ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी।
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।
निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार।।

यह एक विचित्र प्रकार का विषयांतर है। इसमें तुलसी ईश्वर के द्विविध रूपों की समस्या पर विचार कर रहे हैं और उसे इस प्रकार सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं, जो कि उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण ज्ञात होता है। निर्गुण और सगुण की खाई को पाटने के लिए राम का नाम सेतु के समान कल्पित किया गया है, पर यह कुछ कमजोर कड़ी है और हम कवि को अपना मत प्रकट करते हुए कुछ सावधान-सा पाते हैं। वे 'मोरे मत' कह कर उसे निजी सम्मति के रूप में आगे रखते हैं। तुलसीदास के मत में नाम ही सब जीवों के लिए विशेषतः मानव के लिए ईश्वरीय तत्त्व की अभिव्यक्ति हैं। इस कलियुग में नाम ही वह तत्व है, जिसे मनुष्य ईश्वर के ग्राह्य अंश के रूप में आत्मसात कर सकते हैं। अतएव उनके लिए केवल नाम ही मुक्ति का साधन है और उसी का उनके लिए मूल्य है। रामकथा जिसमें राम की महिमा कही गई है, राम के अवतार का कलियुग में वर्णन करती है और मोक्ष के साधन को आगे बढ़ाती है।

इस यश-वर्णन का विषय केवल राम का नाम ज्ञात होता है, किंतु जैसा आगे आता है, यह कहा गया है कि राम को केवल दशरथ का पुत्र ही नहीं समझना चाहिए। छंद २५ के अंतिम दोहे में नाम को राम या ब्रह्म से भी बड़ा कहा गया है। उसके बाद के छंद में तुलसी ने शिव एवं शुकदेव, सनत्कुमार एवं नारद आदि ऋषियों का उनमें परिगणन किया है, जिन्होंने नाम के द्वारा परम सुख प्राप्त किया। उन्होंने प्रह्लाद, ध्रुव और अजामिल जैसे निष्ठावान साधुओं का भी उल्लेख किया है—१।२६।२-४।

नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू।
ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ।
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू।
अपतु अजामिलु गज गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ।
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई।

सब युगों में नाम मुक्ति का निश्चित साधन है, पर कलियुग में तो एक मात्र नाम ही है। —१।२७।४

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू।।

तुलसी की युक्ति का सार इस प्रकार है—ब्रह्म का सच्चा स्वरूप जैसा सब वेदों में कहा है, अगम अगोचर है, राम स्वयं जो ईश्वर के अवतार और सब जीवों के लिए भक्ति के विषय हैं, उसी प्रकार दुष्प्राप्य हैं, क्योंकि वे प्रत्येक त्रेता युग में अवतार लेते हैं। अतएव कलियुग में अर्थात् इस समय के मनुष्य जिसे प्राप्त

कर सकते हैं, वह उनका नाम और कथा ही है। अतएव राम का नाम और रामकथा ही वर्तमान युग के मनुष्यों के लिए मुक्ति का एक मात्र साधन रह जाता है। अतः राम-नाम के जप या रामकथा के श्रवण का सब से अधिक महत्त्व है। इस विषयमें दृढ़ोक्तिके साथ तुलसी का स्व-मत शास्त्रोंके दृष्टिकोणसे कुछ-कुछ मिलता है, जो केवल मात्र ब्रह्म या परमतत्वकी शक्तिमें ही विश्वास करते हैं और उस तत्वको निष्क्रिय और निर्गुण मानकर अलग छोड़ देते हैं। उसी प्रकार तुलसी राम के नाम को निर्गुण ब्रह्म से भी ऊपर अधिक महान् और स्वयं राम से भी अधिक मानते हैं, तो इसका कारण नाम की विलक्षण सक्रियता ही है। तुलसी की दृष्टि में नाम राम की शक्ति है।

और भी कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। तुलसीदास की दृष्टि में ब्रह्म, उपनिषदों का परम-तत्व निर्गुण और अवतार रूपमें ईश्वर सगुण है। किंतु ईश्वरका सगुणरूप जो भक्तिके योग्य है, दशरथके पुत्र राम तक ही सीमित नहीं है। विष्णु या हरिके अवतार कृष्णका भी वही रूप है। एक सीमित अर्थमें राम दशरथ के पुत्र का नाम है, जो रामायण के नायक हैं किंतु व्यापक अर्थ में राम परब्रह्मके सगुण रूप या अवतार हैं, जिन्हें भगवान या देहधारी ईश्वर माना जाता है। इसी कारण इस प्रसंग में प्रह्लाद, ध्रुव, अजामिल, गज, गणिका ये विष्णु या कृष्ण के भक्त थे, और जिनकी कथाएँ भागवतपुराण में दी हुई हैं[1]। कहा गया है कि इन व्यक्तियों को भगवान के नाम या हरि के नाम से मुक्ति मिली। हरि में राम और कृष्ण दोनों का अंतर्भाव है। आमुख में राम-नाम की महिमा के प्रकरण में कृष्ण का भी नाम आया है, जो कि रामचरितमानस में बहुत ही कम स्थानों में आता है। तुलसी का कथन है कि रामा-नाम के दो अक्षर रा म जिह्वा को ऐसे प्रिय हैं, जैसे यशोदा को हरि (कृष्ण) और बलराम। किंतु संपूर्ण आमुख में जैसे अयोध्याकांड में हरि से तात्पर्य ब्रह्म के सगुण रूप से है। अर्थात् वह देहधारी ईश्वर जो भक्तों का पूज्य है और ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों से ऊपर है। अतएव हरि और भी व्यापक अर्थ में राम का ही पर्याय है। इस प्रकार इन दोनों को पर्याय मानने का कारण स्पष्ट है। तुलसी की इच्छा थी कि रामभक्ति धारा का क्षेत्र विस्तृत हो और राम-मत में कृष्ण-मत का भी समावेश किया जा सके। राम नाम की महिमा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—१।२५।१—

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ, राखे सरन जान सब कोऊ।
नाम गरीब अनेक निवाजे, लोक बेद बर बिरिद बिराजे।

अरबी ग़रीब और फारसी निवाज़, हिन्दी रूप में, यहाँ जान कर रखे गए हैं। इस प्रकार के आर्त प्राणी अधम या आर्य क्षेत्र से बहिर्भूत हैं, जिन्हें रामकथा में बन्दर व राक्षसों का रूप दिया गया है। जिस प्रकार राम के दर्शन से कपीश्वर सुग्रीव और राक्षसयोनि में उत्पन्न विभीषण पवित्र हो गए, वैसे ही राम के नाम ने उन जैसे सब जीवों को पवित्र कर दिया, जो दुर्भाग्य से द्विज कोटि से बाहर उत्पन्न हुए हैं। इस दृष्टि से इन दोनों विदेशी शब्दों का यहाँ प्रयोग विशेष अर्थ रखता है। नाम धर्म की व्यापक महिमा ने भक्ति धर्म के उस उदार दृष्टिकोण में जो सामान्यतः उसकी विशेषता है और भी चार चाँद लगा दिए हैं।

आमुख से यह भी प्रकट होता है कि तुलसी की दृष्टि में शिव का कितना उच्च स्थान था। शिव को अन्य सब देवताओं से ऊपर सम्मान दिया गया है। आरंभ के श्लोक में कहा है कि शिव और उनकी शक्ति के बिना सिद्ध लोग अपने अन्तःकरण में स्थिर भगवान का दर्शन नहीं कर सकते। गुरु को भी जिन्हें तुलसी इतना पूजनीय समझते हैं, गुरु को शिव का अवतार माना गया है। हरि और हर के रूप में विष्णु और शिव दोनों का साहचर्य है और साधुलोग दोनों की ही उपासना करते हैं। जब कि रामकथा से द्वेष करने वाले खल हरि-हर रूपी चंद्रमा के लिए राहु के समान कहे गए हैं।

आमुख में जैसा कि रामचरितमानस में अन्यत्र भी, शिव और पार्वती को राम का महान भक्त कहा गया है। दोनों ही राम के नाम का जप करते हैं। यही महामंत्र है जिसे शिव काशी में मृत्यु को प्राप्त होने

---

[1] प्रह्लाद ७।४-५-६, गज ८।२-३-४, ध्रुव ४।८-९-१२, अजामिल ६।१-२-३, पिंगला ११।८ इन्हीं व्यक्तियों का रामचरित मानस में कांड ७।१-३० छंद १ में पुनः उल्लेख है।

वालों के काम में तारक या मोक्षदायक मंत्र की तरह उच्चारण करते हैं। शिव स्वयं ही इस मंत्र के कर्ता हैं। क्योंकि मूल रामायण के शतकोटि श्लोकों में से इसी दो अक्षर के मंत्र को उन्होंने चुन लिया था।

राम के परम भक्त होने के अतिरिक्त शिव आगमों के प्रकाशक हैं। आगमों का अर्थ तंत्र है, जिन्हें तुलसी 'श्रुति' रूप में अत्यंत प्रमाण मानते हैं। आमुख में उनका उल्लेख किया गया है।

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीन बंधु दिन दानी।
सेवक स्वामिस खा सिय पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के।
कलि बिलोकि जगहित हर गिरिजा। साबर मंत्रजाल जिन्ह सिर जा।
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू।

अतएव तुलसी को तंत्र साहित्य का पता था और वे उनके मंत्रों की अद्‌भुत शक्ति को भी मानते थे। किंतु इतने ही से यह अनुमान ठीक नहीं कि उन्होंने रामचरितमानस के निर्माण में उस प्रकार के साहित्य से कोई सीधी सहायता ली थी अथवा उन्हें वाम मार्ग के शाक मतों से कोई सहानुभूति थी, जिनमें एक मात्र इस प्रकार के साहित्य का उल्लेख आता है। तथ्य तो यह है कि रामचरितमानस के कुछ स्थलों में तुलसी ने शाक्तों के आचारों के विषय में अरुचि प्रकट की है। कोई इतना मान सकता है कि तुलसी ने अपने कथानक को शिव-पार्वती के संवाद रूप में बाँधने का भाव तंत्रों से ग्रहण किया। किंतु कथाबंध की यह प्रणाली अध्यात्मरामायण और दूसरे सांप्रदायिक ग्रंथों में पहले से थी, जहाँ से तुलसी ने उसे लिया होगा।

शिव-पार्वती-संवाद का कोई उल्लेख आमुख के पूर्वार्द्ध में नहीं है, यद्यपि 'रामचरितमानस' का एक अंश इसी संवाद की पृष्ठभूमि में कहा गया है। तुलसी ने शिव की बड़ाई करते हुए उन्हें राम का परम भक्त माना है। उन्होंने अपने आप को शिव की शरण में रखते हुए रामकथा के वर्णन में सफलता की प्राप्ति के लिए उनके वरदान या कृपा की प्रार्थना की है। पर वे यह कहीं नहीं कहते कि शिव ही रामकथा के आदि-कर्ता या प्रथम वक्ता हैं। इसके विपरीत सब प्रकार से यही प्रतीत होता है कि अपनी कथा के रचना का सारा दायित्व स्वयं तुलसी का ही है। यह तो इस बात से ही प्रकट है कि कितने श्रम से कवि ने क्षमा-याचना द्वारा अपनी रक्षा का प्रयत्न किया है और यह कहा है कि यह कथा श्रुति और स्मृति दोनों से सम्मत है।

कोई यह कह सकता है कि शिव-पार्वती-संवाद एक साहित्यिक युक्ति मात्र है। चाहे शिव का नाम इसमें आवे या न आवे, पाठक को कोई भ्रांति नहीं हो सकती, क्योंकि 'रामचरितमानस' किसी अज्ञात रचयिता का ग्रंथ नहीं है। किंतु यदि यह मान भी लिया जाय कि रामकथा के वक्ता के रूप में शिव का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, तो भी यह तो ज्ञात होता ही है कि आरंभ से ही शिव को इस कथा में यह स्थान प्राप्त था। किंतु आमुख के पूर्वार्द्ध में एक ओर जहाँ शिव का कई बार नाम लिया गया है और उन्हें कथा का कर्ता या वक्ता नहीं कहा गया, वहीं तुलसी ने स्वयं अपने लिए यह घोषणा की है कि वे रामकथा कहने जा रहे हैं और वे शिव-पार्वती-संवाद की कोई चर्चा नहीं करते।

कथामुख के प्रथम भाग में 'रामचरितमानस' इस नाम के विषय में भी कुछ नहीं कहा गया। छंद चौदह के दोहा तीन में, जो बाद में जोड़ा गया जान पड़ता है, कवि ने और कोविदों को रामचरित रूपी मानसरोवर के हंस कहा है। पर वहाँ तक काव्य का यह नाम कहीं नहीं आया। सर्वत्र उसे 'भणिति', 'गाथा' या 'चरित' कहा है। आमुख के उत्तरार्द्ध में छंद पैंतीस तक पहुँचकर ग्रंथ का विशेष नाम 'रामचरितमानस' और उसके पौराणिक उद्‌भव की कुछ व्याख्या की गई है।

आमुख का उत्तरार्द्ध (छंद ३०–४३)

आमुख के पूर्वार्द्ध में जिसका ऊपर विश्लेषण किया गया है, तुलसी ने चार बार कथा के आरंभ करने का उल्लेख किया है—१. वर्तमान काल में—संस्कृत वंदना में—आतनोति
२. वर्तमान काल में—बरनउँ रामचरित—(२।१)
३. भविष्यत् काल में—करिहऊँ रघपति कथा—(१४।१).
४. वर्तमान काल में—बरनउँ रघुबर बिसद जसु (२९, दोहा—३)

अंतिम वर्तमान काल आसन्न भविष्य के लिए है, अर्थात् मैं रामके विषद यशका वर्णन करने ही वाला हूँ।

अतएव कथा का आरंभ तुरंत बाद तीसवें छंद में होने की आशा थी, पर वस्तुतः वह बहुत बाद में चौवालीसवें छंद में होता है। २९ और ४४ वें छंद के बीच में एक लंबा व्यवधान है, जो ऊपर कहे हुए संदर्भ से बिलकुल नहीं मिलता। उस अंश में एक प्रकार का दूसरा आमुख पाया जाता है, जो पहले से बहुत बातों म भिन्न है। छंद तीस में एक दम से ऋषि याज्ञवलक्य और उनके श्रोता ऋषि भरद्वाज का परिचय मिलता है।

जाग बलिक जो कथा सुहाई, भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई,
कहिहउँ सोई संबाद बखानी, सुनहुं सकल सज्जन सुखुमानी।

इसमें क्रिया का काल बदल गया है। इसमें वह वर्तमान (अर्थात् आसन्न भविष्य) नहीं है, जैसा पहली पंक्तिमें था, वरन् भविष्य है। वस्तुतः दोनों ऋषियों में संवाद छंद ४७ से आरंभ होगा। इस बीच में तुलसी अपनी कथा की उत्पत्ति बताने लगते हैं (१।३०।२ दोहा—१)—

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।
सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा।
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।
ते श्रोता बकता समसीला। संवदरसी जानहिं हरिलीला।
जानहिं तीनिकाल निज ग्याना। करतल गत आमलक समाना।
औरउ जे हरिभगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधिनाना।
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।

यहाँ तुलसी ने रामकथा के काल्पनिक वक्ताओं का उल्लेख किया है। क्रमानुसार उनके नाम ये हैं—शिव, भुशुंडि और याज्ञवलक्य। स्पष्ट ही शिव को इस चरित का कर्ता कहा गया है।

तथ्य यह है, जैसा कि हम देखेंगे कि ग्रंथ के अधिकांश भाग में अर्थात् बालकांड के अंतिम भाग और संपूर्ण अयोध्याकांड में इन तीनों में से एक भी वक्ता का उल्लेख नहीं आता, और कवि स्वयं अपनी कथा के वक्ता हैं। किंतु 'रामचरितमानस' के अवशिष्ट भाग में इनमें से किसी-न-किसी वक्ता का नाम ठहर-ठहर कर आता रहता है।

इस स्थल से यह अनुमान करना सुसंगत है कि यह कथा चार संवादों के रूप में चली आती थी। अर्थात् शिव-पार्वती, शिव-भुशुंडि, भुशुंडि-याज्ञवलक्य और अंत में याज्ञवलक्य-भरद्वाज। किंतु इन चार संवादों में केवल दो अर्थात् पहले और चौथे का ही 'रामचरितमानस' में वर्णन आया है। आमुख के इस स्थल के अतिरिक्त और कहीं भी न तो यह कहा गया है और न इसकी कोई ध्वनि है कि शिव ने इस कथा को भुशुंडि से कहा था या भुशुंडि ने याज्ञवलक्य से। वक्ता के रूप में भुशुंडि और याज्ञवलक्य परस्पर स्वतंत्र विदित होते हैं। शिव और भुशुंडि पर निर्भर नहीं। कांड तीन से छः तक शिव और भुशुंडि क्रम से वक्ता के रूप में आते हैं, किंतु उनमें से कोई दूसरे की बात नहीं दोहराता। केवल सातवें कांड के अंत में शिव ने भुशुंडि का उल्लेख किया, भुशुंडि ने शिव का कहीं नहीं। अतएव आमुख का उक्त उल्लेख समस्त ग्रंथ से अन्यथा सिद्ध हो जाता है और ग्रंथ के तथ्यों से मेल नहीं खाता।

तुलसी अपने पाठकों को सूचित करते हैं कि उन्होंने यह कथा अपने गुरु से सूकरखेत में सुनी, पर पहले उनकी समझ में नहीं आई। क्योंकि वे उस समय इतने मूढ़ और विषयासक्त थे कि उस गूढ़ रामकथा को, जिसके श्रोता-वक्ता ज्ञाननिधि थे, समझ पाना उनके लिए संभव न था। तुलसी ने जो कथा सूकरखेत में सुनी थी, वह वाल्मीकि-कृत कथा नहीं हो सकती थी। वह कोई ऐसी रामायण थी, जिसके रचयिता शिव कहे जाते थे और जिसके वक्ता पौराणिक पुरुष थे और जिसके द्वारा किसी अध्यात्म-तत्व का उपदेश देने का दावा था। संभवतः वह कथा संस्कृत में थी, क्योंकि तुलसी उसे भाषा में करना चाहते हैं (१।३१।१)—

भाषाबद्ध करब मैं सोई।

रामकथा की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार की व्याख्या की उससे संगति नहीं बैठती, जो ग्रामुख के पूर्वार्द्ध में कही गई है। क्योंकि यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि इस काव्य का उद्भव इसी स्रोत से हुआ था, तो तुलसी का दायित्व बहुत कुछ कम हो जाता है और उनकी लंबी क्षमा-याचना अर्थहीन हो जाती है।

छंद तीस में एक नया विचार रामकथा की अनंतता के विषय में है। शिव को अग्रस्थान देने पर भी यह कहा गया है कि सब वक्ता समान हैं और कवि का यह भी कहना है कि कुछ और भी ऋषि हैं, जिन्होंने इसी कथा को 'अनेक प्रकार से' (बिधिनाना) कहा है। रामकथा के वर्तमान रूपों और अन्य रूपों में जो भेद पाए जाएँ, उन्हें परस्पर विरोधी नहीं मानना चाहिए। वे सभी रूप एक समान सत्य हैं। क्योंकि ऐसे मुनियों ने उन्हें कहा है, जो सब एक समान हरिलीला के विज्ञ और सूक्ष्म दृष्टियुक्त थे। आगे तुलसी ने अपने पाठकों को यह चेतावनी दी है [१।३३।२—दोहा, ३४।१]—

जेंहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सोई।।
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस जानी।
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं।
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा।
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए।
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रतिमानी।
राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं, जिन्ह कें बिमल बिचार।
एहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिरधरि गुरपद पंकज धूरी।
पुनि सबही बिनवउँ कर जोरी। करत कथा जेहि लाग न खोरी।।

राम के अवतारों की अनेकता और उसके कारण रामायण की अमितता का भाव रामावत संप्रदाय में भागवत-धर्म से लिया गया जान पड़ता है। भागवतके अनुसार कृष्ण प्रत्येक कल्पमें अवतार लेते हैं और नरचरित करते हैं, जो उनकी माया की लीला या क्रीड़ा है। रामकथा की अनंतता में विश्वास अधिकांश मध्यकालीन रामायणों में पाया जाता है। जैसे योगवशिष्ठ, अध्यात्मरामायण, अद्भुत रामायण, आनंद रामायण; संभवतः भुशुंडिरामायण में भी। अद्भुतरामायण वाल्मीकिरामायण की परिशिष्ट या आठवाँ कांड कही जाती है। कहा जाता है कि महर्षि वाल्मीकि ने दो रामायणें बनाई थीं। एक देवताओं के लिए सौ करोड़ श्लोक की, और दूसरी चौबीस हजार श्लोक की मनुष्यों के लिए, जो कि वर्तमान वाल्मीकिरामायण है। अद्भुतरामायण पहली का एक अंश होने का दावा करती है, जैसा कि उसमें लिखा है।

अध्यात्मरामायण को भी किसी अपरिमित समग्र ग्रंथ का छोटा-सा अंश कहा जाता है। पहले अध्याय में ब्रह्मा नारद से कहते हैं (प्रस्तावना श्लोक ४६–४७)—

"रामगीता की महिमा का पूरा ज्ञान केवल शंकर को है; पार्वती केवल उसका आधा भाग जानती हैं और मैं उस आधे का आधा जानता हूँ। मैं तुम्हें उसका एक अंश सुनाऊँगा, पूरे का वर्णन नहीं हो सकता।"

रामकथा की अनंतता और राम-अवतारों की अनेकता एक दूसरे से पृथक नहीं की जा सकतीं, अतएव अध्यात्मरामायण में सीता राम से वन चलने का आग्रह करती हुई यह अकाट्य युक्ति देती हैं (२।४।७६)—

"मैं तुमसे और भी यह कहूँगी, जिसे जानकर तुम्हें मुझे वन में ले चलना चाहिए। बहुत से ब्राह्मणों ने अनेकों रामायणें सुनी हैं। कब और कहाँ राम सीता के बिना वन में गए हैं, मुझे बताइए।"

अतएव हम देखते हैं कि तुलसी ने आमुख के इस भाग में भागवतपुराण और सांप्रदायिक रामायणों का दृष्टिकोण ग्रहण किया है। बालकांड के पूर्वार्ध में और उत्तरकांड में रामकथा और राम के अवतारोंकी अनंतता के विषय में उसी प्रकार के कथन हैं। पर शेष काव्य में ऐसा कहीं नहीं मिलता। उन्हीं भागोंमें हम देखते हैं कि राम के चरित को लीला कहा गया है और संप्रदाय-प्राप्त रामायणों का उन पर स्पष्ट प्रभाव है।

अपने पाठकों को इस प्रकार आश्वस्त करके और पहले से ही उनकी शंकाओं का निराकरण करके तुलसी ने अपने काव्य की रचना की निश्चित तिथि और समय बताया है (१।३४।२-३)।

संबत सोरह सै एकतीसा। करउं कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमबार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।

उस शुभ दिन सब संत व देवता अयोध्या में आते हैं, जिससे उसकी पवित्रता और भी बढ़ जाती है (१।३५।३)।

सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी।
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा।

अपने काव्य के नाम की इस प्रकार व्याख्या करके तुलसी कहते हैं—

कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई। —(१,३५,७)

वह चौपाई जिसमें 'रामचरितमानस' की रचना के सम्बन्ध में निश्चित सूचना दी हुई है, अपनी व्याख्या के विषय में एक समस्या उत्पन्न करती है। यदि सब टीकाकारों के साथ हम भी यह मानें कि छंद ३४ की अर्धाली ३,४ मिलकर एक तिथि सूचित करती है, तो मानना पड़ेगा कि तुलसी ने अपना काव्य सं० १६३१ (१५७४ ई०) में चैत महीने की नवमी को, जिसदिन मंगल था, लिखना शुरू किया था। पर जैकोबी और ग्रियर्सन की गणना के अनुसार सं० १६३१ में चैत की नवमी के दिन बुधवार था, मंगल नहीं। इस विरोध को मिटाने के लिए ग्रियर्सन का सुझाव है कि चांद्रगणना और दूसरी प्रचलित गणना में अंतर था।[1]

डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस कठिनाई का दूसरा हल सुझाया है।[2] उनका कहना है कि छंद पहले अनुच्छेद में (छंद ३४, अर्धाली १–४) क्रियाएँ वर्तमान काल की हैं (बरनउँ-करउँ), इस के विरुद्ध दूसरे अनुच्छेद में क्रियाएँ भूतकाल की हैं (प्रकासा, कीन्हा), तीसरे अनुच्छेद में (छंद ३५, अर्धाली ७–१३) क्रिया फिर वर्तमान काल में है (कहउं)। इससे वे यह यथार्थ परिणाम निकालते हैं कि दूसरा अनुच्छेद (छंद १४, अर्धाली ५–दोहा ; छंद ३५, अर्धाली १–६) रामनवमी की तिथि को नहीं लिखा गया होगा ; क्योंकि उस दशा में छंद ३४ अर्धाली ६ में 'जेहि दिन' के स्थान पर 'आज' होना चाहिए था। इसी प्रकार वह दूसरा अनुच्छेद अयोध्या में नहीं लिखा गया होगा, क्योंकि उसका संकेत निकटवाची 'यहाँ' से न करके दूरवाची 'वहाँ' से किया गया है।

इस कठिनाई को सुलझाने के लिए उन्होंने एक सुझाव दिया है। उनका कहना है कि दूसरा अनुच्छेद उस समय नहीं लिखा गया, जब पहले और तीसरे लिखे गए ; वरन बहुत बाद में लिखा गया जब कवि अयोध्या से चले आए थे और उनके ग्रंथ का अधिकांश भाग लिखा जा चुका था। वैसी हालत में दिन की गड़बड़ी (बुद्ध की जगह मंगल) कवि की विस्मृति के कारण हुई होगी, क्योंकि उस घटना को बहुत समय बीत चुका था। संक्षेप में माताप्रसाद जी का मत इस प्रकार है—तुलसीदास ने पहला और तीसरा अनुच्छेद अयोध्या में सं० १६३१ की रामनवमी को लिखा। उसी समय उन्होंने संवत् का उल्लेख कर दिया था, पर मास और दिन या स्थान का उल्लेख नहीं किया। कुछ वर्ष बाद उन्होंने महीने की तिथि और स्थान का उल्लेख जोड़ कर उस भूल का सुधार कर दिया। पर तब उन्हें उस विषय में ठीक स्मृति न रही थी, इसीलिए दिन लिखने में भूल हुई।

यह कल्पना संभाव्य नहीं जान पड़ती। इस प्रकार तिथि और दिन का छूट जाना बहुत कम संभव है। इसके अतिरिक्त उक्त चौपाईयों में घटाने-बढ़ाने का कोई चिह्न नहीं मिलता। सारा अंश एक साथ ही लिखा गया जान पड़ता है। यदि हम मूल की ओर गहराई से समीक्षा करें, तो पता चलता है कि छंद ३४ की

---

[1] नोट्स ऑन तुलसीदास, इंडियन एण्टिक्वेरी, २२।८९

[2] रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका, १९३५, ४।७७७

अर्धाली ४-५ जो दो अलग-अलग चौपाइयों के अंतर्गत हैं, मिलकर एक ही तिथि सूचित नहीं करतीं, क्योंकि दोनों पंक्तियों में क्रिया के काल भिन्न-भिन्न हैं। अतएव संवत् १६३१ जिसमें कवि ने आमुख का वह अंश लिखा है और रामचरितमानस-नामक ग्रंथ के प्रारंभ करने की सूचना दी है, वही वर्ष नहीं था। जब उसने रामकथा लिखना आरंभ किया था हमारी सम्मति में 'रामचरितमानस' ग्रंथ और कवि द्वारा रामकथा के आरंभ करने के वर्ष भिन्न-भिन्न थे। तुलसी ने उक्त अर्धालियोंवाला अंश सं० १६३१ में लिखा, पर अयोध्या और रामनौमी वाले अंश का स्मरण तब किया जब पहले रामकथा लिखना आरंभ की थी। इसमें आश्चर्य नहीं कि वह स्थान और वह दिन उनकी स्मृति में छप गया था। उन्हें सप्ताह का दिन मंगल भी याद था। पर उस पहले वर्ष का उल्लेख उन्होंने नहीं किया, अन्यथा उन्हें दो तारीखें देनी पड़तीं, जो कि कुछ अटपटा लगता। अतएव हम निम्नलिखित परिणाम पर पहुंचते हैं। तुलसी ने अयोध्या में राम का चरित सं० १६३१ से पहले किसी वर्ष में लिखना शुरू कर दिया था। पर संवत् १६३१ में उन्होंने 'रामचरितमानस' अर्थात् शिव के मानस में जो रहस्यात्मक कथा थी उसे आरंभ किया। उस समय रामचरितका महत्वपूर्ण भाग वे लिख चुके थे, और उस प्रथमलिखित अंश को उन्होंने अपने बड़े ग्रंथ में सम्मिलित कर लिया। पर जब वे अपने काव्यके लिए प्रस्तावना लिखने लगे (आमुख का उत्तरार्द्ध) तो तुलसी ने सावधानी से इस बात का स्मरण किया कि किस शुभ स्थान और किस शुभ दिन में उन्होंने वह रामचरित लिखा था, जो संवत् १६३१ में संघटित किए जाने वाले 'रामचरित मानस' का अंग बन गया। इस कल्पना की संभावना इस बात से और भी बढ़ जाती है कि काव्य का बीच का भाग जिसमें तुलसी ही वक्ता हैं पहले लिखा जा चुका था। और ग्रंथ का अवशिष्ट अंश एवम् आमुख का उत्तरार्ध बाद में लिखा गया।[1] संवत् के साथ काव्य के शीर्षक का भी इस प्रकार उल्लेख किया गया है।

रामचरितमानस एहिनामा। सुनत श्रवन पाइस बिश्रामा।
मन करि बिषय अनल बन जरई। होई सुखी जौं एहिं सर परई।

तुलसी ने उस नाम के कारण और महत्व पर भी प्रकाश डाला है (१।३५।५-७)।

रामचरितमानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन।
त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन।
रचि महेस निज मानसराखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा।
तातें रामचरित मानस बर। धरेउ नामहियें हेरि हरषि हर।
कहउँ कथा सोई सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।

यहाँ नाम का सम्बन्ध रामचरित के कर्ता के रूप में शिव की करनी से संबंधित बताया गया है। इसका आधार मानस शब्द के श्लेषपरक दो अर्थों पर है। एक मन, दूसरा मानसरोवर। अतएव मानसरोवर का अर्थ है 'राम के चरित का मानस अर्थात मानसरोवर' (या अन्तरात्मा)। इसलिए रामचरितमानस से राम की कथा का सरोवर (अथवा आत्मा समझा जा सकता है)। मानस शब्द पर इस प्रकार का श्लेष तीसरे कांड में दो बार[2] और सातवें कांड में कई बार आया है, पर वहाँ काव्य के नाम का संकेत नहीं है। इसी प्रकार १।१४६ में स्वायंभुव मनु ने राम की स्तुति करते हुए उन्हें भुशुंडि के मनरूपी मानसरोवर का हंस कहा है। (भुशुंडि मन मानस हंसा) वस्तुतः हिन्दीरामायण में 'रामचरितमानस' नाम का उल्लेख आश्चर्यजनक रूप से विरल है। आमुख के ऊपर लिखे स्थल के अतिरिक्त वह केवल दो बार और आया है। एक तो बालकांड के छंद १२० के एक अतिरिक्त सोरठे में, जहाँ भुशुंडिको 'रामचरितमानस' का वक्ता कहा गया है, और दूसरे सातवें कांड के भुशुंडिचरित में जहाँ लोमष ऋषि काग भुशुंडि को 'रामचरितमानस' सुनाते हैं। हो सकता है कि तुलसी ने यह नाम वहीं से लिया हो जहाँ से सातवें कांड के भुशुंडिचरित की सामग्री ली थी। कुछ भी हो, वह नाम रामकथा के वक्ता भुशुंडि से जान पड़ता है। यह संभव है कि अपने ग्रंथ का वह नाम रखने का विचार तुलसी को कुछ बाद में आया[3]।

---

[1] परिच्छेद ७—४, 'अयोध्याकांड का पूर्वलेखन'
[2] ३।८।१ ; ११।४
[3] परिच्छेद १४, २, रामचरितमानस की रचना

इस प्रकार 'रामचरितमानस' की दिव्य उत्पत्ति और नाम को उचित ठहरा कर कवि पुनः वर्तमान काल में 'कहउँ' अपनी कथा के आरंभ की घोषणा करता है। जिससे यह आशा हुई थी कि शिव-पार्वती-संवाद का आरंभ होगा। पर वस्तुतः वह संवाद बहुत बाद में छंद १०५ पर आता है। एक दूसरे आकस्मिक विचार को बीच में रखते हुए तुलसी बताते हैं कि उनके काव्य के साथ 'रामचरितमानस' नाम की संगति किस प्रकार है। पर जो कुछ कहा गया है, वह नाम की व्याख्या कम है और ग्रंथ की मानसरोवर के साथ अलंकारात्मक और प्रतीकात्मक तुलना अधिक। हम देखते हैं कि यहाँ कवि में आमुख के पूर्वार्ध की अपेक्षा आत्मविश्वास की मात्रा कहीं अधिक है (१।३६।१)।

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी।

शिव की कृपा से, तुलसी के हृदय में सुमति (काव्य-स्फूर्ति) जाग्रत हुई है और वह 'रामचरितमानस' का कवि हो गया है। पर दूसरा अर्थ भी संभव है, और हम समझते हैं, वही अधिक संभाव्य है।

शिव की कृपा धन्य है, जिससे तुलसी के हृदय में स्फूर्ति उत्पन्न हुई, और रामचरितमानस धन्य है, जिससे तुलसी कवि बन गया।

उस मानस के वर्णन में आमुख का शेषांश अर्थात् आठ छंद प्रयुक्त हुए हैं। इस विचित्र वर्णन को ठीक-ठीक सारांश कहना उपयुक्त नहीं होगा। फिर भी यह निश्चित है कि इसे बाद में लिख कर कवि ने अपने ग्रंथ की सौंदर्यपरक विशेषताओं और उससे मिलने वाले आध्यात्मिक लाभों की ओर संकेत किया है। (१। ३६।२—दोहा, ३७।१-४)—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू, बेद पुरान उदधि घन साधू।
बरषहिं राम सुजस बर बारी, मधुर मनोहर मंगलकारी।
लीला सगुन जो कहहिं बखानी, सोइ स्वच्छता करइ मल हानी।
प्रेम भगति जो बरनि न जाई, सोई मधुरता सुसीतलताई।
सो जल सुकृत सालि हित होई, राम भगत जन जीवन सोई।
मेधा महिगत सो जल पावन, सकिलि स्रवन मग चलेउ सुहावन।
भरेउ सुमानस सुथल थिराना, सुखद सीतरुचि चारु चिराना।
सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारु।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारु।
सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना।
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बरबारि अगाधा।
राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम।
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई।
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा।
सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ग्यान बिराग बिचार मराला।
धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहुभांती।

कविने कुछ भी विवरण पाठकों के सोचने के लिए नहीं छोड़ा है। सुकृति साधुओं और राम नाम के गुणों की जल-पक्षियों से तुलना की गई है। भक्ति के अनेक विधान वृक्षों के समान कहे गए हैं, जिनमें शम, यम और नियम के फूल फूलते हैं और ज्ञान के फल लगते हैं। एवम् अनेक प्रसंग और उपकथाएँ उन वृक्षों पर कलरव करनेवाले 'शुकपिक' के समान हैं, जो इस कथा को गाते हैं या सुनते हैं। वे इस मानस के रखवाले और अधिकारी हैं। इसके विपरीत जो विषयों में डूबे हुए हैं, वे उन बगुलों और कौओं के समान हैं, जो इस सर के निकट नहीं आते (१।३८।५-६)—

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही।
भएउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू।
चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो।

कथा के प्रत्येक भाग की तुलना उस मानस के किसी-न-किसी भाग से की गई है। काव्य के मुख्य भागों को छः ऋतुओं के समान माना है। शिव-पार्वती-विवाह हेमंत है। राम-जन्म का आनंद शिशिर है। राम का विवाह वसंत है। राम का वन-गमन निर्मम ग्रीष्म है। राक्षसों से घोर युद्ध वर्षा है। राम का सुखी राज्य सुंदर शरद ऋतु है। यह विचित्र बात है कि कवि अपनी विनय और दीनता का भी उल्लेख करता है, जो कि आमुख के पूर्वार्ध में वर्णित है। उसका कहना है कि मेरी यह दीनता ही उस मानस के जल का हल्कापन है (ललित लघुता)।

इस स्थल के अंत में भूतकाल का प्रयोग इस वर्णन के बाद की रचना होने का समर्थन करता है।

मति अनुहारि सुबारि, गुन गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी संकरहि, कह कबि कथा सुहाइ। —(१।४३। दोहा १)

यह लंबा संदर्भ कई कारणों से आश्चर्यजनक है। इसमें 'रामचरितमानस' का वर्णन ग्रंथ के रूप में उतना नहीं, जितना नीति या धर्म-प्रधान काव्य के रूप में है। जिसमें गंभीर संवाद और दार्शनिक विचार ही मुख्य विषय हैं। कथात्मक भाग बीच की उपकथाओं और आख्यानों को यों ही शुक-पिक के समान कहा गया है। इस प्रकार का वर्णन सांप्रदायिक रामायणों के सदृश ज्ञान या अध्यात्म-प्रधान ग्रंथों के लिए अधिक चरितार्थ होता है। संपूर्ण हिंदीरामायणके लिए यह उतना उपयुक्त नहीं है। केवल उसके कुछ अंशके लिए, विशेषतः सातवें कांड के लिए, जिसका अंतिम भाग (काग-भुशुंडि-संवाद है) सांप्रदायिक रामायण के ढंग पर निर्मित हुआ है।

उन संवादों का उल्लेख जो उस मानस के चार घाट हैं, स्पष्ट नहीं हैं। वे कौन से संवाद हैं? राम-कथा के पात्रों में जो पारस्परिक संवाद हुए हैं, उनसे तो तात्पर्य हो नहीं सकता, क्योंकि इस प्रकार के कथोपकथन बहुत से हैं और उन्हें उस प्रकार के घाट नहीं माना जा सकता, जिनसे 'रामचरितमानस' तक पहुँचा जाता है। स्पष्टतः इनका संकेत उन संवादों से होना चाहिए, जो कथा के विभिन्न वक्ता-श्रोताओं के बीच हुए हैं। सब टीकाकारों ने संवादों को उसी अर्थ में समझा है, पर उनकी पहचान करने में सबको कठिनता पड़ती है। शिव-पार्वती, याज्ञवलक्य-भारद्वाज और भुशुंडि-गरुड़ इन तीन संवादों के विषय में सब एक मत हैं पर चौथा संवाद कौन सा लिया जाय? किसी ने तुलसी और संतों के बीच में एक संवाद माना है, दूसरे ने राम और उनके भक्तों के बीच में, पर ऐसे सुझावों का कोई आधार नहीं है।

हमारी सम्मति में इस प्रश्न का समाधान हो सकता है, यदि हम सातवें कांड की विशेष रचना पर ध्यान दें। वस्तुतः 'रामचरितमानस' में दो शिव-पार्वती-संवाद हैं—एक बालकांड में, दूसरा उत्तरकांड में। जैसा आगे विचार करेंगे, तुलसी ने उन दो संवादों के सम्मिश्रण का प्रयत्न किया है, जिससे वे भुशुंडि द्वारा कही रामायण को शिव द्वारा वर्णित रामायण के समकक्ष ला सकें[1]। पर वस्तुतः कांड सात में शिव की वही स्थिति है, जो कांड एक में याज्ञवलक्य की। कांड एक में शिव कथा के प्रथम वक्ता हैं, कांड सातमें वे भुशुंडि की अपेक्षा गौण हो जाते हैं। कांड एक और सात की रचना समान ढंग से हुई है। दोनों में एक संवाद और एक उप संवाद को ऊपर नीचे रख कर कांड का रूप खड़ा किया गया है। अतएव आमुख में चार संवादों का संकेत ग्रंथ के तथ्यों से पूर्णतः समन्वित होता है।

'रामचरितमानस' के आलंकारिक वर्णनमें तुलसीने अपने ग्रंथके काव्यात्मक गुणों पर विशेष बल दिया है; यह बात कुछ आश्चर्यजनक है, क्योंकि आमुख के पूर्वार्ध में वे इससे कुछ अन्यथा कह चुके हैं। अब हम देखते हैं कि हिन्दीरामायण का रचयिता अपने कवि होने की घोषणा करता है और उसका विचार है कि इस ग्रंथ में काव्य की सब आवश्यकताओं का निर्वाह किया गया है। विज्ञजन इसके अनेक छंद, चौपाई और दोहोंके कारण

[1] परिच्छेद १३,३, भुशुंडि द्वारा कथित रामायण।

एवम् ध्वनि वक्रोक्ति आदि कवित्व गुणों के कारण इसका रस पान करेंगे। तुलसी ने अपने ग्रंथ और अपनी शक्ति के बारे में पूर्व की अपेक्षा बिलकुल ही दूसरे प्रकार का विचार व्यक्त किया है। जो पहले भक्ति-प्रधान ग्रंथ था और सुखदायक होने पर भी काव्य-गुणों के विषय में जिसका दावा न था, अब इस प्रकार का काव्य बन गया है, जिसके विषय में उसके लेखक को गर्व है।

अंतिम विश्लेषण करते हुए प्रतीत होता है कि ऊपर के इस वर्णन का कुछ अर्थ नहीं है, यदि हम सातवें कांड की रचना और विषय पर ध्यान दें, जिसमें शिव नहीं वरन् भुशुंडि रामकथा या 'रामचरितमानस' के साक्षात् वक्ता हैं। उसी कांड में यह बताया गया है कि भुशुंडि ने रामकथा का आरंभ रामचरितरूपी मानस के वर्णन से किया है (रामचरित सर कहिस बखानी, ७।६४।४)। देखिए, परिच्छेद १३, ३।

भुशुंडि का वह वर्णन उसी प्रकार का रहा होगा, जैसा तुलसी ने आमुख के उत्तरार्ध में दिया है। यहाँ और वहाँ दोनों का स्रोत एक ही रहा होगा।

रामचरितमानस में आमुख पर व्यापक दृष्टि

'रामचरितमानस' का आमुख, जैसा हमने अभी देखा, विशेष रूप से जटिल है, क्योंकि इसमें ग्रंथ की जटिलता का प्रतिबिंब है। उसका पूर्वार्ध (१-२६) भाव-सारल्य के कारण विशिष्ट है। जिसमें कवि के निजी विचार और कहीं-कहीं कथानक भी हैं और किसी प्रकार का काव्यात्मक ठाठ नहीं है। इसके द्वारा जिस वस्तु का आरंभ किया गया है, वह स्वांतः सुखाय और सब शास्त्र-संगत तुलसी की विरचित रामकथा है। उसमें रामचरित रूपी मानस या कथा के काल्पनिक वक्ताओं का कोई उल्लेख नहीं है और न कथा की अनंतता या शिव-पार्वती-संवाद का उल्लेख है।

आमुख के पूर्वार्ध में कुछ शब्दगत विशेषताएँ भी हैं। 'हरि' शब्द का अर्थ कभी विष्णु लिया जाता है, जैसे हरिहर (विष्णु और शिव) या बिधि हरि हर (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) शब्दों में। जब हरि शब्द का अकेले प्रयोग होता है, तब वह राम का पर्यायवाची है और उसका अर्थ भगवान परब्रह्म या उपनिषदों के ब्रह्म आत्मतत्व से है। जो कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव से भी महान है। केवल एक स्थल में (२०।४) इसका अर्थ कृष्ण है। हरि संज्ञक राम के मानवीय कर्मों को 'चरित' कहा गया है, 'लीला' नहीं। अंत में धार्मिक शब्दावली के अन्तर्गत 'गरीब निवाजु', 'साहिब' जैसे अरबी-फारसी के शब्द हैं, जो कि आमुख के उस भाग में और अयोध्याकांड में ही आए हैं। शेष काव्य में अन्यत्र नहीं। धार्मिक अभिमत कुछ अस्पष्ट-सा है। उसकी मुख्य विशेषता एक प्रकार का समन्वय है, जो भागवतपुराण से लिया गया है, पर जो उससे भी आगे बढ़ा हुआ है और कुछ बातों में कबीर एवम् कबीर-पंथी कोटि तक पहुँच जाता है। जैसा कि विदित है, गुरु की ईश्वर रूप में कल्पना। ईश्वर के नाम उच्चारण या जप की महिमा उसी पंथ की विशेषताएँ हैं। और भी, यद्यपि कबीर अवतारवाद को नहीं मानते, पर वे अपने ईश्वर को राम या हरि कहते हैं।

आमुख का उत्तरार्ध पूर्वार्ध से भाव और रचना में भिन्न है और कई बातों में विरुद्ध भी। अब 'रामचरितमानस' अर्थात् राम के चरित रूपी सरोवर का कवि परिचय देते हैं। जिसे मूलतःशिव ने पार्वती से कहा था और जो कई संवादों की परंपरा से तुलसी को प्राप्त हुआ। जैसे शिव, काग भुशुंडि, याज्ञवलक्य, भारद्वाज की श्रृंखला द्वारा, कवि जिनकी शरण ग्रहण करता है। वह मानस अनेक कथाओं का भंडार है, जो सब सत्य है और उस नित्यरामायण से उत्पन्न है, जो शिव के मुख से प्रकट हुई थी। क्योंकि राम के अवतार अनेक हैं, उनकी कथा भी अनंत है। उनके नर चरित भागवतपुराण के कृष्ण के चरितों के समान उनकी माया की लीला या क्रीड़ा है।

ग्रंथ के इस भाग को समझने में कठिनाई होती है। संपूर्ण काव्य के साथ मिलान करने से और विशेषतः सातवें कांड से तुलना करने पर ही, जो यहाँ अवश्य विवक्षित है, इस प्रसंग को समझा जा सकता है। अतएव यह भाग सब से अंत में लिखा गया होगा। वस्तुतः इस में ग्रंथकर्ता ने अपने काव्य के विभिन्न भागों के पारस्परिक विरोधों को मिटाने का और उसे एकात्मकता का रूप प्रदान करने का भारी प्रयत्न किया है। •••

म० विश्वनाथसिंह प्रणीत संगीत-रघुनंदन[1]

श्री उमाकान्त प्रेमानन्द शाह

रीवा के महाराज विश्वनाथसिंह (शासनकाल १८१४–१८५४ ई०) विद्या और संगीत के महान् पोषक थे। स्वयं उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक ग्रंथों की रचना की थी। रामायण-नायक रामचंद्र के प्रति उनकी भक्ति उनकी विद्वत्ता की अपेक्षा अधिक थी और उनकी अधिकतर रचनाओं की विषय-वस्तु श्रीरामचंद्र का जीवन और माहात्म्य ही है। इन रचनाओं में निम्नोक्त ग्रंथ विशेष रूप से दर्शनीय हैं—

(१) **आनंदरघुनंदननाटक**—यह रामचरित पर लिखा हुआ एक नाटक है। हस्तलेख में ८५ पत्र, २२२५ श्लोक। यह श्यामसुंदरदास के हिन्दी हस्तलेख के वार्षिक विवरण (इलाहाबाद १९०७) में वर्णित है। इस हस्तलेख की तिथि संवत् १८८७ (१८३० ई०) है और यह ग्रंथ रीवा में शासकरूप से अभिषिक्त होने के पहले ही उनके द्वारा स्वभावतः प्रणीत हुआ था।

हिन्दी हस्तलिखित ग्रंथों के खोज-विवरण (इलाहाबाद १९२९) के पृष्ठ ३२६ में भी रायबहादुर हीरालाल ने आनंदरामायण नाटक के हस्तलेख का विवरण दिया है; इस ग्रंथ की भाषा हिन्दी है।

(२) **रामायण (श्लोक में)**—१३४४८ श्लोक, हस्तलेख संख्या ११५, हिन्दी हस्तलेख के वार्षिक विवरण (इलाहाबाद १९०५), पत्र ५७०। इसकी तिथि—संवत् १८८९ (१८३२ ई०)। इस हस्तलेख में गुरुप्रियादास का उल्लेख है तथा ग्रंथकार के लिए 'महाराजकुमार श्रीबाबूसाहेब विश्वनाथ सिंह जू देव' कहा गया है।

हिन्दी हस्तलेखों के त्रैवार्षिक विवरण (प्रयाग १९१४, पृ० ४४३) में भी इस रामायण का उल्लेख है।

(३) **आनंदरामायण (अयोध्याकांड से उत्तरकांड)**—श्लोकबद्ध, पत्र २५०। परिमाण १४००० श्लोक। रामचंद्र की श्लोकबद्ध जीवनी। इस ग्रंथ के ७ भाग हैं, जिनमें प्रथम भाग अप्राप्त है। राजा होने के पहले ही उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की थी। हस्तलेख के विभिन्न भागों का रचनाकाल संवत् १८८० से १८९० पर्यंत है।

(४) **गीतावली पूर्वार्ध**—श्यामसुंदरदास-कृत हिन्दी हस्तलेख के वार्षिक विवरण (इलाहाबाद १९०७) में उल्लिखित। हस्तलेख संख्या ११४, पत्र ९१, श्लोक २४९०। यह महाराजकुमार विश्वनाथ सिंह-कृत रामचंद्र और अयोध्यापुरी का विवरण है। इस हस्तलेख की तिथि विक्रम संवत् १८८७ है। इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति (वि० संवत् १८९३, १८३७ ई०) अनूप संस्कृत ग्रंथागार में भी है।

(५) **अयोध्या-यशोवर्णन (हिन्दी)**—अनूप ग्रंथागार में इसका एक हस्तलेख है।

(६) **चित्रकूट माहात्म्य (हिन्दी)**—अनूप ग्रंथागार में इसका हस्तलेख है।

(७) **टीका प्रमानिका**—जमुनादास-कृत गीतरघुनंदन पर हिन्दी में (गद्य-पद्य में)। हिन्दी हस्तलेखों के वार्षिक विवरण (इलाहाबाद १९०३) में उल्लिखित। पत्र ३९, परिमाण १४३२ श्लोक। टीका संवत् १९०१ में समाप्त हो चुकी थी।

विश्वनाथ सिंह रचित श्रीराम-संबंधी संस्कृत-ग्रंथ—

(८) **रामचंद्र चम्पू सटीक**—हस्तलेख संख्या ७३, राजेंद्रलाल मित्र के विवरण पृ० ४१, भाग १ (कलकत्ता १८७१) में उल्लिखित। हस्तलेख के अंत में, यह श्लोक है—'इति श्री महाराजाधिराज श्री राजुबहादुर सीतारामचंद्र कृपापात्राधिकारी विश्वनाथसिंह भूदेव विरचित रामचंद्राह्निकटीकायामष्टमोयम:'। अतः यह रामचंद्र चम्पू ही रामचंद्राह्निक है। (रामचंद्राह्निक के लिए और भी देखिए, कैटेलोगस् कैटेलोगोरम् भाग १, पृ० ५८५)।

[1] अनुवादक—श्रीरामशंकर भट्टाचार्य।

कैटे० कैटेलोगोरम् (भाग १, पृ० ५८५) से निम्नोक्त संस्कृत ग्रंथ भी विज्ञात होते हैं :—

(९) **रामगीताटीका** (कैटे० कैटेलोगरम् १।५१०)।

(१०) **पूर्वनिर्दिष्ट रामचंद्राह्निक** की उनकी अपनी टीका (कैटे० कैटेलोगोरम् १।५५३)।

(११) **सर्वसिद्धांत**—रामचंद्र की ईश्वरता के विषय में राजकुमार विश्वनाथ सिंह और भिक्षुकाचार्य का कथोपकथन। इसका एक हस्तलेख राजेंद्रलाल मित्र के विवरण (भाग ७, कलकत्ता, १८८४, पृ० ९९–१००) में वर्णित है।

(१२) **संगीतरघुनंदन**—अनूप संस्कृत ग्रंथागार में हस्तलेख है। तिथि-संवत् १८९१ (१८३५ ई०), पत्र १५।

रामचरित से संबंधित विश्वनाथसिंह की कृतियों के उपर्युक्त विवरण का आधार डॉ० पी० के० गोडे का लेख (रीवा के महाराज विश्वनाथसिंह की संस्कृत और हिन्दी कृतियाँ) है, जो निउ इंडियन एंटिक्वेरी भाग ९, (१९४७), पृ० १९२–१७३ में प्रकाशित है।[1]

रामचंद्राह्निक के विषय में डॉ० हरदत्त शर्मा कहते हैं कि "यह काव्य गीतगोविंद का अनुकरण कर लिखा गया था और यह राम का प्रशंसापरक था। ग्रंथकार ने इस पर अपनी टीका लिखी है (हरप्रसाद शास्त्री की ग्रंथ सूची ७, संख्या ५२५५–५६), गीतगोविंद का एक दूसरा अनुकरण संगीतरघुनंदन में किया गया है (हरप्रसाद शास्त्री की ग्रंथ सूची ७, संख्या ५२५९)।"

जैसे पहले कहा गया है, संगीतरत्नाकर का एक हस्तलेख बीकानेर के अनूप संस्कृत ग्रंथागार में है। इस ग्रंथ का एक तीसरा हस्तलेख ओरियंटल इंस्टीच्यूट बड़ौदा के संग्रह में है—हस्तलेख संख्या १३११९, तिथि संवत् १८९२ (१८३५ ई०), पत्र ५९, परिमाण १६०० ग्रंथ। व्यंगार्थचंद्रिका टीका के साथ मूलग्रंथ इसमें अंतर्भुक्त है। मूलग्रंथ और टीका के अंत की पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्रीमन् महाराजकुमार श्री विश्वनाथसिंह विरचिते संगीतरघुनंदने ग्रंथमाहात्म्यवर्णनपूर्वक प्रणामादिविधानं नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥ इति सिद्धि श्रीमन् महाराजाधिराज श्रीमहाराज श्रीराजाबहादुर रामचंद्रकृपापात्राधिकारि विश्वनाथसिंहदेवकृतायां व्याख्यायांव्यंगार्थचंद्रिकानाम्निटीकायां षोडशः सर्गः ॥१६॥ पौषि शुक्ल त्रयोदश्यां शनिवासरे संवत् १८९२।

इस ग्रंथ के कुछ विषयों के निर्देश करने के पहले यह कहा जा सकता है कि डॉ० हरदत्त शर्मा का यह अभिमत[2] कि 'यह ग्रंथ किसी प्रियादास की कृति है, जो विश्वनाथसिंह के आश्रित थे'—युक्तिसंगत नहीं है। विश्वनाथसिंह प्रणीत 'सर्व सिद्धांत' ग्रंथ के अंत में जो कहा गया है, वह स्पष्ट ही प्रमाणित करता है कि प्रियादास विश्वनाथसिंह के गुरु थे, न कि उनके आश्रय में एक कवि।[3] हिन्दीरामायण में भी प्रियादास को ग्रंथकार के गुरु की तरह कहा गया है। परंतु डॉ० शर्मा कहते हैं कि 'यद्यपि अंतिम पुष्पिका के अनुसार स्वयं विश्वनाथसिंह ही ग्रंथ का रचयिता होता है, तथापि निम्नोक्त पंचम श्लोक (ग्रंथादि से) प्रमाणित करता है कि शायद यथार्थ ग्रंथकार कोई प्रियादास थे'—जयति सच्चिदानंदघनवरदवर सर्वगुणशालि शृंगाररसपालि मूर्तिः सर्वजनवत्सलः प्रविगलितमत्सरः प्रेमपाथोधिपुरुषार्थ पूर्तिः। सर्वगत सर्वमतसर्ववंदित चरण सर्वशरणोदुतिविहारी गुरुरूपरघुवरः श्रीप्रियादास इह विश्वनाथांतरे गीतकारी ॥

यह स्वतः निर्गलित होता है कि यहाँ विश्वनाथ अपने गुरु प्रियादास के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है, जो (प्रियादास) रघुवर के अवतार-स्वरूप थे। इस श्लोक की विश्वनाथीय टीका में ऐसा कहना निश्चित ही था, क्योंकि वह कहता है—'अथ ज्ञानप्रदत्वात् गुरुं स्तौति...।[4]

---

[1] इसका पुनर्मुद्रण 'भारतीय साहित्यिक इतिहास परक अध्ययन'। भाग २ (सिंघी सिरीज संख्या ३८, बम्बई, १९५४) पृ० २४२-२५८ में हुआ है।

[2] कृष्णस्वामी आयँगार स्मारक ग्रंथ पृ० ५३

[3] तुलना करो—तस्य शिष्योऽस्मदाचार्यः परमानन्दरूपवान्। भुवनो श्रीप्रियादासो नित्यं तस्मै नमो नमः॥ इति श्री सर्वसिद्धान्ते श्रीमहाराज कुमार श्री विश्वनाथसिंहविरचिते इत्यादि।

[4] इस ग्रन्थ के रचयिता के विषय में एम० कृष्णमाचारियर अभिमत भी संगत नहीं है (द्र० उनके क्लासिकल संस्कृत

डॉ० हरदत्त शर्मा का संशय अष्टम श्लोक (संगीतरघुनंदन के आरंभ से) से भी दूरीकृत हो जाता है। श्लोक निम्नोक्त प्रकार का है—

विन्ध्ये रिपुगजसिंहो जयसिंहो राजसिंहोऽस्ति।
तनुते तस्य तनूजो ग्रन्थं सङ्गीत रघुनंदनाख्यम् ॥८॥

जयदेव के गीतगोविंद का अनुकरण कर संगीतरघुनंदन लिखा गया था। जयदेव के ग्रंथ में १२ सर्ग तथा २४ अष्टपदी या पदावली हैं। प्रत्येक अष्टपदी का आरंभ एक ध्रुव से होता है, और उसके बाद ८ पद होते हैं, जिसके अंत में पुनः ध्रुव गाया जाता है। प्रत्येक गीत के राग और ताल आरंभ में कहे जाते हैं। प्रत्येक अष्टपदी में जो राग कहा गया है, उसकी प्रामाणिकता के विषय में गायकों में कुछ संदेह विद्यमान हैं। पहली अष्टपदी में जो राग कहा गया है, वह मालव है; पर अपनी टीका 'रसिकप्रिया' में राणाकुंभ ने स्पष्टतः कहा है कि वे कुछ परिवर्तन कर रहे हैं और पहली अष्टपदी के विषय में मध्यमग्राम में मध्यमादि षाड़व का निर्देश करते हैं। दक्षिण के गायकों ने अष्टपदी को प्रचलित दक्षिण भारत के रागों के अनुसार नियमित (या व्यवस्थापित) किया है।[1]

संगीतरघुनंदन में १६ सर्ग हैं। इसकी शैली जयदेव की शैली की तरह सरस नहीं है। उदाहरण के लिए (हम कह सकते हैं कि) जयदेव की प्रथम अष्टपदी विश्वनाथसिंह की अष्टपदी से अत्यधिक उत्कृष्ट है, जो जयदेववर्णित १० अवतारों के स्थान पर २४ अवतारों का निर्देश है। मेरे द्वारा व्यवहृत हस्तलेख में संगीतरघुनंदन के विभिन्न गीतों के ताल और राग का निर्देश नहीं है, परंतु, संगीतरघुनंदन के गीत प्रायः जयदेव के निर्देशों का ही अनुसरण करते हैं। चूंकि मैं अभी तक विश्वनाथसिंह के रामचंद्राह्निक को देख नहीं सका (जिसके विषय में भी यह कहा जाता है कि वह जयदेव के काव्य का अनुकरण है), अतः मैं यह कहने में असमर्थ हूँ कि विश्वनाथ ने अपनी प्रचेष्टा में कितनी सफलता पाई है।

संगीतरघुनंदन के सर्गों के नाम इस प्रकार हैं—(१) मंगलाचरण, (२) गृहरासवर्णन, (३) वसंतरासवर्णन, (४) जानक्यंतर्धानवर्णन, (५) वसंतिकागमनम्, (६) चारुशीलाकृत मान्यानुनयवर्णनम्, (७) श्रीजानकीसमागमः, (८) श्रीजानकीभूषणविधानम्, (९) दोलावर्णनम्, (१०) सर्वांगशोभावर्णनम्, (११) श्रीजानकीरघुनंदनयोगीतवर्णनम्, (१२) विरहवर्णनम्, (१३) सरयूवर्णनम्, (१४) सरयूतटविहारवर्णनम्, (१५) सखिस्थितिनामसंख्यावर्णनम्, (१६) ग्रंथमाहात्म्यवर्णनम्।

यद्यपि विश्वनाथ सिंह का संगीत रघुनंदन गीतगोविंद का एक अनुकरण है, तथा एक सचमुच परिश्रमसाध्य कृति है (जहाँ तक सामान्य विवरण तथा राम की वसंतक्रीड़ा के वर्णनीय विषय का सम्बन्ध है) परंतु सभी गीत जयदेव के आदर्श की पूर्णतः प्रतिकृति नहीं हैं। विश्वनाथ सिंह ने अपने ग्रंथ में गद्यात्मक प्रबंध भागों का भी व्यवहार किया है। यह गद्य ···[2] है, उसके उदाहरण तृतीय और षोडश सर्ग से नीचे दिए जा रहे हैं। षोडश सर्ग के गद्य भाग मात्रावृत्त में लिखित हैं, जिसको किसी भी राग में पढ़ा जा सकता है। इनकी शैली अनुप्रास तथा श्रुतिसुखकर शब्दों से अलंकृत हैं, परंतु संगीतरघुनंदन में कुछ अंश तक जयदेव के गीतों की तरह रागयुक्त काव्य-प्रेरणा और गीतिकाव्य के सौंदर्य से शून्य है।

गीतगोविंद के आदर्श के अनुसार लिखे गए ग्रंथों में कुछ के नाम नीचे दिए जाते हैं—(१) भानुदत्त का गीत-गौरीपति, (२) सोमनाथ का कृष्णगीत, (३) राम का गीतगिरीश, (४) गोविंददास का संगीतमाधव (प्रायः १५३७–१६१२ ई०), (५) कल्याणकृत गीतगंगाधर, (६) राजशेखर का गीतगंगाधर, (७) चंद्रशेखरसरस्वती का गीतगंगाधर, (८) चंडशिखामणि-कृत शिवगीतिमालिका, (९) वेंकटप्पानाइक, (प्रायः १५९० ई०) कृत शिवाष्टपदी, (१०) सुंदराचार्य का गीतशतक, (११) सदाशिव दीक्षित

लिटरेचर। पृ० ८५० और टिप्पणी।) उनके अनुसार संगीतरघुनन्दन के अतिरिक्त विश्वनाथसिंह ने गीतगोविन्द की शैली का अनुकरण कर राम की प्रशंसा में रामार्चनचन्द्रिका नाम एक काव्य अपनी टीका के साथ लिखा था।

[1] द्र० एम० कृष्णमाचारियर का संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३३९-३४० तथा टिप्पणी। [2] अपठनीय अंश।

का संगीतसुंदर, (१२) अभिनवकीर्त्ति का गीतवीतराग (महीशूर ओरियंटल मैनुसक्रिप्ट लायब्रेरी २४६) एक जैनग्रंथ प्रतीत होता है। अन्य जैन-अनुकरण विनयविजय (प्राय: १६८४ वि० संवत्) के शांतसुधारस काव्य में दीख पड़ता है।

राम को नायक मानकर (उपर्युक्त ग्रंथों में वर्णित शिव या कृष्ण के स्थल में) गीतगोविंद के अनुकरण में लिखे गए ग्रंथों में निम्नोक्त ग्रंथ ज्ञात हैं—

(१३) प्रभाकर (प्राय: १६७४ ई०, हस्तलेख के लिए देखिए कैटे० कैटेलोगोरम् १।१५४) का गीतराघव, (१४) रामकृष्णकवि का गीतराघव (हस्तलेख महीशूर ओरियंटल मैनुसक्रिप्ट लायब्रेरी, संख्या २४६), विचार्यमाण विश्वनाथ सिंह के, (१५) रामोद्धरण गीतिकाव्य (हस्तलेख संख्या ६३५ ओ० एम० एल० में), (१६) रामचंद्राह्निक तथा (१७) संगीतरघुनंदन।[1]

संदर्भ परिदर्शन के लिए मैं यहाँ संगीतरघुनंदन के १–३ सर्ग तथा १६ सर्ग का देवनागरी लिपि परिवर्तित कर प्रकाशित कर रहा हूँ।[2]

सङ्गीत-रघुनन्दन-काव्यम्

श्रीजानकीवल्लभाय नमः।

रामप्रेमपयोधिवर्द्धनविधुः शृङ्गाररसारास्पदं
संसारार्णवदासतारणतरिर्मायातमो दीपिका।
विद्युद्धासुखवृंदवर्षणकरी कादंबिनीकाप्यसौ
मद्धृत्कंजनिवासिनी विजयतां श्रीजानकी सर्वदा ।।१।।

कीर्त्याः कीर्तिरथो भूवोऽपि च तथा भूः श्रीः श्रीयश्चोत्तमा–
ह्लादिन्याविसुशक्ति सेवितपदा मायादिकस्वामिनी।
सर्वेषामपि कामदो रघुपतिस्तस्यापि या कामदा
सा सीता नयतां मदीय भणतिं रासेश्वरी चारुताम् ।।२।।

सर्वक्लेशमृणालपाटनपटुर्मत्तेभराजो बली
सीतारामवियोगवह्निशमनः सांवर्त्तको वारिदः।
सौमित्रिक्षतराजरोगदमनो धन्वन्तरिर्वैद्यराट् (ण्)
नाम्ना श्री हनुमान्सुरासरसिको मां सर्वतो रक्षतात् ।।३।।

वीणापुस्तकहस्त (मस्त)कविधुः शुक्लाम्बुजन्मासना
चन्द्रोद्भासविलासहासवदनाविद्वज्जनैर्वन्दिता।
शास्त्रव्यस्तसमस्तवेदविदिता विध्वस्तविश्वाज्ञता
दत्तोद्दामधिमामकीनवदने वर्वर्त्तु वागीश्वरी ।।४।।

जयति सच्चिदानन्दघनवरदवरसर्वगुणशालिशृङ्गाररसपालि मूर्त्तिः।
सर्वजनवत्सलप्रविगलितमत्सरप्रेमपायोधिपुरुषार्थपूर्त्तिः।
सर्वगतसर्वमतसर्ववन्दितचरणसर्वशरणागतोद्धृतिविहारी
गुरुरूप(धर) रघुवर श्रीप्रियादास इह विश्वनाथान्तरे गीतकारी ।।५।।

---

[1] द्र०, एम० कृष्णमाचारियर का संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ३४३-३४४, तथा पादटिप्पणी, तथा अन्य ग्रंथों के लिए और भी द्र० वहीं पृ० ८५०, पैरा १००१। इसके साथ एस० एन० दासगुप्त तथा एस० के० डे० का संस्कृत-साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० ३९६ तथा टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

[2] इस निबन्ध को प्रेस में भेजने के समय डा० हरदत्त शर्मा का एक निबन्ध (वैष्णव दार्शनिक प्रियादास और उनके ग्रंथ) इन्डियन हिस्टरिकल क्वाटली (१९४०, पृ० ३१८ से) में देखने को मिला। इस लेख में उन्होंने स्वीकार किया है कि विश्वनाथसिंह ही संगीत-रघुनन्दन के कर्ता हैं।

शिवहरिचरितसरोवरव्यङ्ग्यकमल रसभृङ्ग
शरणं तव चरणं भजे ध्यानाश्रितगिरिभृङ्ग ।।६।।
गुरुगुणालीश्रुतिशर्मभवाश्रुमालती माल
धृतिचंदिर गुणमंदिर लम्बोदर तावकं पदं वन्दे ।।७।।
विन्ध्ये रिपुगजसिंहो जयसिंहो राजसिंहोऽस्ति
तनुते तस्य तनूजो ग्रन्थं सङ्गीतरघुनन्दनाख्यम् ।।८।।
चिरमननसमनुभूत श्रीसीतारामरासंसंयुक्त:
सद्यो रसिकजनानां हृदयानन्दी भवत्वयं सुचिरं ।।९।।
नृपबोधदवेद क्षितिपालनकारी प्रलयपयोधिसलिलसञ्चारी
श्रीरघुवरमीनसुरूप जय जगदीशपते ।।१।।
जलधिमथन बहुखिन्नसुरासुरपाता जलतलयातमन्थनगधाता
श्रीरघुवीरकमठसुरूप जयजगदीशपते ।।२।।
रदशिखरे धरणी तव लसति विशाला गिरिशगिराविव घनघनमाला
श्रीरघुवीरसूकररूप जय जगदीशपते ।।३।।
तव भुजभीमभुजङ्गो नखरवधारी कनककशिपुमण्डूकविदारी
श्रीरघुवरनरहरिरूप जय जगदीशपते ।।४।।
छलितानुच्छलयन्बलिमवसि द्वारम् पदपयसाऽपनयसि भवभारम् ।
श्रीरघुवरवामनरूप जय जगदीशपते ।।५।।
सुखदसांख्यरचनातिचतुर (मुनि) मूर्त्ते देवहूतिसुमनोरथपूर्त्ते
श्रीरघुवरकपिलसुरूप जय जगदीशपते ।।६।।
धृतहलमुशलनिहतखलनृपनिकुरम्बम् प्रणमति यममरमनुज कुटुम्बम्
श्रीरघुवरहलधररूप जय जगदीशपते ।।७।।
केलिकुतूहलकरमुनिमानसकर्षी रासोल्लासमहासुखवर्षी
श्रीरघुवरकृष्णसुरूप जय जगदीशपते ।।८।।
जनहिततपसिनिरतिमुपयासि सुधामा परतर नरनारायणनामा
श्रीरघुवरतापसरूप जय जगदीशपते ।।९।।
शापमकरहरिगायनसुरतनु दाता शरणागतगजयूथपपाता
श्रीरघुवर वरहरिरूप जय जगदीशपते ।।१०।।
क्षत्रियमुण्डविगुम्फितवरतरहारं गिरिशगलं गमयसि बहुवारम्
श्रीरघुवर भृगुवररूप जय जग० ।।११।।
वितरसि विबुधचयाय नवोदितममृतम् चिरचिन्तनसञ्चितमिव सुकृतम्
श्रीरघुवर मोहिनरूप जय जग० ।।१२।।
पशुहिंसाविधिपरमवगणयसि निगमम् प्रकटितबहुपाखण्डाधिगमम्
श्रीरघुवरबुद्धसुरूप जय जग० ।।१३।।
अघगणभवनयवननिधनदवरबाहु:, कलिविधुकवलीकरणे राहु:
श्रीरघुवरकल्किसुरूप जय जग० ।।१४।।
धन्वन्तरिरिति नाम गदघ्नं त्वरितं भवदुदितं किमु भेषजमशितम्
श्रीरघुवरवैद्यसुरूप जय जग० ।।१५।।
रुचिररुचीरुचितनयोऽसुर रिपुलोकं सुखयसि शमितसकलभवशोकम्
श्रीरघुवरयज्ञसुरूप जय जग० ।।१६।।

सागरसमरवरासुरहृदयविदारक वेदोद्धारक वनसंचारक
श्रीरघुवरहयगलरूप जय जग० ॥१७॥
नगरमूलनगरादिकबहुरचनोहो गिलितबीजगोतनुगोदेही
श्रीरघुवरपृथुनृपरूप जय जग० ॥१८॥
परहितपरमहंसपथविचलनशील: भूसंचरणाऽपरिमितलील:
श्रीरघुवर ऋषभसुरूप जय जग० ॥१९॥
गुरुगणनामिष विमुषित भुवनातोष: अवधूतो जननुतोऽपरोष:
श्रीरघुवर दत्तसुरूप जय जग० ॥२०॥
प्रकटितपरमभक्तिपृथिवीसुखदायी करवरवीणा हरिगुणगायी
श्रीरघुवर नारदरूप जय जग० ॥२१॥
ऋतुकलनाय कलावपि विभजसि वेदं कृतपुराणधृतभावविभेदम्
श्रीरघुवर शुकपितृरूप जय जग० ॥२२॥
सारासार वियुजमवयन्ति यमेकं परिहृत जलजनिजनुरविवेकम्
श्रीरघुवर हंससुरूप जय जग० ॥२३॥
कृतसनकादिकनामनिहतभवजाल: भजननिबन्धनबोधविशाल:
श्रीरघुवर बालसुरूप जय जग० ॥२४॥
ईशमहेश्वरपर साकेतविहारी वरविविधावतारविस्तारी।
जनविश्वनाथहृदिराम जय जगदीशपते ॥२५॥
मीनाद्यावधते तनूर्दलयते दैत्यात्सतो रक्षते
धर्मानाचरते स्मृती रचयतेऽधर्मं निराकुर्वते।
भक्तान्भावयते यशो जनयते बाणान्धनुर्बिभ्रते
साकेतप्रमदावने विहरते रामाय तुभ्यं नमः॥
ललितालीगण मण्डित रसपण्डित हे।
चपलचटुलमणिमाल जय जय राम हरे॥१॥
क्षितिनृपमण्डलमण्डन खलखण्डन हे।
समुद्दण्डकोदण्ड जय जय राम हरे॥२॥
हृतदूषणखरदूषण भवभूषण हे।
दशमुखगजमृगराज जय जय राम हरे॥३॥
सकलचराचर रोचन हृतशोचन हे।
मुनिकुलकुशलनिदान जय जय राम हरे॥४॥
सान्तानक[1]जनचंदन रघुनंदन हे।
कृतबहुललितविलास जय जय राम हरे॥५॥
वरविलसितनखचंदिर सुखमंदिर हे।
श्रीमुखकमलमिलिंद जय जय राम हरे॥६॥
पदपद्मे प्रणतानव जितदानव हे।
परमानंदसुरूप जय जय राम हरे॥७॥
विश्वनाथजनरक्षण सुविचक्षण हे।
समनिगमागमगीत जय जय राम हरे॥८॥

---

[1] साकेत as explained by the commentator.

अतिचञ्चलकामिनीकटाक्षा कलनाकूतकलाकुलस्वरूपा ।
पररासविलासभासिनो वोऽभिमतं दाशरथेर्ददातु दृष्टिः ।।

इति श्री महाराजकुमार श्री बाबूसाहेब विश्वनाथसिंहदेवकृते सङ्गीतरघुनंदने मङ्गलाचरणं नाम प्रथमः सर्गः ।।१।।

सुखदसमीरे सरयूतीरे विलसति ललितनिलयनम् ।
काञ्चनशालं मणिमयजालं मन्ये मदनमुदयनम् ।।१।।
चन्दनचर्चितकुसुमसमर्चितमहोपरमरमणीयम् ।
चन्द्रसुचुम्बितचन्द्रकान्तचयचलितसलिलकमनीयम् ।।२।।
मरकतगोमुखनलिकानिर्गतकुल्याकुलजललाभम् ।
सुखसदनं श्रमकदनं सरसीकलितकमलललिताभम् ।।३।।
यदधिकरति रसपतिरपि कुरुते पश्यन्ननिशनिवासम् ।
विश्वनाथनाथोऽपि ससीतस्तनुते रासविलासम् ।।४।।
गृहे तत्र स्वैरं सह सहचरीभिश्च रमया
चिरं रासक्रीड़ाप्रणयिनि रमेशे विहरति ।
सखी काचिन्नृत्यश्रममपनिनीषुः स्थितवती
बहिर्वामावारादवददपरामात्मसदृशीम् ।।१।।
रासे विलसति रसिकशिरोमणिरवलोकयमृगनयने ।
रसपतिमण्डितरोचिरखण्डितरसपण्डितसुखचयने ।।१।।
कीरकेकिकोकिलकोलाहलऋतुकुलललितविलासे ।
कुरवकबकुलकेतकीकैरवकुन्दकदम्बविकाशे ।।२।।
विलसितविपुलपुलकविधुवदनावल्गुविनोदविचित्रे ।
चकितचकोरचक्षुरिह चन्द्रं चुम्बति चारुचरित्रे ।।३।।
गायति काचन नृत्यति काचन रमयति काचन रामम् ।
काऽपि च नटयति काऽपि च घटयति काऽपि च पटयति कामम् ।।४।।
जितविधुरघुवरवदनविकाशितवदना काऽपि नटन्ती ।
अकलि कलानिधिदर्शनमुद्रितमुखकमलानि हसन्ती ।।५।।
रमणीमण्डलमिह कुण्डलितं नृत्यति गतिसङ्गीतम् ।
गायति सरति सीतया साकं श्रीरामो रसगीतम् ।।६।।
मलयजलेपितललितकलेवर वलितवेणुवनमाली ।
चलदलकालिविलोकनपुलकितसकलालीगणशाली ।।७।।
वीणामिलितवेणुरणितश्रुतिरघुवरगीतसुवर्णे ।
विश्वनाथ इति वदति कामिनी मुह्यति निपतति कर्णे ।।८।।

इति श्रीमन्महाराजकुमार श्रीविश्वनाथसिंह विरचिते सङ्गीतरघुनंदने गृहरासवर्णनं नाम द्वितीयः सर्गः ।।२।।

अथ गद्य प्रबन्धः

मालतीलवङ्गवल्लयः कुसुमिताः किसलयसम्भारनताः कूजन्मधुमत्तकोकिलाः गुञ्जत्षडंघ्रिनिकराः शीतलमन्दसुगन्धिसमीरणोत्ल्लासिताः पादपालिङ्गनोत्सुका नितान्तकान्ताभिसरणोद्यता वनिता इव लता यत्र विलसन्ति तस्मिन्वसन्तागमे वनोपवनवाटिकासु विहरति वलयितवधूव्रजवलितविलाससमुल्लासितमानसे मानशोकापनोदने चतुरे मनोनन्दन इव जनकनन्दिनीश्रीरघुनंदन आलपति युगलप्रेमपरिपूर्णो विश्वनाथो वसन्त राग मिमं स स नि नि ध ध ग म ध ध नि सा स ग ग रि स स नि ध म नी धा-प-मा-गा इति ।।१।।

विजयेते दंपती परस्परं सङ्केतभावं सूचयन्तौ चारुचञ्चलकुन्तलौ साञ्जननिरञ्जनलोचनखञ्जन-मीनमानगञ्जनौ निजाङ्गरङ्गेण रङ्गभूमिं भूषयन्तौ होलाखेलाकुतूहलिनौ कनकमयपत्रभृतरङ्गद्रवसाभ्र-कावणचूर्णपूर्णजतुपात्रक्षेपणतत्परौ नृत्यन्तौ जड़ताकम्पिततनूसगीतिसहचरीसन्ताडितपटहप्रोत्साहितौ सस्मित-मुखौ विश्वनाथीयमानसमानसे हंसाविवेमौ विचरन्तौ ।।२।।

तरलतरङ्गरतरणलतिकाततिलीलासुखवसमीरे ।
तरुपरिरम्भणवलितलतावलिवनविकलीकृतधीरे ।।३।।
पवनविसारिपरागपटलपटघटितानेकविताने ।
मनसिजमत्रयुवतिजनसङ्गतयुव (ज) नमोदनिदाने ।।४।।
विगतपलाशपलाशकुसुमकृतविरहिवह्निसन्ताने ।
पुञ्जितमधुकरगुञ्जितगञ्जितमानवतीगुरुमाने ।।५।।
मलयानिलपरिमलितदिशावलिकिसलयललितदुकूले ।
अतिसुकुमारकुसुमशरसारकमारजगज्जयमूले ।।६।।
मुनिमनसोऽपिमदनमदमादिनिमोवमहोदधिमाले ।
अशकलचन्द्रचन्द्रिकाचन्दनचर्चितदिगन्तराले ।।७।।
अखिलमहीमण्डलमण्डनकरसंकुलविविधविलासे ।
विश्वनाथकथितापदगाथाविलसतुरसिकनिवासे ।।८।।
नृत्यति नवललतागणमण्डितरसपण्डितनवरामः ।
यल्लावण्यलेशमपि न लभेदमितरतिर्यदि कामः ।।१।।
तावतावतत्थइतत्थइथइनिनदापूरितदावम् ।
वीणानादसुसङ्गतसिञ्जितमधिकव्यञ्जितभावम् ।।२।।
सं गीतं सङ्गीतं नृत्यति सुप्रीतो रमणीयम् ।
क्षणभीतो ह्रीतोऽह्रीतः क्षणमनुनीतो मननीयम् ।।३।।
वाद्यमिलितमञ्जीरधीररवसुललितगतिततिसङ्गम् ।
अनुगततालविशालभेदगणमुखरितमधुरमृदङ्गम् ।।४।।
अतिरमणीयो रमणोऽविषमं प्रतिरामं संरमते ।
सितेतरेतरकरनयनं बहु रासमण्डले क्रमते ।।५।।
मिथो दर्शनस्पर्शनपुलकितवपुर्विजयते पनसम् ।
स्वेदसलिलकणसहितवदनमपि पयोनिधिजचन्द्रमसम् ।।६।।
प्रसरत्पदतलशोणिमकवरीकालिमनखभाश्रेणिम् ।
मणिमयशसस्थल इह मन्ये शतशश्चलत्त्रिवेणीम् ।।७।।
ब्रह्मानन्दविजचि युञ्जानो ध्यानं यतिभिरगम्यम् ।
विश्वनाथ उत्थाय ततोऽपि हि नृत्यति रासे रम्यम् ।।८।।
अमृतमधुरतामधोनयन्तीं भणितिमिमामभिपीय साधु सीता ।
वरचलितशिराः स्वया वयस्यामलमकृतांगुलिमुद्रयाऽवृतंताम ।।९।।

इति श्रीमहाराजकुमार श्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सङ्गीतरघुनंदने वसन्तरासवर्णनं नाम तृतीयः सर्गः।।३।।

सोलहवाँ सर्ग

विधिहरिहरमुनिवरमानससञ्चारिन् परतररघुवरचरितसुधारिन् रासरसिकसच्चेतोहारिन् । मधुरश्च-श्वम सङ्गीतरघुनंदन त्वामहं नीराजयामि । अतिदुस्तरदुःखाकरभवसागरतारिन् । सततप्रेमसुपूरोद्गारिन्नु-ज्वलरसविस्तारिन् रघुपतिमतिकारिन्नमलयशःप्रसारिन् श्रोतृश्रवणसुधाधारासंधारिन् शमनगमनभवनहरण-

घनधारिन् भीतिविभञ्जन सज्जनरञ्जन हृतमायाञ्जन कुत्सितगुणगञ्जन सद्गुणगोवर्द्धन भूतिविवर्द्धन त्वामहं प्रणमामि ।

विश्वनाथमानससरोनिःसृत छन्दःकोकनदव्यंग्यमकरंदमिश्रितरागरससम्भृत तालशैवालवलित तान-तरङ्गोच्छलित मूर्च्छनामीनसंकलित सप्तस्वरावर्त्तकलित श्रुतिमरालकुलाकुलित लघुगुरुप्लुतादिभेदपुलिनो-ज्वलित ज्ञानकर्मकुलवलनोल्लसित विविधवाद्यगतिकुमुदिनीवलहरित लयसंत्वरित सच्छ्रवणसागरमिलित सीतारामचलितसरिद्रूप त्वामहं गायामि ।।

रासप्रतिपादक पंचपापाबाधक सकलसिद्धिसाधक रसिकशिरोमणिमादक नृत्यगीतनादक सकलसत्कर्म-भगवद्धर्मशर्मकर नर्मसञ्चरण जननमरणहरण सुमतिभरण हावभावविस्तरण जनशरण वर्णावर्णदुरित-दरण सकललीलाभरण शिवशुकस्मरण महामोहान्धतमसहरणे (ण) तरणे साकेतपरमसरणे निगमागमसिद्धान्त-शिरोमणे शमदमयमनियमादिफलचतुर्वर्गफलितकल्पतरो त्वामहं भावयामि ।।

एषा माधुर्यधारा धरणितलगता विश्वनाथप्रचारा
भास्वत्सन्तानतारा परिवृट् (ढ) विशदध्यानसंधानसारा ।
पापौघोर्वंचदाराभवजलधिसमुत्तारणे नौदवारा
शृङ्गारैकप्रसारा जयति परगुणग्राहकस्वान्तकारा ।।१।।

इति श्रीमन्महाराजकुमार श्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सङ्गीतरघुनंदने ग्रन्थमाहात्म्यवर्णनपूर्वक प्रणामादिविधानं नाम षोडशः सर्गः ।।१६।।

कश्मीरी में रामकथा

श्री पृथ्वीनाथ 'पुष्प'

जाने क्यों कश्मीरी साहित्य में रामकथा का प्रवेश बहुत देर से हुआ। लोकगीतों में भी कृष्णलीला ही अधिक मुखरित हुई है। यहाँ तक कि शादी-ब्याह के गीतों में वर-वधू और समधियों के लिए जो पौराणिक प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं, उनमें प्रायः कृष्णकथा का ही अवलंबन पाया जाता है। राम, सीता, दशरथ और कौशल्या का प्रतिनिधित्व अपेक्षया कम है।

फिर भी कई लोकगीतों में रामकथा की अवतारणा खूब हुई है। उदाहरण के लिए लीजिए एक गीत, जो दुल्हन को ब्याह के लिए सजाते समय गाया जाता है। उसके बोल हैं—

दशरथ राजनि स्वन्दर कूरी
राम-चन्दर बोय ओय दुर्य्‌बत ह्यथ!

अर्थात्—राजा दशरथ की ओ सुंदर कुँवरी! रामचंद्र तुम्हारा भाई आया है दुर्य्‌बत्ता (अपने पक्ष का भत्ता) लेकर! भाई हो तो रामचंद्र जैसा!

ऐसे ही जब 'मेखला' (उपनयन) संस्कार पर बच्चे का विद्यारंभ होता है, तो गाया जाता है—

ओमावोम स्वयम्‌ सो
त्यविस्‌ ते पर्य्‌ जे
ध्याना स्वरिजे श्रीरामुन!

अर्थात्—ओमा 'ओम्', स्वयम् 'स्व', तिविस् 'स्ति' (ओम् स्वस्ति सिद्धम्) का उच्चारण करना; और ध्यान धर लेना श्री राम का! बालक हो तो राम-सा!

एक और गीत में राम की सुशीलता का साभिप्राय कीर्तन यों हुआ है—

गुरु ने तुम्हारे कान में 'शब्द' फूंका;
रक्त (शील) तुम्हार निकले राम का-सा!

कुछ गीत ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें राम का नाम तो नहीं, पर ध्वनि अवश्य है। अधिकांश में राम के वनवास और सीता की कष्टसाधना का ही द्रावक वर्णन है। जैसे—

कौशल्या कहती है—किस से दुखड़ा कह सकूं?
कौन है जो रामजी को मना के ले आए?
मुस्काते हुए ये 'कौसम'-फूल उसके सिर पर चढ़ाओ तो!
कोई जा कर पूछो तो उससे—
हमारी राह लौट आएगा नहीं?

या—

जल्द आजाओ आस्मान से वायु रे
रामजी वनवास जो जा रहे हैं।

और फिर रामायण की मुख्य घटनाओं का गुंफन मिलता है।

सीता का दुखड़ा तो कई एक गीतों में फूट पड़ा है; पर सबसे ज़ोरदार चित्रण जिस गीत में हुआ है, वह वास्तव में 'प्रकाशरामायण' से उद्धृत है। यह कोई अचंभे की बात नहीं, क्योंकि मुद्रण-सुविधा के अभाव में कश्मीरी कविता का अधिकांश लोकसाहित्य में समा चुका है। मूल प्रति की बहुत कम प्रतिलिपियाँ बन पाईं, तो लोकपरंपरा ने ही इसे हम तक पहुँचाया।

'सीता की आपबीती' वाले इस लोकगीत में वेदना की जो अभिव्यंजना हुई है, वह समूचे कश्मीरी साहित्य में बेजोड़ है। कुछ पंक्तियों का अनुवाद लीजिए—

हनुमान ने कहा मुझसे—स्वयं श्रीराम यहाँ आ रहे हैं;
दूर रहने के दिन अब पूरे हो गए;
उसके कहे से मेरी जान में जान आ गई! . . .
पाँच एक ही दिन हुए—जाने क्या पाप था मेरा?
क्या जानूं किसने कैसे क्या कुछ सुनाया तुम्हें?
पंखहीन किया मुझे, कुम्हला दिया कली ही में. . .
संताप भूल कर मैं सुख की राह देख रही थी;
आह, क्या करूँ? बिना मरे ही मरी जा रही हूं!
अपने और पराए सभी उपालंभ देते रहे!
लक्ष्मण जी फिर मुझे झाँसा देने आ गए
सुना कि वन लिए जा रहे थे मुझे
मुझे वहीं छोड़ चले—मध्याह्न ही में साँझ हुई! . . .
एक दिन बृहस्पति उदय पर था मेरे लिए
आधी रात का समाँ था
सारा खेद गया मेरा—लव और कुश जने मैंने
ऐसा होने पर भी मुझे उपालंभ तुम देते रहे? . . .
बचपने को भूले नहीं हो अभी तुम राजा जी!
तीर तुमने मारे जो सो मेरी पीठ से जा निकले. . .
कौन जाने ईश्वर ने क्या लिख रखा था भाग्य मेरे
नहीं तो बिछोह यह तुम्हारा क्योंकर मैं सहूँ?
अब समाऊँ भूमि में और भूमि ताँबा हो जाय! . . .

'प्रकाश-रामायण' में इस प्रकार के वेदनाकुल गीतों की भरमार है, जिनमें से कई एक लोक-साहित्य की थाती बन चुके हैं।

प्रकाशराम (१९वीं शती) से पहले किसी कवि ने रामायण लिखी हो, ऐसी कोई सूचना नहीं मिलती। यद्यपि कृष्णगाथा का उपयोग तीन सौ वर्ष पहले कश्मीरी के सर्वप्रथम प्रबंधकाव्य 'बाणासुरकथा' में हो चुका था। इस काव्य का रचयिता (महावतार) बड़शाह (ज़ैनुल्लाबिदीन—१५वीं शती) का दरबारी कवि था और बड़शाह को योगवासिष्ठ भी सुनाया करता था। जीवन के अंतिम दिनों बादशाह वासिष्ठ का श्रवण नियत रूप से करता रहा। अतः आश्चर्य की बात है कि उस समय रामकथा को काव्य का आश्रय नहीं मिला। उससे पहले की मुक्तक कविता में भी रामचर्चा नहीं; और बाद की रचनाओं में भी नहीं। माना कि कश्मीरी साहित्य आरंभ में शैवागम की विचारधारा से ही प्रभावित रहा; पर बाद में जब प्रबंध-काव्यों के लिए पौराणिकगाथाओं का सहारा लिया जाने लगा, तो कृष्णकाव्य की ही क्यों विशेष कशिश रही, यह समझ में नहीं आता।

कुछ भी हो; १९वीं शती के आरंभ में प्रकाशराम ने एक उत्कृष्ट रामकाव्य प्रस्तुत कर दिया, तो एक नई परंपरा चल पड़ी। दर्जन भर रामकाव्य लिखे गए, जिनमें से दो विशेष उल्लेखनीय हैं—एक, 'शंकररामायण' (१९४५ वि०), और दूसरा, 'विष्णुप्रतापरामायण' (१९७० वि०)। दोनों अभी अप्रकाशित पड़े हैं।

'शंकररामायण' तो साहिब कौल (१८ वीं शती) के 'कृष्णावतार' के ढंग पर लोकगीत शैली में कहा गया है। इसका 'मोहमाया' प्रसंग अध्यात्मरामायण से प्रभावित होते हुए भी न्यारा-सा है। रावण ने

ऋषियों के रक्त से भरे घड़े को समुद्र में डुबो दिया था ; पर दैवयोग से एक दिन नहाते समय उसके पैर से लगकर यह घड़ा उभर आया। रावण क्या देखता है कि उसके अंदर एक सुंदर कन्या झिलमिला रही है। उसे वह मंदोदरी के हवाले कर बैठा। मंदोदरी का माथा ठनका, तो उसने उसे एक डिब्बे में बंद करके मिथिला में गड़वा दिया। वहीं से जनक ने हल चलाते समय उसे उठा लिया और पाला-पोसा।

कथावस्तु की इस विलक्षणता के अतिरिक्त 'शंकररामायण' में काव्य का भी काफ़ी आकर्षण है। विशेषकर मंथरा-कैकेयी-संवाद, भरत की व्याकुलता, सीता-त्रिजटा-संलाप और रावण की छटपटाहट आदि के वर्णन में। रामायण का रूपक उसने यों समझाया है—

दशशिर अहंकार है, राक्षस विकल्प हैं,
समुद्र मोह का है, शूर्पनखा मिथ्या-बुद्धि है
जो भटकाती ही रहती है।·······
लंका समता का देश है, जिसके सुशांत
होने पर वहीं वासुदेव का निवास है!

दूसरा रामकाव्य—'विष्णुप्रतापरामायण' 'शंकररामायण' से कोई तिगुना है ; पर अधिकांश कलेवर युद्ध-वर्णन ने ही घेर रखा है। इसमें रामायण का रूपक यों खोला गया है—

लंका-नगर तो मनुष्य-देह ही है—
यहीं महामोह और विवेक में
संघर्ष चलता रहता है।
महामोह ही लंका का रावण है—मदोन्मत्त !
विवेकी हैं रामजी—सत्य की मर्यादा !

'शंकररामायण' की तरह इसमें लोकशैली का प्रयोग नहीं ; प्रायः वर्णन फ़ारसी मसनवी की बहरों में है, और बीच-बीच में गीत गूँथ दिए गए हैं। इस प्रबंधकाव्य की कोई ऐसी विशेष बात नहीं, जो इसे 'प्रकाशरामायण' से उत्कृष्ट जताय। प्रायः उसी का अनुपातहीन अनुकरण इसमें मुखरित हो उठा है। फिर भी कुछ एक प्रसंग अवश्य ध्यान देने योग्य हैं। जैसे हनुमान की पूंछ में आग लगा देने का विनोदपूर्ण वर्णन या अंत में राम को कश्मीर की सैर कराने का प्रकरण—

उत्तम देश देखकर राम को तोष ही हुआ
'हरमुख' के सन्मुख राम के दर्शन हुए,
चरण कमलों से उन्होंने सारा 'सतीसर' नाप डाला
सतीसर का ही नाम पड़ा है—कश्यपमर !

विनय के गीत इसमें बीसियों हैं, पर 'शंकररामायण' का मंगलाचरण अधिक भावपूर्ण है—

मैं अपना आपा तुम्हीं पर वारूँ राम !
प्रेम-बिरवा ! तुम्हीं को सींचूंगा
पाँचों प्राण तुम्हीं पर वारता हूँ
पर वे तुम्हारे अंदर ही तो हैं !

प्रकाशराम ने इस तरह के गीत लिखे ही नहीं ; पर सीता आदि के आत्मनिवेदनों में उसने बहुत सुंदर उद्‌गार व्यक्त किए हैं। दिव्य-'अनुग्रह' में उसका विश्वास पुकार उठा है—

जन्म उसी का (सफल) है, जो सारी 'बुई' को छोड़ बैठे;
'बुई' को वही छोड़ दे जिसे नारायण पंथ सुझाय !

रामायण के रूपक की कल्पना उसने यों की है—

सीता सदिच्छा है; राम और लक्ष्मण सत्य के सेतु हैं;
हनुमान हिम्मत है; रावणासुर दुर्जन!...
कैकेयी प्रकृति है, सुमित्रा सुवचन;
दशरथ धर्म है और कौशल्या कर्मलेखा!
वनवास का उपदेश दिल का सन्तोष है;...
काम की कुल्या को पार करना है।
क्रोध की मिट्टी डाल कर सुखा दो इसे...
विचार के पथ पर चलो; जहर भी क़ंद होगा!

'प्रकाशरामायण' की कथावस्तु मुख्यतः वाल्मीकि के अनुसार है; अध्यात्म से भी जहाँ-तहाँ लाभ उठाया ही गया है। पर कथानक की दो-एक विलक्षणताएँ चौंकानेवाली हैं। पहली विलक्षणता है सीता के जन्म से संबद्ध। वह यह कि मंदोदरी एक अप्सरा थी; रावण से ब्याही गई, तो उसकी अनुपस्थिति में उसके एक बेटी हुई, जिसे ज्योतिषियों ने रावणकुल के लिए घातक बताया। मंदोदरी ने उसके गले में पत्थर बाँध कर उसे एक नदी में फिकवा दिया। कुछ दूर जाकर लड़की किनारे लगी, तो जनक ने उसे उठाकर पाला-पोसा। ग्रियर्सन के अनुसार जावा रामायण में भी कुछ ऐसी ही अनुश्रुति वर्णित है।

कथानक की दूसरी विलक्षणता है, सीता-परित्याग की तह में सीता की छोटी ननद की ईर्ष्या। एक दिन वह सीता से मिन्नतें करने लगी—

तू कभी मेरा कोई काम मानती ही नहीं;
अपनी होकर समझती है—तुम्हारी दुश्मन हूँ!
मुझे ठीक-ठीक चित्रित करके दिखाओगी
वह दशरावण (दशशिर) आकार-प्रकार से कैसा था?

भोली सीता ने चित्र बना दिया, तो ईर्ष्यालु ननद चुपके से उसे राम के पास पहुँचाकर उसके कान भरने लगी—

देखो भैया, क्या कुछ है...
सीता तो प्रतिदिन इसकी ओर देख-देखकर विलाप करती रहती है!
जबसे मैं यह चित्र चुरा लाई हूँ
तब से वह छटपटा रही है;
यदि वह सुन पाए कि ननद उसका प्यारा कागज उड़ा ले आई है
तो मुझे मार डाले—डाइन से काम पड़ा है भैया!

ननद की इस शिकायत पर ही राम ने लक्ष्मण को आज्ञा दी कि सीता को वन में छोड़ आना। ननद की इस जलन का प्रसंग पूर्वी बंगाल की चंद्रावतीरामायण तथा मलाया में प्रचलित रामायण में भी पाया जाता है, वाल्मीकि और तुलसी में नहीं मिलता। जाने कश्मीर में यह अनुश्रुति कैसे प्रचलित रही!

एक और कथांतर है कुश के जन्म का वृत्त। 'प्रकाश' की सीता केवल लव को जन्म देती है और कुश का निर्माण कुशा के एक तिनके से होता है। वह यों—वाल्मीकि समाधिस्थ होते और सीता लव को उसके पास सोता छोड़ कर 'उपलशाक' चुनने वन जाती। एक दिन लव की नींद उचट गई, तो ऋषि की समाधि में बाधा न आए—इस विचार से सीता उसे साथ ही लेती गई। बच्चे की कुलबुलाहट न सुन कर ऋषि ने आँख खोली। लव को न पाकर उन्हें आशंका हुई कि कोई जानवर उठा ले भागा होगा; अतः उन्होंने कुशा के एक तिनके को अभिमंत्रित करके लव की एक प्रतिमूर्ति बनाई। सीता लव को लिए आई, तो आश्चर्यचकित ऋषि ने प्रतिमूर्ति को कुश का नाम दिया। कुश के जन्म की यह अनुश्रुति मलायारामायण, कथासरित्सागर और तिब्बतीरामायण में भी सुरक्षित है।

'शंकररामायण' में 'मोहमाया' का विस्तृत वर्णन है; 'प्रकाश' में उसके जन्म की चर्चा नहीं। केवल इतना निर्देश है कि 'मोहमाया' ही आग के अंदर घुसती है, वास्तविक सीता नहीं। 'मोहमाया' ही लंका में क़ैद थी और वही आग के अंदर भस्म हुई, तो वास्तविक सीता निखर उठी !

कथांतर की दृष्टि से लंका की उत्पत्ति भी रोचक है—एक 'लङ्ग' (टहनी) पर आधारित होने के कारण ही यह द्वीप लंका कहलाया। लिखा है कि एक दिन भूखा गरुड़ अपने पिता कश्यप से आहार माँगने गया, तो उसने एक भारीभरकम हाथी और कछवे की ओर इशारा किया, जो आपस में भिड़े हुए थे। गरुड़ दोनों को ले उड़ा और पारिजात वृक्ष की एक टहनी पर बैठा ही था कि टहनी टूट गई। गरुड़ ने टहनी को चोंच में थाम कर समुद्र में गिरा दिया। टहनी का मोटा सिरा तो पाताल में जा धँसा, पर पत्तों का झुरमुट पानी के ऊपर ही रहा और लंका का आधार बना।

कश्मीर के कथासरित्सागर (२,१२) में भी कुछ ऐसा ही वर्णन है।

एक और निराली उपकथा है 'मकेश्वरलिंग' की, जिसका और कहीं भी संकेत नहीं मिलता। राम के प्रताप से घबरा कर रावण कैलाशपति की शरण गया और करुणक्रंदन करने लगा, तो शिव ने 'मकेश्वरलिंग' देकर कहा, "जाओ इसे लंका में स्थापित करो, तो तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं होगा। पर सावधान, इसे जहाँ पर धर दो, वहीं जम जाय; वहाँ से उठा नहीं पाओगे।" रावण मकेश्वरलिंग लेकर जा ही रहा था कि रास्ते में उसे लघुशंका हुई। एक ब्राह्मण से विनय करने लगा, "क्षणभर इसे थाम तो लीजिए।" ब्राह्मण और कोई नहीं था, नारद ही था। उसने एक ही घड़ी के लिए थामने की शर्त पर लिंग को पकड़ लिया, पर रावण शंकानिवृत्त होने न पाया, तो लिंग को वहीं पर नीचे धर कर ब्राह्मण चल दिया। मकेश्वरलिंग बाद में किसी के उठाए न उठा और रावण के मन की मन ही में रही। उसके बाद शुक्राचार्य ने उसे सात दिन का यज्ञ करने की सुझाई, तो विभीषण के कहने पर हनुमान मंदोदरी को धमकाने-डराने लगा। रानी की चीख सुनकर रावण को यज्ञ से उठना ही पड़ा और शुक्राचार्य की योजना अकारथ गई।

इस प्रकार के कथांतरों की विलक्षणता के अतिरिक्त 'प्रकाश' में अन्य घटनाओं के हेर-फेर भी कई हैं। उदाहरण के लिए—

लक्ष्मण को रावण नहीं, बल्कि इंद्रजित घायल कर देता है; इंद्रजित रावण के बाद मारा जाता है, और कुंभकरण रावण के पश्चात्। रामेश्वरम् का सेतु कैसे बना, इस बारे में 'धोबी और बल-वानर' की कथा बहुत रोचक है। बल-वानर ने धोबी का पत्थर समुद्र में फेंकने की धमकी दी, तो महर्षि ने 'वाक्' दिया कि वह जो भी पत्थर फेंकेगा, नौका बनकर तैरने लग जायगा। वह बल-वानर राम की सेना में था और यह बात प्रकट होने पर उसने पत्थर फेंक-फेंक कर सेतु बना ही डाला।

कथानक की इन विलक्षणताओं से भी महत्त्वपूर्ण है भावचित्रण की मौलिकता। मंजी हुई, पर ज़ोरदार भाषा में मानवभावनाओं का स्वाभाविक चित्रण इससे अच्छा कश्मीरी साहित्य में बहुत कम हो पाया है। बानगी के लिए लीजिए नीचे की रूपरेखा—

वन जाने के लिए आग्रह करनेवाली सीता को जब राम घर पर रहने की ही सीख देता है, तो बेबस आँसू सीता के प्यारे मुखड़े पर दमक उठते हैं—

गुलाब ने नरगिस को बहुत तंग किया, तो उसने अपना चाँद (सा मुखड़ा) तारों (जैसे दमकते अश्रु-कणों) के नीचे छिपा लिया !

कितना प्यारा चित्रण है बेबसी का ! आखिर जब राम और लक्ष्मण सीता के साथ वन चल दिए, तो सारी प्रकृति उनके लिए उदास हो उठी, यहाँ तक कि ज्येष्ठ के फूल का गोरा मुखड़ा भी पीला पड़ गया —

जब लौंग (दोनों भाई) इलायची (सीता) को पहाड़ों की ओर लिए चले जा रहे थे, तो ज्येष्ठ (मास) का (लाल) फूल कार्तिक के कुंकुम में बदल गया ! . . .

वह कैकेयी मधर की बर्फीली वायु-सी तेज़ से तेज़ होती गई;
लोग पौष (मास) में पत्तों की तरह बन की ओर झरने लगे।

रावण ने शूर्पणखा से सीता के सौंदर्य की प्रशंसा सुनी, तो उसी के ध्यान में छटपटाता रहा और उसे छलबल से ले भागा। और—

दूसरे रोज सूर्य चढ़ा तो उसे ज्योत्स्ना (सीता) याद आई।
झट फौलादी तेग संभाले उठ खड़ा हुआ।

पहले तो सीता को चिकनी-चुपड़ी सुनाई, पर सीता अडिग रही—

कहा उसने—'उठो हम सुख के सामान करें!'
वह बोली—'तुम्हारा (मृत्यु) दुःख देखकर ही; याद रखो!

हनुमान ने चुपके से अंगूठी गिरा दी तो—

आँखों से अँगूठी लगाली सीता ने; उसकी रौशनी लौट आई!
उसकी देह 'शव' हो चुकी थी; उसमें फिर से जान आ गई!

और फिर वह वसंत का अभिनंदन गाने लगी—

आगई बहार, बुलबुल बोलो तो!
हमारे यहां आजाओ; उत्सव मनाऊँगी!
दूर हुआ 'कठकोश' (पाला-कक्कड़);
नन्हीं जलधारा गरजो—
जाग उठो निद्रा से; अभी तो सुवेला है!...
तन-मन नहलाकर निकलो भी 'सम्बुल'!
जमीं के नाम लिए खत आजादी का;
प्याला लिए 'नरगिस' राह है देख रही!...
वसंत ने पैर धरा, तो नभ उन्मुक्त हुआ;
भूतधात्री (भू) से फसादी भाग चले;
'टेकबटनी' और 'यिरकुम' हर्षोत्फुल्ल हुए!...
हमारे यहां आजाओ, उत्सव मनाऊँगी!

आखिर रावण—क्रोध की कमान, काम का पाश, माया का सिपर हाथ लिए,
ईर्ष्या का कवच और लोभ की खोद पहने,...
दम्भ के रथ पर अहंकार का आसन जमाए
रणक्षेत्र में उतर आया तो......
भूतधात्री (भू) क्रन्दन कर उठी, जब उसने
'बदजात' को देखा;
बेचारी लाज से दबी जा रही थी कि
हाय, किसी को क्या मुंह दिखाऊँगी

इधर से राम—आग की लपट देखकर सीमाब हो रहा था।
उसने कर्म की कमान उठाई; उस रावण की ओर।
पाप के निशाने पर अचूक-सा तीर मारा।

पर सीता का संकट कटा नहीं। अग्निपरीक्षा अनिवार्य ठहराई गई, तो वह भी—

उस आग के अंदर वैसे ही जा कूदी
जैसे दरिया में उतर रही हो!
आग के ऊपर से लपटें उसे चँवर डुलाने लगीं
मानो कह रहीं हों—'बलि जाऊँ तुम्हारी, घड़ी भर शांत रहो!'
उसे देखकर सारा चंदन-काठ भड़क उठा;

उस (के) तेज की जोत को देखकर
धुआँ बलखाता जा भागा !

चौदह दिनों के बाद सीता सुवर्णभूषण पहने अक्षुण्ण निकली तो—

दिल का रोष दूर हो गया;
राम जा दबा सुख के नीचे;
गुलाब को दुबारा बाग की नरगिस मिल जो गई !

और फिर सचमुच वसंत का शुभागमन हुआ। प्रकृति उल्लसित हो उठी—

बर्फ भाग गई; दूर पर्वतों पर जा छिपी;
जाड़ा खत्म हुआ; वसंत के सुहाने दिन आगए...
'वटफेटघ' और 'ज़िन्दोर' आपस में हँसने लगे—
देखो तो 'कुंकुम' के पैर 'पाम्पुर' में ही जमे रह गए !...
'पम्पोश' से आस्मानो 'हों' कह रही थी—
मेरे साथ जान-पहचान रखा ही कीजिए !...
उज्ज्वल फूलों से पेड़ हरा-भरा हो गया,
और बुलबुल गुलों के ऊपर फुदकने लगी !

सीता को लिए राम अयोध्या लौट आया, तो उत्सवों की धूम मची ; पर सीता के सिर पर संकट के बादल मँडराते ही रहे। उसकी छोटी ननद ने—

उसे 'पलंग' पर चढ़ाया
और नीचे से 'चाह' खोदा !

बेचारी सीता—

चली जा रही थी...आँखों से खून बहाती, छटपटाती हुई—
वह दो 'गुलालों' को दाग रख के वन चली गई थी !

वाल्मीकि के आश्रम में उसने लव को जन्म दिया और उधर से वसिष्ठ ने विरहाकुल राम को अश्वमेध करने का परामर्श दिया। लव और कुश ने भरत और शत्रुघ्न को ही नहीं, राम और लक्ष्मण को भी मार डाला—

आश्चर्य देखिए कि पानी की 'बूंद' ने 'दरिया' को घेर लिया।

सीता को पता चला तो तड़प उठी—

चलो मुझे भी दिखाओ कहाँ पर क्या कुछ कर डाला;
मैं अपनी देह उसके साथ ही भस्म कर दूं—कच्ची जली हूँ अभी !

उसके विलाप से द्रवीभूत होकर महर्षि ने सबको जिला दिया ; पर सीता कुटिया के अंदर जा छिपी और द्वार बंद करके रूठी रही। राम की विनय से भी न पसीजी ; अंदर ही से बोली—

सच मानो तो अब मुझे तुम्हारी पूरी तसल्ली हो चुकी;
मेरी अभिलाषा थी कि ये सन्तानें तुम्हें देख पायें;
दया करो अब, तुम्हें मेरा प्यार ही कौन-सा है ?
लौट जाओ, अपने बच्चों से जान-पहचान कर लो !

वह क्रंदन कर उठी—

कन्या किसी के पैदा न हो;
हो भी तो कनी चाट जाय !
कन्या मैं पैदा हुई—यहीं पर खाक में मिल रही हूँ !

एक श्रौर गाथागीत में वह कहती है—

तुम्हारे बिना मेरा कोई श्रौर नहीं;
तुम सलामत रहो, तुम्हें तो कई मिलेंगी ही;
सुधा-धवल प्रकोष्ठों में 'श्रच्छपोष' का श्रानंद लिया जाता है
मेरे लिए तुम्हारे प्यार की तमन्ना चुक गई;
पर मैं तो वैसी ही हूँ, जैसी तब थी—वही सीता !
श्राजमाए को दुबारा श्राजमाऊँ क्या ?
कार्तिक की ज्योत्स्ना को तुमने नित्य ही गहनाया,
तुम्हारा सच बोलना श्रब मैं क्या जानूँ ?
मुझे तो तुमने चीलों श्रौर कौश्रों की खुराक बनाया था !

वाल्मीकि सीता को मनाने लगे, तो सीता ने व्यंग्य किया—

उसके समीप तो (वही श्रच्छा) जिसने वसंत में कुछ भी न बो दिया,
पर जो शरद् श्राने से पूर्व ही सर्वप्रथम फल चखता है।
जिसने इस रामचंद्र के ऊपर जान गलाई
उसे मेरी तरह निराश्रय होना चाहिए था क्या ?

श्रंत में सीता वाल्मीकि के श्रनुरोध पर राम के श्रश्वमेध में शामिल होने चल ही दी ; वहाँ (एक हृदयविदारक गीत में) श्रपना दुखड़ा सुनाकर उसने धरती को पुकारा, तो धरती फट गई श्रौर सीता उसी के श्रंदर—

उतर गई रामचंद्र का दाग़ दिल में लिए ! विरही राम छटपटाता है, तो ऋषि उसे दिलासा देता है। फिर ११००० वर्ष राज करने के बाद, वह भरत श्रौर शत्रुघ्न के साथ स्वर्गारोहण करता है। लक्ष्मण तो उससे पहले ही जीवन-यात्रा समाप्त कर देता है श्रौर इस तरह 'प्रकाशरामायण' की परिसमाप्ति हो जाती है।

इस रूपरेखा से काव्य की जो-जो झाँकियाँ मिलती हैं, उनसे प्रकाशराम के भावपूर्ण हृदय की सुकुमारता श्रौर वेदनाकुलता का परिचय मिल ही जाता है ; साथ-ही-साथ रामकथा के चरित्रों की सजीवता श्रौर स्वाभाविकता का भी संकेत मिलता है। मूलकथा की कुछ पौराणिक रूढ़ियों के श्रतिरिक्त इन चरित्रों में कोई विशेष श्रस्वाभाविकता नहीं। राम, लक्ष्मण, सीता, कौशल्या, कैकेयी, मंथरा, त्रिजटा, रावण, हनुमान—सभी का चित्रण परंपरानुकूल होते हुए भी सामाजिक यथार्थ से संपृक्त जान पड़ता है। 'टाइप' होते हुए भी उनका व्यक्तित्व उभर श्राया है। यह कोई कम सफलता की बात नहीं।

'प्रकाशरामायण' की एक बड़ी खूबी है इसके कथानक की पुरातनता में भी वर्तमानता का उद्भावन। रामायणी रूपरेखा में जो रंग भरे गए हैं, वे श्रखिल भारतीय होते हुए भी कश्मीरी हैं, श्रौर कश्मीरी होते हुए भी विश्वजनीन ! सीता के चित्रण में कश्मीर की ही किसी परित्यक्ता का करुण प्रतिबिंब मिलता है श्रौर यत्र-तत्र कश्मीरी परिवार की श्राशा-निराशा झिलमिला उठी है।

रही बात शैली की। उस पर फ़ारसी मसनवी का प्रमाण स्पष्ट है। काव्य का छंदोविधान फारसी बहरों पर श्राधारित है, जैसा कि फिरदौसी के शाहनामे में है। ज्ञात होता है, प्रकाशराम ने फारसी साहित्य का, विशेष कर रज़मिया (वीरगाथा) काव्य का श्रच्छा श्रध्ययन किया था। पर फ़ारसी का यह प्रभाव छंदोविधान श्रौर युद्ध-वर्णन तक ही सीमित है ; काव्य की शेष बातों पर यह प्रमाण नगण्य-सा है।

कुल मिलाकर कथानक के संयोजन में टेकनीक की कुछ त्रुटियों के बावजूद 'प्रकाशरामायण' एक उत्कृष्ट काव्य है श्रौर कई बातों में 'प्रकाशरामायण' वाल्मीकि श्रौर तुलसी से टक्कर लेता दिखाई देता है। राष्ट्रभाषा में इस काव्यरत्न का श्रनुवाद हो जाय, तो इसकी उत्कृष्टता स्वयं बोल पड़ेगी श्रौर हिन्दी के रामकथा-साहित्य में श्रवश्य कुछ न कुछ जोड़ेगी ही। ●●●

कन्नड़-साहित्य में रामकथा-परंपरा

श्री हिरण्मय

युग-युग से भारतीय जीवन को राम और कृष्णकथा-साहित्य ने जितना प्रभावित किया है, उतना शायद ही और किसी साहित्य ने किया हो। यद्यपि राम और कृष्णकथाओं का उद्‌गम और विकास पहले-पहल संस्कृत-साहित्य में ही हुआ था, तो भी भारतीय अन्य भाषाओं के साहित्यों में उनकी व्याप्ति कुछ कम नहीं हुई है। तमिल, कन्नड़ जैसी आर्येतर भाषाओं की समृद्धि में इन अमर चरित्रों की देन इतनी है कि यदि इन साहित्यों में से राम और कृष्णकथा-संबंधी साहित्य को अलग कर दिया जाय, तो उनमें बचा हुआ साहित्य सत्वहीन ही दिखाई पड़ेगा। कन्नड़ में साहित्य का निर्माण ईसा की लगभग सातवीं शताब्दी से शुरू होता है और उसके उपरांत वह निरंतर उत्कर्ष को प्राप्त होता है। तब से लेकर अब तक कन्नड़ में रामकथा-संबंधी साहित्य का सृजन बराबर होता आया है और अब भी किसी-न-किसी रूप में उसका सिलसिला जारी है। आरंभिक काल में साहित्य के निर्माता विशेष रूप से जैनधर्मावलंबी ही थे, क्योंकि उस समय कर्नाटक में जैन-धर्म का विशेष प्रचार हो चला था। लगभग बारहवीं शताब्दी के उपरांत वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ और उसके साथ-साथ वैदिक मतावलंबियों ने कन्नड़ में साहित्य रचने की तरफ ध्यान दिया। लेकिन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों का कन्नड़-रूपांतर तैयार कर उन समृद्ध साहित्यों का रसास्वादन कन्नड़-भाषाभाषियों को कराने का श्रेय इन्हीं जैन-कवियों को मिलना चाहिए। यद्यपि जैन-कवियों का मुख्य उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करना ही था और उन्होंने वैदिक-साहित्य की कथावस्तुओं को अपने धर्म के रंग से रंग कर ही प्रस्तुत किया था, तो भी उनके द्वारा निर्मित ग्रंथ साहित्य के गुणों से रहित थे, ऐसा कहा नहीं जा सकता। प्रत्येक जैन-कवि ने दो प्रकार के काव्य रचे थे—पहला धार्मिककाव्य और दूसरा लौकिककाव्य। लौकिक काव्यों में वैदिक-साहित्य की कथावस्तुओं का निरूपण इस कौशल के साथ किया गया कि संस्कृत भाषा, शैली, रचनावैचित्र्य, वस्तुविधान आदि के वैभव से कन्नड़-भाषा व उसका साहित्य परिपुष्ट व सत्वशाली बना। बारहवीं शताब्दी के उपरांत जैसे-जैसे कर्नाटक में जैन-धर्म का तेज कम होता गया और जैसे-जैसे वैदिकमतों का पुनरुद्धार होता गया, कन्नड़ में वैदिक-साहित्य का प्रतिरूप पूर्ण वैभव के साथ प्रस्तुत होने लगा और इस प्रकार समस्त कन्नड़-साहित्य संस्कृत की काव्य-शैली से ओतप्रोत हो गया। रामकथा-साहित्य के बारे में भी यह बात सत्य है।

कन्नड़ में प्राचीन काल से अबतक रामकथा-संबंधी जितना साहित्य उपलब्ध होता है, उसे अध्ययन की सुविधा के लिए प्रधानतया तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले प्रकार का साहित्य वह है, जिसमें पूरी रामकथा का निरूपण हुआ है ; दूसरे प्रकार का साहित्य वह है, जिसमें रामकथा के किसी प्रसंग का वर्णन खंडकाव्य के रूप में हुआ है और तीसरे प्रकार का काव्य वह है, जिसमें रामकथा का या रामकथा के किसी प्रसंग का उपकथा के रूप में अन्य काव्यों में उल्लेख हुआ है। अब इन तीनों प्रकार के रामकथा-संबंधी साहित्य का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया जाएगा।

पूर्णरामकथा-काव्य—भुवनैक्य रामाभ्युदय—

ईसवी सन् नौवीं से बारहवीं शताब्दी का काल कन्नड़-साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। इस युग के कवियों में पम्प, पोन्न और रन्न सर्वश्रेष्ठ थे, जो 'कविरत्न त्रय' के नाम से प्रसिद्ध थे। पम्प और रन्न ने महाभारत की कथा पर कन्नड़ में महाकाव्य रचे और पोन्न ने रामकथा का निरूपण किया। ये तीनों जैन थे। पोन्न महाकवि पम्प के समकालीन थे और दोनों का काव्य-रचनाकाल लगभग सन् ९५० ई० माना जाता है। पोन्न का रामकथा काव्य 'भुवनैक्यरामाभ्युदय' के नाम से विख्यात है। यद्यपि यह काव्य अब तक

प्राप्त नहीं हुआ है, तो भी कन्नड़ के विद्वानों ने इसके सम्बन्ध में परवर्ती अन्य काव्यों में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर यह निर्णय किया है कि महाकवि पोन्न ने 'भुवनैक्यरामाभ्युदय' नामक रामकथा-संबंधी काव्य रचा था। कन्नड़ के प्रसिद्ध कवि प्रो० बेंद्रे पोन्न के परवर्ती कवियों की 'काव्यालोकन' तथा 'शब्दमणिदर्पण' नामक छंद और व्याकरण संबंधी कृतियों में किए गए उल्लेखों का परिचय देते हुए कहते हैं कि पोन्न ने 'भुवनैक्यरामाभ्युदय' नामक काव्य लिखा था।[1] दूसरे एक विद्वान प्रो० डी० एल० नरसिंहाचार शिलालेखों का आधार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि कृष्णराजा के शंकरगंड नामक सामंत को 'भुवनैक्यराम' नामक पदवी मिली थी और 'भुवनैक्यरामाभ्युदय' उसी सामंत राजा की श्रीराम से तुलना करते हुए लिखा हुआ एक रूपक है।[2] प्रो० बेंद्रे ने यह अनुमान लगाया है कि संभवतः राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के चोल राजा राजादित्य को हराने का वर्णन किया गया है और यह काव्य कृष्ण के सामंत राजा की प्रशंसा में नहीं लिखा गया है।[3] प्रो० मुगुलि ने अन्यान्य विद्वानों के अभिप्रायों पर विचार करते हुए लिखा है कि संभवतः यह पोन्न का उसी प्रकार का काव्य है, जिस प्रकार पम्प ने महाभारत लिखा था, इसलिए यह एक ऐतिहासिक काव्य न होकर पौराणिक काव्य ही है।[4] यह अनुमान लगाया गया है कि इसमें चौदह आश्वास हैं। अगर यह काव्य प्राप्त हो जाए, तो कन्नड़ के प्राचीन साहित्य पर नई रोशनी पड़ेगी, इसमें संदेह नहीं है। पोन्न की अन्य रचनाओं में 'शांतिपुराण', 'जिनाक्षरमाले' और 'गतप्रत्यागत' (संस्कृत में) प्राप्त हुए हैं। पोन्न उभय भाषाओं के पंडित थे और यह प्रतीति है कि राष्ट्रकूटचक्रवर्ती राजा कृष्ण ने उन्हें 'उभयकविचक्रवर्ती' नामक पदवी प्रदान की थी।[5]

रामचंद्र चरित पुराण अथवा पम्परामायण—यह जैन-संप्रदाय की दूसरी रामायण है। इसके रचयिता थे नागचंद्र नामक जैन-कवि, जो सन् ११०० ई० और सन् १२०० ई० के बीच में जीवित थे।[6] नागचंद्र ने अपने बारे में बहुत कम कहा है, अतः उनके जीवनवृत्त के बारे में कुछ ज्यादा लिखना संभव नहीं है। यह माना जाता है कि नागचंद्र बड़े विद्वान् और जिन भक्त थे। जिस प्रकार महाकवि पम्प ने चम्पू शैली में कन्नड़ में महाभारत की रचना करके पौराणिक कथावस्तुओं को जैन-संप्रदाय के साँचे में ढालने तथा धार्मिक उदारता दिखाने का क्रम चलाया, उसीका अनुकरण करते हुए नागचंद्र ने रामकथा कन्नड़ में लिखने का बीड़ा उठाया। महाकवि पम्प के पदचिह्नों पर चलकर काव्य रचने के कारण नागचंद्र 'अभिनव पम्प' के अभिधान से आभूषित हुए और उनकी रची हुई रामायण भी 'पम्परामायण' के नाम से प्रसिद्ध हुई। अभिनव पम्प ने दो काव्य रचे थे—पहला 'मल्लिनाथ पुराण' दूसरा 'रामचंद्र चरित पुराण'। नागचंद्र ने प्राकृत के कवि विमल सूरि तथा गुण भट्ट की चलाई परिपाटी का अनुकरण करके कन्नड़ में रामकथा का निरूपण किया। इसकी पूरी कथावस्तु प्रधानतया विमल सूरि की "पउमपरिचय (पद्मपरिचय) से ली गई है। संस्कृत में इसी संप्रदाय के चलाने वाले रविशेषण का भी इस काव्य पर काफी प्रभाव पड़ा है।[7] यद्यपि नागचंद्र को उपर्युक्त कवियों से प्रेरणा मिली थी, तो भी उन्होंने अपनी रचना में आवश्यक परिवर्तन कर लिया है। उन्होंने उन प्रसंगों को छोड़ दिया है, जो उन्हें नीरस और अनावश्यक जँचे और घटनाओं के क्रम में भी हेरफ़ेर कर लिया है। काव्य के कथानायक रामचंद्र ही हैं, किंतु वाल्मीकि के दुष्टमर्दन वीरपुंगव राम नहीं हैं। श्रीराम जैन-धर्म के शलाका पुरुषों में आठवें बलदेव हैं। ये उन्नत स्तर को पहुँचे हुए जीव हैं, विष्णु के अवतार नहीं हैं। नागचंद्र के राम अहिंसा के पुजारी हैं। इसलिए हिंसा के जितने कार्य होते हैं, वे सब लक्ष्मण के हाथों होते हैं और रावण की हत्या तक लक्ष्मण ही करते हैं। अतः लक्ष्मण को इसके लिए नरक भोगना पड़ता है और पूरा प्रायश्चित करने के बाद ही वे मुक्ति के योग्य बनते हैं। लक्ष्मण कई लड़ाइयाँ लड़ते हैं, कई सुंदरियों से शादी करते हैं। लक्ष्मण शलाका पुरुषों में आठवें नारायण हैं। सबसे विचित्र बात यह है कि राम सर्वत्र ही अक्षत्रिय की तरह दिखाई पड़ते हैं और साहस के सब कार्य लक्ष्मण ही करते हैं, मगर कथा के नायक राम ही बने रहते हैं। सीता

---

[1] प्रबुद्ध कर्नाटक, वर्ष १५, संख्या ४
[2] वही, वर्ष १५, संख्या २, पृष्ठ ४
[3] वही, वर्ष १५, संख्या २, पृष्ठ २९-३०
[4] कन्नड़-साहित्य चरित्रे—प्रो० मुगुलि, पृष्ठ १०१-१०२
[5] कन्नड़-साहित्य चरित्रे—प्रो० मुगुलि, पृष्ठ १०१
[6] कन्नड़-साहित्य ,, —प्रो० मुगुलि, पृष्ठ १२४
[7] कन्नड़-साहित्य ,, —मुगुलि, पृष्ठ १२७

को वाल्मीकि की तरह सती-साध्वी और पातिव्रत्य धर्म की प्रतिमूर्ति के रूप में वर्णित किया गया है, जो सचमुच ही सुंदर बन पड़ा है। इस रामायण में मंदोदरी अपने उन्नत पद से नीचे गिरी हुई दिखाई देती है। क्योंकि वह सीता को रावण के प्रेम को स्वीकार करने का उपदेश देती है। रावण के पात्र को इसमें ऊपर उठाने का प्रयत्न किया गया है। रावण शलाका पुरुषों में आठवें प्रतिनारायण हैं। प्रतिनारायण नारायण के दुश्मन हैं। रावण राक्षस नहीं हैं, राक्षस नामक द्वीपवासी हैं। रावण खेचर वंश के हैं। वे एक कंठ हैं, न कि दशकंठ। रावण वीर हैं, दयालु हैं, त्यागी हैं और तपस्वी भी। वे स्वभाव से ही पापकृत्य करने वाले नहीं हैं। मानवीय दुर्बलता के कारण या दुर्भाग्य के कारण वे सीता पर मोहित होते हैं और उन्हें पाने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करते हैं। जब उन्हें अपना अपराध मालूम होता है, तब वे अपने पाप के लिए पश्चात्ताप करते हैं और पश्चात्ताप की अग्नि में तप कर उज्ज्वल बनते हैं। रावण भी अहिंसा-धर्म परायण हैं और रावण के महल में जिनेश्वर की रोज पूजा चलती रहती है। रावण के पात्र की खूबी का परिचय प्राप्त करने के लिए नीचे दो-एक घटनाओं का उल्लेख करना असंगत नहीं होगा।

जब रावण दिग्विजय के लिए निकलते हैं, तब दुर्लंघ्यपुर के राजा नलकूबर के साथ युद्ध छिड़ता है। इस बीच में एक घटना घटती है। नलकूबर की पत्नी उपरंभा ने रावण के रूप और बल-पराक्रम की कीर्त्ति पहले ही सुन रखी थी। जब वह रावण को अपने ही राज्य में पाती है, तब वह प्रेम से विह्वल हो जाती है और एक दूती के द्वारा रावण के पास अपना प्रेम-संदेश भेजती है। रावण दूती से यह समाचार पाकर बड़े असमंजस में पड़ जाते हैं। पर स्त्री को अपनाने के लिए उनका मन नहीं मानता। जब वे दूती को समझा कर वापस भेजने में असमर्थ हो जाते हैं, तब वे अपने भाई विभीषण से इस सम्बन्ध में परामर्श करते हैं। विभीषण इस विपत्ति से पार होने का एक बड़ा ही सरल उपाय बताते हैं। वे कहते हैं कि तुम उपरंभा को एकांत में अपने पास बुलाओ और कहो कि मैं तुम से तुम्हारे ही महल में मिलूंगा। लेकिन इसके पहले ऐसा उपाय बता दो, जिससे मैं युद्ध में विजयी बन सकूं। रावण अपने भाई की सलाह के अनुसार उपरंभा को एकांत में बुलाकर बातें करते हैं। उपरंभा रावण को सालविद्या नामक विद्या सिखाती है। इसी विद्या के बल पर रावण नलकूबर को युद्ध में हरा देते हैं और अपने वादे के अनुसार उपरंभा से महल में भेंट करते हैं। उस समय उपरंभा को समझाते हैं कि "तुम मधुकांता और कुशध्वज की कुलीन पुत्री हो, तुम्हें अपने शील और कुल-गौरव का ध्यान रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त तुमने मुझे सालविद्या सिखाकर गुरु का स्थान प्राप्त किया है। तुम अपने पति से मिल कर सुख से रहो।" यह कह कर रावण जीता हुआ राज्य नलकूबर को लौटा देते हैं।

दूसरी घटना उस समय की है, जब कि रावण राम से युद्ध करने के लिए अपने महल से कूच करते हैं। अंतिम बार प्रयत्न करके सीता देवी को मनाने के उद्देश्य से रावण उनके पास जाते हैं। सीता आंचल पसार कर रावण से रामचंद्र के प्राणों की भिक्षा माँगती है और यह कहते-कहते मूर्छित होकर गिर पड़ती है। उस समय रावण का सोया हुआ विवेक जाग उठता है और वे बड़े पश्चात्ताप के साथ कहते हैं कि "आहा! ऐसा प्रेम और कहाँ मिल सकता है? ऐसे प्रेमी दंपति को मैंने दुःख दिया है! मुझे धिक्कार है। पर-स्त्री पर मोहित होकर मैंने अपने वंश की मर्यादा मिट्टी में मिला दी है।"—इसके उपरांत वे फिर सोचते हैं, "तो क्या मैं अब सीता को राम के हाथ में सौंप दूं?—नहीं, यह संभव नहीं है। अपनी ही जगहँसाई कराना उचित नहीं है। —तो क्या राम और लक्ष्मण को रणक्षेत्र में मार कर सीता को प्राप्त करूँ? हाँ, यही ठीक है। ऐसी हालत में युद्ध अनिवार्य है।"

नागचंद्र ने रावण के पात्र में अंतर्द्वंद्व का जो मार्मिक चित्र खींचा है, वह पाठक के मन में रावण के प्रति सच्ची सहानुभूति, श्रद्धा व आदर के भाव जगाए बिना नहीं रहता। नागचंद्र का रावण सचमुच ही महापुरुष है।

इस रामायण में जिस प्रकार से राक्षस राक्षस नहीं हैं, उसी प्रकार से वानर वास्तव में वानर नहीं हैं, वानरों का रूप धारण कर सकने की शक्ति रखने वाले हैं, जिनके ध्वज पर वानर चिह्न अंकित है। हनुमान रावण की भाँति खेचर वंश के हैं, वे गृहस्थाश्रमी हैं, बालब्रह्मचारी नहीं। उनकी दो पत्नियाँ थीं, एक रावण की बहन चंद्रनखी थी, दूसरी सुग्रीव की लड़की पद्मरागा थी। इतना ही नहीं, उनके रनवास में सैकड़ों और

भी स्त्रियाँ थीं[1]। उन्होंने बहुत परिश्रम करके राम की अवश्य मदद की थी, पर वे तुलसी के वे हनुमान नहीं हैं, जो राम के अनन्य भक्त हैं।

नागचंद्र की रामायण में सर्वत्र ही जैन-धर्म का वातावरण दिखाई पड़ता है, घटनाओं के संविधान में, पात्रों की सृष्टि में, तत्व-प्रतिपादन में जो धार्मिकता का रंग चढ़ा हुआ है, अगर उसे हटा दिया जाय, तो नागचंद्र के काव्य में जो शुद्ध साहित्यिक सौंदर्य है, वह अपनी पूरी प्रभा से चमक उठेगा। नागचंद्र एक निरे पंडित और कट्टर धर्मावलंबी नहीं थे, वे थे एक प्रखर प्रतिभासंपन्न कवि तथा कलोपासक। वे अपने समय की राजनैतिक, सामाजिक तथा नैतिक परिस्थितियों से परिचित ही नहीं थे, उनके तीव्र आलोचक भी थे। नागचंद्र की मानवता प्रतिनायक रावण के चित्रण में अपने पूरे वैभव के साथ प्रकट होती है।

नागचंद्र की भाषा संस्कृतमय होते हुए भी भावाभिव्यक्ति में सहायक बनी है, बाधक नहीं है। कोमल-कांत पदावली की सर्वत्र छटा दिखाई देती है। कवि समयों के समावेश में, अलंकार-योजना में, छंदों के प्रयोग में उनका कौशल देखते ही बनता है। उपदेश देने की प्रवृत्ति, अर्थांतरन्यास का मौके-मौके पर प्रयोग अवश्य खटकने वाली बातें हैं। लेकिन कुल मिलाकर काव्य एक उत्तम कलाकृति है। यह चम्पू काव्य अपने रंग का अनूठा ही है।

कुमुदेंदु रामायण—तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कुमुदेंदु मुनि नामक जैन कवि ने इसकी रचना की। इस समय कन्नड़ में संस्कृत की रचना शैली का अंधानुकरण करना कम हो गया था और भाषा और शैली में बड़ी ही क्रांति उपस्थित हो गई थी। कई प्रकार के देशी छंदों का प्रचलन हो चला था, जिनमें 'षटपदि' नामक छंद अत्यंत लोकप्रिय हो गया था। यद्यपि जैन-कवि संस्कृत काव्य-पद्धति के भक्त थे, तो भी देशी छंदों की लोकप्रियता के प्रभाव से अपने को अलग नहीं रख सके। कुमुदेंदु मुनि ने जैन-संप्रदाय के अनुसार रामकथा विविध षटपदि छंद में प्रस्तुत की। इसकी कथावस्तु नागचंद्र का अनुकरण करके विमल सूरि की रामायण से ली गई है। इसके अतिरिक्त इस पर नागचंद्र का प्रभाव सर्वत्र लक्षित होता है। यह काव्य अबतक पूरा प्राप्त नहीं हुआ है। प्रथम आठ अध्याय ही प्रकाशित हुए हैं। हिंदी के कवि केशवदास की तरह इसमें पांडित्य-प्रदर्शन अधिक और कवित्व कम है। छंदों की विविधता, राग, ताल, शब्दचयन, रस, गुण आदि पर विशेष ध्यान रखा गया है। यह एक प्रकार से गेय काव्य है।[2] इसकी और एक विशेषता यह है कि इसमें पुरानी और नवीन शैलियों का मिश्रण हुआ है। कहा जाता है कि कुमुदेंदु मुनि को 'कविराज शिखामणि' नामक पदवी भी मिली थी। प्रो० मुगुलि इस पदवी को एक प्रशंसात्मक परिपाटी ही मानते हैं।[3]

तोरवे रामायण—चौदहवीं और सोलहवीं शताब्दी के मध्यकाल में कन्नड़-साहित्य अपने वैभव के शिखर पर पहुँच गया था। इस समय कर्नाटक में जैन, वीर, शैव जैसे अवैदिकी धर्मों का प्रभाव दिन-पर-दिन कम होने लगा था, भागवत धर्म का पुनरुत्थान प्रारंभ हो गया था। भागवत धर्म के अंतर्गत भक्तों व आचार्यों द्वारा भक्ति की विमल धारा प्रवाहित हो गई थी। विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के साथ-साथ वैष्णव संप्रदायों को राजाश्रय भी मिल गया। राजनैतिक और धार्मिक बदली हुई परिस्थिति साहित्य की सृष्टि के लिए सहायक सिद्ध हुई। इसी काल में कन्नड़ में मूल वैदिक संस्कृत ग्रंथों से सीधा प्रभावित होकर रामायण, महाभारत, भागवत, पुराण, दर्शन पर विपुल साहित्य का निर्माण हुआ। इस युग के महाकवि व पथप्रदर्शक थे नार्णप्प अथवा कुमारव्यास। आदिपम्प के उपरांत कन्नड़ में सारी भारतकथा का निरूपण करने वालों में नार्णप्प ही प्रधान थे। नार्णप्प ने व्यास भारत का कन्नड़ में प्रतिरूप इस सफलता के साथ प्रस्तुत किया कि नार्णप्प 'कुमारव्यास' के नाम से प्रसिद्ध हुए। कुमारव्यास का भारत कन्नड़-भाषाभाषियों में ऐसा ही जनप्रिय काव्य है, जैसा कि हिंदी भाषाभाषियों में तुलसी का 'रामचरितमानस'। कुमारव्यास के परवर्ती समस्त कन्नड़ के साहित्यकारों के लिए यह कृति पथप्रदर्शक सिद्ध हुई। नार्णप्प के लगभग एक सौ साल के

---

[1] अभिनव पम्प (पम्परामायण और जैनधर्म), पृष्ठ २३

[2] कन्नड़-साहित्य चरित्रे—मुगुलि, पृष्ठ २१४

[3] कन्नड़-साहित्य चरित्रे—मुगुलि, पृष्ठ २१५

पश्चात् पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भागवत संप्रदाय के अंतर्गत कन्नड़ में वाल्मीकि रामायण का प्रतिरूप उपस्थित हुआ। इसके प्रणेता थे कुमार वाल्मीकि। इनके असली नाम का अब तक पता नहीं लगा है, चूंकि उन्होंने वाल्मीकि का अनुकरण किया, इसलिए कुमार वाल्मीकि कहे गए। कवि के जीवन-वृत्त पर अब तक अधिक बातें मालूम नहीं हुई हैं। जो कुछ मालूम हुआ है, उसके आधार पर यह कहा जाता है कि कुमार वाल्मीकि बिजापुर जिले के तोरवे नामक गाँव के निवासी थे और वहाँ के ग्राम देवता नरसिंह के अनन्य भक्त थे। उन्होंने, कहा जाता है, अपने आराध्य देवता की स्मृति में रामायण की रचना की। इसलिए इस रामायण का नाम 'तोरवेरामायण' पड़ा। लगभग पाँच हजार 'भामिनी षट्पदि' नामक छंद में रचा हुआ यह महाकाव्य कन्नड़ की वह सर्व प्रथम रामकथा है, जिसमें 'वाल्मीकिरामायण' की पूरी कथा अंकित हुई है। यद्यपि कुमार वाल्मीकि ने 'वाल्मीकिरामायण' को अपने काव्य के लिए आधार बनाया, तो भी आँख मूंद कर उसकी नकल नहीं की है, बल्कि अपनी काव्यप्रतिभा का परिचय दिया है। तुलसी की तरह कुमार वाल्मीकि ने राम को विष्णु का अवतार मान कर कथावस्तु पर भागवत धर्म की छाप लगाई है। रामनाम की महिमा का वर्णन करते हुए काव्य के आरंभ में यह बता दिया गया है कि शिवजी पार्वती को रामकथा सुनाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि 'तोरवेरामायण' पर 'अद्भुतरामायण' का भी प्रभाव पड़ा है। इसमें वृहत् रामकथा को संक्षेप में सुनाने की प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई देती है। मगर जिस प्रसंग में कवि का मन रमा है, उसका विस्तार भी किया गया है। यही कारण है कि काव्य का आधा भाग युद्ध-वर्णन से भर गया है। कथा-वस्तु में भी यत्र-तत्र कुछ परिवर्तन कर लिया गया है। मंथरा निरी दासी नहीं है, पर माया का अवतार है। पट्टाभिषेक के दिन जब वशिष्ठ राम के पास आते हैं, तब उनसे रामचंद्र कहते हैं कि मैंने रात को सीता के साथ वन में भ्रमण करने का स्वप्न देखा है। जब रावण संन्यासी के वेश में सीता के पास आता है, तब वह रावण को पिता समझ कर हाथ जोड़ कर नमस्कार करती है। रावण सीता से कहता है कि राम नामक राजा मारीच नामक मायामृग के हाथों मारा गया है। इसी प्रकार कई स्थानों पर ऐसी बातें मिलती हैं, जो मूल वाल्मीकि रामायण में नहीं हैं। नागचंद्र की भाँति कुमार वाल्मीकि ने भी रावण के पात्र को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया है। युद्ध में जाने के पहले रावण अपनी सारी संपत्ति गरीबों में बाँट देता है। जेल के सभी बंदियों को रिहा कर देता है और इस बात का आदेश निकालता है कि अगर मैं युद्ध में मारा गया, तो विश्वास-पात्र विभीषण को गद्दी पर बैठाया जाय। युद्ध के समय जब रावण को अपने हार जाने की आशंका होती है, तब इस बात के लिए पश्चात्ताप करता है कि अपने भाई विभीषण के हित-वचनों पर कामविकार के कारण मैंने ध्यान नहीं दिया।[1] 'वाल्मीकिरामायण' को कन्नड़-भाषा में उतारते समय कुमार वाल्मीकि की कविता-शक्ति उतनी निखर नहीं सकी है, जितनी कि उनकी भक्तिप्रवणता। कुमार वाल्मीकि प्रधानतया भक्त थे। पर हाँ, मर्मस्पर्शी स्थानों में पात्रों की मनोदशाओं का चित्र खींचने में काफी कौशल दिखाया है। यद्यपि कथा सुनाने में गति है, चमत्कार है, तो भी उनकी लेखन-शक्ति की उज्ज्वलता की वृद्धि नहीं होती। कहीं-कहीं वह केवल सांप्रदायिक ही होकर रह जाता है। कहीं-कहीं कथा की गति में बेहद तीव्रता आती है, जो रसाभास में परिणत हो जाती है[2]। यद्यपि कुमार वाल्मीकि की कथावस्तु वैसी ही महान है, जैसी कि कुमारव्यास की, तो भी वे ऐसी कृति कन्नड़ को दे नहीं सके, जैसी कि कुमारव्यास।[3]

कुमार वाल्मीकि की भाषा में सौष्ठवता है, शैली में सरसता है और सारा काव्य प्रसादगुण युक्त है। कल्पना और उक्ति वैचित्र्य में कुमारव्यास तथा कालिदास का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कुमार वाल्मीकि ने दो काव्य रचे थे—'तोरवेरामायण' और 'ऐरावणकालग'। किंतु 'तोरवेरामायण' ही उनकी कीर्ति का मेरुदंड है।

मार्कंडेय रामायण—लगभग १६५० में तिम्मरस नामक एक ब्राह्मण कवि ने इसकी रचना की थी। 'वार्धिक षटपदि' छंद में लिखा हुआ यह काव्य काफी बड़ा है। तीन अध्याय और लगभग एक हजार नौ सौ

[1] युद्धकांड—४८-२ [2] कन्नड़-साहित्य चरित्रे—मुगुलि, पृष्ठ २६६ [3] कन्नड़-साहित्य चरित्रे—मुगुलि, पृष्ठ २६७

पद्य हैं। मार्कंडेय मुनि युधिष्ठिर को रामकथा सुनाते हैं, इसलिए इसका नाम मार्कंडेयरामायण पड़ा। काव्य के आरंभ में 'गणेश' यदुगिरि नारायण, ब्रह्म, सरस्वती, ईश्वर, आंजनेय और वाल्मीकि की वंदना की गई है, जिससे यह विदित होता है कि कवि भागवत संप्रदाय को मानने वाले थे।[1]

अद्वैत रामायण—इसके कवि का नाम निजगुणार्य है। संभवत: ये वीर-शैव-संप्रदाय को मानने वाले थे। यह एकवचनकाव्य है, चौबीस अध्याय और नौ सौ तैंतीस वचन हैं। काव्य में अद्वैततत्व का प्रतिपादन है।[2]

रामचंद्र चरित्र—'सांगत्य' नामक छंद में लिखा हुआ एक वृहत् काव्य है, जिसकी रचना दो कवियों ने की थी। पूरे काव्य में सैंतीस अध्याय हैं और पाँच हजार दो सौ अड़सठ पद्य हैं। पहले के २१५१ छंदों को चंद्रशेखर नामक कवि ने लिखा था और बाकी को पद्मनाभ नामक दूसरे एक कवि ने। दोनों जैन थे और ग्रंथ में भी जैन-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। इसका रचनाकाल लगभग सन् १७५० है। पूरा काव्य अबतक प्राप्त नहीं हुआ है।[3]

रामाभ्युदय कथा कुसुममंजरि (आनंदरामायण)—वैष्णव संप्रदाय के एक भक्त कवि तिम्मामात्य ने भामिनीषटपदि छंद में इसका प्रणयन किया था। इनका रचना-काल लगभग सन् १७४८ माना जाता है। काव्य में सात कांड, अठहत्तर अध्याय और तीन हज़ार छियालीस पद्य हैं। बालकांड में वराह, नरसिंह अवतारों तथा रावण दिग्विजय की कथा का समावेश किया गया है और उत्तरकांड में राम का राज्यशासन, दिग्विजय, अश्वमेध यज्ञ आदि का वर्णन किया गया है। वैष्णव संप्रदाय के अनुसार काव्य के आरंभ में विष्णु, शिव, ब्रह्म, गणपति, सरस्वती, वाल्मीकि, आंजनये आदि की वंदना की गई है। इसका दूसरा नाम 'आनंद रामायण' भी है।[4]

रामकथावतार—यह जैन-संप्रदाय की रामायण है, जिसके रचयिता देवचंद्र थे। इसका रचना काल लगभग सन १७७० ई० माना जाता है। यह चम्पू काव्य है, जिसमें सोलह आश्वास और छः हजार आठ सौ पद्य हैं। नागचंद्र की पम्परामायण की छाप सर्वत्र दिखायी देती है।[5]

रामायण—वेंकामात्य नामक कवि ने लगभग सन् १७७० में इस रामायण को लिखा था। इसमें नौ हजार आठ सौ पैंसठ पद्य हैं। पार्वती को शिवजी कथा सुनाते हैं। यह एक प्रौढ़ काव्य है। ग्रंथ का आरंभिक भाग अप्राप्य है। इसमें वार्धिक षटपदि का प्रयोग हुआ है।[6] इसके अतिरिक्त वेंकामात्य ने 'रामाभ्युदय' नामक दूसरी एक रामायण रची थी। इसमें लक्ष्मी के अवतार का वर्णन शामिल है।[7]

शंकर रामायण—यह अनुमान लगाया गया है कि लगभग सन् १७०० ई० में इस रामायण का प्रणयन हुआ है। कवि का नाम अज्ञात है। ब्रह्म के द्वारा नारद को कही गई रामकथा का इसमें निरूपण हुआ है। लगभग तीन हजार तीन सौ भामिनी षटपदि छंद सैंतालीस भागों में विभक्त हैं। काव्य के आरंभ में भागवत संप्रदाय की परिपाटी के अनुसार राम, शिव, ब्रह्म, विनायक, सरस्वती आदि की स्तुति की गई है। व्यास, कालिदास, वाल्मीकि, दंडि, मयूर, बाण, धनंजय जैसे प्राचीन कवियों के नामों का स्मरण किया गया है।[8]

मूलक रामायण—इसका रचनाकाल लगभग सन् १६०० ई० है। कवि अज्ञात हैं। इसमें छः अध्याय हैं और 'भामिनीषट्पदि' छंद प्रयुक्त हुआ है। इसके बारे में अधिक बातें मालूम नहीं हुई हैं। इसकी कथा कुछ विचित्र-सी लगती है। मूलकासुर नामक एक राक्षस लंका पर हमला करता है, विभीषण को हरा कर अयोध्या की तरफ कूच करता है। भरत, शत्रुघ्न, राम, लक्ष्मण सब उससे लड़कर हार जाते हैं, लेकिन वह कुश के हाथों मारा जाता है।

---

[1] कर्नाटक कवि चरिते—भाग द्वितीय, पृष्ठ ४०६
[2] कर्नाटक कवि ,, —भाग तृतीय, पृष्ठ २४६
[3] कर्नाटक कवि ,, —भाग तृतीय, पृष्ठ ५६, ५७
[4] कर्नाटक कवि ,, —भाग तृतीय, पृष्ठ ७४
[5] कर्नाटक कवि चरिते—भाग तृतीय, पृष्ठ १५०-१५१
[6] कर्नाटक कवि ,, —भाग तृतीय, पृष्ठ १३०
[7] कर्नाटक कवि ,, —पृष्ठ १८८
[8] कर्नाटक कवि ,, —भाग तृतीय, पृष्ठ ३१२
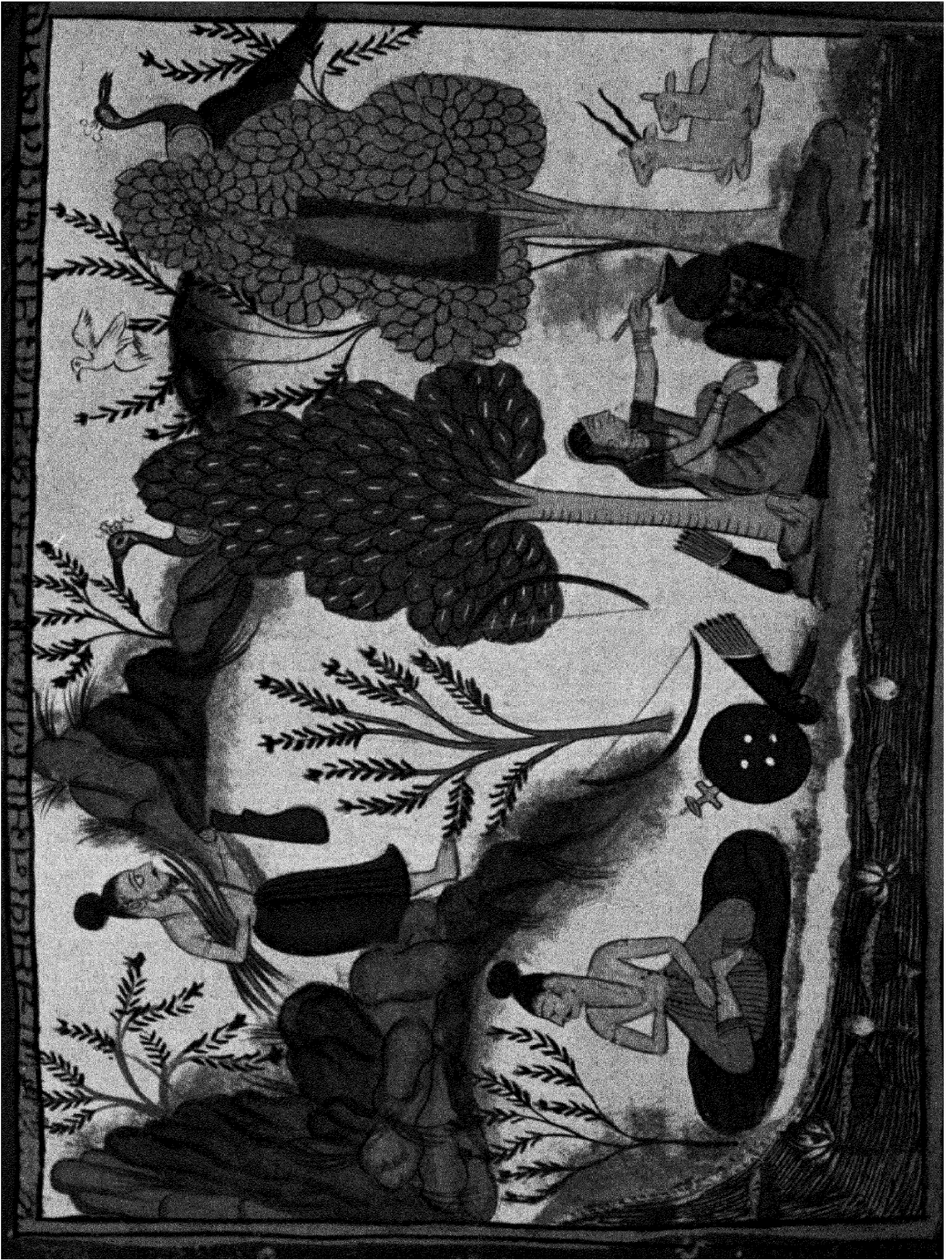
मूलबालरामायण—हरिदास नामक माध्वसंप्रदाय के कवि ने सन् १७५० ई० में इसे लिखा है। इसका छंद भामिनी षटपदि है और इसमें तेरह अध्याय और ७२६ पद्य हैं।[१]

जिनरामायण—यह एक जैन-संप्रदाय की रामायण है। कवि अज्ञात है। इसके बारे में जो कुछ मालूम है, उसके आधार पर यह बताया जाता है कि इसमें चौहत्तर अध्याय और चार हज़ार तीन सौ नौ पद्य हैं। इसमें प्रयुक्त छंद भामिनी षट्पदि है।[२]

श्रीमद्रामायण—मद्रास विश्वविद्यालय के कन्नड़-प्राध्यापक स्वर्गीय देवशिखामणि अलसिंगाचार्य ने सारी 'वाल्मीकिरामायण' का कन्नड़ गद्यानुवाद किया है, जो आठ भागों में प्रकाशित है। आधुनिक कन्नड़ की प्रगति में इस सरस अनुवाद का विशेष हाथ रहा है।

श्रीरामचरित—सन् १९१३ में रामकृष्ण राव ने इसकी रचना की थी। इसमें रामकथा का कुछ विचित्र ढंग से चित्रण हुआ है। दशरथ की मृगया, राम का दंडकारण्य से लौटना, सीता-परित्याग, श्रीराम-स्वर्गारोहण आदि घटनाओं का वर्णन हुआ है।

संग्रहरामायण—पंडित के० आर० नरसिंहय्या ने सन् १९३८ में भामिनी षटपदि छंद में इसकी रचना की है। रामकथा संक्षेप में सुनाई गई है।

अध्वगन्नड़रामायण—सिद्धांति सुब्रह्मण्य शास्त्री ने इसको लिखा है। अबतक इसका बहुत थोड़ा अंश प्राप्त हो सका है। संभवतः उन्नीसवीं शताब्दी में इसका निर्माण हुआ है।

रामायणदर्शनं—आधुनिक कन्नड़ का एक मात्र महाकाव्य है, जिसपर भारत सरकार की साहित्य अकादमी ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद कन्नड़ में रचे गए काव्यग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ ठहराकर पाँच हजार का पुरस्कार प्रदान किया है। इसके लेखक हैं महाकवि के० वी० पुट्टप्प, जो कि मैसूर विश्वविद्यालय में कन्नड़-विभाग के प्रधान हैं और आजकल 'मैसूर महाराजा कालेज' के प्रिंसिपल हैं। प्रोफेसर के० वी० पुट्टप्प का पूरा नाम है 'कुप्पलि वेंकटप्प गौड़ पुट्टप्प'। इसका संक्षिप्त रूप है 'कुवेंपु'। श्री पुट्टप्प जी इसी 'कुवेंपु' के नाम से साहित्य-संसार में प्रख्यात हैं।

किसी भी कलाकृति का सम्यक् परिचय प्राप्त करने के लिए उसके निर्माता के जीवन व व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि कलाकार की कृति में कलाकार के जीवन की छाप दिखाई देती है। अतः 'रामायणदर्शनं' पर विचार करने के पहले उसके निर्माता के व्यक्तित्व पर दृष्टिपात कर लेना जरूरी है।

कुवेंपु का जन्म मैसूरराज्य के पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश में, जिसे कन्नड़ में 'मलनाड' कहते हैं, सन् १९०४ ई० में हुआ। यह मलनाड मैसूरराज्य का न केवल उर्वर प्रदेश है, बल्कि प्राकृतिक सुंदरता के लिए भी अपना सानी नहीं रखता। कुवेंपु के माता-पिता सीतम्मा और वेंकटप्प गौड़ एक संभ्रांत परिवार के हैं। तीर्थहल्ली तालूक में प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के बाद, श्री पुट्टप्प मैसूरनगर में अपनी उच्च शिक्षा के लिए आए। मैसूर के महाराजा कालेज में (कन्नड़ में) एम० ए० डिग्री पाने के उपरांत कुवेंपु मैसूर विश्वविद्यालय में सन् १९२९ ई० में कन्नड़ के प्राध्यापक नियुक्त हुए।

'रामायणदर्शनं' की कथावस्तु का ढाँचा प्रधानतया 'श्री वाल्मीकिरामायण' के आधार पर तैयार किया गया है, ऐसा कहा जा सकता है। पम्परामायण, तोरवेरामायण जैसी कन्नड़ की प्राचीन रामायणों की रचना शैली का भी प्रभाव इसपर लक्षित होता है। लेकिन किसी भी पुरानी रामायण की कोरी नकल नहीं की गई है। जिस प्रकार भक्तवर गोस्वामी तुलसीदास ने 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामयणे क्वचिदन्य-तोऽपि' कहकर सुदीर्घकाल तक रामभक्ति तथा काव्य की साधना करके अपनी अमरकृति 'रामचरितमानस' को जन्म दिया था, उसी प्रकार कुवेंपु ने लगातार नौ साल तक बड़े ही मनोयोग के साथ रामकथा का चिंतन

---

[१] कर्नाटक कवि चरिते—भाग तृतीय, पृष्ठ १०४

[२] कर्नाटक कवि चरिते—भाग तृतीय, पृष्ठ १६९

तथा मनन करके 'रामायणदर्शनं' का निर्माण किया है। यह निरी रामायण नहीं है, रामायण-दर्शन है, जिसमें कुवेंपु के जीवनदर्शन का प्रतिबिंब है। इस दर्शन में पूर्व और पश्चिम का मिलन है, प्राचीनता और नवीनता का, भूत और भविष्यत का समन्वय है, काव्य और कला का, ज्ञान और विज्ञान का, तर्क और मनःशास्त्र का, नरत्व और अमरत्व का संयोग है। व्यक्ति-धर्म, समाजधर्म, राष्ट्रधर्म और विश्वमानवधर्म, एक दूसरे का पूरक बनकर इसमें आ मिले हैं। 'रामायणदर्शनं' क्या है, एक नूतन जीवनदर्शन ही है।

कुवेंपु ने अपने काव्य को अपने पूज्यगुरु स्वर्गीय टी० एस० वेंकण्णय्या को अर्पित करते हुए जो उद्गार व्यक्त किए हैं, उनके द्वारा 'रामायणदर्शनं' रचना की पृष्ठभूमि का परिचय मिल जाता है। वे कहते हैं, "यह काव्य बहिर्घटनाओं को प्रतिबिंबित करनेवाली लौकिक कथा नहीं है, अलौकिक नित्य सत्यों को प्रतिबिंबित करनेवाली सत्यस्य सत्य कथा है, महाछंदों में कुवेंपु की रची हुई मेरुकृति है, जगद्भव्य रामायणं है। कुवेंपु ने रामायण की रचना क्या की है, रामायण ने ही कुवेंपु को रचा है।"[1]

'कविक्रतुदर्शनं' नामक प्रथम अध्याय में वाल्मीकिरामायण की सृष्टि के कारण क्रौंच पक्षियों की करुण कथा का वर्णन करते हुए कुवेंपु महाकवि वाल्मीकि, सरस्वती, होमर, र्वाजल, डन्टे, मिल्टन, नार्णप्प, पम्प, व्यास, भास, भवभूति, कालिदास, नरहरि तुलसीदास, अगस्त्य, नन्नय्य, फिर्दौसी, कंब, रवींद्र, नए-पुराने, छोटे-बड़े, काल-देश-भाषा-जातिभेद रहित सभी कलाकारों को नमस्कार करते हैं; भगवद्विभूति जहाँ भी हो, ज्योति जहाँ भी हो उसकी हाथ जोड़कर वंदना करते हैं और यह कामना करते हैं कि लोक में गुरुकृपा रहे, कविकृपा रहे, लोकहृदय की इच्छा आशीर्वाद ले आवे, मेरा शिर झुका रहे, हाथ जुड़े रहें, मेरा जीवन पवित्र रहे, रस की तपस्या सफल हो, चिरशांति प्राप्त हो, श्रीयुक्त कन्नड़ विजई होवे।"[2]

'रामायणदर्शनं' के कतिपय पात्रों पर प्रकाश डालकर अब यह दिखाने का प्रयत्न किया जाएगा कि कुवेंपु की कला की क्या विशेषता है। यद्यपि काव्य के अंत में राम को रावण-वधार्थ चिदानंद-स्वरूप का लीलावतार माना गया है,[3] तो भी तुलसी की तरह राम के चरित्र में ईश्वरत्व की कल्पना करके काव्यसौष्ठव को घटाया नहीं गया है। कुवेंपु के राम में वे सभी उदात्त गुण पाए जाते हैं, जो आदिकवि वाल्मीकि के राम में मिलते हैं। कुवेंपु के राम पुरुषोत्तम हैं, पुरुषसिंह हैं, स्थितप्रज्ञ हैं। राम के पात्र को अति मानव न बनाकर, युगधर्म के अनुकूल बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। रामजन्म के पूर्व दशरथ जो पुत्रकामेष्टि याग करते हैं, उसमें एक नूतन कल्पना का समावेश करके कुवेंपु ने राम के पात्र को और भी प्रभावोत्पादक बना दिया है। जब राजा दशरथ वशिष्ठ, वामदेव, जाबालि आदि मुनिवरों को बुलाकर संतान-प्राप्ति का उपाय बताने की प्रार्थना करते हैं, तब वशिष्ठ तो पुत्रकामेष्टि याग करने की सलाह देकर चले जाते हैं, पर जाबालि ऋषि वशिष्ठ का समर्थन करते हुए एक नई सलाह देते हैं। वे कहते हैं कि हे रघुकुलेश, पूर्वाचार के पोषक बनकर तुम अश्वमेध यज्ञ आदि हिंसात्मक कार्य न करो। इस जगत का संचालन करनेवाली महाशक्ति प्रेम के साथ देवताओं की पूजा करने पर ही प्रसन्न होगी। चराचर में व्याप्त यह शक्ति प्रेममय है। इसलिए हिंसा से ऐसी संतान नहीं मिलेगी, जो प्रेममय हो। सात्विक ढंग से यज्ञ करो, प्रजा तथा गरीबों का सत्कार करो, जो तृप्त होकर तुम्हें आशीर्वाद देंगे। जन-मन की शक्ति तथा इच्छा ही इस राज्य के लिए महान पुत्रों को प्रदान करेगी।[4] वास्तव में महापुरुष जन-मन की शक्ति और इच्छा के अवतार हैं। राम के पात्र की महानता की वृद्धि करनेवाली कितनी ही घटनाएँ 'रामायणदर्शनं' में मिलती हैं। युद्ध के समय रामचंद्रजी संयोग से अपनी सेना के वह्नि और रंहर नामक दो साधारण सैनिकों से मिलते हैं। सैनिकों का परिचय प्राप्त कर लेने के बाद रामचंद्रजी वह्नि से पूछते हैं कि क्या तुम्हारी सहधर्मिणी है? वह उत्तर देता है कि जी हाँ। राम फिर पूछते हैं कि क्या तुम अपनी पत्नी को दुखी छोड़कर मेरे ही कारण यहाँ आए हो?

---

[1] रामायणदर्शनं, भाग प्रथम, समर्पण—पृष्ठ ४
[2] रामायणदर्शनं, भाग प्रथम, पृष्ठ १-६
[3] रामायणदर्शनं, भाग द्वितीय, पृष्ठ ८४६
[4] रामायणदर्शनं, भाग प्रथम, पृष्ठ ९-१०

क्या तुम्हारी कोई संतान भी है? वह्नि कहता है कि मेरा एक छोटा बच्चा है। राम फिर पूछते हैं कि तुम्हारी पत्नी और बच्चे की कौन रक्षा करते हैं? वह्नि उत्तर देता है—"जिस धर्म की रक्षा के लिए हम लोग प्राण देने उद्यत्त हैं, वही धर्म उनकी भी रक्षा करेगा।"[१] कैसी सुंदर सूझ है? इस घटना के द्वारा न केवल राम की सहृदयता का परिचय मिलता है, बल्कि यह भी मालूम होता है कि 'रामायणदर्शनं' के छोटे-छोटे पात्र की कैसी ऊँची आदर्शयुक्त मनोदशा है।

कुवेंपु के भरत तो 'भरतदेव' हैं। भरत न केवल आदर्श भाई हैं, किंतु उनके व्यक्तित्व के प्रकाश में आकर मंथरा और कैकेयी जैसी स्त्रियों का भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है।

मंथरा और कैकेयी के चरित्र-चित्रण में कुवेंपु की मानवतावादी भावना खूब निखर उठी है। तुलसी-दास जैसे भक्तश्रेष्ठ भी मंथरा को मंदमति, कुबुद्धि, कुजाति, कुटिल, अवध-साढ़ेसाती आदि गालियों से आभूषित करते हैं। कुवेंपु की मंथरा ममता की मूर्ति है। कला का ऐसा उत्कर्ष दिखाई पड़ता है कि मंथरा एक अमर चरित्र बन जाती है। जिस मनोवैज्ञानिक सहज तर्कपूर्ण ढंग से उसके चित्रपर कुवेंपु ने रंग चढ़ाया है, उसके कारण मंथरा हमारी पूर्ण सहानुभूति और स्नेह की भाजन बनती है। मंथरा की पात्र-सृष्टि में कवि ने खूब रस लिया है, इसीलिए उसका विस्तार करके नई व अनूठी कल्पनाओं का समावेश किया है। एक है मंथरा का पूर्व परिचय, दूसरा अयोध्या में जब बालक राम चंदामामा को ला देने के लिए हठ करता है, तब मंथरा का आगमन; तीसरा भरत से भर्त्सना पाकर अपने किए के लिए पश्चाताप करते हुए, राम-राम जपते हुए, राम की खोज में मंथरा का जंगल जाना और दावाग्नि में पड़कर भस्मीभूत हो जाना। जब मंथरा दावाग्नि में पड़कर जल जाती है, तब कवि उसके प्रति जो अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, उसकी खूबी देखते ही बनती है।[२]

ऊर्मिला के निर्माण में कुवेंपु पर रविबाबू की 'काव्य में उपेक्षिताएँ' भावनाओं का प्रभाव अवश्य पड़ा है। कुवेंपु की ऊर्मिला मैथिलीशरण की प्रोषितपतिका, विरहिणी ऊर्मिला नहीं है। "पर वह है स्त्री-रूपी तपस्या की निरूपम प्रतिमा।" "पति के साथ वनवास का दुःख भोगनेवाली पातिव्रत की व्रतधारिणी, देव-मानव-सकललोक की स्तुति पानेवाली सीता की तपस्या से ऊर्मिला की तपस्या बढ़ी-चढ़ी है।[३] जब राम, सीता और लक्ष्मण वनवास के लिए चल पड़ते हैं, तब ऊर्मिला सरयू नदी के तीर पर पर्णकुटी बनाकर तपस्या में लीन होती है। उसकी यह तपस्या राम, सीता और उसके पतिदेव लक्ष्मण के लिए रक्षा-कवच बन जाती है।[४] लक्ष्मण का अपनी प्रियतमा से विदा लेना क्या है, अपने गुरु से दीक्षित होकर दीर्घ तपस्या के लिए निकल पड़ना है।

मिथिला नगर में जिस समय सीता उपवन में राम का प्रथम दर्शन पाकर कुछ अज्ञात मनोवेदना से पीड़ित होती है, उस समय ऊर्मिला सीता का आँसू पोंछती, उपचार करती पाई जाती है। क्योंकि वह सीता की एकमात्र हृदय-सखी है। ऊर्मिला के चरित्र का विस्तार कहीं नहीं पाया जाता, लेकिन काव्य-रूपी इस वनस्थली की जगह-जगह में बार-बार ऊर्मिला-रूपी तड़ित्रेखा चमक जाती है, जो सर्वत्र आलोक फैला देती है। वनवास के समय राम, सीता, लक्ष्मण और ऊर्मिला बार-बार याद करते हैं। दो-एक बार का परिचय दिए बग़ैर इस निबंध को समाप्त करना उचित नहीं जँचता। पंचवटी की एक घटना है। प्रातःकाल के समय सबके बदन पर हिमकण गिर पड़ते हैं। लक्ष्मण तब सीता से कहते हैं कि अरण्य-सखी देवी (सीता) का तुहिनकणों द्वारा अभिनंदन कर रही है। तब तुरंत ही सीता बोल उठती है—"नहीं-नहीं, यह तो आगे आनेवाले सुख के उपलक्ष्य में ऊर्मिला ने अपने प्रेमाश्रु प्रियतम के चरणों पर चढ़ाए हैं।"[५] एक बार सीता जी गरम पानी करने के लिए चूल्हा जलाती हैं। लकड़ी के कच्ची होने के कारण आग लगती नहीं। सीता जी बहुत परेशान होती हैं, उनकी आँखें लाल-लाल होती हैं, चेहरे पर पसीना बहने लगता है। रामचंद्र जी को यह देखकर कुछ मजाक सूझता है, पर लक्ष्मण तुरंत गंभीर हो जाते हैं। क्योंकि वे समझते हैं कि मैंने कच्ची

---

[१] रामायणदर्शनं, भाग द्वितीय, पृष्ठ ५४९-५०

[२] रामायणदर्शनं, भाग प्रथम, पृष्ठ ११५

[३] रामायणदर्शनं, भाग प्रथम, पृष्ठ ९९

[४] रामायणदर्शनं, भाग प्रथम, पृष्ठ २०३

लकड़ी लाकर भाभी जी को कष्ट पहुँचाया है। वे तुरंत ही चूल्हा जलाने लगते हैं। तब उन्हें ऊर्मिला की याद हो आती है। तुरंत ही कच्ची लकड़ी भी जलने लगती है। ऐसी है ऊर्मिला की तपःशक्ति।

युद्धारंभ के पिछले दिन की रात्रि को स्वप्नलक्ष्मी और तपोलक्ष्मी के बीच में जो वार्तालाप चलता है, उसमें ऊर्मिला की महानता की एक झाँकी मिलती है। ऊर्मिला दो-तीन बार ही हमारे सामने थोड़ी देर के लिए उपस्थित होती है। उसकी चालढाल में, बातचीत में, जरा भी चंचलता, अल्हड़पन नहीं है। नंदीग्राम में कौशल्या की गोद में रुदन करती हुई कैकेयी को ऊर्मिला नमस्कार करती है। कैकेयी उसका भाल चूमकर आँखों से आँसू बहाती है। उस समय करुण रस का सागर उमड़ पड़ता है। तब ऊर्मिला उन्हें जिन शब्दों में सांत्वना देती है, वे अनमोल हैं। वह कहती है—"माँ, तुम्हारे दुख की सीमा का आरपार नहीं, मैं छोटी हूँ...... रामकथा-रूपी महासागरमें उत्पन्न होनेवाले घोर गरल को धारण करनेवाली शिवा की कण्ठ-शक्ति तुम हो—आशीर्वाद दो...उठो......।"[1]

लक्ष्मण-ऊर्मिला के प्रणय में वह तूफान नहीं है, बाह्याडम्बर नहीं है, रोना-धोना नहीं है, पर है शांति, संयम और तपस्या। ऊर्मिला के संयत व निर्मल प्रेम की आभा दोनों की पथप्रदर्शनी है।

आदिकाव्य की कैकेयी में रावण के गुणों का जो प्रतिरूप मिलता है, वह कुवेंपु की कैकेयी में नहीं है। कैकेयी यहाँ पर पश्चात्ताप की अग्नि मे तपकर सोना बनकर उज्ज्वल हो उठती है और सबकी संवेदना प्राप्त करती है। सीता, कौशल्या, मंदोदरी के चित्र भी अनुपम हैं। शबरी की भक्ति की घटना का कुछ विस्तार किया गया है, जिसमें विशेष चमत्कार नहीं दिखाई देता।

यह कहा नहीं जा सकता कि 'रामायणदर्शनं' में वे सब गुण पाए जाते हैं, जिनका काव्यशास्त्र की परंपरा के अनुसार होना अनिवार्य माना जाता है। लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें महाकाव्य का ऐश्वर्य पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। इसकी कथावस्तु महान् है, वस्तुविधान में अपूर्व चमत्कार है, पात्रों के स्वभाव-चित्रण में असाधारण कौशल है। कथोपकथन में, रसाभिव्यक्ति में कुवेंपु की कला अपने पूरे वैभव को लिए हुई है।

'रामायणदर्शनं' में शुरू से अंत तक 'महाछंद' नामक छंद प्रयुक्त हुआ है। इस छंद को कन्नड़ में 'सरल रगले' भी कहते हैं। पुराने लोकप्रिय छंद 'वार्धिक षट्पदि' का प्रथम चरण, जिसमें पाँच-पाँच मात्राओं के चार गण हुआ करते हैं, इसके प्रत्येक चरण में प्रयुक्त हुआ है। कन्नड़ के छंदों की यह विशेषता है कि प्रत्येक चरण के आरंभ और अंत में तुक का होना ज़रूरी है। किंतु इस महाछंद में ऐसा कोई बंधन नहीं है। इस छंद की प्रशंसा करते हुए एक आलोचक ने कहा है कि इस छंद में षटपदि, वृत्त, कंद आदि छंदों की गति, लय, विलास, संगीत का समावेश है। भले ही इस कथन में अत्युक्ति हो, लेकिन यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि इस नूतन छंद में अपना ही एक लय-गति-प्रवाह और संगीत है। कर्नाटक-संगीत के तर्ज़ में बैठाकर 'रामायणदर्शनं' को बड़े ही सुंदर ढंग से गाने का प्रयत्न भी किया गया है।

सारा 'रामायणदर्शनं' अयोध्यासंपुटं, किष्किंधासंपुटं, लंकासंपुटं और श्रीसंपुटं नामक चार भागों में विभाजित किया गया है। फिर ये चार भाग 'संचिके' नामक पचास छोटे-छोटे अध्यायों में बाँटे गए हैं। क्राउन साइज़ की ८७७ पृष्ठोंवाली यह रामायण दो भागों में प्रकाशित हुई है। इसमें महाछंद के २२,२८४ चरण हैं।

कुवेंपु की भाषा—उनकी समस्त रचनाओं में बड़ी ही संस्कृतनिष्ठ भाषा प्रयुक्त हुई है। कुछ लोगों की यह शिकायत भी है कि कुवेंपु की भाषा संस्कृत के बड़े-बड़े शब्दों से लदी होने के कारण बड़ी ही जटिल हुआ करती है। यद्यपि इस कथन में काफी सचाई है, तो भी उनकी भाषा में मधुरता और प्रसाद गुण की कमी नहीं है। पुट्टप्प का भाषा पर ऐसा अधिकार है कि संस्कृत के कठिन-से-कठिन शब्द भी इस तरह आकर जुड़े रहते हैं कि वे भावाभिव्यक्ति में सहायक हैं, बाधक नहीं। 'रामायणदर्शनं' की भाषा में एक तरफ हलेगन्नड़

---

[1] रामायणदर्शनं, भाग द्वितीय, पृष्ठ ८९३

(मध्ययुगीन कन्नड़) की मिठास है, दूसरी तरफ होसगन्नड़ (आधुनिक कन्नड़) का प्रवाह व संगीत है। यह निश्चित है कि पुट्टप्प की भाषा बहुत प्रौढ़ होने के कारण, समाज के सभी वर्ग के लोग उनके साहित्य का समान रूप से रसास्वादन नहीं कर सकते। अगर पुट्टप्प जी 'रामायणदर्शनं' की रचना सरल आधुनिक कन्नड़ में करते, तो उसकी लोकप्रियता और भी बढ़ जाती।

कुवेंपु की भाषा किस तरह संस्कृतनिष्ठ है, इस बात का परिचय इतर भाषाभाषी भी प्राप्त कर सकते हैं। 'रामायणदर्शनं' का एक आखिरी छंद नागरीलिपि में नीचे दिया जाता है—

कवि विभूतिगॆ[1] नमो! कृति विभूतिगॆ नमो!
दर्शनध्वनि रसामृत पानदानंददि
लोक शोक व नलि़सि भुवनत्रयंगल्
तणिय नवंनतपोदीक्षॆयं कॊण्डॆसॆय
रसऋषिगॆ योगमति सहृदय विभूतिगॆ नमो!
युगयुगदि संभविपनॆव भगवद्दिव्यमा
वचन में नररूप मात्रक्कॆ मुडियॆ, पेल् ?
नरसिंह मत्स्य कूर्मादि चरमालीलॆगॆ
पॊरतॆ ई कृति रूपमा भगवदाविभवि
बहुरूप सूत्रतॆगॆ ? रामंगॆ मोदलल्तॆ
रामायणं ? मुन्नल्तॆ, पिरिदल्तॆ, मॆय्यल्तॆ,
सनॆयल्ते रामायणं ? रामनामद महिमॆ
रामंगॆ मिगिलॆम्ब ओल रामावतार कि
गुरुतरं तानॆसॆ रामायणावतारं !"

'रामायणदर्शनं' एक कथा है, एक काव्य है, एक जीवन-दर्शन है। सत्य, धर्म, अहिंसा, प्रेम, पातिव्रत, औदार्य, साहस, शील, सौंदर्य आदि अलौकिक गुणों का इस महाकाव्य में पुनरवतार हुआ है।

रामकथा के प्रसंगों पर खंडकाव्य—सोलहवीं शताब्दी के अंत तक कन्नड़ में रामकथा पर जितने बड़े काव्य रचे गए हैं, उनमें किसी-न-किसी रूप में पूर्ण रामकथा का चित्र खींचने का प्रयत्न किया गया है। उसके बाद रामायण के विभिन्न प्रसंगों पर अलग स्फुट काव्य लिखे जाने लगे और उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसे खंडकाव्य काफी संख्या में प्रस्तुत किए गए, जिनमें कतिपय कृतियाँ 'यक्षगान' के अंतर्गत आ जाती हैं। कन्नड़ में 'यक्षगान' अथवा 'बैलाट' हिन्दी की 'रामलीला' अथवा 'कृष्ण-लीला' से मिलती-जुलती संस्थाएँ हैं और तत्संबंधी साहित्य अभिनय के लिए ही लिखे जाते हैं। यद्यपि इस प्रकार के साहित्य में साहित्य के गुण कम पाए जाते हैं, तो भी साधारण जनता में यह काफ़ी लोकप्रिय हैं।

उत्तर रामकथे—लगभग सन् १६०० में नारायण नामक एक ब्राह्मण कवि ने इसकी रचना की थी। 'भामिनीषटपदि' नामक छंद में लिखे गए इस काव्य में रामायण के उत्तरकांड का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। चौवालीस अध्यायों में विभक्त इस ग्रंथ में लगभग दो हजार छत्तीस छंद हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि कन्नड़ के युगप्रवर्तक महाकवि कुमारव्यास के उपरांत इस कवि का आविर्भाव हुआ था। क्योंकि इसमें कुमारव्यास की वंदना की गई है।[2]

सीता-कल्याण—हेलवनकट्टे गिरियम्मा नामक कवयित्री ने, जिनका रचनाकाल सन् १७५० के आस-पास माना जाता है, कई पौराणिक घटनाओं पर कन्नड़ में सुंदर रचनाएँ की हैं। सीता-कल्याण

---

[1] कन्नड में 'ए', 'ओ', स्वरों का लघु रूप भी होता है। अतः लघु वर्णों के ऊपर ˘ चिह्न लगाया गया है।

[2] कर्नाटक कवि चरिते—भाग तृतीय, पृष्ठ—२४२

एक छोटी-सी रचना है, जो संभवतः गाने के लिए ही लिखी गई है। हरेक छंद के अंत में 'जय-जय' जोड़ दिया गया है।[1]

सन् १८२३-१८७४ में मैसूर के राजपरिवार में अलिय लिंग राज नामक एक कवि हुए, जिन्होंने पौराणिक घटनाओं पर लगभग पैंतालीस खंडकाव्य रचे। जनश्रुति है कि ये अच्छे गायक थे और राजदरबार में इनकी बड़ी ख्याति थी। रामकथा के प्रसंगों पर लिखे गए इनके काव्यों में कुशलव कालग, रामोदय कथे, वनवासरामायण, वालिसुग्रीव कालग, सीता-कल्याण, सीताणहार, सीतास्वयंवर, सेतुबंध उल्लेखनीय हैं। ये सब-के-सब यक्षगान साहित्य के अंतर्गत रखे जाने योग्य हैं।[2]

लिगराज की श्रेणी के दूसरे एक कवि हुए, जिनका नाम है गेरसोप्पे शांतय्या। सन् १८३० के आसपास ये जीवित थे, ऐसा माना जाता है। रामकथा के प्रसंगों पर इनके लिखे यक्षगान की कृतियाँ हैं—रावण दिग्विजय, सीता-कल्याण, सीता-वियोग। ये जाति के ब्राह्मण थे।[3]

उन्नीसवीं शताब्दी में शांत कवि नामक कवि ने भी सीतारण्य-प्रवेश लिखा था। इनके अतिरिक्त नजनगूडु सुब्बाशास्त्री ने 'सीता चरित्रे' और उत्तर 'सीता चरित्रे' नामक दो काव्य षटपदि छंद में लिखे हैं।

इस प्रकार सीता पर कन्नड़ में कई खंडकाव्य लिखे गए हैं।

हनुभद्रारामायण—सन् १७५० के आसपास सुब्रह्मण्य नामक एक कवि हुए, जिन्होंने 'कंद' नामक छंद में 'हनुभद्रारामायण' की रचना की। इसमें हनुमान का जन्म, पराक्रम आदि की कथा सूत सनकादियों को सुनाते हैं। पंद्रह आश्वासों का यह एक छोटा काव्य है।[4]

उत्तररामायण—इसमें भामिनीषटपदि छंद में 'वाल्मीकिरामायण' के उत्तरकांड की कथा का वर्णन किया गया है। कवि का नाम है तिरूमल वैद्य, जो संभवतः उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में जीवित थे। इसमें बीस अध्याय और एक हजार इक्कीस छंद हैं।

पंचवटीरामायण—उन्नीसवीं शताब्दी में वीरनगेरे पुट्टण्ण ने 'पंचवटीरामायण' की रचना की थी। इसका विशेष परिचय अब तक नहीं मिला है।

रामाश्वमेध—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कन्नड़ का आधुनिक युग शुरू होता है। इस संधिकाल में एक प्रतिभासंपन्न कवि का आविर्भाव हुआ, जिनका नाम है मुद्दण अथवा नंदलिके लक्ष्मीनारणप्प। अपनी तैंतीस वर्ष की अल्पायु में वे चल बसे। मुद्दण ने अपनी अल्पायु में कन्नड़ की ऐसी सेवा की, जैसी बहुत कम लोगों ने की है। अन्यान्य कृतियों के साथ मुद्दण ने रामकथा पर तीन ग्रंथ रचे। वे हैं—'रामाश्वमेध', 'रामपट्टाभिषेक' और 'अद्भुतरामायण'। 'रामपट्टाभिषेक' पद्य में, बाकी दोनों गद्य में हैं। 'अद्भुतरामायण' 'शाक्तरामायण' की नकल ही कही जा सकती है। कवि ने 'शाक्तरामायण' की नीरस घटनाओं को छोड़ कर संक्षेप में कहानी सुनाई है। छोटे-छोटे कथानकों का ऐसा सुंदर व रोचक वर्णन किया गया है कि पढ़ते समय हमारा मन आधुनिक कहानियों की तरह रमने लगता है। इसकी गद्य शैली में एक तरफ पुरानी कन्नड़ का रसास्वादन मिलता है और दूसरी तरफ अभिनव गद्य-शैली के सौंदर्य का दर्शन होता है।

'रामपट्टाभिषेक' मुद्दण का दूसरा ग्रंथ है, जो 'वार्धिक षटपदि' छंद में लिखा हुआ एक सुंदर काव्य है। राम के वनवास से लौटने के बाद रामपट्टाभिषेक संपन्न होता है, यही इसकी कथावस्तु है। भरत अनन्य श्रद्धा व भक्ति के साथ किस तरह राम की प्रतीक्षा में तड़पते रहते हैं और माता कौशल्या चौदह साल की वियोगव्यथा सहकर अपने प्यारे पुत्र से मिलने के लिए किस तरह विह्वल होती है, इसका अत्यंत रोचक चित्र उपस्थित किया गया है। जगह-जगह रामभक्ति का अनूठा वर्णन किया गया है। भाषाभिव्यंजना, पदयोजना और अलंकार-निरूपण में मुद्दण ने सर्वत्र अनुपम कौशल दिखाया है। इसकी और एक विशेषता यह है कि लंकासे विमानमें लौटते समय मार्ग में पूर्व परिचित जितनी जगहें मिलती हैं, उन सबको रामचंद्र जी सीता को याद दिलाते जाते हैं।

---

[1] क० क० चरिते, भाग, तृतीय, पृष्ठ ७०

[2] क० क० चरिते, भाग तृतीय, पृष्ठ १६६

[3] क० क० चरिते, भाग तृतीय, पृष्ठ १८८

[4] क० क० चरिते, भाग तृतीय, पृष्ठ २२१

[5] क० क० चरिते, भाग तृतीय, पृष्ठ ८६

'रामाश्वमेध' एक गद्यकाव्य है और मुद्दण की सर्व श्रेष्ठ रचना है। पद्मपुराण की रामाश्वमेध की कथा से इसकी कथावस्तु ली गई है। इसकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि कवि और उनकी प्रियतमा मनोरमा के बीच में कहानी संभाषण के रूप में सुनाई जाती है। इस संभाषण में कथा की धारा आरंभिक वर्षाकाल की नदी की तरह उमंगी, पूरी मस्ती के साथ बलखाती हुई बहती रहती है, जिस पर नवदंपति के परस्पर आकर्षण भरे नूतन अनुराग, चुभते व्यंग्य, मधुर हास्य-विनोद की रंगीली दीपछवि ऐसी पड़ती है कि पाठक अपने ही नशे में चूर हो बाहरी जगत को भूल ही जाते हैं। साहित्य के रसास्वादन में, रसिकता में, वाग्विदग्धता में, मुद्दण और मनोरमा एक दूसरे से बढ़े-चढ़े हैं। संभाषण का आरंभ भी बड़े ही मनोहर ढंग से होता है। वर्षा-ऋतु का समय है, मूसलाधार पानी बरस रहा है। बाहर से घर लौटे हुए थके-माँदे पति को मनोरमा मधुर-मधुर व्यंजन खिला कर तृप्त करती है और मन बहलाने के लिए पति से नवरस भरी कुछ कहानी सुनाने का आग्रह करती है। उसने रामायण में सीता-स्वयंवर की कथा इसके पहले ही सुनी है। सीताहरण की कहानी उसके पति सुनाना चाहते हैं, पर वह उसे पसंद नहीं करती। रामाश्वमेध की कथा उसने अबतक नहीं सुनी है। इसलिए उसीको सुनाने की प्रार्थना करती है। लेकिन वह यह चाहती है कि कहानी पद्य में न होकर गद्य में हो। क्योंकि 'पद्यं वध्यं, गद्यं हृद्यं' है। इस प्रकार मुद्दण और मनोरमा के बीच में मधुर संभाषण शुरू होता है और काव्य का कथा-निर्झर फूट निकलता है, जो अंततक बराबर बहता रहता है। मुद्दण ने रामायण की कथा सुनाने के लिए संभाषण द्वारा गद्य की यह जो नूतन शैली चलाई, वह आधुनिक कन्नड़ के विकास के लिए एक नई दिशा का निर्देश करती है। सचित्र चित्रण में, घटनाओं का सजीव चित्र खींचने में, पुरानी कन्नड़ को आधुनिकता के साँचे में ढालने की क्षमता में, साहित्य में मधुर हास्य का समावेश करने में मुद्दण की बराबरी करने वाले कवि आधुनिक कन्नड़ में इने-गिने ही मिल सकेंगे।

कर्नाटक शेषरामायण—कविकुलतिलक सोसले अय्या शास्त्री ने सन् १९२७ में इसकी रचना की है। इसमें उत्तररामायण की कथा कही गई है। छंद वार्धिकषट्पदि है। अय्या शास्त्री जी मैसूर के दरबारी कवि थे और उनको 'कविकुलतिलक' नामक पदवी भी मिली थी।

अध्यात्मरामायण—इसकी रचना शाल्यदकृष्णराजाने, जो मैसूर के राजा थे, की थी। रामायण के उत्तरकांड की कथा का इसमें विस्तार किया गया है। संभवत: इसका रचनाकाल सन् १७४८ ई० है।[1]

श्रीरामपट्टाभिषेकं—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में महालक्ष्मी नामक कवयित्री ने इसको लिखा था। इसमें 'वार्धिकषटपदि' छंद का प्रयोग हुआ है।

रघुपतिचरितं—कालिदास के रघुवंश काव्य में वर्णित रामकथा का अनुवाद है। के० आर० नरसिंहय्या इसके रचयिता हैं।

उत्तररामचरित नाटक—धोंडो नरसिंह मुलबागिल नामक कवि ने, जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए हैं, भवभूति के उत्तररामचरितनाटक के आधार पर इसकी रचना की है। मालूम होता है कि इस कवि ने मालविकाग्नि मित्र, वेणीसंहार, मृच्छकटिक जैसे और भी कई नाटकों का कन्नड़ में अनुवाद किया है।

वालि—यह एक आधुनिक खंडकाव्य है। सन् १९३६ में के० श्रीकंठ शास्त्री ने इसे लिख कर प्रकाशित किया था।

नवनीतरामायण—कन्नड़ के प्रसिद्ध विद्वान, आलोचक, कवि स्वर्गीय मुलिय तिम्मप्पय्या ने सन् १९४० में रच कर प्रकाशित किया। कवि की यह इच्छा थी कि पूरी रामकथा का आधुनिक कन्नड़ में निरूपण किया जाय, लेकिन अपनी इच्छा को पूर्णतया कार्यान्वित करने के पहले ही उन्हें अपना भौतिक शरीर छोड़ देना पड़ा। यह कवि के प्रस्तावित काव्य का पहला भाग है, जिसमें जंपेरगले नामक एक देशी छंद में राम के वनवास तक की कथा बड़ी सरस और अनूठी शैली में कही गई है। यदि यह कवि के संकल्प के अनुसार पूरा हो जाता, तो कन्नड़ की आधुनिक काव्यमाला का एक सुंदर पुष्प बन जाता।

---

[1] क० क० चरिते, भाग द्वितीय, पृष्ठ ३९

श्रीरामपरीक्षण—इसके लेखक हैं आधुनिक कन्नड़ के एक महान कलाकार डी० वी० गुण्डप्प । यह एक छोटा-सा काव्य है, जिसमें वालिवध, सीतावनवास और शंभूक-वध—इन तीन घटनाओं के औचित्य पर कवि ने अपने मौलिक विचार प्रकट किए हैं ।

अहल्या—स्वनामधन्य आधुनिक कवि पी० टी० नरसिंहाचार का लिखा हुआ एक गीतिनाटक है । इसकी कथावस्तु रामायण से ली गई है ।

श्रीहनुमद्विलास—माध्व संप्रदाय के तिम्माणाचार्य नामक कवि ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इसकी रचना की थी । इसमें हनुमान की कथा कही गई है । और वचन, कंद, गीतिका, उप्तलमाला, सीसपद्य आदि छंदों का प्रयोग किया गया है ।

रामचरितमानस—भक्तवर गोस्वामी तुलसीदास की रामायण के बालकांड का गद्यानुवाद स्वर्गीय डी० के० भारद्वाज ने करीब बीस साल पहले किया था और उसका प्रकाशन भी हुआ था ।

उत्तरकन्नड़ के निवासी श्री शंभूभट्ट ने 'रामचरितमानस' का पद्य में अनुवाद करना शुरू किया है । बालकांड छपकर तैयार हो गया है । अन्य कांडों का अनुवाद भी बड़ी ही लगन के साथ श्री शंभूभट्ट कर रहे हैं । यह कहा जा सकता है कि श्री शंभूभट्ट को अपने अनुवाद में काफी सफलता मिली है । जब अनुवाद का कार्य पूरा हो जाएगा, तब यह कृति कन्नड़ की रामकथा की माला में एक सुंदर मणि बनकर चमकेगी ।

श्रीरामचरित—कन्नड़ के प्रसिद्ध कवि सालि रामचंद्र राव ने 'वाल्मीकिरामायण' के आधार पर बालकांड का सार आधुनिक कन्नड़ पद्य में, सरस शैली में तैयार किया है ।

इतर काव्यों में रामकथा का वर्णन

चाउण्डरायपुराण—दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों के बीच में कर्नाटक के गंगवंश में राचमल्ल नामक एक प्रसिद्ध राजा हुआ । इस राजा का एक राजनीति-कुशल व साहित्यप्रेमी मंत्री तथा सेनापति था, जिसका नाम था चाउण्ड राय । चाउण्ड राय जैन थे और उनका लिखा हुआ 'चाउण्डरायपुराण' एक प्रौढ़ गद्यकाव्य है, जो प्राचीन कन्नड़ की गद्य शैली का एक अनुपम नमूना है । इस 'चाउण्डरायपुराण' में जैन-संप्रदाय की रामायण का वर्णन किया गया है ।

जैमिनीभारत—यह सोलहवीं शताब्दी का अत्यंत लोकप्रिय काव्य है, जिसके रचयिता थे लक्ष्मीश नामक महाकवि । इसमें संस्कृत के जैमिनीभारत तथा व्यास-रचित भारत की कई रोचक घटनाओं का मार्मिक वर्णन किया गया है । इसमें 'सीतावनवास' की कथा का ऐसा करुणापूर्ण चित्र खींचा गया है कि शायद ही अन्यत्र देखने को मिले । कर्नाटक में इस जैमिनीभारत का घर-घर प्रचार है । लक्ष्मीश की रचना कन्नड़ के कवियों के लिए सदा स्फूर्तिदायिनी रही है और भविष्य में भी रहेगी ।

उपसंहार

कन्नड़-भाषा में अति प्राचीन काल से अबतक रामकथा-संबंधी जो कुछ साहित्य उपलब्ध है, उसका संक्षेप में परिचय देने का इस निबंध में प्रयत्न किया गया है । कवि और काव्य के साधारण परिचय के साथ-साथ काव्यकला पर भी थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया है । लेकिन यह विशेष रूप से विमर्शात्मक न होकर परिचयात्मक ही रहा है । इस निबंध से यह विदित होगा कि कन्नड़-भाषाभाषियों के जीवन में रामकथा कितनी व्यापक होकर समाई हुई है और उसका प्रभाव कितना गहरा है । कृष्णकथा की अपेक्षा कन्नड़ में रामकथा पर ही अधिक साहित्य रचा गया है, इसमें संदेह नहीं है । कुवेंपु के 'रामायणदर्शनं' का इस लेख में अधिक विस्तार के साथ विवरण दिया गया है, क्योंकि यह कन्नड़ का अत्याधुनिक महाकाव्य है । इसमें संदेह नहीं है कि इस महान कृति द्वारा कन्नड़ का ही नहीं, सारे भारत का गौरव बढ़ेगा ।

•••

हिंदेशिया में रामायण[1]

श्री डॉ० सी० हॉयकास

★ ★

सर्वप्रथम मैं कहना चाहता हूँ कि यह मेरे लिए गौरव और आनंद का विषय है कि मुझे हिंदेशिया में रामायण की व्यापकता पर लिखने का निमंत्रण दिया गया है। रामायण मानवीय प्रतिभा की उन रचनाओं में से एक है, जो कल्पांत-स्थायी हैं, जिनको समाज के सब वर्गों की श्रद्धा प्राप्त है और जिनका विदेश में भी उचित सम्मान किया जाता है। हिंदेशिया इसका अपवाद नहीं है। श्याम के समान वहाँ तो राम नामक राजाओं का इतिहास में उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन मध्य जावा के एक राज्य की राजधानी का नाम अयोध्या रखा गया था। बाद में यह 'योग्यकर्ता' में परिवर्तित होकर १९४६-९ में स्थापित हिंदेशिया के नए गणराज्य की राजधानी घोषित किया गया है।

दूसरा विचार यह है कि बहुत संक्षेप में लिखना अनिवार्य होगा, क्योंकि हिंदेशिया की विभिन्न भाषाओं में बहुत-सी विस्तृत रामायण-संबंधी रचनाएँ पाई जाती हैं, और इनके अतिरिक्त मूर्तिकला तथा नाट्यकला विषयक सामग्री कम महत्वपूर्ण नहीं है। साथ-साथ, प्रस्तुत निबंध में विश्वकोष की शैली अपेक्षित नहीं है। अतः यही उचित प्रतीत होता है कि जो सामग्री अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुकी है और भारतीय पुस्तकालयों में सुरक्षित है, उसकी ओर निर्देश मात्र किया जाए। इस तरह मुझे अपने ही अनुभव के विषय में अधिक लिखने का अवसर मिलेगा और मैं उन बातों पर प्रकाश डाल सकूंगा, जो मेरे विचार में अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

एक भारतीय विद्वान् हिमांशु भूषण सरकार एम० ए० ने अपने 'इंडियन इनफ्लुएन्सेस आन द लिटरेचर ऑव जावा एंड बाली' नामक ग्रंथ में अंतरराष्ट्रीय जगत् को जावा के प्राचीन ककविन (काव्य) रामायण का परिचय दिया था (कलकत्ता १९३४)। प्रोफेसर केर्ण (Kern) ने १९०० ई० में इसका एक संस्करण निकाला था तथा अपने निधन के पहले इसके प्रथम ६ सर्गों का डच भाषा में अनुवाद किया था; बाद में उनके जामाता डॉ० यइनबोल (Juvnboll) ने इस अनुवाद को पूरा किया है, लेकिन डॉ० सरकार ने अपनी पुस्तक को समाप्त करते समय सर्ग २०-२६ का अनुवाद नहीं देखा था।

डॉ० सरकार अपने ग्रंथ के १७ अध्यायों में से एक पूरा अध्याय उस महाकाव्य को देते हैं, जो जावा में १००० वर्ष पुराना है और वहाँ की प्राचीनतम प्राप्त रचनाओं में से एक है। अगले अध्याय में वे अर्वाचीन रामायणों का विश्लेषण करते हैं और एक तीसरे अध्याय में वे पाषाण-चित्र-लिपि की रामकथाओं का वर्णन करते हैं। जावा की जनता तो नश्वर घरों में निवास करती थी और राजाओं के महलों के खंडहर तक नहीं मिलते हैं, लेकिन निधन के पश्चात् राजाओं को विशाल मकबरों में रखा जाता था, जिनमें ईश्वरीय गुणों से समन्वित उनकी मूर्ति भी विराजमान थी। हाल में वर्षों के पुनर्निर्माण के बाद इस प्रकार की एक समाधि अर्थात् चण्डि प्रमबनन का मुख्य भवन, जो ८० गज ऊँचा है, फिर बनाया गया है। इसकी आधार-शिलाओं पर रामायण की कथा को चित्रित किया गया है। पूर्व-जावा में चण्डि पनतरन नामक मंदिरों का एक समूह मिलता है, जिसका आदिनाम अज्ञात है। वहाँ पर ऊपर के सब भवन नष्ट हो गए हैं, वे बालि के मंदिरों के समान रहे होंगे। लेकिन निम्नतर अधिष्ठान से, जो अबतक सुरक्षित थे, पता चलता है कि यह मंदिर कितना विशाल और भव्य हुआ होगा। वहाँ पर भी रामकथा पाषाण की चित्रावलियों में अंकित है। शैली प्रमबनन से पूर्णतया भिन्न है और वहाँ की रामकथा भी प्राचीन ककविन रामायण से मेल नहीं खाती। यह तो सच है कि चंडि बरबुडुर इनसे अधिक विख्यात एवं विशाल है और इसमें अधिक चित्रावलियाँ भी हैं,[2] लेकिन इसके बाद प्रबनन और पनतरन का स्थान आता है जिससे पता चलता है कि प्राचीन हिन्दू जावा में रामायण कितना

---

[1] मूल डच से हिन्दी में अनुवाद साधु कामिल बुल्के के सौजन्य से। [2] देखिए Dr. J. G. de Casparis Bhūmi-Sambhāra-Bhūdara, Inscripties Uit de Cailendra-tyd, Bandung, 1950

महत्व रखता था। डॉ० सरकार एक चौथे अध्याय में 'कवि में रामायण संबंधी कथाओं' का विश्लेषण करते हैं और इस प्रकार ४०० पृष्ठों में से ६० से अधिक पृष्ठ रामायण को देते हैं।

रामायण की जानकारी जावा और बालि तक सीमित न रही। हिंदेशिया के क्षेत्र में २०० भाषाएँ बोली जाती हैं, जिनमें से जावा की भाषा अधिकांश जनता की मातृभाषा है और प्राचीनतम तथा सबसे समृद्ध साहित्य का माध्यम है। लेकिन, फिर भी वहाँ एक अन्य भाषा प्रधान होती जा रही है। मलयन भाषा का मूल क्षेत्र है मलय तथा सुमात्रा के कुछ अंश। मुसलिम काल में मलयन बहुसंख्यक बंदरगाहों की सामान्य भाषा बन गई थी। डच सरकार ने उसे प्रशासन के काम में लाकर इसका बहुत प्रचार किया है; जापानियों ने भी उसे बहुत प्रोत्साहन दिया है; हिंदेशिया के लोगों ने भी उसे विकसित करके एक सांस्कृतिक भाषा बना दिया है, जो बीसवीं शताब्दी की प्रत्येक आवश्यकता पूरी कर सकती है।

मुसलमानों और विशेषकर पोर्तुगालियों के आगमन के कारण मलयन साहित्य प्रायः लुप्त हो गया था। लेकिन रामायण अनेक हस्तलिपियों में, अनेक पाठों में, अलंकृत तथा सामान्य जनता की भाषा में सुरक्षित है। अलंकृत भाषा की एक रामकथा की हस्तलिपि सौभाग्यवश सन् १६३३ ई० के पहले यूरोप में पहुँच गई थी। हिंदेशिया में इस प्रकार की हस्तलिपियाँ, इनगिने अपवादों को छोड़कर, केवल कुछ ही दशकों तक सुरक्षित रह सकती हैं। एक जर्मन विद्वान् अलेक्संदर चीसनिस ने अलंकृत भाषा की मलयन रामकथा के दो संस्करणों की तुलना की है। (देखिए—A. Ziesniss, Die Rāma-sage Bei Den Malaien, ihre herkunft-und gestaltung, Hamburg 1928)। सर रिचर्ड विनस्टेड[1] (R. Winstedt) अपने मलयन साहित्य के इतिहास में, जहाँ तक रामकथा का प्रश्न है, चीसनिस के परिणामों पर निर्भर हैं।

जो कार्य डॉ० चीसनिस ने मलयन 'हिकायत सेरी राम' के लिए किया है, उसे एक डच विद्वान् विल्लेम स्टुटरहाइम ने जावा-बालि की अर्वाचीन रामकथाओं के लिए किया है (देखिए—W. Stutterheim, Rama-Reliefs in Indonesien, Munchen, 1924। इसका परिचय जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १६२६, पृष्ठ ३६२ देखा जा सकता है)। दोनों का निष्कर्ष एक ही है—एकाध शताब्दियों के मुसलमान-शासन के कारण रामकथा का मौलिक भारतीय वातावरण बहुत कुछ बदल गया है, तथा कथानक भी वाल्मीकि से पर्याप्त मात्रा में भिन्न है।

डॉ० चीसनिस द्वारा उल्लिखित पुस्तकों से पता चलता है कि उन्होंने जनता में प्रचलित रामकथाओं को बिलकुल छोड़ दिया है, देशी साहित्यकार उन्हें साहित्य ही नहीं मानते हैं; लेकिन वे हाल में अंग्रेजी विद्वानों की प्रेरणा से लिपिबद्ध की गई हैं। इस प्रकार लगभग १०० पृष्ठ की कोई दस रचनाएँ छप गई हैं। ये अधिकांश गद्य में हैं। लेकिन बीच-बीच अतुकांत पद्य तथा मलयन पनतुन (४ पंक्तियों का छंद) भी मिलते हैं। इन रचनाओं के विषय में इतना ही कहना है कि इनकी शैली भारतीय साहित्य से बहुत दूर है, यद्यपि कथानक अंततोगत्वा प्रायः भारतीय कथाओं पर निर्भर है। सर विलियम मैक्सवेल (Sir William Maxwell) ने सन् १८८६ ई० में अरबी लिपि में मूल पाठ प्रकाशित किया (J. Straits Br R.A.S. No. 17) तथा भूमिका में कथानक का विस्तृत परिचय भी दिया था। सन् १६१० में आ० ओ० विनस्टेड (R.O. Winstedt) ने उसी भूमिका के साथ रोमन लिपि में मूलपाठ का पुनः प्रकाशन किया है (दे०जे०स्ट्रेट्स, आर०ए०एस०, नं० ५५)। जहाँ तक मैं जानता हूँ, मलयन चारणों की ये रचनाएँ जनता के लिए कभी भी प्रकाशित नहीं हुई हैं।

मलयन रामकथा की एक विशेषता यह है कि वहाँ लक्ष्मण का महत्त्व बहुत बढ़ गया था; समुद्र के किनारे के उन राज्यों में नौ-सेना के अध्यक्ष की उपाधि लक्ष्मण ही थी। एक गौण पदाधिकारी, जो राजा के घोड़ों और हाथियों की देख-रेख करता है, श्रीराम की उपाधि से विभूषित थे।

एक अंतिम मलयन रामकथा का उल्लेख करना है, जिससे चीसनिस तथा विनस्टेड दोनों ही अनभिज्ञ थे। एक जर्मन व्यापारी एच० ओवरबेक (H. Overbeck) ने, जिनका मलयन साहित्य अन्य क्षेत्रों में भी

---

[1] देखिए Journal Malayan Branch Royal Asiatic Society XVII/III 1940

आभारी है, सन् १९३३ में 'हिकायत महाराज रावण' नामक हस्तलिपि के कथानक का विस्तृत परिचय प्रकाशित किया है (देखिए—J. M. Br. R.A.S. xi/2)। इस रचना में राम की अपेक्षा प्रतिनायक रावण को अधिक महत्व दिया गया है। कारण यह है कि प्राचीन कवियों ने राम को आवश्यकता से अधिक शांत तथा निष्क्रिय चित्रित किया था, जिससे रावण के चरित्रचित्रण में अधिक रुचि होने लगी थी—वह रावण, जो अपने असीम घमंड के कारण अपने तथा अपने वंश के सर्वनाश का कारण बन जाता है।

हिंदेशिया में दो सांस्कृतिक भाषाएँ सर्वप्रधान हैं—जावा की भाषा तथा मलयन। जावा के पश्चिम भाग पिम्रंगन में एक करोड़ सुंदा भाषा-भाषी रहते हैं, जिनका साहित्य जावा के साहित्य से पूर्णतया प्रभावित है। पूर्व में मदुरा, बालि तथा लोम्बोक नामक टापुओं की संस्कृति जावा की संस्कृति के निकट है, लेकिन बालि मात्र हिन्दू रह गया है; मदुरा जावा के समान मुसलमान बन गया है और लोम्बोक आदिवासी-धर्म की ओर लौट रहा है। मदुरा की एक अपनी रामकथा मिलती है, लेकिन वहाँ कुछ समय पहले तक जावा की भाषा में कविता गाई जाती थी, जिसकी प्रत्येक पंक्ति के बाद जनता की भाषा में इसका अनुवाद दिया जाता था। सुंदा-क्षेत्रों में तथा लोम्बोक में भी यही रिवाज प्रचलित हुआ होगा। बालि के विषय में निश्चित रूप से ज्ञात है कि ऐसी प्रथा थी ही, क्योंकि बहुत-सी हस्तलिपियाँ सुरक्षित हैं, जिनमें पंक्तियों के बीच अनुवाद दिया गया है।

एक ईसाई धर्मपंडित ने अपनी एक पुस्तक का यह शीर्षक रखा है—क्या ईसा केवल भूतकाल में जीवित थे अथवा क्या वे आज भी जीवित हैं? उनका अभिप्राय यह था कि प्राचीन काल के ऐतिहासिक ईसा की समस्या की अपेक्षा यह प्रश्न महत्व रखता है—क्या ईसा का मनोभाव आजकल भी लोगों को अनुप्राणित करने में समर्थ है कि नहीं! इसी तरह हम पूछ सकते हैं—क्या रामायण आज तक हिंदेशिया में जीवित है? प्रश्न सार्थक है, क्योंकि आजकल प्राचीन भाषाओं की (जिनकी प्रांतीय बोलियों का नाम रखा जा रहा है) उपेक्षा करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और नवीन राष्ट्रभाषा को ही महत्व दिया जाता है। प्राचीन साहित्य का (जिसे सामंतकाल का अवशेष तथा उपनिवेशवाद से दूषित बताया जाता है) अनुशीलन छोड़ कर नवीन हिंदेशियन भाषा की रचनाएँ पढ़ी जाती हैं।* वह भाषा दिनोंदिन समृद्ध होती जा रही है और इसी में विश्वसाहित्य का अनुवाद किया जा रहा है।

इस नवीन प्रवृत्ति को नगण्य नहीं समझा जा सकता है। और इस तथ्य को भी अधिक महत्व नहीं देना चाहिए कि भूतकाल में हिन्दू धर्म को त्यागकर इसलाम स्वीकार करने के फलस्वरूप जो सांस्कृतिक परिवर्तन हुआ था, उसमें बहुत कुछ खो गया है, लेकिन रामायण की लोकप्रियता ज्यों-की-त्यों बनी रही। फिर भी रामकथा की यह लोकप्रियता महत्व रखती है। मैंने बहुत वर्ष जावा के राज्यों में बिताए हैं और मुझे बारंबार दरबार के त्योहारों में उपस्थित होने का अवसर मिला है। आतिथ्य-सत्कार वास्तव में राजसी होता है; दिन भर कुछ न कुछ होता रहता है; अतिथि ताज आदि भी खेल सकते हैं। लेकिन रंगमंच पर चार-पाँच दिन तक जो कुछ दिखाया जाता है, वह है—महाभारत तथा रामायण की घटनाएँ। योग्यकर्ता की सलतनत नटों की श्रेष्ठता और सज-धज तथा पात्रों की संख्या (विशेष रूप से वानरों की संख्या) के लिए प्रसिद्ध है। एक फ्रांसीसी विद्वान दमइस (Damais) ने इन अभिनयों के धार्मिक स्वरूप की ओर निर्देश किया है, जो राजाधिराज सुलतान—पृथ्वी पर ईश्वर की छाया तथा धर्म के संरक्षक—को समर्पित किए जाते हैं (दे० De Driedaagsche Wayang Wong-voorstelling, Jawa 19, 1939.)।

उपर्युक्त अभिनय निष्प्राण और निर्जीव दरबारी परंपरा मात्र समझ कर यह नहीं सोचना चाहिए कि रामायण की लोकप्रियता दरबार तक सीमित है। मुझे स्मरण है कि जावा के एक साधारण जमींदार के यहाँ दस रातों तक पूरी रामकथा का अभिनय हुआ था। ज्याकर्ता के विश्वविद्यालय के मानसिक चिकित्सालय में एक जवान था, जो अपने को सुग्रीव समझ कर वानर के समान बरताव करता था—जिससे पता चलता है कि वह रामकथा से पूर्णतया परिचित था। बालि अपने नृत्य, नाटकों तथा छाया-नाटकों के लिए प्रसिद्ध है।

वहाँ का वायंग वांग (Wayang Wang, अर्थात् बिना चेहरा पहने नटों का अभिनय) रामायण की घटनाओं पर भी निर्भर है (दे० Beryl de Zoete and Walter Saies Dance and Drama in Bali, London, 1952. Ch. v.)। रामकथा की लोकप्रियता का एक और प्रमाण यह है कि यद्यपि आधुनिक हिंदेशियन साहित्य की ओर प्रवृत्ति बहुत प्रबल होने के कारण प्राचीन साहित्यिक रचनाओं का पुनर्मुद्रण नहीं के बराबर हो पाता है, फिर भी प्राचीन मलयन भाषा की 'हिकायत सेरी राम' का तीसरा संस्करण सन् १९५३ में प्रकाशित हुआ था (Balai Pustaka, Dyakarta, No 1291)।

उपर्युक्त सिंहावलोकन से हिंदेशिया में रामायण की व्यापकता स्पष्ट है। इसलाम ग्रहण करने पर भी, पाश्चात्य संस्कृति के आकर्षण के होते हुए भी, यह समस्त क्षेत्र जो पहले हिन्दू था, आज तक राम तथा उनके प्रतिनायक रावण की कथा से परिचित है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि इन अपेक्षाकृत नवीन देशों में रामकथा न केवल प्राचीनतम सांस्कृतिक रचनाओं में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है, लेकिन वह प्रारंभ से लेकर शताब्दियों तक जीवित रही, आजकल भी जीवित है और भविष्य में उसके जीवित रहने के लक्षण भी विद्यमान हैं। रामकथा के क्षेत्र की व्यापकता तथा उसकी दीर्घकालीन लोकप्रियता के वर्णन के बाद मैं हिंदेशिया में उसके स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ।

भारतवर्ष में रामायण आदिकाव्य है, सबसे प्राचीन और साथ-साथ सबसे उत्तम काव्य। जावा-बालि में भी रामायण निर्विवाद रूप से प्राचीनतम ककविन है। ककविन एक विशेष प्रकार की रचना-शैली है, जो रामायण ककविन से ही प्रारंभ होकर, शताब्दियों तक जीवित रही और जिसका कुछ समय पहले तक अनुकरण किया जाता था। पूर्व तथा पश्चिम दोनों के समालोचकों द्वारा उसे जावा का आदर्शकाव्य माना गया है। काव्यगत गुणों तथा रचनाओं की संख्या की दृष्टि से यह रचना-शैली निस्संदेह श्रेष्ठ है। रामायण ककविन के आधार का प्रश्न भी हल किया गया है। हिमांशु भूषण सरकार तथा मनोमोहन घोष ने इसका संकेत किया था कि रामायण ककविन वाल्मीकि रामायण पर नहीं, किंतु संभवतः भट्टिकाव्य पर निर्भर हो। इसके बाद कामिल बुल्के ने अपनी 'रामकथा' में (इलाहाबाद १९४९) प्रमाणित किया है कि वास्तव में रामायण ककविन का आधार भट्टिकाव्य ही है।

रामायण ककविन की एक विशेषता यह है कि छंद बदलता रहता है। योगीश्वर ने ८० से अधिक भिन्न छंदों का प्रयोग किया है। ककविन रामायण में लगभग २८०० पद हैं, अतः यह आकार में किसी भी संस्कृत महाकाव्य से छोटा नहीं है। कोई भी ऐसा छंद नहीं है जिसका प्रयोग छंदों की कुल संख्या के ८ प्रतिशत से अधिक हुआ हो। ऐसा करने से योगीश्वर ने अपने आधारग्रंथ का छंदों के प्रयोग में अनुसरण जानबूझ कर छोड़ दिया है। प्रो० केर्ण ने जावा का एक काव्य, 'वृत्तसंचय का चक्रवाक-दूत' प्रकाशित और सटीक अनूदित किया है, जिसे छंदः शास्त्र कहा जा सकता है। इस काव्य के लगभग १०० छंद सबके सब भिन्न हैं और इसमें संस्कृत के सभी प्रसिद्ध छंद आ गए हैं। योगीश्वर इससे अधिक स्वाभाविक रीति से विभिन्न छंदों और अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं (दे० प्रस्तुत लेखक का 'द ओल्ड जावानिज रामायण ककविन, विद स्पेशल रिफरेंस टु द प्राब्लम आव इन्टरपोलेशन इन ककविन्स, 'द हेग्', १९५५)।

भारत में रामकथा ने बहुतों के लिए एक धार्मिक ग्रंथ का रूप धारण किया है। क्या हिंदेशिया में भी इस प्रकार का परिवर्तन हुआ है? ऐसा तो नहीं हुआ है, फिर भी प्राचीन रामायण ककविन नीति का उपदेश देने का माध्यम बन गया है। भट्टिकाव्य तथा जावा के रामायण की तुलना करने पर पता चलता है कि योगीश्वर ने वन में भरत की विदा के समय राम के मुँह में दर्जनों छंदों का, नीति पर, एक उपदेश दिया है। सीता के विलाप में भी बहुत सी नवीन सामग्री पाई जाती है, जिसका नैतिक स्तर बहुत ही ऊँचा है।

आजकल भी रामायण को उच्च भावों का प्रवर्त्तक माना जाता है। यह मुझे अपने बालि के शिक्षक से मालूम हुआ, जिनके गाँव में मैं संस्कृति का अध्ययन करने के लिए रहता था। वह अपने एक पुराने ईसाई मित्र के साथ रामायण का अध्ययन इसीलिए किया करते थे कि 'उत्तरोत्तर और अच्छा मनुष्य बन जाऊँ'। मुझे पूरा विश्वास है कि वह हिंदेशिया म अकेले नहीं हैं।

•••

उड़िया में राम-साहित्य[1]

श्री देवीप्रसन्न पट्टनायक

अभी तक उड़िया-साहित्य का कोई सर्वांग पूर्ण इतिहास प्रकाशित नहीं हुआ। कई कवियों के नामों से हम परिचित भी हैं, किंतु उनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना संभव नहीं। उड़िया-भाषा में प्रकाशित समस्त ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं का संपूर्ण संग्रह उड़ीसा के किसी एक अनुसंधान-केंद्र अथवा पुस्तकालय में प्राप्य नहीं है। उत्कल-विश्वविद्यालय की ओर से जिन पांडुलिपियों का संग्रह किया गया है, उनकी अभी तक विस्तृत सूची छोड़, साधारण सूची भी तैयार नहीं हो सकी। इस अवस्था में साहित्य के किसी भी अंग के सम्बन्ध में अधिकारपूर्वक कुछ कहना कठिन है। उड़िया-भाषा में उपलब्ध रामसाहित्य की सूची तैयार करने का मैं जो प्रयास कर रहा हूँ, उसके सम्बन्ध में उड़िया-साहित्य के प्रेमी यदि इस ओर ध्यान दें, तो इस दिशा में पर्याप्त काम किया जा सकता है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में इस प्रकार का कार्य करने की ओर बहुत पहले ध्यान दिया जा चुका है। किंतु उड़िया-भाषा में यह प्रथम प्रयास है। उड़िया-साहित्य में अद्यतन प्राप्य सभी उपादानों का प्रयोग इसमें किया गया है। रामकथा-संबंधी जिन लेखकों और कृतियों के बारे में अधिकारपूर्वक कुछ कहा जा सकता है, उनका विवरण इस प्रकार है—

सारलादास : 'बिलंका रामायण'—उड़िया-साहित्य में 'कलशा-चौंतीसा' एक विवादास्पद ग्रंथ है। जिन कारणों के आधार पर 'कलशा-चौंतीसा' को किसी पूर्ववर्ती लेखक का ग्रंथ कहा जाता था, उन कारणों को अध्यापक गौरीकुमार ब्रह्मा ने निर्मूल बताया है। इसलिए सारलादास को ही हम उड़िया-साहित्य का आदि-कवि कह सकते हैं। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सारलादास के पहले से ही उड़िया की एक पुष्ट परंपरा चली आ रही थी। किंतु यहाँ उसका विचार करना असंगत होगा। सारलादास उड़िया के केवल पौराणिक साहित्य-स्रष्टा ही नहीं, वरन् वे उड़िया में रामसाहित्य के प्रथम कवि हैं। उन्होंने 'बिलंका रामायण' के रूप में संस्कृत से अनुवाद मात्र न कर एक मौलिक ग्रंथ की रचना की है। लंका का युद्ध समाप्त कर रामचंद्र के अयोध्या-आगमन से इसकी कथा आरंभ होती है। प्रथमखंड में सहस्र स्कंध रावण-वध (संस्कृत की अद्भुत रामायण के १७ से २७ वें सर्ग के अनुसार) और उत्तर खंड में लक्ष स्कंध रावण-वध का वर्णन है। इसमें वर्णित सीता-माहात्म्य में वस्तुतः उड़िया नारी की यथार्थ रूप में प्राण-प्रतिष्ठा हुई है। अनेक समालोचकों के मतानुसार यह शाक्त प्रभाव है। इस ग्रंथ में हनुमान को उप-नायक का स्थान दिया गया है। अनुमान किया जाता है कि इसी के प्रभाव से परवर्ती 'दांडीरामायण' और 'विचित्ररामायण' में हनुमान का प्रधान वर्णन है।

अर्जुनदास : 'राम विभा'—'प्राची समिति' द्वारा संपादित ग्रंथ की भूमिका में लेखक को १५ वीं शताब्दी के अंतिम अथवा १६वीं शती के प्रारंभ में कवि के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इस ग्रंथ में विश्वामित्र-निमंत्रण से आरंभ कर परशुराम का दर्प-चूर्ण तक की कथा वर्णित है। विभिन्न राग-रागिनियों से युक्त इस ग्रंथ को उड़िया-साहित्य में प्रथम काव्य-ग्रंथ के रूप में स्वीकृत किया गया है। इसमें पुराण की वर्णनात्मकता की अपेक्षा काव्य-गुण ही अधिक है। श्री राम और श्री जगन्नाथ को अभिन्न माना गया है। श्री राम की विभिन्न वर्णनाओं के रूप में श्री जगन्नाथ के विभिन्न उत्सवों का स्पष्ट संकेत देखा जा सकता है। इस ग्रंथ में कई जगह सारलादास-कृत महाभारत की वर्णन-शैली का सुस्पष्ट प्रभाव है।

बलरामदास : 'दांडीरामायण'—पुराणकथा के साथ-साथ काव्य भी है। बलरामदास ने अपनी प्रतिभा द्वारा एक मौलिक सृष्टि की है। विषयवस्तु और वर्णनशैली आदि प्रत्येक दृष्टि से मूल संस्कृत रामायण के प्रभाव से यह मुक्त है। यह 'दांडीवृत्त'[2] में लिखी गई है और इसमें उड़ीसा के समसामयिक

---

[1] अनुवादक : श्री हरिशंकर शर्मा

[2] 'दांडीवृत्त' उड़िया-भाषा का एक स्वतंत्र और विशिष्ट छंद है, जिसके पदों में अक्षरों की संख्या समान नहीं होती, किंतु पढ़ते समय लय में कहीं व्याघात नहीं पहुंचता।

सामाजिक अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री मिलती है। (इस ग्रंथ के विषय में अधिक जानकारी के लिए 'झंकार', वर्ष ६, अंक ७ में 'दुइटि ओड़िया रामायण' नामक मेरा निबंध देखिए)।

'कांतकोइली'—यह एक जनप्रिय कृति है। कोयल को संबोधित कर अपने मन की सुख-दुख की भावनाएँ संक्षिप्त कैनवास में गीति के माध्यम से अभिव्यक्त की जाती हैं। आलोच्य कोइली प्राप्त साहित्य में प्रथम कोइली-रचना है। राम द्वारा मायामृग का अनुसरण एवं रावण का कपट से सीता का हरण करते समय सीता का करुण क्रंदन ही इसका विषय है। यह चौंतीसाक्रम (अखरावट) के अनुसार लिखी गई है।

'रामविभा'—उड़िया-साहित्य के इतिहास-लेखकों—विनायक मिश्र और इसी के आधार पर हरेकृष्ण मेहताब—ने बलरामदास के 'रामविभा' नामक एक ग्रंथ का उल्लेख किया है। किंतु इस प्रकार का कोई ग्रंथ कहीं पाया नहीं जा सका। बलरामदास की समस्त रचनाओं में रामायण ही प्रधान है। इस रामायण की बहुत-सी हस्तलिखित प्रतियाँ उत्कल विश्वविद्यालय में संगृहीत हैं। लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम में इसका लंकाकांड सुरक्षित है।

बलरामदास : 'बिलंका रामायण'—लंदन की इंडिया हाउस लाइब्रेरी में उड़ीसा की पांडुलिपियाँ संगृहीत हैं। उनकी सूची बनाने वाले ब्लूम हार्ट ने हमें इस पुस्तक का परिचय दिया। ये बलराम पूर्वोक्त बलराम दास से अलग हैं। इनके पिता का नाम भागीरथी दास और माता का नाम श्रिया था।

ग्रंथ का आरंभ इस प्रकार होता है—

नमइ महामाया जो यगत ठाकुराणि
सुदया कर मागो सिबर घरणि।।
मुख केश तो'र ये गलारे मुण्डमाल्
विकट नयन ये बुलाउ अन्तराल्।।
खड़ग खपर ये करस्थले घेनि
पृथि हेलु घेनइं ये कले तोर भ्रमणि।।

इसका अंतिम भाग इस प्रकार है—

पिता मोर भागिरथि माता मोर श्रीया
केबल तांकर मोते होइला किछि दया।।
... ...
श्री रामर नाम ये तारेक ब्रह्म ज्ञान
राम नाम सुमरणे पाइब अनेक पुन्य।।
श्री रामर नाम ये अटइटि मूल
राम नाम सुमरन्ते घुंचि नाइ काल।।
श्री राम चरणकु मोर नित्ये आस
श्री राम श्रीजगन्नाथ सरण ये बलराम दास।।

इस ग्रंथ का पता बहुत पहले चल गया था, किंतु आश्चर्य है कि आज तक उड़िया-साहित्य के इतिहास-लेखकों में से किसी की दृष्टि इस पर नहीं पड़ी। इस ग्रंथ के परिचय के प्रसंग में ब्लूम हार्ट ने तीन और 'बिलंका रामायणों' का उल्लेख किया है। उनमें से एक सारलादास, दूसरी बारानिधिदास और तीसरी सिद्धेश्वर दास की रचना उन्होंने बतलाई है। सारलादास का एक अन्य नाम सिद्धेश्वर भी है, एवं संभवतः भ्रमवश ब्लूम हार्ट ने दोनों को स्वतंत्र लेखक माना है। बारानिधिदास की 'बिलंका रामायण' का उल्लेख अन्यत्र किया गया है।

उड़िया-साहित्य में बलराम दास अभी तक एक समस्या बने हुए हैं। श्रीयुत मधुसूदन दास ने 'उत्कल-साहित्य' नामक पत्रिका के १७वें भाग की प्रथम संख्या में 'गुप्त गीता और बलराम दास' नामक निबंध में वृद्ध बलराम और तरुण बलराम नाम के दो भिन्न व्यक्तियों का उल्लेख किया है। श्री सूर्यनारायण दास ने

भी अपनी 'उड़िया-साहित्य का परिचय' में मत्त बलराम और द्वितीय बलराम नाम से दो व्यक्तियों का उल्लेख किया है। बलराम की अत्यधिक लोकप्रियता के कारण आधुनिक एकाधिक लेखक बलराम के नाम से पुस्तक छपवा कर बेच रहे हैं, जो इतिहास की आलोचना और शोध में बाधक है। श्री कुंजबिहारी त्रिपाठी ने 'बिलातरे उड़िया पोथी' शीर्षक निबंध में भी भागीरथी पुत्र बलराम दास को अनुमानतः १९वीं शताब्दी का कहा है। लेकिन इस अनुमान का कोई आधार वे नहीं दे सके। जहाँ तक जाना जा सका है, अपेक्षाकृत परवर्ती पोथियों और छपी हुई पुस्तकों में 'दांडीवृत्त' को 'अक्षर साम्य' के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। आलोच्य पांडुलिपि की लेखन-शैली और अक्षर-असमानता के कारण इसको अपेक्षाकृत प्राचीन ग्रंथ मानना अयुक्तिपूर्ण न होगा।

शंकरदास : 'बार मासी कोइली'—इस लेखक के आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में कोई निश्चित विवरण नहीं मिलता। इस कोइली में वनवासी पुत्र राम के क्लेश का स्मरण कर 'कौशल्या की करुणा' वर्णित है। साल के विभिन्न महीनों में रामचंद्र को किस प्रकार दुख का अनुभव हुआ होगा, इसका एक काल्पनिक विवरण इसमें मिलता है। मार्गशीर्ष मास से वर्णन आरंभ होता है। श्री हरेकृष्ण मेहताब ने शंकरदास नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख किया है। उनकी तालिका के अनुसार 'उषा विलास' के रचयिता १७वीं शती के कविशंकरदास के पूर्व 'बारमासी कोइली' के रचयिता अन्य शंकरदास थे। 'प्राची समिति' द्वारा संपादित 'उषा भिलास' काव्य के रचयिता शिशु शंकरदास मेहताब द्वारा उल्लिखित द्वितीय शंकरदास संभवतः यही शिशु शंकरदास हैं। 'प्राची समिति' द्वारा प्रकाशित ग्रंथ के संपादक ने शिशु शंकरदास का समय अनुमानतः १५५५ ई० माना है। किंतु काव्य का नाम क्यों 'उषा भिलास' हुआ, इसका वे कोई संगत कारण नहीं बता सके। काव्य का नाम 'उषा विलास' होना ही बहुत संभव और संगत जान पड़ता है।

हलधर दास : 'अध्यात्मरामायण'—अनुवादित ग्रंथ होने पर भी इसकी भाषा अत्यंत परिमार्जित है। सरल शब्दों के प्रयोग के कारण यह सभी लोगों के लिए बोधगम्य है। यह 'नवाक्षरी' और चतुर्दशाक्षरी' वृत्तों में लिखी गई है। इस लेखक का समय निर्धारित करने में कुछ भ्रम है। विनायक मिश्र और मेहताब के मतानुसार इस ग्रंथ का अनुवाद १६८१ ई० में पूर्ण हुआ था, किंतु सूर्यनारायण दास इस ग्रंथ का समाप्ति-काल १६०८ ई० मानते हैं।

दीन कृष्णदास : 'बारमास कोइली'—इस ग्रंथ का उल्लेख हंटर और उन्हीं को आधार मानकर उनके अनुयायी तारिणीचरण रथ के लेखों में मिलता है। दीनकृष्ण दास एक हैं अथवा दो, इस सम्बन्ध में काफी आलोचना-प्रत्यालोचना हो चुकी है। उनके समय के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत हैं। एक अन्य तीसरे मत के अनुसार दीनकृष्ण नाम के दो व्यक्तियों ने एक ही समय १८वीं ई० में ग्रंथ-रचना की थी। जो हो, 'रस विनोद' और 'रस कल्लोलकार' इन दोनों को सभी अलग-अलग लेखक मानते हैं। 'रस कल्लोलकार'—दीनकृष्ण की तालिका में 'बारमास कोइली' का भी उल्लेख है। हंटर के विवरण से ज्ञात होता है कि यह भी वनवासी रामचंद्र के दुख से दुखी माता कौशल्या की करुणा को अभिव्यक्त करने वाली रचना है। दीन कृष्ण दास की 'प्रस्ताब सिंधु' पुस्तक दशरथ और वसिष्ठ के कथनोपकथन के रूप में लिखी होने पर भी यह रामायण नहीं है। हंटर ने इस पुस्तक का नाम 'प्रताप सिंधु' लिखा है, जो भ्रांतिपूर्ण है।

महादेव दास : 'रामायण अनुवाद'—उड़िया-साहित्य में विभिन्न 'माहात्म्य' के लेखक के रूप में महादेव दास सुपरिचित हैं। 'विष्णु केसरी पुराण' इनकी अन्यतम उड़िया-कृति है। इनके ग्रंथ संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद मात्र नहीं हैं। हंटर और तारिणीचरण रथ के विवरणों से पता चलता है कि इन्होंने रामायण का अनुवाद किया था। इनका आविर्भाव-काल संदेहास्पद है। विनायक मिश्र के अनुसार ये अनुमानतः १७वीं शताब्दी में हुए थे।

लक्ष्मीधर दास : 'अंगद पड़ि'—किसी-किसी के मतानुसार 'पड़ि' और 'पोई' एक ही प्रकार की रचनाएँ हैं। इनके अनुसार यह संस्कृत 'पदी' का ही रूप है। उड़िया में 'पोई' एक स्वतंत्र रचना है। संस्कृत 'पदी' से इसका सम्बन्ध संदेहजनक जान पड़ता है। उपरोक्त पुस्तक में 'अंगद' का दूत वृत्तांत-वर्णित है। यह 'नवाक्षरी' वृत्तों में मार्कंडे ऋषि और युधिष्ठिर के कथनोपकथन के रूप में आठ अध्यायों में लिखी गई है।

राम-वनवास से इसकी कथा आरंभ होती है, किंतु रावण-अंगद-संवाद ही इसका प्रमुख स्थल है। 'पचिस पोई' शिव-पार्वती के प्रश्नोत्तर के रूप में यह लिखी गई है। प्रत्येक 'पोई' के अंत में 'पोखी' राग में एक गीत जुड़ा हुआ है। इसमें २५ अध्याय हैं और प्रत्येक विभाग को 'पोई' कहा जाता है। दूसरे से पच्चीसवें अध्याय तक लंकायुद्ध का विशद वर्णन किया गया है। वस्तुतः इसमें युद्धवर्णन का ही प्राधान्य है।

रामायण पद्य—उत्कल वि० वि० द्वारा संगृहीत पांडुलिपियों में लक्ष्मीधर दास कृत 'रामायण पद्य' के होने का उल्लेख पाया जाता है, किंतु इसके सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता।

त्रिपुरारि दास : रामकृष्ण केलिकल्लोल—हंटर और तारिणीचरण रथ ने इसके नाम का उल्लेख किया है। तारिणीचरण रथ के विवरण से पता चलता है कि कवि का वासस्थान उराली ग्राम है। उन्होंने इनको १२वीं सदी से पहले का माना है। प्रस्तुत ग्रंथ २८ पदों में समाप्त हुआ है। इसमें राम और कृष्ण दोनों का लीला-वर्णन है। प्रत्येक पद श्लेषात्मक (द्विअर्थक) है एवं राम और कृष्ण दोनों के पक्षों में उसका अर्थ लगाया जा सकता है। उन्होंने अपने पांडित्य की घोषणा करते हुए कहा है—

> **एथु छान्दे अभिप्राय प्रयोगे ये आणिम**
> **अबनी रे बृहस्पति बोलि ताकु जाणिम।**
> **येउं प्रशंसा प्रवर्ति शिला श्लेष पन्थारे**
> **अहिठारू कुलिरा पड़िला तांक मथारे।।**
> **... ... ...**
> **क्षितिपति भुंगवर जगन्नाथ रायकुं**
> **प्रभु पणे पाइछि एमन्त अभिप्रायकु।।**

इन राजा जगन्नाथ राय के सम्बन्ध में जान लेने पर कवि का समय निर्धारित करना सुगम होगा।

गोपीनाथ कविभूषण : 'रामचंद्र बिहार'—हंटर और तारिणीचरण रथ के इस कवि ने 'कवि चिंता मणि' नामक पद्य-छंदावली विषयक ग्रंथ का उल्लेख किया है। आलोच्य पुस्तक रामचंद्र की लीला वर्णन करने वाला ग्रंथ है। तारिणीचरण रथ ने कवि को १७वीं शती का माना है।

धनंजय भंज : 'रघुनाथ विलास'—धनञ्जय १७वीं शती के घुमसर नामक स्थान के राजा थे। आलंकारिक रचना की दृष्टि से धनंजय उपेंद्र भंज के पथप्रदर्शक माने जाते हैं। संस्कृत के पंडित होने पर भी इनकी रचना में उड़िया-भाषा का स्वाभाविक सौंदर्य पाया जाता है। कहा जाता है कि इस ग्रंथ की प्रतिस्पर्द्धा में उपेंद्र ने 'बैदेहीश विलास' नामक काव्य लिखा था।

राम विलास—हंटर ने 'राम विलास' नाम के एक अन्य ग्रंथ का रचयिता भी इनको माना है, जिसका अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता।

उपेंद्र भंज : 'बैदेहीश विलास'—उपेंद्र खोर्धा राजा दिव्य सिंह देव (१६६३ से १७२० ई० तक) के समकालीन थे। उपेंद्र उत्कल के कवि-सम्राट् के रूप में प्रसिद्ध हैं। उपेंद्र को केंद्र मानकर उड़िया-साहित्य में रीतिकाल के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया जाता है। स्वल्प जीवनकाल में अपरिसीम सिद्धि क्वचित ही कवियों के भाग्य में पड़ती है। 'बैदेहीश विलास' में कवि के पांडित्य और कवित्व का मणिकांचन योग हुआ है।

रामकथा-मूलक इस काव्य में कवि द्वारा वाल्मीकि, व्यास, हनुमान, कालिदास, महाराजा भोज और उड़िया कवि बलराम दास का ऋण स्वीकार कर लेने पर भी यह एक मौलिक कृति है। इसका रावणचरित्र अतुलनीय सृष्टि (creation) है। इसमें रावण को प्रचंड पराक्रमी, निष्ठावान भक्त, महायोगी, विचारशील और ज्ञानी के रूप में चित्रित किया गया है। रावण ने द्वेषवश चरम ब्रह्म को प्राप्त करने की जो चेष्टा की है, वह अध्यात्मरामायण के अनुरूप है।

'रामलीलामृत'—उपेंद्र की अधिकांश रचनाएँ सुसंपादित रूप में प्राप्य नहीं हैं। अतः इस ग्रंथ के सम्बन्ध में कोई विशेष तथ्य नहीं मिलता।

'रघुनाथ विलास'—भंज साहित्य परिषद (रसूल कोंडा) द्वारा प्रकाशित उपेंद्र की ग्रंथ-सूची में 'रघुनाथ विलास' नामक पुस्तक का उल्लेख किया गया है। किंतु उपेंद्र के ग्रंथों की संख्या निर्धारित करने वाले किसी समालोचक ने इसका उल्लेख नहीं किया। यह पुस्तक धनञ्जय के 'रघुनाथ विलास' की प्रतिलिपि मात्र है, अथवा कोई स्वतंत्र कृति, यह कहना कठिन है।

'अबना रस तरंग'—यह बारह अध्यायों में विभक्त एक (अबना=स्वर-मात्राविहीन) रसपूर्ण काव्य है। इसमें राम को परब्रह्म मानकर स्तुति की गई है एवं राम की सीतानुचिंता-प्रसंग सर्वोत्कृष्ट बन पड़ा है। षटऋतु-वर्णन के प्रसंग में राम की विरहानुभूति के चित्रण में शृंगारिकता स्पष्ट झलकती है। कवि ने पहले अध्याय में राम-सीता वियोग का वर्णन करने की इच्छा प्रकट की है और उसी अध्याय में सीता-हरण का प्रसंग उपस्थित किया है। इसके तीसरे अध्याय में ग्वालों से दूध पीकर उनको वरदान और शबरी के चखे हुए फल खाने के प्रसंग का वर्णन कवि ने 'दाण्डीरामायण' के अनुसार किया है। चौथे से दसवें अध्याय तक कथा प्रवाहहीन है एवं रामचंद्र के विरह का वर्णन आलंकारिक रूप में किया है। आठवें अध्याय में सीता के अश्रुपात से बगुलों के पंखों का श्वेत होने का वृत्तांत भी 'दांडीरामायण' के अनुरूप है। ग्यारहवें अध्याय में लक्ष्मण का किष्किंधा-आगमन, ससैन्य प्रत्यावर्तन और दूत भेजने का विवरण है। इस अध्याय में दूतगण "सर्वनगरी के सदृश किसी स्थान में एक छिद्र देखकर उसमें रहने वाली एक तपस्विनी से यह जान कर कि सीता अपहृत होकर लंका ले जाई गई हैं"—यह प्रसंग कवि की कपोल-कल्पना जान पड़ती है। बारहवें अध्याय में हनुमान की लंकायात्रा से आरंभ कर सात दिन के युद्ध के पश्चात् रावण का वध, राम का प्रत्यावर्तन और अयोध्या में शासन का संक्षिप्त वर्णन है। हनुमान का गोवत्सों के साथ लंका-प्रवेश यहाँ वर्णित है। इस ग्रंथ से उपेंद्र के उत्कृष्ट शब्द-पांडित्य का परिचय मिलता है।

'शोल पोइ'—यह पुस्तक १६ अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक विभाग को 'पोइ' कहा जाता है, किंतु इस ग्रंथ का कहीं उल्लेख नही मिलता। (इसकी पांडुलिपि मेरे संग्रह में है) प्रत्येक पोइ के अंत में एक-एक गीत भी दिया गया है। प्रत्येक पोइ में रचयिता के स्थान पर उपेंद्र भंज का नाम पाया जाता है। संपूर्ण रामायण संक्षिप्त रूप से वर्णित है। इसमें पौराणिकता की अपेक्षा कवित्व का प्रमुख स्थान होने पर भी कवि की भक्तिभावना सहज ही परिलक्षित होती है। इस ग्रंथ का आरंभ इन पंक्तियों से होता है—

शुण सुजनेविचित्र कउतुक साश्र ग्रन्थ रामायण रामायण।
कले राम रामायण राम रामायण सिव कहन्ति पार्बति सुण॥
साश्र आदि बालमिक सिधि बालमिक पुराणे पुराणे इश्रार सिधि।
नाम अटे सोल पोइ पद सोल पोइ सोल पोइ रे समस्तविधि॥
कबि कबि बिरबर पद बिरबर बिरर पद बिरबर।
भंजराज उपइन्द्र बोले रामचन्द्र उपइन्द्र इन्द्र बरसार॥

इसके अंत में—

वैकुण्ठ गमन करन्ते गमन गृधं गृध निस्तारिले।
ब्राह्मण पुत्रकु पुत्र दानकरि नन्दि घोषे बिजेकले से गले॥
देवगणंकु थाइं भेटिले। लक्षणकु चाहिण रहिले।
रावण कुंभकर्ण भेटिले। सोलपोइ समाप्त होइले।

गोपाल कवि : 'अध्यात्म रामायण'—ये कवि तैलंग गोपाल के नाम से उड़ीसा में सुपरिचित हैं। तेलुगु भाषा-भाषी होने पर भी उन्होंने उड़िया-भाषा में यथेष्ट दक्षता प्राप्त की थी। संबलपुर के राजा अजित सिंह (मृत्यु १७६६ ई०) का आश्रय इन्हें प्राप्त था। विनायक मिश्र के कथनानुसार यह ग्रंथ संस्कृत 'आध्यात्म रामायण' का अविकल अनुवाद भर नहीं है। गोपालचंद्र प्रहराज के मत से यह 'आध्यात्म रामायण' के आधार पर लिखित एक मौलिक रचना है।

विश्वनाथ खुंटिया : 'विचित्र रामायण'—उड़ीसा में अत्यंत लोकप्रिय होने पर भी इसका कोई प्रामाणिक संस्करण नहीं मिलता। आजकल प्राप्य पाठों में विश्वनाथ की रचनाओं के अतिरिक्त और विभिन्न संस्करणों में विक्रम, गोपी, पद्मनाभ, नारण आदि की रचनाएँ भी मिली हुई पाई जाती हैं। संभवतः इनमें से प्रत्येक ने रामचरित का अवलंबन कर ग्रंथरचना की थी एवं परवर्ती काल में वे सब एक दूसरे के साथ मिल गईं। इस ग्रंथ में संपूर्ण रामकथा संक्षिप्त वृत्त में, छंदोबद्ध शैली में, कही गई है। इसमें सीता-जन्म के विषय में 'वेदवती' वृत्तांत को एक नया रूप दिया गया है। (देखिए, फादर कामिल बुल्के कृत रामकथा, पृ० २९५)।

प्राप्य संस्करणों में लंकाकांड (४९ से ५९ वें अध्याय तक)—बंगला रामायण में विशेष रूप से वर्णित 'महि रावण पाला' (प्रसंग) भी इसमें मिलता है। यह प्रसंग वाल्मीकि अथवा 'दांडीरामायण' में नहीं पाया जाता। उपरोक्त अंश मौलिक है अथवा प्रक्षिप्त, यह कहना कठिन है। यह ग्रंथ उड़िया-साहित्य में लुप्त ग्रंथों के उद्धार में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है।

'रामायण पद्य'—उत्कल वि० वि० के संग्रहालय में इस 'रामायण पद्य' की पांडुलिपि सुरक्षित है।

हरिहर कवि : 'सुचित्र रामायण'—इसका उल्लेख हंटर और तारिणीचरण के विवरणों में मिलता है। हंटर ने इसको रामायण के पद्यानुवाद के अतिरिक्त रचनाशैली की दृष्टि से 'विचित्र रामायण' के अनुरूप कहा है। किंतु तारिणी बाबू इसे कवि की अपनी कृति मानते हैं।

रामदास : 'रामरसामृत'—मेहताब के विचार से 'दढियताभक्ति' नामक ग्रंथ के कर्ता रामदास ही इस ग्रंथ के लेखक हैं। किंतु रामदास उड़िया-साहित्य के आलोचकों के लिए एक समस्या सिद्ध हुए हैं। (देखिए विनायक मिश्र 'उड़िया-साहित्येर इतिहास', पृ० ६९-७०)। इसलिए कौन-से रामदास इस ग्रंथ के रचयिता हैं, यह कहना कठिन है। गोपालचंद्र प्रहराज ने इनकी अभिव्यक्त करने की शैली को सहज और सुगम कहा है।

कान्हुदास : 'राम रसामृत सिंधु'—इसका उल्लेख तारिणीचरण और गोपालचंद्र ने किया है। तारिणीचरण के विवरण के अनुसार कवि ने गंजाम जिलांतर्गत धराकोट राज्यस्थ ऋषिकुल्या नदी के उत्तर पार्श्ववर्ती मंगलपुर ग्राम में जन्म ग्रहण किया था। उनके पिता का नाम रघुनाथ महापात्र था। जाति के ब्राह्मण थे। कवि ने 'नवाक्षरी पद्य' में 'रामरसामृत सिंधु' नामक रामायण ग्रंथ संक्षेप में लिखा है। पुस्तक की भाषा अत्यंत सरल और ललित है। पुस्तक १०८ अध्यायों में पूर्ण हुई है एवं प्रति अध्याय में १०८ पद हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने पुराणों का पाठ और जप आदि की विधि को दृष्टि में रखकर पुस्तक-रचना की है। उड़ीसा के राजा मुकुंद देव के काल में इनका जन्म हुआ था। कवि के कथनानुसार दिव्य सिंह राजा के काल में उक्त ग्रंथ पूर्ण हुआ था।

पीताम्बर राजेंद्र : 'रामलीला'—पीताम्बर राजेंद्र १७९१ से १८१९ ई० तक चिकिटि के राजा थे। उनकी रामलीला को उड़िया में नाटक-रचना का आदि प्रयास कहा जा सकता है। यह उड़िया में पहला लीला-साहित्य है।

कल्पतरुदास : 'रामलीला' }
विक्रम नरेंद्र : 'रामलीला' } ये दोनों संभवतः १८ वीं शती के लेखक हैं। विनायक मिश्र ने इनके ग्रंथों का उल्लेख किया है।

बैश्यसदाशिब : रामलीला—इसमें पौराणिक कथात्मकता की अधिकता है।

यदुमणि महापात्र : 'राघव विलास'—कवि यदुमणि हास्य-रस रसिक के रूप में उत्कल में सुपरिचित है, तो उनका 'प्रबंध पूर्ण चंद्र' पांडित्य का परिचायक है। आलंकारिक वर्णन करने में ये सिद्धहस्त थे। ये आशुकवि भी थे। १८६५ ई० में लगभग ५०-५५ वर्ष की आयु में इनका देहांत हुआ। 'राघव विलास' अपने पूर्ण रूप में नहीं मिलता। विनायक मिश्र ने इसके दो अध्यायों के मिलने का उल्लेख किया है। प्राचीन पाला गायकों से इसका बहुत-सा अंश पाया जा सकता है। कवि कितने रसिक थे, इसका उदाहरण 'राघव विलास' की निम्न पंक्तियों से मिल सकता है—

पूव देवता शर्वरी भर्त्ता आगेदूत वार्त्ता कला प्रकाश
अशोक बने सशोके थिवा वंधू बंधु सिंधु तीरे प्रवेश।
हास्य रस रे भासि भाषिला दशग्रीव
नारी बिहुने बारिधी नीरे प्राण विसर्जिबाकु आसिथिब।

'रामविलास'—तारिणीचरण और गोपालचंद्र ने इसका उल्लेख अवश्य किया है, किंतु यह कहीं पाया नहीं जा सका।

भागुणी पट्टनायक : 'रामचंद्र बिहार'—हण्टर और तारिणीचरण ने इसका उल्लेख किया है। उत्कल वि० वि० के संग्रहालय में इस ग्रंथ की पांडुलिपि सुरक्षित है।

'लंका बिहार'—इस कवि के नाम पर रचित 'लंका बिहार' नामक एक अन्य ग्रंथ की पांडुलिपि उत्कल वि० वि० के संग्रहालय में सुरक्षित है।

केशव हरिचंदन : 'रामचंद्र बिहार'—'केशव रामायण' अथवा 'नृत्य रामायण' के रचयिता के सम्बन्ध में कुछ विवाद है। उत्कल वि० वि० के पाठ्यक्रम में कवि का नाम केशव हरिचंदन लिखा होने पर भी अध्यापक गौरीकुमार ब्रह्मा ने उनका नाम केशव पट्टनायक होना सप्रमाण निर्देशित किया है। उत्कल-साहित्य के इतिहासलेखकों द्वारा इनके नाम का उल्लेख न होने पर भी उत्कल वि० वि० के संग्रहालय में 'रामचंद्र बिहार' की पांडुलिपि देखी जा सकती है। संभवतः कवि १८ वीं शती में हुए थे और समालोचकों की असावधानी के कारण उन्हें 'नृत्य रामायण' का रचयिता मान लिया गया है।

केशव पट्टनायक : 'रामायण'—एक छंदोबद्ध रचना है। समालोचक गोपालचंद्र के कथनानुसार नृत्य के साथ-साथ गाने के लिए इस ग्रंथ की रचना हुई।

कृष्ण सिंह : 'रामायण'—धराकोट के राजा राजकवि कृष्ण सिंह का जन्म १७२९ और मृत्यु १७८८ ई० में हुई। इनका ग्रंथ संस्कृत महाभारत से अविकल रूप में अनूदित, समस्त उड़ीसा में लोकप्रिय है। हण्टर ने भी इनकी अनूदित रामायण का उल्लेख किया है।

कृष्ण चरण पट्टनायक : 'रामायण'—कवि का जन्मस्थान धराकोट होने पर भी उनकी अनूदित रामायण केवल गंजाम जिले में ही नहीं, समस्त उड़ीसा में जनप्रिय है। कवि ने १८१५ ई० में रामायण का अनुवाद समाप्त किया। रामायण 'चतुर्दशाक्षरी वृत्त' में अत्यंत सहज भाषा में लिखी गई है। बृटिश म्यूजियम में सुरक्षित कृष्ण पट्टनायक (१९ वीं शती) की रामायण का एक अंश विशेष—किष्किंधाकांड—संभवतः इन्हीं के द्वारा लिखा गया है।

सूर्यमणि च्याउ पट्टनायक—रामायण के कवि घुमसर के निवासी थे। इनका जन्म १७७३ ई० में हुआ था। इनका ग्रंथ मूल संस्कृत का अविकल अनुवाद है। 'अध्यात्म रामायण' इनका अन्य लोकप्रिय ग्रंथ हुआ है।

भुवनेश्वर कविचंद्र : 'सीतेश विलास'—इस ग्रंथ के लेखक का जन्म १८२०-३० के भीतर माना जाता है और उनकी मृत्यु १९ वीं शती के अंतिम भाग में हुई। आलोचक गोपालचंद्र प्रहराज इसे उपेंद्र भंज की शैली के ढंग पर लिखा हुआ मानते हैं। 'रामलीला' नामक इनके एक अन्य ग्रंथ का पता लगा है। (देखिए 'उत्कल-साहित्य' नूआ प्रस्थ ; फाल्गुन १३६२ ; पृ० ५०२)।

कपिलनंद : 'अद्भुत रामायण'—ऐसा जाना जाता है कि १९०१ में इसका अनुवाद हुआ।

कपिलेश्वर विद्याभूषण : 'रामायण'—भुवनेश्वर के पंडित कपिलेश्वर ने 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर उड़िया में 'सप्तकांड रामायण' की रचना की। इसमें 'दांडीरामायण' से मुख्य कथा गृहीत होने पर भी बंगला की 'कृत्तिवास रामायण' का महिरावण—सहस्रमुख रावण-वध और दस्यु रत्नाकर की कहानी का प्रभाव सहज ही लक्ष्य किया जा सकता है।

महेश्वर : 'टीका रामायण'—यह ग्रंथ कटक स्थित राधारमण पुस्तकालय से प्रकाशित हुआ है। श्री नरेंद्रनाथ मिश्र इन्हें अनुमानतः १६ वीं शती का मानते हैं। किंतु ऐसा पता चला है कि ये कवि अभी जीवित हैं।

वासुदेव : 'टीका रामायण'—मनमोहन पुस्तकालय, कटक, द्वारा प्रकाशित हुआ है। यह ग्रंथ भी पूर्वोक्त 'टीका रामायण' के समान आधुनिक काल की रचना है। लेखक वासुदेव नायक अभी जीवित हैं।

उड़ीया में लोक-मानस में रामकथा का जो विस्तृत विकास हुआ है, इसका अनुमान उपरोक्त कुछ ग्रंथों के परिचय से नहीं किया जा सकता। उत्कल वि० वि० के संग्रहालय में 'अश्वमेध यज्ञ' नामक एक पांडुलिपि सुरक्षित है। इसमें अश्वमेधयज्ञ-संबंधी जगन्नाथ दयानिधि और जयमुनि की विभिन्न रचनाएँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त 'चौंतीसा' रूप में रामकथा को केंद्र मानकर लिखी गई बहुत-सी छोटी-छोटी रचनाएँ पाई जा सकती हैं। इस प्रकार की कुछ रचनाएँ 'प्राची समिति' द्वारा संपादित 'चौंतीसा मधुचक्र' में प्रकाशित हुई हैं। 'चौंतीसा मधुचक्र' द्वितीयखंड में मंगराज लिखित 'सीतानुचिंता-चौंतीसा' में अशोक-वन में विरहिणी सीता का शोक-वर्णन, भोबनी लिखित 'रामचंद्र जणाण चौंतीसा' में राम की स्तुति ; पाँचवें खंड में परमानंद का 'सीता-विच्छेद-चौंतीसा' में 'माल्यवंत' (पर्वत) पर विरही राम का शोक; 'मायामृग चौंतीसा' (लेखक अज्ञात) में माया मृग के वध से लंका-विजय के उपरांत राम का अभिषेक होने तक की घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। अध्यापक कुंजबिहारी दास के 'पल्लीगीति संचयन' में जिन दो 'हलिमारामायण' का उल्लेख है, इनसे जनता में राम-साहित्य के प्रसार का अनुमान किया जा सकता है।

उड़िया में रामकथा को आधार मानकर लिखे गए नाटकों का भी अभाव नहीं है, जो 'यात्रा', 'लीला', 'स्वांग' और 'गीताभिनय' आदि नाटकों के आदिरूप में प्रस्फुटित हुए। विशेषकर जनप्रिय कवि वैष्णवपाणि ने अपने 'महिरावण-बध' में 'हनुचरित्र' द्वारा 'रस' और टेम्पो (Tempo) की सृष्टि की है। इन यात्रा, लीला अथवा गीताभिनय में विषयवस्तु के अपने रस के साथ-साथ हास्य रस का मधुर मिश्रण और सामाजिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में बहुत-सी सामग्री रहती है। इसके अतिरिक्त नाटकों में भिखारीचरण पट्टनायक का 'लंकादहन', रामशंकर राय का 'राम-वनवास' और 'रामाभिषेक', पारला के राज भ्राता पद्मनाभ नारायण देव का 'अहल्या शापमोचन', कामपाल मिश्र का 'सीता-बिवाह', हरिहर रथ का 'रावण-बध', 'रामाभिषेक', 'रामनिर्वासन' और 'रामजन्म' उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक युग में भी राम-संबंधी यथेष्ट काव्यग्रंथ रचे गए हैं। सीता-वनवास की विषयवस्तु को आधार मानकर लिखा गया 'तपस्विनी' काव्य एक अपूर्व कृति है। इसका सीता-चरित्र अतुलनीय और गरिमायुक्त बन पड़ा है। नंदकिशोरबल-कृत चातुर्दश सर्ग के 'सीता-वनवास' काव्य में श्री राम के जीवन के अंतिम क्षण तक का वर्णन है। करुण रस ही इसमें प्रधान है। 'कालाहांडी पुरस्कार'-प्राप्त प्राचीन छंद शैली में रचित पंडित नीलकंठ रथ का 'सीता प्रेम तरंगिणी' अन्यतम रामकथा-मूलक काव्य है। आधुनिक उड़िया-साहित्य के जनक फ़कीर मोहन सेनापति ने रामायण का जो अनुवाद किया था, वह अब तक अप्रकाशित है। मधुसूदन राव का 'उत्तर रामचरित्र' का अनुवाद भी अपूर्ण है। उड़िया में 'रामचरितमानस' के एकाधिक अनुवाद हैं। हाल में कटक के अलेखप्रसाद दास ने मानस का गद्यानुवाद किया था, किंतु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका। मधुसूदन की 'बालरामायण' के अतिरिक्त शिशु-मनरंजक रामकथा-संबंधी बहुत-सी पुस्तकें उड़िया में लिखी गई हैं।

इसके अतिरिक्त उत्कल वि० वि० के संग्रहालय में निम्नलिखित पांडुलिपियाँ भी मिलती हैं, जिनमें 'सीतावकाश', 'रामलीलामृत' (आद्यकांड और लंकाकांड), 'राघव अवकाश', 'रामलीला' आदि पुस्तकों के नाम उल्लेखनीय हैं। इस संग्रह में लडुकेश्वर महापात्र का 'आदिकाव्य' (प्रथम भाग किष्किंधाकांड और सुंदरकांड), बारानिधि दास की 'बिलंका रामायण', विप्रनारायण दास की 'रामायण' एवं दीनबंधु रथ शर्मा के 'सीतापहार' और 'सीताउद्धार' काव्य-ग्रंथ संगृहीत हैं। इस प्रसंग में पद्मनाथ मंगराज के 'रामकल्लोल' की पांडुलिपि की चर्चा भी की जा सकती है। उड़िया-साहित्य के इतिहास में पद्मनाभ देव नामक रणपुर के राजा का उल्लेख हुआ है। 'पंचसखा'ओं में-से अन्यतम अच्युतानंद दास इनके आश्रय में थे। इससे जान पड़ता है कि पद्मनाभ देव १६ वीं शती के कवि थे। यदि उपरोक्त पद्मनाभ मंगराज ही रणपुर के राजा पद्मनाभ-देव हों, तो इन्हीं को 'रामकल्लोल' का रचयिता माना जा सकता है।

उड़िया कवियों ने केवल उड़िया-भाषा में ही रामकथा-संबंधी ग्रंथों का प्रणयन किया हो, सो नहीं। उन्होंने संस्कृत-भाषा में भी ग्रंथ-रचना की है। यहाँ उन सब संस्कृत-ग्रंथों की सूची देना संभव नहीं, फिर भी कुछ मुख्य-मुख्य ग्रंथों के नाम दिए जा रहे हैं। हंटर ने अपने उड़ियासाहित्य-संबंधी विवरणों के अंत में ४७ पुस्तकों के नाम दिए हैं, जिनके लेखकों को उन्होंने अज्ञात कहा है। इन्हीं में 'मुकुंदमाला' (आंशिक उड़िया और आंशिक संस्कृत), 'राम सीता वल्लभ नाटक', 'रामलीला नाटक'—ये तीनों ही रामकथा-संबंधी ग्रंथ हैं। उत्कल वि० वि० के संग्रहालय में 'मुकुंदमाला' की पांडुलिपि सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त हंटर ने पीताम्बर मिश्र 'कविचंद्र' की 'रामविरुदावली', पुरुषोत्तम पाढ़ी की 'अनर्घ राघव टीका', रघुनाथ दास की 'रघुवंश टीका' और हनुमान मिश्र का 'महानाटकेर भाष्य' का भी उल्लेख किया है। प्रसिद्ध आलंकारिक विश्वनाथ कविराज उड़िया थे, इस बारे में सभी एकमत हैं। कवि गंगवंशीय राजा द्वितीय नरसिंह देव और उनके पुत्र द्वितीय भानुदेव के समय में होने का अनुमान किया जा सकता है। उनका 'साहित्य-दर्पण' आदि विभिन्न ग्रंथों में 'राघव विलास' महाकाव्य भी मिलता है। उत्कल वि० वि० के संग्रहालय में 'पिनाक भंग नाटकम्' नामक पांडुलिपि भी है। प्रकाशित हो जाने पर रामकथा-संबंधी बहुत से ग्रंथों का पता चल सकेगा, इसमें संदेह नहीं।

पंजाबी रामायण

★

श्री देवदत्त शास्त्री

★

"रामायण हमारा राष्ट्रीय महाकाव्य है। इसमें राष्ट्र की कविता है, राष्ट्र का जीवन है और राष्ट्र की संस्कृति है।" इस उक्ति के अनुसार भारतीय जीवन राष्ट्रीय दृष्टि से पहले कैसा था और कैसा होना चाहिए था, इसका दिग्दर्शन हमें रामायण कराती है।

रामायण के रचयिता वाल्मीकि आदिकवि हैं। उनका काव्य सर्वश्रेष्ठ है। काव्य की श्रेष्ठता ही रामायण के आदिकाव्य कहलाने का मुख्य कारण है। संस्कृत-साहित्य के बहुत-से काव्य और नाटक रामायण के कथानक या कुछ एक भाग का आश्रय लेकर बने हैं। अतः, पीछे आनेवाले संस्कृत-साहित्य पर रामायण का प्रभाव अक्षुण्ण रूप से दीखता है। रामायण की कथा के सम्बन्ध में स्वयं वाल्मीकि जी कहते हैं—

यावत्स्थास्यंति गिरयः, सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा, लोकेषु विचरिष्यति।। —बालकांड २,४०

—जब तक भूतल पर पर्वतों और नदियों का अस्तित्व रहेगा, तब तक संसार में रामायण की कथा का प्रसार होगा। वाल्मीकि जी की यह बात अक्षरशः सत्य निकली है। भारतवासी आज भी भक्तिभाव से "रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीता राम" का कीर्तन कर रामायण के माहात्म्य को प्रकट कर रहे हैं।

जहाँ वाल्मीकि ने रामायण की रचना करके संस्कृत-साहित्य को इससे अनुप्राणित किया, वहाँ गोस्वामी तुलसीदास जी ने हिन्दी में 'रामचरितमानस' की रचना करके इस कथा को प्रत्येक घर में तथा प्रत्येक मानव के हृत्पटल और वाणी में ओत-प्रोत कर दिया। महात्मा गांधी ने कहा है, "तुलसीदास जी की श्रद्धा अलौकिक थी। उनकी श्रद्धा ने हिन्दूसंसार को रामायण के समान ग्रंथरत्न भेंट किया है। मनुष्य यह श्रद्धा कैसे प्राप्त करे, इसका उत्तर 'रामचरितमानस' में है।"

गोस्वामी जी राम-नाम को अति पावन और रामकथा को संसार के लिए मंगलमय मानते थे—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा, अति पावन पुरान श्रुति सारा।। ९,१
.... राम कथा जग मंगल करनी।। ९,१

भारत की प्रायः सभी मुख्य भाषाओं के उत्तम कवि-वर्ग ने अपनी-अपनी भाषा में रामायण की रचना की है। इतना ही नहीं, वरन् जावा आदि विदेशों में भी, जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृति पहुँची है, वहाँ-वहाँ की भाषाओं में महाराज राम की पावनी अमर कथा गाई गई और गाई जा रही है। पंजाब प्रदेश में भगवान राम के प्रति बड़ी श्रद्धा पाई जाती है। अतः, गुरु नानक तथा यहाँ के दूसरे संतों की वाणियों में जहाँ-तहाँ भगवान राम के संकेत पाए जाते हैं। पंजाबी के और भी कितने कवियों ने रामचरित का बखान किया है। उन्हीं में स्वर्गीय कवि श्री राम लभाया आनंद 'दिलशाद' का नाम उल्लेखनीय है, जिन की रचित पंजाबी पद्यमयी रामायण का कुछ परिचय नीचे कराया जा रहा है।

हमारे इस कवि का जन्म सन् १८६७ में पश्चिमी पंजाब के प्रसिद्ध भेरा नगर में 'आनंद' उपनामक क्षत्रिय कुल में हुआ था। आपने अपने जन्मस्थान पर ही उर्दू-फारसी की शिक्षा पाई थी। बचपन से ही कविता करने में आपकी विशेष प्रवृत्ति जागरूक हो चुकी थी। आपने २० वर्ष की अवस्था में काश्मीर सरकार के पुलिसविभाग में नौकरी कर ली, जहाँ से आप १९१७ में सेवा-निवृत्त हुए। तभी से आपने पंजाबी रामायण का लिखना प्रारंभ कर दिया और अपना शेष जीवन उसकी पूर्ति करने और उसे परिष्कृत करने में लगाया। १८ मार्च, १९४६ को, जब कि आप सर्वथा स्वस्थ दीख पड़ते थे, लाहौर में, अचानक हृद्-गति के रुक जाने से, आपका शरीर शांत हो गया। आपकी रची रामायण, मूलतः, उर्दू-लिपि में लिखी हुई है। वह अब आपके

एकमात्र सुपुत्र, श्री विश्वबंधु जी, विश्वेश्वरानंद वैदिक संस्थान, होशिश्रारपुर, द्वारा संपादित और देवनागरी में उल्लिखित होकर, फरवरी, १९५३ से, मासिक 'विश्वज्योति' में धारावाहिक प्रकाशित की जा रही है।

रामायण का कथानक उदात्त और शिक्षा से पूर्ण है। इसके पात्रों का चरित्र पाठक के हृदय पर एक गहरी छाप लगा देता है। उन चरित्रों को सफलतापूर्वक वर्णन करने में ही कवि का कवित्व है। उसी के निदर्शन के रूप में अब हम प्रकृत काव्य का रसास्वादन कराने के उद्देश्य से उसके कुछ स्थल उद्धृत और अनूदित करते हैं।

कवि 'दिलशाद' ने पुत्र का माता-पिता के प्रति क्या कर्तव्य है, इसको बहुत ही सुंदर ढंग से वर्णन किया है। जब श्री रामचंद्र अपने पिता महाराज दशरथ के समीप जाते हैं, तो पिता को मूर्छित देख, पास बैठी हुई माता कैकेयी से पूछते हैं—

दे दस्स जलदी किऊँ फिर ढिल कीती, गल दिल दे विच न रक्ख मातां।
तू मां ते मैं हां पुत्तर तेरा, मैंनूं समझ न तूं हुण वक्ख मातां।।
आहिरा ईश्वर नूं वेखिआ नहिं किसे, माई-बाप ईश्वर परतक्ख मातां।
केहा तुस्सां दा मोड़सां न कदी, भावें पौण मुसीबतांलक्ख मातां।।
हुक्म मां-पिऊ दा जिस मन्नेआ नहिं, पाके जनम मारी उस झक्ख मातां।
दिल दुखावे सतावे जो मा-पेआं दा, बैठा समझ ओह तां जहर चक्ख मातां।।

—अयोध्याकांड १२८-३०

—माता जी, मुझे आप शीघ्र बताएँ, कोई भी बात दिल में छिपा कर न रखें। मैं आपका पुत्र हूँ और आप मेरी माता हैं। हम दोनों पृथक्-पृथक् नहीं हैं। किसी ने ईश्वर को प्रकट रूप में नहीं देखा, परंतु वे ईश्वर माता-पिता के रूप में प्रत्यक्ष दीखते हैं। आप बेखटके कहें, मैं कभी आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करूँगा। जो व्यक्ति माता-पिता की आज्ञा नहीं मानता, वह जन्म लेकर भी अजन्मा है। जो पुत्र माता-पिता का दिल दुखी करता है, समझना चाहिए कि वह विष पी रहा है।

राम का धैर्य—अब कैकेयी ने श्री रामचंद्र से कहा कि मैंने आपके पिता से (अनेक वर्षों) पहिले प्रतिज्ञा किए हुए दो वर माँगे हैं। एक—आपका चौदह वर्ष के लिए वनगमन, और दूसरा भरत का राज्य-तिलक। इसे सुनकर आपके पिता की यह दशा हो गई है। वे अपने प्रण से पीछे नहीं हटना चाहते और आप को वन भी भेजना नहीं चाहते। इसलिए इनकी यह दशा है। श्री रामचंद्र ने उस समय अपने अनुपम धैर्य का दर्शन कराया। कवि 'दिलशाद' का वह वर्णन कितना मनोहर है—

है सी गल्ल केह्ड़ी मुशकल एह इतनी, जिसदे वासते झगड़ा पाया वे।
जागे सुते नसीब दिलशाद मैंरे, जेकर जंगल मैंरे हिस्से आया वे।।
दँवा भरथ नूं राज मैं आप हत्थीं, होंदा इत्थे तां हुण जरूर मातां।
दिलों दे असीस तूं खुश होके, लगा होण मैं तुस्सां थीं दूर मातां।।

—अयोध्याकांड १३९-४०

माता कैकेयी को संबोधन करते हुए भगवान श्री रामचंद्र जी कहतेहैं कि माता, वन-गमन की बात इतनी कठिन नहीं थी, जिसके लिए पिता जी को इतना क्लेश दिया गया। मेरा सोया हुआ भाग्य जाग पड़ा है, जो कि मेरे हिस्से जंगल आया है। यदि मुझे शीघ्र ही वन जाने की आज्ञा न होती, तो मैं अपने हाथों भरत को राज्यतिलक देता। माता, प्रसन्न हो मुझे आशीर्वाद दें, क्योंकि मैं अब कुछ समय के लिए आप लोगों से दूर जा रहा हूँ। कवि ने राम की धैर्य की पराकाष्ठा, वनगमन की प्रसन्नता और भरत के प्रति अतुल स्नेह को कितने उज्ज्वल रूप में दिखाया है।

पातिव्रत धर्म—मर्यादा पुरुषोत्तम राम जब अपनी माता कौशल्या के पास जाते हैं और अपने वन-गमन का वृत्तांत कहते हैं, तो कौशल्या बहुत दुःखी होती हैं। जब राम वनगमन का संकल्प किसी प्रकार नहीं छोड़ते, तो कौशल्या भी वन में साथ चलने का आग्रह करती हैं। राम सुंदर शब्दों में उनका कर्तव्य सुझाते हैं—

पतिवरत जेहा नहिं धरम कोई, तप ते जप सारे निष्फल मातां।
इसे धरम डराए नीं लोक तिन्ने, जावे जमीन असमान भी हल मातां।।
करदा एहो सहायता अंत वेले, जद जांवदी जान निकल मातां।
तेरे वासते ईश्वर रूप हैवन, करके टह्ल कर जनम सफल मातां।।
सेवा पति दी धरम है इसतरी दा, निकल बाहर न धर्म थीं ढल मातां।
मोह माया त्याग दिलशाद दिलों, समझ है दुनिया सारी छल मातां।।

—अयोध्याकांड १७३, १७४, १७६

—संसार के समस्त जप और तप पातिव्रत-धर्म के सामने कुछ महत्त्व नहीं रखते। पातिव्रत धर्म तीनों लोकों को चलायमान कर देता है। यह धर्म ही स्त्री की सदा रक्षा करता है और अंत समय में भी यही धर्म स्त्री का सहायक है। माता, आपके लिए पतिदेव ईश्वर का रूप हैं। आप उनकी सेवा करती हुई अपने जीवन को सफल बनाएँ। स्त्री के लिए पति-सेवा ही परम धर्म है। इस धर्म से विमुख न हों, पुत्र-मोह का त्याग करें।

भ्रातृ-भाव—कवि दिलशाद ने भ्रातृ-भाव के आदर्श का उस समय वर्णन किया है, जब श्री रामचंद्र जी को अयोध्या लौटाने के लिए जाते हुए भरत मार्ग में निषादपति गुह से मिलते हैं और उससे अपना आशय प्रकट करते हैं—

कंहदा गुह उस नूं मैं खुश होया, रब देवे तां ऐसा भिरा देवे।
दुःख विच जो भाई नूं वेख के ते, जान आपनी कर फिदा देवे।।
दुःखी वेख भाई वंडे दुःख नाहीं, ऐसे भाई नूं मौत खुदा देवे।
बुरेआं भाईआं थीं रब दिलशाद तैनूं, करके अपना फजल बचा देवे।।

—अयोध्याकांड ६८८, ६८९

निषादपति गुह भरत के भावों से प्रसन्न होकर कहते हैं, "प्रभु, किसी को भाई बनाए तो भरत सरीखा भाई बनाए। भाई को दुखी देखकर जो अपने प्राणों का भी त्याग करने पर उद्यत हो जाता है, वही भाई है। जो भाई भाई के दुख में सहानुभूति नहीं रखता, उस भाई की मृत्यु उसके जीवन से अच्छी है।" वर्तमान काल के भाइयों के सापत्न्य भाव से खिन्न हुए 'दिलशाद' जी कहते हैं—"प्रभु, आप अपनी अपार कृपा से बुरे भाइयों की बुराई से प्रत्येक की रक्षा करें।"

भरत के सद्गुण—कवि ने जहाँ श्री रामचंद्र जी के असीम धैर्य का वर्णन किया है, वहाँ भरत के सद्गुणों का भी उल्लेख बड़े उत्तम ढंग से किया है—

आऊंदा वेख कौशल्या माई ताईं, भरथ डिग्ग कदमां उत्ते अरज करदा।
मेरा माता जी नहिं कसूर कोई, हरदम मैं तुसाडड़ा हां बरदा।।
मेरी मां ने पाया फतूर सारा, पेआ रो रो के ठंडे सांस भरदा।
जे मैं नाणके न दिलशाद जांवा, होंदा फिर न कदी एह हाल घर दा।। ६३६
होई खबर मातां, नहिं कोई मैनूं, मैं तां आस बैठा नानहाल अंदर।
आके वेखेआ होया जो हाल इत्थे, है सी एह न ख्वाब खेआल अंदर।। ६३७
घर बार बरबाद हो गेआ साडा, गेआ आ इकबाल जवाल अंदर।
कीता बुरा दिलशाद एह मां मैरी, कुटेआ लून उसने गोया थाल अंदर।।

—अयोध्याकांड ६३६, ६३८

भरत जब अपने ननिहाल से लौट कर अयोध्या आते हैं तो माता कैकेयी से सब हाल सुन कर राम माता कौशल्या के प्रासाद में जाते हैं, और माता कौशल्या को आते देख उनके चरणों पर गिर पड़ते हैं। वे रो-रो कर कहते हैं कि माता, इसमें मेरा कोई अपराध नहीं। मैं तो आपका ही पोषित बालक हूँ। मैं अपने ननिहाल में बैठा था। यदि यहाँ होता, तो माता सच जानिए, यह दशा कभी न होती। सब घर-बार नष्ट

हो गया है। सूर्यवंशियों की समृद्धि असमृद्धि में बदल गई है। इस प्रकार का चित्र कभी मेरे स्वप्न में भी नहीं आया। यह विप्लव मेरी माँ कैकेयी ने ही किया है, मानो, उसने सेंधा नमक काँसी के थाल में रख कर कूटा है! जैसे काँसी के थाल में नमक तो क्या कुटता है, थाल ही टुकड़े-टुकड़े हो जाता है; इसी प्रकार मेरी माता का प्रयोजन तो क्या सिद्ध होगा, उलटा उसने सारे कुल को नष्ट कर दिया है।

स्त्री-स्वभाव—स्त्री जब कपट करती है, तो आगा-पीछा नहीं देखती। उसमें इतनी कृत्रिमता आ जाती है कि वह असंभव को भी संभव कर दिखाती है। दासी मंथरा के वचनों से प्रभावित होकर कैकेयी ने जो अपनी अवस्था बनाई, कवि दिलशाद उसका वर्णन करते हुए स्त्रियों के कपट के सम्बन्ध में लिखते हैं—

पाड़ कप्पड़े सुटदेलाह जेवर, वेखो लेट जमीन ते पई ए जी।
न कोई दु:ख ते न कोई दरद है सी, वांग मछली वे तड़फ रही ए जी।।
मकर जन मशहूर जहान अंदर, केआ खूब एह किसे ने कही ए जी।
तिरिआ चरितर दिलशाद न कोई जाने, खसम मार के सती हो गई ए जी।।—अयोध्या० ३२-३३

कैकेयी ने अपने वस्त्र फाड़ दिए, भूषण उतार फेंके और भूमि पर लेट गई। उसको कोई शारीरिक पीड़ा नहीं थी, परंतु जलहीन मछली की भाँति वह तड़प रही थी। संसार में स्त्रियों के कपट के सम्बन्ध में यहाँ तक भी कहा गया है कि कपटिन स्त्री अपने हाथों अपने पति की हत्या करके पीछे उसके साथ सती भी हो जाती है।

कैकेयी जब अपनी बात में सफल हो गई, राम, लक्ष्मण और सीता वन को चले गए; महाराज दशरथ स्वर्ग सिधार गए और भरत अपने ननिहाल से लौट आए, तो कैकेयी अपने कृत्यों की अभिमानपूर्वक प्रशंसा करती है। कवि दिलशाद अलंकारों की छटा दिखाते हुए उसका वर्णन इस तरह करते हैं—

लै सुन मैथों तू हुण साफ बच्चा, तेरे वास्ते वेलणा वेलआ मैं।
किशती आस दी नूं लै के नाम रब दा, डूंघे वेहण दे विच जा ठेलेआ मैं।। ५८७
लेआ बाप तेरे नूं कर काबू, बन के मांदरी नाग नूं सेलेआ मैं।
मुहार धर्म दी पाके विच नक दे, वांग शुतर दे चा नकेलेआ मैं।। ५८८
होया किऊँ नाराज़ तूं वस्स मैनूं, कीता बुरा नहिं कोई अरबेलेआ मैं।
कर तूं राज दिलशाद बेचिन्त होके, खातर आप दी जुआ एह खेलआ मैं।। ५९०

—बेटा, मुझसे स्पष्ट सुन लो। यह सब कुछ मैंने तुम्हारे लिए ही किया है। जैसे ईख को पेरने के लिए बेलन लगाया जाता है और बड़े कष्ट से ईख पेरी जाती है, उसी प्रकार यह विलप्ट कर्म मैंने तेरे लिए ही किया है। मैंने प्रभु का नाम ले, आशा रूपी नाव को गहरी और भयंकर प्रवाह वाली नदी में डाल दिया। तुम्हारे पिता को मैंने अपने वश में कर लिया, जैसे मदारी मंत्रबल से नाग को कील देता है। धर्म की दुहाई देकर तुम्हारे पिता को उसी प्रकार फाँस लिया, जैसे ऊँट की नाक में नकेल डाल कर उसे काबू कर लिया जाता है। मेरे सुंदर और भोले बच्चे, तू क्रुद्ध क्यों होता है? मैंने कोई बुरा काम नहीं किया। तू निश्चिंत हो, राज्य कर। यह द्यूत मैंने तुम्हारे लिए ही खेला है, जिसमें मैं जीत गई हूँ।

'दिलशाद' जी ने जहाँ स्त्री-चरित्र का वर्णन उपर्युक्त ढंग से किया, वहाँ वे स्त्री की वरिष्ठता को भी नहीं भूले। सीताजी श्रीराम के साथ वन-गमन के लिए बार-बार प्रार्थना करती हैं। श्रीराम उन्हें वनों का भय दिखा कर रोकते हैं, परंतु सीता जी कब मानने वाली थीं। कवि की लेखनी ने एक सुंदर युक्ति सीता के मुख से कहलाई। सीताजी कहती हैं कि आप पिता की आज्ञा मान कर वन चले हैं, तो मुझे भी मेरी माता ने एक बात कही थी—

माता आखेआ मैनूं सुणा के ते, जदों टोरेआ सी डोली पा के ते,
टैहल पति दी करीं दिल लाके ते, बारंबार उस ऐहो पुकारेआ वे।
केहा माँ दा मन्नना जरूर मैं भी, रैहणा कदी नहिं तुस्सां थीं दूर मैं भी,
चलसां नाल जरूर हजूर मैं भी, हत्थ जोड़ के वासता डारेआ वे।। २१५

सीताजी कहती हैं कि जब माता मुझे डोली में बैठा कर ससुराल भेजने लगीं, तो उन्होंने कहा था कि पति की सेवा सच्चे हृदय और आचरण से करना। यह बार-बार मेरी माता ने मुझे कहा। अतः, मैं भी अपनी माता की बात जरूर मानूंगी। मैं आप के संग वन जाऊँगी, यह मैं हाथ जोड़ कर विनती करती हूँ।

इतना ही नहीं, प्रत्युत जब भरत श्रीरामचंद्र को वन से लौटाने के लिए चित्रकूट जाते हैं, तो उनसे राज्य संभालने की विनती करते हैं। राम स्वीकार नहीं करते। भरत बार-बार आग्रह करते हैं और श्रीराम बार-बार निषेध करते हैं। समस्या बड़ी जटिल हो जाती है। भरत राम के बिना अयोध्या लौटना नहीं चाहते; राम पिता की आज्ञा से विमुख होना नहीं चाहते। भरत वहीं बैठ जाते हैं, खाना-पीना छोड़ देते हैं। वाल्मीकि जी इस अवस्था में प्रजाजन को माध्यम बनाकर भरत को लौटाने में सफल होते हैं। प्रजा भरत से कहती है कि आप अयोध्या लौट चलें। कवि तुलसीदास जी जनक और वसिष्ठ को इस प्रसंग में उपस्थित करते हैं, जनक तथा वसिष्ठ भरत को लौटाने के लिए कहते हैं और उन की आज्ञा से भरत लौट पड़ते हैं। कवि 'दिलशाद' स्त्री के माहात्म्य को दिखाने के लिए कौशल्या को माध्यम बनाते हैं। राम और भरत दोनों इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि माता कौशल्या जो निर्णय देंगी, वह हम दोनों को मान्य होगा। भरत जानते हैं कि माता स्नेहवश राम को लौटाने के लिए ही कहेंगी, परंतु कवि पुत्र-स्नेह से धर्म को उच्च स्थान देते हैं—

लग्गी केंहु मेरा दिल एह चांहवा, धर्म आपना तोड़ चढ़ा देओ।
हुक्म बाप दे नूं कर देओ पूरा, चौदाँ साल बनवास लंघा देओ।।
खड़ावाँ लै आई मैं नाल इत्थे, कदमाँ अपने नाल छुआ देओ।
देके भरथ नूं ओही दिलशाद तुल्सी, चले परत के घर सुणा देओ।।

—अयोध्याकांड ८०३, ८०४

कौशल्या कहने लगीं कि मेरा हृदय यही चाहता है कि श्रीराम अपने धर्म को पूरा करें। पिता की आज्ञा को मान कर चौदह वर्ष वन में रहें। मैं अपने साथ पादुका ले आई हूँ। राम इनको अपने चरणों से स्पर्श कर दें। भरत इन्हें लेकर अयोध्या लौट जाएँ और राम के प्रतिनिधि बन कर राज्य करें।

कवि जहाँ रामकथा कहते हुए अपने आपको पवित्र कर रहा है, वहाँ वह शाश्वत सत्यों का भी वर्णन करता हुआ लोगों को उचित मार्ग का प्रदर्शन कराता है।

सत्य—जब रावण मारीच के पास जाता है और उसे सीता के अपहरण कार्य में सहयोगी बनने के लिए वाधित करता है, तो मारीच राम की पूर्व अनुभूत शक्ति को बता कर रावण से प्रार्थना करता है कि वह इस संकल्प को छोड़ दे। रावण खड्ग निकाल कर मारीच के सामने दो विकल्प रखता है, "या तो मेरे साथ चलो, अन्यथा अपनी जीवनलीला को मेरी खड्ग द्वारा समाप्त समझो।" मारीच साथ जाने की आज्ञा को स्वीकार करता हुआ अपने भाव कहने से भी नहीं रुकता—

गेआ हो यकीन मरीच कंह्दा, दुश्मन लोक सारे यारो सच्च देने।
झूठ गुड़ ते सच्च बेशक मिरचां, सच्च बोलेआ भांबड़ मचदे ने।।
टक्कर नाल पत्थर जदों लग जावे, जांदे त्रुट मांडे फिर कच दे ने।
मुंह मौत विच आए दिलशाद जेह्ड़े, ओ बचायां कदे न बचदे ने।। —अरण्य, १७२,

मारीच रावण से कहता है, "मुझे विश्वास हो गया है कि लोगों को सच्ची बात अच्छी नहीं लगती। वे सच्ची बात से शत्रुता-सी करते हैं। उन्हें झूठ गुड़ के समान लगता है और सत्य मिर्चों के समान लगता है। सच्ची बात सुनने से उन के भीतर क्रोध की अग्नि भड़क उठती है।" अपनी बेबसी को देखते हुए मारीच कहते हैं, "जब काँच के बरतनों की टक्कर पत्थर से लग जाती है, तो वे बरतन टूट जाते हैं। जो मृत्यु के मुख में पड़ गए, वे रक्षा करने पर भी सुरक्षित नहीं रह सकते हैं।"

फलित ज्योतिष में अश्रद्धा—कवि दिलशाद नजूम और फलित ज्योतिष को भी नहीं मानते। वे इस विषय में बड़ी उग्रता से लिखते हैं—

इलम ग़ैब नूं जाणदा नहिं कोई, नहिं किसे ने उस दा भेत लेग्रा ।
मुहूर्त कड्ढेग्रा पंडितां राज वाली, झगड़ा फेर दस्सो किऊं ग्रान पेग्रा ।। २६४
गैग्रां पोथिग्रां थोथिग्रां हुण कित्थे, कित्थे नजूमिग्रां दा हुण नजूम गेग्रा ।
पंडित वेखदे पए दिलशाद ग्रोही, बदले राज दे मिल बनवास रेहा ।। २६५
झूठा जोतिष नजूम ते पंडित झूठे, इलम ग़ैब दे नूं कोई जाणदा नहिं ।
वेद शासतर सब ग्रधीन उसदे, एह गेग्रान कोई दिल ते ग्राणदा नहिं ।। २६७

परोक्ष की बात कोई नहीं जानता । किसी ने भी इस रहस्य का पता नहीं पाया । बड़े-बड़े पंडितों ने राज्य का सुदिन निश्चित किया था, परंतु फिर भी बीच में झगड़ा उठ खड़ा हुग्रा । इस प्रकार भावी परोक्ष के ज्ञान बताने वाली पोथियाँ कहाँ चली गईं ? उन नजूमियों के वे नजूम किधर चले गए । पंडितों के देखते ही देखते राम को राज्य के बदले वनवास मिल गया । ग्रतः इस तरह का ज्योतिष ग्रौर नजूम सब झूठा है । उस रहस्य को कोई नहीं जान सकता । सब शास्त्र उस भगवान की करनी के ग्रधीन हैं । इस ज्ञान को कोई भी ग्रपने मन में नहीं लाता ।

पंजाबी भाषा के कवियों ने 'बारह मास' लिखने में सदा तत्परता दिखाई है । कई लोगों ने सारी रामायण को 'बारह मास' की कविता में लिख दिया । ग्रनेक किस्से ग्रौर कहानियाँ इन 'बारह-मासों' में लिखी गई हैं । प्रत्येक मास का पहले नाम लेकर पद्य ग्रारंभ किया जाता है, उसके पश्चात् कवि ग्रपनी बात कहता है । यह कविता 'बारह माह' कहलाती है । कवि दिलशाद जी भी ग्रपनी रामायण की रचना के समय इसे नहीं भूले । भरत चित्रकूट से लौट कर नन्दिग्राम में ग्रपना डेरा लगा लेते हैं । राम, लक्ष्मण ग्रौर सीता का वियोग उन्हें चैन नहीं लेने देता । भरत की उस दुखी दशा को कवि ने करुण रस से पूरित करके वर्णन किया है—

बिसाख बस चल्लेग्रा नहिं कोई मेरा, ग्राया जंगल दे विच भी पा फेरा ।
गेग्रा नाल हैसां मैं तां लै डेरा, रेहसां कोल मैं भी एह खेग्राल है सी ।।
मेरा नहिं माह राज कसूर कोई, खता माँ मेरी थी जरूर होई,
देग्रो बखश कसूर हजूर ग्रोही, हत्थ जोड़ मैं पाया सवाल है सी ।। ८४७
मैं ता जानेग्रा सी गल्ल मन्न लैसो, ग्रजुध्या विच्च ग्राके उत्ते तखत बैहसो,
लै के राज ग्रापना मेरे कोल रैह सो, एह उमीद विच दिल कमाल है सी ।
गल्लाँ दिल दिग्राँ दिल दे विच रहिग्राँ, जो मैं सोचिग्राँ पेश न ग्रो गइयाँ,
गल मुसीबताँ ग्रान दिलशाद पइग्राँ, मेरा ज़ोर केहड़ा तुस्साँ नाल है सी ।। ८४८

—मैं तो वन से खाली हाथ लौट ग्राया । मेरा बस कुछ भी नहीं चला । मैं तो ग्रपने साथ प्रजाजन को ले गया था । मैंने हाथ जोड़ विनती की थी कि मेरा इसमें किंचित भी ग्रपराध नहीं । मेरी माँ से ग्रवश्य गलती हुई है, ग्राप उसे क्षमा कर दें । मैंने समझा था कि वे मेरी बात मान लेंगे, ग्रयोध्या लौट कर राज्य संभाल लेंगे । परंतु मेरी बातें तो दिल में ही रह गईं । जो मैंने विचार किया था, वह पूरा नहीं हुग्रा । मेरे ऊपर ग्रौर कष्ट ग्रा पड़े हैं । मेरी शक्ति श्रीराम जी के सामने क्या थी ? राम-वियोग से दुखी भरत ग्राशा ग्रौर निराशा के झूले में किस प्रकार हिलोरें खाते हैं, जरा देखिए—

करां केग्रा मैं पेश न कोई जावे, गोते जान मेरी हुण पई खावे,
पुच्छां किस नूं नजर न कोई ग्रावे, कदों दूर दुक्ख दरद संताप होसन ।
ग्रौसन कद दिलशाद दस्स मुड़ के जी, बैहसन नाल मेरे फिर जुड़ के जी,
या के मैं मरसां चुड़ चुड़ के जी, मेरे कित्थों सुणदे विरलाप होसन ।।—ग्रयोध्या, ८५२

—मैं विवश हो गया हूँ । मेरा जीवन दुख के प्रवाह में गोते खा रहा है । मुझे कुछ सूझता नहीं, कोई सहायक दीखता नहीं । मेरी पीड़ा, मनस्ताप ग्रौर दारुण दुख कब समाप्त होगा । कभी समय ग्रायगा, जब वे लौटकर फिर दर्शन देंगे ग्रौर मेरे संग बैठेंगे या कि मैं तड़प-तड़प कर जीवन का परित्याग कर दूंगा । भावों

के प्रवाह में बहते हुए दिलशाद जी ने 'कदों दूर दुख दरद संतप्त होसन' लिख कर अनुप्रास की भी खूब छटा दिखाई है। आशा और निराशा के अंतर में पड़ा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सुखी और दुखी होता है, वही दृश्य इसमें कितना सुंदर बन पड़ा है।

अपनी माता की करतूत देखकर पश्चाताप की भट्ठी में भरत किस प्रकार अपने आप को भूनते हैं—

भावों भार सिर पाप दा चाह् ढेआ ई, मैरे जिगर नूं भी नाले साड़ेआ ई,
पाड़न एह अपुठड़ा पाड़ेआ ई, आया के तेरे वस्स हत्थ माए।
हां नौकर उन्हांवड़े दम दा मैं, रेहा नहिं हुण तां किसे कम्म दा मैं,
तेरे पेट विचों निज जमदा मैं, पाई भरथ दे सिर विच भस माए।।—अयोध्या, ८५६

—माता, तूने अपने सिर पर पाप का बोझ रख लिया है, उसके साथ ही मेरे हृदय को भी तूने जला दिया है। यह तुम ने बहुत उलटा काम किया है। इसके करने से तुम्हारे हाथ क्या लगा? मैं तो राम का सेवक हूँ। स्वामी के चले जाने पर सेवक किस काम का होता है? माता, तेरे पेट से मैं क्यों पैदा हुआ? तुमने तो भरत के सिर पर राख डाल दी।

अस्सू आस न जीवन दी कोई रहीए, उत्ते लबां दे आ हुण जान गई ए,
गल्लांदिल दिआं किस नूं जा कहीए, सुणदा कौन है दुक्ख दुक्ख्यारेआं दे।—अयोध्या, ८५७

—इस आश्विन मास के आ जाने पर जीवन की आशा भी समाप्त हो गई है। प्राण होठों पर आ गए हैं। अपने दिल की बातें किस से कहूँ। दुखियों के दिल की तड़प को भला कौन सुनता है।

इस छंद के अतिरिक्त दिलशाद जी ने इस रामायण के एक दूसरे छंद में भी 'बारह मासी' कविता लिखी है। उसमें से अंतिम छः मास के पद्य गुम हो गए हैं। पहिले छः मास ही मिले हैं। उनमें से वानगी के रूप में एक उपस्थित किया जाता है—

चढ़दे चेत फुले सब खेत, फुल रही फुलवाड़ी ए,
जालम अग्ग विछोड़े वाली, जान मैरी हुण साड़ी ए।
सकदी सीप नहिं ओ मैथों, अपुट्ठी जेह्ड़ी पाड़ी ए,
दोस केआ दिलशाद किसे नूं, किसमत अपनी माड़ी ए।। —अयोध्या, ८६६

—चैत्र मास के लगते ही सब खेत फूल उठे हैं। फुलवाड़ियों में भी सब फूल खिल रहे हैं। सब स्थानों पर प्रसन्नता है, परंतु वियोग की भीषण अग्नि ने मेरे जीवन को जला दिया है। जो वस्त्र उलटा फाड़ दिया गया है, वह मुझसे सीधा नहीं किया जा सकता। मैं किस को दोष दूं? मेरा ही भाग्य मंद है।

वीर रस—कवि दिलशाद ने वीर रस का भी बड़े ओजपूर्ण शब्दों में आस्वादन कराया है। लंका पहुँचने पर श्री रामचंद्र जी ने रावण को पत्र लिखा—

गोश होश दे खोल के शाह रावण, लै सुण मैरी गुफ्तार नूं तूं।
दे छोड़ मस्ती हसती है पसती, झूठा समझ लै इस संसार नूं तूं।।७१।।
विद्यावान इतना ज्ञानवान होके, बैठों किऊं त्याग विचार नूं तूं।
नहिं वैर कोई साडा नाल तैरे, बदले फुल हत्थ पाए किऊँ खार नूं तूं।।७२।।
इस वणज विच घाटा जाणदा ई, दे छोड़ झूठे इस बपार नूं तूं।
रेह्य कर रिआया दे हाल उत्ते, कर वीरान न न वसदी वयार नूं तूं।।७५।।
घड़ी पाप दी चुक के मर नाहिं, दे सिरों उतार इस भार नूं तूं।
अजे है वेला तेरे समझने दा, तासें पिछों वरना आखरकार नूं तूं।।७६।।
देसां कर कसूर मैं मुआफ तैरे, जेकर चलेंगा सिद्धी रफ्तार नूं तूं।
आई समझ दिलशाद जे न तैनूं, देसें सिर फिर समझ तलवार नूं तूं।।७७।।

—महाराज रावण ! मेरी बात को ध्यान से सुनो। अभिमान को छोड़ दो। सत्ता सदा स्थिर नहीं रहती। यह संसार नश्वर है। विद्या और गान से संपन्न होकर विवेक का त्याग न करो। हमारे साथ तुम्हारा कोई वैर नहीं, अतः पुष्प के स्थान पर कांटे को क्यों हाथ लगाते हो? इस तुम्हारे काम में जीवन का संशय है, इसलिए इस हानिकारक व्यापार को छोड़ दो। प्रजा पर दया करो। बसे हुए नगर को मत उजाड़ो। पाप का घड़ा भर कर मत उठाओ। इस बोझ को सिर से उतार दो। अभी समझने का समय है, अन्यथा पीछे पछताना पड़ेगा। यदि तुम सीधे मार्ग पर चलोगे, तो मैं तुम्हारे अपराध को क्षमा कर दूंगा। यदि तुम अब भी न समझोगे, तो तुम्हें अपना सिर तलवार की भेंट करना होगा।

अद्भुत रस—**लेहर कैहर दी वेख के बेहर संदो, जांदे शेर दिलेर भी हार साईं।**
किस तरह लेआ बन्ह पुल इन्हां, वित्ता पत्थरों नूं किवें तार साईं॥

रावण ने जब देखा कि रामचंद्र जी लंका में आ पहुँचे हैं, तो हैरान होकर कहने लगा, "समुद्र की प्रलयंकरी तरंगों को देख कर सिंह पुरुष भी हतोत्साहित हो जाते हैं, परंतु इन्होंने उस भयंकर समुद्र पर भी पुल कैसे बाँध लिया और इन बड़े पत्थरों की शिलाओं को कैसे पानी पर तैरा दिया।"

अधिक विस्तार न करते हुए, अंत में इतना लिख देना पर्याप्त है कि जहाँ 'दिलशाद' जी ने पंजाबी रामायण की रचना द्वारा भगवान राम की आराधना करते हुए अपना यह लोक और परलोक सुधार लिया है, वहाँ पंजाबी-साहित्य को भी एक अमूल्य निधि समर्पित की है।

महाराष्ट्र में रामायण के काव्य-रूप

श्री भीमराव गोपाल देशपांडे

★

ग्रहगणों में जैसे सूर्य, नक्षत्रों में जैसे चंद्रमा, पुष्पों में जैसे कमल, वृक्षों में जैसे कल्पवृक्ष, वैसे ही काव्यों में रामायण है। रामायण भारतीयों का आदि महाकाव्य है। संस्कृत महाकाव्यों का वह शिरमौर है। उसका अमृतपान हम जितना ही करते हैं, उतना ही अधिक तृषार्त होते हैं। संस्कृत अर्थात् गीर्वाण वाणी विद्यमान भारतीय भाषाओं की परदादी है। परदादी का रामायण सर्वोत्कृष्ट काव्यधन है। अतः सब भारतीय भाषाओं को, परपोतियों को उसकी प्राप्ति होना सर्वथैव न्याय है। मराठी-भाषा इन परपोतियों में एक है। उसे परदादी का वंशगत काव्यधन रामायण प्राप्त तो हुआ, किंतु मराठी ने इस धन का उपयोग मूल पूंजी के रूप में किया और उसकी संपन्नता, वैभव, विशालता, रमणीकता, उपदेशपरता और प्रभाव को कई कलापूर्ण रूपों से द्विगुणित किया। इस लेख में हम मराठी-भाषा में लिखी हुई रामायण के विविध रूपों पर एक सरसरी निगाह मात्र डालेंगे।

भावार्थ रामायण (संवत् १६५३)—श्री एकनाथ स्वामी ही मराठी-रामसाहित्य के आद्यप्रवर्तक तथा सम्राट हैं। संस्कृत छंदबद्ध रामायण की कथा मराठी-छंदों में सर्वप्रथम श्री एकनाथ स्वामी जी ने अतीव सरसता तथा कौशल से रची। श्री एकनाथ स्वामी (संवत् १५८९ से १६५६) मराठी-भाषा के एक युगप्रवर्तक और प्रकांड विद्वान एवं साधुचरित् महान साहित्यकार थे। आप हिन्दी-भाषा के अमर महाकवि गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। महाराष्ट्र में प्रतिष्ठान अर्थात् पैठन नगर में आपका एक सधन, विद्वान तथा साधुकुल में जन्म हुआ था। प्रतिष्ठान को 'दक्षिणकाशी' कहते थे, क्योंकि प्राचीन काल में संस्कृत विद्या और विद्वानों का वह मायका था। श्री एकनाथ स्वामी को क्रांतिकारी साहित्यकार की दृष्टि से अतीव उच्च स्थान प्राप्त हुआ है। साथ ही शांति, क्षमा, औदार्य और सच्चरित की दृष्टि से महाराष्ट्र के संतों में भी आपका प्रमुख स्थान है। अतः, महाराष्ट्रीय जनता आप के प्रति अति आदर तथा निष्ठा से देखती ही नहीं, अपितु आपको महान संत मानती है। वे आदर्श गृहस्थाश्रमी साधुपुरुष थे। अभी भी पैठन में प्रतिवर्ष आपके श्राद्धदिवस पर लाखों भक्त यात्रियों का मेला लगता है, जिसमें एकनाथ-कृत साहित्यिक रचनाओं का रुचि-अनुसार पठन और श्रवण किया जाता है। रामायण जैसे महाकाव्य को मराठी-भाषा का रूप देने के लिए एकनाथ स्वामी जैसे महाकवि की ही आवश्यकता थी और महाराष्ट्र के अहोभाग्य से भगवान रामचंद्र ने उस आवश्यकता की पूर्ति भी करा दी। श्री एकनाथ स्वामी जी ने काशी में लगभग तीन वर्ष तक वास किया था। वे काशी में दो समय रहे। इसी समय गोस्वामी संत तुलसीदास जी भी 'रामचरितमानस' की रचना समाप्त कर संवत् १६४४ में काशी में आकर रहने लगे थे और अपने अन्य साधु-काव्यों की रचना करने में तल्लीन थे। मुझे यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि श्री एकनाथ स्वामी जी ने गोस्वामी जी का पुण्य दर्शन किया होगा। इन दो महान साहित्यकारों में संभाषण तथा विचारों का आदान-प्रदान हुआ होगा। श्री एकनाथ स्वामी जी ने 'रामचरितमानस' का श्रवण तथा मनन काशी में ही किया होगा, क्योंकि वे हिन्दी-भाषा केवल जानते ही नहीं थे, अपितु उन्होंने हिन्दी-भाषा में कतिपय अभंगों (पदों) की रचना भी की थी। सारांश, श्री एकनाथ स्वामी जी की मराठी-भाषा में रामायण लिखने की प्रेरणा का स्रोत गोस्वामी तुलसीदास जी का 'रामचरितमानस' ही है। यह सत्य मुझे ऐतिहासिक प्रतीत होता है। क्योंकि 'रामचरितमानस' की रचना संवत् १६३४ में पूरी हुई, एकनाथ स्वामी जी ने अपने महाकाव्य 'भावार्थ-रामायण' की रचना का श्रीगणेश संवत् १६५३ में किया। इस समय श्री एकनाथ जी की आयु ६४ वर्ष की थी। अतः, वे संसार के विविध अनुभवों से तपे हुए प्रगल्भ प्रतिभा के साहित्यकार थे। उन्होंने भारत की दुर्दशा का तथा हिन्दूसमाज के धार्मिक एवं नैतिक अधःपतन का सूक्ष्म अवलोकन किया था। भारतीयों

के सर्वतोमुखी अध:पतन से उनका हृदय तड़पता था। वह समय ऐसा था कि भारतवर्ष के सभी प्रांतों के श्रेष्ठ तथा धार्मिक विचारकों के हृदयसागर में चिंता की लहरें उठ रही थीं। हिन्दूसमाज में पिता, भाई, बहन, माता, पत्नी, लड़का, मित्र, सेवक इत्यादि के संबंधों में विकृति का घुन लग चुका था। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ के जाल में फँस कर पारिवारिक नातों को भूल-सा गया था। हिंदुओं के राजनैतिक अध:पतन का कारण उनके सामाजिक तथा नैतिक अध:पतन में निहित था। स्वार्थांध व्यक्तियों को कर्तव्य-दक्ष कराने में ही हिन्दूसमाज और संस्कृति का उद्धार तथा रक्षा निहित थी। अत: सच्चरित्र विचारकों का लक्ष्य भगवान रामचंद्र की आदर्श जीवनी की ओर आकृष्ट हुआ। परिणामतः बंगभाषा में महाकवि कृत्तिवास ने संवत् १६२५ के लगभग रामायण की सफल रचना की। कन्नड़-भाषा में भी इसी समय रामायण रची गई। उत्तरभारत में भी गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी अमरकृति 'रामचरितमानम' की इसी समय सृष्टि कर भारतवासियों का महान उपकार किया। फिर मराठी अन्य भारतीय भाषा-भगिनियों का अनुकरण क्यों न करती।

भावार्थ रामायण की कथा—भावार्थ रामायण एकनाथ स्वामी जी का सब से बड़ा तथा सर्वोत्कृष्ट काव्य-ग्रंथ है। इस ग्रंथ में चालीस हजार ओवीयाँ (चार पदों का छंद) हैं। इसकी पंक्तियों की संख्या १६०००० है। 'वाल्मीकिरामायण' के सदृश इसके सात कांड हैं। बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्किंधाकांड, सुंदरकांड, युद्धकांड और उत्तरकांड। इसके पाँच कांड पूरे कर और छठवें युद्धकांड के ४४ अध्याय लिखने के पश्चात एकनाथ स्वामी जी स्वर्गवासी हुए। अत: छठे कांड के शेष अध्याय तथा पूरा सातवाँ उत्तरकांड आपके शिष्यश्रेष्ठ श्रीगावबा ने सफलतापूर्वक पूरा किया। 'भावार्थरामायण' में कुल २६७ अध्याय हैं। जिनमें १७२ अध्याय श्री एकनाथ जी ने रचे हैं। ४०००० ओवियों में लगभग २७००० ओवियाँ एकनाथ जी की हैं। श्री एकनाथ महाराज संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ थे। गोस्वामी जी की भाँति उन्होंने कतिपय संस्कृतग्रंथों का इस रचना में उपयोग किया है। उन्होंने प्रमुखतया 'वाल्मीकिरामायण', 'अध्यात्मरामायण', 'आत्मरामायण', 'भागवत्', 'योगवशिष्ठ', 'उत्तररामचरित', 'शिवरामायण', 'गुह्यक' तथा 'हनुमंत नाटक', 'स्कंध' तथा 'पद्मपुराण', 'शिवभवानी-संवाद' और भगवद्गीता इत्यादि ग्रंथों के आधार पर 'भावार्थरामायण' की रचना की और स्वप्रतिभानिर्मित कतिपय घटनाओं का सुंदर समन्वय इन रचनाओं में किया। 'भावार्थरामायण' में उन्होंने अनेक संस्कृत सुभाषितों का समयोचित व्यवहार किया। रामचरित्र विषयक नाटकों से कलात्मक पक्ष का भी योग लिया। भगवद्गीता से अनेक सुभाषित लिए। परंतु 'भावार्थ-रामायण' की कथा का प्रमुख आधार 'वाल्मीकिरामायण' है। इससे उनकी व्युत्पन्नता तथा विदग्धता सिद्ध होती है। इन अनेक ग्रंथों का आधार होने पर भी, श्री एकनाथ की असामान्य प्रतिभा और रचनाकौशल के कारण यह ग्रंथ मौलिक रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत होता है। ग्रंथ जितना ही विशाल है, उतना ही जनजागरणकारी, सरस और प्रभावशाली महाकाव्य है। यह काव्यग्रंथ लोकमंगल-साहित्य का उत्तम आदर्श है। ग्रंथ में मानवस्वभाव का मार्मिक, सरस और स्वाभाविक चित्रण है। जनजागरण के ध्येय से ही इसकी रचना की गई थी। 'भावार्थरामायण' में आध्यात्मिकता के कारण उदातरम्य गंभीरता दिखाई देती है। श्री एकनाथ आध्यात्मिक रूपकों का बड़ी कुशलता से व्यवहार करने वाले सर्वश्रेष्ठ मराठी कवि हैं। आपका रुक्मिणी-स्वयंवर आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है। इस खंडकाव्य में आध्यात्मिक गंभीरता, सरस स्वभाव-चित्रण तथा सजीव वर्णनपरता का त्रिवेणी-संगम दृष्टिगोचर होता है। संक्षेप में, हम यह निवेदन करते हैं कि 'भावार्थरामायण' का मराठी-साहित्य में वही स्थान है, जो 'रामचरितमानस' का हिन्दी-साहित्य-सागर में है।

भावार्थ रामायण की विशेषताएँ—पहली विशेषता यह है कि आध्यात्मिक रूपकों के द्वारा सरस निवेदन किया गया है। सचमुच कहा जाय, तो इस ग्रंथ को आध्यात्मिक भावार्थरामायण ही कहना चाहिए। श्रीनाथ की आध्यात्मिकता कथोपकथन में पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणतः हम कुछ प्रसंगों का उल्लेख करते हैं। बालकांड के प्रारंभ में वे लिखते हैं, 'अजापासूनी उत्पत्ति होत'। दशेंद्रिये अति

समर्थ।" अर्थात् अज जैसे परब्रह्म से दशेंद्रियाँ उत्पन्न हुईं। अर्थात् अज का सुपुत्र राजा दशरथ था। परब्रह्म की मूल अवस्था अजत्व है। अतः, उस अवस्था का त्याग न करते हुए राम 'अहं आत्मा' दशरथ से उत्पन्न हुए। एवं श्री एकनाथ जी सगुण और निर्गुण परब्रह्म के समान रूप हैं, यह दिखा कर रामचरित्र का वर्णन करते हैं। दूसरा रूपक राजा दशरथ की तीन रानियों के बारे में है, "जेष्ठ कौशल्या ते सद्विद्या। सुमित्रा ते शुद्ध मेधा। कैकेयी ते अविद्या। मंथरा कुविद्या तीपासी।" अर्थात् रानी कौशल्या सद्विद्या थी। रानी सुमित्रा शुद्धमेधा थी। रानी कैकेयी अविद्या थी और उसकी दासी मंथरा कुविद्या थी। तीसरा प्रसंग—राजा दशरथ के चार सुपुत्र थे, "आत्मप्रबोध तो लक्ष्मणः, भावार्थ तो भरतजाण। निज निर्धारें तो शत्रुघ्न। आनंद विग्रही पूर्णराम।" अर्थात् लक्ष्मण आत्मप्रबोध था, भरत भावार्थ था, शत्रुघ्न निर्धार याने निश्चय था और प्रभू रामचंद्र आनंद-विग्रही थे। चौथा प्रसंग—राम और सीता परमात्मा और उसकी चित्तशक्ति थे। किष्किंधाकांड में प्रभु राम स्वयं हनुमान को कहते हैं, "माझे स्वरूप चैतन्य घन, सीता चित्तशक्ति संपूर्ण। सीतेसी मज वेगलेपन अणुप्रमाण असेना।" पंचम रूपक—राजा दशरथ के गृह में चार पुत्रों के स्वरूपों में चतुर्विध मोक्ष निवास करने के लिए आए थे। "शिवधनुर्भंग याने आध्यात्मिक ज्ञान से किया हुआ माया का नाश।" सुमंत राम को बुलाने के लिए कैसे गया? "श्रवण, साधन, मनन, नित्यानित्य विवेक, निदिध्यास, वैराग्य इत्यादिकों को लाँघ कर सुमंत को परब्रह्मस्वरूप राम का साक्षात्कार हुआ। भरद्वाज मुनि के आश्रम के उपवन में भ्रमरों के गुंजारों में सामगायन ओतप्रोत था। कोयलों की कूक में वेदघोष था, मोरों के नृत्यों में महेश का तांडवनृत्य था, सुकों के शब्दों से उनकी रामभक्ति प्रदर्शित होती थी, विवेकरूपी अंगूर की बेलियों पर आध्यात्मिक गुच्छे झूल रहे थे। संक्षेप में, प्रकृति के वर्णन में भी एकनाथ स्वामी जी की आध्यात्मिकता दृष्टिगोचर होती है। सीता-स्वयंवर वे प्रकृतिपुरुष का एक होना, जीव और शिव का मिलन मानते थे। दशरथ मिथिला जाकर राम को देखते हैं, तब कीर्ति, विरक्ति और भक्ति अर्थात् अहं, कोहंम, सोहंम तीन मुकामों को लाँघ कर अर्थात् दृष्य, द्रष्टा और दर्शन तीन अवस्थाओं का अनुभव लेकर उन्हें राम-दर्शन प्राप्त होता है। 'प्रभु राम ने रावण का सायुज्यता के बाण से वध किया' इसमें उनके आध्यात्मिक रूपकों की चरम सीमा दिखाई देती है। युद्धों के वर्णन में भी परमार्थिक अर्थ और व्यंग्य सूचित करना श्री एकनाथ जी की विशेषता है। अतः आध्यात्मिकता और लौकिकता का यह आह्लाददायी संगम है।

सामयिक व्यंग्यक्षमता—यह 'भावार्थरामायण' की दूसरी विशेषता है। हम पहले लिख चुके हैं कि जनजागरण के उद्दात्त हेतु से यह ग्रंथ रचा गया। अतः इस विशाल पौराणिक महाकाव्य में सामयिक राजनीति का तथा समाज-स्थिति का व्यंग्य दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। श्री एकनाथ जी ने पूरे भारतवर्ष की यात्रा की थी। मुसलमानों के अत्याचारी राजशासन का कटु अनुभव प्राप्त किया था। सर्वत्र क्या हो रहा था, उसे खुली आँखों से निहारा था। क्या होना चाहिए और हिंदूसमाज का उद्धार कैसे होगा इत्यादि समस्याओं का मन-ही-मन हल निकाल लिया था तथा साधनों की निश्चिति भी कर ली थी। उदाहरणार्थ बालकांड में रामकथा का रहस्य बताते हुए वे कहते हैं, "स्वधर्म की ग्लानि दूर कर उसका पुनरुद्धार करने के लिए, दुष्टों का विनाश कर, गो-ब्राह्मणों की रक्षा करने के लिए देवद्रोही, विश्वद्रोही एवं ब्रह्मद्रोही रावण को मृत्यु-दंड देने के लिए रामराज्य की स्थापना करना आवश्यक है।" इस ध्येय-कथन की पुनरावृत्ति उन्होंने लगभग ५० बार की होगी। इससे उनका मंतव्य स्पष्ट होता है। भावी स्वराज्य-स्थापना की मार्मिक सूचना उन्होंने जनता को दी। वे द्रष्टा कवि थे। नाथ कहते हैं, "प्रपंच परमार्थी सावधान"; यह रामकथा की सर्वश्रेष्ठ शिक्षा है। वे रामचरित के गायन व पठन से हिंदूसमाज को सजीव बनाना चाहते थे। यवनों के राज्यशासन में हिन्दुओं की स्त्रियों पर अत्याचार होते थे और उनकी इज्जत का कतई ठिकाना नहीं था। इसका व्यंग्य हमें सुंदरकांड में मिलता है। पुण्यश्लोका सीता माता रावण को चेतावनी देती है कि दूसरों की पत्नियों का हरण करने वाले राजाओं का विनाश समीप रहता है। यह व्यंग्य समकालीन यवन राजाओं के प्रति था। वे युद्धकांड में रावण के अत्याचारों का ऐसा हृदयविदारक वर्णन करते हैं कि उनमें सामयिक

मुसलमान सुल्तानों की दुष्टताओं का यथार्थ प्रतिबिंब दीख पड़ता है। कड़े यवनी शासन से विवश होकर उन्हें इस साहित्यिक व्यंग्य का आश्रय लेना पड़ा। अन्यथा उनके हाथ-पाँव काटे जाते, आँखें निकाली जातीं और वाणी भग्न की जाती। बालकांड में हिंदुओं के चारों वर्णों की कैसी भयावह दुर्दशा थी और स्वधर्म-विमुखता थी, इसका हृदयविदारक वर्णन उन्होंने किया है। इस अध:पतन का प्रमुख कारण विधर्मी तथा अधर्मी राज्यशासन बताते हुए स्वधर्मी तथा सद्धर्मी राज्यशासन की स्थापना कराने की सूचना वे पाठकों को बार-बार देते हैं। 'वाल्मीकिरामायण' पढ़ने से ऐसा नहीं प्रतीत होता की लंकानिवासी राक्षस गोमांस भक्षक थे और वे गोहत्या में रुचि रखते थे। नि:संशय वे मृग, वराह, महिश इत्यादि पशुओं का मांस भक्षण करते थे। किंतु श्री एकनाथ जी को तो अत्याचारी मुसलमानों को राक्षस बतलाना था। अत:, उन्होंने राक्षसों को गोमांस भक्षक तथा गोहत्या में विशेष रुचि रखने वाले हिंदूद्वेष्टा चित्रित किया। रामायण में राक्षसों की बड़ी लम्बी और विखरित दाढ़ियाँ थीं, ऐसा उल्लेख नहीं है। किंतु श्री एकनाथ द्वारा चित्रित राक्षसों की बड़ी दाढ़ियाँ तथा ऐंठी हुई मूँछें थीं। क्या यह सामयिक तीव्र व्यंग्य न था? क्या इसमें सामयिकता का प्रभावकारी चित्रण नहीं था? वे लिखते हैं कि प्रभु राम के राज्याभिषेक के समारोह में क्षत्रपति, गढ़-पति और म्लेच्छ राजे उपस्थित थे और उन्होंने सम्राट राम के प्रति बड़ी नम्रता से भेंट चढ़ाई। इसमें कालविपर्यास (Anachronism) का दोष तो है, किंतु एकनाथ जी जैसे उद्‌भट विद्वान का यह कालविपर्यास सहेतु था। वे सूचित करना चाहते थे कि म्लेच्छ राजे भी सम्राट प्रभु रामचंद्र से आतंकित थे। अत: हिंदू प्रजा द्वारा यवन सुल्तानों को सर्वसमर्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं। वे यवनसत्ता की हिंदू मन में जमी हुई धाक उड़ाना चाहते थे। अत: यह तीखा सामयिक व्यंग्य था। एक और व्यंग्य यह था कि महाराष्ट्र में हिंदू राजाओं को क्षत्रपति कहते थे। अत:, महाराष्ट्र में हिंदूराज्य की स्थापना करने की यह तीव्र सूचना थी। यह ध्यान में रखने की बात है कि श्री एकनाथ जी ने ही क्षत्रपति संबोधन का सर्वप्रथम व्यवहार किया। और सन्निकट भविष्य में क्षत्रपति शिवाजी महाराज ने हिंदू स्वराज्य की सफल संस्थापना की। इसी तरह सामयिक सामाजिक परिस्थिति का हृद्यव्यंग्य हम इतस्तत: 'भावार्थरामायण' में देखते हैं।

'भावार्थरामायण' की तीसरी विशेषता है सामाजिक प्रगति-प्रियता। बालकांड के अंत में जब प्रभु रामचंद्र अयोध्या लौटते हैं, तब उनके दर्शन के लिए हजारों नागरिकों का समुदाय उमड़ पड़ता है। लोग स्त्री और पुरुष का भेद भूलते हैं। जाति-भेद, वर्ण-उच्चता और नीचता की भावना इस समय नष्ट हो जाती है। किंतु ऐसे रामदर्शन के समय स्वत: की दिनचर्या और छुआछूत की भावना को ध्यान में रखकर और जाति-श्रेष्ठता को महसूस कर कतिपय अग्निहोत्री ब्राह्मण राम का दर्शन लेना टालते हैं। ऐसे ब्राह्मणों की एकनाथ जी ने तीव्र भर्त्सना की। इसके अतिरिक्त उनकी आध्यात्मिक योग्यता एक रामदर्शनोत्सुक वारांगना से निकृष्ट बतलायी है। उस जनसमूह में कुछ ऐसे संन्यासी थे, जो सोचते थे कि यदि हम समूह में मिल जाते हैं, तो अछूतों के स्पर्श से हमारा आश्रमधर्म भ्रष्ट हो जायगा। अत:, वे दूर-दूर खड़े होकर राम का दर्शन टालते हैं। श्री एकनाथ जी ने तीखा व्यंग्य किया कि जिनके हृदय में परमेश्वर-निर्मित सामान्यजनों के लिए सहानु-भूति, प्रेम और दया नहीं है, उनको रामदर्शन कैसे हो सकता था? दंभपूर्ण आश्रम-श्रेष्ठता और जाति-श्रेष्ठता पर वे इस प्रकार प्रहार करते हैं। दूसरी विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इस उमड़ते जनसागर में पिंगला नाम की एक वेश्या भी रामदर्शन की पिपासा से सम्मिलित हुई थी। वह वारांगना रामदर्शन में मग्न थी, उसका धक्का अनजाने एक संन्यासी को लगा। धक्का लगते ही वह संन्यासी क्रुद्ध हो गया और उसने उस वेश्या की बाहु पर दंड-प्रहार किया। वह वेश्या हँस पड़ी और उसने उस संन्यासी को अद्वैत का उपदेश दिया। उसने कहा, "परमेश्वर की उपस्थिति में सब प्राणी समकक्ष होते हैं और सर्वाभूति वही परब्रह्म अंशीभूत रहता है। अत: आपका व्यवहार अनुचित और अमानुष है।" क्या एक संन्यासी को एक वेश्या के द्वारा अद्वैत का उपदेश देना उस समय प्रगति-प्रियता का लक्षण नहीं माना गया होगा? श्री एकनाथ भक्ति के क्षेत्र में समता की स्थापना करना चाहते थे। अपितु वे आध्यात्मिक समता के प्रबल समर्थक थे। उनका सारा जीवन पुराणमताभिमानी, दांभिक, अहंमन्य और प्रगति-विरोधी विद्वानों के विरुद्ध संग्राम करने में और

अपत्य का मुकाबला करने में व्यतीत हुआ। श्री एकनाथ स्वयं उच्च वर्णीय ऋग्वेदीय ब्राह्मणकुल में पैदा हुए थे, किंतु ब्राह्मणों की स्वार्थपरायणता से वे ऊब गए थे। वर्णानाम ब्राह्मण गुरुओं को वे आदर्श और सच्चरित देखना चाहते थे। भ्रष्ट ब्राह्मणों ने हिंदूसमाज को भ्रष्ट किया, ऐसी उनकी धारणा थी। अतः अयोध्याकांड में और तीन-चार अन्य स्थलों में उन्होंने ब्राह्मणों की तीव्र भर्त्सना की। वालि का वध होने पर महा पतिव्रता तारा सती बनने के लिए तत्पर हुई, किंतु प्रगति-प्रिय एकनाथ जी ने उसे रामचंद्र द्वारा, "तैसे न करावें आपण। जीवित्व करावें रामार्पण।" याने अपने पति के साथ देह-त्याग न करना चाहिए, किंतु राम-भक्ति में शेष आयु लगाना चाहिए। ऐसा प्रगति-प्रिय उपदेश दिलवाया। इससे यह प्रतीत होता है कि सम्राट अकबर ने सती हो जाने की प्रथा पर जो कानूनी प्रतिबंध लगाया था, उसका समर्थन संत एकनाथ जी ने किया। वे अद्वैत सिद्धांत के अनुसार पुरुष और स्त्री को धार्मिक तथा सामाजिक समानता देना चाहते थे। क्या यह उस समय प्रगति-प्रियता का चिह्न नहीं माना गया होगा? सुंदरकांड में महाबली हनुमान द्वारा उन्होंने लंकापुरी के लोगों का जो सूक्ष्म अवलोकन करवाया, उससे उनके सूक्ष्म सामाजिक अध्ययन की और प्रगति-प्रियता की सूचना हमें मिलती है। महाबली हनुमान ने कहा कि सब वर्णों का, सब जातियों का, सब व्यवसायों का गहरा पतन हुआ था। विशेषतः हनुमान जी घमंडी विद्वान व उच्च वर्णियों की तीव्र आलोचना करते हैं और कहते हैं कि ऐसे नीति-भ्रष्ट लोगों में सीता का न होना ही स्वाभाविक है। अतः वे सीता की खोज के लिए अशोकवन की ओर मुड़ते हैं और सबको अपना-अपना सुधार करने की सूचना देते हैं। 'भावार्थरामायण' की चौथी विशेषता है सुंदरकांड और युद्धकांड का अत्यधिक विस्तार से वर्णन करना। 'भावार्थरामायण' के बालकांड, अयोध्याकांड और किष्किंधाकांड, 'वाल्मीकिरामायण' में वर्णित इन कांडों से छोटे हैं, किंतु सुंदरकांड और युद्धकांड दुगुने बड़े हैं। कारण स्पष्ट है। श्री एकनाथ जी को दुष्ट राजाओं का, अत्याचारियों का तथा नीतिभ्रष्ट दुराचारियों का संहार कराना था। और महाप्रतापी हनुमान जी के पराक्रमों का भरसक स्फूर्तिदायी वर्णन उन्होंने सुंदरकांड में और प्रभु रामचंद्र के अतुलनीय पराक्रम का वर्णन युद्धकांड में अतीव विस्तार से किया। संक्षेप में, श्री एकनाथ जी ने 'भावार्थरामायण' के स्वरूप में एक महा पुराणकाव्य रचकर मराठी-भाषा को समृद्ध किया और जन-जागरणकारी आख्यानक प्रधान काव्यों का सूत्रपात किया। 'भावार्थरामायण' नाम क्यों दिया गया? श्री एकनाथ जी अयोध्याकांड में लिखते हैं कि "ग्रंथी बोलावा मुख्यार्थ। पदी दावावा परमार्थ" अर्थात् रामकथा का तात्पर्यार्थ याने भावार्थ मैं जनता को सिखाना चाहता हूँ और उसके पदों में जो आध्यात्मिक अर्थ छिपा है, उसका विवेचन करना चाहता हूँ। इससे ज्ञानी पुरुषों को आध्यात्मिक अर्थ से, पंडितों को साहित्यिक सौंदर्य से और सामान्य जनों को कथा की मनोरंजकता से यह ग्रंथ आकर्षित करेगा। इसलिए इस ग्रंथ का नाम 'भावार्थ' रखा गया।

श्री कृष्ण-दास मुद्गल रचित रामायण (ई० स० १६०५)—आप राम-भक्त कवि थे और श्री एकनाथ जी के समकालीन थे। इनकी रची हुई रामायण का केवल युद्धकांड ही अबतक उपलब्ध हुआ है, किंतु इनके कहने के अनुसार इन्होंने अन्य कांडों की भी रचना की थी। ये पैठनवासी ही थे। इनके युद्धकांड के ७८ अध्याय और ८००० आठ हजार ओवियाँ हैं। इनकी रचना सरस, सुंदर, प्रवाहपूर्ण तथा वीर रस से लबालब है। अतः महाराजा शिवाजी ने स्वराज्य की स्थापना करने के पश्चात् उनके युद्धकांड का पठन प्रत्येक किले पर किया जाना चाहिए, ऐसी सरकारी आज्ञा जारी की थी। ऐसा भी कहते हैं कि इस युद्धकांड के पठन से योद्धाओं का उत्साह तथा धैर्य चौगुना होता था। स्वराज्य-सरकार की ओर से इस ग्रंथ की प्रतियाँ प्रत्येक किले पर रखी गयी थीं। उदाहरण के लिए हम एक प्रसंग का यहाँ वर्णन करते हैं, "दाशरथी आणी रावण। सन्मुखउमे समरांगणी एक एकाचे हृदयवाणी, चूर्ण करावया, तेदोघे शस्त्र-विद्या समुद्र, दोघे प्रलय कालाचे रुद्र, दोघे बलाचे महींद्र, महावीरोत्तम। एक कृतांत एक काळू, एक दावाग्नि एक वड़वानळू, एक सिंह एक शार्दडु, समान बड़िये, दोघी टणत्कारिली धनुष्ये, भुवने कापिन्नलीतेणे, शीत धरले अग्नि पुरुषे, भयातुर ज्वाला अर्थादत् दाशरथी राम और दशमुख रावण युद्धभूमि में परस्पर के सम्मुख डटकर खड़े हुए। वे एक दूसरे का हृदय चूर्ण करने पर तुले हुए थे। वे दोनों ही युद्धशास्त्र विद्या के समुद्र थे। दोनों ही

प्रलय करने वाले रुद्र जैसे प्रतीत होते थे। दोनों ही गजेंद्र जैसे बलवान थे। वे वीरों में सर्वोत्तम थे। यदि प्रभु राम कृतांत थे, तो रावण (साक्षात्) मृत्यु था। राम दावाग्नि जैसे थे, तो रावण बड़वानल था। राम सिंह जैसे बलवान थे, तो रावण शार्दूल जैसा पराक्रमी था। जब उन्होंने अपने धनुषबाणों का भयप्रद घोष किया, तो अखिल ब्रह्मांड भय से थर्राने लगा। अपितु अग्नि देवता भी भय से सिहरने लगे। इस प्रकार श्री मुद्गल जी का युद्धकांड वीर रस से ओत-प्रोत है। अतः वह योद्धाओं की उत्तेजक खुराक थी।

संक्षेप रामायण (ई० स० १६२०)—महापंडित कवि मुक्तेश्वर श्री एकनाथ महाराज के पोते थे—याने लड़की के लड़के थे। आपने अपने दादा की पौराणिक कथात्मक कविता रचने की प्रथा पुष्ट की और उसमें विदग्धता तथा सुंदरता का अनूठा योग दिया। श्री मुक्तेश्वर संस्कृत-साहित्य के प्रकांड विद्वान थे। अतः उन्होंने अपनी प्रारंभ की काव्यरचना संस्कृत वृत्तों में की थी। इसलिए संक्षेप रामायण की रचना मालिनी, भुजंगप्रयात इत्यादि संस्कृत वृत्तों में है। आपने भी केवल सुंदरकांड और युद्धकांड की ही रचना की। इनकी श्लोक संख्या लगभग ६६१ है। आपने इसके लिए 'प्रसन्न राघव' और 'हनुमन्न नाटक' ग्रंथों का आधार लिया था। हतवीर्य हिंदुओं को स्वराज्य-स्थापना के लिए उत्तेजित करने के हेतु से ही मुक्तेश्वर ने वीर रसभीनी रचना की।

समर्थ रामदास-कृत दो रामायण (ई० स० १६५८ के लगभग)—श्री रामदास स्वामी कर्मठ रामोपासक थे। आपका पहला नाम नारायण था, किंतु प्रभु राम का साक्षात्कार होने से आप रामदास बन गए। जब वे पंचवटी में रामोपासना करने में व्यस्त थे, तभी उन्होंने 'लघु रामायण' की 'प्रमाणिका' वृत्त में लगभग १२५ श्लोकों में रचना की थी। इसमें राम-दर्शन के लिए उनका हृदय कैसे तड़प रहा था, यह दीखता है। प्रभु राम की सर्वांगीण श्रेष्ठता वर्णन की है और उन्हें भक्त पर कृपा करने की प्रार्थना की है। उनकी यह पहली रचना होने से साधारण है। किंतु उसके उपरांत देश का परिभ्रमण करने पर और हिंदूसमाज की सर्वतोमुखी दुर्दशा और हीनदशा का अवलोकन कर हिंदुओं में जोश और उत्साह फूंकने के उदात्त ध्येय से उन्होंने रामायण के सुंदरकांड और युद्धकांड की प्रभावोत्पादक रचना की। केवल दो ही कांड रचने के दो कारण दिखलाई देते हैं। पहला कारण था श्री समर्थ की महाबली रामसेवक हनुमान जी पर अपार श्रद्धा, प्रभु राम उनके आराध्य देव थे। अतः इन दोनों के बल, पराक्रम और शौर्य इत्यादि अद्वितीय गुणों का दिग्दर्शन हिंदूसमाज को कराने के लिए इन दो कांडों की रचना उन्होंने की। दूसरा और भी विशेष कारण था। श्री समर्थ रामदास महाराष्ट्र में बल का संचार कर अत्याचारी विधर्मी और अधर्मा मुसलमान राजाओं के विरुद्ध हिंदुओं को दिव्य संदेश देना चाहते थे। अतः युद्ध की प्रवृत्ति हिंदुओं में जागृत करने के उद्देश्य से ही इन दो कांडों की सृष्टि की गई थी। उनके सुंदरकांड के लगभग १४२ श्लोक हैं और युद्धकांड के १३०० श्लोक हैं। इनकी रचना रामदास के अतीव प्रिय भुंजग प्रयात वृत्त में की गई है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि श्री समर्थ ने श्री एकनाथ जी की 'भावार्थरामायण' से ही इस रचना के लिए स्फूर्ति प्राप्त की थी। क्योंकि, देवों को जेलों में बंद करने वाले अधर्मी दुष्ट रावण का वध कर स्वराज्य की स्थापना करना ही वे रामायण का याने प्रभु राम का प्रमुख कार्य मानते हैं। सब पौराणिक कथाओं में रामचंद्र की ही कथा सर्वश्रेष्ठ क्यों? श्री रामदास जी कहते हैं कि "जेणे फेडिला पांग ब्रह्मादिकां चा। बले तोडिला बंद त्या त्रिदशां चा। म्हणोनी कथा थोरया राघवाची। झणी ऐकता शांत होते भवाची।" अर्थात् जिस महापराक्रमी प्रभु राम ने देवों को मुक्त किया और अपने बल से स्वधर्म का पुनरुद्धार किया, उस राम की महत्ता सर्वश्रेष्ठ है। क्या सामयिक, राजनीति, समाजनीति और परिस्थिति का इसमें प्रतिबिंब नहीं दीखता है? वैसे ही इसके द्वारा श्री समर्थ ने दैववादी और अकर्मण्यवादी हिंदुओं को प्रयत्नवाद की भरसक शिक्षा दी। वे बार-बार कहते हैं, "प्रयत्न तो देव जाणावा" याने प्रयत्न ही प्रत्यक्ष देव है। अतः प्रयत्नवादी बनो। कर्मठ बनो। इस जीवनदायी संदेश का बहुत शीघ्र ही फल दीख पड़ा। महाराष्ट्र में सन्निकट भविष्य में महाराजा शिवाजी ने स्वराज्य की स्थापना की (ई० सी० १६७४) और श्री समर्थ का द्वीकांडात्मक रामायण लोकप्रिय हुई।

श्रीमती वेणाबाई-कृत रामायण (ई० स० १६६५)—श्रीमती वेणाबाई देशपांडे समर्थ रामदास की शिष्या थी। वह बाल्यावस्था से ही रामभक्त थी। दुर्दैव से वह बाल-विधवा हो गई। अतः समर्थ रामदास की कृपा से वह कथाकीर्त्तन करने लगी। वह लोकप्रिय कीर्तनों की भी आयोजिका थी। छत्रपति शिवाजी महाराज उसका कीर्तन बड़े चाव से सुनते थे। श्रीमती वेणाबाई ने पाँच कांडों के रामायण की सफल रचना की। वे हैं, आदिकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड किष्किंधाकांड और सुंदरकांड; कुल श्लोक संख्या १५३६ है। इनमें सुंदरकांड लगभग ५०० श्लोकों का है और वह अति रसभीना है। क्योंकि समर्थ शिष्या होने से महाबली हनुमान के प्रति आपकी भक्ति थी, और हनुमान जी ने सीता-खोज का पवित्र कार्य किया था तथा लंकादहन का अतुलनीय पराक्रम बताया था। श्रीमती वेणाबाई ने 'वाल्मीकिरामायण' 'अध्यात्म-रामायण' तथा भागवत आदि ग्रंथों का भी आधार लिया था। आपका वर्णित सीता और हनुमान का संवाद वर्णन के परे है। वह केवल आस्वाद्य है। वैसे ही रावण-मारुती-संवाद बड़ा रोचक है। आपका रावण दुष्ट खलनायक जैसा प्रतीत होता है। आपने 'सीता-स्वयंवर' नामक दूसरा, लगभग १५०० श्लोकों का खंडकाव्य रचा। साहित्य-शास्त्र की कसौटी से यह 'सीता-स्वयंवर' रामायण की अपेक्षा अधिक सरस, संपन्न और उत्कृष्ट है। और ऐसा होना स्वाभाविक भी है। इस प्रकार महाराष्ट्र में बहिनों ने भी रामायण की रचना में हाथ बँटाया था।

महाकवि वामन पंडित का सीता-स्वयंवर और भरत-भाव—प्राचीन मराठी पंडित कवियों में उद्भट विद्वान एवं महाकवि वामन पंडित ने 'सीता-स्वयंवर' और 'भरत-भाव' नामक दो आख्यानात्मक काव्यों की सरस श्लोकबद्ध रचना की। ये रचनाएँ काव्यगुणों से अलंकृत और संपन्न हैं। उनका रसीलापन वर्णन के परे है। रचना का सौंदर्य नाट्यसदृश आकर्षक है और श्लोकों का नाद-गुण मधुर है। कथानक 'वाल्मीकि-रामायण' से ज्यों का त्यों लिया है।

कवि नागेश का 'सीता-स्वयंवर'—श्री नागेश वामन पंडित के प्रशिष्य थे, अतः गुरु के काव्यगुण उन्होंने अपनाए थे। उन्होंने 'सीता-स्वयंवर' नामक एक दीर्घ आख्यान का काव्य रचा, जिसका पठन जनसमाज में बड़ी रुचि से किया जाता है।

श्रीधर स्वामी का 'रामविजय' (ई० स० १७०३)—श्रीधर स्वामी का महाराष्ट्रीय साहित्यकारों में बहुत ऊँचा स्थान है। इनके पौराणिक काव्यग्रंथ छोटे से बड़े तक नागरिक और देहाती सभी बड़े चाव से पढ़ते हैं। चातुर्मास्य में महाराष्ट्र के हरएक देहात में रात्रि में इनका 'रामविजय' पढ़ा जाता है और उसका श्रवण सैकड़ों नर-नारी बहुत आदर से करते हैं। आपकी भाषा-शैली प्रासादिक, सरस तथा सरल है। कथोपकथन का ढंग बहुत ही कलापूर्ण है। महाराष्ट्र के देहातियों का शुद्ध मनोरंजन कर उनको भक्ति की ओर मोड़ना और सब संकटों में शांति तथा धैर्य प्रदान करना आपका मुख्य हेतु था। श्रीधर स्वामी के सिवा दूसरा इतना सामान्य जनप्रिय काव्यकथा-लेखक प्राचीन मराठी-साहित्य में अन्य नहीं है। 'रामविजय' पुराण ग्रंथ के ४० अध्याय और ९२४८ ओवियाँ हैं। श्रीधर स्वामी के 'रामविजय' में सामयिकता का तनिक भी दर्शन नहीं होता। वे शुद्ध भक्ति संप्रदाय के समर्थक थे। किंतु उनकी लोकप्रियता उनके काव्यगुण-समृद्ध रचना पर ही निर्भर थी और है।

कवि माधव की श्लोकबद्ध रामायण (ई० स० १७०७)—कवि माधव तंजावर के (मद्रास) निवासी थे। आपने श्लोकबद्ध रामायण की सरस रचना की। कथोपकथन 'वाल्मीकिरामायण' से लिए। इन्होंने दूसरी 'ओवीबद्ध रामायण' भी रची थी।

कवि आनंद तनय की रामायण (ई० स० १७०८)—ये तंजावर के दूसरे मराठी कवि थे। इन्होंने श्लोकबद्ध रामायण रची। यह रामायण कीर्तनकारों की प्रिय सम्पत्ति है।

कवि निरंजन माधव की चार रामायण (ई० स० १७६५)—श्री निरंजन माधव ने १. चिद्बोधरामायण, २. राम कर्णामृत, ३. मंत्र रामायण और ४. निर्वोष्ठ राघवचरित सरसता से रचे। आप ने उत्तर तथा दक्षिणभारत का बहुत भ्रमण किया था। अतः इनकी रामायणों पर उत्तरभारत की रामायणों की छाप

पड़ी है। निर्वोष्ठ रामायण की उन्होंने अभिनव रचना की। निर्वोष्ठ याने ओठों का उपयोग न करते हुए किए गए उच्चारों की रामायण। याने उसके शब्दों में ' प फ ब भ म' इन ओष्ठ व्यंजनों का व्यवहार नहीं किया गया है।

श्री गिरधर स्वामी की रामायण (ई० स० १७२५)—आप समर्थ रामदास स्वामी के श्रेष्ठ शिष्य थे। आपने १. अब्धरामायण, २. मंगलरामायण, ३. छंदोरामायण, ४. सुंदररामायण, ५. संकेतरामायण और ६. करुणारामायण इत्यादि। ओवीबद्ध रामायणों की नवीनतापूर्ण रचना की। अब्द रामायण की विशेषता यह है कि प्रभु रामचंद्र की आयु किस समय कितनी थी, यह उसमें लिखा है। जैसे वनवास के लिए प्रस्थान करते समय प्रभु राम २८ वर्षीय थे, सीता माता १७ वर्षीया थीं। 'संकेतरामायण' के ८८ सर्ग हैं और ६६०० ओवियाँ हैं। 'सुंदररामायण' की विशेषता यह है कि उसे राम-पुत्र लव-कुश ने अपने सुरीले स्वरों में गाई है। इसके ७४६ श्लोक हैं। 'करुणारामायण' में करुण स्वर में राम की प्रार्थना हनुमान जी द्वारा करवाई गई है। वैसे ही समर्थ रामदास ने और गिरिधर स्वामी ने स्वयं भी प्रार्थना की है एव तीन श्रेष्ठ राम-भक्तों के हृदय की आर्तता इसमें दिखाई देती है।

प्रकांड विद्वान कवि मोरोपंत की अष्टोत्तर शत रामायण (ई० स० १७८०)—कवि मोरोपंत एकनिष्ठ रामोपासक थे। अतः, गोस्वामी तुलसीदास ने जैसे अनेक शैलियों में रामचरित की रचना की, वैसे ही मोरोपंत ने १०८ रामायणों की रचना की। सचमुच मोरोपंत जी ने राम-साहित्य के सागर का निर्माण किया। इन १०८ रामायणों में से १०६ रामायण उपलब्ध हैं। इनमें 'मंत्ररामायण' सर्वप्रथम रची गई। इसमें 'श्री राम जय राम जय जय राम' त्रयोदशाक्षरी मंत्र की साधना है। प्रत्येक कांड की प्रत्येक आर्या इस मंत्र से प्रारंभ होती है। यही इसकी विशेषता है। इसका युद्धकांड वीर रस से ओतप्रोत है। अन्य सभी रामायणों की रचना विचित्रतापूर्ण ढंगों से की गई है। 'मंत्रगर्भरामायण', 'सप्तमंत्ररामायण', 'रम्यमंत्ररामायण', 'बालमंत्ररामायण' क्रमशः साकी, शार्दूल विक्रीड़ित, अनुष्टुप, आर्यागीति इत्यादि भिन्न-भिन्न प्राकृत वृत्तों में रची हैं। नामांकरामायण की विशेषता यह है कि उसके प्रत्येक छंद के प्रथम चरण के आरंभ में 'रा' और द्वितीय चरण के आरंभ में 'म' रखा गया है। ११ रामायणों की रचना राम-मंत्र की साधना की दृष्टि से की गई है। पाँच रामायण क्रमशः उमा, गंगा, काशी, प्रयाग और शिव के नाम पर लिखी गई हैं। विष्णुसहस्र-नाम रामायण दस रामायणों का समूह है, जिसमें राम के सौ नामों का उल्लेख कर रामकथा का गान किया गया है। इनके अतिरिक्त 'निरोष्टरामायण' में प वर्ग के अक्षरों को बिल्कुल ही टालकर रामचरित्र गाया गया है। 'हनुमानरामायण', 'सीतारामायण', 'गुरुरामायण' आदि ग्रंथों में रामायण की कथाओं का वर्णन अपने-अपने अनुभवों से और दृष्टि के अनुसार हनुमान, सीता और वशिष्ठ करते हैं। 'चित्ररामायण' और 'मात्रारामायण' में अ से ज्ञ तक सब अक्षरों की क्रम से रचना की है। 'लघुरामायण', 'दिव्यरामायण' और 'सौम्यरामायण' में लघु और दीर्घ वर्णों की कौशलयुक्त रचना की गई है। 'कविप्रियरामायण' में शब्दों की बहुत ही चमत्कारिक रचना की गई है। 'रामरामायण' में भी एक चरण के अंतिम अक्षरों को बड़ी कुशलता से दूसरे चरण के प्रारंभ में लाकर रचना की गई है। यह शब्दों की अनूठी करामात है। 'परन्तुरामायण', 'धन्यरामायण' और 'हूरामायण' में अतीव शब्द-चमत्कृति ओतप्रोत है। 'साररामायण' में दोहा-सोरठा जैसे हिंदी वृत्तों का भी व्यवहार किया गया है। मोरोपंत जी ने जितने वृत्तों में और शैलियों में रामायण की कथा रची है, उतनी अन्य किसी भी कवि ने शायद ही रची हो। इससे यह स्पष्ट होता है कि महाकवि मोरोपंत का भाषा पर कितना बड़ा अधिकार था। उनकी प्रतिभा और काव्य-कल्पना दैवी थी। उनकी उद्भट विद्वत्ता का इसमें यथार्थ दर्शन होता है। उन्हें शब्द चमत्कार का याने शब्दालंकार का बड़ा चाव था। उनकी रचनाओं में बौद्धिक चमत्कारों की पराकाष्ठा है। अतः, राम-साहित्य के प्रांगण में महाकवि मोरोपंत बेजोड़ से प्रतीत होते हैं।

शायर परशुराम की रामचरित कथानक पर लावणियाँ (ई० स० १८२०)—प्रायः लावणी शृंगार रस प्रधान गीत होता है। किंतु शायर परशुराम अपनी लावणियों द्वारा लोगों में पौराणिक कथाओं का मनोरंजक कथन करते हैं, उनके द्वारा नीति तथा धर्म का प्रचार भी। ये सब गीत देहाती लोगों की जिह्वा पर चढ़कर बोलते हैं।

अभंगों में रामायण—वैसे देखा जाय, तो मराठी अभंगों (छंद) के आद्य रचयिता संत ज्ञानेश्वर जी ने, ई० स० १२९४ के लगभग, कई अभंगों में दृष्टांत-उपमा इत्यादि अलंकारों के द्वारा राम का चरित्र गाया और पावनकारी रामनाम का महत्त्व सामान्य जनता को समझाया है। उनका कथन था कि राम-नाम सब पापों का हरण कर मोक्ष की ओर भक्त को अग्रसर करता है। राम-नाम की तुलना में जप, तप, कर्म, यज्ञ, ज्ञान इत्यादि कम महत्त्व के हैं। उनके शिष्य श्रेष्ठ संत नामदेव ने भी अपने रसभीने अभंगों में रामायण की कई घटनाओं का समुचित तथा सरस उल्लेख किया है। आपने राम-नाम की महत्ता लोगों के हृदय पर अंकित की। श्री एकनाथ स्वामी ने भी अपने मधुर अभंगों में राम का चरित्र गाया, किंतु इन सब ने फुरकरपन से रामचरित्र गाया। मराठी के सर्वश्रेष्ठ अभंगकार संत शिरोमणि श्री तुकाराम महाराज ने अपने अतीव रसीले और सुमधुर १५ अभंगों में रामचरित्र का गायन किया। उन्होंने यह बार-बार कहा कि राम-नाम से अति नीच कुलोत्पन्न व्यक्ति का भी उद्धार होता है। इसके अतिरिक्त संत तुकाराम ने अपने आदर्श रामराज्य की कल्पना भी लोगों के सामने प्रस्तुत की, "जाले रामराज्य आनंदली सक्ले, तुकाम्हणे गायी वत्से नरनारी बाले। जाले रामराज्य कायगुणे आम्हांसी। धरणी धरी पिके गायी वोड़ल्या म्हैसी" अर्थात् रामराज्य का प्रारंभ होते ही सभी याने—नर-नारी, गाय इत्यादि को बहुत आनंद हुआ था। रामराज्य में किसी को भी किसी बात की कमी नहीं थी। भू-माता सब के लिए पर्याप्त अनाज देती थी। गाय-भैंस पर्याप्त मात्रा में दूध, दही, मक्खन इत्यादि देती थीं। इससे सूर्य-प्रकाश जैसा स्पष्ट हो जाता है कि संतश्रेष्ठ तुकाराम के आदर्श रामराज्य में सबको खानेपीने के लिए पर्याप्त मात्रा में मिलना अवश्यंभावी है। अपितु वही रामराज्य की कसौटी है। यह मार्के की बात है कि संत तुकाराम जैसे पहुँचे हुए सत्पुरुष भी राजव्यवस्था की कसौटी पूर्णतया लौकिक और आम जनता के सुख की दृष्टि से मानते हैं। क्योंकि वे कहते थे कि ऐसी अवस्था में ही लोग राम-नाम में मग्न हो सकते हैं। मोक्ष को अपना लक्ष्य मान सकते हैं। यहाँ समर्थ रामदास स्वामी के आदर्श रामराज्य की कल्पना कैसी थी, देखना भी उचित है। समर्थ कहते हैं, "बहु वृष्टि नाही। अनावृष्टि नाही। कदापि भूमि पीक सांडीक नाहीं। जना दंड नाही तथा मार नाही। जरा मृत्युना व्याधि काहीच नाहीं। सुखानंद आनंद उल्हास वाटे, महासुकृती लोक धार्मिक मोठे! शोक-संताप हासी असा कोण कैचा। जगी धन्यहारामदाता दिनाचा।" अर्थात् रामराज्य में अतिवृष्टि का संकट नहीं होता था, भू-माता प्रतिवर्ष जनता के लिए पर्याप्त अनाज उत्पन्न करती थी। प्रयोजन सर्वप्रकार की स्वतंत्रता का उपभोग करते थे और शासन न्यायानुसार था, न कि सर्वाधिकारी जैसा जुल्मी। लोग रोगों से पीड़ित नहीं होते थे। वे स्वस्थ होते थे और अकालवार्धक्य तथा मृत्यु का भय उन्हें नहीं होता था। रामराज्य में सब प्रजा सुख, आनंद तथा आह्लाद का उपभोग करती थी। प्रजा धार्मिक तथा शुद्ध आचरण की होती थी। अतः किसी भी भू-भाग में दुख और क्रोध का आक्रांत दिखाई नहीं देता था। सचमुच ऐसे आदर्श याने सर्वजनहिताय राज को चलानेवाला प्रभु राम गरीबों का तथा दीनों का पिता जैसा अभिभावक बनकर रहता था। समर्थ रामदास जी के काल्पनिक रामराज का आदर्श संत तुकाराम के आदर्श से बहुत कुछ मेल खाता है। दोनों ने ही आदर्श रामराज्य की कसौटी सर्व-जन-हित और सुख ही माना है। भौतिक तथा लौकिक आवश्यकताओं की समुचित प्राप्ति होकर ही सामान्य जनों का मन ईश्वरभक्ति तथा आध्यात्म की ओर मुड़ सकता है। अतः, इन साक्षात्कारी साधुओं ने रामराज्य का यह लौकिक आदर्श जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया और उसे प्राप्त करने के हेतु जनता को राम-भक्ति के लिए उत्तेजित किया। यथार्थ में राज्य-शासन लौकिक है। उसका ध्येय भी लौकिक ही होना चाहिए। पहुँचे हुए इने-गिने महापुरुषों के लिए राज्य-शासन की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती है। इस तरह कई संतों ने रामचरित्र का गायन अपने अभंगों में किया। अभी भी संत तुकड़ो जी महाराज अतीव प्रासादिक और रसभीने अभंगों की, मराठी तथा हिंदी भाषाओं में, रचना कर उनके द्वारा प्रभु राम का यश वर्णन करते हुए जनता को राम का यथाशक्ति अनुकरण करने को प्रवृत्त करते हैं।

आधुनिक मराठी महाकाव्यों में रामकथा—श्री गोपाल गोविंद मुजुमदार अर्थात् कवि साधुदास जी ने रामचरित्र-विषयक तीन महाकाव्यों की सफल रचना की है। आप सांगली रियासत में राजकवि थे।

आपकी काव्य रचना का स्रोत राम-भक्ति था। अतः, आपने सन् १९१२ में 'वन-विहार' नामक महाकाव्य की सृष्टि की। इसमें प्रभु राम के वनवास का वृतांत अतीव सरलता से, कौशल से तथा प्रकृति की सुंदरता वर्णन करते-करते कथन किया गया है। छः ऋतुओं का तथा प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल का रमणीक वर्णन इसमें दिखाई देता है। विंध्याद्रि, दंडकारण्य, अगस्त्याश्रम, कमलवन, पंपा सरोवर, पंचवटी इत्यादि निसर्ग मनोहर स्थलों का तथा चंद्रोदय, सूर्योदय, सूर्यास्त, कौमुदी, भयानक अंधेरी रात्रि इत्यादि काल-अवस्थाओं का समुचित तथा आह्लाददायी वर्णन भी इसमें है। इसमें संस्कृत महाकाव्यों जैसी शब्द चमत्कृति, शब्दालंकार प्रचुरता से प्राप्त है। किंतु यह महाकाव्य कुछ दुरूह-सा है। राजकवि साधुदास जी के ध्यान में यह दोष तुरंत ही आया और आपने दूसरे महाकाव्य में 'रण-विहार' (सन् १९१६), और तीसरे महाकाव्य 'गृह-विहार' (सन् १९१८) में इस दोष का परिहार कर अतीव प्रसन्न तथा प्रासादिक रचना की। इन तीनों महाकाव्यों में 'गृह-विहार' सर्वोत्कृष्ट है। इसका रसभीनापन वर्णन के परे है। इसमें राजा राम के राज्याभिषेक का तथा रामराज्य का उद्बोधक और कल्पनारम्य वर्णन है। राजकवि साधुदास की राम-भक्ति जहाँ-तहाँ काव्य को रसभीनापन प्रदान करती है। कवि साधुदास ने इन तीन रामकाव्यों की सफल रचना कर मराठी-साहित्य का अनूठा उपकार किया है।

'रामचरितमानस' के मराठी अनुवाद—गोस्वामी संत तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' रूपी राष्ट्रीय महाकाव्य के मराठी में लगभग छः काव्यबद्ध अनुवाद हुए, किंतु उनमें निम्नलिखित अनुवाद लोकप्रिय तथा सफल माने जाते हैं : १. नागपुर के सत्पुरुष यादवशंकर जामदार जी ने १९१५ में 'रामचरितमानस' का गद्यमय अनुवाद किया। यह अनुवाद अतीव हृद्य तथा रसभीना है। १९२३ के लगभाग ग्वालियर के श्री गणेश सदाशिव भोपटकर जी ने चौपाई-छंद में काव्यबद्ध अनुवाद किया। १९२९ के लगभग श्री प्रज्ञानंद सरस्वती ने समछंदों में, याने दोहा, चौपाई और सवैया आदि में सफल काव्यबद्ध अनुवाद किया। १९५५ में कोल्हापुर के डॉक्टर रामचंद्र चिंतामणि श्रीखंडे जी ने 'सुरलोक मानस' का अतीव सरस, प्रासादिक तथा भावपूर्ण अनुवाद किया है। यह उत्कृष्ट रसानुवाद तथा भावानुवाद है। यह काव्यबद्ध अनुवाद संस्कृत के वसंततिलका, शार्दूल विक्रीड़ित, पृथ्वी, मंदाक्रांता इत्यादि वृत्तों में अतीव कुशलता से किया गया है। यह अनुवाद पढ़ते समय पाठक मूल 'रामचरितमानस' के रसास्वाद का सुखदायी अनुभव करता है। डॉ० श्रीखंडे जी ने 'सुरलोक मानस' की रचना कर मराठी का महान उपकार किया है।

तेलुगु भाषा में राम-साहित्य

श्री बालशौरि रेड्डी

तेलुगु-साहित्य रामचरित व कथा के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व उसके आविर्भाव के बारे में भी जान लेना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है। भारत की प्रायः समस्त भाषाओं में संस्कृत प्रधान एवं मूलस्रोत मानी जाती है। इस भाषा से देश की सभी भाषाएँ प्रभावित हैं। संस्कृत भाषा के संपर्क से आज कोई भी भारतीय भाषा अछूती नहीं रह सकी है। संस्कृत भाषा का आदिकाव्य रामायण है और आदि कवि वाल्मीकि महर्षि। रामायण आदि काव्य क्यों है? इस सम्बन्ध में एक कथा यों प्रचलित है।

प्राचीन काल में जब देवता राक्षसों से पराजित हुए, तो वे ब्रह्मा को साथ लेकर महाविष्णु के पास पहुँचे और वेद-पारायण द्वारा उन्हें प्रसन्न कर उनका अनुग्रह प्राप्त किया। महाविष्णु ने तब उन्हें आश्वासन दिया कि जगत-विख्यात इक्ष्वाकु (सूर्य) वंश में अवतीर्ण होकर मैं तुम लोगों की विघ्न-बाधाओं को दूर करूँगा। इस पर सभी देवता प्रमुदित हो अपने-अपने स्थानों पर लौटे और महाविष्णु के प्रादुर्भाव की प्रतीक्षा करने लगे।

कुछ समय के उपरांत महर्षि वाल्मीकि ने नारद मुनि से प्रश्न किया कि सत्यसंध तथा महान शौर्य आदि गुणों से विशिष्ट व्यक्ति कौन है? इस पर नारद मुनि ने श्री रामचंद्र के यशो-गुणों का इतिहास संग्रह रूप में कह सुनाया। एक दिन महर्षि वाल्मीकि मध्याह्न के समय संध्या-वंदन करने के निमित्त तमसा नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ पर उस मुनि ने एक दृश्य देखा। सामने दो क्रौंच पक्षी मिथुन में रत थे। उस प्रणय-घटना की परवाह किए बिना एक किरात ने तेज बाण का संधान किया। तत्काल ही नरपक्षी चोट खाकर पृथ्वी पर छटपटाने लगा। मादापक्षी अपने पति के हनन पर शोक विह्वल हो विलाप करने लगी। किरात के इस पापकृत्य को देख महर्षि के हृदय में क्रोध रस का संचार हुआ। उस समय उनके मुंह से अप्रयत्न पूर्वक कुछ छंदोबद्ध पद निकले——

मा निषाद प्रतिष्टांत्वम्, अगमश्शस्यतिसमाः
यत् क्रौंच मिथुनाछेकं, वधीः काममोहितम् ।।

रामायण-काव्य के अवतरण के लिए यही कथा हेतुभूत बन गई। वाल्मीकि महर्षि के मुंह से इस छंदोबद्ध श्लोक के उच्चारण के पूर्व वैदिक अथवा लौकिक वाङमय में भी छंदोबद्ध श्लोक नहीं थे। इसलिए इस अप्रत्याशित वाणी पर स्वयं वाल्मीकि भी चकित थे। उस समय स्वयंभू ने प्रत्यक्ष हो, "आदि कवि" संबोधित कर आशीर्वाद दिया और रामचरित लिखने का आदेश दिया। तब वाल्मीकि ने रामायण की रचना प्रारंभ की। इस कारण वाल्मीकि आदि कवि के रूप में विख्यात हुए और रामायण आदि काव्य के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

संस्कृतरामायण २४ हजार श्लोकों तथा सात कांडों से भासित है। यह 'गायत्रीरामायण' नाम से अधिक विख्यात है। वेदमाता गायत्री में २४ अक्षर हैं। आदिकवि वाल्मीकि ने इस मंत्र के एक-एक अक्षर से एक सहस्र का श्लोक प्रारंभ किया है। इस प्रकार रचे जाने के कारण यह वेदतुल्य हो गया है। इसलिए 'एकैकमक्षरम् प्रोक्तम महापातक नाशनम्' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त रामचरित सभी दृष्टियों से अनु-करणीय होने के कारण इसका महत्व और भी बढ़ गया है। इस काव्य का अनुकरण तथा अनुवाद भारत की समस्त भाषाओं में ही नहीं, अपित अनेक विदेशी भाषाओं में भी हुआ है।

इस काव्य के अलावा संस्कृत में मुरारि कवि-कृत अनर्थ राघव नामक नाटक भी है। रामायण की अपेक्षा इसके कथा-भाग मनोरंजक शैली में वर्णित हैं। कवि सुप्रसिद्ध थे। उन्होंने अपने रचना-कौशल द्वारा नाटक को मनोरंजक बनाने का प्रयत्न किया। ये वाल्मीकि की समता नहीं कर सके, तो भी प्रसिद्ध हुए।

संस्कृत भाषा में ही भवभूति-रचित 'उत्तररामचरित' भी अत्यंत प्रसिद्ध है। उत्तरकांड की विशेषताओं से पूर्ण, यह पंडित जगत का आदर प्राप्त कर चुका है। इसका अनुवाद तेलुगु में श्री मल्लादि सूर्यनारायण जी ने किया है। महाराज भोज द्वारा प्रणीत रामायण चंपू काव्य भी कम प्रसिद्ध नहीं है। इस काव्य की घटनाएँ 'वाल्मीकिरामायण' की भाँति विस्तारपूर्वक वर्णित नहीं हैं। संक्षिप्त रूप में कथा विशेष रोचक पद्धति में वर्णित है। इस प्रकार संस्कृत में भी अनेक कवियों ने रामचरित लिखे, परंतु मूल काव्य से उल्लेखनीय भिन्न घटनाएँ हमें नहीं दीखतीं। लेकिन तेलुगु के रामचरितों में हमें कुछ भिन्न कल्पनाएँ एवं घटनाएँ भी मिलती हैं, जिनके सम्बन्ध में आगे बताया जाएगा।

आंध्र देश के जनपदों में महाभारत को जो लोकप्रियता प्राप्त है, वह रामायण को नहीं। फिर भी आंध्रवासियों के आराध्य देव श्री रामचंद्र जी ही हैं। इस सम्बन्ध में तेलुगु-साहित्य के मर्मज्ञ तथा देशोद्धारक व 'कलाप्रपूर्ण' सदृश उपाधियों से विख्यात स्वर्गीय श्री काशीनाथुनि नागेश्वर राव पंतुलुजी ने अपने 'आंध्र वाङ्मय चरित्र' (तेलुगु-साहित्य का इतिहास) नामक ग्रंथ में लिखा है—"आंध्र हृदय के कुलदेवता श्री रामचंद्र जी हैं। आंध्र वाङ्मय में रामायण कथा से संबंधित अनेक ग्रंथ हैं। साहित्य में भी श्रीराम-साहित्य अत्यधिक है। रामकीर्तन, रामशतक, रामभजन, वाङ्मय में विशेष रूप से प्रचारित हैं। रामभजन, रामालय तथा भक्त हृदय इस बात को प्रकट कर रहे हैं कि ये सब रामपरक ही हैं। तेलुगु-साहित्य के निर्माण में कवियों के भाव भले ही परिवर्तित हो रहे हों, परंतु प्रजा के हृदय में भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य भाव सुप्रतिष्ठित हैं। इस बात की घोषणा श्री रामचंद्र से संबंधित उत्सव, रामकीर्तन, रामभजन और रामालय कर रहे हैं। ये ही गवाही दे रहे हैं।"

आंध्र भर में ढूंढ़ने पर भी हमें ऐसा कोई गाँव दिखाई न देगा, जहाँ पर राममंदिर न हो। यही क्यों, आंध्रवासियों के हृदय ही श्रीराम के मंदिर हैं। गोदावरी तट पर स्थित भद्रादि पुण्य तीर्थ इसका ज्वलंत उदाहरण है। रामचंद्र जी ने आंध्र-भूमि में भी कुछ समय तक निवास किया था। दंडकारण्य इसी प्रदेश में है। पर्णशाला, पंचवटी, सीताहरण आदि स्थान व घटनाओं की केंद्र भूमि यही प्रदेश है। इसलिए इस प्रदेश की भाषा में रामचरित अधिक लिखे गए हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

तेलुगु-साहित्य में हमें जो रामचरित उपलब्ध होते हैं, उन्हें कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। महा-काव्यों के रूप में भी रामचरित वर्णित है और मुक्त गेयों के रूप में भी। इनके अलावा लोकसाहित्य में भी रामायण की कथाएँ मिलती हैं। कहीं पूर्ण रामचरित उपलब्ध हुआ है, तो कहीं उनके जीवन की एकाध घटना का वर्णन गीत रूप में मिलता है। किसी कवि ने शतक रूप में, किसी ने कीर्तन व भजन के रूप में राम-चरित लिखकर उनका गुणगान किया है। यही नहीं, संस्कृत, हिन्दी, तमिल भाषाओं के रामायणों का भी अनुवाद तेलुगु में किया गया और स्वतंत्र काव्य भी रचे गए। लोकसाहित्य और भजन तो हैं ही। संक्षिप्त में कहना हो, तो पद्य व गद्य के जितने अंग व उपांग हो सकते हैं, सभी में रामचरित प्रस्तुत किया गया है। नाटकों के रूप में भी रामकथा वर्णित है। उन सभी कृतियों का उल्लेख करना संभव भी नहीं है। अतः, हम पहले तेलुगु में उपलब्ध रामचरित का उल्लेख कर, इसके उपरांत मूल रामायण से भिन्न अंशों व विशेषताओं पर विचार करेंगे।

संख्या	काव्य का नाम	कवि	ई० सन्
१.	रंगनाथ रामायण	श्री गोन बुद्धारेड्डि	१२००-७६
२.	निर्वचनोत्तर रामायण	श्री तिक्कना	१२३०-१३००
३.	भास्कर रामायण	श्री मंत्रिभास्कर श्री हुलक्कि भास्कर	१२६५-१३६०
४.	मोल्ल रामायण	श्री कुम्मरि मोल्लांबा	१५२६–
५.	रामायणमु	श्री आलुरिकुप्पनकवि	१७६५-८८

संख्या	काव्य का नाम	कवि	ई० सन्
६.	गोपीनाथ रामायणमु	श्री गोपीनाथ वेंकट कवि	१८००-१८६०
७.	अध्यात्म रामायणमु		
८.	संपूर्ण रामायणमु		
९.	शतकण्ठ रामायणमु		
१०.	मोक्षगुण्ड रामायणमु		
११.	उत्तर रामायणमु	श्री कंकंटिपापिराजु	
१२.	वाल्मीकि रामायणमु (अनुवाद)	श्री वाविलिकोलनु सुब्बाराव	
१३.	श्री मद्रामायणु	श्री जनमंचिशेषाद्रि शर्मा	
१४.	मानुकोंड रामायणमु	श्री मानुकोंड सत्यनारायण	
१५.	उत्तररामचरितमु	श्री वेदमु वेंकट राय शास्त्री	
१६.	रामायण कल्पतरु	श्री विश्वनाथ सत्यनारायण	
१७.	दोड्डु रामायणमु	श्री दोड्ल वेंकट राम रेड्डी	
१८.	कंब रामायणमु (तमिल का अनुवाद)	पूतलपट्टु श्री रामुल रेड्डी	
१९.	बाल रामायणमु	श्री कट्टमंचि सुब्रह्मण्य रेड्डी	
२०.	विचित्ररामायणमु		

अप्रधान रामायणों के साथ तेलुगु में ४० रामायण उपलब्ध हैं। ये सब काव्यों के रूप में हैं। इनके अतिरिक्त रामचरित अनर्घराघवमु, अभिषेक नाटक, संतवेलूरु रामनाटक, प्रतिमा नाटक नामों से वर्णित हैं। रामचरित के कुछ विशेष स्थलों का वर्णन लोककथाओं के रूप में हुआ है। उनमें उर्मिला देवी की निद्रा, कुशलवकुच्चल कथा, सीता देवी वेविल्लु, सौमित्री की हँसी, राम-वनवास इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

तेलुगु में शतक साहित्य असंख्य है। यह भी एक प्रकार का मुक्तक काव्य होता है। रामकथा शतकों के रूप में विशेष रूप से वर्णित है। तेलुगु में ४०, ५० राम शतक हैं। कंचर्ल गोपना (रामदास) कृत दाशरथी शतकमु (१६७०), आडिदमु सूरकवि रचित रामलिंगेश शतक (१७५०), पावुलूरि मल्लन्ना प्रणीत जानकीपति शतक (१७५०), शांतानंद योगी-कृत रामशतक (१८५०), मदिन सुभद्रय्यम्मा प्रणीत रघुनायक शतक और रामशतक (१८३०), वंगूरि नरसकवि-कृत प्रसन्नराघव शतक (१८१०), चट्राति लक्ष्मी नरसु-कृत कोदंडरामशतक (१७६०) आदि मुख्य हैं। इनमें रामचंद्र जी की गुण-विशेषताओं का अच्छा वर्णन किया गया है। काव्यत्व की इन शतकों में कमी नहीं। रस, अलंकार व भावव्यंजना की दृष्टि से भी ये शतक महाकाव्यों के समकक्ष खड़े हो सकते हैं।

अब हम तेलुगु की रामायणों की विशेषताओं पर विचार करेंगे। हमने पहले ही कहा कि रामायण की रचना का आधार संस्कृत रामायण ही है। तेलुगु के कुछ कवियों ने संस्कृत रामायण का सरस अनुवाद प्रस्तुत किया, तो कुछ कवियों ने यहाँ के जनपदों में प्रचलित कुछ विशेष रामचरितों को भी उसमें मिलाया। उन्होंने देश-काल-परिस्थिति के अनुरूप ही पात्रों का चित्रण नहीं किया, अपितु कवि के सामने जो आदर्शपूर्ण समाज की कल्पना थी, उसके अनुरूप अपने काव्य को अलंकृत किया। इसलिए मूल रामायण से कुछ भिन्नताएँ भी तेलुगु रामायणों में पायी जाती हैं। उन पर आगे प्रकाश डाला जाएगा।

रंगनाथ रामायण—कालक्रम के अनुसार तेलुगु का प्रथम रामायण श्री गोनबुद्धा रेड्डी रचित रंगनाथ रामायण (१२३०) माना जाता है। यह रामायण केवल जन्म से ही प्रथम नहीं, अपनी गुण-विशेषताओं के कारण भी श्रेष्ठ है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह काव्य तेलुगु के देशी छंद 'द्विपद' में रचा गया है, जो गेय प्रधान है। इसलिए 'वाल्मीकिरामायण' की भाँति यह भी "पाठ्येगेये च मधुरम्" हो गीत के रूप में गाने वालों तथा काव्य के रूप में पारायण करने वालों के लिए समादरपात्र हो, पंडित और पामर-

जनोपयोगी हो गया है। इसकी सार्वजनीन ख्याति का यही कारण है। आज भी कुछ प्रदेशों की नारियाँ इस रामायण के कुछ प्रकरणों को गीतों के रूप में गाती हैं। चर्मपुतली खेलों (कठपुतली खेल जैसे) के प्रदर्शन के समय यदि रामायण गाथा से संबंधित प्रदर्शन हों, तो इसी रामायण का गान किया जाता है। तेलुगु की देशी कविता स्वभाव से गेय है। द्विपद काव्य उन गेय भावों की रक्षा करते हैं, इसलिए इन काव्यों को साधारण प्रजा में जो प्रचार प्राप्त होगा, वह वृत्त प्रधान काव्यों को नहीं। यही कारण है कि इस रामायण का प्रचार गाँवों में विशेष रूप से हुआ है, जैसे तुलसीरामायण का उत्तरभारत में हुआ है।

गोनबुद्धा रेड्डी महाकवि थे। उन्होंने देशीयता की मूल प्रवृत्ति एवं अभिरुचियों के अनुरूप अपनी स्वतंत्र भावनाओं से पूर्ण तृष्णा को सुंदर आकृति प्रदान की। इस काव्य की ख्याति का यह भी एक कारण है। इसके अतिरिक्त इस काव्य के कर्त्ता ने द्विपद काव्य को सलक्षणयुक्त बनाया और समस्त प्रजा द्वारा पूजित होने वाले रामचरित को काव्य-वस्तु के रूप में ग्रहण किया। इसलिए बुद्धा रेड्डी की रामायण केवल तेलुगु के समस्त रामायणों में श्रेष्ठ मानी गई, अपितु द्विपद वाङ्मय शाखा में भी वह उज्ज्वल मणिवत् भासित हो रही है।

इनके पूर्व कुछ कवियों ने संस्कृत के पुराणों का अनुवाद किया। परंतु उन लोगों ने मूलकथा के अनुरूप काव्य तैयार किया। स्वतंत्र रूप से कहीं भी परिवर्तन करने का प्रयत्न नहीं किया। कहीं आवश्यकतानुसार घटनाओं को कम किया, तो कहीं उन्हीं घटनाओं का विस्तृत रूप से वर्णन किया है, लेकिन गोनबुद्धा रेड्डी ने अपने काव्य में अनेक स्थलों पर नई कथा की कल्पना की, यही इस रामायण की विशिष्टता का प्रबल कारण है। इस काव्य का एक दूसरा विशिष्ट लक्षण यह है कि जनपदों में प्रचलित अनेक प्रकार की लोककथाओं को इस काव्य में स्थान देकर काव्य के महत्व को और भी बढ़ा दिया है। इन कथा एवं गाथाओं में रामचरित पर प्रकाश डालने वाले कई ऐसे विषय हैं, जो काव्य में भी गेय रूप में वर्णित हैं, जिनका आज भी सर्वत्र प्रचार है। इस प्रकार कथा व घटनाएँ प्रत्येक कांड में चित्रित हैं। बालकांड में अहल्या का उद्धार (पृष्ठ ५७) एक लोककथा का स्मरण दिलाता है। परंतु अरण्य और युद्धकांडों में वर्णित अमूलक गाथाएँ 'रंगनाथरामायण' की मुख्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

रामायण के १७६–१८० पृष्ठों में वर्णित जंबुमाली वृत्तांत काव्य-सौंदर्य को और भी बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ है। यह कथा अपने आप में पूर्ण ही नहीं, अपितु प्रधान कथावस्तु में स्वाभाविकता लाने में अधिक सहायक बन गई है। वरना शूर्पणखा का प्रवेश अस्वा ाविक व असंगत लगता और इसी कारण शूर्पणखा का चरित्र हास्यास्पद बना रहता। लेकिन जंबुमाली वृत्तांत पंचवटी में शूर्पणखा के प्रवेश को आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य सिद्ध करता है। कथा इस प्रकार है—

जंबुमाली का वृत्तांत[1]—जंबुमाली शूर्पणखा का पुत्र था। लंका के राजा रावण ने जंबुमाली के पिता विधुज्जिह्व का अपमान किया था। इसका प्रतीकार करने के निमित्त वह सूर्य भगवान की तपस्या कर रहा था। जिस जंगल में जंबुमाली तप कर रहा था, उसी वन में कंद, मूल और फल लाने के अभिप्राय से लक्ष्मण गए। वहाँ पर देखते हैं, भगवान भास्कर ने जंबुमाली की तपश्चर्या से प्रसन्न होकर एक दीप्तिमान खड्ग भेजा। परंतु जंबुमाली ने उसे ग्रहण करने से इसलिए इनकार किया कि कमलबांधव ने स्वयं आकर उसे नहीं दिया। जब वह खड्ग उसी भाँति वापस जा रहा था, तो लक्ष्मण ने उसे देखा। ज्योंही वह उनके हाथ लगा, त्योंही वह उसकी कांति व पैनी धार को देख चकित रह गए। उस खड्ग की परीक्षा लेने के विचार से सामने स्थित झाड़ी पर प्रहार किया। इससे वह झाड़ी तो कट गई, साथ ही उसमें तप करने वाले जंबुमाली का शरीर भी कट गया। इससे घबड़ा कर लक्ष्मण रामचंद्र जी के पास दौड़े आए और सारा समाचार कह सुनाया। सारा वृत्तांत सुन कर आश्रम के मुनियों ने उन्हें सांत्वना दी कि वह कोई महात्मा नहीं, बल्कि एक दुष्ट राक्षस था, इसलिए दुखी होने की कोई आवश्यकता नहीं।

---

[1] अरण्यकांड—पृष्ठ १७६-१८०, रंगनाथरामायण

इधर शूर्पणखा घूमती-घामती आई और अपने पुत्र की मृत्यु का सारा समाचार वहाँ के अन्य मुनियों से जान लिया। पुत्र-हत्या का प्रतिशोध लेने के विचार से वह पंचवटी की ओर बढ़ी। परंतु रामचंद्र जी के अलौकिक सौंदर्य को देख वह सब प्रतिकार भूल गई और उनसे प्रेम-याचना करना शुरू किया। इस वृत्तांत से पंचवटी में शूर्पणखा का प्रवेश अत्यंत सहज बन गया है और यह उपाख्यायिका प्रधान कथावस्तु की पोषिका बन गई है। यह वृत्तांत हमें वाल्मीकि और तुलसीरामायण में नहीं मिलता।

दूसरा वृत्तांत कालनेमि का है। राम-रावण युद्ध में लक्ष्मण को शक्ति लगती है और वह बेहोश हो जाते हैं। इस पर संजीविनी बूटी लाने के लिए हनुमान रवाना हो जाते हैं। रावण को इस समाचार का पता ज्योंही लगा, त्योंही उसने हनुमान को रोकने के निमित्त कालनेमि को भेजा। परंतु हनुमान के सामने उसकी दाल नहीं गलती। अंत में वह हनुमान के हाथों मारा जाता है। यहाँ पर इस कथा की विशेषता यह है कि लक्ष्मण बेहोश पड़े हुए हैं और हनुमान-द्रोणादि जा रहे हैं। इस कथा-प्रवाह में जो शैथिल्य है, उसमें गति लाने में यह अधिक सहायक बन गई है। यह वृत्तांत युद्धकांड (पृष्ठ ५६६–५८१) में वर्णित है। इसमें राक्षसों की प्रतिक्रिया व कल्पना का चातुर्य हमें आश्चर्य चकित कर देता है। पाठक लक्ष्मण के होश में आने की स्थिति की कल्पना में रहेंगे, परंतु इस बीच में कालनेमि द्वारा जो काल-विलंब होता है, वह पाठकों के हृदय में और भी उत्कंठा पैदा करता है।

सुलोचना का वृत्तांत—रंगनाथरामायणकार ने सुलोचना को (इंद्रजीत की पत्नी) सीता जी से कम चित्रित नहीं किया है। सुलोचना एक महान पतिव्रता शिरोमणि के रूप में पाठकों के सामने उपस्थित होती है। रावण के पुत्र इंद्रजित् को एक वरदान प्राप्त था कि वह यदि युद्ध में जाते समय अपनी पत्नी सुलोचना से कह कर जाता है, तो उसका वध कोई भी नहीं कर सकता। परंतु दुर्भाग्य उसका पीछा कर रहा था। जिस दिन वह अपनी पत्नी से बिना कहे युद्धभूमि में चला गया, उसी दिन महावीर लक्ष्मण के हाथों वह मारा गया। इस समाचार को पाकर सुलोचना तिलमिला उठी। उसी समय अपने पति के शरीर के साथ सती होने का निश्चय किया। परंतु उसे अपने पतिदेव का शरीर कैसे प्राप्त हो? साहस कर रावण के पास जाकर निवेदन किया कि वह इंद्रजित् का मृत कलेवर मँगावे। रावण ने कहा कि शत्रु-अंचल में पड़े शरीर को मँगाना मेरे वश की बात नहीं। इस पर सुलोचना ने ससुर से शत्रु-अंचल में जाकर अपने पतिदेव के मृत कलेवर को स्वयं जाकर लाने की अनुमति माँगी। रावण को अनुमति देनी पड़ी। मंदोदरी को भी राजी किया। सुलोचना जब गगनमंडल में उड़ती हुई, रामचंद्र जी की सेनावाहिनी के पास पहुँची, उस समय सबने सोचा कि कोई देवी आ रही है। पर वीर हनुमान ने कहा, "कोई विधवा आ रही है।" सबके आश्चर्य. प्रकट करने पर हनुमान ने बताया कि उसके यान के केतन को देख कर ही उसने इस तथ्य का पूर्व संकेत ले लिया था। सुलोचना ने श्री रामचंद्र जी से निवेदन किया कि वह उन्हें अपने पति का शिर प्रदान करें। इस पर हनुमान की ओर रामचंद्र ने देखा कि वह उचित सलाह दे। परंतु हनुमान ने कहा—"यदि तुम अपने पति के सर को हँसा दोगी, तो हम मँगा सकते हैं।" इसके बाद असंख्य कटे हुए सरों में-से अपने पतिदेव के सिर को पहचानने का आदेश हुआ। सुलोचना ने विष्णु की प्रार्थना की। सर उड़ता हुआ आया और उसकी जाँघों पर आ गिरा। इस पर सबने कहा—कटे हुए हाथ, पैर, धड़ आदि भी वह मँगावे। उसने पुनः प्रार्थना की और सब अंगों को भी बुलाया। श्री रामचंद्र जी ने आशीर्वाद दिया कि तुम दोनों अगले जन्म में भी पति-पत्नी रहोगे और प्राणोंसहित स्वर्ग की प्राप्ति करोगे। इस पर सुलोचना ने अमित प्रसन्न हो रामचंद्र जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

सुलोचना ने अपने पतिदेव के शरीर के कटे अंगों को जुड़ाने की जब प्रार्थना की, उस समय उन्होंने शेषनाग की भी प्रार्थना की थी। रामचंद्र जी इस बात का रहस्य जान कर हँस दिए। सब चकित हो खड़े रहे। सबके प्रार्थना करने पर रामचंद्र जी ने वास्तविक वृत्तांत बताया—"लक्ष्मण ने भूल से अपने जामातृ की हत्या की है। सुलोचना तो उनकी बेटी है। क्योंकि लक्ष्मण अपने पिछले जन्म में शेषनाग के अवतार थे, रामचंद्र जी उस पर शयन करने वाले महाविष्णु। उस समय शेषनाग के यहाँ सुलोचना का जन्म हुआ

था। उन्होंने सुलोचना को यह आशीर्वाद और वरदान भी दिया था कि तुम्हारे पति युद्धभूमि में जाते समय तुमसे कहकर जाएँगे, तो उसे कोई नहीं हरा सकता और उसका वध कदापि नहीं हो सकता। अपने इस वृत्तांत का स्मरण कर लक्ष्मण दुखी हो गए और अपनी पुत्री को विधवा देख, वह भी विलाप करने लगे। रामचंद्र जी ने विधि-विधान का महत्व समझाया। तब आश्वस्त हो लक्ष्मण ने सुलोचना से कहा—"तुम अपने वांछित वर माँग सकती हो।" लक्ष्मण ने कह तो दिया, परंतु उन्हें संदेह पीड़ित करने लगा कि कहीं वह अपने पतिदेव का प्राण न माँगे। लक्ष्मण ने हनुमान की ओर ऐसे देखा मानों उन्होंने कोई अपराध किया हो। इस पर हनुमान जी ने सरस्वती से प्रार्थना की कि वह सुलोचना की जिह्वा पर बैठकर अपने पतिदेव के प्राणों की याचना का वर माँगने से रोके। सरस्वती ने हनुमान की प्रार्थना स्वीकार कर वैसा ही किया। सुलोचना ने यही वर माँगा कि उसे अपने पतिदेव का मृत कलेवर दिया जाय और वह बिना किसी प्रकार की विघ्न-बाधा के सती हो जाय। लक्ष्मण ने और रामचंद्र जी ने वैसा ही वर देकर उन्हें भेज दिया। सबसे विदा लेकर सुलोचना लंका में गई और वहाँ पर सती हो गयी।

इस प्रकार गोनबुद्धा रेड्डी ने सुलोचना के पातिव्रत तथा उसके गुण-शील-स्वभावों का वर्णन किया है। सुलोचना भी सीता की भाँति पाठकों के हृदय पर अपना अमिट स्थान प्राप्त कर लेती है। परंतु सुलोचना के चरित्र में द्राविड़ संस्कृति व सभ्यता की छाप स्पष्ट लक्षित है। यह कहानी इतने रोचक ढंग में कही गई है कि पढ़ते ही बनता है।[1] यह अवाल्मीकि वृत्तांत है। सुलोचना अपनी सास मंदोदरी से किसी विषय में कम नहीं। वह समस्त सद्गुणों से संपन्नशीला पतिव्रता नारी है।

सौमित्रि की हँसी—आंध्र के जनपदों में प्रचलित लोककथाएँ, देवर लक्ष्मण की हँसी, उर्मिला देवी की निद्रा,[2] लक्ष्मण का बेहोश हो जाना आदि की छाया इस रामायण में स्पष्ट लक्षित है। देवर लक्ष्मण की हँसी नामक लोककथा को कवि ने युद्धकांड के अंत में "आत्म संप्रीणन" में वर्णित किया है।[3] कथा संक्षिप्त में इस प्रकार है : रामचंद्र जी सीता के साथ अयोध्या लौटे हुए हैं। एक विशाल मैदान में दरबार बुलाया गया है। उस सभा में विभीषण, सुग्रीव, ऋषी-मुनि, हनुमान आदि उपस्थित हैं। भरी सभा में लक्ष्मण ने अकारण ही हँस दिया। इसका अभिप्राय प्रत्येक व्यक्ति ने अपने ऊपर समझा। सभी सशंक हो गए। सुग्रीव ने सोचा, भाई का वध कराकर रामचंद्र जी के तलुए चाटने आया जानकर लक्ष्मण ने हँस दिया। विभीषण ने अपने को कुलघातक मानकर। सीता जी ने यह सोचा, पराए पुरुष के यहाँ से आकर भी बड़े वीरों के सामने पट्टमहषी बनी बैठी देख लक्ष्मण हँस रहे हैं। इस प्रकार सबके मुखमंडल पल-भर में कुम्हला गए। रामचंद्र जी ने सभा के नीरस वातावरण का कारण लक्ष्मण की अकारण हँसी समझा। वह सशंकित हो उठे। थोड़ी देर में संभलकर सरोप आज्ञा दी कि वह अपनी अकारण हँसी का कारण समझावें। इस पर लक्ष्मण जी ने मुस्कराकर जवाब दिया—"मैं जब वनवास में पंचवटी में पहरा दे रहा था, उस समय निद्रा देवी ने मेरे ऊपर धावा बोल दिया। इसलिए मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि वह वनवास की अवधि के पूरे होने तक मेरे पास न फटकें, ताकि मैं अपने भाई व भाभी की सेवा के कर्तव्य-पथ से च्युत न हो जाऊँ। उस समय ऊर्मिला मेरे वियोग में अयोध्या में तड़प रही थी। इसलिए मैंने यह भी प्रार्थना की थी कि वह इन १४ वर्षों तक ऊर्मिला में वास करे, ताकि वह अपने वियोग के दुख का अनुभव न करे। आज १४ वर्ष के पूर्ण होने पर निद्रा देवी ने मेरे ऊपर पूरी शक्ति लगा कर हमला किया है। इसलिए मुझे हँसी आ गई।" यह सुन कर रामचंद्र जी ने अपने भाई की सेवा-भावना का स्मरण कर उनसे क्षमा माँगी और उनके नेत्रों से आँसू निकले। लोककथाओं में यहाँ तक वर्णन किया गया है कि उस समय रामचंद्र जी ने लक्ष्मण के वध करने की आज्ञा दी थी। परंतु सुग्रीव, विभीषण आदि के समझाने से कारण जान कर दंड देने का निश्चय किया। इस प्रकार की कुछ और कथाएँ हैं। विस्तार के भय से हम नहीं दे पा रहे हैं।

---

[1] रंगनाथरामायण—अनुबंध १, पृष्ठ ६८०-६८५

[2] "देवर लक्ष्मण की हँसी" 'प्रवाह' के दीपावली विशेषांक (नवंबर ५४) तथा "उर्मिला देवी की निद्रा" 'दक्षिण भारत', मार्च, १९५५ के अंक में मैंने प्रकाशित कराए हैं। उनमें विस्तृत विवरण है।

[3] युद्धकांड—पृष्ठ ६४९

पात्रों के शील-स्वभाव—वाल्मीकि, तुलसी आदि रामायणों में खलनायक रावण का चरित्र अत्यंत निम्नस्तर का चित्रित किया गया है। परंतु रंगनाथरामायणकार ने रावण को एक महान वीर, भक्त तथा नीतिवान के रूप में पाठकों के सामने उपस्थित किया है। उनके घर की नारियाँ पतिव्रता-शिरोमणि, वीर-माता तथा वीर-पत्नियों के रूप में चित्रित हैं। काव्य-कला की दृष्टि से भी देखा जाय, तो भी प्रतिद्वंद्वी का उदात्तगुण संपन्न होना अधिक अच्छा प्रतीत होता है। रावण चाहते थे कि यह समस्त विश्व अरावण अथवा अराममय हो जाय। फिर भी एक वीर होने के नाते वीरों की प्रशंसा करने में वह हिचकिचाते नहीं थे। यही कारण है कि गोनबुद्धा रेड्डी का रावण युद्धभूमि में रामचंद्र की वीरता की प्रशंसा करते नहीं थकता। जब उनके साथी कहते हैं कि युद्धक्षेत्र में इस प्रकार शत्रु की प्रशंसा करना ठीक नहीं, तब वह जवाब देते हैं, "शूरवीर सर्वत्र प्रशंसा के पात्र होते हैं।"

रावण का महान भक्त रूप पृष्ठ ५९२ में निखर आया है। रामचंद्र जी को वह साक्षात विष्णु भगवान मानते थे। फिर भी उन्होंने रामचंद्र जी के साथ इसलिए युद्ध करने की ठानी कि उन्हीं के हाथों से मरने पर अवश्य स्वर्ग की प्राप्ति होगी। उन्हीं के शब्दों में सुनिए। जब मंदोदरी उनसे कहती हैं कि रामचंद्र जी से वैर ठीक नहीं है, तब उनका उत्तर है—

श्री राम शरमुलचे जत्तुनेनि
नाग वासुलुमेच्च ना कोरु चुन्न
वैकुंठ मेवुरगा वच्चु निच्चटिकि
ललन ! नीवेटिकि ? लंक येमिटिकि ?
दलकोत्रमुक्ति सत्पथमु गैकोंदु

—"हे साध्वी ! श्री रामचंद्र जी के बाणों द्वारा मेरा भौतिक शरीर नष्ट हो जाय, मुझे चिंता नहीं होगी। स्वर्गवासी आनंदित हो जाएँगे और मेरा वांछित वैकुंठ अपने आप समक्ष आकर खड़ा हो जाएगा। तुम्हारे (पत्नी-पुत्र इत्यादि) तथा लंका की मुझे आवश्यकता ही क्या है, जब कि मैं अपने चिरकाल मनोरथ को प्राप्त कर मुक्ति-मार्ग का यात्री बन रहा हूँ।" इस प्रकार रावण के राक्षसत्व में दिव्यत्व के दर्शन कराकर कवि ने रावण को असुरलोक से अमरलोक का यात्री बना दिया है। रावण के भाई कुंभकर्ण भी विभीषण से किसी हालत में कम नहीं। वह जानते थे कि धर्म-रक्षा की ही सदा विजय होती है, किंतु इतने मात्र से वह अपने सहोदर के पक्ष को त्यागना नहीं चाहते थे। यहाँ उनके भ्रातृ-प्रेम तथा राज-प्रेम सुंदर ढंग से वर्णित हैं। कवि ने विभीषण और कुंभकर्ण के बीच युद्धभूमि में वार्तालाप कराया है, जिसमें कुंभकर्ण विभीषण को उपदेश देता है, 'तुम राम के पक्ष में ही रहो। इस राक्षस वंश को पुनः चलाने के लिए कम-से-कम तुम अकेले तो रह जाओगे। युद्धभूमि में मेरे सामने से हटो।' इस प्रकार कुंभकर्ण शत्रु पक्ष में गए भाई को बचाना चाहता है।

रावण की माता कैकसी अपने वंशनाश की कल्पना कर पुत्रों से कहती है कि वे युद्ध न करें। लेकिन जब पुत्र युद्ध से मुँह मोड़ना नहीं चाहते हैं, तो यह कह वह वृद्ध माता संतोष की साँस लेती है कि विधि-विधान होकर ही रहेगा। मंदोदरी भी पहले पति को युद्धभूमि में जाने से रोकती हैं और रामचंद्र जी से संधि करने की सलाह देती हैं, परंतु जब रावण पर उसका प्रभाव पड़ता नहीं दिखायी देता, तो वह वीर पत्नी की तरह, क्षत्राणी की भाँति, पति को रण-रंग में कूदने के लिए उत्साहित करती है। उन्होंने इंद्रजित् जैसे शूर-वीरों को जन्म दिया है और वीर पत्नी ही नहीं, वीर माता भी बन गयी हैं। इस प्रकार गोनबुद्धा रेड्डी के रावण के परिवार को एक आदर्श क्षत्रिय परिवार के रूप में तथा रावण को उच्च गुण-संपन्न, प्रतिभावान तथा रामचंद्र जी के प्रतिद्वंद्वी होते हुए भी, अनन्य भक्त के रूप में (भौतिक और आध्यात्मिक पक्ष) चित्रित किया है। भारतीय भाषाओं के और किसी भी रामायण में इतनी विशेषताएँ नहीं पायी जातीं, जितनी इस रंगनाथरामायण में हैं। यह कवि की स्वतंत्र कल्पना, समभाव तथा विशाल हृदय का द्योतक है।

भास्कररामायण—यह मंत्री भास्कर द्वारा विरचित रामायण है। इसलिए उस कवि के नाम पर वह 'भास्कररामायण' कहलाया। तेलुगु-साहित्य में 'रंगनाथरामायण' के पश्चात इसी का अधिक महत्व है। यह रामायण भी वाल्मीकि प्रणीत मूल रामायण के अनुसरण पर तैयार किया गया है। इसमें केवल ६ कांड लिखे गए हैं। सातवाँ पूरा नहीं किया गया। छठों खंड अर्थगांभीर्य, पदलालित्य इत्यादि विशिष्टताओं से पूर्ण हो तिक्कना आदि महाकवियों के मार्ग में रचित हैं। भास्कर कवि ने उत्तरकांड की रचना नहीं की थी, इसलिए श्री कंकंटि पापिराजु जी ने संपूर्ण उत्तरकांड को भास्कर कवि के पांडित्य व शैली के अनुरूप बनाया है। इनका काव्य करुण रस से पूर्ण और गंभीर बन पड़ा है। लक्ष्मण के शील-स्वभाव तथा जानकी जी के पातिव्रत धर्म विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें कवि को जो सफलता प्राप्त हुई, वह अद्वितीय है। यही नहीं, अनेक नीतिबोधक विषयों से पूर्ण हो, पंडित और पामर जनों का मनोरंजन कर सकने वाली कई रस-प्रधान घटनाओं से यह शोभित है। इसलिए उत्तरकांड दूसरे कवि द्वारा रचित होने पर भी वह 'भास्कररामायण' का मूल कवि द्वारा रचित परिशिष्ट ही प्रतीत हो रहा है।

इस रामायण में कवि ने अपनी कल्पना की चतुरता व काव्य-चमत्कारों द्वारा अपने पांडित्य का प्रदर्शन किया है। परंतु उल्लेखनीय नई घटनाओं का इसमें समावेश नहीं किया गया है। रामायण की कथा-वस्तु को दृष्टिपथ में रखकर भास्कर कवि ने स्वतंत्र रूप से काव्य उपस्थित किया है। चरित्र-चित्रण तथा प्राकृतिक वर्णन इस काव्य की विशेषताएँ हैं।

मोल्लरामायण—आंध्र-भूमि में इनके पूर्व भी एक दो कवयित्रियाँ हुई हैं, परंतु कवयित्रियों में महाकाव्य की रचना इन्होंने ही प्रथम की है। मोल्ल श्री रामचंद्र की अनन्य भक्तिनी थीं। इसलिए उन्होंने अपने आराध्य देव की जीवनी सरस एवं सरल शैली में प्रस्तुत की है। कवयित्री ने अपने काव्य का आशय स्वयं बताया है—

> **राजित कीर्तियैन रघुराम चरित्रमु मुन् गवीश्वरुल्**
> **तेजमोलर्प जेप्पिरनि तेल्सियु ग्रम्मर जेप्पनेल ननु**
> **भूजन कल्पकं बगुचु भुक्तिकि, मुक्तिकि मूलमैन या**
> **राजुनु दैवमैन रघुरामु नुतिंचिन दप्पु गलगुने।**

जिस रघुराम के चरित्र की कीर्ति अत्यंत दीप्तिमान है, उनका वर्णन इसके पूर्व भी कई कवियों ने अत्यंत महत्व पूर्ण पद्धति में किया है। यह जानते हुए भी मेरे देवता व राजा तथा पृथ्वी के कल्प के समान श्री रामचंद्र जी की स्तुति (रामायण-काव्य-द्वारा) इसलिए कर रही हूँ कि जिससे मुझे इह और परलोक दोनों की सिद्धि होगी।

काव्य के प्रारंभ में कवयित्री ने यह भी बताया है कि भगवान की प्रेरणा से ही उन्होंने काव्य की रचना की है। स्वांत:सुखाय की दृष्टि से विरचित होने के कारण इसका महत्व और भी बढ़ गया है। तेलुगु के कई कवियों ने अपने पांडित्य के प्रदर्शनार्थ काव्य-रचना की है। मोल्ला इस प्रवृति से सर्वथा दूर रहीं। प्रारंभ में विनम्रता के साथ कवियों से प्रार्थना की है—

> **चेप्पुमनि रामचन्द्रडु**
> **सेप्पिंचिन पलुकु मीद जेप्पेद ने ने**
> **ल्लप्पुडु निह पर साधन**
> **मिप्पुण्य चरित्र तप्पुलेंचकुडु कवुल।**

रामचंद्र जी के अनुरोध पर ही मैं यह काव्य कह रही हूँ। वे ही मेरी जिह्वा पर विराजमान हो कहलवा रहे हैं। मैं इसलिए कह रही हूँ कि उनके पवित्र एवं पुण्य प्रदान करने से, चरित्र के कहने से इह और पर दोनों प्राप्त होंगे।

शैली के सम्बन्ध में भी कवयित्री ने बताया है कि सरल और सरस शैली ही जनरंजक हो सकती है। गूढ़ एवं निगूढ़ भावों से भरा काव्य गूंगे के लिए गुड़ के समान सर्वसाधारण के लिए अनुपयोगी सिद्ध होगा।

कवयित्री ने किन परिस्थितियों में रामायण की रचना की, उसके स्मरण मात्र से हम लोगों का हृदय द्रवीभूत हो जाता है। उनके प्रतिद्वंद्वियों ने रामायण-काव्य की रचना को रोकने के समस्त प्रकार के प्रयत्न किए। दंतकथाओं से पता चलता है कि कवयित्री ने सात दिन के भीतर ही रामायण समाप्त किया।[1] कवयित्री जिस कांड की रचना प्रारंभ करतीं, तो उस कांड से संबंधित समस्त घटनाएँ उनके मनोनेत्रों के सामने झलक जातीं। इसलिए काव्य में ऐसे अनेक हृदयस्पर्शी स्थल हमें दिखाई देते हैं, जिनको पढ़ते समय हम यह अनुभव करने लगते हैं कि मानों वे घटनाएँ हमारे समक्ष घट रही हों। कहा जाता है कि कृष्ण देवराय के दरबारी कवि (अष्टदिग्गजों में से एक) तेनालि रामकृष्ण कवि मोल्ला की काव्य-रचना के समय वहाँ पर उपस्थित थे और उनकी कविताशक्ति पर चकित हुए थे।

मोल्ला गोपवरम के देवता श्री कंठमल्लेशु की उपासिका थीं। उन्हीं के वरदान से उन्हें असाधारण कविता शक्ति प्राप्त हुई। कवयित्री ने आदिकवि वाल्मीकि की स्तुति भी की है। दंडपाणि (धनुषधारी) रामचंद्र सदैव ही उनकी ध्यानमूर्ति थे। अंत में वह अपने काव्य को भगवान श्री रामचंद्र जी के चरणों में ही समर्पित करती हैं। यह अत्यंत छोटा काव्य है। रामकथा की प्रधान घटनाओं का इसमें वर्णन हुआ है। रामचरित संक्षिप्त रूप में एक बड़ी सरस पद्धति में वर्णित है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का वर्णन तो है ही, साथ ही कवयित्री ने अपने आपको ही माधुर्य-भावना से प्रेरित होकर उनके चरणों में अर्पित किया है।

इनके अतिरिक्त आध्यात्मरामायण, गोपीनाथरामायण, संपूर्णरामायण, विचित्ररामायण आदि नामों से अनेक रामायण उपलब्ध हैं, जिनमें अधिकांश संस्कृत रामायण के अनुवाद मात्र हैं। कवियों ने अपनी प्रतिभा व पांडित्य के द्वारा एकाध स्थान को और भी सरस बना दिया है, तो कहीं नीरस स्थलों का संक्षिप्तीकरण भी किया है। इसलिए हम २०वीं सदी के कुछ अनुवादों पर थोड़ा-सा प्रकाश डालकर आगे बढ़ते हैं।

'आनंदरामायण' नाम से एक और रामायण तेलुगु में उपलब्ध है। इसमें लेखक ने वाल्मीकि कथित गाथाओं के अतिरिक्त कुछ अवाल्मीकि वृत्तांत भी जोड़ कर इसे गेय रूप प्रदान किया है। हरिकथा (सत्य-नारायण कथा जैसे) रूप में रचित होने के कारण श्रोताओं को मनोरंजन करने में यह अधिक सफल सिद्ध हुई है। प्रबुद्ध पाठक काव्यत्व को प्रधानता देते हों, किंतु साधारण प्रजा तथा श्रोता गेय पद्धति को ही पसंद करते हैं। इन कारणों से रामकथा अनेक रूपों में रची गई है।

'वाल्मीकिरामायण' के अनुवादों में श्री वाविलिकोलनु सुब्बाराव, श्री जनमंचि शेषाद्रि शर्मा की रामायण अत्यंत विख्यात है। अनुवादों में ही अधिक जनप्रिय हैं। श्री जनमंचि शेषाद्रि शर्मा ने 'वाल्मीकिरामायण' का सुंदर पद्यानुवाद (प्रायः सबने पद्यानुवाद किया है) किया, जिस पर मुग्ध हो साहित्य प्रेमी जगत ने उन्हें "अभिनवांध्र वाल्मीकि" उपाधि प्रदान की। इन्होंने संस्कृत के अनेक पुराणों का भी अनुवाद किया है। रामचरित संबंधी इनका दूसरा ग्रंथ श्री रामावतार तत्व है। इनकी भाषा सेवा के परिणाम स्वरूप आंध्र विश्वविद्यालय ने इन्हें "कलाप्रपूर्ण" की उपाधि से विभूषित किया था।

रामायणकल्पवृक्ष—रामायण, रामकथा व रामचरित से संबंधित रचना व काव्यों का स्रोत आज भी जारी है। आधुनिक तेलुगु-साहित्य के प्रसिद्ध कवि श्री विश्वनाथ सत्यनारायण (कवि सम्राट) ने हाल ही में 'रामायणकल्पवृक्ष' नाम से रामायण प्रस्तुत की है। आधुनिक तेलुगु-साहित्य जगत में इन्हें अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इनकी साहित्यिक रचना का मार्ग और कवियों से सर्वथा भिन्न है। ये लोकाभिरुचि के अनुरूप कृतियों की रचना के विरुद्ध हैं। इनका कथन है कि उत्तम कवि व रचयिता को जगत का मार्गदर्शन भलीभाँति मालूम है। इसलिए वह अपने पथ के अनुकूल काव्य-वस्तु को चुन सकता है। महाकवि ने अपने रामायण की रचना का अभिप्राय व्यक्त किया है, जिससे पता चलता है कि वे केवल भक्ति से प्रेरित होकर इस काव्य-रचना में नहीं लगे। 'वाल्मीकिरामायण' से कुछ भिन्न घटनाओं तथा दृश्यों

---

[1] विस्तृत विवरण चाहनेवाले पाठक बंधु "आन्ध्रमीरा मोल्लांबा" नाम से 'विशाल भारत', फरवरी, '५५ में प्रकाशित लेखक की रचना को देखने का कष्ट करें।

का भी कवि ने अपने ढंग से वर्णन किया है, जो इस काव्य के महत्व को और भी बढ़ाने में समर्थ हुए हैं। स्थलाभाव के कारण हम उन पर पूर्ण रूप से यहाँ प्रकाश नहीं डाल पा रहे हैं।

'वाल्मीकिरामायण' का गद्यानुवाद श्री श्रीनिवास शिरोमणि ने किया है और वह इस समय क्रमशः 'आंध्र-पत्रिका' दैनिक के रविवारीय विशेषांकों में छप रहा है। यह भी अपने ढंग का है।

इस प्रकार तेलुगु में असंख्य रामायण रचे गए हैं। इन सबका मूल स्रोत 'वाल्मीकिरामायण' ही है। कुछ कवियों ने वाल्मीकि प्रोक्त आख्यायिका एवं उपाख्यायिकाओं को जोड़ दिया अथवा परिवर्तन किया, तो कुछ कवियों ने बीच-बीच में सम्बन्ध रखने वाली सुंदर कथाओं का समावेश कराकर और भी मौलिक बनाया, तो कुछ कवियों ने संक्षिप्तीकरण किया। इस प्रकार तेलुगु में रामकथा काव्यों के रूप में ही नहीं, अपितु कीर्तन, गीत व भजन के रूप में भी वर्णित है।

आंध्र देश में रामचरितों की भाँति रामभक्तों की संख्या भी अधिक है। रामभक्तों में पोतना, रामदास और त्यागराज विशेष प्रसिद्ध हैं। इन लोगों की जीवन-संबंधी कथाओं से मालूम होता है कि रामचंद्र जी ने इन सबको दर्शन दिए थे। रामदास का पहला नाम गोपन्ना था। ये बाद को रामचंद्र के भक्त हुए और अंत में उनके दास (रामदास) ही हो गए। तीनों ने दास्यभाव से रामचंद्र जी की उपासना की। रामदास का दाशरथी शतक उनकी रामभक्ति का उत्तम उदाहरण है। इसमें एक भक्त का अपने आराध्य के प्रति निवेदन भरा है। इनकी भक्ति की श्रेष्ठता की गवाही देनेवाली असंख्य कथाएँ जनपदों में प्रचलित हैं। अंत में रामचंद्र जी के लिए ६ लाख रुपए (खजाने के) खर्च करके मंदिर और आभूषण बनाए। परिणामस्वरूप इन्हें जेल में यम-यातनाएँ भोगनी पड़ीं। अंत में रामचंद्र जी ने इन्हें जेल से छुड़ाया।

पोतना तेलुगु-भक्ति का उज्ज्वल उदाहरण है। इनके मुँह पर सदा राम-नाम का मंत्र ही उच्चरित होता था। भक्त त्यागराज रामचंद्र जी पर अनेक गीत बना-बनाकर गाया करते थे। वे इन भौतिक सुखों की अपेक्षा राम-नाम उच्चारण मात्र को ही अधिक श्रेष्ठ मानते थे। इस प्रकार रामचरित काव्य, कथा, भजन और कीर्तन सभी रूपों में वर्णित है। जनता विविध रूपों में अपने आराध्य का स्मरण कर जीवन को धन्य मानती दिखाई देती है।

देवगढ़ और इलोरा के रामायण-संबंधी दृश्य

श्री भास्करनाथ मिश्र

*　　　　　*

रामकथा का प्रसार संभवतः ६ठी शती ई० पू० से आरंभ हुआ और ३री शती ई० पू० से ३री शती ईसा तक की अवधि में रामायण की रचना[1] की गई ; किंतु भारतीय शिल्प में रामचरित का अंकन पहलेपहल गुप्तकालीन स्मारकों में हुआ। इनमें से झाँसी जिले के अंतर्गत कलकल-निनादिनी बेतवा के कछार में खड़ा हुआ छठी शती ईसा का विष्णु-मंदिर[2] अपने रामायणी दृश्यों के लिए अति प्रसिद्ध है। इस मंदिर की चौकी तथा स्तंभ पर ये दृश्य इस प्रकार अंकित हैं :

(अ) **वाल्मीकिआश्रम**[3]—यह दृश्य एक स्तंभ[4] पर अंकित है। अपने आश्रम में बैठे हुए महर्षि वाल्मीकि अपने शिष्य भारद्वाज ऋषि को संभवतः गाथाएँ सुना रहे हैं। दोनों ऋषि मोढ़ों पर विराजमान हैं। बीच में एक मूर्ति के सामने तिपाई पर एक सुराही रक्खी है। यह मूर्ति ब्रह्मा की जान पड़ती है[5]।

(आ) **अहल्योद्धार**[6]—यह दृश्य उस समय का है, जब दाशरथि राम और लक्ष्मण मुनि विश्वामित्र के साथ धनुष-यज्ञ देखने मिथिला जा रहे हैं। रास्ते में उन्हें गौतम-आश्रम[7] दीख पड़ा। वहाँ उन्हें एक शिला[8] भी दीख पड़ी। पूछने पर विश्वामित्र ने बताया कि यह शिलारूप गौतम-नारी है, जिसकी यह दशा शापवश हुई है। दृश्य में धनुषधारी राम अपना दाहिना पैर और दाहिना हाथ अहल्या के सिर पर रक्खे हैं। अहल्या के हाथों में राम का दाहिना पैर है, जिस पर वह पुष्पाञ्जलि चढ़ा रही है। पीछे खड़े धनुर्धर लक्ष्मण विस्मयपूर्वक प्रभु-लीला देख रहे हैं। विश्वामित्र जी एक दूसरी शिला पर बैठे प्रसन्नवदन राम से सारी घटना का विस्तार कह रहे हैं। पृष्ठभाग में सूर्यमुखी पुष्प और आम्रवल्लरियाँ झूम रही हैं। नालंदा[9] के मंदिर

---

[1] कामिल बुल्के कृत 'रामकथा', १९५०, पृ० ४८९।

[2] पं० माधोस्वरूप वत्स, देवगढ़ का गुप्तकालीन मंदिर, पुरातत्व विभाग का मेमाअर, सं० ७०, पृ० ११।

[3] यह आश्रम तमसा अर्थात् टोन्स नदी के किनारे था। टोन्स सरयू नदी की एक शाखा है—दि ज्यूग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐंशियंट ऐंड मीडिवियल इंडिया—एन० एल० डे, पृ० २०२; गंगानाथ झा संस्थान-पत्रिका, भाग ५, १९४६, पृ० ४३१

[4] मेमाअर आफ दि आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, नं० ७०, पृ० २९, फलक १४ (एफ)

[5] भरद्वाजस्ततः शिष्यो विनीतः श्रुतवान गुरोः। कलशं पूर्णमादाय पृष्ठतोऽनुजगाम ह ॥
स प्रविश्याश्रमपदं शिष्येण सह धर्मवित्। उपविष्टः कथाश्चान्याश्चकार ध्यानमास्थितः ॥
आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्त्ता स्वयंप्रभुः। चतुर्मुखो महातेजा द्रष्टुं तं मुनिपुंगवम् ॥
नारायणस्वामी-कृत 'श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्', १९३३, बालकांड, सर्ग २, श्लोक २१–२३.

[6] देवगढ़, वही पृ० १६, फलक १५ (अ)

[7] यह आश्रम, तिरहुत-स्थित जनकपुर से कुछ फासले पर था—Geographical Dictionary. p. 254.

[8] रघुवंश, सर्ग ११, ३४। लगता है कि गुप्तकालीन संस्कृत-साहित्य में अहल्या के शिला-रूप हो जाने का जो उल्लेख है, वही इस दृश्य का प्रमाण और आधार है ; क्योंकि रामायण के अनुसार अहल्या शापवश अदृश्य हो गई और राम के आगमन तक तप करती रही। यथा—
तथा शप्त्वा स वै शक्रमहल्यामपि शप्तवान्। इह वर्षसहस्राणि बहूनि त्वं निवत्स्यसि ॥
वायुभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी। अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन्निवत्स्यसि ॥
यदा चैतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः। आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि ॥
तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता। मत्सकाशे मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि ॥
एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम्। इममाश्रममुत्सृज्य सिद्ध चारणसेविते ॥
रामायणम्—बालकांड, सर्ग ४८, श्लोक २९–३४
शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता। राघवौ तु ततस्तस्याः पादौ जगृहतुस्तदा ॥
वही—सर्ग ४९, श्लोक १९.

[9] उत्तरप्रदेश-इतिहास-परिषद् का मुखपत्र, भाग २३, पृ० १९९, फलक ४, चित्र २।

सं० २ की चौकी के चारों ओर लगे हुए पत्थर के चौपटिए ७वीं शती के हैं। इनमें से एक में अहल्योद्धार का दृश्य दिखाया गया है। दृश्य में धनुर्धर राम खड़े हैं और दाहिने हाथ से शिला को छू रहे हैं। राम के संमुख शिला से सटी हुई, हाथ जोड़े, घुटने टेके अहल्या बैठी है।

(इ) वन-गमन[1]—इस दृश्य[2] में राम, लक्ष्मण और सीता वन पधार रहे हैं। राम के बाएँ लक्ष्मण और दाएँ सीता हैं। राम अपना धनुष बाएँ कंधे पर और लक्ष्मण अपना धनुष बाएँ हाथ में लिए हैं। सीता ने तड़ागी, कुंडल, एकावली और वलय आदि पहन रक्खे हैं। दृश्य वन-गमन का है, इसलिए सीता की यह वेशभूषा शिल्पी की स्वतंत्र विचारधारा का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(ई) अत्रि मुनि के आश्रम[3] में राम—इस दृश्य[4] में राम और अत्रि मुनि शिला पर बैठे हैं। लक्ष्मण पीछे खड़े हैं। आगे सीता भूमि पर दाहिना हाथ टेके बैठी हैं। उनके पीछे सती अनसूया विराजमान हैं; इनका हाथ सीता जी के सिर पर रक्खा है और इनके दाहिने पैर के पास दो पक्षी विचर रहे हैं। वार्तालाप एक वृक्ष के नीचे हो रहा है। अत्रि मुनि बाएँ हाथ में ग्रंथ लिए दाहिना हाथ उठा कर राम को कुछ समझा रहे हैं। यहाँ सीता को जटाजूटधारिणी दिखाया गया है और वे संभवतः पुष्पाभरण पहने हुई हैं[5]।

(क) शूर्पणखा की दुर्गति[6]—पंचवटी[7] के इस दृश्य में शिला पर बैठे हुए राम दाहिने हाथ से लक्ष्मण को कुछ संकेत कर रहे हैं। लक्ष्मण खड़े हैं और बाएँ हाथ से लोटती हुई शूर्पणखा का झोंटा पकड़े हुए हैं और अपने उठे हुए दाहिने हाथ में एक कटार थामे हुए हैं। शूर्पणखा की व्याकुलता और अपने कार्य में लक्ष्मण की तत्परता दर्शनीय है।

राम और सीता का पंचवटी-निवास नालंदा[8] के उक्त मंदिर की चौपट्टी सं० १०३ में भी दिखाया गया है[9]।

---

[1] देवगढ़, वही, पृ० १६, फलक १५, (ब)

[2] ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सपत्न्यः सहबान्धवाः। गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः॥
उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च। एकदुःखसुखा राममनुगच्छाम धार्मिकम्॥
रामायणम्—अयोध्याकांड, सर्ग ३३, श्लोक १६-१७
नहि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः। तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥
अयोध्याकांड—सर्ग ३७, श्लोक २९
कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्। न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा॥
अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्। भ्रातरं देव संकाशंयस्त्वं परिचरिष्यसि॥
अयोध्याकांड—सर्ग ४०, श्लोक २४-२५

[3] यह आश्रम बुंदेलखंड-स्थित कामतानाथ गिरि अर्थात् चित्रकूट के आसपास था।

[4] देवगढ़, वही, पृ० १६-१७, फलक १६ (अ)

[5] सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः। तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्यपद्यत॥
स्वयमातिथ्यमादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम्। सौमित्रिं च महाभागां सीतां च समसान्त्वयत्॥
पत्नीं च समनुप्राप्तां वृद्धामामन्त्र्य सत्कृताम्। सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः॥
अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम्। प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमब्रवीदृषिसत्तमः॥
रामायणम्—अयोध्याकांड, सर्ग ११७, श्लोक ५-८

[6] देवगढ़, वही, पृ० १७, फलक १७ (ए)

[7] गोदावरी नदी पर स्थित वर्तमान नासिक

[8] उत्तरप्रदेश-इतिहास-परिषद पत्रिका, २३, पृ० १९९, फलक १-२

[9] राममिन्दीवरश्यामं कंदर्पसदृशप्रभम्। बभूवेन्द्रोपमं दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता॥
रामायणम्—अरण्यकांड, सर्ग १७, श्लोक ९
रामायण के अनुसार शूर्पणखा पहले राम को देखती और 'काम-मोहिता' होती है; किंतु गुप्त जी ने 'पंचवटी' में उसका साक्षात्कार पहले लक्ष्मण से कराया है।
इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः। उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासं महाबलः॥
निकृत्त कर्णनासा तु विस्वरं सा विनद्य च। यथागतं प्रदुद्राव घोरा शूर्पणखा वनम्॥
अरण्यकांड—सर्ग १८, श्लोक २१-२२

बालि सुग्रीव युद्ध

गंगावतरण

रावण और जटायु

बालि वध

रावण और सीता (नालन्दा)
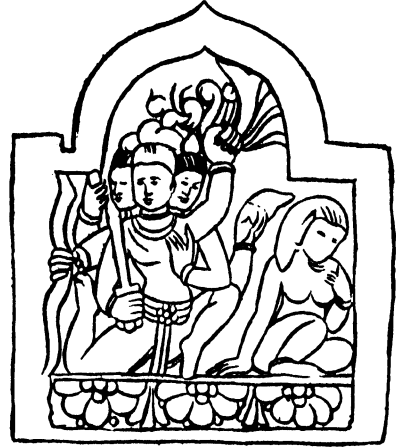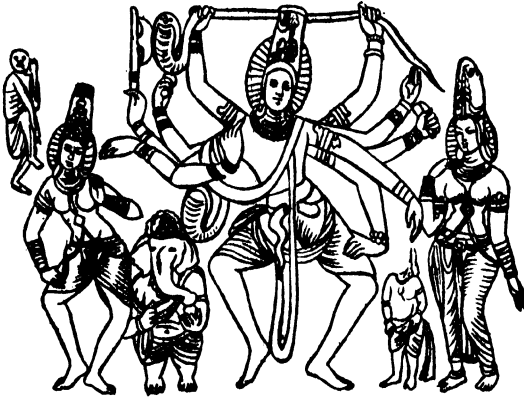
शिव परिवार

राम और अहल्या

रावण-तप
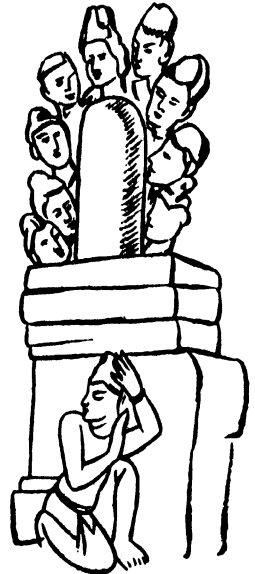
रावण की मस्तक द्वारा शिवपूजा

(ख) दंडकवन[1] में राम—दृश्य[2] उस समय का है, जब शूर्पणखा के रोने-धोने पर खरदूषणने दल-बल सहित राम पर चढ़ाई की थी। यहाँ राम और लक्ष्मण को राक्षसों का वध करते हुए दर्शाया गया है। राम धनुष पर बाण-संधान कर रहे हैं और लक्ष्मण अपने धनुष पर डोरी चढ़ा रहे हैं। राम के बाईं ओर स्थित अशोकवृक्ष वन का द्योतक है[3]।

(ग) सीता-हरण—इस दृश्य[4] में रावण सीता को डरा-धमका कर उन्हें उठा ले जाने की फिराक में है। शोकाकुल सीता धराशायी हो गई हैं। रावण झुक कर उन्हें उठा रहा है। नालंदा[5] के उक्त मंदिर की चौपट्टी सं० १०२ में लंकाधिपति को तीन मुख और छः भुजाओं वाला दिखाया गया है। अपने तीन दाहिने हाथों में वह धनुष, खड्ग और कर्त्तरी लिए हुए है। उठे हुए बाएँ हाथ में वह दोपट्टा तथा निचले बाएँ हाथ में बाण लिए हुए है। बिचले हाथ से वह तर्जनी मुद्रा का प्रदर्शन करते हुए सीता को त्रस्त कर रहा है। उसके गतिशील पैरों से ऐसा भासित हो रहा है कि वह आकाश में उड़ रहा है। सीता मुँह फेर कर बैठी हैं। स्पष्ट है कि वे रावण के कुकृत्य से पूर्णरूपेण संतप्त हैं[6]।

(घ) राम और हनुमान—श्रीराम और उनके अनन्यभक्त अंजनीपुत्र हनुमान की प्रथम भेंट इस चौपट्टी[7] का विषय है। यह भेंट ऋश्यमूक[8] पर्वत के आसपास हुई थी। इस पर्वत पर रहनेवाले वानर-राज[9] सुग्रीव ने जब राम और लक्ष्मण को अपनी ओर आते देखा, तो सशंकित होकर हनुमान को उनके पास यह जानने के लिए भेजा कि कहीं ये लोग वालि के भेजे हुए तो नहीं हैं। यदि ऐसा हो, तो वह अपने दल-सहित ऋश्यमूक पर्वत छोड़कर अन्यत्र चला जाय[10]।

(च) राम-भक्त सुग्रीव—संभवतः इस पट्ट[11] पर गदाधारी सुग्रीव अपनी ठोढ़ी पर अँगुली टिकाए राम के अलौकिक क्रियाकलापों पर अचरज दिखा रहे हैं। शायद सात सालवृक्षों को एक ही संधान में छेद डालनेवाली घटना का सुग्रीव पर बड़ा प्रभाव पड़ा है और उन्हें आशा हो चली है कि राम उनके प्रतिद्वंद्वी वालि को मार कर उनके संतापों का अंत कर देंगे। यह दृश्य किष्किंधा नगरी का है[12]।

---

[1] यह वन महाराष्ट्र में स्थित था। [2] देवगढ़, वही, पृ० १७, फलक १६ (ब)।

[3] प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमात्मवान्। ददर्श रामो दुर्धर्षस्तापसाश्रममण्डलम्॥
कुशचीरपीरक्षिप्तं ब्राह्मया लक्ष्म्या समावृतम्। यथा प्रदीप्तं दुर्दर्शं गगने सूर्यमण्डलम्॥
रामायणम्—अरण्यकांड, सर्ग १, श्लोक १–२

[4] देवगढ़, वही, पृ० १७। [5] उ० प्र० इतिहास पत्रिका, २३, पृ० १६६, चित्र ५, मूर्तिपट्ट १०२।

[6] स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः। प्रत्यदृश्यत हेमाङ्गो रावणस्य महारथः॥
ततस्तां परुषैर्वाक्यैर्भर्त्सयन् स महास्वनः। अङ्केनादाय वैदेहीं रथमारोपयत्तदा॥
अरण्यकांड, सर्ग ४९, श्लोक १९–२०

[7] देवगढ़, वही, पृ० २६

[8] दक्षिण भारत की कृष्णा नदी की सहायक नदी तुंगभद्रा के किनारे स्थित अनगंदी स्थान से आठ मील दूर यह पर्वत है।

[9] रामायण के वानरों को दक्षिण की आदिवासी अनार्य जाति का माना जाता है—'रामकथा', पृ० ११७

[10] वचो विज्ञाय हनुमान् सुग्रीवस्य महात्मनः। पर्वतादृश्यमूकात्तु पुप्लुवे यत्र राघवौ॥
कपिरूपं परित्यज्य हनुमान् मारुतात्मजः। भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः॥
रामायणम्—किष्किंधाकांड, सर्ग ३, श्लोक १–२

[11] देवगढ़ वही, पृ० २७।

[12] एतच्च वचनं श्रुत्वा सुग्रीवेण सुभाषितम्। प्रत्ययार्थं महातेजा रामो जग्राह कार्मुकम्॥
स गृहीत्वा धनुर्घोरं शरमेकं च मानदः। सालमुद्दिश्य चिक्षेप ज्यास्वनैः पूरयन् दिशः॥
स विसृष्टो बलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः। भित्त्वा सालान् गिरिप्रस्थं सप्तभूमिं विवेश ह॥
प्रविष्टश्च मुहूर्तेन धरां भित्त्वा महाजवः। निष्पत्य च पुनस्तूर्णं स्वतूणीं पुनराविशत॥
तान् दृष्ट्वा सप्त निर्भिन्नान् सालान् वानरपुंगवः। रामस्य शरवेगेन विस्मयं परमं गतः॥
स मूर्च्छा न्यपतद्भूमौ प्रलम्बीकृतभूषणः। सुग्रीवः परमप्रीतो राघवाय कृताञ्जलिः॥
रामायणम्—किष्किंधाकांड, सर्ग १२, श्लोक १–६

रावण और कैलास, इलोरा
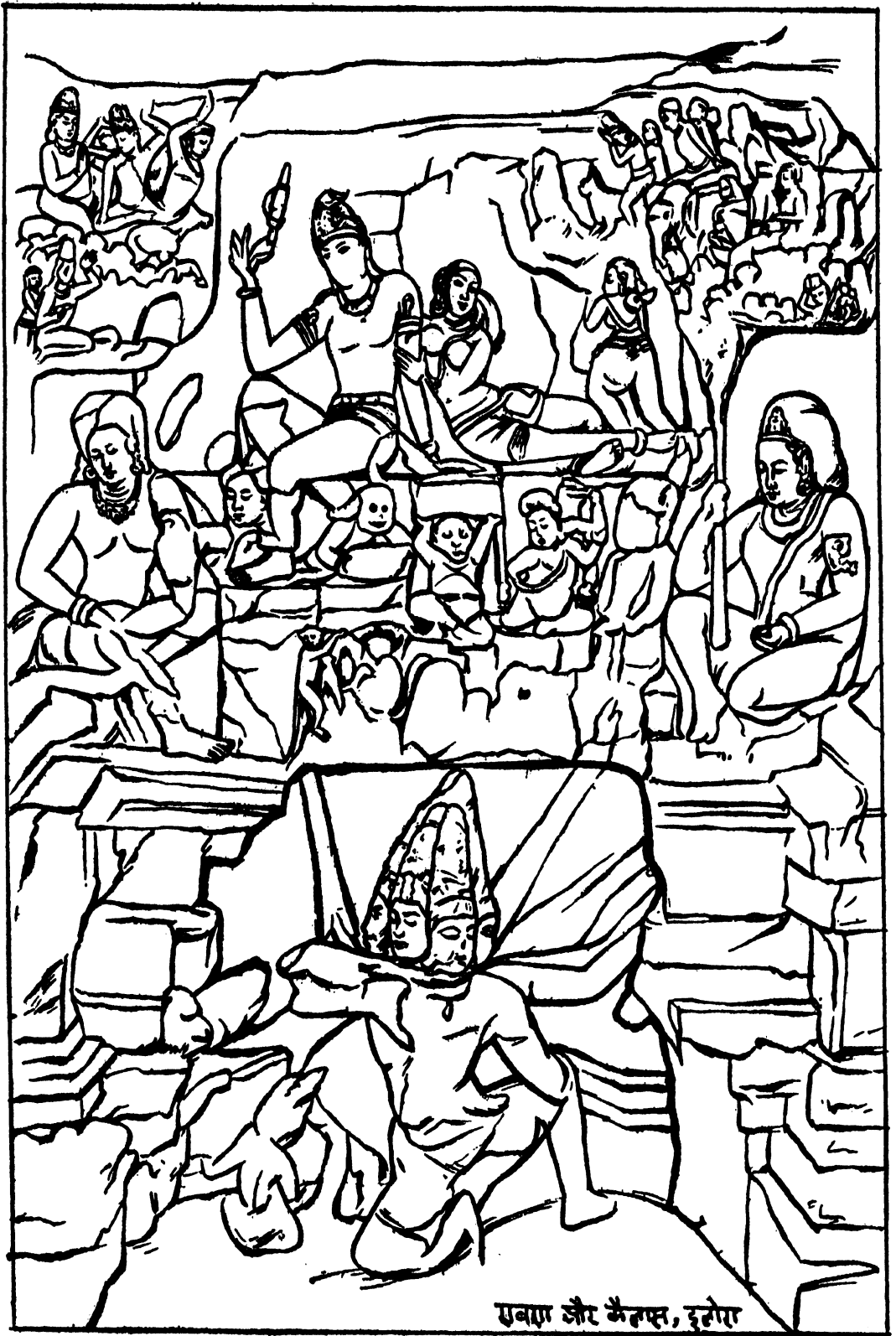
(छ) किष्किंधा[1] में राम—इस पट्ट[2] पर राम, लक्ष्मण और सुग्रीव प्रदर्शित हैं। राम के कहने पर लक्ष्मण सुग्रीव को हार पहिना रहे हैं।[3] सुग्रीव और वालि रंग-रूप में इतने मिलते-जुलते थे कि मल्लयुद्ध के समय राम वालि को पहिचान न पाते थे ; इसीलिए वे वालि पर बाण न चला पाते थे।

(ज) वालि और सुग्रीव का युद्ध—किष्किंधा में हुए वालि और सुग्रीव के मल्लयुद्ध[4] का प्रदर्शन इस पट्ट[5] पर किया गया है। सुग्रीव ने अपने शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी को भूमि पर पछाड़ दिया है। पास ही गदाधारी हनुमान भी खड़े हैं।

(झ) लक्ष्मण और सुग्रीव—यह दृश्य[6] उस समय का है, जब वालि-वध के बाद राम ने सुग्रीव को किष्किंधा का राजा घोषित कर दिया था और सुग्रीव ने सीता की खोज करने का वचन दिया था ; किंतु राजमद में आकर वे कर्तव्य-विमुख हो गए थे। यहाँ उन्हें सुरापान करते हुए दिखाया गया है। उनके पीछे उनकी स्त्री रुमा और दाहिने भतीजा अंगद तथा बाएँ हनुमान उपस्थित हैं। क्रुद्ध लक्ष्मण को आया देख ये दोनों सुग्रीव से उनका स्वागत करने का आग्रह कर रहे हैं।[7] लक्ष्मण की मूर्ति खंडित होने से स्पष्ट नहीं है।

(त) सेतुबंध[8]—बड़े-बड़े शिलाखंड लेकर कतार बाँध कर जाते हुए वानर इस पट्ट पर दिखाए गए हैं।[9] संभवतः भारत और लंका के बीच पुल बाँधने का यह सामूहिक प्रयास जान पड़ता है। सारनाथ के एक शिलाखंड (G–३७) पर यह दृश्य बड़ा भला बन पड़ा है।[10]

(थ) अशोकवाटिका[11] में सीता—यह पट्ट[12] बहुत कुछ नष्ट हो चुका है ; किंतु इतना स्पष्ट है कि रावण यहाँ सीता को अनेक प्रलोभन[13] देने के बाद असफल होता हुआ दिखाया गया है और अब

---

[1] यह नगर दक्षिण भारत की तुंगभद्रा नदी के किनारे बसा था। कुछ लेखक इसे मध्य भारत में स्थित मानते हैं—'रामकथा' पृ० ११६ [2] देवगढ़, वही, पृ० १७–१८, फलक १७ (ब)।

[3] गजपुष्पीमिमां फुल्लामुत्पाटय शुभलक्षणाम् । कुरु लक्ष्मण कण्ठेऽस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।।
ततो गिरितटे जातामुत्पाटय कुसुमाकुलाम् । लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कण्ठे व्यसर्जयत ।।
रामायणम्—किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग १२, श्लोक ३९–४०

[4] स तं दृष्ट्वा महावीर्यं सुग्रीवं पर्यवस्थितम् । गाढं परिदधे वासो वाली परमरोषणः ।।
स वाली गाढसंवीतो मुष्टिमुद्यम्य वीर्यवान् । सुग्रीवमेवाभिमुखो ययौ योद्धं कृतक्षणः ।।
रामायणम्—किष्किधाकांड, सर्ग १६, श्लोक १६-१७

[5] देवगढ़, वही, पृ० २७। [6] देवगढ़, वही, पृ० १८, फलक १७ (सी)।

[7] अयं च दयितो राजंस्तारायास्तनयोऽङ्गदः । लक्ष्मणेन सकाशं ते प्रेषितस्त्वरयानघ ।।
सोऽयं रोषपरीताक्षो द्वारि तिष्ठति वीर्यवान् । वानरान् वानरपते चक्षुषा निर्दहन्निवा ।।
तस्य मूर्ध्ना प्रणम्य त्वं सपुत्रः सह बंधुभिः । गच्छ शीघ्रं महाराजं रोषो ह्यस्य निवर्त्यताम् ।।
यदाह रामो धर्मात्मा तत्कुरुष्व समाहितः । राजंस्तिष्ठ स्वसमये भव सत्यप्रतिश्रवः ।।
रामायणम्—किष्किंधाकांड, सर्ग ३१, श्लोक ४८–५१

[8] दशयोजनविस्तारं शतयोजनमायतम् । नलश्चक्रे महासेतुं मध्ये नदनदीपतेः ।।
स तथा क्रियते सेतुवनिरैर्घोरकर्मभिः । दण्डानन्ये प्रगृह्णन्ति विचिन्वन्ति तथापरे ।।
वानराः शतशस्तत्र रामस्याज्ञापुरःसराः । मेघाभैः पर्वताग्रैश्च तृणैः काष्ठैर्बबन्धिरे ।।
पुष्पिताग्रैश्च तरुभिः सेतुं बध्नन्ति वानराः । पाषाणांश्च गिरिप्रख्यान गिरीणां शिखराणि च ।।
दृश्यन्ते परिधावन्तो गृह्य वारणसंनिभाः । शिलानां क्षिप्यमाणानां शैलानां च पिपात्यताम् ।।
रामायणम्—युद्धकांड, सर्ग २२, श्लोक ६३–६७

[9] देवगढ़, वही, पृ० १७। [10] यह शिलाखंड अब हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस के संग्रहालय में सुरक्षित है। सेतुबंध का दृश्य इसके निचले भाग पर अंकित है।

[11] लंका-स्थित अशोकवाटिका। [12] देवगढ़, वही, पृ० १८, फलक १७ (डी)

[13] न रामस्तपसा देवि न बलेन न विक्रमैः । न धनेन मया तुल्यस्तेजसा यशसापि वा ।।
सुन्दरकांड, सर्ग २०, श्लोक ३४

तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता । निवर्तय मनो मत्तः स्वजने क्रियतां मनः ।।
सुन्दरकांड, सर्ग २१, श्लोक ३

धमकियों का प्रयोग कर रहा है। सीता की कठोर मुद्रा और शारीरिक संतुलन उनके पतिपरायणा होने के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

(ब) **मृत-संजीवनी**—इस पट्ट[1] पर हनुमान हिम-प्रदेश का एक खंड ले कर लंका की ओर उड़े जाते हुए दिखाए गए हैं। दृश्य उस समय का है, जब शक्ति के प्रहार से लक्ष्मण मरणप्राय हो गए थे और स्वयं राम को उनके जीवन के लिए बिलखना पड़ा था। यह हनुमान का ही कार्य था कि लंका के ख्यातिनामा वैद्य सुषेण को वे रातोंरात उठा लाए थे और उनकी सलाह से मृतसंजीवनी लाने हिमालय गए थे। औषधि की पहिचान न कर पाने के कारण वे पर्वत ही उपार कर ले आए।[2]

इलोरा

औरंगाबाद से १६ मील उत्तर-पश्चिम इलोरा की प्रसिद्ध गुफाएँ स्थित हैं।[3] उत्तर-दक्षिण ये लगभग एक मील की लंबाई में फैली हुई हैं। इनमें से कैलास-मंदिर अर्थात् रंगमहल अपने वास्तु-विन्यास और मूर्तिकला के लिए जग-प्रसिद्ध है। इसके वृहद आँगन की दालानों में बयालीस पौराणिक दृश्यों का हृदय-ग्राही अंकन है। इनमें से कुछ रामायणी दृश्य भी हैं। कैलास की तिथि आठवीं शती मानी गई है।[4]

(अ) **गंगावतरण**—कैलास-मंदिर के मंडप के सामने उत्तर में एक ऐसा वास्तुपट्ट[5] है, जिसमें उमा समेत चतुर्भुज शिव राक्षस की पीठ पर खड़े हुए दिखाए गए हैं। उठे हुए दाहिने हाथ में वे अपने केशों की एक लट पकड़े हैं, जो उनके मुकुट के सिरे से निकलती है। इस लट को छूती हुई स्त्री-मूर्ति रूपी गंगा की धारा है, जो लट से निकल कर जह्नु ऋषि तक पहुँचती है। वे उसे पी जाते हैं और तब गंगा उनके दाहिने कान के पास से उत्सरित होती है और पर्वत की चट्टानों में जा गिरती है। यहाँ एक हाथी और बकरा भी दृष्टिगत होते हैं। ऊपर गंगा की मूर्ति के पास हाथ जोड़े हुए तथा दाहिने पैर पर खड़े हो कर तपस्या करते हुए राजा भगीरथ दिखाए गए हैं। निचले भाग में संभवतः सप्तसिंधु की प्रतीक सात मूर्तियाँ हाथ जोड़े खड़ी हैं। ऐहोल[6] की ब्राह्मण-गुफा में भी गंगावतरण का दृश्य अंकित है। किंतु इसमें गंगा, यमुना तथा सरस्वती को हाथ जोड़े पट्ट के सिरे पर दिखाया गया है। शिव अपने पिछले हाथों में लटें पकड़े हैं। उनके दाएँ कृच्छतपस तथा बाएँ पैर पर खड़े हुए और आकाश की ओर दोनों हाथ उठाए भगीरथ विद्यमान हैं। नीचे शिव के गण एवं भक्त प्रदर्शित हैं।[7] जयपुरराज्य के सांभर स्थान पर एक ऐसे घड़े के अवशेष मिले हैं, जिसके ऊपर त्रिनेत्र शिव और नग्न स्त्री-मूर्ति रूपी गंगा के अंकन का आभास मिलता है। जिन्हें गुप्तकालीन माना गया है।[8]

(ब) **रावण का तप**—इस दृश्य[9] में दशानन रावण शिवलिंग की वेदी पर अपने सिरों की आहुति

---

[1] देवगढ़, वही, पृ० १८, फलक १७ (ई)।

[2] दृष्ट्वा हनुमतः कर्म सुरैरपि सुदुष्करम्। ततः संक्षोदयित्वा तामोषधीं वानरोत्तमः॥
लक्ष्मणस्य ददौ नस्तः सुषेणः सुमहाद्युते। सशल्यस्तां समाघ्राय लक्ष्मणः परवीरहा॥
रामायणम्—युद्धकांड, सर्ग १०२, श्लोक ३४–३६

[3] हैदराबाद, ए गाइड टु आर्ट ऐंड आर्कीटेक्चर, १९५१, पृ० २९। [4] वही, पृ० ३२,

[5] पश्चिमी भारतीय पुरातत्वीय सर्वेक्षण, ग्रन्थ सं० ५, इलोरा केव्स, पृ० २९, फलक ३६, चित्र १

[6] वही, पृ० ५१–५२, फ. सं. ४३ (चित्र १)

[7] विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशनीम्। तां शंकरजटाजूटाद्भ्रष्टां सागरतेजसा॥
अयोध्याकांड, सर्ग ५०, श्लोक २५

यतो भगीरथो राजा ततो गङ्गा यशस्विनी। जगाम सरितां श्रेष्ठा सर्वपापप्रणाशिनी॥
ततो हि यजमानस्य जह्नोरद्भुतकर्मणः। गङ्गा संप्लावयामास यज्ञवाटं महात्मनः॥
तष्या वलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धो यज्वा तु राघव। अपिबच्च जलं सर्वं गङ्गायाः परमाद्भुतम्॥
तस्माज्जह्नुसुता गङ्गा प्रोच्यते जाह्नवीति च। जगाम च पुनर्गङ्गा भगीरथरथानुगा॥
बालकांड, सर्ग ४३, श्लोक ३५–४०

[8] इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, ३० (१९५४), पृ० १५४–५५।

[9] इलोरा, वही, पृ० ३१; गंगानाथ झा संस्थान पत्रिका, भाग ८, अंक २, १९५१, पृ० १२९–१३४, चित्र २।

दे रहा है। लिंग के चारों ओर नौ मुंड हैं, जिनका आकार मुंडमाल की भाँति है।[1] शिव-भक्त रावण के दुष्कर तप का यह अंकन संभवतः भारत में अन्यत्र नहीं हुआ।

(ख) रावण और कैलास[2]—कैलास के मंडप के दक्षिणी-पश्चिमी सिरे पर यह दृश्य अंकित है। लंकेश रावण कैलासपति शिव को प्रसन्न करने के हेतु कैलास पर्वत उठा रहा है। पर्वत पर शिव अपने गणों के साथ और उमा अपनी सखियों के साथ विराजमान हैं। पर्वत के हिलने के कारण भयत्रस्त उमा शिव के शरीर से सटी जा रही हैं। शिव के गण रावण पर शिलापात कर रहे हैं। किंतु शिव अडिग हैं। उन्हें यह सब बाल-कौतुक लग रहा है। वे अपने चरण से कैलास को दबा कर दशानन के श्रम को निरर्थक किए दे रहे हैं।[3]

(द) सीता-हरण—इस दृश्य[4] में रथ पर एक मूर्ति बैठी है। एक पुरुष-मूर्ति ढाल-तलवार लिए हुए एक पक्षी की ओर झपट रही है। पक्षी भी अपनी चोंच से पुरुष-मूर्ति पर आक्रमण कर रहा है। पक्षी का बायाँ पैर कट गया है। संभवतः दृश्य सीता-हरण का है, जब कि जटायु ने पंचवटी में सीता को हर ले जाने वाले रावण से युद्ध किया था।

(क) वालि और सुग्रीव का युद्ध—कैलासमंदिर के आँगन के दक्षिणी दालान में यह दृश्य अंकित है। इसमें वालि और सुग्रीव परस्पर गुँथे हुए हैं और एक दूसरे को प्राणांतक पछाड़ देने के प्रयत्न में हैं।[5]

(ख) वालि-वध—उपर्युक्त पट्ट संख्या (क) के निचले भाग में मरणोन्मुख वालि को एक अन्य वानर (सुग्रीव ?) थामे हुए है। बाईं ओर संभवतः तारा खड़ी है और बालक अंगद राम के पैरों पर वंदना कर रहा है। राम अपने दाहिने हाथ से उसे सांत्वना दे रहे हैं। रामानुगामी लक्ष्मण उनके पीछे खड़े हैं।[6] संभवतः दृश्य वालि-वध के समय का है, जब कि उसने अंगद और तारा की सुरक्षा का भार राम और सुग्रीव को सौंपा।[7]

●●●

---

[1] रघुवंश। यह अंकन गुप्तकालीन संस्कृत-साहित्य में वर्णित शिव-भक्त रावण के तप का उदार दृश्य है। किंतु रामायण के अनुसार रावण ने ब्रह्मा को अपने शीश अर्पण किए थे, यथा—

दश वर्षसहस्राणि निराहारो दशाननः। पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्चाग्नौ जुहाव सः॥
एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः। शिरांसि नव चाप्यस्य प्रविष्टानि हुताशनम्॥
अथ वर्षसहस्रे तु दशमे दशमं शिरः। छेत्तुकामे दशग्रीवे प्राप्तस्तत्र पितामहः॥

रामायणम्— उत्तरकांड, सर्ग १०, श्लोक १०–१२

[2] इलोरा, वही, पृ० २४; गंगानाथ झा संस्थान पत्रिका, वही।

[3] तोलयामास तं शैलं स शैलः समकम्पत। चालनात् पर्वतस्यैव गणा देवस्य कम्पिताः॥
चचाल पार्वती चापि तदाश्लिष्टा महेश्वरम्। ततो राम महादेवो देवानां प्रवरो हरः॥
पादांगुष्ठेन तं शैलं पीडयामास लीलया। पीडितास्तु ततस्तस्य शैलस्याधोगता भुजाः॥
विस्मिताश्चाभवंस्तत्र सीचवास्तस्य रक्षसः। रक्षसा तेन रोषाच्च भुजानां पीडनात्तदा॥
मुक्तो विरावः सहसा त्रैलोक्यं येन कम्पितम्। मेनिरे वज्रनिष्पेषं तस्यामात्या युगक्षये॥
तदा वर्त्मस्थचलिता देवा इन्द्रपुरोगमाः। समुद्राश्चापि संक्षुब्धाश्चलिताश्चापि पर्वताः॥
यक्षा विद्याधराः सिद्धाः किमेतदिति चाब्रुवन। अथ ते मंत्रिणस्तस्य विक्रोशन्तमथाब्रुवनौ॥
तोषयस्व महादेवं नीलकण्ठमुमापतिम। तमृते शरणं नान्यं पश्यामोऽत्र दशानन॥
तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना राजन् भविष्यसि। देवता मानुषा यक्षा में चान्ये जगतीतले॥
एवमुक्तस्ततस्तेन रावणेन स शंकरः। ददौ खड्गं महादीप्तं चन्द्रहासमिति श्रुतम्॥

रामायणम्, सर्ग १६, श्लोक २६–३३, ३६, ४५

[4] इलोरा, वही, पृ० २७, फलक २५–३।

[5] इलोरा, वही, पृ० २७, फलक २५–२

[6] इलोरा, वही, पृ० २७, फलक २५–२

[7] बालश्चाकृतबुद्धिश्च एकपुत्रश्च मे प्रियः।
तारेयो राम भवता रक्षणीयो महाबलः॥
सुग्रीवे चाङ्गदे चैव विधत्स्व मतिमुत्तमाम्।
त्वं हि शास्ता च गोप्ता च कार्याकार्यविधौस्थितः॥

रामायणम्—किष्किंधाकांड, सर्ग १८, श्लोक ५३–५४

शामलाजी-मंदिर में रामायण से संबंधित कथा-शिल्प[1]

श्री मंजुलाल र० मजमूदार

★ ★

मंदिर किसी भी धर्म का और खास कर हिन्दू-धर्म का शरीर है। मंदिर में लोकसाहित्य, संगीत, चित्र, शिल्प, स्थापत्य, नृत्य, नाटक इत्यादि सभी प्रकार का कला-कौशल एकत्र होता है। संपूर्ण समाज वहाँ आता है और सर्व ललितकलाओं का सुंदर साक्षात्कार तथा प्रत्यक्ष परिचय वहाँ से प्राप्त करता है।

महात्मा गांधी के शब्दों में कहा जाय, तो "मंदिर का अर्थ ईंट अथवा शीशे का घर नहीं है अथवा उसमें मूर्ति की स्थापना हुई है, इसलिए वह मंदिर नहीं हो जाता। मंदिर वही कहा जाता है, जिसमें प्राण-प्रतिष्ठा हुई है।....मंदिर हिन्दू-धर्म का आवश्यक अंग है; इतना ही नहीं, अपितु मंदिर धर्ममात्र का एक आवश्यक अंग है, फिर भले ही कोई उसे 'चर्च' कहे, कोई 'मस्जिद' कहे, कोई 'गुरुद्वारा' कहे, कोई 'उपाश्रय' कहे। जब तक मंदिर के शरीर और आत्मा का सम्बन्ध रहेगा, तब तक मंदिर और भगवान का मेल जुड़ा ही रहेगा।··· मंदिर तद्‌तद् धर्म की सभ्यता का संग्रह-स्थान है। पहले मंदिरों में देव थे, दैवत थे, पाठशालाएँ थीं, धर्मशालाएँ थीं, महाजनों की बैठकें थीं। आज करोड़ों लोग जिन मंदिरों से जो आश्वासन व प्रेरणा प्राप्त करते हैं, उन मंदिरों को धराशायी कर दो और फिर देखो कि कितना भयानक परिणाम सामने आता है!" (महात्मा गांधी कृत 'धर्ममंथन')

मनुष्य को ऐसा लगा कि साधारण व्यक्ति के निवास-स्थान की अपेक्षा देवों के निवास-स्थान सुघड़, सुंदर, भव्य एवं पवित्र होने चाहिए। इसी भावना में से हमारे मंदिरों के शिल्प और स्थापत्य का जन्म एवं विकास हुआ है। मंदिरों की रचना का इतिहास इस प्रकार है—वेदकाल में यज्ञयाग के समारंभ होते, उस समय भव्य एवं रौनकदार मंडप बनाए जाते। वहाँ व्याख्यान, ज्ञान-चर्चाएँ, संगीत, नृत्य, नाटक आदि भी होते। कुछ समय बाद वह कच्चा मंडप तोड़ दिया जाता।

इस प्रकार के मंडप स्थाई रहें, इस दृष्टि से लकड़ी के पक्के मंडप बने और उन पर खुदाई एवं अन्य प्रकार की कलाएँ विशेष आकर्षक होने लगीं। लकड़ी अग्नि, ठंडक, धूप, वर्षा आदि के कारण अधिक वर्षों तक नहीं टिक सकती। परिणामतः पत्थर के मंदिर बनाए जाने लगे, जो दीर्घकालपर्यंत टिक सकते थे। पत्थरों के पहले ईंट-मिट्टी के बनाए हुए प्राचीन मंदिर भी पुरातत्व-विदों ने खोद कर प्राप्त किए हैं।

मंदिर-निर्माण के पीछे मनुष्य की चतुर्पुरुषार्थसिद्धि रही हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करने वाले देव, मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष, लताएँ—भूतमात्र—समस्त सृष्टि का प्रतिबिंब मंदिर के अंदर तथा बाहर के सुशोभनों में चित्रित किए जाते रहे हैं, जिससे एक छोटे-से पिंड से संपूर्ण ब्रह्मांड का सूक्ष्म दर्शन हो सके।

इस प्रकार एक तरह से मंदिर 'अद्‌भुत वस्तुओं का एक सर्जित संग्रहालय है।' (कवि नानालाल) क्योंकि उसमें सभी ललितकलाएँ धर्म की सेवा में उपस्थित होती हैं। हमारे 'संग्रहालयों' में मूल मंदिरों के स्थानों से उखाड़ कर शिल्प एवं स्थापत्य के नमूनों का ज्यों-त्यों संग्रह किया जाता है, उससे हमें मंदिरों की वस्तुओं में रही हुई भावना एवं पूज्यत्वबुद्धि का जरा भी आभास नहीं मिल पाता। परिणामतः हम उनका वास्तविक गौरव समझने में असमर्थ रहते हैं।

निरक्षर जनसमाज को संस्कार के रँग से रँगने के लिए हमारे शास्त्रों ने ऐसा आदेश दिया है कि 'सभी लोगों को धार्मिक स्थानों की यात्रा करनी चाहिए एवं दूर के तथा पास के तीर्थों एवं मंदिरों के दर्शन करने चाहिए।' भारतीय मंदिर सदैव सुंदर भित्ति-चित्रों, मूर्तियों तथा शिल्पों से शृंगारित रखे जाते थे। वहाँ यात्रियों को युग-युग के कलाकारों का कलावैभव अनायास ही देखने को मिल जाता था। पाषाणों

[1] मूल गुजराती से अनुवाद, श्री मोहनलाल मेहता के सौजन्य से।

में खुदे हुए कलाकाव्य और भित्तियों पर चित्रित चित्र अपठित समाज के लिए ज्ञान तथा संस्कार के अमोघ साधन थे। हम जानते हैं कि भगवान बुद्ध के उपदेशों को लिपिबद्ध करने वाले बौद्ध-धर्म-ग्रंथों के निर्माण के पूर्व भक्तिपूर्ण शिल्पियों और चित्रकारों द्वारा निर्मित बुद्ध की ध्यानस्थ मूर्ति के दर्शनमात्र से बौद्ध-धर्म के जन्मस्थान से हजारों कोस दूर के देशों की जनता ने बौद्ध-धर्म अंगीकार किया। बुद्ध की स्मृति को जीवित रखने वाले महाकाय बौद्ध स्तूपों एवं भगवान तथागत की विशालकाय ध्यानस्थ मूर्तियों ने करोड़ों के हृदयों में बौद्ध-धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनेवाले चक्षुर्गम्य साधनों के रूप में सुंदर सेवा बजाई है। सिंध के राजा रोरूक ने भगवान बुद्ध की चित्रित मूर्ति के दर्शन किए एवं बौद्ध-धर्म स्वीकार किया। इसी प्रकार चीनी सम्राट मिंग-री के स्वप्न में भगवान बुद्ध की स्वर्ण-मूर्ति दिखाई दी और उसने दीक्षा ले ली। इन दो दृष्टांतों से हमें यह मालूम हो सकता है कि चक्षु द्वारा देखे हुए पदार्थ का कैसा प्रबल प्रभाव पड़ता है।

भारत में रामायण की घटनाओं के शिल्पालेखन अधिकांश वैष्णव-मंदिरों में मिलते हैं। दस मुख्य अवतारों में राम का अवतार आठवाँ है। कवि जयदेव के 'गीतगोविंद' की दशावतार-स्तुति का श्लोक प्रथम सर्ग के अंत में आता है, वहाँ 'पौलस्त्यं जयते' अथवा 'सेतुं बंधयते' इस प्रकार के दो पाठ रामावतार को उद्देश करके लिखे गए हैं।

भारत में रामायण की कथा के प्राचीनतम शिल्प झाँसी के गुप्तकालीन मंदिर में मिलते हैं। उन्हीं के लगभग समकालीन वाकाटक के समय के इसी प्रकार के शिल्प विनोबा भावे के पवनार (जिला वर्धा) आश्रम में मिले हैं, जिनका सुंदर परिचय महामहोपाध्याय प्रिंसिपल मीराशी ने 'प्रवरनगर' के शिल्पों के रूप में 'श्रीसरूप-भारती' में दिया है। इनके अतिरिक्त इलोरा, महाबलिपुरम्, केंकिडा और किराडु (राजस्थान) के मंदिरों में, पढ़ावली (मध्यभारत) में, तथा शामलाजी, अणहिलपाटण, वडनगर, डभोई आदि गुजरातके मंदिरों में भी इस प्रकार के शिल्प मिलते हैं। सौराष्ट्र में प्रभासपाटण के पास के कदवार नामक स्थान के वराह-मंदिर में धनुर्धर राम का लगभग सातवीं-आठवीं शती का भव्य शिल्प है।

इंडोनेशिया के प्रबनम् नगर स्थित मंदिर की दीवालों की रामायण-संबंधी शिल्प-पट्टिकाओं का सचित्र एवं विवरणयुक्त परिचय डॉ० स्टुटरीम नामक बेलजियन विद्वान् ने अपने ग्रंथ में दिया है। भारत में प्राप्त रामायण की कथा से संबंधित शिल्प-विषयक इसी प्रकार का एक ग्रंथ बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव विश्व-विद्यालय द्वारा आरंभ किए गए 'रामायण' के विशुद्ध संस्करण तैयार करने के कार्य के अनुसंधान में एक आनुसंगिक ग्रंथ के रूप में 'शिल्प में रामायण' नाम से प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। इसका संपादन प्राच्य-विद्यामंदिर के अध्यक्ष प्रो० गोविंद लाल भट्ट, डॉ० मंजुलाल मजमूदार तथा डॉ० उमाकांत शाह के सहकार से होनेवाला है।

गुजरात के एक प्राचीन मंदिर के बाह्य-देश में रामायण की कथा तथा कृष्ण-चरित्र से संबंधित कुछ शिल्पों की माला देखने में आई है। इनमें से राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की प्रिय कथा रामायण से संबंधित शिल्पों का परिचय प्रस्तुत लेख में कराया जाएगा।

इन दो चित्रों द्वारा शिल्प की शैली तथा घटना का आयोजन समझने में सुविधा होगी, ऐसी आशा है।

फलक १ :—(१) रावण सीता का हरण करता है। (२) स्वर्णमृगरूप मारीचि आता है एवं मृत्यु के समय मृग में से मारीचि का स्वरूप प्रकट होता है। (३) दशरथ और कैकेयी—कैकेयी अपने दुर्निश्चय में अडिग रह कर मुख मोड़ लेती है। इस घटना का परिचय प्रबनम् के मुद्रित कथा-शिल्पों के आधार पर निश्चित किया जा सका है।

शामलाजी का मंदिर वर्तमान द्वारका के जगतमंदिर की स्थापत्य-रचना का ध्यान दिलाता है। जगतमंदिर सागर के किनारे है। शामलाजी का मंदिर पहाड़ियों की तलेटी में है।

शामलाजी प्रधानतः वैष्णव तीर्थ है। यहाँ की चतुर्भुज विष्णुमूर्ति साढ़े चार फीट ऊँची है। यह काले कसौटी के पत्थर की बनी हुई है। मुकुट तथा केशकलाप गुप्तकालीन शिल्पशैली की परंपरा के हैं।

शामलाजी गाँव महीकांठा तथा मेवाड़ की सीमा पर मेश्वो नदी के किनारे है। वहाँ शामलाजी ग्रथवा गदाधर विष्णु का मंदिर है। मंदिर के ग्रागे थोड़ी ही दूर मेश्वो नदी छोटे-छोटे कुंडों के रूप में पत्थरों के बीच में हो कर बहती है। चारों ग्रोर का पथरीला स्थान नर्मदा नदी के मोखड़ी घाट ग्रौर शूलपाण का स्मरण कराता है।

नदी मंदिर की बाजू में हो कर बहती जाती है। उसके पीछे ग्ररावली पर्वतमाला के त्रिश्रृंग—तीन बड़े शिखरवाले पहाड़ हैं। पहाड़ियों की गोद में बना हुग्रा यह मंदिर ग्रति रमणीय लगता है।

ऐसा सुंदर तीर्थ गुजरात में बहुत प्रसिद्ध क्यों नहीं है? इसका ख्याल इस तीर्थ की यात्रा करने वाले को सहज ही ग्रा सकता है। यह तीर्थ दुर्घट एवं बस्ती से बहुत दूर है।

ग्रहमदाबाद प्रदेशीय रेलवे लाइन पर तलोद स्टेशन है। वहाँ से तीस मील पर मोडासा है। वहाँ जाने के लिए बस मिलती है। मोडासा से ग्रौर ग्रठारह मील दूर शामलाजी है, जहाँ यहाँ से दूसरी बस जाती है। इस प्रकार रेलवे लाइन से लगभग पचास मील भूमि पार करने पर शामलाजी तीर्थ ग्राता है।

यद्यपि रेलवे की मुसाफिरी के ग्रभ्यस्त लोगों को यह तीर्थ दूर लगता है, किंतु शामलाजी से डुंगरपुर, केसरियाजी, ईडर एवं हिम्मतनगर के लिए बस-मार्ग का ग्रनुसंधान किया हुग्रा है ग्रौर सूखे मौसम में बस चालू रहती है। यह देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में शामलाजी के तीर्थ से कोई राजमार्ग जाता रहा होगा। ग्राज चारों ग्रोर दिखाई देने वाले खंडहर ग्रौर छोटी-मोटी ईंटों के ढेर एक समय की इस तीर्थ की भव्यता का कुछ ग्रनुमान करा सकते हैं।

ऐसा कह सकते हैं कि यह तीर्थ वर्तमान रेलवे लाइन से बहुत दूर होने के कारण ही इतना ग्रपरिचित रहा है। इसके समर्थन के लिए यह कहना पर्याप्त है कि गुजरात के यात्रियों में इस तीर्थ के विषय में बहुत थोड़ा एवं ग्रपूर्ण ज्ञान रहा है।

शामलाजी की चतुर्भुज मूर्ति का स्वरूप मूर्तिशास्त्र के ग्रनुसार इस प्रकार है—उसके दाहिने हाथ से नीचे से गिनने पर (दक्षिणाधः कर-क्रमात्) पहले हाथ में पद्म है ग्रौर यह हाथ डाकोर की त्रिविक्रम मूर्ति की तरह ऊपर मोड़ा हुग्रा है। दूसरे दाहिने हाथ में गदा है, किंतु यह गदा परिचित चतुर्भुज मूर्तियों की गदा की ग्रपेक्षा कुछ दूसरे ही ग्राकार में है। इस गदा का लंबा सिरा ठेठ पैर तक पहुँचा हुग्रा है। संभवतः इस प्रकार की गदा की विशेषता के कारण ही देव को 'गदाधर' कहा गया होगा। पहले बाएँ हाथ में चक्र ग्रौर नीचे के दाएँ हाथ में शंख है। 'रूपमंडन' नामक चारण के शिल्पीमंडन के ग्रंथ के ग्रनुसार यह मूर्ति त्रिविक्रम विष्णु की ही है। इसका सांकेतिक परिचय इस प्रकार है—"त्रिविक्रमः प (पद्म) गं (गदा) च (चक्र) शः (शंख)।"

मेश्वो नदी का नाम इस तीर्थ के संस्कृत माहात्म्यग्रंथ 'गदाधर माहात्म्य' में 'मेषा' दिया हुग्रा है। ग्रारासुर की पहाड़ियों में से ग्रौर खास कर तीन शिखरों—त्रिश्रृंग के नीचे से प्रारंभ होकर ग्रहमदाबाद तथा खेड़ा जिले में होकर दशक्रोशी के पास बात्रक के साथ मिल जाती है ग्रौर वहाँ से ग्रागे साबरमती में विलीन हो जाती है। मेश्वो का पानी ग्रासपास के गाँवों को नहर द्वारा मिलता रहता है। इस प्रकार ईडर की पूर्व की पहाड़ियों में मेश्वो के किनारे शामलाजी तीर्थ है।

माहात्म्य-ग्रंथ के ग्रनुसार यह गदाधर तीर्थ उदुम्बर ऋषि का तपोवन था। वहाँ उनका ग्राश्रम था। ग्रौदुम्बर ब्राह्मणों के कुलगुरु उदुम्बर ऋषि के कंधों पर फैली हुई गुच्छयुक्त जटा से सुशोभित छठी शती की काले पत्थर की एक महाकाय प्रतिमा मेषा नदी के किनारे दिखाई देती है। शामलाजी की पूजा करने वाले ग्रौदुम्बर ही होते हैं।

वहाँ 'कराम्बु' ग्रथवा करमाणु नामक एक सरोवर का तीन ग्रोर पहाड़ियों के हार से ग्रौर सामने बाँध बाँध कर निर्माण किया गया है। इस सरोवर की भव्य पाल पर खड़े होकर चारों ग्रोर दृष्टि डालने से तीर्थ की भव्यता का भान होता है।

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन शामलाजी का एक बड़ा मेला लगता है। इस में खास कर आसपास के पहाड़ी प्रदेश की आदिवासी जनता एकत्र होती है। सामान की काफी खरीद होती है। विशेषकर गायें, बैल, भैंसें, घोड़े, ऊँट वगैरह प्राणी इकट्ठे होते हैं।

शामलाजी के मंदिर के आसपास इतने अधिक खंडहर दृष्टिगोचर होते हैं कि स्थान-स्थान पर बड़े आकार की ईंटों के ढेर के ढेर मेश्वो नदी के दोनों किनारों पर दिखाई देते हैं। ये टीले और टेकरियाँ (जिन्हें पुरातत्त्व की भाषा में mound कहते हैं) विशेष संशोधन की राह देख रहे हैं।

इन टीलों में से प्राप्त पक्की मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों के ऊपर लगा हुआ गेरुआ लाल रंग बर्तनों को पकाने के पहले लगाया गया होगा, ऐसा मालूम होता है। वहाँ से उठा कर लाए हुए दो-तीन मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों ने महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी के पुरात्त्व-विभाग का ध्यान आकृष्ट किया है। शामलाजी के पास के 'देवकी मोरी' नामक गाँव के आस-पास के टीलों में से गेरुआ रंग के मिट्टी के बर्तनों के अवशेषों के अतिरिक्त राक्षस-युग के मानव-अस्थिपंजरों के अवशेष सन् १९३९ में मिले थे।

शामलाजी प्रधानतः वैष्णवतीर्थ है। फिर भी मेश्वो नदी के एक कोने में कुछ सातवीं-आठवीं शती की मातृकाओं की खंडित मूर्तियाँ मिली हैं। इनके अलावा शबरकन्या पार्वती तथा वीरभद्र शिव की सुंदर कलापूर्ण मूर्तियाँ भी वहाँ से मिली हैं, जो इस समय वड़ौदा के म्युजियम में सुरक्षित हैं।

इन शैव एवं शाक्त मूर्तियों के अलावा एक अनंत रूप से प्रसिद्ध विष्णु की गुप्तकालीन शैली की भव्य मूर्ति नदी के किनारे पर एक शिवालय की भीत में पार्वती के स्थान पर खड़ी कर दी गई है। यह मूर्ति चतुर्मुख है और उसके आठ हाथ हैं। उसमें वराह, नृसिंह, परशुराम आदि मुख्य विष्णु-अवतार की मूर्तियाँ स्पष्ट रूप से पहचानी जा सकती हैं। पैरों के नीचे नाग के फन का आसन है। उसमें चौबीस आकृतियाँ हैं। इस अपूर्व मूर्ति में अजंता की चित्रकला का स्मरण कराने वाली वेषभूषा एवं जटा आदि का आलेखन है। इस प्रकार के सुंदर शिल्पों से वेष्टित इस स्थान की प्राचीनता सहज ही ध्यान में आ सकती है।

शामलाजी का मंदिर वर्तमान द्वारका के जगत-मंदिर की स्थापत्य-रचना का ख्याल दिलाता हुआ पहाड़ियों की तलेटी में स्थित है। मंदिर अंदर तथा बाहर से शिल्प-सुशोभनों तथा आभरणों से भरपूर है। मंदिर की छत के कमल की खुदाई विमलशाह और वस्तुपाल के देलवाड़ा के मंदिरों की छत की परंपरा की ही मालूम होती है। मंदिर के चारों ओर की भीतों में मंदिर के शिल्प के नियमों के अनुसार गजथर, हंसथर, नरथर, देवथर एवं वनस्पति तथा भूमिति के आकार के शिल्प तथा सुशोभन हैं। मंदिर के तीन ओर गजथर और आगे दो-दो महाकाय हाथी एक दूसरे की सूंड़ में सूंड़ डाले हुए खड़े हैं। हाथियों के पैरों की सांकलें एवं उनके खड़े रहने की छटा गौरवपूर्ण है।

मंदिर के चारों ओर के देवथरों में भागवत की कृष्णलीला की घटनाएँ चित्रित की गई हैं। साथ ही साथ रामायण की कथा के प्रसंग भी चित्रित किए गए हैं। गुजरात में कृष्ण-चरित्र की प्रसिद्धि श्रीकृष्ण के द्वारका आने के समय से ही चली आती है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के रूप में श्रीकृष्ण का पहले अवतार हुआ था। इसलिए रामायण की कथा भी वैष्णव-कथा का ही एक भाग बन गया है।

शामलाजी का मूल मंदिर दसवीं या ग्यारहवीं शती से अर्वाचीन नहीं है। यह दक्षिण के बेलूड और हलेबीड के वैष्णव मंदिरों की शिल्प-शैली का स्मरण कराता है। इतना निश्चित है कि वर्त्तमान मंदिर के अनेक जीर्णोद्धार हुए हैं। यह बात प्राचीन एवं नवीन भाग की शिल्प-शैली के भेद से स्पष्ट है।

शामलाजी मंदिर में कोई शिलालेख नहीं है। एक है, वह भी सत्तरहवीं शती में किए गए जीर्णोद्धार से संबंधित है। इसे देखकर कुछ विद्वान ऐसा मानते हैं कि राजपूत-युग में मंदिर बनवाने की जो स्फूर्ति एवं नवप्रेरणा मिली थी, उसी के उत्साह में वर्तमान का सारा मंदिर बँधा हुआ होना चाहिए। किंतु यह बात जीर्णोद्धृत भाग के विषय में ही कही जा सकती है।

मंदिर के चारों ओर की दीवालों में चित्रित पट्टिकाओं में से दो पट्टिकाओं का कृष्णलीला के परिचय के लिए एवं दो पट्टिकाओं का रामायण की कथा के आलेखन का परिचय देने के हेतु यहाँ वर्णन किया गया है।

(१) कृष्णचरित्र में विशेषकर पूतना-वध, गोवर्धनधारी वंशीधर, सिर पर दही की मटकी लिए हुए गोपिका—सब एक पट्टिका में हैं। गोपिका का चित्रण यथार्थ शैली में एवं स्वाभाविक है।

(२) दूसरी पट्टिका में यह दिखाया गया है कि कृष्ण कदंब के पेड़ से यमुना में कूदते हैं। वहाँ कालिदह में मछलियाँ, कछुए, सर्प वगैरह जलचर हैं। पेड़ के पत्ते स्पष्ट दिखाई देते हैं। कृष्ण काली नाग को बींधते हैं एवं नाग-पत्नियाँ कृष्ण से विनती करती हैं।

वि० सं० १५१२ में पद्मनाभ रचित 'कान्हडदे प्रबंध' में इसी घटना का मंगलाचरण किया गया है—

जिणि जमुनाजलि गाहिऊ, जिणि नाथिऊ भुयंग।
वासुदेव धुरि वीनवूं, जिम पामुं मन रंग।।

(३) रामायण की कथा से संबंधित प्रथम पट्टिका में सप्त ताड़वेध द्वारा राम की शक्ति-परीक्षा का चित्रण किया गया है। इसमें राम का बाण ताड़ों को छेद कर अंतिम ताड़ में घुसा हुआ है।

(४) दूसरी पट्टिका में दाहिनी ओर से दशरथ और खंडिता कैकेयी, स्वर्णमृग के रूप में मरीचिका-वध, शिलिमुख रेखा में सीता एवं इस रेखा से बाहर रावण तथा अंत में सीताहरण का चित्रण किया गया है।

रामायण की कथा से संबंधित चित्रण दूसरी दृष्टि से भी ध्यान देने योग्य है। गुजरात में जितनी कृष्ण-लीला की लोकप्रियता है, उतनी रामायण की नहीं दिखाई देती। यद्यपि वलभीपुर के कवि भट्टी द्वारा रचित 'रावण-वध' अथवा 'भट्टी काव्य' छठी शती में गुजरात में ही लिखा माना जाता है। फिर भी रामायण की कथा का प्रचार ग्यारहवीं शती के बाद का अर्थात् कृष्णकथा से कुछ बाद का मालूम होता है।

रामायण की कथा जावा के बोरुबुदर के मंदिर की दीवालों पर पत्थर की पट्टियों में खोदी हुई है। यह देखने से शिल्प द्वारा रामायण की कथा का प्रत्यक्ष परिचय कराने की पद्धति कितनी प्राचीन है, इसका पता लग सकता है। झाँसी प्रदेश में देवगढ़ के छठी शती के मंदिर में रामायण के कुछ शिल्प मिलते हैं।

गुजरात में रामायण की कथा का चित्रण शामलाजी से अधिक प्राचीन अभी तक अन्यत्र जानने में नहीं आता है। जिस प्रकार प्रांत-प्रांत में रामायण की कथा के पाठांतर और प्रसंगभेद ग्रंथों से ज्ञात होते हैं, उसी प्रकार प्रांत-प्रांत के शिल्प-आलेखनों द्वारा भी प्रादेशिक रामायण की कथा का परिचय प्राप्त करना सुलभ हो सकता है, यह दूसरा लाभ है।

सोमेश्वरकृत रामशतक[1]

श्री भोगीलाल ज० सांडेसरा

★ ★

विक्रम की १३वीं शती में होने वाले गुजरात के प्रसिद्ध महामात्य वस्तुपाल के मित्र तथा आश्रित कवि सोमेश्वर अथवा सोमेश्वरदेव कृत 'रामशतक' श्री रामचंद्रजी की स्तुति के रूप में बनाया हुआ एक अप्रसिद्ध संस्कृत काव्य है। सोमेश्वर अनहिलवाड़ पाटन के चौलुक्य राजाओं का वंशानुगत पुरोहित था। स्वरचित 'सुरथोत्सव' महाकाव्य के अंतिम आत्मकथानकात्मक सर्ग में उसने लिखा है कि उसके पूर्वज वेद के प्रकांड पंडित थे तथा बड़े-बड़े यज्ञ करने में सुप्रसिद्ध थे। 'अस्ति प्रशस्ताचरण प्रधानं स्थानं द्विजानां नगराभिधानम्' (जहाँ प्रशस्त आचरण की प्रधानता है, इस प्रकार का बड़नगर नामक ब्राह्मणों का स्थान है।) इस प्रशस्ति-सर्ग के उल्लेख से प्रतीत होता है कि सोमेश्वर के पूर्वजों का निवास उत्तर गुजरात का बड़नगर (प्राचीन आनंदपुर) था। गुजरात विश्वविद्यालय के कुलपति श्री हरसिद्ध भाई दिवेटिया तथा उनके कुटुंबीजन राजपुरोहित सोमेश्वर के वंशज हैं। ऐसी इस कुटुंब की अनुश्रुति है।

महामात्य वस्तुपाल के कवियों और विद्वानों के तेजस्वी मंडल में सोमेश्वर सब से आगे था। गुजरात के संस्कृत कवियों में सोमेश्वर का स्थान प्रथमश्रेणी में है। उसने 'कीर्तिकौमुदी' तथा 'सुरथोत्सव' दो महा-काव्यों की रचना की। इन में 'कीर्तिकौमुदी' वस्तुपाल के पराक्रम तथा सुकृत्यों का निरूपण करने वाला ऐतिहासिक काव्य है। 'सुरथोत्सव' 'मार्कंडेयपुराण' की सप्तशती के आधार पर लिखा गया पौराणिक काव्य है। इसके अतिरिक्त रामायण की कथा का प्रतिपादन करनेवाला 'उल्लाघराघव' नामक नाटक सोमेश्वर ने लिखा है, जो द्वारिका के जगत्मंदिर में प्रबोधिनी एकादशी के दिन खेला गया था। उसका बनाया हुआ 'कर्णामृतप्रपा' नामक सुभाषित-संग्रह भी मिला है। आबू (देलवाड़ा) तथा गिरनार पर वस्तुपाल द्वारा निर्मित प्रसिद्ध जैन-मंदिरों में शिलालेख के रूप में लिखे हुए प्रशस्तिकाव्य सोमेश्वर की रचनाएँ हैं। वर्तमान बड़ौदा के पास के डभोई के सं० १३११ में राजा वीसलदेव द्वारा जीर्णोद्धृत वैद्यनाथ महादेव के मंदिर की प्रशस्ति भी सोमेश्वर ने बनाई थी। यह प्रशस्ति डभोई के 'हीराभागोल' नामक कलामय द्वार के दोनों ओर के आलों (गवाक्षों) में जीर्ण-शीर्ण दशा में आज भी विद्यमान है। वीसलदेव के पिता वीरधवल द्वारा निर्मित धोलका के वीरनारायण प्रसाद नामक विष्णुमंदिर की प्रशस्ति भी सोमेश्वर ने बनाई थी, यह बात राजशेखरसूरि के 'प्रबंधकोश' में मिलने वाले उल्लेख से प्रकट होती है। इस मंदिर अथवा प्रशस्ति का कोई अवशेष उपलब्ध नहीं होता। प्रस्तुत 'रामशतक' भी सोमेश्वर की एक विशिष्ट कृति है।

'रामशतक' के नाम से ही प्रकट है कि यह १०० श्लोकों का स्तोत्र है। यह स्तोत्र अभी छपा नहीं है। पूना के भांडारकर-संशोधन-मंदिर में रखे हुए बंबई सरकार के हस्तलिखित पुस्तक-संग्रह में इस स्तोत्र की पाँच प्रतियाँ हैं। इनमें से एक प्रति में मूलकाव्य के अतिरिक्त एकनाथ द्वारा बनाई हुई उसकी टीका भी है। पू. मुनि श्री पुण्यविजय जी के हस्तलिखित पुस्तकसंग्रह में 'रामशतक' की किसी अज्ञात व्यक्ति की बनाई हुई एक अन्य टीका भी है। 'रामशतक' के समस्त श्लोकों में स्रग्धरावृत्त का प्रयोग किया गया है। १०१वाँ श्लोक, जो कि वस्तुत: स्तोत्र का भाग नहीं है, उपजाति वृत्त में है तथा रचयिता के नाम का इस प्रकार उल्लेख करता है—

विश्वम्भरामण्डलमण्डनस्य श्रीरामभद्रस्य यशःप्रशस्तिम् ।
चकार सोमेश्वरदेवनामा यामार्धनिष्पन्नमहाप्रबन्धः ॥

—अर्धयाम में महा प्रबंध की रचना करने वाले सोमेश्वर कवि ने पृथ्वीमंडल के अलंकाररूप श्रीरामभद्र के यश की यह प्रशस्ति बनाई है।

---

[1] मूल गुजराती से अनुवाद, श्री मोहनलाल मेहता के सौजन्य से।

संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ दो प्राचीनतर शतश्लोकी स्तोत्र—मयूरकृत 'सूर्यशतक' तथा बाणकृत 'चंडीशतक' जो कि स्रग्धरा-छंद में लिखे गए हैं, उन्हीं के आदर्श पर 'रामशतक' की रचना हुई प्रतीत होती है। जंबुकवि का 'जिनशतक' (मुद्रित—काव्यमाला, गुच्छ ७) भी स्रग्धरावृत्त में है और इसी परंपरा को चालू रखता है। इससे पता चलता है कि इस प्रकार के काव्य संस्कृत-साहित्य में लोकप्रिय थे।

'रामशतक' की स्तुति राम की जीवनकथा के अनुक्रम से आगे बढ़ती है। श्लोक १-६ में राम के जन्म तथा बालक्रीड़ाओं का वर्णन है। श्लोक ६-८ में उनके विद्याध्ययन का चित्रण है। इसके बाद राम द्वारा किया गया विश्वामित्र के यज्ञ का रक्षण (श्लोक ६-११), ताडका तथा अन्य राक्षसों का वध (श्लोक १२-१५) और अहल्या का उद्धार (श्लोक १६-१९) आता है। इसके बाद निम्न प्रसंगों का स्तुतिपूर्वक वर्णन किया गया है—विश्वामित्र के साथ राम का मिथिला में आगमन, शिव के धनुष का भंग तथा सीता के साथ पाणि-ग्रहण (श्लोक २०-३१), मिथिला से अयोध्या जाते समय क्रुद्ध परशुराम का सन्मुख-आगमन तथा पराजय (श्लोक ३२-३९), राम का अभिषेक करने की दशरथ की इच्छा किंतु कैकेयी को दिए हुए वचन के कारण राम का वन-गमन (श्लोक ४०-५६), वन में परिभ्रमण, रावण द्वारा सीता का हरण तथा सुग्रीव आदि वानरों से राम का मिलन (श्लोक ५७-७१), हनुमान द्वारा की गई सीता की शोध, सेतुबंध तथा लंका पर आक्रमण (श्लोक ७२-८१), राम और रावण का युद्ध तथा रावण का वध (श्लोक ८२-८५), सीता की अग्नि-परीक्षा, राम और सीता का अयोध्या में आगमन तथा अंत में राज्याभिषेक (श्लोक ९६-१००)।

'कीर्तिकौमुदी' महाकाव्य और 'उल्लाघराघव' नाटक की भाँति सोमेश्वर इस काव्य में भी एक उच्च कोटि के कवि के रूप में दिखाई देते हैं। 'रामशतक' के रचयिता के सामने 'सूर्यशतक' तथा 'चंडीशतक' के नमने होते हुए भी कहीं भी इन प्राचीनतर काव्यों का शाब्दिक अनुसरण नहीं किया गया। सोमेश्वर को केवल इन स्तोत्रों की लोकप्रियता से प्रेरणा मिली थी। संस्कृत-साहित्य के उत्तरकाल में रचित स्तोत्रों की कृत्रिमशैली से 'रामशतक' सर्वथा मुक्त है। 'कीर्तिकौमुदी' की भाँति इस काव्य का भी प्रसादगुण उल्लेखनीय है। इस विषय में तो सोमेश्वर की रचनाएँ बार-बार कालिदास की याद दिलाती हैं। इस प्रकार के ऊर्मिकाव्यों के लिए आवश्यक भक्तिभाव एवं सहृदयता से 'रामशतक' आद्योपांत ओतप्रोत है। स्रग्धरा में गूँथी हुई ये सौ कड़ियाँ लंबे वृत्त पर निर्माता के प्रभुत्व का प्रदर्शन भी करती हैं। यह एक स्तोत्र ही संस्कृत-स्तोत्र-साहित्य में अपने रचयिता को सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने के लिए काफी है। 'रामशतक' के श्लोकों के कुछ नमूने दिए जाते हैं। राम की स्तुति करते हुए कवि उनके बचपन का वर्णन करता है—

पर्यङ्के पङ्कजन्माङ्किततलविचलत्पाणिपादप्रवालः
खेलन्बालः प्रमोदं प्रथयतु मिथिलानाथपुत्रीपविर्वः।
पित्रोः प्रोतप्रतीतिः समभवदुचिता पुंसियस्मिन् पुराणे
पारं संसारवार्द्धेर्न हि परमपरस्तं विना नेतुमीशः॥

—पलंग पर सोते-सोते कमल के चिह्नों से अंकित कोमल हाथ-पैर हिला कर खेलनेवाले श्रीराम प्रमोद का प्रसार करें। जिन पुराणपुरुष (राम) में माता-पिता को उचित रीति से संतानभाव की प्रतीति हुई, उनके बिना संसार-सागर से पार उतारने में दूसरा कोई समर्थ नहीं। [श्लोक २]

राम की माया तो देखिए। रावण जीते हुए नरक में रहा, किंतु मरने पर स्वर्ग में गया —

तस्माद् वः सर्वसिद्धिर्भवतु भगवतो भूरिमायाप्रपञ्चः
पञ्चत्वं प्राप्य यस्मादगमदमरतां राक्षसः सोऽपि सम्यक्।
किन्तु श्रीकान्तकान्ताहठहरणमहापातकात्तेन काम—
कामोहान्धेन बन्धुक्षयनिरयरुजः सेहिरे जीवतैव॥

भगवान की माया तुम्हें सर्वसिद्धि प्रदान करे। राम के हाथ से मृत्यु प्राप्त कर उस राक्षस (रावण) ने भी सम्यक् अमरत्व पाया, जिसने सीता के हठपूर्वक हरणरूप महापातक से कामव्यामोहांध होकर जीवितावस्था में ही बंधुक्षयरूपी नरक की वेदनाएँ सहन कीं। [श्लोक ९२]. •••

ईस्ट इंडिया कंपनी-कालीन राम-काव्य

★

श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

★

रामानंद (ज० १३००) ऐसे पहले धर्माचार्य थे, जिन्होंने सबसे पहले उत्तरभारत में वैष्णवधर्म का प्रचार किया। उन्होंने धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांत **रामानुजाचार्य** (ज० १०१६–१०१७) से लिए थे। रामानुजाचार्य ने नारायण नाम पर ज़ोर दिया था। किंतु रामानंद ने नारायण के स्थान पर राम के साथ सम्बन्ध स्थापित कर उत्तरभारत में वैष्णवमत को नवीन रूप प्रदान किया। रामानंद और उनके शिष्यों ने धर्मोपदेश जनसाधारण की भाषा में दिए, न कि संस्कृत में। और यद्यपि वैष्णवमत के अंतर्गत निम्न श्रेणियों और वर्णों के लिए हिन्दूसमाज में सदैव सहानुभूति रही है, तो भी प्रसिद्ध वैष्णव-आचार्य सच्चे वेदांतियों की भाँति व्यवहार न कर सके। रामानंद ने वैष्णवमत के व्यावहारिक रूप में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किए और ब्राह्मणों तथा निम्न श्रेणियों के बीच का भेदभाव मिटा दिया। वैष्णव हो जाने पर सब लोग एक साथ बैठकर भोजन तक कर सकते थे। रामानंद ने राम और सीता की पवित्र और मर्यादापूर्ण भक्ति का प्रचार किया। काशी में अपनी शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद, वे स्वामी **राघवानंद** के शिष्य अवश्य हो गए थे, किंतु उन्होंने अपने संप्रदाय के अनेक नियमों की जटिलता कम कर विविध सुधार प्रचलित किए और अपने गुरु के मार्ग से भिन्न एक नवीन प्रशस्त मार्ग का निर्माण किया। उन्होंने अपना एक अलग संप्रदाय स्थापित किया और विशिष्टाद्वैतवाद के प्रति अपने निजी दृष्टिकोण का अपने शिष्यों में प्रचार किया। स्वयं उनके कई शिष्य अलग-अलग संप्रदायों के संस्थापक बने और उनके माध्यम द्वारा आधुनिक उत्तर और मध्य भारत में रामभक्ति विविध रूप धारण कर फैली और गोपाल-कृष्ण वाली भक्ति की प्रतिद्वंद्विनी बनी। रामानंद ने अपने मत का प्रचार ईसा की चौदहवीं शताब्दी में किया। काशी में भी उनके शिष्य थे। और यद्यपि **कबीर** ने राम-नाम ग्रहण किया, किंतु उनके राम रामानंद के राम से भिन्न थे। कबीर ने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और मूर्तिपूजा का घोर खंडन कर अपने अलग पंथ की स्थापना की। मलूक, रैदास, **सेना** आदि रामानंद के अनुयायी होने पर भी आध्यात्मिक और दार्शनिक सिद्धांतों की दृष्टि से कबीर के अधिक समीप थे। रामभक्ति का सबसे अधिक प्रचार सोलहवीं शताब्दी में **गोस्वामी तुलसीदास** ने किया। उनकी रचनाओं में भी, यद्यपि वे रामानंद की शिष्य-परंपरा में थे, विशिष्टाद्वैत का सांप्रदायिक रूप नहीं मिलता। वास्तव में उस समय गोस्वामी जी भक्ति-मार्ग के सबसे बड़े प्रवर्तक थे।

गोस्वामी तुलसीदास ने राम को एक आदर्श और आज्ञाकारी पुत्र, एक आदर्श भाई और पति, एक आदर्श शासक और, अंत में, परब्रह्म के रूप में चित्रित किया है। सीता जी भी एक आदर्श, पतिव्रता और स्नेहमयी पत्नी के रूप में हैं। गोस्वामी जी के पात्रों की विशेषता यदि किसी एक शब्द द्वारा व्यक्त की जा सकती है तो वह शब्द है—'मर्यादा'। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए मर्यादा-पालन अत्यंत आवश्यक समझते हैं। संयम-नियम, प्रेम, हृदय की शुद्धता और पवित्रता, विनय, आत्म-समर्पण, क्षमाशीलता, दया और जगदाधार राम के चरणों में प्रीति उनकी भक्ति के आधारभूत सिद्धांत हैं। किंतु आलोच्यकालीन राम-कवि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित मर्यादा-मार्ग का अनुसरण करते हुए नहीं पाए जाते। जहाँ तक कथा से सम्बन्ध है, उन्होंने प्रधानतः वाल्मीकि, तुलसी आदि के ग्रंथों से ही ग्रहण की, और उनकी रचनाओं का यह भाग महत्वपूर्ण होते हुए भी हमारे लिए अधिक विचारणीय नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से जो प्रधान विचारणीय तथ्य है, वह यह है कि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा प्रतिष्ठापित राम-रूप के प्रति दृष्टि-कोण परिवर्तित हो गया था।[1] आलोच्यकालीन कवि राम, सीता, लक्ष्मण, उर्मिला तथा अन्य पात्रों को

[1] वास्तव में राम-संबंधी काव्य-धारा में अनेक प्रकार की रचनाएँ हुईं और अनेक प्रकार की पद्धतियाँ प्रचलित हुईं। तुलसीदास की वैधी भक्ति में प्रेम के साथ-साथ श्रद्धा और मर्यादा थी। किंतु आगे चलकर

अयोध्या की गलियों में घुमाने लगे; वे सरयू नदी के किनारे विहार और क्रीड़ा करने लगे। राम 'होली', 'रास' आदि प्रेमपूर्ण क्रीड़ाओं में तल्लीन हो जाते हैं। वे अयोध्या की सुंदरियों से प्रेम करते हैं और रसिक बने अयोध्या की गलियों में चक्कर लगाते फिरते हैं।[२] सखी-संप्रदाय वाले तो अपने नाम तक स्त्रियों जैसे रख कर तदनुकूल राम के प्रति अपना दृष्टिकोण भी रखते और अपने को उनकी सखियाँ समझते थे। राम के सम्बन्ध में उनकी पूरी विचारधारा पाठक को ग्लानि से भर देती है। कवियों ने सीता को आज्ञाकारिणी और पतिव्रता नारी के रूप में न देख कर, राम की प्रेमिका के रूप में देखा है। इस सम्बन्ध में भी कृष्ण-भक्ति का प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें राधा को प्रधान शक्ति मान कर कृष्ण से भी अधिक उच्च स्थान दिया गया। इससे वैष्णवमत में अश्लीलता का प्रचार हुए बिना न रह सका, उसका रूपकात्मक अर्थ चाहे जो कुछ रहा हो। कृष्णभक्त कवियों के अनुकरण पर रामभक्त कवियों ने भी राम के 'अष्टयाम' लिखे और उनके 'नख-शिख' का वर्णन किया। इस सम्बन्ध में कृष्ण-भक्ति के अतिरिक्त मंदिरों के कर्मकांड का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

इस समय कवियों ने या तो राम के रूप में परिवर्तन उपस्थित किया है और यदि ऐसा नहीं किया तो उन्होंने या तो स्वयं राम के सम्बन्ध में अथवा रामकथा के किसी एक या कई प्रमुख पात्रों के संबंध में विनय-संबंधी रचनाएँ या स्तुतियाँ प्रस्तुत की हैं। कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने केवल अपनी भक्ति-भावना की तुष्टि के लिए वाल्मीकि-कृत रामायण अथवा 'अध्यात्मरामायण', अथवा तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' की कथाओं में से किसी एक का संक्षेप में अथवा विस्तार सहित अपनी भाषा में उल्लेख किया है। बीच-बीच में वे या तो भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, गुरु-महिमा, सत्य, दया, दान आदि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते चलते हैं अथवा राम से संबंधित सरयू, चित्रकूट, अयोध्या आदि पवित्र स्थानों का गुणगान कर अपनी भक्ति का परिचय देते हैं। सरयू, चित्रकूट, अयोध्या आदि पर स्वतंत्र रूप से भी विनय या स्तुतियाँ लिखी गईं। इस प्रकार की रचनाओं के अतिरिक्त अनेक रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनमें केवल सांप्रदायिक सिद्धांतों और कर्मकांड का उल्लेख मात्र है। साहित्यिक दृष्टि से ऐसी रचनाओं का कोई विशेष महत्व नहीं है। किसी नरेश द्वारा रामकथा-संबंधी ग्रंथ की रचना होने पर राम की मृगया का अत्यंत विस्तृत वर्णन मिलता है। वे अपने आमोद-प्रमोद तथा श्रृंगारी जीवन की प्रतिच्छाया राम के जीवन में देखते हैं। कथा का वर्णन करते समय राम के जन्म, विवाह, दरबार, मृगया तथा अन्य रीति-रस्मों के सम्बन्ध में तत्कालीन स्थानीय प्रभाव लगभग सभी कवि की रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए, जब कवि राम या सीता के जन्म का वर्णन करने लगते हैं, तो वे नामकरण, कर्णभेद, अन्नप्राशन, छठी, टोटका, दान, भृत्यों द्वारा किए विविध कार्य आदि अनेक बातें ले आते हैं। इसी प्रकार विवाह का वर्णन करते समय अतिथि-गृह में किए गए सभी प्रबंधों जैसे दरवानों, दरवानों के अस्त्र-शस्त्रों, कलशों और उनकी सजावट, सुगंधित द्रव्यों आदि तथा अनेक रीति-रस्मों जैसे आगमन, द्वार-पूजा, पुरोहित द्वारा किए गए कृत्य, दीन-दुःखियों को दान, स्त्रियों

अठारहवीं शताब्दी के लगभग अंत में रामायत वैष्णवों के अंतर्गत राम-कथाओं में केवल मधुर से ओत-प्रोत श्रृंगारपूर्ण भावनाओं को ही अधिक स्थान दिया जाने लगा और राम-काव्य कृष्ण-काव्य के प्रभावांतर्गत आ गया; 'गीतावली' के उत्तरकांड में स्वयं तुलसी में भी यह प्रवृत्ति मिलती है।

[२] इस प्रवृत्ति का सूत्रपात एक प्रकार से 'मानस' के टीकाकार और जानकीघाट, अयोध्या के महन्त रामचरण दास ने किया, जिन्होंने पति-पत्नी भाव की उपासना चलाई। वे सीता को अपनी सौत मानते थे। कुछ कवियों, जैसे, जीवाराम या युगुलप्रिया, अयोध्या के युगुलानंद आदि ने राम से सखी-सम्बन्ध स्थापित किया। इस प्रकार सीता-राम युगलसरकार हो गए। पति-पत्नी वाले संप्रदाय का नाम 'स्वसुखी' है और 'लोमश संहिता', 'भुशुंडि', 'रामायण महारासोत्सव' आदि उसके ग्रंथ हैं। रामावतार में भगवान ने ९९ रास किए। शेष बच रहे एक को उन्होंने कृष्णावतार में पूरा किया। 'स्वसुखी संप्रदाय' के पति-पत्नी भाव के स्थान पर युगुलानंद ने सखी-भाव की स्थापना कर 'तत्सुखी संप्रदाय' चलाया। अयोध्या के भक्तों की भाँति जनकपुर के महंत रामप्रियाशरण ने अठारहवीं शताब्दी में 'सीतायन' संप्रदाय की स्थापना की और इस संप्रदाय के कवियों ने भी सीता-राम की श्रृंगारपूर्ण लीलाओं का वर्णन किया।

द्वारा किए गए अनेक आचार, मंडप और उसकी सजावट, भाँवर, कुँवरकलेऊ, जौनार, पान, इत्र, गालियों आदि के अत्यंत विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। यहाँ तक कि कवि राम, सीता आदि के कपड़ों और उनके मुख की सजावट तक का उल्लेख करना नहीं भूले। राम की राज्य-सभा का वर्णन पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है, मानों हम किसी आलोच्यकालीन सामंत के दरबार का वर्णन पढ़ रहे हैं। गद्दे, तकिए, फर्श-कालीन, पर्दे, शमादान, जुहार करने की प्रथा आदि सब बातें राम के 'दरबार' में मिल जाती हैं। राम और सीता के शयन-गृह में भी शमादान जलता है, फूलों से सुसज्जित शय्या पर मसहरी है, मोटे-मोटे गद्दे और चिकने तथा मुलायम तकिए, मसनद आदि सभी-कुछ हैं। राम और सीता के समय में ये रीति-रस्म और आचार प्रचलित थे अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में तो निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता; किंतु इन सब प्रकार के वर्णनों में आलोच्य-कालीन हिन्दूजीवन अवश्य प्रतिबिंबित होता है। इस दृष्टि से भक्तिकाव्य वीर-काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। किंतु अत्यधिक विस्तृत और असम वर्णनों ने रचनाओं का साहित्यिक सौंदर्य बहुत-कुछ नष्ट कर दिया है। अनेक ग्रंथ तो केवल वर्णनात्मक हैं। वास्तव में आलोच्यकाल में हमें कोई उच्च कोटि का भक्त कवि नहीं मिलता।

जिन बातों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके सम्बन्ध में कुछ कवियों की रचनाओं से उदाहरण देना असंगत न होगा। इस काल के अनेक महत्वपूर्ण कवियों में से **रूप सखी** नामक कवि ने अपनी 'फागु' (१७६७ के लगभग) नामक रचना में राम और सीता को होली खेलते हुए प्रदर्शित किया है।[1] राम सीता की सखियों के बाल सँवारते हैं, जो सीता को बुरा लगता है; उनके शरीर के विभिन्न अंगों की प्रशंसा करते हैं और अपने सखाओं से फाग खेलने के लिए कह सब सखा-सखियों के साथ शृंगारपूर्ण मुद्रा में नृत्य करने लगते हैं। स्वयं कवि ने अपना नाम स्त्रियों जैसा रखा है। सांस्कृतिक बातों की दृष्टि से इस ग्रंथ में परंपरा-नुगत और सर्वविदित विषयों का ही उल्लेख है। **द्विज कुशाल** ने अपनी 'रामचंद्र जी की पत्तल' (१७७१) में राम के विवाह और तत्संबंधी आचार-विचारों और रीति-रस्मों का सविस्तार वर्णन किया है। विवाह के समय पत्तल खोलने का जो रिवाज हिन्दुओं में प्रचलित है, उसका ज्यों का त्यों वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है। कवि ने अनेक प्रकार के भोजनों की गणना कराने के साथ-साथ पायल, कंकण, दुलरी, चौलरी, सीसफूल आदि अनेक आभूषणों के नाम भी दिए हैं। **रामचरण दास ने** 'कवितावली' (१७८७) और 'राम रहस्य' अथवा 'कौशलेन्द्र रहस्य' (१७८३–१७८७ के लगभग) में राम और सीता को कृष्ण और राधा की भाँति शृंगारपूर्ण क्रीड़ाओं में संलग्न होते हुए चित्रित किया है। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि रामचरण दास अयोध्या के महंत थे और भोजन, विवाह, आभूषणों, वेशभूषा, रीति-रस्मों आदि के उनके वर्णनों में सामान्य जीवन में प्रचलित वस्तुओं तथा व्यापारों के प्रभाव के साथ-साथ मंदिर के कर्मकांड का भी प्रभाव मिलता है। भोजन और आभूषणों का वर्णन तो मंदिरों में प्रचलित प्रथाओं के अनुसार है। ऐसी प्रथाएँ आज भी मंदिरों में बरती जाती हैं। किंतु फूलछड़ी, सीता का राम की अँगूठी छीनना, राम का सीता के कंकण छीनना, विवाह के समय द्यूत-क्रीड़ा में प्रवृत्त होना तथा अन्य पवित्र कर्मों में संलग्न होना आदि बातें हिन्दी-जनता के सामान्य

---

[1] 'लाल उठाय भुजा हमि टेरे सषा सवै। आये सिया जू के सौहै सषि निकरि पवै ।।१०८।। राम कही हसि बात सखा सुनि लीजियै। फगुवा देउ मगाइ सुषी इन्है कीजियै ।।१०९।। नाना वसन अभूषन मेवा मगाई कै। पहिरइ सब सखी बहुत सुख पाइ कै ।।११०।। सोई करौ सुख सिंधु महारस मानि कै। वैठे सिंघासन साथ सिया रुप जानि कै ।।१११।। को वरनै छवि राज किसोर किसोरी की। जोरी अनूप वनी रतनायेक होरी की ।।११२।। नाचन लागी अलीगन वाजे मृदंग है। कोई न वाचे जितने होरी रंग है ।।११३।। अंस भरे भुज देषत प्यारयौ औ प्यारी है। रूप सर्वा ये ही औसर की बलिहारी है ।।११४।।

एक अन्य कवि राम सखी ने 'रास के पद' में लिखा है :

ए हो आजु बैठे रास मंडिल मे राम रसिक रंग भीने।
सोहत सषिन मध्य उड़ ससि ज्यो नटन वेष तन कीन्हे ।।
गावत हसत अजड़ जड़ मोहत प्यारी गल भुज दीन्हे।
राम सषे लषि यह सोभा सुष भये रति द्वौ हीन्हे ।।४।।

जीवन का प्रभाव प्रदर्शित करती हैं। स्थानीय प्रभाव भी अलग नहीं रह सके। सांस्कृतिक दृष्टि से इस कवि की 'शत पंचाशिका' (१७८५) नामक दूसरी रचना अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। बनारस के **जानकी प्रसाद** कृत 'युक्तिरामायण' (१८१५ के लगभग) में राम के जन्म से लंकायुद्ध तक की कथा है। यद्यपि यह ग्रंथ प्रधानतः वर्णनात्मक है और इसमें साहित्यिक सौंदर्य का भी अभाव है, किंतु यह उन थोड़ी-सी रचनाओं में से है, जिसमें विस्तारप्रियता के दर्शन नहीं होते। कवि ने साधारण रूप में नामकरण, विवाहोत्सव आदि रीति-रस्मों की ओर संकेत मात्र कर दिए हैं। स्त्री-पुरुषों की प्रसन्नता का वर्णन करने की ओर कवि की विशेष रुचि प्रतीत होती है।

आलोच्यकाल में रामकाव्य-संबंधी एक विशालकाय ग्रंथ **रुद्रप्रताप सिंह** (मांडव्य) कृत 'सुसिद्धांतोत्तम'[1] (१८२० के लगभग) है। उसमें वाल्मीकि के आधार पर आदि से अंत तक राम-कथा है। कवि ने यद्यपि अवधी भाषा का प्रयोग किया है और संस्कृत के अनेक तत्सम और क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से उसकी स्वाभाविकता और सरसता बहुत-कुछ जाती रही है, किंतु उसमें प्रौढ़ता है।[2] ग्रंथ में दार्शनिकता और नीति की प्रधानता है। अवसर मिलते ही कवि राम की मृगया या आखेट का सविस्तार वर्णन करने लगता है। साथ ही उसमें इस काल के ग्रंथों में सामान्यतः मिलने वाली विस्तारप्रियता भी मिलती है। नामकरण, छठी, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीत-संस्कार, शिक्षारंभ, विवाहोत्सव की तैयारियों और रीति-रस्मों, विविध वस्तुओं (जैसे पाग, दुपट्टा, सारी, मोतीमाल आदि), दान तथा इसी प्रकार की अन्य बातों के अत्यधिक, कहीं-कहीं अनावश्यक, विस्तार के साथ वर्णन मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष की अनेक नदियों, जनपदों, नर्तकियों, नटों, व्यायामशालाओं, अखाड़ों में कुश्ती लड़ने की प्रथा, तानपूरा, त्रिसूत्र, एकतारा, मृदंग, सारंगी आदि अनेक प्रकार के वाद्ययंत्रों, सती-प्रथा, दाढ़ी बढ़ाए हुए सभासदों, पर्दों, गद्दों, तकियों आदि के सम्बन्ध में भी अत्यंत रोचक और जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डालने वाले अनेक तथ्यों का पता चलता है। पुराणों पर आधारित ज्योतिष और भूगोल-संबंधी संकेत कवि के पांडित्य के परिचायक हैं। कथा पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानों राम अठारहवीं या उन्नीसवीं शताब्दी में रहते थे। रामकथा के सम्बन्ध में **रूपसहाय** नामक प्रसिद्ध कवि ने 'रामचंद्र का नख-शिख' (१८२९) नामक महत्वहीन रचना की। इस काल के राम-कवियों में **स्वामी भगवत दास रामानुजी** का प्रमुख स्थान है। उनका रचना-काल १८३२ के लगभग माना जा सकता है। उनके 'श्रीराम रहस्य' नामक ग्रंथ में रामकथा के, जिसका संक्षेप में वर्णन किया गया है, स्थान पर पौराणिक पक्ष और राम-भक्ति के महत्व पर अधिक ज़ोर दिया है। कवि ने राम के 'एकांत गुप्त चरित्र' का उल्लेख करते हुए राम के सामने एक सखी द्वारा रति-दान की याचना कराई है, यद्यपि राम अपने मार्ग पर दृढ़ रहते हैं और सखी को भक्ति और ज्ञान का उपदेश देते हैं—

येक सखी रामहिं भरि अंका। लैगै जहां भवन निहसंका।।
कहिसि करहु दासी पर दाया। मदन मोहि मारत रघुराया।।

---

[1] १९०१–१९११ में नौ जिल्दों में बनारस से प्रकाशित और सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित और संशोधित।

[2] सीय अधर मकरंद छबि केसर गौर सरीर।
रद पंकज मुक्ता सरिस स्तुति किंजल्क सुधीर।।५५९।।
पद्मपत्र सम नयन सोहाये। अंकुर नील भौंह छबि छाये।।
पद्म ग्रंथि सम ग्रीव सोहावन। भुजा मनहु म्रिनाल किलपावन।।
पीत पद्म सम बच्छ सुभीता। राजहिं मनहुँ भ्रमर अनभीता।।
नाभी जनु सर कै गंभीरा। उरु तड़ाग स्तंभ सधीरा।।
थिरतर चाल मराल सधीरा। बस्त्र मनहुँ सुबारि गंभीरा।।
भूखन सकल कनक सोपाना। तेहि सर छबि पनिहारिन जाना।।
निसिपति-निंदक सियमुख सोहै। ससि मेचकता अलकहि जोहै।।
नयन मनहुँ म्रिग ससि उर धारी। अधर पत्र सोई सुधा बिचारी।।
(पृष्ठ ३५७–५८)

आलोच्यकाल में ऐसी प्रौढ़ भाषा के जरा कम ही दर्शन होते हैं।

जथा मत्त गज केवलि उपारैं । इम मनमथ मम जघन विदारैं ।।
लखि तव छवि त्रभुवन त्रिय मोहै । दूरिहिं तें व्याकुल जिय जोहै ।।
मैं वसि विरह विकल तव सरनी । पालहु नाथ मेघ जिमि धरनी ।।
सुनि रघुनाथ कहा तजि कोहू । मृग लोचनी अधीर न होहू ।।
तव मम माता भगिनी दोऊ । तुम मम भगिनि अपर ना कोऊ ।।[1]

इस कवि की दूसरी प्रसिद्ध रचना 'रामकंठाभरण' (१८३२) है, जिसमें पदों और कवित्तों की मुक्तक शैली में रामकथा का संक्षेप में वर्णन है। कवि ने राम तथा सीता और राम-पंचायतन के रूप में लक्ष्मण के रूप-सौंदर्य के साथ-साथ अवध, सरयू, दशरथ, हनुमान आदि का गुण-कीर्तन कर अपनी भक्ति प्रकट की है। राम, सीता तथा अन्य पात्रों को सखा-सखियों के साथ होली तथा अन्य शृंगारपूर्ण क्रीड़ाओं में प्रवृत्त होते हुए चित्रित किया गया है। राम दक्षिण नायक हैं, जो सरयू तीर के कुंजों में सीता के साथ रति करते हैं और साथ ही सीता के बराबर ही अन्य स्त्रियों से भी प्रेम करते हैं। सखी (कवि) में असूया के भाव भी हैं—

'कित जागे रति राम रघुनंदन । भोर भये आये मेरे मंदिर बिन गुन माल भाल गे वंदन । सिथल अभूषन पाग लटपटी उर कजल कुमकुम अरु चंदन । नैयन उनीदे चाल डगमगी परे सिया प्यारी के फेर के फंदन । दृग समुहे किन करत न प्यारे प्रगटत हौ अपने क्षल क्षंदन । जन भगवत श्री सषी चतुर वर पावं दावि कृत पवन सुमंदन ।।५८।।[2]

वास्तव में भगवतदास की रचनाओं में शृंगार-तत्व प्रधान है। भोजन, वेशभूषा, आभूषणों आदि के वर्णन में उन्होंने परंपरागत शैली का ही अनुसरण किया है।

राम के सम्बन्ध में ऐसी शृंगारपूर्ण भावनाएँ आलोच्यकाल में सामान्यतः मिलती हैं। छोटे-बड़े लगभग सभी कवियों ने इस प्रकार की भावनाएँ अभिव्यक्त की हैं। कृष्ण-संबंधी शृंगार-भावनाओं की भाँति राम-संबंधी इस प्रकार की भावनाओं का भी आध्यात्मिक दृष्टि से प्रतिपादन किया जा सकता है, और कुछ कवियों ने उसे 'गुप्त चरित्र' कह कर पुकारा भी है, किंतु इतना सब-कुछ होते हुए भी राम के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावनाओं से उनके मर्यादाशील रूप को ज़बरदस्त आघात पहुँचता है। आलोच्यकालीन राम वृंदावन के कृष्ण प्रतीत होते हैं। कृष्ण-भक्ति से प्रभावित होने के साथ-साथ वे भारतीय-इस्लामी सभ्यता में पोषित कोई विलासप्रिय एवं वैभवशाली सामंत की भाँति दिखाई देते हैं। रीवाँ के **महाराज विश्वनाथ सिंह** (शासन-काल १८३३–१८५४) कृत 'रामायण' (१८२१ के लगभग) में भी राम का यही रूप मिलता है। अपनी 'विनयमाल',[3] 'अयोध्या जी के भजन',[4] 'अयोध्या माहात्म्य'[4] (१८३३), 'चित्रकूट माहात्म्य',[4] 'हनुमान जी की स्तुति',[4] और 'गीतावली'[4] नामक रचनाओं में उन्होंने विनय और स्तुति संबंधी स्फुट रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और राम और कृष्ण दोनों में कोई भेद नहीं माना। किंतु 'रामायण' में रामकथा और राम से संबंधित पवित्र दार्शनिक और नैतिक सिद्धांतों का उल्लेख कर उन्होंने राम को महल में बने 'बंगले' में रहने वाले, अनेक प्रकार की शृंगारपूर्ण क्रीड़ाओं में संलग्न होने वाले, अयोध्या की अशोक-वाटिका में सीता और उनकी सखियों के साथ गायन, वादन और नृत्य में प्रवृत्त होने वाले, सीता की सखियों के साथ हास-परिहास करने और फिर एकदम अदृश्य हो जाने वाले नायक के रूप में चित्रित किया है। कृष्ण यदि रासलीला करते थे, तो राम जल-विहार करते हैं। कृष्ण यदि रूठी हुई राधा को मनाते थे, तो 'रामायण' में राम सीता के विभिन्न अंगों को स्पर्श कर उनका मान-भंग करना चाहते हैं। इसी प्रकार की अनेक क्रीड़ाओं और लीला के पश्चात् सीता को हम खंडिता नायिका के रूप में देखते हैं। किंतु अंत में कवि कहता है—'यह विहार अति गोप भवानी'। तत्पश्चात् राम का चरित्र 'गोप' क्यों है, राम-लीला, राम-चरित्र आदि का क्या महत्व है, इन बातों के सम्बन्ध में वह अपने विचार प्रकट करता है। शिव जी पार्वती को कथा सुनाते समय राम

---

[1] 'राम रहस्य', पृ० २५
[2] 'रामकंठाभरण', पृ० १८
[3] लिपिकाल १८३२
[4] लिपिकाल या तो १८३४ है या १८४२

के कृष्णावतार की ओर भी संकेत करते हैं। कवि ने राम-नाम की महिमा भी गाई है और प्रसंगानुसार, स्थान-स्थान पर आभूषणों, वस्त्रों, भोजन-सामग्री, अस्त्र-शस्त्रों आदि का उल्लेख किया है।

आलोच्यकाल के अन्य राम-कवियों में से **विद्यारण्य तीर्थ और रामनाथ प्रधान** के नाम भी उल्लेखनीय हैं। विद्यारण्य तीर्थ ने 'संक्षेपरामायण' (१८४१) और 'रामरंग' (१८४१) में राम-जन्म के उपलक्ष्य में विविध आचार-विचारों और रीति-रस्मों का उल्लेख किया है। किंतु उन्होंने अधिक तूल नहीं बाँधी। किसी कथात्मक अंश का वर्णन कर उसका दार्शनिक रीति से प्रतिपादन करना कवि की सामान्य प्रणाली है। विद्यारण्य तीर्थ ने सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्तियों पर लिखा है। निर्गुणभक्ति संतों की भक्ति के अनुरूप है[1] और स्थान-स्थान पर अजपा-जाप, नाम, अलख आदि का उल्लेख मिलता है। रामनाथ प्रधान कृत 'धनुष यज्ञ रहस्य' (१८३४) में राम को श्रृंगारीरूप प्रदान नहीं किया गया और तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' उसका प्रधान आधार है।[2] ग्रंथ में कोई मौलिकता नहीं है। किंतु रामनाथ प्रधान के राम कानों में मुरकी, बाहों में बाजूबंद, कलाइयों में कड़े पहिने हुए हर वक्त पान चबाते रहते हैं। अँगरखा, काछनी, ज़रीदार गुजराती फेंटा, चौतनी (सिर पर), लाँग, पैरों के कड़े आदि के रूप में आलोच्यकालीन पुरुष की वेशभूषा का ज्ञान प्राप्त होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में करधनी, पायल, तरौनी आदि आलोच्यकाल में सामान्यतः उल्लिखित आभूषणों की गणना कराई गई है। यज्ञ में सीता घूंघट निकाल कर आती हैं। इन सब बातों पर कवि के काल का प्रभाव है। 'धनुष यज्ञ रहस्य' के अतिरिक्त रामनाथ प्रधान के 'राम कलेवा रहस्य' (१८४५) और 'राम होरी' (१८५५) नामक दो अन्य ग्रंथ भी हैं। इन दोनों ग्रंथों में उन्होंने अत्यधिक अनावश्यक विस्तार देने और राम को प्रेम तथा श्रृंगारपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए चित्रित करने की युग-परंपरा का पालन किया है।

देव कवि काष्ठजिह्वा कृत 'विनयामृत' (१८५० के लगभग) और रीवाँ, के **महाराज रघुराज सिंह** (१८२३–१८७९) कृत 'सुंदर शतक' (१८४६), 'विनय पत्रिका' (१८४९) और 'जदुराम विलास' में राम-संबंधी विनय की स्फुट रचनाएँ हैं, यद्यपि अंतिम रचना में कवि ने राम और कृष्ण में कोई भेद न मानकर राम की होली तथा इसी प्रकार की अन्य क्रीड़ाओं का उल्लेख किया है।[3] रघुनाथ दास रामसनेही के 'विश्राम सागर' (१८५४) में केवल वर्णनात्मकता और जन्म, विवाह, भोज आदि के विस्तार की प्रधानता है। इन उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त अयोध्या के **महंत जुगलानन्यशरण** (मृ० १८७६) कृत 'अष्टदला रहस्य' (१८४७) और 'विनोद विलास' (१८५३) नामक रचनाओं में भी राम का जीवन, उनकी श्रृंगारपूर्ण क्रीड़ाएँ आदि विशेषताएँ आलोच्यकाल के अन्य ग्रंथों के समान हैं। राम के संबंध में कवियों की यह प्रवृत्ति उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध तक में पाई जाती है।

राम-भक्ति के इतिहास में आलोच्यकालीन राम-संबंधी भावना उसका एक महत्वपूर्ण पक्ष है। देश, काल और परिस्थितियों का उस पर पूरा प्रभाव है। उसमें यद्यपि कुछ अपवाद छोड़कर साहित्यिक और कलात्मक सौंदर्य का बहुत-कुछ अभाव है, तो भी उसमें तत्कालीन सामान्य जीवन प्रतिबिंबित है। इस दृष्टि से भी उसका अध्ययन ज्ञानवर्द्धक और उपयोगी है। रामभक्ति संबंधी कतिपय ग्रंथों में सन्निहित रामभक्ति के जिस स्वरूप की संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर दी गई है, उससे इस कथन की यथेष्ट पुष्टि होती है। •••

---

[1] 'वही चतुर वही पक्का है। जिसने रामचंद्र पद ही में षूब लगाया तक्का है।। दोहिन ज्ञान पंथ पर चढ़ि कै यो ही मूरष वक्का है। राम भजन विन तौ अजगैवी लागत हुकुमी धक्का है।।१।। जगत नहीं यह अमृत ही का दही जमाया चक्का है। संतन माषन लिया जगत तौ छाछ वाद से जक्का है।।२।। अंदर का जव राम लषा तब क्या काशी क्या मक्का है। दीदारू वाहर का सौदा मसल कबूतर लक्का है।।३।। राम भजन की वेलि लगाई सत जन माली सक्का है। राम देवाना रामरंग में हरदम छकि छकि छक्का है।।'

[2] यौ कहि मुरुकि निहारयौ रघुवर सिय मुख-सनमुख देखी। लोचन लोह बदन सिय चुंबक लपटयौ ललकि विसेखी।।१७७।। खंजन नैन फसे छवि जालन मुखते कढत न काढे। अधटोरे रहे फूल हाथ में ठगि से रहे प्रभु ठाढे।।१७८।।

[3] कवि की यही प्रवृत्ति उसकी 'रामस्वयंवर' (१८७७) नामक रचना में भी दृष्टिगोचर होती है।

राजस्थानी लोकगीतों में उत्तररामचरित

श्री मनोहर शर्मा

★

राजस्थान लोकगीतों का भंडार है। यहाँ हर प्रकार के एवं हरेक अवसर के अगणित लोकगीत प्रचलित हैं। इस लेख में राजस्थान के एक लोकगीत 'दांतण' पर जरा विस्तार के साथ चर्चा की जाएगी। 'दांतण' लोकगीत में सीता-वनवास का प्रसंग है। परंतु इस गीत में राम और कृष्ण में कोई अंतर नहीं माना गया है। यहाँ जो राम है, वही श्याम है। एक ही गीत में राम और कृष्ण से संबंधित अन्य पात्र भी मिला दिए गए हैं। यहाँ सीता और रूकमण में कोई अंतर नहीं। गीत की कथावस्तु इस प्रकार है— कौशल्या माता प्रातःकाल अपनी पुत्रवधू रूकमण से दतौन माँगती हैं। दातौन देने में वधू कुछ ध्यान नहीं देती। इससे माता कौशल्या को भारी क्रोध आता है और वह अपने पुत्र नंदलाल से कह कर वधू को वन में भिजवा देती हैं। देवर लक्ष्मण उसे छोड़ने वन में जाते हैं। वहाँ उसके पुत्र पैदा होता है और वह असहाय स्थिति में पड़ जाती है। एक काग इस दुरावस्था का समाचार उसके घर पहुँचाता है। नंदलाल प्रसूता के लिए आवश्यक वस्तुएँ साथ लेकर वन को जाते हैं। रूक्मण उन पर वन में नाराज होती है और उनका सामान अस्वीकार कर देती है। फिर बहुत अनुनय-विनय करने पर घर लौटती है। आगे यह गीत अपने पूरे रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

(१)

रामजी, पो फाटी भयो परभात, मात कौसल्या जी दांतण मांगियो।
रामजी, मांग्यो छै बर दोय च्यार, बहू ए आंटीली सुणै ए न सांभलं।
रामजी, बाहर सैं आया नँदजी का लाल, तूं क्यूं ए मायड़ आंमण दूमणी।
रामजी, थारै घर नार कुनार, कह्यो ए न मानैं म्हारो तिल भरयो।
माता म्हारी, ल्याऊं गंगाजल नीर, दांतण ल्याऊंजी काची केल को।
माता म्हारी, ऊठो थे दांतणियो सो मोल, थारै दांतण की जी बरियां अब हुई।
रामजी, दांतण थारी रूकमण नें कराय, म्हारै दांतण की जी बरियां टल गई।
माता म्हारी कहो तो धण द्यां रै बिडार, कहो तो खिणाद्यां जी रूकमण बाप कै।
रामजी, क्यानें थे द्यो रै बिडार, क्यानें खिणाद्यो जी रूकमण बाप कै।
लाला रै, मनड़ै सैं द्यो रै बिडार, मन की बिडारी जी हांडै भिणहणी।

(२)

रूकमण, उठो धण करो सिणगार, थारै बाबुल घर रलो ए बधावणा।
रामजी, झूठा थे झूठ न बोल, सांवण मासां किसी जी बिरवड़ी।
रूकमण, उठो धण करो सिणगार, बेटो तो जायो जी थारै बीर कै।
रामजी, अब कै थे बोल्या हो सांच, पूरै तो मासां जी म्हारी भावजां।
रामजी, कालै सैं बलदां बैल जुपाय, ऊपर ताण्यो जी कालो कामलो।
रामजी, दीनी छै बैल बिठाय, लिछमण देवर दियो ए बोलावणो।
रामजी, गया गया बन कै जी मांय, बन मैं तो जाकर रथड़ो थामियो।
रूकमण, उतरो ना करो बिसराम, मोड़ै जी चालां ए थारै बाप कै।
रामजी, रूकमण नें आय गई नींद, देवर तो लिछमण रथड़ो मोड़ियो।

(३)

रामजी, तोड़्या छै ग्रड़बड़ पान, तोड़ बिछायो जी सण को सांथरो।
रामजी, रूकमण कै जायो लाडण पूत, घूंटी देबालो जी बन में कोय नहीं।
रामजी ग्राप पोढी भूंयां मांय, गीगो तो सूत्यो जी सण कै सांथरै।
ग्वाल्या बीरा, गाय परंसी रै राख, सूत्या तो टाबर ग्वाल्या बीरा ग्रोधकै।
रूकमण कुण से साजन की थे धीय, कुण से साजन की कहिए ग्रसतरी।
ग्वाल्या बीरा, जिनक साजन घर धीय, राजा दसरथ घर कहिए कुलबहू।
उड रै, म्हारा हरियल बन का काग, जाय बोलो रै ठाकुर हर की कोटड़ी।

(४)

रामजी ऊगतड़ै जी परभात, काग कड़ूकै जी थारै सुलखणो।
रामजी, थे सूत्या तखत बिछाय, गीगो तो सूत्यो जी सण कै सांथरै।
रामजी, बन में तो जायो छै पूत, घूंटी देबालो जी बन में कोय नहीं।
कागा रै, काटूं-बाडूं थारोड़ी चांच, घूंटी देण वाला जी राम र लिछमणा।
रामजी, ऊठया छै ग्रंग मरोड़, जाय र बूज्यो ग्रापकी माय नै।
माता म्हारी निसरो नी बाहर ग्राव, बाहर तो बोलै जी बन को कागलो।
माता म्हारी कहो तो धण ल्यावां ए मनाय, गीगो तो सूत्यो ए सण कै सांथरै।
लाल रै, के थानैं ग्रायो ग्राल जंजाल, के थारै हिरदै जी रूकमण बस रही।
माता म्हारी, ना म्हानैं ग्रायो ग्राल जंजाल, ना म्हारै हिरदै जी रूकमण बस रही।
माता म्हारी, बन में तो जायो छै पूत, राजा दसरथ घर रली ए बधावणा।
माता म्हारी बाज्या छै सोवण थाल, सोवण छुरियां जी नालो मोलियो।
रामजी, एक पल्लै ल्याया जी सठवां सूंठ, एक पल्लै ल्याया जी करड़ा खोपरा।
रामजी, एक हाथ लीन्या गुड़ ग्रजवाण, एक हाथ लीन्यो जी घी को झांकरो।
रामजी, धोलै से बलदां बैल जुपाय, ऊपर ताण्यो जी प्रेम पछेवड़ो।

(५)

रामजी, गया गया बन कै जी मांय, जाय ठाकुर हर रथड़ो थांमियो।
रूकमण, ये ल्यो थे गुड़ ग्रजवाण, यो ल्यो थे रूकमण घी को झांकरो।
रूकमण, या ल्यो थे सठवां जी सूंठ, ये ल्यो थे रूकमण करड़ा खोपरा।
रामजी, बगड़ बखेरूं गुड़ ग्रजवाण, नेंवी ए बुहाऊं जी घी को झांकरो।
रामजी, बगड़ बखेरूं सठवां जी सूंठ, नेंवी ए बुहाऊं जी करड़ा खोपरा।
रामजी, काड्यां रा किसा घर बार, रूस्यां रा किसड़ा परभू मनाबणा।
रूकमण, थे छो म्हारी ग्राध सरीरी नार, म्हे मन राख्यो जी बुडली माय को।
रामजी, लीनी छै बैल बिठाय, गीगो तो लीन्यो जी ग्रापरी गोद में।

(६)

माता म्हारी, ऊठो थे बाहर ग्राव, पगां ए पड़ै छै थारी कुल बहू।
रामजी, जीवो थे कोड़ बरीस, गीगो तो होयज्यो जी बूढो डोकरो।
रूकमण, बुड़लै रो सरब सुहाग, पगां ए पड़ो नी जी थारी माय कै।
माता म्हारी, ग्रबड़ा सा बोल न बोल, पगां तो पड़ै छै सासू नणद कै।
रूकमण, थे छो म्हारै बड साजन की धीय, ज्यांरा म्हे झाला जी पीला ग्रोढिया।

माता म्हारी, पूतां बिना किसो परवार, भूवां बिना आंगण लागै भिणहणो।
माता म्हारी, मंदरिए मैं पड़ी छै उजाड़, राम रसोई जी लागै भिणहणी।
लक्मण, आवर हो पूतां की माय, सापुरसां को कहिए जी असवरी।
रामजी, दांतण गावै बैकुंठां को बास, सुणणिए का पातक परभू झड़ पड़ै।

इस गीत का नाम 'दांतण' है, सो इसलिए कि यह दातौन के प्रसंग को लेकर प्रारंभ होता है। वसे इसकी वस्तु भारत की प्राणस्वरूपा रामकथा का एक अंश है। वह अंश भी ऐसा है, जो स्वयं रामकथा का बड़ा ही मार्मिक प्रसंग है।

इस गीत में कई पात्र हैं। उनमें कौशल्या, राम एवं सीता प्रधान हैं। लक्ष्मण, काग तथा ग्वाला भी इस गीतकथा के तीन अन्य पात्र हैं। सबसे पहले कौशल्या के चरित्र पर विचार कीजिए। कौशल्या अपनी वधू पर इस लिए क्रोध करती है कि वह उसे कहते ही दातौन लाकर नहीं देती। क्या इतनी-सी बात इतना भारी क्रोध प्रगट करने के लायक है? लोकप्रसिद्ध रामकथा का धोबी वाला प्रसंग गीत में नहीं है और उसके स्थान पर सास-वधू का झगड़ा सीता-वनवास के कारण-स्वरूप उपस्थित हुआ है। यह सब समाज का आधुनिक रंग है, जो इस गीत में आ समाया है। लोकगीतों की दुनिया में सास-वधू का झगड़ा एक विशेष प्रसंग है। वही बात इस गीत में भी आ गई है। तुलसीदास जी की रामायण में कौशल्या माता अपनी स्नेहसुधा-पालिता पुत्र-वधू को दीप-बाती तक ठीक करने के लिए नहीं कहतीं। लोकगीत की वही कौशल्या अपनी गर्भवती वधू को जरा-सी बात के लिए वनवास तक दिलवा देती है और अंत तक उसका क्रोध शांत नहीं होता। जब राम सीता को पुत्र सहित लौटा लाते हैं, तब भी वह मर्मभेदी ताने मारने से नहीं चूकती। यह सब इसीलिए है कि लोकगीतों की वधू अपनी सास की ज्यादती से भारी तंग है और इसी कारण इस गीत में सास का चित्रण इस कठोर रूप में किया गया है।

इस गीत के राम मातृभक्त हैं। महाकाव्य के राम पिता के वचन पर वन को चले गए। इस गीत के राम ने माता की बात पर सीता को वनवास दे दिया। साथ ही सीता को हटाने के लिए उन्हें झूठ भी बोलना पड़ा। इन सब बातों से गीत के राम की दुर्बलता प्रगट होती है। इसके बाद जब काग आकर उन्हें वन की घटना की सूचना देता है, तो उनमें नई शक्ति प्रगट होती है तथा उनका कुलाभिमान भी जागृत होता है। उन्हें काग की बातों पर क्रोध भी आता है। वे यह सुनने के लिए तैयार नहीं कि सीता के पुत्र की नाल तक काटने वाला संसार में कोई नहीं है। अब वे अपनी माता की बात नहीं मानते और प्रसूता के लिए आवश्यक सामान लेकर वन को चले जाते हैं। वहाँ सीता से अनुनय-विनय करके उसे लौटा लाते हैं। यह सब इसलिए हुआ कि सीता अब पुत्रवती है। राम ने सीता का कोई आदर नहीं किया, बल्कि अपने पुत्र का सम्मान किया। उनका पिता का हृदय रोके नहीं रुका और वे वन को गए। यह भी सारा रंग लोकगीतों के ही संसार का है। लोकगीतों में पुत्रहीना का निरादर और पुत्रवती का बड़ा सम्मान होता है। वहाँ दुहागिन को पुत्रवती होते ही सुहाग मिलता है। इस गीत के राम प्रारंभ में दुर्बल एवं पीछे सशक्त दिखाई देते हैं।

गीत का तीसरा प्रधान पात्र है, सीता। वह अपनी सास की बात पर ध्यान नहीं देती। उसके हृदय में अकड़ है। इतनी-सी बात पर उसे वनवास भोगना पड़ता है। उसका स्वभाव भोला भी है। वह राम के इस भुलावे में आ जाती है कि उसके पीहर में पुत्र पैदा हुआ है। अपना पीहर सभी स्त्रियों को अत्यधिक प्रिय है। पीहर में पुत्र जन्म होना तो बड़े ही आनंदोल्लास का विषय है। वह इसी भुलावे में आ गई और अपने पीहर जाने के लिए रवाना हो गई। उसे रथ में बिठाया गया। रथ के बैल काले थे और उस पर काला ही कपड़ा ताना गया था। पीहर के चाव में उसने इन सब बातों पर ध्यान नहीं दिया। सीता का यह निष्कासन महाकरुण है। फिर उसे निद्रित अवस्था में वन में छोड़ आना तो हृदयद्रावक है। गर्भवती सीता पर सूने वन में पीड़ा उठने के समय कैसी बीती होगी। इसी स्थिति के वर्णन में महाकवि

भवभूति ने कहा है कि सीता की इस दशा पर पत्थर भी रोकर पिघल जाता है और वज्र का हृदय भी फट जाता है। फिर राम उसे लौटाने के लिए वन में आते हैं, तो उसे भी क्रोध आता है। परंतु अंत में अनुनय-विनय पाकर वह शांत हो जाती है। वह दुर्बल नारी है। घर लौट आती है। वहाँ आने पर भी उसे अपनी सास के ताने ही सहने पड़ते हैं। फिर भी गीत आनंद के साथ समाप्त होता है, क्योंकि उसे अपने पति से आदर मिल जाता है। नारी को और क्या चाहिए, गोद में पुत्र हो और पति का प्रेम हो। काले रथ में बैठकर वन को जाने वाली सीता सफेद रथ में बैठ कर अपने घर लौटती है, तो श्रोता की आत्मा को भी शांति-सी मिलती है।

गीत के लक्ष्मण राम की आज्ञा का पालन करते हैं और सीता को वन में छोड़ने के लिए घोर असत्य का सहारा लेते हैं। गीत का काग संदेशवाहक है। इस गीत का ग्वाला सीता के प्रति सहानुभूति प्रगट करता है। वह भी एक नारी को इस बुरी हालत में देख कर, चकित होकर, पूछता है कि आखिर वह है कौन ?

'दांतण' राजस्थान का पुण्यमय प्रभात-गीत है और वह भक्ति के क्षणों में प्रातःकाल ही गाया जाता है। साथ ही इसके राम भी भगवान रामचंद्र ही हैं, परंतु फिर भी इसमें साधारण जन-जीवन की रंगत है तथा इसका समस्त वातावरण भी राजस्थान का है।

इस गीत का कलापक्ष भी बड़ा सुंदर है। गीत के बीच-बीच में कुछ ऐसे प्रसंग आए हैं कि उन का वर्णन सीधा हृदय को छूता है। इन प्रसंगों का भाव बड़ा गंभीर है और सीधे-सादे शब्दों में बड़ी गहरी बात कही गई है। गीतों में शब्दों का खेल नहीं होता, वहाँ तो रस होता है।

इस गीत में पुरुष पर नारी की विजय की यशोगाथा है। साथ ही यह मातृपद का मंगल-गान है। वैदिकयुग से जो विचारधारा हमारे देश में चली आ रही है, उसी की महत्ता इस गीत में भी रमी हुई है। यह गीत समाज के मूलतत्त्वों पर आधारित है। हमारे विधि-निर्माता मनु की अमर वाणी इस गीत में कितने सुंदर रूप में प्रस्फुटित है—

एतावानेव पुरुषो यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृतांगना।।

राजस्थान में एक कहावत है कि गाड़ी के पास बैल स्वयं चल कर आ जाते हैं। (गाड़ी कन्नै बलदिया आप ई चाल कर आ ज्यावैं) राम ने सीता को निकाल दिया, परंतु जब वह मातृपद पर आसीन हुई, तो राम स्वयं उसके पास चले गए। इस गीत में राम पर सीता की विजय दिखाई गई है।

असमिया में राम-साहित्य

श्री विष्णुकांत शास्त्री

भारतवर्ष के पूर्वीय सीमांतप्रदेश आसाम या असम की भाषा असमिया है। विद्वानों के मतानुसार मागधी अपभ्रंश के पूर्वोत्तरीय स्वरूप से इसकी उत्पत्ति हुई। स्व० डॉक्टर वाणीकांत काकती की राय में ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उद्भव होने पर भी, असमिया के स्वतंत्र रूप धारण करने की निश्चित तिथि नहीं बतायी जा सकती[1]। यों तो उनके अनुसार सिद्धों के पदों और दोहों में भी असमिया का प्राचीन रूप पाया जाता है, किंतु निश्चित रूप से असमिया का लिखित साहित्य चौदहवीं शताब्दी से ही मिलता है। रुद्र सरस्वती, हेम सरस्वती, हरिवर विप्र आदि ही असमिया साहित्य की नींव डालने वाले हैं। असमिया के लिए यह गर्व की बात है कि इसके साहित्य में आदिकाल से ही राम-साहित्य की गौरवपूर्ण परंपरा का प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ इस महत्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख करना उचित होगा कि असमिया भक्त कवि माधवकंदली की रामायण को ही उत्तरी भारत की प्रादेशिक भाषाओं की रामायणों में कालक्रम के अनुसार प्रथम होने का श्रेय प्राप्त है। माधवकंदली की रामायण का आसाम में बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। उनके समय से असमिया-साहित्य के विभिन्न रूपों में रामकथा को अवलंबन कर ग्रंथरचना का जो क्रम आरंभ हुआ, वह आज भी अक्षुण्ण है।

रचनाप्रकार की दृष्टि से हम असमिया रामायणों को चार वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) पद-रामायण, (२) गीति रामायण, (३) कथा रामायण, (४) कीर्त्तनीया रामायण। पद-रामायणों की रचना वाल्मीकि या भागवत की रामकथा पर आश्रित विभिन्न छंदों में महाकाव्य-शैली पर की गई है। गीतिरामायण में गेय पद हैं, जो कथा की एक कड़ी होते हुए भी अपने में पूर्ण हैं। कथारामायण में गद्य में कथावाचन-शैली में रामचरित कहा गया है। कीर्त्तनीयारामायण में कीर्त्तन-पद्धति में रामकथा गुंफित है। पद-रामायणों के प्रमुख रचयिता हैं श्री माधवकंदली, शंकरदेव, माधवदेव और अनंतकंदली। गीतिरामायण के गायक हैं सुप्रसिद्ध कवि दुर्गावर, कथारामायण के कथावाचक हैं श्री रघुनाथ महंत तथा कीर्त्तनीयारामायण के कीर्त्तनकार हैं श्री अनंतठाकुर आता। इनके अतिरिक्त रामायण के विभिन्न आख्यानों के आधार पर समय-समय पर नाटक, खंडकाव्य आदि की रचना होती रही है। प्राचीन नाटककारों में श्री शंकरदेव, माधवदेव, अनंतकंदली आदि सुप्रसिद्ध हैं, जिन्होंने रामचरित की विभिन्न घटनाओं के आधार पर असमिया अंकिया नाटकों की रचना की है। आधुनिक युग में श्री भोलानाथ दास, श्री रमाकांत चौधरी आदि ने अपने खंडकाव्यों तथा श्री गुणाभिराम बरुआ, श्री दुर्गेश्वर शर्मा आदि ने अपने नाटकों के लिए श्री रामकथा के ही विभिन्न अंशों को अपना उपजीव्य माना है।

माधवकंदली और उनकी रामायण—असमिया में रामकथा के गायकों में श्री माधवकंदली का वही स्थान है, जो हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास का है। माधवकंदली की रामायण से प्रायः प्रत्येक परवर्त्ती कवि प्रभावित हुआ है। जनता में भी इसका अधिक प्रचार है, गाँव-गाँव में, चौपाल-चौपाल में इसकी कथा होती रहती है। माधवकंदली अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। वे ब्राह्मण थे और उन्हें 'कविराज' की उपाधि भी दी गयी थी। यह उपाधि उन्हें विद्वत्समाज से मिली थी या अपने आश्रयदाता नरेश से, इसके बारे में कोई निश्चय नहीं हो पाया है। कंदली भी उपाधि ही है, जो संभवतः प्रसिद्ध विद्वानों, विशेष कर तार्किकों को दी जाती थी, क्योंकि अनंतकंदली ने लिखा है,'तर्क त लभिला नाम अनंतकंदली'; आसाम में कंदली उपाधिधारी अनेक विद्वान कवि तथा राजदूत हुए हैं। राजदूतों को भी कंदली उपाधि दी जाती रही; इससे यह अनुमान

[1] Aspects of Early Assamese Literature, P. 1.

पुष्ट होता है कि इस उपाधि को प्राप्त करने के लिए 'तर्कपटु' होना भी आवश्यक माना जाता था। जो भी हो, यह निश्चित है कि माधवकंदली बहुत श्रेष्ठ विद्वान और कवि थे। उन्होंने स्वयं कहा है—

कविराज कंदली ये आमाके से बूलिकय
माधवकंदली आरो नाम।
सपोने सचिते भक्ति ज्ञान काय वाक्य मने
अहर्निशे चिंतो राम राम ।।

मुझे 'कविराजकंदली' कहा जाता है, मेरा दूसरा नाम माधवकंदली है। मैं स्वप्न में या जागृतावस्था में हर समय मनसा, वाचा, कर्मणा से राम का चिंतन करता रहता हूँ।

माधवकंदली का समय अभी तक ठीक-ठीक निश्चित नहीं हो पाया है, किंतु प्रायः सभी विद्वानों का मत है कि उनका समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच का होना चाहिए।

कवि का कहना है कि उसने रामायण की रचना वराह नरेश श्री महामाणिक्य के अनुरोध से सर्वजन-बोध के लिए की है। कवि ने श्री वाल्मीकीय रामायण को अपना आधार माना है। वाल्मीकि के प्रति स्थान-स्थान पर अपनी श्रद्धा निवेदित की है। सुंदरकांड के अंत में वे कहते हैं, "महर्षि वाल्मीकि ने रामायण का प्रकाश क्या किया, संसार में अमृत की सृष्टि कर दी, इसे सुनने से कलियुग में सद्‌गति होती है, मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। माधवकंदली विप्र भी उनके चरणों को स्मरण कर श्लोक बनाता है।" किंतु इससे यह न समझना चाहिए कि उन्होंने 'वाल्मीकिरामायण' का अक्षरशः अनुवाद किया है। उन्होंने मूल घटनाएँ तो 'वाल्मीकिरामायण' के अनुसार ही रक्खी हैं, किंतु कुछ स्थलों को अपनी रुचि के अनुसार घटाया-बढ़ाया भी है। इसके लिए उन्होंने क्षमाप्रार्थना भी की है।

इस समय दुर्भाग्य से माधवकंदली की रामायण के कुल पाँच कांड ही मिलते हैं। आदिकांड और उत्तरकांड अनुपलब्ध हैं। असमिया की कुछ अन्य रामायणें भी (यथा दुर्गावर अनंतकंदली, अनंत कायस्थ और रघुनाथ महंत की) केवल पाँच कांडों की ही हैं। अतः विद्वानों का एक दल कहता है कि संभवतः उन्होंने केवल पाँच कांड ही लिखे थे।[1] किंतु कुछ विद्वानों का मत है कि उन्होंने सातों कांड लिखे थे और किसी युद्ध में दो कांड नष्ट हो गए। इस कथन के प्रमाण में लंकाकांड में आई वे पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं, जिनमें श्री माधवकंदली ने कहा है कि मैंने विस्तार का त्याग कर सात कांडों में रामायण का सार पदबंधों में निबद्ध किया है तथा महामाणिक्य के अनुरोध पर इसमें कुछ काव्य-रस का भी समावेश इस तरह कर दिया है, मानो दूध में घी डालकर भलीभाँति मिला दिया हो। फिर भी माधवकंदली की रामायण वाल्मीकीय रामायण का संक्षिप्त एवं किञ्चित् परिवर्तित अनुवाद ही है। इससे इसका महत्व किसी प्रकार कम नहीं होता, क्योंकि न केवल विभिन्न वर्णनों में ही स्थानिक रंग भर कर कवि ने उन्हें सजीव एवं असमिया-मानस के लिए अधिक ग्राह्य बना दिया है, बल्कि अनुवाद भी इतनी कुशलता एवं सफाई से किया गया है कि बिलकुल मौलिक-सा लगता है, कहीं कृत्रिमता या क्लिष्टता नहीं आ पायी है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि-कृत रामायण के लंकाकांड का यह प्रसिद्ध श्लोक लीजिए—

देशे देशे कलत्राणि, देशे देशे च बांधवाः
तं तु देशं न पश्यामि, यत्र भ्राता सहोदरः।

देखिए कितनी स्वाभाविकता के साथ कवि ने इसे असमिया रूप प्रदान कर दिया है—

---

[1] M. Neog—Assamese Literature Before Sankardev (Aspects of Early Assamese Literature, P. 26).
U. C. Lekharu—Assamese Versions of the Ramayan (Aspects of the Early Literature, P. 218).

भार्या, पुत्र, बन्धु यत पाइ यथा तथा।
हेन नतु देखोहों सोदर पाइ कथा।।

माधवकंदली के अनुवाद की विशेषता यही है कि मूल के प्रति ईमानदारी बरतते हुए, उसे संक्षिप्त रूप देने का प्रयास किया गया है। केवल कुछ मार्मिक प्रसंगों में इस नियम का उल्लंघन कर स्थानिकता एवं रसार्द्रता लाने की चेष्टा की गई है। मूलकथा का कोई भी अंश बाद नहीं दिया गया है, किंतु वर्णन-सुविधा के लिए दो-एक स्थानों पर कुछ घटनाएँ आगे-पीछे कर दी गई हैं। मंथरा की कथा, चित्रकूट, सुग्रीव के आदेशानुसार वानरों द्वारा सीता के अन्वेषण, मधुवन में राक्षसों के साथ हनुमान के युद्ध और लंकादहन आदि के वर्णन में मूल से कुछ अंतर पाया जाता है। 'वाल्मीकीय रामायण' में राम महामानव के रूप में चित्रित किए गए हैं, किंतु कंदलीरामायण में वे विष्णु के अवतार हैं। विद्वानों का अनुमान है कि माधवकंदली अंशतः अध्यात्मरामायण से भी प्रभावित थे। कथागुरुचरित के आधार पर कुछ विद्वान इसे अधिक संभव मानते हैं कि शंकरदेव और माधवदेव ने 'कंदलीरामायण' को पूर्ण करते समय इन भक्ति-प्रसंगों को समाविष्ट कर दिया होगा। किंतु जैसा कि हम देख चुके हैं, माधवकंदली स्वयं रामभक्त थे और वे 'अहर्निशे चिंतो राम राम' की घोषणा भी करते हैं, अतः भक्तिमूलक वचनों को कंदली-कृत मानना अनुचित न होगा।

इस भक्ति में शृंगार का भी पुट दिया गया है। संभवतः यह राजा महामाणिक्य के अनुरोध का फल है। राम के वन-गमन के समय सीता अपने सौंदर्य का वर्णन कर राम से पूछती हैं कि मेरा कौन-सा अंग हीन है, जिसके कारण आप मेरी उपेक्षा कर जाना चाहते हैं। जिस तरह सूर्य के बिना दिन, चंद्रमा के बिना रात, कोकिल की कूक के बिना वसंत शोभाहीन है, उसी तरह हे प्रभु! तुम्हारे सान्निध्य के बिना मेरा जीवन निष्फल है—

सूर्य अविहने येन नो शोभय दिन।
रजनी नो शोभे येन शशधर हीन।।
वसन्त नो शोभे विने कोकिलेर रोले।
निष्फल जीवन प्रभु तुमि विने कोले।।

* * *

कमन अंग मोक हिन देखिलाहा।
सि कारणे प्रभु मोक उपेक्षिया याहा।।

इसी तरह किष्किधाकांड में वर्षा-वर्णन करते समय कवि ने राम के मन में भी कामोद्रेक दिखाया है। वर्षा-काल में विरहियों का एक दिन भी एक वर्ष के समान व्यतीत होता है। राम को ऐसा लगता है कि मानो कामदेव के पंचबाण शरीर को जलाए डाल रहे हैं। चम्पा और मालती की सुगंध को हृदय सह नहीं पा रहा है। सीता के विरह में प्राण व्याकुल हो रहे हैं—

स्वभावे बारिषाकाल काम अतिरेक।
एक गोटा दिन याइ एक बरिषेक।।
राघवे बोलन्त लखाइ नमहे पराण।
शरीर क दहे मदनर पंचबाण।।
चम्पक मालती गन्ध हृदय न सहे।
प्राण संकलय येन सीतार विरहे।।

कवि रूपवर्णन में बहुत कुशल है। यह सही है कि उसके उपमान अधिकतर साहित्य-शास्त्र के रूढ़ उपमान हैं, फिर भी उनके प्रयोग में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कवि असमिया-साहित्य की नींव रखनेवालों में-से है। अतः, यह स्वाभाविक है कि इन आरंभिक कवियों

ने सीधे संस्कृत-साहित्य से ही प्रेरणा ग्रहण की। सीता के मुखमंडल को चंद्र समझने के कारण राहु की जो विडंबना हुई, उसे देखिए—

मुखचंद्र हेरि अमृतर अभिलाषे।
ग्रसिबाक लागि राहु आसि भैल पाशे॥
भ्रुवयुग धनु त कटाक्ष येन शर।
चमकिया राहु गैल गगन उपर॥

सीता के मुखचंद्र को देख कर अमृत की अभिलाषा से उसे ग्रसने के लिए राहु निकट आया, किंतु भ्रू-युगल को धनुष तथा कटाक्ष को बाण समझकर चमत्कृत हो आकाश में भाग गया। सीता का नख-शिख वर्णन करते समय कवि ने अपने साहित्यिक कौशल तथा सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति का सुंदर परिचय दिया है। ऊपर की चार पंक्तियों के अनंतर कवि ने सीता का यह चित्र अंकित किया है—

"सीता के नेत्रयुगल नील कमल दल के समान हैं, जिन्हें देख कर मुनिगण भी मोहित हो जाते हैं। तिलफूल के समान नासिका का और बन्दुलि के समान अधर हैं। मनोहर दंतपंक्ति मुक्तावली के समान है और अधर तो बिंबाफल से भी अधिक सुंदर हैं। गले में उज्ज्वल तीन रेखाएँ सुशोभित हैं। दोनों बाहुएँ मृणाल की तरह तथा उदर की त्रिबली कामदेव की सतलड़ी माला के समान हैं। शिव के क्रोधानल से संतप्त हो, कहीं भी शीतलता न पाकर कामदेव ने नाभि-सरोवर में ही डुबकी लगाई है तथा अपने पुर में प्रवेश कर द्वार बंद कर लिया है, उदर की रोमराजि वह धूम्ररेखा है, जो जलते हुए कामदेव के शीतल नाभि-सरोवर में डुबकी लगाने के कारण उत्पन्न हुई है। कटिप्रदेश डमरू के मध्यभाग की तरह ही है, किंकिणी-सुशोभित नितंब अति विशाल है। कामदेव का यह पुर अमृत के कुएँ के समान है तथा सरस जघन अत्यंत छवियुक्त हैं। सुकुमार उरु वृहत् कंदली के समान है और दोनों जाँघों की शोभा अत्यंत मनोहर है। पैर की ग्रंथि ढँकी हुई है तथा दोनों चरण स्वाभाविक रूप से नव किसलयदल की तरह सुरंजित हैं। सीता अपनी मंद गति से हाथियों का गर्व भंग करती है तथा सारस उनके नूपुरों के शब्दों का अनुसरण करता है। उनके दोनों कुंडलों की ज्योति की उपमा सूर्य से ही दी जा सकती है तथा गजमुक्ता एवं माणिक्यों की प्रभा तारों के समान है। जिस अधिकार के साथ कवि ने सीता का यह सुंदर चित्र उपस्थित किया है, उसी अधिकार के साथ खींचा गया शूर्पणखा का भयंकर चित्र यह सिद्ध कर देता है कि कवि की कल्पना एवं लेखनी शृंगार ही नहीं, भयानक तथा वीभत्स रस के आलंबन के साथ भी न्याय करती है। शूर्पणखा का यह रूप देखकर कौन भयभीत न हो उठेगा—

भयंकर वेश भैल पेट गोट खाल।
लह लह जिह्वा खन देखिते विशाल॥
आकट विकट दन्त उच्च नाक गोट।
केशपाश विकृत, लेडूवा दुइ ओठ॥
डिमरूर पात येन खसमस गाव।
केशचय उभता भेंगुरा दुइ पाव॥
दुइ गोट चक्षु ज्वले अगनिर ठाम।
कुरि गोटा नख ताइर वज्रर समान॥

उसका वेश अत्यंत भयंकर हो उठा। उसका पेट खाई के समान विस्तीर्ण था, विशाल जिह्वा लप-लप कर रही थी, दाँत भयंकर तथा नाक बहुत बड़ी थी, केशपाश विकृत हो गया और दोनों ओठ बहुत मोटे-मोटे थे, डिमरू के पत्ते की तरह सारा शरीर खुरदुरा था, केशसमूह उल्टा था और दोनों पाँव टेढ़े-मेढ़े थे, दोनों आँखें आग की तरह जल रही थीं और बीसों नाखून वज्र के समान थे। वस्तुतः रूप चित्रणकला में श्री माधवकंदली 'अप्रमादी' हैं। भक्तप्रवर शंकरदेव द्वारा प्रदत्त यह विशेषण बिलकुल सटीक है।

कवि का अलंकारविधान भी प्रशंसनीय है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि कवि के विशेष प्रिय अलंकार हैं। अलंकारों का प्रयोग भावोत्कर्ष के लिए ही किया गया है, केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं। राम के सलोने रूप को देखकर एक वन-नारी उनकी तरफ देखती ही रह जाती है, कह उठती है कि "राम मुख पद्म मोर नयन भ्रमर। वारिते न पारो भोग करे निरन्तर।।" अर्थात् राम का मुख कमल है और मेरे नेत्र भौंरे, वे उसका निरंतर भोग करते रहते हैं, मैं उन्हें रोक नहीं सकती। रूपक के इस सरस प्रयोग से भाव कैसा खिल उठा है। इसी तरह सीता-हरण के बाद कवि एक सुंदर रूपक बाँधता है—"श्री राम लक्ष्मण दुई चन्द्र सूर्य भैला, सीता सन्ध्या एरिया बहुत दूर गैला, अंधकार रावण चापिल गैया कोल।" अर्थात् श्री राम एवं लक्ष्मण चंद्र-सूर्य हैं, सीता-संध्या को अंधकार रावण ने घनाच्छादित कर दिया और वह बहुत दूर चली गई। चंद्र-सूर्य दोनों के प्रकाशपथ को घन अंधकार रूपी रावण अवरुद्ध कर देता है, फलतः सीता-संध्या से उनका वियोग हो जाता है। सीता के नख-शिख वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का उदार व्यवहार किया गया है।

महलों, प्राकृतिक दृश्यों, युद्धों तथा अन्य कार्य-व्यापारों के वर्णन भी बहुत ही सजीव, सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट हैं। सुंदरकांड में कवि के इन गुणों का पूर्ण उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। थोड़ी-सी रेखाओं तथा सटीक संकेतों से, सजीव शब्दों से एक अमिट चित्र उपस्थित कर देने की अपूर्व कला पर कवि का सहज अधिकार है।

कवि के इन चित्रों में हमें प्रचुर मात्रा में स्थानिक रंग मिलता है। चाहे वह नगरों का वर्णन कर रहा हो, चाहे वनों का, चाहे अट्टालिकाओं का भव्य वैभव उपस्थित कर रहा हो, चाहे झोंपड़ियों की करुण दशा—सर्वत्र आसामी रंग स्पष्ट है। बिलकुल मौलिक न होते हुए भी माधवकंदली की रामायण अपने समय के आसामी जीवन का अच्छा स्वरूप उपस्थित करती है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक—किसी भी दृष्टि से देखने पर यह साफ हो जाएगा कि कवि ने संपूर्ण आसामी जीवन को आत्मसात कर रामकथा को आसामी परिपार्श्व में जटित कर देने में असाधारण सफलता पाई है। कंदलीरामायण में वर्णित राजनीति, श्री महामाणिक्य के समय आसाम दरबार में व्यवहृत होनेवाली राजनीति है; अयोध्या में श्री रामचंद्र जी का प्रासाद भी असमिया राजमहल सरीखा है; राम की अयोध्या का समाज भी वस्तुतः आसाम का ही समाज है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अतिरिक्त कायस्थ, दैवज्ञ, तेली, ताँती, सुनार, लुहार, कहार, साँखारी, चमार, सुतार, धोबी आदि भी हैं, नाथपंथी योगी भी हैं। धार्मिक दृष्टि से वासुदेव और विष्णु का भी उल्लेख हुआ है और कहीं-कहीं यह भी बताया गया है कि श्रीराम इन्हीं विष्णु के अवतार हैं, किंतु शैवमत का व्यापक प्रभाव सहज ही दृष्टिगोचर होता है। शंकरदेव के पूर्व आसाम में शैवमत का ही बोलबाला था। कंदलीरामायण में स्थान-स्थान पर उपमा आदि के लिए, धार्मिक आचार आदि दिखाने के लिए महादेव, पार्वती, कैलाश आदि का उल्लेख किया गया है। श्रीराम के सौध की तुलना कैलाश से की गई है—'रामर प्रासाद शोभे कैलाश समान', यद्यपि वाल्मीकीय रामायण में उसकी तुलना इंद्र-भवन से की गई है—'शक्रवेश्म समप्रभम्'। इसी तरह राम के वनवास के समय सीता सोचती हैं कि शायद पूर्वजन्म में मैंने पार्वती-शंकर की उपासना नहीं की थी, जिसके फलस्वरूप प्राणेश्वर राम मुझे छोड़ कर जा रहे हैं—'पूर्वजन्मे न राधिलों पार्वती शंकर सिकारणे मोक परिहरे प्राणेश्वर'। शैव प्रभाव के साथ-साथ शाक्त तथा तंत्र-साधना का भी उल्लेख मिलता है। स्थानीय लोकाचारों के भी मनोरंजक प्रासंगिक उल्लेख पाए जाते हैं। जंगलों और उद्यानों की शोभा का वर्णन करते समय कवि की दृष्टि आसाम में होनेवाले वृक्षों, पुष्पों तथा पक्षियों की तरफ ही रही है। उदाहरण के लिए हनुमान लंका में जिस वृक्षराजि को प्रत्यक्ष करते हैं, वह आसाम की ही वन तथा उद्यान की शोभा है। उनके नाम सुनिये—

खाजुरि, हारिठा, आमलाखि, डाहा फल।
छतियान, गुवा, नारिकेल ये श्रीफल।।
सलंगा, महरि, आर कमला, टेंगारा।
कहूं पिछू, महंक ये सोलंगा, आमरा।।
कदम्ब, गुलाल, पारिजात अशेष।
सेवती, मालती, गुटिमालि ये विशेष।।

ग्रौर वहाँ के पक्षी भी ग्रासामवासियों के जाने-पहचाने हैं, वे ग्रादमियों की तरह बोलते जो हैं—

> मयना, घरुवा, भाटौ, चुटीया, शालिक ।
> कतो, कतो कन्ते, पुरे झड़े ढोण्डाकाक ।।
> सम्यके भषावै येन मनुष्येर वाक ।

रामकथा को ग्रासामी मानस में प्रतिष्ठित कर देने में माधवकंदली की भाषा का भी बहुत बड़ा हाथ है। उन्होंने इत:पूर्व काव्य में ग्रप्रयुक्त-सी भाषा का परिमार्जन-परिष्करण तो किया ही, उसके देशीय सौंदर्य को भी ग्रक्षुण्ण रक्खा। संस्कृतनिष्ठ पदावली को बोझ के रूप में नहीं, प्राणदायिनी शक्ति के रूप में स्वीकार कर लौकिक माधुरी का उसके साथ मणिकाञ्चन संयोग कर दिया। कंदलीरामायण की भाषा में ग्रासामी कहावतों-मुहावरों का मुक्त प्रयोग हुग्रा है। यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि ग्रसमिया भाषा में प्राणप्रतिष्ठा करने वाले माधवकंदली ही थे। ग्रपने इन्हीं गुणों के कारण कंदलीरामायण ने न केवल परवर्ती रामसाहित्य को ही, बल्कि संपूर्ण ग्रसमिया साहित्य को प्रभावित किया। परवर्ती ग्रसमिया रामसाहित्य तो माधवकंदली का बहुत ग्रधिक ऋणी है।

दुर्गावर कायस्थ की गीतिरामायण—रामकथा को ग्रसमिया गीतों में प्रस्तुत करने वाले श्री दुर्गावर कायस्थ श्री चंद्रधर कायस्थ के पुत्र थे। दुर्गावर कोच नरेश विश्व सिंह के समसामयिक थे, जिनका शासनकाल १५१५ से १५४० तक माना जाता है। ग्रपने एक ग्रन्य ग्रंथ 'बेउला-ग्राख्यान' में कवि ने उक्त नरेश को ग्रपनी श्रद्धांजलि ग्रर्पित की है। उसी ग्रंथ से पता चलता है कि कवि कामाख्या या नीलाचल का निवासी था। कवि ने साधारणत: माधवकंदली की रामायण के ग्राधार पर ही ग्रपने गीतों की रचना की है। कहीं-कहीं उसने लोक-रुचि के ग्रनुसार कुछ परिवर्तन भी किए हैं। कवि को लोक-मानस का ग्रगाध-ज्ञान था। उसने राम, सीता ग्रादि का चित्रण लोकसामान्य धरातल पर किया है। ग्रपनी महत्ता के बावजूद वे साधारण लोक-सुलभ प्रवृत्तियों, क्रोध, ईर्ष्या, संदेह, शंका ग्रादि से भी युक्त हैं। रामकथा से ग्रासाम के घर-घर को गुंजित रखने में दुर्गावर के इन गीतों का बहुत बड़ा ग्रवदान है। गीतिरामायण की इन विशेषताग्रों को देखकर ही डॉ० काकती ने ग्रपने 'पुराणी ग्रसमिया साहित्य' में इसे वाल्मीकीय रामायण का 'लोक-संस्करण' कहा है।

गीतकार होने के कारण कवि ने स्वभावत: उन्हीं प्रसंगों को चुना है, जो जन-साधारण के मर्म को स्पर्श कर सकें। इसीलिए ग्ररण्यकांड का विस्तार किया गया है। राम-सीता के निर्वासित जीवन का विस्तृत भावपूर्ण विवरण उपस्थित किया गया है। इस स्थल पर कवि ने ग्रपनी स्वतंत्र कल्पना का परिचय दिया है। वह वन में ही सीता द्वारा उनकी ग्रलौकिक शक्ति से ग्रयोध्या की सृष्टि करवाता है। उसी ग्रयोध्या में राम, सीता तथा लक्ष्मण ग्रपने बंधु-बांधवों सहित धूमधाम से मदन चतुर्दशी का महोत्सव मनाते हैं। वह राम-सीता की द्यूतक्रीड़ा का भी उल्लेख करता है, किंतु कवि की प्रतिभा का समुचित प्रकाश संयोग के स्थलों से ग्रधिक वियोग के स्थलों में हुग्रा है। मानव मन की पीड़ा-वेदना के साथ कवि का घनिष्ठ निविड़ परिचय है। इसी वेदना को वाणी देकर कवि करुणा का उद्रेक करने में, करुणा की निर्झरिणी बहा देने में समर्थ हुग्रा है। निस्संदेह उसके सर्वश्रेष्ठ गीत वे ही हैं, जिनमें उसने सीता, राम ग्रौर तारा ग्रादि की मर्मन्तुद मानसिक यंत्रणा को, पत्थर को भी पिघला देने वाला उनके विलाप को शब्दों ग्रौर स्वरों में गूँथ दिया है।

ऐसी ही एक करुण परिस्थिति की सृष्टि सीताहरण के समय होती है। रावण छल से सीता का हरण कर उन्हें लंका ले जा रहा है। राम-वियोगिनी ग्रसहाया सीता ग्रपने इस दुर्भाग्य पर करुण क्रंदन कर रही हैं। उनके हृदय की वेदना कितने दयनीय शब्दों में फूट पड़ती है—

"हे विधाता! यह क्या हुग्रा? कोई भी कर्मबंध से मुक्ति नहीं पा सकता। हाय, निर्मल कुल में कलंक लग गया, ग्रब कुल का ग्रपयश हुग्रा। मुझ कुलक्षिणी ने ही हठ कर प्रभु रामचंद्र को (स्वर्णमृग के चर्म के लिए) भेजा ग्रौर उसी उद्देश्य से लक्ष्मण को भी भेजा। (तभी) शून्य गृह पा कर रावण ने मुझको हर लिया; मैं ग्रपने ही दोष से नष्ट हो गई। मृग को मार कर प्रभु लौट कर कुटिया में सीता को नहीं देखेंगे। 'क्या मालूम,

क्या हो गया' बोल कर अत्यंत चिंतित एवं आकुल होकर वन में खोज करेंगे। अन्य व्यक्ति (मेरे संबंध में) मंद वाक्य बोलेंगे, उन्हें सुनकर मन में प्रभु नाना विचार करेंगे। (शायद) रघुपति अपने मन में सोचेंगे कि सीता ने अवश्य ही कु-अभिप्राय से लक्ष्मण को भेजा होगा और सारा दोष मुझ पर ही पड़ेगा। नारायण यह बोल-बोल कर मेरा तिरस्कार कर अनुक्षण क्रंदन करेंगे कि असती रमणी सीता भाग गयी, वनवास करते समय उसे बहुत दुःख भोगने पड़े, इसीलिए उसने अपने पति को छोड़ दिया, सुंदरी स्त्रियाँ सुख में ही साथ देती हैं, आपत्ति पड़ने पर छोड़ कर भाग जाती हैं, यह स्त्री-जाति कभी अपनी नहीं होती। हायरे विधाता ! इस जन्म के लिए तूने मुझे निराश कर दिया, अब पुनः प्रभु का दर्शन इन नयनों से नहीं कर सकूँगी। कविवर दुर्गादास कहते हैं कि माता सीता महाशोक कर मुख नीचा कर बैठ गईं। इस विलाप में साधारण स्त्री के मन की दुश्चिंता ही प्रकट हुई है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी ऐसी स्थिति में ये आशंकाएँ कितनी सटीक हैं। अपहृता नारी की यह शंका मिश्रित मर्मवेदना मर्यादावादियों की दृष्टि में शायद हीन भावापन्न जँचे, खास कर भगवती सीता के मुख से ऐसे उद्‌गार उन्हें नितांत अशोभन एवं मर्यादा के प्रतिकूल लगें, तो भी कोई आश्चर्य नहीं है। किंतु हमें यह याद रखना चाहिए कि श्री दुर्गावर ने भक्त की दृष्टि से नहीं, कवि की दृष्टि से यह रचना लोकरंजन के लिए की थी। उन्होंने राम और सीता का चरित्र-चित्रण मानवीय दृष्टिकोण से ही किया है। इसीलिए उनके राम को सचमुच वे ही आशंकाएँ होती हैं, जिनका सीता को भय था। स्वर्णमृग को मार कर जब राम लौटते हैं, तब कुटी को रिक्त देख कर सीता के विरह में उन्मादवत् हो जाते हैं। गंभीर शोक के तीव्र आघात को न सह वे विक्षिप्त चित्त से प्रलाप कर उठते हैं—"लक्ष्मण ! यह क्या हुआ, सीता मेरी उपेक्षा कर चली गई। तृण पर ही मैं शयन करता हूँ और वल्कल ही मेरा परिधान है, इसी दुःख की अपने मनमें आलोचना कर वह चली गई। अब जाना, सीता राम की सुहृद नहीं थी, वह मुझे छोड़ कर न जाने किस दिशा को चली गई। जैसे लक्ष्मण एकाकी था, वैसे ही मैं भी हो गया। स्त्री-जाति सहज-चंचला होती है। सम्पत्ति-समय सुंदरी नारी निकट रहती है और आपत्ति के समय वह छोड़ कर भाग जाती है। अब मैंने उसका स्वरूप समझा। जनकदुहिता होकर उसने स्वामी को त्याग दिया, इस संताप के मारे कैसे जिएँ ? हठ कर उसने मुझे मृग के पीछे भेजा और क्रोध कर तुम्हें भी भेज दिया। मैंने उसके कपट-हृदयी मर्म को नहीं समझा था। (सच है) स्त्री-जाति की माया (कोई) नहीं समझ सकता।" स्पष्ट ही यह मर्यादापुरुषोत्तम राम का स्वरूप नहीं है, किंतु इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता कि साधारण मानव का चित्त ऐसी परिस्थिति में एक क्षण के लिए इसी प्रकार की आशंका-आँधी की धूल से भर उठेगा। यह मानवीय चित्रण ही दुर्गावरीय रामायण की विशेषता है। यह गीतिरामायण ओझा-पाली गीतों की परंपरा में है, जिनमें प्रमुख गायक ओझा या उपाध्याय होता है और चार-पाँच उसके पाली (पालित?) या शिष्य होते हैं, जिनमें एक डैना पाली या प्रधान शिष्य होता है। गुरु के गाने के बाद सभी शिष्य एक साथ उसे दुहराते हैं। कथा-प्रसंगों की पूर्ति ओझा या डैना पाली करता है। गीत सभी दुहराते हैं। आसाम में ऐसे गीत गाने की परंपरा बहुत प्राचीन तथा व्यापक है।

अनंतकंदली और उनकी रामायण—दुर्गावर के बाद रामकथा को पुनः पदबद्ध करने का शुभ संकल्प किया श्री अनंतकंदली ने। श्री अनंतकंदली कामरूप के हाजो नामक स्थान के निवासी थे। उनके पिता रत्नपाठक प्रसिद्ध विष्णुभक्त थे। उन्होंने अपने प्रदेश में भागवत का यथेष्ट प्रचार किया था। अनंतकंदली का बाल्यकाल का नाम हरिचरण था। कालांतर में बालक हरिचरण आसाम के महान् वैष्णवभक्त एवं कवि शंकर देव का अनुयायी एवं स्वयं अत्यंत प्रसिद्ध विद्वान् कवि तथा भक्त हुआ। श्री अनंतकंदली के प्रधान ग्रंथ 'कुमारहरण', 'भागवत षष्ठ स्कंध', 'जीवस्तुतिरामायण', 'महीरावणवध', 'पातालीकांड रामायण', 'सीतार पाताल-प्रवेश नाटक' आदि हैं। यों तो अनंतकंदली कृष्णभक्त थे, किंतु विष्णु के अवतार होने के कारण राम को भी साक्षात् ब्रह्म मानते थे। उन्हें रामायण लिखने की प्रेरणा माधवकंदली की रामायण से ही मिली, जो उनसे डेढ़ सौ वर्ष पहले ही लिखी जा चुकी थी। माधवकंदली की रामायण में रामभक्त का विकास न होकर काव्यरस का ही परिपाक अधिक हुआ है। अतः उससे उनको संतोष नहीं हो सका। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "माधवकंदली ने रामायण की रचना की, उसे सुन कर मेरे मन में (रामकथा लिखने का)

कौतुक हुआ अथवा स्पृहा जागी। (क्योंकि उक्त रामायण में) राम की साधारण संत-कथा यथावत् कही गई थी, किंतु उनके जितने भजनीय गुण थे, वे (पूर्ण रूप से) व्यक्त नहीं हुए थे। अतः भक्ति के लिए मैं यह यत्न कर रहा हूँ। इसे सुन कर सभासदो! मेरी निंदा न करना। श्रीराम को साक्षात् परम ब्रह्म समझ कर अन्य प्रचेष्टा को छोड़ कर उनके गुणों और नामों की चर्चा करनी चाहिए।" यह कथन उनके भक्तिभाव पूर्ण दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है। रामकथा लिखने में उन्होंने श्रीमद्भागवत को भी अपना आधार माना है। भागवत के अतिरिक्त उन्होंने वाल्मीकि तथा माधवकंदली की रामायणों का भी उपयोग किया है।

शंकरदेव तथा माधवदेव—भक्तप्रवर शंकरदेव असमिया-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। सूर, तुलसी आदि की तरह ही वे भक्त पहले हैं, कवि बाद में, किंतु सूर, तुलसी के समान ही उनके काव्य में भी भक्ति-भाव की भागीरथी के साथ कला की कालिंदी का दिव्य संगम हुआ है। वास्तव में शंकरदेव मध्ययुग के अखिल भारतीय महान भक्ति-आंदोलन के दिव्य प्रवर्त्तकों में से एक थे। यह उन्हीं का पुण्य प्रताप है कि आसाम की भूमि आज भी राम-कृष्ण की भक्ति-निर्झरिणी से निरंतर सिंचित हो रही है। शंकरदेव का जन्म शिरोमणि भुया कुल में हुआ था। वे संस्कृत के प्रगाढ़ पंडित तथा कृष्ण के परम भक्त थे। उन्होंने संपूर्ण भारतवर्ष के तीर्थों की यात्रा की थी। इसी यात्राकाल में वे संभवतः कबीर तथा चैतन्य महाप्रभु से भी मिले थे। आसाम को वैष्णवधर्म में दीक्षित करने तथा जनता में प्रेम, भक्ति आदि का प्रचार करने के लिए उनका नाम सदा श्रद्धा से लिया जायगा। उनका समय १४४६-१५६६ ई० माना जाता है।

शंकरदेव कृष्ण-भक्त थे और उनका सर्वप्रधान कार्य श्रीमद्भागवत का असमिया अनुवाद ही है। उनके अन्य ग्रंथ भी प्रायः भागवत पर ही आधारित हैं। राम-साहित्य की चर्चा के अंतर्गत उनका उल्लेख करने का कारण यह है कि उन्होंने माधवकंदली की अपूर्ण रामायण को पूर्ण करने के लिए स्वयं उत्तरकांड की रचना की तथा अपने शिष्य माधवदेव को आदिकांड लिखने के लिए प्रेरित किया। अनंतकंदली, जिन्होंने मुख्यतः भागवत के आधार पर अपनी रामायण लिखी तथा जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, इन्हीं शंकरदेव के शिष्य थे। चूंकि उन्होंने शंकरदेव के उत्तरकांड के पहले अपनी रामायण लिखी, अतः उनकी चर्चा पहले की गई। कहा जाता है कि एक बार माधवकंदली ने स्वप्न में श्री शंकरदेव से प्रार्थना की कि वे उनकी रामायण की पूर्त्ति कर उनके नाम को बनाए रक्खें, अन्यथा अनंतकंदली के कारण उनका नाम लुप्त हो जाएगा। शंकरदेव ने उनका अनुरोध स्वीकार कर उत्तरकांड की रचना स्वयं की एवं आदिकांड की रचना माधवदेव से करवाई। इस तरह रामायण के सातों कांड भी पूर्ण हो गए और माधवकंदली का नाम भी अक्षुण्ण रहा!

सच्चे वैष्णव की तरह शंकरदेव राम-कृष्ण में अंतर नहीं करते थे। उन्होंने राम को भी परम ब्रह्म माना और उनकी भी परम भक्ति के साथ वंदना की। यह सही है कि शंकरदेव ने वाल्मीकि के उत्तरकांड के आधार पर ही अपना उत्तरकांड लिखा, किंतु यह कोरा अनुवाद न था। वस्तुतः उन्होंने भक्ति के प्रचार-प्रसार के लिए अपना जीवन ही उत्सर्ग कर दिया था और इसी दृष्टिकोण से यह उत्तरकांड भी लिखा गया।

शंकरदेव की यह विशेषता रही है कि प्रत्येक घटना के अनंतर वे जन-साधारण को भक्ति करने का, उपदेश देने का अवकाश निकालते हैं, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वे भावोत्कर्ष की तरफ ध्यान नहीं देते। सीता के पाताल-प्रवेश का दृश्य करुण रस के परिपाक के कारण अत्यंत मर्मस्पर्शी हो गया है। सीता पाताल-प्रवेश के लिए स्वर्णसिंहासन पर बैठ चुकी हैं। परम विरह की घड़ी निकट आई जान उनकी भावनाएँ अश्रु-धारा के रूप में फूट पड़ती हैं, रोते-रोते ही वे लवकुश को भ्रातृस्नेह का उपदेश देती हैं, तदनंतर राम से अंतिम बार विदा माँगती हैं। ज्यों ही सिंहासन उन्हें लेकर पृथ्वी में धँस जाता है, त्यों ही राम संज्ञाहीन हो कर भूमि पर गिर पड़ते हैं। संपूर्ण सभा करुणक्रंदन तथा शोकोद्गारों से गूंज उठती है। सभासदों की क्या अवस्था है?

—देवता-ऋषि, कोई भी चित्तसंवरण न कर पाया और संतप्त हो रो उठे। भालू-वानर तो निरंतर रो-रो कर भूमि पर लोट रहे थे। भरत, लक्ष्मण, वीर शत्रुघ्न सभी रोते-रोते धरती पर गिर पड़े। कौशल्या आदि रानियाँ तो छाती पीट-पीट कर, सीता का नाम लेकर चीत्कार करने लगीं। सीता के शोक में डूब कर सभी दासियाँ जमीन पर लोट-लोट कर रोने लगीं। शोक और दुःख की तुमुल ध्वनि से सारा आकाश भर गया।

माधवदेव का आदिकांड—माधवदेव शंकरदेव के प्रधान शिष्य थे तथा उच्च कोटि के भक्त और विद्वान थे। उन्होंने छः नाटक तथा नामघोषा आदि कई काव्य लिखे एवं भक्तिरत्नावली और रामायण के आदिकांड असमिया में पद्यानुवाद किए। इसमें कोई संदेह नहीं कि माधवदेव को अनुवाद-कार्य में पूरी सफलता मिली। उन्होंने भी अपने गुरु शंकरदेव के अनुरूप भक्तिप्रचार के लिए ही यह कार्य किया था।

अनंतठाकुर आता की श्रीरामकीर्त्तन-रामायण—कीर्तन की शैली में रामकथा का गान श्री अनंत ठाकुर आता या कायस्थ हृदयानंद ने किया। अनंत ठाकुर शंकरदेव के दौहित्र एवं अनुयायी थे। उन्होंने श्रीकृष्णकीर्त्तन की पद्धति पर श्रीरामकीर्त्तन की रचना १५७४ शकाब्द में की।

असमिया कीर्तन की विशेषता यह है कि सभी भक्तगण केवल घोषा या ध्रुपद को ही दुहराते हैं, शेष कथा कथावाचक ही कहता है। अनंतठाकुर के 'घोषा' बिल्कुल भक्तिभावपूरित हैं। जैसे—

जानकीवल्लभ, जानकीवल्लभ, जानकीवल्लभ राम।
तोमार चरणे शरण पशिलों, पूरियो मनर काम॥

रघुनाथमहंत की कथा-रामायण—श्री रघुनाथ महंत को असमिया गद्य में श्री रामकथा प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है। रघुनाथमहंत, शंकरदेव के शिष्य शतानंद की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम कृष्णनाथ था। रघुनाथ ने कथारामायण के अतिरिक्त शत्रुंजय और अद्भुतरामायण नामक दो काव्य-ग्रंथों की भी रचना की है।

रामायण की घटनाओं पर आधारित नाटक—श्री शंकरदेव ने ही सर्वप्रथम रामचरित के आधार पर नाटक लिखा। श्रीरामविवाह के प्रसंग को लेकर लिखे गए उनके नाटक का नाम है 'सीतास्वयंवर' या 'रामविजय-नाट'। माधवदेव ने भी 'रामभावना' नामक एक नाटक लिखा था, जो संभवतः अनभिनेय होने के कारण सुरक्षित नहीं रखा गया। अनंतकंदली ने भी 'सीतार पाताल प्रवेश' नामक एक नाटक प्रस्तुत किया था। रामचरित के आधार पर नाटक-रचना की यह परंपरा आज भी अक्षुण्ण है। गुणाभिराम बरुआ ने रामजन्म पर एक छोटा-सा नाटक 'रामनवमी नाटक' के नाम से लिखा, जो असमिया भाषा में आधुनिक शैली में लिखा पहला नाटक माना जाता है। श्री दुर्गेश्वर शर्मा बी० ए०, बी० एल० ने १८३४ शक संवत् में वालिवध के कथानक को आधार बना कर पाँच अंकों का 'बालीवधनाटक' लिखा है। माइकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनादवध' से प्रभावित, श्री चंद्रधर बरुआ ने मुक्त छंद में 'मेघनादवध' नाटक लिखा। आधुनिक नाटककारों को भी श्रीराम-चरित्र से नाटक-रचना के लिए प्रेरणा प्राप्त होती है, यह ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है।

रामायण की घटनाओं पर आधारित काव्य—असमिया-साहित्य का सिंहावलोकन करने पर ज्ञात होता है कि नाटककारों की अपेक्षा कवियों को रामचरित ने अधिक आकृष्ट किया है। असमिया-साहित्य के आदिकाल में ही हरिहर विप्र ने 'लवकुशर युद्ध' नामक काव्य की रचना की थी। इसकी कथावस्तु जैमिनीयाश्वमेध पर आधारित है। हरिहर ने सीतानिर्वासन तथा अश्वमेध के समय लवकुश द्वारा प्रदर्शित शौर्य को अत्यंत प्रभावपूर्ण ढंग से वर्णित किया है। हरिहर के अनंतर रघुनाथ महंत ने 'अद्भुतरामायण' नामक एक काव्यग्रंथ की रचना की, जिसमें पातालप्रवेश के बाद सीता द्वारा लवकुश को देखने की इच्छा से अपने पास बुलाने का तथा हनुमान द्वारा उन्हें पुनः अयोध्या ले जाने का वर्णन है। गंगारामदास ने भी 'सीतावनवास' नामक काव्य सीता के निर्वासन की कथा के आधार पर लिखा है। भवदेव विप्र ने 'श्री रामचंद्र अश्वमेध' तथा श्रीचंद्र भारती ने 'महीरावणवध' नामक काव्य लिखे हैं। इसी तरह कवि धनंजय ने 'गणकचरित्र' नामक एक काव्य लिखा है, जिसमें हनुमान गणक के वेष में लंका जाते हैं और सीता का पता लगाते हैं।

आधुनिक युग में श्री भोलानाथ दास ने मुक्त छंद में 'श्री सीताहरण-काव्य' नामक श्रेष्ठ खंडकाव्य की रचना की है।। एक अन्य खंडकाव्य 'वैदेही-विच्छेद' का प्रणयन श्री रमाकांत चौधरी ने किया है।

इस तरह हम देखते हैं कि असमिया में श्रीराम के पावन चरित्र से प्रेरणा प्राप्त कर श्री माधवकंदली के युग से आरंभ कर आज तक अविच्छिन्न रूप से साहित्यसृजन होता रहा है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि भविष्य में भी यह गौरवपूर्ण परंपरा अक्षुण्ण रहेगी।

•••

राजस्थानी भाषा में रामकथा-संबंधी ग्रंथ

श्री अगरचंद नाहटा

★ ★

राजस्थानी भाषा की सर्वाधिक सेवा चारणों और जैन यतियों ने की है। इसके पश्चात् ब्राह्मण आदि वैदिक विद्वानों का स्थान आता है। हिन्दीभाषा में भी राजस्थान में रामचरित्र-संबंधी अनेक ग्रंथ रचे गए हैं। राजस्थानी भाषा के रामचरित-ग्रंथों का आधार वाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण और जैनरामायण हैं। तुलसीदास की रामायण से भी उन्हें प्रेरणा अवश्य मिली होगी, पर उनमें उसका उल्लेख नहीं किया गया है। राजस्थान में संत कवियों द्वारा जो हिंदी में रामचरित्र लिखे गए हैं, उन पर तुलसीदास का प्रभाव अधिक संभव है।

राजस्थान में गत कई शताब्दियों से राम-भक्ति, कृष्ण-भक्ति, शैवोपासना और शक्तिसाधना का प्रचार कभी कहीं अधिक, कहीं न्यून रूप में चलता रहा है। इसमें राज्याश्रय का भी प्रधान हाथ रहा है। जब जहाँ के राजाओं ने जिस उपासना को अपनाया, बल दिया, वहाँ की प्रजा में भी उसने जोर पकड़ लिया—यथा राजा तथा प्रजा। खासतौर से राज्याश्रित हजारों व्यक्ति तो राजाओं की प्रसन्नता पर ही आश्रित थे। पर राजस्थान में संतों के ही संप्रदाय राम के विशेष उपासक रहे हैं।

राजस्थान के अनेक क्षत्रियवंश अपने को रामचंद्र जी का वंशज मानते हैं। सुप्रसिद्ध राठौर-सीसोदिया आदि सूर्यवंशी रामचंद्र जी से अपनी वंशावली जोड़ते हैं। राजस्थान का प्रसिद्ध प्रतिहार वंश अपने को रामचंद्र जी के अनुज लक्ष्मण का अनुज मानते हैं। इस रूप में राजस्थान में रामचंद्र जी का महत्व बहुत अधिक प्रसिद्ध है। किराडू आदि में रामावतार की मूर्ति १३वीं–१४वीं शताब्दी की मिली हैं और ११वीं–१२वीं शताब्दी की देवालयों में रामायण-संबंधी घटनाएँ उत्कीर्ण मिलती हैं। इनसे रामकथा के प्रचार व लोकप्रियता का पता चल जाता है। राजस्थान के लोकगीतों में जो रामकथा-संबंधी अनेक गीत मिलते हैं, उनसे रामकथा की लोकप्रियता का परिचय मिलने के साथ-साथ कुछ नए तथ्य भी प्रकाश में आते हैं। उदाहरणार्थ सीता के वनवास में उसकी ननद कारणभूत हुई, इस प्रसंग के जैसे लोकगीत अन्य प्रांतों में मिलते हैं, वैसे ही राजस्थान में भी हैं।

राजस्थानी भाषा में रामचरित-संबंधी रचनाओं का प्रारंभ १६वीं शताब्दी से होने लगता है। उपलब्ध राजस्थानी भाषा के रामचरित गद्य और पद्य दोनों प्रकार के हैं। इसी प्रकार जैन और जैनेतर भेद से भी इन्हें दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है। इनमें जैन रचनाओं की प्राचीनता व प्रधानता उल्लेखनीय है।

१. सीता चौपाई—अ० सं० ला० के सं० १६५३ में लिखित गुटके में अपूर्ण रूप से प्राप्त हुई है। अंतिम अंश प्राप्त न होने से रचनाकाल निश्चित नहीं कहा जा सकता। पर १६वीं का अंत और १७वीं का प्रारंभ होना संभव है। २. सीता चउपई—यह ३२७ पद्यों की छोटी रचना है। इसमें सीता के चरित्र की प्रधानता है। खरतरगच्छ के जिन पुत्र सूरि शाखा के आचार्य जिनभद्र सूरि के समय में सागरतिलक के शिष्य समयध्वज ने इसकी रचना सं० १६७१ में की। इसकी १७०२ में लिखित १६ पत्र की प्रति हंस-विजय लाइब्रेरी, बड़ौदा, में है। ३. सीता-प्रबंध—यह ३४६ पद्यों में है। सं० १६२८ में रणथंभोर में शाहचोखा के कहने से यह रचा गया। 'जैन गुर्जर कवि', भाग ३, पृ० ७३० में इसका विवरण मिलता है। ४. सीताचरित्र—यह सात सर्गों का काव्य हेमरत्न सूरि रचित है। हेमसूरि के पद्मचरित्र के आधार से इसकी रचना हुई। रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया गया। ५. रामसीता रास—तपागच्छीय कुशलवर्द्धन के शिष्य नगर्षि ने इसकी रचना १६४६ में की। ६. लवकुश रास—पीपलगच्छ के राजसागर रचित इस रास में राम के पुत्र लवकुश का चरित्र वर्णित है। पद्य संख्या ५७५ है। सं० १६७२ की सुदी तीज बुधवार को थिरपुर में इसकी रचना हुई। ७. सीताराम चौपई—महाकवि समयसुंदर की यह विशिष्ट

प्रति है। रचनाकाल व स्थान का निर्देश नहीं है, पर इसके प्रारंभ में कवि ने अपनी पूर्व रचनाओं का उल्लेख करते हुए नल-दमयंती रास का उल्लेख किया है, जो सं० १६७३ में मेड़ते में रचा गया। यह नवखंड का महाकाव्य है। नवों रसों का पोषण इसमें किए जाने का उल्लेख कवि ने स्वयं किया है। प्रसिद्ध लोकगीतों की चाल में इस ग्रंथ की ढालें बनाई गईं। उनका निर्देश करते हुए कवि ने कौन-सा लोकगीत कहाँ प्रसिद्ध है, उल्लेख किया है। ८. सीता विरह लेख—६१ पद्यों में सीता के विरह का वर्णन पत्र-प्रेषण के रूप में है। सं० १६७१ की द्वितीय आषाढ़ पूर्णिमा को कवि अमरचंद ने इसकी रचना की। ९. रामयसो रसायन—विजयगच्छ के मुनि केसराज ने सं० १६९३ के आश्विन त्रयोदशी को अंतरपुर में इसकी रचना की। ग्रंथ चार खंडों में विभक्त है। ढालें ६२ हैं। इसका स्थानकवासी और तेरहपंथी संप्रदाय में बहुत प्रचार रहा है। उन्होंने अपनी मान्यता के अनुसार इसके पाठ में रद्दोबदल भी किए हैं। स्थानकवासी समाज की ओर से इसके दो-तीन संस्करण छप चुके हैं, पर मूल पाठ आनंदकाव्य महोदधि के द्वितीय भाग में ठीक से छपा है। इसका परिमाण समयसुंदर के सीताराम चौपाई के करीब का है। १०. रामचंद्र चरित्र—श्रीविक्रम कवि ने सं० १६९९ में इसकी रचना की। इस शताब्दी के प्राप्त ग्रंथों में यह सबसे बड़ा है। ११. सीता आलोयणा—लोकागच्छीय कुशल कवि ने ९३ पद्यों में सीता के वनवास-समय में किए गए आतप-विचारणा का इसमें गुंफन किया है। कवि की अन्य रचनाएँ सं० १७४६–८६ की प्राप्त होने से इसका रचनाकाल १८वीं सदी निश्चित है। १२. सीताहरण चौढालिया—तपागच्छीय दौलतकीर्ति ने ४६ पद्यों व चार ढाल में सीता-हरण के प्रसंग का वर्णन किया है। रचना बीकानेर में १७९४ में बनाई गई। १३. रामायण—खरतरगच्छीय चारित्रधर्म और विद्याकुशल ने सं० १७९१ की विजयदशमी को लवणसर में इसकी रचना की। प्राप्त राजस्थानी रचनाओं में इसकी विशेषता यह है कि कवि ने जैन होने पर भी इसकी रचना जैनग्रंथों के अनुसार न करके, वाल्मीकिरामायण आदि के अनुसार की। इसमें बालकांड आदि सात कांड हैं। रचना ढालबद्ध है। १४. रामचंद्र आख्यान—धर्मविजय ने ५५ छप्पय-कवित्तों में रामकथा संक्षेप से वर्णन की है। रचना १८वीं सदी की होना संभव है।

उपर्युक्त सभी रचनाएं श्वेतांबर विद्वानों की हैं। १५. दिगंबर रचनाओं में सं० १७१३ में रचित सीताचरित्र हिन्दी-प्रधान है, जो रायचंद की रचित है। इसकी १४४ पत्रों की प्रति आमेर-भंडार में है। १६. सीताहरण—जयसागर ने सं० १७३२ में गंधार नगर में इसकी रचना की। भाषा गुजराती है। मिश्रित राजस्थानी है। इसकी ११४ पत्रों की प्रति उक्त आमेर-भंडार में है। १७. ढालमंजरी रामरास—सुज्ञानसागर कवि ने सं० १८२२ मिगसर सुदी १२ रविवार को इसकी उदयपुर में रचना की। भाषा में हिन्दी का प्रभाव भी है। चरित्र बहुत विस्तार से वर्णित है। छः खंडों में विभक्त है। संभवतः राजस्थानी में रामचरित ग्रंथों में यह सबसे बड़ा है। ग्रंथकार बड़े वैरागी एवं संयमी थे। १८. सीता चउपई—तपागच्छीय चेतन विजय ने सं० १८५१ के वैशाख सुदी १३ को बंगाल के अजीमगंज में इसकी रचना की। १९. रामचरित—कवि चौथमल ने इस विस्तृत ग्रंथ की रचना की। कवि की अन्य रचना ऋषिदत्ता चौपाई सं० १८६४ में देवगढ़ (मेवाड़) में रचित होने से रामचरित भी इसी के आसपास की रचना है। प्रारंभिक पद्यों को देखने पर ज्ञात हुआ कि समयसुंदर के सीताराम चौपाई के कुछ पद्य तो इसमें ज्यों के त्यों अपना लिए हैं। २०. रामरासो (लक्ष्मण-सीता-वनवास चौपाई)—कवि शिवलाल ने सं० १८१२ में बीकानेर की नाहटों की बगीची में इसकी रचना की। कथा संक्षिप्त है। २१. रामसीता ढालीय—तपागच्छीय ऋषभ विजय ने सं० १८०३ में सात ढालों में संक्षिप्त चरित्रवर्णन किया है। भाषा गुजराती प्रधान है। २२. सीताचरित भाषा—इसकी १८ पत्रों की अपूर्ण प्रति हमारे संग्रह में है, जो १७वीं शती की लिखित है। अतः इसकी रचना १६वीं शती की होनी संभव है। यह गद्य में है। अब, यथाज्ञात जैन-रचनाओं का परिचय देकर, जैनेतर गद्य और पद्य रामचरित-संबंधी ग्रंथों का परिचय दिया जा रहा है—

२३. रामरासो—माधवदास दधवाड़िया रचित यह काव्य खूब प्रसिद्ध रहा है। इसकी पद्य संख्या ११३८ है। मोतीलाल मेनारिया ने माधवदास का कविताकाल १६६४, रामरासो की पद्यसंख्या

१६०१ दिया है। २४. राघवसीता रास—इस २२५ पद्योंवाली रचना की प्रति सं० १७३५ की लिखी मिली है। इसकी भाषा व शैली वीसलदेव की तरह है। रामरासो डिंगल शैली का ग्रंथ है, तो यह बोल-चाल की भाषा में लोकगीत शैली का है। २५. रामसीता रास—३४ पद्यों की इस लघुरास की दो पत्रों की सं० १७३३ लिखित प्रति हमारे संग्रहालय में है। २६. सूरजप्रकाश—करणीदान रचित इस काव्य में राठौरों के पूर्वज के रूप में रामचरित दिया है। २७. रघुनाथरूपक—सं० १८६३ में रचित यह राज-स्थानी गीतों का प्रसिद्ध छंदशास्त्र है। उदाहरण में कवि ने रामचरित्र को लिया है, इसीलिए इसका नाम रघुनाथ रूपक रखा है। नागरी प्रचारिणी सभा से यह छप चुका है। २८. रघुवरजस प्रकाश—यह भी राजस्थानी छंदशास्त्र है। रचयिता किसन जी आढा हैं। सं० १७८१ में इसकी रचना हुई। कविता प्रौढ़ और भाषा-शैली सरस है। २९. गीत-रामायण—जोधपुर के कविवर अमृतलाल माथुर ने सं० १९५५ में मारवाड़ी लोकगीतों की चाल में बनाया। इसमें प्रसिद्ध रामायणी सात कांड हैं। सीता-वनवास का प्रसंग नहीं दिया गया। लोकगीतों की चाल में इसके गीत होने से स्त्रियों में बहुत अधिक इसका प्रचार हुआ। रचना बहुत सुंदर है, छप चुकी है। ३०. रामचरित्र बालाव-बोध—अध्यात्मरामायण के ९ अध्यायों का यह राजस्थानी गद्य अनुवाद है। अनुवादक का नाम नहीं पाया जाता। सं० १७४७ की लिखित प्रति प्राप्त होने से इससे पूर्व की निश्चित है। भाषा सरल है। ३१. रामचरित्र—अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में एक अन्य गद्य-रामचरित्र भी है, जिसकी प्रति में प्रारंभिक पाँच पत्र नहीं हैं और पत्रक १२५ में कथा पूर्ण होती है। पर अंत का उपसंहार बाकी रह जाता है। ३२. रामचरित्र—श्रीमोतीचंद जी खजांची के संग्रह में सं० १८३२, जोधपुर में लिखित इस प्रति में ब्राह्मण-पुराण के उल्लेख हैं। इसमें रामकथा बहुत विस्तार से दी गई है, जो करीब ४ हजार श्लोक परिमित है। ३३. श्रीमानवमिश्र रामचरित्र—इसके लेखक स० महाराज साहब चतुरसिंह जी हैं। भाषा मेवाड़ी है। इसकी द्वितीय आवृत्ति मनोहरलाल शर्मा, संस्कृत ग्रंथाकार, चाँदपोल, उदयपुर से २०३ पृष्ठों में प्रकाशित हुई है। कवि ने वाल्मीकिरामायण, योगवसिष्ठ, तुलसीरामायण और महावीरचतुर के आधार पर उपन्यास की भाँति लिखा है। उत्तर का चरित्र गिरधरलाल शास्त्री ने लिख कर ग्रंथ को पूर्णता दी है।

जैनेतर रचनाओं का प्रारंभ १७वीं के उत्तरार्द्ध से होता है और २०वीं तक निरंतर चलता है। राज-स्थान में हिंदीभाषा का प्रचार भी १७वीं शताब्दी से प्रारंभ हो गया और १८वीं से तो सैकड़ों ग्रंथ हिंदी में रचे जाने लगे। राजस्थान में हिंदीभाषा के रामचरित-ग्रंथों की संख्या भी अच्छी होनी चाहिए। संत-कवियों ने भी रामचरित्र हिंदी में लिखे हैं; नरहरिदास के अवतार-चरित्र में भी श्रीरामचरित्र मिलता है।

व्रज में रामकथा का अभिनय

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी

श्रीकृष्ण की लीलाभूमि व्रज में रामकथा का अभिनय रासलीला की अपेक्षा आधुनिक है। वर्तमान रूप में जो रासलीला व्रज में प्रचलित है, उसका आरंभ विक्रम सम्वत् की १६वीं शती में माना जाता है। प्रसिद्ध है कि निंबार्क संप्रदाय के अनुयायी श्री घमंडदेव ने रास का प्रारंभ किया। इस कार्य में उन्हें बरसाना के समीप करहला ग्राम के निवासी उदयकरण तथा खेमकरण नामक दो ब्राह्मण भाइयों से बड़ी सहायता मिली। करहला की रासलीला सबसे प्राचीन मानी जाती है और आज भी 'बूढ़ी लीला' के नाम से प्रसिद्ध है। घमंडदेव के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य बातें नहीं मिलतीं। उनके समकालीन या कुछ बाद में होने वाले नारायण भट्ट के द्वारा रासलीला का व्यापक प्रसार व्रज में किया गया। नारायण भट्ट उद्भट पंडित और लेखक थे। उन्होंने 'व्रज-भक्ति-विलास' आदि अनेक ग्रंथों की रचना की तथा व्रज की वड़ी वनयात्रा में आने वाले सभी वन-उपवनों तथा अन्य दर्शनीय स्थानों का विस्तार से वर्णन किया। महाप्रभु चैतन्य के प्रमुख शिष्य रूप और सनातन की तरह नारायण भट्ट ने भी व्रज के अनेक लुप्त तीर्थों की खोज कर उनका उद्धार किया। पौराणिक कथनानुसार जिन-जिन स्थानों में श्रीकृष्ण के द्वारा जो-जो लीलाएँ की गई थीं, उन स्थानों में वही लीलाएँ नारायण भट्ट तथा उनके सहयोगियों द्वारा प्रारंभ की गईं।

व्रज में रामलीला का आरंभ—व्रज में रामलीला के सम्बन्ध में ऐसे कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, जिनसे यह जाना जा सके कि मुगलकाल में इसका यहाँ अस्तित्व था। जनश्रुति के अनुसार अब से लगभग १५० वर्ष पहले मथुरा में रामलीला का आरंभ हुआ। सं० १८६० (१८०३ ई०) में अंग्रेजों ने दौलतराव सिंधिया को परास्त कर, मथुरा पर अधिकार कर लिया था। इस नगर को उन्होंने अपना फौजी अड्डा बनाया। यहाँ एक 'पुरबिया पल्टन' रखी गई। पल्टन के कुछ पुरबिया सिपाहियों ने छावनी में रामलीला का आयोजन किया। धीरे-धीरे यह आयोजन हर साल होने लगा। मथुरा के तमोली लोगों ने इसमें पर्याप्त आर्थिक सहयोग दिया। अब भी इसकी याद मथुरा में 'तमोली-लीला' या 'छोटी रामलीला' के नाम से अवशिष्ट है। कहा जाता है कि कुछ समय बाद तमोलियों ने इस आधार पर कि लीला के लिए वे ही अधिकांश धन देते हैं, यह माँग की कि व्यवस्था-संबंधी उन्हें अधिक पद दिए जायें। परंतु ब्राह्मणों ने उनकी यह माँग स्वीकार नहीं की। मतभेद होने के फलस्वरूप तमोलियों द्वारा अपनी एक अलग लीला मथुरा के वर्तमान गांधीपार्क (पुरानी कोतवाली) में प्रारंभ की गई। वहाँ पर रामलीला प्रतिवर्ष नियमित रूप से १८ दिन तक होने लगी।

मथुरा की वर्तमान लीलाएँ—इस समय मथुरा नगर की प्रमुख रामलीला दिल्ली-मथुरा सड़क के पास महाविद्या मंदिर के नीचे विस्तृत रामलीला-मैदान में होती है। इस मैदान के पास एक राम-मंदिर भी है। लीला के मुख्य कार्यकर्त्ता मथुरा के चौबे लोग हैं, जो 'आदर्श रामलीला मंडल' के तत्वावधान में कार्य करते हैं। मंडल के द्वारा आश्विन कृष्ण-पक्ष की नवमी से लेकर आश्विन शुक्ल द्वादशी तक रामलीला होती है। रामलीला मैदान में वनवास से लेकर रावण-वध तक की लीलाएँ अभिनीत होती हैं। चित्रकूट की लीला रात में मसानी रेलवे स्टेशन के पास 'चित्रकूट' नामक स्थान पर होती है। राम-जन्म से लेकर राम-विवाह तक की लीलाएँ, परशुराम-संवाद तथा भरत-मिलाप और राजगद्दी गांधीपार्क के सामने कटरा में होती हैं। कुछ छोटी लीलाओं का अभिनय नगर के अन्य स्थानों में भी होता है—जैसे, विश्राम-घाट पर केवट-लीला, नयाबाजार में निषाद-संवाद तथा सुमंत-विदाई, कलक्टरगंज में ग्राम-निवासियों की लीला, रामदास-बाड़ा में भारद्वाज-संवाद और किशोरीगंज में वाल्मीकि-संवाद।

रात में होने वाली चित्रकूट-लीला मथुरा में संवत् १९२९ (१८७२ ई०) से प्रारंभ बताई जाती है। अयोध्या के कुछ महात्माओं द्वारा इसका यहाँ प्रचलन हुआ था, अब चतुर्वेदी ब्राह्मण इसे स्वयं करने लगे हैं।

हाल में मथुरा में एक नई रामलीला का आरंभ हुआ है, जो 'छीपियों की लीला' कहलाती है। यह गौघाट पर आश्विन शुक्ल त्रयोदशी से कार्तिक कृष्ण द्वादशी तक चलती है। तमोलियों वाली लीला भी पहले इसी समय पर हुआ करती थी। बाद में वह चैत्र शुक्ल सप्तमी से लेकर बैसाख कृष्ण दसमी तक होने लगी। छीपियों की लीला का आयोजन सुविधानुसार कभी-कभी होता है।

वर्तमान समय में रामलीला की दो प्रमुख संस्थाएँ व्यवस्थित रूप से मथुरा में लीला-आयोजन करती हैं—एक 'आदर्श रामलीला मंडल', जो एक निजी संस्था के रूप में है और दूसरी 'मथुरा रामलीला सभा', जो सार्वजनिक चंदे से चलती है।

मथुरा की लीलाओं में संस्कृत ग्रंथों में से प्रायः वाल्मीकिरामायण, हनुमन्नाटक और अध्यात्मरामायण के श्लोक यथावसर अर्थ सहित बोले जाते हैं। अर्थ या व्याख्या में प्रायः खड़ीबोली चलती है। बीच-बीच में अवधी के भी कुछ शब्द आ जाते हैं। व्रजभाषा का प्रयोग इन व्याख्याओं या वार्तिकों में नहीं मिलता। इस दृष्टि से व्रज की रामलीला रासलीला से भिन्न है। रासलीला में तो आदि से अंत तक पदों तथा उनकी व्याख्याओं में व्रजभाषा का ही प्रयोग मिलता है।

रामलीला की दो मुख्य पद्धतियाँ—व्रज में इस समय रामलीला की दो मुख्य पद्धतियाँ प्रचलित हैं—एक हाथरस वाली पद्धति और दूसरी मथुरा-वृंदावन की पद्धति। हाथरस-पद्धति पर 'भगत-शैली' का पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसके अनुसार स्वरूपों के द्वारा चौपाई आदि पढ़ी जाती है और उनकी व्याख्या का कथन मंडली के पंडितों द्वारा होता है। मथुरा वाली पद्धति में पंडित लोग चौपाई पढ़ते हैं और व्याख्या तथा कथनोपकथन मुख्यतया स्वरूपों द्वारा ही होते हैं। रामचरितमानस के अतिरिक्त जिन भाषा-ग्रंथों से इस कार्य में विशेष सहायता ली जाती है वे 'विनयपत्रिका', 'कवितावली', 'गीतावली', 'राम-रसायन', 'कौशलेन्द्र कौतुक' आदि ग्रंथ हैं। मथुरा का यह ढंग बनारस के रामनगर वाले ढंग से मिलता-जुलता है।

वृंदावन, गोकुल और महावन की लीलाएँ—उक्त तीनों स्थानों में रामकथा का अभिनय मथुरा जैसा ही होता है। वृंदावन में चालीस रोज तक लीला का कार्यक्रम चलता है। जिन स्थानों में लीलाएँ होती हैं, वे उड़िया बाबा का आश्रम, परमहंस आश्रम, रंगजी का मंदिर और कलाधारी का स्थान है।

गोवर्धन, राधाकुंड और कामवन—इन स्थानों में हाथरस की भगत-प्रणाली का प्रभाव अधिक है। स्वरूपों के द्वारा चौपाई आदि पद्यों का पाठ होता है। एकाध जगह वे उनका अर्थ भी कह देते हैं, पर ऐसा बहुत कम होता है। गोवर्धन में मुख्य लीलाएँ चकलेश्वर के पास होती हैं, जहाँ से राधाकुंड के लिए परिक्रमा आरंभ होती है। आबादी के भीतर भी कुछ लीलाएँ की जाती हैं। सेतु की लीला यहाँ विशेष आकर्षक होती है। इस दिन गोवर्धन की प्रसिद्ध मानसी गंगा में सेतु की रचना की जाती है और उसमें रस्सी बाँध कर उसे खींचा जाता है। सेतु की आरती का दृश्य बड़ा हृदयग्राही होता है। राम-जन्मोत्सव वाले दिन नगर के तथा आसपास के कवि लोग भी भाग लेते हैं और उत्सव के अनुकूल विविध कविताओं का पाठ करते हैं। धनुष-यज्ञ तथा राजगद्दी के अवसर पर विशेष सजावट होती है। ये दोनों लीलाएँ बस्ती के भीतर ही होती हैं। गोवर्धन में रात वाली लीलाएँ भी बड़ी मनोरंजक होती हैं। सारी रामलीला के समाप्त होने पर तीन-चार रोज तक विविध मनोरंजक अभिनय, कवि-सम्मेलन तथा दंगल होते हैं।

राधाकुंड तथा कामवन की रामलीला भी गोवर्धन-जैसी ही होती है। यहाँ दोहा और चौपाई, झूलना तथा चौबोलों के ढंग पर, स्वरूपों के द्वारा कहे जाते हैं। व्यास लोगों के द्वारा अर्थों का कथन किया जाता है। नौटंकी-प्रेमी जनता इस ढंग को बहुत पसंद करती है और दर्शकों की बड़ी भीड़ जुटती है। राधा-कुंड में रात की लीला और कवि-सम्मेलन का आयोजन नहीं होता।

मंडलियों की व्यवस्था—व्रज के सभी प्रमुख स्थानों की रामलीला में स्थानीय व्रजवासी ही मुख्यतया भाग लेते हैं। चतुर्वेदी तथा सनाढय ब्राह्मणों के कई कुटुंब विभिन्न स्थानों में हैं, जो पीढ़ियों से रामलीला में भाग लेते आए हैं। मथुरा में राधा-कृष्ण जी नामक एक तांत्रिक सनाढय ब्राह्मण हुए हैं, जिनका रामलीला के संचालन में प्रमुख हाथ था। उनके बाद क्रमशः लल्लोजी, बाबा बद्रीदास तथा गिरिराज दत्त जी चतुर्वेदी

हुए, जिन्होंने क्रमशः रामलीला के कार्य को सँभाला। राधाकृष्ण जी के समय तक रामलीला के संचालन का प्रायः समस्त कार्य सनाढ्य ब्राह्मणों द्वारा होता था। बद्रीदास जी के समय से लीलाओं में चतुर्वेदी ब्राह्मणों का प्रवेश हुआ। पहले राम-लक्ष्मण के स्वरूप सनाढ्य बालक ही बनते थे, परंतु अब पिछले कुछ वर्षों से चतुर्वेदी बालक राम-लक्ष्मण बनने लगे हैं। बंदरों का मजेदार अभिनय भी चौबे करते हैं। वर्तमान समय में गोविंदराम जी 'आदर्श रामलीला मंडल' के संचालक हैं। अन्य स्थानों में भी इसी प्रकार की कुल-परंपराएँ पाई जाती हैं। स्वरूप प्रायः ब्राह्मणों के ही बालक बनते हैं।

प्रारंभ में ब्रज के मुख्य स्थानों में रामलीला का आयोजन स्थानीय जनता के ही लिए होता था, मंडलियों का उद्देश्य व्यावसायिक नहीं होता था। अब भी मथुरा, गोवर्धन, राधाकुंड आदि में ऐसी मंडलियाँ हैं, जो व्यावसायिक दृष्टि से अभिनय करना गौरव के प्रतिकूल समझती हैं। इनके कार्य की आवश्यक व्यवस्था स्थानीय जनता की समिति द्वारा होती है। यह समिति नगर में चंदा करके व्यय का प्रबंध आदि कर लेती है। कुछ समय से ब्रज की एकाध मंडलियाँ कतिपय रासमंडलियों की तरह बाहर भी जाने लगी हैं। ऐसा मुख्यतया वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों के कारण हुआ है। ये मंडलियाँ प्रायः उत्तरप्रदेश, राजस्थान, बिहार और बंगाल के मुख्य नगरों में रामलीला का प्रदर्शन करती हैं और कई मंडलियों ने भिन्न-भिन्न स्थानों से धन के साथ-साथ पर्याप्त यश भी अर्जित किया है।

सुधार की समस्या—कुछ विचारशील लोगों ने इधर इस बात का अनुभव किया है कि रामलीला में आवश्यक सुधार किए जायँ, जिससे अभिनय अधिक उपयोगी और आकर्षक बन सकें। कुछ लोगों का विचार है कि भगत या नौटंकी का ढंग रामलीला के लिए उपयुक्त नहीं है और रामलीला का शुद्ध रूप जनता के सामने आना चाहिए। यह भी विचारणीय है कि दोहे-चौपाई आदि के जो अर्थ खड़ी बोली में किए जाते हैं, उन्हें ब्रज-भाषा में किया जाय। रामलीला में लौकिक तत्वों को बढ़ाने की ओर भी ब्रज में कुछ लोगों की प्रवृत्ति देखी जाती है। कई मंडलियों में संगीत, वेशभूषा आदि में इसी दृष्टि से परिवर्तन भी दिखाई पड़ने लगा है। यदि रामलीला के मूलभूत तत्वों को अक्षुण्ण रखते हुए देशकाल के अनुरूप इस लोकप्रिय अभिनय में आवश्यक सुधार किए जा सकें, तो अनुपयुक्त न होगा।

गुजरात में राम-काव्य की परंपरा तथा राम-भक्ति का प्रचार

श्री जगदीश गुप्त

★ ★

गुजरात में प्राचीन साहित्य की परंपरा बहुत कुछ अखंड रूप में मिलती है। प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं का तो उसमें अक्षय भंडार उपलब्ध होता है। उसका सम्बन्ध मुख्यतया जैन-धर्म से है, क्योंकि भारत के इस पश्चिमी भूभाग, लाट-गुर्जर-सौराष्ट्र प्रदेश में जैन-मतावलंबियों का प्रभुत्व प्रायः ईसवी सन् के प्रारंभ में ही मिलने लगता है। मध्यकाल से पूर्व गुजरात में जो भी महत्वपूर्ण राम-काव्य प्राप्त होते हैं, वे सभी जैन-विचारधारा से संबद्ध हैं और उनमें वर्णित रामकथा वाल्मीकिरामायण पर आधारित होते हुए भी अनेक अंशों में उससे भिन्न है।[1] राम, सीता, लक्ष्मण और रावण आदि रामायण के सभी मुख्य पात्र जैनधर्मानुयायी चित्रित किए गए हैं और कथागत भिन्नताओं का कारण भी साहित्यिक न होकर धार्मिक एवं सैद्धांतिक ही अधिक प्रतीत होता है। ऐसी रचनाओं में प्राकृत में रचित विमलसूरि-कृत 'पउमचरिउ' (तीसरी-चौथी शती ई०), संस्कृत में रचित रविषेण-कृत 'पद्मचरित' (सातवीं शती ई०), अपभ्रंश में रचित स्वयंभूदेव-कृत 'पउमचरिउ' (आठवीं शती ई०), संस्कृत में रचित गुणभद्र-कृत 'उत्तरपुराण' (नवीं शती ई०) तथा हेमचंद्र-कृत 'जैनरामायण' (बारहवीं शती ई०) इत्यादि ग्रंथों के नाम उल्लेखनीय हैं। गुजरात में जैन-रामकथा के दो भिन्न रूप प्रचलित मिलते हैं, जो विमलसूरि और गुणभद्र की रचनाओं पर आधारित हैं। दिगम्बर-संप्रदाय में दोनों की परंपरा मिलती है, परंतु श्वेताम्बर-संप्रदाय में केवल विमलसूरि की परंपरा प्रचलित है।[2]

मध्यकाल के आरंभ अर्थात् चौदहवीं शती ई० से गुजरात में पौराणिकसाहित्य के प्रसार एवं प्रभाव का युग आरंभ होता है, जिसमें पुराणों पर आधारित तथा उनसे अनुप्रेरित अनेक काव्य-कृतियों का निर्माण हुआ। पौराणिक युग के साथ-ही-साथ कदाचित् भक्ति-आंदोलन का भी उदय हुआ। पद्मपुराण में दिए हुए 'भागवतमाहात्म्य' में भक्ति के प्रसार का जो उल्लेख मिलता है, उससे तो यही ज्ञात होता है कि दक्षिण से आरंभ होने वाला वैष्णवभक्ति का आंदोलन गुजरात में आते-आते जीर्णता को प्राप्त हो गया। जहाँ तक राम-भक्ति का प्रश्न है, गुजरात-प्रतिष्ठित विद्वान् भी इसका मूल गुजरात में बहुत प्राचीन सिद्ध नहीं कर पाते। वास्तविकता भी कुछ ऐसी ही प्रतीत होती है। प्रसिद्ध गुजराती पंडित स्वर्गीय दुर्गाशंकर शास्त्री के 'वैष्णव-धर्मनो संक्षिप्त इतिहास' से, जिसकी सामग्री का मुख्य आधार यद्यपि भंडारकर का वैष्णव तथा शैव-धर्म संबंधी सुपरिचित ग्रंथ है, फिर भी जिससे गुजरात के सम्बन्ध में विशेष सूचना की आशा-अपेक्षा की जा सकती थी, केवल निम्नलिखित विवरण प्राप्त होता है—

> "सबसे प्राचीन वैष्णवसंप्रदाय होने पर भी गुजरात में प्राचीनकाल में रामानुजीसंप्रदाय का विशेष असर रहा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। फिर भी इस संप्रदाय के अनेक ग्रंथ, चार सौ-पाँच सौ वर्ष तक के लिखे हुए, गुजराती में मिलते हैं, इनसे इसके कुछ प्रचार का प्रमाण मिलता है। रामानुजीभक्तों की जो ११ लाख संख्या १८७२ की मतगणना के अनुसार बंबई गजेटियर में अनुमानित की गई है, उसमें रामानंदी, रामसनेही और साधारण संप्रदाययुक्त राम-भक्त भी सम्मिलित हैं। रामानुजीमत में ब्राह्मण और वणिक विशेष रूप से मिलते हैं, जिनके मंदिर, बडोदरा, डभोई, अमदावाद और सूरत आदि स्थानों में मिले हैं। बीसवीं शती के आरंभ में रामानुजीसंप्रदाय के एक आचार्य काठियावाड़ में रहे थे, जिनके द्वारा जूनागढ़ आदि में भी कुछ प्रचार हुआ।" —पृ० १८३

---

[1] रामकथा—उत्पत्ति और विकास, ले० डॉ० कामिल बुल्के, पाँचवाँ अध्याय, पृ० ६०-७१

[2] वही, पृ० ६२

यह विवरण कितना संक्षिप्त तथा कितना अपर्याप्त है, यह देखते ही स्पष्ट हो जाता है; पर इससे इतना तो प्रकट ही हो जाता है कि राम-भक्ति-धारा का विशेष वेग गुजरात में नहीं रहा। एक उल्लेख और दर्शनीय है, जो 'गुजराती-साहित्य—मध्यकालनो साहित्यप्रवाह' नामक, विभिन्न विद्वानों के सहयोग से निर्मित ग्रंथ में उपलब्ध होता है—

'पंदरमा सैका मां गुजरात मां रामानुज सम्प्रदाय प्रसर्यो लागे छे।
अने वीरमगाम थी सुरत सुधी अेनी असर आजे देखाय छे।
आजे गुजरात मां ठेकठेकाणे रामानुज देखाय छे; अने
काठियावाड मां खीजडा मंदिर नामे प्रचलतो सम्प्रदाय
आनो एक फांटो छे अेम मानवाना कारण मले छे।

—रामानंदी उपासनानो प्रवाह

रामानंद द्वारा प्रचारित राम-भक्ति गुजरात में १५वीं, १६वीं शती में अनेक स्थानों पर फैली, इससे इतना ही प्रकट होता है। इस काल में 'रघुवा', 'रघुनाथ' आदि का प्रयोग कविगण जिस भक्तिभाव से अपने नाम के साथ करने लगे, उससे भी इसकी पुष्टि होती है। भालण और प्रेमानंद आदि के कतिपय काव्य इसके उदाहरण हैं। सं० १५८७ में तलाजा नामक ग्राम, जिसमें नरसी मेहता का जन्म हुआ था, के एक वैष्णव-कवि 'मीठा' के लिखे हुए 'वैष्णवलक्षणो' ग्रंथ की ये पंक्तियाँ भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती हैं—

सांभलि सांमी श्री रघुनाथ। करुंम्र विनती जोडी हाथ।।
कहई वैष्णव नई आप छंदिइ रमई। कहु रामने ते किम गमइ।।
विष्णुकथा गुण गाई गीत। उंबरि हीयडुं वडलइ चीत।।
मारी पीयारी सरिस रमइ। कहु रामने ते किम गमइ।।

सोलहवीं-सत्रहवीं शती ई० में जब कबीर-पंथ का प्रवेश गुजरात में हुआ, तो निर्गुण राम-भक्ति का प्रचार हुआ। वच्छराज कवि इसी पंथ का था। दादू ने सं० १६०१ में अमदाबाद में ही जन्म लिया था। रैदास का प्रभाव भी गुजरात में कुछ अंशों में कबीर-पंथ के समानांतर ही मिलता है। रामानंदी पंथ की ही एक शाखा 'कुबेर-पंथ' के नाम से फैली, इसी तरह जंबुसर में 'हंसकबीर-पंथ' चलाया गया। सन् १७४० में जोधपुर के रामदास ने 'रामसनेही-पंथ' प्रवर्तित किया, जिसका प्रचार थोड़ा-बहुत गुजरात में भी हुआ। इन सब बातों को अभी केवल सूचना मात्र कहा जा सकता है, क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई भी व्यवस्थित अध्ययन अभी सामने नहीं आया।

पुरातत्व के मान्य गुजराती विद्वान् श्री एच० डी० सांकलिया ने अपने शोध-ग्रंथ 'दि आर्कियालॉजी ऑव गुजरात' में गुजरात की धार्मिक चेतना के जो सूत्र खोजे हैं, उनमें भी राम-भक्ति अथवा रामोपासना के प्रमाण नगण्य ही हैं। वैष्णव-दशावतारों में ही राम की प्रतिष्ठा का विशेष आधार मिलता है, अन्यथा स्वतंत्र रूप से तो वाराह-नृसिंह तथा कृष्ण-बलराम की प्रतिमाएँ ही गुजरात में विशेष रूप से पूजित रही हैं और उन्हीं की उपलब्धि अधिकतर हुई है।

यह सब होते हुए भी १५वीं शती के बाद से २० वीं शती ई० तक अनेक ऐसे ग्रंथों का विवरण उपलब्ध होता है, जिनका सम्बन्ध रामकथा अथवा राम-भक्ति से है। १५वीं शती में भालण का 'रामबालचरित' और 'सीताविवाह', १६वीं शती में भालण के उद्धव तथा विष्णुदास-रचित 'रामायण' और 'उत्तरकांड'। इसी शती में 'नाकर' और 'मांडण' द्वारा भी रामायण की रचना पृथक्-पृथक् हुई तथा कर्मण मंत्री का 'सीता-हरण' भी इसी शताब्दी की रचना है। १७वीं शती में मधुसूदन-कृत 'युद्धकांड', श्रीधर-कृत 'रावण-मंदोदरी-संवाद' तथा काशीसुत शेधजी के 'हनुमानचरित्र' का परिचय मिलता है। १८वीं शती में और भी अधिक रामपरक-काव्यों की रचना हुई। 'रामस्तवराज', 'रामचंद्रनी गरबी', 'रामचरित्र', 'रामनामनो महिमा', 'रामरक्षा', 'अध्यात्मरामायण', 'रामायणमांचंद्रावला' आदि अनेक कृतियाँ ऐसी मिलती हैं, जिनके निर्माताओं

के नाम निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। प्रसिद्ध कवि शामळ् का 'रावण-मंदोदरी-संवाद' और वजाई कवि का 'सीतासंदेश' भी इसी शती में आते हैं। १६वीं शती में भी 'रामायणनां रामावळा', 'रामनांबारमास', 'रामराज्याभिषेक नां धोळ्', 'रामजन्मनी गरवी' तथा 'रामविवाहनां सलोको' आदि कई कृतियाँ ऐसी मिलती हैं, जिनकी प्रकृति एवं रूपरेखा ठेठ गुजराती परंपरा की है। इनमें से अनेक रचनाएँ गुजराती लोककाव्य की प्रचलित विविध शैलियों में निर्मित हैं। यह और ऐसी बहुत-सी अन्य कृतियों की सूची श्री केशवराम काशीराम शास्त्री द्वारा प्रस्तुत 'गुजराती हाथप्रतोनी संकलित यादी' के आधार पर बनाई जा सकती हैं, परंतु इनमें से अधिकांश रचनाएँ अप्रकाशित एवं दुष्प्राप्य हैं। गुजराती के समस्त राम-काव्य में भालण के 'बालचरित' का विशेष महत्व समझ कर आगे उसका परिचय दिया जाता है। भालण गुजरात के प्रथम कोटि के कवि हैं, अतः उनके काव्य से गुजराती राम-काव्य की प्रकृति का अनुमान उचित रूप में किया जा सकता है।

रामभक्ति से प्रेरित 'रामबालचरित'—गुजराती-साहित्य में आख्यान-शैली के रूप में भालण को अद्वितीय प्रतिष्ठा प्राप्त है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के मध्यकालीन कवियों में शायद ही किसी कवि ने बाणभट्ट की 'कादम्बरी' जैसी क्लिष्ट संस्कृत-रचना को अनूदित करने का साहस किया हो, परंतु भालण ने उसका सुचारु अनुवाद प्रस्तुत किया है। कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में भी उनका महत्त्वपूर्ण योग 'दशमस्कंध' के रूप में उपलब्ध होता है, जो मूलतः भागवत पर आधारित होते हुए भी बहुत-सी उद्‌भावनाओं में उससे भिन्न है। यों भालण को गुजराती के विद्वान् १५वीं शती ईसवी में स्थान देते रहे हैं, परंतु इधर उनके दशमस्कंध में प्राप्त होने वाले कविकृत छः-सात व्रज-भाषा के पद मिल जाने से एक नई समस्या उत्पन्न हो गई है, क्योंकि सूरदास आदि के व्रज-भाषा-काव्य का गुजरात पर १६वीं शती ईसवी से पूर्व प्रभाव पड़ना ऐतिहासिक दृष्टि से असंभव है और भालण के कृष्ण-परक पदों में जो वात्सल्य भाव का प्रौढ़ चित्रण मिलता है, उसपर सूरदास की छाया प्रतीत होती है। वस्तुतः सूर के सदृश हिन्दीतर भाषाओं में बालवर्णन करने वाले यदि किसी कवि का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है, तो कदाचित् वह भालण का ही है। भालण ने राम और कृष्ण दोनों की बाल-लीला का अत्यंत तन्मयता के साथ वर्णन किया है।

इतने परिचय के पश्चात् सबसे प्रमुख ज्ञातव्य बात, जिसका प्रस्तुत निबंध से सीधा सम्बन्ध है, यह है कि भालण अन्य देवी-देवताओं का अपने काव्य में पौराणिक परंपरा के अनुसार स्मरण करते हुए भी इष्टदेव के रूप में राम का ही स्मरण करते हैं। पूर्वोक्त 'दशमस्कंध' में, कृष्ण-संबंधी पदों में भी जहाँ वे अंतिम पंक्ति में अपनी 'छाप' लगाते हैं, वहाँ 'रघुनाथ' के भक्त होने का किसी-न-किसी तरह अनिवार्य रूप से उल्लेख करते हैं। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(१) बोल साभळी जनुनीना, हईडा मांहे हसिया रे;
भालण प्रभु रघुनंदन त्यारे सामुं जोइ मन बसिया रे।
(२) थाकी आणी मात ने रे, बेठा सुन्दरश्याम;
जशोदाए आवी बाँधिया रे, भालण प्रभु जी राम।
(३) सीतापती गोकुल अवतरिया, सीध्यां सघळा काज;
भालण प्रभु रघुनाथ लीधुं, रमवाने आ राज।
(४) मांकडां वहालां छे अेने रे, हींडे छे परवरियो रे;
शुं दशरथनंदन जाणियो रे, भालण प्रभु अवतरियो रे।
(५) अे मारे मनडे वस्यो, रह्यो दिन ने रेण;
भालण प्रभु रघुनाथ जी, धारे वृन्दावन वेण।

कवि के राम-भक्ति-संबंधी पदों में तो यह क्रम स्वाभाविक प्रतीत होता है, परंतु कृष्णविषयक पदों में यह निर्भ्रांत रूप से कवि के किसी राम-भक्ति-संप्रदाय से प्रभावित होने का प्रमाण है। गुजराती के अन्य प्रसिद्ध कवि प्रेमानंद के श्रीमद्‌भागवत के अनुवाद में भी यही क्रम मिलता है। •••

वृहद्भारतीय कला में श्रीराम-संबंधी प्रदर्शन

श्री सत्यप्रकाश

* *

वृहद्भारतीय शिल्प के विकास में रामायण की कथाओं ने अच्छा योग दिया है। विशेष कर जावा में उपलब्ध रामायणीय कथाओं के प्रदर्शन बड़े मार्मिक हैं। प्राम्बनम् के विशाल मंदिर के तक्षण पटलों पर रामायण को विशद् रूप से प्रदर्शित किया गया है। रामायण की परिचित कथा से संबंधित विभिन्न आख्यायिकाएँ न केवल दर्शकों को रामायणविषयक कथा की जानकारी कराती हैं, वरन् उन्हें भारतीय कला की सुंदर झाँकी भी दिखलाती हैं। इससे तक्षण-कला की मार्मिकता का पता चलता है और रामायण की कथा किस प्रकार उत्तरी भारत से सुदूर दक्षिण में पहुँची, उसका भी पता चलता है। भारतवासी आदर्शवादी होने के नाते अपने इष्टदेव श्री राम को न भूल सके और जहाँ-जहाँ गए, वहाँ उन्हें अपने साथ लेते गए। जब वे अपनी जन्मभूमि को छोड़ कर उपनिवेश बसाने हेतु बाहर गए, तब अपने साथ अपनी संस्कृति और धर्म तथा कला को भी ले गए और उनकी धाक वहाँ भी जमाने में न चूके।

यही कारण है कि एक ओर जहाँ देवगढ़ के गुप्त मंदिरों में, कोल्हापुर राज्य के फिद्रापुर के मंदिरों में, धारवाड़ जिले के ऐहोल के मंदिरों में, इलोरा के कैलास-मंदिर में, एलीफंटा की ब्राह्मण-गुफाओं में, तालविड होयसलेश्वर मंदिर में, हाम्पी के हजरा रामस्वामी मंदिर में, दक्षिण हैदराबाद के नलगोंडा जिले के नगलपाद मंदिर में, उड़ीसा के कोणार्क मंदिर में, बंगाल के पहाड़पुर मंदिर में, रामायणीय कथा के दृश्य शिल्प में अंकित मिले हैं, वहाँ दूसरी ओर सुदूर दक्षिण में तथा वृहद्भारत में भी, जिनमें मलाबार, जावा, बाली, बर्मा, श्याम, चम्पा, कम्बोडिया और लंका मुख्य हैं, रामायण की यही कथा शिलालेख व तक्षण-कला दोनों का आधार है।

यहाँ हम जावा की कला के उत्कृष्ट नमूनों का उल्लेख करेंगे। इन नमूनों में प्राम्बनम् के नमूने अधिक पूर्ण हैं। प्राम्बनम् कुछ विद्वानों के अनुसार संस्कृत-भाषा के ब्रह्मवनम् का बिगड़ा हुआ रूप माना जाता है। यह वृहद्भारत का सुप्रसिद्ध सुंदर नगर है। यह नगर काली ओपोक नाम्नी नदी के तट पर स्थित है। इसे जावा का केंद्रस्थ मंदिर-क्षेत्र कहा जा सकता है। इसके पास ही बीस मील की दूरी पर बोरोबदुर के बौद्ध-मंदिर का आश्चर्यजनक स्तूप है। इस स्तूप के पास ही के प्रदर्शित दृश्यों में कुछ दृश्य रामायण की मुख्य घटनाओं का चित्रण करते हैं। इनमें सीता का अपहरण, राम के प्रति अभिप्रेत राज्याभिषेक की तैयारियाँ और उसके लिए एकत्रित हुए उपहारों को दिखलाने वाले दृश्य बड़े मार्मिक हैं। प्राम्बनम् के हनुमान का लंकादहन-दृश्य भी बड़ा सुंदर है। मलाबार में अब भी उस प्रकार के मकान पाए जाते हैं, जिनका प्रदर्शन ऊपर की कला-कृतियों में हुआ है। ये मकान काष्ठ के बने हैं और आज भी कोचीन, ट्रैवनकोर और मलाबार में ही नहीं, वरन् कनाए के समीपवर्ती प्रदेश में देखने को प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

यही नहीं, सुदूर दक्षिण में एक बहुत बड़ी नदी सरयू नाम से संबोधित की जाती है। उसके तटों पर महर्षि वाल्मीकि तथा भारतीय अनुश्रुति के अनुसार राम की नगरी अयोध्या भी किसी समय बसी हुई थी।

यद्यपि दक्षिण मलाबार में तथा जावा में अधिकांश व्यक्तियों ने इस धर्म को तिलांजलि दे दी है, रामायण की कथा तक्षण-कला में अब भी सुरक्षित है। यही कारण है कि हमें वहाँ की कला में रामायण के बहुत से मार्मिक दृश्य अंकित मिलते हैं।

आइए, हम पहले दृश्य की ओर दृष्टि डालें। इस दृश्य में शेषशायी विष्णु दिखलाए गए हैं। विष्णु भगवान राजलीला आसन लगाए हैं तथा वैदिवक सर्प शेषनाग की कुंडलियों से बनी हुई शय्या पर आसीन हैं। चतुर्भुज विष्णु बैकुंठ में दिखलाए गए हैं। उनके शिर के पीछे परिवेष बना हुआ है। तीन हाथों में शंख, चक्र, पद्म हैं। चौथा हाथ वरद मुद्रा में है। विष्णु की दाहिनी ओर ब्रह्मा के साथ दिक्पाल दिखलाए गए हैं। ब्रह्मा विष्णु भगवान से प्रार्थना कर रहे हैं कि वह मानव-अवतार ले कर राजा दशरथ के यहाँ जन्म लेवें

श्रौर मर्त्यलोक श्रौर देवलोक दोनों को रावणरूपी राक्षस के कोप से मुक्त करें, क्योंकि राक्षस का श्रत्याचार पराकाष्ठा को पहुँच गया है। भारतीय भक्ति की श्रादर्श वेशभूषा ब्रह्मा को पहनाई गई है श्रौर उसे करबद्ध प्रार्थना-मुद्रा में दिखलाया गया है। यही नहीं, ब्रह्मा को दाढ़ीयुक्त दिखलाया गया है। ब्रह्मा की दाहिनी श्रोर वरुण प्रदर्शित हैं तथा बाईं श्रोर कुबेर।

यह श्रंकन इतना सजीव तथा सजग है कि हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि जिन शिल्पियों ने शिल्प-चातुर्य दिखलाया, वे न वाल्मीकि के उत्कृष्ट काव्य के दास थे श्रौर न रघुवंश एवं उत्तररामचरित के। वे तो रामायण के प्रति श्रद्धा श्रौर श्रनुराग श्रपनी माता के दूध के साथ लाए थे। यदि ऐसा न होता, तो उनके चित्रण में इतना स्वभावजन्य सरलभाव न होता। समृद्ध भांडार के श्राधार पर ही शिल्पी विविध पटलों का तक्षण करते चले गए श्रौर श्रद्वितीय सफलता प्राप्त कर सके। यहाँ के दूसरे दृश्य में यज्ञ की रक्षा करने के लिए विश्वमित्र का राजा दशरथ से राम को माँगता है। चबूतरे पर खुदे हुए इस दृश्य में ऋषि ने यज्ञ प्रारंभ किया है, किंतु लंकाधिपति रावण की प्रेरणा से मारीच श्रौर सुबाहु नामक राक्षसगण नाना प्रकार की बाधाएँ डालते हैं। इस श्रापत्ति से छुटकारा पाने के लिए ऋषि राजा से उनके प्रिय पुत्र रामचंद्र जी को माँगते हैं। इस छोटी-सी घटना को हम प्राम्बनम् में दो पटलों पर श्रंकित पाते हैं। एक भाग में राजा प्रदर्शित हैं। राजा श्रपनी दरबारी वेशभूषा में दर्शाए गए हैं। उनकी दाहिनी श्रोर उनकी रानी कैकेयी बैठी हैं। रानी हाथ से किसी वस्तु की श्रोर संकेत कर रही हैं श्रौर राजा से बातें कर रही हैं। उनके पास ही श्रादरभाव से हाथ बाँधे उनकी दासी बैठी है। थोड़ी दूर श्रलग युवराज रामचंद्र जी बैठे हैं।

दूसरे भाग में महर्षि विश्वामित्र का प्रवेश दिखलाया गया है। राजा दशरथ को इस स्थान पर एक मंडप के नीचे बैठाया गया है। राजा के पास तीनों पटरानियाँ बैठी हैं। सामने एक पृथक् श्रासन पर श्रादर्श वेश में राजर्षि विश्वामित्र श्रासीन हैं। वे जटा को मुकुट के रूप में बाँधे हैं। ऋषि के पीछे शिष्य खड़े हैं। थोड़ी दूर पर एक व्यक्ति घोड़े की पीठ पर थपकी लगा रहा है।

शिवमंदिर के रामायणीय श्रालेख्य पटलों का तीसरा दृश्य विश्वामित्र की प्रेरणा से राम के द्वारा ताड़का के वध की घटना का द्योतक है। इस दृश्य में श्री राम-लक्ष्मण ताड़का नामक राक्षसी के कान, नाक श्रादि काट कर उसे विकृत करते हैं, पर उसे श्रबला जान कर मृत्यु के घाट नहीं उतारते। पर, वह उतना होते हुए भी श्रपनी भुजाश्रों को उठाए भीषणता से राजकुमारों की श्रोर श्रा धमकती है। वह उन पर पत्थर भी बरसाने लगती है। तब श्री रामचंद्र जी उसकी भुजाएँ भी काट डालते हैं। इस श्रवसर पर ताड़का श्रदृश्य हो जाती है श्रौर शिलाश्रों की तीव्र बौछार दोनों भाइयों पर करती है। श्री रामचंद्र जी शिलाश्रों को श्रपने बाणों से टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। रात्रि का समय निकट श्राते देख कर रामचंद्र जी ताड़का के हृदय को तीर से बेधते हैं श्रौर वह क्षण भर में पंचतत्व को प्राप्त होती है।

चौथे दृश्य में सुबाहु मारा जाता है श्रौर मारीच समुद्र में फेंका जाता है। यह श्रालेख्य वाल्मीकि-रचित रामायण में दी हुई घटना से कुछ भिन्न है, पर कलाकार ने घटना को श्रधिक मानुषी श्रौर हास्योत्पादक बना दिया है। इस दृश्य में लक्ष्मण की उसको थोड़ा-सा ताड़न करने की इच्छा दिखलाई गई है। केवल इसी कारण कि वह श्रपने शौर्य का भी परिचय दे लें।

पाँचवें दृश्य में राम श्रौर लक्ष्मण का मिथिला के राजा जनक के यहाँ विश्वामित्र के साथ पधारना प्रदर्शित है। इस दृश्य में यह भी प्रदर्शित है कि राजा ने उन्हें किस प्रकार स्वयंवर की शर्तों के श्रनुसार शिव के धनुष को दिखलाया श्रौर उस पर प्रत्यंचा चढ़ाने की बात कही। राम ने किस प्रकार प्रत्यंचा ही नहीं चढ़ाई, वरन् धनुष को टूक-टूक कर दिया—इस दृश्य से भली-भाँति प्रतीत होता है। सीता-राम का विवाह इस घटना का परिणाम है। यह भी इस घटना को श्रंकित करनेवाले दृश्य से सहज में ही समझ में श्रा जाता है। यहाँ भी श्रालेख्य कुछ वाल्मीकि-रचित रामायण में वर्णित घटना से भिन्न है।

इस श्रालेख्य के केंद्र में खड़ी हुई राजकुमारी श्रपने हाथ में फूल लिए हुए है। श्रन्य दो राजकुमारियाँ जो श्रंकित हैं, वे संभवतः श्रुतिकीर्ति तथा उर्मिला हैं। बीच वाली राजकुमारी श्रन्य दो से ऊँची होने के कारण

सीता मानी जानी चाहिए। उसकी आकृति में राजन्यता की विशेष झलक है। इस प्रकार से यों तो अनेक दृश्य अंकित हैं और उनमें परशुराम का दर्पदलन-संबंधी युद्ध भी है, पर इन दृश्यों में कैकेयी का दशरथ से राम और भरत को राज्य दिलाने का दुराग्रह, दशरथ की अन्त्येष्टि क्रिया, राम का भरत को अपनी पादुकाएँ देना, शूर्पणखा के प्रलोभन, रावण द्वारा सीता का अपहरण, राम और सुग्रीव की मैत्री, अशोकवन में सीता से हनुमान की भेंट, सेतुबंध, कुंभकरण-वानर युद्ध, रावण की मृत्यु पर उसकी रानियों का प्रलाप संबंधी दृश्य पटलों पर बड़ी सुंदरता से अंकित किए गए हैं।

इस प्रकार प्राम्बनम् की भाँति जावा के मध्यवर्ती प्रदेश के केलुत नाम से विख्यात पर्वतों के दक्षिण-पश्चिम में चंडी पनतरन में रामायण के दृश्य अंकित हैं। पर यहाँ पर ऊपर के चबूतरे पर हमें कृष्ण के जीवन की घटनाओं का भी प्रदर्शन मिलता है। रामायण-संबंधी पटल तो निचले चबूतरे पर ही देखने को मिलते हैं।

किंतु यह ध्यान देने की बात है कि इन तक्षणों और प्राम्बनम् के तक्षणों में समय और निर्माण-शैली का बड़ा अंतर है। प्राम्बनम् की तक्षण-कला उत्तर गुप्तकालीन है और पनतरन की कला मध्यकालीन है। दोनों में लगभग ५०० वर्षों का अंतर है। प्राम्बनम् कला से यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि ८ वीं अथवा ९ वीं शताब्दी में भारतीय आदर्शों से प्रेरणा पा कर दक्षिणी कला सर्वोत्कृष्ट हो गई थी और उसमें सजीवता प्रत्यक्ष देखने को मिलती थी। किंतु यह बात पनतरन के मंदिरों में पाए जानेवाले आलेख्यों में नहीं है। इस समय भारतीय संस्कृति ह्रास पर थी और मुस्लिम धर्म के मूर्ति-ध्वंसक देश में यत्र-तत्र घूमने लग गए थे। इसका प्रभाव जावा में पड़े बिना नहीं रहा। वहाँ की कला देशवासियों के विधर्मी बनने के पूर्व से ही अधःपतन को प्राप्त होने लग गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राम्बनम् के तक्षण भारत से गई उत्कृष्ट हिंदू-कला के नमूने हैं, पर पनतरन के तक्षण नहीं। वे तो मलाया और अन्य देशी कला के ही उत्कृष्ट नमूने बन कर रह गए। उन पर भारतीय हिंदू-कला की छाप अधिक न लग पाई। यही कारण है कि प्राम्बनम् की तक्षण-कला सौंदर्य की सिद्धि में सफल हुई है और पनतरन के तक्षण पावनी ऊर्जस्विता के प्रदर्शन में सफल हुई है। इसमें वीभत्स रस और शक्ति का प्रदर्शन बेतुके प्रदर्शनों द्वारा किया गया है।

जावा की यह देशी कला वहाँ की संस्कृति की परिचायिका हो कर हमारे सामने आती है। इसमें नर-नारियों का प्रदर्शन सुंदर ढंग का न हो कर मध्यम ढंग से किया गया है। स्त्रियाँ नंग-धड़ंग जंगलियों के रूप में प्रदर्शित की गई हैं। बंदरों के प्रदर्शन के साथ-साथ पिशाच-पिशाचनियो, भूत-प्रेतों एवं राक्षसों आदि का प्रदर्शन प्रचुर मात्रा में हुआ है।

ऐसे ही भयानक दृश्यों के चित्रण में कलाकार के दक्ष होने के कारण पनतरन को कला में रामायणीय कथा का आरंभ हनुमान के लंका में पहुँचने के बाद से होता है। इसके बिलकुल विपरीत प्राम्बनम् की तक्षण-कला में रामायण की कथा बालकांड से प्रारंभ होती है। पनतरन की तक्षण-कला संबंधी रामायणीय कथा सुंदरकांड से प्रारंभ हो कर युद्धकांड के मध्य से समाप्त-सी हो जाती है।

इसके अतिरिक्त प्राम्बनम् की तक्षण-कला उच्च कोटि के अभिनय-संबंधी तत्वों को प्रदर्शित करती है, पर पनतरन की कला प्रकाश और अंधकार के आयोजन से शरीर के अवयवों को विकृत-वीभत्स रूप में प्रकट करती है। प्राम्बनम् की कला में नृत्य ललित चेष्टाओं को स्थान देते हुए परिमार्जित है, पर पनतरन की कला में अधिकतर तांडवनृत्य के दृश्य हैं। इस प्रकार से दोनों प्रदर्शनों में पर्याप्त रूप में कला-संबंधी विभिन्नताएँ हैं।

पनतरन के तक्षणों में कुछ प्रदर्शन विशेष ढंग के हैं। इन प्रदर्शनों में रावण-संबंधी प्रदर्शन हैं। रावण के पारिवारिक जीवन की झलक के अतिरिक्त रावण के अंतःपुर का भी प्रदर्शन बड़ा मार्मिक है। लंका में अशोक वृक्ष पर हनुमान को अशोक-वाटिका के आसपास की वस्तुओं का चतुरता से निरीक्षण और कामार्त रावण का प्रमत्त प्रलाप तथा त्रिजटा का सीता को आश्वासन आदि दृश्य में जावा के शिल्पी ने कुछ विशेषताएँ दिखलाई हैं। यहाँ यह लिखना आवश्यक है कि प्राम्बनम् और पनतरन के तक्षण-प्रदर्शनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रदर्शन और भी हैं, जो रामायण की कथा को अपने में प्रदर्शित करते हैं। ऐसे प्रदर्शन वे हैं, जो भू-गर्भ से

भू-तल पर, खनन के आधार पर प्राप्त हुए हैं। ये प्रदर्शन जिन पटलों पर हैं, वे पुरातत्वविद् द्वारा फावड़े के प्रयोग से प्रकाश में लाए गए हैं।

ऐसी सामग्री जालतुंडी नामक स्थान से खुदाई के आधार पर प्राप्त हुई है। इस स्थान से प्राप्त एक पटल, जो प्रायः पूर्ण है, केकय देश के राजा युद्धजित के पुरोहित का प्रदर्शन करता है। पुरोहित इस दृश्य में राम के पास यह प्रार्थना करने आ रहा है कि वे अपने पुत्रों के साथ भरत को गंधार देश जीतने के लिए भेज दें।

उत्तरकांड में वर्णित यह दृश्य पेड़ों से घिरी अरण्यस्थली में राम, लक्ष्मण और शत्रुघ्न को एक स्थान पर बैठा हुआ प्रदर्शित करता है। संभवतः भरत इस दृश्य में एक राजकुमार के रूप में राम के चरणों में पुष्पांजलि-अर्पण हेतु बैठे हैं। भरत जी अपने ननिहाल जाने से पूर्व अपने बड़े भाई से बिदा ले रहे हैं। राजा युद्धजित के इस दृश्य में एक ब्राह्मण मूर्ति प्रदर्शित है। इस मूर्ति के चेहरे व हाथ विशीर्ण से हैं। यह ब्राह्म संदेशहर है। उसके पीछे हनुमान, अंगद और सुग्रीव हैं।

कुछ तक्षण पूर्वी जावा से भी प्राप्त हुए हैं। इनका सम्बन्ध संभवतः जावा की हिंदू-कला की अंतिम अवस्था से है। सोलहवीं शताब्दी के लगभग यह कला इस द्वीप से लुप्त हो गई। जावा की कला की इस अवस्था पर मलाया और एशिया के अन्य प्रांतों के देशी प्रभावों की पूर्ण छाप है।

इन तक्षणों में जो दृश्य दिखलाए गए हैं, वे सब नैसर्गिक एवं प्रभावशाली हैं। पूर्वी जावा में प्राप्त अन्य मनोरंजक तक्षण खंडों में चंडिजागो मंदिर वाला तक्षण तथा केदातन के मंदिर पर खुदे तक्षण की रामायणीय कथाओं का अच्छा प्रदर्शन करते हैं। केदातन के मंदिर में खुदे हुए दृश्य दीवारों पर अब भी देखने को मिलते हैं। पर यह ध्यान देने की बात है कि ये प्रदर्शन अधिकांश रूप में महाभारत के दृश्यों के साथ मिले हुए हैं। दृश्यों को चुन-चुन कर एकत्रित करने पर यह पता चलता है कि ये सब संभवतः लंका के विख्यात युद्ध की किसी-न-किसी घटना को प्रदर्शित करते हैं। इनमें एक दृश्य साधारण-सा है और वह है राम-रावण-युद्ध का। इसी प्रकार से इसमें अंगद, वज्रदंष्ट्र, सुग्रीव, कुम्भ आदि के युद्धों के प्रदर्शन हैं।

इन्हीं तक्षण-पटलों में सीता की अग्निपरीक्षा प्रदर्शित की गई है। अग्नि की लपलपाती ज्वालाओं के प्रदर्शन के साथ-साथ आभरणों एवं मुकुटों से अलंकृत जंतु भी इसमें दर्शाए गए हैं। कुछ सर्प की आकृतियों के धनुषों को धारण किए हुए हैं। ये सब संभवतः देवता, दिक्पाल एवं ब्रह्मा और विष्णु हैं, जो कि स्वर्ग से राम को यह मंत्रणा देने आए थे कि वे अपनी पत्नी के प्रति विष्णु के अवतार के अनुरूप आचार करें। अग्नि की ज्वालाओं के मध्य की ओर शोकमग्न राजकुमार लक्ष्मण का भी प्रदर्शन है। श्री राम की प्रतिच्छाया एक क्रोधी व्यक्ति के रूप में आभरणों और मुकुट से अलंकृत होकर तर्जनी की ओर से अग्नि की ओर निर्देशन करती हुई दिखलाई गई है। उनके साथ में दो मुकुटधारी व्यक्ति विभीषण तथा सुग्रीव दिखलाए गए हैं।

कम्बोडिया के अंकोरबाट के सुंदर मंदिर में भी रामायण की कथा चूर्णलेप आदि पर प्रदर्शित की गई है। इन दृश्यों में वालि और सुग्रीव का मल्लयुद्ध, कुंभकरण पर बंदरों का आक्रमण, राम का हनुमान के कंधेपर चढ़ कर रावण से युद्ध करना आदि दृश्य बड़े सुंदर हैं।

अंकोरबाट से कुछ दूर पर वायुआन मंदिर में, जिसको स्वर्णशृंग मंदिर भी कहते हैं, श्री राम व कृष्ण के जीवन की घटनाओं को प्रदर्शित करते हैं। इनमें हनुमान द्वारा राम व लक्ष्मण का सुग्रीव को मिलना, वालि व सुग्रीव का अंतिम युद्ध, राम-रावण-युद्ध, सीता की अग्निपरीक्षा आदि दृश्य बड़े मार्मिक हैं।

वायुआन के अतिरिक्त चनलुंग के पुराने मंदिर में तथा प्रिंग क्रौंग व कुकक्रवेट के देवालय में रामायण कथा को अंकित करने वाले तक्षण हैं। इनके अतिरिक्त प्राहथीर बैरे के मंदिर के दरवाजों की शहतीरों पर भी दो दृश्य हैं, जो रामायण से संबंधित हैं। इनमें वह दृश्य, जो वालि की मृत्यु और उसके दाह-संस्कार का रूपक है, बड़ा मार्मिक है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति रामायण की कथाओं द्वारा किस प्रकार समुद्र पार तक पहुँची और स्थानीय संस्कृति की छाप को कला में स्थान देकर स्थानविशेष की संस्कृति का अंग बन गई। यही कारण है कि तब श्री रामचंद्र या श्री राम जी न कहला कर जावा में 'जावन', बाली में 'बालियाई' और चम्पा में 'चाम' और कम्बोडिया में 'खेमर' कहलाए हैं।

●●●

भोजपुरी लोकगीत में सीता-वनवास

श्री कृष्णदेव प्रसाद उपाध्याय

★ ★

[उत्तररामचरित की कथा में सीता को वनवास देने का दोष एक धोबी पर डाला गया है। धोबी सामान्य प्रजा का प्रतिनिधि है। उस कथा के लेख की दृष्टि में न्यायप्रिय राजा रामचंद्र ने प्रजा की कुत्सा से खिन्न होकर सीता को वन में भेज दिया। किंतु इस कथा का एक दूसरा पक्ष भी है। इसका जो रूप लोक में प्रचलित है, उसमें सीता को वन में भिजवाने का कुचक्र राजा राम के महल में ही हुआ। राम की बहिन शांता ने ही सीता के चरित्र पर संदेह किया और राम के कान भर कर सीता को निकाला दिलवा दिया। कथा का पहला रूप राजपक्ष की ओर से है, तो दूसरा प्रजापक्ष की ओर से है। सीता-वनवास की यह कहानी कौरवी भाषा अर्थात् मेरठ आदि पश्चिम के प्रदेश की पछाही हिन्दी में प्रचलित है, जहाँ एक वृद्ध ग्रामवासी से मुझे वह सुनने को मिली थी। वहाँ यह गीतरूप में भी प्रचलित है, जिसमें सीता का राम के प्रति आक्रोश इस पंक्ति में उबल पड़ता है—**ऐसे पुरुष का मुंह नहीं देखूं, जिनने जियत दिया बनबास।**

बुन्देलखंडी बोली में सीता-वनवास का बहुत ही सुंदर लोकगीत पाया जाता है; अवधी में भी वह लोकगीत मिलता है। नीचे उसका भोजपुरी रूप उद्धृत किया जाता है।—वासुदेवशरण]

राम अवरु लछुमन भइया, आरे एकली[1] बहिनियाँ हइहो की।
ए जीव राम जी बइठेले जेवनारवा[2], बहिन लइया[3] लावे रे की ॥१॥
ए भइया भउजी के द ना बन-बासवा, जिनि रावना उरेहेले[4] की ॥२॥
जिनि सीता भूखा के भोजन देली, आरे लाँगा[5] के बहतरवा[6] हो की।
से हो सीता गहुंबा[7] रे आसापति[8], कइसे बनवासवि हो की ॥३॥
मोरे पिछुअरवा कहरवा भइया, बेगे चलि आवहु हो की।
भइया सीता जोगे डँड़िया[9] रे फानाब[10], सीता के बन पहुँचावहु हो की ॥४॥
रोवेलि सीता देई अछन कई, अवरु बीछन[11] कई हो की।
ए जीव ! के मोरा आगावाँ से पाछावाँ, लटवा[12] खोली नु हो की ॥५॥
बन में से निकले बनसपति[13], आरे सीता समुझावेले रे की।
ए सीता हम तोहरा आगावाँ से पाछावाँ, लटवा खोलबि हो की ॥६॥
कुसवा[14] ओढ़न कुसवा ड़ासन[15], बन फल भोजन हो की।
ए जीव ! कुसवे के हाजामा[16] रे बनबलों, लोचन[17] पहुँचावेला हो की ॥७॥
पहिल लोचन राजा दसरथ, तब कोसिल रानी हो।
तीसरे लोचन लछुमन देवर, रमइया[18] जनि सूनसु हो ॥८॥
चारु खण्ड के पोखरवा, चुने चुनवटल[19] हो ॥९॥
ताहि चढ़ि राम करे दतुवन, नउवा[20] लोचन लेले जाला नु हो ॥१०॥
काहावा[21] के हव[22] तुहु हजमा, काहा रे तुहु जाल[23] नु हो।
ए जीव ! केकरा भइले नन्दलाल, लोचन लेके जाल नु हो ॥११॥

---

[1] एक ही [2] भोजन [3] मिथ्या दोषारोपण करना [4] चित्र बनाना [5] नंगा [6] वस्त्र
[7] भारी, अधिक [8] गर्भवती [9] पालकी [10] चढ़ाओ [11] जोर से रोना
[12] बाल [13] वन देवता [14] कुश, नुकीली घास [15] बिछौना [16] नाई जो संदेशवहन करता है
[17] संदेश (रोचन) [18] राम [19] चूने से पोता गया [20] नाई [21] कहा
[22] निवासी हो। [23] जाते हो।

बन ही के हम हइ हाजामा, अजोध्या कइले जाइ ले हो।
ए जीव! सीता के भइले नन्दलाल, लोचन लेके जाइले हो।।१२।।
पहिले लोचन राजा दसरथ, तब त कोसिला रानी हो।
ए जीव! तीसरे लोचन लछुमन देवर, राम जानि सुनसु हो।।१३।।
राजा दसरथ चढ़न को घोड़वा, कोसिला रानी आभरन हो।
ए जीव! लछुमन बुनो काने सोनवा नउवा रहसि घर जावहु हो।।१४।।
चिठिया लिखेले राजा रामचन्द्र, देहु तुहु सीता के हाथमे हो।
ए जीव! सबकुछ मोर अवगुनवा, सीता अब बकससु हो।।१५।।
इहो सूल रहिते ससुर के, अवरू भसुर जी के हो।
ए जीव! इहो सूलवा सालता रे करेजवा, अजोध्या कइसे जाइबि हो।।१६।।

—एक बार सीता जी रावण का चित्र बना रही थीं। उसे देख कर राम की बहन शांता ने सीता के आचरण पर संदेह किया और राम से इस बात की चर्चा की। उसने सीता को वनवास देने का विशेष आग्रह किया। राम ने शांता से कहा कि सीता पूर्ण गर्भवती है, उसे मैं घर से कैसे निकाल दूं। इस पर शांता ने पालकी ढोने वाले कहारों को बुलाया और सीता को उस पालकी पर बैठा कर घर से शीघ्र बाहर निकालने का पुनः आग्रह किया। शांता के कुचक्र तथा दुराग्रह के कारण राम ने सीता को जंगल में भेज दिया। वहाँ उन्हें पुत्र पैदा हुए। सीता इस शुभसंदेश को अयोध्या भिजवाती हैं; परंतु वे संदेशवाहक नाई से कहती हैं कि इस समाचार को राम को मत सुनाना, दशरथ, कौशल्या तथा लक्ष्मण को ही सुनाना। फिर राम अपने अपराधों को क्षमा कराने के सम्बन्ध में सीता को पत्र लिखते हैं। परंतु सीता कहती हैं कि राम के दिए हुए कष्ट को भला मैं कैसे भूल सकती हूँ और अयोध्या कैसे लौट सकती हूँ?

राजस्थान के शिलालेखों व मूर्तिकला में रामकथा की अभिव्यक्ति

*

श्री रत्नचंद्र अग्रवाल

*

प्राचीन भारतीय साहित्य, शिलालेख एवं मूर्तिकला द्वारा रामकथा-विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध हो चुकी है। इससे रामकथा की लोकप्रियता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। भारतवर्ष के प्रत्येक भू-भाग में मर्यादापुरुषोत्तम राम को एक आदर्श राष्ट्रपुरुष मानकर साहित्य एवं कला में भी एक उच्च स्थान प्रदान किया गया है। इस दिशा में राजस्थान की जनता एवं कलाकार किसी भी प्रकार पीछे न रहे। स्थानिक शिलालेख एवं मूर्तिकला में राम के जीवन से संबंधित नानाविध संदर्भों की अभिव्यक्ति इस कथन की पुष्टि करने में सतत समर्थ रहेगी।

(अ) राजस्थान के अर्वाचीन शिलालेख—प्रतिहार नृपवर्ग के वंश की उत्पत्ति के विषय में यह सर्वज्ञात है कि वे प्रभु राम के अनुज लक्ष्मण के वंशज थे तथा लक्ष्मण द्वारा स्वज्येष्ठ भ्राता राम के निमित्त प्रतिहारपद पर कार्य करने के फलस्वरूप उसके वंशज भी 'प्रतिहार' नामक उपाधि से विभूषित हुए। इस सम्बन्ध में राजस्थानी शिलालेखों के कुछ संदर्भ उल्लेखनीय हैं यथा—(१) स्वभ्राता रामभद्रस्य प्रतिहार्यं कृतं यतः श्री प्रतिहारवंशोऽयम् (विक्रम संवत् ८९४ की जोधपुर प्रशस्ति[1]।) (२) प्रकट महिमा रामनामासयेन चक्रे शार्ङ्गं दृढ़तरमुरोनिर्दयालिङ्गनेषु स्वप्रेयस्या दशमुखवधोत्पादित[2] स्वास्थ्य वृत्तिः।। तस्याकार्षत्किल प्रेम्णा लक्ष्मणः प्रतिहारतां ततोऽभवत् प्रतीहारवंशोराम समुद्भवः। (वि० सं० १०१३ की ओसियाँ की जैन-प्रशस्ति)[3]

'भडून्द' (मारवाड़) की प्राचीन वापी में लगे हुए विक्रम संवत् ११०२ (१०४५ ईसवी) के शिलालेख[4] के प्रारंभ में रघुकुलपुंगव राम का अभिवादन किया गया है। यही भाव 'पाटनारायण' के लेख के प्रारंभिक श्लोक द्वारा भी सुस्पष्ट है अर्थात् 'ओं। ओं नमः पुरुषोत्तमाय। श्री रामेण विजित्य रावणमथ स्वीकृत्य सीतां किल व्यावृत्तेन पुरी पुरार्बुदतटे"......इत्यादि[5]।

पोकरन-फलोदी (प्राचीन विजयपुर, मारवाड़) स्थित कल्याण जी के मंदिर में लगे हुए विक्रम संवत् १२३६ के लेख[6] में दशानन रावण-वध हेतु सेतु-निर्माण कार्य की ओर संकेत किया गया है (सेतुर्येन महोदधि विरचितः क्वासौ दसास्यांकृत)। यही पंक्ति उसी देवालय के विक्रम संवत् १५७३ के लेख[7] में तथैव उद्धृत की गई है।

राम के परमनिष्ठ अनुचर 'हनुमान' का भी कतिपय लेखों में वर्णन उपलब्ध है। अचलेश्वर (आबू) से प्राप्त विक्रम संवत् १३४२ के अभिलेख में हनुमान की वंदना की गई है[8]। इस दिशा में राजस्थान के कुछ स्थानों से प्राप्त हनुमान की विशालकाय पाषाण-प्रतिमाओं का उल्लेख करना भी परमावश्यक है। सिरोही

---

[1] द्रष्टव्य ऐपिग्राफ़िया इण्डिका, भाग १८, लेख संख्या १२ ; मुंशी देवीप्रसाद-कृत 'मारवाड़ के शिलालेख', जोधपुर, पृष्ठ १।

[2] यहाँ राम द्वारा दशानन रावण के वध का उल्लेख स्पष्ट है।

[3] द्रष्टव्य श्री पूर्णचंद नाहड़-कृत 'जैन लेख संग्रह', कलकत्ता, १९१८, पृष्ठ १९३।

[4] प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ़ आर्कयॉलॉजिकल सर्वे, वैस्टर्न सर्कल, पूना, १९०८ मार्च, पृष्ठ ५०।

[5] यहाँ रावण पर राम की विजय का उल्लेख हुआ है। इस लेख के लिए द्रष्टव्य इंडियन एंटीक्वेरी, १९१६, भाग ४५, पृष्ठ ७७-८० ; विश्वेश्वरनाथ रेउ-कृत 'ग्लोरीज ऑफ़ मारवाड़ एंड ग्लोरियस राठौड्ज़', पृष्ठ २२९-२३४।

[6] जर्नल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल, न्यू सिरीज़, कलकत्ता, १९१६, खंड ३ (न्यूमिस्मैटिक सपलीमेंट १२, १९१०), पृष्ठ ९३, पंक्ति २।

[7] वही, पृष्ठ ९५, पंक्ति ८।

[8] इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, कलकत्ता, १९४५, पृष्ठ २८५।

राज्य के 'असावा' नामक स्थान पर हनुमान की मूर्ति पर विक्रम सं० १३५५ का लेख[1] उत्कीर्ण है। इससे भी पूर्वयुग की एक हनुमान-प्रतिमा पर विक्रम संवत् ११६५ (११०८ ईसवी) का लेख[2] है। यह प्रतिमा अति विशाल है तथा बाँसवाड़ा राज्यांतर्गत 'अर्थूणा' नामाभिधेय स्थान पर मिली है। खेद है कि राजस्थान के किसी भी कोने से पूर्वमध्यकालीन व उससे भी पहले की हनुमान-प्रतिमा व तद्विषयक लेख की प्राप्ति अद्यावधि अज्ञात ही है। इस दिशा में प्रारंभिक युग की सामग्री की चिर प्रतीक्षा बनी रहेगी। यही स्थिति राम-संदर्भों के विषय में भी है। राजस्थान की प्रस्तरकला में राम-जीवन से संबंधित घटनाओं का प्रदर्शन ईसा की द्वितीय सहस्त्राब्दि में ही उपलब्ध होने लगा। संभव है, भावी खोजों के आधार पर १००० ईसवी पूर्वयुग के शिलालेख इस दिशा में कुछ सामग्री प्रस्तुत कर सकें।

(ब) राजस्थान की मूर्तिकला में रामकथा—सन् १९३६-७ के खनन द्वारा श्री दयाराम साहनी ने जयपुर राज्यांतर्गत 'सांभर' नामक स्थान से एक खंडित मृद्भांड की प्राप्ति की थी। यह बर्तन अतीव महत्व-पूर्ण है तथा इसकी गर्दन को पकड़ने वाला भाग ही अवशिष्ट है। यहाँ सगर के साठ हज़ार पुत्रों का उद्धार करने-वाली परमपावना जाह्नवी का पिनाकपाणि शिव की जटाओं में-से निकल कर भू-लोक पर अवतरण प्रदर्शित किया गया है। यह महत्वपूर्ण कलाकृति[3] आम्बेर (जयपुर से ५ मील दूर) के राजकीय पुरातत्त्व संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही है।

जयपुर के रामनिवासोद्यान स्थित संग्रहालय के अंदर सुरक्षित एक प्रस्तर-शिला पर रामायण-संबंधी एक संदर्भ प्रदर्शित किया गया है। पार्वती सहित शिव कैलाश-पर्वत पर उपस्थित हैं तथा नीचे दशमुख रावण कैलाश-पर्वत को उठाने का प्रयत्न कर रहा है। इसी प्रकार के संदर्भ भारतीय मूर्तिकला में अन्यत्र भी उपलब्ध हैं तथा 'इलोरा'[4] की गुफाओं में यह दृश्य कई स्थलों पर अंकित है। मथुरा से इसी आशय की एक गुप्त-कालीन कलाकृति की प्राप्ति भी महत्वपूर्ण है[5]।

रामावतार—जोधपुर संग्रहालय के अंदर मध्यकालीन द्वार-स्तंभों पर ऊपर से नीचे की ओर विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतार प्रदर्शित हैं। उनमें धनुष तथा बाण लिए राम का भी तक्षण किया गया है। मारवाड़ राज्यांतर्गत 'खेड़' के रणछोड़राय जी के सुविख्यात देवालय के बाहरी ताकों में एक स्थान पर द्विबाहु राम का अंकन भी उसी भाव का सूचक है, जिसका उल्लेख कालिदास ने भी किया है, अर्थात् 'रामाभिधानों हरिः।" राम की गणना तो विष्णु के अवतारों में की जाती है[6]। बड़े आश्चर्य की बात है कि प्रतिहार-नरेशों की राजधानी मण्डोर (प्राचीन मांडव्यपुर, जोधपुर से ५ मील दूर) से राम की एक भी मूर्ति की प्राप्ति नहीं हुई है। राम-लक्ष्मण के वंशजों की राजधानी में तद्विषयक प्रतिमाओं का अभाव सर्वदा खटकता ही रहेगा।

केकीन्द[7] के शिवालय में रामकथा-तक्षण—केकीन्द के १० वीं शताब्दी में निर्मित नीलकंठ महादेव मंदिर के सभामंडप की छत के नीचे के भाग में कृष्ण तथा रामायण-विषयक संदर्भ[8] उत्कीर्ण किए गए हैं—

(१) कई स्थानों पर अंजनीसुत हनुमान ने दोनों हाथों पर पर्वत को धारण कर रखा है। (२) एक वानर पर्वत उठा कर लाया है तथा नीचे बैठे हुए व्यक्ति को सौंप रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह महाशय

---

[1] गौरीशंकर हीराचंद ओझा-कृत 'सिरोही राज्य का इतिहास', १९११, अजमेर, पृष्ठ ५४।
[2] गौरीशंकर हीराचंद ओझा-कृत 'बांसवाड़ा राज्य का इतिहास', १९३७, अजमेर, पृष्ठ १९।
[3] विशेष विवरणहेतु द्रष्टव्य श्री दयाराम साहनी-कृत 'आर्कयॉलॉजिकल रिमेन्ज़ एंड ऐक्स्कैवेशंज़ एट सांभर', जयपुर राज्य, पृष्ठ २५, प्लेट १९ ए; मेरा लेख, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, कलकत्ता, जून १९५४, पृष्ठ १५४ तथा आगे।
[4] द्रष्टव्य जेम्ज़ बर्जेस-कृत 'ए गाइड टु इलोरा केव्ज़', पृष्ठ २४, २७, ३१, ३२, ३३, ४४, ४७; जर्नल गंगानाथ झा रिसर्च सोसाइटी, प्रयाग, भाग ८, खंड २, फरवरी १९५१।
[5] द्रष्टव्य श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख, 'जर्नल इंडियन सोसाइटी ऑफ़ ओरिएंटल आर्ट', कलकत्ता, १९३७, पृष्ठ १२८, प्लेट १५, चित्र १; मथुरासंग्रहालय की वार्षिक रिपोर्ट, वर्ष १९३६ ईसवी, मूर्ति संख्या २५७७।
[6] विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य 'जर्नल इंडियन सोसाइटी ऑफ़ ओरिएंटल आर्ट', भाग १४, पृष्ठ १२ तथा आगे।
[7] जोधपुर नगर से ८७ मील दूर, प्राचीन किष्किधा नगरी।
[8] द्रष्टव्य मेरे लेख लोकवाणी (हिन्दी दैनिक, जयपुर), २९ नवंबर, १९५३ तथा दीपावली अंक, १९५३, पृष्ठ ३३।

वैद्यराज ही हैं, जिसने संज्ञाहीन लक्ष्मण को पुनः जीवित करने के उद्देश्य से संजीवनी बूटी लाने का आदेश दिया था। (३) कई वानर खड़े हुए हैं। (४) परस्पर मल्लयुद्ध-रत दो वानर संभवतः सुग्रीव तथा वालि ही हैं। (५) वानरराज हनुमान करबद्ध मुद्रा में खड़े हैं। (६) रामचंद्र जी जटायु सखा के पास विराजमान हैं। (७) रामचंद्र जी इस स्थिति में धनुप-बाण खींच रहे हैं, मानो वे वालि के ऊपर शरसंधान करने के हेतु उत्सुक हों। (८) एक स्थल पर प्रदर्शित मृग संभवतः सुज्ञात स्वर्णमृग ही है।

किराडू[1] के मंदिरों में रामायण-दिग्दर्शन—मारवाड़ की मध्यकालीन कला के ज्वलंत प्रतीक किराडू के अर्वाचीन देवालयों की दीवारों पर भी कृष्ण तथा राम के जीवन से संबंधित कतिपय घटनाएँ उत्कीर्ण हैं। रामकथा-विपयक कुछ संदर्भ विशेपरूपेण उल्लेखनीय हैं, यथा—

(अ) सोमेश्वर देवालय के गर्भगृह के बाह्य भाग पर—(१) सुग्रीव तथा वालियुद्ध में दोनों व्यक्ति वानर रूप में उपस्थित हैं। (२) रावण के वध हेतु वानरों द्वारा सेतुबंध निर्माण-कार्य। इस दृश्य में कई वानर अपने-अपने दोनों हाथों में पत्थर उठा रहे हैं। ये सब पाषाण-शिलाएं एक कोने में एक दूसरे के ऊपर जमाई हुई प्रदर्शित हैं। इसी क्रिया द्वारा सेतुबंध कार्य संपन्न हुआ था। यही दृश्य समीपवर्ती अन्य शिवालय के गर्भगृह के बाहर दक्षिणदिशोन्मुख स्थल पर भी अंकित है, परंतु सोमेश्वर मंदिरवाला पूर्वोक्त दृश्य अधिक सजीव एवं रोचक है। वानरों द्वारा प्रस्तर-शिला-वाहन का अंकन तो पहाड़पुर से प्राप्त एक मूर्ति[2] द्वारा भी ज्ञात है। (३) रावण के बंदीगृह में खिन्नवदना सीता अशोकवृक्ष के नीचे बैठी है। पास ही एक दासी भी उपस्थित है। सामने एक वृक्ष पर वानरश्रेष्ठ हनुमान रावण की उद्यान-वाटिका को नष्ट-भ्रष्ट करने के हेतु उपस्थित किया गया है।

(ब) उपर्युक्त देवालय के समीप ही एक साधारण मंदिर के बाहर भी कुछ संदर्भ उत्कीर्ण हैं, यथा—(१) वानर, (२) सेतुबंध निर्माण-क्रिया, जिसका उल्लेख किया जा चुका है। (३) संमोहन शक्ति के प्रहार से पीड़ित लक्ष्मण को पुनः संज्ञा प्राप्त कराने के उद्देश्य से प्रेपित हनुमान संजीवनी बूटी को न पहचानते हुए समूचे पर्वत को ही उठा ला रहे हैं। (४) शक्ति के आघात से पीड़ित लक्ष्मण भू-शय्या पर पड़े हैं तथा उनका सिर राम के घुटने पर रखा है। सामने वानर भी शोकातुर मुद्रा में विराजमान हैं। स्वयं राम अति विषादग्रस्त हैं।

परिशिष्ट—शोध-पत्रिका (उदयपुर, ६ : २-३, पृष्ठ ६६–८) में श्री गंगाप्रसाद जी कामठान ने धौलपुर (भरतपुर के समीप) क्षेत्र की कुछ महत्वपूर्ण प्रस्तर प्रतिमाओं का विवरण प्रकाशित किया है। इनमें से कई तो रामकथा-विपयक हैं। "धौलपुर नगर से दो-ढाई मील दूर दक्षिण में प्राचीन दुर्ग की प्राचीर के दक्षिणी पृष्ठ भाग में चंबल नदी के खार में लालबलुए पत्थर की गुप्तकालीन चार मूर्तियों पर रामायणी चित्र" अंकित हैं। एक स्थान पर "बीच में राजपुरुष दशरथ चिंताग्रस्त मुद्रा में विराजमान हैं, उसके सम्मुख राज-महिपी कैकेयी हाथ पसारे आसनासीन हैं। चँवर और छत्रधारिणी परिचारिकाएँ मध्यगत मूर्तियों के दाएँ-बाएँ खड़ी हैं। सभी मूर्तियों पर विपाद की छाया छाई हुई है। चित्र ऐतिहासिक और धार्मिक होने के साथ-साथ कलात्मक महत्व से भी परिपूर्ण है। स्त्री-पुरुष सभी गले में एकावली धारण किए हुए हैं, कम-से-कम भूषण पहने हैं। केश-प्रसाधन गुप्तकालीन है। मूर्तिकला मथुरा-शैली से प्रभावित है।" (वही, पृष्ठ ६८)

इसके अतिरिक्त श्री कामठान ने १०-११ वीं शती की अन्य मूर्तियों का भी विवरण दिया है, जिनमें श्यामवर्ण की एक शिला पर 'अग्निपरीक्षा का दृश्य' स्पष्ट है ; यहाँ राम धनुष-बाण लिए प्रदर्शित हैं तथा यह फलक धौलपुर से 'बाड़ी' जानेवाली रेलवे लाइन पर 'मौहरी' स्टेशन के पास वाल्मीकि-आश्रम की गुफ़ा से प्राप्त हुआ था। प्रस्तुत प्रतिमाओं द्वारा राजस्थान में गुप्त एवं पूर्वमध्यकालीन युग में रामकथा के प्रचार पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। ●●●

---

[1] जोधपुर-बाड़मेर-कराची रेलवे लाइन पर स्थित 'खडीन' नामक रेलवे स्टेशन से ४ मील दूर।

[2] द्रष्टव्य 'आर्कयॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया' मैमौएर नं० ५५, पृष्ठ ५१ तथा वार्षिकरिपोर्ट १९२६-७, पृष्ठ १४७, प्लेट संख्या ३४ ए।

मैथिली में राम-साहित्य

श्री प्रबोधनारायण सिंह

जगन्माता जानकी की जन्मभूमि मिथिला में राम-साहित्य उतना ही जनप्रिय है, जितना व्रज में कृष्ण-साहित्य। जिस तरह व्रज-भाषा राधा और कृष्णविषयक काव्य के लिए गौरवान्वित है, उसी तरह मैथिली सीता और राम-विषयक काव्य के लिए। मैथिली भाषा का साहित्य सीता और राम-विषयक उत्कृष्ट गीतों तथा छंदों से भरा-पूरा है। मिथिलावासियों के जन्म से लेकर मरणपर्यंत प्रत्येक उपयुक्त अवसर पर सीता अथवा राम-संबंधी गीत किसी-न-किसी रूप में गाए ही जाते हैं। प्रत्येक माता-पिता को अपनी पुत्री की बाल-क्रीड़ा में सीता के बचपन तथा पुत्र के बाल-चापल्य में भगवान राम की शिशु-लीला के दर्शन होते हैं। पुत्र-जन्म के अवसर पर राम-जन्म के गीत और कन्या-रत्न केआविर्भाव के समय सीता-जन्म के गीत गाए जाते हैं। सीता की शैशवावस्था, किशोरावस्था तथा युवावस्था से संपर्कित अनेक गीत हैं, जो माताओं अथवा वयस्काओं द्वारा विभिन्न अवसरों पर कन्याओं को दृष्टि में रखकर गाए जाते हैं।

मैथिली में सीता-संबंधी अधिकांश गीत ऐसे हैं, जो विवाह के पश्चात् पिता के घर से पुत्री की प्रथम बिदाई के अवसर पर गाए जाते हैं। इन्हें 'समदाओन' कहते हैं। इन गीतों में असीम कारुणिकता रहती है। 'समदाओन' का राग ही कुछ ऐसा विचित्र है कि अर्थ न समझने पर भी सुनने वालों को बरबस रुलाई आ जाती है।' इन गीतों में जनकपुर की प्राकृतिक रमणीयता, सीता की रुचि की वस्तुओं, माता-पिता के असीम स्नेह और लाड़-प्यार तथा पीहर से चिरकाल के लिए बिछुड़ने के कारण होने वाली वेदना का वर्णन रहता है। यहाँ मिथिला के एक प्रसिद्ध 'समदाओन' का कुछ अंश उदाहरण के रूप में दिया जा रहा है—

बड़ रे जतन सँ हम सियाजी कँ पोसलौं दशरथ सुत नेने जाय।
राजा जे कानथि राज-भवन मे, रानी कानैथ रनिवास॥
हिलि लिय मिलि लिय सखि हे बहिनियाँ, आब नै मिलन फेर हैत।
गोर लागौं पैयाँ परौं अगिला कहरवा, तिल एक दोली बिरमाउ॥
बड़ रे जतन सँ हम सियाजी कँ पोसलौं, दशरथ-सुत नेने जाय।

बड़े यत्नों से हम लोगों ने सीता को पाला-पोसा और उसे भी आज रामचंद्र लिए चले जा रहे हैं। आज से सीता पराई हो रही है और सदा के लिए जनकपुर छोड़कर चली जा रही है; यह सोच कर राजा तो राज-भवन में बिलख रहे हैं और रानी रनिवास में रो रही है। हे सखी-सहेलियो! मिल लो, मिल लो; अब फिर सीता से तुम लोगों का मिलन नहीं होगा।

इतने में ही सीता फूट-फूट कर रो पड़ती है और कहती है कि हे आगे के कहार भाई, मैं तुमसे प्रार्थना करती हूँ, पाँवों पड़ती हूँ; कम-से-कम एक क्षण के लिए भी तो दोली रोको।

समदाओन के अतिरिक्त बटगमनी, कोबर, लहछू तथा इसी प्रकार के अनेक अवसरों पर गाए जाने वाले सीता-संबंधी एक-से-एक आकर्षक लोकगीत मिथिला के ग्राम-ग्राम में बिखरे पड़े हैं। तांत्रिक लोकगीतों में भी राम का उल्लेख मिलता है, जहाँ उन्हें शक्ति के उपासक के रूप में चित्रित किया गया है। मैथिली में 'प्रभातियों' की सुंदर परंपरा है और अधिकांश प्रभाती राम-विषयक ही हैं। ब्राह्म-मुहूर्त्त के शांत वातावरण को चीरते हुए, अपनी व्यंजकता को और भी प्रखर बनाते हुए, प्रेम-मग्न भक्तों तथा गृहस्थों के कंठों से निःसृत प्रभाती के स्वर आपको मिथिला के ग्राम-ग्राम में सुनाई पड़ेंगे। श्रावण महीने में झूलन का उत्सव मिथिला में धूमधाम से मनाया जाता है। जनकपुर ही नहीं, मिथिला भर में झूलन में सीता-राम को बड़े प्रेम से झुलाया जाता है और उनके झूलन-विषयक गीत गाए जाते हैं। राम-विषयक झूलन-गीतों में दाम्पत्यप्रेम

का सुंदर चित्रण है, पर कहीं भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया गया है। पुत्र-जन्म के अवसर पर पुरस्कार के इच्छुक 'बक्खो' और 'पमरिया' लोग नाच-नाच कर राम-जन्म के गीत गाते हैं। उनके विलक्षण बाजे, अद्भुत नृत्य तथा गीतों की चुभती हुई कड़ियाँ पास-पड़ोस के बालक-बालिकाओं की अच्छी-खासी भीड़ का आह्वान कर लेती हैं। किंतु आश्चर्य का विषय यह है कि इस प्रकार राम-गीत गा-गाकर पुरस्कार पाने वाले मिथिला के 'बक्खो' या 'पमरिया' हिन्दू नहीं, मुसलमान हैं। दरभंगा जिलांतर्गत विष्णुपुर-निवासी पं० जयगोविंद मिश्र ने 'बक्खो' और 'पमरिया' के कई सौ गीतों का संग्रह किया है, जिनमें से कुछ गीत मैथिली मासिक पत्रिका 'मिथिला-दर्शन' में प्रकाशित हो चुके हैं और अधिकांश सुसंपादन तथा प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। नख काटते तथा आलक्तक लगाते समय नाइनें भी सीता की सुकुमारता और सौंदर्य के गीत गाती हैं। गोदना गोदने वाली स्त्रियाँ मुसलमान होने पर भी गोदना के समय प्रायः सीता और राम के ही गीत गाती हैं।

मैथिली में महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, नाटक, चम्पू, कहानी, निबंध तथा साहित्य के अन्य रूपों में भी रामकथा उपलब्ध है। रामकथा को आधार मानकर लिखित मैथिली ग्रंथों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

अनुवाद-साहित्य और मौलिक-साहित्य। अनुवाद-साहित्य में श्री जगदीश मिश्र द्वारा अनूदित 'वाल्मीकीय-रामायण', श्री राजकुमार मिश्र द्वारा अनूदित 'उत्तररामचरितम्', श्री छेदी झा द्वारा अनूदित 'सीतार वनवास', श्री अच्युतानंद दत्त द्वारा अनूदित 'रघुवंश', श्री गौरीशंकर झा द्वारा अनूदित 'मेघनादवध', श्री जीवछ मिश्र द्वारा १६३६ ई० में प्रकाशित रामायण के कुछ अंश प्रमुख हैं। मौलिक ग्रंथों में श्री आनंद झा-कृत 'सीता-स्वयं-वर' नाटक, श्री रघुनंदन दास-कृत 'दूतांगद व्यायोग', श्री जनार्दन झा-कृत 'जानकी-परिणय', ज्योतिषाचार्य श्री बलदेव मिश्र लिखित 'रामायण-शिक्षा', श्री जीवनाथ झा-कृत 'रावण-वध', श्री जीवछ मिश्र-कृत 'अपूर्वरामा-यण', महाकवि लालदास विरचित 'रामेश्वर-चरित-रामायण', और कविश्रेष्ठ चंदा झा की 'मिथिला भाषा-रामायण' प्रमुख हैं। श्री कान्हर दास-कृत 'सीता-स्वयंवर' और तेजनारायण झा-कृत 'जानकी-परिणय' का भी उल्लेख मिलता है। 'तिरहुत गीत-संग्रह' (चार भाग), 'मिथिला गीत-संग्रह' '(चार भाग), 'राम-विवाह-कीर्त्तन', 'वैदेही-विवाह-कीर्त्तन' तथा श्री रामइकबाल सिंह द्वारा संग्रहीत 'मैथिली लोकगीत' में सीता और राम-विषयक प्रचुर गीत मिलते हैं, जो भिन्न-भिन्न राग तथा रागिनियों में गाए जाते हैं। उपर्युक्त रचनाओं में लालदास तथा चंदा झा इन दो के ही रामायण-ग्रंथों का सर्वाधिक प्रचार हो सका।

आज तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर विद्वानों ने एक स्वर से इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में सबसे पहले मैथिली में ही नाटक लिखे जाते थे। उन नाटकों में रामलीला और कृष्णलीला का ही अधिक प्रचलन था। लौकिक कथाओं पर आधारित नाटक भी प्रचुर हैं। ये सभी प्राचीन नाटक पद्यबद्ध हैं। मिथिला के राजा संगीत, साहित्य और दर्शन के बड़े प्रेमी हुआ करते थे। इनके दरबार में यथासमय रामकथा का अभिनय पहले भी हुआ करता था। नेपाल के मैथिल राजा जय-स्थितिमल्ल (१३१८-१३६४ ई०) के समय में 'रामायण' नामक चार अंकों का एक नाटक रचा गया था और उसका प्रथम अभिनय जयस्थिति मल्ल के पुत्र धर्ममल्ल के जन्मोत्सव पर हुआ था। कालांतर में जब संस्कृत और प्राकृत में लिखित नाटक लोगों के लिए बोधगम्य नहीं रह गए, तब लोकभाषा मैथिली का उनमें यत्र-तत्र समावेश होने लगा। मैथिल नाटककारों में सबसे पहले विद्यापति ने संस्कृत नाटक में मैथिली का अंश सन्निहित किया। फिर तो विशुद्ध मैथिली में अनेक नाटक लिखे गए, जिनमें रामलीला-विषयक अनेक नाटक मिलते हैं। उन दिनों मैथिली रंगमंच का रूप सर्वथा भिन्न था। अभिनेता अपना अभिनय समाप्त करके प्रायः दर्शकों के साथ ही बैठे-बैठे और लोगों का अभिनय देखा करते थे और बीच-बीच में यथास्थान खड़े होकर अभिनय करने लग जाते थे। उनके सारे संभाषण गीतों में ही हुआ करते थे। इसलिए तत्कालीन 'रामलीला' विषयक ग्रंथों में हम केवल गीतों का संग्रह पाते हैं। कौन गीत किस पात्र की उक्ति के रूप में कथित है तथा किस राग या रागिनी में गेय है, इसका उल्लेख कर दिया जाता है। रामलीला

विषयक अधिकांश पोथियाँ युगों से हस्तांतरित होते-होते आज बहुत विकृतावस्था में मौजूद हैं। बाद के अभिनय-कर्त्ताओं ने अपनी सुविधाओं के अनुसार यत्र-तत्र कुछ जोड़-तोड़ भी किया है। इसलिए आज मैथिली में न्यूनाधिक अंतर के साथ रामलीला-विषयक अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। आज भी मैथिली रामलीला करने वाली टोलियाँ भिन्न-भिन्न अंचलों में घूम-घूम कर अर्थोपार्जन करती हैं। रंगमंच की असुविधाओं और गीतों की प्रधानता के कारण इन नाटकों के विषय अधिकांशतः ऐतिहासिक या पौराणिक ही होते थे। लोकविदित कथाओं के अभिनय में सुविधा यह होती थी कि घटना के तारतम्य को मिलाने के लिए अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता था। जनता स्वयं भिन्न-भिन्न घटनाओं के बीच सम्बन्ध स्थापित कर लेती थी। ये नाटक खुले स्थानों में खेले जाते थे। दिन के समय में भी अभिनय होता था। जनता के लिए उन नाटकों में बहुत आकर्षण था। गीत, वाद्य और नृत्य के अतिरिक्त 'विपटा' (विदूषक) का अभिनय जादू का काम करता था। रामलीलाओं में प्रकरी अथवा पताका के रूप में 'विपटा' की कथा जोड़ दी जाती थी।

मिथिला के अभिनेता रामलीला में कितने प्रवीण होते थे और कितनी तन्मयता से अभिनय किया करते थे, इसका एक प्रमाण महाकवि विद्यापति-कृत पुस्तक 'पुरुष-परीक्षा' की 'नृत्य-विद्या-कथा' में है। उन्होंने लिखा है कि एक दिन गौड़ देश के राजा लक्ष्मणसेन के दरबार में एक मैथिल नर्त्तक पहुँचा। उमापति नामक राजमंत्री ने व्यंग्यपूर्वक पूछा कि आप क्या हैं—"नटं वा नटः ?" नट ने उत्तर दिया—'नटः।' राजा ने कहा कि इसे सिद्ध कीजिए। तब नट ने वहाँ नाटक किया। राम का रूप धरकर रंगमंच पर अभिनय करते-करते भावावेश में इतना तल्लीन हो गया कि उसी स्थल पर उसका नश्वर शरीर छूट गया और उसने मुक्ति प्राप्त की। विद्यापति के इस नट-संबंधी श्लोक का कुंडलिया में छायानुवाद करते हुए चंद्र कवि ने लिखा है—उस नट ने तन्मयता-वश सोचा कि ये अरण्य के वे ही वट वृक्ष हैं, वही विशाल वन-भूमि है और मैं वही राम हूँ तथा जानकी के विरह में व्याकुल हो रहा हूँ। यही वह समय है, जब जानकी के अभाव में मेरा हृदय मथने लगा है। उसी काल का यह मनोहर दृश्य है और प्रकृति का वही वेश है। इसी प्रकार कांता-विरह में विलाप करता हुआ नट इतना बेसुध हो गया कि तादात्म्य के कारण उसको तत्काल मोक्ष प्राप्त हो गया।

रामविषयक उत्कृष्ट नाटकों का अभी तक अध्ययन ही नहीं हो सका है। कुछ तो नेपाल में और कुछ यूरोप के विभिन्न पुस्तकालयों में बिखरे पड़े हैं। ऐसे नाटकों मे 'रामचरित नाटक', 'रामाभिषेक नाटक', 'रामायण-हनुमान-नाटकादि-प्रकीर्णम्' इत्यादि प्रमुख हैं।

स्फुट कविताओं के रूप में रामविषयक साहित्य सबसे अधिक प्रभाती के रूप में उपलब्ध होता है। श्री लक्ष्मीनाथ जी गोसाईं की प्रभातियाँ मिथिलाभर में बड़े प्रेम से गाई जाती हैं। लक्ष्मीनाथ जी की कविताओं में संसार की असारता और वैराग्य की विभूति का बड़ा ही मार्मिक विवरण मिलता है। साहेब रामदास जी के कुछ राम-विषयक गीत भी अत्यधिक जनप्रिय हैं। एक गीत में इन्होंने सीता-हरण के बाद राम के अंतर की आकुलता का बड़ा मार्मिक चित्र खींचा है—

> **जखन आएल रघुनंदन रे मारिच मृगमारी। सून भवन बिनु जानकि रे बइसल हियहारी।**
> **कलपि पुछथि रघुनंदन रे सुनु लछुमन भाइ। आज कहाँ छथि जानकि रे वन रहलि छपाइ।।**
> **खन खन भवन विलोकथि रे खन करथि पुकारी। चंद्रवदनि धनि बिछुड़लि रे सिर करतल मारी।**
> **पल पल बितय कलप सम रे जामिनि भेल सेसे। साहेब राम रमाओल रे चलु सीताक उदेसे।।**

जब राम मृगवेषधारी मारीच को मारकर आए, तो भवन सूना पाया। वहाँ जानकी नहीं थी। वे हृदय हारकर बैठ गए। रघुनंदन बिलख-बिलख कर पूछ रहे हैं कि हे लक्ष्मण भाई, आज जानकी कहाँ हैं ? वे वन में कहाँ छिपी होंगी ?—या छिपाकर रखी गई होंगी। राम कभी तो भवन की ओर देखते हैं और कभी पुकारते हैं। वे सिर धुन-धुन कर कह रहे हैं कि चंद्रवदनी प्यारी मुझसे बिछुड़ गई। एक-एक पल कल्पवत् बीत रहा है और रात शेषनाग की भाँति काली तथा भयावनी लग रही है अथवा अंत में मेरे आगे रात की अँधियाली-सी छाँही दीख पड़ती है।

शिवदत्त ने "सीताराम-विवाह" नामक खंडकाव्य की रचना की है। इनकी भाषा परिमार्जित नहीं है। यत्र-तत्र छंद-दोष भी मिलते हैं, पर भाव-सौष्ठव अद्भुत है।

मैथिली में रामकथा को आधार बनाकर लिखने वालों में सबसे अधिक सफलता मिली है महाकवि चंदा झा को। इनकी 'मिथिला-भाषा-रामायण' मैथिली का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य माना जाता है। कहते हैं कि इसके प्रकाशन के पूर्व महाराजाधिराज लक्ष्मीश्वर सिंह जी के दरबार में इसकी एक-एक पंक्ति पर विद्वानों ने विचार-विमर्श कर लिया था। वास्तव में कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों दृष्टियों से यह रामायण अद्भुत है। मिथिला संगीतानुसार विविध छंदों की गरिमा से समलंकृत होने के कारण इसकी लोकप्रियता और भी बढ़ गई है। मैथिली के अन्य किसी भी प्रबंधकाव्य को इतनी अधिक लोकप्रियता पा सकने का सौभाग्य नहीं मिला। श्री बलदेव मिश्र ने लिखा है कि "जिस रूप में पार्वती के निर्माण के विषय में कालिदास कहते हैं 'सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयैव' अर्थात् सब सौंदर्य को एकत्र ही देखने के लिए ब्रह्मा ने यत्नपूर्वक उनका निर्माण किया, उसी रूप में हमलोग कह सकते हैं कि मिथिला की विभूति को एकत्र देखने के लिए कविवर चंदा झा ने रामायण का निर्माण किया।

इनकी रामायण सात कांडों में समाप्त हुई है। सातों कांडों के नाम और क्रम तुलसीकृत 'रामचरित-मानस' के समान हैं। इसकी रचना में कवि ने अपने अपरिमित ज्ञान, विलक्षण पांडित्य एवं देश-कालाचार के अनुभव का सुंदर परिचय दिया है। इसका कारण यह भी है कि इन्होंने इसकी रचना ५६ वर्ष की अवस्था में की। उस समय तक इन्होंने संस्कृत तथा भाषा-साहित्य का विस्तृत और गंभीर अध्ययन समाप्त कर लिया था। इनके जीवन-काल (१८३० ई० से १६०८ ई०) में समाज तथा साहित्य में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए। इनका अपना जीवन भी विषमातिविषम परिस्थितियों के बीच से गुजरा। फलस्वरूप इनकी प्रतिभा को खिल पड़ने के लिए उर्वर भूमि मिल गई।

ये मिथिला की मर्यादा और उसकी विशिष्टता के प्रति विशेष सजग हैं। इनकी रामायण में स्थल-स्थल पर इनका मिथिला-प्रेम उमड़ आया है। ये मैथिल-संस्कृति को भारतीय संस्कृति से पृथक नहीं मानते, वरन विश्वकवि रवींद्रनाथ के शब्दों में, भारतीय संस्कृति को कमल-कुसुम के समान और मैथिल-संस्कृति को उसकी एक सुंदर पंखुड़ी के समान मानते हैं। रामकथा की पूर्णता में मिथिला की कन्याओं ने बहुत बड़ा योगदान दिया। राम के जीवन की चरितार्थता में अथवा उनके मर्यादा-पुरुषोत्तम होने में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से भगवती वैदेही का बहुत बड़ा हाथ था। मांडवी, श्रुतकीर्ति और ऊर्मिला ने भी अपने-अपने गुरु दायित्वपूर्ण कठोर कर्तव्य के संपादन द्वारा मिथिला के नारीत्व का चमत्कार दिखा दिया। इसीलिए मैथिल होने के कारण और मैथिली में रामायण रचना करने के कारण चंदा झा निसर्गत: राम-वल्लभा मैथिली की ओर अधिक आकृष्ट दिखाई पड़ते हैं। इसी से इनकी रामायण में नारीत्व अधिक निखर सका है। स्त्रियों के हृदय की कोमल वृत्तियों का, उनकी ममता और त्याग-तपस्या का, इन्होंने बड़ा ही मार्मिक चित्र उपस्थित किया है।

इन्होंने अपनी रामायण में वाल्मीकि अथवा तुलसी की कथा का आधार नहीं लिया है। अनेक स्थानों पर कल्पना के सहारे ऐसे-ऐसे नवीन तत्वों की योजना की गई है कि अवाक् रह जाना पड़ता है।

वाल्मीकिरामायण में लक्ष्मण के प्रति वन में कहे हुए दुर्वचन के लिए सीता की ओर से क्षमा-याचना नहीं कराई गई है। किंतु चंदा झा ने हनुमान के द्वारा संवाद भेजकर उस कटु वचन के लिए सीता से क्षमा-याचना करवाई है। इस अनुताप के कारण सीता के प्रति हमारी सहानुभूति अत्यधिक बढ़ जाती है।

किष्किंधा में सुग्रीव ने सुनाया कि सीता आकाश-मार्ग में घोर विलाप करती जा रही थी। उन्होंने आभूषण तथा अपने उत्तरीय का एक टुकड़ा फाड़कर यहाँ गिराया था। यह सुनते ही राम ने पहचान की वस्तुएँ माँगी और प्रिया की सुधि कर घोर विलाप करने लगे। यहाँ कवि ने वस्त्र-विषयक नवीन कल्पना की है—यह सुनते ही राम ने आतुरता से माँगा और वानरराज स्वयं सीता के आभूषण तथा चीर ले आए। राम ने उन्हें पहचानते ही हृदय से लगा लिया और "हा जानकी, हा जानकी" कह कर विलाप करने लगे। उन्होंने जो विलाप किया, उसका वर्णन कौन कर सकता है? करुणामय स्वयं जब करुणा का विस्तार करने लगें, तो

उसका वर्णन कौन कर सकता है ? राम ने कहा कि वह दूसरा पट आज मुझे मिला है। हे सखा सुग्रीव, मैं लज्जा-संकोच छोड़ कर तुम्हें कह रहा हूँ कि इसने मेरी स्मृति को और भी जगा दिया है। जब हम दोनों रात में जुआ खेलते थे, तो प्रणय-कलह में दाँव पर उनके वस्त्र—उत्तरीय—तक रखने की अवस्था आ जाती थी। कभी-कभी उससे कंठ-पाश का भी काम लिया जाता था। रात की वे प्रेम-क्रीड़ाएँ अद्भुत थीं।

यहाँ प्रणय-कलह में शरीर से चादर उतरवाने की कल्पना चंदा झा की मौलिक वस्तु है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त ने भी 'साकेत' में एक स्थल पर ऊर्मिला के शरीर से व्याज-द्वारा चादर हटवाने की कथा की सुंदर योजना की है।

चंदा झा की रामायण की जिन पंक्तियों पर स्वर्गीय पं० मदनमोहन जी मालवीय मुग्ध थे, वे पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

सकल कपट हम जानल मन मे
स्त्रीहर्त्ता अँहकें रघुनंदन नहि जनइत छल छथि हा सपन मे।
भेल मनोरथ लाभ अहाँ कों भरत शिखाय पठाओल बन मे।।
भरत अहाँक अधीनि होयब नहि बरु हम प्राण त्यागि देव छन मे।
हा गुणनिधि विधि बड़ दुख देलहुँ मृतक मारि यश लाभकि जन मे।
झरि झरि पात खसय तरुलति सँ सकरुण सीता कोप रोदन मे।।
जाय मिलब हम सौदामिनि सनि रामचंद्र नव सुंदर घन मे।
जनक जनक मिथिला महि नैहर झान भूमि सभलोक सुजन मे।।

केवल इन्हीं पंक्तियों पर वे इतना अधिक मुग्ध हो गए कि काशी विश्वविद्यालय में मैट्रिकुलेशन से लेकर बी० ए० तक की पढ़ाई के लिए उन्होंने मैथिली को स्वीकृत कर लिया। मालवीय जी कहा करते थे कि 'झरि झरि पात खसय तरुलति सँ, सकरुण सीता कोप रोदन मे', इसके समान सुंदर उपमा और किस भाषा में है ?

चंदा झा ने सीता के पृथ्वीप्रवेश का बड़ा ही कारुणिक चित्र उपस्थित किया है। संपूर्ण रामायण में इन्होंने प्रत्येक छंद के ऊपर राग-रागिनियों का उल्लेख कर दिया है, जिसके फलस्वरूप इस रामायण के अनेक गीत मिथिला के गाँव-गाँव में गाए जाते हैं। यह ग्रंथ भारतीय वाङ्मय के लिए एक गौरव की वस्तु है।

चंदा झा जी के पश्चात् महाकवि लालदास ने 'रामेश्वरचरित रामायण' की रचना की। उन्होंने चंदा झा की उत्कृष्टताओं को अवतरित करने का शक्तिभर प्रयास किया, किंतु अकृतकार्य रहे। डॉ० जयकांत मिश्र जी ने लिखा है कि "इसमें केवल कथा का सीधा-सादा वर्णन है।"

विदेशों में रामकथा

श्री परशुराम चतुर्वेदी

भारतवर्ष में इस समय प्रायः सर्वत्र प्रसिद्ध और प्रचलित रामकथा का प्रचार केवल इसी देश तक सीमित नहीं है। यहाँ के निवासियों ने प्राचीनकाल में अपने उपनिवेश जहाँ-तहाँ बनाए अथवा जिन-जिन देशों के साथ उन्होंने आने-जाने, व्यापार करने तथा धर्म-प्रचारक भेजने का सम्बन्ध स्थापित किया, वहाँ-वहाँ उन्होंने इस कथा के प्रचार का एक क्षेत्र भी तैयार कर दिया था। फलतः हम देखते हैं कि इस प्रकार के देशों में यह न केवल अपने मूलरूप में ही दीख पड़ती है, अपितु क्रमशः इसका अपना एक स्वतंत्र विकास भी होता गया है। आज की खोजों से पता चलता है कि भारतवर्ष के उत्तर में नेपाल, तिब्बत, चीन और खोतान, पूर्व की ओर ब्रह्मादेश, स्याम और हिंदचीन तथा पूर्व-दक्षिण के मलय, यवद्वीप, बाली तथा लम्बक जैसे देशों के जनजीवन में इसने अपना एक प्रमुख स्थान बना लिया है। वहाँ के विविध साहित्यों, सामाजिक उत्सवों और धार्मिक परंपराओं में यह इस प्रकार प्रवेश कर चुकी है कि वहाँ इसे बाहर से लाई गई ठहराना सरल नहीं रह गया। इसके सिवाय, भारतवर्ष की संस्कृत-भाषा की रामायण के विभिन्न अनुवाद ईरान और अरब तक के पश्चिमी देशों में पाए जाते हैं। यह अनेक यूरोपीय देशों में भाषांतरित हो चुकी है, जहाँ के ईसाई मिशनरियों के कारण इस कथा में कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन तक हुआ प्रतीत होता है। परंतु रामकथा के इस प्रकार सुदूर देशों तक फैलने का कोई क्रमबद्ध इतिहास अभी तक उपलब्ध नहीं है। अतएव, हम यहाँ पर केवल इसके विदेशों में प्रचलित विविध रूपों का एक दिग्दर्शन मात्र ही करा सकेंगे।

रामकथा का चीनी अनुवाद—इतिहास से पता चलता है कि ईसवी सन् का आरंभ होने के समय तक कुषाण वंश का राज्य काशी से खोतान तक फैला हुआ था। इस सन् की दूसरी शताब्दी तक बौद्ध धर्म, संस्कृत और साहित्य का प्रचार मध्य एशिया से चीन देश तक सर्वत्र होने लगा था और फिर क्रमशः नेपाल के साथ तिब्बत और तिब्बत के साथ चीन के भी संपर्क में आ जाने पर, इस सन् की सातवीं शताब्दी तक भारत के साथ इन सभी देशों का सम्बन्ध पूर्णतः स्थापित हो गया। ईसा की तीसरी शताब्दी में बौद्धों के 'अनामक जातकम्' का चीनी अनुवाद हुआ, जिसमें किसी भी पात्र का नाम स्पष्ट न दीख पड़ने पर भी, राम और सीता के वनवास, सीता-हरण, जटायु वृत्तांत, वालि-सुग्रीव युद्ध, सेतुबंध और सीता की अग्निपरीक्षा तक की रामकथा का न्यूनाधिक वर्णन पाया जाता है। इसमें आई हुई रामकथा की विशेषताओं में राम का, अपने मामा के आक्रमण की तैयारियाँ सुन कर, अपना राज्य छोड़ देना तथा वालि का राम के धनुसंधान को देखते ही भयभीत होकर भाग जाना उल्लेखनीय है। इसी प्रकार बौद्धों के एक दूसरे जातक 'दशरथ कथानम्' का भी चीनी अनुवाद मिलता है, जिसमें राम एवं लक्ष्मण के वनवास की कथा तो आती है, किंतु राम की पत्नी का वर्णन नहीं मिलता और इसी कारण उसमें न किसी युद्ध का ही विवरण पाया जाता है। बौद्धों को कदाचित् युद्धादि की चर्चा पसंद नहीं थी। उन्हीं के एक तीसरे ग्रंथ, कत्यायनी पुत्र-कृत 'ज्ञानप्रस्थान' की वृहत् टीका 'महाविभाषा' के दो सौ खंडों में से ४६ वें में रामायणी कथा का सीता-हरण से लेकर सीता-उद्धार तक का अंश आता है, जिसका एक चीनी अनुवाद प्रसिद्ध यात्री हुएनत्संग द्वारा भी किया गया बताया जाता है।

तिब्बती रामायण—तिब्बती रामायण की जो हस्तलिपियाँ उपलब्ध हैं, वे संभवतः आठवीं अथवा नवीं शताब्दी की हैं। इनमें सर्वप्रथम रावण की कथा दी गई मिलती है, जिससे पता चलता है कि सीता उसी की पटरानी की पुत्री है, जो जन्म-पत्र से नष्टकरी सिद्ध होती है और समुद्र में फेंक दी जाती है। इस रामायण के अनुसार दशरथ की केवल दो ही पत्नियाँ हैं, जिनमें से कनिष्ठा के गर्भ से स्वयं विष्णु उत्पन्न होते हैं और 'रामन' कहलाते हैं। ज्येष्ठ से विष्णु के किसी पुत्र की उत्पत्ति होती है और उसका नाम 'लक्ष्मण' रखा जाता है। दशरथ के सामने इस प्रकार की समस्या उपस्थित हो जाने पर ही दोनों पुत्रों में-से किसे राज्य दिया जाय,

रामन लक्ष्मण को ही राज्य दिला देते हैं और स्वयं आश्रम में तपस्या करने चले जाते हैं। किंतु, फिर वहाँ उन्हें समुद्र से बचाई गई कन्या 'जीता' एवं 'लीलावती' को जब कृषक लोग समर्पित करते हैं, तो वे उनके अनुरोध से विवाह भी कर लेते हैं। तिब्बतीरामायण की सीता का हरण राजधानी के ही निकट किसी अशोकवन से होता है और वहाँ रावण सीता के अंग का स्पर्श भी नहीं करता। रावण जटायु का वध, उसे रक्त से सने पत्थर खिला-खिला कर करता है, उसे अपने बाणों या अन्य अस्त्र-शस्त्रों से नहीं मारता।

सुग्रीव का मल्ययुद्ध भी यहाँ पर सुग्रीव के गले में माला डाल कर नहीं होता, प्रत्युत उनकी पूंछ में एक दर्पण बाँध कर आरंभ किया जाता है। सीता की खोज करते समय एक दूसरे की पूंछ पकड़ कर ही वानर लोग 'स्वयंप्रभा' की गुफा में प्रवेश करते हैं। इस 'रामायण' के अनुसार रावण का मर्मस्थान उसका अगूंठा बताया गया है। इसमें लव-कुश के जन्म का प्रसंग भी सीता-त्याग के पूर्व ही ला दिया गया है।

खोतानीरामायण—खोतानीरामायण का समय ईसा की नवीं शताब्दी समझा जाता है और इसकी रामकथा तिब्बतीरामायण से बहुत-कुछ साम्य रखती है। इसमें भी राम तथा लक्ष्मण का ही उल्लेख है और सीता यहाँ पर भी दशग्रीव की पुत्री मानी गई है। इसके सिवाय उपर्युक्त जटायु वाला प्रसंग, पुच्छ में दर्पण बाँधने की कथा तथा रावण के मर्मस्थल की बात भी दोनों में प्रायः एक समान है। किंतु इसकी विशेषताएँ भी अनेक हैं। सर्वप्रथम इसका आरंभ ही महात्मा बुद्ध की आत्मकथा के रूप में तथा जातकों की शैली के अनुसार होता है और अंत में बौद्धधर्म के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों के साथ रामकथा के पात्रों की अभिन्नता-सी दिखाई जाती है। रामकथा के समय बुद्ध राम थे और मैत्रेय लक्ष्मण थे। इसमें आहत रावण का वध भी नहीं किया जाता और राम की चिकित्सा के लिए प्रसिद्ध बौद्ध वैद्य जीवक बुलाया जाता है। वहाँ पर दशरथ का पुत्र सहस्त्रबाहु जान पड़ता है, जिसके दो पुत्र, राम एवं लक्ष्मण होते हैं और उन्हें उनकी माता बारह वर्षों तक पृथ्वी में छिपाए रखती है। अपने पिता की धेनु चुराने पर जब परशुराम सहस्त्रबाहु का वध करते हैं, तो उसके बदले में राम भी पृथ्वी से आकर परशुराम को मार डालते हैं। इसकी रामकथा के अनुसार राम और लक्ष्मण दोनों वन में वास करते हैं। दोनों भाइयों के वनवास का कोई कारण दिया गया नहीं दीख पड़ता। उनका सीता के साथ विवाह कर लेना भी कदाचित् उधर की प्रचलित बहुपतित्व की प्रथा के अनुसार है।

भारत का सम्बन्ध हिंदचीन के साथ भी संभवतः ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से ही स्थापित हो गया था। चंपा राज्य के सातवीं शताब्दी वाले शिलालेखों से पता चलता है कि 'वाल्मीकिरामायण' का प्रचार वहाँ पर पूर्ण रूप में हो चुका था। उस काल के एक मंदिर में वाल्मीकि की मूर्ति भी मिलती है। इसी प्रकार कंबोडिया की प्राचीन राजधानी अंगकोरवाट के एक विशाल मंदिर में रामायण आदि ग्रंथों की कथा के कई पाषाण-चित्र भी अंकित हैं। कंबोडिया की भाषा में 'रआमकेर', 'रामकीर्ति' नाम की एक रामायण मिलती है, जिसका रचनाकाल विदित नहीं है। इस रामायण की सीता जनक की दत्तक पुत्री है। इसकी कथा का आरंभ, विश्वामित्र के यज्ञ के किसी काक रूपधारी असुर द्वारा भंग किए जाने के प्रयत्न से होता है। जनक सीता को यमुना नदी के किनारे हल चलाते समय किसी बेड़े पर देखते हैं और उसे लेकर अपनी पुत्री बना लेते हैं। सीता-हरण के समय रावण जटायु को सीता की अँगूठी से घायल करता है। सेतुबंध के समय मछलियाँ बाधा डालती हैं। सीता-त्याग का कारण कोई रावण का चित्र बन जाता है, जिसे सीता ने अपने पंखे पर उतार रखा था और जब अयोध्या लौटना अस्वीकार करती हुई वह कहती है कि मैं राम की अंत्येष्टि-क्रिया के ही समय जा सकती हूँ, तो राम उसे हनुमान द्वारा अपनी मृत्यु की सूचना भेजते हैं और वह उनकी चिता पर विलाप करती-करती मूर्छित हो जाती है। तब राम उसे अपनी गोद में उठा कर उसके आँसू पोंछने लगते हैं और वह सचेत होकर उसकी भर्त्संना करती हुई नागराज मिरुण की शरण में चली जाती है। हिंदचीन के ही 'अनाम' प्रदेश में उपलब्ध अठारहवीं शताब्दी की एक रामायण से पता चलता है कि यह भी वाल्मीकीयरामायण पर आश्रित है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें दशानन का राज्य 'अनाम' के ही दक्षिण भाग में माना गया है और दशरथ का राज्य उसके उत्तरी भाग में। दशरथ के उस राज्य पर आक्रमण करके ही रावण सीता का हरण करता है तथा अपनी सेना के साथ अपने राज्य में लौटता है।

स्याम की रामायण—स्याम की रामायण 'रामकियेन' अठारहवीं शताब्दी 'उत्तरार्ध' के दो भिन्न-भिन्न संस्करणों में प्रकाशित हो चुकी है। इसे लोग बहुत कुछ उक्त 'रेग्रामकेर' पर ही आधारित बताते हैं तथा यह भी कहा जाता है कि इसका एक तीसरा संस्करण पीछे नाटक के रूप में भी प्रकाशित किया गया है। 'रामकियेन' की भी कई अपनी विशेषताएँ हैं, जिनके अनुसार लक्ष्मण शूर्पणखा के किसी पुत्र का वध करते हैं और लक्ष्मण तथा हनुमान का एक युद्ध होता है। सेतुबंध के पूर्व स्वयं रावण तपस्वी बन कर राम के निकट जाता है और उनसे युद्ध न करने का अनुरोध करता है। विभीषण की पुत्री 'बेंजकाया' सीता के रूप में मृतवत् होकर नदी में बहती दीख पड़ती है, महीरावण राम को पाताल ले जाता है। रावण ब्रह्मा के निकट जाकर राम पर अभियोग करता है, किंतु राम और सीता को बुला कर जब वे सीता के लौटा देने का निर्णय सुनाते हैं, तो वह इसे नहीं मानता और ब्रह्मा उसे शाप देते हैं। रावण-वध के अनंतर उसका एक पुत्र, राम के अयोध्या लौट जाने पर, विभीषण के विरुद्ध विद्रोह करता है और उसे लंका जाकर भरत और शत्रुघ्न पराजित करते हैं। किंतु सब से विचित्र बात इस ग्रंथ में यह दीख पड़ती है कि हनुमान यहाँ प्रेम-लीलाओं में भी निरत रहते हैं। अन्य अनेक स्त्रियों के अतिरिक्त वे मंदोदरी तक का आलिंगन करते हैं। एक दिन स्वयं राम की भर्त्सना करते तथा उनसे युद्ध तक ठान देते हैं। 'रामकियेन' के साथ ही स्यामदेश की लाओ भाषा में रचा गया सोलहवीं शताब्दी का 'रामजातक' भी प्रसिद्ध है। इस रामायण के आरंभ में ही राम और रावण आपस में चचेरे भाई माने गए हैं तथा राम के केवल एक ही भाई लक्ष्मण और एक बहन शांता के नाम आए हैं। 'रामजातक' के अनुसार राम ने सीता की खोज करते समय दो विवाह भी कर लिए थे, जिनमें से एक सुग्रीव, वालि की बहन से था और दूसरा वालि की विधवा से। राम की इन दोनों पत्नियों ने अपने पुत्रों, हनुमान तथा स्वान थोआका, के साथ युद्ध में भाग लिया था। राम ने सीता से पहले भी कई विवाह किए थे। इन दोनों ही रामायणों पर बौद्धधर्म का न्यूनाधिक प्रभाव स्पष्ट है और ये अपेक्षाकृत आधुनिक भी कही जा सकती हैं। कहते हैं कि स्यामदेश में अयोध्या से ही आर्यसभ्यता पहले-पहल प्रचारित हुई थी। इसी कारण, वहाँ सर्वप्रथम 'वाल्मीकीयरामायण' की ही मूल कथा गई थी। किंतु स्याम की वह प्राचीन रामायण आज उपलब्ध नहीं है और न उस वाली 'वापाली' भाषा में, जिसमें वह लिखी गई थी, इस विषय का कोई अन्य ग्रंथ ही है।

ब्रह्मदेश में—ब्रह्मदेश की रामायणी कथा वहाँ पर 'रामयत' के नाम से प्रसिद्ध है और उसके रावण का नाम भी 'दशगिरि' बताया जाता है। इस नाम का कारण यह दिया जाता है कि रावण का राजमुकुट दश अंगों से समन्वित था। ब्रह्मदेश में रामकथा-साहित्य का प्रचार अधिकतर अठारहवीं शताब्दी से होने लगा, जब से श्यामदेश में लाए गए, रामनाटक के कई अभिनेता-बंदियों ने वहाँ रामकथा का अभिनय आरंभ किया। इसी समय सन् १८०० ई० के आस-पास वहाँ के कवि यूतो ने 'रामयागन' काव्य की रचना की, जो संभवतः उस देश की ऐसी सब से महत्वपूर्ण कृति है। रामनाटक को यहाँ के लोग आजकल 'यामप्वे' कहते हैं। इसका अभिनय करते समय बहुमूल्य चेहरे पहनते तथा उनकी पूजा भी करते हैं। नाटक के कथानक में 'रामकियेन' की रामकथा से अधिक अंतर नहीं है। फिर भी सीता-हरण वहाँ के अभिनय का एक बहुत प्रिय विषय है। इसकी शूर्पणखा का नाम गाम्बी है, जो मृग का रूप धारण करके राम को दूर तक बहका ले जाती है और अंत में आहत होकर अपना राक्षसी रूप प्रकट करती है।

इंडोनेशिया में रामकथा के दो भिन्न रूप मिलते हैं, जिनमें से एक 'वाल्मीकीयरामायण' के कथानक से अधिक निकट है। उसकी रचना भी शैवों द्वारा हुई थी, किंतु दूसरी में उससे बहुत कुछ भिन्नता है और वह पहली की अपेक्षा अर्वाचीन भी कही जा सकती है। कहते हैं कि यवद्वीप में रामायण का अनुवाद सर्वप्रथम ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हुआ था और उसमें उत्तरकांड का समावेश नहीं किया गया था। इस कारण अनेक विद्वानों की यह भी धारण हुई है कि भारतीय रामायण में कदाचित् पहले उत्तरकांड नहीं रहा होगा और वह उसमें कहीं पीछे जोड़ा गया होगा। यवद्वीप के रामायण-काव्य का नाम रामकवि है, जिसकी रचना चार अध्यायों में की गई है। पहले अध्याय अर्थात् 'रामगुनद्रंग' में 'रामायण' के प्रथम कांड की कथा आती है और दूसरे में वनवास से लेकर राहवन अर्थात् रावण द्वारा किए गए सीता-हरण तक के प्रसंग हैं। इसी प्रकार

तीसरे में हनुमान का आलंका अर्थात् स्वर्णमयी लंका तक जाने और फिर आगे सेतुबंध तक की कथा दी गई है। अंतिम अध्याय में राम-रावण-युद्ध, सीति अर्थात् सीता का उद्धार, देवविषण अर्थात् विभीषण की राज्यप्राप्ति तथा रामादि का 'नामूद्या' अर्थात् अयोध्या में वापस आना जैसी बातें आती हैं, जिनकी चर्चा रामायण के युद्ध-कांड तक में ही की गई मिलती है। यवद्वीप के काव्य-साहित्य में एक प्राचीन ग्रंथ 'कांड' नाम का भी मिलता है, जिसमें सृष्टि-प्रकरण के अतिरिक्त रामायण और महाभारत की कथा भी आ जाती है। इसके सिवाय रामकथा के विवरण वहाँ के उन दो शिव-मंदिरों में भी पाए जाते हैं, जिनमें पाषाण चित्रलिपि खुदी हुई है और जिनका निर्माणकाल नवीं शताब्दी है।

मध्य जावा में—मध्य जावा के 'परमवन' अर्थात् परमब्रह्म नामक स्थान पर जो चित्र-लिपि शिव-मंदिर में है, वह उसकी चारों ओर ऊँची दीवारों पर खुदी हुई है। इसकी कथा और रामायण के कथानक में जो भिन्नता पाई जाती है, उसके अनुसार जटायु ने राम को सीता की अँगूठी दी थी। मछलियों ने सेतुबंध के समय उसे नष्ट करने का प्रयत्न किया था तथा लक्ष्मण के तरकश में सुग्रीव के आँसुओं का पानी जमा हो गया था, जिससे उसका पता लगाया जा सका, आदि कुछ प्रसंग हैं, जो विशेषतया वहाँ कई अर्वाचीन रामायणों में भी पाए जाते हैं। वहाँ की प्राचीनतम राम-संबंधी साहित्यिक रचना बारहवीं शताब्दी के किसी योगीश्वर कवि-कृत "रामायण ककविन' है, जिसके डच अनुवाद से पता चलता है कि वह अधिकतर 'महिकाव्य' पर आश्रित है और उसके प्रारंभिक बारह सर्गों का विभाजन लगभग ठीक उसी के अनुसार हुआ है। योगीश्वर ने युद्धकांड की कथा का विस्तार 'महिकाव्य' से भी अधिक किया है। 'रामायण ककविन' की सीता ने हनुमान को अपने चूड़ामणि के अतिरिक्त एक पत्र भी दिया है और उसकी शबरी राम से अपनी कथा सुनाती हुई यह भी कहती है कि विष्णु ने अपने वाराहवतार में मेरी माला खाई थी और मर गए थे, जिस पर मैंने उनकी लाश खा ली और मेरा मुख काला हो गया। वह राम से अनुरोध करती है कि मेरा मुख पोंछ कर उसे शुद्ध कर दीजिए। इसके अतिरिक्त इस काव्य-ग्रंथ में इंद्रजित की सात पत्नियों की चर्चा की गई मिलती है, जो अपने पति के साथ ही युद्ध करती हैं और मारी जाती हैं। जावा में एक प्राचीन 'उत्तरकांड' भी पाया जाता है। इसमें रामायण की कथा गद्य द्वारा की गई है और एक 'चरितरामायण' अथवा 'कावी जानकी' का भी पता चलता है, जिसके १०६ पदों द्वारा 'रामायण' के प्रथम छः कांडों की कथा व्याकरण के उदाहरणों के साथ दी गई है।

बाली द्वीप में—बाली द्वीप की रामायण स्वयं वाल्मीकि मुनि की ही कृति मानी जाती है, किंतु उसकी रचना वहीं की भाषा में हुई है। यह रामायण छः कांडों एवं पच्चीस सर्गों में विभक्त है और इसमें भी उत्तरकांड नहीं है और वह एक पृथक् ग्रंथ के रूप में मिलता है। इस रामायण की एक विशेषता यह है कि इसमें राम की मृत्यु का वर्णन करके उसके अनंतर उनके वंशजों का भी वृत्त दिया गया है। राम को इस काव्य के रचयिता ने, अपनी वृद्धावस्था में, वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने वाला दिखलाया है। इसकी भाषा में संस्कृत शब्द भी मिलते हैं। बाली के काव्य-साहित्य में एक दूसरी रामायण भी मिलती है, जो राजकुसुम की रचना है और जिसका इस समय बहुत अधिक प्रचार है।

इंडोनेशिया की अर्वाचीन रामकथा अधिकतर नाटकों के रूप में पाई जाती है और वही हिंदचीन, स्याम और ब्रह्मदेश में भी प्रचलित है। यवद्वीप में इस परंपरा के सबसे उल्लेखनीय उदाहरण वहाँ की 'सेरत-कांड' और 'रामकेलिंग' नामक रचनाओं में पाए जाते हैं। 'सेरतकांड' की प्रारंभिक कथा में नवीं अदम की कथा की एक विस्तृत भूमिका मिलती है, जिसमें जावा के प्राचीन राजवंशों की एक सूची भी दी गई है। उस वंशावली के भीतर भारतीय पुराणों के अनेक देवताओं की कथा भी सम्मिलित है। इसमें रावण द्वारा विष्णु के पराजित होने तथा फिर उनके विभिन्न अवतारों के साथ उसके बार-बार युद्ध करने की कथा आती है। विष्णु, वासुकी और श्री 'लक्ष्मी' के साथ, रावण के भय से भाग कर, दशरथ के यहाँ आ जाते हैं और प्रथम दो उनके पुत्र बन जाते हैं तथा श्री अपने को एक अंडे के रूप में परिणित कर लेती है, जिसे रावण खा लेता है और उसके फलस्वरूप वह मंदोदरी के गर्भ से सीता बन कर प्रकट होती है। रामकथा के अंत में यह भी कहा गया है कि सीता का एकमात्र पुत्र 'बुतलव' नाम का था, जिसे राम ने अपना राज्यभार सौंप दिया। किसी अनल नामक

वानर के अपने को अग्निरूप में परिणित कर लेने पर उसमें वे सीता, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव आदि के साथ भस्मीभूत हो गए। केवल हनुमान बच सके। यवद्वीप के 'रामकेलिंग' की कथा इससे कुछ भिन्न है और वह बहुत-कुछ मालयद्वीप के 'हिकायतसेरीराम' की कथा से मिलती है।

मलयद्वीप की अर्वाचीन रचना 'हिकायतसेरीराम' की प्राचीनतम हस्तलिपि का काल सन् १६३३ बताया जाता है। इस पुस्तक के अंतर्गत रावण-चरित्र से लेकर सीता-त्याग और राम-सीता के पुनर्मिलन तक की कथा आती है। इसमें रावण अपने पिता द्वारा निर्वासित हो कर सिंहल द्वीप जाता है और वहाँ पर तपस्या करके अल्लाह् को प्रसन्न करता तथा उनसे चार लोकों में से एक पर अपना अधिकार प्राप्त कर लेता है और उसी में अपनी सुंदर लंकापुरी का निर्माण करता है। इस रचना में भी सीता का जन्म मंदोदरी के ही गर्भ से बताया गया है और वह यहाँ पर अपने अशुभ द्योतक जन्म-पत्र के कारण समुद्र में फेंक दी जाती है। राम का वनवास यहाँ पर दशरथ की पत्नी वलियादरी के अनुरोध पर होता है और यहाँ पर भी राम बड़ी प्रसन्नता के साथ गृह-त्याग करते हैं। अंजनी इस रचना के अंतर्गत गौतम की पुत्री ठहराई गई है और वालि तथा सुग्रीव उसके सहोदर भाई जान पड़ते हैं और हनुमान का जन्म उसके गर्भ से स्वयं राम के वीर्य द्वारा होता है। मितानी रामकथा में 'सेरीराम' के अनेक पात्रों का एकीकरण महासिकुल नामक एक तपस्वी में हो गया प्रतीत होता है। इसके प्रारंभिक भाग में उनकी पत्नी को चार संतानों अर्थात् एक पुत्री, वालि, सुग्रीव तथा बिलो की चर्चा की गई है। किंतु इसके दूसरे भाग में उन्हीं की दत्तक पुत्री मंदुदकी की भी कथा आती है, जो रावण के साथ विवाह करती है और जिसके गर्भ से सीता की उत्पत्ति होती है। सीता के त्यक्त हो जाने पर महासिकुल उसे अपनी पुत्री के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। अपने दत्तक पुत्र 'सेरावी' नायकेल अर्थात् राम के उस पर अनुरक्त होने पर, इस पुत्र को अपने घर से निर्वासित कर देते हैं। मितानीकथा में केवल रावण-वध के ही प्रसंग आते हैं।

सिंहल देश में कोई 'कोहोम्बा यक्कम' नाम की एक धार्मिक विधि प्रचलित है, जिसको संपन्न करते समय कतिपय काव्यात्मक कथाओं का पाठ होता है और उसमें सिंहल के प्रथम राजा विजय तथा नागकुमारी कुवैणी की और सीता-त्याग की कथा की प्रधानता है। इस कथा के अनुसार वालि ही लंका दहन करके सीता को राम के निकट पहुँचा देता है। सीता का त्याग यहाँ पर रावण के चित्र के कारण होता है। वाल्मीकि सीता के लिए बालकों की सृष्टि करते हैं और यह दोनों सीता के एक अन्य पुत्र को ले कर राम की सेना के साथ युद्ध करते हैं। सीता के उन दो पुत्रों में से प्रथम को वाल्मीकि ने कमल से बनाया था और दूसरे की सृष्टि कुश के द्वारा की थी।

इस्लाम धर्म कें प्रचलित हो जाने पर पश्चिम के अरब आदि देशों का अभ्युदय-काल आरंभ हो गया और उनका भारत से सम्बन्ध बढ़ा। फलतः बगदाद के शासक हारूँ उल रशीद ने भारतीय चिकित्सा-ग्रंथों के साथ-साथ रामायण, महाभारत आदि के भी अनुवाद कराए। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध विद्वान् अलबेरूनी ने अपनी भारत-यात्रा का विवरण देते समय अपनी पुस्तक में रामकथा की भी चर्चा की। उसने कोई विस्तृत सुशृंखलित कथा नहीं दी, किंतु प्रसंगवश उसके अनेक अंशों का उल्लेख मात्र कर दिया। अलबेरूनी ने लंका का वर्णन करते समय बताया है—जब रावण दशरथ के पुत्र राम की पत्नी को हर ले गया, तो इस स्थान पर उसने एक दुर्ग का निर्माण किया। राम ने किष्किंद के वानरों के साथ मैत्री करके रावण पर चढ़ाई की और समुद्र को सेतुबंध की सहायता से पार किया, जो सीलोन के पूरब १०० योजन का था। सेतुबंध के राम ने फिर दस जगह अपने बाणों द्वारा तोड़ दिया और अपनी राजधानी लौट आए। राम के राज में कोई पुत्र अपने पिता के जीवनकाल में नहीं मरता था और यदि मर भी जाता था तो उसका कारण राज्य में होने वाले किसी अधर्म का सूचक समझा जाता था, आदि। प्राचीन ईरान के 'जेंद अवेस्ता' में 'रामहु वास्त्र' शब्द आता है और एक असीरियन देवता का भी नाम 'रम्मन' वा 'रमानु' मिलता है, जो हिब्रू भाषा के 'रिमोन' के समान है। यहूदियों के नवें अवतार नामक 'रामः' और ईरानियों के अखमनी सम्राट अरियरम्भ 'आर्य राम' के नाम भी राम शब्द से मिलते-जुलते हैं, किंतु उनका सम्बन्ध किसी रामकथा से नहीं है। मितन्नियों का 'दशरथ' भी एक वैसा ही शब्द है।

अरब आदि देशों के और भी पश्चिम की ओर, यूरोप के विविध देशों में भी रामकथा का कोई न कोई रूप वहाँ के साहित्यों में मिलता है। यूरोप में रामकथा का प्रचार रामायण जैसे ग्रंथों के अनुवादों द्वारा हुआ है। इन अनुवादों में से कई एक के प्रणेता उधर के ईसाई मिशनरी थे और वहाँ के कतिपय ऐसे विद्वान भी थे, जिन्हें प्राच्य विद्या-विषयक जिज्ञासा ने इस कार्य की ओर प्रेरित और प्रवृत्त किया। जहाँ तक पता चलता है, किसी जेसुइट मिशनरी जे० फेनिचियों ने सन् १६०९ ई० में रचित अपनी 'लिब्रो डा सैटा' में दशावतारों का निरूपण करते समय, रामकथा का भी वर्णन किया और दशरथ के यज्ञ से लेकर सीता की अग्नि-परीक्षा तक के वृत्तांत को उसमें स्थान दिया। कहते हैं कि उसकी हस्तलिपि का कुछ अंश खो जाने के कारण वहाँ पर पूरी रामकथा नहीं दीखती, किंतु जो कुछ है, वह 'रामायण' पर निर्भर जान पड़ती है। यदि उसमें कुछ अंतर भी है, तो वह रावणचरित का आरण्यकांड की कथा में रखने और अग्निजा सीता के वृत्तांत और राम के स्वेच्छापूर्वक वनगमन में हो सकता है। इसी प्रकार डच ईस्ट कम्पनी के पादरी ए० रोजेरियस की रचना 'दि ओपेन रोरे' सन् १६५१ ई० के अवतार-वर्णन में भी 'रामायण' पर आश्रित रामकथा का ही विवरण रावणचरित से लेकर रामादि के अयोध्या-प्रत्यागमन तक मिलता है। जे० वी० टावर्निये नाम के प्रसिद्ध यात्री ने भी अपने भ्रमण-वृत्तांत (सन् १६७६ ई०) में रामकथा का एक संक्षिप्त रूप फ्रेंच भाषा में दिया है। पेरिस से सन् १७८२ में प्रकाशित एम० सोनेरा की पुस्तक 'वोयाज ओस इंड ओरियंटल' की संक्षिप्त रामकथा की एक विशेषता यह है कि राम १५ वर्ष की अवस्था में तपस्या करने, अयोध्या छोड़ कर, लक्ष्मण और सीता के साथ चित्रकूट में चले जाते हैं। पेरिस से ही सन् १८०९ ई० में प्रकाशित 'मिथोलॉजी डेस इंड्' नामक डे पोलिये की रचना में भी एक विस्तृत रामचरित मिलता है, जो 'रामायण' से सर्वथा भिन्न आधार पर निर्मित समझा जाता है।

सन् १८२९ ई० में वान श्लेगेल ने, 'रामायण' के काशी संस्करण वाले पाठ का अनुसरण करते हुए, उसके संपूर्ण बालकांड और अयोध्याकांड के कुछ अंशों का अनुवाद लैटिन भाषा में किया था। इसी प्रकार सन् १८४० ई० में इटली निवासी सिगनर गोरेसिउ ने भी 'रामायण' के वंगीय संस्करण का इटालियन अनुवाद, पूरे मूल संस्कृत के साथ प्रकाशित किया तथा इस कार्य में उसे बीस वर्ष लग गए। अंग्रेजी में रामायण का अनुवाद, सर्वप्रथम, कदाचित् श्रीरामपुर के मिशनरी विलियम केटी द्वारा सन् १८०६ ई० में आरंभ हुआ था। फिर मार्शमैन, ग्रिफिथ, ह्वीलर आदि अनेक मिशनरियों और विद्वानों ने इसको अंग्रेजी में रूपांतरित कर प्रकाशित किया था। इन अंग्रेजी लेखकों के कारण रामकथा के आलोचनात्मक अध्ययन की भी एक परपंरा निकली और कुछ जर्मन विद्वानों का भी समर्थन पा कर यह एक अत्यंत मनोरंजक विषय बन गया। 'रामायण' जैसे ग्रंथों के अनुवादों के साथ-साथ पांडित्यपूर्ण भूमिकाएँ भी प्रकाशित होने लगीं। प्राच्य विद्या-विषयक आलोचनात्मक निबंध प्रकाशित करने वाले यूरोप, अमेरिका और भारत के विभिन्न पत्रों में तुलनात्मक अध्ययन और विचार-विमर्श होने लगा। फलत: इस समय रामकथा का परिचय न केवल उसके विविध रूपों के विवरणों द्वारा ही दिया जा रहा है, अपितु आधुनिक विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर भी आकृष्ट रहता है कि उसके मूल रूप की उत्पत्ति और क्रमिकविकास की कहानी भी प्रकाशित की जाए।

इधर भारत के स्वतंत्र हो जाने पर इसका संपर्क अन्य देशों के साथ और भी अधिक बढ़ता जा रहा है। रूस देश के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने, अभी कुछ ही दिन हुए, गो० तुलसीदास के 'रामचरितमानस' ग्रंथ का अपनी भाषा में अनुवाद कर एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी दी है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद भी हो गया है। रामकथा का तुलनात्मक अध्ययन होमर के 'इलियड' जैसे काव्य-ग्रंथों के कथानकों के साथ भी कतिपय यूरोपीय विद्वानों ने किया है और दोनों के मूलस्रोत की भी खोज की है। किंतु इस सम्बन्ध में अभी तक जो काम हुआ है, वह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। डॉ० कामिल बुल्के ने 'रामकथा' का गंभीर अध्ययन कर जो इस नाम से अपनी थीसिस प्रकाशित की है, वह एक सुंदर प्रयास है और भावी खोजियों के लिए उपादेय भी है।

●●●

संस्कृति और कला

रत्नपरीक्षा

श्री मोतीचन्द्र

अमरकोश (२।१।३-४) में पृथ्वी के अड़तीस नामों में वसुधा, वसुमती और रत्नगर्भा आए हैं, जिनसे इस देश के रत्नों के व्यापार की ओर ध्यान जाता है। प्लिनी ने (नेचुरल हिस्ट्री ३७।७६) भी भारत के इस व्यापार की ओर इशारा किया है। इसमें जरा भी संदेह नहीं कि १८वीं सदी तक जब ब्राजिल की रत्नों की खानें खुलीं, भारत संसार भर के रत्नों का एक प्रधान बाजार था। रत्नों के खरीद-बिक्री के बहुत दिनों के अनुभव से भारतीय जौहरियों ने रत्नपरीक्षा-शास्त्र का सृजन किया, जिसमें रत्नों के खरीद-बेच, नाम, जाति,आकार, घनत्व, रंग, गुण, दोष, कीमत तथा उत्पत्ति-स्थानों का सांगोपांग विवेचन किया गया। बाद में जब नकली रत्न बनने लगे, तब उन्हें असली रत्नों से विलग करने के तरीके भी बतलाए गए। अंत में रत्नों और नक्षत्रों के सम्बन्ध और उनके शुभ और अशुभ प्रभावों की ओर भी पाठकों का ध्यान दिलाया गया।

रत्नपरीक्षा का शायद सबसे पहला उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र (२।१०।२९) में हुआ है। इस प्रकरण में अनेक तरह के रत्न, उनके प्राप्तिस्थान तथा गुण और दोष की विवेचना है। कामसूत्र की चौंसठ कलाओं की तालिका में (कामसूत्र, १।३।१६) रूप्य-रत्नपरीक्षा और मणिरागाकर ज्ञानविशेष कलाएँ मानी गई हैं। जयमंगला टीका के अनुसार रूप्य-रत्नपरीक्षा के अंतर्गत सिक्कों तथा रत्न, हीरा, मोती इत्यादि के गुण-दोषों की पहचान व्यापार के लिए होती थी। मणिरागाकर ज्ञान की कला में गहनों के जड़ने के लिए स्फटिक रंगने और रत्नों के आकरों का ज्ञान आ जाता था। दिव्यावदान (पृ० ३) में भी इस बात का उल्लेख है कि व्यापारी को आठ परीक्षाओं में, जिनमें रत्नपरीक्षा भी एक है, निष्णात होना आवश्यक था। पर इस रत्नपरीक्षा ने किस युग में एक शास्त्र का रूप ग्रहण किया, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। कौटिल्य के कोश-प्रवेश्य रत्नपरीक्षा प्रकरण से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि मौर्ययुग में भी किसी-न-किसी रूप में रत्न-परीक्षा-शास्त्र का वैज्ञानिक रूप स्थिर हो चुका था। रोम और भारत के बीच में ईसा की आरंभिक सदियों में जो व्यापार चलता था, उसमें रत्नों का भी एक विशेष स्थान था। इसलिए यह अनुमान करना शायद गलत न होगा कि भारतीय व्यापारियों को रत्नों का अच्छा ज्ञान रहा होगा और किसी-न-किसी रूप में रत्न-परीक्षा-शास्त्र की स्थापना हो चुकी होगी। जो भी हो, इसमें जरा भी संदेह नहीं कि ईसा की पाँचवीं सदी के पहले रत्नपरीक्षा का सृजन हो चुका था।

यह समझ लेना भूल होगा कि रत्नपरीक्षा-शास्त्र केवल जौहरियों की शिक्षा के लिए ही बना था। इसमें शक नहीं कि, जैसा दिव्यावदान में कहा गया है, व्यापारियों के पुत्र पूर्ण और सुप्रिय (दिव्यावदान, पृ० २६, २९) को और विद्याओं के साथ-साथ रत्नपरीक्षा भी पढ़ना पड़ा था। हमें इस बात का पता है कि प्राचीन भारत में राजा और रईस ही रत्नों के पारखी होते थे। यह आवश्यक भी था, क्योंकि व्यापारियों के सिवा वे ही रत्न खरीदते थे और संग्रह करते थे। जैसा कि हमें साहित्य से पता चलता है कि काव्यकारों को भी इस रत्नशास्त्र का ज्ञान होता था और वे बहुधा रत्नों का उपयोग रूपकों और उपमाओं में करते थे, गो कि रत्न-संबंधी उनके अलंकार कभी-कभी अतिरंजित होकर वास्तविकता से बहुत दूर जा पहुँचते थे। जैसा कि हमें मृच्छकटिक के चौथे अंक से पता चलता है ; जब कि विदूषक वसंतसेना के महल में घुसा, तो उसने छट्ठे परकोटे के आंगन के दालानों में कारीगरों को आपस में वैडूर्य, मोती, मूँगा,पुखराज, नीलम, कर्केतन, मानिक और पन्ने के सम्बन्ध में बातचीत करते देखा। मानिक सोने से जड़े (बध्यन्ते) जा रहे थे,सोने के गहने गढ़े जा रहे थे,शंख काटे जा रहे थे और काटने के लिए मूँगे सान पर चढ़ाए जा रहे थे। उपर्युक्त विवरण से इस बात का पता चल जाता है कि शूद्रक को रत्नपरीक्षा का अच्छा ज्ञान रहा होगा। कलाविलास के आठवें सर्ग में सोनारों के वर्णन से भी इस बात का पता चलता है कि क्षेमेंद्र को उनकी कला और रत्नशास्त्र का अच्छा परिचय था।

रत्नपरीक्षा-शास्त्र का जितना ही मान था, उतना ही वह शास्त्र कठिन माना जाता था। इसीलिए एक कुशल रत्नपरीक्षक का समाज में काफी आदर होता था। रत्नपरीक्षा के ग्रंथ उसका नाम बड़े आदर से लेते हैं। अगस्तिमत (६७–६८)[1] के अनुसार गुणवान मंडलिक जिस देश में होता है, वह धन्य है। ग्राहक को उसे बुलाकर, आसन देकर तथा गंध मालादि से सत्कार करना चाहिए। बुद्धभट्ट (१४–१५) के अनुसार रत्नपरीक्षकों को शास्त्रज्ञ, पर कुशल होना चाहिए। इसीलिए उन्हें रत्नों के मूल्य और मात्रा के जानकार कहा गया है। देश-काल के अनुसार मूल्य न आंकने वाले तथा शास्त्र से अनभिज्ञ जौहरियों की विद्वान कदर नहीं करते। ठक्कुर फेरू (१०६–१०७) का भाव भी कुछ ऐसा ही है। उसके अनुसार मंडलिक को शास्त्रज्ञ, आंखवाला, अनुभवी, देश-काल और भाव का ज्ञाता और रत्नों के स्वरूप का जानकार होना आवश्यक था। हीनांग, नीच जाति, सत्य रहित और बदनाम व्यक्ति जानकार और मान्य होने पर भी असली जौहरी कभी नहीं हो सकता। अगस्तिमत (६५) ने भी यही भाव प्रकट किए हैं।

अगस्तिमत (५४–६६) के अनुसार चतुर जौहरी को मंडलिन् कहा गया है। यह नाम शायद इसलिए पड़ा कि जौहरी अपना काम करते समय मंडल में बैठता था। यह भी संभव है कि यहाँ मंडल से मंडली यानी समूह का मतलब हो। अगस्तिमत (६१–६६) के अनुसार जौहरी रत्नों का मूल्य आँकता था। उसे देश में मिलने वाले आठ खानों तथा विदेशी और द्वीपों से आए हुए रत्नों का ज्ञान होता था। उसे रत्नों की जाति, राग-रंग, वर्ति, तौल, गुण, आकर, दोष, आब (छाया) और मूल्य का पता होता था। वह आकर (पूर्वी मध्यभारत), पूर्वदेश, कश्मीर, मध्यदेश, सिंहल तथा सिंध नदी की घाटी में रत्न खरीदता था तथा रत्न बेचने और खरीदने वाले के बीच मध्यस्थ का काम करता था। अगस्तिमत (७२) के अनुसार वह रत्न-विक्रेता से हाथ मिलाकर अंगुलियों के इशारे से उसे रत्न के मूल्य का पता दे देता था। उसी के एक क्षेपक (१३–२३) के अनुसार १, २, ३, ४ संख्याओं का क्रमशः तर्जनी से दूसरी अंगुलियों को पकड़ने से बोध होता था। अंगूठे सहित चारों अंगुलियाँ पकड़ने से ५ की संख्या प्रकट होती थी। कनिष्ठा आदि के तलस्पर्श से क्रमशः ६, ७, ८ और ९ की संख्याओं का बोध होता था तथा तर्जनी से १० का। फिर नखों के छूने से क्रमशः ११, १२, १३, १४ और १५ का बोध होता था। इसके बाद हथेली छूकर कनिष्ठादि से १६ से १९ तक की संख्याओं का बोध होता था। तर्जनी आदि को दो, तीन, चार और पाँच बार छूने से २० से ५० तक की संख्याओं का बोध होता था। कनिष्ठा आदि के तलों को ९ बार तक छूने से ६० से ९० तक अंकों की ओर इशारा हो जाता था तथा आधी तर्जनी पकड़ने से १००, आधी मध्यमा पकड़ने से १०००, आधी अनामिका पकड़ने से अयुत, आधी कनिष्ठिका से १०००००, अंगूठे से प्रयुत, कलाई से करोड़। मुगलकाल में तथा अब भी अंगुलियों की सांकेतिक भाषा से जौहरी अपना व्यापार चलाते हैं।

प्राचीनसाहित्य में भी बहुधा जौहरियों के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। दिव्यावदान (पृ० ३) में कहा गया है कि किसी रत्न की कीमत आँकने के लिए जौहरी बुलाए जाते थे। अगर वे रत्न की ठीक-ठीक कीमत नहीं आँक सकते थे, तो उसका मूल्य वे एक करोड़ कह देते थे। बृहत्कथा श्लोक संग्रह (१८, ३६६) से पता चलता है कि सानुदास ने पांड्य पथुरा में पहुँच कर वहाँ का जौहरीबाजार देखा और वहाँ एक क्रेता और विक्रेता को एक जौहरी से एक रत्नालंकार का मूल्य आँकने को कहते सुना। सानुदास को उस गहने की ओर देखते हुए देख कर उन्होंने समझा कि शायद यह निगाहदार था। उससे पूछने पर उसने गहने की कीमत एक करोड़ बता कर कह दिया कि बेचने और खरीदने वाले की मर्जी से सौदा पट सकता था। वे दोनों एक दूसरे जौहरी के पास पहुँचे, जिसने कहा कि गहने की कीमत सारा संसार था, पर नासमझ के लिए उसका मोल एक छदाम था। सानुदास की जानकारी से प्रसन्न होकर राजा ने उसे अपना रत्न-परीक्षक नियुक्त कर दिया।

---

[1] देखिए, ले लैपिदैर ऑंदियाँ, श्री लुई फिनो, पारी १८९६। मैंने इस भूमिका को लिखने में श्री फिनो के ग्रंथ से सहायता ली है, जिसका मैं आभार मानता हूँ। श्री फिनो ने अपने इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में उपलब्ध रत्नशास्त्रों को एक जगह इकट्ठा कर दिया है।

प्राचीनसाहित्य में अनेक ऐसे उल्लेख आए हैं, जिनसे पता चलता है कि रत्नों के व्यापार के लिए भारतीय जौहरी देश और विदेश की बराबर यात्रा करते थे। दिव्यावदान (पृ० २२९–२३०) की एक कहानी में बतलाया गया है कि रत्नों के व्यापारी मोती, वैडूर्य, शंख, मूंगा, चाँदी, सोना, अकीक, जमुनिया, और दक्षिणावर्त्त शंख के व्यापार के लिए समुद्र-यात्रा करते थे। निर्यामक प्रायः उन्हें सिंहल द्वीप में बनने वाले नकली रत्नों से होशियार कर देता था तथा उन्हें आदेश दे देता था कि वे खूब समझ कर माल खरीदें। ज्ञाताधर्म (१७) और उत्तराध्ययन टीका (३६।७३) से भी रत्नों के इस व्यापार की ओर संकेत मिलता है। उत्तराध्ययन टीका में एक ईरानी व्यापारी की कहानी दी गई है, जो ईरान से इस देश में सोना-चाँदी, रत्न और मूंगा छिपा कर लाना चाहता था। आवश्यक चूर्णि (पृ० ३४२) में रत्न-व्यापार के लिए एक बनिए का पारसकूल जाने का उल्लेख है। महाभारत (२।२७।२५–२६) के अनुसार दक्षिण समुद्र से इस देश में रत्न और मूंगे आते थे। ईसा की प्रारंभिक सदियों में तो भारत से रोम को हीरे, सार्ड, लोहितांक, अकीक, सार्डोनिक्स, बाबागोरी, क्राइसॉप्रेस, जहर मुहरा, रक्तमणि, हैलियोट्राप, ज्योतिरस, कसौटी पत्थर, लहसुनियाँ, एवेंचुरीन, जमुनिया, स्फटिक, बिल्लौर, कोरंड, नीलम, मानिक, लाल, लाजवर्द, गार्नेट, तुरमुली, मोती इत्यादि पहुँचते थे, (मोतीचंद्र, सार्थवाह, पृ० १२८–१२९)

[२]

प्राचीन रत्नपरीक्षा का क्या रूप रहा होगा, यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, पर उस सम्बन्ध के जो ग्रंथ मिले हैं, उनका विवरण नीचे दिया जाता है—

अर्थशास्त्र—कौटिल्य ने कोश-प्रवेश्य रत्नपरीक्षा (अर्थशास्त्र, २-१०-२९) में रत्नपरीक्षा के सम्बन्ध की कुछ जानकारियाँ दी हैं। कोश में अधिकारी व्यक्तियों की सलाह से ही रत्न खरीदे जाते थे। पहले प्रकरण में मोती के उत्पत्ति-स्थान, गुण, दोष तथा आकार इत्यादि का वर्णन है। इसके बाद मणि, सौगंधिक, वैडूर्य, पुष्यराग, इन्द्रनील, नंदक, स्रवन्मध्य, सूर्यकांत, विमलक, सस्यक, अंजनमूलक, पित्तक, सुलभक, लोहितक, अमृतांशुक, ज्योतिरसक, मैलेयक, अहिच्छत्रक, कूर्प, पूतिकूर्प, सुगंधिकूर्प, क्षीरपक, सुक्तिचूर्णक, सिलाप्रवालक, चूलक, शुक्रपुलक तथा हीरा और मूंगा के नाम आए हैं। इनमें से बहुत से रत्नों की ठीक-ठीक पहचान भी नहीं हो सकती, क्योंकि बाद के रत्नशास्त्र उनका उल्लेख तक नहीं करते।

रत्नपरीक्षा—बुद्धभट्ट की रत्नपरीक्षा का समय निश्चित करने के पहले वराहमिहिर की वृहत्-संहिता के ८० से ८३ अध्यायों की जानकारी जरूरी है। इन अध्यायों में हीरा, मोती और मानिक के वर्णन हैं। पन्ने का वर्णन तो केवल एक श्लोक में है। बुद्धभट्ट की रत्नपरीक्षा और वृहत्-संहिता के रत्न-प्रकरण की छानबीन करके श्री फिनो (वही पृ० ७ से) इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि दोनों की रत्नों की तालिकाओं तथा हीरे और मोती का भाव लगाने की विधि इत्यादि में बड़ी समानता है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दोनों ग्रंथों ने समान रूप से किसी प्राचीन रत्नशास्त्र से अपना मसाला लिया। गरुड़ पुराण ने भी बुद्धभट्ट का नाम हटाकर ६८ से ७० अध्यायों में रत्नपरीक्षा ग्रहण कर लिया। बहुत संभव है कि शायद बुद्धभट्ट का समय ७–८ वीं सदी या इसके पहले भी हो सकता है।

अगस्तिमत—अगस्तिमत और रत्नपरीक्षा का विषय एक होते हुए भी दोनों में इतना भेद है कि दोनों एक ही अनुश्रुति की बहुत दिनों अलग हुई शाख जान पड़ते हैं। श्री फिनो (पृ० ११) के अनुसार अगस्तिमत का समय बुद्धभट्ट के बाद यानी छठी सदी के बाद माना जाना चाहिए। शायद उसका लेखक दक्षिण का रहने वाला जान पड़ता है। संभव है कि अगस्तिमत का आधार कोई ऐसा रत्नशास्त्र रहा हो, जिसकी ख्याति दक्षिण में बहुत दिनों तक थी। ग्रंथ के अनेक उल्लेखों से ऐसा पता चलता है कि रत्नशास्त्र के प्राचीनसिद्धांतों को निबाहते हुए भी ग्रंथकार ने अपने अनुभवों का उल्लेख किया है। अभाग्यवश ग्रंथकार के व्याकरण और शैली में निष्णात न होने से उसके भाव समझने में बड़ी कठिनाई पड़ती है।

नवरत्नपरीक्षा—नवरत्नपरीक्षा के दो संस्करण मिलते हैं। छोटे संस्करण में सोम भूभुज् का नाम तीन जगह मिलता है, जिसके आधारपर यह माना जा सकता है कि इसके रचयिता कल्याणी का पश्चिमी चालुक्य

राजा सोमेश्वर (११२८-११३८ ई०) था। इस कथन की सचाई इस बात से भी सिद्ध होती है कि मानसोल्लास के कोशाध्याय में (मानसोल्लास, भा० १, पृ० ६४ से) जो रत्नों का वर्णन है, वह सिवाय कुछ छोटे-मोटे पाठभेदों के नवरत्नपरीक्षा जैसा ही है। नवरत्नपरीक्षा का दूसरा संस्करण बीकानेर और तंजोर की हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है। इसमें धातुगद, मुद्राप्रकार और कृत्रिमरत्न-प्रकार प्रकरण अधिक हैं। संभव है कि स्मृतिसारोद्धार के लेखक नारायण पंडित ने इन प्रकरणों को अपनी ओर से जोड़ दिया हो।

अगस्तीय रत्नपरीक्षा—अगस्तीय रत्नपरीक्षा वास्तव में अगस्तिमत का सार है। पर विस्तार में कहीं-कहीं नई बातें आ गई हैं। अभाग्यवश इसका पाठ बहुत भ्रष्ट और अशुद्ध है।

उपर्युक्त ग्रंथों के सिवाय रत्नसंग्रह, रत्नसमुच्चय अथवा समस्त रत्नपरीक्षा २२ श्लोकों का एक छोटा-सा ग्रंथ है। लघुरत्नपरीक्षा में भी २० श्लोक हैं, जिनमें रत्नों के गुण-दोषों का विवरण है। मणि-माहात्म्य में शिव-पार्वती-संवाद के रूप में कुछ उपरत्नों की महिमा गाई गई है।

रत्नपरीक्षा—ठक्कुर फेरू रचित रत्नपरीक्षा का कई कारणों से विशेष महत्त्व है। पहली बात तो यह है कि यह रत्नपरीक्षा प्राकृत में है। ठक्कुर फेरू के पहले भी शायद प्राकृत में रत्नपरीक्षा पर कोई ग्रंथ रहा हो, पर उसका अभी तक पता नहीं। दूसरी बात यह है कि ग्रंथकार श्रीमाल जाति में उत्पन्न ठक्कर चंद के पुत्र ठक्कर फेरू का सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६) के खजाने और टकसाल से निकटतर सम्बन्ध। उसका स्वयं कहना है कि उसने बृहस्पति, अगस्त्य और बुद्धभट्ट की रत्नपरीक्षाओं का अध्ययन करके और एक जौहरी की निगाह से अलाउद्दीन के खजाने में रत्नों को देख कर अपने ग्रंथ की रचना की (३-५)। उसके इस कथन से यह बात साफ मालूम पड़ जाती है कि कम-से-कम ईसा की १३वीं सदी के अंत में बुद्धभट्ट की रत्न-परीक्षा, वराहमिहिर के रत्नों पर अध्याय और अगस्तिमत रत्नशास्त्र पर अधिकारी ग्रंथ माने जाते थे और उनका उपयोग उस युग के जौहरी बराबर करते रहते थे। जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, ठक्कुर फेरू ने रत्न-परीक्षा की प्राचीनपरंपरा की रक्षा करते हुए भी, तत्कालीन मूल्य, नाप, तौल तथा रत्नों के अनेक नए स्रोतों का उल्लेख किया है, जिनका पता हमें फारसी-इतिहासकारों से भी नहीं चलता।

[३]

प्राचीन रत्नशास्त्रों में खानों से निकले रत्नों के सिवाय मोती और मूंगा भी शामिल हैं, जो वास्तव में पत्थर नहीं कहे जा सकते। साधारणतः जवाहरात के लिए रत्न और मणि और कभी-कभी उपल शब्द का व्यवहार किया गया है। संस्कृत-साहित्य में रत्न शब्द का व्यवहार कीमती वस्तु और कीमती जवाहरात के लिए हुआ है। वराहमिहिर (बृ० सं० ८०।२) के अनुसार रत्न शब्द का व्यवहार हाथी, घोड़ा, स्त्री इत्यादि के लिए गुणपरक है, पर रत्नपरीक्षा में इसका व्यवहार केवल कंचनादि रत्नों के लिए हुआ है। मणि शब्द का व्यवहार केवल कंचनादि रत्नों के लिए हुआ है। मणि शब्द का व्यवहार कीमती रत्नों के लिए हुआ है, पर बहुधा यह शब्द मनिया, गुरिया अथवा मनके के लिए भी आया है।

वेदों में रत्न शब्द का प्रयोग कीमती वस्तु और खजानों के अर्थ में हुआ है। ऋग्वेद में तीन जगह (फिनो, पृ० १५) सप्त-रत्नों का उल्लेख है। मणि का अर्थ ऋग्वेद में ताबीज की तरह पहनने वाले रत्नों से है (ऋग्वेद, १।३३।८, अ० वे० १।२९१ : २।४।१ इत्यादि)। मणि तागे में पिरोकर गले में पहनी जाती थी (वाजसनेयी सं० ३०।७, तैत्तिरीय सं० ३।४।३।१)। इसमें भी संदेह नहीं कि वैदिक आर्यों को मोती का भी ज्ञान था। मोती (कृशन) का उपयोग शृंगार के लिए होता था (ऋग्वेद, १।३५।४; १०।६८।१); अथर्ववेद (४।१०।१-३) के अनुसार समुद्र से उत्पन्न शंख और मोती का उपयोग तावीज की तरह होता था।

सुव्यवस्थित रत्नशास्त्रों के अनुसार नवरत्नों में पाँच महारत्न और चार उपरत्न हैं। वज्र, मुक्ता, माणिक्य, नील और मरकत महारत्न हैं और गोमेद, पुष्पराग, वैडूर्य (लहसनिया) और प्रवाल उपरत्न हैं। मानिक और नीलम के कई भेद गिनाए गए हैं। वराहमिहिर (८२।१) यथा बुद्धभट्ट (११४) के अनुसार मानिक के चार भेद यथा पद्मराग, सौगंधिक, कुरुविंद और स्फटिक हैं। अगस्तिमत (१७३) के अनुसार

मानिक के तीन भेद हैं यथा पद्मराग, सौगंधिक, कुरुविंद। नवरत्नपरीक्षा (१०६-११०) में इनके सिवाय नीलगंधि भी आ गया है। अगस्तीय रत्नपरीक्षा में (४६ से) मानिक का एक नाम मांसपिंड भी है। ठक्कुर फेरू के अनुसार (५६) मानिक के साधारण नाम यथा माणिक्य और चुन्नी हैं; अब भी मानिक के ये ही दो नाम सर्वसाधारण में प्रचलित हैं। मानिक के निम्नलिखित भेद गिनाए गए हैं—पद्मराय (पद्मराग), सौगंधिय (सौगंधिक) नीलगंध, कुरुविंद और जामुणिय।

रत्नपरीक्षाओं में नीलम के तीन भेद गिनाए गए हैं—नील साधारण नीलम के लिए व्यवहृत हुआ है तथा इंद्रनील और महानील उसकी कीमती किस्में थीं। ठक्कुर फेरू ने (८१) नीलम की केवल किस्म महिंदनील (महेंद्रनील) बतलाया है।

प्राचीन रत्नपरीक्षाओं में पन्ने के मरकत और तार्क्ष्य नाम आए हैं। पर ठक्कुर फेरू (७२) ने पन्ने के निम्नलिखित भेद दिए हैं—गरुडोद्गार, कीडउठी, वासउती, मूगउनी और धूलि मराई।

उपर्युक्त नवरत्नों की तालिका प्रायः सब रत्नशास्त्रों में आती है, पर अगस्तिमत (६।३२५-२६) में स्फटिक और प्रभ जोड़ कर उनकी संख्या ग्यारह कर दी गई है। बुद्धभट्ट नेउस तालिका में पाँच निम्नलिखित रत्न जोड़ दिए हैं यथा शेष (onyx) कर्केतन (phrysoberyl) भीष्म, पुलक (garnet) रुधिराक्ष (Carnelian)। शेष का ही अरबी जज़ रूपांतर है। यह पत्थर भारत और यमन से आता है। इसके बहुत से रंग होते हैं, जिनमें सफेद और काला प्रधान है। भारत में इस पत्थर का पहनना अशुभ माना जाता था। भीष्म कोई सफेद रंग का पत्थर होता था। बुद्धभट्ट (२१२-७६) के अनुसार कषायक पिलाहट लिए हुए लाल रंग का पत्थर होता था, जो युक्ति कल्पतरु के अनुसार स्फटिक का एक भेद मात्र था; सोमलक नील-मायल सफेद पत्थर था और कुल कर्केतन के किस्म का नीला पत्थर था।

वराहमिहिर के रत्नों की तालिका में बाईस नाम निगाए गए हैं,परएक ही रत्न की अनेक किस्में देखते हुए उनकी संख्या कम कर दी जा सकती है, जैसे शशिकांत स्फटिक का ही एक भेद है, महानील और इंद्रनील नीलम हैं, तथा सौगंधिक और पद्मराग मानिक के ही भेद हैं। इस तरह रत्नों की संख्या घटकर उन्नीस हो जाती है यथा स्फटिक के सहित दस रत्न, कर्केतन, पुलक, रुधिराक्ष तथा विमलक, राजमणि, शंख, ब्रह्ममणि, ज्योतिरस और सस्यक। ज्योतिरस और सस्यक का उल्लेख अर्थशास्त्र (२।११।२६) में भी हुआ है। शंख से शायद यहाँ दक्षिणवर्त्त शंख का अनुमान किया जा सकता है, ज्योतिरस शायद जेस्पर या हेलियोट्रोप था।

उपर्युक्त रत्नों के सिवाय, फिरोजा (पेरोज, पीरोज) लाजवर्द और लसुन यानी लहसुनिया या वैडूर्य के नाम भी आए हैं। रत्नसंग्रह (१६) में मसारगर्भ (रूप—मुसारगर्भ, मुसलगर्भ, मुसारगल्व; पालि-मसारगल्ल, मुसारगल्ल)को दूध-पानी अलग करने वाला, श्यामरंग का, चमकीला तथा दुष्ट दोषों का अपहर्त्ता कहा गया है। शब्द कल्पद्रुम ने इसे इंद्रनीलमणि कहा है, जो ठीक नहीं। महाभारत २।४७।१४ में भगदत्त द्वारा युधिष्ठिर को अश्मसार का बना पात्र देने का उल्लेख है, जिसकी पहचान शायद मसारगर्भ से की जा सकती है। मसारगर्भ की पहचान चीनी कन-चे-यू यानी जमुनियाँ से की जाती है, पर अश्मसार यशब भी हो सकता है, क्योंकि आसाम का पड़ोसी बर्मा यशब के लिए प्रसिद्ध है।

ठक्कुर फेरू कृत रत्नपरीक्षा (१५-१५) में नवरत्न यथा पद्मराग, मुक्ता, विद्रुम, मरकत, पुखराज, हीरा, इंद्रनील, गोमेद और वैडूर्य गिनाए गए हैं। इनके सिवाय ल्हसणिया (६२-६३) फलह (स्फटिक, ६५-६६) कर्केतन (६८) भीसम (भीष्म, ६६) नाम आए हैं। ठक्कुर फेरू ने लाल, अकीक और फिरोज को पारसी रत्न बतलाया है (१७३)। इस तरह ठक्कुर फेरू के अनुसार रत्नों की संख्या सोलह बैठती है।

पर वर्णरत्नाकर के रचयिता ज्योतिरीश्वर ठक्कुर (आरंभिक १४ वीं सदी) के समय में लगता है, १८ रत्न और ३२ उपरत्न माने जाते थे (वर्णरत्नाकर, पृ० २१, ४१, श्री सुनीतिकुमार चटर्जी द्वारा संपादित, कलकत्ता १६४०)। रत्नों की तालिका में गोमेद, गरुड़ोद्गार, मरकत, मुकुता, मांसखंड, पद्मराग, हीर, रेणुज, मारासेस, सौगंधिक चंद्रकांत, सूर्यकांत, प्रवाल, राजावर्त, कषाय और इंद्रनील के नाम आए हैं। इस तालिकामें रत्नपरीक्षा के महारत्नों में गोमेद, मरकत, मुक्ता, हीरा, पद्मराग, इंद्रनील, प्रवाल और सूर्यकांत

हैं। मांसखंड, सौगंधिक, रेणुज (शायद चुन्नी) तो पद्मराग या मानिक के ही सौ भेद हैं। इसी तरह चंद्रकांत, सूर्यकांत और कषाय स्फटिक के भेद हैं। मारासेस, जिसका संबंध शेष (onyx) से हो सकता है, तथा लाजवर्द की गणना रत्नों में किस प्रकार की गई, यह कहना संभव नहीं।

उपमणियों की तालिका वर्णरत्नाकर में दो जगह आई है (पृ० २१-४१)। इनमें (१) कूर्म, (२) महाकूर्म, (३) अहिछत्र, (४) श्यावर्ग (सं) घ, (५) व्योमराग, (६) कीटपक्ष, (७) कुरू (कूर्म) विंद, (८) सूर्यभा (ना) ल, (९) हरि (री) तसार, (१०) जीविउ (जीवित), (११) यवयाति (यवजाति), (१२) शिखि (खी) निल, (१३) वंशपत्र, (१४) धू (चू) लिमरकत, (१५) भस्मांग, (१६) जंबुकांत, (१७) स्फटिक, (१८) कर्क्केतर, (१९) पारिपात्र, (२०) नंदक, (२१) अंच (ज) नक, (२२) लौहितक, (२३) शैलेयक, (२४) शुक्तिचूर्ण, (२५) पुलक, (२६) तुत्थ (थ) क, (२७) शुकग्रीव, (२८) गरुत् (ड) पक्ष, (२९) पीतराग, (३०) वर्णरस (सर), (३१) कर्प्पुरक, (३२) काच।

उपमणियों की उपर्युक्त तालिका में कुछ मणियों पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसमें कूर्म और महाकूर्म तो मणियों की श्रेणी में नहीं आते। कछुए की खपड़ियों का व्यापार बहुत पुराना है और इसका उल्लेख पैरिप्लस में अनेक बार हुआ है (शाफ़, पैरिप्लस आफ दि एरीथ्रियन सी, पृ० १३ इत्यादि)। अहिछत्रक का उल्लेख हमारा ध्यान कौटिल्य (२।११।२९) के आहिच्छत्रक रत्न की ओर ले जाता है। धूलिमरकत से यहाँ शायद पन्ने के खड़ से मतलब है और इस तरह वह ठक्कुर फेरू की धूलि मराई भी शायद खड़ हो। भस्मांग से यहाँ शायद भीष्म से मतलब है। जंबुकांत से शायद जमुनियाँ का मतलब है। अंजन, पुलक, नंदक और शुक्तिचूर्णक के नाम भी अर्थशास्त्र में आए हैं। कर्क्केतर से यहाँ कर्केतन से तथा लोहितक से लोहितांक का मतलब है। तुत्थक से हमारा ध्यान कौटिल्य के तुत्थोद्गत चाँदी की ओर खिंच जाता है (१२।१४।३२)। काच से काचमणि की ओर इशारा है।

सन् १४२१ में लिखित पृथ्वीचंद्र चरित्र (प्राचीन गुर्जर-काव्य-संग्रह, पृ० ९५, बड़ोदा, १९२०) में रत्नों और उपरत्नों की निम्नलिखित तालिका दी गई है—पद्मराग, पुष्पराग (पुखराज) माणिक, सींघलिया, गरुडोद्गार मणि, मरकत, कर्केतन, वज्र, वेडूर्य, चंद्रकांत, सूर्यकांत, जलकांत, शिवकांत, चंद्रप्रभ, साकर प्रभ, प्रभनाथ, अशोक, वीतशोक, अपराजित, गंगोदक, मसारगल्ल, हंसगर्भ, पुलिक, सौगंधिक, सुभग, सौभाग्यकर, विषहर, धृतिकर, पुष्टिकर, शत्रुहर, अंजन, ज्योतीरस, शुभरुचि, शूलमणि, अंशुकालि, देवानंद, रिष्टरत्न, कीटपंख, कसाउला, धूमराइ, गोमूत्र, गोमेद, लसणीया, नीला, तृणधर, खगराइ, वज्रधार, षट्कोण, कर्णी, चापड़ी, पिरोजा, प्रवाला, मौक्तिक।

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि ग्रंथकार ने उसमें रत्नों और उपरत्नों के सिवाय उनके भेद, गुण, दोष इत्यादि की भी गिनती कर ली है। जैसे पद्मराग, माणिक, सिंघलिया और सौगंधिक मानिक के भेद हैं। मरकत के भेद में ही गरुडोद्गार मणि, मरकत, धूमराइ और कीटपंख आ जाते हैं। स्फटिक के भेदों में चंद्रकांत, जलकांत, शिवकांत, चंद्रप्रभ, प्रभानाथ, गंगोदक, हंसगर्भ, कसाउला (काषाय) आ जाते हैं। पुखराज, कर्केतन, वज्र, वैडूर्य, अशोक, वीतशोक, पुलक, अंजन, ज्योतिरस, अंशुकालि, मसारगल्ल, रिष्टरत्न, गोमूत्र, गोमेद, लहसनिया, नीला, पिरोजा, मोती, मूँगा अलग-अलग रत्न या उपरत्न हैं। अपराजित, सुभग, सौभाग्यकर, विषहर, धृतिकर, पुष्टिकर, शत्रुहर, देवानंद, तृणधर रत्नों के गुण से सम्बन्ध रखते हैं। वज्रधार, षट्कोण, कर्णा और चापड़ी रत्नों की बनावट से संबंधित हैं।

यहाँ बौद्ध और जैनशास्त्रों में आई रत्नों की तालिकाओं की ओर भी ध्यान दिला देना आवश्यक मालूम होता है। चुल्लवग्ग (९।१।३) में मुत्ता, मणि, वेलूरिय, शंख, शिला, पवाल, रजत, जातरूप, लोहितंक और मसारगल्ल के नाम आए हैं। मिलिंद प्रश्न (पृ० ११८) में इंदनील, महानील, जोतिरस, वेलुरिय, उम्मापुप्फ, सिरीसपुप्फ, मनोहर, सुरियकंत, चंदकंत, वज्र, कज्जोपमक, फुस्सराग, लोहितंक और मसारगल्ल के नाम आए हैं। सुखावती व्यूह (५६) में वैडूर्य, स्फटिक, सुवर्ण, रूप, अश्मगर्भ, लोहितिका और मुसारगल्व नाम आए हैं। दिव्यावदान में रत्नों की दो तालिकाएँ हैं। एक में (पृ० ५१) मुक्ता, वैडूर्य, शंख, शिला, प्रवालक,

रजत, जातरूप, अश्मगर्भ, मुसारगल्व, लोहितिका और दक्षिणावर्त के नाम हैं, और दूसरी में (पृ० ६७) पुष्यराग, पद्मराग, वज्र, वैडूर्य, मुसारगल्व, लोहितिका, दक्षिणावर्त शंख, शिला और प्रवाल के नाम हैं। जैन-प्रज्ञापना सूत्र (भगवान दास हर्षचंद्र द्वारा अनूदित १, पृ० ७७, ७८) में वदूर, जण (अंजण), पवाल, गोमेज्ज, रुचक, अंक, फलिह, लोहियक्ख, मरकय, मसारगल्ल, भुयमोयग, इंदनील, हंसगब्भ, पुलक, सौगंधिक, चंद्रप्रभ, वैडूर्य, जलकांत और सूर्यकांत के नाम आए हैं। चुल्लवग्ग की तालिका में शिला से शायद स्फटिक से मतलब है। मिलिंद प्रश्न की तालिका में उम्मपुप्फ से शायद जमुनिया का; शिरीषपुष्पक से (अ० शा० २।११।२९) शायद किसी तरह के वैडूर्य का बोध होता है। कज्जोपमक से शायद चिंतामणिरत्न की ओर इशारा है, जो सब काम पूरा करती थी। वराहमिहिर की (बृ० सं० ८०।५) ब्रह्ममणि भी शायद चिंतामणि ही हो। सुखावतीव्यूह के अश्मगर्भ से शायद पन्ने का मतलब हो (अमरकोश २।९।९२)। प्रज्ञापनासूत्र में भुयगमोचक से शायद जहर-मुहरे का और हंसगर्भ से किसी तरह के स्फटिक का बोध होता है।

अर्थशास्त्र, २।११।२९, में जैसा हम पहले देख आए हैं, अनेक रत्नों के उल्लेख हैं। इनमें मोती, हीरा, पद्मराग, वैडूर्य, पुष्पराग, गोमेदक, नीलम, चंद्रकांत और सूर्यकांत इत्यादि रत्नों की श्रेणी में आ जाते हैं। कोट, मौलेयक और पारसमुद्रक से मणियों के उत्पत्ति-स्थान का बोध होता है। कूट पर्वत का तो पता नहीं, पर मौलेयक रत्न का नाम शायद बलूचिस्तान में झालावन में बहनेवाली मूलानदी से पड़ा हो (मोतीचंद्र जे० यू० पी० एच० एस० १७, भा० १, पृ० ६३)

लगता है कि प्राचीनसाहित्य में रत्नों की तालिका देने की कुछ रीति-सी चल गई थी। तमिल के सुप्रसिद्ध काव्य शिलप्पदिकारम् में भी एक जगह रत्नों का उल्लेख आया है (शिलप्पदिकारम् १४।१८०-२००, श्री दीक्षितार द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, मद्रास १९३९)—मथुरै में घूमता-घामता कोवलन् जौहरी बाजार में पहुँचा; वहाँ उसने चार वर्ण के निर्दोष हीरे, मरकत, पद्मराग, माणिक्य, नील, विंदु, स्फटिक, पुष्पराग, गोमेदक और मोती देखे।

[३]

प्रायः रत्नशास्त्रों में (अगस्तिमत ४, ६३, बुद्धभट्ट ११ का पाठभेद) रत्नों की परख आठ तरह से, यथा—(१) उत्पत्ति, (२) आकर, (३) वर्ण अथवा छाया, (४) जाति, (५) गुण-दोष, (६) फल, (७) मूल्य और (८) विजाति (नकल) के आधार पर की गई है। इसका विस्तार नीचे दिया जाता है।

(१) **उत्पत्ति**—यहाँ उत्पत्ति से रत्नों की वास्तविक अथवा पारलौकिक उत्पत्ति से तात्पर्य है। रत्नों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रायः सब शास्त्रों का मत है कि वे एक वज्राहत असुर से पैदा हुए। बुद्धभट्ट (२–१२) के अनुसार एक पराक्रमी त्रिलोक विजेता दानव राज बलि था। एक समय उसने इंद्र को जीत लिया। खुली लड़ाई में उससे पार न पा सकने के कारण देवताओं ने उससे अपने यज्ञ में बलि-पशु बनने का वर माँगा। उसके एवमस्तु कहने पर सौत्रामणि यज्ञ में देवताओं ने उसे स्तंभ से बाँध दिया। उसकी विशुद्ध जाति और कर्म से उसके शरीर के सारे अवयव रत्नों में परिणत हो गए।[1] ऐसा होने पर देव, यक्ष, सिद्ध और नागों में रत्नों के लिए छीना-झपटी होने लगी। इस छीना-झपटी में समुद्र, नदी, पर्वत, वन इत्यादि में रत्न गिर कर आकर रूप में परिवर्तित हो गए। इन रत्नों से राक्षस, विष-सर्प और व्याधियों से तथा पापलग्न में जन्म तथा दुर्दिन से रक्षा होती है। अगस्तिमत (१-९) में भी कहानी का यही रूप है; केवल फरक इतना है कि यज्ञ में असुर के सिर पर इंद्र ने वज्र मारा और वज्राहत सिर से ही रत्नों की सृष्टि हुई। उसके सिर से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, नाभि से वैश्य और पैरों से शूद्ररत्नों की उत्पत्ति हुई। नवरत्नपरीक्षा (८ से) में दैत्य का नाम वज्र दिया गया है। वज्रासुर को हराने के लिए इंद्र ने उससे उसके शरीर-दान का वर माँगा। ब्राह्मण वेषधारी इंद्र की प्रार्थना स्वीकार कर लेने पर यह जान कर कि उसका शरीर अभेद्य है, इंद्र ने उसके

---

[1] यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि दिव्य शरीर का रत्नों में परिणत हो जाने का विश्वास वैदिक है (जे० आर० एस० १८९४, पृ० ५४८-५६०)। ईरानियों का भी कुछ ऐसा ही विश्वास था (जे० आर० एस० १८९५, पृ० २०२-२०३)

मस्तक पर वज्र से प्रहार किया। उसके शरीर से तरह-तरह के रत्न निकले। देव, नाग, सिद्ध, यक्ष, राक्षस और किन्नरों ने तो वह रत्नजाल ग्रहण कर लिया, बाकी रत्न पृथ्वी पर फैल गए।

ठक्कुर फेरू (६-१६) की रत्नोत्पत्ति-संबंधी अनुश्रुति का रूप भी बुद्धभट्ट वाली जनश्रुति जैसा ही है। एक दिन असुर बलि इंद्रलोक को जीतने गया। वहाँ देवताओं ने उससे यज्ञ-पशु बनने की प्रार्थना की, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। उसकी हड्डियों से हीरे, दाँतों से मोती, लहू से मानिक, पित्त से पन्ना, आँखों से नीलम, रस से वैडूर्य, मज्जा से कर्केतन, नखों से लहसुनिया, मेदे से स्फटिक, माँस से मूँगा, चमड़े से पुखराज तथा वीर्य से भीष्म पैदा हुए। असुर बल के शरीर से निकले रत्नों में-से सूर्य ने पद्मराग, चंद्र ने मोती, मंगल ने मूँगा, बुद्ध ने पन्ना, वृहस्पति ने पुखराज, शुक्र ने हीरा, शनि ने नीलम, राहु ने गोमेद और केतु ने वैडूर्य ग्रहण कर लिए और इसलिए इन रत्नों को धारण करने वाले उपर्युक्त ग्रहों से पीड़ा नहीं पाते। चोखेरत्न ऋद्धिदायक और सदोष रत्न दरिद्रता देने वाले होते हैं।

पर रत्नों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपयक्त मत ही प्रचलित नहीं था, इसका निराकरण वराहमिहिर (८०।३) ने कर दिया है। उनके अनुसार एक मत से रत्न दैत्यबल से उत्पन्न हुए, दूसरों का कहना है कि दधीचि से। कुछ इस मत के हैं कि उनकी उत्पत्ति पत्थरों के स्वभाव-वैचित्र्य से है। ठक्कुर फेरू (१२) के अनुसार भी कुछ लोग ऐसे थे, जिनका मत था कि रत्न पृथ्वी के विकार हैं। जैसे सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातु हैं, वैसे ही रत्न भी।

एक दूसरे विश्वास के अनुसार मनुष्य, सर्प तथा मेढक के सर में मणि होती थी (अगस्तिमत, नत्थी ६३-६७)। वराहमिहिर (८५-५) के अनुसार सर्पमणि गहरे नीले रंग की और बड़ी चमकदार होती थी।

(२) **आकर**—रत्नों की खान को आकर कहा गया है। वराहमिहिर (८०-१७) के अनुसार नदी, खान और छिटफुट मिलने की जगह आकर है। बुद्धभट्ट (१०) ने आकरों में समुद्र, नदी, पर्वत और जंगल गिनाए हैं।

(३) **वर्ण-छाया**—प्राचीनग्रंथों में रत्नों के रंग को छाया कहा गया है। पर बाद के शास्त्रों में वर्ण के लिए छाया शब्द का व्यवहार हुआ है। बहुधा शास्त्रकार रत्नों की छाया की उपमा जानी-पहचानी वस्तुओं से देते हैं।

(४) **जाति**—इस शब्द का रत्नशास्त्रों में तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है यथा असलीरत्न, रत्न की किस्म और जाति। अंतिम विश्वास के अनुसार रत्नों में भी जातिभेद होता था। यह विश्वास शायद पहले-पहल हीरे तक ही सीमित था। इसके अनुसार ब्राह्मण को सफेद हीरा, क्षत्रिय को लाल, वैश्य को पीला और शुद्र को काला हीरा पहनने का विधान था। बाद में यह विश्वास और रत्नों के सम्बन्ध में भी प्रचलित हो गया।

(५) **गुण-दोष**—रत्नों के सम्बन्ध में इन शब्दों का प्रयोग उनकी शुद्धता और चमत्कार लेकर हुआ है। पहले अर्थ में वे रत्न के गुण और दोष-परक हैं। दूसरे अर्थ में वे रत्न के बुरे और भले प्रभाव के द्योतक हैं। रत्नों के गुण निम्नलिखित हैं—महत्ता (भारीपन) गुरुत्व, गौरव (घनत्व), काठिन्य, स्निग्धता, राग-रंग, आब (अर्चिस्, द्युति कांति, प्रभाव) और स्वच्छता।

(६) **फल**—सभी रत्नों के फल की विवेचना की गई है। अच्छे रत्न स्वास्थ्य, दीर्घजीवन, धन और गौरव देने वाले, सर्प आदि जंगली जानवर, पानी, आग, बिजली, चोट, बीमारी इत्यादि से मुक्ति देनेवाले तथा मैत्री कायम रखने वाले माने गए हैं। उसी तरह खराब रत्न दुख देनेवाले माने गए हैं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि रत्नों के बीमारी अच्छा करने के गुणों का रत्नशास्त्रों में उल्लेख नहीं है। रत्नों के फलों की जाँच-पड़ताल से यह भी पता चलता है कि उनके लिखने में दिमागी कसरत को अधिक प्रश्रय दिया गया है। पर इसमें संदेह नहीं कि शास्त्रकारों ने रत्न-फल के सम्बन्ध में लोकविश्वासों की भी चर्चा कर दी है। हीरे का गर्भस्रावक फल और पन्ने का सर्पविष को हरना इसी कोटि के विश्वास हैं।

(७) रत्नों के मूल्य उनके तौल और प्रमाण पर आश्रित होते थे। प्राचीन ग्रंथों में रत्नों का मूल्य रूपकों और कार्षापणों में निर्धारित किया गया है। यह पता नहीं चलता कि रत्नों का मूल्य सोना अथवा चाँदी

के सिक्कों में निर्धारित होता था, पर कार्षापण के उल्लेख से इनका दाम चाँदी के सिक्कों ही में मालूम पड़ता है। अगस्तिमत के एक क्षेपक (१२) से पता चलता है कि गोमेद और मूँगे का दाम चाँदी के सिक्कों में होता था तथा वैडूर्य और मानिक का सोने के सिक्कों में। ठक्कुर फेरू (११३७) ने बड़े हीरे, मोती, मानिक और पन्ने का मूल्य स्वर्णटंकों में बतलाया है। आधे मासे से चार मासे तक के लाल, लहसुनिया, इंद्रनील और फिरोजा के दाम भी स्वर्णमुद्राओं में होते थे (१२१-१२३), एक टाँक में १० से १०० तक चढ़ने वाले मोतियों का दाम रूप्य टंकों में होता था (१२४-१२६)। उसी तरह एक रत्ती में १ से २ थान चढ़ने वाले हीरे का मूल्य भी चाँदी के टंकों में कहा गया है (१२७-२८)। गोमेद, स्फटिक, भीष्म, कर्केतन, पुखराज, वैडूर्य—इन सबके मूल्य भी द्रम्म में होते थे (१३०)।

मानसोल्लास (१, ४५७-४६४) में रत्न तौलने की तुला का सुंदर वर्णन है। उसके तुलापात्र काँसे के बने होते थे। उनमें चार छेद होते थे, जिनसे डोरियाँ पिरोई जाती थीं। काँसे की दांडी १२ अंगुल की होती थी, जिसके दोनों बगल मुद्रिकाएँ होती थीं। दांडी के ठीक बीचोबीच पाँच अंगुल का काँटा होता था, जिसका एक अंगुल छेद में फँसा दिया जाता था। काँटे के दोनों ओर तोरण की आकृति बनाई जाती थी, जिसके सिर पर कुंडली होती थी। उसी में डोरी लगती थी। तराजू साधने के लिए एक कलंज तौल का माल एक पलड़े में और पानी दूसरे पलड़े में भरा जाता था। जब काँटा तोरण के ठीक बीच में बैठ जाता था, तो तराज सध गई मानी जाती थी।

(८) **विजाति**—इस शब्द से कृत्रिम रत्नों का तथा कीमती रत्नों की तरह दिखनेवाले उपरत्नों से अभिप्राय है। ऐसे नकली रत्न भारत और सिंहल में बहुतायत से बनते थे। नवरत्नपरीक्षा (१७४-१८३) के अनुसार सम भाग जले शंख और सिंदूर को सद्यः प्रसूता गाय के दूध में सान कर, फिर उसे तृण से बाँध कर, बाँस में भर कर, मिट्टी के बरतन में चावल के साथ पका कर, फिर उसे निकाल कर, धीमी आँच पर रख देते थे; फिर उसे तेल में बोरते थे, इससे बाँस के भीतर नकली मूँगा बन जाता था। इंद्रनील बनाने के लिए एक कुप्पे में एक पल नील का चूर्ण और दो पल शंख का चूर्ण मिलाकर खूब हिलाते थे। फिर पूर्वोक्त विधि से नकली इंद्रनील बना लेते थे। नकली मरकत बनाने के लिए मंजीठ, इंगुर और नील समभाग में लेकर उसे शीशे की कुप्पी में खूब मिलाते थे। फिर उनके रवे अलग करके उन्हें आग में पकाया जाता था। शंख के चूर्ण और ईंगुर के मेल से उपर्युक्त विधि से मानिक बनता था।

[४]

इस प्रकरण में रत्नपरीक्षाओं के आधार पर उनमें आए रत्नों के उपर्युक्त आठ विशेषताओं की जाँच-पड़ताल करके यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि ठक्कुर फेरू ने अपनी रत्नपरीक्षा में कहाँ तक प्राचीनता का उपयोग किया है और कहाँ उसने अपने रत्न-संबंधी अनुभवों का।

हीरा

हीरा रत्नों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी विशेषता यह है कि वह सब रत्नों को काट सकता है। पर उसे कोई रत्न नहीं काट सकता। प्रायः सब शास्त्रों के अनुसार हीरे की उत्पत्ति असुरबल की हड्डियों से हुई। उसका नाम वज्र इसलिए पड़ा कि इंद्र से वज्राहत होने पर ही वह निकला।

प्रधान रत्नशास्त्र हीरे की खानें आठ या दस मानते हैं। पर कौटिल्य (अनुवाद, पृ० ७८) में हीरे की खानों के कुछ दूसरे ही नाम हैं। यथा, सभाराष्ट्रक (विदर्भ या बरार में), मध्यमराष्ट्रक (कोसल यानी दक्षिण कोसल में), काश्मक शायद अश्मक (हैदराबाद की गोलकुंडा की खान) और इंद्रवानक (कलिंग, ओड़ीसा) की तो पहचान टीकाकारों ने की है। काश्मक की पहचान टीकाकार ने बनारसी हीरे से की है, जिससे बनारस का हीरेतराशों का अड्डा होने की ओर संकेत हो सकता है। श्रीकटन हीरा वेदोत्कट पर्वत में मिलता था। श्रीकटन का ठीक पता नहीं चलता, पर शायद इससे धनकटक (धरणीकोट), जो प्राचीन अमरावती का नाम था, बोध होता है। अगर यह पहचान ठीक है, तो यहाँ कृष्णा नदी की घाटी में मिलने वाले

हीरों की ओर संकेत हो सकता है। मणिमंतक हीरा मणिमन् अथवा मणिमंत पर्वत के पास पाया जाता था। इस मणिमत् पर्वत की पहचान श्री पार्जिटर ने (मार्कंडेय पुराण, पृ० ३७०) में कश्मीर के दक्षिण की पहाड़ियों से की है। यहाँ अब हीरा मिलने का पता नहीं चला। रत्नशास्त्रों में दी गई हीरे की खानों का पता निम्न-लिखित तालिका से चल जाएगा—

बुद्धभट्ट	वराहमिहिर	अगस्तिमत	मानसोल्लास	अगस्तीय रत्नपरीक्षा	रत्नसंग्रह	ठक्कुर फेरू
सुराष्ट्र		बंग				
हिमालय						हेमंत (हिमवंत)
मातंग			मातंग	मगध	मातंग	मातंग
पौंड्र						पंडुर (पौंड्र)
कोशल						
वैण्यातट	वेणातट	वेणु	वैरागर		आरब	वेणु
सूपरि			सौपार			सोपारक

यहाँ यह निश्चित कर लेना कठिन है कि उपर्युक्त यंत्र में कितने भौगोलिक नाम वास्तविकता लिए हुए हैं और कितने काल्पनिक हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि यंत्र में खानों और बाजारों के नाम मिल गए हैं। यह भी संभव है कि बहुत-सी प्राचीन खानें समाप्त हो गई हों और उनकी खोदाई बहुत प्राचीन काल में बंद कर दी गई हो। सुराष्ट्र यानी आधुनिक सौराष्ट्र में हीरे की किसी खान का पता नहीं चलता, पर यह संभव है कि यहाँ से रत्न बाहर भेजे जाते हों। यहाँ एक उल्लेखनीय बात यह है कि प्राचीनसाहित्य में जैसे, महा-विद्देस और वसुदेवहिण्डी में, सुराष्ट्र एक बंदर का नाम भी आया है, जो शायद सोमनाथ पट्टन हो। यही बात सूपरिक यानी बंबई के पास सोपारा बंदरगाह के बारे में भी कही जा सकती है। आर्यशूर के जातक माला में तो इस बंदर में रत्न लाए जाने का उल्लेख भी है। हिमालय में हीरे का होना तो उस अनुश्रुति का द्योतक है, जिसके अनुसार मेरु, हिमालय और समुद्र रत्नों के आकर माने गए हैं। यह बात ठीक है कि शिमला के पास कुछ हीरे मिले थे, पर हिमालय में हीरे की खान होने का पता नहीं चलता। मातंग से यहाँ किस प्रदेश से तात्पर्य है, इसका भी ठीक पता नहीं चलता। श्री फिनो (पृ० २६) चालुक्यराज मंगलीश के एक लेख के आधार पर मातंगों का निवास-स्थान गोलकुंडा का प्रदेश स्थिर करते हैं। हरिषेण (वृहत्कथा कोश ७५।१–३) के अनुसार मातंग पाड्य देश तथा उसके उत्तर में पर्वत की संधि पर रहते थे। शायद यहाँ सेलम जिले के चीवरै पर्वतश्रेणी से मतलब है, पर यहाँ हीरे का पता नहीं चला है। पौंड्र देश से मालदह, कोसी के पूर्व पूर्निया जिले का कुछ भाग तथा दीनाजपुर और राजशाही जिले के कुछ भाग का बोध होता है तथा पौंड्रवर्धन से बोगरा जिले के महास्थान से मतलब है। शायद कलिंग के हीरे से कडपा, बेलारी, कर्नूल, कृष्णा, गोदावरी इत्यादि के तथा सांभलपुर के पास ब्राह्मणी, संक तथा दक्षिणी कोयल नदियों से मिलने वाले हीरे से है। जहाँगीर-युग की खोखरा की हीरे की खान भी इस बात की पुष्टि करती है। जहाँगीर ने स्वयं अपने राज्य के दसवें वर्ष के (विवरण तुजूक, अंग्रेजी अनुवाद, भा०१, ३१६) में इस बात का उल्लेख किया है कि बिहार के सूबेदार इब्राहीम खाँ ने खोखरा को फतह करके वहाँ के हीरे की खान पर कब्जा कर लिया। हीरे वहाँ की एक नदी से निकलते थे। इसमें संदेह नहीं कि कोसल से यहाँ दक्षिण कोसल से मतलब है, जिसकी पहचान आधुनिक महाकोसल से है। शायद वैरागर और वैणातट या वेणु के हीरे कोसल ही के अंतर्गत आ जाते हैं। वैणा नदी, जो आजकल की वेन गंगा है, चाँदा जिले से होकर बहती है और उसी पर स्थित वैरागढ़ में हीरे मिलते हैं। मानसोल्लास के वैरागर (सं० वज्राकर) की पहचान इसी वैरागढ़ से ठीक उतर

जाती है। शायद यही स्थान चीनी यात्रियों का कोसल और टाल्मी का कोसल रहा हो। अगस्तीय रत्न-परीक्षा में आए मगध से भी शायद छोटा नागपुर की खानों का बोध होता है।

रत्नशास्त्रों में हीरे के अनेक रंग बताए गए हैं। इनके अनुसार सुराष्ट्र का हीरा लाल, हिमालय का तमैला, मातंग का पीला, पुंड्र का भूरा, कलिंग का सुनहरा, कोसल का सिरीस के फूल के रंगवाला, वेणा का चंद्र की तरह सफेद तथा सुपारा का सफेद होता था। ठक्कुर फेरू (२२) ने हीरे का रंग तमैला, सफेद, नीला, मटमैला, हरताल की तरह पीला तथा सिरीस के फूल जैसा बतलाया है। ये रंग खान-परक थे। हीरे के वर्णों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है। सफेद हीरा ब्राह्मण, लाल क्षत्रिय, पीला वैश्य और काला शूद्र पहनने का अधिकारी था। पर राजा को चारों वर्ण के हीरे पहनने का अधिकार था। पर बाद के लेखकों ने सफेद, लाल, पीले और काले हीरे को ही क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति में बाँट दिया है। ठक्कुर फेरू (२६) भी इसी मत के हैं। उनकी राय में सफेद चोखा हीरा मालवी अर्थात् मालवे का कहलाता था।

जिनके घरों में निर्दोष हीरे होते हैं, उनकी विघ्न, अकालमृत्यु और शत्रुभय से रक्षा होती है। लाल और पीले हीरे पहनने से राजा को विजय-श्री हाथ लगती थी। पुरुष लपलपाते हीरे में भूत, प्रेत, वृक्ष, मंदिर, इंद्रधनुष इत्यादि देख सकते थे (३०)।

हीरे का आरंभिक रूप अठपहला होता था और हीरे के इसी आकार को रत्नशास्त्रों में सबसे अच्छा माना है। प्राचीन रत्नशास्त्रों के अनुसार अच्छे हीरे में छः कोण या अस्त्र, बारह धाराएँ, आठ दल, पार्श्व या अंग कहे गए हैं। हीरे की चोटी को कोटि, तल को विभाजित करने वाली रेखा को अग्र, चोटी की उठान को उत्तुंग तथा नुकीली विभाजक रेखाओं को तीक्ष्ण कहते थे। तौल में कम, स्वच्छ, शुद्ध निर्मल और भास्कर हीरे के गुण माने गए हैं। ठक्कुर फेरू (२४) ने हीरे के आठ गुण कहे हैं—समफलक, उच्चकोणी, तीक्ष्णधारा, पानी (वारितक), अमल, उज्ज्वल, अदोष और लघुतोल।

रत्नशास्त्रों में हीरे के अनेक दोष भी उल्लिखित हैं, जिनमें टूटी चोटी या पहल, एक की जगह दो कोण, दल दीनता, वर्तुलता, दलहीनता, चपटापन, लंबोदरापन, भारीपन, बुलबुला पड़ना और कांतिहीनता मुख्य हैं। ठक्कुर फेरू (२५) ने नौ दोष—यथा काकपद, विंदुर (छींटा), रेखा, मैलापन, चिटक, एकशृंगता, वर्तुलता, जौ का आकार तथा हीन अथवा अधिक कोण बतलाया है। उसके अनुसार (३१–३२) अत्यंत चोखी तीखी धारा पुत्रार्थी स्त्रियों के लिए हानिकर थी। पर इसके विपरीत चिपटा, मलीन और तिकोना हीरा रमणियों को इसलिए सुखकर होता था कि पुत्ररत्नों की जननी होने से वे अपने को प्रथम रत्न मानती थीं, भला फिर उनका सदोष रत्न क्या कर सकता था!

हीरे का मूल्य प्राचीन रत्नशास्त्रों में तौल के आधार पर निश्चित किया जाता था। इस सम्बन्ध में दो मत थे। एक बुद्धभट्ट और वराहमिहिर का और दूसरा अगस्तिमत का। पहली व्यवस्था में तौल तंडुल और सर्षप (१ तंडुल—८ सर्षप) में थी तथा मूल्य रूपकों में। हीरे की सबसे अधिक तौल बीस तंडुल और दाम दो लाख रूपक निश्चित की गई थी। तौल के इस क्रम में हर घटाव या चढ़ाव दो इकाइयों के बराबर होता था। २० तंडुल के हीरे का दाम दो लाख था और एक तंडुल के हीरे का एक हजार। देखने में तो यह हिसाब सीधा-सादा मालूम पड़ता है, पर श्री फिनो ने हिसाब लगा कर बतलाया है कि २० तंडुल यानी चार केरट के हीरे का दाम इस रीति से बहुत अधिक बैठ जाता है।

अगस्तिमत के अनुसार तौल्य और स्थौल्य के आधार पर पिंड से हीरे का दाम निश्चित किया जाता था। पिंड का माप १ यव स्थौल्य और १ तंडुल तौल्य मान लिया गया है। इस तरह एक पिंड के हीरे का दाम ५०, दो का ५० गुणा ४, चार का ५० गुणा १२, पाँच का ५० गुणा १६...... इस तरह बढ़ते-बढ़ते २० पिंड का दाम ३८०० पहुँच जाता है। पर इस मूल्यांकन में एक ही घनत्व के हीरे आते हैं, उनके हलके होने पर उनका दाम बढ़ जाता था तथा भारी होने पर घट जाता था। इस तरह एक हीरा एक पिंड के घनत्व का होते हुए भी १।४ हल्के होने पर उसका दाम अठारह गुना होता था, १।२ हल्के होने पर छत्तीस गुना तथा

३।४ हल्के होने पर बहत्तर गुना हो जाता था। इसी तरह एक हीरा एक पिंड का घनत्व होते हुए भी भारी हो, तो उसका दाम १।४ भारी होने पर आधा हो जाएगा, इत्यादि। श्री फिनो की राय में अगस्तिमत का ही मूल्यांकन वास्तविक मालूम पड़ता है।

ठक्कुर फेरू ने हीरे का मूल्यांकन अलग न देकर मोती, मानिक और पन्ने के साथ दिया है। पर हीरे का मूल्य निर्धारण करते समय उसे अगस्तिमत का ध्यान अवश्य रहा होगा। उसके अनुसार (३३) समपिंड हीरे का भारी होने पर कम दाम और फार तथा हल्के होने पर ज्यादा दाम होता था।

अलाउद्दीन के समय जौहरियों की तौल का वर्णन ठक्कुर फेरू ने इस तरह से किया है—

३ राई	१ सरसों
६ सरसों	१ तंडुल
२ तंडुल	१ जौ
१६ तंडुल या ६ गुंजा (रत्ती)	१ मासा
४ मासा	१ टाँक

टाँक के उपर्युक्त तौल में कई बातें उल्लेखनीय हैं। श्री नेल्सन राइट (दि कायन्स एंड मेट्रालोजी आफ दि सुल्तान्स आफ देहली, पृ० ३९१ से) ने अपनी खोज से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सुल्तान-युग के टाँक में ९६ रत्तियाँ होती थीं। रत्ती का वजन १०८ ग्रेन मान कर उन्होंने टाँक की तौल १७२ ग्रेन निर्धारित की है। पर ठक्कुर फेरू के हिसाब से तो २४ रत्ती १ टाँक यानी १७२·८ ग्रेन के बराबर हुई यानी एक रत्ती का वजन करीब ६·३५ ग्रेन के करीब हुआ। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि गुंजा से यहाँ साधारण गुंजा का ही अर्थ है अथवा यह कोई तौल थी, जिसका वजन आधुनिक रत्ती से करीब-करीब पाँच गुना अधिक था।

ठक्कुर फेरू (१११) ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि रत्नों का मूल्य बँधा हुआ न होकर अपनी नजर पर अवलंबित होता है, फिर भी अलाउद्दीन के समय रत्नों के जो दाम थे, उनकी तौल के साथ उसने वर्णन किया है, और यह भी बतलाया है कि चार रत्न यानी हीरा, मोती, मानिक और पन्ने का दाम सोने के टंके में लगाया जाता था। इन रत्नों की बड़ी से बड़ी तौल एक टाँक और छोटी तौल एक गुंजा मान ली गई है। पर एक टाँक में १० से १०० तक चढ़ने वाले मोती तथा एक गुंजा में १ से १२ थान तक चढ़ने वाले हीरे का मूल्य चाँदी के टाँक में होता था। उपर्युक्त रत्नों के तौल और मूल्य दो यंत्रों में समझाए गए हैं—

कीमती रत्न-संबंधी यंत्र

गुंजा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१५	१८	२१	२४
हीरा	५	१२	२०	३०	५०	७५	११०	१६०	२४०	३२०	४००	६००	१४००	२८००	५६००	११२००
मोती	०।।	१	२	४	८	१५	२५	४०	६०	८४	११४	१६०	३५०	७००	१२००	२०००
मानिक	२	५	८	१२	१८	२६	४०	६०	८५	१२०	१६०	२२०	४२०	८००	१४००	२४००
पन्ना	०।	०।।	१	१।।	२	३	४	५	६	८	१०	१३	१८	२७	४०	६०

उपर्युक्त यंत्र की जाँच से कई बातों का पता लगता है। सबसे पहली बात तो यह है कि अलाउद्दीन के काल में और युगों की तरह हीरे की कीमत सब रत्नों से अधिक थी। हीरा जैसे-जैसे तौल में बढ़ता जाता था, उसी अनुपात में उसकी कीमत बढ़ती जाती थी। बारह रत्ती तक तो उसका दाम क्रमशः बढ़ता था, पर उसके बाद हर तीन रत्ती के वजन पर उसका दाम दुगुना हो जाता था। अगर चाँदी और सोने का अनुपात १०।१ मान लिया जाय, तो एक टाँक के हीरे का मूल्य १,२०००० चाँदी के टाँक के बराबर होता था। इसके विपरीत एक टाँक के मोती का मूल्य २००० और मानिक का २४०० सुवर्ण टंका था। पन्ने का दाम तो बहुत ही कम यानी एक टंक के पन्ने का दाम ६० सुवर्ण टंका था।

छोटे मोती और हीरों के तौल और दाम का यंत्र

मोती (टंक १)	१०	१२	१५	२०	२५	३०	४०	५०	६०–७०	७०–१००		
रूप्य टंक	५०	४०	३०	२०	१५	१२	१०	८	५	३		
वज्रगुंजा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
रूप्य टंक	३५	२६	२०	१६	१३	१०	८	७	६	५	४	३

उपर्युक्त यंत्र से यह पता चलता है कि मोती और हीरे जितने अधिक एक टाँक में चढ़ते थे, उतना ही उनका दाम कम होता जाता था और इसीलिए उनका दाम सोने के टाँकों में न लगाया जाकर चाँदी के टाँकों में लगाया जाता था।

रत्नशास्त्रों के अनुसार नकली हीरा लोह, पुखराज, गोमेद, स्फटिक, वैडूर्य और शीशे से बनता था। ठक्कुर फेरू (३७) ने भी इन्हीं वस्तुओं को नकली हीरा बनाने के काम में लाने का उल्लेख किया है। नकली हीरे की पहचान अम्ल तथा दूसरे पत्थरों के काटने की शक्ति से होती थी। ठक्कुर फेरू (४८) के अनुसार नकली हीरा वजन में भारी, जल्दी बिंधनेवाला, पतली धार वाला तथा सरलतापूर्वक घिस जाने वाला होता था।

मोती

महारत्नों में मोती का नंबर दूसरा है। भारतीयों को शायद इस रत्न का बहुत प्राचीनकाल में पता था। मोती को जिसे वैदिकसाहित्य में कृशन कहा गया, सबसे पहला उल्लेख ऋग्वेद (१।३५।४ ; १०।६८।१) में आता है। अथर्ववेद में वायु, आकाश, बिजली, प्रकाश तथा सुवर्ण से पैदा शंख और मोती से रक्षा की प्रार्थना की गई है। शंख और मोती राक्षसों, राक्षसियों और बीमारियों से रक्षा करने वाले माने जाते थे। उनकी उत्पत्ति आकाश, समुद्र, सोना तथा वृत्र से मानी गई है।

रत्नशास्त्र के अनुसार मोती के आठ स्रोत—यथा, सीप, शंख, बादल, मकर और सर्प का सिर, सूअर की दाढ़, हाथी का कुंभस्थल तथा बाँस की पोर माने गए हैं। यह विश्वास भी था कि स्वाती की बूंदें सीपियों में पड़कर मोती हो जाती थीं। असुर दल के दाँतों से भी मोती बनने का उल्लेख आता है।

मोती के उत्पत्ति-संबंधी उपर्युक्त विश्वासों की जाँच-पड़ताल से पता चलता है कि अथर्ववेद वाली अनुश्रुति से उसका खासा सम्बन्ध है। उसके वृत्र जात मानने से असुर बल वाली अनुश्रुति की ओर ध्यान जाता है। इस तरह हम देख सकते हैं कि मोती-संबंधी प्राचीन विश्वासों की जड़ वैदिक-युग तक पहुँच जाती है।

ठक्कुर फेरू ने भी मोती के उत्पत्तिस्थान रत्नशास्त्रों की ही तरह कहे हैं। उसके अनुसार शंख-जन्य मोती छोटे, सफेद तथा लाल होते हैं और उनमें मंगल का आवास होता है। मच्छ से उत्पन्न मोती काला, गोल तथा हलका होता है और उसके पहनने से शत्रु और भूत प्रेतों से रक्षा होती है। बाँस में पैदा मोती गुंजे के इतने बड़े तथा राज देने वाले होते हैं। सूअर की दाढ़ से पैदा मोती गोल, चिकना और साखू के फल इतना बड़ा होता है। उसको पहनने वाला अजेय हो जाता है। साँप से निकला मोती नीला तथा इलायची इतना बड़ा होता है। उसके पहनने से सर्पोपद्रव, विष तथा बिजली से रक्षा होती है। बादल में पैदा मोती तो देवता पृथ्वी पर आने ही नहीं देते, गिरने के पहले ही उन्हें रोक लेते हैं। चिंतामणि मोती वह है, जो बरसते पानी की एक बूंद हवा से सूख कर मोती हो जाय। सीप के मोती छोटे और मूल्यवान होते हैं।

रत्नशास्त्रों में मोती के आकरों की संख्या भिन्न-भिन्न दी हुई है। एक अनुश्रुति के अनुसार आठ आकर हैं, तो दूसरी के अनुसार चार। अर्थशास्त्र २।११।२९ के अनुसार ताम्रपर्णी से निकलने वाले मोती ताम्रपर्णिक, पांड्यकवाट से पांड्यकावाटक, पाश से पाशिक्य, कूल से कौलेय, चूर्ण से चौर्णेय, महेंद्र से माहेंद्र, कार्दम से कार्दमिक, स्रोतसि से स्रोतसीय, ह्रद से ह्रदीय और हिमवत् से हैमवतीय।

उपर्युक्त तालिका में ताम्रपर्णिक और पांड्यकवाटक तो निश्चय मनार की खाड़ी के मोती के द्योतक हैं। ताम्रपर्ण से यहाँ ताम्रपर्णी नदी का तात्पर्य माना गया है। पांड्यवाट मथुरै है, जहाँ मोती का व्यापार

खूब चलता था। पाश से शायद फारस का मतलब है। चूर्ण, टीकाकार के अनुसार केरल में मुचिरि के पास एक गाँव आता है। यह गाँव शायद तामिलसाहित्य का मुचिरि और पेरिप्लस (शाफ, वही, पृ० २०५) का मुजिरिस था, जिसकी पहचान क्रैंगनोर में मुचिरिकोट्ट से की जाती है। मुजिरिस ईसा की आरंभिक सदियों में एक बड़ा बंदर था और बहुत संभव है कि यहाँ मोती आने से किसी नदी के नाम के आधार पर मोती का चौर्णेय नाम पड़ गया हो। टीका के अनुसार कौलेय मोती का नाम सिंहल की किसी कूल नदी के नाम पर पड़ा, पर विचार करने से यह बात ठीक नहीं मालूम पड़ती। कुल से पेरिप्लस (५६) के कोल्चि तथा शिलप्पदिकारम् (पृ० २०२) के कौरकै से बोध होता है, जो मोतियों के लिए प्रसिद्ध था। पेरिप्लस के समय में वह पांड्यदेश का एक प्रसिद्ध बंदरगाह था। पर ताम्रलिप्ति नदी द्वारा बंदर के भर जाने पर बंदरगाह वहाँ से पाँच मील दूर हटकर कायल में पहुँच गया। माहेंद्रक, कार्दमक, ह्रादीय और स्त्रौतसीय का ठीक पता नहीं चलता। टीकाकार के अनुसार कार्दम ईरान में व स्रोतसी बर्बर देश में नदियाँ थीं और ह्रद बर्बर देश में दह था। इन संकेतों में जो भी तथ्य हो, पर यहाँ टीकाकार का फारस की खाड़ी और बर्बर देश से मोती आने की ओर संकेत अवश्य है। हिमालय तो सब रत्नों का घर माना ही जाता था। वराहमिहिर (८१।१) के अनुसार सिंहल, परलोक, सुराष्ट्र, ताम्रपर्णी, पार्शववास कौवेरवाट, पांड्यवाट और हिमालय में मोती होते थे।

सिंहल—मनार की खाड़ी मोती के लिए प्रसिद्ध है। यह खाड़ी ६५ से १५० मील चौड़ी हिंद महासागर की एक बाहु है। मोती के सीप सिंहल के उत्तर-पश्चिमी तट से हट कर तथा तूतीकोरिन के आसपास मिलते हैं। मोतियों के इस स्रोत का उल्लेख प्लिनी (९।५४-८), पेरिप्लस (३५, ३६, ५६, ५९), मार्कोपोलो (दि बुक आफ सेर मार्कोपोलो, भा० २, पृ २६७, २६८), फ्रायर जार्डेन्स (मीराविलिया डिसक्रिप्टा, हक्लूयत सोसाइटी, १८६३, पृ० ९३), लिक्शोटेन (दि वोजय आफ लिक्शोटेन, हक्लूयेत सोसाइटी, १८८४, भा०२ पृ० १३३-१३५) इत्यादि करते हैं।

परलोक—इसी को शायद ठक्कुर फेरू ने रामावालोक कहा है। इस प्रदेश का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि मध्यकाल में अरब भौगोलिक पेगू को रह्मादेश कहते थे। बरमा के समुद्रतट से कुछ दूर मेर्गुई द्वीप समूह के समुद्र में अब भी मोती मिलते हैं। रामा से पेगू की पहचान की जा सकती है। यहाँ सलंग लोग मोती निकालते हैं। सुराष्ट्र-कच्छ की रन के दखिन में, नवानगर के समुद्रतट आगे, जोधाबंदर के पास, मंगरा से कच्छ की खाड़ी में पिंडेरा तक आजद, चौक, कलुंबार और नीरा के द्वीपों के आसपास भी मोती मिलते हैं (सी० एफ० कुंज और सी० एच० स्टिवेन्सन, दि बुक आफ पर्ल, पृ० १३२, लंडन १९०८)।

ताम्रपर्णी—जैसा हम ऊपर कह आए हैं, यहाँ ताम्रपर्णी से मनार की खाड़ी से मतलब है। ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर पहले कोरके बंदरगाह पर, बाद में उसके भर जाने से उसके दक्खिन पाँच मीलपर कायल बंदरगाह हो गया।

पांड्यवाट—इससे शायद मथुरै का मतलब है, जहाँ मोती का खूब व्यापार चलता था। शिलप्पदिकारम् (पृ० २०७) के अनुसार वहाँ के जौहरी बाजार में चंद्रागुरू, अंगारक और अणिमुत्तु किस्म के मोती बिकते थे।

कौवेरवाट—इसका ठीक पता तो नहीं चलता, पर संभव है कि यहाँ चोलों की सुप्रसिद्ध राजधानी कावेरीपट्टीनम् अथवा पुहार से मतलब हो। शिलप्पदिकारम् (पृ० ११०-१११) के अनुसार यहाँ मोतीसाज रहते थे और बेऐब मोती बिकते थे।

पारशववास—इससे फारस की खाड़ी से मतलब है। यहाँ मोती बहुत प्राचीन काल से मिलते हैं। इसका उल्लेख मेगास्थनीज, चैरक्स के इसिडोर, नियर्कस तथा टाल्मी ने किया है। टाल्मी के अनुसार मोती के सीप टाइलौस द्वीप (आधुनिक बहरैन) में मिलते थे। पेरिप्लस (३५) के अनुसार कलेई (मश्कत) के उत्तर-पश्चिम दैमानियत द्वीप समूह (कल्हात) में मोती के सीप मिलते थे। नवीं सदी में मासूदी ने उसका वर्णन किया है (रेनो, मेमायर सुर लें द, पारी १८५९)। इब्नबतूता (गिबन, इब्नबतूता) ने इसका उल्लेख किया है। वार्थेम ने (दि ट्रावेल्स आफ लोदोविको वार्थेमा, पृ० ९५, लंडन, १८६३) हुर्मुज कीयात्रा में फारस

की खाड़ी के मोतियों का वर्णन किया है। लिन्शोटेन और तावर्नियें ने भी हुर्मुज, बसरा और बहरैन के मोती के व्यापार का आँखों-देखा वर्णन दिया है।

अगस्तिमत (१०६-१११) और मानसोल्लास (१, ४३४) के अनुसार सिंहल, आरवाटी, बर्बर और पारसीक से मोती आते थे। सिंहल और फारस का तो हम वर्णन कर चुके हैं। आरवाटी और बर्बर से यहाँ अरब से दक्खिन-पूर्वी तट और बर्बर से लाल सागर से मिलने वाले मोती के सीपों से तात्पर्य मालूम पड़ता है। अरब में अदन से मश्कत तक के बंदरों में मोती के गोताखोर मिलते हैं, जो अपना व्यापार सोकोतरा के द्वीपों, पूर्वी अफ्रीका और जंजीबार तक चलाते हैं। लाल सागर में अकावा की खाड़ी से बाबेल मंदेब तक मोती के सीप मिलते हैं, (कुंज. वही, पृ० १४२)।

ठक्कुर फेरू के अनुसार (४६) मोती रामावलोइ, बब्बर, सिंहल, कांतार, पारस, केसिय और समुद्रतट से आते थे। उपर्युक्त तालिका कुछ अंश में रत्नशास्त्रों की तालिकाओं से भिन्न है। रामावलोइ से, जैसा हम पहले कह आए हैं, शायद मेरगुइ के द्वीप-समूह से अथवा पेगू से मतलब हो। बब्बर से लाल सागर के अफ्रीकी तट से मतलब है। यहाँ बर्बर लोगों से नील नदी और लाल सागर के बीच रहने वाले दनाकिल तथा सोमाल और गल्लो से है। कांतार से यहाँ रेगिस्तान से अभिप्राय है। महानिद्देस (वाले पूसाँ द्वारा संपादित, पृ० १५४-५५) के अनुसार मरु कांतार किसी प्रदेश का नाम है, जो शायद बेरेनिके से सिकंदरिया तक के मार्ग का द्योतक था। यह भी संभव है कि ठक्कुर फेरू का मतलब यहाँ कांतार से अरब के दक्खिन-पूर्वी समुद्रतट से हो, जहाँ के मोतियों के बारे में हम ऊपर कह आए हैं। अगर हमारा अनुमान ठीक है, तो यहाँ कांतार से अगस्तिमत के आवाटी और मानसोल्लास के आवाट से मतलब है। केसिय से यहाँ निश्चय इब्नबतूता (गिब्स, इब्नबतूता, पृ० १२१, पृ० ३५३) के बंदर कैस से मतलब है, जिसे उसने भूल से सीराफ के साथ में मिला दिया है। वास्तव में यह बंदर सीराफ से ७० मील दक्खिन में है। सीराफ (आधुनिक तहीरी के पास), के पतन के बाद १३ वीं सदी में उसका सारा व्यापार कैस चला आया। करीब १३०० के, कैस का व्यापार हुर्मुज उठ आया। कैस के गोताखोरों द्वारा मोती निकालने का आँखों-देखा वर्णन इब्नबतूता ने किया है। जैसे बाद में चल कर और आज तक बसरा के मोती प्रसिद्ध हुए हैं, उसी तरह शायद चौदहवीं सदी में कैस के मोती प्रसिद्ध थे।

इब्नबतूता के शब्दों में—"हम सुंजुवाल से कैस के शहर को गए, जिसे सीराफ भी कहते हैं। सीराफ के लोग भले घर के और ईरानी नस्ल के हैं। उनमें एक अरब कबीला मोतियों के लिए गोताखोरी का काम करता था। मोती के सीप सीराफ और बहरैन के बीच नदी की तरह शांत समुद्र में होते हैं। अप्रैल और मई के महीनों में यहाँ फार्स, बहरैन और कतीफ के व्यापारियों और गोताखोरों से लदी नावें आती हैं।"

बुद्धभट्ट ने केवल सफेद मोतियों का वर्णन किया है। अगस्तिमत के अनुसार मोती महुअई (मधुर), पीले और सफेद होते हैं। मानसोल्लास में नीले मोती का भी उल्लेख है तथा रत्नसंग्रह में लाल मोती का। ठक्कुर फेरू ने भी प्राय: मोती के इन्हीं रंगों का वर्णन किया है।

रत्नशास्त्रों के अनुसार गोल, सफेद, निर्मल, स्वच्छ, स्निग्ध और भारी मोती अच्छे होते हैं। अच्छे मोती के बारे में ठक्कुर फेरू (५१) का भी यही मत है।

रत्नशास्त्रों के अनुसार मोती के आकार-दोष—अर्धरूप, तिकोनापन, कृशपार्श्व और त्रिवृत्त (तीनगाँठ); बनावट के दोष—शुक्तिपार्श्व (सीप से लगाव), मत्स्याक्ष (मछली की आँख का दाग), विस्फोटपूर्ण (चिटक), बलुआहट (पंकपूर्ण शर्कर) और रूखापन; तथा रंग के दोष—पीलापन, गदलापन, कांस्यवर्ण, ताम्राभ और जठर माने गए हैं। मोती के प्राय: यही दोष ठक्कुर फेरू ने भी गिनाए हैं। इन दोषों से मोती का मूल्य काफी घट जाता था।

हम हीरे के प्रकरण में देख आए हैं कि ठक्कुर फेरू ने मोतियों के तौल और दाम का क्या हिसाब रखा था। प्राचीन रत्नशास्त्रों में इस सम्बन्ध में दो मत मिलते हैं। एक तो बुद्धभट्ट और वराहमिहिर का और दूसरा अगस्तिमत का। पहले सिद्धांत में गुंजा अथवा कृष्णल की तौल है। माष पाँच गुंजों के बराबर होता था

श्रौर शाण चार माष के। दाम रूपक श्रथवा कार्षापण में लगाया गया है। सबसे बड़ी तौल एक शाण मान ली गई है श्रौर कीमत ५३०० रूपक। तौल में हर एक माष बढ़ने पर दाम दुगुना हो जाता था। दूसरे सिद्धांत में तौल गुंजा, मंजली श्रौर कलंज में निर्धारित है। एक कलंज चालीस गुंजों के श्रथवा चौंतीस मंजली के बराबर माना गया है। गुंजा की तौल करीब श्राधा कैरेट तथा कलंज करीब साढ़े बाईस कैरेट के है। मोती की भारी से भारी तौल दो कलंज मानकर उसकी कीमत ११७१११७३ मानी गई है। तौल पर दाम किस श्राधार पर बढ़ता था, इसका विवरण ठीक तरह से समझ में नहीं श्राता।

सब रत्नशास्त्रों के श्रनुसार सिंहल में नकली मोती पारे के मेल से बनते थे। नकली मोती जाँचने के लिए मोती पानी, तेल श्रौर नमक के घोल में एक रात रख दिया जाता था। दूसरे दिन उसे एक सफेद कपड़े में धान की भूसी के साथ रगड़ते थे। ऐसा करने से नकली मोती का रंग उतर जाता था, पर श्रसली मोती श्रौर भी चमकने लगता था।

मानिक

श्रनुश्रुति के श्रनुसार पद्मराग की उत्पत्ति श्रसुरबल के रक्त से हुई। मानिक के नामों में पद्मराग, सौगंधिक, कुरुविंद, माणिक्य, नीलगंधि श्रौर मांसखंड मुख्य हैं। बुद्धभट्ट के कुरुविंदज, सुगंधिकौत्थ, स्फटिक प्रसूत तथा वराहमिहिर के कुरुविंदभव, सौगंधिभव तथा स्फटिक का श्राक्षरिक श्रर्थ जैसे 'गंधक से उत्पन्न', ईंगुर से उत्पन्न, स्फटिक से उत्पन्न लिया जाय श्रथवा नहीं, इसमें संदेह है। यह नहीं कहा जा सकता कि रत्नपरीक्षा को, जिससे दोनों शास्त्रकारों ने मसाला लिया है, गंधक, ईंगुर श्रौर स्फटिक से मानिक की उत्पत्ति के किसी रासायनिक प्रक्रिया का ज्ञान था श्रथवा नहीं।

प्रायः सब शास्त्रों के श्रनुसार सबसे श्रच्छा मानिक लंका में रावणगंगा नदी के किनारे मिलता था। कुछ हलके दर्जे के मानिक कलपुर श्रंध्र तथा तुंवर में मिलते थे—(११४) बुद्धभट्ट, वराहमिहिर (८२।१), मानसोल्लास, (१।४७३-७४)। ठक्कुर फेरू (५५) के श्रनुसार मानिक सिंहल मेंरा मागंगा नदी के तट पर, कलशपुर श्रौर तुंवर देश में मिलते थे।

रावणगंगा—ठक्कुर फेरू की रामागंगा शायद रावणगंगा ही है। यहाँ हम पाठकों का ध्यान इब्नबतूता की सिंहलयात्रा की श्रोर दिलाना चाहते हैं। श्रपनी यात्रा में वह कुनकार पहुँचा, जहाँ मानिक मिलते थे (गिब्स, इब्नबतूता, पृ० २५६-५७)। वह नगर एक नदी पर स्थित था, जो दो पहाड़ों के बीच बहती थी। इब्नबतूता के श्रनुसार (मौलवी मुहम्मदहुसेन, शेख इब्नबतूता का सफरनामा, पृ० ३३८-३६, लाहौर, १८६८) इस शहर में 'ब्राह्मण' किस्म के मानिक मिलते थे। उनमें से कुछ तो नदी से निकलते थे श्रौर कुछ जमीन खोदकर। इब्नबतूता के वर्णन से यह भी पता चलता है कि याकूत शब्द का व्यवहार माणिक श्रौर नीलम तथा दूसरे रंगीन रत्नों के लिए भी होता था। सौ फनम से ऊँची मालियत के पत्थर राजा स्वयं रख लेता था। मार्कोपोलो (यूल, दि बुक श्राफ सेर मार्कोपोलो, २, १५४) ने भी सिंहल के मानिक श्रौर दूसरे कीमती पत्थरों का उल्लेख किया है। तावर्निये (ट्रावेल्स, भा० २, पृ० १०१-१०२) के श्रनुसार भी मध्य सिंहल के पहाड़ी इलाके की एक नदी से मानिक श्रौर दूसरे रत्न मिलते थे। बरसात में यह नदी बहुत बढ़ जाती थी। पानी कम हो जाने पर लोग इसमें मानिक इत्यादि की खोज करते थे।

उपर्युक्त उद्धरणों से रावणगंगा श्रथवा रामागंगा की वास्तविकता सिद्ध हो जाती है। सर ए० टेनेंट के श्रनुसार इब्नबतूता का कुनकार या कनकार गंपौला था, जिसका दूसरा नाम गंगा श्रीपुर या गंगेली था। पर गिब्स के श्रनुसार कुनकार की पहचान कोर्नेगल्ले (कुरूनगल) से की जा सकती है, जो इब्नबतूता के समय सिंहल के राजाश्रों की राजधानी थी (गिब्स्, इब्नबतूता, पृ० ३६५, नोट ६)। क (का) लपुर—कलशपुर—प्राचीन रत्नशास्त्रों में मानिक का एक प्राप्तिस्थान कलपुर दिया है। यह पाठ ठीक है श्रथवा नहीं, यह तो कहना संभव नहीं, पर खोटे मानिक का वर्णन करते हुए बुद्धभट्ट (१२६-१३१) ने कलशपुर का उल्लेख किया है। श्रगर कलपुर (मानसोल्लास का कालपुर पाठ ठीक है, तो शायद उसका मिलान तामिल काव्य पट्टिनप्पालै के

कालगम् से किया जा सकता है, जिसे श्री नीलकंठ शास्त्री कडारम् अथवा आधुनिक केदा मानते हैं (नीलकंठ शास्त्री, हिस्ट्री आफ श्रीविजय, पृ० २६, मद्रास १९४९)। पर केदा में मानिक कैसे पहुँचे, यह प्रश्न विचारणीय है। संभव है कि स्याम और बर्मा के मानिक यहाँ बिकने के लिए पहुँचते हों और बाजार के नाम से ही उत्पत्तिस्थल का नाम पड़ गया हो। कलशपुर की पहचान लिगोर के इस्थमस पर स्थित कर्मरंग से श्री लेमे ने की है (वही, पृ० ८१)। अगर यह पहचान ठीक है, तो कलशपुर में शायद मानिक का व्यापार होता रहा होगा।

आंध्र—आंध्रदेश में मानिक मिलने का और दूसरा उल्लेख ही मिलता।

तुंवर (मार्कंडेय पुराण पार्जिटर का अनुवाद, पृ० ३४३) के तुंवर, जैसा श्री पार्जिटर का अनुमान है। शायद विंध्य पाद पर रहने वाली एक जंगली जाति के लोग थे, पर तुंवर देश की स्थिति का ठीक पता नहीं चलता। विंध्य में मानिक मिलने का भी पता नहीं है।

रत्नशास्त्रों में मानिक के बहुत से रंग कहे गए हैं, जिनमें चटकीला (पद्मराग), पीतरक्त, कुरुविंद और नीलरक्त (सौगंधिक) मुख्य हैं। प्राचीन रत्नशास्त्रों के अनुसार सब तरह के मानिक एक ही खान में मिलते थे। बुद्धभट्ट के अनुसार सिंहल की नदी रावणगंगा में चार रंग के मानिक मिलते थे। पर मानसोल्लास (४७५-४१६) के अनुसार सिंहल का पद्मराग लाल, कालपुर का कुरुविंद पीला, आंध्र का सौगंधिक अशोक के पल्लव के रंग का, तथा तुंवर का नीलगंधि नीले रंग का होता था। पर खानों के अनुसार मानिक का रंगों के अनुसार वर्गीकरण कोरी कल्पना जान पड़ती है। अगस्तीय रत्नपरीक्षा (४७,५२) के अनुसार तो मानिक के वर्ण भी निश्चित कर दिए गए हैं। उस ग्रंथ में पद्मराग ब्राह्मण, कुरुविंद क्षत्रिय, श्यामगंधि वैश्य और मांसखंड शूद्र माना गया है। ब्राह्मण वर्ण का मानिक सफेद और लाल मिश्रित, क्षत्रिय गहरा लाल, वैश्य पीला मिश्रित लाल और शूद्र पीला मिश्रित लाल रंग का होता था। यहाँ यह बात जानने लायक है कि यह विश्वास केवल शास्त्रीय ही नहीं था, इसका प्रसार लोगों में भी था। इब्नबतूता के अनुसार सिंहल के मानिक को ब्राह्मण कहते भी थे।

ठक्कुर फेरू के अनुसार (५७-६१) पद्मराग सूर्य तपे सोने और अग्निवर्ण का; सौगंधिक पलास के फूल, कोयल, सारस और चकोर की आँख के रंग जैसा तथा अनारदाने के रंग का, नीलगंध कमल, आलता, मूँगा और ईंगुर के रंग का, कुरुविंद पद्मराग और सौगंधिक के रंग का और जमुनिया जामुन और कनेर के फूल के रंग का होता था।

मानसोल्लास (४८५) के अनुसार स्निग्ध छाया, गुरुत्व, निर्मलता और अतिरक्तता मानिक के गुण माने गए हैं। अगस्तीय रत्नपरीक्षा के अनुसार (५३-६०) बढ़िया मानिक गहरे लाल रंग का, लोहे से न कटनेवाला, चिकना, मांसपिंड की आभा देने वाला, बुद्धिदायक तथा पापनाशक होता था।

मानिक के आठ दोष—यथा द्विच्छाय, द्विपद, भिन्न, कर्कर, लशुनपद (दूध से पुते की तरह), कोमल, जड़ (रंगहीन) और धूम्र (धुमैला) मानिक के दोष हैं (मानसोल्लास, ४७९-४८३)।

ठक्कुर फेरू के अनुसार (६२) मानिक के आठ गुण हैं—यथा सच्छाय, सुस्निग्ध, किरणाय, कोमल, रंगीलापन, गुरुता, समता और महत्ता। इसके दोष हैं (६३) गतछाय, जड़, धूम्रता भिन्न, लशुन, कर्कर और कठिन, विपद तथा सुंदर।

ठक्कुर फेरू के अनुसार मानिक की तौल और दाम के बारे में हम ऊपर कह आए हैं। वराहमिहिर के अनुसार एक पल (४ कार्ष) के मानिक का दाम २६०००, ३ कार्ष का २००००, २ कार्ष का १२०००, १ कार्ष (१६ माषक) का ६०००, ८ माषक का ३०००, ४ माषक का १००० और २ माषक का ५०० है। बुद्धभट्ट (१४४) के अनुसार समान तौल के हीरे और मानिक का एक ही मूल्य होता है, पर हीरे की तौल तंडुलों में और मानिक की तौल माषकों में होती है। अगस्तिमत के अनुसार मानिक का दाम बढ़ना तीन बातों पर अवलंबित था—यथा मानिक की किस्म, घनत्व (यवों में) तथा कांति (सर्षपों में) मानिक की साधारण कांति का मापदंड २० सर्षपों के उतार-चढ़ाव में निहित थी। इसके लिए ऊर्ध्ववर्ति, पार्श्ववर्ति, अधोवर्ति अथवा ठक्कुर फेरू (६७) ऊर्ध्वज्योतिस्, पार्श्वज्योतिस् और अधोज्योतिस् शब्द व्यवहार में आए हैं। अगर कांति २० सर्षपों

से अधिक हुई, तो उसे कांतिरंग कहते थे और उसी अनुपात में उसका दाम बढ़ जाता था। घनत्व की इकाई ३ यव मानी गई है, इसमें हर बार इकाई बढ़ने पर मानिक का दाम दुगुना हो जाता था। अधिक-से-अधिक दाम २६१, ६१४,००० तक पहुँचता है।

ठक्कुर फेरू ने (६१) मानिक के किस्मों पर दाम का अनुपात निश्चित किया है। उसके अनुसार पद्मराग, सौगंधिक, नीलगंध, कुरुविंद और जमुनिया के दामों में १०, १५, १०, ६ और ३ बिस्वा मूल्य का अंतर पड़ जाता था। ठक्कुर फेरू ने (६८) केवल ऊर्ध्ववर्ति, अधोवर्ति और तिर्यक्वर्ति मानिकों को उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी का माना है, बाकी को मिट्टी। सान पर चढ़ाने से घिसने वाली, तथा छूते ही दाग पड़ने वाली तथा हीरे में पत्थर वाली चुन्नी को चिप्पटिका कहते थे (७०)।

ठक्कुर फेरू ने तो नकली मानिक बनाने की किसी विधि का उल्लेख नहीं किया है, पर रत्नशास्त्रों में, जैसा हम ऊपर देख आए हैं, नकली मानिक बनाने की विधियाँ दी हुई हैं और यह भी बतलाया गया है कि नकली मानिक कैसे पहचाने जा सकते थे। बुद्धभट्ट (१२९-१३१) ने पाँच तरह के नकली मानिक बताए हैं, जो बनाए तो नहीं जाते थे, पर वे साधारण उपरत्न थे, जो मानिक से मिलते-जुलते थे और जिनसे मानिक का धोखा खाया जा सकता था। ये पत्थर कलशपुर, तुंवर, सिंहल, मुक्तामाल और श्रीपूर्णक से आते थे। मुक्तामाल का पता नहीं चलता, पर श्रीपूर्णक से शायद यहाँ सिंहल के श्रीपुर से मतलब हो।

नीलम

अनुश्रुति के अनुसार नीलम की उत्पत्ति असुर बल की आँखों से हुई। शास्त्रों के अनुसार नीलम की दो किस्में थीं—इंद्रनील और महानील, पर इनके रंगों के बारे में शास्त्रकारों के विभिन्न मत हैं। बुद्धभट्ट के अनुसार इंद्रनील का रंग इंद्रधनुष जैसा होता है और महानील का रंग दूध में नीलापन ला देता है। पर दूसरे शास्त्रों के अनुसार यह इंद्रनील का गुण है। ठक्कुर फेरू (८१) ने इंद्रनील और महानील को मिला कर नीलम का नामकरण महेंद्रनील किया है।

बुद्धभट्ट के अनुसार नीलम केवल सिंहल से आता था। मानसोल्लास (४६२) के अनुसार नीलम सिंहल द्वीप के मध्य में रावणगंगा नदी के किनारे पद्माकर से मिलता था। अगस्तिमत ने कलपुर और कलिंग के नाम भी जोड़ दिए हैं। उसके अनुसार कलपुर का नीलम गाय की आँख के रंग का और कलिंग नीलम बाज की आँख के रंग का होता था।

हम ऊपर देख आए हैं कि इब्नबतूता सिंहल के नीलम और उसके प्राप्तिस्थान का किस तरह आँखों देखा हाल वर्णन करता है। लिक्शोटेन (भा० २, पृ० १४०) के अनुसार पेगू का नीलम भी अच्छा होता था, जो शायद मोगा की मानिक की खानों से निकलता था (तावर्निये २, पृ० १०१, १०२)। कलपुर और कलिंग के नीलम से शायद बर्मा और स्याम के नीलम से मतलब हो, जो कलिंग और केदा के बाजारों में जा कर बिकते थे।

रत्नशास्त्रों में नीलम के दस या ग्यारह रंग कहे गए हैं। श्वेत नीलम ब्राह्मण, रक्त नीलम क्षत्रिय, पीत नीलम वैश्य, घननील शूद्र माना गया है। ठक्कुर फेरू के अनुसार नीलम के नौ रंग होते थे—यथा नील, मेघवर्ण नील, मोर कंठी, अलसी का फूल, गिरकर्ण का फूल, भ्रमरपंखी, कृष्ण, श्यामल और कोकिल-ग्रीवाभ।

रत्न शास्त्रों के अनुसार नीलम के पाँच गुण हैं—यथा, गुरुता, स्निग्धता, रंगाढ्यता, पार्श्वरंजनता और तृणग्राहित्व। ठक्कुर फेरू के अनुसार ये गुण हैं—गुरुता, सुरंगात्रा, सुश्लक्ष्णता, कोमलता और सुरंजनता।

रत्नशास्त्रों के अनुसार नीलम के छः दोष हैं—यथा अभ्रक (धूमिल) कर्कर या स शर्कर (रेतीला), त्रास (टूटा), भिन्न (चिटका), मृदा या मृत्तिका गर्भ (भीतर मिट्टी होना) और पाषाण (हीर में पत्थर होना)। ठक्कुर फेरू (८३) के अनुसार नीलम के नौ दोष हैं, यथा अभ्रक, मंदिस (भद्दा) सकर्करगर्भ, सत्रास, जठर, पथरीला, समल, सगार (मिट्टीभरा) और विवर्ण।

नीलम का दाम मानिक की तरह लगाया जाता था। ठक्कुर फेरू के समय में नीलम के दाम के बारे में हम ऊपर कह आए हैं।

पन्ना

पन्ना (मरकत, तार्क्ष्य) की उत्पत्ति असुर बल के उस पित्त से मानी गई है, जिसे गरुड़ ने पृथ्वी पर गिराया। प्राचीन रत्नशास्त्रों में पन्ने की खानों का वर्णन अस्पष्ट है। बुद्धभट्ट (१५०) के अनुसार जब गरुड़ ने असुर बल का पित्त गिराया, तो वह बर्बरालय छोड़कर, रेगिस्तान के समीप, समुद्र के किनारे के पास, एक पर्वत पर गिर कर मरकत बन गया। यह भी कहा गया है (१४६) कि वहाँ तुरुष्क के वृक्ष होते थे। अगस्तिमत (२८७) के अनुसार वह सुप्रसिद्ध पर्वत समुद्र के किनारे के पास तुरुष्कों के देश में स्थित था। अगस्तीय रत्नपरीक्षा (७५) के अनुसार पन्ने की दो खानें थीं—एक तुरुष्क देश में और दूसरी मगध में। ठक्कुर फेरू ने (७३) मरकत के उत्पत्तिस्थान अर्वलिद, मलयाचल, बर्बर देश और उदधितीर माने हैं।

मरकत के उपर्युक्त आकर की जाँच-पड़ताल से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रायः सब शास्त्रकार पन्ने की खान बर्बर देश के रेगिस्तान में समुद्र-तीर के निकट मानते हैं। टालमी-युग से लेकर मध्यकाल तक प्रायः सब विवरण मिस्र में विशेष कर लाल सागर के पास स्थित जबरट पर्वत की पन्ने की खान का उल्लेख करते हैं। इस खान का उल्लेख प्लिनी, कासमास इंडिको प्लायस्टस (करीब ५४५ ई०), मासूदी और नवीं सदी के दूसरे अरब-यात्री करते हैं। अलईद्रिसी के अनुसार—मध्यनील पर अस्वान से कुछ दूर एक पर्वत के पाद पर पन्ने की खान है। यह खान शहर से बहुत दूर एक रेगिस्तान में है। इस पन्ने की खान की दुनिया की और कोई दूसरी खान मुकाबला नहीं कर सकती। अपने फायदे और निर्यात के लिए यहाँ काफी आदमी काम करते हैं (पी० ए० जोबर्त्त, अल ईद्रिसी, १, पृ० ३६)। यहाँ यह भी उल्लेखनीय बात है कि अस्वान से एक महीने की राह पर मरकता नामक एक शहर था, जहाँ हब्श के लाल सागरवाले किनारे पर स्थित जलेग के व्यापारी रहते थे। यह संभव हो सकता है कि संस्कृत मरकत का नाम शायद इसी शहर से पड़ा हो। पर संस्कृत मरकत की व्युत्पत्ति यूनानी स्मरग्दोस से की जाती है। यह यूनानी शब्द असीरी बर्रक्तू, हिब्रू बारिकेत या बारकत, शामी बोर्को का रूपांतर है। अरबी जुम्मुरद शायद यूनानी से निकला हो (लाउफर, साइनो इरानिका, पृ० ५१६) लिक्शोटेन २, ५, १४० के अनुसार भी भारत में बहुत कम पन्ने मिलते थे। वहाँ पन्ने की काफी माँग थी और वे मिस्र में काहिरा से आते थे।

अर्वलिद—इस देश का नाम और कहीं नहीं मिलता। पर यहाँ हम पेरिप्लस (७) के अवलितेस की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं, जिसकी पहचान बाबेल मदेव के जल-विभाजक से ७६ मील दूर जैनला से की जाती है। खाड़ी के उत्तर में अवलित गाँव में प्राचीन अवलितेस का रूप बच गया है। बहुत संभव है कि अर्वलिद भी इसी अवलितेस-अवलित का रूप हो। यहाँ पन्ना तो नहीं मिलता, पर संभव है कि जैला के व्यापारी मिस्री पन्ना इस देश में लाते रहे हों और उसी के आधार पर अर्वलिद अवलित-पन्ने का एक स्रोत मान लिया गया हो।

मलयाचल—यह दक्षिण भारत का मलयाचल तो हो नहीं सकता। शायद ठक्कुर फेरू का उद्देश्य यहाँ गेबेल जबर से हो, जहाँ बुद्धभट्ट के अनुसार तुरुष्क यानी गुगुल होता था। बर्बर और उदधि तीर का संकेत भी लाल सागर की ओर इशारा करता है।

मगध—अगस्तीय रत्नपरीक्षा में मगध में भी पन्ने की खान मानी गई है। मालेट (रेकर्डस् आफ दि जियालोजिकल सर्वे आफ इंडिया भा० ७, पृ० ४३) के अनुसार बिहार के हजारीबाग जिले में पन्ने की एक खान थी।

रत्नशास्त्रों में पन्ने की चार से आठ छाया मानी गई है। अगस्तिमत के अनुसार महामरकत में अपने पास की वस्तुओं को रंगीन कर देने की शक्ति होती थी। मरकत सहज और श्यामलिक रंग के होते थे। सहज का रंग सेवार जैसा और दूसरे शुकपंख शिरीषपुष्प और तूतिया जैसा होता था।

ठक्कुर फेरू द्वारा (७३ से) पन्ने का वर्गीकरण दूसरे ही तरह का है। लगता है कि पन्ने के नाम १४वीं सदी के जौहरियों में प्रचलित थे। पन्ने की निम्नलिखित पाँच जातियाँ मानी गई हैं—गरुड़ोद्गार, कीड़उठी,

धूलिमराई, वासवती, मूगउनी और धूलिमराई। गरुड़ोद्गार का रंग गहरा हरा, कीडउठी का कृष्ण-हरताल वर्ण की और धूलिमराई हरे कांच जैसी मानी गई है।

पन्ने के उपर्युक्त वर्णन में कुछ गोलमाल सा जान पड़ता है। गरुड़ोद्गार मरकत ही शायद असली पन्ना था। इसका उल्लेख वर्णरत्नाकर (पृ० २१) में तथा पृथ्वीचन्द्र-चरित्र (सं १४७८–१४२१ ई०, प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह, पृ० ९५, बड़ोदा १९२०) में हुआ है। कीडउठी शायद वर्णरत्नाकर (पृ० २१) का कीटपक्ष है, जिसके माने शायद टिड्डी का पंख हो सकता है, पर इसका उल्लेख वर्णरत्नाकर की उपमणियों की तालिका में है। पृथ्वीचन्द्रचरित्र (पृ० ९५) का कीटपंखि भी वही है। वासवती और मूगउनी, जिसका रंग शायद मूंग जैसा होता था, का उल्लेख दूसरी जगह नहीं मिलता। धूलिमराई का धूलिमरकत के नाम से वर्णरत्नाकर (पृ० २१) में उपमणियों की तालिका में हुआ है। पृथ्वीचन्द्र-चरित्र (पृ० ९५) की धूमिराई भी वही है। यह गड़बड़ी कैसे पैदा हुई, यह नहीं कहा जा सकता। शायद पन्ने के घटिया व बढ़ियापन से ऐसा हुआ हो।

रत्नशास्त्रों में पन्ने के पाँच गुण हैं, यथा—स्वच्छ, गुरु, सुवर्ण, स्निग्ध और अरजरकत्व (धूलिरहित) हैं। ठक्कुर फेरू के अनुसार (७६) अच्छी छाया, सुलक्षणता, अनेकता, लघुता और वर्णाढ्यता पन्ने के पाँच गुण हैं।

रत्नशास्त्रों के अनुसार शबलता, जठरता (कांतिहीनता), मलिनता, रुक्षता, सपाषाणता, कर्करता और विस्फोट पन्ने के दोष हैं। यही दोष ठक्कुर फेरू ने गिनाए हैं, केवल शबलता की जगह सर्जरसता आ गई है।

बुद्धभट्ट के अनुसार नकली पन्ना शीशा, पुत्रिका और भल्लातक से बनता था। इसके बनाने में मंजीठ, नील और ईंगुर भी उपयोग में लाए जाते थे।

उपरत्न

रत्नशास्त्रों में उपरत्नों का बड़ी सरसरी तौर पर उल्लेख हुआ है। पाँच महारत्नों के विपरीत ठक्कुर फेरू ने विद्रुम (मूँगा), लहसनिया, वैडूर्य, स्फटिक, पुखराज, कर्केतन और भीष्म का उल्लेख किया है।

विद्रुम (अर्थशास्त्र, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ७९) के अनुसार मूँगा आलकंद और विवर्ण से आता था। यहाँ आलकंद से मिस्र के सिकंदरिया के बंदरगाह से मतलब है। टीका के अनुसार विवर्ण यवन द्वीप के पास का समुद्र है। अगर यह ठीक है, तो यहाँ विवर्ण से भूमध्य सागर से तात्पर्य होना चाहिए। बुद्धभट्ट (२४९-२५२) के अनुसार मूँगा शकंवल, सम्लासक, देवरू और रामक से आते थे। यहाँ रामक से शायद रोम का मतलब हो सकता है। अगस्तिमत के एक क्षेपक (१०) में कहा गया है कि हेमकंद पर्वत की एक खारी झील में मूँगा पाया जाता था। ठक्कुर फेरू के अनुसार (९०) मूँगा कावेर, विंध्याचल, चीन, महाचीन, समुद्र और नेपाल में पैदा होता था।

पेरिप्लस (२८, ३९, ४९, ५६) के अनुसार भूमध्य सागर का लाल मूँगा बारबारिकम, बेरिगाजा (भड़ोच) और मुजिरिस के बंदरगाहों में आता था। प्लिनी (२२।११) के अनुसार मूँगे का भारत में अच्छा दाम था। आज की तरह उस समय भी मूँगा सिसली, कोर्सिका और सार्डीनिया, नेपल्स के पास, लेगहार्न और जेनेवा, कारालोनिया, बलेरिक द्वीप तथा ट्यूनिस, अलजीरिया और मोरक्को के समुद्रतट पर मिलता था। लाल सागर और अरब के समुद्र तट के मूँगे काले होते थे।

अगस्तिमत के हेलकंद पर्वत के पास एक खारी झील में मूँगा मिलने के उल्लेख से भी शायद लाल सागर अथवा फारस की खाड़ी के मूँगों से मतलब हो सकता है। श्री लाउफर के अनुसार (साइनो ईरानिका, पृ० ५२४-२५) चीनी ग्रंथों में ईरान में मूँगा पैदा होने के उल्लेख हैं। उन के अनुसार मूँगा फारस, सिंहल और चीन के दक्षिण समुद्र से आता था। एक इतिवृत्त से पता चलता है कि फारस की प्रवाल शिलाएँ तीन फुट से ऊँची नहीं होती थीं। इसमें संदेह नहीं कि फारस के मूँगे एशिया में सब जगह पहुँचते थे। कश्मीर के मूँगे का वर्णन जो एक चीनी इतिहासकार ने किया है, वह फारसी मूँगा ही रहा होगा। मार्कोपोलो (भा० २,

पृ० ३२) के अनुसार तिब्बत में मूंगे की बड़ी मांग थी और उसका काफी दाम होता था। मूंगे स्त्रियां गले में पहनती थीं अथवा वे मूर्तियों में जड़े जाते थे। कश्मीर में मूंगे इटली से पहुँचते थे और वहां उनकी काफी खपत थी (मार्कोपोलो, १, पृ० १५६)। तावर्नियें (भा० २, पृ० १३६) के अनुसार आसाम और भूटान में मूंगे की काफी मांग थी।

कावेर—यहां दक्षिण के कावेरी पट्टीनम् के बंदरगाह से मतलब हो सकता है। शायद यहां मूंगा बाहर से उतरता हो। विंध्याचल में मूंगा मिलना कोरी कल्पना मालूम पड़ती है।

चीन और महाचीन—लगता है इनसे चीन और महाचीन से यहां अंशः चीन देश और कैंटन से बोध हो। संभव है कि चीनी व्यापारी इस देश में बाहर से मूंगा लाते हों।

समुद्र—इससे भूमध्य सागर, फारस की खाड़ी और लाल सागर के मूंगों से मतलब मालूम पड़ता है।

नेपाल—जैसा हम ऊपर देख आए हैं—तिब्बत और कश्मीर की तरह नेपाल में भी मूंगे की बड़ी मांग थी। हो सकता है कि नेपाली व्यापारियों द्वारा मूंगा लाए जाने पर नेपाल उसका एक उत्पत्तिस्थान मान लिया गया हो।

लहसनिया

नीले, पीले, लाल और सफेद रंग की लहसनिया ठक्कुर फेरू (९२–९३) के अनुसार सिंहल द्वीप से आती थी। इसे विडालाक्ष अथवा बिल्ली के आंख जैसी रंग वाली भी कहा गया है। उसमें सूत पड़ने से उसे कोई पुलकित भी कहते थे।

वैडूर्य

सर्वश्री गार्बे, सौरींद्र मोहन ठाकुर और फिनो की राय है कि वैडूर्य का वर्णन लहसनिया से बहुत-कुछ मिलता है। बुद्धभट्ट (२००) ने भी वैडूर्य को बिल्ली की आंख की शक्ल का कहा है।

पाणिनि (४।३।८४) के अनुसार वैदूर्य (वैडूर्य) का नाम स्थानवाचक है। पंतजलि के अनुसार विदूर में प्रत्यय लगा कर उसे स्थानवाचक मानना ठीक नहीं, क्योंकि वैदूर्य विदूर में नहीं होता, वह तो बालवाय में होता है और विदूर में कमाया जाता है। पर शायद वालवाय शब्द विदूर में परिणत हो गया हो और इसीलिए उसमें प्रत्यय लग गया हो। इसके माने यह हुए कि विदूर शब्द वालवाय का एक दूसरा रूप है। इस पर एक मत है कि विदूर वालवाय नहीं हो सकता, दूसरा मत है कि जिस तरह व्यापारी वाराणसी को जित्वरी कहते थे, उसी तरह वैय्याकरणी बालवाय को विदूर।

उपर्युक्त कथन से यह बात साफ हो जाती है कि वैडूर्य वालवाय पर्वत में मिलता था और विदूर में कमाया और बेचा जाता था। यह पर्वत दक्षिण भारत में था। बुद्धभट्ट (१९९) के अनुसार विदूर पर्वत दो राज्यों की सीमा पर स्थित था। पहला, देश कोंग है, जिसकी पहचान आधुनिक सेलम, कोयंबटूर, तिन्नेवेली और ट्रावंकोर के कुछ भाग से की जाती है। दूसरे देश का नाम बालिक, चारिक या गोलक आता है, जिसे श्री फिनो चोलक मानते हैं, जिसकी पहचान चोलमंडल से की जा सकती है। इसी आधार पर श्री फिनो ने वालवाय की पहचान चीबर पर्वत से की है। यह बात उल्लेखनीय है कि सेलम जिले में स्फटिक और कोरंड बहुतायत से मिलते हैं।

ठक्कुर फेरू (९४) का कुवियंग कोंग का बिगड़ा रूप है। समुद्र का उल्लेख कोरी कल्पना है। ठक्कुर फेरू ने लहसनिया और वैडूर्य अलग-अलग रत्न माने हैं। संभव है कि देश-भेद से एक ही रत्न के दो नाम पड़ गए हों।

स्फटिक

प्राचीन रत्नशास्त्रों के अनुसार स्फटिक के दो भेद यानी सूर्यकांत और चंद्रकांत माने गए हैं। ठक्कुर फेरू (९६) ने भी यही माना है, पर अगस्तिमत के क्षेपक में स्फटिक के भेदों में जलकांत और हंसगर्भ भी माने

गए हैं। पृथवीचंद्र चरित्र (पृ० ९५) में भी जलकांत और हंसगर्भ का उल्लेख है। सूर्यकांत से आग, चंद्रकांत से अमृतवर्षा, जलकांत से पानी निकलना तथा हंसगर्भ से विष का नाश माना जाता था।

बुद्धभट्ट के अनुसार स्फटिक कावेरी नदी, विंध्याचल पर्वत, यवन देश, चीन और नेपाल में होता था। मानसोल्लास के अनुसार ये स्थान लंका, ताप्ती नदी, विंध्याचल और हिमालय थे। ठक्कुर फेरू के अनुसार नेपाल, कश्मीर, चीन, कावेरी नदी, जमुना और विंध्याचल से स्फटिक आता था।

पुखराज

पुखराज की उत्पत्ति असुर के बल के चमड़े से मानी गई है। इसका दाम लहसनिया जैसा होता था। बुद्धभट्ट के अनुसार पुखराज हिमालय में, अगस्तिमत के अनुसार सिंहल और कलहस्थ (?) में तथा रत्नसंग्रह के अनुसार सिंहल और कर्क (?) में होता था। ठक्कुर फेरू ने हिमालय को ही पुखराज का उद्गम स्थान माना है। पर यह बात प्रसिद्ध है कि सिंहल अपने पीले पुखराज के लिए प्रसिद्ध है।

कर्केतन

कर्केतन के उत्पत्ति स्थान का किसी रत्नशास्त्र में उल्लेख नहीं है, पर ठक्कुर फेरू ने पवणुप्पट्ठान देश में इसकी उत्पत्ति कही है। यहाँ शायद दो जगहों से मतलब है पवण और उवप्पट्ठान। पलण से संभव है शायद अफगानिस्तान में गजनी के पास पर्वान से मतलब हो और उवप्पट्ठान से परि—अफगानिस्तान से। अगर हमारी पहचान ठीक है, तो यहाँ पर्वान से शायद वहाँ कर्केतन के व्यापार से मतलब हो। उवप्पट्ठान से रूस में उराल पर्वत में एकाहेरिन बर्ग और टाकोवाजा की कर्केतन की खानों से मतलब हो (जी० एफ०, हर्बर्ट स्मिथ, जेम स्टोन्स, पृ० २३६, लंडन १९२३)। यह भी संभव है कि उवप्पट्ठान में पट्टन शब्द छिपा हो। इब्नबतूता ने (२६३-६४) फट्टन को चोल मंडल का एक बड़ा बंदर माना है। पर इस बंदर की ठीक पहचान नहीं हो सकती। संभव है कि इससे कावेरीपट्टीनम् अथवा नागपट्टीनम् का बोध होता हो। अगर यह पहचान ठीक है, तो शायद सिंहल का कर्केतन यहाँ आता हो।

ठक्कुर फेरू के अनुसार इसका रंग तारे अथवा पके हुए की तरह अथवा नीलाभ होता था।

भीष्म

ठक्कुर फेरू ने भीष्म का उत्पत्तिस्थान हिमालय माना है। यह सफेद बिजली और आग से रक्षा करने वाला माना गया है।

गोमेद

रत्नशास्त्रों में इसका विवरण कम आया है। अगस्तिमत के क्षेपक में (४-५) गोमेद को स्वच्छ, गुरू, स्निग्ध और गोमूत्र के रंग का कहा गया है। अगस्तीय रत्नपरीक्षा (८३-८६) में गोमेद को गाय के मेद अथवा गोमूत्र के रंग का कहा गया है। उसका रंग धवल और पिंजर भी होता था। ठक्कुर फेरू (१००) ने इसका रंग गहरा लाल, सफेद और पीला माना है।

किसी रत्नशास्त्र में गोमेद के उत्पत्तिस्थान का पता नहीं चलता। पर ठक्कुर फेरू ने इसका स्रोत सिरिनायकुलपरे बग देस तथा नर्मदा नदी माना है। सिरिनायकुलमपर में कौन-सा नाम छिपा हुआ है यह तो ठीक नहीं कहा जा सकता पर गोलकुंडा से मसुली पटन के रास्ते में पुंगल के आगे नगुलपाद पड़ता था, जिसे तार्वनिये ने नगेलपर कहा है (तार्वनिये, १ पृ० १७३), संभव है कि नायकुल पर यही स्थान हो। बग देस से शायद बंगाल का बोध हो सकता है; बहुत संभव है कि १४ वीं सदी में सिंहल से गोमेद वहाँ जाता रहा हो।

पारसी रत्न

ठक्कुर फेरू ने (१०३) लाल, अकीक और फिरोजा को पारसी रत्न माना है। इसका यह अर्थ हुआ कि ये रत्न या तो फारस में होते थे अथवा उनका व्यापार फारस और अरब के व्यापारी करते थे।

लाल : आग की तरह लाल यह रत्न बंदखसाण देश यानी बदख्शाँ से आता था। मार्कोपोलो (भा० १, पृ० १४६-५०) के अनुसार बदख्शाँ के बलास मानिक प्रसिद्ध थे। वे सिग्नान के एक पहाड़ से खोद कर निकाले जाते थे और उन पर वहाँ के शासक का पूरा अधिकार होता था। लाल की खानें वंक्षु नदी के दाहिने किनारे पर इराकाशम जिले में सिग्नान की सीमा पर स्थित हैं (वुड, ए जर्नी टु आक्सस, पृ० ३३)।

अकीक : ठक्कुर फेरू ने इसे पीले रंग का कहा है और इसकी उत्पत्ति जमण देश यानी अरब में यमन देश माना है। यमन देश के अकीक का उल्लेख इब्नबैतर (११९७-१२४८) ने किया है। फेरॉं तेक्सत रेलातीफ अ ल एक्सत्रेम ओरियाँ (१, पृ० २५६) और इसे कई बीमारियों की औषधि मानो है। आज दिन भी यम की अकीक बंबई में प्रसिद्ध है। इसका दाम ठक्कुर फेरू के अनुसार बहुत कम होता था।

फिरोजा

ठक्कुर फेरू के अनुसार नीलाम्ल रंग का फिरोजा निसावर और भुवासीर की खानों से आता था। निसावर से यहाँ फारस के निशापुर से मतलब है। तावर्नियें (२, पृ० १०३-०४) के अनुसार फिरोजा फारस में दो खानों से पाया जाता है। पुरानी खान मशद से तीन दिन के रास्ते पर निशापुर के आसपास थी और नई मशद से पाँच दिन के रास्ते पर थी। भुवासीर से यहाँ ईराक के मोसुल या अलमौसिल से बोध होता है। लगता है, फारसी फिरोजा यहाँ व्यापार के लिए आता था। आज दिन भी मौसुल में फिरोजे का व्यापार होता है।

लाल, लहसुनिया, इन्द्रनील, और फिरोजे का दाम ठक्कुर फेरू के अनुसार तौल के अनुसार सोने के टाँकों में होती थी। निम्नलिखित यंत्र से यह बात साफ हो जाती है—

मासा	०॥	१	१॥	२	२॥	३	३॥	४
लाल	१	२॥	६	९	१५	२४	३४	५०
ल्हसणी	०।।।	१॥-२।	४॥	६॥	११।	१८	२५॥	३७॥
इन्द्रनील	०।	०॥	०।।।	१	१	५	८	१५
पेरोजा	०।	०॥	०।।।	१	२	५	८	१५

प्राचीन रत्नशास्त्रों के आधार पर हमने ऊपर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि रत्नशास्त्र प्राचीन भारत में एक विज्ञान माना जाता था। उस विज्ञान में बहुत-सी बातें तो अनुश्रुति पर अवलंबित थीं, पर इसमें संदेह नहीं कि समय-समय पर रत्नशास्त्रों के लेखक अपने अनुभवों का भी संकलन कर देते थे। ठक्कुर फेरू ने भी अपनी रत्नपरीक्षा में प्राचीन ग्रंथों का सहारा लेते हुए भी चौदहवीं सदी के रत्न-व्यवसाय पर काफी प्रकाश डाला है। ठक्कुर फेरू के ग्रंथ की महत्ता इसलिए और भी बढ़ जाती है कि रत्न-संबंधी इतनी बातें सुल्तान युग के किसी फारसी अथवा भारतीय ग्रंथकार ने नहीं दी हैं। कुछ रत्नों के उत्पत्तिस्थान भी ठक्कुर फेरू ने १४ वीं सदी के रत्नों के आयात-निर्यात देख कर निश्चित किए हैं। रत्नों की तौल और दाम भी उसने समयानुसार रखे हैं, प्राचीन शास्त्रों के आधार पर नहीं। पारसी रत्नों का विवरण तो ठक्कुर फेरू का अपना ही है। पद्मराग के प्राचीन भेद तो उसने गिनाए हैं, पर चुन्नी नाम का भी उसने प्रयोग किया है, जिसका व्यवहार आज दिन भी जौहरी करते हैं। उसी तरह घटिया काले मानिक के लिए देशी शब्द चिप्पड़िया का व्यवहार किया गया है। हीरे के लिए फार शब्द भी आजकल प्रचलित है। लगता है, उस समय मालवा हीरे के व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध था, क्योंकि ठक्कुर ने चोखे हीरे के लिए मालवी शब्द व्यवहार किया है। पन्ने के बारे में तो उसने बहुत-सी नई बातें कही हैं। कुछ ऐसा लगता है कि ठक्कुर फेरू के समय में नई और पुरानी खान के पन्नों में भेद हो चुका था और इसलिए उसने पन्नों के तत्कालीन प्रचलित नाम गरुड़ोद्गार, कीडउठी, वासवती, मूगउनी और धूलिमराई दिए हैं। इन सब बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ठक्कुर फेरू रत्नों के सच्चे पारखी थे। उन्होंने देख-समझ कर ही रत्नों के वर्णन लिखे हैं, केवल परंपरागत सिद्धांतों के आधार पर ही नहीं।[1]

•••

[1] ठक्कुर फेरू की 'रत्नपरीक्षा' का उपयोग करने के लिए मैं श्री अगरचंद नाहटा का आभारी हूँ—लेखक।

प्राचीन भारतीय आसन और शय्या

श्री नीलकंठ

*   *

आसन और शय्या मनुष्य की एक बड़ी आवश्यकता है। इसके विकास का अध्ययन मानव समाज के सांस्कृतिक और सांपत्तिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। प्रस्तुत लेख में भारतीयसमाज में मौर्यकाल से कुषाणकाल तक (लगभग ई० पू० ३०० से सन् ३०० तक) आसन और शय्याओं की क्या स्थिति थी, इस पर विचार किया जाएगा। प्रस्तुत विवेचन का प्रमुख आधार तत्कालीन कला और साहित्य ही होगा।

आसन

सिंहासन—आसनों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान सिंहासन का है। साधारण मूल्यवान आसनों से यह सर्वथा भिन्न होता है और केवल विशेष अवसरों पर विशेष प्रकार के व्यक्तियों के द्वारा ही प्रयोग में लाया जाता है। सिंहासन—यह शब्द ही इस बात का द्योतक है कि इस प्रकार के आसन के निर्माण में सिंहों की आकृतियाँ प्रमुख रूप से व्यवहृत होती होंगी। कला इसकी पुष्टि करती है। कलकत्ते के संग्रहालय में सिंहों की मौर्यकालीन दो आकृतियाँ हैं, जो श्री स्टुअर्ट पिगॉट के मतानुसार मूलतः किसी मौर्यकालीन सिंहासन के भाग रहे होंगे ?[1] इस प्रकार की कुषाणकालीन सिंहाकृतियाँ मथुरा से भी मिली हैं (चित्र सं० २, ३)। इसी स्थान से कुषाणसम्राट विम कट् फिशस का पत्थर का बना हुआ एक सिंहासन भी मिला है (चित्र सं० १३) जिसमें सिंह, आसन को संभाले हुए दिखलाए गए हैं। रायपसेणिय सुत्त नामक एक प्राचीन जैनग्रंथ में सिंहासन का साङ्ग विस्तृत विवेचन मिलता है, जिसमें चाँदी के बने हुए सिंह उल्लेखित हैं[२]।

भगवान बुद्ध, जैन तीर्थङ्कर तथा अन्य धर्म-गुरुओं को सिंहासन पर बैठने का सम्मान प्राप्त था। ऐसी बुद्ध तथा तीर्थङ्करों की कितनी ही प्राचीन मूर्तियाँ मिली हुई हैं, जिनमें सिंहासन दिखलाई पड़ता है। समय की गति के अनुसार इन आसनों पर विभिन्न रूप के सिंह बने हुए हैं। कहीं तो वे दर्शक की ओर मुँह किए खड़े या बैठे हैं (चित्र सं० ४, ५, ६), कहीं मस्तक को दाहिने या बाएँ घुमाकर खड़े हैं और कहीं एक दूसरे की ओर पीठ किए बैठे हैं, (चित्र सं० ८, ९)।

गांधार-कला में एक और प्रकार का सिंहासन मिलता है, जिसमें ऊपर की ओर एक चाँदनी है, जो चार खंभों पर टिकी है; जिनमें सामने की ओर के दोनों खंभों पर चामरधारी आकृतियाँ बनी हुई हैं[३]।

पल्लङ्क—दूसरा महत्वपूर्ण आसन पल्लङ्क है। यद्यपि कहीं-कहीं पर पाली-साहित्य में पल्लंक और सीहासन ये दोनों शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, तथापि अन्य स्थलों पर इनका भेद भी उल्लेखित है[४]। जहाँ सीहासन में केवल सिंह की ही आकृतियाँ बनी हुई होती थीं, वहाँ पल्लङ्कों के निर्माण में अन्य पशुओं की आकृतियाँ भी बनायी जाती थीं। अमरावती की कलाकृतियों में पल्लंक के कई सुंदर नमूने मिलते हैं, (चित्र सं० ७)। यह एक आयताकार आसन होता था, जिसके पृष्ठ भाग पर तथा बाजुओं पर बहुधा मगर तथा सिंह की आकृतियाँ बनी होती थीं। सादे पल्लङ्क का एक नमूना दक्षिण भारत के गोली स्तूप में भी मिलता है (चित्र सं० १०)।

मंच—मंचों का विशद विवरण एवं वर्गीकरण विनय पिटक में मिलता है[५]। यहाँ की सूची में से कई तो कला में भी दिखलाई पड़ते हैं[६]। मंच के पाये को पाद तथा चौखट को अटनी कहते थे। अटनी और पाद के परस्पर संबंधानुसार आसनों एवं पर्यङ्कों के तीन भेद किए गए हैं—

(अ) मसारक—जब पलंग की चौखट को पायों में फँसाया जाता था, जैसे आजकल चारपाइयों में किया जाता है, तब उसे मसारक मंच कहते थे[७]। इसका नमूना मथुरा की कला में पाया जाता है, (चित्र सं० ३७)।

---

[1] कृपया इस लेख की समस्त पाद-टिप्पणियाँ इसी लेख के अंत में देखने की कृपा करें।

१०
१२
१३
११
१४
१५
१६
१७
१८
१९
२०
२१
२२
२३
२४
२५
२६
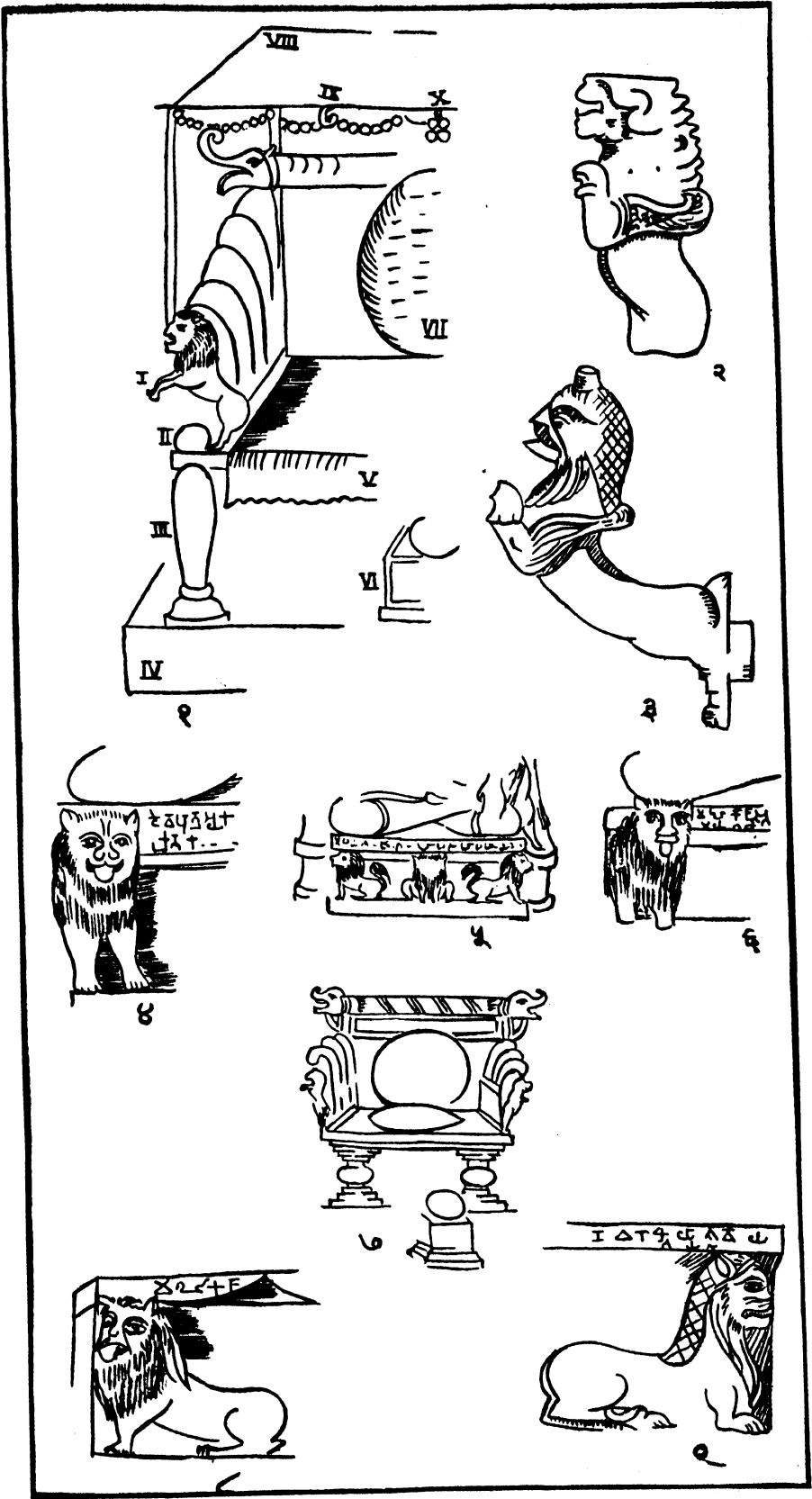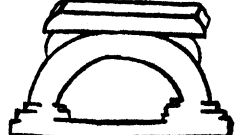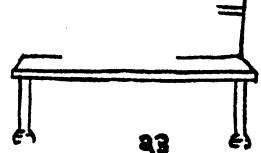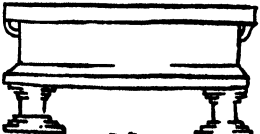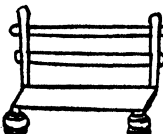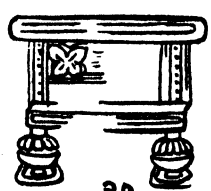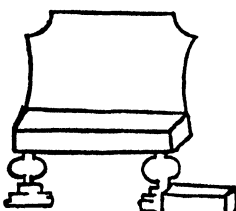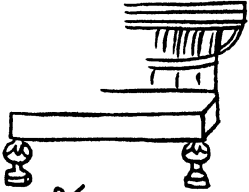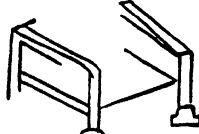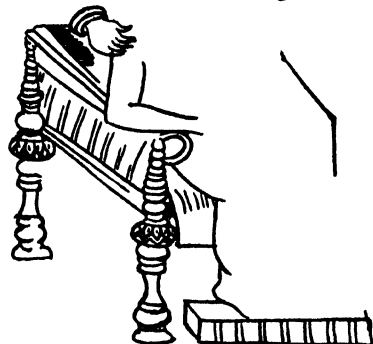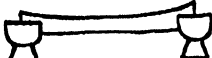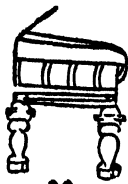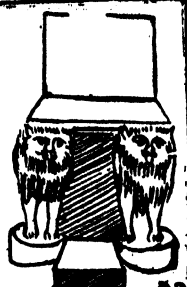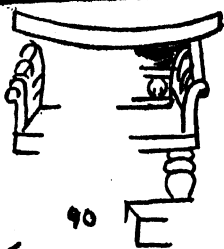
(आ) आहच्च पादक—यह मसारक से ठीक उलटा बना होता था। यहाँ श्रटनी में छेद कर उसमें पायों के सिरे फँसाए जाते थे और पाये निकल न पड़ें, इसलिए उनमें एक-एक शलाका या 'आणि' ठोंक दी जाती थी[८], (चित्र सं० १५)।

(इ) बुंदिकाबद्ध—श्रटनी और पायों को कीलों द्वारा जोड़ कर जो मंचक बनाया जाता था, उसे बुंदिकाबद्ध कहते थे[८]; (चित्र सं० १४)। ओल्डनबर्ग के मतानुसार बुंदिका शब्द का अर्थ लोहे की छोटी-सी शलाका है[९]।

सत्तंग—यह भी मंच का ही भेद है। बुद्धघोष के मतानुसार इसमें तीन ओर से गद्दियाँ लगी होती थीं[१०]। आजकल के दीवान अधिकांश में इसके प्रतिरूप कहे जा सकते हैं। शुंग कालीन कला में सत्तंगों के अनेक सुंदर नमूने मिलते हैं, (चित्र सं० ११, १२, १६, १७)।

दूसरे प्रकार के मंचों में केवल टेंकने के लिए पीछे वाला सहारा ही बना होता है। यह इतना ऊँचा रहता है कि बैठने वाला व्यक्ति कभी-कभी इसी पर अपनी केहुनी टेंक कर आराम से बैठ सकता है, (चित्र सं० १५)।

आसंदी—ओल्डेनबर्ग के मतानुसार यह भी एक बाँहदार कुर्सी ही थी[११], पर यह स्पष्ट नहीं है कि इसमें पीछे वाली टेंक लगी होती थी या नहीं। शतपथ ब्राह्मण के उल्लेखानुसार आसंदी खदिर तथा उदुंबर लकड़ी की बनती थी[१२]। रिज़डेव्हिड्स् का कथन है कि आसंदी एक लंबी और बड़ी कुर्सी होती थी, जिस पर लेट कर आसमान के तारों को भी आसानी से देखा जा सकता था[१३]। इस प्रकार की आसंदियाँ भरहुत, अमरावती आदि स्थानों की कला में दृष्टिगोचर होती हैं, (चित्र सं० २२, २३, २५)।

आसंदिका—यह एक छोटा बिना बाँह और पीठ का आसन होता था। कला में इसके दो प्रकार दिखलाई पड़ते हैं। प्रथम प्रकार में आसन के पाये इस प्रकार काटे गए हैं, मानों चारों ओर अर्धगोलाकार खिड़कियाँ ही बनी हों। ऊपरवाला भाग गोल और गद्दीदार है, (चित्र सं० २६)। दूसरे प्रकार में पाये तो वैसे ही हैं, केवल ऊपरी भाग गोल न हो कर आयताकार है[१४]।

मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन आयागपट्टों पर दिखलाई पड़ने वाले कुछ आसनों का भी समावेश इसी वर्ग में हो सकता है। एक आसन का ऊपरी भाग गोल और गद्दीदार है। इसका नीचे का भाग भी गोल ही है तथा निम्नतर सिरे पर कमलदल बने हुए हैं, (चित्र सं० २७)। दूसरा प्रकार भी लगभग ऐसा ही है, केवल इतना ही अंतर है कि इसका आधार अधिक चौड़ा है तथा अलंकरण भी अधिक सुंदर हैं, (चित्र सं० २८)। इस प्रकार के आसन गांधार-कला में भी विद्यमान हैं, (चित्र सं० ४५)।

भद्रपीठ—यह बेंत का बुना हुआ आसन होता था[१५]। आज हम बेंत या बाँस के जिस आसन को मोढ़ा कहते हैं, वह इसी का प्रतिरूप जान पड़ता है। कला में भद्रपीठ के कई प्रकार मिलते हैं। कुछ में कुर्सी की भाँति बाँह व टेंक लगी रहती है, (चित्र सं० २९)। किंतु साधारणतया ये आसन ऊँचे, गोल तथा गद्दीदार होते थे, (चित्र सं० ३०-३३)। कभी-कभी इन पर एक दूसरा बहुमूल्य आस्तरण भी डाल दिया जाता था, (चित्र सं० ३२)। इन आसनों की बिनाई में अनेक प्रकार के आकार दिखलाई पड़ते हैं, (चित्र सं० ३४, ३५) इस प्रकार के आसन बनाने की कला चौंसठ कलाओं में-से एक मानी जाती थी और उसका नाम था, 'पट्टिक-वेत्र-वन-विकल्प'।

आमलक वंटक पीठ—इस आसन के पाये आमलकाकार बने होते थे। कला में इस प्रकार के आसन का दर्शन शुंगकाल से कुषाणकाल तक बराबर होता है। कभी-कभी इन पायों का आकार चपटे आँवलों जैसा होता है और वे आसन को संभाले हुए रहते हैं; किंतु कभी-कभी आसन की ऊँचाई को बढ़ाने के लिए आमलक के ऊपर और नीचे कुछ अधिक भाग जोड़े हुए दिखलाई पड़ते हैं (चित्र सं० १७, २०, ३६)।

एलकपादक पीठ—शब्दश: तो इस पद का अर्थ एलक अर्थात् भेंड़े के पैर वाला आसन होना चाहिए, पर बुद्धघोष ने इसका अभिप्राय ऐसे आसन से लिया है, जिसके पाये लकड़ी के आधारों पर स्थित हों। ओल्डेन-बर्ग ने इसका अर्थ 'चौकी पर स्थित कुर्सी' किया है[१६]। यदि हम शाब्दिक अर्थ को ठीक मानें, तो भरहुत और बुद्धगया में दृष्टिगोचर होनेवाले किंचित् वक्रपाद आसन 'एलकपादकपीठ' कहे जा सकते हैं, (चित्र सं० २५)।

२७
२८
२९
३०
३१
३२
३३
३४
३५
३६
३७
३८
I
II
III
IV
V
३९
४०
४२
४१
४४
४३
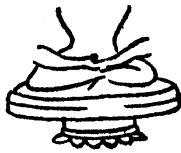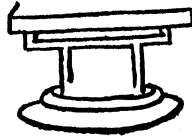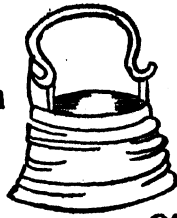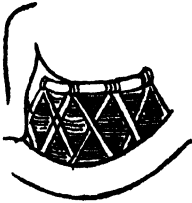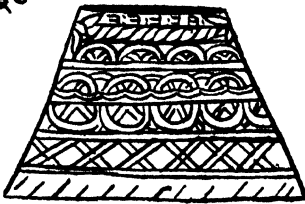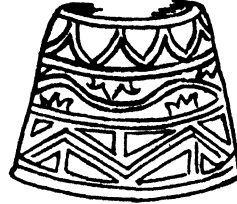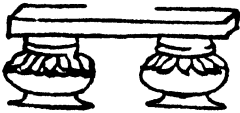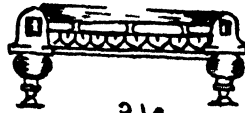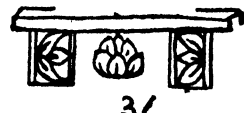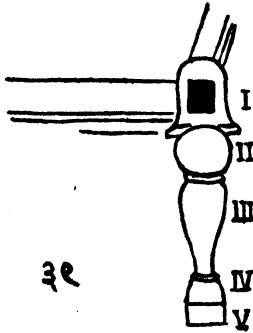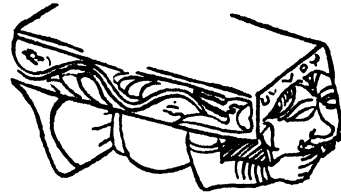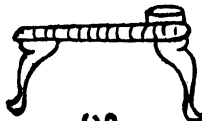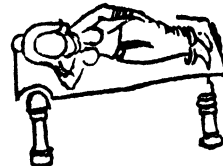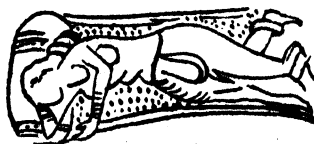
पादपीठ—आसनों के साथ पैर रखने के लिए जो छोटी चौकी लगाई जाती थी, उसे 'पादपीठ' या पायवीढ़, (प्रा०) कहते थे। साधारणतया यह गद्दीदार और चौकोर होती थी, (चित्र सं० २४)। कला में सादे और कामदार दोनों प्रकार के पादपीठ दृष्टिगोचर होते हैं, (चित्र सं० १६, ३५)।

इन आसनों के सिवा साधारण प्रकार से जमीन पर बैठने के लिए जो आसन काम में लाए जाते थे, उन्हें बिप्टर, कुथा, वृसी, तट्टी या चटाई, फलकासन इत्यादि नामों से पुकारा जाता है।

शय्या

मंचों की भाँति मसारक और बुंदिकाबद्ध मंचकों का भी विनय पिटक में उल्लेख है[१७]। गांधारकला में कई पलंग विद्यमान हैं, जिनके पायों की विभिन्न प्रकार की बनावट देखते ही बनती है, (चित्र सं० ५०-५३)। इन पर्यंकों में प्रमुख विशेषता यह है कि सिरहाने वाला भाग पैर के भाग की अपेक्षा कुछ अधिक ऊँचा बनाया गया है। यही बात कुषाणसम्राट् हुविष्क की कुछ मुद्राओं पर बने हुए पर्यंकों पर भी लागू है, (चित्र सं० ४१)।

रायपसेणिय सुत्त में बहुमूल्य शय्या (देवशयनीय) का विस्तृत विवरण दिया गया है[१८]। "इस देवशयनीय में सोने के मणिजटित पाये होते थे, दूसरे भाग (गाइ, गात्र) जाम्बूनद के रहते थे, तथा जोड़ (संधि) वज्र के बनते थे। बुनावट (विच्चे—व्यूतम्) में कई प्रकार के मणि लगाए जाते थे। गद्दा (तूली) तथा तकिये (बिब्बोयण, बिम्बोहन, उपधान) भी बहुमूल्य होते थे तथा उस पर गलतकिये (गंडूपधानिक, गंडो-वहाणय) भी पड़े रहते थे। तकियों का आकार पर्याप्त बड़ा होता था और वे दोनों ओर (उभतो बिब्बोयणम्) लगे रहते थे। इस प्रकार यह शय्या दो ओर ऊँची (दुहुतो उण्णत्ते) और बीच में गहरी (मज्झेणय गंभीरे) होती थी। गंगातट की वालुका के सदृश (गंगापुलिणा वालुया उद्दाल सलिसए) यह मृदु होती थी। वह क्षौम वस्त्र (उवचिय खोम दुगुल्ल पट्टपडिच्छायणे) से ढँकी होती थी तथा लाल रंग के अंशुक से घिरी (रक्त-सुयवंसुए) होती थी।"

विनय पिटक में भी शय्या का विस्तृत विवरण मिलता है[१९]। साधारण प्रकार का पलंग बाँस या बेंत का बनाया जाता था, इसे बिड़ाल मंचक कहते थे। जब मंचक के ऊपर तीनों ओर बड़े-बड़े तकिये (अपस्सय) रक्खे जाते थे, तब उसे सत्यंग मंचक कहते थे। सोत्तरच्छद मंचक के ऊपर चँदवा (वितान) लगा होता था, इस पर लाल रंग के गद्दे बिछे होते थे और लाल रंग के बड़े-बड़े तकिये (उपधान) अगल-बगल लगे रहते थे। सिरहाने का तकिया सीसूपधान कहलाता था और पैतानेवाला पादूपधान। तकियों का रंग कभी लाल, कभी पद्म के समान तथा कभी चित्र-विचित्र प्रकार का होता था। तकिये को बिम्बोहन भी कहते थे। सीसूपधान और पादूपधान के नमूने अमरावती की कला में विद्यमान हैं, (चित्र सं० ५४)।

उत्तरच्छद से युक्त शय्या का वर्णन मत्स्यपुराण में भी मिलता है[२०]। तदनुसार शय्या (शयन) चंद्र सदृश शुभ्र वस्त्र के उत्तरच्छद से युक्त, अनेक रत्नों की प्रभा से आलोकित, रत्नों के किंकिणी जाल से सुशोभित, लंबी-लंबी मोतियों की मालाओं (लंब मुक्ता कलापकम्) से सुसज्जित होता था।

राजाओं की शय्या को, जिसे 'परमासन' भी कहा गया है,[२१] कभी-कभी अशोक के पुष्पों से सजाया जाता था[२२]। परमासन बहुधा सोने का होता था और उसमें रत्न लगे रहते थे। अश्वघोष ने भी लहसुनिया (वैडूर्य) के पाये वाले सुवर्ण मंचकों का उल्लेख किया है[२३]।

बहुमूल्य शय्या को एक दूसरे स्थान पर 'महार्घशय्या' या 'महासयन' कहा गया है[२४]। इन बिछौनों पर रोयेंदार कंबल (गोनक) पड़े होते थे। ये कंबल दो प्रकार के होते थे—उद्दलोमी और एकांतलोमी। बिछौने सिंह, व्याघ्र आदि के चित्रों से युक्त भी रहते थे। इन पर जो चद्दर (पच्चत्थरण) पड़ी रहती, वह कदलीमृग के चमड़े की बनी होती थी।

साधारण प्रकार की चौकी तथा चारपाइयों को चमड़े से मढ़ा जाता था[२५]। पलंग को रस्सियों से भी बुनने का उल्लेख मिलता है[२६]। बुनने (वेतुं) के दो प्रकार थे। कभी तो चौखट के सहारे बुनाई होती थी, किंतु इसमें रस्सियों का खर्च अधिक था (अंगानि बहुसुत्तं परियादेंति—बुद्धघोष), इसलिए दूसरे प्रकार
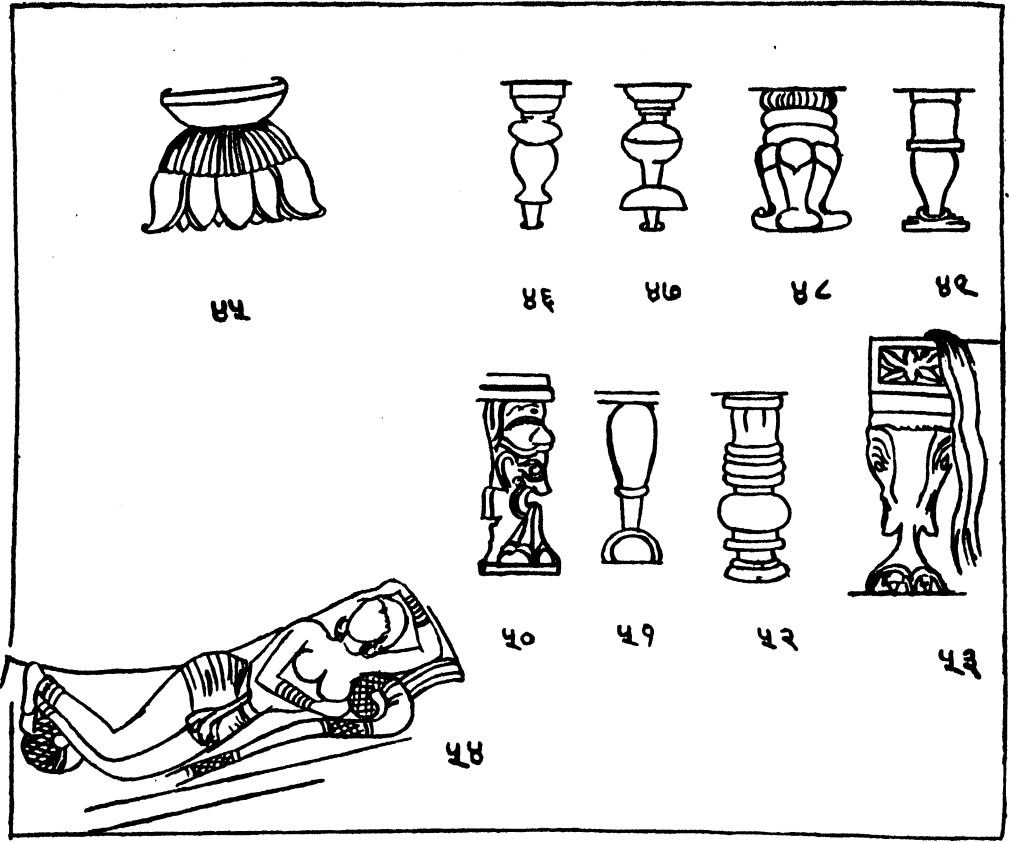
की बुनाई पलंग के पट्टियों में छेद करके (अंगे विज्झित्वा) की जाती थी। इस प्रकार की बुनाई को अष्टपद (अट्ठपद)[१७] कहते थे। संभवतः आजकल की पलंगों की बुनाई के समान यह चारखाने दार रहती होगी। गद्देदार (तूलोनद्ध) पलंग का भी प्रचार था। गद्दी बनाते समय प्रथम पलंग के ऊपर ताड़ के पत्तों की चटाई (चिलमिका) बिछाई जाती थी, तब उसके ऊपर गद्दा कसा जाता था। गद्दों के अंदर जो 'तूल' भरा जाता था, उसे तीन प्रकार से प्राप्त करते थे—वृक्षों से, लताओं से तथा पक्षिशावकों के पंखों से। इसके सिवा पोतकी नामक घास से भी तूल प्राप्त किया जाता था। गद्दे के ऊपर जो चद्दर बिछाई जाती थी, उसे 'पटिका' कहते थे, यह कभी-कभी ऊन की भी होती थी और उस पर फूल भी कढ़े होते थे[१८]। बहुधा इसका रंग श्वेत होता था। पुष्पशय्या के भी उल्लेख विनय पिटक में हैं[१९]।

तकियों के दो प्रकार थे—एक तो वे जो मनुष्य की ऊँचाई के आधे लम्बे (लगभग ३ फीट) होते थे, और दूसरे उनसे छोटे होते थे, जो सिरहाने के काम में आते थे (सीसप्पमाणं बिम्बोहणम्—बुद्धघोष)। तकियों के अंदर ऊन, रुई, घास, पत्ते या वल्कल भरते थे और उन्हें ऊपर से सुंदर चमड़ों द्वारा आच्छादित कर दिया जाता था[२०]।

आचार्य वराहमिहिर ने भी अपनी वृहत्संहिता में शय्या और आसनों का विशद विवेचन किया है[२१]। यद्यपि यह वर्णन हमारे पूर्वसंकल्पित कालखंड से बाहर का है, तथापि इसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ पर आवश्यक है, क्योंकि उसकी कई बातें हमें शुंग एवं कुषाणकालीन कला में दिखलाई पड़ती हैं और दूसरे उस वर्णन की ओर ध्यान दिए बिना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य पूर्णतया सफल नहीं होता।

वराहमिहिर के मतानुसार शय्या-निर्माण के लिए, स्यंदन, चंदन, दारुहरदी, देवदारु, तिंदुकी, शाल, काश्मीरी, अंजन, पद्मक, शिरीष, शिंशपा—इन वृक्षों की लकड़ी का प्रयोग शुभ माना गया है[२२]। इस प्रकार

अशुभ काष्ठों के भी नाम गिनाये गये हैं[13]। राजा की शय्या १०० अंगुल (१ अंगुल—८यव—लगभग १ इंच) लंबी होनी चाहिए, इसी प्रकार राजपुत्र की ९०, मंत्री की ८४, सेनापति की ७८ तथा पुरोहित की ७२ अंगुल की होनी उचित है। लंबाई को आधा कर उसमें से आधे का १/८ घटा देने से जितने अंगुल बचें, उतनी पलंग की चौड़ाई होनी चाहिए। इसी प्रकार लंबाई की १/३ संपूर्ण पाये की ऊँचाई होनी चाहिए[14]। कौन-सा काष्ठ किस लकड़ी के साथ जोड़ा जाय, इसका भी विचार वराहमिहिर ने किया है[15]। हाथीदाँत (गजदंत) का पलंग अधिक प्रशस्त माना गया है[16]।

इसी ग्रंथ में पलंग की चौखट की चारों लकड़ियाँ 'ईषा' के नाम से संबोधित की गई हैं। आज भी गुजराती में इस भाग को 'ईस' ही कहते हैं (खाटलानुं ईस)। पादशीर्ष, कुंभ, जंघा, आधार तथा खुर ये पाये के विभिन्न भाग हैं[17]। ये सभी भाग कुषाणकालीन कला में दिखलाई पड़ते हैं, (चित्र सं० ३९) और आज भी उसी क्रम से बनते चले आ रहे हैं।

कला में शय्या की नीचेवाली दरी और गद्दे बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं[18]। क्वचित् कामदार दरियाँ भी मिलती हैं। तकिये और चादर को स्पष्ट देखा जा सकता है। तकिये बहुधा लंबे और गोल या चपटे और वर्तुलाकार होते थे, (चित्र सं० ७, ४१, ४३, ५४)। आयताकार तकिये भी कहीं-कहीं दिखलाई पड़ते हैं[19]। तक्षशिला से मिले हुए एक हाथी दाँत के कंधे पर चिट्टेदार चादर और गोल लंबा तकिया सुंदर ढंग से बनाया गया है, (चित्र सं० ४३)। इस प्रकार हमें साहित्य और कला की सहायता से प्राचीन आसन और शय्या-संबंधी बहुत-सी मनोरंजक बातें ज्ञात होती हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. पिगॉट, थ्री न फ्रॅगमेंटस् फ्राम पाटलिपुत्र, ऐंशण्ट इण्डिया, सं० ४, १९४८, पृ० १०१। २. रायपसेणिय०, कण्डिका ४२। ३. मार्शल, एक्सकॅव्हेशन अॅट टेक्सिला, आर्के० रि०, १९१२-१३ फलक ९ ई। ४. रीज डेव्डिडस्—जडायलॉग ऑफ दी बुद्ध, पृ० ११। ५. वि० पि०, चुल्लवग्ग ६०२-३। ६. वि० पि० ओल्डे०, खण्ड ३, पृ० १६४-६५—मसारको लि मञ्चपादे विज्झित्वा तः अग्नीयो पवेसत्वा कतो बुद्धघोष। ७. वही—अयंपन आहच्च पादको नाम मञ्चो विज्झित्वा कतो होतीति परतो पालियं येव कुत्तो तस्या अटमीयो विज्झित्वा तत्था पादसिखं पवेसेत्वा उपरि आणि दत्वा कतो मञ्चो आहच्चपादको वेदितब्बो—बुद्धघोष। ८. वही—बुंदिकाबद्धो अटनीहि मञ्चपादे डंसापेत्वा पल्लकं संखेपेन कतो—बुद्धघोष। ९. वही—पाद-टिप्पणी। १०. वही—सत्तंगं नाम तीसु दिसासु अपस्सयं कत्वा मञ्चो। ११. वही—पाद-टिप्पणी। १२. शतपथ ब्राह्मण, ५. ४. ४. १, ५. २. १. २२-२३। १४. बरहुट, चित्र सं० १३६। १५. वि० पि० ओल्डे० खण्ड ३, पृ० १६३-१६४, पाद-टिप्पणी भद्दपीठं ति वेत्तमयं पीठे वुच्यति। १६. वही, पृ० १६४-६५, पाद-टिपप्णी। १७. वि० पि० चुल्ल० ६. २. ३। १८. रायपसेणिय सुत्त, कण्डिका १२७। १९. वि० पि० ओल्डे० खण्ड ३, पृ० १६३-६५ पाद-टिप्पणी-थिडाल मञ्चकं नाम वेत्तमञ्चकम्—घु०। २०. मत्स्य० १५३, ५७५—८७। २१. वही, १३३-७। २२. रामायण, ५, १०, ४। २३. बुद्ध चरितम्, १, १७। २४. वि० पि०, चुल्ल० ६, ४, २; वि० पि० राहु०, पृ० २०९। २५. वि० पि०, महावग्ग, ५, १०, ४। २६. वही० चुल्ल०, ६, २, ५। २७. वही। २८—२९. वि० पि० ओल्डे०, खण्ड, २ पृ० २७। ३०. वही, खंड ३, पृ० १६८। ३१. बृहत्संहिता अध्याय ७९। ३२. वही, ७९, २। ३३. वही, ७९, ३-४। ३४. वही, ७९, १०। ३५. वही ७९, १३-१८। ३६. वही, ७९, १९-२०। ३७. वही, ३०-३१। ३८. गांधार० चित्र, १७९। ३९. बरहुट, चित्र सं० १०, गान्धार० चित्र २७६।

चित्र-संकेत

१. रायपसेणिय में वर्णित सिंहासन के विभिन्न अंग—(अ) सीह, (आ) पादसीस, (इ) गाया, (ई) मणिपेटिया, (उ) अत्थरंग, (ऊ) पायवीढ़, (ए) मसूरग, (ऐ) विजयदुस्स, (ओ) कुंभक-मुक्त-दाम, (औ) अंकस। २, ३. सिंहासन के सिंह (ऐंशंट इंडिया, सं० ४, १९४८, पृ० १०१। ४, ५, ६. सिंहासन के सिंह (लखनऊ संग्रहालय, जे ३; कैटलॉग, फलक ७; लखनऊ संग्रहालय, जे० ६)। ७. पल्लंक (अमरावती, फ० २५ चित्र २)। ८-९. सिंहासन के सिंह (लखनऊ संग्रहालय, जे० १४; जे० २०)। १०. पल्लंक (गोली, फलक ९, चि० ५)। ११. सत्थंग (साँची, फ० ६३)। १२. सत्थंग (बरहुट, चि० ८७)। १३. विम कड्फिशन का सिंहासन, (मथुरा, फ० २)। १४. बुंदिकाबद्ध मंच (साँची, फ० ६४ सी)। १५. मंच (वही, फ० २९)। १६. सत्थंग (लखनऊ संग्रहालय, ओ० ६७)। १७. सत्थंग (बुद्धगया, चि० ६३)। १८. मंच (जैनस्तूप, फ० १८)। १९. मंच (मथुरा, फ० २० सी)। २०. मंच (जे० हैकिन, रिचर्चेज आर्किऑलाजिक बेग्राम, पेरिस १९५४, चि० १२७)। २१. मंच (वासुदेव कुषाण की मुद्रा का पृष्ठ भाग, पंजाब म्यूजियम कैटलॉग, फ० १९ सं० २२८)। २२. आसंदी (अमरावती, फ० १२, चि० ८)। २३. आसंदी (बुद्धगया, चि० ६५)। २४. पादपीठ (ग्रुनवेडल, बुद्धिस्ट आर्ट इन इंडिया, पृ० १३७, चि० ८)। २५. आसंदी (बरहुट, चि० १३६)। २६. आसंदिका (वही, चि० १२०)। २७-२८. आसंदिका (मथुरा, फ०, ७, १०)। २९. बेल का भद्रपीठ (अमरावती, फ०, १२ चि० ४)। ३०-३१. बेल का भद्रपीठ (बरहुट, चि० १२२; साँची, फ० १९)। ३२. बेल का भद्रपीठ (साँची, फ० ४९ बी)। ३३. गद्दीदार आसन (वही फ० १८ बी)। ३४. बेंत का भद्रपीठ (मथुरा, फ० ३४ बी)। ३५. बेंत का भद्रपीठ (लखनऊ संग्रहालय, जे० ५३३)। ३६. आमलक-वंटक-पीठ (कार्डिंगटन, ऐंशंट इंडिया, फ० २० सी)। ३७. मंचक (मथुरा, फ० ५१ अ)। ३८. मंचक (जैनस्तूप, फ० २७)। ३९. चारपाई के पाये के भाग—(क) शीर्षग, (ख) कुंभ, (ग) जंघा, (घ) आधार, (ङ) खुर। ४०. पत्थर की छोटी चौकी (जरनल ऑफ यू० पी० हिस्टॉरिकल (अहिच्छत्रा से प्राप्त) सोसाइटी, लखनऊ, सं० २४-२५, पृ० २५, चित्र २)। ४१. मंचक (हुविष्क की कुछ मुद्राओं का संमुख भाग, ब्रिटिश म्यूजियम कैटलॉग, फ० २९, सं० ५)। ४२. मंचक (बरहुट, चि० ३५)। ४३. शय्या (ऐंशंट इंडिया, सं० ४, पृ० ८०) ४४. शय्या (बरहुट, चि० १०)। ४५. आसंदिका (गांधार, चि० १४५)। ४६-४९. विभिन्न आसनों के पाये (वही, चि० १५१, १६२, १८१, २४३)। ५०-५३. चारपाइयों के पाये (वही, चि० २७९, २८२, २८४, २७६)। ५४. शय्या जिसमें तीनों ओर तकिये लगे हैं, [वही चि० १४८ (अमरावती से प्राप्त)]।

चीन और जापान में सिद्धम लिपि

श्री रघुवीर

हमारे पाठकों को यह तो ज्ञात ही है कि चीन, भोट (अथवा तिब्बत), मंगोलिया, मंचूरिया, कोरिया और जापान बुद्ध-धर्मानुयायी देश रहे हैं। विक्रम की प्रथम शताब्दी से पूर्व ही महाराजा धर्माशोक ने चारों दिशाओं में बौद्ध धर्माचार्यों को धर्मचक्र-प्रवर्तनार्थ भेजा था। उत्तर भारत में कश्मीर, उद्यान (आधुनिक चित्राल और स्वात), गांधार तथा इनसे ऊपर सिन्क्याङ् (चीनी तुर्कस्थान) में, धर्माशोक के काल में अथवा उसके कुछ पश्चात्, विशाल बौद्ध-विहारों की स्थापना हो चुकी थी। कुस्तन (आधुनिक खोतान) तो भारतीय भाषा, साहित्य, आयुर्वेद, कला आदि के प्रसार का दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक केंद्र रहा।

चीन में महाराजाधिराजों के आदेश से भारतीय सूत्रों और शास्त्रों के विस्तृत अनुवादों की परंपरा चलाई गई। प्रथम शताब्दी में काश्यप मातंग से आरंभ करके चौदहवीं शताब्दी तक संस्कृत-ग्रंथों की चीनी में अनुवाद करने की परंपरा निरंतर चलती रही। सैकड़ों भारतीय आचार्य और पंडितों के वर्णन चीनी-इतिहासों में अभी तक विद्यमान हैं।

घोड़ों और ऊँटों पर लाद कर भारतीय तालपत्र तथा भूर्जपत्र पर लिखे धर्मग्रंथ उत्तर और दक्षिण चीन की राजधानियों में ले जाये जाते थे। भारतीय आचार्य और चीनी पंडित परस्पर परामर्श से अनुवाद-कार्य संपन्न करते थे।

सातवीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय ग्रंथों का अनुवाद भोट भाषा में भी आरंभ हुआ। भोट द्वारा हमारा साहित्य मंगोलिया में पहुँचा तथा चीन द्वारा कोरिया और जापान में।

अन्य तो सभी प्रकार के धार्मिक ग्रंथों का भारतीय और चीनी विद्वानों ने मिल कर अनुवाद किया। यहाँ तक कि बुद्ध, धर्म, संघ, विनय आदि शब्दों को भी बुद्धिगम्य बनाने के लिए अनूदित किया गया। उदाहरण के लिए बुद्ध का अनुवाद ऐसे चीनी अक्षरों से किया गया, जिनका अर्थ है : "नहीं मनुष्य", अर्थात् जो मनुष्य नहीं, किंतु उनसे ऊपर है।

किंतु जब चीन में मंत्रयान का प्रचार हुआ और मंत्रों के अर्थों में नहीं, किंतु मंत्रों के उच्चारण में सिद्धि मानी गई, तब चीनियों, भोटियों आदि को भारतीयलिपि का आश्रय लेना पड़ा। इस लिपि का बड़ा रोचक इतिहास है। इस इतिहास का हम प्रथम बार संकलन और अध्ययन कर रहे हैं। भोट, चीन, जापान, मंगोलिया आदि में छोटे-मोटे अनेकों ग्रंथों, जिनमें छठी-सातवीं शताब्दी की भारतीयलिपि का विस्तृत वर्णन दिया गया है, केवल वर्णन ही नहीं, स्वर, व्यंजन तथा संयुक्त अक्षरों के स्वरूप लिखने की शिक्षा और पद्धति भी दी गई है।

इस लिपि का नाम 'सिद्धम्' है।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध अरबी यात्री अलबेरूनी ने अपने भारत-विवरण में लिखा है—"सामान्यत: प्रयोग होने वाली वर्णमाला का नाम सिद्धम् है। कुछ का विचार है कि इसका उद्‌गमदेश कश्मीर है, क्योंकि कश्मीर की जनता ही इसका प्रयोग करती है। इसका प्रयोग वाराणसी में भी होता है। वाराणसी और कश्मीर भारतीय विद्याओं के क्षेत्र हैं। यही लिपि कान्यकुब्ज के आसपास के आर्यावर्त देश में प्रयोग की जाती है। मालव में एक दूसरी लिपि का प्रयोग होता है, जो सिद्धमातृका से वर्णशैली में भिन्न है। इसका नाम नागरलिपि है। सिंधु में प्रयुक्त लिपि का नाम अर्धनागरी है, क्योंकि यह सिद्धमातृका और नागरी दोनों के मिश्रण से बनी है।"

चार शताब्दी पूर्ववर्ती चीनी यात्री इ-त्सिङ् ने भी सिद्धम् का वर्णन किया है। अपने यात्रा-विवरण में आपने लिखा है कि भारतीय संस्कृत का अध्ययन सिद्धम् वर्णमाला से प्रारंभ करते हैं। वर्णमाला की

प्रथम चित्र
द्वितीय चित्र
金剛界卅七尊
大日如来
阿閦如来
金剛波羅蜜
阿彌陀如来
法波羅蜜
寶生如来
寶波羅蜜

पुस्तक का नाम सिद्धिरस्तु है। वर्णों की संख्या ४६ है। इस पुस्तक में स्वर और व्यंजन तथा संयुक्त व्यंजनों के सिखाने के लिए अठारह अध्याय हैं।

इ-त्सिङ से ७०० वर्ष पूर्व दिव्यावदान में भी बालक के प्रथम विद्याभास का वर्णन मिलता है। दिव्यावदान के अनुसार लिपि सीखने का प्रारंभ 'सिद्धम्' शब्द से किया जाता था। कालांतर में 'सिद्धम्' लिपि का पर्याय बन गया।

भारत में सिद्धम् लिपि सरकंडे की लेखनी से लिखी जाती थी। इसका प्रमाण वे तालपत्र हैं, जो आज से चौदह-पंद्रह सौ वर्ष पूर्व श्रद्धालु भक्त चीन में ले गए और वहाँ से तांत्रिक उपाध्याय जापान में ले आए। ये तालपत्र जापान के सुप्रसिद्ध होर्यू मंदिर में सुरक्षित हैं। तालपत्र की चौड़ाई दो अंगुल से चार अंगुल तक होती है। इस पर छोटे अक्षर लिखना ही संभव है। किंतु, जब तांत्रिक मंत्र और धारणी (बौद्ध तांत्रिक वाक्यादि) चीनी भक्तों के हाथों में पड़े, तो उन्होंने अपनी कला का प्रयोग किया, और भारतीय सिद्धम् अक्षर कई-कई हाथ लंबे-चौड़े लिखे जाने लगे। चीनियों की लेखनी तूलिका है। तूलिका से सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् अक्षर लिखे जा सकते हैं। अक्षर कौशेय (रेशम), कागज और मंदिरों की भित्तियों पर लिखे जाते थे। हमारे पास नालंदा के विद्वान् प्रज्ञातार के लिखे हुए अक्षर विद्यमान हैं, जो उन्होंने नवीं शताब्दी में चीन में जाकर चीनी तूलिका से लिखे। सिद्धम् में लिखी हुई धारणी उन्होंने अपने जापानी शिष्य चिशो-दाइशी को उपहार में दी।

१८३७ में जापानी भिक्षु सो-गेन् ने पाँच विस्तृत भागों में अशर-जो नाम का ग्रंथ प्रकाशित किया, जिसमें उसने चीनी और जापानी आचार्यों के उपलब्ध सिद्धम् लेखों को पुराने मंदिरों के पुस्तकालयों से संग्रह किया।

लेखन-साधनों में-से चीन की तूलिका संसार का उत्कृष्ट साधन है। चीनी-तूलिका के प्रयोग के कारण सिद्धम् लिपि एक कलात्मक लिपि बन गई है। आज स्वतंत्र युग में भारत इस लिपि का अनुसरण करके शीर्षकों और नाम-फलकों के लिए देवनागरी के अद्‌भुत कलापूर्ण रूपों का विकास कर सकता है।

चीनी-तूलिका का नाम माओ-पी अर्थात् लोम-लेखनी है। इसके साथ-साथ मध्य-एशिया से चीन में मू-पी अर्थात् काष्ठ-लेखनी का प्रवेश हुआ। थाङ वंश के ऐतिहासिकों में काष्ठ-लेखनी का उद्‌गम कुस्तन अथवा खोतान बतलाया है। मू-पी साधारण लकड़ी की एक अंगुल अथवा अधिक चौड़ी शलाका होती है। आज भी इसका प्रयोग मंगोलिया में हो रहा है।

प्रत्येक अक्षर के सिखाने के लिए अनेक खंड कर दिए जाते थे और चीनी पद्धति के अनुसार प्रत्येक खंड का अलग नाम दिया जाता था। जैसे 'अ' के ऊपर की शिरोरेखा का नाम 'ध्येन्' अथवा आकाश। दूसरे भाग का नाम 'जन्' अथवा मनुष्य, क्योंकि इसका आकार चीनी अक्षर 'जन्' से मिलता है। तीसरे खंड का नाम 'ती' अर्थात् भूमि। चौथे का नाम' फ़ाङ्' अर्थात् वर्ग। अंत में संपूर्ण अक्षर 'अ' का नाम अनादि और अनंत।

चीनी-विहारों में सिद्धम् लिपि का ऊँचा स्थान था। प्रत्येक वर्ण का विशेष आध्यात्मिक अर्थ है। ध्यान और समाधि में ये सहायक माने जाते थे। साधक भित्तिपर वृत्त बना कर, उसमें बीजवर्ण लिख कर उस पर ध्यान लगाता था। 'अ' अक्षर की महत्ता सर्वोपरि थी। यह आदि और प्रारंभ का प्रतीक था। मंत्रयान के सब सिद्धांतों का इसमें समावेश माना जाता था। शुभंकर सिंह ने अकार के ध्यान की महिमा गाई है। अष्टपत्र श्वेत कुमुद में-से स्वर्णभास अकार समुद्‌भूत होता है। पद्मासन लगा कर इस अकार को भित्ति पर सामने टाँग कर शुद्ध काय और शुद्ध मन से प्रत्येक प्राण और अपान में 'अ' ध्वनि का उच्चारण गाता हुआ साधक ध्यान लगाता है। धीरे-धीरे अकार परिमाण में वृद्धि प्राप्त करता हुआ समस्त संसार में फैल जाता है और सर्वव्यापी वैरोचन में लीन तथा तद्रूप हो जाता है।

जिस प्रकार चीन में पुराने मंदिरों की भित्तियों पर अकार लिखा मिलता है, उसी प्रकार जापानी शिंगोन् मंदिरों में डेढ़-दो हाथ व्यास की ताम्रमयी थालियाँ टँगी मिलती हैं, जिनपर महाकाय अकार खुदा होता है।
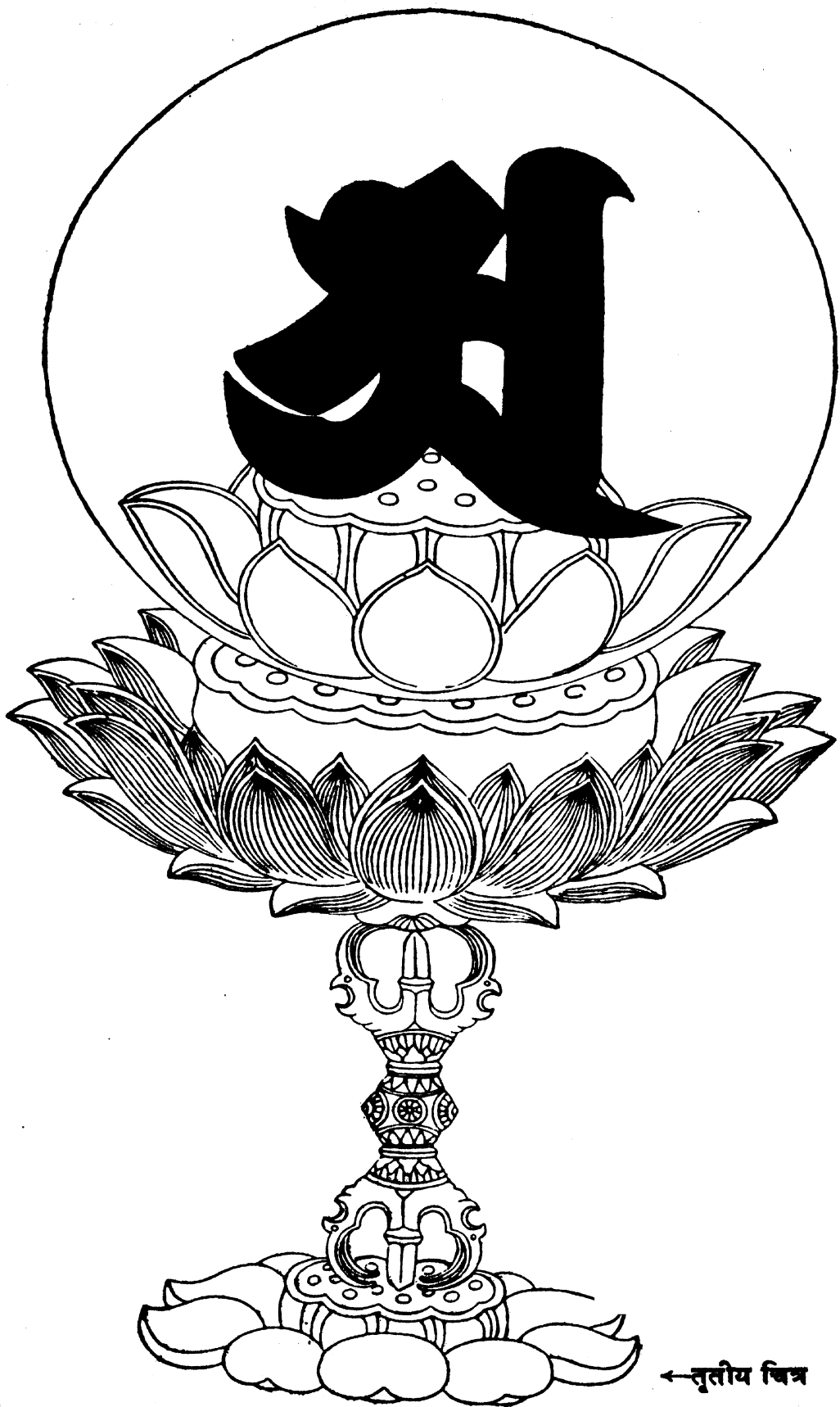
←तृतीय चित्र

इष्ट देवता की धारणियों का प्रयोग महायान के अनुयायिओं के ध्यान का दूसरा साधन था। प्रज्ञा-पारमिताहृदयसूत्र तथा उष्णीषविजयधारणी आदि अनेकों पुस्तिकाएँ अभी तक इस लिपि में विद्यमान हैं।

बीजाक्षरों (चीनी भाषा में चुङ्-त्सु) द्वारा तांत्रिक जन-देवता का पूर्ण ओजस्वी स्वरूप साक्षात् कर सकते थे। बीजाक्षरों से कई प्रकार के मंडलों का निर्माण होता था। प्रत्येक बीज किसी-न-किसी विशेष देवस्वरूप का वाची था। उदाहरणार्थ 'वं' वैरोचन के लिए, 'त्र:' रत्नपारमिता के लिए, 'अ:' अमोघ-सिद्धि के लिए, 'धं' वज्रतीक्ष्ण के लिए, 'भैं' ब्रह्मा के लिए, 'च' केतु के लिए, 'घ' कुमार के लिए। बीजाक्षरों के लिखित स्वरूप का ध्यान करने से उनकी शक्ति और उनके ओज का भान होता है।

आज से दस वर्ष पूर्व तक लंबी यात्रा प्रारंभ करते समय चीनादि देशों के साधारण जन सिद्धम् लिपि में लिखे बीजमंत्रों को अपना सहयात्री बनाया करते थे।

चीन में लिपि का कितना ऊँचा स्थान है, यह हमारे पाठक अनुमान करने में समर्थ नहीं होंगे। चीनियों ने भारतीयलिपि को अपनी लिपि की अपेक्षा भी ऊँचा स्थान दिया। उनकी अपनी लिपि अत्यंत जटिल है। जीवनभर के प्रयत्न से भी उसका पूर्ण ज्ञान होना संभव नहीं। प्रत्येक शब्द के लिए अलग अक्षर सीखना पड़ता है। चीनी पद्धति वर्णमाला पद्धति नहीं है। समस्त लिपि को सीखने का अर्थ भाषा के समस्त शब्दों को सीखना है। भोले-भाले चीनी भक्त सिद्धम् वर्णमाला के स्वरों, व्यंजनों और उनके संयोगों को बड़े परिश्रम से सीखते थे। उनका विश्वास था कि इनके सीख लेने से समस्त भारतीयसाहित्य के सीखने का पुण्यलाभ होगा।

अब चित्रों पर दृष्टिपात कीजिए।

प्रथम चित्र में सिद्धम् की नौ पंक्तियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक पंक्ति का देवनागरी में लिप्यंतर देते हैं। पहली पंक्ति—सिद्धं अक्षर:। दूसरी पंक्ति—नमः सर्वज्ञाय सिद्धं। तीसरी पंक्ति—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ। चौथी पंक्ति—ओ औ अं अ:। पाँचवीं पंक्ति—क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ। छठी पंक्ति—ट ठ ड ढ ण त थ द ध न। सातवीं पंक्ति—प फ ब भ म य र ल व। आठवीं पंक्ति—श ष स ह क्ष। नवीं पंक्ति—क का कि की कु कू के कै को कौ कं क:।

इनमें से विशेष ध्यान देने योग्य स्वर इ ई लृ ॡ हैं। इसी प्रकार व्यंजनों में भी पाठक अनेक ऐसे रूप पाएँगे, जो भारतीय इतिहास के लिए परमावश्यक हैं। कई अक्षरों का साम्य कश्मीर की शारदा लिपि से, कइयों का देवनागरी से और कइयों का बंगला से पाठक स्वयं देख पाएँगे।

चित्र २ और ३ हम पाठकों के लिए पहेली के रूप में उपस्थित करते हैं।

प्राचीन शिल्पियों का शारीर परिज्ञान

श्री कलिदिन्डि मोहन वर्मा

प्रतिमा या चित्र बनाना हो, तो निर्माता के मन में भाव के साथ-साथ ही भाव प्रकटन के प्रधानावलंबन भौतिक आकार की स्फूर्ति होती है, जिसे भौतिककार को दार्शनिक परिभाषा में व्यक्ति कहा जाता है। मनुष्य का भौतिकाकार मनुष्य-शरीर हो, पशु का भौतिकाकार पशु-शरीर हो, पक्षि का भौतिकाकार पक्षि-शरीर हो, तो पर्वत का भौतिकाकार पर्वत-शरीर, वृक्ष का भौतिकाकार वृक्ष-शरीर हो सकता है और होना भी चाहिए। लेकिन लोग वैसा कहते नहीं हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि जितने भौतिकाकार हैं, वे सभी शरीर नहीं कहे जाते। लोकाचार या व्यवहार के अलावा कोई दूसरा कारण इसके लिए नहीं दिखाया जा सकता। किस को शरीर कहना है, किसको नहीं कहना है, यह लोकाचार से जानना पड़ता है, क्योंकि दूसरा उपाय नहीं है।

शिल्पियों[1] के व्यवहार में भी यही सही बात मालूम होती है, क्योंकि मनुष्यादि कुछ प्राणियों के शरीर का प्रदर्शन करते समय शिल्पी लोगों ने उनके बारे में विशेष गवेषणा की है और गवेषितार्थों को रूप देकर शास्त्ररूप प्रदान किया है। पर्वत, वृक्ष इत्यादि के आकार के बारे में वैसी विशेष गवेषणा नहीं हुई और न कोई शास्त्र ग्रंथ ही उपलब्ध हैं। जिन शरीरों के बारे में विशेष गवेषणा हुई, उन सब में मानव-शरीर पहला स्थान ले लेता है। ऐसा क्यों हुआ, इसके बारे में कुछ कहने के लिए कारण उपलभ्यमान नहीं हैं। लेकिन ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि मनुष्य अपने शरीर को ज्यादा पहचानता है, और सोद्देश्य हो, अनुद्देश्य हो, उससे ज्यादा अनुरक्त है और उसके प्रति उसका अच्छेद्य ममकार है। अतः अपने शरीर के बारे में विशेष गवेषणा करना उसके लिए बहुत स्वाभाविक ही है। यह भारतीय शिल्पियों के लिए ही सत्य होता है, ऐसी बात नहीं है, बल्कि सारे दुनिया के प्राचीन शिल्पियों के लिए भी यही सत्य है। इतना ही नहीं, यह आधुनिक काल में भी बहुत दूर तक सत्य है।

शरीर की स्फूर्ति शिल्पी के मनमें जो होती है, उसमें उसका रूप, क्रिया और प्रमाण भी शामिल रहते हैं। उनके बिना उसकी स्फूर्ति की संभवता नहीं है। इस त्रिगुण से युक्त शरीर की स्फूर्ति शिल्पी के मन में न हो, तो सुंदर सुसंपूर्ण और पटुतर शिल्पसृष्टि संभव ही नहीं होती। इस तरह की स्फूर्ति के लिए पहले से ही शरीर की दृढ़ धारण होनी चाहिए, क्योंकि दृढ़धारण या दृढ़संस्कार के बिना यह संभव नहीं होती। दृढ़ धारणा सविवेक साधनासाध्य है। साधना को सम्यक् और सुगम करने के लिए और साधनाकाल को ह्रस्व करने के लिए उपाय हैं। शरीर की यथावद्वर्णना अन्यतमोपाय है। शारीरविद्या जो है, वह यथावद्वर्णनात्मक ही है। यथावद्वर्णना भी बहुत रीतियों से की जा सकती है। सर्वत्र उसके सकल अंशों को लेकर वर्णना करना अनावश्यक होता है। अपनी-अपनी आवश्यकता को समक्ष कर शरीर के उन अंशों की वर्णना करना बुद्धिमानी का लक्षण है, जिससे कि अपना प्रयोजन अन्यानपेक्षी हो और सफल भी हो। शिल्पियों के लिए भी यह अवश्य अनुसरणीय है।

ऊपर उल्लिखित जो त्रिगुण हैं—यथा रूप, क्रिया और प्रमाण—उनमें क्रिया अवयवों के संधियों के ऊपर निर्भर है, बाकी दो याने रूप और प्रमाण आपस में बहुत ही सन्निहित सम्बन्ध रखने वाले हैं। प्रमत्त रहने से कभी-कभी ऐसी भ्रांति भी हो सकती है कि ये दोनों अभिन्न हैं। वस्तुतः ये अभिन्न नहीं, भिन्न ही हैं। उस सम्बन्ध विर्धारण की चर्चा में निमग्न होने की आवश्यकता यहाँ नहीं है। रूप और प्रमाण सर्व शरीरवर्ती हैं। इन्हीं का विवरण करने पर शिल्पियों के प्रयोजन के अनुसार शरीर की वर्णना हो जाती है। लेकिन क्रिया भी यहाँ पर अविस्मरणीय रहती है। उसे विस्मरण करके की हुई शरीर-वर्णना जितनी भी सविस्तार

---

[1] शिल्पी शब्द यहाँ पर कुशल या निपुणार्थ में नहीं प्रयुक्त है। कलाकार के अर्थ में भी प्रयुक्त नहीं है। केवल प्रतिमाकार और चित्रकार के अर्थ में यहाँ इससे लेना है।

हो, वह असमग्र ही नहीं होती, बल्कि निष्फल हो जायगी। दूसरे शब्दों में कहें, तो वह मिट्टी भी हो जाएगी। यद्यपि क्रिया के पृथग्विवरण की आवश्यकता उतनी नहीं है, फिर भी उसके भूलने से काम नहीं चल सकता है। प्रमाणादि के साथ शरीर या उसके अवयवों की वर्णना करते समय हमेशा क्रिया को ध्यान में रखकर, उसे उद्देश्य करके भी चलना ही पड़ेगा, क्योंकि बहुत सारा यत्न तदर्थ ही है। फलतः क्रिया को ध्यान में रख कर शरीर के जो अपर अंश—रूप और प्रमाण—हैं उन्हीं का समग्र विवरण किया जाय, तो शिल्पियों के प्रयोजन के अनुसार शरीर की यथावद्वर्णना हो जाएगी।

इस ढंग से भारत के प्राचीन शिल्पियों ने शरीर की वर्णना की है। बहुत पुराने युग में ही पशु-पक्ष्यादि के शरीर की वर्णना की गई या नहीं, कहना आज संभव नहीं है। परंतु यह निश्चयरूप से कहा जा सकता है कि मानव-शरीर की वर्णना तो बहुत प्राचीन काल में ही की गई है। मत्स्यपुराण में नवताल प्रमाण से मानव-शरीर वर्णित है। यह सर्वविदित है कि पुराणों का काल यथायथ निर्देश करना प्रायः दुस्साध्य है, तब भी कुछ आधारों पर इनके काल का भी अंदाजा किया जा सकता है। विद्वानों ने अंदाजा लगाया है कि मत्स्यपुराण गुप्त-युग से पहले ही बन चुका था, अर्थात् मत्स्यपुराण का काल ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी है। पंडित लोग यह भी विश्वास करते हैं कि पुराण किसी विशेष काल में एकरूप लेने पर भी समय-समय पर कुछ विषय उनमें विनिविष्ट हुए, इसलिए ये परवर्ती काल में बढ़ते आए। मत्स्यपुराण में शारीरवर्णना शुरू से थी या बाद में विनिविष्ट हुई, यह कहना अब संभव नहीं है। अगर यह बाद में युक्त की हुई न हो, तब यह आसानी से कहा जा सकता है कि ख्रैस्तव चतुर्थ शताब्दी के पहले ही शिल्पी लोगों ने शरीर के बारे में जो खोज की थी, उसको ग्रंथस्थ किया है। यह अन्य रीति से भी प्रमाणित होता है। इसी विद्या पर अपने ग्रंथ बृहत्संहिता में लिखते हुए वराहमिहिराचार्य अपने से प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हैं। यह तभी संभव होता है, जब इस विद्या की पुरानी परंपरा रहे। वराहमिहिराचार्य हों, चाहे मत्स्यपुराणकार हों, इस तरह के जो लोग हैं, इस विद्या के न प्रवर्तक हैं; न प्रयोक्ता हैं, ये केवल विद्वान् हैं, जो प्राचीन ग्रंथों से या संप्रदायों से विभिन्न विद्याओं को संग्रह करके लोकानुग्रह से अपने ग्रंथों में निक्षिप्त करते हैं। इस बात से भी इस विद्या की प्राचीनता व्यक्त होती है। शिल्पियों के शारीरविद्या के प्रायः सभी ग्रंथों में कान का एक भाग लकार नाम से निर्दिष्ट है, (इसका विवरण बाद में दिया जाएगा।)

प्राचीन लिपियाँ खोजने पर इस कर्ण-भाग से मिलता हुआ अक्षर शातवाहन वंशी यज्ञश्री शातकर्णी के शिलाशासनों में मिलता है। इस ढंग के लकार उससे प्राचीन समय में और उसी शताब्दी के रुद्रदामन् के शिलाशासनों में रहने पर भी, आकार-प्रकार में लकाराख्य कर्ण-भाग के बहुत सदृश नहीं हैं। लिपिज्ञों की दृष्टि में इन सब लकारों का भेद गण्य हो या अगण्य भी हो, आकारैकजीवी जो शिल्प है, उस के शास्त्र में भेद बहुत करके गण्य ही होता है। बिलकुल सदृशाकारक लकार खोजना हो, तो यज्ञश्री शातकर्णी के शिलाशासनस्थ लकार से बढ़कर सदृशाकारक लकार अन्यत्र नहीं मिलता है। शातकर्णी वाले[1] लकार का आकार कर्णलकार से सर्वात्मना तुल्य है। इससे अंदाजा किया जा सकता है कि कर्ण-भाग को लकाराख्या यज्ञश्री शातकर्णी के समय में मिली है। यह शिल्प्युपज्ञक समझने पर अन्याय भी शायद नहीं होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि यज्ञश्री से पालित भू-भाग पर ही केवल इस परिभाषा का प्रचलन शुरू में हुआ है। तब भी केवल इसी आधार पर उतना दूर कहना संभव नहीं है कि इस विद्या का आरंभ उसी समय में और उसी भू-भाग पर हुआ है। यह हो सकता है कि उस समय में और उस भू-भाग पर इस विद्या ने उन्नत दशा प्राप्त की थी। यह सत्य दूर नहीं ज्ञात होता है, अगर उस समय की अमरावती की मूर्त्तियों को परीक्षात्मक दृष्टि से देखा जाय। उन मूर्त्तियों की उनसे प्राचीन मूर्त्तियों से तुलना करके देखने पर यह निश्चित रूप से विदित होता है कि शारीरविद्या की दृष्टि से भी उनका एक विशिष्ट और अतुलनीय स्थान है। इन सब बातों से यह निस्संदेह प्रकट होता है कि यह शारीर-विद्या ईसा की द्वितीय शताब्दी में विकसितावस्था के साथ विराजमान थी।

---

[1] आर्ज बूहलर, भारतीयलिपि, भाग २, चित्रफलक २।

११२
१०
ल
१२१
१२२
१४२
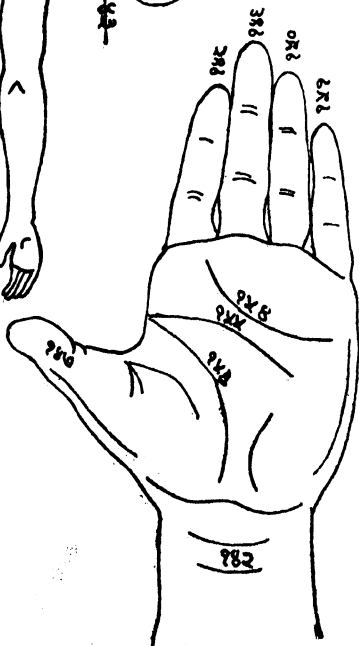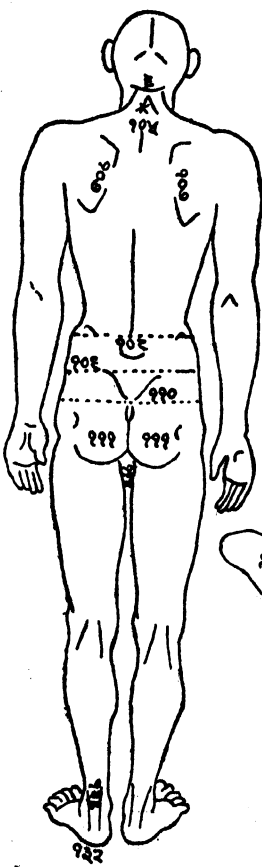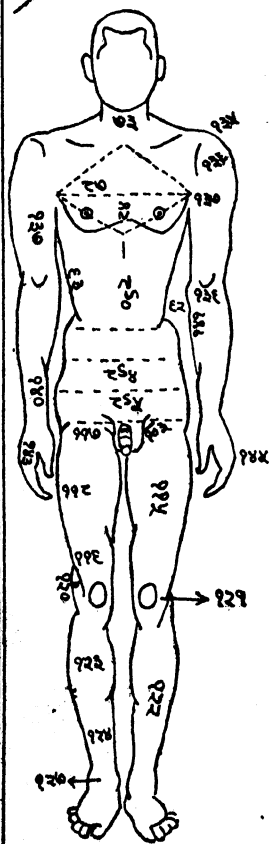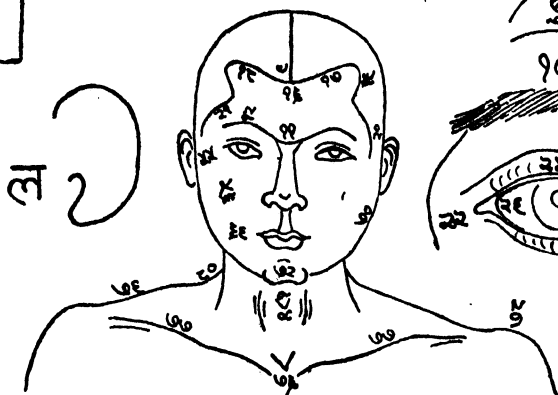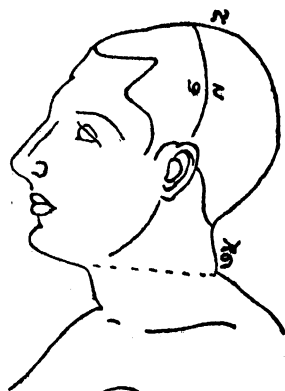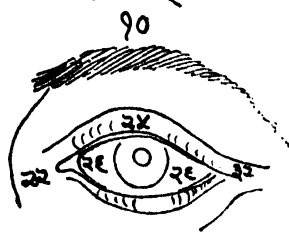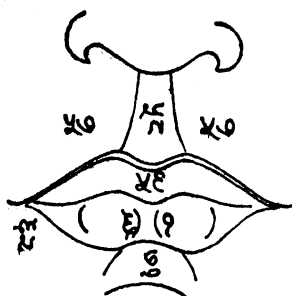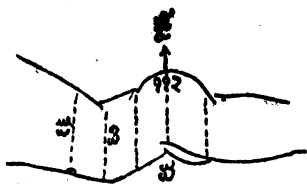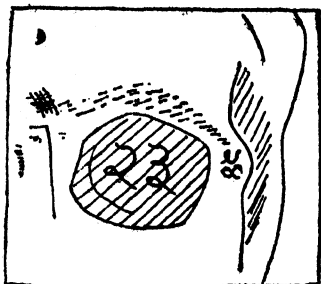
ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं होता कि ईसा की प्राथमिक शताब्दियों से विद्या के आरंभ का युग है। अमुक दिन इसका जन्म हुआ था, अमुक तिथि में इस का इतना विकास हुआ था, ऐसा निर्देश करना वर्तमान परिस्थितियों में संभव नहीं है, क्योंकि इस विद्या की खोज अभी तक बहुत ही कम हुई है और जो भी हुई है, वह ठीक-ठीक ढंग से नहीं हुई। इसका मतलब इतना ही है कि ईसा की प्राथमिक शताब्दियों में इस विद्या का न केवल अस्तित्व मात्र ही इन प्रमाणों से सुस्पष्ट और निस्संशय है, बल्कि इसका विकास भी। त्रिपिटक के ग्रंथों में भगवान् बुद्ध के द्वात्रिंशल्लक्षण और अशीत्यनुव्यंजन की वर्णना जो मिलती है वह केवल बुद्ध की स्तुति करने के लिए उद्दिष्ट तालिकामात्र नहीं है, परंतु लोगों की परिशीलना शक्ति का निदर्शन है। अन्ततः ये लक्षण सभी हृदय-विकास के अभिव्यञ्जक हैं और वैसे ही परिगणित हैं। तथापि ये सभी शरीराश्रित हैं और शारीरिक विकास को भी बतलाने वाले हैं। इसलिए इनके स्वरूप-निर्धारण करते समय हृदय और शरीर इन दोनों में किसी को उपेक्षा-दृष्टि से देखना ठीक नहीं होगा। दार्ढ्य, ओजिस्विता, माधुर्य, सौंदर्य आदि जो शारीरिक धर्म हैं, उनको एककण्ठ से और मुक्तकण्ठ से ये सभी लक्षण बतलाते हैं। परवर्ती जिन-जिन ग्रंथों में यह शारीर विद्या दिखलाई पड़ती है, उन सभी में इन लक्षणों में से कुछ लक्षणों का सुस्पष्ट उल्लेख मिलता है। तो उस लक्षण-तालिका के साथ इस शारीर विद्या के सम्बन्ध का अनुमान न किया जाय, यह हो नहीं सकता। यद्यपि शारीरविद्या नाम से, शारीरशास्त्र नाम से, प्रतिमालक्षण नाम से ईसा-पूर्व शताब्दियों के ग्रंथ अभी तक अनुपलभ्य हैं तथापि उस लक्षण-तालिका के बल पर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह शारीरविद्या किसी न किसी रूप में ईसा से कई शताब्दियों पहले विद्यमान थी।

इस विद्या का आरंभ कब का है, इस प्रश्न के विषय में अधिक न कह कर, जब से यह ग्रंथों में उपलब्ध है, तब से उन-उन ग्रंथों में क्या कहलाती है, इसे देखना है। कुछ ही ग्रंथ मिलते हैं, जो कि केवल इस विद्या के लिए ही रचित हैं। लेकिन यह विद्या कम ग्रंथों में नहीं मिलती है। आगम, तन्त्र, पुराण, वास्तु, विश्वकोश सरीखे ग्रंथों में यह दिखाई पड़ती है। इन सभी ग्रंथों में यह साधारणतः प्रतिमा-लक्षण कहलाती है। लेकिन इस अवसर पर यह जानना चाहिए कि यह शब्द बहुत व्यापकार्थ में प्रयुक्त है। विभिन्न देवताओं का रंग, वस्त्र, आयुध, प्रतीक तथा प्रमाण आदि विषय भी इसमें संमिलित रहते हैं। यह शब्द जिन-जिन अर्थों को कहता है, उन में शारीर विद्या अन्यतम है। और भी स्पष्ट कहना हो तो यह अंग्रेजी के (Iconography) शब्द का पर्याय है। तब भी ऐसा गलत नहीं समझना होगा कि प्राचीन शिल्पी और ग्रंथकारों को शारीर विद्या के प्रति पृथग् दृष्टि नहीं थी और उसको स्वतंत्र विद्या नहीं मानते थे। आईकोनोग्रेफी (प्रतिमाशास्त्र) से पृथक् करके दिखलाने के लिए आधुनिक विद्वान्—पुरातत्त्वविद् और शिल्पलक्षणवेत्ता—इसे अंग्रेजी में आईकोनोमीट्री (प्रतिमानभाव लक्षण) कहते हैं। यह बहुत तृप्तिकारक नहीं होने पर भी आपत्तिजनक नहीं है। लेकिन इनसे दिक्कत यह है कि ये लोग इसको भारतीय भाषा में तालमान कहते हैं। ताल नामक मान से प्राचीन ग्रंथों में शरीर प्रमाण उपदिष्ट होना ही इसका कारण है। आजकल फूट जैसा होता है, वैसा ही पुराकाल में ताल था। ताल शब्द एक माप का ही नाम है, तब उससे मापा हुआ शरीर ताल या तालमान कैसा होगा। इसलिए आधुनिक विद्वान् शारीर विद्या को तालमान करके जो पुकारते हैं, वह संगत नहीं मालूम पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि प्राचीन परिभाषा प्रतिमा-लक्षण से ही यह विषय आज भी समझाया जाय या किसी दूसरी परिभाषा से समझाना होगा। आज भारत विजातीय सभ्यता के घनिष्ठ संसर्ग में है। इसकी वजह से इसकी प्रेरणा से इस विषय को पृथक् शब्द से व्यवहार करने की माँग नई है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। पर जबरदस्ती अस्वीकार करके पुरातन परिभाषा से (प्रतिमा-लक्षण जो बहुत व्यापक है) इस विषय को समझाने की कोशिश करने पर भी वह हृदयंगम नहीं होता है और उससे सुबोध और सुदृढ़ संस्कार मन में काल के प्रभाव से पैदा नहीं होते हैं, अतः नई परिभाषा की आवश्यकता है। अब यह देखना होगा कि जो नई परिभाषा स्वीकृत होगी उसे इस प्रकार की होना चाहिए कि वह अपने संप्रदाय में ठीक बैठे, नई माँग के अनुकूल रहे और इस को पूर्ण करने में समर्थ हो। ऐसी हालत में शारीर शब्द सर्वश्रेष्ठ लगता है, क्योंकि यह

आयुर्वेद में सुप्रसिद्ध है। इसको ख्याल रखना है कि आयुर्वेद के शारीरस्थान में अष्टधातु, शिरा, धमनी आदि का वर्णन सुविस्तार किया जाता है, इसलिए वहाँ का शारीर शब्द उन सब से युक्त शरीर का बोध ला देता है। शिल्पियों के लिए धात्वादि वस्तुओं की जानकारी रखने की जरूरत नहीं है। यह पहले स्पष्ट किया गया है कि शरीर का रूप, क्रिया और प्रमाण का ज्ञान शिल्पियों के लिए प्रर्याप्त है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि शिल्पियों की परिभाषा भिषग्वरों की परिभाषा से व्यवच्छिन्न करने के लिए शारीर शब्द के साथ एक विशेषण क्यों नहीं जोड़ा जाय। आगे-पीछे विशेषणादि लगाना हो और वलसार्थक्य करना हो, यह नव्य नैयायिकों का खेल-सा हो जाएगा। सामान्य बुद्धि से ही यह समझा जा सकता है कि शिल्पियों के क्षेत्र में शारीर शब्द तावन्मात्र को ही समझना यावन्मात्र उन लोगों को आवश्यक है। इसलिए आजकल इस विषय को शारीर शब्द से समझना समंजस है। यह परिभाषा आधुनिक यूरोपीय भाषा में जो (Anatomy for Artists या Artistic Anatomy कहते हैं, उस ढंग की रहती है, यद्यपि वस्तुत: भिन्नसरणि से अर्थ समझाती है।

प्राचीन भारतीय शिल्पियों का शारीर परिज्ञान बहुत समग्र, विशिष्ट और आश्चर्यजनक भी है, जहाँ तक यह रूप, क्रिया और प्रमाण-संबंधी है। इसके ज्ञान के अवलंबन पर शिल्पनिर्माण करने की परंपरा अभी तक यद्यपि नितराम् उच्छिन्न नहीं हुई है, तथापि उसका अनुसरण करने वाले गतानुगतिक न्याय अनुसरण करते हैं, लेकिन उनमें उसकी व्युत्पत्ति नहीं है। इसलिए ऐसे लोग उसका मर्म न समझते हैं, न समझा सकते हैं। कुछ आधुनिक पंडितों ने इस क्षेत्र में कुछ काम किया है, लेकिन उसका रहस्योद्घाटन करने के लिए जिस दृष्टि और सामग्री की जरूरत थी, उसकी कमी इनमें होने के कारण इनके काम में भी वही हाल रह गयाहै, इसलिए उसको पढ़ करके आधुनिक शिल्पी कुछ लाभ उठा नहीं सकेंगे। आधुनिक पंडितों के विवरण से सब मिलाकर कुछ लाभ नहीं हुआ यह सही बात है और उनमें कुछ लोगों के विवरण के ढंग से कुछ दूर तक हानि भी हुई है, ऐसा कहने पर अन्याय शायद नहीं होगा। यह जगद्विदित है कि साहित्य में अवयवों की वर्णना करते समय कविपुंगव उनकी पक्षियों से, फूलों से, कुंभों से, तुलना कर देते हैं (उतने से तृप्ति न होने से पहाड़ों को भी नहीं छोड़ते हैं)। वैसा सादृश्यात्मक अंगों का विवरण शारीर ग्रंथों में भी कुछ दिखाई पड़ता है। कुछ आधुनिक पंडितों ने इन प्रयोगों के ऊपर अपना भाष्य देते हुए अक्षरशः विवरण किया है। इस विद्या के प्रति इन पंडितों की श्रद्धा के बारे में किसी हालत में संशय नहीं किया जा सकता। तो भी उस तरह के विवरण से हानि तो जरूर पहुँची है। आज के कई नागरिक लोगों के पास और कई शिल्पियों के पास भी कोई आदमी कहे कि प्राचीन शिल्पियों का शारीर परिज्ञान बहुत उत्तम है, तो वे लोग कभी मानने को तैयार नहीं होंगे और उलटा दिल्लगी करते हुए कहेंगे कि आँखों की जगह में पद्मदल, कुचों की जगह में कुंभों को लगाने के ये दिन नहीं हैं। लोगों में इस तरह की अश्रद्धा, अनास्था उदय होने का कारण कुछ दूर तक असमीचीन विवरण है। कुछ दूर तक यह भी कारण है कि कुछ लोगों की यह आदत बन गई है कि वे प्राचीन वस्तुओं के प्रति अनादर एवं अनास्था और अश्रद्धा उसी तरह दिखाते हैं, जैसे कि कुछ लोग उत्फुल्ल होकर प्राचीनतामात्र को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए श्रद्धा का प्रकाश करते रहते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि सम्यक् रीति से समझा जाय, तो प्राचीन शिल्पियों का शारीर परिज्ञान बहुत ही उत्तम है। उस पूरी विद्या को सम्यक् रीति से प्रकाश में लाना अतिकष्टसाध्य और समयसापेक्षी है, क्योंकि यह भूली हुई विद्या है, लोगों से कोशों से नाम मात्र की मदद मिलती है, इसके ग्रंथ अशुद्ध पाठों से भरे हुए हैं और यह बहुत विस्तृत भी है। बाल्यावस्था से शुरू करके प्रौढ़ावस्था तक और उनके बीच की अवस्थाओं में जैसा शारीरिक विकास होता रहता है, उसका विवरण मिलता है। यह कम बात नहीं है। प्रौढ़ावस्थावस्थित शरीर की वर्णना अधिक मात्रा में मिलती है। उसका कारण है कि उसके बाद अवयव या शरीर की वृद्धि नहीं होती, संपूर्णता का पीठ है वही अवस्था। इसलिए इस अवस्था में रहने वाले शरीर को केंद्र मानकर या अवलंबन करके इस विद्या का उपदेश किया गया है। दोषरहित, सुदृढ़, सुंदर, सुपुष्ट, आरोग्यसंपच्छाली और प्रौढ़ावस्थावस्थित शरीर नवताल से थोड़ा ज्यादा प्रमाण का होता है। यह साधारणत: नवताल मूर्त्ति नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीनाचार्यों से कहे हुए सारे शरीर-संबंधी विशेषों के बारे में लिखना हो,

वह अब साध्य नहीं है[1] और साध्य होने पर भी इस तरह के लेखों में संगृहीत करना असंभव ही है। इसलिए एक ही विशेष को दिखलाना युक्त होगा।

ऐसे एक विशेष की चर्चा करना ठीक होगा, जिसका विशद परिचय भविष्यत् में इसी विद्या को समझने में मदद दें और अन्यत्र भी काफी काम में आए। इसके लिए विभिन्न अवयवों का और उनके भागों के बारे में उनके नाम के साथ विवरण करना लाभदायक होगा। संस्कृत में विभिन्न अवयवों के क्या-क्या नाम हैं यह बात सभी संस्कृतज्ञ जानते ही हैं और उन्हें पहचानते भी हैं, तो उनके बारे में लिखने का क्या है, ऐसा प्रश्न आ सकता है। यह सही बात है कि सभी संस्कृतज्ञ उनके नाम से परिचित हैं, लेकिन उनको अवयव और उनके भागों की जो ज्ञानप्राप्ति होती है, वह साहित्य के द्वारा होती है। मुश्किल यह है कि साहित्य में उनमें से कुछ शब्दों का यथायथ प्रयोग नहीं हुआ और बहुत साधारण ढंग से प्रयोग हुआ है। दो या तीन विभिन्न जगह के नाम जो हैं वे पर्याय समझे गए और खास शरीरभाग को समझाना हो, दूसरे भाग के नाम से समझा दिया गया। उदाहरण के लिए—स्कंध को समझाने के लिए अंस शब्द का प्रयोग किया गया और बड़े-बड़े व्याख्याता भी वैसे ही विवरण करते आए। सब जगह वैसा ही होता आया ऐसी बात भी नहीं है, कुछ जगह में स्कंध और अंस शब्द ठीक अर्थ में ही प्रयोग किए गए हैं। खास करके श्रोणी और नितंब शब्द प्रायश: पर्याय शब्द जैसे ही प्रयोग किए गए हैं और ये दोनों स्फिगर्भ में भी व्यवहृत हैं। ऐसे प्रयोग पुराणकाल में भी दिखाई पड़ते हैं और महाकवियों के ग्रंथों में भी। इस तरह के प्रयोगों का विकास-इतिहास दिखाना हो वह अब असंभव ही है, क्योंकि एक-एक शब्द को लेकर प्राचीनकाल से शुरू करके अभी तक के जितने ग्रंथ हैं, उन सारे ग्रंथों का सावधानी से अध्ययन करना पड़ता है। एक के बाद और एक उस तरह के प्रयोगों को इस जगह दिखाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि बाद में अपने आपसे संस्कृतज्ञों को यह विषय स्पष्ट हो जाएगा, जब विभिन्न अवयवों का ठीक विवरण किया जाएगा। यहाँ पर यह ठीक समझना होगा कि ऐसा कहने का तात्पर्य प्राचीन कवियों के ऊपर दोषारोप करना नहीं है। दोषारोप करने का निश्चय कर लेने पर भी यह स्पष्ट होनेवाला कभी नहीं है कि किस के ऊपर दोष मढ़ना है, क्योंकि इसका भी एक महान् प्रवाह है। महाकवि और विद्वद्व्याख्याताओं के ऊपर दोषारोप करके लाभ पाने की उम्मीद भी नहीं है। इसलिए ऐसे प्रयोगों को देख उनके अध्ययन के अलावा दूसरे प्रयोजन के लिए प्रयास करना व्यर्थ होगा। फिर भी यह तो ठीक ही है कि कुछ शब्दों का यथायथ प्रयोग नहीं हुआ, तो भी उनको अपप्रयोग समझना अनुचित है। इसलिए इनको अपप्रयोग न मानकर अशास्त्रीय प्रयोग मानना अन्याय शायद नहीं होगा। यहाँ पर अशास्त्रीय याने इतना ही होता है कि जो प्रयोग शारीरशास्त्र की दृष्टि से ठीक नहीं है। संस्कृत-साहित्य को छोड़कर साधारण बोलचाल की हिन्दी में भी कई शब्दों का अर्थ व्यत्यय हुआ है। यह भी बाद में स्पष्ट होगा, जब अवयवों का विवरण दिया जाएगा। और एक अवयव ज्ञातव्य यह है कि ऐसे भी कई अवयवों के नाम हैं, जिनका प्रयोग संस्कृत-साहित्य में हुआ ही नहीं है और उनमें कुछ का प्रयोग होने पर यह इतना क्वाचित्क है कि जो कई संस्कृतज्ञों की स्मृति में नहीं रहते हैं। साहित्य के द्वारा प्राप्त इनके ज्ञान से शारीर विद्या की सम्यगभिज्ञता नहीं हो पाती है।

अवयव या उनके भागों का हाल साहित्य में यह होने पर भी आयुर्वेद में यह हाल नहीं है। साहित्य में एक शब्द से दूसरा अर्थ समझने पर भी उतनी हानि नहीं होती है, आयुर्वेद में और शिल्पियों के शारीरविद्या

---

[1] ताल बारह अंगुल का होता है। शारीरविद्या में अंगुल ध्रुव नहीं है, अध्रुव है याने प्रयोजनवशात: इसका माप बदलता जाता है। यहाँ का अंगुल देहलब्धांगुल कहा जाता है। केशांत देश से (याने भाल के ऊपर जहाँ से केश निकलने शुरू होते हैं) पाद तक का सारा शरीर नवताल का होता है सभी आचार्यों के मत से। केशांत देश से शिखा (खोपड़ा) तक का जो भाग है, उसकी माप साधारणतः शरीर की माप में शामिल नहीं करते हैं। उसे छोड़कर शरीर के मान का निर्देश किया जाता है, विशेषतः नवताल प्रमाण के शरीर का विवरण करते समय। इसका ख्याल नहीं रखकर कुछ आधुनिक पंडितों ने भूलें की हैं। शिखा केशांत मध्यवर्ती जो भाग है, उसके बारे में आचार्यों में मतभेद है। कुछ आचार्यों के मत से वह दो अंगुल का, दूसरों के मत से तीन अंगुल का और अन्य आचार्यों के मत से चार अंगुल का होता है।

में जितनी हो सकती है। इसलिए आयुर्वेद के सभी प्रामाणिक ग्रंथों में सम्यग्रीति से ही इनका प्रयोग हुआ है। फिर भी आयुर्वेद के शारीरस्थान के अध्ययन से ही शिल्पियों का काम नहीं चल सकता है, क्योंकि कविराजों का और शिल्पियों का प्रयोजन भिन्न-भिन्न है और उनके देखने की भंगी भी अलग है। इन सब कारणों से आयुर्वेद के शारीरस्थान में वे सभी अवयव और तक्ष्यागवाची शब्द निश्चय नहीं मिलते हैं, जिन्हें शिल्पियों को जानना होता है। पूरा आयुर्वेद मंथन करने पर वे सभी मिल भी सकते हों, वह दूसरी बात है। आयुर्वेद में वे सभी शब्द मिलें या नहीं मिलें, शिल्पियों को आवश्यक जो हैं, उनको शिल्पियों के शास्त्र से जानना पड़ेगा, क्योंकि यह पहले ही कहा गया कि उन दोनों की सरणि बिलकुल भिन्न है।

पहले कहा गया कि शिल्पियों की शारीरविद्या बहुत से ग्रंथों में अब मिलती है। इन सभी ग्रंथों में व्यवहृत परिभाषा बिलकुल एक सी है यह नहीं कहा जा सकता है, उनमें कभी-कभी कुछ अंतर दिखाई पड़ता है। तथापि यह अंतर वैसा नहीं है, जो एकत्व को हानि पहुँचा सके। इस तरह के शारीरशास्त्र संबंधी सारे विषयों का विवरण यहाँ पर करना संभव नहीं होगा। तो किसी एक ग्रंथ के आधार से शरीर के अवयवों का विवरण करना समंजस होगा।

चालुक्यवंशी राजा सोमेश्वर द्वारा रचित एक विख्यात ग्रंथ है। वह है 'अभिलषितार्थचिंतामणि' जो 'मानसोल्लास' करके दूसरे नाम से भी प्रसिद्ध है। यह सचमुच अन्वर्थ नाम है। नाम से ही स्पष्ट है कि यह विश्वकोश सरीखा ग्रंथ है। इसमें वर्णित नाना विषयों में शारीर विद्या भी अन्यतम है। कल्याणी को राजधानी बना कर जिन चालुक्यवंशी राजाओं ने शासन किया, उनमें से एक है यह ग्रंथकर्ता सोमेश्वर, जिनका समय ईसा बारहवीं शताब्दी माना जाता है। इस समय को सुन कर लोगों के मन में कुछ अनादर भाव उत्पन्न होने की संभावना है, क्योंकि यह समय जो है वह भारत के विद्याओं की उच्चदशा बीत जाने के बाद का है। गुणग्राहिता रहे, तो समय के कारण कोई अनादरभाव इसके प्रति लोगों में नहीं होना चाहिए। क्योंकि, कई विषय इस ग्रंथ में बहुत उत्तमरीति से प्रतिपादित हैं, इनके प्रामाणिकता के बारे में संदेह व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं है। इस राजा के परवर्ती संगीतलक्षणकार, नाट्याचार्य वगैरह लोग इनकी प्रामाणिकता मानने में एकमत हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि उतना ही प्रामाणिक रीति से शिल्पियों की शारीर विद्या भी इस ग्रंथ में प्रतिपादित है। बल्कि कई दृष्टि से इसमें जिस रीति से शारीर विद्या वर्णित है, वह निस्संदेह ही श्रेष्ठतम है। यद्यपि इस ग्रंथ में केवल नवताल प्रमाणात्मक शरीर ही प्रतिपादित है, तथापि वह इतना समग्र है कि उतनी समग्रता और किसी अन्य उपलभ्यमान ग्रंथों में नहीं दिखाई पड़ती है। नौ देशों (angles) से नवताल प्रमाणात्मक शरीर को देखने पर उसके विभिन्न अवयव किस-किस प्रमाण के होते हैं, वह तीन लम्बसूत्रों (एक ब्रह्मसूत्र और दो पक्षसूत्रों) के अवलंबन पर कहा गया है। यद्यपि नवताल प्रमाणात्मक शरीर की वर्णना शतधिक ग्रंथों में दिखाई पड़ती है, तथापि नौ देशों से देखकर इसके प्रमाण का विवरण गिनी हुई पुस्तकों में दिखाई पड़ता है। इस तरह की वर्णना भोजराज के समरांगण-सूत्रधार नामक वास्तुग्रंथ में बहुत दूर तक की गई है। लेकिन, वह इतनी समग्र नहीं है, जितनी 'अभिलषितार्थ-चिंतामणि' में है। खाली इसकी समग्रता ही प्रशंसार्ह नहीं है, प्रत्युत इसकी शास्त्रीयता भी है। इसलिए इस ग्रंथ के आधार पर शरीर के अवयवों का विवरण करना युक्त ही होगा।

'अभिलषितार्थचिंतामणि' के आधार पर शारीरिक भागों का विवरण करने के पहले यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि शरीर के भाग किस शब्द से इस ग्रंथ में व्यवहृत हैं। ऐसा आचार रहा है कि विशेष शास्त्र विशेष विभाग से विशेष शब्दों द्वारा शरीर के भागों का निर्देश करते हैं। जैसा नाट्यशास्त्र में प्रधान भागों को पहले विभाग करके आचार्य लोग दिखाते हैं और उनको अंग शब्द से व्यवहार करते हैं, बाद में उपांग और प्रत्यंगों का विभाग करते हैं। आयुर्वेद में भी आचार्य यद्यपि पहले षडंग विभाग नाट्याचार्य जैसे ही करते हैं, तथापि उनको चुनने में बहुत अंतर है। ये लोग शाखादि भेद से अंगों को गिनते हैं और बाद में दूसरे-दूसरे शब्दों से इतरावयवों का व्यवहार करते हैं। वैसे ही अपने प्रयोजन के अनुसार राजा सोमेश्वर भी शरीर के विभिन्न भागों को प्रदेश कहते हैं। इसका कारण यह मालूम होता है कि एक ही अंग के जो

विभिन्न देश हैं, जिनकी उपांग या प्रत्यंग शब्द से प्रसिद्धि नहीं हुई है, उन सबका भी विवरण इस विद्या में देना पड़ता है, तो शाखांगोपांग-प्रत्यंगादि शब्द इसके लिए पर्याप्त नहीं होते हैं। फिर भी ऐसा कोई नियम नहीं है कि एक शास्त्र में व्यवहृत शब्दों का अन्य शास्त्र में व्यवहार न हो। फिर भी यह सच्ची बात है कि प्रत्येक शास्त्र की अपनी-अपनी मर्यादा है। उस मर्यादा के अनुसार इतना ही जानने की आवश्यकता है कि सोमेश्वर अपने ग्रंथ में शरीर के विभिन्न भागों को प्रदेश कहते हैं।

इन आवश्यक विषयों को स्पष्ट करने के बाद अब शरीर-प्रदेशों का विवरण सचित्र दिया जाता है। ये चित्र ग्रंथोक्त मान-विशेष का अनुसरण किए बिना ही बनाए गए हैं।

(१) **शीर्ष** छत्राकारक है। इसके पर्याय मस्तक और शिर भी हैं। (इससे यहाँ पर कंठ के ऊपर का सारा भाग नहीं समझना चाहिए। बल्कि उतना ही समझना है, जितना भाल के नीचे का अंश छोड़ने पर जो कपाल बचता है।)

(२) **शिखादेश** कबरी बाँधने की जगह नहीं है। यह कपाल पर वह सबसे ऊँची जगह है, जो शिर के ऊपर शिर के पीछे की ओर रहती है। केशबंध भी शिखा नाम से प्रसिद्ध है। केश यहाँ पर किसी समय लोग बाँधते थे, इस कारण से इसका शिखा नाम हो गया है, या इसी का नाम मूलतः शिखा है, जहाँ बाँधने की वजह से केशबंध ने शिखा नाम प्राप्त किया, इस बात का निश्चय करना कठिन है। इसलिए इसको भाषाविदों पर छोड़ दिया जाय, तो अच्छा होगा। इसका इतिहास जो हो, आज इसी को हिंदी में शायद खोपड़ा कहते हैं।

(३) **निम्न देश** याने कपाल का निम्नदेश, यह करीब शिखा और भालोर्ध्वभाग के बीच में पड़ता है। इसी को साधारणतः ब्रह्मरंध्र और हिंदी में तालू कहते हैं।

(४) **शिरःपृष्ठ** या मूर्धपृष्ठ जो है, वह सिर के पीछे रहनेवाली ऊँची जगह है। कभी-कभी यह शिरःकूर्म शब्द से भी व्यवहृत होता है। आजकल पुरुष जहाँ छोटी-सी चोटी रखते हैं, उसके नीचे और आजकल की स्त्रियाँ जहाँ पर कबरी बाँधती हैं, उस जगह से थोड़ा ऊपर भी पड़ता है।

(५) **कृकाटिका** (जो कभी-कभी शिरोगर्त भी कही जाती है) शिरःपृष्ठ के नीचे अर्थात् जहाँ कपालास्थि समाप्त होती है, वहाँ पर रहनेवाला गर्त है। यह गर्त प्रणालाकारक है। इसी को तेलुगु में मुञ्चिक गुंट कहते हैं। शिर के पीछे यहीं से केश निकलने शुरू करते हैं।

(६) **पृष्ठकेशांतदेश** वह स्थान है, जो गर्दन के ऊपर आड़ी रेखा बनाते केश निकलना शुरू करते हैं।

(७) **शिरःपूर्वार्ध**
(८) **शिरःपश्चिमार्ध** } उभयकर्णों को सीमा मानकर शिरका भाग किया जाय, तो सामने पीछे जो भाग मिलते हैं, उन्हीं के ये नाम हैं।

(९) **सीमंत** अर्थात् शिर के ऊपर बीच में सामने से शुरू करके पीछे तक एक रेखा खींची जाय, तो जो जगह मिलती है, वही सीमंत है। (प्राचीन काल में पुरुष और स्त्री दोनों केशों को यहीं पर विभाग करके केशमंडन करते थे। उस तरह का केश-विभाग भी सीमंत शब्द से ख्यात है)। इसका असल अर्थ यद्यपि यही है, तब भी कभी-कभी सीमंत के आरंभ मात्र को भी सीमंत समझना होगा, जैसा कि 'मानसोल्लास' में कहा है। यही सीमंत शिर के वामदक्षिण विभाग करने में सीमा रहता है।

(१०) **भ्रू** याने भौं, भौंरा या भुरू है।

(११) **भ्रूमध्य** है दोनों भ्रुवों का मध्यदेश, जो नासामूल से ऊपर रहता है।

(१२) **भ्रूपृष्ठ** असल में भ्रू की पीठ को कहना चाहिए, अर्थात् आँख की ओर जो धार रहती है, उससे उलटी धार। लेकिन भ्रूपृष्ठ इतने पूरे भाग को नहीं बताता है विशेष करके 'मानसोल्लास' में। भ्रूनासामध्य में से निकल कर धीरे-धीरे केशों की ओर उठती जाती है, और कुछ दूर जाकर फिर उतरने लगती है। इसकी चढ़ाई जहाँ समाप्त होती है, जहाँ उतार शुरू होता है, वहाँ ऊपर की धार ही भ्रूपृष्ठ कहलाता है।

(१३) **भ्रूपुच्छ** याने भ्रू का जो अंश उतार में रहता है।

(१४) **भ्रूचापांत** है भ्रू का अंत या सूक्ष्माग्र अर्थात् भ्रू की नोक, एक भ्रू की नोक से दूसरी भ्रू की नोक तक का भ्रुवों का आकार प्रत्यंचा चढ़े हुए धनुष के समान रहता है।

(१५) **ललाट** हिंदी में मस्तक, माथा और भाल शब्दों से जो व्यवहृत है, वही ललाट है। इसके पहले ही दिखा दिया गया है कि इन तीनों में मस्तक शब्द असल में या संस्कृत में शीर्ष होता है। तो उसका अपभ्रंश माथा शब्द भी वैसा ही असल में होना चाहिए था। लेकिन, व्यवहार में अंतर आ गया है, यह जानना होगा। भाल शब्द संस्कृत में भी व्यवहृत होता है। जो भी हो, ललाट वही है, जहाँ पर एक ओर से दूसरी ओर तक विभूति या गंगामृत्तिका लगाई जाती है।

(१६) **स्थपनी** वही है, भ्रुवों से थोड़ा ऊपर का जो भाल का भाग है, अर्थात् पुरःकपलास्थि और अक्षिकूटास्थि का संधिवशतः भाल पर जो निम्नदेश होता है।

(१७) **केशांतदेश** भाल के ऊपर जिस देश से केश निकलना शुरू करते हैं, वह केशांत देश है। भाल के ऊपर एक रेखा पर केश निकलना शुरू करते हैं। जिस रेखा को बनाते केश निकलते हैं, उस रेखा का आकार द्वितीया चंद्रलेखा के समान होता है। यह भी केशांत-रेखा शब्द से ख्यात है। इसलिए यहाँ पर सावधानी से समझना है कि यह रेखा और केशांत रेखा नाम से प्रसिद्ध तिर्यग्रेखा एक नहीं हैं। यह रेखा वक्र होती है। लेकिन, तिर्यक् प्रसारिणी केशांत रेखा वक्र नहीं होती। भ्रूमध्य से सीधा भाल के ऊपर जहाँ केश निकलने शुरू होते हैं, वहाँ एक बिन्दु की कल्पना करके अवक्र एक तिर्यग्रेखा मापने के काम के लिए जो खींची जाती है, वही ज्यादा शारीरविद्या में प्रसिद्ध है। वास्तव में इस रेखा को पुरःकेशांत-रेखा कहना चाहिए, क्योंकि यह पहले ही स्पष्ट किया गया है कि सर के पीछे भी एक और केशांत रेखा होती है। लेकिन आचार्यगण वैसा नहीं कहते। इसलिए मापने के काम में केशांत-रेखा या केशांत जब कहा जाता है, तब उस तिर्यक् प्रसारिणी पुरोवर्तिनी केशांत-रेखा को ही समझना होगा। पीछे की केशांत-रेखा को उद्देश्य करके इस शब्द का व्यवहार जब करते हैं, तब अकसर उसका विवरण या उल्लेख करते हैं। कभी-कभी वैसा उल्लेख आचार्य नहीं भी करते हैं। वैसी जगह में प्रकरणवशतः निश्चय कर लेना पड़ता है कि पुरःकेशांत तिर्यग्रेखा और पाश्चात्य केशांत तिर्यग्रेखा—इन दोनों में कौन-सी खास जगह में अभीप्सित है।

(१८) **उत्क्षेप** दो होते हैं। ये वे ही हैं, जो द्वितीयाचंद्राकृतिवाली केशांत-रेखा के उपांत या प्रांत या कोण हैं। (चढ़कर रहनेवाला केशांत रेखाग्रभाग=उत्क्षेप)। कहीं-कहीं इसी की जगह पर उत्सेध पाठ भी मिलता है। लेकिन, सुश्रुत शारीर में तो हमेशा उत्क्षेप ही मिलता है। वस्तुतः उत्सेध और उत्क्षेप का अर्थ दूसरा ही है, फिर भी इनका अर्थ समान भी हो सकता है, अगर खींच कर लगाया जाय। तथापि उत्सेध पाठ युक्त या अयुक्त है, यह विचारणार्ह है।

(१९) **ऋजु** कुंतलावली[१] यह वही है, जो रोममूलराजी उत्क्षेप से शुरू करके सीधी भाल के बीच (स्थपनी रेखा) तक आ पहुँचती है।

(२०) **कूर्च** अर्थात् दाढ़ी के लोम जो कनपटी और कान के बीच में से शुरू होते हैं।

(२१) **शङ्ख** अर्थात् कूर्चप्रांत और भ्रूप्रांत के बीच में रहने वाला प्रदेश, जिसको हिंदी में कनपटी और तेलुगु में कणत कहते हैं।

(२२) **कनीनिका** नेत्रमूल होता है, याने नासामूल और नेत्र के बीच में रहने वाला प्रदेश है। साधारणतः लोगों में यह नेत्र का समूचा काला भाग और उसके अंदर रहने वाली पुतली इन दो रूप से प्रसिद्ध है। शिल्पी और भिषग्वरों की शारीरविद्या में यह अर्थ ठीक नहीं होता।

(२३) **अक्षिकूप** है, जिस गर्त में नेत्रगोल रहता है। यही हिंदी में गोलक कहा जाता है।

(२४) **अक्षिकूट** है, अपांग के पार्श्व में रहने वाला उच्चप्रदेश, अर्थात् शंखवस्थि और अक्षिकूप के बीच में रहने वाली जो अस्थि है, उससे निर्मित उन्नत प्रदेश।

(२५) **नेत्रवर्त्म** वह है, जिसे हिंदी में पलक कहा जाता है। यह दो प्रकार का है, जैसे ऊर्ध्ववर्त्म और अधोवर्त्म। यह नेत्र पुट भी कहा जाता है।

---

[१] मूल में यह अलक शब्द से निर्दिष्ट है। इसी शब्द से समास बनाने पर उच्चारण में कठिनाई पड़ती है। इसलिए यहाँ पर कुंतल शब्द का प्रयोग अपनी ओर से किया गया है।

(२६) **पक्ष्म** नेत्रवर्त्म पर रहनेवाले लोम हैं, जो हिंदी में बरौनी कहे जाते हैं।

(२७) **नेत्र** आँख है, जो निम्नदर्शित रीति से तीन भाग में विभक्त है।

(२८) **मेचकमंडल** या कृष्णमंडल, याने आँख के बीच में रहने वाला सारा गोलकारक काला भाग है। यही अन्य ग्रंथों में तारा शब्द से व्यवहृत है। आँख की लंबाई के तीन भाग करने से जो एक भाग मिलता है, उसका प्रमाण ही इस कृष्णमंडल का माप होता है, अर्थात् आँख का तृतीयांश कृष्णमंडल होता है। इसीलिए तारा का अपरनाम हो गया नेत्रत्रिभाग या त्रिभाग। यह त्रिभाग शब्द प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त भी है। (आनंदवर्धनाचार्य अपने ध्वन्यालोक के तृतीयोद्योत में चतुर्थकारिकार्थ को स्पष्ट करते हुए एक प्राचीन कवि का पद्य उदाहरण में देते हैं, वह यह है "व्रीडायोगात्......मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्र त्रिभाग:")। त्रिभाग शब्द के स्वभाव पर निर्भर करने से यह लगता है कि इसकी उत्पत्ति और प्रचार शिल्पियों से हुआ है या शिल्पियों के व्यवहार से हुआ है।

(२९) **श्वेतभाग** है कृष्णमंडल के उभय पार्श्वों में विद्यमान नेत्र का श्वेत अंश। इसलिए ये दो होते हैं। दो श्वेतभाग और कृष्णमंडल इन तीन भागों से नेत्र विभक्त है।

(३०) **पुत्रिका** वह ज्योतिर्भाग है, जो कृष्णमंडल के बीच में रहता है और जिसकी वजह से वस्तु दिखाई पड़ती हैं। तेलुगु में यह कनुपाप नाम से प्रसिद्ध है। हिंदी का पुतली शब्द इसी से हुआ है। बहुत सी जगह तारा और पुत्रिका शब्द पर्यायवत् प्रयुक्त होते हैं, वह भ्रमकारक होता है। वैसे ही कनीनिका शब्द से भी इनका विवरण किया हुआ मिलता है। लेकिन ये तीन भिन्न हैं, यह अब स्पष्ट हुआ है।

(३१) **नेत्रगोल** आँख का यावदभाग है, अर्थात् दो श्वेत भाग तथा पुत्रिकासहित कृष्णमंडल मिलकर गोलाकार से विद्यमान। गोल शब्द से ही इसका आकारादि स्पष्ट है।

(३२) **अपांग** याने नेत्र का कोण जो कान की ओर रहता है। यह कटाक्ष शब्द से भी प्रसिद्ध है। तेलुगु में इसको कीगन्नु और कनुगोन कहते हैं।

(३३) **करवीर** इसका स्पष्ट विवरण 'मानसोल्लास' में किया हुआ नहीं मिलता है, यद्यपि बहुत बार इस में प्रयुक्त है। फिर भी प्रकरणत: विशद यह होता है कि करवीर माने नेत्र का कोण, जो नाक की ओर रहता है। अन्य कुछ शिल्प-ग्रंथों में इसी अर्थ में यह शब्द निर्विवाद और स्पष्टरूप से प्रयुक्त है। लेकिन, इसी का बृहत्संहिता में जो प्रयोग है, वहाँ पर इस तरह का अर्थ कहना यथालब्ध पाठ से बिलकुल असंभव है, क्योंकि असंगत होता है। अन्य ग्रन्थों की दशा जो हो, मानसोल्लास में करवीर नेत्रांत:कोण ही होता है और यह लाल भी होता है। कौन जाने, इस के लालपन से ही इस को करवीर नाम मिला हो। इसी को तेलुगु में कोलिकि कहते हैं, और भी स्पष्ट करना हो, तो कनु (नेत्र), कोलिकि (गोलिकि) कहते हैं। करवीरा-कारक कुछ और चीजों को भी तेलुगु में कोलिकि कहते हैं। इसलिए तेलुगु का शब्द आकार को लक्ष्य में रख कर उत्पन्न मालूम पड़ता है।

(३४) **नासा** नाक है।

(३५) **नासामूल** नाक का प्रारंभ जो कनीनिकाओं के बीच में रहता है। इस के दो भाग होते हैं, जैसे अधोभाग और ऊर्ध्वभाग।

(३६) **नासामध्य** यह स्पष्ट है। आकार-विशेष और प्रमाण का विवरण करने की आवश्यकता है, इसलिए इस का निर्देश किया गया।

(३७) **नासाग्र** याने नाक का अंतिम भाग का ऊर्ध्वदेश।

(३८) **घोणा** यह प्रायश: कोश वगैरह में नासापर्याय-सा दर्शित है। लेकिन मानसोल्लास के अनुसार नासापर्याय नहीं लगता है। बल्कि यह लगता है कि नासा का सकांश मात्र ही घोणा होती है। इस ढंग से देखने पर घोणा को समझना पड़ता है कि जितने अंश में नासारंध्र व्याप्त होकर रहते हैं। अर्थात् नासांत का समतल भाग जो ऊर्ध्वगामी होकर रहता है, वही घोणा है। फिर भी विचार करके देखने पर लगता है, नासारंध्रों के बीच में जो विभाजकांश है तथा जो अन्यग्रंथों में नासाभित्ति नाम से कथित है, वही घोणा

है। नासाभित्ति को कुछ लोग भ्रम से नासावंश समझते हैं। नासावंश है नासा का समतलकल्प ऊर्ध्वभाग, जो नासामूल से नासांत तक दंडायमान रहता है। और, नासाभित्ति है नासा के अभ्यंतर देश में दो रंध्रों को विभाग करता हुआ नासावंश के अधोभाग में अनुनासावंश विद्यमानांश है। इन सब को लक्ष्य में रख कर घोणा को स्पष्ट करना हो, तो नासांत देश में ऊर्ध्वगामी नासारंध्र मध्यवर्ती जो देश है, याने जिस में बुलाक पहना जाता है, वह घोणा है। इसके अर्थ के बारे में सब विषयों को लक्ष्य में रख कर ऐसा निश्चय करने पर भी यह विषय और भी विचारणार्ह है।

(३९) **घोणाबिल** याने नासारंध्र जो उच्छ्वास-निःश्वास मार्ग है।

(४०) **नासापट** याने नासारंध्र पार्श्ववर्ती प्रदेश है, जो क्रुद्धावस्था में उत्फुल होता है और आयासावसर पर उठता-गिरता रहता है। यही हिंदी में नथुना कहा जाता है।

(४१) **कर्ण** कान है।

(४२) **कर्णोर्ध्वबंध** वही है, जहाँ से कान शरीर पर न लगकर पृथक् रहना शुरू करता है।

(४३) **कर्णाधोबंध** भी ऊपर वर्णित देश-सा ही है, लेकिन यह कान के नीचे की ओर रहने वाला है।

(४४) **कर्णपिप्पली** या पिप्पली, कान के अंतरप्रांत के मध्य में पिप्पली फलतुल्य भाग का नाम है।

(४५) **कर्णपाली** कान के नीचे झुलता हुआ मांसल देश है, जहाँ पर कुंडलादि आभूषण पहने जाते हैं।

(४६) **कर्णावर्त** कान का बाह्यांचल या बाह्यप्रांत है, जो कर्णोर्ध्वबंध से शुरू होकर, कर्णपाली तक, कान के बाहर की ओर रहता है।

(४७) **कर्णरंध्र** याने कान का बिल, जो आवाज़ जाने का मार्ग है और पिप्पली से आच्छादित रहता है।

(४८) **लकार** या कर्णलकार अर्थात् कान की चौड़ाई के बीच में रहने वाली वलि का आंतरप्रांत, जो पिप्पली के अधोदेश से शुरू होकर, ऊपर चलकर, अंदर की ओर झुक कर, कर्णावर्त के प्रारंभ देश में समाप्त होता है।

(४९) **पिच्छषी** इसी की जगह में पिजपी पाठ मिलता है और ग्रंथांतर में पीयूषी पाठ मिलता है। इन में कौन-सा साधु शब्द होगा, वह विचार करने का है। मूलग्रंथ इस जगह पर अपपाठ भूयिष्ठ के कारण इस के अर्थ निर्धारण करने में भी कठिनाई है। तथापि प्रकरण के ऊपर निर्भर करके समन्वय करने पर लगता है कि कर्णोर्ध्वभाग में लकार के बाहर जो देश है, लही पिच्छषी है। कर्ण के ऊर्ध्वभाग में इसकी चौड़ाई ज्यादा है, नीचे उतरते इसका विस्तार कम होता जाता है।

(५०) **उत्पात** शब्द का अर्थ निर्धारण करने में कठिनाइयाँ हैं। तथापि प्रकरण के आधार पर अंदाजा किया जाय, तो लगता है कि पिच्छषी के बाहर कर्णावर्त के अंदर का प्रदेश ही उत्पात है। ग्रंथांतर में यही उद्घात शब्द से व्यपदिष्ट दिखता है। वह भी कहाँ तक ठीक है, यह देखना है।

(५१) **चूली** या चूलिका कान के बीच की वलि का जो अंश उन्नत होकर रहता है, वही है। पिप्पली के अधोभाग के समीप में पिच्छषी के अधोभाग में यह रहता है।

(५२) **कर्णकुहर** लकार और पिप्पली के बीच में जो जगह है, वह ही है। यह और कर्णरंध्र एक नहीं हैं। यह गर्त रूप या गभीर देश है, जिस के अंदर की ओर कर्णरंध्र व्यवस्थित है।

(५३) **कर्णमूल** पिप्पली पुरोवर्ति अल्पदेश है, जहाँ पर उत्तराधर हनुओं की संधि होती है।

(५४) **कर्णपृष्ठ** कान के पीछे का भाग है।

(५५) **अपांगपिप्पली मध्यदेश** यह नाम से ही स्पष्ट है। इस को शायद हिंदी में कलम कहते हैं।

(५६) **कपोल** अपांग के नीचे की जगह है, अर्थात् नाक के पार्श्व में पिप्पली पुरोवर्ति प्रदेश तक जो देश रहता है, वह कपोल है।

(५७) **श्मश्रु देश**, याने नासा और उत्तरोष्ठ के बीच में जो प्रदेश रहता है। श्मश्रु याने मूँछ और उस का देश श्मश्रु देश होता है।

(५८) **गोजी** याने श्मश्रु देश के बीच में नाक के बीच से शुरू करके उत्तरोष्ठ तक जो जगह नालाकार रहती है, वही है।

(५९) **उत्तरोष्ठ** याने ऊपर का होंठ है।

(६०) **श्मश्रूत्तरोष्ठ** मध्यदेश वह है, जो बिलकुल उत्तरोष्ठ के ऊपर और मूंछ के बीच में उत्तरोष्ठ के एक प्रांत से दूसरे प्रांत तक व्याप्त होकर, रेखाकार, थोड़ा उन्नत होकर, रहता है।

(६१) **अधरोष्ठ** नीचे का होंठ है।

(६२) **सृक्कि** याने दोनों होंठ मुंह के दोनों ओर जहाँ पर जुड़ते हैं, वही हैं। ये दो होते हैं। इनको हिंदी में गलफर और तेलुगु में चेलिवि कहते हैं।

(६३) **राजदंत** हैं, ऊपर की दंतपंक्ति के बीच के दो बड़े-बड़े दंत।

(६४) **मध्यदंत** हैं, राजदंतों के पार्श्व के दंत।

(६५) **परिभक्षक**, मध्य दंतों के दोनों पार्श्वों में जो दो दाँत हैं, वे ही परिभक्षक हैं।

(६६) **संदंश** याने नीचे की दंतपंक्ति के बीच में जो दो दाँत रहते हैं, वे ही हैं।

(६७) **कर्तन** याने संदंशों के उभय पार्श्व में जो दंत रहते हैं।

(६८) **खंडनदंत** वे ही दंत हैं, जो संदंशों के उभयपार्श्व में रहते हैं।

(६९) **गंड** याने सृक्कियों के पार्श्वों में निरस्थिक देश हैं। संस्कृत में इनका नामांतर गल्ल है, जो असल में देश्य मालूम होता है। इन्हें हिंदी में गाल और तेलुगु में बुग्ग और चंप कहते हैं। साधारणतः तेलुगु में बुग्ग का अर्थ होता है बुद्बुद, तो मालूम पड़ता है कि यह शब्द आकारावलंबन पर प्रचलित हुआ है। कुछ जगह गंड शब्द का विवरण कपोल शब्द से, कपोल का विवरण गंड शब्द से किया हुआ देखने में आता है, वह भ्रांतिमूलक है।

(७०) **बलास्थि**, यह गंड के बाहर का है, जिस की संधि उत्तर हनु से कर्णमूल में होती है। तो इस का मतलब अधरहनु हुआ है। हिंदी में जो जबड़ा कहा जाता है, वही हनु है।

(७१) **चिबुक** वही है, जो अधरोष्ठ के नीचे निम्नदेश रहता है।

(७२) **हनुमंडल** या हनुचक्र है, अधरहनु का वर्तुलाकारक भाग, जो चिबुक के नीचे रहता है। यह हिंदी में ठोडी कहा जाता है। इसी को ग्रंथांतरों में चिबुक शब्द से भी व्यवहार करते हैं, तो चिबुक शब्द का अर्थनिर्णय करते समय सावधान रहना पड़ता है।

(७३) **ग्रीवा** वही है, जो हिंदी में कंठ कहा जाता है।

(७४) **निगाल** ग्रीवा के सामने की ओर कंठमध्य का प्रदेश है, पानी पीते समय या कुछ खाते समय जो ऊपर-नीचे हिलता रहता है। इसी को हिंदी में गला कहते हैं।

(७५) **कंधरा** ग्रीवा के पीछे का भाग है, जो हिंदी में गर्दन या घाड़ कहा जाता है।

(७६) **हिक्का** निगाल के नीचे और ग्रीवा के अंत में जो निम्नदेश रहता है, वही हिक्का है।

(७७) **जत्रु** इसी को अक्षक भी कहते हैं, ये दो होते हैं। ये वे ही हैं, जो अस्थियाँ किंचिदुन्नत-विग्रह वाले हिक्का समीप से भुजशीर्ष तक पहुँचते हैं। हिंदी में ये शायद हँसली कहलाते हैं।

(७८) **कक्षधर** वही भुजमूर्ध का अंश है, जहाँ पर अक्षकास्थि समाप्त होती हैं।

(७९) **स्कंध** भुजमूर्ध से ग्रीवा पार्श्व तक का जो मांस देश है, वही है। हिंदी का जो कंधा शब्द है, वह इसी शब्द से हुआ है, लेकिन इसका प्रयोग केवल इसी को समझाने के लिए नहीं होता और अंस देश को समझाने के लिए भी व्यवहृत होता है। वस्तुतः अंस स्कंध से भिन्न है। अंस के विवरण से यह स्पष्ट होगा। यही हाल संस्कृत-साहित्य में भी है।

(८०) **कंधरास्कंध संधि** वह देश है, जहाँ पर कंधरा से स्कंधयुक्त होता है।

(८१) **स्तन** वह अंग है, जिसे हिंदी में छाती कहा जाता है।

(८२) **स्तन मेचक मंडल** स्तनों के ऊपर चक्राकार काला भाग है।

(८३) **चूचुक** या स्तनमेचक मंडल के बीच में छोटा वर्तुलाकार का प्रदेश, जो थोड़ा उन्नत रहता है और दूध निकलने का रंध्र जिसमें रहता है। इसे हिंदी में चूची कहते हैं।

(८४) **बंधदेश** इसकी जगह बंधु और वाध्र पाठ भी मिलते हैं, लेकिन ये भ्रममूलक मालूम होते हैं। यह वह निम्नदेश है, जो स्तनमूलद्वय मध्यवर्ती है। यही हृदय भी कहा जाता है।

(८५) **कक्षा** जो है, वह हिंदी में काँख कहा जाता है।

(८६) **कक्षामूल** याने काँख का प्रदेश, जो पूर्वकक्षामूल तथा पाश्चात्यकक्षामूल भेद से दो प्रकार का होता है।

(८७) **स्तनरोहण देश** यह एक पूर्वकक्षामूल से दूसरे पूर्वकक्षामूल तक खींची गई आड़ी रेखा पर पड़ता है। ऐसा लगता है कि इसका यह नाम इसलिए हुआ है कि स्तन यहीं से उठने शुरू होते हैं।

(८८) **बृहतीदेश** यह वही देश है, जो पूर्वकक्षामूल और स्तन के बीच में पड़ता है।

(८९) **वक्ष या उरस्थल** हिक्का से कक्षामूल तक, कक्षामूल से स्तनचूचुक होकर बंध देश तक रेखाएँ खींच कर सीमित करने पर जो देश मिलता है, वही है। इसी को हिंदी में छाती कहते हैं।

(९०) **जठर,** बंध या हृदयदेश से शुरू करके नाभि तक का देश है। इसको हिंदी में पेट और तेलुगु में पोट्ट या कडुपु कहते हैं।

(९१) **नाभि** याने वह है, जो जठर के नीचे वृत्ताकारक छोटा गर्त होता है। इस को तेलुगु में बोड्डु कहते हैं।

(९२) **मध्य** वह है नाभि के थोड़ा ऊपर, जहाँ पर जठर का विस्तार बहुत कम होता है। इसको हिंदी में कमर कहते हैं। इस प्रदेश को मध्य कहने पर भी यह शरीर का ठीक मध्य नहीं है याने इसके ऊपर और नीचे के शरीर-भाग समान-समान नहीं होते हैं। शरीर को दो समान भाग करने में अवधिरूप मध्य जो है, वह नवतालात्मक शरीर में लिंगमूल देश के समीप पड़ता है। महाराजा सोमेश्वर के मतानुसार ऐसा मध्य लिंगमूल में पड़ता है और दूसरे आचार्यों के मतानुसार लिंगमूल से कुछ थोड़ा नीचे पड़ता है। किन के मत में कितना नीचे पड़ता है, यह उन आचार्यों के मस्तक-केशांत मध्यदेश के प्रमाण निर्देश पर निर्भर है। क्योंकि यह पहले एक बार कहा गया है कि मस्तक-केशांत मध्यदेश को आचार्य लोग नवताल प्रमाण में शामिल नहीं करते हैं। तो जिन आचार्यों के मत में इस देश का मान तीन अंगुल है, उनके अनुसार लिंगमूल से आधा अंगुल नीचे शरीरमध्यांश पड़ता है और जिन आचार्यों के मत से इसका मान दो अंगुल है, उनके अनुसार शरीर मध्यांश लिंगमूल से एक अंगुल नीचे पड़ता है। साहित्य में जो मध्यशब्द से प्रसिद्ध है और जिसके विवरण के अवसर पर यह विषय लिखा जा रहा है, वह दूसरे अर्थ में मध्य हो सकता है। ऐसा मध्य वास्तवतः पूर्वकाय और अधःकाय (यद्वा उत्तरकाय) नाम से सुप्रसिद्ध कायभागों की अवधि है। इसलिए पूर्वोत्तरकाय शब्द पूर्वार्धकायोत्तरार्ध कायार्थक नहीं है। तेलुगु में यह नडुमु कहा जाता है। यह शब्द बिलकुल मध्यशब्द का पर्याय है।

(९३) **पार्श्व** याने जठर के पार्श्व जो कक्षा (काँख) से मध्यदेश तक व्याप्त हो कर रहते हैं। इसी को हिंदी में पसली कहते हैं। इस प्रदेश के अंदर रहने वाली अस्थि पर्शुक कहलाती हैं, तो इस से लगता है कि इनसे निमित्त देश होने के कारण इस देश को पार्श्व नाम प्राप्त हुआ है।

(९४) **पक्वाशय** और (९५) **वस्ति** — नाभि से लिंगमूल तक का जो प्रदेश है, उसको तीन समभागों में भाग करने से बीच का जो भाग है, वह पक्वाशय है और नीचे का जो भाग है, वह वस्तिदेश होता है।

इस विभाग का स्पष्ट ज्ञान होने के लिए और भी समीपवर्ती प्रदेशों की अभिज्ञता प्राप्ति के लिए भी तिर्यग्रेखाओं की कल्पना की जाती है। नाभि से लिंगमूल तक का भाग बारह अंगुल का होता है, जिन को तीन समभागों में बाँटते हैं। नाभि के बीच में-से एक ओर से दूसरी ओर तक बिलकुल समानरूप से एक तिर्यक् (आड़ी) रेखा खींची जाती है, जिसका नाम नाभिगत रेखा है। उसके चार अंगुल के नीचे वैसी और एक रेखा खींचे

जाती है। यह पक्वाशय रेखा है, क्योंकि यह उस ग्राशय (कोश) के ऊपर से बहती है। ग्रौर, इसके चार ग्रंगुल के नीचे फिर से ग्रौर एक रेखा खींची जाती है। वह वस्ति मस्तक सूत्र है। (यहाँ पर सूत्र ग्रौर रेखा एक ही वस्तु को समझते हैं।) लिंगमूल देश पर ग्रौर एक सूत्र खींचा जाता है। इन चार सूत्रों (रेखाग्रों) के बीच में तीन भाग उपलब्ध हैं। इस त्रिभागात्मक प्रदेश को ग्रधो जठर कहा जा सकता है। यही हिंदी में पेडू ग्रौर तेलुगु में पोत्ति कड्डुपु कहा जाता है। हिक्का से शुरू करके लिंगमूल तक का शरीर भाग (ग्रंग्रेजी में जो टॉर्सो Torso कहलाता है) ग्रायुर्वेद में कोष्ठ कहा जाता है। महाराजा सोमेश्वर कोष्ठपार्श्व का सन्निवेश निर्धारण करते हुए कहते हैं कि यह गोमुखाकारक होता है। उपरि वर्णित तिर्यग्रेखाग्रों के दो ग्रंतों में ग्रौर पार्श्वनामकदेश ग्रौर मध्य (कमर) के नीचे का जो पूरा हिस्सा कूल्हा कह कर एक ही शब्द से हिंदी में प्रकट किया जाता है। यह पूरा हिस्सा वस्तुतः श्रोणिफलक नामक ग्रस्थि से निर्मित है। तथापि शिल्पियों की शारीरविद्या में यह भिन्नधाभक्त है ग्रौर भिन्न नामों से व्यपदिष्ट है। वह नीचे स्पष्ट किया जाएगा।

(९६) **श्रोणि**, नाभिसूत्रस्थ कोष्ठपार्श्वों का नाम है।

(९७) **कटि** यह पक्वाशय पार्श्व है। ग्रर्थात् श्रोणी के नीचे के जो दो कोष्ठपार्श्व हैं, वे ही कटि हैं।

(९८) **लिंग** याने जिस को मेहन मेद्र या शिश्न भी कहते हैं।

(९९) **लिंगमूल** इस का ग्रर्थ स्पष्ट है।

(१००) **मणि** यह लिंग का ग्रग्रदेश, जो किंचित्स्थूलाकारक है ग्रौर जो हिंदी में सुपारी कहा जाता है।

(१०१) **मुष्क** याने वृषण या ग्रंड है, जो हिंदी में ग्रांड कहा जाता है।

(१०२) **मुष्कमूल**, याने लिंगमूल के पार्श्वों में जो रहता है। यह त्वंमयभस्त्रिका मात्र है, जो निर्बीज मुष्कांश है।

(१०३) **वंक्षण** याने कोष्ठ ग्रौर ऊरू मिलने की जगह है ग्रौर ऊरू का ग्राभ्यंतरवर्ती भी है। मुष्कमूल के उभयपार्श्वों में-से दो रेखाएँ निकल कर तिरछी (oblique) गति से वस्तिदेश के मध्य तक ऊपर बहती हैं, उन्हें वंक्षण रेखा कहते हैं।

(१०४) **पृष्ठफलक** कोष्ठ का पश्चाद्भाग, जो नितंब देश तक रहता है। हिंदी का पीठ शब्द पृष्ठ शब्द भव है। ग्रौर, फलक शब्द ग्राकारसूचक है।

(१०५) **ककुद्** 'मानसोल्लास' में इस का प्रयोग एक ही बार मिलता है। प्रकरण के ऊपर निर्भर करने पर लगता है कि यह कंधरा ग्रौर स्कंध के भी थोड़ा नीचे रहने वाला पृष्ठोर्ध्वांश है। यहाँ पीठ थोड़ा वक्रिमान्वित होता है (वक्रिमा curve)। पश्वंग व्यवहार के हिसाब से भी यह ठीक ही लगता है। तेलुगु में मूपु या मूपुरमु कहते हैं।

(१०६) **वंश** मेरुदंड नाम से सुप्रसिद्ध है, जिसकी ग्राकृति सद्योत्थित कदलीपल्लव के समान है। लेकिन नितंब से नीचे के भाग में इसकी ग्राकृति दूसरी होती है।

(१०७) **ग्रंसफलक** इस की जगह में वंशफलक पाठ भी मिलता है, लेकिन यह ठीक नहीं मालूम पड़ता है। वंश के दोनों ग्रोर कुछ दूर पर त्रिकोणाकारक ग्रस्थि स्कंधों से निकल कर, याने उन के ग्रधोभाग से निकल कर जो रहती हैं, वे ही हैं।

(१०८) **ककुंदरशिर** यदि नाभिमध्यगत तिर्यग्रेखा को पृष्ठभाग में ठीक उस प्रकार समान रूप से ले जाकर वंश पर समाप्त किया जाय, तो वंश के समीप जो ग्रंश मिलता है, वही ककुंदरशिर है।

(१०९) **नितंब** पक्वाशय या कटिरेखा को सीधे कोष्ठपाश्चात्य भाग में यदि घुमा लिया जाय, तो उसी रेखा पर कटिशिरोदेश (कटि का ऊपरी भाग) के बाद तथा त्रिकास्थि के पार्श्व में जो देश है, उसी का नाम नितंब है।

(११०) **जघन** नितंब के नीचे से शुरू करके थोड़ा स्फिगंश (चूतड़ का हिस्सा) लेने पर जितना पश्चादभाग का मध्यदेश (पार्श्व छोड़ने पर जो बीच) होता है, वही है। पक्वाशय वस्ति मस्तक सूत्रों के बीच का कोष्ठ पाश्चात्य भाग फलकाकारक होता है। उस फलक देश का थोड़ा ग्रंश ग्रौर स्फिग्देशांश मिल करके

यह प्रदेश बनता है। किसी की निकृष्टता को व्यक्त करते हुए या किसी के प्रति अपनी घृणा प्रकट करते हुए लोग प्रायशः बोलते हैं कि यह जघन्य है, वह जघन्य है। शायद गुदस्थान (मल या पुरीष द्वारा) के नजदीक पड़ने के कारण यह घृणा प्रकट करने का अवलंबन बन गया होगा। लेकिन, मानव-शरीर में जो बहुत ही सुंदर प्रदेश है, उन में यह अन्यतम है। इसमें कोई संदेह नहीं है। इसीलिए तो महाकवि कालिदास को भी कहना पड़ा कि "ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः"। पाश्चात्य शिल्पी तो इसके पीछे पागल ही बन गए हैं। ककुंदरशिरोदेश से शुरू करके यहाँ तक के प्रदेश को ठीक-ठीक बनाना शिल्पी के लिए आसानी की बात भी नहीं है। अगर शिल्पी इस भाग को ठीक बनाने तक साधना करेगा, तो वह शरीर से खेल सकता है और खेल दिखा सकता है।

(१११) **स्फिक** याने चूतड़ है।

(११२) **स्फिङ्मंडल** याने स्फिक् का गोलाकार भाग है।

(११३) **स्फिक्कूट** स्फिक् के गोलाकार के बीच जो सब से अधिक ऊँचा भाग है।

(११४) **स्फिक्बंध** वही है, जिसमें गुददेश रहता है। इसीलिए कभी-कभी यह भी गुद शब्द से ही व्यवहृत होता है। अर्थात् स्फिक्बंध होता है स्फिक् के नीचे, जहाँ से दो स्फिक् निकलते हैं।

(११५) **ऊरु** या **सक्थि** याने लिंगमूल सूत्र से घुटनों तक का पाद भाग है, जो हिंदी में जाँघ कहा जाता है।

(११६) **ऊरुमूल** ऊरु का प्रारंभ है, जो लिंगमूल सूत्र पर पड़ता है।

(११७) **ऊरुशीर्ष** ऊरु प्रारंभ का वह क्षेत्र है, जो ऊरुपार्श्व में वस्तिमध्य देश पर से खींची गई तिर्यग्रेखा पर पड़ता है।

(११८) **ऊरुमध्य** पूरे ऊरु के बिलकुल बीच की जगह है।

(११९) **आणिदेश** याने घुटनों से चार अंगुल के ऊपर का देश है, जहाँ पर ऊरुगत पेशियाँ पतली हो जाती हैं।

(१२०) **जानु** याने ऊरु के नीचे रहने वाला और पृथुलास्थि से निर्मित पूरा भागा है, जो संधि रूप है; अर्थात् जो देश हिंदी में घुटना कहा जाता है।

(१२१) **जानुचक्र** या जानुमंडल वह है, जो घुटनों के ऊपर वर्तुलाकारक अस्थि रहती है। ग्रंथांतर में यह जानु कपिच्छ शब्द से निर्दिष्ट है। तेलुगु में इस को मोकाटि-चिप्प कहते हैं। मोकालु, याने घुटना उसके ऊपर रहने वाला चिप्प है। पतली और छोटी वस्तु को चिप्प कहते हैं। शुक्ति को मुत्यपु (मुक्ता) चिप्प कहते हैं। वैसी कितनी ही वस्तुओं को समझाने के लिए शब्दांतर सहित यह शब्द प्रयुक्त होता है।

(१२२) **जंघा** याने जानु से शुरू करके टखने तक की जो जगह है। हिंदी शब्द जाँघ यद्यपि इसी शब्द से हुआ है तथापि अर्थव्यत्यय होने के कारण ऊरु के लिए आजकल प्रयुक्त हो रहा है।

(१२३) **इंद्रवस्ति** याने पिंडली। यह ग्रंथांतर में पिंडिका कहा गया, जिससे हिंदी पिंडली शब्द की उत्पत्ति है।

(१२४) **नलक** जंघा का अंतिम भाग, जो टखने के ऊपर पड़ता है।

(१२५) **जंघाकांड** याने पूरी जंघा के सामने रहने वाला अस्थिभाग है, जिसको तेलुगु में आगर्रु कहते हैं।

(१२६) **कूर्च** वह देश है, जो नलक के पीछे एड़ी तक रहता है।

(१२७) **गल्फ** जंघापादसंधि है, जिसे हिंदी में टखना कहा जाता है।

(१२८) **पाद** याने एड़ी से अंगुलाग्र तक का जो अंश है, जिस को हिंदी में पैर कहते हैं।

(१२९) **पादपृष्ठ** याने पाद का उपरितल है। एक आधुनिक पंडित ने इस को भ्रांति से एड़ी का पिछला अंश कहा है। इस का आकार हाथी की पीठ जैसा होता है।

(१३०) **पादतल** याने पादपृष्ठ के उल्टी ओर है, जो हिंदी में तलवा कहलाता है।

(१३१) **पार्ष्णि** यह गुल्फ के नीचे से भूमि तक का देश है, अर्थात् पाद के पीछे का अंश है, जो हिंदी में एड़ी कहलाता है।

(१३२) **पार्ष्णिमंडल** या **पार्ष्णिपृष्ठ** याने पैर के पीछे एड़ी का वर्तुलाकार है।

(१३३) **प्रपद** याने पादाग्र भाग जो अंगुलिमूल के पहले पड़ता है। इसी को तेलुगु में मुंगालु कहते हैं। पादांगुलियों के नाम और अन्य विषय भी हस्तांगुलि तुल्य हैं, इसलिए यहाँ पर पादांगुलियों का विवरण अनावश्यक है। हस्तविवरण के समय इन्हें स्पष्ट किया जाएगा।

(१३४) **भुज** बाहु और कर माने स्कंधाग्र समीप से मध्यमांगुलि के अंत तक का जो अंश है, वही है।

(१३५) **बाहुमूर्ध** या **भुजशीर्ष** स्कंधांत समीप प्रदेश है।

(१३६) **अंस** भूजमूर्ध का पार्श्वदेश है, जो मांसपुष्ट भाग है और जहाँ पर मल्लजन आस्फालन करते हैं। अर्थात् भुजशीर्ष से कक्षातक का करांश है। कहीं-कहीं अंश को बाहुशीर्ष शब्द से विवरण किया गया है। और, साहित्यादि में अंस स्कंध-पर्याय कहा जाता है, लेकिन वह अशास्त्रीय है। तेलुगु में इसको भुज-मूपुरम् कहते हैं।

(१३७) **बाहु** या बाहुपर्व (भूजोर्ध्वपर्व), यह कक्षा से शुरू करके कोहनी तक का प्रदेश है। यही तेलुगु में दंड कहा जता है। पूरा भुज और भुजपर्व भी बाहु शब्द से व्यवहृत होने के करण इस का अर्थ प्रकरण से निर्धारण करना पड़ता है। कर और हस्त शब्द का भी वही हाल है।

(१३८) **बाहुमूल** कक्षासमीपवर्ती बाहु प्रदेश है, याने अंस जहाँ समाप्त होता है। कक्षा पर्याय जैसा इसका प्रयोग भी हुआ है। तेलुगु में एक महान् विख्यात कवि अल्लसानि पेद्दन प्रयोग करते हैं "बाहुमूल रूचुलू तोंगलिप"। इस तरह के प्रयोग अशास्त्रीय हैं।

(१३९) **कूर्पर** याने कोहनी है। कोहनी शब्द कफोणि शब्द भव है, जिसका प्रयोग इसी शास्त्र के अन्य ग्रंथों में हुआ है।

(१४०) **प्रबाहु** याने भुज द्वितीय पर्व, जो कोहनी से शुरू करके कलाई तक का अंश है।

(१४१) **प्रकोष्ठ** होता है, प्रबाहु का अंतर्भाग, जिसको तेलुगु में मुंजेयि कहते हैं।

(१४२) **मणिबंध** याने कलाई है।

(१४३) **हस्त** या **कर** याने मणिबंध से मध्यांगुलि के अग्र तक का देश है। हिंदी का हाथ इसी से हुआ है।

(१४४) **हस्ततल** वही देश है, जो मणिबंध से अंगुलियों के मूल तक पड़ता है। इस शब्द से ही हिंदी हथेली शब्द की उत्पत्ति है।

(१४५) **करपृष्ठ** या हस्तपृष्ठ याने हस्त का पीठ, जो हथेली का उलटा भाग है।

(१४६) **अंगुलि** याने हस्तशाखाएँ, जो पाणि और पाद में पाँच-पाँच हैं।

(१४७) **अंगुष्ठ** याने अंगूठा है।

(१४८) **तर्जनी** याने डराने वाली उँगली है। इस का पर्याय है प्रदेशिनी, याने दिखाने वाली। बिलकुल यही अभिप्राय व्यक्त करने वाला है तेलुगु शब्द 'चूपुडुव्रेलु'।

(१४९) **मध्यमा** पाँचों के बीच में रहने वाली उँगली, जो सब से बड़ी भी है।

(१५०) **अनामिका** मध्यमा के बाहर रहने वाली उँगली है। इसका अर्थ है नाम जिस का नहीं है, लेकिन वही उसका नाम हो गया। तेलुगु में इसका नाम है उंगरपुव्रेलु। (उंगरमु=अँगूठी, व्रेलुउंगली)।

(१५१) **कनिष्ठिका** सबसे छोटी उँगली है, जो हस्त के बाहर की ओर रहती है।

(१५२) **पर्व** याने उँगलियों के हिस्से हैं। ये सब में तीन-तीन होते हैं, अंगुष्ठ को छोड़ कर के, जिस में दो ही रहते हैं। हिंदी का पोर शब्द इस से हुआ है।

(१५३) **नख** याने नाखून जो दो प्रकार का होता है, जैसे—सजीव और निर्जीव। सजीव मांसबद्ध रहता है, ताम्रवर्णक होता है। निर्जीव जो मांसबद्ध न होनेके कारण पिंगलवर्ण होताहै, अर्थात् जो काटा जाता है।

(१५४) **आयुर्लेखा,** यह हथेली में कनिष्ठिकामूल के नीचे से निकल कर अनामिका और मध्यमांगुलि मूल के नीचे से बहती हुई मध्यमा-तर्जनी के मध्य भाग में प्रवेश करती है।

(१५५) **शक्तिरेखा** यह अंगुष्ठ-तर्जनीमूल मध्य से निकल कर हाथ के बाहर की ओर बह कर समाप्त होती है।

(१५६) **पुंरेखा** यह शक्तिरेखा के साथ वहीं पर निकल कर अंगुष्ठ मूल को घेरती हुई मणिबंध तक आकर समाप्त होती है। इसका आकार धनुर्वत् होता है।

ये तीन रेखाएँ भारतीय सामुद्रिक शास्त्र में भी इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हैं। ये यहाँ पर न सामुद्रिक शास्त्र की आवृत्ति करने को वर्णित हैं, न महापुरुष-लक्षणों को विवरण करने को उद्दिष्ट हैं। ये तीन रेखाएँ महापुरुष, कुपुरुष—सभी के हाथ में रहती हैं। ये यहाँ पर इसलिए कही गई हैं कि वे हस्त के संकोच विकासात्मक क्रिया के अनुकूल हैं।

यद्यपि करभादि शब्दों से और कुछ शरीरप्रदेश इस शास्त्र के अन्य ग्रंथों में वर्णित मिलते हैं, तथापि उन सब का उल्लेख यहाँ पर इसलिए नहीं किया गया है कि 'मानसोल्लास' में कथित विषय ही शुरू में प्रतिज्ञात है।

ये हैं विभिन्न शारीरिक प्रदेश, जिनका पूरा वर्णन 'मानसोल्लास' में मिलता है। अभिधानवत् विभिन्न प्रदेशों के नाम क्रमशः रट जाना या शब्द-व्युत्पत्ति करना मूलकार का अभिप्राय नहीं है। बल्कि शरीर-संबंधी परिपूर्ण ज्ञान प्रदान करना ही ग्रंथकाराशय है। इसलिए इन प्रदेशों के आकार-परिमाणादि की विस्तृत वर्णना की गई है। इसके अलावा शरीर के चारों ओर घूमते नौ स्थानों से देखने पर कौन-सा प्रदेश कितना दिखता है और उसका परिमाण क्या होता है, यह भी मूलग्रंथ में स्पष्ट किया गया है। यह पूरा विषय अच्छी तरह समझ कर मनन करने पर शिल्पी के लिए जितना शारीरिक ज्ञान होना चाहिए, उतना निस्संदेह और निर्दुष्ट रूप से होता है। इस में शंका का कोई स्थान ही नहीं है। यहाँ उतने विस्तार से विषय का विवरण करना संभव न था, अतः प्रदेशों का परिचयमात्र दिया गया है।

बौद्धसिद्धों के सहजवचनों का प्रत्यभिज्ञान

श्री शांतिभिक्षु शास्त्री

★

बौद्धसिद्धों की गीतियों और दोहों का प्रकाशन पहले-पहल स्वर्गीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इन गीतियों और दोहों को 'हाजार बछरेर पुराण बांगाल भाषाय बौद्ध गान ओ दोहा' शीर्षक से १९१६ ई० में कलकत्ता की 'बंगीय साहित्य परिषद्' द्वारा कराया था। जिन हस्तलिखित पोथियों के सहारे यह संस्करण हुआ था, उनकी खोज स्वयं शास्त्री जी ने की थी। उन्होंने अपने इस प्रकाशन के मुख-बंध में उस खोज का उल्लेख यों किया है—"१८९७-१८९८ ई० में जब मैं दो बार नेपाल गया, तब कितनी ही संस्कृत पुस्तकें देखने को मिलीं। इनके बीच-बीच कुछ-कुछ लेख एक प्रकार की नूतन भाषा में हैं...। डाकार्णव नाम की एक पुस्पक है। इसके बीच-बीच इस प्रकार की नूतन भाषा में बहुत कुछ लिखा है।...एक और पुस्तक मिली। उसका नाम है 'सुभाषित-संग्रह'। इसके बीच-बीच एक नूतन भाषा में कुछ-कुछ लिखा है। और भी एक पुस्तक देखने को मिली—'दोहाकोष-पंजिका'। 'सुभाषित-संग्रह' को बेंडाल साहब ने नकल कर लिया और 'दोहाकोष'-पंजिका' मैंने नकल कर ली। बेंडाल साहब ने 'सुभाषित-संग्रह' को छपाया और छपाने के समय मेरी 'दोहाकोष-पंजिका' ले गए। वह मुझे फिर वापस न मिली। बाद में सुनने को मिला कि जिस पोथी से 'दोहाकोष-पंजिका' की नकल हुई थी, वह जापान चली गई। १९०७ ई० में फिर नेपाल जा कर मैं कितनी ही पोथियाँ देख सका। एक का नाम है 'चर्याचर्यविनिश्चय'। इसमें कितने ही कीर्तन-गान और उनकी संस्कृत टीका है। गान वैष्णवों के कीर्तन के समान हैं। गानों का नाम है, 'चर्यापद'। एक और पुस्तक मिली। वह भी दोहाकोष। ग्रंथकार का नाम सरोरुहवज्र, टीका संस्कृत में, टीकाकार का नाम अद्वयवज्र। और भी एक पुस्तक मिली। उसका नाम भी 'दोहाकोष', ग्रंथकार का नाम कृष्णाचार्य, इस पर भी एक संस्कृत टीका है।" (पृष्ठ ४, ५)—"...चर्याचर्य और डाकार्णव पोथियाँ नेपाल दरबार से (प्राप्त हुईं)। पुस्तक छपने के बाद उन्होंने वापस ले लिया है।...अन्य दो पुस्तकें (सरोरुहवज्र का दोहाकोष और उस पर अद्वयवज्र की टीका) मेरी अपनी हैं, अथवा अपनी होने से भी अधिक प्रिय हैं, क्योंकि उन दोनों को नेपाल के पोथीखाने के सुब्बा साहब विष्णुप्रसाद राजभंडारी ने मुझे प्रेमोपहार-रूप में भेंट की थीं।...कृष्णाचार्य का दोहाकोष और उसकी टीका उन्हीं के उपदेशानुसार पोथीखाने के लेखकों ने लिख कर मुझे उपहार में दी थी।...इसकी मूल पोथी इस समय जापान में है।" (पृष्ठ १८)

शास्त्री जी ने इन बौद्धकृतियों की भाषा पर विचार किया। पर वह विचार जिस बद्धमूल धारणा और पद्धति से किया गया, वह सर्वमान्य न होने पर भी इस क्षेत्र में एक अग्रयायी (pioneer) की कृति होने के कारण कम गौरव की बात नहीं है। शास्त्री जी के मन में इन रचनाओं को देख कर जो भाव उत्पन्न हुआ, उसका उल्लेख उन्होंने यों किया है—"मुझे विश्वास है कि जिन लोगों ने इस भाषा में लिखा है, वे बंगाल और उसके आस-पास के लोग हैं। उनमें अनेक बंगाली थे और उनका प्रमाण भी मिला है। यद्यपि बहुतों की भाषा में कुछ-कुछ व्याकरण-भेद है, तथापि सब मिला कर वह बंगाली जान पड़ती है।" (पृष्ठ ६)

शास्त्री जी को जब विश्वास हो गया कि इन रचनाओं की भाषा बंगाली है, तब उन्होंने उसके समर्थन के लिए ऊहापोह से काम लिया। उस ऊहापोह की चर्चा उन्होंने स्वयं की है—"ये (रचनाएँ) बंगाली की हैं। उसे प्रमाणित करने के दो हेतु और भी हैं। (१) एक फ्रांसीसी पंडित तन्-ग्युर के १०८-१७९ वेष्टनों में तंत्र की जितनी पोथियाँ हैं, उनकी एक तालिका बना गए हैं। इस तालिका में ग्रंथकार का नाम; अनुवादक का नाम; अनेक स्थानों पर जहाँ बैठ कर अनुवाद हुआ, उस स्थान का नाम तथा कितने ही स्थानों पर जिन्होंने अनुवाद का शोधन किया, उनका भी नाम दिया है। जिन फ्रांसीसी पंडित ने इस तालिका को छपाया था, उनका नाम है पी० कोर्डिअर (P. Cordier)।...उस सूची में बंगाली अथवा बंगाल देश का लोग कह कर जिनका

उल्लेख किया गया है, उनका यदि......संकीर्तन-पद मिला, तो उस पद को मैंने शुद्ध बंगाली मान लिया है। (२) पश्चात् उनके उन पदों में जितने शब्द मिले, उनकी अकारादि क्रम से एक तालिका बना कर मैंने उस काल की और आज की बंगाली में जो भेद है, उसे देख लिया है। उससे उस काल की बंगाली के व्याकरण तथा शब्द-कोश के सम्बन्ध में मेरी कुछ धारणा बन गई है। उसी धारणा के सहारे मुझे जो अन्य पद मिले, उनकी भी मैंने अकारादि क्रम से सूची बना कर मिलाया। उससे जो पद मुझे बंगाली के जान पड़े, उन्हें मैंने बंगाली कहते संकोच नहीं किया। एक पदकर्ता का घर उड़ीसा देश का है, उनका गान भी उड़िया भाषा में लिखा हुआ है। बंगाली भाषा में जहाँ क्रिया-प्रत्यय 'ल' है, उसमें वहाँ पर 'ड़' है; यथा—'गाहिल'—'गाड़िल'। उस पद को मैंने उड़िया भाषा का पद ठहराया है। इस प्रकार से विशेषरूपेण परीक्षा करके जो फल हुआ है, उसे ही इस पुस्तक में दिया है।" (पृष्ठ १६-१७)

इस ऊहापोह के साथ पहले-पहल जब यह प्रकाशन सामने आया, तो अनेक लोग इस ओर झुके। शास्त्री जी ने गीतियों और दोहों को बंगाली मान लिया था। पर अध्ययन की गति ज्यों-ज्यों आगे बढ़ी, त्यों-त्यों उसमें सूक्ष्मता आने लगी। गीतियों को दूसरी दृष्टि से देखा जाने लगा तथा दोहों को दूसरी दृष्टि से।

प्राध्यापक सुनीतिकुमार चटर्जी ने गीतियों की भाषा की पड़ताल की और अपना मत दिया कि इनकी भाषा पुरानी बंगाली है। बंगाली की जो विशेषताएँ इनमें उन्होंने देखीं, वे मुख्य-मुख्य ये हैं—

विभक्तियाँ	एर	(सम्बन्धकारक)	**परसर्ग**	माझ	**विकरण**	–इल्-(भूत)	**अस्त्यर्थक धातु**
	अर	(सम्बन्धकारक)		अंतर		–इब-(भविष्यत्)	आछ
	रे	(संप्रदानकारक)		सांग	वर्तमानकृदंत प्रत्यय—अंत		थाक
	त	(अधिकरणकारक)			भाववाच्य प्रत्यय—इअ		

यह मत १९२६ ई० में चटर्जी महोदय की अमूल्य कृति Origin and Development of the Bengali Language 'बंगभाषा का उद्भव और विकास' के प्रकाशन के साथ आया।

मेरे परम कल्याण-मित्र स्वर्गीय प्रबोधचंद्र बागची ने गीतियों के बाह्य रूप के साथ, आभ्यंतर रूप के भी परखने का यत्न किया। १९२८ ई० में वे स्वयं नेपाल गए तथा उस पोथी को नेपाल दरबार के पोथीखाने में देखा, जिसके आधार पर शास्त्री जी का संस्करण हुआ था। शास्त्री जी का संस्करण तथा पोथी, दोनों को मिला कर देखने पर उन्हें पता चला कि—सिद्धों की कविताओं का जो अर्थ है, उसको देखते हुए शास्त्री जी का संस्करण संतोषजनक नहीं है, क्योंकि अर्थ को प्रकाश में लाने के लिए उन्होंने कुछ भी नहीं किया। हाँ, जहाँ तक नेपाल की पोथी के पाठ से सम्बन्ध है, वहाँ तक शास्त्री जी का संस्करण काफ़ी अच्छा है। क्योंकि मुद्रित ग्रंथ तथा मूल पोथी में नाममात्र का कहीं-कहीं अंतर है। प्रायः भूलें पद-विभाग करने में हुई हैं।

भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से बागची महोदय को यह अभीष्ट मालूम हुआ कि चर्यागीतियों का अध्ययन आगे बढ़ाया जाए। पर यह कैसे किया जाए, यह एक प्रश्न था। बागची महोदय से पहले भी इस ओर चेष्टा की गई थी, पर सफलता न मिली थी। प्राध्यापक सुनीतिकुमार चटर्जी ने भाषा की दृष्टि से चर्यागीतियों की छान-बीन करते हुए उनके एक संशोधित संस्करण की आवश्यकता का अनुभव किया। और, पेरिस के प्रोफेसर Jean Przyluski की मदद से तन्-ग्युर में खोज-बीन की कि कहीं इन गीतियों का तिब्बती अनुवाद मिल जाए, तो कार्य आगे बढ़े (देखिए Origin and Development of Bengali Language, p. 119)। पर यह यत्न सफल न हुआ। डा० मोहम्मद शहीदुल्ला ने कान्हुपाद और सरहपाद की गीतियों का संस्करण करते हुए बाद में फिर ऐसा ही यत्न किया, पर वह भी निष्फल सिद्ध हुआ। अंत में शास्त्री जी की नेपाली पोथी की प्रतिलिपि से, जो बंगाल की एशिआटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में है, पाठ-भेद देकर संतोष कर लिया। सिद्धाचार्यों की कतिपय छोटी-छोटी कविताओं के तिब्बती अनुवाद का श्री अनाथनाथ वसु ने अध्ययन किया। ये कविताएँ गीतिका कहलाती हैं और उनमें एक का चर्याचर्यविनिश्चय की उनतीसवीं
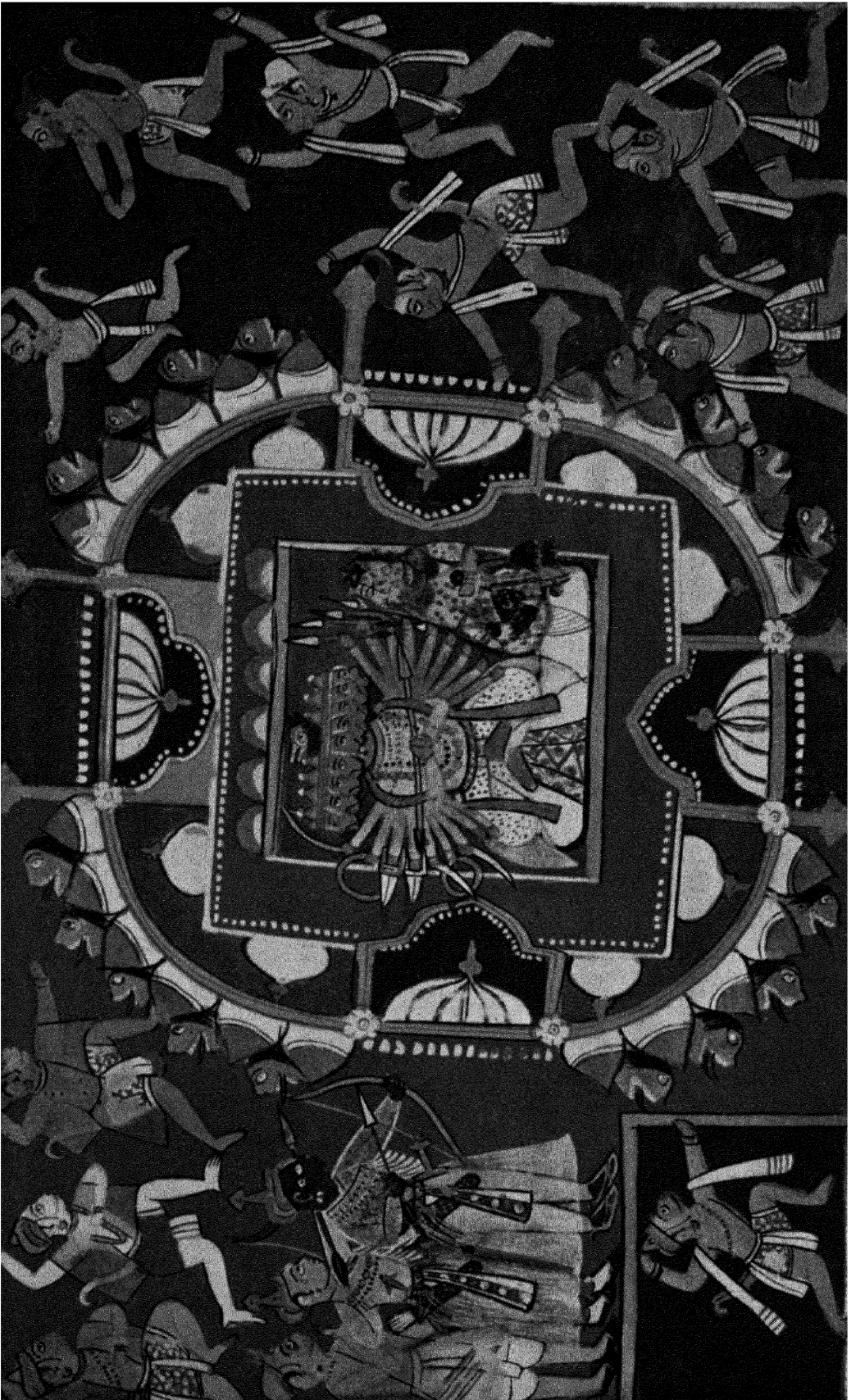
गीति से संवाद है, जो लुइपाद की रचना है (देखिए Indian Historical Quarterly, Vol. III, p. 677; हरप्रसाद संवर्धन लेखमाला, खंड २, पृष्ठ ६१)। बागची महोदय का अदृष्ट इन सबसे अधिक बलवान् था। बड़े श्रम से उन्होंने तन्-ग्युर की पड़ताल की और अंततोगत्वा इन गीतियों का तिब्बती अनुवाद खोज निकाला, जो तन्-ग्युर के र्ग्युद्-ऽग्रेल् (उच्चारण ग्युद्-डेल्) विभाग में ४७ वें वेष्टन में १७४-२२५ पत्रों पर है। कोर्डियर साहब के कैटलॉग की पहली जिल्द के पृष्ठ २२५ पर इस अनुवाद का उल्लेख है। ग्रंथ स्प्योद्-पडि-ग्लु ङि-मज़ोद्-किय-ऽग्रेल्-ब-शेस्-ब्य-ब (उच्चारण चोद्-पइ-लु-इ-ज़ोद्-किय-डेल्-ब-शे-ज-ब) 'चर्यागीतिकोषवृत्ति नाम' है। पुष्पिका में ग्रंथकार का नाम थुब्—पस् ब्यिन् (थुब्-प-जिन) 'मुनिदत्त' दिया हुआ है। अनुवादक का नाम वहाँ ग्रंग्स्-प-ग्र्यल्-म्छन् (डग् पा ग्वल्छन्) 'कीर्तिचंद्र' उल्लिखित हुआ है। वहीं से पता चलता है कि अनुवाद यम्-बु (=स्वयंभू) अर्थात् नेपाल की राजधानी काठमांडो, जहाँ स्वयंभू चैत्य है, हुआ था। अनुवादक के काल का निश्चय करने का कोई उपाय नहीं है। पर तांत्रिक ग्रंथों के अनुवाद का मुख्य समय तेरहवीं शती रहा है और यह अनुवाद तांत्रिक ग्रंथों के वेष्टनों में ही अंतर्भुक्त है, फलतः इसका समय प्रायः वही रहा होगा। यह ग्रंथ अक्षरशः वही था, जिसे शास्त्री जी ने 'बौद्धगान ओ दोहा' में 'चर्याचर्यविनिश्चय' नाम से नेपाली पोथी के अनुसार अभिहित किया है।

बागची महोदय ने बड़े श्रम से इस ग्रंथ से गीतियों का अलग संग्रह किया। इस संग्रह में उन्हें शास्त्री जी के संग्रह की भाँति ही ५० चर्यागीतियाँ मिलीं। शास्त्री जी को जो सटीक ग्रंथ मिला था, वह कई जगह खंडित था। उसमें २३ वीं चर्या के केवल तीन ही पद थे। शेष पद और समूची टीका नहीं थी। २४ वीं चर्या पूरी की पूरी न थी। २५ वीं चर्या के अंतिम दो पदों की टीका को छोड़ कर शेष अंश त्रुटित था। ४७ वीं चर्या के चतुर्थ पाद की टीका खंडित थी। ४८ वीं चर्या न थी, अंतिम दो-तीन वाक्यों को छोड़ कर टीका भी न थी। ५० वीं चर्या के अंतिम पद की टीका का कुछ अंश तथा समूची पुष्पिका विलुप्त थी। टीका में अन्य कितने ही पद एवं पदांश तथा वाक्य और वाक्यांश विकल थे। अर्थ की दृष्टि से मूल ग्रंथ एवं टीका ग्रंथियों से भरा हुआ था। इन ग्रंथियों को खोलने के विचार से बागची महोदय ने पहले मूल चर्याओं में हाथ लगाया। मूल चर्याओं के तिब्बती रूपांतर का संग्रह कर उन्होंने उनका संस्कृत भाषांतर किया तथा शास्त्री जी के ग्रंथ में चर्याओं का जो पाठ था, उससे मिला कर तुलनात्मक अध्ययन किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप उन्होंने मूल चर्याओं के पाठों को शुद्ध कर सर्वप्रथम चर्याओं को इस रूप में प्रस्तुत किया कि उनको अध्ययन का आधार बनाया जा सके। चर्याओं का पाठ निश्चय करने में प्राध्यापक सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी बागची महोदय का हाथ बँटाया। यह सब शोधकार्य Materials for a critical edition of the old Bengali Charyāpadas 'प्राचीन बंगाली चर्यापदों के संशोधित संस्करण करने की सामग्री' के नाम से कलकत्ता विश्वविद्यालय की पत्रिका 'The Journal of the Department of Letters' के तीसवें खंड में १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ। बागची महोदय ने मुनिदत्त की टीका के शोधन-कार्य को भविष्य के लिए छोड़ दिया। पर जितना कार्य उन्होंने किया, वह अध्ययन-चक्र को प्रवर्तित करने के लिए यथेष्ट था और उसका फल शीघ्र दिखाई पड़ा। शहीदुल्ला साहब ने १९४० ई० में ढाका यूनिवर्सिटी स्टडीज़ (Dacca University Studies, 1940) में बागची महोदय का अनुसरण करते हुए अपना अध्ययन 'Buddhist Mystic songs' (आश्चर्य-चर्याचय) के नाम से प्रकाशित किया और बहुत से संशोधित पाठों को सामने रखा। यह सब होने पर प्रोफेसर सुकुमार सेन की दो कृतियाँ सामने आईं। प्रथम कृति चर्यापद कोश Index Verborum of old Bengali Charya songs and Fragments के नाम से इंडियन लिंग्विस्टिक्स (Indian Linguistics) के नवें खंड में तथा द्वितीय कृति Mystic practice songs के नाम से उक्त पत्रिका के दसवें खंड में प्रकाशित हुई। इस कृति में सेन महोदय ने गीतियों का जो क्रम मुनिदत्त-प्रणीत संग्रह में था, उसे बदल डाला है। उसका विवरण यों है—

मूलक्रम	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
सेनक्रम	१	३	५	६	७	८	१६	२८	१७	१८

मूलक्रम	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०
सेनक्रम	१९	२०	२१	२९	३०	३२	३३	२२	२३	४
मूलक्रम	२१	२२	२३	(२४)	(२५)	२६	२७	२८	२९	३०
सेनक्रम	९	३४	१०	(—)	(—)	३१	११	३८	२	१२
मूलक्रम	३१	३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
सेनक्रम	४०	३५	४१	४२	४४	२४	४५	३६	३७	२५
मूलक्रम	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०
सेनक्रम	१३	२६	१४	४६	२७	४७	४८	(—)	१५	३९

सेन महोदय का क्रम गीतिकारों के अनुसार है। उसका विवरण यों है—

गीतिकार	सेनक्रमानुसार अंक	मुनिदत्तानुसारी अंक
लुइपाद	१ ; २	१ ; २९
कुक्कुरीपाद	३ ; ४	२ ; २०
विरुवापाद	५	३
गुंडरीपाद	६	४
चाटिल्लपाद	७	५
भुसुकु	८; ९; १०; ११; १२; १३; १४; १५	६; २१; २३; २७; ३०; ४१; ४३; ४९
कान्हुपाद	१६; १७; १८; १९; २०; २१ २२; २३; २४; २५; २६; २७	७; ९; १०; ११; १२; १३ १८; १९; ३६; ४०; ४२; ४५
कंबलाम्बरपाद (कामलिपाद)	२८	८
डोम्बीपाद	२९	१४
शांतिपाद	३०; ३१	१५; २६
महीधरपाद	३२	१६
वीणापाद	३३	१७
सरहपाद	३४; ३५; ३६; ३७	२२; ३२; ३८; ३९
शबरपाद	३८; ३९	२८; ५०
अर्यदेवपाद	४०	३१
ढेंढणपाद	४१	३३
दारिकपाद	४२; ४३	३४; (सेन महोदय के संग्रह की ४३वीं चर्या मुनिदत्त के संग्रह में नहीं है। यह शास्त्री जी को नेपाल में एक बौद्ध भिक्षु से प्राप्त हुई थी, जिसे उन्होंने साहित्य परिषद् पत्रिका में छपवाया था)
भादेपाद (भद्रपाद)	४४	३५
ताड़कपाद	४५	३७
कंकणपाद	४६	४४
जयनंदीपाद	४७	४६
धामपाद (धर्मपाद)	४८	४७

गीतियों को इस क्रम से सजा कर सेन महोदय ने इधर-उधर बिखरे कितने ही सिद्धवचनों को अपने संग्रह में ले लिया है।

इतना सब होने पर भी बागची महोदय संतुष्ट न थे। वे इन चर्यागीतियों को दूसरी दृष्टि से देखते थे। चर्याओं का मर्म समझने के लिए उनकी दृष्टि में मुनिदत्त की टीका ही आदिम साधन थी। उन्होंने मुझसे सहकारी (colaborator) होने का अनुरोध किया। यह बात १९५२ ई० की है। मैंने उनकी आज्ञा से कार्य में हाथ लगाया था। मूल गीतियों तथा टीका को पहले-पहल मैंने उनकी दृष्टि से देखना शुरू किया। सिद्धों के रहस्यवाद के प्रति उनकी अगाध आस्था को देख कर मुझे सदा विस्मय हुआ करता था। मूल चर्यागीतियों तथा संस्कृत टीका को मैंने तिब्बती अनुवाद से मिलाया तथा पाठ-भेदों को टीपता गया। चर्यागीतियों का यथासंभव छायानुवाद भी किया। यह सब करके १९५४ के मध्य में मैंने उन्हें दे दिया। पांडुलिपि तैयार करते समय प्रत्येक पृष्ठ पर पाद-टिप्पणियाँ देने के लिए स्थान छोड़ दिया गया था। उनका विचार था कि यह कार्य हम दोनों साथ बैठ कर करेंगे। पर वे जितने व्यस्त थे, उसमें समय न निकल पाया। अंततोगत्वा उन्होंने मुझसे टिप्पणियाँ लिखने को कहा। उन्होंने जो भी कार्य किया था, उसको प्रधान आधार मान कर मैंने लिखना शुरू किया। मैंने प्रथम पाँच चर्याओं तथा उनकी संस्कृत टीका पर टिप्पणियाँ लिख कर दिखाईं। उन्होंने मुझसे कहा कि समूचे ग्रंथ पर टिप्पणियाँ लिख चुके जाने पर यदि इन्हें प्रेस में दिया जाएगा, तो बहुत विलंब होगा। एक तरफ टिप्पणी लिखने का कार्य होते रहना चाहिए तथा दूसरी ओर पुस्तक भी छपती रहनी चाहिए। मुझे जो कुछ शोधन करना होगा, वह प्रूफ देखते समय करूंगा। प्रायः प्रथम दो प्रूफ मैं देखता था तथा तीसरा वे स्वयं देखा करते थे। चौथा प्रूफ हम दोनों देखा करते थे। ग्रंथ १९५५ ई० में जून महीने की ५ वीं तारीख को प्रेस में गया था। टिप्पणियाँ लिखने में कितनी ही बार मैं कुछ ऐसी बात भी लिख कर प्रेस भेज देता था, जिसका उन्हें पहले से अनुमान न होता था। पर मैं जब कोई नई बात रखता, तो वे प्रूफ देखते समय मुझे बुला कर अवश्य विचार करते और सदा प्रोत्साहन देते रहते थे। यहाँ मैं इसके लिए एक निदर्शन दूंगा। २१ वीं चर्या के दूसरे पद में एक शब्द है 'गाती'। सेन महोदय ने गाती के लिए दो शब्द दिए हैं—Wal (भित्ति, भीत) तथा Foundation (नींव)। इसे वे 'गात्र' शब्द से व्युत्पन्न करते हैं। बागची महोदय का ख्याल था कि इसकी व्युत्पत्ति 'गर्त' से होनी चाहिए। पर मैंने अन्यथा ही टिप्पणी लिखी। मैंने इस शब्द को हिंदी में ग्रंथि-विशेष के अर्थ में प्रचलित गाती से अभिन्न मान कर, संस्कृत के 'गात्रिका' शब्द से व्युत्पन्न माना, जिसका कि प्रयोग बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में किया है। ऐसा ही अन्य कितने ही शब्दों के विषय में हुआ। वे मेरे सुझाव पर हमेशा ध्यान दिया करते थे। उनसे उत्साह पाकर चर्यागीतियों और टीका के विकलांश को भी मैंने संस्कृत रूप दे डाला। इन सबसे वे बहुत प्रसन्न थे और पुस्तक २६ वीं चर्या के अंत तक मुद्रित हो चुकी थी कि १९ जनवरी १९५६ ई० को उनका अकस्मात् निधन हो गया और शेष ग्रंथ का भार ढोने के लिए मैं अकेला रह गया। यहाँ यह बात भी दर्ज करने की है कि यह सब जो कार्य चर्यागीतियों पर हुआ, वह बंगाल से बाहर बहुत कम पहुँचा और जो पहुँचा भी वह कुछ विशेषज्ञों की संपत्ति बना रहा। यद्यपि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी कृतियों में विशेष रूप से 'नाथपंथ' तथा 'हिंदी का अदिम काल' में, सिद्धाचार्यों का जिक्र किया तथा महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने १९३३ में पहले-पहल 'गंगा' नामक पत्रिका, फिर अपनी पुस्तक 'पुरातत्त्व निबंधावली,' और बाद में १९४५ में 'हिंदी काव्यधारा' में इनकी चर्चा की, पर आज तक चर्यागीतियों तथा अन्य सिद्धवचनों का कोई सर्वांगीण-स्वरूप देवनागरी अक्षरों में प्रस्तुत न हो पाया, जो कि बंगाल की सीमाओं को तोड़ कर विशाल मध्य-मंडल में व्यापक होता। यह बात बागची महोदय से अविदित न थी और इसीलिए चर्यागीतियों को देवनागरी अक्षरों का जामा पहनाना उन्होंने आवश्यक समझा था। चर्यागीतियाँ किस प्रकार अध्ययन के क्षेत्र में आईं और उनका अध्ययन किस प्रकार प्रौढ़ि को प्राप्त हुआ तथा उस प्रौढ़ि के लाने में बागची महोदय का क्या हाथ रहा, इसका मैंने यहाँ उल्लेख किया। पर इतने भर से ही बागची महोदय संतुष्ट न थे। वे चाहते थे कि चर्याओं की विशद व्याख्या हो और इस व्याख्या का बीज उन्होंने अपने एक निबंध Some aspects of Buddhis Mysticism In the Charyāpadas 'चर्यापदों में बौद्ध-रहस्यवाद के कुछ पहलू' में बोया था। यह निबंध पहले-पहल १९३४ ई० में The Calcutta Oriental Journal में निकला था।

सिद्धों के दोहों पर किया गया कार्य

सिद्धों के दोहों को खोजकर यद्यपि महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने पहली बार प्रकाशित किया, पर दोहों की भाषा अपभ्रंश है, इसका उन्हें पता न चल पाया। चर्याओं की भाषा की भाँति उन्होंने दोहों की भाषा को भी पुरानी बंगाली कहा। उन्होंने जो दोहे प्रकाशित किए थे, वे सरहपाद और कृष्णाचार्यपाद के थे। डॉ० शहीदुल्ला साहब ने इन दोहों पर ढंग से हाथ लगाया तथा अपनी प्रसिद्ध कृति Les Chants Mystiques de Kāhna etde Saraha 'कान्ह और सरह के रहस्य गीत' में दोहों को उनके तिब्बती भाषांतर से तुलना करके, अपभ्रंश भाषा के शब्दों का अर्थ-निश्चय किया। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से यह बहुत सराहनीय कार्य हुआ। डॉ० बागची को उधर १९२९ में तत्रभवान् राजगुरु हेमराज शर्मा के अपने निजी संग्रह से दोहाकोष की एक और पुरानी पोथी हाथ लग गई तथा दरबार के पोथीखाने से भी एक और प्रति प्राप्त हुई। पहली पोथी १३वीं शती की थी। इसमें तिल्लोपाद और सरहपाद के दोहाकोष थे। तिल्लोपाद के दोहों का यह अभिनव अनुसंधान था, जिसका पता न तो शास्त्री जी को चला था और न डॉ० शहीदुल्ला को। सरहपाद का दोहाकोष यद्यपि प्रसिद्ध हो चुका था, पर डॉ० बागची को जो कोष मिला था, उसका पाठ शुद्धतर था तथा ग्रंथ संपूर्णतर था। दरबार के पोथीखाने से दोहाकोष की जो पोथी मिली थी, वह नेपाली संवत् २२१ (११०१ ई०) की थी तथा बीच-बीच में खंडित थी। इसमें सरह के दो ऐसे खंडित दोहाकोष थे, जिनका पहले पता न चला था तथा सरह के उस दोहाकोष का भी कुछ अंश था, जिसकी प्रसिद्धि शास्त्री जी तथा शहीदुल्ला साहब की कृतियों से हो चुकी थी। डॉ० बागची ने पुरानी सामग्री को अपनी इस नई सामग्री से परिष्कृत कर १९३५ में दोहाकोष के नाम से Journal of the Department of Letters के २८वें भाग में प्रकाशित कराया। इसमें सरह के दो अन्य दोहाकोषों तथा इधर-उधर बिखरे सरह के दोहों तथा अन्य कितने ही अपभ्रंश पद्यों को सराहपादीय दोहासंग्रह तथा संकीर्ण दोहासंग्रह के शीर्षकों द्वारा संगृहीत कर लिया गया है। इसके तीन वर्ष बाद उन्होंने उसी सामग्री को पृथक् पुस्तक के रूप में Calcutta Sanskrit Series से प्रसिद्ध किया। इसमें दोहों की संस्कृत छाया भी उन्होंने दी, जो कि पहले न दी जा सकी थी। डॉ० बागची इन दोहों में प्रतिपादित धार्मिक साधना तथा दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन करना चाहते थे। इस सम्बन्ध में वे कभी-कभी चर्चा भी किया करते थे, पर कालगति से वह हो न पाया। इधर महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत के 'स-स्क्य' मठ से प्राप्त सरहपाद के दोहाकोष का संस्करण किया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। संभवतः सरहपाद के दोहाकोष का यह संपूर्णतम कोष है।

इन दोहाकोषों में तिल्लोपाद के दोहाकोष पर संस्कृत टीका है। पुष्पिका में यह लेख है—"श्री महायोगेश्वरतिल्लोपादस्य दोहाकोषपञ्जिका सारार्थपञ्जिका नाम समाप्ता"। फलतः दोहों के रचयिता की अपनी टीका होने कारण यह व्याख्या दोहार्थ समझने के लिए सर्वोत्तम साधन है। सरहपाद के दोहाकोष पर संस्कृत टीका अद्वयवज्रपाद की है, जैसा कि पुष्पिका में अंकित है—"कृतिरियम् अद्वयवज्रपादानाम् इति"। कान्हपाद के दोहाकोष पर जो संस्कृत टीका है, उसकी पुष्पिका में है—"इत्याचार्यपादीयदोहाकोषमेखलाटीका समाप्ता"। फलतः यह टीका भी ग्रंथकारोपज्ञ होने से दोहार्थ समझने में अमोघ साधन है।

दोहों और चर्यागीतों के रचयिता

मुनिदत्त ने अपनी संस्कृत टीका में प्रत्येक चर्या के आरंभ में राग के साथ चर्यागीति के रचयिता का नाम दिया है। चर्यागीतियों की संख्या कुल ५० है। पर पोथी में पत्रत्रुटि के कारण २३वीं चर्या के ध्रुव-पदसहित प्रथम दो पद ही हम सब तक पहुँच पाए हैं। टीका भी खंडित रूप में अंतिम दो पदों की ही प्राप्त है। २४वीं तथा २५वीं चर्याएँ टीकासमेत लुप्त हो गई हैं। ४७वीं चर्या की टीका का अंतिम कुछ अंश तथा ४८वीं चर्या तथा उसकी टीका (अंत के दो-तीन वाक्यों को छोड़कर) विलुप्त हो चुकी हैं। ५०वीं चर्या की टीका का अंतिम अंश तथा पुष्पिका भी नहीं पाई जाती हैं। इस लुप्त अंश के विषय में यदि कुछ

भी जानना हो, तो वह तिब्बती अनुवाद के सहारे ही जाना जा सकता है। इस खंडित ग्रंथ का संस्कृत में प्रत्यनुवाद करने का प्रयत्न किया गया है।

पचास चर्यागीतियों के गीतिकार तेईस हैं। इनमें सोलह गीतिकारों ने केवल एक-एक गीति ही कही है। जिन्होंने दो गीतियाँ गाई हैं, वे तीन हैं। तीन गीतियों के गायक कुक्कुरीपाद हैं। इन्होंने दूसरी, बीसवीं तथा अड़तालीसवीं गीति का गायन किया है, जिनमें अड़तालीसवीं लुप्त है। सरहपाद ने चार गीतियाँ गाई हैं—बाईसवीं, बत्तीसवीं, अड़तीसवीं और उनतालीसवीं। भुसुकुपाद ने छठी, इक्कीसवीं, तेईसवीं, सत्ताईसवीं, तीसवीं, एकतालीसवीं, तैंतालीसवीं तथा उनचासवीं गीतियों को गाया है। सब मिलाकर ये गीतियाँ आठ होती हैं, जिनमें तेईसवीं खंडित है। सबसे अधिक गीतियाँ कान्हपाद ने गाई हैं। इनकी संख्या तेरह है—सातवीं, नवीं से लेकर तेरहवीं, अट्ठारहवीं, उन्नीसवीं, चौबीसवीं, छत्तीसवीं, चालीसवीं, बयालीसवीं और पैंतालीसवीं। इनमें चौबीसवीं चर्या लुप्त है।

जिन सोलह सिद्धों ने केवल एक-एक गीति गाई है, उनका विवरण यों है—विरुआपाद—तीसरी गीति। गुंडरीपाद—चौथी गीति। चाटिल्लपाद—पाँचवीं गीति। कंबलांबरपाद—आठवीं गीति। डोंबीपाद—चौदहवीं गीति। महीधरपाद—सोलहवीं गीति। वीणापाद—सत्रहवीं गीति। तंत्रीपाद—पच्चीसवीं गीति (विलुप्त)। आर्यदेवपाद—एकतीसवीं गीति। ढेण्ढणपाद—तैंतीसवीं गीति। दारिकपाद—चौंतीसवीं गीति। भादेपाद—पैंतीसवीं गीति। ताड़कपाद—सैंतीसवीं गीति। कोक्कणपाद—चौवालीसवीं गीति। जयनन्दीपाद—छियालीसवीं गीति। धामपाद—सैंतालीसवीं गीति।

दो-दो गीतियों का जिन्होंने गायन किया है, वे ये हैं—लुइपाद—पहली तथा उनतीसवीं गीतियाँ। शांतिपाद—पंद्रहवीं तथा छब्बीसवीं गीतियाँ। शबरपाद—अट्ठाईसवीं तथा पचासवीं गीतियाँ।

जैसे गीतियों में सबसे अधिक गीतियाँ कान्हपाद की हैं, वैसे दोहों में सबसे अधिक दोहे सरहपाद के हैं। अद्वयवज्रपाद की टीका के साथ सरहपाद का जो दोहाकोष है, उसमें एक सौ बारह दोहे हैं। सरहपाद के जो और दोहे मिले हैं, वे एक कोष में बीस तथा दूसरे में बारह हैं। तथा डॉ० बागची द्वारा विभिन्न ग्रंथों से संग्रहीत सरहपाद के दोहे तेरह हैं। तिब्बत से मिली तालपत्र की पोथी में सरहपाद के दोहे एक सौ पैंसठ हैं, पर कुछ दोहों को छोड़कर इसके दोहे डॉ० बागची के संकलन में आ जाते हैं। तिल्लोपाद के दोहाकोष में पैंतीस तथा काण्हपाद (कान्हुपाद) के दोहाकोष में बत्तीस दोहे हैं। पर इन संख्याओं से चर्याएँ और दोहों का पूरा परिमाण समझना कठिन है, क्योंकि संख्याएँ जो पोथियों में मिली हैं, वे कहीं चारपाद को इकाई मान कर हैं और कहीं दोष पद को इकाई मानकर हैं।

इन दोहों तथा चर्यागीतियों में व्यवहृत छंद मात्रिक हैं। हिंदी में प्रचलित दोहा, चौपाई छंदों की प्रथम प्रवृत्ति दोहों में पाई जाती है। गीतियों में ध्रुव पद को लेकर प्रायः पाँच पद होते हैं। प्रत्येक पद दो पादों का होता है तथा उसके अनंतर गान में ध्रुवपद की आवृत्ति होती रहती है। इस प्रकार गान की दृष्टि से प्रत्येक पद चतुष्पदी है। बंध की दृष्टि से प्रत्येक पद द्विपदी है। एक पाद प्रायः ८+७=१५ मात्राओं का होता है। कहीं-कही पाद में २६, २७ तथा २८ मात्राएँ भी देखी जाती हैं, जिनमें पहली दो यतियाँ आठ-आठ पर होती हैं। गीतिपद की दूसरी प्रणाली प्रायः अनियत है। लक्षण कहीं बैठता है और कहीं नहीं। एक ही गीति में कोई पद एक प्रकार का होता है और कोई अन्य प्रकार का। इस प्रणाली का सबसे उत्तम उदाहरण डोम्बीपाद की गीति है, जो चर्यागीतिकोष की चौदहवीं गीति है। छंद की दृष्टि से जिन सामान्य लक्षणों का उल्लेख हुआ है, वे ही पर्याप्त नहीं हैं। वस्तुतः इस दृष्टि से जहाँ कहीं सामान्य लक्षण से लक्ष्यपदों में कुछ विशेषता दिखाई दे, उसका अनुसंधान करते हुए ऊहापोह की आवश्यकता है।

सिद्धवाणी अपने-आप में बहुत ही गहन है। सिद्ध तिल्लोपाद का कथन है—

बढ अणलोअ अगोअ पंडितलोअ अगम्म।
जो गुरुपाअपसण्ण तहिं तत्त कि चित्तअगम्म॥

•••

वैकुंठ का विकास

श्री विश्वम्भरशरण पाठक

काश्मीरागम-पांचरात्र के प्रमुख इष्ट वैकुंठ के नामरूप की विचित्र गाथा है। वैदिक, पौराणिक, आगमिक और दार्शनिक परंपराओं के अतिरिक्त उनके अनेक अभिलेख, मूर्त्तियां और मंदिर सम्प्रति हमको उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर उनके नाम, रूप, धाम और अर्चा की संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ उपस्थित की जाती है।

नामगाथा—ऋग्वेद में एक ही सूक्त के कभी-कभी एकाधिक देवता संयुक्त रूप से माने जाते हैं। इंद्र अनेक बार अग्नि, वरुण, सोम आदि के साथ संयुक्त रूप से अनेक सूक्तों के देवता हैं।

दशम मंडल प्रथम अध्याय के ४७ और ४९ के देवता इंद्र और वैकुंठ हैं। निरुक्तकार[1] यास्क ने उसी अध्याय के ४८वें सूक्त का 'इंद्रोवैकुंठी' के नाम से उल्लेख कर कहा कि वह, 'लबसूक्त' और 'वागाम्भृणी' में कुछ थोड़े आध्यात्मिक मंत्र हैं, क्योंकि उनकी ऋचाएँ उत्तम पुरुष से युक्त हैं।

दुर्गाचार्य[2] 'इंद्रोवैकुंठी' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि विकुंठा नाम की एक आसुरी थी, जिसके तपःप्रभाव से इंद्र पुत्र होकर उत्पन्न हुए। अतः इंद्र का नाम 'वैकुंठ' माना जाता है। इस प्रकार वैदिक-परंपरा में वैकुंठ इंद्र के साथ संबद्ध एक देव माने जाते थे। परवर्ती काल में 'वैकुंठ' इंद्र का ही एक पर्याय माना जाता था।

पौराणिक परंपरा एक भिन्न कथा का उपन्यास करती है। भागवत, विष्णु आदि पुराणों के अनुसार भगवान विष्णु का ही एक नाम 'वैकुण्ठ' तथा 'विकुंठ' है। भागवत[3] में स्वयं भगवान कहते हैं कि "मेरे अमृतमय अमलयश का अवगाहन कर श्वपच भी सद्यः पवित्र हो जाते हैं, अतः मेरा नाम विकुंठ है।" यहाँ पापों को कुंठित करने के कारण उनका नाम 'विकुंठ' पड़ा। विष्णुपुराण[4] तथा भागवत[5] में वैकुंठ की व्युत्पत्ति कुछ भिन्न है। शुभ्र की पत्नी 'विकुंठा' अपनी कला से जन्म लेने के कारण सुरसतम भगवान वैकुंठ कहलाए।

इसके अतिरिक्त भागवत में भगवान का लोक भी इसी नाम से अभिहित है। भगवान ने अपनी प्रिया रमा के कहने से जिस लोक का निर्माण किया, उसको भी वैकुंठ कहते हैं।[6]

इस प्रकार पौराणिक परंपरा वैकुंठ को विष्णु के अवतार तथा लोक के रूप से वर्णित करती है।

आगम-कथा बिल्कुल भिन्न है। वैष्णवागम के तीन प्रमुख भेद हैं—वैखानस, पांचरात्र एवं सात्वत। इनमें ईसा पश्चात् अष्टम शताब्दी से पांचरात्र के दो भेद हो गए—(१) काश्मीरागम अथवा तंत्रांतर तथा (२) आगम अथवा तंत्र। काश्मीरागम पांचरात्र के प्रसिद्ध ग्रंथ जयाख्य के अनुसार परमाराध्य वैकुंठ हैं। जिस प्रकार वैखानसों के प्रमुख इष्ट 'आदिमूर्त्ति', सात्वतों के 'वासुदेव' हैं, उसी प्रकार काश्मीरा-

---

[1] निरुक्तम्, दैवतकांडम्, ७ अ० १ पा० ३ खं०—यथैतर्दिद्रो वैकुंठी लबसूक्तं वागाम्भृणीयमिति परोकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मंत्रा भूयिष्ठा अल्पश आध्यात्मिका।

[2] विकुंठा नाम आसुरी बभूव, तस्याः किल तपसः प्रभावेण्णायत्यत्वमिंद्रः आजगाम, स वैकुंठो नाम बभूव। इस निरुक्त वचन पर दुर्गाचार्य की टीका। पृ० ७२४ निरुक्तम्, क्लाइव रो, कलकत्ता।

[3] यस्यामृतामलयशः श्रवणाहृगाह ; सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुंठः। भागवत्, ३, १६, ६

[4] चाक्षुषे चांतरे देवो वैकुंठः पुरुषोत्तमः। विकुंठायामसौ जज्ञे वैकुंठैः देवतैः सह ।। विष्णुपुराण, ३,१,४१

[5] पत्नी विकुंठा शुभ्रस्य वैकुंठैः सुरसत्तमैः। तयो स्वकलया जज्ञे वैकुंठो भगवान् स्वयम् ।। भागवत ८,५,४

[6] वैकुंठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः। रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रिय काम्यया ।। वही, ८,५,५

गम के प्रधान देव 'वैकुंठ' हैं। वे शुक्लवर्ण, शंख चक्र गदाधर, पद्मपाणि, खगेश्वरारूढ़ चतुर्मुख हैं। उनका एक मुख सौम्य, दूसरा नारसिंह, तीसरा वाराह और चौथा कापिल का है।"[1]

इसका ही वर्णन करते हुए पांचरात्र[2]-रक्षा में स्पष्ट कहा है कि वैष्णवागम में देवता-सांकर्य नहीं। 'तंत्रांतर' में सौम्य, सिंह आदि अनेक मुखों वाले एक ही देवता पूजित होते हैं।

काश्मीरागम का साहित्य स्वल्प है। उसमें देवताओं की पौराणिक-गाथा प्रायः प्राप्त नहीं होती। सौभाग्य से इस वैकुंठ की एक गाथा बिल्कुल असंभावित स्रोत से प्राप्त हुई है। यशोवर्म्मदेव का खजुराहो से प्राप्त वि० सं० १०११ के अभिलेख[3] में इस देव की गाथा दी हुई है। श्लोक है—

> वधानानेकां यः किरिपुरुषसिं (होभय) जुषं
> तदाकारोच्छेद्यां तनुमसुरमुख्यानजवरात्।
> जघान त्रीनुग्रान्ज (ञ्ज) गति कपिलादीनवतु वः
> स वैकुण्ठः कण्ठध्वनि चकितनिः शेषभुवनः ॥१

वह वैकुंठ हमारा रक्षण करे, जिसके कंठ की ध्वनि से सारा संसार चकित हो गया है और जिसने उन कपिल आदि उग्र तीन असुरों को मारा, जो वाराह और पुरुष सिंह के रूपों को धारण किए हुए थे तथा जो ब्रह्मा के वर से उसी रूप वाले के द्वारा ही उच्छेद्य थे।

सारांश में, कपिल आदि तीन असुर थे, जिनके रूप कपिल, वराह और नरसिंह के थे। उन्होंने ब्रह्मा से यह वर प्राप्त किया था कि वे उन्हीं के रूप वाले द्वारा मारे जा सकते थे। अतः वैकुंठ उनको मारने के लिए चार मुख वैकुंठ, वराह, कपिल और नरसिंह के साथ प्रकट हुए। इस शिलालेख का उद्देश्य भोट-काश्मीर से प्राप्त एक वैकुंठ-मूर्त्ति की प्रतिष्ठा का वर्णन है, अतः यह परंपरा संभवतः काश्मीर की ही परंपरा[4] है।

यह काश्मीरागम की परंपरा उपर्युक्त दोनों परंपराओं से भिन्न है।

वैखानसों के अनुसार वैकुंठ एक विष्णुलोक है। अत्रिप्रोक्त समूर्तार्चनाधिकरण[5] में आमोद, प्रमोद संमोद तथा वैकुण्ठ चार लोकों की परिगणना है।

वैकुंठ शब्द की दार्शनिक व्याख्या भी मिलती है। शांतिपर्व महाभारत[6] के अनुसार माया के द्वारा भूमि को वायु, जल और आकाश से तथा वायु को तेज से संश्लेषित करने के कारण भगवान वैकुंठ कहे जाते हैं। इसी प्रकार 'विष्णुसहस्रनाम भाष्य' में शंकराचार्य भी इसी प्रकार की दार्शनिक व्याख्या देते हैं।

इस प्रकार वैकुंठ की श्रौत, पौराणिक, आगमिक और दार्शनिक परंपराएँ हैं।

रूपगाथा—वैकुंठ के रूप की दो परंपराएँ उपलब्ध होती हैं। प्रथम है पश्चिमी भारत की द्वादश शताब्दी से प्रारंभ परंपरा, जो सबसे पहले भुवनदेवाचार्य के 'अपराजितपृच्छा' में मिलती है। इस ग्रंथ के

---

[1] अनादि निधनं देवं जगत्स्रष्टारमीश्वरम्। ध्यायेच्चतुर्भुजं विप्र शंख चक्र गदाधरम् ॥
चतुर्वक्त्रं सुनयनं सुकान्तं पद्मपाणिनम्। वैकुंठं नारसिंहास्यं वाराहं कपिलाननम् ॥
शुक्लं खगेश्वरारूढ़ं सर्वाभरणभूषितम्। सर्वलक्षणसम्पन्नं माल्याम्बरधरं विभुम् ॥
—जयाख्यसंहिता, (गा० ओ० सी०) पृ० ४६

[2] चतुर्थं परमं पुनः ॥
द्वित्र्यादि मुखभेदाद्वा मूर्त्तिरेकैव पूज्यते।
संवृता परिवारैः स्वैर्विना वा सर्वकामदा ॥
यत्र तन्त्रान्तरं तत् स्यात् चतुर्थं चतुरानन ॥ —पांचरात्र-रक्षा

[3] ए० इ० १, पृ० १२४–१३० ;

[4] अभिलेख ४३ वाँ श्लोक, भोट (तिब्बत), कीर (चम्बा) साही (काबुल) होते हुए यशोवर्म्मदेव के पास आने वाली वैकुंठ-प्रतिमा का वर्णन करता है।

[5] आमोदश्च प्रमोदश्च संमोदश्च तथैव च। वैकुंठश्चेति चत्वारो विष्णुलोकाः प्रकीर्तिताः ॥
४५ अध्याय, ८६ श्लोक, पृ० २४७

[6] मायया संश्लेषिता भूमिरद्भिर्व्योम्ना च वायुना। वायुश्च तेजसा सार्द्धं वैकुंठत्वं ततो मम ॥
—शांतिपर्व, महाभारत

अनुसार 'वैकुंठ' चतुर्मुख होते हैं—प्रथम पुरुषाकार, द्वितीय नारसिंह, तृतीय श्रीमुख (स्त्रीमुख) और अंतिम वाराह मुख[1]।

त्रैलोक्यमोहन का भी रूप चतुर्मुख होता है। इस ग्रंथ के अनुसार उसके नर, नरसिंह, वराह और कपिल के चार मुख[2] होते हैं। इस प्रकार वैकुंठ की विशेषता श्रीमुख है, किंतु त्रैलोक्यमोहन की 'कापिल मुख' विशेषता है।

यही परंपरा सूत्रधार मंडन के दोनों ग्रंथों—देवता[3]मूर्त्तिप्रकरण और रूपमंडन में मिलती है। 'अपराजित[4] पृच्छा' बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के करीब सौराष्ट्र में संभवतः लिखी गई और सूत्रधार मंडन[5] मेदपाट में महाराणा कुंभा (१४३३–१४६८) के सभारत्न थे। अतः यह परंपरा जिसमें वैकुंठ का एक मुख श्री के आकार का होता था, करीब बारहवीं शताब्दी से पश्चिमी भारत में प्रचलित थी। किंतु यह परंपरा बहुत कुछ ग्रंथस्थित मात्र ही रही होगी। बारहवीं शताब्दी के पश्चात् वैकुंठ की मूर्त्तियाँ प्रायः उपलब्ध नहीं होतीं। राम तथा कृष्ण की प्रबल धाराओं ने सारे अन्य वैष्णव देवता-प्रकारों को अभिभूत कर दिया।

दूसरी परंपरा प्रथम से कहीं अधिक प्राचीन और व्यापक है। जयाख्यसंहिता, जिसकी रचना गुप्त काल में हुई होगी, वैकुंठ का ध्यान इस प्रकार देती है—

अनादि निधनं देवं जगत्स्रष्टारमीश्वरम्। ध्यायेच्चतुर्भुजं विप्रं शंखचक्रगदाधरम्॥
चतुर्वक्त्रं सुनयनं सुकान्तं पद्मपाणिनम्। वैकुण्ठं नरसिंहास्यं वाराहं कपिलाननम्॥
शुक्लं खगेश्वरारूढं सर्वाभरण भूषितम्। सर्वलक्षणसम्पन्नं माल्याम्बरधरं विभुम्॥
किरीटकौस्तुभधरं कर्पूरालिप्तविग्रहम्। सूर्यायुतसहस्राभं सर्वदेवनमस्कृतम्॥

—जयाख्यसंहिता, पृ० ४६–४७

इसमें वैकुंठ स्पष्ट ही वैकुंठ (सौम्य), नारसिंह, वाराह और कापिल के चार मुखों से युक्त वर्णित हैं। विष्णुधर्मोत्तर में भी यही वर्णन है। खजुराहो में उपलब्ध यशोवर्म्मदेव का अभिलेख तो वैकुंठ का स्वरूप निश्चित ही कर देता है। उसके अनुसार तीन असुर थे—कपिल, नरसिंह और वराह। इन तीनों के उच्छेद के लिए भगवान ने तदाकार मुख धारण किए। अतः वैकुण्ठ के चार मुख क्रमशः वैकुण्ठ (प्रमुख), नारसिंह, कापिल और वाराह हुए। कपिलानन युक्त मूर्त्तियाँ काश्मीर, मध्यदेश, राजस्थान और गुजरात में उपलब्ध होती हैं। मध्यदेश की मूर्त्तियाँ प्रायः गुप्तकाल की हैं और काश्मीर में सप्तम-अष्टम शताब्दी से बहुत बाद तक यह परंपरा चली। अतः यह दूसरी परंपरा प्रायः संपूर्ण उत्तरापथ में गुप्तकाल से द्वादश शताब्दी तक प्रचलित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रीमुख युक्त वैकुंठ की परंपरा भ्रांति से भुवनदेवाचार्य ने प्रवर्त्तित कर दी और उसकी ही पुनरुक्ति सूत्रधार मंडन ने कर दी। श्री गोपीनाथ राव ने भी मंडन को प्रमाण मान कर वैकुंठ का वर्णन कर दिया। चूंकि बारहवीं शती के बाद वैकुंठ की मूर्त्ति के निर्माण की परंपरा जीवित नहीं थी, इस भ्रांति का निराकरण न हो सका।

आगम, पुराण और अभिलेख के सम्मिलित साक्ष्य से यह तो निश्चित है कि वैकुंठ का कापिल आनन होता था, किंतु 'कापिल' आनन के रूप में सम्बन्ध में कुछ गड़बड़ी है। मूर्त्तियों की पहचान ठीक से न हो

---

[1] पुरतः पुरुषाकारो नारसिंहश्च दक्षिणे। अपरे श्रीमुखाकारो वाराहास्यस्तथोत्तरे॥२७
अपराजित पृच्छा, पृ० ५६०

[2] नरास्यो नारसिंहास्यो सूकरः कपिलाननः द्विरष्टशक्तिसंयुक्तः कार्यस्त्रैलोक्यमोहनः॥४१ वही, पृ० ५६१

[3] वैकुंठञ्च प्रवक्ष्यामि (धृष्ट ? साष्ट) बाहुं महाबलम्। तार्क्ष्यासनञ्चतुर्वक्त्रं कर्तव्यं शान्तिमिच्छता॥६१
गदाखड्गौबाण च (क्रौ? क्रे) दक्षिणास्त्र चतुष्टयम्। शंख खेटधनुः पद्मं (वामदंष्ट्रा? वामेद्याच्) चतुष्टयम्॥
अग्रतः पुरुषाकारं नारसिंहञ्च दक्षिणे। अपरे स्त्रीमुखाकारं वाराहास्यं तथोत्तरम्॥
देवतामूर्त्ति प्रकरण, पृ० ६२ (कलकत्ता संस्कृत सिरीज)

[4] वही, भूमिका, पृ० १२

[5] श्री मेदपाटे नृपकुंभ कर्णस्तरन्घ्रिराजीवपराग सेवी।
स मण्डनाख्यो भुवि सूत्रधारस्तेनोद्धृतो भूपतिवल्लभोऽयम्॥ —देवतामूर्त्ति प्रकरण, अ० १४

पाने के कारण चतुर्थ मुख पर विद्वानों का ध्यान न जा सका। अवंतीस्वामी मंदिर (काश्मीर) के उत्खनन में प्राप्त मूर्त्ति के सम्बन्ध में श्री दयाराम साहनी[1] लिखते हैं कि "मूर्ति काश्मीर में प्राप्त अन्य वैष्णवमूर्त्तियों के समान चतुर्मुख है। दक्षिण मुख नरसिंह और वाम शूकर का है......। इस सम्बन्ध में एक समस्या अभी तक उलझी है कि सिर के पीछे एक आसुर मुख इस प्रकार क्यों निर्मित कर दिया जाता था कि वह देव का चतुर्मुख प्रतीत हो।" इस चतुर्थ मुख का समाधान खजुराहो अभिलेख से हो जाता है। कपिल एक असुर था, जिसके मारने के लिए वैकुंठ ने कपिलानन धारण किया था।

किंतु मध्यदेश में प्राप्त कुछ मूर्तियों में कापिल मुख आसुरी न बना कर वृषभमुखाकार बनाते थे। खजुराहो पुरातत्त्व[2] संग्रहालय में एक ऐसी ही त्रुटित मूर्त्ति है, जिसके सौम्य और कापिल मुख पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं, किंतु पार्श्व के नारसिंह और वाराह कुछ त्रुटित हैं। कापिल मुख इस मूर्त्ति में वृषभाकार है। वृषभ मुख उत्कीर्ण करने का कारण यह प्रतीत होता है कि मध्यदेश में काश्मीर के कपिलासुर वाली परंपरा प्रचलित नहीं थी, अतः कपिल का सीधा शब्दार्थ 'वृषभ' गृहीत कर तदाकार मुख निर्मित कर दिया गया।

वैकुंठ की मूर्त्ति तीनों रूपों—स्थानक, आसन और शयन में मिलती है। आसन मूर्त्ति में वामांक में लक्ष्मीयुक्त, गरुडासीन वैकुंठ निर्मित किए जाते हैं। शयन मूर्त्ति प्रायः शेषशायी के रूप की होती है। ललित वर्मा के राज्यकाल में २७ वें वर्ष राजानकलु (रु) द्रपाल ने एक वरुण प्रस्तर लगवाया था, जो साल्हीग्राम से उपलब्ध हुआ। इसके मध्य में शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किए भगवान वैकुंठ शेष शय्या पर शयन कर रहे हैं। संमुख लक्ष्मी और नाभि-कमल पर ब्रह्मा हैं। वैकुंठ के शिर के ऊपर छोटे अक्षरों में शीष (शेष) शायी शब्द उत्कीर्ण हैं[3]।

वैकुंठ की मूर्तियाँ काश्मीर, मध्यदेश[4], जेजाकभुक्ति[5] और सौराष्ट्र[6] में मिलती हैं, यद्यपि सौराष्ट्र में इनका बाहुल्य है।

वैकुंठ के इन चार मुखों की दार्शनिक व्याख्या भी उपलब्ध होती है। पांचरात्र दर्शन के अनुसार ईश्वर षड्गुणोपेत होता है। ये षड्गुण हैं—ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, शक्ति, तेज और वीर्य। इनमें वैकुंठ के चतुर्मुख—ज्ञान, ऐश्वर्य, बल और शक्ति के प्रतीक[7] हैं।

---

[1] "A point in connection with this class of statues which cannot yet be explained, is the presence of a demoniacal head carved on the back of the statue, as it were a fourth head of the diety. As is customary with these figures, the demon in question has grinning teeth, protruding tushes and eyes, a short chin and terrific eye-brows. His hair is tied up in a big knot."

Excavation at Avantipur, A. S I., A. R., 1913. 14, P. 45.

[2] गरुडासीन वैकुंठ की साभिलेख प्रतिमा चम्बा-संग्रहालय में है। इसमें लक्ष्मी वामाङ्कगता प्रकल्पित हैं।
—फोगेल : एण्टीक्विटी आफ चम्बा स्टेट, पृ० २०७

मिलाइये—एकमूर्त्तिधरः कार्या वकुंठेत्यभि शब्दिताः॥ चतुर्मुखः स कर्तव्यः प्रागुक्तवदनः प्रभुः॥४२
तार्क्ष्यासनस्था श्री कार्या कामोत्संगतापि वा॥
शेषभोगोपविष्टो वा कार्यो देवो मनोहरः॥४८
शेषपर्यङ्कशयने कार्यो वा भगवान्हरिः।५१ —विष्णुधर्मोत्तर पुराण, तृ० खं० अ० ८५,

[3] फोगेल : एण्टीक्विटी आफ् चम्बा स्टेट, पृ० २१६।
ये मूर्तियाँ भित्ति पर प्रकल्पित हैं। अतः चतुर्मुख दृश्य नहीं।
रामचंद्र काक : हैण्डबुक आफ् दी आर्कयोंलॉजिकल एण्ड न्यूमिस्मेटिक सेक्शन आफ् श्री प्रतापसिंह म्यूजियम, पृ० ४६-५१।

[4] डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : ए कैटलॉग आफ् दी ब्रेह्मेनिकल इमेजेज इन मथुरा आर्ट, पृ० १२, प्रतिमा संख्या २५२५।

[5] खजुराहो-संग्रहालय, इसका चित्र मेरे पास है।

[6] कजिंस : सोमनाथ एण्ड अदर मान्यूमेण्ट्स, पृ० ४८ ; भ्रांति से लेखक ने इसकी पहचान ब्रह्मा से की है।

[7] बलं ज्ञानं तथैश्वर्यं शक्तिश्च यदुनंदन।
विज्ञेयं देवदेवस्य तस्य वक्त्रचतुष्टयम्॥१ —विष्णुधर्मोत्तर, तृ० खं०, अ० ४७

कल्हण की राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि अवंतिवर्म्मन (८५५-८८३ ईसवी) ने अवंतीस्वामी मंदिर का निर्माण कराया था[1]। श्री दयाराम साहनी ने वहाँ उत्खनन किया। वह एक वैष्णव पंचायतन मंदिर है। चारों कोने पर चार छोटे-छोटे मंदिर दक्षिणावर्त से (१) विष्णु, (२) गंगा, (३) यमुना और (४) विष्णु के हैं। प्रथम और चतुर्थ मंदिर संभवतः वैष्णव प्रतिहार जय और विजय के हैं, जो प्रायः कुछ थोड़े से अंतर से विष्णु के रूप में कल्पित होते हैं[2]।

दूसरा[3], प्रसिद्ध वैष्णव वैकुंठ-मंदिर खजुराहो में यशोवर्मदेव ने वि० सं० १०११ में बनवाया था। यह भी एक पंचायतन मंदिर है। किंतु इसके परिवर्ती चार मंदिर संभवतः क्रम से (१) विष्णु, (२) सूर्य, (३) शिव और (४) शक्ति के थे।

इनके अतिरिक्त, गुजरात के थान[4] नामक स्थान में भी एक सप्तम शताब्दी का वैष्णव मंदिर है। पाई गई त्रुटित मूर्त्ति वैकुंठ की है, यद्यपि कज़िंस ने उसकी पहचान 'ब्रह्मा' से की थी। यह प्राप्त वैकुंठ-मंदिरों में सबसे प्राचीन प्रतीत होता है।

प्रचार—गुप्तकाल में वैकुंठ की मूर्त्तियाँ गुजरात और मध्यदेश में मिलती हैं। काश्मीर में अष्टम-नवम शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक ये मूर्त्तियाँ उपलब्ध होती हैं। इस काल की मूर्त्तियाँ मध्यदेश में स्वल्प हैं।

११-१२ वीं शताब्दी से मध्यदेश, जेजाकभुक्ति में इसके पूजन का पुनः प्रवर्त्तन हुआ। यशोवर्मदेव द्वारा प्रतिष्ठित मूर्त्ति का इतिहास खजुराहो के अभिलेख[5] में उपनिबद्ध है—

कैलाशा (सा) भोटनाथः सुहृदिति च ततः कीर्त्तिराजः प्रपेदे।
साहिस्तस्मादवाप द्विपतुरगबलेनानु हेरम्बपालः।
तत्सूनोर्देवपालात्तमथ हयप(तेः) प्राप्य निन्ये प्रतिष्ठां
वैकुण्ठं कुण्ठितारिः क्षिति (धरतिलकः) श्रीयशोवर्म्मराजः॥

वैकुंठ का रूप नारसिंह, वाराह और कापिल अवतारों के साथ विष्णु को संकलित करने का परिणाम है। गुप्तकाल से अनेक देवों के संकलित करने की प्रवृत्ति प्रचलित हुई। हरिहर, हरिहर पितामह, त्रिमूर्त्ति इत्यादि इसी समन्वय प्रवृत्ति के रूपात्मक निदर्शन हैं। इसी समन्वय प्रवृत्ति ने काश्मीरागम में पूजित नारसिंह, वाराह, और कापिल को विष्णु के साथ संयुक्त कर वैकुंठ का रूप दे दिया। इसी समन्वय की प्रवृत्ति ने वैकुंठ के चार मुखों का क्रमशः वासुदेव, संकर्षण, अच्युत, अनिरुद्ध से समीकरण किया।

अर्चा—जयाख्यसंहिता में वैकुंठ की अर्चा का तांत्रिक विधान है। मंत्र-न्यास, मुद्रा-बंध, जपविनियोग, बाह्ययाग और मानसयाग का विस्तृत निर्देश उपर्युक्त संहिता में वैकुंठ की अर्चा के सम्बन्ध में उपलब्ध होता है।

परवर्त्ती पुराणों में इस आगमिक अर्चा का पौराणिक उत्थान हुआ। 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में वैकुंठ संबंधी अनेक व्रतों का उल्लेख है। वैकुंठ के चार मुख वैकुंठ, नारसिंह, कापिल और वाराह जो क्रमशः बल, ज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति के प्रतीक हैं क्रमेण चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ में यथाविधि पूज्य हैं तथा यथाक्रम इन मासों में गृहोपयोगी, रणोपयोगी, योगोपयोगी और यज्ञोपयोगी वस्तुएँ देय हैं। इस व्रत के करने से मनुष्य दस हजार वर्ष स्वर्ग में भोग करता है।

उपसंहार—इस प्रकार वैकुंठ का वैदिक काल से १२-१३ वीं शताब्दी तक विकास हुआ। उनका रूप विभिन्न रीति से वैदिक, पौराणिक, आगमिक और श्रौत परंपराओं में मिलता है। उनकी अर्चा के भी आगमिक और पौराणिक प्रकार हैं।

•••

---

[1] राजतरंगिणी, ५, श्लो० ४५।

[2] साहनी : एक्सकेवेशन्स एट अवन्तीपुर, आर्कियॉलॉजिकल सर्वे, एनुअल रिपोर्ट, १९१३-१४।

[3] ए० इं० १, पृ० १२४-१३०।

[4] सोमनाथ एण्ड अदर मान्यूमेण्ट्स, पृ० ४८।

[5] ए० इं०, पृ० १२४-१३० ; श्लोक ४३।

हिंदी साहित्य का सांस्कृतिक महत्व

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

देश और विदेश के विद्वानों ने ईसवी सन् की १९ वीं शताब्दी में भारतीय साहित्य का अध्ययन आरंभ किया। विदेशी विद्वानों को उन सामग्रियों के प्रति अधिक प्रेम था, जिनसे भारतवर्ष के भूले हुए इतिहास का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता था। बहुत दिनों से इस इतिहास की अनेक कड़ियाँ खो चुकी थीं। देश भर में फैले हुए खंडहर, भग्नमंदिर, उपेक्षित मूर्त्तियाँ और अंधविश्वासों के रूप में प्रचलित कहानियाँ इस देश की ऐतिहासिकता को भ्रांत बना रही थीं। पुरानी लिपियों के पढ़नेवाले बहुत थोड़े रह गए थे। बहुत पुरानी लिपियाँ तो एकदम भूली ही जा चुकी थीं। बड़ी निष्ठा और साधना के द्वारा इन लिपियों को पढ़ा गया और देश में बिखरे हुए शिलालेखों, ताम्रपत्रों, मुद्राओं और हस्तलिखित ग्रंथों का अध्ययन किया गया। और, इन सब परिश्रमों के बल पर भारतवर्ष के इतिहास का एक ढाँचा तैयार किया गया। प्रधान रूप से देशी विद्वानों के सामने उन ग्रंथों का महत्त्व था, जिनसे शिलालेखों, ताम्रपत्रों और मुद्राओं पर लिखे गए अभिलेख पढ़े जा सकें और समझे जा सकें। इसी दृष्टि से संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि के साहित्य का खूब अध्ययन किया गया। परंतु जो ग्रंथ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं समझे गए, उनकी ओर विद्वानों का ध्यान बहुत कम गया। ऐतिहासिक प्रमाणों के अतिरिक्त जिस वस्तु की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ, वह था भाषा-संबंधी अध्ययन। इस प्रकार १९ वीं शताब्दी के भारतीय साहित्य के अध्ययन में जिन आधुनिक दृष्टि से सम्पन्न विद्वानों ने काम किया, वे या तो उन साहित्यांगों से रुचि रखते थे, जो इतिहास के स्वरूप को स्पष्ट करने का कुछ-न-कुछ सबूत दे सकते हैं या फिर उन ग्रंथों में रुचि रखने लगे, जो इस देश की भाषा-समस्या को समझाने में सहायक हों। इस प्रकार १९ वीं शताब्दी के विदेशी विद्वान भारतीय साहित्य को प्रधानतः दो दृष्टियों से ही महत्व देते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से और भाषाशास्त्री दृष्टि से। शुरू-शुरू में हिंदी साहित्य का अध्ययन भी उन्होंने इसी उद्देश्य से आरंभ किया था। इन दो उद्देश्यों के अतिरिक्त उन दिनों एक तीसरा उद्देश्य भी कुछ विदेशी धर्माज्ञिकों के सामने था, वह था ईसाई धर्म का प्रचार। इसके लिए उन्होंने भारतवर्ष में फैली हुई विभिन्न बोलियों का अध्ययन किया और लगभग ४० भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद कर डाले। देशी भाषाओं में जो धर्मग्रंथ सबसे अधिक प्रचलित थे, उनकी शैली और भाषा का अध्ययन भी ईसाई धर्म के प्रचार की दृष्टि से ही किया गया। ऐसे विद्वानों ने तुलसीदास और कबीर के ग्रंथों का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया। तुलसीदास के सम्बन्ध में सबसे पहले आचार्यत्व (डाक्टरेट) की उपाधि पानेवाले विद्वान एक ईसाई पादरी ही थे। जो हो, इस दृष्टि से इन धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन अवश्य किया गया, लेकिन जहाँ तक विशुद्ध विद्या का सम्बन्ध है, यूरोपियन विद्वानों के सामने दो ही दृष्टियाँ थीं : ऐतिहासिक और भाषाशास्त्री। धर्मप्रचार की दृष्टि से जो कार्य किया गया, वह अनेक बार गंभीर होने पर भी वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से सदोष होता था।

भारतवर्ष के इतिहास के संग्रंथन के लिए इस प्रकार की सामग्री संस्कृत, पाली और अपभ्रंश के ग्रंथों में प्राप्त हुई। उसी श्रेणी की सामग्री पाने की गरज से विदेशी विद्वानों ने हिंदी साहित्य के ग्रंथों का अध्ययन आरंभ किया। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने पृथ्वीराज रासो और पद्मावत आदि ग्रंथों को आरंभ में ऐतिहासिक महत्व का ग्रंथ समझा था और इनके संपादन और प्रकाशन की व्यवस्था की थी। लेकिन बहुत शीघ्र ही उन्हें पता चल गया कि तथाकथित ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करने की दृष्टि से ये ग्रंथ विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं। पृथ्वीराज रासो की तिथियाँ और कई नाम काल्पनिक सिद्ध हुए। अन्यान्य रासो-ग्रंथों में भी ऐसी बातें पाई गईं, जो शिलालेखों, ताम्रपत्रों और अन्यान्य ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक समझी जानेवाली वस्तुओं से मेल नहीं खाती थीं। अनेक दरबारी और चारण कवियों की रचनाओं में भी ऐसी अनमिल बातें प्रचुर मात्रा में मिलीं। उधर हिंदी साहित्य के आरंभकाल से ही भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की जड़ जमने लगी थी और भिन्न-भिन्न

मुसलमान शासकों के दरबारी कवियों तथा स्वतंत्र रूप से देशाटन के लिए निकले हुए यात्रियों की जो बातें पारसी और अरबी आदि में लिपिबद्ध थीं, वे अधिक प्रामाणिक सिद्ध हुईं। इसलिए विदेशी विद्वानों का ध्यान हिंदी साहित्य की आरंभिक रचनाओं से हट गया। वे जो वस्तु चाहते थे, वह उन्हें प्राप्त नहीं हुई। एक बार इन पुस्तकों के ऐतिहासिक दृष्टि से अप्रामाणिक सिद्ध होने के बाद उनका भाषाशास्त्रीय महत्व भी घट गया। क्योंकि यदि पुस्तकों के लेखन-काल का ही कोई ठिकाना नहीं हो, तो उनमें सुरक्षित भाषा की प्रामाणिकता और भी संदेहास्पद हो जाती है। इधर अपने देश के जो विद्वान हिंदी साहित्य का अध्ययन करने के लिए ग्रंथों के संपादन और प्रकाशन की ओर दत्तचित्त हुए, उनकी दृष्टि भी बहुत कुछ ऐतिहासिक अनुसंधान पर ही केंद्रित थी। नागरी प्रचारिणी सभा ने बड़े उत्साह से पृथ्वीराज रासो का संपादन और मुद्रण कराया और हिंदी के तत्कालीन विद्वानों ने पूरी शक्ति के साथ यह सिद्ध करना चाहा कि ये ग्रंथ उतने अप्रामाणित नहीं हैं, जितना इन्हें समझा जाता है। मिश्र बन्धुओं, बाबू श्यामसुंदर दास, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या आदि ने सारी शक्ति लगा कर यह सिद्ध करना चाहा कि रासो की तिथियाँ गलत नहीं हैं और वह सचमुच ही पृथ्वीराज के समय का लिखा हुआ काव्य है। उन दिनों अपने साहित्य को यथासंभव पुराना सिद्ध करने की एक धुन-सी थी। नागरी प्रचारिणी सभा ने आरंभ में उन ग्रंथों के प्रकाशन की ओर विशेष ध्यान दिया, जो ऐतिहासिक महत्व के थे, अर्थात् जिनके आधार पर भारतीय इतिहास के पुनर्गठन की सामग्री प्राप्त हो सकती थी। हिंदी साहित्य के जो इतिहास लिखे गए, उनमें भी साहित्यिक दृष्टि की अपेक्षा इस ऐतिहासिक दृष्टि का विशेष महत्त्व था। पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, खुमान रासो आदि ग्रंथों के सम्बन्ध में प्रायः यही विवाद प्रधान हो उठता था कि ऐतिहासिक दृष्टि से ये उतने पुराने हैं या नहीं, जितने ये माने जाते हैं। आज भी उन पंडितों के कुछ अनुयायी बचे हुए हैं, जो साहित्यिक इतिहास के लिए साहित्य-परंपरा को कम, और घटना-मूलक इतिहास को अधिक महत्व देते हैं।

वस्तुतः ठीक साहित्यिक दृष्टि से भी बहुत से ग्रंथों का महत्व नहीं आँका जा सकता। हिंदी में उपलब्ध पुराना साहित्य प्रधान रूप से लोकसाहित्य है। साहित्य शब्द को व्यापक अर्थों में ग्रहण करने पर ही हम इनमें से अधिकांश ग्रंथों को साहित्य की श्रेणी में रख सकते हैं। मैंने अन्यत्र दिखाया है कि "जिन लोगों ने साहित्यिक दृष्टि से इस काल के ग्रंथों का अध्ययन किया है, उनके लिए भी यह सब समय विशेष आकर्षक सिद्ध नहीं हुआ। बहुत से लोगों ने क्षोभ के साथ कहा है कि कबीर और गोरखनाथ की वाणियों को और निर्गुण संतों तथा निरंजियों की अटपटी रचनाओं को साहित्य क्यों माना जाता है। उनकी दृष्टि में साहित्य का अर्थ है 'रसपरक साहित्य'। यह सत्य है कि संपूर्ण साहित्य प्रचलित अर्थ में रसपरक नहीं है, फिर भी इस साहित्य का महत्व है। इसकी उपेक्षा करने का अर्थ है समूची भारतीय परंपरा को अस्पष्ट और विकलांग बने रहने की स्थिति स्वीकार करना। वस्तुतः मेरी दृष्टि में इस समूचे साहित्य का सबसे बड़ा महत्व इस बात में है कि हम इसके द्वारा भारतवर्ष के १००० वर्षों के मानव-चिंता का स्वरूप समझ सकते हैं। हम उस मनुष्य को पहचान सकते हैं, जिसके पहचानने के और कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं। मेरी दृष्टि में दीर्घकाल के अपरिचित और उपेक्षित मनुष्य को पहचानने का साधन होना कोई मामूली बात नहीं है। जो साहित्य मनुष्य को उनकी सभी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ और उनकी समस्त आशा-आकांक्षाओं के साथ हमारे सामने ला कर प्रत्यक्ष खड़ा कर देता है, वह निस्संदेह बहुत महत्वपूर्ण है। मनुष्य ही मुख्य है, बाकी सब बातें गौण हैं। अलंकार, छंद, शैली और रस का अध्ययन इस मनुष्य को समझने के ही साधन हैं। वे अपने-आप में कोई स्वतंत्र चरम मान नहीं हैं। मनुष्य को अर्थात् पशु-सुलभ वासनाओं से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील उस प्राणी को जो त्याग, प्रेम, संयम और श्रद्धा को छीना-झपटी, मारा-मारी, लोलुपता और घृणा-द्वेष की अपेक्षा बड़ा मानता है—उसके लक्ष्य की ओर जाना भी साहित्य का मुख्य उद्देश्य है। इस दृष्टि से यह साहित्य बहुत ही महत्वपूर्ण है और इसी दृष्टि से इसे साहित्य कहा जा सकता है। नहीं तो केवल इतिहास की, भाषा की और अलंकार और रस की दृष्टि से इसका बहुत अधिक महत्व नहीं है। वस्तुतः साहित्यिक अध्ययन की अपेक्षा इसे सांस्कृतिक अध्ययन का श्रेष्ठतर साधन कहा जा सकता है।

हिंदी का साहित्य साधारण जनता के मनोभावों का प्रतिनिधित्व करता है। यह तो कोई नहीं समझता कि हिंदी एकाएक कोई भाषा बन गई। १० वीं या ११ वीं शताब्दी में कुछ लोगों ने कोई सम्मेलन बुलाकर यह निश्चय कर लिया कि अब से पुरानी भाषा छोड़ दी जाएगी और अब से नई भाषा स्वीकार की जाएगी। परंतु हिंदी साहित्य की आलोचना करने वाले बहुत-सी बातें ऐसी कहते हैं, जो इसी अनुमान को पुष्टि देते हैं। जिस प्रकार भाषा क्रमशः विकसित हुई है, उसी प्रकार साहित्य का विकास भी क्रमशः हुआ है। वह एकाएक नहीं उत्पन्न हो गया। साहित्य में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न काव्य, रूप, छंद और उपस्थापन शैली भी दीर्घ परंपरा से चलती आई है। वस्तुतः आरंभिक हिंदी साहित्य में जो भी मिल जाता है, उसके पीछे निश्चित् रूप से एक दीर्घ परंपरा रही है। निर्गुण संतों द्वारा रचित महान साहित्य के पीछे नाथ, सिद्ध और बौद्ध तथा जैन साधकों की विशाल परंपरा वस्तुतः कर्नाटक के दक्षिण के शिवशरणों, महाराष्ट्र के महानुभावों और उत्तर नाथसिद्धों की रचनाओं में, निर्गुण साहित्य में, अधिकांश प्राप्त होती है। बौद्धों और जैनों के बिखरे हुए अपभ्रंश साहित्य में उन बातों का मूल पाया जा सकता है, जो आगे चल कर योगपरक रूपकों, पहेलिका जैसी लगने वाली उलटबासियों, निर्गुण और निराकार देवता की स्तुति गाने वाले पदों, जाति-पाँति की संकीर्णता का खंडन करने वाले दोहों और गानों में उन मूल तत्त्वों का मिल जाना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। निर्गुण संतों की साधना यद्यपि भक्ति द्वारा प्रभावित हो गई थी, तथापि मूलतः वह ब्राह्मण-विरोधी संप्रदायों में प्राप्त होने वाली साधना का ही विकसित रूप है। इसी प्रकार सगुण भक्तों के साहित्य में जितनी भी शैलियाँ, जितने भी काव्य-रूप और जितने भी छंदो-विधान पाए जा सकते हैं, उन सब का कुछ-न-कुछ मूल पूर्ववर्ती साहित्य में मिलना चाहिए। सूरदास की पदशैली तो निश्चित रूप से पूर्ववर्ती साहित्य का विकसित रूप है। लेकिन यदि अन्यान्य शैलियाँ पूर्ववर्ती साहित्य में न प्राप्त हो सकें, तो ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वे निराधार हैं। उनका भी कोई-न-कोई मूल होना चाहिए। हमारे लोकसाहित्य में पाए जाने वाले अनेक काव्य-रूपों का प्रयोग संतों और भक्तों ने अपनी रचनाओं में किया है, उन सब की विशाल परंपरा कबीरदास की बीजक में प्रयुक्त सभी काव्य-रूप जैसे शब्द अर्थात् गेय पद, ज्ञानचौंतीसा, कहरा वसंत, चांचर, वेलि, विरहुलि, हिंडोला आदि आधुनिक लोकभाषाओं के अलिखित साहित्य में भी मिल जाते हैं। और निस्संदेह रूप से कबीरदास के बहुत पहले से प्रचलित हैं। मैंने 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' नामक ग्रंथ में इन काव्य-रूपों के मूल खोजने का प्रयत्न किया है। परंतु यहाँ भी यह बात सत्य है कि सौभाग्य और संयोगवश जो पुराने प्रमाण उपलब्ध हो जाते हैं, उनसे ही संतोष कर लेना और यह मान लेना कि जिनके लिए ऐसे प्रमाण नहीं मिलते, वे नवप्रवर्तित हैं, सब समय उचित नहीं होगा। वस्तुतः जनता दीर्घकाल तक अपनी परंपरा की रक्षा करती है। परिस्थितियों के अनुसार वह नई वस्तुओं को भी ग्रहण करती है और पुराने का मोह भी छोड़ देती है। इसलिए लोकसाहित्य में कुछ नई बातें आ जायँ और कुछ पुरानी बातें छूट जायँ, तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार हमारे आधुनिक भाषाओं के लोकसाहित्य में, जिसका अधिकांश भाग अभी तक मुद्रित नहीं हो सका है, हिंदी साहित्य की आरंभिक रचनाओं के महत्व को आँकने में हमारी सहायता करेगा।

वस्तुतः हिंदी साहित्य की आरंभिक रचनाओं में बहुत-सी भूली हुई साधनाओं का और खोए हुए साहित्य का अवशेष मिल सकता है। हमारी उन लौकिक परंपराओं का, जो मध्यकालीन समाज का नियंत्रण करते हैं, प्रत्यक्ष परिचय मिल सकता है। इस साहित्य में ऐसे अनेक अंश हैं, जो हमको भारतवर्ष की मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक भावना, दार्शनिक मान्यता, कला और सौंदर्य-संबंधी धारणा और राजनीति संबंधी आदर्शों को स्पष्ट करते हैं; इस दृष्टि से चंद, सूरदास, कबीर, दादू, तुलसीदास और केशवदास की रचनाओं में भी बहुत ही महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है और महान् कवि विद्यापति की 'कीर्तिलता', ज्योतिरीश्वर का 'वर्ण-रत्नाकर', जायसी का 'पद्मावत' आदि ग्रंथ तो सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से महान निधियों के समान हैं। हिंदी साहित्य के आज की प्रारंभिक रचनाओं का अध्ययन इस दृष्टि से किया जाना अभी भी बाकी है। अब तक हमने इन रचनाओं के बाह्य रूप और ऐतिहासिक समझे जानेवाले तत्वों की छान-बीन में ही अधिक

परिश्रम किया है। लेकिन सांस्कृतिक परंपरा के स्रोत में बह कर आए हुए उन संकेतों को बिल्कुल ही नहीं ग्रहण किया, जो भारतवर्ष के विशाल सांस्कृतिक इतिहास को हमारे सामने प्रत्यक्ष ला कर खड़ा कर देते हैं। इनके एक-एक शब्द इन संकेतों से भरे पड़े हैं। इनमें प्रयुक्त होने वाले छंद, इनकी काव्य-शैली, इनकी कहानियाँ और इनकी चाटुकारिताएँ भी सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। हमें अपने देश के सांस्कृतिक अध्ययन करने के लिए इस सामग्री का उपयोग करना चाहिए। इन ग्रंथों के आधार पर भारतीय जनता की रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, धार्मिक विश्वास, सौंदर्य और कला-संबंधी चेतना, नृत्य, नाटक, गान, उत्सव, आनंदोल्लास, खेतीबारी, रोजगार, विभिन्न प्रकार के पेशे आदि का जो स्वरूप उद्घाटित होगा, वह केवल उस काल के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं होगा, जिस काल में वे पुस्तकें लिखी गयीं, बल्कि उसके पूर्ववर्ती काल के इतिहास को भी स्पष्ट करने में ये पुस्तकें सहायक सिद्ध होंगी। इस दृष्टि से हमें अपने साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। यदि यह सिद्ध भी हो जाय कि चंदबरदायी का पृथ्वीराज रासो १२ वीं शताब्दी में न लिखा जा कर १७वीं शताब्दी में लिखा गया था, तो भी इस दृष्टि से भी पढ़ने वाले के लिए वह महत्वपूर्ण और अक्षय भांडार सिद्ध होगा। यह हो सकता है कि लोकमुख में सुरक्षित काव्य की मूल भाषा विकृत हो गई हो, परंतु इसका मतलब यह नहीं कि उस ग्रंथ में सुरक्षित विचार और संकेत भी विकृत हो गए हों। सांस्कृतिक संकेत क्षेपकों में भी मिल जाया करते हैं।

अरस्तू का अनुकरण-सिद्धांत

श्री नगेन्द्र

*

काव्य की आत्मा : अनुकरण—अरस्तू के अनुसार अन्य कला-रूपों की भाँति काव्य की आत्मा है अनुकरण। अनुकरण यूनानी काव्यशास्त्र का विशिष्ट शब्द है, जिसकी विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है। यह शब्द यूनानी 'मीमेसिस' के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया गया है। हिंदी में वास्तव में यह अंगरेजीशब्द 'इमीटेशन' का रूपांतर होकर आया है। यूनानी भाषा में कला के प्रसंग में अनुकरण का व्यवहार अरस्तू का मौलिक प्रयोग नहीं है : अरस्तू से पूर्व प्लेटो इसी के आधार पर काव्य का तिरस्कार कर चुके थे : उनका आरोप था कि एक तो भौतिक पदार्थ स्वयं ही सत्य की अनुकृति है—और फिर काव्य तो इन भौतिक पदार्थों की भी अनुकृति होता है। अतएव अनुकरण का भी अनुकरण होने के कारण वह और भी त्याज्य है।—इस प्रकार प्लेटो और प्लेटो के भी पूर्ववर्ती यवन आचार्यों ने अनुकरण शब्द का प्रयोग स्थूल अर्थ में, नक़ल या यथावत् प्रतिकृति के अर्थ में किया है। उनके अनुसार विभिन्न कलाकार अपने-अपने माध्यम-उपकरणों के अनुसार भौतिक जीवन और जगत का अनुकरण करते हैं—चित्रकार रूप और रंग के द्वारा, अभिनेता वेशभूषा, आंगिक चेष्टा तथा वाणी आदि के द्वारा और कवि भाषा द्वारा। अरस्तू ने इसी प्रचलित शब्द को ग्रहण किया, किंतु उसमें नया अर्थ भर दिया।

यद्यपि अरस्तू के विभिन्न टीकाकार तथा व्याख्याता भी उनके प्रयोग की अपने ढंग से व्याख्या करते हैं, फिर भी एक बात में सभी सहमत हैं और वह यह कि अरस्तू ने अनुकरण शब्द का प्रयोग प्लेटो आदि की भाँति स्थूल—यथावत् प्रतिकृति के अर्थ में नहीं किया। बुचर के अनुसार अरस्तू के 'अनुकरण' शब्द का अर्थ है 'सादृश्य-विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन—सांकेतिक उल्लेख नहीं।'[1] "कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन, जैसा वह होता है वैसा नहीं, वरन् जैसा वह इंद्रियों को प्रतीत होता है, वैसा करती है। कला का संवेदन तत्व-ग्राहिणी बुद्धि के प्रति नहीं, वरन् भावुकता तथा मन की मूर्ति-विधायिनी शक्ति के प्रति होता है।"[2] प्रो० गिल्बर्ट मरे ने यूनानी शब्द 'पोएतेस (=कर्ता। रचयिता) को आधार मान कर अनुकरण शब्द की व्युत्पत्ति-मूलक व्याख्या प्रस्तुत की है : यदि यह देख कर आश्चर्य हो कि अरस्तू और उससे पहले प्लेटो को कला के सम्बन्ध में अनुकरण-सिद्धांत के प्रति इतना आग्रह क्यों था, तो हमें इस तथ्य से सहायता मिल सकती है कि जनसाधारण की भाषा में कला के लिए 'रचना' (करण) शब्द का प्रयोग होता था, जब कि स्पष्टतः यह प्रकृत अर्थ में रचना नहीं थी। 'ट्राय-पतन' के 'कर्ता या रचयिता' ने वास्तविक 'ट्राय-पतन' की रचना नहीं की थी। उसने तो अनुकृत 'ट्राय-पतन' की रचना की थी।—(अर्थात् कवि ट्राय-पतन का कर्ता नहीं अनुकर्ता ही था)। और स्पष्ट शब्दों में प्रो० मरे का मत है कि कवि शब्द के यूनानी पर्याय में ही अनुकरण की धारणा निहित थी—किंतु अनुकरण का अर्थ सर्जना का अभाव नहीं था।[3] अरस्तू के आधुनिक टीकाकार पॉट्स ने अनुकरण का अर्थ इस प्रकार किया है : "अपने पूर्ण अर्थ में अनुकरण का आशय है ऐसे प्रभाव का उत्पादन, जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध, प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है।"—पॉट्स के अनुसार वास्तव में, अनुकरण का अर्थ है—आत्माभिव्यंजन से भिन्न, जीवन (की अनुभूति) का पुनः सृजन। इन टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य समीक्षकों ने भी प्रायः ऐसी ही व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। ऐटकिन्स के मत से अनुकरण 'सृजनात्मक दर्शन की क्रिया' अथवा प्रायः 'पुनः सृजन' का ही दूसरा नाम है।[4] स्कॉट जेम्स ने

---

[1] एरिस्टोटिल्स थिअरी ऑफ़ पोइट्री एंड फ़ाइन आर्ट, पृ० ११८।

[2] वही, पृ० १२०। [3] एरिस्टोटिल ऑन दी थिअरी ऑफ़ पोइट्री-प्रिफेस, पृ० ८।

[4] लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन एन्टीक्विटी (ग्रीक), पृ० ७९–८०।

इसे जीवन के कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पर्याय माना है : "अरस्तू के काव्यशास्त्र में, अनुकरण से अभिप्राय है साहित्य में जीवन का वस्तु-परक अंकन—जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण कह सकते हैं।"[1]

उपर्युक्त व्याख्याएँ अपने-आप में कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, परंतु इन्हें छोड़ कर अरस्तू के अपने शब्दों को ही प्रमाण मानना अधिक समीचीन होगा। अस्तु, प्रस्तुत प्रसंग में अरस्तू के निम्नलिखित उद्धरण विचारणीय हैं :

(क) कला प्रकृति की अनुकृति है।[2]

(ख) इस प्रकार प्रत्येक त्रासदी के अनिवार्यतः छह अंग होते हैं, जो उसके सौष्ठव का निर्धारण करते हैं—कथानक, चरित्र, पद-रचना, विचार-तत्व, दृश्य-विधान और गीत। इनमें से दो अनुकरण के माध्यम हैं, एक अनुकरण की विधि और तीन अनुकरण के विषय।[3]

(ग) चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की ही तरह कवि अनुकर्ता है। अतएव, उसका अनुकार्य अनिवार्यतः इन तीन प्रकार की वस्तुओं में-से ही कोई एक हो सकती है—जैसी वे थीं या हैं, जैसी वे कही या समझी जाती हैं अथवा वे जैसी होनी चाहिएँ।[4]

(घ) कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है, जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है, जो घटित हो सकता है। परिणामतः काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है, उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की। सामान्य (सार्वभौम) से मेरा तात्पर्य यह है कि विशेष प्रकार का कोई व्यक्ति संभाव्यता अथवा आवश्यकता के नियम के अनुसार किसी अवसर पर कैसे बातचीत या व्यवहार करेगा। नाम-रूप से विशिष्ट व्यक्तियों के माध्यम से इसी सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का लक्ष्य होता है।[5]

(ङ) अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनंद भी कम सार्वभौम नहीं।[6]

यद्यपि इन वक्तव्यों के विषय में भी अरस्तू के भाष्यकारों में ऐकमत्य नहीं है, फिर भी इनका सम्यक् विश्लेषण करने पर, मेरा विश्वास है कि अरस्तू की धारणाएँ स्पष्ट हो सकेंगी।

कला प्रकृति की अनुकृति है—यह कला तथा अनुकरण दोनों तत्वों के विवेचन का मूल सूत्र है। इस वाक्य को लेकर यूरोप के काव्यशास्त्र में बड़ा विवाद हुआ है : सत्रहवीं-अठारहवीं शती का नव्यशास्त्रवाद इसी के भ्रांत आख्यान से उद्भूत हुआ था। यहाँ अनुकरण की अपेक्षा प्रकृति शब्द अधिक विवेच्य है। होरेस के आधार पर नव्यशास्त्रवादियों ने प्रकृति का अर्थ किया (नीति)-नियमों से परिबद्ध जीवन और अनुकरण का अर्थ किया यथावत् प्रत्यंकन : इस प्रकार अरस्तू का यह सूत्र रीति-बद्ध काव्य-रचना का प्रेरक मंत्र बन गया। परंतु वस्तुतः प्रकृति के अर्थ को इस प्रकार सीमित करने का कोई कारण नहीं है। प्रकृति को यहाँ समग्र रूप में ही ग्रहण करना उचित है—उसका बाह्य गोचर रूप ही नहीं, वरन् आंतरिक सृजन-प्रक्रिया भी इसमें अंतर्भूत है। प्रकृति यहाँ स्पष्टतः 'जीवन' के समग्र रूप अर्थात् अंतर्बाह्य दोनों रूपों की समष्टि का ही पर्याय है : "अतएव उसका अनुकार्य इन तीन प्रकार की वस्तुओं में से ही कोई एक हो सकती है—जैसी वे थीं या हैं, जैसी वे कही या समझी जाती हैं अथवा जैसी वे होनी चाहिएँ।" उक्त तीन प्रकारों में से प्रथम प्रकृति अथवा जीवन के बहिरंग का द्योतक है, शेष दोनों अंतरंग के। यही घटनाओं के विषय में सत्य है। जो घटित हो चुका है, वह जीवन का मूर्त अंग बन जाता है और जो घटित हो सकता है, वह अमूर्त कल्पना का अंश है। 'मूर्त' देश और काल की सीमा में परिबद्ध होने के कारण विशिष्ट रहता है, इसके विपरीत 'अमूर्त' (भाव, विचार तथा कल्पना) इन सीमाओं से मुक्त होने के कारण सामान्य अर्थात् सार्वभौम तथा सार्वकालिक बन जाता है। विशिष्ट का सत्य सीमित है, सामान्य का असीम, इसीलिए 'यह भव्यतर है—इसमें दार्शनिकता अधिक है।' इस प्रकार जीवन के मूर्त पक्ष के चित्रण में ऐंद्रिय ज्ञान का प्राधान्य रहता है और वह आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली

---

[1] दी मेकिंग ऑफ् लिटरेचर-पृ० ५३। [2] भौतिकी २।२ [3] काव्यशास्त्र, (अरस्तू) अध्याय ६।
[4] काव्यशास्त्र, (अरस्तू) अध्याय २५ [5] काव्यशास्त्र, (अरस्तू) अध्याय-८। [6] काव्यशास्त्र, (अ०) अ० ४

में वस्तुपरक होता है, अमूर्त पक्ष का चित्रण निश्चय ही मुख्यतः कल्पना, अनुभूति तथा विचार पर आश्रित रहता है, अर्थात् भावपरक होता है।

इसके अतिरिक्त उद्धरण (ङ) के अनुसार अनुकृति से आनंद की भी प्राप्ति होती है। यद्यपि यहाँ अरस्तू को सहृदय का ही आनंद अभिप्रेत है, परंतु सहृदय के आनंद के पीछे अनुकर्ता के आनंद की अवस्थिति भी निश्चय ही माननी पड़ेगी, क्योंकि आनंद का संप्रेषण अनुकर्ता आनंद की स्वानुभूति के बिना नहीं कर सकता।—अर्थात् अरस्तू प्रकारांतर से अनुकरण की क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों में आह्लाद की स्थिति मानते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से ये निष्कर्ष निकलते हैं :

(१) (काव्यात्मक) अनुकरण के विषय प्रकृति अथवा जीवन का बहिरंग अर्थात् नाम-आकार-धारी जड़-जंगम रूप ही नहीं है, वरन् उसका अंतरंग अथवा अनुभूति, विचार, कल्पना आदि भी हैं।

(२) इन दोनों में भी अंतरंग का ही प्राधान्य है, क्योंकि बहिरंग अर्थात् वस्तु के भी तो यथार्थ रूप का नहीं, वरन् प्रतीयमान रूप का ही अनुकरण किया जाता है—और वही संभव है। वस्तु कैसी है यह कहना कठिन है, इंद्रियों के माध्यम से हमारे मन पर उसका कैसा प्रभाव-प्रतिबिम्ब पड़ा, यही कहा जा सकता है, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान यहीं तक सीमित है। इसके अतिरिक्त अरस्तू का यह भी स्पष्ट मत है कि वस्तु कैसी है। इसकी अपेक्षा काव्यानुकरण के लिए यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह कैसी हो सकती है या होनी चाहिए : अर्थात् वस्तु के प्रत्यक्ष रूप की अपेक्षा उसका कल्पनात्मक तथा भावात्मक-विचारात्मक रूप ही अधिक ग्राह्य है।

(३) इस प्रकार कला या काव्य में वस्तु के प्रायः तीन रूपों का अनुकरण किया जाता है : (१) प्रतीयमान रूप का (जैसा अनुकर्ता को प्रतीत होता है), (२) सम्भाव्य रूप का (जैसा वह हो सकता है) और (३) आदर्श रूप का (जैसा वह होना चाहिए)। इनमें से तीनों रूपों के अनुकरण में निश्चय ही अनुकर्ता की भावना और कल्पना का योगदान रहता है। (१) प्रतीयमान रूप के अनुकरण का अर्थ है वस्तु के मानस-प्रतिबिम्ब को शब्द आदि के माध्यम से व्यक्त करना : इस प्रक्रिया में, मानस-प्रतिबिम्ब में भावतत्व और शब्द द्वारा प्रस्तुति में कल्पना की अवस्थिति अनिवार्य है। (२) सम्भाव्यरूप का चित्रण तो निश्चय कल्पनापेक्षी है—और उधर (३) आदर्श (प्रेय-श्रेय) रूप अनुकर्ता की इच्छा और विचार से पोषित कल्पना की सृष्टि होता है। अतएव अनुकरण का अर्थ यथार्थ प्रत्यंकन किसी भी रूप में नहीं है—वह भावात्मक एवं कल्पनात्मक पुनः सृजन का ही पर्याय है, इसमें संदेह नहीं।

(४) अनुकरण में आनंद का तत्व अनिवार्यतः निहित होने का अर्थ भी यही है कि उसमें आत्मतत्व का प्रकाशन निहित रहता है, क्योंकि आनंद की उपलब्धि आत्मतत्व के प्रकाशन के बिना संभव नहीं है।

(५) किंतु भावतत्व और उसमें सन्निहित आत्मतत्व का निश्चित सद्भाव होने पर भी अनुकरण विशुद्ध आत्माभिव्यंजन का पर्याय नहीं है, क्योंकि उसमें वस्तुतत्व का प्राधान्य अनिवार्य है—अनुकरण में वस्तु केवल उद्दीपक निमित्त मात्र न होकर आधार रूप से विद्यमान रहती है। आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में अनुकरण में अभिजात कला के वस्तुपरक भावतत्व की ही स्वीकृति है, रम्याद्भुत कला के व्यक्तिपरक भावतत्व की नहीं।

विवेचन

अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत का विवेचन करने के लिए दो ऐतिहासिक तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है। एक तो यह कि प्रायः सभी आदिम आचार्यों की भाँति अरस्तू का सिद्धांत-विवेचन भी निगमन-विधि पर आश्रित है—अर्थात् उन्होंने अपने युग में उपलब्ध विशिष्ट साहित्य के आधार पर ही सामान्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। अरस्तू के सामने होमर के महाकाव्य और अनेक कृती कवियों की नाट्य-कृतियाँ थीं।[1] महाकाव्य और नाटक (त्रासदी) में भी अरस्तू ने त्रासदी को काव्य-कला का उत्कृष्ट रूप माना है और प्रायः

---

[1] इनके अतिरिक्त रौद्रस्तोत्र और राग-प्रधान काव्य आदि कतिपय रूपों का भी उल्लेख काव्यशास्त्र में है—किंतु वे कदाचित् अर्ध साहित्यिक थे, अतः अरस्तू ने उन्हें विशेष महत्व नहीं दिया।

उसी के आधार पर सिद्धांत-विवेचन किया है। नाटक निश्चय ही अनुकरणमूलक कला है—भारतीय काव्य-शास्त्र की नाट्य-परिभाषाएँ इसका प्रमाण हैं : अवस्थानुकृति नाट्यम् (धनंजय) अतएव अरस्तू ने जिस काव्य-रूप को अपने सिद्धांतप्रतिपादन का मुख्य आधार बनाया है, वह वास्तव में अनुकरणमूलक ही है।

दूसरा तथ्य वह है, जिसकी ओर प्रो० गिल्बर्ट मरे ने अपनी भूमिका में संकेत किया है : यूनानी भाषा में कवि के पर्यायवाची शब्द 'पोएतेस' का अर्थ है 'कर्ता', जिसका व्यवहार में अर्थ हो जाता है 'अनुकर्ता', अतएव कवि-कर्म के लिए अनुकरण का प्रयोग अरस्तू के समय से पहले से ही यूनान में परंपरा-सिद्ध था।

इस प्रकार यह समझने में कोई कठिनाई नहीं रहती कि अरस्तू ने काव्य-कला का मूल तत्व अनुकरण क्यों माना है। परंतु यह तो कारणों का स्पष्टीकरण हुआ—प्रश्न वास्तव में सत्यासत्य का है, अर्थात् हमें देखना यह है कि अरस्तू का अनुकरण-सिद्धांत कहाँ तक तर्क-सम्मत तथा मान्य है।

इस प्रसंग में सबसे पहली शंका जो हमारे मन में उठती है, वह यह है कि क्या अनुकरण शब्द का अरस्तू ने उचित प्रयोग किया है ? अर्थात् क्या अनुकरण शब्द की अर्थ-परिधि में 'कल्पनात्मक पुनर्निर्माण', 'पुनः सृजन', 'भावतत्व का समावेश', 'सर्जना के आनंद की अवस्थिति' आदि का अंतर्भाव सहज-संभव है। इसका उत्तर यूनानी काव्यशास्त्र के विद्वानों ने यह दिया है कि अरस्तू का शब्द तो 'मीमेसिस' है : अंग्रेजी का 'इमीटेशन' उसका अत्यंत असमर्थ अनुवाद है।[1] परंतु इससे हमारा परितोष नहीं होता—'मीमेसिस' का अर्थ 'इमीटेशन' के अर्थ से इतना भिन्न नहीं है कि उसमें सर्जना का भी अंतर्भाव हो सके। अतएव यह आक्षेप असंगत नहीं हो सकता कि अरस्तू ने उचित शब्द का प्रयोग नहीं किया : जो अर्थ उन्होंने अनुकरण शब्द में भरना चाहा है, वह उसकी सामर्थ्य से बाहर है।

परंतु शब्द को लेकर विवाद करना अधिक सार्थक नहीं होगा : विवेच्य विषय तो अर्थ है। यह सिद्ध है, अनुकरण का अर्थ यथार्थ प्रत्यंकन मात्र नहीं है : वह पुनःसृजन का पर्याय है और उसमें भावतत्व तथा कल्पनातत्व का यथेष्ट अंतर्भाव है। उसमें सर्जना और सर्जना के आनंद की अस्वीकृति कदापि नहीं है। कवि के व्यक्ति-तत्व का भी उसमें अभाव नहीं है, परंतु उसकी परिधि बड़ी संकुचित है : अर्थात् उसमें कर्ता कवि की निर्माण-क्षमता की स्वीकृति तो असंदिग्ध है, किंतु जीवन के विभिन्न अनुभवों से निर्मित कवि की अपनी अंतश्चेतना को वाञ्छित महत्व नहीं दिया गया। वास्तव में यह शब्द कला के प्रति शुद्ध आभिजात्यवादी दृष्टिकोण का प्रतीक है, यूरोप के परवर्ती आलोचकों में अभिजात कला के बीजमंत्र के रूप में यह सदा स्वीकार होता रहता है। बैनजानसन, ड्राइडन, मैथ्यू आरनल्ड और टी० एस० इलियट प्रभृति शास्त्रवादी आलोचक अपने-अपने ढंग से इसी का आख्यान करते रहे हैं। किंतु आभिजात्यवाद कला-दर्शन का एक पक्ष है, उससे भिन्न कला का रोमानी पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है—विश्व-साहित्य का पर्याप्त अंश, प्रायः समस्त गीतिकाव्य, रम्याद्भुत कला के ही अंतर्गत आता है। अब प्रश्न यह है कि अनुकरण-सिद्धांत की व्याप्ति वहाँ तक है या नहीं ? गीतिकाव्य की वैयक्तिक अनुभूतियों का उद्गीथ अनुकरण की परिधि में कैसे आ सकता है ? वास्तव में अरस्तू के विवेचन में गीतिकाव्य को प्रायः उपेक्षित ही कर दिया गया है, गीत को उन्होंने काव्य का अलंकार मात्र माना है : व्यक्तिपरक गीतिकाव्य की उन्होंने काव्य-भेदों में गणना तक नहीं की, विवेचना का आधार मानना तो दूर रहा। अतएव उनके सामने यह बाधा ही नहीं आई होगी। उन्होंने जिन विषयों को अपने विवेचन का आधार बनाया है, वे सभी अनुकार्य हैं : चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, किंतु हैं सभी परस्थ। अर्थात् अनुकर्ता से बाहर उनकी स्थिति है, अतः वह ऐंद्रिय ज्ञान, कल्पना, संवेदनशक्ति तथा बुद्धिगम्य अनुमान-प्रमाण आदि के आधार पर उनका अनुकरण कर सकता है। अरस्तू की व्यावहारिक बुद्धि के लिए यह तर्क-पद्धति सहज ग्राह्य थी और आज भी इसे ग्रहण करने में विशेष बाधा नहीं है। परंतु आत्मस्थ अनुभूतियों के अभिव्यंजन के लिए 'अनुकरण' शब्द कैसे ग्राह्य हो सकता है ? यहाँ भी अरस्तू का पक्षपाती यह उत्तर दे सकता है कि जिस प्रकार त्रासदी आदि में दूसरे की अनुभूतियों का अनुकरण संभव है, उसी प्रकार प्रगीतकाव्य में अपनी अनुभूतियों का। परंतु इस तर्क का

---

[1] देखिए गिल्बर्ट मरे की भूमिका तथा बुचर का ग्रंथ।

हेत्वाभास स्पष्ट है : अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति से पूर्व संवेदन के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है—जब वह स्वयं अभिव्यक्त-रूप है, तब उसके अनुकरण का प्रश्न ही कहाँ रहा ? यहाँ फिर यह कहा जा सकता है कि उस मूल अभिव्यक्ति को भी तो उचित शब्द-विधान तथा लय आदि के द्वारा मूर्त रूप में प्रस्तुत करना होता है—यही अनुकरण है। परंतु वास्तव में यह तो गौण-प्रक्रिया है—कला का प्राण तो उसी अभिव्यक्तिरूपिणी मूल अनुभूति या सहजानुभूति में ही निहित है। इस प्रकार अनुकरण शब्द का इतना अर्थ-विस्तार संभव नहीं है कि गीतिकाव्य को यथावत् उसकी परिधि में अंतर्भूत किया जा सके। और यह उसकी परिसीमा है।

अनुकरण-सिद्धांत का क्रोचे के सहजानुभूति-सिद्धांत से साक्षात् विरोध है। क्रोचे के मतानुसार कला मूलतः सहजानुभूति है, जो अभिव्यक्ति से अभिन्न है। कला का मूलरूप कलाकार के मानस में घटित होता है—रंग-रेखा, शब्द-लय आदि में उसका अनुकरण सर्वथा आनुषंगिक घटना है। इस प्रकार अरस्तू का अनुकरण क्रोचे के सिद्धांत के अनुसार कला-सृजन के प्रसंग में केवल आनुषंगिक प्रक्रिया मात्र रह जाता है। यहाँ भी अरस्तू का समर्थक यह तर्क कर सकता है कि अनुकरण शब्द में क्रोचे की सहजानुभूति की अंतरंग प्रक्रिया भी तो आ सकती है। किंतु वह मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि अनुकरण में किसी भी प्रकार सहजानुभूति का समावेश नहीं हो सकता—अनुकरण में अनु (पश्चात्) अर्थात् काल-क्रम की धारणा प्रकृत्या अंतर्भूत है, जब कि सहजानुभूति में अनुभूति और अभिव्यक्ति की अभिन्न स्थिति रहती है। कहने का अभिप्राय यह है कि क्रोचे के अनुसार काव्य-कला का जो मौलिक रूप है, वह अनुकरण का विषय नहीं हो सकता, और उसका मूर्त रूप जो अनुकरण का विषय है क्रोचे के अनुसार सर्वथा आनुषंगिक है। अतः जिस अंश तक क्रोचे का सहजानुभूति-सिद्धांत मान्य है, उसी अंश तक अरस्तू का अनुकरण-सिद्धांत अमान्य है।[1]

भारतीय काव्यशास्त्र के विद्यार्थी के लिए अनुकरण शब्द नया नहीं है। आद्याचार्य भरत ने ही नाटक को 'लोकस्वभाव का अनुकरण' या 'लोकवृत्त का अनुकरण' माना है : 'लोकस्वभावानुकरणाच्च नाट्यस्य सत्वमीप्सितम्।'[2] 'लोकवृत्तानुकरणं शास्त्रमेतन्मया कृतम्।'[3] स्वभाव तथा वृत्त शब्दों का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में किया गया है, इसके अंतर्गत लोक-जीवन के समस्त अंतर्बाह्य रूपों का—वेश-भूषा, कार्यव्यापार, वाणी-व्यवहार, भावादि सभी का समावेश है। भरत ने विस्तार से रंगमंच पर इनके अनुकरण का विधान किया है—नाट्यशास्त्र में केवल वेश-भूषा, क्रिया-कलाप आदि बाह्यरूपों का ही नहीं—नाना अनुभावों के द्वारा स्थायी संचारी आदि मानसिक विकारों के अभिनय का भी सूक्ष्म विधान है। परंतु वास्तव में यहाँ अनुकरण से अभिप्राय प्रायः अभिनय का ही है, जैसा भरत के अनुयायी धनंजय ने अपने दशरूपक में और भी स्पष्ट कर दिया है : अवस्थानुकृतिर्नाट्यं। काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।' अर्थात् अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं। जहाँ काव्य में निबद्ध या वर्णित धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशांत प्रकृति के नायकों (तथा तत्तत्प्रकृतिगत नायिकाओं तथा अन्य पात्रों) का आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक इन चार ढंग के अभिनयों के द्वारा अवस्थानुकरण किया जाता है, वह नाट्य है। अवस्थानुकरण से यह तात्पर्य है कि चाल, ढाल, वेशभूषा, आलाप-प्रलाप आदि के द्वारा पात्रों की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस ढंग से किया जाय कि नटों में पात्रों की 'तादात्म्यापत्ति' हो जाय। जैसे नट दुष्यंत की प्रत्येक प्रवृत्ति की ऐसी अनुकृति करे कि सामाजिक उसे दुष्यंत ही समझें। नाट्य के समय दुष्यंत और नट का भेद न रहे, उनमें परस्पर अभेद प्रतिपत्ति हो जाय। हिंदी दशरूपक—पृष्ठ ४

रूपकं तत्समारोपात्—

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुखचन्द्रादिवत्......।

यही नाट्यरूप रूपक भी कहलाता है, क्योंकि उसमें आरोप पाया जाता है। जैसे रूपक अलंकार में हम देखते हैं कि मुख पर चंद्रमा का आरोप कर दिया जाता है—मुखचंद्र (मुखरूपी चंद्रमा), वैसे ही नाट्य में नट पर रामादि पात्रों की अवस्था का आरोप किया जाता है।[4]

---

[1] वैसे कला के प्रसंग में क्रोचे ने अनुकरण शब्द का प्रयोग भी किया है, किंतु वह सर्वथा लाक्षणिक है।

[2] नाट्यशास्त्र (काव्यमाला) पृ० १३०। [3] नाट्यशास्त्र। [4] हिंदी दशरूपक पृ० ४।

उपर्युक्त उद्धरणों से अनुकरण या अनुकृति के अर्थ के विषय में संदेह नहीं रह जाता है। नाटक में जिस अनुकृति की व्यवस्था है, वह नट-कर्म ही है कवि-कर्म नहीं है। वहाँ कवि-कर्म (कवि-निबद्ध धीरोदात्तादि पात्रों की अवस्था) तो अनुकृति का विषय—अर्थात् अनुकार्य है। भारतीय काव्यशास्त्र में सामान्यत: अनुकरण का यही अर्थ मान्य रहा है। उदाहरण के लिए भरत-सूत्र के प्रथम (?) व्याख्याता भट्टलोल्लट के मत का सारांश मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार उद्धृत किया है: एतद्विवृण्वते विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालंबनोद्दीपनकारणै रत्यादिको भावो जनित: अनुभावै: कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभि: कार्यै: प्रतीतियोग्य: कृत: व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभि: सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लट प्रभृतय:। (हिन्दी काव्यप्रकाश पृ० ६६) इसका अभिप्राय यह है कि ललना-उद्यान आदि आलंबन-उद्दीपन विभावों द्वारा उत्पन्न होकर, कटाक्ष-भुजाक्षेप आदि अनुभावों द्वारा प्रतीतियोग्य बन कर, निर्वेदादि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होकर, रत्यादिक स्थायीभाव ही मुख्यरूप से रामादि में रस रूप में परिणत हो जाता है। साथ ही नट में भी उसका आभास प्राप्त होता है, क्योंकि वह रामादि के रूप का अपने ऊपर यथावत् आरोप कर लेता है।—प्राय: यही मत थोड़े से संशोधन के साथ काव्यप्रकाश की टीका काव्यप्रदीप में उद्धृत किया गया है।

अभिनव गुप्त ने भी अभिनवभारती में 'अनुकार' (अनुकरण) शब्द का प्रयोग नट-कर्म के लिए ही किया है: 'नहि नटो रामसादृश्यं स्वात्मन: शोकं करोति। सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावेनाननुकारत्वात्। (अभिनवभारती पृ० ३७)

इस प्रकार इन उद्धरणों में रामादि के लिए अनुकार्य, अभिनेता के लिए अनुकर्ता और अभिनय के लिए अनुकरण शब्द का प्रयोग है। विश्वनाथ आदि ने इस तथ्य को सर्वथा स्पष्ट करते हुए लिखा है—

(१) अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्। ३।४८।

* * * *

अनुकर्तृगतत्वंच अस्य निरस्यति। (वृत्ति)

अर्थात् रामादि अनुकार्य की रति आदि का उद्बोध रस नहीं हो सकता। × × × × अनुकर्ता नट में रस की स्थिति का निराकरण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे यहाँ रंगमंच के प्रयोग-विज्ञान को ही अनुकरण कहा गया है, कवि-व्यापार को नहीं। हाँ, नाटक में अनुकरण का प्राधान्य अवश्य माना गया है। मेरा विश्वास है कि आदिम यवनाचार्यों ने भी इस स्वत:स्पष्ट तथ्य को मौलिक रूप से यथावत् ग्रहण किया था और इसी के आधार पर वहाँ काव्य के विषय में अनुकरण-सिद्धांत का जन्म हुआ था।

प्रस्तुत प्रसंग में एक शंका कई बार मेरे मन में उठी है। क्या उपर्युक्त उद्धरणों में—विशेष रूप से भरत के सूत्र तथा लोल्लट की व्याख्या में अनुकरण शब्द की व्याप्ति नाटक के समग्र रूप तक अर्थात् अभिनय के अतिरिक्त काव्य-रूप तक नहीं है? भरत जब यह कहते हैं कि नाटक लोक-स्वभाव का अनुकरण है, तो लोक-स्वभाव का अर्थ वास्तविक लोक-स्वभाव माना जाय या कवि-निबद्ध लोक-स्वभाव? यदि नाटक वास्तविक लोक-स्वभाव का अनुकरण अभीष्ट है, तो उसका अनुकर्ता तो कवि ही हो सकता है, नट नहीं। किंतु इस तर्क में शक्ति नहीं है, भरत का मत स्पष्ट है। नाटक लोक-स्वभाव का अनुकरण तो करता है, परंतु लोक-स्वभाव का अर्थ कवि-निबद्ध लोक-स्वभाव का ही है। वास्तविक लोक-स्वभाव का सम्बन्ध तो कवि से है, किंतु कवि उसका निबंधन करता है—विधान करता है, अनुकरण नहीं। भट्ट लोल्लट के उद्धरण से भी यह शंका उठती है कि जब अनुकार्य रामादि लौकिक व्यक्ति है, तो उनका अनुकर्ता तो कवि ही हो सकता है—नट कैसे हो सकता है? परंतु इसका समाधान भी कठिन नहीं है। वास्तव में लोल्लट लौकिक व्यक्ति और कवि-निबद्ध पात्र का अथवा कवि और अभिनेता का भेद स्पष्ट नहीं कर पाए हैं। मूल व्यक्ति को अनुकार्य मान कर भी वे अनुकर्ता नट को ही मानते हैं। इन दोनों मान्यताओं में असंगति है, परंतु वह लोल्लट के सिद्धांत का दोष है—उससे कवि का अनुकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। जैसा आगे चलकर भट्टनायक आदि ने स्पष्ट किया है, कवि लोक-स्वभाव अर्थात्

लौकिक व्यक्तियों तथा घटनाओं का अनुकरण नहीं करता, वह तो विशेष का साधारणीकरण करता हुआ उनकी काव्यात्मक प्रस्तुति (निबंधन) करता है—जिसका कुशल अभिनेता रंगमंच पर अनुकरण करता है।

अतः यह सिद्ध है कि भारतीय काव्यशास्त्र में कवि-कर्म के लिए अनुकरण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। और, इसका कारण सर्वथा स्पष्ट है। यहाँ काव्य को दिव्य प्रतिभाजन्य अलौकिक सिद्धि माना गया है, कला नहीं। काव्य विद्या है—वरन् विद्याओं में भी श्रेष्ठ है, किंतु अभिनय कला उपविद्या है। भारतीय आचार्य का मत है :

> अतः अभिनेतृभ्यः कवीन् एव बहु मन्यामहे,
> अभिनयेभ्यः काव्यमेवेति।

अर्थात् अभिनेताओं की अपेक्षा हम कवियों को बड़ा मानते हैं और अभिनय की अपेक्षा काव्य को। (भोज शृंगार-प्रकाश)[1] काव्य की इसी 'बहुमान्यता' के कारण उसने 'अनुकरण' जैसे हीन शब्द का प्रयोग काव्य के लिए नहीं, अपितु कला (अभिनय, नृत्य, चित्र आदि) के लिए किया है : यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता। (चित्रसूत्र) काव्य के लिए स्वभावतः हमारे काव्यशास्त्र में संभ्रांत शब्दावली का प्रयोग है।

भामह

> धर्मार्थकाममोक्षेषु, वैचक्षण्यं कलासु च
> प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्य-निबन्धनम्।
>
> —काव्यालंकार १।२

सुंदर काव्य-निबंधन से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि, कलाओं में नैपुण्य, आनंद और कीर्ति की उपलब्धि होती है।

भट्टतौत

> नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किलदर्शनात्।
> विचित्रभावधर्मांशतत्वप्रख्या च दर्शनम्।
> स तत्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
> दर्शनात् वर्णनाच्चाथ रूढ़ा लोके कविश्रुतिः[2]॥

इसका सारांश यह है कि कवि-कर्म में दर्शन और वर्णन दोनों का समन्वय रहता है—दर्शन का अर्थ है वस्तु के विचित्र भाव को, अंतर्निहित धर्म को, तत्व रूप से देखना, और वर्णन का अर्थ है, उसे शब्द रूप में प्रकट करना।

> प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
> तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः।[3]

नवनव उन्मेष करने वाली प्रज्ञा का नाम है प्रतिभा और ऐसी प्रतिभा से अनुप्राणित सजीव वर्णना में निपुण व्यक्ति का नाम है कवि। (भट्ट तौत के काव्यकौतुक का उद्धरण)।

भट्ट नायक

भट्ट नायक ने काव्य की तीन शक्तियाँ मानी हैं अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। निष्कर्षतः ये कवि की ही शक्तियाँ हैं और कवि-कर्म इन्हीं में निहित है, क्योंकि निर्जीव काव्य में भावक या भोजक का कर्तृत्व कैसे हो सकता है? कवि-कर्म के तीन अंग हैं : अर्थ-ग्रहण कराना, भावन कराना अर्थात् साधारण भाव-मूर्ति की स्फुरणा और आस्वाद या आनंद की प्रतीति कराना। इन अंगों का विश्लेषण करने पर तीनों में भावन ही वास्तविक कवि-कर्म सिद्ध होता है, क्योंकि पहला अर्थात् अभिधान तो केवल आधार मात्र है, जो वाणी के सभी रूपों में सामान्य है, काव्य मूलतः भावन-व्यापार है।

---

[1] डा० राघवन के ग्रंथ 'भोज का शृङ्गार प्रकाश' (अंगरेजी) पृ० ८० पर उद्धृत।

[2] हेमचंद्र—काव्यानुशासन पृ० ३१६ पर उद्धृत (देखिए—भारतीय काव्यशास्त्र—पं० बलदेव उपाध्याय पृ० २९७)

[3] हेमचंद्र के काव्यानुशासन, पृ० ३ पर उद्धृत।

अभिनव गुप्त

प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्यसौंदर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्। ध्वन्यालोकलोचन पृ० २६ —अर्थात् अपूर्ववस्तुनिर्माण की शक्ति का नाम है प्रज्ञा। उसका विशेष रूप है प्रतिभा, जिसका अर्थ है रसावेश की विशदता तथा सुंदरता से अनुप्रेरित काव्यनिर्माण की शक्ति। अभिनव गुप्त का प्रसिद्ध सिद्धांत है अभिव्यक्तिवाद, जिसके अनुसार काव्य में व्यंजनाशक्ति के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। परिणामतः अभिनव के मत से काव्य व्यंजना-व्यापार है। इस प्रकार अभिनव ने कवि-कर्म के लिए 'काव्य-निर्माण' और 'व्यंजना-व्यापार' शब्दों का प्रयोग किया है।

मम्मट

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती कवेर्भारती जयति॥

—का० प्र० १।१

कवि की उस कविता-सरस्वती की जय हो, जिसकी (निर्मिति[1]) रूपरेखा नियति के नियंत्रण से सर्वथा उन्मुक्त, एकमात्र आनंदमय अथवा आनंदप्रचुर अपने अतिरिक्त अन्य समस्त कारण-कलाप की अधीनता के परे, वस्तुतः अलौकिक रस से भरी और नितांत मनोहर हुआ करती है।

इसी मंगल-श्लोक की वृत्ति में मम्मट ने कविता को 'कविवाङ् निर्मिति' कहा है।

जगन्नाथ—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। अर्थात् काव्य रमणीय अर्थ का शाब्दिक प्रतिपादन है।

अन्य शास्त्रकार

(१) **अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।**
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।

—अग्नि पु०

इस अपार काव्य-संसार में कवि ही प्रजापति है, जैसा उसको रुचता वैसा ही रूप वह इसको दे देता है।

(२) **न कवेर्वर्णनं मिथ्या कविः सृष्टिकरः परः।**

कवि दूसरा सृष्टिकर्ता है—उसका वर्णन मिथ्या नहीं होता।

(३) **क्रियाकल्प इति काव्यकरण विधि....।**

काव्य-करण विधि का नाम क्रिया-कल्प है।

उपर्युक्त उद्धरणों में काव्य के लिए दो प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है : (१) सामान्य जिनमें काव्य के स्वरूप का कथन मात्र है और (२) शास्त्रीय, जिनमें काव्य-स्वरूप का विवेचन है। करण, निर्माण या निर्मिति, सृष्टि अथवा सृजन, निबंधन, वर्णना तथा प्रतिपादन सामान्य विशेषण हैं और 'दर्शन-वर्णन का समन्वय' 'भावन' तथा 'व्यंजना' शास्त्रीय हैं। इन दोनों प्रकार के विशेषणों में एक बात तो यह समान है कि काव्य में कवि का कर्तृत्व ही स्वीकार किया गया, अनुकर्तृत्व नहीं। कवि-प्रतिभा कारयित्री है, अनुकारयित्री नहीं। काव्य करण है, अनुकरण नहीं। वह नवनिर्माण है, सृजन है, जिसमें कवि यथारुचि विश्व-रूपों में परिवर्तन कर सकता है। निबंधन, वर्णन तथा प्रतिपादन शब्दों का सम्बन्ध रचना से है। निबंधन का साधारण अर्थ है सुंदर रीति से बाँधना। भामह की कारिका में इसका अर्थ है शब्द-अर्थ का सुंदर रीति से नियोजन। आगे चलकर इसका अर्थ और व्यापक हो गया और शब्द-अर्थ के स्थान पर विभावादि के नियोजन के लिए इसका प्रयोग होने लगा। उदाहरणार्थ 'कवि-निबद्ध पात्र' आदि में यही रूप मिलता है। 'वस्तु का काव्यगत रूप ही विभाव है'[2]—इस सूत्र के अनुसार विभावादि के नियोजन का अर्थ हुआ वस्तु की 'काव्य रूप में प्रस्तुति।'[2] अतएव निबंधन का व्यापक अर्थ यही है। वर्णन अथवा वर्णना का अर्थ है शब्दों के द्वारा चित्रित करना। प्रतिपादन

---

[1] श्लोक का मूल शब्द।

[2] काव्यदर्पण—(रामदहिन मिश्र) पृ० ४६ पोइटिक रिप्रेजेन्टेशन

से पंडितराज का अभिप्राय है रमणीय अर्थ की शब्दों द्वारा प्रस्थापना अथवा प्रस्तुति। 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक (शब्द) काव्यम्' से शास्त्रकार का वास्तविक आशय यह है कि काव्य-रचना में कवि अर्थ में रमणीयता का समावेश कर उसे शब्द रूप में प्रस्तुत करता है। अर्थात् कवि का दुहरा कर्म है—अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करना और उसे शब्द रूप में प्रस्तुत करना। भट्ट तौत के 'दर्शनात् वर्णनाच्च' का भी मूल भाव यही है। दर्शन का अर्थ है वस्तु के विचित्र भाव का साक्षात्कार, यही रमणीय अर्थ है; और वर्णन का अर्थ है शब्द द्वारा प्रस्तुति। उधर भट्ट नायक का भावन-व्यापार और अभिनव गुप्त का व्यंजना-व्यापार भी प्रायः इससे भिन्न नहीं हैं। भावन या भावकत्व का अर्थ भी यही है कि काव्य में कवि की प्रतिभा के चमत्कार से वस्तु का विशिष्ट इंद्रिय-गोचर स्थूल रूप तिरोहित हो जाता है और सामान्य—अर्थात् सर्वग्राह्य, सूक्ष्म, हृदय-गोचर (सहृदय-संवेद्य) रूप उभर आता है। अभिनव गुप्त ने भावकत्व का खंडन करते हुए इसे ही व्यंजना-व्यापार कहा है। व्यंजना का अर्थ है वि=विशेष रूप से+अंजना=अप्रकट को प्रकट करना—अर्थात् वस्तु के अप्रकट मर्म रूप को विशेष आकर्षक रीति से प्रकट करना। शब्द में इस प्रकार की शक्ति स्वभाव से निहित है, रसावेश द्वारा अनुप्रेरित अपूर्व वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रतिभा के बल पर कवि इस शक्ति का पूर्ण उपयोग करता हुआ काव्य में वस्तुओं के मर्म को आकर्षक रीति से उद्घाटित करता है। यही कवि-कर्म है। सार रूप में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र में कवि के कर्तृत्व के दो पक्ष माने गए हैं: (१) अंतरंग पक्ष=वस्तु के मर्म का दर्शन, (२) बहिरंग पक्ष=उसे शब्दों में प्रस्तुत करना। इन दोनों का भेद केवल व्यावहारिक ही है। तत्व दृष्टि से दोनों अभिन्न रूप से समन्वित हैं। अर्थात् काव्य इन दोनों की समन्वित क्रिया का ही नाम है, वह अनुकृति नहीं है। न शाब्दिक अर्थ में और न तात्विक अर्थ में।

परंतु यह तो अरस्तू भी नहीं कहते। पहले तो शब्द के विषय में भी विद्वानों को यह आपत्ति है कि अरस्तू के मीमेसिस शब्द का अर्थ अनुकरण नहीं है। परंतु यदि शब्द को सदोष मान भी लिया जाय, तो भी उनका आशय तो साधु है। यह निर्विवाद है कि वे काव्य को वस्तु का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण या पुनःसृजन ही मानते हैं, स्थूल प्रतिरूपण नहीं। इस दृष्टि से अरस्तू का मत भारतीय आचार्यों के मत से प्रायः अभिन्न है। भारतीय आचार्यों के मत से काव्य सृजन है, किंतु सृजन का अर्थ अभूत वस्तु का उत्पादन न होकर विद्यमान वस्तु के मर्म का प्रकाशन है। उधर वस्तु के अंतर्बाह्य अंगों का यथावत् ग्रहण अनुकरण है। भामह ने इसे वार्ता मात्र अर्थात् अकाव्य माना है:

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः
इत्येवमादि किं काव्यं? वार्तामेनां प्रचक्षते। —का० २, ८६

अर्थात् सूर्य अस्त हो गया, चंद्रमा का उदय हो गया है, पक्षिगण अपने-अपने नीड़ों को लौट रहे हैं... इत्यादि—यह क्या कोई काव्य है? इसको वार्ता कहते हैं।

आनंदवर्धन आदि ने इसे इतिवृत्त-वर्णन कहा है और अकाव्योचित माना है:

नहि कवेः इतिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किंचित् प्रयोजनम्।
—हिंदी ध्वन्यालोक ३।१४ पृ० २६४।

इसका दूसरा सीमांत है आमूल उत्पादन—अर्थात् अभूत वस्तु का सृजन। किंतु हमारे काव्यशास्त्र में इसको भी काव्य में महत्त्व नहीं दिया गया। कुंतक का स्पष्ट मत है: यन्न वर्ण्यमान स्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः संतः क्रियन्ते। (हिंदी व० जी० पृ० ३०५)—अर्थात् कवि वर्ण्यमान अभूत (अविद्यमान) पदार्थों की सृष्टि नहीं करते हैं। काव्य में आहार्य उत्पाद्य वस्तु का महत्त्व अवश्य है, परंतु यह आहरण या उत्पादन निरंकुश नहीं होता—अपने आहार्य रूप में भी वह अस्वाभाविक नहीं होता:

"स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मात् निरुपाख्यं प्रसज्यते।। —हिंदी व० जी० १, १२।

स्वभाव के बिना वस्तु का वर्णन ही संभव नहीं है, क्योंकि स्वभाव से रहित वस्तु तुच्छ प्रसत्कल्प हो जाती है।" इन दोनों का मध्यवर्ती एक तीसरा सुंदर मार्ग है, जिसे अभिनव गुप्त ने व्यंजना-व्यापार कहा है। यही वास्तविक कवि-कर्म है। भारतीय काव्यशास्त्र के तत्व-निरूपक सभी आचार्यों ने इसी को शब्द-भेद से स्वीकार किया है। भट्ट तौत ने इसे 'दर्शन और वर्णन का समन्वय' भट्टनायक ने 'भावन व्यापार', कुंतक ने 'अतिशय का आधान'[1] और महिमभट्ट ने विशिष्ट (कवि-प्रतिभा-गोचर) रूप का उद्घाटन[2] कहा है। शब्दावली कुछ भी हो, किंतु इन सबका मूलार्थ एक ही है और वह यह कि कवि न तो वस्तु के स्थूल रूप का अनुकरण करता है और न कोई अभूत वस्तु उत्पन्न करता है—वह तो अपनी प्रतिभा के द्वारा लौकिक पदार्थों के मार्मिक रूपों का उद्घाटन करता है। कवि-प्रतिभा जैसा कि हमने अपनी भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका में स्पष्ट किया है, रसात्मक रूपों का उन्मेष करनेवाली शक्ति का नाम है—आधुनिक शब्दावली में इसे ही कवि-कल्पना या संवेदनशील कवि-कल्पना कहा गया है। मार्मिक रूप के उद्घाटन का आशय यह है कि कवि वस्तु के ऐसे मनोहारी रूप को उभार कर सामने रख देता है कि उसका स्थूल—साधारण रूप आच्छादित हो जाता है, और वह वस्तु इस आह्लादकारी रूप के उभर आने से नवीन-सी प्रतीत होने लगती है[3]। इसी अर्थ में कवि स्रष्टा है। अर्थात् सृजन का अर्थ अविद्यमान का उत्पादन नहीं है, वरन् विद्यमान का नवीकरण—अथवा पुनःसृजन या पुनर्निर्माण है। इस प्रकार 'मार्मिक रूप के उद्घाटन' का अर्थ होता है नवनिर्माण—या पुनःसृजन ; और कवि-प्रतिभा द्वारा मार्मिक रूप के उद्घाटन का अर्थ हो जाता है : अनुभूतिमती या संवेदनशील कल्पना द्वारा पुनःसृजन, समास-रूप से—'भाव-कल्पनात्मक पुनःसृजन।'

निष्कर्ष यह है कि अरस्तू और भारतीय आचार्यों का मूल मंतव्य तत्वतः भिन्न नहीं है। दोनों अंत में पहुँच तो एक ही स्थान पर जाते हैं। किंतु दोनों के मार्ग भिन्न हैं—अथवा यह कहना अधिक संगत होगा कि दोनों का यात्रारंभ सर्वथा भिन्न स्थानों से होता है। अरस्तू का कवि प्लेटो द्वारा तिरस्कृत अनुकर्ता है, भारतीय आचार्य का कवि वेद-वंदित 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' है। दोनों ही वस्तुसत्य से दूर हैं। अतएव अरस्तू कवि के तिरस्कार का परिशोध करने के लिए प्रयत्नशील हैं और भारतीय आचार्य उसके अतिरंजित स्तवन को विवेक-सम्मत रूप देने के लिए। एक ने अनुकरण की हीनता का उन्नयन किया है, दूसरे ने सृजन की अतिरंजना का संतुलन।

किंतु मूल मंतव्य में तात्विक भेद न होते हुए भी, दृष्टिकोण के भेद को नगण्य नहीं मानना चाहिए। सत्य कभी एकदेशीय नहीं होता—उसकी उपलब्धि सभी किसी-न-किसी रूप में कर लेते हैं, पर उपलब्धि की विधि और उसका आधारभूत दृष्टिकोण भी अपने आप में कम महत्वपूर्ण नहीं होता। अरस्तू जहाँ काव्य को प्रकृति का अनुकरण मान कर चले हैं, वहाँ भारतीय आचार्य आत्मा का उन्मेष—और मूल दृष्टिकोण के इस भेद का प्रभाव यूरोप और भारत के काव्यशास्त्रों पर बहुत दूर तक पड़ा है। अपने संपूर्ण विवेचन में अरस्तू का दृष्टिकोण इसी कारण अभावात्मक रहा है और त्रास तथा करुणा का विरेचन उसकी चरमसिद्धि रही है ; इधर भारतीय आचार्य का दृष्टिकोण इसीलिए अंत तक भावात्मक रहा है और रस उसका परम 'फल' रहा है। यह एक बड़ा अंतर है, जो भारतीय काव्यशास्त्र के गौरव का द्योतक है। •••

---

[1] केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुरतां चैषां कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते। —हिंदी व० जी० पृ० ३०६

[2] विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः। स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवम्॥ —व्यक्तिविवेक २।१६

[3] इस प्रकार सत्तामात्र से प्रतीत होने वाले में कुछ अलौकिक शोभातिशय को उत्पन्न करने वाले सौंदर्य विशेष का कथन या आधान कर दिया जाता है, जिससे पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर देने में समर्थ और नवीन सौंदर्य से मन को हरण करने वाले, अपने स्वरूप के दब जाने से उद्भासित स्वरूप से, उसी समय प्रतीत होने वाला वर्णनीय पदार्थ का स्वाभाविक सौंदर्य-सा प्रस्फुटित होने लगता है। जिसके कारण ही कवि लोग 'प्रजापति' कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं। —हिंदी वक्रोक्तिजीवित-पृ० ३०६

पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता और रचना-तिथि

श्री माताप्रसाद गुप्त

★ ★

संवत् १९४२ से, जब बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में इस विषय पर कविराज श्यामलदास का लेख प्रकाशित हुआ[1], 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता और प्राचीनता पर बहुत विचार हुआ है। किंतु कुछ दिनों पूर्व तक यह समस्त विचार उसके उस वृहत् पाठ को ले कर किया गया था, जो नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वारा प्रकाशित हुआ था।

तब से तीन और मुख्य पाठ इस ग्रंथ के प्राप्त हुए हैं, जिनको साधारणतः मध्यम, लघु और लघुतम वाचना कहा गया है। मध्यम के प्रकाश में आने के कुछ ही बाद लघु पाठ भी प्रकाश में आया, इसलिए लघु को ही ले कर इस विषय पर कुछ और विचार हुआ है और वृहत् तथा मध्यम की अनेक अनैतिहासिक बातों का इसमें अभाव देख कर कुछ विद्वानों ने इसे प्रायः ऐतिहासिक माना है[2]। इस पाठ की तीन प्रतियाँ बीकानेर के 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' में तथा एक-एक बीकानेर के श्री अगरचंद नाहटा और श्री मोतीलाल जी खजानची के पास हैं। इधर कुछ वर्ष हुए दो और प्रतियाँ मिली हैं, जिनका पाठ अभी तक प्राप्त पाठों में सबसे छोटा है; इनमें से एक श्री मुनि पुण्य विजय जी को प्राप्त हुई थी, जिसकी उन्होंने प्रतिलिपि करा ली थी, और दूसरी श्री मुनि जिन विजय जी को प्राप्त हुई थी, जो उनके निजी संग्रह में है।

मेरा विचार है कि यह सबसे छोटा पाठ रचना का यथावत् पूर्ण पाठ नहीं है, यह उसके लघु पाठ के छंदों का एक चयन मात्र है, जो संक्षेप के लिए किया गया था। इस पर मैं अन्यत्र लिख रहा हूँ। लघु पाठ इस प्रकार का संक्षेप नहीं है, वह पूरा है। इसलिए अब 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता और रचना-तिथि पर विचार करने के लिए लघु पाठ को ही लेना चाहिए। लघु पाठ के प्रायः सभी छंद मध्यम और फिर वृहत् पाठों में मिलते हैं, और फिर भी मध्यम और वृहत् में लघु की तुलना में प्रायः सर्वत्र अतिशयोक्ति की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ी हुई मिलती है,[3] इसलिए इन तीन में लघु पाठ अवश्य ही प्राचीनतर है। किंतु क्या वह भी वस्तुतः ऐतिहासिक या प्रायः ऐतिहासिक है? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए उसमें आए हुए ऐसे समस्त व्यक्तियों और उनसे संबद्ध कही गई घटनाओं के विषय में आए हुए उल्लेखों पर विचार करने की आवश्यकता है, जिनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त हैं। अतः नीचे अकारादि क्रम से मैं समस्त उल्लेखों पर ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा हूँ। लघु पाठ का उल्लेख 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' की उस पाठ की प्रतियों के अनुसार करूँगा, जिन्हें नीचे अ० कहा गया है।

(१) **अनंगपाल तोमर :** कहा गया है कि यह दिल्ली का राजा था और इसकी एक पुत्री सोमेश्वर को विवाहित थी, जिससे पृथ्वीराज का जन्म हुआ[4]; इसने पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य दे कर बदरीनाथ की यात्रा की[5]; यह घटना सं० ११३८ मार्गशीर्ष, शुक्ल ५, गुरुवार की है[6]।

किंतु दिल्ली बीसलदेव (विग्रहराज) के द्वारा ही—जो कि आनल्लदेव (अर्णोराज) का पुत्र था—विजित हो चुकी थी, यह सोमेश्वर के सं० १२२६ के बिजोलिया के शिलालेख में दिया हुआ है[7]। सं० १२२०

---

[1] 'दि ऐंटीक्विटी ऑथैंटिसिटी ऐंड जेनुइननेस ऑव् दि इपिक काल्ड दि पृथ्वीराज रासो ऐंड कामनली एस-क्राइब्ड टू चंद' : जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल, १८८६, भाग १, पृ० ५।

[2] यथा डॉ० दशरथ शर्मा : 'दि एज ऐंड हिस्टॉरिसिटी ऑव् पृथ्वीराज रासो', इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग १६, पृ० ७३८।

[3] 'पृथ्वीराज रासो के तीन पाठों का आकार सम्बन्ध, हिंदी अनुशीलन, वर्ष ७, अंक ४, पृ० ७।

[4] अ० २, दो० ६। [5] अ० २, दो० १८, सार० ४, कबि० ५, दो० १९,२० कबि० ६, उधो० ९; १८, कबि० ४।

[6] अ० २, कबि० ४। [7] भांडारकर : 'इंस्क्रिप्शन्स ऑव् दि नॉर्दर्न इंडिया, पृ० ५१।

का बीसलदेव (विग्रहराज) का दिल्ली (सिवालिक) स्तंभ पर का अभिलेख[1] भी इस बात का प्रमाण है कि वह सं० १२२० के पूर्व उसके अधिकार में आ चुकी थी। हाँसी में मिले हुए पृथ्वीराज (पृथ्वीभट) के सं० १२२४ के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उस समय वहाँ के दुर्ग का प्रबंधक गुहिलवंशी किल्हण था[2]। अतः यह प्रमाणित है कि पृथ्वीराज के पूर्व से ही दिल्ली और हाँसी प्रदेश पर उसके पूर्वजों का शासन था, वह तोमरों के शासन में नहीं थी।

चाहमानों के पूर्व अवश्य दिल्ली पर तोमरों का शासन था। सं० १३३७ का गयासुद्दीन बलबन का बाहेर (जिला रोहतक) पालम बावली का एक शिलालेख है, जिसमें कहा गया है कि हरियाना देश पर पहले तोमरों का शासन था, तब चहुवानों का और उनके बाद शक (तुर्क) राजाओं का हुआ, जो शहाबुद्दीन से प्रारंभ होता है[3]। सं० ११८९ में 'पार्श्व चरित्र' की रचना करते हुए उसके रचयिता श्रीधर ने अनंगपाल (तृतीय) तोमर के राज्य-वैभव का वर्णन किया है[4]। इसलिए जिस अनंगपाल तोमर के सम्बन्ध में 'रासो' में उपर्युक्त कल्पना की गई है, उसका समय सं० ११८९ के लगभग पड़ता है।

(२) **अल्हन कुमार** : कहा गया है कि यह पृथ्वीराज का एक सामंत था, जो शहाबुद्दीन के विरुद्ध उसके और पृथ्वीराज के एक युद्ध में लड़ा था[5]; यह पहले भीम का भट था[6], यह पृथ्वीराज के साथ कन्नौज गया था[7], और वहाँ पर युद्ध करता हुआ मारा गया[8]।

सं० १२०९ का किराडू का एक शिलालेख है, जिसमें नाडोल के चाहमान महाराज आल्हणदेव को चौलुक्य कुमार पाल का सामंत कहा गया है[9]। इसके समय के नाडोल के दो ताम्रपत्र सं० १२१८ के भी प्राप्त हुए हैं[10]। और, सं० १२२० का बामनेरा का एक ताम्रपत्र इसके पुत्र केल्हण का प्राप्त हुआ है, जिसमें उसने अपने को महाराज कहा है। इसलिए आल्हण का देहांत सं० १२१८ तथा सं० १२२० के बीच हो चुका था। यदि 'रासो' का अल्हन यही आल्हण है, तो वह भीम और पृथ्वीराज के राज्याभिषेक (सं० १२३५ और १२३६)[11] के पूर्व ही दिवंगत हो चुका था।

मदनपुर का एक शिलालेख सं० १२३५ का महाराज पुत्र आल्हण देव का अवश्य प्राप्त है, जो बिकौर का शासक था। 'रासो' का अल्हन भी 'कुमार' है, इसलिए दोनों एक प्रतीत होते हैं। किंतु यह आल्हणदेव भीम का सामंत किसी समय भी हो सकता था, इसमें संदेह है, क्योंकि बिकौर वर्त्तमान मध्यप्रदेश में है।

(३) **कन्हराय** : कहा गया है कि यह महाराष्ट्रपति था, और कन्नौज के युद्ध में जयचंद की ओर से लड़ा था[12]। महाराष्ट्र के इतिहास के अनुसार कृष्ण या कन्हार का समय सं० १३०४-१३१७ वि० है[13]। इस नाम का कोई अन्य महाराष्ट्र शासक उस युग में नहीं मिलता है, इसलिए 'रासो' का 'कन्हराय' महाराष्ट्र के इतिहास का यही कृष्ण या कन्हार है।

(४) **कर्ण** : कहा गया है कि यह डहाल का शासक था और इसे जयचंद ने मारा था[14]। यह डाहल का प्रसिद्ध कलचुरि नरेश कर्णदेव है, जिसके समय के कई अभिलेख सं० १०९८ से मिलने लगते हैं। एक तो १०९८ का बनारस का एक ताम्रपत्र है[15]। दूसरा सं० १११४ का सारनाथ का एक शिलालेख है[16]। तीसरा सं० १११७ का रीवाँ का एक शिलालेख है[17]। सं० ११२८ से उसके पुत्र यशःकर्ण देव के अभिलेख मिलने लगते हैं[18]। इसलिए कर्णदेव का देहांत सं० १११७ और सं० ११२८ के बीच किसी समय

---

[1] वही, पृ० ४८। [2] वही, पृ० ४९। [3] वही, पृ० ८५।
[4] डॉ० दशरथ शर्मा : 'दिल्ली का तोमर (तँवर) राज्यः' राजस्थानभारती ; भाग ३, अंक ३-४, पृ० २०।
[5] अ० ७, ओ० २। [6] अ० ८०, भुजं १। [7] वही।
[8] अ० १२, दो० १४, कबि० ७, दो० १५, कबि० २३।
[9] भांडारकर : 'इंस्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया', पृ० ४४।
[10] वही, पृ० ४६, ४७। [11] दे० नीचे 'भीम' और 'पृथ्वीराज' शीर्षक।
[12] अ० ११. ६। [13] भांडारकर : 'अर्ली हिस्ट्री ऑव दि डेकन', पृ० २०९।
[14] अ० ९, भुजं० ३। [15] भांडारकर : 'इंस्क्रिप्शन्स ऑव नॉर्दर्न इंडिया, पृ० १६४।
[16] वही, पृ० १६४। [17] वही, पृ० १६४। [18] वही, पृ० १६५।

होना चाहिए। डाहल का अन्य कोई शासक इस नाम का नहीं मिलता है, इसलिए 'रासो' का डाहल नरेश कर्ण यही कलचुरि कर्णदेव है और यह अवश्य ही जयचंद से पहले हुआ है।

(५) **कैंवास दाहिमा** : कहा गया है कि यह पृथ्वीराज का प्रधान (अमात्य) था,[१] एक प्राचीन शिलालेख पढ़ कर इसने खट्टूपुर में गड़ा हुआ प्रचुर धन निकलवाया था[२] और इसने चालुक्य भीम से लड़ कर विजय प्राप्त की थी,[३] किंतु यह पृथ्वीराज की कर्नाटकी एक दासी पर अनुरक्त हो गया था, जिसके कारण इसे पृथ्वीराज ने मार डाला[४]।

जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' में भी मंत्री कदंबवास का उल्लेख है, और उसमें कहा गया है कि उसीके संरक्षण में पृथ्वीराज बालक से युवा हुआ था[५]। 'पृथ्वीराज विजय' की प्राप्त प्रति इसके कुछ ही अनंतर खंडित है, इसलिए कदंबवास का और अधिक वृत्त उसमें नहीं मिलता है। जिनपाल उपाध्याय (सं० १२६२) द्वारा लिखित 'खरतर गच्छ पट्टावली' में मंडलेश्वर कैमास का उल्लेख है और कहा गया है कि जैनाचार्यों के शास्त्रार्थ में पृथ्वीराज के विश्राम-काल में मध्यस्थता का कार्य इसी ने किया था[६]। इससे ज्ञात होता है कि यह विद्वान् था और धार्मिक विचारों में उदार भी था। कैंवास दाहिमा के पृथ्वीराज के प्रधान होने और पृथ्वीराज के द्वारा उसका वध किए जाने की एक कथा 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में संकलित 'पृथ्वीराज प्रबंध' में आई है, यद्यपि उसमें वध का कारण राजनैतिक बताया गया है[७]। इस जैन प्रबंध का रचना-काल अनुमान से चौदहवीं शती विक्रमीय का उत्तरार्द्ध होना चाहिए[८]। इसलिए कैंवास (कदंबवास) का पृथ्वीराज का प्रधान अमात्य होना, उसका बुद्धिमान् और विद्वान् होना प्रमाणित है। किसी कारण पृथ्वीराज ने उसका वध किया, यह भी विश्वसनीय प्रतीत होता है। कहा जा सकता है कि उक्त प्रबंध में चंद के दो छंद भी उद्धृत हुए हैं, जो 'पृथ्वीराज रासो' में पाए जाते हैं, इसलिए उसका आधार 'रासो' ही होगा। इसलिए यह स्पष्ट है कि पृथ्वीराज-विषयक इस जैन-प्रबंध का आधार 'रासो' से भिन्न है, केवल 'रासो' के दो छंद उसी से या किसी अन्य सूत्र से ले कर उसमें रख दिए गए हैं[९]।

(६) **गोइंद राय गुहलोत** : कहा गया है कि यह पृथ्वीराज का एक मुख्य सामंत था[१०], जो भीम-कैंवास युद्ध में पृथ्वीराज की ओर से लड़ा था[११]; यह पृथ्वीराज के साथ कन्नौज के जयचंद-पृथ्वीराज के युद्ध में[१२], तथा बाद में शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज के अंतिम युद्ध में भी था[१३]; यह जांगल देश का रक्षक था[१४]। 'तबक़ात-ए-नासिरी' के अनुसार दिल्ली का गोइंद राज शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज के अंतिम युद्ध में पृथ्वीराज की ओर से लड़ा था[१५]। 'जांगल' नाम के कई प्रदेश थे। 'कुरु जांगल' दिल्ली का ही एक प्रांत था। सपाद-लक्ष-प्रदेश का भी एक अन्य नाम 'जांगल' था। पृथ्वीराज इन दोनों प्रदेशों का शासक था। किंतु 'रासो' में यह गोइंद राय स्वतः करता है; 'जंगलहबास कालिंदीकूल'[१६]। इसलिए यह स्पष्ट है कि वह 'कुरु जांगल' का ही रक्षक था। फलतः 'तबक़ात-ए-नासिरी' से 'रासो' के कथन का समर्थन होता है।

(७) **जयचंद राठौर** : कहा गया है कि यह विजयपाल का पुत्र था[१७], वाणारसी कटक के राजा मुकुंददेव ने इसे अपनी कन्या जुन्हाई ब्याह दी थी[१८]; इन (जयचंद और जुन्हाई) की एक कन्या थी, जिसका

---

[१] अ० २, दो० ११। [२] अ० २, दो० १२-१५, कबि० ३, दो० १६, कबि ४।
[३] अ० ४, कबि० ५ तथा परवर्ती छंद और खंड ५। [४] अ० खंड ७।
[५] 'पृथ्वीराज विजय', सर्ग ६, श्लोक ४४।
[६] अगरचंद नाहटा : 'पृथ्वीराज की सभा में जैनाचार्यों का शास्त्रार्थ', हिंदुस्तानी भाग १०, पृ० ७१।
[७] 'पुरातन प्रबंध संग्रह'—संपा० मुनि जिनविजय, पृ० ८६।
[८] दे० मेरा लेख 'पुरातन प्रबंध संग्रह, चंदबरदाई और जल्ह का समय', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६०, अंक ३-४, पृ० २३४। [९] देखिए अन्यत्र मेरा लेख—'पुरातन प्रबंध संग्रह और पृथ्वीराज रासो'।
[१०] अ० ६, पद्ध० २। [११] अ० ५, भुजं० ५। [१२] अ० १०, कबि० ५, ६।
[१३] अ० १४, कबि० २६। [१४] अ० ७, त्रो० २।
[१५] मिनहाजुस्सिराज : 'तबकात-ए-नासिरी, इलियट और डाउसन, भाग २, पृ० २९५-९७।
[१६] अ० ६, पद्ध० २। [१७] अ० ३, कबि० २, भुजं० ३। [१८] अ० ३, कबि० २।

नाम संयोगी था[1]; अनेक राजाओं को जीतने के अनंतर जयचंद ने राजसूय यज्ञ और उसी अवसर पर संयोगी का स्वयंवर करने का निश्चय किया[2], जिसमें सम्मिलित होने के लिए पृथ्वीराज को भी निमंत्रण भेजा, किंतु पृथ्वीराज ने यह निमंत्रण अस्वीकार कर दिया; जयचंद ने इस पर पृथ्वीराज की एक स्वर्ण-प्रतिमा यज्ञशाला के मुख्य द्वार पर दरबान के रूप में स्थापित करके यज्ञ प्रारंभ कर दिया[3]; किसी समय इसने हिमालय के पार सेनाएँ भेज कर आठ सुल्तानों को एक साथ शह दी थी, तिरहुत और पंडु में (सैनिक) थाने स्थापित किए थे, दक्षिण में सेतुबंध तक विजय की थी, डाहल के कर्ण को मारा था, सिद्ध चालुक्य को खदेड़ा था, तिलंग और गोवालकुंड को तोड़ा था, गुंड और जीरा को बाँध कर छोड़ा था, बैरागर से हीरे लिए थे, गजनी के शासक शहाबुद्दीन के भृत्य निसुरत खाँ को बंदी करके सेवा में रक्खा था, लंका पहुँच कर विभीषण से युद्ध किया था और खुरासान के अमीर को बंदी किया था[4]; चंद के साथ छद्मवेश में पृथ्वीराज के कन्नौज जाने पर जैसे ही इसे यह ज्ञात हुआ, इसने पृथ्वीराज को घेर कर पकड़ने की आज्ञा प्रचारित की, और दोनों पक्षों में युद्ध छिड़ गया[5]; पृथ्वीराज के प्रति संयोगी का अनुराग जान कर इसने उसे गंगातट के एक प्रासाद में भिजवा दिया; जब पृथ्वीराज संयोगी को वहाँ से निकाल लाया और उसको ले कर दिल्ली की ओर चल पड़ा, जयचंद ने उसका पीछा किया, सोरों तक मार्ग भर युद्ध होता रहा, किंतु वहाँ संयोगी के हाथों में विवाह का कंकण देख कर जयचंद कन्नौज लौट गया, और पीछे पुरोहित भेज कर उसने सविधि उसका विवाह पृथ्वीराज से करा दिया[6]।

जयचंद का अभिषेक सं० १२२६ में हुआ, यह सं० १२२६ के कमौली के दान-पत्र से प्रकट है[7], तदनंतर सं० १२४५ तक के उसके अभिलेख और सं० १२५३ से उसके पुत्र और उत्तराधिकारी हरिश्चंद्र के अभिलेख मिलते हैं[8]। पृथ्वीराज का राज्य-काल लगभग सं० १२३५-१२४८ है। एक दीर्घकाल तक इसलिए वह पृथ्वीराज का समकालीन था, यह प्रकट है।

विजयपाल शिलालेखादि का विजयचंद्र है। जुन्हाई के विषय में अन्य सूत्रों से कुछ ज्ञात नहीं है। संयोगी के सम्बन्ध में भी स्थिति लगभग यही है। जयचंद के राजसूय यज्ञ के सम्बन्ध में भी अन्य सूत्र मौन हैं।

जिन राजाओं पर विजय प्राप्त करने की बात इसके सम्बन्ध में 'रासो' में कही गई है, उनमें से ज्ञातवृत्त राजाओं के सम्बन्ध में विचार अलग-अलग किया गया है। किंतु अपने पिता विजयचंद्र के साथ इसने दिग्विजय में भाग लिया था, यह सं० १२२४ के कमौली के दान-पत्र से, जो वाराणसी से विजयचंद्र तथा युवराज जयचंद के द्वारा प्रदत्त है, प्रकट है, क्योंकि उसमें 'भुवन दलन हेला' शब्दावली आती है[9]। विजयचंद्र के समय के तीन ही अभिलेख मिले हैं और उनमें से यह प्रथम है। द्वितीय भी, जो दान-पत्र है, इसी प्रकार सं० १२२५ में विजयचंद्र के साथ युवराज जयचंद के द्वारा प्रदत्त है। इसलिए यह स्पष्ट है कि युवराज के रूप में जयचंद अपने पिता विजयचंद्र के साथ समस्त राजकार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेता था।

किंतु पृथ्वीराज के कन्नौज जाने, उसके द्वारा जयचंद की कन्या के अपहरण तथा पृथ्वीराज-जयचंद संघर्ष के विषय में ऐतिहासिक सूत्र मौन हैं। श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा का विचार है कि जयचंद एक बहुत दानी राजा था, जो उसके द्वारा प्रदत्त अनेक दान-पत्रों से प्रकट है, किंतु उनमें से किसी भी राजसूय यज्ञ का उल्लेख नहीं है; नयचंद्र सूरि ने सं० १४६० के लगभग लिखे गए 'हम्मीर महाकाव्य' में पृथ्वीराज का वृत्त देते हुए शहाबुद्दीन के साथ उसके संघर्ष की कथा पर्याप्त विस्तार के साथ दी है, और 'रंभामंजरी नाटिका' में, जयचंद जिसका नायक है, जयचंद की प्रशंसा के पन्ने रँगे हैं, किंतु दो में से एक में भी राजसूय यज्ञ अथवा संयोगी-स्वयंवर का कोई उल्लेख नहीं है[10]।

---

[1] अ० ३, चउ० १। [2] अ० ६, पद्ध० १। [3] अ० ६, पद्ध० २।
[4] अ० ६, भुजं० ३। [5] अ० खंड ६। [6] अ० खंड १०, ११, १२।
[7] भांडारकर : 'इंस्क्रिप्शन्स ऑव् दि नार्दर्न इंडिया', पृ० ५१। [8] वही, पृ० ५२-६१।
[9] 'इपिग्राफिका इंडिका', भाग ४, पृ० ११७।
[10] गौरीशंकर हीराचंद ओझा : 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण-काल' नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० १९८६, पृ० ५८। भांडारकर : 'इंस्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया', पृ० ५८।

किंतु जहाँ तक दान-पत्रों में राजसूय के उल्लेख की बात है 'रासो' के अनुसार वह पूरा ही नहीं हो पाया था ; वह तो उसके अनुसार प्रारंभ मात्र हुआ था, जब पृथ्वीराज ने कन्नौज आकर उसका विध्वंस कर डाला। अतः उसकी पूर्त्ति और उस अवसर पर ब्राह्मणों के दान का प्रश्न ही नहीं उठता है। 'हम्मीर महाकाव्य' और 'रंभामंजरी' को ऐतिहासिक महत्व प्रदान करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। 'हम्मीर महाकाव्य' का नायक तो हम्मीर है, और उसके एक प्रख्यात पूर्वपुरुष होने के नाते ही उसके वंश का इतिहास देते हुए उसमें पृथ्वीराज का वृत्त दिया गया है, और उस वृत्त में केवल पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के संघर्ष तथा पृथ्वीराज के अंत की कथा दी गई है। उसमें पृथ्वीराज और चंदेल परमर्दिदेव के उस संघर्ष का उल्लेख तक नहीं किया गया है, जो तत्कालीन इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी, और जिसके स्मारक में सं० १२३९ का मदनपुर का शिलालेख है[1], तथा 'रासो' में भी जिसका उल्लेख हुआ है। 'रंभामंजरी' में तो लेखक ने अपने ऐतिहासिक अज्ञान को खोल कर रख दिया है : उसमें उसने जयचंद को मल्लदेव और चंद्रलेखा का पुत्र कहा है, और कहा है कि वह लाट के मदन वर्मा की पुत्री रंभा से विवाह करता है[2]। किंतु मदन वर्मा नाम का एक ही राजा उस युग का ज्ञात है और वह है चंदेल मदन वर्मा। लाट से, जो गुर्जर देश का एक प्रांत रहा है, उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। उसके कई अभिलेख प्राप्त हैं[3], किंतु किसी में भी उसका सम्बन्ध लाट से नहीं कहा गया है, न अन्य किसी साक्ष्य से ही यह प्रमाणित है। और इस चंदेल मदन वर्मा का देहांत सं० १२१९ तथा सं० १२२३ के बीच किसी समय हो चुका था, क्योंकि इसका अंतिम प्राप्त अभिलेख सं० १२२९ का एक दान-पत्र है[4], और उसके उत्तराधिकारी परमर्दिदेव का प्रथम प्राप्त अभिलेख सं० १२२३ का सेमरा का ताम्रपत्र है, जिसमें उसने सं० १२२९ के उक्त दान-पत्र को स्वीकार किया है[5]। जयचंद का पिता भी मल्लदेव नहीं था, उसके पिता का नाम विजयचंद्र था, जो विजयचंद्र तथा जयचंद के अनेक अभिलेखों से प्रकट है[6]। इसलिए स्पष्ट है कि नयचंद्र की इस रचना का ऐतिहासिक महत्व कुछ भी नहीं है।

दूसरी ओर डॉ० दशरथ शर्मा का विचार है कि पृथ्वीराज से जयचंद की कन्या के विवाह की घटना इतिहास-सम्मत ज्ञात होती है। उनका कहना है कि 'पृथ्वीराज विजय' में पृथ्वीराज के तिलोत्तमा के चित्र पर मुग्ध होने और तदनंतर उसके विरह में व्यथित होने की जो कथा है, वह किसी ऐसी राजकुमारी से होनेवाले विवाह की भूमिका मात्र है, जिसको उसके लेखक ने तिलोत्तमा का अवतार बताया होगा, वह राजकुमारी गंगातटवर्ती किसी स्थान की थी, यह उसके अंतिम प्राप्त सर्ग के ७० वें त्रुटिल श्लोक के 'नाक नदी तट स्थितः' से प्रकट है ; इसलिए उसमें 'रासो' की संयोगी अथवा 'सुर्जन चरित' की कांतिमती का चरित्र और पृथ्वीराज से उसके विवाह की कथा आई हो, तो आश्चर्य न होगा[7]। फलतः प्राप्त साक्ष्यों से 'रासो' की पृथ्वीराज और जयचंद के संघर्ष की कथा का कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता है।

(८) **निभय और लखन पँवार** : कहा गया है कि निभय पँवार धारा का शासक था और कँवास-भीम युद्ध में पृथ्वीराज की ओर से लड़ता हुआ मारा गया[8] ; निभय के अनंतर लखन वहाँ का शासक हुआ; यह पृथ्वीराज के साथ कन्नौज गया था और वहाँ के युद्ध में सम्मिलित था, और उसके अनंतर पृथ्वीराज के साथ दिल्ली लौटा था[9]।

धारा का शासक पृथ्वीराज के समय में महाकुमार हरिश्चंद्र देव परमार था, जिसके समय का एक अभिलेख प्राप्त है, जो सं० १२३५ का है[10]। इसके पूर्व महाकुमार लक्ष्मी वर्मदेव वहाँ का शासक था, जिसके समय का एक अभिलेख प्राप्त है, जो सं० १२०० का है[11]। और महाकुमार हरिश्चंद्र देव के पश्चात् वहाँ

---

[1] अ० ६, सा० १, ६, कवि० २। [2] डॉ० ए० एन० उपाध्ये : 'नयचंद्र ऐंड हिज़ रंभामंजरी', जर्नल ऑव् यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी, भाग १६, पृ० ६०।'
[3] भांडारकर : 'इंस्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया', पृ० ३५-४७। [4] वही, पृ० ४७।
[5] वही, पृ० ४६। [6] वही, पृ० ५०, ५१। [7] वही। [8] अ० ५, भुजं० ११।
[9] अ० ८, भुजं० १, १०. कवि० ६ ; १२. पद्ध० ३।
[10] भांडारकर : इंस्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया', पृ० ५७। [11] वही, पृ० ४०।

का शासक उदय वर्मदेव हुआ, जिसके समय का एक अभिलेख प्राप्त है, जो सं० १२५६ का है[1]। अतः यह प्रकट है कि निभय या लखन पँवार नाम का शासक पृथ्वीराज के समय में धारा में नहीं हुआ।

(९) नाहर परिहार : कहा गया है कि यह पृथ्वीराज का एक सामंत था, जो कैंवास-भीम युद्ध में पृथ्वीराज की ओर से लड़ा था[2]; यह मदनसिंह परिहार का पुत्र था[3]। यह पृथ्वीराज-जयचंद के कन्नौज के युद्ध में पृथ्वीराज की ओर से सम्मिलित था[4]; यह मंडल का परिहार था और पृथ्वीराज-शहाबुद्दीन के अंतिम युद्ध में भी था, और उसमें लड़ता हुआ मारा गया[5]।

एक नागभट प्रतिहार का शिलालेख बुचकला का सं० ८७२ का है[6]। उसी का उल्लेख सं० ८९३ के प्रतिहार भोजदेव (प्रथम) के बरहवाले ताम्रपत्र[7] तथा पुनः सं० ९०० के प्रतिहार भोजदेव (प्रथम) के दौलतपुरा के ताम्रपत्र में उसके पितामह के रूप में हुआ है[8]। किंतु इस नागभट का उल्लेख 'रासो' में हुआ नहीं हो सकता है। क्योंकि यह नागभट पृथ्वीराज के समय में ही ३५० वर्ष प्राचीन व्यक्ति हो चुका था, जब कि 'रासो' की रचना जैसा हम आगे देखेंगे, पृथ्वीराज के भी काफ़ी बाद हुई होगी।

(१०) पज्जून राय कूरंभ : कहा गया है कि यह पृथ्वीराज का एक सामंत था और कैंवास-भीम युद्ध में पृथ्वीराज की ओर से लड़ा था[9], इससे पंगुली देश कांपता था[10]; यह कन्नौज के पृथ्वीराज-जयचंद युद्ध में भी पृथ्वीराज की ओर से लड़ा था और इसी में मारा गया[11]।

इसके सम्बन्ध में निश्चित ऐतिहासिक साक्ष्य का अभाव है। आमेर राज्य की वंशावलियों के अनुसार पज्जून बज्रदामा से तेरह पीढ़ियों बाद हुआ, बज्रदामा का एक शिलालेख सं० १०३४ का है; यदि प्रत्येक पीढ़ी का औसत काल बीस वर्षों का लिया जावे, तो पज्जून का समय सं० १२९४ के लगभग पड़ना चाहिए, ऐसा श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा का विचार है[12]। इसके विरुद्ध श्री हरिचरण सिंह चौहान का कहना है कि उसी वंशावली के अनुसार बज्रदामा से सात पीढ़ी बाद सोढदेव का समय सं० ११२५ है, और बज्रदामा के समय से ९१ वर्ष बाद पड़ता है। इसलिए प्रत्येक पीढ़ी का औसत समय सोढदेव तक १३ वर्ष ही होता है। यदि बाद की पीढ़ियों के लिए १६-१७ वर्ष का औसत माना जावे, तो पज्जून का समय पृथ्वीराज के समय के साथ ही पड़ता है[13]। इन वंशावलियों पर विशेष विश्वास करना बहुत उचित नहीं माना जा सकता है, किंतु यह स्पष्ट है कि ये 'रासो' में दिए हुए पज्जून के समय का विरोध नहीं करती हैं। पज्जून के सम्बन्ध में 'रासो' में कही हुई शेष बातों के सम्बन्ध में कोई अन्य साक्ष्य प्राप्त नहीं हैं।

(११) पृथ्वीराज : पृथ्वीराज के जीवन की जिन घटनाओं का सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों से है, उनके सम्बन्ध में उन व्यक्तियों के शीर्षकों में विचार किया जा रहा है। यहाँ केवल उनकी वंशावली तथा उनके जीवन की तिथियों पर विचार किया जा रहा है।

एक स्थान पर कहा गया है कि (चहुवान वंश के) मूल पुरुष की उत्पत्ति ब्राह्मण के यज्ञ से हुई[14], अन्यत्र कहा गया है चहुवान वंश ने ब्राह्मण (के यज्ञ) की वेदिका से जन्म लिया और श्रोत्रिय (ब्राह्मण) सामंत ने उत्पन्न किया[15]। यह उल्लेख सं० १२२६ के सोमेश्वर के बिजोलिया के शिलालेख से यथेष्ट साम्य रखता है: उसमें कहा गया है कि इस वंश का प्रथम पुरुष वत्सगोत्र का ब्राह्मण सामंत नाम का था[16]। सं० १३१९ के सुंधा पर्वत के शिलालेख में भी मूल पुरुष चाहमान की उत्पत्ति वत्सगोत्र में बताई गई है[17]। सं० १३७७ के

---

[1] वही, पृ० ६३। [2] अ० ५, भुजं० ५। [3] अ० ८, भुजं० १।
[4] अ० ८, भुजं० १; १२. पद्ध० ३। [5] अ० १७, कबि० ६, कबि० ७।
[6] भांडारकर : 'इंस्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया', पृ० ५। [7] वही, पृ० ५। [8] वही, पृ० ६।
[9] अ० ५, भुजं० ५, रसा० १०। [10] अ० ७. त्रोट० २।
[11] अ० ८, भुजं १; १०. कबि ५, कबि ६, कबि ९। [12] गौरीशंकर हीराचंद ओझा : 'अनंद विक्रम संवत् की कल्पना', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० १९७७, पृ० ४३२।
[13] हरिचरण सिंह चौहान : 'आमेर के कछवाहा और रावपज्जून तथा रावकील्हण', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० १९८६, पृ० ६७। [14] अ० २, पद्ध० १। [15] अ० १४, कबि० ६।
[16] भांडारकर : 'इंस्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया', पृ० ५१। [17] वही, पृ० ८०।

अचलगढ़ के शिलालेख में कहा गया है कि जब सूर्य और चंद्र वंश मिट गए, तब वत्स ऋषि ने क्षत्रियों का एक नया वंश (चाहमान वंश) उत्पन्न किया[1]। किंतु कुछ काव्य ग्रंथों में चाहमानों का सूर्यवंशी इक्ष्वाकु से सम्बन्ध जोड़ा गया है : ये काव्य हैं (१) सं० १२१० में सोमेश्वर लिखित और शिलाओं पर उत्कीर्ण एक राज-प्रशस्ति काव्य, (२) जयानक लिखित 'पृथ्वीराज विजय' तथा (३) सं० १४६० के लगभग नयचंद सूरि द्वारा लिखित 'हम्मीर-महाकाव्य'। और इन्हीं के आधार पर श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने चाहमानों को सूर्यवंशी माना है[2]। किंतु नवीन राजकुलों को पौराणिक राजकुलों से संबद्ध करने की चेष्टा आश्रित कवियों ने सदैव की है, वही बात इन काव्यों के उल्लेखों में भी दिखाई पड़ती है। अतः इस प्रकार के विषयों में राजकीय अभिलेखों और काव्यों में अंतर उपस्थित होने पर अभिलेखों का प्रमाण ही मान्य होना चाहिए और यह स्पष्ट है कि 'रासो' का उल्लेख इस विषय में राजकीय उल्लेखों से पूर्ण साम्य रखता है।

इसके अनंतर 'रासो' में दी गई वंशावली इस प्रकार है : मानिक राय—बीसल—सारंग—आनल्ल—जैसिंहदेव—आनंद—सोमेश्वर—पृथ्वीराज[3]। अन्यत्र भी उसमें मानिक राय को इस वंश का पूर्व-पुरुष कहा गया है[4]। इस चहुवान (चाहमान) वंश की सबसे पूर्ण वंशावली सोमेश्वर के सं० १२२६ के बिजोलिया के शिलालेख में मिलती है[5], जो उपर्युक्त सामंत ब्राह्मण के अनंतर इस प्रकार है : पूर्णतल्ल—जयराज— विग्रह—चंद्र— गोपेंद्रक— दुर्लभ— गुवाक—शशिनृप—गुवाक—चंदन—वप्पयराज—विंध्य-नृपति—सिंहराज—विग्रह—दुर्लभ—गुंडू—वाक्पति तथा वीर्यराम—चामुंड—सिंघट—दूसल तथा वीसल—पृथ्वीराज—अजयदेव—अर्णोराज—विग्रहराज, पृथ्वीराज (जो अर्णोराज का भतीजा था) तथा सोमेश्वर।

इससे पूर्व सं० १०३० के हरस के शिलालेख में गोविंदराज ने, जिसे उपर्युक्त बिजोलिया के शिलालेख में गुंडू कहा गया है, अपनी वंशावली दी है, जो इस प्रकार है : गुवाक—चंद्रराज—गुवाक—चंदन—वाक्पतिराज—सिंहराज तथा वत्सराज—(सिंहराज के पुत्र) विग्रहराज, दुर्लभराज, चंद्रराज तथा गोविंदराज।

उपर्युक्त सोमेश्वर के बिजोलिया के शिलालेख से इस शिलालेख में दी हुई वंशावली में एक अंतर तो यह है कि इसमें गुवाक के पूर्व के पूर्वजों के नाम नहीं दिए गए हैं, दूसरा अंतर यह है कि बिजोलिया के अभिलेख से इसमें विंध्यनृपति का नाम वप्पय वर्मा (वाक्पतिराज) और सिंहराज के बीच में कम है, और तीसरा अंतर यह है कि इसमें विग्रह, दुर्लभ और गोविंदराज को भाई-भाई कहा गया है, जब कि बिजोलिया के अभिलेख में उन्हें उत्तरोत्तर पिता-पुत्र कहा गया है। जहाँ तक तीसरे अंतर का प्रश्न है, उसके विषय में स्वतः गोविंदराज से बढ़ कर प्रमाण दूसरा नहीं हो सकता, इसलिए उसके सम्बन्ध में गोविंदराज का हरस का अभिलेख ही मान्य है। दूसरे—विंध्यनृपति सम्बन्धी—अंतर के बारे में भी गोविंदराज का सोमेश्वर के लगभग २०० वर्ष पूर्व का साक्ष्य अधिक मान्य प्रतीत होता है। यदि विंध्यनृपति सिंहराज के पिता और इसलिए गोविंदराज के पितामह होते, तो उनका नाम कदापि उस हरस के अभिलेख में उल्लिखित होने से रह न जाता। जहाँ तक प्रथम अंतर का प्रश्न है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि बिजोलिया के शिलालेखवाले नाम कल्पित हैं, किंतु शिलालेख आदि की कोटिका अन्य कोई भी साक्ष्य उसके समर्थन के लिए प्राप्य नहीं है। उपर्युक्त के अतिरिक्त पृथ्वीराज के सं० १२३९ के मदनपुर के शिलालेख में अर्णोराज—सोमेश्वर—पृथ्वीराज परंपरा मिलती है। अतः गुवाक (प्रथम) से ले कर पृथ्वीराज की वंशावली नितांत निश्चित है। पृथ्वीराज के पूर्व ये पीढ़ियाँ सत्रह होती हैं। 'रासो' में पृथ्वीराज के पूर्व, जैसा हमने ऊपर देखा है, केवल सात पीढ़ियाँ हुई हैं। इन सात पीढ़ियों में भी केवल तीन नाम—बीसल, आनल्ल तथा सोमेश्वर के—ऐसे हैं, जो निर्णीत वंशावली में आते हैं, चार नाम सर्वथा कल्पित हैं। इससे ज्ञात होता है, कि 'रासो' लेखक का पृथ्वीराज के पूर्वजों के विषय का ज्ञान किसी प्रामाणिक सूत्र से प्राप्त नहीं था। वह कदाचित् सुनी-सुनाई बातों पर आधारित था।

---

[1] वही, पृ० ६५। [2] गौरीशंकर हीराचंद ओझा:, 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल' नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० १९८६, पृ० २९। [3] अ० २, पद्ध० २, मे० १, पद्ध० ७, दो० ७६। [4] अ० ७, त्रोट० २। [5] भांडारकर : 'इंस्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया', पृ० ५१।

जहाँ तक पृथ्वीराज के जीवन की तिथियों की बात है, निम्नलिखित तिथियाँ 'रासो' में आती हैं :

(अ) सं० १११४-१५ में पृथ्वीराज का जन्म हुआ, यह तिथि नहीं दी हुई है, किंतु सं० ११५१ के चैत्र मास में वह ३६ वर्ष ६ मास का कहा गया है[१]।

(आ) सं० ११३८ में खट्टू का धन निकाला गया[२]।

(इ) सं० ११३८ मार्गशीर्ष शुक्ल ५ गुरुवार को पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य मिला[३]।

(ई) सं० ११४८ में भोरा भीम ने शिवपुरी को जलाया[४]।

(उ) सं० ११५१ चैत्र तृतीया रविवार को पृथ्वीराज ने कन्नौज प्रयाण किया[५]।

(ऊ) सं० ११५४ में पृथ्वीराज को पराजित करने के अनंतर दिल्ली का राज्य शहाबुद्दीन को मिला—यह तिथि नहीं दी हुई है, किंतु सं० ११३८ में जब अनंगपाल ने दिल्ली का राज्य पृथ्वीराज को दिया है यह भविष्यवाणी हुई है कि १६ वर्ष बाद तुर्क दिल्ली का शासक होगा[६]।

पृथ्वीराज के जीवन की तीन तिथियाँ निश्चित हैं—

(क) **राज्यारोहण-तिथि :** सोमेश्वर के समय का अंतिम अभिलेख भाद्र पद सं० १२३४ का अनवल्दा का सती-स्तंभ का शिलालेख है[७], और पृथ्वीराज के समय के प्रथम अभिलेख फलोधी, तथा लोहारी के शिलालेख हैं जो सं० १२३६ के हैं। अतः यह प्रमाणित है कि सं० १२३४ तथा सं० १२३६ के बीच किसी समय सोमेश्वर की मृत्यु हुई और पृथ्वीराज अजमेर का शासक हुआ।

(ख) **चंदेल परमर्दि पर विजय की तिथि :** सं० १२३९ में पृथ्वीराज ने चंदेल परमर्दि को पराजित किया। मदनपुर का सं० १२३९ का शिलालेख इसी विषय का स्मारक है[८]।

(ग) **देहांत-तिथि :** पृथ्वीराज के जीवन काल का अंतिम अभिलेख सं० १२४५ का बाजट मूर्त्ति का लेख है,[९] और उसके उत्तराधिकारी हरिराज के स्तूप का प्रथम अभिलेख सं० १२५१ का टंटोटी का शिलालेख है[१०]। इसलिए निश्चित है कि पृथ्वीराज का देहांत सं० १२४५ और सं० १२५१ के बीच किसी समय हुआ। मुस्लिम इतिहासकार मिनहाजुस्सिराज (सं० १३१६ वि०) के अनुसार वह ५८८ हिजरी (सं० १२४८-४९) में पराजित होने के अनंतर शहाबुद्दीन के द्वारा मरवा डाला गया[११]। 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में संकलित तथा विक्रमीय १४ वीं शती में लिखे गए 'पृथ्वीराज-प्रबंध' में १२४६ की तिथि दी हुई है[१२]। किंतु उक्त अन्य देहांत-तिथि एक इतिहास लेखक की दी हुई है, अतः अधिक मान्य है।

पृथ्वीराज के जीवन काल के जो अन्य अभिलेख मिले हैं, वे भी सं० १२३६ तथा सं० १२४५ के बीच के हैं।[१३] इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथ्वीराज के प्रौढ़ जीवन से संबंधित समस्त तिथियाँ विक्रमीय तेरहवीं शती की हैं। किंतु ऊपर हमने देखा है कि 'रासो' में दी हुई समस्त तिथियाँ विक्रमीय बारहवीं शती की हैं। इसलिए यह प्रकट है कि 'रासो' की तिथियाँ नितांत कल्पित हैं।

'रासो' की तिथियों को शुद्ध प्रमाणित करने के लिए विक्रमीय संवत् से ९१ वर्ष पिछड़े हुए 'अनंद' नामक संवत् की कल्पना की गई है।[१४] किंतु इस कल्पना से भी अंतर का समाधान नहीं होता है। ९१ वर्ष जोड़ने पर पृथ्वीराज के दिल्ली-राज्याभिषेक की तिथि सं० १२२९ तथा देहांत की तिथि सं० १२४५ होती है। किंतु 'रासो' में यह कहा गया है कि पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य उस समय मिला, जब वह अजमेर का राजा था,[१५]

---

[१] अ० ६, कवि, २, ३। [२] अ० २, दो० १६। [३] अ० २, कवि० ७, दो० २२।
[४] अ० ४, कवि० १। [५] अ० ८, दो० १। [६] अ० २, कवि० ६।
[७] भांडारकार : 'इंस्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया', पृ० ५६।
[८] वही, पृ० ५८। [९] वही, पृ० ६१। [१०] वही पृ० ६२।
[११] मिनहाजुस्सिराज : 'तबक़ात-ए-नासिरी' इलियट और डाउसन, भाग २, पृ० २९६-९७।
[१२] 'पुरातन प्रबंध संग्रह'—मुनि जिन विजय द्वारा संपादित, पृ० ८७।
[१३] भांडारकर : 'इंस्क्रिप्शन्स ऑव् नॉर्दर्न इंडिया', पृ० ५८-६१।
[१४] मोहन लाल विष्णुलाल पंड्या, संपा० 'पृथ्वीराज रासो', पृ० १३९। [१५] अ० २, साट० ४।

संदेश यहां मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।[1]

आज का सच्चा धर्म वह नहीं है जो कर्मठ नवयुवकों को गेरुआ पहना कर उन्हें समाज की कर्मधारा से विच्छिन्न करता है, परंतु, वह जो संन्यासियों से भी यह कहता है कि अरण्यवास को छोड़कर जन-समाज के भीतर जाकर मनुष्यों की सेवा किये बिना तुम्हें शांति नहीं मिलेगी। और भगवान का अवतार अब साधुओं और ब्राह्मणों की रक्षा के लिए नहीं, प्रत्युत्, "विवश, विकल, बलहीन, दीन" लोगों के उद्धार के निमित्त होना चाहिए। इसी प्रकार अवतारों के नाम-स्मरण की अपेक्षा उनके गुण, कर्म और स्वभाव का अनुकरण कहीं अधिक फलदायी है। यह भी कि मनुष्य यदि अपनी पतित स्थिति में ही पड़ा रह गया तो ईश्वर का नर-शरीर धारण करना व्यर्थ है। मनुष्य-योनि में ईश्वर के अवतार का स्वाभाविक परिणाम यह होना चाहिए कि मानव ईश्वरत्व की ओर बढ़ना आरंभ कर दे। "नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया" यह भारतीय पुनरुत्थान की सबसे बड़ी शिक्षा है। विचित्र संयोग की बात है कि यह भाव महर्षि अरविंद के यहाँ दर्शन के रूप में विकसित हो गया है।

भारत में देशभक्ति की धारा भी पुनरुत्थान के साथ अथवा ठीक उसकी पीठ पर आयी थी। अतएव, 'साकेत' के राम, व्याजांतर से, देशभक्ति को भी प्रेरणा देते हैं—

अथवा आकर्षण पुण्य भूमि का ऐसा,
अवतरित हुआ मैं आप उच्च फल-जैसा।

यहाँ स्पष्ट ही पुण्यभूमि से तात्पर्य भारतवर्ष से है और 'आकर्षण' शब्द के पीछे उस श्लोक की प्रेरणा छिपी हुई है जिसमें यह कहा गया है कि भारत इतना पवित्र देश है कि देवता भी यहां जन्म पाने को तरसते रहते हैं।[2] इसी प्रकार, "सुख-शांति हेतु मैं क्रांति मचाने आया" के भीतर से स्वाधीनता-संघर्ष का औचित्य ध्वनित होता है।

कहते हैं, अत्यंत प्राचीन काल में अगस्त्य ऋषि विंध्याचल के दक्षिण गए थे और उनके अभियान का लक्ष्य दक्षिण भारत में आर्य-संस्कृति का प्रचार था। फिर एक बार परशुराम दक्षिण गये और उन्होंने समुद्र को पाट कर नयी भूमि की रचना की जिसका नाम अब केरल प्रांत है। भगवान रामचंद्र को भी दक्षिण भारत होकर लंका जाना पड़ा था। प्राचीन और मध्यकालीन भारतवासियों को इतना ही विदित था कि रामचंद्र रावण से लड़ने को दक्षिण गए थे। किंतु, पुनरुत्थान का प्रकाश जब अतीत पर पड़ने लगा, तब राम की लंका-यात्रा की एक और व्याख्या निकल आयी कि वे वेद तथा आर्यत्व का भी प्रचार करने को दक्षिण गए थे। 'साकेत' के राम वैदिक धर्म तथा आर्यसभ्यता के प्रचारक हैं, यह बात पूरे काव्य में कई स्थलों पर सुनायी देती है।

राष्ट्रीयता भारतवर्ष में पुनरुत्थान की कुक्षि से उत्पन्न हुई। यहां पहले राममोहन, केशवचंद्र, दयानन्द, विवेकानन्द और एनी बेसेंट हुईं, तब अरविन्द, वारीन्द्र, तिलक, गोखले और गाँधी का आगमन हुआ। यही कारण है कि भारतीय राष्ट्रीयता के सर्वोच्च पुरुष महात्मा गांधी राजनीति से अधिक संस्कृति के नेता दिखायी देते हैं। 'साकेत' के भीतर भारत की राष्ट्रीयता एवं स्वाधीनता-संग्राम, दोनों की पद-चाप स्पष्ट सुनायी देती है। ननिहाल से वापस आने पर शत्रुघ्न जब क्रोध से कांपते हुए कहते हैं—

---

[1] 'द्रौपदी और सत्यभामा' शीर्षक कविता में अर्जुन द्रौपदी से कहते हैं—
'पर, मैं पृथिवी-पुत्र, अन्त में, जगती ही गति मेरी,
जहां साधना है इस तनु की, रहे वहीं रति मेरी।' —जय भारत
और दिवोदास (पृथिवी-पुत्र) में ये पंक्तियां आती हैं—
चला जाय मेरी धरती से सारा सुर-समुद

[2] गायंति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवंति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।

यह प्रलोभन हो किसी के हेतु,
तो उचित है क्रान्ति का ही केतु।
दूर हो ममता, विषमता,
मोह, आज मेरा धर्म राजद्रोह।

तब पहले पद से तो भारतीय क्रांति का औचित्य एवं उसकी आवश्यकता ध्वनित होती है तथा दूसरे पद में उस नारे की ध्वनि सुनायी पड़ती है जिसका उद्देश्य लोगों के हृदय पर यह विश्वास जमाना था कि पराधीन देश में राजद्रोह पाप नहीं, पुण्य का कर्म होता है।[1]

इसी प्रकार, राम जब वन जारहे हैं तब बहुत-से अयोध्यावासी यह कहकर उनके आगे लेट जाते हैं कि

राजा हम ने राम! तुम्हीं को है चुना,
करो न तुम यों हाय! लोकमत अनसुना।
जाओ, यदि जा सको रौंद हम को यहां।
यों कह पथ में लेट गये बहुजन वहां।

यह और कुछ नहीं, सविनय-अवज्ञा की प्रतिध्वनि है। स्वयं राम ने भी इसे 'विनत विद्रोह' कहा है।

उठो, प्रजाजन, उठो, तजो यह मोह तुम,
करते हो किस हेतु विनत विद्रोह तुम?

गुप्त जी की नारी-भावना

किंतु, पुनरुत्थान का इन सबसे कहीं गंभीर प्रभाव वह है जो मैथिलीशरण जी की, नारियों को देखने की दृष्टि में लक्षित होता है। पुराने समय में नारियां सारे संसार में दबा कर रखी गयी थीं, प्रत्युत्, कहना चाहिए कि भारत में वे कुछ अधिक ही दबी हुई थीं। किन्तु, बुद्धिवाद के उत्थान के साथ यह बात अमान्य होने लगी कि नैतिकता के नियम पुरुषों के लिए एक और नारियों के लिए दूसरे रखे जायं।[2] भारतवर्ष में नरों और नारियों के लिए नैतिकता के अलग-अलग नियम थे इस निष्कर्ष पर संदेह नही किया जा सकता। पुरुष वेद पढ़ सकता था, किंतु, नारी को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था। बुद्धदेव ने जब यह घोषणा की कि मनुष्य का चरम लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष की साधना संन्यास लेकर ही की जा सकती है[3] तब बहुत-सी नारियों ने भी तथागत से प्रार्थना की कि हमें भी भिक्षुणी होने का अधिकार दिया जाय, किंतु, तथागत ने बहुत दिनों तक नारियों को भिक्षुणी होने के अधिकार नहीं दिये। और अन्त में, आनन्द के कहने से जब उन्होंने नारियों को भी भिक्षुणी होने की अनुज्ञा दे दी तब एक दिन स्वयं उन्होंने पश्चात्ताप किया कि "आनन्द, मैंने जो धर्म चलाया था वह पांच सहस्र वर्षों तक चलनेवाला था, किंतु, अब वह केवल पांच सौ वर्ष चलेगा क्योंकि मैंने नारियों को भिक्षुणी होने का अधिकार दे दिया है।" और यही बात जैन संप्रदाय में भी हुई। यह ठीक है कि जैन संप्रदाय में, आरंभ से ही, नारियों को भिक्षुणी होने का अधिकार था, किंतु, जब दिगम्बर-संप्रदाय निकला, उसने उन्हें इस अधिकार से वंचित कर दिया जो बिलकुल स्वाभाविक बात थी। तब से जैन भिक्षुणी केवल श्वेतांबर संप्रदाय में ही होती है।

वैदिक, अवैदिक, बौद्ध और जैन, वैदिक काल के उपरांत, कमसे कम एक बात में नारियों की उपेक्षा और उन पर अत्याचार, सभी धर्मों ने किया। जब जीवन का सर्वोच्च ध्येय मोक्ष और मोक्ष का उपाय संन्यास

---

[1] सत्याग्रह के दिनों में देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद ने यह नारा दिया था कि "इन इंडिया सेडिशन इज़ नाट ए क्राइम बट धर्म" अर्थात् भारत में राजद्रोह अपराध नहीं, प्रत्युत् धर्म है।

[2] नारी निकले तो असती है, नर यती कहा कर चल निकले। —विष्णुप्रिया

[3] नर-कृत शास्त्रों के सब बंधन हैं नारी को ही लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएं पहले ही कर बैठे नर। —पंचवटी

हो गया तब समाज के हट्टे-कट्टे नवयुवक भी पत्नियों को छोड़कर संन्यास लेने लगे। उस विवशता भरी वेदना की तनिक कल्पना कीजिये जो उन पत्नियों के हृदय को दग्ध करती होगी जिनके पति जीवन के सर्वोच्च ध्येय की खोज में उनका त्याग कर रहे थे। वे अपने पतियों की निन्दा नहीं कर सकती थीं क्योंकि पति तो बहुत बड़े उद्देश्य की सिद्धि के लिए संन्यास लेते थे। दूसरी ओर, वे पतियों के साथ संन्यासिनी भी नहीं हो सकती थीं, क्योंकि वह संन्यास संन्यास नहीं होता जिसमें माया भी संन्यासी के साथ चलती है।[1] कोई आश्चर्य नहीं कि नारियों ने मन ही मन अपने को अधम मानना स्वीकार कर लिया। नारियों पर अत्याचार सभी देशों के पुरुषों ने किया था, किंतु, उन पर जैसा अत्याचार भारतवर्ष में हुआ, वैसा, कदाचित्, अन्यत्र नहीं हुआ होगा।

नारियों की अवज्ञा सिखानेवाली इस कुत्सित परंपरा का मूल भारतवर्ष में पुनरुत्थान ने हिलाया। इसी आन्दोलन के क्रम में भारतवासियों के भीतर यह अनुभूति जगी कि नारी निन्दा की पात्री नहीं, प्रत्युत्, पूजा की अधिकारिणी है। इसी आन्दोलन के क्रम में वह परम प्राचीन विख्यात श्लोकार्द्ध पुनरुज्जीवित होकर फिर से प्रचलित हो गया जो यह बताता है कि "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" निवृत्ति के साथ संन्यास और प्रवृत्ति के साथ गार्हस्थ्य की महिमा बढ़ती है। और जब-जब गार्हस्थ्य के गौरव में वृद्धि होती है, नारियों की पद-मर्यादा आपसे आप बढ़ जाती है। पुनरुत्थान ने प्रवृत्ति की जो महिमा जगायी उससे गार्हस्थ्य गौरवपूर्ण हो उठा और उसके स्वाभाविक परिणाम के रूप में नारियाँ आदरणीया हो उठीं।

भारतवासियों के नारी-विषयक दृष्टिकोण में परिवर्तन कैसे-कैसे आया यह बात पिछले सौ वर्षों की हिन्दी कविता के अवलोकन से स्पष्ट समझ में आती है। हमारी पहली प्रतिक्रिया रीति-कालीन कवियों की नारी भावना के विरुद्ध उठी क्योंकि उन्होंने नारी को केवल काम-क्रीड़ा का साधन समझा था। और इसमें कोई संदेह नहीं कि नारी को केवल कामिनी मानने से बढ़कर उसकी और कोई निन्दा नहीं हो सकती। उसके बाद दूसरा परिवर्तन यह आया कि साहित्य में नारियों के वे रूप चित्रित किये जाने लगे जो सती-साध्वी, वीरा, बलिदानी और त्यागमयी नारियों के रूप थे।[2] इसके साथ ही साहित्य में यह विलाप भी सुनायी पड़ने लगा कि भारत के पुरुषों ने ही नारियों को अशिक्षित, अपाहिज और पंगु बना रखा है।[3] नारी नर की समकक्षिणी एवं उसका पूरक अंश है, यह अनुभूति ठीक उसके बाद ही उत्पन्न होने लगी।[4] और उसके बाद तो नारी के प्रति पुरुष की उदारता और न्याय-भावना का द्वार ही उन्मुक्त हो गया, यहाँ तक कि छायावाद के आते-आते हिन्दी में यह भावना जग पड़ी कि नारी नर से श्रेष्ठ है, वह पुरुष में प्रेरणा भरने वाली शक्ति है, वह विश्व की रमणीयता में वृद्धि करनेवाली किरण है तथा यह उचित है कि हम उसकी आराधना किंचित् इस भाव से भी करें कि वह स्वप्नों की देवी है जिसे पुष्प तो अर्पित किया जा सकता है किन्तु, अपनी उँगलियों के स्पर्श से उसे कलंकित बनाना पाप है।

---

[1] हाय मेरे कारण ही छोड़ गये घर वे,
गृहिणी ही त्यागते हैं नर गृह कहके। —विष्णुप्रिया

[2] (क) लाला भगवानदीन की 'वीर क्षत्राणी'
(ख) शुचिता-सीप, पुण्य-पथ-प्रेमिनि, नेमिनि, नेह-निवाज।
जयति भुवि भारत-सती-समाज। —श्रीधर पाठक

[3] क्या दोष उनका, किन्तु, जो उनमें गुणों की है कमी ?
हा ! क्या करें वे, जब कि उनको मूर्ख रखते हैं हमीं।
विद्या हमारी भी न तब तक काम में कुछ आयगी,
अर्धांगियों को भी सुशिक्षा दी न जब तक जायगी।
सर्वांग के बदले हुई यदि व्याधि पक्षाघात की,
तो भी न क्या दुर्बल तथा व्याकुल रहेगा वातकी ? —भारत-भारती

[4] राम नरेश त्रिपाठी-कृत पथिक और स्वप्न नामक खंड-काव्यों में नायिकाओं का चरित्र, हरिऔध-कृत प्रिय-प्रवास में राधिका का चरित्र।

'भारत-भारती' में मैथिलीशरण जी की अनुभूति केवल इस बात तक सीमित रही कि भारतीय नारियों की दुरवस्था असहनीय है एवं इस स्थिति का दायित्व यहाँ के पुरुषों पर डाला जाना चाहिए।[1] 'शकुंतला' और 'तिलोत्तमा' में, कदाचित्, इतनी-सी अनुभूति की भी अभिव्यक्ति के लिए अवसर नहीं था। हां, 'केशों की कथा' नामक कविता में द्रौपदी का जो रूप निखरा है वह नारी का चण्डी-रूप अवश्य है।[2] वैसे, है तो यह भारवि की ही द्रौपदी, किन्तु, नारी-जागरण-काल में नवनिर्मित होने के कारण मैथिलीशरण जी की द्रौपदी भारत की नयी नारी का भी कुछ प्रतिनिधित्व करती है।

वस्तुतः गुप्त जी की नारी-भावना की पूरी अभिव्यक्ति, इन कविताओं में नहीं, प्रत्युत्, 'साकेत', 'यशोधरा,' 'द्वापर' और 'विष्णुप्रिया' में हुई है। 'साकेत', 'यशोधरा' और 'विष्णुप्रिया' में से प्रत्येक काव्य की मूल-प्रेरणा ही किसी न किसी नारी के प्रति कवि की एकान्त भक्ति थी। ऊर्मिला, यशोधरा और विष्णु-प्रिया, ये तीनों सन्नारियाँ पुरुषों के वैराग्य-प्रेम से पीड़ित नारियां हैं और, इस रूप में, वे भारत की उन असंख्य नारियों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनके पतियों ने उन्हें अपनी मोक्ष-सिद्धि के मार्ग की बाधा मानकर छोड़ दिया अथवा जिनका वैवाहिक जीवन इसलिए कष्टमय हो गया कि उनके पति किसी बड़े लक्ष्य की सिद्धि में जा लगे थे। इन तीनों नारियों में से केवल ऊर्मिला ही ऐसी थी जिसका वियोग निरवधि नहीं रहा। बाकी दोनों नारियाँ तो विरह के बाद आजीवन जीवित वैधव्य झेलती रहीं। ये तीनों नारियाँ भारतवासियों की स्मृति में व्यक्तित्व-विहीन होकर जीती चली आ रही थीं। यह बहुत अच्छा हुआ कि राष्ट्रकवि के हाथों उनमें से प्रत्येक को उनका व्यक्तित्व प्राप्त हो गया। और यहाँ भी जिसके जीवन में जितनी करुणा थी, उसके व्यक्तित्व में चमक भी उतनी ही आयी है। मैथिलीशरण जी ने इन तीनों में से ऊर्मिला के व्यक्तित्व को संवारने पर जितना प्रयास किया उतना प्रयास वे यशोधरा और विष्णुप्रिया के लिए नहीं कर सके। फिर भी यशोधरा और विष्णुप्रिया के व्यक्तित्व में जो चमक है, वह उर्मिला के व्यक्तित्व में नहीं मिलती। कारण स्पष्ट है कि वनवास की समाप्ति के बाद उर्मिला के कष्ट भी एक प्रकार से समाप्त हो गए। किन्तु यशोधरा और विष्णुप्रिया की वेदना दिन-दिन अथाह होती चली गयी।

यशोधरा पर लिखने की प्रेरणा कवि को साकेत से मिली[3] और इसमें संदेह नहीं कि यशोधरा का चरित्र ऊर्मिला के चरित्र की अपेक्षा अधिक गंभीर रूप से चित्रित हुआ है। यह भी कि यशोधरा के बहाने कवि ने नारी-समस्या पर अनेक ऐसे संकेत देने तथा अनेक ऐसी बातें कहने का सुयोग निकाल लिया है जिनके लिए उपयुक्त अवसर उसे 'साकेत' में नहीं मिले थे। केवल नारी समस्या की पृष्ठभूमि पर देखें तो 'साकेत' के ऊर्मिला-सम्बन्धी अंशों की अपेक्षा यशोधरा अधिक प्रौढ़ कृति है। ऊर्मिला को लेकर कवि ने इस प्रश्न पर सोचना आरंभ किया कि नारियों की समस्या क्या है, पतियों के वैराग्य के साथ उसका क्या सम्बन्ध है तथा नवयुग की दृष्टि से इस समस्या का समाधान क्या हो सकता है। इस चिंतन का आरंभिक रूप ऊर्मिला के व्यक्तित्व में मिलता है। किन्तु, उसकी पूर्ण परिणति यशोधरा में हुई है। वास्तव में, ऊर्मिला, यशोधरा और विष्णुप्रिया, ये एक ही चिंतन के तीन सोपान हैं तथा, क्रमशः, उनमें एक ही भाव का उत्तरोत्तर विकास होता गया है। हाँ, ऊर्मिला और यशोधरा के व्यक्तित्व प्रतापपूर्ण हैं एवं उनके सामने विष्णुप्रिया बहुत ही

---

[1] ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे,
अपना किया अपराध उनके शीश पर हैं धर रहे।
भागें न फिर हम से भला क्यों दूर सारी सिद्धियाँ
पाती स्त्रियाँ आदर जहाँ रहतीं वहीं सब ऋद्धियाँ। —भारत-भारती

[2] करुणा-सदन! तुम कौरवों से सन्धि जब करने लगो,
चिंता-व्यथा सब पाण्डवों की शान्त कर हरने लगो,
हे तात! तब इन मलिन मेरे कृष्ट केशों की कथा
मैं और क्या विनती करूँ, भूले तुम्हें न यथा-तथा। —जय-भारत

[3] कवि ने यशोधरा की भूमिका में स्वयं लिखा है, "और उनका श्रेय भी साकेत की ऊर्मिला देवी को ही है जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया।"

विनम्र-सी लगती है। किन्तु, विष्णुप्रिया ऊर्मिला और यशोधरा की तुलना में अधिक निःस्व है क्योंकि ऊर्मिला और यशोधरा तो पत्नी होने के साथ माता भी बन चुकी थीं। किन्तु, विष्णुप्रिया को मातृत्वका सुख भी नसीब न हुआ। कदाचित्, यही निःस्वता, यही अकिंचनता उसे कविता का अधिक अनुकूल विषय बना देती है। राष्ट्रकवि ने इस विनम्र पात्र के माध्यम से नारियों पर जो सहानुभूति उँड़ेली है वह परिमाण में अल्प होने पर भी सघनता में किसी से ·

इन तीनों नारियों के भीतर से, वास्तव में, वही करुणा बोलती है जो उन असंख्य पत्नियों की आँखों से बरसती होगी जिनके पतियों ने किसी बड़े लक्ष्य की सिद्धि के लिए वैराग्य ले लिया। अचरज की बात है कि नवयुग से पूर्व का कोई भी कवि इस करुणा को वाणी नहीं दे सका। विरह-वर्णन की, भारतीय साहित्य में, न्यूनता नहीं है। किन्तु, करुणा की वह चोट जो सीधे पतियों की वैराग्य-भावना पर पड़ती हो, अब तक नहीं लिखी गयी थी। और वह लिखी जाती भी तो कैसे? नवयुग से पूर्व यह जानता ही कौन था कि वैराग्य केवल पुण्य ही पुण्य नहीं, उसका एक पाप-पक्ष भी है जो पत्नियों को जीवित वैधव्य झेलने को विवश करता है। और नवयुगीन भारत में भी, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस करुणा को, अधिक से अधिक विदग्धता और विशालता से, केवल राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने ही लिखा है।

ऊर्मिला में यह करुणा अवाक् है। जब लक्ष्मण वन जा रहे थे, ऊर्मिला कुछ बोल न सकी। न जानें, उसके मन में किन भावों के तूफान उठे कि वह केवल 'हाय' कह कर बेहोश हो गयी। और चित्रकूट में जब एकान्त कुटी के भीतर लक्ष्मण से उसका मिलन हुआ, वह केवल इतना ही कह सकी—

मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो, भय भारी।

किन्तु, यशोधरा में यह करुणा मुखर हो उठी है। मोक्ष यदि जीवन का सर्वोच्च ध्येय है तो हम नारियाँ उससे वंचित क्यों रहें, यह शंका उन सभी नारियों में उठती होगी जिनके पति वैराग्य ले लेते थे। संभवतः, वे यह भी सोचती होंगी कि क्या पति और पत्नी साथ रह कर मुक्ति की साधना नहीं कर सकते। ऊर्मिला का ध्यान इस शंका की ओर नहीं गया अथवा गया भी हो तो उसे वह अपने भीतर ही दबा कर रह गयी। किन्तु, यशोधरा गर्विणी नारी है। जो विपत्ति उसके सिर पर आ पड़ी है, उसके सभी पहलुओं पर वह गंभीरता से विचार करती है—

मैं अबला, पर, वे तो विश्रुत वीर बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्ति पर वे कब थे विषयों के घेरे?

* * *

सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी, फिर उसकी क्या गति है?
पर, उनसे पूछूँ क्या जिनको मुझसे आज विरति है?
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है,
मैं भी नहीं अनाथ, जगत् में मेरा भी प्रभु पति है।

और इतना ही नहीं, यशोधरा यह भी कह डालती है कि—

जाओ नाथ! अमृत लाओ तुम, मुझ में मेरा पानी,
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी!
प्रिय, तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी!
कहाँ तुम्हारी गुणगाथा में मेरी करुण कहानी?
तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधरा करधारी!

कितनी गहरी चोट है! बुद्ध के अमृत और यशोधरा के आँसू में किसका मूल्य अधिक माना जाय? और जो वस्तु यशोधरा-जैसी पत्नी को ढकेल कर चेरी क्या, उपेक्षिता के पद पर डाल देती हो, उसकी अपनी

महत्ता क्या अक्षुण्ण रहती है ? "पुरुषोंकी कीर्तिके पीछे नारियोंका बलिदान काम करता है'। फिर भी, यशोधरा यही चाहती है कि सिद्धार्थ को कोई अप्सरा न लुभा ले। पत्नी की सबसे बड़ी शंका और क्या हो सकती थी ?

और विष्णुप्रिया चूंकि यशोधरा के भी बाद की रचना है, इसलिए राष्ट्रकवि के एतत्संबन्धी विचार उसमें और भी चमक उठे हैं, वे और भी वेधक एवं निर्भीक हो उठे हैं। यही कारण है कि विनम्र नारी विष्णुप्रिया के मुख से इस विषय में जो उद्‌गार निकलते हैं वे ऐसे लगते हैं, मानों, वनफूल के मुख से अंगारे छूट रहे हों।

अबला के भय से भाग गये, वे उससे भी निर्बल निकले,
नारी निकले तो असती है, नर यती कहा कर चल निकले।

* * *

यह बलि-पूर्व बलि-पशु को खिलाना है,
शाक्त तुम मेरे, क्यों न वैष्णव हो औरों के।
पशु नहीं, नर-बलि देते नहीं, लेते हो।[2]

* * *

हाय मेरे कारण ही छोड़ गये घर वे,
गृहिणी ही त्यागते हैं नर गृह कह के।

* * *

राधा ऐसी संपत्ति न थी, जिसका संग्रह हो त्याग हेतु,
क्या किया हाय रणछोड़ रथी ! फहराया तुमने कौन केतु ?

* * *

स्वीकृत स्वबलि मुझे, सिद्ध हो तुम्हारा याग,
सर्वलोक-संग्रह में क्या है एक मेरा त्याग ?

अनन्त काल से संत यह सिखाते आये हैं कि जो भी व्यक्ति परमार्थ-सिद्धि चाहता है, उसे नारी का त्याग कर देना चाहिये। किन्तु, किसी भी संत ने यह नहीं कहा कि परमार्थ सिद्धि यदि नारी का काम्य है तो उसे किसका त्याग करना चाहिए। किन्तु, इसका जो स्वाभाविक उत्तर हो सकता है, उसे कोई भी पुरुष प्रसन्नता से स्वीकार नहीं कर सकता। अतएव, उसने षडयंत्रपूर्वक नारियों के मन पर यह प्रभाव जमा दिया है कि परमार्थ-सिद्धि का कार्य, मुख्यतः, पुरुषों का कार्य है। किन्तु, यह मान्यता अब टूट चली है। अब तो हम यह मानते हैं कि जो भी क्षेत्र पुरुष का क्रियाक्षेत्र हो सकता है, वह नारियों का भी कर्मक्षेत्र है। फिर भी, जिस भय के कारण संत नारियों से भागने का उपदेश देते थे, वह भय आज भी विद्यमान है। किन्तु, उसका समाधान अब संयम का अभ्यास माना जाता है, पलायन नहीं। इसीलिए, गांधी और अरविन्द ने यह पद्धति चलायी कि पति-पत्नी, दोनों साथ रहकर परमार्थ की साधना कर सकते हैं

राष्ट्रकवि ने इस समाधान को स्वीकार किया है या नहीं, इसका संकेत नहीं मिलता। किन्तु, उनका मत यह दीखता है कि बुद्ध और गौरांग, दोनों को गृहत्याग के पूर्व अपनी पत्नियों की सहमति प्राप्त कर लेनी चाहिए थी। यशोधरा के मुख से तो यह बात बार-बार सुनायी देती है—

---

[1] इष्ट वही व्यष्टि, जय उस शुभशीला की,
अपने दृगम्बु से समष्टि को है धोती जो।
माँग भर पाती राम ! क्या तुम्हारी लीला की,
मैथिली की करुणा न देती तुम्हें मोती जो ? —विष्णुप्रिया का मंगलाचरण

[2] वैराग्य भी एक प्रकार का पत्निघात है, इसका संकेत एक स्थान पर राहुल भी देता है।
मुझको प्रतीति हुई आज इस बात की,
मैं वर बनूं तो मुझे हत्या वधूघात की। —यशोधरा

सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर, चोरी चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।
सखि! वे मुझसे कह कर जाते;
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?

* * *

सास-ससुर पूछेंगे
तो उनसे क्या अभी कहूँगी मैं?
हा! गर्विता तुम्हारी
मौन रहूँगी, सहूँगी मैं।
देती उन्हें बिदा मैं गा कर
भार झेलती गौरव पा कर।

* * *

हाय! स्वार्थिनी ऐसी थी मैं, रोक तुम्हें रख लेती?
जहाँ राज्य भी त्याज्य, वहाँ मैं जाने तुम्हें न देती?

यशोधरा के व्यक्तित्व के गांभीर्य का एक कारण उसकी चिंतनशीलता भी है। कवि ने यशोधरा के दार्शनिक चिंतन के भीतर से हिन्दुत्व के प्रवृत्तिमार्गी रूप के दर्शन करवाये हैं। यह, स्पष्ट ही, पुनरुत्थान का प्रभाव है। और उसे हम बहुत अस्वाभाविक भी नहीं कह सकते। बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ तो गौतम ने बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद निकालीं। किन्तु, जन्मे तो वे हिन्दू ही थे और उनकी पत्नी, पिता आदि कुल-परिवार की मान्यता तो हिन्दुत्व की ही मान्यता रही होगी। यही नहीं, प्रत्युत्, उनकी शिक्षाओं पर विचार करने वाले कितने ही दर्शनाचार्यों का मत है कि बुद्ध अपने समय के सबसे बड़े हिन्दू थे और उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म हिन्दू-धर्म का ही संशोधित रूप था। अतएव, यह अधिक अस्वाभाविक नहीं लगता कि बुद्ध की सहधर्मिणी यशोधरा एक ऐसे धर्म का आख्यान करती है जो प्रवृत्तिमार्गी होने के कारण निवृत्तिवादी बौद्धमत के किंचित् विपरीत पड़ता है।

रह गयी बात यह कि शैशव और यौवन, दोनों ही क्षणभंगुर हैं, तथा मनुष्य वृद्ध होता और फिर मृत्यु को भी प्राप्त होता है। किन्तु, इतने से घबराना क्या? तुम यह क्यों नहीं देखते कि मृत्यु व्यक्ति की होती है। समष्टि की धारा तो सदा अप्रतिहत होकर चलती रहती है।

चंद्र और सूर्य, ये तो निर्वापित नहीं होते। वे अस्त होकर उदित होते रहते हैं। आत्मा भी निर्वाण क्यों खोजे? वह बार-बार पृथ्वी पर अवतरित हो तो इसमें दोष क्या है?

और कैवल्य-प्रेमी लोग जो यह कहते हैं कि इच्छा दुःख है तो क्या कैवल्य की कामना इच्छा से कोई भिन्न वस्तु है? जीवन की हीनता तभी है जब हम केवल अपने लिए जीते हों। किन्तु, दूसरों के निमित्त जीवन धारण करना तो परम कल्याण का कार्य है। संसार की सेवा करते हुए हम बार-बार क्यों न जन्में और क्यों न मरें?

कैवल्य-काम भी काम, स्वधर्म धरें हम,
संसार हेतु शत बार सहर्ष मरें हम।[1] —'यशोधरा', पृ० १०७

यशोधरा के इस दार्शनिक चिंतन से दो एक और अनुमान निकलते हैं। एक तो यह कि चूंकि सिद्धार्थ का गृहत्याग यशोधरा को अच्छा नहीं लगा, इसलिए, सोचते-सोचते वह यह भी सोच गयी कि बुद्ध ने जो धर्म चलाया है, वह प्रवृत्तिमार्गी वैदिक धर्म से श्रेष्ठ नहीं है। दूसरे, संभव है, यशोधरा के आस्थावान् हिन्दू कवि ने 'यशोधरा' काव्य के भीतर वैदिक धर्म की ध्वजा फहराने के विचार से यह प्रसंग जान-बूझकर निकाल लिया हो। किन्तु, दोनों ही अवस्थाओं में, यह प्रसंग प्रवृत्तिमार्गी हिन्दुत्व के पुनरुत्थान का प्रभाव है।

[1] पूरी कविता के लिए दे० 'यशोधरा' का पृष्ठ १०७।

यशोधरा ने अपने विरह को बड़ी वीरता से झेला। जब उसने सुना कि सिद्धार्थ अपना केश उतार कर संन्यासी हो गये हैं, उसने भी अपने बाल काट कर फेंक दिये और वह बिलकुल आभूषणविहीन हो गयी। शुद्धोदन जब सिद्धार्थ की खोज करवाने को बेचैन होने लगे, उसने उन्हें समझाया कि आपके पुत्र किसी बड़े संकल्प से निकले हैं, अतः, उन्हें खोज कर लौटाने का श्रम व्यर्थ होगा। उचित तो यही है कि हम घर रह कर ही उनकी सफलता की कामना करें—

उनकी सफलता मनाओ तात, मन से,
सिद्धि लाभ करके वे लौटें शीघ्र वन से।

किन्तु, यशोधरा इतनी ही नहीं है। वह अत्यंत स्वाभिमानिनी भी है और स्वाभिमान भी ऐसा जिससे बुद्ध के प्रति उसकी श्रद्धा को कोई आँच नहीं पहुँचती। एक बार शुद्धोदन को पता चला कि तथागत मगध में विराज रहे हैं। पुत्र को इतना समीप जान कर उन्हें इच्छा हुई कि वे एक बार उससे मिल आवें। किन्तु, जभी उन्होंने यशोधरा से मगध चलने का प्रस्ताव किया, यशोधरा का स्वाभिमान जाग उठा—

किन्तु, तात! उनका निदेश बिना पाये मैं
यह घर छोड़ कहाँ और कैसे जाऊँगी?[1]

यह भाषा कुल-ललना की भाषा है। किन्तु, उसके भीतर लौह-सी दृढ़ता भी है। बुद्धदेव यशोधरा से कह कर क्यों नहीं गये? और यदि वे चोरों की तरह बिना कुछ आदेश दिये ही भाग गये तो कुल-ललना का तो यही धर्म हो सकता है कि वह उसी घर में बैठ कर प्रतीक्षा में अपनी आयु समाप्त कर दे जिसमें उसका पति उसे छोड़ भागा है। अपने विरह के आरंभ में ही यशोधरा मन ही मन एक व्रत ठान बैठी थी—

भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान,
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान।

उस व्रत का आलोक पूर्णरूप से उस समय प्रस्फुटित हुआ जब तथागत कपिलवस्तु पधार कर अपने पिता के घर गये। क्षण भर में सारा नगर, सारा परिवार उनके चरणों में जा गिरा। किन्तु, यशोधरा वहाँ नहीं आयी।

प्रभु उस अजिर में आ गये, तुम कक्ष में अब भी यहाँ?
हे देवि! देह धरे हुए अपवर्ग उतरा है वहाँ।
सखि! किन्तु, इस हतभागिनी को ठौर हाय, वहाँ कहाँ?
गोपा वहीं है, छोड़ कर उसको गये थे वे जहाँ।
यदि वे चल आये हैं इतना,
तो दो पग उनको है कितना?
क्या भारी वह, मुझको जितना?
पीठ उन्होंने फेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी।

और हम तथागत की महत्ता को भी नहीं भूल सकते कि क्षणभर को वे यह भूल ही गये कि वे संन्यासी हैं, गृहत्यागी और विश्व के नवीन भिक्षु-धर्म के प्रणेता हैं। गोपा का मान रखने को वे स्वयं उसके भवन में जा पहुँचे—

---

[1] कुलललना का यह शील विष्णुप्रिया में भी प्रकट हुआ है। यथा—
चले गये माधव मुँह मोड़, राधा जा न सकी व्रज छोड़!
कुल छोड़ा, व्रज क्यों न छोड़ती, पर, था कौन उपाय?
उनका पीछा कर क्या उनकी हँसी कराती हाय!

मानिनि ! मान तजो, लो, रही तुम्हारी बान।
दानिनि ! आया स्वयं द्वार पर तव यह तत्रभवान।

कहते हैं, इस अवसर पर भगवान बुद्ध ने एक विलक्षण बात कही थी, "आनन्द, संसार के लिए मैं बुद्ध हूँ। किन्तु, गोपा के लिए मैं अभी भी सिद्धार्थ ही हूँ।" और गोपा ने क्या उन्हें किसी अन्य भाव से भजा था ? पत्नी की दृष्टि में पति तो पति ही रहेगा, चाहे वह योगी, महात्मा या पैगम्बर ही क्यों न हो जाय—

चाहे तुम सम्बन्ध न मानो,
स्वामी ! किन्तु, न टूटेंगे ये, तुम कितना ही तानो।
पहले हो तुम यशोधरा के, पीछे होगे किसी परा के,
मिथ्या भय हैं जन्म जरा के, इन्हें न उसमें सानो।
वधू सदा मैं अपने वर की, पर, क्या पूर्ति वासना भर की ?
सावधान ! हाँ, निज कुलधर की जननी मुझ को जानो।

पुनरुत्थान ने हमारे हृदयों में नारीजाति के प्रति जिस सहानुभूति और सम्मान की भावना को जाग्रत किया वह युग-कवि के भीतर से अनेक रूपों में व्यक्त हुई। किन्तु, उन सब का जैसा पूर्ण प्रतिनिधित्व यशोधरा करती है, वैसा और कोई पात्री नहीं करती। उसके भीतर मातृत्व की उज्ज्वलता, गृहवधू की विनयशीलता और प्रबन्धकुशलता एवं पत्नी की एकाग्र पतिपरायणता का अद्भुत संयोग है। किन्तु, इन सब से ऊपर उसका कोमल-उज्ज्वल स्वाभिमान है जो समस्त नारीजाति का मस्तक ऊँचा करता है, जो भारतीय ललनाओं में यह प्रेरणा भरता है कि विषम से विषम परिस्थितियों में भी वे अपने व्यक्तित्व की स्वाधीनता को कैसे ऊँचा उठाये रह सकती हैं। गोपा प्रशंसनीय ही नहीं, पूर्ण रूप से श्रद्धेय है। उसके श्वसुर ने "गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको" कह कर अपनी पुत्रवधू के साथ कोई पक्षपात नहीं किया।[1]

पिछले सौ वर्षों में जिस वैचारिक आन्दोलन ने नारियों के उत्थान को संभव किया, उसके तीन सोपान दिखायी देते हैं। पहले तो नारियों के प्रति सहानुभूति जगी, तब नर-नारी-समानता के भाव जगने लगे और तीसरे सोपान पर पहुँच कर नारी विद्रोहपूर्वक अपने अधिकार माँगने लगी। इस दृष्टि से गुप्त जी का भाव-जगत् पहले दो सोपानों का भाव-जगत् है। उन्होंने नारी-जाति के प्रति अपनी निश्छल सहानुभूति प्रकट करके पुरुषों के भीतर यह प्रेरणा जाग्रत की कि हमें स्वेच्छया नारियों को उनके अधिकार समर्पित कर देने चाहियें। यह गाँधी-मार्ग है और राष्ट्रकवि साहित्य के भीतर गाँधी-भावनाओं के प्रतिनिधि रहे भी हैं। इसीलिए, उनके द्वारा चित्रित नारियाँ करुणा की सजीव प्रतिमाएँ हैं जो बोलती तो कुछ नहीं, किन्तु, अपने करुणा-विगलित आनन मात्र से पुरुषों की कठोरता को गला देती हैं।

किन्तु, माँ हैं वृद्धा, हृतपुत्रा और विधवा, मैं हूँ परित्यक्ता वधू भिक्षु हुए पति की।
अब निज निःस्वता ही संपदा हमारी है, यह तो तुम्हारे यशःपट के ही योग्य है। —विष्णुप्रिया

हा, अबला ! आ, धरी अनादर अविश्वास की मारी,
मर तो सकती है अभागिनी, कर न सके कुछ नारी। —द्वापर

---

[1] इसी प्रकार का गौरव विष्णुप्रिया को भी उसकी सास ने दिया है। एक बार ऐसा हुआ कि गौरांग महाप्रभु शान्तिपुर आये हुए थे। नित्यानन्द ने आकर यह सूचना गौरांग की माता को दी और उन्हें शान्तिपुर चलने को कहा। पालकी द्वार पर आ गयी। सब लोग घर से बाहर चले। साथ में विष्णुप्रिया भी चली। तब नित्यानन्द ने यह बताया कि गौरांग ने विष्णुप्रिया को साथ लाने को नहीं कहा है। यह सुनते ही विष्णुप्रिया "माँ" इतना कहकर अर्धमूर्च्छित हो कर बैठ गयी और माँ ने यह कहकर यात्रा स्थगित कर दी कि—

"लौट जा निताई, तब मैं भी नहीं जाऊँगी। यह नहीं उसकी तो मैं भी कह, कौन हूँ ?
अब अधिकार इसे रोकने का क्या उसे ? देखूँ मुख मैं ही तब क्यों उस कृतघ्न का ?"

कंठ जब बँधता है, तब कुछ रोती हूँ,
होंगे गत जन्म के ही मैल उन्हें धोती हूँ। —यशोधरा

और सब से अधिक मर्मवेधी तो यह उक्ति है कि—

अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी,
अंचल में है दूध और आँखों में पानी।

विवशताओं से घिरी, शास्त्रों के अत्याचारों से पीड़ित एवं पुरुषों की उपेक्षा और निर्दयता से दलित नारी की ओर से मैथिलीशरण जी ने, मुख्यतः, पुरुषों से सहानुभूति की भीख माँगी है—

छाया घनतम अंधकार है, बहती विषम बयार है,
सब की सहज सहानुभूति है, इतना ही आधार है। —विष्णुप्रिया

किन्तु, सहानुभूति यदि विफल हुई, यदि वह पुरुषों के हृदय के वज्र-कपाट को गलाने में असमर्थ रही तो विद्रोह का आश्रय लेना पड़ सकता है, राष्ट्रकवि ने अभी हाल में यह संकेत भी दिया है।

व्यथित हो रहा मेरे कारण सारा स्त्री-संसार है,
मुझ पर कृपा, कोप स्वामी पर करता बारंबार है।
कहता है, नारी पर नर का कितना अत्याचार है।
लगता है, विद्रोह मात्र ही अब इसका प्रतिकार है। —विष्णुप्रिया

किन्तु, विष्णुप्रिया के मुख से विद्रोह के जो संकेत अब दिलाये गये हैं, उनकी झाँकी 'द्वापर' में ही मिल चुकी थी। नारी की सारी पराधीनता इस बात को लेकर है कि पुरुष उसे आँख से ओझल होने देना नहीं चाहता, घर से बाहर जाने देना नहीं चाहता, न वह इस बात के लिए तैयार है कि नारी स्वेच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ घूम सके। विधृता कृष्ण के रास में सम्मिलित होना चाहती थी, किन्तु, उसके वैदिक पति ने उसे घर से बाहर जाने से रोक दिया। कथा है कि विधृता इस अपमान को न सह सकी और तत्क्षण उसका देहान्त हो गया एवं उसकी आत्मा रास में जा सम्मिलित हुई। 'द्वापर' में कवि ने इस प्रसंग पर अपने जो अभिमत प्रकट किये हैं वे बड़े ही नवीन एवं कुछ दूर तक विद्रोही भी हैं।

कालदेवता के साथ

मैथिलीशरण जी की उपलब्धियाँ बहुत बड़ी हैं। खड़ी बोली का आज का कोमल रूप पंडित सुमित्रा-नन्दन पन्त की रसायनशाला में तैयार हुआ। किन्तु, उसके आरंभिक अनगढ़ रूप से लेकर 'पल्लव' की रचना के पूर्व तक हिन्दी में भाषा-संस्कार के जो भी प्रयत्न हुए, उनमें सब से अधिक अंशदान गुप्त जी का ही माना जायगा। एक प्रकार से, खड़ी बोली की उँगली पकड़ कर उन्होंने उसे चलना सिखाया है। और 'पल्लव' की रचना के बाद खड़ी बोली ने जो कोमल-मृदुल रूप पकड़ा, गुप्त जी ने उसे भी स्वीकृति प्रदान की। 'साकेत' के नवम सर्ग और 'द्वापर' तथा 'झंकार' के कुछ गीतों की भाषा बहुत कुछ वही है जिसका संधान, मुख्यतः, पंत जी ने किया था—

श्रम कर जो क्रम खोज रही हो, उस भ्रमशीला स्मृति-सी,
एक अतर्कित स्वप्न देखकर चकित चौंकती कृति-सी,
हो-हो कर भी हुई न पूरी, ऐसी अभिलाषा-सी,
कुछ अटकी आशा-सी, भटकी भावुक की भाषा-सी।
अवश अचलता-सी जिससे हो रस चंचलता चूती,
कठिन मान की हठ-समाप्ति-सी खोज रही जो दूती।
उस उत्कंठा-सी जो क्षण-क्षण चौंक उठे एणी-सी,
खुल कर भी जो सुलझ न पायी उस उलझी वेणी-सी। —द्वापर

यह भाषा पंत जी की नहीं, मैथिलीशरण जी की है। किन्तु, वह पंत जी के प्रयोग का अभिनन्दन करती है। अथवा, हम यह भी कह सकते हैं कि यह छायावाद की सभा में द्विवेदी-युग के प्रत्यागमन का दृश्य है। छायावाद ने कोमलता की आराधना में अपनी शक्ति न्यून कर दी थी। द्विवेदी-युग की भाषा में शक्ति तो थी, किन्तु, वह अनगढ़ रूप की शक्ति थी। मैथिलीशरण जी ने दोनों की कमियों को पहचान कर छायावाद के समय अपनी भाषा में जो परिवर्तन किया, उससे उनकी अपनी कविताओं में तो नया निखार आया ही, वह हम-जैसे छायावादोत्तर कवियों के लिए भी प्रेरणाप्रद सिद्ध हुआ जो सन् १९३० ई० के आस-पास भाषा के छायावादी रूप को असमर्थ मान कर एक नयी भाषा का अनुसन्धान कर रहे थे। इस दृष्टि से 'द्वापर' और 'झंकार' के कितने ही पदों को मैं खड़ी बोली कविता के अच्छे उदाहरणों में गिनता हूँ—

त्याग न तप केवल यह तूंबी अब रह गयी हाथ में मेरे
आ बैठा हे राम! आज मैं लेकर इसे द्वार पर तेरे।
दे तू मुझको दण्ड विधाता, पर, कोदण्ड गुणों से दाता,
एक तार भी दे बन आता, बजे वेदना सांझ-सबेरे।

* * *

बीत चुकी है बेला सारी, किन्तु, न आयी मेरी बारी,
करूँ कुटी की अब तैयारी, वहीं बैठ गुण गाऊँ मैं।
तेरे घर के द्वार बहुत हैं किसमें होकर आऊँ मैं। —झंकार

और राधा की इस उक्ति पर तो बड़े-बड़े महाकाव्य न्योछावर किये जा सकते हैं—

शरण एक तेरे मैं आयी, धरे रहें सब धर्म हरे!
बजा तनिक तू अपनी मुरली, नाचें मेरे मर्म हरे!
नहीं चाहती मैं विनिमय में उन वचनों का वर्म हरे!
तुझको, एक तुझी को अर्पित राधा के सब कर्म हरे!
यह वृन्दावन, यह वंशीवट, यह यमुना का तीर हरे!
यह तरते तारांबर वाला नीला निर्मल नीर हरे!
यह शशि-रंजित, सित-घन-व्यंजित, परिचित त्रिविध समीर हरे!
बस, यह तेरा अंक और यह मेरा रंक शरीर हरे!
झुक वह वाम कपोल चूम ले यह दक्षिण अवतंस हरे!
मेरा लोक लाज इस लय में हो जावे विध्वंस हरे!

गुप्त जी का विशाल काव्य-समुद्र

राष्ट्रकवि का सब से विशिष्ट गुण यह है कि वे पुराना होना नहीं जानते। उनकी चेतना का यंत्र सजीव है। वे कोई साठ वर्षों से लिखते आ रहे हैं, किन्तु, इस लंबी अवधि में उन्होंने कभी भी दम नहीं लिया। इस बीच विश्व से बह कर जो भी विचार भारत पहुँचे उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा है। इस बीच जो भी बड़ी घटनाएँ घटीं, उनका कोई-न-कोई बिम्ब गुप्त जी के काव्य में अवश्य पहुँचा है। उनकी कविताएँ जेनी और मार्क्स पर भी हैं और अणु बम पर भी। जब देशी राजवाड़े समाप्त होने लगे, उन्होंने 'राजा-प्रजा' नामक काव्य लिखा। उनके विशाल काव्य-ग्रन्थ 'जय भारत' में महाभारत के चरितों और घटनाओं के भीतर से स्थान-स्थान पर नवयुग की किरणें झलक मारती हैं। और युद्ध की जो समस्या आज सारे विश्व को अपनी विकरालता से ग्रसे हुए है उस पर भी उनका चिंतन 'पृथिवीपुत्र' नामक कविता में चला है, जहाँ उन्होंने युद्धोन्मादी अभिनव मनुष्य की आलोचना उसकी माता (माता भूमि) द्वारा करवायी है।

सर्वहारा के उद्धार के निमित्त महाभियान पर निकलने वाले महर्षि मार्क्स की यह वाणी क्या जाग्रत भारत की वाणी नहीं ?—

> हो कर में पूरा और पक्का इसी धुन का
> प्रतिभू अवश्य हुआ चाहता हूँ उनका,
> उग्र अनुभूति, किन्तु, वाणी नहीं जिनमें,
> प्राण तो हैं, किन्तु, कोई प्राणी नहीं जिनमें,
> एक हैं जो, किन्तु, ऐक्य-भाव नहीं जिनमें,
> ताप से भरे हैं, किन्तु, ताव नहीं जिनमें।
> जाता हूँ उठाने उन्हें, बुद्धि का वरण हो,
> जागो श्रमजीवी जन! संघ के शरण हो।

गुप्त जी के सामने कविता के जितने आन्दोलन चले, (प्रयोगवादी आन्दोलन को छोड़कर) उनमें से प्रत्येक का बिम्ब गुप्त जी के विशाल काव्य-समुद्र में जगमगाता मिलता है। उन्होंने कई पीढ़ियाँ देखी हैं। किन्तु, परिवार का पिता होने के नाते सभी पीढ़ियों का अर्जन, मानों, उनके पास संचित हो गया हो। साठ वर्षों तक निरन्तर वे युग की प्रगति के साथ रहे हैं। जो लोग यह सोचते हों कि युग के साथ गुप्त जी और अधिक क्यों नहीं बदले, उन्हें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि गुप्त जी की आत्मा उस विशाल देश की आत्मा है जो नगरों में नहीं, हमारे ग्रामों में छाया हुआ है। स्पष्ट ही, यह भारत अभी उतना भी नहीं बदला है जितना परिवर्तन हम गुप्त जी की कविताओं में देखते हैं। और ग्रामों का यह विशाल देश उसी ढंग से बदल रहा है जिस ढंग से गुप्तजी में परिवर्तन आया है। गुप्तजी के साहित्य का अध्ययन अभी ठीक से नहीं हो पाया है। यह समय उथल-पुथल, हलचल और आक्रोश का है। ऐसे वातावरण में काव्य के सांस्कृतिक प्रभावों का विश्लेषण संभव नहीं है। आगे चलकर तटस्थ वृत्ति से, आज के साहित्य का जब गंभीर अध्ययन किया जायगा, आलोचक स्वयमेव इस निष्कर्ष पर जा पहुँचेंगे कि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने बड़ा भारी काम किया है।

यह मैं, इसलिए, कहता हूँ कि मैथिलीशरण जी का कार्यक्षेत्र, मुख्यतः, रामायण और महाभारत रहे हैं तथा रामायण और महाभारत, इन्हीं दो महाकाव्यों में इस देश की आत्मा निवास करती है। दर्शन को नया रूप देने का राजमार्ग यहाँ प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) की टीका रही है। किन्तु, साहित्य के भीतर से देश के हृदय को आलोड़ित करने के साधन यहाँ रामायण और महाभारत अथवा राम और कृष्ण के ही चरित रहे हैं। भास, कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष, तुलसी और सूर, इस देश के सभी प्रभावशाली कवियों को देख जाइये, जनता का हृदय-मंथन करने को उन्होंने या तो रामायण को उठाया अथवा महाभारत को। काव्य नवीन विषयों पर भी लिखे गये हैं और रवीन्द्रनाथ ने तो मुक्तकों के द्वारा ही सारे देश को मस्त कर दिया। किन्तु, जाति को नवीन दृष्टि तभी प्राप्त होती है जब उसके जातीय संस्कारों की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। रामायण और महाभारत, हमारे जातीय संस्कारों के अक्षय भांडार हैं। पुनरुत्थान के बाद, भारत में जो नवीन क्षितिज प्रकट हुआ, यह आवश्यक था कि कोई कवि उस क्षितिज पर खड़ा हो कर भारत के जातीय संस्कारों की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करे। छोटे पैमानों पर यह कार्य अनेक भाषाओं में अनेक कवियों ने किया। किन्तु, हिन्दी में जिस बड़े पैमाने पर यह कार्य राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी ने किया वह सारे भारतीय साहित्य में बेजोड़ है। 'जय भारत', 'जयद्रथ-वध' और 'द्वापर' तथा 'साकेत', 'पंचवटी' और 'यशोधरा' का और महत्व चाहे कोई स्वीकार न भी करे, किन्तु, इतना तो सब को मानना पड़ेगा कि इन काव्यों के भीतर से भारत की प्राचीन संस्कृति एक बार फिर से जवान हो गयी है।

हिंदी पुस्तक जगत्

श्री कृष्णाचार्य

यह निबंध विशेष रूप से हिंदी भाषा बोलनेवालों के क्षेत्र के बाहर के भारतीय जिज्ञासुओं के लिए और सामान्य रूप से हिंदी भाषा और साहित्य से अनुराग रखने वाले पाठकों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। व्यापकता और बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से विश्व भर की भाषाओं में हिंदी का तीसरा स्थान है। अब भारत के संविधान ने हिंदी को राष्ट्रभाषा संज्ञा से भी सम्मानित किया है। इन दोनों स्थितियों के कारण हिंदी के क्षेत्र से बाहर के जिज्ञासु यह जानना चाहते हैं कि हिंदी में उनके जानने योग्य क्या है? स्वभावतः यह प्रश्न हिंदी से परिचित या हिंदी साहित्य और भाषा से सम्बन्धित व्यक्ति से ही किया जा सकता है। अतः यह निबंध दो सीमाओं में बाँध कर लिखा गया है—जिनकी भाषा हिंदी नहीं है, उन्हें हिंदी के सम्बन्ध में अधिक से अधिक कितनी जानकारी की आवश्यकता है जिससे वह हिन्दी भाषा और साहित्य की वास्तविक स्थिति समझ सकें और हिन्दी बोलने और लिखने वाले व्यक्तियों को हिंदी के संबंध में कम से कम कितना ज्ञान अपेक्षित है जिससे वह अपनी ही निधि से ठीक-ठीक परिचित हो जायें!

स्पष्ट है कि हिंदी के मौलिक ग्रंथों का परिचय देने की चेष्टा विशेषरूप से की गई है। अति संक्षेप में हिंदी भाषा की वर्तमान समस्याओं पर भी विचार किया गया है। अंत में हिंदी पुस्तकों की संख्या जानने का प्रयत्न है।

स्वयंभू—हिंदी साहित्य की चर्चा अन्य प्रमुख उत्तर भारतीय भाषाओंकी भाँति अपभ्रंश कालसे आरम्भ होती है। यह अपभ्रंश काल ईसा की छठवीं शती से लेकर ११ वीं शती तक माना जाता है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' शीर्षक निबंध में पहली बार प्रतिपादित किया था कि हिंदी तथा अन्य भाषाओं (राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, ब्रज, अवधी आदि) की माँ अपभ्रंश है—संस्कृत नहीं। फिर तो आचार्य शुक्ल ने बुद्धचरित की भूमिका में और पं० केशवप्रसाद मिश्र ने 'कीथ आन अपभ्रंश' (इंडियन एंटीक्वैरी—१९३१) लेख में इसी सिद्धान्त को व्यापक रूप से समझाने की चेष्टा की। दूसरी ओर श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'हिंदी काव्य-धारा' (१९४५) लिखकर अपभ्रंश का साहित्य भी प्रस्तुत कर दिया। हिंदी में भाषा की दृष्टि से महाकवि स्वयंभू कृत पउम चरिउ (पद्म चरित=राम चरित) का नाम सब से पहले आता है। वर्तमान हिंदी की उत्पत्ति समझने के लिए पीछे स्वयंभू तक जाना अनिवार्य है।[1] साहित्य की दृष्टि से भी स्वयंभू निश्चित रूप से अपभ्रंश का सर्वश्रेष्ठ महाकवि था।[2] भारतीय साहित्य में उसका स्थान वाल्मीकि, कालिदास, चन्द, सूर, तुलसी की परंपरा में है। श्री राहुल जैसे लेखक तो स्वयंभू को तुलसी से भी ऊँचे स्तर का कवि मानते हैं।

चंदबरदाई—किंतु हिंदी का प्रथम महाकवि चन्दबरदाई ही माना जाता है। स्वयंभू अपभ्रंश का कवि है, अतः वह उत्तर भारत की सब आधुनिक भाषाओं का अपना कवि है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और अन्य विद्वान भी चन्दकृत 'पृथ्वीराज रासो' को हिंदी का प्रथम महाकाव्य मानते हैं। यह धारणा निर्मूल है कि चन्द सामान्य भाट-चारणों की परंपरा में साधारण शिक्षित कवि थे। "वह बहुत पंडित और विद्वान् था, क्योंकि रासो में उसने काव्य की अनेक रीतियाँ प्रदर्शित की हैं।[3] ये महाराज पृथ्वीराज के राजकवि, उनके सखा और सामन्त भी थे, तथा षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक, आदि अनेक विद्याओं में पारंगत थे।"[4] चन्द की प्रामाणिकता पर पर्याप्त 'वाद' खड़े हैं। चन्द की साहित्यिक

---

[1] नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग (१९५२)।
[2] पउम चरिउ (प्रकाशक—भारतीय विद्या भवन, बंबई), अभी अपूर्ण।
[3] रामकुमार वर्मा : हि० सा० आलोचनात्मक इतिहास, द्वि० सं०, पृ० १५२।
[4] रामचन्द्र शुक्ल : हि० सा० इति०, नवम् संस्करण, पृ० ३८।

विशेषताओं के अध्ययन से भी ऐतिहासिक प्रामाणिकता के सूत्र पकड़े जा सकते हैं। इस दिशा में प्रथम प्रयास श्री विपिन विहारी त्रिवेदी का है।[1] अंग्रेजी साहित्य में जो स्थान चॉसर का है वही स्थान हिन्दी में चन्द का है—विद्वता और ग्रंथ-प्रणयन में चासर से भी अधिक। रूढ़ि-परंपरा और साहित्यिक आँख से रासो के अध्ययन का आग्रह श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी 'हिंदीसाहित्य का आदिकाल (५२)' में किया है।

विद्यापति—चन्द के अनंतर मिथिला की भूमि को धन्य करने वाले कवि विद्यापति हुए (१३५०-१४०३)। ऐतिहासिक क्रम से गीतकारों में पहले 'गीतगोविंद' के मधुर गायक जयदेव हुए। किंतु भाषा के कवियों में पहला, दूर तक गूंजने वाला ऊँचा स्वर विद्यापति का ही था। विद्यापति वह कवि है जिसने सारे वैष्णव बंगाल को, और सारे हिंदी क्षेत्र को प्रभावित किया। विद्यापति की उन्मुक्त और मादक स्वर-लहरी का माधुर्य कुछ ऐसा सिर चढ़ा कि किसी ने उसे बँगला में माना, किसी ने हिंदी में समेटा। अब तो कुछ नवीन विचारक मैथिली भाषा को सर्वतन्त्र स्वतंत्र भाषा मानने लगे हैं। विद्यापति को भक्तिरस का कवि माना जाता रहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के यह शब्द याद रखने योग्य हैं कि विद्यापति ने "इन पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है। भक्त के रूप में नहीं. . .आध्यात्मिकता के रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने 'गीत गोविंद' के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी।"[2] विद्यापति की कवित्व-शक्ति का अनुमान इसी एक तथ्य से किया जा सकता है कि आसक्ति की प्रगाढ़ और मुक्त अभिव्यक्ति दक्षिण भारत में आलवारों की परंपरा की कवियित्री आंडाल और उत्तर भारत की मतवाली मीरा में ही पाई जाती है। इस सम्बन्ध में पदावलियों के अतिरिक्त विद्यापति की दूसरी कृति कीर्तिलता द्रष्टव्य है। इस काव्य में वेश्याओं का जैसा यथार्थ चित्रण हुआ है, उससे यह भ्रम एकदम दूर हो जाता है कि यह कवि केवल भक्तमात्र था। इस रचना में मुसलमानों का समय के अनुरूप जैसा यथातथ्य वर्णन हुआ है, उससे तो विद्यापति एक प्रकार से यथार्थवादी दृष्टि-संपन्न कवि हैं।[3] संपूर्ण भारतीय गेयपदों की दुनियाँ में विद्यापति का स्थान निःसंदेह ऊँचा है।

कबीरदास—कबीर की सामर्थ्य और हिंदी साहित्य में स्थान का स्पष्टीकरण श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के इन शब्दों में अच्छी तरह हुआ है। "वे वाणी के डाक्टर थे। जिस बात को जिसरूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके।. . फिर व्यंग करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वंदी नहीं जानते। पंडित और काजी, अवधूत और जोगिया, मुल्ला और मौलवी,—सभी उनके व्यंग से तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खानेवाले केवल धूल झाड़कर चलदेने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की, तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरीसे छलके हुए रससे काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ। हिंदी साहित्य के हजारों वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंदी जानता है, तुलसीदास।"[4] इस प्रकार भारतीय साहित्य

---

[1] सर्वप्रथम रा० ए० सोसाइटी ने छपाना आरंभ किया, बुहलर ने अप्रामाणिक घोषित कर काम रुकवा दिया। ना० प्र० सभा ने संवत् १९६२ में छपाया। श्री ह० प्र० द्विवेदी और नामवरसिंह का संपा० संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (५२) निकला। रासो पर विस्तृत अध्ययन विपिन विहारी त्रिवेदी कृत 'चन्दबरदाई और उनका काव्य' (१९५२—हि० एकेडेमी, प्रयाग)।

[2] रामचन्द्र शुक्ल : हि० सा० इ०, पृ० ५७ (सं० ९वाँ)।

[3] शिवप्रसाद सिंह : अवहट्ट भाषा और कीर्तिलता, पृ० २-२८

[4] हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, तृ० सं०, पृ० २१६—२१७। अन्य ग्रंथ—कबीर ग्रंथावली : ना० प्र० सभा, काशी (चतुर्थ संस्करण) ; गोविन्द त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा (१९५२—थीसिस) ; पुरुशोत्तमलाल : कबीर साहित्य का अध्ययन (१९५१) ; रामकुमार वर्मा : कबीर का रहस्यवाद, (अष्टम सं० १९५५)।

में अपढ़ और सधुक्कड़ी भाषा के कवि कबीर का स्थान अक्षुण्ण है। कबीर में आभिजात्यवर्ग के संस्कार भी न थे। फिर भी कबीर में ऐसी शक्ति अवश्य थी जिसके बल पर उसने भक्त कवियों की सरसता, सूफीधर्म का रहस्यवाद और सामाजिक जागरूकता धारण की। कबीर में इन तत्वों का कहीं-कहीं समन्वय और बहुधा टकराहट पाई जाती है। फिर भी कबीर क्या थे, यह दूर-दूर तक प्रभावित न केवल हिंदी साहित्य वरन् अन्य भारतीय साहित्य भी जानता है। इधर श्री विनय मोहन शर्मा ने 'हिंदी को मराठी संतों की देन' (१९५७) पुस्तक में यह बतलाने की चेष्टा की है कि कबीर की निर्गुण-धारा और रूढ़ियों के खंडन की प्रवृत्ति कबीर से भी सौ वर्ष पहिले से मराठी भाषा के संतकवियों में थी; ये संतकवि सधुक्कड़ी हिंदी में भी लिखते थे।

मलिक मुहम्मद जायसी—कबीर की अटपटी भाषा-बानी के अनन्तर जायसी के सर्गबद्ध-पद्मावत में प्रवेश करना ऐसा ही है, जैसे कोई ज्ञान के रेगिस्तान से चला आता हुआ थका-माँदा व्यक्ति एक रमणीक और अपने में भरे-पूरे बगीचे में आ पहुँचा हो। जायसी का 'पद्मावत' हिंदी का प्रथम सुयोजित और समग्र हिंदी की पुरानी प्रबन्ध काव्य परंपरा में तुलसी के मानस के समान ही महिमापूर्ण है। जिस प्रकार रामचरित के गायनमें अनेक गायकों के होते हुए भी सर्वत्र तुलसी दीख पड़ते हैं, उसी प्रकार प्रेमकी पीर द्वारा प्रेयस् और श्रेयस् सिद्धिके मैदान में जायसी आज तक अकेले हैं। वे अपने समय के प्रसिद्ध सन्त थे। उनकी कीर्ति की ध्वजा दूर-दूर तक फहरा चुकी थी। सन् १६५० के लगभग अराकान राज्य के वजीर मगन ठाकुर ने आलो-उजालो कवि से 'पद्मावत' का अनुवाद कराया था। इतना सब कुछ होते हुए भी जायसी का यह अमर काव्य विस्मृति के खंडहर में पड़ गया। सन् १९२४ में ना० प्र० सभा की ओर से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस ग्रंथ का संपादन किया तथा लगभग २१० पृष्ठों की भूमिका में यह बतलाया कि जायसी हिंदी के श्रेष्ठ कवियों में से एक हैं। 'पद्मावत' इससे भी पहले छप चुका था—चार स्थानों से। किंतु जायसी का साहित्यिक मूल्यांकन करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही प्राप्त है। ग्रंथ-पाठ के सम्बन्ध में शुक्ल जी को पर्याप्त कठिनाइयाँ आई थीं और उन्होंने अपने पाठ-संशोधनों में संदेह भी प्रकट किया था। पाठ-संशोधन का कार्य डा० माताप्रसाद गुप्त ने अनेक पुराने हस्तलिखित ग्रंथ के आधार पर किया और यह संस्करण हिंदुस्तानी एकेडेमी से सन् १९५२ में छपा। इस संस्करण का अच्छा स्वागत हुआ। जायसीकृत 'पद्मावत' के उद्धारकार्य में अर्थ की दृष्टि से डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने हाथ लगाया।[1] केवल शब्दार्थ द्वारा कवि की आत्मा तक पहुँचने के प्रयत्न में इस टीका के समक्ष हिंदी के किसी अन्य ग्रंथ की टीका नहीं ठहरती। यों कहने को तुलसी के मानस की टीकाएँ सर्वाधिक हैं, किन्तु यह सब टीकाएँ या तो 'स्कूल टैक्स्टबुक' के अर्थों के समान हैं या फिर ऊहात्मक व्यास टीकाएँ (उदाहरण—'मानसपीयूष')। वैज्ञानिक ढंग से काव्यगत अर्थ सौन्दर्य उपस्थित करने में ही टीकाकार के धैर्य, तटस्थ दृष्टि और शब्दों द्वारा भावों में पैठ की परीक्षा होती है। दूसरे शब्दों में—इस टीका द्वारा आज हमें अवधी भाषा का सौंदर्य और जायसी की प्रेमपरक निर्मल दृष्टि एक साथ उपलब्ध है। जायसी की खोज का भाग्य-चक्र,[2] उसका प्रामाणिक संस्करण, उसकी टीका और समीक्षा द्वारा पूरा हो चुका है। यों जायसी तुलसी से पहले के कवि हैं, किंतु विस्मृति के कुहासे में पड़े रहने के कारण उनके यश की गंध तुलसी की भाँति देश-विदेशों में नहीं फैली है। अब आशा की जाती है कि जायसी के यशचक्र का यह आवर्तन भी शीघ्र पूरा होगा।

सूरदास—जायसी के अनंतर बाल-लीला के अमर शब्द-चित्रकार-महाकवि सूरदास की ओर ही निगाह जाती है। यह सच है कि तुलसी के समान सूर ने भारत की भौगोलिक सीमाओं को पार नहीं किया है; किंतु सूर अपने क्षेत्र में, बालक के रूप-सौंदर्य और मनोगत भावों के उद्घाटन में तुलसी तो क्या विश्व साहित्य में भी अपने सामने किसी को नहीं पाते। विश्वसाहित्य में सूर के स्थान की बात हमने जानबूझकर कही है। होमर, चासर, दाँते, गेटे आदि ही तो योरप के महान् कवि हैं; एशिया में वाल्मीकि, कालिदास, उमर खय्याम, फिरदौसी आदि। इनमें से वात्सल्यभाव को लेकर कौन सूरदास के सामने आ सकता है? इनमें से

---

[1] वासुदेवशरण अग्रवाल : पद्मावत—मूल और संजीवनी व्याख्या (१९५५)।
[2] नगेन्द्र : जायसीज़ पद्मावत (हिन्दी रिव्यू में निबन्ध—१।३)।

कौन वात्सल्य रस के कवि नाम से जाना जाता है? भारतीय संगीत की परंपरा में भी सूरदास का स्थान सुरक्षित है। संपूर्ण उत्तर भारत के संगीतज्ञ सूरके पदों को अपने स्वरों में पिरोते रहे हैं। सूर ने नारीसुलभ प्रत्येक कोमल अंतस में प्रवेश किया। इस रूपमें विप्रलंभ शृंगार का जो धरातल सूर ने दिया, वह आज भी बेजोड़ है। 'भ्रमर-गीत' नाम से इस शृंगार की परंपरा बीसवीं शती के आरंभ में 'रत्नाकर' तक, बड़े गौरवपूर्ण ढंग से हिंदी को प्राप्त है।[1] कहा जाता है कि सूरदास के पदों की संख्या लाखों तक पहुँची थी। किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित—अब तक प्राप्त संस्करणों में सर्वाधिक प्रामाणिक—'सूरसागर' में (२ भाग—१९५२) ४००० पद संग्रह किए जा सके हैं। डा० धीरेंद्र वर्मा के संपादकत्व में भी (१९५४) संक्षिप्त संस्करण 'सूर-सागर-सार' प्रकाशित हुआ है। आज सूरदास पर स्वतंत्र और थीसिस के रूप में भी अनेक अध्ययन उपलब्ध हैं।[2]

महाकवि सूरदास के साथ वल्लभाचार्य जी ने सात कवियों को भगवान् के कीर्तन के लिए नियुक्त किया था। ये आठों कवि 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध थे। अन्य सात, परमानंददास, नंददास[3], कुंभन दास,[4] चतुर्भुजदास, कृष्णदास, गोविंदस्वामी[5] और छीतस्वामी[6] थे। इनमें नंददास कलात्मक दृष्टि से सर्वोपरि थे। परमानंददास के परमानंदसागर के सम्बन्ध में मत है कि यह ग्रंथ 'सूर सागर' के टक्कर का है, यह प्रकाश में नहीं आया है। अष्टछाप के कवि केवल झांझ-मजीरा बजानेवाले कोरे 'कीर्तनियाँ' नहीं थे। सूर के अतिरिक्त नंददास, परमानंददास में भी महाकवि के बारीक से बारीक लक्षण थे। इस कवि-मंडली से हिंदी की बहुत आगे तक की पीढ़ियाँ प्रभावित हुईं।[7]

भक्तिकालीन अन्य कवि—हम यहाँ गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में लिखना आवश्यक नहीं समझते। तुलसीदास को कौन नहीं जानता। इस कवि पर लिखा भी बहुत गया है। अनन्य भक्ति, भाषा सौष्ठव आदि की दृष्टि से हित हरिवंश (१५५९-१६१०)[8], मीराँबाई (१५७३—),[9] रसखान (१५५८?),[10] नरोत्तमदास (१७ वीं शती का आरंभ) का स्थान गौरवमय है। हरिवंश का प्रधान गुण मधुरता है और इसलिए वह मुरली के अवतार नाम से प्रसिद्ध हैं। रसखान के छंद पढ़ने से ऐसा लगता है कि भाव आप से आप किसी अगाध भक्ति-स्रोत से उफन कर सामने आते गए हैं। इन कवियों ने ब्रजभाषा को पर्याप्त ओप और सौष्ठव दिया। दूसरे शब्दों में, इन कवियों के अतिरिक्त रीतिकाल के कुछ श्रेष्ठ कवियों के सहारे ब्रजभाषा मार्जन की चरम अवस्था तक पहुँच रही थी। भाषा की इस ऊँचाई तक भले ही मीराँ न पहुँच सकीं, किंतु भावव्यंजना और पत्नी-सुलभ मन की पीड़ा को उपस्थित करने के ढंग में मीरा का जोड़ दूर-दूर तक नहीं मिलता। दक्षिण भारत की आलवार भक्त-कवियित्री आंडाल (तमिल भाषा) और यूनानी कवियित्री सेपो (६०० ई० पू०) से ही मीरा के काव्य की घनीभूत तन्मयता की तुलना की जा सकती है। हाँ, यह सच है कि सेपो का प्रेम आध्यात्मिक नहीं था—वह शुद्ध रति-विषयक प्यास है। इस पुरानी परंपरा में नरोत्तम ही ऐसा कवि है जो

---

[1] सरला शुक्ला : कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीत की परंपरा (थीसिस)।

[2] रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास (तृ० सं० १९५०) ; मुंशीराम शर्मा : भारतीय साधना और सूर-साहित्य : (४४) ; ब्रजेश्वर वर्मा : सूरदास (प्रयाग वि० वि० थीसिस, द्वि० सं० १९५०) ; नंददुलारे वाजपेयी : सूरदास (५२) ; हरवंशलाल शर्मा : सूर और उनका साहित्य, थीसिस : (१९५३) ; डा० सत्येन्द्र : सूर की झाँकी (५६) ;

[3] ब्रजरत्नदास : संपा० : नन्ददास ग्रंथावली (५१) ;

[4] ब्रजभूषण शर्मा, संपा० : कुंभनदास (५३) ;

[5] ब्रजभूषण शर्मा, संपा० : गोविन्द स्वामी (५१) ;

[6] ब्रजभूषण शर्मा, संपा० : छीत स्वामी (५५) ;

[7] दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय (थीसिस–४७)।

[8] हितामृत सिंधु : संपा० द्वारिकादास, वृन्दावन।

[9] मीराँ-वृहत्-पद-संग्रह : संपा० पद्मावती 'शबनम' (बनारस १९५२) ; मीराँबाई की पदावली : संपा० परशुराम चतुर्वेदी (प्रयाग, १९४२)।

[10] रसखान और उनका काव्य : चंद्रशेखर पांडे (प्रयाग, १९४२)।

भक्ति, प्रेम, काव्य-चमत्कार आदि से हट कर मानव की व्यावहारिक भूमि पर उतरा। नरोत्तम का छोटा सा खंड काव्य 'सुदामा-चरित' (सं० प्रेमनारायण टंडन, विद्या मंदिर, लखनऊ) दारिद्र्य-चित्रण का अनुपम उदाहरण है। भाषा की स्वच्छता के साथ-साथ भावों में भी प्रसाद गुण नरोत्तम के काव्य का विशेष गुण है। जीवन-जगत् की चोखी अनुभूति की दृष्टि से अब्दुर्रहीम खानखाना (१६१०-१६८६) का नाम भी बरबस स्मरण हो आता है। रहीम की प्रतिभा अद्भुत थी। ये महाशय सम्राट् अकबर के मंत्री बैरम खाँ के पुत्र थे। संस्कृत, अरबी, फारसी और हिंदी पर इन का समान रूप से अधिकार था। गोस्वामी तुलसीदास से इनकी मित्रता की अनुश्रुति प्रसिद्ध है; रहीम का बरवै छंद गोस्वामी जी को बहुत पसंद आया तथा इस छंद में 'बरवै' (रामायण) भी लिखे। हिंदी साहित्य में रहीम अपने दोहों[1] से अमर हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये दोहे युद्धवीर, दानवीर और घोर विपत्तिमें भी धैर्यवीर रहीमकी वह अमर कृति हैं जो पदे-पदे अपने निर्माता की कल्पनाशक्ति, सांसारिक अनुभव और भावुकता का स्वच्छ परिचय देते हैं। शुक्ल जी ने ठीक ही लिखा है कि तुलसी के समान रहीम के बचन भी हिंदी भू-भाग में सर्वसाधारण के मुँह पर रहते हैं।...उनमें भारतीय प्रेम-जीवन की सच्ची झलक है। भाषा पर तुलसी का सा ही अधिकार हम रहीम का भी पाते हैं।

भक्तियुग के अनंतर हिंदी में रीतियुग आया।[2] अर्थात् काव्यक्षेत्र में रीति-कविता लिखने का तरीका प्रधान हो गया। काव्यगत सौंदर्य पर इतना ध्यान नहीं गया। यह भी कह सकते हैं कि रस के स्थान पर कला का रूप अधिक बनाया-सँवारा गया—अलंकार, नायक-नायिकाभेद, ऋतु-वर्णन, काव्य के सिद्धांत-पक्ष की अधिक विवेचना हुई। इस युग की विडंबना यह रही कि सिद्धांत-पक्ष की यह छानबीन आलोचनात्मक दृष्टि के विकास का परिणाम न होकर उस समय के फैशन के रूप में ग्रहण हुई। फल यह हुआ कि उस समय कवि समाज रस-अलंकार आदि पर लिखना अपनी प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक समझने लगा। इस समय के अधिकांश कवि, न कवि ही हो पाए और न सिद्धांतशास्त्रज्ञ (आचार्य)। किंतु इतना अवश्य हुआ कि भाषा बहुत मँजी, अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ी और छंदशिल्प के क्षेत्र में अनेक नए प्रयोग हुए। दरबारी कवियों ने भक्ति के क्षेत्र से बाहर निकल कर महफिलों में प्रवेश किया, जहाँ चमत्कार-प्रदर्शन के सहारे शृंगार रस की ही अधिक खपत थी। वहाँ भला बड़े-बड़े प्रबंधकाव्य या खंड काव्यों को सुनने-पढ़ने का धैर्य किसे था? स्वभावतः मुक्तकछंदों की ओर बेतरह रूझान हुआ। कवित्त, सवैया और घनाक्षरी जैसे छोटे-छोटे छंदों ने मुक्तककाव्य का क्षेत्र कुछ ऐसा बढ़ाया कि इस प्रकारकी कविता और छंद ही इस युगकी विशेषता बन गए। इतना होते हुए भी ऐसे साहित्यकारों की संख्या कम नहीं है जो रस और अलंकार की दृष्टि से संतुलन न रख पाए हों।

ऐसे संतुलित काव्यकारों की परंपरा कविवर बिहारी[3] लाल (सं० १६५२) से आरंभ होकर मतिराम[4] (संवत् १६७४—), देवदत्त[5] (१६७३-१७६७), भिखारीदास[6] (१७८५-१८०७), सोमनाथ[7] (१७६०-

[1] रहीम रत्नावली, तृ० सं० संपा० मायाशंकर, साहित्य सेवा सदन, काशी। इसी समय के आस-पास केशवदास (१६१२—१६६७) ने भी रामचन्द्रिका, कविप्रिया, रसिक प्रिया आदि लिख कर आचार्य और कवि दोनों क्षेत्रों में ख्याति पाई। शुक्लजी के मत से इनको कवि हृदय नहीं मिला था। किंतु पुराने पाए के कुछ साहित्यकारों ने केशव की श्रेष्ठता मानी है। केशव प्रधानतः चमत्कारवादी ही थे। दे० केशव ग्रंथावली : संपा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दु० एकेडेमी, प्रयाग (१९५५—५६); और हीरालाल दीक्षित : आचार्य केशवदास, लखनऊ वि० वि०, १९५४ (थीसिस)

[2] रीतिकालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन (१६००—१८५०) : राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी; आगरा, पुस्तक सदन, १९५३, (थीसिस)।

[3] बिहारी रत्नाकर, द्वि० सं०, सं० जगन्नाथदास रत्नाकर : काशी, ग्रंथकार प्रकाशन, (५१) और कविवर बिहारी : जगन्नाथ दास रत्नाकर, काशी, ग्रंथकार १९५३।

[4] मतिराम ग्रंथावली : संपा० कृष्णविहारी मिश्र, लखनऊ, गंगापु०, सं० १९८३।

[5] देवदर्शन : संपा० हरदयालसिंह, प्रयाग, इं० प्रे० १९५३; देवसुधा, संपा० मिश्रबंधु, लखनऊ, गंगा० ग्रंथागार १९४८; देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, दिल्ली गौतम बुक डिपो, १९४९

[6] भिखारी ग्रंथावली, भारत जीवन प्रेस।

[7] पद्माकर की काव्य साधना (३४), रसपीयूषनिधि सर्वाधिक प्रसिद्ध; अमुद्रित है।

१८१०), पद्माकर भट्ट[1] (१८१०-१८६०), ग्वाल[2] (१८७९-१९१८), आलम[3] (१७४०-१७६०), घनानंद[4] (१७४६-१७९६), और सेनापति[5] (सं० १७०६ रचनाकाल) जैसे कवियों को पार करती हुई आधुनिक काल में भारतेंदु हरिश्चन्द्र[6] (१८५०-१८८५), रत्नाकर[7] (सं० १९२३-१९८९) तक चली आई। इस कोटि में कम से कम एक दर्जन कवि और भी गिनाए जा सकते हैं। विस्तार भय से हमने उन कवियों के नाम भर गिनाए हैं, जो रीतिकाल की परंपरा के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। जायसी, सूर और तुलसी के अनंतर बिहारी की प्रसिद्धि सर्वाधिक रही। मानस की टीकाओं के अनंतर सतसई की ही टीकाओं की धूम रही। इस कवि की प्रतिभा केवल सात सौ दोहों में आबद्ध है। बिहारी के दोहों पर चित्र बने, भावों की चोरियाँ हुईं। यद्यपि बिहारी ने अलग से लक्षण ग्रंथ नहीं लिखे, किन्तु रीतिकाल की सब विशेषताएँ उसकी सतसई में उपलब्ध हैं।[7]

देवदत्त को बिहारी के जैसा ही सम्मान मिला है। आज से २०-२५ वर्ष पूर्व साहित्यकारों में होड़ सी लग गई थी कि देव बड़े कि बिहारी। दोनों पक्षों पर अनेक पुस्तकें लिखी गईं। देव की रसग्राहिणी शक्ति बहुत व्यापक थी। छंद और विषय-वैविध्य भी देव को अधिक प्राप्त था। गालिब की तरह यदि देव का कोई दीवान होता और उसकी हलकी रचनाएँ--जो परिमाण में बहुत हैं--- नष्ट कर दी जातीं तो यह विवाद शायद इतना तूल न पकड़ता। मतिराम के काव्य की सरसता और स्वाभाविकता बेजोड़ है---क्या भाव और क्या भाषा, कहीं कृत्रिमता नहीं है। रसराज और ललित ललाम के कवि **मतिराम** के इन गुणों की तुलना समग्र रीति साहित्य में केवल पद्माकर से ही की जा सकती है। **'भिखारीदास'**[8] (१७२८-१७५०) का शृंगार निर्णय अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है. . . इनकी रचना कलापक्ष में संयत और भावपक्ष में रंजनकारिणी है। देव की सी ऊँची आकांक्षा या कल्पना जिस प्रकार इनमें कम पाई जाती है, उसी प्रकार उनकी सी असफलता भी कहीं नहीं मिलती।[9] **सोमनाथ** दास के ही कँड़े के दूसरे कवि हुए हैं। कविताकाल---संवत् १७९०-१८१०)। यद्यपि यह कवि भरतपुर राज्य में एक प्रकार से दरबारी कवि थे किंतु इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। बृहत्काय 'रसपीयूष-निधि' जैसे लक्षण-ग्रंथ और मुक्तक छंदों के अतिरिक्त इन्होंने प्रबन्ध के क्षेत्र में भी प्रयत्न किया। इनका कोई ग्रंथ छपा नहीं है, अतः अधिक विवेचन भी नहीं हो पाया है। पद्माकर (१८१०-१८९०) के समान संपूर्ण रीति युग में हृदय को पकड़नेवाला दूसरी कवि नहीं हुआ। किंतु मतिराम के रसराज की भाँति ही इस कवि के जगद्विनोद का आदर हुआ। ग्वाल (कविताकाल १८२२-१८६१) और आलम भी इस युग के सिद्ध कवि माने गए हैं। इन्होंने बहुत लिखा है किंतु अभी तक इनके ग्रंथों का मुद्रितरूप सामने नहीं आ पाया है। यों आलम की रचना 'आलमकेलि' के बल पर शुक्लजी का मत है कि यह कवि रसखान और घनानंद के स्तर का है। **घनानंद**[10] (१६८९-१७३९) का स्थान हिंदी की पुरानी काव्य-धारा में बहुत ऊँचा है। तुलसी के अनंतर घनानंद ही ऐसा साहित्यकार हुआ जो नारी के कटु व्यवहार से महान् कवि बन सका और प्रेम की पीड़ा को अपने काव्य में अमर बना गया। 'इनकी सी सरस, विशुद्ध और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा अन्यत्र दुर्लभ है।

---

[1] पद्माभरण (१९००) ; गंगा लहरी (१९२३) ; हिम्मत बहादुर विरदावली (१९०८)
[2] ग्वाल : यमुना लहरी (१८८१)
[3] आलम और शेख : (बनारस--१९२२)
[4] घन आनन्द (ग्रंथावली) : संपा० वि० प्र० मिश्र, काशी प्रसाद परिषद, १९५२
[5] कवित्त रत्नाकर : संपा० उमाशंकर शुक्ल ; प्रयाग, हिन्दी परिषद् १९४९
[6] भारतेंदु ग्रंथावली : संपा० ज० दा० रत्नाकर, काशी नागरी प्र० सभा
[7] रत्नाकर ग्रंथावली ; काशी, नागरी प्र० सभा
[8] आचार्य भिखारीदास : ले० नारायणदास खन्ना ; लखनऊ, विश्व वि०, १९५५ (थीसिस) और भिखारी-ग्रंथावली : काशी, भारत जीवन प्रेस
[9] पद्माकर की काव्य साधना : ले० गंगाप्रसादसिंह, अखौरी, काशी साहित्य सदन, १९३४।
[10] घन आनंद ग्रंथावली : संपा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; बनारस, वाणीवितान, १९५२।

अंतमें, भारतेंदु हरिश्चन्द्र[१] (१८५०-१८८५) और रत्नाकर (१८६६-१९३२) के बिना उल्लेख के रीतिकालीन परंपरा का इतिहास सदैव अधूरा माना जायगा। भारतेंदु जहाँ आधुनिक हिंदी के जन्मदाता थे, वहाँ वह काव्य के क्षेत्र में पुरानी चली आती परंपरा के ही समर्थक थे। वह खड़ी बोली को कविता के क्षेत्र में सफल भाषा मानने को तैयार न थे। वह अपने समय के ब्रजभाषा के कवियों में निःसन्देह सर्वोपरि थे और समकालीन कविसमाज को उन्होंने प्रभावित भी किया था। गद्य के क्षेत्र में भारतेंदु का महत्व ऐतिहासिक है।• पद्य के क्षेत्र में वह अधिक स्थायी काम कर गए हैं। इसी प्रकार रत्नाकर[२] भी भाषा की स्वच्छता, छंदों के गठन, और भावों के अनूठेपन की दृष्टि से सदैव याद किए जायेंगे। भ्रमर को केन्द्र मानकर गोपियों की विरहजनित उक्तियों की परंपरा[३] सूरदास और नंददास को पार कर जगन्नाथदास रत्नाकर में 'उद्धव शतक' तक चली गई है, बड़े गौरवपूर्ण ढंग से। उद्धव शतक अपने आपमें छोटी किंतु बड़ी ही भाव-शक्ति संपन्न काव्य-रचना है।

आधुनिक साहित्य

आधुनिक हिंदी साहित्य की बहुविध प्रगति अन्य भारतीय भाषाओं की तरह ही हुई। अंतर केवल एक रहा। समुद्रतट-अंचल, जैसे कलकत्ता, मद्रास और बंबई आदि में पुर्तगाली, डच और अंग्रेज आदि पहले आए। परिणाम यह हुआ कि बंगाल, मद्रास और बंबई के निवासी पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क में पहले आए तो यहाँ प्रेस भी पहले ही खुले, विभिन्न भाषाओं के कोश, व्याकरण भी पहिले ही बने और विदेशी साहित्य का अनुवाद कार्य भी इन्हीं जगहों से आरंभ हुआ। इतना होनेपर भी हिन्दी की प्रगति में अवरोध की अवस्था बहुत देरतक नहीं बनी रही। आधुनिक हिन्दी का प्रथम उत्थान हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) के समय से माना जाता है। इस समय तक प्रेस की सुविधा आगरा, बनारस, प्रयाग व लखनऊ आदि में हो गई थी। अतः प्रेसों की सुविधा होतेही हिंदी के ग्रंथ सामने आने लगे। हिंदी के गद्य ने आश्चर्यजनक रूप से उन्नति की। अच्छे गद्य की कसौटी निबंध साहित्य है।

'गद्य की अपनी कसावट, अपनी अर्थ-संपत्ति, अपनी व्यंजन विधि, अपनी विचार-बीथी का अभिसरण इनमें, नाटक, उपन्यास आदि कहीं-कहीं भलेही करले, पर ये उसकी दृष्टि से वास्तविक भूमि नहीं हैं। अतः गद्य की वास्तविक भूमि निबन्ध ही ठहरते हैं, जहाँ वह अपनी गुरुता और शक्ति का भली भाँति प्रदर्शन कर सकता है और प्रमाण भी दे सकता है।'[४] भारतेंदुयुग के प्रायः सब अच्छे लेखक अच्छे निबन्धकार भी थे। दूसरे शब्दों में, हिन्दी गद्य के निश्चित स्वरूप के बनते ही, उसकी अभिव्यक्ति-शक्ति बढ़ाने के लिए अच्छे निबन्धकार भी प्राप्त हुए। बालकृष्ण भट्ट[५], प्रतापनारायण मिश्र[६], राधाचरण गोस्वामी[७], अंबिकादत्त व्यास[८], बदरीनारायण चौधरी[९], भारतेंदु मंडली के निबन्धकार थे। इनमें हिंदी के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा थी और उसके लिए सब कुछ करने को दलीय-उत्साह (Team Spirit) से ओतःप्रोत थे। जीवन-जगत् के प्रति उत्साह, भाषा का स्वाभाविक प्रवाह, रूढ़िवाद के प्रति विद्रोह, छोटी से छोटी वस्तु लेकर मनोरंजक शैली का निर्वाह, व्यंग-छींटों से पूर्ण विनोद, आदि निबन्ध साहित्य के आवश्यक उपकरण इन सब लेखकों के गद्य में प्राप्त हैं। इन

---

[१] भारतेंदु ग्रंथावली, भाग, द्वि० : संपा० ब्रजरत्नदास; द्वि० सं० : काशी, नागरी प्रचारिणी सभा, १९५३
[२] उद्धव-शतक, प्रयाग, इं० प्रे० ; और रत्नाकर (ग्रंथावली), काशी, ना० प्र० सभा, १९३३, ३रासं० १९४६
[३] कृष्णकाव्य में भ्रमर गीत की परंपरा : सरला शुक्ल ; लखनऊ, वि० वि०, १९५३
[४] विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' (१९५१)
[५] भट्ट-निबंधावली, संपा० देवीदत्त शुक्ल, प्रयाग, हि० सा० स०, १९४२
[६] निबंध नवनीत, १ भाग, प्रयाग, अभ्युदय प्रेस, १९१९
[७] बूढ़े मुंह मुंहासे, बनारस, भारत जीवन प्रेस, १८८७ और तन-मन-धन गोसाईंजी के अर्पण वृन्दावन, लेखक, १८९०
[८] आश्चर्य वृत्तांत, बनारस, राधाकुमार व्यास, १८९३
[९] प्रेमघन सर्वस्व, २ भाग, प्रयाग, हि० सा० स०, १९५१

लेखकों ने मानो अपने आगे हिंदी के बनने वाले स्वरूप के लिए उर्वर खाद प्रस्तुत कर दी, इसके निर्माण के लिए इन्होंने अपने आपको गला दिया। बालकृष्ण भट्ट कायस्थ पाठशाला, प्रयाग, की अध्यापकी के पैसे से निरंतर बीस वर्षों तक 'हिंदी प्रदीप' निकालते रहे। वेतन से प्रेस के भूतों का पेट भर कर अपने आप ठंडा पानी पीकर संतोष करने के ऐसे उदाहरण बहुत ढूंढ़ने पर ही मिलेंगे। कानपुर में प्रतापनारायण मिश्र हिन्दी का अखबार घर घर बाँचकर सुनाते थे। मिर्जापुर में प्रेमघन जी 'आनंद कादंबिनी' अपने पैसेसे घाटेपर ही निकालते रहे। भारतेंदुयुग में 'निजभाषा उन्नति' का कुछ नशा ही ऐसा था। भारतेन्दुके अनन्तर हिन्दी गद्य को आगे बढ़ानेमें बालमुकुंद गुप्त का हाथ महत्वपूर्ण है[1]। साहित्य की यह परंपरा, या कहिए हिंदी गद्य की शक्ति का यह स्रोत उस समय से लेकर आजतक बराबर ही उफन-उफन कर बहता रहा है ; हाँ, बहने की दिशाएँ बदली हैं और विभिन्न स्तरों पर भी यह आगे बढ़ा है—पर रुका नहीं है। आज भी चंद्रधर गुलेरी[2], रामचन्द्र शुक्ल[3], सियारामशरण गुप्त[4], रायकृष्णदास[5] आदि को पार कर हिंदी का यह विशिष्ट अंग महादेवी वर्मा[6], डा० रघुवीरसिंह[7], शांतिप्रिय द्विवेदी[8], हजारीप्रसाद द्विवेदी[9] और विद्या निवास मिश्र[10] के निबन्धों में विद्यमान है। सच पूछा जाय तो हिंदी को राष्ट्रीयता प्रदान करने में इस निबन्ध साहित्य का बहुत बड़ा हाथ है।

पद्य साहित्य—श्रीधर पाठक[11] आधुनिक हिंदी के पहले कवि माने जाते हैं। इनके समय इस नवीन भाषा में पद्य की संभावनाएँ बहुत कम थीं। भारतेंदु तो पहले ही घोषित कर चुके थे कि खड़ीबोली पद्य की सफल भाषा नहीं हो सकती ! किंतु श्रीधर पाठक ने जिस भाषा का आह्वान काव्य जगत् में किया उसकी पुष्टि अयोध्यासिंह उपाध्याय[12], मैथिलीशरण गुप्त[13] और रामनरेश त्रिपाठी[14] ने की। इन कवियों के आने से संभावनाएँ बढ़ीं कि खड़ी बोली में काव्य रचना हो सकती है। एक गुप्तजी को ही ले लें—भारत भारती इनकी तृतीय काव्य रचना थी ; काव्य गुण की दृष्टि से गुप्त जी की यह नगण्य रचना है, किंतु इस पुस्तक ने राष्ट्रीय भाव जगाए और इसके वजन पर अन्य भारतीय भाषाओं में भी पुस्तकें सामने आईं। किन्तु सन् १९२३-२४ के लगभग हिन्दी काव्यमंडल में तीन ऐसे नक्षत्र पहली बार उदित हुए जिन्होंने खड़ी बोली को खड़ी बोली कहना छुड़ा दिया। अब जनसाधारण जयशंकर प्रसाद[15], सूर्यकांत त्रिपाठी निराला[16] और सुमित्रानंदन पंत[17] को आधुनिक हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानने लगा। अब खड़ी बोली नाम उसी अवस्था में लेना पसंद किया जाता था, जब पुरानी हिंदी अर्थात् ब्रजभाषा और अवधी आदि का पार्थक्य आधुनिक हिंदी से समझना आवश्यक होता।

इन तीनों कवियों की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ सन् ४० तक प्रकाशित हो चुकी थीं। प्रसाद ने सब से पहले लिखना आरंभ किया और आधुनिक हिंदी का निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य कामायनी सन् १९३७ में

---

[1] शिवशंभु के चिट्ठे—कलकत्ता, १९२४
[2] गुलेरी ग्रंथावली : ना० प्र० सभा, काशी।
[3] चिंतामणि, १ भाग, ३ सं०, काशी, सरस्वती मंदिर, १९५३
[4] झूंठ-सच, ४ सं०, झाँसी, साहित्य सदन, १९५०
[5] संलाप (२६) ; प्रवाल (२९) ; छायापथ (३०)
[6] अतीत के चलचित्र, ४ सं०, प्रयाग, भारती भंडार, १९५०
[7] शेष स्मृतियाँ, दिल्ली, राजकमल, १९५१ (नया सं०)
[8] संचारिणी, ४ सं०, प्रयाग, इं० प्रे०, १९५१
[9] अशोक के फूल, ३ सं०, दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, १९५२
[10] छितवन की छाँह (५५) ; कदम की डार (५६)
[11] काश्मीर सुषमा, (१९०४) ; देहरादून (१९१५), वनाष्टक (१२), प्रयाग, लेखक द्वारा
[12] प्रिय प्रवास (पटना–१४) ; (बनारस–३९) ; चुभते और चोखे चौपदे (पटना–२३)
[13] जयद्रथवध (१०) ; भारत-भारती (१२) ; यशोधरा (३३) ; द्वापर (३६) ; पंचवटी (२५) ; जयभारत (५२)
[14] स्वप्न (२९) ; मिलन (१८), पथिक (२१)
[15] आँसू (२९) ; लहर (३५) ; कामायनी (३७)
[16] परिमल (३०) ; गीतिका (३६) ; तुलसीदास (३९) ; अपरा (द्वि० सं० १९५२)
[17] पल्लव (२७) ; गुंजन (३२) ; ग्राम्या (४०) ; पल्लविनी (चुनी हुई कविताएँ–४०) ; अतिमा (५६)

प्रकाशित हुआ। निराला का छोटा सा किंतु शक्तिशाली काव्य तुलसीदास मुक्तछंद में सन् १६३६ में छपा। पंतजी ने पल्लव से (२७) ही धाक जमाई और युगवाणी तक (३६) आते-आते वह यश के सर्वोच्च शिखर तक पहुँच चुके थे। प्रसाद जी ३८ में चल बसे। निराला ने तुलसीदास के अनन्तर समाजकी समस्याओं को इतनी गंभीरता से समझने की चेष्टा की कि मस्तिष्क पर आवश्यकता से अधिक जोर पड़ा, वह रुग्ण ही रहे हैं। पंतजी ही अतिमा तक (५५) लिखते आए हैं। आरंभ में इन तीनों कवियों का पर्याप्त विरोध हुआ और उपहास में, यों छायावादी तो थे ही, इन्हें छायावादी कहा जाता था—अर्थात् जिसकी रचना समझ में न आवे तो वह छायावादी कवि! प्रभाव और गुण की दृष्टि से इन कवियों के साथ महादेवी का नाम ही आता है। इनका पहला काव्य संग्रह नीहार सन् ३० में छपा और अगले तीन काव्य संग्रहों—रश्मि (३२), नीरजा (३५) और सान्ध्यगीत (३६) तक आते आते इस कवियित्री की काव्य-प्रतिभा ५ वर्ष में ही पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हो चुकी थी। आधुनिक युग की महिला गीतकारों में महादेवी का नाम अन्यतम है। भाषा की प्रौढ़ता, भावों की उड़ान और शब्द शिल्प की दृष्टि से भी महादेवी का स्थान आधुनिक हिंदी साहित्य में निश्चित हो चुका है। कुछ लेखक तो उनकी तुलना मीरा से भी कर बैठते हैं। मीरा का स्वर निराशा से विजड़ित नहीं है। उसने शृंगार के संयोग पक्ष का सम्पूर्ण उत्साह और उमंग अपने गीतों में खुलकर गाया है। उसमें कुंठाओं का नाम भी नहीं है, वह मूलतः रहस्यवादी भी नहीं है।

तदनंतर—काव्य जगत् को वैविध्य देने की दृष्टि से हरिवंशराय बच्चन[1] (तेरा हार–३३), नरेन्द्र शर्मा[2] (शूल-फूल–३४) और रामधारी सिंह दिनकर[3] (रेणुका–३५) लगभग एक साथ आए। बच्चन ने प्रेमगीत गाने में कोई कोताही नहीं की, वरन् एक बड़े जमे हुए पत्रकार और जीवनी लेखकने उसकी रचना में वासना की बू का तिरस्कार किया, तो उसने खुल कर कहा—कह रहा जग वासनामय हो रहे उद्‌गार मेरे—वृद्ध जग को क्यों खटकती है क्षणिक मेरी जवानी। नरेन्द्र का काव्य शिल्प-सौष्ठव, कल्पना का रंग आदि सब दृष्टि से स्पृहणीय रहा है। दिनकर अपने नाम के अनुसार अपने सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य 'कुरुक्षेत्र' में ओज लेकर तो आए ही, साथ में इन्होंने सामयिक समस्याओं को पुराने कथानक पर घटाने में भी सफलता प्राप्त की। इधर की रचनाओं में भी दिनकर ने व्यंग और ध्वनि को अच्छी तरह जगाया है। युद्ध के बाद की पीढ़ी की चर्चा हम नहीं करेंगे। इतना सब देखने पर हिन्दी के प्रतिनिधि कवियों की झाँकी अवश्य मिल जायगी।

कथा साहित्य—विश्वभर में आधुनिक साहित्य कथा साहित्य से—उपन्यास और कहानी साहित्य से, भाराक्रांत है। इस प्रकार के साहित्य के लेखक और पाठक दोनों अधिक हैं। आज की हिंदी की स्थिति भी यही है। निःसंदेह हिंदी का उपन्यास साहित्य एकदम अर्वाचीन है। कहने के लिए और मौलिकता की दृष्टि से हिंदी का पहला उपन्यास लाला श्री निवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' है। यह पहली बार सदादर्श प्रेस, दिल्ली से सन् १८८४ में छपा था। उस समय के लेखकों में लाला जी की प्रतिष्ठा तो थी, किंतु आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक ने इस उपन्यास के सम्बन्ध में केवल इतना लिखा कि "श्री निवासदास ने 'परीक्षा गुरु' नाम का एक शिक्षा उपन्यास भी लिखा ...... उनकी भाषा संयत और साफ-सुथरी तथा रचना बहुत कुछ सोद्देश्य होती थी।" लाला जी के इस उपन्यास के सम्बन्ध में पहली बार श्री राजेन्द्र यादव ने गंभीरता से लिखा[4]। किंतु यह सच है कि हिंदी में अच्छे उपन्यास का युग मराठी और बंगला के उपन्यास युग से बहुत बाद में आया और गौरवपूर्ण परंपरा का श्रीगणेश मुंशी प्रेमचंद से ही आरंभ होता है। मुंशी जी पहले उर्दू में लिख कर नाम कर चुके थे। उनका पहला उपन्यास सेवा-सदन १६१८ में प्रकाशित हुआ। किंतु प्रेमचंद की अमरता निर्मला (२८), गबन (१६३१) और गोदान (३६) में सुरक्षित है। जैनेंद्रकुमार का त्यागपत्र (३७), भगवतीचरण वर्मा का चित्रलेखा (३४), हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा'

---

[1] मधुशाला (३५), खय्याम की मधुशाला (३५), मधुकलश (३७), निशा निमंत्रण (३८)—सुषमा निकुंज, इलाहाबाद से। सोपान (५३) : प्रयाग, भारती भंडार।

[2] पलाश बन : प्रयाग, प्रकाशगृह, १६४० ; अग्निशस्य : प्रयाग, भारती भंडार, १६५१.

[3] रसवन्ती : पटना, पुस्तकभंडार ; कुरुक्षेत्र : पटना, अजंता प्रेस (४६)। [4] आलोचना, संख्या १३,

(४६), सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' कृत शेखर : एक जीवनी (४१), यशपाल कृत दिव्या, वृंदावनलाल वर्माकृत विराटा की पद्मिनी और मृगनयनी (५०) नागार्जुनकृत बलचनमा (५२) और बाबा बटेसरनाथ (५४) तथा फणीश्वरनाथ रेणुकृत मैला आँचल (५४) ऐसे उपन्यास हैं जिन्होंने प्रेमचंद युगीन स्थिति को बहुत आगे बढ़ाया है। विशेषकर हिंदी के बाहर के लेखक कह बैठते हैं कि हिंदी में है क्या ? ऐसे जिज्ञासुओं से निवेदन है कि कथानक संगठन, भाषा सौष्ठव, अभिव्यक्ति शक्ति तथा समस्याओं की पकड़ की दृष्टि से भी ये सब उपन्यास प्रेमचंद युग से आगे हैं। हो सकता है कि इन सब में प्रेमचंद जैसा विस्तृत कैनवास, तटस्था को भी मात कर देने वाली वर्णनात्मक शक्ति न हो, किंतु आधुनिक उपन्यासों में प्राप्त सब प्रकार की विशेषताएँ इन उपन्यासों में उपलब्ध हैं। टाल्स्टाय, जोला, ह्यूगो, स्काट, शरद् और प्रेमचंद का भी युग अब बीत चुका है। त्याग-पत्र पाठक के मस्तिष्क को झकझोरने की दृष्टि से बेजोड़ है। अभिव्यक्ति शिल्प की दृष्टि से शेखर बेजोड़ है। यशपाल के प्रगतिशील तत्व बड़े पैने और दमदार हैं। वर्मा जी ने फिर एक बार ऐतिहासिक भूमिकाओं में सफलता की आशा बँधाई है। उनकी मृगनयनी में पाठक का मन बँधा ही रह जाता है। रेणु और नागार्जुन ने स्थानीय रंग (Local Colour) को हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में बहुत सफलता से चित्रित किया है तथा यह कल्पना की जा सकती है कि जनपदीय आंदोलन केवल साहित्यिक कृतियों के लिए गंभीर और आवश्यक उपकरण की दृष्टि से ही सफल हो सकते हैं—इस दृष्टि से देवेंद्र सत्यार्थी[१] के प्रयत्नों का भी स्मरण किया जा सकता है। आधुनिक उपन्यास के अध्ययन की दृष्टि से इन उपन्यासों की जानकारी आवश्यक है। आज हिंदी में नए-पुराने सब तरह के उपन्यासकारों की संख्या पर्याप्त है।

नयी शक्ति का स्रोत—अब हिंदी की अत्यंत विवाद-ग्रस्त समझी जानेवाली समस्या पर दो शब्द लिखना आवश्यक है। यह समस्या है भाषा की, खड़ी बोली नाम की भाषा की समस्या ? प्रश्न है कि खड़ी बोली किस क्षेत्र के बोल-चाल की भाषा है ? प्रश्न है कि ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, जिसमें नया-पुराना साहित्य है, उस सबको हम हिंदी नाम से क्यों पुकारें ? ऊपर से दीख पड़नेवाली इन अलग-अलग सत्ता-वाली भाषाओं को एक क्यों माने ? एक भी हों, तो क्या यह सब हिंदी की दुर्बलता का प्रमाण नहीं है ! यह प्रश्न हिंदी के सामान्य पाठक को तथा हिंदी इतर क्षेत्र के जिज्ञासुओं को उलझन में डाल देते हैं।

हिंदी का क्षेत्र बहुत बड़ा है। संख्या और क्षेत्रफल की दृष्टि से कितना बड़ा ? यह सब आज बताने की आवश्यकता नहीं है। ध्यान में रखने की बात केवल इतनी है कि राजस्थान, विंध्य प्रदेश, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि कई प्रदेशों में लिखने-पढ़ने की और शिष्ट समाज में बोलने की भाषा भी हिंदी है—स्टैण्डर्ड हिंदी। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की यह बात ध्यान में रखनी पड़ेगी कि भाषा के स्वरूप को समझने के लिए यह जानना भी जरूरी है कि कौन-सी भाषा कहाँ तक समझी जाती है ? यह महत्वपूर्ण वैज्ञानिक सत्य है जिसको कुछ पंडित जानबूझ कर झुठलाते चले आए हैं। इतने बड़े-बड़े प्रांतों ने, या राज्यों ने कहिए, किसी समझौते के आधार पर अपने आपको हिंदी भाषा-भाषी नहीं कहा है—वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, सूरसागर, विद्यापति की पदावली, वेलि क्रिसन रुक्मणी री, कबीर और गुरुनानक की भी कुछ वाणी को हिंदी ही कहा गया है। यह सब मान्यताएँ यों ही ऊपर से लादी हुई नहीं हैं। हिंदी क्षेत्र का पाठक तनिक से प्रयत्न से ही राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी, बुंदेली, ब्रज आदि भाषाओं को समझ लेता है और साथ में आज की खड़ी बोली को भी शिष्ट जन की भाषा, साहित्य की सर्वमान्य व्यापक भाषा स्वीकार न करने का कारण भी नहीं देखता।

एक बात और। आधुनिक हिंदी कोई जादू का पिटारा नहीं है जिसे भारतेंदु हरिश्चंद्र ने खोल दिया और उसे झपट कर किसी ने इतने बड़े भूभाग की भाषा मान लिया। इस भाषा के बीज पउम चरिउ, रासो, खुसरो की मुकरियों[२], गंग की 'चंद-छंद बरनन की महिमा', निरंजनीकृत योगवाशिष्ठ (सन् १७४१)[३],

[१] कठपुतली (१९५४), ब्रह्मपुत्र (१९५६)
[२] अमीर खुसरो की हिन्दी कविता, काशी, ना० प्र० सभा, १९२२
[३] रामप्रसाद निरंजनी (अनु०) : योगवाशिष्ठ, बंबई, वेंकटेश्वर प्रेस, १९०४

दौलतरामकृत जैन पद्मपुराण (१७६१), जन प्रह्लादकृत नृसिंह तापनी उपनिषद् (१७१९), मथुरानाथ शुक्लकृत पंचांग दर्शन (१८००), सदासुखलालकृत सुखसागर ( ), इंशाअल्ला खांकृत रानीकेतकी की कहानी (१८०४ ?)[1], लल्लूलालकृत प्रेमसागर (१८१०)[2], सदल मिश्र कृत नासिकेतोपाख्यान ( ) आदि अनेक पुस्तकों में पल्लवित और पुष्पित हुए। मुगल राज्य के अवसान के दिनों से ही उत्तर भारत में एक कोने से दूसरे कोने तक देशी-विदेशी व्यापार भी इसी भाषा में चलता था। उस समय की बहियों, दस्तावेजों की जो खोज हो रही हैं उनसे भी यही तथ्य प्रकाश में आया है कि खड़ी बोली के बीज सौरसेनी अपभ्रंश में थे और कालांतर में यह भाषा अनेक तत्वों से और अनेक सूत्रों से आगे विकसित हुई, जिसके सम्बन्ध में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज में जॉनगिल क्राइस्ट और विलियम प्राइस में ही हिंदी-हिन्दुस्तानी को ले कर मतभेद हो गया था। विलियम प्राइस के ये शब्द आज भी कितने महत्व के हैं—

"हिंदी और हिन्दुस्तानी में सबसे बड़ा अंतर शब्दों का है। हिंदी के लगभग सभी शब्द संस्कृत के हैं। हिन्दुस्तानी के अधिकांश शब्द अरबी और फारसी के हैं . . . . . हिंदी के सम्बन्ध में एक और महत्व-पूर्ण विषय यह है कि वह नागरी अक्षरों में लिखी जानी चाहिए . . . . . नई लिपि और नये शब्द सीखने में विद्यार्थियों को कठिनाई होगी किंतु इससे उनके फारसी-ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे वे न तो भाषा और न देश के विचारों के साथ ही परिचित हो पाते हैं[3]।"

हिंदी भाषा के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि यह भाषा अपने साहित्यिक रूप में ही प्रतिष्ठित और सम्मानित है तथा इसी कारण हिंदी संपूर्ण वृहत् क्षेत्र में भी शिष्टजनों की भाषा है, उच्च और मध्यवर्ग के पढ़े-लिखों की भाषा है। दूसरे शब्दों में यह भाषा बहुत बड़े भू-भाग की आवश्यकताओं की पूर्ति की भाषा है। यह भाषा हिंदी प्रदेश की अनेक बोलियों से अनेक तत्व ले कर बनी है—यह आधुनिक हिंदी अपने आज के रूप में किसी भी क्षेत्र के लोगों की मातृभाषा न थी न है—वरन् धीरे-धीरे यह शिष्टवर्ग, मध्यवर्ग और इनके अतिरिक्त नगरों में रहनेवाले मजदूरों की भाषा हो गई है। धीरे-धीरे इसकी जड़ें इतनी गहरी हो रही हैं कि यह मातृभाषा का रूप धारण कर रही है। हिंदी के जाने-पहिचाने आलोचक डा० राम-विलास शर्मा ने भी इस तथ्य की पुष्टि में कहा है—

१. हिंदी क्षेत्र के शहरों में मध्य श्रेणी के लोग, जिनमें परस्पर आर्थिक सम्बन्ध हैं, हिंदी या हिन्दुस्तानी ही बोलते हैं। ब्रज, अवधी और बुंदेलखंडी के क्षेत्रों में इस श्रेणी के युवक-युवतियों में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होते रहते हैं, किंतु उनमें से कोई भी यह नहीं सोचता कि वह किसी विभिन्न भाषा क्षेत्र में विवाह कर रहा है। २. घरों में ब्रज, अवधी आदि बोलनेवाले सब लेखक खड़ी बोली के हिंदी या उर्दू रूप में लिखते हैं। ३. श्रमिक वर्ग के लोग विशेषकर औद्योगिक श्रमजीवी कभी भी विभिन्न क्षेत्रों की किसानों की बोली नहीं बोलते और वे अपनी सामान्य भाषा के रूप में हिंदी या हिन्दुस्तानी का व्यवहार ही करते हैं। ४. प्रादेशिक भाषाओं और हिंदी की नब्बे प्रतिशत शब्दावली सामान्य है। ५. इन सब क्षेत्रों में समाचार-पत्र, विज्ञापन-पत्र हिंदी में छपते हैं और कभी किसी को उन्हें अपनी भाषाओं में निकालने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती[4]।

आधुनिक हिंदी—खड़ी बोली—की उत्पत्ति और विकास पर अभी तक वैज्ञानिक ढंग से नहीं लिखा गया है। खड़ी बोली के विकास में हिंदी क्षेत्रों के अतिरिक्त महाराष्ट्र ने भी पूरा-पूरा योग दिया है। श्री विनय मोहन शर्मा कृत 'हिंदी को मराठी संतों की देन (१९५७)' पुस्तक से स्पष्ट है कि कबीर से भी दो शती पहले से ही महाराष्ट्र के संत कवि अपनी मराठी भाषा के अतिरिक्त हिंदी में भी पद्य रचना करते थे। मराठी संतों की वाणी प्राय: खड़ी बोली में है, किसी-किसी की रचना में ब्रजभाषा का पुट अवश्य गहरा है। इस दृष्टि से अमीर खुसरो की मुकरियों की प्राचीनता में संदेह करनेवालों को इतना समझ रखना चाहिए कि इन मुकरियों की भाषा भले ही बाद में परिष्कृत कर दी गई हो, किंतु मूल में भी यह खड़ी बोली की न थीं, ऐसा

---

[1] रानी केतकी की कहानी, काशी, ना० प्र० सभा, १९२८, [2] प्रेमसागर, काशी, ना० प्र० सभा,
[3] ल० सा० वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (१९५२)
[4] The communist, Sept.-Oct., 1949.

मानने का कोई कारण नहीं है। महाराष्ट्र संतों की हिंदी वाणी का साहित्यिक मूल्य भले ही बहुत ऊँचा न हो, किंतु खड़ी बोली के अध्ययन की दृष्टि से बहुत ऊँचा है।

हिंदी भाषा की अपनी विशेषताओं पर सुप्रसिद्ध भाषा विशारद श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत विशेष रूप से दृष्टव्य है—......उक्त भाषाओं में हिंदी या हिन्दुस्तानी का स्थान सबसे आगे है। कुछ बातों में तो हिंदी भारत की सबसे महत्वपूर्ण भाषा है......बोलनेवालों एवं व्यवहार करने तथा समझने-वालों की संख्या की दृष्टि से हिन्दुस्तानी का स्थान जगत् की महान् भाषाओं में तीसरा है......वास्तव में हिंदी ही भारत की भाषाओं का प्रतिनिधित्व कर सकती है......जहाँ तक विदेशी शब्दों को स्वीकार कर संपन्न होने का प्रश्न है, हिन्दुस्तानी एक अत्यंत उदार तथा युक्तियुक्त नीति का अनुसरण करनेवाली भाषा कही जा सकती है।......हिंदी की एक और बहुत बड़ी विशेषता उसकी ध्वनियों का नपा-तुला एवं सुनिश्चित रूप है।......उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त हिंदी के व्याकरण रूप भी अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में कम हैं।......जो भारत तथा विदेश में रहनेवाले साढ़े चौबीस करोड़ जनों को एक जीवित सूत्र में बाँधनेवाली मौलिक आंतर्देशिक या आंतर्जातिक भाषा है।[1]......

लोक-साहित्य

हिंदी के आधुनिक स्वरूप को समझने का एक और मार्ग भी है। पिछले पच्चीस वर्षों से श्री रामनरेश त्रिपाठी, देवेन्द्रसत्यार्थी, डा० सत्येन्द्र, कृष्णानंदगुप्त, डा० उदयनारायणतिवारी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल आदि यहाँ से वहाँ तक फैली हिंदी की विभिन्न बोलियों और साहित्य (पुराना) का सृजन और अध्ययन कर रहे हैं। लोक साहित्य के तीन प्रकार हमारे सामने स्पष्ट हो पाए हैं—शास्त्र और अध्ययन सम्बन्धी साहित्य; विभिन्न बोलियों और भाषाओं की कहानी, काव्य का संकलन सम्बन्धी[2] साहित्य और इन प्रयासों के प्रतिक्रिया-स्वरूप सृजनात्मक साहित्य। पहले दो प्रकारों के सम्बन्ध में हमें यहाँ कुछ नहीं कहना है। श्री श्याम परमारकृत भारतीय लोक साहित्य (राजकमल—१९५४) से इसकी जानकारी हो सकती है। हमारे सामने प्रश्न है कि क्या लोक साहित्य से प्रेरणा ले कर, हिंदी की विभिन्न बोलियों या भाषाओं से जो साहित्य सृजनात्मक रूप में सामने आ रहा है वह हिंदी के अंतर्गत आता है या नहीं; दूसरे शब्दों में हमारी आधुनिक पढ़ने-लिखने की हिंदी को उससे बल मिल रहा है, उसका स्वरूप और सुदृढ़ और व्यापक हो रहा है या नहीं। उदाहरणार्थ—देवेन्द्र सत्यार्थी की कृतियों में—धरती गाती है—धीरे बहो गंगा, बेलाफूले आधीरात और बाजत आवे ढोल—हम सब पंजाबी संस्कृति की गंध पाते हैं, तो इधर श्री रेणु की रचना मैला आँचल में बिहार के पूर्णिया जिले के एक अंचल की बयार मिलती है। प्रश्न है कि यह सब विशाल हिंदी की ही अभिवृद्धि है या यह सब रचनाएँ हमारी आज की हिंदी से अलग स्वतंत्र भाषाओं को जन्म देंगी? निश्चय ही इन लोक-भाषाओं और साहित्यों से हमारी हिंदी को बल मिला है, स्वरूप निखरा है और ये रचनाएँ भी हिंदी के सिवाय और किसी भाषा की मुँहताज नहीं हैं।

हिंदी का मुद्रित साहित्य

बहुधा यह प्रश्न सामने आया है कि हिंदी में मुद्रित साहित्य कितना है? दूसरे शब्दों में, हिंदी के श्रेष्ठ पुस्तकालय में ग्रंथ-संख्या कितनी होगी? इस प्रश्न के उत्तर में सन् १९५६ में ही दो मत हमारे सामने आए हैं। हिंदी प्रचारक के हिंदी-साहित्य १९५५ तथा ग्रंथ-सूची-विशेषांक (जन० फर० १९५६) के ३९ पृष्ठ पर 'यह ग्रंथ सूची अंक' शीर्षक के अंतर्गत यह घोषणा है कि "हिंदी में प्रकाशित ग्रंथों की संख्या कई लाख है, उनमें उपलब्ध चुनी हुई पुस्तकों की सूची यहाँ प्रस्तुत की गई है।" यह अतिवाद का एक किनारा है। दूसरी ओर

---

[1] सुनीति० : भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी (१९५४), पृ० १४७—१५२।
[2] ल० सा० वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (१७५७—१८५७), प्रयाग, १९५२।

अंतराष्ट्रीय ख्याति के पुस्तकालय विज्ञान विशारद श्री मैककालविन महोदय ने इसी वर्ष छपी अपनी पुस्तक 'दि चान्स टू रीड' के भारत-सम्बन्धी अध्याय में[1] साधिकार लिखा है—

"उदाहरण के तौर पर, बड़ी और राजकीय भाषा हिंदी में संभवतः १०००० से अधिक मुद्रित पुस्तकें नहीं हैं और प्रतिवर्ष ३०० से ४०० नई पुस्तकें प्रकाशित होती हैं।" हिंदी के सम्बन्ध में अतिवाद का यह दूसरा किनारा है। इस सम्बन्ध में किसी निश्चयात्मक निर्णय पर पहुँचने से प्रथम हमको कुछ ऐसे आँकड़ों की जानकारी कर लेनी चाहिए जिनके आधार पर हम सत्य के निकट पहुँच सकें। नागरी प्रचारिणी सभा ने सन् १९५२ में हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का पिछले ५० वर्षों का परिचयात्मक विवरण —१९०० से १९५० छपाया था। इस विवरण में इस ढंग के आँकड़े दिए हुए हैं—

१	शताब्दी	११	१२	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०
	ग्रंथकार	१	२	३३	६	३५८	७९७	१२३०	१३४२	११०
	ग्रंथ	१	२	४८	१४३	१०८०	१८३३	२६५१	२६१०	१९१

अर्थात् इन पचास वर्षों में १४६७३ ग्रंथों और ६०९५ रचनाकार का पता लगा।

२ ब्रिटिश म्यूजियम हिन्दी कैटलाग १८०३–१८९३ २०६ (कालम) × ९ (प्रतिकालम) = १८५४
ब्रिटिश म्यूजियम हिन्दी कैटलाग १८९३–१९१२ ३७० („) × ९ („) = ३३३०
कुल संख्या = ५१८४

३ हिन्दी-पुस्तक-साहित्य, सं० माताप्रसाद गुप्त १८६७–१९४२ ३२२ (पृष्ठ) × २० (प्रतिपृष्ठ) = ६४४०

४ नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय, काशी; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग = लगभग ३०००० पुस्तकें

अब प्रत्येक आँकड़े की जाँच कर लेनी चाहिए। यह मान लिया जाय कि अब तक १५ हजार हस्त-लिखित ग्रंथों का पता लग चुका है और अगले दस वर्ष में पाँच हजार ग्रंथ और मिल जायँगे। इस प्रकार यदि इन सब ग्रंथों को छपा दिया जाय, तो हिन्दी को बीस हजार ग्रंथ मिल जायँगे। कहा जा सकता है कि इनमें से पाँच हजार ग्रंथ छप चुके होंगे, फिर भी पंद्रह हजार ग्रंथ बचे। मैं समझता हूँ कि इस संख्या में से डुप्लीकेट प्रतियाँ निकाल दी गई होंगी। ब्रिटिश म्यूजियम कैटलाग में १८०३ से ले कर १९१२ तक लगभग साढ़े पाँच हजार पुस्तकें हैं; इसमें लगभग ३०० पुस्तकें हमने पूरक सूचियों में से ले कर सम्मिलित कर ली हैं। ध्यान देने की बात है कि जहाँ १८०३–१८९३ अर्थात् ९० वर्ष में १८५४ पुस्तकें प्राप्त हुईं वहाँ १८९३ से १९१२ तक १९ वर्ष में ३३३० पुस्तकें सूचीकृत हुईं। अर्थात् पुस्तकें छपने का अनुपात बहुत तेजी से बढ़ा। इस दृष्टि से देखने से यह साफ झलकता है कि श्री माताप्रसाद गुप्त की सूची कितनी अधूरी है! १८६७ से ले कर १९४२ तक, ७५ वर्षों में केवल छै हजार पुस्तकें ही छपी हों, यह कैसे माना जा सकता है। पहिले मैं समझता था कि कि श्री गुप्त जी की पुस्तक में से उक्त समय की एक तिहाई पुस्तकें अवश्य छूट गई होंगी। किंतु उपर्युक्त आँकड़ों से इस पुस्तक के अधूरेपन का स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। सभा और सम्मेलन के पुस्तकालय हिन्दी के सबसे बड़े पुस्तकालय हैं। सभा में नई पुस्तकें कम हैं और सम्मेलन में पुरानी बहुत कम। इस दृष्टि से दोनों पुस्तकालय अधूरे हैं—इनको अपटूडेट नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दों में इनकी संख्या से हिन्दी ग्रंथों की संख्या का सच्चा अनुमान नहीं लगाया जा सकता है।

अब हम हिन्दी ग्रंथों की आनुमानिक संख्या इस प्रकार निकाल सकते हैं—दोनों पुस्तकालयों की पुस्तकों में से वह ५००० पुस्तकें कम कर दें जो संस्कृत, उर्दू और अंग्रेजी आदि की हैं। किंतु इस संख्या में पुनः ५००० बढ़ा दें—हम देख चुके हैं कि एक पुस्तकालय में पुरानी पुस्तकें कम हैं तो दूसरी में नयी पुस्तकें नहीं हैं। अब पुनः यह संख्या ३०००० हो गई। हम यह भी थोड़ी देर के लिए माने लेते हैं कि इस संग्रह में श्री गुप्त जी की सूची की सब पुस्तकें आ गई हैं। ब्रिटिश म्यूजियम कैटलाग की १८५४ पुस्तकें तो इन दोनों पुस्तकालयों में नहीं है, पूरक कैटलाग की ३३३० पुस्तकों में से आधी पुस्तकें बहुत कठिनाई से सभा के पुस्तकालय में हैं।

---

[1] Mc Colvin, L. R.; A chance to read (London–1956), Page 204–205

किंतु गुप्त जी की सूची की छै हजार पुस्तकें हमने अलग से नहीं जोड़ी हैं—यह ध्यान में रखने की बात है कि गुप्त जी की सूची में सही तौर पर लगभग दस हजार से कम मुद्रित पुस्तकें कदापि नहीं होनी चाहिए। इस दृष्टि से ३०००० पुस्तकों में म्यूजियम की पाँच हजार पुस्तकें मिला कर संख्या ३५००० तक बढ़ाई जा सकती है। अब रह गए १४६७३ हस्तलिखित ग्रंथ। इनकी संख्या सन् १९६६ में २०००० मान ली है, इनमें से ५००० ग्रंथ निकाल कर, शेष पंद्रह हजार के सम्बन्ध में मान लिया जाय कि यह सब भी सन् १९६६ तक छप जायेंगे तो कुल संख्या ३५०००+१५००० अर्थात् सन् १९६६ के अंत में ५०००० तक जाती है। अब केवल सन् १९६६ तक नयी छपी पुस्तकों की संख्या का अनुमान करना शेष रह गया। मैककालविन् साहब के मत से तो प्रतिवर्ष ४०० पुस्तकें ही छपती हैं। किंतु मैं इस बात को साधिकार कह सकता हूँ कि आज हिन्दी के लगभग दो हजार प्रकाशक पंजाब से मद्रास तक और बंबई से कलकत्ता तक फैले हुए हैं—ये प्रकाशक नियमित रूप से प्रकाशन का काम करते हैं। भारत के राष्ट्रीय पुस्तकालय में सन् १९५४ के कानून के अनुसार हिन्दी की जो पुस्तकें प्राप्त होती हैं, उसके आधार पर हम कम-से-कम २५ पुस्तकें प्रतिदिन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार एक वर्ष में हम (यदि ३०० दिन का ही वर्ष मान लें) ७५०० पुस्तकें और दस वर्ष में ७५००० पुस्तकें पाने की आशा कर सकते हैं। किंतु इस संख्या में से ९।१० भाग यह समझ कर निकाल दें कि यह सब स्कूली पुस्तकें हैं और संग्रह करने योग्य नहीं हैं, तब भी मोटे तौर से ७५०० से ले कर १०००० पुस्तकें और जोड़ कर कुल संख्या ६०००० तक ले जा सकते हैं।

साठ हजार पुस्तकों की यह संख्या सन् १९६६ में किसी एक पुस्तकालय में संभव नहीं दीखती। हिन्दी की पुरानी ५००० पुस्तकें किसी भारतीय पुस्तकालय में (ब्रिटिश म्यूजियम या इंडिया आफिस की) प्राप्त करना संभव नहीं है, और न सब हस्तलिखित ग्रंथ छप ही पाएँगे—संभवतः सबका छपना आवश्यक भी नहीं। इस प्रकार यदि हम सन् १९६६ तक हिन्दी के किसी पुस्तकालय में पचास हजार पुस्तकें पा जायँ तो उस पुस्तकालय को हिन्दी की दृष्टि से आदर्श कहा जायगा। अंत में एक निवेदन और कर दूं। इंगलैंड के ब्रिटिश म्यूजियम, अमेरिका की लाइब्रेरी आफ कांग्रेस ने अपने भवनों के निर्माण के समय भविष्य में पुस्तक उत्पादन के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाए थे, वे बहुत ओछे निकले। जो पुस्तकालय ५० वर्षों में भरने चाहिए थे, वे १५ या बीस वर्षों में ही भर गए। तात्पर्य यह कि वृद्धिशील भाषा की पुस्तकों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ती है। हिन्दी में मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त यदि अनुवाद साहित्य भी तेजी से आता रहा, तो यह संख्या ६० या ६५ हजार तक भी आसानी से जा सकती है।

**

इति श्री मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन-ग्रंथ संपूर्णम्